मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक–42

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग-३

[प – व]

क्षु. जिनेन्द्र वर्णी

भारतीय ज्ञानपीठ

सातवाँ संस्करण : 2004 ◻ मूल्य : 240 रुपये

ISBN 81-263-0763 - 3 (Set)
81-263-0786 - 2 (Part-III)

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रधान सम्पादक (प्रथम संस्करण)
डॉ. हीरालाल जैन एवं डॉ. आ.ने. उपाध्ये

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, दिल्ली - 110 032

Moortidevi Jain Granthamala : Sanskrit Grantha No. 42

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[PART-III]

[प – व]

by

Kshu. JINENDRA VARNI

BHARATIYA JNANPITH

Seventh Edition : 2004 ◻ Price : Rs. 240

ISBN 81-263-0763 - 3 (Set)
81-263-0786 - 2 (Part-III)

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI JAIN GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

General Editors (First Edition)

Dr. Hiralal Jain and Dr. A. N. Upadhye

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at . Vikas Computer & Printers, Delhi - 110 032

संकेत-सूची

अ.ग.श्रा....|... अमितगति श्रावकाचार अधिकार सं./श्लोक सं., पं. वंशीधर शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९७९

अन.ध....|....|... अनगारधर्मामृत अधिकार सं./ श्लोक सं./पृष्ठ सं., पं. खूबचन्द शोलापुर, प्र. सं., ई. १९२७

आ.अनु.... आत्मानुशासन श्लोक सं.

आ.प....|....|... आलापपद्धति अधिकार सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४५६

आप्त.प....|....|... आप्तपरीक्षा श्लोक सं./प्रकरण सं./पृष्ठ सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., वि. सं. २००६

आप्त.मी.... आप्तमीमांसा श्लोक सं.

इ.उ./मू....|... इष्टोपदेश/मूल या टीका श्लो.सं./पृष्ठ सं.(समाधिशतकके पीछे) पं.आशाधरजीकृत टीका, वीरसेवा मन्दिर दिल्ली

क.पा....|....|....|... कषायपाहुड पुस्तक सं. भाग सं./§प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., दिगम्बर जैनसंघ, मथुरा, प्र.सं., वि.सं. २०००

का.अ./मू.... कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका गाथा सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं. ई. १९६०

कुरल....|... कुरल काव्य परिच्छेद सं./श्लोक सं., पं. गोविन्दराय जैन शास्त्री, प्र.सं., वी.नि.सं. २४८०

क्रि.क.... |...|... क्रियाकलाप मुख्याधिकार सं.-प्रकरण सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि.सं. १९९३

क्रि.को.... क्रियाकोष श्लोक सं., पं. दौलतराम

क्ष.सा./मू....|... क्षपणसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

गुण.श्रा.... गुणभद्र श्रावकाचार श्लोक सं.

गो.क./मू....|... गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

गो.क./जी.प्र....|... ... गोम्मटसार कर्मकाण्ड/जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैन सिद्धान्त प्रका. संस्था

गो.जी./मू....|... गोम्मटसार जीवकाण्ड/मूल गाथा सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

गो.जी./जी.प्र....|....|... गोम्मटसार जीवकाण्ड/जीव तत्त्वप्रदीपिका टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था

ज्ञा....|....|... ज्ञानार्णव अधिकार सं./दोहक सं./पृष्ठ सं. राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., ई. १९०७

ज्ञा.सा.... ज्ञानसार श्लोक सं.

चा.पा./मू....|... चारित्त पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७

चा.सा....|... चारित्रसार पृष्ठ सं./पंक्ति सं., महावीर जी, प्र.सं., वी.नि. २४८८

ज.प....|... जंबूदीवपण्णत्तिसंगहो अधिकार सं./गाथा सं., जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि.सं. २०१४

जै.सा....|... जैन साहित्य इतिहास खण्ड सं./पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१

जै.पी.... जैन साहित्य इतिहास/पूर्व पीठिका पृष्ठ सं., गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, वी.नि. २४८१

त.अनु.... तत्त्वानुशासन श्लोक सं., नागसेन सूरिकृत, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र.सं., ई. १९६३

त.वृ....|....|....|... तत्त्वार्थवृत्ति अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९४९

त.सा....|....|... तत्त्वार्थसार अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता, प्र.सं., ई.स. १९२६

त.सू....|... तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सं./सूत्र सं.

ति.प....|... तिलोयपण्णत्ति अधिकार सं./गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., वि.सं. १९९९

ती.... तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ सं., दि. जैन विद्वत्परिषद्, सागर, ई. १९७४

त्रि.सा.... त्रिलोकसार गाथा सं., जैन साहित्य बम्बई, प्र. सं., १९१८

द.पा./मू....|... दर्शनपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७

द.सा.... दर्शनसार गाथा सं., नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७४

द्र.सं./मू....|... द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., देहली, प्र.सं. ई. १९५३

ध.प.... धर्म परीक्षा श्लोक सं.

ध....|...|....|... धवला पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं./पंक्ति या गाथा सं., अमरावती, प्र. सं.

न.च.वृ.... नयचक्र बृहद् गाथा सं. श्रीदेवसेनाचार्यकृत, माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई प्र. सं., वि. सं. १९७७

न.च./श्रुत....|... नयचक्र/श्रुत भवन दीपक अधिकार सं./पृष्ठ सं., सिद्ध सागर, शोलापुर

नि.सा./मू.... नियमसार/मूल या टीका गाथा सं.

नि.सा./ता.वृ..../क.... नियमसार/तात्पर्य वृत्ति गाथा सं./कलश सं.

न्या.दी....|§...|....|... न्यायदीपिका अधिकार सं./§प्रकरण सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र.सं., वि.सं. २००२

न्या.बि./मू.... न्यायबिन्दु/मूल या टीका श्लोक सं., चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस

न्या.वि./मू....|....|....|... न्यायविनिश्चय/मूल या टीका अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., ज्ञानपीठ बनारस

न्या.सू./मू....|....|....|... न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १९३४

पं.का./मू....|... पंचास्तिकाय/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र.सं., वि. १९७२

पं.ध./पू.... पंचाध्यायी/पूर्वार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र. सं., ई. १९३२

पं.ध./उ.... पंचाध्यायी/उत्तरार्ध श्लोक सं., पं. देवकीनन्दन, प्र.सं. ई. १९३२

पं.वि....|... पद्मनन्दि पंचविंशतिका अधिकार सं./श्लोक सं. जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९३२

पं.सं./प्रा....|... पंचसंग्रह/प्राकृत अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ, बनारस प्र. सं. ई. १९६०

पं.सं./सं....|... पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं., पं. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं., ई. १९६०

प.पु.···/··· पद्मपुराण सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, प्र.सं., वि.सं. २०१६
प.मु.···/···/··· परीक्षामुख परिच्छेद सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी, प्र. सं.
प.प्र./मू.···/···/··· परमात्मप्रकाश/मूल या टीका अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं., राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि.सं., वि.सं. २०१७
पा.पु.···/··· पाण्डवपुराण सर्ग सं./श्लोक सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र.सं., ई. १९६२
पु.सि ·· पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक सं.
प्र सा./मू.···/··· प्रवचनसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं.
प्रति.सा.···/··· प्रतिष्ठासारोद्धार अध्याय सं./श्लोक सं.
बा.अ.··· बारस अणुवेक्खा गाथा सं.
बो.पा./मू.···/··· बोधपाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
बृ. जै. श ··· बृहत जैन शब्दार्णव/द्वितीय खंड/पृष्ठ सं., मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत, प्र. सं., वी.नि. २४६०
भ आ./मू. ··/ /·· भगवती आराधना/मूल वा टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, सोलापुर, प्र.सं., ई. १९३५
भा.पा./मू.···/··· भाव पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं., वि सं. १९७७
म.पु.···/··· महापुराण सर्ग सं./श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., ई. १९५१
म.बं.···/§···/··· महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., ई. १९५१
मूला.··· मूलाचार गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७६
मो.पं.··· मोक्ष पंचाशिका श्लोक सं.
मो.पा /मू.···/··· मोक्ष पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो.मा.प्र. ··/···/··· मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि.सं., वि. सं. २०१०
यु.अनु.··· युक्त्यनुशासन श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो.सा.अ.···/··· योगसार अमितगति अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई.सं. १९१८
यो सा यो.··· योगसार योगेन्दुदेव गाथा सं., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र.क.श्रा.··· रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक सं.
र.सा.··· रयणसार गाथा सं.
रा.वा.···/···/···/··· राजवार्तिक अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं., वि.सं. २००८
रा.वा.हि.···/···/··· राजवार्तिक हिन्दी अध्याय सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल.सा./मू.···/··· लब्धिसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र. सं.
ला.सं.···/···/··· लाटी संहिता अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लि.पा /मू.···/··· लिंग पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि. सं. १९७७
वसु श्रा.··· वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र. सं., वि. सं. २००७
वै.द.···/···/···/··· वैशेषिक दर्शन/अध्याय सं./आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र सं., वि.सं. २०१७
शी.पा./मू ···/··· शील पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पंक्ति सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि.सं. १९७७
श्लो.वा.···/···/···/···/··· श्लोकवार्तिक पुस्तक सं./अध्याय सं./सूत्र सं./वार्तिक सं./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र.सं., ई. १९४९-१९५६

ष.खं.···/ııı/··· षट्खण्डागम पुस्तक सं./खण्ड सं., भाग, सूत्र/पृष्ठ सं.
स भ.त.···/··· सप्तभङ्गीतरङ्गिनी पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि.सं., वि.सं. १९७२
स.म.···/···/··· स्याद्वादमञ्जरी श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९९१
स.श./मू.···/··· समाधिशतक/मूल या टीका श्लोक सं./पृष्ठ सं., इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर, देहली, प्र.सं., २०२१
स.सा./मू.···/···/··· समयसार/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, देहली, प्र.सं. ३१.१२.१९५८
स.सा./आ.. ./क समयसार/आत्मख्याति गाथा सं./कलश सं.
स.सि.···/···/··· सर्वार्थसिद्धि अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं. ई. १९५५
स. स्तो · स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
सा.ध.···/··· सागार धर्मामृत अधिकार सं./श्लोक सं.
सा.पा.··· सामायिक पाठ अमितगति श्लोक सं.
सि.सा.सं.···/··· सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय सं./श्लोक सं., जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९५७
सि.वि./मू.···/···/···/·· सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र.सं. ई. १९५९
सु.र.सं.··· सुभाषित रत्न सन्दोह श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र.सं., ई. १९१७
सू.पा./मू.···/··· सूत्र पाहुड/मूल या टीका गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र.सं., वि.सं. १९७७
ह.पु.···/··· हरिवंश पुराण सर्ग/श्लोक/सं., भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, प्र.सं.

नोट · भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखा चित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ उसी उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

भाग- २

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[प]

पंकप्रभा—१. पंकप्रभा नरकका लक्षण

स. सि./३/१/२०३/८ पङ्कप्रभासहचरिता भूमिः पङ्कप्रभा। —जिसकी प्रभा कीचड़के समान है, वह पंकप्रभा (नाम चतुर्थ) भूमि है। (ति. प./२/२१); (रा. वा./३/१/३/१५९/१८); (ज. प./११/११३)

★ **आकार व अवस्थानादि**—दे० नरक/५। लोक/२।

२. इसके नामकी सार्थकता

ति. प./२/२१ सक्करवालुवपंकाधूमतमालमतमं च समचरियं। जेण अवसेसाओ छप्पुढवीओ वि गुणणामा ।२१। —रत्नप्रभा पृथिवीके नीचे शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा·· ये शेष छह पृथिवियाँ क्रमशः शक्कर, बालु, कीचड़···की प्रभासे सहचरित हैं। इसलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक हैं ।२१।

पंकभाग—ति. प./२/९,११ खरपंकबहुलभागारयणप्पहाए पुढवीए ।९। पंकाजिरो य दीसदि एवं पंकबहुलभागो वि ।११। [पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासाः। रा. वा.] —अधोलोकमें सबसे पहली रत्नप्रभा पृथ्वी है। उसके तीन भाग हैं- खरभाग, पंकभाग व अब्बहुल भाग ।९। पंकबहुलभाग भी जो पंकसे परिपूर्ण देखा जाता है ।११। इसमें असुरकुमारों और राक्षसोंके आवास स्थान हैं। (रा. वा./३/१/८/१६०/२०); (ज. प./११/११९-१२३)

★ **लोकमें पंकभाग पृथिवीका अवस्थान**—दे० भवन/४।

पंकावती – पूर्व विदेहकी एक विभंगा नदी। दे० लोक/५/८।

पंचकल्याणक—दे० कल्याणक।

पंचकल्याणकव्रत—दे० कल्याणकव्रत।

पंचनद—वर्तमान पंजाब (म. पु./प्र./४९ पं. पन्नालाल)।

पंचनमस्कारमंत्रमाहात्म्य—आ० सिंहनन्दी (ई० श० १६) कृत एक कथा।

पंचपौरियाव्रत—व्रतविधान सं./१२९—भादो सुदी पाँच दिन जान, घर पच्चीस बाँटे पकवान। —भादो सुदी पंचमीको पचीस घरोंमें पकवान बाँटे। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।)

पंचमकाल—दे० काल/४।

पंचमीव्रत—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु० ५ को उपवास तथा नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप। (व्रतविधान सं./८५) (किशनसिंह क्रियाकोश)

पंचमुष्ठी—शरीरके पाँच अंग। दे०—नमस्कार/१ में ध./८)।

पंचवर्ण—एक ग्रह। दे०—ग्रह।

पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत—

ह. पु./३४/११३-११६ पचीस कल्याण भावनाएँ हैं, उन्हें लक्ष्यकर पचीस उपवास करना तथा उपवासके बाद पारणा करना, यह पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत है ।११३। १. सम्यक्त्व, २. विनय, ३. ज्ञान, ४. शील ५. सत्य, ६. श्रुत, ७. समिति, ८. एकान्त, ९. गुप्ति; १०. ध्यान, ११. शुक्लध्यान, १२. संक्लेशनिरोध, १३. इच्छानिरोध, १४. संवर, १५. प्रशस्तयोग, १६. संवेग, १७. करुणा, १८. उद्वेग, १९. भोगनिर्वेद, २०. संसारनिर्वेद, २१ भुक्तिवैराग्य; २२. मोक्ष, २३. मैत्री, २४. उपेक्षा और २५. प्रमोदभावना, ये पचीस कल्याण भावनाएँ हैं ।११४-११६।

पंचविंशतिका—दे० पद्मनन्दि पंचविंशतिका।

पंचशिखरी—पाँच कूटोंसे सहित होनेके कारण हिमवान्, महाहिमवान् और निषधपर्वत पंचशिखरी नामसे प्रसिद्ध हैं। (ति. प./४/१६६२, १७३२, १७६७)

पंचशिर—कुण्डलपर्वतस्थ वज्रप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्रदेव। दे० लोक/५/१२।

पंचश्रुतज्ञानव्रत—एक उपवास एक पारणाक्रमसे १६८ उपवास पूरे करे। 'ओं ह्रीं पञ्चश्रुतज्ञानाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान संग्रह/७२) (वर्धमान पु./···)

पंचसंग्रह—(पं. सं./प्र. १४/A. N. Up) दिगम्बर आम्नायमें पंचसंग्रहके नामसे उल्लिखित कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं। सभी कर्मसिद्धान्त विषयक हैं। उन ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है—१. दिगम्बर प्राकृत पंचसंग्रह—यह सबसे प्राचीन है। इसमें पाँच अधिकार हैं, १३२४ गाथाएँ हैं, और ५०० श्लोकप्रमाण गद्यभाग भी है। इस ग्रन्थके कर्ताका नाम व समय ज्ञात नहीं, फिर भी वि. श. ५-८ का अनुमान किया जाता है। (पं. सं./प्र. ३९/A. N. Up) २. श्वेताम्बर प्राकृत पंचसंग्रह—यह १००५ गाथा प्रमाण है। रचयिता ने स्वयं

इसपर ८००० श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है जिसपर मलयागिरि कृत एक संस्कृत टीका भी है। इसका रचनाकाल वि० श०१० है। ३. दि० संस्कृत पंचसंग्रह प्रथम—पंचसंग्रह प्रा. १ के आधारपर आचार्य अमितगतिने वि० १०७३ (ई० १०१६) में रचा है। इसमें भी पाँच प्रकरण हैं, तथा इसका प्रमाण १४५६ श्लोक पद्य व १००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। ४. दि० संस्कृत पंचसंग्रह द्वि०—पंचसंग्रह प्रा०१ के आधारपर श्रीपाल सुत श्री डड्ढा नामके एक जैन गृहस्थने वि० श० ११ में रचा था। इसकी समस्त श्लोक संख्या १२४३ तथा गद्यभाग ७०० श्लोक प्रमाण है। ५. पंचसंग्रह टीका—पंचसंग्रहानं.१ पर दो संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं।—एक वि० १५२६ में किसी अज्ञात आचार्य द्वारा लिखित है और दूसरी वि १६२० में सुमति कीर्ति भट्टारक द्वारा लिखित है। विविध ग्रन्थों से उद्धृत प्रकरणों का संग्रह होने से यह वास्तव में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसी है जिसे रचयिता ने 'आराधना' नाम दिया है। चूर्णियों की शैली में रचित ५४६ श्लोक प्रमाण तो इसमें गद्य भाग है और ४००० श्लोक प्रमाण पद्य भाग। अधिकार संख्या पाँच ही है। आ० पद्म नन्दि कृत जंबू दीवपण्णति के एक प्रकरण को पूरा का पूरा आत्मसात कर लेने के कारण यह पद्मनन्दि कृत प्रसिद्ध हो गई है। ६. इनके अतिरिक्त भी कुछ पंचसंग्रह प्रसिद्ध है जैसे गोमट्ट सार का अपर नाम पंचसंग्रह है। श्री हरि दामोदर वलंकर ने अपने जिन रत्नकोष में 'पंचसंग्रह दीपक' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है जो कि उनके अनुसार गोमट्ट सार का इन्द्र वामदेव कृत पद्यानुवाद है। विशेष दे० परिशिष्ट।

पंचस्तूपसंघ—दे० इतिहास/५/३।

पंचांक—ध. १२/४,२,७,२१४/१७०/६ संखेज्जभागवड्ढी पंचंको-त्ति घेत्तव्वो। =संख्यात भाग वृद्धिकी पंचांक संज्ञा जाननी चाहिए। (गो. जी./मू./३२५/६८४)

पंचाग्नि—पचाग्निका अर्थ पंचाचार। दे०—अग्नि।

पंचाध्यायी—पं. राजमलजी (वि १६५० ई. १५६३) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचित एक दर्शन शास्त्र। इस के दो ही अध्याय पूरे करके पण्डितजी स्वर्ग सिधार गये। अतः यह ग्रन्थ अधूरा है। पहले अध्यायमें ७६८ तथा दूसरेमें ११४४ श्लोक हैं।(ती./४/८१)

पंचास्तिकाय—विषय—दे० अस्तिकाय। ग्रन्थ—राजा शिव कुमार महाराज के लिए आ० कुन्द कुन्द (ई० १२७-१७९) द्वारा लिखित १७३ प्राकृत गाथा प्रमाण तत्त्वार्थ विषयक ग्रन्थ। (जै० २/२११)। इस पर आठ टीकायें उपलब्ध हैं—१. आ० अमृत चन्द्र (ई० ९०५-९५५) कृत तत्त्व प्रदीपिका। २ आ० पद्म चन्द्र नं० ४ (ई० ९६०-१०२०) कृत पञ्चास्तिकाय प्रदीप। (जै०/२/३४७)। ३. आ० जयसेन (ई० श० ११ अन्त १२ पूर्व) कृत तात्पर्य वृत्ति (जै०/२/११२)। ४. मल्लिषेण भट्टारक (ई० ११२८) कृत टीका। ५. बाल चन्द्र (ई० श० १३ पूर्व) कृत कन्नड़ टीका (जै०/२/११४)। ६. प० हेमचन्द्र (ई० १६४३-१६७०) कृत भाषा वचनिका। ७. भट्टारक ज्ञान चन्द्र (ई० १७१८) कृत टीका (पं० का०/प्र० ३ प० पन्नालाल)। ८. बुधजन (ई० १८३४) कृत भाषा टीका (ती०/४/२६८)।

पंचेन्द्रिय जाति—दे० जाति/१।

पचेन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

पंजिका—क. पा.२/२,२२/§२१/१४/८ वित्तिसुत्तविसमपयभंजियाए पंजियववएसादो। - वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंको स्पष्ट करनेवाले विवरणको पंजिका कहते हैं।

पंडित—प. प्र./मू./२/१४ देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ। परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ।१४। —जो पुरुष परमात्माको शरीरसे जुदा केवलज्ञानकर पूर्ण जानता है वही परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ पंडित अर्थात् अन्तरात्मा है।

पंडितमरण—दे० मरण/१।

पंप—राजा अरिकेसरीके समयके एक प्रसिद्ध जैन कन्नड़ कवि। कृतियाँ - आदिपुराणचम्पू (म. पु./प्र. २० पं. पन्नालाल), भारत या विक्रमार्जुनविजय। समय—वि. ९९८ (ई. ९४१) में 'विक्रमार्जुन-विजय' लिखा गया था—(यशस्तिलकचम्पू/प्र. २०/पं. सुन्दरलाल)।

पउमचरिउ—दे० पद्मपुराण।

पक्ष—विश्वासके अर्थमें

म. पु./३९/१४६ तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थैरुपबृंहितम्।१४६। =मैत्री, प्रमाद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है। (मा.ध./१/१९)।

पक्ष—न्यायविषयक

प. मु./३/२५-२६ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।२५। पक्ष इति यावत्।२६। =कहीं तो (व्याप्ति कालमें) धर्म साध्य होता है और कहीं धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। धर्मीको पक्ष भी कहते हैं।२५-२६।

स्या. मं./३०/३३४/१७ पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः। पक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। =जो साध्यसे युक्त होकर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाये उसे पक्ष कहते हैं। जिस स्थलमें हेतु देखकर साध्यका निश्चय करना हो उस स्थलको पक्ष कहते हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—जहाँ साध्यके रहनेका शक हो। 'जैसे इस कोठेमें धूम है' इस दृष्टान्तमें कोठा पक्ष है।

१. साध्यका लक्षण

न्या. वि./मू./२/३/८ साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम्।...।३।

न्या. दी./३/§२०/६६/६ प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्, संदेहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। =शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहते हैं। (श्लो. वा. ३/१/१३/१२२/२६६)। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित न होनेसे सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादीको सिद्ध करनेके लिए अभिमत है इष्ट है। और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिसे युक्त होनेसे अनिश्चित है। वही साध्य है।

प. मु./३/२०-२४ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।२०। संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्।२१। अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।२२। न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः।२३। प्रत्यायनाय हि इच्छा वक्तुरेव।२४। —जो वादीको इष्ट हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित न हो, और सिद्ध न हो उसे साध्य कहते हैं।२०। —सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थ ही साध्य हो इसलिए सूत्रमें असिद्ध पद दिया है।२१। वादीको अनिष्ट पदार्थ साध्य नहीं होता इसलिए साध्यको इष्ट विशेषण लगाया है। तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे बाधित पदार्थ भी साध्य नहीं होते, इसलिए अबाधित विशेषण दिया है।२२। इनमेंसे 'असिद्ध' विशेषण तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे और 'इष्ट' विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि दूसरेको समझानेकी इच्छा वादीको ही होती है।२३-२४।

३. साध्याभास या पक्षाभासका लक्षण

न्या. बि./मू./२/३/१२ ततोऽपरम् साध्याभासं विरुद्धादिसाधनाविषय-त्वतः ।३। इति—साध्यसे विपरीत विरुद्धादि साध्याभास हैं। आदि शब्दसे अनभिप्रेत और प्रसिद्धका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये तीनों ही साधनके विषय नहीं हैं, इसलिए ये साध्याभास हैं। (न्या. वी./३/§२०/७०/३) ।

प. मु./६/१२–१४ तत्रानिष्टादिपक्षाभासः ।१२। अनिष्टो मीमांसकस्या-नित्यशब्दः ।१३। सिद्धः श्रावणः शब्दः ।१४। —इष्ट असिद्ध और अबाधित इन विशेषणोंसे विपरीत—अनिष्ट सिद्ध व बाधित ये पक्षाभास हैं ।१२। शब्दकी अनित्यता मीमांसकको अनिष्ट है; क्योंकि, मीमांसक शब्दको नित्य मानता है ।१३। शब्द कानसे सुना जाता है यह सिद्ध है ।१४।

★ बाधित पक्षाभास या साध्याभासके भेद व लक्षण —दे० बाधित ।

४. अनुमान योग्य साध्योंका निर्देश

प. मु./३/३०–३३ प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।३०। अग्नि-मानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।३१। व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।३२। अन्यथा तदघटनात् ।३३। —[कहीं तो धर्म साध्य होता है और कहीं धर्मी साध्य होता है (दे० पक्ष/१) ।] तहाँ—प्रमाण-सिद्ध धर्मी और उभयसिद्ध धर्मीमें (साध्यरूप) धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। जैसे—'यह देश अग्निवाला है', यह प्रमाण सिद्ध धर्मीका उदाहरण है; क्योंकि यहाँ देश प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। 'शब्द परिणमन स्वभाववाला है' यह उभय सिद्ध धर्मीका उदाहरण है; क्योंकि, यहाँपर शब्दका धर्मी उभय सिद्ध है ।३०–३१। व्याप्तिमें धर्म ही साध्य होता है। यदि व्याप्तिकालमें धर्मको छोड़कर धर्मी साध्य माना जायेगा तो व्याप्ति नहीं बन सकेगी ।३२–३३।

५. पक्ष व प्रतिपक्षका लक्षण

न्या. सू./टी./१/४/४१/४०/१६ तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते ।४१।

न्या. सू./टी./१/२/१/४१/२१ एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। —साधन और निषेधका क्रमसे आश्रय (साधनका) पक्ष है। और निषेधका आश्रय प्रतिपक्ष है। (स्या. मं./३०/३२४/१६) । एक स्थानपर रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मपक्ष (अपना मत) और प्रतिपक्ष (अपने विरुद्ध वादीका मत अर्थात् प्रतिवादीका मत) कहाते हैं। जैसे कि —एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है। भिन्न भिन्न स्थानमें रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्म पक्ष प्रतिपक्ष नहीं कहाते। जैसे—एकने कहा आत्मा नित्य है और दूसरा कहता है कि बुद्धि अनित्य है।

६. साध्यसे अतिरिक्त पक्षके ग्रहण का कारण

प.मु/३/३४-३६। साध्यधर्माधारसंदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।३४। साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहार-वत् ।३५। को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।३६। —साध्यविशिष्ट पर्वतादि धर्मीमें हेतुरूप धर्मको समझानेके लिए जैसे उपनयका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य (धर्म) के आधारमें सन्देह दूर करनेके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध होनेपर भी पक्षका प्रयोग किया जाता है। क्योंकि ऐसा कौन वादी प्रतिवादी है, जो कार्य, व्यापक, अनुपलम्भके भेदसे तीन प्रकारका हेतु कहकर समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे। अर्थात् सबको पक्षका प्रयोग करना ही पड़ेगा।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रत्येक पक्षके लिए परपक्षका निषेध—दे० सप्तभंगी/४। २. पक्ष विपक्षोंके नाम निर्देश—दे० अनेकांत ।४। ३. कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I1/४।

पक्षपात—१. लक्षण व विषय आदि—दे० प्रज्ञान ।५। २. सम्यग्दृष्टि-को पक्षपात नहीं होता—दे० सम्यग्दृष्टि ।४।

पक्षेप—शलाका।

पटच्चर—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४।

पटल—१. त्रि. सा./४७६/भाषा तिर्यकरूप बरोबरि क्षेत्र विषै जहाँ विमान पाईए ताका नाम पटल है। २. Dix (ज. प./प्र. १०७)विशेष दे. नरक/५/३; स्वर्ग ५/१३।

पट्टन—दे० पत्तन।

पट्टावली—दे० इतिहास/४,५।

पणट्ठी—$(२५६)^{२}$ =६५५३६। दे० गणित/I/१/१।

पण्यभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंके पूर्वमें स्थित सोमदेवका भवन/दे० लोक/७।

पण्हसवण—धरसेनाचार्यका ही दूसरा नाम पण्हसवण भी है, क्योंकि 'प्रज्ञाश्रमण' का प्राकृत रूप 'पण्हसवण' है। यह एक ऋद्धि है, जो सम्भवतः धरसेनाचार्यको थी, जिसके कारण उन्हें भी कदाचित् 'पण्हसवण' के नामसे पुकारा गया है। वि० १५५६ में लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका नामकी ग्रन्थ सूचीमें जो 'योनि प्राभृत' ग्रन्थका कर्ता 'पण्हसवण'को बताया है, वह वास्तवमें धरसेनाचार्य की ही कृति थी। क्योंकि सूचीमें उसे भूतबलिके लिए लिखा गया सूचित किया गया है। (ष. खं. १/प्र. ३०/H. L.) दे०—धरसेन।

पत्तन—ति. प./४/१३११ वररयणाणं जोणीपट्टणणामं विणिद्दिट्ठं। —जो उत्तम रत्नोंकी योनि होता है उसका नाम पट्टन कहा गया है ।१३११। त्रि. सा./भाषा./६७६)।

ध.१३/५,५,६३/३३५/६ नावा पादप्रचारेण च यत्र गमनं तत्पत्तनं नाम। —नौकाके द्वारा और पैरोंसे चलकर जहाँ जाते हैं उस नगरकी पत्तन संज्ञा है।

पत्ति—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

पत्नी – दे० स्त्री।

पत्रचारणऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पत्रजाति—पत्र जाति वनस्पतिमें भक्ष्याभक्ष्यविचार—दे० भक्ष्या-भक्ष्य/४।

पत्रपरीक्षा—आ० विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ है। इस पर पं. अमचन्द छाबड़ा (ई० १८०६-१८३४) कृत संक्षिप्त भाषा टीका प्राप्त है। (ती./२/३५७)।

पद—१. गच्छ अर्थात् Number of Terms.

२. सिद्ध पद आदिकी अपेक्षा

न्या./ वि./टी./१/७/१४०/१६ पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पदं। —जिसके द्वारा जाना जाता है वह पद है।

ध. १०/४,२,४,१/१८/६ जस्स जम्हि अवट्ठाणं तस्स तं पदं...जहा सिद्धि-खेत्तं सिद्धाणं पदं। अत्थालाओ अत्थागमस्स पदं। ...पद्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति पदम्। —जिसका जिसमें अवस्थान है वह उसका पद अर्थात् स्थान कहलाता है। जैसे सिद्धिक्षेत्र सिद्धोंका पद है।

अर्थात् अर्थपरिज्ञानका पद है।......पद शब्दका निरुक्त्यर्थ है जो जाना जाय वह पद है।

१. अक्षर समूहकी अपेक्षा

न्या. सू./मू./२/२/५८/१३७ ते विभक्त्यन्ताः पदम् ।५८। —वर्णोंके अन्तमें यथा शास्त्रानुसार विभक्ति होनेसे इनका नाम पद होता है।

२. पदके भेद

१. अर्थपदादिकी अपेक्षा

क. पा. १/१,१/§७१/९०/१ पमाणपदं अत्थपदं मज्झिमपदं चेदि तिविहं पदं होदि। —प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यपद इस प्रकार वह तीन प्रकारका है। (ध.६/४,१,४५/१९६/गा. ६१); (ध.१३/५,५,४८/२६५/१३); (गो. जी./जी. प्र./३३६/७३३/१)

क. पा. २/२-२२/§३४/१७/५ एत्थ पदं चउव्विहं, अत्थपदं, पमाणपदं, मज्झिमपदं, ववत्थापदं चेदि। —पद चार प्रकारका है—अर्थपद, प्रमाणपद, मध्यमपद और व्यवस्थापद।

ध. १०/४,२,४,१/१८/६ पदं दुविहं—ववत्थापदं भेदपदमिदि।...उक्कस्साणुक्कस्स - जहण्णाजहण्ण-सादि-अणादिधुव-अद्धुव - ओज-जुम्म-ओम-विसिट्ठ-णोमणोविसिट्ठपदभेदेण एत्थ तेरस पदाणि। —पद दो प्रकार है—व्यवस्था पद और भेदपद।...उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य, सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव, ओज, युग्म, ओम, विशिष्ट और नोओम, नो विशिष्ट पदके भेदसे यहाँ तेरह पद हैं।

२. नाम उपक्रमकी अपेक्षा

क. पा. १/१,१/चूर्णिसूत्र/§२३/३० णामं छव्विहं।

क. पा. १/१,१/§२४/३१/१ एदस्स सुत्तस्स अत्थपरूवणं करिस्सामो। तं जहा-गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अवचयपदे उवचयपदे चेदि। —नाम छह प्रकारका है। अब इस सूत्रके अर्थका कथन करते हैं। वह इस प्रकार है—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचय पद ये नामके छह भेद हैं।

ध. १/१,१,१/७४/५ णामस्स दस ट्ठाणाणि भवंति। तं जहा, गोण्णपदे णोगोण्णपदे आदाणपदे पडिवक्खपदे अणादियसिद्धंतपदे पाधण्णपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि।

ध. १/१,१,१/७७/४ सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति।...स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात्। —नाम उपक्रमके दस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद। अवयव (अवयवपद) दो प्रकारके होते हैं—उपचितावयव और अपचितावयव।...तथा द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और भाव संयोगके भेदसे संयोग चार प्रकारका है। (ध. ९/४,१,४५/१३५/४)

३. बीजपदका लक्षण

ध. ९/४,१,४४/१२७/१ संखित्तसद्दरयणमणंतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसंगयं बीजपदं णाम। —संक्षिप्त शब्द रचनासे सहित अनन्त अर्थोंके ज्ञानके हेतुभूत अनेक चिह्नोंसे संयुक्त बीजपद कहलाता है।

४. अर्थ पदादिके लक्षण

ह. पु./१०/२३-२५ एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताक्षरमर्थवत्। पदमाद्यं द्वितीयं तु पदमष्टाक्षरात्मकम् ।२३। कोटयश्चैव चतुस्त्रिंशत् तच्छतान्यपि षोडश। त्र्यशीतिश्च पुनर्लक्षा शतान्यष्टौ च सप्ततिः ।२४। अष्टाशीतिश्च वर्णाः स्युर्मध्यमे तु पदे स्थिताः। पूर्वाङ्गपदसंख्या स्यान्मध्यमेन पदेन सा ।२५। —इनमें एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात अक्षर तकका पद अर्थपद कहलाता है। आठ अक्षर रूप प्रमाण पद होता है। और मध्यमपदमें (१६३४८३०७८८८) अक्षर होते हैं और अंग तथा पूर्वोके पदकी संख्या इसी मध्यम पदसे होती है।२३-२५।

ध. १३/५,५,४८/२६५/१३ तत्थ जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि तमत्थपदं णाम। [यथा दण्डेन शालिभ्यो गां निवारय, त्वमग्निमानय इत्यादयः (गो. जी.)] एदं च अणवट्ठिदं, अणियअक्खरेहिंतो अत्थुवलद्धिदंसणादो। ण चेदमसिद्धं, अः विष्णुः, इः कामः, कः ब्रह्मा इच्चेवमादिसु एगेगक्खरादो चेव अत्थुवलंभादो। अट्ठक्खरणिप्फण्णं पमाणपदं। एदं च अवट्ठिदं, णियदट्ठसंखादो।—सोलससदचोत्तीसं कोडी तेसीदिं चेव लक्खाइं। सत्तसहस्सट्ठसदा अट्ठासीदा य पदवण्णा ।१८। एत्तियाणि अक्खराणि घेत्तूण एगं मज्झिमपदं होदि। एदं पि संजोगक्खरसंखाए अवट्ठिदं, वुत्तपमाणादो अक्खरेहि वड्ढि-हाणीणमभावादो। —जितने पदोंके द्वारा अर्थ ज्ञान होता है वह अर्थपद है। [यथा 'गायको घेरि सुफेदकौं दंड करि' इसमें चार पद भये। ऐसे ही 'अग्निको ल्याओ' ऐ दो पद भये।] यह अनवस्थित है, क्योंकि अनियत अक्षरोंके द्वारा अर्थका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि 'अ' का अर्थ विष्णु है, 'इ' का अर्थ काम है, और 'क' का अर्थ ब्रह्मा है; इस प्रकार इत्यादि स्थलोंपर एक-एक अक्षरसे ही अर्थकी उपलब्धि होती है। आठ अक्षरसे निष्पन्न हुआ प्रमाणपद है। यह अवस्थित है, क्योंकि इसकी आठ संख्या नियत है। सोलहसौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) इतने मध्यपदके वर्ण होते हैं।१८। इतने अक्षरोंको ग्रहण कर एक मध्यम पद होता है। यह भी संयोगी अक्षरोंकी संख्याकी अपेक्षा अवस्थित है, क्योंकि, उसे उक्त प्रमाणसे संख्याकी अपेक्षा वृद्धि और हानि नहीं होती। (क. १/१,१/§७१/९०/२), (क. पा. २/२-२२/§३४/१७/६), (गो. जी./जी. प्र./३३६/७३३/१)

क. पा. २/२-२२/§३४/१७/८ जत्तिएण वक्कसमूहेण अहियारो समप्पदि तं ववत्थापदं सुबंतमिगंतं वा। —जितने वाक्योंके समूहसे एक अधिकार समाप्त होता है उसे व्यवस्थापद कहते हैं। अथवा सुबन्त और मिगन्त पदको व्यवस्थापद कहते हैं।

क. पा. २/२,२२/§४७५/७ जहण्णुक्कस्सपदविसयणिच्छए णिवदि पावेदि त्ति पदणिक्खेवो। —जो जघन्य और उत्कृष्ट पद विषयक निश्चयमें ले जाता है उसे पदनिक्षेप कहते हैं।

५. गौण्यपदादिके लक्षण

ध. १/१,१,१/७४/७ गुणानां भावो गौण्यम्। तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाम्नां तानि गौण्यपदानि। यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि। नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि। आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम्।...पूर्णकलश इत्येतदादानपदम्...अविधवेत्यादि। ...प्रतिपक्षपदानि कुमारी वन्ध्येत्येवमादीनि आदान-प्रतिपक्षनिबन्धनत्वात्। अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि। अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम्। प्राधान्यपदानि आम्रवनं निम्बवनमित्यादीनि। वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्वविवक्षितवृक्षेषु विवक्षाकृतप्राधान्यवृक्षनिबन्धनत्वात्। नामपदं नाम गौडोऽन्ध्रो द्रमिल इति गौडान्ध्रद्रमिलभाषानामधामत्वात्। प्रमाणपदानि शतं सहस्रं द्रोणः खारी पलं तुला कर्षादीनि प्रमाणनाम्ना प्रमेयेषूपलम्भात्।...उपचितावयवनिबन्धनानि यथा गलगण्डः शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि। अपचितावयवनिबन्धनानि यथा, छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि।...द्रव्यसंयोगपदानि, यथा, इन्द्रः गोपः दण्डी छत्री गर्भिणी इत्यादीनि द्रव्यसंयोगनिबन्धनत्वात् तेषां। नासिपरशवादयस्तेषामादानपदेऽन्तर्भावात्।...

क्षेत्रसंयोगपदानि, माथुरः वालभः दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि। यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति। कालसंयोगपदानि यथा, शारदः वासन्तक इत्यादीनि। न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि तेषां नामपदेऽन्तर्भावात्। भावसंयोगपदानि, क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि। न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिंहाग्निरावणादीनि नामानि तेषां नामपदेऽन्तर्भावात्। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्यनुपलम्भात्। —गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं। जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्यपदार्थ हैं। वे गौण्यपदार्थ-पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद नाम कहते हैं। जैसे—सूर्यको तपन और भास गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ हैं। जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपद नाम कहते हैं। जैसे—चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम। ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, उन्हें आदानपद नाम कहते हैं।…'पूर्णकलश' इस पदको आदानपद नाम समझना चाहिए।…इस प्रकार 'अविधवा' इस पदको भी विचारकर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।…कुमारी बन्ध्या इत्यादिक प्रतिपक्षनामपद हैं क्योंकि आदानपदमें ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहाँपर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता है। इसलिए आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष कारण होनेसे कुमारी या बन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष पदनाम जानना चाहिए। अनादिकालसे प्रवाह रूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपद नाम कहते हैं जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि। अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है। वह सिद्धान्त जिस नामरूपपदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं। बहुतसे पदार्थोंके होनेपर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं जैसे—आम्रवन निम्बवन इत्यादि। वनमें अन्य अविवक्षित पदोंके रहनेपर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आम्र और निम्बके वृक्षोंके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं। जो भाषाके भेदसे बोले जाते हैं उन्हें नामपद नाम कहते हैं जैसे—गौड़, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि। गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाएँ प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपद नाम कहते हैं। जैसे—सौ, हजार, द्रोण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि। ये सब प्रमाणपद प्रमेयोंमें पाये जाते हैं।…रोगादिके निमित्त मिलनेपर किसी अवयवके बढ़ जानेसे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें उपचितावयवपद नाम कहते हैं। जैसे—गलगंड, श्लीपद, लम्बकर्ण इत्यादि। जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें अपचितावयवपद नाम कहते हैं। जैसे—छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम।…धन्य, गौध, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि द्रव्य संयोगपद नाम हैं, क्योंकि धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं। असि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपद नाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमें अन्तर्भाव होता है।…माथुर, वालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपद नाम हैं, क्योंकि माथुर आदि संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं। जब माथुर आदि संज्ञाएँ नाम रूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है अन्यथा नहीं। शारद वासन्त इत्यादि काल संयोगपद नाम हैं। क्योंकि शरद और वसन्त ऋतुके संयोगसे यह संज्ञाएँ व्यवहारमें आती हैं। किन्तु वसन्त शरद हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका कालसंयोगपद नामोंमें ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है। क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं। किन्तु जिनमें स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञाएँ भावसंयोगपद रूप नहीं हो सकती हैं, क्योंकि उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है। उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम पाये जाते हैं। (ध. ९/४,१,४५/१३५/४), (क. पा. १/१,१/§२४/३१/१)।

६. श्रुतज्ञानके भेदोंमें कथित पदनामा ज्ञान व इस 'पद' ज्ञानमें अन्तर

ध. ६/१, ९-१,१४/२१/१ कुदो एदस्स पदसण्णा। सोलहसयचोत्तीसकोडीओ तेसीदिलक्खा अट्ठहत्तरिसदअट्ठासीदिअक्खरे घेत्तूण एगं दव्वसुदपदं होदि। एदेहिंतो उप्पण्णभावसुदं पि उवयारेण पदं ति उच्चदि। —प्रश्न—इस प्रकारसे इस (अल्पमात्र) श्रुतज्ञानके (पाँचवें भेदकी) 'पद' यह संज्ञा कैसे है? उत्तर—सोलह सौ चौंतीस करोड़, तेरासी लाख, अठहत्तर सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोंको लेकर द्रव्य श्रुतका एक पद होता है। इन अक्षरोंसे उत्पन्न हुआ भाव श्रुत भी उपचारसे 'पद' ऐसा कहा जाता है।

पदज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पदधन—सर्वधन। दे०—गणित/II/५/३।

पदविभागी आलोचना—दे० आलोचना/१।

पदविभागी समाचार—दे० समाचार।

पदसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पदस्थध्यान—स्वर व्यंजनादिके अक्षर या 'ॐ ह्रीं' आदि बीज मन्त्र अथवा पंचपरमेष्ठीके वाचक मन्त्र अथवा अन्य मन्त्रोंको यथा विधि कमलोंपर स्थापित करके अपने नाभि हृदय आदि स्थानोंमें चिन्तवन करना पदस्थ ध्यान है। इससे ध्याताका उपयोग स्थिर होता है और अभ्यास हो जानेपर अन्तमें परमध्यानकी सिद्धि होती है।

१. पदस्थध्यानका लक्षण

द्र. सं./टी./४८/२०५ में उद्धृत—पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थं।—मन्त्र वाक्योंमें जो स्थित है वह 'पदस्थध्यान' है। (प. प्र./टी./१/६/६ पर उद्धृत); (भा. पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

ज्ञा./३८/१ पदान्यवलम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ।१। —जिसको योगीश्वर पवित्र मन्त्रोंके अक्षर स्वरूप पदोंका अवलम्बन करके चिन्तवन करते हैं, उसको नयोंके पार पहुँचने वाले योगीश्वरोंने पदस्थ ध्यान कहा है ।१।

वसु. श्रा./४६४ जं झाइज्जइ उच्चरिऊण परमेट्ठिमंतपयममलं। एयक्खरादि विविहं पयत्थझाणं मुणेयव्वं ।४६४। —एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके पंच परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रपदोंका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए ।४६४। (गुण. श्रा./२१२) (द्र. सं. मू./४९/२०७)।

द्र. सं./टी./५०-५५ की पातनिका—'पदस्थध्यानध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूपं दर्शयामीति। —पदस्थध्यानके ध्येय जो श्री अर्हंत सर्वज्ञ हैं उनके स्वरूपको दिखलाता हूँ। (इसी प्रकार गाथा ५१ आदिकी पातनिकामें सिद्धादि परमेष्ठियोंके लिए कही है।)

नोट—पंचपरमेष्ठी रूप ध्येय। दे०—ध्येय।

२. पदस्थ ध्यानके योग्य कुछ मन्त्रोंका निर्देश

१. एकाक्षरी मन्त्र—१. 'अ' (ज्ञा./३८/६१); (द्र. सं./टी. ४९) २. प्रणव मन्त्र 'ॐ' (ज्ञा./३८/३१); (द्र. सं./टी./४९)। ३. अनाहत

मन्त्र 'ह्रं' (ज्ञा./३८/७-८)। ४. माया वर्ण 'ह्रीं' (ज्ञा./३८/६७)। ५. 'क्ष्वीं' (ज्ञा./३८/८१)। ६. 'स्त्रीं' (ज्ञा./३८/९०)। २. दो अक्षरीमन्त्र—१. 'अर्हं' (म. पु./२१/२३१); (वसु. श्रा./४६५); (गुण. श्रा./२३३); (ज्ञा. सा./२१); (आत्मप्रबोध/११८-११९) (त. अनु./१०१)। २. 'सिद्ध' (ज्ञा./३८/५२) (द्र. सं./टी./४९)। ३. चार अक्षरी मन्त्र—'अरहंत' (ज्ञा./३८/५१) (द्र. सं./टी./४९)। ४. पंचाक्षरी मन्त्र—१. 'अ. सि. आ. उ. सा.' (वसु.श्रा./४६६); (गु. श्रा/२३४) (त. अनु./१०२); (द्र. सं./टी./४९) २. ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः, अ. सि. आ. उ. सा नमः (ज्ञा./३८/५५)। ३. 'णमो सिद्धाणं' या 'नमः सिद्धेभ्यः' (म. पु./२१/२३३); (ज्ञा./३८/६१)। ५. छः अक्षरी मन्त्र—१. 'अरहंतसिद्ध' (ज्ञा./३८/५०) (द्र. सं./टी./४९)। २. अर्हद्भ्यो नमः (म. पु./२१/२३२)। ३. 'ॐ नमो अर्हते' (ज्ञा./३८/६३)। ४. 'अर्हद्भ्यः नमोऽस्तु', 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' या 'नमो अर्हत्सिद्धेभ्यः' (त. अनु./भाषा/१०८) ६. सप्ताक्षरी मन्त्र—१. 'णमो अरहंताणं' (ज्ञा./३८/४०,६५,८५); (त. अनु./१०४)। २. नम. सर्वसिद्धेभ्यः (ज्ञा./३८/११०)। ७. अष्टाक्षरी मन्त्र—'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' (म.पु./२१/२३४) ८. १३ अक्षरी मन्त्र—अर्हत्सिद्धसयोगकेवली स्वाहा (ज्ञा./३८/५८)। ९. १६ अक्षरी मन्त्र—'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः' (म. पु./२१/२३५); (ज्ञा./३८/४८); (द्र. सं./टी./४९)। १०. ३५ अक्षरी मन्त्र—'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' (द्र. सं./टी./४९)।

३. पदस्थध्यानके योग्य अन्य मन्त्रोंका निर्देश

१. 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः' (ज्ञा./३८/६०)। २. 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंसः' (ज्ञा./३८/८९)। ३. चत्तारि मंगलं। अरहन्त मंगलं सिद्धमंगलं। साहुमंगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्त लोगुत्तमा। सिद्ध लोगुत्तमा। साहु लोगुत्तमा। केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंत सरणं पव्वज्जामि। सिद्धसरणं पव्वज्जामि। साहुसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि (ज्ञा./३८/५७)। ४. 'ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा' (ज्ञा./३८/९१) ५. 'ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हताणं ह्रीं नमः' (ज्ञा./३८/९९) ६. पापभक्षिणी मन्त्र—ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनी पापात्मक्षयंकरि-श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा। (ज्ञा./३८/१०४)।

ज्ञा./३८/१११ इसी प्रकार अन्य भी अनेकों मन्त्र होते हैं, जिन्हें द्वादशांगसे जानना चाहिए।

४. मूल मन्त्रोंकी कमलोंमें स्थापना विधि

१. सुवर्ण कमलकी मध्य कर्णिकामें अनाहत (हं) को स्थापना करके उसका स्मरण करना चाहिए। (ज्ञा./३८/१०)। २. चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें 'अ' तथा चारों पत्तोंपर क्रमसे 'सि.आ.उ.सा.' की स्थापना करके पंचाक्षरी मन्त्रका चिन्तवन करें। (वसु.श्रा./४६६) ३. अष्टदल कमल पर कर्णिकामें 'अ' चारों दिशाओंवाले पत्तोंपर 'सि.आ.उ.सा.' तथा विदिशाओंवाले पत्तोंपर दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपके प्रतीक 'द.ज्ञा.चा.त' की स्थापना करे। (वसु.श्रा./४६७-४६८) (गुण. श्रा./२३५-२३६)। २. अथवा इन सब वर्णोंके स्थानपर णमो अरहन्ताणं आदि पूरे मन्त्र तथा सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः आदि पूरे नाम लिखे। (ज्ञा./३८/३९-४०) ३. कर्णिकामें 'अर्हं' तथा पत्र लेखाओंपर पंचनमोकार मन्त्रके वलय स्थापित करके चिन्तवन करे (वसु.श्रा./४७०-४७१); (गु.श्रा./२३८-२३९)।

५. ध्येयभूत वर्णमातृका व उसकी कमलोंमें स्थापना विधि

ज्ञा./३८/२ अकारादि १६ स्वर और ककारादि ३३ व्यंजनपूर्ण मातृका हैं। (इनमें 'अ' या 'स्वर' ये दोनों तो १६ स्वरोंके प्रतिनिधि हैं। क,च,ट,त,प, ये पाँच अक्षर कवर्गादि पाँच वर्णोंके प्रतिनिधि हैं। य 'और श' ये दोनों क्रमसे य,र,ल,व चतुष्क और श,ष,स,ह चतुष्क के प्रतिनिधि हैं। १. चतुर्दल कमलमें १६ स्वरोंके प्रतीक रूपसे कर्णिकापर 'अ' और चारों पत्तोंपर 'इ,उ,ए,ओ' की स्थापना करे। (त.अनु./१०३) २. अष्टदल कमलके पत्तोंपर 'य,र,ल,व,श,ष,स,ह' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करें। (ज्ञा./३८/५) २. कर्णिकापर 'अर्हं' और आठों पत्तोंपर स्वर व व्यंजनोंके प्रतीक रूपसे 'स्वर, क, च,ट,त,प,य,श,' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करें। (त.अनु./१०५-१०६। ३. १६ दल कमलके पत्तोंपर 'अ,आ, आदि १६ स्वरोंकी स्थापना करे। (ज्ञा./३८/३) ४. २४ दल कमलकी कर्णिका तथा २४ पत्तोंपर क्रमसे 'क' से लेकर 'म' २५ वर्णोंकी स्थापना करे। (ज्ञा./३८/४)।

६. मन्त्रों व कमलोंकी शरीरके अंगोंमें स्थापना

दे.ध्यान/३/३ (शरीरमें ध्यानके आश्रयभूत १० स्थान हैं—नेत्र, कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भौंहें। इनमेंसे किसी एक या अधिक स्थानोंमें अपने ध्येयको स्थापित करना चाहिए। यथा—

ज्ञा./३८/१०८-१०९ नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ।१०८। सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे। आकारं कण्ठकञ्जस्थे स्मरोंकारं हृदि स्थितम् ।१०९। =पंचाक्षरी मन्त्रके 'अ' को नाभिकमलमें 'सि' को मस्तक कमलमें, 'आ' को कण्ठस्थ कमलमें, 'उ' का हृदयकमलमें, और 'सा' को मुखस्थ कमलमें स्थापित करे।

त अनु./१०४ सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुख-रन्ध्रेषु सप्तसु। गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ।१०४। =सप्ताक्षरी मन्त्र (णमो अरहंताणं) के अक्षरोंको क्रमसे दोनों आँखों, दोनों कानों, नासिकाके दोनों छिद्रों व जिह्वा इन सात स्थानोंमें स्थापित करें।

७. मन्त्रों व वर्णमातृकाकी ध्यान विधि

१. अनाहत मन्त्र ('ह्रं') की ध्यान विधि

ज्ञा./३८/ १०,१६-२१,२८ कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्। गगनमनुसरन्तं संचरन्तं हरित्सु, स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ।१०। स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे। तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः ।१६। स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम्। भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ।१७। संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले। छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ।१८। अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः। तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत ।२०। इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा। नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ।२१। क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मनः। दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ।२८। =हे मुनीन्द्र ! सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, मल तथा कलङ्कसे रहित, शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक, आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्रके सदृश इस मन्त्रराजका स्मरण करें।१०। धैर्यका धारक योगी कुम्भक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भौंहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके

छिद्रसे गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जलसे झरता हुआ।१६। नेत्रकी पलकोंपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोंमें स्थिति करता तथा ज्योतिषियोंके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्द्धा करता हुआ।१७। दिशाओंमें संचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलंकके समूहको छेदता हुआ, संसारके भ्रमको दूर करता हुआ।१८। तथा परम स्थानको (मोक्षस्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्ष लक्ष्मीसे मिलाप करता हुआ ध्यावै।१९। ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीकी शरण न लेकर, इसहीमें साक्षात् तल्लीन मन करके, स्वप्नमें भी इस मन्त्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ़ होकर ध्यावै।२०। ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करै।२१। तत्पश्चात् क्रमसे (लखने योग्य वस्तुओंसे) छुड़ाकर अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अन्तरंगमें अक्षय तथा इन्द्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है।२८। (ज्ञा./२९/८२/८३) (विशेष दे. ज्ञा./सर्ग २९)।

२. प्रणव मन्त्रकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८/३३-३५ हृत्कञ्जकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम्। स्फीतमत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम्।३३। प्रक्षरन्मूर्ध्निसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम्। महाप्रभावसंपन्नं कर्मकक्षहुताशनम्।३४। महातत्त्वं महाबीजं महामन्त्रं महत्पदम्। शरच्चन्द्रनिभं ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत्।३५। —ध्यान करनेवाला संयमी हृदय कमलकी कर्णिकामें स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे वेढ़ा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्योंके इन्द्रोंसे पूजित तथा झरते हुए मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी (लेखा) रेखाके अमृतसे आर्द्रित, महाप्रभाव सम्पन्न, कर्म रूपी वनको दग्ध करनेके लिए अग्नि समान ऐसे इस महातत्त्व, महाबीज, महामन्त्र महापदस्वरूप तथा शरद्के चन्द्रमाके समान गौर वर्णके धारक 'ओं' को कुम्भक प्राणायामसे चिन्तवन करे।३३-३५।

३. मायाक्षर (ह्रीं) की ध्यान विधि

ज्ञा./३८/६८-७० स्फुरन्तमतिस्फीतं प्रभामण्डलमध्यगम्। संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्तं कर्णिकोपरि।६८। भ्रमन्तं प्रतिपत्रेषु चरन्तं वियति क्षणे। छेदयन्तं मनोध्वान्तं स्रवन्तममृताम्बुभिः।६९। व्रजन्तं तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे। ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनिः।७। —मायाबीज 'ह्रीं' अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्ज्वल प्रभामण्डलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमलमें संचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिकाके ऊपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमलके आठों दलोंपर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षण भरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके अज्ञान अन्धकारको दूर करता हुआ, अमृतमयी जलसे चूता हुआ तथा तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौंहोंकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे माया वर्णका चिन्तवन करें।

४. प्रणव, शून्य व अनाहत इन तीन अक्षरोंकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८/८६-८७ यदत्र प्रणवं शून्यमनाहतमिति त्रयम्। एतदेव विदुः प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम्।८६। नासाग्रदेशसंलीनं कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम्। ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम्।८७। —प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर हैं, इनको बुद्धिमानोंने तीन लोकके तिलकके समान कहा है।८६। इन तीनोंको नासिकाके अग्र भागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमा आदिक आठ ऋद्धियोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चात् अति निर्मल केवलज्ञानको प्राप्त होता है।८७।

५. आत्मा व अष्टाक्षरी मन्त्रकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८-९५-९८ दिग्दलाष्टकसंपूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम्। स्मरत्यात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्करम्।९५। प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम्। विचिन्तयति पत्रेषु वर्णैकैकमनुक्रमात्।९६। अधिकृत्य दलं पूर्वं सर्वाशासंमुखः परम्। स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम्।९७। प्रत्यहं प्रतिपत्रेषु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात्। अष्टरात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामलमानसः।९८। —आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रोंसे पूर्णकमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करे।९५। प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मन्त्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्र पर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिन्तवन करै वे अक्षर 'ॐ णमो अरहंताणं' ये हैं।९६। इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व दिशाओंके सम्मुख होकर इस अष्टाक्षर मन्त्रको ग्यारह सै बार चिन्तवन करै।९७। इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्व दिशादिकके अनुक्रमसे आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न होकर जपै।९८।

६. अन्तमें आत्माका ध्यान करे

ज्ञा./३८/११६ विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्। स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्।११६। —मन्त्रपदोंके अभ्यासके पश्चात् विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अतिनिर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चितवन करै।११६।

८. धूम ज्वाला आदिका दीखना

ज्ञा./३८/७४-७७ ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भिः स्थिराशयः। मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्तिं प्रपश्यति।७४। ततः संवत्सरं यावत्तथैवाभ्यस्यते यदि। प्रपश्यति महाज्वालां निःसरन्तीं मुखोदरात्।७५। ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी। ध्यायन्पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम्।७६। अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रमः। श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते।७७। —तत्पश्चात् वह ध्यानी स्थिरचित्त होकर, निरन्तर अभ्यास करनेपर छह महीनेमें अपने मुखसे निकली हुई धूयेंको वर्तिका देखता है।७४। यदि एक वर्ष पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करै तो मुखमेंसे निकलती हुई महाग्निकी ज्वालाको देखता है।७५। तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलंबित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता-करता सर्वज्ञके मुख कमलको देखता है।७६। यहाँसे आगे वही ध्यानी अनिवारित आनन्दसे तृप्त है आत्मा जिसका और जीता है दुख जिसने ऐसा होकर, श्रीमत्सर्वज्ञदेवको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।७७।

९. पदस्थ ध्यानका फल व महिमा

ज्ञा./३८/श्लोक नं. अनाहत 'हं' के ध्यानसे इष्टकी सिद्धि।२२। शुद्धि, ऐश्वर्य, आज्ञाकी प्राप्ति तथा।२७। संसारका नाश होता है।३०। प्रणव अक्षरका ध्यान गहरे सिन्दूरके वर्णके समान अथवा मूँगेके समान किया जाय तो मिले हुए जगत्को क्षोभित करता है।३६। तथा इस प्रणवको स्तम्भनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चितवन करै और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलके समान काला तथा वश्यादि प्रयोगमें रक्त वर्ण और कर्मोंके नाश करनेमें चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण ध्यान करै।३७। मायाक्षर ह्रींके ध्यानसे—लोकाग्र स्थान प्राप्त होता है।८०। प्रणव, अनाहत व शून्य ये तीन अक्षर तिहुं लोकके तिलक हैं।८६। इनके ध्यानसे केवलज्ञान प्रगट होता है।८८। 'ॐ णमो अरहन्ताणं' का आठ रात्रि ध्यान करनेसे क्रूर जीव जन्तु भयभीत हो अपना गर्व छोड़ देते हैं।९९।

पदानुसारि ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

पदार्थ—न्या. सू./२/२/६३/१४२ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ।६३। —'व्यक्ति', 'आकृति', और 'जाति' ये सब मिलकर पदका अर्थ (पदार्थ) होता है।

न्या. वि./टी./१/७/१४०/१५ अर्थोऽभिधेयः पदस्यार्थः पदार्थः ।—अर्थ अर्थात् अभिधेय। पदका अर्थ सो पदार्थ। (अर्थात् सामान्य रूपसे जो कुछ भी शब्दका ज्ञान है या शब्दका विषय है वह शब्द 'पदार्थ' शब्दका वाच्य है।

प्र. सा./त. प्र./९३ इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव ...द्रव्यमय...गुणात्मका...पर्यायात्मका। —इस विश्वमें जो जाननेमें आनेवाला पदार्थ है वह समस्त द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय है।

१. नव पदार्थ निर्देश

पं. का./मू./१०८ जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं। संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा ।१०८। —जीव और अजीव दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा उन दोके पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष वह (नव) पदार्थ हैं ।१०८। (गो. जी./मू./६२१/१०७५); (द. पा./टी./१९/१८)।

न. च. वृ./१६० जीवाइ सत्तत्वं पण्णत्तं जे जहत्थरूवेण। तं चेव णवपयत्था सपुण्णपावा पुणो होंति ।१६०। —जीवादि सप्त तत्त्वोंको यथार्थ रूपसे कहा गया है, उन्हींमें पुण्य और पाप मिला देनेसे नव पदार्थ बन जाते हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. नव पदार्थका विषय—दे० तत्त्व।

२. नव पदार्थ श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान—दे० सम्यग्दर्शन/II

३. द्रव्यके अर्थमें पदार्थ—दे० द्रव्य।

४. शब्द अर्थ व ज्ञानरूप पदार्थ—दे० नय/I/४।

पद्धति—Method (ध. ५/प्र. २७)

पद्धति—१ पद्धतिका लक्षण

क. पा. २/१,२२/§२९/१४/१ सुत्तवित्तिविवरणाए पद्धईववएसादो।—सूत्र और वृत्ति इन दोनोंका जो विवरण है, उसको पद्धति संज्ञा है।

२. आगम व अध्यात्म पद्धतिमें अन्तर

१. आगम व अध्यात्म सामान्यकी अपेक्षा

पं. का./ता. वृ./१७३/२५५/११ अर्थ पदार्थानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते...वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते। —जिसमें अभेद रत्नत्रयके प्रतिपादक अर्थ और पदार्थोंका व्याख्यान किया जाता है उसको अध्यात्म शास्त्र कहते हैं।...वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छः द्रव्यों आदिका सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान, तथा व्रतादिके अनुष्ठान रूप रत्नत्रयके स्वरूपका जिसमें प्रतिपादन किया जाता है उसको आगम शास्त्र कहते हैं।

द्र. सं./टी./१३/४०/६ पुढविजलतेउवाऊ इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीयगाथापदत्रयेण च "गुणजीवापज्जत्ती पाणासण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया ।१।" इति गाथाप्रभृति कथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रयबीजपदं सूचितम्। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्वप्रकाशकं तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसाराभिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति।—'पुढवीजलतेउवाऊ' इत्यादि गाथाओं और तीसरी गाथा 'णिक्कम्मा अट्ठगुणा' के तीन पदोंसे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोगोंसे इस प्रकार क्रमसे बीस प्ररूपणा कही हैं ।१। इत्यादि गाथामें कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ हैं उनके बीजपदकी सूचना ग्रन्थकारने की है। 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस तृतीय गाथाके चौथे पादसे शुद्ध आत्म तत्त्वके प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीनों प्राभृतोंका बीजपद सूचित किया है।

गो. जी./जी. प्र./२११/६४१/२ अत्राहेतुवादरूपे आगमे हेतुवादस्यानधिकारात्।—अहेतुवादरूप आगमविषैं हेतुवादका अधिकार नाहीं। इहाँ तो जिनागम अनुसारि वस्तुका स्वरूप कहनेका अधिकार जानना।

सु. पा./पं. जयचन्द/६/५४/५ तहाँ सामान्य विशेषकरि सर्व पदार्थनिका निरूपण करिये है सो आगम रूप (पद्धति) है। बहुरि जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करिये सो अध्यात्म है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमल—समयसारादि ग्रन्थ अध्यात्म है और आगमकी चर्चा गोम्मटसारमें है।

परमार्थ वचनिका पं. बनारसीदास—द्रव्य रूप तो पुद्गल (कर्मों) के परिणाम हैं, और भाव रूप पुद्गलाकार आत्माकी अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम है। यह दोनों परिणाम आगमरूप स्थापें। द्रव्यरूप तो जीवत्व (सामान्य) परिणाम है और भावरूप ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण (विशेष) परिणाम है। यह दोनों परिणाम अध्यात्मरूप जानने।

२. पंच भावोंकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ./३२०/४०८/२१ आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। —आगम भाषासे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भाव कहे जाते हैं। और अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, या शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नामको प्राप्त होते हैं। (द्र. सं./टी./४५/१९४/१)।

द्र. सं./अधिकार २ की चूलिका/८४/४ आगमभाषया...भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य संबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्यायनामान्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिकं वेति। —आगम भाषासे भव्यत्व संज्ञाधारक जीवके पारिणामिक भावसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है और अध्यात्म भाषा द्वारा द्रव्य शक्ति रूप शुद्धभावके विषयमें भावना कहते हैं। अन्य पर्याय नामोंसे इसी द्रव्य शक्ति रूप पारिणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प ध्यान, तथा शुद्ध उपयोगादिक कहते हैं।

३. पंचलब्धिकी अपेक्षा

पं. का./ता. वृ./१५१/२१७/१४ यदायं जीवः आगमभाषया कालादिलब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते तदा...सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा...पराश्रितधर्मध्यानबहिरङ्गसहकारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावना - स्वरूपमात्माश्रितं धर्मध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेण शुक्लध्यानमनुभूय...आवश्यकं प्राप्नोतीति। —जब यह जीव आगम भाषासे कालादि लब्धि रूप और अध्यात्म भाषासे शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप स्व संवेदन ज्ञानको प्राप्त करता है तब...सराग सम्यग्दृष्टि होकर पराश्रित धर्मध्यानकी बहिरंग सहकारि कारण रूप जो 'अनन्त ज्ञानादि स्वरूप मैं हूँ' इत्यादि भावना स्वरूप आत्माश्रित धर्मध्यानको प्राप्त करके आगम

चरित क्रमसे शुक्लध्यानको अनुभव करते हुए···भावमोक्षको प्राप्त करता है। (द्र. सं./टी./३५/१५६/३)।

द्र. सं./टी./४१/१६६/११ समवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागम-भाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतं। —(इन्द्रभूति जब) समवसरणमें गये तब मानस्तंभके देखने मात्रसे ही आगम-भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्ध आत्माके सम्मुख परिणाम तथा कालादि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया। (द्र. सं./टी./४५/१६४/६)।

४. सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ./१४५/२०८/१० अध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणम्। —अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माकी भावनाके बिना और आगम भाषासे वीतराग सम्यक्त्वके बिना व्रत दानादिक पुण्यबंधके ही कारण हैं, मुक्तिके कारण नहीं।

द्र. सं./टी./३८/१५६/४ परमागमभाषया···पञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम्। —परमागम भाषासे पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन और अध्यात्म भाषासे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार जो रुचि है उस रूप सम्यक्त्वकी भावना ही मुख्य है। ऐसा जानना चाहिए।

५. ध्यानकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ./२१५/२६५/१३ (अध्यात्मभाषया) परमार्थशब्दाभिधेयं···शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपम्। —(अध्यात्म भाषासे) परमार्थ शब्दका वाच्य शुद्धात्म संवित्ति है लक्षण जिसका उसे ही परमागम भाषासे वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हैं।

पं. का./ता. वृ./१५०/२१६/१७ (अध्यात्मभाषया) शुद्धात्मानुभूतिलक्षण-निर्विकल्पसमाधिसाध्यागमभाषया रागादिविकल्परहितशुक्लध्यान-साध्यो वा। —(अध्यात्म भाषासे) शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि साध्य है, और आगम भाषासे रागादि विकल्प रहित शुक्लध्यान साध्य है। (प. प्र./टी./२/१/६/२)।

द्र. सं./टी./४८/२०१,२०४ ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदाः ।२०१। अध्यात्मभाषया पुनः सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहम् इत्यादिरूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते। तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षणं शुक्लध्यानमिति। —आगम भाषाके अनुसार ध्यानके नाना प्रकारके भेद हैं ।२०१।···अध्यात्म भाषासे सहज-शुद्ध-परम चैतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्दका धारी भगवान् निजात्मा है, उसमें उपादेय बुद्धि करके, फिर 'मैं अनन्त ज्ञानका धारक हूँ' इत्यादि रूपसे अन्तरंग धर्मध्यान है।···उसी प्रकार निज शुद्धात्मामें निर्विकल्प ध्यानरूप शुक्लध्यान है।

६. चारित्रकी अपेक्षा

पं. का./ता. वृ./१६८/२२८/१५ [अध्यात्मभाषया] निजशुद्धात्मसंवित्त्यनुचरणरूपं परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसंज्ञं स्वचरितं चरति अनुभवति। —(अध्यात्मभाषासे) निज शुद्धात्माकी संवित्ति रूप अनुचरण स्वरूप, परमागम भाषासे वीतराग परम सामायिक नामके स्वचारित्रको चरता है, अनुभव करता है।

पं. का./ता. वृ./१७१/२४४/११ यः कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया मोक्षं वा व्रततपश्चरणादिकं करोति। —जो कोई (अध्यात्म-भाषासे) शुद्धात्माको उपादेय करके, आगम भाषासे मोक्षको आदेय करके व्रत तपश्चरणादिक करता है···।

७. तर्क व सिद्धान्त पद्धतिमें अन्तर

द्र. सं./टी./४४/१८६/४ तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शनं व्याख्यातम्। सिद्धान्ताभिप्रायेण···उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्तं यत् प्रयत्नं तद्रूपं यत् स्वस्यात्मनः परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। —तर्कके अभिप्रायसे सत्तावलोकनदर्शनका व्याख्यान किया। सिद्धान्तके अभिप्रायसे आगे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न रूप जो आत्माका अवलोकन वह दर्शन कहलाता है।

द्र. सं./टी./४४/१९१/३ तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं स्थूलव्याख्यानं···सिद्धान्ते पुनः स्वसमयव्याख्यानं मुख्यवृत्त्या··· सूक्ष्मव्याख्यानम्···। —तर्कमें मुख्यतासे अन्यमतोंका व्याख्यान होता है। स्थूल अर्थात् विस्तृत व्याख्यान होता है। सिद्धान्तमें मुख्यतासे निज समयका व्याख्यान है, सूक्ष्म व्याख्यान है।

८. उत्सर्ग व अपवाद व्याख्यानमें अन्तर

पं. का./ता. वृ./१४६/२१२/६ सकलश्रुतधारिणां ध्यानं भवति तदुत्सर्गवचनं, अपवादव्याख्याने तु पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकश्रुतिपरिज्ञानमात्रेणैव केवलज्ञानं जायते।···वज्रवृषभनाराचसंज्ञप्रथमसंहननेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनं अपवादव्याख्यानं पुनरपूर्वादिगुणस्थानवर्तिनां उपशमक्षपकश्रेण्योर्यच्छुक्लध्यानं तदपेक्षया स नियमः अपूर्वादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्याने निषेधकं न भवति। —सकल श्रुतधारियोंको ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है, अपवाद व्याख्यानसे तो पाँच समिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रके ज्ञानसे भी केवलज्ञान होता है।···वज्रवृषभनाराच नामकी प्रथम संहननसे ही ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है। अपवाद रूप व्याख्यानसे तो अपूर्वादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके उपशम व क्षपक श्रेणीमें जो शुक्लध्यान होता है उसकी अपेक्षा यह नियम है। अपूर्वकरण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानोंमें धर्मध्यानका निषेध नहीं होता है। (द्र. सं./टी./५७/२३२/५)।

★ चारों अनुयोगोंकी कथन पद्धतिमें अन्तर

पद्धति-टीका— दे. परिशिष्ट। —दे० अनुयोग/१।

पद्म—१. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। २. अपरविदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२ ३. कालका एक प्रमाण —दे० गणित/I/१/४। ४. ९वाँ बलदेव था। अपरनाम राम था—दे० राम। ५. ९वाँ बलदेव था। अपरनाम बल था।—दे० शलाकापुरुष/३। ६. म. पु./६६/श्लोक नं. पूर्व भव नं. २ में श्रीपुर नगरके राजा प्रजापाल थे (७३)। फिर अच्युत स्वर्गमें देव हुए (७४)। वर्तमान भवमें ९वें चक्रवर्ती हुए। (अपरनाम महापद्म था (ह. पु./२०/१४)। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/२।

पद्मकीर्ति—पासणाहचरिउ (अपभ्रंश) के रचयिता सेनसंघी भट्टारक। गुरु-जिनसेन। समय- शक ९९९ (ई. १०७७) (ती./३/२०५)।

पद्मकूट—१. पूर्व विदेहस्थ एक वक्षारगिरि—दे० लोक/५/३ २. पूर्व विदेहस्थ पद्मकूट वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४ ३. कुण्डलवर पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१२ ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३ ५. विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

पद्मगुल्म—म. पु./५६/श्लोक विदेह क्षेत्रस्थ वत्स देशकी सुसीमा नगरीके राजा थे (२-३)। चन्दन नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली (१५-१६)। विपाकसूत्र तक सब अंगोंका अध्ययन किया तथा चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।

तत्पश्चात् आरण स्वर्गमें देव हुआ (१७-१८)। यह शीतलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० तीर्थंकर।

पद्म(देव)—१.पद्मकूट वक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक५/४
२. श्रद्धानवान् वक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक५/४
३. रम्यकक्षेत्रका नाभिगिरि—दे० लोक/५/३
४. दक्षिण पुष्करार्ध द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यंतर/४।
५. कुण्डल पर्वतस्थ रजतकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/५/१२।

पद्मनंदि—दिगम्बर जैन आम्नायमें पद्मनन्दि नामके अनेकों आचार्य हुए हैं। १. कुन्दकुन्दका अपर नाम (समय—वि० १८४-२३६ (ई० १२७-१७६)। दे० कुन्दकुन्द। (जै०/२/८६) २. नन्दिसंघ के देशीयगण में त्रैकाल्य योगी के शिष्य और कुलभूषण के गुरु थे। प्रमेयकमल मार्तण्ड के कर्ता प्रभाचन्द्र न० ४ इनके सहधर्मा तथा विद्या शिष्य थे। आविद्धकरण तथा कौमारदेव इनके अपर नाम हैं। समय—ई० ९३०-१०५३। (दे० इतिहास/७/५)। (पं. वि./प्र. २८/A.N. Up.) के अनुसार इनका समय ई० ११८५-१२०३ है परन्तु ऐसा मानने से ये न तो प्रभाचन्द्र नं० ४ (ई० ९५०-१०२०) के सहधर्मा ठहरते हैं और न ही माघनन्दि कोल्हापुरीय (ई० ११०८-११३६) के दादा गुरु ही सिद्ध होते हैं। ३. काष्ठा संघ की गुर्वावली के अनुसार आप हेमचन्द्र के शिष्य और यशःकीर्ति के गुरु थे। समय—वि० १००५ (ई० ९४८)। (दे० इतिहास/७/८)। ४. नन्दिसंघ देशीयगण में वीरनन्दि के प्रशिष्य, बालनन्दि के शिष्य और प्रमेयकमल मार्तण्ड के कर्ता प्रभाचन्द्र न ४ के दीक्षा गुरु थे। माघनन्दि के प्रशिष्य श्रीनन्दि के लिये आपने 'जंबूदीव पण्णति' की रचना की थी। कृतियें—जंबूदीव पण्णति, धम्म रसायण, प्राकृत पंच संग्रह की वृत्ति (संस्कृत टीका)। समय—लगभग ई० ९७७-१०४३। (दे० इतिहास/७/५), (जै०/२/८४-८५), (ती०/३/११०)। ५. आ० वीर नन्दि के दीक्षा शिष्य और ज्ञानार्णव रचयिता शुभचन्द्र के शिक्षा शिष्य। कृतियें—पंचविंशतिका (संस्कृत), चरण सार (प्राकृत), धम्मरसायण (प्राकृत)। समय—वि० श० १२, ई० श० ११ का उत्तरार्ध। वि० १२३८ तथा १२४२ के शिला लेखों में आपका उल्लेख आता है। जै०/२/८६/१९२) (ती०/३/१२५, १२६)। ६. त्रैविद्यदेव के शिष्य। समय—वि० १३७३ में स्वर्गवास हुआ। अतः वि० १३१६-१३७३ (ई० १२५९-१३१६)। (पं. वि./प्र २८/A N. Up.), (जै /२/८६)। ७ शुभ चन्द्र अध्यात्मिक के शिष्य। समय—ई १२६३ १३२३। ८. लघु पद्मनन्दि नाम के भट्टारक। कृतियें—निघण्टु वैद्यक श्रावकाचार; यत्याचार कलिकुण्ड पार्श्वनाथ विधान, देवपूजा, रत्नत्रय पूजा, अनन्त कथा, परमात्मप्रकाश की टीका। समय—वि० १३६२ (ई० १३०५)। (जै०/२/८६), (पं०वि०/प्र०२८/A.N. Up), (पं०का०/प्र० २/पं० पन्ना लाल)। ९ शुभ चन्द्र अध्यात्मी के शिष्य। शुभ चन्द्र का स्वर्गवास वि. १३७० में हुआ। तदनुसार उनका समय—वि० १३५०-१३८० (ई १२६३-ई. १३२३)। (पं वि /प्र. २८/A.N. Up.)। १०. नन्दिसंघ बलात्कार गण की दिल्ली गद्दी की गुर्वावली के अनुसार आप प्रभाचन्द्र नं. ७ के शिष्य तथा देवेन्द्रकीर्ति व सकल कीर्तिके गुरु थे। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। गिरनार पर्वत पर इनका श्वेताम्बरों के साथ विवाद चला था जिसमें इन्होंने ब्राह्मी देवी अथवा सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था (शुभचन्द्र कृत पाण्डव पुराण श्ल. १४ तथा शुभचन्द्र की गुर्वावली श्ल. ६३)। (रत्ननन्दि कृत उपदेश तरंगिणी पृ. १४८)। कृतियें—जीरापल्ली पार्श्वनाथ स्तोत्र, भावना पद्धति, अनन्तव्रत कथा, वर्द्धमान चरित्र। समय—वि. १४५० में इन्होंने आदि नाथ भगवान् की प्रतिमा स्थापित कराई थी। अतः वि. १३८५-१४५० (ई. १३२८-१३९३)। (जै /२/२११), (ती./३/३५२)।

पद्मनंदि पंचविंशतिका—आ० पद्मनन्दि (ई०११ का उत्तरार्ध) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित गृहस्थधर्म प्ररूपक ग्रन्थ है। इसमें २५ अधिकार तथा कुल ८०० श्लोक हैं। (ती./३/१२६-१४०)।

पद्मनाभ—भट्टारक गुणकीर्ति के शिक्षा शिष्य, संस्कृत के अधिकृत कवि। कृति—यशोधर चरित। समय—ई. १४०५-१४२५। (ती./४/५४)।

पद्मनाभ—म.पु./५४/श्लोक पूर्व धातकीखण्डमें मंगलावतीदेशके रत्नसंचय नामक नगरके राजा कनकप्रभका पुत्र था (१२१-१३१)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। तथा ग्यारह अंगोंका पारगामी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१५८-१६२)। यह चन्द्रप्रभु भगवान्के पूर्वका दूसरा भव है—दे० चन्द्रप्रभ।

पद्मनाभचरित्र—आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्धग्रन्थ।

पद्मपुराण—पद्मपुराणनामके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं, सभी राम रावणकी कथाके प्रतिपादक हैं।—१. आ. विमल सूरी (ई. श ४) कृत ७ अधिकारों में विभक्त ११८ सर्ग प्रमाण अपभ्रंश काव्य। (ती./२/२५७)। २. आ. कीर्तिधर (ई. ६००) कृत 'रामकथा' के आधार पर आ. रविषेण द्वारा ई. ६७७ में रचित संस्कृत पद्यबद्ध 'पद्म चरित' जो छः खण्डों तथा १२ पर्वों में विभक्त २०,००० श्लोक प्रमाण है (ती /२/१७६) ३. कवि स्वयम्भू (ई. ७३८-८४०) कृत 'पउम चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य, जो ९० सन्धियों में विभक्त १२००० श्लोक प्रमाण है। (ती./४/९८)। ४. कवि रइधू (ई. १४००-१४७९) कृत 'पउम चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य (ती./४/१९८)। ५. चन्द्र कीर्ति भट्टारक (ई. १५९७) कृत 'पद्मपुराण'। (ती./३/४४१)।

पद्मप्रभ—म.पु./५२/श्लोक धातकीखण्डके पूर्व विदेहमें वत्सकादेशकी सुसीमानगरीके अपराजित नामक राजा थे (२-३)। फिर उपरिम ग्रैवेयकके प्रीतिंकरविमानमें अहमिन्द्र हुए (१२-१४)। वर्तमान भवमें छठे तीर्थंकर हुए हैं। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

पद्मप्रभ-मलधारीदेव—वीरनन्दि के शिष्य। कृतियें—पार्श्वनाथ स्तोत्र, नियमसार टीका। समय—वि. १२४२ में स्वर्गवास हुआ, अतः वि श. १३ का द्वि. चरण (ई. ११४०-११८५)। (जै./२/१९१); (ती./३/१४७)।

पद्ममाल—१. सौधर्मस्वर्गका २३वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३; २. सौधर्मस्वर्गके २३वें पटलका इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

पद्मरथ—१. म.पु./६०/श्लोक नं धातकीखण्डमें अरिष्ट नगरीका राजा था (२-३)। धनरथ पुत्रको राज्य देकर दीक्षित हो गया। तथा ग्यारह अंगोंका पाठी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (११)। अन्तमें सल्लेखना पूर्वक मरणकर अच्युत स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (१२) यह अनन्तनाथ भगवान्का दूसरा पूर्वभव है—दे० अनन्तनाथ। २. ह.पु./२०/ श्लोक नं 'हस्तिनापुरमें महापद्म चक्रवर्तीका पुत्र तथा विष्णुकुमारका बड़ा भाई था (१४)। इन्होंने ही सिंहबल राजाको पकड़ लानेसे प्रसन्न होकर बलि आदि मन्त्रियोंको

वर दिया था (१७) । इसी वरके रूपमें बलि आदि मन्त्रियोंने सात दिनका राज्य लेकर अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियोंपर उपसर्ग किया था (२२) ।

पद्मलेश्या—दे० लेश्या ।

पद्मवान्—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७ । २. विकृतवान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७ । ३. पद्मवान् कूटका रक्षक देव । दे० लोक/७ ।

पद्मसिंह—ध्यानविषयक ज्ञानसार ग्रन्थके रचयिता एक मुनि। समय—वि.१०८६ (ई० १०२९) (त.अनु०/१०६ का भावार्थ पं० युगलकिशोर) (ती०/३/२८८) ।

पद्मसेन— १. म.पु./५९/श्लोक पश्चिम धातकीखण्डमें रम्यकावती देशके महानगरका राजा था (२-३) । दीक्षित होकर ११ अंगोंका पारगामी हो गया । तथा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर अन्तमें समाधिपूर्वक सहस्रार स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (८-१०) । यह विमलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० विमलनाथ । २ पञ्चस्तूपसंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१७) आप धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य थे । (म.पु./प्र./३१/पं०) । ३. पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप वीरवितके शिष्य तथा व्याघ्रहस्तके गुरु थे ।—दे० इतिहास/५/१८ ।

पद्मह्रद—हिमवान् पर्वतस्थ एक ह्रद । जिसमेंसे गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन नदियाँ निकलती हैं । श्रीदेवी इसमें निवास करती हैं—दे० लोक/३/९ ।

पद्मांग—कालका एक प्रमाणविशेष—दे० गणित/I/१/४ ।

पद्मा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३ ।

पद्माल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर—दे० विद्याधर ।

पद्मावत—विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४ ।

पद्मावती—१. पूर्व विदेहस्थ रम्यका क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/५/२:२. म.पु./७३/श्लोक अपने पूर्वभव सर्पिणीकी पर्यायमें कमठके जीवके उत्तर भव महीपाल द्वारा लक्कड़के जलानेपर मारी गयी (१०१-१०३) । परन्तु पार्श्वनाथ भगवान्के उपदेशसे शान्तभावपूर्वक मरण करनेसे पद्मावती बनी (११८-११९) । इसीने भगवान् पार्श्वनाथका उपसर्ग निवारण किया था (१३९-१४१) । अतः यह पार्श्वनाथ भगवान्की शासक यक्षिणी है—दे० यक्ष ।

पद्मावती कल्प— मल्लिषेण भट्टारक (ई. श. ११)कृत तान्त्रिक ग्रन्थ ।

पद्मासन—दे० आसन ।

पद्मोत्तर—१. भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे.लोक/५/३; २. कुण्डल पर्वतस्थ रजतप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे. लोक५/१२; ३. रुचक पर्वतके नन्द्यावर्त कूटपर रहनेवाला देव—दे०लोक५/१३, ४.म. पु./५८/श्लोक पुष्करार्ध द्वीपके वत्सकावती देशमें रत्नपुर नगरका राजा था (२) । दीक्षित होकर ११ अंगोंका पारगामी हो गया । तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर आयुके अन्तमें संन्यासपूर्वक मरणकर महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ (११-१३) । यह वासुपूज्य भगवान्का दूसरा पूर्वभव है—दे० वासुपूज्य ।

पनसा—भरतक्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४ ।

पन्नालाल—आप संघी गोत्री एक पण्डित थे । पं० सदासुखदासजी-के आप शिष्य थे । रतनचन्दजी वैद्य दूनीवालेके पुत्र थे । कृतियाँ—१. राजवार्तिककी भाषावचनिका; २, उत्तरपुराणकी भाषावच-निका; ३.—२७००० श्लोकप्रमाण विद्वद्जन बोधक; ४. सरस्वती पूजा आदि । पं० सदासुखदासजी (ई०१७९५-१८६७)के अनुसार आपका समय—ई० १७७०-१८४०आता है । (अर्थ प्रकाशिका/प्र. ५/ पं. पन्नालाल); (र.क. श्रा./प्र. २४/पं० परमानन्द) ।

परंपरा—१. व्यवहारनिश्चयका परम्परा कारण है । —दे० नय, धर्म आदि वह वह विषय । २. आचार्य परम्परा—दे० इतिहास/४; ३. आगम परम्परा—दे० इतिहास/६ ।

परंपरा बंध—दे० बंध/१ ।

परंपराश्रय हेत्वाभास—दे० अन्योन्याश्रय ।

परंपरोपनिधा—दे० श्रेणी ।

पर—रा. वा./२/३७/१/१४७/२९ परशब्दोऽयमनेकार्थवचनः । क्वचि-द्व्यवस्थायां वर्तते—यथा पूर्वः पर इति । क्वचिदन्यार्थे वर्तते—यथा परपुत्रः परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते । क्वचित्प्राधान्ये वर्तते—यथा परमियं कन्या अस्मिन्कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते । क्वचिदिष्टार्थे वर्तते—यथा परं धाम गत इष्टं धाम गत इत्यर्थः ।

रा. वा./३/६/७/१६७/१७ परोत्कृष्टेति पर्यायौ ।७। —पर शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे—१, कहीं पर व्यवस्था अर्थमें वर्तता है जैसे—पहला, पिछला । २, कहीं पर भिन्न अर्थमें वर्तता है जैसे—'परपुत्र', 'पर-भार्या' । इससे 'अन्यका पुत्र', व 'अन्यकी स्त्री' ऐसा ज्ञान होता है । ३. कहीं पर प्राधान्य अर्थमें वर्तता है जैसे—इस कुटुम्बमें यह कन्या पर है । यहाँ 'प्रधान है' ऐसा ज्ञान होता है । ४. कहीं पर इष्ट अर्थमें वर्तता है जैसे—'परं धाम गत' अर्थात् अपने इष्ट स्थानपर गया ऐसा ज्ञान होता है । ५. पर और उत्कृष्ट ये पर्यायवाची नाम हैं । (प. प्र./ टी./१/२४/२९/८) ।

स्या. मं./४/१८/२७ परत्वं चान्यत्वं तच्चैकान्तभेदाविनाभावि ।

स्या. मं./२७/३०५/२७ परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति ।—परत्व शब्द एकान्तभेदका अविनाभावी है । इसका अर्थ अन्यपना होता है । 'पर'शब्द शत्रु शब्दका पर्यायवाची है ।

पं. ध./उ./३९७ स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।३९७। —ज्ञान युगपत् स्व और अपूर्व अर्थात् पर दोनों ही अर्थोंका ग्राहक है ।

परकृति—न्या. सू./टी./२/१/६३/१०१/४ अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति "अग्ने प्राणाः' पृष-दाज्यस्तोममित्येवमभिदधतीत्येवादि । —जो वाक्य मनुष्योंके कर्मों-में परस्पर विरोध दिखावे उसे 'परकृति' कहते हैं । जैसे—कोई तो वपाको स्रुवेमें रखकर प्रणीता में डालते हैं और कोई घृतको स्रुवासे से प्रणीतामें डालते हैं, और उनकी प्रशंसा करते हैं ।

परक्षेत्र—दे० क्षेत्र/१ ।

परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० परिहारप्रायश्चित्त ।

परघातनामकर्म—स. सि./८/११/३९१/४ यन्निमित्तः परशस्त्रा-देर्व्याघातस्तत्परघातनाम । —जिसके उदयसे परशस्त्रादिकका निमित्त पाकर व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है । (रा. वा./ ८/११/१४/५७८/३); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१९) ।

ध. ६/१,९-१,२८/५९/७ परेषां घातः परघातः । जस्स कम्मस्स उदएण परघादहेदू सरीरे पोग्गला णिप्फज्जंति तं कम्मं परघादं णाम । तं जहा—सप्पदाढासु विसं, विच्छियपुंछे परदुक्खहेउपोग्गलोवचओ, सिंह-वग्घच्छवलादिसु णहदंता, सिंगिवच्छणाहीधत्तूरादओ च पर-घादुप्पायया । —पर जीवोंके घातको परघात कहते हैं । जिस कर्म-के उदयसे शरीरमें परको घात करनेके कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते हैं, वह परघात नामकर्म कहलाता है । (ध./१३/५.५.१०१/३६४/१३) जैसे—साँपकी दाढ़ोंमें विष, बिच्छूकी पूँछमें पर दुःखके कारणभूत पुद्गलोंका संचय, सिंह, व्याघ्र और छवल (शबल-चीता) आदिमें (तीक्ष्ण) नख और दन्त तथा सिंगी, वत्सनाभि और धतूरा आदि विषैले वृक्ष परको दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ।

★ **परघात प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान**—दे० वह वह नाम।

परचतुष्टय—दे० चतुष्टय।

परचारित्र—दे० चारित्र/१।

परतन्त्रवाद—

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

श्वेताश्वतरोपनिषद्/१/२ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनि पुरुषेति चिन्त्यम्। संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतुः।२। —आत्माको यह सुख व दुःख स्वयं भोगनेसे नहीं होते, अपितु काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि चार भूत, योनिस्थान, पुरुष व चित्त इन नौ बातोंके संयोगसे होता है, क्योंकि आत्मा दुःख-सुख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

प्र. सा./त. प्र./परि./नय नं० २६, ३४ अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि।२६। ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ।३४। —आत्मद्रव्य अस्वभावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्माको अस्वभावनयसे संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके) लुहारके द्वारा नोक निकाली गयी हो ऐसे पैने बाणकी भाँति।२६। आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतन्त्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति।

★ **उपादान कारणकी भी कथंचित् परतन्त्रता**—

—दे० कारण/II/३।

परत्वापरत्व—वै. द./७/२/२१/२५०/३ एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च।२१। —परत्व और अपरत्व दो प्रकारसे होते हैं। एक देशसम्बन्धसे दूसरे कालसम्बन्धसे। (स.सि./५/२२/२९२/१०)।

रा. वा./५/२२/२२/४८१/२३ क्षेत्रप्रशंसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे। तत्र क्षेत्रनिमित्ते तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्यां दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थितः परः, ततः अल्पानतीत्य स्थितोऽपरः। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपरः इति। कालहेतुके शतवर्षः परः, षोडशवर्षोऽपर इति। —१. परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी हैं जैसे—दूरवर्ती पदार्थ 'पर' और समीपवर्ती पदार्थ 'अपर' कहा जाता है। २. गुणकृत भी होते हैं जैसे अहिंसा आदि प्रशस्तगुणोंके कारण धर्म 'पर' और अधर्म 'अपर' कहा जाता है। ३. कालकृत भी होते हैं जैसे—सौ वर्षवाला वृद्ध 'पर' और सोलह वर्षका कुमार 'अपर' कहा जाता है।

परद्रव्य—मो. पा./मू./१७ आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ। तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं।१७। —आत्म स्वभावसे अन्य जो कुछ सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक) अचित्त (धन, धान्यादिक) मिश्र (आभूषण सहित मनुष्यादिक) होता है, वह सर्व परद्रव्य है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान्‌ने सत्यार्थ कहा है।१७।

प. प्र./मू./१/११३ जं णियदव्वहं भिण्णु जडु तं पर-दव्वु वियाणि। पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पंचमु जाणि।११३।

प. प्र./टी./२/१०८/२२७/२ रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म शरीरादिनोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासंवृतजनोऽपि परद्रव्यं भण्यते।

प. प्र./टी./२/११०/२२८/१४ अपध्यानपरिणाम एव परसंसर्गः। —जो आत्म पदार्थसे जुदा जड़पदार्थ है, उसे परद्रव्य जानो। और वह परद्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य है उन परद्रव्य जानो।११३। अन्दरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि नोकर्म तथा मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत असंयत जन भी परद्रव्य कहे जाते हैं।१०८। वास्तवमें अपध्यान रूप परिणाम ही परसंसर्ग (द्रव्य) है।११०।

परनिमित्त—दे० निमित्त/१।

परभविक प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बंध/२।

परम—

१. पारिणामिकभावके अर्थमें

न. च. वृ./३५७-३५९ अत्थित्ताइसहावा सुसंठिया जत्थ सामण्णविसेसा। अवरुप्परमविरुद्धा तं णियतच्चं हवे परमं।३५७। होऊण जत्थ णट्ठा होसंति पुणोऽवि जत्थपज्जाया। वट्टंता वट्टंति हु तं णियतच्चं हवे परमं।३५८। णासंतो वि ण णट्ठो उप्पण्णो णेव संभवं जंतो। संतो तियालविसये तं णियतच्चं हवे परमं।३५९। —जहाँ सामान्य और विशेषरूप अस्तित्वादि स्वभाव स्व व पर की अपेक्षा विधि निषेध रूपसे अविरुद्ध स्थित रहते हैं, उसे निज परमतत्त्व या वस्तुका स्वभाव कहते हैं।३५७। जहाँ पूर्वकी पर्याय नष्ट हो गयी हैं तथा भावी पर्याय उत्पन्न होवेंगी, और वर्तमान पर्याय वर्त रही है, उसे परम निजतत्त्व कहते हैं।३५८। जो नष्ट होते हुए भी नष्ट नहीं होता और उत्पन्न होते हुए भी उत्पन्न नहीं होता, ऐसा त्रिकाल विषयक जीव परम निजतत्त्व है।

आ. प./६ पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभावः। —वस्तुमें पारिणामिक भावप्रधान होनेसे वह परमस्वभाव कहलाता है।

नि. सा./ता. वृ./११० पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभावः…स पञ्चमभावः…उदयोदीरणक्षयक्षयोपशमविविधविकारविवर्जितः। अतः कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषां चतुर्णां विभावानामपरमत्वम्। —(भव्यको) पारिणामिक भावरूप स्वभाव होनेके कारण परमस्वभाव है। वह पंचमभाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध विकारोंसे रहित है। इस कारणसे इस एकको परमपना प्राप्त है, शेष चार विभावोंको अपरमपना है।

२. शुद्धके अर्थमें

पं. का./ता. वृ./१०४/१६५/१६ परमानन्दज्ञानादिगुणाधारत्वात्परशब्देन मोक्षो भण्यते। —परम आनन्द तथा ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे 'पर' शब्दके द्वारा मोक्ष कहा जाता है।

प. प्र./टी./१/१३/२१ परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः। —परम अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित।

द्र. सं./टी./४६/१९७/१ 'परमं' परमोपेक्षालक्षणं…शुद्धोपयोगाविनाभूतं परमं 'सम्मचारित' सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। —'परमं' परम उपेक्षा लक्षणवाला (संसार, शरीर असंयमादिमें अनादर) तथा… शुद्धोपयोगका अविनाभूत उत्कृष्ट 'सम्मचारित्त' सम्यग्चारित्र जानना चाहिए।

३. ज्येष्ठ व उत्कृष्टके अर्थमें

ध. ६/४,१,३/४१/६ परमो ज्येष्ठः। —परम शब्दका अर्थ ज्येष्ठ है।

ध. १३/५,५,५९/३२३/१ किं परमम्। असंखेज्जलोगमेत्तसंजमवियप्पा। —यहाँ (परमावधिके प्रकरणमें) परम शब्दसे असंख्यात लोकमात्र संयमके विकल्प अभीष्ट है।

मो. पा./टी./६/३०८/१९ परा उत्कृष्टा क्षयक्षयोपलक्षिता मा लक्ष्मीर्यस्येति परमः अथवा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः

समवशरणविभूतिर्यस्येति परमः। —'परा' अर्थात् उत्कृष्ट और 'मा' अर्थात् प्रत्यक्ष लक्षणसे उपलक्षित प्रमाण, ऐसा उत्कृष्ट प्रमाण (केवलज्ञान) जिसके पाया जाये सो परम है—वे अर्हंत है। अथवा 'पर' अर्थात् अन्य जो भव्यप्राणी 'मा' अर्थात् उनकी उपकार करनेवाली लक्ष्मी रूप समवसरण विभूति, यह जिसके पायी जाये ऐसे अर्हंत परम हैं।

४. एकार्थवाची नाम

न. च. वृ./४ तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा।४। —तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एक अर्थके वाचक हैं।४।

त. अनु./१३६ माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्यं साम्यमस्पृहा। वैतृष्ण्यं परमः शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते।१३६। —माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परम, और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए हैं।१३६।

परम अर्हंत—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम-दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परम एकत्व— ,,

परमर्षि—दे० ऋषि।

परमगुरु—दे० गुरु/१।

परमज्योति—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमतत्त्व— ,,

परमतत्त्वज्ञान— ,,

परमधर्म—दे० धर्म/१।

परमध्यान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमब्रह्म— ,,

परमभावग्राहकनय—दे० नय/IV/२।

परमभेदज्ञान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमविष्णु— ,,

परमवीतरागता— ,,

परमसमता— ,,

परमसमरसीभाव— ,,

परमसमाधि— ,,

परमस्वरूप— ,,

परमस्वास्थ्य— ,,

परमहंस— ,,

परमाणु—पुद्गल द्रव्यके अन्तिम छोटेसे छोटे भागको परमाणु कहते हैं। सूक्ष्मताका द्योतक होनेसे चेतनके निर्विकल्प सूक्ष्म भाव भी कदाचित् परमाणु कह दिये जाते हैं। जैनदर्शनमें पृथिवी आदिके परमाणुओंमें कोई भेद नहीं है। सभी परमाणु स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णवाले होते हैं। स्पर्श गुणकी हलकी, भारी या कठोर नरमरूप पर्याय परमाणुमें नहीं पायी जाती है, क्योंकि वह संयोगी द्रव्यमें ही होनी सम्भव है। इनके परस्पर मिलनेसे ही पृथिवी आदि तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। आदि, मध्य व अन्तकी कल्पनासे अतीत होते हुए भी एकप्रदेशी होनेके कारण यह दिशाओंवाला अनुमान करनेमें आता है।

१. परमाणुके भेद व लक्षण तथा उसके अस्तित्वकी सिद्धि

१. परमार्थ परमाणु सामान्यका लक्षण

ति. प./१/९६ सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सक्कं। जलयणलादिहिं णासं ण एदिसो होदि परमाणू।९६। —जो अत्यन्त तीक्ष्ण

शस्त्रसे भी छेदा या भेदा नहीं जा सकता, तथा जल और अग्नि आदिके द्वारा नाशको प्राप्त नहीं होता, वह परमाणु है ।६६।

स. सि./सू./पू./पं. प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणव. (२/३८/१९२/६) प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणवः। (५/२५/२९७/३)–प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है। इसका अर्थ परमाणु है ।(२/३८)। एक प्रदेशमें होनेवाले स्पर्शादि पर्यायको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रूपसे जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते हैं वे अणु कहलाते हैं। (रा. वा./५/२५/१/४९१/११)

ज. प./१३/१७ जस्स ण कोइ अणुदरो सो अणुओ होदि सव्वदव्वाणं। जावे परं अणुत्तं तं परमाणू मुणेयव्वा ।१७। –सब द्रव्योंमें जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुतर न हो वह अणु होता है। जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्योंमें परमाणु जानना चाहिए ।१७।

२. क्षेत्रका प्रमाण विशेष

ज. प./१३/२१ अट्ठहिं तेहिं णेया सण्णासण्णहिं तह य दव्वेहि। ववहारियपरमाणू णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहि ।२१। –आठ सन्नासन्न द्रव्योंमें एक व्यावहारिक परमाणु (त्रुटिरेणु) होता है। ऐसा सर्वदर्शियोंने कहा है। (विशेष दे० गणित/I/१/३)

३. परमाणुके भेद

न. च. वृ./१०१ कारणरूवाणु कज्जरूवो वा ।···।१०१। –परमाणु दो प्रकारका होता है—कारण रूप और कार्यरूप। (नि. सा./ता. वृ./२५) (प्र. सा./ता. वृ./८०/१३६/१८)।

नि. सा./ता. वृ./२५ अणवश्चतुर्भेदा' कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदै.। –अणुओंके (परमाणुओंके) चार भेद हैं। कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट।

पं. का./ता. वृ./१५२/२२१/१६ द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं···। –परमाणु दो प्रकारका होता है—द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु।

४. कारण कार्य परमाणुका लक्षण

नि. सा./मू./२५ धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति तं णेयो। खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ।२५। –फिर जो (पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन) चार धातुओंका हेतु है, वह कारण परमाणु जानना, स्कन्धोंके अवसानको (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अंशको) कार्य परमाणु जानना ।२५।

पं.का./ता. वृ./८०/१३६/१७ योऽसौ स्कन्धानां भेदको भणितः स कार्य परमाणुरुच्यते यस्तु कारकस्तेषां स कारणपरमाणुरिति। –स्कन्धोंके भेदको करनेवाला परमाणु तो कार्यपरमाणु है और स्कन्धोंका निर्माण करनेवाला कारण परमाणु है। अर्थात् स्कन्धके विघटनसे उत्पन्न होनेवाला कार्य परमाणु और जिन परमाणुओंके मिलनेसे कोई स्कन्ध बने वे कारण परमाणु हैं।

५. जघन्य व उत्कृष्ट परमाणुके लक्षण

नि. सा./ता. वृ./२५ जघन्यपरमाणु' स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबन्धयोरयोग्य इत्यर्थः। स्निग्धरूक्षगुणानामनन्यतरस्योपरि द्वाभ्यां चतुर्भिः संबन्ध' त्रिभि. पञ्चभिर्विषमबन्ध'। अयमुत्कृष्टपरमाणुः। –वही (कारण परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होनेसे सम या विषम बन्धको अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है—ऐसा अर्थ है। एक गुण स्निग्धता या रूक्षताके ऊपर—दो गुणवाले और चार गुणवालेका सम बन्ध होता है, तथा तीन गुणवालेका और पाँच गुणवालेका विषम बन्ध होता है—यह उत्कृष्ट परमाणु है।

६. द्रव्य व भाव परमाणुका लक्षण

पं. का./ता. वृ./१५२/२११/१७ द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्वं न च पुद्गलपरमाणुः।···द्रव्यशब्देनात्मद्रव्यं ग्राह्यं तस्य तु परमाणुः। परमाणुरिति कोऽर्थः। रागाद्युपाधिरहिता सूक्ष्मावस्था। तस्या सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्। निर्विकल्पसमाधिविषयादिति द्रव्यपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं। भावशब्देन तु तस्यैवात्मद्रव्यस्य स्वसंवेदनज्ञानपरिणामो ग्राह्यः तस्य भावस्य परमाणुः। परमाणुरिति कोऽर्थः। रागादिविकल्परहिता सूक्ष्मावस्था। तस्याः सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत्। इन्द्रियमनोविकल्पाविषयादिति भावपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं ज्ञातव्यं। –द्रव्यपरमाणुसे द्रव्यकी सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता कही गयी है। उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है।···द्रव्य शब्दसे आत्म द्रव्य ग्रहण करना चाहिए। उसका परमाणु अर्थात् रागादि उपाधिसे रहित उसकी सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह निर्विकल्प समाधिका विषय है। इस प्रकार द्रव्य परमाणु कहा गया। भाव शब्दसे उसही आत्म द्रव्यका स्वसंवेदन परिणाम ग्रहण करना चाहिए। उसके भावका परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोंका विषय नहीं है। इस प्रकार भावपरमाणु शब्दका व्याख्यान जानना चाहिए। (प. प्र./टी./२/३३/१५३/२)।

रा. वा./हिं./६/२७/७३३ भाव परमाणुके क्षेत्रकी अपेक्षा तो एक प्रदेश है। व्यवहार कालका एक समय है। और भाव अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है। तहाँ पुद्गलके गुण अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण के परिणमनका अंश लीजिए। जीवके गुण अपेक्षा ज्ञानका तथा कषायका अंश लीजिए। ऐसे द्रव्य परमाणु (पुद्गल परमाणु) भाव परमाणु (किसी भी द्रव्यके गुणका एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथा सम्भव समझना।

७. परमाणुके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./५/११/४/४५४/६ अप्रदेशत्वादभाव' (परमाणु) खरविषाणवदिति चेत्; न' उक्तत्वात् ।४।···प्रदेशमात्रोऽणु', न खरविषाणवदप्रदेश इति।

रा. वा./५/२५/१४-१५/४९२/२३ कथं पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणाम् अस्तित्वावसीयत इति चेत्। उच्यते—तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात् ।१५।···नासत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति। –प्रश्न—अप्रदेशी होनेसे परमाणुका खरविषाणकी तरह अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि पहले कहा जा चुका है कि परमाणु एक प्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेश शून्य। प्रश्न—अत्यन्त परोक्ष उन परमाणुओंके अस्तित्वकी सिद्धि कैसे होती है? उत्तर—कार्यलिंगसे कारणका अनुमान किया जाना सर्व सम्मत है। शरीर, इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्योंसे परमाणुओंका अस्तित्व सिद्ध होता है। क्योंकि परमाणुओंके अभावमें स्कन्ध रूप कार्य नहीं हो सकते।

ध. १४/५,६,७६/५५/२ परमाणूणं परमाणुभावेण सव्वकालमवट्ठाणाभावादो दव्वभावो ण जुज्जदे। ण, पोग्गलभावेण उप्पादविणासवज्जिएण परमाणूणं पि दव्वत्तसिद्धीदो। –प्रश्न—परमाणु सदाकाल परमाणु रूपसे अवस्थित नहीं रहते, इसलिए उनमें द्रव्यपना नहीं बनता? उत्तर—नहीं, क्योंकि परमाणुओंका पुद्गल रूपसे उत्पाद और विनाश नहीं होता इसलिए उनमें द्रव्यपना भी सिद्ध होता है।

८. आदि मध्य अन्तहीन भी उसका अस्तित्व है

रा.वा./५/११/५/४५४/९ आदिमध्यान्तव्यपदेशः परमाणोः स्याद्वा, न वा। यद्यस्ति; प्रदेशवत्त्वं प्राप्नोति। अथ नास्ति, खरविषाणवदस्याभावः स्यादिति। तन्न, किं कारणम्। विज्ञानवत्। यथा विज्ञानमादिमध्यान्तव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथाणुरपि इति। उत्तरत्र च तस्या-

स्तित्वं बक्ष्यते। —प्रश्न—परमाणु क्या आदि, मध्य, अन्त सहित है। यदि सहित है तो उसको प्रदेशीपना प्राप्त हो जायेगा। और यदि रहित है तो उसका खरविषाणकी तरह अभाव सिद्ध होता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे—विज्ञानका आदि मध्य व अन्त व्यपदेश न होनेपर भी अस्तित्व है उसी तरह परमाणुमें भी आदि, मध्य और अन्त व्यवहार न होनेपर भी उसका अस्तित्व है।

९. परमाणुमें स्पर्शादि गुणोंकी सिद्धि

रा. वा./२/२०/१/१३३/१ सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति। नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादयः सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शनादनुमीयमानाः, न ह्यत्यन्तमसतां प्रादुर्भावोऽस्तीति।

ध. १/१,१,३३/२३८/६ किंतु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति। ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यत्वाभावात्। परमाणुगतः सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वोपलम्भात्। —प्रश्न—सूक्ष्म परमाणुओंमें स्पर्शादिका व्यवहार नहीं बन सकता (क्योंकि उसमें स्पर्शन रूप क्रियाका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्शादि हैं, क्योंकि परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शादि उपलब्धि देखी जाती है। तथा अनुमान भी किया जाता है, क्योंकि जो अत्यन्त असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। (ध. १/१,१,३३/२३८/४)। प्रश्न—जबकि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता तो फिर उसे स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यताका सदैव अभाव नहीं है। प्रश्न—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियों द्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल रूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पायी जाती है। (अथवा उनमें रूढिके वशसे स्पर्शादिका व्यवहार होता है। (रा वा./२/२०)।

पं. का./त. प्र./७८ द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गन्धस्य, स एव रूपस्येति। ततः क्वचित्परमाणौ गन्धगुणे, क्वचित् गन्धरसगुणयोः, क्वचित् गन्धरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु अविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति। न तदपकर्षो युक्तः। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणम्। —द्रव्य और गुणके अभिन्न होनेसे जो परमाणुका प्रदेश है वही स्पर्शका है, वही रसका है, वही गन्धका है, वही रूपका है। इसलिए किसी परमाणुमें गन्ध गुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुणसे अभिन्न अप्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिए उस गुणकी न्यूनता युक्त नहीं है। इसलिए धातु चतुष्कका एक परमाणु ही कारण है।

२. परमाणु निर्देश

१. वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है

ति. प./१/९९-१०० पूरंति गलंति जदो पूरणगलणेहिं पोग्गला तेण। परमाणुच्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि।९९। वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि। खंदं पि व कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा।१००। —क्योंकि स्कन्धोंके समान परमाणु भी पूरते हैं, और गलते हैं, इसलिए पूरण गलन क्रियाओंके रहनेसे वे भी पुद्गलके अन्तर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंगमें निर्दिष्ट है।९९। परमाणु स्कन्धकी तरह सर्वकालमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणोंमें पूरण-गलनको किया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं। (ह. पु./७/३६), (पं.का./त.प्र./७६)।

रा. वा./५/१/२५/२६/४३४/१६ स्यान्मतम्—अणूनां निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति; तन्न; किं कारणम्। गुणापेक्षया तत्सिद्धेः। रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुः-संख्येयाऽसंख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम्। अथवा गुण उपचारकल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः।…अथवा पुमांसो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः। अण्वादिषु तदभावादपुद्गलत्वमिति चेत्; उक्तोत्तरमेतत्। —प्रश्न—अणुओंके निरवयव होनेसे तथा उनमें पूरण गलन क्रियाका अभाव होनेसे पुद्गल व्यपदेशके अभावका प्रसंग आता है? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि, गुणोंकी अपेक्षा उसमें पुद्गलपनेकी सिद्धि होती है। परमाणु रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शसे युक्त होते हैं, और उनमें एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुणरूपसे हानि-वृद्धि होती रहती है। अतः उनमें भी पूरण-गलन व्यवहार माननेमें कोई बाधा नहीं है। अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदिके रूपमें निगलें - ग्रहण करें वे पुद्गल हैं। परमाणु भी स्कन्ध दशामें जीवोंके द्वारा निगले जाते ही हैं, (अतः परमाणु पुद्गल है।)

न. च. वृ./१०१ मुत्तो एयपदेसी कारणरूवोणु कज्जरूवो वा। तं खलु पोग्गलदव्वं खंधा ववहारदो भणिया।१०१। —जो मूर्त है, एक प्रदेशी है, कारण रूप है तथा कार्य रूप भी है ऐसा अणु ही वास्तवमें पुद्गल द्रव्य कहा गया है। स्कन्धको तो व्यवहारसे पुद्गल द्रव्य कहा है। (नि.सा./ता.वृ./२६)।

२. परमाणुमें जातिभेद नहीं है

स. सि./५/३/२६९/८ सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यत्वाभ्युपगमात्। न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः सन्ति; जातिसंकरेणारम्भदर्शनात्। —सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी है। कोई पार्थिव आदि भिन्न भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं यह बात नहीं है; क्योंकि जातिका संकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है।

३. सिद्धोंवत् परमाणु निष्क्रिय नहीं

पं. का./त. प्र./९८ जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति। —जीवोंको सक्रियपनेका बहिरंग साधन कर्म-नोकर्मके संचय रूप पुद्गल है; इसलिए जीव पुद्गलकरण वाले हैं। उसके अभावके कारण सिद्धोंको निष्क्रियपना है। पुद्गलको सक्रियपनेका बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरण वाले हैं। कर्मादिककी भाँति काल (द्रव्य) का अभाव नहीं होता; इसलिए सिद्धोंकी भाँति पुद्गलोंको निष्क्रियपना नहीं होता।

४. परमाणु अशब्द है

ति. प./१/९७…सद्दकारणमसद्दं। खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणु भणंति बुधा।९७। —जो स्वयं शब्द रूप न होकर भी शब्दका कारण हो एवं स्कन्धके अन्तर्गत हो ऐसे द्रव्यको परमाणु कहते हैं। (ह.पु./७/३३), (दे० मूर्त/२/१)।

पं. का./त. प्र./७८ यथा च तस्य (परमाणोः) परिणामवशादव्यक्तो गन्धादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति

ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति। —जिस प्रकार परमाणुको परिणामके कारण अव्यक्त गन्धादि गुण हैं ऐसा ज्ञात होता है उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एक प्रदेशी परमाणुको अनेकप्रदेशात्मक शब्दके साथ एकत्व होनेमें विरोध है।

५. परमाणुकी उत्पत्तिका कारण

ष. १४/५.६/सू. ९८–९९/१२० वग्गणणिरूवणिदाए इमा एयपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं भेदेण किं संघादेण किं भेदसंघादेण।९८। उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण।९९। —प्रश्न—वर्गणा निरूपणकी अपेक्षा एकप्रदेशी परमाणु पुद्गल-द्रव्य-वर्गणा क्या भेदसे उत्पन्न होती हैं, क्या संघातसे होती हैं, या क्या भेद संघातसे होती हैं।९८। उत्तर—ऊपरके द्रव्योंके (अर्थात् स्कन्धोंके) भेदसे उत्पन्न होती हैं। (त. सू./५/२७), (स. सि./५/२७/२९९/२), (रा. वा./५/२७/१/४९४/१०)।

६. परमाणुका लोकमें अवस्थान क्रम

त. सू./५/१४ एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ।१४।

रा. वा./५/१४/२/४५६/१२ तद्यथा—एकस्य परमाणोरेकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाहः, द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धानां च। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थानं प्रत्येतव्यम्। —पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एकप्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है।१४। यथा—एक परमाणुका एक ही आकाश प्रदेशमें अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेशमें यदि अबद्ध हैं तो दो प्रदेशोंमें, तथा तीनका बद्ध और अबद्ध अवस्थामें एक दो और तीन प्रदेशोंमें अवगाह होता है। इसी प्रकार बन्धविशेषसे संख्यात-असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, संख्यात और असंख्यात प्रदेशोंमें अवगाह समझना चाहिए। (प्र.सा./त.प्र./१३६)।

७. लोकस्थित परमाणुओंमें कुछ चलित हैं कुछ अचलित

गो.जी./मू./५९३/१०३२ पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादि हवंति चलिदा हु। चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति पदेसा। —पुद्गल द्रव्यविषैं परमाणु अर द्व्यणुक आदि संख्यात-असंख्यात अनन्त परमाणुके स्कन्ध ते चलित हैं। बहुरि अन्तका महास्कन्धविषैं केइ परमाणू अचलित हैं, बहुरि केइ परमाणू चलित हैं ते यथायोग्य चंचल हो हैं।

८. अनन्तों परमाणु आज तक अवस्थित

ध. ९/१,९–१,२६/४९/६ एग-बे-तिण्णि समयाई काऊण उक्कस्सेण मेरुपव्वदादिसु अणादि-अपज्जवसिदसरूवेण संट्ठाणावट्ठाणुवलंभा। —पुद्गलोंका एक, दो, तीन समयोंको आदि करके उत्कर्षतः मेरु पर्वत आदिमें अनादि-अनन्त स्वरूपसे एक ही आकारका अवस्थान पाया जाता है।

ध. ४/१,५,४/गा. १९/३२७ बंधइ जहुत्तहेदू सादियमध णादियं चावि ।१९। [अदीदकाले वि सव्वजीवेहि सव्वपोग्गलाणमणंतिमभागो सव्वजीवरासीदो अणंतगुणो, सव्वजीवरासिउवरिमवग्गादो अणंतगुणहीणो, पोग्गलपुंजो भुत्तुज्झिदो। (ध.४/१,५,४/३२९/३)।—पुद्गल परमाणु सादि भी होते हैं, अनादि भी होते हैं और उभय रूप भी होते हैं।१९। अतीत कालमें भी सर्व जीवोंके द्वारा सर्वपुद्गलोंका अनन्तवाँ भाग, सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणा, और सर्व जीवराशिके उपरिम वर्गसे अनन्तगुणहीन प्रमाणवाला पुद्गलपुंज भोगकर छोड़ा गया है। (अर्थात् शेषका पुद्गल पुंज अनुपयुक्त है।)

श्लो.वा./२/भाषा./१/३/१२/८४ ऐसे परमाणु अनन्त पड़े हुए हैं जो आजतक स्कन्धरूप नहीं हुए और आगे भी न होवेंगे। (श्लो.वा.२/भाषा/१/५/८-१०/१७३/१०)।

९. नित्य अवस्थित परमाणुओंका कथंचित् निषेध

रा.वा./५/२५/१०/४९२/११ न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति भेदादणुः (त.सू./५/२७) इति वचनात्। —अनादि कालसे अबतक परमाणुकी अवस्थामें ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है। क्योंकि सूत्रमें स्कन्ध भेदपूर्वक परमाणुओंकी उत्पत्ति बतायी है।

१०. परमाणुमें चार गुणोंकी पाँच पर्याय होती हैं

पं.का./मू.८१ एयरसवण्णगंधं दो फासं…। खंधंतरिदं दव्वं परमाणं तं वियाणाहि ।८१। —वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला तथा दो स्पर्शवाला है। स्कन्धके भीतर हो तथापि द्रव्य है ऐसा जानो। (ति.प./१/९७); (न.च.वृ./१०२); (रा.वा./३/३८/६/२०७/२६); (ह.पु./७/३३); (म.पु./२४/१४८)।

रा.वा./५/२५/१३-१४/४९५/१८ एकरसवर्णगन्धोऽणुः…।१३। द्विस्पर्शो…।१४।…कौ पुनः द्वौ स्पर्शौ। शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतरः स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च। एकप्रदेशत्वाद्विरोधिनोः युगपदनवस्थानम्। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शानां परमाणुष्वभावः, स्कन्धविषयत्वात्। —परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, और एक वर्ण है। तथा उसमें शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक, इस तरह दो अविरोधी स्पर्श होते हैं। गुरु-लघु और मृदु व कठिन स्पर्श परमाणुमें नहीं पाये जाते, क्योंकि वे स्कन्धके विषय हैं। (नि.सा./ता.वृ./२७)।

३. परमाणुओंमें कथंचित् सावयव निरवयवपना

१. परमाणु आदि, मध्य व अन्त हीन होता है

नि.सा./मू./२६ अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं। अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणाहि ।२६।

नि. सा./ता.वृ./२६ यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तस्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावसमाश्रयेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मैवादिः, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अन्तोऽपि स्वस्यात्मैव परमाणुः। —स्वयं ही जिसका आदि है, स्वयं ही जिसका अन्त है (अर्थात् जिसके आदिमें, अन्तमें और मध्यमें परमाणुका निज स्वरूप ही है) जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है और जो अविभागी है, वह परमाणु द्रव्य जान ।२६। (स.सि./५/२५/२९७ पर उद्धृत); (ति.प./१/९८); (रा.वा./३/३८/६/२०७/२५) (रा.वा./५/२५/१/४९१/१४ में उद्धृत); (ज.प./१३/१६); (गो.जी./जी.प्र./५९४/१००९ पर उद्धृत) जिस प्रकार सहज परम पारिणामिक भावकी विवक्षाका आश्रय करनेवाले सहज निश्चय नयकी अपेक्षासे नित्य और अनित्य निगोदसे लेकर सिद्ध क्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवोंको निजस्वरूपसे अच्युतपना कहा गया है, उसी प्रकार पंचम भावकी अपेक्षासे परमाणु द्रव्यका परम स्वभाव होनेसे परमाणु स्वयं ही अपनी परिणतिका आदि है, स्वयं ही अपनी परिणतिका मध्य है, और स्वयं ही अपनी परिणतिका अन्त भी है।

पं. का./त.प्र./७८ परमाणोर्हि मूर्तत्वनिबन्धनभूताः स्पर्शरसगन्धवर्णा आदेशमात्रेणैव भिद्यन्ते; वस्तुतस्तु यथा तस्य स एव प्रदेश आदिः, स एव मध्यं, स एवान्तः इति। —मूर्तत्वके कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका, परमाणुसे आदेश मात्र द्वारा ही भेद किया जाता है;

वस्तुतः···परमाणुका वही प्रदेश आदि है वही मध्य, और वही प्रदेश अन्त है।

२. परमाणु अविभागी व एकप्रदेशी होता है

त.सू./५/११ नाणोः ॥११॥ —परमाणुके प्रदेश नहीं होते ॥११॥

प्र.सा./मू.१३७···अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ॥१३७॥ —परमाणु अप्रदेशी है; उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा है। (ति.प./१/९८)

पं.का./मू./७७ सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू। सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥ —सर्व स्कंधोंका अन्तिम भाग उसे परमाणु जानो। वह अविभागी, एक शाश्वत, मूर्तिप्रभव और अशब्द है। (नि.सा./मू./२६); (ति.प./१/९८); (ह.पु./७/३२)

पं.का./मू.७८···परमाणू चेव अविभागी ॥७८॥ —अविभागी वह सचमुच परमाणु है। (मू.आ./२३१); (ति.प./१/९५); (ध.१३/५,१,१३/गा. ३/१३)।

३. अप्रदेशी वा निरवयवपनेमें हेतु

स.सि./५/११/२७६/६ अणोः 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्। प्रदेशमात्रत्वात्। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदाभावः। किं च ततोऽल्पपरिणामाभावात्। न ह्यणोरल्पीयानन्योऽस्ति, यतोऽस्य प्रदेशा भिद्येरन्। (अतः स्वयमेवाद्यन्तपरिणामत्वादप्रदेशोऽणुः··· यदि ह्यणोरपि प्रदेशाः स्युः; अणुत्वमस्य न स्यात् प्रदेशप्रचयरूपत्वात्, तत्प्रदेशानामेवाणुत्वं प्रसज्येत (रा.वा.) —परमाणुके प्रदेश नहीं होते, यहाँ सन्ति यह वाक्य शेष है। प्रश्न—परमाणुके प्रदेश क्यों नहीं होते? उत्तर—क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेशमें प्रदेशभेद न होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नहीं होता। दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको प्राप्त होवें। (अतः स्वयमेव आदि और अन्त होनेसे परमाणु अप्रदेशी है। यदि अणुके भी प्रदेशप्रचय हों तो फिर वह अणु ही नहीं कहा जायेगा, किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायेंगे। (रा.वा./५/११/१-३/४५४/११)।

ह.पु./७/३४-३५ नाशङ्क्यामार्थतत्त्वज्ञैर्भागोऽशानां समन्ततः। षट्केन युगपद्योगात्परमाणोः षडंशता ॥३४॥ स्वल्पाकाशषडंशानां परमाणोश्च संहताः। सप्तांशाः स्युः कुतस्तु स्यात्परमाणोः षडंशता ॥३५॥ —तत्त्वज्ञोंके द्वारा यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि सब ओरसे आकाशके छह अंशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुमें षडंशता है ॥३४॥ क्योंकि ऐसा माननेपर आकाशके छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तांश हो जाते हैं। तब परमाणुमें षडंशता कैसे हो सकती है ॥३५॥

ध.१३/५,३,३२/२३/२ ण ताव सावयवो, परमाणुसद्दाहिहेयादो पुधभूदअवयवाणुवलंभादो। उवलंभे वा ण सो परमाणू, अपत्तभिज्जमाणभेदपरंतत्तादो। ण च अवयवी चेव अवयवो होदि, अण्णपदत्थेण विणा बहुव्वीहिसमासाणुववत्तीदो संबंधेण विणा संबंधणिबंधण-इं-पच्चयाणुववत्तीदो वा। ण च परमाणुस्स उड्ढाधोमज्झभागावयवा अत्थि, तेहिंतो पुधभूदपरमाणुस्स अवयविस्सण्णिदस्स अभावादो। एदम्हि णए अवलंबिज्जमाणे सिद्धं परमाणुस्स णिरवयवत्तं। —१. परमाणु सावयव तो हो नहीं सकता, क्योंकि परमाणु शब्दके वाच्यरूप उसके अवयव पृथक्-पृथक् नहीं पाये जाते। २. यदि उसके पृथक्-पृथक् अवयव माने जाते हैं तो वह परमाणु नहीं ठहरता, क्योंकि जिसके भेद होने चाहिए उनके अन्तको वह अभी प्राप्त नहीं हुआ है। ३. यदि कहा जाय कि अवयवीको ही हम अवयव मान लेंगे। सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थ प्रधान होता है, कारण कि उसके बिना वह बन नहीं सकता। दूसरे सम्बन्धके बिना सम्बन्धका कारणभूत 'णिनि' प्रत्यय भी नहीं बन सकता। ४. यदि कहा जाय कि परमाणुके ऊर्ध्व भाग अधोभाग और मध्य भाग रूपसे अवयव बन जायेंगे। सो भी बात नहीं है, क्योंकि इन भागोंके अतिरिक्त अवयवी संज्ञावाले परमाणुका अभाव है। इस प्रकार इस नयके अवलम्बन करनेपर परमाणु निरवयव है, यह बात सिद्ध होती है।

ध.१४/५,६,७७/५६/१ (परमाणुः) णिरवयवत्तादो (जे जस्स कज्जस्स आरंभया परमाणू ते तस्स अवयवा होंति। तदारद्धकज्जं पि अवयवी होदि। ण च परमाणू अण्णेहिंतो णिप्पज्जदि, तस्स आरंभयाणमण्णेसिमभावादो। भावे वा ण एसो परमाणू; एत्तो सुहुमाणमण्णेसिं संभवादो। ण च एगसंखम्मि परमाणुम्मि बिदियादिसंखा अत्थि; एक्कस्स दुब्भावविरोहादो। किं च जदि परमाणुस्स अवयवो अत्थि तो परमाणुणा अवयविणा अभावप्पसंगादो। ण च एवं; कारणाभावेण सयलथूलकज्जाणं पि अभावप्पसंगादो। ण च कप्पियसरूवा अवयवा होंति; अणवत्थापसंगादो। तम्हा परमाणुणा णिरवयवेण होदव्वं।···ण च णिरवयवपरमाणूहिंतो थूलकज्जस्स अणुप्पत्ती; णिरवयवाणं पि परमाणूणं सव्वप्पणा समागमेण थूलकज्जुप्पत्तीए विरोहाभावादो। —५. परमाणु निरवयव होता है। जो परमाणु जिस कार्यके आरम्भक होते हैं वे उसके अवयव हैं, उनके द्वारा आरम्भ किया गया कार्य अवयवी है। ६. परमाणु अन्यसे उत्पन्न होता है यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ नहीं पाये जाते। और यदि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ होते हैं ऐसा माना जाता है तो वह परमाणु नहीं ठहरता, क्योंकि इस तरह इससे भी सूक्ष्म अन्य पदार्थोंका सद्भाव सिद्ध होता है। ७. एक संख्यावाले परमाणुमें द्वितीयादि संख्या होती है यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एकको दो रूप माननेमें विरोध आता है। ८. यदि परमाणुके अवयव होते हैं ऐसा माना जाय तो परमाणुको अवयवी होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अवयवके विभाग द्वारा अवयवीके संयोगका विनाश होनेपर परमाणुका अभाव प्राप्त होता है। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि कारणका अभाव होनेसे सब स्थूल कार्योंका भी अभाव प्राप्त होता है। ९. परमाणुके कल्पित रूप अवयव होते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती है। इसलिए परमाणुको निरवयव होना चाहिए। १०. निरवयव परमाणुओंसे स्थूल कार्योंकी उत्पत्ति नहीं बनेगी यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि निरवयव परमाणुओंके सर्वात्मना समागमसे स्थूल कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

४. परमाणुका आकार

म.पु./२४/१४८ अणवः······परिमण्डलाः ॥१४८॥ —वे परमाणु गोल होते हैं।

आचारसार/३/१३,२४ अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तिः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥१३॥ व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनम्। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् ॥२४॥ —अणु पुद्गल है, अभेद्य है, निरवयव है, बन्धनेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण कायवान है, स्कन्धके भेदसे होता है। चौकोर और अतीन्द्रिय है ॥१३॥ आकाश अमूर्त है, नित्य अवस्थित है, चौकोर अवगाह देनेमें हेतु है, और अनन्तानन्त प्रदेशी है ॥२४॥ (तात्पर्य यह है कि सर्वतः महान् आकाश और सर्वतः लघु परमाणु इन दोनोंका आकार चौकोर रूपसे समान है)

५. सावयवपनेमें हेतु

प्र. सा./मू./१४४ जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं। सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ।१४४। =जिस पदार्थ के प्रदेश अथवा एक प्रदेश भी परमार्थतः ज्ञात नहीं होते, उस पदार्थको शून्य जानो, क्योंकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तर है ।१४४।

न्या वि./मू./१/६०/३६६ तत्र दिग्भागभेदेन षडंशाः परमाणवः। नो चेत्पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् [न च ते बुद्धिगोचराः] ।४७। =दिशाओंके भेदसे छः दिशाओंवाला परमाणु होता है, वह अणुमात्र ही नहीं है। यदि तुम यह कहो कि अणुमात्र ही है, सो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिगोचर नहीं है।

ध. १३/५,३,१८/१८/८ परमाणूणं णिरवयवत्तासिद्धीदो। 'अपदेसं णेव इंदिए गेज्झं' इदि परमाणूणं णिरवयवत्तं परियम्मे वुत्तमिदि णासंकणिज्जं, पदेसो णाम परमाणू, सो जम्हि परमाणुम्हि समवेदभावेण णत्थि सो परमाणू अपदेसओ त्ति परियम्मे वुत्तो तेण ण णिरवयवत्तं तत्तो गम्मदे। परमाणू सावयवो त्ति कत्तो णव्वदे। खंधभावण्णहाणुववत्तीदो। जदि परमाणू णिरवयवो होज्ज तो खंधाणमणुप्पत्ती जायदे, अवयवाभावेण देसफासेण विणा सव्वफासमुवगएहिंतो खंधुप्पत्तिविरोहादो। ण च एवं, उप्पण्णखंधुवलंभादो। तम्हा सावयवो परमाणू त्ति घेत्तव्वो। =परमाणु निरवयव होते हैं। यह बात असिद्ध है। 'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता'' इस प्रकार परमाणुओंका निरवयवपना परिकर्ममें कहा है। यदि कोई ऐसी आशंका करे सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नहीं है वह परमाणू अप्रदेशी है, इस प्रकार परिकर्ममें कहा है। इसलिए परमाणु निरवयव होता है, यह बात परिकर्मसे नहीं जानी जाती। प्रश्न—परमाणु सावयव होता है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है? उत्तर—स्कन्ध भावको अन्यथा वह प्राप्त नहीं हो सकता, इसीसे जाना जाता है कि परमाणु सावयव होता है। यदि परमाणु निरवयव होते तो स्कन्धोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जब परमाणुओंके अवयव नहीं होंगे तो उनका एक देश स्पर्श नहीं बनेगा और एकदेश स्पर्शके बिना सर्व स्पर्श मानना पड़ेगा जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि उत्पन्न हुए स्कन्धोंकी उपलब्धि है। इसलिए परमाणु सावयव है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। (ध. १३/५,३ २२/२३/१०)।

ध. १४/५,६,७६/५४/११ एगपदेसं मोत्तूण बिदियादिपदेसाणं तत्थ पडिसेहकरणादो। न विद्यन्ते द्वितीयादयः प्रदेशाः यस्मिन् सोऽप्रदेशः परमाणुरिति। अन्यथा खरविषाणवत् परमाणोरसत्त्वप्रसङ्गात्।

ध. १४/५,६,७७/५६/११ पज्जवट्ठियणए अवलंबिज्जमाणे सिया एगदेसेण समागमो। ण च परमाणूणमवयवा णत्थि, उवरिमहेट्ठिममज्झिमोवरिमोवरिमभागाणमभावे परमाणुस्स वि अभावप्पसंगादो। ण च एदे भागा संकप्पियसरूवा; उड्ढाधोमज्झिमभागाणं उवरिमोवरिमभागाणं च कप्पणाए विणा अवलंभादो। ण च अवयवाणं सव्वत्थ विभागेण होदव्वमेवेत्ति णियमो, सयलवत्थूणमभावप्पसंगादो। ण च भिण्णपमाणगेज्झाणं भिण्णदिसाणं च एयत्तमत्थि, विरोहादो (ण च अवयवेहि परमाणू णारद्धो, अवयवसमूहस्सेव परमाणुत्तदंसणादो। ण च अवयवाणं संजोगविणासेण होदव्वमेवेत्ति णियमो, अणादि-संजोगे तदभावादो। तदो सिद्धा दुपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा। —१. परमाणुके एक प्रदेशको छोड़कर द्वितीयादि प्रदेश नहीं होते इस बातका परिकर्ममें निषेध किया है। जिसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं वह अप्रदेश परमाणु है यह उसकी व्युत्पत्ति है। (यदि 'अप्रदेश' पदका यह अर्थ न किया जाये तो जिस प्रकार गधेके सींगोंका असत्त्व है उसी प्रकार परमाणुके भी असत्त्वका प्रसंग आता है। २. पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करनेपर कथंचित् एकदेशेन समागम होता है। परमाणुके अवयव नहीं होते यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उसके उपरिम, अधस्तन, मध्यम और उपरिमोपरिम भाग न हों तो परमाणुका ही अभाव प्राप्त होता है। ३. ये भाग कल्पित रूप होते हैं यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परमाणुमें ऊर्ध्वभाग, अधोभाग, मध्यमभाग तथा उपरिमोपरिम भाग कल्पनाके बिना भी उपलब्ध होते हैं। तथा परमाणुके अवयव हैं इसलिए उनका सर्वत्र विभाग ही होना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि इस तरह माननेपर तो सब वस्तुओंके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। ४. जिनका भिन्न-भिन्न प्रमाणोंसे ग्रहण होता है और जो भिन्न-भिन्न दिशा वाले हैं वे एक हैं यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर विरोध आता है। ५. अवयवोंसे परमाणु नहीं बना है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अवयवोंके समूह रूप ही परमाणु दिखाई देता है। तथा—६. अवयवोंके संयोगका नाश होना चाहिए यह भी कोई नियम नहीं है, क्योंकि अनादि संयोगके होनेपर उसका विनाश नहीं होता। इसलिए द्विप्रदेशी परमाणु पुद्गल वर्गणा सिद्ध होती है।

६. निरवयव व सावयवपनेका समन्वय

गो. जी./जी. प्र./५६४/१००६ पर उद्धृत "षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता। षण्णां समानदेशित्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकं। सत्यं, द्रव्यार्थिकनयेन निरंशत्वेऽपि परमाणोः पर्यायार्थिकनयेन षडंशत्वे दोषाभावात्। =प्रश्न—छह कोणका समुदाय होनेसे परमाणुके छह अंशपना संभवे है। छहोंको समानरूप कहनेसे परमाणु मात्र पिण्ड होता है? उत्तर—परमाणुके द्रव्यार्थिक नयसे निरंशपना है, परन्तु पर्यायार्थिक नयसे छह अंश कहनेमें दोष नहीं है।

ध. १४/५,६,७७/५७ पर विशेषार्थ 'यहाँ—परमाणु सावयव है कि निरवयव इस बातका विचार किया गया है। परमाणु एक और अखण्ड है, इसलिए तो वह निरवयव माना गया है, और उसमें ऊर्ध्वादिभाग होते हैं इसलिए वह सावयव माना गया है। द्रव्यार्थिक नय अखण्ड द्रव्यको स्वीकार करता है और पर्यायार्थिकनय उसके भेदोंको स्वीकार करता है। यही कारण है कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा परमाणुको निरवयव कहा है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा सावयव कहा है। परमाणुका यह विश्लेषण वास्तविक है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

परमात्मज्ञान—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमात्मतत्त्व—ध्यान योग्य परमात्मतत्त्व—दे० शिवतत्त्व।

परमात्मदर्शन—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमात्मप्रकाश—समाधि तन्त्र के आधार पर प्रभाकर भट्ट के निमित्त, योगेन्दु देव (ई. श. ६) द्वारा मुनियों के लक्ष्य से रचित, ३५३ दोहा प्रमाण आध्यात्मिक अपभ्रंश रचना। टीकायें—
१. आ० पद्मनन्दि नं० ७ (ई० १३०५) द्वारा रचित; २. आ० ब्रह्मदेव (वि० श० १२ पूर्व) कृत संस्कृत टीका; ३. आ० मुनिभद्र (ई० १३५०-१३६०) कृत कन्नड़ टीका; ४. आ० बालचन्द्र (ई० श० १३) कृत कन्नड़ टीका; ५. पं० दौलतराम (ई० १७७०) कृत भाषा टीका।

परमात्मभावना—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमात्मस्वरूप—निर्विकल्प समाधिका अपर नाम।—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमात्मा—परमात्मा या ईश्वर प्रत्येक मानवका एक काल्पनिक बना हुआ है। वास्तवमें ये दोनों शब्द शुद्धात्माके लिए प्रयोग किये जाते हैं। वह शुद्धात्मा भी दो प्रकारसे जाना जाता है—एक कारण रूप तथा दूसरा कार्यरूप। कारण परमात्मा देश कालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व है, जो मुक्त व संसारी तथा चींटी व मनुष्य सबमें अन्वय रूपसे पाया जाता है। और कार्य परमात्मा वह मुक्तात्मा है, जो पहले संसारी था, पीछे कर्म काट कर मुक्त हुआ। अतः कारण परमात्मा अनादि व कार्य परमात्मा सादि होता है। एकेश्वरवादियोंका सर्व व्यापक परमात्मा वास्तवमें वह कारण परमात्मा है और अनेकेश्वरवादियोंका कार्य परमात्मा। अतः दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। ईश्वरकर्तावादके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समन्वय किया जा सकता है। उपादान कारणकी अपेक्षा करनेपर सर्व विशेषोंमें अनुगताकार रूपसे पाया जानेसे 'कारण परमात्मा' जगत्के सर्व कार्योंको करता है। और निमित्तकारणकी अपेक्षा करने पर मुक्तात्मा वीतरागी होनेके कारण किसी भी कार्यको नहीं करता है। जैन लोग अपने विभावोंका कर्ता ईश्वरको नहीं मानते, परन्तु कर्मको मान लेते हैं। तहाँ उनमें व अजैनोंकि ईश्वर कर्तृत्वमें केवल नाम मात्रका अन्तर रह जाता है। यदि कारण तत्त्वपर दृष्टि डालें तो सर्व विभाव स्वतः टल जायें और वह स्वयं परमात्मा बन जाये।

१. परमात्मा निर्देश

१. परमात्मा सामान्यका लक्षण

स. श./टी./६/२२५/१५ परमात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा। —संसारी जीवोंमें सबसे उत्कृष्ट आत्माको परमात्मा कहते हैं।

२. परमात्माके दो भेद

१. कार्य कारण परमात्मा

नि. सा./ता. वृ./७ निजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः। —निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही अर्हन्त परमेश्वर हैं। अर्थात् परमात्माके दो प्रकार हैं—कारण परमात्मा और कार्यपरमात्मा।

२. सकल निकल परमात्मा

का. अ./मू./१९२ परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य।१९२। —परमात्माके दो भेद हैं—अरहन्त और सिद्ध।

द्र. सं./टी./४४/४६/५ सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति। —सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानोंमें विवक्षित एक देश शुद्ध नयकी अपेक्षा सिद्धके समान परमात्मा हैं, और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं ही।

३. कारण परमात्माका लक्षण

नि. सा./मू./१७७-१७८ कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्—जाइजरमरणरहियं परमं कम्मट्ठवज्जियं सुद्धं। णाणाइचउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं।१७७। अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिम्मुक्कं। पुणरागमणविरहियं णिच्चं अचलं अणालंबं।१७८। —कारण परमतत्त्वके स्वरूपका कथन है—(परमात्म तत्त्व) जन्म, जरा, मरण रहित, परम, आठकर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय अविनाशी और अच्छेद्य है।१७७। तथा अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्यपाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालंब है।१७८।

स. श./मू./३०-३१ सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः।३०। यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः। —सम्पूर्ण पाँचों इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्तिसे रोककर स्थिर हुए अन्तःकरणके द्वारा क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवोंके जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्माका स्वरूप है।३०। जो परमात्मा है वही मैं हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है। इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा मेरा कोई उपास्य नहीं।३१।

प. प्र./मू./१/३३ देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु। केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु।३३। —जो व्यवहार नयसे देहरूपी देवालयमें बसता है पर निश्चयसे देहसे भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि अनन्त है, केवलज्ञान स्वरूप है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव ही परमात्मा है।३३।

नि. सा./ता. वृ./३८ औदयिकादिचतुर्णां भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्यायरहितः, अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्मा ह्यात्मा। —औदयिक आदि चार भावान्तरोंको अगोचर होनेसे जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप उपाधिसे जनित विभाव गुणपर्यायों रहित है, तथा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारण परमात्मा वह वास्तवमें 'आत्मा' है।

४. कार्य परमात्माका लक्षण

मो. पा./मू./५ कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।५। —कर्म कलंकसे रहित आत्माको परमात्मा कहते हैं।५।

नि. सा./मू./७ णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।७। —निःशेष दोषसे जो रहित है, और केवलज्ञानादि परम वैभवसे जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता है उससे विपरीत परमात्मा नहीं है।७।

प. प्र./मू./१/१५-२५ अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्कें जेण। मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण।१५। केवल-दंसण-णाणमउ केवल-सुक्ख सहाउ। केवल वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ।२४। एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ। सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहं झेउ।२५। —जिसने आठ कर्मोंको नाश करके और सब देहादि पर-द्रव्योंको छोड़कर केवलज्ञानमयी आत्मा पाया है, उसको शुद्ध मनसे परमात्मा जानो।१५। जो केवलज्ञान, केवलदर्शनमयी है, जिसका केवल सुख स्वभाव है, जो अनन्त वीर्य वाला है, वही उत्कृष्ट रूपवाला सिद्ध परमात्मा है।२४। इन लक्षणों सहित, सबसे उत्कृष्ट, निःशरीरी व निराकार, देव जो परमात्मा सिद्ध है, जो तीन लोकका ध्येय है, वही इस लोकके शिखरपर विराजमान है।२५।

नि. सा./ता. वृ./७,३८ सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्धः यस्त्वेवंविधः त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः।७। आत्मनः सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणेः परद्रव्यपराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयो ह्यात्मा। —सकल-विमल केवलज्ञान-केवलदर्शन, परम-वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभवसे समृद्ध है, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द—एक स्वरूप निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा वही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर है।७। सहज

वैराग्यरूपी महलके शिखरका जो शिखामणि है, पर-द्रव्यसे जो पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियोंके विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, जो परम जिन योगीश्वर है, स्व-द्रव्यमें जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है— ऐसे आत्माको 'आत्मा' वास्तवमें उपादेय है।

द्र. सं./टी./१४/४७/४ विष्णु ··· परमब्रह्म ··· ईश्वर···सुगतः···शिव··· जिनः। इत्यादिपरमागमकथिताष्टोत्तरसहस्रसंख्यनाम—वाच्य परमात्मा ज्ञातव्यः। —विष्णु, परमब्रह्म, ईश्वर, सुगत, शिव और जिन इत्यादि परमागममें कहे हुए एक हजार आठ नामोंसे कहे जाने योग्य जो है, उसको परमात्मा जानना चाहिए।

५. परमात्मामें कारण कार्य विभागकी सिद्धि

स. श./मू./९७-९८ भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः। वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।९७। उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा। मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।९८। —यह आत्मा अपनेसे भिन्न अर्हन्त सिद्ध रूप परमात्माकी उपासना-आराधना करके उन्हींके समान परमात्मा हो जाता है जैसे—दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी दीपककी आराधना करके उसका सामीप्य प्राप्त करके दीपक स्वरूप हो जाती है।९७। अथवा यह आत्मा अपने चित्स्वरूपको ही चिदानन्दमय रूपसे आराधन करके परमात्मा हो जाता है जैसे बाँसका वृक्ष अपनेको अपनेसे ही रगड़कर अग्नि रूप हो जाता है।९८।

न. च. वृ./३६०,३६१ कारणकज्जसहावं समयं णाऊण होइ ज्झायव्वं। कज्जं सुद्धसरूवं कारणभूदं तु साहणं तस्स।३६०। सुद्धो कम्मखयादो कारणसमओ हु जीवसब्भावो। खय पुणु सहावझाणे तह्मा तं कारणं झेयं।३६१। —कारण और कार्य स्वभाव रूप समय अर्थात् आत्माको जानकर उसका ध्यान करना चाहिए। उनमेंसे शुद्ध स्वरूप अर्थात् सिद्ध भगवान् तो कार्य है और कारणभूत जो स्वभाव वह उसका साधन है।३६०। वह कारण समय रूप जीवस्वभाव ही कर्मोंका क्षय हो जानेपर शुद्ध अर्थात् कार्य समय रूप हो जाता है। और वह क्षय स्वभावके ध्यानसे होता है उस लिए वह उसका कारणभूत ध्येय है।३६१।

६. सकल निकल परमात्माके लक्षण

का. अ./मू. १९८ स-सरीरा अरहंता केवल-णाणेण मुणिय सयलत्था। णाणसरीरा सिद्धा सव्वुत्तम-सुक्खसंपत्ता।१९८। —केवलज्ञानसे जान लिये हैं सकल पदार्थ जिन्होंने ऐसे शरीर सहित अर्हन्त तो सकल परमात्मा हैं। और सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति जिन्होंको हो गयी है तथा ज्ञान ही है शरीर जिनके ऐसे शरीर रहित सिद्ध निकल परमात्मा हैं।

नि. सा./ता. वृ./४३ निश्चयेनौदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणाभिधानपञ्चशरीरप्रपञ्चाभावान्निकलः। —निश्चयसे औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, और कार्मण नामक पाँच शरीरोंके समूहका अभाव होनेसे आत्मा निःकल अर्थात् निःशरीर है।

स. श./टी./२/२२३/७ सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः स चासावात्मा। —कल अर्थात् शरीरके साथ जो वर्ते सो सकल कहलाता है और सकल भी हो और आत्मा भी हो वह सकलात्मा कहलाता है।

७. वास्तवमें आत्मा ही परमात्मा है

ज्ञा./२१/७/२२१ अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चयः। विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मेन्धनसमुत्करः।७। —जिस समय विशुद्ध ध्यानके बलसे कर्मरूपी इन्धनको भस्म कर देता है, उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है।७।

प्र. सा./त. प्र./६८ स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थः। —भगवान् आत्मा स्वयमेव ही स्वपरको प्रकाशित करनेमें समर्थ है। (और भी दे० परमात्मा/१/३)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. परमात्माके एकार्थवाची नाम—दे० म. पु./२५/१००-२१७	
२. पंच परमेष्ठीमें देवत्व	—दे० देव/I/१।
३. सच्चे देव, अर्हन्त	—दे० वह वह नाम।
४. सिद्ध	—दे० मोक्ष।

२. भगवान् निर्देश

१. भगवान्‌का लक्षण

ध. १३/५,५,८२/३४६/८ ज्ञानधर्ममाहात्म्यानि भगः, सोऽस्यास्तीति भगवान्। —ज्ञान-धर्मके माहात्म्योंका नाम भग है, वह जिनके है वे भगवान् कहलाते हैं।

३. ईश्वर निर्देश

१. ईश्वरका लक्षण

द्र. सं./टी./१४/४७/७ केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः सन्तो यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। —केवलज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्यसे युक्त होनेके कारण जिसके पदकी अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञाका पालन करते हैं, अतः वह परमात्मा ईश्वर होता है।

स. श./टी./६/२२५/१७ ईश्वरः इन्द्राद्यसंभविना अन्तरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव संपन्नः। —इन्द्रादिकको जो असम्भव ऐसे अन्तरंग और बहिरंग परम ऐश्वर्यके द्वारा जो सदैव सम्पन्न रहता है, उसे ईश्वर कहते हैं।

२. अपनी स्वतन्त्र कर्ता कारण शक्तिके कारण आत्मा ही ईश्वर है

प्र. सा./त. प्र./३१ अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति···। —आत्मा अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप परमैश्वर्यवान् है, इसलिए जो स्वयमेव जानता है···।

३. ईश्वरकर्तावादका निषेध

आप्त. प./१/§§१-६८/३२-४९ तनुकरणभुवनादौ निमित्तकारणत्वादीश्वरस्य। न चैतदसिद्धम्,···यत्कार्यं तद् बुद्धिमन्निमित्तकं दृष्टम्, यथा वस्त्रादि।···नैकस्वभावेश्वरकारणकृतं विचित्रकार्यत्वात्।···यत्र यदा यथा यत्कार्यमुत्पित्सु तत्र तदा तथा तदुत्पादनेच्छा माहेश्वरस्यैकैव तादृशी समुत्पद्यते।···ततो नान्वयव्यतिरेकयोर्व्यापकयोरनुपलम्भोऽस्ति। —प्रश्न—ईश्वर शरीर इन्द्रिय व जगत्का निमित्त कारण है। उत्तर—नहीं, क्योंकि इनसे पृथक् कोई ईश्वर दिखाई नहीं देता। प्रश्न—वस्त्रादिकी भाँति शरीरादि भी किसी बुद्धिमान्‌के बनाये हुए होने चाहिए। उत्तर—भिन्न स्वभाववाले पदार्थ एक स्वभाववाले ईश्वरसे उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रश्न—यथावसर ईश्वरकी वैसी वैसी इच्छा उत्पन्न हो जाती है जो विभिन्न कार्योंको उत्पन्न करती है। उत्तर—इस प्रकार या तो सर्व जगत्में एक ही प्रकारका कार्य होता रहेगा या इच्छाके स्थानसे अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें कार्यका अभाव हो जायेगा। प्रश्न—ईश्वरेच्छाके साथ भिन्न क्षेत्रोंमें रहने-

बाह्य विभिन्न सामग्रीके मिल जानेसे विभिन्न कार्योंकी सिद्धि हो जायेगी? उत्तर—उपरोक्त हेतुमें कोई अन्वय व्यतिरेक हेतु सिद्ध नहीं होता।

स्या. मं./६/पृ. ४४-५६ यत्तावदुक्तं परैः 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः, कार्यत्वाद् घटवदिति' तदयुक्तम्।...स चायं जगन्ति सृजत् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्।...प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः। तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतुः। द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्।...इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति।...अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्।...अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यम् आकाशादिवत्।...बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावना इति नायमेकान्तः। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्नः...अथ तेष्वप्येक एवेश्वरः कर्तेति ब्रूषे।...तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते।...सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात्। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वात् इतरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता।...स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण निर्मिमीते, यदि वा संकल्पमात्रेण। आद्ये पक्षे एकस्यैव...कालक्षेपस्य संभवाद् बहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्तिः। द्वितीयपक्षे तु संकल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किंचिद् दूषणमुत्पश्यामः।.........स हि यदि नाम स्वाधीनः सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत्कथं सुखितदुःखिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरितः सन् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलिः।...कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मण्यीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वरः स्यादिति।...स खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा। प्रथमविधायां जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत्। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः।...अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तत्स्वभावायोगाद् गगनवत्। अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते।...एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानिः। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः।...अथास्तु नित्यः, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः।...कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानिः केन वार्यते।...ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा। न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्...। ततः प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् कारुण्येन सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति। —प्रश्न—पृथिवी आदि बुद्धिमान्‌के बनाये हुए हैं, कार्य होनेसे घटके समान। किस शरीरसे? उत्तर—शरीर दीखता नहीं है। दूसरे, घास वृक्षादिको ईश्वरने अपने शरीरसे नहीं रचा है। अतः कार्य हेतुरूप साधारणानैकान्तिक दोषका धारक है। प्रश्न—अदृश्य शरीरसे बनाये हैं। उत्तर—अदृश्य शरीरकी सिद्धिसे ईश्वरका माहात्म्य, तथा माहात्म्यसे शरीरकी सिद्धि होनेके कारण तथा दोनों ही होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। प्रश्न—ईश्वर शरीर रहित होकर बनाता है? उत्तर—दृष्टान्त ही बाधित हो जाता है। दूसरे, शरीर रहित आकाश आदिकमें कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं है। अतः अशरीरी ईश्वर भी कार्य कैसे कर सकता है। प्रश्न—वह अनेक है। अनेक हों तो मतभेदके कारण कोई कार्य ही न बने। उत्तर—मतभेद होनेका नियम नहीं। बहुतसी चींटियाँ मिलकर बिल बनाती हैं। प्रश्न—बिल आदिका कर्ता ईश्वर है? उत्तर—तो घट-पट आदिका कर्ता भी इसे ही मानकर कुम्भकार आदिका तिरस्कार क्यों नहीं कर देते। प्रश्न—ईश्वर सर्वगत है इसलिए कर्ता है? उत्तर—शरीरसे सर्वगत है या ज्ञानसे? यदि शरीरसे तो जगत्‌में और पदार्थको ठहरनेका अवकाश न होगा। शरीर व्यापारसे बनाता है या संकल्प मात्रसे? प्रश्न—शरीर व्यापारसे। उत्तर—तब तो एक कार्यमें अधिक काल लगनेसे सबका कर्ता नहीं हो सकता। प्रश्न—संकल्प मात्रसे। उत्तर—तब सर्वगतपनेकी आवश्यकता नहीं।...परम करुणाभावके धारक ईश्वरने सुख-दुःखसे भरे इस जगत्‌को क्यों बनाया। केवल सुख रूप ही क्यों नहीं बना दिया। प्रश्न—ईश्वर जीवोंके अन्य जन्मोंमें उपार्जित कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है? उत्तर—इस प्रकार तो ईश्वर स्वाधीन न रहा। और कर्मकी मुख्यता होनेसे हमारे मतकी सिद्धि हुई। दूसरे इस प्रकार कर्मोंका कर्ता ईश्वर न हुआ।...जगत्‌के बनानेसे उसे कभी भी विश्राम न होगा। यदि विश्राम लेगा तो उसके स्वभावके घातका प्रसंग आयेगा। इस प्रकार कोई भी कार्य पूर्ण हुआ न कहलायेगा। प्रश्न—कर्तापना उसका स्वभाव नहीं है? उत्तर—तो फिर वह जगत्‌का निर्माण ही कैसे करे, दूसरे एक ही प्रकारके स्वभावसे निर्माण तथा संहार दो (विरोधी) कार्य नहीं किये जा सकते। प्रश्न—संहार करनेका स्वभाव अन्य है। उत्तर—नित्यताका नाश हो जायेगा। स्वभाव भेद ही अनित्यताका लक्षण है। कभी किसी स्वभाववाला और कभी किसी स्वभाववाला होगा। निरन्तर वह क्यों नहीं बनाता। शंका—जब इच्छा नहीं रहती तब बनाना छोड़ देता है? उत्तर—इच्छासे ही कर्तापनेकी सिद्धि है, तो सदा इच्छा क्यों नहीं करता। दूसरे कार्योंकी नानारूपता उसकी इच्छाओंकी भी नानारूपताको सिद्ध करती है। अतः ईश्वर अनित्य है। ईश्वरने जगत्‌को किसी प्रयोजनसे बनाया या करुणा से। शंका—प्रयोजनसे। उत्तर—कृतकृत्यता खण्डित हो जाती है। प्रश्न—करुणाभावसे। उत्तर—दुःख अनादि नहीं है, तो ईश्वरने इन्हें क्यों बनाया। प्रश्न—दुःख देखकर पीछेसे करुणा उत्पन्न हुई? उत्तर—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आया। करुणासे जगत् रचना और जगत् से करुणा उत्पन्न होना।

दे० सत्/१ (सत् स्वभाव ही जगत्‌का कर्ता है)।

४. ईश्वरवादका समन्वय

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

गो.क./मू./८८० अण्णाणी हु अणाहो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च। सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥८८०॥—आत्मा अज्ञानी है, अनाथ है। उस आत्माके सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादिक, गमनागमन सर्व ईश्वरकृत है, ऐसा मानना सो ईश्वरवादका अर्थ है।८८०। (स.सि./८/१/१ की टिप्पणी)।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

स.सा./मू./३२२ लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणई। —लोकके मतमें विष्णु करता है, वैसे ही श्रमणोंके मतमें आत्मा करता है।

प.प्र./मू०/१/६६ अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ। भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥६६॥—हे जीव! यह आत्मा पंगुके समान है, आप कहीं न जाता और न आता है, तीनों लोकोंमें जीवको कर्म ही ले जाता है, कर्म ही लाता है।६६।

प्र.सा./त.प्र./परि.नय.नं. ३४ ईश्वरनयेन धात्रीहट्टावलेह्यमानपान्थबाल-कवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।३४।—आत्मद्रव्य ईश्वर नयसे परतन्त्रता भोगनेवाला है। धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति। (दे० कर्म/३/१)।

५. वैदिक साहित्यमें ईश्वरवाद

१. ईश्वरके विविध रूप

१. वैदिक युगके लोग सर्व प्रथम सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक पदार्थोंको ही अपना आराध्यदेव स्वीकार करते थे। २. आगे जाकर उनका स्थान इन्द्र, वरुण आदि देवताओंको मिला, जिन्हें कि वे एक साथ या एक-एक करके जगतके सृष्टिकर्ता मानने लगे। ३. इससे भी आगे जाकर वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिए सत-असत्, जीवन-मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन करने लगे। ४. इससे भी आगे ब्राह्मणग्रन्थोंकी रचनाके युगमें ईश्वरके सम्बन्धमें अनेकों मनोरंजक कल्पनाएँ जागृत हुईं। यथा—प्रजापतिने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। उसके लिए उसने तप किया। जिससे क्रमशः धूप, अग्नि, प्रकाश आदिकी उत्पत्ति हुई। उसीके अश्रुबिन्दुके समुद्रमें गिर जानेसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई। अथवा उसके तपसे ब्राह्मण व जलकी उत्पत्ति हुई, जिससे सृष्टि बनी। ५. उपनिषद् युगमें कभी तो असत्, मृत्यु, क्षुधा आदिसे जल, पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति मानी गयी है, कहीं ब्रह्मसे, और कहीं अक्षरसे सृष्टिकी रचना मानी गयी है। (स्या.मं./परि.पृ.४११)।

२. ईश्वरवादी मत

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसक, सांख्य और योगदर्शन तथा वर्तमानका पाश्चात्य जगत् इस प्रकारके सृष्टि रचयिता किसी एक ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। परन्तु न्याय और वैशेषिक दर्शनोमें ईश्वरको सृष्टिका रचयिता माना गया है। (स्या.मं./परि.ग./पृ.४१३)।

३. ईश्वरकर्तृत्वमें युक्तियाँ

इसके लिए वे लोग निम्न युक्तियाँ देते हैं—१. नैयायिकोंका कहना है कि सृष्टिका कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह कार्य है। २. कुछ ईश्वरवादी पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि यदि ईश्वर न होता तो उसके अस्तित्वकी भावना ही हमारे हृदयमें जागृत न होती। ३. वैदिक जनोंका कहना है कि बिना किसी सचेतन नियन्ताके सृष्टिकी इतनी अद्भुत व्यवस्था सम्भव नहीं थी। अपने ऊपर आये आक्षेपोंका उत्तर भी वे निम्न प्रकार देते हैं:—१. कृतकृत्य होकर भी केवल करुणाबुद्धिसे उसने सृष्टिकी रचना की। २. प्राणियोंके पुण्य-पापके अनुसार होनेके कारण वह रचना सर्वथा सुलभमय नहीं हो सकती। ३. शरीर रहित होते हुए भी उसने इच्छामात्रसे उसकी रचना की है। ४. प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाणसे सिद्ध न होनेपर भी वह शब्द प्रमाणसे सिद्ध है। (स्या.मं./परि.ग./४१३-४१८)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. लोगोंका ईश्वर कर्तावाद और जैनियोंका कर्म कर्तावाद एक ही बात है—दे० कारक/कर्ता।

२. भक्ति प्रकरणमें ईश्वरमें कर्तापनेका आरोप निषिद्ध नहीं —दे० भक्ति।

३. जीवका कथंचित् कर्ता-अकर्तापना—दे० चेतना/३।

परमाध्यात्मतरंगिणी—आ० अमृतचन्द्र (ई० ९०५-९५५) कृत संस्कृत छन्दबद्ध कलशोंकी आ० शुभचन्द्र भट्टारक (वि. १५७३-ई० १५१६) कृत संस्कृत टीका। यह ८ अधिकारों में विभक्त २३२ श्लोकप्रमाण है। विषय अध्यात्म है। (ती./३/३६६)।

परमानंद—शुद्धात्मोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमानन्द विलास—पं. देवीदास (ई० १७५४-१७६७) द्वारा रचित भाषापद संग्रह।

परमार्थ—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ—

स./सा./मू./१५१ परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी। तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।१५१।—निश्चयसे जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

न.च.वृ./४ तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।४।—तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, और परम ये सब एक ही अर्थको बतानेवाले हैं।

स.सा./ता.वृ./१५१/२१४/११ उत्कृष्टार्थः परमार्थः धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परमउत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थः परमार्थः...अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव।—उत्कृष्ट अर्थको परमार्थ कहते हैं। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष लक्षणवाले परमार्थोंमें जो परम उत्कृष्ट है, ऐसा मोक्ष लक्षणवाला अर्थ परमार्थ कहलाता है। अथवा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञानके भेदसे रहित होनेसे निश्चयसे एक ही परमार्थ है वह भी आत्मा ही है।

परमार्थ तत्त्व—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष/१।

परमार्थ बाह्य—स. सा./ता. वृ./१५२-१५३/२१७ भेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्याः ।१५२। परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः ।१५३।—भेदज्ञानके न होनेके कारण परमार्थबाह्य कहलाते हैं ।१५२। परम सामायिकको नहीं प्राप्त करते हुए परमार्थ बाह्य होते हैं ।१५३।

परमावगाढ सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/I/२।

परमावधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१।

परमावस्था—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमेश्वर—१. भूतकालीन सोलहवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। २. आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणग्रन्थ चम्पू रूपमें लिखा था। समय—ई० ७८३ से पूर्ववर्ती (म.पु./प्र./४८ पं. पन्नालाल); ३. परमात्माके अर्थमें परमेश्वर—दे० परमात्मा।

परमेश्वर तत्त्व—ज्ञा./२१/७/२०५ नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम्। द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ।७।—जो नाभिस्कन्धसे निकाला हुआ तथा हृदय कमलमेंसे होकर द्वादशान्त (तालुरंध्र) में विश्रान्त हुआ (ठहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि यह पवनका स्वामी है ।७।

परमेष्ठी—आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणकी रचना की थी। आपका समय आ० जिनसेनके महापुराण (वि. ८९७) से पहले बताया जाता है। (म.पु./प्र./२१/पं. पन्नालाल)।

परमेष्ठी—

स्व.स्तो./टी./८६ परमपदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात्मा।—जो परमपदमें तिष्ठता है वह परमेष्ठी परमात्मा होता है।

भा.पा./टी./१४६/२९३/८ परमे इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवन्दिते पदे तिष्ठतीति

परमेष्ठी।—जो इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्रके द्वारा वन्दित ऐसे परमपदमें तिष्ठता है वह परमेष्ठी होता है। (स.श./टी./६/२२५)।

२. निश्चयसे पंचपरमेष्ठी एक आत्माकी ही पर्याय है

मो.पा./मू./१०४ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।१०४। —अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अर साधु ये पंचपरमेष्ठी हैं, ते भी आत्माविषै ही चेष्टा रूप हैं, आत्माकी अवस्था है, इसलिए निश्चयसे मेरे आत्मा ही का सरणा है।१०४।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. पाँचों परमेष्ठीमें कथंचित् देवत्व—दे० देव/I/१।
२. अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु—दे० वह वह नाम।
३. आचार्य, उपाध्याय, साधुमें कथंचित् एकता—दे० साधु/६।
४. सिद्धसे पहले अर्हंतको नमस्कार क्यों—दे० मंत्र/२।

परमेष्ठी गुणव्रत—अर्हन्तोंके ४६; सिद्धोंके ८; आचार्योंके ३६; उपाध्यायोंके २५ और साधुओंके २८ ये सब मिलकर १४३ गुण हैं। निम्न विशेष तिथियोंमें एकान्तरा क्रमसे १४३ उपवास करे और नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। १४३ गुणोंकी पृथक् तिथियाँ—अर्हन्त भगवान्के १० अतिशयोंकी १० दशमी; केवलज्ञानके अतिशयोंकी १० दशमी; देवकृत १४ अतिशयोंकी १४ चतुर्दशी; अष्ट प्रतिहार्योंकी ८ अष्टमी; चार अनन्तचतुष्टय की ४ चौथ—४६। सिद्धोंके सम्यक्त्वादि आठ गुणोंकी आठ अष्टमी। आचार्योंके बारह तपोंकी १२ द्वादशी; छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी; पंचाचारकी ५ पंचमी; दश धर्मोंकी १० दशमी; तीन गुप्तियोंकी तीन तीज—३६। उपाध्यायके चौदह पूर्वोंकी १४ चतुर्दशी; ११ अंगोंकी ११ एकादशी—२५। साधुओंके ५ व्रतकी पाँच पंचमी; पाँच समितियोंकी ५ पंचमी; छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी; शेष सात क्रियाओंकी ७ सप्तमी—२८। इस प्रकार कुल ३ तीज, ४ चौथ, २० पंचमी; १२ छठ; ७ सप्तमी; ३६ अष्टमी, नवमी कोई नहीं, ३० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, त्रयोदशी कोई नहीं, २८ चतुर्दशी—१४३। (व्रतविधान संग्रह/पृ.११८)।

परमेष्ठी मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

परलोक—प.प्र./टी./११०/१०३/४ पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थः, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थाः यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः, परश्चासौ लोकश्च परलोकः व्यवहारेण पुनः स्वर्गापवर्गलक्षणः परलोको भण्यते।—१. पर अर्थात् उत्कृष्ट चिदानन्द शुद्ध स्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना यह परलोक है। २. अथवा जिसके परमात्म स्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादि पदार्थ देखे जावें, इसलिए उस परमात्माका नाम परलोक है। ३. अथवा व्यवहार नयकर स्वर्गमोक्षको परलोक कहते हैं। ४. स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवान्का धर्म है, इसलिए केवली भगवान्को मोक्ष कहते हैं।

परवश अतिचार—दे० अतिचार/१।

परवाद—ध. १३/५,५,५०/२८८/१ "मस्करी-कणभक्षाक्षपाद-कपिल-शौद्धोदनि-चार्वाक-जैमिनिप्रभृतयस्तद्दर्शनानि च परोद्यन्ते दूष्यन्ते अनेनेति परवादो राद्धान्तः। परवादो त्ति गदं।" —मस्करी, कणभक्ष, अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनि, चार्वाक और जैमिनि आदि तथा उनके दर्शन जिनके द्वारा 'परोद्यन्ते' अर्थात् दूषित किये जाते हैं वह राद्धान्त (सिद्धान्त) परवाद कहलाता है। इस प्रकार परवादका कथन किया।

परव्यपदेश—स.सि./७/३६/३७२/१ अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः। —इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है। (रा. वा./७/३६/३/५५८/२४); (चा. सा./२७/५)

परव्यपदेश नय—दे० नय/III/५।

परशुराम—यमदग्नि तापसका पुत्र (बृहत् कथाकोष/कथा ५६/१०।

परसंग्रह नय—दे० नय/III/४।

परसमय—दे० मिथ्यादृष्टि। २. परसमय व स्वसमयके स्वाध्यायका क्रम—दे० उपदेश/३/४-५।

परस्त्री—दे० स्त्री; २. पर स्त्री गमनका निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३।

परस्थान सन्निकर्ष—दे० सन्निकर्ष।

परस्पर कल्याणक व्रत—दे० कल्याणक व्रत।

परस्पर परिहार लक्षण विरोध—दे० विरोध।

परा—का.अ./मू./१६६ जीवेस-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती। कम्मज-भाव-खए-विय सा विय पत्ती परा होदि।—समस्त कर्मोंका नाश होनेपर अपने स्वभावसे जो उत्पन्न होता है उसे परा कहते हैं। और कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले भावोंके क्षयसे जो उत्पन्न होता है उसे भी परा कहते हैं।१६६।

मो.पा./टी./६/३०८/१८ परा उत्कृष्टाः।—परा अर्थात् उत्कृष्ट।

पराजय—शास्त्रार्थमें हार जीत सम्बन्धी—दे० न्याय/२।

परात्मा—स.श./टी.६/२२५/११ परात्मा संसारिजीवेभ्यः उत्कृष्ट आत्मा।—संसारीमेंसे जो उत्कृष्ट आत्मा बन जाती है उसे परात्मा कहते हैं।

परार्थ प्रमाण—दे० प्रमाण/१।

परार्थानुमान—दे० अनुमान/१।

परावर्त—अशुभ नामकर्मकी २१ प्रकृतिमें—दे०प्रकृति बंध/२।

पराशर—पा.पु./७/श्लोक—राजा शान्तनुका पुत्र (७६) तथा गांगेय (भीष्म) का पिता था (७८-८०)। एक समय धीवरकी कन्या गुणावतीपर मोहित हो गया। और 'उसकी सन्तानको ही राज्य मिलेगा' ऐसा वचन देकर उससे विवाह किया (८३-११५)।

परिआ—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

परिकर्म—दृष्टिप्रवाद अंगका प्रथम भेद—दे० श्रुतज्ञान/III/२. आचार्य कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७६) द्वारा षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर प्राकृत भाषामें लिखी गयी टीका। (दे०कुन्दकुन्द); (विशेष दे० परिशिष्ट)।

परिकर्माष्टक—गणित विषयक-संकलन, व्यवकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल ये ८ विषय परिकर्माष्टक कहलाते हैं (विशेष दे० गणित /II/१)।

परिगणित—Mathematics. (ज.प./प्र.१०७)।

परिगृहीता—स.सि./७/२८/३६८/१। या (स्त्री) एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता।—जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। (रा.वा./७/२८/२/५५४/२८)।

परिग्रह—परिग्रह दो प्रकारका है—अन्तरंग व बाह्य। जीवोंका राग अन्तरंग परिग्रह है और रागी जीवोंको नित्य ही जो बाह्य पदार्थों-

का ग्रहण व संग्रह होता है, वह सब बाह्य परिग्रह कहलाता है। इसका मूल कारण होनेसे वास्तवमें अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान है। उसके न होनेपर ये बाह्य पदार्थ परिग्रह संज्ञाको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि ये साधकको जबरदस्ती राग बुद्धि उत्पन्न करानेको समर्थ नहीं हैं। फिर भी अन्तरंग परिग्रहका निमित्त होनेके कारण श्रेयोमार्गमें इनका त्याग करना इष्ट है।

१. परिग्रह सामान्य निर्देश

१. परिग्रह के लक्षण

त.सू./७/१७ मूर्च्छा परिग्रहः ।१७। —मूर्च्छा परिग्रह है।७।

स.सि./४/२१/२५२/५ लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्गः परिग्रहः।

स.सि./६/१५/३३३/१० ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः।

स.सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः। ततस्तेषु सङ्कल्पः परिग्रह इति युज्यते। —१. लोभ कषायके उदयसे विषयोंके संगको परिग्रह कहते हैं। (रा.वा./४/२१/३/२३६/७); २. 'यह वस्तु मेरी है', इस प्रकारका संकल्प रखना परिग्रह है। (स.सि./७/१७/३५५/६); (रा.वा./६/१५/३/५२५/२७) (त.सा./४/७७); (सा.ध./४/५९)। ३. रागादि तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वह आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है। इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है। यह बात बन जाती है। (रा.वा./७/१७/५/५४५/१८)।

रा.वा./६/१५/३/५२५/२७ ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते। —'यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममत्व परिणाम परिग्रह है।

ध. १२/४,२,८,६/२८२/३ परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः। —'परिगृह्यते इति परिग्रहः' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है। इस निरुक्तिके अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है, तथा 'परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः' जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है, इस निरुक्तिके अनुसार यहाँ बाह्य-पदार्थके ग्रहणमें कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।

स.सा./आ./२१० इच्छा परिग्रहः। —इच्छा है वही परिग्रह है।

२. निज गुणोंका ग्रहण परिग्रह नहीं

स.सि./७/१७/३५५/४ यदि ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः; संज्ञानाद्यपि परिग्रहः प्राप्नोति तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणामवत्। नैष दोषः; 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते। ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावान्न मूर्च्छाऽस्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धं। किंच तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम्।

—प्रश्न—'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प ही परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामोंके समान ज्ञानादिकमें भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमाद रहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रह रहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। (रा.वा./७/१७/५/५४५/१४)।

३. वातादि विकाररूप मूर्च्छा परिग्रह नहीं

स. सि./७/१७/३५५/१ लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति। सत्यमेवमेतत्। मूर्च्छिरयं मोह सामान्ये वर्तते। "सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते। —प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि मूर्च्छि धातुका सामान्य मोह अर्थ है, और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा. वा./७/१७/२/५४५/३)।

४. परिग्रहकी अत्यन्त निन्दा

सू. पा./मू./१९ जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स। सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो।१९। —जिसके मतमें लिंगधारीके परिग्रहका अल्प वा बहुत ग्रहणपना कहा है सो मत तथा उस मतका श्रद्धावान् पुरुष निन्दा योग्य है जातै जिनमत विषैं परिग्रह रहित है सो निरागार है निर्दोष है।

मो. पा./मू./७९ जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाहीय जायणासीला। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।७९। —जो पाँच प्रकारके (अण्डज, कर्पासज, वल्कल, रोमज, चर्मज) वस्त्रमें आसक्त है, माँगनेका जिनका स्वभाव है, बहुरि अधःकर्म अर्थात् पापकर्म विषै रत है, और सदोष आहार करते हैं ते मोक्षमार्गतैं च्युत हैं।७९।

लिं. पा./मू./५ सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण। सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।५। —जो निर्ग्रन्थ लिंगधारी परिग्रह कूं संग्रह करै है, अथवा ताका चिन्तवन करे है, बहुत प्रयत्नसे उसकी रक्षा करै है, वह मुनि पापसे मोहित हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा पशु है श्रमण नहीं।५। (भ. आ./मू./११२६–११७३)।

र. सा./मू./१०९ धणधण्ण पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ।१०९। —जो मुनि धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला होता है।

मू.आ./९१८ मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं। बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति।९१८। —जो साधु अहिंसादि मूलगुणोंको छेद वृक्षमूलादि योगोंको ग्रहण करता है, सो मूलगुण रहित हैं। उस साधुके सब बाहरके योग क्या कर सकते हैं, उनसे कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता।९१८।

स. सि./७/१७/३५५/११ तन्मूलाः सर्वे दोषाः संरक्षणादयः संजायन्ते। तत्र च हिंसावश्यंभाविनी। तदर्थमनृतं जल्पति। चौर्यं वा आचरति मैथुने च कर्मणि प्रयतते। तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकाराः। —सब दोष परिग्रह मूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। और इसमें हिंसा अवश्यम्भाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्ममें रत होता है। नरकादिकमें जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

प. प्र./मू./२/८८–९० चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं तूसइ मूढु णिभंतु। एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहं हेउ मुणंतु।८८। चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्ला-चेल्लियएहिं। मोहु जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडिय तेहिं।८९। केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण। सयल वि संग ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण।९०। —अज्ञानी जन चेला चेली पुस्तकादिकसे हर्षित होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, और ज्ञानीजन इन बाह्य पदार्थोंसे शरमाता है, क्योंकि इन सबोंको बन्धका कारण जानता है।८८। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक और मुनि श्रावक रूप चेला, अर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ मुनिवरोंको मोह उत्पन्न कराके वे उन्मार्गमें डाल देते हैं।८९। जिस किसीने जिनवरका भेष धारण करके भस्मसे सिरके केश लौंच किये हैं, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोड़े, उसने अपनी आत्माको ठग लिया।९०।

प्र. सा./त. प्र./२१३,२१९ सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाच्छिन्नश्रामण्यम्। उपधेः...छेदत्वमैकान्तिकमेव। —वास्तवमें सर्व ही परद्रव्य प्रतिबन्धक उपयोगके उपरंजक होनेसे निरुपराग उपयोग रूप श्रामण्यके छेदके आयतन हैं; उनके अभावसे ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है।२१३। उपधिमें एकान्तसे सर्वथा श्रामण्यका छेद ही है। (और छेद हिंसा है)।

पु. सि. उ./११९ हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु। बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।११९। —हिंसाके पर्याय रूप होनेके कारण अन्तरंग परिग्रहमें हिंसा स्वयं सिद्ध है, और बहिरंग परिग्रहमें ममत्व परिणाम ही हिंसा भावको निश्चयसे प्राप्त होते हैं।११९।

ज्ञा./१६/१२/१७८ संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्। तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्।१२। —परिग्रहसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे पाप, और पापसे नरकगति होती है। उस नरकगतिमें वचनोंके अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःखका मूल परिग्रह है।१२।

पं. वि./१/५३ दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये, शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्। यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं सांप्रतं, निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः।५३। —जब कि शय्याके निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण (प्याल) आदि भी मुनियोंके लिए आर्त-रौद्र स्वरूप दुर्ध्यान एवं पापके कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थताको नष्ट करते हैं, तब फिर वे गृहस्थके योग्य अन्य सुवर्णादि क्या उस निर्ग्रन्थताके घातक न होंगे? अवश्य होंगे। फिर यदि वर्तमानमें निर्ग्रन्थ मुनि सुवर्णादि रखता है तो समझना चाहिए कि कलिकालका प्रवेश हो चुका है।५३।

५. साधुके ग्रहण योग्य परिग्रह

प्र. सा./मू./२२२–२२५ छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता।२२२। अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं। मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं।२२३। उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं। गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं।२२५। —जिस उपधिके (आहार-विहारादिकके) ग्रहण विसर्जनमें सेवन करनेमें जिससे सेवन करने वालेके छेद नहीं होता उस उपधि युक्त काल क्षेत्रको जानकर इस लोकमें श्रमण भले वर्ते।२२२। भले ही अल्प हो तथापि जो अनिन्दित हो, असंयतजनोंसे अप्रार्थनीय हो, और जो मूर्च्छादिकी जनन रहित हो, ऐसा ही उपधि श्रमण ग्रहण करो।२२३। यथाजात रूप (जन्मजात-नग्न) लिंग जिनमार्गमें

उपकरण कहा गया है, गुरुके बचन, सूत्रोंका अध्ययन, और विनय भी उपकरण कही गयी है ।२२५। (विशेष देखो उपरोक्त गाथाओंकी टीका)।

२. परिग्रह त्याग व्रत व प्रतिमा

१. परिग्रह त्याग अणुव्रतका लक्षण

र. क. श्रा./६१ धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता। परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि ।६१। –धन धान्यादि दश प्रकारके परिग्रहको परिमित अर्थात उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिकमें इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाण व्रत है। तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है ।६१। (स. सि./७/२०/३५८/११). (स. सि /७/२९/३६८/११)।

का. अ./मू /३३९-३४० जो लोहं णिहणित्ता संतोस-रसायणेण संतुट्ठो। णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ।३३९। जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं। उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स ।३४०। –जो लोभ कषायको कम करके, सन्तोष रूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णाका घात करता है। और अपनी आवश्यकताको जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरहका परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है ।३३९-३४०।

२. परिग्रह त्याग महाव्रतका लक्षण

मू आ./९,२९२ जोव णिबद्धा बद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव। तेसिं सक्कच्चाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो ।९। गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं। अज्झत्थं बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे ।२९३। –जीवके आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा चेतन परिग्रह, व अचेतन परिग्रह इत्यादिका शक्ति प्रगट करके त्याग, तथा इनसे इतर जो संयम, ज्ञान शौचके उपकरण इनमें ममत्वका न होना परिग्रह त्याग महाव्रत है ।९। ग्राम, नगर वन, क्षेत्र इत्यादि बहुत प्रकारके अथवा सूक्ष्म अचेतन एकरूप वस्त्र सुवर्ण आदि बाह्य परिग्रह और मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह– इन सबका मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदनासे मुनिको त्याग करना चाहिए। यह परिग्रह त्याग व्रत है ।२९३।

नि. सा./मू /६० सव्वेसिं गंथाणं तागो णिरवेक्ख भावणापुव्वं। पंचम-वदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स ।६०। –निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्व परिग्रहोंका त्याग उस चारित्र भार वहन करनेवालोंको पाँचवाँ व्रत कहा है ।६०।

३. परिग्रह त्याग प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४५ बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरत। स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः ।१४५। –जो बाह्यके दश प्रकारके परिग्रहोंमें ममताको छोड़कर निर्ममतामें रत होता हुआ मायादि रहित स्थिर और संतोष वृत्ति धारण करनेमें तत्पर है वह संचित परिग्रहसे विरक्त अर्थात परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारक है ।१४५। (चा.सा./३८/६)

वसु. श्रा./२९९ मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं। तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो ।२९९। –जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर शेष सब परिग्रहको छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नहीं करता, उसे नवमां श्रावक जानो ।२९९। (गुण श्रा./१८१) (द्र. सं. टी./४५/१९५/९)।

का. अ./३८६ जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो। पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी ।३८६। –जो ज्ञानी पुरुष पाप मानकर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको आनन्द पूर्वक छोड़ देता है उसे निर्ग्रन्थ (परिग्रह त्यागी) कहते हैं ।३८६।

सा. ध./७/२३-२९ सग्रन्थविरतो यः, प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः। नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ।२३। एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं, मोहाभिभवहानये। किंचित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः ।२९। –पूर्वोक्त आठ प्रतिमा विषयक व्रतोंके समूहसे स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा जो श्रावक 'ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ मेरे नहीं हैं, और मैं इनका नहीं हूँ' ऐसा संकल्प करके वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकारके परिग्रहोंको छोड़ देता है वह श्रावक परिग्रह त्याग प्रतिमावान कहलाता है ।२३। तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर मोहके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिए उपेक्षाको विचारता हुआ कुछ कालतक घरमें रहे ।२९।

ला. स./७/३९-४२ 'नवमप्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये। यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ।३९। अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम्। धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ।४१। स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम्। तत्सर्वं सर्वस्त्याज्यं निःशल्यो जीवनावधि ।४२। –व्रती श्रावककी नवम प्रतिमाका नाम परिग्रह त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चाँदी आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ।३९। तथा केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र घर आदि आवश्यक पदार्थोंका स्वीकार करता है अथवा धर्म साधनके लिए जिन-जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पड़ती है उनका ग्रहण करता है। शेष सबका त्याग कर देता है। भावार्थ—अपनी रक्षाके लिए वस्त्र, घर वा स्थान, अथवा अभिषेक पूजादिके बर्तन, स्वाध्याय आदिके लिए ग्रन्थ वा दान देनेके साधन रखता है। शेषका त्याग कर देता है ।४१। इस प्रतिमाको धारण करनेसे पूर्व वह घर व स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था परन्तु अब सबका जन्मपर्यन्तके लिए त्याग करके निःशल्य हो जाना पड़ता है ।४२।

४. परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ

त. सू./७/८ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ।८। –मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोंमें क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।८। (भ. आ./मू./१२११) (चा. पा./मू./३६)।

मू. आ./३४१ अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु। रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच ।३४१। –परिग्रह रहित मुनिके शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इन पाँच विषयोंमें राग द्वेष न होना—ये पाँच भावना परिग्रह त्याग महाव्रत की हैं ।३४१।

स. सि /७/९/३४९/४ परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्त्रिणामिहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति तद्विरमणश्रेयः। एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्।" –जिस प्रकार पक्षी मांसके टुकड़ेको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी लोकमें उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है। तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले अनेक दोषोंको प्राप्त होता है, जैसे ईंधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती। यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नहीं करता, परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है। तथा 'यह लोभी है' इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है। इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

५. परिग्रह प्रमाणाणुव्रतके पाँच अतिचार

त. सू./७/२९ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ।२९। –क्षेत्र और वास्तुके; हिरण्य और सुवर्णके, धन और धान्यके, दासी और दासके, तथा कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम ये परिग्रह प्रमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। ।२९। (सा. ध./४/६४ में उद्धृत श्री सोमदेवकृत श्लोक)।

र. क. श्रा./६२ अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते ।६२। –प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, आवश्यकीय वस्तुओंका अतिशय संग्रह करना, परका विभव देखकर आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना, और किसीपर बहुत भार लादना ये पाँच परिग्रहव्रतके अतिचार कहे जाते हैं ।६२।

सा. ध./४/६४ वास्तुक्षेत्रे योगाद् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये। दानात्कुप्ये भावात्–न गवादौ गर्भतो मितीमतीयात् ।६४। –परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक मकान और खेतके विषयमें अन्य मकान और अन्य खेतके सम्बन्धसे, धन और धान्यके विषयमें बयाना बाँधनेसे, स्वर्ण और चाँदीके विषयमें भिन्नधातु वगैरहके विषयमें मिश्रण या परिवर्तनसे तथा गाय बैल आदिके विषयमें गर्भसे मर्यादाको उल्लङ्घन नहीं करे ।६४।

६. परिग्रह परिमाण व्रत व प्रतिमामें अन्तर

ला. सं./७/४०-४२ इतः पूर्वं सुवर्णादि संख्यामात्रापकर्षणः। इतः प्रवृत्तिवित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ।४०। –परिग्रह त्याग प्रतिमाको स्वीकार करनेवालेके पहले सोना चाँदी आदि द्रव्योंका परिमाण कर रखा था, परन्तु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर श्रावक सोना चाँदी आदि धनका त्याग कर देता है ।४०।

७. परिग्रह त्यागकी महिमा

भ. आ./मू./११८३ रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं। णिस्संग णिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।११८३। –चक्रवर्तिका सुख राग भावको बढानेवाला तथा तृष्णाको बढानेवाला है। इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित मुनिको जो सुख होता है, चक्रवर्तीका सुख उसके अनन्त भागकी बराबरी नहीं कर सकता ।११८३। (भ. आ./मू./११७४-११८२)।

ज्ञा./१६/३३/१८१ सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः। धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिताम् ।३३। –समस्त परिग्रहोंसे जो रहित हो और इन्द्रियोंको संवररूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त संयमी मुनि ही वर्धमान भगवान्की कही हुई ध्यानकी धुराको धारण कर सकता है ।३३।

३. अन्तरंग परिग्रहको प्रधानता

१. बाह्य परिग्रह, परिग्रह नहीं अन्तरंग ही है

स. सि./७/१७/३५५/३ बाह्यस्य परिग्रहत्वं न प्राप्नोति; आध्यात्मिकस्य संग्रहात्। सत्यमेवमेतत्; प्रधानत्वादभ्यन्तर एव संगृहीतः असत्यपि बाह्ये ममेदमिति संकल्पवान् सपरिग्रह एव भवति। –प्रश्न–बाह्य वस्तुको परिग्रहपना प्राप्त नहीं होता क्योंकि 'मूर्च्छा' इस शब्दसे अभ्यन्तरका संग्रह होता है? उत्तर–यह कहना सही है; क्योंकि प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही संग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्पवाला पुरुष परिग्रह सहित ही होता है। (रा. वा./७/१७/३/५४५/६)।

स. सा./आ./२१४/क. १४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः। तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम् ।१४६।

स. सा./आ./२१५ वियोगबुद्धयैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। –पूर्व बद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोगके कारण वास्तवमें उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता ।१४६। केवल वियोगबुद्धिसे (हेय बुद्धिसे) ही प्रवर्तमान वह (उपभोग) वास्तवमें परिग्रह नहीं है।

यो. सा. अ./५/५७ द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसां। भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः ।५७। –जो मनुष्य केवल द्रव्यरूपसे विषयोंसे विरक्त हैं, उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं, किन्तु जो भावरूपसे निवृत्त हैं, उन्हींके वास्तविकरूपसे कर्मोंका संवर होता है।

२. तीनों काल सम्बन्धी परिग्रहमें इच्छाकी प्रधानता

स. सा./आ./२१५ अतीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकाङ्क्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात् प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्धया प्रवर्तमानो दृष्टः। –अतीत उपभोग है वह अतीतके कारण ही परिग्रह भावको धारण नहीं करता। भविष्यका उपभोग यदि वाञ्छामें आता हो तो वह परिग्रह भावको धारण करता है, और वर्तमानका उपभोग है वह यदि रागबुद्धिसे हो रहा हो तो ही परिग्रह भावको धारण करता है।

प्र. सा./ता. वृ./२२०/२९६/२० विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपां चित्तशुद्धिं कर्तुं नायाति। –विद्यमान वा अविद्यमान बहिरंग परिग्रहकी अभिलाषा रहनेपर निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप चित्तकी शुद्धि करनेमें नहीं आती।

३. अभ्यन्तरके कारण बाह्य है, बाह्यके कारण अभ्यन्तर नहीं

प्र. सा./ता. वृ./२१८/२९२/२० अध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण। –अन्तरंग मूर्च्छारूप रागादिपरिणामोंके अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रहके अनुसार नहीं।

रा. वा./हि/९/४६/७९७ विषयका ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा ताका कारण है जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होयगा ताकै बाह्य परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नहीं होयगा। बहुरि जो विषय ग्रहण कू तो कारण कहे अर मूर्च्छा कूं कारण न कहे, तिनके मतमें विषय रूप जो परिग्रह तिनकै न होतें मूर्च्छाका उदय नाहीं सिद्ध होय है। (तातै नग्नलिंगी भेषीको नग्नपनेका प्रसंग आता है।)

४. अन्तरंग त्याग ही वास्तवमें व्रत है

दे० परिग्रह/२/२ में नि. सा./मू./६० निरपेक्ष भावसे किया गया त्याग ही महाव्रत है।

दे० परिग्रह/१/२ प्रमाद ही वास्तवमें परिग्रह है, उसके अभावमें निज गुणोंमें मूर्च्छाका भी अभाव होता है।

५. अन्तरंग त्यागके बिना बाह्य त्याग अकिंचित्कर है

भा. पा./मू./३,५,८९ बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ।३। परिणाममि असुद्धे गंथे मुंचेइ बाहरे य जई। बाहिरगंथचाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ।५। बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो। सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ।८९। –जो अन्तरंग परिग्रह अर्थात् रागादिसे युक्त है उसके बाह्य परिग्रहका त्याग निष्फल है ।३। जो मुनि होय परिणाम अशुद्ध होतें बाह्य ग्रन्थ कूँ छोड़ै तौ बाह्य परिग्रहका त्याग है सो भाव रहित मुनिकै कहा करै? कछू भी नहीं करै ।५। जो पुरुष भावनारहित है, तिनिका बाह्य परिग्रहका त्याग, गिरि, कन्दराओं आदिमें आवास तथा ध्यान अध्ययन आदि सब निरर्थक है ।८९। (भा. पा./मू./४८-५४)।

नि.सा./मू./७५ चागो वेरग्ग विणा एदंदो वारिया भणिया ।७५। —वैराग्यके बिना त्याग विडम्बना मात्र है ।७५।

६. बाह्य त्यागमें अन्तरंगकी ही प्रधानता है

स.सा./मू./२०७ को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं । अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।२०७। —अपने आत्माको ही नियमसे पर द्रव्य जानता हुआ कौन सा ज्ञानी यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ।२०७। (स.सा./मू./३४)।

स.सा./आ./२०७-२१३ कुतो ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णातीति चेत् ।... आत्मानमात्मनः परिग्रहं नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ।२०७। इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति ।...ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं (अधर्मं, अशनं, पानम् २-११-२१३) नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मं (आदि) परिग्रहो नास्ति ।

स.सा./आ.२८५-२८६ यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति च यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ।२८५। समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं ।

स.सा.आ./२६५ किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः । अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । भावं प्रत्याचष्टे ।२८६। —प्रश्न—ज्ञानी परको क्यों ग्रहण नहीं करता ? उत्तर—आत्माको ही नियमसे आत्माका परिग्रह जानता है, इसलिए 'यह मेरा' 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रह नहीं करता ।२०७। २. इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है, और अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता है।... इसलिए अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्मको, (अधर्मको, अशनको, पानको) नहीं चाहता; इसलिए ज्ञानीके धर्मादिका परिग्रह नहीं है ।२१०-२१३। ३. जब निमित्तरूप परद्रव्यका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करता है, तब उसके नैमित्तिक रागादि भावोंका भी प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है ।२८५। समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है ।२८६। ४. अध्यवसानके प्रतिषेधार्थ ही बाह्यवस्तुका प्रतिषेध है।

प्र. सा./त.प्र./२२० उपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् । —किया जानेवाला उपधिका निषेध अन्तरंग छेदका ही निषेध है।

का.अ./मू./३८७ बाहिरगंथविहीणा दलिद्द मणुवा सहावदो होंति । अब्भंतर-गंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ।३८७। —बाह्य परिग्रहसे रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभावसे ही होते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रहको छोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं होता ।३८७।

४. बाह्य परिग्रहकी कथंचित् मुख्यता व गौणता

१. बाह्य परिग्रहको ग्रन्थ कहना उपचार है

ध. ९/४,१,६७/३२३/६ कधं खेत्तादीणं भावगंथसण्णा । कारणे कज्जोवयारादो । ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं । —प्रश्न—क्षेत्रादिकी भावग्रन्थ संज्ञा कैसे हो सकती है ? उत्तर—कारणमें कार्यका उपचार करनेसे क्षेत्रादिकोंकी भावग्रन्थ संज्ञा बन जाती है। व्यवहारनयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण हैं, और इनका त्याग करनेसे निर्ग्रन्थता है।

२. बाह्य त्यागके बिना अन्तरंग त्याग अशक्य है

भ.आ./मू./११२० जह कुंडओ ण सक्को सोधेदुं तंदुलस्स सतुसस्स । तह जीवस्स ण सक्का मोहमलं संगसत्तस्स ।११२०। —ऊपरका छिलका निकाले बिना चावलका अन्तरंगमल नष्ट नहीं होता। वैसे बाह्य परिग्रह रूप मल जिसके आत्मामें उत्पन्न हुआ है, ऐसे आत्माका कर्ममल नष्ट होना अशक्य है ।११२०। (प्र.सा./त.प्र./२२०) (अन.ध./४/१०५)।

प्र.सा.मू./२२० णहि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी । अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिओ ।२२०। —यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षुके भावकी विशुद्धि नहीं होती; और जो भावमें अविशुद्ध है उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ।२२०।

भा.पा.मू./३ भावविसुद्धि णिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ । —बाह्य परिग्रहका त्याग भाव विशुद्धिके अर्थ किया जाता है।

क.पा./१/१,१/गा.५०/१०४ सक्कं परिहरियव्वं असक्कणिज्जम्मि णिम्ममा समणा । तम्हा हिंसायदणे अपरिहरंते कथमहिंसा ।५०। —साधुजन जो त्याग करनेके लिए शक्य होता है उसके त्याग करनेका प्रयत्न करते हैं, और जो त्याग करनेके लिए अशक्य होता है उससे निर्मम होकर रहते हैं, इसलिए त्याग करनेके लिए शक्य भी हिंसायतनके परिहार नहीं करनेपर अहिंसा कैसे हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ।५०।

स.सा./आ./२८४-२८७ यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तैव स्यात् ।२८४-२८५। समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे ।२८६-२८७। —१. जब तक उसके (आत्माके) निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तब तक उसके रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, और जब तक रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तब तक रागादि भावोंका कर्ता ही है ।२८४-२८५। समस्त पर द्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावको नहीं त्यागता ।२८६-२८७।

ज्ञा./१६/२६-२७/१८० अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचलः । न पुनः संगसंकीर्णो मुनिः स्यात्संवृतेन्द्रियः ।२६। बाह्यानपि च यः सङ्गान्परित्यक्तुमनीश्वरः । स क्लीबः कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ।२७। —कदाचित् सूर्य अपना स्थान छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता छोड़ दे तो सम्भव है, परन्तु परिग्रह सहित मुनि कदापि जितेन्द्रिय नहीं हो सकता ।२६। जो पुरुष बाह्यके भी परिग्रहको छोड़नेमें असमर्थ है वह नपुंसक आगे कर्मोंकी सेनाको कैसे हनेगा ? ।२७।

रा.वा./हिं./९/४६/७६६ बाह्य परिग्रहका सद्भाव होय तो अभ्यन्तरके ग्रन्थका अभाव होय नहीं।...जातें विषयका ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा ताका कारण है। जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करै है सो मूर्च्छा तो करै है। सो जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होयगा ताकै बाह्य परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नहीं होयगा।

३. बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके ही रागादि उत्पन्न होते हैं

स.सा./मू./२६५ वत्थु पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं । ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।२६५। —जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह वस्तुको अवलम्बन कर होता है तथापि वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे ही बन्ध होता है ।२६५। (क.पा.१/गा.५१।१०५) (दे. राग/५/२)।

प्र.सा./मू/२२१ किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स । तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि । —उपधिके सद्भावमें उस भिक्षुके मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो, यह कैसे हो सकता

है ? (कदापि नहीं हो सकता) तथा जो पर द्रव्यमें रत हो वह आत्माको कैसे साध सकता है ?

४. बाह्य परिग्रह सर्वदा बन्धका कारण है

प्र सा./मू./२१९ हवदि व ण हवदि बन्धो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्ठम्हि । बंधो धुवमुवधीदो इदिसमणा छड्डिया सव्वं ।२१९। –(साधुके) काय चेष्टा पूर्वक जीवके मरनेपर बन्ध होता है अथवा नहीं होता, (किन्तु) उपधिसे-परिग्रहसे निश्चय ही बन्ध होता है । इसलिए श्रमणोंने (सर्वज्ञदेवने) सर्व परिग्रहको छोड़ा है ।२१९।

५. बाह्याभ्यन्तर परिग्रह समन्वय

१. दोनोंमें परस्पर अविनाभावीपना

भ.आ./मू./१११५–१११६ अब्भंतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे च यदि । अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ।१११५। अब्भंतर सोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण । अब्भंतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ।१११६। –अन्तरंगशुद्धिसे बाह्यपरिग्रहका नियमसे त्याग होता है । अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामोंसे ही वचन और शरीर-से दोषोंकी उत्पत्ति होती है । अन्तरंगशुद्धि होनेसे बहिरंगशुद्धि भी नियमपूर्वक होती है । यदि अन्तरंगपरिणाम मलिन होंगे तो मनुष्य शरीर और वचनोंसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा ।१११५–१११६।

प्र सा./त. प्र./२१९ उपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्ध्यदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव···अतएव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनन्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपाधिः प्रतिषेध्यः ।२। –परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविनाभावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले एकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बन्ध रूप है, इसलिए उसे छेद ऐकान्तिक ही है । ·· इसलिए दूसरोंको भी, अन्तरंगछेदकी भाँति प्रथम ही सभी परिग्रह छोड़ने योग्य है, क्योंकि वह अन्तरंग छेदके बिना नहीं होता । (प्र सा./त.प्र./२२१), (दे० परिग्रह/४/२,४) ।

२. बाह्य परिग्रहके ग्रहणमें इच्छाका सद्भाव सिद्ध होता है

स. सा./आ./२२०-२२३/क. १५१ ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते, भंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः । बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते, ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् । –हे ज्ञानी ! तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है तथापि यदि तू यह कहे कि "परद्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकारसे भोगने वाला है, जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है, यह महा खेदकी बात है ! यदि तू कहे कि "सिद्धान्तमें यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बंध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ" तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप होकर निवास कर, अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा) तू निश्चयतः अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा ।

३. बाह्यपरिग्रह दुःख व इच्छाका कारण है

भ. आ./मू./१११४ जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं । खोभेइ पसंतं पि कसायं जीवस्स तह गंथो ।१११४। –जैसे ह्रदमें पाषाण पड़नेसे तलभागमें दबा हुआ भी कीचड़ क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशान्त कषायोंको भी प्रगट करते हैं ।१११४। (भ. आ./मू./१११२–१११३) ।

कुरल/३५/१ मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यत्किंचित् परिमुञ्चति । तदुत्पन्नमहादुःखाद्विमुक्तात्मा तेन रक्षितः ।१। –मनुष्यने जो वस्तु छोड़ दी है उससे पैदा होने वाले दुःखसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया है ।१।

प. प्र./मू./१०८ परु जाणंतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति । परसंगइँ परमप्पयहं लक्खहं जेण चलंति ।१०८। –परम मुनि उत्कृष्ट आत्म द्रव्यको जानते हुए भी परद्रव्यको छोड़ देते हैं, क्योंकि परद्रव्यके संसर्गसे ध्यान करने योग्य जो परमपद उससे चलायमान हो जाते हैं ।१०८।

ज्ञा./१६/२० अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् । विसर्पति ततस्तृष्णा यस्यां विश्वं न शान्तये ।२०। –अणुमात्र परिग्रहके रखनेसे मोहकर्मकी ग्रन्थि दृढ़ होती है और इससे तृष्णाकी ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्तिके लिए समस्त लोककी सम्पत्तिसे भी पूरा नहीं पड़ता है ।२०।

४. इच्छा ही परिग्रह ग्रहणका कारण है

भ. आ./मू./११२१ रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा । तो तइया घेत्तुं जे गंथे बुद्धी णरो कुणइ ।११२१। –राग, लोभ और मोह जब मनमें उत्पन्न होते हैं तब इस आत्मामें बाह्यपरिग्रह ग्रहण करनेकी बुद्धि होती है ।११२१। (भ.आ./मू./१११२) ।

५. आकिंचन्य भावनासे परिग्रहका त्याग होता है

स. सा./आ./२८६–२८७ अधः कर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात्, इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे । –अधःकर्म आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोंको आत्मा वास्तवमें नहीं करता, क्योंकि वे परद्रव्यके परिणाम हैं इसलिए उन्हें आत्माके कार्यत्वका अभाव है; इसीलिए अधःकर्म और औद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिए उसको मेरे कार्यत्वका अभाव है," इस प्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्त भूत पुद्गल द्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा जैसे नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भावका प्रत्याख्यान करता है ।

यो. सा. अ./६/३० स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया । न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावकः ।३०। –विद्वानोंको चाहिए कि परपदार्थोंके त्यागकी इच्छासे आत्माके स्वरूपकी भावना करें, क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी चर्चा नहीं करते वे परद्रव्यका त्याग कहीं कर सकते हैं ।३०।

सामायिक पाठ अमितगति/२४ न सन्ति बाह्याः मम किंचनार्थाः, भवामि तेषां न कदाचनाहं । इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं स्वस्थं सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ।२४। –'किंचित् भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है, और न मैं कभी इनका हो सकता हूँ,' ऐसा विचार कर हे भद्र ! बाह्यको छोड़ और मुक्तिके लिए स्वस्थ हो जा ।२४।

अन. ध./४/१०६ परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः । त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ।१०६। –इन्द्रिय विषय रूपी मरीचिकाको छोड़कर, समस्त आरम्भादिकको छोड़कर, समस्त गृहिणी आदि बाह्य परिग्रहको छोड़कर तथा शरीरादिक परिग्रहोंके विषयमें निर्मम होकर—'ये मेरे हैं' इस संकल्पको छोड़कर साधुओंको निजात्मस्वरूपसे उत्पन्न सुखका सेवन करना चाहिए ।१०६।

६. अभ्यन्तर त्यागमें सर्व बाह्य त्याग अन्तर्भूत है

स. सा./आ./४०४/क २३६ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथात्तमादेयमशेषतस्तत् । यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः, पूर्णस्य संधारणमात्मनीह

।२३६। —जिसने सर्वशक्तियोंको समेट लिया है (अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका आत्मामें धारण करना सो ही सब छोड़ने योग्य सब छोड़ा है, और ग्रहण करने योग्य ग्रहण किया है।२३६।

७. परिग्रह त्याग व्रतका प्रयोजन

रा. वा./९/२६/१०/६२५/१४ निःसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासः दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविधः। —निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीविताशात्याग दोषोच्छेद और मोक्षमार्ग भावनातत्परत्व आदिके लिए दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना अत्यावश्यक है।

८. निश्चय व्यवहार परिग्रहका नयार्थ

ध. ९/४,१,६७/३२३/७ ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं। णइगमणएण तिरयणाणुवजोगी बज्झब्भंतरपरिग्गहपरिच्चाओ णिग्गंथत्तं। —व्यवहार नयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि, वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण हैं, और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे कर्मबन्धके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगमनयकी अपेक्षा तो रत्नत्रयमें उपयोगी पड़ने वाला जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग है, उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए।

परिग्रह संज्ञा—दे० संज्ञा।

परिग्रहानंदी रौद्रध्यान—दे० रौद्रध्यान।

परिग्राहिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

परिचारक—

भ. आ./मू./६४७,६४८,६७१ पियधम्मा दिढधम्मा संवेगावज्जभीरुणो धीरा। छंदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू।६४७। कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा। गीदत्था भयवंता अडदालीसं तु णिज्जवया।६४८। जो जारिसओ कालो भरदेरावदेसु होइ वासेसु। ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया।६७१। —जिनका धर्मपर गाढ़ प्रेम है और जो स्वयं धर्ममें स्थिर हैं। संसारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त हैं। धैर्यवान् और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले हैं, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुश्रूषा करने योग्य माने गये हैं।६४७। ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य हैं, इनका ज्ञान परिचारकोंको होना आवश्यक है। क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थका जाननेवाले, आगमज्ञ, स्वयं और परका उद्धार करनेमें कुशल, तथा जिनकी जगमें कीर्ति है ऐसे परिचायक यति हैं।६४८। भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रमें समस्त देशोंमें जो जैसा काल वर्तता है, उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए।६७१।

★ **सल्लेखनागत क्षपककी सेवामें परिचारकोंकी संख्याका नियम**—दे० सल्लेखना/५।

परिचित द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/८।

परिणमन—**१. ज्ञेयार्थ परिणमनका लक्षण**

प्र. सा./त. प्र./५२ उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति। —उदयगत पुद्गल कर्मांशोंके अस्तित्वमें चेतित होनेपर—जाननेपर—अनुभव करनेपर मोह राग द्वेषमें परिणत होनेसे ज्ञेयार्थ परिणमन स्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रिया फलरूप बन्धका अनुभव करता है। किन्तु ज्ञानसे नहीं' (इस प्रकार प्रथम ही अर्थ परिणमन क्रियाके फलभूत बन्धका समर्थन किया गया है।)

स. सा./ता. वृ./९५/१५२/१० धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि विकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्पः उपचारेण घटत इति भावार्थः। —'यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प जब जीव, ज्ञेयतत्त्वके विचार कालमें करता है, उस समय वह शुद्धात्माका स्वरूप भूल जाता है (क्योंकि उपयोगमें एक समय एक ही विकल्प रह सकता है।); इसलिए उस विकल्पके किये जानेपर 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा उपचारसे घटित होता है। यह भावार्थ है।

प्र. सा./पं. जयचन्द/५२ ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात् 'यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्प रूपसे ज्ञेयरूप पदार्थोंमें परिणमन करना यह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नहीं।…ज्ञेय पदार्थोंमें रुकना—उनके सम्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. परिणमन सामान्यका लक्षण। —दे० विपरिणमन।

२. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं कर सकता। —दे० द्रव्य/५।

३. गुण भी द्रव्यवत् परिणमन करता है। —दे० गुण/२।

४. अखिल द्रव्य परिणमन करता है, द्रव्यांश नहीं। —दे० उत्पाद/३।

५. एक द्रव्य दूसरेको परिणमन नहीं करा सकता। —दे० कर्ता व कारण/III।

६. शुद्ध द्रव्यको अपरिणामी कहनेकी विवक्षा।—दे० द्रव्य/२।

परिणम्य परिणामक शक्ति—

स. सा./आ./परि./शक्ति नं० १५ परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः। —पर और आप जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञानाकार उनका ग्रहण करना और ग्रहण कराना ऐसा स्वभाव जिसका रूप है, ऐसी परिणम्य परिणामकत्व नाम पन्द्रहवीं शक्ति है।

परिणाम—Result (ध. ५/प्र. २७)

परिणाम—जीवके परिणाम ही संसारके या मोक्षके कारण हैं। वस्तुके भावको परिणाम कहते हैं, और वह दो प्रकारका है—गुण व पर्याय। गुण अप्रवर्तमान या अक्रमवर्ती है और पर्याय प्रवर्तमान व क्रमवर्ती। पर्यायरूप परिणाम तीन प्रकारके हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। तहाँ शुद्धपरिणाम ही मोक्षका कारण है।

१. परिणाम सामान्यका लक्षण

१. स्वभावके अर्थमें

प्र. सा./मू./९९ सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो। अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिसंभवणाससंबद्धो।९९।

प्र. सा./त. प्र./१०९ स्वभावस्तु द्रव्यपरिणामोऽभिहितः।…द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः। —स्वभावमें अवस्थित (होनेसे) द्रव्य सत् है; द्रव्यका जो उत्पादव्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है; वह पदार्थोंका स्वभाव है।९९। (प्र. सा./मू./१०९) द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया है।…द्रव्यकी वृत्ति तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत् वर्तमान कालको) स्पर्शित करती है, इसलिए (वह वृत्ति-

अस्तित्व) प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमित होनेके कारण द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है।

गो.जी./जी./८/१५ उदयादिनिरपेक्षः परिणामः। —उदयादिकी अपेक्षासे रहित सो परिणाम है।

२. भावके अर्थमें

त. सू./५/४२ तद्भावः परिणामः ।४२।

स. सि./५/४२/३१७/५ धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्वं परिणाम इति आख्यायते। —धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते हैं। (रा. वा./५/४२/१/५०३/५)।

ध. १५/१७२/७ को परिणामो। मिच्छत्तासंजम-कसायादो।—मिथ्यात्व, असंयम और कषायादिको परिणाम कहा जाता है।

३. आत्मलाभ हेतुके अर्थमें

रा.वा./२/१/५/१००/२१ यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति स परिणाम इति परिभाष्यते। —जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है, अन्य कोई निमित्त नहीं है, उसको परिणाम कहा जाता है। (स. सि./२/१/१४९/६); (प. का./ त. प्र./५६)।

४. पर्यायके अर्थमें

स. सि./५/२२/२९२/६ द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। —एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। (रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६); (स. म./२७/३०४/१६)।

रा. वा./५/२२/१०/४७७/३० द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः।१०। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वा द्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां स्वां द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोगविस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। —द्रव्यका अपनी स्व द्रव्यत्व जातिको नहीं छोड़ते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते हैं। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्यसे भिन्न नहीं है फिर भी द्रव्यार्थिककी अविवक्षा और पर्यायार्थिककी प्रधानतामें उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक सत्ताको न छोड़ते हुए पूर्व पर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो उत्तरपर्यायका उत्पन्न होना है वही परिणाम है। (न. च. वृ./१७); (त. सा./३/४६)।

सि. वि./टी./११/५/७०२/१० व्यक्तेन च तादात्म्यं परिणामलक्षणम्। —व्यक्तरूपसे तो तादात्म्य रखता हो, अर्थात् द्रव्य या गुणोंकी व्यक्तियों अथवा पर्यायोंके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला परिणमन, परिणामका लक्षण है।

न्या. वि./टी./१/१०/१७८/११ परिणामो विवर्तः।—उसीमेंसे उत्पन्न हो होकर उसीमें लीन हो जाना रूप विवर्त या परिवर्तन परिणाम है।

प. ध./पू./११७ स च परिणामोऽवस्था। —गुणोंकी अवस्थाका नाम परिणमन है। और भी दे० 'पर्याय'

२. परिणामके भेद

प्र. सा./मू./१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु। परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये। —परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है, ऐसा कहा है। (और भी देखो प्रणिधान) जो दूसरोंके प्रति प्रवर्तमान नहीं है, ऐसा परिणाम (शुद्ध परिणाम) समयपर दुःख क्षयका कारण है।

रा. वा./५/२२/१०/४७७/३४ परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च।··· आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। —परिणाम दो प्रकारका होता है—एक अनादि और दूसरा आदिमान्। (स. सि./५/४२/३१७/६), (रा. वा./५/४२/३/५०३/६) आदिमान् दो प्रकारके हैं—एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक।

ध./१२/४,२,७,३२/२७/६ अपरियत्तमाणा···परिणामा परियत्तमाणा णाम।···तत्थ उक्कस्सा मज्झिमा जहण्णा त्ति तिविहा परिणामा। —अपरिवर्तमान और परिवर्तमान दो प्रकारके परिणाम होते हैं। उनमें उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्यके भेदसे वे परिणाम तीन प्रकारके हैं। (गो. क./जी. प्र./१७७/२०७/१०)।

पं. ध./पू./१२७,१२८ का भावार्थ—परिणाम दो प्रकारके होते हैं—सदृश और विसदृश।

३. परिणाम विशेषोंके लक्षण

१. आदिमान् व अनादिमान् परिणाम

रा.वा./५/२२/१०/४७७/४ अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यौपशमिकादिभावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वाद् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञानशीलभावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात्प्रयोगजः। अचेतनस्य च मृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वाद् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः। तथा धर्मादेरपि योज्यः।

रा. वा./५/४२/३/५०३/१० तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः। न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक् पश्चाद्गत्युपग्रहादिः, प्राग्वा गत्युपग्रहादिः पश्चाद्धर्मादीनि इति। किं तर्हि। अनादिरेषां संबन्धः। आदिमांश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पादः। —लोककी रचना सुमेरुपर्वत आदिके आकार इत्यादि अनादि परिणाम हैं। आदिमान् दो प्रकारके हैं—एक प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक। चेतन द्रव्यके औपशमिकादिभाव जो मात्र कर्मोंके उपशम आदिकी अपेक्षासे होते हैं। पुरुष प्रयत्नकी जिनमें आवश्यकता नहीं होती वे वैस्रसिक परिणाम हैं। ज्ञान, शील, भावना आदि गुरु उपदेशके निमित्तसे होते हैं, अतः वे प्रयोगज हैं। अचेतन मिट्टी आदिका कुम्हार आदिके प्रयोगसे होनेवाला घट आदि परिणमन प्रयोगज है और इन्द्रधनुष मेघ आदि रूपसे परिणमन वैस्रसिक है।

धर्मादि द्रव्योंके गत्युपग्रह आदि परिणाम अनादि हैं, जबसे ये द्रव्य हैं तभीसे उनके ये परिणाम हैं। धर्मादि पहले और गत्युपग्रहादि बादमें किसी समय हुए हों ऐसा नहीं है। बाह्य प्रत्ययोंके आधीन उत्पाद आदि धर्मादि द्रव्योंके आदिमान् परिणाम हैं।

२. अपरिवर्तमान व परिवर्तमान परिणाम

ध. १२/४,२,७,३२/२७/८ अणुसमयं वड्ढमाणा हायमाणा च जे संकिलेस-विसोहियपरिणामा ते अपरियत्तमाणा णाम। जत्थ पुण ट्ठाइदूण परिणामांतरं गंतूण एग-दो आदिसमएहि आगमणं संभवदि ते परिणामा परियत्तमाणा णाम। —प्रति समय बढ़नेवाले या हीन होनेवाले जो संक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम होते हैं वे अपरिवर्तमान परिणाम कहे जाते हैं। किन्तु जिन परिणामोंमें स्थित होकर तथा परिणामान्तरको प्राप्त हो पुनः एक दो आदि समयों द्वारा उन्हीं परिणामोंमें आगमन सम्भव होता है उन्हें परिवर्तमान परिणाम कहते हैं। (गो. क./जी. प्र./१७७/२०७/१०)

३. सदृश व विसदृश परिणाम

पं. ध./पू./१८२ सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वह्निः। स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम्।१८२। =सदृश उत्पाद यह है कि जैसे परिणमन करती हुई अग्नि उष्णकी उष्ण ही रहती है, और आमका फल हरितवर्णसे पीतवर्ण रूप हो जाता है यह असदृश उत्पाद है।१८२।

पं. ध./पू./३२७-३३० जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमंस्तदेवेति। सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या।३२७। यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः। स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात्।३२८। अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणाम-तोऽपि कालांशाः। जातेरनतिक्रमतः सदृशत्वनिबन्धना एव।३२९। अपि नयथोगाद्विसदृशसाधनसिद्ध्यै त एव कालांशाः। समयः समयः समयः सोऽपीति बहुप्रतीतित्वात्।३३०। =जैसे जीवका ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ प्रति समय ज्ञानरूप ही रहता है यही ज्ञानस्वरूप जातिका उल्लंघन नहीं करनेसे सदृशका उदाहरण है।३२७। तथा यहाँपर वही ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ यह वह नहीं है 'अर्थात् पूर्वज्ञानरूप नहीं है' यह विसदृशका उदाहरण है, क्योंकि विवक्षित परिणामका अपने समयमें जो सत्त्व है, दूसरे समयमें पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वह उसका सत्त्व नहीं माना जाता है।३२८। और इस विषयमें भी खुलासा यह है कि परिणामसे जितने भी ऊर्ध्वांश कल्पनारूप स्वकालके अंश हैं वे सब अपनी अपनी द्रव्यत्व जातिको उल्लंघन नहीं करनेके कारणसे सदृशपनेके द्योतक हैं।३२९। तथा वे ही कालके अंश 'वह भी समय है, वह भी समय है, वह भी समय है' इस प्रकार समयोंमें बहुतकी प्रतीति होनेसे पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे विसदृशताकी सिद्धिके लिए भी समर्थ हैं।३३०।

४. तीव्र व मन्द परिणाम

स. सि./६/६/३२३/१० बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्तः परिणामस्तीव्रः। तद्विपरीतो मन्दः। =बाह्य और उदीरणा वश प्राप्त होनेके कारण जो उत्कट परिणाम होता है वह तीव्रभाव है। मन्दभाव इससे उलटा है। (रा. वा./६/६/१/५११/३२)।

५. सल्लेखना सम्बन्धी परिणमन निर्देश

भ. आ./वि./६७/१९४/१० तद्भावः परिणामः इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्रव्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यतेः स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम्। ='तद्भावः परिणामः' ऐसा पूर्वाचार्यका वचन है अर्थात् जीवादिक पदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्यायोंसे परिणत होना यह परिणामशब्दका सामान्य अर्थ है। तथापि यहाँ यतिको अपने कर्तव्यका हमेशा खयाल रहना परिणाम शब्दका प्रकरण संगत अर्थ समझना चाहिए।

५. परिणाम ही बन्ध या मोक्षका कारण

यो. सा. यो./१४ परिणामें बंधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि। इउ जाणेविणु जीव तहुं तह भाव हु परियाणि।१४। =परिणामसे ही जीवको बन्ध कहा है और परिणामसे ही मोक्ष कहा है।—यह समझ कर, हे जीव! तू निश्चयसे उन भावोंको जान।१४।

६. मालाके दानोंवत् सत्का परिणमन

प्र. सा./त. प्र./९९ स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत्। यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्ति निवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति। =स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धतिमें (परिणामोंकी परम्परामें) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम नहीं करता इसलिए सत्त्वको त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिए। मोतियोंके हारकी भाँति। जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियोंके हारमें, अपने-अपने स्थानोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियोंमें, पीछे-पीछेके स्थानोंमें पीछे-पीछेके मोती प्रगट होते हैं इसलिए, और पहले-पहलेके मोती प्रगट नहीं होते इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता सूत्र अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसने नित्य वृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुए द्रव्यमें, अपने-अपने अवसरोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त परिणामोंमें पीछे-पीछेके अवसरोंपर पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं इसलिए और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। (प्र. सा./त. प्र./२३), (प्र. सा./त. प्र./८०), (पं. ध./पू./४७२-४७३)।

९. का./त. प्र./११ का भावार्थ-मालाके दानोंके स्थानपर बाँसके पर्वसे सत्के परिणमनकी सिद्धि।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. उपयोग अर्थमें परिणाम। —दे० उपयोग/II।
२. शुभ व अशुभ परिणाम। —दे० उपयोग/II।
३. अन्य व्यक्तिके गुप्त परिणाम भी जान लेने सम्भव हैं —दे० विनय/५।
४. परिणामोंकी विचित्रता। निगोदसे निकलकर मोक्ष। —दे० जन्य/६।
५. अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिलेके सर्व परिणाम अधःप्रवृत्तकरण रूप होते हैं। —दे० करण/४।

परिणाम प्रत्यय प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बन्ध/२।

परिणाम योगस्थान—दे० योग/५।

परिणाम शक्ति—स. सा./आ०/परि. शक्ति नं. १९ द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः। =द्रव्यके स्वभावभूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादोंसे स्पर्शित जो समान रूप व असमान रूप परिणाम उन स्वरूप एक अस्तित्व मात्रमयी उन्नीसवीं परिणाम शक्ति है।

परिणाम शुद्ध प्रत्याख्यान—दे० प्रत्याख्यान/१।

परिणामी—षट् द्रव्योंमें परिणामी अपरिणामी विभाग—दे० द्रव्य/३।

परिदावन—ध. १३/५,५,२१/४६/१२ संतापजननं परिदावणं णाम। सन्ताप उत्पन्न करना परिदावण कहलाता है।

परिदेवन—स. सि./६/११/३२९/२ संक्लेशपरिणामावलम्बनं गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रायं रोदनं परिदेवनम्। =संक्लेशरूप परिणामोंके होनेपर गुणोंका स्मरण और दूसरेके उपकारकी अभिलाषा करुणाजनक रोना परिदेवन है। (रा. वा./६/११/६/५१९/३१)।

परिधि—१. Circumference (ज.प./प्र. १०७) २. परिधि निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/२।

परिपीडित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

परिभोग—दे० भोग।

परिमह्—वस्तिकाका एक दोष—दे० 'वस्तिका'

परिमाण—Magnitude. (ध. ५ प्र. २७)

परिमाणहीन—Dimensionless. (ध.५/प्र.२७)।

परिमित—Finite. (ज.प./प्र.१०७)।

परिलेखा—दे० परीलेखा।

परिवर्त—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४. २.वस्तिका का एक दोष—दे० वस्तिका।

परिवर्तन—१. अक्षरसंचार—दे० गणित/II/३/१।२.पंच परिवर्तन-रूप संसार—दे० संसार।

परिवर्तना—ध.९/४.१.५५/२६२/११ अविसरणट्ठं पुणो पुणो भावागमपरिमलणं परियट्टणा णाम।—ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे, एतदर्थ बार-बार भावागमका परिशीलन करना परिवर्तना है। (ध.१४/५.६.१२/९/५)।

परिशातन—ध.९/४.१.६६/३२७/१ तेसिं चेव अप्पिदसरीरपोग्गलक्खंधाणं संचएण विणा जा णिज्जरा सा परिसादणकदी णाम।—(पाँचों शरीरोंमेंसे) विवक्षित शरीरके पुद्गलस्कन्धोंकी संचयके बिना जो निर्जरा होती है वह परिशातन कृति कहलाती है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. पाँचों शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति —दे० ध.९/३५५-४५१)।

२. पाँचों शरीरोंकी जघन्य उत्कृष्ट परिशातन कृति —दे० ध.९/३३६-४३८।

३. संघातन परिशातन (उभयरूप) कृति —दे० संघातन।

परिशेष न्याय—(ध.१/१.१.४४/२७६/१) यह भी नहीं यह भी नहीं तो शेष यह ही रहा।

परिषह—गर्मी, सर्दी, भूख, प्यास, मच्छर आदिकी बाधाएँ आनेपर आर्त परिणामोंका न होना अथवा ध्यानसे न डिगना परिषह जय है। यद्यपि अल्प भूमिकाओंमें साधकको उनमें पीड़ाका अनुभव होता है, परन्तु वैराग्य भावनाओं आदिके द्वारा वह परमार्थसे चलित नहीं होता।

१. भेद व लक्षण

१. परिषहका लक्षण

त. सू./९/८ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।८। —मार्गसे च्युत न होनेके लिए और कर्मोंकी निर्जराके लिए जो सहन करने योग्य हों वे परिषह हैं।८।

स. सि./९/२/४०९/८ क्षुदादिवेदनोत्पत्तौ कर्मनिर्जरार्थं सहनं परिषहः। —क्षुदादि वेदनाके होनेपर कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए उसे सह लेना परिषह है। (रा. वा./९/२/६/५९२/५)

रा. वा./९/२/६/५९२/२ परिषह्यत इति परीषहः।६। —जो सही जाय वह परिषह है।

२. परिषह जयका लक्षण

स. सि./९/२/४०९/६ परिषहस्य जयः परिषहजयः। —परिषहका जीतना परिषहजय है। (रा.वा./९/२/६/५९२/५)।

भ. आ./वि./११७१/११५९/१८ "दुःखोपनिपाते संक्लेशरहिता परीषहजयः।" —दुःख आनेपर भी संक्लेश परिणाम न होना ही परिषहजय है।

का.अ./मू./९८ सो वि परिसह-विजओ छुहादि-पीडाण अइरउद्दाणं। सवणाणं च मुणीणं उवसम-भावेण जं सहणं। —अत्यन्त भयानक भूख आदिकी वेदनाको ज्ञानी मुनि जो शान्तभावसे सहन करते हैं, उसे परिषहजय कहते हैं।९८।

द्र. सं./टी./३५/१४६/१० "क्षुधादिवेदनानां तीव्रोदयेऽपि···समतारूप परमसामायिकेन ··· निजपरमात्मभावनासंजातनिर्विकारनित्यानन्द-लक्षणसुखामृतसंवित्तेरचलनं स परिषहजय इति। —क्षुधादि वेदनाओंके तीव्र उदय होनेपर भी···समता रूप परम सामायिकके द्वारा ···निज परमात्माकी भावनासे उत्पन्न, विकार रहित, नित्यानन्द रूप सुखामृत अनुभवसे, जो नहीं चलना सो परिषहजय है।

३. परिषहके भेद

त.सू./९/९ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्या-शय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञाना-दर्शनानि।९। —क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन नाम वाले परिषह हैं।९। (मू.आ./२५४-२५५); (चा.सा./१०८/३); (अन.ध./६/८३-११२); (द्र.सं/टी/३५/१४६/९)।

★ परिषहजय विशेषके लक्षण—दे० वह वह नाम।

२. परिषह निर्देश

१. परिषहके अनुभवका कारण कषाय व दोष होते हैं

स.सि./९/१२/४३१/४ तेषु हि अक्षीणकषायदोषत्वात्सर्वे संभवन्ति। —प्रमत्त आदि गुणस्थानोंमें कषाय और दोषोंके क्षीण न होने से सब परिषह सम्भव हैं।

२. परिषहकी ओर लक्ष्य न जाना ही वास्तविक परिषहजय है

स.सि./९/९/४२०/१० क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः। —क्षुधाजन्य-बाधा का चिन्तन नहीं करना क्षुधा परिषह जय है।

नोट—इसी प्रकार पिपासादि परिषहोंकी ओर लक्ष्य न जाना ही वह वह नामकी परिषह जय है। —दे० वह वह नाम।

३ मार्गणाकी अपेक्षा परिषहोंकी सम्भावना

चा.सा./१३२/७ नरकतिर्यग्गत्योः सर्वे परिषहाः मनुष्यगतावाद्यभंगा भवन्ति देवगतौ घातिकर्मोत्थपरिषहैः सह वेदनीयोत्पन्नक्षुत्पिपासावधैः सह चतुर्दश भवन्ति। इन्द्रियकायमार्गणयोः सर्वे परिषहाः सन्ति वैक्रियकद्वितयस्य देवगतिभंगा तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्वाविंशतिः शेषयोगानां वेदादिमार्गणानां च स्वकीयगुणस्थानभङ्गा भवन्ति। —नरक और तिर्यंचगतिमें सब परिषह होती हैं। मनुष्यगतिमें ऊपर कहे अनुसार (गुणस्थानवत्) होती हैं। देवगतिमें घाती-कर्मके उदयसे होनेवाली सात परिषह और वेदनीयकर्मके उदयसे

होनेवाला क्षुधा, पिपासा और वध, इस प्रकार चौदह परिषह होती हैं। इन्द्रिय और कायमार्गणामें सब परिषह होती हैं। वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रमें देवगतिकी अपेक्षा देवगतिके अनुसार और तिर्यंच मनुष्योंकी अपेक्षा बाईस होती हैं। शेष योग मार्गणामें तथा वेदादि सब मार्गणाओंमें अपने-अपने गुणस्थानोंकी अपेक्षा लगा लेना चाहिए।

४. गुणस्थानोंकी अपेक्षा परिषहोंकी सम्भावना

(त. सू./९/१०-१२); (स.सि./९/१०-१२/४२८-४३१); (रा.वा./९/१०-१२/६१२-६१४); (चा.सा./१३०-१३२) ।

गुण-स्थान	गुणकी विशे०	प्रमाण	असम्भव	संख्या	गुण-स्थान	गुणकी विशे०	प्रमाण	असम्भव	संख्या
१-७	सामान्य	चा.सा.		२२	१२	सामान्य	चा.सा.	क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल	११
८	,,	,,	अदर्शन	२१					
६-९	,,	स.सि.		२२					
९	सवेद	चा.सा.	अदर्शन, अरति	२०					
,,	अवेद	,,	,, ,,-स्त्री	१९					
१०-१२	सामान्य	स.सि.	नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना सत्कार-पुरस्कार अदर्शन =८	१४	१३-१४	,,	स.सि.	,,	११
					,,	,,	चा.सा.	,,	११ उपचार से।
९-१२	मान क० रहित ९	चा.सा.	,, =८	१४					

५. एक समयमें एक जीवको परिषहोंका प्रमाण

त.सू./९/१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशतेः। १७। —एक साथ एक आत्मामें उन्नीस तक परिषह विकल्पसे हो सकते हैं। १७।

स.सि./९/१७ शीतोष्णपरिषहयोरेकः शय्यानिषद्याचर्याणामन्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि। कुतः। विरोधात्। तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनोतरेषां संभवादेकोनविंशतिविकल्पा बोद्धव्याः। —एक आत्मामें शीत और उष्ण परिषहोंमें-से एक, शय्या, निषद्या और चर्या इनमें-से कोई एक परिषह ही होते हैं, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनोंके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोंके एक साथ होनेमें विरोध आता है। इन तीनोंके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामें इतर परिषह सम्भव होनेसे सब मिलकर उन्नीस परिषह जानना चाहिए। (रा.वा./९/१७/२/६१५/२५)।

६. परिषहोंके कारणभूत कर्मोंका निर्देश

त.सू./९/१३-१६ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥ १३ ॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥ १४ ॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः ॥ १५ ॥ वेदनीये शेषाः ॥ १६ ॥ —ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परिषह होते हैं ॥ १३ ॥ दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमें क्रमसे अदर्शन और अलाभ परिषह होते हैं ॥ १४ ॥ चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परिषह होते हैं ॥ १५ ॥ बाकीके सब परिषह वेदनीयके सद्भावमें होते हैं ॥ १६ ॥ (चा.सा./१२९/३)।

*** परिषह आनेपर वैराग्य भावनाओंका भाना भी कथंचित् परिषहजय है।**—दे० अलोभ, आक्रोश व वध परिषह।

७. परिषह जयका कारण व प्रयोजन

त.सू./९/८ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

स. सि./९/८/४१७/११ जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिकं कर्मफलमनुभवन्तः क्रमेण निर्जीर्णकर्माणो मोक्षमाप्नुवन्ति। —जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नहीं च्युत होनेवाले, उस मार्गके सतत अभ्यास रूप परिचयके द्वारा कर्मागम द्वारको संवृत करनेवाले तथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते हैं।

अन.ध./६/८३ दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रस्यत्यदुःखाश्रितात् तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम्। भोक्तुं च प्रतपनक्षुदादिवपुषो द्वाविंशतिं वेदनाः, स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम्। ८३। —संयमी साधु बिना दुःखोंका अनुभव किये ही मोक्षमार्गका सेवन करे तो वह उसमें दुःखोंके उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। जो मुमुक्षु पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए आत्मस्वरूपमें स्थित होकर क्षुधादि २२ प्रकारकी वेदनाओंको सहता है, उसीको परिषह विजयी कहते हैं।

द्र. सं./टी./५७/२२९/४ परीषहजयश्चेति···ध्यानहेतवः। —परिषहजय ध्यानका कारण है।

*** परिषहजय भी संयमका एक अंग है**—दे० कायक्लेश।

२. शंका समाधान

१. क्षुदादिको परिषह व परिषहजय कहनेका कारण

भ.आ./मू. व टी./११७१/११५९ सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परिसहाण उरो। सीदादिणिवारणए गंथे णियमं वहंतेण। ११७१। क्षुदादिजन्यदुःखविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानाम्। तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यादीनां परीषहवाचो युक्तिर्न विरुध्यते। —शीत, उष्ण इत्यादिको मिटानेवाला वस्त्रादि परिग्रह जिसने नियमसे छोड़ दिया है, उसने शीत, उष्ण, दंश-मशक वगैरह परिषहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके समान जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए। ११७१। क्षुधादिकोंसे उत्पन्न होनेवाला दुःख क्षुधादि शब्दोंका विषय है, इस वास्ते क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य इत्यादिकोंको परिषह कहना अनुचित नहीं है।

२. केशलोंचको परिषहोंमें क्यों नहीं गिनते

स.सि./९/९/४२६/८ केशलुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्। —केश लुञ्चन या केशोंका संस्कार न करनेसे उत्पन्न खेदको सहना होता है, यह मल परिषह सामान्यमें ही अन्तर्भूत है। अतः उसको पृथक् नहीं गिनाया है। (रा.वा./९/९/१४/६१२/१)।

★ परिषहजय व कायक्लेशमें अन्तर—दे० कायक्लेश।

३. अवधि आदि दर्शन परिषहोंका भी निर्देश क्यों नहीं करते

रा. वा./९/९/२९/६१२/३३ तन्मस्मिन्नस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादिवचनसहनमवध्यादिदर्शनपरीषहजयः, तस्योपसंख्यानं कर्तव्यमिति; तन्न; किं कारणम्। अज्ञानपरीषहाविरोधात्। तत्कथमिति चेत्। उच्यते—अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सहचरितदर्शनाभावः, आदित्यस्य प्रकाशाभावे प्रतापाभाववत्। तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोधः। —प्रश्न—अवधिदर्शन आदिके न उत्पन्न होनेपर भी 'इसमें वे गुण नहीं हैं' आदि रूपसे अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परिषह हो सकती है, अतः उसका निर्देश करना चाहिए था। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि ये दर्शन अपने-अपने ज्ञानोंके सहचारी हैं अतः अज्ञानपरिषहमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—सूर्यके प्रकाशके अभावमें प्रताप नहीं होता, उसी तरह अवधिज्ञानके अभावमें अवधिदर्शन नहीं होता। अतः अज्ञानपरिषहमें ही उन उन अवधिदर्शनाभाव आदि परिषहोंका अन्तर्भाव है।

४. दसवें आदि गुणस्थानोंमें परिषहोंके निर्देश सम्बन्धी

स. सि./९/१०/४२८/८ आह युक्तं तावद्वीतरागच्छद्मस्थे मोहनीयाभावात् तत्कृतवक्ष्यमाणाष्टपरिषहाभावाच्चतुर्दशनियमवचनम्। सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावात् 'चतुर्दश' इति नियमो नोपपद्यत इति। तदयुक्तम्; सन्मात्रत्वात्। तत्र हि केवलो लोभसंज्वलनकषायोदयः सोऽप्यतिसूक्ष्मः। ततो वीतरागच्छद्मस्थकल्पत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते। ननु मोहोदयसहायाभावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुदादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो न युक्तिमवतरति। तन्न। किं कारणम्। शक्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात्। सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत्। वीतरागच्छद्मस्थस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवतरति। —प्रश्न—वीतराग छद्मस्थके मोहनीयके अभावसे तत्कृत आगे कहे जानेवाले आठ परिषहोंका अभाव होनेसे चौदह परिषहोंके नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयका उदय होनेसे चौदह परिषह होते हैं, यह नियम नहीं बनता? उत्तर—यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनीयकी सत्तामात्र है। वहाँपर केवल लोभ संज्वलनकषायका उदय होता है और वह भी अतिसूक्ष्म इसलिए वीतराग छद्मस्थके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्परायमें भी चौदह परिषह होते हैं यह नियम बन जाता है। प्रश्न—इन स्थानों में मोहके उदयकी सहायता न होनेसे और मन्द उदय होनेसे क्षुधादि वेदनाका अभाव है, इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परिषह' संज्ञा युक्तिको प्राप्त नहीं होती? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवीं पृथ्वीके गमनकी सामर्थ्यका निर्देश करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। अर्थात् कर्मोदय सद्भावकृत परिषह व्यपदेश हो सकता है। (रा. वा./९/१०/२-३/६१३/१०)।

★ केवलीमें परिषहों सम्बन्धी शंकाएँ—दे० केवली/४।

परिस्पन्द—१. आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द—दे० योग/१। २. जीवके चलिताचलित प्रदेश—दे० जीव/४। ३. परिस्पन्दात्मक भावका विषय—दे० भाव।

परिहार—परस्पर परिहारलक्षणविरोध—दे० विरोध।

परिहार प्रायश्चित्त—

स.सि./९/२२/४४०/६ पक्षमासादिविभागेन दूरतः परिवर्जनं परिहारः। —पक्ष महीना आदिके विभागसे संघसे दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है। (रा.वा./९/२२/९/६२१/३२), (त.सा./७/२६) (भा.पा./टी. ७८/२२३/१३)।

२. परिहार प्रायश्चित्तके भेद

ध. १३/५,४,२६/६२/४ परिहारो दुविहो अणवट्ठओ पारंचिओ चेदि। —परिहार दो प्रकारका होता है—अनवस्थाप्य और पारंचिक। (चा. सा./१४४/४)।

चा. सा./१४४/४ तत्रानुपस्थापनं निजपरगणभेदाद् द्विविधं। —उपरोक्त दो भेदोंमें से अनुपस्थापन भी निजगण और परगणके भेदसे दो प्रकारका होता है।

३. निज गणानुपस्थापन या अनवस्थाप्यका लक्षण

ध. १३/५,४,२६/६२/४ तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मासकालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहारो पडिवंदणविरहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंबिलपुरिमड्ढेयट्ठाणणिव्वियदीहि सोसिय-रस-रुहिर-मांसो होदि। —अनवस्थाप्यपरिहार प्रायश्चित्तका जघन्य काल छह महीना और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह काय भूमिसे दूर रहकर ही विहार करता है, प्रतिवन्दनासे रहित होता है, गुरुके सिवाय अन्य सब साधुओंके साथ मौन रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिनके पूर्वार्धमें एकाशन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीरके रस, रुधिर और मांसको शोषित करनेवाला होता है।

चा. सा./१४५/१ तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरविहितविहारेण बालमुनीनपि वंदमानेन प्रतिवन्दनाविरहितेन गुरुणा सहालोचयता शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यतः पञ्चपञ्चोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्तव्याः, उभयमप्याद्वादशवर्षादिति। दर्पादनन्तरोक्तान्दोषानाचरतः निजगणोपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति। —जिनको यह प्रायश्चित्त दिया जाता है वे मुनियोंके आश्रमसे बत्तीस दण्डके अन्तरसे बैठते हैं, बालक मुनियोंको (कम उम्रके अथवा थोड़े दिनके दीक्षित मुनियोंको) भी वन्दना करते हैं, परन्तु बदलेमें कोई मुनि उन्हें वन्दना नहीं करता। वे गुरुके साथ सदा आलोचना करते रहते हैं, शेष लोगोंके साथ बातचीत नहीं करते हैं परन्तु मौनव्रत धारण किये रहते हैं, अपनी पीछीको उलटी रखते हैं। कमसे कम पाँच-पाँच उपवास और अधिकसे अधिक छह-छह महीनेके उपवास करते रहते हैं, और इस प्रकार दोनों प्रकारके उपवास १२ वर्ष तक करते रहते हैं यह निज गणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त है।

आचार सार/६/५४ यह प्रायश्चित्त उत्तम, मध्यम, व जघन्य तीन प्रकारसे दिया जाता है। यथा—उत्तम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष ६ महीनेका उपवास। मध्यम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मासमें ५ से अधिक और १५ से कम उपवास। जघन्य—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मासमें ५ उपवास।

४. परगणानुपस्थापन प्रायश्चित्तका लक्षण

चा. सा./१४५/४ स सापराधः स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्वाचार्यान्तरं प्रस्थापयति, सप्तमं यावत् पश्चिमश्च प्रथमालोचनाचार्यं प्रति प्रस्थापयति, स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचरयति। —अपने संघके आचार्य ऐसे अपराधीको दूसरे संघके आचार्यके समीप भेजते हैं, वे दूसरे संघके आचार्य भी उनकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त दिये बिना ही किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेजते हैं, इसी प्रकार सात संघोंके समीप उन्हें भेजते हैं अन्तके अर्थात् सातवें संघके आचार्य उन्हें पहिले आलोचना सुननेवाले आचार्यके समीप भेजते हैं तब वे पहले ही आचार्य उन्हें ऊपर लिखा हुआ (निजगणानुपस्थापनमें कहा हुआ) प्रायश्चित्त देते हैं।

५. पारंचिक प्रायश्चित्तका लक्षण

ध. १३/५,४,२६/६२/७ जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किंतु साधम्मियवज्जियखेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवणं पि उवइट्ठं। – पारंचिक तप भी इसी (अवस्थाप्य जैसा) प्रकारका होता है। किन्तु इसे साधर्मी पुरुषोंसे रहित क्षेत्रमें आचरण करना चाहिए। इसमें उत्कृष्ट रूपसे छह मासके उपवासका भी उपदेश दिया गया है।

आचार सार/६/६१-६४ स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते। चारः पारञ्चिकं जैनधर्मास्यन्तरतेर्मतम् ।६२। संघोर्वीशविरोधान्तःपुरस्त्रीगमनादिषु। दोषेष्ववन्द्यः पाप्येष पातकीति बहिःकृतः ।६३। चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोऽप्यदः। – अपने धर्म से रहित अन्य क्षेत्रमें जाकर जहाँ लोग धर्मको नहीं जानते वहाँ पूर्व कथित प्रायश्चित्त करना पारंचिक है ।६२। संघ और राजासे विरोध और अन्तःपुरकी स्त्रियोंमें जाने आदि दोषोंके होनेपर उस पापीको चतुर्विध संघके द्वारा देशसे निकाल देना चाहिए।

चा. सा./१४६/३ पारञ्चिकमुच्यते,…चातुर्वर्ण्यश्रमणाः संघं संभूय समाहूय एव महापातकी समयबाह्यो न वन्द्य इति घोषयित्वा दत्त्वानुपस्थानं प्रायश्चित्तं देशान्निर्घाटयन्ति। – पारंचिक प्रायश्चित्तकी क्रिया इस प्रकार है—कि आचार्य पहले चारों प्रकारके मुनियोंके संघको इकट्ठा करते हैं, और फिर उस अपराधी मुनिको बुलाकर घोषणा करते हैं कि 'यह मुनि महापापी है अपने मतसे बाह्य है, इसलिए वन्दना करनेके अयोग्य है' इस प्रकार घोषणा कर तथा अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त देकर उसे देशसे निकाल देते हैं।

*** परिहार प्रायश्चित्त किसको किस अपराधमें दिया जाता है**—दे० प्रायश्चित्त /४।

परिहारविशुद्धि—परिहार विशुद्धि अत्यन्त निर्मल चारित्र है जो अत्यन्त धीर व उत्तमदर्शी साधुओंको ही प्राप्त होता है।

१. परिहारविशुद्धि चारित्रका लक्षण

स. सि./९/१८/४३६/७ परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः। तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। – प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार कहते हैं। इस युक्त शुद्धि जिस चारित्रमें होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। (रा. वा./९/१८/८/६१७/१६) (त. सा./६/४७); (चा. सा./८३/५); (गो. क./जी. प्र./५४७/७१४/७)।

पं. सं./प्रा./१/१३१ पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सया वि जो हु सावज्जं। पंचजमेयजमो वा परिहारयसंजदो साहू ।१३१। – पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योगका परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद संयम (छेदोपस्थापना) को अथवा एक यमरूप अभेद संयम (सामायिक) को धारण करना परिहार विशुद्धि संयम है, और उसका धारक साधु परिहार विशुद्धि संयत कहलाता है। (ध. १/१,१,१२३/गा. १८९/३७२); (गो. जी./मू. ४७१); (पं. सं./१/२४१)।

यो. सा. यो./१०२ मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्दंसण-सुद्धि। सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिव-सिद्धि ।१०२। – मिथ्यात्व आदिके परिहारसे जो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है, उसे परिहारविशुद्धि समझो, उससे जीव शीघ्र मोक्ष-सिद्धिको प्राप्त करता है ।१०२।

ध. १/१,१,१२३/३७०/८ परिहारप्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः। – जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धि प्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं।

द्र. सं./टी./३५/१४८/३ मिथ्यात्वरागादिविकल्पमलानां प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यं परिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति। – मिथ्यात्व रागादि विकल्प मलोंका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूपसे जो आत्मशुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहार विशुद्धि चारित्र है।

२. परिहारविशुद्धि संयम विधि

भ. आ./वि./१५५/३५४/२२ जिनकल्पस्यासमर्थाः…कल्पस्थितमाचार्यं मुक्त्वा…परिहारसंयमं गृह्णन्ति इति परिहारिका भण्यन्ते। शेषास्तेषामनुपहारिकाः। वसतिमाहारं च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति…। संयमार्थं प्रतिलेखनं गृह्णन्ति। …चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते। दृढधृतयो निरन्तरं ध्यानावहितचित्ताः। … त्रय, पञ्च, सप्त, नव ऐषणा निर्यान्ति। रोगेण वेदनयोपद्रुताश्च तत्प्रतिकारं च न कुर्वन्ति।… स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषां।…श्मशानमध्येऽपि तेषां न ध्यानं प्रतिषिद्धं। आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति।… अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति।… आसीधिकां च निषीधिकां च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयन्ति। निर्देशकं मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते। उपकरणादिदानं, ग्रहणं, अनुपालनं, विनयो, वंदना संलापश्च न तेषामस्ति संघेन सह।… तेषां…परस्परेणास्ति संभोग।…मौनाभिग्रहरतास्तिस्रो भाषाः मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमनुज्ञाकरणीं प्रश्ने च प्रवृत्ता च मार्गस्य शंकितस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्नः।…व्याघ्रादि… कण्टकादिविद्धे स्वयं न निराकुर्वन्ति। परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठन्ते। तृतीयप्रहरे एव नियोगतो भिक्षार्थं गच्छन्ति। यत्र क्षेत्रे षट्गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमात्मनःप्रयोग्यं शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति। – जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ चार या पाँच साधुसंघमें परिहारविशुद्धि संयम धारण करते हैं। उनमें भी एक आचार्य कहलाता है। शेषमें जो पीछेसे धारण करते हैं उन्हें अनुपहारक कहते हैं। ये साधु वस्तिका, आहार, संस्तर, पीछी व कमण्डलके अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते। धैर्य पूर्वक उपसर्ग सहते हैं। वेदना आदि आनेपर भी उसका प्रतिकार नहीं करते। निरन्तर ध्यान व स्वाध्यायमें मग्न रहते हैं। श्मशानमें भी ध्यान करनेका इनको निषेध नहीं। यथाकाल आवश्यक क्रियाएँ करते हैं। शरीरके अंगोंको पीछीसे पोंछनेकी क्रिया नहीं करते। वस्तिकाके लिए उसके स्वामीसे अनुज्ञा लेता तथा निःसही असहीके नियमोंको पालता है। निर्देशको छोड़कर समस्त समाचारोंको पालता है। अपने साधर्मीके अतिरिक्त अन्य सबके साथ आदान, प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि समस्त व्यवहारोंका त्याग करते हैं। आचार्य पदपर प्रतिष्ठित परिहार संयमी उन व्यवहारोंका त्याग नहीं करते। धर्मकार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, विहारमें मार्ग पूछना, वस्तिकाके स्वामीसे आज्ञा लेना, योग्य अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर करनेके लिए उत्तर देना, इन कार्योंके अतिरिक्त वे मौनसे रहते हैं, उपसर्ग आनेपर स्वयं दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते, यदि दूसरा दूर करे तो मौन रहते हैं। तीसरे पहर भिक्षाको जाते हैं। जहाँ छः भिक्षाएँ अपुनरुक्त मिल सकें ऐसे स्थानमें रहना ही योग्य समझते हैं। ये छेदोपस्थापना चारित्रके धारी होते हैं।

३. गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. १२६/३७५ परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्पमत्त-संजद-ट्ठाणे ।१२६। – परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें ही होते हैं ।१२६। (द्र. सं./टी./३५/१४८/२); (गो. जी./मू./४६७,६८९)।

४. उत्कृष्ट व जघन्य स्थानोंका स्वामित्व

ध. ७/२,११,१६६/५६६/१ एदा परिहारसुद्धिसंजमलद्धी जहण्णिया कस्स होदि। सव्वसंकिलिट्ठस्स सामाइयछेदोवट्ठावण-भिमुहचरिम-

समयपरिहारसुद्धिसंजदस्स । —यह जघन्य परिहारशुद्धि संयमलब्धि सर्व संक्लिष्ट सामायिक-छेदोपस्थापना शुद्धि संयमके अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती परिहार शुद्धिसंयतके होती है।

५. परिहार संयम धारणमें आयु सम्बन्धी नियम

ध. ५/१/८/२७१/३२७/१० तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्स संभवाभावा। —तीस वर्षके बिना परिहार विशुद्धि संयमका होना संभव नहीं है। (गो. जी./मू./४७२/८८१)।

ध. ७/२,२,१४१/१६७/८ तीसं वस्साणि गमिय तदो वासपुधत्तेण तित्थयरपादमूले पच्चक्खाणणामधेयपुव्वं पढिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसंजमं पडिवज्जिय देसूणपुव्वकोडिकालमच्छिदूण देवेसुप्पण्णस्स वत्तव्वं। एवमट्ठतीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी परिहारसुद्धिसंजमस्स कालो वुत्तो। के वि आइरिया सोलसवस्सेहि के वि बावीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी त्ति भणंति। —तीस वर्षोंको बिताकर (फिर संयम ग्रहण किया। उसके) पश्चात् वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थंकरके पादमूलमें प्रत्याख्यान नामक पूर्वको पढ़कर पुनः तत्पश्चात् परिहारविशुद्धि संयमको प्राप्तकर और कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक रहकर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवके उपर्युक्त काल प्रमाण कहना चाहिए। इस प्रकार अड़तीस वर्षोंसे कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण परिहार शुद्धि संयतका काल कहा गया है। कोई आचार्य सोलह वर्षोंसे और कोई बाईस वर्षोंसे कम पूर्वकोटि वर्षप्रमाण कहते हैं। (गो. जी./जी. प्र./४७३/८८१/१२; ७१५/११५४/११)।

६. इसको निर्मलता सम्बन्धी विशेषताएँ

ध. ७/२,२,१४१/१६७/८ सव्वसुही होदूण···वासपुधत्तेण तित्थयरपादमूले पच्चक्खाणणामधेयपुव्वं पढिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसंजमं पडिवज्जिय···। —सर्व सुखी होकर···पश्चात् वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थंकरके पाद मूलमें प्रत्याख्यान नामक पूर्वको—पढ़कर पुनः तत्पश्चात् परिहार विशुद्धि संयमको प्राप्त करता है। (गो. जी./जी. प्र./४७३/१६७/८)।

७. इसके साथ अन्य गुणों व ऋद्धियोंका निषेध

पं. सं./प्रा./१/१९४ मणपज्जवपरिहारो उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा। एदेसु एक्कपयदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे ।१९४। — मनःपर्ययज्ञान परिहार विशुद्धि संयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दोनों आहारक अर्थात् आहारकशरीर और आहारक अंगोपांग, इन चारोंमेंसे किसी एकके होनेपर, शेष तीन मार्गणाएँ नहीं होतीं ऐसा जानना चाहिए। ।१९४। (गो. जी./मू./७३०/१३२५)।

ध. ४/१,३,६०/१२३/७ (परिहारसुद्धिसंजदेसु) समुग्घादं तेजाहारं णत्थि। —परिहार विशुद्धि संयतके तैजससमुद्घात और आहारक समुद्घात ये दो पद नहीं होते।

ध. ५/१,८,२७१/३२७/१० ण च परिहारसुद्धिसंजमछड्ड तस्स उवसमसेढीचडणट्ठं दंसणमोहणीयस्सुवसामण्णं पि संभवइ। — परिहार विशुद्धि संयमको नहीं छोड़नेवाले जीवके उपशमश्रेणीपर चढ़नेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होना भी संभव नहीं है। अर्थात् परिहारविशुद्धि संयमके उपशम सम्यक्त्व व उपशमश्रेणी होना सम्भव नहीं। (गो. जी./जी. प्र./७१५/१९)।

ध. १४/५,६,१५८/२४७/१ परिहारसुद्धिसंजदस्स विउव्वणरिद्धी (ए) आहाररिद्धीए च सह विरोहादो। — परिहारशुद्धिसंयतजीवके विक्रियाऋद्धि और आहारक ऋद्धिके साथ इस संयम होनेका विरोध है। (गो. जी./जी. प्र./७१५/११५४/१२); (गो. क./जी. प्र./११६/११३/६)

८. शंका समाधान

ध. १/१,१,१२६/३७५/५ उपरिष्टात्किमित्ययं संयमी न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मनां वाचंयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः। प्रवृत्तः परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टात् संयमोऽस्ति।

ध. १/१,१,१२६/३७६/२ परिहारर्द्धेरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात्। —प्रश्न—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी सागरमें निमग्न हैं, जो वचन यमका (मौनका) पालन करते हैं और जिन्होंने आने जाने रूप सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार संकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि, गमनागमन रूप क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं। इसलिए ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता है। प्रश्न—परिहार ऋद्धिकी आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता पायी जाती है, अतएव वहाँपर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि पायी जाती है, परन्तु वहाँपर परिहार करने रूप कार्य नहीं पाया जाता, इसलिए आठवें आदि गुणस्थानोंमें इस संयमका अभाव है।

ध. ५/१,८,२७१/३२७/८ एत्थ उवसमसम्मत्तं णत्थि, तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्स संभवाभावा। ण च तेत्तियकालमुवसमसम्मत्तस्सावट्ठाणमत्थि, जेण परिहारसुद्धिसंजमेण उवसमसम्मत्तस्सुवलद्धी होज्ज। ण च परिहारसुद्धिसंजमछड्ड तस्स उवसमसेढीचडणट्ठं दंसणमोहणीयस्सुवसामण्णं पि संभवइ, जेणुवसमसेढिम्हि दोण्हं पि संजोगो होज्ज। —प्रश्न—(परिहारविशुद्धिसंयतोंके उपसम सम्यक्त्व क्यों नहीं होता?) उत्तर—१. परिहार शुद्धि संयतोंके उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है क्योंकि, तीस वर्षके बिना परिहारशुद्धि संयमका होना सम्भव नहीं है। और न उतने कालतक उपशम सम्यक्त्वका अवस्थान रहता है, जिससे कि परिहारशुद्धि संयमके साथ उपशम सम्यक्त्वकी उपलब्धि हो सके। २. दूसरी बात यह है कि परिहारशुद्धि संयमको नहीं छोड़नेवाले जीवके उपशम श्रेणीपर चढ़नेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होना भी सम्भव नहीं है, जिससे कि उपशम श्रेणीमें उपशम सम्यक्त्व और परिहारशुद्धि संयम, इन दोनोंका भी संयोग हो सके।

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अप्रशस्त वेदोंके साथ परिहार विशुद्धिका विरोध —दे० वह/६।
२. परिहार विशुद्धि व अपहृत संयममें अन्तर। —संयम/२।
३. परिहार विशुद्धि संयमसे प्रतिपात संभव है। —दे० अन्तर/१।
४. सामायिक, छेदोपस्थापना व परिहार विशुद्धिमें अन्तर। —दे० छेदोपस्थापना।
५. परिहार विशुद्धि संयममें क्षायोपशमिक भावों सम्बन्धी। —दे० संयत/२।
६. परिहार विशुद्धि संयममें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० 'सत्'।
७. परिहार विशुद्धि संयतके सत्, संख्या, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।

८. परिहार विशुद्धि संयममें कर्मोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।

९. सभी मार्गणाओंमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। — दे० मार्गणा।

परीक्षा—

न्या. सू./टी./१/१/२/८/८ लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। —उद्दिष्ट पदार्थके जो लक्षण कहे गये, 'वे ठीक हैं या नहीं', इसका प्रमाण द्वारा निश्चय करके धारण करनेको परीक्षा कहते हैं।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य/१/१५ ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्। —ईहा, ऊहा, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये एकार्थवाची शब्द हैं। (और भी दे० विचय)।

न्या. दी./१/§६/८ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं स्यादित्येवं प्रवर्तते। —परस्पर विरुद्ध अनेक युक्तियोंमेंसे कौनसी युक्ति प्रबल है और कौनसी दुर्बल है इस बातके निश्चय करनेके लिए 'यदि ऐसा माना जायेगा तो ऐसा होगा, और उसके विरुद्ध ऐसा माना जायेगा तो ऐसा होगा' इस प्रकार जो विचार किया जाता है उसको परीक्षा कहते हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. तत्त्वज्ञानमें परीक्षाकी प्रधानता —दे० न्याय/२।

२. परीक्षामें हेतुका स्थान —दे० हेतु।

३. श्रद्धानमें परीक्षाकी मुख्यता —दे० श्रद्धान/२।

४. देव, शास्त्र, गुरु आदिकी परीक्षा —दे० वह वह नाम।

५ साधुकी परीक्षाका विधि निषेध व उपाय —दे० विनय/५।

६. परीक्षामें अनुभवकी प्रधानता —दे० अनुभव/३।

परीक्षामुख—आ० माणिक्यनन्दि (ई० १००३) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित सूत्रनिबद्ध न्यायविषयक ग्रन्थ है। इसमें छह अधिकार है, और कुल २०७ सूत्र हैं। इसपर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं— प्रभाचन्द्र नं० ४ (ई० ९५०-१०२०) कृत प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबड़ा (ई० १८०६) कृत भाषा टीका। (ती./३/४१)

परीक्षित—१. अभिमन्युका पुत्र था। कृष्णजीके द्वारा इसको राज्य मिला था। (पा. पु./२०/३३)। २. कुरुवंशी राजा था। पांचालदेश (कुरुक्षेत्र) में राज्य करता था। (राजा जनमेजयका पिता था) समय—ई० पू० १४७०-१४५० (भारतीय इतिहास १/२८६) विशेष दे० इतिहास/3/3।

परीत—Frams (ज. प./प्र. १०७) (दे० 'गणित'/I/१/१)।

परीतानंत—दे० अनन्त।

परीतासंख्यात—दे० असंख्यात।

परीलेखा—भ. आ./वि./६८/१९६ पडिलेहा आराधनाया व्याक्षेपेण विना सिद्धिर्भवति न वा राज्यस्य देशस्य ग्रामनगरादेस्तत्र प्रधानस्य वा शोभनं वा नेति एवं निरूपणम्। —पडिलेहा— आराधनामें यदि विघ्न उपस्थित होता आराधनाकी सिद्धि नहीं होती। अतः उसकी निर्विघ्नताके लिए राज्य, देश, गाँव, नगरका शुभ होगा या अशुभ होगा उसका अवलोकन करना।

परोक्ष—प्रमाणके भेदोंमेंसे परोक्ष भी एक है। इन्द्रियों व विचारणा द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है वह सब परोक्ष प्रमाण है। छद्मस्थोंका पदार्थ विज्ञानके लिए एकमात्र यही साधन है। स्मृति, तर्क, अनुमान आदि अनेकों इसके रूप हैं। यद्यपि अविशद व इन्द्रियों आदिसे होनेके कारण इसे परोक्ष कहा गया है, परन्तु यह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा पदार्थका निश्चय उतना ही दृढ होता है, जितना कि प्रत्यक्षके द्वारा।

१. परोक्ष प्रमाणका लक्षण

१. इन्द्रियसापेक्षज्ञान

प्र. सा./मू./५८ जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु ।५८। —परके द्वारा होनेवाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, वह परोक्ष कहा गया है। (प्र. सा./मू./४०); (स. सि./१/११/१०१/५); (रा. वा./१/११/७/५२/३०), (प्र. सा./ता. वृ./५८/७६/१२)

रा. वा./१/११/६/५२/२४ उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगमः परोक्षम् ।६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि परः तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्।...तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मनः स्वमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधानं ज्ञानं परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते। —उपात्त-इन्द्रियाँ और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेशादि 'पर' हैं। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। (स. सा./आ./१३/क. ८), (त. सा./१/१६) (ध. ९/४,१,४५/१४३/५); (ध. १३/५,५,२१/२१२/१); (प्र. सा./त. प्र./५५); (गो. जी./जी. प्र./३६६/७६५/८) तथा उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर ज्ञस्वभाव परन्तु स्वयं पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए असमर्थ हुए आत्माके पूर्वोक्त प्रत्ययोंकी प्रधानतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष है। (स. सि./१/११/१०१/५), (ध. ९/४,१,४५/१४४/१)।

प्र. सा./त. प्र./५८ यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात्स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। —निमित्तताको प्राप्त जो परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन) इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि (जाननेकी शक्ति) संस्कार या प्रकाशादिक है, उनके द्वारा होनेवाला स्वविषयभूत पदार्थका ज्ञान परके द्वारा प्रगट होता है, इसलिए परोक्षके रूपमें जाना जाता है। (द्र. सं./टी./५/१२/१२)।

२. अविशदज्ञान

प. मु./२/१ (विशदं प्रत्यक्षं प. मु./२/१) परोक्षमितरत् ।१। —विशद अर्थात् स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे भिन्न अर्थात् अविशदको परोक्षप्रमाण कहते हैं।

न्या. दी./३/§१/५१/१ अविशदप्रतिभासं परोक्षम्।...यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षमित्यर्थः।...अवैशद्यमस्पष्टत्वम्। —अविशद प्रतिभासको परोक्ष कहते हैं।...जिस ज्ञानका प्रतिभास विशद नहीं है वह परोक्षप्रमाण है। अविशदता अस्पष्टताको कहते हैं। (स. भ. त./४७/१०)

२. परोक्षज्ञानके भेद—१. मति श्रुतकी अपेक्षा

त. सू./१/११ आद्ये परोक्षम् ।११। —आदिके दो ज्ञान अर्थात् मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। (ध. ९/४,१,४५/१४३/५); (न. च. वृ./१७१); (ज. प./१३/५३)।

द्र. सं./टी./५/१५/२ चतुष्टयं परोक्षमिति। —शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुतज्ञान ये चार परोक्ष हैं।

२. स्मृति आदिकी अपेक्षा

त. सू./१/१३ मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् । —मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम हैं ।

न्या. द./मू./१/१/३/६ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।३।

न्या. सू./मू./२/२/१/१०६ न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ।१। —न्यायदर्शनमें प्रमाण चार होते हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ।३। प्रमाण चार ही नहीं होते हैं किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये चार और मिलकर आठ प्रमाण हैं ।

प. मु./३/२ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं ।२। —वह परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष आदिकी सहायतासे होता है और उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद हैं ।२। (स्या. मं./१८/२२१/२१); (न्या. दी./३/§३/५३/१) ।

स्या. म./२८/३२१/६ प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसंभवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भावः । —अर्थापत्ति, उपमान, सम्भव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदिका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है ।

३. परोक्षाभासका लक्षण

प. मु./६/७ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणस्य ज्ञानवत् । —परोक्षज्ञानको विशद मानना परोक्षाभास है, जिस प्रकार परोक्षरूपसे अभिमत मीमांसकोंका इन्द्रियज्ञान विशद होनेसे परोक्षाभास कहा जाता है ।

★ **मति श्रुत ज्ञान**—दे० वह वह नाम ।

★ **स्मृति आदि सम्बन्धी विषय**—दे० मति ज्ञान/३ ।

★ **स्मृति आदिमें परस्पर कारणकार्यभाव**

—दे० मतिज्ञान/३ ।

४. मति श्रुत ज्ञानकी परोक्षताका कारण

प्र. सा./मू./५७ परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा । उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।५७। —वे इन्द्रियाँ परद्रव्य हैं, उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है, उनके द्वारा ज्ञात आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ।५७।

रा. वा./२/८/१८/१२२/६ अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वात् धूमाद्यनुमितानग्निवत् । अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणात् गवाक्षवत् । —इन्द्रियाँ अग्राहक हैं, क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी स्मृति देखी जाती है । जैसे खिड़की नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा देखनेवाला स्थिर रहता है उसी प्रकार इन्द्रियोंसे देखनेवाला ग्राहक आत्मा स्थिर है, अतः अग्राहक निमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही हैं ।

क. पा. १/१,१/§ १६/२५/३ मदि-सुदणाणाणि परोक्खाणि, पाएण तत्थ अविसदभावदंसणादो । —मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि इनमें प्रायः अस्पष्टता देखी जाती है ।

प. मु./२/१२ सावरणत्वे करण जन्यत्वे च प्रतिबन्धसंभवात् ।१२। —आवरण सहित और इन्द्रियोंकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानका प्रतिबन्ध संभव है । (इसलिए वह परोक्ष है) ।

न्या. वि./वृ./१/३/५६/२४ इदं तु पुनरिन्द्रियज्ञानं परिस्फुटमपि नात्ममात्रापेक्षं तदन्यस्येन्द्रियस्याप्यपेक्षणात् । अत एकाङ्गविकलतया परोक्षमेवेति मतम् । —इन्द्रियज्ञान यद्यपि विशद है परन्तु आत्ममात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न न होकर अन्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे उत्पन्न होता है, अतः प्रत्यक्षज्ञानके लक्षणमें एकांग विकल होनेसे परोक्ष ही माना गया है ।

नि. सा./ता. वृ./१२ मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थतः परोक्षम् । व्यवहारतः प्रत्यक्षं च भवति । —मति और श्रुतज्ञान दोनों ही परमार्थसे परोक्ष हैं और व्यवहारसे प्रत्यक्ष होते हैं ।

प्र. सा./ता. वृ./५५/७३/११ इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव । —इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है । (न्या. दी./२/§१२/३४/२) ।

पं. ध./पू./७०० आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसंनिकर्षलक्षणात् । भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ।७००। —मतिज्ञान विषय विषयीके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है, और श्रुतज्ञान भी नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है, इसलिए ये दोनों ज्ञान परोक्ष कहलाते हैं ।७००। (पं. ध./पू./७०१,७०७) ।

★ **इन्द्रिय ज्ञानकी परोक्षता सम्बन्धी शंका समाधान**

—दे० श्रुतज्ञान/I/५ ।

★ **मतिज्ञानका परमार्थमें कोई मूल्य नहीं**

—दे० मतिज्ञान/२ ।

★ **सम्यग्दर्शनकी कथंचित् परोक्षता**

—दे० सम्यग्दर्शन/I/३ ।

५. परोक्षज्ञानकी प्रमाणपना कैसे घटित होता है

रा. वा./१/११/७/५२/२६ अत्राऽन्ये उपालभन्ते— परोक्षं प्रमाणं न भवति, प्रमीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किंचित्प्रमीयते- परोक्षत्वादेव इति; सोऽनुपालम्भः । कुतः । अतएव । यस्मात् 'परायत्तं परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोधः' इति । —प्रश्न—'जिसके द्वारा निर्णय किया जाये उसे प्रमाण कहते हैं' इस लक्षणके अनुसार परोक्ष होनेके कारण उससे (इन्द्रिय ज्ञानसे) किसी भी बातका निर्णय नहीं किया-जा सकता, इसलिए परोक्ष नामका कोई प्रमाण नहीं है ? उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ परोक्षका अर्थ अज्ञान या अनवबोध नहीं है किन्तु पराधीन ज्ञान है ।

परोदय—परोदय बन्धी प्रकृतियाँ—दे० उदय/७ ।

परोपकार—दे० उपकार ।

पर्यंकासन—दे० आसन ।

पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान—

न्या. सू./५/२/२१/३१७ निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।२१। —निग्रहस्थानमें प्राप्त हुएका निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान कहाता है । (श्लो.वा. ४/न्या./२४२/४१४/२७ में उद्धृत) ।

पर्यवसान—निश्चय । (स. भं. त./४/१) ।

पर्याप्ति—योनि स्थानमें प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीरके योग्य कुछ पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण या आहार करता है । तत्पश्चात् उनके द्वारा क्रमसे शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा व मनका निर्माण करता है । यद्यपि स्थूल दृष्टिसे देखनेपर इस कार्यमें बहुत काल लगता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उपरोक्त छहों कार्योंकी शक्ति एक अन्तर्मुहूर्तमें पूरी कर लेता है । इन्हें ही उसकी छह पर्याप्तियाँ कहते हैं । एकेन्द्रियादि जीवोंको उन-उनमें सम्भव चार, पाँच, छह तक पर्याप्तियाँ सम्भव हैं । जब तक शरीर पर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब तक वह निर्वृत्ति अपर्याप्त संज्ञाको प्राप्त होता है, और शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर चुकनेपर पर्याप्त कहलाने लगता है, भले अभी इन्द्रिय आदि चार पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों । कुछ जीव तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे क्षुद्रभवधारी, एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण करनेवाले लब्ध्यपर्याप्त जीव कहलाते हैं ।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याप्ति-अपर्याप्ति सामान्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/४३ 'जह पुण्णापुण्णाइं गिह-घड-वत्थाइयाइं दव्वाइं। तह पुण्णापुण्णाओ पज्जत्तियरा मुणेयव्वा ।४३। —जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं। पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त जानना चाहिए। (ध. २/१,१/गा. २११/४१७); (पं. सं./सं./१/१२७); (गो. जी./मू./११८/३२५)।

ध. १/१,१,३४/२५७/४ पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः।...जीवन-हेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते।

ध. १/१,१,७०/३११/६ आहारशरीर...निष्पत्तिः पर्याप्तिः। —पर्याप्तियों-की अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं।...इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवन-के कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता-मात्रको पर्याप्ति कहते हैं।२५७। आहार, शरीरादिकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं।३११। (ध. १/१,१,४०/२६७/१०)।

का. अ./मू./१३४-१३५ आहार-सरीरिंदियणिस्सासुस्सास-भास-मण-साणं। परिणइ-वावारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ।१३४। तस्सेव-कारणाणं पुग्गलखंधाण जाहु णिप्पत्ती। सा पज्जत्ती भण्णदि...।१३५। —आहार शरीर, इन्द्रिय आदिके व्यापारोंमें अर्थात् प्रवृत्तियोंमें परिणमन करनेकी जो शक्तियाँ हैं, उन शक्तियोंके कारण जो पुद्गल स्कन्ध हैं उन पुद्गल स्कन्धोंकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./२/२१/६ परि-समन्तात्, आप्ति-पर्याप्तिः शक्तिनिष्पत्ति-रित्यर्थ। —चारों तरफसे प्राप्तिको पर्याप्ति कहते हैं।

२. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मके लक्षण

स. सि./८/११/३९२/१ यदुदयादाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः तत्पर्याप्तिनाम। ...षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम। —जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है।...जो छह प्रकारकी पर्याप्तियोंके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। (रा. वा./८/११/३१,३३/५७९/११); (ध. ६/१,९-१,२८/६२/३); (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१,१३)।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/७ जस्स कम्मस्सुदएण जीवापज्जत्ता होंति तं कम्मं पज्जत्तं णामं। जस्स कम्मस्सुदएण जीवा अपज्जत्ता होंति तं कम्ममपज्जत्तं णाम। —जिस कर्मके उदयसे जीव पर्याप्त होते हैं वह पर्याप्त नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव अपर्याप्त होते हैं वह अपर्याप्त नामकर्म है।

३. पर्याप्तिके भेद

मू. आ./१०४५ आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए। होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा।१०४५। —आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनःपर्याप्ति—ऐसे छह पर्याप्ति कही हैं। (बो. पा./मू./३४); (पं. सं./प्रा./१/४४); (स. सि./८/११/३९२/३); (ध. २/१,१/गा. २१८/४१७); (रा. वा./८/११/३१/५७९/१३); (ध. १/१,१,३४/२५४/४); (ध. १/१,१,७०/३११/१); (गो. जी./मू./११९/३२६); (का.अ./मू./१३४-१३५); (पं.सं./सं./१/१२८), (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१); (गो.जी./जी.प्र./११९/३२६/१०)।

४. छह पर्याप्तियोंके लक्षण

ध. १/१,१,३४/२५४/६ शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसंबन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति। तेषामुपगतानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः।...तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः। ...योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः। ...उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानपानपर्याप्तिः। ...भाषावर्गणायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः। ...मनोवर्गणा स्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा। —शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं, ऐसे पुद्गल विपाकी आहारकवर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्ध, कर्म स्कन्धके सम्बन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए हैं, आत्माके साथ समवाय रूपसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, उन खल भाग और रस भागके भेदसे परिणमन करनेकी शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गल स्कन्धोंकी प्राप्तिको आहार पर्याप्ति कहते हैं। ...तिलकी खलीके समान उस खल भागको हड्डी आदि कठिन अवयव रूपसे और तिल तैलके समान रस भागको रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूपसे परिणमन करनेवाले औदारिकादि तीन शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गल स्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। ...योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करने रूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्त भूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। ...उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्तिको आनपान पर्याप्ति कहते हैं। ...भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषा रूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्मपुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको भाषापर्याप्ति कहते हैं। ...अनुभूत अर्थके स्मरण रूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे निष्पन्न पुद्गल प्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं। अथवा द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मनःपर्याप्ति कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./११९/३२६/१२ अत्र औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरनामकर्मोदयप्रथमसमयादि कृत्वा तच्छरीरत्रयषट्पर्याप्तिपर्यायपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खलरसभागेन परिणमयितुं पर्याप्तिनामकर्मोदयावष्टम्भसंभूतात्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः। तथा परिणतपुद्गलस्कन्धानां खलभागम् अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण रसभागं रुधिरादिद्रवावयवरूपेण च परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। आवरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविजृम्भितात्मनो योग्यदेशावस्थितरूपादिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिनिष्पत्तिर्जातिनामकर्मोदयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः। आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासनिश्वासरूपेण परिणमयितुं उच्छ्वासनिश्वासनामकर्मोदयजनितशक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तिः। स्वरनामकर्मोदयवशात् भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् सत्यासत्योभयानुभयभाषारूपेण परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः। मनोवर्गणापुद्गलस्कन्धान् अंगोपांगनामकर्मोदयबलाधानेन द्रव्यमनोरूपेण परिणमयितुं तद्द्रव्यमनोबलाधानेन नोइन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषेण गुणदोषविचारानुस्मरणप्रणिधानलक्षणभावमनःपरिणमनशक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः। —औदारिक, वैक्रियक वा आहारक इनमेंसे किस ही शरीररूप नामकर्मकी प्रकृतिके उदय होनेका प्रथम समय से लगाकर जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति रूप पर्याय परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धको खलरस भागरूप परिणमावनेकी पर्याप्ति नामा नामकर्मके उदयसे ऐसी शक्ति निपजै-जैसैं तिलको पेलकर खल और तेल रूप परिणमावै, तैसे कोई पुद्गलतौं खल रूप परिणमावै कोई पुद्गल रस रूप। ऐसी शक्ति होनेको आहार पर्याप्ति कहते हैं। खलरस भागरूप परिणत हुए उन पुद्गल स्कन्धोंमें से खलभागको हड्डी, चर्म आदि स्थिर अवयवरूपसे और रसभागको रुधिर, शुक्र इत्यादि रूपसे परिणमानेकी शक्ति होइ, उसको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। मति श्रुत ज्ञान और चक्षु-अचक्षु दर्शनका आवरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न जो आत्माके यथा योग्य द्रव्येन्द्रियका स्थान रूप प्रदेशोंसे वर्णादिकके ग्रहणरूप उपयोगकी शक्ति जातिनामा नामकर्मसे निपजै सो इन्द्रिय पर्याप्ति है। आहारक वर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोंकी श्वासोश्वास रूप परिणमावनेकी शक्ति होइ, श्वासोश्वास नामकर्मसे निपजै सो श्वासोश्वास पर्याप्ति है। स्वरनामकर्मके उदयसे भाषा वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धोंको सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषारूप परिणमावनेकी शक्तिकी जो निष्पत्ति होइ सो भाषापर्याप्ति है। मनोवर्गणा रूप जो पुद्गलस्कन्ध, उनको अंगोपांग नामकर्मके उदयसे द्रव्यमनरूप परिणमावनेकी शक्ति होइ, और उसी द्रव्यमनके आधारसे मनका आवरण अर वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम विशेषसे गुणदोष विचार, अतीतका याद करना, अनुगतमें याद रखना इत्यादि रूप भावमनकी शक्ति होइ उसको मनःपर्याप्ति कहते हैं।

५. निर्वृत्ति पर्याप्तापर्याप्तके लक्षण

गो. जी./मू./१२१/३३१ पज्जत्तस्स य उदये णियणियपज्जत्ति णिट्ठिदो होदि। जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो भवदि।१२१। —पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंकी सम्पूर्णताकी शक्तिसे युक्त होते हैं। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीरपर्याप्ति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्वृत्ति अपर्याप्त कहते हैं। (अर्या-

पश्चिमसे जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब निवृत्ति पर्याप्त कहते हैं।१२१।

का. अ./मू./१३६ पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि। ता णिव्वत्ति-अपुण्णो मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो।१३६। —जीव पर्याप्ति को ग्रहण करते हुए जब तक मनःपर्याप्तिको समाप्त नहीं कर लेता तबतक निर्वृत्त्यपर्याप्त कहा जाता है। और जब मनःपर्याप्तिको पूर्ण कर लेता है तब (निर्वृत्ति) पर्याप्त कहा जाता है।

६. पर्याप्त व अपर्याप्त निर्वृत्तिके लक्षण

ध. १४/५.६.२०७/३५२/८ जहण्णाउ अबंधो अहण्णियापज्जत्तणिव्वत्ती-णाम भवस्स पढमसमयप्पहुडि जाव जहण्णाउवबंधस्स चरिमसमयो त्ति ताव एसा जहण्णिया णिव्वत्ति त्ति भणिदं होदि। ...जहण्ण-बंधोवेसव्वो ण जहण्णं संतं। कुदो? जीवणियट्ठाणाणं विसेसा-हियसण्णहाणुववत्तीदो (पृ. ३५३/६)।

ध. १४/५.६.६४६/५०४/१ घाद खुद्दा भवग्गहणस्सुवरि तत्तो संखेज्जगुणं अद्धाणं गंतूण सुहुमणिगोदजीव अपज्जत्ताणं बंधेण जहण्णं जं णिसे-यखुद्दा भवग्गहणं तस्स जहण्णिया अपज्जत्तणिव्वत्ति त्ति सण्णा।

ध. १४/५.६.६६२/५१६/१० सरीरपज्जत्तीए पज्जत्तिणिव्वत्ती सरीरनिव्वत्ति-ट्ठाणं णाम। = १. जघन्य आयुबन्धकी जघन्य पर्याप्तिनिर्वृत्ति संज्ञा है। भवके प्रथम समयसे लेकर जघन्य आयुबन्धके अन्तिम समय तक यह जघन्य निर्वृत्ति होती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। ...यहाँ जघन्य बन्ध ग्रहण करना चाहिए जघन्यसत्त्व नहीं, क्योंकि अन्यथा जीवनीय स्थान विशेष अधिक नहीं बनते। २. घात क्षुल्लक भव ग्रहणके ऊपर उससे संख्यातगुणा अध्वान जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवोंके जघन्य निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण होता है, उसकी जघन्य अपर्याप्त निर्वृत्ति संज्ञा है। ३. शरीरपर्याप्तिकी निवृत्तिका नाम शरीर निर्वृत्तिस्थान है।

७. लब्ध्यपर्याप्तका लक्षण

ध. १/१.१.४०/२६७/११ अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावित-वृत्तय. अपर्याप्ताः। —अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोंकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है, उन्हें अपर्याप्त कहते हैं।

गो. जी./मू./१२२ उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि। अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सादु।१२२। —अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जे जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके उच्छ्वासके अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण पावें ते जीव लब्धि अपर्याप्त कहे गये हैं।

का. अ./मू./१३७ उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि। एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि अपुण्णो हवे सो दु।१३७। —जो जीव श्वासके अठारहवें भागमें मर जाता है, एक भी पर्याप्तिको समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१२२/३३२/४ लब्ध्या स्वस्य पर्याप्तिनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनिष्पन्ना लब्ध्यपर्याप्ता इति निरुक्तेः। —लब्धि अर्थात अपनी पर्याप्तियोंकी सम्पूर्णताकी योग्यता तीहिकरि अपर्याप्त अर्थात निष्पन्न न भये ते लब्धि अपर्याप्त कहिए।

८. अतीत पर्याप्तिका लक्षण

ध. २/१.१/४१६/१३ एदासिं छण्हमभावो अदीद-पज्जत्ती णाम। —छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्ति कहते हैं।

२. पर्याप्ति निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. षट् पर्याप्तियोंके प्रतिष्ठापन व निष्ठापन काल सम्बन्धी नियम

१. सामान्य नियम

ध. १/१.१.३४/२५४/१ सा (आहारपर्याप्तिः) च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समये-नैकेनैवोपजायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपा-दानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत्। ...साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते। ...सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। ...एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत्। एषापि (भाषापर्याप्तिः अपि) पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते। ... एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्। निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण। —वह आहार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि आत्माका एक साथ आहारपर्याप्ति रूपसे परिणमन नहीं हो सकता है। इसलिए शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्तिपूर्ण होती है। ...वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। ...यह इन्द्रियपर्याप्ति भी शरीरपर्याप्ति-के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। ...श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी इन्द्रियपर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। ...भाषा पर्याप्ति भी आनपान पर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है...इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत होता है, क्योंकि जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम-से होती है। (गो. जी./मू. व. जी. प्र./१२०/३२८)।

२. गतिकी अपेक्षा

मू. आ./१०४८ पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णायव्वा। अणु-समयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीणं।१०४८। —मनुष्य तिर्यंच जीव पर्याप्तियोंकर पूर्ण अन्तर्मुहूर्तमें होते हैं ऐसा जानना। और जो देव नारकी हैं उन सबके समय-समय प्रति पूर्णता होती है।१०४८।

ति. प./अधिकार/गाथा नं. पावेण णिरय बिले जादूणं ता मुहुत्तगंमेत्ते। छप्पज्जत्ती पाविय आकस्सिय भयजुदो होदि।२/३१३। उप्पज्जंते भवणे उववादपुरे महारिहे सयणे। पावंति छप्पज्जत्तिं जादा अंतो-मुहुत्तेण।३/२०७। जायंते सुरलोए उववादपुरे महारिहे सयणे। जादा य मुहुत्तेणं छप्पज्जत्तीओ पावंति।८/५६७। —नारकी जीव...उत्पन्न होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालमें छह पर्याप्तियोंको पूर्ण कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है।(२/३१३)। भवनवासियोंके भवनमें··(देव) उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं।(३।२०७)। देव सुरलोकके भीतर...एक मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर लेते हैं।(८।५६७)।

२. कर्मोदयके कारण पर्याप्त व अपर्याप्त संज्ञा

ध. ३/१.२.७७/३११/२ एत्थ अपज्जत्तवयणेण अपज्जत्तणामकम्मोदय-सहिदजीवा घेत्तव्वा। अण्णहा पज्जत्तणामकम्मोदयसहिदणिव्वत्ति अपज्जत्ताणं पि अपज्जत्तवयणेण गहणप्पसंगादो। एवं पज्जत्ता इदि वुत्ते पज्जत्तणामकम्मोदयसहिदजीवा घेत्तव्वा। अण्णहा पज्जत्तणाम-कम्मोदयसहिद णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं गहणाणुववत्तीदो। —यहाँ सूत्रमें अपर्याप्त पदसे अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्त जीवोंका भी अपर्याप्त इस वचनसे ग्रहण प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार पर्याप्त ऐसा कहनेपर पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्त जीवोंका ग्रहण नहीं होगा।

३. कितनी पर्याप्ति पूर्ण होनेपर पर्याप्त कहलाये

ध. १/१,१,७६/३१५/१० किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः उत साकल्येन निष्पन्न इति ? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते। —प्रश्न—(एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य छह, पाँच, चार पर्याप्तियोंमेंसे) किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या सम्पूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ? उत्तर—सभी जीव शरीर पर्याप्तिके निष्पन्न होनेपर पर्याप्तक कहे जाते हैं।

४. विग्रह गतिमें पर्याप्त कहें या अपर्याप्त

ध. १/१,१,३४/२३४/४ अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणां न पर्याप्तिस्तथा पर्याप्तीनां षण्णां निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेशः अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तरं वक्तव्यमिति नैष दोषः, तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तकैः सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायुःप्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिनां प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्। —प्रश्न—विग्रह गतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किन्तु वहाँपर कार्मणशरीरवालोंके पर्याप्ति नहीं पायी जाती है, क्योंकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोंकी निष्पत्ति नहीं होती है ? उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, पर्याप्तियोंके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह संज्ञा दी गयी है। परन्तु जिन्होंने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नहीं किया है ऐसे विग्रह गति सम्बन्धी एक दो और तीन समयवर्ती जीवोंको अपर्याप्त संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसंग दोष आता है इसलिए यहाँ पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसे जीवोंका अपर्याप्तोंमें ही अन्तर्भाव किया है, इससे अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि कार्मण शरीरमें स्थित जीवोंके अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयु सम्बन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पायी जाती है, उतनी शेष प्राणियोंके नहीं पायी जाती है। अतः सम्पूर्ण प्राणियोंकी दो अवस्थाएँ ही होती हैं। इनसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नहीं होती है।

५. निर्वृति अपर्याप्तको पर्याप्त कैसे कहते हो

ध. १/१,१,३४/२५४/१ तदुदय (पर्याप्तिनामकर्मोदय) वतामनिष्पन्नशरीराणां कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनामकर्मोदयसहचराद्वा। —प्रश्न—पर्याप्त नामकर्मोदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तबतक उन्हें (निर्वृत्ति अपर्याप्त जीवोंको) पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ? उत्तर — नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गयी है।

६. इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर भी बाह्यार्थका ग्रहण क्यों नहीं होता

ध. १/१,१,३५/२५५/६ न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्। —इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पायी जाती है।

७. पर्याप्ति व प्राणोंमें अन्तर

१. सामान्य निर्देश

ध. १/१,१,३४/२५६-२५७/२ पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात्। यत आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः। प्राणिति एभिरात्मेति प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायूंषि इति।२५६। पर्याप्तिप्राणानां नाम्नि विप्रतिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तिकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात्। तत्पर्याप्त्योऽप्यपर्याप्तकालेन सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति। अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तेर्निष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतवः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः। —प्रश्न—पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान और विन्ध्याचलके समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय भाषा और मनरूप शक्तियोंकी पूर्णताके कारणको पर्याप्ति कहते हैं। और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं, यही इन दोनोंमें अन्तर है।२५६। प्रश्न—पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहने मात्रमें अन्तर है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिए दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि कार्य कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है, तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मन, वचन, बल तथा उच्छ्वास इन प्राणोंके अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जानेसे भी पर्याप्ति और प्राणोंमें भेद समझना चाहिए। प्रश्न—वे पर्याप्तियाँ भी अपर्याप्त कालमें नहीं पायी जाती हैं, इससे अपर्याप्त कालमें उनका (प्राणोंका) सद्भाव नहीं रहेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्त रूपसे उनका (प्राणोंका) सद्भाव पाया जाता है। प्रश्न—अपर्याप्त रूपसे इसका तात्पर्य क्या है ? उत्तर—पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं, इसलिए पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता मात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जीवनके कारण हैं उन्हें प्राण कहते हैं। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिए। (का. अ./टी./१४१/८०/१); (गो. जी./मं. प्र./३४१/३४४/१४)।

२. भिन्न-भिन्न पर्याप्तियोंकी अपेक्षा विशेष निर्देश

ध. २/१,१/४१२/४ न (एतेषां इन्द्रियप्राणानां) इन्द्रियपर्याप्तावन्तर्भावः, चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमलक्षणेन्द्रियाणां क्षयोपशमापेक्षया बाह्यार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वविरोधात्। न च मनोबलं मनःपर्याप्तावन्तर्भवति; मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नात्मबलस्य चैकत्वविरोधात्। नापि वाग्बलं भाषापर्याप्तावन्तर्भवति; आहारवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नायाः भाषावर्गणास्कन्धानां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यपर्यायेण परिणमनशक्तेश्च साम्याभावात्। नापि कायबलं शरीरपर्याप्तावन्तर्भवति; वीर्यान्तरायजनितक्षयोपशमस्य खलरसभागनिमित्तशक्तिनिबन्धनपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वाभावात्। तथोच्छ्वासनिश्वासप्राणपर्याप्त्योः कार्यकारणयोरात्मपुद्गलोपादानयोर्भेदोऽभिधातव्य इति। —उक्त (प्राणों सम्बन्धी) पाँचों इन्द्रियोंका इन्द्रिय पर्याप्तिमें भी अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय आदिको आवरण करनेवाले कर्मोंके क्षयोपशम स्वरूप

इन्द्रियोंको और क्षयोपशमकी अपेक्षा बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्तिके उत्पन्न करनेमें निमित्तभूत पुद्गलोंके प्रचयको एक मान लेनेमें विरोध आता है। उसी प्रकार मनोबलका मनःपर्याप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचयको और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक माननेमें विरोध आता है। तथा वचन बल भी भाषा पर्याप्तिमें अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि आहार वर्गणाके स्कन्धोंसे उत्पन्न हुए पुद्गलप्रचयका और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणाके स्कन्धोंका श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्यायसे परिणमन करने रूप शक्तिका परस्पर समानताका अभाव है। तथा कायबलका भी शरीर पर्याप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, वीर्यान्तरायके उदयाभाव और उपशमसे उत्पन्न हुए क्षयोपशमकी और खलरस भागकी निमित्तभूत शक्तिके कारण पुद्गल प्रचयकी एकता नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार उच्छ्वास, निश्वास प्राण कार्य है और आत्मोपादान-कारणक है तथा उच्छ्वास निःश्वास पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है। अतः इन दोनोंमें भेद समझ लेना चाहिए। (गो. जी./जी. प्र./१२९/३४१/११)।

३. पर्याप्तापर्याप्तका स्वामित्व व तत्संबन्धी शंकाएँ

१. किस जीवको कितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं

ष. खं. १/१,१/सू.-७१-७५ सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति ।७१। पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ ।७२। बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ।७३। चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ।७४। एइंदियाणं ।७५। —सभी पर्याप्तियाँ (छह पर्याप्तियाँ) मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती हैं ।७१। पाँच पर्याप्तियाँ और पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं ।७२। वे पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ।७३। चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं ।७४। उक्त चारों पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं। ।७५। (मू. आ./१०४६-१०४७)।

ध. २/१,१/४१६/८ एदाओ छ पज्जत्तीओ सण्णि पज्जत्ताणं। एदेसिं चेव अपज्जत्तकाले एदाओ चेव असमत्ताओ छ अपज्जत्तीओ भवंति। मणपज्जत्तीए विणा एदाओ चेव पंच पज्जत्तीओ असण्णि-पंचिंदिय-पज्जत्तप्पहुडि जाव बीइंदिय-पज्जत्ताणं भवंति। तेसिं चेव अपज्जत्ताणं एदाओ चेव अणिप्पण्णाओ पंच अपज्जत्तीओ वुच्चंति। एदाओ चेव-भासा-मणपज्जत्तीहि विणा चत्तारि पज्जत्तीओ एइंदिय-पज्जत्ताणं भवंति। एदेसिं चेव अपज्जत्तकाले एदाओ चेव असपुण्णाओ चत्तारि अपज्जत्तीओ भवंति। एदासिं छण्हमभावो अदीद-पज्जत्तीणाम्। —छहों पर्याप्तियाँ संज्ञी-पर्याप्तके होती हैं। इन्हीं संज्ञी जीवोंके अपर्याप्तकालमें पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई ये ही छह अपर्याप्तियाँ होती हैं। मनःपर्याप्तिके बिना उक्त पाँचों ही पर्याप्तियाँ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तोंसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीवों तक होती हैं। अपर्याप्तक अवस्थाको प्राप्त उन्हीं जीवोंके अपूर्णताको प्राप्त वे ही पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं। भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्तिके बिना ये चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं। इन्हीं एकेन्द्रिय जीवोंके अपर्याप्त कालमें अपूर्णताको प्राप्त ये ही चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। तथा इन छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्ति कहते हैं।

२. अपर्याप्तोंको सम्यक्त्व उत्पन्न क्यों नहीं होता

ध. ६/१,९-८,११/४२६/४ एत्थवि तं चेव कारणं। को अच्चंताभाव-करणपरिणामाभावो। —यहाँ अर्थात् अपर्याप्तकोंमें भी पूर्वोक्त प्रतिषेधरूप कारण होनेसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अत्यंताभाव है। प्रश्न—अत्यन्ताभाव क्या है? उत्तर—करणपरिणामोंका अभाव ही प्रकृतमें अत्यन्ताभाव कहा गया है।

पर्याप्तिकाल—दे० काल।

पर्याय—पर्यायका वास्तविक अर्थ वस्तुका अंश है। ध्रुव अन्वयी या सहभूह तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावीके भेदसे वे अंश दो प्रकारके होते हैं। अन्वयीको गुण और व्यतिरेकीको पर्याय कहते हैं। वे गुणके विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंशकी अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढ़िसे केवल व्यतिरेकी अंशको ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है। वह पर्याय भी दो प्रकारकी होती है—अर्थ व व्यंजन। अर्थपर्याय तो छहों द्रव्योंमें समान रूपसे होनेवाले क्षण-स्थायी सूक्ष्म परिणमनको कहते हैं। व्यंजन पर्याय जीव व पुद्गलकी संयोगी अवस्थाओंको कहते हैं। अथवा भावात्मक पर्यायोंको अर्थ-पर्याय और प्रदेशात्मक आकारोंको व्यंजनपर्याय कहते हैं। दोनों ही स्वभाव व विभावके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। शुद्ध द्रव्य व गुणोंकी पर्याय स्वाभाविक और अशुद्ध द्रव्य व गुणोंकी विभाविक होती हैं। इन ध्रुव व क्षणिक दोनों अंशोंसे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य-रूप वस्तुकी अर्थ क्रिया सिद्ध होती है।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याय सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/३३/१/६५/६ परि समन्तादायः पर्यायः । —जो सर्व ओरसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है । (ध. १/१,१,१/८४/१); (क. पा.१/१, १३-१४/§१८१/२१७/१); (नि. सा./ता. वृ.१४) ।

आ. प./६ स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्तिः । —जो स्वभाव विभाव रूपसे गमन करती है पर्येति अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है । यह पर्यायकी व्युत्पत्ति है । (न. च./श्रुत/पृ० ५७)

२. द्रव्यांश या वस्तु विशेषके अर्थमें

स. सि./१/३३/१४१/१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । —पर्यायका अर्थ-विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।

रा. वा./१/२१/४/८१/४ तस्य मिथो भवनं प्रति विरोध्यविरोधिनां धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकानां शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाद् अर्पित-व्यवहारविषयोऽवस्थाविशेषः पर्यायः ।४। —स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोंमें अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्था विशेषको पर्याय कहते हैं ।

ध. ६/४,१,४५/१७०/२ एष एव सदादिरविभागप्रतिच्छेदनपर्यन्तः संग्रह-प्रस्तारः क्षणिकत्वेन विवक्षितः वाचकभेदेन च भेदमापन्नः विशेष-विस्तारः पर्यायः । —सत्को आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त यही संग्रह प्रस्तार क्षणिक रूपसे विवक्षित व शब्द भेदसे भेदको प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है ।

स. सा./आ./३४५-३४८ क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानाम् । —वृत्त्यंशों अर्थात् पर्यायोंका क्षणिकत्व होनेपर भी— ।

पं. ध./पू./२६,११७ पर्यायाणामेतद्धर्म यस्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।२६। स च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव) ।११७। —द्रव्यमें जो अंश कल्पना की जाती है यही तो पर्यायोंका स्वरूप है ।२६। परिणमन गुणोंकी ही अवस्था है । अर्थात् गुणोंकी प्रतिसमय होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है ।

३. द्रव्य विकारके अर्थमें

त. सू./५/४२ तद्भावः परिणामः ।४२। —उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है । (अर्थात् गुणोंके परिणमनको पर्याय कहते हैं ।)

स. सि./५/३८/३०९-३१०/७ द्रव्य विकारो हि पज्जवो भणिदो । तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमानाः पर्यायाः । —१. द्रव्यके विकारको पर्याय कहते हैं । २. द्रव्यके विकार विशेष रूपसे भेदको प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं । (न. च. वृ./१७) ।

न. च. /श्रुत/पृ. ५७ सामान्यविशेषगुणा एकस्मिन् धर्मिणि वस्तुत्व-निष्पादकास्तेषां परिणामः पर्यायः । —सामान्य विशेषात्मक गुण एक द्रव्यमें वस्तुत्वके बतलानेवाले हैं उनका परिणाम पर्याय है ।

४. पर्यायके एकार्थवाची नाम

स. सि./१/३३/१४१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः । —पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है ।

गो. जी./मू./५७२/१०१६ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।५७२। —व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थ हैं ।५७२।

स. म./२३/२७२/११ पर्ययः पर्यवः पर्याय इत्यनर्थान्तरम् । —पर्यय, पर्यव और पर्याय ये एकार्थवाची हैं ।

पं. ध./पू./६० अपि चांशः पर्यायो भागो हारोविधा प्रकारश्च । भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ।६०। —अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं ।६०।

२. पर्यायके दो भेद

१. सहभावी व क्रमभावी

श्ल. वा./४/१/३३/६०/२४५/१ यः पर्यायः स द्विविधः क्रमभावी सहभावी चेति । —जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी इस ढंगसे दो प्रकार है ।

२. द्रव्य व गुण पर्याय

प्र. सा./त. प्र./९३ पर्यायास्तु···द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । —पर्याय गुणात्मक भी हैं और द्रव्यात्मक भी । (पं. ध./पू./२१, ६२-६३,१३५) ।

पं. का./ता. वृ./१६/३५/१२ द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च । —पर्याय दो प्रकारकी होती हैं—द्रव्य पर्याय और गुणपर्याय । (पं. ध./पू./११२) ।

३. अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय

पं. का./ता. वृ./१६/३६/८ अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यंजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति ।—अथवा दूसरे प्रकारसे अर्थ पर्याय व व्यंजन-पर्यायरूपसे पर्याय दो प्रकारकी होती हैं । (गो. जी./मू./५८१) (न्या. दी./३/§७७/१२०) ।

४. स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय

न. च. वृ./१७-१९ पज्जयं द्विविधः।१७। सब्भावं खु विहावं दव्वाणं पज्जयं जिणुद्दिट्ठं।१८। दव्वगुणाण सहावा पज्जायंतह विहावदो णेयं।१९। —पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वभाव व विभाव। तहाँ द्रव्य व गुण दोनोंकी ही पर्याय स्वभाव व विभावके भेदसे दो-दो प्रकारकी जाननी चाहिए। (पं. का./ता. वृ./१६/३६/१६)।

आ. प./२ पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्।...विभावद्रव्य-व्यंजनपर्यायः... विभावगुणव्यंजनपर्यायः... स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्यायः ...स्वभावगुणव्यंजनपर्यायः। —पर्याय दो प्रकारकी होती हैं—स्वभाव व विभाव। ये दोनों भी दो-दो प्रकारकी होती हैं यथा—विभाव-द्रव्य व्यंजनपर्याय, विभावगुण व्यंजनपर्याय, स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय व स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय। (प. प्र./टी./१/५७)।

प्र.सा./त.प्र./९३ द्रव्यपर्यायः। स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। ...गुणपर्यायः। सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। —द्रव्य पर्याय दो प्रकारकी होती है—समानजातीय और असमान जातीय। ...गुणपर्याय दो प्रकारकी है—स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय। (पं. का./ता.वृ./१६/३५/१३)।

५. कारण शुद्ध पर्याय व कार्य शुद्ध पर्याय

नि.सा./ता.वृ.१५ स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्यायः कार्यशुद्धपर्यायश्चेति। —स्वभाव पर्यायों व विभाव पर्यायोंके बीच प्रथम स्वभाव पर्याय दो प्रकारसे कही जाती है—कारण शुद्धपर्याय, और कार्यशुद्धपर्याय।

६. द्रव्य पर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./९२ तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः। —अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत द्रव्य पर्याय है। (पं.का./ता. वृ./१६/३५/१२)।

पं.ध./पू./१३५ यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना।।१३५॥ —द्रव्यके जितने प्रदेश रूप अंश हैं, उतने वे सब नामसे द्रव्यपर्याय हैं।

७. समान व असमान जातीय द्रव्यपर्यायका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./९३ तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। —समानजातीय वह है—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक, इत्यादि; असमानजातीय वह है—जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि।

प्र.सा./त.प्र./५२ स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। ...जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। —स्वलक्षण भूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित अन्य अर्थमें विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (असमान जातीय) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। ...जो कि जीवकी पुद्गलमें संस्थानादिसे विशिष्टतया उत्पन्न होती हुई अनुभवमें आती है।

पं.का./ता.वृ./१६/३५/१४ द्वे त्रीणि वा चत्वारीत्यादिपरमाणुपुद्गलद्रव्याणि मिलित्वा स्कन्धा भवन्तीत्यचेतनस्यापरेणाचेतनेन संबन्धात्समानजातीयो भण्यते। असमानजातीयः कथ्यते-जीवस्य भवान्तरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादिपर्यायोत्पत्तिचेतनजीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकादसमानजातीयः द्रव्यपर्यायो भण्यते। —दो, तीन या चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कन्ध बनते हैं, तो यह एक अचेतनकी दूसरे अचेतन द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली समानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। अब असमान जातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं—भवान्तरको प्राप्त हुए जीवके शरीर नोकर्म रूप पुद्गलके साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीवकी अचेतन पुद्गल द्रव्यके साथ मेलसे होनेके कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है।

५. गुणपर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./९३ गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः।९३। —गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्याय है।९३।

पं.का./ता.वृ./१६/३६/४ गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्यायः। —जिन पर्यायोंमें गुणोंके द्वारा अन्वयरूप एकत्वका ज्ञान होता है, उन्हें गुणपर्याय कहते हैं।

पं.ध./पू./१३५ यतरे च विशेषास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव।१३५। —जितने गुणके अंश हैं, उतने वे सब गुणपर्याय ही कहे जाते हैं।१३५। (पं.ध./पू./६१)।

६. गुणपर्याय एक द्रव्यात्मक ही होती हैं

प्र.सा./त.प्र./१०४ एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात्। एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत्। —गुण पर्यायें एक द्रव्य पर्यायें हैं, क्योंकि गुणपर्यायोंको एक द्रव्यत्व है। तथा वह द्रव्यत्व आम्रफलकी भाँति हैं।

पं. का./ता. वृ./१६/३६/५ गुणपर्यायः स चैकद्रव्यगत एव सहकारफले हरितपाण्डुरादिवर्णवत्। —गुणपर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आम्रमें हरे व पीले रंगकी भाँति।

७. स्व व पर पर्यायके लक्षण

मोक्ष पंचाशत/२३-२५ केवलिप्रज्ञया तस्या जघन्योऽशंस्तु पर्ययः। तदाऽनन्त्येन निष्पन्नं सा द्युतिर्निजपर्ययाः।२३। क्षयोपशमवैचित्र्यं ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा। जीवस्य परपर्यायाः षट्स्थानपतितामी।२५। —केवलज्ञानके द्वारा निष्पन्न जो अनन्त अन्तर्द्युति या अन्तर्तेज है वही निज पर्याय है।२३। और क्षयोपशमके द्वारा व ज्ञेयोंके द्वारा चित्र-विचित्र जो पर्याय है सो परपर्याय है। दोनों ही षट्स्थान पतित वृद्धि हानि युक्त है।२५।

८. कारण व कार्य शुद्ध पर्यायके लक्षण

नि. सा./ता. वृ/१५ इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाञ्चितपंचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थः। साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञान-केवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन सार्द्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च। —सहज शुद्ध निश्चयसे, अनादि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयका स्वरूप उसके साथकी जो पूजित पंचम भाव परिणति वही कारण शुद्धपर्याय है। सादि-अनन्त, अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले, शुद्धसद्भूत व्यवहारसे, केवलज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टयके साथकी परमोत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो शुद्ध परिणति वही कार्य शुद्ध पर्याय है।

२. पर्याय सामान्य निर्देश

१. गुणसे पृथक् पर्याय निर्देशका कारण

न्या. दी./३/§ ७८/१२१/४ यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि संकेतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्चागमप्रस्तावेऽनयोः पृथग्निर्देशः। —यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय हैं, और पर्यायोंके कथनसे उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् निर्देश (कथन) करनेकी आवश्यकता नहीं है तथापि संकेतज्ञानमें कारण होनेसे और जुदा-जुदा शब्द व्यवहार होनेसे इस आगम प्रस्ताव-में (आगम प्रमाणके निरूपणमें) सामान्य विशेषका पर्यायोंसे पृथक् निरूपण किया है।

२. पर्याय द्रव्यके व्यतिरेकी अंश हैं

स. सि./५/३८/३०९/५ व्यतिरेकिणः पर्यायाः।—पर्याय व्यतिरेकी होती है (न. च. श्रुत./पृ. ५७); (पं. का./त. प्र./५); (प्र. सा./ता. वृ./९३/१२१/११); (प. प्र./टी./१/५७); (पं. ध./पू. १६५)।

प्र. सा./त. प्र./८०, ९५ अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः।८०। पर्याया आयतविशेषाः।९५। —अन्वय व्यतिरेक वे पर्याय हैं।८०। पर्याय आयत विशेष है।९५। (प्र. सा./त. प्र./९३)।

पं. का./त. प्र./५ पदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्याया उच्यन्ते।—पदार्थोंके जो अवयव हैं वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे पर्यायें कहलाती हैं।

अध्यात्मकमल मार्तण्ड। वीरसेवा मन्दिर/२/६ व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि। ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्मांशाः।६। —जो व्यतिरकी हैं और अनित्य हैं तथा अपने कालमें द्रव्यके साथ तन्मय रहती हैं। ऐसी द्रव्यकी अवस्था विशेष, या धर्म, या अंश पर्याय कहलाती है।६।

३. पर्याय द्रव्यके क्रम भावी अंश हैं

आ. प./६ क्रमवर्तिनः पर्यायाः। —पर्याय एकके पश्चात् दूसरी, इस प्रकार क्रमपूर्वक होती है। इसलिए पर्याय क्रमवर्ती कही जाती है। (स्या. मं./२२/२६७/२२)।

प. प्र./मू./५७ कम-भुव पज्जउ वुत्तु।५७। —द्रव्यकी अनेक रूप परिणति क्रमसे हो अर्थात् अनित्य रूप समय-समय उपजे, विनशे, वह पर्याय कही जाती है। (प्र. सा./त. प्र./१०); (नि. सा./ता. वृ./१०७); (पं. का./ता. वृ./५/१४/१)।

प. मु./४/८ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्। —एक ही द्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं जैसे एक ही आत्मामें हर्ष और विषाद।

४. पर्याय स्वतन्त्र हैं

पं. ध./पू०/८६, ११७ वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि।८६। अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः।११७। —जैसे वस्तु स्वतःसिद्ध है वैसे ही वह स्वतः परिणमनशील भी है।८६। —गुण नित्य है तो भी वे निश्चय करके स्वभावसे ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते हैं।

५. पर्याय व क्रियामें अन्तर

रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६ भावो द्विविधः—परिस्पन्दात्मकः अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मकः क्रियेत्याख्यायते, इतरः परिणामः। —भाव दो प्रकारके होते हैं—परिस्पन्दात्मक व अपरिस्पन्दात्मक। परिस्पन्द क्रिया है तथा अन्य अर्थात् अपरिस्पन्द परिणाम अर्थात् पर्याय है।

६. पर्याय निर्देशका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./१६/४१/५ अत्र पर्यायरूपेणानित्यत्वेऽपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनाविनश्वरमनन्तज्ञानादिरूपशुद्धजीवास्तिकायाभिधानं रागादिपरिहारेणोपादेयरूपेण भावनीयमिति भावार्थः। —पर्याय रूपसे अनित्य होनेपर भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अविनश्वर अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्धात्म द्रव्य है उसको रागादिके परिहारके द्वारा उपादेय रूपसे माना चाहिए, ऐसा भावार्थ है।

३. स्वभाव विभाव, अर्थ व्यंजन व द्रव्य गुण पर्याय निर्देश

१. अर्थ व व्यंजन पर्यायके लक्षण व उदाहरण

ध. ४/१,५,४/३३७/८ वज्जसिलाथंभादिसु वंजणसण्णिदस्स अवट्ठाणुवलंभादो। मिच्छत्तं पि वंजणपज्जाओ। —वज्रशिला, स्तम्भादिमें व्यंजन संज्ञिक उत्पन्न हुई पर्यायका अवस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्व भी व्यंजन पर्याय है।

प्र. सा./त. प्र./८७ द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयूतिद्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थपर्यायाः। —जो द्रव्यको क्रम परिणामसे प्राप्त करते हैं, अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रम परिणामसे प्राप्त किये जाते हैं ऐसे 'अर्थपर्याय' हैं।

नि. सा./ता. वृ./गा० षड्हानिवृद्धिरूपाः सूक्ष्माः परमागमप्रामाण्यादभ्युपगम्या अर्थपर्यायाः।१६८। व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्यायः। कुतः, लोचनगोचरत्वात् पटादिवत्। अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात्।१५। नरनारकादिव्यञ्जनपर्याया जीवानां पंचसंसारप्रपञ्चानां, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्यायाः।१६८। —षट् हानि वृद्धि रूप, सूक्ष्म, परमागम प्रमाणसे स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें (होती हैं)।१६८। जिससे व्यक्त हो—प्रगट हो वह व्यंजन पर्याय है। किस कारण? पटादिकी भाँति चक्षु गोचर होनेसे (प्रगट होती हैं) अथवा सादि-सांत मूर्त विजातीय विभाव-स्वभाववाली होनेसे दिखकर नष्ट होनेवाले स्वरूप वाली होनेसे (प्रगट होती हैं।) नर-नारकादि व्यंजन पर्याय पाँच प्रकारकी संसार प्रपंच वाले जीवोंके होती हैं। पुद्गलोंको स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें (व्यंजन पर्यायें) होती हैं।१६८। (नि.सा./ता.वृ./१५)।

वसु. श्रा./२५ सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा। वंजणपज्जाया पुण थूलागिरगोयरा चिरविवत्था।२५। —अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है, अतः शब्दसे नहीं कही जा सकती है और क्षण-क्षणमें बदलती हैं, किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्द गोचर है अर्थात् शब्दसे कही जा सकती है और चिरस्थायी है।२५। (पं.का./ता.वृ./१६/३६/१)।

न्या. दी./३/§७७/१२०/६ अर्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपम्। तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ताः। ...व्यञ्जनं व्यक्तिः प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्। तेनोपलक्षितः पर्यायो व्यञ्जनपर्यायः, मृदादेर्पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादयः पर्यायाः। —भूत और भविष्यतके उल्लेखरहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु-स्वरूपको अर्थपर्याय कहते हैं। आचार्योंने इसे ऋजुसूत्र नयका विषय माना है। व्यक्तिका नाम व्यंजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्तिमें कारणभूत जलके ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारिता है वह व्यक्ति है उस व्यक्तिसे युक्त पर्यायको व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे—मिट्टी आदिकी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें हैं।

प्र. सा./ता. वृ./८०/१०१/१७ शरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्यायः, अगुरुलघुगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमानाः अर्थपर्यायाः। =शरीरके आकार रूपसे जो आत्म-प्रदेशोंका अवस्थान है वह व्यंजन पर्याय कहलाती है। और अगुरुलघु गुणकी षट् वृद्धि और हानिरूप तथा प्रतिक्षण बदलती हैं, वे अर्थ पर्याय होती हैं।

२. अर्थ व गुण पर्याय एकार्थवाची हैं

पं. ध./पू./६२ गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः। अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्याया इति च।६२। =यहाँ पर कोई-कोई विद्वान् अर्थ कहो या गुण कहो इन दोनोंका एक ही अर्थ होनेसे अर्थ पर्यायोंको ही गुणपर्यायोंका दूसरा नाम कहते हैं।६२।

३. व्यंजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची है

ध. ४/१.५.४/३३७/६ वंजणपज्जायस्स दव्वत्तब्भुवगमादो। =व्यंजन पर्यायके द्रव्यपना माना गया है। (गो.जी./मू.५८१)।

पं.ध./पू./६३ अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणां हि। व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरे वदन्ति बुधाः।६३। =कोई-कोई विद्वान् यहाँ पर देशांशोंके द्वारा निर्दिष्ट द्रव्यपर्यायोंका ही व्यंजन पर्याय यह दूसरा नाम कहते हैं।६३।

४. द्रव्य व गुण पर्यायसे पृथक् अर्थ व व्यंजन पर्यायके निर्देशका कारण

पं. का./ता. वृ./१६/३६/१६ एते चार्थव्यंजनपर्यायाः····। अत्र गाथायां च ये द्रव्यपर्यायाः गुणपर्यायाश्च भणितास्तेषु च मध्ये तिष्ठन्ति। तर्हि किमर्थं पृथक्कथिता इति चेदेकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते इति कालकृतभेदज्ञापनार्थम्। =प्रश्न—यह जो अर्थ व व्यंजन पर्याय कही गयी हैं वे इस गाथामें कथित द्रव्य व गुण पर्यायोंमें ही समाविष्ट हैं, फिर इन्हें पृथक् क्यों कहा गया? उत्तर—अर्थ पर्याय एक समय स्थायी होती है और व्यंजन पर्याय चिरकाल स्थायी होती है, ऐसा काल कृत भेद दर्शानेके लिए ही इनका पृथक् निर्देश किया गया है।

५. सब गुण पर्याय ही हैं फिर द्रव्य पर्यायका निर्देश क्यों

पं. ध./पू./१३२-१३४ ननु चैवं सति नियमादिह पर्यायाः भवन्ति यावन्तः। सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्यायाः केचित्।१३२। तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्ववत्त्वेऽपि। चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती।१३३। यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना। यतरे च विशेषांस्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव।१३४। =प्रश्न—गुणोंके समुदायात्मक द्रव्यके माननेपर यहाँ पर नियमसे जितनी भी पर्यायें होती हैं, वे सब गुण पर्याय कही जानी चाहिए, किसीको भी द्रव्य पर्याय नहीं कहना चाहिए।१३२। उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यपनेसे गुणत्वके सदृश रहते हुए भी गुणोंमें विशेष भेद है, जैसे—आत्माके चिदात्मक शक्ति रूप गुण और अजीव द्रव्योंके अचिदात्मक शक्ति रूप गुण ऐसे तथा वैसे ही द्रव्यके क्रियावती शक्ति रूप गुण और भाववती शक्ति रूप गुण ऐसे गुणोंके दो भेद हैं।१३३। जितने द्रव्यके प्रदेश-रूप अंश हैं, वे सब नामसे द्रव्य पर्याय हैं और जितने गुणके अंश हैं वे सब गुण पर्याय कहे जाते हैं।१३४। भावार्थ—'अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश हैं', इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते हैं। और प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण हैं। उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणी हानि वृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते हैं।

६. अर्थ व व्यंजन पर्यायका स्वामित्व

ज्ञा./६/४० धर्माधर्मनभःकाला अर्थपर्यायगोचराः। व्यञ्जनाख्यस्य संबन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ।४०। =धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थ पर्याय गोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव पुद्गल व्यंजन पर्यायके सम्बन्ध रूप हैं।४०।

प्र. सा./ता. वृ./१२९/१८९/११ धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च। =धर्म, अधर्म, आकाश, कालको तो मुख्य वृत्तिसे एक समयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती हैं, और जीव व पुद्गलमें अर्थ व व्यंजन दोनों पर्याय होती हैं। (का.अ./टी./२२०/१५४/६)।

७. व्यंजन पर्यायके अभाव होनेका नियम नहीं है

ध. ७/२.२.१८७/१७८/३ अभविय भावो णाम वियंजणपज्जाओ, तेणेदस्स विणासेण होदव्वमण्णहा दव्वत्तप्पसंगादो त्ति? होदु वियंजणपज्जाओ, ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्पसंगादो। ण च ण विणस्सदि त्ति दव्वं होदि उप्पाय-ट्ठिदि-भंग-संगयस्स दव्वभावब्भुवगमादो। =प्रश्न—अभव्य भाव जीवकी व्यंजन पर्यायका नाम है, इसलिए उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्वके द्रव्यत्व होनेका प्रसंग आ जायेगा? उत्तर—अभव्यत्व जीवकी व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्यायका अवश्य नाश होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एकान्तवादका प्रसंग आ जायेगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं, उसे द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है।

८. अर्थ व व्यंजन पर्यायोंकी स्थूलता सूक्ष्मता

१. दोनोंका काल

ध. ९/४.१.४८/२४२-२४४/१ तत्थ पज्जाओ एगादिसमयावट्ठाणो सण्णासंबंधवज्जिओ अप्पकालावट्ठाणादो अप्पविसेसादो वा। तत्थ जो सो जहण्णुक्कस्सेहि अंतोमुहुत्तासंखेज्जलोगमेत्तकालावट्ठाणो अणाइअणंतो वा।२४२-२४३। असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ। तेसिं कालो जहण्णेण अंतोमुहुत्तमुक्कस्सेण छम्मासा संखेज्जा वासाणि वा। कुदो? चक्खिंदियगेज्झवेंजण-पज्जायाणामप्पहाणीभूददव्वाणमेत्तियं कालमवट्ठाणुवलंभादो। =१. अर्थपर्याय थोड़े समय तक रहनेसे अथवा प्रतिसमय विशेष होनेसे एक आदि समयतक रहनेवाली और संज्ञा-संज्ञी सम्बन्धसे रहित है। और व्यंजन पर्याय जघन्य और उत्कर्षसे क्रमशः अन्तर्मुहूर्त और असंख्यात लोक मात्र कालतक रहनेवाली अथवा अनादि अनन्त हैं। (पृ. २४२-२४३) २. अशुद्ध ऋजुसूत्र नय चक्षुरिन्द्रियकी विषयभूत व्यंजन पर्यायको विषय करनेवाला है। उन पर्यायोंका काल जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे छह मास अथवा संख्यातवर्ष है क्योंकि चक्षुरिन्द्रियसे ग्राह्य व्यंजन पर्यायें द्रव्यकी प्रधानतासे रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पायी जाती हैं।

वसु. श्रा./२५ खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा।२५। =अर्थपर्याय क्षण-क्षणमें विनाश होनेवाली होती हैं। अर्थात् एकसमयवर्ति होती हैं। (प्र. सा./ता. वृ./७/१०१/१८); (पं.का./ता.वृ./१६/३६/६ व १८)।

२. व्यंजनपर्यायमें विलीन अर्थपर्याय

प्र. सा./त. प्र./५४/६४/१ (द्रव्य, क्षेत्र, काल) भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि···प्रत्यक्षं अतयक्षत्वात्। =(द्रव्य, क्षेत्र, काल) व भावप्रच्छन्न स्थूलपर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें हैं···वास्तवमें वह उस अतीन्द्रिय ज्ञानके प्रत्यक्ष (दृष्टिगोचर) हैं।

पं. ध./पू./१७५ स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ।१७५। —स्थूलोंमें सूक्ष्मकी तरह स्थूल पर्यायोंमें भी सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन होती हैं।

८. स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंकी सिद्धि

पं. ध./पू./१७२,१७३,१८० का भावार्थ—तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्परा भावलक्षणेन यथा। अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ।१७२। तस्मात् व्यतिरेकत्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः। सोऽयं भवति न सोऽयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ।१७३। तदिदं यथा स जीवो देवो मनुष्याद्भवन्नथाप्यन्यः। कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ।१८०। —नरकादि रूप व्यंजन पर्यायें स्थूल हैं, क्योंकि उनमें एकजातिपनेकी अपेक्षा सदृशता रहते हुए भी व्यतिरेक देखा जाता है। अर्थात् 'यह वह है' यह वह नहीं है', ऐसा लक्षण घटित होता है।१७२-१७३। परन्तु अर्थपर्यायें सूक्ष्म हैं। क्योंकि, यद्यपि नित्यता तथा अनित्यता होते हुए भी क्रममें कथंचित् सदृशता तथा विसदृशता होती है। परन्तु उसका काल सूक्ष्म होनेके कारण क्रम प्रतिसमय लक्ष्यमें नहीं आता। इसलिए 'यह वह नहीं है' तथा 'वह ऐसा नहीं है' ऐसी विवक्षा बन नहीं सकती।

९. स्वभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय

नि. सा./मू./१५,२८ कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिया ।१५। अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जाओ ।२८। —कर्मोपाधि रहित पर्यायें वे स्वभाव (द्रव्य) पर्यायें कही गयी हैं ।१५। अन्यकी अपेक्षासे रहित जो (परमाणुका) परिणाम वह (पुद्गल द्रव्यकी) स्वभाव पर्याय है ।२८।

न. च. वृ./२१,२५,३० दव्वाणं खु पयेसा जे जे सहाव संठिया लोए। ते ते पुण पज्जाया जाण तुमं दवियसब्भावं ।२१। देहायारपएसा जे थक्का उहयकम्मणिम्मुक्का। जीवस्स णिच्चला खलु ते सुद्धा दव्वपज्जाया ।२५। जो खलु अणाइणिहणो कारणरूवो हु कज्जरूवो वा। परमाणुपोग्गलाणं सो दव्वसहावपज्जाओ ।३०। —सब द्रव्योंकी जो अपने-अपने प्रदेशोंकी स्वाभाविक स्थिति है वही द्रव्यकी स्वभाव पर्याय जानो ।२१। कर्मोंसे निर्मुक्त सिद्ध जीवोंमें जो देहाकार रूपसे प्रदेशोंकी निश्चल स्थिति है वह जीवकी शुद्ध या स्वभाव द्रव्य पर्याय है ।२५। निश्चयसे जो अनादि निधन कारण रूप तथा कार्य रूप परमाणु है वही पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव द्रव्य पर्याय है ।३०। (नि. सा./ता. वृ./२८), (पं. का./ता. वृ./५/१४/१३), (प. प्र. टी./५७)।

आ. प./३ स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनसिद्धपर्यायाः।...अविभागीपुद्गलपरमाणुः स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायः। —चरम शरीरसे किंचित् न्यून जो सिद्ध पर्याय है वह (जीव द्रव्यकी) स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। अविभागी पुद्गल परमाणु द्रव्यकी स्वभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय है। (द्र. सं./टी./२४/६६/११)।

पं. का./ता. वृ./१६/३६/११ स्वभावव्यञ्जनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूपः। —जीवकी सिद्ध रूप पर्याय स्वभाव व्यंजन पर्याय है।

१०. विभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय

नि. सा./मू./१५,२८ णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।१५। खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।२८। —मनुष्य, नारक, तिर्यंच, और देवरूप पर्यायें, वे (जीव द्रव्यकी) विभाव पर्यायें कही गयी हैं ।१५। तथा स्कन्ध रूप परिणाम वह (पुद्गल द्रव्यकी) विभाव पर्याय कही गयी है।

न. च. वृ./२३,३३ जं चदुगदिदेहीणं देहायारं पदेसपरिमाणं। अह विग्गहगइजीवे तं दव्वविहावपज्जायं ।२३। जे संखाई खंधा परिणामिया दुअणुआदिदव्वेहिं। ते विय दव्वविहावा जाण तुमं पोग्गलाणं च ।३३। —जो चारों गतिके जीवोंका तथा विग्रहगतिमें जीवोंका देहाकार रूपसे प्रदेशोंका प्रमाण है, वह जीवकी विभाव द्रव्य पर्याय है ।२३। और जो दो अणु आदि स्कन्धोंसे परिणामित संख्यात स्कन्ध हैं वे पुद्गलोंकी विभाव द्रव्य पर्याय तुम जानो ।३३। (प. प्र./टी./५७), (पं. का./ता. वृ./५/१४/११)।

आ. प./३ विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्याया अथवा चतुरशीतिलक्षा योनयः।...पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाः। —चार प्रकारकी नर नारकादि पर्यायें अथवा चौरासी लाख योनियाँ जीव द्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं।...तथा दो अणुकादि पुद्गलद्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यंजन पर्याय हैं। (पं. का./ता. वृ./१६/३६/१०,११)।

पं. का./त. प्र./१६ सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणाः परद्रव्यसंबन्धनिर्वृत्तत्वादशुद्धाश्चेति। —देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्य-स्वरूप पर्यायें परद्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होती हैं इसलिए अशुद्ध पर्यायें हैं। (पं.का./ता. वृ./१६/३५/१८)।

नि. सा./ता. वृ./२८ स्कन्धपर्यायः स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्धः इति। —स्कन्ध पर्याय स्व जातीय बन्धरूप लक्षणसे लक्षित होनेके कारण अशुद्ध है।

११. स्वभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च. वृ./२२,२७,३१ अगुरुलहुगा अणंता समयं समयं स समुब्भवा जे वि। दव्वाणं ते भणिया सहावगुणपज्जया जाण ।२२। णाणं दंसण सुह वीरियं च जं उहयकम्मपरिहीणं। तं सुद्ध जाण तुमं जीवे गुणपज्जयं सव्वं ।२७। रूवरसगंधफासा जे थक्का जेसु अणुदव्वेसु। ते चेव पोग्गलाणं सहावगुणपज्जया णेया ।३१। —द्रव्योंके अगुरुलघु गुणके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंकी समय-समय उत्पन्न होनेवाली पर्यायें हैं, वह द्रव्योंकी स्वभाव गुणपर्याय कही गयी हैं, ऐसा तुम जानो ।२२। द्रव्य व भावकर्मसे रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्यकी स्वभाव गुणपर्याय जानो ।२७। (प. प्र./टी./१/५७) एक अणु रूप पुद्गल द्रव्यमें स्थित रूप, रस, गन्ध व वर्ण है, वह पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव गुण पर्याय जानो ।३१। (पं. का./ता. वृ./५/१४-१५/१३)।

आ. प./३ अगुरुलघुविकाराः स्वभावपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपा षड्हानिरूपाः। —अगुरुलघु गुणके विकार रूप स्वभाव पर्याय होती हैं। वे १२ प्रकारकी होती हैं, छह वृद्धि रूप और छह हानि रूप।

प्र. सा./त. प्र./९३ स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः। —समस्त द्रव्योंके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट् स्थानपतित हानिवृद्धि रूप अनेकत्वकी अनुभूति स्वभाव गुण पर्याय है। (पं. का./त. प्र./१६); (पं. प्र./टी./१/५७); (पं. का./ता. वृ./१६/३६/७)।

पं. का./ता. वृ./गा./पृ./पंक्ति—परमाणु...वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादिपरिणमनं स्वभावगुणपर्याय (५/१४/१४) शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुगुणषड्हानिवृद्धिरूपेण पूर्वमेव स्वभावगुणपर्यायव्याख्यानकाले सर्वद्रव्याणां कथिताः (१६/३६/१४)। —वर्णसे वर्णान्तर परिणमन करना यह परमाणुकी स्वभाव गुणपर्याय है।(५/१४/१४)। शुद्धगुण पर्यायकी भाँति सर्व द्रव्योंकी अगुरुलघुगुणकी षट् हानि वृद्धि रूपसे शुद्ध अर्थ पर्याय होती हैं।

१२. विभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च./२४,३४/मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाणं तिण्णि जे भणिया। एवं जीवस्स इमे विभावगुणपज्जया सव्वे ।२४। रूवाइया जे उत्ता जे

चिट्ठा दुअणुआइखंधम्मि । ते पुग्गलाण भणिया विहावगुणपज्जया सव्वे ।२४। —मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ये चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान जो कहे गये हैं ये सब जीव द्रव्यकी विभावगुण पर्याय हैं। (२४) द्वि अणुकादि स्कन्धोंमें जो रूपादिक कहे गये हैं, अथवा देखे गये हैं वे सब पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण पर्याय हैं। (पं. का./ता. वृ./५/१४/१२), (पं. का./ता. वृ./१६/३६/५), (प. प्र./टी./१/५७)।

प्र. सा./त. प्र./९३ विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपर-प्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः। —रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेष रूप अनेकत्वकी आपत्ति विभाव गुणपर्याय है।

पं. का./ता. वृ./१६/३६/१२ अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगत-कषायहानिवृद्धिविशुद्धिसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्याः। पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादिस्कन्धेष्वेव चिरकाल-स्थायिनो ज्ञातव्याः। —जीव द्रव्यकी विभाव अर्थ पर्याय, कषाय, तथा विशुद्धि संक्लेश रूप शुभ व अशुभलेश्यास्थानों में षट् स्थान गत हानि वृद्धि रूप जाननी चाहिए। द्वि-अणुक आदि स्कन्धोंमें ही रहने वाली, तथा चिर काल स्थायी रूप, रसादि रूप पुद्गल द्रव्य की विभाव अर्थ पर्याय जाननी चाहिए।

१३. स्वभाव व विभाव गुण व्यञ्जन पर्याय

आ.प./३ विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादयः। …स्वभावगुणव्यञ्जन-पर्याया अनन्तचतुष्टयस्वरूपा जीवस्य। …रसरसान्तरगन्धगन्धान्त-रादिविभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः। …वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाः। =मति आदि ज्ञान जीव द्रव्यकी विभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं, तथा केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टय स्वरूप जीवकी स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय है।…रससे रसान्तर तथा गंधसे गंधान्तर पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण व्यंजन पर्याय हैं। तथा परमाणुमें रहने वाले एक वर्ण, एक गंध, एक रस तथा अविरुद्ध दो स्पर्श पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव गुण व्यंजनपर्याय हैं।

१४. स्वभाव व विभाव पर्यायोंका स्वामित्व

पं. का./ता. वृ./२७/५६/१४ परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभाव-परिणामाभ्यां शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावाद् मुख्यवृत्त्या अपरिणामीनि।

पं. का./ता. वृ./१६/३४/१७ एते समानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यात्मिकैकरूपा द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति। कस्मादिति चेत्। अनेकद्रव्याणां परस्परसंश्लेषरूपेण संबन्धात्। धर्माद्यन्यद्रव्याणां परस्परसंश्लेषसंबन्धेन पर्यायो न घटते परस्परसंबन्धेनाशुद्धपर्यायोऽपि न घटते। —१. स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा जीव व पुद्गल द्रव्य परिणामी हैं। शेष चार द्रव्य विभाव व्यंजन पर्यायके अभावकी मुख्यतासे अपरिणामी हैं।२७। २. ये समान जातीय और असमान जातीय अनेक द्रव्यात्मक एक रूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गलमें ही होती हैं, तथा अशुद्ध ही होती हैं। क्योंकि ये अनेक द्रव्योंके परस्पर संश्लेश रूप सम्बन्धसे होती हैं। धर्मादिक द्रव्योंकी परस्पर संश्लेषरूप सम्बन्धसे पर्याय घटित नहीं होती, इसलिए परस्पर सम्बन्धसे अशुद्ध पर्याय भी उनमें घटित नहीं होती।

प. प्र./टी./१/५७ धर्माधर्माकाशकालानां…विभावपर्यायास्तूपचारेण घटाकाशमित्यादि। —धर्माधर्म, आकाश तथा काल द्रव्योंके विभाव गुणपर्याय नहीं हैं। आकाशके घटाकाश, महाकाश इत्यादिकी जो कहावत है, वह उपचारमात्र है।

पर्यायज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पर्यायनय—दे० नय/I/५/४।

पर्यायवत्त्व—रा. वा./२/७/१३/११२/२२ पर्यायवत्त्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां प्रतिनियतपर्यायोत्पत्तेः। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। —प्रतिनियत पर्यायोंकी उत्पत्ति होनेसे पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योंमें पाया जाता है। तथा कर्मोदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेसे यह भी पारिणामिक है।

पर्याय समासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पर्यायार्थिक नय—१. दे० नय/IV/३,४, २. द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नय नहीं है। दे० नय/I/१/६ ३. निक्षेपोंका पर्यायार्थिक नयमें अन्तर्भाव—दे० निक्षेप/२।

पर्युदासाभाव—दे० अभाव।

पर्व—१. स. सि./७/२१/३६१/३ प्रोषधशब्दः पर्ववाची। —प्रोषधका अर्थ पर्व है। २. कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

पर्वत—लोकमें स्थित पर्वतोंके नकशे—दे० लोक३/५/८; २. प. पु./११/श्लोक क्षीरकदम्बक गुरुका पुत्र था। 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्दका राजा वसुके द्वारा विपरीत समर्थन कराने पर लोगोंके द्वारा धिक्कारा गया। उससे दुखी होकर कुतर्क करने लगा (७५)। अन्तमें मृत्युके पश्चात राक्षस बनकर इस पृथ्वीपर हिंसायज्ञकी उत्पत्ति की (१०३)/(म. पु./६३/२५६-४५५)।

पल—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४; २. तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/२।

पलायमरण—दे० मरण/१।

पलाशगिरि—भद्रशालवनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

पलिकुंचन—सामान्य अतिचारका एक भेद—दे० अतिचार/१।

पल्य—१. रा. वा./३/३८/७/२०८/११ पल्यानि कुशूला इत्यर्थः। —पल्यका अर्थ गड्ढा। २. पल्य प्रमाणके भेद व लक्षण तथा उनकी प्रयोग विधि—दे० गणित/I/१/५; ३. A measure of Time.

पल्लव—दक्षिणमें कांचीके समीपवर्ती प्रदेश। यहाँ इतिहास प्रसिद्ध पल्लव वंशी राजाओंका राज्य था। (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

पल्लव विधान व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे कही गयी है—लघु व बृहत्। लघु विधिः—क्रमशः १,२,३,४,५,४,३,२,१ इस प्रकार २५ उपवास एकान्तरा क्रमसे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ५०) वर्द्धमान पुराण)।
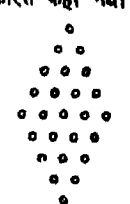
२. बृहद् विधि—बृहद् विधानसंग्रह/पृ. ५०

मास	कृष्ण पक्ष		शुक्ल पक्ष	
	उपवास तिथि	बेला तिथि	उपवास तिथि	बेला तिथि
आश्विन	६,१३	१०-११	१४	
कार्तिक	१२		३,१२	
मंगसिर	११		३,१३	
पौष	२,१५		५,७,१५	
माघ	४,७,१४		१०	७-८
फाल्गुन		५-७	१,११	
चैत्र	४,६,८,११	१-२	७,१०	
वैशाख	४,१०		६,१३	२-३
ज्येष्ठ	१०	१३-१४ का तेला	८,१० १५	
आषाढ	१३-१५ का तेला	१०	८-१० १५	
श्रावण	४,६,८,१४		३,१५	१२-१३
भाद्र	६-७	२,१२	१-११	५-७ का तेला ११-१३ का तेला
कुल—४ तेला; ७ बेला व ४८ उपवास ।				

नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना चाहिए । (किशनसिंह क्रिया कोष ।

पवनंजय—प. पु./१५/श्लोक आदित्यपुरके राजा प्रह्लादका पुत्र था (८)। हनुमानका पिता था (३०७)।

पवन—दे० पवन ।

पवाइज्जमाण—जो उपदेश आचार्य सम्मत होता है और चिर-कालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्य पर-म्पराके द्वारा लाया जाता है वह पवाइज्जमाण कहा जाता है ।

पशु—१. ध. १३/५,५,१४०/३९१/१२ सरोमन्थाः पशवो नाम ।—जो रोंथते हैं वे पशु कहलाते हैं । २. मुनियोंके लिए पशु संग निषेध । —दे० संगति ।

पश्चात् स्तुति—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४ । २. वस्तिका का एक दोष—दे० वस्तिका ।

पश्चातानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी ।

पश्यन्ती—दे० भाषा ।

पांचाल—१. भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. कुरुक्षेत्रके पूर्ववर्ती देश । चर्मण्वती नदी तक विस्तृत था । दो भाग थे—उत्तर व दक्षिण । उत्तर पांचालकी राजधानी अहिच्छत्रा (अहिक्षेत्र) और दक्षिण पांचालकी राजधानी कम्पिला थी । (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल) ।

पांडव—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात मूल परम्परामें तीसरे ११ अंगधारी थे । समय—वी. नि. ३५३-४२० (ई० पू० १७४-१०५)—दे० इतिहास/४/१ । २. पा. पु./सर्ग/श्लोक युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव, ये पाँचों कुरुवंशी राजा पाण्डुके पुत्र होनेसे पाण्डव कहलाते थे (८/२१७)। भीमके बलसे अपमानित होने तथा इनका राज्य हड़पना चाहनेके कारण कौरव राजा दुर्योधन इनसे द्वेष करता था (१०/३४-४०)। उसी द्वेष वश उसने इनको लाक्षागृहमें जलाकर मारनेका षड्यन्त्र किया, पर किसी प्रकार पाण्डव वहाँसे बच निकले (१२/६०,११५,१६६)। और अर्जुनने स्वयंवरमें द्रौपदी व गाण्डीव धनुष प्राप्त किया (१५/१०५)। वहीं पर इनका कौरवोंसे मिलाप हुआ (१५/१४३,१८२-२०२) तथा आधा राज्य बाँटकर रहने लगे (१६/२-१)। परन्तु पुनः ईर्षावश दुर्योधनने जुएमें इनका सर्व राज्य जीतकर इन्हें बारह वर्ष अज्ञातवास करनेपर बाध्य किया (१६/१४,१०३-१२५)। सहायवनमें इनकी दुर्योधनके साथ मुठभेड़ हो गयी (१७/८७-२२१)। जिसके पश्चात इन्हें विराट नगरमें राजा विराटके यहाँ अज्ञातवासमें रहना पड़ा (१७/२३०)। द्रौपदी-पर कुदृष्टि रखनेके अपराधमें वहाँ भीमने राजाके साले कीचक व उसके १०० भाइयोंको मार डाला (१७/२७८)। अज्ञातवासमें ही कौरवोंसे भिड़कर अर्जुनने राजाके गोकुलकी रक्षा की (१९/१५२)। अन्तमें कृष्ण जरासन्ध युद्धमें इनके द्वारा सब कौरव मारे गये (१९/११:२०/२९६)। एक विद्याधर द्वारा हर ली गयी द्रौपदीको अर्जुनने विद्या सिद्ध करके पुनः प्राप्त किया (२१/११४,११८)। तत्पश्चात भगवान् नेमिनाथके समीप जिन दीक्षा धार (२५/१२) शत्रुंजय गिरि पर्वतपर घोर तप किया (२५/१२)। दुर्योधनके भानजे कृत दुस्सह उपसर्गको जीत युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन मुक्त हुए और नकुल व सहदेव सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए (२५/५२-१३९)।

पांडव पुराण—१. देवप्रभ सूरि (वि. १२७०) कृत मूल पाण्डव पुराण के आधार पर भट्टारक शुभ चन्द्र (वि. १६०८, ई. १५५१) द्वारा रचित, २५ पर्वों में विभक्त ६१०४ श्लोक प्रमाण संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ (ती./३/३६७)। २. यशःकीर्ति (वि. १४८५-१५१३) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./३/४११)। ३. वादि चन्द्र (ई. १६०१) कृत ।

पांडु—१. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमें से एक ।—दे० शलाका पुरुष । २. पा. पु./सर्ग/श्लोक भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र था (७/११७)। अन्धकवृष्णिकी कुन्ती नामक पुत्रीसे अज्ञातवासमें सम्भोग किया। उससे कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (७/१६४-१६६;७/२०४)। तत्पश्चात् उसकी छोटी बहन मद्री सहित कुन्तीसे विवाह किया (८/३४-१०७)। कुन्तीसे युधिष्ठिर, अर्जुन व भीम, तथा मद्रीसे नकुल व सहदेव उत्पन्न हुए। ये पाँचों ही आगे जाकर पाण्डव नाम-से प्रसिद्ध हुए (८/१४३-१७५)। अन्तमें दीक्षा धारण कर तीन मुक्त हुए और दो समाधि पूर्वक स्वर्गमें उत्पन्न हुए (९/१२७-१३८)।

पांडुकंबलाशिला—सुमेरुपर्वतपर एक शिला, जिसपर पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है ।—दे० लोक/३/६/४ ।

पांडुक—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. कुण्डल पर्वतस्थ माहेन्द्रकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक५/१२।

पांडुकवन—सुमेरु पर्वतका चतुर्थ वन । इसमें ४ चैत्यालय हैं । —दे० लोक/३/६/४।

पांडुर—१. दक्षिण क्षीरवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर । २. कुण्डल पर्वतस्थ हिमवतकूटका स्वामी नागेन्द्र देव। —दे० लोक/५/१२।

पांडुशिला—सुमेरु पर्वत पर स्थित एक शिला। जिसपर भरत-क्षेत्रके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है ।—दे० लोक/३/६/४।

पांड्य—मध्य आर्यखण्डस्थ देश—दे० मनुष्य/४।

पांड्यवाटक—मलयगिरिके मध्यभागमें एक पर्वत। —दे० मनुष्य/४।

पांड्य—मद्रासके अन्तर्गत वर्तमान केरल देश। (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

पांशुतापि—आकाशोपपन्न देव।—दे० देव/II/३।

पांशुमूल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पाक्षिक श्रावक—दे० श्रावक/३।

पाटलीपुत्र—बिहार प्रान्तकी राजधानी वर्तमान पटना (म. पु./प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

पाणिमुक्तागति—दे० विग्रहगति/२।

पाताल—१. विमलनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३ २. लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड्ड। ये तीन प्रकारके हैं—उत्तम, मध्यम व जघन्य (दे० लोक/४/१)।

पातालवासी—रा. वा./४/२३/४/२४२/१४ पातालवासिनो लवणोदादिसमुद्रावासाः सुस्थितप्रभासादयः। —लवण आदि समुद्रोंमें भली प्रकार रहनेवाले प्रभास आदि देव पातालवासी कहलाते हैं।

पात्र—मोक्षमार्गमें दानादि देने योग्य पात्र सामान्य भिखारी लोग नहीं हो सकते। रत्नत्रयसे परिणत अविरत सम्यग्दृष्टिसे ध्यानारूढ योगी पर्यन्त ही यहाँ अपनी भूमिकानुसार जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेदरूप पात्र समझे जाते हैं। महाव्रतधारी साधु भी यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो कुपात्र हैं पात्र नहीं। सामान्य भिखारी जन तो यहाँ अपात्रकी कोटिमें गिने जाते हैं। तहाँ दान देते समय पात्रके अनुसार ही दातारकी भावनाएँ होनी चाहिए।

१. पात्र सामान्यका लक्षण

र. सा./१२५–१२६ दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो। पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो।१२५। सम्माइ गुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं।१२६। —जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, धर्मध्यानमें लीन रहता है, सब तरहके परिग्रह व मायादि शल्योंसे रहित है, उसको विशेष पात्र कहते हैं उससे विपरीत अपात्र है।१२५। जिसमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता है उसमें पात्रपनेकी विशेषता समझनी चाहिए।१२६।

स. सि./७/३९/३७३/८ मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। —मोक्षके कारणभूत गुणोंसे संयुक्त रहना यह पात्रकी विशेषता है। अर्थात् जो मोक्षके कारणभूत गुणोंसे संयुक्त होता है वह पात्र होता है। (रा. वा./७/३९/५/५५६/३१)।

सा. ध./५/४३ यत्तारयति जन्माब्धेः, स्वाश्रितान्यानपात्रवत्। मुक्त्यर्थ-गुणसंयोग-भेदात्पात्रं त्रिधा मतम् ।४३। —जो जहाजकी तरह अपने आश्रित प्राणियोंको संसाररूपी समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र कहलाता है, और वह पात्र मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंके सम्बन्धसे तीन प्रकारका होता है।४३।

प्र. सा./ता. वृ./२६०/३५२/१६ शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषाः पात्रं भवन्तीति। —शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे परिणत जीव पात्र कहलाते हैं।

२. पात्रके भेद

र. सा./१२३ अविरददेसमहव्वयआगमरुइणं वियारतच्चण्हं। पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।१२३। —अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, श्रावक, महाव्रतियोंके भेदसे, आगममें रुचि रखनेवालों तथा तत्त्वके विचार करनेवालोंके भेदसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये हैं।

वसु. श्रा./२२१ तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण। —उत्तम मध्यम व जघन्यके भेदसे पात्र तीन प्रकारके जानने चाहिए। (पु. सि. उ./१७१); (पं. वि./२/४८); (अ. ग. श्रा./१०/२)।

३. नाममात्रका जैन भी पात्र है

सा. ध./२/५४ नामतः स्थापनातोऽपि, जैनः पात्रायतेतराम्। स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः।५४। —नामनिक्षेपसे और स्थापनानिक्षेपसे भी जैन विशेष पात्रके समान मालूम होता है। वह जैन द्रव्यनिक्षेपसे पुण्यात्माओंके द्वारा तथा भावनिक्षेपसे महात्माओंके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।५४।

४. उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रके लक्षण

का. अ./१७-१८ उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू। सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तोहु विण्णेयो।१७। णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।१८। —जो सम्यक्त्व गुण सहित मुनि हैं, उन्हें उत्तम पात्र कहा है, और सम्यग्दृष्टि श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिए।१७। तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा है।१८। (ज. प./२/१४६-१५१); (पं. वि./२/४८); (वसु. श्रा./२२१-२२२) (गुण. श्रा./१४८-१४६); (अ. ग. श्रा./१०/४); (सा. ध./५/४४)।

र. स./१२४ उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणाजहादिट्ठा। जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।१२४। —उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, बिना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अध्ययन करने वाले मुनिराज उत्तम पात्र कहे जाते हैं।१२४।

५. कुपात्रका लक्षण

ज. प./२/१५० उववासखोसियतणू णिस्संगो कामकोहपरिहीणो। मिच्छत्तसंसिदमणो णायव्वो सो अपत्तो त्ति।१५०। —उपवासोंसे शरीरको कृश करनेवाले, परिग्रहसे रहित, काम, क्रोधसे विहीन परन्तु मनमें मिथ्यात्व भावको धारण करनेवाले जीवको अपात्र (कुपात्र) जानना चाहिए।१५०।

वसु. श्रा./२२३ वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जियो कुपत्तं तु।२२३। —जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। (गुण. श्रा./१५०); (अ. ग. श्रा./१०/३४-३५); (पं. वि./२/४८)

६ अपात्रका लक्षण

का. अ./१८ सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो। —सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित जीवको अपात्र समझना चाहिए।

वसु. श्रा./२२३ सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्तं हवे जीओ। २२३। —सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है। (पं. वि./२/४८); (अ. ग. श्रा./१०/३६-३८)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. पात्र अपात्र व कुपात्रके दानका फल —दे० दान।

२. नमस्कार योग्य पात्र अपात्र —दे० विनय/४।

३. दानके योग्य पात्र अपात्रका लक्षण —दे० श्रोता।

४. ज्ञान किसे देना चाहिए और किसे नहीं —दे० उपदेश/३।

पात्रकेसरी—१. आप ब्राह्मण कुलसे थे। न्यायशास्त्रमें पारंगत थे। आचार्य विद्यानन्दिकी भाँति आप भी समन्तभद्र रचित देवागमस्तोत्र सुननेसे ही जैनानुयायी हो गये थे। आपने त्रिलक्षण-

कदर्थन, तथा जिनेन्द्रगुणस्तुति (पात्रकेसरी स्तोत्र) ये दो ग्रन्थ लिखे। समय—पूज्यपादके उत्तरवर्ती और अकलंकदेवसे पूर्ववर्ती हैं—ई. श. ६ (दे० इतिहास ७/१); (ती./२/२३८-२४०)। २. श्लोकवार्तिककार आ. विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) की उपाधि। (दे० विद्यानन्दि)। (जैन हितैषी, पं. नाथूराम)।

पात्रकेसरीस्तोत्र—आचार्य पात्रकेसरी (ई. श. ६-७) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें निबद्ध जिनेन्द्रकी स्तुतिका पाठ है। इसमें ५० श्लोक हैं। (ती०/२/२४०)।

पात्र दत्ति—दे० दान।

पाद—१. क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/३; २. $\frac{1}{4}$ (प्रत्येक शताब्दीमें चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद २५ वर्षका माना जाता है।); ३. वर्गमूलका अपरनाम —दे० गणित II/१/७।

पादुकार—वसतिकाका एक दोष—दे० 'वसतिका'।

पाद्य स्थिति कल्प—भ. आ./वि./४२१/६१६/१० पज्जो समणकप्पो नाम दशमः। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः। तदा भ्रमणे महानसंयमः;…इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वावस्थानं, संयतानां आषाढशुक्लदशम्यां स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टः कालः। मार्यां, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति।…पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एषः। —वर्षा कालमें चार मासमें एक ही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग यह पाद्य नामका दसवां स्थिति कल्प है। वर्षाकालमें जमीन स्थावर और त्रस जीवोंसे व्याप्त होती है। ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेंगे तो महा असंयम होगा।…इत्यादि दोषोंसे बचनेके लिए मुनि एक सौ बीस दिवस एक स्थानमें रहते हैं, यह उत्सर्ग नियम है। कारण वश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते हैं। आषाढ शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्तिक पौर्णमासीके आगे भी और तीस दिन तक एक स्थानमें रह सकते हैं। अध्ययन, वृष्टिकी अधिकता, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते हैं।… मारी रोग, दुर्भिक्षमें ग्रामके लोगोंका अथवा देशके लोगोंका अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकमें जाना, गच्छका नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होनेपर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानोंपर जाते हैं। …इसलिए आषाढ पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते हैं। इस प्रकार बीस दिन एकसौ बीसमें कम किये जाते हैं, इस तरह कालकी हीनता है।

★ **वर्षायोग स्थापना निष्ठापना विधि** (दे० कृतिकर्म/४)

पान—मू.आ./६४४ पाणाणमणुग्गहं तहा पाणं।…।६४४। —अशनादि चार प्रकारके आहारमें-से, जिससे दस प्राणोंका उपकार हो वह पान है।६४४।

पानक—१—आहारका एक भेद—दे० आहार/I/१

भ.आ./मू./७००/८८२ सत्थं बहलं लेवडमलेवडं च ससित्थमसित्थं। छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं।७००। —'स्वच्छ (गर्म जल); बहल (इमलीका पानी आदि), लेवड (जो हाथको चिपके); अलेवड (जो हाथको न चिपके जैसे मांड); ससिक्थ (भातके दानों सहित मांड) ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है। [इन छहोंके लक्षण—दे० वह वह नाम।]

पानदशमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/१३० पान दशमि बीरा दश पान। दश श्रावक दै भोजन ठान। —दश श्रावकोंको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करे, वह पान दशमी व्रत कहलाता है। (नवल साहकृत वर्द्धमान पुराण)

पानांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

पाप—निरुक्तिः—

स.सि./६/३/३२०/३ पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तद् असद्वेद्यादि। —जो आत्माको शुभसे बचाता है, वह पाप है। जैसे—असाता वेदनीयादि। (रा. वा./६/३/५/५०७/१४)।

भ. आ./वि./३८/१३४/२१ पापं नाम अनभिमतस्य प्रापकं। —अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मको (भावोंको) पाप कहते हैं।

२. अशुभ उपयोग

प्र. सा./मू./१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु। —परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है।

द्र. सं./मू./३८ असुहभावजुत्ता…पावं हवंति खलु जीवा।३८। —अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पाप रूप होते हैं।

स. म./२७/३०२/१७ पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म। —पाप हिंसादिसे होनेवाले अशुभकर्म रूप होता है।

३. निन्दित आचरण

पं. का./मू./१४० सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि। णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति।१४०। —चारों संज्ञाएँ, तीन लेश्याएँ, इन्द्रिय वशता, आर्त रौद्रध्यान, दुःप्रयुक्त ज्ञान और मोह—यह भाव पाप प्रद हैं।१४०।

न. च. वृ./१६२ अहवा कारणभूदा तेसिं च वयव्वयाइ इह भणिया। ते खलु पुण्णं पावं जाण इमं पवयणे भणियं।१६२। —अशुभ वेदादिके कारण जो अव्रतादि भाव हैं उनको शास्त्रमें पाप कहा गया है।

यो. सा. अ./४/३८ निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु। निन्दिते चरणे रागः पापबन्धविधायकः।३८। —अर्हन्तादि पूज्य पुरुषोंकी निन्दा करना, समस्त जीवोंमें निर्दय भाव रहना, और निन्दित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि बंधका कारण हैं।

४. पापका आधार बाह्य द्रव्य नहीं

स. सि./६/११/३३०/१ परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य संयतस्योपरि गण्डं पाटयतो दुःखहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। —अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोड़ेकी चीर-फाड़ और मरहम पट्टी करते समय निःशल्य संयतको दुख देनेमें निमित्त होनेपर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पाप बन्ध नहीं होता।

दे० पुण्य/१/४ (पुण्य व पापमें अन्तरंग प्रधान है)।

५. पाप (अशुभ नामकर्म) के बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/३,२२…अशुभः पापस्य।३। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः।२२। —अशुभ योग पापास्रवका कारण है।३। योग वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्मके आस्रव हैं।२२।

पं. का./मू./१३९ चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु। परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि।१३९। —बहु प्रमादवाली चर्या, कलुषता, विषयोंके प्रति लोलुपता, परको परिताप करना तथा परके अपवाद बोलना—यह पापका आस्रव करता है।१३९।

मू. आ./२३५ पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवजोगो। विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि।२३५। — …शुभसे विपरीत

निर्दयपना मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उपयोग पापकर्मके आस्रवके कारण हैं।२१६।

रा. वा./६/२२/४/५२८/१८ चशब्दः क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्चयार्थः। कः पुनरसौ। मिथ्यादर्शन-पिशुनताऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरण - सुवर्णमणिरत्नाद्यकृति - कुटिलसाक्षित्वाङ्गोपाङ्ग-च्यावनवर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रियाद्रव्यान्तरविषय-संबन्धनिकृतिभूयिष्ठता - परनिन्दात्मप्रशंसा-नृतवचन परद्रव्यादान - महारम्भपरिग्रह - उज्ज्वलवेषरूपमद - परुषासभ्यप्रलाप - आक्रोश - मौखर्य - सौभाग्योपयोगवशीकरणप्रयोगपरकुतूहलोत्पादनालंकारादर - चैत्यप्रवेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण-विलम्बनोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशनतीव्रक्रोधमान - मायालोभ-पापकर्मोपजीवनादिलक्षणः। स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न आस्रवः। —च शब्द अनुक्तके समुच्चयार्थ है। मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता, झूठे बाट तराजू आदि रखना, कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी गवाही, अंग उपांगोंका छेदन, वर्ण गन्ध रस और स्पर्शका विपरीतपना, यन्त्र पिंजरा आदि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा, मिथ्या भाषण, पर द्रव्यहरण, महारंभ, महा परिग्रह, शौकीन वेष, रूपका घमण्ड, कठोर असभ्य भाषण, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, वशीकरण प्रयोग, सौभाग्योपयोग, दूसरेमें कौतूहल उत्पन्न करना, भूषणोंमें रुचि, मंदिरके गन्धमाल्य या धूपादिका चुराना, लम्बी हंसी, ईंटोंका भट्टा लगाना, वनमें दावाग्नि जलवाना, प्रतिमायतन विनाश, आश्रय-विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभ और पापकर्म जीविका आदि भी अशुभ नामके आस्रवके कारण हैं। (स. सि./६/२२/३३७/५); (ज्ञा./$\frac{२}{७}$/४-७)।

४. पापका फल दुःख व कुगतियोंकी प्राप्ति

त. सू./७/६-१० हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।९। दुःखमेव वा ।१०। —हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक उपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है।९। अथवा हिंसादिक दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए।१०।

प्र. सा./मू./१२ असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो। दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चंता।१२। —अशुभ उदयसे कुमानुष, तिर्यंच, और नारकी होकर हजारों दुखोंसे सदा पीड़ित होता हुआ (संसारमें) अत्यन्त भ्रमण करता है।१२।

ध. १/१,१,२/१०५/५ काणि पावफलाणि। णिरय - तिरियकुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि। —प्रश्न—पापके फल कौनसे हैं? उत्तर—नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदिकी प्राप्ति पापके फल हैं।

५. पाप अत्यन्त हेय है

स. सा./आ./३०६ यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव। —प्रथम तो जो अज्ञानजनसाधारण (अज्ञानी लोगोंको साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभाव रूप स्वभाववाले हैं इसलिए स्वयमेव अपराध स्वरूप होनेसे विषकुम्भ ही हैं। (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं।)

प्र. सा./त. प्र./१२ ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति। —चारित्रके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. व्यवहार धर्म परमार्थतः पाप है। —दे० धर्म/४।
२. पापानुबन्धी पुण्य। —दे० मिथ्यादृष्टि/४।
३. पुण्य व पापमें कथंचित् भेद व अभेद। —दे० पुण्य/२,४।
४. पापकी कथंचित् इष्टता। —दे० पुण्य/३।
५. पाप प्रकृतियोंके भेद। —दे० प्रकृतिबन्ध/२।
६. पापका आस्रव व बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव। —दे० पुण्य/२/४।
७. पूजादिमें कथंचित् सावद्य हैं फिर भी वे उपादेय हैं। —दे० धर्म/५/१।
८. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। —दे० मिथ्यादर्शन।
९. मोह-राग द्वेषमें पुण्य-पापका विभाग। —दे० राग/२।

पापोपदेश—दे० अनर्थदण्ड।

पामिच्छ—वसतिकाका एक दोष। —दे० वसतिका।

पामीर—ज.प./प्र./पृ./A.N.Up.H.L.Jain "पामीरका पूर्व प्रदेश चीनी तुर्किस्तान है। (१४०)। हिन्दुकुशपर्वतका विस्तार वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेश और काबुलके पश्चिम कोहे बाबा तक माना जाता है। (४१)। वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीरका मान १५०×१५० मील है। वह चारों ओर हिन्दुकुश, काराकोरम, काशार, कर्तार पहाड़ोंसे घिरा हुआ है। —पौराणिक कालमें इसका नाम मेरुमण्डल या कांबोज था।

पारंचिक परिहार प्रायश्चित्त—दे० परिहार-प्रायश्चित्त।

पारपरिमित—Transfinite Cardinals या finite Cardinals.—(ध. ५/प्र./२८)।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष।

पारा—भरत आर्य खण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

पारामृष्य—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४।

पाराशर—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

पारिणामिक—प्रत्येक पदार्थके निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभावको उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है। भले ही अन्य पदार्थोंके संयोगकी उपाधिवश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता हो, पर इस अचलित स्वभावसे वह कभी च्युत नहीं होता, अन्यथा जीव घट बन जाये और घट जीव।

१. पारिणामिक सामान्यका लक्षण

स. सि./२/१/१४६/१ द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुकः परिणामः। [स. सि./२/७/१६१/२]" पारिणामिकत्वम्...कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षित्वात्/ —१. जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है वह परिणाम है। (पं.का./त. प्र./५६)। २. कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना होनेसे पारिणामिक हैं। (रा.वा./२/१/५/१००/२१)।

रा. वा./२/७/२/११०/२२ तद्भावादनादिद्रव्यभवनसंबन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति।

रा. वा./२/७/१६/११२/२७ परिणामः स्वभावः प्रयोजनमस्येति पारिणामिकः इत्यन्वर्थसंज्ञा। —कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव परिणामिक हैं। (ध. १/१,१,८/१६१/१);

(ध. ५/१,७,३/१९६/११); (गो.क./मू./८१५/९८८); (नि.सा./ता. वृ./४१); (गो.जी./जी.प्र./८/२९/१५)। परिणाम अर्थात् स्वभाव ही है प्रयोजन जिसका वह पारिणामिक है, यह अन्वर्थ संज्ञा है। (न.च.वृ./३७५); (पं का./त.प्र./५६)।

ध. ५/१,७,१/१८५/३ जो चउहि भावेहि पुव्वुत्तेहि वदिरित्तो जीवाजीव-गओ सो पारिणामिओ णाम। —जो क्षायिकादि चारों भावोंसे व्यतिरिक्त जीव अजीवगत भाव है, वह पारिणामिक भाव है।

न. च. वृ./३७४ कम्मज भावातीदं जाणगभावं विसेस आहारं। तं परिणामो जीवो अचेयणं भवदि इयराणं।३७४। —जो कर्मजनित औदयिकादि भावोंसे अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीवका पारिणामिक भाव है, और अचेतन भाव शेष द्रव्योंका पारिणामिक भाव है।

पं. ध./उ./९७१ कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्। आत्मद्रव्य-त्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः।९७१। —कर्मोंके उदय, उप-शमादि चारों अपेक्षाओंसे रहित केवल आत्म द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है वह पारिणामिक भाव कहलाता है।९७१।

२. साधारण असाधारण पारिणामिक भाव निर्देश

त. सू./२/७ जीवभव्याभव्यत्वानि च।७।

स. सि./२/७ जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावाः पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्याः।...ननु चास्तित्वनित्यत्व-प्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावाः पारिणामिकाः सन्ति।...अस्तित्वादयः पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति चशब्देन पृथग्गृह्यन्ते। —जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भावके भेद हैं।७। ये तीनों भाव अन्य द्रव्योंमे नहीं होते इसलिए आत्माके (असाधारण भाव) जानने चाहिए। (रा. वा./२/७/१/११०/१६); (ध. ५/१,७,१/१९२/४); (गो. क./मू./८१९/९९०); (त. सा./२/८); (नि. सा./ता. वृ./४१)। अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी पारिणामिक भाव हैं।...ये अस्तित्व आदिक तो जीव और अजीव दोनोंमें साधारण हैं इसलिए उनका 'च' शब्दके द्वारा अलग-से ग्रहण किया है।

रा. वा./२/७/१२/१११/२८ अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वा-सर्वगतत्वानादिसंततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व - नित्यत्वादि - समुच्चयार्थश्चशब्दः।१२। —अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्त्व, असर्वगतत्व, अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें च शब्द दिया है।

३. शुद्धाशुद्ध पारिणामिक भाव निर्देश

द्र. सं./टी./१३/३८/११ शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुण-स्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्तं पूर्वम्, इदानीं पुनर्भव्या-भव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापर-विरोधः। अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुण-स्थानमार्गणानिषेधः कृतः इदानीं पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारि-णामिकभावरूपं मार्गणामध्येऽपि घटते। ननु-शुद्धाशुद्धभेदेन पारि-णामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव, नैवं—यद्यपि सामान्य-रूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभावः कथ्यते तथाप्य-पवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति। तथाहि—"जीव-भव्याभव्यत्वानि च" इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणितः, तत्र—शुद्धचैतन्यरूपं जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्या-श्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसंज्ञः शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुनः कर्मजनितदशप्राणरूपं जीवत्वं, भव्यत्वम्, अभव्यत्वं चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिक-भाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत्—यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिक-त्रयं व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथा 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्तजीवे पुनः सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्वं भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्ध-पारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वरः, इति भावार्थः। —प्रश्न—शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीव गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानोंसे रहित हैं ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य-अभव्य रूपसे मार्गणाएँ भी आपने पारिणामिक भाव कहा, सो यह तो पूर्वापर विरोध है? उत्तर—पूर्व प्रसंगमें तो शुद्ध पारि-णामिक भावकी अपेक्षासे गुणस्थान और मार्गणाका निषेध किया है, और यहाँपर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूपसे भव्य तथा अभव्य ये दोनों मार्गणामें भी घटित होते हैं। प्रश्न—शुद्ध-अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो प्रकारका नहीं है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है? उत्तर—वह भी ठीक नहीं; क्योंकि, यद्यपि सामान्य रूपसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अप-वाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण "जीव भव्याभव्यत्वानि च" (त. सू./२/७) इस सूत्रमें पारि-णामिक भाव तीन प्रकारका कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होनेके कारण शुद्ध द्रव्यके आश्रित होने-से शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्मसे उत्पन्न दश प्रकारके प्राणों रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेदसे तीन तरहका है और ये तीनों विनाशशील होनेके कारण पर्यायके आश्रित होनेसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते हैं। प्रश्न—इसकी अशुद्धता किस प्रकारसे है? उत्तर—यद्यपि ये तीनों अशुद्ध पारिणामिक व्यवहार नयसे संसारी जीवमें हैं तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" (द्र. सं./मू./१३)। इस वचनसे तीनों भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा नहीं है, और मुक्त जीवोंमें तो सर्वथा ही नहीं हैं; इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोंमें-से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समय ध्येय यानी—ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नहीं होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारि-णामिक द्रव्यरूप होनेके कारण अविनाशी है, यह सारांश है। (स. सा./ता.वृ./३२०/४०८/१५); (द्र.सं./टी./५७/२३६/६)।

४. पारिणामिक भाव अनादि निरुपाधि व स्वाभाविक होता है

पं. का./त. प्र./५८ पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभा-विक एव। —पारिणामिक भाव तो अनादि अनंत, निरुपाधि, स्वा-भाविक है।

द्र. सं. टी./५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्धपारिणामिकपरम-भावलक्षणपरमनिश्चयमोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भवि-ष्यतीत्येवं न। —शुद्ध द्रव्यकी शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है, वह परम निश्चय मोक्ष अब होगा ऐसा नहीं है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. शुद्ध पारिणामिक भावके निर्विकल्प समाधि आदि अनेकों नाम। —मोक्षमार्ग/२/५।
२. जीवके सर्व सामान्य गुण पारिणामिक हैं। —दे० गुण/२।
३. जीवत्व व सिद्धत्व। —दे० वह वह नाम।

४. औदयिकादि भावोंमें भी कथंचित् पारिणामिक व जीवका स्वतत्त्वपन । —दे० भाव/२।
५. सासादन, भव्यत्व, अभव्यत्व, व जीवत्वमें कथंचित् पारिणामिक व औदयिकपना । —दे० वह वह नाम।
६. सिद्धोंमें कुछ पारिणामिक भावोंका अभाव —दे० मोक्ष/३।
७. मोक्षमार्गमें पारिणामिक भावकी प्रधानता । —दे० मोक्षमार्ग/५।
८. ध्यानमें पारिणामिक भावकी प्रधानता । —दे० ध्येय।

पारितापिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

पारियात्र—विन्ध्य देशका उत्तरीय भाग (ज. प./प्र./१४ A. N. Up. हीरालाल)।

पारिषद—१. पारिषद देवोंका लक्षण

स. सि./४/४/२३६/४ वयस्यपीठमर्दसदृशाः परिषदि भवाः पारिषदाः। —जो सभामें मित्र और प्रेमी जनोंके समान होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। (रा. वा./४/४/४/२१२/२६); (म. पु./२२/२६)।

ति. प./३/६७ बाहिरमज्झब्भंतरतंडयसरिसा हवंति तिप्परिसा।६७। —राजाकी बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समितिके समान देवोंमें भी तीन प्रकारकी परिषद् होती हैं। इन परिषदोंमें बैठने योग्य देव क्रमशः बाह्य पारिषद, मध्यम पारिषद और अभ्यन्तर पारिषद कहलाते हैं। (त्रि. सा./२२४); (ज. प./११/२७०)।

ज. प./११/२७१-२८२ समिदा चंदा य जदू परिसाणं तिण्णि होंति णामाणि। अब्भंतरमज्झिमबाहिरा य कमसो मुणेयव्वा।२७१। बाहिरपरिसा णेया अइरुंदा णिट्ठुरा पयंडा य। बंठा उज्जुदसत्था अवसारं तत्थ घोसंति।२८०। वेत्तलदागहियकरा मज्झिम आरूढवेसधारी य। कंचुइकद अंतेउरमहदरा बहुधा।२८१। बव्वरिचिलादिखुज्जाकम्मंतियदासिचेडिवग्गो य। अंतेउराभिओगा करंति णाणाविधे वेसे।२८२। —अभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य, इन तीन परिषदोंके, क्रमशः समिता, चन्दा व जतु ये तीन नाम जानना चाहिए।२७१। (त्रि. सा./२२६) बाह्य पारिषद देव अत्यन्त स्थूल, निष्ठुर, क्रोधी, अविवाहित और शस्त्रोंसे उद्युक्त जानना चाहिए। वे वहाँ 'अपसर' (दूर हटो) की घोषणा करते हैं।२८०। बेत रूपी लताको हाथमें ग्रहण करनेवाले, आरूढ वेषके धारक तथा कंचुकीकी पोषाक पहने हुए मध्यम (पारिषद) बहुधा अन्तःपुरके महत्तर होते हैं।२८१। बर्बरी, किराती, कुब्जा, कर्मान्तिका, दासी और चेटी इनका समुदाय (अभ्यन्तर पारिषद) नाना प्रकारके वेषमें अन्तःपुरके अभियोगको करता है।२८२।

*** भवनवासी आदि इन्द्रोंके परिवारमें पारिषदोंका प्रमाण** —दे० भवनवासी आदि भेद।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके पारिषदोंकी देवियोंका प्रमाण

ति. प./८/३२४-३२७ आदिमदो जुगलेसुं बम्हादिसु चउसु आणदचउक्के। पुह पुह सव्विदाणं अब्भंतरपरिसदेवीओ।३२४। पंचसयचउसयाणि तिसया दोसयाणि एक्कसयं। पण्णासं पुव्वोदिदठाणेसुं मज्झिमपरिसाए देवीओ।३२६। सत्तच्छपंचचउतियदुगएक्कसयाणि पुव्वठाणेसुं। सव्विदाणं होंति हु बाहिरपरिसाए देवीओ।३२७। —आदिके दो युगल, ब्रह्मादिक चार युगल और आनतादिक चारमें सब इन्द्रोंकी अभ्यन्तर पारिषद देवियाँ क्रमशः पृथक्-पृथक् ५००, ४००, ३००, २००, १००, ५० और पच्चीस जाननी चाहिए।३२४-३२५। पूर्वोक्त स्थानोंमें मध्यम पारिषद देवियाँ क्रमसे ६००, ५००, ४००, ३००, २००, १००, और ५० हैं।३२६। पूर्वोक्त स्थानोंमें सब इन्द्रोंके बाह्य पारिषद देवियाँ क्रमसे ७००, ६००, ५००, ४००, ३००, २०० और १०० हैं।३२७।

पार्थिवी धारणा—दे० पृथिवी।

पार्श्व—नेमिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३।

पार्श्वकृष्टि—दे० कृष्टि।

पार्श्वनाथ—म. पु./७३/श्लोक पूर्वके नवमें भवमें विश्वभूति ब्राह्मणके घरमें मरुभूति नामक पुत्र थे (७-६)। फिर वज्रघोष नामक हाथी हुए (११-१२)। वहाँसे सहस्रार स्वर्गमें देव हुए (१६-२४)। फिर पूर्वके छठे भवमें रश्मिवेग विद्याधर हुए (२५-२६)। तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गमें देव हुए (२६-३१)। वहाँसे च्युत हो वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती हुए (३२)। फिर पूर्वके तीसरे भवमें मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए (४०) फिर आनन्द नामक राजा हुए (४१-४२)। वहाँसे प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए (६७-६८)। तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें २३ वें तीर्थंकर हुए। अपरनाम 'सुभौम' था।१०६। (और भी दे. म. पु./७३/१६६) विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

पार्श्वनाथ काव्य पंजिका—आचार्य शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रन्थ।

पार्श्व पंडित—पार्श्वनाथ पुराण के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय— ई. १२०५। (ती./४/३११)।

पार्श्वपुराण—पार्श्व पुराण नामके कई ग्रन्थ लिखे गये हैं। १. पद्म कीर्ति (ई ९४२) कृत संस्कृत काव्य जिसमें ६ अधिकार हैं। यह १६०० श्लोक प्रमाण है। कविवर भूधरदास जी (वि. १७८६) ने इसका भाषानुवाद किया है। २. वादि राज (ई. १०२५) कृत 'पार्श्वनाथ चरित्र' नामक संस्कृत काव्य। (ती./३/६२)। ३, पद्मकीर्ति (ई. १०७७) कृत अपभ्रंश काव्य। (ती./३/२०५)। ४. सकलकीर्ति (ई १४०६-१४४२) कृत संस्कृत रचना। (ती /३/३३४)। ५. कवि रइधु (ई. १४३६) कृत अपभ्रंश काव्य (ती./४/१६८)। ६. वादि चन्द्र (वि, १६३७-१६६४) कृत १५८० छन्द प्रमाण। (ती./४/७२)।

पार्श्वस्थ—

भ. आ./मू./१२९६,१२९९ केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा। पंथं छंडिय णिज्जंति साधुसत्थस्स पासम्मि।१२९६। इंदिय कसाय गुरुगत्तणेण चरणं तणं व पस्संतो। णिद्धम्मो हु सवित्ता सेवदि पासत्थ सेवाओ। १३००। —कितनेक मुनि इन्द्रिय रूपी चोर और कषायरूप हिंस्र प्राणियोंसे जब पकड़े जाते हैं तब साधुरूप व्यापारियोंका त्याग कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जाते हैं। १२९६। पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय कषाय और विषयों से पराजित होकर चारित्र को तृण के समान समझता है। उसकी सेवा करने वाला भी पार्श्वस्थ तुल्य हो जाता है। १३००।

मू. आ./५९४ दंसणणाणचारित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था। एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणम्।५९४। —दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तप विनयसे सदा काल दूर रहनेवाले और गुणी संयमियोंके सदा दोषोंको देखनेवाले पार्श्वस्थादि हैं। इसलिए नमस्कार करने योग्य नहीं हैं।५९४।

भ. आ./वि./१९५०/१७२२/३ निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति।......उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति,...

दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तरि म…ग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। —अतिचार रहित संयममार्गका स्वरूप जानकर भी उसमें जो प्रवृत्ति नहीं करता है, परन्तु संयम मार्गके पास ही वह रहता है, यद्यपि वह एकान्तसे असंयमी नहीं है, परन्तु निरतिचार संयमका पालन नहीं करता है, इसलिए उसको पार्श्वस्थ कहते हैं।…जो उत्पादन व एषणा दोष सहित आहार ग्रहण करते हैं, हमेशा एक ही वसतिकामें रहते हैं, एक ही संस्तरमें सोते हैं, एक ही क्षेत्रमें रहते हैं, गृहस्थोंके घरमें अपनी बैठक लगाते हैं।…जिसका शोधना अशक्य है अथवा जो शोधा नहीं गया उसको ग्रहण करते हैं। सुई, कैंची… आदि वस्तुको ग्रहण करते हैं। सीना, धोना, उसको टकना, रंगाना इत्यादि कार्योंमें जो तत्पर रहते हैं ऐसे मुनियोंको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो अपने पास क्षारचूर्ण सोहागा चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होनेपर भी रखते हैं उनको पार्श्वस्थ कहना चाहिए।

चा. सा./१४३/३ यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी च श्रमणानां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः। —जो मुनि वसतिकाओंमें रहते हैं, उपकरणोंसे ही अपनी जीविका चलाते हैं, परन्तु मुनियोंके समीप रहते हैं उन्हें पार्श्वस्थ कहते हैं। (भा. पा./टी./१४/१३७/१७)।

★ **पार्श्वस्थ साधु सम्बन्धी विषय** — दे० साधु/५।

पार्श्वाभ्युदय—आ० जिनसेन (ई० ८१८-८७८) द्वारा रचित संस्कृत काव्य ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ भगवान्‌का वर्णन करनेवाला यह काव्य ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोंमें पूर्ण हुआ है। काव्य रचनाकी दृष्टिसे कवि कालिदासके मेघदूतसे भी बढ़कर है। (ती./२/३४०)।

पालंब—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृतकेवली हुए —दे० अन्तकृत।

पालक—राजा अवन्तिका पुत्र मालवा (मगध) का राजा था। अवन्ती व उज्जैनी इनकी राजधानी थी, बड़ा धर्मात्मा था। वीर निर्वाणके समय मगधपर इसीका राज्य था। मगधकी राज्य वंशावलीके अनुसार इसके पश्चात् नन्द वंशका राज्य प्रारम्भ हो गया। तदनुसार इनका समय—वी. नि. पू. ६०-० ई० पू० ५८६-५२६ आता है (ह. पु./६०/४८८); (ति. प./४/१४०६); (विशेष दे० इतिहास/३/४)।

पाहुड—१. दे० प्राभृत, २. आचार्य कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) द्वारा ८४ पाहुड ग्रन्थोंका रचा जाना प्रसिद्ध है, पर उनमेंसे निम्न १२ ही उपलब्ध हैं—१ समयसार, २ प्रवचनसार, ३ नियमसार, ४ पंचास्तिकाय, ५. दर्शन पाहुड, ६. सूत्रपाहुड, ७. चारित्र पाहुड ८. बोध पाहुड, ९. भावपाहुड, १०. मोक्षपाहुड, ११. लिंगपाहुड, १२. शील पाहुड।

—दर्शन पाहुडसे लेकर शील पाहुड पर्यन्त आठ ग्रन्थ अष्टपाहुड़के नामसे प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे अन्तिम दो लिंग पाहुड व शील पाहुड़को छोड़कर शेष छः षट्प्राभृत कहलाते हैं। षट्प्राभृतपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका उपलब्ध है। और आठों ही पाहुड़पर पं० जयचन्द छाबड़ाने ई० १८१० में देशभाषामय वचनिका लिखी है।

प्राभृतिक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पिंगल—चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२।

पिंजरा—ध. १३/५,३,२०/१४/६ तित्तिरलावादिधरणट्ठं रइदकलिंजरामो पंजरो णाम। —तीतर और लाव आदिके पकड़नेके लिए जो अनेक छोटी-छोटी पंचे लेकर बनाया जाता है उसे पिंजरा कहते हैं।

पिंड—द्र. सं./टी./३५/११४/८ पिण्डस्य कोऽर्थः। मध्यस्वस्य बाहुल्यमिति। —पिण्ड शब्दका अर्थ गहराई या मोटाई है।

पिंडस्थध्यान — पिण्डस्थ ध्यानकी विधिमें जीव अनेक प्रकारकी धारणाओं द्वारा अपने उपयोगको एकाग्र करनेका उद्यम करता है। उसीका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१ पिंडस्थध्यानका लक्षण व विधि सामान्य

१. पिंडस्थं स्वात्मचिन्तनम्

द्र. सं./टी./४८/२०१ पर उद्धृत—पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। —निजात्माका चिन्तवन पिण्डस्थ ध्यान है। (प. प्र./टी./१/६/६ पर उद्धृत); (भा. पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

२. अर्हन्तके तुल्य निजात्माका ध्यान

वसु. श्रा./४५९ सियकिरणविप्फुरंतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं। झाइज्जइ जं णियमं पिंडत्थं जाण तं झाणं।४५९। —श्वेत किरणोंसे विस्फुरायमान और अष्ट महा प्रातिहार्योंसे परिवृत (संयुक्त) जो निज रूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिए।४५९। (ज्ञा./३७/२८,३२); (गुण० श्रा०/२२८)।

ज्ञानसार/१९-२१ निजनाभिकमलमध्ये परिस्थितं विस्फुरद्रवितेजः। ध्यायते अर्हद्रूपं ध्यानं तद् मन्यस्व पिण्डस्थं।१९। ध्यायत निजकरमध्ये भालतले हृदयकन्दे देशे। जिनरूपं रवितेजः पिण्डस्थं मन्यस्व ध्यानमिदं।२०। —अपनी नाभिमें, हाथमें, मस्तकमें, अथवा हृदयमें कमलकी कल्पना करके उसमें स्थित सूर्यतेजवत् स्फुरायमान अर्हन्तके रूपका ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।१९-२०।

३. तीन लोककी कल्पना युक्त निजदेह

वसु. श्रा./४६०-४६३ अहवा णाहिं च वियप्पिऊण मेरुं अहोविहायम्मि। झाइज्ज अहोलोयं तिरियम्मं तिरियए वीए।४६०। उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि संधपरियंते। गोविज्जमयागीवं अणुदिसं अणुपएसम्मि।४६१। विजयं च वइजयंतं जयंतमवराजियं च सव्वत्थं। झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला।४६२। तस्सुवरि सिद्धणिलयं जह सिहरं जाण उत्तमंगम्मि। एवं जं णियदेहं झाइज्जइ तं पि पिंडत्थं।४६३। —अथवा अपने नाभि स्थानमें मेरु पर्वतकी कल्पना करके उसके अधोविभागमें अधोलोकका ध्यान करे, नाभि पार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग्विभागमें तिर्यग्लोकका ध्यान करे। नाभिसे ऊर्ध्व भागमें ऊर्ध्वलोकका चिन्तवन करे। स्कन्ध पर्यन्त भागमें कल्प विमानोंका, ग्रीवा स्थानपर नवग्रैवेयकोंका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोड़ीके स्थानपर नव अनुदिशोंका, मुख प्रदेशपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे। ललाटदेशमें सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमांगमें लोक शिखरके तुल्य सिद्ध क्षेत्रको जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थध्यान जानना चाहिए।४६०-४६३। (गुण० श्रा०/२२९-२३१); (ज्ञा./३७/१०)।

४. शुद्ध रूप ध्येयका ध्यान करना

त. अनु./१३४ ध्यातुः पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः। ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केवन।१३४। —ध्येय पदार्थ चूँकि ध्याताके शरीरमें स्थित रूपसे ही ध्यानका विषय किया जाता है, इसलिए कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते हैं।

नोट—धीयके लिए—दे० ध्येय।

२. पिंडस्थ ध्यानकी पाँच धारणाएँ

१. पिंडस्थ ध्यानकी विधिमें पाँच धारणाओंका निर्देश

ज्ञा./३७/२-३ पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिताः । संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ।२। पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी । तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ।३। —पिंडस्थ ध्यानमें श्री वर्धमान स्वामीसे कही हुई जो पाँच धारणाएँ हैं, उनमें संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाशको काटता है ।२। वे धारणाएँ पार्थिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं ।२-३। (त. अनु. १८३)।

२. पाँचों धारणाओंका संक्षिप्त परिचय

त. अनु./१८४-१८७ आकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना । दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ।१८४। ह मंत्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि । तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ।१८५। ततः पञ्चनमस्कारैः पञ्चपिण्डाक्षरान्वितैः । पञ्चस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलां क्रियाम् ।१८६। पश्चादात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् । सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञानभास्वरम् ।१८७। —(नाभिकमलकी कर्णिकामें स्थित) अर्हं मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भक पवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (ँ) की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचक पवन द्वारा) स्वयं विरेचित करके 'ह' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उससे आत्मामें अमृत झर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है। तत्पश्चात् पंच पिंडाक्षरों (ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः), से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पाँच स्थानोंमें विन्यस्त हुए पंच नमस्कार मन्त्रोंसे—(णमो अरहंताणं आदि पाँच पदोंसे) सकल क्रिया करके तदनन्तर आत्माको निर्दिष्ट लक्षण अर्हन्त रूप ध्यावे अथवा सकलकर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्ध स्वरूप ध्यावे ।१८४-१८७। —विशेष दे० वह वह नाम।

३. तत्त्ववती धारणाका परिचय

ज्ञा./३७/२९-३० मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् । कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम् ।२९। विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् । स्वं ततः पुरुषाकारं स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत् ।३०। —तत्पश्चात् (वारुणी धारणाके पश्चात्) अपने आत्माके अतिशय युक्त, सिंहासनपर आरूढ़, कल्याणकी महिमा सहित, देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित है ऐसा चिन्तवन करै ।२९। तत्पश्चात् विलय हो गये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्माका चिन्तवन करै। इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गयी ।३०। (ज्ञा०/३७/२८)।

★ अर्हन्त चिन्तवन पदस्थ आदि तीनों ध्यानोंमें होता है—दे० ध्येय।

४. पिण्डस्थ ध्यानका फल

ज्ञा./३७/३१ इत्यविरत स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः । शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।३१। —इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही प्राप्त होता है ।३१।

पिच्छिका—

भ. आ./मू./९८ रयसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च । जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ।९८। —जिसमें ये पाँच गुण हैं उस शोधनोपकरण पिच्छिका आदिकी साधुजन प्रशंसा करते हैं—धूलि और पसेवसे मैली न हो, कोमल हो, कड़ी न हो। अर्थात् नमनशील हो, और हलकी हो। (मू. आ./९१०)।

२. पिच्छिकाकी उपयोगिता

भ. आ./मू./९७-९८ इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे । उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणा उंटणामस्से ।९६। पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे । विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ।९७। —जब मुनि बैठते हैं, खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पाँव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्तानशयन करते हैं, कर्वट बदलते हैं, तब वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं ।९६। पिच्छिकासे ही जीव दया पाली जाती है। पिच्छिका लोगोंमें यति विषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिह्न है। तथा पिच्छिका धारण करनेसे वे मुनिराज प्राचीन मुनियोंके प्रतिनिधि स्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होता है ।९७। (मू. आ./९११)।

मू. आ./९१२,९१४ उच्चारं पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदोहु काऊण । अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु ।९१२। णाणे चंकमणादाणणिक्खेवे सयणआसण पयत्ते । पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सपक्खे । (९१४)। —रातमें सोतेसे उठा फिर मलका क्षेपण मूत श्लेष्मा आदिका क्षेपणकर सोधन बिना किये फिर सो गया ऐसा साधु पीछीके बिना जीवहिंसा अवश्य करता है ।९१२। कायोत्सर्गमें गमनमें कमंडलु आदिके उठानेमें, पुस्तकादिके रखनेमें, शयनमें, झूठनके साफ करनेमें यत्नसे पीछीकर जीवोंकी हिंसा की जाती है, और यह मुनि संयमी है ऐसा अपने पक्षमें चिह्न हो जाता है ।९१४।

पिठरपाक—वैशेषिक दर्शनका एक सिद्धान्त।

पितृकायिक—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

पित्त—औदारिक शरीरमें पित्त धातु निर्देश—दे० औदारिक१/७।

पिपासा—१. पिपासा परीषहका लक्षण

स. सि./९/९/४२०/१२ ... विरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यानाद्रियमाणप्रतिकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासासहनं प्रशस्यते। —जो अतिरूक्ष आदि विरुद्ध आहार, ग्रीष्म कालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियोंका मंथन करनेवाली पिपासाका प्रतिकार करनेमें आदर भाव नहीं रखता और पिपासारूपी अग्निको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घड़ेमें भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधि रूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशंसाके योग्य है। (रा. वा/९/९/३/६०८/२४); (चा. सा./११०/३)।

★ क्षुधा व पिपासा परीषहमें अन्तर—दे० क्षुधा।

पिशाच—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

पिशाच—★ पिशाचोंके वर्ण परिवार अवस्थानादि

—दे० व्यंतर/१/२।

१. पिशाचोंके भेद

ति. प./६/४८-४९ कुंमंडजक्खरक्खससंमोहा तारआ य चोक्खक्खा । कालमहकाल चोक्खा सतालया देहमहदेहा ।४८। तुण्हिअपवयणणामा ...।४९। —कुष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, संमोह, तारक, अशुचिनामक काल, महाकाल, शुचि, सतालक, देह, महादेह, तूष्णीक, और प्रवचन नामक, इस प्रकार ये चौदह पिशाचोंके भेद हैं ।४८-४९। (त्रि. सा./२७१-२७२)।

पिशुलि—गो. जी./भाषा/३२६/७००/१३ का भावार्थ (श्रुत ज्ञानके पर्याय, पर्याय-समास आदि २० भेदोंके प्रकरणमें, प्रक्षेपक प्रक्षेपक नामके श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिए अनंतका भाग देनेकी जो प्रक्रिया अपनायी गयी है) वैसे ही क्रमतें जीवराशिमात्र अनंतका भाग दीए जो प्रमाण आवै सो सो क्रमतें पिशुलि पिशुलि-पिशुलि जानने।

पिष्टपेसन—दे० अतिप्रसंग।

पिहित—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४; २. वसतिका-का एक दोष—दे० वसतिका।

पिहितास्रव—१. (ह. पु./२७/८) एक दिगम्बर आचार्य; २. एक जैन मुनि (ह. पु./२७/९३)। ३. पद्मप्रभ भगवान्‌के पूर्व भवके गुरु (ह. पु./६०/१५१) ४ बुद्धकीर्ति (महात्मा बुद्ध) के गुरु थे। पार्श्व-नाथ भगवान्‌की परम्परामें दिगम्बराचार्य थे। (द. सा./प्रशस्ति/२६ पं. नाथूराम प्रेमी) इनके शिष्य बुद्धकीर्तिने बौद्धधर्म चलाया था (द. सा./मू./६-७)।

पीठ—दसवें रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७।

पीठिका मंत्र—दे० मंत्र/१/६।

पीड़ा—दे० वेदना।

पीत लेश्या—दे० लेश्या।

पुंडरीक—१. छठे रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७। २. अपने पूर्वके दूसरे भवमें शल्य सहित मर करके देव हुआ था। वर्तमान भवमें छठे नारायण थे। अपरनाम पुरुष पुण्डरीक था। —दे० शलाका-पुरुष/४। ३. श्रुतज्ञानका १२वाँ अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। ४. पुष्करवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४। ५. मानु-षोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर—दे० व्यन्तर/४। ६. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुंडरीक ह्रद—शिखरी पर्वतस्थ एक ह्रद जिसमेंसे स्वर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा ये तीन नदियाँ निकलती हैं। लक्ष्मीदेवी इसमें निवास करती है—दे० लोक/३/९।

पुंडरीकिणी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३।

पुंडरीकिनी—पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावर्तकी मुख्य नगरी। अपरनाम पुष्कलावती—दे० लोक/५/२।

पुंड्र—वर्तमान बंगालका उत्तर भाग। अपरनाम गौड़ या पौंड्र। भरतक्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुंड्रवर्धन—पूर्व देशमें एक नगरी है। 'महिमा' नगरीका अपरनाम प्रतीत होता है। क्योंकि अर्हद्बलि आचार्य द्वारा यहाँ यति सम्मेलन बुलाया गया। और धरसेनाचार्यने महिमा नगरीमें साधुओंको बुलाने-के लिए पत्र लिखा था। महिमा नगरीवाला साधु संघ और अर्हद्बलि आचार्यका साधु सम्मेलन एकार्थवाची प्रतीत होते हैं। (ध. १/प्र. १४.२१)।

पुण्य—क्षौद्रवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

पुण्य—जीवके दया, दानादि रूप शुभ परिणाम पुण्य कहलाते हैं। यद्यपि लोकमें पुण्यके प्रति बड़ा आकर्षण रहता है, परन्तु मुमुक्षु जीव केवल बन्धरूप होनेके कारण इसे पापसे किसी प्रकार भी अधिक नहीं समझते। इसके प्रलोभनसे बचनेके लिए वह सदा इसकी अनि-ष्टताका विचार करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह सर्वथा पाप रूप ही है। लौकिकजनोंके लिए यह अवश्य ही पापकी अपेक्षा बहुत अच्छा है। यद्यपि मुमुक्षु जीवोंको भी निचली अवस्थामें पुण्य प्रवृत्ति अवश्य होती है, पर निदान रहित होनेके कारण, उनका पुण्य पुण्यानुबन्धी है, जो परम्परा मोक्षका कारण है। लौकिक जीवोंका पुण्य निदान व तृष्णा सहित होनेके कारण पापानुबन्धी है, तथा संसारमें डुबानेवाला है। ऐसे पुण्यका त्याग ही परमार्थसे योग्य है।

१. पुण्य निर्देश

१. भाव पुण्यका लक्षण

प्र. सा./मू./१८१ सुहपरिणामो पुण्णं···भणियमण्णेसु। =परके प्रति शुभ-परिणाम पुण्य है। (पं.का./त.प्र./१०८)।

स. सि./६/३/३२०/२ पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। =जो आत्माको पवित्र करता है, या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है। (रा.वा./६/३/४/५०७/११)।

न. च. वृ./१६२ अहवा कारणभूदा तेसिं च वयव्वयाइ इह भणिया। ते खलु पुण्णं पावं जाण इमं पवयणे भणियं।१६२। =उन शुभ वेदादि-के कारणभूत जो व्रतादि कहे गये हैं, उसको निश्चयसे पुण्य जानो, ऐसा शास्त्रमें कहा है।

पं. का./ता. वृ./१०८/१७२/८ दानपूजाषडावश्यकादिरूपो जीवस्य शुभ-परिणामो भावपुण्यं। =दान पूजा षडावश्यकादि रूप जीवके शुभ-परिणाम भावपुण्य हैं।

दे० उपयोग/II/४ जीव दया आदि शुभोपयोग है।१। वही पुण्य है।४।

दे० धर्म/१/४ (पूजा, भक्ति, दया, दान आदि शुभ क्रियाओं रूप व्यवहारधर्म पुण्य है। (उपयोग/४/७); (पुण्य/१/४)।

२. द्रव्य पुण्य या पुण्य कर्मका लक्षण

भ. आ./वि./३८/१३४/२० पुण्यं नाम अभिमतस्य प्रापकं। =इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती हो वह कर्म पुण्य कहलाता है।

पं. का./ता. वृ./१०८/१७२/८ भावपुण्यनिमित्तेनोत्पन्नः सद्वेद्यादिशुभ-प्रकृतिरूपः पुद्गलपरमाणुपिण्डो द्रव्यपुण्यं। =भाव पुण्यके निमित्त-से उत्पन्न होनेवाले साता वेदनीय आदि (विशेष दे० प्रकृतिबन्ध/२) शुभप्रकृति रूप पुद्गलपरमाणुओंका पिण्ड द्रव्य पुण्य है।

स. म./२७/३०२/११ पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभकर्म। =दान आदि क्रियाओंसे उपार्जित किया जानेवाला शुभकर्म पुण्य है।

३. पुण्य जीवका लक्षण

मू. आ./मू./२३४ सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं। जो परिणदो सो पुण्णो···।२३४। =सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, व्रतरूप परि-णाम तथा कषाय निग्रहरूप गुणोंसे परिणत आत्मा पुण्य जीव है। (गो.जी./मू./६२२)।

द्र. सं./मू./३८/१५८ सुहअसुहभावजुत्ता पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा। =शुभ परिणामोंसे युक्त जीव पुण्य रूप होता है।

४. पुण्य व पापमें अन्तरंगकी प्रधानता

आप्त. मी./९२-९५ पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः।९२। पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः।९३। विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्। अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते।९४। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्, स्वपरस्थं सुखासुखम्। पुण्यपापास्रवौ युक्तौ न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः।९५। —यदि परको दुख उपजानेसे पाप और परको सुख उपजानेसे पुण्य होने का नियम हुआ होता तो कंटक आदि अचेतन पदार्थोंको पाप और दूध आदि अचेतन पदार्थोंको पुण्य हो जाता। और वीतरागी मुनि (ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हुए कदाचित् क्षुद्र जीवोंके वधका कारण हो जानेसे बन्धको प्राप्त हो जाते।९२। यदि स्वयं अपनेको ही दुख या सुख उपजानेसे पाप-पुण्य होनेका नियम हुआ होता तो वीतरागी मुनि तथा विद्वज्जन भी बन्धके पात्र हो जाते; क्योंकि, उनको भी उस प्रकारका निमित्तपना होता है।९३। इसलिए ऐसा मानना ही योग्य है कि स्व व पर दोनोंको सुख या दुखमें निमित्त होनेके कारण, विशुद्धि व संक्लेश परिणाम उनके कारण तथा उनके कार्य ये सब मिलकर ही पुण्य व पापके आस्रव होते हुए पराश्रित पुण्य व पापरूप एकान्तका निषेध करते है।९४। यदि विशुद्धि व संक्लेश दोनों ही स्व व परको सुख व दुःखके कारण न हों तो आपके मतमें पुण्य या पाप कहना ही व्यर्थ है।९५।

मो. पा./पं. जयचन्द/६०/१५२/२५ केवलबाह्यसामायिकादि निरारम्भ कार्यका भेष धारि बैठे तो किछु विशिष्ट पुण्य है नाहीं। शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड़ है। केवल जड़की क्रिया फल तो आत्माको लागै नाहीं।···विशिष्ट पुण्य तो भावनिकै अनुसार है।···अतः पुण्य-पापके बन्धमें शुभाशुभ भाव ही प्रधान है।

५. पुण्य (शुभ नामकर्म) के बन्ध योग्य परिणाम

पं. का./मू./१३५ रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो। चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि।१३५। =जिस जीव-को प्रशस्त राग है, अनुकम्पायुक्त परिणाम है, और चित्तमें कलुषता-का अभाव है उस जीवको पुण्य आस्रव होता है।

मू. आ./मू./२३५ पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो। —जीवोंपर दया, शुद्ध मन वचन कायकी क्रिया तथा शुद्ध दर्शन ज्ञानरूप उपयोग ये पुण्यकर्मके आस्रवके कारण हैं। (क. पा. १/१,१/गा. २/१०५)।

त. सू./६/२३ तद्विपरीतं शुभस्य।२३।

स. सि./६/२३/३३७/६ कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादनं च तद्विपरीतम्। 'च'शब्देन समुच्चितस्य च विपरीतं ग्राह्यम्। धार्मिकदर्शन-संभ्रमसद्भावोपनयनसंसरणभीरुताप्रमादवर्जनादिः। तदेतच्छुभ-नामकर्मास्रवकारणं वेदितव्यम्। —काय, वचन और मनकी सरलता तथा अविसंवाद ये उस (अशुभ) से विपरीत हैं। उसी प्रकार पूर्व सूत्रकी व्याख्या करते हुए च शब्दसे जिनका समुच्चय किया गया है, उनके विपरीत आस्रवोंका ग्रहण करना चाहिए। जैसे—धार्मिक पुरुषों व स्थानोंका दर्शन करना, आदर सत्कार करना, सद्भाव रखना, उपनयन, संसारसे डरना, और प्रमादका त्याग करना आदि। ये सब शुभ नामकर्मके आस्रवके कारण हैं। (रा. वा./६/२३/२/५२८/१८); (गो. क./मू./८०८/९८४); (त. सा./४/४८)।

त. सा./४/६१ प्रशस्तिकालवेतुर्ध्य। —प्रशस्त पुण्यकर्मका आस्रव होता है।

यो. सा./अ./४/३७ अर्हदादौ परा भक्तिः कारुण्यं सर्वजन्तुषु। पावने चरणे रागः पुण्यबन्धनिबन्धनम् ।३७। —अर्हन्त आदि पाँचों परमेष्ठियोंमें भक्ति, समस्त जीवोंपर करुणा और पवित्रचारित्रमें प्रीति करनेसे पुण्य बन्ध होता है।

ज्ञा./३/१-७ यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्। मैत्र्यादिभावनारूढं मनः सूते शुभास्रवम् ।३। विश्वव्यापारनिर्मुक्तं श्रुतज्ञानावलम्बितम्। शुभास्रवाय विज्ञेयं वचः सत्यं प्रतिष्ठितम् ।५। सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेन वानिशम्। संचिनोति शुभं कर्म काययोगेन संयमी ।७। —यम (व्रत), प्रशम, निर्वेद तथा तत्त्वोंका चिन्तवन इत्यादिका अवलम्बन हो, एवम् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओंकी जिसके मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रव उत्पन्न करता है।३। समस्त विश्वके व्यापारोंसे रहित तथा श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप पारिणामिक वचन शुभास्रवके लिए होते हैं।५। भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे संयमी मुनि शुभ कर्मको संचय करते हैं।

२. पुण्य व पापमें पारमार्थिक समानता

१. दोनों मोह व अज्ञानकी सन्तान हैं

पं. का./मू./१३१ मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि। विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ।१३१। —जिसके भावमें मोह, राग, द्वेष अथवा चित्त प्रसन्नता है उसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते हैं। (तहाँ प्रशस्त राग व चित्तप्रसादसे शुभ-परिणाम और अप्रशस्तराग, द्वेष और मिथ्यात्वसे अशुभ परिणाम होते हैं। (इसी गाथाकी त. प्र. टीका)।

प. प्र./मू./२/५३ बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ। सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ ।५३। —बन्ध और मोक्षका कारण अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद जो नहीं जानता है, वही पुण्य और पाप इन दोनोंको मोहसे करता है। (न. च. वृ./२९९)।

२. परमार्थसे दोनों एक हैं

स. सा./आ./१४५ शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं जीवपुद्गलमयत्वादेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म। —शुभ व अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक हैं, अतः उनके कारणमें अभेद होनेसे कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक हैं, अतः उनके स्वभावमें अभेद होनेसे कर्म एक है। शुभ व अशुभ फलरूप विपाक भी केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, अतः उनके अनुभव या स्वादमें अभेद होनेसे दोनों एक हैं। यद्यपि शुभरूप (व्यवहार) मोक्षमार्ग केवल जीवमय और अशुभरूप बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय होनेसे दोनोंमें अनेकता है, फिर भी कर्म केवल पुद्गलमयी बन्धमार्गके ही आश्रित है अतः उनके आश्रयमें अभेद होनेसे दोनों एक हैं।

३. दोनोंकी एकतामें दृष्टान्त

स. सा./मू./१४६ सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं। बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।१४६। —जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है, वैसे ही सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बाँधती है। इसी प्रकार अपने द्वारा किये गये शुभ व अशुभ दोनों ही कर्म जीवको बाँधते हैं। (यो. सा./यो./७२); (प्र. सा./त. प्र./७७); (प. प्र./टी./१/१६६-१६७/२७६/१६)।

स. सा./आ./१४५/क. १०१ एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव। द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः, शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ।१०१। —(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोंमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा शूद्रके यहाँ पला (उनमेंसे) एक तो 'मैं ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे दूरसे ही मदिराका त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, और दूसरा 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरासे ही स्नान करता है, अर्थात् उसे पवित्र मानता है। यद्यपि दोनों साक्षात् शूद्र हैं तथापि वे जातिभेदके भ्रमसहित प्रवृत्ति करते हैं। (इसी प्रकार पुण्य व पाप दोनों ही यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार समान हैं, फिर भी मोह दृष्टिके कारण भ्रमवश अज्ञानीजीव इनमें भेद देखकर पुण्यको अच्छा और पापको बुरा समझता है)।

स. सा./आ./१४७ कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्। —जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूप कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग उसके बन्धनका कारण है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग करनेका निषेध किया गया है।

४. दोनों ही बन्ध व संसारके कारण हैं

स. सि./१/४/१५/३ इह पुण्यपापग्रहणं कर्तव्यं 'नव पदार्थाः' इत्यन्यैरप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात्। —प्रश्न—सूत्रमें (सात तत्त्वोंके साथ) पुण्य पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, 'पदार्थ नौ हैं' ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है? उत्तर—पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है। (रा. वा./१/४/२८/२७/३०); (द्र.सं./टी./अधि० २/चूलिका/पृ. ८१/१०)

ध. १२/४,२,८,३/२७९/७ कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहितो जायदे। —कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है।

न. च. वृ./२९९,३७६ असुह सुह चिय कम्मं दुविहं तं पि दव्वभावभेयगयं। तं पिय पडुच्च मोहं संसारो तेण जीवस्स ।२९९। भेदुवयारे जइया वट्टदि सो विय सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा ।३७६। —कर्म दो प्रकारके हैं—शुभ व अशुभ। ये दोनों भी द्रव्य व भावके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं। उन दोनोंकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे जीवको संसार होता है।२९९। जबतक यह जीव भेद और उपचाररूप व्यवहारमें वर्तता है तबतक वह शुभ और अशुभके आधीन है। और तभी तक वह कर्ता कहलाता है, उससे ही आत्मा संसारी होता है।३७६।

त. सा./४/१०४ संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः। न नाम निश्चये नास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ।१०४। —निश्चयसे दोनों ही संसारके कारण हैं, इसलिए पुण्य व पापमें कोई विशेषता नहीं है। (यो. सा./अ./४/४०)।

प्र. सा./त. प्र./१८१ तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम्। —पुण्यरूप पुद्गलकर्मके बन्धका कारण होनेसे शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गलके बन्धका कारण होनेसे अशुभपरिणाम पाप है।

स. सा./आ./१६०/क. १०३ कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्, बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात्। तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं, ज्ञानमेव विहितं

निबन्धहेतुः ।१०३। —क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्धका साधन कहते हैं, इसलिए उन्होंने समस्त ही कर्मोंका निषेध किया है। और ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। (पं. ध./उ./३७४)।

पं. ध./उ./७६३ नेहां प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः। अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ।७६३। —बुद्धिकी मन्दतासे यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एकदेशसे निर्जराका कारण हो सकता है। कारण कि, निश्चयनयसे शुभोपयोग भी संसारका कारण होनेसे निर्जरादिकका हेतु नहीं हो सकता और न वह शुभ ही कहा जा सकता है।

५. दोनों ही दुःखरूप या दुःखके कारण हैं

स. सा./मू./४५ अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति। जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।४५। —आठों प्रकारका कर्म सब पुद्गलमय है, तथा उदयमें आनेपर सबका फल दुःख है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। (पं. ध./उ./२४०)।

प्र. सा./मू./७२-७५ णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं। किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।७२। कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं। देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ।७३। जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि। जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवतान्ताणं ।७४। ते पुण उदिण्णतिण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि। इच्छन्ति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ।७५। —मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव सभी यदि देहोत्पन्न दुःखका अनुभव करते हैं तो जीवोंका वह (अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका कैसे हो सकता है ।७२। वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र व चक्रवर्ती) शुभोपयोगमूलक भोगोंके द्वारा देहादिकी पुष्टि करते हैं और भोगोंमें रत वर्तते हुए सुखी-जैसे भासित होते हैं ।७३। इस प्रकार यदि पुण्य नामकी कोई वस्तु विद्यमान भी है तो वह देवों तकके जीवोंका विषय तृष्णा उत्पन्न करते हैं ।७४। और जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव तृष्णाओंके द्वारा दुःखी होते हुए मरण पर्यन्त विषयसुखोंको चाहते हैं, और दुःखोंसे सन्तप्त होते हुए और दुःखदाहको सहन न करते हुए उन्हें भोगते हैं ।७५। (देवादिकोंके वे सुख पराश्रित, बाधासहित और बन्धके कारण होनेसे वास्तवमें दुःख ही हैं—दे० सुख/१)।

यो. सा./अ./६/२५ धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःखपरम्परां। चन्दनादपि संपन्नः पावकः प्लोषते न किम् ।२५। —जिस प्रकार चन्दनसे उत्पन्न अग्नि भी अवश्य जलाती है, उसी प्रकार धर्मसे उत्पन्न भी भोग अवश्य दुःख उत्पन्न करता है।

पं. ध./उ./२५० न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः। सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ।२५०। —कोई भी कर्मका उदय ऐसा नहीं जो कि जीवको सुख प्राप्त करानेवाला हो, क्योंकि स्वभावसे सभी कर्म आत्माके स्वभावसे विलक्षण हैं।

मो. मा. प्र./४/१२१/११ दोन्यौं ही आकुलताके कारण हैं, तातैं बुरे ही हैं।…परमार्थतैं जहाँ आकुलता है तहाँ दुःख ही है, तातै पुण्य-पापके उदयकौं भला-बुरा जानना भ्रम है।

दे० सुख/१ (पुण्यसे प्राप्त लौकिक सुख परमार्थसे दुःख है।)

६. दोनों ही हेय हैं तथा इसका हेतु

स. सा./मू./१५० रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो। एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।१५०। —रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्यको प्राप्त जीव कर्मसे छूटता है, यह जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश है। इसलिए तू कर्मोंमें प्रीति मत कर। अर्थात् समस्त कर्मोंका त्याग कर। (और भी दे० पुण्य/१/३ में स.सा./आ./१४७; तथा पुण्य/२/४ में स.सा./आ./१५०/क.१०३)।

स. सा./आ./१६३/क.१०९ संन्यस्तमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्, नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ।१०९। —मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य हैं। जहाँ समस्त कर्मोंका त्याग किया जाता है, तो फिर वहाँ पुण्य व पाप (को अच्छा या बुरा कहने) की क्या बात है? समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होनेसे, परिणमन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ, निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धतरस प्रतिबद्ध है, ऐसा ज्ञान अपनेआप दौड़ा चला आता है।

स. सा./आ./१५० सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति। —सामान्यपने रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभ व अशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है, और इसलिए (आगम) दोनों कर्मोंका निषेध करता है।

प्र. सा./त. प्र./२१२ यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्धया हिंसक एव स्यात्।…ततस्तैस्तैः सर्वप्रकारैः शुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः प्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात्। —जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचारके द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव हिंसक ही है, क्योंकि, तहाँ छह कायके प्राणोंके व्यपरोपके आश्रयसे होनेवाले बन्धकी प्रसिद्धि है। (दे० हिंसा/१)। इसलिए उन-उन सर्व प्रकारोंसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंगच्छेद निषिद्ध है, जिन-जिन प्रकारोंसे कि उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंगच्छेद भी अत्यन्त निषिद्ध हो।

द्र. सं./टी./३८/१५९/७ सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। —सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनों हेय हैं। (पं. का./ता. वृ./१३१/१९४/१४)।

पं. ध./उ./३७४ उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः। नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ।३७४। —जैसे सम्यग्दृष्टिको उक्त इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान आदेय नहीं होते हैं, वैसे ही आत्मप्रत्यक्ष होनेके कारण सम्पूर्ण कर्म भी आदेय नहीं होते हैं।

७. दोनोंमें भेद समझना अज्ञान है

प्र. सा./मू./७७ ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।७७। —'पुण्य और पाप इस प्रकार कोई भेद नहीं है' जो ऐसा नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसारमें परिभ्रमण करता है। (प. प्र./मू./२/५५)।

यो. सा./अ./४/३१ सुखदुःखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः। नित्यं सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मन्दबुद्धिभिः ।३१। —अविनाशी निराकुल सुखको न देखनेवाले मन्दबुद्धिजन ही सुख व दुःखके कारणरूप विशेषतासे पुण्य व पापमें भेद देखते हैं।

३. पुण्यकी कथंचित् अनिष्टता

१. संसारका कारण होनेसे पुण्य अनिष्ट है

स. सा./मू./१४५ कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं। कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।१४५। —अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, ऐसा तुम (मोहवश) जानते हो।

किन्तु वह भला सुशील कैसे हो सकता है, जब कि वह संसारमें प्रवेश कराता है।

प्र. सा./त.प्र./७७ यस्तु पुनरनयोः ···विशेषमभिमन्यमानो···धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति। —जो जीव उन दोनों (पुण्य व पाप) में अन्तर मानता हुआ धर्मानुराग अर्थात् पुण्यानुरागपर अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे, जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, संसार पर्यन्त शारीरिक दुःखका ही अनुभव करता है।

का. अ./मू./४१० पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि। पुण्णं सुगईहेदुं पुण्णखएणेव णिव्वाणं ॥४१०॥ —जो पुण्यको भी चाहता है, वह संसारको चाहता है, क्योंकि, पुण्य सुगतिका कारण है। पुण्यका क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है।

२. शुभ भाव कथंचित् पापबन्धके भी कारण हैं

रा. वा./६/३/७/५०७/२६ शुभः पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। —शुभपरिणाम पापके भी हेतु हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० पुण्य/५)।

३. वास्तवमें पुण्य शुभ है ही नहीं

पं. ध./उ./७६३ शुभो नाप्यशुभावहात् ॥७६३॥ —निश्चयनयसे शुभोपयोग भी संसारका कारण होनेसे शुभ कहा ही नहीं जा सकता।

४. अज्ञानीजन ही पुण्यको उपादेय मानते हैं

स. सा./मू./१५४ परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति। संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंतो ॥१५४॥ —जो परमार्थसे बाह्य हैं, वे मोक्षके हेतुको न जानते हुए संसार गमनका हेतु होने पर भी, अज्ञानसे पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) चाहते हैं। (ति प./९/५३)।

मो. पा./मू./५४ सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू। सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ॥५४॥ —इष्ट वस्तुओंके संयोगमें राग करनेवाला साधु अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है अर्थात् वह शुभ व अशुभ कर्मके फलरूप इष्ट अनिष्ट सामग्रीमें रागद्वेष नहीं करता।

प. प्र./मू./२/५४ दंसणणाणचरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ। मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ ॥५४॥ —जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयी आत्माको नहीं जानता वही हे जीव! उन पुण्य व पाप दोनोंको मोक्षके कारण जानकर करता है। (मो. मा. प्र./७/२२१/१७)।

५. ज्ञानी तो पापवत् पुण्यका भी तिरस्कार करता है

ति. प./९/५२ पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो। मइमोहेण य पावं तम्हा पुण्णो वि वज्जेओ ॥५२॥ —चूँकि पुण्यसे विभव, विभवसे मद, मदसे मतिमोह और मतिमोहसे पाप होता है, इसलिए पुण्यको भी छोड़ना चाहिए—(ऐसा पुण्य हमें कभी न हो—प. प्र.) (प.प्र./मू./२/६०)।

यो. सा./यो/७१ जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु को वि मुणेइ। जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७१॥ —पापको पाप तो सब कोई जानता है, परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है ऐसा पण्डित कोई विरला ही है।

६. ज्ञानी पुण्यको हेय समझता है

स. सा./मू./२१० अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं। अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१०॥ —ज्ञानी परिग्रहसे रहित है, इसलिए वह परिग्रहकी इच्छासे रहित है। इसी कारण वह धर्म अर्थात् पुण्य (ता. वृ. टीका) को नहीं चाहता इसलिए उसे धर्म या पुण्यका परिग्रह नहीं है। वह तो केवल उसका ज्ञायक ही है।

का. अ./मू./४०९,४१२ एदे दहप्पयारा पावं कम्मस्स णासिया भणिया। पुण्णस्स य संजणया परपुण्णत्थं ण कायव्वं ॥४०९॥ पुण्णे वि ण आयरं कुणह ॥४१२॥ —ये धर्मके दश भेद पापकर्मका नाश और पुण्यकर्मका बन्ध करनेवाले कहे जाते हैं, परन्तु इन्हें पुण्यके लिए नहीं करना चाहिए ॥४०९॥ पुण्यमें आदर मत करो ॥४१२॥

नि. सा./ता. वृ./४१/क, ५९ सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं, त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः।··· भवविमुक्त्यै...॥५९॥ —समस्त पुण्य भोगियोंके भोगका मूल है। परमतत्त्वके अभ्यासमें निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होनेके हेतु उस समस्त शुभकर्मको छोड़ो।

७. ज्ञानी तो कथंचित् पापको ही पुण्यसे अच्छा समझते हैं

प. प्र./मू./२/५६-५७ वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति। जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइ जाइँ कुणंति ॥५६॥ मं पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणंति। जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणंति ॥५७॥ —हे जीव! जो पापका उदय जीवको दुःख देकर शीघ्र ही मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि कर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं ॥५६॥ और फिर वे पुण्य भी अच्छे नहीं जो जीवको राज्य देकर शीघ्र ही नरकादि दुःखोंको उपजाते हैं (दे० अगला शीर्षक) ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

८. मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्ट है

भ. आ./मू./५७-६०/१८२-१८७ जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्तकडुगिदा होंति। ते तस्स कडुगदोद्धियगदं च दुद्धं हवे अफला ॥५७॥ जह भेसजं पि दोसं आवहइ विसेण संजुदं संते। तह मिच्छत्तविसजुदा गुणा वि दोसावहा होंति ॥५८॥ दिवसेण जोयणसयं पि गच्छमाणो सगिच्छिदं देसं। अण्णंतो गच्छंतो जह पुरिसो णेव पाउणादि ॥५९॥ धणिदं पि संजमंतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई। इट्ठं णिव्वुइमग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि ॥६०॥ —अहिंसा आदि पाँच व्रत आत्माके गुण हैं, परन्तु मरण समय यदि ये मिथ्यात्वसे संयुक्त हो जायें तो कड़वी तुम्बीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ हो जाते हैं ॥५७॥ जिस प्रकार विष मिल जानेपर गुणकारी भी औषध दोषयुक्त हो जाता है, इसी प्रकार उपरोक्त गुण भी मिथ्यात्वयुक्त हो जानेपर दोषयुक्त हो जाते हैं ॥५८॥ जिस प्रकार एक दिनमें सौ योजन गमन करनेवाला भी व्यक्ति यदि उलटी दिशामें चले तो कभी भी अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अच्छी तरह व्रत तप आदि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि कदापि मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता ॥५९-६०॥

प. प्र./मू./२/५९ जे णिय-दंसण-अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति। तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥५९॥ —जो सम्यग्दर्शनके संमुख हैं, वे अनन्त सुखको पाते हैं, और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं वे पुण्य करते हुए भी, पुण्यके फलसे अल्पसुख पाकर संसारमें अनन्त दुःख भोगते हैं ॥५९॥

प. प्र./मू./२/५८ वर णियदंसण अहिमुह मरणु वि जीव लहेसि। मा णियदंसणविम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥५८॥ —हे जीव! अपने सम्यग्दर्शनके संमुख होकर मरना भी अच्छा है, परन्तु सम्यग्दर्शनसे विमुख होकर पुण्य करना अच्छा नहीं है ॥५८॥

दे० भोग—(पुण्यसे प्राप्त भोग पापके मित्र हैं)।

दे० पुण्य/५/१ (प्रशस्त भी राग कारणकी विपरीतता से विपरीत रूपसे फलित होता है।

पं. ध./उ./४४४ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः। नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः।४४४। — मिथ्यादृष्टिके सदा रागादिभावका सद्भाव रहनेसे केवल क्रियारूप व्यवहार धर्मका अर्थात् शुभयोगका पाया जाना भी धर्म नहीं है। किन्तु अधर्म ही है।४४४।

भा. पा./पं. जयचन्द/११७ अन्यमतके श्रद्धानीकै जो कदाचित् शुभ लेश्याके निमित्ततैं पुण्य भी बन्ध होय तौ ताकूं पाप हीमें गिणिये।

९. मिथ्यात्व युक्त पुण्य तीसरे भव नरकका कारण है

भ. आ./वि./५८/१८५/६ मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबन्धि स्वल्पमिन्द्रियसुखं दत्वा बह्वारम्भपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति। — मिथ्यादृष्टिके ये अहिंसादि गुण (या व्रत) पापानुबन्धी स्वल्प इन्द्रियसुखकी प्राप्ति तो कर देते हैं, परन्तु जीवको बहुत आरम्भ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं।

प. प्र. टी /२/५७/१७९/८ निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते रावणादिवत्। — निदान बन्धसे उत्पन्न हुए पुण्यसे भवान्तरमें राज्यादि विभूतिकी प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगोंका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, अर्थात् उनमें आसक्त हो जाता है। और इसलिए उस पुण्यसे वह रावण आदिकी भाँति नरक आदिके दुःखोंको प्राप्त करता है। (द्र. सं./ टी./३८/१६०/६); (स. सा./ता. वृ /२२४-२२७/३०५/१७)।

४. पुण्यकी कथंचित् इष्टता

१. पुण्य व पापमें महान् अन्तर है

भ. आ./मू./६१ जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि। सो मरणे अप्पाणं कह ण कुणइ दीहसंसारं।६१। — जब व्रतादि सहित भी मिथ्यादृष्टि संसारमें भ्रमण करता है (दे० पुण्य/३/८) तब व्रतादिसे रहित होकर तो क्यों दीर्घसंसारी न होगा?

मो. पा./मू./२५ वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं। छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।२५। जिस प्रकार छाया और आतपमें स्थित पथिकोंके प्रतिपालक कारणोंमें बड़ा भेद है, उसी प्रकार पुण्य व पापमें भी बड़ा भेद है। व्रत, तप आदि रूप पुण्य श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और उससे विपरीत अव्रत व अतप आदिरूप पाप श्रेष्ठ नहीं हैं, क्योंकि उससे नरककी प्राप्ति होती है। (इ. उ./३); (अन. ध./८/१५/७४०)।

त. सा./४/१०३ हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः। हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे।१०३। — हेतु और कार्यकी विशेषता होनेसे पुण्य और पापमें अन्तर है। पुण्यका हेतु शुभभाव है और पापका अशुभभाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पापका दुःख है।

२. इष्ट प्राप्तिमें पुरुषार्थसे पुण्य प्रधान है

भ. आ./मू./१७३१/१५६२ पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स। दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण।१७३१। — पापका उदय आनेपर हस्तगत द्रव्य भी नष्ट हो जाता है और पुण्यका उदय आनेपर प्रयत्नके बिना ही दूर देशसे भोजन आदि इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति हो जाती है। (कुरल काव्य/३८/६); (पं. वि./१/१८८)।

और भी, नियति/३/५ (दैव ही इष्टानिष्टकी सिद्धिमें प्रधान है। उसके सामने पुरुषार्थ निष्फल है।)

आ. अनु./३७ आयुः श्रीर्वपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं, स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।३७। — यदि पूर्वोपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीरादि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो फिर अपनेको क्लेशित करनेपर भी वह सब बिलकुल भी प्राप्त नहीं हो सकता। (पं. वि./१/१८४)।

पं. वि./३/३६ वाञ्छत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते। — संसारमें मनुष्य सुखकी इच्छा करते हैं परन्तु वह उन्हें विधिके द्वारा दिया गया प्राप्त होता है।

का. अ./मू./४२८,४३४ लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ। बीएण विणा कत्थ वि किं दीसदि सस्स णिप्पत्ती।४२८। ...उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती। धम्मपहावेण...।४३४। — यह जीव लक्ष्मी तो चाहता है, किन्तु सुधर्मसे (पुण्यक्रियाओंसे) प्रीति नहीं करता। क्या कहीं बिना बीजके भी धान्यकी उत्पत्ति देखी जाती है?।४२८। धर्मके प्रभावसे उद्यम न करनेवाले मनुष्यको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है।४३४। (पं. वि./१/१८६)।

अन. ध./१/३७,६० विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतैः। स्पर्धमानाः फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः।३७। पुण्यं हि संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्। न पुण्यं सम्मुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्।६०। — हे पुण्यशालियो! तनिक विश्राम करो अर्थात् अधिक परिश्रम मत करो। गुड़, खाण्ड, मिश्री और अमृतसे स्पर्धा रखनेवाले पदार्थ तुमको स्वयं इधर उधरसे प्राप्त हो जायेंगे।४२८। पुण्य यदि उदयके सम्मुख है तो तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है, और वह सम्मुख नहीं है तो भी तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है?।४३६।

स. सा /ता. वृ./प्रक्षेपक २१६-१/३०१/१३ अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे। — इस प्रकारसे (नागफणीकी जड़, हथिनीका मूत, सिन्दूर और सीसा इन्हें भट्टीमें धौंकनीसे धौंकनेके द्वारा) सुवर्ण केवल तभी बन सकता है, जब कि पुण्यका उदय हो, पुण्यके अभावमें नहीं बन सकता।

३. पुण्यकी महिमा व उसका फल

कुरल काव्य/४/१-२ धर्मात् साधुतरः कोऽन्यो यतो विन्दन्ति मानवाः। पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं निर्वाणं च सुदुर्लभम्।१। धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सुकृतिर्देहधारिणाम्। तत्यागान्न परा काचिद् दुष्कृतिर्देहभागिनाम्।२। — धर्मसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है और उसीसे मोक्षकी प्राप्ति भी होती है, फिर भला धर्मसे बढ़कर लाभदायक वस्तु और क्या है?।१। धर्मसे बढ़कर दूसरी और कोई नेकी नहीं, और उसे भुला देनेसे बढ़कर और कोई बुराई भी नहीं।२।

ध. १/१,१,२/१०५/४ काणि पुण्ण-फलाणि। तित्थयरगणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर-रिद्धीओ। — प्रश्न—पुण्यके फल कौनसे हैं? उत्तर—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोंकी ऋद्धियाँ पुण्यके फल हैं।

म. पु./३७/१९१-१९६ पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी। पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अभेद्यगात्रबन्धनम्।१९१। पुण्याद् विना कुतस्तादृङ् निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता। पुण्याद् विना कुतस्तादृग् इभाश्वादिपरिच्छदः।१९२। — पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूप, सम्पदा, अभेद्य शरीरका बन्धन, अतिशय उत्कट निधि, रत्नोंकी ऋद्धि, हाथी घोड़े आदिका परिवार।१९१-१९२। (तथा इसी प्रकार) अन्तःपुरका वैभव, भोगोपभोग, द्वीप समुद्रोंकी विजय तथा सर्व आज्ञा व ऐश्वर्यता आदि।१९३-१९६। ये सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं। (पं. वि./१/१८८)।

पं. वि./१/१८९ कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्, निःप्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याद्युष्यते मन्मथः। उद्योगोज्झित-

चेष्टितोऽपि नितरामाविरूपतो च श्रिया, पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायते यदसुर्लभम् ।१८१। –पुण्यके प्रभावसे कोई अन्धा भी प्राणी निर्मल नेत्रोंका धारक हो जाता है, वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है, निर्बल भी सिंह जैसा बलिष्ठ हो जाता है, विकृत शरीरवाला भी कामदेवके समान सुन्दर हो जाता है। जो भी प्रशंसनीय अन्य समस्त पदार्थ यहाँ दुर्लभ प्रतीत होते हैं, वे सब पुण्योदयसे प्राप्त हो जाते हैं।१८१।

का. अ./मू./४३४ अलियवयणं पि सच्चं···। धम्मपहावेण णरो अणओ वि सुहंकरो होदि ।४३४। –धर्मके प्रभावसे जीवके झूठ वचन भी सच्चे हो जाते हैं, और अन्याय भी सब सुखकारी हो जाता है।

४. पुण्य करनेकी प्रेरणा

कुरल काव्य/४/३ सत्कृत्यं सर्वदा कार्यं मनुजैः सुखावहम्। पूर्णशक्तिं समाधाय महोत्साहेन धीमता।३। –अपनी पूरी शक्ति और पूरे उत्साहके साथ सत्कर्म सदा करते रहो।

म. पु./३७/२०० ततः पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियम्। चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदाम् ।२००। –इसलिए हे पण्डित जनो! चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर, उस पुण्यका संचय करो, जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान है।२००।

आ. अनु./२३,३१,३७ परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः प्राज्ञाः। तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः ।२३। पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि, नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै। संतापयज्जगदशेषमशीतरश्मिः, पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ।३१। इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ।३७। –विद्वान् मनुष्य निश्चयसे आत्मपरिणामको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं, इसलिए अपने निर्मल परिणामके द्वारा पूर्वोपार्जित पापकी निर्जरा, नवीन पापका निरोध और पुण्यका उपार्जन करना चाहिए ।२३। हे भव्य जीव! तू पुण्य कार्यको कर, क्योंकि, पुण्यवान् प्राणीके ऊपर असाधारण उपद्रव भी कोई प्रभाव नहीं डाल सकता है। उलटा वह उपद्रव ही उसके लिए सम्पत्तिका साधन बन जाता है ।३१। इसलिए योग्यायोग्य कार्यका विचार करनेवाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचार करके इस लोकसम्बन्धी कार्यके विषयमें विशेष प्रयत्न नहीं करते हैं, किन्तु आगामी भवोंको सुन्दर बनानेके लिए ही वे निरन्तर प्रीति पूर्वक अतिशय प्रयत्न करते हैं।३७।

पं. वि./१/१८३-१८८ नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं बुधाः ।१८३। निर्धूताखिलदुःखदापदि सुधर्मे मतिर्धार्यताम् ।१८६। अन्यत्तरं प्रभवतीह निमित्तमात्रं, पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशेः ।१८८। –इस संसारमें डूबते हुए प्राणियोंका उद्धार करनेवाला धर्मको छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है। इसलिए हे विद्वज्जनो! आप निरन्तर धर्मके विषयमें प्रयत्न करें ।१८३। निश्चयसे समस्त दुःखदायक आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले धर्ममें अपनी बुद्धिको लगाओ ।१८६। (पुण्य व पाप ही वास्तवमें इष्ट संयोग व वियोगके हेतु हैं) अन्य पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र हैं। इसलिए हे पण्डित जन! निर्मल पुण्यराशिके भाजन होओ अर्थात् पुण्य उपार्जन करो।१८८।

का. अ./मू./४३७ इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविहमाहप्पं। धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ।४३७। –हे प्राणियो! इस प्रकार धर्म और अधर्मका अनेक प्रकार माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्मका आचरण करो, और पापसे दूर ही रहो।

दे० धर्म/५/२ (सावद्य होते हुए भी पूजा आदि शुभ कार्य अवश्य करने कर्तव्य हैं)

५. पुण्यकी अनिष्टता व इष्टताका समन्वय

१. पुण्य दो प्रकारका होता है

प्र. सा./मू./२५५ व त. प्र./२५५ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं। णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।२५५। शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भवोपलम्भः किल फलं, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भवशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः। फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वं। –जैसे इस जगतमें अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पड़े हुए बीज धान्यकालमें विपरीततया फलित होते हैं, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेदसे विपरीततया फलता है ।२५५। सर्वज्ञ स्थापित वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसंचय पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहाँ छद्मस्थ स्थापित वस्तुमें कारणविपरीतता है, (क्योंकि) उनमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि रूपसे युक्त शुभोपयोगका फल जो मोक्षशून्य केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है, वह फलकी विपरीतता है। वह फल सुदेव मनुष्यत्व है। (अर्थात् पुण्य दो प्रकारका है–एक सम्यग्दृष्टिका और दूसरा मिथ्यादृष्टिका। पहिला परम्परा मोक्षका कारण है और दूसरा केवल स्वर्ग सम्पदाका)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है और मिथ्यादृष्टिका पापानुबन्धी)।

दे० धर्म/७/८-१२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य तीर्थंकर प्रकृति आदिके बन्धका कारण होनेसे विशिष्ट प्रकारका है)।

दे० पुण्य/३/६ (और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित व भोगमूलक होनेके कारण आगे जाकर कुगतियोंका कारण होता है, अतः अत्यन्त अनिष्ट है)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (मिथ्यादृष्टि भोगमूलक धर्मकी श्रद्धा करता है। मोक्षमूलक धर्मको वह जानता ही नहीं)।

२. मोक्षमूलक पुण्य ही विविद्ध है भोगमूलक नहीं

पं. वि./७/२५ पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः, शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः। तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतः, यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ।२५। –धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाववाले हैं। अतएव वे मुमुक्षुजनके लिए छोड़नेके योग्य हैं। इसलिए जो धर्मपुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्षपुरुषार्थका साधक होता है वह हमें अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है, उसे विद्वज्जन पाप ही समझते हैं।

दे. धर्म/७ (यद्यपि व्यवहार धर्म पुण्य प्रधान होता है, परन्तु यदि निश्चय धर्मकी ओर झुका हुआ हो तो परम्परासे निर्जरा व मोक्षका कारण होता है।)

प. प्र./टी./२/६०/१८२/१ इदं पूर्वोक्तं पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुनः सम्यक्त्वादिगुणसहितं भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवद् ।···मदाहंकारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गताः। –भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्धसे सहित होनेके कारण ही, जीवोंके द्वारा पूर्वमें उपार्जित किया गया वह पूर्वोक्त पुण्य मद व अहंकार

उत्पन्न करता है तथा बुद्धिको भ्रष्ट करता है; परन्तु सम्यक्त्वादि गुणोंसे सहित पुण्य ऐसा नहीं करता। जैसे कि भरत, सगर, राम व पाण्डवादिका पुण्य, जिसको प्राप्त करके भी वे मद और अहंकारादि विकल्पोंके त्यागपूर्वक मोक्षको प्राप्त हो गये। (प.प्र./टी./२/५७/१७१/८)।

३. पुण्यके निषेधका कारण व प्रयोजन

प्र. सा./मू./११ धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो। पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।११। —धर्मसे परिणत स्वरूपवाला आत्मा यदि शुद्ध उपयोगमें युक्त हो तो मोक्ष सुखको प्राप्त करता है, और यदि शुभोपयोग वाला हो तो स्वर्ग सुखको प्राप्त करता है (इसलिए मुमुक्षुको शुद्धोपयोग ही प्रिय है शुभोपयोग नहीं।) (का.अ./४२); (ति.प./९/५७)।

दे० पुण्य/२/६—(अशुद्धोपयोग होनेके कारण पुण्य व पाप दोनों त्याज्य हैं।)

का. अ./मू./४१० पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि। पुण्णं सुगई-हेदुं पुण्ण-खएणेव णिव्वाणं ।४१०। —जो पुण्यको चाहता है वह संसारको चाहता है क्योंकि पुण्य सुगतिका कारण है। पुण्य-क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है। (अतः मुमुक्षु भव्य पुण्यके क्षयका प्रयत्न करता है, उसकी प्राप्तिका नहीं।)

नि. सा./ता. वृ./४१/क. ५६ सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं, त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्तः। उभयसमयसारं सारतत्त्वस्वरूपं, भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ।५६। —समस्त सुकृत (शुभ कर्म) भोगियोंके भोगका मूल है; परमतत्त्वके अभ्यासमें निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होनेके हेतु उस समस्त शुभकर्मको छोड़ो और सारतत्त्वस्वरूप ऐसे उभय समयसारको भजो। इसमें क्या दोष है?

प्र सा./ता. वृ./१८०/२४३/१६ अयं परिणाम सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभसमस्तरागद्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्। —ये शुभ व अशुभ समस्त ही परिणाम उपाधि सहित होनेके कारण बन्धके हेतु हैं (दे० पुण्य/२/४)। ऐसा जानकर, बन्धरूप समस्त शुभाशुभ रागद्वेषका विनाश करनेके लिए, समस्त रागादि उपाधिसे रहित सहजानन्द लक्षणवाले सुखामृत स्वभावी निजात्मद्रव्यमें भावना करनी चाहिए ऐसा तात्पर्य है। (पं.का./ता.वृ./१२८-१३०/१९३/११)।

दे० धर्म/७/२ (शुद्धभावका आश्रय करनेपर ही शुभभावोंका निषेध किया है सर्वथा नहीं।)

मो. मा. प्र./७/३०१/१४ प्रश्न—शास्त्रविषै शुभ-अशुभ कौं समान कह्या है (दे० पुण्य/२), तातैं हमकौं तौ विशेष जानना युक्त नाहीं! उत्तर—जे जीव शुभोपयोगकौ मोक्षका कारण मानि, उपादेय मानैं, शुद्धोपयोगको नाहीं पहिचानै हैं, तिनिकौं शुभ-अशुभ दोऊनिकौं अशुद्धताकी अपेक्षा वा बन्धकारणकी अपेक्षा समान दिखाये हैं, बहुरि शुभ-अशुभका परस्पर विचार कीजिए, तौ शुभभावनि विषैं कषाय मंद हो है, तातैं बन्ध हीन हो हैं। अशुभ भावनिविषै कषाय तीव्र हो है, तातैं बन्ध बहुत हो है। ऐसे विचार किए अशुभकी अपेक्षा सिद्धान्त विषै शुभको भला भी कहिये है। (दे० पुण्य/४/१ तथा पुण्य/५/५)।

४. सम्यग्दृष्टिका पुण्य निरीह होता है

इ. उ./४ यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी। यो नयत्याशु गव्यूतिं क्रोशार्द्धे किं स सीदति ।४। —जो मनुष्य किसी भारको स्वेच्छासे शीघ्र दो कोस ले जाता है, वह उसी भारको आधाकोस ले जानेमें कैसे खिन्न हो सकता है? उसी प्रकार जिस भावमें मोक्षसुख प्राप्त करानेकी सामर्थ्य है उसे स्वर्गसुखकी प्राप्ति कितनी दूर है अर्थात् कौन बड़ी बात है?

का. अ./४११-४१२ जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए। दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ।४११। पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती। इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म(ण) आयरं कुणह ।४१२। —जो कषाय सहित होकर विषय-तृष्णासे पुण्यकी अभिलाषा करता है उससे विशुद्धि और विशुद्धि-मूलक पुण्य दूर है ।४११। तथा पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्य नहीं होता, बल्कि निरीह (इच्छा रहित) व्यक्तिको ही उसकी प्राप्ति होती है। अतः ऐसा जानकर हे यतीश्वरो! पुण्यमें भी आदरभाव मत करो ।४१२।

५. पुण्यके साथ पाप प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी समन्वय

रा. वा./६/३/७/५०७/२३ स्यादेतत्-शुभः पुण्यस्येत्यनिर्देशः, ... कुतः। घातिकर्मबन्धस्य शुभपरिणामहेतुत्वादिति; तन्न; किं कारणम्। इतरपुण्यपापापेक्षत्वात्, अघातिकर्मसु पुण्यं पापं चापेक्ष्येदमुच्यते। कुतः। घातिकर्मबन्धस्य स्वविषये निमित्तत्वात्। अथवा नैवमवधारणं क्रियते—शुभः पुण्यस्यैवेति। कथं तर्हि। शुभ एव पुण्यस्येति। तेन शुभः पापस्यापि हेतुरित्यविरोधः। यद्येवं शुभः पापस्यापि [हेतुः] भवति; अशुभः पुण्यस्यापि भवतीत्यभ्युपगमः कर्तव्यः, सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्टसंक्लेशहेतुकत्वात्। ...ततः सूत्रद्वयमनर्थकमिति; नानर्थकम्; अनुभागबन्धं प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबन्धो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदुःखविपाकस्य। तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्तः सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टाणुभागबन्धः। उत्कृष्टसंक्लेशपरिणामनिमित्तः सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्धः। शुभपरिणामः अशुभजघन्यानुभागबन्धहेतुत्वेऽपि भूयसः शुभस्य हेतुरिति शुभः पुण्यस्येत्युच्यते, यथा अल्पापकारहेतुरपि बहूपकारसद्भावादुपकार इत्युच्यते। एवमशुभः पापस्येत्यपि। —प्रश्न—जब घाति कर्मोंका बन्ध भी शुभ परिणामोंसे होता है तो 'शुभः पुण्यस्य' अर्थात् 'शुभपरिणाम पुण्यास्रवके कारण हैं' यह निर्देश व्यर्थ हो जाता है? उत्तर—१. अघातिया कर्मोंमें जो पुण्य और पाप प्रकृतियाँ हैं, उनकी अपेक्षा ही यहाँ पुण्य व पाप हेतुताका निर्देश है, घातियाकी अपेक्षा नहीं। २. अथवा शुभ पुण्यका ही कारण है ऐसा अवधारण नहीं करते हैं; किन्तु 'शुभ ही पुण्यका कारण है' यह अवधारण किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि शुभ पापका भी हेतु हो सकता है। प्रश्न—यदि शुभ पापका और अशुभ पुण्यका भी कारण होता है; क्योंकि सब प्रकृतियोंका उत्कृष्ट स्थितिबन्ध उत्कृष्ट संक्लेशसे होता है (दे० स्थिति/४), अतः दोनों सूत्र निरर्थक हो जाते हैं? उत्तर—नहीं; क्योंकि यहाँ अनुभागबन्धकी अपेक्षा सूत्रोंको लगाना चाहिए। अनुभागबन्ध प्रधान है, वही सुख-दुःखरूप फलका निमित्त होता है। समस्त शुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंसे और समस्त अशुभ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट अनुभागबन्ध उत्कृष्ट संक्लेश परिणामोंसे होता है (दे० अनुभाग/२/२)। यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम अशुभके जघन्य अनुभागबन्धके भी कारण होते हैं, पर बहुत शुभके कारण होनेसे 'शुभः पुण्यस्य' सूत्र सार्थक है; जैसे कि थोड़ा अपकार करनेपर भी बहुत उपकार करनेवाला उपकारक ही माना जाता है। इसी तरह 'अशुभः पापस्य' इस सूत्रमें भी समझ लेना चाहिए।

पुण्यप्रभ—क्षौद्रवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यंतर/४।

पुण्यास्रव कथाकोश—४५०० श्लोकोंमें रचित। (ती./३/७१)।

पुद्गल—जो एक दूसरेके साथ मिलकर बिछुड़ता रहे, ऐसा पूरण गलन स्वभावी मूर्तीक जड़ पदार्थ 'पुद्गल' ऐसी अन्वर्थ संज्ञाको प्राप्त होता है। तहाँ भी मूलभूत पुद्गल पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। उनके परस्पर बन्धसे ही जगत्के चित्र विचित्र पदार्थोंका निर्माण होता है, जो स्कन्ध कहलाते हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये पुद्गलके प्रसिद्ध गुण हैं।

१. पुद्गल सामान्यका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ

रा. वा./५/१/२४.२६/४३४/१२ पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः।२४। भेदसंघाताभ्यां च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिकां क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः… पुद्गलानाद्वा।२६। अथवा पुमांसो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः। —भेद और संघातसे पूरण और गलनको प्राप्त हों वे पुद्गल हैं यह पुद्गल द्रव्यकी अन्वर्थ संज्ञा है।२४। अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदिके रूपमें निगलें अर्थात् ग्रहण करें वे पुद्गल हैं।२६।

नि. सा./ता. वृ./९ गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः। —जो गलन-पूरण स्वभाव सहित है, वह पुद्गल है। (द्र. सं./टी./१५/५०/१२); (द्र. सं./टी./२६/७४/१)।

२. गुणोंकी अपेक्षा

त. सू./५/२३ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।२३। —स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुद्गल होते हैं।

२. पुद्गलके भेद

१. अणु व स्कन्ध

त. सू./५/२५ अणवः स्कन्धाश्च।२५। —पुद्गलके दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध।

२. स्वभाव व विभाव

नि. सा./ता. वृ./२० पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्। स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति। —पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—स्वभाव-पुद्गल और विभाव पुद्गल।

३. देश प्रदेशादि चार भेद—दे० स्कन्ध/१।

३. स्वभाव विभाव पुद्गलके लक्षण

नि. सा./ता. वृ./ तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः विभावपुद्गलः स्कन्धः। —उनमें, परमाणु वह स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध वह विभाव पुद्गल है।

४. पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव

आ.प./४ स्वभावाः कथ्यन्ते। अस्ति स्वभावः नास्तिस्वभावः नित्यस्वभावः अनित्यस्वभावः एकस्वभावः अनेकस्वभावः भेदस्वभावः अभेदस्वभावः भव्यस्वभावः अभव्यस्वभावः परमस्वभावः द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावाः। चैतनस्वभावः, अचेतनस्वभावः मूर्तस्वभावः अमूर्तस्वभावः एकप्रदेशस्वभावः अनेकप्रदेशस्वभावः विभावस्वभावः शुद्धस्वभावः अशुद्धस्वभावः उपचरितस्वभावः एते द्रव्याणां दश विशेषस्वभावाः। जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः। —स्वभावोंको कहते हैं। १. अस्तिस्वभाव, २. नास्तिस्वभाव, ३. नित्यस्वभाव, ४. अनित्यस्वभाव, ५. एकस्वभाव, ६. अनेकस्वभाव, ७. भेदस्वभाव, ८. अभेदस्वभाव, ९. भव्यस्वभाव, १०. अभव्यस्वभाव, और ११. परमस्वभाव, ये द्रव्योंके ११ सामान्य स्वभाव हैं। १२. चेतस्वभाव, १३. अचेतनस्वभाव, १४. मूर्तस्वभाव, १५. अमूर्तस्वभाव, १६. एकप्रदेशस्वभाव, १७. अनेकप्रदेशस्वभाव, १८. विभावस्वभाव, १९. शुद्धस्वभाव, २०. अशुद्धस्वभाव, और २१. उपचरितस्वभाव। (तथा २२. अनुपचरित स्वभाव, २३. एकान्तस्वभाव, और २४. अनेकान्त स्वभाव (न. च. वृ./७० की टी.) ये द्रव्योंके विशेष स्वभाव हैं। उपरोक्त कुल २४ स्वभावोंमेंसे अमूर्त, चैतन्य व अभव्य स्वभावसे रहित पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव हैं (न. च. वृ./७०)।

५. पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण

त. सू./५/२३ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः।२३। —पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते हैं। (न. च. वृ./१३); (ध. १५/३३/६); (प्र. सा./त. प्र./१३२)।

न. च. वृ./१४ वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णायव्वा।१४। —पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श ये पुद्गलके विशेष गुण हैं।

आ. प./२ पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्धवर्णाः मूर्तत्वमचेतनत्वमिति षट्। —पुद्गल द्रव्यके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्तत्व और अचेतनत्व, ये छह विशेष गुण हैं।

प्र. सा./त. प्र./१२९, १३६ भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्।१२९। पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च।१३६। —पुद्गल तथा जीव भाववाले तथा क्रियावाले हैं। क्योंकि परिणाम द्वारा तथा संघात और भेदके द्वारा वे उत्पन्न होते हैं टिकते हैं और नष्ट होते हैं।१२९। (पं. का./ता. वृ./२७/५७/९); (पं. ध./उ./२५)। बन्धके हेतुभूत स्निग्ध व रूक्षगुण पुद्गलका धर्म है।१३६।

६. पुद्गलके प्रदेश

नि. सा./मू./३५ संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।३५। —पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।।१०। (त. सू./५/१०); (प. प्र./मू./२/२४); (द्र. सं./मू./२५)।

प्र. सा./त. प्र./१३५ द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य। —पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी है। तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाली पर्यायोंकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेशवाला होनेसे प्रदेशवान है (गो. जी./मू./५८५/१०२५)।

७. शब्दादि पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं

त. सू./५/२४ शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च।२४। —तथा वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप, और उद्योतवाले होते हैं।।२४। अर्थात् ये पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं। (द्र. सं./मू./१६)।

रा. वा./५/२४/२४/४९०/२४ स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धानां च भवन्ति शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति।…सौक्ष्म्यं तु अन्त्यमण्वेव आपेक्षिकं स्कन्धेषु। —स्पर्शादि परमाणुओंके भी होते हैं स्कन्धोंके भी पर शब्दादि व्यक्त रूपसे स्कन्धोंके ही होते हैं।… सौक्ष्म्य पर्याय तो अणुमें ही होती है, स्कन्धोंमें तो सौक्ष्म्यपना आपेक्षिक है। (और भी दे० – स्कन्ध/१)।

८. शरीरादि पुद्गलके उपकार हैं

त. सू./५/१९-२० शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।१९। सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च।२०।

स. सि./५/२०/२८९/२ एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। —शरीर, वचन, मन और प्राणापान यह पुद्गलोंका उपकार है।१९। सुख, दुख, जीवन और

मरण ये भी पुद्गलोंके उपकार हैं।२०। ये सुखादि जीवके पुद्गलकृत उपकार हैं, क्योंकि मूर्त कारणोंके रहनेपर ही इनकी उत्पत्ति होती है।

९. पुद्गलमें अनन्त शक्ति है

पं.ध./उ./१२५ नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु। प्रतिकर्म प्रकृत्या यैर्नानारूपासु वस्तुतः।१२५। –इस प्रकार कथन ठीक नहीं है क्योंकि वास्तवमें प्रत्येक कर्मकी प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभागके द्वारा अनेक रूप पुद्गलोंकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें तुम अनभिज्ञ हो।१२५।

१०. पृथिवी जल आदि सभीमें सर्वगुणोंकी सिद्धि

प्र.सा./मू./१३२ वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो। पुढवी-परियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो।१३२। –वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श (गुण) सूक्ष्मसे लेकर पृथ्वी पर्यन्तके (सर्व) पुद्गलके होते हैं, जो विविध प्रकारका शब्द है वह पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।१३२।

रा.वा./५/२५/१६/४९३/६ पृथिवी तावत् घटादिलक्षणा स्पर्शादिशब्दात्मिका सिद्धा। अम्भोऽपि तद्विकारत्वात् तदात्मकम्, साक्षात् गन्धोपलब्धेश्च। तत्संयोगिनां पार्थिवद्रव्याणां गन्धः तद्गुण इवोपलभ्यत इति चेत्; न; साध्यत्वात्। तद्वियोगकालादर्शनात् तदविनाभावाच्च तद्गुण एवेति निश्चयः कर्तव्यः–गन्धवदम्भः रसवत्त्वात् आम्रफलवत्। तथा तेजोऽपि स्पर्शादिशब्दादिस्वभावकं तद्वत्कार्यत्वात् घटवत्। स्पर्शादिमत्तां हि काष्ठादीनां कार्यं तेजः। किंच तत्परिणामात्। उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः। पित्तं च जठराग्निः, तस्मात् स्पर्शादिमत्तेजः। तथा स्पर्शादिशब्दादिपरिणामो वायुः स्पर्शवत्त्वात् घटादिवत्। किंच, तत्परिणामात्। उपयुक्तस्य हि आहारस्य स्पर्शादिगुणस्य वातपित्तश्लेष्मविपरिणामः। वातश्च प्राणादिः, ततो वायुरपि स्पर्शादिमान् इत्यवसेयः। एतेन 'चतुस्त्रिद्व्येकगुणाः पृथिव्यादयः पार्थिवादिजातिभिन्नाः' इति दर्शनं प्रत्युक्तम्। –घट, पट आदि स्पर्शादिमान् पदार्थ पृथिवी हैं। जल भी पुद्गलका विकार होनेसे पुद्गलात्मक है। उसमें गन्ध भी पायी जाती है। 'जलमें संयुक्त पार्थिव द्रव्योंकी गन्ध आती है, जल स्वयं निर्गन्ध है' यह पक्ष असिद्ध है। क्योंकि कभी भी गन्ध रहित जल उपलब्ध नहीं होता और न पार्थिव द्रव्योंके संयोगसे रहित ही। गन्ध स्पर्शका अविनाभावी है। अर्थात् पुद्गलका अविनाभावी है। अतः वह जलका गुण है। जल गन्धवाला है, क्योंकि वह रसवाला है जैसे कि आम। अग्नि भी स्पर्शादि और शब्दादि स्वभाववाली है क्योंकि वह पृथिवीत्ववाली पृथ्वीका कार्य है जैसे कि घड़ा। स्पर्शादिवाली लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है यह सर्व विदित है। पुद्गल परिणाम होनेसे खाये गये स्पर्शादिगुणवाले आहारका वात पित्त और कफरूपमें परिणाम होता है। पित्त अर्थात् जठराग्नि। अतः तेजको स्पर्श आदि गुणवाला ही मानना ठीक है। इसी तरह वायु भी स्पर्शादि और शब्दादि पर्यायवाली है, क्योंकि उसमें स्पर्श गुण पाया जाता है जैसे कि घटमें। खाये हुए अन्नका वात पित्त श्लेष्म रूपसे परिणमन होता है। वात अर्थात् वायु। अतः वायुको भी स्पर्शादिमान मानना चाहिए। इस प्रकार नैयायिकोंका यह मत खण्डित हो जाता है कि पृथ्वीमें चार गुण, जलमें गन्ध रहित तीन गुण, अग्निमें गन्ध रस रहित दो गुण, तथा वायुमें केवल स्पर्श गुण है। (रा.वा./२/२०/४/१३३/१७); (रा.वा./५/३/३/४४२/६); (रा.वा./५/२३/३/४८४/२०)।

प.सा./त.प्र./१३२ सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्। व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामब्ज्योतिरुदरमरुता-मारम्भदर्शनात्। –सभी पुद्गल स्पर्शादि चतुष्क युक्त स्वीकार किये गये हैं। क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त हैं ऐसे चन्द्रकान्त मणिको, अरणिको और जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं उन्हींके द्वारा जिसकी गन्ध अव्यक्त है ऐसे पानी की, जिसकी गन्ध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्निकी, और जिसकी गन्ध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदर वायुकी उत्पत्ति होती देखी जाती है।

११. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पुद्गलका स्वपरके साथ उपकार्य उपकारक भाव। —दे० कारण/III/१।
२. पुद्गल द्रव्यका अस्तिकायपना। —दे० अस्तिकाय।
३. वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है। —दे० परमाणु/२।
४. पुद्गल मूर्त है। —दे० मूर्त/४।
५. पुद्गल अनन्त व क्रियावान है। —दे० द्रव्य।
६. अनन्तों पुद्गलोंका लोकमें अवस्थान व अवगाह। —दे० आकाश/३।
७. पुद्गलकी स्वभाव व विभाव गति। —दे० गति/१।
८. पुद्गलमें स्वभाव व विभाव दोनों पर्यायोंकी सम्भावना। —दे० पर्याय/३।
९. पुद्गलके सर्वगुणोंका परिणमन स्व जातिको उल्लंघन नहीं कर सकता। —दे० गुण/२।
१०. संसारी जीव व उसके भाव भी पुद्गल कहे जाते हैं। —दे० मूर्त।
११. जीवको कथंचित् पुद्गल व्यपदेश। —दे० जीव/१/३।
१२. पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतियाँ। —दे० प्रकृति बंध/२।
१३. द्रव्यभावकर्म, कार्मणशरीर, द्रव्यभाव मन, व वचनमें पुद्गलपना। —दे० मूर्त/२।

पुद्गल क्षेप—स.सि./७/३१/३६९/११ लोष्टादिनिपातः पुद्गलक्षेपः। –प्रमाणके किये हुए स्थानसे बाहर ढेला आदि फेंकवाकर अपना प्रयोजन सिद्ध करना पुद्गलक्षेप नामका देशव्रतका अतिचार है।

पुद्गल परिवर्तन—दे० संसार/२।

पुद्गल बन्ध—दे० स्कन्ध/२।

पुनरुक्त निग्रहस्थान—

न्या.सू./मू. व टी./५/२/१४-१५/३१५ शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।१४। अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम्।१५। –पुनरुक्त दो प्रकारका है—शब्द पुनरुक्त व अर्थ पुनरुक्त। उनमेंसे अनुवाद करनेके अतिरिक्त जो शब्दका पुनः कथन होता है, उसे शब्द पुनरुक्त कहते हैं।१४। एक शब्दसे जिस अर्थकी प्रतीति हो रही हो उसी अर्थको पुनः अन्य शब्दसे कहना अर्थपुनरुक्त है।१५। (श्लो.वा. ४/न्या./२१२/४०८/१३ पर उद्धृत)।

स.भं.त./१४/४ स्वजन्यबोधसमानाकारबोधजनकवाक्योत्तरकालीनवाक्यत्वमेव हि पुनरुक्तत्वम्। –एक वाक्य जन्य जो बोध है, उसी बोधके समान बोध जनक यदि उत्तरकालका वाक्य हो तो यही पुनरुक्त दोष है। (प.प्र./टी./२/२११)।

पुनर्वसु नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पुन्नाग—मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुन्नाट—कर्नाटक (मैसूरके समीपवर्ती प्रदेश) (ह. पु./प्र./४)।

पुन्नाट संघ—दे० इतिहास/५/३ ; ७/८।

पुमान्—जीवको पुमान् कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३।

पुर—दे० नगर।

पुराकल्प—न्या. सू./टी./२/१/६४/१०१/६ ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति। =ऐतिह्य सहचरित विधिको पुराकल्प कहते हैं।

पुराण—हरिवंश आदि १२ पुराणोंके नाम निर्देश (दे० इतिहास/१० में राज्यवंशोंके नाम निर्देश)।

पुराण संग्रह—२४ तीर्थंकरोंके जीवन चरित्रके आधारपर रचे गये पुराण संग्रह नामके कई ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१. आचार्य दामनन्दि कृत ग्रन्थमें ६ चरित्रोंका संग्रह है। आदिनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान चरित्र। कुल ग्रन्थ ११६४ श्लोक प्रमाण है। इसका काल ज्ञात नहीं है। २. आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा वि. सं. १०६६में रचा गया। (ती./४/१३१)। ३. आचार्य सकलकीर्ति द्वारा (ई. १४०६-१४४२) में रचा गया। (ती./३/३३४)।

पुराणसार—आ० श्रीचन्द्र (ई० १४६८-१५१८) द्वारा रचित ग्रन्थ।

पुरु—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुरुड वंश—मालवा (मगध देश) के राज्यवंश। इस वंशका दूसरा नाम मुरुड वंश या मौर्यवंश भी है। (दे० इतिहास/३/४)।

पुरुरवा—(म. पु./६२/८७-८८ एक भील था। एक समय मुनिराजके दर्शनकर मद्य, मांस व मधुका त्याग किया। इस व्रतके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। यह महावीर भगवान्‌का दूरवर्ती पूर्व भव है। उनके मरीचिके भवकी अपेक्षा यह दूसरा पूर्व भव है। —दे० महावीर।

पुरुष—भरतक्षेत्रस्थ दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुरुष—१. उत्तम कर्मकी सामर्थ्य युक्त

पं. सं./प्रा./१/१०६ पुरु गुण भोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुणं कम्मं। पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो ।१०६। =जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोगमें शयन करता है, लोकमें उत्तम गुण और कर्मको करता है, अथवा यतः जो स्वयं उत्तम है, अतः वह पुरुष इस नामसे वर्णित किया गया है ।१०६। (ध. १/१, १, १०१/गा. १७१/३४१); (गो. जी./मू./२७३)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/४ पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुषः। सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत्। पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुषः। कथं स्त्र्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्धजीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तत्कर्तृत्वाभिधानात्। =जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते हैं अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान, गुणोंसे अनुगत होता है और भोगोंको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते हैं। अर्थात् स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा जिसके पायी जाती है, उसे पुरुष कहते हैं। अथवा जो श्रेष्ठ कर्म करता है, वह पुरुष है। (ध. ६/१,९-१,२४/४६/१)। प्रश्न—जिसके स्त्री-विषयक अभिलाषा पायी जाती है, वह उत्तम कर्म कैसे कर सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्तम कर्मको करने रूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक अभिलाषा पायी जाती है अतः वह उत्तम कर्मको करता है, ऐसा कथन उपचारसे किया गया है।

२. चेतन आत्मा

पु. सि. उ./९ अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः। गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः। =पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस व वर्णादिकसे रहित अमूर्तिक है। गुण पर्याय संयुक्त है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है ।९।

गो. जी./जी. प्र./२७३/५९५/१ पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्राद्यधिकभोगचये, भोक्तृत्वेन प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठानं करोति च। पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे तिष्ठति पुरूत्तमः सन् तिष्ठति इत्यर्थः तस्मात् कारणात् स जीवः पुरुष इति। =जो उत्कृष्ट गुण सम्यग्ज्ञानादिका स्वामी होय प्रवर्तै, जो उत्कृष्ट इन्द्रादिकका भोग तीहि विषै भोक्ता होय प्रवर्तै, बहुरि पुरुगुणकर्म जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थको करै। और जो उत्तम परमेष्ठीपदमें तिष्ठै, तातैं वह जीव पुरुष है।

२. भाव पुरुषका लक्षण

गो. जी./जी. प्र./२७१/५९१/१५ पुंवेदोदयेन स्त्रियां अभिलाषरूपमैथुनसंज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति। =पुरुष वेदके उदयतैं पुरुषका अभिलाष रूप मैथुन संज्ञाका धारक जीव सो भाव पुरुष हो है।

३. द्रव्य पुरुषका लक्षण

स. सि./२/५२/२००/६ पुंवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। =पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है। (रा. वा./२/५२/१/१५७/४)।

गो.जी./जी. प्र./२७१/५९१/१८ पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिङ्गाङ्कितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयादिं कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्तं द्रव्यपुरुषो भवति। =निर्माण नामकर्मका उदय संयुक्त पुरुष वेद रूप आकारका विशेष लिये अंगोपांग नामकर्मका उदय तैं मूँछ दाढी लिंगादिक चिह्न संयुक्त शरीरका धारक जीव सो पर्यायका प्रथम समयतैं लगाय अन्त समय पर्यंत द्रव्य पुरुष हो है।

४. पुरुष वेद कर्मका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/२ यस्योदयात्पौंस्नान्भावानास्कन्दति स पुंवेदः। =जिसके उदयसे पुरुष सम्बन्धी भावोंको प्राप्त होता है वह पुंवेद है।

★ अन्य सम्बन्धी विषय

१. पुरुष वेद सम्बन्धी विषय। —दे० वेद।
२. जीवको पुरुष कहनेकी विवक्षा। —दे० जीव/१/३।
३. आदि पुरुष। —दे० ऋषभ।
४. ऊर्ध्वमूल अधःशाखा रूप पुरुषका स्वरूप। —दे० मनुष्य/२।
५. पुरुषवेदके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।

पुरुषतत्त्व—सांख्य व जैन मान्य पुरुष तत्त्व—दे० वह वह नाम।

पुरुषदत्ता—१. एक विद्या—दे० विद्या; २. भगवान् सुपार्श्वनाथकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३।

पुरुष पुंडरीक—दे० पुंडरीक।

पुरुषपुर—वर्तमान पेशावर नगर (म. पु /प्र.५०/पं० पन्नालाल)।

पुरुषप्रभ—व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यन्तर।

पुरुषवाद—दे० अद्वैतवाद।

पुरुष व्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

पुरुष सिंह—म. पु./६१/श्लोक पूर्वके दूसरे भवमें राजगृह नगरका राजा सुमित्र था (५७)। फिर महेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ (६३-६५)। वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें ५ वाँ नारायण हुआ (७१)। (विशेष दे० शलाकापुरुष)।

पुरुषाद्वैत—दे० अद्वैत।

पुरुषार्थ—पुरुष पुरुषार्थ प्रधान है, इसलिए लौकिक व अलौकिक सभी क्षेत्रोंमें वह पुरुषार्थसे रिक्त नहीं हो सकता। इसीसे पुरुषार्थ चार प्रकारका है—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इनमें से अर्थ व काम पुरुषार्थका सभी जीव रुचि पूर्वक आश्रय लेते हैं और अकल्याणको प्राप्त होते हैं। परन्तु धर्म व मोक्ष पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले जीव कल्याणको प्राप्त करते हैं। इनमेंसे भी धर्म पुरुषार्थ पुण्य रूप होनेसे मुख्यतः लौकिक कल्याणको देनेवाला है, और मोक्ष पुरुषार्थ साक्षात कल्याणप्रद है।

१. चतु:पुरुषार्थ निर्देश

१. पुरुषार्थका लक्षण

स. म./१५/१९२/८ विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः। =(सांख्य मान्य) पुरुष तथा प्रकृतिमें भेद होना ही पुरुषार्थ है।

अष्टशती—पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्। =चेष्टा करना पुरुषार्थ है।

२. पुरुषार्थके भेद

ज्ञा./३/४ धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभि.। पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेदः पुरातनैः ।४। =महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है ।४। (पं.वि./७/१५)।

३. अर्थ व काम पुरुषार्थ हेय हैं

भ. आ./मू./१८१३-१८१५/१६२८ असुहा अत्था कामा य···।१८१३। इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं। अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ।१८१४। कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा। उवधो लोए दुक्खावहा य ण य होंति सुलहा ।१८१५। =अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ अशुभ है ।१८१३। इस लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पड़ते हैं। इसलिए अर्थ अनर्थका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलाके समान है ।१८१४। यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हल्की होती है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुख पाती है। यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त होनेमें कठिन है। १८१५।

★ पुण्य होनेके कारण निश्चयसे धर्म पुरुषार्थ हेय है

—दे० धर्म/४/५।

४. धर्म पुरुषार्थ कथंचित् उपादेय है

भ.आ./मू./१८१३ एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो। =एक धर्म (पुरुषार्थ) ही पवित्र है और वही सर्वसौख्योंका दाता है ।१८१३। (पं.वि./७/२५)।

५. मोक्ष पुरुषार्थ ही महान् व उपादेय है

प. प्र./मू./२/३ धम्महँ अत्थहँ कम्महँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु। उत्तमु पभणहि णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ।३। =हे जीव! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थोंमें से मोक्षको उत्तम ज्ञानी पुरुष कहते हैं, क्योंकि अन्य धर्म, अर्थ कामादि पुरुषार्थोंमें परमसुख नहीं है ।३।

ज्ञा./३/५ त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम्। ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ।५। =चारों पुरुषार्थोंमें पहिले तीन पुरुषार्थ नाश सहित और संसारके रोगोंसे दूषित हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अन्तके परम अर्थात मोक्षपुरुषार्थके साधन करनेमें ही लगते हैं। क्योंकि वह अविनाशी है।

पं. वि./७/२५ पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः। शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः। ··· ।२५। =चारों पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन इससे विपरीत स्वभाव वाले होनेसे छोड़ने योग्य हैं ।२५।

६. मोक्षमार्गका यथार्थ पुरुषार्थ क्या है

प्र.सा./मू./१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं। =यदि श्रमण 'कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चय वाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित नहीं हो तो वह शुद्धात्माको उपलब्ध करता है ।१२६।

त. सू./१/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग हैं।

प्र. सा./त. प्र./८९. य एव···आत्मानं परं च···निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। =जो निश्चयसे···आत्माको और परको जानता है। वही (जीव), जिसने कि सम्यग्रूपसे स्व परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है।

प्र.सा./त.प्र./१२६ एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। ···ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। =इस प्रकार (षट्कारकी रूपसे) बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार भानेवाला यह पुरुष, परमाणुकी भाँति एकत्व भावनामें उन्मुख होनेसे, उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित नहीं होती। ··· इसलिए परद्रव्यके साथ असम्बद्धताके कारण सुविशुद्ध होता है।

पु. सि. उ./११,१५ सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति। भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ।११। विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं। यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ।१५। =जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावोंके पारको प्राप्त करके अपने निष्कंप चैतन्यस्वरूपको प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है ।११। विपरीत श्रद्धानको नष्ट कर निज स्वरूपको यथावत् जानके जो अपने उस स्वरूपसे च्युत न होना वह ही पुरुषार्थ-सिद्धिका उपाय है ।१५।

७. मोक्षमें भी कथंचित् पुरुषार्थका सद्भाव

स. म./८/८१/२० प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोत्पन्नस्तत्त्वस्त्वेव प्रयत्नः दानादिलब्धिवत्। =प्रश्न—मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य हैं? उत्तर—दानादि पाँच लब्धियोंकी तरह वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न वीर्य लब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है।

२. पुरुषार्थकी मुख्यता व गौणता

१. ज्ञान हो जानेपर भी पुरुषार्थ ही प्रधान है

प्र. सा./मू./टी./८८ जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।८८। अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि। —जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेषको हनता है वह अल्प कालमें सर्व दुखोंसे मुक्त होता है।८८। इसलिए सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोहका क्षय करनेके लिए मैं पुरुषार्थका आश्रय ग्रहण करता हूँ।

२. यथार्थ पुरुषार्थसे अनादिके कर्म क्षण भरमें नष्ट हो जाते हैं

कुरल./६२/१० शश्वत्कर्मप्रसक्तो यो भाग्यचक्रे न निर्भरः। जय एवास्ति तस्याहो अपि भाग्यविपर्यये ।१०। —जो भाग्यके चक्रके भरोसे न रहकर लगातार पुरुषार्थ किये जाता है वह विपरीत भाग्यके रहनेपर भी उसपर विजय प्राप्त करता है।१०।

प. प्र./मू./२७ जें दिट्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ। सो पर जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ।२७। —जिस परमात्माको देखनेसे शीघ्र ही पूर्व उपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं। उस परमात्माको देहमें बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।२७। (प. प्र./मू./३२)।

३. पुरुषार्थ द्वारा अयथा काल भी कर्मोंका विपाक हो जाता है

ज्ञा./३५/२७ अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः। क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः ।२७। —नष्ट हुआ प्रमाद जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित होते हुए तपके द्वारा अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं।२७। (ज्ञा./३५/३६)।

दे. पूजा निर्जरा, तप, उदय, उदीरणा, धर्मध्यान आदि—(इनके द्वारा असमयमें कर्मोंका पाक होकर अनादिके कर्मोंको निर्जरा होनेका निर्देश किया गया है।

४. पुरुषार्थकी विपरीतता अनिष्टकारी है

स. सा./आ./१६० ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते। —ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होनेसे ही, बन्ध अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपनेको जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञान भावसे रह रहा है।

५. स्वाभाविक क्रियाओंमें पुरुषार्थ गौण है

पं. ध./उ./३७६,८१७ प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्। अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ।३७६। नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किंतु नूनं स्वभावतः। ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणी यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ।८१७। —भव्यत्व, काललब्धि आदि सामग्रीके मिलनेपर प्रयत्नके बिना भी गुण श्रेणी निर्जराके अनुसार अन्तर्मुहूर्तमें ही दर्शन मोहका उपशम हो जाता है।३७६। —क्रमरूपसे तरतमरूपसे होनेवाली शुद्धताका उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता, स्वभावसे ही सम्पन्न होता है, कारण कि उत्तरोत्तर गुणश्रेणी निर्जरामें स्वयमेव शुद्धताकी तरतमता होती जाती है।८१७।

दे० केवली (केवलीके आसन, विहार व उपदेशादि बिना प्रयत्नके ही होते हैं।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. कर्मोदयमें पुरुषार्थ कैसे चले। —दे० मोक्ष।

२. मन्दोदयमें ही सम्यक्त्वोत्पत्तिका पुरुषार्थ कार्यकारी है। —दे० उपशम/२/३।

३. नियति, भवितव्यता, दैव व काललब्धिके सामने पुरुषार्थकी गौणता व समन्वय। —दे० नियति।

४. पुरुषार्थ व काललब्धिमें भाषाका ही भेद है। —दे० पद्धति।

पुरुषार्थ नय—प्र. सा./आ./परि. नय नं. ३२ पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादीवद्यत्नसाध्यसिद्धिः ।३२। —आत्मद्रव्यपुरुषकार नयसे जिसकी सिद्धि यत्न साध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है ऐसे पुरुषकारवादीकी भाँति।

पुरुषार्थवाद—गो. क./मू./८९० आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे। थणक्खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ।८९०। —आलस्यकरि संयुक्त होय उत्साह उद्यम रहित होइ सो किछू भी फलको भोगवै नाहीं। जैसे—स्तनका दूध उद्यमहीतै पीवनेमैं आवै है पौरुष विना पीवनेमें न आवै। तैसे सर्व पौरुष करि सिद्धि है ऐसा पौरुषवाद है।८९०।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—आ० अमृतचन्द्र (ई० ९०५-९५५) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ। इसमें २४३ श्लोक हैं। इस पर पं० टोडरमल (ई० १७६६) ने भाषामें टीका लिखी है। परन्तु उसे पूरी करनेसे पहिले ही विधिने उनसे शरीर छीन लिया। उनकी इस अधूरी कृतिको उनके पीछे पं० दौलतराम (ई० १७७०) ने पूरा किया। (जै./२/१७३), (ती./२/४०८)।

पुरुषोत्तम—१. व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यंतर। २. म. पु./६०/५०-६६ पूर्वभव नं. २ में पोदनपुरका राजा वसुषेण था फिर अगले भवमें सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें चौथा नारायण हुआ। विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/४।

पुरस्कार परिषह—दे० सत्कार।

पुरोत्तम—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुरोहित—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

पुलवि—ध. १४/५,६,९३/पृष्ठ नं./पंक्ति पुलवियाओ णिगोदा त्ति भणंति (८५/१४)। आवासब्भंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडरवक्खारंतोट्ठियपिसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम। एक्केक्कम्हि आवासे ताओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ होंति। एक्केक्कम्हि एक्केक्किस्से पुलवियाए असंखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालिय-तेजा-कम्मइयपोग्गलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरवक्खारपुलवियाए अंतोट्ठिददव्वसमाणाणि पुधपुध अणंताणंतेहि णिगोदजीवेहि आउण्णाणि होंति। (८६/८)। —पुलवियोंको ही निगोद कहते हैं। (८५/१४) (ध. १४/५,६,५८२/४७०/१)। जो आवासके भीतर स्थित हैं और जो कच्छउडअण्डर वक्खारके भीतर स्थित पिशवियोंके समान हैं उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवासमें वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक-एक आवासकी अलग-अलग एक-एक पुलविमें असंख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं जो कि औदारिक तैजस और कार्मण पुद्गलोंके उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउडअंडर-

बक्खार पुलवियोंके भीतर स्थित प्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवोंसे आपूर्ण होती हैं। (विशेष दे० वनस्पति/३/७)।

पुलाक—

स. सि./६/४६/४६०/५ उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते।

स. सि./६/४७/४६१/११ प्रतिसेवना-पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति।—१. जिनका मन उत्तर गुणोंकी भावनासे रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतोंमें भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्ध पुलाकके समान होनेसे पुलाक कहे जाते हैं। (रा. वा./६/४६/२/६३६/१६), (चा. सा./१०१/१)। २. प्रतिसेवना—दूसरोंके दबाव वश जबर्दस्तीसे पांच मूल गुण और रात्रि भोजन वर्जन-व्रतमेंसे किसी एक की प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक होता है (रा.वा./६/४७/६३८/४) (चा.सा./१०४/१)

रा. वा. हिं/६/४६/७६३ मूलगुणानि विषैं कोइ क्षेत्र कालके वशतै विराधना होय है तातै मूलगुणमें अन्यमिलाप भया, केवल न भये। तातै पराससहित शालो उपमा वे संज्ञा कही है।

★ **पुलाकादि पाँचों साधु सम्बन्धी विषय**—दे० साधु/५।

पुष्कर—१. मध्य लोकका द्वितीय द्वीप—दे० लोक/४/४। २. मध्य लोकका तृतीय सागर—दे० लोक/५/१।

१. पुष्कर द्वीपके नामकी सार्थकता

स. सि./३/३४/४ यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम्। तत एव तस्य द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति। ···मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धसंज्ञा।—जहाँ पर जम्बू द्वीपमें जम्बू वृक्ष है पुष्कर द्वीपमें अपने वहाँ परिवारके साथ पुष्करवृक्ष है। और इसीलिए इस द्वीपका नाम पुष्करद्वीप रूढ हुआ है।···इस द्वीपके (मध्य भागमें मानुषोत्तर पर्वत है उस, मानुषोत्तर पर्वतके कारण (इसके) दो विभाग हो गये हैं अतः आधे द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई।

★ **पुष्कर द्वीपका नकशा**—दे० लोक/४/२।

पुष्करावर्त—वर्तमान हस्तनगर। अफगानिस्तानमें है। (म. पु /-प्र.५०/पं. पन्नालाल)।

पुष्कल—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२; २. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारका एक कूट—दे० लोक५/४; ३. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारपर स्थित पुष्कलकूटका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

पुष्कलावती—पूर्व विदेहके पुष्कलावर्त क्षेत्रकी मुख्य नगरी। अपरनाम पुण्डरीकिणी। —दे० लोक/५/२।

पुष्कलावर्त—१. पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव। —दे० लोक/७।

पुष्प—पुष्प सम्बन्धी भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४।

पुष्पक—आनत प्राणत स्वर्गका तृतीय पटल व इन्द्रक। —दे० स्वर्ग/५/३।

पुष्पक विमान—राजा वैश्रवणको जीतकर रावणने अत्यन्त सुन्दर पुष्पक विमानको प्राप्त किया। (प.पु./८/२५८)।

पुष्पचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पुष्पचूल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

पुष्पदंत—१. उत्तर क्षीरवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव। —दे० व्यन्तर/४। २. म. पु./५०/२-२२ "पूर्वके दूसरे भवमें पुष्कर द्वीपके पूर्व दिग्विभागमें विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीके राजा महापद्म थे। फिर प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए। वर्तमान भवमें ९वें तीर्थंकर हुए। अपरनाम सुविधि था। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५। ३. यह एक कवि तथा काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। केशव उनके पिता और मुग्धा उनकी माता थीं। वे दोनों शिवभक्त थे। उपरान्त जैनी हो गये थे। पहले भैरव राजाके आश्रय थे, पीछे मान्यखेट आ गये। वहाँके नरेश कृष्ण तृ० के भरतने इन्हें अपने शुभतुङ्ग भवनमें रखा था। महापुराण ग्रन्थ श. ९६५ (ई० १०४३) में समाप्त किया था। इसके अतिरिक्त यशोधर चरित्र व नागकुमार चरित्रकी भी रचना की थी। यह तीनों ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें थे। समय—ई. श. ११ (जै. हि. सा. इ./२७ कामता) ई. ९६५ (जीवन्धर चम्पू/प्र. ८/A. N. Up.); ई. ९५९ (पउम चरिउ/प्र. देवेन्द्रकुमार), (म. पु./प्र. २०/पं. पन्नालाल)। ४. आप राजा जिनपालितके समकालीन तथा उनके मामा थे। इस परसे यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा जिनपालितकी राजधानी बनवास ही आपका जन्म स्थान है। आप वहाँसे चलकर पुण्ड्रवर्धन अर्हद्बलि आचार्यके स्थान पर आये और उनसे दीक्षा लेकर तुरत उनके साथ ही महिमानगर चले गये जहाँ अर्हद्बलिने वृहद् यति सम्मेलन एकत्रित किया था। उनका आदेश पाकर ये वहाँसे ही एक अन्य साधु भूतबलि (आचार्य) के साथ धरसेनाचार्यकी सेवार्थ गिरनार चले गये, जहाँ उन्होंने धरसेनाचार्यसे षट्खण्डका ज्ञान प्राप्त किया। इनकी साधनासे प्रसन्न होकर भूत जातिके व्यन्तर देवोंने इनकी अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको सुन्दर कर दिया था। इसीसे इनका नाम पुष्पदन्त पड़ गया। विबुध श्रीधर के श्रुतावतारके अनुसार आप वसुन्धरा नगरी के राजा नरवाहन थे। गुरु से ज्ञान प्राप्त करके अपने सहधर्मा भूतबलिजी के साथ आप गुरु से विदा लेकर आषाढ़ शु. ११ को पर्वत से नीचे आ गए और उसके निकट अंकलेश्वर में चातुर्मास कर लिया। इसकी समाप्ति के पश्चात् भूतबलि को वहां ही छोड़कर आप अपने स्थान 'बनवास' लौट आये, जहां अपने भानजे राजा जिनपालित को दीक्षा देकर आपने उन्हें सिद्धान्त का अध्ययन कराया। उसके निमित्त से आपने 'वीसदि सुत्र' नामक एक ग्रन्थ की रचना की जिसे अवलोकन के लिये आपने उन्हीं के द्वारा भूतबलि जी के पास भेज दिया। समय—वी. नि. ५९३-६३३ (ई० ६६-१०६)। (विशेष दे० कोश १ परिशिष्ट २/११)।

पुष्पदंत पुराण—आ. गुणवर्म (ई. १२३०)कृत (ती./४/३०६)।

पुष्पनंदि—१. आप तोरणाचार्यके शिष्य और प्रभाचन्द्रके गुरु थे। समय—वि. ७६० (ई. ७०३) (जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशित समयसारकी प्रस्तावनामें K. B. Pathak)। २. राष्ट्रकूट वंशी राजा गोविन्द तृतीयके समयके अर्थात् श. सं. ७२४ और ७१९ के दो ताम्र पत्रोंके अनुसार आप तोरणाचार्यके शिष्य और प्रभाचन्द्र नं. २ के गुरु थे। तथा कुन्दकुन्दान्वयमें थे। तदनुसार आपका समय शक सं. ६५० (ई. ७२८) होना चाहिए। (ष. प्रा./-प्र. ४-५/प्रेमीजी), (स. सा./प्र./K. B. Pathak)।

पुष्पमाल—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर – दे० विद्याधर।

पुष्पमाला—नन्दन वनमें स्थित सागर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/५

पुष्पसेन—आप एक दिगम्बर आचार्य थे। मूल संघकी गुर्वावलीके

अनुसार अकलंक भट्ट के सधर्मा और क्षत्रचूडामणिके कर्ता वादीभ सिंहके गुरु थे। समय-ई०७२०-७८० -दे० इतिहास/७/१।

पुष्पांजली—भूतकालीन चौदहवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

पुष्पांजली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्रमें शुक्लपक्षकी—उत्तम—५-९ तक लगातार पाँच उपवास। मध्यम—५,७,९ को उपवास तथा ६,८ को एकाशन। जघन्य—५,९ को उपवास तथा ६-८ तक एकाशन 'ओं ह्रीं पंचमेरुस्थ अस्सी जिनालयेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत विधान सं./पृ. ४१), (क्रियाकोष)।

पुष्य—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पुष्यमित्र—१. मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका सरदार था। जिसने मौर्य कालमें ही मगधके किसी भागपर अपना अधिकार जमा लिया था। तदनुसार इनका समय वी. नि. २५५-२८५ (ई. पू. २७१-२४६) है। विशेष (दे० इतिहास/३/४) २. म. पु./७४/७१ यह वर्धमान भगवान्का दूरवर्ती पूर्व भव है—दे० वर्धमान।

पूजा—राग प्रचुर होनेके कारण गृहस्थोंके लिए जिन पूजा प्रधान धर्म है, यद्यपि इसमें पंच परमेष्ठीकी प्रतिमाओंका आश्रय होता है, पर तहाँ अपने भाव ही प्रधान हैं, जिनके कारण पूजकको असंख्यात गुणी कर्मकी निर्जरा होती रहती है। नित्य नैमित्तिकके भेदसे वह अनेक प्रकारकी है और जल चन्दनादि अष्ट द्रव्योंसे की जाती है। अभिषेक व गान नृत्य आदिके साथ की गयी पूजा प्रचुर फलप्रदायी होती है। सचित्त, व अचित्त द्रव्यसे पूजा, पंचामृत व साधारण जलसे अभिषेक, चावलोंकी स्थापना करने व न करने आदि सम्बन्धी अनेकों मतभेद इस विषयमें दृष्टिगत हैं, जिनका समन्वय करना ही योग्य है।

१. भेद व लक्षण

१. पूजाके पर्यायवाची नाम

म. पु./६७/१९३ यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः। मह इत्यपि "पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः' ।१९३। —याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजा विधिके पर्यायवाची शब्द हैं ।१९३।

२. पूजाके भेद

१. इज्या आदिकी अपेक्षा

म. पु./३८/२६ प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्। चतुर्मुख-महः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ।२६। —पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टाह्निक। (ध. ८/३, ४२/९२/४) (इसके अतिरिक्त एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है। तथा और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं। (म. पु./३८/३२-३३); (चा. सा./४३/१); (सा. ध./१/१८; २/२५-२९)

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

वसु. श्रा./३८१ णाम-ट्ठवणा-दव्वे-खित्ते काले वियाणभावे य। छव्विह-पूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ।३८१। —नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है ।३८१। (गुण. श्रा./२१२)।

३. द्रव्य व भावकी अपेक्षा

भ. आ./वि./४७/१५९/२० पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति। —पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद हैं।

३. इज्या आदि पाँच भेदोंके लक्षण

म. पु/३८/२७-३३ तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ।२७। चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम् ।२८। या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी। स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पितः ।२९। महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः। चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ।३०। दत्त्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते। कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः ।३१। आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः। महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः ।३२। बलिस्नपनमित्यन्यः त्रिसन्ध्यासेवया समम्। उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ।३३। —प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है ।२७। अथवा भक्ति पूर्वक अर्हन्त देवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदि-का दान भी देना सदार्चन कहलाता है ।२८। इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिए ।२९। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए। इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ।३०। जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्‌के सर्व जीवोंकी आशाएँ पूर्ण की जाती हैं, वह कल्पद्रुम नामका यज्ञ कहलाता है ।३१। चौथा अष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्‌में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है। (चा. सा./४३/२); (सा. ध./२/२५-२९)। बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीन सन्ध्याओंमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं ।३२-३३।

४. नाम, स्थापनादि पूजाओंके लक्षण

१. नामपूजा

वसु. श्रा./३८२ उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा ।३८२। —अरहन्तादिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं वह नाम पूजा जानना चाहिए ।३८२। (गुण. श्रा./२१३)।

२ स्थापना पूजा

वसु. श्रा./३८३-३८४ सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ।३८३। अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णियबुद्धीए। संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ।३८४। —जिन भगवान्‌ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तुमें अरहन्तादिके गुणोंका जो आरोपण करना, सो यह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है। और अक्षत, वराटक (कौड़ी या कमलगट्टा आदिमें अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिए ।३८३-३८४। (गुण. श्रा./२१४-२१५)।

३. द्रव्यपूजा

भ. आ./वि./४७/१५९/२१ गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा। अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरण-प्रणमनादिका-कायक्रिया च। वाचा गुणसंस्तवनं च। —अर्हदादिकोंके उद्देश्यसे गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है। तथा उठ करके खड़े होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना, वचनोंसे अर्हदादिकके गुणोंका स्तवन करना, यह भी द्रव्य-पूजा है। (अ. ग. श्रा./१२/१२।

वसु. श्रा./४४८-४५१ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा। दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा ।४४८। तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्ताचित्तमिस्सभेएण। पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोग्गं ।४४९। तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा। जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा ।४५०। अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं। णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण ।४५१। —जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्यपूजा जानना चाहिए। वह द्रव्यसे अर्थात् जल गन्धादि पूर्वमें कहे गये पदार्थ समूहसे करना चाहिए ।४४८। (अ. ग. श्रा./१२/१३) द्रव्यपूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदिके शरीरकी और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्तपूजा है। और जो दोनोंकी पूजा की जाती है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए ।४४९-४५०। अथवा आगम-द्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्य निक्षेप-को जानकर शास्त्र प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए। ।४५१। (गुण. श्रा./२१९-२२१)।

४. क्षेत्रपूजा

वसु. श्रा./४५२ जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु। णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा। —जिन भगवान्‌की जन्म कल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियोंमें पूर्वोक्त

प्रकारसे पूजा करना चाहिए यह क्षेत्रपूजा कहलाती है ।४५२। (गुण. श्रा./२२२)।

५. कालपूजा

वसु. श्रा./४५३-४५५ गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण णाण-णिव्वाणं। जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ।४५३। णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु। जं कीरइ जिणमहिमा विण्णेया कालपूजा सा ।४५५। —जिस दिन तीर्थंकरोंके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए हैं, उसदिन भगवान्‌- का अभिषेक करे। तथा इस प्रकार नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनोंमें तथा अन्य भी उचित पर्वोंमें जो जिन महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए ।४५५। (गुण. श्रा./२२३-२२४)

६. भावपूजा

भ. आ./वि./४७/१५६/२२ भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं। —मनसे उनके (अर्हन्तादिके) गुणोंका चिन्तन करना भावपूजा है। (अ. ग. श्रा./१२/१४)।

वसु. श्रा./४५६-४५८ काऊणाणंतचउट्ठयाइ गुणकित्तणं जिणाईणं। जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ।४५६। पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जावं कुणिज्ज सत्तीए। अहवा जिणिंदथोत्तं वियाण भावच्चणं तं पि ।४५७।... जं झाइज्जइ झाणं भावमहं तं विणिद्दिट्ठं ।४५८। —परम भक्तिके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌के अनन्त चतुष्टय आदि गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए ।४५६। अथवा पंच णमोकार पदोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे। अथवा जिनेन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगानको भावपूजन जानना चाहिए ।४५७। और...जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है वह भी भावपूजा है ।४५८।

७. निश्चय पूजाका लक्षण

स. श./मू./३१ यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ।३१। —जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है, इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। इस प्रकार ही आराध्य-आराधक भावकी व्यवस्था है।

प. प्र./मू./१/१२३ मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स। बीहि वि समरसि-हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स। —विकल्परूप मन भगवान् आत्मारामसे मिल गया और परमेश्वर भी मनसे मिल गया तो दोनों ही को समरस होनेपर किसकी अब मैं पूजा करूँ। अर्थात् निश्चयनयकर अब किसीको पूजना सामग्री चढ़ाना नहीं रहा ।१२३।

दे० परमेष्ठी-पाँचों परमेष्ठी आत्मामें ही स्थित हैं, अतः वही मुझे शरण हैं।

२. पूजा सामान्य निर्देश व उसका महत्त्व

१. पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है

वसु. श्रा./४७८ एसा छव्विहा पूजा णिच्चं धम्माणुरायरत्तेहिं। जह जोग्गं कायव्वा सव्वेहिं पि देसविरएहिं ।४७८। —इस प्रकार यह छह प्रकार (नाम, स्थापनादि) की पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकोंको यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए ।४७८।

पं. वि./६/१५-१६ ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न। निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ।१५। प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्। भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ।१६। —जो जीव भक्तिसे जिनेन्द्र भगवान्‌का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते हैं, और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थको धिक्कार है ।१५। श्रावकोंको प्रातःकालमें उठ करके भक्तिसे जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरुका दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य कार्योंको करना चाहिए ।१६।

बो. पा./टी./१७/८५ पर उद्धृत—उक्तं सोमदेव स्वामिना—अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च। यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः। —आचार्य सोमदेवने कहा है—कि जो गृहस्थ जिनदेवकी पूजा और मुनियोंकी उपचर्या किये बिना अन्नका भक्षण करता है। वह सातवें नरकके कुम्भीपाक बिलमें दुःखको भोगता है। (अ. ग. श्रा./१/५५)।

पं. ध./उ./७३२-७३३ पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया। स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ।७३२। सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोः स्तुतिम्। प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ।७३३। —उत्तम बुद्धिवाला श्रावक प्रतिमाओंमें अर्हन्तकी बुद्धिसे अर्हन्त भगवान्‌की और सिद्ध यन्त्रमें स्वर व्यंजन आदि रूपसे सिद्धोंकी स्थापना करके पूजन करे ।७३२। तथा आचार्य उपाध्याय साधुके सामने जाकर उनके चरणोंकी स्तुति करके त्रिकरणकी शुद्धिपूर्वक उनकी भी अष्ट द्रव्यसे पूजा करे ।७३३। (इस प्रकार नित्य होनेवाले जिनबिम्ब महोत्सवमें शिथिलता नहीं करना चाहिए। ।(७३६)।

२. नंदीश्वर व पंचमेरु पूजा निर्देश

ति. प./५/८३,१०१,१०३ वरिसे वरिसे चउविहदेवा णंदीसरम्मि दीवम्मि। आसाढकत्तिएसुं फग्गुणमासे समायन्ति ।८३। पुव्वाए कप्पवासी भवणसुरा दक्खिणाए वेंतरया। पच्छिमदिसाए तेसुं जोइसिया उत्तरदिसाए ।१००। णियणियविभूदिजोग्गं महिमं कुव्वंति थोत्तबहलमुहा। णंदीसरजिणमंदिरजत्तासुं विउलभत्तिजुदा ।१०१। पुव्वण्हे अवरण्हे पुव्वणिसाए वि पच्छिमणिसाए। पहराणि दोण्णि-दोण्णि वरभत्तीए पसत्तमणा ।१०२। कमसो पदाहिणेणं पुण्णिमयं जाव अट्ठमीदु। तदो देवा विविहं पूजा जिणिंदपडिमाण कुव्वंति। ।१०३। —चारों प्रकारके देव नन्दीश्वरद्वीपमें प्रत्येक वर्ष आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन मासमें आते हैं ।८३। नन्दीश्वरद्वीपस्थ जिनमन्दिरोंकी यात्रामें बहुत भक्तिसे युक्त कल्पवासी देव पूर्व दिशामें, भवनवासी दक्षिणमें, व्यन्तर पश्चिम दिशामें और ज्योतिषदेव उत्तर दिशामें मुखसे बहुत स्तोत्रोंका उच्चारण करते हुए अपनी-अपनी विभूतिके योग्य महिमाको करते हैं ।१००-१०१। ये देव आसक्त चित्त होकर अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा तक पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वरात्रि और पश्चिमरात्रिमें दो-दो पहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिण क्रमसे जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी विविध प्रकारसे पूजा करते हैं ।१०२-१०३।

ज. प./५/११२ एवं आगंतूणं अट्ठमिदिवसेसु मंदरगिरिस्स। जिणभवणेसु य पडिमा जिणिंदइंदाण पूयंति ।११२। —इस प्रकार अर्थात् बड़े उत्सव सहित आकर वे (चतुर्निकायके देव) अष्टाह्निक दिनोंमें मन्दर (सुमेरु) पर्वतके जिन भवनोंमें जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं ।११२।

अन. ध./९/६३ कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ। शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने। —आषाढ़, कार्तिक और फाल्गुन शुक्ला अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा पर्यन्तके आठ दिनों तक पौर्वाह्निक स्वाध्याय ग्रहणके अनन्तर सब संघ मिला कर, सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति द्वारा अष्टाह्निक क्रिया करें। ६३।

सर्व पूजाकी पुस्तकोंमें अष्टाह्निकपूजा "संवौषडाहूय निवेश्य ठाभ्यां सांनिध्यमनीय वषड्पदेन। श्रीपञ्चमेरुस्थजिनालयानां यजाम्यशीतिप्रतिमाः समस्ताः।१। आहूय संवौषडिति प्रणीय ठाभ्यां प्रतिष्ठाप्य सुनिष्ठितार्थात्। वषड्पदेनैव च संनिधाय नन्दीश्वरद्वीपजिनान्समर्चे।२। —'संवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठः ठः' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्' पदके द्वारा अपने निकट करके पाँचों मेरुपर्वतोंपर स्थित अस्सी चैत्यालयोंकी समस्त प्रतिमाओंकी मैं पूजा करता हूँ।१। इसी प्रकार 'संवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठः ठः' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्'के द्वारा अपने निकट करके हम नन्दीश्वरद्वीपके जिनेन्द्रोंकी पूजा करते हैं।

३. पूजामें अन्तरंग भावोंकी प्रधानता

ध. ६/४,१,१/८/७ ण ताव जिणो सगवंदणाए परिणयाणं चेव जीवाणं पावस्स पणासओ, वीयरायत्तस्साभावप्पसंगादो। ···परिसेसत्तणेण जिणपरिणयभावो च पावपणासओ त्ति इच्छियव्वो, अण्णहा कम्मक्खयाणुववत्तीदो। —जिन देव बन्दन···जीवोंके पापके विनाशक नहीं हैं, क्योंकि ऐसा होनेपर वीतरागताके अभावका प्रसंग आवेगा। ···तब पारिशेष रूपसे जिन परिणत भाव और जिनगुण परिणामको पापका विनाशक स्वीकार करना चाहिए।

४. जिनपूजाका फल निर्जरा व मोक्ष

भ. आ./मू./७४६,७५० एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गई णिवारेण। पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धिः परंपरसुहाणं ।७४६। बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा। आराधणमिच्छन्तो आराधणभत्तिमकरंतो।७५०। —अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करनेमें समर्थ है, इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्षप्राप्ति होने तक इससे इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, अहमिन्द्रपद और तीर्थंकरपदके सुखोंकी प्राप्ति होती है।७४६। आराधना रूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रय सिद्धि रूप फल चाहता है वह पुरुष बीजके बिना धान्य प्राप्तिकी इच्छा रखता है, अथवा मेघके बिना जलवृष्टिकी इच्छा करता है।७५०। (भ.आ./मू./७५५), (र.सा./१२-१४); (भा.पा./टी./८/१३२ पर उद्धृत); (वसु.श्रा./४८१-४९३)।

भा. पा./मू./१५३ जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण। ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण।१५३। —जे पुरुष परम भक्तिसे जिनवरके चरणकूं नमैं हैं ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्रकरि संसाररूप वेलिका जो मूल मिथ्यात्व आदिकर्म ताहि दर्णैं है।

मू. आ./५०६ अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयदमदी। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण।५०६। —जो विवेकी जीव भावपूर्वक अहरन्तको नमस्कार करता है वह अति शीघ्र समस्त दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।५०६। (क.पा.१/१/गा.२/६), (प्र.सा./ता.वृ./७६/१०० पर उद्धृत)।

क. पा.१/१/६/२ अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति। —अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणो कर्म निर्जराका कारण है। (ध. १०/४,२,४,६६/२८६/४)।

ध. ६/१,६-६,२२/गा.१/४२८ दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्। शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।

ध. ६/१,६-६,२२/४२७/६ जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो। —जिनेन्द्रोंके दर्शनसे पाप संघात रूपी कुंजरके सौ टुकड़े हो जाते हैं, जिस प्रकार कि वज्रके आघातसे पर्वतके सौ टुकड़े हो जाते हैं।१। जिन बिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलापका क्षय देखा जाता है।

प. वि./१०/४२ नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः।४२। —परमात्माके नाममात्रकी कथासे ही अनेक जन्मोंके संचित किये पापोंका नाश होता है।

प. वि./६/१४ प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये। ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये।१४। —जो भव्य प्राणी भक्तिसे जिन भगवान्का पूजन, दर्शन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकोंमें स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुतिके योग्य हो जाते हैं अर्थात् स्वयं भी परमात्मा बन जाते हैं।

सा. ध./२/३२ दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रियः। श्रयन्त्यहम्पूर्विकया, किं पुनर्व्रतभूषितम् ।३२। —अर्हन्त भगवान्की पूजाके माहात्म्यसे सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी पूजकको पूजा, आज्ञा, आदि उत्कर्षकारक सम्पत्तियाँ 'मैं पहले, मैं पहले', इस प्रकार ईर्ष्यासे प्राप्त होती हैं, फिर व्रत सहित व्यक्तिका तो कहना ही क्या है।३२।

दे० धर्म/७/६ (दान, पूजा आदि सम्यक् व्यवहारधर्म कर्मोंकी निर्जरा तथा परम्परा मोक्षका कारण है।)

३. पूजा निर्देश व मूर्ति पूजा

१. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है

क. पा. १/१,१/§८७/११२/५ अणंतेसु जिणेसु एयवंदणाए सव्वेसिं पि वंदणुववत्तीदो।···एगजिणवंदणाफलेण समाणफलत्तादो सेसजिणवंदणा फलवंता तदो सेसजिणवंदणासु अहियफलाणुवलंभादो एक्कस्स चेव वंदणा कायव्वा, अणंतेसु जिणेसु अक्कमेण छदुमत्थुवजोगपउत्तीए विसेसरूवाए असंभवादो वा एक्कस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा त्ति ण एसो वि एयंतग्गहो कायव्वो; एयंतावहारणस्स सव्वहा दुण्णयत्तप्पसंगादो। —एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है। प्रश्न—एक जिनकी वन्दनाका जितना फल है शेष जिनोंकी वन्दनाका भी उतना ही फल होनेसे शेष जिनोंकी वन्दना करना सफल नहीं है। अतः शेष जिनोंकी वन्दनामें फल अधिक नहीं होनेके कारण एक ही जिनकी वन्दना करनी चाहिए। अथवा अनन्त जिनोंमें छद्मस्थके उपयोगकी एक साथ विशेषरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी एक जिनकी वन्दना करनी चाहिए? उत्तर—इस प्रकारका एकान्ताग्रह भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारका निश्चय करना दुर्नय है।

२. एककी वन्दनासे सबकी वन्दना कैसे होती है

क. पा./१/१,१/§८६-८७/१११-११२/५ एक्कजिण-जिणालय-वंदणा ण कम्मक्खयं कुणइ, सेसजिण-जिणालय-च्चासणा···।§८६। ण ताव पक्खवाओ अत्थि; एक्कं चेव जिणं जिणालयं वा वंदामि त्ति णियमाभावादो। ण च सेसजिणजिणालयाणं णियमेण वंदणा ण कया चेव; अणंतणाण-दंसण-विरिय-सुहादिदुवारेण एयत्तमावण्णेसु अणंतेसु जिणेसु एयवंदणाए सव्वेसिं पि वंदणुववत्तीदो।§८७। —प्रश्न—एक जिन या जिनालयकी वन्दना कर्मोंका क्षय नहीं कर सकती है, क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयोंकी आसादना होती है? उत्तर—एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे पक्षपात तो होता नहीं है, क्योंकि वन्दना करनेवालेके 'मैं एक जिन या जिनालयकी वन्दना करूँगा अन्यकी नहीं' ऐसा प्रतिज्ञा रूप नियम नहीं पाया जाता है। तथा वन्दना करनेवालेने शेष जिन और जिनालयोंकी वन्दना नहीं की ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदिके द्वारा अनन्त जिन एकत्वको प्राप्त हैं। इसलिए उनमें गुणोंकी अपेक्षा कोई भेद नहीं

है अतएव एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है।

३. देव व शास्त्रकी पूजामें समानता

सा. ध./२/४४ ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्। न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः।४४। —जो पुरुष भक्तिसे जिनवाणीको पूजते हैं, वे पुरुष वास्तवमें जिन भगवान्‌को ही पूजते हैं, क्योंकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं कहते हैं।४४।

४. साधु व प्रतिमा भी पूज्य है

बो. पा./मू./१७ तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणयवच्छल्लं। जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणा भावो।१७। —ऐसे जिनबिंब अर्थात् आचार्य कूँ प्रणाम करो, सर्व प्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो, काहेतैं—जाकै ध्रुव कहिये निश्चयतैं दर्शन ज्ञान पाइये है बहुरि चेतनाभाव है।

बो. पा./टी./१७/८५/६ जिनबिम्बस्य जिनबिम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणामं नमस्कारं पञ्चाङ्गमष्टाङ्गं वा कुरुत। चकारादुपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनबिम्बस्वरूपत्वात्।...सर्वां पूजामष्टविधमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनय...वैयावृत्यं कुरुत यूयं।...चकारात्पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य पञ्चामृतैः स्नपनं, अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयं। —जिनेन्द्रकी मूर्ति स्वरूप आचार्यको प्रणाम, तथा पंचाङ्ग वा अष्टांग नमस्कार करो।...च शब्दसे उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको प्रणाम करो, क्योंकि वह भी जिनबिम्ब स्वरूप हैं।...इन सबकी अष्टविध पूजा, तथा अर्चना करो, विनय, एवं वैयावृत्य करो।...चकारसे पाषाणादिमें उकेरे गये जिनेन्द्र भगवान्‌के बिम्बका पंचामृतसे अभिषेक करो और अष्टविध पूजाके द्रव्यसे पूजा करो, भक्ति करो। (और भी दे० पूजा /२९)।

दे० पूजा/१/४ आकारवान व निराकार वस्तुमें जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी कल्पना करके पूजा करनी चाहिए।

दे० पूजा/२/१ (पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है।)

५. साधुकी पूजासे पाप नाश कैसे हो सकता है

ध. ६/४,१,१/११/१ होदु णाम सयलजिणणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलंभादो। ण देसजिणाणमेदेसु तदणुवलंभादो त्ति। ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु तिण्हं रयणाणमुवलंभादो।...तदो सयलजिणणमोक्कारो व्व देसजिणणमोक्कारो वि सव्वकम्मक्खयकारओ त्ति दट्ठव्वो। सयलासयलजिणट्ठियतिरयणाणं ण समाणत्तं।...संपुण्णतिरयणकज्जमसंपुण्णतिरयणाणि ण करेंति, असमाणत्तादो त्ति ण, णाण-दंसण-चरणाणमुप्पण्णसमाणत्तुवलंभादो। ण च असमाणाणं कज्जं असमाणमेव त्ति णियमो अत्थि, संपुण्णग्गिणा कीरमाणदाहकज्जस्स तदवयवे वि उवलंभादो, अमियघडसएण कीरमाण णिव्विसीकरणादि कज्जस्स अमियस्स चलुवे वि उवलंभादो वा। —प्रश्न—सकलजिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हो, क्योंकि उनमें सब गुण पाये जाते हैं। किन्तु देशजिनोंको किया गया नमस्कार पाप प्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते? उत्तर—नहीं, क्योंकि सकलजिनोंके समान देशजिनोंमें भी तीन रत्न पाये जाते हैं।...इसलिए सकलजिनोंके नमस्कारके समान देशजिनोंका नमस्कार भी सब कर्मोंका क्षयकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। प्रश्न—सकलजिनों और देशजिनोंमें स्थित तीन रत्नोंकी समानता नहीं हो सकती...क्योंकि सम्पूर्ण रत्नत्रयका कार्य असम्पूर्ण रत्नत्रय नहीं करते, क्योंकि, वे असमान हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्रके सम्बन्धमें उत्पन्न हुई समानता उनमें पायी जाती है। और असमानोंका कार्य असमान ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अग्निके द्वारा किया जानेवाला दाह कार्य उसके अवयवमें भी पाया जाता है, अथवा अमृतके सैकड़ों घड़ोंसे किया जानेवाला निर्विषीकरणादि कार्य चुल्लू भर अमृतमें भी पाया जाता है।

६. देव तो भावोंमें है मूर्तिमें नहीं

प. प्र./मू./१/१२३*१ देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति। अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति।१२३। —आत्म देव देवालयमें नहीं है, पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, लेपमें भी नहीं है, चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म अंजनसे रहित है, केवलज्ञान कर पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभावमें तिष्ठ रहा है।१२३। (यो. सा. यो./४३-४४)

यो. सा. यो./४२ तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु। देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु।४२। —श्रुतकेवलीने कहा है कि तीर्थोंमें देवालयोंमें देव नहीं हैं, जिनदेव तो देह देवालयमें विराजमान हैं।४२।

बो. पा./टी./१६२/३०२ पर उद्धृत—न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये। भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं।१। भावविहूणउ जीव तुहं जइ जिणु वहहि सिरेण। पत्थरि कमलु कि निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण।२। —काष्ठकी प्रतिमामें, पाषाणकी प्रतिमामें अथवा मिट्टीकी प्रतिमामें देव नहीं है। देव तो भावोंमें है। इसलिए भाव ही कारण है।१। हे जीव! यदि भाव रहित केवल शिरसे जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करता है तो वह निष्फल है, क्योंकि क्या कभी अमृतसे सींचनेपर भी कमल पत्थरपर उत्पन्न हो सकता है।२।

दे० पूजा/१/५ (निश्चयसे आत्मा ही पूज्य है।)

७. फिर मूर्तिको क्यों पूजते हैं

भ. आ./वि./४७/१६०/१३ अर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपायन्ति। तद्वदेताम्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि।...यथा...स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं। एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबंधनं प्रतिबिम्बम्। तथानुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे,...क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति। —जैसे अर्हदादि भव्योंको शुभोपयोग उत्पन्न करनेमें कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे—अपने पुत्रके समान ही दूसरेका सुन्दर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है। इसी प्रकार अर्हदादिके प्रतिबिम्ब देखनेसे अर्हदादिके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवरण होता है।...इसलिए समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धि करनेमें, जिन प्रतिबिम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।

भ. आ./वि./३००/५११/१५ चेदियभत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ताः। यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते। यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्ततास्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणाः अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने संनिधापयति। ते च संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः। तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनीं कुरुत। —हे मुनिगण! आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो। शत्रुओं अथवा मित्रोंकी फोटो अथवा प्रतिमा दीख पड़नेपर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि उस फोटोंने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है, परन्तु वह शत्रुकृत उपकार और मित्रकृत उपकारका स्मरण होनेमें कारण

है। जिनेश्वर और सिद्धोंके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमामें और सिद्ध प्रतिमामें नहीं हैं, तथापि उन गुणोंका स्मरण होनेमें वे कारण अवश्य होती हैं, क्योंकि अर्हत और सिद्धोंका उन प्रतिमाओंमें सादृश्य है। यह गुण स्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धानको उत्पन्न करता है, और इनसे नवीन कर्मोंका अपरिमित संवर और पूर्वसे बँधे हुए कर्मोंकी महानिर्जरा होती है। इसलिए आत्म स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्य भक्ति हमेशा करो। (ध. ६/४,१,९/८/४); (अन. ध./ ६/१५)।

८. एक प्रतिमामें सबका संकल्प

र. क. श्रा./पं. सदासुख/११६/१७३/१ एक तीर्थंकरकं हू निरुक्ति द्वारै चौबीसका नाम सम्भवै है। तथा एक हजार आठ नामकरि एक तीर्थंकरका सौधर्म इन्द्र स्तवन किया है, तथा एक तीर्थंकरके गुणनिके द्वारे असंख्यात नाम अनन्तकालतैं अनन्त तीर्थंकरके हो गये हैं।...तातै हूँ एक तीर्थंकरमें एकका भी संकल्प अर चौबीसका भी संकल्प सम्भवै है।...अर प्रतिमाके चिन्ह है सो...नामादिक व्यवहारके अर्थि हैं। अर एक अरहन्त परमात्मा स्वरूपकरि एक रूप है अर नामादि करि अनेक स्वरूप है। सत्यार्थ ज्ञानस्वभाव तथा रत्नत्रय रूप करि वीतराग भावकरि पंच परमेष्ठी रूप ही प्रतिमा जाननी।

९. पार्श्वनाथकी प्रतिमापर फण लगानेका विधि निषेध

र. क. श्रा./पं. सदासुख/२३/३६/१० तिनके (पद्मावतीके) मस्तक ऊपर पार्श्वनाथ स्वामीका प्रतिबिम्ब अर ऊपर अनेक फणनिका धारक सर्पका रूप करि बहुत अनुराग करि पूजैं है, सो परमागमतैं जानि निर्णय करो। मूढलोकनिका कहिबो योग्य नाहीं।

चर्चा समाधान/चर्चा नं. ७० —प्रश्न—पार्श्वनाथजीके तपकाल विषै धरणेन्द्र पद्मावती आये मस्तक ऊपर फणका मण्डप किया। केवलज्ञान समय रहा नाहीं। अब प्रतिमा विषैं देखिये। सो क्योंकर संभवै? उत्तर—जो परम्परा सौं रीति चली आवै सो अयोग्य कैसे कही जावै।

१०. बाहुबलिकी प्रतिमा सम्बन्धी शंका समाधान

चर्चा समाधान/शंका नं० ६६ —प्रश्न—बाहुबलिजी की प्रतिमा पूज्य है कि नहीं! उत्तर—जिनलिंग सर्वत्र पूज्य है। धातुमें, पाषाणमें जहाँ है तहाँ पूज्य है।' याही तैं पाँचों परमेष्ठीकी प्रतिमा पूज्य है।

४. पूजायोग्य द्रव्य विचार

१. अष्टद्रव्यसे पूजा करनेका विधान

ति. प./३/२२३-२२६ भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहिं। पूजंति फलिहदंडोवमाणवरवारिधारेहि।२२३। गोसीरमलयचंदणकुंकुमपंकेहिं परिमलिल्लेहिं। मुत्ताहल पुंजेहि स लोए तंदुलेहिं सयलेहि।२२४। वरविविहकुसुममालासएहिं धूवंगरंगगंधेहि। अमयादो मुहुरेहिं णाणाविहदिव्वभक्खेहि।२२५। धूवेहिं सुगंधेहिं रयणपईवेहिं दित्तकरणेहिं। पक्केहिं फणसकदलीदाडिमदक्खादियफलेहिं।२२६। —वे देव झारी, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि द्रव्योंसे, स्फटिक मणिमय दण्डके तुल्य उत्तम जलधाराओंसे, सुगन्धित गोशीर, मलय, चन्दन, और कुंकुमके पंकोंसे, मोतियोंके पुंजरूप शालिधान्यके अखण्डित तन्दुलोंसे, जिनका रंग और गन्ध फैल रहा है ऐसी उत्तमोत्तम विविध प्रकारकी सैकड़ों मालाओंसे; अमृतसे भी मधुर नाना प्रकारके दिव्य नैवेद्योंसे, सुगन्धित धूपोंसे, प्रदीप्त किरणोंसे युक्त रत्नमयी दीपकोंसे, और पके हुए कटहल, केला दाडिम एवं दाख इत्यादि फलोंसे पूजा करते हैं।२२३-२२६। (ति. प./५/१०४-१११; ७/४६; ८/५८६)।

ध. ८/३,४२/९२/३ चरु-वलि-पुप्फ-फल-गंधधूवदीवादीहि सगभत्तिपगासो अच्चणा णाम। —चरु, बलि, पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप आदिकोंसे अपनी भक्ति प्रकाशित करनेका नाम अर्चना है। (ज. प./५/११७)।

वसु. श्रा./४२०-४२१...अक्खयचरु-दीवेहि-य धूवेहि फलेहिं विविहेहि। ।४२०। बलिवत्तिएहिं जावारएहिं य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं। पुव्वुत्तुवयरणेहि य रएज्जपुज्जं सविहवेण ।४२१। —(अभिषेकके पश्चात) अक्षत- चरु, दीपसे, विविध धूप और फलोंसे, बलि वर्तिकोंसे अर्थात पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोंसे जवारकोंसे, सिद्धार्थ (सरसों) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त (भेरी, घंटादि) उपकरणोंसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे।४११-४२१) (विशेष दे० वसु. श्रा. (४२५-४४१); (सा. ध./२/२५.३१); (बो. पा./टी./१७/८५/२०)।

२. अष्ट द्रव्य पूजा व अभिषेकका प्रयोजन व फल

वसु. श्रा./४८३-४९२ जलधारणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियं। चंदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ।४८३। जायइ अक्खयणिहिरयणसामिओ अक्खएहि अक्खोहो। अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ।४८४। कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणजयण कुसुमवरमाला। बलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ।४८५। जायइ णिविज्जदाणेण सत्तिगो कंति–तेय संपण्णो। लावण्णजलहिवेलातरंगसंपाविअसरीरो ।४८६। दीवेहिं दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो। सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ।४८७। धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजयत्तओ पुरिसो। जायइ फलेहि संपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ।४८८। घंटाहि घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि। संकीडइ सुरसंघायसेविओ वरविमाणेसु ।४८९। छत्तेहिं एयछत्तं भुंजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो। चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहि ।४९०। अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरि खीरोयजलेण सुरिदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ।४९१। विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ। छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सो य ।४९२। —पूजनके समय नियमसे जिन भगवान्के आगे जलधाराके छोड़नेसे पापरूपी मैलका संशोधन होता है। चन्दन रसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है।४८३। अक्षतोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोंका स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ और रोग शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है, और अन्तमें अक्षय मोक्ष सुखको पाता है।४८४। पुष्पोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनोंके नयनोंसे और पुष्पोंकी उत्तम मालाओंके समूहसे समर्चित देह वाला कामदेव होता है।४८५। नैवेद्यके चढ़ानेसे मनुष्य शक्तिमान, कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्य रूपी समुद्रकी वेलावर्ती तरंगोंसे संप्लावित शरीरवाला अर्थात् अति सुन्दर होता है।४८६। दीपोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य, सद्भावोंके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वोंके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है। ।४८७। धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है।४८८।—जिन मन्दिरमें घंटा समर्पण करनेवाला पुरुष घंटाओंके शब्दोंसे व्याप्त श्रेष्ठ विमानोंमें सुर समूहसे सेवित होकर अप्सराओंके मध्य क्रीडा करता है।४८९। छत्र प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रु रहित होकर पृथ्वीको एक-छत्र भोगता है। तथा

चमरोंके दानसे चमरोंके समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है। जिन भगवान्के अभिषेक करनेसे मनुष्य सुदर्शन मेरुके ऊपर क्षीरसागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोंके द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। ।४६१। जिन मन्दिरमें विजय पताकाओंके देनेसे संग्रामके मध्य विजयी होता है तथा षट्खण्डका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ।४६२।

सा. ध./२/३०-३१ वार्धारा: रजसः शमाय पदयोः, सम्यक्प्रयुक्तार्हतः सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवा-च्छेदाय सन्त्यक्षताः। यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमा-स्वाम्याय दीपस्त्विषे। धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः ।३०। ···नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुणग्रामरज्यन्मनोभि-र्भव्योऽर्चन्दृग्विशुद्धिं प्रबलयतु यया, कल्पते तत्पदाय ।३१। —अरहन्त भगवान्के चरण कमलोंमें विधि पूर्वक चढ़ाई गयी जलकी धारा पूजकके पापोंके नाश करनेके लिए, उत्तम चन्दन शरीरमें सुगन्धिके लिए, अक्षत विभूतिकी स्थिरताके लिए, पुष्पमाला मन्दरमालाकी प्राप्तिके लिए, नैवेद्य लक्ष्मीपतित्वके लिए, दीप कान्तिके लिए, धूप परम सौभाग्यके लिए, फल इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए और वह अर्घ अनर्घपदकी प्राप्तिके लिए होता है।३०। ···सुन्दर गद्य पद्यात्मक काव्यों द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले बहुतसे गुणोंके समूहसे मनको प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यों द्वारा जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको पुष्ट करे है, जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा तीर्थंकरपदकी प्राप्तिके लिए समर्थ होता है ।३१।

३. पंचामृत अभिषेक निर्देश व विधि

सा. ध./६/२२ आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां, पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्तान्तमाप्येष्टदिक्-नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः, सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं, सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः संपूज्य नुत्वा स्मरेत् ।२२। —अभिषेककी प्रतिज्ञा कर अभिषेक स्थानको शुद्ध करके चारों कोनोंमें चार कलशसहित सिंहासनपर जिनेन्द्र भगवान्को स्थापित करके आरती उतारकर इष्ट दिशामें स्थित होता हुआ जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध, और दही के द्वारा अभिषिक्त करके चन्दनानुलेपन युक्त तथा पूर्व स्थापित कलशोंके जलसे तथा सुगन्ध युक्त जलसे अभिषिक्त जिनराजकी अष्टद्रव्यसे पूजा करके स्तुति करके जाप करे ।२२। (भो. पा./टी./१७/८५/१६) (दे० सावद्य/७)।

४. सचित्त द्रव्यों आदिसे पूजाका निर्देश

१. विलेपन व सजावट आदिका निर्देश

ति. प./५/१०५ कुंकुमकप्पूरेहिं चंदणकालागरुहिं अण्णेहिं। ताणं विलेवणाइं ते कुव्वंते सुगंधेहिं ।१०५। —वे इन्द्र कुंकुम, कर्पूर, चन्दन, कालागुरु और अन्य सुगन्धित द्रव्योंसे उन प्रतिमाओंका विलेपन करते हैं।१०५। (वसु० श्रा०/४२७); (ज. प./५/११५); (दे० सावद्य/७)।

वसु. श्रा./३९८-४०० पडिचीणणेत्तपट्टाइएहिं वत्थेहिं बहुविहेहिं तहा। उल्लोविऊण उवरिं चंदोवयमणिविहाणेहिं ।३९८। संभूसिऊण चंदद्धचंदबुब्बुयवरायलाईहिं। मुत्तादामेहिं तहा किंकिणिजालेहिं विविहेहिं ।३९९। छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार तालवट्टेहिं। कलसेहिं पुप्फवडलिय-सुपइट्ठमदीवणिवहेहिं ।४००। —(प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करते समय मंडपमें चबूतरा बनाकर वहाँ पर) चीनपट्ट (चाइना सिल्क) कोशा आदि नाना प्रकारके नेत्राकर्षक वस्त्रोंसे निर्मित चन्द्रकान्त मणि तुल्य चतुष्कोण चंदोवेको तानकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौड़ी) आदिसे तथा मोतियोंकी मालाओंसे, नाना प्रकारकी छोटी घंटियोंके समूहसे, छत्रोंसे, चमरोंसे, दर्पणोंसे, भृंगारसे, तालवृन्तोंसे, कलशोंसे पुष्पपटलोंसे सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप समूहोंसे आभूषित करें ।३९८-४००।

२. हरे पुष्प व फलोंसे पूजन

ति. प./५/१०७, १११ सयवंतगा य चंपयमाला पुण्णायणायपहुदीहिं। अच्चंति ताओ देवा सुरहीहिं कुसुममालाहिं ।१०७। दक्खादाडिमकदलीणारंगयमाहुलिंगचूदेहिं। अण्णेहिं वि पक्केहिं फलेहिं पूजंति जिणणाहं ।१११। —वे देव सेवन्ती, चम्पकमाला, पुंनाग और नाग प्रभृति सुगन्धित पुष्पमालाओंसे उन प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं ।१०७। (ज. प./५/११५); (भो. पा./टी./१/७८/पर उद्धृत), (दे० सावद्य/७)। दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलोंसे वे जिननाथकी पूजा करते हैं।१११। (ति.प./३/२२९)।

प. पु./११/३४५ जिनेन्द्रः प्रापितः पूजाममरैः कनकाम्बुजैः। द्रुमपुष्पादिभिः किं न पूज्यतेऽस्मद्विधैर्जनैः ।३४५। —देवोंने जिनेन्द्र भगवान्की सुवर्ण कमलसे पूजा की थी, तो क्या हमारे जैसे लोग उनकी साधारण वृक्षोंके फूलोंसे पूजा नहीं करते हैं? अर्थात् अवश्य करते हैं ।३४५।

म. पु./१७/२५२ परिणतफलभेदैराम्रजम्बूकपित्थैः पनसलकुचमोचैर्दाडिमैर्मातुलिङ्गैः। क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्च रम्यैः गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ।२५२।

म. पु./७८/४०१ तद्विलोक्य समुत्पन्नभक्तिः स्नानविशुद्धिभाक्। तत्सरोवरसंभूतप्रसवैर्बहुभिर्जिनान् ।४६१। (अभ्यर्च्य) —जिनकी लक्ष्मी बहुत विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैंथा, कटहल, बड़हल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियोंके सुन्दर गुच्छे और नारियलोंसे भगवान्के चरणोंकी पूजा की थी ।२५२। (जिन मन्दिरके स्वयमेव किवाड़ खुल गये) यह अतिशय देख, जीवन्धर कुमारकी भक्ति और भी बढ़ गयी, उन्होंने उसी सरोवर में स्नान कर विशुद्धता प्राप्त की और फिर उसी सरोवरमें उत्पन्न हुए बहुतसे फूल ले जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की ।४०१।

वसु. श्रा./४३१-४४१ मालइ कयंब-कणयारि-चंपयासोय-बउल-तिलएहिं। मंदार-णायचंपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ।४३१। कणवीर-मल्लियाहिं कचणारमचकुंद-किंकराएहिं। सुरवणज जूहिया-पारिजातय-जासवणटगरेहिं ।४३२। सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय-मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं। जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसममहियं ।४३३। जंबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ-पणस-णालिएरेहिं। हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारंग-चारेहिं ।४४०। पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहि-मिट्ठेहिं। जिणपयपुरओ रयणं फलेहिं कुज्जा सुपक्केहिं ।४४१। —मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनैर), चंपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल) उत्पल (नील कमल) सिंदुवार (वृक्ष विशेष या निर्गुण्डी) कर्णवीर (कनेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोक वृक्ष) देवोंके नन्दन वनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपाकुसुम और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोंसे, तथा सुवर्ण चाँदीसे निर्मित फूलोंसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलोंकी मालाओंके द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोंसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पंकज युगलको पूजे ।४३१-४३३। जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), अनार, कपित्थ (कबीट या कैंथ), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बू, नारंगी, अचार (चिरौंजी), पूगीफल (सुपारी), तेन्दु, आँवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित मिष्ट और सुपक्व फलोंसे जिन चरणोंकी पूजा करे।४४०-४४१। (र.क.श्रा./पं. सदासुख दास/११९/१७०/१)।

सा. ध./२/४०/११६ पर फुटनोट-पूजाके लिए पुष्पोंकी आवश्यकता पड़ती है। इससे मन्दिरमें वाटिकाएँ होनी चाहिए।

३. भक्ष्य नैवेद्यसे पूजन

ति. प./५/१०८ बहुविहरसवंतेहिं वरभक्खेहिं विचित्तरूवेहिं। अमयसरिच्छेहिं सुरा जिणिंदपडिमाओ महयंति।१०८। —ये देवगण बहुत प्रकारके रसोंसे संयुक्त, विचित्र रूप वाले और अमृतके सदृश उत्तम भोज्य पदार्थोंसे (नैवेद्यसे) जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं।१०८। (ज.प./५/११६)।

वसु. श्रा./४३४-४३५ दहि-दुद्धसप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं। तेवट्ठि-विंजणेहिं य बहुविहपक्कण्णभेएहिं।४३४। रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालि णिहिएहिं विविहभक्खेहिं। पुज्जं वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ।४३५। —चाँदी, सोना, और कांसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चावलोंके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यंजनोंसे तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोंसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र चरणोंके सामने पूजन करे।४३४-४३५।

र. क. श्रा./पं. सदासुख/११६/१६६/१७ कोई अष्ट प्रकार सामग्री बनाय चढावै, केई सूका जव, गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उड़द, मूँग, मोठ इत्यादि चढावै, केई रोटी, राबडी, बावडीके पुष्प, नाना प्रकारके हरे फल, तथा दाल-भात अनेक प्रकारके व्यंजन चढावैं। केई मेवा, मोतिनीके पुष्प, दुग्ध, दही, घी, नाना प्रकारके घेवर, लाडू, पेड़ा, बर्फी, पूडी, पूवा इत्यादि चढावे हैं।

४. सचित्त व अचित्त द्रव्य पूजाका समन्वय

ति. प./३/२२५ ···। अमयादो मुहुरेहिं णाणाविहदिव्वभक्खेहिं।२२५। —अमृतसे भी मधुर दिव्य नैवेद्योंसे।२२५।···

त्रि. सा./९७५ दिव्वफलपुप्फहत्था···।९७५। —दिव्य फल पुष्पादि पूजन द्रव्य हस्त विषैं धारें हैं। (अर्थात्—देवोंके द्वारा ग्राह्य फल पुष्प दिव्य थे।)

र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१७०/६ यहाँ जिनपूजन सचित्तद्रव्यनितैं हूँ अर अचित्त द्रव्यनितैं हूँ···करिये है। दो प्रकार आगमकी आज्ञा-प्रमाण सनातन मार्ग है अपने भावनिके अधीन पुण्यबन्धके कारण हैं। यहाँ ऐसा विशेष जानना जो इस दुषमकालमें विकलत्रय जीवनिकी उत्पत्ति बहुत है। ···तातैं ज्ञानी धर्मबुद्धि हैं ते तो···पक्षपात छांडि जिनेन्द्रका प्ररूपण अहिंसा धर्म ग्रहण करि जेता कार्य करो तेता यत्नाचार रूप जीव-विराधना टालि करो इस कलिकालमें भगवान्का प्ररूपण नयविभाग तो समझे नाहीं··· अपनी कल्पना ही तैं यथेष्ट प्रवर्तें हैं।

६. निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणका निषेध

नि. सा./मू./३२ जिणुद्धारपत्तिट्ठा जिणपूजातित्थवंदण विसयं। धणं जो भुंजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुक्खं।३२। —श्री जिनमन्दिरका जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मन्दिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवान्की पूजा, जिन यात्रा, रथोत्सव और जिन शासनके आयतनोंकी रक्षाके लिए प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभवश ग्रहण करे, उससे भविष्यत्में होनेवाले कार्यका विध्वंस कर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महापापी है।

रा. वा./६/२२/४/५२८/२३ चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण···अशुभस्य नाम्न आस्रवः।

रा.वा./६/२७/१/५३१/३३ देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण (अन्तरायस्यास्रवः)। —१. मन्दिरके गन्ध माल्य धूपादिका चुराना, अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। २. देवताके लिए निवेदित किये या अनिवेदित किये गये द्रव्यका ग्रहण अन्तराय कर्मके आस्रवका कारण है। (त. सा./४/५६)।

५. पूजा-विधि

१. पूजाके पाँच अंग होते हैं

र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१७३/१५ व्यवहारमें पूजनके पाँच अंगनिकी प्रवृत्ति देखिये है—आह्वानन १; स्थापना २; संनिधिकरण ३; पूजन ४; विसर्जन ५।

२. पूजा दिनमें तीन बार करनी चाहिए

सा. ध./२/२५···भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधा दानं त्रिसन्ध्याश्रया सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिनां, नित्यप्रदानानुगम्।२५। —शास्त्रोक्त विधिसे गाँव, घर, दुकान आदिका दान देना, अपने घरमें भी अरिहन्तकी तीनों सन्ध्याओंमें की जानेवाली तथा मुनियोंको भी आहार दान देना है बादमें जिसके, ऐसी पूजा नित्यमह पूजा कही गयी है।२५।

३. रात्रिको पूजा करनेका निषेध

ला. सं./६/१८७ तत्रार्द्ध रात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि। हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम्।१८७। —आधी रातके समय भगवान् अरहन्त देवकी पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है। रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है, तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई नहीं पड़ते, इसलिए रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है (र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१७१/१)।

मो. मा. प्र./६/२६०/२ पापका अंश बहुत पुण्य समूह विषै दोषके अर्थ नाहीं, इस छलकरि पूजा प्रभावनादि कार्यनिविषैं रात्रिविषैं दीपकादिकरि वा अनन्तकायादिकका संग्रह करि वा अयत्नाचार प्रवृत्तिकरि हिंसादिक रूप पाप तौ बहुत उपजावैं, अर स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणामनिविषैं प्रवर्तैं नाहीं, वा थोरे प्रवर्तैं, सो टोटा घना नफा थोरा वा नफा किछू नाहीं। ऐसा कार्य करनेमें तो बुरा ही दीखना होय।

४. चावलोंमें स्थापना करनेका निषेध

वसु. श्रा./३८५ हुंडावसप्पिणीए बिइया ठवणा ण होदि कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो।३८५। —हुंडावसर्पिणी कालमें दूसरी असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करना चाहिए, क्योंकि, कुलिंगमतियोंसे मोहित इस लोकमें संदेह हो सकता है। (र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१७३/७)।

र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१७२/२१ स्थापनाके पक्षपाती स्थापना बिना प्रतिमाका पूजन नाहीं करें। ···बहुरि जो पीत तन्दुलनिकी अतदाकार स्थापना ही पूज्य है तो तिन पक्षपातीनिके धातु पाषाणका तदाकार प्रतिबिम्ब स्थापन करना व्यर्थ है। तथा अकृत्रिम चैत्यालयके प्रतिबिम्ब अनादि निधन हैं तिनमें हू पूज्यपना नाहीं रहा।

५. स्थापनाके विधि निषेधका समन्वय

र. क. श्रा./पं. सदासुख/११६/१७३/२४ भावनिके जोड़के अर्थि आह्वाननादिकमें पुष्प क्षेपण करिये है, पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानैं। ए तो आह्वाननादिकनिका संकल्पतैं पुष्पांजलि क्षेपण करिये है। पूजनमें पाठ रच्या होय तो स्थापना करै है नहीं होय तो नाहीं करै। अनेकांतिनिकै सर्वथा पक्ष नाहीं।

६. पूजाके साथ अभिषेक व नृत्य गान आदिका विधान

ति. प./८/५८४-५८७ खीरद्दिसलिलपूरिदकंचणकलसेहिं अट्ठ सहस्सेहिं। देवा जिणाभिसेयं महाविभूदीए कुव्वंति।५८४। वज्जंतेसु

मद्दलजयघंटापडहकाहलादीसु दिव्वेसु तूरेसुं ते तिणपूजं पकुव्वंति ।५८५। भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहिं । पूजं कादूण तदो जलगंधादीहि अच्चंति ।५८६। तत्तो हरिसेण सुरा णाणाविहणाडयाइं दिव्वाइं । बहुरसभावजुदाइं णच्चंति विचित्त भंगीहिं ।५८७। —उक्त (वैमानिक) देव क्षीरसागरके जलसे पूर्ण एक हजार आठ सुवर्ण कलशोंके द्वारा महाविभूतिके साथ जिनाभिषेक करते हैं।५८४। मर्दल, जयघंटा, पटह और काहल आदिक दिव्य वादित्रोंके बजते रहते वे देव जिनपूजाको करते हैं।५८५। उक्त देव भृंगार, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि द्रव्योंसे पूजा करके पश्चात् जल, गन्धादिकसे अर्चन करते हैं।५८६। तत्पश्चात् हर्षसे देव विचित्र शैलियोंसे बहुत रस व भावोंसे युक्त दिव्य नाना प्रकारके नाटकोंको करते हैं। उत्तम रत्नोंसे विभूषित दिव्य कन्याएँ विविध प्रकारके नृत्योंको करती हैं। अन्तमें जिनेन्द्र भगवान्‌के चरितोंका अभिनय करती हैं। (५/११४); (ति. प./३/२१८-२२७); (ति. प./५/१०४-११६); (और भी दे० पूजा/४/३)।

७. द्रव्य व भाव दोनों पूजा करनी योग्य हैं

अ. ग. श्रा./१२/१५ द्वेधापि कुर्वतः पूजां जिनानां जितजन्मनाम्। न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम् ।१५। —जीता है संसार जिनने ऐसे जिन देवनिकी द्रव्य भावकरि दोऊ ही प्रकार पूजा कौं करता जो पुरुष ताकौं इसलोक परलोकविषैं उत्तम वस्तु दुर्लभ नाहीं ।१५।

८. पूजा विधानमें विशेष प्रकारका क्रियाकाण्ड

म. पु./३८/७१-७५ तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम्। जिनार्चामभितः स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ।७१। त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ। ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः ।७२। तेष्वर्हदिज्याशेषांशैः आहुतिर्मन्त्रपूर्विका। विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ।७३। तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि। सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ।७४। विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः। अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ।७५। —इस आधान (गर्भाधान) क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र, बाँयीं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करें ।७१। अर्हन्त भगवान्‌के (तीर्थंकर) निर्वाणके समय, गणधर देवोंके निर्वाणके समय और सामान्य केवलियोंके निर्वाणके समय जिन अग्नियोंमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप तैयार करनी चाहिए ।७२। प्रथम ही अर्हन्त देवकी पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिए ।७३। उन आहुतियोंके मन्त्र पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ।७४। श्री जिनेन्द्र देवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें (पूजा विधानादिमें) बतलाया है। इसलिए उस विषयके जानकार श्रावकोंको व्यामोह (प्रमाद) छोड़कर उन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए ।७५। (और भी देखो यज्ञमें आर्ष यज्ञ); (म. पु./४७/३४७-३५४)।

म. पु./४०/८०-८१ सिद्धार्चासंनिधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम्। गन्धपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुरःसरम् ।८०। सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत्। शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः ।८१। —सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोंका जप करना चाहिए ।८०। तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं, जो सफेद वस्त्र पहने है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुए है, जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंसे समस्त क्रियाएँ करे ।८१।

दे० अग्नि/३ गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंका निर्देश व उनका उपयोग।

९. गृहस्थोंको पूजासे पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिए

यशस्तिलक चम्पू/३१८ स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्यः। —विवेकी पुरुषको स्नान करनेके पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे ईश्वर-भक्ति (पूजा-अभिषेकादि) करनी चाहिए। (र. क. श्रा./पं. सदासुख दास/११६/१६८/१६)।

चर्चा समाधान/शंका नं. ७३ केवलज्ञानकी साक्षात्पूजा विषैं न्होन नाहीं, प्रतिमाकी पूजा न्हवन पूर्वक ही कही है। (और भी दे० स्नान)।

पूजाकल्प—दे० पूजापाठ।

पूजापाठ—जैन आम्नायमें पूजा विधान आदि सम्बन्धी कई रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—१. आचार्य पूज्यपाद (ई० श० ५) कृत जैनाभिषेक। २. अभयनन्दि (ई० श० १०-११) कृत श्रेयोविधान। ३. आ० अभयनन्दि (ई० श० १०-११) कृत पूजाकल्प। ४. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत अंकुरारोपण। ५. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत प्रतिमासंस्कारारोपण। ६. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत मातृकायन्त्र पूजा। ७. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत शान्तिचक्रपूजा। ८. आ० नयनन्दि (ई० ९९३-१०४३) कृत सकल विधि विधान। ९. आ० श्रुतसागर (ई० १४८७-१५३३) कृत सिद्धचक्राष्टक पूजा। १०. आ० श्रुतसागर (ई० १४८७-१५३३) कृत श्रुतस्कन्धपूजा। (ती./३/४००)।

११. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित ज्वालिनी कल्प। १२. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित पद्मावती कल्प। १३. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित वज्रपंजर विधान। १४. पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित जिनयज्ञ कल्प। १५. पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित नित्यमहोद्योत। १६. आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत कलिकुण्डपार्श्वनाथ विधान। १७. आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत देवपूजादि। १८. पं. आशाधरके नित्यमहोद्योतपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत महाभिषेक टीका। १९. कवि देवी दयाल (ई० १७५५-१७६७) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ। २०. कवि वृन्दावन (ई० १७९१-१८४८) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ। २१. कवि वृन्दावन (ई० १७९१-१८४८) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित समवसरण पूजापाठ। २२. पं. संतलाल (ई० श० १७-१८) द्वारा भाषा छन्दोंमें रचित सिद्धचक्र विधान, जो श्री जिनसेनाचार्य द्वारा महापुराणमें रचित जिन सहस्रनामके आधारपर लिखा गया है। २३. पं. संतलाल (ई० श० १७-१८) कृत दशलक्षणी अंग। २४. पं. सदासुख (ई० १७९३-१८६३) कृत नित्य पूजा। २५. पं. पन्नालाल (ई० १७९३-१८६३) कृत हिन्दी भाषामें रचित सरस्वती पूजा। २६. पं. मनरंग लाल (ई० १८००) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध चौबीसी पाठ पूजा। २७. पं. मनरंग लाल (ई० १७९३-१८४३) द्वारा रचित सप्तर्षिपूजा।

पूज्यपाद—१. आप कर्णाटक देशस्थ 'कोले' नामक ग्रामके माधव भट्ट नामक एक ब्राह्मणके पुत्र थे। माताका नाम श्रीदेवी था। सर्पके मुँहमें फँसे हुए मेंढकको देखकर आपको वैराग्य आया था। आपके सम्बन्धमें अनेक चमत्कारिक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। अप्रोक्त शिलालेखके अनुसार आप पाँवमें गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे। श्रवणबेलगोलके निम्न शिलालेख नं० १०८ (श. सं. ११३५) से पता चलता है कि आपके चरण प्रक्षालनके जलके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था। जैसे—श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः। यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार। —घोर तपश्चरण आदिके

द्वारा आपके नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी थी। शान्त्यष्टकके पाठसे वह पुनः प्रगट हो गई। आपका असली नाम देवनन्दि है। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार आप यशोनन्दि के शिष्य हैं (दे. इतिहास ७/३) बुद्धि की प्रखरता से आप जिनेन्द्रबुद्धि और देवों के द्वारा पूजितचरण होने से पूज्यपाद कहलाते थे। आपके द्वारा रचित निम्न कृतियाँ हैं:—१. जैनेन्द्र व्याकरण, २. मुग्धबोध व्याकरण, ३. शब्दावतार, ४. छन्दशास्त्र, ५. वैद्यसार (वैद्यकशास्त्र), ६. सर्वार्थसिद्धि, ७. इष्टोपदेश, ८. समाधिशतक, ९. सारसंग्रह, १०. जन्माभिषेक, ११. दशभक्ति, १२. शान्त्यष्टक। समय—पट्टावली में श. सं. २५२-३०८ (वि. ३८७-४४३) (दे इतिहास/७/२); कीथ—वि. ७३५; प्रेमीजी—वि. श. ६; आई.एस. पवते—वि. ५२७; मुख्तार साहब—गंगराज दुर्विनीत (वि. ५००-५३५) के गुरु तथा इनके शिष्य वज्रनन्दिनन्दि ने वि ५२६ में द्रविड़संघ की नींव डाली इसलिये वि. श. ६; युधिष्ठर मीमांसा—जैनेन्द्र व्याकरण में लिखित महेन्द्रराज वि. ४७०-५२२ के गुप्त वंशीय चन्द्रगुप्त द्वि० थे इसलिये वि. श. ५ का अन्त और ६ का पूर्व। प. कैलाशचन्द इससे सहमत है (जै /२/२९२-२९४) डा. नेमिचन्द ने इन्हें वि. श. ६ में स्थापित किया है। (ती./२/२२५)।

पूति—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

पूतिक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पूतिकर्म—दे० कर्म/१/५।

पूरक—

ज्ञा०/२९/४ द्वादशान्तात्समाकृष्य य समीर प्रपूर्यते। स पूरक इति ज्ञेया वायुविज्ञानकोविदै. ।४। —द्वादशान्त कहिए तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादशअंगुल पर्यन्तसे खेंचकर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करे. उसको वायुविज्ञानी पण्डितोंने पूरक पवन कहा है ।४।

★ **पूरक प्राणायाम सम्बन्धी विषय**—दे० प्राणायाम।

पूरण—अन्तर पूरणकरण—दे० अन्तरकरण/२।

पूरणकाल—दे० काल/१/६/२।

पूरनकश्यप—पूरन कश्यपका परिचय—१. बौद्धग्रन्थ महापरिनिर्वाण सुत्र, महावग्ग, और दिव्याबाहन आदिके अनुसार यह महात्मा बुद्धके समकालीन ६ तीर्थंकरोंमेंसे एक थे। एक म्लेच्छ स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कश्यप इनका नाम था। इससे पहले ९९ जन्म धारण करके अब इनका सौवा जन्म हुआ था इसीलिए इनका नाम पूरन कश्यप पड गया था। गुरुप्रदत्त नाम द्वारपाल था। वह नाम पसन्द न आया। तब गुरुसे पृथक् होकर अकेला वनमें नग्न रहने लगे और अपनेको सर्वज्ञ व अर्हत आदि कहने लगे। ५०० व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। बौद्धोंके अनुसार वह अवीचि नामक नरकके निवासी माने जाते है। सुत्तपिटकके दीर्घनिकाय (बौद्धग्रन्थ) के अनुसार वह असत्कर्ममें पाप और सत्कर्ममें पुण्य नहीं मानते थे। कृत कर्मोंका फल भविष्यत्‌में मिलना प्रामाणिक नहीं। बौद्ध मतवाले इसे मंखलि गोशाल कहते हैं। २. श्वेताम्बरीसूत्र 'उवासकदसांग'के अनुसार वह श्रावस्तीके अन्तर्गत शरवणके समीप उत्पन्न हुआ था। पिताका नाम 'मखलि' था। एक दिन वर्षामें इसके माता-पिता दोनों एक गोशालमें ठहर गये। उनके पुत्रका नाम उन्होंने गोशाल रखा। अपने स्वामीसे झगडकर वह भागा। स्वामीने वस्त्र खेंचे जिससे वह नग्न हो गया। फिर वह साधु हो गया। उसके हजारों शिष्य हो गये। बुद्ध कहते हैं कि वह मरकर अवीचि नरकमें गया। (द. सा./प्र. ३२-३४/प्रेमीजी)। ३. द. सा./प्र. ९२ पर पं. वामदेव कृत संस्कृत-भावसंग्रहका एक निम्नउद्धरण है......वीरनाथस्य संसदि ।१८५। जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्तत'। शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गोतमाभिधः ।१८६। सद्यः स दीक्षितस्तत्र सध्वनेः पात्रतां ययौ। ततः देवसभां त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनिः ।१८७। सन्त्यस्मादादयोऽप्यत्र मुनयः श्रुतधारिणः। तांस्त्यक्त्वा सध्वनेः पात्रमज्ञानी गोतमोऽभवत् ।१८८। संचिन्त्यैवं क्रुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम्। मिथ्यात्वकर्मणः पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् ।१८९। हेयोपादेयविज्ञानं देहिनां नास्ति जातुचित्। तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चय' ।१९०। —वीरनाथ भगवान्‌के समवशरणमें जब योग्य पात्रके अभावमें दिव्यध्वनि निर्गत नहीं हुई, तब इन्द्र गोतम नामक ब्राह्मणको ले आये। वह उसी समय दीक्षित हुआ और दिव्य ध्वनिको धारण करनेकी उसी समय उसमें पात्रता आ गयी, इससे मस्करि-पूरण मुनि सभाको छोड़कर बाहर चला आया। यहाँ मेरे जैसे अनेक श्रुतधारी मुनि हैं, उन्हें छोड़कर दिव्यध्वनिका पात्र अज्ञानी गोतम हो गया, यह सोचकर उसे क्रोध आ गया। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवधारियोंको अज्ञान होता है। उसने कहा देहियोंको हेयोपादेयका विज्ञान कभी हो ही नहीं सकता। अतएव शास्त्रका निश्चय है कि अज्ञानसे मोक्ष होता है। पूरणकश्यपका मत—उसके मतसे समस्त प्राणी बिना कारण अच्छे-बुरे होते हैं। संसारमें शक्ति सामर्थ्य आदि पदार्थ नहीं हैं। जीव अपने अदृष्टके प्रभावसे यहाँ-वहाँ संचार करते हैं। उन्हें जो सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, वे सब उनके अदृष्टपर निर्भर हैं। १४ लाख प्रधान जन्म, ५०० प्रकारके सम्पूर्ण और असम्पूर्ण कर्म, ६२ प्रकारके जीवनपथ, ८ प्रकारकी जन्मकी तहें, ४९०० प्रकारके कर्म, ४९०० भ्रमण करनेवाले संन्यासी, ३००० नरक, और ८४ लाख काल हैं। इन कालोंके भीतर पण्डित और मूर्ख सबके कष्टोंका अन्त हो जाता है। ज्ञानी और पण्डित कर्मके हाथसे छुटकारा नहीं पा सकते। जन्मकी गतिसे सुख और दुःखका परिवर्तन होता है। उनमें ह्रास और वृद्धि होती है।

पूरिमद्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/९।

पूर्ण—१. क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तरदेव (ति. प.)—दे० व्यंतर/४, २. इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तरदेव (ह. पु.)—दे० व्यंतर/४।

पूर्णघन—प. पु./५/श्लोक विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें चक्रवाल नगरका विद्याधर राजा था। राजा सुलोचनके द्वारा अपनी पुत्री इसको न देकर सगर चक्रवर्तीको दिये जानेपर, इसने राजा सुलोचनको मार दिया। (७७-८०) और स्वयं उसके पुत्र द्वारा मारा गया (८६)। इसीके पुत्र मेघवाहनको राक्षसोंके इन्द्र द्वारा राक्षस द्वीपकी प्राप्ति हुई थी, जिसकी सन्तानपरम्परासे राक्षसवंशकी उत्पत्ति हुई—(दे० इतिहास/७/१२)।

पूर्णप्रभ—उत्तर क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव (ति. प.)—दे० व्यंतर/४; २. इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव (ह. पु.)—दे० व्यंतर/४।

पूर्णभद्र—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष; २. इन यक्ष जातिके देवोंने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रावणकी रक्षा की थी। ३. ह. प./४३/१४९-१५८ अयोध्या नगरीके समुद्रदत्त सेठका पुत्र था। अणुव्रत धारण कर सौधर्मस्वर्गमें उत्पन्न हुआ। यह कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमारका पूर्वका पाँचवाँ भव है।—दे० प्रद्युम्न।

पूर्णभद्रकूट—१. विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४। २. माल्यवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

पूर्णभद्रदेव—१. विजयार्ध पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका स्वामी देव —दे० लोक/५/४; २. माल्यवान पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका रक्षक एक देव —दे० लोक/५/४।

पूर्णांक—Integar (ध. ५/प्र. २८)।

पूर्णिमा—चन्द्रमाके भ्रमणसे पूर्णिमा प्रकट होनेका क्रम—दे० ज्योतिषी/२/८।

पूर्व—कालका प्रमाणविशेष—दे० गणित/I/१/४।

पूर्वकृष्टि— दे० कृष्टि।

पूर्वगत—१. दृष्टि प्रवाद अंगका चौथा भेद —दे० श्रुतज्ञान/III/१। २. ध. १/१,१,२/११४/७ पुव्वाणं गयं पत्त-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगय-मिदि। —जो पूर्वोंको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोंके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं।

पूर्वज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/III/१।

पूर्वचरहेतु—दे० हेतु।

पूर्वदिशा—पूर्व दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा।

पूर्व मीमांसा—दे० दर्शन।

पूर्ववत् अनुमान—दे० अनुमान/१।

पूर्वविद्—स. सि./९/३७/४५३/४ पूर्वविदः···श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। —पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली। (रा.वा./९/३७/१/६३२/३०)। रा. वा हिं./९/३७/७४८ प्रमत्त-अप्रमत्त मुनि भी पूर्वके वेत्ता हैं।

पूर्वविदेह—१. सुमेरु पर्वतकी पूर्व दिशामें स्थित कच्छादि १६ क्षेत्रोंको पूर्व विदेह कहते हैं। २. निषध व नील पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७; ३. सौमनस गजदन्तस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

पूर्वसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II/१।

पूर्व स्तुति—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका। आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

पूर्व स्पर्धक—दे० स्पर्धक।

पूर्वांग— कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

पूर्वानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

पूर्वापर संबंध— दे० संबंध।

पूर्वाभाद्रपद—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पूर्वाषाढ़—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पूषमांडी—भगवान् नेमिनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष।

पृच्छना—स. सि./९/२५/४४३/४ संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा परानुयोगः पृच्छना। —संशयका उच्छेद करनेके लिए अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है। (रा. वा./९/२५/२/६२४/११); (त.सा./७/१८); (अन.ध./७/८४); (ध.१४/५,६,१३/९/३)।

रा. वा./९/२५/२/६२४/११ आत्मोन्नतिपरातिसंधानोपहाससंघर्षप्रहसनादिविवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य वा परं प्रत्यनुयोगः पृच्छनमिति भाष्यते। —आत्मोन्नति परातिसन्धान परोपहास संघर्ष और प्रहसन आदि दोषोंसे रहित हो संशयच्छेद या निर्णयकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ अर्थ या उभयका दूसरेसे पूछना पृच्छना है। (चा.सा./१५३/१)।

ध. ९/४,१,५५/२६२/८ तत्थ आगमे अमुणिदत्थपुच्छा वा उवजोगो। —आगममें नहीं जाने हुए अर्थके विषयमें पूछना भी उपयोग है।

पृच्छनी भाषा— दे० भाषा।

पृच्छाविधि—ध. १३/५,५/५०/२८५/६ द्रव्य-गुण-पर्याय-विधि-निषेधविषयप्रश्नः पृच्छा, तस्याः क्रमः अक्रमश्च अक्रमप्रायश्चित्तं च विधीयते अस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। अथवा पृष्टोऽर्थः पृच्छा, सा विधीयते निरूप्यतेऽस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। एवं पृच्छाविधि त्ति गदं। विधानं विधिः, पृच्छायाः विधिः पृच्छाविधिः, स विशिष्यतेऽनेनेति पृच्छाविधिविशेषः। अर्हदाचार्योपाध्यायसाधवोऽनेन प्रकारेण प्रष्टव्याः प्रश्नभङ्गाश्च इयन्त एवेति यतः सिद्धान्ते निरूप्यन्ते ततस्तस्य पृच्छाविधिविशेष इति संज्ञेत्युक्तं भवति। —१. द्रव्य गुण और पर्यायके विधि निषेध विषयक प्रश्नका नाम पृच्छा है। उसके क्रम और अक्रमका तथा प्रायश्चित्तका जिसमें विधान किया जाता है वह पृच्छा विधि अर्थात् श्रुत है। २. अथवा पूछा गया अर्थ पृच्छा है, वह जिसमें विहित की जाती है अर्थात् कही जाती है वह पृच्छाविधि श्रुत है। इस प्रकार पृच्छाविधिका कथन किया। ३. विधान करना विधि है, पृच्छाकी विधि पृच्छाविधि है। वह जिसके द्वारा विशेषित की जाती है वह पृच्छाविधि विशेष है। अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकारसे पूछे जाने योग्य हैं तथा प्रश्नोंके भेद इतने ही हैं; ये सब चूँकि सिद्धान्तमें निरूपित किये जाते हैं अतः उसकी पृच्छाविधिविशेष यह संज्ञा है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

पृतना—सेनाका एक अंग —दे० सेना।

पृथक्त्व—

१. अन्यत्वके अर्थमें।

प्र. सा./त. प्र./१०६ प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। —विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्वका लक्षण है।

द्र. सं./टी./४८/२०३/६ द्रव्यगुणपर्यायाणां भिन्नत्वं पृथक्त्वं भण्यते। —द्रव्य, गुण और पर्यायके भिन्नपनेको पृथक्त्व कहते हैं।

२. एकसे नौके बीचकी गणना

स. सि./१/८/३४/४ पृथक्त्वमित्यागमसंज्ञा तिसृणां कोटीनामुपरि नवानामधः। —पृथक्त्व यह आगमिक संज्ञा है। इससे तीनसे ऊपर और नौके नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है।

पृथक्त्व विक्रिया—दे० विक्रिया।

पृथक्त्व वितर्क विचार—दे० शुक्लध्यान।

पृथिवी— रुचक पर्वतनिवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

पृथिवी—यद्यपि लोकमें पृथिवीको तत्त्व समझा जाता है, परन्तु जैन दर्शनकारोंने इसे भी एकेन्द्रिय स्थावरकी कोटिमें गिना है। इसी अवस्था भेदसे उसके कई भेद हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यौगिक अनुष्ठानोंमें भी विशेष प्रकारसे पृथिवी मण्डल या पार्थवेयी धारणाकी कल्पना की जाती है। सात नरकोंकी सात पृथिवियोंके साथ निगोद मिला देनेसे आठ पृथिवियाँ कही जाती हैं (दे० भूमि) सिद्धलोकको भी अष्टम भूमि कहा जाता है।ता है।

★ **पृथिवी सामान्यका लक्षण**—दे० भूमि/१।

१. पृथिवीके भेद

१. कायिकादि चार भेद।

स. सि./२/१३/१७२/३ पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्तं प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेत्? उच्यते—पृथिवी-पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः

पृथिवीजीव इत्यादि। —प्रश्न—आर्षमें पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं, सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं। उत्तर—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं। (रा. वा./२/१३/१/१२७/२२), (गो. जी./जी. प्र./१८२/४१६/१)।

२. मिट्टी आदि अनेक भेद

मू. आ./२०६-२०७ पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य। अय तंब तउ य सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य।२०६। हरिदाले हिंगुलए मणोसिला सस्सगंजण पवाले य। अब्भपडलब्भवालु य वादरकाया मणिविधीया।२०७। गोमज्झगे य रुजगे अंके फलहे य लोहिदंके य। चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य।२०८। गेरुय चंदण वब्बग वगमोए तह मसारगल्लो य। ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।२०९। —१. मिट्टी आदि पृथिवी, २. बालू, ३. तिकौन चौकोन रूप शर्करा, ४. गोल पत्थर, ५. बड़ा पत्थर, ६. समुद्रादिका लवण (नमक), ७. लोहा, ८. ताँबा, ९. जस्ता, १०. सीसा, ११. चाँदी, १२. सोना, १३. हीरा, १४. हरिताल, १५. इंगुल, १६. मैनसिल, १७. हरा रंगवाला सस्यक, १८. सुरमा, १९. मूँगा, २०. भोडल (अबरख), २१. चमकता रेत, २२. गोरोचन वाली कर्केतनमणि, २३. अलसी पुष्पवर्ण राजवर्तकमणि, २४. पुलकवर्णमणि, २५. स्फटिक मणि, २६. पद्मरागमणि, २७. चन्द्रकांतमणि, २८. वैडूर्य (नील) मणि, २९. जलकांतमणि, ३०. सूर्यकांत मणि, ३१. गेरूवर्ण रुधिराक्षमणि, ३२. चन्दनगन्धमणि, ३३. विलावके नेत्रसमान मरकतमणि, ३४. पुखराज, ३५. नीलमणि, तथा ३६. विद्रुमवर्णवाली मणि इस प्रकार पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। इनमें जीवोंको जानकर सजीवका त्याग करे।२०६-२०९। (पं. स./प्रा./१/७७); (ध. १/१,१,४२/गा. १४९/२७२); (त.सा./२/५८-६२), (पं.सं./सं./१/१५५); (और भी दे० चित्र)

३. पृथिवीकायिकादि भेदोंके लक्षण

स. सि./२/१३/१७२/४ तत्र अचेतना वैश्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथिवी। अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितैवेयम्। अथवा पृथिवीति सामान्यम्; उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात्। काय. शरीरम्। पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत्। पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिक.। तत्कायसंबन्धवशीकृत आत्मा। समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदय. कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीव। —अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथम क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है। अथवा पृथिवी यह सामान्य भेद है, क्योंकि आगेके तीन भेदोंमें यह पाया जाता है। कायका अर्थ शरीर है, अतः पृथिवीकायिक जीवके द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह **पृथिवीकाय** कहलाता है। यथा मरे हुए मनुष्य आदिकका शरीर। जिस जीवके पृथिवी रूप काय विद्यमान है उसे **पृथिवीकायिक** कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है। कार्मण योगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको काय रूपसे ग्रहण नहीं किया है तबतक वह **पृथिवीजीव** कहलाता है। (रा. वा./२/१३/१/१२७/२३); (गो. जी./जी. प्र./१८२/४१६/९)।

३. पृथिवीकायिकादिके लक्षणों सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. १/१,१,३९/२६५/१ पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः स एषामस्तीति पृथिवीकायिकाः। न कार्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वाभावः, भाविनि भूतवदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः। अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः। —पृथिवी रूप शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं, वह जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं। प्रश्न—पृथिवीकायिकका इस प्रकार लक्षण करनेपर कार्मणकाययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता। उत्तर—१. यह बात नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह हो चुका है इस प्रकार उपचार किया जाता है, उसी प्रकार कार्मणकाय योगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह संज्ञा बन जाती है। २. अथवा जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके वशवर्ती है उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं।

४. प्राणायाम सम्बन्धी पृथिवी मण्डलका लक्षण

ज्ञा./२९/१९ क्षितिबीजसमाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्। स्याद्वज्रलाञ्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम्।१९। —क्षितिबीज जो पृथ्वी बीजाक्षर सहित गाले हुए सुवर्णके समान पीतरक्त प्रभा जिसकी और वज्रके चिन्ह संयुक्त चौकोर धरापुर अर्थात् पृथिवीमण्डल है।

ज्ञा./२९/२४ घोणाविवरमापूर्य किंचिदुष्णं पुरंदरः। वहत्यष्टाङ्गुलः स्वस्थः पीतवर्णः शनैः शनैः।२४। —नासिकाके छिद्रको भले प्रकार भरके कुछ उष्णता लिये आठ अंगुल बाहर निकलता, स्वस्थ, चपलता रहित, मन्द-मन्द बहता, ऐसा इन्द्र जिसका स्वामी है ऐसे पृथिवीमण्डलके पवनको जानना।२४।

ज्ञा./सा./५७ ...। चतुष्कोणं अपि पृथिवी श्वेतं जलं शुद्धं चन्द्राभं।५७। —श्वेत जलवत् शुद्ध चन्द्रमाके सदृश तथा चतुष्कोण पृथिवी है।

५. पार्थिवीधारणाका लक्षण

ज्ञा./३७/४-९ तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम्। निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम्।४। तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम्। स्मरत्यमितभादीप्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।५। अब्जरागसमुद्भूतकेसरालिविराजितम्। जम्बूद्वीपप्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम्।६। स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम्। स्फुरत्पिङ्गप्रभाजालपिशङ्गितदिगन्तराम्।७। शरच्चन्द्रनिभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम्। तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत्।८। रागद्वेषादिनिःशेषकलङ्कक्षपणक्षमम्। उद्युक्तं च भवोद्भूतं कर्मसंतानशासने।९। —प्रथम ही योगी तिर्यग्लोकके समान निःशब्द, कल्लोल रहित, तथा बरफके सदृश सफेद क्षीर समुद्रका ध्यान करे।४। फिर उसके मध्य भागमें सुन्दर है निर्माण जिसका और अमित फैलती हुई दीप्तिसे शोभायमान, पिघले हुए सुवर्णकी आभावाले सहस्र दल कमलका चिन्तवन करे।५। उस कमलकी केसरोंकी पंक्तिसे शोभायमान चित्तरूपी भ्रमरको रंजायमान करनेवाले जम्बूद्वीपके बराबर लाख योजनका चिंतवन करे।६। तत्पश्चात् उस कमलके मध्य स्फुरायमान पीत रंगकी प्रभासे युक्त सुवर्णाचलके समान एक कर्णिकाका ध्यान करे।७। उस कर्णिकामें शरद् चन्द्रके समान श्वेतवर्ण एक ऊँचा सिंहासन चिंतवन करे। उसमें अपने आत्माको सुख रूप, शान्त स्वरूप, क्षोभ रहित।८। तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ है ऐसा चिन्तवन करे।९।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पृथिवीमें पुद्गलके सर्वगुणोंका अस्तित्व। —दे० पुद्गल/२।
२. अष्टपृथिवी निर्देश। —दे० भूमि/१।
३. मोक्षभूमि वा अष्टम पृथिवी —दे० मोक्ष/१।
४. नरक पृथिवी। —दे० नरक।

५. सूक्ष्म तैजसकायिकादिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान। —दे० सूक्ष्म/३।

६. बादर तैजसकायिकादिकोंका भवनवासियोंके विमानोंमें व नरकोंमें अवस्थान। —दे० काय/२/५

७. मार्गणाओंमें भावमार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

८. बादर पृथिवीकायिक निर्वृत्यपर्याप्तमें सासादन गुणस्थानकी सम्भावना। —दे० जन्म/४।

९. कर्मोंका बन्ध उदय व सत्त्व। —दे० वह-वह नाम।

१०. पृथिवीकायिक जीवोंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा स्थान आदि सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।

११. पृथिवीकायिक जीवोंकी सत् (अस्तित्व), संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह-वह नाम।

पृथिवी कोंगणि—अपरनाम श्री पुरुष—दे० श्री पुरुष।

पृथिवीपाल—पानीपतका निवासी था। वि. १६६२ में श्रुत पंचमी इसकी रचना की। (हि. जै. सा. इ./१३५/कामता)।

पृथिवीसिंह—जयपुर नरेश। समय—वि. सं. १८२७ (ई० १७७७); (मो. मा. प्र./प्र. २१/पं. परमानन्द शास्त्री)।

पृथु—कृष्णके भाई बलदेवका १५वाँ पुत्र —दे० इतिहास/७/१०।

पृष्ठक—सौधर्म स्वर्गका २८ वाँ पटल व इन्द्रक —दे० स्वर्ग/५।

पेय—अन. ध./७/१३ जलादिकम् पेयं। —जल, दुग्धादि पदार्थ पेय कहे जाते हैं। (ला. सं./२/१७)।

पेशि—औदारिक शरीरमें मांस पेशियोंका प्रमाण—दे० औदारिक१/७

पैप्पलाद—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

पैशुन्य—रा. वा./१/२०/१२/७५/१३ पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। —पीछेसे दोष प्रकट करनेको पैशुन्य वचन कहते हैं। (ध. १/१,१,२/११६/१२); (ध. ६/४/१,४५/२१७/३)।

ध. ६/४,२,८,१०/२८५/५ परेषां क्रोधादिना दोषोद्भावनं पैशुन्यम्। —क्रोधादिके कारण दूसरोंके दोषोंको प्रकट करना पैशुन्य कहा जाता है। (गो. जी./जी. प्र./३६५/७७८/२०)।

नि. सा./ता. वृ./६२ कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगतं चैकपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारणं वचः पैशुन्यम्। —चुगलखोर मनुष्यके मुँहसे निकले हुए और राजाके कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्रामको महाविपत्तिके कारणभूत ऐसे वचन वह पैशुन्य है।

रा. वा. हिं./६/११/५०० पैशुन्य कहिये पर तै अदेख सका भावकरि खोटी कहना।

पोत—

स. सि./२/३३/१९०/१ किंचित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेतः पोतः। —जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए हैं और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते हैं। (रा. वा./२/३३/३/१४४/१); (गो. जी./जी. प्र./८४/२०७/५)।

★ पोतज जन्म विषयक—दे० जन्म/२।

पोतकर्म—दे० निक्षेप/४।

पोदन—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

पोन्न—कृष्णराज तृतीयके समयमें शान्ति पुराण जिनाक्षर माले के रचयिता एक प्रतिभाशाली कन्नड़ कवि। समय—वि. १०२६ (ई० ९७२); (यशस्तिलक चम्पू./प्र. २०/पं. सुन्दरलाल) ।(ती/४/३०७)।

पौंड्र—दे० पुंड्र।

पौर—सौराष्ट्र देशमें वर्तमान पोरबन्दर (नेमिचरित/प्र./प्रेमी)।

पौरुष—दे० पुरुषार्थ।

पौरुषेय—आगमका पौरुषेय व अपौरुषेयपना—दे० आगम/६।

पौलोमपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर। सम्भवतः वर्तमान पालमपुर —दे० मनुष्य/४।

प्रकरणसम जाति—न्या. सू./मू. व. टी./५/१/१६/२९४ उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ।१६। अनित्यशब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येकः पक्षं प्रवर्तयति द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्। एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानेन हेतौ तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः। —उभयके साधर्म्यसे प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेसे प्रकरण समा जाति है। (कहीं-कहीं उभयके वैधर्म्यसे भी प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेके कारण प्रकरणसम जाति मानी जाती है।) ।१६। जैसे—शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयकत्वसे (प्रयत्नकी समानता होनेसे) घटकी नाईं। इस रीतिसे एक पक्षको प्रवृत्त करता है और दूसरा नित्यके साधर्म्यसे शब्दको नित्य सिद्ध करता है ऐसा होनेसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु अनित्यत्व साधर्म्यसे कथन करनेपर प्रकरणको अनतिवृत्तिसे प्रत्यवस्थान हुआ इसलिए 'प्रकरणसम' है। (श्लो. वा. ४/न्या./३८१-३८३/५०८-५०९)।

प्रकरणसम हेत्वाभास—

न्या सू./सू. व.टी./१/२/७/४६ यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ।७। प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमान…सोऽयमहेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय प्रकल्पते। —विचारके आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरणसम कहते हैं ।७। जैसे—किसीने कहा कि 'शब्द अनित्य है, नित्यधर्मके ज्ञान न होनेसे' यह प्रकरणसम है। इससे दो पक्षोंमेंसे किसी पक्षका भी निर्णय नहीं हो सकता।…जो दो धर्मोंमें एकका भी ज्ञान होता कि शब्द अनित्य है कि नित्य। तो यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता। (श्लो. वा. ४/न्या./पु. ४/२७३/४२६/१६)।

न्या. दी./३§४०/८७/६ प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो हेतुः प्रकरणसमः। यथा… अनित्यं शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात् इति। अत्र हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः। किं तत्प्रतिसाधनम्। इति चेत्; नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम्। तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः। —विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म रहित है यहाँ नित्यधर्म रहितत्व हेतुका प्रतिपक्षी साधन मौजूद है। वह प्रतिपक्षी साधन कौन है? शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्यके धर्मोंसे रहित है इस प्रकार नित्यताका साधन करना उसका प्रतिपक्ष साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षताके न होनेसे 'नित्य धर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

प्रकार—पं. ध./पू./६० अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च। भेदश्छेदो भङ्गः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ।६०। —और अंश,

पर्याय, भाग, हार, बिधा, प्रकार तथा भेव, छेद और भंग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं ।६०।

प्रकारक सूरि—दे० प्रकुर्वी ।

प्रकाश—ध. १/१,१,४/१४५/६ स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाशः । —अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं ।

प्रकाश शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति नं. १२ स्वयं प्रकाशमान विशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः । —अपने आप प्रकाशमान स्पष्ट अपने अनुभवमयी प्रकाश नामा बारहवीं शक्ति है ।

प्रकीर्णक—

त्रि. सा./४७५ सेढीणं विच्चाले पुप्फपइण्णय इव ट्ठियविमाणा : होंति पइण्णइणामा सेढिंदयहीणगासिसमा ।४७५। —श्रेणी बद्ध विमानोंके अन्तरालमें बिखरे हुए पुष्पोंकी भाँति पंक्ति रहित जहाँ-तहाँ स्थित हों उन विमानों (वा बिलों) को प्रकीर्णक कहते हैं ।...।४७५। (त्रि. सा./१६६) ।

द्र. सं./टी./३५/११६/२ दिग्विदिगष्टकान्तरेषु पङ्क्तिरहितत्वेन पुष्प-प्रकरवत्...यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा । —चारों दिशा और विदिशाओंके बीचमें, पंक्तिके बिना, बिखरे हुए पुष्पोंके समान... जो बिले हैं, उनकी 'प्रकीर्णक' संज्ञा है ।

प्रकीर्णक तारे—

ति. प./७/४६४ दुविहा चरअचराओ पइण्णताराओ । —प्रकीर्णक तारे चर और अचर दो प्रकारके होते हैं ।

* **प्रकीर्णक तारोंका अवस्थान व संख्या**— दे० ज्योतिष२/३-४

प्रकीर्णक देव—

स. सि./४/४/२३९/६ प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः । —जो गाँव और शहरमें रहनेवालोंके समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं । (रा. वा./४/४/८/२१३/८); (म. पु./२२/२६) ।

ति. प./३/६७ पइण्णया पुरिजणसरिच्छा ।—प्रकीर्णक देव पौर जन अर्थात् प्रजाके सदृश होते हैं । (त्रि. सा./२२३-२२४) ।

* **भवनवासी आदिके इन्द्रोंके परिवारमें प्रकीर्णकोंका प्रमाण** — दे० भवनवासी आदि भेद । वह वह नाम ।

प्रकीर्णक बिल—दे० नरक/५/३ ।

प्रकीर्णक विमान—दे० विमान/१ । स्वर्ग/५/५ ।

प्रकुर्वी—भ. आ./४५५,४५७ जो णिक्खवणपवेसे सेज्जासंथार उवधि-संभोगे । ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे ।४५५। इय अप्प-परिस्समगणित्ताखवयस्स सव्वपडिचरणे । वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ ।४५७। —क्षपक जब वस्तिकामें प्रवेश करता है; अथवा बाहर आता है उस समयमें, वस्तिका, संस्तर और उप-करण इनके शोधन करनेमें, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीर मल दूर करना, आहार पानी लाना आदि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं । सर्व प्रकार क्षपककी शुश्रूषा करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पड़नेपर भी वे खिन्न नहीं होते हैं ऐसे आचार्यको प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं ।

प्रकृति—सांख्य व शैव मत मान्य प्रकृति तत्त्व—दे० वह-वह दर्शन ।

प्रकृति बंध—राग-द्वेषादिके निमित्तसे जीवके साथ पौद्गलिक कर्मों-का बन्ध निरन्तर होता है । (दे० कर्म) जीवके भावोंकी विचित्रता-के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकारकी फलदान शक्तिको लेकर आते हैं, इसीसे वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृतिवाले होते हैं । प्रकृतिकी अपेक्षा उन कर्मोंके मूल ८ भेद हैं, और उत्तर १४८ भेद हैं । उत्तरो-त्तर भेद असंख्यात हो जाते हैं । सर्व प्रकृतियोंमें कुछ पापरूप होती हैं, कुछ पुण्य रूप, कुछ पुद्गल विपाकी, कुछ क्षेत्र व भवविपाकी, कुछ ध्रुवबन्धी, कुछ अध्रुव बन्धी इत्यादि ।

१	**भेद व लक्षण**
१	प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभावके अर्थमें; २. एकार्थ-वाची नाम ।
२	प्रकृति बन्धका लक्षण ।
३	कर्मप्रकृतिके भेद—१. मूल व उत्तर दो भेद; २. मूल प्रकृतिके आठ भेद; ३. उत्तर प्रकृतिके १४८ भेद; ४. असं-ख्यात भेद ।
४	सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण ।
५	सान्तर-निरन्तर, व उभयबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण ।
६	परिणाम, भव व परभविक प्रत्यय रूप प्रकृतियोंके लक्षण ।
७	बन्ध व सत्त्व प्रकृतियोंके लक्षण ।
८	भुजगार व अल्पतर बन्धादि प्रकृतियोंके लक्षण ।
२	**प्रकृतियोंका विभाग निर्देश**
१	पुण्य पाप प्रकृतियोंकी अपेक्षा ।
२	जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा ।
३	परिणाम, भव व परभविक प्रत्ययकी अपेक्षा ।
४	बन्ध व अबन्ध योग्य प्रकृतियोंकी अपेक्षा ।
*	उदय व सत्त्व व संक्रमण योग्य प्रकृतियाँ । —दे० वह वह नाम ।
५	सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धीकी अपेक्षा ।
६	सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा ।
७	ध्रुव व अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा ।
८	सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा ।
*	प्रकृतियोंमें घाती अघातीकी अपेक्षा ।—दे० अनुभाग।
९	अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियाँ ।
*	स्वोदय परोदय बन्धी प्रकृतियाँ । —दे० उदय/७ ।
*	उदय व्युच्छित्तिके पहले, पीछे वा युगपत् बन्ध व्युच्छित्तिवाली प्रकृतियाँ । —दे० उदय/७ ।
३	**प्रकृति बन्ध निर्देश**
*	द्रव्यकर्मकी सिद्धि आदि । —दे० कर्म/३ ।
१	आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण ।
*	सिद्धोंके आठ गुणोंमें किस-किस प्रकृतिका निमित्त है । —दे० मोक्ष/३ ।
२	पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य ।
३	अघातिया कर्मोंका कार्य ।
*	प्रकृति बन्धमें योग कारण है । —दे० बन्ध/१/१ ।
*	किस प्रकृतिमें १० करणोंसे कितने करण संभव हैं । —दे० करण/२ ।

१. भेद व लक्षण

१. प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभावके अर्थमें

पं. सं./प्रा./४/५१४-५१५ पयडी एत्थ सहावो···।५१४। एकम्मि महुर-पयडी।···५१५। —प्रकृति नाम स्वभावका है।···।५१४। जैसे—किसी एक वस्तुमें मधुरताका होना उसकी प्रकृति है।५१५। (पं. सं./सं./३६६-३६७); (ध. १०/४,२,४,२१३/५१०/८)।

स. सि./८/३/३७८/६ प्रकृति. स्वभावः। निम्बस्य का प्रकृतिः। तिक्तता। गुडस्य का प्रकृतिः। मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृतिः। अर्थानवगमः।···इत्यादि। —प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है? कड़ुआपन। गुड़की क्या प्रकृति है? मीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका ज्ञान न होना।···इत्यादि। (रा. वा./८/३/४/५६७/१); (पं. ध./उ./९३६)।

ध. १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मनः इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्तेः।···जो कम्मक्खंधो जीवस्स वट्टमाणकाले फलं देइ जो च देइस्सदि, एदेसिं दोण्णं पि कम्मक्खंधाणं पयडित्तं सिद्धं। —१. जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है।···२. जो कर्म स्कन्ध वर्तमानकालमें फल देता है और जो भविष्यत्में फल देगा, इन दोनों ही कर्म स्कन्धोंकी प्रकृति संज्ञा सिद्ध है।

२. एकार्थवाची नाम

गो. क./मू./२/३ पयडी सीलसहावो···।···।२। —प्रकृति, शील और स्वभाव ये सब एकार्थ हैं।

पं. ध./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः।४८। —शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण तथा स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब एकार्थवाची हैं।

३. प्रकृति बन्धका लक्षण

नि. सा./ता. वृ./४० ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्य-स्वीकारः प्रकृतिबन्धः। —ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मोंके उस कर्मके योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्यका स्व-आकार वह प्रकृति बन्ध है।

३. कर्म प्रकृतिके भेद

१. मूल व उत्तर दो भेद

मू. आ./१२२१ दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव। —प्रकृति बन्ध मूल और उत्तर ऐसे दो प्रकारका है ।१२२१। (पं. सं./प्रा./२/१) (क. पा. २/२-२२/ चूर्ण सूत्र/§४१/२०). (रा. वा./८/३/११/५६७/२०); (ध. ६/१,६-१,३/५/६); (पं. सं./सं /२/१)

२. मूल प्रकृतिके आठ भेद

ष. खं. १३/५,५/सू. १९/२०५···कम्मपयडी णाम सा अट्ठविहा–णाणावरणीयकम्मपयडी एवं दंसणावरणीय-वेयणीय-मोहणीय-आउअ-णामा-गोद-अंतराइयकम्मपयडी चेदि ।१९। —नोआगम कर्म द्रव्य प्रकृति आठ प्रकारकी दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म प्रकृति ।१९। (ष. खं. ६/१,९-१/सू. ४-१२/६-१३); (त. सू./८/४); (मू. आ./१२२२); (पं. सं./प्रा./२/२); (न. च. वृ./८४); (गो. क./मू./८/७); (द्र. सं./टी./३१/९०/६)।

३. उत्तर प्रकृतिके १४८ भेद

त. सू./८/५ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम् ।५। —आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पाँच भेद हैं ।५। (विशेष देखो-उस उस मूल प्रकृतिका नाम) (ष. खं./६/१,९-१/सू./पृ.१३/१४; १५/३१; १७/३४;१९/३७;२५/४८;२९/४९;४५/७७;४६/७८); (ष. खं. १३/५,५/सू./पृ.२०/२०९; ८४/३६३; ८८/३५६; ९०/३५७;९९/३६२;१०१/३६३;१३५/३८८;१३७/३८९); (पं. सं./प्रा./२/४); (गो. क./ मू./२२/१५); (पं. सं./सं./२/३-३५)।

४. असंख्यात भेद

गो. क./मू./७/६ तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा। ताणं पुण घादित्ति अ-घादित्ति य होंति सण्णाओ ।७। —सामान्य कर्म आठ प्रकार है, वा एक सौ अड़तालीस प्रकार है, वा असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार है। तिनकी पृथक्-पृथक् घातिया व अघातिया ऐसी संज्ञा है ।७।

पं. ध./उ./१००० उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्। शक्तितोऽनन्तसंज्ञश्च सर्वकर्मकदम्बकम् ।१०००। (अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः (प. ध./८५६) —उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म असंख्यात लोक प्रमाण है। तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंके शक्तिकी अपेक्षासे सम्पूर्ण कर्मोंका समूह अनन्त है ।१०००। (ज्ञानसे चेतनावरण-स्वानुभूत्यावरण कर्मका नाश अवश्य होता है। इत्यादि और भी दे० नामकर्म)।

४. सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

पं. सं./प्रा./४/२३३ साइ अबंधाबंधइ अणाइबंधो य जीवकम्माणं। धुवबंधो य अभव्वे बंध-विणासेण अद्धुवो होज्ज ।२३३। —विवक्षित कर्म प्रकृतिके अबन्ध अर्थात् बन्ध विच्छेद हो जानेपर पुनः जो उसका बन्ध होता है, उसे सादिबन्ध कहते हैं। जीव और कर्मके अनादि कालीन बन्धको अनादिबन्ध कहते हैं। अभव्यके बन्धको ध्रुवबन्ध कहते हैं। एक बार बन्धका विनाश होकर पुनः होनेवाले बन्धको अध्रुवबन्ध कहते हैं। अथवा भव्यके बन्धको अध्रुवबन्ध कहते हैं।

ध. ८/३,६/१७/७ जिस्से पयडीए पच्चओ जत्थ कत्थ वि जीवे अणादि-धुवभावेण लब्भइ सा धुवबंधीपयडी। —जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एवं ध्रुव भावसे पाया जाता है वह ध्रुव-बन्ध प्रकृति है।

गो. क./मू. व टी./१२३/१२४ सादि अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादीहु। अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो ।१२३। सादिबन्धः अबन्धपतितस्य कर्मणः पुनर्बन्धे सति स्यात्, यथा ज्ञानावरणपञ्चकस्य उपशान्तकषायादवतरतः सूक्ष्मसांपराये। यत्कर्म यस्मिन् गुणस्थाने व्युच्छिद्यते तदनन्तरोपरितनगुणस्थानं श्रेणिः तत्रानारूढे अनादिबन्धः स्यात्, यथा सूक्ष्मसांपरायचरमसमयादधस्तत्पञ्चकस्य। तु-पुनः अभव्यसिद्धे ध्रुवबन्धो भवति निष्प्रतिपक्षाणां बन्धस्य तत्रानाद्यनन्तत्वात्। भव्यसिद्धे अध्रुवबन्धो भवति। सूक्ष्मसांपराये बन्धस्य व्युच्छित्त्या तत्पञ्चकादीनामिव। —जिस कर्मके बन्धका अभाव होकर फिर बन्ध होइ तहाँ तिस कर्मके बन्ध कौ सादि कहिये। जैसे—ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतिका बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त जीवके था। पीछे वही जीव उपशान्त कषाय गुणस्थानकौं प्राप्त भया तब ज्ञानावरणके बन्धका अभाव भया। पीछे वही जीव उतर कर सूक्ष्मसाम्परायको प्राप्त हुआ वहाँ उसके पुनः ज्ञानावरणका बन्ध भया तहाँ तिस बन्धकौं सादि कहिये। ऐसे ही और प्रकृतिनिका जानना। जिस गुण स्थानमैं जिस कर्मकी व्युच्छित्ति होइ, तिस गुणस्थानके अनन्तर ऊपरिके गुणस्थानको अप्राप्त भया जो जीव ताके तिस कर्मका अनादि बन्ध जानना। जैसे—ज्ञानावरणकी व्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्परायका अन्त विषैं है। ताके अनन्तर ऊपरके गुणस्थानको जो जीव अप्राप्त भया ताकै ज्ञानावरणका अनादिबन्ध है। ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंका जानना। —बहुरि अभव्यसिद्ध जो अभव्यजीव तीहिविषैं ध्रुवबन्ध जानना। जातै निःप्रतिपक्ष जे निरन्तर बन्धी कर्म प्रकृतिका बन्ध अभव्यके अनादि अनन्त पाइए है। बहुरि भव्यसिद्धविषैं अध्रुव बन्ध है जातैं भव्य जीवकैं बन्धका अभाव भी पाइए वा बंध भी पाइए। जैसे–ज्ञानावरण पंचककी सूक्ष्म साम्पराय विषै बन्धकी व्युच्छित्ति भई। नोट—(इसी प्रकार उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट तथा जघन्य व अजघन्य बन्धकी अपेक्षा भी सादि अनादि ध्रुव अध्रुव विकल्प यथा सम्भव जानना। (गो. क./जी./प्र./९१/७५/१५)।

गो. क./भाषा./९०/७५/४ विवक्षित बन्धका बीचमें अभाव होइ बहुरि जो बन्ध होइ सो सादिबन्ध है। बहुरि कदाचित् अनादि तैं बन्धका अभाव न हूवा होइ तहाँ अनादिबन्ध है। निरन्तर बन्ध हुआ करे सो ध्रुवबन्ध है। अन्तर सहित बन्ध होइ सो अध्रुवबन्ध कहते हैं।

५. सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

ध. ८/३,६/१७/८ जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि अद्धुओ अंतोमुहुत्तादिकालावट्ठाई सा णिरंतरबंधपयडी। जिस्से पयडीए अद्धाक्खएण बंधवोच्छेदो संभवइ सा सांतरबंधपयडी। —जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एवं अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त आदि कालतक अवस्थित रहनेवाला है, वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है। जिस प्रकृतिका काल क्षयसे बन्ध व्युच्छेद सम्भव है वह सान्तरबन्धी प्रकृति है।

गो. क./भाषा/ ४०६-४०७/५७०/१७ जैसे—अन्यगतिका जहाँ बन्ध पाइये तहां तौ देवगति सप्रतिपक्षी है सो तहाँ कोई समय देवगतिका बन्ध होई कोइ समय अन्य गतिका बन्ध होइ तातै सान्तरबन्धी है। जहाँ अन्य गतिका बन्ध नाहीं केवल देवगतिका बन्ध है तहाँ देवगति निष्प्रतिपक्षी है सो तहाँ समय समय प्रति देवगतिका बन्ध पाइए तातै निरन्तर बन्धी है। तातै देवगति उभयबन्धी है।

६. परिणाम, भव व परभविक प्रत्यय रूप प्रकृतियोंके लक्षण

ल. सा./जी. प्र./३०६-३०७-३८८ पञ्चविंशतिप्रकृतयः परिणामप्रत्ययाः, आत्मनो विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्ध्यनुसारेण एतत्प्रकृत्यनुभागस्य हानिवृद्धिसद्भावात् ।३०६। चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयो,भवप्रत्ययाः। एतासामनुभागस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्धिनिरपेक्षतया विवक्षितभवाश्रयेणैव षट्स्थानपतितहानिवृद्धिसंभवात्। अतः कारणादवस्थितविशुद्धिपरिणामेऽप्युपशान्तकषाये एतच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीनां अनुभागोदयस्त्रिस्थानसंभवो भवति। कदाचिद्धीयते कदाचिद्वर्धते कदाचिद्धानिवृद्धिभ्यां विना एकादृशं एवावतिष्ठते ।३०७। —पच्चीस प्रकृति परिणाम प्रत्यय हैं। इनका उदय होनेके प्रथम समयमें आत्माके विशुद्धि

संक्लेश परिणाम हानि वृद्धि लिये जैसे पाइए तैसे हानि वृद्धि लिये इनका अनुभाग तहाँ उदय होइ। वर्तमान परिणामके अनुसार इनका अनुभाग उत्कर्षण अपकर्षण हो है।३०६। चौंतीस प्रकृति भव प्रत्यय हैं। आत्माके परिणाम जैसे होई। तिनकी अपेक्षा रहित पर्याय हीका आश्रय करि इनका अनुभाग विषै षट् स्थान रूप हानि वृद्धि पाइये है तातैं इनका अनुभागका उदय यहाँ (उपशान्तकषाय गुण स्थान में) तीन अवस्था लीएँ है। कदाचित् हानि रूप, कदाचित् वृद्धि रूप, कदाचित अवस्थित जैसा का तैसा रहे हैं।३०७।

ध. ६/१,६-८,१४/२६३/२५ विशेषार्थ—नामकर्मकी जिन प्रकृतियोंका परभव सम्बन्धी देवगतिके साथ बन्ध होता है उन्हें परभविक नामकर्म कहा है।

७. बन्ध व सत्त्व प्रकृतियोंके लक्षण

ध. १२/४,२,१४,३८/४९५/११ जासिं पयडीणं ट्ठिदिसंतादो उवरि कम्हि विकाले ट्ठिदिबंधो संभवदि ताओ बंधपयडीओ णाम। जासिं पुण पयडीणं बंधो चेव णत्थि, बंधे संते वि जासिं पयडीणं ट्ठिदि संतादो उवरि सव्वकालं बंधो ण संभवदि, ताओ संतपयडीओ, संतपहाणत्तादो। ण च आहारदुग-तित्थयराणं ट्ठिदिसंतादो उवरि बंधो अत्थि, सम्माइट्ठीसु तदणुवलंभादो तम्हा सम्मामिच्छत्ताणं व एदाणि तिण्णि वि संतकम्माणि। —जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक किसी भी कालमें बन्ध सम्भव है, वे बन्ध प्रकृतियाँ कही जाती हैं। परन्तु जिन प्रकृतियोंका बन्ध ही नहीं होता है और बन्धके होनेपर भी जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक सदा काल बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्व प्रकृतियाँ हैं, क्योंकि सत्त्वकी प्रधानता है। आहारक द्विक और तीर्थंकर प्रकृतिका स्थिति सत्त्वसे अधिक बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टियोंमें नहीं पाया जाता है। इस कारण सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके समान तीनों ही सत्त्व प्रकृतियाँ हैं।

८. भुजगार व अल्पतर बन्धादि प्रकृतियोंके लक्षण

म. बं./§ २७०/१४५/२ याओ एण्णि ट्ठिदीओ बंधदि अणंतरादिसक्काविदविदिक्कंते समये अप्पदरादो बहुदरं बंधदि त्ति एसो भुजगारबंधो णाम।·· याओ एण्णि ट्ठिदीओ बंधदि अणंतरउस्सक्काविदविदिक्कंते समये बहुदरादो अप्पदरं बंधदि त्ति एसो अप्पदरबंधो णाम।···याओ एण्णि ट्ठिदीओ बंधदि अणंतरओसक्काविदउस्सक्काविदविदिक्कते समये तत्तियाओ तत्तियाओ चेव बंधदि त्ति एसो अवट्ठिदिबंधो णाम।···अबंधदो बंधदि त्ति एसो अवत्तव्वबंधो णाम। —वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई बाँधी गयी अल्पतर स्थितिसे बहुतर बाँधता है यह भुजगारबन्ध है।······वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है, उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें बढ़ी हुई बाँधी गयी बहुतर स्थितिसे अल्पतर बाँधता है यह अल्पतरबन्ध है। ·· वर्तमान समयमें जिन स्थितियोंको बाँधता है, उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई या बढ़ी हुई बाँधी गयी स्थितिसे उतनी ही बाँधता है, यह अवस्थित बन्ध है। अर्थात् - प्रथम समयमें अल्पका बंध करके अनन्तर बहुतका बन्ध करना भुजगारबन्ध है। इसी प्रकार बहुतका बन्ध करके अल्पका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है। पिछले समयमें जितना बन्ध किया है, अगले समयमें उतना ही बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। (गो. क./मू./४६६/६१५;५६३-५६४/७६४) (गो. क./जी. प्र./४५३/६०२/५)। बंधका अभाव होनेके बाद पुनः बाँधता है यह अवक्तव्यबन्ध है।

गो. क./जी. प्र./४७०/६१६/१० सामान्येन भङ्गविवक्षामकृत्वा अवक्तव्यबन्धः।—सामान्यपनेसे भङ्ग विवक्षाको किये बिना अवक्तव्यबन्ध है।

२. प्रकृतियोंका विभाग निर्देश

१. पुण्य पाप रूप प्रकृतियोंकी अपेक्षा

त.सू./८/२५-२६ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।२५। अतोऽन्यत्पापम् ।२६। —साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप हैं ।२५। इनके सिवा शेष सब प्रकृतियाँ पाप रूप हैं ।२६। (न. च. वृ./१६१); (द्र. सं./मू./३८); (गो. जी./जी. प्र./६४३/१०९५/३)।

पं.स./प्रा./४५३-४५६ सायं तिण्णेवाऊण मणुयदुगं देवदुव य जाणाहि। पंचसरीरं पंचिदियं च संठाणमाईयं ।४५३। तिण्णि य अंगोवंगं पसत्थविहायगइ आइसंघयणं। वण्णचउक्कं अगुरु य परघादुस्सास उज्जोवं ।४५४। आदाव तसचउक्कं थिर सुह सुभगं च सुस्सरं णिमिणं। आदेज्जं जसकित्ती तित्थयरं उच्च बादालं ।४५५। णाणंतरायदसयं दंसणणव मोहणीय छव्वीसं। णिरयगइ तिरियदोण्णि य तेसिं तह आणुपुव्वीयं ।४५६। संठाणं पंचेव य संघयणं चेव होंति पंचेव। वण्णचउक्कं अपसत्थविहायगई य उवघायं ।४५७। एइंदिय-णिरयाऊ तिण्णि य वियलिंदियं असायं च। अपज्जत्तं थावर सुहुमं साहारणं णाम ।४५८। दुब्भग दुस्सरमजसं अणाइज्जं चेव अथिरमसुहं च। णीचागोदं च तहा बासीदी अप्पसत्थं तु ।४५९।

गो. क./मू./४२,४४/४४-४५ अट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था ।४२। बंधुदयं पडिभेदे अडणउदि सयं दुचदुरसीदिदरे ।४४। —पुण्य-प्रकृतियाँ—साता वेदनीय, नरकायुके बिना तीन आयु, मनुष्य द्विक, देवद्विक, पाँच शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, आदिका समचतुरस्र संस्थान, तीनों अंगोपांग, प्रशस्त विहायोगति, आदिका वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्तवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, त्रस चतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र; ये ब्यालीस प्रशस्त, शुभ या पुण्य प्रकृतियाँ हैं ।४५३-४५५। २. पाप प्रकृतियाँ—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी छब्बीस, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आदिके बिना शेष पाँच संस्थान आदिके बिना शेष पाँचों संहनन, अप्रशस्त वर्ण चतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, नरकायु, तीन विकलेन्द्रिय जातियाँ, असाता वेदनीय, अपर्याप्त, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, दुर्भग, दुःस्वर, अयशःकीर्ति, अनादेय, अस्थिर, अशुभ, और नीचगोत्र, ये ब्यासी (८२) अप्रशस्त, अशुभ या पापप्रकृतियाँ हैं ।४५६-४५९। ३. भेद अपेक्षासे ६८ प्रकृति पुण्य रूप हैं और अभेद विवक्षाकरि पाँच बन्धन, ५ संघात और १६ वर्णादिक घटाइये ४२ प्रकृति प्रशस्त है ।४२। भेद विवक्षाकरि बन्ध रूप ९८ प्रकृतियाँ हैं, उदयरूप १०० प्रकृतियाँ हैं। अभेद विवक्षाकरि वर्णादि १६ घटाइ बन्धरूप ८२ प्रकृति हैं उदय रूप ८४ प्रकृति हैं ।४४। (स.सि./८/२५-२६/४०४/३), (रा.वा./८/२५-२६/५८६/६,११), (गो.क./मू./४१-४४/४४), (द्र.सं./टी./३८/१५८/१०), (पं.सं./सं./४/२७५-२८४)।

२. जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४६०-४६३ पण्णरसं छ तिय छ पंच दोण्णि पंच य हवंति अट्ठेव। सरीरादिय फासंता। य पयडीओ आणुपुव्वीए ।४६०। अगुरुयलहुगुवघाया परघाया आदवुज्जोव णिमिणणामं च। पत्तेय-थिर-सुहेदरणामाणि य पुग्गल विवागा ।४६०। आऊणि भवविवागी खेत्तविवागी उ आणुपुव्वी य। अवसेसा पयडीओ जीवविवागी मुणेयव्वा ।४६२। वेयणीय-गोय-घाई-णभगई जाइ आण तित्थयरं। तस-जस-बायर-पुण्णा सुस्सर-आदेज्ज-सुभगजुयलाई ।४६३।—१. शरीर नामकर्मसे आदि लेकर स्पर्श नामकर्मतककी प्रकृतियाँ आनुपूर्वीसे शरीर ५, बन्धन ५ और संघात ५, इस प्रकार १५; संस्थान ६, अंगोपांग ३, संहनन ६, वर्ण ५, गन्ध २, रस ५, और स्पर्श आठ; तथा अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, निर्माण, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ और अशुभ; ये सर्व ६२ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी हैं, (क्योंकि इन प्रकृ-

तियोंका फल स्वरूप विपाक पुद्गल रूप शरीरमें होता है।) २. आयु कर्मकी चारों प्रकृतियाँ **भवविपाकी** हैं (क्योंकि इनका विपाक नरकादि भवोंमें होता है।) ३. चारों आनुपूर्वी प्रकृतियाँ **क्षेत्रविपाकी** हैं (क्योंकि इनका विपाक विग्रह गतिरूपमें होता है) ४. शेष ७८ प्रकृतियाँ **जीवविपाकी** जानना चाहिए, (क्योंकि उनका विपाक जीवमें होता है।४६०-४६२। वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घाति कर्मोंकी ४७, विहायोगति २, गति ४, जाति ५, श्वासोच्छ्वास १, तीर्थंकर १, तथा त्रस, यशःकीर्ति, बादर, पर्याप्त, सुस्वर, आदेय और सुभग, इन सात युगलोंकी १४ प्रकृतियाँ; इस प्रकार सर्व मिलाकर ७८ प्रकृतियाँ जीव विपाकी हैं।४६३। (रा. वा./८/२३/७/५८४/३३), (ध.१४/गा.१-४/१३-१४), (गो.क./मू./४७-५०/४७), (पं.स./स./४/३२६-३३३)।

३. परिणाम, भव व परभविक प्रत्ययकी अपेक्षा

ल. सा./जी. प्र./३०६-३०७ ध्रुवोदयप्रकृतयस्तैजसकार्मणशरीरवर्णगन्धरसस्पर्शस्थिरास्थिरशुभाशुभागुरुलघुनिर्माणनामानो द्वादश, सुभगादेययशस्कीर्तय उच्चैर्गोत्रं पञ्चान्तरायप्रकृतय. केवलज्ञानावरणीयं निद्रा प्रचला चेति पञ्चविंशतिप्रकृतय परिणामप्रत्ययाः।३०६। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानावरणचतुष्टयं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणत्रय सातासातवेदनीयद्वयं मनुष्यायुर्मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गाद्यसंहननत्रयषट्संस्थानोपघातपरघातोच्छ्वासविहायोगतिद्वयप्रत्येकत्रसबादरपर्याप्तस्वरद्वयनामप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरिति चतुस्त्रिंशत्प्रकृतिभवप्रत्यया।३०७। —१. तैजस, कार्माण शरीर, वर्णादि ४. स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, अगुरुलघु, निर्माण ये नामकर्मकी ध्रुवोदयी १२ प्रकृति अर सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच अन्तराय, केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण अर निद्रा, प्रचला ये पचीस प्रकृति **परिणाम प्रत्यय** है।३०६। २. अवशेष ज्ञानावरणकी ४, दर्शनावरणकी ३, वेदनीयकी २, मनुष्यायु, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, आदिके तीन संहनन, ६ संस्थान, उपघात, परघात, उच्छ्वास, विहायोगति दो, प्रत्येक, त्रस, बादर, पर्याप्त, स्वरकी दोय ऐसे ३४ प्रकृति **भव प्रत्यय** है।

ध.६/१,९-८,१०/२९३/२६ पर विशेषार्थ—**परभविक** नामकर्म...की प्रकृतियाँ कमसे कम २७ और अधिकसे अधिक ३० होती हैं।—१. देवगति, २. पंचेन्द्रिय जाति, ३-६ औदारिक शरीरको छोड़कर चार शरीर, ७. समचतुरस्रसंस्थान, ८. वैक्रियिक और ९. आहारक अंगोपांग १०. देवगत्यानुपूर्वी, ११. वर्ण, १२. गन्ध, १३. रस, १४. स्पर्श, १५-१८. अगुरुलघु आदि चार, १९. प्रशस्त विहायोगति, २०-२३. त्रसादि चार, २४. स्थिर, २५. शुभ, २६. सुभग, २७. सुस्वर, २८. आदेय, २९. निर्माण और ३०. तीर्थंकर। इनमेंसे आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर, ये तीन प्रकृतियाँ जब नहीं बँधती तब शेष २७ ही बँधती हैं।

४. बन्ध व अबन्ध योग्य प्रकृतियोंकी अपेक्षा

१. बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

पं. सं./प्रा./२/५ पंच णव दोण्णि छव्वीसमवि य चउरो कमेण सत्तट्ठी। दोण्णि य पंच य भणिया एयाओ बंधपयडीओ।५। —ज्ञानावरणीयकी पाँच, दर्शनावरणीयकी नौ, वेदनीयकी दो, मोहनीयकी छब्बीस, आयुकर्मकी चार, नामकर्मकी सड़सठ, गोत्रकर्मकी दो और अन्तरायकर्मकी पाँच, इस प्रकार १२० बँधने योग्य उत्तर प्रकृतियाँ कही गयी हैं।५। (गो.क./मू./३५/४०)।

गो. क./मू./३७/४१ भेदे छादालसयं इदरे बंधे हवंति वीससयं। —भेद विवक्षासे मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति बिना १४६ प्रकृतियाँ बन्ध योग्य हैं। अर अभेद विवक्षासे १२० प्रकृतियाँ बन्ध योग्य हैं।

२. बन्ध अयोग्य प्रकृतियाँ

पं. सं./प्रा./२/६ वण्ण-रस-गंध-फासा चउ चउ इगि सत्त सम्मामिच्छत्तं। होंति अबंधा बंधण पण पण संघाय सम्मत्तं।६। —चार वर्ण, चार रस, एक गन्ध, सात स्पर्श, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति, पाँच बन्धन और पाँच संघात, ये अट्ठाईस (२८) प्रकृतियाँ बन्धके अयोग्य होती हैं।६।

५. सान्तर निरन्तर व उभय बन्धीकी अपेक्षा

पं. सं./३/७४-७७ तित्थयराहारदुअं चउ आउ धुवा य बेइ चउवण्णं। एयाणं सव्वाणं पयडीणं णिरंतरो बंधो।७४। संठाणं संघयणं अंतिमदसयं च साइ उज्जोयं। इगिविगलिंदिय थावर संढित्थी अरइ सोय अयसं च।७५। दुब्भग दुस्सरमसुभं सुहुमं साहारणं अपज्जत्तं। णिरयदुअमणादेयं असायमथिरं विहायमपसत्थं।७६। चउतीसं पयडीणं बंधो णियमेण संतरो भणिओ। बत्तीस सेसियाणं बंधो समयम्मि उभओ वि।७७।

ध. ८/३,६/१८/२ तासिं णामणिद्देसो कीरदे। तं जहा—सादावेदणीय-पुरिसवेद-हस्स-रदि-तिरिक्खगइ-मणुस्सगइ-देवगइ-पंचिंदिय-जादि-ओरालिय-वेउव्विय-सरीर-समचउरसमंठाण-ओरालिय-वेउव्विय-सरीर-अंगोवंग-वज्जरिसह-वइरणारायणसरीरसंघडण-तिरिक्खगइ-मणुस्सगइ-देवगइपाओग्गाणुपुव्वि-परघादुस्सास-पसत्थ-विहायगइ-तस-बादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-थिर-सुह-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकित्ति-णीचुच्चागोदमिदि सांतर-णिरंतरेण बज्झमाणपयडीओ। —१. तीर्थंकर, आहारकद्विक, चारों आयु, और ध्रुवबन्धी सैंतालीस प्रकृतियाँ, इन सब चौवन प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध होता है।७४। २. अन्तिम पाँच संस्थान, अन्तिम पाँच संहनन, साता वेदनीय, उद्योत, एकेन्द्रिय जाति, तीन विकलेन्द्रिय जातियाँ, स्थावर, नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, अरति, शोक, अयशःकीर्ति, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, नरकद्विक, अनादेय, असाता वेदनीय, अस्थिर, और अप्रशस्त विहायोगति; इन चौंतीस प्रकृतियोंका नियमसे सान्तर बन्ध कहा गया है।७५-७६। (ध. ८/३,६/१६/६)। ३. शेष बची बत्तीस प्रकृतियोंका बन्ध परमागममें उभय रूप अर्थात् सान्तर और निरन्तर कहा गया है।७७। उनका नाम निर्देश किया जाता है। वह इस प्रकार है—साता-वेदनीय, पुरुष वेद, हास्य, रति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, समचतुरस्र-संस्थान, औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, वज्रर्षभनाराचशरीर संहनन, तिर्यग्मनुष्य व देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति, नीच गोत्र, उच्चगोत्र, ये सान्तर-निरन्तर रूपसे बँधनेवाली हैं। (ध.८/३,६/गा./१७-१९/१७), (गो.क./मू./४०४-४०७/५६८), (पं.सं./सं./३/९३-१०१)

६. सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४/२३५-२३६ साइ अणाइ य धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्मछक्कस्स। तइए साइयसेसा अणाइधुव सेसओ आऊ।२३५। उत्तरपयडीसु तहा धुवियाणं बंध चउवियप्पो दु। सादिय अद्धुवियाओ सेसा परियत्तमाणीओ।२३६। —१. मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छह कर्मोंका सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकारका बन्ध होता है। वेदनीय कर्मका सादि बन्धको छोड़कर शेष तीन प्रकारका बन्ध होता है। आयुकर्मका अनादि और ध्रुव बन्धके सिवाय शेष दो प्रकारका बन्ध होता है।२३५। २. उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा—उत्तर प्रकृतियोंमें जो सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं, उनका चारों प्रकारका बन्ध होता है। तथा शेष बची जो तेहत्तर प्रकृतियाँ हैं, उनका सादिबन्ध और अध्रुव बन्ध होता है।२३६। (गो. क./मू./१२४/१२६)।

७. ध्रुव व अध्रुव बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४/२३७ आवरण विग्घ सव्वे कसाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचदुं। भयणिंदागुरुतेयाकम्मुवघायं धुवाउ सगदालं।२३७।

१ ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, सभी अर्थात् सोलह कषाय, मिथ्यात्व, निर्माण, वर्णादि चार, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, और उपघात; ये सैंतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं।२३७। (पं. सं./प्रा./२/६); (पं. सं./सं./२/४२-४३); (पं. सं./सं./४/१०७-१०८); (गो. क./जी. प्र./१२४/१२६/६)।

२. अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—निष्प्रतिपक्ष और सप्रतिपक्षके भेदसे परिवर्तमान (अध्रुवबन्धी) प्रकृतियोंके दो भेद हैं। अतः देखो 'अगला शीर्षक'।

८. सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./२३८-२४० परघादुस्सासाणं आयावुज्जोवमाउ चत्तारि। तित्थयराहारदुयं एक्कारस होंति सेसाओ।२३८। सादियरं वेयावि हस्सादिचउक्क पंच जाईओ। संठाणं संघयणं छच्छक्क चउक्क आणुपुव्वीय य।२३९। गइ चउ दोय सरीरं गोयं च य दोण्णि अंगवंगा य।२३९। दह जुयलाण तसाइं गयणगइदुअं बिसट्ठिपरिवत्ता।२४०।

१. निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियाँ—परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, चारों आयु, तीर्थंकर और आहारक द्विक ये ग्यारह अध्रुव निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियाँ हैं।२३८। (पं. सं./प्रा./२/१०); (गो. क./मू./१२५); (पं. सं./सं./२/४४), (पं. सं./सं./४/१०९-११०)।

२. सप्रतिपक्ष प्रकृतियाँ—साता वेदनीय, असाता वेदनीय, तीनों वेद, हास्यादि चार (हास्य, रति, अरति, और शोक), एकेन्द्रियादि ५ जातियाँ, छह संस्थान, छह संहनन, ४ आनुपूर्वी, ४ गति, औदारिक और वैक्रियक ये दो शरीर तथा इन दोनोंके दो अंगोपांग, दो गोत्र, त्रसादि दश युगल (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति ये २०) और दो विहायोगति, ये बासठ सप्रतिपक्ष अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ हैं।२३९-२४०। (पं. स./प्रा./२/११-१२), (गो. क./मू./१२५/१२७); (पं. सं./सं./२/४५-४६); (पं. सं./सं./४/१११-११२)

९. अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./३४/३१ देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया। वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये।३४। —पाँचों प्रकारके शरीरोंका अपना-अपना बन्धन व संघात अविनाभावी है। इसलिए बन्ध और उदयमें पाँच बन्धन व पाँच संघात ये दसों जुदे न कहे शरीर प्रकृति विषै गर्भित किये। तथा अभेद विवक्षासे वर्णादिककी मूलप्रकृति चार ही ग्रहण कीं, २० नहीं।

३. प्रकृति बन्ध निर्देश

१. आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण

पं. सं./प्रा./२/३ पड पडिहारसिमज्जाहडि चित्त कुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा।३। —पट (देव-मुखका आच्छादक वस्त्र) प्रतीहार (राजद्वारपर बैठा हुआ द्वारपाल) असि (मधुलिप्त तलवार) मद्य (मदिरा) हडि (पैर फँसानेका खोड़ा) चित्रकार (चितेरा) कुम्भकार और भण्डारी (कोषाध्यक्ष) इन आठोंके जैसे अपने-अपने कार्य करनेके भाव होते हैं, उस ही प्रकार क्रमशः कर्मोंके भी स्वभाव समझना चाहिए।३। (गो. क./मू./२१/१५); (गो. क./जी. प्र./२०/१३/१३); (द्र. सं./टी./३३/९२/८)।

२. पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य

प. प्र./मू./२/६३ पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु। मिस्सें माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु।६३। —यह जीव पापके उदयसे नरकगति और तिर्यंच गति पाता है, पुण्यसे देव होता है, पुण्य और पापके मेलसे मनुष्य गतिको पाता है, और दोनोंके क्षयसे मोक्षको पाता है। (और भी-दे०—'पुण्य' व 'पाप')।

३. अघातिया कर्मोंका कार्य

क. पा. १/१,१/७०/१६ पर विशेषार्थ—जिनके उदयका प्रधानतया कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीको प्रस्तुत करना है, उन्हें अघातिया-कर्म कहते हैं।

दे० वेदनीय/२ (वेदनीयकर्मके कारण नाना प्रकारके शारीरिक सुख दुःख-के कारणभूत बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है।)

४. प्रकृति बन्ध विषयक शंका-समाधान

१. बध्यमान व उपशान्त कर्ममें 'प्रकृति' व्यपदेश कैसे

ध. १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मनः इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्तेः।…उदीर्णस्य भवतु नाम प्रकृतिव्यपदेशः, फलदातृत्वेन परिणतत्वात्। न बध्यमानोपशान्तयोः, तत्र तदभावादिति। न, त्रिष्वपि कालेषु प्रकृति शब्दसिद्धेः। तेण जो कम्मक्खंधो जोवस्स वट्टमाणकाले फलं देइ जो च देइस्सदि, एदेसिं दोण्णं पि कम्मक्खंधाणं पयडित्तं सिद्धं। अथवा, जहा उदिण्णं वट्टमाणकाले फलं देदि, एवं बज्झमाणुवसंतापि वि वट्टमाणकाले वि देंति फलं, तेहि विणा कम्मोदयस्स अभावादो।…भूदभविस्सपज्जायाणं वट्टमाणत्तब्भुवगमादो वा णेगमणयम्मि एसावुप्पत्ती घडदे। —जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है। प्रश्न—उदीर्ण कर्म पुद्गल स्कन्धकी प्रकृति संज्ञा भले ही हो, क्योंकि वह फलदान स्वरूपसे परिणत है। बध्यमान और उपशान्त कर्म-पुद्गल स्कन्धोंकी यह संज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि, उनमें फलदान स्वरूपका अभाव है? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि तीनों ही कालोंमें प्रकृति शब्दकी सिद्धि की गयी है। इस कारण जो कर्म-स्कन्ध वर्तमान कालमें फल देता है और भविष्यतमें फल देगा, इन दोनों ही कर्म स्कन्धोंकी प्रकृति संज्ञा सिद्ध है। २. अथवा जिस प्रकार उदय प्राप्त कर्म वर्तमान कालमें फल देता है, उसी प्रकार बध्यमान और उपशम भावको प्राप्त कर्म भी वर्तमान कालमें भी फल देते हैं, क्योंकि, उनके बिना कर्मोदयका अभाव है। ३. अथवा भूत व भविष्यत् पर्यायोंको वर्तमान रूप स्वीकार कर लेनेसे नैगम नयमें यह व्युत्पत्ति बैठ जाती है।

२. प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका

ध. ६/१,९-१,१३/१४/५ अट्ठेव मूलपयडीओ। तं कुदो णव्वदे। अट्ठ-कम्मजणिदकज्जेहिंतो पुधभूदकज्जस्स अणुवलंभादो। —प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ ही हैं? उत्तर—आठ कर्मोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्योंसे पृथग्भूत कार्य पाया नहीं जाता, इससे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ ही हैं।

नोट—(उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका समाधान—दे०—उस उस मूल प्रकृतिका नाम)।

३. एक ही कर्म अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है

स. सि./८/४/३८१/२ एकेनात्मपरिणामेनादीयमानाः पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृदुपभुक्तान्नपरिणामरसरुधिरादिवत्। —एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्मपरिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरणादि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं। (गो. क./जी. प्र./३३/२७/४)।

रा. वा./८/४/३,७/५६८/६ यथा अन्नादेरभ्यवह्रियमाणस्यानेकविकार-समर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभागः तथा प्रयोगापेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणानुभवन-मोहापादन-भवधारण-नानाजातिनामगोत्र-व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि संनिधानं प्रतिपद्यन्ते।३। …यथा अम्भो नभसः पतदेकरसं भाजनविशेषात् विष्वग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युपरोधस्वभावाविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते।७। —१. जिस प्रकार खाये हुए

भोजनका अनेक विकारमें समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल, रस आदि रूपसे परिणमन हो जाता है। उसी तरह बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, नाना जाति नाम गोत्र और अन्तराय आदि शक्तियोंसे युक्त होकर आत्मासे बन्ध जाते हैं।३। २. जैसे—मेघका जल पात्र विशेषमें पड़कर विभिन्न रसोंमें परिणमन कर जाता है (अथवा हरित पल्लव आदि रूप परिणमन हो जाता है। (प्र. सा.) उसी तरह ज्ञान शक्तिका उपरोध करनेसे ज्ञानावरण सामान्यतः एक होकर भी अवान्तर शक्ति भेदसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि रूपसे परिणमन करता है। इसी तरह अन्य कर्मोंका भी मूल और उत्तर प्रकृति रूपसे परिणमन हो जाता है।

ध. १२/४,२,८,११/२८७/१० कम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खंधा एयसरूवा कधं जीवसंबंधेण अट्ठभेदमाढउक्कंते। ण, मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगपच्चयावट्ठभबलेण समुप्पण्णट्ठसत्तिसंजुत्तजीवसंबंधेण कम्मइयपोग्गलक्खंधाणं अट्ठकम्मायारेण परिणमणं पडिविरोहाभावादो। —प्रश्न—कार्मण वर्गणाके पौद्गलिक स्कन्ध एक स्वरूप होते हुए जीवके सम्बन्धसे कैसे आठ भेदको प्राप्त होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई आठ शक्तियोंसे संयुक्त जीवके सम्बन्धसे कार्मण पुद्गल-स्कन्धोंका आठ कर्मोंके आकारसे परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

४. एक ही पुद्गल कर्ममें अनेक कार्य करनेकी शक्ति कैसे

रा. वा./८/४/१-१४/५६८/२६ पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदुःखादिनिमित्तत्वानुपपत्तिविरोधात्।१। न वा, तत्स्वाभाव्यादग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत्।१०। अनेकपरमाणुस्निग्धरूक्षबन्धापादितानेकात्मकस्कन्धपर्यायार्थादेशात् स्यादनेकम्। ततश्च नास्ति विरोधः।११। पराभिप्रायेणेन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीराद्युपयोगे वृद्धिवत्।...यथा पृथिव्यप्तेजोवायुभिरारब्धानामिन्द्रियाणां भिन्नजातीयानां क्षीरघृतादिरेकमप्युपयुज्यमानम् अनुग्राहकं दृष्टं तथेदमपि इति।१२। वृद्धिरेकैव, तस्या घृताद्यनुग्राहकमिति न विरोध इति; तन्न, किं कारणम्। प्रतीन्द्रियं वृद्धिभेदात्। यथैवेन्द्रियाणि भिन्नानि तथैवेन्द्रियवृद्धयोऽपि भिन्नाः।१३। यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रह:, तथैव आत्मकर्मणोश्चेतनाचेतनत्वात् अतुल्यजातीयं कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम्। —प्रश्न—पुद्गल द्रव्य जब एक है तो वह आवरण और सुख-दुःखादि अनेक कार्योंका निमित्त नहीं हो सकता? उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। जैसे एक ही अग्निमें दाह, पाक, प्रताप और सामर्थ्य है उसी तरह एक ही पुद्गलमें आवरण और सुख दुःखादिमें निमित्त होनेकी शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है। २. द्रव्य दृष्टिसे पुद्गल एक होकर भी अनेक परमाणुके स्निग्धरूक्ष बन्धसे होनेवाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। ३. जिस प्रकार वैशेषिकके यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु परमाणुओंसे निष्पन्न भिन्न जातीय इन्द्रियोंका एक ही दूध या घी उपकारक होता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। ४. जैसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं वैसे उनमें होनेवाली वृद्धियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पृथिवी जातीय दूधसे तेजो जातीय चक्षुका उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्न जातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

५. आठों प्रकृतियोंके निर्देशका यही क्रम क्यों

रा. वा./८/४/१६-२३,५६९/२० क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात्। ततो दर्शनावरणमनाकारोपलब्धेः।...साकारोपयोगाद्धि अनाकारोपयोगो निकृष्यते अनभिव्यक्तग्रहणात्। उत्तरेभ्यस्तु प्रकृष्यते अर्थोपलब्धितन्त्रत्वात्।१७। तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात्।...ज्ञानदर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिव्यप्रवृत्तेः।१८। ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात्।...क्वचिद्विरोधदर्शनात्...न सर्वत्र। मोहाभिभूतस्य हि कस्यचित् हिताहितविवेकादिर्नास्ति।१९। आयुर्वचनं तत्समीपे तन्निबन्धनत्वात्।...आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिनां सुखादीनि।२०। तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात् प्रायो नामोदयस्य।२१। ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्तेः।२२। परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम्।२३। —१. ज्ञानसे आत्माका अधिगम होता है अतः स्वाधिगमका निमित्त होनेसे वह प्रधान है, अतः ज्ञानावरणका सर्वप्रथम ग्रहण किया है।१६। २. साकारोपयोग रूप ज्ञानमें अनाकारोपयोगरूप दर्शन अप्रकृष्ट है परन्तु वेदनीय आदिसे प्रकृष्ट है क्योंकि उपलब्धि रूप है, अतः दर्शनावरणका उसके बाद ग्रहण किया।१७। ३. इसके बाद वेदनाका ग्रहण किया है, क्योंकि, वेदना ज्ञान-दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, घटादि रूप विपक्षमें नहीं पायी जाती।१८। ४. ज्ञान, दर्शन और सुख-दुःख वेदनाका विरोधी होनेसे उसके बाद मोहनीयका ग्रहण किया है। यद्यपि मोही जीवोंके भी ज्ञान, दर्शन, सुखादि देखे जाते हैं फिर भी प्रायः मोहाभिभूत प्राणियोंको हिताहितका विवेक आदि नहीं रहते। अतः मोहका ज्ञानादिसे विरोध कह दिया है।१९। ५. प्राणियोंको आयु निमित्तक सुख-दुःख होते हैं। अतः आयुका कथन इसके अनन्तर किया है। तात्पर्य यह है कि प्राणधारियोंको ही कर्म निमित्तक सुखादि होते हैं और प्राण धारण आयुका कार्य है।२०। ६. आयुके उदयके अनुसार ही प्रायः गति आदि नामकर्मका उदय होता है अतः आयुके बाद नामकर्मका ग्रहण किया है।२१। ७. शरीर आदिकी प्राप्तिके बाद ही गोत्रोदयसे शुभ अशुभ आदि व्यवहार होते हैं। अतः नामके बाद गोत्रका कथन किया गया है।२२। ८. अन्य कोई कर्म बचा नहीं है अतः अन्तमें अन्तराय का कथन किया गया है।२३।

गो. क./मू./१६-२० अब्भरहिदादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि। सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे।१६। आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु। भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोदं णामपुव्वं तु।१८। णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीयमोहणीयं। आवरणाणं णोदंतरायमिदि पढिदमिदि सिद्धं।२०। —१. आत्माके सब गुणोंमें ज्ञानगुण पूज्य है, इस कारण सबसे पहले कहा। उसके पीछे दर्शन, तथा उसके भी पीछे सम्यक्त्वको कहा है। तथा वीर्य शक्ति रूप है। वह जीव व अजीव दोनोंमें पाया जाता है। जीवमें तो ज्ञानादि शक्तिरूप, और अजीव-पुद्गलमें शरीरादिकी शक्ति रूप रहता है। इसी कारण सबसे पीछे कहा गया है। इसीलिए इन गुणोंके आवरण करनेवाले कर्मोंका भी यही क्रम माना है।।१६। २. (अन्तराय कर्म कथंचित् अघातिया है, इसलिए उसको सर्व कर्मोंके अन्तमें कहा है) दे० अनुभाग/३/५। ३. नामकर्मका कार्य चार गति रूप शरीरकी स्थिति रूप है। वह आयुकर्म बलसे ही है। इसलिए आयुकर्मको पहले कहकर पीछे नामकर्मको कहा है। और शरीरके आधारसे ही नीचपना व उत्कृष्टपना होता है, इस कारण नामकर्मको गोत्रके पहले कहा है।१८। ४. (वेदनीयकर्म कथंचित् घातिया है। इसलिए उसको घातिया कर्मोंके मध्यमें कहा। दे० अनुभाग/३/४)। ५. इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय यह कर्मोंका पाठक्रम सिद्ध हुआ।२०।

६. ध्रुवबन्धी व निरन्तरबन्धी प्रकृतियोंमें अन्तर

ध. ८/३,६/१७/७ णिरंतरबंधस्स धुवबंधस्स को विसेसो। जिस्से पयडीए पच्चओ जत्थ कत्थ वि जीवे अणादिधुवभावेण लब्भइ सा धुवबंधपयडी। जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि-अद्धुओ अंतोमुहुत्तादिकालावट्ठाई सा णिरंतरबंधपयडी। —प्रश्न—निरन्तर बन्ध और ध्रुवबन्धमें क्या भेद है? उत्तर—जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एवं ध्रुव भावसे पाया जाता है। वह ध्रुवबन्ध प्रकृति है, और जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एवं अध्रुव तथा

अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अवस्थित रहनेवाला है वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है।

७. प्रकृति और अनुभागमें अन्तर

ध. १२/४,२,७,२११/११/७ पयडी अणुभागो किण्ण होदि। ण, जोगादो उप्पज्जमाणपयडीए कसायदो उप्पत्तिविरोहादो। ण च भिण्णकारणाणं कज्जाणमेयत्तं, विप्पडिसेहादो। किं च अणुभागवुड्ढी पयडिवुड्ढिणिमित्ता, तीए महंतीए संतीए पयडिकज्जस्स अण्णाणादियस्स वुड्ढिदंसणादो। तम्हा ण पयडी अणुभागो त्ति घेत्तव्वो। —प्रश्न—प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं हो सकती? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, प्रकृति योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है, अतएव उसकी कषायसे उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है। भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंमें एकरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि इसका निषेध है। दूसरे, अनुभागकी वृद्धि प्रकृतिकी वृद्धिमें निमित्त होती है, क्योंकि, उसके महान् होनेपर प्रकृतिके कार्य रूप अज्ञानादिककी वृद्धि देखी जाती है। इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, ऐसा जानना चाहिए।

५. प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. युगपत् बन्ध योग्य सम्बन्धी—(गो. क./जी. प्र./८००/९७६/५)।

(प्रत्यनीक, अन्तराय, उपघात, प्रद्वेष, निह्नव, आसादन) ये जहाँ युगपत् ज्ञानावरण वा दर्शनावरण दोनोंके बन्धको कारण हैं।

२. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(ध. ८/३३/५)।

(विवक्षित उत्तर प्रकृतिके बन्धकालके क्षीण होनेपर नियमसे (उसी मूल प्रकृतिकी उत्तर) प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है।

३. ध्रुव अध्रुव बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(ध. ८/२१/४०)।

मूल नियम—(ओघ अथवा आदेश जिस गुणस्थानमें प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध होता है उस ओघ या मार्गणा स्थानके उस गुणस्थानमें उन प्रकृतियोंका अध्रुव बन्धका नियम जानना। तथा जिस स्थानमें केवल एक ही प्रकृतिका बन्ध है, प्रतिपक्षीका नहीं, उस स्थानमें ध्रुव ही बन्ध जानो। यह प्रकृतियाँ ऐसी हैं जिनका बन्ध एक स्थानमें ध्रुव होता है तथा किसी अन्य स्थानमें अध्रुव हो जाता है।

४. विशेष प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम—(ध. ८/पृ.); (गो. क./जी. प्र./भा./पृ.)।

प्रमाण	प्रकृति	बन्ध सम्बन्धी नियम
१—२ ज्ञान दर्शनावरण		
गो./८००/९८६	ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी	दोनों युगपत् बँधती हैं।
३. वेदनीय		
ध./११८/४०	साता	नरकगतिके साथ न बँधे शेष गतिके साथ बँधे।
ध./११८	असाता	चारों गति सहित बँधे।
ध. ११/३१२	साता, असाता	दोनों प्रतिपक्षी हैं एक साथ न बँधे।
४. मोहनीय		
ध./५४	पुरुष वेद	नरक गति सहित न बँधे।
ध./६०	हास्य, रति	"
विशेष दे० आगे शीर्षक नं० ६		
५. आयु		
गो./६३१/८३६	तिर्यंचायु	सप्तम पृथ्वीमें नियमसे बँधे।
गो./६४५/९०५	मनुष्यायु	तेज, वात, कायको न बँधे।
ध./६३,६५	आयु सामान्य	उस उस गति सहित ही बँधे।
६. नाम		
गो./७४५/८९९	नरक, देवगति	मनुष्य तिर्यंच पर्याप्त ही बँधे अपर्याप्त नहीं।
गो./७४५/९०३	एकेन्द्रि० जाति अप०	देव नारकी न बाँधे अन्य त्रस स्थावर बाँधते हैं।
गो./७४६/७०८	औ० व औ० मिश्र शरीर	देव नरक गति सहित न बँधे।
ध./६१	वै० शरीर	देव नरक गति सहित ही बँधे।
पं. सं./प्रा./३/६८	तीर्थंकर	सम्यक्त्व सहित ही बँधे।
पं. सं./प्रा./३/६८	आ० द्विक	संयम " "
गो./५२८/६८६	अंगोपांग सा०	त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त सहित ही बँधे।
ध./६१	वैक्रि० अंगोपांग	नरक देव गति सहित ही बँधे
	औ० "	तिर्यंच मनुष्यगति सहित ही बँधे।
गो./५२८/६८६	संहनन सामान्य	त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त प्रकृति सहित ही बँधे।
ध./६१	आनुपूर्वी सामान्य	उस उस गति सहित ही बँधे, अन्य गति सहित नहीं।
गो./५२८/६८६	परघात	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे।
गो./५२४/६८३	आतप	पृथिवीकाय पर्याप्त सहित ही बँधे।
गो./५२४/६८३	उद्योत	तेज, वात, साधारण वनस्पति, बादर, सूक्ष्म तथा अन्य सर्व सूक्ष्म नहीं बाँधते अन्यत्र बँधती हैं।
गो./५२८/६८६	उच्छ्वास	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे।
"	प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति	त्रस पर्याप्त सहित ही बँधे।
"	सुस्वर-दुस्वर	"
ध./७४	स्थिर	नरक गतिके साथ न बँधे।
"	शुभ	"
ध./२८	यशःकीर्ति	"
ध./७४	तीर्थंकर	नरक व तिर्यंचगतिके साथ न बँधे।
विशेष दे० आगे शीर्षक नं० ७		
७. गोत्र		
ध./२२	उच्चगोत्र	नरक तिर्यंच गतिके साथ न बँधे।

नोट—जहाँ नियम नहीं कहा वहाँ सर्वत्र ही बन्ध सम्भव जानना।

५. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी नियम—(ध. ८/पृ.)

प्रमाण	प्रकृति	निरन्तर बन्धके स्थान
१. वेदनीय		
	साता	
२. मोहनीय		
५८,२८२,३१४	पुरुष वेद	पद्म शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १-२ गुणस्थान तक
६०	हास्य	७-८ गुणस्थान
६०	रति	,,
३. नाम		
३३,१६६,१६८, १६४,३३२	तिर्यंचगति	तेज, वात, काय, सप्त पृ०, तेज, वात कायसे उत्पन्न हुए, नि. अप. जीव या अन्य यथायोग्य मार्गणागत जीव ।
२११,२३४,२५२, ३१५,३२२,२१८	मनुष्यगति	आनतादि देव, तथा सासादनसे ऊपर, तथा आनतादिसे आकर उत्पन्न हुए यथा योग्य प. व नि. अप. आदि कोई जीव।
६८,२५६,३१४, ६६,२०८	देवगति पंचे० जाति	भोग भूमिया ति. मनुष्य तथा सासादनसे ऊपर। सनत्कुमारादिदेव, नारकी, भोग भूमिज, तिर्यंच, मनुष्य। तथा सासादनसे ऊपर। तथा उपरोक्त देवोंमे आकर उत्पन्न हुए पर्याप्त व नि. अप. जीव (पृ. २५६) अन्य कोई भी योग्य मार्गणागत जीव।
७,२११,३८२, ३१५	औ० शरीर	सनत्कुमारादि देव, नारकी व वहाँसे आकर उत्पन्न हुए यथायोग्य प.नि.अप. जीव। तथा सासादनसे ऊपर या अन्य कोई भी मार्गणागत जीव। तेज, वात काय।
—	वै० शरीर	देवगतिवत्।
—	औ०वै० अंगोपांग	औदारिक वैक्रियक शरीरवत्
६८,२५६	समचतुरस्र सं०	देवगतिवत्
४७	वज्र ऋषभ नाराच	सर्वदेवनारकी।
—	ति०, मनु० देव-गत्यानुपूर्वी	उस उस गतिवत्
६६,१६१	परघात	पंचेन्द्रिय जातिवत्
,,	उच्छ्वास	,,
६८,२५६,३१४	प्र० विहायोगति	देवगतिवत्
६६,२११	प्रत्येक	पंचेन्द्रियजातिवत्
६६,२०८	त्रस	,,
६८,२५६,३१४	सुभग	देवगतिवत्
,,	सुस्वर	,,
६६,२११	बादर	पंचेन्द्रियवत्
,,	पर्याप्त	,,
६६	स्थिर	प्रमत्त संयतसे ऊपर
६८,२५६,३१४	आदेय	देवगतिवत्
६६	शुभ यशःकीर्ति	प्रमत्त संयतसे ऊपर
४. गोत्र		
२४४,२८२,३१४	उच्च गोत्र	पद्म, शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १-२ गुणस्थान।
२८		नरक व तिर्यंचगतिके साथ नहीं बँधता।
१६६-१७६,३४ ३४	नीच गोत्र	तिर्यंचगतिवत्। तेज व वायुकाय तथा सप्तम पृथिवीमें निरन्तर बन्ध होता है।

६. मोह प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. क्रोधादि चतुष्कको बन्ध व्युच्छित्ति सम्बन्धी दृष्टि भेद

ध. ८/३.२४/५६/७ कोधसंजलणे विणट्ठे जो अवसेसो अणियट्ठिअद्धाए संखेज्जादिभागो तम्हि संखेज्जे खंडे कदे तत्थ बहुभागे गंतूण एय-भागावसेसे माणसंजलणस्स बंधवोच्छेदो। पुणो तम्हि एगखंडे संखेज्जखंडे कदे तत्थ बहुखंडे गंतूण एगखंडावसेसे मायासंजलणबंध-वोच्छेदो त्ति। कधमेदं णव्वदे। 'सेसे सेसे संखेज्जे भागे गंतूणेत्ति' विच्छाणिद्देसादो। कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ, किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो, इदमेव तं चेव सच्चमिदि सुदकेवलीहि पच्चक्खणाणीहि वा विणा अवहारिज्जमाणे मिच्छत्तप्पसंगादो। —संज्वलन क्रोधके विनष्ट होनेपर जो शेष अनिवृत्तिबादरकालका संख्यातवाँ भाग रहता है उसके संख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत भागोंको बिताकर एक भाग शेष रहनेपर संज्वलन मानका बन्ध व्युच्छेद होता है। पुनः एक खण्डके संख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत खण्डोंको बिताकर एक खण्ड शेष रहनेपर संज्वलन मायाका बन्ध व्युच्छेद होता है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—'शेष शेषमें संख्यात बहुभाग जाकर' इस वीप्सा अर्थात् दो बार निर्देशसे उक्त प्रकार दोनों प्रकृतियोंका व्युच्छेद काल जाना जाता है। प्रश्न—कषाय प्राभृतके सूत्रसे तो यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता? उत्तर—ऐसी आशंका होनेपर कहते हैं कि सचमुचमें कषाय प्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र विरुद्ध है, परन्तु यहाँ एकान्तग्रह नहीं करना चाहिए, क्योंकि, 'यही सत्य है' या 'वही सत्य है' ऐसा श्रुतकेवलियों अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानियोंके बिना निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसंग होगा।

२. हास्यादिके बन्ध सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. ८/३.२८/६०/१० णवरि हस्स-रदीओ तिगइसंजुत्तं बंधइ, तब्बंधस्स णिरयगइबंधेण सह विरोहादो। —इतना विशेष है कि हास्य और रतिको तीन गतियोंसे संयुक्त बाँधता है, क्योंकि इनके बन्धका नरकगतिके बन्धके साथ विरोध है।

क. पा. ३/३.२२/१६८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्माणि उक्कस्ससंकिलेसेण किण्ण बज्झंति। ण साहावियादो। —प्रश्न—ये स्त्री वेदादि चारों

कर्म उत्कृष्ट संक्लेशसे क्यों नहीं बँधते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेशसे नहीं बँधनेका इनका स्वभाव है।

क. पा. ३/३,२२/§४८७/२७०/६ उक्कस्सट्ठिदिबंधकाले एदाओ किण्ण बज्झंति। अच्चसुहत्ताभावादो साहावियादो वा। —प्रश्न—उत्कृष्ट स्थितिके बन्धकालमें ये चारों (क. पा. ३/३,२२/चूर्ण सूत्र/§४८५/२७०) (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) प्रकृतियाँ क्यों नहीं बँधती हैं ? उत्तर—१. क्योंकि यह प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ नहीं हैं इसलिए उस कालमें इनका बन्ध नहीं होता। २. अथवा उस समय न बँधनेका इनका स्वभाव है।

७. नामकर्मकी प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. गति नामकर्म

ध. ८/३,८/३३/८ तेउक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाइट्ठीणं सत्तमपुढविणेरइयमिच्छाइट्ठीणं च भवपडिबद्धसंकिलेसेण णिरंतरबंधोवलंभादो। ...सत्तमपुढविसासणाण तिरिक्खगई मोत्तूणण्णगईणं बंधाभावादो।

ध. ८/३,१८/४७/४ आणदादिदेवेसु णिरंतरबंधं लद्धूण अण्णत्थ सांतरबंधुवलंभादो।

ध. ८/२,१४५/२०८/१० अपज्जत्तद्धाए तासिं बंधाभावादो। —तैजसकायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियों तथा सप्तम पृथिवीके नारकी मिथ्यादृष्टियोंके भवसे सम्बन्ध संक्लेशके कारण उक्त दोनों (तिर्यग्द्वय) प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है।...सप्तम पृथ्वीके सासादन सम्यग्दृष्टियोंके तिर्यग्गतिको छोड़कर अन्य गतियोंका बन्ध नहीं होता/३३/८) आनतादि देवोंमें (मनुष्यद्विकको) निरन्तर बन्धको प्राप्तकर अन्यत्र सान्तर बन्ध पाया जाता है/४७/४) अपर्याप्त कालमें उनका (देव व नरक गतिका) बन्ध नहीं होता। (गो. क./जी. प्र./५४६/७०८/१)।

ध. ६/१,९-२,६२/१०३/२ णिरयगईए सह जासिमक्कमेण उदओ अत्थि ताओ णिरयगईए सह बंधमागच्छंति त्ति केइं भणंति, तण्ण घडदे। —कितने ही आचार्य यह कहते हैं कि नरकगति नामक नामकर्मकी प्रकृतिके साथ जिन प्रकृतियोंका युगपत् उदय होता है, वे प्रकृतियाँ नरकगति नामकर्मके साथ बन्धको प्राप्त होती हैं। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता।

गो. क./जी. प्र./७४५/८९९/५ अष्टाविंशतिकं नरकदेवगतियुतत्वादसंज्ञिसंज्ञितिर्यक्कर्मभूमिमनुष्या एव विग्रहगतिशरीरमिश्रकालावतीत्य पर्याप्तशरीरकाले एव बध्नन्ति। —अठाईसका बन्ध नरक-देवगति युत है। इसलिए असंज्ञी संज्ञी तिर्यंच वा मनुष्य है, ते विग्रहगति मिश्रशरीरको उल्लंघकर पर्याप्त कालमें बाँधता है।

२. जाति नामकर्म

गो. क./जी. प्र./७४५/८९९/१ देवेषु भवनत्रयसौधर्मद्वयजानामेवैकेन्द्रियपर्याप्तयुतमेवं बंधं २५ एव। —भवनत्रिक सौधर्म द्विक देवनिकै एकेन्द्रिय पर्याप्त युत ही पचीसका बन्ध है।

३. शरीर नामकर्म

ध. ८/३,३७/७२/१० अपुव्वस्सुवरिमसत्तमभागे किण्ण बंधो। ण।

गो. क./जी. प्र./५२५/६८४/३ आहारकद्वयं...देवगत्यैव बध्नन्ति। कुतः। संयतबन्धस्थानमितराभिर्गतिभिर्न बध्नातीति कारणात्।

गो. क./जी. प्र./५४६/७०८/१ नात्र देवगत्याहारकद्वययुतं अप्रमत्तापूर्वकरणयोरेव तद्बन्धसंभवात्। —अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें इन (आहारक द्विक) का बन्ध नहीं होता/ध./८) आहारक द्विक देवगति सहित ही बान्धे जातै संयतके योग्य जो बन्धस्थान सो देवगति बिना अन्यगति सहित बान्धै नाहीं। (गो. क./५२५)। देवगति आहारक द्विक सहित स्थान न संभवै है जातैं इसका बन्ध अप्रमत्त अपूर्वकरण विषै ही सम्भवै है।

४. अंगोपांग नामकर्म

ध. ६/१,९-२,७६/११२ एइंदियाणमंगोवंगं किण्ण परूविदं। ण।

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/११ त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तयोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां त्र्यङ्गोपाङ्गानां चैकतरं बन्धयोग्यं नान्येन। —१. एकेन्द्रिय जीवोंके अंगोपांग नहीं होते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तनि विषै एक किसी प्रकृति सहित छह संहनन, तीन अंगोपांग विषै एक-एक बंध हो है।

५. संस्थान नामकर्म

ध. ६/१,९-२,६८/१०८/७ विगलिंदियाणं बंधो उदओ वि हुंडसंठाणमेवेत्ति।

ध. ६/१,९-२,७६/११२/८ एइंदियाणं छ संठाणाणि किण्ण परूविदाणि। ण पच्चवयवपरूविदलक्खणपंचसंठाणाणं समूहसरूवाणं छ संठाणत्थित्तविरोहा। —१. विकलेन्द्रिय जीवोंके हुंडकसंस्थान इस एक प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है। (भावार्थ-तथापि सम्भव अवयवोंकी अपेक्षा अन्य भी संस्थान हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवयवमें भिन्न-भिन्न संस्थानका प्रतिनियत स्वरूप माना गया है। किन्तु आज यह उपदेश प्राप्त नहीं है कि उनके किस अवयवमें कौनसा संस्थान किस आकार रूपसे होता है। (ध. ६/१,९-२१/८/१०७/८ भावार्थ)। २. एकेन्द्रिय जीवोंके छहों संस्थान नहीं बतलाये क्योंकि प्रत्येक अवयवमें प्ररूपित लक्षणवाले पाँच संस्थानोंको समूहस्वरूपसे धारण करनेवाले एकेन्द्रियोंके पृथक् पृथक् छह संस्थानोंके अस्तित्वका विरोध है। (अर्थात् एकेन्द्रिय जीवोंके केवल हुंडकसंस्थान ही होता है।)

६. संहनन नामकर्म

ध. ६/१,९-२,६६/१२३/७ देवगदीए सह छ संघडणाणि किण्ण बज्झंति। ण।

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/१० त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तयोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां...चैकतरं बन्धयोग्यम्। —देवगतिके साथ छहों संहनन नहीं बँधते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तमेंसे एक किसी प्रकृति सहित छह संहननमेंसे...एकका बन्ध होता है।

७. उपघात व परघात नामकर्म

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/१२ पर्याप्तेनैव समं वर्तमानसर्वत्रसस्थावराभ्यां नियमादुच्छ्वासपरघातौ बन्धयोग्यौ नान्येन। —पर्याप्तके साथ वर्तमान सबही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्ध योग्य है, अन्य सहित नहीं।

८. आतप उद्योत नामकर्म

ध. ६/१,९-२,१०२/१२६/१ देवगदीए सह उज्जोवस्स किण्ण बंधो होदि। ण। —देवगतिके साथ उद्योत प्रकृतिका बन्ध नहीं होता।

गो. क./मू. व टी./५२४/६८३ भूबादरपज्जत्तेणादावं बंधजोग्गमुज्जोवं। तेउतिगूणतिरिक्खपसत्थाणं एयदरगेण ।५२४। पृथ्वीकायबादरपर्याप्तेनातपः बन्धयोग्यो नान्येन। उद्योतस्तेजोवातसाधारणवनस्पतिसंबन्धिबादरसूक्ष्माण्यन्यसंबन्धिसूक्ष्माणि च अप्रशस्तत्वात् त्यक्त्वा शेषतिर्यक्संबन्धिबादरपर्याप्तादिप्रशस्तानामन्यतरेण बन्धयोग्यः, ततः पृथ्वीकायबादरपर्याप्तेनातपोद्योतान्यतरयुतं, बादराप्कायपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिपर्याप्तयोरन्यतरेणोद्योतयुतं च षड्विंशतिकं, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्माण्यतरेणोद्योतयुतं त्रिंशत्कं च भवति। —पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित ही आतप प्रकृति बन्धयोग्य है अन्य सहित बन्धै नाहीं। बहुरि उद्योत प्रकृति है सो तेज वायु साधारण वनस्पति सम्बन्धी बादर सूक्ष्म अन्य संबन्धी सूक्ष्म ये अप्रशस्त हैं तातैं इन बिना अवशेष तिर्यंच सम्बन्धी बादर पर्याप्त आदि प्रशस्त प्रकृतिनिविषैं किसी

प्रकृति सहित बन्ध योग्य है तातैं पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित आतप उद्योत विषै एक प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान है, वा बादर अप्कायिक पर्याप्त, प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त विषै किसी करि सहित उद्योत प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान हो है। और बेन्द्री, तेन्द्री, चौन्द्री, पंचेन्द्रियसंज्ञी, पंचेन्द्रिय असंज्ञी विषै किसी एक प्रकृतिकरि सहित उद्योत प्रकृतिसंयुक्त तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान सम्भवै है।

९. उच्छ्वास नामकर्म

गो. क./जी. प्र./५२८/६९६/१२ पर्याप्तेनैव समं वर्तमानसर्वत्रसस्थावराभ्यां नियमादुच्छ्वासपरघातौ बन्धयोग्यौ नान्येन। —पर्याप्त सहित वर्तमान सर्व ही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्धयोग्य है अन्य सहित नहीं।

१०. विहायोगति नामकर्म

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/११ त्रसपर्याप्तबन्धेनैव सुस्वरदुस्वरयोः प्रशस्तविहायोगत्योश्चैकतरं बन्धयोग्यं नान्येन। —त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर दुस्वर विषैं एकका वा प्रशस्त अप्रशस्तविहायोगतिविषै एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं। (देवगतिके साथ अशुभ प्रकृति नहीं बँधती। (ध. ६/१,९-२,६८/१२४/४)।

११. सुस्वर-दुस्वर, दुर्भग-सुभग, आदेय-अनादेय

ध. ६/१,९-२,८६/११८/१ दुभग-दुस्सर-अणादेज्जाणं धुवबंधित्तादो संकिलेसकाले वि बज्झमाणेण तित्थयरेण सह किण्ण बंधो। ण तेसिं बंधाणं तित्थयरबंधेण सम्मत्तेण य सह विरोहादो। संकिलेसकाले वि सुभग-सुस्सर-आदेज्जाणं चेव बंधुवलंभा। —संक्लेश कालमें भी बँधनेवाले तीर्थंकर नामकर्मके साथ ध्रुवबन्धी होने (पर भी) दुर्भग, दुस्वर और अनादेय इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उन प्रकृतियोंके बन्धका तीर्थंकर प्रकृतिके साथ और सम्यग्दर्शनके साथ विरोध है। संक्लेश-कालमें भी सुभग-सुस्वर और आदेय प्रकृतियोंका ही बन्ध पाया जाता है।

ध. ६/१,९-२,६८/१२४/४ का भावार्थ—(देवगतिके साथ अप्रशस्त प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है।)

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/१२ त्रसपर्याप्तेनैव सुस्वर-दुःस्वरयोः⋯एकतरं बधयोग्यं नान्येन। —त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर-दुस्वर विषैं एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं।

१२. पर्याप्त अपर्याप्त नामकर्म

गो. क./जी. प्र./७४५/८९८/३ एकेन्द्रियापर्याप्तयुतस्थाने देवनारकेभ्योऽन्ये त्रसस्थावरमनुष्यमिथ्यादृष्टय एव बध्नन्ति। —एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित है तातैं इस स्थानको देव नारकी बिना अन्य त्रस स्थावर तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही बाँधे हैं।

१३. स्थिर-अस्थिर नामकर्म

ध. ६/१,९-२,६३/१२२/४ संकिलेसद्धाए बज्झमाण अपज्जत्तेण सह थिरादीणं विसोहिपयडीणं बंधविरोहा।

ध. ६/१,९-२,६३/१२४/४ एत्थ अथिरादीणं किण्ण बंधो होदि। ण एदासिं विसोहीए बंधविरोहा। —संक्लेशकालमें बँधनेवाले अपर्याप्त नामकर्मके साथ स्थिर आदि विशुद्धि कालमें बँधनेवाली शुभ प्रकृतिके बन्धका विरोध है। २. इन अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियोंका (देवगति रूप) विशुद्धिके साथ बँधनेका विरोध है।

१४. यशः अयशः नामकर्म

ध. ६/१,९-२,६८/१२४/४ का भावार्थ (देवगतिके साथ अप्रशस्त प्रकृतियोंके बँधनेका विरोध है।)

ध. ८/३,६/२८/७ जसकित्ति पुण णिरयगई मोत्तूण तिगइसंजुत्तं बंधदि। —यशःकीर्तिको नरकगतिको छोड़कर तीन गतियोंसे संयुक्त बाँधता है।

६. प्रकृति बन्धकी नियम सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्रकृति बन्धकी व्युच्छित्तिका निश्चित क्रम क्यों

ध. ६/१,९-३,२/१३३/७ कुदो एस बंधवोच्छेदकमो। असुह-असुहयर-असुहतमभेएण पयडीणमवट्ठाणादो। —प्रश्न—यह प्रकृतियोंके बन्ध-व्युच्छेदका क्रम किस कारणसे है? उत्तर—अशुभ, अशुभतर और अशुभतमके भेदसे प्रकृतियोंका अवस्थान माना गया है। उसी अपेक्षासे यह प्रकृतियोंके बन्ध व्युच्छेदका क्रम है।

२. तिर्यग्गति द्विकके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३३/३,८/३३/७ होदु सांतरबंधो पडिवक्खपयडीणं बंधुवलंभादो; ण णिरंतरबंधो, तस्स कारणाणुवलंभादो त्ति वुत्ते वुच्चदे—ण एस दोसो, तेउक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाइट्ठीणं सत्तमपुढविणेरइय-मिच्छाइट्ठीणं च भवपडिबद्धसंकिलेसेण णिरंतरं बंधोवलंभादो। —प्रश्न—प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोंके बन्धकी उपलब्धि होनेसे (तिर्यग्गति व तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी प्रकृतियोंका) सान्तर बन्ध भले ही हो, किन्तु निरन्तर बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उसके कारणोंका अभाव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, तेजकायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियों तथा सप्तम पृथिवीके नारकी मिथ्यादृष्टियोंके भवसे सम्बद्ध संक्लेशके कारण उक्त दोनों प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है।

३. पंचेन्द्रिय जाति औदारिक शरीरादिके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,१२४/१६३/१ पंचिंदियजादि-ओरालियसरीर-अंगोवंग-परघादु-स्सास-तस-बादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीराणं मिच्छाइट्ठिम्हि सांतर-णिरंतरो, सणक्कुमारादिदेवणेरइएसु णिरंतरबंधुवलंभादो। विग्गहगदीए कधं णिरंतरदा। ण, सत्तिं पडुच्च णिरंतरत्तुवदेसादो। —पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीरांगोपांग, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक शरीरका मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें सान्तर-निरन्तर बन्ध होता है, क्योंकि, सनत्कुमारादि देव और नारकियोंमें उनका निरन्तर बन्ध पाया जाता है। प्रश्न—विग्रहगतिमें बन्धकी निरन्तरता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, शक्तिकी अपेक्षा उसकी निरन्तरताका उपदेश है।

४. तिर्यग्गतिके साथ साताके बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,१३/४०/१ अप्पसत्थाए तिरिक्खगईए सह कधं सादबंधो। ण, णिरयगई व अच्चंतिय अप्पसत्थत्ताभावादो। —प्रश्न—अप्रशस्त तिर्यग्गतिके साथ कैसे साता वेदनीयका बन्ध होना सम्भव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि तिर्यग्गति नरकगतिके समान अत्यन्त अप्रशस्त नहीं है।

५. हास्यादि चारों उत्कृष्ट संक्लेशमें क्यों न बँधे

क. पा. ३/३,२२/११८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्माणि उक्कस्ससंकिलेसेण किण्ण बज्झंति। ण, साहावियादो। —प्रश्न—ये स्त्रीवेद आदि (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) चारों कर्म उत्कृष्ट संक्लेशसे क्यों नहीं बँधते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेशसे नहीं बँधनेका इनका स्वभाव है।

७. प्रकृति बन्ध विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय

मिथ्या०	मिथ्यात्व
सम्य०	सम्यक्त्वमोहनीय
मिश्र०	मिश्र मोहनीय
अनन्तानु०	अनन्तानुबन्धी चतुष्क
अप्र०	अप्रत्याख्यान चतुष्क
प्र०	प्रत्याख्यान चतुष्क
सं०	संज्वलन ,,
नपु०	नपुंसक वेद
पु०	पुरुष वेद
हा० चतु०	हास्य, रति, अरति, शोक
तिर्य०	तिर्यंच
मनु०	मनुष्य
नरक, तिर्य०, मनु० देव द्वि०	वह वह गति व आनुपूर्वीय
नरक, तिर्य०, मनु०, देव, त्रिक०	वह वह गति, आनुपूर्वी व आयु
,, ,, चतु०	वह वह गति, आनुपूर्वी, यथायोग्य शरीर व अंगोपांग
आनु०	आनुपूर्वीय
औ०	औदारिक
वै०	वैक्रियक
आ०	आहारक
औ०, वै०, आ० द्विक	वह वह शरीर व अंगोपांग
,, चतु०	शरीर, अंगोपांग, बन्धन व संघात
तीर्थ०	तीर्थंकर
भु०	भुज्यमान आयु
ब०	बध्यमान आयु
वैक्रि० षट्क	नरक गति व आनुपूर्वी, देवगति व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग।

२. बन्ध व्युच्छित्ति ओघ प्ररूपणा

(ष. खं. ८/सू. १-३८/३०-७३); (म. बं. १/§ १६-३६/३२-४१); (पं. सं./प्रा. ३/६-२६; ४/३०७-३२५; ५/४७७-४८१) (रा. वा./६/१/२५-२६/५६०-५६१); (गो. क./९५-१०२/८२-८६); (पं. सं./सं. ३/११-३६; ४/१६४)।

१. कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

दृष्टि नं० १ वर्णादिक ४ की २० उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक समयमें अन्यतम चारका ही बन्ध होता है। तातैं १६का ग्रहण नाहीं। बन्धन, संघातकी १० प्रकृतियोंका स्व स्व शरीरमें अन्तर्भाव हो जानेसे इन १० का भी ग्रहण नाहीं। सम्यक्त्व व मिश्र मोहनीय उदय योग्य हैं परबन्ध योग्य नहीं, मिथ्यात्वके ही तीन टुकड़े हो जानेसे इनका सत्त्व हो जाता है। तातैं कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १४८—(१६+१०+२)=१२०। देखो (प्रकृति बन्ध)।

दृष्टि नं० २ (पं. सं./सं./५) १४८ प्रकृतियाँ ही अपने-अपने निमित्तको पाकर बन्ध और उदयको प्राप्त होती हैं।

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध प्रकृतियाँ	पुनः बन्ध प्रकृतियाँ	कुलबन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
मिथ्यात्व	मिथ्यात्व, नपुं०, हुंडक, सृपाटिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक =१६	तीर्थ०, आ० द्वि०=३		१२०	३		११७	१६	१०१
सासादन	अनन्तानु० चतु०, स्त्यान० त्रिक०, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्य० परि०, स्वाति, कुब्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद०, तिर्यक् त्रिक, उद्योत, नीचगोत्र =२५			१०१			१०१	२५	७६
मिश्र		देव व मनुष्यायु		७६	२		७४		७४
असंयत	अप्रत्याख्यान ४, वज्रऋषभ नाराच, औ० द्विक, मनुष्य त्रिक =१०		देव व मनु० तीर्थंकर	७४		३	७७	१०	६७
संयतासंयत	प्रत्याख्यान ४ =४			६७			६७	४	६३
प्रमत्त	अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, आसाता, अरति, शोक =६			६३			६३	६	५७
अप्रमत्त	देवायु =१		आहारकद्विक	५७		२	५९	१	५८
अपूर्व०/१	निद्रा, प्रचला =२			५८			५८	२	५६
अपूर्व०/२-५				५६			५६		५६
अपूर्व०/६	तीर्थंकर, निर्माण, शुभ विहायो०, पंचेन्द्रिय, तैजस, कार्माण, आ० द्वि, वैक्रि० द्वि०, समचतु०, देव द्वि०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय। =३०			५६			५६	३०	२६
अपूर्व०/७	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। =४			२६			२६	४	२२

गुण स्थान	व्युच्छित्ति की प्रकृतियाँ						अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
	सत्त्व स्थान	पुरुष वेद सहित चढ़ा	सत्त्व स्थान	स्त्री वेद सहित चढ़ा	सत्त्व स्थान	नपुंसक वेद सहित								
अनि०/i	२१		२१		२१				२२			२२		२१
,, /ii	२१		२१		२१				२२			२२		२२
,, /iii	१३		१३		१३				२:			२२		२२
,, /iv	१३		१३		१३				२२			२२		२२
,, /v	११	पुरुष वेद	१२	पुरुष वेद	१३	पुरुष वेद			२२			२२	१	२१
,, /vi	५	संज्वलन क्रोध	११	संज्वलन क्रोध	११	संज्वलन क्रोध			२१			२१	१	२०
,, /vii	४	,, मान	४	,, मान	४	,, मान			२०			२०	१	१९
,, /viii	३	,, माया	३	,, माया	३	,, माया			१९			१९	१	१८
,, /ix	२	,, लोभ	२	,, लोभ	२	,, लोभ			१८			१८	१	१७
सू० सा०	ज्ञानावरणी ५, दर्शनावरणी ४, अन्तराय ५, यश:कीर्ति, उच्चगोत्र —१६								१७			१७	१६	१
उपशान्त	×								१			१		१
क्षीण	×								१			१		१
सयोगी	साता वेदनीय								१			१	१	

३. सातिशय मिथ्यादृष्टिमें बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

(ध. ६/१३४); (ल. स./११-१५/४६-५२)

गति मार्गणा	कुल बन्ध योग्य	बन्धके अयोग्य प्रकृतियाँ	बन्ध योग्य प्रकृतियाँ
मनुष्यगति	११७	असाता, स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, आयु चतुष्क, अरति, शोक, नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, एकेन्द्रिय जाति, द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, आहारक शरीर, न्यग्रोधादि ५ संस्थान, औदारिक अंगोपांग, आहारकांगोपांग, छहों संहनन, नरकआनुपूर्वी, तिर्यग्गतिआनुपूर्वी, मनु० आनुपूर्वी, आतप, उद्योत, अप्र० वि०गति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, सा० शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, तीर्थंकर, नीचगोत्र। —४६	५ ज्ञानावरणी, ९ दर्शनावरणी, साता, मिथ्यात्व, अनन्तानु० १६, पुरुष वेद, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, देवगतिद्विक, पंचे० जाति, वैक्रियक शरीर द्विक २, तैजस व कार्माण शरीर, समचतुरस्र सं०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायो०, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश:कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र, ५ अन्तराय। —७१
तिर्यग्गति	,,	,,	,,
देवगति	१०३	४६—मनुष्य चतुष्क तथा वज्र ऋषभ नाराच संहनन + देव चतुष्क। —४८	७१—देव चतुष्क + मनुष्य चतुष्क + वज्रऋषभ नाराच संहनन —७२
नरक गति—			
१-६ पृथिवी	१००	,,	,,
७वीं पृथिवी	९९	४८—तिर्यंच द्विक, नीचगोत्र + मनुष्य द्विक उच्चगोत्र —४८	७२—मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र + तिर्यंच द्विक नीच गोत्र —७२
,,	९९	४८—उद्योत —४७	७२ + उद्योत —७३

२. सातिशय मिथ्यादृष्टिमें प्रकृतियोंका चतुःबन्ध—(ध. ६/२०७–२११)

संकेत—उत.–उत्कृष्ट; अनु.–अनुत्कृष्ट; द्विस्थान–निम्ब व काञ्जीर रूप अनुभाग; चतुःस्थान–गुड़, खाण्ड, शर्करा, अमृतरूप अनुभाग; अन्त को. को.–अन्तःकोटाकोटी सागर।

नं.	प्रकृति	बन्ध: प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
१	ज्ञानावरणीय—				
	पाँचों	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
२	दर्शनावरणीय—				
१–३	स्त्यान० त्रिक	"	"	"	उत. वा अनु.
४–९	शेष ६	"	"	"	अनुत्कृष्ट
३	वेदनीय—				
१	साता	"	"	चतु.स्थान	"
२	असाता	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
४	मोहनीय—				
	दर्शन मोह :—				
१	सम्यक्त्व प्रकृति	"	"	"	"
२	मिथ्यात्व	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	उत. वा अनु.
३	सम्यग्मिथ्यात्व	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	चारित्र मोह :—				
१	अनन्तानु० चतु०	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	उत. वा अनु.
२	अप्रत्या० चतु०	"	"	"	अनुत्कृष्ट
३	प्रत्या० चतु०	"	"	"	"
४	संज्व० चतु०	"	"	"	"
१७	स्त्री वेद	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
१८	पुरुष वेद	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
१९	नपुंसक वेद	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२०–२१	हास्य, रति	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
२२–२३	अरति, शोक	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२४–२५	भय, जुगुप्सा	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
५	आयु—				
	चारों	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
६	नाम—				
१	नरक गति	"	"	"	"
	तिर्यंच गति	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
	सप्तम पृथिवीके नारकीको ही बँधती है अन्यको नहीं।				
	मनुष्य गति	है	अंत को. को.	चतुस्थान	अनुत्कृष्ट
	देवनारकी ही बाँधते हैं तिर्यंच नहीं।				
	देव गति	है	अंत को. को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट
	तिर्यंच मनुष्य बाँधते हैं, देवनारकी नहीं।				
२	१–४ इन्द्रिय जाति	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	पंचेन्द्रिय जाति	है	अंत को. को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट

नं.	प्रकृति	बन्ध: प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
३	औदारिक शरीर	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
	देव, नारकीका वै.	"	"	"	उत. वा अनु.
	ति, मनु.को आ.	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
	तैजस शरीर	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
	कार्माण	"	"	"	"
४	अंगोपांग	——स्व स्व शरीरवत्——			
५	निर्माण	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
६	बन्धन	——स्व स्व शरीरवत्——			
७	संघात	—— " ——			
८	समचतुरस्र, सं.	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	उत. वा अनु.
	शेष पाँच संस्थान	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
९	संहनन (देव व नारकी हीको) वज्र-ऋषभ नाराच	है	अंत को. को.	चतु.स्थान	उत. वा अनु.
	वज्र नाराच	"	"	द्वि स्थान	"
	शेष चार	"	"	"	
१०–१३	स्पर्शादि चतु. प्रश.	है	"	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
	" " अप्र.	"	"	द्वि स्थान	"
१४	नरकानुपूर्वी	"	"	"	"
	(सप्त पृथिवीमें ही) तिर्यगानुपूर्वी	"	"	"	"
	(देव व नारकीको ही) मनुष्यानुपूर्वी	"	"	चतुःस्थान	"
	तिर्यग् मनुष्यको ही देवानुपूर्वी	"	"	"	उत. वा अनु.
१५	अगुरुलघु	है	अंत को. को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
१६	उपघात	"	"	द्वि स्थान	"
१७	परघात	"	"	चतुःस्थान	"
१८	आतप	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
१९	(सप्त पृथिवीमें ही) उद्योत	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
२०	उच्छ्वास	है	"	"	"
२१	विहायोगति प्र.	"	"	"	उत. वा अनु.
	" अप्र.	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२२	प्रत्येक	है	अंत को. को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
२३	साधारण	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२४	त्रस	है	अंत को. को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
२५	स्थावर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२६	सुभग	है	अंत को. को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
२७	दुर्भग	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
२८	सुस्वर	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
२९	दुःस्वर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३०	शुभ	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
३१	अशुभ	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं

नं.	प्रकृति	बन्ध				नं.	प्रकृति	बन्ध			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश			प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
३२	बादर	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट	४१	अयशःकीर्ति	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३३	सूक्ष्म	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	४२	तीर्थंकर	"	"	"	"
३४	पर्याप्त	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट	७	गोत्र—				
३५	अपर्याप्त	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं						
३६	स्थिर	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट		उच्च	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट
३७	अस्थिर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं		(सप्तम पृ० में ही)				
३८	आदेय	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट		नीच	"	"	द्वि स्थान	उत. वा अनु.
३९	अनादेय	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	८	अन्तराय—				
४०	यशः कीर्ति	है	अंत को.को.	चतुःस्थान	अनुत्कृष्ट		पाँचों	है	अंत को.को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट

५. बन्ध व्युच्छित्ति आदेश प्ररूपणा

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध	व्युच्छि-त्ति	शेष बन्ध योग्य
१ गति मार्गणा										
१ नरक गति—(म. बं. १/§ ३७/४१); (ष. खं. ८/सू. ४३-६२/६३-११२) (गो. क./१०५-१०७/८९-९२)। सामान्य बन्ध योग्य—१२० (देव त्रिक, वैक्रि० द्वि, आहा० द्वि०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अप०, साधारण, नरकत्रिक) १९ = १२०—१९ = १०१; गुण स्थान = ४										
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थंकर		१०१	१		१००	४	९६
	२	ओघवत = २५			९६			९६	२५	७१
	३		मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत = १०		मनुष्यायु तीर्थं०	७०		२	७२	१०	६२
१-३ पृथिवी पर्याप्त		—सामान्यवत्—								
४-६ " "		बन्ध योग्य = १०१—तीर्थंकर = १००, गुणस्थान = ४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका = ४			१००			१००	४	९६
	२-४	प्रथम पृथिवी पर्याप्तवत्—								
७ पृथिवी पर्याप्त		बन्ध योग्य = १०१—मनुष्यायु, तीर्थंकर = ९९; गुणस्थान = ४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका, तिर्यगायु = ५	उच्च, मनु० द्वि०		९९	३		९६	५	९१
	२	ओघवत २५—तिर्यगायु = २४			९१			९१	२४	६७
	३			उच्च, मनु० द्वि०	६७		३	७०		७०
	४	ओघवत १०—मनुष्यायु = ९			७०			७०	९	६१
१ पृथिवी अप०		बन्धयोग्य = १०१—मनुष्य व तिर्यगायु (मिश्रयोगमें आयु नहीं बँधे) = ९९; गुणस्थान = २; (नरक अपर्याप्त सासादन न होय)								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका+सासादनकी २५—तिर्यगायु = २८	तीर्थंकर		९९	१		९८	२८	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु = ९		तीर्थंकर	७०		१	७१	९	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि-त्ति	शेष बन्ध योग्य
२-६ पृथिवी अप०		बन्धयोग्य—१०१—मनुष्यायु, तिर्यंचायु, तीर्थंकर—९८; गुणस्थान—१.								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका+सासादनकी २५—तिर्यंचायु =२८			९८			९८	२८	७०
७ वीं पृथिवी अप०		बन्धयोग्य—१०१ —मनुष्य तिर्यंचायु, तीर्थंकर, मनुष्य द्वि०, उच्चगोत्र—९६; गुणस्थान—१								
	१	उपरोक्त =२८			९६			९६	२८	६७
१ तिर्यंच गति—(म. बं./१/§ १८/४२); (ष. खं./८/सू. ६३-७४/११२-१६०); (गो. क./१०८-१०९/९३-९५)										
सामान्य प०		बन्धयोग्य—१२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक—११७; गुणस्थान ५								
	१	ओघवत् =१६			११७			११७	१६	१०१
	२	ओघवत् २५+वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनुष्य त्रिक=३१			१०१			१०१	३१	७०
	३	×	देवायु		७०	१		६९		६९
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४		देवायु	६९		१	७०	४	६६
	५	प्रत्याख्यान ४ =४			६६			६६	४	६२
पंचेन्द्रिय प०		←— सामान्य तिर्यंचवत् —→								
पं. योनिमती प०		←— ,, ,, —→								
पंचेन्द्रिय नि. अप०		बन्धयोग्य—१२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक, चारों आयु, नरक द्विक १११; गुणस्थान १, २, ४								
	१	ओघवत् १६—नरक त्रिक =१३	देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०		१११	४		१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५+वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि०—तिर्यगायु=२९			९४			९४	२९	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४		देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०	६१		४	६९	४	६५
तिर्यंच ल० अप०		बन्धयोग्य—१२०—तीर्थंकर आहारक द्वि०, देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि०द्विक—१०९; गुणस्थान—१								
२ मनुष्य गति : सामान्य प०		बन्धयोग्य—१२०; गुणस्थान—१४								
	१	ओघवत् =१६	तीर्थ०, आ०द्वि०		१२०	३		११७	१६	१०१
	२	ओघवत् २५, वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० त्रि० =३१			१०१			१०१	३१	७०
	३	×	देवायु		७०	१		६९		६९
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४		देवायु तीर्थ०	६९		२	७१	४	६७
	५	प्रत्याख्यान ४ =४			६७			६७	४	६३
	६-१४	←— ओघवत् —→								
मनुष्यणी प०		←— सामान्य मनुष्यवत् —→								
मनु० नि० अप०		बन्धयोग्य—१२०—४ आयु, नरक द्विक, आ० द्वि—११२; गुणस्थान—१, २, ४, ६, १३								
	१	ओघवत् १६—नरक त्रिक—१३	देवद्विक, वैक्रि० द्वि, तीर्थ०		११२	५		१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५+वज्र ऋषभ+औ० द्वि+मनु० द्वि०,—तिर्यगायु =२९			९४			९४	२९	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४, प्रत्याख्यान ४ =८		देव द्विक, वैक्रि० द्वि०, तीर्थ०,	६५		५	७०	८	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
	६	अपूर्वकरण ओघवत् ३६-आ० द्वि—३४+६वें की ५, १०वें की १६, ६ठें की ६—६१			६२			६२	६१	१
	१३	साता वेदनीय १			१			१	१	
मनु० ल. अप.		बन्ध योग्य—१२०—देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ—१०१; गुणस्थान १								
देवगतिः— सामान्य		(ष. खं. ८/सू. ७७-१०१/१५८) (गो. क./१११-११२/६८-१०१) बन्धयोग्य—१२०—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, २-४ इन्द्रिय, नरकत्रिक, देवत्रिक, वैक्रि० द्वि०, आहारक द्वि०,—१०४,; गुणस्थान—४								
भवनत्रिक-देव पर्याप्त		बन्धयोग्य = सामान्यकी १०४—तीर्थंकर—१०३,								
	१	मिथ्या, हुंडक०, नपुं०, सृपाटिका, एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप —७			१०३			१०३	७	९६
	२	ओघवत् २५			९६			९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत् —१०		मनुष्यायु	७०		१	७१	१०	६१
कल्प. देवी. प.		←————भवन त्रिक वत्————→								
सौधर्म ईशान पर्याप्त		बन्ध योग्य—सामान्य देववत्—१०४; गुणस्थान—४								
	१	मिथ्या, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका, एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप —७	तीर्थंकर		१०४	१		१०३	७	९६
	२	ओघवत् —२५			९६			९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत् —१०		मनुष्यायु, तीर्थ०,	७०		२	७२	१०	६२
सनत्कुमारादि १० स्वर्ग पर्याप्त		बन्ध योग्य—१०४—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—१०१; गुणस्थान—४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका —४	तीर्थंकर		१०१	१		१००	४	९६
	२	ओघवत् —२५			९६			९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत् —१०		मनुष्यायु, तीर्थ.	७०		२	७२	१०	६२
आनतादि-४ स्वर्ग व नव ग्रै. प.		बन्ध योग्य—१०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, तिर्यचत्रिक, उद्योत—९७; गुणस्थान—४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका —४	तीर्थंकर		९७	१		९६	४	९२
	२	ओघकी २५—तिर्यक्त्रिक, उद्योत —२१			९२			९२	२१	७१
	३	×	मनुष्यायु		७१	१		७०		७०
	४	ओघवत् —१०		मनुष्यायु, तीर्थ.	७०		२	७२	१०	६२
पंच अनुत्तर व नव अनुदिश प०		बन्ध योग्य—सौधर्मके चतुर्थ गुणस्थानवत्—७०; गुणस्थान केवल—१ (चतुर्थ)								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
भवन. त्रि. अप.		बन्ध योग्य=१०४—तीर्थंकर, मनुष्य व तिर्यगायु=१०१; गुणस्थान=१, २								
	१	भवनत्रिक पर्याप्तवत् =७			१०१			१०१	७	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४ नोट—सम्यग्दृष्टि यहाँ नहीं उपजते।			९४			९४	२४	७०
कल्प. देवी. अप.		←——भवनत्रिक अपर्याप्तवत्——→								
सौधर्म ईशान अप०		बन्ध योग्य=सामान्य देवकी १०४—मनुष्य, तिर्यंचायु=१०२; गुणस्थान=१,२,४								
	१	सौधर्मपर्याप्तवत् =७	तीर्थंकर		१०२	१		१०१	७	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४			९४			९४	२४	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९		तीर्थंकर	७०		१	७१	९	६२
सनत्कुमारादि १० स्वर्ग अप०		बन्ध योग्य=सामान्य देवकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, मनुष्य, तिर्यंचायु=९९; गुणस्थान १,२,४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर		९९	१		९८	४	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४			९४			९४	२४	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९		तीर्थंकर	७०		१	७१	९	६२
आनतादि ४ स्वर्ग व नव ग्रै० अप०		बन्ध योग्य=सामान्यकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, तिर्यंचत्रिक, उद्योत, मनुष्यायु=९६; गुणस्थान=१,२,४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर		९६	१		९५	४	९१
	२	ओघवत् २५—तिर्यक् त्रिक व उद्योत =२१			९१			९१	२१	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९		तीर्थंकर	७०		१	७१	९	६२
९ अनुदिश व ५ अनुत्तर अप०		बन्ध योग्य=सौधर्म पर्याप्त या नि० अपर्याप्तवत् ४ थे की ७०; गुणस्थान—केवल—१ (चतुर्थ)								
२. इन्द्रिय मार्गणा—(ष. खं. ८/सू. १०२-१३६/१५८-१९२); (गो. क./११३-११४/१०२-१०४)										
सर्व एकेन्द्रिय		बन्ध योग्य=ओघकी १२०—तीर्थंकर, आहार द्वि०, देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रि० द्वि०=१०९; गुणस्थान २								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक +मनु० ति० आयु =१५			१०९			१०९	१५	९४
	२	ओघकी २५+वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि ३०—तिर्यगायु =२९			९४			९४	२९	६५
सर्व विकलेन्द्रिय		←——— एकेन्द्रियवत् ———→								
पंचे० पर्याप्त		←——— ओघवत् ———→								
पंचे. नि. अप.		बन्ध योग्य=ओघकी १२०—४ आयु, नरक द्विक, आहा० द्वि०=११२ गुणस्थान=१,२,४,६,१३								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक =१३	देव द्विक, वैक्रि० द्वि० तीर्थ०		११२	५		१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४			९४			९४	२४	७०
	४	अप्रत्याख्यान ४, प्रत्या० ४, औ० द्वि०, वज्र ऋषभ० मनु० द्वि० =१३		देव द्वि० वै० द्वि० तीर्थ०	७०		५	७५	१३	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
	६	अपूर्वकरणकी ओघवत ३६ – आ० द्वि० = ३४ + ९वें की ५, १०वें की १६, ६ठे की ६ = ६१			६२			६२	६१	१
	१३	साता वेदनीय १			१			१	१	
पंचे० ल० अप०		बन्ध योग्य = ओघकी १२० – देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रि० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ० = १०९; गुणस्थान = १								

३. काय मार्गणा—(ष. खं. ८/सू. १३७-१३९/१९२-२००); (गो. क./११४-११५/१०४-१०६)

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
पृथिवी, अप व प्रत्येक वन, तेज, वात काय		बन्ध योग्य – ओघकी १२० – देवत्रिक, नरकत्रिक, वै० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ०, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र = १०५; गुणस्थान = १		←—— एकेन्द्रिय वत ——→						
वन० काय साधारण		गुणस्थान = १		←—— एकेन्द्रियवत ——→						
त्रसकाय प०		गुणस्थान = १४		←—— ओघवत ——→						
त्रसकाय नि० अप०		गुणस्थान = १, २, ४, ६, १३		←—पंचेन्द्रिय निर्वृत्ति अपर्याप्तवत—→						
त्रसकाय ल० अप०		गुणस्थान = १		←— तिर्यंच लब्ध्य०वत —→						

४ योग मार्गणा— (ष. खं./८/सू. १४०-१६०/२०१-२४२); (गो. क./११५-११६/१०६-११६)

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
सामान्य मन वचन योग		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०; गुणस्थान = १४		←—— ओघवत ——→						
दोनोंके सत्य व अनुभय		बन्धयोग्य = ओघवत् = १२०; गुणस्थान = १४		←—— ओघवत ——→						
दोनों के असत्य व उभय		बन्धयोग्य = ओघवत = १२०; गुणस्थान = १२		←— ओघवत —→						
सामान्य काययोग		बन्धयोग्य = ओघवत = १२०; गुणस्थान = १४		←—— ओघवत ——→						
औ० काययोग		बन्धयोग्य = ओघवत = १२०; गुणस्थान = १४		←—— मनुष्यगतिवत ——→						
औ० मि० काययोग		बन्धयोग्य = ओघकी १२० – औ० द्वि, नरक द्वि०, देव, नरक आयु, = ११४; गुणस्थान = १, २, ४								
	१	मिथ्या०, नपुं०, हुंडक, सृपाटिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, तिर्यग्, मनुष्यायु = १५	तीर्थंकर, देव द्वि०, वै० द्वि०		११४	५		१०९	१५	९४
	२	अनन्तानु० ४, स्त्यानत्रिक०, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रो० परि०, स्वाति, कुब्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद, तिर्यग् द्विक, उद्योत, नीचगोत्र, मनुष्यद्विक, औ० द्वि०, वज्र वृषभ = २९			९४			९४	२९	६५
	४	देव द्विक, वै० द्वि०, तीर्थंकर, तथा शेष सर्व = ६९		देवद्विक, वै० द्वि० तीर्थ,	६५		५	७०	६९	१
	१३	साता = १			१			१	१	×

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
वैक्रि० काय० योग		बन्धयोग्य-सामान्य देववत् १०४; गुणस्थान = ४								
		←— सौधर्म ईशान प० देववत् —→								
वै० मि० काययोग		बन्धयोग्य = नि० अप० देववत् = १०२; गुणस्थान = १, २, ४								
		←— सौधर्म देव मि० अप० वत् —→								
आहारक काययोग		बन्धयोग्य = ओघके छठे गुणस्थानवत् = ६३; गुणस्थान = केवल १ (छठा)								
		←— ओघके छठे गुणस्थानवत् —→								
आ० मि० काययोग		बन्धयोग्य = ओघ प्रमत्त गुणस्थानकी = ६३-देवायु = ६२; गुणस्थान = केवल १ (छठा)								
		←— ओघके छठे गुणस्थानवत् —→								
कार्माण काययोग		बन्धयोग्य = औ० मि० की ११३—मनुष्य, तिर्यंचायु = १११; गुणस्थान = १, २, ४, १३								
		उपरोक्त दो आयु रहित औ० मि० वत् —→								
५ वेद मार्गणा:—(ष० खं०/८/सू. १६१-१८७/२४२-२६६) (गो. क./मू./११६/११४)										
स्त्री वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य = ओघवत् = १२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक, देवगति = ११६; गुणस्थान = ६								
		←— देवगति, आ० द्वि०, तीर्थ०, रहित ओघवत् —→								
स्त्री वेद नि० अप०		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०—चारों आयु, आ० द्वि०, तीर्थ०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि० = १०७. गुणस्थान = २								
	१	ओघवत् = १६—नरकत्रिक = १३			१०७			१०७	१३	९४
	२	ओघवत् = २५—तिर्यंचायु = २४			९४			९४	२४	७०
पुरुष वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य = ओघकी १२०; गुणस्थान = ९								
		←— ओघवत् —→								
पुरुष वेद नि० अप०		बन्धयोग्य = ओघकी १२०—४ आयु, नरक द्विक, आ० द्वि = ११२; गुणस्थान = १, २, ४								
	१	ओघकी १६—नरकत्रिक = १३	देव द्वि०, तीर्थ०, वैक्रि० द्वि०		११२	५		१०७	१३	९४
	२	ओघवत् = २५—तिर्यंचायु = २४			९४			९४	२४	७०
	४	ओघवत् = १०—मनुष्यायु = ९		तीर्थ०, देव द्वि० वै० द्वि०	७०		५	७५	९	६६
नपुं० वेद प०		बन्धयोग्य = ओघकी १२०—तीर्थ०, आ० द्वि०, देवगति = ११६ गुणस्थान = ९								
		←— उपरोक्त ४ प्रकृति रहित ओघवत् —→								
नपुंस वेद० नि० अप०		बन्धयोग्य = ओघकी १२०—चारों आयु, आ० द्वि०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि० = १०८ गुणस्थान १, २, ४,								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक = १३	तीर्थंकर		१०८	१		१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २४—तिर्यंचायु = २४			९४			९४	२४	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु = ९ (यह स्थान केवल प्रथम पृथ्वी नारकीको ही सम्भव है।)		तीर्थंकर	७०		१	७१	९	६२
६. कषाय मार्गणा— (ध./८/सू. १८८-२०६/२६६-२७१); (गो. क./भाषा/११६/११५)										
क्रोध, मान, माया		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०; गुणस्थान ९								
		←— ओघवत् —→								
लोभ		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०; गुणस्थान = १०								
		←— ओघवत् —→								
अकषायी		बन्धयोग्य = साता वेदनीय १; गुणस्थान = ११, १२, १३								
		←— ओघवत् —→								
७. ज्ञान मार्गणा:—(ध/८/सू. २०७-२२४/२७१-२९७) (गो. क./भा./११६/११५/१६)										
मति, श्रुत अज्ञान व विभंग ज्ञान		बन्धयोग्य = १२०—आ० द्वि०, तीर्थ० = ११७; गुणस्थान = २								
		←— ओघवत् —→								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
मति, श्रुत अवधिज्ञान		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थगुणस्थानकी = ७७ – आ० द्वि० = ७६; गुणस्थान ४-१२								
			← ओघवत् →							
मनःपर्ययज्ञान		बन्ध योग्य = ओघके ६ठे गुणस्थानकी ६३ + आहारक द्वि० = ६५; गुणस्थान ६-१२								
			← ओघवत् →							
केवलज्ञान		बन्धयोग्य = ओघके १३ वें गुणस्थानवत् = १; गुणस्थान २ (१३,१४)								
					← ओघवत् →					
८. संयम मार्गणा—(ष. खं. ८/सू./२२५-२५२/२६८-३१८); (गो. क./भा./११६/११६/१०)										
सामायिक व छेदो०		बन्धयोग्य = ओघके ६ठे गुणस्थानकी = ६३ + आ० द्वि० = ६५; गुणस्थान = ६-९								
					← ओघवत् →					
परिहार विशुद्धि		बन्धयोग्य = ओघके ६ठे गुणस्थानकी = ६३ + आ० द्वि० = ६५; गुणस्थान = ६-७								
					← ओघवत् →					
सूक्ष्म साम्पराय		बन्धयोग्य = ओघके १० वें गुणस्थानवत् = १७; गुणस्थान = १० वाँ								
					← ओघवत् →					
यथाख्यात		बन्धयोग्य = साता वेदनीय १; गुणस्थान ११-१४								
					← ओघवत् →					
संयमासंयम		बन्धयोग्य — ओघके पंचम गुणस्थानवत् = ६७; गुणस्थान ५ वाँ								
					← ओघवत् →					
असंयत		बन्धयोग्य = ओघकी १२० – आ० द्वि० = ११८; गुणस्थान १-४								
			← ओघवत् (आ० द्वि०रहित) →							
९. दर्शन मार्गणा—(ष. खं. ८/सू./२५३-२५७/३१८-३१९); (गो. क./भाषा/११६/११७/३)										
चक्षु अचक्षु		बन्धयोग्य = १२०; गुणस्थान = १२								
					← ओघवत् →					
अवधि		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानकी = ७७ + आ० द्वि० – ७६; गुणस्थान = ४-१२								
					← ओघवत् →					

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
केवल		बन्ध योग्य—ओघके १३ वें गुणस्थानवत्—१ साता; गुणस्थान—१३-१४								
					← — — ओघवत् — — →					
१०. लेश्या मार्गणा—(ष. ख. ८/सू. २५८-२७४/३२०-३५८) (गो. क./भा./११६-१२०/११७-१२०)										
कृष्ण, नील, कपोत		बन्धयोग्य—ओघकी १२०— आ० द्वि०—११८; गुणस्थान—१-४								
					← — — ओघवत् — — →					
पीत		बन्ध योग्य—ओघकी १२०—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, २-४ इन्द्रिय, नरक त्रिक—१११; गुणस्थान—७								
	१	मिथ्या., हुंडक, नपुं., सृपाटिका एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—७	तीर्थंकर, आ० द्वि०		१११	३		१०८	७	१०१
	२-७				← — — ओघवत् — — →					
पद्म		बन्धयोग्य—ओघकी १२०—१-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक—१०८ गुणस्थान—७								
	१	मिथ्या० हुंडक, नपुं० सृपाटिका —४	तीर्थ०, आ० द्वि०		१०८	३		१०५	४	१०१
	२-७				← — — ओघवत् — — →					
शुक्ल		बन्धयोग्य—पद्म लेश्याकी १०८—तिर्यंच त्रिक, उद्योत—१०४; गुणस्थान—१३								
	१	मिथ्या०, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका —४	तीर्थ०, आ० द्वि०		१०४	३		१०१	४	९७
	२	ओघकी २५—तिर्यग्त्रिक उद्योत —२१			९७			९७	२१	७६
	३-१३				← — — ओघवत् — — →					
अलेश्या		बन्धयोग्य—×; गुणस्थान—१४ वाँ			← — — ओघवत् — — →					
११. भव्य मार्गणा—(ष. खं. ८/सू. २७५-२७७/३५८-३६३); (गो. क./भा./१२०-१२१/१२१/७)										
भव्य		बन्धयोग्य—ओघवत् १२०; गुणस्थान—१४								
					← — — ओघवत् — — →					
अभव्य		बन्धयोग्य—ओघवत् १२०—आ० द्वि०, तीर्थ०—११७; गुणस्थान—१								
					← — — ओघवत् — — →					
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—(ष.खं/८/सू.२७६-३११/३६३-३८६); (गो.क./भा०/१२०-१२१/१०)										
क्षायिक सम्यक्त्व		बन्धयोग्य—ओघके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७+आहा० द्वि०—७९; गुणस्थान—४-१४								
					← — — ओघवत् — — →					
वेदक सम्यक्त्व		बन्धयोग्य—ओघके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७+आहा० द्वि०—७९; गुणस्थान—४-७								
			← — — ओघवत् (४-६ तक आ० द्वि० का बन्ध नहीं) — — →							

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन. बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
प्रथमोपशम		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७ + आ० द्वि० — मनुष्य, देवायु = ७७; गुणस्थान = ४-७								
	४	ओघवत् १० — मनुष्यायु = ९	आ० द्वि०		७७	२		७५	९	६६
	५	प्रत्याख्यान ४ = ४			६६			६६	४	६२
	६	अस्थिर, अशुभ, अयश:, असाता, अरति, शोक, = ६			६२			६२	६	५६
	७	×		आ० द्वि०	५६		२	५८		५८
द्वितीयोपशम		बन्धयोग्य = प्रथमोपशमकी = ७७; गुणस्थान = ४-११ (ल. सा./जी. प्र./२२०/२६५)								
	४–७	← प्रथमोपशमवत् →								
	८-११	← ओघवत् →								
सम्यग्मिथ्यादृष्टि		बन्धयोग्य = ओघके ३ रे गुणस्थानवत् = ७४; गुणस्थान = ३ रा								
सासादन		बन्धयोग्य = ओघके दूसरे गुणस्थानवत् १०१; गुणस्थान २ रा								
मिथ्यादर्शन		बन्धयोग्य = ओघकी १२० — तीर्थ०, आ० द्वि० = ११७; गुणस्थान = पहला								
१३. संज्ञी मार्गणा—(ष.खं. ८/सू. ३२०-३२२/३८९-३९०); (गो. क./भा./१२१/१२३/४)										
संज्ञी		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०; गुणस्थान = १-१२								
		← ओघवत् →								
असंज्ञी		बन्धयोग्य = ओघकी १२० — तीर्थ०, आ० द्वि० = ११७; गुणस्थान = २								
	१	ओघवत् १६ + नरक बिना ३ आयु = १९			११७			११७	१९	९८
	२	ओघवत् २५ + वज्र ऋषभ०, औ० द्वि०, मनु० त्रिक, = २९			९८			९८	२९	६९
१४. आहारक मार्गणा—										
आहारक		बन्धयोग्य = १२०; गुण सं० १३ ← ओघवत् →								
अनाहारक		← कार्माण काययोगवत् →								

६. सामान्य प्रकृतिबन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा

प्रमाण—(पं. सं./प्रा०/३/४ ५ ; ४/२१९-२२०; ४/२४१); (पं. सं./सं./३/११-१२, ४/८४-८५; ४/११३); (शतक/२७;४२)।

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	८	आयु बिना ७
२	"	९	"
३	आयुके बिना ७ कर्म	१०	आयु व मोह रहित ६
४	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	११	एक वेदनीय
५	"	१२	"
६	"	१३	"
७	"	१४	×

७. विशेष प्रकृतिबन्ध स्थान ओघप्ररूपणा

सं.	गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण
१	ज्ञानावरणीय—	(पं. सं./प्रा./५/४-२४); (पं. सं./सं./५/१-३०); (ध. ६/८१); (गो. क./४५८)			
	१-१२ गुणस्थान	१	५	×	पाँचों-प्रकृतियाँ
		१			
२	दर्शनावरणीय—	(पं. सं./प्रा./४/२४३); (पं. सं./- ./४/११५); (शतक/४१); (ष. खं./६/सू./७-१६/८२-८७); (गो. क./४५६-४६२/६०६-६०९)			
	१-२ गुणस्थान	१	९	×	सर्व प्रकृतियाँ
	३-८/i	१	६	×	६-स्त्यान० त्रिक
	८/ii	१	४	×	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल
		३			
३	वेदनीय—				
	१-६ गुणस्थान	१	१	२	दोनोंमें अन्यतमसे २ भंग
	७-१३ „	१	१	१	केवल साता का एक भंग
		२			
४	मोहनीय—	(ध. ६/८७-८८); (गो. क./४५८)			
	नोट—देखो पृथक् सारणी				

सं०	गुणस्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण
५	आयुः—	(ध./६/९८-१०१)			
	१	१	१	४	चारोंमें अन्यतमसे ४ भंग
	२	१	१	३	नरक रहित अन्यतम एक
	३	×	×	×	×
	४	१	१	२	देव, मनुष्यायुमें एक
	५-७	१	१	१	देवायु
		१		४	
	विशेष देखो पृथक् सारणी आयु ३/११				
६	नाम कर्म— देखो पृथक् सारणी				
७	गोत्र—	(ध. ६/१३१-१३२)			
	मिथ्यादृष्टि सामान्य व सासादन	१	१	२	अन्यतम एक
	सातिशय मिथ्या० ३-१०	१	१	१	उच्च
		१		२	
८	अन्तराय—				
	१-१२	१	५	१	सर्व प्रकृतियाँ
		१		१	

८. मोहनीयबन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा

(ष. खं./६/सू. २०-४१/८८-९८); (पं.सं./प्रा./४/२४६-२५१); (पं. सं./प्रा./५/—२६-२९,३००-३०२); (पं. सं/सं./४/११८-१२३); (पं.सं./सं./५/—३३-३७,३२७-३२९); (सप्ततिका/१४ ; ४२); (गो. क./४६३-४७८/६०१-६७८)

सं. गुण स्थान	कुल बन्ध योग्य	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों व भंगोंका विवरण
१ मिथ्यादृष्टि—	२६	(सम्यक् प्रकृति व मिश्र रहित)			
सामान्य		१	२२	६	हास्य रति तथा अरति शोक में से १ युगल × अन्यतम वेद =२ × ३ = ६
सातिशय	२२	१	२२	१	२६—अरति, शोक, स्त्री, नपुं, = २२
२ सासादन	२४	(मिथ्यात्व व नपुं० रहित)			
		१	२१	४	(हास्य युगल या अरति युगल) × (स्त्री वेद या पुरुष वेद) = ४
३ मिश्र	१९	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित)			
		१	१७	२	(हास्य युगल या अरति युगल) × (पुरुष वेद) = २
४ अविरत सम्यक् क्षा०, वेदक, कृतकृत्य, वै०, उप०	१९	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित)			
		१	१७	२	मिश्रवत्

सं. गुणस्थान	कुल बन्ध योग्य	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों व भंगोंका विवरण
५ संयतासंयत— उपरोक्त ४ सम्य० सहि०	१५	(मिश्रवत १९-अप्रत्या० ४ = १५)			
		१	१३	२	मिश्रवत्
६ प्रमत्त संयत— चारों प्रकारके सम्य० सहित	११	(प्रत्या० चतु० रहित)			
		१	९	२	मिश्रवत्
७ अप्रमत्त संयत—	९	(अरति, शोक रहित)			
		१	९	१	सं० चतु०, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुष वेद
८ अपूर्व करण— i-/vii	९	१	९	१	अप्रमत्तवत्
९ अनिवृत्ति करण	५	(सं० चतु०, पुरुष वेद)			
९/i-९/v		१	५	१	सं० चतु०, पुरुष वेद
९/vi		१	४	१	सं० चतु०
९/vii		१	३	१	सं० मान, माया, लोभ
९/viii		१	२	१	सं० माया, लोभ
९/ix		१	१	१	सं० लोभ
१० सूक्ष्म साम्पराय		×	×	×	

९. नाम कर्म प्ररूपणा सम्बन्धी संकेत

सं०	समूहीकरण	संकेत	कुल प्रकृति	बन्ध प्रकृति	प्रकृतियोंका विवरण
१	ध्रुव बन्धी	ध्रु०/९	९	९	तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श = ९
२	प्रतिपक्षी युगल	यु०/९	१८	९	त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश-अयश, (इन ९ युगलोंकी १८ में से प्रतियुगल अन्यतम बन्ध होनेसे = ९)
३	समूहोंमें से अन्यतम	समूह/५	२२	५	चार गति, पाँच जाति, तीन शरीर, ६ संस्थान, चार आनुपूर्वी (अन्यतम बन्ध होनेसे ५)।
४	त्रस सहित ही बँधने योग्य समूह	त्रस/२	९	२	छः संहनन, ३ अंगोपांग (त्रसकी बन्धने योग्य २) (संहनन औदारिकके साथ बँधते हैं।
५	त्रसमें बँधने योग्य	त्रस यु./२	४	२	दुस्वर-सुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति: (इनमें से २)।
६	त्रस स्थावर दोनोंको	उ. परघात/२	२		उश्वास, परघात।
७	विशेष प्रकृतियाँ	ती. आ./३	३		तीर्थंकर व आहारक द्वय (देव नारकके मनुष्य सहित व मनुष्यके देवगति सहित ही बँधे)।
८		पृ. बा./१	१		आतप (पृथ्वी काय बादर पर्याप्त सहित ही बँधे)
९		उद्योत/१	१		उद्योत (पृथ्वी, अप, प्रत्येक वनस्पति, बादर, पर्याप्त व त्रस सहित ही बँधे।

१०. नाम कर्म बन्धके आठ स्थानोंका विवरण

(पं. सं./प्रा./—४/२५९-३०४/, ५/६३-९६), (गो. क./५३० /६८८); (पं. सं./सं./४/१३९-१८८); (पं. सं./सं/५/६२-१११);

नोट—ध्रुव/९ आदि संकेत—दे० सारणी नं० ९

सं०	स्थानमें प्रकृतियाँ	कुल भंग	कुल स्वामी	नं०	भंग नं०	प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
१	१	१	३		१	यशःकीर्ति	८/७, ९, १० गुणस्थान
२	२३	३	११	i	१	ध्रु./९, स्थावर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश., तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर हुंडक = २३	सूक्ष्म अप०(पृथिवी, अप, तेज, वायु)+ साधारण वनस्पति के बन्धक = ५
				ii	२	उपरोक्त २३-सूक्ष्म+बादर = २३	बा० अप०(पृ०, तेज, अप०, वायु)+साधा० वन० के बन्धक = ५
				iii	३	„ —सूक्ष्म, साधारण+बादर, प्रत्येक = २३	बा० अप० प्रत्येक वनस्पतिके बन्धक = १
३	२५	६४	१७	i	१-४	ध्रु./९, स्थावर, पर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, स्थिर, शुभ या अस्थिर अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश, तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर, हुंडक = २५ (स्थिर, अस्थिर, शुभ व अशुभ, इन दो युगलोंकी अन्यतम दो से चार भंग)	सू० प० प्र०(पृ०, तेज, अप, वायु,)+ साधा० वन० के बन्धक = ५
				ii	५-८	उपरोक्त २५—सूक्ष्म+बादर उपरोक्तवत् ४ भंग = २५	बा० प० साधारण वनस्पतिके बन्धक = १
				iii	९-१३	उपरोक्त (स्थिर, शुभ, यश इन तीन युगलोंसे ८ भंग = २५	आतप रहित बा० प०(पृ० अप, तेज वायु) = ४

नं०	स्थानमें प्रकृतियाँ	कुल भंग	कुल स्वामी	नं०	भंग	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण — प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
				iv	१७-२४	उपरोक्त २५-सूक्ष्म, साधारण+बादर, प्रत्येक=२५ (स्थिर, शुभ, यश इन तीन युगलोंसे ८ भंग)	बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति (उद्योत रहित) =१
				v	२५-४८	ध्रु०/६, त्रस, अप०, बादर, प्रत्येक, दुर्भग, अनादेय, स्थिर, शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम =८	
					४६-५६	तिर्य० द्वय, २-५ इन्द्रिय (४) में अन्यतम, औ० द्वय, सृपाटिका, हुंडक (३२ भंग) =२५	अप०, द्वी, त्री, चतुरेन्द्रिय (उद्योतरहित) संज्ञी, असंज्ञी, पंचेन्द्रियके बन्धक =५
				vi	७५-६४	उपरोक्त २५-तिर्य० द्वय+मनुष्य द्वय =८ भंग =२५	अप० मनुष्यके बन्धक =१
४	२६	४८	८	i	१-८	(उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५+आतप (उसी वत् ८ भंग) =२६	बा० प० पृथिवी (आतप युत) =१
				ii	६-१६	(उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५+उद्योत (उसी वत् ८ भंग) =२६	बा०प० पृ० अप, वनस्पति (उद्योत युत) =३
				iii	१७-४८	विकलत्रय अप० की २५ (उसीवत् ३२ भंग)=२६	बा०द्वी० त्री० चतुरेन्द्रिय उद्योत सहित) × असंज्ञी पंचे० (,,) =४
५	२८	६	२	i	१-८	ध्रु०व/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, आदेय स्थिर, शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से (८ भंग), देवद्वय, पंचेन्द्रिय, वैक्रि० द्वय, समचतुरस्र, सुस्वर व प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८ भंग) =२८	देवगतिके बन्धक =१
				ii	६	ध्रु०/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, दुर्भग, अनादेय अस्थिर, अशुभ, अयश, नारकद्वय, वैक्रि० द्वय, पंचे०, हुंडक, दुस्वर, अप्रशस्त-विहायो०, उच्छ्वास, परघात =२८	नरक गतिके बन्धक =१
६	२६	१२४८० ६२८८	७	i	१-३२	ध्रु०/६ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक दुर्भग, अनादेय स्थिर शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से (८ भंग), तिर्य० द्वय, औ० द्वय, २-५ इन्द्रिय, इन ४ में अन्यतमसे (४ भंग) हुंडक, सृपाटिका, दुस्वर अप्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८×४=३२ भंग) =२६	बा० प० द्वी० त्री० चतुरेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक (उद्योत रहित). =४
				ii	३३-४६४०	ध्रु०/६, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक सुभग, आदेय, स्थिर, शुभ, यश इन पाँच युगलोंमें अन्यतम ५ से (३२ भंग)-तिर्य० द्वय, औ० द्वय, पंचेन्द्रिय, ६ संस्थानोंमें अन्यतम १से (६भंग), ६ संहननमें अन्यतम १से (६ भंग), स्वर द्वय व. विहायोगति द्वय इन दो युगलों-में अन्यतम २ से (४भंग), उच्छ्वास, परघात (३२×६×६×४=४६०८ भंग) =२६	प० संज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक =१
				iii	४६४१-६२८०	उपरोक्त २६-तिर्य० द्वय+मनुष्य द्वय, (उसी वत् ४६०८ भंग) =२६	प० मनुष्यका बन्धक नारकी =१

नं०	स्थान में प्रकृति	कुल भंग	कुल स्वामी	नं०	भंग नं०	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण	
						प्रकृतियों व भंगोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
				iv	६२८१- ६२८१- -१२४८० ६२८८	भ०/१ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, आदेय, स्थिर, शुभ, यश इन ३ युगलोंमें अन्यतम ३ के ८ भंग, देव द्वय, वैक्रि० द्वय, पंचेन्द्रिय, समचतुरस्र, सुस्वर, प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात, तीर्थंकर (३२०० भंग) (८ भंग) =२९	देवगति व तीर्थंकरके बन्धक =१
७	३०	३२८	६	i	१-३२	(नं. ६/i की २९ + उद्योत) (उसीवत् भंग=३२) =३०	प० द्वी० त्री० चतु०, असंज्ञी पं.(उद्योतयुत)=४
				ii	३३-३२०	भ०/१ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, यश, आदेय, अनादेयमें अन्यतम १ के २ भंग, मनुष्य द्वय, औ०द्वय, पंचेन्द्रिय, ६ संस्थानों में अन्यतम १ के ६ भंग, ६ संहननोंमें अन्यतम १ के ६ भंग, स्वर द्वय, विहायोगति द्वय इन दो युगलोंमें अन्यतम २ से चार भंग, उच्छ्वास, परघात=(२×६×६×४=२८८ भंग)+तीर्थ.=३०	मनुष्य व तीर्थंकरका बन्धक =१
				iii	३२१-३२८	नं. ६/iv की २९— तीर्थंकर + आहार० द्वि० (उसीवत् भंग=८) =३०	देव व आहारक का बन्धक =१
८	३१	८	१	i	१-८	नं. ६/iv की २९+आहार० द्वि०, (उसी वत् भंग ८) =३१	देव गति, आहारक व तीर्थंकर काबन्धक=१

११. नाम कर्म बन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/४०३-४१७) (पं. सं /सं./५/४१६-४२८)

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	२३/i-iii, २५/i-vi, २६/i-iii, २८/i-ii, २९/i-iii, ३०/i	५	२८/i, २९/iv	१०	१/i
		६	२८/i, २९/iv		नोट—इनकी विशेषता यथायोग्य सत्त्व तथा व्युच्छित्ति वाला सारणियोंसे जानना
२	२८/i, २९/i-iii, ३०/i	७	२८/i, २९/iv, ३०/iii, ३१/i		आदेशकी अपेक्षा भी यथायोग्य लगा लेना।
३	२८/i, २९/iv	८	२८/i, २९/iv, ३०/iii, ३१/i, १/i		
४	२८/i, २९/iv, ३०/ii	९	१/i		

१२. जीव समासोंमें नामकर्म बन्ध स्थान प्ररूपणा—(गो. क./७०४-७११/८७८-८८१)

सं०	जीव समास	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ	सं०	जीव समास	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ
	अपर्याप्त			२	एकेन्द्रिय बादर	५	२३,२५,२६,२९,३०
१	सातों जीव समास	५	२३,२५,२६,२९,३०	३	विकलेन्द्रिय	५	,,
	पर्याप्त			४	असंज्ञी पंचेन्द्रिय	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
१	एकेन्द्रिय सूक्ष्म	५	,,	५	संज्ञी पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

११. नाम कर्म बन्ध स्थान आदेश प्ररूपणा—(पं. सं./प्रा./५/४१६-४७२);(गो. क./७१८-७२८/८८४-८६४)

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
	१. गति मार्गणा—		
१	नरक गति	२	२९,३०
२	तिर्यंच	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	मनुष्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
४	देव	४	२५,२६,२९,३०
	२. इन्द्रिय मार्गणा—		
१	एकेन्द्रिय	६	२३,२५,२६,२९,३०,३१
२	विकलेन्द्रिय	६	,,
३	पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
	३. काय मार्गणा—		
१	पृ० अप वनस्प०	६	२३,२५,२६,२९,३०,३१
२	तेज, वायु	६	,,
३	त्रस	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
	४. योग मार्गणा—		
१	सर्व मन, वचन	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	औदारिक	८	,,
३	औ० मिश्र	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
४	वैक्रि०	४	२५,२६,२९,३०
५	वै० मिश्र	४	,,
६	आहारक	२	२८,२९
७	आ० मिश्र	२	,,
८	कार्माण	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
	५. वेद मार्गणा—		
१	स्त्री वेद	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	नपुं० वेद	८	,,
३	पुरुष वेद	८	,,
	६. कषाय मार्गणा—		
१	सर्व सामान्य	८	(यथा योग्य) २३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
	७. ज्ञान मार्गणा—		
१	मति, श्रुत अज्ञान	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२	विभंग	६	,,
३	मति, श्रुत, अवधि	५	२८,२९,३०,३१,१
४	मनःपर्यय	५	,,
५	केवल	×	×
	८. संयम मार्गणा—		
१	सा० छेदो०	५	२८,२९,३०,३१,१
२	परि० वि०	४	२८,२९,३०,३१
३	सूक्ष्म सा०	१	१
४	यथाख्यात	×	×
५	देश संयत	२	२८,२९
६	असंयत	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
	९. दर्शन मार्गणा—		
१	चक्षु	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अचक्षु	८	,,
३	अवधि	५	२८,२९,३०,३१,१
४	केवल	×	×
	१०. लेश्या मार्गणा—		
१	कृष्णादि तीन	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२	पीत	६	२५,२६,२८,२९,३०,३१
३	पद्म	४	२८,२९,३०,३१
४	शुक्ल	५	२८,२९,३०,३१,१
	११. भव्य मार्गणा—		
१	भव्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अभव्य	६	२३,२५,२६,२८, २९, उद्योत सहित के ३०
	१२. सम्यक्त्व मार्गणा—		
१	क्षायिक	५	२८,२९,३०,३१,१
२	वेदक	४	२८,२९,३०,३१
३	उपशम	५	२८,२९,३०,३१,१
४	सम्य० मि०	२	२८,२९
५	सासादन	३	२८,२९,३०
६	मिथ्यादृष्टि	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
	१३. संज्ञी मार्गणा—		
१	संज्ञी	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	असंज्ञी	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
	१४. आहारक मार्गणा—		
१	आहारक	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अना० सयोगी	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	अना० अयोगी	×	×

१४. मूल उत्तर प्रकृतियोंमें जघन्योत्कृष्ट बन्ध तथा अन्य सम्बन्धी प्ररूपणाओंकी सूची

नं.	विषय	प्रमाण
१	मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणा।	म.बं. १/६५-१३२
२	मूल व उत्तर प्रकृतिके द्रव्य, क्षेत्रादि या प्रकृति प्रदेशादि चार प्रकार बन्ध अपेक्षा उत्कृष्ट जघन्यादि रूप स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणाएँ।	ध. २/३७०-४७६
३	सर्व-असर्व, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, जघन्य-अजघन्य, आदि-अनादि, और ध्रुव-अध्रुव प्रकृति बन्ध प्ररूपणाओंकी ओघ आदेश समुत्कीर्तना।	म. बं. १/२१-३१
४	नाना जीवोंकी अपेक्षा उत्तर प्रकृतियोंका भंगविचय।	म. बं. १/१३३-१४०

प्रकृतिवाद—दे० सांख्य दर्शन।

प्रक्रम—दे० उपक्रम।

प्रक्रिया—१. Process, २. Operation. (ध. ५/प्र. २८)।

प्रक्षेपक—(गो. जी./भाषा/३२६/७००/८ का भावार्थ—पर्यायसमास ज्ञानका प्रथम भेद विषैं पर्याय ज्ञानतैं जितने बंधै तितने जुदे कीए पर्याय ज्ञानके जेते अविभाग प्रतिच्छेद हैं तींहि प्रमाण मूल विवक्षित जानना। यहु जघन्य ज्ञान है इस प्रमाणका नाम जघन्य स्थाप्या। इस जघन्यकौं जीवराशि मात्र अनंतका भाग दीएं जो प्रमाण आवै ताका नाम प्रक्षेपक जानना। इस प्रक्षेपककौं जीवराशि मात्र अनंतका भाग दीएं जो प्रमाण आवै जो प्रक्षेपक-प्रक्षेपक जानना।

प्रगणना—ध ११/४,२,६,२४६/३४१/१० तत्थ पगणणा णाम इमिस्से इमिस्से ट्ठिदीए बंधकारणभूदाणि ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि एत्तियाणि एत्तियाणि होंति त्ति ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं पमाणं परूवेदि। =प्रगणना नामक अनुयोगद्वार अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान इतने इतने होते हैं, इस प्रकार स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है।

प्रज्ञप्ति—१. भगवान् सम्भवनाथकी शासकयक्षिणी—दे० तीर्थंकर ५/३. २. एक विद्या - दे० विद्या।

प्रज्ञा—प्रज्ञा व ज्ञानमें अन्तर—दे० ऋद्धि/२/७।

प्रज्ञाकरगुप्त—एक बौद्ध श्रमण था। धर्मकीर्ति इसके गुरु थे। प्रमाणवार्तिकालंकारकी इन्होंने रचना की थी। समय—ई. सं. ६६०-७२० (सि. वि./प्र. ३१/पं. महेन्द्र)।

प्रज्ञापन नय—दे० नय/I/५।

प्रज्ञापरीषह—

स. सि./९/९/४२७/४ अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्यः। —मैं अंग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंमें विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमें निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्यकी प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरिषह जय मानना चाहिए। (रा. वा./९/९/२९/६१२/११), (चा. सा./१२७/४)।

२. प्रज्ञा व अज्ञान परीषहमें अन्तर

स. सि./९/१७/४३५/७ प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्युगपदसंभवः। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषहः अवधिज्ञानाद्यभावापेक्षया अज्ञानपरिषह इति नास्ति विरोधः। =प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी विरोध है, इसलिए इन दोनोंका एक साथ होना असम्भव है? उत्तर—एक साथ एक आत्मामें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञापरीषह और अवधिज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है। (रा. वा./९/१७/३/६१५/२८)।

३. प्रज्ञा व अदर्शन परीषहमें अन्तर

रा. वा./९/९/३१/६१३/२ यद्येवं श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भावः प्राप्नोतीति; नैष दोषः;प्रज्ञायां सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धेः। =प्रश्न—श्रद्धान रूप दर्शनको ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा परीषहमें अन्तर्भाव किया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञाके होनेपर भी तत्त्वार्थ श्रद्धानका अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

४. प्रज्ञा व अज्ञान दोनोंका एक ही कारण क्यों

रा. वा./९/१३/१-२/६१४/१४ ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति; न; अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात् ।१।…प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति न सकलावरणक्षये इति प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणे सति प्रादुःस्त इत्यभिसंबध्यते ॥ मोहादिति चेत्; न; तद्भेदानां परिगणितत्वात् ।२।…मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततः ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्यः। —१. ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती हैं। क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके उदयमें मद उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणका क्षय होनेपर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनों ज्ञानावरणसे उत्पन्न होते हैं। २. मोहनीयकर्मके भेद गिने हुए है और उनके कार्य भी दर्शन चारित्र आदिका नाश करना सुनिश्चित है अत 'मैं बड़ा विद्वान् हूँ। अतः यह प्रज्ञामद मोहका कार्य न होकर ज्ञानावरणका कार्य है। क्योंकि चारित्रवालोंके भी प्रज्ञापरिषह होती है।

प्रज्ञापिनी भाषा—दे० भाषा।

प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/७।

प्रचय—१. दे० क्रम/१; २. Common difference. (ज. प./प्र. १०७)।

प्रचला—दे० निद्रा।

प्रच्छना—दे० पृच्छना।

प्रच्छन्न—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

प्रजापाल—सुकच्छ देशके श्रीपुर नगरका राजा था। जिन दीक्षा धारण कर ली थी। आयुके अन्तमें समाधि सहित मरणकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। (म. प्र./६६/६७-७५) यह पद्म चक्रवर्तीका पूर्व तीसरा भव है—दे० पद्म।

प्रज्वलित—तीसरे नरकका छठा पटल—दे० नरक/५।

प्रणय—गो. जी./जी. प्र./२४/६४/६ बाह्यार्थेषु ममत्वरूप: प्रणय:। —बाह्य पदार्थनिविषै ममत्वरूप भाव सो प्रणय कहिए स्नेह है।

प्रणाम—दे० नमस्कार।

प्रणिधान—भ. आ./मू./११६-११८/२७१ पणिधाणं पि य दुविहं इंदिय णोइंदियं च बोधव्वं। सद्दादि इंदियं पुण कोधाईयं भवे इदरं।११६। सद्दरसरूवगंधे फासे य मणोहरे य इयरे य। जं रागदोसगमणं पंचविहं होदि पणिधाणं।११७। णोइंदियपणिधाणं कोधो माणो तधेव माया य। लोभो य णोकसाया मणपणिधाणं तु तं वज्जे।११८। —प्रणिधानके इन्द्रिय प्रणिधान, नोइन्द्रिय प्रणिधान ऐसे दो भेद हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो प्रकारके हैं। इनसे आत्मामें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, इसको इन्द्रिय प्रणिधान कहते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय प्रणिधान ऐसे पाँच भेद हैं।११६-११७। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा तीनों वेद, इन सबके परिणामोंको नोइन्द्रिय प्रणिधान कहते हैं। (मू. आ./२९९-३००)।

मू. आ./२९८ पणिधाणं पि य दुविहं पसत्थं तह अपसत्थं च। समिदीसु य गुत्तीसु य सत्थं सेसमप्पसत्थं तु।२९८। —प्रणिधानके भी दो भेद हैं—शुभ और अशुभ। पाँच समिति और तीन गुप्तियोंमें जो परिणाम हैं वे शुभ होते हैं और शेष इन्द्रियविषयोंमें जो परिणाम हैं वह अशुभ हैं।२९८।

रा. वा./७/३३/२/५५७/७ दुष्ठु प्रणिधानमन्यथा वा दु:प्रणिधानम्।२। प्रणिधानं प्रयोग. परिणाम इत्यनर्थान्तरम्। दुष्ठु पापं प्रणिधानं दु:प्रणिधानम्, अन्यथा वा प्रणिधानं दु:प्रणिधानम्। तत्र क्रोधादिपरिणामवशात् दुष्ठु प्रणिधानं शरीरावयवानाम् अनिभृतमवस्थानम्, वर्णसंस्काराभावाऽर्थागमकत्वचापलादिवाग्गतम्, मनसोऽनर्पितत्वं चेत्यन्यथा प्रणिधानम्। —परिणाम, प्रयोग व प्रणिधान ये एकार्थवाची शब्द हैं। दु:प्रणिधानका अर्थ दुष्ट या पापरूप प्रणिधान है या अन्यथा प्रणिधानको दु:प्रणिधान कहते हैं। तहाँ क्रोधादि कषायोंके वश होकर दुष्ट प्रणिधान होता है और शरीरका विचित्र विकृति रूपसे हो जाना, निरर्थक अशुद्ध वचनोंका प्रयोग करना और मनका उपयोग न लगना ये अन्यथा प्रणिधान हैं। (और भी दे० उपयोग/II/४/१,२ तथा मनोयोग/५)।

न्या. मू./टी./३/२/४३/२०८/१४ सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थ-स्मृतिकारणम्। —स्मरणकी इच्छासे मनको एक स्थानमें लगानेका 'नाम' प्रणिधान है।

प्रणिधि—मायाका एक भेद—दे० माया/२)।

प्रतर—१. area अथवा (Particular unit)[२] २. जगत प्रतर, राजू प्रतर व तिर्यक् प्रतर—दे० गणित/I/२/७, १/३।

प्रतरसमुद्घात—दे० केवली/७।

प्रतरांगुल—(अंगुल)[२] —दे० गणित/I/१/३।

प्रतरात्मक अनंत आकाश—Infinite Plane area.

प्रतिकुंचन—मायाका एक भेद—दे० माया/२।

प्रतिक्रमण—द्रव्यश्रुतके १४ पूर्वोंमें-से चौथा अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III/१।

प्रतिक्रमण—व्यक्तिको अपनी जीवन यात्रामें कषाय वश पद-पद पर अन्तरंग व बाह्य दोष लगा करते हैं, जिनका शोधन एक श्रेयोमार्गीके लिए आवश्यक है। भूतकालमें जो दोष लगे हैं उनके शोधनार्थ, प्रायश्चित्त पश्चात्ताप व गुरुके समक्ष अपनी निन्दा-गर्हा करना प्रतिक्रमण कहलाता है। दिन, रात्रि, पक्ष, मास, संवत्सर आदिमें लगे दोषोंको दूर करनेकी अपेक्षा वह कई प्रकार है।

१. भेद व लक्षण

१. प्रतिक्रमण सामान्यका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ

स. सि./९/२२/४४०/६ मिथ्यादुष्कृताभिधानादभिव्यक्तप्रतिक्रियं प्रतिक्रमणम्—'मेरा दोष मिथ्या हो' गुरुसे ऐसा निवेदन करके अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना प्रतिक्रमण है। (रा. वा./९/२२/३/६२१/१८) (त. सा./७/२३६)

गो. जी./जी. प्र./३६७/७९०/२ प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतदैवसिकादिदोषो निराक्रियते अनेनेति प्रतिक्रमणं। —प्रमादके द्वारा किये दोषोंका जिसके द्वारा निराकरण किया जाता है, उसको प्रतिक्रमण कहते हैं।

२. दोष निवृत्ति

रा. वा./६/२४/११/५३०/१३ अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्। —कृत दोषोंकी निवृत्ति प्रतिक्रमण है। (स. सा./ता. वृ./३०६/३८८/९) (भा. पा./टी./७७/२२१/१४)।

ध. ८/३.४१/८४/६ पंचमहव्वएसु चउरासीदिलक्खगुणगणकलिएसु समुप्पण्णकलंकपक्खालणं पडिक्कमणं णाम। —चौरासी लाख गुणोंके समूहसे संयुक्त पाँच महाव्रतोंमें उत्पन्न हुए मलको धोनेका नाम प्रतिक्रमण है।

भा. आ./वि./४२१/६१६/१२ अचेलतादिकल्पस्थितस्य यद्यतिचारो भवेत् प्रतिक्रमणं कर्तव्यमित्येषोऽष्टम: स्थितिकल्प:। —अचेलतादि कल्पमें रहते हुए जो मुनिको अतिचार लगते हैं उनके निवारणार्थ प्रतिक्रमण करना अष्टम स्थितिकल्प है।

३. मिथ्यामें दुष्कृत

मू. आ./२६ दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराहसोहणयं। णिंदणगरहणजुत्तो मणवचकायेण पडिकमणं।२६। —द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें किया गया जो व्रतमें दोष उसका शोधना, आचार्यादिके समीप आलोचनापूर्वक अपने दोषोंको प्रकट करना, वह मुनिराजका प्रतिक्रमण गुण होता है।२६।

नि. सा./मू./१५३ वयणमयं पडिकमणं···जाण सज्झाउं।१५३। —वचनमय प्रतिक्रमण···यह स्वाध्याय जान।

ध./१३/५,४,२६/६०/८ गुरूणमालोचणाए विणा ससंवेगणिव्वेयस्स पुणो ण करेमि त्ति जमवराहादो णियत्तणं पडिक्कमणं णाम पायच्छित्तं। —गुरुओंके सामने आलोचना किये बिना संवेग और निर्वेदसे युक्त साधुका फिर कभी ऐसा न करूँगा यह कहकर अपने अपराधसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है। (अन. ध./७/४७) (भा. पा./७८/२२३/५)।

भा. आ./वि./६/३२/१६ स्वकृतादशुभयोगात्प्रतिनिवृत्ति: प्रतिक्रमणं। —स्वत: के द्वारा किये हुए अशुभ योगसे परावर्त होना अर्थात् 'मेरे अपराध मिथ्या होवें' ऐसा कहकर पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है।

२. निश्चय प्रतिक्रमणका लक्षण

१. शुद्ध नयकी अपेक्षा

स. सा./मू./३८३ कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।३८३। —पूर्वकृत जो अनेक प्रकारके विस्तार वाला शुभ व अशुभ कर्म है, उससे जो आत्मा अपनेको दूर रखता है वह आत्मा प्रतिक्रमण है।३८३।

नि. सा./मू./८३-८४ मोत्तूण वयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा। अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।८३। आराहणाइ

बहुइ मोत्तूण विराहणं विसेसेण। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमण-मओ हवे जम्हा।८४। =वचन रचनाको छोड़कर, रागादि भावोंका निवारण करके, जो आत्माको ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है। ।८३। जो (जीव) विराधनाको विशेषतः छोड़कर आराधनामें वर्तता है, वह (जीव) प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है।८४। (इसी प्रकार अनाचारको छोड़कर आचारमें, उन्मार्गका त्याग करके जिनमार्गमें, शल्य भावको छोड़कर निःशल्य भावसे, अगुप्ति भावको छोड़कर त्रिगुप्ति गुप्तसे, आर्त-रौद्र ध्यानको छोड़कर धर्म अथवा शुक्ल ध्यानको, मिथ्यादर्शन आदिको छोड़कर सम्यक् दर्शनको भाता है वह जीव प्रतिक्रमण है। (नि. सा./मू./८५-९१)।

भ.आ./वि./१०/४६/१० कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखतो योग-त्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमन्तं चेति परिणामः प्रतिक्रमणम्। =जब मुनिको चारित्र पालते समय दोष लगते हैं तब, मन वचन-योगसे मैंने हा! दुष्ट कार्य किया कराया व करनेवालोंका अनुमोदन किया यह अयोग्य किया ऐसे आत्माके परिणामको प्रतिक्रमण कहते हैं।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

नि. सा./मू./९२ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवराकम्मं। तम्हा दु झाणमेव हि उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं।९२। =उत्तमार्थ (अर्थात् उत्तम पदार्थ सच्चिदानन्द रूप कारण समयसार स्वरूप) आत्मामें स्थित मुनिवर कर्मका घात करते हैं, इसलिए ध्यान ही वास्तवमें उत्तमार्थका प्रतिक्रमण है।९२। (न. च. वृ./३४६)।

ति. प./९/४९ पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य। णिंदणगरुहणसोही लब्भंति णियादभावणए।४९। =निजात्मा भावनासे प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, गर्हण और शुद्धिको प्राप्त होते हैं।४९।

यो. सा. अ./५/५० कृतानां कर्मणां पूर्वं सर्वेषां पाकमीयुषां। आत्मीय-त्वपरित्याग प्रतिक्रमणमीर्यते।५०। =पहिले किये हुए कर्मोंके प्रदत्त फलोंको अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता है।५०।

प्र. सा./ता. वृ./२०७/२८१/१४ निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते। =निज शुद्धात्म परिणति है लक्षण जिसका ऐसी जो क्रिया है, वह निश्चय नयसे बृहत्प्रतिक्रमण कही जाती है।

३. प्रतिक्रमणके भेद

१. दैवसिक आदिकी अपेक्षा

मू. आ./१२०,६१३ पढमं सव्वदिचारं बिदियं तिविहं हवे पडिकमणं। पाणस्स परिच्चयणं जावज्जीवुत्तमट्ठं च।१२०। पडिकमणं देवसियं रादिय इरियापधं च बोधव्वं। पक्खिय चादुम्मासिय संवच्छरमुत्त-मट्ठं च।६१३। =पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर सब तपश्चरणके कालतक जो दोष लगे हों उनकी शुद्धि करना, दूसरा त्रिविध प्रतिक्रमण है वह जलके बिना तीन प्रकारका आहारका त्याग करनेमें जो अतिचार लगे थे उनका शोधन करना और तीसरा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है उसमें जीवन पर्यंत जल-पीनेका त्याग किया था, उसके दोषोंकी शुद्धि करना है।१२०। अतिचारोंसे निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है वह दैवसिक रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सांवत्सरिक, और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण ऐसे सात प्रकार है।६१३। (क. पा. १); (६,१/६९८/११३/६) (गो. जी./जी. प्र./३६७/७९०/२)।

२. द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा

भ. आ./वि./११६/२७५/१४ प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्ति षोढा भिद्यते नाम-स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन।...केषाचिद्व्याख्यानं। चतुर्वि-धमित्यपरे। =अशुभसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिक्रमण। ऐसे कितने आचार्योंका मत है। कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते हैं।

४. नाम स्थापनादि प्रतिक्रमणका लक्षण

भ. आ./वि./११६/२७५/१४ अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं। ...आप्ताभासप्रतिमायां पुरः स्थितायां यदभिमुखतया कृताञ्जलिपुटता, शिरोवनति...न कर्तव्यम्। एवं सा स्थापना परिहृता भवति। त्रस-स्थावरस्थापनानामविनाशनं अमर्दनं अताडनं वा परिहारप्रति-क्रमणं। ...उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टानं वसतीनां उपकरणानां, भिक्षाणां च परिहरणं, अयोग्यानां चाहारादीनां, गृद्धदर्पस्य च कारणानां संक्लेशहेतूनां वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमणं। उदक-कर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमणं। यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार।... रात्रिसंध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापारा-कारणात् कालप्रतिक्रमणं। ...आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामाः, पुण्यास्रवभूतास्च शुभपरिणामा;इह भावशब्देन गृह्यन्ते,तेभ्यो निवृत्ति-र्भावप्रतिक्रमणं इति। =अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है।...आप्ताभासकी प्रतिमाके आगे खड़े होकर हाथ जोड़ना, मस्तक नवाना, द्रव्यसे पूजा करना, इस प्रकारके स्थापनाका त्याग करना, अथवा त्रस, वा स्थावर जीवोंकी स्थापनाओं का नाश करना, मर्दन तथा ताड़न आदिका त्याग करना स्थापना प्रतिक्रमण है।...उद्गमादि दोष युक्त वसतिका, उपकरण व आहारका त्याग करना, अयोग्य अभिलाषा, उन्मत्तता तथा संक्लेश परिणामको बढ़ाने वाले आहारादिका त्याग करना, यह सब द्रव्य प्रतिक्रमण है। पानी, कीचड़, त्रसजीव, स्थावर जीवोंमें व्याप्त प्रदेश, तथा रत्नत्रय-की हानि जहाँ हो ऐसे प्रदेशका त्याग करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।... रात्रि, तीनों सन्ध्याओंमें, स्वाध्यायकाल, आवश्यक क्रियाके कालोंमें आने जानेका त्याग करना यह काल प्रतिक्रमण है।...आर्त-रौद्र इत्यादिक अशुभ परिणाम व पुण्यास्रवके कारणभूत शुभ परिणाम-का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है।

भ. आ./वि./५०९/७२८/१४ हा दुष्कृतमिति वा मनःप्रतिक्रमणं। सूत्रो-च्चारणं वाक्य-प्रतिक्रमणं। कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं। = किये हुए अतिचारोंका मनसे त्याग करना यह मनःप्रतिक्रमण है। हाय मैंने पाप कार्य किया है ऐसा मनसे विचार करना यह मन.प्रति-क्रमण है।सूत्रोंका उच्चारण करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है। शरीरके द्वारा दुष्कृत्योंका आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है।

★ आलोचना व प्रतिक्रमण रूप उभय प्रायश्चित्त

—दे० प्रायश्चित्त

५. अप्रतिक्रमणका लक्षण

स. सा./ता. वृ./३०७/३८९/१७ अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानि-जनाश्रितं अज्ञानिजनाश्रितं चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति। ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं। =अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है—ज्ञानीजनोंके आश्रित और अज्ञानी जनोंके आश्रित। अज्ञानी जनोंके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह विषय कषायकी परिणति रूप है अर्थात् हेयोपादेयके विवेकशून्य सर्वथा अत्याग रूप निरर्गल प्रवृत्ति है। परन्तु ज्ञानी जीवोंके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह शुद्धात्माके सम्यग्श्रद्धान ज्ञान व आचरण लक्षण वाले अभेद रत्नत्रयरूप या त्रिगुप्ति रूप है।

स. सा./ता. वृ./२८३/३६३/८ पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपम-प्रतिक्रमणं द्विविधं...द्रव्यभावरूपेण...। =पूर्वानुभूत विषयोंका

अनुभव व रागादि रूप अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है–द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण।

स. सा./पं. जयचन्द/२८४-२८५ अतीत कालमें जो पर द्रव्योंका ग्रहण किया था उनको वर्तमानमें अच्छा जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भावका होना सो द्रव्य अप्रतिक्रमण है। उन द्रव्योंके निमित्तसे जो रागादि भाव (अतीत कालमें) हुए थे, उनको वर्तमान में भले जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भाव रहना सो भाव अप्रतिक्रमण है।

२. प्रतिक्रमण विधि

१. आदि व अन्त तीर्थोंमें प्रतिक्रमणकी नितान्त आवश्यकता

मू. आ./६२८,६३० इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु। पुरिमचरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमंदि।६२८। पुरिमचरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य। तो सव्वपडिक्कमणं अंधलघोडय दिट्ठंतो।६३०। –ऋषभदेव और महावीर प्रभुके शिष्य इन सब ईर्यागोचरी स्वप्नादिसे उत्पन्न हुए अतीचारोंको प्राप्त हो अथवा मत प्राप्त हो तो भी प्रतिक्रमणके सब दंडकोंको उच्चारण करते हैं।६२८। आदि अन्तके तीर्थंकरके शिष्य चलायमान चित्त वाले होते हैं, मूढ बुद्धि होते हैं इसलिए वे सब प्रतिक्रमण दण्डक उच्चारण करते हैं। इसमें अन्धे घोड़ेका दृष्टान्त है कि सब ओषधियोंके करनेसे वह सूझता है।६३०। (मू.आ./६२६) (म. आ./वि./४२१/६१६/५)।

२. शिष्योंका प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक और गुरुका आलोचनाके बिना ही होता है

मू. आ./६१८ काऊण य किदियम्मं पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो। आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण।६१८। –विनयकर्म करके, शरीर आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके, अंजलि क्रियामें शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्ति वाला साधु ऋद्धि आदि गौरव और जाति आदिके मानको छोड़कर गुरुसे अपने अपराधोंका निवेदन करे।६१८।

रा. वा./६/२२/४/६२१/२२ इदमयुक्तं वर्तते। 'किमत्रायुक्तम्। अनालोचयतः न किंचिदपि प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्—'प्रतिक्रमणंमात्रमेव शुद्धिकरम्' इति एतदयुक्तम्। अथ तत्राप्यालोचनापूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपदेशो व्यर्थः, नैष दोषः, सर्वं प्रतिक्रमणमालोचनापूर्वकमेव, किंतु पूर्वं गुरुणाभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयम्। –शंका—पहिले कहा है कि आलोचना किये बिना कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं होता और अब कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण मात्र ही शुद्धिकारी है। इसलिए ऐसा कहना अयुक्त है। यहाँ भी आलोचना पूर्वक ही जाना जाता है इसलिए तदुभय प्रायश्चित्तका निर्देश करना व्यर्थ है। उत्तर- यह कोई दोष नहीं है—वास्तवमें सभी प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक ही होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि तदुभय प्रायश्चित्त गुरुकी आज्ञासे शिष्य करता है। जहाँ केवल प्रतिक्रमणसे दोष शुद्धि होती है वहाँ वह स्वयं गुरुके द्वारा ही किया जाता है; क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्यसे आलोचना नहीं करता।

३. अल्प दोषमें गुरु साक्षी आवश्यक नहीं

ध.१३/५,४,२६/६०/१० एदं (पडिक्कमणं पायच्छित्तं) कत्थ होदि। अप्पावराहे गुरुहि विणा वट्टमाणम्हि होदि–जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हों, तब यह (प्रतिक्रमण नामका) प्रायश्चित्त है।

चा. सा./१४१/४ अस्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसंनिधानेन विस्मरणे सत्यालोचनं पुनरनुष्ठायकस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्तनं प्रतिक्रमणं। –धर्म कथादिमें कोई विघ्नके कारण उपस्थित हो जानेपर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगोंको भूल जाय तो पहिले आलोचना करते हैं और फिर वे यदि संवेग और वैराग्यमें तत्पर रहें समीपमें गुरु न हों तथा छोटा सा अपराध लगा हो तो 'मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा यह मेरा पाप मिथ्या हो' इस प्रकार दोषोंसे अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४. प्रतिक्रमण करनेका विषय व विधि

मू. आ./६१६-६१७ पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं। खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालम्हि।६१६। मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं। कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु।६१७। –सचित्त अचित्त मिश्ररूप जो त्यागने योग्य द्रव्य हैं वह प्रतिक्रमितव्य हैं, घर आदि क्षेत्र हैं, दिवस मुहूर्त आदि काल हैं। जिस द्रव्य आदिसे पापास्रव हो वह त्यागने योग्य है।६१६। मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण, उसी तरह असंयमका प्रतिक्रमण, क्रोधादि कषायोंका प्रतिक्रमण, और अशुभ योगोंका प्रतिक्रमण करना चाहिए।६१७।

दे० प्रतिक्रमण/३/२ (गुरु समक्ष विनय सहित, शरीर व आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके करना चाहिए)।

दे० कृति कर्म/४ (दैवसिकादि प्रतिक्रमणमें सिद्ध भक्ति आदि पाठोंका उच्चारण करना चाहिए)।

मू. आ./६६३-६६५ भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासियवरिसचरिमेसु। णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए।६६३। काओसग्गम्हिठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचारं। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो।६६४। तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासियवरिसचरिमेसु। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो।६६५। –भक्त पान ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ जानकर धीर पुरुष अतिशय कर दुखके क्षय निमित्त कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं।६६३। कायोत्सर्गमें तिष्ठा, ईर्यापथके अतिचारके नाशको चिंतवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्तकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान चिन्तवन करो।६६४। इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ—इन सब नियमोंको पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्यावै।६६५।

५. प्रतिक्रमण योग्य काल

दे० प्रतिक्रमण/१/३ (दिन, रात्रि, पक्ष, वर्ष, व आयुके अन्तमें दैवसिकादि प्रतिक्रमण किये जाते हैं।)

अन. ध./९/४४ योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः। कालक्रमनियमोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः।४४। –रात्रि योग तथा प्रतिक्रमणका जो पहले विधान किया गया है, वह व्यावहारिक है। क्योंकि इनके विषयमें कालके क्रमका अर्थात् समयानुपूर्वीका या काल और क्रमका नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय, देव वन्दन और भक्त प्रत्याख्यान) के विषयमें काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमणके विषयमें नहीं।४४।

★ प्रतिक्रमणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण —दे० व्युत्सर्ग /१।

★ प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है, तथा प्रतिक्रमणके अतिचार —दे० प्रायश्चित्त/४/२।

३. प्रतिक्रमण निर्देश

१. प्रतिक्रमण व सामायिकमें अन्तर

भ. आ./वि./११६/२७६/८ सामायिकस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेदः। सावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं। प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्काय-निवृत्तिरेव तत्कथं षडावश्यकव्यवस्था। अत्रोच्यते-सर्वं सावद्ययोगं प्रत्याख्यामीति वचनाद्धिंसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिः सामायिकं। हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्तिः प्रतिक्रमण।···इदं त्वन्याय्यं प्रतिविधानं। योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते। स च···क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिरशुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मनः सामायिकं। मिथ्यात्वासंयमकषायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका।··· तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्तिः प्रतिक्रमणं। –प्रश्न–सामायिक और प्रतिक्रमणमें क्या भेद हैं? सावद्य मन वचन कायकी प्रवृत्तियोंसे विरक्त होना यह सामायिकका लक्षण है। और अशुभ मनोवाक्कायकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है। अर्थात् प्रतिक्रमण और सामायिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है। इसलिए छः आवश्यक क्रियाओंकी व्यवस्था कैसे होगी? उत्तर—'सर्वसावद्य योगोंका मैं त्याग करता हूँ' ऐसा वचन अर्थात् प्रतिज्ञा सामायिकमें की जाती है। हिंसादिकोंके भेद पृथक् न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामायिक है। और हिंसादि भेदसे सावद्य योगके विकल्प करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है।···इस रीतिसे ऊपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते हैं परन्तु यह उनका उत्तर अयोग्य है। योग शब्दसे वीर्य परिणाम ऐसा अर्थ होता है। वह वीर्य परिणाम वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक भाव है। ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय ये दर्शन व चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मामें उत्पन्न होते हैं।···ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिक्रमण कहा गया है।

२. प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानमें अन्तर

क. पा. १/१,१/११५/१ पच्चक्खाणपडिक्कमणाणं को भेओ। उच्चदे, सगंगट्ठियदोसाणं दव्व-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम। पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणोपच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं। –प्रश्न–प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है। उत्तर–द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे अपने शरीरमें लगे हुए दोषोंका त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा प्रत्याख्यानसे अप्रत्याख्यानको प्राप्त होकर पुनः प्रत्याख्यानको प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।

३. प्रतिक्रमणके भेदोंका परस्परमें अन्तर्भाव

क. पा. १/१,१/§८८/११३/६ सव्वाधियारिय-तिविहाहारचाययिपडिक्कमणाणि उत्तमट्ठाणपडिक्कमणम्मि णिवदंति। अट्ठावीसमूलगुणाइचारविसयसव्वपडिक्कमणाणि इरियावहयपडिक्कमम्मि णिवदंति; अवगय-अइचारविसयत्तादो। –सर्वातिचारिक और त्रिविधाहार त्यागिक नामके प्रतिक्रमण उत्तम स्थान प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं। अट्ठाईस मूलगुणोंके अतिचारविषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं, क्योंकि प्रतिक्रमण अवगत अतिचारोंको विषय करता है।

★ निश्चय व्यवहार प्रतिक्रमणकी मुख्यता गौणता

—दे० चारित्र।

प्रतिज्ञांतर—न्या. सू./मू. व टी./५/२/३/३१० प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ।३। प्रतिज्ञातार्थोऽनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः सामान्यमैन्द्रियकं नित्यमिति तस्मिंश्च प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधर्म्ययोगे धर्मभेदात्सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थं कथं यथा घटोऽसर्वगत एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति तत्रानित्यः शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरं तत्कथं निग्रहस्थानमिति न प्रतिज्ञायाः साधनं प्रतिज्ञान्तरं किंतु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति। अनार्थक्यान्निग्रहस्थानमिति ।३। –वादी द्वारा प्रतिज्ञात हो चुके अर्थका प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करनेपर वादी उस दूषणका उद्धार करनेकी इच्छासे धर्मका यानी धर्मान्तरका विशिष्ट कल्प करके उस प्रतिज्ञात अर्थका अन्य विशेषणसे विशिष्टपने करके कथन कर देता है, यह प्रतिज्ञान्तर है।३। जैसे—शब्द अनित्य है ऐन्द्रियिक होनेसे घटके समान, इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादी द्वारा अनित्यपनेका निषेध किया गया। ऐसी दशामें वादी कहता है कि जिस प्रकार घट असर्वगत है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यापक हो जाओ और उस ऐन्द्रियक सामान्यके समान यह शब्द भी नित्य हो जाओ। इस प्रकार धर्मकी विकल्पना करनेसे ऐन्द्रियिकत्व हेतुका सामान्य नामको धारनेवाली जाति करके व्यभिचार हो जानेपर भी वादी द्वारा अपनी पूर्वकी प्रतिज्ञाकी प्रसिद्धिके लिए शब्दके सर्वव्यापकपना विकल्प दिखलाया गया कि तब तो शब्द असर्वगत हो जाओ। इस प्रकार वादीकी दूसरी प्रतिज्ञा तो उस अपने प्रकृत पक्षको साधनेमें समर्थ नहीं है। इस प्रकार वादीका निग्रह होना माना जाता है। किन्तु यह प्रशस्त मार्ग नहीं है। (श्लो. वा. ४/न्या. १३०/३५४/१६ में इसपर चर्चा की गयी है)।

प्रतिज्ञा—न्या. दी./३/§३१/७६/४ तत्र धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् इति। –धर्म और धर्मीके समुदायरूप पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है।

न्या. सू./टी./१/१/३३/३८/१० साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा संबन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः। अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञा। –धर्मीके द्वारा साध्य धर्मका सिद्ध करना प्रतिज्ञाका अर्थ है। जैसे—किसीने कहा कि शब्द अनिवार्य है।

प्रतिज्ञाविरोध—न्या. सू./मू. व टी./५/२/४/३११ प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ।४। गुणव्यतिरिक्तद्रव्यमिति प्रतिज्ञा। रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः कथं यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते। रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति नोपपद्यते गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न संभवतीति। –प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्यका विरोध हो जाना प्रतिज्ञाविरोध है ।४। द्रव्य, गुणसे भिन्न है यह प्रतिज्ञा हुई और रूपादिकोंसे अर्थान्तरकी अनुपलब्धि होनेसे, यह हेतु है। ये परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो द्रव्य गुणसे भिन्न है, तो रूपादिकोंसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि इस प्रकार कहना ठीक नहीं होता है। और जो रूप आदिकोंसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि हो तो 'गुणसे भिन्न द्रव्य' ऐसा कहना नहीं बनता है। इसको प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहते हैं। (श्लो. वा. ४/न्या. १४१/३५६/२२ में इसपर चर्चा)।

प्रतिज्ञा संन्यास—(श्लो. वा. ४/मू. व टी./५/२/५/३११ पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ।५। अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति। एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात

कः पुनराह अनित्यः शब्द इति। सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिह्नवः प्रतिज्ञा-संन्यास इति। —पक्षके निषेध होनेपर प्रतिज्ञात 'माने हुए अर्थका छोड़ देना' 'प्रतिज्ञा संन्यास कहलाता है। जैसे—इन्द्रिय विषय होनेसे शब्द अनित्य है इस प्रकार कहनेपर दूसरा कहे कि 'जाति इन्द्रिय विषय है और अनित्य नहीं। इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय विषय है पर अनित्य न हो। इस प्रकार पक्षके निषेध होनेपर यदि कहे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है, यह प्रतिज्ञा किये हुए अर्थका छिपाना है। इसीको प्रतिज्ञासंन्यास कहते हैं (श्लो. वा. ४/न्या. १७८/३७४/१६ में इसपर चर्चा)।

प्रतिज्ञा हानि—न्या. सू./मू. व टी./५/२/२/३०६ प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः।२। ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृते अपर आह। दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति। —साध्यधर्मके विरुद्ध धर्मसे प्रतिषेध करनेपर प्रति दृष्टान्तमें माननेवाला प्रतिज्ञा छोड़ता है इसको 'प्रतिज्ञाहानि' कहते हैं। जैसे—'इन्द्रियके विषय होनेसे घटकी नाई' शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर दूसरा कहता है कि 'नित्य जातिमें इन्द्रिय विषयत्व है। तो वैसे ही शब्द भी क्यों नहीं'। ऐसे निषेधपर यह कहता है कि 'जो इन्द्रिय विषय जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो', ऐसा माननेवाला साधक दृष्टान्तका नित्यत्व मानकर 'निगमन' पर्यन्त ही पक्षको छोड़ता है। पक्षका छोड़ना प्रतिज्ञाका छोडना है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञाके आश्रय है। (श्लो. वा. ४/न्या./१०२/३४५/६ में इसपर चर्चा)।

प्रतिग्रह—दे० भक्ति/२/६।

प्रतिघात—स. सि./२/४०/१९३/६ मूर्तिमतो मूर्त्यन्तरेण व्याघातः प्रतिघातः। —एक मूर्तीक पदार्थका दूसरे मूर्तीक पदार्थके द्वारा जो व्याघात होता है, उसे प्रतिघात कहते हैं। (रा.वा./२/४०/१/१४९/४)।

प्रतिघाती—स्थूल व सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रतिघाती व अप्रतिघातीपना —दे० सूक्ष्म/३।

प्रतिच्छन्न—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

प्रतिजीवीगुण—दे० गुण/१।

प्रतितंत्र सिद्धांत—दे० सिद्धान्त।

प्रतिदृष्टांतसमा—न्या. सू./मू. व टी./५/१/९/२९१ दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ।६। क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते न च हेत्वन्तरेण सिद्धिरस्तीति प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः। क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाद् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुर्गुणो वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः वायुवनस्पतिसंयोगवदिति। —वादीके द्वारा कहे गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्त स्वरूप करके प्रतिवादी द्वारा जो दूषण उठाया जाता है, वह प्रतिदृष्टान्तसमा जाति इष्ट की गयी है। इसका उदाहरण यों है कि (क्रियावत्त्व गुणके कारण आत्मा क्रियावाला है जैसे कि लोष्ट) इस ही आत्माके क्रियावत्त्व साधनेमें प्रयुक्त किये गये दृष्टान्तके प्रतिकूल दृष्टान्त करके दूसरा प्रतिवादी प्रत्यवस्थान देता है कि क्रियाके हेतुभूत गुणके (वायुके साथ) युक्त हो रहा आकाश तो निष्क्रिय देखा जाता है। उस हीके समान आत्मा भी क्रिया रहित हो जाओ। यदि यहाँ कोई प्रश्न करे कि क्रियाका हेतु आकाशका कौनसा गुण है। प्रतिवादीकी ओरसे उत्तर यों है कि वायुके साथ आकाशका जो संयोग है, वह क्रियाका कारण गुण है। जैसे—कि वेग नामक संस्कारकी अपेक्षा रखता हुआ, वृक्षमें वायुका संयोग क्रियाका कारण हो रहा है। अतः आकाशके समान आत्मा क्रिया हेतुगुणके सद्भाव होनेपर भी क्रियारहित हो जाओ। (श्लो. वा. ४/न्या. ३६४/४८६/१ में इसपर चर्चा)।

प्रतिनीत—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

प्रतिपक्ष—दे० पक्ष।

प्रतिपत्तिक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II

प्रतिपत्तिक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II

प्रतिपद्यमान स्थान—दे० लब्धि/५।

प्रतिपात—

स. सि./१/२४/१३०/८ प्रतिपतनं प्रतिपातः। —गिरनेका नाम प्रतिपात है। (रा. वा./१/२४/१/८५/११)।

रा. वा./१/२२/४/८२/४ प्रतिपातीति विनाशी विद्युत् प्रकाशवत्। —प्रतिपाती अर्थात् बिजलीकी चमककी तरह विनाशशील बीचमें ही छूटनेवाला (अवधिज्ञान)।

प्रतिपाती—प्रतिपाती संयम लब्धि स्थान—दे० लब्धि/५।

प्रतिपाती अवधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/६।

प्रतिपाती मनःपर्यय ज्ञान—दे० मन.पर्यय/२।

प्रतिपृच्छना—दे० समाचार।

प्रतिबंध— प्रतिबन्ध निमित्त या कारण—दे० निमित्त/१।

प्रतिबंध्य—प्रतिबंध्य प्रतिबन्धक विरोध—दे० विरोध।

प्रतिबुद्धता—१. क्षण लव प्रतिबुद्धताका लक्षण

ध./८/३,४१/८५/१० खण-लवा णाम कालविसेसा। सम्मद्दंसण-णाण-वद-सील-गुणाणमुज्जालणं कलंक-पक्खालणं संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम, तस्स भावो पडिबुज्झणदा। खण-लवं पडि पडिबुज्झणदा खण-लवपडिबुज्झणदा। —क्षण और लव ये काल विशेषके नाम हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील गुणोंको उज्ज्वल करने, मल को धोने, अथवा जलानेका नाम प्रतिबोधन है और इसके भावका नाम प्रतिबोधनता है। प्रत्येक क्षण व लवमें होने वाले प्रतिबोधको क्षण-लव प्रतिबुद्धता कहा जाता है।

२. एक इसी भावनामें शेष भावनाओंका समावेश

ध./८/३,४१/८५/१२/तीए एक्काए वि तित्थयरणामकम्मस्स बंधो। एत्थ वि पुव्वं व सेसकारणाणमंतब्भावो दरिसेदव्वो। तदो एदं तित्थयरणामकम्मबंधस्स पंचमं कारणं। —उस एक ही क्षण-लव प्रतिबुद्धतासे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध होता है। इसमें भी पूर्वके समान शेष कारणोंका अन्तर्भाव दिखलाना चाहिए। इसलिए यह तीर्थंकर नामकर्मके बन्धका पाँचवाँ कारण है।

प्रतिबोध—ध./३,४१/८५/१० सम्मद्दंसण-णाण-वद-सील-गुणाणमुज्जालणं कलंकपक्खालणं संधुक्खणं वा पडिबुज्झणं णाम। —सम्यग्दर्शन-ज्ञान, व्रत और शील गुणों को उज्ज्वल करने, मलको धोने अथवा जलानेका नाम प्रतिबोधन है।

प्रतिभग्न —क. पा./३/३,२२/§४०६/२३१/६ उक्कस्सट्ठिदिं बंधंतो पडिहग्गपढमादिसमएसु सम्मत्तं ण गेण्हदि त्ति जाणावणट्ठमंतोमुहुत्तद्धं पडिभग्गो त्ति भणिदं। —प्रतिभग्न शब्दका अर्थ उत्कृष्ट स्थिति बंधके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश रूप परिणामोंसे प्रतिनिवृत्त होकर विशुद्धिको प्राप्त हुआ होता है।

प्रतिभा—श्लो० वा./३/१/२०/१२४/६६२/३ उत्तर-प्रतिपत्तिः प्रतिभा कैश्चिदुक्ता सा श्रुतमेव, न प्रमाणान्तरं, शब्दयोजनासद्भावात्। अत्यन्ताभ्यासादाशुप्रतिपत्तिरशब्दजा कूटद्रुमादावकृताभ्यासस्याशुप्रवृत्तिः प्रतिभापरैः प्रोक्ता। सा न श्रुतं, सादृश्यप्रत्यभिज्ञानरूपत्वात्तस्यास्तयोः पूर्वोत्तरयोर्हि दृष्टदृश्यमानयोः कूटद्रुमयोः सादृश्यप्रत्यभिज्ञा झटित्येकतां परामृषन्ती तदैवेत्युपजायते। सा च मतिरेव निश्चितेत्याह।—उत्तरकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है। किन्हीं लोगोंने उसको न्यारा प्रमाण माना है। किन्तु हम जैनोंके न्यारे प्रमाणस्वरूप नहीं है क्योंकि वाचक शब्दोंकी योजनाका सद्भाव है। किन्तु अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे झटिति, कूट, वृक्ष, जल आदिमें उस प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति हो जाती है। जो यह अनभ्यासी पुरुषको प्रतिभा है, वह तो श्रुत नहीं है। क्योंकि पहिले कहीं देख लिये गये और अब उत्तर कालमें देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदिके एकपनमें झट सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उपज जाती है। अतः यह मतिज्ञान ही है।

प्रतिभाग—लब्ध (ध/प्र०३)।

प्रतिभूत—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

प्रतिमा—१. मूर्ति रूप प्रतिमा—दे० चैत्य चैत्यालय। २. सल्लेखना गत साधुकी १२ प्रतिमाएँ—दे० सल्लेखना/४/११/२। ३. श्रावककी ११ प्रतिमाएँ—दे० श्रावक/१।

प्रतिमान प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

प्रतियोगी—१. जिस धर्ममें जिस धर्मका अभाव होता है वह धर्म उस अभावका प्रतियोगी कहलाता है जैसे—घटमें पटत्व। २. वह वस्तु जो अन्य वस्तुपर आश्रित हो।

प्रतिरूप—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका भेद—दे० भूत। व्यंतर२/१।

प्रतिरूपक—स.सि./७/२७/३६७/८ कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः।—बनावटी चाँदी आदिसे कपट पूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। (रा.वा./७/२७/५/५५४/१७) इसमें मायाचारीका भी दोष आता है—दे० माया/२।

प्रतिलेखन—दे० पिच्छि।

प्रतिलोम क्रम—पं.ध./पू०/२८७ भाषा—सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्ति-नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे अनुलोम क्रम कहते हैं। तथा विशेषकी मुख्यता और सामान्यकी गौणता करनेसे जो अस्ति नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे प्रतिलोम क्रम कहते हैं।

प्रति विपला—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

प्रति विपलांस—कालका एक प्रमाण विशेष - दे० गणित I/१/४।

प्रतिश्रमण अनुमति—दे० अनुमति।

प्रतिश्रुति—म.पु./३/६३-६६ प्रथम कुलकर थे। सूर्य चन्द्रमाको देखकर भयभीत हुए लोगोंके भयको इन्होंने दूर किया था। विशेष दे.—शलाका पुरुष/६।

प्रतिषेध—दे० निषेध।

प्रतिष्ठा—ध.खं.१३/५.५/सू.४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा।४०।...प्रतिष्ठन्ति विनाशेन विना अस्यामर्था इति प्रतिष्ठा।—धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम हैं।४०। जिसमें विनाशके बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

प्रतिष्ठाचार्य—दे० आचार्य/३।

प्रतिष्ठा विधान—१. प्रतिष्ठाविधान क्रम—प्रमाण-(क) वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ परिशिष्ट।४(ख) वसुनन्दिश्रावकाचार; (ग) वसुनन्दिप्रतिष्ठापाठ। १ आठ क्रम हाथ प्रमाणप्रतिमा निर्माण।(ख./३९३-४०१) २. प्रतिष्ठाचार्यमें इन्द्रका संकल्प (ख०/४०२-४०४) ३. मण्डपमें सिंहासनकी स्थापना (ख./४०५-४०६) ४. मण्डपकी ईशान दिशामें पृथक् वेदीपर प्रतिमाका धूलिकलशाभिषेक (ख./४०७-४०८); ५. प्रतिमाकी प्रोक्षण विधि (ख./४०९); ६. आकारकी प्रोक्षण विधि (ख./१०६); ७. गुणारोपण, चन्दनतिलक, मुखावर्ण, मन्त्र न्यास व मुखपट (ख./४११-४२१) ८. प्रतिमाके कंकण बन्धन, काण्डक स्थापन, यव (जौ) स्थापन, वर्ण पूरक, और इक्षु स्थापन, विशेष मन्त्रोच्चारण पूर्वक मुखोद्घाटन (ग./११२/११६); ९. रात्रि जागरण, चार दिन तक पूजन (ख./४२२-४२३); १० नेत्रोन्मीलन।

२. उपरोक्त अंगोंके लक्षण

१. प्रतिमा सर्वांग सुन्दर और शुद्ध होनी चाहिए। अन्यथा प्रतिष्ठा कारकके धन जन हानिको सूचक होती है। (क./१-८१) २. जलपूर्ण घटमें डालकर हुई शुद्ध मिट्टीसे कारीगर द्वारा प्रतिमापर लेप कराना धूलिकलशाभिषेक कहलाता है। (ग./७०-७१) ३. सधवा स्त्रियों द्वारा माँजा जाना प्रोक्षण कहलाता है। (ग./७२); ४. सर्वौषध जलसे प्रतिमाको शुद्ध करना आकर शुद्धि है। (ग./७३-८६); ५. अरहंतादिकी प्रतिमामें उन उनके गुणोंका संकल्प करना गुणारोपण है। (ग./६४-१००); ६. प्रतिमाके विभिन्न अंगोंपर बीजाक्षरोंका लिखना मंत्र न्यास है। (ग./१०१-१०३) ७. प्रतिमाके मुखको वस्त्रसे ढाँकना मुखपट विधान है। (ग./१०७); ८. प्रतिमाकी आँखमें काजल डालना नेत्रोन्मीलन कहलाता है। नोट—यह सभी क्रियाएँ यथायोग्य मन्त्रोच्चारण द्वारा निष्पन्न की जाती हैं।

३. अचलप्रतिमा प्रतिष्ठा विधि

स्थिर या अचल प्रतिमा की स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता है कि आकर शुद्धि स्वस्थानमें ही करें। (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित अर्थात उकेरी गयी, रंगादिसे बनायी गयी या स्थापी गयी प्रतिमाका दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिलक देकर तत्पश्चात प्रतिमाके मुख वस्त्र देवे। आकर शुद्धि दर्पणमें करे अथवा अन्य प्रतिमामें करे। इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं। (ख/४४३-४४५)

प्रतिष्ठा तिलक—आ० नाद्रदेव (ई. श. ११अन्त) द्वारा रचित संस्कृत भाषाका एक ग्रन्थ। (ती./३/११३)

प्रतिष्ठापना शुद्धि—दे० समिति/१।

प्रतिष्ठापना समिति—दे० समिति/१।

प्रतिष्ठा पाठ—१. आ० इन्द्रनन्दि (ई. श. १० मध्य) कृत वेदी तथा प्रतिमा की शुद्धि व प्रतिष्ठा विधान विषयक ग्रन्थ है। २. आ० वसुनन्दि (जयसेन) (ई.१०६८-१११८) कृत ९२४ संस्कृत श्लोक प्रमाण प्रतिष्ठा सार संग्रह (ती/३/२३१)। ३. पं० आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत संस्कृत ग्रन्थ।

प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—दे० वनस्पति/३।

प्रतिसरण—भ.सा./ता.वृ./३०६/३८८/१० प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं।—सम्यक्त्वादि गुणोंकी प्रेरणा करना प्रतिसरण है।

प्रतिसारी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/४।

प्रतिसूर्य—यह हनुमानजीका मामा था। जो कि हनुमानकी माता अञ्जनाको जंगलसे लाया था। (प.पु./१७/३४५-३४६)।

प्रतिसेवना कुशील साधु—दे० कुशील।

प्रतिसेवी अनुमती—दे० अनुमति।

प्रतिहरण—स.सा./ता.वृ./३०६/३८८/१० प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं।—मिथ्यात्व रागादि दोषोंका निवारण करना प्रतिहरण कहलाता है।

प्रतींद्र—दे० इंद्र।

प्रतीक—Symbol (ज.प./प्र./१०६)।

प्रतीच्छना—ध.६/४,१,५५/२६२/८ आइरियभडारएहि परूविज्जमाणत्थावहरणं पडिच्छणा णाम।—आचार्य भट्टारकों द्वारा कहे जाने वाले अर्थके निश्चय करनेका नाम प्रतीच्छना है।

ध.१४/५,६,१२/६/४ आइरिएहि कहिज्जमाणत्थाणं सुणणं पडिच्छणं णाम।—आचार्य जिन अर्थोंका कथन कर रहे हों उनका सुनना प्रतीच्छना है।

प्रतीच्य—पश्चिम दिशा।

प्रतीति—ध.१/१,१,११/१६६/७ दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत।—दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय (प्रतीति) ये पर्यायवाची नाम हैं।

पं.ध./उ./४१२ प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारः...।४१२।—तत्त्वार्थका स्वरूप जिस प्रकार है, वह उसी प्रकार है, ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है।

प्रतीत्य सत्य—दे० सत्य/१।

प्रत्यक्—पश्चिम दिशा।

प्रत्यक्ष—विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वह दो प्रकारका है—*सांव्यवहारिक व पारमार्थिक। इन्द्रिय ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है,* और इन्द्रिय आदि पर पदार्थोंसे निरपेक्ष केवल आत्मामें उत्पन्न होने वाला ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यद्यपि न्यायके क्षेत्रमें सांव्यवहारिक ज्ञानको प्रत्यक्ष मान लिया गया है, पर परमार्थसे जैन दर्शनकार उसे परोक्ष ही मानते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—सकल व विकल। सर्वज्ञ भगवान्‌का त्रिलोक व त्रिकालवर्ती केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, और सीमित द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव विषयक अवधि व मनःपर्ययज्ञान विकल या देश प्रत्यक्ष है।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यका लक्षण

१. आत्माके अर्थमें

प्र.सा./मू./५८ जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं /५८।—यदि मात्र जीवके (आत्माके) द्वारा ही जाना जाये तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

स.सि./१/१२/१०३/१ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव...प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।—अक्ष, ज्ञा और व्याप् धातुएँ एकार्थवाची होती हैं, इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है।...केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। (रा.वा./१/१२/२/५३/११/) (ध.६/४,१,४५/४५/४) (प्र.सा./त.प्र./५७) (स.सा./आ./१३/ क. ८ के पश्चात्) (स.म./२८/३२१/८) (न्या.दी./२/§ ११/३६/१) (गो.जी./जी.प्र./३६९/७९१/७)।

प्र.सा./त.प्र./२१ संवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति।—संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

प्र.सा./त.प्र./५८ यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेश...आदिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते।—मन, इन्द्रिय, परोपदेश...आदिक सर्व परद्रव्योंकी अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभावको ही कारणरूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायोंके

समूहमें एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्माके द्वारा ही उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्यक्षके रूपमे माना जाता है।

२. विशद ज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./मू./१/३/५९/१५ प्रत्यक्षलक्षणं प्राहु स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।३। =स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोष रहित होकर सामान्य रूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थोंको तथा अपने स्वरूपको जानना ही प्रत्यक्षका लक्षण है।३। (श्लो. वा./३/१/१२/४,१७/१७४,१८६)।

सि. वि./मू./२/१६/७८/१६ प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं। =विशद ज्ञान (प्रतिभास) को प्रत्यक्ष कहते हैं। (प. मु./२/३) (न्या. दी./२/§१/२३/४)

स. भं. त./४७/१० प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्। =वैशद्य अर्थात् निर्मलता वा स्वच्छता पूर्वक स्पष्ट रीतिसे भासना प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप है।

३. परापेक्ष रहितके अर्थमें

रा. वा./१/१२/१/५३/४ इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम्।१। =इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। (त. सा./१/१७/१४)।

पं. ध./पू./६९६ असहायं प्रत्यक्षं।६९६। =असहाय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

२. प्रत्यक्ष ज्ञानके भेद

१. सांव्यवहारिक व पारमार्थिक

स्या. म./२८/३२१/६ प्रत्यक्षं द्विधा-सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च। =सांव्यवहारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद हैं। (न्या. दी./२/§२१/३१/६)।

२. दैवी, पदार्थ व आत्म प्रत्यक्ष

न्या. वि./टी./१/३/११५/२५ प्रत्यक्षं त्रिविधं देवैः दीप्यतामुपपादितम्। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।३८०। =प्रत्यक्ष तीन प्रकारका होता है--१ देवों द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान, द्रव्य व पर्यायोंको अथवा सामान्य व विशेष पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान तथा आत्माको प्रत्यक्ष करनेवाला स्वसंवेदन ज्ञान।

३. प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्तर भेद

१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद

स्या. मं./२८/३२१/६ सांव्यवहारिकं द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात्। तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणाभेदाद् एकैकशश्चतुर्विकल्पम्। =सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले उस सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार चार भेद हैं। (न्या. दी./२/§११-१२/३१-३२)।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/१ तद् द्वेधा-देशप्रत्यक्षं सर्वप्रत्यक्षं च। =वह प्रत्यक्ष (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) दो प्रकारका है—देश प्रत्यक्ष और सर्व प्रत्यक्ष। (रा. वा/१/२१ उत्थानिका/७८/२५) (ज. प./१३/४६) (द्र. सं./टी./५/१५/१), (पं. ध./पू./६९७)।

ध. ६/४,१,४५/१४२/६ तत्र प्रत्यक्षं द्विविधं, सकलविकलप्रत्यक्षभेदात्। =प्रत्यक्ष सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है। (न्या. दी./२/§१३/३४/१०)।

स्या. मं./२८/३२१/८ तद्द्विविधम् क्षायोपशमिकं क्षायिकं च। =वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है।

३. सकल और विकल प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/२ देशप्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययज्ञाने। सर्वप्रत्यक्षं केवलम्। =देश प्रत्यक्ष अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है। सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। (वह एक ही प्रकारका होता है।) (रा. वा./१/२१/७८/२६ की उत्थानिका) (ध. ६/४,१,४५/१४२-१४३/७) (न. च. वृ./१७१), (नि. सा./ता. वृ./१२)·(त. प./१३/४७), (स्या. म./२८/३२१/६), (द्र.सं./टी./५/१५/१) (पं.ध./पू./६९६)।

४. सांव्यवहारिक व पारमार्थिक प्रत्यक्षके लक्षण

प. मु./२/५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकं। =जो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता हो उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

स्या. मं./२८/३२१/८ पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम्। =पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्मा मात्रकी सहायता रहती है।

द्र. सं./टी./५/१५/१ समीचीनो व्यवहारः संव्यवहारः। प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणः संव्यवहारो भण्यते। संव्यवहारे भवं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि। =समीचीन अर्थात् जो ठीक व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है; संव्यवहारका लक्षण प्रवृत्ति निवृत्तिरूप है। संव्यवहारमें जो हो सो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जैसे घटका रूप मैंने देखा इत्यादि।

न्या.दी./२/§११-१३/३१-३४/७ यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः।११। लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात्।१२। सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षं मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्।१३। =१. जो ज्ञान एक देश स्पष्ट, कुछ निर्मल है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।११। यह ज्ञान लोक व्यवहारमें प्रत्यक्षप्रसिद्ध है, इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य अर्थात् गौणरूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे सिद्ध होता है। वास्तवमें परोक्ष ही है, क्योंकि मतिज्ञान है।१२। २. सम्पूर्ण रूपसे प्रत्यक्ष ज्ञानको पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। जो ज्ञान सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। उसीको मुख्य प्रत्यक्ष कहते है।

५. देश व सकल प्रत्यक्षके लक्षण

ध. ६/४,१,४५/१४२/७ सकलप्रत्यक्षं केवलज्ञानम्, विषयीकृतत्रिकालगोचराशेषार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात् आत्मार्थसंनिधानमात्रप्रवर्तनात्। अवधिमनःपर्ययज्ञाने विकलप्रत्यक्षम्, तत्र साकल्येन प्रत्यक्षलक्षणाभावात्। =१. केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि, वह त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला, अतीन्द्रिय, अक्रमवृत्ति, व्यवधानसे रहित और आत्मा एवं पदार्थकी समीपता मात्रसे प्रवृत्त होनेवाला है। (ज. प./१३/४६) २. अवधि और मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उनमें सकल प्रत्यक्षका लक्षण नहीं पाया जाता (यह ज्ञान विनश्वर है। तथा मूर्त पदार्थोंमें भी इसकी पूर्ण प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। (क. पा. १/१,१/§१६/१)।

ज. प./१३/५० दव्वे खेत्ते काले भावे जो परिमिदो दु अवबोधो। बहुविधभेदपभिण्णो सो होदि य वियलपच्चक्खो।५०। =जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमें परिमित तथा बहुत प्रकारके भेद प्रभेदोंसे युक्त है वह विकल प्रत्यक्ष है।

न्या. दी./२/§१३-१४/३४-३६ तत्र कतिपयविषयं विकलं ।१३। सर्वद्रव्य पर्यायविषयं सकलम् । —१. कुछ पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान-विकल पारमार्थिक है।१३। २. समस्त द्रव्यों और उनका समस्त पर्यायोंको जाननेवाले ज्ञानको सकल प्रत्यक्ष कहते हैं।१४। (स. भं. त./४७/१३)।

पं. ध./पू./६९८-६९९ अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् । प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षायिकम् ।६९८। देशप्रत्यक्ष-मिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम् । देशं नोइन्द्रिय मनउत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ।६९९। —१. जो ज्ञान सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाला साक्षात् प्रत्यक्षरूप अतीन्द्रिय तथा क्षायिक सुखरूप है वह यह अविनश्वर सकल प्रत्यक्ष है।६९८। २. अवधि व मनःपर्यय रूप जो ज्ञान है वह देशप्रत्यक्ष है क्योंकि वह केवल अनिन्द्रिय रूप मनसे उत्पन्न होनेके कारण देश तथा अन्य बाह्य पदार्थोंसे निरपेक्ष होनेके कारण प्रत्यक्ष कहलाता है।६९९।

६. प्रत्यक्षाभासका लक्षण

प.मु./६/६ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञान-वत् ।६। —प्रत्यक्ष ज्ञानको अविशद स्वीकार करना प्रत्यक्षाभास कहा जाता है। जिस प्रकार बौद्ध द्वारा प्रत्यक्ष रूपसे अभिमत—आक-स्मिक धूमदर्शनसे उत्पन्न अग्निका ज्ञान अविशद होनेसे प्रत्यक्षाभास कहलाता है।

२. प्रत्यक्ष ज्ञान निर्देश तथा शंका समाधान

१. प्रत्यक्ष ज्ञानमें संकल्पादि नहीं होते

श्लो. वा. ३/१/१२/२०/१८८/२३ संकेतस्मरणोपाया दृष्टसंकल्पनात्मिका । नैषा व्यवसितिः स्पष्टा ततो युक्ताक्षजन्मनि ।२०। —जो कल्पना संकेत ग्रहण और उसके स्मरण आदि उपायोंसे उत्पन्न होती है, अथवा दृष्ट पदार्थमें अन्य सम्बन्धियोंका या इष्ट-अनिष्टपनेका संकल्प करना रूप है, वह कल्पना श्रुत ज्ञानमें सम्भवती है। प्रत्यक्षमें ऐसी कल्पना नहीं है। हाँ, स्वार्थनिर्णयरूप स्पष्ट कल्पना तो प्रत्यक्षमें है। जिस कारण इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमें यह कल्पना करना समु-चित है।

२. केवलज्ञानको सकल प्रत्यक्ष और अवधिज्ञानको विकल प्रत्यक्ष क्यों कहते हो

क पा. १/१,१/§१६/१ ओहिमणपज्जवणाणाणि वियलपच्चक्खाणि, अत्थेग-देसम्मि विसदसरूवेण तेसि पउत्तिदंसणादो। केवलं सयलपच्चक्खं, पच्चक्खीकयतिकालविसयासेसदव्वपज्जयभावादो। —अवधि व मनः-पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि पदार्थोंके एकदेशमें अर्थात् मूर्तीक पदार्थोंकी कुछ व्यंजन पर्यायोंमें स्पष्ट रूपसे उनकी प्रवृत्ति देखी जाती है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि केवलज्ञान त्रिकालके विषयभूत समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानता है।

दे० प्रत्यक्ष/१/५ (परापेक्ष, अक्रमसे समस्त द्रव्योंको जानता है वह केवलज्ञान है। कुछ ही पदार्थोंको जाननेके कारण अवधि व मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष हैं।)

३. सकल व विकल दोनों ही प्रत्यक्ष पारमार्थिक हैं

न्या. दी./२/§१६/३७/१ नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम्, अवधिमनः-पर्यययोस्तु न युक्तम्, विकलत्वादिति चेत् न; साकल्यवैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात् । तथा हि—सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलम् । अवधिमनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ । नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः । केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव । —प्रश्न—केवलज्ञानको पारमार्थिक कहना ठीक है, परन्तु अवधि व मनःपर्ययको पारमार्थिक कहना ठीक नहीं है। कारण, वे दोनों विकल प्रत्यक्ष हैं। उत्तर—नहीं, सकलपना और विकलपना यहाँ विषयकी अपेक्षासे है, स्वरूपतः नहीं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चूँकि केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको विषय करनेवाला है, इसलिए वह सकल प्रत्यक्ष कहा जाता है। परन्तु अवधि और मनःपर्यय कुछ पदार्थोंको विषय करते हैं, इसलिए वे विकल कहे जाते हैं। लेकिन इतनेसे उनमें पारमार्थिकताकी हानि नहीं होती। क्योंकि पारमार्थिकताका कारण सकलार्थविषयता नहीं है—पूर्ण निर्मलता है और वह पूर्ण निर्मलता केवलज्ञानकी तरह अवधि और मनःपर्ययमें भी अपने विषयमें विद्यमान है। इसलिए वे दोनों भी पारमार्थिक हैं।

४. इन्द्रियोंके बिना भी ज्ञान कैसे सम्भव है

रा. वा./१/१२/४-५/५३/१६ करणात्यये अर्थस्य ग्रहणं न प्राप्नोति, न ह्यकरणस्य कस्यचित् ज्ञानं दृष्टमिति; तन्न; किं कारणम् । दृष्टत्वात् । कथम् । ईशवत् । यथा रथस्य कर्ता अनीशः उपकरणापेक्षो रथं करोति, स तदभावे न शक्तः, यः पुनरीशः तपोविशेषात् परिप्राप्तर्द्धि-विशेषः स बाह्योपकरणगुणानपेक्षः स्वशक्त्यैव रथं निर्वर्तयन् प्रतीतः, तथा कर्ममलीमस आत्मा क्षायोपशमिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रकाशाद्युप-करणापेक्षोऽर्थान् सवेत्ति, स एव पुनः क्षयोपशमविशेषे क्षये च सति करणानपेक्षः स्वशक्त्यैवार्थान् वेत्ति को विरोधः ।४। ज्ञानदर्शन-स्वभावत्वाच्च भास्करादिवत् ।५। —प्रश्न—इन्द्रिय और मन रूप बाह्य और अभ्यन्तर करणोंके बिना ज्ञानका उत्पन्न होना ही असम्भव है। बिना करणके तो कार्य होता ही नहीं है। उत्तर—१. असमर्थके लिए बसूला करौत आदि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता होती है। जैसे—रथ बनानेवाला साधारण रथकार उपकरणोंसे रथ बनाता है किन्तु समर्थ तपस्वी अपने ऋद्धि बलसे बाह्य बसूला आदि उपकरणोके बिना संकल्प मात्रसे रथको बना सकता है। उसी तरह कर्ममलीमस आत्मा साधारणतया इन्द्रिय और मनके बिना नहीं जान सकता पर वही आत्मा जब ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम रूप शक्तिवाला हो जाता है, या ज्ञानावरणका पूर्ण क्षय कर देता है, तब उसे बाह्य उपकरणोंके बिना भी ज्ञान हो जाता है।४। २. आत्मा तो सूर्य आदिकी तरह स्वयंप्रकाशी है, इसे प्रकाशनमें परकी अपेक्षा नहीं होती। आत्मा विशिष्ट क्षयोपशम होनेपर या आवरण क्षय होनेपर स्वशक्तिसे ही पदार्थोंको जानता है।५।

ध. १/१,१,२२/१९८/४ ज्ञानत्वान्मत्यादिज्ञानवत्कारकमपेक्षते केवलमिति चेन्न, क्षायिकक्षायोपशमिकयोः साधर्म्याभावात् । —प्रश्न—जिस प्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा रखते हैं, उसी प्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी अपेक्षा रखनी चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया जाता।

ध. ७/२,१,१७/६१/४ णाणसहकारिकारणइंदियाणामभावे कधं णाणस्स अत्थित्तमिदि चे ण, णाणसहावपोग्गलदव्वाणुप्पण्णउप्पाद-व्वय-धुअत्तुवलक्खियजीवदव्वस्स विणासाभावा। ण च एक्कं कज्जं एक्कादो चेव कारणदो सव्वत्थ उप्पज्जदि,...इंदियाणि खीणावरणे भिण्णजादीए णाणुप्पत्तिम्हि सहकारिकारणं होंति त्ति णियमो, अइप्पसंगादो, अण्णहा मोक्खाभावप्पसंगा।...तम्हा अणिंदिएसु करणक्कमववहाणादीदं णाणमत्थि त्ति घेत्तव्वं। ण च तण्णिक्कारणं अप्पट्ठसण्णिहाणेण तदुप्पत्तीदो। —प्रश्न—ज्ञानके सहकारी कारण-भूत इन्द्रियोंके अभावमें ज्ञानका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञान स्वभाव और पुद्गल द्रव्यसे अनुत्पन्न, तथा उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यसे उपलक्षित जीव द्रव्यका विनाश न

होनेसे इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञानका अस्तित्व हो सकता है। एक कार्य सर्वत्र एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं होता।…इन्द्रियाँ क्षीणावरण जीवके भिन्न जातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हों, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आ जायेगा, या अन्यथा मोक्षके अभावका प्रसंग आ जायेगा।…इस कारण अनिन्द्रिय जीवोंमें करण, क्रम और व्यवधानसे अतीत ज्ञान होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञान निष्कारण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा और पदार्थके सन्निधान अर्थात् सामीप्यसे वह उत्पन्न होता है।

ध, ६/४,१,४५/१४३/३ अतीन्द्रियाणामवधि-मन पर्ययकेवलानां कथं प्रत्यक्षता। नैष दोषः, अक्ष आत्मा, अक्षम् प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षमवधि-मन.पर्ययकेवलानीति तेषां प्रत्यक्षत्वसिद्धेः -प्रश्न—इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानके प्रत्यक्षता कैसे सम्भव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अक्ष शब्दका अर्थ आत्मा है; अतएव अक्ष अर्थात् आत्माकी अपेक्षा कर जो प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्ष है। इस निरुक्तिके अनुसार अवधि, मनःपर्यय, और केवलज्ञान प्रत्यक्ष हैं। अतएव उनके प्रत्यक्षता सिद्ध है। (न्या. दी./२/§१८-१६/३८), (न्या. दी. की टिप्पणीमें उद्धृत न्या. कु./पृ. २६; न्या. वि./पृ. ११)।

प्र. सा./त. प्र./१६/ उत्थानिका—कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति। अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा,…स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ सम्भवतः। =प्रश्न—आत्माके इन्द्रियोंके बिना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है। उत्तर—शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे जिसके घातीकर्म क्षयको प्राप्त हुए है,…स्वयमेव, स्वपर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इस प्रकार आत्माका ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है। और स्वभाव परसे अनपेक्ष है, इसलिए इन्द्रियोंके बिना भी आत्माके ज्ञान आनन्द होता है।

न्या. दी./२/§२२,२८/४२-५०/८ तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्। इत्थम्—यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं स्यात् अशेषविषयं न स्यात् इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वादिति। तस्मात्सिद्धं तदशेषविषयं ज्ञानमनैन्द्रियकमेवेति।२२। तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धम्। तद्वचनप्रामाण्याच्चावधिमनःपर्ययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम्। =*प्रश्न—(सूक्ष्म पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान) अतीन्द्रिय है यह कैसे। उत्तर—इस प्रकार यह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषयमें ही ज्ञानको उत्पन्न कर सकती है। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियोंके योग्य विषय नहीं हैं। अतः वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अनैन्द्रियक ही है।२२। इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्तके ही है, यह सिद्ध हो गया। और उनके वचनोंको प्रमाण होनेसे उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मनःपर्यय ज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है उसके माननेमें कोई दोष या बाधा नहीं है।*

प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास—दे० बाधित।

प्रत्यक्ष बाधित हेत्वाभास—दे० बाधित।

प्रत्यनीक—गो. क./जी. प्र./८००/९७९/८ श्रुततद्धरादिषु अविनयवृत्तिः प्रत्यनीकं प्रतिकूलतेत्यर्थः। =श्रुत व श्रुतधारकोंमें अविनय रूप प्रवृत्तिका प्रतिकूल होना प्रत्यनीक कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञान—

स. सि./५/३१/३०२/३ तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः। भवनं भावः। तस्य भावस्तद्भावः। येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते। ='वह यही है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते है। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है।…तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तुको देखा था, उसी रूप उसके पुन होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। (स्या. मं./१८/२४५/६) (न्या. सू./मू. व. टी./१/२/२/१८५)।

प. मु./२/५ दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं…।५। =प्रत्यक्ष और स्मरणकी सहायतासे जो जोड़ रूप ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान है।

स्या. मं./२८/३२१/२५ अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्डः गोसदृशो गवयः स एवायं जिनदत्त इत्यादिः। =वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूत कालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य आदिको जानने वाले जोड़ रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे—यह गोपिंड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है इत्यादि (न्या. दी./३/§८/५६/२)।

न्या. दी./३/§१०/५९/३ केचिदाहुः—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्, अनुभवस्य वर्तमानकालवर्तिविवर्तमात्रप्रकाशकत्वम् स्मृतेश्चातीतविवर्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः। कथं नाम तयोरतीतवर्त्तमान…।=कोई कहता है कि अनुभव व स्मृतिसे अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञान नामका कोई ज्ञान नहीं है। सो ठीक नहीं है क्योंकि अनुभव केवल वर्तमान कालवर्ती होता है और स्मृति अतीत विवर्त द्योतक है, ऐसी वस्तुस्थिति है। (परन्तु प्रत्यभिज्ञान दोनों का जोड़ रूप है)।

२. प्रत्यभिज्ञानके भेद

न्या. वि./टी./२/५०/७६/२४ प्रत्यभिज्ञा द्विधा मिथ्या तथ्या चेति द्विप्रकारा =प्रत्यभिज्ञा दो प्रकारकी होती है—१. सम्यक् व २. मिथ्या।

प. मु./३/५…प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि।५। =१, यह वही है, २. यह उसके सदृश है, ३. यह उससे विलक्षण है, ४. यह उससे दूर है, ५. यह वृक्ष है इत्यादि अनेक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है।

न्या. दी./३/§९/५६/६ तदिदमेकत्व…सादृश्य. तृतीये तु पुनः…वैसादृश्यम्… प्रत्यभिज्ञानम्। एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञाभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्याः। =वस्तुओंमें रहने वाली १. एकता २. सादृशता और ३. विसदृशता प्रत्यभिज्ञाके विषय है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभिज्ञानके भेद अपने अनुभवसे स्वयं विचार लेना।

३. प्रत्यभिज्ञानके भेदोंके लक्षण

न्या. वि./मू. व. टी./२/५०-५१/७६ प्रत्यभिज्ञा द्विधा [काचित्सादृश्यविनिबन्धना]।५०। काचित् जलविषया न तच्चक्रादिगोचरा सादृशस्य विशेषेण तन्मात्रातिशायिना रूपेण निबन्धनं व्यवस्थापनं यस्याः सा तथेति। सैव कस्मात्तथा इत्याह—प्रमाणपूर्विका नान्या [दृष्टिमान्द्यादिदोषतः] इति।५१। प्रमाणं प्रत्यक्षादिपूर्वं कारणं यस्याः सा। काचिदेव नान्या तच्चक्रविषया यतः…दृष्टेर्मरीचिकादर्शनस्य मान्द्यं यथावस्थिततत्परिच्छित्ति प्रत्यपाटवम् आदिर्यस्य जलाभिलाषादेः स एव दोषस्तत इति। =१. सम्यक् प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक होता है जैसे—जलमें उठने वाले चक्रादिको न देखकर केवल जल मात्रमें, पूर्व गृहीत जलके साथ सादृश्यता देखनेसे 'यह

जल ही है' ऐसा निर्णय होता है। २. मिथ्या प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक नहीं होता, बल्कि दृष्टिकी मन्दता आदि दोषोंके कारणसे कदाचित मरीचिकामें भी जलकी अभिलाषा कर बैठता है।

प. मु./३/५-१०...प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।५। यथा स एवायं देवदत्तः ।६। गोसदृशो गवयः ।७। गोविलक्षणो महिषः ।८। इदमस्माद्दूरं ।९। वृक्षोऽयमित्यादि ।१०।

न्या. दी./३/§८-९/५६/५ यथा स एवाऽयं जिनदत्तः, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणमहिष इत्यादि ।८। अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। द्वितीये तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं गवयनिष्ठं सादृश्यम्। तदिदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तृतीये तु पुनः प्रागनुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं वैसादृश्यम्। तदिदं वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। —जैसे वही यह जिनदत्त है, गौके समान गवय होता है, गायसे भिन्न भैंसा होता है, इत्यादि। यहाँ १, पहले उदाहरणमें जिनदत्तकी पूर्व और उत्तर अवस्थाओंमें रहने वाली एकता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इसीको एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। २, दूसरे उदाहरणमें, पहले अनुभव की हुई गायको लेकर गवयमें रहने वाली सदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है। इस प्रकारके ज्ञानको सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। ३, तीसरे उदाहरणमें पहले अनुभव की हुई गायको लेकर भैंसामें रहनेवाली विसदृशता प्रत्यभिज्ञानका विषय है, इस तरहका ज्ञान वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। ४ यह प्रदेश उस प्रदेशसे दूर है इस प्रकारका ज्ञान तत्प्रतियोगी नामका प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। ५. यह वृक्ष है जो हमने सुना था। इत्यादि अनेक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है।

★ **स्मृति आदि ज्ञानोंकी उत्पत्तिका क्रम**—दे० मतिज्ञान/ ३।

★ **स्मृति व प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर**—दे० मतिज्ञान/३।

४. प्रत्यभिज्ञानाभासका लक्षण

प.मु /६/९ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासं ।९। —सदृशमें यह वही है ऐसा ज्ञान; और यह वही है इस जगह है—यह उसके समान है, ऐसा ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास कहा जाता है जैसे—एक साथ उत्पन्न हुए पुरुषमें तदेवेदंकी जगह तत्सदृश और तत्सदृशकी जगह तदेवेदं यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास कहा जाता है ।९।

प्रत्यय—वैसे तो प्रत्यय शब्दका लक्षण कारण होता है, पर रूढि वश आगममें यह शब्द प्रधानतः कर्मोंके आस्रव व बन्धके निमित्तोंके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऐसे वे मिथ्यात्व अविरति आदि प्रत्यय हैं, जिनके अनेक उत्तर भेद हो जाते हैं।

१. प्रत्ययके भेद व लक्षण

१. प्रत्यय सामान्य का लक्षण

रा.वा./१/२१/२/७९/८ अयं प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते, यथा 'अर्थाभिधानप्रत्ययाः' इति। क्वचिच्छपथे वर्तते, यथा परद्रव्यहरणादिषु सत्युपालम्भे 'प्रत्ययोऽनेन कृतः' इति। क्वचिद्धेतौ वर्तते, यथा 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः' इति। —प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं। कहींपर ज्ञानके अर्थमें वर्तता है जैसे—अर्थ, शब्द, प्रत्यय (ज्ञान)। कहींपर कसम शब्दके अर्थमें वर्तता है जैसे—पर आदिके चुराये जानेके प्रसंगमें दूसरेके द्वारा उलाहना मिलनेपर 'प्रत्ययोऽनेन कृतः' अर्थात् उसके द्वारा कसम खायी गयी। कहींपर हेतुके अर्थमें वर्तता है जैसे—अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः। अर्थात अविद्याके हेतु संस्कार हैं।

ध. १/१,१,११/१६६/७ दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। —दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं।

भ.आ./वि./८२/२१२/३ प्रत्ययशब्दोऽनेकार्थः। क्वचिज्ज्ञाने वर्तते यथा घटस्य प्रत्ययो' घटज्ञानं इति यावत्। तथा कारणवचनोऽपि 'मिथ्यात्वप्रत्ययोऽनन्तः संसार' इति गदिते मिथ्यात्वहेतुक इति प्रतीयते। तथा श्रद्धावचनोऽपि 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' श्रद्धेति गम्यते। —प्रत्यय शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे 'घटस्य प्रत्ययः' घटका ज्ञान, यहाँ प्रत्यय शब्दका ज्ञान ऐसा अर्थ है। प्रत्यय शब्द कारणवाचक भी है जैसे—'मिथ्यात्वप्रत्यय अनन्तसंसारः' अर्थात इस अनंत संसारका मिथ्यात्व कारण है। प्रत्यय शब्दका श्रद्धा ऐसा भी अर्थ होता है जैसे 'अयं अत्रास्य प्रत्ययः' इस मनुष्यकी इसके ऊपर श्रद्धा है।

२. प्रत्ययके भेद-प्रभेद

१. बाह्य व अभ्यन्तर रूप दो भेद

क.पा. १/१,१३-१४/२८४/१ तत्थ अब्भंतरो कोधादिदव्वकम्मक्खंधा... बाहिरो कोधादिभावकसायसमुप्पत्तिकारणं जीवाजीवप्पयं बज्झदव्वं। —क्रोधादि रूप द्रव्यकर्मोंके स्कन्धको आभ्यन्तर प्रत्यय कहते हैं। तथा क्रोधादि रूप भाव कषायकी उत्पत्तिका कारणभूत जो जीव और अजीव रूप बाह्य द्रव्य है वह बाह्य प्रत्यय है।

२. मोह राग द्वेष तीन प्रत्यय

न.च.वृ./३०१ पच्चयवंतो रागा दोसामोहे य आसवा तेसिं।...।३०१। = राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय हैं, इनसे कर्मोंका आस्रव होता है।३०१।

३. मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय

स.सा./मू./१०९-११० सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो। मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगाय बोद्धव्वा।१०९। तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो। मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं।११०। = चार सामान्य प्रत्यय निश्चयसे बन्धके कर्ता कहे जाते हैं, वे मिथ्यात्व अविरमण तथा कषाय और योग जानना।१०९। (पं. सं./प्रा./४/७७) (ध.७/२.१.७.गा./२/९) (ध.८/३.६/१९/१२) (न.च.वृ./३०२) (यो.सा./३/२) (पं.का./त.प्र./१४९) और फिर उनका यह तेरह प्रकारका भेद कहा गया है जो कि—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली (गुणस्थान) पर्यंत है।११०।

४. मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय

त. सू./८/१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा: बन्धहेतव:।१। = मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु हैं।१। (मू.आ./१२१९)।

५. प्राणातिपात आदि २८ प्रत्यय

ष. खं./१२/४,२,८/सू.२-११/२७५ णेगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीय-वेयणा पाणादिवादपच्चए।२। मुसावादपच्चए।३। अदत्तादाणपच्चए।४। मेहुणपच्चए।५। परिग्गहपच्चए।६। रादिभोयणपच्चए।७। एवं कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्मपच्चए।८। णिदाणपच्चए।९। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदंसण-पओअपच्चए।१०। एवं सत्तण्णं कम्माणं।११। = नैगम, व्यवहार, और संग्रह नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना—प्राणातिपात प्रत्ययसे; मृषावाद प्रत्ययसे; अदत्तादान प्रत्ययसे, मैथुन प्रत्ययसे; परिग्रह प्रत्ययसे; रात्रि भोजन प्रत्ययसे; क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययोंसे; निदान प्रत्ययसे; अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे होती है।२-१०। इसी प्रकार शेष सात कर्मोंके प्रत्ययोंकी प्ररूपणा करनी चाहिए।११।

६. चार प्रत्ययोंके कुल ५७ भेद

पं.सं./प्रा./४/७७ मिच्छासंजम हुंति हु कसाय जोगा य बंधहेऊ ते। पंच दुवालस भेया कमेण पणुवीस पण्णरसं।७७। = मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार कर्मबन्धके मूल कारण हैं। इनके उत्तर भेद क्रमसे पाँच, बारह, पच्चीस और पन्द्रह हैं। इस प्रकार सब मिलकर कर्म बन्धके सत्तावन उत्तर प्रत्यय होते है।७७। (ध.८/३,६,/२१/१) (गो.क./मू./७८६/९५०)

३. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव करके पाँच प्रत्यय ही चार बन जाते हैं

ध/७/२.१.७/११/११ चदुण्णं बंधकारणाणं मज्झे कत्थ पमादस्संतब्भावो। कसायेसु, कसायवदिरित्तपमादाणुवलंभादो। = प्रश्न—पूर्वोक्त (मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, और योग) चार बन्धके कारणोंमें प्रमादका कहाँ अन्तर्भाव होता है? उत्तर—कषायोंमें प्रमादका अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, कषायोंसे पृथक् प्रमाद पाया नहीं जाता। (ध.१२/४.२.८.१०/२८६/१०)

४. प्राणातिपात आदि अन्य प्रत्ययोंका परस्परमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता

ध. १२/४,२,८-९/पृ./पं. ण च पाणदिवाद-मुसावाद-अदत्तादाणाणमंतरंगाणं कोधादिपच्चएसु अंतब्भावो, कधंचि तत्तो तेसिं भेदुवलंभादो (२८२/८)। ण च मेहुणं अंतरंगरागे णिवददि, तत्तो कधंचि एदस्स भेदुवलंभादो (२८२/७)। मोहपच्चयो कोहादिसु पविसदि त्ति किण्णावणिज्जदे। ण, अवयवावयवीणं वदिरेगण्णयसरूवाणमणेगेगसंखाणं कारणकज्जाणं एगाणेगसहावाणमेगत्तविरोहादो (२८५/१०)। पेम्मपच्चयो लोभ-राग-पच्चएसु पविसदि त्ति पुणरुत्तो किण्ण जायदे। ण, तेहिंतो एदस्स कधंचि भेदुवलंभादो। तं जहा बज्झत्थेसु ममेदं भावो लोभो। ण सो पेम्मं, ममेदं बुद्धीए अपडिग्गहिदे वि दक्खाहले परदारे वा पेम्मुवलंभादो। ण रागो पेम्मं, माया-लोह-हस्स-रदि-पेम्म-समूहस्स रागस्स अवयविणो अवयवसरूवपेम्मत्तविरोहादो (२८४/३)। ण च एसो पच्चओ मिच्छत्तपच्चए पविसदि, मिच्छत्तसहचारिस्स मिच्छत्तेण एयत्तविरोहादो। ण पेम्मपच्चए पविसदि, संपयासंपयविसयम्मि पेम्मम्मि संपयविसयम्मि णिदाणस्स पवेसविरोहादो। = १. प्राणातिपात, मृषावाद और अदत्तादान इन अंतरंग प्रत्ययोंका क्रोधादिक प्रत्ययोंमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि, उनमें इनका कथंचित् भेद पाया जाता है। २. मैथुन अन्तरंग रागमें गर्भित नहीं होता, क्योंकि, उससे इसमें कथंचित् भेद पाया जाता है (२८२/७)। ३. प्रश्न—मोह प्रत्यय चूँकि क्रोधादिकमें प्रविष्ट है अतएव उसे कम क्यों नहीं किया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि क्रमश: व्यतिरेक व अन्वय स्वरूप, अनेक व एक संख्या वाले, कारण व कार्य रूप तथा एक व अनेक स्वभावसे संयुक्त अवयव अवयवीके एक होनेका विरोध है (२८३/१०)। ४. प्रश्न—चूँकि प्रेम प्रत्यय लोभ व राग प्रत्ययोंमें प्रविष्ट है अत: वह पुनरुक्त क्यों न होगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि उनसे इसका कथंचित् भेद पाया जाता है। वह इस प्रकारसे—बाह्य पदार्थोंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको लोभ कहा जाता है। वह प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि, 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिके अविषयभूत भी द्राक्षाफल अथवा परस्त्रीके विषयमें प्रेम पाया जाता है। राग भी प्रेम नहीं हो सकता, क्योंकि, माया, लोभ, हास्य, रति और प्रेमके समूह रूप अवयवी कहलाने वाले रागके अवयव स्वरूप प्रेम रूप होनेका विरोध है। (२८४/३)। ५. यह (निदान) प्रत्यय मिथ्यात्व प्रत्ययमें प्रविष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि वह मिथ्यात्वका सहचारी है, अत: मिथ्यात्वके साथ उसकी एकताका विरोध है। वह प्रेम प्रत्ययमें भी प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि, प्रेम सम्पत्ति एवं असंपत्ति दोनोंको विषय करने वाला है, परन्तु निदान केवल सम्पत्तिको ही विषय करता है, अतएव उसका प्रेममें प्रविष्ट होना विरुद्ध है।

५. अविरति व प्रमादमें अन्तर

रा. वा./८/१/३२/५६५/४ अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति चेत्; न; विरतस्यापि प्रमाददर्शनात्।३२। विरतस्यापि पञ्चदश प्रमादाः संभवन्ति-विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणा:। = प्रश्न—अविरति और प्रमादमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि विरतके भी

विकथा, कषाय, इन्द्रिय, निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमादस्थान देखे जाते हैं, अतः प्रमाद और अविरति पृथक्-पृथक् हैं।

६. कषाय व अविरतिमें अन्तर

रा. वा./८/१/३३/५६५/७ स्यादेतत्-कषायाविरत्योर्नास्ति भेदः उभयोरपि हिंसादिपरिणामरूपत्वादिति; तन्न; किं कारणम्। कार्यकारण-भेदोपपत्तेः। कारणभूता हि कषाया' कार्यात्मिकाया हिंसाद्यविरते-रर्थान्तरभूता इति। =प्रश्न—हिंसा परिणाम रूप होनेके कारण कषाय और अविरतिमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि इनमें कार्य कारणकी दृष्टिसे भेद है। कषाय कारण हैं और हिंसादि अविरति कार्य।

ध. ७/२,१,७/१३/७ असंजमो जदि कसाएसु चेव पददि तो पुध तदुवदेसो किमट्ठं कीरदे? ण एस दोसो, ववहारणयं पडुच्च तदुवदेसादो। =प्रश्न—यदि असंयम कषायोंमें ही अन्तर्भूत होता है तो फिर उसका पृथक् उपदेश किस लिए किया जाता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि व्यवहार नयकी अपेक्षासे उसका पृथक् उपदेश किया गया है।

दे. प्रत्यय/४ (प्राणातिपातादि अन्तरंग प्रत्ययोंका क्रोधादि प्रत्ययोंसे कथंचित् भेद है)।

२. प्रत्यय विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका अर्थ

अनं० चतु०	अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ
अनु० मन० वच०	अनुभय मन, व अनुभय वचन
वच०	भय वचन
अवि०	अविरति
आ० द्वि०	आहारक व आहारक मिश्र
आ० मि०	आहारक मिश्र
औ० द्वि०	औदारिक व औदारिक मिश्र
उ० मन० वच०	उभय मन व वचन
नपुं०	नपुंसक वेद
पु०	पुरुषवेद
प्रत्या० चतु०	प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ
मन० ४	सत्य, असत्य, उभय व अनुभय मनोयोग
मि० पंचक	पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व
वच० ४	चार प्रकारका वचनयोग
वै० द्वि०	वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र
सं. क्रोध	संज्वलन क्रोध
हास्यादि ६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा

२. प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छित्ति ओघ प्ररूपणा

१. सामान्य ४ या ५ प्रत्ययोंकी अपेक्षा

कुल बन्ध योग्य प्रत्ययः—१ स. सि./८/१/३७६/५ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग=५। २. पं. सं./प्रा./४/७८-७९ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग–४. (ध. ८/३.६/गा. २०-२१/२४); (पं. सं./सं./४/१८-२१) (गो. क./मू. (७८७-७८८)।

गुण स्थान	पाँच प्रत्ययोंकी अपेक्षा (सं. सि.)				चार प्रत्ययोंकी अपेक्षा (पं. सं.)			
	व्युच्छित्ति प्र०	कुल बन्ध	व्यु.	शेष	व्युच्छित्ति प्र०	कुल बन्ध	व्यु.	शेष
१	मिथ्यात्व	५	१	४	मिथ्यात्व	४	१	३
२-४	त्रस अविरति	४	×	४	त्रस अविरति	३	×	३
५	अविरति	४	१	३	अविरति	३	१	२
६	प्रमाद	३	१	२	×	२	×	२
७-१०	कषाय	२	१	१	कषाय	२	१	१
११-१३	योग	१	१	×	योग	१	१	×
१४	×	×	×	×	×	×	×	×

२. विशेष ५७ प्रत्ययोंकी अपेक्षा

प्रमाण—(पं. सं./प्रा./८०-८३); (ध. ८/३,६/२२-२४/१); (गो. क./मू./७८६-७९०/९५२)

कुल बन्ध योग्य प्रत्यय—मिथ्यात्व ५; अविरति १२; कषाय २५; योग १५=५७।

गुणस्थान	व्युच्छित्ति	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	उदय	व्युच्छित्ति	शेष उदय योग्य
१	मि० पंचक	आ० द्वि०		५७	२		५५	५	५०
२	अनन्ता० चतु०	•		५०			५०	४	४६
३	×	औ०वै०मि० व कार्मण		४६	३		४३	×	४३
४	अप्रत्या० चतु० त्रसहिंसा, वै० द्वि०=७		औ० वै० मिश्र व कार्मण	४३	३		४६	७	३९
५	प्रत्या० चतु० शेष ११ अविरति=१५	औ० मि० कार्मण		३९	२		३७	१५	२२
६	आ० द्वि०		आ०द्वि०	२२		२	२४	२	२२
७	×			२२			२२	×	२२

गुण स्थान	व्युच्छित्ति	अनुदय	पुनः उदय	कुल उदय योग्य	अनुदय	पुनः उदय	उदय	व्युच्छि०	शेष उदय योग्य
८	हास्यादि ६			२२			२२	६	१६
९/i	नपुं०			१६			१६	१	१५
९/ii	स्त्री वेद			१५			१५	१	१४
९/iii	पुरुष वेद			१४			१४	१	१३
९/iv	सं० क्रोध			१३			१३	१	१२
९/v	सं० मान			१२			१२	१	११
९/vi	सं० माया			११			११	१	१०
९/vii	बादर लोभ			१०			१०		१०
१०	सूक्ष्म लोभ			१०			१०	१	९
११	×			९			९		९
१२	असत्य व उ० मन व वचन			९			९	४	५
१३	सत्य, अनु० मन वचन औ० द्वि० व कार्मण		औ०मि० व कार्मण	५		२	७	७	
१४	×								

३. प्रत्ययोंकी उदय व्युच्छित्ति आदेश प्ररूपणा

पं. सं./प्रा./४/८४-१०० कुल उदय योग्य प्रत्यय = ५७

नोट—यहाँ प्रत्येक मार्गणामें केवल उदय योग्य प्रत्ययोंके निर्देश रूप सामान्य प्ररूपणा की गयी है। गुणस्थानोंकी अपेक्षा उनकी प्ररूपणा तथा यथा योग्य ओघ प्ररूपणाके आधारपर जानी जा सकती है।

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
१	गति—			
	१ नरक	४	औ० द्वि. आ० द्विक, स्त्री, पुरुष वेद =६	५१
	२ तिर्यंच	५	वै० द्वि. आ० द्वि० =४	५३
	३ मनुष्य	१४	वै० द्विक =२	५५
	४ देव	४	औ० द्विक, आ०द्वि० नपुं० =५	५२
२	इन्द्रिय—			
	१ एकेन्द्रिय	२	वै० द्वि०, आ० द्विक०, वच०४, मन०४, स्पर्शसे अतिरिक्त ५ अविरति, स्त्री, पुरुष वेद =१९	३८
	२ द्वीन्द्रिय	२	उपरोक्त १९-रसनेन्द्रिय+अनु० वचन =१७	४०
	३ त्रीन्द्रिय	२	उपरोक्त १७—घ्राणेन्द्रिय =१६	४१
	४ चतुरिन्द्रिय	२	उपरोक्त १६-चक्षुरिन्द्रिय =१५	४२
	५ पंचेन्द्रिय	१४	×	५७
३	काय—			
	१. स्थावर	१	वै० द्वि०, आ० द्वि०, मन ४, वच०४, स्पर्श रहित ५, अविरति, स्त्री, पुरुष =१९	३८
	२. त्रस	१४	×	५७
४	योग—			
	१. आहारक द्विक के बिना शेष १३ योग	१-१३	स्व स्व उदय योग्यके बिना शेष १४ =१४ (विशेष दे. उदय)	४३
	२. आहारक द्विक	६	५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, सं० चतु०के अतिरिक्त १२ कषाय, स्त्री व नपुं० वेद, आ० द्विकके बिना १४ योग। (दे०—सत्) =५+१२+१२+२+१४=४५	१२
५	वेद—			
	१. पुरुष	९	स्त्री. व नपुं० वेद =२	५५
	२. स्त्री	,,	आहारक द्विक, स्त्री व नपुं० वेद =४	५३
	३. नपुंसक	,,	,, =४	५३
६	कषाय—			
	कुल कषाय १६	९	अनन्तानु० क्रोधादि कषायोंमें अपने अपने चार के बिना शेष १२ =१२	४५
७	ज्ञान—			
	१. कुमति व कुश्रुत	२	आ० द्वि० =२	५५
	२. विभंग		औ० मि०, वै० मि०, कार्मण, आ० द्वि० =५	५२
	३. मति, श्रुत व अवधि	४-१२	मिथ्यात्व पंचक, अनंतानु० चतु० =९	४८
	४. मनः पर्यय	६-१२	मि० पंचक, अविरति १२, संज्व० चतुके बिना १२ कषाय, स्त्री व नपुं० वेद, औ० मिश्र, आ० द्वि०, वै० द्वि०, कार्मण =५+१२+१२+२+६=३७	२०
	५. केवलज्ञानी	१३, १४	मि० पंचक, १२ अविरति, २५ कषाय, वै० द्विक, आ० द्विक, असत्य व अनु० मन व वचन ४ ५+१२+२५+४+४=५०	७
८	संयम			
	१. सामायिक व छेदोपस्थापना	६-९	मि० पंचक, १२ अविरति, सं० चतुके बिना १२ कषाय, औ० मि०, वै० द्वि०, कार्मण ५+१२+१२+१+२+१=३३	२४
	२. परिहार वि०	६-७	उपरोक्त ३३, स्त्री व नपुं०, आ० द्वि० =३७	२०

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
	३. सूक्ष्म सां०	१० वाँ	मि० पंचक, १२ अविरति, कषाय २५ सूक्ष्म लोभ २४, औ० मि०, वै० द्वि०, आ० द्विक, कार्मण ५+१२+२४+१+२+२,१ =४७	१०
	४. यथाख्यात	११-१४	मि० पंचक, अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० =४६	११
	५. असंयमी	१-४	आ० द्वि० =२	५५
	६. देशसंयमी	५	अनन्ता० व अप्रत्या० चतु०, मि० पंचक, वै० द्वि०. औ० मि०, आ० द्वि०, कार्मण ८+५+२+१+२+१=२०	३७
९	दर्शन—			
	१. चक्षु व अचक्षु	१२	×	५७
	२. अवधि द०	४-१२	मिथ्यात्व पंचक, अनन्तानु० चतु० =९	४८
	३. केवलदर्शन	१३-१४	मि० पंचक, १२ अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० असत्य व अनु० मन वच० ४=५०	७
१०	लेश्या—			
	१. कृष्णादि ३	१-४	आ० द्वि० =२	५५
	२. पीतादि ३	१-७	×	५७
११	भव्य—			
	१. भव्य	१४	×	५७
	२. अभव्य	१	आ० द्वि० =२	५५
१२	सम्यक्त्व—			
	१. उपशम	४-७	अनन्तानु० चतु०, मिथ्यात्व पंचक, आ० द्वि० =११	४६
	२. वेदक, क्षायिक		मिथ्या० पंचक, अनन्तानु० चतु० =९	४८
	३. सासादन	२ रा	मिथ्या० पंचक, आ० द्वि० =७	५०
	४. मिथ्यादर्शन	१	आ० द्वि० =२	५५
	५. मिश्र	३ रा	मिथ्या० पंचक, अनन्तानु०, चतु०, आ० द्वि०, औ० मि० वै० मि०, कार्मण =१४	४३
१३	संज्ञी—			
	१. असंज्ञी	२	मन सम्बन्धी अविरति, ४ मन०, अनुभयके बिना ३ वचन०, वै० द्वि०, आ० द्वि० १+४+३+२+२=१२	५
	२. संज्ञी	१२	×	५७
१४	आहारक—			
	१. आहारक	१३	कार्मण =१	५६
	२. अनाहारक		कुल योग १५ − कार्मण =१४	४३

४. प्रत्यय स्थान व भंग प्ररूपणा

१. एक समय उदय आने योग्य प्रत्ययों सम्बन्धी सामान्य नियम

१. पाँच मिथ्यात्वोंमेंसे एक काल अन्यतम एक ही मिथ्यात्वका उदय सम्भव है। २. छः इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे एक काल कोई एक ही इन्द्रियका उदय सम्भव है। छः कायकी अविरतिमेंसे एक काल एकका, दोका, तीनका, चारका, पाँचका या छहोंका युगपत् उदय सम्भव है। ३. कषायोंमें क्रोध, मान माया, व लोभमेंसे एक काल किसी एक कषायका ही उदय सम्भव है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारोंमें गुणस्थानोंके अनुसार एक काल अनन्ता० आदि चारोंका अथवा अप्रत्या० आदि तीनका, अथवा प्रत्या० व संज्वलन दो का अथवा केवल संज्वलन एकका उदय सम्भव है। हास्य-रति अथवा शोक-अरति इन दोनों युगलोंमेंसे एक काल एक युगलका ही उदय सम्भव है। भय व जुगुप्सामें एक काल दोनोंका अथवा किसी एकका अथवा दोनोंका ही नहीं, ऐसे तीन प्रकार उदय सम्भव है। ४. पन्द्रह योगोंमें गुणस्थानानुसार किसी एकका ही उदय सम्भव है।

२. उक्त नियमके अनुसार प्रत्ययोंके सामान्य भंग

नोट—बटामें दर्शाया गया ऊपरका अंक एक काल उदय आने योग्य प्रत्ययोंकी गणना और नीचे वाला अंक उस विकल्प सम्बन्धी भंगोंकी गणना सूचित करता है।

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भंग
मिथ्या०	मि १/५	पाँचों मिथ्यात्वोंमें से अन्यतम एक-का उदय	१	५
	इं १/६	छहों इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे अन्यतम एकका उदय	१	६
	का १/१	पृथ्वीकाय सम्बन्धी अविरति	१	१
	का २/१	पृथ्वी व अप् काय सम्बन्धी अविरति	२	१
	का ३/१	पृथ्वी, अप् व तेज काय सम्बन्धी अविरति	३	१
	का ४/१	पृथ्वी, अप्, तेज व वायु काय सम्बन्धी अविरति	४	१
	का ५/१	पाँचों स्थावर काय सम्बन्धी अविरति	५	१
	का ६/१	छहों काय सम्बन्धी अविरति	६	१
कषाय	अनन्त ४/४	अनन्तानु० आदि चारों सम्बन्धी क्रोध या, मान, या माया, या लोभ	४	४
	अप्रा. ३/४	अप्रत्याख्यान आदि तीनों सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	३	४
	प्रत्या २/४	प्रत्याख्यान व संज्वलन सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	२	४
	सं० १/४	संज्वलन क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	१	४
	यु० २/२	हास्य-रति, या शोक अरति, इन दोनों युगलोंमेंसे किसी एक युगल-का उदय	२	२
	वे० १/३	तीनों वेदोंमेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय १/२	भय व जुगुप्सामेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय २/१	भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय	२	१

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भंग
योग	यो० १/१३	४ मन, ४ वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र व कार्मण इन तेरहमेंसे किसी एकका उदय	१	१३
	यो० १/२	आहारक व आहारक मिश्रमेंसे एक	१	११
	यो० १/१०	४ मन, ४ वचन औदारिक व वैक्रियक इन दोनोंमेंसे किसी एकका उदय	१	१०
	यो० १/९	४ मन, ४ वचन, औदारिक इन नौ मेंसे एक	१	९
	यो० १/७	सत्य व अनुभय मन, सत्य व अनुभय, औदारिक, औदारिक मिश्र व कार्मण इन सातमेंसे एक योग		

३. उक्त नियमके अनुसार भंग निकालनेका उपाय

कुछ प्रत्यय ध्रुव हैं और कुछ अध्रुव। विवक्षित गुणस्थानके सर्व स्थानोंमें उदय आने योग्य प्रत्यय ध्रुव हैं और स्थान प्रति स्थान परिवर्तित किये जाने वाले अध्रुव हैं। तहाँ मिथ्यात्व, इन्द्रिय अविरति, वेद, हास्यादि दोनों युगल, अनन्तानुबन्धी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ और योग ये ध्रुव हैं। क्योंकि सर्व स्थानोंमें इनका एक एक ही विकल्प रहता है। काय अविरति और भय व जुगुप्सा अध्रुव हैं क्योंकि प्रत्येक स्थानमें इनके विकल्प घट या बढ़ जाते हैं। कहीं एक कायकी हिंसा रूप अविरति है और कहीं दो आदि कायोंकी। कहीं भयका उदय है और कहीं नहीं और कहीं भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय है। विवक्षित गुण स्थानके आगे तहाँ उदय आने योग्य ध्रुव प्रत्ययोंका निर्देश कर दिया गया है। उन ध्रुवोदयी प्रत्ययोकी गणनामें क्रमसे निम्न प्रकार ध्रुवोदयी प्रत्ययोंको जोड़नेसे उस उस स्थानके भंग निकल आते हैं।

स्थान नं०	भंग	विवरण
१	१	ध्रुव + का १/१
२	३	ध्रुव + का २/१; ध्रुव + का १/१ + भय १/२
३	४	ध्रुव + का ३/१; ध्रुव + का २/१ + भय १/२; ध्रुव + का १/२ + भय २/१
४	४	ध्रुव + का ४/१; ध्रुव + का ३/१ + भय; ध्रुव + का २/१ + भय २/१
५	४	ध्रुव + का ५/१; ध्रुव + का ४/१ + भय; ध्रुव + का ३/१ + भय २/१
६	४	ध्रुव + का ६/१; ध्रुव + का ५/१ + भय; ध्रुव + का ४/१ + भय २/१
७	३	ध्रुव + का ६/१ + भय १/२; ध्रुव + का ५/१ + भय २/१
८	१	ध्रुव + का ६/१; भय २/१

४. गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्थान व भंग

प्रमाण:—(पं. सं./प्रा./४/१०१-२०३) (गो.क./मू. व. टी./७९२-७९४/९५७-९६८)।

गुण स्थान	प्रत्यय स्थान	कुल भंग	विवरण
१	ध्रुव	—	मि. १/५ + इं १/६ + वे. १/३ + यु. २/२ + अप्र. ३/४ + यो. १/१० —९
अनंत विसं.	८	२४	१०/१, ११/३, १२/४, १३/४, १४/४, १५/४, १६/३, १७/१
१	ध्रुव	—	मि. १/५ + इं. १/६ + वे. १/३ + यु. २/२ + अनन्त ४/४ + यो. १/१२ —१०
सामान्य	८	२४	११/२, १२/३, १३/४, १४/४, १५/४, १६/४, १७/३, १८/१
२	ध्रुव	—	इं. १/६ + वे. १/३ + यु. २/२ + अनन्त ४/४ + यो. १/१३
	८	२४	१०/१, ११/३, १२/४, १३/४, १४/४, १५/४, १६/३, १७/१
३	ध्रुव	—	इं. १/६ + वे. १/३ + यु. २/२ + अप्र. ३/४ + यो. १/१०
	८	२४	९/१, १०/३, ११/४, १२/४, १३/४, १४/४, १५/३, १६/१
४	८	२४	——→ मिश्रवत् ←——
५	ध्रुव	—	इं. १/६ + वे. १/३ + यु. २/२ + प्र. २/४ + यो. १/९
	७	२०	८/१; ९/३; १०/४; ११/४; १२/४; × १३/३, १४/१
६	५	१	वे. १/३ + यु. २/२ + संज्व. १/४ + यो. १/९ अथवा पुरुष वे. + यु. २/२ + संज्व. १/४ + यो. १/२
	६	२	५ + भय १/२
	७	१	५ + भय २/१
७	३	५-७	——→ प्रमत्तवत् ←——
८	३	५-७	——→ ,, ←——
९/i	१	३	वे. १/३ + सं. १/४ + यो. १/९
९/ii	१	३	वे. १/२ + स्त्री या पुरुष + सं. १/४ + यो. १/९
९/iii	१	३	पुरुषवेद + सं. १/४ + यो. १/९
९/iv	१	२	सं. १/४ + यो. १/९
९/v	१	२	सं. १/३ (मान, या माया, या लोभ) + यो. १/९
९/vi	१	२	सं. १/२ (माया या लोभ + यो. १/९
९/vii	१	२	सं. लोभ + यो. १/९
१०	१	२	सं. लोभ (सूक्ष्म) + यो. १/९
११	१	१	यो. १/९
१२	१	१	,,
१३	१	१	,,
१४	×	×	×

५. किस प्रकृतिके अनुभाग बन्धमें कौन प्रत्यय निमित्त है

पं. सं/प्रा./४/४८८-४८९ सायं च उपपच्चइयो मिच्छो सोलहपुपच्चया पणुतीसं। सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहार बज्जा दु ।४८८। सम्मत्त-

गुणणिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं । बज्झंति सेसियाओ मिच्छत्ताई हेऊहिं ।४८६। —साता वेदनीयका अनुभाग बन्ध चतुर्थ (योग) प्रत्ययसे होता है । मिथ्यात्व गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली (दे० प्रकृतिबन्ध/७/४) सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व प्रत्ययक हैं । दूसरे गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली पच्चीस और चौथेमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली दस; (दे० प्रकृति बन्ध /७/४) ये पैंतीस प्रकृतियाँ द्विप्रत्ययक हैं । क्योंकि इनका पहले गुण-स्थानमें मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, और दूसरेसे चौथे तक असंयमकी प्रधानतासे बन्ध होता है । तीर्थंकर और आहारकद्विकके बिना शेष सर्व प्रकृतियाँ (दे० प्रकृतिबन्ध /७/४) त्रिप्रत्ययक हैं । क्योंकि उनका पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, दूसरेसे चौथे गुणस्थानमें असंयमकी प्रधानतासे, और आगे कषायकी प्रधानतासे बन्ध होता है ।४८८। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे और आहारक द्विकका संयमके निमित्तसे होता है ।४८९।

प्रत्यय नाम— दे० नाम ।

प्रत्यय मल— दे० मल/१ ।

प्रत्ययिक बन्ध— दे० बन्ध/१ ।

प्रत्यवेक्षण—स. सि./७/३४/३७०/१ जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुर्व्यापारः । —जीव हैं या नहीं हैं इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है । (रा. वा./७/३४/१/५५७/२२) (चा. सा./२२/५) ।

प्रत्याख्यान—आगामी कालमें दोष न करनेकी प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है । अथवा सीमित कालके लिए आहारादिका त्याग करना प्रत्याख्यान है । त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्णहोने पर उसकी निष्ठापना की जाती है । वीतराग भाव सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है ।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्याख्यान सामान्यका लक्षण

१. व्यवहार नयकी अपेक्षा

मू. आ./२७ णामादीणं छण्णं अजोग्गपरिवज्जणं तिकरणेण । पच्च-क्खाणं णेयं अणागयं चागमे काले ।२७। —नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहोंमें शुभ मन, वचन व कायसे आगामी कालके लिए अयोग्यका त्याग करना प्रत्याख्यान जानना ।२७ ।

रा. वा./६/२४/११/५३०/१४ अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम् । —भवि-ष्यतमें दोष न होने देनेके लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है । (भ. आ./वि./११६/२७६/२१) (भा. पा./टी./७७/२२१/१५) ।

ध. ८/३,४१/८४/४ पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइं ति एयट्ठो । —प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत एक अर्थ वाले हैं ।

ध. ८./३,४१/८५/१ महव्वयाणं विणासण-मलारोहणकारणाणि तहा ण होंति तहा करेमि त्ति मणेणालोचिय चउरासीदिलक्खवदसुद्धिप-डिग्गहो पच्चक्खाणं णाम । —महाव्रतोंके विनाश व मलोत्पादनके कारण जिस प्रकार न होंगे वैसा करता हूँ, ऐसी मनसे आलोचना करके चौरासी लाख व्रतोंकी शुद्धिके प्रतिग्रहका नाम प्रत्याख्यान है ।

नि. सा./ता. वृ./९५ व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैनं पुनर्योग्यकालपर्यन्तं प्रत्यादिष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचयः, एतद् व्यव-हारप्रत्याख्यानस्वरूपम् । —मुनि दिन दिनमें भोजन करके फिर योग्य काल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य, और लेह्यकी रुचि छोड़ते हैं यह व्यवहार प्रत्याख्यानका स्वरूप है ।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

स. सा./मू./३८४ कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ।३८४। —भविष्यत कालका शुभ व अशुभ कर्म जिस भावमें बन्धता है, उस भावसे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है ।३८४।

नि. सा./मू./गा. मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा । अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ।९५। णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केई । जाणदि पस्सदि सव्वं सोहं इदि चिंतए णाणी ।९७। सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि । आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ।१०४। —समस्त जल्पको छोड़कर और अनागत शुभ व अशुभका निवारण करके जो आत्माको ध्याता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं ।९५। जो निजभावको नहीं छोड़ता, किंचित् भी परभावको ग्रहण नहीं करता, सर्वको जानता देखता है, वह मैं हूँ—ऐसा ज्ञानी चिंतवन करता है ।९७। सर्व जीवोंके प्रति मुझे समता है, मुझे किसीके साथ बैर नहीं है; वास्तवमें आशाको छोड़-कर मैं समाधिको प्राप्त करता हूँ ।१०४।

यो. सा. अ./५/५१ आगम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं । प्रत्या-ख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिनः ।५१। —जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओंसे रहित आत्माको देखने वाले हैं, उनके जो पापोंके आनेमें कारणभूत भावोंका त्याग है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं ।

३. द्वादशांगका एक अंग

द्वादशांगके १४ पूर्वोंमेंसे एक पूर्व है । दे० श्रुतज्ञान/III/१ ।

२. प्रत्याख्यानके भेद

१. सामान्य भेद

मू. आ./६३७-६३९ अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव । सागारमणागारं परिमाणागदं अपरिसेसं ।६३७। अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुगं वियाणाहि । पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदम्हि ।६३८। विणय तहाणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे । एदं पच्चक्खाणं चदुविधं होदि णादव्वं । —भविष्यत् कालमें उपवास आदि करना जैसे चौदसका उपवास तेरसको वह १. अनागत प्रत्याख्यान है । २. अतिक्रान्त, ३. कोटीसहित, ४. निखंडित, ५. साकार, ६. अनाकार, ७. परिमाणगत, ८. अपरिशेष, ९. अध्वगत १०. सहेतुक प्रत्याख्यान है । इस प्रकार सार्थक प्रत्याख्यानके दस भेद जिनमतमें जानने चाहिए ।६३७-६३८। १. विनयकर, २. अनुभा-षाकर, ३. अनुपालनकर, ४. परिणामकर शुद्ध यह प्रत्याख्यान चार प्रकार भी है ।६३९।

२. नाम स्थापनादि भेद

भ.आ./वि./११६/२७६/२१ तच्च (प्रत्याख्यानं) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकाल-भावविकल्पेन षड्विधं । —यह प्रत्याख्यान नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे विकल्पसे छः प्रकारका है ।

३. प्रत्याख्यानके भेदोंके लक्षण

सामान्य भेदोंके लक्षण

मू. आ./६४०-६४३ कदियम्मं उवचारिय विणओ तह णाण-दंसण-चरित्ते । पंचविधविणयजुत्तं विणयसुद्धं हवदि तं तु ।६४०। अणुभासदि गुरुवयणं अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं घोसविसुद्धी सुद्धं एदं अणुभा-सणासुद्धं ।६४१। आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे । जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं ।६४२। रागेण व दोसेण व मण-

परिणामे ण दूसिदं जं तु। तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ।६४३। — १. सिद्ध भक्ति आदि सहित कायोत्सर्ग तपरूप विनय, व्यवहार-विनय, ज्ञान-विनय, दर्शन व चारित्र-विनय—इस तरह पाँच प्रकारके विनय सहित प्रत्याख्यान वह विनयकर शुद्ध होता है।६४०। २. गुरु जैसा कहे उसी तरह प्रत्याख्यानके अक्षर, पद व व्यञ्जनोंका उच्चारण करे, वह अक्षरादि क्रमसे पढ़ना, शुद्ध गुरु लघु आदि उच्चारण शुद्ध होना वह अनुभाषणा शुद्ध है।६४१। २. रोगमें, उपसर्गमें, भिक्षाकी प्राप्तिके अभावमें, वनमें जो प्रत्याख्यान पालन किया भग्न न हो वह अनुपालना शुद्ध है।६४२। ३. राग परिणामसे अथवा द्वेष परिणामसे मनके विकारकर जो प्रत्याख्यान दूषित न हो वह प्रत्याख्यान भावविशुद्ध है।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

भ.आ./वि./११६/२७६/२२ अयोग्यं नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यानं। आप्ताभासानां प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडां न करिष्यामीति प्रणिधानं मनसः स्थापनाप्रत्याख्यानं। अथवा अर्हदादीनां स्थापनां न विनशयिष्यामि, नैवानादरं तत्र करिष्यामीति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ताप्रबन्धो द्रव्यप्रत्याख्यानं। अयोग्यानि वामिष्टप्रयोजनानि, संयमहानिं संक्लेशं वा संपादयन्ति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं। कालस्य दुःपरिहार्यत्वात् कालसंध्यायां क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्यं। तेन संध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिकं न संपादयिष्यामीति चेत.कालप्रत्याख्यानं। भावोऽशुभपरिणामः तं न निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं तद्द्विविधं मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति। —अयोग्य नामका मैं उच्चारण नहीं करूँगा ऐसे संकल्पको नाम प्रत्याख्यान कहते हैं। २. आप्ताभासके हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूँगा, मनसे, वचनसे और कायसे त्रस और स्थावर जीवोंकी स्थापना मैं पीड़ित नहीं करूँगा ऐसा जो मानसिक संकल्प वह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा अर्हदादि परमेष्ठियोंकी स्थापना—उनकी प्रतिमाओंका मैं नाश नहीं करूँगा, अनादर नहीं करूँगा, यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है। ३. अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको ग्रहण मैं न करूँगा ऐसा संकल्प करना, यह द्रव्य प्रत्याख्यान है। ४. अयोग्य व जिनसे अनिष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो संयमकी हानि करेंगे, अथवा संक्लेश परिणामोंको उत्पन्न करेंगे, ऐसे क्षेत्रोंको मैं त्यागूँगा, ऐसा संकल्प करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। ५. कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है, इसलिए उस कालमें होनेवाली क्रियाओंको त्यागनेसे कालका ही त्याग होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अर्थात् संध्याकाल रात्रिकाल वगैरह समयमें अध्ययन करना, आना-जाना इत्यादि कार्य मैं नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प करना काल प्रत्याख्यान है। ६. भाव अर्थात् अशुभ परिणाम उनका मैं त्याग करूँगा ऐसा संकल्प करना वह भाव प्रत्याख्यान है। इसके दो भेद हैं मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। (इनके लक्षण दे० प्रत्याख्यान/३)।

३. मन, वचन, काय प्रत्याख्यानके लक्षण

भ.आ./वि /५०६/७२८/१५ मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं। वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं। कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यंगीकारः। — १. मनसे मैं अतिचारोंको भविष्यत कालमें नहीं करूँगा ऐसा विचार करना यह मनःप्रत्याख्यान है। २. अतिचार मैं भविष्यत्में नहीं करूँगा ऐसा बोलना (कहना) यह वचन प्रत्याख्यान है। ३. शरीरके द्वारा भविष्यत् कालमें अतिचार नहीं करना यह काय प्रत्याख्यान है।

२. प्रत्याख्यान विधि

१. प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापना व निष्ठापना विधि

अन.ध./९/३६ प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्। न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत् ।३६। —यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधि पूर्वक क्षमापणा (निष्ठापना) करनी चाहिए। और उस निष्ठापनाके अनंतर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान या उपवासकी प्रतिष्ठापना करनी चाहिए। (यदि आचार्य पास हों तो उनके समक्ष प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना वा निष्ठापना करनी चाहिए।)

दे० कृतिकर्म/४/२ प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन व निष्ठापनमें भक्ति आदि पाठोंका क्रम।)

२. प्रत्याख्यान प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

दे० व्युत्सर्ग/१ (ग्रन्थादिके प्रारंभमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वंदनामें, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य हैं)।

३. प्रत्याख्यान निर्देश

१. ज्ञान व विराग ही वास्तवमें प्रत्याख्यान हैं

स.सा./मू./३४ सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं। तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।३४। —जिससे अपने अतिरिक्त सर्वपदार्थोंको 'पर है' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियमसे जानना। अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

नि.सा./मू./१०५-१०६ णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो। संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।१०५। एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं। पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदें सो संजमो णियमा ।१०६। —जो निःकषाय है, दान्त है, शूरवीर है, व्यवसायी है और संसारसे भयभीत है, उसे सुखमय (निश्चय) प्रत्याख्यान है ।१०५। इस प्रकार जो सदा जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है, वह संयत नियमसे प्रत्याख्यान धारण करनेको शक्तिमान है।१०६।

स. सा /ता.वृ./२८३-२८५ निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं। —निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानको प्रत्याख्यान कहते हैं।

* निश्चय व्यवहार प्रत्याख्यानकी मुख्यता गौणता —दे० चारित्र

२ सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान नहीं

भ.आ./वि./११६/२७७/१० सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं। —सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका (दे० अगला शीर्षक) प्रत्याख्यान गृहस्थ व मुनिको माना जाता है। अन्यथा वह प्रत्याख्यान इस नामको नहीं पाता।

३. मूल व उत्तर गुण तथा साधु व गृहस्थके प्रत्याख्यानमें अन्तर

भ. आ./वि./११६/२७७/३ उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते व्रतोत्तरकालभावित्वादनशनादिकं उत्तरगुण इति उच्यते। ...तत्र संयतानां जीविताधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं। संयतासंयतानां अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभांजि भवन्ति तेषां द्विविधं प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीविताधिकं चेति। पक्षमास-

षण्मासादिरूपेण भविष्यत्कालं सावधिकं कृत्वा तत्र स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्न चरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालम् । आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीविताबधिकं च। उत्तरगुणप्रत्याख्यानं संयतसंयतासंयतयोरपि अल्पकालिकं जीविताबधिकं वा। परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिकं च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च। भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं ।— १. उत्तरगुणोंको कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है, मूलगुण रूप जो प्रत्याख्यान व मूलगुण प्रत्याख्यान है।...व्रतोंके अनतर जो पाले जाते हैं ऐसे अनशनादि तपोंको उत्तरगुण कहते हैं।...२. मुनियोंको मूलगुण प्रत्याख्यान आमरण रहता है। संयतासंयतके अणुव्रतोंको मूलगुण कहते हैं। गृहस्थ मूलगुण प्रत्याख्यान अल्पकालिक और जीविताबधिक ऐसा दो प्रकार कर सकते है। पक्ष, मास, छह महीने आदि रूपसे भविष्यत् कालकी मर्यादा करके उसमें स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन, और परिग्रह ऐसे पंच पातक मैं नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है। 'मैं आमरण स्थूल हिंसादि पापोंको नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प कर त्याग करना यह जीविताबधिक प्रत्याख्यान है। ३. उत्तर गुण प्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ जीविताबधिक और अल्पाबधिक भी कर सकते हैं। जिसने संयम धारण किया है, उसको सामायिकादि और अनशनादिक भी रहते हैं, अतः सामायिक आदिकोंको और तपको उत्तरगुणपना है। भविष्यत्कालको विषय करके अनशनादिकोंका त्याग किया जाता है। अतः उत्तरगुण रूप प्रत्याख्यान है, ऐसा माना जाता है। (और भी दे० भ. आ./वि./११६/२७७/१८)

★ **प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमण में अन्तर**— दे० प्रतिक्रमण/३ ।

४. प्रत्याख्यानका प्रयोजन

अन. ध./६/३८ प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः । तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थं पृथुचण्डवत् ।३८। —प्रत्याख्यानादिके ग्रहण बिना यदि कदाचित् पूर्वबद्ध आयुकर्मके वशसे आयु क्षीण हो जाय तो वह साधु विराधक समझना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होनेपर थोड़ी देरके लिए और थोड़ा सा ग्रहण किया हुआ प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह महान् फल देनेवाला है।

प्रत्याख्यानावरण—मोहनीय प्रकृतिके उत्तर भेद रूप यह एक कर्म विशेष है, जिसके उदय होनेपर जीव विषयोंका त्याग करनेको समर्थ नहीं हो सकता।

१. प्रत्याख्यानावरणका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/१ यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यानमावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभाः। —जिसके उदयसे संयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको यह जीव करनेमें समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत करने वाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ हैं। (रा. वा./८/९/५/५७५/२) (पं. सं./प्रा./१/११०,११५) (गा. क., मू./२८३) (गो. जी./मू./४५) ।

ध. १३/५,५,९५/३६०/११ पच्चक्खाणं महव्वयाणि तेसिमावारयं कम्मं पच्चक्खाणावरणीयं। तं चउव्विहं कोह-माण-माया-लोहभेएण। —प्रत्याख्यानका अर्थ महाव्रत है। उनका आवरण करनेवाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय है। वह क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार प्रकारका है। (ध. ६/१,९-१,२३/४४/४) (गो. जी./जी. प्र./२८३/६०८/१५)। (गो. क./जी. प्र./३३/२८/४) (गो. क./जी. प्र./४५/४६/१३।

२. प्रत्याख्यानावरणमें भी कथंचित् सम्यक्त्व घातक शक्ति

गो. क./जी. प्र./५४६/७०८/१९ अनन्तानुबन्धिना तदुदयसहचरिताप्रत्याख्यानादीनां च चारित्रमोहत्वेऽपि सम्यक्त्वसंयमघातकत्वमुक्तं तेषां तदा तच्छक्तेरुदयात् । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानोदयरहितप्रत्याख्यानसंज्वलनोदयाः सकलसंयमं (घ्नन्ति) । —अनंतानुबन्धीके और इसके उदयके साथ अप्रत्याख्यानादिकके चारित्र मोह-पना होते हुए भी सम्यक्त्व और संयमका घातकपना कहा है।...अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानके उदय रहित, प्रत्याख्यान और संज्वलनका उदय है तो वह सकल संयमको घातती है।

३. प्रत्याख्यानावरण कषायका वासना काल

गो. क./मू. व. टी./४६/४७/१० उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकालः स च...प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्षः ।—उदयका अभाव होते हुए भी कषायोंका संस्कार जितने काल रहे, उसको वासना काल कहते हैं। उसमें प्रत्याख्यानावरणका वासना काल एक पक्ष है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

1. प्रत्याख्यानावरण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान आदि। — दे० वह वह नाम।
2. कषायोंकी तीव्रता-मन्दतामें प्रत्याख्यानावरण नहीं बल्कि लेश्या कारण है। —दे० कषाय/३।
3. प्रत्याख्यानावरणमें दशों करण सम्भव हैं —दे० करण/२।
4. प्रत्याख्यानावरणका सर्वघातीपना —दे० अनुभाग/४।

प्रत्याख्यानावरणी भाषा—दे० भाषा।

प्रत्यागाल—दे० आगाल।

प्रत्यामुंडा—ष. खं. १३/५-५/सू. ३९/२४३ आवायो ववसायो बुद्धी विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी ।३९। प्रत्यर्थमामुण्ड्यते संकोच्यते मीमांसितोऽर्थः अनयेति प्रत्यामुण्डा। —अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा ये पर्याय नाम हैं ।३९। जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ अलग अलग 'आमुण्ड्यते' अर्थात् संकोचित किया जाता है, वह प्रत्यामुंडा है।

प्रत्यावलि—दे० आवलि।

प्रत्यास—ध.१२/४,२,१४,४३/४६७/१० प्रत्यास्यते अस्मिन्निति प्रत्यासः ...जीवेण ओट्ठद्धखेत्तस्स खेत्तपच्चासे त्ति सण्णा। —जहाँ समीपमें रहा जाता है वह प्रत्यास कहा जाता है।...जीवके द्वारा अवलम्बित क्षेत्रकी क्षेत्रप्रत्यास संज्ञा है।

प्रत्यासत्ति

रा. वा. हि./१/७/६४ निकटताका नाम प्रत्यासत्ति है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे चार प्रकार है। तिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं:— १. कोई पर्यायकै कोई पर्यायकरि समवाय तै निकटता है। जैसे स्मरणकै और अनुभवकै एक आत्मा विषै समवाय है (यह द्रव्य प्रत्यासत्ति है)। २. बगुलाकी पंक्तिके और जलके क्षेत्र प्रत्यासत्ति है। ३. सहचर जो सम्यग्दर्शन ज्ञान सामान्य, तथा शरीर विषै जीव और स्पर्शन विशेष, तथा पहले उदय होय भरणी-कृतिका नक्षत्र, तथा कृतिका-रोहिणी नक्षत्र—इनके काल प्रत्यासत्ति है। ४. गऊ—गवयका एक रूप, केवली-सिद्धके केवलज्ञानका एक स्वरूपपना ऐसे भाव प्रत्यासत्ति है।

प्रत्याहार

म. पु./२१/२३० प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिवृ तिः ।२३०। —मन की प्रवृत्तिका संकोच कर लेने पर जो मानसिक सन्तोष होता है उसे प्रत्याहार कहते हैं ।२३०।

ज्ञा./३०/१-३ समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्यः साक्षं चेतः प्रशान्तधीः । यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ।१। निःसङ्गसंवृतस्वान्तः कूर्मवत्संवृतेन्द्रियः । यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत् ।२। गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् । पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ।३। —जो प्रशान्त बुद्धि विशुद्धता युक्त मुनि अपनी इन्द्रियों और मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खेंच कर जहाँ जहाँ अपनी इच्छा हो तहाँ तहाँ धारण करें सो प्रत्याहार कहा जाता है ।१। निःसंग और संवर रूप हुआ है मन जिसका कछुएके समान संकोच रूप हैं इन्द्रियाँ जिसकी ऐसा मुनि ही राग द्वेष रहित होकर ध्यान रूपी तन्त्रमें स्थिर स्वरूप होता है ।२। वशी मुनि विषयोंसे तो इन्द्रियोंको पृथक् करै और इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् करे, अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलता पूर्वक धारण करै । यह विधि प्रत्याहारमें कही है ।३।

★ **प्रत्याहार योग्य नेत्र ललाट आदि १० स्थान—** दे० ध्यान/३/३ ।

प्रत्युत्पन्न नय—दे० नय/I/५ ।

प्रत्यूष काल—प्रातः का सन्धि काल ।

प्रत्येक बुद्ध—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक शरीर नामकर्म—दे० वनस्पति/१ ।

प्रत्येक शरीर वर्गणा—दे० वनस्पति/१ ।

प्रथम स्थिति—दे० स्थिति/१ ।

प्रथमानुयोग—१. आगम सम्बन्धी प्रथमानुयोग—दे० अनुयोग/१; २. दृष्टिप्रवादका तीसरा भेद । दे० श्रुतज्ञान/III ।

प्रथमोपशम विधि—दे० उपशम/२ ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/IV/२ ।

प्रदक्षिणा—

ध. १३/५,४,२८/८९/१ वंदणकाले गुरुजिणजिणहराणं पदक्खिणं काऊण णमंसणं पदाहिणं णाम । —वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनगृहकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है ।

अन. ध./८/९२ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि । वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ।९२। —जिस समय मुमुक्षु संयमी चैत्य वन्दना या निर्वाण वन्दना अथवा योगिवन्दना यद्वा नन्दीश्वर चैत्य वन्दना किया करते हैं, उस समय उस सम्बन्धी भक्तिका पाठ बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते हैं ।

★ **प्रदक्षिणा प्रयोग विधि**—दे० वन्दना ।

प्रदुष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

प्रदेश—१. Space Point. (ज. प./प्र. १०७) ।
२. Location, Points or Place as decimal Place. (ध. ५/प्र. २७) ।

प्रदेश—आकाशके छोटेसे छोटे अविभागी अंशका नाम प्रदेश है, अर्थात् एक परमाणु जितनी जगह घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं । जिस प्रकार अखण्ड भी आकाशमें प्रदेश भेदकी कल्पना करके अनन्त प्रदेश बताये गये हैं, उसी प्रकार सभी द्रव्योंमें पृथक् पृथक् प्रदेशोंकी गणनाका निर्देश किया गया है । उपचारसे पुद्गल परमाणुको भी प्रदेश कहते हैं । और इस प्रकार पुद्गल कर्मोंके प्रदेशोंका जीवके प्रदेशोंके साथ बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहा जाता है ।

१. प्रदेश व प्रदेश बन्ध निर्देश

१. प्रदेशका लक्षण

१. परमाणुके अर्थमें

स. सि./२/३८/१९२/६ प्रदिश्यन्त इति प्रदेशाः परमाणवः। —प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है। इसका अर्थ परमाणु है। (स. सि./५/८/२७४/७) (रा. वा./२/३८/१/१४७/२८)।

२. आकाशका अंश

प्र. सा./मू./१४० आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं। सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ।१४०। —एक परमाणु जितने आकाशमें रहता है उतने आकाशको 'आकाश प्रदेश'के नामसे कहा गया है। और वह समस्त परमाणुओंको अवकाश देनेमें समर्थ है ।१४०। (रा. वा./५/१/८/४३२/३३) (न. च. वृ./१४१) (द्र. सं./मू./२७) (गो. जी./मू./५९१/१०२६) (नि. सा./ता. वृ/३५-३६)।

क. पा /२/२,२/§१२/७/१० निर्भाग आकाशावयवः (प्रदेशः) —जिसका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता ऐसे आकाशके अवयवको प्रदेश कहते हैं।

४. पर्यायके अर्थमें

पं. का./त. प्र./५ प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्यायाः उच्यन्ते। —प्रदेश नामके उनके जो अवयव हैं वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे पर्याय कहलाती हैं।

२. प्रदेश बन्धका लक्षण

त. सू./८/२४ नामप्रत्ययाः सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ।२४। —कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रति समय योग विशेषसे सूक्ष्म, एकक्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्त पुद्गलपरमाणु सब आत्म प्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं ।२४। (मू. आ./१२४१), (विशेष विस्तार दे० स. सि./८/२४/४०२), (नं. ध./उ/९३३)।

स. सि./८/३/३७९/७ इयत्तावधारणं प्रदेशः। कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशः। —इयत्ता (संख्या) का अवधारण करना प्रदेश है। (पं. सं./प्रा./४/५१४)। अर्थात् कर्म रूपसे परिणत पुद्गलस्कन्धोंका परमाणुओंकी जानकारी करके निश्चय करना प्रदेश बन्ध है। (रा. वा./८/३/७/५६७/१२)।

३. प्रदेश बन्धके भेद

(प्रदेश बन्ध चार प्रकारका होता है—उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य व अजघन्य।)

२. प्रदेश बन्ध सम्बन्धी नियम व प्ररूपणाएँ

१. विस्रसोपचयोंमें हानि वृद्धि सम्बन्धी नियम

ष. खं. १४/५,६/सू. ५२०-५२८/४३८-४४४ विस्सासुवचयपरूवणदाए एक्केक्कम्हि जीवपदेसे केवडिया विस्सासुवचया उवचिदा ।५२०। अणंता विस्सासुवचया उवचिदा सव्वजीवेहि अणंतगुणा ।५२१। ते च सव्वलोगागदेहि बद्धा ।५२२। तेसिं चउव्विहा हाणी-दव्वहाणी खेत्तहाणी कालहाणी भावहाणी चेदि ।५२३। दव्वहाणिपरूवणदाए ओरालियसरीरस्स जे एयपदेसियवग्गणाए दव्वा ते बहुआ अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ।५२४। जे दुपदेसियवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ।५२५। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पंचपदेसिय - छप्पदेसिय-सत्तपदेसिय - अट्ठपदेसिय - णवपदेसिय - दसपदेसिय - संखेज्जपदेसिय-असंखेज्जपदेसिय-अणंतपदेसिय-अणंताणंतपदेसियवग्गणाए दव्वा ते विसेसहीणा अणंतेहि विस्सासुवचएहि उवचिदा ।५२६। तदो अंगुलस्स असंखेज्जदिभागं गंतूणं तेसिं पंचविहा हाणी—अणंतभागहाणी असंखेज्जभागहाणी संखेज्जभागहाणी संखेज्जगुणहाणी असंखेज्जगुणहाणी ।५२७। [टीका—तत्थ एक्केक्किस्से हाणीए अद्धाणमंगुलस्स असंखेज्जदिभागो।] एवं चदुण्णं सरीराणं ।५२८। —चार शरीरोंमें बन्धी नोकर्म वर्गणाओंकी अपेक्षा—विस्रसोपचय प्ररूपणाकी अपेक्षा एक-एक जीव प्रदेशपर कितने विस्रसोपचय उपचित हैं ।५२०। अनन्त विस्रसोपचय उपचित हैं जो कि सब जीवोंसे अनन्त गुणे हैं ।५२१। वे सब लोकमेंसे आकर बद्ध हुए हैं ।५२२। उनकी चार प्रकारकी हानि होती है—द्रव्यहानि, क्षेत्रहानि, कालहानि और भावहानि ।५२३। द्रव्यहानि प्ररूपणाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी एक प्रदेशी वर्गणाके जो द्रव्य हैं वे बहुत हैं जो कि अनन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित हैं ।५२४। जो द्विप्रदेशी वर्गणाके द्रव्य हैं वे विशेषहीन हैं जो अनन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित हैं ।५२५। इसी प्रकार त्रिप्रदेशी, चतुःप्रदेशी, पंचप्रदेशी, छहप्रदेशी, सातप्रदेशी, आठप्रदेशी, नौप्रदेशी, दसप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी और अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाके जो द्रव्य हैं विशेषहीन हैं जो प्रत्येक अनन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित हैं ।५२६। उसके बाद अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थान जाकर उनकी पाँच प्रकारकी हानि होती है—अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि और असंख्यात गुणहानि ।५२७। [टीका—उनमेंसे एक-एक हानिका अध्वान अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाण है।] इसी प्रकार चार शरीरोंकी प्ररूपणा करनी चाहिए ।५२८।

नोट—बिलकुल इसी प्रकार अन्य तीन हानियोंका कथन करना चाहिए। (ष. खं. १४/५,६/सू० ५२९-५४३/४४५-४६३)।

२. एक समयप्रबद्धमें प्रदेशोंका प्रमाण

पं. सं./प्रा./४/४९५ पंचरस-पंचवण्णेहि परिणयदुगंध चदुहि फासेहि। दवियमणंतपदेसं जीवेहि अणंतगुणहीणं ।४९५। —पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध और शीतादि चार स्पर्शसे परिणत, सिद्ध जीवोंसे अनन्तगुणितहीन, तथा अभव्य जीवोंसे अनन्तगुणित अनन्तप्रदेशी पुद्गल द्रव्यको यह जीव एक समयमें ग्रहण करता है ।४९५। (गो. क./मू./१९१), (द्र. सं./टी./३३/९४/१), (पं. सं./सं./४/३३७)।

३. समयप्रबद्ध वर्गणाओंमें अल्पबहुत्व विभाग

ध. ६/१,९-७,४३/२०१/६ ते च कम्मपदेसा जहण्णवग्गणाए बहुआ, तत्तो उवरि वग्गणं पडि विसेसहीणा अणंतभागेण। भागहारस्स अद्धं गंतूण दुगुणहीणा। एवं णेदव्वं जाव चरिमवग्गणेत्ति। एवं चत्तारि य बंधा परूविदा होंति। —वे कर्मप्रदेश जघन्य वर्गणामें बहुत होते हैं उससे ऊपर प्रत्येक वर्गणाके प्रति विशेषहीन अर्थात् अनन्तवें भागसे हीन होते जाते हैं। और भागाहारके आधे प्रमाण दूर जाकर दुगुनेहीन अर्थात् आधे, रह जाते हैं। इस प्रकार यह क्रम अन्तिम वर्गणा तक ले जाना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति बन्धके द्वारा यहाँ चारों ही बन्ध प्ररूपित हो जाते हैं।

४. योग व प्रदेश बन्धमें परस्पर सम्बन्ध

म. बं. ६/९२-१३४ का भावार्थ—उत्कृष्ट योगसे उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध तथा जघन्य योगसे जघन्य प्रदेशबन्ध होता है।

५. स्वामित्वकी अपेक्षा प्रदेशबन्ध प्ररूपणा

पं. सं./प्रा./४/५०२-५१२), (गो. क./मू./२१०-२१६/२५६)।

संकेत—१. संज्ञी—संज्ञी, पर्याप्त, उत्कृष्ट योगसे युक्त, अल्प प्रकृतिका बन्धक उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। २. असंज्ञी—असंज्ञी, अपर्याप्त,

जघन्य योगसे युक्त, अधिक प्रकृतिका बन्धक, जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। ३. सू. ल./१—सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त, जघन्य योगसे युक्त जीवके अपनी पर्यायका प्रथम समय। ४. सू. ल./२—सूक्ष्म-निगोद लब्ध्यपर्याप्तकी आयु बन्धके त्रिभाग प्रथम समय। ५. सू. ल./च—चरम भवस्थ तथा तीन विग्रहोंमेंसे प्रथम विग्रहमें स्थित निगोदिया जीव।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध		जघन्य प्रदेशबन्ध	
गुण स्थान	प्रकृतिका नाम	गुण स्थान व स्वामित्व	प्रकृतिका नाम
	१. मूल प्रकृति प्ररूपणा		
१,२,४-९	आयु	सू.ल./१	आयुके बिना सात कर्म
१-९	मोह		
१०	ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, नाम, गोत्र, अन्तराय	सू.ल./२	आयु
	२. उत्तर प्रकृति प्ररूपणा		
१	स्त्यान०, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, अनन्तानु० चतु, स्त्री व नपुं० वेद, नरकतिर्यग् व देवगति, पंचेन्द्रियादि पाँच जाति, औदारिक, तैजस, व कार्मण शरीर, न्यग्रोधादि ५ संस्थान, वज्रनाराचआदि ५ संहनन, औदारिक अंगोपांग, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहा०, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, निर्माण, नीचगोत्र —६६	अविरत सम्य० अप्रमत्त संयत असंज्ञी सू.ल./च	देवगति, व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग, तीर्थंकर —५ आहारक द्वय देवायु, नरकायु नरकगति व आनुपूर्वी —४ उपरोक्तके अतिरिक्त शेष बची —१०९
१-९	असाता, देव व मनुष्यायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, आदेय, सुभग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, वज्रऋषभ नाराचसंहनन —१३		
४	अप्रत्याख्यान चतुष्क —४		
४-९	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर —९		
५	प्रत्याख्यान चतुष्क —४		
७	आहारक द्विक		
९	पुरुष वेद, संज्वलन चतुष्क —५		
१०	ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी चक्षु आदि ४, अन्तराय ५, साता, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र —१७		

४. प्रकृति बन्धकी अपेक्षा स्वामित्व प्ररूपणा

प्रमाण तथा संकेत—(दे० पूर्वोक्त प्रदेशबन्ध प्ररूपणा नं० १)।

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
१	ज्ञानावरण—		
	पाँचों	१०	सू.ल./च
२	दर्शनावरण—		
१-४	चक्षु, अचक्षु अवधि व केवल दर्शन	१०	"
५	निद्रा	१०	"
६	निद्रानिद्रा	१	"
७	प्रचला	१०	"
८	प्रचला प्रचला	१	"
३	वेदनीय—		
१	साता	१०	"
२	असाता	१-९	"
४	मोहनीय—		
१	मिथ्यात्व	१	"
२-५	अनन्ता० चतु०	१	"
६-१०	अप्रत्या० चतु०	४	"
११-१४	प्रत्या० चतु०	५	"
१४-१७	संज्वलन चतु०	९	"
१७-२३	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	४-९	"
२४	स्त्री वेद	१	"
२५	पुरुष ,,	१०	"
२६	नपुं० ,,	१	"
५	आयु—		
१	नरकायु	१	असंज्ञी
२	तिर्यग्	१	सू.ल./च
३	मनुष्य	१-९	
४	देवायु	"	
६	नामकर्म—		
१	गति—		
	नरक	१	असंज्ञी
	तिर्यग्	१	सू.ल./च
	मनुष्य	१	सू.ल./च
	देव	१-९	अविरति सम्य०
२	जाति—		
	एकेन्द्रियादि पाँचों	१	सू.ल./च
३	शरीर—		
	औदारिक	१	"
	वैक्रियक	१-९	अविरत सम्य०
	आहारक	७	अप्रमत्त
	तैजस	१	सू. ल./च

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
	कार्मण	१	सू.ल./च
४	अंगोपांग—		
	औदारिक	१	"
	वैक्रियक	१-६	अविरत
	आहारक	७	अप्रमत्त
५	निर्माण	१	सू.ल./च
६	बन्धन	"	"
७	संघात	"	"
८	संस्थान—		
	समचतुरस्र	१-६	"
	शेष पाँचों	१	"
६	संहनन—		
	वज्र वृषभ नाराच	१-६	"
	शेष पाँचों	१	"
१०-१३	स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण	"	"
१४	आनुपूर्वी—		
	नरक	१	असंज्ञी
	तिर्यग व मनुष्य	"	सू.ल./च
	देव	१-६	अविरत सम्य०
१५	अगुरुलघु	१	सू.ल./च
१६	उपघात	"	"
१७	परघात	"	"
१८	आतप	१	"
१६	उद्योत	"	"
२०	उच्छ्वास	"	"
२१	विहायोगति—		
	प्रशस्त	१-६	"
	अप्रशस्त	१	"
२२	प्रत्येक	"	"
२३	त्रस	"	"
२४	सुभग	१-६	"
२५	सुस्वर	"	"
२६	शुभ	१	"
२७	सूक्ष्म	"	"
२८	पर्याप्त	"	"
२६	स्थिर	"	"
३०	आदेय	१-६	"
३१	यशःकीर्ति	१०	"
३२	साधारण	१	"
३३	स्थावर	१	"
३४	दुर्भग	"	"
३५	दुःस्वर	"	"
३६	अशुभ	"	"
३७	बादर	"	"
३८	अपर्याप्त	"	"
३६	अस्थिर	"	"

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
४०	अनादेय	१	म.ल./च
४१	अयशःकीर्ति	"	"
४२	तीर्थंकर		
७	गोत्र—		
१	उच्च	१०	"
२	नीच	१	"
८	अन्तराय—		
१	पाँचों	१०	"

७. एक योग निमित्तक प्रदेश बंधमें अल्पबहुत्व क्यों

ध. १०/४,२,४,२१३/५११/३ जदि जोगादो पदेसबंधो होदि तो सव्व-कम्माणं पदेसपिंडस्स समाणत्तं पावदि, एगकारणत्तादो। ण च एवं, पुव्विल्लअप्पाबहुएण सह विरोहादो त्ति। एवं पच्चवट्ठिदसिस्सत्थ-मुत्तरसुत्तावयवो आगदो 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' त्ति। पयडी णाम सहाओ, तस्स विसेसो भेदो, तेण पयडिविसेसेण कम्माणं पदेसबंधट्ठाणाणि समाणकारणत्ते वि पदेसेहि विसेसाहियाणि। — प्रश्न — यदि योगसे प्रदेश बन्ध होता है तो सब कर्मोंके प्रदेश समूह-के समानता प्राप्त होती है, क्योंकि उन सबके प्रदेशबन्धका एक ही कारण है। उत्तर—परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा होनेपर पूर्वोक्त अल्पबहुत्वके साथ विरोध आता है। इस प्रत्यवस्था युक्त शिष्यके लिए उक्त सूत्रके 'णवरि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' इस उत्तर अवयवका अवतार हुआ है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है, उसके विशेषसे अभिप्राय भेदका है। उस प्रकृति विशेषसे कर्मोंके प्रदेश बन्धस्थान एक कारणके होनेपर भी प्रदेशोंसे विशेष अधिक है।

८. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी अन्तिम फालिमें प्रदेशों सम्बन्धी दो मत

क. पा. ४/३,२२/§६३६/३३४/११ जइवसहाइरिएण उवलद्धा बे उवएसा। सम्मत्तचरिमफालीदो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली असंखे० गुणहीणा त्ति एगो उवएसो। अवरेगो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली तत्तो विसेसाहिया त्ति। एत्थ एदेसिं दोण्हं पि उवएसाणं णिच्छयं काउम-समत्थेण जइवसहाइरिएण एगो एत्थ विलिहिदो अवरेगो ट्ठिदिसंकमे। तेणेदं बे वि उवदेसा थप्पं काढूण वत्तव्वा त्ति। —यतिवृषभाचार्य-को दो उपदेश प्राप्त हुए। सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे सम्यग्-मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि असंख्यातगुणी हीन है यह पहला उपदेश है। तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि उससे (सम्य-क्त्वकी अन्तिम फालिसे) विशेष अधिक है यह दूसरा उपदेश है। इन दोनों ही उपदेशोंका निश्चय करनेमें असमर्थ यतिवृष-भाचार्यने एक उपदेश यहाँ लिखा और एक उपदेश स्थिति संक्रममें लिखा, अतः इन दोनों ही उपदेशोंको स्थगित करके उपदेश करना चाहिए।

९. अन्य प्ररूपणाओं सम्बन्धी विषय सूची

(म. बं. ६/§…पृ.)

नं.	मूल उत्तर	विषय	ज. उ. पद	भुजगारादि-पद	ज. उ. वृद्धि हानि	षट्-गुण वृद्धि
ओघ व आदेशसे अष्ट कर्म प्ररूपणा						
१	मूल	समुत्कीर्तना		६/१०-१०२/५३-५४	६/१४६-१४७/७६	
		भंगविचय		६/१२५-१२६/६५-६६		
		जीवस्थान व अध्यवसाय-स्थान	६/१५४-१५६/८३, ८४			
	उत्तर	सन्निकर्ष	६/२६६-५६५/१७८			
		भंग विचय	६/५६६-५६६/३५०-३५४			

प्रदेशत्व—

रा. वा./२/७/१२/११३/१ प्रदेशवत्त्वमपि साधारणं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम्। तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात पारिणामिकम्। —प्रदेशवत्त्व भी सर्व द्रव्यसाधारण है, क्योंकि सर्व द्रव्य अपने अपने संख्यात, असंख्यात वा अनन्त प्रदेशोंको रखते हैं। यह कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेसे पारिणामिक है।

आ. प./६ प्रदेशस्य भाव' प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम्। —प्रदेशके भावको प्रदेशत्व अर्थात् क्षेत्रत्व कहते हैं। वह अविभागी पुद्गल परमाणुके द्वारा घेरा हुआ स्थान मात्र होता है।

★ षट् द्रव्योंमें सप्रदेशी व अप्रदेशी विभाग—

दे० द्रव्य/३।

प्रदेश विरच—ध. १४/५.६,२८७/३५२/३ कर्मपुद्गलप्रदेशो विरच्यते अस्मिन्निति प्रदेशविरचः कर्मस्थितिरिति यावत। अथवा विरच्यते इति विरचः प्रदेशश्चासौ विरचश्च प्रदेशविरच' विरच्यमानकर्मप्रदेश इति यावत। —कर्म पुद्गल प्रदेश जिसमें विरचा जाता है अर्थात् स्थापित किया जाता है वह प्रदेश विरच कहलाता है। अभिप्राय यह है कि यहाँपर प्रदेशविरचसे कर्मस्थिति ली गयी है। अथवा विरच पदकी निरुक्ति यह है—विरच्यते अर्थात् जो विरचा जाता है उसे विरच कहते हैं। तथा प्रदेश जो विरच वह प्रदेश विरच कहलाता है। प्रदेशविरच्यमान कर्म प्रदेश यह उसका अभिप्राय है।

प्रदोष—स. सि./६/१०/३२७/१० तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरत' अन्तःपैशुन्यपरिणाम. प्रदोषः। —तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है, उसका गुणगान करते समय उस समय नहीं बोलने वालेके जो भीतर पैशुन्य रूप परिणाम होता है वह प्रदोष है। (रा.वा./६/१०/१/५१७) (गो. क./जी. प्र./८००/९७१/९)।

गो. क./जी. प्र./८००/९७१/९ तत्प्रदोष' तत्त्वज्ञाने हर्षाभावः। —तत्त्व ज्ञानमें हर्षका अभाव होना प्रदोष है।

रा. वा. हि./६/१०/४६४-४६५ कोई पुरुष (किसी अन्यकी) प्रशंसा करता होय, ताकूँ कोई सराहै नाहीं, ताकूँ सुनकरि आप मौन राखै अन्तरंग विषै वा सूं अदेखसका भाव करि तथा (वाकूँ) दोष लगावनेके अभिप्राय करि वाका साधक न करे ताकै ऐसे परिणाम कूँ प्रदोष कहिए।

प्रद्युम्न—ह. पु./सर्ग/श्लोक—अपने पूर्वके सातवें भवमें शृगाल था (४३/११५) छठे भवमें ब्राह्मणपुत्र अग्निभूति (४३/१००), पाँचवें भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१३६), चौथे भवमें सेठ पुत्र पूर्णभद्र (४३/१५८) तीसरे भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१५८), दूसरे भवमें मधु (४३/१६०) पूर्व भवमें आरणेन्द्र था (४३/४०)। वर्तमान भवमें कृष्णका पुत्र था (४३/४०) जन्मते ही पूर्व वैरी असुरने इसको उठाकर पर्वतपर एक शिलाके नीचे दबा दिया (४३/४४) तत्पश्चात् कालसंवर विद्याधरने इसका पालन किया (४३/४७) युवा होनेपर पोषक माता इनपर मोहित हो गयी (४३/५५)। इस घटनापर पिता कालसंवरको युद्धमें हरा कर द्वारका आये तथा जन्ममाताको अनेकों बालक्रीड़ाओं द्वारा प्रसन्न किया (४७/१७)। अन्तमें दीक्षा धारण की (६१/३९), तथा गिरनार पर्वतपरसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)

प्रद्युम्न चरित्र— १. आ० सोमकीर्ति (ई० १४७४) द्वारा विरचित संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ। इसमें १६ सर्ग तथा कुल ४८०० श्लोक हैं। २. आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ।

प्रधान वाद—दे० सांख्यदर्शन।

प्रध्वंसाभाव—दे० अभाव।

प्रबंध काल—दे० काल/१।

प्रभंकर—सौधर्म स्वर्गका २७ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/3।

प्रभंजन—१. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी भवनवासी वायुकुमारदेव—दे० लोक/५/१०।

प्रभ—सौधर्म स्वर्गका २१ वाँ पटल व इन्द्रक।—दे० स्वर्ग/५।

प्रभा—रा. वा./३/१/४/१५६/२३ न दीप्तिरूपैव प्रभा। किं तर्हि। द्रव्याणां स्वात्मैव मृजा प्रभा यत्संनिधानात मनुष्यादीनामयं संव्यवहारो भवति स्निग्धकृष्णप्रभमिदं रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति। —केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष विशेष सलोनापन होता है, उसीको कहा जाता है कि यह स्निग्धकृष्णप्रभावाला है। यह रूक्ष कृष्ण प्रभा वाला है।

प्रभाकर भट्ट—१. योगेन्दुदेवके शिष्य दिगम्बर साधु थे। योगेन्दु देवके अनुसार इनका समय भी ई. श. ६ आता है। (प.प्र./प्र. १००/A. N. Up) मीमांसकोंके गुरु थे। कुमारिल भट्टके समकालीन थे। समय—(ई० ६००-६२५) (प. प्र./प्र./१००/A. N. up (स्याद्वाद सिद्धि/प्र. २०/ पं. दरबारी लाल कोठिया) (विशेष दे. मीमांसा दर्शन)।

प्रभाकर मत—दे० मीमांसक दर्शन।

प्रभाचंद्र—इस नाम के अनेकों आचार्य हुए हैं—१. नन्दिसंघ बलात्कारगण की गुर्वावली के अनुसार लोकचन्द्र के शिष्य और नेमिचन्द्र के गुरु। समय—शक ४५३-४७८ (ई० ५३१-५५६)। (दे. इतिहास/७/२)। २. अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) के परवर्ती एक आचार्य जिन्होंने गृद्धपिच्छ कृत तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार एक द्वितीय तत्त्वार्थ सूत्र की रचना की। (ती./३/३००)। ३. राष्ट्रकूट के नरेश गोविन्द तृ. के दो ताम्रपत्रों (शक ७१९-७२४) के अनुसार आप तोरणाचार्य के शिष्य और पुष्पनन्दि के शिष्य थे। समय—लगभग शक ७१०-७५४ (ई० ७८८-८३२)। (जै./२/११३)। ४. महापुराण के कर्ता जिनसेन (ई० ८१८-८७८) से पूर्ववर्ती जो कुमारसेन के शिष्य थे। कृति—न्याय का ग्रन्थ 'चन्द्रोदय'। समय—ई० ७९७ (ह. पु /प्र ८/पं. पन्ना लाल)। ५. नन्दिसंघ देशीयगण गोलाचार्य आम्नाय में आप पद्मनन्दि

सैद्धान्तिक के शिष्य और आविद्धकरण पद्मनन्दि कौमारदेव के सधर्मा थे। परीक्षामुख के कर्ता माणिक्यनन्दि आपके शिक्षा गुरु थे। कृतियें—प्रमेयकमल मार्तण्ड, न्याय कुमुद चन्द्र, तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण, शाकटायन न्यास, शब्दाम्भोज भास्कर, समाधितन्त्र टीका, आत्मानुशासन टीका, समयसार टीका, प्रवचनसार सरोज भास्कर, पञ्चास्तिकाय प्रदीप, लघु द्रव्य संग्रह वृत्ति, महापुराण टिप्पणी गद्य कथा कोष, क्रिया कलाप टीका और किन्हीं विद्वानों के अनुसार रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका भी। समय—पं. महेन्द्र कुमार के अनुसार वि. १०३७-११२२; पं. कैलाश चन्दजी के अनुसार ई० ९५०-१०२०। (ती.इतिहास/७/५); (जै /२/१४८, १/३८८); (ती /३/४६, ५०)। ६. नन्दिसंघ देशीयगण में मेघचन्द्र त्रैविद्य द्वि. के शिष्य और वीरनन्दि व शुभचन्द्र के सहधर्मा। (ती. इतिहास/७/५)। ७. देव गण के भट्टारक बाल चन्द्र के शिष्य। कृतियें—सिद्धान्तसार की कन्नड़ टीका और पं. कैलाश चन्दजी के अनुसार रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका। समय—वि. श. १३ (ई० ११८५-१२४३)। ८. नन्दि संघ बलात्कार गण की अजमेर गद्दी के अनुसार आप रत्न कीर्ति भट्टारक के शिष्य और पद्मनन्दि के शिष्य थे। समय—वि. श. १३ पूर्व अथवा वि. १३१०-१३८५ (ई० १२५३-१३२८)। (ती. इतिहास/३/४)। (ती०इतिहास/७/३)। ९. श्रुत मुनि (ई० १३४१, वि० १३९८) के शिक्षा गुरु। समय—वि. श. १४ का उत्तरार्ध (ई० श० १४ पूर्व)। (जै./२/१९५, १४१)। १०. काष्ठासंघी आचार्य। गुरु परम्परा—हेमकीर्ति, धर्मचन्द्र, प्रभाचन्द्र। कृति—तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर। समय—वि. १४८६ (ई० १४३२)। (ब./२/१६९-३७०)। ११. नन्दिसंघ बलात्कार गण दिल्ली शाखा जो पीछे चित्तौड़ शाखा के रूप में रूपान्तरित हो गई। गुरु—जिनचन्द्र। समय—वि.१५७१-१५८६ (ई० १५१४-१५२९)। (ती./३/३८४)।

प्रभाव—स. सि./४/२०/२५१/७ शापानुग्रहशक्तिः प्रभावः। —शाप और अनुग्रह रूप शक्तिको प्रभाव कहते हैं। (रा. वा./४/२०/२/२३५/१३)।

प्रभावती—पूर्व विदेहस्थ वत्सकावती देशकी मुख्य नगरी।
दे० लोक/७।

प्रभावना—१. प्रभावना अंगका लक्षण

१. निश्चयकी अपेक्षा

स. सा./मू./२३६ विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा। सो जिणणाणपहावी सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो।२३६। —जो चेतयिता विद्या-रूपी रथपर आरूढ हुआ, मन रूपी रथके पथमें (ज्ञानरूपी रथके चलनेके मार्गमें) भ्रमण करता है, वह जिनेन्द्र भगवान्के ज्ञानकी प्रभावना करनेवाला सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।२३६।।

रा.वा./६/२४/१/५२९/१५ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नत्रयप्रभावेन आत्मनः प्रकाशनं प्रभावनम्। —सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयके प्रभावसे आत्माको प्रकाशमान करना प्रभावना है। (चा. सा./५/४) (पु. सि. उ./३०)।

द्र. सं./टी./४१/१७७/६ निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारप्रभावना गुणस्य बलेन मिथ्यात्वविषयकषायप्रभृतिसमस्तविभावपरिणामरूपपरसमयानां प्रभावं हत्वा शुद्धोपयोगलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावनिजशुद्धात्मनः प्रकाशनमनुभवनमेव प्रभावनेति। —व्यवहार प्रभावना गुणके बलसे मिथ्यात्व-विषय कषाय आदि सम्पूर्ण विभाव परिणामरूप परसमयके प्रभावको नष्ट करके शुद्धोपयोग लक्षणवाले स्वसंवेदन ज्ञानसे, निर्मल, ज्ञान, दर्शन रूप स्वभाव वाली निज शुद्धात्माका जो प्रकाशन अथवा अनुभवन, वह निश्चयसे प्रभावना है।

पं.ध./उ./८१६ मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः। जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना।८१६। —कोई जीव मोह रूपी शत्रुके नाश होनेसे शुद्ध और कोई जीव शुद्धसे शुद्धतर तथा कोई जीव शुद्धतम हो जाता है, इसी तरह उत्तरोत्तर शुद्धताका प्रकर्ष ही आत्मप्रभावना कहलाती है।८१६।

स. सा./पं. जयचन्द/२३६ प्रभावनाका अर्थ प्रकट करना है, उद्योत करना है इत्यादि; इसलिए जो अपने ज्ञानको निरन्तर प्रगट करता है—बढ़ाता है, उसके प्रभावना अंग होता है।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

र. क. श्रा./१८ अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्। जिनशासन-माहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना।१८। —अज्ञान रूपी अन्धकारके विनाशको जिस प्रकार बने उस प्रकार दूर करके जिनमार्गका समस्त मतावलम्बियोंमें प्रभाव प्रगट करना सो प्रभावना नामका आठवाँ अंग है।१८। (का. अ./४२२-४२३)।

मू. आ./२६४ धम्मकहाकहणेण य बाहिरजोगेहिं चाविणवज्जेहिं। धम्मो पहाविदव्वो जीवेसु दयाणुकंपाए।२६४। —महापुराणादि धर्मकथाके व्याख्यान करनेसे, हिंसा दोष रहित तपश्चरण कर, जीवोंकी दया व अनुकम्पा कर, जैन धर्मकी प्रभावना करनी चाहिए। आदि शब्दसे परवादियोंको जीतना, अष्टांगनिमित्त ज्ञान, पूजा, दान आदिसे भी प्रभावना करनी चाहिए।२६४।

रा. वा./६/२४/१२/५३०/१७ ज्ञानरविप्रभया परसमयखद्योतोद्योततिर-स्कारिण्या, सत्तपसा महोपवासादिलक्षणेन सुरपतिविष्टरप्रकम्पन-हेतुना, जिनपूजया वा भव्यजनकमलषण्डप्रबोधनप्रभया, सद्धर्म-प्रकाशनं मार्गप्रभावनमिति संभाव्यते। —पर समय रूपी जुगनुओंके प्रकाशको पराभूत करनेवाले ज्ञानरविकी प्रभासे, इन्द्रके सिंहासनको कँपा देनेवाले महोपवासादि सम्यक् तपोंसे तथा भव्यजन रूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यप्रभाके समान जिन पूजाके द्वारा सद्धर्मका प्रकाश करना मार्ग प्रभावना है। (स. सि./६/२४/३३९/५) (पु. सि उ./३०) (चा. सा./५/३) (द्र. सं./टी./४१/१७७/२) (भा. पा./टी./७७/२२१/१९)।

ध. ८/३,४१/९१/१ आगमट्ठस्स पवयणमिदि सण्णा। तस्स पहावणं णाम वण्णजणणं तव्वुड्ढिकरणं च, तस्स भावो पवयणप्पहावणदा। —आगमार्थका नाम प्रवचन है, उसके वर्णजनन अर्थात् कीर्ति विस्तार या वृद्धि करनेको प्रवचनकी प्रभावना और उसके भावको प्रवचन-प्रभावनता कहते हैं।

भा. आ./वि./४५/१५०/५ धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि चानुरागो वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वात्मनः। प्रभावना माहात्म्यप्रकाशनं रत्नत्रयस्य तद्वतां वा। —रत्नत्रय और उसके धारक श्रावक और मुनिगणका महत्त्व बतलाना, यह प्रभावना गुण है। ऐसे गुणोंसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है।

प.ध./उ./८१८-८१९ बाह्यः प्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः। तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम्।८१८। परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्। चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः।८१९। —विद्या और मन्त्रोंके द्वारा, बलके द्वारा, तथा तप और दानके द्वारा जो जैन धर्मका उत्कर्ष किया जाता है, वह प्रभावना अंग कहलाता है। तत्त्वज्ञानियोंको यह करना चाहिए।८१८। मिथ्यात्वके उत्कर्षको बढ़ाने वाले मिथ्यादृष्टियोंका अपकर्ष करनेके लिए जो कुछ चामत्कारिक क्रियाएँ हैं, वे भी महात्माओंको करनी चाहिए।८१९।

३. इस एक भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/९१/३ उक्कट्ठपवयणप्पहावणस्स दंसणविसुज्झदादीहि अविणाभावादो। तेणेदं पण्णरसमं कारणं —क्योंकि, उत्कृष्ट, प्रवचन प्रभावनाका दर्शनविशुद्धितादिकोंके साथ अविनाभाव है। इसलिए यह पन्द्रहवाँ कारण है।

* एक मार्ग प्रभावनासे तीर्थंकरत्व बंध संभव

दे०—भावना/२

प्रभास—१. लवण समुद्रकी नैऋ'त्य व वायव्य दिशामें स्थित द्वीप व उसके स्वामी देव—दे० लोक४/१ २. दक्षिण लवण समुद्रका स्वामी देव—दे० लोक/४/१। ३. धातकी खण्डका रक्षक व्यन्तर देव—दे० लोक/४/२।

प्रभु—न.च.वृ/१०८ घाईकम्मखयादो केवलणाणेण विदिदपरमट्ठो। उवदिट्ठसयलतत्तो लद्धसहावो पहू होई।१०८। —घाति कर्मोंके क्षयसे जिसने केवलज्ञानके द्वारा परमार्थको जान लिया है, सकल तत्त्वों-का जिसने उपदेश दिया है, तथा निजस्वभावको जिसने प्राप्त कर लिया है, वह प्रभु होता है।१०८।

पं.का./त.प्र./२७ निश्चयेन भावकर्मणां, व्यवहारेण द्रव्यकर्मणामास्रवणबधनसंवरणनिर्जरणमोक्षणेषु स्वयमीशत्वात् प्रभुः। —निश्चयसे भाव कर्मोंके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करनेमें स्वयं समर्थ होनेसे आत्मा प्रभु है। व्यवहारसे द्रव्यकर्मोंके आस्रव, बंध आदि करनेमें स्वयं ईश होनेसे वह प्रभु है।

पं. का./ता.वृ./२७/६०/११ निश्चयेन मोक्षमोक्षकारणरूपशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात्तथैव चाशुद्धनयेन संसारसंसारकारणरूपाशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात् प्रभुर्भवति। —निश्चयसे मोक्ष और मोक्षके कारण रूप शुद्ध परिणामसे परिणमनमें समर्थ होनेसे, और अशुद्ध नयसे संसार और संसारके कारण रूप परिणामसे परिणमनमें समर्थ होनेसे यह आत्मा प्रभु होता है।

प्रभुत्व शक्ति—स.सा./आ./परि./शक्ति नं. ७ अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः। —जिसका प्रताप अखण्डित है, ऐसा स्वातन्त्र्यसे शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्व शक्ति है।७।

पं. का./त.प्र./२८ निर्वर्तितसमस्ताधिकारशक्तिमात्रं प्रभुत्वं। —प्राप्त किये हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारोंकी शक्ति मात्र रूप प्रभुत्व होता है।

प्रमत्त संयत—दे० संयत।

प्रमाण—स्व व पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। जैनदर्शनकार नैयायिकोंकी भाँति इन्द्रियविषय व सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मानते। स्वार्थ व परार्थके भेदसे अथवा प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे वह दो प्रकार है। परार्थ तो परोक्ष ही होता है, पर स्वार्थ प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकारका होता है। तहाँ मतिज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, और श्रुतज्ञानात्मक स्वार्थ परोक्ष है। अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। नैयायिकोंके द्वारा मान्य अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, ऐतिह्य व शब्दादि सब प्रमाण यहाँ श्रुतज्ञानात्मक परोक्ष प्रमाणमें गर्भित हो जाते हैं। पहले न जाना गया अपूर्व पदार्थ प्रमाणका विषय है, और वस्तुकी सिद्धि अथवा हित प्राप्ति व अहित परिहार इसका फल है।

१ भेद व लक्षण

१ प्रमाण सामान्यका लक्षण।
२ प्रमाणके भेद।
* अन्य अनेकों भेद—अनुमान, उपमान, आगम, तर्क प्रत्यभिज्ञान, शब्द, स्मृति, अर्थापत्ति आदि। —दे० वह वह नाम
* न्यायकी अपेक्षा प्रमाणके भेदादिका निर्देश। —दे० परोक्ष
३ प्रमाणके भेदोंके लक्षण।
* प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण। —दे० वह वह नाम
* परार्थ प्रमाण। —दे० अनुमान, हेतु
४ प्रमाणके भेदोंका समीकरण।
५ प्रमाणाभासका लक्षण।

२ प्रमाण निर्देश

१ ज्ञान ही प्रमाण है।
२ सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं।
* सम्यक् व मिथ्या अनेकान्तके लक्षण। —दे० अनेकांत/१
* प्रमाण व नय सम्बन्ध। —दे० नय/I/२ व II/१
३ परोक्षज्ञान देशतः और प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वतः प्रमाण है।
४ सम्यग्ज्ञानी आत्मा ही कथंचित् प्रमाण है।
५ प्रमाणका विषय।
६ प्रमाणका फल।
* वस्तु विवेचनमें प्रमाण नयका स्थान। —दे० न्याय/१
७ प्रमाणका कारण।
* उपचारमें कथंचित् प्रमाणता। —दे० उपचार/४
८ प्रमाणाभासके विषयादि।

३ प्रमाणका प्रामाण्य

१ प्रामाण्यका लक्षण।
* प्रमाण ज्ञानमें अनुभवका स्थान। —दे० अनुभव/३
२ स्वतः व परतः दोनोंसे होता है।
* प्रमाण ज्ञान स्व-पर व्यवसायात्मक होता है। —दे० ज्ञान/I/३
३ वास्तवमें आत्मा ही प्रामाण्य है ज्ञान नहीं।

४ प्रमाण, प्रमेय, प्रमाताके भेदाभेद संबन्धी शंका

१ ज्ञानको प्रमाण कहनेसे प्रमाणका फल किसे मानोगे।
२ ज्ञानको प्रमाण माननेसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण हो जायेगा।
३ सन्निकर्ष व इन्द्रियको प्रमाण माननेमें दोष।
४ प्रमाण व प्रमेयको सर्वथा भिन्न माननेमें दोष।
५ ज्ञान व आत्माको भिन्न माननेमें दोष।

६	प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको लक्षण माननेमें दोष।
७	प्रमाण और प्रमेयमें कथंचित् भेदाभेद।
८	प्रमाण व उसके फलोंमें कथंचित् भेदाभेद।
५	**गणनादि प्रमाण निर्देश**
१	प्रमाणके भेद—१ गणनाकी अपेक्षा; २ निक्षेपकी अपेक्षा।
*	अन्य अनेकों भेद—अंगुल, संख्यात, असंख्यात, अनंत, सागर, पल्य आदि प्रमाण। —दे० वह वह नाम।
२	गणना प्रमाणके भेदोंके लक्षण।
३	निक्षेप रूप प्रमाणोंके लक्षण।
*	गणना प्रमाण सम्बन्धित विषय। —दे० गणित।

१. भेद व लक्षण

१ प्रमाण सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

स.सि./१/१०/६८/२ प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्।—जो अच्छी तरह मान करता है, जिसके द्वारा अच्छी तरह मान किया जाता है या प्रमितिमात्र प्रमाण है। (रा.वा./१/१०/१/४९/१३)

क.पा./१/१,१/§२७/३७/६ प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्।—जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं। (आ प./६) (स.म./२८/३०७/१८) (न्या.दी./१/§१०/११)

२. अन्य अर्थ

१. आहारका एक दोष—दे०आहार/II/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका; ३. Measure (ज. प./प्र. १०७)

२. प्रमाणके भेद

त.सू./१/१०-१२ भावार्थ—प्रमाण दो प्रकारका है—प्रत्यक्ष व परोक्ष (ध.६/४.१.४५/१४२/६) (न.च.वृ./१७०) (प.मु./१/१०;२/१) (ज.प./१३/४७) (गो.जी./मू.व.जी.प्र./२९९/६४८) (स.सा./आ./१३/क.८ की टीका) (स.म./२८/३२१/५) (स्या.मं./२८/३०७/१९) (न्या.दी./२/§१/२३)

स.सि./१/६/२०/३ तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च।—प्रमाणके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। (रा.वा./१/६/४/३३/११)

न्या.सू./मू./१/१/३/९ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्दके भेदसे प्रमाण चार प्रकारका है।

३. प्रमाणके भेदोंके लक्षण

स.सि./१/६/२०/४ ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्।—ज्ञानात्मक प्रमाणको स्वार्थ प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक प्रमाण परार्थ प्रमाण कहलाता है। (रा.वा./१/६/४/३३/११) (सि.वि./मू./२/४/१२३) (स.भं.त./१/६)

४. प्रमाणके भेदोंका समीकरण

स.सि./१/६/२०/३ तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम् (वर्ज्यम्)। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च।—श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष सब (अर्थात् शेष चार) ज्ञान स्वार्थ प्रमाण हैं। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है। (इस प्रकार स्वार्थ व परार्थ भी प्रत्यक्ष व परोक्षमें अन्तर्भूत है।)

रा.वा./१/२०/१५/७८/१० एतान्यनुमानादीनि श्रुते अन्तर्भवन्ति तस्मात्तेषां पृथगुपदेशो न क्रियते।···स्वपरप्रतिपत्तिविषयत्वादक्षरानक्षरश्रुते अन्तर्भवति।—अनुमानादिका (अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाणका) स्वप्रतिपत्तिकालमें अनक्षर श्रुतमें और परप्रतिपत्तिकालमें अक्षर श्रुतमें अन्तर्भाव होता है। इसलिए इनका पृथक् उपदेश नहीं किया है।

आ. प./६ सविकल्पं मानसं तच्चतुर्विधम्। मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्। निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानं।—मति, श्रुत, अवधि व मनःपर्यय ये चार सविकल्प हैं, और केवलज्ञान निर्विकल्प और मनरहित है। (इस प्रकार ये भेद भी प्रत्यक्ष व परोक्षमें ही गर्भित हो जाते हैं।)

५. प्रमाणाभासका लक्षण

स.भं.त./७४/४ मिथ्यानेकान्तः प्रमाणाभासः।—मिथ्या अनेकान्त प्रमाणाभास है।

दे० प्रमाण/४/२ (संशयादि रहित मिथ्याज्ञान प्रमाणाभास है।)

दे० प्रमाण/२/८ (प्रमाणाभासके विषय संख्यादि।)

२. प्रमाण निर्देश

१. ज्ञान ही प्रमाण है

ति. प./१/८३ णाणं होदि पमाणं।—ज्ञान ही प्रमाण है। (सि. वि./मू./१/३/१२; १/२३/९६; १०/२/६६३), (ध. १/१,१,१/गा. ११/१७), (न. च. वृ./१७०), (प. मु./१/१), (पं. ध./पू./५४१)।

२. सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है मिथ्याज्ञान नहीं

श्लो. वा. ३/१/१०/३८/६५ मिथ्याज्ञानं प्रमाणं न सम्यगित्यधिकारतः। यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।३८।—सूत्रमें सम्यक्का अधिकार चला आ रहा है, इस कारण संशयादि मिथ्याज्ञान प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार जहाँपर अविसंवाद है वहाँ उस प्रकार प्रमाणपना व्यवस्थित है।

त. सा./१/३५ मतिः श्रुतावधिश्चैव मिथ्यात्वसमवायिनः। मिथ्याज्ञानानि कथ्यन्ते न तु तेषां प्रमाणता।३५। —मिथ्यात्वरूप परिणाम होनेसे मति, श्रुत व अवधिज्ञान मिथ्याज्ञान कहे जाते हैं। ये ज्ञान मिथ्या हों तो प्रमाण नहीं माने जाते।

दे० प्रमाण/४/२ संशयादि सहित ज्ञान प्रमाण नहीं है।

३. परोक्षज्ञान देशतः और प्रत्यक्षज्ञान सर्वतः प्रमाण है

श्लो. वा. ३/१/१०/३९/६६ स्वार्थे मतिश्रुतज्ञानं प्रमाणं देशतः स्थितं। अवध्यादि तु कार्त्स्न्येन केवलं सर्ववस्तुषु।३९।—स्व विषयमें भी एक-देश प्रमाण है मति, श्रुतज्ञान; अवधि व मनःपर्यय स्व विषयमें पूर्ण प्रमाण हैं। और केवलज्ञान सर्वत्र प्रमाण है।

श्लो. वा. २/१/६/१८-२९/३८३ में भाषाकार द्वारा समन्तभद्राचार्यका उद्धृत वाक्य—मिथ्याज्ञान भी स्वांशकी अपेक्षा कथंचित् प्रमाण है।

दे० ज्ञान/III/२/८ (ज्ञान वास्तवमें मिथ्या नहीं है बल्कि मिथ्यात्वरूप अभिप्रायवश उसे मिथ्या कहा जाता है।

४. सम्यग्ज्ञानी आत्मा ही कथंचित् प्रमाण है

ध. ६/४,१,४५/१४२/६ किं प्रमाणम्। निर्बाधबोधविशिष्ट· आत्मा प्रमाणम्।–प्रश्न–प्रमाण किसे कहते हैं। उत्तर–निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्माको प्रमाण कहते हैं। (ध. ६/४,१,४५/१६४/६)।

द्र. सं./टी./४४/१६०/१० संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति। =संशय-विमोह-विभ्रमसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। जैसे–प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और परके सामान्य विशेषको जानता है, इस कारण अभेदसे आत्माके ही प्रमाणता है।

५. प्रमाणका विषय

ध. ६/४,१,४५/१६६/१ प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थः। तेन प्रकाशितानां प्रमाणगृहीतानामित्यर्थः। –प्रकर्ष अर्थात् संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह कि जो समस्त धर्मोंको विषय करनेवाला हो वह प्रमाण है। (क. पा. १/§१७४/२१०/३)।

ध. १/४,२,१३,२५४/४५७/१२ संतविसयाणं पमाणाणमसंते वावारविरोहादो। =सत्को विषय करनेवाले प्रमाणोंके असत्में प्रवृत्त होनेका विरोध है।

प. मु /१/१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं।१। =अपना और अपूर्व पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है।

प. मु./४/१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय.।=सामान्य और विशेष-स्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्यायस्वरूप पदार्थ, प्रमाणका विषय होता है।१।

दे० नय./I/३ (सकलादेशी, अनेकान्तरूप व सर्व नयात्मक है।)

६. प्रमाणका फल

सि. वि./मू./१/३/१२ प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धिः स्वार्थविनिश्चयः। –स्व व पर दोनों प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धिमें जो अन्य इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा किये बिना स्वयं होता है वह ज्ञान ही प्रमाण है।

न. च. वृ /१६१ कज्ज सयलसमत्थं जीवो साहेइ वत्थुगहणेण। वत्थू पमाणसिद्धं तह्मा तं जाण णियमेण।१६१। –वस्तुके ग्रहणसे ही जीव कार्यकी सिद्धि करता है, और वह वस्तु प्रमाण सिद्ध है। इसलिए प्रमाण ही सकल समर्थ है ऐसा तुम नियमसे जानो।

प. मु./१/२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं···।२।

प. मु./५/१ अज्ञाननिवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलं।१। –प्रमाण ही हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेमें समर्थ है।२। अज्ञान-की निवृत्ति, त्यागना, ग्रहण करना और उपेक्षा करना यह प्रमाणके फल हैं।१। (और भी–दे० /४/१)।

७. प्रमाणका कारण

पं. ध./पू./६७७ हेतुस्तत्त्वबुभुत्सो संदिग्धस्याथवा च बालस्य। सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवद्वेत्तुकामस्य।६७७। –हाथमें रखे हुए आँवलेको भाँति अनेक रूप द्रव्यको युगपत् जाननेकी इच्छा रखनेवाले सन्दिग्धको अथवा अज्ञानीको तत्त्वोंकी जिज्ञासा होना प्रमाणका कारण है।६७७।

८. प्रमाणाभासके विषय आदि

प. मु./६/५५-७२ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्याभासं।५५। लौकायतिकस्य प्रत्यक्षत. परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात्।५६। सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्।५७। अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वं।।५८। तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वं।५९। अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्। प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।६०। विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रं।६१। तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च।६२। समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्।६३। परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात्।६४। स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत्।६५। फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।६६। अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।६७। व्यावृत्त्यापि, न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात्।६८। प्रमाणान्तराद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य।६९। तस्माद्वास्तवो भेदः।७०। भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।७१। समवायेऽतिप्रसंगः।७२। =**१. संख्याभास**–प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। इस प्रकार एक या दो आदि प्रमाण मानना संख्याभास है।५५। चार्वाक लोग एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, परन्तु उसके द्वारा न तो वे परलोक आदिका निषेध कर सकते हैं और न ही पर बुद्धि आदिका, क्योंकि, वे प्रत्यक्षके विषय ही नहीं है।५६। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य लोग प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम व उपमान ये चार प्रमाण मानते हैं। प्रभाकर लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते हैं, और जैमिनी लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति व अभाव ये छह प्रमाण मानते हैं। इनका इस प्रकार दो आदिका मानना संख्याभास है।५७। चार्वाक लोग परलोक आदिके निषेधके लिए स्वमान्य एक प्रमाणके अतिरिक्त अनुमानका आश्रय लेते हैं।५८। इसी प्रकार बौद्ध लोग व्याप्तिकी सिद्धिके लिए स्वमान्य दो प्रमाणोंके अतिरिक्त एक तर्कको भी स्वीकार कर लेते हैं।५९। यदि संख्या भंगके भयसे वे उस तर्कको प्रमाण न कहे तो व्याप्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। दूसरे प्रत्यक्षादिसे विलक्षण जो तर्क उसका प्रतिभास जुदा ही प्रकारका होनेके कारण वह अवश्य उन दोनोंसे पृथक् है।६०। **२. विषयाभास**–प्रमाणका विषय सामान्य ही है या विशेष ही है, या दोनों ही स्वतन्त्र रहते प्रमाणके विषय हैं, ऐसा कहना विषयाभास है।६१। क्योंकि, न तो पदार्थमें वे धर्म इस प्रकार प्रतिभासित होते हैं, और न इस प्रकार माननेसे पदार्थमें अर्थक्रियाकी सिद्धि हो सकती है।६२। यदि कहोगे कि वे सामान्य व विशेष पदार्थमें अर्थक्रिया करानेको स्वयं समर्थ हैं तो उसमें सदा एक ही प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिए।६३। यदि कहोगे कि निमित्तों आदिकी अपेक्षा करके वे अर्थक्रिया करते हैं, तो उन धर्मोंको परिणामी मानना पड़ेगा, क्योंकि परिणामी हुए बिना अन्यका आश्रय सम्भव नहीं है।६४। यदि कहोगे कि असमर्थ रहते ही स्वयं कार्य कर देते हैं तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि असमर्थ धर्म कोई भी कार्य नहीं कर सकता।६५। **३. फलाभास**–प्रमाणसे फल भिन्न ही होता है या अभिन्न ही होता है, ऐसा मानना फलाभास है।६६। क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें तो 'यह प्रमाण है और यह उसका फल' ऐसा व्यवहार ही सम्भव नहीं है।६७। यदि व्यावृत्ति द्वारा अर्थात् अन्य अफलसे जुदा प्रकारका मानकर फलकी कल्पना करोगे तो अन्य फलसे व्यावृत्त होनेके कारण उसीमें अफलकी कल्पना भी क्यों न हो जायेगी।६८। जिस प्रकार कि बौद्ध लोग अन्य प्रमाणकी व्यावृत्तिके द्वारा अप्रमाणपना मानते हैं। इसलिए प्रमाण व फलमें वास्तविक भेद मानना चाहिए।६९-७०। सर्वथा भेद पक्षमें 'यह इस प्रमाणका फल है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।७१। यदि समवाय द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध बैठानेका प्रयत्न करोगे तो अतिप्रसंग होगा, क्योंकि, एक, नित्य व व्यापक समवाय नामक पदार्थ भला एक ही आत्मामें प्रमाण व फलका समवाय क्यों करने लगा। एकदम सभी आत्माके साथ उनका सम्बन्ध क्यों न जोड़ देगा।७२।

३. प्रमाणका प्रामाण्य

१. प्रामाण्यका लक्षण

न्या.दी./१/§१०/११/७ पर प्रत्यक्ष निर्णयसे उद्धृत--इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्। =प्रमाण वही है जो प्रमिति क्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण (नियमसे कार्यका उत्पादक) हो।

न्या. दी./१/§१८/१४/११ किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम। प्रतिभात-विषयाव्यभिचारित्वम्। =प्रश्न—प्रमाणका यह प्रामाण्य क्या है, जिससे 'प्रमाण' प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं। उत्तर—जाने हुए विषयमें व्यभिचार (अन्यथापन)का न होना प्रामाण्य है। इसके होनेसे ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होनेसे अप्रमाण कहा जाता है।

२. स्वतः व परतः दोनोंसे होता है

श्लो. वा. ३/१/१०/१२६-१२७/११६ तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव नः। अनभ्यासे तु परत इत्याहुः। =अतः अभ्यासदशामें ज्ञान स्वरूपका निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपनका भी निर्णय कर लिया जाता है। परन्तु अनभ्यासदशामें तो दूसरे कारणोंसे (परतः) ही प्रमाणपना जाना जाता है। (प्रमाण परीक्षा), (प. मु./१/१३); (न्या. दी./१/§२०/१६)।

दे० ज्ञान/I/३ (प्रमाण स्व-पर प्रकाशक है।)

३. वास्तवमें आत्मा ही प्रामाण्य है ज्ञान नहीं

ध. ६/४,१,४५/१४२/२ ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते। न, जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्युपगमात्। न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावतः। अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थक्रिया-भावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधानप्रत्ययादीनामभावप्रसंगाच्च। —प्रश्न—ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि 'जानातीति ज्ञानम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो जीवादि पदार्थोंको जानता है वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है, उसीको प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्ययस्वरूप किन्तु स्थितिसे रहित ज्ञान पर्यायके प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप लक्षणत्रयका अभाव होनेके कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रियाका अभाव है, तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्यायको प्रमाणता स्वीकार करनेपर स्मृति प्रत्यभिज्ञान व अनु-सन्धान प्रत्ययोंके अभावका प्रसंग आता है।

४. प्रमाण, प्रमेय, प्रमाताके भेदाभेद सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञानको प्रमाण कहनेसे प्रमाणका फल किसे मानोगे

स. सि /१/१०/६७/१ यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः।...नैष दोषः; अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्। —प्रश्न—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो फलका अभाव हो जायेगा। (क्योंकि उसका कोई दूसरा फल प्राप्त नहीं होता।) उत्तर—....यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि पदार्थके ज्ञान होनेपर प्रीति देखी जाती है। वही प्रमाणका फल कहा जाता है। अथवा उपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है। (रा. वा./१/१०/६-७/५०/४); (प. मु./१/२)।

२. ज्ञानको ही प्रमाण माननेसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण हो जायेंगे

क. पा. १/१,१/§२९/४२/२ णाणस्स पमाणत्ते भण्णमाणे संसयाणज्झव-सायविवज्जयणाणाणं पि पमाणत्तं पसज्जदे; ण; 'प' सद्देण तेसिं पमाणत्तस्स ओसारित्तादो। —प्रश्न—ज्ञान प्रमाण है ऐसा कथन करने पर संशय, अनध्यवसाय, और विपर्यय ज्ञानोंको भी प्रमाणता प्राप्त होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रमाणमें आये हुए 'प्र' शब्दके द्वारा संशयादिक प्रमाणता निषेध कर दिया है।

दे० प्रमाण/२/२ सूत्रमें सम्यक् शब्द चला आ रहा है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हो सकते हैं, मिथ्याज्ञान नहीं। (न्या. दी./१/§८/६)।

३. सन्निकर्ष व इन्द्रियको प्रमाण माननेमें दोष

स. सि. १/१०/पृ०/पं. अथ संनिकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः। यदि संनिकर्षः प्रमाणम् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामग्रहणप्रसङ्गः। न हि ते इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते। अतः सर्वज्ञत्वाभावः स्यात्। इन्द्रिय-मपि यदि प्रमाणं स एव दोषः; अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात्। सर्वेन्द्रियसंनिकर्षाभावश्च; ।६६/७। संनिकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति तदयुक्तम्। यदि संनिकर्षः प्रमाणं अर्थाधिगमफलं, तस्य द्विष्ठत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्ठेन भवितव्यमिति अर्थादीनाम-प्यधिगमः प्राप्नोतीति। —प्रश्न—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमें क्या दोष है। उत्तर—१. यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके ग्रहण न करनेका प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि इनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता है। २. यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि, चक्षु आदिका विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं। ३. दूसरे सब इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं बनता, क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं हैं। इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मान सकते। प्रश्न—(ज्ञानको प्रमाण माननेपर फलका अभाव है) पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर उससे भिन्न ज्ञान रूप फल बन जाता है। उत्तर—यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं, तो सन्निकर्ष दोमें रहने वाला होनेसे उसके फल रूप ज्ञानको भी दो में रहने वाला होना चाहिए इसलिए घट, पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है। (रा. वा./१/१०/१६-२२/५१/५); (पं. ध./पू./७२८-७३३)।

४. प्रमाण व प्रमेयको सर्वथा भिन्न माननेमें दोष

स. सि/१/१०/९८/१ यदि जीवादिरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधिगमे च अन्यत्प्रमाणं परिकल्पयितव्यम्। तथा सत्यनवस्था। नानवस्था प्रदीपवत्। यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्यु-पगन्तव्यम्। प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमा-भावात् स्मृत्यभावः। तदभावाद् व्यवहारलोपः स्यात्। —प्रश्न—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानमें अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। उत्तर—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण मानने पर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूपको प्रकाश करनेमें भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पड़ता है। उसी प्रकार प्रमाण भी है, यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो

स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है, और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहारका लोप हो जाता है। (रा. वा./१/१०/१०/५०/१६)।

५. ज्ञान व आत्माको भिन्न माननेमें दोष

स. सि./१/१०/६७/५ आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत्। न; ज्ञस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात्। ज्ञस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मनः स्वमतविरोधः स्यात्। —प्रश्न—आत्मा चेतन है, अतः उसीमें ज्ञानका समवाय है। उत्तर—नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव नहीं माननेपर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते हैं। यदि आत्माको 'ज्ञ' स्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है।

रा.वा./१/१०/६/५०/१५ स्यादेतत्—ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्वं भवतीति; तन्न; किं कारणम्। अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभावः। कथम्। अन्धप्रदीपसंयोगवत्। यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसंयोगेऽपि न द्रष्टृत्वं तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम्। —प्रश्न—ज्ञानके योगसे आत्माके ज्ञातृत्व होता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अतत् स्वभाव होनेपर ज्ञातृत्वका अभाव है। जैसे—अन्धेको दीपकका संयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यतः वह स्वयं दृष्टि शून्य है, उसी तरह ज्ञ स्वभाव रहित आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध होने पर भी भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा।

६. प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको लक्षण माननेमें दोष

पं. ध./पू./५३४-५३५ स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम्। अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ।७३४। योगिज्ञानेऽपि तथा न स्यात्तल्लक्षणं प्रमाकरणम्। परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्संनिकर्षश्च। —यदि प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको उसका लक्षण माना जाये तो निश्चय करके अव्याप्ति नामक दोष आयेगा, क्योंकि प्रमाणभूत ईश्वरके सदैव रहने पर भी उसमें 'प्रमाकरणं प्रमाणं' यह प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है ।७३४। तथा योगियोंके ज्ञानमें भी प्रमाका करणरूप प्रमाणका लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि नियमसे परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थोंमें इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं होता है ।७३५।

७. प्रमाण और प्रमेयमें कथंचित् भेदाभेद

रा. वा./१/१०/१०-१३/५०/१६ प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्; न; अनवस्थानात् ।१०। प्रकाशवदिति चेत्; न; प्रतिज्ञाहानेः ।११। अनन्यत्वमेवेति चेत्; न; उभयाभावप्रसङ्गात्। यदि ज्ञातुरनन्यत्प्रमाणं प्रमाणाच्च प्रमेयम्; अन्यतराभावे तदविनाभाविनोऽवशिष्टस्याप्यभाव इत्युभयाभावप्रसङ्गः। कथं तर्हि सिद्धिः ।१२। अनेकान्तात् सिद्धिः ।१३। स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि। संज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धेः स्यादनन्यत्वमित्यादि। ततः सिद्धमेतत्-प्रमेयं नियमात् प्रमेयम्, प्रमाणं तु स्यात्प्रमेयम् इति। —प्रश्न—जैसे दीपक जुदा है और घड़ा जुदा है, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नहीं हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं है। दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। उत्तर—१. जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोंसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमें यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता न हो तो अनवस्थादूषण होगा। २ यदि अनवस्थादूषण निवारणके लिए ज्ञानको दीपककी तरह स्व-परप्रकाशी माना जाता है, तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है। ३. यदि प्रमाता प्रमाण और प्रमेयसे अनन्य माना जाता है, तो एकका अभाव होने पर, दूसरेका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि दोनों अविनाभावी हैं, इस प्रकार दोनोंके अभावका प्रसंग आता है। प्रश्न—तो फिर इनकी सिद्धि कैसे हो। उत्तर—वस्तुतः संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिकी भिन्नता होनेसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयमें भिन्नता है तथा पृथक्-पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमेय प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

८. प्रमाण व उसके फलमें कथंचित् भेदाभेद

प.मु./५/२-३ प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।२। यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।३। —फल प्रमाणसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है। क्योंकि जो प्रमाण करता है—जानता है उसीका अज्ञान दूर होता है और वही किसी पदार्थका त्याग वा ग्रहण अथवा उपेक्षा करता है इसलिए तो प्रमाण और फलका अभेद है किन्तु प्रमाण फलकी भिन्न-भिन्न भी प्रतीति होती है इसलिए भेद भी है ।२-३।

५. गणनादि प्रमाण निर्देश

१. प्रमाणके भेद

१. गणना प्रमाणकी अपेक्षा
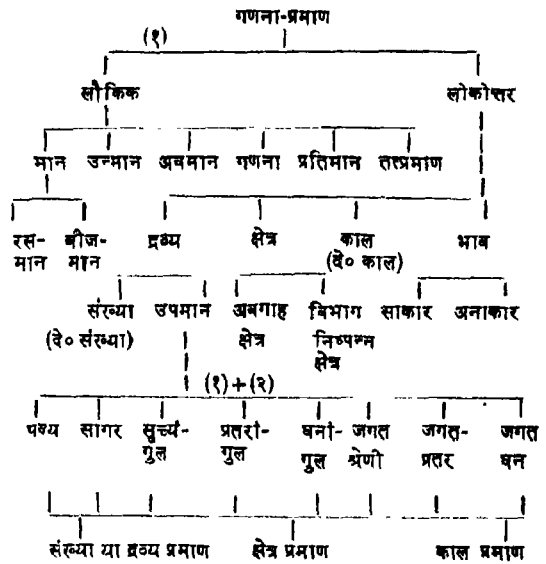
संदर्भ नं. १—(रा. वा./३/३८/२-५/२०५-२०६/१६) (गो. जी./भाषा/पृ. २६०)। संदर्भ नं. २:—(मू. आ./११२६) (ति. प./१/६३-६४) (ध. ३/१,२,१७/गा. ६५/१३२) (ध. ४/१,३,२/गा. ५/१०) (गो. जी./भाषा./३१२/७)।

२. निक्षेप रूप प्रमाणोंकी अपेक्षा

ध. १/१,१,१/८०/२ पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-भाव-णयप्पमाणभेदेहि।...भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-ववहारुज्जुसुद-सद्द-समभिरूढ-एवंभूदभेदेहि। —द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नयके भेदसे प्रमाणके पाँच भेद हैं।... मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पाँच प्रकार है। (क.पा./१/१,१/§२७/३७/१:§२९/४२/१); (ध. ९/४,१,२/१२/४) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ

और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकार का है। दे० निक्षेप/१ नाम स्थापनादिकी अपेक्षा भेद।

२. लौकिक प्रमाणके भेदोंके लक्षण

रा.वा./३/३८/३/२०५/२३ तत्र मानं द्वेधा रसमानं बीजमानं चेति। घृतादिद्रव्यपरिच्छेदकं षोडशिकादि रसमानम्। कुडवादि बीजमानम्। कुडवतगरादिभाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम्। निवर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि। एकद्वित्रिचतुरादिगणितमानं गणनामानम्। पूर्वमानापेक्षं मानं प्रतिमानं प्रतिमल्लवत्। चत्वारि महिधिकातृणफलानि श्वेतसर्षप एकः,… इत्यादि मागधकप्रमाणम्। मणिजात्यजात्यश्वादेर्द्रव्यस्य दीप्त्युच्छ्रायगुणविशेषादिमूल्यपरिमाणकरणे प्रमाणमस्येति तत्प्रमाणम्। तद्यथा—मणिरत्नस्य दीप्तिर्यावत्क्षेत्रमुपरि व्याप्नोति तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यमिति। अश्वस्य च यावानुच्छ्रायस्तावत्प्रमाणं सुवर्णकूटं मूल्यम्। —१. मानके दो भेद हैं—रसमान व बीजमान। घी आदि तरल पदार्थोंको मापनेकी छटाँकी आदि रसमान हैं। और धान्य मापनेके कुडव आदि बीजमान हैं। २. तगर आदि द्रव्योंको ऊपर उठाकर जिनसे तोला जाता है वे तराजू आदि उन्मान हैं। ३. खेत मापनेके डंडा आदि अवमान हैं। ४. एक दो तीन आदि गणना है। ५. पूर्वकी अपेक्षा आगेके मानोंकी व्यवस्था प्रतिमान है जैसे—चार मेंहदीके फलोंका एक सरसों…इत्यादि मगध देशका प्रमाण है। ६. मणि आदिकी दीप्ति, अश्वादिकी ऊँचाई गुण आदिके द्वारा मूल्य निर्धारण करनेके लिए तत्प्रमाणका प्रयोग होता है जैसे—मणिकी प्रभा ऊपर जहाँ तक जाये उतनी ऊँचाई तक सुवर्णका ढेर उसका मूल्य होगा। घोड़ा जितना ऊँचा हो उतनी ऊँची सुवर्ण मुद्राएँ घोड़ेका मूल्य है। आदि। नोट—लोकोत्तर प्रमाणके भेदोंके लक्षण दे० अगला शीर्षक।

३. निक्षेप रूप प्रमाणोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादि प्रमाणोंके लक्षण—दे० निक्षेप।

रा. वा./३/३८/४/२०६/१० द्रव्यप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टम् एकपरमाणुद्वित्रिचतुरादिप्रदेशात्मकम् आमहास्कन्धात्। क्षेत्रप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकाकाशद्वित्रिचतुरादिप्रदेशनिष्पन्नमासर्वलोकात्। कालप्रमाणं जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेकद्वित्रिचतुरादिसमयनिष्पन्नम् आ अनन्तकालात्। भावप्रमाणमुपयोगः साकारानाकारभेदः जघन्यः सूक्ष्मनिगोतस्य, मध्यमोऽन्यजीवानाम्, उत्कृष्टः केवलिनः। —द्रव्य प्रमाण एक परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त, क्षेत्र प्रमाण एक प्रदेशसे लेकर सर्व लोक पर्यन्त, और काल प्रमाण एक समयसे लेकर अनन्त काल पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन तीन प्रकारका है। भाव प्रमाण अर्थात् ज्ञान दर्शन उपयोग। वह जघन्य सूक्ष्म निगोदके, उत्कृष्ट केवलीके, और मध्यम अन्य जीवोंके होता है।

ध. ९/४,१,४५/१४०/२ तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जमसंखेज्जमणंतयं चेदि। खेत्तपमाणं एय-पदेसादि। कालपमाणं समयावलियादि। —संख्यात, असंख्यात और अनन्त यह द्रव्य प्रमाण है। एकप्रदेश आदि क्षेत्र प्रमाण है। एक समय एक आवली आदि काल प्रमाण हैं। (क.पा./१/१,१/§२७/४१/१)।

क.पा./१/१,१/§२७/३८-३९/६ पल-तुला-कुडवादीणि दव्व-पमाणं, दव्वंतरपरिच्छित्तिकारणत्तादो। दव्वपमाणेहि मविदजव-गोहुम… आदिसण्णाओ उवयारणिबंधणाओ त्ति ण तेसिं पमाणत्तं किंतु पमेयत्तमेव। अंगुलादि-ओगाहणाओ खेत्तपमाणं, 'प्रमीयन्ते अवगाह्यन्ते अनेन शेषद्रव्याणि' इति अस्य प्रमाणत्वसिद्धेः। —पल, तुला और कुडव आदि द्रव्यप्रमाण हैं। क्योंकि, ये सोना, चाँदी, गेहूँ आदि दूसरे पदार्थोंके परिमाणके ज्ञान करानेमें कारण पड़ते हैं। किन्तु द्रव्यप्रमाण रूप पल, तुला आदि द्वारा मापे गये जो गेहूँ… आदिमें जो कुडव और तुला आदि संज्ञाएँ व्यवहृत होती हैं, वे उपचार निमित्तक हैं, इसलिए उन्हें प्रमाणता नहीं है, किन्तु वे प्रमेय रूप ही हैं। अंगुल आदि रूप अवगाहनाएँ क्षेत्रप्रमाण हैं, क्योंकि, जिसके द्वारा शेष द्रव्य प्रमित (अवगाहित) किये जाते हैं, उसे प्रमाण कहते हैं, प्रमाणकी इस व्युत्पत्तिके अनुसार अंगुल आदि रूप क्षेत्रको भी प्रमाणता सिद्ध है।

प्रमाणनयतत्त्वालंकार—आ० माणिक्यनन्दि (ई०१००३-१०२८) द्वारा रचित परीक्षामुख ग्रन्थकी श्वेताम्बराचार्य वादिदेव सूरि (ई० १११७-११६९) द्वारा रचित टीका। न्यायविषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका दूसरा नाम स्याद्वादरत्नाकर भी है।

प्रमाण निर्माण नामकर्म—दे० नामकर्म।

प्रमाण पद—दे० पद।

प्रमाण परीक्षा—आ० विद्यानन्दि सं० १ (ई० ७७५-८४०) कृत संस्कृत छन्दबद्ध न्यायविषयक ग्रन्थ। (ती./३/३५५)

प्रमाण मीमांसा—१. आ० विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ है। २. श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई० १०८८-११७३) द्वारा रचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

प्रमाण योजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/३।

प्रमाण राशि—गणितमें विवक्षित प्रमाण कर जो फल या उत्तर प्राप्त होवे।—विशेष दे० गणित/II/५/२।

प्रमाण विस्तार—आ० धर्मभूषण (ई० श० १४) द्वारा संस्कृत भाषामें रचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

प्रमाण संग्रह—आ० अकलंक भट्ट (ई० ६२०-६८०) रचित न्याय विषयक यह ग्रन्थ बहुत जटिल है। संस्कृत गद्य व पद्य निबद्ध है, तथा इनकी अन्तिम कृति है। इसपर आ० अनन्तवीर्य (ई० ९७५-१०२५) कृत प्रमाण संग्रहालंकार नामकी एक संस्कृत टीका उपलब्ध है। इसमें ६ प्रस्ताव तथा कुल ८७½ कारिकाएँ हैं। स्वयं अकलंकदेवने इन कारिकाओंपर एक विवृत्ति लिखी है। दोनोंका मिलकर कुल गद्य व पद्य प्रमाण ८०० श्लोक प्रमाण है।

प्रमाण सप्तभंगी—दे० सप्तभंगी/२।

प्रमाणांगुल—क्षेत्र प्रमाणका एक भेद—दे० गणित/I/१/३,६।

प्रमाता—

न्या. सू./वृ.१/पं. १० तत्र यस्येप्सा जिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता। —जो वस्तुको पाने या छोड़नेकी इच्छा करता है उसे प्रमाता कहते हैं।

★ **प्रमाता व प्रमाणमें कथंचित् भेदाभेद**—दे० प्रमाण/४।

प्रमाद—१. कषायके अर्थमें

स. सि./७/१३/३५१/२ प्रमादः सकषायत्वं। —प्रमाद कषाय सहित अवस्थाको कहते हैं।

ध. ७/२,१,७/११/११ चदुसंजलण-णवणोकसायाणं तिव्वोदओ। —चार संज्वलन कषाय और नव नोकषाय, इन तेरहके तीव्र उदयका नाम प्रमाद है।

२. अनुत्साहके अर्थमें

स. सि./८/१/३७४/८ स च प्रमादः कुशलेष्वनादरः। —अच्छे कार्योंके करनेमें आदर भावका न होना यह प्रमाद है। (रा. वा./८/१/३०/५६४/३०)।

म. पु./६२/३०५ कायवाक्चेतसां वृत्तिर्व्रतानां मलकारिणी। या सा षड्गुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये।३०५। —छठवें गुणस्थानमें व्रतोंमें संशय उत्पन्न करनेवाली जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं, यह बन्धका कारण है।

स. सा./आ./३०७/क. १९० कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यत.। —कषायके भारके भारी होनेको आलस्यका होना कहा है, उसे प्रमाद कहते हैं।

त. सा./५/१० शुद्धष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे। योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः।१०। —आठ शुद्धि और दश धर्मोंमें जो उत्साह न रखना उसे सर्वज्ञदेवने प्रमाद कहा है।

प्र. सं./टी./३०/८८/४ अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः, बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः। —अन्तरंगमें प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभवसे डिगाने रूप, और बाह्य विषयमें मूलगुणों तथा उत्तरगुणोंमें मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है।

२. अप्रमादका लक्षण

ध. १४/५,६,६३/८६/११ पंच महव्वयाणि पंच समदीयो तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम। — पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायोंके अभावका नाम अप्रमाद है।

३. प्रमादके भेद

पं. सं./प्रा./१/१५ विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणओ य। चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा।१५। — चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा, और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते हैं।१५। (ध. १/१,१,१४/गा. ११४/१७८) (गो. जी./मू./३४/६४) (पं. सं./सं./१/३३)।

रा. वा./८/१/३०/५६४/२६ प्रमादोऽनेकविधः।३०। भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयम - उत्तम - क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्यादिविषय - यानुत्साहभेदादनेकविधं प्रमादोऽवसेयः। —भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मोंमें अनुत्साह या अनादर भावके भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है। (स. सि./८/१/३७६/३)।

भ. आ./वि./६१२/८१२/४ प्रमादः पञ्चविधः। विकथाः, कषायाः, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति। अथवा प्रमादो नाम संक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता। —प्रमादके पाँच प्रकार हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह; अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्यकरण और समितिमें उपयोग न देना ऐसे भी प्रमादके पाँच प्रकार हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रमादके ३७५०० भेद तथा इनकी अक्षसंचार विधि। —दे० गणित/II/३।
२. प्रमाद कर्मबन्ध प्रत्ययके रूपमें। —दे० बन्ध/१।
३. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव। —दे० प्रत्यय/१।
४. प्रमाद व अविरति प्रत्ययमें अन्तर। —दे० प्रत्यय/१।
५. साधुको प्रमाद वश लगनेवाले दोषोंकी सीमा —दे० संयत/३।

प्रमाद अतिचार—दे० अतिचार/१।

प्रमाद चरित—दे० अनर्थदण्ड।

प्रमार्जन—दे० प्रमार्जित।

प्रमार्जित—स. सि./७/३४/३७०/६ मृदूपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जितम्। —कोमल उपकरणसे जो (जीवोंको बचानेका) प्रयोजन साधा जाता है। वह प्रमार्जित (या प्रमार्जन) कहलाता है। (रा. वा./७/३४/२/५५७/२४) (चा. सा./२२/५)।

प्रमिति—न्या. सू./वृ. १/११ यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। —जाँचने-पर जो ज्ञात हो उसे प्रमिति कहते हैं।

प्रमृषा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रमेय—न्या. मं./१०/११०/२६ द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्, इति तु समीचीनं लक्षणं सर्वसंग्राहकत्वात्। —द्रव्य पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है यही प्रमेयका लक्षण सर्व संग्राहक होनेसे समीचीन है।

न्या. सू./वृ. १/११ योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयं। —जो वस्तु जाँची जावे उसे प्रमेय कहते हैं।

प्रमेयकमलमार्तण्ड— आ० माणिक्यनन्दि (ई० ६२५-१०२३) कृत परीक्षामुखपर आ० प्रभाचन्द्र (ई० ९५०-१०२०) द्वारा रचित विस्तृत टीका। यह न्याय विषयक ग्रन्थ है। (जै./१/३८८)।

प्रमेयत्व गुण—आ. प./६ प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्। प्रमाणेन स्वपरस्वरूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्। —प्रमेयके भावको प्रमेयत्व कहते हैं। प्रमाणके द्वारा जो जानने योग्य स्व पर स्वरूप वह प्रमेय है।

प्रमेयरत्न कोश—आ० चन्द्रप्रभ सूरि (ई० ११०२) द्वारा विरचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

प्रमेय रत्नाकर—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित न्याय विषयक संस्कृत भाषा बद्ध ग्रन्थ।

प्रमोद—स. सि./७/११/३४९/७ वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। —मुखकी प्रसन्नता आदिके द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है। (रा. वा./७/११/२/५३८/१६)।

भ. आ./वि./१६९६/१५१६/१५ मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका। —यतियोंके, गुणोंका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावनाका लक्षण है। यतियोंमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमान रहितपना, निर्दोषता और निर्लोभपना ये गुण रहते हैं। (ज्ञा०/२७/११-१२)

प्रयोग—ध. १४/४, २, ८१/२८६/६ पओएण जोगपच्चओ परूविदो। —मन, वचन एवं काय रूप योगोंका प्रयोग शब्दसे ग्रहण किया गया है।

प्रयोग कर्म—दे० कर्म/१।

प्रयोग क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

प्रयोग बन्ध—दे० बंध/१।

प्रयोजन—न्या. सू./मू./टी./१/१/२४/३० यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्।२४। यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाध्यवसाय तदाप्ति हानोपायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्। — जिस अर्थको पाने या छोड़ने योग्य निश्चय करके उसके पाने या छोड़नेका उपाय करता है, उसे प्रयोजन कहते हैं।

प्रयोज्यता—प्रयोजनके वश।

प्ररूपणा—

ध. १/१,१,८/१६१/६ प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्। —प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये एकार्थवाची नाम हैं।

ध. २/१,१/४११/८ परूवणा णाम किं उत्तं होदि। ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु ...पज्जत्तापज्जत्तविसेसणेहि विसेसिऊण जा जीव-परिक्खा सा परूवणा णाम। —प्रश्न—प्ररूपणा किसे कहते हैं? उत्तर—सामान्य और विशेषकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें...(२० प्ररूपणाओं में) पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंसे विशेषित करके जो जीवोंकी परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।

२. बीस प्ररूपणाओंके नाम निर्देश

पं. सं./प्रा./१/२ गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।२। —गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग, इस प्रकार क्रमसे ये बीस प्ररूपणा कही गयी हैं।२। (गो. जी./मू./१/३१), (पं. सं./सं./१/११) विशेष दे० अनुयोग/२।

★ **प्ररूपणाओंका मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव**

प्रलंब—१. एक ग्रह—दे० ग्रह।

२. भ. आ./वि./११२३/११३०/१६ प्रलम्बं द्विविधं मूलप्रलम्बं, अग्रप्रलम्बं च। कंदमूलफलाख्यं, भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलप्रलम्बं, अङ्कुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलम्बानि। —प्रलम्बके मूल प्रलम्ब और अग्र प्रलम्ब ऐसे दो भेद हैं। कन्द मूल और अंकुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुए हैं उनको मूल प्रलम्ब कहते हैं। अंकुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनको अग्रप्रलम्ब कहते हैं।

प्रलय—१. जैन मान्य प्रलयका स्वरूप

ति. प./४/१५४४-१५५४ उणवण्णदिवसविरहिदइगिवीससहस्सवस्स-विच्छेदे। जंतुभयंकरकालो पलयो त्ति पयट्टदे घोरो।१५४४। ताहे गरुवगभीरो पसरदि पवणो रउद्दसंवट्टो। तरुगिरिसिलपहुदीणं कुणेदि चुण्णाइं सत्तदिणे।१५४५। तरुगिरिभंगेहिं णरा तिरिया य लहंति गुरुवदुक्खाइं। इच्छंति वसणठाणं विलवंति बहुप्पयारेण।१५४६। गंगासिंधुणदीणं वेयड्ढवणंतरम्मि पविसंति। पुह पुह संखेज्जाइं बाहत्तरि सयलजुवलाइं।१५४७। देवा विज्जाहरया कारुण्णपरा णराण तिरियाणं। संखेज्जजीवरासिं खिवंति तेसुं पएसेसुं।१५४८। ताहे गभीरगज्जी मेघ मुंचंति तुहिणखारजलं। विससलिलं पत्तेक्कं पत्तेक्कं सत्तदिवसाणि।१५४९। धूमा धूली बज्जं जलंतजाला य दुप्पेच्छा।. वरिसंति जलदणिवहा एक्केक्कं सत्त दिवसाणि।१५५०। एवं कमेण भरहे अज्जाखंडम्मि जोयणं एक्कं। चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वड्ढिगदा भूमी।१५५१। बज्जमहग्गि-बलेण अज्जाखंडस्स वड्ढिया भूमी। पुव्विल्लखधरूवं मुत्तूण जादि लोयंतं।१५५२। ताहे अज्जाखंडं दप्पणतलतुलिदकंतिसमवट्टं। गयधूलिपंककलुसं होइ समं सेसभूमीहिं।१५५३। तत्थुवत्थिदणराणं हत्थं उदओ य सोलसं वस्सा। अहवा पण्णरसाऊ विरियादी तदणु-रूवा य।१५५४। —अवसर्पिणी कालमें दुखमदुखमा कालके उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षोंके बीत जानेपर जन्तुओंको भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है।१५४४। उस समय पर्वत व शिलादिको चूर्ण कर देनेवाली सात दिन संवर्तक वायु चलती है।१५४५। वृक्ष और पर्वतोंके भंग होनेसे मनुष्य एवं तिर्यंच वस्त्र और स्थानकी अभिलाषा करते हुए बहुत प्रकारसे विलाप करते हैं।१५४६। इस समय पृथक्-पृथक् संख्यात व सम्पूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिन्धु नदियोंकी वेदी और विजयार्धवनमें प्रवेश करते हैं।१५४७। इस समय देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचों मेंसे संख्यात जीव राशि-को उन प्रदेशोंमें ले जाकर रखते हैं।१५४८। उस समय गम्भीर गर्जनासे सहित मेघ तुहिन और क्षार जल तथा विष जलमेंसे प्रत्येक सात दिन तक बरसाते हैं।१५४९। इसके अतिरिक्त वे मेघोंके समूह धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला, इनमेंसे हर एकको सात दिन तक बरसाते हैं।१५५०। इस क्रमसे भरत क्षेत्रके भीतर आर्यखण्डमें चित्रा पृथ्वीके ऊपर स्थित वृद्धिंगत एक योजनकी भूमि जलकर नष्ट हो जाती है।१५५१। वज्र और महाग्निके बलसे आर्य-खण्डकी बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूपको छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।१५५२। उस समय आर्य खण्ड शेष भूमियोंके समान दर्पण तलके सदृश कान्तिसे स्थित और धूलि एवं कीचड़की कलुषतासे रहित हो जाता है।१५५३। वहाँपर उपस्थित मनुष्योंकी ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह अथवा पन्द्रह वर्ष प्रमाण और वीर्यादिक भी तदनुसार ही होते हैं।१५५४। (म. पु./७६/४४७-४५६), (त्रि. सा./८६४-८६७)।

★ **प्रलयके पश्चात् युगका प्रारम्भ**—दे० काल/४।

★ **अन्य मत मान्य प्रलयका स्वरूप**—दे० वैशेषिक व सांख्य दर्शन।

प्रलाप—दे० वचन।

प्रवंक—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रवचन—१. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० पिशाच। २. श्रुतज्ञानका अपरनाम—दे० श्रुतज्ञान I/२।

प्रवचन—

ध. १/१,१,१/२०/७ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। —आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं।

ध. ८/३,४१/९०/१ सिद्धंतो बारहंगाणि पवयणं, प्रकृष्टं प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनमिति व्युत्पत्तेः।...पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइं, तत्थ भवा देस-महव्वइणो असंजदसम्माइट्ठिणो च पवयणा। —सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, क्योंकि, 'प्रकृष्ट वचन प्रवचन, या प्रकृष्ट (सर्वज्ञ) के वचन प्रवचन हैं' ऐसी व्युत्पत्ति है।...सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, तो इसमें होनेवाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहे जाते हैं। (चा. सा./५६/४)।

ध. १३/५,५,५०/२८३/६ प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादयः पदार्था: अनेनेति प्रवचनं वर्णपङ्क्त्यात्मकं द्वादशाङ्गम्। अथवा, प्रमाणाविरोधेन उच्यतेऽर्थोऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गं भावश्रुतम्। —प्रकर्षसे अर्थात् कुतीर्थ्योंके द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूपसे जीवादि पदार्थोंका निरूपण करता है, इसलिए वर्ण-पंक्त्यात्मक द्वादशांगको प्रवचन कहते हैं। (भ.आ. वि./३२/१२१/२२) अथवा कारणभूत इस ज्ञानके द्वारा प्रमाण आदिके अविरोध रूपसे जीवादि अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशांग भावश्रुतको प्रवचन कहते हैं।

भ. आ./वि./४६/१५४/२२ रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते। तथा चोक्तम्—णाणदंसणचरित्तमेगं पवयणमिति। —प्रवचनका अर्थ यहाँ रत्नत्रय है 'रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं', आगमके ऐसे वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है। (भ. आ./वि./११८५/११७१/१४)।

गो. जी./जी. प्र./१८/४२/१७ प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ प्रवचनः आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनं-परमागमः, प्रकृष्टमुच्यते—प्रमाणेन अभिधी-यते इति प्रवचनपदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचनशब्देन तत्त्रयस्याभि-धानात्। —प्रकृष्ट हैं वचन जिसके ऐसे आप्त प्रवचन कहलाते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् उस आप्तके वचन रूप परमागमको प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् प्रमाणके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है ऐसे पदार्थ प्रवचन हैं। इस प्रकार निरुक्तिके द्वारा प्रवचनके आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन अर्थ होते हैं।

२. अष्ट प्रवचन माताका लक्षण

मू. आ./२९७ प्रणिधाणजोगजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु। स चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो ।२९७। –आठ प्रवचन मातासे आठ भेद चारित्रके होते हैं—परिणामके संयोगसे पाँच समिति तीन गुप्तियोंमें न्याय रूप प्रवृत्ति वह आठ भेद वाला चारित्राचार है ऐसा जानना ।२९७।

भ. आ./वि./११८५/११७१/१४ एवं पञ्च समितयः तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः। –तीन गुप्ति और पाँच समितियोंको प्रवचन माता कहते हैं।

३. इन्हें माता कहनेका कारण

भ. आ./मू./१२०५ एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं। रक्खंति सदा मुणिओ मादा पुत्तं व पयदाओ ।१२०५। –ये अष्ट प्रवचन माता मुनिके ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी सदा ऐसे रक्षा करती हैं जैसे कि पुत्रका हित करनेमें सावधान माता अपायोंसे उसको बचाती है ।१२०५। (मू. आ./३३६) (भ.आ./वि./११८५/११७१/५)

★ मोक्षमार्गमें अष्ट प्रवचन माताका ज्ञान ही पर्याप्त है

दे० ध्याता/१; श्रुतकेवली /२।

प्रवचन प्रभावना—दे० प्रभावना।

प्रवचन भक्ति—दे० भक्ति/२।

प्रवचन वात्सल्य—दे० वात्सल्य।

प्रवचन संनिकर्ष—ध. १३/५.५.५०/२८४/४ उच्यन्ते इति वचनानि जीवाद्यर्थाः, प्रकर्षेण वचनानि संनिकृष्यन्तेऽस्मिन्निति प्रवचनसंनिकर्षो द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानम्। कः संनिकर्षः। एकस्मिन् वस्तुन्येकस्मिन् धर्मे निरुद्धे शेषधर्माणां तत्र सत्त्वासत्त्वविचारः सत्स्वप्येकस्मिन्नुत्कर्षमुपगते शेषाणामुत्कर्षानुत्कर्षविचारश्च संनिकर्षः। अथवा प्रकर्षेण वचनानि जीवाद्यर्थाः संन्यस्यन्ते प्ररूप्यन्ते अनेकान्तात्मतया अनेनेति प्रवचनसंन्यासः। –'जो कहे जाते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वचन शब्दका अर्थ जीवादि पदार्थ है। प्रकर्ष रूपसे जिसमें वचन सन्निकृष्ट होते हैं, वह प्रवचन सन्निकर्ष रूपसे प्रसिद्ध द्वादशांग श्रुतज्ञान है। प्रश्न—सन्निकर्ष क्या है? उत्तर—१. एक वस्तुमें एक धर्मके विवक्षित होनेपर उसमें शेष धर्मोंके सत्त्वासत्त्वका विचार तथा उसमें रहनेवाले उक्त धर्मोंमेंसे किसी एक-धर्मके उत्कर्षको प्राप्त होनेपर शेष धर्मोंके उत्कर्षानुत्कर्षका विचार करना सन्निकर्ष कहलाता है। २. अथवा, प्रकर्षरूपसे वचन अर्थात् जीवादि पदार्थ अनेकान्तात्मक रूपसे जिसके द्वारा संन्यस्त अर्थात् प्ररूपित किये जाते हैं, वह प्रवचन संन्यास अर्थात् उक्त द्वादशांग श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञानका अपरनाम है—दे० श्रुतज्ञान/I/२।

प्रवचनसार—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत २७५ प्राकृत गाथा प्रमाण, ज्ञान ज्ञेय व चारित्र विषयक प्राकृत ग्रन्थ (ती./२/१११)। इस पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं– १. अमृत चन्द्र (ई० ९०५-९५५) कृत 'तत्त्व प्रदीपिका' (संस्कृत)। (जै./२/१७३)। २. प्रभाचन्द्र (ई० ९५०-१०२०) कृत 'प्रवचन सरोज भास्कर' (संस्कृत)। (जै /२/१९५)। ३. मल्लिषेण (ई० ११२८) कृत संस्कृत टीका। ४. आ. जयसेन (ई.श. ११-१२अथवा १२-१३) कृत 'तात्पर्य वृत्ति' (संस्कृत)। (जै./२/२९२)। ५. पं. हेमचन्द (ई० १६५२) कृत भाषा टीका।

प्रवचनसारोद्धार — श्वेताम्बराम्नायमें श्री नेमिचन्द्रसूरि (ई. श. ११) द्वारा विरचित लोकके स्वरूपका प्ररूपक गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें २७६ द्वार तथा १५९९ गाथाएँ हैं। (जै./२/९८-९३)।

प्रवचनाद्धा—ध. १३/५.५.५०/२८४/२ अद्धा कालः, प्रकृष्टानां शोभनानां वचनानामद्धा कालः यस्यां श्रुतौ सा पवयणद्धा श्रुतज्ञानम्। –अद्धा कालको कहते हैं, प्रकृष्ट अर्थात् शोभन वचनोंका काल जिस श्रुतिमें होता है, वह प्रवचनाद्धा अर्थात् श्रुतज्ञान है।

प्रवचनार्थ—ध. १३/५.५.५०/२८१/१२ द्वादशाङ्गवर्णकलापो वचनम् अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति अर्थो नव पदार्थाः वचनं च अर्थश्च वचनार्थौ, प्रकृष्टौ निरवद्यौ वचनार्थौ यस्मिन्नागमे स प्रवचनार्थः।... अथवा, प्रकृष्टवचनैरर्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति वचनार्थो द्वादशाङ्गभावश्रुतम्। सकलसंयोगाक्षरैर्विशिष्टवचनरचनारचितैर्बह्वर्थैर्विशिष्टोपादानकारणैर्विशिष्टाचार्यसहायैः द्वादशाङ्गमुत्पाद्यत इति यावत्। –१. द्वादशांग रूप वर्णोंका समुदाय वचन है, जो 'अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह अर्थ है। यहाँ अर्थ पदसे नौ पदार्थ लिये गये हैं। वचन और अर्थ ये दोनों मिलकर वचनार्थ कहलाते हैं। जिस आगममें वचन और अर्थ ये दोनों प्रकृष्ट अर्थात् निर्दोष हैं उस आगमकी प्रवचनार्थ संज्ञा है। २.... अथवा, प्रकृष्ट वचनोंके द्वारा जो 'अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह प्रवचनार्थ अर्थात् द्वादशांग भावश्रुत है। जो विशिष्ट रचनासे आरचित हैं, बहुत अर्थवाले हैं, विशिष्ट उपादान कारणोंसे सहित हैं, और जिनको हृदयंगम करनेमें विशिष्ट आचार्योंकी सहायता लगती है, ऐसे सकल सयोगी अक्षरोंसे द्वादशांग उत्पन्न किया जाता है। यह कथनका तात्पर्य है।

प्रवचनी—ध. १३/५.५.५०/२८३/९ प्रकृष्टानि वचनान्यस्मिन् सन्तीति प्रवचनी भावागमः। अथवा प्रोच्यते इति प्रवचनोऽर्थः, सोऽत्रास्तीति प्रवचनी द्वादशाङ्गग्रन्थः वर्णोपादानकारणः। –१. जिसमें प्रकृष्ट वचन होते हैं वह प्रवचनी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार भावागमका नाम प्रवचनी है। २. अथवा जो कहा जाता है वह प्रवचन है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन अर्थको कहते हैं। वह इसमें है इसलिए वर्णोपादानकारणक द्वादशांग ग्रन्थका नाम प्रवचनी है।

प्रवचनीय—ध. १३/५.५.५०/२८१/3 प्रबन्धेन वचनीयं व्याख्येयं प्रतिपादनीयमिति प्रवचनीयम्। –प्रबन्ध पूर्वक जो वचनीय अर्थात् व्याख्येय या प्रतिपादनीय होता है, वह प्रवचनीय कहलाता है।

प्रवरवाद—ध १३/५.५.५०/२८७/८ स्वर्गापवर्गमार्गत्वाद्रत्नत्रयं प्रवरः। स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवादः। –स्वर्ग और अपवर्गका मार्ग होनेसे रत्नत्रयका नाम प्रवर है उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिए इस आगमका नाम प्रवरवाद है।

प्रवर्तक साधु—भ.आ./मूलाराधना/६२९/८३१/४ प्रवर्ती अल्पश्रुतः सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तकः। –जो ज्ञानसे अल्प हैं, परन्तु सर्व संघकी मर्यादा योग्य रहेगी, ऐसे आचरणका जिसको ज्ञान है उसको प्रवर्तक साधु कहते हैं।

प्रवाद—स्या.मं./३०/३३४/१४ प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादाः। –जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादित किया जाय, उसे प्रवाद कहते हैं।

प्रवाल—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१०।

प्रवाल चारणऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

प्रवाह क्रम—दे० क्रम/२।

प्रवाहण जैवलि—पांचाल देश (कुरुक्षेत्र) का कुरुवंशी राजा था। जनमेजयका पोता था तथा शतानीकका पुत्र था। समय—ई.पू.

१४०० (१३८० ?) (भारतीय इतिहास/पु.१/पृ.१८६) विशेष दे० इतिहास/३/२।

प्रविचार—स. सि./४/७-९/२४१-२४२/३ प्रविचारो मैथुनोपसेवनम् ।७।२४१। प्रविचारो हि वेदनाप्रतिकारः ।९।२४२। —मैथुनके उपसेवनको प्रविचार कहते हैं ।७।२४१। प्रविचार वेदनाका प्रतिकार मात्र है। (रा. वा./४/७/१/२१४/१६), (रा. वा./४/९/२/२१५/३२), (ध. १/१,१,९८/३३८-३३९/६,४)।

प्रविष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

प्रवृत्ति—

न्या. सू./उत्थानिका/१/१/१/१/५ तस्य (ज्ञातुः) ईप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते। —(प्रमाणसे किसी वस्तुको जानकर) ज्ञाताके पाने या छोड़नेकी इच्छा सहित चेष्टाका नाम प्रवृत्ति है।

१. प्रवृत्तिके भेद व उनके लक्षण

न्या. सू./टी./१/१/२/८/६ त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। —शास्त्रकी प्रवृत्ति तीन प्रकारकी है—जैसे उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा, इनमेंसे पदार्थोंके नाममात्र कथनको उद्देश्य कहते हैं। उद्दिष्ट पदार्थके अयथार्थ बोधके निवारण करनेवाले धर्मको लक्षण कहते हैं। उद्दिष्ट पदार्थके जो लक्षण किये गये हैं, वे ठीक हैं या नहीं, इसको प्रमाण द्वारा निश्चय कर धारण करनेको परीक्षा कहते हैं।

★ **प्रवृत्तिमें निवृत्ति अंश**—दे० संवर/२।

★ **प्रवृत्ति व निवृत्तिसे अतीत भूमिका ही व्रत है** —दे० व्रत/३।

प्रवेणी—भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रव्रज्या—वैराग्यकी उत्तम भूमिकाको प्राप्त होकर मुमुक्षु व्यक्ति अपने सब सगे सम्बन्धियोंसे क्षमा माँगकर, गुरुकी शरणमें जा, सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग कर देता है और ज्ञाता द्रष्टा रहता हुआ साम्य जीवन बितानेकी प्रतिज्ञा करता है। इसे ही प्रव्रज्या या जिन दीक्षा कहते हैं। पंचम कालमें भी उत्तम कुलका व्यक्ति प्रव्रज्या ग्रहण करनेके योग्य है।

१. प्रव्रज्या निर्देश

१. प्रव्रज्याका लक्षण

बो. पा./मू./गाथा नं. गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकसाया। पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ।४५। सत्तू मित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धिसमा। तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।४७। जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता। परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।५१। ...सरीरसंक्कारवज्जिया रूक्खा ।५२। —गृह और परिग्रह तथा उनके ममत्वसे जो रहित है, बाईस परीषह तथा कषायोंको जिसने जीता है, पापारम्भसे जो रहित है, ऐसी प्रव्रज्या जिनदेवने कही है ।४५। जिसमें शत्रु-मित्रमें, प्रशंसा-निन्दामें, लाभ व अलाभमें तथा तृण व कांचनमें समभाव है, ऐसी प्रव्रज्या कही है ।४७। यथाजात रूपधर, लम्बायमान भुजा, निरायुध, शान्त, दूसरोंके द्वारा बनायी हुई वस्तिकामें वास ।५१। शरीरके संस्कारसे रहित, तथा तैलादिके मर्दनसे रहित रूक्ष शरीर सहित ऐसी प्रव्रज्या कही गयी है ।५२।—(विशेष दे० बो. पा/मू. व. टी./४५-५६)।

२. जिन दीक्षा योग्य पुरुषका स्वरूप

म. पु./३९/१५८ विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः। दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ।१५८। —जिसका कुल गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है, ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ।१५८।

यो. सा. अ./८/५१ शान्तस्तपःक्षमोऽकुत्सो वर्णेष्वेकतमस्त्रिषु। कल्याणाङ्गो नरो योग्यो लिङ्गस्य ग्रहणे मतः ।५१। —जो मनुष्य शान्त होगा, तपके लिए समर्थ होगा, निर्दोष ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमेंसे किसी एक वर्णका और सुन्दर शरीरके अवयवोंका धारक होगा वही निर्ग्रन्थ लिंगके ग्रहण करनेमें योग्य है अन्य नहीं। (अन. ध./९/८८), (दे० वर्णव्यवस्था/१/४)।

प्र. सा./ता. वृ./२२५ प्रक्षेपक गा० १०/३०५ वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा। सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो। —ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन वर्णोंमेंसे किसी एक

वर्णका, नीरोग, तपमें समर्थ, अति बालत्व व वृद्धत्वसे रहित योग्य आयुका, सुन्दर, दुराचारादि लोकोपवादसे रहित, पुरुष ही जिन लिंगको ग्रहण करनेके योग्य होता है ।१०।

३. म्लेच्छ व सत्शूद्र भी कदाचित् दीक्षाके योग्य है

ल. सा./जी. प्र./१९५/२४१/११ म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशङ्कितव्यं दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसंबन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्। —प्रश्न—म्लेच्छ भूमिज मनुष्यके सकलसंयमका ग्रहण कैसे सम्भव है। उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। जो मनुष्य दिग्विजयके कालमें चक्रवर्तीके साथ आर्य खण्डमें आते हैं, और चक्रवर्ती आदिके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाता है, उनके संयम ग्रहणके प्रति विरोधका अभाव है। अथवा जो म्लेच्छ कन्याएँ चक्रवर्ती आदिसे विवाही गयी हैं, उन कन्याओंके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे माताके पक्षसे म्लेच्छ हैं, उनके दीक्षा ग्रहण सम्भव है।

दे० वर्णव्यवस्था/४/२ (सत्शूद्र भी क्षुल्लकदीक्षाके योग्य हैं)।

४. दीक्षाके अयोग्य पुरुषका स्वरूप

भ. आ./वि./७७/२०७/१० यदि प्रशस्तं शोभनं लिङ्गं मेहनं भवति। चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्वं, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोषरहितं यदि भवेत्। पुंसत्वलिङ्गता इह गृहीतेति बीजयोरपि लिङ्गशब्देन ग्रहणं। अतिलम्बमानतादिदोषरहितता। —यदि पुरुष लिंगमें दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग धारण कर सकता है। गृहस्थके पुरुष लिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, बारम्बार चेतना होकर ऊपर उठना, ऐसे दोष यदि हों तो वह दीक्षा लेनेके लायक नहीं है। उसी तरह यदि उसके अण्ड भी यदि अतिशय लम्बे हों, बड़े हों तो भी गृहस्थ नग्नताके लिए अयोग्य है। (और भी दे० अचेलकत्व/४)।

यो. सा. अ./८/५२ कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादयः। नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता।५२। —मनुष्यके निन्दित कुल, जाति, वय, शरीर, कर्म, बुद्धि, और क्रोध आदिक व्यंग-हीनता हैं—निर्ग्रन्थ लिंगके धारण करनेमें बाधक हैं, और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करनेमें कारण हैं।

बो. पा./टी./४९/११४/१ कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति। —कुरूप, हीन वा अधिक अंग वालेके, कुष्ठ आदि रोगों वालोंके दीक्षा नहीं होती है।

५. पंचम कालमें भी दीक्षा सम्भव है

म. पु./४१/७५ तरुणस्य वृषस्योच्चैः नदतो विहृतीक्षणात्। तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे।७५। —समवशरणमें भरत चक्रवर्तीके स्वप्नोंका फल बताते हुए भगवान्ने कहा कि—ऊँचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं।७५।

नि. सा./ता. वृ./१४३/क. २४१ कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यलं, मिथ्यात्वादिकलङ्कपङ्करहितः सद्धर्मरक्षामणिः। सोऽयं संप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते, मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकरः पापाटवीपावकः।२४१। —कलिकालमें भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल कीचड़से रहित और सद्धर्म रक्षा मणि ऐसा समर्थ मुनि होता है। जिसने अनेक परिग्रहके विस्तारको छोड़ा है, और जो पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि है, ऐसा यह मुनि इस काल भूतलमें तथा देव लोकमें देवोंसे भी भली भाँति पुजता है।

६. दीक्षाके अयोग्य काल

म. पु./३९/१५९-१६० ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः। वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे।१५९। नष्टाधिमासदिनयोः संक्रान्तौ हानिमत्तिथौ। दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः।१६०। —जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघ पटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षय तिथिका दिन हो, उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योंके लिए दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं।१५९-१६०।

७. प्रव्रज्या धारणका कारण

ज्ञा./४/१०,१२ शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः। अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः।१०। निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने। अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मनां, नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति।१२। —गृहस्थगण घरमें रहते हुए अपने चपलमनको वश करनेमें असमर्थ होते हैं, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोंने घरमें रहना छोड़ दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए हैं।१०। निरन्तर पीड़ा रूपी आर्त ध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा काम क्रोधादिकी कुवासना रूपी अन्धकारसे विलुप्त हो गयी है नेत्रोंकी दृष्टि जिसमें, ऐसे गृहोंमें अनेक चिन्ता रूपी ज्वरसे विकार रूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नहीं होता।१२। (विशेष दे० ज्ञा./४/८-१७)।

२. प्रव्रज्या विधि

१. तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है

मो. मा. प्र./६/२६४/२ मुनि पद लेनेका क्रम तौ यह है—पहलै तत्त्वज्ञान होय, पीछे उदासीन परिणाम होय, परिषहादि सहनेकी शक्ति होय तब वह स्वयमेव मुनि बना चाहै।

२. बन्धुवर्गसे विदा लेनेका विधि निषेध

१. विधि

प्र. सा./मू./२०२ आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं। आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं।२०२। —(श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्गसे विदा माँगकर बड़ोंसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके···।२०२। (म. पु./१७/१९३)।

म. पु./३८/१५१ सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्। तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत्।१५१। —गृहत्याग नामकी क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्का पूजनकर समस्त इष्ट जनोंको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षी पूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए।१५१।

२. निषेध

प्र. सा./ता. वृ./२०२/२७२/१० तत्र नियमो नास्ति। कथमिति चेत्।··· तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति। यदि पुनः कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरणं करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादि ममत्वं करोति तदा तपोधन एव

न भवति। —बन्धुवर्गसे बिदा लेनेका कोई नियम नहीं है। क्योंकि ...यदि उसके परिवारमें कोई मिथ्यादृष्टि होता है, तो वह धर्मपर उपसर्ग करता है। अथवा यदि कोई ऐसा मानता है कि पहले बन्धुवर्गको राजी करके पश्चात् तपश्चरण करूँ' तो उसके प्रचुर रूपसे तपश्चरण हो नहीं होता है। और यदि जैसे कैसे तपश्चरण ग्रहण करके भी कुलका ममत्व करता है, तो तब वह तपोधन ही नहीं होता है।

प्र. सा./पं. हेमराज/२०२/२७३/३१ यहाँपर ऐसा मत समझना कि विरक्त होवे तो कुटुम्बको राजी करके ही होवे। कुटुम्ब यदि किसी तरह राजी न होवे तब कुटुम्बके भरोसे रहनेसे विरक्त कभी होय नहीं सकता। इस कारण कुटुम्बसे पूछनेका नियम नहीं है।

३. सिद्धोंको नमस्कार

म. पु./१७/२०० ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः। केशानलुञ्चदाबद्धपल्यङ्कः पञ्चमुष्टिकम्।२००। तदनन्तर भगवान् (वृषभदेव) पूर्व दिशाकी ओर मुँहकर पद्मासनसे विराजमान हुए और सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर उन्होंने पंच मुष्टियोंमें केश लोंच किया। २००। और भी दे० कल्याणक/२।

स्या. मं./३१/३३६/१२ न च हीनगुणत्वमसिद्धम्। प्रव्रज्यावसरे सिद्धेभ्यस्तेषां नमस्कारकरणश्रवणात्। —अर्हन्त भगवान्में सिद्धोंकी अपेक्षा कम गुण हैं, अर्हन्त दीक्षाके समय सिद्धोंको नमस्कार करते हैं।

प्रव्रज्याकाल—दे० काल/१।

प्रव्रज्या क्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रव्रज्यागुरु—दे० गुरु/३।

प्रशंसा प्रशम—

स. सि./६/२४/३३६/१२ गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा। —गुणोंको प्रगट करनेका भाव प्रशंसा है। (स. सि./७/२३/३६४/१२) (रा. वा./६/२४/२/५३०/३०) (रा. वा./७/२३/१/५५२/१२)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रशंसा व स्तुतिमें अन्तर	दे० अन्यदृष्टि।
२. अन्य दृष्टि प्रशंसा	दे० ,,।
३. स्व प्रशंसाका निषेध	दे० निंदा।

प्रशम—पं. ध./उ./४२६-४३० प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च। लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः।४२६। सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्। तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः।४२७। हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम्। अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः।४२८। सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः। अन्यत्र प्रशममन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात्।४३०। —पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें और लोकके असंख्यातवें भाग प्रमाण तीव्र भाव क्रोधादिकोंमें स्वरूपसे शिथिल मनका होना ही प्रशम भाव कहलाता है।४२६। अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जोवोंपर कभी भी उनके वधादि रूप विकारके लिए बुद्धिका नहीं होना प्रशम माना गया है।४२७। उस प्रशम भावकी उत्पत्तिमें निश्चयसे अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदयाभाव और प्रत्याख्यानादि कषायोंका मन्द उदय कारण है।४२८। (द. पा./पं. जयचन्द/२) सम्यक्त्वका अविनाभावी प्रशम भाव सम्यग्दृष्टिका परम गुण है। प्रशम भावका झूठा अहंकार करनेवाले मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्वका सद्भाव न होनेसे प्रशमाभास होता है।

प्रशस्त—स. सि./६/२८/४४६/१ कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात्प्रशस्तम्। —जो (ध्यान) कर्मोंको निर्दहन करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है, वह प्रशस्त है। (रा. वा./६/२८/४/६२७/३४)

प्रशस्त उपशम—दे० उपशम/१।

प्रशस्तपाद—वैशेषिकसूत्रके भाष्यकार—समय ई० श ५-६ (स. म./परि-ग/पृ. ४१८/१२)।

प्रशांति क्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रश्न—१. स. भं. त./४/६ प्राश्निकनिष्ठजिज्ञासाप्रतिपादकं वाक्यं हि प्रश्न इत्युच्यते। —प्रश्नकर्ताके पदार्थको जाननेकी जो इच्छा है, उस इच्छाके प्रतिपादक जो वाक्य हैं, उनको ही प्रश्न कहते हैं। २. Problem (ध. ५/प्र./२८)।

प्रश्न कुशल साधु—भ. आ./वि./४०३/५९२/१० प्रश्नकुशलतोच्यते चैत्यसंयतार्यिकाः श्रावकांश्च, बालमध्यमवृद्धांश्च पृष्ट्वा कृतगवेषणो याति इति प्रश्नकुशलः। —चैत्य, मुनि, आर्यिका, श्रावक, बाल मध्यम और वृद्धोंको पूछकर निर्यापकाचार्य गवेषण करता है, यह प्रश्न कुशल साधु कहलाता है।

प्रश्न व्याकरण—द्वादशांग श्रुतज्ञानका दसवाँ अंग—दे० श्रुतज्ञान/III।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—आ. सकलकीर्ति (ई० १४०६-१४४२) द्वारा विरचित संस्कृत ग्रन्थ है। इसमें २४ सर्ग और ४६२८ पद्य हैं। जिनमें २५४१ प्रश्नोंका उत्तर देकर श्रावकोंके आचारका विशद वर्णन किया गया है। (ती./३/३३३)।

प्रसंग—न्या. सू./टी./१/२/१८/५३/२२ स च प्रसंगः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति। उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनहेतुरित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। —वादी द्वारा व्यतिरेक दृष्टांत रूप उदाहरणके विधर्मपन करके ज्ञापक हेतुका कथन कर चुकनेपर प्रतिवादी द्वारा साधर्म्य करके, अथवा वादी द्वारा अन्वय दृष्टांत रूप उदाहरणके समान धर्मपन करके ज्ञापक हेतुका कथन करनेपर पुनः प्रतिवादी द्वारा विधर्मपन करके प्रत्यवस्थान (उलाहना) देना प्रसंग है। (श्लो.वा. ४/न्या./३१०/४५७/१ में इस पर चर्चा)।

★ अति प्रसंग दोष—दे० अतिप्रसंग।

प्रसंगसमा जाति—न्या. सू./मू. व. टी./५/१/९/२९१ दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ।९। साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः। क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति। —वादीने जिस प्रकार साध्यका भी साधन कहा है, वैसे ही साधनका भी साधन करना या दृष्टान्तकी भी वादीको सिद्धि करनी चाहिए इस प्रकार प्रतिवादी द्वारा कहा जाना प्रसंगसमा जाति है। जैसे–क्रियाके हेतुभूत गुणोंका सम्बन्ध रखने वाला ढेल क्रियावान् किस हेतुसे माना जाता है। दृष्टान्तकी भी साध्यसे विशिष्टपने करके प्रतिपत्ति करनेमें वादीको हेतु कहना चाहिए। उस हेतुके बिना तो प्रमेयकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। (श्लो. वा. ४/न्या./३६६-३६१/४८७ में इसपर चर्चा)।

प्रसज्याभाव—दे० अभाव।

प्रसेनजित—१. यह तेरहवें कुलकर हुए हैं। (म.पु./३/१४९)—विशेष दे० शलाका पुरुष/५। २. यादववंशी कृष्णका १६वाँ पुत्र—दे० इतिहास/१०।

प्रस्तार—ध. १४/५,६,६४१/४९५/७ सग्गलोअसेडिबद्धपइण्णया विमाणपत्थडाणि णाम।...तत्थ (णिरय) तण-पइण्णया णिरयपत्थडाणि णाम।—स्वर्गलोकके श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमान प्रस्तर कहलाते हैं...और वहाँके (नरकके) प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते हैं। विशेष दे० नरक/५/१; स्वर्ग/५/१-३।

प्रस्तार—अक्ष संचार गणितमें अंकोंका स्थापन करना प्रस्तार है।—विशेष दे० गणित/II/३/१।

प्रस्ताव—न्या.वि./टी./१/१६५/५३१/३ प्रस्तूयते प्रमाण-फलत्वेनाधिक्रियते इति प्रस्तावः।—प्रस्तूयते अर्थात् प्रमाणके फल रूपसे जिसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा हेयोपादेय तत्त्वका निर्णय प्रस्ताव है।

प्रस्थ—१. रा.वा./१/३३/७/९७/११ प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थः।—जिसमें धान्य आदि मापे जा रहे हैं उसको प्रस्थ कहते हैं। २. तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/२।

प्रस्थापक—ध. ६/१,९-८,१२/२४७/७ कदकरणिज्जपढमसमयप्पहुडि उवरि णिट्ठवगो उच्चदि।—कृतकृत्य वेदक होनेके प्रथम समयसे लेकर ऊपरके समयमें दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाला जीव निष्ठापक कहलाता है।

गो.क./जी.प्र./५५०/७४४/१० दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भप्रथमसमयस्थापितसम्यक्त्वप्रकृतिप्रथमस्थित्यान्तर्मुहूर्तावशेषे चरमसमयप्रस्थापकः अनन्तरसमयादाप्रथमस्थितिचरमनिषेकं निष्ठापकः। —दर्शनमोह क्षपणाके प्रारंभ समयमें स्थापी गयी सम्यक्त्व प्रकृतिकी प्रथम स्थितिका अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहनेपर, उसके अन्त समय पर्यन्त तो प्रस्थापक कहलाता है। और उसके अनन्तर समयसे प्रथम स्थितिके अन्त निषेक पर्यन्त निष्ठापक कहलाता है।

प्रहरण—दे० मलौंग।

प्रहरा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रहसित—१. हनुमान्के पिता पवनञ्जयका मित्र (प.पु./१६/१२७) २. मातङ्ग वंशका एक राजा—दे० इतिहास/७/६।

प्रहार संक्रामिणी—एक मन्त्र विद्या—दे० विद्या।

प्रह्लाद—१. राजा पद्मका मन्त्री—विशेष दे० बलि। २. आदित्यपुरका राजा। हनुमान्का बाबा था। (प.पु./१५/७-८)।

प्राक्—पूर्व दिशा।

प्राकाम्य ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

प्राकार—ध. १४/५,६,४२/४०/७ जिणहरादीणं रक्खट्ठं पासेसु ट्ठविदओलित्तीओ पागारा णाम। पक्किट्टाहि घडिदवरंडा वा पागारा णाम।—जिनगृह आदिकी रक्षाके लिए पार्श्वमें जो भीतें बनायी जाती हैं वे प्राकार कहलाती हैं, अथवा पकी हुई ईंटोंसे जो वरण्डा बनाये जाते हैं वे प्राकार कहलाते हैं।

प्राकृत संख्या—Natural Number (ज.प./प्र.१०७)।

प्रागभाव—दे० अभाव।

प्राच्य—१. पूर्व दिशा, २. प्राची दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा।

प्राण—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

प्राण—जीवमें जीवितव्यके लक्षणोंको प्राण कहते हैं, वह दो प्रकार है—निश्चय और व्यवहार। जीवकी चेतनत्व शक्ति उसका निश्चय प्राण है और पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छ्वास ये दस व्यवहार प्राण हैं। इनमें-से एकेन्द्रियादि जीवोंके यथा योग्य ४,६,७ आदि प्राण पाये जाते हैं।

१. प्राण निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्राणका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

पं.सं./प्रा./१/४५ बाहिरपाणेहि जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं। जीवंति जेहिं जीवा पाणा ते होंति बोहव्वा ।४५।—जिस प्रकार बाह्य प्राणके द्वारा जीव जीते हैं उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, वे प्राण कहलाते हैं ।४५। (ध./१,१,३४/गा.१४१/२५६) (गो.जी./मू./१२९/३४१) (पं.सं./सं./१/४५)।

ध./२/१,१/४१२/२ प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणाः।—जिनके द्वारा जीव जीता है उन्हें प्राण कहते हैं।

गो.जी./जी.प्र./२/२१/६ जीवन्ति-प्राणन्ति जीवितव्यवहारयोग्या भवन्ति जीवा यैस्ते प्राणाः।—जिनके द्वारा यह जीव जीवितव्य रूप व्यवहारके योग्य है, उनको प्राण कहते हैं।

२. निश्चय अथवा भाव प्राण

प्र.सा./त.प्र./१४५ अस्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके...वस्तुस्वरूपतया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे...।—इस जीवको, सहजरूपसे प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है...वस्तुका स्वरूप होनेसे सदा अविनाशी निश्चय जीवत्व होनेपर भी...।

पं.का./त.प्र./३० इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः। तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः। —प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास रूप हैं। उनमें (प्राणोंमें) चित्सामान्य रूप अन्वय वाले वे भाव प्राण हैं। (गो.जी./जी.प्र./१२९/३४१/११)

द्र.सं./टी./१/१ निश्चयसे आत्माके ज्ञानदर्शनोपयोग रूप चैतन्य प्राण है।

स्या.मं./२७/३०६/६ सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्ते।—पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रको भाव प्राण कहा है।

३. व्यवहार वा द्रव्य प्राण

पं.का./त.प्र./३० पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः।—पुद्गल सामान्य रूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण हैं।

गो.जी./जी.प्र./१२९/३४१/१० पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणाः।—पुद्गल द्रव्यसे निपजी जो द्रव्य इन्द्रियादिक उनके प्रवर्तन रूप द्रव्य प्राण हैं।

२. अतीत प्राणका लक्षण

ध. २/१,१,/४१९/१ दसण्हं पाणाणमभावो अदीदपाणो णाम।—दशों प्राणोंके अभावको अतीत प्राण कहते हैं।

३. दश प्राणोंके नाम निर्देश

मू.आ./११९१ पंचय इंदियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा। आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा ।११९१।—पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन काय बल रूप तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण इस तरह दस प्राण हैं। (पं.सं./प्रा./१/४६) (ध.२/१,१,/४१२/२) (गो.जी./मू./१३०/३४३) (प्र.सा./त.प्र./१४६) (का.अ./मू./१३९) (पं.सं./सं./१/१२४) (पं.ध./उ./५३६)।

४. इन्द्रिय व इन्द्रिय प्राणमें अन्तर

ध. २/१,१/४१२/३ नैतेषामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिष्वन्तर्भावः चक्षुरादिक्षयोपशमनिबन्धनानामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिजातिभिः साम्या-

भावात्। – इन पाँचों इन्द्रियों (इन्द्रिय प्राणों)का एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच जातियोंमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न हुई इन्द्रियोंकी एकेन्द्रिय जाति आदि जातियोंके साथ समानता नहीं पायी जाती है।

★ उच्छ्वास व प्राणमें अन्तर—दे० उच्छ्वास।

★ पर्याप्ति व प्राणमें अन्तर—दे० पर्याप्ति/२।

५. आनपान व मन, वचन कायको प्राणपना कैसे है

ध. १/१,१,३४/२५६/४ भवन्त्विन्द्रियायुष्काया; प्राणव्यपदेशभाज. तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात्। तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरणदर्शनाच्च। अपि तूच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तावस्थायां जीवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वविरोधात्। –प्रश्न–पाँचों इन्द्रियाँ, आयु और काय बल, ये प्राण संज्ञाको प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि वे जन्मसे लेकर मरण तक भव धारण रूपसे पाये जाते हैं। और उनमेंसे किसी एकके अभाव हो जानेपर मरण भी देखा जाता है। परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचन बल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है। उत्तर–नहीं, क्योंकि उच्छ्वास, मनोबल और वचन बलके बिना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं है।

६. प्राणोंके त्यागका उपाय

प्र. सा./मू./१५१ उत्थानिका—अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि। कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति।१५१। –अब पौद्गलिक प्राणोंकी सन्ततिकी निवृत्तिका अन्तरंग हेतु समझाते हैं—जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्रका ध्यान करता है, वह कर्मोंके द्वारा रंजित नहीं होता, उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते हैं। अर्थात् उसके प्राणोंका सम्बन्ध नहीं होता।

७. प्राणोंका स्वामित्व

१. स्थावर जीवोंकी अपेक्षा

स. सि./२/१३/१७२/१० कति पुनरेषां (स्थावराणां) प्राणाः। चत्वारः स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति। –स्थावरोंके चार प्राण होते हैं–स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास-निश्वास और आयु प्राण। (रा. वा./२/१३/१/१२८/१६) (ध. २/१,१/४१८/११). (का. अ./मू./१४०)।

२. त्रस जीवोंकी अपेक्षा

स. सि./२/१४/१७६/६ द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणाः, पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिकाः। त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव घ्राणप्राणाधिकाः। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षुः प्राणाधिकाः। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव त एव श्रोत्रप्राणाधिकाः। संज्ञिनो दश त एव मनोबलप्राणाधिकाः। –पूर्वोक्त (स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास, और आयु प्राण इन) चार प्राणोंमें रसना प्राण और वचन प्राण इन दो प्राणोंके मिला देनेपर दोइन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। इनमें घ्राणके मिला देनेपर तीन इन्द्रिय जीवके सात प्राण होते हैं। इनमें चक्षु प्राणके मिला देनेपर चौइन्द्रिय जीवके आठ प्राण होते हैं। इनमें श्रोत्र प्राणके मिला देनेपर तिर्यंच असंज्ञीके नौ प्राण होते हैं। इनमें मनोबलके मिला देनेपर संज्ञी जीवोंके दस प्राण होते हैं। (रा. वा./२/१४/४/१२६/१). (पं. सं./प्रा./१/४७-४१). (ध. २/१,१/४१८/१). (गो. जी./मू./१३३/१४६). (का. अ./मू./१४०)।

३. पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./१/५० पंचक्ख-दुए पाणा मण वचि उस्सास ऊणिया सव्वे। कण्णक्खिवर्गघरसणारहिया सेसेसु ते अपज्जेसु।५०। –अपर्याप्त पंचेन्द्रियद्विकमें मन-वचन-बल और श्वासोच्छ्वास इन तीनसे कम शेष सात प्राण होते हैं। अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय तथा एकेन्द्रियके क्रमसे कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय कम करनेपर छह, पाँच, चार और तीन प्राण होते हैं। (ध. २/१,१/४१८/१), (गो. जी./मू. व टी./१३१/३४६), (का. अ./मू./१४१), (पं. सं./सं /१/१२५)।

४. सयोग अयोग केवलीकी अपेक्षा

दे० केवली/५/१०-१३, १. सयोगकेवलीके चार प्राण होते हैं–वचन, श्वासोच्छ्वास, आयु, और काय। उपचारसे तो सात प्राण कहे जाते हैं। २. अयोगकेवलीके केवल एक आयु प्राण ही होता है। ३. समुद्घात अवस्थामें केवली भगवान्के ३, २ व १ प्राण होते हैं—श्वासोच्छ्वास, आयु और काय ये तीन; श्वासोच्छ्वास कम करनेपर दो, तथा काय बल कम करनेपर केवल एक आयु प्राण होता है।

८. अपर्याप्तावस्थामें भाव मन क्यों नहीं

ध. ८/१,१,३५/२५६/८ भावेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यद्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। पर्याप्तिनिरूपणात्तदस्तित्वं सिद्ध्येदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः। न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात्। ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वनिरूपणमिति सिद्धम्। –प्रश्न—जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भावेन्द्रियोंकी तरह भाव मनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिए जिस प्रकार अपर्याप्त कालमें भावेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसी प्रकार वहाँ पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा। उत्तर नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य वस्तुभूत मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार कर लेनेपर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायेगा। प्रश्न—पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायेगा। उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरण शक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्ति इस प्रकारका व्यवहार मान लेनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी मनःपर्याप्तिका निरूपण बन जाता है। २. बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्य मनका सद्भाव बन जायेगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्य मनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है। अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका ज्ञापक है, ऐसा समझना चाहिए।

★ गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि २० प्ररूपणाओंमें प्राणोंका स्वामित्व—दे० सत्।

★ प्राणोंका यथायोग्य मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव—दे० मार्गणा।

★ जीवको प्राणी कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३।

२. निश्चय व्यवहार प्राण समन्वय

१. प्राण प्ररूपणामें निश्चय प्राण अभिप्रेत है

ध. २/१,१/४०४/३ दव्वेंदियाणं णिप्पत्तिं पडुच्च के वि दस पाणे भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। भाविंदियाभावादो।...अध दव्विंदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा पिंडिदूण दो चेव पाणा भवंति, पंचण्हं दव्वेंदियाणमभावादो। –कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोंकी पूर्णताकी अपेक्षा (केवलीके) दस प्राण कहते हैं, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि सयोगी जिनके भावेन्द्रियाँ नहीं पायी जाती हैं।...यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका ही ग्रहण किया जावे तो संज्ञी जीवोंके अपर्याप्त कालमें सात प्राणोंके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योंकि उनके द्रव्येन्द्रियोंका अभाव है।

२. दस प्राण पुद्गलात्मक हैं जीवका स्वभाव नहीं

प्र. सा./त. प्र./१४७ तत्र जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्। –वह उसका (प्राण जीवका) स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्यसे रचित है।

प्र.सा./ता. वृ./१४५ व्यवहारेण...आयुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि संबद्धः सन् जीवति। तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूपं न भवति। –व्यवहार नयसे आयु आदि चार अशुद्ध प्राणोंसे सम्बद्ध होनेसे जीता है। वह शुद्ध नयसे जीवका स्वरूप नहीं है।

३. दस प्राणोंका जीवके साथ कथंचित् भेदाभेद

स. सा./ता. वृ./३३२-३४४/४२३/२४ कायादिप्राणैः सह कथंचिद् भेदाभेदः। कथं। इति चेत्, तप्तायःपिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः। निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः। –कायादि प्राणोंके साथ जीवका कथंचित भेद व अभेद है। वह ऐसे है कि तपे हुए लोहेके गोलेकी भाँति वर्तमान कालमें वे दोनो पृथक् नहीं किये जानेके कारण व्यवहार नयसे अभिन्न है। और निश्चय नयसे क्योंकि मरण कालमें कायादि प्राण जीवके साथ नहीं जाते इसलिए भिन्न है।

प. प्र./टी./२/१२७/२४४/१ परकीयप्राणहते सति दुःखोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेदः।...यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेदो एव तर्हि परकीयदेहघाते दुःखं न स्यान्न च तथा। निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव। –अपने प्राणोंका घात होनेपर दुःखकी उत्पत्ति होती है अतः व्यवहार नयकर प्राण और जीवको अभेद है।...यदि एकान्तसे प्राणोंको सर्वथा जुदे माने तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दुःख नहीं होता वैसे अपने देहका घात होनेपर दुःख नहीं होना चाहिए। इसलिए व्यवहार नयसे एकत्व है निश्चयसे नहीं, क्योंकि देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है। इसलिए भेद है।

४. निश्चय व्यवहार प्राणोंका समन्वय

प्र. सा./त. प्र./१४५ अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति। –अब इस जीवको सहज रूप (स्वाभाविक) प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है, और तीनों कालोंमें अवस्थायित्व जिसका लक्षण है, ऐसा वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी जीवत्व होनेपर भी, संसारावस्थामें अनादि प्रवाह रूपसे प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेषके द्वारा स्वयं दूषित होनेसे उसके चार प्राणोंसे संयुक्तता है, जो कि व्यवहार जीवत्वका हेतु है और विभक्त करने योग्य है।

स्या. मं./२७/३०६/६ संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाद् जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादि भावप्राणधारणाद् इति सिद्धम्। –संसारी जीव द्रव्य प्राणोंकी अपेक्षासे और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते हैं।

५. प्राणोंको जाननेका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./३०/६८/७ अत्र...शुद्धचैतन्यादिशुद्धप्राणसहितः शुद्धजीवास्तिकाय एवोपादेयरूपेण ध्यातव्य इति भावार्थः। –यहाँ...शुद्ध चैतन्यादि शुद्ध प्राणोंसे सहित शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय रूपसे ध्याना चाहिए, ऐसा भावार्थ है।

द्र. सं./टी./१२/३१/६ अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः। –अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्ति तथा प्राणोंसे भिन्न अपना शुद्धात्मा ही उपादेय है।

प्राणत—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३। २. कल्पवासी देवोंका स्वस्थान—दे० स्वर्ग/५/२। ३. कल्प स्वर्गोंका १४वाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५/२। ४. आनतप्राणत स्वर्गका द्वितीय पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

प्राणवाद—द्वादशांग श्रुतज्ञानका ११वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III।

प्राण संयम—दे० संयम।

प्राणातिपात—

ध. १२/४,२,८,२/२७५/११ पाणादिवादो णाम पाणेहिंतो पाणीणं विजोगो। सो जत्तो मण-वयण-कायवावारादीहिंतो ते वि पाणादिवादो।...पाणादिवादो णाम हिंसाविसयजीववावारो। –प्राणातिपातका अर्थ प्राणोंसे प्राणियोंका वियोग करना है। वह जिन मन, वचन या कायके व्यापारादिकोंसे होता है, वे भी प्राणातिपात ही कहे जाते हैं।...प्राणातिपातका अर्थ हिंसाविषयक जीवका व्यापार है।

प्राणातिपातिकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्राणापान—दे० उच्छ्वास।

प्राणायाम—श्वासको धीरे-धीरे अन्दर खेंचना कुम्भक है, उसे रोके रखना पूरक है, और फिर धीरे-धीरे उसे बाहर छोड़ना रेचक है। ये तीनों मिलकर प्राणायाम संज्ञाको प्राप्त होते हैं। जैनेतर लोग ध्यान व समाधिमें इसको प्रधान अंग मानते हैं, पर जैनाचार्य इसको इतनी महत्ता नहीं देते, क्योंकि चित्तकी एकाग्रता हो जानेपर श्वास निरोध स्वतः होता है।

१. प्राणायाम सामान्यका लक्षण

म. पु./२१/२२७ प्राणायामो भवेद् योगनिग्रहः शुभभावनः। – मन, वचन और काय इन तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है।

२. प्राणायामके तीन अंग

ज्ञा./२९/३ त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिभिः। पूरकः कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्।३। –पूर्वाचार्योंने इस पवनके स्तम्भन स्वरूप प्राणायामको लक्षण भेदसे तीन प्रकारका कहा है—पूरक, कुम्भक और रेचक।

३. प्राणायामका स्वरूप

ज्ञा./२९/६ पर उद्धृत—समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः। नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः।१। यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः। बहिःप्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः।२।

ज्ञा./२९/१०,१७ शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना। प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ।१०। अचिन्त्यमतिदुर्लक्ष्यं तन्मण्डलचतुष्टयम् । स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात्कथंचन ।१७। —जिस समय पवनको तालुरन्ध्रमे खेंचकर प्राणको धारण करै, शरीरमें पूर्णतया थामें सो पूरक है, और नाभिके मध्य स्थिर करके रोके सो कुम्भक है, तथा जो पवनको कोठेसे बड़े यत्नसे बाहर प्रक्षेपण करै सो रेचक है, इस प्रकार नासिका ब्रह्मके जाननेवाले ब्रह्म पुरुषोंने कहा है ।१-३। इस पवनका अभ्यास करनेवाला योगी निष्प्रमादी होकर बड़े यत्नसे अपने मनको वायुके साथ मन्द मन्द निरन्तर हृदय कमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर वहीं ही नियन्त्रण करै ।१०। यह मण्डलका चतुष्टय (पृथ्वी आदि) है, सो अचिन्त्य है, तथा दुर्लक्ष्य है, इस प्राणायामके बड़े अभ्याससे तथा बड़े कष्टसे कोई प्रकार अनुभव गोचर है ।१७।

★ ध्यानमें प्राणायामका स्थान—दे० पदस्थ ध्यान/७/१।

४. प्राणायामके चार मण्डलोंका नाम निर्देश

ज्ञा./२९/१८ तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारुणं तदनन्तरम् । मरुत्पुरं ततः स्फीतं पर्यन्ते वह्निमण्डलम् ।१८। —उन चारोंमेंसे प्रथम तौ पार्थिव मण्डलको जानना, पश्चात् वरुण (अप्) मण्डल जानना, तत्पश्चात् पवन मण्डल जानना और अन्तमें बढ़े हुए वह्नि मण्डलको जानना। इस प्रकार चारोंके नाम और अनुक्रम हैं।

★ चारों मण्डलोंका स्वरूप—दे० वह वह नाम।

५. मोक्षमार्गमें प्राणायाम कार्यकारी नहीं

रा. वा./९/२७/२३/६२७/ प्राणापाननिग्रहो ध्यानमिति चेत; न;...प्राणापाननिग्रहे सति तदुद्भूतवेदनाप्रकर्षात् आश्वेव शरीरस्य पातः प्रसज्येत । तस्मान्मन्दमन्दप्राणापानप्रचारस्य ध्यानं युज्यते ।—प्रश्न—श्वासोच्छ्वासके निग्रहको ध्यान कहना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि इसमें श्वासोच्छ्वास रोकनेकी वेदनासे शरीरपात होनेका प्रसंग है। इसलिए ध्यानावस्थामें श्वासोच्छ्वासका प्रचार स्वाभाविक होना चाहिए।

ज्ञा./३०/४-९ सम्यक्समाधिसिद्धयर्थं प्रत्याहारः प्रशस्यते । प्राणायामेन विक्षिप्तं मनः स्वास्थ्यं न विन्दति ।४। वायोः संचारचातुर्यमणिमाद्यङ्गसाधनम् । प्रायः प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सतः ।६। किमनेन प्रपञ्चेन स्वसंदेहार्त्तहेतुना । सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम् ।७। संविग्नस्य प्रशान्तस्य वीतरागस्य योगिनः । वशीकृताक्षवर्गस्य प्राणायामो न शस्यते ।८। प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्यादार्त्तसंभवः । तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्त्वोऽपि लक्षितः ।९। —प्राणायाममें पवनके साधनसे विक्षिप्त हुआ मन स्वास्थ्यको नहीं प्राप्त होता, इस कारण भले प्रकार समाधिकी सिद्धिके लिए प्रत्याहार करना प्रशस्त है ।४। पवनका चातुर्य शरीरको सूक्ष्म स्थूलादि करनेरूप अंगका साधन है, इस कारण मुक्तिकी वांछा करनेवाले मुनिके प्रायः विघ्नका कारण है ।६। पवन संचारकी चतुराईके प्रपंचसे क्या लाभ, क्योंकि यह आत्माको सन्देह और पीड़ाका कारण है। ऐसे भले प्रकार विचार करके मुक्तिका प्रधान कारण होय सो जानना चाहिए ।७। जो मुनि संसार देह और भोगोंसे विरक्त है, कषाय जिसके मन्द हैं, विशुद्ध भाव युक्त है, वीतराग और जितेन्द्रिय है, ऐसे योगीको प्राणायाम प्रशंसा करने योग्य नहीं ।८। प्राणायाममें प्राणोंको रोकनेसे पीड़ा होती है, पीड़ासे आर्त ध्यान होता है। और उस आर्त ध्यानसे तत्त्वज्ञानी मुनि भी अपने लक्ष्यसे छुड़ाया जाता है ।९।

प. प्र./टी./२/१६२ न च परकल्पितवायुधारणरूपेण ध्यानमनासो ग्राह्यः। कस्मादिति चेत वायुधारणा तावदीहापूर्विका, ईहा च मोहकार्यरूपो विकल्पः। स च मोहकारणं भवतीति।...वायुधारणस्य च कार्यं...न च मुक्तिरिति। यदि मुक्तिरपि भवति तर्हि वायुधारणाकारकाणामिदानींतनपुरुषाणां मोक्षो किं न भवतीति भावार्थः।—पातंजलिमतवाले वायु धारणा रूप श्वासोच्छ्वास मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि वायु धारणा वांछापूर्वक होती है, और वांछा है वह मोहसे उत्पन्न विकल्प रूप है, वांछा मोहका कारण है।...वायु धारणासे मुक्ति नहीं होती, क्योंकि वायु धारणा शरीरका धर्म है, आत्माका नहीं। यदि वायु धारणासे मुक्ति होवे तो वायु धारणाको करनेवालोंको इस दुखम कालमें मोक्ष क्यों न होवे। अर्थात् कभी नहीं होती।

६. प्राणायाम शारीरिक स्वास्थ्यका कारण है ध्यानका नहीं

ज्ञा./२९/१००-१०१ कौतुकमात्रफलोऽयं परपुरप्रवेशो महाप्रयासेन । सिद्धयति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन ।१००।... समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् । पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः ।१०१। —यह पुर प्रवेश है सो कौतुक मात्र है फल जिसका ऐसा है, इसका पारमार्थिक फल कुछ भी नहीं है। और यह बड़े-बड़े तपस्वियोंके भी बहुत कालमें प्रयास करनेसे सिद्ध होता है ।१००। समस्त रोगोंका क्षय करके शरीरमें स्थिरता करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ।१०१।

प. प्र./टी./२/१६२/२७४/१० कुम्भकपूरकरेचकादिसंज्ञा वायुधारणा क्षणमात्रं भवत्येवात्र किंतु अभ्यासवशेन घटिकाप्रहरदिवसादिष्वपि भवति तस्य वायुधारणस्य च कार्यं देहारोगत्वलघुत्वादिकं न च मुक्तिरिति ।—कुम्भक, पूरक और रेचक आदि वायु धारणा क्षणमात्र होती है, परन्तु अभ्यासके वशसे घड़ी, पहर, दिवस आदि तक भी होती है। उस वायुधारणाका फल ऐसा है, देह अरोग्य होती है, सब रोग मिट जाते हैं, शरीर हलका हो जाता है, परन्तु इस वायु धारणासे मुक्ति नहीं होती है।

७. ध्यानमें वायु निरोध स्वतः होता है करना नहीं पड़ता

प. प्र./टी./२/१६२/२७४/५ यदायं जीवो रागादिपरभावशून्यनिर्विकल्पसमाधौ तिष्ठति तदायमुच्छ्वासरूपो वायुर्नासिकाछिद्रद्वयं वर्जयित्वा स्वयमेवानीहितवृत्त्या तालुप्रदेशे यत् केशात् शेषाष्टमभागप्रमाणं छिद्रं तिष्ठति तेन क्षणमात्रं दशमद्वारेण तदनन्तरं रन्ध्रेण कृत्वा निर्गच्छतीति। —जब यह जीव रागादि परभावोंसे शून्य निर्विकल्प समाधिमें होता है, तब यह श्वासोच्छ्वासरूप पवन नासिकाके दोनों छिद्रोंको छोड़कर स्वयमेव अवांछीक वृत्तिसे तालुवाके बालकी अनीके आठवें भाग प्रमाण अति सूक्ष्म छिद्रमें (दसवें द्वारमें) होकर बारीक निकलती है, नासाके छेदको छोड़कर तालुरन्ध्रमें (छेदमें) होकर निकलती है। वह संयमीके वायुका निरोध स्वयमेव स्वाभाविक होता है वांछा पूर्वक नहीं।)

८. प्राणायामकी कथंचित् उपादेयता व कारण

ज्ञा./२९/श्लोक नं.–सुनिर्णीतसुसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते । मुनिभिर्ध्यानसिद्धयर्थं स्थैर्यार्थं चान्तरात्मनः ।१। अतः साक्षात्स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिभिः । मनागप्यन्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः ।२। शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना । प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ।१०। विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते । अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ।११। एवं भावयतः स्वान्ते यात्यविद्या क्षयं क्षणात् । विमदीस्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम् ।१२। स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् । जगद्वृत्तं

च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ।१४। स्मरगरलमनोविजयं···पवनप्रचार-चतुरः करोति योगी न संदेहः ।१०१। =भले प्रकार निर्णय रूप किया है सत्यार्थ सिद्धान्त जिन्होंने ऐसे मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके तथा मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है।१। ध्यानकी सिद्धिके लिए, मनको एकाग्र करनेके लिए पूर्वाचार्योंने प्रशंसा की है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको विशेष प्रकारसे जानना चाहिए, अन्यथा मनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते।२। साधुओं-को अप्रमत्त होकर प्राणवायुके साथ धीरे-धीरे अपने मनको अच्छी तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदयकी कर्णिकामें रोकना चाहिए। इस तरह प्राणायामके सिद्ध होनेसे चित्त स्थिर हो जाया करता है, जिससे कि अन्तरंगमें संकल्प विकल्पोंका उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, विषयोंकी आशा निवृत्त हो जाती है, और अन्तरंगमें विज्ञानकी मात्रा बढ़ने लगती है।१०-११। और इस प्रकार मन वश करके भावना करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है, इन्द्रियाँ मद रहित हो जाती हैं, कषाय क्षीण हो जाती है ।१२। प्राणायाम करने वालोंके मन इतने स्थिर हो जाते हैं कि उनको जगत्का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रत्यक्ष दीखने लगता है।१४। प्राणायामके द्वारा प्राण वायुका प्रचार करनेमें चतुर योगी कामदेव रूप विष तथा अपने मनपर विजय प्राप्त कर लिया करता है।१०१।

प्राणासंयम—दे० संयम।

प्रातर—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रातिहार्य—दे० अर्हंत।

प्रात्ययकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

प्राथमिक—Elementary; Primitive (ध./५/पृ./२८)।

प्रादुष्कार—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

प्रादोषिक काल—मू. आ./२७० का भावार्थ—जिसमें रातका भाग है वह प्रदोषकाल है अर्थात् रातके पूर्वभागके समीप दिनका पश्चिम भाग वह सुबह शाम दोनों कालोंमें प्रदोषकाल जानना।

प्रादोषिकी क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

प्राप्ति ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

प्राप्ति समा जाति—न्या. सू./मू./५/१/७/२९० प्राप्य साध्यम-प्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वादप्राप्त्यासाधकत्वाच्च प्राप्त्य-प्राप्तिसमौ ।७। =हेतुको साध्यके साथ जो प्राप्ति करके प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह प्राप्ति समा जाति है। और अप्राप्ति करके जो फिर प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह अप्राप्ति समा जाति है। (दृष्टान्त—जैसे कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि समीचीन हेतुका वादी द्वारा कथन किये जा चुकनेपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि यह हेतु क्या साध्यको प्राप्त होकर साध्यकी सिद्धि करावेगा क्या अन्य प्रकार-से भी। "साध्य और हेतु जब दोनों एक ही स्थानमें प्राप्त हो रहे हैं, तो गायके डेरे और सूधे सींग के समान भला उनमेंसे एकको हेतुपना और दूसरेको साध्यपना कैसे युक्त हो सकता है।" अप्राप्तिसमाका उदाहरण यों है कि वादीका हेतु यदि साध्यको नहीं प्राप्त होकर साध्यका साधक होगा तब तो सभी हेतु प्रकृत साध्यके साधन बन बैठेंगे अथवा वह प्रकृत हेतु अकेला ही सभी साध्यको साध्य डालेगा (श्लो. वा. ४/न्या./३५३-३५८/४८५ में इसपर चर्चा)।

प्राप्य कर्म—दे० कर्ता/१।

प्राप्यकारी इंद्रियाँ—दे० इन्द्रिय/२।

प्राभृत—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४। २. समय प्राभृत या षट् प्राभृत आदि नामके ग्रन्थ—दे० पाहुड़।

१. पाहुड़ या प्राभृत सामान्यका लक्षण

क. पा./मु. १,१२-१३/§२११/३२६ चूर्णसूत्र—पाहुडे त्ति का णिरुत्ती। जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं।

क. पा. १/१,१२-१३/§२१७/३२५/१० प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्। =पाहुड़ इस शब्दकी क्या निरुक्ति है? चूँकि जो पदोंसे स्फुट अर्थात् व्यक्त है, इसलिए वह पाहुड़ कहलाता है। जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकरके द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनके विद्या ही धन है, ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है, अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परासे लाया गया है, वह प्राभृत है।

स. सा./ता. वृ./परिशिष्ट/पृ. ५२३ यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्मा-राधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं। कस्मात्। सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः। =जिस प्रकार कोई देवदत्त नामका पुरुष राजाके दर्शनार्थ कोई सारभूत वस्तु भेंट देता है, उसे प्राभृत कहते हैं। उसी प्रकार परमात्माके आराधक पुरुषके लिए निर्दोष परमात्म राजाके दर्शनार्थ यह शास्त्र प्राभृत है, क्योंकि यह सारभूत है। ऐसा प्राभृत शब्दका अर्थ है।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादिके लक्षण—दे० निक्षेप।

क. पा. १/१,१३-१४/§२६२-२६६/३२३-३२४ तत्थ सचित्तपाहुडं णाम जहा कोसल्लियभावेण पट्ठविज्जमाणा हयगयविलयादिया। अचित्त-पाहुडं जहा मणि-कणयरयणाईणि उवायणाणि। मिस्सयपाहुडं जहा ससुवण्णकरितुरयाणं कोसल्लियपेसणं।§२६२। आणंदहेउदव्वपट्ठवणं पसत्थभावपाहुडं। वइरकलहादिहेउदव्वपट्ठवणमप्पसत्थभाव-पाहुडं।··मुहियभावपाहुडस्स···पेसणोवायाभावादो ।§२६४। जिण-वइणा···उज्झियरायदोसेण भव्वाणमणवज्जबुहाइरियपणालेण पट्ठ-विदद्वालसंगवयणकलावो तदेगदेसो वा। अवरं आणंदमेत्ति पाहुडं ।§२६५। कलहणिमित्तगद्दह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो, तस्स विसज्जणं कलहपाहुडं। =उपहार रूपसे भेजे गये हाथी घोड़ा और स्त्री आदि सचित्त पाहुड़ है। भेंट स्वरूप दिये गये मणि, सोना और रत्नादि अचित्त पाहुड़ हैं। स्वर्णके साथ हाथी और घोड़ेका उपहार रूपसे भेजना मिश्र पाहुड़ है।२६२। आनन्दके कारणभूत द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना प्रशस्त नोआगम भाव पाहुड़ है। तथा वैर और कलह आदिके कारणभूत द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना अप्रशस्त नोआगम भाव पाहुड़ है।···मुख्य नोआगम भाव पाहुड़ (ज्ञाताका शरीर) भेजा नहीं जा सकता है, इसलिए यहाँ औपचारिक (बाह्य) औपचारिक नोआगमभाव पाहुड़का उदाहरण दिया गया है।।२६४। जो राग और द्वेषसे रहित हैं ऐसे जिन भगवान्के द्वारा निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्योंकी परम्परासे भव्य जनोंके लिए भेजे गये बारह अंगोंके वचनोंका समुदाय अथवा उनका एकदेश परमानन्द दोग्रन्थिक पाहुड़ कहलाता है। इससे अतिरिक्त शेष जिनागम आनन्दमात्र पाहुड़ है।२६५। गधा, जीर्ण वस्तु और विष आदि द्रव्य कलहके निमित्त हैं, इसलिए उपचारसे इन्हें भी कलह कहते हैं। इस कलहके निमित्तभूत द्रव्यका भेजना कलह पाहुड़ कहलाता है।२६६।

प्राभृतक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

प्राभृतकप्राभृतकज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

प्राभृतक प्राभृतक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

प्राभृतक समास ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

प्रामाण्य—१. न्या.वि./टी./१/१२८/४८१/२० प्रमाणकर्म प्रामाण्यं परिच्छित्तिलक्षणं।—प्रमाणका कर्म सो प्रामाण्य है, वह पदार्थके निश्चय करने रूप लक्षण वाला होता है।

प्रामृष्य—आहार का एक दोष—दे. आहार II/४/४।

प्रायश्चित्त—प्रतिसमय लगनेवाले अन्तरंग व बाह्य दोषोंकी निवृत्ति करके अन्तर्शोधन करनेके लिए किया गया पश्चात्ताप या दण्डके रूपसे उपवास आदिका ग्रहण प्रायश्चित्त कहलाता है, जो अनेक प्रकारका होता है। बाह्य दोषोंका प्रायश्चित्त पश्चात्ताप मात्रसे हो जाता है। पर अन्तरंग दोषोंका प्रायश्चित्त गुरुके समक्ष सरल मनसे आलोचना पूर्वक दण्डको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता है। परन्तु इस प्रकारके प्रायश्चित्त अर्थात् दण्ड शास्त्रमें अत्यन्त निपुण व कुशल आचार्य ही शिष्यकी शक्ति व योग्यताको देखकर देते हैं, अन्य नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. प्रायश्चित्त सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./९/२२/१/६२०/२८ प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन्कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्।...अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम्. अपराधविशुद्धिरित्यर्थ.।—प्राय साधु लोक, जिस क्रियामें साधुओंका चित्त हो वह प्रायश्चित्त। अथवा प्राय-अपराध उसका शोधन जिससे हो वह प्रायश्चित्त।

ध. १३/५ ४,२६/गा.६/५६ प्राय इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनो भवेत्। तच्चित्तग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ।६।—प्राय यह पद लोकवाची है और चित्तसे अभिप्राय उसके मनका है। इसलिए उस चित्तको ग्रहण करनेवाला कर्म प्रायश्चित्त है, ऐसा समझना चाहिए।६। (भ.आ./वि./५२९/७४७ पर उद्धृत गा.)

नि. सा./ता. वृ./११३,११६ प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम् ।११३। बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम् ।११६। —प्रायश्चित्त अर्थात् प्राय चित्त-प्रचुर रूपसे निर्विकार चित्त।११३। बोध, ज्ञान और चित्त भिन्न पदार्थ नहीं हैं।११६।

अन. ध./७/३७ प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया। प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते।३७। —प्राय. शब्दका अर्थ लोक और चित्त शब्दका अर्थ मन होता है। जिसके द्वारा साधर्मी और संघमें रहने वाले लोगोंका मन अपनी तरफसे शुद्ध हो जाये उस क्रिया या अनुष्ठानको प्रायश्चित्त कहते हैं। (का. अ./टी./४५१)

पद्मचन्द्र कोष/पृ. २५८ प्रायस् + चित् + क्त। प्रायस्-तपस्या, चित्त-निश्चय। अर्थात् निश्चय संयुक्त तपस्याको प्रायश्चित्त कहते हैं।

२. निश्चयकी अपेक्षा

नि. सा./मू./गा. कोहादिसग्भावक्खयपहुदिभावणाए णिग्गहणं। पायच्छित्तं भणिदं णियगुणचिंता य णिच्छयदो।११४। उक्किट्ठो जो बोहो णाणं तस्सेव अप्पणो चित्तं। जो धरइ मुणी णिच्चं पायच्छित्तं हवे तस्स।११६। किं बहुणा भणिएण दु वरतवचरणं महेसिणं सव्वं। पायच्छित्तं जाणह अणेयकम्माण खयहेउ।११७। अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं। सक्कदि कादुं जीवो तम्हा झाणं हवे सव्वं।११९। —क्रोधादि स्वकीय भावोंके (अपने विभावभावोंके) क्षयादिकी भावनामें रहना और निज गुणोंका चिन्तवन करना वह निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा है।११४। उसी (अनन्त धर्मवाले)

आत्माका जो उत्कृष्ट ज्ञान अथवा चित्त उसे जो मुनि नित्य धारण करता है, उसे प्रायश्चित्त है ।११६। बहुत कहनेसे क्या ? अनेक कर्मोंके क्षयका हेतु ऐसा जो महर्षियोंका उत्तम तपश्चरण वह सब प्रायश्चित्त जान ।११७। आत्म स्वरूप जिसका अवलम्बन है, ऐसे भावोंसे जीव सर्व भावोंका परिहार कर सकता है, इसलिए ध्यान सर्वस्व है ।११८। (विशेष विस्तार दे० नि. सा./मू. व ता. वृ./११३-१२१) ।

का. अ./मू./४५५ जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी। विकह-विरत्त चित्तो पायच्छित्तं वरं तस्स ।४५५। —जो ज्ञानी मुनि ज्ञान स्वरूप आत्माका बारम्बार चिन्तन करता है, और विकथादि प्रमादोंसे जिसका मन विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है ।४५५।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

मू. आ./३६१,३६३ पायच्छित्तं त्ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं। पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्तं···।३६१। पोराणकम्मखमणं खिवणं णिज्जरणं सोधणं धुमणं। पुच्छणमुछिवणं छिदणं त्ति पायच्छित्तस्स णामाई ।३६३। —व्रतमें लगे हुए दोषोंको प्राप्त हुआ यति जिससे पूर्व किये पापोंसे निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है ।३६१। पुराने कर्मोंका नाम, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन (निराकरण) उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण) ये सब प्रायश्चित्तके नाम हैं ।३६३।

स. सि./९/२०/४३९/६ प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम् । —प्रमाद जन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है। (चा. सा./१३७/२) (अन. ध./७/३४) ।

ध. १३/५,४,२६/५९/८ कयावराहेण ससंवेयणिव्वेएण सगावराहणिरायरणट्ठं जमणुट्ठाणं कीरदि तप्पायच्छित्तं णाम तवोकम्मं । —संवेग और निर्वेदसे युक्त अपराध करनेवाला साधु अपने अपराधका निराकरण करनेके लिए जो अनुष्ठान करता है वह प्रायश्चित्त नामका तपःकर्म है।

का. अ./मू./४५१ दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं। कुव्वाणं पि ण इच्छदि तस्स विसोही परा होदि ।४५१। —जो तपस्वी मुनि मन वचन कायसे स्वयं दोष नहीं करता, अन्यसे भी दोष नहीं कराता तथा कोई दोष करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस मुनिके उत्कृष्ट विशुद्धि (प्रायश्चित्त) होती है ।४५१।

२. प्रायश्चित्तके भेद

मू. आ./३६२ आलोयण पडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो। तव छेदो मूलं;पिय परिहारो चेव सद्दहणा ।३६२। —आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद प्रायश्चित्तके हैं ।३६२। (ध. १३/५,४,२६/गा. ११/६०) (चा. सा./१३७/३) (अन. ध./७/३७ की भाषा अथवा ३७-५७) ।

त. स./९/२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनाः ।२२। आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है ।२२।

अन. ध./७/५६ व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम्। निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ।५६। —व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेद हैं। किन्तु निश्चयनयसे उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं।

३. प्रायश्चित्तके भेदोंके लक्षण

१. तदुभय

स. सि./९/२२/४४०/७ (तदुभय) संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम्। —आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/४/६२१/२०) (अन. ध./७/४८) ।

ध. १३/५,४,२६/६०/१० सगावराहं गुरूणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं । —अपने अपराधको गुरुके सामने आलोचना करके गुरुकी साक्षिपूर्वक अपराधसे निवृत्त होना उभय नामका प्रायश्चित्त है।

२. उपस्थापना या मूल

स. सि./९/२२/४४०/१० पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना। —पुनः दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/१०/६२१/३४) (ध. १३/५,४,२६/६२/२) (चा. सा./१४४/३) (अन. ध./७/५५) ।

३. श्रद्धान

ध. १३/५,४,२६/६३/३ मिच्छत्तं गंतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्तागम-पयत्थसद्दहणा चेव (सद्दहण) पायच्छित्तं । —मिथ्यात्वको प्राप्त होकर स्थित हुए जीवके महाव्रतोंको स्वीकार कर आप्त आगम और पदार्थोंका श्रद्धान करने पर श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त होता है। (चा. सा./१४७/२) (अन. ध./७/५७) ।

२. प्रायश्चित्त निर्देश

१. प्रायश्चित्तकी व्याप्ति अन्तरंगके साथ है

भ. आ./मू./४०५/५९४ आलोचणापरिणदो सम्मं संपच्छिओ गुरुसयासं। जदि अंतरम्मि कालं करेज्ज आराहओ होई। —मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरण समीप जाकर कहूँगा, ऐसा मनमें विचारकर निकला मुनि यदि मार्गमें ही मरण करे तो भी वह आराधक होता है ।४०५। (भ. आ./मू./४०६-४०७/५९५) ।

दे० प्रतिक्रमण/१/२/२ निजात्म भावनासे ही निन्दन गर्हण आदि शुद्धिको प्राप्त होता है।

२. प्रायश्चित्तके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/२० प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा—तत्रातिचाराः। आकंपियअणुमाणियमित्यादिकाश्च । कृतातिचारेऽरय मनसा अजुप्सा। अज्ञानतः, प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याच्चेदं अशुभकर्मबन्धननिमित्तं अनुष्ठितं, दुष्टं कृतमिति एवमादिकः प्रतिक्रमणातिचारः। उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचारः। —प्रायश्चित्त तपके अतिचार—आकंपित अनुमानित वगैरह दोष (दे० आलोचना/२) इस तपके अतिचार हैं। ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैंने यह अशुभ कर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है, मैंने यह दुष्ट कर्म किया है, ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार हैं। आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारको उभयातिचार कहते हैं।

नोट—विवेक, आलोचना आदि तपके अतिचार —दे० वह वह नाम।

३. अपराध होते ही प्रायश्चित्त लेना चाहिए

भ. आ./मू. व. वि./५४१/७५७ उत्थानिका-जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्यं न कालक्षेपः कार्य इति शिक्षयति कल्ले परे व परदो काहं दंसणचरित्तसोधित्ति। इय संकप्पमदीया गदं पि कालं ण याणंति ।५४१। ततः सशल्यं मरणं तेषां भवति इति। उपाध्यायः, कर्माणि, शत्रवश्चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते। अथवा अतिचारकाल गतं चिरातिक्रान्तं नैव जानन्ति। ये हि अतिचाराः प्रतिदिनं जातास्तेषां कालं, मध्या रात्रिदिनं इत्यादिकं पश्चादालोचनाकाले गुरुणा पृष्टास्तावन्न यदा जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिरातीतत्य···अपि शब्देन क्षेत्रभावौ चातिचारस्य हेतू न जानन्ति ···इह स्मृतिज्ञानागोचर इति कदाचिदव्यतरानं। —आराधनामें अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके समक्ष कथन करना चाहिए, कालक्षेप करना योग्य नहीं, ऐसा उपदेश देते हैं।—१. कल परसों अथवा

मरतोंमें दर्शन-ज्ञान व चारित्रकी शुद्धि करूँगा, ऐसा जिन्होंने अपने मनमें संकल्प किया है, ऐसे मुनि अपना आयु कितना नष्ट हुआ है यह नहीं जानते अर्थात् उनका सशल्य मरण होता है।५४१। रोग, शत्रु और इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते हैं। पुन. उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते। अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं, उनका स्मरण होता नहीं। जो अतिचार हुए हैं, उनके सन्ध्या, दिन, रात्रि, इत्यादि रूप कालका स्मरण गुरुके पूछनेपर शिष्योंको होता नहीं, क्योंकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके हैं।···इसी प्रकार क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनका भी स्मरण नहीं होता, वे अतिचार स्मृतिज्ञानके अगोचर हैं।···ऐसा कोई आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते हैं।

४. बाह्य दोषका प्रायश्चित्त स्वयं तथा अन्तरंग दोषका गुरुके निकट लेना चाहिए

प्र. सा./मू./२११-२१२ पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि। जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया।२११। छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि। आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं।२१२। —यदि श्रमणके प्रयत्न पूर्वक की जानेवाली कायचेष्टामें छेद होता है तो उसे आलोचना पूर्वक क्रिया करना चाहिए।२११। किन्तु यदि श्रमण छेदमें (अन्तरंग छेदमें) उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमतमें व्यवहार कुशल श्रमणके पास जाकर आलोचना करके (दोषका निवेदन करके) जैसा उपदेश दें वैसा करना चाहिए।२१२।

५. आत्म भावनासे च्युत होनेपर पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है

इ. उ./मू./३९ निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्। स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।३९। —योगीजन इस समस्त जगत्को इन्द्रजालके समान देखते हैं, क्योंकि उनके आत्म स्वरूपकी प्राप्तिकी प्रबल अभिलाषा उदित रहती है। यदि कारणवश अन्य कार्यमें प्रवृत्ति हो जाती है, तब उसे संताप होता है।

६. दोष लगनेपर प्रायश्चित्त होता है सर्वदा नहीं

रा. वा./९/२२/१०/६२२/१ भयत्वरणविस्मरणानवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारे सति प्राक् छेदात् षड्विधं प्रायश्चित्तं विधेयं। —डरकर भाग जाना, सामर्थ्यकी हीनता, अज्ञान, विस्मरण, यवनादिकोंका आतंक, इसी तरहके रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणोंसे महाव्रतोंमें अतीचार लग जानेपर तपस्वियोंके छेदसे पहलेके छहों प्रायश्चित्त होते हैं। (चा. सा./१४२/५); (अन. ध. ७/५३)।

७. प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देनेका निषेध

भ. आ./मू./४५१ ४५३/६७८ मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स। ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो।४५१। ववहारमयाणंतो ववहरणिज्जं च ववहरंतो खु। उस्सीयदि भवपंके अयसं कम्मं च आदियदि।४५२। जह ण करेदि तिगिंछं वाधिस्स तिगिंछओ अणिम्मादो। ववहारमयाणंतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ।४५३। —जिन प्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवान्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग-द्वेष भावना छोड़कर मध्यस्थ भाव धारण कर मुनिको प्रायश्चित्त देते हैं।४५१। ग्रन्थसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्तका स्वरूप जिसको मालूम नहीं है वह मुनि यदि नव प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचड़में फँसेगा और जगत्में उसकी अकीर्ति फैलेगी।४५२। जैसे—अज्ञवैद्य रोगका स्वरूप न जाननेके कारण रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रन्थके जानकार नहीं हैं वे रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी निर्मल नहीं कर सकते।४५३।

८. शक्ति आदिसे सापेक्ष ही देना चाहिए

रा. वा./९/२२/१०/६२२/८ तदेतन्नवविधं प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनाल्पानल्पापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद्विधेयं। जीवस्यासंख्येयलोकमात्रपरिणामाः परिणामविकल्पाः अपराधाश्च तावन्त एव न तेषां तावद्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तं। —देश, काल, शक्ति और संयममें किसी तरहका विरोध न आने पावे और छोटा बड़ा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्यके समान दोषोंका शमन करना चाहिए। प्रत्येक जीवके परिणामोंके भेदोंकी संख्या असंख्यात लोक मात्र है, और अपराधोंकी संख्या भी उतनी है, परन्तु प्रायश्चित्तके उतने भेद नहीं कहे हैं। ऊपरके लिखे (९ वा १०) भेद तो केवल व्यवहार नयकी अपेक्षासे समुदाय रूपसे कहे गये हैं। (भ. आ./वि./५२९/७२८/२०); (चा. सा./१४७/२); (अन. ध./७/५८)।

९. आलोचना पूर्वक ही किया जाता है

भ. आ./मू./६२०-६२१ एत्थ दु उज्जुगभावा ववहारिदव्वा भवंति ते पुरिसा। संका परिहरिदव्वा सो से पट्ठाहि जहि विसुद्धो।६२०। पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि तहाकम्मं सव्वे। कुव्वंति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स।६२१। —जो ऋजु भावसे आलोचना करते हैं, ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य हैं और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनका प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वातिचार निवेदन करनेवालोंमें ही ऋजुता होती है, उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है।६२०। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे हुए सम्पूर्ण दोष क्षपक अनुक्रमसे कहेगा तो प्रायश्चित्त दानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं।६२१।

१०. प्रायश्चित्तके योग्यायोग्य काल व क्षेत्र

भ. आ./मू./५५४-५५९ आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स। पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरक्खवेलाए।५५४। णिप्पत्तकंटइल्लं विज्जुहदं सुक्खरुक्खकडुदड्ढ। सुण्णघररुद्ददेउलपत्थररासिट्ठियापुंजं।५५५। तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाणं च भग्गपडिदं वा। रुद्दाणं खुद्दाणं अधिउत्ताणं च ठाणाणि।५५६। अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थं हवेज्ज जं ठाणं। आलोचणं ण पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं।५५७। अरहंतसिद्धसागरपउमसरं खीरपुप्फफलभरियं। उज्जाणभवणतोरणपासादं णागजक्खघरं।५५८। अण्णं च एवमादिया सुपसत्थं हवइ जं ठाणं। आलोयणं पडिच्छदि तत्थ गणी से अविग्घत्थं।५५९। —१. विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपककी आलोचना प्रतिक्रमणादिक क्रियाएँ दिनमें और प्रशस्त स्थानमें होती हैं। दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र, जिस दिनमें रहते हैं उस दिन होती है।५५४। २. जो क्षेत्र पत्तोंसे रहित है, काँटोंसे भरा हुआ है, बिजली गिरनेसे जहाँ जमीन फट गयी है, जहाँ शुष्क वृक्ष हैं, जिसमें कटुरससे वृक्ष भरे हैं, जो जल गया है, शून्य घर, रुद्रका मन्दिर, पत्थरोंका ढेर और ईंटोंका ढेर है, ऐसा स्थान आलोचनाके योग्य नहीं है।५५५। जिसमें सूखे पान, तृण, काठके पुंज है, जहाँ भस्म पड़ा है, ऐसे स्थान तथा अपवित्र श्मशान, तथा फूटे हुए पात्र, गिरा हुआ घर जहाँ है वह स्थान भी वर्ज्य है। रुद्र देवताओं, और क्षुद्रदेवताओं इनके स्थान भी वर्ज्य समझने चाहिए।५५६। ऊपरके स्थान वर्ज्य है वैसे ही अन्य भी जो अयोग्य स्थान हैं, उनमें भी क्षपककी आलोचना आचार्य सुनते

नहीं। क्योंकि ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षपकको कार्य-सिद्धि नहीं होगी।५५७। ३. अर्हन्तका मन्दिर, सिद्धोंका मन्दिर, समुद्रके समीपका प्रदेश, जहाँ क्षीरवृक्ष है, जहाँ पुष्प व फलोंसे लदे वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरण द्वार सहित मकान, नागदेवताका मन्दिर, यक्ष मन्दिर, ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं।५५८। और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके योग्य हैं, ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठकर आलोचना सुनते हैं।५५९।

११. प्रायश्चित्तका प्रयोजन व माहात्म्य

रा. वा./९/२२/१/६२०/२६ प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्तिः मर्यादात्यागः संयमादार्ढ्यमाराधनमित्येवमादीनां सिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते। —प्रमाद दोष व्युदास, भाव प्रसाद, निःशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादाका पालन, संयमकी दृढ़ता, आराधना सिद्धि आदिके लिए प्रायश्चित्तसे विशुद्ध होना आवश्यक है। (भा पा./टी./७८/२२४/९)।

ध./१३/५,४,२६/गा. १०/६० कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि तनूभवन्त्यात्मविगर्हणेन। प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि।१०। —अपनी गर्हा करनेसे, दोषोंका प्रकाशन करनेसे और उनका संवर करनेसे किये गये अतिदारुण कर्म कृश हो जाते हैं। अब उनका समूल नाश कैसे हो जाता है, यह कहते हैं।१०। (का. अ./मू./४५१-४५२)।

३. शंका समाधान

१. दूसरेके परिणाम कैसे जाने जाते हैं

भ. आ./वि./६२६/८२८/२० कथं परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञातमेव। तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कोऽभवतः परिणामोऽतिचारसमकालं वृत्तः। —प्रश्न—दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं? उत्तर—१. सहवाससे परिणाम जाने जा सकते हैं, २. अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मन्द क्रोधादिकका स्वरूप मालूम होता है। ३. अथवा जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे', ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है। (विशेष—दे० विनय/५/१)।

२. तदुभय प्रायश्चित्तके पृथक् निर्देशकी क्या आवश्यकता

दे. प्रतिक्रमण/२/२ सभी प्रतिक्रमण नियमसे आलोचना पूर्वक होते हैं। गुरु स्वयं अन्य किसीसे आलोचना नहीं करता है। इसलिए गुरुसे अतिरिक्त अन्य शिष्योंकी अपेक्षासे तदुभय प्रायश्चित्तका पृथक् निर्देश किया गया है।

४. प्रायश्चित्त विधान

१. प्रायश्चित्तके योग्य कुछ अपराधोंका परिचय

भ. आ./वि./४५०/६७६/८ पृथिवी, आपस्तेजो वायुः…सचित्त द्रव्य… तृणफलकादिकं…अचित्तम्। संसक्तं उपकरणं मिश्रम्। एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना। वर्षासु…अर्धयोजनम्। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं…प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीया गमनम्।…उन्मार्गेण वा गमनम्। अन्तःपुरप्रवेशः। अननुज्ञातगृहभूमिगमनम्—इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवना। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणम्। वर्षावग्रहातिक्रमः—इत्यादिना कालप्रतिसेवना। दर्पः, प्रमादः, अनाभोगः भयं, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। —पृथ्वी, पानी आदि…सचित्त द्रव्य, तृणका सस्तर फलक वगैरे अचित्त द्रव्य, जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणरूप मिश्रद्रव्य, ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं यह द्रव्यप्रतिसेवना है। वर्षाकालमें(मुनि)आधा योजनसे अधिक गमन करना,… निषिद्ध स्थानमें जाना, विरुद्ध राज्यमें जाना, जहाँ रास्ता टूट गया ऐसे प्रदेश में जाना, उन्मार्गसे जाना, अन्तःपुरमें प्रवेश करना, जहाँ प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहकेजमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है। आवश्यकोंके नियत कालको उल्लंघन कर अन्य समयमें सामायिकादि करना, वर्षाकाल योगका उल्लंघन करना यह काल प्रतिसेवना है। दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादि रूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भाव प्रतिसेवना है।

२. अपराधोंके अनुसार प्रायश्चित्त विधान

१. आलोचना

रा. वा./९/२२/१०/६२१/३६ विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम्। —विद्या और ध्यानके साधनोंके ग्रहण करने आदिमें प्रश्न विनयके बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है।

भा. पा./टी /७८/२२३/१४ आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादतः आचार्यादिवचनाकरणे संघनामपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकर्तव्यव्रतविशेषस्य धर्मकथादि व्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे अन्यत्रापि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तम्। —आचार्यके बिना पूछे आतापनादि करना, दूसरे साधुकी अनुपस्थितिमें उसकी पीछी आदि उपकरणोंका ग्रहण करना, प्रमादसे आचार्यादिकी आज्ञाका उल्लंघन करना, आचार्यसे बिना पूछे संघमें प्रवेश करना, धर्म कथादिके प्रसंगसे देश काल नियत आवश्यक कर्तव्य व व्रत विशेषोंका विस्मरण होनेपर उन्हें पुन. करना, तथा अन्य भी इसी प्रकारके दोषोंका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है। (अन. ध./७/५३ भाषा)।

२. प्रतिक्रमण

रा. वा./९/२२/१०/६२१/३७ देशकालनियमेनावश्यं कर्तव्यमित्यास्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमणं तस्य प्रायश्चित्तम्। —देश और कालके नियमसे अवश्य कर्तव्य विधानोंको धर्म कथादिके कारण भूल जानेपर पुनः करनेके समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।

ध. १३/५,४,२६/६०/९ एदं (पडिक्कमणं पायच्छित्तं) कत्थ होदि। अप्पावराहे गुरुहि विणा वट्टमाणम्हि होदि। —जब अपराध छोटा सा हो, गुरु पास न हों तब यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।

भा. पा./टी /७८/२२३/१८ षडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने, व्रतसमितिगुप्तिषु, स्वल्पातिचारे, पैशुन्यकलहादिकरणे, वैयावृत्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरगतस्य लिंगोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं भवति। दिवसान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणंप्रायश्चित्तं। —छहों इन्द्रिय तथा वचनादिकका दुष्प्रयोग, आचार्यादिके अपना हाथ-पाँव आदिका टकरा जाना, व्रत, समिति गुप्तिमें छोटे-छोटे दोष लग जाना, पैशुन्य तथा कलह आदि करना, वैयावृत्य तथा स्वाध्यायादिमें प्रमाद करना, गोचरीको जाते हुए लिंगोत्थान हो जाना, अन्यके साथ संक्लेश करनेवाली क्रियाओंके होनेपर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सायंकाल, और प्रातःकाल तथा भोजनादिके जानेके समय होता है। (अन. ध./७/५३ भाषा)।

३. तदुभय

ध. १३/५,४,२६/६०/११ उभयं णाम पायच्छित्तं। एदं कत्थ होदि? दुस्सुमिणदंसणादिसु। —दुःस्वप्न देखने आदिके अवसरोंपर तदुभय प्रायश्चित्त होता है। (चा. सा./१४१/६)।

भ. आ./टी./७७/२१५/१ लोचनखच्छेदस्वप्नेन्द्रियातिचाररात्रिभोजनेषु पक्षमाससंवत्सरादिदोषादौ च उभयं आलोचनप्रतिक्रमणप्रायश्चित्त। —केश लोंच, नखका छेद, स्वप्नदोष, इन्द्रियोंका अतिचार, रात्रि भोजन, तथा पक्ष, मास व संवत्सरादिके दोषोंमें तदुभय प्रायश्चित्त होता है। (अन. ध./७/५३ भाषा)।

४. विवेक

रा. वा./९/२२/१०/६२१/२ शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं प्रायश्चित्तम्। —शक्तिको न छिपाकर प्रयत्नसे परिहार करते हुए भी किसी कारणवश अप्रासुकके स्वयं ग्रहण करने या ग्रहण करानेमें छोड़े हुए प्रासुकका विस्मरण हो जाये और ग्रहण करनेपर उसका स्मरण आ जाये तो उसका पुनः उत्सर्ग करना (ही विवेक) प्रायश्चित्त है। (चा. सा./१४२/२)।

ध. १३/५,४,२६/६०/१२ एदं (विवेगो णाम पायच्छित्तं) कत्थ होदि। जम्हि संते अणियत्तदोसो सो तम्हि होदि। —जिस दोषके होनेपर उसका निराकरण नहीं किया जा सकता, उस दोषके होनेपर यह विवेक नामका प्रायश्चित्त होता है।

५. व्युत्सर्ग

रा. वा./९/२२/१०/६२२/४ दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनमूत्रातिचारमहानदीमहाटवीतरणादिषु व्युत्सर्गप्रायश्चित्तम्। —दुस्वप्न, दुश्चिन्ता, मलोत्सर्ग, मूत्रका अतिचार, महानदी और महाअटवीके पार करने आदिमें व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। (चा. सा./१४२/३)।

ध. १३/५,४,२६/६१/३ विउस्सग्गो णाम पायच्छित्तं।…सो कस्स होदि। कयावराहस्स णाणेण दिट्ठणवट्ठस्स वज्जसंघडणस्स सीदवादादवसहस्स ओघसूरस्स साहुस्स होदि। —यह व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त जिसने अपराध किया है. किन्तु जो अपने विमल ज्ञानसे नौ पदार्थोंके स्वरूपको समझता है, वज्र संहननवाला है; शीत-वात और आतपको सहन करनेमें समर्थ है, तथा सामान्य रूपसे शूर है, ऐसे साधुके होता है।

भ. आ./टी./७८/२२४/३ मौनादिना लोचकरणे, उदरकृमिनिर्गमे, हिममशकादिमहावातादिसंघर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपंकोपरिगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, नावादिनदीतरणे, पुस्तकप्रतिमापातने, पंचस्थावरविघाते, अदृष्टदेशतनुमलविसर्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अन्तर्व्याख्यानप्रवृत्त्यन्तादिषु कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तम्। उच्चारप्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव। —मौनादि धारण किये बिना ही लोंच करनेपर; उदरमेंसे कृमि निकलनेपर; हिम, दंश-मशक या महावातादिके संघर्षसे अतिचार लगनेपर; स्निग्ध भूमि, हरित तृण, या कर्दम आदिके ऊपर चलनेपर, घोटुओंतक जलमें प्रवेश कर जानेपर; अन्य निमित्तक वस्तुको उपयोगमें ले आनेपर; नावके द्वारा नदी पार होनेपर; पुस्तक या प्रतिमा आदिके गिरा देनेपर; पंचस्थावरोंका विघात करनेपर; बिना देखे स्थानपर शारीरिक मल छोड़नेपर, पक्षसे लेकर प्रतिक्रमण पर्यन्त व्याख्यान प्रवृत्त्यन्तादिकोंमें केवल कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त होता है। और थूकने और पेशाब आदिके करनेपर कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है। (अन. ध./७/५३ भाषा)।

६. तप

ध. १३/५,४,२६/६१/६ एदं (तवो पायच्छित्तं) कस्स होदि। तिव्विंदियस्स जोव्वणभरत्थस्स बलवंतस्स सत्तसहायस्स कयावराहस्स होदि। —जिनकी इन्द्रियाँ तीव्र हैं, जो जवान हैं, बलवान् हैं, और सशक्त हैं, ऐसे अपराधी साधुको दिया जाता है। (चा. सा./१४२/५)।

७. छेद

ध. १३/५,४,२६/६१/१ छेदो णाम पायच्छित्तं। एदं कस्स होदि। उववासादिखमस्स ओघबलस्स ओघसूरस्स गव्विदस्स कयावराहस्स साहुस्स होदि। —जिसने (बार-बार) अपराध किया है। (रा. वा./९/२२/१०/६२२/५)। जो उपवास आदि करनेमें समर्थ है, सब प्रकार बलवान् है, सब प्रकार शूर और अभिमानी है, ऐसे साधुको दिया जाता है। (चा. सा./१४३/१); (अन. ध./७/५४)।

८. मूल

भ. आ./मू./२९२/५०६ पिंडं उवधिं सेज्जामविसोधिय जो खु भुंजमाणो हु। मूलट्ठाणं पत्तो बालोत्ति य णो समणबालो।२९२। —उद्गमादि दोषोंसे युक्त आहार, उपकरण, वसतिका इनका जो साधु ग्रहण करता है वह मूलस्थानको प्राप्त होता है। वह अज्ञानी है, केवल नग्न है, न यति है न गणधर।

ध. १३/५,४,२६/६२/२ मूलं णाम पायच्छित्तं। एदं कस्स होदि। अवरिमियअवराहस्स पासत्थोसण्ण-कुसीलसच्छंदादिउव्वट्ठियस्स होदि। —अपरिमित अपराध करनेवाला जो साधु (रा. वा./९/२२/१०/६२२/५)। पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील, और स्वच्छन्द आदि होकर कुमार्गमें स्थित है, उसे दिया जाता है। (चा. सा./१४७/३); (अन. ध./७/५५); (आचारसार/पृ. ६३)।

९. अनवस्थाप्य परिहार

चा. सा./१४४/४ प्रमादादन्यमुनिसंबन्धिनमृषिं छात्रं गृहस्थं वा परपाखण्डिप्रतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतो मुनीन् प्रहरतो वाऽन्यदप्येवमादिविरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्वधरस्यापि त्रिकसंहननस्य जितपरिषहस्य दृढधर्मिणो धीरस्य भवभीतस्य निजगुणानुपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति।…दर्पादनन्तरोक्तान्दोषानाचरतः परगणोपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति। —१. प्रमादसे अन्य मुनि सम्बन्धी ऋषि, विद्यार्थी, गृहस्थ वा दूसरे पाखंडीके द्वारा रोके हुए चेतनात्मक वा अचेतनात्मक द्रव्य, अथवा परस्त्री आदिको चुरानेवाले, मुनियोंको मारनेवाले, अथवा और भी ऐसे ही विरुद्ध आचरण करनेवाले, परन्तु नौ वा दस पूर्वोंके जानकार, पहले तीन संहननको धारण करनेवाले परीषहोंको जीतनेवाले, धर्ममें दृढ़ रहनेवाले, धीर, वीर और संसारसे डरनेवाले मुनियोंके निजगणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त होता है। २. जो अभिमानसे उपरोक्त दोषोंको करते हैं, उनके परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त होता है। (आचार सार/पृ. ६४); (अन. ध./७/५६ भाषा)।

दे० आगे पारंचिकमें ध./१३ विरुद्ध आचरण करनेवालोंको दिया जाता है।

१०. पारंचिक परिहार

भ.आ./मू./१६३७/१४८३ तित्थयरपवयणसुदे आइरिए गणहरे महड्ढीए। एदे आसादंतो पावइ पारंचियं ठाणं।१६३७। —तीर्थंकर, रत्नत्रय, आगम, आचार्य, गणधर, और महर्द्धिक मुनिराज इनकी आसादना करनेवाला पारंचिक नामक प्रायश्चित्तको प्राप्त होता है।१६३७।

ध. १३/५,४,२६/६२/१ एदाणि दो वि पायच्छित्ताणि णरिंदविरुद्धाचरिदे आइरियाणं णव-दसपुव्वहरं ण होदि। —ये दोनों (अनवस्थाप्य, तथा पारंचिक) दो प्रकारके प्रायश्चित्त राजाके विरुद्ध आचरण करनेपर (रा. वा./९/२२/१०/६२२/५) नौ और दश पूर्वोंका धारण करनेवाले आचार्य करते हैं।

चा. सा./१४६/३ तीर्थंकरगणधरगणिप्रवचनसंघाद्यासादनकारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानभिमतामात्यादीनां दत्तदीक्षस्य नृपकुलवनितासेवितस्यैवमाद्यन्यैर्दोषैश्च धर्मदूषकस्य पारंचिकं प्रायश्चित्तं भवति। —जो मुनि, तीर्थंकर, गणधर, आचार्य और शास्त्र व संघ आदिकी झूठी निन्दा करनेवाले हैं, विरुद्ध आचरण करते हैं, जिन्होंने किसी राजाको अभिमत ऐसे मन्त्री आदिको दीक्षा दी है, जिन्होंने राजकुलकी स्त्रियोंका सेवन किया है, अथवा ऐसे

अन्य दोषोंके द्वारा धर्ममें दोष लगाया है, ऐसे मुनियोंके पारंचिक प्रायश्चित्त होता है। (आचारसार/पृ० ६४), (अन. ध./७/५६ भाषा)।

११. श्रद्धान या उपस्थापन

अन. ध./७/५७ गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्रहणं पुनः। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि।५७। —जो साधु सम्यग्दर्शनको छोड़कर मिथ्यात्वमें (मिथ्यामार्गमें) प्रवेश कर गया है। उसको पुनः दीक्षा रूप यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका दूसरा नाम उपस्थापन है। कोई-कोई महाव्रतोंका मूलोच्छेद होनेपर पुनः दीक्षा देनेको उपस्थापन कहते हैं।

३. शूद्रादि छूनेके अवसर योग्य प्रायश्चित्त

आराधनासार/२/७० कपाली, चाण्डाल, रजस्वला स्त्रीको छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीकी धार डाले जो पैरोंतक आ जाये। उपवास करे तथा महामन्त्रका जाप करे।

प्रायोगिक बन्ध—दे० बन्ध/१।

प्रायोगिक शब्द—दे० शब्द।

प्रायोगिकी क्रिया—दे० क्रिया/२/४।

प्रायोग्य लब्धि—दे० लब्धि/२।

प्रायोपगमन चारित्र—दे० सल्लेखना/३।

प्रायोपगमन मरण—दे० सल्लेखना/३।

प्रारम्भ क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

प्रावचन—१. श्रुतज्ञानका अपर नाम है—दे० श्रुतज्ञान/I/२।

२. ध./१३/५,५,५०/२८०/११ प्रप्रवचने प्रकृष्टशब्दकलापे भवं ज्ञानं द्रव्यश्रुतं वा प्रावचनं नाम। —प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्द कलापमें होनेवाला ज्ञान या द्रव्य श्रुत प्रावचन कहलाता है।

प्राविष्कृत—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

प्रासाद—ध. १४/५,६,६१/३९/३ पक्कसइला सइला आवासा पासादा णाम। —ईंटों और पत्थरोंके बने हुए पत्थरबहुल आवासोंको प्रासाद कहते हैं।

प्रासुक—

मू. आ./४८५ पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदात्ति तं दव्वं। पासुगमिदि। —जिसमेंसे एकेन्द्रिय जीव निकल गये हैं वह प्रासुक द्रव्य है।

ध. ८/३,४१/८७/५ पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा तं पासुअं, अथवा जं णिरवज्जं तं पासुअं। किं? णाणदंसण-चरित्तादि। —जिससे आस्रव दूर हो गये हैं उसका नाम (वह जीव) प्रासुक है, अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है। वह ज्ञानदर्शन व चारित्रादिक ही हो सकते हैं।

नि.सा./ता.वृ./६३ हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसंचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्। —हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियोंके संचारको अगोचर वह प्रासुक (अन्न) ऐसा (शास्त्रमें) कहा है।

★ **जलादि प्रासुक करनेकी विधि**—दे० जलगालन।

★ **वनस्पति आदिको प्रासुक करनेकी विधि**—दे० सचित्त।

★ **विहारके लिए प्रासुक मार्ग**—दे० विहार/१।

प्रास्थल - भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रिय—१. क.पा./१/१,१३-१४/§२१६/२७१/१ स्वरुचिविषयीकृतं वस्तु प्रियं, यथा पुत्रादिः। —जो वस्तु अपनेको रुचे उसे प्रिय कहते हैं। जैसे—पुत्र आदि। २. उत्तरधातकीखण्ड द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यंतर/४।

प्रियकारिणी—भगवान् महावीरकी माता—दे० तीर्थंकर/५।

प्रियदर्शन—१. महोरग नामा जाति व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० महोरग; २. सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु। ३. उत्तरधातकी खण्ड द्वीप रक्षक देव—दे० लोक/४/२।

प्रियमित्र—एक राजपुत्र था। (म.पु./७४/२३४-२४०) यह वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका चौथा भव है—दे० वर्धमान।

प्रियोद्भव क्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रीतिंकर—१. म.पु./सर्ग/श्लोक पुण्डरीकिणी नगरीके राजा प्रियसेनका पुत्र था (६/१०८)। स्वयंप्रभु मुनिराजसे दीक्षा ले अवधिज्ञान व आकाशगमन विद्या प्राप्त की (६/११०)। ऋषभ भगवान्‌को जबकि वे भोग भूमिज पर्यायमें थे (दे० ऋषभनाथ) सम्बोधनेके लिए भोगभूमिमें जाकर अपना परिचय दिया (९/१०५)। तथा सम्यग्दर्शन ग्रहण कराया (९/१४८)। अन्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया (१०/१)। २. म.पु./७६/श्लोक अपनी पूर्वकी शृगालीकी पर्यायमें रात्रि भोजन त्यागके फलसे वर्तमान भवमें कुबेरदत्तसेठके पुत्र हुए (२३८-२८१)। बाल्यकालमें ही मुनिराजके पास शिक्षा प्राप्त की (२४४-२४८)। विदेशमें भाइयों द्वारा धोखा दिया जानेपर गुरुभक्त देवोंने रक्षा की (२४६-३८४)। अन्तमें दीक्षा ले मोक्ष प्राप्त किया (३८७-३८८)। ३. प.पु./७७/श्लोक अरिंदम राजाका पुत्र था (६५)। पिताके कीट बन जानेपर पिताकी आज्ञानुसार उसको (कीटको) मारने गया। तब कीट विष्टामें घुस गया (६७)। तब मुनियोंसे प्रबोधको प्राप्त हो दीक्षा धारण की (७०)। ४. नव ग्रैवेयकका नवाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

प्रीतिक्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रेत्य भाव—न्या.सू./मू./१/१/१९/२२ पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभाव.। —मरकर फिर किसी शरीरमें जन्म लेनेको प्रेत्यभाव कहते हैं।

प्रेम—ध./१४/४,२,८,९/२८४/१ प्रियत्वं प्रेम। —प्रियताका नाम प्रेम है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. प्रेम सम्बन्धी विषय	—दे० वात्सल्य।
२. प्रेमप्रत्यय बन्ध कारणके रूपमें	—दे० बंध/५।
३. प्रेम व कषायादि प्रत्ययोंके रूपमें।	—दे० प्रत्यय/१।

प्रेरक निमित्त—दे० निमित्त/१।

प्रेष्य प्रयोग—स.सि./७/३१/३६९/१० एवं कुर्विति नियोगः प्रेष्यप्रयोगः। —ऐसा करो इस प्रकार काममें लगाना प्रेष्यप्रयोग है।

रा.वा./७/३१/२/५५६/४ परिच्छिन्नदेशाद्बहिः स्वयमगत्वा अन्यमप्यनीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोग.। —स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वयं न जाकर और दूसरेको न बुलाकर भी नौकरके द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्य प्रयोग है। (चा सा./१९/१)

प्रोक्षण विधि—प्रतिष्ठाके समय प्रतिमाकी प्रोक्षण विधि—दे० प्रतिष्ठा विधान।

प्रोषधोपवास—पर्वके दिनमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करके धर्म ध्यानमें दिन व्यतीत करना प्रौषधोपवास कहलाता है, उस दिन आरम्भ करनेका त्याग होता है। एक दिनमें भोजनकी दो बेला मानी जाती है। पहले दिन एक बेला, दूसरे दिन दोनों बेला और

तीसरे दिन पुनः एक बेला, इस प्रकार चार बेलामें भोजनका त्याग होनेके कारण उपवासको चतुर्भक्त बेलेको षष्ठभक्त आदि कहते हैं। व्रत प्रतिमामें प्रोषधोपवास सातिचार होता है, और प्रोषधोपवास प्रतिमामें निरतिचार।

१. भेद व लक्षण

१. उपवास सामान्यका लक्षण

१. निश्चय

का.अ./मू./४३६ उवसमणो अक्खाणं उववासो वण्णिदो समासेण। जम्हा भुंजंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा।४३६। –तीर्थंकर, गणधर आदि मुनिन्द्रोंने उपशमनको उपवास कहा है, इसलिए जितेन्द्रिय पुरुष भोजन करते हुए भी उपवासी हैं।

अन.ध./७/१२ स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात्। उपवासो-ऽशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम्।१२। –उप् पूर्वक वस् धातुसे उपवास बनता है अर्थात् उपसर्गका अर्थ उपेत्य हट तथा वस् धातुका अर्थ निवास करना या लीन होना होता है। अतएव इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयसे हटकर शुद्धात्म स्वरूपमें लीन होनेका नाम उपवास है।१२।

२. व्यवहार

स.सि./७/२१/३६१/३ शब्दादिग्रहणं प्रति निवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाण्युपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवासः। चतुर्विधाहारपरित्याग इत्यर्थः। –पाँचों इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंसे हटकर उसमें निवास करना उपवास है। अर्थात् चतुर्विध आहारका त्याग करना उपवास है। (रा.वा./७/२१/८/५४८/त.सा./७/१०)।

२. उपवासके भेद

वसु.श्रा./२८० उत्तम मज्झ जहण्णं तिविहं पोसण विहाणमुद्दिट्ठं। –तीन प्रकारका प्रोषध विधान कहा गया है—उत्तम, मध्यम, जघन्य।

अन.ध./७/१४ उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः। कार्यो विरक्तैः। –विरक्त पुरुषोंको उत्तम, मध्यम व जघन्यमें से कौन सा भी उपवास प्रचुर पातकोंकी भी शीघ्र निर्जरा कर सकता है।

★ अक्षयनिधि आदि अनेक प्रकारके व्रत—दे० व्रत/१।

३. प्रोषधोपवासका लक्षण

र.क.श्रा./मू./१०९ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति।१०९। –चार प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है। जो धारणे पारनेके दिन प्रोषधसहित गृहारंभादिको छोड़कर उपवास करके आरंभ करता है, वह प्रोषधोपवास है।

स.सि./७/२१/३६१/३ प्रोषधशब्दः पर्व पर्यायवाची।...प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। –प्रोषधका अर्थ पर्व है।...पर्वके दिनमें जो उपवास किया जाता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। (रा.वा./७/२१/८/५४८/६); (सा.ध./५/३४)।

का.अ./मू./३५८-३५९ ण्हाण-विलेवण-भूसण-इत्थी-संसग्ग-गंधधूवादी। जो परिहरेदि णाणी वेरग्गाभूसणं किच्चा।३५८। दोसु वि पव्वेसु सया उववासं एय-भत्त-णिव्वियडी। जो कुणदि एवमाई तस्स वयं पोसहं बिदियं।३५९। –जो श्रावक सदा दोनों पर्वोंमें स्नान, विलेपन, भूषण, स्त्री संसर्ग, गंध, धूप, दीपादिका त्याग करता है। वैराग्यरूपी भूषणसे भूषित होकर, उपवास या एक बार भोजन, वा निर्विकृति भोजन करता है। उसके प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत होता है।३५८-३५९।

४. प्रोषधोपवास सामान्यका स्वरूप

र.क.श्रा./मू./१६-१८ पर्वण्यष्टम्यां च ज्ञातव्यः प्रोषधोपवासस्तु। चतुरभ्यवहार्याणां प्रत्याख्यानं सदेच्छाभिः।१६। पञ्चानां पापानामलंक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्।१७। धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः।१८। –चतुर्दशी तथा अष्टमीके दिन सदाव्रत विधानकी इच्छासे चार तरहके भोजनके त्याग करनेको प्रोषधोपवास जानना चाहिए।१६। उपवासके दिन पाँचों पापोंका—शृङ्गार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अञ्जन तथा नस्य (सूँघने योग्य) वस्तुओंका त्याग करे।१७। (वसु.श्रा./२९३) उपवासके दिन आलस्य रहित हो कानोंसे अतिशय उत्कंठित होता हुआ धर्म रूपी अमृतको पीवे, तथा दूसरोंको पिलावे अथवा ज्ञान-ध्यानमें तत्पर होवे।१८। (ला.सं./६/१९५-१९७)।

स.सि./७/२१/३६१/४ स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः शुचावकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाश्रवणश्रावणचिन्तनविहितान्तःकरणः सन्नुपवसेन्निरारम्भः श्रावक.। –प्रोषधोपवासी श्रावकको अपने शरीरके संस्कारके कारण, स्नान, गन्ध, माला और आभरणादिका त्याग करके किसी पवित्र स्थानमें, चैत्यालयमें, या अपने प्रोषधोपवासके लिए नियत किये गये घरमें धर्मकथाके सुनने-सुनाने और चिन्तवन करनेमें मनको लगाकर उपवास करना चाहिए और सब प्रकारका आरम्भ छोड़ देना चाहिए। (रा.वा./७/२१/२६/५४६/३१); (का.अ./३५८)।

ला.सं./६/२०४ ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं धारणादि दिनत्रयम्। परस्त्रीपरित्यागो प्रागिवं स्वात्मकलत्रके।२०४। –धारणाके दिनसे लेकर पारणाके दिन तक, तीन दिन उसे ब्रह्मचर्य पालना चाहिए। यह ध्यानमें रखना चाहिए। व्रती श्रावकके लिए परस्त्रीका निषेध तो पहले ही कर चुके हैं, यहाँ तो धर्मपत्नीके त्यागकी बात बतायी जा रही है।

व्रत विधान संग्रह/पृ. २२ पर उद्धृत प्रात.सामायिकं कुर्यात्ततः तात्कालिकीं क्रियाम्। धौताम्बरधरो धीमान् जिनध्यानपरायणम्।१। महाभिषेकमद्भुत्यै जिनागारे व्रतान्वितैः। कर्तव्यं सह संघेन महापूजादिकोत्सवम्।२। ततो स्वगृहमागत्य दानं दद्यात् मुनीशिने। निर्दोषं प्रासुकं शुद्धं मधुरं तृप्तिकारणम्।३। प्रत्याख्यानोद्यतो भूत्वा ततो गत्वा जिनालयम्। त्रिः परीत्य ततः कार्यस्तद्विध्युक्तजिनालयम्।४। –विवेकी, व्रती, श्रावक प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर सामायिक करे, और बादमें शौच आदिसे निवृत्त होकर शुद्ध साफ वस्त्र धारण कर श्रीजिनेन्द्र देवके ध्यानमें तत्पर रहे।१। श्री मन्दिरजीमें जाकर सबको आश्चर्य करे, ऐसा महाभिषेक करे, फिर अपने संघके साथ समारोह पूर्वक महा पूजन करे।२। व्रत विधान सं./पृ. २७ पर उद्धृत। पश्चात् अपने घर आकर मुनियोंको निर्दोष प्रासुक, शुद्ध, मधुर और तृप्ति करनेवाला आहार देकर शेष बचे हुए आहार सामग्रीको अपने कुटुम्बके साथ सानन्द स्वयं आहार करे।३। फिर मन्दिरजीमें जाकर प्रदक्षिणा देवे और व्रत विधानमें कहे गये मन्त्रोंका जाप्य करे।४।

५. उत्तम, मध्यम व जघन्य प्रोषधोपवासका स्वरूप

पु.सि.उ./१५२-१५६ मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे। उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ।१५२। श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय। सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्।१५३। धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्। शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः।१५४। प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्। निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः।१५५। उक्तेन ततो विधिना नीत्वा

दिवसं द्वितीयरात्रिं च। अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ।१५६। –उपवाससे पूर्व दिन मध्याह्नको समस्त आरम्भसे मुक्त होकर, शरीरादिकमें ममत्वको त्यागकर उपवासका अंगीकार करै ।१५२। पश्चात् समस्त सावद्य क्रियाका त्यागकर एकान्त स्थानको प्राप्त होवे। और सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त हो त्रिगुप्तिमें स्थित होवे। यदि कुछ चेष्टा करनी हो तो प्रमाणानुकूल क्षेत्रमें धर्मरूप ही करे।१५३। कर ली गयी हैं प्रातःकाल और सन्ध्याकालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे दिनको धर्मध्यानमें आसक्ततापूर्वक बिताकर, पठन-पाठनसे निद्राको जीतता हुआ पवित्र संथारे पर रात्रिको बितावे ।१५४। तदुपरान्त प्रातः को उठकर तात्कालिक क्रियाओंसे निवृत्त हो प्रासुक द्रव्योंसे जिन भगवान्की पूजा करे ।१५५। इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधिसे उस दिन और रात्रिको प्राप्त होके तीसरे दिनके आधेको भी अतिशय यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करै ।१५६।

वसु. श्रा./२८१-२९२ सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि। भोत्तूण भुंजणिज्जं तत्थ वि काउण मुहसुद्धिं ।२८१। पक्खालिऊण वयणं कर–चरणे णियमिऊण तत्थेव। पच्छा जिणिंदभवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ।२८२। गुरुपुरओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण। गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ।२८३। वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं। णेऊण दिवससेसं अवराण्हिय वंदणं किच्चा ।२८४। रयणि समयम्हि ठिच्चा काउसग्गेण णियसत्तीए। पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ।२८५। दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्तिं काउसग्गेण णेऊण ।२८६। पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता। तह दव्व-भावपुज्जं णिय–सुय साहूण काऊण ।२८७। उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण। पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ।२८८। गंतूण णिययगेहं अतिहिविभागं च तत्थ काऊण। जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ ।२८९। जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। णवर विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं ।२९०। मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं। जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ।२९१। आयंबिल णिव्वयडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा। जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ।२९२। –१. उत्तम—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजन कर और वहीं पर मुखशुद्धिको करके, मुँहको और हाथ-पाँवको धोकर वहीं ही उपवास सम्बन्धी नियमको करके पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिन भगवान्को नमस्कार करके, गुरुके सामने वन्दना पूर्वक क्रमसे कृतिकर्म करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारों प्रकारके आहारके त्याग रूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र–वाचन, धर्मकथा–श्रवण–श्रावण, अनुप्रेक्षा चिन्तन, पठन-पाठनादिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके, तथा अपराह्निक वन्दना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन करके और अपने शरीरके प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रिमें कुछ समय तक जिनालयमें अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे बिताकर प्रातःकाल उठकर वन्दना विधिसे जिन भगवान्को नमस्कार कर तथा देव-शास्त्र और गुरुकी द्रव्य वा भाव पूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रिको भी बिताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुनः पूर्वके समान पूजन करनेके पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको दान देकर जो भोजन करता है, उसे निश्चयसे उत्तम प्रोषधोपवास होता है। २८१-२८९। २. मध्यम—जिस प्रकार उत्कृष्ट प्रोषधोपवास विधान कहा गया है, उसी प्रकारसे मध्यम भी जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जलको छोड़कर शेष तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ।२९०। जरूरी कार्यको समझकर सावद्य रहित यदि अपने घरू आरम्भको करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्वके समान है ।२९०-२९१। ३. जघन्य—जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचाम्ल निर्विकृति, एक स्थान अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषधोपवास समझना ।२९२। –(गुण. श्रा./१७०-१७४); (का. अ /मू./३७३-३७४); (सा. ध./५/३४-३९); (अन. ध /७/१५); (चा. पा./टी./२५/४५/१९)।

६. प्रोषधोपवास प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४० पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य। प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ।१४०। –जो महीने महीने चारों ही पर्वोंमें (दो अष्टमी और चतुर्दशीके दिनोंमें) अपनी शक्तिको न छिपाकर शुभ ध्यानमें तत्पर होता हुआ यदि अन्तमें प्रोषधपूर्वक उपवास करता है वह चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमाका धारी है ।१४०। (चा. सा./३७/४) (द्र. सं./४५/१९५)।

७. एकभक्तका लक्षण

मू.आ./३५ उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि। एकम्हि दुअ तिये वा मुहुत्तकालेय भत्तं तु ।३५। –सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घड़ी छोड़कर, वा मध्याह्न कालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना वह एकभक्त मूल गुण है ।३५।

८. चतुर्थभक्त आदिके लक्षण

ह. पु./३४/१२५ विधीनामिह सर्वेषामेषा हि च प्रदर्शना। एकश्चतुर्थकाभिख्यो द्वौ षष्ठं तु त्रयोऽष्टमः। दशमाद्यास्तथा वेद्याः षण्मास्यन्तोपवासकाः ।१२५। –उपवास विधिमें चतुर्थक शब्दसे एक उपवास, षष्ठ शब्दसे बेला, और अष्ट शब्दसे तेला लिया गया है, तथा इसी प्रकार आगे दशम शब्दसे चौला आदि छह मास पर्यन्त उपवास समझने चाहिए। (भ. आ./भाषा./२०९/४२५)।

मू. आ./भाषा./३४८ एक दिनमें दो भोजन वेला कही है। (एक बेला धारणके दिनकी, दो बेला उपवासके दिनकी और एक बेला पारणके दिनकी, इस प्रकार) चार भोजन बेलाका त्याग चतुर्थ भक्त अथवा उपवास कहलाता है। छह बेलाके भोजनका त्याग षष्ट भक्त अथवा बेला (२ उपवास) कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी चार-पाँच आदि दिनोंसे लेकर छह उपवास पर्यन्त उपवासोंके नाम जानने चाहिए।

व्रतविधान सं./पृ. २६ मात्र एक बार परोसा हुआ भोजन सन्तोष पूर्वक खाना एकलठाना कहलाता है।

२. प्रोषधोपवास व उपवास निर्देश

१. प्रोषधोपवासके पाँच अतिचार

त. सू./७/३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।३४। –अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिमें उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं। (र. क. श्रा./११०)।

२. प्रोषधोपवास व उपवास सामान्यमें अन्तर

र. क. श्रा./१०९ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ।१०९। –चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। और एक बार भोजन करना प्रोषध है।

तथा जो एकाशन और दूसरे दिन उपवास करके पारणाके दिन एकाशन करता है, वह प्रोषधोपवास कहा जाता है।१०६।

३. प्रोषधोपवास व प्रोषध प्रतिमाओंमें अन्तर

चा.सा./३७/४ प्रोषधोपवासः मासे चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगुह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति। – प्रोषधोपवास प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर तथा प्रोषधके सब नियमोंको मानकर करना चाहिए। व्रती श्रावकके जो प्रोषधोपवास शील रूपसे रहता था वही प्रोषधोपवास इस चौथी प्रतिमावालेके व्रत रूपसे रहता है।

ला. सं./७/१२-१३ अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत्। सातिचारं च तत्र स्यादत्रातिचारवर्जितम् ।१२। द्वादशव्रतमध्येऽपि विद्यते प्रोषधं व्रतम्। तदेवात्र समाख्यातं विशेषस्तु विवक्षितः ।१३। – व्रत प्रतिमामें भी प्रोषधोपवास कहा है तथा यहाँ पर चौथी प्रतिमामें भी प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है इसका समाधान यही है कि व्रत प्रतिमामें अतिचार सहित पालन किया जाता है। तथा यहाँ पर चौथी प्रतिमामें वही प्रोषधोपवास व्रत अतिचार रहित पालन किया जाता है। तथा व्रत प्रतिमा वाला श्रावक कभी प्रोषधोपवास करता था तथा कभी कारणवश नहीं भी करता था परन्तु चतुर्थ प्रतिमा वाला नियमसे प्रोषधोपवास करता है यदि नहीं करता तो उसकी चतुर्थ प्रतिमाकी हानि है। यही इन दोनोंमें अन्तर है ।१३।

वसु. श्रा./टी./३७८/२७७/४ प्रोषधप्रतिमाधारी अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रोषधोपवासमङ्गीकरोतीत्यर्थः। व्रते तु प्रोषधोपवासस्य नियमो नास्तीति। – प्रोषध प्रतिमाधारी अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास नियमसे करता है और व्रत प्रतिमामें जो प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है उसमें नियम नहीं है।

४. उपवास अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिए

ध. १३/५,४,२६/५६/१२ पित्तप्पकोवेण उववास अक्खमेहि अद्धाहरेण उववासादो अहियपरिस्समेहि।...। – जो पित्तके प्रकोपवश उपवास करनेमें असमर्थ हैं, जिन्हें आधा आहारकी अपेक्षा उपवास करनेमें अधिक थकान होती है...उन्हें यह अवमौदर्य तप करना चाहिए।

चा. पा./टी./२५/४५/१६ तदपि त्रिविधं...प्रोषधोपवासं भवति यथा कर्तव्यम्। – वह प्रोषधोपवास भी उत्तम, मध्यम व जघन्यके भेदसे तीन प्रकार का है। उनमेंसे कोई भी यथाशक्ति करना चाहिए।

सा. ध./५/३५ उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः। आचाम्लनिर्विकृत्यादि, शक्त्या हि श्रेयसे तपः ।३५। – उपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा जलको छोड़कर चारों प्रकारके आहारका त्याग किया जाना चाहिए; और उपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंके द्वारा आचाम्ल तथा निर्विकृति आदि रूप आहार किया जाना चाहिए, क्योंकि शक्तिके अनुसार किया गया तप कल्याणके लिए होता है ।३५।

★ **उपवास साधुको भी करना चाहिए**—दे० संयत/३।

★ **व्रत भंग करनेका निषेध**—दे० व्रत/१।

★ **उपवासमें फलेच्छाका निषेध**—दे० अनशन/१।

५. अधिकसे अधिक उपवासोंकी सीमा

ध. ९/४,१,२२/८७-८९/५ जो एक्कोववासं काऊणं पारिय दो उववासे करेदि, पुणरवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि। एवमेगुत्तरवड्ढीए जाव जीविदंतं तिगुत्तिगुत्तो होदूण उववासे करेंतो उग्गुग्गतवो णाम।...एवं संते छम्मासेहिंतो वड्ढिया उववासा होंति। तदो णेदं घडदि त्ति। ण एस दोसो, घादाउआणं मुणीणं छम्मासोववासणियमब्भुवगमादो, णाग्घादाउआणं, तेसिमकाले मरणाभावो। अघादाउआ वि छम्मासोववासा चेव होंति, तदुवरि संकिलेसुप्पत्तीदो त्ति उत्ते होदु णाम एसो णियमो ससंकिलेसाणं सोवक्कमाउआणं च, ण संकिलेसविरहिदणिरुवक्कमाउआणं तवोबलेणुप्पण्णविरियंतराइयक्खओवसमाणं तब्बलेणेव मंदीकसायादावेदणीओदयाणामेस णियमो, तत्थ तव्विरोहादो। तवोबलेण एरिसी सत्ती महाणम्मुप्पज्जदि त्ति कधं णव्वदे। एदम्हादो चेव सुत्तादो। कुदो। छम्मासेहिंतो उवरि उववासाभावे उग्गुग्गतवाणुववत्तीदो। – जो एक उपवासको करके पारणा कर दो उपवास करता है, पश्चात् फिर पारणा कर तीन उपवास करता है। इस प्रकार एक अधिक वृद्धिके साथ जीवन पर्यन्त तीन गुप्तियोंसे रक्षित होकर उपवास करनेवाला उग्रोग्रतप ऋद्धिका धारक है। प्रश्न – ऐसा होनेपर छह माससे अधिक उपवास हो जाते हैं। इस कारण यह घटित नहीं होता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, घातायुष्क मुनियोंके छह मासोंके उपवासका नियम स्वीकार किया है, अघातायुष्क मुनियोंके नहीं, क्योंकि, उनका अकालमें मरण नहीं होता। प्रश्न—अघातायुष्क भी छह मास तक उपवास करनेवाले ही होते हैं, क्योंकि, इसके आगे संक्लेशभाव उत्पन्न हो जाता है? उत्तर—इसके उत्तरमें कहते हैं कि संक्लेश सहित और सोपक्रमायुष्क मुनियोंके लिए यह नियम भले ही हो, किन्तु संक्लेशभावसे रहित निरुपक्रमायुष्क और तपके बलसे उत्पन्न हुए वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे संयुक्त तथा उसके बलसे ही असाता वेदनीयके उदयको मन्द कर चुकनेवाले साधुओंके लिए यह नियम नहीं है, क्योंकि उनमें इसका विरोध है। प्रश्न—तपके बलसे ऐसी शक्ति किसी महाजनके उत्पन्न होती है, यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—इसी सूत्रसे ही यह जाना जाता है, क्योंकि छह माससे ऊपर उपवासका अभाव माननेपर उग्रोग्र तप बन नहीं सकता।

ध. १३/५,४,२६/५५/१ तत्थ चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालसपक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो। – चौथे, छटे, आठवें, दसवें और बारहवें एषणका ग्रहण करना तथा एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, एक अयन अथवा एक वर्ष तक एषणका त्याग करना अनेषण नामका तप है।

म. पु./२०/२८-२९ का भावार्थ—आदिनाथ भगवान्‌ने छह महीनेका अनशन लेकर समाधि धारण की। उसके पश्चात छह माह पर्यन्त अन्तराय होता रहा। इस प्रकार ऋषभदेवने १ वर्षका उत्कृष्ट तप किया।

म. पु./३६/१०६ गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिताम्। प्रतिमायोगमावर्षम् आतस्थे किल संवृत ।१०६। – गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया ।१०६। (एक वर्ष पश्चात् उपवास समाप्त होनेपर भरतने स्तुति की तब ही केवलज्ञान प्रगट हो गया)। (म. पु./३६/१८५)।

६. उपवास करनेका कारण व प्रयोजन

पु. सि. उ./१५१ सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्। पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ।१५१। – प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक रूप संस्कारको स्थिर करनेके लिए पक्षोंके अर्ध भाग-अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए ।१५१।

७. उपवासका फल व महिमा

पु. सि. उ./१५७-१६० इति य षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः। तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति ।१५७। भोगो-

पभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेरिकलामीषाम्। भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः।१५८। वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्। नाब्रह्ममैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्छस्य।१५९। इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्। उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्।१६०। —जो जीव इस प्रकार सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे परिमुक्त होकर १६ पहर गमाता है, उसके इतने समय तक निश्चय पूर्वक सम्पूर्ण अहिंसा व्रत होता है।१५७। भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुषके भोगोपभोगके निमित्तसे जरा भी हिंसा नहीं होती है।१५८। क्योंकि वचनगुप्ति होनेसे झूठ वचन नहीं है, मैथुन, अदत्तादान और शरीरमें ममत्वका अभाव होनेसे क्रमशः अब्रह्म, चोरी व परिग्रहका अभाव है।१५९। उपवासमें पूर्ण अहिंसा व्रतको पालना होनेके अतिरिक्त अवशेष चारों व्रत भी स्वयमेव पलते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओंसे रहित व प्रोषधोपवास करनेवाला पुरुष उपचारसे महाव्रतीपनेको प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना रह जाता है कि चारित्रमोहके उदय रूप होनेके कारण संयम स्थानको प्राप्त नहीं करता है।१६०।

व्रत विधान सं./पृ. २५ पर उद्धृत—अनेकपुण्यसंतानकारणं स्वर्निबन्धनम्। पापघ्नं च क्रमादेतत् व्रतं मुक्तिवशीकरम्।१। यो विधत्ते व्रतं सारमेतत्सर्वसुखावहम्। प्राप्य षोडशमं नाकं स गच्छेत् क्रमशः शिवम्।२। —व्रत अनेक पुण्यकी सन्तानका कारण है, स्वर्गका कारण है, संसारके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है।१। जो महानुभाव सर्व सुखोत्पादक श्रेष्ठ व्रत धारण करते हैं, वे सोलहवें स्वर्गके सुखोंको अनुभव कर अनुक्रमसे अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त करते हैं।२।

★ **उपवास भी कथंचित् सावद्य है**—दे० सावद्य।

३. उपवासमें उद्यापनका स्थान

१. उपवासके पश्चात् उद्यापन करनेका नियम

धर्म परीक्षा/२०/२२ उपवासोंको विधि पूर्वक पूरा करनेपर फलकी वांछा करनेवालोंको उद्यापन भी अवश्य करना चाहिए।२२।

सा. ध./२/७८ पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा, शिवान्ताभ्युदयप्रदम्। उद्योतयेद्यथासम्पन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मनः।७८। —मोक्ष पर्यन्त इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदोंको प्राप्त करानेवाले पंचमी, पुष्पांजली, मुक्तावली तथा रत्नत्रय आदिक व्रत विधानोंको करके आर्थिक शक्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिए, क्योंकि नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमें मन अधिक उत्साहको प्राप्त होता है।

व्रत विधान संग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—सम्पूर्णे ह्यनुकर्तव्यं स्वशक्त्योद्यापनं बुधैः। सर्वथा येऽप्यशक्त्यादिव्रतोद्यापनसद्विधौ। —व्रतकी मर्यादा पूर्ण हो जानेपर स्व शक्तिके अनुसार उद्यापन करे, यदि उद्यापनकी शक्ति न होवे तो व्रतका जो विधान है उससे दूने व्रत करे।

२. उद्यापन न हो तो दुगुने उपवास करे

धर्म परीक्षा/२०/२३ यदि किसीकी विधि पूर्वक उद्यापन करनेकी सामर्थ्य न हो तो द्विगुण (दुगुने काल तक दुगुने उपवास) विधि करनी चाहिए क्योंकि यदि इस प्रकार नहीं किया जाये तो व्रत विधि कैसे पूर्ण हो। (व्रत विधान सं./पृ. २३ पर उद्धृत)।

३. उद्यापन विधि

व्रत विधान संग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—कर्तव्यं जिनागारे महाभिषेकमद्भुतम्। सङ्घैश्चतुर्विधैः सार्धं महापूजादिकोत्सवम्।१। घण्टाचामरचन्द्रोपकभृङ्गार्यार्तिकादयः। धर्मोपकरणान्येवं देयं भक्त्या स्वशक्तितः।२। पुस्तकादिमहादानं भक्त्या देयं कृपाकरम्। महोत्सवं विधेयं सुवाद्यगीतादिनर्तनैः।३। चतुर्विधाय संघायाहारदानादिकं मुदा। आमन्त्र्य परमभक्त्या देयं सम्मानपूर्वकम्।४। प्रभावना जिनेन्द्राणां शासनं चैत्यधामनि। कुर्वन्तु यथाशक्त्या स्तोकं चोद्यापनं मुदा।५। —खूब ऊँचे-ऊँचे विशाल जिन मन्दिर बनवाये और उनमें बड़े समारोह पूर्वक प्रतिष्ठा कराकर जिन प्रतिमा विराजमान करे। पश्चात् चतुःप्रकार संघके साथ प्रभावना पूर्वक महाभिषेक कर महापूजा करे।१। पश्चात् घण्टा, झालर, चमर, छत्र, सिंहासन, चन्दोवा, झारी, भृंगारी, आरती आदि अनेक प्रकार धर्मोपकरण शक्तिके अनुसार भक्ति पूर्वक देवे।२। आचार्य आदि महापुरुषोंको धर्मवृद्धि तथा ज्ञानवृद्धि हेतु शास्त्र प्रदान करे। और उत्तमोत्तम बाजे, गीत और नृत्य आदिके अत्यन्त आयोजनसे मन्दिरमें महान् उत्सव करे।३। चतुर्विध संघको विशिष्ट सम्मानके साथ भक्ति पूर्वक बुलाकर अत्यन्त प्रमोदसे आहारादिक चतुःप्रकार दान देवे।४। भगवान् जिनेन्द्रके शासनका माहात्म्य प्रगट कर खूब प्रभावना करे। इस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापनका व्रत विसर्जन करे।५।

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य अकर्तव्य

१. निश्चय उपवास ही वास्तवमें उपवास है

ध. १३/५,४,२६/५५/३ ण च चउव्विहआहारपरिच्चागो चेव अणेसणं, रागादीहि सह तच्चागस्स अणेसणभावब्भुवगमादो। अत्र श्लोकः—अप्रवृत्तस्य दोषेभ्यस्सहवासो गुणैः सह। उपवासस्स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम्।६। —पर इसका यह अर्थ नहीं कि चारों प्रकारके आहारका त्याग ही अणेषण कहलाता है। क्योंकि रागादिके त्यागके साथ ही उन चारोंके त्यागका अनेषण स्वीकार किया है। इस विषयमें एक श्लोक है—उपवासमें प्रवृत्ति नहीं करनेवाले जीवको अनेक दोष प्राप्त होते है और उपवास करनेवालेको अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शरीरके शोषणको उपवास नहीं कहते।

दे० प्रोषधोपवास/१/१ (इन्द्रिय विषयोंसे हटकर आत्मस्वरूपमें लीन होनेका नाम उपवास है।)

२. उपवासके दिन आरम्भ करे तो उपवास नहीं लंघन होता है

का.अ./मू./३७८ उववासं कुव्वंतो आरंभं जो करेदि मोहादो। सो णिय देहं सोसदि ण झाडए कम्मलेसं पि।३७८। —जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है वह अपने शरीरको सुखाता है उसके लेशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती।३७८।

व्रतविधान संग्रह/पृ. २७ पर उद्धृत—कषायविषयारम्भत्यागो यत्र विधीयते। उपवासः स विज्ञेयो शेषं लङ्घनं विदुः। —कषाय, विषय और आरम्भका जहाँ संकल्प पूर्वक त्याग किया जाता है, वहाँ उपवास जानना चाहिए। शेष अर्थात् भोजनका त्याग मात्र लंघन है।

३. उपवासके दिन स्नानादि करनेका निषेध

इन्द्रनन्दि संहिता/१४ पव्वदिणे ण वयेसु वि ण दंतकट्ठं ण अब्भंगणं। ण ह्राणंजणणस्माणं परिहारो तस्स सण्णेओ।१४। —पर्व और व्रतके दिनोंमें स्नान, अंजन, नस्य, आचमन और तर्पणका त्याग समझना चाहिए।१४।

दे. प्रोषधोपवास/१/४ (उपवासके दिन स्नान, माला आदिका त्याग करना चाहिए)।

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य

दे. प्रोषधोपवास/१/४,५ (गृहस्थके सर्वारम्भको छोड़कर मन्दिर अथवा निर्जन वसतिकामें जाकर निरन्तर धर्मध्यानमें समय व्यतीत करना चाहिए)।

५. सामायिकादि करे तो पूजा करना आवश्यक नहीं

ला. सं./६/२०२ यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै। न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ।२०२। — प्रोषधोपवासके दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है। यदि उस दिन वह पूजा न करे (अर्थात् सामायिकादि साम्यभाव रूप क्रियामें बितावे) तो भी कोई दोष नहीं है ।२०२।

६. रात्रिको मन्दिरमें सोनेका कोई नियम नहीं

वसु.श्रा./२८६ दाऊण किंचि रत्तिं सइऊणं जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्तिं काउस्सग्गेण णेऊण ।२८६। — रात्रिमें कुछ समय तक जिनालय अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गमें बिताकर अर्थात् बिलकुल न सोकर ।२८६।

प्रोष्ठिल—१. यह भावि कालीन नवें तीर्थंकर हैं। अपरनाम प्रश्नकीर्ति व उदंक है। — दे० तीर्थंकर/५। २. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् ११ अंग व दश पूर्वधारी हुए। आपका समय—वी. नि. १७२-१९१. (ई. पू. ३५५-३३६) दृष्टि नं. ३ के अनुसार वी. नि. २३२-२५१. — दे० इति४/४

प्लवंग संवत्—दे० इतिहास/२।

प्लुत स्वर—दे० अक्षर।

[फ]

फल—१. फल वनस्पतिके भेद प्रभेद व लक्षण — दे० वनस्पति/१। २. फलोंका भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४। ३. कर्मोंका फल दान—दे० उदय; ४. कर्म फल चेतना—दे० चेतना/१।

फल चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि /४

फलदशमी व्रत—फलदशमी फल दश कर लेय। दश श्रावकके घर घर देय। यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। (व्रतविधान सं./पृ. १३०) (नवलसाहकृत वर्द्धमान पु०)।

फल रस—दे० रस।

फल राशि—त्रैराशिक विधानमें जो उत्तर या फलके रूपमें प्राप्त होता है। — विशेष दे० गणित/II/५/२।

फालि—दे० काण्डक।

फाहियान—चीनी यात्री था। ई० ४०२में भारतमें आया था। ई० ४०५ तक भारतमें रहा। (वर्तमान भारत इतिहास) (हिस्ट्री आफ़ कैनेडीज लिटरेचर)।

फिलिप्स—यूनान देशका राजा था। मकदूनिया राजधानी थी। सम्राट् सिकन्दर इसका पुत्र था। समय—ई० पू० ३६०-३३६ (वर्तमान भारत इतिहास)।

फूल दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। फूल दशमि दश फूलनि माल। दश सुपात्र पहिनाय आहार। (व्रत विधान सं./पृ. १३०) (नवलसाहकृत वर्धमान पु०)।

फेनमालिनी—अपर विदेहस्थ एक विभंगा नदी—दे० लोक/५/८।

[ब]

बंग—भरत क्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश — दे० मनुष्य/४। २. वर्तमान बंगाल। सुह्मदेशके पूर्ववर्ती क्षेत्र। प्राचीन राजधानी कर्णसुवर्ण (कनसेना) थी, और वर्तमान राजधानी कालीघट्टपुरी (कलकत्ता) है।

बंध—अनेक पदार्थोंका मिलकर एक हो जाना बन्ध कहलाता है। वह तीन प्रकारका है, जीवबन्ध, अजीवबन्ध और उभयबन्ध। संसार व धन आदि बाह्य पदार्थोंके साथ जीवको बाँध देनेके कारण जीवके पर्याय भूत मिथ्यात्व व रागादि प्रत्यय जीवबन्ध या भावबन्ध हैं। स्कन्धनिर्माणका कारणभूत परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध अजीव बन्ध या पुद्गलबन्ध है। और जीवके प्रदेशोंके साथ कर्म प्रदेशोंका अथवा शरीरका बन्ध उभयबन्ध या द्रव्यबन्ध है। इनके अतिरिक्त भी पारस्परिक संयोगसे बन्धके अनेक भेद किये जा सकते हैं। द्रव्य व भावबन्धमें भावबन्ध ही प्रधान हैं, क्योंकि इसके बिना कर्मों व शरीरका जीवके साथ बन्ध होना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके निरोध द्वारा द्रव्य बन्धका निरोध हो जानेसे जीवको मोक्ष प्रगट होती है।

१. बन्ध सामान्य निर्देश

१. बन्ध सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/४/१०/२६/३ बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः ।१०।

रा. वा./१/४/१७/२६/३० बन्ध इव बन्धः।

रा. वा./५/२४/१/४८५/१० बध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा बन्धः।

रा. वा./८/२/११/५६६/१४ करणादिसाधनेष्वयं बन्धशब्दो द्रष्टव्य.। तत्र करणसाधनस्तावत्—बध्यतेऽनेनात्मेति बन्धः —१. जिनसे कर्म बँधे वह कर्मोंका बँधना बन्ध है। (१/४/१०)। २. बन्धकी भाँति होनेसे बन्ध है। (१/४/१७)। ३. जो बन्धे या जिसके द्वारा बाँधा जाये या बन्धनमात्रको बन्ध कहते हैं। (५/२४/१)। ४. बन्ध शब्द करणादि साधनमें देखा जाता है। करण साधनकी विवक्षामें जिनके द्वारा कर्म बँधता है वह बन्ध है।

२ गति निरोध हेतु

स. सि./७/२५/३६६/२ अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुर्बन्ध.। —किसीको अपने इष्ट स्थानमें जानेसे रोकनेके कारणको बन्ध कहते हैं।

रा. वा./७/२५/१/५५३/१६ अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्ध इत्युच्यते। —खूँटा आदिमें रस्सीसे इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देशको गमन न कर सके, उसको बन्ध कहते हैं। (चा. सा./८/६)।

३. जीव व कर्म प्रदेशोंका परस्पर बन्ध

रा. वा./१/४/१७/२६/२६ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः ।१७। —कर्म प्रदेशोंका आत्मा प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।

ध. १४/५,६,१/२/३ दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधो णाम। —द्रव्यका द्रव्यके साथ तथा द्रव्य और भावका क्रमसे जो संयोग और समवाय है वही बन्ध कहलाता है। विशेष—दे० बन्ध/१/५।

२. बन्धके भेद-प्रभेद

१. बन्ध सामान्यके भेद

रा. वा./१/७/१४/४०/५ बन्धः सामान्यादेशात् एकः, द्विविधः शुभाशुभभेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोढा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, सप्तधा तैरेव भवाधिकैः, अष्टधा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदात्। एवं संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पश्च भवति हेतुफलभेदात्।

रा. वा./२/१०/२/१२४/२४ बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति।

रा. वा./५/२४/६/४८७/१७ बन्धोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात्।६।

रा. वा./८/४/१५/५६१/१० एकादयः संख्येया विकल्पा भवन्ति—शब्दतः तत्रैकस्तावत् सामान्यादेकः कर्मबन्ध···स एव पुण्यपापभेदात् द्विविधः,···त्रिविधो बन्धः···अनादिः सान्तः, अनादिरनन्तः, सादिः सान्तश्चेति, भुजाकाराल्पतरावस्थितभेदाद्वा। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाच्चतुर्विधः। द्रव्यक्षेत्रकालभवभावनिमित्तभेदात् पञ्चविधः। षड्जीवनिकायविकल्पात् षोढा व्यपदिश्यते। रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्ततयीं वृत्तिमनुभवति। ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टधा। एवं संख्येया विकल्पाः शब्दतो योज्याः। चशब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असंख्येयाः। अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपरिणामविधिरनन्तः, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा अनन्तः। —१. सामान्यसे एक प्रकार है—(रा. वा./१ तथा रा. वा./८)। २. पुण्य-पापके भेदसे दो प्रकार है—(रा. वा./१ तथा रा. वा./८)। अथवा द्रव्यभावके भेदसे दो प्रकारका है—(रा. वा./२)। अथवा वैस्रसिक या प्रायोगिकके भेदसे दो प्रकार है—(ष. खं. १४/५,६/सू. २६/२८); (स. सि./५/२४/२९५/७); (रा. वा./५); (त. सा./३/६७)। ३. द्रव्य, भाव व उभय या जीव, पुद्गल व उभयके भेदसे तीन प्रकार है। (रा. वा./१), (प्र. सा./मू./१७७), (ध. १३/५,५,८२/३४७/७), (पं. ध./उ./४६), अथवा अनादि सान्त अनादि अनन्त व सादि सान्तके भेदसे तीन प्रकार है। (रा. वा./८), ४. प्रकृति, स्थिति, अनुभव व प्रदेशके भेदसे चार प्रकार है—(मू. आ./१२२१), (त. सू./८/३), (रा. वा./१ तथा रा. वा./८), (गो. क./मू./८९/७३), (द्र. सं./मू./३३), (पं. ध./उ./९३५); ५. मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पाँच प्रकारका है। (रा. वा./१)। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे पाँच प्रकार है। (रा. वा./८)। ६. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल व भावके भेदसे छह प्रकार है। (रा. वा./१)। अथवा षट्काय जीवोंके भेदसे छह प्रकार है—(रा. वा./८)। ७. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे सात प्रकार है—(रा. वा./१)। अथवा राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभके भेदसे सात प्रकार है— (रा. वा./८)। ८. ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियोंके भेदसे आठ प्रकार है। (रा. वा./१ तथा रा. वा./८), (प्रकृति बन्ध/१)। ९. वाचक शब्दोंकी अपेक्षा संख्यात; अध्यवसाय स्थानोंकी अपेक्षा असंख्यात, तथा कर्म प्रदेशोंकी अथवा कर्मोंके अनुभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकार है। (रा. वा./१ तथा रा. वा./८)।

२. नोआगम द्रव्यबन्धके भेद

ष. खं. १४/५,६/सूत्र नं./पृष्ठ नं. जो सो णोआगमदो दव्वबंधो सो दुविहो—पओअबंधो चेव विस्ससाबंधो चेव (२९/२८)। जो सो विस्ससाबंधो णाम सो दुविहो—सादियविस्ससाबंधो चेव अणादियविस्ससाबंधो चेव (२८/२८)। जो सो थप्पो पओअबंधो णाम सो दुविहो—कम्मबंधो चेव णोकम्मबंधो—चेव (३८/३६)। जो सो णोकम्मबंधो णाम सो पंचविहो—आलावणबंधो अल्लीवणबंधो संसिलेसबंधो सरीरबंधो सरीरिबंधो चेदि (४०/३७)। जो सो सरीरबंधो णाम सो पंचविहो—ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेदि (४४/४१)। जो सो सरीरिबंधो णाम सो दुविहो—सादियसरीरिबंधो चेव अणादियसरीरिबंधो चेव (६१/४४)। जो सो थप्पो कम्मबंधो णाम यथा कम्मेत्ति तहा णेदव्वं (६४/४६)। —१. नोआगम द्रव्यबन्ध दो प्रकारका है—प्रायोगिक व वैस्रसिक (स. सि./५/२४/२९५/७), (रा. वा./५/२४/६/४८७/१७); (त. सा./३/६७)। २. वैस्रसिक दो प्रकारका है—सादि व अनादि। (रा. वा./५/२४/७/४८७/११)। ३. प्रायोगिक दो प्रकार है—कर्म नोकर्म (स. सि./५/२४/२९५/१०), (रा. वा./५/२४/९/४८७/३४), (त. सा./३/६७)। ४. नोकर्म बन्ध पाँच प्रकारका है—आलापन, अल्लीवन, संश्लेष, शरीर व शरीरी (रा. वा./५/२४/९/४८७/३५)। ५. शरीरबन्ध पाँच प्रकार है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्मण (रा. वा./५/२४/९/४८८/३), (विशेष—दे० शरीर)। ६. शरीरी बन्ध दो प्रकार है—सादि व अनादि (रा. वा./५/२४/९/४८८/२४)। ७. कर्म बन्ध कर्म अनुयोग द्वारवत् जानना अर्थात् ज्ञानावरणादि रूप मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद रूप है। (रा. वा./५/२४/९/४८७/३४), (विशेष—दे० प्रकृतिबंध/१)।

३. नो आगम भावबन्धके भेद

ष. खं. १४/५,६/सूत्र नं./पृष्ठ नं. जो सो णोआगमदो भावबंधो णाम सो दुविहो—जीवभावबंधो चेव अजीवभावबंधो चेव (१३/९)। जो सो जीवभावबंधो णाम सो तिविहो—विवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव अविवागपच्चइओ जीवभावबंधो चेव तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो चेव (१४/९)। जो सो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम सो दुविहो—उवसमियो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव खइयो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव (१६/१२)। जो सो अजीवभावबंधो णाम सो तिविहो विवागपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव अविवागपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव तदुभयपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव (२/२२०)। —१. नो आगम भावबन्ध दो प्रकारका है—जीव भाव बन्ध और अजीव भावबन्ध (१३/९)। २. जीव भावबन्ध तीन प्रकारका है—विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध, और तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध (१४/९)। ३. अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध दो प्रकारका है—औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध और क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध (१६/१२)। ४. अजीव भावबन्ध तीन प्रकारका है—विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध, अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध और तदुभय प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध (२०/१२)।

३. वैस्रसिक व प्रायोगिक बन्धके लक्षण

१. वैस्रसिक व प्रायोगिक सामान्य

स. सि./५/२४/२९५/७ पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिकः।···पुरुषप्रयोगनिमित्तः प्रायोगिकः। —पुरुष प्रयोगसे निरपेक्ष वैस्रसिक है और पुरुष प्रयोग सापेक्ष प्रायोगिक। (रा. वा./५/२४/८-९/४८७/३०), (ध. १४/५,६/३८/३७/१), (त. सा./३/६७)।

२. सादि, अनादि वैस्रसिक

ष. खं. १४/५,६/सूत्र नं./पृष्ठ नं. जो सो अणादियविस्ससाबंधो णाम सो तिविहो—धम्मत्थिया अधम्मत्थिया आगासत्थिया चेदि (३०/२९)।

जो सो थप्पो सादियविस्ससाबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो (३२/३०)। से तं बंधणपरिणामं पप्प से अब्भाणं वा मेहाण वा संज्झाणं वा विज्जूणं वा उक्काणं वा कणयाणं वा दिसादाहाणं वा धूमकेदूणं वा इंदाउहाणं वा से खेत्तं पप्प कालं पप्प उडुं पप्प अयणं पप्प पोग्गलं पप्प जे चामण्णे एवमादिया अमंगलप्पहुडीणि बंधणपरिणामेण परिणमंति सो सव्वो सादियविस्ससाबंधो णाम (३७/३४) ।=अनादि वैस्रसिक बन्ध तीन प्रकारका है—धर्म, अधर्म तथा आकाश (३०/३१)। इनके अतिरिक्त इनके भी तीन-तीन प्रकार हैं—सामान्य, देश व प्रदेशमें परस्पर बन्ध। स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण पुद्गल परमाणुमें बंध सादि वैस्रसिक है (३२/३०) वे पुद्गल बन्धनको प्राप्त होकर विविध प्रकारके अभ्ररूपसे, मेघ, सन्ध्या, बिजली, उल्का, कनक, दिशादाह, धूमकेतु, इन्द्रधनुष रूपसे, तथा क्षेत्र, काल, ऋतु, अयन और पुद्गलके अनुसार जो बन्धन परिणामरूपसे परिणत होते हैं, तथा इनको लेकर अन्य जो अमंगलप्रभृति बन्धन परिणाम रूपसे परिणत होते है, वह सब सादि विस्रसाबन्ध हैं। (३७/३४), (रा. वा./५/२४/७/४८७/१६)।

रा. वा./५/२४/७/४८७/२५ कालाणूनामपि सतत परस्परविश्लेषाभावात् अनादिः। =इसी प्रकार काल, द्रव्य आदिमें भी बन्ध अनादि है।

४. कर्म व नोकर्मबन्धके लक्षण

१. कर्म व नोकर्म सामान्य

रा. वा./५/२४/९/४८७/३४ कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो वक्ष्यमाणः। नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषय.। =ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध है—विशेष दे०—प्रकृतिबन्ध। और औदारिकादि नोकर्मबन्ध है—विशेष दे० शरीर।

रा. वा./८/भूमिका/५६१/५ मातापितृपुत्रस्नेहसंबन्धः नोकर्मबन्धः। =माता, पिता पुत्र आदिका स्नेह सम्बन्ध नोकर्म बन्ध है।

दे० आगे बंध.२/५/३ (जीव व पुद्गल उभयबन्ध भी कर्मबन्ध कहलाता है।)

२. आलापन आदि नोकर्म बन्ध

ष. ख. १४/५,६/सू. ४१-६३/३८-४६ जो सो आलावणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—सेसगडाणं वा जाणाणं वा जुगाणं वा गड्डीणं वा गिल्लीणं वा रहाणं वा संदणाणं वा सिवियाणं वा गिहाणं वा पासादाणं वा गोवुराणं वा तोरणाणं वा से कट्ठेण वा लोहेण वा रज्जुणा वा वब्भेण वा दब्भेण वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि आलावियाणं बंधो होदि सो सव्वो आलावणबंधो णाम ।४१। जो सो अल्लीवणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से कडयाणं वा कुड्डाणं वा गोवरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाणं वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि अल्लीविदाणं बंधो होदि सो सव्वो अल्लीवणबंधो णाम ।४२। जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम ।४३। जो सो सरीरबंधो णाम सो पंचविहो—ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेदि ।४४। ओरालिय-ओरालियसरीरबंधो ।४५। ओरालिय-तेयासरीरबंधो ।४६। ओरालिय-कम्मइयसरीरबंधो ।४७। ओरालिय-तेयाकम्मइयसरीरबंधो ।४८। वेउव्विय-वेउव्वियसरीरबंधो ।४९। वेउव्विय-तेयासरीरबंधो ।५०। वेउव्विय-कम्मइयसरीरबंधो ।५१। वेउव्विय-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५२। आहार-आहारसरीरबंधो ।५३। आहार-तेयासरीरबंधो ।५४। आहार-कम्मइयसरीरबंधो ।५५। आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५६। तेया-तेयासरीरबंधो ।५७। तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५८। कम्मइय-कम्मइयसरीरबंधो ।५९। सो सव्वो सरीरबंधो णाम ।६०। जो सो सरीरिबंधो णाम सो दुविहो—सादियसरीरिबंधो चेव अणादियसरीरिबंधो चेव ।६१। जो सो सादियसरीरिबंधो णाम सो जहा सरीरबंधो तहा णेदव्वो ।६२। जो अणादियसरीरिबंधो णाम जथा अट्ठण्णं जीवमज्झपदेसाणं अण्णोण्णपदेसबंधो भवदि सो सव्वो अणादियसरीरिबंधो णाम ।६३। (इतरेषां प्रदेशानां कर्मनिमित्तसंहरणविसर्पणस्वभावत्वादादिमान्। रा. वा.)। =१. जो आलापनबन्ध है उसका यह निर्देश है—जो शकटोंका, यानोंका, युगोंका, गड्डियोंका, गिल्लियोंका, रथों, स्यन्दनों, शिविकाओं, गृहों, प्रासादों, गोपुरों, और तोरणोंका काष्ठसे, लोह, रस्सी, चमड़ेकी रस्सी और दर्भसे जो बन्ध होता है तथा इनसे लेकर अन्य द्रव्योंसे आलापित अन्य द्रव्योंका जो बन्ध होता है वह सब आलापनबन्ध है ।४१। २. जो **अल्लीवणबन्ध** है उसका यह निर्देश है—कटकोंका, कुण्डों, गोवरपीडों, प्राकारों और शाटिकाओंका तथा इनसे लेकर और जो दूसरे पदार्थ हैं उनका जो बन्ध होता है अर्थात् अन्य द्रव्यसे सम्बन्धको प्राप्त हुए अन्य द्रव्यका जो बन्ध होता है वह सब अल्लीवणबन्ध है ।४२। ३. जो **संश्लेषबन्ध** है उसका यह निर्देश है—जैसे परस्पर संश्लेषको प्राप्त हुए काष्ठ और लाखका बन्ध होता है वह सब संश्लेषबन्ध है ।४३।—विशेष दे० श्लेष। ४. जो **शरीरबन्ध** है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरबन्ध ।४४। औदारिक-औदारिक शरीरबन्ध ।४५। औदारिक-तैजसशरीरबन्ध ।४६। औदारिक-कार्मण शरीरबन्ध ।४७। औदारिक-तैजस कार्मण शरीरबन्ध ।४८। वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीरबन्ध ।४९। वैक्रियिक-तैजस शरीरबन्ध ।५०। वैक्रियिक-कार्मण शरीरबन्ध ।५१। वैक्रियिक-तैजस कार्मण शरीरबन्ध ।५२। आहारक-आहारक शरीरबन्ध ।५३। आहारकतैजस शरीरबन्ध ।५४। आहारक-कार्मण शरीरबन्ध ।५५। आहारक-तैजस-कार्मण शरीरबन्ध ।५६। तैजस-तैजस शरीरबन्ध ।५७। तैजस-कार्मण शरीरबन्ध ।५८। कार्मण-कार्मण शरीरबन्ध ।५९। वह सब शरीरबन्ध है ।६०। ५ जो **शरीरिबन्ध** है वह दो प्रकारका है—सादि शरीरिबन्ध और अनादि शरीरिबन्ध ।६१। जो सादि शरीरिबन्ध है—वह शरीरबन्धके समान जानना चाहिए ।६२। जो अनादि शरीरिबन्ध है। यथा—जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका परस्पर प्रदेशबन्ध होता है यह सब अनादि शरीरिबन्ध है ।६३। (जीवके इतर प्रदेशोका बन्ध सादि शरीरिबन्ध है रा. वा.), (रा. वा./५/२४ ९/४८८/२६)।

५. जीव व अजीवबन्धके लक्षण

१. जीवबन्ध सामान्य

ध. १३/५ ५,८२/३४७/८,११ एगसरीरट्ठिदाणमणंताणंताणं णिगोदजीवाणं अण्णोण्णबंधो सो···(तथा) जेण कम्मेण जीवा अणंताणंता एक्कम्मि सरीरे अच्छंति तं कम्मं जीवबंधो णाम। =एक शरीरमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीव तथा जिस कर्मके कारणसे वे इस प्रकार रहते हैं, वह कर्म भी जीवबन्ध है।

२. भावबन्ध रूप जीवबन्ध

प्र. सा./मू./१७५ उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि। पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहि संबंधो ।१७५। =जो उपयोगमय जीव विविध विषयोंको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा बन्धरूप है।

रा. वा./२/१०/२/१२४/२४ क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः। =क्रोधादि परिणाम भावबन्ध है।

भ. आ./वि./३८/१३४/१९ बध्यन्ते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बन्धः। =कर्मको परतन्त्र करनेवाले आत्मपरिणामोंका नाम बन्ध-भावबन्ध है।

प्र. सा./त. प्र./१७६-१७७ येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यते एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः।१७६। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः।१७७। — जिस मोह-राग या द्वेषरूप भावसे देखता और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है, यह जो उपराग है यह वास्तवमें स्निग्ध रूक्षत्व स्थानीय भावबन्ध है।१७६। जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायके साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है।

द्र. सं./मू. ३२ बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो।३२। — जिस चेतन परिणामसे कर्म बँधता है, वह भावबन्ध है।३२।

द्र. सं./टी./३२/९१/१० मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। — मिथ्यात्व रागादिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जिस परिणामसे ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है।

५. द्रव्यबन्धरूप जीवपुद्गल उभयबन्ध

त. सू./८/२ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।२। — कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, वह बन्ध है।२।

स.सि./१/४/१४/४ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मकोऽजीव.। — आत्मा और कर्मके प्रदेशोंका परस्पर मिल जाना अजीव बन्ध है। (रा.वा. /१/४/१७/२६/२१)।

स.सि./८/२/३७७/११ अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मनः सर्वतो योगविशेषात्तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्तानां विविधरसबीजपुष्पफलानां मदिराभावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थितानां योगकषायवशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः। — मिथ्यादर्शनादिके अभिनिवेश द्वारा गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओंमें योग विशेषसे, उन सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होना बन्ध है। यह कहा गया है। जिस प्रकार पात्र विशेषमें प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फल और फलोंका मदिरा रूपसे परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोंका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणमन जानना चाहिए। (रा.वा./८/२/८-९/५६६/५); (क.पा./१/१३,१४/§२५०-२९१/४) (ध. १३/५,५,८२/३४७/१३); (द्र.सं./मू.व.टी./३२); (गो.क./जी प्र./३२/२७/२)।

न.च.वृ./१५४ अप्पपएसामुत्ता पुग्गलसत्ती तहाविहा णेया। अण्णोण्णं-मिल्लंता बंधो खलु होइ णिद्धाइ।१५४। — आत्म प्रदेश और पुद्गलका अन्योन्य मिलन बन्ध है (जीव बन्ध है का. अ.); (का.अ./मू./२०३); (द्र.सं./टी /२८/८५/११)।

ध १३/५,५,८२/३४७/१० ओरालिय-वेउव्विय-आहार-तेया-कम्मइयवग्गणाणं जीवाणं जो बंधो सो जीवपोग्गलबंधो णाम। — औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस और कार्मण वर्गणाएँ; इनका और जीवोंका जो बंध है वह जीव-पुद्गलबंध है।

भ.आ./वि./३८/१३४/१० बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थितिपरिणतेन कर्मणा तत्कर्म बन्धः। — स्थिति परिणत जिस कर्मके द्वारा आत्मा परतन्त्र किया जाता है, वह कर्म 'बन्ध' है।

प्र.सा./त प्र./१७७ यः पुनः जीवकर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभयबन्धः। — जीव और कर्म पुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है। (पं.ध./उ./४७)।

गो.क./जी.प्र./४३८/५९१/१४ मिथ्यात्वादिपरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञानावरणादिरूपेण परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यावृणोतीत्यादि संबन्धो बन्धः। — मिथ्यात्वादि परिणामोंके द्वारा जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावरणादि रूप परिणमित होकर ज्ञानादिको आवरण करता है। इनका यह संबंध है सो बंध है।

पं.ध./उ./१०४ जीवकर्मोभयो बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः। जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्।१०४। — जो जीव और कर्मका परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षासे बन्ध होता है, वह उभयबन्ध कहलाता है। क्योंकि जीव कर्मसे बँधा हुआ है तथा वह कर्म जीवसे बँधा हुआ है।

६. अनन्तर व परम्पराबन्धका लक्षण

ध. १२/४,२,१२,१/३७०/७ कम्मइयवग्गणाए ट्ठिदपोग्गलक्खंधा मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मभावेण परिणदपढमसमए अणंतरबंधा। कधमेदेसिमणंतरबंधत्तं। कम्मइयवग्गणपज्जयपरिच्चत्ताणंतरसमए चेव कम्मपज्जएण परिणयत्तादो।...बंधबिदियसमयप्पहुडि कम्मपोग्गलक्खंधाणं जीवपदेसाणं च जो बंधो सो परंपरबंधो णाम।...पढमसमए बंधो जादो, बिदियसमये वि तेसिं पोग्गलाणं बंधो चेव, तिदियसमये वि बंधो चेव, एवं बंधस्स णिरंतरभावो बंधपरंपरा णाम। ताए बंधापरंपराबंधा त्ति दट्ठव्वा।

ध. १२/४,२,१२,४/३७२/२ णाणावरणीयकम्मक्खंधा अणंताणंता णिरंतरमण्णोण्णेहि संबद्धा होदूण जे द्विट्ठा ते अणंतरबंधा णाम।...अणंताणंता कम्मपोग्गलक्खंधा अण्णोण्णसंबद्धा होदूण सेसकम्मक्खंधेहि असंबद्धा जीवदुवारेण इदरेहि संबंधमुवगया परंपरबंधा णाम। — १. कार्मण वर्गणा स्वरूपसे स्थित पुद्गल स्कन्धोंका मिथ्यात्वादिक प्रत्ययकोंके द्वारा कर्म स्वरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं।...चूँकि वे कार्मण वर्गणा रूप पर्यायको छोड़नेके अनन्तर समयमें ही कर्म रूप पर्यायसे परिणत हुए हैं, अतः उनकी अनन्तरबन्ध संज्ञा है।...बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्म रूप पुद्गल स्कन्धों और जीवप्रदेशोंका जो बन्ध होता है उसे परम्परा बन्ध कहते हैं।...प्रथम समयमें बन्ध हुआ, द्वितीय समयमें भी उन पुद्गलोंका बन्ध ही है, तृतीय समयमें भी बन्ध ही है, इस प्रकारसे बन्धकी निरन्तरताका नाम बन्ध परम्परा है। उस परम्परासे होनेवाले बन्धोंको परम्परा बन्ध समझना चाहिए। २. जो अनन्तानन्त ज्ञानावरणीय कर्म रूप स्कन्ध निरन्तर परस्परमें सम्बद्ध होकर स्थित हैं वे अनन्तर बन्ध हैं।...जो अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल स्कन्ध परस्परमें संबद्ध होकर शेषकर्म संबद्धोंसे असंबद्ध होते हुए जीवके द्वारा इतर स्कन्धोंसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, वे परम्परा बन्ध कहे जाते हैं।

७. विपाक व अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्धके लक्षण

ध. १४/५,६,१४/१०/२ कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम। विवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो विवागपच्चइओ जीवभावबंधो णाम। कम्माणमुदयउदीरणाणमभावो अविवागो णाम। कम्माणमुवसमो खओ वा अविवागो त्ति भणिदं होदि। अविवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम। कम्माणमुदय-उदीरणाहिंतो तदुवसमेण च जो उप्पज्जइ भावो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो णाम। — कर्मोंके उदय और उदीरणाको विपाक कहते हैं; और विपाक जिस भावका प्रत्यय अर्थात् कारण है उसे विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते हैं (अर्थात् जीवके औदयिक भाव दे० उदय/९)। कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अविपाक कहते

है। कर्मोंके उपशम और क्षयको अविपाक कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अविपाक जिस भावका प्रत्यय है उसे अविपाक प्रत्ययिक जीव भावबन्ध कहते हैं। (अर्थात् जीवके औपशमिक व क्षायिक भाव (दे० उपशम/६)। कर्मोंके उदय और उदीरणासे तथा इनके उपशमसे जो भाव उत्पन्न होता है, उसे तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते हैं। (अर्थात् जीवके क्षायोपशमिक भाव —दे० क्षायोपशम)।

८. विपाक अविपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध

ष. खं. १४/५,६/सू. २१-२३/२३-२६—पओगपरिणदा वण्णा पओगपरिणदा सद्दा पओगपरिणदा गंधा पओगपरिणदा रसा पओगपरिणदा फासा पओगपरिणदा गदी पओगपरिणदा ओगाहणा पओगपरिणदा संठाणा पओगपरिणदा खंधा पओगपरिणदा खंधदेसा पओगपरिणदा खंधपदेसा जे चामण्णे एवमादिया पओगपरिणदसंजुत्ता भावा सो सव्वो विवागपच्चइओ अजीव भावबंधो णाम।२१। जे चामण्णे एवमादिया विस्ससापरिणदा संजुत्ता भावा सो सव्वो अविवागपच्चइओ अजीवभावबंधो णाम।२२। जे चामण्णे एवमादिया पओअविस्ससापरिणदा संजुत्ता भावा सो सव्वो तदुभयपच्चइओ अजीवभावबंधो णाम।२३।

ध. १४/५,६,२०/२२/१३ मिच्छत्तासजम-कसाय-जोगेहितो पुरिसपओगेहि वा जे णिप्पण्णा अजीवभावा तेसिं विवागपच्चइओ अजीवभावबंधो त्ति सण्णा। जे अजीवभावा मिच्छत्तादिकारणेहि विणा समुप्पण्णा तेसिमविवागपच्चइओ अजीवभावबंधो त्ति सण्णा जे दोहि वि कारणेहि समुप्पण्णा तेसिं तदुभयपच्चइयो अजीवभावबंधो त्ति सण्णा। =१. मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे या पुरुषके प्रयत्नसे जो अजीव भाव उत्पन्न होते हैं उनकी विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध संज्ञा है। जैसे प्रयोग परिणत वर्ण, प्रयोग परिणत शब्द, प्रयोग परिणत गन्ध, प्रयोग परिणत रस, प्रयोग परिणत स्पर्श, प्रयोग परिणत गति, प्रयोग परिणत अवगाहना, प्रयोगपरिणत संस्थान, प्रयोग परिणत स्कन्ध, प्रयोगपरिणत-स्कन्धदेश और प्रयोग परिणत स्कन्धप्रदेश; ये और इनसे लेकर जो दूसरे भी प्रयोग परिणत संयुक्त भाव होते हैं वह सब विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध हैं।२१। २. जो अजीव भाव मिथ्यात्व आदि कारणोंके बिना उत्पन्न होते हैं उनकी अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध यह संज्ञा है। जैसे पूर्व कथित वर्ण, गन्ध आदिसे लेकर इसी प्रकारके विस्रसा परिणत जो दूसरे संयुक्त भाव है वह अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध है।२२। ३. जो दोनों ही कारणोंसे उत्पन्न होते हैं उनको तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध यह संज्ञा है। यथा पूर्व कथित हो वर्ण-गन्ध आदिसे लेकर प्रयोग और विस्रसा दोनोंसे परिणत जितने भी संयुक्त भाव हैं वह सब तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध हैं।

९. बन्ध अबन्ध व उपरतबन्धके लक्षण

गो. क./भाषा/६४४/८३८ वर्तमान काल विषै जहाँ पर भव सम्बन्धी आगामी आयुका बन्ध होई...तहाँ बन्ध कहिये जो आगामी आयुका अतीतकाल विषै बन्धन भया, वर्तमान काल विषै भी न हो है...तहाँ अबन्ध कहिये। जहाँ आगामी आयुका पूर्वे बन्ध भया हो और वर्तमान काल विषै बन्ध न होता हो...तहाँ उपरतबन्ध कहिये।

२. द्रव्य बन्धकी सिद्धि

१. शरीरसे शरीरधारी अभिन्न कैसे है

ध. ६/४,१,६३/२७०/५ कधं सरीरादो सरीरी अभिण्णो। सरीरदाहे जीवे दाहोपलंभादो, सरीरे भिज्जमाणे छिज्जमाणे च जीवे वेयणोवलंभादो सरीरागरिसणे जीवागरिसणदंसणादो, सरीरगमणागमणेहि जीवस्स गमणागमणदंसणादो, पडियारखंडयाणं व दोण्णं भेदाणुवलंभादो, एगीभूददुद्धोदयं व एगत्तेणुवलंभादो। =प्रश्न—शरीरसे शरीरधारी जीव अभिन्न कैसे है। उत्तर—चूँकि शरीरका दाह होनेपर जीवमें दाह पाया जाता है, शरीरके भेदे जाने और छेदे जानेपर जीवमें वेदना पायी जाती है, शरीरके खींचनेमें जीवका आकर्षण देखा जाता है, शरीरके गमनागमनमें जीवका गमनागमन देखा जाता है, प्रत्याकार (म्यान) और खण्डक (तलवार) के समान दोनोंमें भेद नहीं पाया जाता है। तथा एकरूप हुए दूध और पानीके समान दोनों एकरूपसे पाये जाते हैं। इस कारण शरीरसे शरीरधारी अभिन्न है।

२. जीव व कर्मका बन्ध कैसे जाना जाये

क. पा. १/१,१/§ ४०/५७/७ तं च कम्मं जीवसंबद्धं चेव। तं कुदो णव्वदे। मुत्तेण, सरीरेण कम्मकज्जेण जीवस्स संबंधण्णहाणुववत्तीदो।...ण च संबंधो; सरीरे छिज्जमाणे जीवस्स दुक्खुवलंभादो। ..जीवे गच्छंते ण सरीरेण गंतव्वं,...जीवे रुट्ठे कंप ... पुलउग्गमघम्मादओ सरीरम्मि ण होज्ज...सव्वेसि जीवाणं केवलणाण... सम्मत्तादओ होज्ज;...सिद्धाणं वा तदो चेव अणंतणाणादिगुणा ण होज्ज। ण च एवं; तहाणब्भुवगमादो। =प्रश्न—कर्म जीवसे सम्बद्ध ही है यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—१. यदि कर्मको जीवसे सम्बद्ध न माना जाये तो कर्मके कार्यरूप मूर्त शरीरसे जीवका सम्बन्ध नहीं बन सकता है, इस अन्यथानुपपत्तिसे प्रतीत होता है कि कर्म जीवसे संबद्ध ही है। २. शरीरादिके साथ जीवका संबन्ध नहीं है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि शरीरके छेदे जानेपर जीवको दुःखकी उपलब्धि होती है। ३. ...जीवके गमन करनेपर शरीरका गमन नहीं करना चाहिए।४. ...जीवके रुष्ट होनेपर शरीरमें कंप, दाह...पसीना आदि कार्य नहीं होने चाहिए। ५. ..जीवकी इच्छासे शरीरका गमन...सिर और अंगुलियोंका संचालन नहीं होना चाहिए। ६. सम्पूर्ण जीवोंके केवलज्ञान.. सम्यक्त्वादि गुण हो जाने चाहिए। ७. ...या सिद्धोंके भी (यह केवलज्ञानादि गुण) नहीं होने चाहिए। ८. यदि कहा जाये कि अनन्तज्ञानादि गुण सिद्धोंके नहीं होते हैं तो मत होओ, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माना नहीं गया है।

३. जीवप्रदेशोंमें कर्म स्थित हैं या अस्थित

ध. १२/४, २,११, १/३६४/६ जदि कम्मपदेसा ट्ठिदा चेव होंति तो जीवेण देसंतरगदेण सिद्धसमाणेण होदव्वं। कुदो। सयलकम्माभावादो।

ध. १२/४,२,११, २/३६५/७ जीवपदेसेसु ट्ठिदअद्दजलं व संचरंतेसु तत्थ समवेदकम्मपदेसाणं पि संचरणुवलंभादो। जीवपदेसेसु पुणो कम्मपदेसा ट्ठिदा चेव, पुव्विल्लदेसं मोत्तूण देसंतरे ट्ठिदजीवपदेसेसु समवेदकम्मक्खंधुवलंभादो।

ध. १२/४, २, ११,३/३६६/५ छदुमत्थस्स जीवपदेसाणं केसिं पि चलणाभावादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खंधा वि ट्ठिदा चेव होंति, तत्थेव केसिं जीवपदेसाणं संचालुवलंभादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खंधा वि संचलंति, तेण ते अट्ठिदा त्ति भण्णंति। =प्रश्न—(जीव प्रदेशमें समवायको प्राप्त कर्म प्रदेश स्थित हैं कि अस्थित) उत्तर—१. यदि कर्म प्रदेश स्थित ही हों तो देशान्तरको प्राप्त हुए जीवको सिद्ध जीवके समान हो जाना चाहिए, क्योंकि उस समय उसके समस्त कर्मोंका अभाव है। २. मेघोंमें स्थित जलके समान जीव प्रदेशोंका संचार होनेपर उनमें समवायको प्राप्त कर्मप्रदेशोंका भी संचार पाया जाता है। परन्तु जीव प्रदेशोंमें कर्म प्रदेश स्थित ही रहते हैं, क्योंकि, जीव प्रदेशोंके पूर्वके देशको छोड़कर देशान्तरमें जाकर स्थित

होनेपर उनमें समवायको प्राप्त कर्म स्कन्ध पाये जाते हैं।...इससे जाना जाता है कि जीवप्रदेशोंके देशान्तरको प्राप्त होनेपर उनमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। ३ छद्मस्थके किन्हीं जीव प्रदेशोंका चूँकि संचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्म प्रदेश भी स्थित ही होते हैं। तथा उसी छद्मस्थके किन्हीं जीव प्रदेशोंका चूँकि संचार पाया जाता है अतएव उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचारको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे अस्थित कहे जाते हैं।

४. जीवके साथ कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है

ध. १२/४,२,११,१/३६४/४ कध कम्माणं जीवपदेसेसु समवेदाणं गमणं जुज्जदे। ण एस दोसो, जीवपदेसेसु जोगवसेण संचरमाणेसु तदपुध-भूदाणं कम्मक्खंधाणं पि संचरणं पडि विरोहाभावादो।

ध. १२/४, २,११, २/३६८/११ अट्ठण्हं म उक्तजीवपदेसाणं संकोचो विकोचो वा णत्थि त्ति तत्थ ट्ठिदकम्मपदेसाणं पि अट्ठिदत्तं णत्थि त्ति। तदो सव्वे जीवपदेसा कम्हि वि काले अट्ठिदा होंति त्ति सुत्त-वयणं ण घडदे। ण एस दोसो, ते अट्ठमज्झिमजीवपदेसे मोत्तूण सेसजीवपदेसे अस्सिदूण एदस्स सुत्तस्स पवुत्तीदो। —प्रश्न—जीव प्रदेशोंमें समवायको प्राप्त कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि योगके कारण जीवप्रदेशोंका संचरण होने-पर उनसे अपृथग्भूत कर्मस्कन्धोंके भी संचारमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—यत: जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका संकोच अथवा विस्तार नहीं होता अत: उनमें स्थित कर्मप्रदेशोंका भी अस्थितपना नहीं बनता और इसलिए सब जीवप्रदेश किसी भी समय अस्थित होते हैं, यह सूत्र वचन घटित नहीं होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके उन आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर शेष जीव-प्रदेशोंका आश्रय करके इस सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है।

५. अमूर्त जीवसे मूर्त कर्म कैसे बँधे

१ क्योंकि जीव भी कथंचित् मूर्त है

स. सि./२/७/१६१/६ न चामूर्तेः कर्मणां बन्धो युज्यत इति। तन्न; अनेकान्तात्। नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्तः। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्यादमूर्तः। —प्रश्न—अमूर्त आत्माके कर्मोंका बन्ध नहीं बनता है? उत्तर—आत्माके अमूर्तत्व-के विषयमें अनेकान्त है। यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्ति ही है। कर्म बन्धरूप पर्यायकी अपेक्षा उससे युक्त होनेके कारण कथंचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथंचित् अमूर्त है। (त. सा./५/१६); (पं. का./त. प्र./२७); (द्र. सं./टी./७/२०/१)।

ध. १३/५,३,१२/११/६ जीव-पोग्गलदव्वाणममुत्त-मुत्ताणं कधमेयत्तेण संबंधो। ण एस दोसो, संसारावत्थाए जीवाणममुत्तत्ताभावादो। जदि संसारावत्थाए मुत्तो जीवो, कधं णिव्वुओ संतो अमुत्तत्त-मल्लियइ। ण एस दोसो, जीवस्स मुत्तत्तणिबंधणकम्माभावे तज्ज-णिदमुत्तत्तस्स वि तत्थ अभावेण सिद्धाणममुत्तभावसिद्धीदो। —प्रश्न—जीवद्रव्य अमूर्त है और पुद्गलद्रव्य मूर्त है। इनका एकमेक सम्बन्ध कैसे हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि संसारअवस्थामें जीवोंके अमूर्तपना नहीं पाया जाता। —प्रश्न—यदि संसारअवस्थामें जीव मूर्त हैं, तो मुक्त होनेपर वह अमूर्तपनेको कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवमें मूर्तत्वका कारण कर्म है अतः कर्मका अभाव होनेपर तज्जनित मूर्तत्वका भी अभाव हो जाता है और इसलिए सिद्ध जीवोंके अमूर्तपनेकी सिद्धि हो जाती है। (यो. सा. अ./४/३५)।

ध. १३/५,५,६३/३३३/६ मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो। —क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादि कालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता। (ध. १५/३२/८)।

ध. १५/३३-३४/१ ण च वट्टमाणबंधघडावणट्ठं जीवस्स वि रूवित्तं वोत्तुं जुत्तं,—मिच्छत्तासंजम-कसायजोगा जीवादो अपुधभूदा कम्मइयव-ग्गणक्खंधाणं तत्तो पुधभूदाणं कधं परिणामंतरं संपादेंति। ण एस दोसो,...वुत्तं च—राग-द्वेषाद्यूष्मासंयोग-वर्त्यात्मदीप आवर्ते। स्कन्धानादाय पुनः परिणमयति तांश्च कर्मतया।१८। —प्रश्न—वर्तमान बन्धको घटित करानेके लिए पुद्गलके समान जीवको भी रूपी कहना योग्य नहीं है...तथा मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये जीवसे अभिन्न होकर उससे पृथग्भूत कार्मण वर्गणाके स्कन्धों-के परिणामान्तर (रूपित्व) को कैसे उत्पन्न करा सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। ...कहा भी है—संसारमें रागद्वेष रूपी उष्णतासे संयुक्त वह आत्मारूपी दीपक योग रूप बत्तीके द्वारा (कार्मण वर्गणाके) स्कन्धों (रूप तैल) को ग्रहण करके फिर उन्हें कर्मरूपी (कज्जल) स्वरूपसे परिणमाता है।

दे० मूर्त/६-१८ (कर्मबद्ध जीव व भावकर्म कथंचित् मूर्त हैं।)

२. जीव कर्मबन्ध अनादि है

स. सि./८/२/३७७/४ कर्मणो जीवः सकषायो भवतीत्येकं वाक्यम्। एतदुक्तं भवति—'कर्मणः' इति हेतुनिर्देशः कर्मणो हेतोर्जीवः सक-षायो भवति नाकर्मकस्य कषायलेपोऽस्ति। ततो जीवकर्मणोरनादि-संबन्ध इत्युक्तं भवति। तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथं बध्यते इति चोद्यमपाकृतं भवति। इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्य-न्तिकीं शुद्धिं दधतः सिद्धस्येव बन्धाभावः प्रसज्येत। —'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' यह एक वाक्य है। इसका अभिप्राय है कि 'कर्मणः' यह हेतुपरक निर्देश है। जिसका अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषाय सहित होता है, कषाय रहित जीवके कषायका लेप नहीं होता। इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। और इससे अमूर्त जीव मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्धको सादि माननेपर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान संसारी जीवके बन्धका अभाव प्राप्त होता है। (रा. वा./८/-२/४/५६५/२२); (क. पा. १/१,१/§४१/५६/३); (त. सा./५/१७-१८) (द्र. सं./टी./७/२०/४)।

प. प्र./मू./१/५९ जीवहँ कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण। कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण तेण।५९। —हे आत्मा! जीवोंके कर्म अनादि कालसे है, उस जीवने कर्म नहीं उत्पन्न किये, कर्मोंने भी जीव नहीं उपजाया, क्योंकि जीव कर्म इन दोनोंका ही आदि नहीं है, किन्तु अनादिके हैं।५९।

पं.का./त. प्र./१३४ अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवोऽनादिमूर्तकर्मनिमित्त-रागादिपरिणामस्निग्धः सन् विशिष्टतया मूर्तानि कर्माण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामैर्मूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽव-गाह्यते च। अयं त्वन्योन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बन्धप्रकारः। एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कथंचिद्बन्धो न विरुध्यते।१३४। —निश्चयनयसे अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्त कर्म जिसका निमित्त है, ऐसे रागादि परिणामके द्वारा स्निग्ध वर्तता है, मूर्तकर्मोंको विशिष्ट रूपसे अवगाहता है, और उस परिणामके निमित्तसे अपने परिणामको प्राप्त होते हैं, ऐसे मूर्तकर्म भी जीवको विशिष्ट रूपसे अवगाहते हैं। यह जीव और मूर्तकर्मका अन्योन्य अवगाह स्वरूप बन्ध प्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीवका भी मूर्त पुण्य-पापके साथ कथंचित् बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होता।१३४।

गो. क./मू./२/३···जीवंगाणं अणाइ संबंधो। कणयोवलेमलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्धं।२।—जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, तथापि इनका सम्बन्ध अनादि है, नये नहीं मिले हैं। उसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।२। इनका अस्तित्व स्वयं सिद्ध है।

पं. ध./उ./५५ तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः। कुतः केन कृत. कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत्।५५। —जीव और पुद्गल स्वरूप कर्मका बन्ध स्वयं अनादि है। इसलिए किस कारणसे हुआ, किसने किया तथा कहाँ हुआ, यह प्रश्न आकाशके फूलकी तरह व्यर्थ है। (पं. ध./उ./६,६-७०)।

६. मूर्त कर्म व अमूर्त जीवके बन्धमें दृष्टान्त

प्र. सा./मू. व त. प्र./१७४ उत्थानिका—अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—रूवादिएहिरहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि। दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि।१७४। ···दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथाहि-यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति संबन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसंबन्धो बलीवर्दसंबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव। —अब यह सिद्धान्त निश्चित करते है कि आत्माके अमूर्त होनेपर भी इस प्रकार बन्ध होता है—जैसे रूपादि रहित (जीव) रूपादिक द्रव्योंको तथा गुणोंको देखता है और जानता है, उसी प्रकार उसके साथ बन्ध जानो।१७४। ·आबालगोपाल सभीको प्रगट हो जाय इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा—बाल-गोपालका पृथक् रहनेवाले मिट्टीके बैलको अथवा (सच्चे) बैलको देखने और जाननेपर बैलके साथ सम्बन्ध नहीं है तथापि विषय रूपसे रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोग रूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञानके साथका सम्बन्ध बैलके साथके सम्बन्ध रूप व्यवहारका साधक अवश्य है। इसी प्रकार आत्मा अरूपित्वके कारण स्पर्श शून्य है। इसलिए उसका कर्मपुद्गलोंके साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि एकावगाह रूपसे रहनेवाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त है, ऐसे उपयोगारूढ राग द्वेषादि भावोंके साथका सम्बन्ध कर्मपुद्गलोंके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है।

७. कर्म जीवके साथ समवेत होकर बँधते हैं या असमवेत होकर

ध. १२/४,२,८,२/२७७/११ कम्मइयक्खंधा किं जीवेण समवेदा संता णाणावरणीयपज्जाएण परिणमंति आहो असमवेदा। णादिपक्खो··· णोकम्मवदिरित्तस्स कम्मइयक्खंधस्स कम्मसरूवेण अपरिणदस्स जीवे समवेदस्स अणुवलंभादो।···ण बिदिओ वि पक्खो जुज्जदे, जीवे असमवेदाण कम्मइयक्खंधाण णाणावरणीयसरूवेण परिणमणविरोहादो। अविरोहे वा जीवो संसारावत्थाए अमुत्तो होज्ज, मुत्तदव्वेहि संबंधाभावादो। ण च एवं, जीवगमणे सरीरस्स संबंधाभावेण आगमणप्पसंगादो, जीवादोपुधभूदं सरीरमिदि अणुहवाभावादो च। ण पच्छा दोण्णं पि संबंधो, 'एत्थ परिहारो वुच्चदे—जीव समवेदकाले चेव कम्मइयक्खंधा ण णाणावरणीयसरूवेण परिणमंति (त्ति) ण पुव्वुत्तदोसा ढुक्कंति।—प्रश्न—कार्मण स्कन्ध क्या जीवमें समवेत होकर ज्ञानावरणीय पर्याय रूपसे परिणमते हैं, अथवा असमवेत होकर ? १. प्रथम पक्ष तो सम्भव नहीं है, क्योंकि···नोकर्मसे भिन्न और कर्म स्वरूपसे अपरिणत हुआ कार्मण स्कन्ध जीवमें समवेत नहीं पाया जाता।··· २. दूसरा पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जीवमें असमवेत कार्मण स्कन्धोंके ज्ञानावरणीय स्वरूपसे परिणत होनेका विरोध है। यदि विरोध न माना जाय तो संसार अवस्थामें जीवको अमूर्त होना चाहिए, क्योंकि, मूर्त द्रव्योंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, जीवके गमन करनेपर शरीरका सम्बन्ध न रहनेसे उसके गमन न करनेका प्रसंग आता है। दूसरे, जीवसे शरीर पृथक् है, ऐसा अनुभव भी नहीं होता। पीछे दोनोंका सम्बन्ध होता है, ऐसा भी सम्भव नहीं है। उत्तर—जीवसे समवेत होनेके समयमें ही कार्मण स्कन्ध ज्ञानावरणी स्वरूपसे नहीं परिणमते हैं। अतएव पूर्वोक्त दोष यहाँ नहीं ढूँकते।

८. कर्मबद्ध जीवमें चेतनता न रहेगी

ध. १२/४,२,६,६/२६७/२ णिच्चेयण-मुत्तपोग्गलक्खंधसमवाएण भट्ठसगसरूवस्स कध जीवत्तं जुज्जदे। ण, अविणट्ठणाण-दंसणाणमुवलंभेण जीवत्थित्तसिद्धीदो। ण तत्थ पोग्गलक्खंधो वि अत्थि, पहाणीकयजीवभावादो। ण च जीवे पोग्गलप्पवेसो बुद्धिकओ चेव, परमत्थेण वितत्तो तेसिमभेदुवलंभादो। —प्रश्न—चेतना रहित मूर्त पुद्गल स्कन्धोंके साथ समवाय होनेके कारण अपने स्वरूप (चैतन्य व अमूर्तत्व) से रहित हुए जीवके जीवत्व स्वीकार करना कैसे युक्तियुक्त है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विनाशको नहीं प्राप्त हुए ज्ञान दर्शनके पाये जानेसे उसमें जीवत्वका अस्तित्व सिद्ध है। वस्तुतः उसमें पुद्गल स्कन्ध भी नहीं है, क्योंकि, यहाँ जीव भावकी प्रधानता की गयी है। दूसरे, जीवमें पुद्गल स्कन्धोंका प्रवेश बुद्धि पूर्वक नहीं किया गया है, क्योंकि, यथार्थतः भी उससे उनका अभेद पाया जाता है।

९. बन्ध पदार्थकी क्या प्रमाणिकता

म. सि./८/२६/४०५/३ एवं व्याख्यातः सप्रपञ्चः बन्धपदार्थः। अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेयः। —इस प्रकार विस्तारसे बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवों द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

१०. विस्रसोपचय रूपसे स्थित वर्गणाएँ ही बँधती हैं

त. सू./८/२८ नामप्रत्ययाः सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः।२४। —कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रतिसमय योग विशेषसे सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्तपुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोंमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते हैं।

प्र. सा./मू./१६८, १७० ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहि सव्वदो लोगो। सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहि जोग्गेहि।१६८। ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स। सजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।१७०। —लोक सर्वतः सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्वके अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धोंके द्वारा (विशिष्ट प्रकारसे) अवगाहित होकर गाढ भरा हुआ है।१६८। (इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डोंका लानेवाला आत्मा नहीं है। (प्र. सा./टी./१६८) कर्मरूप परिणत वे वे पुद्गलपिंड देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके पुनः-पुनः जीवके शरीर होते हैं।

३. कर्म बन्धमें रागादि भाव बन्धकी प्रधानता

१. द्रव्य, क्षेत्रादि की अपेक्षा कर्म बन्ध होता है

रा. वा./३/३७/२/२०८/४ द्रव्य-भव-क्षेत्र-कालभावापेक्षत्वाद् कर्मबन्धस्य। —द्रव्य, भव, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे कर्मका बन्ध होता है।

२. अज्ञान व राग ही वास्तवमें बन्ध है

१. अज्ञान

स.सा./मू./१५३ उत्थानिका—अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबन्धहेतू नियमयति—वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता। परमट्ठबाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति।१५३। –ज्ञान ही मोक्षका हेतु है और अज्ञान ही बन्धका हेतु है यह नियम है—व्रत नियमको धारण करते हुए भी तथा शील और तप करते हुए भी जो परमार्थसे बाह्य हैं वे निर्वाणको प्राप्त नहीं होते। (पं. ध./उ./१०३५)।

स. सा./आ./३११/क. १९५ तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः।१९५। –इस जगतमें प्रकृतियोंके साथ यह (प्रगट) बन्ध होता है, सो वास्तवमें अज्ञानकी कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

२. रागादि

पं.का./मू./१२८,१४८ जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु परिणामो। परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।१२८। भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो।१४८। –१. जो वास्तवमें संसार स्थित जीव है, उससे (स्निग्ध) परिणाम होता है। परिणामसे कर्म और कर्मसे गतियोंमें भ्रमण होता है।१२८। (पं. का./मू./१२६-१३०)। २. बन्धका निमित्त भाव है। भाव रति-राग-द्वेष मोहसे युक्त है।१४८। (प्र. सा./मू./१७६)।

स. सा./मू./२३७-२४१ जह णाम को वि पुरिसो णेयब्भत्तो दु रेणुबहुलम्मि। ठाणम्मि ठाणम्मि य करेइ सत्थेहिं वायामं।२३७। जो सो दु णेहभावो तम्हि णरे तेण तस्स रयबंधो। णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं।२४०। एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु। रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण।२४१। –जैसे कोई पुरुष (अपने शरीरमें) तैलादि स्निग्ध पदार्थ लगाकर और बहुत-सी धूलिवाले स्थानमें रहकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है।२३७। उस पुरुषमें जो वह तेलादिकी चिकनाहट है उससे उसे धूलिका बन्ध होता है, ऐसा निश्चयसे जानना चाहिए, शेष शारीरिक चेष्टाओंसे नहीं होता।२४०। इसी प्रकार बहुत प्रकारकी चेष्टाओंमें बर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि अपने उपयोगमें रागादि भावोंको करता हुआ कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है।२४१। (अतः निश्चित हुआ कि उपयोगमें जो राग आदिक हैं, वही बन्धके कारण हैं।) (यो. सा. अ./४/४-५)।

मू. आ./१२१६ मिच्छादंसण अविरदि कसाय जोगा हवंति बंधस्स। आऊसज्झवसाणं हेदव्वो ते दु णायव्वा।१२१६। –मिथ्यादर्शन अविरति, कषाय, योग और आयुका परिणाम—ये कर्मबन्धके कारण जानने चाहिए।

क. पा. १/१,१/गा. ५१/१०५ वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं त्ति भणइ ववहारो। ण य वत्थुदो हु बंधो बंधो अज्झप्पजोएण। –यद्यपि वस्तुकी अपेक्षा करके अध्यवसान होते हैं, ऐसा व्यवहार प्रतिपादन करता है, परन्तु केवल वस्तुके निमित्तसे बन्ध नहीं होता, बन्ध तो आत्मपरिणामों (रागादि) से होता है। (स. सा./आ./२६५)।

ध. १२/४,२,८,४/२८७/१ ण च पमादेण विणा तियरण 'साहणट्ठ गहिदबज्झट्ठो णाणावरणीयपच्चओ, पच्चयादो अणुप्पण्णस्स पच्चयत्तविरोहादो। –प्रमादके बिना रत्नत्रयको सिद्ध करनेके लिए ग्रहण किया गया बाह्य पदार्थ ज्ञानावरणीयके बन्धका प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि जो प्रत्ययसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उससे प्रत्यय स्वीकार करना विरुद्ध है।

न. च. वृ./३६६ असुद्धसंवेयणेण अप्पा बंधेइ कम्म णोकम्मं। –अशुद्ध संवेदनसे अर्थात रागादि भावोंसे आत्मा कर्म और नोकर्मका बन्ध करता है। (पं. का./ता. वृ./१४७/२१३)।

प्र. सा./त. प्र./१७६ योऽयमपुरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव। –जो यह राग है वह वास्तवमें स्निग्ध रूक्षत्व स्थानीय भावबन्ध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बँधता है। (प्र. सा./ता. प्र./१७८)।

प्र. सा./त. प्र./१७१ अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते... बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणतः।...ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः। –राग परिणत आत्मा नवीन द्रव्यकर्मसे मुक्त नहीं होता।...राग परिणत जीव संस्पर्श करनेमें आनेवाले नवीन द्रव्यकर्मसे और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्मसे बँधता ही है, मुक्त नहीं होता।...इससे निश्चित होता है कि द्रव्यबन्धका साधकतम होनेसे राग परिणाम ही निश्चयसे बंध है।

त. अनु./८ स्युर्मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि समासतः। बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः।८। –मिथ्यादर्शन-ज्ञान व चारित्र ये तीनों संक्षेपसे बन्धके कारण हैं। बन्धके कारण रूपमें अन्य जो कुछ कथन है वह सब इन तीनोंका विस्तार है।८।

द्र. सं./टी./३२/९१/१० परमात्मनो...निर्मलानुभूतिस्तद्विपक्षभूतेन मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण चाशुद्धचेतनभावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म। –परमात्माकी निर्मल अनुभूतिसे विरुद्ध मिथ्यात्व रागादिमें परिणतिरूप अशुद्ध-चेतन-भावस्वरूप परिणामसे ज्ञानावरणादि कर्म बँधते हैं।

दे० बंध./२/५/१ में ध. १५ (राग-द्वेषसे संयुक्त आत्मा कर्मबन्ध करता है।)

३. ज्ञान आदि भी कथंचित् बन्धके कारण हैं

स. सा./मू./१७१ जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि। अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।१७१। –क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण (क्षायोपशमिक ज्ञान) के कारण फिरसे भी अन्य रूपसे परिणमन करता है, इसलिए (यथाख्यात चारित्र अवस्थासे नीचे) वह (ज्ञानगुण) कर्मोंका बंधक कहा गया है।

दे० आयु/३ (सरागसंयम, संयमासंयम तथा सम्यग्दर्शन देवायुके आस्रवका कारण है। (पं. ध./उ./१०६)।

दे० प्रकृति बंध/५/७/३ (आहारक शरीरके बंधमें ६-७ गुणस्थानका संयम ही कारण है।)

४. ज्ञानकी कमी बन्धका कारण नहीं, तत्सहभावी कर्म ही बन्धका कारण है

स. सा./आ./१७२ यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुमशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्यानुमीयमानाबुद्धिपूर्वक कर्मकलङ्कविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्। –ज्ञानी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट भावसे देखने, जानने और आचरण करनेमें अशक्त वर्तता हुआ जघन्यभावसे ही ज्ञानको देखता है, जानता और आचरण करता है, तबतक उसकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा जिसका अनुमान हो सकता है ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंकके विपाकका सद्भाव होनेसे, पुद्गल कर्मका बंध होता है।

५. अघन्य कषायांश स्वप्रकृतिका बन्ध करनेमें असमर्थ है

ध. ८/३,२२/५४/७ उवसमसेडिम्हि कोधपरिमाणुभागोदयादो अणंतगुणहीणेण णुभागोदएण कोधसंजलणस्स बंधाणुवलंभादो। –उपशम श्रेणीमें क्रोधके अन्तिम अनुभागोदयकी अपेक्षा अनन्तगुण हीन,

अनुभागोदयसे संज्वलन क्रोधका बन्ध नहीं पाया जाता। (इसी प्रकार मान, माया लोभमें भी जानना)।

प्र. सा./ता. वृ./१६५/२२७/११ परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलबालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति। —परम चैतन्य परिणति है लक्षण जिसका ऐसे परमात्म तत्त्वको भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जैसे जघन्य-स्निग्ध, शक्ति स्थानीय क्षीण राग होनेपर, और जघन्य-रूक्ष-शक्ति स्थानीय क्षीण द्वेष होनेपर जल और रेतकी भाँति जीवके बन्ध नहीं होता है...।

६. परन्तु इससे बन्धसामान्य तो होता ही है

ध. ८/३,३६/७७/३ सोलसकसायाणि सामण्णपच्चइयाणि, अणुमेत्तकसाए वि संते तसिं बंधुवलंभादो। —सोलह (५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यश.कीर्ति, उच्च गोत्र) कर्म कषाय सामान्यके निमित्तसे बँधनेवाले हैं, क्योंकि, अणुमात्र कषायके भी होनेपर उनका बन्ध पाया जाता है।

७. भावबन्धके अभावमें द्रव्यबन्ध नहीं होता

स. सा./मू./२७० एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि। ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति।२७०। —यह (अज्ञान-मिथ्यादर्शन-अचारित्र) तथा ऐसे और भी अध्यवसान जिनके नहीं हैं वे मुनि अशुभ या शुभकर्मसे लिप्त नहीं होते।२७०।

८. कर्मोदय बन्धका कारण नहीं रागादि ही है

प्र. सा./ता. वृ./४३/५६/१२ उदयगता···ज्ञानावरणादि मूलोत्तर कर्म प्रकृतिभेदा· स्वकीयशुभाशुभफलं दत्वा गच्छन्ति न च रागादिपरिणामरहिता· सन्तो बन्धं कुर्वन्ति।···तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु···मूढोरक्तो दुष्टो वा भवति स···बन्धनमनुभवति। ततः स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयेऽपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति।४३।

प्र. सा./ता. वृ./४५/५८/१२ औदयिका भावा. बन्धकारणम् इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किन्तु मोहोदयसहिता·। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः। —१. उदयको प्राप्त ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतिके भेद अपने-अपने शुभ वा अशुभ फलको देकर झड जाते हैं।···रागादि परिणाम होनेके कारण बन्ध नहीं करते हैं। परन्तु जो उदयको प्राप्त कर्मांशोंमें मोही, रागी व द्वेषी होता है वह बन्धको प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चय हुआ कि ज्ञान बन्धका कारण नहीं होता, न ही कर्मका उदय बन्धका कारण होता है, किन्तु रागादि ही बन्धके कारण होते हैं। प्रश्न—औदयिक भावबन्धके कारण हैं, यह आगमका वचन वृथा हो जायेगा। उत्तर—औदयिक भावबन्धके कारण होते हैं, किन्तु मोहके उदय सहित होनेपर ही। द्रव्य मोहके उदय होनेपर भी शुद्धात्म भावनाके बलसे भाव मोहरूपसे परिणमन नहीं करता है, तो बन्ध नहीं होता है। यदि कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो संसारी जीवोंके सर्वदा ही कर्मका उदय विद्यमान होनेके कारण सदा ही बन्ध होता रहता, मोक्ष कभी न होती।

दे० उदय/९/३,४ (मोह जनित औदयिक भाव ही बन्धके कारण है अन्य नहीं। वास्तवमें मोहजनित भाव ही औदयिक है, उसके बिना सब क्षायिक है।)

पं. ध./उ./१०६५ जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत्। बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम्।१०६५। —जलमें काईकी तरह निश्चयसे वह औदयिक भाव मोह ही मलिन होता है, और एक वह भावमोह ही आठों कर्मोंके बन्धका कारण है।

९. रागादि बन्धके कारण हैं तो बाह्यद्रव्यका निषेध क्यों

ध. १२/४,२,८,४/२८१/९ एवं विहववहारो किमट्ठं कीरदे? सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। —प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार (व्रतादि) किस लिए किया जाता है। उत्तर—सुखपूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोंका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

स. सा./आ./२६५ अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः। अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं; न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। —अध्यवसान ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं। प्रश्न—यदि बाह्यवस्तु बन्धका कारण नहीं है, तो बाह्यवस्तुका निषेध किस लिए किया जाता है। उत्तर—अध्यवसानके निषेधके लिए बाह्यवस्तुका निषेध किया जाता है। अध्यवसानको बाह्यवस्तु आश्रयभूत है; बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उत्पन्न नहीं होता।

४. द्रव्य व भाव बन्धका समन्वय

१. एक क्षेत्रावगाह मात्र का नाम द्रव्य बन्ध नहीं

पं. ध./उ./४४ न केवलं प्रदेशानां बन्धः संबन्धमात्रतः। सोऽपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति।४४। —इस प्रकार उन जीव और कर्मोंके अशुद्ध भावोंसे अपेक्षा रखनेवाला वह बन्ध भी केवल प्रदेशोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं होता है।४४। (पं. ध./उ./१११)

२. जीव व शरीरकी भिन्नतामें हेतु

ध. ६/८,१,६३/२७१/४ जीवसरीरादो भिण्णो, अणादि-अणंतत्तादो सरीरे सादि-सांतभावदंसणादो; सव्वसरीरेसु जीवस्स अणुगमदंसणादो सरीरस्स तदणुवलंभादो; जीवसरीराणमकारणत्त [सकारणत्त] दंसणादो। सकारणं शरीरं, मिच्छत्तादि आसवफलत्तादो; णिक्कारणो जीवो, जीवभावेण धुवत्तादो सरीरदाहच्छेद-भेदे हि जीवस्स तदणुवलंभादो। —१. जीव शरीरसे भिन्न है, क्योंकि वह अनादि अनन्त है, परन्तु शरीरमें सादि सान्तता पायी जाती है। २. सब शरीरोंमें जीवका अनुगम देखा जाता है, किन्तु शरीरके जीवका अनुगम नहीं पाया जाता। ३. तथा जीव अकारण और शरीर सकारण देखा जाता है। शरीर सकारण है, क्योंकि वह मिथ्यात्वादि आस्रवोंका कार्य है, जीव कारण रहित है, क्योंकि वह चेतन भावकी अपेक्षा नित्य है। ४. तथा शरीरके दाह और छेदन भेदनसे जीवका दाह एवं भेदन नहीं पाया जाता।

३. जीव व शरीरमें निमित्त व नैमित्तिकपना भी कथंचित् मिथ्या है

ध. १/१,१,३३/२३४/१ तद्‍ (जीवप्रदेशस्य) भ्रमणावस्थायां तत् (शरीरस्य) समवायाभावात्। —जीव प्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवाय सम्बन्ध नहीं रहता।

पं. ध./पू०/२७०-२७१ अपि भवति बध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात्।२७०। अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः। न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया।२७१। —शरीर और आत्मामें बन्ध्यबन्धक भाव है यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए,

क्योंकि नियमसे दोनोंमें एकत्व होनेपर स्वयं उन दोनोंका बन्ध भी असिद्ध है (२७०) यदि कहो कि परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिकपना अवश्य है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं अथवा स्वतःपरिणममान वस्तुके निमित्तपनेसे क्या फायदा।२७१।

४. जीव व कर्म बन्ध केवल निमित्त की अपेक्षा है

प्र. सा./त.प्र./१७४ आत्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसंबन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव। —आत्मा अरूपित्वके कारण स्पर्शशून्य है, इसलिए उसका कर्मपुद्गलोंके साथ सम्बन्ध नहीं है, तथा एकावगाह रूपसे रहनेवाले कर्मपुद्गल जिनके निमित्त हैं, ऐसे उपयोगारूढ रागद्वेषादि भावके साथका सम्बन्ध कर्मपुद्गलोंके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है।

५. निश्चयसे कर्म जीवसे बँधे ही नहीं

स. सा./मू./५७ एएहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो। ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा। —इन वर्णादि भावोंके साथ जीवोंका सम्बन्ध दूध और पानीका एक क्षेत्रावगाह रूप संयोग सम्बन्ध है ऐसा जानना। क्योंकि जीव उनसे उपयोगगुणसे अधिक है।५७। (बा. अनु./६)।

स. सा./मू./१६६ पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स। कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स।१६६। —उस ज्ञानीके पूर्व बद्ध-कर्म समस्त प्रत्यय मिट्टीके ढेलेके समान हैं, और वे कार्मण शरीरके साथ बँधे हुए है।१६६। (पं. ध./उ./१०५६)।

६. बन्ध अवस्थामें दोनों द्रव्योंका विभाव परिणमन हो जाता है

पं. ध./४५,१०६-११० अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्। अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी।४५। जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्यकर्म तत्। तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः।१०६। तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः।११०। —दोनों जीव और कर्मोंमें भिन्न-भिन्न परस्परमें बन्धको करानेवाली चुम्बक पत्थरके द्वारा खिचनेवाली लोहेकी सुईके समान विभावनामकी शक्ति है।४५। वह द्रव्यकर्म जीवके ज्ञानादिक भावोंके विकारका कारण होता है, और जीवके भावोंका विकार द्रव्यकर्मके आस्रवका कारण होता है।१०६। अर्थात् जीवके वैभाविक भावके निमित्तसे पृथक् भूत कार्मण पुद्गल ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।११०।

दे. अशुद्धता (दोनों अपने गुणोंसे च्युत हो जाते हैं)।

७. जीवबन्ध बतानेका प्रयोजन

प्र. सा./ता.वृ./१७६/२४३/६ एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्तव्येति। —इस प्रकार राग परिणाम ही बन्धका कारण है, ऐसा जानकर समस्त रागादि विकल्पके त्याग द्वारा विशुद्ध-ज्ञान-दर्शन स्वभाव है जिसका ऐसे निजात्मतत्त्वमें ही निरन्तर भावना करनी चाहिए।८७।

८. उभय बन्ध बतानेका प्रयोजन

स. सा./ता. वृ./२०-२२/४८/ पर उद्धृत गा. १ की टीका—अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्तव्या। तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः। —यहाँ इस प्रकार (उभयबन्धको) जानकर सहज आनन्द एक निज आत्मस्वभावमें ही रति करनी चाहिए। उससे अर्थात् निजात्म स्वभावसे विलक्षण ऐसे परद्रव्यमें विरति करनी चाहिए, ऐसा अभिप्राय है। (द्र. सं./टी./३३/६४/१०)।

द्र. सं./टी./७/२०/६ अयमत्रार्थः—यस्यैवामूर्तस्यात्मनः प्राप्त्यभावादनादिसंसारे भ्रमितोऽयं जीवः स एवामूर्तो मूर्तपञ्चेन्द्रियविषयत्यागेन निरन्तरं ध्यातव्यः। —इसका तात्पर्य यह है कि जिस अमूर्त आत्माकी प्राप्तिके अभावसे इस जीवने अनादि संसारमें भ्रमण किया है, उसी अमूर्तिक शुद्ध स्वरूप आत्माको मूर्त पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके ध्याना चाहिए।

९. उभय बन्धका मतार्थ

पं. का./ता. वृ./२७/६१/१३ द्रव्यभावकर्मसंयुक्तत्वव्याख्यानं च सदामुक्तनिराकरणार्थमिति मतार्थो ज्ञातव्यः। —द्रव्य भाव कर्मके संयुक्तपनेका व्याख्यान आत्माको सदामुक्त माननेवाले सदाशिववादियोंके निराकरणार्थ किया गया है, ऐसा मतार्थ जानना चाहिए। (पं. का./ता. वृ./१२८/१९२) (प. प्र./टी./१/५९)।

१०. बन्ध टालनेका उपाय

स. सा./मू./व आ./७१ जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव। णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।७१। ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिध्येत्।

स. सा./आ./७१/क० ४७ परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः। ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः।४७। —जब यह जीव आत्माका और आस्रवोंका अन्तर और भेद जानता है तब उसे बन्ध नहीं होता।७१। ऐसा होनेपर ज्ञान मात्रसे बन्धका निरोध सिद्ध होता है। परपरिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोंको तोड़ता हुआ, यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञानमें (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है? तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है?

पं. वि./११/४८ बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत्सदात्मानम्। याति यदीयेन यथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः।४८। —जो जीव आत्माको निरन्तर कर्मसे बद्ध देखता है वह कर्मबद्ध ही रहता है, किन्तु जो उसे मुक्त देखता है, वह मुक्त हो जाता है। ठीक है पथिक जिस मार्गसे जाता है उसी मार्गको प्राप्त हो जाता है।४८।

५. कर्म बन्धके कारण प्रत्यय

१. कर्मबन्धमें सामान्य प्रत्ययोंका कारणपना

ष. खं./१२/४,२,४/सू. २१३/५०५ जाणि चेव जोगट्ठाणाणि ताणि चेव पदेसबंधट्ठाणाणि। …।२१३। —जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्ध स्थान हैं।

पं. सं. प्रा./४/५१३ जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागं कसायदो कुणइ।५१३। —जीव प्रकृति बन्ध और प्रदेशबन्धको योगसे, तथा स्थिति बन्ध और अनुभागबन्धको कषायसे करता है। (स. सि./८/३/३७९ पर उद्धृत) (ध. १२/४,२,८,१३/गा. ४/२८९) (रा. वा. ८/३/६/१०/५६७/१६,१८) (न.च.वृ./१५५) (द्र. सं./मू./३३) (गो. क./मू./२५७/३६४) (प. सं./सं./४/३६५) (दे० अनुभाग/२/१)।

२. प्रत्ययोंके सद्भावमें वर्गणाओंका युगपत् कर्मरूप परिणमन क्यों नहीं

ध.१२/४,२,८,२/२७६/६ पाणादिवादो जदि णाणावरणीयबन्धस्स पच्चओ होज्ज तो तिहुवणेट्ठिदकम्मइयखंधा णाणावरणीयपज्जएण अक्कमेण किण्ण परिणमंते, कम्मजोगत्तं पडिविसेसाभावादो। ण, तिहुवणब्भंतरकम्मइयखंधेहि देसविसयपच्चासत्तीए अभावादो…जदि एक्कखेत्तोगाढाकम्मइयखंधा पाणादिवादादो कम्मपज्जाएण परिणमंति तो सव्वलोगगयजीवाणं पाणादिवादपच्चएण सव्वे कम्मइयखंधा अक्कमेण णाणावरणीयपज्जाएण परिणदा होंति।…पच्चासत्तीए एगोगाहणविसयाए संतीए वि ण सव्वे कम्मइयखंधा णाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमंति, पत्तं दउज्झं दहमाणदहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसत्तीए अभावादो। किं कारणं जीवम्मि तारिसी सत्ती णत्थि। साभावियादो।' = प्रश्न—यदि प्राणातिपात (या अन्य प्रत्यय ही) ज्ञानावरणीय (आदि) के बन्धका कारण हैं तो तीनों लोकोंमें स्थित कार्मण स्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्यायस्वरूपसे एक साथ क्यों नहीं परिणत होते हैं, क्योंकि, उनमें कर्म योग्यताकी अपेक्षा समानता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, तीनों लोकोंके भीतर स्थित कार्मण स्कन्धोंमें देश विषयक प्रत्यासत्तिका अभाव है। प्रश्न—यदि एक क्षेत्रावगाह रूप हुए कार्मण स्कन्ध प्राणातिपातके निमित्तसे कर्म पर्याय रूप परिणमते हैं तो समस्त लोकमें स्थित जीवोंके प्राणातिपात प्रत्ययके द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीय रूप पर्यायसे परिणत हो जाने चाहिए। उत्तर—एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके होनेपर भी सब कार्मण स्कन्ध एक समयमें ज्ञानावरणीय स्वरूपसे नहीं परिणमते है, क्योंकि, प्राप्त ईंधन आदि दाह्य वस्तुको जलानेवाली अग्निके समान जीवमें उस प्रकारकी शक्ति नहीं है। प्रश्न—जीवमें वैसी शक्ति न होनेका कारण क्या है। उत्तर—उसमें वैसी शक्ति न होनेका कारण स्वभाव ही है।

ध.१८/३४/६ जदि मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मइयवग्गणक्खंधा अट्ठकम्मागारेण परिणमंति तो एगसमएण सव्वकम्मइयवग्गणक्खंधा कम्मागारेण [किण्ण] परिणमंति, णियमाभावादो। ण; दव्व-खेत्त-काल-भावे त्ति चदुहि णियमेहि णियमिदाण परिणामुवलंभादो। दव्वेण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणाओ सिद्धाणमणंतभागमेत्ताओ चेव वग्गणाओ एगसमएण एगजीवादो कम्म सरूवेण परिणमंति। —प्रश्न—यदि मिथ्यात्वादिक प्रत्ययोके द्वारा कार्मण वर्गणाके स्कन्ध आठ कर्मरूपसे परिणमन करते है, तो समस्त कार्मण वर्गणा के स्कन्ध एक समयमें आठ कर्मरूपसे क्यों नहीं परिणत हो जाते, क्योंकि, उनके परिणमनका कोई नियामक नहीं है? —उत्तर—नहीं, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार नियामकों द्वारा नियमको प्राप्त हुए उक्त स्कन्धोंका कर्मरूपसे परिणमन पाया जाता है। यथा—द्रव्यकी अपेक्षा अभवसिद्धिक जीवोंसे अनन्तगुणी और सिद्ध जीवोंके अनन्तवें भाग मात्र ही वर्गणाएँ एक समयमें एक जीवके साथ कर्म स्वरूपसे परिणत होती है।

३. एक प्रत्ययसे अनन्त वर्गणाओंमें परिणमन कैसे

ध.१२/४,२,८,२,२८४/१२ कधमेगो पाणादिवादो अणंते कम्मइयक्खंधे णाणावरणीय सरूवेण अक्कमेण परिणमावेदि, बहुसु एकस्य अक्कमेण वुत्तिविरोहादो। ण, एयस्स पाणादिवादस्स अणंतसत्तिजुत्तस्स तदविरोहादो। —प्रश्न—प्राणातिपात रूप एक ही कारण अनन्त कार्मण स्कन्धोंको एक साथ ज्ञानावरणीय स्वरूपसे कैसे परिणमाता है, क्योंकि, बहुतोंमें एककी युगपत् वृत्तिका विरोध है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्राणातिपात रूप एक ही कारणके अनन्त शक्तियुक्त होनेमें वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

४. बन्धके प्रत्ययोंमें मिथ्यात्वकी प्रधानता क्यों

पं.ध./उ./१०३७-१०३८ सर्वे जीवमया भावाः दृष्टान्तो बन्धसाधकः। एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम्।१०३७। अथ तत्रापि केषाचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः। मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः।१०३८। —प्रश्न—जबकि सब ही भाव जीवमय हैं तो कहींपर कोई एक भाव (मिथ्यात्व भाव) व्यापक रूपसे बन्धका साधक दृष्टान्त क्यों, और कहीं पर कोई एक भाव (इतर भाव) अव्याप्य रूपसे ही बन्धके साधक दृष्टान्त क्यों? उत्तर—उसमें व्यापक रूपसे बन्धके साधक भावोंमें भी किन्हीं संज्ञी प्राणियोंके वस्तुके स्वरूपको मिथ्याकारमें गृहीत रखनेवाला गृहीत नामक बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भाव पाया जाता है।१०३८।

५. कषाय और योग दो प्रत्ययोंसे बन्धमें इतने भेद क्यों

ध.१२/४,२,८,१४/२९०/४ कधं दो चेव पच्चयो अट्ठण्णं कम्माणं बत्तीसाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधाणं कारणत्तं पडिवज्जंते। ण, असुद्धपज्जवट्ठिए उजुसुदे अणंतसत्तिसंजुत्तेगदव्वत्थित्तं पडिविरोहाभावादो। —प्रश्न—उक्त दो ही (योग व कषाय ही) प्रत्यय आठ कर्मोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप बत्तीस बन्धोंकी कारणताको कैसे प्राप्त हो सकते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि अशुद्ध पर्यायार्थिक रूप ऋजुसूत्र नयमें अनन्त शक्ति युक्त एक द्रव्यके अस्तित्वमें कोई विरोध नहीं है।

६. अविरति कर्म बन्धमें कारण कैसे

ध.१२/४,२,८,३/२७९-२८१/६ कम्मबंधो हि णाम, सुहासुहपरिणामेहितो जायदे,…असंतवयणं पुण ण सुहपरिणामो, णो असुहपरिणामो पोग्गलस्स तप्परिणामस्स वा जीवपरिणामत्तविरोहादो। तदो णासंतवयणं णाणावरणीयबंधस्स कारणं।…ण पाणादिवादपच्चओ वि, भिण्ण जीवविसयस्स पाण-पाणिविओगस्स कम्मबंधहेउत्तविरोहादो।…णाणावरणीयबंधणपरिणामजणिदो वहदे पाणपाणिवियोगो वयणकलावो च। तम्हा तदो तेसिमभेदो तेणेव कारणेण णाणावरणीयबंधस्स तेसि पच्चयत्तं पि सिद्धं। —प्रश्न—कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है।…१. परन्तु असत्य वचन न तो शुभ परिणाम है और न अशुभ परिणाम है; क्योंकि पुद्गलके अथवा उसके परिणामके जीव परिणाम होनेका विरोध है। इस कारण असत्य वचन ज्ञानावरणीयके बन्धका कारण नहीं हो सकता।…२. इसी प्रकार प्राणातिपात भी ज्ञानावरणीयका प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि, अन्य जीव विषयक प्राण—प्राणि वियोगके कर्म बन्धमें कारण होनेका विरोध है?…उत्तर—प्रकृतमें प्राण-प्राणि वियोग और वचन कलाप चूँकि ज्ञानावरणीय बन्धके कारणभूत परिणामसे उत्पन्न होते हैं अतएव उससे अभिन्न हैं। इस कारण वे ज्ञानावरणीय बन्धके प्रत्यय भी सिद्ध होते हैं।

बंधक—१. बन्धकके भेद

नोट—नाम स्थापनादि भेद। दे० निक्षेप।
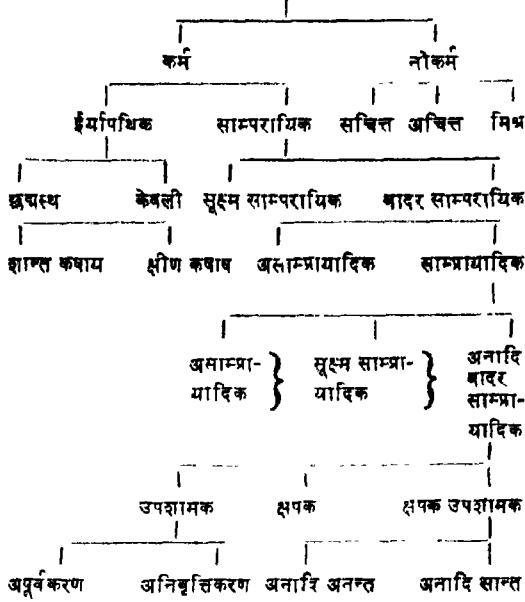
ध. ७/२.१.१/३-५/६

२. बन्धकके भेदोंके लक्षण

ध. ७/२,१,१/पृ./पं. तत्थ सचित्तणोकम्मदव्वबंधया जहा हत्थीणं बंधया, अस्साणं बंधया इच्चेवमादि। अचित्तणोकम्मदव्वबंधया तहा कट्ठाणं बंधया, सुप्पाणं बंधया कडयाणं बंधया इच्चेवमादि। मिस्सणोकम्मदव्वबंधया जहा साहरणाणं हत्थीणं बंधया इच्चेवमादि।(४/८)।...तत्थ जे बंधपाहुडजाणया उवजुत्ता आगमभावबंधया णाम। णोआगमभावबंधया जहा कोह-माण-माय-लोहपेम्माइं अप्पाणाइं करेंता।(५/११)। =**सचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक** जैसे--हाथी बाँधनेवाले, घोड़े बाँधनेवाले इत्यादि। **अचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक** जैसे—लकड़ी बाँधनेवाले, सूपा बाँधनेवाले, कट (चटाई) बाँधनेवाले इत्यादि। **मिश्र नोकर्म द्रव्य बन्धक** जैसे—आभरणों सहित हाथियोंके बाँधनेवाले इत्यादि।(४/८)। उनमें बन्धप्राभृतके जानकार और उसमें उपयोग रखनेवाले **आगमभाव बन्धक** हैं। **नो आगम भावबन्धक** जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ व प्रेमको आत्मसात् करनेवाले।

नोट—इनके अतिरिक्त शेष भेदोंके लक्षण—दे० निक्षेप।

बंधन—१. बन्धन नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३८९/१२ शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम। (तस्याभावे शरीरप्रदेशानां दारुनिचयवत् असंपर्कः स्यात् रा. वा.)। =शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए पुद्गलोंका अन्योन्य प्रदेश संश्लेष जिसके निमित्तसे होता है, वह बन्धन नामकर्म है। इसके अभावमें शरीर लकड़ियोंके ढेर जैसा हो जाता है। रा. वा.) (रा. वा./८/११/६/-५७६/२४) (ध. १३/५.५.१०१/३६४/१) (गो. क./जी. प्र./३३/-२९/१)।

ध.६/१.९-१.२८/५२/११ सरीरट्ठमागयाणं पोग्गलक्खंधाणं जीवसंबद्धाणं जेहि पोग्गलेहि जीवसंबद्धेहि पत्तोदएहि परोप्परं कीरइ तेसि पोग्गलक्खंधाणं सरीरबंधणसण्णा, कारणे कज्जुवयारादो, कत्तारणिद्देसादो वा। जइ सरीरबंधणणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो वालुवाकाय पुरिससरीरं व सरीरं होज्ज परमाणूणमण्णोण्णे बंधाभावा। =शरीरके लिए आये हुए जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धोंका जिन जीव सम्बद्ध और उदय प्राप्त पुद्गलोंके साथ परस्पर बन्ध किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धोंकी शरीर बन्धन संज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे, अथवा कर्तृ निर्देशसे है। यदि शरीर बन्धन नामकर्म जीवके न हो, तो बालुका द्वारा बनाये पुरुष-शरीरके समान जीवका शरीर होगा, क्योंकि परमाणुओंका परस्परमें बन्ध नहीं है।

२. बन्धन नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१.९-१/सू. ३२/७० जं तं शरीरबंधणणामकम्मं तं पंचविहं, ओरालियसरीरबंधणणामं वेउव्वियसरीरबंधणणामं आहारसरीरबंधणणामं तेजासरीरबंधणणामं कम्मइयसरीरबंधणणामं चेदि।३२। =जो शरीर बन्धन नामकर्म है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म, वैक्रियिक शरीर बन्धन नामकर्म, आहारक शरीर बन्धननामकर्म, तैजसशरीर बन्धननामकर्म और कार्मणशरीर बन्धन नामकर्म। (ष खं. १३/५.५/सू. १०५/३६७); (पं. सं./प्रा./११); (पं. सं./प्रा./२/४/पृ. ४७/पं. ६); (म. बं./ १/§ ६/२९); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१)।

★ बन्धन नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ तथा तत्सम्बन्धी नियम शंकादि—दे० वह वह नाम।

बंधन बद्धत्व—रा. वा./२/७/१३/११२/२७ अनादिसंततिबन्धनबद्धत्वमपि साधारणम्। कस्मात्। सर्वद्रव्याणां स्वात्मीयसंतानबन्धनबद्धत्वं प्रत्यनादित्वात्। सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्माधर्माकाशपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोगगतिस्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादिपर्याय-संतानबन्धनबद्धानि। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। यदस्यात्मादिकर्मसंततिबन्धनबद्धत्वं तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्; कर्मोदयनिमित्तत्वात्। =अनादि बन्धन बद्धत्व भी साधारण गुण है। सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्ततिसे बद्ध हैं, सभीके अपने-अपने स्वभाव अनादि अनन्त हैं। अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल नामके द्रव्य क्रमशः पारिणामिक चैतन्य उपयोग, गतिदान, स्थितिदान, अवकाशदान, वर्तनापरिणाम, और वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्शादि पर्याय सन्तानके बन्धनसे बद्ध है। इस भावमें कर्मोदय आदिकी अपेक्षा न होनेसे पारिणामिक है। और जो यह अनादिकालीन कर्म बन्धन बद्धता जीवमें पायी जाती है, वह पारिणामिक नहीं है, किन्तु कर्मोदय निमित्तक है।

बंध विधान—ध. १४/५ ६,१/२/५ पयडि-ट्ठिदिअणुभाग-पदेसभेदभिण्णा बंधवियप्पा बंधविहाणं णाम। =प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे भेदको प्राप्त हुए बन्धके भेदोंको बन्ध विधान कहते हैं।

बंधसमुत्पत्तिक स्थान—दे० अनुभाग/१।

बंध स्थान—स. सा./आ./५३-५५ यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि...। =भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्ध स्थान...।

बंध स्पर्श—दे० स्पर्श।

बंधावलि—दे० आवली।

बकुश—

स. सि./९/४६/४६०/६ नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिता अखण्डितव्रताः शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोहशबलयुक्ता बकुशाः। शबलपर्यायवाची बकुशः। =जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्ड

रूपसे पालन करते हैं, शरीर और उपकरणोंकी शोभा बढ़ानेमें लगे रहते हैं, परिवारसे घिरे रहते हैं (ऋद्धि और यशकी कामना रखते हैं, सात और गौरवके आधार हैं (रा. वा.) और विविध प्रकारके मोहसे युक्त हैं, वे बकुश कहलाते हैं। यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है। (रा. वा./९/४६/२/६३६/-२१) (चा. सा./१०१/२)।

२. बकुश साधुके भेद

स. सि./९/४७/४६१/१२ बकुशो द्विविध - उपकरण-बकुशः शरीरबकुश-श्चेति। तत्रोपकरणबकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकाङ्क्षी। शरीर-संस्कारसेवी शरीरबकुशः। = बकुश दो प्रकारके होते हैं,—उपकरण बकुश और शरीरबकुश। उनमेंसे अनेक प्रकारकी विशेषताओंको लिये हुए उपकरणोंको चाहनेवाला उपकरण बकुश होता है, तथा शरीरका संस्कार करनेवाला शरीर-बकुश है।

रा. वा./९/४७/४/६३८/५ बकुशो द्विविधः—उपकरणबकुशः शरीर-बकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरण-बकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुशः। = बकुश दो प्रकारके हैं—उपकरण-बकुश और शरीर-बकुश। उपकरणोंमें जिसका चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रह युक्त है, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणोंकी आकांक्षा करते हैं तथा इन संस्कारोंके प्रतीकारकी सेवा करनेवाले भिक्षु उपकरण बकुश है। शरीर संस्कारसेवी शरीर बकुश है। (चा. सा./१०४/१)।

भ. आ./वि./१६५०/१७२२/८ रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं बहुतरं करोति, उपकरणबकुशो। देहबकुशः दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। = जो रातमें सोते हैं, अपनी इच्छाके अनुसार बिछौना भी बड़ा बनाते हैं, उपकरणोंका संग्रह करते हैं, उनको उपकरण बकुश कहते हैं। जो दिनमें सोता है उसको देहबकुश कहते हैं।

★ बकुश साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

बड़ा नगर—राजस्थानमें कोटाका प्रदेश। (जैन साहित्य इति-हास। पृ. २५६/प्रेमी जी)।

बद्ध—पं. ध./उ./६६ मोहकर्मावृतो बद्धः। = मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञानको बद्ध कहते हैं।

बध—स. सि./६/११/३२९/२ = आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकारणं वधः।

स. सि./७/२५/३६६/२ दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः, न प्राणव्यपरोपणम्, ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। = १. आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना वध है। (रा. वा./६/-११/५/५१९/२८); (प. प्र./टी./२/१२७)। २. डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है। यह वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया गया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। (रा. वा./७/२५/२/५५२/१८)।

प. प्र./टी./२/१२७/२४३/६ निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणाम रूपवधः स्वकीयस्य। = निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणाम-रूप निजघात।

बध परिषह—स. सि./९/९/४२४/६ निशितविशसनमुशलमुद्गरा-द्यिप्रहरणताडनपीडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराकाः किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतै-र्बाध्यते, संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यते इति चिन्त-यतो वासिलक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते। = तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताड़न और पीड़न आदिसे जिसका शरीर तोड़ा मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण स्वभाव है, दुखके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह बसूलीसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके वध परीषह जय माना जाता है। (रा. वा./९/९/१८/६११/४); (चा. सा./१२९/३)।

बध वचन—दे० वचन।

बध्यघातक विरोध—दे० विरोध।

बध्यमान आयु—दे० आयु।

बध्यमान कर्म—ध. १२/४, २,१०,२/३०३/४ मिथ्यात्वाविरति-प्रमादकषाय-योगैः कर्मरूपतामापाद्यमानः कार्मणपुद्गलस्कन्धो बध्यमानः। = मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके द्वारा कर्म स्वरूपको प्राप्त होने वाला कार्मण पुद्गल स्कन्ध बध्यमान कहा जाता है।

बनवारी लाल—माखनपुरके निवासी जैन पण्डित थे। खतौलीके चैत्यालयमें वि. १६६६ में भविष्यदत्तचरित्र रचा जो कि कवि धन-पालके अपभ्रंश ग्रन्थका पद्यानुवाद है। (हि. जै. सा. इ./१०५ कामता)।

बनारसीदास—आगरा निवासी श्रीमाल वैश्य थे। इनका जन्म जौनपुरमें खरगसेनके घर माघ शु. ११ वि. १६४३में हुआ था। पहिले आप श्वेताम्बर आम्नायमें थे बादमें दिगम्बर हो गये। कुछ समय तक जवाहरातका व्यापार भी किया। वेदान्ती विचारोंके कारण अध्यात्मी कहलाते थे। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन थे। आपकी निम्न कृतियें प्रसिद्ध हैं—१. नवरस पद्यावली (यह एक शृंगार रसपूर्ण रचना थी जो पीछे विवेक जागृत होनेपर इन्होंने जमनामें फेंक दी।) २. नाममाला, ३. नाटक समयसार (वि. १६९३) ४. बनारसी विलास (वि. १७०१); ५. कर्म प्रकृति विधान (वि. १७००); ६. अर्ध कथानक (वि. १६९८)। समय—वि. १६४३-१७०० (ई. १५८७-१६४३)। (जै./२/२०३)। (ती./४/२४८)।

बनारसी विलास—पं. बनारसीदास (ई० १७०१) द्वारा रचित आध्यात्मिक भाषा पद संग्रह। (ती./४/२५४)।

बप्पदेव—उत्कलिका ग्रामके समीप 'मगणवल्ली' ग्राममें आपने आचार्य शुभनन्दि व रविनन्दिसे ज्ञान व उपदेश प्राप्त करके षट्खण्ड-के प्रथम ५ खण्डोंपर ६०००० श्लोक प्रमाण व्याख्या प्रज्ञप्ति नामकी टीका, तथा कषाय पाहुड़की भी एक उच्चारणा नामकी संक्षिप्त टीका लिखी। पीछे बाटग्राम (बड़ौदा) के जिनालयमें इस टीका के दर्शन करके श्री वीरसेनस्वामीने षट्खण्डके पाँच खण्डोंपर धवला नामकी टीका रची थी। समय—ई० श० १ (विशेष दे. परिशिष्ट)।

बल—१. मन, वचन, व काय बल—दे० वह वह नाम। २. तुल्य बल विरोध—दे० विरोध।

बल ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

बलचंद्र— श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ७ के अनुसार आप दिगम्बराचार्य धर्मसेन नं. २ (ई०६७५)के शिष्य थे। समय-वि. ७५७ (ई० ७००) (भ. आ./प्र. १६/प्रेमी)।

बलदेव—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप मित्रवीरके शिष्य तथा मित्रकके गुरु थे। समय(ई०श० १का पूर्व)(दे० इति ७/८); २ श्रवण बेलगोलाके शिलालेख नं. १५ के आधारपर कनकसेनके गुरु थे। समय—वि. ७०७ (ई० ६५०) (भ. आ./प्र. १६/प्रेमी) ३. श्रवणबेल-गोलाके शिलालेख नं. ७ के आधारपर आप धर्मसेनके गुरु थे। समय—वि० ७५७ (ई० ७००) (भ. आ./प्र. १६/प्रेमी जी) ४. ह. पु/सर्ग/श्लोक नं. वसुदेवका पुत्र था (३२/१०) कृष्णको जन्मते ही नन्द गोपके घर पहुँचाया (३५/१२) वहाँ जाकर उसको शिक्षित किया (३५/६४) द्वारकाकी रक्षाके लिए द्वैपायन मुनिसे प्रार्थना करनेपर केवल प्राण भिक्षा मिली (६१/४८-८६) जंगलमें जरतकुमार द्वारा कृष्णके मारे जानेपर (६३/७) ६ माह तक कृष्णके शबको लिये फिरे (६३/११-६०)। फिर देवके (जो पहले सिद्धार्थ नामक सारथि था) सम्बोधे जानेपर (६३/६१-७१) दीक्षा धारण कर (६३/७२) घोर तप किया (७५/११४)। सौ वर्ष तपश्चरण करनेके पश्चात् स्वर्गमें देव होकर (६५/३३) नरकमें जाकर कृष्णको सम्बोधा (६५/४२-५४)—विशेष दे० शलाका पुरुष/३।

बलदेव सूरि—आप भगवती आराधनाकार आचार्य शिवकोटि (शिवार्य) के गुरु बताये जाते हैं। आप स्वयं चन्द्रनन्दि नामक आचार्यके शिष्य थे। तदनुसार आपका समय—ई० श० १ पूर्वार्ध आता है। (भ. आ./प्र./१६/प्रेमी जी)।

बलभद्र—१. सुमेरु सम्बन्धी नन्दन वनमें स्थित एक प्रधान कूट व उसका स्वामी देव। अपरनाम मणिभद्र है।—दे० लोक ३/६। २. सनत्कुमार स्वर्गका छठा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

बलमद—दे० मद।

बलमित्र—श्वेताम्बर आम्नायके अनुसार इनका अपरनाम वसुमित्र था।—दे० वसुमित्र।

बलाक पिच्छ—मूल संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आचार्य उमास्वामीके शिष्य थे। समन्तभद्र आचार्यके समकालीन तथा लोहाचार्य तृतीयके सहधर्मा थे। लोहाचार्यका नाम मूल नन्दिसंघमें आता है। पर इनका नाम उसी नन्दिसंघके देशीय गण नं० २ में आता है। अर्थात् ये देशीय गण नं. २ के अग्रणी थे। समय—वि. २७७-२८८(ई. २२०-२३१)विशेष दे० इतिहास/७/१,५।

बलात्कार गण—नन्दि संघकी एक शाखा—दे० इतिहास/५/२।

बलाधान कारण—दे० निमित्त/१।

बलि—१. पूजा (प. प्र./२/१३६); २. आहारका एक दोष—दे० आहार II/४/४ ३. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका। ४. ह. पु/२०/श्लोक नं० उज्जयनी नगरीके राजा श्रीधर्मके ४ मन्त्री थे। बलि, प्रह्लाद, बृहस्पति व नमुचि। (४) एक समय राजाके संग मुनि वन्दनार्थ जाना पड़ा (८)। वहाँ समय एक मुनिसे वाद-विवाद हो गया जिसमें इनको परास्त होना पड़ा (१०)। इससे क्रुद्ध हो प्रतिकारार्थ रात्रिको मुनि हत्याका उद्यम करनेपर वनदेवता द्वारा कील दिये गये। तथा देशसे निकाल दिये गये (११)। तत्पश्चात् हस्तनागपुरमें राजा पद्मके मन्त्री हो गये। वहाँ उनके शत्रु सिंहरथको जीतकर राजासे वर प्राप्त किया (१७)। मुनि संघके हस्तनागपुर पधारनेपर वरके बदलेमें सात दिनका राज्य ले (२२) नरमेध यज्ञके बहाने, सकल मुनिसंघको अग्निमें होम दिया (२३)। जिस उपसर्गको विष्णु कुमार मुनिने दूर कर इन चारोंको देश निकाला दिया (६०)।

बलींद्र—वर्तमानकालीन सातवें प्रतिनारायण थे। अपरनाम प्रहरण व प्रह्लाद था। (म. पु./६६/१०६) विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/५।

बल्लाक देव—कर्नाटक देशस्थ होय्सलका राजा था। इसके समय-में कर्नाटक देशमें जैन धर्मका प्रभाव खूब बढ़ा। विष्णुवर्धनके उत्तराधिकारी नारसिंह और उसके उत्तराधिकारी बल्लाक देव हुए। विष्णुवर्धन द्वारा किया गया जैनियोंपर अत्याचार इसने दूर किया। यद्यपि ध. २/प्र. ४ के अनुसार इनका समय ई० ११०० बताया गया है, परन्तु उपरोक्त कथनके अनुसार इनका समय—ई० ११६३-११६० आना चाहिए। (ष. खं. २/प्र ४/ H. L. Jain)।

बहल—भ. आ./वि /७००/८८२/६ तितिणीकाफलरसप्रभृतिकं च अन्यद्बहलं। —कांजी, द्राक्षारस, इमलीका सार, वगैरह गाढ़ पानक-को बहल कहते हैं।

बहिरात्मा—

मो. पा./मू./८.६ बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ। णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ।८। णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण। अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परम-भाएण ।९। —बाह्य धनादिकमें स्फुरत अर्थात् तत्पर है मन जिसका, वह इन्द्रियोंके द्वारा अपने स्वरूपसे च्युत है अर्थात् इन्द्रियोंको ही आत्मा मानता हुआ अपनी देहको ही आत्मा निश्चय करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है ।८। (स. श./७) (प. प्र./मू./१/१३) वह बहिरात्मा मिथ्यात्व भावसे जिस प्रकार अपने देहको आत्मा मानता है, उसी प्रकार परका देहको देख अचेतन है फिर भी उसको आत्मा माने है, और उसमें बड़ा यत्न करता है ।९।

नि. सा./मू./१४९-१५२···आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ।१४९। अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।१५०।··· झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि ।१५१। —षट् आवश्यक क्रियाओंसे रहित श्रमण वह बहिरात्मा है ।१४९। और जो अन्तर्बाह्य जल्पमें वर्तता है, वह बहिरात्मा है ।१५०। अथवा ध्यानसे रहित आत्मा बहिरात्मा है ऐसा जान ।१५१।

र. सा./१३५-१३७ अप्पाणाणज्झाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं। मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा ।१३५। देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं। अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा ।१३४। —आत्माके ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूप सुखामृतको छोड़कर इन्द्रियोंके सुखको भोगता है, सो ही बहिरात्मा है ।१३५। देह, कलत्र, पुत्र व मित्रादिक जो चेतनाके विभाविक रूप हैं, उनमें अपनापनेकी भावना करनेवाला बहिरात्मा होता है ।१३७।

यो. सा. यो./७ मिच्छा-दंसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ। सो बहि-रप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ ।७। —जो मिथ्यादर्शनसे मोहित जीव परमात्माको नहीं समझता, उसे जिन भगवान्ने बहिरात्मा कहा है, वह जीव पुनः पुनः संसारमें परिभ्रमण करता है ।७।

ज्ञानसार/३० मदमोहमानसहितः रागद्वेषैर्नित्यसंतप्तः। विषयेषु तथा शुद्धः बहिरात्मा भण्यते सैषः।३०। =जो मद, मोह व मान सहित है, राग-द्वेषसे नित्य संतप्त रहता है, विषयोंमें अति आसक्त है, उसे बहिरात्मा कहते हैं।३०।

का./अ./मू./१९३ मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो। जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा।१९३। =जो जीव मिथ्यात्व कर्मके उदय रूप परिणत हो, तीव्र कषायसे अच्छी तरह आविष्ट हो, और जीव तथा देहको एक मानता हो, वह बहिरात्मा है।१९३।

प्र. सा./ता. वृ./२३८/३२९/१२ मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था। =मिथ्यात्व व राग-द्वेषादि कषायोंसे मलीन आत्माकी अवस्थाको बहिरात्मा कहते हैं।

द्र. सं./टी./१४/४६/८ स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा।···अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा।···अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तं निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा। =१. निज शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न यथार्थ सुखसे विरुद्ध जो इन्द्रिय सुख उसमें आसक्त सो बहिरात्मा है। २. अथवा देह रहित निज शुद्धात्म द्रव्यकी भावना रूप भेदविज्ञानसे रहित होनेके कारण देहादि अन्य द्रव्योंमें जो एकत्व भावनासे परिणत है यानी—देहको ही आत्मा समझता है सो बहिरात्मा है। ३. अथवा हेयोपादेयका विचार करनेवाला जो 'चित्त' तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न रागादि 'दोष' और शुद्ध चैतन्य लक्षणका धारक 'आत्मा' इन (चित्त, दोष व आत्मा) तीनोंमें अथवा सर्वज्ञ कथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर सापेक्ष नयों द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है।

२. बहिरात्मा विशेष

का. अ./टी./१९३ उत्कृष्टा बहिरात्मा गुणस्थानादिमे स्थिताः। द्वितीये मध्यमा, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति। =प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, दूसरे सासादन गुणस्थानमें स्थित मध्यम बहिरात्मा है, और तीसरे गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा है।

बहिर्यानक्रिया—दे० संस्कार/२।

बहु—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

बहुकेतु—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

बहुजनपृच्छा दोष—दे० आलोचना/४।

बहुमान—मू. आ./२८३ सुत्तत्थं जप्पंतो वायंतो चावि णिज्जराहेदुं। आसादणं ण कुज्जा तेण किदं होदि बहुमाणो।२८३। =अंग-पूर्वादिका सम्यक् अर्थ उच्चारण करता वा पढता, पढाता हुआ जो भव्य कर्म निर्जराके लिए अन्य आचार्योंका वा शास्त्रोंका अपमान नहीं करता है वही बहुमान गुणको पालता है।

भ. आ./वि./११३/२६१/३ बहुमाणे सम्मानं। शुचेः कृताञ्जलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनसः सादरमध्ययनम्। =पवित्रतासे, हाथ जोड़कर, मनको एकाग्र करके बडे आदरसे अध्ययन करना बहुमान विनय है।

बहुमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

बहुरूपिणी—भगवान् नेमीनाथकी यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३।

बहुवज्रा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

बहुविध—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

बहुश्रुत—ध. ८/३,४१/८९/७ बारसंगपारया बहुसुदाणाम। =जो बारह अंगोंके पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं।

बहुश्रुत भक्ति—दे० भक्ति/२।

बाकी—Substraction (ध. ५/प्र. २८)।

बाण—१. Height of a segment (ज. प./प्र. १०७) २. बाण निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७/३।

बाणभट्ट—१. इन्होंने कादम्बरी व हर्ष चरितकी रचना की थी। समय—वि० ६६७-७०७ (क्षत्र चूडामणि/प्र. ८/प्रेमी)।

बाणा—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

बादर—दे० सूक्ष्म। सहनानी—दे० गणित/I/२/५।

बादरायण—एक अज्ञानवादी थे—दे० अज्ञानवाद। वेदान्तके सर्व प्रधान ब्रह्मसूत्रोंके ई० ४०० में कर्ता हुए हैं—दे० वेदान्त।

बादाल—(पणट्ठी)[२] =४२९४९६७२९६—दे० गणित/I/१/१।

बाधित—१. बाधित विषयके भेद

प. मु./६/१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः।१५। =प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक एवं स्ववचन बाधितके भेदसे बधित पाँच प्रकार है।१५। (न्या. दी./३/§६३/१०२/१४)।

२. बाधितके भेदोंके लक्षण

प. मु./६/१६-२० तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।१६। अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।१७। प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।१८। शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत्।१९। माता मे बन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धबन्ध्यावत्।२०। =१. अग्नि ठण्डी है क्योंकि द्रव्य है जैसे जल। यह प्रत्यक्ष बाधितका उदाहरण है। क्योंकि स्पर्शन प्रत्यक्षसे अग्निकी शीतलता बाधित है।१६। शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह किया जाता है जैसे 'घट', यह अनुमानबाधितका उदाहरण है।१७। धर्म परभवमें दुःख देनेवाला है क्योंकि वह पुरुषके अधीन है जैसे अधर्म। यह आगम बाधितका उदाहरण है, क्योंकि यहाँ उदाहरण रूप 'धर्म' तो परभवमें सुख देनेवाला है।१८। मनुष्यके मस्तककी खोपड़ी पवित्र है क्योंकि वह प्राणीका अंग है, जिस प्रकार शंख, सीप प्राणीके अंग होनेसे पवित्र गिने जाते हैं, यह लोकबाधितका उदाहरण है।१९। मेरी माँ बाँझ है क्योंकि पुरुषके संयोग होनेपर भी उसके गर्भ नहीं रहता। जैसे प्रसिद्ध बंध्या स्त्रीके पुरुषके संयोग रहनेपर भी गर्भ नहीं रहता। यह स्ववचनबाधितका उदाहरण है, क्योंकि मेरी माँ और बाँझ ये बाधित वचन हैं।२०। (न्या. दी./३/§६६/१०२/१४)।

बानमुक्त—भरत क्षेत्रमें दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

बानर—बानर मनुष्य नहीं तिर्यञ्च होते हैं (म. पु./८/२३०)।

बारस अणुवेक्खा—आ. कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत वैराग्य विषयक ९१ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें बारह वैराग्य भावनाओंका कथन है। इसपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। (ती./२/११४)।

बारह तप व्रत—शुक्ल पक्षकी किसी तिथिको प्रारम्भ करके प्रथम १२ दिनमें १२ उपवास, आगे १२ एकाशन, १२ कांजिक (जल व भातका आहार), १२ निगोरस (गोरसरहित भोजन), १२ अल्पाहार, १२ एक लटाना (एक स्थानपर मौन सहित भोजन),

१२ मूंगके आहार, १२ मोठके आहार, १२ चोलाके आहार, १२ चनाके आहार, १२ में मात्र जल, १२ घृत रहित आहार। इस प्रकार ६ क्रमोंमें बारह-बारह दिनका अन्तराय चलकर मौन सहित भोजन करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना। इस प्रकार कुल १४४ दिनमें व्रत समाप्त होता है। (व्रतविधान सं./पृ.११५); (किशनसिंह क्रियाकोष)।

बारह बिजोरा व्रत—एक वर्षकी २४ द्वादशियोंके २४ उपवास करे तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे (व्रतविधान संग्रह। पृ. ६६) (वर्द्धमान पुराण)।

बारह दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। बारा दशमी सुहारी लेय, बारा बारा दश घर देय।' (व्रत विधान संग्रह। पृ. १३१); (नवलसाहकृत वर्द्धमान पु.)।

बाल—रा. वा./६/१२/७/५२२/२८ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयः।—यथार्थ प्रतिपत्तिका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टि आदिको अज्ञानी अथवा बाल कहते हैं।

बालक्रिया—दे० क्रिया/३/३।

बालचंद्र—१. ई० ७०० के एक दिगम्बराचार्य (दे. बलचन्द्र)। २. समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र व परमात्म-प्रकाश के कन्नड़ टीकाकार। समय—वि. श. १२ का अन्त (ई. श. १३ पूर्व)। (जै./२/१६४)। ३. अभयचन्द्र के शिष्य, श्रुतमुनि के शिक्षा गुरु। भावत्रिभंगी तथा द्रव्य संग्रह की टीका के कर्ता। समय—शक ११९५-१२३३ (ई० १२७३-१३११)। (जै /२/५१, ३७८)।

बालतप—दे० धर्म/२/६/।

बालनंदि—नन्दिसंघ देशीयगण के अनुसार आप वीरनन्दि नं. ३ के शिष्य तथा जम्बूदीवपण्णत्तिके कर्ता पद्मनन्दि नं. ४ (ई. ९९३-१०४३) के गुरु थे। पद्मनन्दि नं. ४ के अनुसार इनका समय ई. ९९८-१०२३ आता है।—दे० इतिहास/७/५ (पं.सं./प्र.३९/A.N. Up.); (पं वि./प्र./१२/A N. Up.); (ज प./प्र. १३/A.N Up); (व. सु. श्रा./प्र./१८/पं. गजाधरलाल)।

बाल मरण—दे० मरण/१।

बालव्रत—दे० चारित्र/३/१०।

बालाग्र—क्षेत्रका प्रमाण विशेष/अपरनाम केशाग्र—दे० गणित/I/१।

बालाचार्य—दे० आचार्य/३।

बालादित्य—ई श. ५ में एक बौद्धमतानुयायी राजा था। इसने नालन्दाके मठ बनवाये थे।

बालादित्य—कुबेर देशका राजा था। एक बार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया। इसकी अनुपस्थितिमें इसकी पुत्रीने पुरुषवेशमें राज्य किया। बहुत समय पीछे वनवासी रामने इसे मुक्त कराया। (प. पु /३४/३६-९७)।

बालिस्त—क्षेत्रका प्रमाण विशेष, अपरनाम वितस्ति।—दे० गणित/I/१।

बाली—प. पु./९/श्लोक नं. किष्किन्धपुरके राजा सूर्यरजका पुत्र था (१) राम व रावणके युद्ध होनेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली (९०)। एक समय रावणने क्रुद्ध हो तपश्चरण करते समय इनको पर्वत सहित उठा लिया। तब मुनि बालीने जिन मन्दिरकी रक्षार्थ पैरका अंगूठा दबाकर पर्वतको स्थिर किया (१३९) अन्तमें इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया (२२१)।

२. बालीकी दीक्षा सम्बन्धी दृष्टिभेद

प. पु./९/९० के अनुसार सुग्रीवके भाई बालीने दीक्षा धारण कर ली थी। परन्तु म. पु./६८/४६४ के अनुसार बाली लक्ष्मणके हाथों मारा गया था।

बालुकाप्रभा—स. सि./३/१/२०३/८ बालुकाप्रभासहचरिता भूमि-र्वालुकाप्रभा।—जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है, वह बालुका प्रभा है। (इसका नाम सार्थक है); (ति. प./२/२१); (रा. वा./३/१/३/१५८/१८)।

★ **बालुका प्रभा पृथिवीका आकार व अवस्थान**—दे० नरक/५/११।

बासी भोजन—बासी भोजनका निषेध—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

बाहुबली—१. नागकुमार चरित के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई० १५६०। (ती./४/३११)२.म. पु./सर्ग/श्लोक नं. अपने पूर्व भव नं. ७ में पूर्व विदेह वत्सकावती देशके राजा प्रीतिवर्धनके मन्त्री थे (८/२११) फिर छठे भवमें उत्तरकुरुमें भोग भूमिज हुए (८/२१२), पाँचवें भवमें कनकाभदेव (८/२१३) चौथे भवमें वज्रजंघ (आदिनाथ भगवान्‌का पूर्व भव) के 'आनन्द' नाम पुरोहित हुए (८/२१७) तीसरे भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए (९/९०) दूसरे भवमें वज्रसेनके पुत्र महाबाहु हुए (११/१२) पूर्व भवमें अहमिन्द्र हुए (४७/३६५-३६६) वर्तमान भवमें ऋषभ भगवान्‌के पुत्र बाहुबली हुए (१६/६) बड़ा होनेपर पोदनपुरका राज्य प्राप्त किया (१७/७७)। स्वाभिमानी होनेपर भरतको नमस्कार न कर उनको जल, मल्ल व दृष्टि युद्धमें हटा दिया (३६/६०) भरतने क्रुद्ध होकर इनपर चक्र चला दिया, परन्तु उसका इनपर कुछ प्रभाव न हुआ (३६/३६)। इससे विरक्त हो इन्होंने दीक्षा ले ली (३६/१०४)। एक वर्षका प्रतिमा योग धारण किया (३६/१०६) एक वर्ष पश्चात् भरतने आकर भक्तिपूर्वक इनकी पूजा की तभी इनको केवललब्धिकी प्राप्ति हो गयी (३६/१८५)। अन्तमें मुक्ति प्राप्त की। ३. बाहुबलीजीके एक भी शल्य न थी—दे० शल्य ४। बाहुबलीजीकी प्रतिमा सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० पूजा/३/१०।

बाहुल्य—१. Hight. (त्रि. सा./टी./१७०) २. Width (ज. प/प्र./१०७)।

बाह्य—१. स. सि./९/१९/४३९/३ बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।—बाह्य द्रव्यके आलम्बनसे होता है, और दूसरोंके देखनेमें आता है, इसलिए इसे बाह्य (तप) कहते हैं। २. परमार्थ बाह्य—दे० परमार्थ।

बाह्य उपकरण इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्यकारण—दे० कारण/IV/१।

बाह्यतप—दे० वह वह नाम।

बाह्यनिर्वृत्ति इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्य परिग्रह आदि—दे वह वह विषय।

बाह्य वर्गणा—दे० वर्गणा।

बिंदुसार—मगध सम्राट् अशोकका पिता था। **समय**— जैन के अनुसार ई.पू.३०२-२७७; लोक इतिहासके अनुसार ई.पू. २९८-२७३ -दे० इतिहास/३/४।

बिंब—१. Disc. (ज. प./प्र. १०७)। २. बो. पा./मू./१६ जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च। जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खय-कारणे सुद्धा।१६।—जो ज्ञानमयी है, संयमसे शुद्ध है, अतिशय वीत-

राग है, और कर्मके क्षयका कारण है, शुद्ध है ऐसी दीक्षा और शिक्षा देता है। ऐसा जिनबिम्ब अर्थात जिनेन्द्र भगवान्‌का प्रतिबिम्ब-स्वरूप आचार्य का स्वरूप है।

बिंबसार—मगधराज श्रेणिकका अपर नाम। समय—ई. पू. ६०४-५५२। (दे. इतिहास/३/४)।

बिल—नारकियोंके जन्म स्थान। दे० नरक/५/३।

बीज—१. बीजरूप वनस्पतिके भेद व लक्षण—दे० वनस्पति/१। २. बीजोंका भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० सचित्त/५। ३. बीजमें जीवका जन्म होने सम्बन्धी नियम—दे० जन्म/२।

बीजगणित—Algebra. (ज. प/प्र. १०७), (ध./५/प्र. २८)।

बीजपद—दे० पद।

बीजबुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

बीजमानप्रमाण—दे० प्रमाण/५।

बीजसम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१।

बीजा—आर्यखण्ड की नदी—दे० मनुष्य/४।

बीजाक्षर—दे० अक्षर।

बीथी—Orbit. (ज. प./प्र. १०७)।

बीसीय—ल. सा./भाषा/२२८/२८५/७ जिन (कर्मनि) की बीस कोड़ाकोड़ी (सागर) उत्कृष्ट स्थिति है, ऐसे नाम, गोत्र तिनि कूँ बीसिय कहिए।

बुद्ध—१. **बुद्ध सामान्यका लक्षण**

प. प्र./टी./१/१३/२१/५ बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति। =केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित होनेसे आत्मा बुद्ध है। (द्र. सं./चूलिका/२८/८०/१)।

भा. पा./टी./१४९/२९३/१९ बुध्यते सर्वं जानातीति बुद्धः। =बुद्धिके द्वारा सब कुछ जानता है, इसलिए बुद्ध है।

२. प्रत्येकबुद्ध व बोधितबुद्धके लक्षण

स. सि./१०/९/४७२/१ स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्धबोधितविकल्पः। =अपनी शक्तिरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे प्रत्येक बुद्ध होते हैं। और परोपदेशरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बोधित बुद्ध होते हैं। (रा. वा./१०/९/८/६४७/११)।

ति. प./४/१०२२ कम्माण उवसमेण य गुरूवदेसं विणा वि पावेदि। सण्णाणतवप्पगमं जीए पत्तेयबुद्धा सा।१०२२। =जिसके द्वारा गुरु उपदेशके बिना ही कर्मोंके उपशमसे सम्यग्ज्ञान और तपके विषयमें प्रगति होती है, वह प्रत्येकबुद्धि ऋद्धि कहलाती है। (रा. वा./३/३६/३/२०२/२४); (भ. आ./वि/३४/१२५/११)।

★ **स्वयं बुद्धका लक्षण**—दे० स्वयंभू।

बुद्धगुप्त—ई. श. ५ में एक बौद्ध मतानुसारी राजा था, इसने नालन्दा-के मठ बनवाये थे।

बुद्धस्वामी—ई. श. ८ में बृहत्कथा श्लोक संग्रहके रचयिता एक जैन कवि थे। (जीवंधरचम्पू/प्र. १८/A. N. Up.)।

बुद्धि—

ष. खं. १३/५,५/सू. ४०/२४३ आवायो ववसाओ बुद्धी विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी।३९।...ऊहितोऽर्थो बुद्ध्यते अवगम्यते अनया इति बुद्धिः। =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये पर्याय नाम हैं।३९।...जिसके द्वारा ऊहित अर्थ 'बुद्ध्यते' अर्थात् जाना जाता है, वह बुद्धि है।

यो सा. अ./८/८२ बुद्धिमक्षाश्रयां...। =जो इन्द्रियोंके अवलम्बनसे हो वह बुद्धि है।

स. म./८/८८/३० बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। =बुद्धिका अर्थ ज्ञान है।

न्या. सू./मू./१/१/१५/२० बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। =बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इनका एक ही अर्थ है। केवल नामका भेद है।

बुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

बुद्धिकीर्ति—अपरनाम महात्मा बुद्ध था—दे० बुद्ध। (द. सा./मू./७-८); (द. स./प्रशस्ति २६/पं. नाथूराम)।

बुद्धिकूट—रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

बुद्धिदेवी—रुक्मि पर्वतस्थ महापुण्डरीक ह्रद व बुद्धिकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/३/६, ३/४।

बुद्धिल—दे० बुद्धिलिंग।

बुद्धिलिंग—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आपका अपरनाम बुद्धिल था। आप भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् नवे ११ अंग व १० पूर्वधारी हुए हैं। समय—वी. नि. २६५-३१५ (ई. पू. २३२-२१२)—दृष्टि नं० ३ के अनुसार वी. नि. ३५५-३७५। —दे० इतिहास/४/४।

बुद्धेशभवनव्याख्यान—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) कृत संस्कृत भाषाबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ।

बुध—१ एक ग्रह—दे० 'ग्रह'; २. बुध ग्रहका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/२। ३. स्या म./२३/२९८/२६ बुध्यन्ते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधाः। =यथावस्थित वस्तु तत्त्वको सार व असारके विषय विभागकी विचारणाके द्वारा जो जानते हैं, वे बुध हैं।

बुधजन—आप जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन पण्डित थे। असली नाम वृद्धिचन्द। अपर नाम बुधजन, विधिचन्द। कृतियें—तत्त्वार्थ बोध (वि. १८७१); बुधजन सतसई (वि. १८७६); पञ्चास्तिकाय भाषा (वि. १८९१); बुधजन विलास (वि. १८९२); योगसार भाषा; पदसंग्रह। समय—वि. १८७१-१८९२ (ई० १८१४-१८३५)। (ती./४/२८८)।

बुधजनविलास—पं. बुधजन द्वारा (ई. १८३५) में रचित भाषा पदसंग्रह। (ती./४/२८९)।

बुधजनसतसई—पं. बुधजन द्वारा (ई. १८२२) में रचित भाषा पदसंग्रह। (ती./४/२८८)

बुलाकीदास—आगरे निवासी गोयलगोत्री अग्रवाल दिगम्बर जैन हिन्दी कवि। इनकी माता जैनी पण्डित हेमचन्दकी पुत्री थीं। पिताका नाम नन्दलाल था। आपने भारत भाषामें पाण्डव पुराणकी रचना की थी। समय-वि. १७५४ (ती०/४/२६१)। (१७० कामता)।

बूचीराज—१. शुभचन्द्र सिद्धान्तिक के शिष्य एक गृहस्थ। समय—शक १०१५-१०३७ (ई० १०९३-१११५)। (ध० २/प्र ११)। २. अपभ्रंश कवि। कृतियें—मयणजुज्झ (मदनयुद्ध); सन्तोष तिलक जयमाल, चेतनपुद्गल धमाल, टंडाणागीत इत्यादि। समय—वि. १५८९ (ई० १५३२)। (ती./४/२३०)।

बृहत् कथा—बृहत् कथाकोष, बृहत् कथा मञ्जरी, बृहत् कथा सरित् सागर—दे० कथा कोष।

बृहत् क्षेत्र समास—त्रिलोकप्रज्ञप्ति के समकक्ष, पाँच अधिकार तथा ६५६ प्राकृत गाथाबद्ध, त्रिलोक प्ररूपक, श्वेताम्बर ग्रन्थ। रचयिता जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण (वि. ६५०) जै./१/६१।

बृहत् त्रयम—अकलंक भट्ट रचित संस्कृत भाषाबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ (दे. अकलंक भट्ट)।

बृहत् संग्रहिणी सूत्र—जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण (वि. ६५०) द्वारा रचित प्राकृत गाथाबद्ध श्वेताम्बर ग्रन्थ। अपर नाम संग्रायणी। (जै./२/६२)।

बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि—अनन्तकीर्ति (ई. श. ९) द्वारा रचित, संस्कृत भाषाबद्ध न्याय विषयक ग्रन्थ। (ती./३/१६७)।

बृहद्गृह—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

बृहद् बल—रामाकृष्ण द्वारा संशोधित इक्ष्वाकु वंशावली के अनुसार वैवस्वतयम की १०२वीं पीढ़ी में विद्यमान राजा जो महाभारत युद्ध में मारा गया। समय—ई. पू. १४५०—दे. महाभारत।

बृहस्पति—१. एक ग्रह—दे० ग्रह; २ इसका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/२। ३. पद्म चक्रवर्तीका मन्त्री और बलिका सहवर्ती। —दे० बलि।

बेलंधर—१. लवण समुद्रस्थ कौस्तुभ व कौस्तुभाभास पर्वतके स्वामी-देव—दे० लोक/७। लवण समुद्रके अपर बेलन्धर नामवाले नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंकी ४२००० नगरियाँ हैं।

बेलड़ी—व्रतविधान सं./पृ. २६ केवल पानी और मिर्च मिलाकर खाना सो बेलड़ी कहलाता है।

बेलन—Cylinder. (ज. प./प्र. १०७)।

बेलनाकार—Cylinderical. (ध. ५/प्र. २८)—दे० गणित/II/७/६

बेलाव्रत—प्रथमदिन दोपहरको एकाशन, विवक्षित दो दिनोंमें उपवास तथा अगले दिन दोपहरको एकाशन करे। (ह. पु./३४/...) (व्रतविधान सं/पृ. १२३)।

बोद्दनराय—राष्ट्रकूटका राजा था। अपरनाम अमोघवर्ष था—दे० अमोघवर्ष।

बोधपाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत आयतन चैत्य-गृह आदि ११ विषयों सम्बन्धी संक्षिप्त परिचायक ६२ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ० श्रुतसागर (ई. १४८१-१४९९) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८६७) कृत देश-भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती./२/११४)।

बोधायन—ब्रह्मसूत्रके टीकाकार—दे० वेदान्त।

बोधि प. प्र./टी./१/९/१६/८ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापणं बोधि'। =सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही बोधि है। (द्र. सं./टी./३५/१४४/६)।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

बोधितबुद्ध दे० बुद्ध।

बौद्धदर्शन—**१. सामान्य परिचय**

१. इस मतका अपरनाम सुगत है। सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्म-धातु कहते हैं। ये लोग सात सुगत मानते हैं—विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कांचन, काश्यप और शाक्यसिंह। ये लोग बुद्ध भगवान्को सर्वज्ञ मानते हैं। २. बुद्धके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं। बौद्धसाधु चमर, चमड़ेका आसन, व कमण्डलु रखते हैं। मुण्डन कराते हैं। सारे शरीरको एक गेरुवे वस्त्रसे ढके रहते हैं।

२. उत्पत्ति व आचार-विचार

१. काल व उपदेशकी समानताके कारण जैन व बौद्धमतको कोई-कोई एक मानता है, पर वास्तवमें में ऐसा नहीं है। जैन शास्त्रोंमें इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं।

२. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं. १

द. सा./मू./६-७ श्री पार्श्व नाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्थ। पिहितास्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धिकीर्तिमुनिः।६। तिमिपूर्णाशनैः अधिगतप्रव्रज्यातः परिभ्रष्टः। रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्तितं तेन एकान्तम्।७।

गो. जी./जी. प्र./१६ बुद्धदर्शनादयःएकान्तमिथ्यादृष्टयः।=श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के तीर्थमें सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहितास्रव साधुका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो महाश्रुत व बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था।६। मछलियोंका आहार करनेसे वह ग्रहण की हुई दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मतकी प्रवृत्ति की।७। बुद्धदर्शन आदिक ही एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

द. सा./प्र./२६ प्रेमी जी. बुद्धकीर्ति सम्भवतः बुद्धदेव (महात्मा बुद्ध) का ही नामान्तर था। दीक्षासे भ्रष्ट होकर एकान्त मत चलानेसे यह अनुमान होता है कि यह अवश्य ही पहले जैन साधु था। बुद्धिकीर्तिको पिहितास्रव नामक साधुका शिष्य बतलाया है। स्वयं ही आत्मारामजी ने लिखा है कि पिहितास्रव पार्श्वनाथको शिष्य परम्परामें था। श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे पता चलता है कि भगवान् महावीरके समयमें पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परा मौजूद थी।

३. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं. २

धर्म परीक्षा/१/६ रुष्टः श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायनः। शिष्यः श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्।६। शुद्धोदनसुतं बुद्धं परमात्मानमब्रवीत्। =भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने महावीर भगवान्से रुष्ट होकर बुद्धदर्शनको चलाया और शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा कहा।

द. सा./प्र./२७ प्रेमी जी नं. १ व नं. २ दृष्टियोंमें कुछ विरोध मालूम होता है, पर एक तरहसे उनकी संगति बैठ जाती है। महाबग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि मौडिलायन और सारीपुत्त दोनों बुद्धदेवके शिष्य थे। वे जब बुद्धदेवके शिष्य होने जा रहे थे, तो उनके साथी संजय परिव्राजकने उन्हें रोका था। इससे मालूम होता है कि 'धर्म' परीक्षाकी मान्यताके अनुसार ये अवश्य पहले जैन रहे होंगे।

परन्तु इस प्रकार वे बुद्धके शिष्य थे न कि मतप्रवर्तक। सम्भवतः बौद्धधर्मके प्रधान प्रचारकोंमें से होनेके कारण इन्हें प्रवर्तक कह दिया गया हो। बस न. १ व नं. २ की संगति ऐसे बैठ जाती है कि भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमें पिहितास्रव मुनि हुए। उनके शिष्य बुद्धदेव हुए, जिन्होंने **बौद्धधर्म चलाया, और उनके शिष्य** मौडिलायन हुए जिन्होंने **इस धर्म का बहुत अधिक प्रचार किया।**

४. बौद्ध लोगोंका आचार-विचार

द. सा./मू./८-९ मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दधिदुग्धशर्करायां च। तस्मात्तं वाञ्छन् तं भक्षन् न पापिष्ठः।८। मद्यं न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथा एतत्। इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं।९। =फल, दूध, दही, शक्कर आदिके समान मांसमें भी जीव नहीं है। अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें पाप नहीं है।८। जिस प्रकार जल एक तरल पदार्थ है उसी प्रकार मद्य भी तरल पदार्थ है, वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकारकी घोषणा करके उस (बुद्धकीर्ति) ने संसारमें सम्पूर्ण पापकर्मकी परिपाटी चलायी।९।

द. सा./प्र./२७ प्रेमी जी. उपरोक्त बात ठीक मालूम नहीं होती, क्योंकि बौद्धधर्म प्राणिवधका तीव्र निषेध करता है, वह 'मांसमें जीव नहीं है' यह कैसे कह सकता है। दूसरे बौद्ध साधुओंके विनयपिटक आदि ग्रन्थोंमें दशशील ग्रहण करनेका आदेश है, जो एक प्रकारसे बौद्धधर्मके मूलगुण हैं, उनमेंसे पाँचवाँ शील इन शब्दोंमें ग्रहण करना पड़ता है। 'मैं मद्य या किसी भी मादक द्रव्यका सेवन नहीं करूँगा', ऐसी

दशामें मद्य सेवनकी आज्ञा बुद्धदेवने दी होगी, यह नहीं कहा जा सकता।

स. म./परि० ख/३८६ यद्यपि बौद्ध साधु जीव दया पालते हैं, चलते हुए भूमिको बुहार कर चलते हैं, परन्तु भिक्षा पात्रोंमें आये हुए मांसको भी शुद्ध मानकर खा लेते हैं। ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओंमें दृढ रहते हैं।

३. बौद्ध सम्प्रदाय

१. बुद्ध निर्वाणके पश्चात् बौद्ध लोगोंमें दो सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। महासंघिक व स्थविर। ई० पू० ४०० की वैशाली परिषद्‌में महासंघिक ६ शाखाओंमें विभक्त हो गये—महासंघिक, एक व्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुकुल्लिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल, और उत्तरशैल। स्थविरवादी ११ संघोंमें विभक्त हुए—हैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और छन्नागरिका। सर्वास्तिवादी (वैभाषिक) और सौत्रान्तिकके अतिरिक्त इन शाखाओंका कोई विशेष उल्लेख अब नहीं मिलता। (परि. ख/३८५)।

२. बौद्धोंके प्रधान सम्प्रदाय निम्न प्रकार हैं—

महायानका लक्ष्य पर-कल्याणपर है ये लोग श्रावक पदकी दश भूमि स्वीकार करते हैं।	हीनयानका लक्ष्य अर्हत पदकी प्राप्ति मात्र है। ये लोग श्रावक पद की चार भूमि स्वीकार करते हैं।
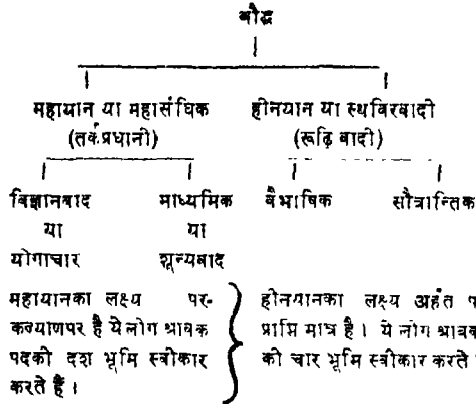
४. प्रवर्तक साहित्य व समय

स. म./परि. ख/३८६-३९६ १. विनय पिटक, सुत्तपिटक, और अभिधम्म पिटक ये पिटकत्रय ही बौद्धोंका प्रधान आगम है। इनमेंसे सुत्तपिटकके पाँच खण्ड हैं—दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। (भारतीयदर्शन)। २. सौत्रान्तिकोंमें धर्मत्राता (ई० १००) कृत पंचवस्तु विभाषा शास्त्रः, संयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र, अवदान सूत्र, घोष (ई० १५०) कृत अभिधर्मामृत शास्त्र; बुद्धदेव (ई० १००) का कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है; वसुमित्र (ई० १००) कृत अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्म धातुकाय पद, अष्टादश निकाय तथा आर्यवसुमित्र, बोधिसत्त्व, संगीत शास्त्र—ये चार विद्वान् व उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (स. म./परि. ख/३८८)। ३ वैभाषिकोंमें—कात्यायनी पुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र या विभाषा; सारीपुत्रका धर्मस्कन्ध; पूर्णका धातुकाय, मौद्गलायनका प्रज्ञप्ति शास्त्र; देवक्षेमका विज्ञानकाय; सारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त भी ई० ४२०-५०० में वसुबन्धुने अभिधर्म कोश (वैभाषिक कारिका तथा उसका भाष्य लिखा) यशोमित्रने इस ग्रन्थपर अभिधान धर्मकोश व्याख्या लिखी। सत्रभद्रने समय प्रदीप, न्यायानुसार नामक ग्रन्थ लिखे। दिङ्नागने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रहमरु, प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, आलम्बन परीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा आदि न्याय ग्रन्थोंकी रचना की। ४. इनके अतिरिक्त भी धर्मकीर्ति (ई० ६३५) विनोददेव, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (ई० ८४१) रत्नकीर्ति, पण्डित अशोक, रत्नाकर, शान्ति आदि विद्वान् इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान् हैं।

५. मूल सिद्धान्त विचार

१. बौद्ध दर्शनमें दुःखसे निवृत्तिका उपाय ही प्रधान है तत्त्व या प्रमेयोंका विचार नहीं। ये लोग चार आर्य सत्य मानते हैं—संसार दुःखमय है, दुःख समुदय अर्थात् दुःखका कारण, दुःख निरोध अर्थात् दुःखनाशकी सम्भावना और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद अर्थात् दुःख नाशका उपाय। २. संसार दुःखमय है। दुःख परम्पराका मूल अविद्या है। अविद्या हेतुक परम्पराको प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। वह निम्न प्रकार १२ भागोंमें विभाजित है। १ अविद्यासे संस्कार, २. संस्कार से विज्ञान, ३. विज्ञानसे नामरूप, ४. नामरूपसे षडायतन (मन सहित पाँच इन्द्रियाँ), ५. षडायतनसे स्पर्श, ६. स्पर्शसे वेदना, ७. वेदनासे तृष्णा, ८. तृष्णासे उपादान, ९. उपादानसे भव (संसारमें होनेकी प्रवृत्ति) १०. भवसे जाति, ११. जातिसे जरा, १२. जरासे मरण। ३. १. सम्मादिट्ठि (आर्य सत्योंका ज्ञान), २. सम्मा संकप्प (रागादिकेत्यागका दृढ निश्चय), ३. सम्मावाचा (सत्य वचन), ४ सम्मकम्मन्त (पापोंका त्याग), ५. सम्माआजीव (न्यायपूर्वक आजीविका), ६. सम्मा वायाम (अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति), ७. सम्मासत्ति (चित्त शुद्धि), ८. सम्मा समाधि (चित्तकी एकाग्रता)। ये आठ दुःख निवृत्तिके उपाय हैं। ४. बुद्धत्व प्राप्तिकी श्रेणियाँ हैं—श्रावकपद, प्रत्येक बुद्ध अर्थात् जन्मसे ही सम्यग्दृष्टि व बोधिसत्त्व अर्थात् स्व व पर कल्याणकी भावना।

६. श्रावकको भूमियाँ

१. हीनयान (स्थविर वादी) चार भूमियाँ मानते हैं—स्रोतापन्न (सम्यग्दृष्टि आदि साधक), सकृद्गामी (एक भवावतारी), अनागामी (चरम शरीरी), अर्हत् (बोधिको प्राप्त)। २. महायान (महासंघिक) दस भूमियाँ मानते हैं—१. मुदिया (पर कल्याणकी भावनाका उदय), २. विमला (मन, वचन, काय द्वारा शीलपारमिताका अभ्यास व साधना), ३. प्रभाकरी (धैर्यपारमिताका अभ्यास अर्थात् तृष्णाओंकी क्षति), ४. अर्चिष्मती (वीर्य पारमिताका अभ्यास अर्थात् चित्तकी साम्यता); ६. अभिमुक्ति (प्रज्ञा पारमिताका अभ्यास अर्थात् समताका अनुभव, सबपर समान दयाका भाव) ७. दूरंगमा (सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति), ८. अचला (अपनेको जगतसे परे देखता है), ९. साधमति (लोगोंके कल्याणार्थ उपाय सोचता है), १०. धर्ममेघ (समाधिनिष्ठ होकर अन्तमें बुद्धत्वको प्राप्त अवस्था)।

७. हीनयान वैभाषिककी अपेक्षा तत्त्वविचार

जगत् व चित्त सन्तति दोनोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको स्वीकार करते हैं। तहाँ जगतका सत्ता बाहरमें है जो इन्द्रियों द्वारा जाननेमें आती है, और चित्त सन्ततिकी सत्ता अन्तरंगमें है। यह लोग क्षणभंगवादी हैं। १. समस्त जगत तीन भागोंमें विभक्त है—स्कन्ध, आयतन, धातु। २. स्कन्ध पाँच हैं—चार स्कन्धोंका सम्बन्ध मानसिक वृत्तियोंसे है। ३. आयतन १२ हैं—मन सहित छह इन्द्रियाँ तथा छह इनके विषय। इन्हें धातु कहते हैं। इनसे छह ही प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्माका ज्ञान इन्द्रियोंसे नहीं होता, इसलिए आत्मा कोई वस्तु नहीं है। मनमें ६४ धर्म है और शेषमें एक-एक है। ४. धातु १८ हैं—६ इन्द्रिय धातु (चक्षु धातु, श्रोत्र धातु, घ्राणधातु, रसनाधातु, कायधातु, मनोधातु), ६ इन्द्रियोंके विषय (रूपधातु, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्मधातु), ६ विज्ञान (चक्षु-

विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय, और मनोविज्ञान या अन्तर्हृदयके भावोंका ज्ञान। ५. धर्म—भूत और चित्तके उन सूक्ष्म तत्त्वोंको धर्म कहते हैं जिनके आघात व प्रतिघातसे समस्त जगत्‌की स्थिति होती है। सभी धर्म सत्तात्मक हैं तथा क्षणिक हैं। ये दो प्रकारके हैं—असंस्कृत व संस्कृत। नित्य, स्थायी, शुद्ध व अहेतुक (पारिणामिक) धर्मोंको असंस्कृत कहते हैं। ६. असंस्कृत धर्म तीन हैं—प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश। प्रज्ञाद्वारा-रागादिक सास्रव धर्मोंका निरोध (अर्थात् धर्मध्यान) प्रतिसंख्या निरोध कहलाता है। बिना प्रज्ञाके सास्रव धर्मोंका निरोध (अर्थात् शुक्लध्यान) अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। अप्रतिसंख्या ही वास्तविक निरोध है। आवरणके अभावको आकाश कहते हैं। यह नित्य व अपरिवर्तनशील है। ७. संस्कृतधर्म चार हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, तथा चित्त विप्रमुक्त इनमें भी रूपके ११. चित्तका १. चैतसिकके ४६ और चित्त विप्रमुक्तके १६ भेद हैं। पाँच इन्द्रिय तथा पाँच उनके विषय तथा अविज्ञप्ति ये ग्यारह रूप अर्थात् भौतिक पदार्थोंके भेद हैं। इन्द्रियों व उनके विषयोंके परस्पर आघातसे चित्त उत्पन्न होता है। यही मुख्य तत्त्व है।

इसीमें सब संस्कार रहते हैं। इसका स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, क्योंकि हेतु प्रत्ययसे उत्पन्न होता है। यह एक है, पर उपाधियोंके कारण इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं। यह प्रतिक्षण बदलता है। इस लोक व परलोकमें यही आता-जाता है। चित्तसे घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाले मानसिक व्यापारको चैतसिक या चित्त संप्रयुक्त धर्म कहते हैं। इसके ४६ प्रभेद हैं। जो धर्म न रूप धर्मोंमें और न चित्त धर्मोंमें परिगणित हों, उन्हें चित्त विप्रयुक्त धर्म कहते हैं। इनकी संख्या १४ है। ८. निर्वाण—एक प्रकारका असंस्कृत या स्वाभाविक धर्म है, जिसे अर्हत् जन सत्य मार्गके अनुसरणसे प्राप्त होते हैं। यह स्वतन्त्र, सत् व नित्य है। यह ज्ञानका आधार है। यह एक है तथा सर्व भेद इसमें विलीन हो जाते हैं। यह आकाशवत् अनन्त, अपरिमित व अनिर्वचनीय है।

८. हीनयान सौत्रान्तिककी अपेक्षा तत्त्व विचार

१. अन्तर जगत् सत् है पर बाह्य जगत् नहीं। वह केवल चित्तमें उत्पन्न होने वाले धर्मोंपर निर्भर है। २ इनके मतमें बुझे हुए दीपकवत् 'निर्वाण' धर्मोंके अनुत्पाद रूप है, यह असंस्कृत धर्म नहीं है, क्योंकि मार्गके द्वारा उत्पन्न होता है। ३. इनके मतमें उत्पत्तिसे पूर्व व विनाशके पश्चात् शब्दकी स्थिति नहीं रहती, अतः वह अनित्य है। ४. सत्तागत दो वस्तुओं में कार्यकारण भाव ये लोग नहीं मानते। ५. वर्तमान कालके अतिरिक्त भूत, भविष्यत् काल भी नहीं है। ६. इनके मतमें परमाणु निरवयव होता है। अतः इनके संघटित होनेपर भी यह पृथक् ही रहते हैं। केवल उनका परिमाण ही बढ़ जाता है। ७. प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या धर्मोंमें विशेष भेद नहीं मानते। प्रतिसंख्या निरोधमें प्रज्ञा द्वारा रागादिकका निरोध हो जानेपर भविष्यमें उसे कोई क्लेश न होगा। और अप्रतिसंख्या निरोधमें क्लेशोंका नाश हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जायेगी, जिससे कि वह भव चक्रसे छूट जायेगा।

९. महायान योगाचार या विज्ञानवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. बाह्य जगत् असत् है। २. चित्त या विज्ञान ही एक मात्र परम तत्त्व है। चित्त ही की प्रवृत्ति व मुक्ति होती है। सभी वस्तुएँ एक मात्र चित्तके विकल्प हैं। अविद्याके कारण ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयमें भेद मालूम होता है। वह दो प्रकारका है—प्रवृत्ति विज्ञान व आलय विज्ञान। ३. आलय विज्ञानको तथागत गर्भ भी कहते हैं। समस्त कायिक, वाचिक व मानसिक विज्ञानोंके (वासना रूप बीज आलय विज्ञानरूप चित्तमें शान्त भावसे पड़े रहते हैं, और समय आनेपर व्यवहाररूप जगत्‌में प्रगट होते हैं। पुनः इसीमें उसका लय भी हो जाता है। एक प्रकारसे यही आलय विज्ञान व्यावहारिक जीवात्मा है। ४. आलय विज्ञान क्षणिक विज्ञानोंकी सन्तति मात्र है। इसमें शुभ तथा अशुभ सभी वासनाएँ रहती हैं। इन वासनाओंके साथ-साथ इस आलयमें सात और भी विज्ञान हैं, जैसे—चक्षुविज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय, मनो तथा क्लिष्ट मनो विज्ञान। इन सबमें मनो विज्ञान आलयके साथ सदैव कार्यमें लगा रहता है और साथ ही साथ अन्य छह विज्ञान भी कार्यमें लगे रहते हैं। व्यवहारमें आनेवाले ये सात विज्ञान 'प्रवृत्तिविज्ञान' कहलाते हैं। वस्तुतः प्रवृत्ति विज्ञान आलय विज्ञानपर ही निर्भर है।

१०. महायान माध्यमिक या शून्यवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. तत्त्व दृष्टिसे न बाह्य जगत्‌की सत्ता है न अन्तर्जगत्‌की। २. सभी शून्यके गर्भमें विलीन हो जाते हैं। यह न सत् है और न असत्, न उभय है न अनुभय। वस्तुतः यह अलक्षण है। ऐसा शून्य ही एक मात्र परम तत्त्व है। यह स्वलक्षण मात्र है। उसकी सत्ता दो प्रकारकी है—संवृति सत्य और परमार्थ सत्य। ३. संवृति सत्य पारमार्थिक स्वरूपका आवरण करनेवाली है। इसीको अविद्या मोह आदि कहते हैं। यह संवृति भी दो प्रकारकी है—तथ्य संवृति व मिथ्या संवृति। जिस घटनाको सत्य मानकर लोकका व्यवहार चलता है उसे लोक संवृति या तथ्य संवृति कहते हैं। और जो घटना यद्यपि किसी कारणसे उत्पन्न अवश्य होती है पर उसे सभी लोग सत्य नहीं मानते, उसे मिथ्या संवृति कहते हैं। ४. परमार्थ सत्य निर्वाण स्वरूप है। इसे शून्यता, तथता, भूतकोटि, धर्मधातु आदि भी कहते हैं। निःस्वभावता ही वस्तुतः परमार्थ सत्य है। अनिर्वचनीय है। (और भी दे० शून्यवाद)।

११. प्रमाण विचार

१. हीनयान वैभाषिक सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह दो प्रकार है—प्रत्यक्ष व अनुमान। २. कल्पना व भ्रान्तिसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह चार प्रकारका है—इन्द्रियज्ञान, मनोविज्ञान (श्रुतज्ञान), आत्मसंवेदन (सुख-दुःख आदि चैतसिक धर्मोंका अपने स्वरूपमें प्रगट होना); योगिज्ञान (सद्भूत अर्थोंकी परमसीमा वाला ज्ञान), प्रत्यक्ष ज्ञान स्वलक्षण है, यही परमार्थ सत्य है। ३. अनुमान दो प्रकार है—स्वार्थ व परार्थ। हेतु, सपक्ष व विपक्षको ध्यानमें रखते हुए जो ज्ञान स्वतः हो उसे स्वार्थ कहते हैं। उपदेशादि द्वारा दूसरेसे प्राप्त किया गया ज्ञान परार्थानुमान है। ४. इसमें तीन प्रकारके हेतु होते हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव व कार्य। किसी स्थान विशेषपर घटका न मिलना उसकी अनुपलब्धि है। स्वभाव सत्तामात्र भावी हेतु स्वभाव हेतु है। धुएँ रूप कार्यको देखकर अग्नि रूप साध्यका अनुमान करना कार्य हेतु है। इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य हेतु नहीं हैं। अनुमान ज्ञान अवास्तविक है। हेतुमें पक्ष, सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीनों बातें रहनी चाहिए, अन्यथा वह हेत्वाभास होगा। ५. हेत्वाभास तीन प्रकार है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। ६. अनुभव दो प्रकार है—ग्रहण व अध्यवसाय। ज्ञानका निर्विकल्प रूप (दर्शन) ग्रहण कहलाता है। तत्पश्चात् होनेवाला साकार ज्ञान अध्यवसाय कहलाता है। चक्षु, मन व श्रोत्र दूर होसे अपने विषयका ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु अन्य इन्द्रियोंके लिए अपने-अपने विषयके साथ सन्निकर्ष करना आवश्यक है।

१२. जैन व बौद्धधर्मकी तुलना

शुद्ध पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बौद्धवत् जैनदर्शन भी एक निरवयव, अविभागी, एक समयवर्ती तथा स्वलक्षणभूत निर्विकल्प ही तत्त्व मानता है। अहिंसाधर्म तथा धर्म व शुक्लध्यानकी अपेक्षा भी दोनोंमें समानता है। अनेकान्तवादी होनेके कारण जैनदर्शन तो उसके विपक्षी द्रव्यार्थिक नयसे उसी तत्त्वको अनेक सावयव, विभागी, नित्य व गुण पर्याय युक्त आदि भी स्वीकार कर लेता है। परन्तु एकान्तवादी होनेके कारण बौद्धदर्शन उसे सर्वथा स्वीकार नहीं करता है। इस अपेक्षा दोनोंमें भेद है। बौद्धदर्शन ऋजुसूत्र नयाभासी है। (दे० अनेकान्त/२/९) एकत्व अनेकत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० द्रव्य/४) नित्यत्व व अनित्यत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० उत्पाद/२।

ब्रह्म—१. पुष्पदन्त भगवान्‌का शासकयक्ष–दे० तीर्थंकर/५ २. कल्पवासी देवोंका एक भेद–दे० स्वर्ग/३. ३. ब्रह्मयुगल का तृ० पटल –दे० स्वर्ग/५; ४ कल्पवासी स्वर्गोंका पाँचवा कल्प– दे० स्वर्ग/५/२।

१. ब्रह्मका लक्षण

स. सि./७/१६/३५४/४ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। =अहिंसादि गुण जिसके पालन करनेपर बढ़ते हैं वह ब्रह्म कहलाता है। (चा. सा/९५/२।

ध. १/४.१.२९/९४/२ ब्रह्मचारित्रं पंचव्रत-समिति-त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। =ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि, वह शान्तिके पोषणका हेतु है।

द्र सं./टी./१४/४७/५ परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डितं स परमब्रह्म भण्यते। =परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखामृतसे तृप्त होनेके कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हो सका अतः वह 'परम ब्रह्म' कहलाता है।

२. शब्द ब्रह्मका लक्षण

म. सा./आ./५ इह किल सकलोद्भासि स्यात्पदमुद्रित शब्दब्रह्म…। –समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला और स्यात् पदसे चिह्नित शब्द ब्रह्म है…।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. सर्व जीव एक ब्रह्मके अंश नहीं हैं—दे० जीव/२।
२. परम ब्रह्मके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।
३. आदि ब्रह्मा—दे० ऋषभ।

ब्रह्मऋषि—दे० ऋषि।

ब्रह्मचर्य—अध्यात्म मार्गमें ब्रह्मचर्यको सर्व प्रधान माना जाता है, क्योंकि, ब्रह्ममें रमणता ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। निश्चयसे देखनेपर क्रोधादि निग्रहका भी इसीमें अन्तर्भाव हो जानेसे इसके १८०० भंग हो जाते हैं। परन्तु स्त्रीके त्यागरूप ब्रह्मचर्यकी भी लोक व परमार्थ दोनों क्षेत्रोंमें बहुत महत्ता है। वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत रूपसे भी ग्रहण किया जाता है महाव्रत रूपसे भी। अब्रह्म सेवनसे चित्त भ्रम आदि अनेक दोष होते हैं, अतः विवेकी जनोंको सदा ही अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार दुराचारिणी स्त्रियोंके अथवा पर स्त्रीके, वा स्वस्त्रीके भी सामीप्से बचकर रहना चाहिए, और इसी प्रकार स्त्रीको पुरुषोंसे बचकर रहना चाहिए। यद्यपि ब्रह्मचर्यको भी कथंचित् सावद्य कहा जाता है, परन्तु फिर भी इसका पालन करना श्रेयस्कर है।

१. भेद व लक्षण

१. ब्रह्मचर्य सामान्यका लक्षण—१. निश्चय

भ. आ./मू./८७८ जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जदिणो। तं जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।८७८। =जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनिकी चर्या होती है उसको परदेहकी सेवा रहित ब्रह्मचर्य जान। (द्र. स./टी./३५/१०९ पर उद्धृत)।

अ. वि./९२/२ आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं। स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः।…।२। =ब्रह्म शब्दका अर्थ

निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मामें लीन होनेका नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनिका मन अपने शरीरके भी सम्बन्धमें निर्ममत्व हो चुका है, उसीके ब्रह्मचर्य होता है। (अन. ध./४/६०)।

अन. ध./६/५५ चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा। चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः ।५५। –मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीति पूर्वक अधीनता स्वीकार कर ली गयी है, अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतन्त्रतया की गयी प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

मा. अ./८० सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावम्। सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलुदुद्धरं धरदि ।८०। –जो पुण्यात्मा स्त्रियोंके सारे सुन्दर अंगोंको देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है, वही दुर्द्धर ब्रह्मचर्यको धारण करता है। (पं. वि./१/१०४)।

स. सि./९/६/४१३/३ अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। –अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्री विषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रीसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमें निवास करना ब्रह्मचर्य है। (रा. वा./९/६/२२/५९८/२७)।

भ. आ./वि./४६/१५४/१६ ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं। –नव प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना ब्रह्मचर्य है।

पं. वि./१२/२ ···स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुने। एवं सत्यबलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते, वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ।२। –जो अपने शरीरसे निर्ममत्व हो चुका है, वह इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदि स्त्रियोंको क्रमसे माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, तो वह मुनि ब्रह्मचारी होता है।

का. अ./मू./४०३ जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं। कामकहादि-णिरीहो णव-विह-बंभं हवे तस्स ।४०३। जो मुनि स्त्रियोंके संगसे बचता है, उनके रूपको नहीं देखता, काम कथादि नहीं करता उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है ।४०३।

२. ब्रह्मचर्य विशेषके लक्षण

१. दस प्रकारका ब्रह्मचर्य

भ. आ./मू./८७९-८८१ उत्थानिका–मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवतः दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो ब्रह्मभेदमाचष्टे–इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा। संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ।८७९। सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे। इट्ठविसयसेवा वि य अब्बं भं दसविहं एदं ।८८०। एवं विसग्गिभूदं अब्बं भं दसविहं पि णादव्वं। आवादे मधुरम्मिव होदि विवागे य कडुयदरं ।८८१। –मनसे, वचनसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है, ऐसा मुनि दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करता है। तब वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन करता है। ग्रन्थकार अब दस प्रकारके अब्रह्मका वर्णन करते हैं–१. स्त्री सम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा, २. वत्थिमोक्खो–अपने इन्द्रिय अर्थात् लिंगमें विकार होना, ३. वृष्यरससेवा–पौष्टिक आहारका ग्रहण करना, जिससे बल व वीर्यकी वृद्धि हो। ४. संसक्तद्रव्यसेवा–स्त्रीका स्पर्श अथवा उसकी शय्या आदि पदार्थोंका सेवन करना। ५. तदिंद्रियावलोकन–स्त्रियोंके सुन्दर शरीरका अवलोकन करना। ६. सत्कार–स्त्रियोंका सत्कार करना, ७. सम्मान–उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र आदिसे सत्कार करना। अतीत स्मरण–भूतकालमें की रति, क्रीड़ाओंका स्मरण करना, अनागताभिलाष–भविष्यत् कालमें उनके साथ ऐसी क्रीड़ा करूँगा ऐसी अभिलाषा मनमें करना। इष्टविषय सेवा–मनोवांछित सौध, उद्यान वगैरहका उपभोग करना। ये अब्रह्मके दस प्रकार हैं।८७९-८८०। ये दस प्रकारका अब्रह्म विष और अग्निके समान है, इसका आरम्भ मधुर, परन्तु अन्त कडुआ है। (ऐसा जानकर जो इसका त्याग करता है वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करता है।) ।८८१। (अन. ध./४/६१), (भा. पा./टी./९६/२४६ पर उद्धृत)।

२. नव प्रकारका ब्रह्मचर्य

का. अ./टी./४०३ तस्य मुनेः ब्रह्मचर्यं भवेत्, नवप्रकारैः कृतकारितानुमतगुणितमनोवचनकायैः कृत्वा स्त्रीसंगं वर्जयतीति ब्रह्मचर्यं स्यात्। –जो मुनि स्त्री संगका त्याग करता है उसीके मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है। (भ. पा./टी./९६/२४५/२२)।

३. ब्रह्मचर्य महाव्रत व अणुव्रतका लक्षण

१. महाव्रत

नि. सा./मू./५९ दट्ठूण इच्छिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु। मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ।५९। –स्त्रियोंका रूप देखकर उनके प्रति वांछा भावकी निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा रहित जो परिणाम वह चौथा व्रत है। (चा. पा./टी./२८/४७/२४)।

मू. आ./८,२९२ मादुसुदा भगिणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं। इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ।८। अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा। तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणीहि पयदमणो ।२९२। –जो वृद्धा बाला यौवनवाली स्त्रीको देखकर अथवा उनकी तस्वीरोंको देखकर उनको माता पुत्री बहन समान समझ स्त्री सम्बन्धी कथादिका अनुराग छोड़ता है, वह तीनों लोकोंका पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है ।८। चित्र आदि अचेतन, देवी, मानुषी, तिर्यंचनी सचेतन स्त्री ऐसी चार प्रकार स्त्रीको मन, वचन कायसे जो नहीं सेवता तथा प्रयत्न मनसे ध्यानादिमें लगा हुआ है, यही ब्रह्मचर्य व्रत है ।२९२।

२. अणुव्रत

र. क./५९ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ।५९। –जो पापके भयसे न तो पर स्त्रीके प्रतिगमन करे और न दूसरोंको गमन करावे, वह परस्त्री त्याग तथा स्वदार सन्तोष नामका अणुव्रत है ।५९। (सा. ध./४/५२)।

स. सि./७/२०/३५८/१० उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः संगान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। –गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है इसलिए उसके परस्त्री नामका चौथा अणुव्रत होता है। (रा. वा./७/२०/४/५४७/१३)।

वसु. श्रा./२१२ पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो। थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ।२१२। –अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनंग क्रीड़ाका त्याग करनेवाले जीवको प्रवचनमें भगवान्ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ।२१२। (गुण. श्रा./१३६)।

का. अ./मू./३३७-३३८ असुइ-मयं दुग्गंधं महिला-देहं विरच्चमाणो जो। रूवं लावण्णं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ।३३७। जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइ-सारिच्छं। मण-वयणे कायेण वि बंभ-

बई सो हवे थूनो ।३३८। —जो स्त्रीके शरीरको अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्यको भी मनमें मोहको पैदा करनेवाला मानता है। तथा मन-वचन और कायसे परायी स्त्रीको माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्यका धारी है।

चा. पा./२१/४३/११ ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतोषः परदारनिवृत्तिः कस्यचित्सर्वस्त्री निवृत्तिः। —स्व स्त्री सन्तोष, अथवा परस्त्रीसे निवृत्ति वा किसीके सर्वथा स्त्रीके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है।

४. ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४३ मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धिबीभत्सं। पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः ।१४३। —जो मलके बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाले, मलप्रवाही, दुर्गंध युक्त, लज्जाजनक वा ग्लानियुक्त अंगको देखता हुआ काम-सेवनसे विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी ब्रह्मचारी है ।१४३।

वसु. श्रा./२९७ पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो। इत्थिकहाइणिवित्तो सत्तमगुणबंभयारी सो ।२९७। —जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमा रूप गुणका धारी ब्रह्मचारी श्रावक है ।२९७। (गुण. श्रा./१८०), (द्र. सं./टी./४५/८), (का. अ./३८४), (सा. ध./७/१७), (ला. सं./६/२५)।

५. शीलके लक्षण

शील. पा./मू./४०…सीलं विसयविरागो…।४०। —पंचेन्द्रियके विषयसे विरक्त होना शील कहलाता है।

ध. ८/३,४१/८२/५ वद परिरक्खणं सीलं णाम। —व्रतोंकी रक्षाको शील कहते हैं। (प. प्र./टी./२/६७)।

अन. ध./४/१७२ शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्। संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ।१७२। —जिसके द्वारा व्रतोंकी रक्षा की जाय उसको शील कहते हैं। संज्ञाओंका परिहार और इन्द्रियोंका निरोध करना चाहिए, तथा उत्तमक्षमादि दस धर्मको धारण करना चाहिए ।१७२।

दे० प्रकृति बन्ध/१/१ (प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची हैं)।

६. शीलके १८००० भंग व भेद

१. सामान्य भेद

भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०/१ शीलकी दोय प्रकार प्ररूपणा है—एक तो स्वद्रव्य परद्रव्यके विभाग अपेक्षा है अर दूसरी स्त्रीके संसर्गकी अपेक्षा है।

१. स्वद्रव्य परद्रव्यके विभागकी अपेक्षा

मू. आ./१०१७-१०२० जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य। अण्णोण्णेहि अभत्था अट्ठारहसील सहस्साइं ।१०१७। तिण्हं सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो। आहारादी सण्णा फासंदिय इंदिया णेया ।१०१८। पुढविगदगागणिमारुदपत्तेयअणंतकायिया चेव। विगतिगचदुपंचेंदिय भोम्मादि हवदि दस एदे ।१०१९। खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा। तह होदि बंभचेरं सच्चं चागो य दस धम्मा ।१०२०। —१. तीन योग तीन करण चार संज्ञा पाँच इन्द्रिय दस पृथ्वी आदिक काय, दस मुनि धर्म—इनको आपसमें गुणा करनेसे अठारह हजार शील होते हैं ।१०१७। २. मन, वचन, कायका शुभकर्मके ग्रहण करनेके लिए व्यापार वह योग है और अशुभके लिए प्रवृत्ति वह करण है। आहारादि चार संज्ञा हैं, स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ हैं ।१०१८। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय—ये पृथिवी आदि दस हैं ।१०१९। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस मुनिधर्म हैं ।१०२०। (भा॰ पा./टी./११८/२६७/६), (भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०/४)।

२. स्त्री संसर्गकी अपेक्षा

काष्ठ, पाषाण, चित्राम (३ प्रकार अचेतन स्त्री)×मन अर काय—(३×२=६) (यहाँ वचन नाहीं)। कृत कारित-अनुमोदना—(६×३=१८)। पाँच इन्द्रिय (१८×५=९०)। द्रव्यभाव (९०×२=१८०)। क्रोध-मान-माया-लोभ (१८०×४=७२०)। ये तो अचेतन स्त्रीके आश्रित कहे। देवी, मनुष्यणी, तिर्यंचिनी (३ प्रकार चेतन, स्त्री)× मन, वचन, काय (३×३=९)। कृत-कारित अनुमोदना (९×३=२७)। पंचेन्द्रिय (२७×५=१३५)। द्रव्य भाव (१३५×२=२७०)। चार संज्ञा (२७०×४=१०८०)। सोलह कषाय (१०८०×१६=१७२८०)। इस प्रकार चेतन स्त्रीके आश्रित १७२८० भेद कहे। कुल मिलाकर (७२०+१७२८०) शीलके १८००० भेद हुए। (भा. पा./टी./११८/२६७/१४) (भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०)।

२. ब्रह्मचर्य निर्देश

१. ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनाएँ

भ. आ./मू./१२१० महिलालोयणपुव्वरदिसरणं संसत्तवसहिविकहाहि। पणिदरसेहिं य विरदी भावना पंच बंभस्स ।१२१०। —स्त्रियोंके अंग देखना, पूर्वानुभूत भोगादिका स्मरण करना, स्त्रियाँ जहाँ रहती हैं वहाँ रहना, शृंगार कथा करना, इन चार बातोंसे विरक्त रहना, तथा बल व उन्मत्तता, उत्पादक पदार्थोंका सेवन करना, इन पाँच बातोंका त्याग करना ये ब्रह्मचर्यकी पाँच भावनाएँ हैं ।१२१०। (मू. आ./३४०) (चा. पा./मू. (३५))।

त. सू./७/७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च ।७। —स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेका त्याग, पूर्व भोगोंके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं ।७।

स. सि./७/९/३४७/११ अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासिता वञ्चितो विवशो वधबन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरति पराङ्गनालिङ्गनसङ्गकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धिनो लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गर्हितश्च भवति अतो विरतिरात्महिता। —जो अब्रह्मचारी है, उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है। जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है, और विवश होकर उसे वध, बन्धन, और क्लेश आदि दुःखोंको भोगना पड़ता है, ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है। मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता। पर स्त्रीके रागमें जिसकी रति रहती है, इसलिए वह वैरको बढ़ानेवाले लींगका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभगतिको प्राप्त होता है। तथा गर्हित होता है। इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है।

२. ब्रह्मचर्य धर्मके पालनार्थ कुछ भावनाएँ

भ. आ./मू./८८२/११४ कामकदा इत्थिकदा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य। संसग्गीदोसाविय करंति इत्थीसु वेरग्गं ।८८२। —कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोंकी सेवा, और संसर्ग दोष इन पाँच कारणोंसे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है ।८८२।

रा. वा./९/६/२७/५९६/३० ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति। नित्याभिरतगुरुकुलावासमधिवसन्ति गुणसंपदः। वराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृतः पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानमवाप्नोति। एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकायां क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्निबन्धनकर्मास्रवाभावात् महान् संवरो भवति। —ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुल वासीको गुण सम्पदाएँ अपने-आप मिल जाती हैं। स्त्री विलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका भी शिकार बनता है। संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है। इस तरह उत्तम क्षमादि गुणोंका तथा क्रोधादि दोषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुककर महान् संवर होता है।

पं. वि./१/१०५ अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः, हृदि विरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति। कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदङ्घ्री, प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति।१०५। —लोकमें पुण्यवान् पुरुष रागको उत्पन्न करके निरन्तर ही स्त्रियोंके हृदयमें निवास करते हैं। ये पुण्यवान् पुरुष भी जिन मुनियोंके हृदयमें वे स्त्रियाँ कभी और किसी प्रकारसे भी नहीं रहती हैं उन मुनियोंके चरणोंकी प्रतिदिन अत्यन्त नम्र होकर नित्य ही स्तुति करते हैं।१०५।

३. ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार

१. स्वदार संतोष व्रतकी अपेक्षा

दे० ब्रह्मचर्य/१/१/२ (स्वस्त्री भोगाभिलाष, इन्द्रियविकार, पुष्टरससेवा, स्त्री द्वारा स्पर्श की हुई शय्याका सेवन करना, स्त्रीके अंगोपांगका अवलोकन करना, स्त्रीका अधिक सत्कार करना, स्त्रीका सम्मान करना, पूर्वभोगानुस्मरण, आगामी भोगाभिलाष, इष्ट विषय सेवन ये दस अब्रह्मके प्रकार हैं।)

मू. आ./९९६-९९८ पढम विउलाहारं बिदियं काय सोहणं। तदियं गन्धमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं।९९६। तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं। पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणीदरससेवा।९९७। दसविहमव्वंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं। परिहरेइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि।९९८। —१. बहुत भोजन करना, २. तैलादिसे शरीरका संस्कार करना, ३. सुगन्ध पुष्पमालादिका सेवन, ४. गीत-नृत्यादि देखना, ५. शय्या-क्रीड़ागृह या चित्रशाला आदिकी खोज करना, ६. कटाक्ष करती स्त्रियोंके साथ खेलना, ७. आभूषण वस्त्रादि पहचानना, ८. पूर्व भोगानुस्मरण, ९. रूपादि इन्द्रियविषयोंमें प्रेम, १० इष्ट व पुष्ट रसका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म संसारके महा दुःखोंका स्थान है। इसको जो महात्मा संयमी त्यागता है, वही दृढ़ ब्रह्मचर्य व्रतका धारी होता है।

त. सू./७/२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः।२८। —पर विवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीड़ा, और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं।२८। (र. क. श्रा./६०)।

ज्ञा./११/७-९ आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्। तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते।७। योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम्। तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम्।८। पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्। नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्।९। —प्रथम तो शरीरका संस्कार करना, २. पुष्टरसका सेवन करना, ३. गीत-वादित्रादिका देखना-सुनना, ४. स्त्रीमें किसी प्रकारका संकल्प वा विचार करना, ५. स्त्रीके अंग देखना, ६. देखनेका संस्कार हृदयमें रहना, ७. पूर्वमें किये भोगका स्मरण करना, ८. आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी, १०. शुक्रका क्षरण। इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं, इन्हें ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागने चाहिए।७-९।

२. परस्त्री त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२३ कन्यादूषणगान्धर्व-विवाहादि विवर्जयेत्। परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया।२३। —परस्त्री व्यसनका त्यागी श्रावक परस्त्री व्यसनके त्यागरूप व्रतकी शुद्धिको करनेकी इच्छासे कन्याके लिए दूषण लगानेको और गान्धर्व विवाह आदि करनेको छोड़े।२३।

ला. सं/२/१८६,२०७ भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम्। ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य संभवात्।१८६। एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूति समक्षतः। पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभिः।२०७। —धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यद्यपि विवाहित होनेके कारण वह ग्रहण करने योग्य है, तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसका सेवन करनेमें दोष है।१८६। (धर्मपत्नी आदि भेद—दे० स्त्री०)। अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सबको स्त्रियोंके भेदोंमें समझकर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंका सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।२०७।

३. वेश्या त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२० त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं, वृथाट्यां विङ्गसङ्गतिम्। नित्यं पण्याङ्गनात्यागी, तद्गेहगमनादि च।२०। —वेश्या व्यसनका त्यागी, श्रावक गीत, नृत्य और वाद्यमें आसक्तिको, बिना प्रयोजन घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोंकी संगतिको, और वेश्याके घर आने-जाने आदिको सदा छोड़ देवे।२०।

४. शीलके दस दोष

द. पा. टी./९/९/४ कास्ताः शीलविराधनाः स्त्रीसंसर्गः सरसाहारः सुगन्धसंस्कारः कोमलशयनासनं शरीरमण्डनं गीतवादित्रश्रवणम् अर्थग्रहणं कुशीलसंसर्गः राजसेवा रात्रिसंचरणम् इति दशशीलविराधना। —१. स्त्रीका संसर्ग, २. स्वादिष्ट आहार, ३. सुगन्धित पदार्थोंसे शरीरका संस्कार, ४. कोमल शय्या व आसन आदिपर सोना, बैठना, ५. अलंकारादिसे शरीरका शृङ्गार, ६. गीत वादित्र श्रवण, ७. अधिक धन ग्रहण, ८. कुशीले व्यक्तियोंकी संगति, ९. राजाकी सेवा, १०. रात्रिमें इधर-उधर घूमना, ऐसे दस प्रकारसे शीलकी विराधना होती है।

३. अब्रह्मका निषेध व ब्रह्मचर्यकी प्रधानता

१. वेश्या गमनका निषेध

वसु. श्रा./८८-९३ कारुय-किराय-चंडाल-डोंब पारसियाणमुच्छिट्ठं। सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए।८८। रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं। काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं।८९। पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूण णत्थि मे अण्णो। उच्चइ अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि।९०। माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं। वेस्सा कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो।९१। जे मज्जमंसदोसा वेस्सा गमणम्मि होंति ते सव्वे। पावं पि तत्थ-हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं।९२। पावेण तेण दुक्खं पावइ संसार-सायरे घोरे। तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा मण-वयण-काएहिं।९३। —जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है, वह कारु (लुहार), चमार, किरात (भील), चण्डाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी लोगोंके साथ समागम करती है।८८। वेश्या, मनुष्यको अपने ऊपर आसक्त जानकर सैंकड़ों वंचनाओंसे उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, छोड़ देती है।८९।

वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर तुम्हारे सिवाय मेरा स्वामी कोई नहीं है। इसी प्रकार वह अन्यसे भी कहती है और अनेक खुशामदी बातें करती है।६०। मानी, कुलीन, और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोंकी दासताको करता है, और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याके द्वारा किये गये अपमानोंको सहता है।६१। जो दोष मद्य-मांसके सेवनमें होते हैं, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते हैं। इसलिए वह मद्य और मांस सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही है, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधर्मको भी नियमसे प्राप्त होता है।६२। वेश्या सेवन जनित पापसे यह जीव घोर संसार सागरमें भयानक दुःखोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए।६३।

ला. सं./२/१२६-१३२ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम्। तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका।१२९। तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यतता नृणाम्। मद्य-मांसादि दोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम्।१३०। आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम्। इहैव नरकं नूनं वेश्यासक्तचेतसाम्।१३१। उक्तं च या. खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां, जल्पन्ति मिथ्यावचः। स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्। नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते, लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम्। रजकशिलासदृशीभि कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः। वेश्याभिर्यदि संग. कृतमिव परलोकवार्ताभि.। प्रसिद्धं बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरंपराः। श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः॥ —जो स्त्री केवल धनके लिए पुरुषका सेवन करती है, उसको वेश्या कहते हैं, ऐसी वेश्याएँ संसारमें प्रसिद्ध हैं, उन वेश्याओंको दारिका, दासी, वेश्या वा नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते हैं।१२९। जो मनुष्य मद्य, मांस आदिके दोषोंको त्यागकर अपने आत्माका कल्याण करना चाहते हैं, उनको वेश्या सेवनका त्याग करना चाहिए।१३०। वेश्या सेवनसे नरकादिक दुर्गतियोंमें पड़ना पड़ता है। और इस लोकमें भी नरकके सदृश यातनाएँ व दुःख भोगने पड़ते हैं।१३१। कहा भी है—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, धनके लिए प्रेम करती है, अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा बिना मनके नीच लोगोंकी लारको रात-दिन चाटती है, इसलिए वेश्याको छोड़कर संसारमें कोई नरक नहीं है। वेश्या तो धोबीकी शिलाके सदृश है, जिसपर आकर ऊँच-नीच अनेक पुरुषोंके घृणितसे घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मल आकर बहते हैं. अथवा वह वेश्या कुत्तेके मुँहमें लगे हुए हड्डीके खप्परके समान आचरण करती है ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते हैं, वे साथ-साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं अर्थात् वह नरक अवश्य जाते हैं। इस वेश्या सेवनमें आसक्त जीवोंने बहुत दुःख जन्म जन्मान्तर तक पाये हैं। जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक दुःख पाये थे।१३२।

२. परस्त्री निषेध

कुरल/१५/१० वरमन्यत्कृतं पापमपराधोऽपि वा वरम्। परं न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी।१०। —तुम कोई भी अपराध और दूसरा कैसा भी पाप क्यों न करो पर तुम्हारे पक्षमें यही श्रेयस्कर है कि तुम पड़ोसीकी स्त्रीसे सदा दूर रहो।

वसु.श्रा./गा. नं. णिस्सस्सइ रुयइ गायइ णियसिरं हणइ महियले पडइ। परमहिलमलभमाणो असप्पलावं पि जंपेइ।११३।अह भुंजइ परमहिलं अणिच्छमाणं बलाधरेऊणं। ..।११८। अह कावि पाव बहुला असई णिण्णासिऊण णियसीलं। सयमेव पच्छियाओ उवरोहवसेण अप्पाणं।११९। जइ देइ जह वि तत्थ सुण्णहर खंडदेउलयमज्झम्मि। सच्चित्ते भयभीओ सोक्खं कि तत्थ पाउणइ।१२० सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो। ल्हुक्कइ पलाइ पक्खलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ।१२१। जइ पुणकेण वि दीसइ णिज्जइ तो बंधिऊण णिवगेहं। चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेसं।१२२। परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इह भव समुद्दम्मि। परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा।१२४। —पर स्त्री लम्पट पुरुष जब अभिलषित परमहिलाको नहीं पाता है, तब वह दीर्घ निश्वास छोड़ता है, रोता है, कभी गाता है, कभी सिरको फोड़ता है और कभी भूतलपर गिरता है और असत्प्रलाप भी करता है।११३। नहीं चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकड़कर भोगता है।...।११८। यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वयं उपस्थित भी हो जाय, और अपनेआपको सौंप भी देवे।११९। तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुलके भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भयभीत होनेसे वहाँपर क्या सुख पा सकता है।१२०। वहाँपर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भयभीत हो चारों दिशाओंको देखता है।१२१। इसपर यदि कोई देख लेता है तो वह बाँधकर राजदरबारमें ले जाया जाता है और वहाँपर वह चोरसे भी अधिक दण्डको पाता है।१२२। पर स्त्री-लम्पटी परलोकमें इस संसार समुद्रके भीतर अनन्त दुःखको पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन, वचन कायसे त्याग करना चाहिए।१२४।

ला. सं./२/२०७ एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूमिसमक्षतः। पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभिः।२०७। —अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब स्त्रियोंके भेदोंको (दे० स्त्री) समझकर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।२०७। (ला. सं./६/६०)।

३. दुराचारिणी स्त्रीका निषेध

सा. ध./३/१० भजन् मद्यादि भाजः स्त्री-स्तादृशैः सह संसृजन्। भुक्त्यादौ चैति साकीर्तिं मद्यादि विरतिक्षतिम्।१०। —मद्य, मांस आदिको खानेवाली स्त्रियोंका सेवन करनेवाला और भोजनादिमें मद्यादिके सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ संसर्ग करनेवाला व्रतधारी पुरुष निन्दा सहित मद्य-त्याग आदि मूलगुणोंकी हानिको प्राप्त होता है।१०।

४. स्त्रीके लिए परपुरुषादिका निषेध

भ. आ./मू./९९४ जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ। तह सीलरक्खयाणं महिलाण णिंदिदा पुरिसा।९९४। —शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निन्दनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है, वैसे शीलका रक्षण करनेवाली स्त्रियोंको भी पुरुष निन्दनीय अर्थात् त्याज्य है।

५. अब्रह्म सेवनमें दोष

भ. आ./मू./९२२ अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं। तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए।९२२। —मैथुन सेवन करनेसे वह अनेक जीवोंका वध करता है। जैसे तिलकी फलीमें अग्निसे तपी हुई सलाई प्रविष्ट होनेसे सब तिल जलकर खाक होते हैं वैसे मैथुन सेवन करते समय योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है।९२२। (विशेष विस्तार दे० भ. आ./मू./८९०-१११७), (पु. सि./उ./१०८)।

स्या. मं./२३/२७६/१५ पर उद्धृत मेहुण सण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं। केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं।३। इत्थीजोणीए संभवंति बेइंदिया उ जे जीवा। इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं।४। पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं। वेणुगदिट्ठंतेण तत्तायसलागणाएणं।५। पंचिंदिया मणुस्सा

एगणर भुत्तणारिगब्भम्मि। उक्कोसं णवलक्खा जायंति एगवेलाए ।६। णव लक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती। सेसा पुण एमेव य विलयं बच्चंति तत्थेव ।७। –केवली भगवान्‌ने मैथुनके सेवनमें नौ लाख सूक्ष्म जीवोंका घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिए ।३। तथा स्त्रियोंकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है। इन जीवोंकी संख्या एक, दो, तीनसे लगाकर लाखोंतक पहुँच जाती है ।४। जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ संभोग करता है, उस समय जैसे अग्निसे तपायी हुई लोहेकी सलाईको बाँसकी नलीमें डालनेसे नलीमें रखे तिल भस्म हो जाते हैं, वैसे ही पुरुषके संयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोंका नाश हो जाता है ।५। पुरुष और स्त्रीके एक बार संयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते हैं ।६। इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते हैं बाकी सब जीव नष्ट हो जाते हैं ।७।

६. शीलकी प्रधानता

शी. पा./मू./१९ जीवदयादम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे। सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ।१९। –जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सब शीलके परिवार हैं ।१९।

७. ब्रह्मचर्यकी महिमा

भ. आ./मू./१११५/११२३ तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ। जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो ।१११५। –कामाग्नि विषयरूपी वृक्षोंका आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी वनको यह महाग्नि जलानेको उद्यत हुआ है। परन्तु तारुण्य रूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओंको वह जलानेमें असमर्थ है वे महात्मा धन्य हैं। (अन. ध./४/९९)।

अन./४/६० या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्तिः। तद्ब्रह्मचर्य व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ।६०। –शुद्ध और बुद्ध अपने चित्स्वरूप ब्रह्ममें परद्रव्योंका त्याग करनेवाले व्यक्तिकी अप्रतिहत परिणति रूप जो चर्या होती है उसीको ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह व्रत समस्त व्रतोंमें सार्वभौमके समान है जो पुरुष इसका पालन करते हैं। वे ही पुरुष सर्वोत्कृष्ट आनन्द-मोक्ष सुखको प्राप्त किया करते हैं ।६०।

स्या. मं./२३/२७७/२५ पर उद्धृत एकरात्रोषितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः। न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तुं शक्या युधिष्ठिर। –हे युधिष्ठिर! एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषका जो उत्तमगति मिलती है, वह गति हजारों यज्ञ करनेसे भी नहीं होगी।

४. शंका-समाधान

१. स्त्री पुरुषादिका सहवास मात्र अब्रह्म नहीं हो सकता

रा. वा./७/१६/६/५४४/१४ मिथुनस्य भाव (मैथुनं) इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगादिति, तदसत् अभ्यन्तरपरिणामाभावे बाह्यहेतुरफलत्वात्। ·अभ्यन्तरचारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौंस्नात्मकरतिपरिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवनेऽपि न मैथुनम्।...स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसंगात् इति; तदसांप्रतम्; कुतः तद्विषयस्यैव ग्रहणात्। तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुनः अन्येनापि क्रियते।...नमस्काराद्युपयुक्तस्य...वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम्। –'मिथुनस्य भाव' इस पक्षमें जो दो स्त्री-पुरुष रूप द्रव्योंकी सत्ता मात्रको मैथुनत्वका प्रसंग दिया जाता है, वह उचित नहीं है, क्योंकि अभ्यन्तर चारित्र मोहोदय रूपी परिणामके अभावमें बाह्य कारण निरर्थक है। उसी तरह अभ्यन्तर चारित्रमोहोदयके स्त्रैण पौंस्न रूप रति परिणाम न होनेसे बाह्यमें रति परिणाम रहित दो द्रव्योंके रहनेपर भी मैथुनका व्यवहार नहीं होता। –स्त्री और पुरुषके कर्म पक्षमें पाकादि क्रिया और वन्दनादि क्रियामें मैथुनत्वका प्रसंग उचित नहीं है, क्योंकि स्त्री और पुरुषके संयोगसे होनेवाला कर्म यहाँ विवक्षित है, पाकादि क्रिया तो अन्यसे भी हो जाती है। (स. सि./७/१६/३५३/११)।

२. मैथुनके लक्षणसे हस्तक्रिया आदिमें अब्रह्म सिद्ध नहीं होगा

रा. वा./७/१६/५-८/५४३-५४४/३३ न वैलक्षण्यम्। कुतः? एकस्मिन्नप्रसङ्गात्। हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिभिरब्रह्मसेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्ध्यति ।५। यथा स्त्रीपुंसयो रत्यर्थे संयोगे परस्पररतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुखं तथैकस्यापि हस्तादिसंघट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्यः। तस्मान्मुख्य एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभः रागद्वेषमोहाविष्टत्वात् ।७। यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धिः। –प्रश्न–यह मैथुनका लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्तिके हस्तादि पुद्गलके रगड़से अब्रह्मके सेवन करनेपर भी मैथुन क्रिया मानी गयी है। परन्तु इससे (मैथुनके लक्षणसे) वह सिद्ध न होगी। उत्तर–जिस प्रकार स्त्री और पुरुषका रतिके समय संयोग होनेपर स्पर्श सुख होता है, उसी तरह एक व्यक्तिका भी हाथ आदिके संयोगसे स्पर्श सुखका भान होता है, अतः हस्तमैथुन भी मैथुन कहा जाता है, यह औपचारिक नहीं है, क्योंकि राग, द्वेष, मोहसे आविष्ट है। (अन्यथा इससे कर्म बन्ध न होगा) ।७। यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्र मोहके उदयसे प्रकट हुए कामरूपी पिशाचके सम्पर्कसे दो हो गया है और दोके कर्मको मैथुन कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

३. परस्त्री त्याग सम्बन्धी

ला. सं./२/श्लोक नं. ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दास्यां क्रियैव सा। विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते ।१८९। मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्यं विषयसंज्ञिकम्। तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ।१९१। दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः। चन्दनादिवनराजि प्राप्य नानात्वमध्यगात् ।१९२। त्याज्यं वत्स परस्त्रीषु रतिं तृष्णोपशान्तये। विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम् ।२०१। आस्तां यन्नरके दुःखं भावतीव्रानुवेदनाम्। आतं परांगनासक्ते लोहांगनादिलिंगनात् ।२१२। इहैवानर्थसंदोहो यावानस्ति सुदुस्सहः तावान्न शक्यते वक्तुमन्वयोषिन्मतेरितः ।२१३। –प्रश्न–विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमें की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है। अतः क्रियामें भेद न होनेसे उन दोनोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए ।१८९। उत्तर–कर्मबन्धमें वा परिणामोंमें शुभ अशुभपना होनेमें स्पर्श करना वा विषय सेवना आदि बाह्य वस्तु ही कारण नहीं है किन्तु जीवोंके वैसे परिणाम होना ही निश्चय कारण है। (अर्थात् दासीके सेवनसे तीव्र लालसा होती है इससे तीव्र अशुभ कर्मका बन्ध होता है) ।१९१। जल एक स्वरूपका होनेपर भी चन्दनादि वनराजिको प्राप्त होनेपर पात्रके भेदसे नाना प्रकारका परिणत हो जाता है। उसी प्रकार दासी व धर्मपत्नीके साथ एक सी क्रिया होने पर भी पात्र भेदसे परिणामोंमें अन्तर होता है तथा परिणामोंमें अन्तर होनेसे शुभ व अशुभ कर्मबन्धमें अन्तर पड़ जाता है ।१९२। हे वत्स! परस्त्रीमें प्रेम करना आपत्तियोंका स्थान है, वह परस्त्री दोनों लोकोंके हितका नाश करनेवाली है, यही समझकर अपनी तृष्णा व लालसाको शान्त करनेके लिए परस्त्रीमें प्रेम करना छोड़ ।२०१। परस्त्री सेवनेवालोंको नरकमें उनकी तीव्र लालसाके

कारण गरम लोहेकी स्त्रियोंसे आलिंगन करानेसे तो महा दुःख होता है, किन्तु इस लोकमें भी अत्यन्त असह्य दुःख व अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं।२१२-२१३।

७. ब्रह्मचर्य व्रत व ब्रह्मचर्य प्रतिमामें अन्तर

सा. ध./७/१९ प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता, ये पञ्चोपनयादयः। तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्यु-र्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ।१९। —जो प्रथम आश्रमवाले (ब्रह्मचर्याश्रमी) मौंजी बन्धन पूर्वक व्रत ग्रहण करनेवाले उपनय आदिक पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी (दे० ब्रह्मचारी) कहे गये हैं वे सब नैष्ठिकके बिना शेष सब शास्त्रोंको पढ़कर स्त्रीको स्वीकार करते हैं ।१९।

दे० ब्रह्मचर्य/१/३-४ (द्वितीय प्रतिमामें ग्रहण किये एक ब्रह्मचर्य अणुव्रतमें तो अपनी धर्मपत्नीका भोग करता था। परन्तु इस ब्रह्मचर्य प्रतिमा-को स्वीकार करनेपर नव प्रकारसे तीनोंकाल सम्बन्धी समस्त स्त्री-मात्रके सेवनका त्याग कर देता है)।

ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि—घोर व अघोर गुण ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि —दे० ऋद्धि/५।

ब्रह्मचारी—

दे० ब्रह्मचर्य/१/१ में पं. वि. (जो ब्रह्ममें आचरण करता है, और इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदिको माता, बहन व पुत्रीके समान समझता है वह ब्रह्मचारी होता है)।

१. ब्रह्मचारीके भेद

चा. सा./४२/१ तत्र ब्रह्मचारिण. पंचविधाः—उपनयावलंबादीक्षागूढ-नैष्ठिकभेदेन। —ब्रह्मचारी पाँच प्रकारके होते हैं— उपनय, अवलंब, अदीक्षा, गूढ और नैष्ठिक। (सा. ध./७/१९)।

२. ब्रह्मचारी विशेषके लक्षण

ध. ९/४,१,१०/९४/२ ब्रह्म चारित्रं पंचव्रत-समिति त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। अघोरा शान्तगुणा यस्मिन् तदघोरगुणं, अघोरगुणं ब्रह्म चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिण.। तेसिं तवोमहाप्पेण डमरादि-मारि-दुब्भिक्ख···रोहादिपसमणसत्ती समुप्पण्णा ते अघोरगुणबम्हचारिणो त्ति उत्तंहोदि। —१ ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्तिके पोषणका हेतु है। अघोर अर्थात् शान्त है गुण जिसमें वह अघोर गुण है, अघोर गुण ब्रह्मका आचरण करनेवाले अघोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जिनके तपके प्रभावसे डमरादि, रोग,···रोध आदिको नष्ट करनेकी शक्ति उत्पन्न हुई है वे अघोरगुण ब्रह्मचारी हैं।

चा. सा /४२/१ तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति। अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणागमम-भ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। अदीक्षाब्रह्मचारिणः वेषमन्तरेणा-भ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणा सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दु.सहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गाः गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिङ्गा, शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीनलक्षितकटीलिङ्गाः स्नातका भिक्षाव्रतयो देवतार्चनपरा भवन्ति। —२. जो गणधर सूत्रको धारण कर अर्थात् यज्ञोपवीतको धारणकर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं। ३. जो क्षुल्लकका रूप धर शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हे अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं। ४. जो बिना ही ब्रह्मचारीका वेष धारण किये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं। ५. जो कुमार अवस्थामें ही मुनि होकर शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं। तथा पिता, भाई आदि कुटुम्बियोंके आग्रहसे अथवा घोर परिषहोंके सहन न करनेसे किंवा राजाकी विशेष आज्ञासे अथवा अपनेआप ही जो परमेश्वर भगवान् अरहंत देवकी दिगम्बर दीक्षा छोड़कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं। ६. समाधि मरण करते समय शिखा (चोटी) धारण करनेसे जिसके मस्तकका चिह्न प्रगट हो रहा है। यज्ञोपवीत धारण करनेसेसे जिसका उरोलिंग (वक्षस्थल चिह्न) प्रगट हो रहा है। सफेद अथवा लालरंगके वस्त्रके टुकड़ेकी लंगोटी धारण करनेसे जिसकी कमरका चिह्न प्रगट हो रहा है, जो सदा भिक्षा वृत्तिसे निर्वाह करता है। जो स्नातक वा व्रती है, जो सदा जिन पूजादिमें तत्पर रहते हैं। उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

३. ब्रह्मचारीका वेष

दे० संस्कार/२/३ में व्रतचर्या क्रिया (जिसने मस्तकपर शिखा धारण की है, श्वेत वस्त्रकी कोपीन पहनी है, जिसके शरीरपर एक वस्त्र है, जो भेष और विकारसे रहित है, जिसने व्रतोंका चिह्न स्वरूप यज्ञोप-वीत धारण किया है, उसको ब्रह्मचारी कहते हैं)।

★ पाँचों ब्रह्मचारियोंको स्त्रीके ग्रहण सम्बन्धी -दे० ऊपर

ब्रह्मदत्त—१२ वाँ चक्रवर्ती था।—विशेष दे० शलाका पुरुष।

ब्रह्मदेव—बाल ब्रह्मचारी होने के कारण ही आपका यह नाम पड़ गया। कृतियें—द्रव्यसंग्रह टीका, परमात्म प्रकाश टीका, तत्त्व दीपक, ज्ञान दीपक, त्रिवर्णाचार दीपक, प्रतिष्ठा तिलक, विवाह पटल, कथाकोष। समय—इनकी भाषा क्योंकि जयसेन आचार्य के साथ शब्दशः मिलती है इसलिये डा. एन, उपाध्ये जयसेनाचार्य (वि. श. १२-१३) के परवर्ती मानकर इन्हें वि. श. १३-१४ में स्थापित करते हैं। परन्तु डा. नेमिचन्द्र के अनुसार जयसेन तथा पं. आशाधर ने ही इनका अनुसरण किया है, इन्होंने उनका नहीं। जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में द्रव्यसंग्रह की टीका का नामोल्लेख किया है। अतः इनका समय उनसे पूर्व अर्थात् वि श. ११-१२ सिद्ध होता है। (ती./३/३११-३१३)। (जै./२/२०१, ३९३)।

ब्रह्मराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० राक्षस

ब्रह्मवाद— दे० अद्वैतवाद।

ब्रह्मविद्या—आ. मल्लिषेण (ई. ११२८) द्वारारचित संस्कृत छन्द-बद्ध अध्यात्मिक ग्रन्थ।

ब्रह्मसेन—लाड़बागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप जयसेनके शिष्य तथा वीरसेनके गुरु थे। समय—वि. १०८० (ई. १०१३) (सि. सा. सं. की प्रशस्ति/१२/८८-९५) (जयसेनाचार्यकृतधर्म-रत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति। (सि. सा. सं./प्र./८/A. N. Up.) —दे० इतिहास/७/१०।

ब्रह्महृद—लान्तव स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

ब्रह्माद्वैत—१. वेदान्त। २. अद्वैत।

ब्रह्मेश्वर—शीतलनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर/५/३।

ब्रह्मोत्तर—१. ब्रह्म स्वर्गका चौथा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३; २. कल्पवासी स्वर्गोंका छठा कल्प—दे० स्वर्ग/५/२

ब्रह्मोत्तर—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३। २. कल्पवासी देवोंका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५/३।

ब्राह्मण—जैन आम्नायमें अणुव्रतधारी विवेकवान् श्रावक ही सुसंस्कृत होनेके कारण द्विज या ब्राह्मण स्वीकार किया गया है, केवल जन्मसे सिद्ध अविवेकी व अनाचारी व्यक्ति नहीं।

१. ब्राह्मण व द्विजका लक्षण

म. पु./३८/४३-४८ तपःश्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ।४३। ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्...।४६। तपःश्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते। असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ।४७। द्विजातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः। क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ।४८। —१. तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ।४३। अथवा व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण होता है ।४६। २. द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है, परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ।४७। जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसको दो बार जन्मा अर्थात् द्विज कहते हैं (म. पु./३९/९३)। परन्तु जो क्रियासे और मन्त्र दोनोंसे रहित है वह केवल नामको धारण करने वाला द्विज है ।४८।

२. ब्राह्मणके अनेकों नामोंमें रत्नत्रयका स्थान

म. पु./३९/१०८-१४१ का भावार्थ—जन्म दो प्रकारका होता है—एक गर्भसे दूसरा संस्कार या क्रियाओंसे। गर्भसे उत्पन्न होकर दूसरी बार संस्कारसे जन्म धारे सो द्विज है। केवल जन्मसे ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर द्विजपना जतलाना मिथ्या अभिमान है। जो ब्रह्मासे उत्पन्न हो सो ब्राह्मण है। जो बिना योनिके उत्पन्न हो सो देव है। जिनेन्द्रदेव, स्वयंभू, भगवान्, परमेष्ठी ब्रह्मा कहलाते हैं। उस परमदेव सम्बन्धी रत्नत्रयकी शक्ति रूप संस्कारसे जन्म धारनेवाला ही अयोनिज, देवब्राह्मण या देवद्विज हो सकता है। स्वयंभूके मुखसे सुनकर संस्कार रूप जन्म होता है, इसीसे द्विज स्वयम्भूके मुखसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। व्रतोंके चिह्न रूपसे सूत्र ग्रहण करे सो ब्राह्मण है केवल डोरा लटकानेसे नहीं। जिनेन्द्रका अहिंसामयी सम्यक्धर्म न स्वीकार करके वेदोंमें कहे गये हिंसामयी धर्मको स्वीकार करे वह ब्राह्मण नहीं हो सकता।

३. ब्राह्मणत्वमें गुण कर्म प्रधान है जन्म नहीं

द्र. सं./टी./३५/१०९ पर उद्धृत—जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते। श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।१। —जन्मसे शूद्र होता है, क्रियासे द्विज कहलाता है, श्रुत शास्त्रसे श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्यसे ब्राह्मण जानना चाहिए।

वे. ब्राह्मण/१ तप शास्त्रज्ञान और जाति तीनसे ब्राह्मण होता है। अथवा व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण है।

म. पु./३८/४२ विशुद्धा वृत्तिरेवैषां षट्तयोष्टा द्विजन्मनाम्। योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ।४२। —यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्धि (पूजा, विशुद्धि पूर्वक खेती आदि करना रूप वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप) वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है, वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है ।४२।

धर्म परीक्षा/१७/२४-३१ सदाचार कदाचारके कारण ही जाति भेद होता है, केवल ब्राह्मणोंकी जाति मात्र ही श्रेष्ठ है ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चारों ही एक मनुष्य जाति हैं। परन्तु आचार मात्रसे इनके चार विभाग किये जाते हैं ।२५। कोई कहे है कि, ब्राह्मण जातिमें क्षत्रिय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि चावलोंकी जातिमें कोदों कदापि उत्पन्न हुए नहीं देखे ।२६। प्रश्न—तुम पवित्राचारके धारकको ही ब्राह्मण कहते हो शुद्ध शीलकी धारी ब्राह्मणीसे उत्पन्न हुएको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते ? उत्तर—ब्राह्मण और ब्राह्मणीका सदाकाल शुद्ध शीलादि पवित्राचार नहीं रह सकता, क्योंकि बहुत काल बीत जानेपर शुद्ध शीलादि सदाचार छूट जाते हैं, और जाति च्युत होते देखे जाते हैं ।२७-२८। इस कारण जिस जातिमें संयम-नियम-शील-तप-दान-जितेन्द्रियता और दयादि वास्तवमें विद्यमान हों उसको ही सत्पुरुषोंने पूजनीय जाति कहा है ।२९। शील संयमादिके धारक नीच जाति होनेपर भी स्वर्गमें गये हैं। और जिन्होंने शील संयमादि छोड़ दिये ऐसे कुलीन भी नरकमें गये हैं ।३१।

४. जैन श्रावक ही वास्तविक ब्राह्मण है

म. पु./३९/१४२ विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः। वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ।१४२।

म. पु./४२/१८५-१८६ सोऽस्त्यमीषां च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः। तादृशं बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः ।१८५। प्रजासामान्यतैवैषां मता वा स्यान्निकृष्टता। ततो न मान्यतास्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ।१८६। —इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं ।१४२। चूँकि यह सब (अहंकार आदि) आचरण इनमें (नाममात्रके अक्षरम्लेच्छ ब्राह्मणोंमें) है और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं। इसलिए इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी निकृष्ट मानना चाहिए। इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती है, जो द्विज अरहन्त भगवान्‌के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ।१८५-१८६।

५. वर्तमानका ब्राह्मण वर्ण मर्यादासे च्युत हो गया है

म. पु./४१/४६-५१, ५५ आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः। ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः ।४६। ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः। भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ।४७। तेऽपि जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति। पुरागमैर्लोकं मोहयन्ति धनाशया ।४८। सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः। जनान् प्रकारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ।४९। त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः। धर्मद्रुहो भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ।५०। सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः। प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ।५१। इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदञ्जसा। नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ।५५। —ऋषभ भगवान् भरतके प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—हे आयुष्मन् ! तूने जो गृहस्थोंकी रचना की है, सो जब तक कृतयुग अर्थात् चतुर्थकालकी स्थिति रहेगी, तब तक तो ये उचित आचार-विचारका पालन करते रहेंगे। परन्तु जब कलियुग निकट आ जायेगा, तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर मोक्षमार्गके विरोधी बन जायेंगे ।४६। पंचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोंमें बड़े हैं, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे-खोटे शास्त्रोंको रचकर लोगोंको मोहित करेंगे ।४७। सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धृत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं शास्त्रोंको बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे ।४८। जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय तक

विकार भावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेंगे ।५०। जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर हैं तथा मधु और मांसका भोजन जिन्हें प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ।५१। इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीज रूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है ।५५।

६. ब्राह्मण अनेक गुण सम्पन्न होता है

म. पु./३६/१०३-१०७ स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासित. । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ।१०३। स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्याद् इहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ।१०४। नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्‌गुणाः ।१०५। गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेष महीयते ।१०६। धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां श्लाघ्यां स्वस्मिन् संभावयत्यसौ ।१०७। —पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोंसे भी कराता है, और जो वेद और वेदांगके विस्तारको स्वयं पढ़ता है, तथा दूसरोंको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता तथापि पृथिवी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवत्वको प्राप्त हुआ है ।१०३-१०४। जिसके अणिमा ऋद्धि (छोटापन)-नहीं है किन्तु महिमा (बड़प्पन) है, जिसके गरिमा ऋद्धि है, परन्तु लघिमा नहीं है । जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं ।१०५। उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देव रूप हो रहा है, जो लोकको उल्लंघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य-पृथ्वीपर पूजित होता है ।१०६। सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्म सम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देव ब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है ।१०७।

७. ब्राह्मणके नित्य कर्तव्य

म. पु./३८/२४,४६ इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।२४। तदेषां जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ।४६। —भरतने उन्हें उपासकाध्ययनांगसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ।२४। (क्रिया और मन्त्रसे रहित केवल नाम मात्रके द्विज न रह जायें) इसलिए इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ।४६। (गर्भादानादि समस्त क्रियाएँ—दे० संस्कार/२) ।

८. ब्राह्मणमें विद्याध्ययनकी प्रधानता

म. पु./४०/१७४-२१२ का भावार्थ (द्विजोंके जीवनमें दस मुख्य अधिकार है। उनको यथाक्रमसे कहा जाता है—१. बालपनेसे ही उनको विद्या अध्ययन करना रूप **अतिबाल** विद्या अधिकार है; २. अपने कुलाचारकी रक्षा करना रूप **कुलावधि** अधिकार; ३. समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना रूप **वर्णोत्तम** अधिकार; ४. दान देनेकी योग्यता भी इन्हींमें होती है ऐसी **पात्रत्व** अधिकार; ५. कुमार्गियोंकी सृष्टिको छोड़कर क्षात्रिय रचित धर्म सृष्टिकी प्रभावना करना रूप **सृष्टयधिकारता** अधिकार; ६. प्रायश्चित्तादि कार्योंमें स्वतन्त्रता रूप **व्यवहारेशिता** अधिकार; ७. किसी अन्यके द्वारा अपनेको गुणोंमें हीन न होने देना तथा लोकमें ब्रह्महत्याको महान् अपराध समझा जाना रूप **अवध्याधिकार**; ८. गुणाधिकताके कारण किसी अन्यके द्वारा दण्ड नहीं पा सकना रूप **अदण्डयता** अधिकार; ९. सबके द्वारा सम्मान किया जाना रूप **मान्यार्हता** अधिकार; १०. अन्य जनोंके संयोगमें आनेपर स्वयं उनसे प्रभावित न होकर उनको अपने रूपमें प्रभावित कर लेना रूप **सम्बन्धान्तर** अधिकार। इन दश प्रकारके गुणोंका धारक ही वास्तवमें द्विज या ब्राह्मण है।

★ **ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिका इतिहास**—दे० वर्णव्यवस्था।

ब्राह्मी—भगवान् ऋषभ देवकी पुत्री थी, जिसने कुमारी अवस्थामें दीक्षा धारण कर ली थी। (म. पु./१२/४२)।

[भ]

भंग—१. सप्त भंग निर्देश—दे० सप्तभंगी/१। २. अक्षरके अनेकों भंग—दे० अक्षर; ३. द्वि त्रि संयोगी भंग निकालना—दे० गणित/II/४/१ ४. अक्ष निकालना—दे० गणित/II/३। ५. भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भंग—१. भंग सामान्यका लक्षण

१. खण्ड, अंश वा भेदके अर्थमें

गो. क./जी. प्र./३५८/५१५/१४ अभिन्नसंख्यानां प्रकृतीनां परिवर्तनं भङ्गः, संख्याभेदेनैकत्वे प्रकृतिभेदेन वा भङ्गः। —एक संख्या रूप प्रकृतियोंमें प्रकृतियोंका बदलना सो भंग है अथवा संख्या भेदकर एकत्वमें प्रकृति भेदके द्वारा भंग होता है।

दे० पर्याय/१/१ (अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग ये एकार्थ वाचक हैं।)

२. श्रुतज्ञानके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८४/१३ अहिंसा-सत्यास्तेय-शील-गुण-नय-वचन-द्रव्यादिविकल्पाः भंगाः। ते विधीयन्तेऽनेनेति भंगविधिः श्रुतज्ञानम्। अथवा भंगो वस्तुविनाशः स्थित्युत्पत्त्यविनाभावी, सोऽनेन विधीयते निरूप्यत इति भंगविधिः श्रुतम्। —१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील, गुण, नय, वचन और द्रव्यादिकके भेद भंग कहलाते हैं। उनका जिसके द्वारा विधान किया जाता है वह भंगविधि अर्थात् श्रुतज्ञान है। २. अथवा, भंगका अर्थ स्थिति और उत्पत्तिका अविनाभावी वस्तु विनाश है, जिसके द्वारा विहित अर्थात् निरूपित किया जाता है वह भंगविधि अर्थात् श्रुत है।

२. भंगके भेद

गो. क./मू./८२०/९९१ ओघादेसे संभव भावं मूलुत्तरं ठवेदूण। पत्तेये अविरुद्धे परसगजोगेवि भंगा हु ।८२०। —गुणस्थान और मार्गणा स्थानमें मूल व उत्तर भावोंको स्थापित करके अक्ष संचारका विधान कर भावोंके बदलनेसे प्रत्येक भंग, अविरुद्ध परसंयोगी भंग, और स्वसंयोगी भंग होते हैं।
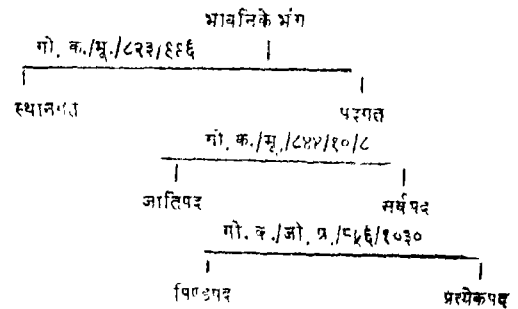
३. भंगके भेदोंके लक्षण

१. जहाँ जुदे जुदे भाव कहिये तहाँ प्रत्येक भंग जानने। (जैसे औदयिक भाव, उपशमभाव, क्षायिक भाव इत्यादि पृथक्-पृथक्) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) २. जहाँ अन्य अन्य भावके संयोग रूप भंग होइ तहाँ पर-संयोग कहिये (जैसे औदयिक औपशमिक द्विसंयोगी या औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक त्रिसंयोगी सन्निपातिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) ३. जहाँ निज भावके भेदनिका संग रूप ही भंग होइ तहाँ स्वसंयोगी कहिये। (जैसे क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्रवाला द्विसंयोगी क्षायिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) ४. एक जीव कै एकै काल जितने भाव पाइये तिनके समूहका नाम स्थान है, ताकि अपेक्षाकरि जे भंग करिये तिनको स्थानगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/९९६) ५. एक जीवके एक काल जे भाव पाइये तिनकी एक जातिका वा जुदे जुदेका नाम पद कहिये ताकी अपेक्षा जे भंग करिये तिनकौं पदगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/९९६) ६. जहाँ एक जातिका ग्रहण कीजिये जैसे मिश्रभाव (क्षायोपशमिक भाव) विषै ज्ञानके चार भेद होतै भी एक ज्ञान जातिका ग्रहण है। ऐसे जाति ग्रहणकरि जे भंग करिये ते जातिपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१८)। ७. जे जुदे जुदे सर्व भावनि (जैसे क्षायोपशमिकके ही ज्ञान दर्शनादि भिन्न-भिन्न भावनिका) का ग्रहणकरि भंग कीजिये ते सर्वपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१९)। ८. जो भाव समूह एकै काल एक जीवके एक एक ही सम्भवें, सर्व न सम्भवै जैसे चारों गति विषैं एक जीवके एकै काल विषैं एक गति ही सम्भवे च्यारो न सम्भवै तिस भाव समूहको पिंडपद कहिये। (गो. क./भाषा/८५६/१०३१)। ९. जो भाव एक जीवकै एक काल विषै युगपत भी सम्भवै ऐसे भाव तिनि कौ प्रत्येक-पद कहिये। (जैसे अज्ञान, दर्शन, लब्धि आदि क्षायोपशमिक भाव)।

भंडार दशमीव्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। भंडार दशमिव्रत शक्ति जुपाय, दस जिन भवन भंडार चढ़ाय। (व्रत विधान सं./पृ. १३१), (वर्द्धमान पु.)।

भक्त—गणितकी भागहार विधिमें भाज्य राशिका भागहार द्वारा भक्त किया गया कहते हैं। —दे० गणित/II/१/६।

भक्त प्रत्याख्यान मरण—दे० सल्लेखना/३।

भक्तामर कथा—१. आ. रायमल्ल (ई. १६१०) द्वारा भाषामें रचित कथा। २. पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८१३) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

भक्तामर स्तोत्र—आ. मानतुंग (ई. श. ७ पूर्व) द्वारा रचित आदिनाथ भगवान्‌का संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र। इसे आदिनाथ स्तोत्र भी कहते हैं। इसमें ४८ श्लोक हैं। (ती./२/२७५)।

भक्ति—१. साधुओंकी नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके प्रयोगमें आनेवाली निम्न दस भक्तियाँ हैं।—१. सिद्ध भक्ति; २. श्रुतभक्ति; ३. चारित्र भक्ति; ४. योगि भक्ति; ५. आचार्य भक्ति; ६. पंच महागुरु भक्ति; ७. चैत्य भक्ति; ८. वीर भक्ति; ९. चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति; १०. समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त भी ११. निर्वाण भक्ति; १२. नन्दीश्वर भक्ति, और शान्ति भक्ति आदि ३ भक्तियाँ हैं। परन्तु मुख्य रूपसे १० ही मानी गयी हैं। इनमें प्रथम ६ भक्तियाँ तथा निर्वाण भक्ति संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषामें प्राप्त हैं। शेष सब संस्कृतमें हैं। (१) प्राकृत भक्तिके पाठ आ. कुन्दकुन्द व पद्मनन्दि (ई. १२७-१७९) कृत हैं। (२) संस्कृत भक्तिके पाठ आ. पूज्यपाद (ई. श. ५), कृत हैं। तथा अन्य भी भक्ति पाठ उपलब्ध है। यथा—(३) श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) द्वारा रचित सिद्धभक्ति। (क्रिया-कलाप/पृ. १६७)। २. प्राथमिक भूमिकामें अर्हन्त आदिकी भक्ति मोक्षमार्गका प्रधान अंग है। यद्यपि बाहरमें उपास्यको कर्ता आदि बनाकर भक्ति की जाती है। परन्तु अन्तरंग भावोंके सापेक्ष होनेपर ही यह सार्थक है अन्यथा नहीं। आत्मस्पर्शी सच्ची भक्तिसे तीर्थंकरत्व पदकी प्राप्ति तक भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त साधुको आहारदान करते हुए नवधा भक्ति और साधुके नित्यके कृतिकर्ममें चतुर्विंशतिस्तव आदि भी भक्ति ही हैं।

१. भक्ति सामान्य निर्देश

१. भक्ति सामान्यका लक्षण—१. निश्चय

नि. सा./ता. वृ./१३४ निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु···सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति। —निज परमात्म तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय-परिणामोंका जो भजन वह भक्ति है, आराधना ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावकोंमें·· सब शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः···निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति। —निश्चय नयसे वीतराग सम्यग्दृष्टियोंके शुद्ध आत्म तत्त्वकी भावनारूप भक्ति होती है।

२. व्यवहार

नि. सा./मू./१३५ मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि। जो कुणदि परम भक्तिं ववहारणयेण परिकहियं ।१३५। —जो जीव मोक्षगत पुरुषोंका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवको व्यवहार नयसे भक्ति कही गयी है।

स. सि./६/२४/३३९/४ भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। —भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना भक्ति है।

भ. आ./वि./४७/१५९/२० का भत्ती···। अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः। —अर्हदादि गुणोंमें प्रेम करना भक्ति है। (भा. पा./टी./७७/२२१/१०)।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा। —व्यवहारसे सराग सम्यग्दृष्टियोंके पंचपरमेष्ठीकी आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।

पं. ध./उ./४७० तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्।···। —उन दोनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे वचन काय और मन सम्बन्धी उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते हैं।

२. निश्चय भक्ति ही वास्तविक भक्ति है

स. सा./मू./३० णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि। देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।३०। —जैसे नगरका वर्णन करनेपर भी राजाका वर्णन नहीं किया जाता इसी प्रकार शरीरके गुणका स्तवन करनेपर केवलीके गुणोंका स्तवन नहीं होता है ।३०।

३. सच्ची भक्ति सम्यग्दृष्टिको ही होती है

ध. ८/३,४१/८९/५ ण च एसा (अरंहत भत्ती) दंसणविसुज्झदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। —यह (अर्हन्त भक्ति) दर्शन विशुद्धि आदिके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है।

मो. मा. प्र./७/३२७/८ यथार्थपनेकी अपेक्षा तौ ज्ञानी के साँची भक्ति है—अज्ञानीकै नाहीं है।

प. प्र./पं. दौलत/२/१४३/२५६ बाह्य लौकिक भक्ति इससे संसारके प्रयोजनके लिए हुइ, वह गिनतीमें नहीं। ऊपरकी सब बातें निःसार (थोथी) है, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती (सम्यग्दृष्टिके ही होती है)।

४. व्यवहार भक्तिमें ईश्वर कर्तावादका निर्देश

भा. पा./मू./१६३ ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा। दिंतु वर भावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ।१६३। —जो नित्य हैं, निरंजन हैं, शुद्ध हैं तथा तीन लोकके द्वारा पूजनीक हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् ज्ञान-दर्शन और चारित्रमें श्रेष्ठ उत्तम भावकी शुद्धता दो ।१६३।

प्र. सा./मू./१ ···पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ।१। —··· तीर्थरूप और धर्मके कर्ता श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार हो ।१।

पं. वि./२०/१,६ त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व। मयि किंकरेऽत्र करुणां तथा यथा जायते मुक्तिः ।१। अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये। तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रलपित्वम् ।६। —तीनों लोकोंके गुरु और उत्कृष्ट सुखके अद्वितीय कारण ऐसे हे जिनेश्वर! इस मुझ दासके ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जाये।१। हे देव! आप कृपा करके मेरे जन्म (संसार) को नष्ट कर दीजिए, यही एक बात मुझे आपसे कहनी है। परन्तु चूँकि मैं इस संसारसे अति पीड़ित हूँ, इसलिए मैं बहुत बकवादी हुआ हूँ।

थोस्सामि दण्डक/७ कित्तिय वंदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा। आरोग्गणाणलाहं दिंतु समाहिं च मे बोहिं ।७। —वचनोंसे कीर्तन किये गये, मनसे वन्दना किये गये, और कायसे पूजे गये ऐसे ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिनेन्द्र मुझे परिपूर्ण ज्ञान, समाधि और बोधि प्रदान करें ।७।

५. प्रसन्न हो इत्यादिका प्रयोजन

आप्त. परि./टी./२/८/६ प्रसादः पुनः परमेष्ठिनस्तद्विनेयानां प्रसन्नमनोविषयत्वमेव, वीतरागाणां तुष्टिलक्षणप्रसादासम्भवात् कोपासंभववत्। तदाराधकजनैस्तु प्रसन्नेन मनसोपास्यमानो भगवान् 'प्रसन्नः' इत्यभिधीयते, रसायनवत्। यथैव हि प्रसन्नेन मनसा रसायनमासेव्य तत्फलमवाप्नुवन्तः सन्तो 'रसायनप्रसादादिदमस्माकमारोग्यादिफलं समुत्पन्नम्' इति प्रतिपाद्यन्ते तथा प्रसन्नेन मनसा भगवन्तं परमेष्ठिनमुपास्य तदुपासनफलं श्रेयोमार्गाधिगमलक्षणं प्रतिपद्यमानस्तद्विनेयजनाः 'भगवत्परमेष्ठिनः प्रसादादस्माकं श्रेयोमार्गाधिगमः संपन्नः' इति समनुमन्यन्ते। —परमेष्ठीमें जो प्रसाद गुण कहा गया है, वह उनके शिष्योंका प्रसन्न मन होना ही उनकी प्रसन्नता है, क्योंकि वीतरागोंके तुष्टात्मक प्रसन्नता सम्भव नहीं है। जैसे क्रोधका होना उनमें सम्भव नहीं है। किन्तु आराधकजन जब प्रसन्न मनसे उनकी उपासना करते हैं तो भगवान्‌को 'प्रसन्न' ऐसा कह दिया जाता है। जैसे प्रसन्न मनसे रसायन (औषधि) का सेवन करके उसके फलको प्राप्त करनेवाले समझते हैं और शब्द व्यवहार करते हैं कि 'रसायन' के प्रसादसे यह हमें आरोग्यादि फल मिला।' उसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवान् परमेष्ठीकी उपासना करके उसके फल—श्रेयोमार्गके ज्ञानको प्राप्त हुए उनके शिष्यजन मानते हैं कि 'भगवत् परमेष्ठीके प्रसादसे हमें श्रेयोमार्गका ज्ञान हुआ।

मो. मा. प्र./५/३२५/१७ उस (अर्हंत) के उपचारसे यह विशेषण (अधमोद्धारकादिक) सम्भवै है। फल तौ अपने परिणामनिका लागै है।

दे० पूजा/२/३ जिन गुण परिणत परिणाम पापका नाशक समझना चाहिए।

★ महत्पेश्लताकी स्तुति—दे० भ. आ./अमित./२१४८-२१४९)।

★ भक्तिका महत्त्व—दे० विनय/२ तथा पूजा/२/४।

२. भक्ति विशेष निर्देश

१. अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत व प्रवचन भक्तिके लक्षण

स. सि./६/२४/३३९/४ अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। —अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत, और प्रवचन इनमें भावोंकी विशुद्धताके साथ अनुराग रखना अरहन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनभक्ति है। (रा. वा./६/२४/१०/५३०/६); (चा. सा./५१/३; ५६/१); (भा. पा./टी./७७/२२१/१०)।

ध. ८/३,४१/८९-९०/४ तेसु (अरहतेसु) भत्ती अरहंतभत्ती।···अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती णाम।···बारसंगपारया बहुसुदा णाम, तेसु भत्ती-तेहि वक्खाणिद आगमत्थाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा बहुसुदभत्ती।···तम्हि (पवयणे) भत्ती तत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाणं। ण च अण्णहा तत्थ भत्ती संभवइ, असंपुण्णे संपुण्णववहारविरोहादो। —अरहन्तोंमें जो गुणानुरागरूप भक्ति होती है, वह अरहन्त भक्ति कहलाती है···। अथवा अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अरहन्त भक्ति कहते हैं।···जो बारह अंगोंके पारगामी हैं वे बहुश्रुत कहे जाते हैं, उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्श करनेको बहुश्रुतभक्ति कहते हैं।···प्रवचनमें (दे० प्रवचन) कहे हुए अर्थका अनुष्ठान करना, यह प्रवचनमें भक्ति कही जाती है। इसके बिना अन्य प्रकारसे प्रवचनमें भक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि असम्पूर्णमें सम्पूर्णके व्यवहारका विरोध है।

२. सिद्ध भक्तिका लक्षण

नि. सा./मू./१३४-१३५ सम्मत्तणाण चरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदि भत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं ।१३४। मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिं पि। जो कुणदि परमभक्ति ववहारणयेण परिकहियं ।१३५। —जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्रकी भक्ति करता है, उसे निर्वृतिभक्ति (निर्वाणकी भक्ति) है, ऐसा जिनोंने कहा है ।१३४। जो जीव मोक्षगत पुरुषोंका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवके व्यवहारनयसे निर्वाण भक्ति कही है ।१३५।

द्र. सं./टी./१८/५५ पर उद्धृत—सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य। इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेण···। —मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्तज्ञानादि गुणोंका धारक हूँ, शरीर प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असंख्यात प्रदेशी हूँ, तथा अमूर्तिक हूँ ।१। इस गाथामें कही हुई सिद्धभक्तिके रूपसे···।

पं. का./त. प्र./१६९ शुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपां पारमार्थिकीं सिद्धभक्तिमनुबिभ्राणः···। —शुद्धात्म द्रव्यमें विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति धारण करता हुआ···।

द्र. सं./टी./१७/५५/८ सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादि व्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानां···। —मैं सिद्ध भगवान्‌के समान अनन्तज्ञानादि गुणरूप हूँ इत्यादि व्यवहारसे सविकल्प सिद्धभक्तिके धारक···।

३. योगिभक्तिका लक्षण

नि. सा./मू./१३७ रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू। सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो ।१३७। —जो साधु रागादिके परिहारमें आत्माको लगाता है (अर्थात् आत्मामें आत्माको लगाकर रागादिका परिहार करता है) वह योगिभक्ति युक्त है, दूसरेको योग किस प्रकार हो सकता है ।१३७। (नि. सा./मू./१३८)।

७. अर्हन्तादिमेंसे किसी एक भक्तिमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८६/४ कधमेत्थ सेसकारणाणं संभवो। वुच्चदे अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती णाम। ण च एसा दंसणविसुज्झदादीहि विणा ण संभवइ, विरोहादो।···दंसणविसुज्झदादीहि विणाएदिस्से (बहुसुदभत्तीए) असंभवादो।···एत्थ (पवयण भत्तीए) सेसकारणाणमंतब्भावो वत्तव्वो। –प्रश्न–इसमें शेष कारणोंकी सम्भावना कैसे है। उत्तर–अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करनेको या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अरहन्तभक्ति कहते हैं। यह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है। · यह (बहुश्रुत भक्ति) भी दर्शनविशुद्धि आदिक शेष कारणोंके बिना सम्भव नहीं है।·· इस (प्रवचन भक्ति) में शेष कारणोंका अन्तर्भाव कहना चाहिए।

★ दशभक्ति निर्देश व उनकी प्रयोग विधि

—दे० कृतिकर्म।

★ प्रत्येक भक्तिके साथ आवर्त आदि करनेका विधान

—दे० कृतिकर्म।

५. साधुकी आहारचर्या सम्बन्धी नवभक्ति निर्देश

म. पु./२०/८६-८७ प्रतिग्रहमित्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम्। पादप्रधावनं चर्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी।८६। विशुद्धिश्चाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम्।···।८७। –मुनिराजका पडिगाहन करना, उन्हे उच्चस्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि और आहारकी विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देने वालेके यह नौ प्रकारका पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती है। (पु. सि. उ./१६८); (चा. सा./२९/३ पर उद्धृत); (वसु. श्रा./२२५); (गुण. श्रा./१५२); (का. अ./पं. जयचन्द/३६०)।

६ नवधा भक्तिका लक्षण

वसु. श्रा./२२६-२३१ पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता। पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण।२२६। णेऊण णियगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि। ठविऊण तओ चलणाणधोवणं होइ कायव्वं।२२७। पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा। गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं।२२८। पुप्फंजलि खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा। चऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।२२९। णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं। सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।२३०। चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए। संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी।२३१। –पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर अथवा अन्यत्रसे विमार्गणकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए', ऐसा कहकर प्रतिग्रह करना चाहिए।२२६। पुनः अपने घरमें ले जाकर निर्दोष तथा ऊँचे स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोंको धोना चाहिए।२२७। पवित्र पादोदकको सिरमें लगाकर पुनः गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजन करना चाहिए।२२८। तदनन्तर चरणोंके समीप पुष्पांजलि क्षेपणकर वन्दना करे। तथा आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मन शुद्धि करना चाहिए।२२९। निष्ठुर और कर्कश आदि वचनोंके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए, सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है।२३०। चौदह मलदोषों (दे० आहार/I/२/३) से रहित, यत्नसे शोधकर, संयमी जनको जो आहार दान दिया जाता है, वह एषणा शुद्धि जानना चाहिए।

★ मन वचन काय तथा आहार शुद्धि—दे० शुद्धि।

३. स्तव निर्देश

१. स्तव सामान्यका लक्षण

१. निश्चय स्तवन

स. सा./मू./३१-३२ जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं। तं खलु जिदिंदियं ते भणंति ये णिच्छिदा साहू।३१। जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं। तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।३२। –जो इन्द्रियोंको जीतकर ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माको जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं वे वास्तवमें जितेन्द्रिय कहते हैं।३१। जो मुनि मोहको जीतकर अपने आत्माको ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्य भावोंसे अधिक जानता है, उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले जितमोह कहते हैं। (इस प्रकार निश्चय स्तुति कही)।

यो. सा. अ./५/४८ रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकं। विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञैः स्तूयते स्तवः।४८। –जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध, चैतन्य गुणोंके धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माकी स्तुति करता है, स्तवनके जानकार महापुरुषोंने उसके स्तवनको उत्तम स्तवन माना है।४८।

द्र. सं./टी./१/४/१२ एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनालक्षण-भावस्तवनेन···नमस्करोमि। –एक देश शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षामें निज शुद्ध आत्माका आराधन करने रूप भावस्तवनसे···नमस्कार करता हूँ।

२. व्यवहार स्तवन वा स्तुति

स्व. स्तो./मू./८६ गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथास्तुतिः। –विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा (बढ़ा चढ़ाकर कहना) की जाती है उसे लोकमें स्तुति कहते हैं।८६।

स. सि./७/२३/३६४/११ मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचनं संस्तवः। –ज्ञान और चारित्रका मनसे उद्भावन करना प्रशंसा है, और···जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं इन दोनोंका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है। (रा. वा./७/२३/१/५५२/१२)।

ध. ८/३,४१/८४/१ तीदा-णागद-वट्टमाणकालविसयपंचपरमेसराणं भेदमकाऊण णमो अरहंताणं णमो जिणाणमिच्चादि णमोक्कारो दव्वट्ठियणिबंधणो थवो णाम। –अतीत, अनागत और वर्तमानकाल-विषयक पाँच परमेष्ठियोंके भेदको न करके 'अरहन्तोंको नमस्कार हो, जिनोंको नमस्कार हो' आदि द्रव्यार्थिक निबन्धन नमस्कारका नाम स्तव है।

द्र. सं./टी./१/४/१३ असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च नमस्करोमि। –असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा उस निज शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्य स्तवनसे नमस्कार करता हूँ।

३. स्तव आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. ९/४,१,५५/२६३/२ बारसंगसंघारो सयलंगविसयवण्णणदो थवो णाम। तम्हि जो उवजोगो वायण-पुच्छणपरियट्टणाणुवेक्खणसरूवो सो वि थओवचारेण –सब अंगोंके विषयोंकी प्रधानतासे बारह अंगोंके उपसंहार करनेको स्तव कहते हैं। उसमें जो वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षण स्वरूप उपयोग है वह भी उपचारसे स्तव कहा जाता है।

ध. १४/५,६,१२/९/६ सयलसुदणाणविसओ उवजोगो थवो णाम। –समस्त श्रुतज्ञानको विषय करनेवाला उपयोग स्तव कहलाता है।

गो॰ क./मू./७३/८८ सयलंग…सवित्थरं ससंखेवं वण्णणसत्थं थय… होइ णियमेण ।८८। =सकल अंग सम्बन्धी अर्थको विस्तारसे वा संक्षेपसे विषय करनेवाले शास्त्रको स्तव कहते हैं।

४. स्तुति आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. ९/४,१,५५/२६३/१ बारसंगेसु एक्कंगोवसंघारो थुदी णाम। तम्हि जो उवजोगो सो वि थुदि त्ति घेत्तव्वो। =बारह अंगोंमेंसे एक अंगके उपसंहारका नाम स्तुति है। उसमें जो उपयोग है, वह भी स्तुति है ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

ध. १४/५,६,१२/९/६ एगंगविसओ एगपुव्वविसओ वा उवजोगो थुदी णाम। =एक अंग या एक पूर्वको विषय करनेवाला उपयोग (या शास्त्र गो. क.) स्तुति कहलाता है। (गो. क./मू./८८)।

★ **प्रशंसा व स्तुतिमें अन्तर**—दे॰ अन्यदृष्टि।

२. चतुर्विंशतिस्तवका लक्षण

मू. आ./२४ उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्तिं च। काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ।२४। =ऋषभ अजित आदि चौबीस तीर्थंकरोंके नामकी निरुक्तिके अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणोंको प्रगट करना, उनके चरणोंको पूजकर मन-वचन-कायकी शुद्धतासे स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। (अन. ध./८/३७)।

रा. वा./६/२४/११/५३०/१२ चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थकरगुणानुकीर्तनम्। =तीर्थंकरोंके गुणोंका कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है। (चा. सा./५६/१); (भा. पा./टी./७७/२२१/१३)।

भ. आ./वि./११६/२७४/२७ चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्तानां वृषभादीनां जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तवपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते। =इस भरतक्षेत्रमें वर्तमानकालमें वृषभनाथसे महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं। उनमें अर्हन्तपना वगैरह अनन्तगुण हैं, उनको जानकर तथा उसपर श्रद्धान रखते हुए उनकी स्तुति पढ़ना यह नोआगमभाव चतुर्विंशतिस्तव है।

३. स्तवके भेद

मू. आ./५३८ णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य। एसो थवम्हि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ।५३८। =नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव स्तवके भेदसे चौबीस तीर्थंकरोंके स्तवनके छह भेद हैं। (अन. ध./८/३८)।

४. स्तवके भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./५०९/७२८/११ मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृतां गुणानुस्मरणं 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्येवमादीनां गुणानां वचनं ललाटविन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्यः कायेन। =मनसे चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थंकर स्तुति बोलना, ललाटपर हाथ जोड़कर जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशतिस्तुतिके तीन भेद होते हैं।

क. पा. १/१,१/§८४/११०/१ गुणाणुसरणदुवारेण चउवीसण्हं पि तित्थयराणं णामट्ठसहस्सग्गहणं णामत्थओ। कट्टिमाकट्टिमजिणपडिमाणं सब्भावासब्भावट्ठवणाए ट्ठविदाणं बुद्धीए तित्थयरेहि एयत्तं गयाणं तित्थयराणंतासेसगुणभरियाणं कित्तणं वा ट्ठवणात्थओ णाम।… चउवीसण्हं पि तित्थयरसरीराणं…असेसवेयणुम्मुक्काणं… चउसट्ठिलक्खणापुण्णाणं सुहसंठाणसंघडणाणं… सुवण्णदंडसुरहिचामरविराइयाणं सुहवण्णाणं सरूवाणुसरणपुरस्सरं तक्कित्तणं दव्वत्थओ णाम। तेसिं जिणाणमणंतणाण-दंसण-विरियसुहसम्मत्तव्वाबाह-विरायभावादि गुणाणुसरणपरूवणाओ भावत्थओ णाम। =चौबीस तीर्थंकरोंके गुणोंके अनुसरण द्वारा उनके एक हजार आठ नामोंका ग्रहण करना नामस्तव है। जो सद्भाव असद्भावरूप स्थापनामें बुद्धिके द्वारा तीर्थंकरोंसे एकत्वको प्राप्त हैं, अतएव तीर्थंकरोंके समस्त गुणोंको धारण करती हैं, ऐसी जिन प्रतिमाओंके स्वरूपका अनुसरण (कीर्तन) करना **स्थापनास्तव** है।…जो अशेष वेदनाओंसे रहित हैं …स्वस्तिकादि चौंसठ लक्षण चिह्नोंसे व्याप्त हैं, शुभ संस्थान व शुभ संहनन हैं, सुवर्णदण्डसे युक्त चौसठ सुरभि चामरोंसे सुशोभित हैं, तथा जिनका वर्ण शुभ है, ऐसे चौबीस तीर्थंकरोंके शरीरोंके स्वरूपका अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना **द्रव्यस्तव** है (क्षेत्र व कालस्तव दे॰ अगला प्रमाण अन. ध.) उन चौबीस जिनोंके अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य, और अनन्त सुख, क्षायिकसम्यक्त्व, अव्याबाध, और विरागता आदि गुणोंके अनुसरण करनेकी प्ररूपणा करना **भावस्तव** है। (अन. ध./८/३९-४४)।

अन. ध./८/४२-४३ क्षेत्रस्तवोऽर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः। पूतस्य पूर्वनाद्यादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम्।४२। कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः। तद्गर्भावतरावद्वक्रियारम्भस्य कीर्तनम्।४३। =तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म आदि कल्याणकोंके द्वारा पवित्र हुए नगर वन पर्वत आदिके वर्णन करनेको **क्षेत्रस्तव** कहते हैं। जैसे—अयोध्यानगरी, सिद्धार्थवन, व कैलास पर्वत आदि।४२। भगवान्‌के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे जो महत्ताको प्राप्त हो चुका है ऐसे समयका वर्णन करनेको **कालस्तव** कहते हैं।४३।

५. चतुर्विंशतिस्तव विधि

मू. आ./५३९,५७३ लोगुज्जोयधम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते। कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु।५३९। चउरंगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो। अव्वाखित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसत्थयं भिक्खू।५७३। =जगत्‌का प्रकाश करनेवाले उत्तम क्षमादिधर्म तीर्थके करनेवाले सर्वज्ञ प्रशंसा करने योग्य प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र देव उत्तम अर्हन्त मुझे बोधि दें।५३९। जिसने पैरोंका अन्तर चार अंगुल किया है, शरीर भूमि चित्तको जिसने शुद्ध कर लिया हो, अंजलिको करनेसे सौम्य भाववाला हो, सब व्यापारोंसे रहित हो, ऐसा संयमी मुनि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करे।५७३।

६. चतुर्विंशतिस्तव प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ./६६१ उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे। सत्तावीसुस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा।६६१। =ग्रन्थादिके आरम्भमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वन्दनामें, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य है।६६१। नोट—वास्तवमें इस क्रियाका कोई विशेष विधान नहीं है। प्रत्येक क्रियामें पढ़ी जाने वाली भक्तिके पूर्वमें नियमसे चतुर्विंशति स्तुति पढ़ी जाती है। अतः प्रतिक्रमण, वन्दनादि क्रियाओंमें इसका अन्तर्भाव हो जाता है।

भक्ष्याभक्ष्य—मोक्षमार्गमें यद्यपि अन्तरंग परिणाम प्रधान है, परन्तु उनका निमित्त होनेके कारण भोजनमें भक्ष्याभक्ष्यका विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक है। मद्य मांस मधु व नवनीत तो हिंसा, मद व प्रमाद उत्पादक होनेके कारण महाविकृतियाँ हैं ही, परन्तु पंच उदुम्बर फल, कन्दमूल, पत्र व पुष्प जातिकी वनस्पतियाँ भी क्षुद्र त्रस जीवोंकी हिंसाके स्थान अथवा अनन्तकायिक होनेके कारण अभक्ष्य है। इसके अतिरिक्त बासी, रस चलित, स्वास्थ्य बाधक, अमर्यादित, संदिग्ध व अशोधित सभी प्रकारकी खाद्य वस्तुएँ अभक्ष्य हैं। दालोंके साथ दूध व दहीका संयोग होनेपर विदल संज्ञावाला अभक्ष्य हो जाता है। विवेकी जनोंको इन सबका त्याग करके शुद्ध अन्न जल आदिका ही ग्रहण करना योग्य है।

१. भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी सामान्य विचार

१. बहु पदार्थ मिश्रित द्रव्य एक समझा जाता है

क्रियाकोष/१२५७ लाडू पेड़ा पाक इत्यादि औषध रस और चूरण आदि। बहुत वस्तु करि जो नियजेह, एक द्रव्य जानो बुध तेह।

२. रुग्णावस्थामें अभक्ष्य भक्षणका निषेध

ला. सं./२/८० मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादयः। न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ।८०। —उपरोक्त मूलबीज और अग्रबीज आदि अनन्तकायिक जो अदरख आदि वनस्पति उन्हें किसी भी अवस्थामें भी नहीं खाना चाहिए। रोगियोंको भी औषधिके बहाने उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

३. द्रव्य क्षेत्रादि व स्वास्थ्य स्थितिका विचार

भ. आ./मू./२५५/४७६ भत्तं खेत्तं कालं धादं च पडुच्च तह तवं कुज्जा। वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभं ण उवयंति। —अनेक प्रकारके भक्त पदार्थ, अनेक प्रकारके क्षेत्र, काल भी—शीत, उष्ण, व वर्षा काल रूप तीन प्रकार है, धातु अर्थात् अपने शरीरकी प्रकृति तथा देशकालका विचार करके जिस प्रकार वात-पित्त-श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतिसे तप करके क्षपकको शरीर सल्लेखना करनी चाहिए।२५५।

दे० आहार/I/३/२ सात्त्विक भोजन करे तथा योग्य मात्रामें करे जितना कि जठराग्नि सुगमतासे पचा सके।

र. क. श्रा./८६ यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्। अभि-संधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति।८६। —जो अनिष्ट अर्थात् शरीरको हानिकारक है वह छोड़ै, जो उत्तम कुलके सेवन करने योग्य (मद्य-मांस आदि) नहीं वह भी छोड़ै, तो वह व्रत, कुछ व्रत नहीं कहलाता, किन्तु योग्य विषयोंसे अभिप्राय पूर्वक किया हुआ त्याग ही वास्तविक व्रत है।

आचारसार/४/६४ रोगोंका कारण होनेसे लाडू पेड़ा, चावल, के बने पदार्थ वा चिकने पदार्थोंका त्याग द्रव्यशुद्धि है।

४. अभक्ष्य वस्तुओंको आहारसे पृथक् करके वह आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा

अन. ध./५/४१ कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजेन्मुनिः। न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम् ।४१। —कन्द, बीज, मूल, फल, कण और कुण्ड ये छह वस्तुएँ आहारसे पृथक् की जा सकती हैं। अतएव साधुओंको आहारमें ये वस्तुएँ मिल गयी हों तो उनको पृथक् कर देना चाहिए। यदि कदाचित् उनका पृथक् करना अशक्य हो तो आहार ही छोड़ देना चाहिए। (मू. आ./भाव./४८४); (और भी दे. विवेक/१)।

५. नीच कुलीनोंके हाथका तथा अयोग्य क्षेत्रमें रखे भोजन-पानका निषेध

भ. आ./भाषा./पृ. ६७५ अशुद्ध भूमिमें पड्या भोजन, तथा म्लेच्छादिक-निकरि स्पर्श्या भोजन, पान तथा अस्पृश्य शूद्रका लाया जल तथा शूद्रादिकका किया भोजन तथा अयोग्य क्षेत्रमें धरया भोजन, तथा मांस भोजन करने वालेका भोजन, तथा नीच कुलके गृहनिमें प्राप्त भया भोजन जलादिक अनुपसेव्य हैं। यद्यपि प्रासुक होइ हिंसा रहित होइ तथापि अनुपसेव्यपणातें अंगीकार करने योग्य नहीं है। (और भी दे. वर्णव्यवस्था/४/१)।

६. अभक्ष्य पदार्थोंके खाये जानेपर तद्योग्य प्रायश्चित्त

दे. प्रायश्चित्त/२/४/४ में रा. वा कारण वश अप्रासुकके ग्रहण करनेमें प्रासुकका विस्मरण हो जाये और पीछे स्मरण आ जाय तो विवेक (उत्सर्ग) करना ही प्रायश्चित्त है।

अन. ध./५/४० पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत्। प्रायश्चित्तं नखे किंचित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ।४०। —चौदह मलों (दे. आहार/II/४) में से आदिके पीव, रक्त मांस, हड्डी और चर्म इन पाँच दोषोंको महादोष माना है। अतएव इनसे संसक्त आहारको केवल छोड़ ही न दे किन्तु उसको छोड़कर आगमोक्तविधिसे प्रायश्चित्त भी ग्रहण करे। नखका दोष मध्यम दर्जेका है। अतएव नख युक्त आहारको छोड़ देना चाहिए, किन्तु कुछ प्रायश्चित्त लेना चाहिए। केश आदिका दोष जघन्य दर्जेका है। अतएव उनसे युक्त आहार केवल छोड़ देना चाहिए।

७. पदार्थोंकी मर्यादाएँ

नोट—(ऋतु परिवर्तन अष्टाह्निकासे अष्टाह्निका पर्यन्त जानना चाहिए)। (व्रत विधान सं./३१); (क्रिया कोष)।

नं०	पदार्थका नाम	मर्यादाएँ		
		शीत	ग्रीष्म	वर्षा
१	बूरा	१ मास	१५ दिन	७ दिन
२	दूध (दुहनेके पश्चात)	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
	दूध (उबालनेके पश्चात्)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
	नोट— यदि स्वाद बिगड़ जाये तो त्याज्य है।			
३	दही (गर्म दूधका)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
	{ अ. ग. श्रा./६/८४); (सा. ध./३/११); (चा.पा.टी./- २१/४३/१७)।	१६ पहर	१६ पहर	१६ पहर
४	छाछ —			
	बिलोते समय पानी डाले	४ पहर	४ पहर	४ पहर
	पीछे पानी डाले तो	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
५	घी	(जब तक स्वाद न बिगड़े)		
६	तेल	,,	,,	,,
७	गुड़	,,	,,	,,
८	आटा सर्व प्रकार	७ दिन	५ दिन	३ दिन
९	मसाले पीसे हुए	,,	,,	,,
१०	नमक पिसा हुआ	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
	मसाला मिला दे तो	६ घण्टे	६ घण्टे	६ घण्टे
११	{ खिचड़ी, कढ़ी, रायता, तरकारी	२ पहर	२ पहर	२ पहर
१२	अधिक जल वाले पदार्थ रोटी, पूरी, हलवा, बड़ा आदि।	४ पहर	४ पहर	४ पहर
१३	मौन वाले पकवान	८ पहर	८ पहर	८ पहर
१४	बिना पानीके पकवान	७ दिन	५ दिन	३ दिन
१५	मीठे पदार्थ मिला दही	२ घड़ी	२ घड़ी	२ घड़ी
१६	गुड़ मिला दही व छाछ	सर्वथा	अभक्ष्य	

२. अभक्ष्य पदार्थ विचार

१. बाईस अभक्ष्योंके नाम निर्देश

व्रत विधान सं./पृ. ११ ओला घोरबड़ा निशि भोजन, बहुबीजक, बैंगन, संधान/ बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर-फल, जो होय अजान॥ कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान। फल अति तुच्छ, तुषार, चलितरस, जिनमत ये बाईस अखान॥

२. मद्य, मांस, मधु व नवनीत अभक्ष्य हैं

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ मांसं मधु नवनीतं···च वर्जयेत 'तत्स्पृष्टानि सिद्धान्यपि च न दद्यान्न खादेत, न स्पृशेच्च। —मांस, मधु व मक्खनका त्याग करना चाहिए। इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है, वह अन्न भी न खाना चाहिए और न छूना चाहिए।

पु. सि. उ./७१ मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः। वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ।७१। – शहद, मदिरा, मक्खन और मांस तथा महाविकारोंको धारण किये पदार्थ व्रती पुरुषको भक्षण करने योग्य नहीं हैं क्योंकि उन वस्तुओंमें उसी वर्ण व जातिके जीव होते हैं ।७१।

३. चलित रस पदार्थ अभक्ष्य है

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/२० विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि पुष्पितानि, पुराणानि जन्तुसंस्पृष्टानि च न दद्यान्न खादेत न स्पृशेच्च। —जिनका रूप, रस व गन्ध तथा स्पर्श चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् फूई लगा हुआ है, जिसको जन्तुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिए, न खाना चाहिए और न स्पर्श करना चाहिए।

अ. ग. श्रा./६/८५ आहारो निःशेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयातः। योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढैः ।८५। —जो समस्त आहार अपने स्वभावसे अन्यभावको प्राप्त भया, चलितरस भया, बहुरि जो अनन्तकाय सहित है सो वह दया सहित पुरुषोंके द्वारा त्याज्य है।

चा. पा./टी./२१/४३/१६ सुललितपुष्पितस्वादचलितमन्नं त्यजेत्। —अंकुरित हुआ अर्थात् जड़ा हुआ, फुई लगा हुआ या स्वाद चलित अन्न अभक्ष्य है।

ला. सं./२/५६ रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत। अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ।५६। —जो पदार्थ रूप गन्ध रस और स्पर्शसे चलायमान हो गये हैं, जिनका रूपादि बिगड़ गया है, ऐसे पदार्थोंको भी कभी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी, और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है।

४. बासी व अमर्यादित भोजन अभक्ष्य है

अ. ग. श्रा./६/८४ ···दिवसद्वितयोषिते च दधिमंथिते···त्याज्या। —दो दिनका बासी दही और छाछ···त्यागना योग्य है। (सा. ध./३/११); (ला. सं./२/५७)।

चा. पा./टी./२१/४३/१३ लवणतैलघृतधृतफलसंधानकमुहूर्तद्वयोपरिनवनीतमांसादिसेविभाण्डभाजनवर्जनं।···षोडशप्रहरादुपरि तक्रं दधि च त्यजेत्। —नमक, तेल व घीमें रखा फल और आचारको दो मुहूर्तसे ऊपर छोड़ देना चाहिए। तथा मक्खन व मांस जिस बर्तनमें पका हो वह बर्तन भी छोड़ देना चाहिए। सोलह पहरसे ऊपरके दहीका भी त्याग कर देवे।

ला. सं./२/३३ केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा। उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ।३३। —जो पदार्थ रोटी भात आदि केवल अग्निपर पकाये हुए हैं, अथवा पूड़ी कचौड़ी आदि गर्म घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि घी व अग्नि दोनोंके संयोगसे पकाये हुए हैं। ऐसे प्रकारका उषित अन्न मांस भक्षणके दोषोंके जानने वालोंको नहीं खाना चाहिए। (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार)।

५. अँचार व मुरब्बे आदि अभक्ष्य हैं

वसु. श्रा./५८ ···संधाण···णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं ।५८। —अँचार आदि···नित्य त्रस जीवोंसे संसिक्त रहते हैं, अतः इनका त्याग कर देना चाहिए। (सा. ध./३/११)।

ला.सं./२/५५ यशोपितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदोषतः। आसवारिष्ट-संधानथानादीनां कथात्र का ।५५। —जहाँ बासी भोजनके भक्षणका त्यागका कराया, वहाँपर आसव, अरिष्ट, सन्धान व अथान अर्थात् अँचार-मुरब्बेकी तो बात ही क्या।

६. बीधा व सन्दिग्ध अन्न अभक्ष्य है

अ. ग. श्रा./६/८४ विद्धं पुष्पितमन्नं कालिङ्गद्रोणपुष्पिका त्याज्या। —बीधा और फूई लगा अन्न और कलींदा व राई ये त्यागना योग्य है। (चा. पा./टी./२४/४१/१६)

ला. सं./२/श्लोक नं. विद्धं त्रसाश्रितं यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत्। शतशः शोधितं चापि सावधानैर्दृगादिभिः।१९। संदिग्धं च यदन्नादि श्रितं वा नाश्रितं त्रसैः। मनःशुद्धिप्रसिद्धार्थं श्रावकः क्वापि नाहरेत्।२०। शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद्ग्रहणं कृती। कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत्।३२। —घुने हुए या बीधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते हैं। यदि सावधान होकर नेत्रोंके द्वारा शोधा भी जाये तो भी उसमेंसे सब त्रस जीवोंका निकल जाना असम्भव है। इसलिए सैकड़ों बार शोधा हुआ भी घुना व बीधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याज्य है।१९। जिस पदार्थमें त्रस जीवोंके रहनेका सन्देह हो। (इसमें त्रस जीव हैं या नहीं) इस प्रकार सन्देह बना ही रहे तो भी श्रावकको मन: शुद्धिके अर्थ छोड़ देना चाहिए।२०। जिस अन्नादि पदार्थको शोधे हुए कई दिन हो गये हों उनको ग्रहण नहीं करना चाहिए। जिस पदार्थको शोधनेपर मर्यादासे अधिक काल हो गया है, उनको पुनः शोधकर काममें लेना चाहिए।३२।

३. गोरस विचार

१. दहीके लिए शुद्ध जामन

व्रत विधान सं./३४ दही बांधे कपड़े माहीं, जब नीर न बूँद रहाहीं। तिहि की दे बड़ी सुखाई राखे अति जतन कराई॥ प्रासुक जलमें धो लीजे, पयमाहीं जामन दीजे। मरयादा भाषी जेह, यह जावन सौं लख लीजे॥ अथवा रुपया गरमाई, डारे पयमें दधि थाई।

२. गोरसमें दुग्धादिके त्यागका क्रम

क. पा. १/१,१३,१४/गा.११२/पृ. २५४ पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः। अगोरसव्रतो नो चेत् तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।११२। —जिसका केवल दूध पीनेका नियम है वह दही नहीं खाता दूध ही पीता है, इसी प्रकार जिसका दही खानेका नियम है वह दूध नहीं पीता है और जिसके गोरस नहीं खानेका व्रत है, वह दूध और दही दोनोंको नहीं खाता है।…।११२।

३. दूध अभक्ष्य नहीं है

सा. ध./२/१० पर उद्धृत फुटनोट—मांसं जीवशरीरं, जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम्। यद्वन्निम्बो वृक्षो, वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः।९। शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं, वस्तुवैचित्र्यमीदृशम्। विषघ्नं रत्नमाहेयं विषं च विपदे यत:।१०। हेयं पलं पयः पेयं, समे सत्यपि कारणे। विषद्रोरायुषे पत्रं, मूलं तु मृतये मतम्।११। —जो जीवका शरीर है वह मांस है ऐसी तर्कसिद्ध व्याप्ति नहीं है, किन्तु जो मांस है वह अवश्य जीवका शरीर है ऐसी व्याप्ति है। जैसे जो वृक्ष है वह अवश्य नीम है ऐसी व्याप्ति नहीं अपितु जो नीम है वह अवश्य वृक्ष है ऐसी व्याप्ति है।९। गायका दूध तो शुद्ध है, मांस शुद्ध नहीं। जैसे—सर्पका रत्न तो विषका नाशक है किन्तु विष प्राणोंका घातक है। यद्यपि मांस और दूध दोनोंकी उत्पत्ति गायसे है तथापि ऊपरके दृष्टान्तके अनुसार दूध ग्राह्य है मांस त्याज्य है। एक यह भी दृष्टान्त है कि—विष वृक्षका पत्ता जीवनदाता वा जड़ मृत्युदायक है।११।

४. कच्चे दूध-दहीके साथ विदल दोष

सा. ध./५/१८ आमगोरससंपृक्तं, द्विदलं प्रायशोऽनवम्। वर्षास्वदलितं चात्र…नाहरेत्।१८। —कच्चे दूध, दही व मट्ठा मिश्रित द्विदलको, बहुधा पुराने द्विदलको, वर्षा ऋतुमें बिना दले द्विदलको…नहीं खाना चाहिए।१८। (चा. पा./२१/४३/१८)।

व्रत विधान सं./पृ. ३३ पर उद्धृत—योऽपक्वतक्रं द्विदलान्नमिश्रं भुक्तं विधत्ते मुखबाष्पसंगे। तस्यास्यमध्ये मरणं प्रयस्ताः सम्मूर्छिमका जीवगणा भवन्ति। —कच्चे दूध दही मट्ठा व द्विदल पदार्थोंके मिलनेसे और मुखकी लारका उनमें सम्बन्ध होनेसे असंख्य सम्मूर्च्छन त्रस जीव राशि पैदा होती है, इसके महान् हिंसा होती है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है। (ला. सं./२/१४५)।

५. पक्के दूध-दहीके साथ विदल दोष

व्रत विधान सं./पृ. ३३ जब चार मुहूरत जाहीं, एकेन्द्रिय जिय उपजाहीं। बारा घटिका जब जाय, बेइन्द्रिय तामें थाय। षोडशघटिका हैं जबहीं, तेइन्द्रिय उपजें तबहीं। जब बीस घड़ी गत जानी, उपजै चौइन्द्रिय प्राणी। गमियाँ घटिका जब चौबीस, पंचेन्द्रिय जिय पूरित तीस। हैं हैं नहीं संशय आनी, यों भाषै जिनवर वाणी। बुधि जन लाख ऐसो दोष, तजिये ततछिन अघकोष। कोई ऐसे कहवाई, खै हैं एक याम ही माहीं। मरयाद न सधि है मूल तजि हैं, जे व्रत अनुकूल। खावें में पाय अपार छाड़ें शुभगति है सार।

६. द्विदलके भेद

व्रत विधान संग्रह/पृ. ३४ १. अन्नद्विदल—मूंग, मोठ, अरहर, मसूर, उर्द, चना, कुल्थी आदि। २. काष्ठ द्विदल—चारोली, बादाम, पिस्ता, जीरा, धनिया आदि। ३. हरीद्विदल—तोरइ, भिण्डी, फदकुली, घीतोरई, खरबूजा, ककड़ी, पेठा, परवल, सेम, लौकी, करेला, खीरा आदि घने बीज युक्त पदार्थ। नोट—(इन वस्तुओंमें भिण्डी व परवलके बीज दो दालवाले नहीं होते फिर भी अधिक बीजोंकी अपेक्षा उन्हें द्विदलमें गिनाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है। और खरबूजे व पेठेके बीजसे ही द्विदल होता है, उसके गूदेसे नहीं। ४. शिखरनी—दही और छाछमें कोई मीठा पदार्थ डालनेपर उसकी मर्यादा कुल अन्तर्मुहूर्त मात्र रहती है। ५. काँजी—दही छाछमें राई व नमक आदि मिलाकर दालके पकौड़े आदि डालना। यह सर्वथा अभक्ष्य है

४. वनस्पति विचार

१. पंच उदुम्बर फलोंका निषेध व कारण

पु. सि. उ./७२-७३ योनिरुदुम्बरं युग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि। त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।७२। यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि। भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्।७३। —ऊमर, कठूमर, पिलखन, बड़ और पीपलके फल त्रस जीवोंकी योनि हैं इस कारण उनके भक्षणमें उन त्रस जीवोंकी हिंसा होती है।७२। और फिर भी जो पाँच उदुम्बर सूखे हुए काल पाकर त्रस जीवोंसे रहित हो जावें तो उनको भी भक्षण करनेवालेके विशेष रागादि रूप हिंसा होती है।७३। (सा. ध./२/१३)।

वसु. श्रा./५८ उंबर-वड-पिप्पल-पिंपरीय-संधाण-तरुपसूणाइं। णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं।५८। —ऊंबर, बड़, पीपल, कठूमर और पाकर फल, इन पाँचों उदुम्बर फल, तथा संधानक (अँचार) और वृक्षोंके फूल ये सब नित्य त्रस जीवोंसे संसिक्त अर्थात् भरे हुए रहते हैं, इसलिए इनका त्याग करना चाहिए।५८।

ला. स./२/७८ उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभिः। नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च।७८। –सम्यग्दृष्टियोंको उदुम्बर फल नहीं खाने चाहिए क्योंकि वे नित्य साधारण (अनन्तकायिक) हैं। तथा अनेक त्रस जीवोंसे भरे हुए हैं।

दे. श्रावक./४/१ पाँच उदुम्बर फल तथा उसीके अन्तर्गत खुम्भी व साँपकी छतरी आदि भी त्याज्य है।

२. अनजाने फलोंका निषेध

दे. उदुम्बर उदुम्बर त्यागी, जिन फलोंका नाम मालूम नहीं है ऐसे सम्पूर्ण अजानफलोंको नहीं खावे।

३. कंदमूलका निषेध व कारण

भ. आ./मू./१६३३/१४१४ ण य खंति • पलंडुमादीयं।–कुलीन पुरुष प्याज, लहसुन वगैरह कन्दोंका भक्षण नहीं करते हैं।

मू. आ./८२५ फलकंदमूलबीयं अणग्गिपक्कं तु आमयं किंचि। णच्चा अणेसणीयं णवि य पडिच्छंति ते धीरा।८२५। –अग्नि कर नहीं पके पदार्थ फल कन्द मूल बीज तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर मुनि खानेकी इच्छा नहीं करते। (भा. पा./मू./१०३)।

र. क. श्रा./८५ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि।... अवहेयं।८५। –फल थोड़ा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होनेसे सचित्त मूली, गाजर, आर्द्रक... इत्यादि छोड़ने योग्य हैं।८५। (स. सि./७/२१/३६१/१०)।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ फलं अदारितं मूलं, पत्रं, साङ्कुरं कन्दं च वर्जयेत्। –नहीं विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कन्दका त्याग करना चाहिए। (यो. सा. अ./८/६३)

सा. ध./५/१६-१७ नालीसूरणकालिन्ददद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम्।१६। अनन्तकायाः सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरैः। यदेकमपि तं हन्तुं, प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान्।१७। –धार्मिक श्रावक, नाली, सूरण, कलींदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिए छोड़ देवे क्योंकि इनके खाने वालेको उन पदार्थोंके खानेमें फल थोड़ा और धात बहुत जीवोंका होता है।१६। दयालु श्रावकोंके द्वारा सर्वदाके लिए सब ही साधारण वनस्पति त्याग दी जानी चाहिए क्योंकि एक भी उस साधारण वनस्पतिको मारनेके लिए प्रवृत्त व्यक्ति अनन्त जीवोंको मारता है।१७।

चा. पा./टी./२१/४३/१० मूलनालिकापद्मिनीकन्दलशुनकन्दतुम्बकफलकुसुम्भशाककलिंगफलसूरणकन्दत्यागश्च। –मूली, कमलकी डण्डी, लहसुन, तुम्बक फल, कुसुमेका शाक, कलिंग फल, आलू आदिका त्याग भी कर देना चाहिए।

भा. पा./टी./१०१/२५४/३ कन्दं सूरणं लशुनं पलाण्डुं क्षुद्रबृहन्मुस्ताशालूकं उत्पलमूलं शृङ्गबेरं आर्द्रकबर्णिनो आर्द्रहरिद्रेत्यर्थः.... किमपि ऐवांविधंकं अशित्वा...भ्रमितस्त्वं हे जीव अनन्तसंसारे। –कन्द अर्थात् सूरण, लहसुन, आलू, छोटी या बड़ी शालूक, उत्पलमूल (भिस), शृंगबेर, अद्रक, गीली हल्दी आदि इन पदार्थोंमेंसे कुछ भी खाकर हे जीव! तुझे अनन्त संसारमें भ्रमण करना पड़ा है।

ला. सं./२/७९-८० अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम्। तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिकाः।७९। मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादयः। न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात्।८०। –यहाँपर जो उदुम्बर फलोंका त्याग कराया है वह उपलक्षण मात्र है। इसलिए जितने वनस्पति साधारण या अनन्तकायिक हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए।७९। ऊपर जो अदरख आलू आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीजादि अनन्तकायात्मक साधारण बतलाये हैं, उन्हें कभी न खाना चाहिए। रोग हो जानेपर भी इनका भक्षण न करे।८०।

४. पुष्प व पत्र जातिका निषेध

भा. पा./मू.१०३ कंदमूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं। असिऊण माणगव्वे भमिओसि अणंतसंसारे।१०३। –जमीकन्द, बीज अर्थात् चनादिक अन्न, मूल अर्थात् गाजर आदिक, पुष्प अर्थात् फूल, पत्र अर्थात् नागरबेल आदिक इनको आदि लेकर जो कुछ सचित्त वस्तुओंको गर्वसे भक्षण कर, हे जीव! तू अनन्त संसारमें भ्रमण करता रहा है।

र. क. श्रा./८६ निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयं।८६। –नीमके फूल, केतकीके फूल इत्यादि वस्तुएँ छोड़ने योग्य हैं।

स. सि./७/२१/३६१/१० केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गबेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। –जो बहुत जन्तुओंकी उत्पत्तिके आधार हैं और जिन्हे अनन्तकाय कहते हैं, ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरख और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवनमें फल कम है और घात बहुत जावोंका है। (रा. वा./७/२१/२९/५५०/४)

गुण. श्रा./१७८ मूलं फलं च शाकादि पुष्पं बीजं करीरकम्। अप्रासुकं त्यजेन्नीरं सचित्तविरतो गृही।१७८। –सचित्तविरत श्रावक सचित्त मूल, फल, शाक पुष्प, बीज, करीर व अप्रासुक जलका त्याग कर देता है (वसु. श्रा./२९५)।

वसु. श्रा./५८ तरुपसूणाइं। णिच्चं तसंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं।५८। –वृक्षोंके फूल नित्य त्रसजीवोंसे संसिक्त रहते हैं। इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए।५८।

सा. ध./५/१६ द्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं, फलं घातश्च भूयसाम्। –द्रोणपुष्पादि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिए छोड़ देवे। क्योंकि इनके खानेमें फल थोड़ा और घात बहुत जीवोंका होता है। (सा. ध./३/१३)।

ला. सं./२/३५-३७ शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन। श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः।३५। तत्रावश्यं त्रसाः सूक्ष्माः केचित्स्युर्दृष्टिगोचराः। न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक्।३६। तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता। आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः।३७। –श्रावकोंको यत्नपूर्वक मांसके दोषोंका त्याग करनेके लिए सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नहीं करनी चाहिए।३५। क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं। उनमेंसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर हो जाते हैं और कितने ही दिखाई नहीं देते। किन्तु वे जीव उस पत्तेवाले शाकका आश्रय कभी नहीं छोड़ते।३६। इस लिए अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको पत्तेवाले सब शाक तथा पान तक छोड़ देना चाहिए और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकों को विशेषकर इनका त्याग करना चाहिए।३७।

भगवती आराधना—आ. शिवकोटि (ई. श. १) कृत में २२७१ प्राकृत गाथा बद्ध यत्याचार विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं–(१) आराधना पंजिका नामकी एक टीका है जिसका कर्ता व काल अज्ञात है। (२) आ. अपराजित (वि. ७६३) द्वारा विरचित विजयोदया नाम की विस्तृत संस्कृत टीका। (३) इस ग्रन्थकी गाथाओंके अनुरूप आ. अमितगति (ई. ९८३–१०२३) द्वारा रचित स्वतंत्र श्लोक। (४) पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा विरचित मूल आराधना नाम की संस्कृत टीका। (५) पं. शिवजित (वि. १८१८) द्वारा विरचित भावार्थ दीपिका नाम की भाषा टीका। (६) पं. सदासुखदास (ई. १७९५-१८६६) द्वारा विजयोदया टीकाकी देशभाषा रूप टीका। (जै./२/१२६, १२८)।

भगवतीदास—१. दिल्ली गद्दी के भट्टारक महीन्द्र के शिष्य अम्बाला निवासी एक अपभ्रंश कवि जिन्होंने अन्त समय में मुनि-व्रत धारण करके समाधि पूर्वक देह त्याग किया था। कृतियें—टंडाणा रास, बनजारा रास, आदित्यवार रास, पखवाड़ा रास, खिचड़ी रास, समाधि रास, योगी रास, मनकरहा रास, रोहिणीव्रत रास, अनन्त चतुर्दशी चौपाई, सुमती सुक्ति रमणी, ढमाल राजमती नेमीश्वर संझाणी ढमाल, वीर जिनेन्द्र स्तुति, आदिनाथ-शान्तिनाथ विनती, अनथमी, अनुप्रेक्षाभावना, सुगन्ध दशमी कथा, आदित्यवार कथा। समय—कृतियों का रचना काल वि. १६८०-१७०० (ई० १६२३-१६४३)। (ती./४/२३९)। २. ब्रह्म विलास आदि के कर्ता भैया भगवती दास नामक एक गृहस्थ कवि। समय—वि. १७३१-१७५५ (ई० १६७४-१६९८)। (ती./४/२६३)।
१४६ कामता)।

भगवान्—दे० परमात्मा।

भगीरथ—म.पु /४८/श्लोक-भगलिदेशके राजसिंह विक्रमका दोहता था। सगर चक्रवर्तीने इसको राज्य दिया था (१२७)। सगर चक्रवर्ती-के मोक्षके समय इन्होंने दीक्षा धारण कर गंगाके तटपर योग धारण किया। तब देवोंने इनके चरणोंका प्रक्षालन किया, वह जल गंगा नदीमें मिल गया, इसीसे गंगा नदी तीर्थ कहलाने लगी। वहाँसे आप मोक्ष पधारे (१३८-१४१)। प. पु./५/श्लोक नं. के अनुसार सगर चक्रवर्तीका पुत्र था। (२५४, २८१) भगवान्के मुखसे अपने पूर्व भव सुनकर मुनियोंमें मुखिया बन योग्य पद प्राप्त किया (२६४)।

भट्ट (प्रभाकर) मत—दे० मीमांसा दर्शन।

भट्ट भास्कर—वेदान्तकी एक शाखाके प्रवर्तक। समय—ई. श. १०।—दे० भास्कर वेदान्त।

भट्टाकलंक—१. प्रसिद्ध जैनाचार्य—दे० अकलंक भट्ट। २. ई. १६०४ में शब्दानुशासन (कन्नड व्याकरण) के कर्ता (प.प्र./प्र. १००/ A.N.Up.,(ती./४/३११)।

भट्टारक—१. अर्हन्त, सिद्ध, साधुको भट्टारक कहा गया है। (ध. ३/मंगल/१), २. इन्द्र भट्टारक ग्रन्थ कर्ता हुए (ध. ९/१२९-१३०), ३. अर्हन्तके लिए भट्टारक शब्दका प्रयोग किया गया है। (ध. ९/१३०)।

भदन्त—१. मू. आ /भाषा/८८६ जो सब कल्याणोंको प्राप्त हों वह भदन्त हैं। २. साधुका अपर नाम—दे० अनगार।

भद्र—१. सा. ध./१/९ कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं, लघुकर्मतयाऽद्विषन्। भद्रः स···अभद्रस्तद्विपर्ययात्।९। =मिथ्यामतमें स्थित होता हुआ भी मिथ्यात्वकी मन्दतासे समीचीन जैनधर्मसे द्वेष नहीं करनेवाला व्यक्ति भद्र कहलाता है। उससे विपरीत अभद्र कहलाता है। २. आपके अपरनाम यशोभद्र व अभय थे—दे० यशोभद्र। ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३; ४. नन्दीश्वर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यंतर/४।

भद्रक—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

भद्रकाली—विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

भद्रपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

भद्रबाहु—(१) मूल श्रुतावतारके अनुसार (दे० इतिहास) ये पाँचवें श्रुतकेवली थे। १२ वर्षके दुर्भिक्षके कारण इनको उज्जैनी छोड़कर दक्षिणकी ओर प्रस्थान करना पड़ा था। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी उस समय उनसे दीक्षा लेकर उनके साथ ही दक्षिण देशको चले गये थे। श्रवणबेलगोलमें चन्द्रगिरि पर्वतपर दोनोंकी समाधि हुई है। १२००० साधुओं के संघ का बहुभाग यद्यपि इनके साथ दक्षिण की ओर चला गया था तदपि कुछ भाग ऐसा भी था जो प्रमादवश नहीं गया अथवा बीच में ही अटक गया। परिस्थितिवश शैथिल्य को अपना लेने के कारण वह धीरे-धीरे आगे जाकर वि. १३६ में श्वेताम्बर संघ के रूप में परिणत हो गया (विशेष दे. श्वेताम्बर)। इस प्रकार श्वेताम्बर तथा दिगम्बर संघ भेद की नींव भी इन्हीं के काल में पड़ी थी। मूलसंघ की पट्टावली में इनका काल वी. नि. १३३-१६२ (ई. पू. ३९४-३६५) दिया गया है, परन्तु दूसरी ओर चन्द्रगुप्त मौर्य का काल विद्वान् लोग ई. पू. ३२६-३०२ (वी. नि. २०१-२२५) निर्धारित करते हैं। इन दोनों के मध्य लगभग ६० वर्ष का अन्तर है जिसे पाटने के लिये पं. कैलाशचन्द जी ने सुयुक्तियुक्त ढंग से इनके काल को ६० वर्ष नीचे उतार लिया है। तदनुसार इनका काल वी. नि. १८०-२२२ (ई. पू. ३४७-३०५) प्राप्त होता है। विशेष दे० कोश १ परिशिष्ट २/३)

(२) दूसरे भद्रबाहु वे हैं जिन्हें मूलसंघ की पट्टावली में अष्टांग-धर अथवा आचारांगधर कहा गया। नन्दीसंघ की पट्टावली में चरम निमित्तधर कहकर परम्परा गुरु के रूप में इन्हें नमस्कार किया गया है। इनकी शिष्य परम्परा में क्रमशः लोहाचार्य, अर्हद्बली, माघ-नन्दि तथा जिनचन्द्र ये चार आचार्य प्राप्त होते हैं। यहाँ इन जिन चन्द्र को कुन्दकुन्द का गुरु बताया गया है। दूसरी ओर आ. देवसेन ने अपने भावसंग्रह में इनका नाम भद्रबाहु गणी बताकर द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष तथा दिगम्बर श्वेताम्बर संघ भेद के साथ इनका सम्बन्ध स्थापित किया है। तदनुसार इनके शिष्य शान्त्याचार्य और उनके शिष्य जिनचन्द्र थे। जो अपने गुरु को मारकर संघ के नायक बन गए थे। इन्होंने ही शैथिल्य-पोषण के अर्थ उसे श्वेताम्बर संघ के रूप में परिणत किया था। यद्यपि दोनों ही स्थानों में जिनचन्द्र को भद्रबाहु की शिष्य-परम्परा में बताया गया है और दोनों के कालों में भी केवल ३९ वर्ष का अन्तर है, परन्तु दोनों के जीवन वृत्तों में इतना बड़ा अन्तर है कि इन्हें एक व्यक्ति मानने को जी नहीं चाहता। तथापि यदि जिस किस प्रकार इन्हें एक व्यक्ति घटित कर दिया जाय तो दोनों के प्रगुरु अथवा परम्परा गुरु भद्रबाहु भी एक व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं। इतना होने पर भी इनकी एकता या द्वितता के विषय में सन्देह बना ही रहता है। मूलसंघ की पट्टावली तथा नन्दिसंघ की पट्टावली दोनों के अनुसार इनका काल वी. नि. ४९२-५१५ (वि. २२-४५) माना गया है। (विशेष दे. कोष १।परिशिष्ट २/४)।

(३) श्वेताम्बर संघाधिपति जिनचन्द्र (वि. १३६) के प्रगुरु भद्रबाहु गणी को यदि स्वतन्त्र व्यक्ति माना जाय तो उन्हें वि. श. १ के चरम पाद पर स्थापित किया जा सकता है।

भद्रबाहु चरित्र—आ. रत्नकीर्ति (ई. १५१५) द्वारा विरचित संस्कृत छन्दबद्ध ग्रन्थ है, इसमें चार परिच्छेद तथा ४६८ श्लोक हैं।

भद्रमित्र—म. पु./५९/श्लोक नं. सिंहपुरके राजाका मन्त्री इसके रत्न लेकर मुकर गया (१४८-१५१)। प्रतिदिन खूब रोने-चिल्लाने पर (१६५) राजाकी रानीने मन्त्रीको जुएमें जीतकर रत्न प्राप्त किये (१६८-१६९)। राजाने इसकी परीक्षा कर इसके रत्न व मन्त्रीपद देकर उपनाम सत्यघोष रख दिया (१७१-१७३)। एक बार बहुत-सा धन दान दिया, जिसको इसकी माँ सहन न कर सकी। इसीके निदानमें उसने इसे व्याघ्री बनकर खाया (१८८-१९१)। आगे चौथे भवमें इसने मोक्ष प्राप्त किया—दे० वज्रायुध।

भद्रलपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

भद्रशाल वन—सुमेरु पर्वतके मूलमें स्थित वन। इसकी चारों दिशाओंमें चार जिन चैत्यालय हैं—दे० लोक/३/६।

भद्रा—१. वर्तमान 'भादर' नदी। जसदणके पासके पर्वतसे निकली है और नवी बन्दरसे आगे अरब सागरमें गिरती है। (नेमिचरित प्रस्तावना/प्रेमीजी), २. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

भद्रा व्याख्या—दे० व्याख्या।

भद्राश्व—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

भय—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

भय—

स. सि./८/९/३८६/१ यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम्। —जिसके उदयसे उद्वेग होता है वह भय है। (रा. वा./८/९/४/५७४/१८); (गो. क./जी. प्र./३३/२८/८)।

ध. ६/१,९-१,२४/४७/९ भीतिर्भयम्। कम्मक्खंधेहिं उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जइ तेसिं भयमिदि सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। —भीतिको भय कहते हैं। उदयमें आये हुए जिन कर्म स्कन्धोंके द्वारा जीवके भय उत्पन्न होता है उनकी कारणमें कार्यके उपचारसे 'भय' यह संज्ञा है।

ध. १३/५,५,६४/३३६/८ परचक्कागमादओ भयं णाम।

ध. १३/५,५,९६/३६१/१२ जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स सत्त भयाणि समुप्पज्जंति तं कम्मं भयं णाम। —पर चक्रके आगमनादिका नाम भय है। अथवा जिस कर्मके उदयसे जीवके सात प्रकारका भय उत्पन्न होता है, वह भय कर्म है।

१. भयके भेद

मू. आ./५३ इहपरलोयत्ताणं अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया। —इसलोक भय, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक भय ये सात भय हैं। (स. सा./आ./२२८/क० १५५-१६०); (स. सा./ता. वृ./२२८/३०९/९); (पं. ध./उ./५०४-५०५); (द. पा./२ पं. जयचन्द); (रा. वा. हि./६/२४/५१७)।

२. सातों भयोंके लक्षण

स. सा./पं. जयचन्द/२२८/क० १५५-१६० इस भवमें लोकोंका डर रहता है कि ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे, ऐसा तो इस लोकका भय है, और परभवमें न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना परलोकका भय है।१५५। जिसमें किसीका प्रवेश नहीं ऐसे गढ़, दुर्गादिकका नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो, उसको अगुप्ति कहते हैं, वहाँ बैठनेसे जीवको जो भय उत्पन्न होता है उसको अगुप्ति भय कहते हैं।१५८। अकस्मात् भयानक पदार्थसे प्राणीको जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय है।

पं. ध./उ./श्लोक नं. तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः।५०६। परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्। ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा।५१६। भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ। इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम्।५१७। वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ। भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम्।५२४। उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्। मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः।५२५। अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्। नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः।५३१। असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः। कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात्।५३७। तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्। कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये।५४०। अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्। तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम्।५४३। भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे। इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा।५४४। —१. मेरे इष्ट पदार्थका वियोग न हो जाये और अनिष्ट पदार्थका संयोग न हो जाये इस प्रकार इस जन्ममें क्रन्दन करनेको इहलोक भय कहते हैं। २. परभवमें भावि पर्यायरूप अंशको धारण करने वाला आत्मा परलोक है और उस परलोकसे जो कंपनेके समान भय होता है, उसको परलोक भय कहते हैं।५१६। यदि स्वर्गमें जन्म हो तो अच्छा है, मेरा दुर्गतिमें जन्म न हो इत्यादि प्रकारसे हृदयका आकुलित होना पारलौकिक भय कहलाता है।५१७। ३. शरीरमें वात, पित्तादिके प्रकोपसे आनेवाली बाधा वेदना कहलाती है। मोहके कारण विपत्तिके पहले ही करुण क्रन्दन करना वेदना भय है।५२४। मैं निरोग हो जाऊँ, मुझे कभी भी वेदना न होवे, इस प्रकारकी मूर्च्छा अथवा बार-बार चिन्तवन करना वेदना भय है।५२५। ४. जैसे कि बौद्धोंके क्षणिक एकान्त पक्षमें चित्त क्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसे ही पर्यायके नाशके पहले अंशि रूप आत्माके नाशकी रक्षाके लिए अक्षमता अत्राणभय (अरक्षा भय) कहलाता है।५३१। ५. असत् पदार्थके जन्मको सत्के नाशको माननेवाले, मुक्तिको चाहनेवाले शरीरधारियोंको उस अगुप्ति भयसे कहाँ अवकाश है।५३७। ६. मैं जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हो, अथवा दैवयोगसे कभी मृत्यु न हो, इस प्रकार शरीरके नाशके विषयमें जो चिन्ता होती है, वह मृत्युभय कहलाता है।५४०। ७. अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् दुःख आकस्मिकभय माना गया है। जैसे कि बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका मरण हो जाता है।५४३। जैसे मैं सदैव नीरोग रहूँ, कभी रोगी न होऊँ, इस प्रकार व्याकुलित चित्त पूर्वक होनेवाली चिन्ता आकस्मिक भीति कहलाती है।५४४।

★ **भय प्रकृतिके बंधयोग्य परिणाम**—दे० मोहनीय/३।

★ **सम्यग्दृष्टिका भय भय नहीं**—दे० निःशंकित।

★ **भय द्वेष है**—दे० कषाय/४।

भय संज्ञा—दे० संज्ञा।

भरणी—एक नक्षत्र दे० नक्षत्र।

भरत—१. म. पु./सर्ग/श्लोक नं. पूर्व भव नं. ८ में वत्सकावतीदेशका अतिगृधनामक राजा (८/१९१) फिर चौथे नरकका नारकी (८/१९२) छठे भवमें व्याघ्र हुआ (८/१९४) पाँचवेंमें दिवाकरप्रभ नामक देव (८/२१०) चौथे भवमें मतिसागर मन्त्री हुआ (८/२१५) तीसरे भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ (९/९०-९२) दूसरे भवमें सुबाहु नामक राजपुत्र हुआ (११/१२) पूर्व भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०); (युगपत् सर्व भवके लिए दे० म. पु./४७/३६३-३६४) वर्तमान भवमें भगवान् ऋषभ देवका पुत्र था (१५/१५८) भगवान्‌को दीक्षाके समय राज्य (१७/७६) और केवलज्ञानके समय चक्र तथा पुत्ररत्नकी प्राप्ति की (२४/२) छह खण्डको जीतकर (३४/३) बाहुबलीसे युद्धमें हारा (३६/६०) क्रोधके वश भाईपर चक्र चला दिया, परन्तु चक्र उनके पास जाकर ठहर गया (३४/६६) फिर एक वर्ष पश्चात् इन्होंने योगी बाहुबलीकी पूजा की (३६/१८५) एक समय श्रावकोंकी स्थापना कर उनको गर्भान्वय आदि क्रियाएँ (३८/२०-३१०) दीक्षान्वय क्रियाओं (३९/२-८०८) षोडश संस्कार व मन्त्रों आदिका उपदेश दिया (४०/२-२१६) आयुको क्षीण जान पुत्र अर्ककीर्तिको राज्य देकर दीक्षा धारण की। तथा

तत्क्षण मनःपर्यय व केवलज्ञान प्राप्त किया। (४६/३६३-३६५) (विशेष दे० लिंग/३) फिर चिरकाल तक धर्मोपदेश दे मोक्षको प्राप्त किया (४७/३९८)। ये भगवान्‌के मुख्य श्रोता थे (७४/५२१) तथा प्रथम चक्रवर्ती थे। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष। २. प. पु./सर्ग/श्लोक नं. राजा दशरथका पुत्र था (२५/३५) माता केकयी द्वारा वर माँगनेपर राज्यको प्राप्त किया था (२५/१६२)। अन्तमें रामचन्द्र जी के वनवाससे लौटनेपर दीक्षा धारण की (८६/१) और कर्मोंका नाशकर मुक्तिको प्राप्त किया (८७/१६)। ३. यादववंशी कृष्णजीका २२ वाँ पुत्र—दे० इतिहास/१०/२। ४. ई० ६४५-६७२ में मान्यखेटके राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री थे। (हि. जै. सा. इ./४६ कामता)।

भरत कूट—१. विजयार्ध पर्वतकी उत्तर व दक्षिण श्रेणियोंपर स्थित कूट व उसके रक्षक देव—दे० लोक५/४।२. हिमवान् पर्वतस्थ भरत कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

भरत क्षेत्र—१. अढाई द्वीपोंमें स्थित भरत क्षेत्रका लोकमें अवस्थान व विस्तार आदि—दे० लोक/३/३। इसमें वर्तनेवाले उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालकी विशेषताएँ—दे० काल।

२. रा. वा./३/१०/१,२/१७१/६ विजयार्धस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरतः गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनविस्तारा। तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसंपन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधरः षट्खण्डाधिपतिः। अवसर्पिण्यां राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्षः। अथवा जगतोऽनादित्वादहेतुका अनादिसंबन्धपारिणामिकी भरतसंज्ञा। —विजयार्धमें, समुद्रसे उत्तर और गंगा-सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ९ योजन चौड़ी विनीता नामकी नगरी थी। उसमें भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्व प्रथम राज्य विभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका (इस क्षेत्रका) नाम भरत पड़ा अथवा, जैसे संसार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी किसी कारणसे अनादि है।

भरतेश्वराभ्युदय—पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा संस्कृत काव्यमें रचित ग्रन्थ।

भरुकच्छ—भरत क्षेत्र परिचम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भर्तृप्रपंच—वेदान्त ग्रन्थोंके टीकाकार थे। यह ब्रह्माद्वैतके उपासक थे। ब्रह्मके पर व अपर दोनों भेदोंको सत्य मानते थे। समय—ई. श. ७ (स. म./परि. च./४४०)।

भर्तृहरि—१. राजा विक्रमादित्यके बड़े भाई थे। तदनुसार इनका समय ई. पू. ५७ आता है। (ज्ञा./प्र. ४/पन्नालाल)। २. चीनी यात्री इत्सिंगने भी एक भर्तृहरिका उल्लेख किया है। जिसकी मृत्यु ई० ६५० में हुई बतायी है। समय—ई० ६२५-६५० (ज्ञा. प्र. ४/पं. पन्नालाल)। ३. राजा सिंहलके पुत्र व राजा मुंजके छोटे भाई थे। राजा मुंजने इन्हें पराक्रमी जानकर राज्यके लोभसे देशसे निकलवा दिया था। पीछे ये एक तापसके शिष्य हो गये और १२ वर्षकी कठिन तपस्याके पश्चात् स्वर्ण रसकी सिद्धि की। ज्ञानार्णवके रचयिता आचार्य शुभचन्द्रके लघु भ्राता थे। उनसे सम्बोधित होकर इन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली थी। तब इन्होंने शतकत्रय लिखे। विद्यावाचस्पतिने तत्त्वबिन्दु नामक ग्रन्थमें इनको धर्मबाह्य बताया है, जिससे सिद्ध होता है कि अवश्य पीछे आकर जैन साधु हो गये थे। राजा मुंजके अनुसार आपका समय—वि. १०६०-११२५ (ई० १००३-१०६८)—विशेष दे० इतिहास/३/१ (ज्ञा./प्र./पं० पन्नालाल)। ४. आप ई० सं. ४५० में एक अजैन बड़े वैय्याकरणी थे। आपके गुरु वसुरात थे। (सि. वि./२९/पं० महेन्द्र); (विन्दु भवन्त)

भव—

स. सि./९/२१/१२५/६ आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। —आयुनामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। (रा. वा./१/२१/१/७९/६)।

ध. १०/४,२,४,८/३५/५ उत्पत्तिवारा भवाः। —उत्पत्तिके वारोंका नाम भव है।

ध. १५/५/६/१४ उप्पण्णपढमसमयप्पहुडि जाव चरिमसमओ त्ति जो अवस्थाविसेसो सो भवो णाम। —उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय तक जो विशेष अवस्था रहती है, उसे भव कहते हैं।

भ. आ./वि./२५/८५/१८ पर उद्धृत—देहो भवोत्ति उच्चदि⋯। —देहको भव कहते हैं।

२. क्षुल्लक भवका लक्षण

ध. १४/५,६,६४६/५०४/२ आउअबंधे संते जो उवरि विस्समणकालो सव्वजहण्णो तस्स खुद्दा भवग्गहणं ति सण्णा। सो तत्तो उवरि होदि।⋯असंखेयद्धस्सुवरि खुद्दाभवग्गहणं त्ति सुत्ते। —आयु बन्धके होनेपर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसकी क्षुल्लक भव ग्रहण संज्ञा है। वह आयु बन्धकालके ऊपर होता है।⋯असंक्षेपाद्धाके ऊपर (मृत्युपर्यन्त) क्षुल्लक भवग्रहण है।

*** भवसम्बन्धित विषय**

१. सम्यग्दृष्टिको भव धारणकी सीमा —दे० सम्यग्दर्शन/I/५।
२. श्रावकको भव धारणकी सीमा —दे० श्रावक/२।
३. एक अन्तर्मुहूर्तमें सम्भव क्षुद्रभवोंका प्रमाण —दे० आयु/७।
४. नरक गतिमें पुनः-पुनः भव धारणकी सीमा —दे० जन्म/६/१०।
५. लब्ध्यपर्याप्तकोंमें पुनः-पुनः भव धारणकी सीमा —दे० आयु/७।

भवन—भवनोंमें रहनेवाले देवोंको भवनवासी देव कहते हैं जो असुर आदिके भेदसे १० प्रकारके हैं। इस पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियोंमेंसे प्रथम रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग व अब्बहुल भाग। उनमेंसे खर व पंक भागमें भवनवासी देव रहते हैं, और अब्बहुल भागमें प्रथम नरक है। इसके अतिरिक्त मध्य लोकमें भी यत्र-तत्र भवन व भवनपुरोंमें रहते हैं।

१. भवन व भवनवासी देव निर्देश

१. भवनका लक्षण

ति. प. ३/२२⋯रयणप्पहाए भवणा⋯।२२। —रत्नप्रभा पृथिवीपर स्थित (भवनवासी देवोंके) निवास स्थानोंको भवन कहते हैं। (ति. प./६/७); (त्रि. सा./२९४)।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/५ वलहि-कूडविवज्जिया सुरणरावासा भवणाणि णाम। —वलभि और कूटसे रहित देवों और मनुष्योंके आवास भवन कहलाते हैं।

२. भवनपुरका लक्षण

ति. प /३/२२ दीवसमुद्दाण उवरि भवणपुरा।२२। —द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंको भवनपुर कहते हैं। (ति. प./६/७), (त्रि. सा./२९४)।

३. भवनवासी देवका लक्षण

स. सि./४/१०/२४३/२ भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः। —जिनका स्वभाव भवनोंमें निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। (रा. वा./४/१०/१/२१६/२)।

४. भवनवासी देवोंके भेद

त.सू./४/१० भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराः ।१०। = भवनवासी देव दस प्रकार हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। (ति. प./३/९); (त्रि. सा./२०९)।

५. भवनवासी देवोंके नामके साथ 'कुमार' शब्दका तात्पर्य

स. सि./४/१०/२४२/३ सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि वेषाभूषायुधयानवाहनक्रीडनादि कुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः। = यद्यपि इन सब देवोंका वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनका वेष, भूषा, शास्त्र, यान, वाहन और क्रीड़ा आदि कुमारोंके समान होती है, इसलिए सब भवनवासियोंमें कुमार शब्द रूढ है। (रा. वा./४/१०/७/२१६/२०); (ति. प./३/१२५-१२६)।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. असुर आदि भेद विशेष। —दे० वह वह नाम।
२. भवनवासी देवोंके गुणस्थान, जीव समास, मार्गणास्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत।
३. भवनवासी देवोंके सत् (अस्तित्व) संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
४. भवनवासियोंमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
५. भवनवासियोंमें सुख-दुःख तथा सम्यक्त्व व गुणस्थानों आदि सम्बन्ध। —दे० देव/II/३।
६. भवनवासियोंमें सम्भव कषाय, वेद, लेश्या, पर्याप्ति आदि। —दे० वह वह नाम।
७. भवनवासी देव मरकर कहाँ उत्पन्न हों और कौन-सा गुणस्थान या पद प्राप्त करें। —दे० जन्म/६।
८. भवनत्रिक देवोंकी अवगाहना। —दे० अवगाहना/२।

२. भवनवासी इन्द्रोंका वैभव

१. भवनवासी देवोंके इन्द्रोंकी संख्या

ति. प./३/१३ दससु कुलेसु पुह पुह दो दो इंदा हवंति णियमेण। ते एक्कस्सि मिलिदा वोस विराजंति भूदीहिं ।१३। = दश भवनवासियोंके कुलोंमें नियमसे पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते हैं। वे सब मिलकर २० इन्द्र होते हैं, जो अपनी-अपनी विभूतिसे शोभायमान हैं।

२. भवनवासी इन्द्रोंके नाम निर्देश

ति प./३/१४-१६ पढमो हु चमरणामो इंदो वइरोयणो त्ति विदिओ य। भूदाणंदो धरणाणंदो वेणू य वेणुदारी य ।१४। पुण्णवसिट्ठजलप्पहजलकंता तह य घोसमहघोसा। हरिसेणो हरिकंतो अमिदगदी अमिदवाहणग्गिसिही ।१५। अग्गिवाहणणामो वेलंबपभंजणाभिधाणा य। एदे असुरप्पहुदिसु कुलेसु दोहो कमेण देविंदा ।१६। = असुरकुमारोंमें प्रथम चमर नामक और दूसरा वैरोचन इन्द्र, नागकुमारोंमें भूतानन्द और धरणानन्द, सुपर्णकुमारोंमें वेणु और वेणुधारी, द्वीपकुमारोंमें पूर्ण और वशिष्ठ, उदधिकुमारोंमें जलप्रभ और जलकान्त, स्तनितकुमारोंमें घोष और महाघोष, विद्युत्कुमारोंमें हरिषेण और हरिकान्त, दिक्कुमारोंमें अमितगति और अमितवाहन, अग्निकुमारोंमें अग्निशिखी और अग्निवाहन, वायुकुमारोंमें वेलम्ब और प्रभंजन नामक इस प्रकार दो-दो इन्द्र क्रमसे उन असुरादि निकायोंमें होते हैं ।१४-१६। (इनमें प्रथम नम्बरके इन्द्र दक्षिण इन्द्र हैं और द्वितीय नम्बरके इन्द्र उत्तर इन्द्र हैं। (ति. प./६/१७-१९)।

३. भवनवासियोंके वर्ण, आहार, श्वास आदि

देवका नाम	वर्ण ति. प./३ ११९-१२०	मुकुट चिह्न ति.प./३/१०/ त्रि.सा./२१३	चैत्य वृक्ष ति.प./३/१३६	प्रविचार (ति.प./३/१३०)	आहारका अन्तराल मू. आ./११४६ ति.प./३/१११-११६ त्रि.सा./२४८	श्वासोच्छ्वासका अन्तराल ति. प./३/११४-११७ त्रि.सा./२४८
असुरकुमार	कृष्ण	चूड़ामणि	अश्वत्थ		१५०० (मू.आ) १००० वर्ष	१५ दिन
नागकुमार	काल श्याम	सर्प	सप्तपर्ण		१२½ दिन	१½ मुहूर्त
सुपर्णकुमार	श्याम	गरुड	शाल्मली	↓	,,	,,
द्वीपकुमार	,,	हाथी	जामुन		,,	,,
उदधि कुमार	काल श्याम	मगर	वेतस	काय प्रविचार	१२ दिन	१२ मुहूर्त
स्तनित कुमार	,,	स्वस्तिक	कदंब		,,	,,
विद्युत कुमार	बिजलीवत्	वज्र	प्रियंगु		,,	,,
दिक्कुमार	श्यामल	सिंह	शिरीष		७½ दिन	७½ मुहूर्त
अग्निकुमार	अग्निज्वालावत्	कलश	पलाश	↑	,,	,,
वायुकुमार	नीलकमल	तुरग	राजद्रुम		,,	,,
इनके सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषद व प्रतीन्द्र					स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्
१००० वर्षकी आयुवाले देव					२ दिन	७ श्वासो०
१ पल्य की ,, ,, ,,					५ ,,	५ मुहूर्त

★ **भवनवासियोंके शरीर सुख-दुःख आदि** —दे० देव/II/२।

४. भवनवासियोंकी शक्ति व विक्रिया

ति. प./३/१६२-१६६ का भावार्थ-दश हजार वर्षकी आयुवाला देव १०० मनुष्योंको मारने व पोसनेमें तथा डेढ़सौ धनुष प्रमाण लम्बे चौड़े क्षेत्रको बाहुओंसे वेष्टित करने व उखाड़नेमें समर्थ है। एक पल्यकी आयुवाला देव छह खण्डकी पृथिवीको उखाड़ने तथा वहाँ रहनेवाले मनुष्य व तिर्यञ्चोंको मारने वा पोसनेमें समर्थ है। एक सागरकी आयुवाला देव जम्बूद्वीपको समुद्रमें फेंकने और उसमें स्थित मनुष्य व तिर्यंचोंको पोसनेमें समर्थ है। दश हजार वर्षकी आयुवाला देव उत्कृष्ट रूपसे सौ, जघन्यरूपसे सात, मध्यरूपसे सौसे कम सातसे अधिक रूपोंकी विक्रिया करता है। शेष सब देव अपने-अपने अवधिज्ञानके क्षेत्रोंके प्रमाण विक्रियाको पूरित करते हैं। संख्यात व असंख्यात वर्षकी आयुवाला देव क्रमसे संख्यात व असंख्यात योजन जाता व उतने ही योजन आता है।

५. भवनवासी इन्द्रोंका परिवार

स—सहस्र

ति. प./३/७६-६६ (त्रि. सा./२२६-२३५)

इन्द्रोंके नाम	देवियोंका परिवार: पट्ट देवी	परिवार देवी	वल्लभा देवी	योग	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायस्त्रिंश	पारिषद: अभ्यं० समित	मध्य चन्द्रा	बाह्य युक्त	आत्मरक्ष	लोकपाल	७ अनीक में-से प्रत्येक	प्रकीर्णक
													सहस्र	
चमरेन्द्र	५	४० स.	१६ स.	५६ स.	१	६४ स.	३३	२८ स.	३० स.	३२ स.	२५६ स.	४	८१२८ स.	← असंख्यात →
वैरोचन	,,	,,	,,	,,	,,	६० स.	,,	२६ स.	२८ स.	३० स.	२४० स.	,,	७६५० ,,	
भूतानन्द	,,	,,	१० स.	५० स.	,,	५६ स.	,,	६ स.	८ स.	१० स.	२२४ स.	,,	७११२ स.	
धरणानन्द	,,	,,	,,	,,	,,	५० स.	,,	४ स.	६ स.	८ स.	२०० स.	,,	६३५० स.	
वेणु	,,	,,	४० स.	४४ स.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
वेणुधारी	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
पूर्ण	,,	,,	२० स.	३२ स.	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	,,	
शेष सर्व इन्द्र					→ उपरोक्त पूर्ण इन्द्रवत ←									

३. भवनवासी देवियोंका निर्देश

१. इन्द्रोंकी प्रधान देवियोंका नाम निर्देश

ति. प./३/६०,६४ किण्हा रयणसुमेघा देवीणामा सुकंदअभिधाणा। णिरुवमरूवधराओ चमरे पंचग्गमहिसीओ।६०। पउमापउमसिरीओ कणयसिरी कणयमालमहपउमा। अग्गमहिसीउ बिदिए···।६४। —चमरेन्द्रके कृष्णा, रत्ना, सुमेघा देवी नामक और सुकंदा या सुकान्ता (सुकाढ्या) नामकी अनुपम रूपको धारण करनेवाली पाँच अग्रमहिषियाँ हैं।६०। (त्रि. सा./२३६) द्वितीय इन्द्रके पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला और महापद्मा, ये पाँच अग्रदेवियाँ है।

२. प्रधान देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण

ति. प./३/६२,६८ चमरग्गिममहिसीणं अट्ठसहस्सविकुव्वणा संति। पत्तेक्कं अप्पसमं णिरुवमलावण्णरूवेहिं।६२। दीविदप्पहुदीणं देवीणं वरविकुव्वणा संति। छस्सहस्सं च समं पत्तेक्कं विविहरूवेहिं।६८। —चमरेन्द्रकी अग्रमहिषियोंमेंसे प्रत्येक अपने साथ अर्थात् मूल शरीर सहित, अनुपम रूप लावण्यसे युक्त आठ हजार प्रमाण विक्रिया निर्मित रूपोंको धारण कर सकती हैं।६२। (द्वितीय इन्द्रकी देवियाँ तथा नागेन्द्रों व गरुडेन्द्रों (सुपर्ण) की अग्र देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण भी आठ हजार है। (ति. प./३/६४-६६)) द्वीपेन्द्रादिकोंकी देवियोंमेंसे प्रत्येकके मूल शरीरके साथ विविध प्रकारके रूपोंसे छह हजार प्रमाण विक्रिया होती है।६८।

३. इन्द्रों व उनके परिवार देवोंकी देवियाँ

ति. प./३/१०२-१०६ (त्रि. सा./२३७-२३६)

इन्द्रका नाम	इन्द्र	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायस्त्रिंश	पारिषद: अभ्यंतर	मध्यम	बाह्य	आत्मरक्ष	लोकपाल	सैनाहर	महत्तर	आभियोग्य
चमरेन्द्र	दे० भवनवासी/२/५	स्व इन्द्रवत	स्व इन्द्रवत	स्व इन्द्रवत	२५०	२००	१५०	१००	स्व इन्द्रवत	५०	१००	३२
वैरोचन					३००	२५०	२००	,,		,,	,,	,,
भूतानन्द					२००	१६०	१४०	,,		,,	,,	,,
धरणानन्द					,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,
वेणु					१६०	१४०	१२०	,,		,,	,,	,,
वेणुधारी					,,	,,	,,	,,		,,	,,	,,
शेष सर्व इन्द्र					१४०	१२०	१००	,,		,,	,,	,,

४. भावन लोक

१. भावन लोक निर्देश

दे० रत्नप्रभा (मध्य लोककी इस चित्रा पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा पृथिवी है। उसके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग, अब्बहुलभाग।)

ति. प./३/७ रयणप्पहपुढवीए खरभाए पंकबहुलभागम्मि। भवणसुराणं भवणइं होंति वररयणसोहाणि।७। —रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पंकबहुल भागमें उत्कृष्ट रत्नोंसे शोभायमान भवनवासी देवोंके भवन हैं।७।

रा. वा./३/१/८/१६०/२२ तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किंनरकिंपुरुष···सप्तानां व्यन्तराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः। पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासाः। —खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्यके १४ हजार योजनमें किन्नर, किम्पुरुष···आदि सात व्यन्तरोंके तथा नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोंके निवास हैं। पंकबहुल भागमें असुर और राक्षसोंके आवास हैं। (ह. पु./४/५०-५१; ६३-६५); (ज. प./११/१२३-१२७)।

दे० व्यंतर/४/१,५ (खरभाग, पंकभाग और तिर्यक् लोकमें भी भवनवासियोंके निवास हैं)।

★ **भावन लोकमें बादर अप व तेज कायिकोंका अस्तित्व** —दे० काय/२/५।

भावन लोक

१. भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंके भेद व लक्षण

ति. प./३/२२-२३ भवणा भवणपुराणि आवासा अ सुराण हांदि तिविहा णं। रयणप्पहाए भवणा दीवसमुद्दाण उवरि भवणपुरा।२२। दहसेल-दुमादीणं रम्माणं उवरि होंति आवासा। णागादीणं केसिं तियणि-लया भवणमेक्कमसुराणं।२३। =भवनवासी देवोंके निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवासके भेदसे तीन प्रकार होते हैं। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीमें स्थित निवासस्थानोंको भवन, द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित निवासस्थानोंको भवनपुर, और तालाब, पर्वत और वृक्षादिके ऊपर स्थित निवासस्थानोंको आवास कहते हैं। नाग-कुमारादिक देवोंमेंसे किन्हींके तो भवन, भवनपुर और आवास तीनों ही तरहके निवास स्थान होते है, परन्तु असुरकुमारोंके केवल एक भवन रूप ही निवासस्थान होते हैं।

३. मध्य लोकमें भवनवासियोंका निवास

ति. प./४/२०६६,२१२६ का भावार्थ—(जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित दो यमक पर्वतोंके उत्तर भागमें सीता नदीके दोनों ओर स्थित निषध, देवकुरु, सूर, सुलस, विद्युत् इन पाँचों नामोंके युगलोंरूप १० द्रहोंमें उन-उन नामवाले नागकुमार देवोंके निवासस्थान (आवास) हैं।२०६२-२१२६।)

ति. प/४/२७८०-२७८२ का भावार्थ (मानुषोत्तर पर्वतपर ईशान दिशाके वज्रनाभि कूटपर हनुमान् नामक देव और प्रभंजनकूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है।२७८१। वायव्य दिशाके वेलम्ब नामक और नैऋत्य दिशाके सर्वरत्न कूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है।२७८२। अग्नि दिशाके तपनीय नामक कूटपर स्वातिदेव और रत्नकूटपर वेणु नामक भवनेन्द्र रहता है।२७८०।)

ति. प./५/१३१-१३३ का भावार्थ (लोक विनिश्चयके अनुसार कुण्डवर द्वीपके कुण्ड पर्वतपरके पूर्वादि दिशाओंमें १६ कूटोंपर १६ नागेन्द्रदेव रहते हैं।१३१-१३३।)

४. खर पंक भागमें स्थित भवनोंकी संख्या

ति. प./३/११-१२; २०-२१); (रा. वा/४/१०/८/२१६/२१); (ज. प/११/१२४-१२७)।

ल=लाख

देवोंका नाम	भवनोंकी संख्या		
	उत्तरेन्द्र	दक्षिणेन्द्र	कुल योग
असुरकुमार	३४ ल	३० ल	६४ ल
नागकुमार	४४ ल	४० ल	८४ ल
सुपर्णकुमार	३८ ल	३४ ल	७२ ल
द्वीपकुमार	४० ल	३६ ल	७६ ल
उदधिकुमार	,,	,,	,,
स्तनित कुमार	,,	,,	,,
विद्युत कुमार	,,	,,	,,
दिक्कुमार	,,	,,	,,
अग्निकुमार	,,	,,	,,
वायुकुमार	५० ल	४६ ल	९६ ल
			७७२ ल

५. भवनोंकी बनावट व विस्तार आदि

ति. प./३/२५-६१ का भावार्थ (ये सब देवों व इन्द्रोंके भवन समचतु-ष्कोण तथा वज्रमय द्वारोंसे शोभायमान हैं।२५। ये भवन बाहल्यमें ३०० योजन और विस्तारमें संख्यात व असंख्यात योजन प्रमाण हैं।२६-२७। भवनोंकी चारों दिशाओंमें...उपदिष्ट योजन प्रमाण जाकर एक-एक दिव्यवेदी (परकोट) है।२८। इन वेदियोंकी ऊँचाई दो कोस और विस्तार ५०० धनुष प्रमाण है।२६। गोपुर द्वारोंसे युक्त और उपरिम भागमें जिनमन्दिरोंसे सहित वे वेदियाँ हैं।३०। वेदियोंके बाह्य भागोंमें चैत्य वृक्षोंसे सहित और अपने नाना वृक्षोंसे युक्त पवित्र अशोकवन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन स्थित है।३१। इन वेदियोंके बहुमध्य भागमें सर्वत्र १०० योजन ऊँचे वेत्रासनके आकार रत्नमय महाकूट स्थित हैं।४०। प्रत्येक कूटपर एक-एक जिन भवन है।४३। कूटोंके चारों तरफ...भवनवासी देवोंके प्रासाद हैं।५६। सब भवन सात, आठ, नौ व दश इत्यादि भूमियों (मंजिलों) से भूषित... जन्मशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ओलगशाला (परिचर्यागृह) और मन्त्रशाला (सहित)...सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्र-गृह, आसनगृह, नादगृह, और लतागृह इत्यादि गृहविशेषोंसे सहित... पुष्करिणी, वापी और कूप इनके समूहसे युक्त...गवाक्ष और कपाटोंसे सुशोभित नाना प्रकारकी पुत्तलिकाओंसे सहित...अनादिनिधन हैं।५७-६१।

६. प्रत्येक भवनमें देवों की बस्ती

ति. प./३/२६-२७...संखेज्जरुंदभवणेसु भवणदेवा वसंति संखेज्जा।२६। संखातीदा सेयं छत्तीससुरा य होंति संखेज्जा।...।२७।—संख्यात योजन विस्तारवाले भवनोंमें और शेष असंख्यात योजन विस्तार-वाले भवनोंमें असंख्यात भवनवासी देव रहते हैं।

भवनतापि आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

भवन भूमि—दे० समवशरणकी ७ वीं भूमि।

भव परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भवप्रत्यय ज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१,६।

भव प्रत्यय प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव विचय धर्मध्यान—दे० धर्मध्यान/१।

भव विपाकी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव स्थिति—भवस्थिति व कायस्थितिमें अन्तर —दे० स्थिति/२।

भवाद्धा—गो. जी./भाषा/२५८/५६६/१५ पर्याय सम्बन्धी (पर्याय विशेषमें परिभ्रमणका उत्कृष्ट काल) सो भवाद्धा है।

भवितव्य—दे० नियति/४।

भविष्यदत्त कथा—भट्टारक श्रीधर (ई. श. १४) की एक प्राकृत छन्द बद्ध रचना। (ती./३/१८७)।

भविष्यदत्त चरित्र—१. आ. रायमल्ल (ई. १५५६-१६१०) कृत; २. पं. पद्म सुन्दर (ई० १५५७) कृत संस्कृत काव्य। (ती./४/८३)।

भविष्यवाणी—आगममें अनेकों विषयों सम्बन्धी भविष्यवाणी की गयी है। यथा—

ति. पं./४/१४८१, १४९३-१४९५ मउडधरेसुं चरिमो जिणदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य। तत्तो मउडधरादुंप्पव्वज्जं णेव गेण्हंति।१४८१। वीस-सहस्सं तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं। धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण।१४९३। तेत्तियमेत्तेकाले जम्मिस्सादि चाउवण्णसघाओ। अविणो दुम्मेधो वि य असूयको तह य पाएण।१४९४। सत्तभयअट्ठमदेहिसंजुत्तो सल्लगारवरेहि। कलहपिओ रागिट्ठो कूरो कोहालुओ लोओ।१४९५।—१. मुनिदीक्षा सम्बन्धी—मुकुटधरोंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात् मुकुटधारी दीक्षाको धारण नहीं करते।१४८१। २. द्रव्य श्रुतके व्युच्छेद सम्बन्धी—जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तनका कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सतरह (२०३१७) वर्षोंमें काल दोषसे व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा।१४९३। ३. चतुःसंघ सम्बन्धी—इतने मात्र समयमें (२०३१७ वर्ष तक) चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा।१४९३। ४. मनुष्यकी बुद्धि सम्बन्धी—किन्तु लोक प्रायः अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदोंसे संयुक्त, शल्य एवं गारवोंसे सहित, कलह प्रिय, रागिष्ठ, क्रूर एवं क्रोधी होगा।१४९५।

दे. स्वप्न। भरत महाराजके १६ स्वप्नोंका फल वर्णन करते हुए भगवान् ऋषभदेवने पंचमकालमें होनेवाली घटनाओं सम्बन्धी भविष्य वाणी की।

भव्य—संसारमें मुक्त होनेकी योग्यता सहित संसारी जीवोंको भव्य और वैसी योग्यतासे रहित जीवोंको अभव्य कहते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सारे भव्य जीव अवश्य ही मुक्त हो जायेंगे। यदि वह सम्यक् पुरुषार्थ करे तो मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं, ऐसा अभिप्राय है। भव्योंमें भी कुछ ऐसे होते हैं जो कभी भी उस प्रकार-का पुरुषार्थ नहीं करेंगे, ऐसे जीवोंको अभव्य समान भव्य कहा जाता है। और जो अनन्तकाल जानेपर पुरुषार्थ करेंगे उन्हें दूरानुदूर भव्य कहा जाता है। मुक्त जीवोंको न भव्य कह सकते हैं न अभव्य।

१. भेद व लक्षण

१. भव्य व अभव्य जीवका लक्षण

स. सि./२/७/१६१/३ सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः।—जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इसका उलटा है (रा. वा./२/७/८/१११/७)

पं. सं./प्रा./१५५-१५६ संखेज्ज असंखेज्जा अणंतकालेण चावि ते णियमा। सिज्झंति भव्वजीवा अभव्वजी वा ण सिज्झंति।१५५। भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। तव्विवरीया-ऽभव्वा संसाराओ ण सिज्झंति।१५६।—जो भव्य जीव हैं वे नियमसे संख्यात, असंख्यात व अनन्तकालके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं परन्तु अभव्य जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो जीव सिद्ध पदकी प्राप्तिके योग्य हैं उन्हें भवसिद्ध कहते हैं। और उनसे विपरीत जो जीव संसारसे छूटकर सिद्ध नहीं होते वे अभव्य हैं।१५५-१५६। (ध. १/१,१,१४२/गा. २११/३९४); (रा. वा./९/७/११/६०४/१४); (ध. ७/२,१,३/७/५); (न. च. वृ./१२७); (गो. जी./मू./५५७/९८७)।

ध. १३/५,५,५०/२८६/२ भवतीति भव्यम्—(आगम) वर्तमान कालमें है इसलिए उसकी भव्य संज्ञा है।

नि. सा./ता. वृ./१५९ भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादि-गुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः।—भविष्यकालमें स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणोंरूपसे भवन (परिणमन) के योग्य (जीव) वे भव्य हैं, उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तवमें अभव्य हैं। (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४५/८)।

द्र. सं./टी./१३/३८/४ की चूलिका—स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपेण भविष्यतीति भव्यः।—निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूपसे जो होगा उसे भव्य कहते हैं।

२. भव्य अभव्य जीवकी पहिचान

प्र. सा./मू./६२ णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमंति विगदघादीणं। सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति।—'जिनके घातीकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखोंमें उत्कृष्ट है' यह सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं श्रद्धा करते हैं।६२।

पं. वि./४/२३ तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।२३।—उस आत्म तेजके प्रति मनमें प्रेमको धारण करके जिसने उसकी बात भी सुनी है वह निश्चयसे भव्य है। वह भविष्यमें प्राप्त होनेवाली मुक्तिका पात्र है।२३।

३. भव्य मार्गणाके भेद

ष. खं./१,१/सू./१४१/३९२ भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभव-सिद्धिया।१४१।—भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्यसिद्ध और अभव्य-सिद्ध जीव होते हैं।१४१। (द्र. सं./टी./१३/३८/६)।

ध./२/१,१/४१९/१ भवसिद्धिया वि अत्थि, अभवसिद्धिया वि अत्थि, णेव भवसिद्धिया णेव अभवसिद्धिया वि अत्थि।—भव्यसिद्धिक जीव होते हैं, अभव्यसिद्धिक जीव होते हैं और भव्यसिद्धिक तथा अभव्यसिद्धिक इन दोनों विकल्पोंसे रहित भी स्थान होता है।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१ भव्यः ··· स च आसन्नभव्यः दूरभव्यः अभव्यसमभव्यश्चेति त्रेधा।—भव्य तीन प्रकार हैं—आसन्न भव्य, दूर भव्य और अभव्यसम भव्य।

४. आसन्न व दूर भव्य जीवके लक्षण

प्र. सा./त. प्र./६२ ये पुनरिदं मिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते दूरभव्या

इति ।—जो उस (केवली भगवान्‌का सुख सर्व सुखोंमें उत्कृष्ट है)। वचनको इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्रीके भाजन आसन्न भव्य हैं। और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं।

गो. जी./भाषा/७०४/११४४/२ जे थोरे कालमें मुक्त होते होइ ते आसन्न भव्य हैं। जे बहुत कालमें मुक्त होते होंइ ते दूर भव्य हैं।

५. अभव्य सम भव्य जीवका लक्षण

क. पा./२/२,२२/§४२६/१६५/११ अभव्वेसु अभव्वसमाणभव्वेसु च णिच्च-णिगोदभावमुवगएसु···।—जो अभव्य है या अभव्योंके समान नित्य निगोदको प्राप्त हुए भव्य है।

गो. जी./भाषा/७०४/११४४/३ जे त्रिकाल विषै मुक्त होनेके नाहीं केवल मुक्त होनेकी योग्यता ही कौं धरें हैं ते अभव्य सम भव्य हैं।

६. अतीत भव्य जीवका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१५७ ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदसंसारा। ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य ।१५७।—जो न भव्य हैं और न अभव्य हैं, किन्तु जिन्होंने मुक्तिको प्राप्त कर लिया है और अतीत संसार हैं। उन जीवोंको नो भव्य नो अभव्य जानना चाहिए। (गो. जी./मू./५५६) (पं. सं./सं./१/२८५)।

७. भव्य व अभव्य स्वभावका लक्षण

आ.प./६ भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद् भव्यस्वभावः। कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकारा भवनादभव्यस्वभावः।—भाविकालमें पर स्वरूपके (नवीन पर्यायके) आकार रूपसे होनेके कारण भव्यस्वभाव है। और तीनों कालमें भी पर स्वरूपके (पर द्रव्यके) आकार रूपसे नहीं होनेके कारण अभव्य स्वभाव है।

पं. का./त. प्र./३७ द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति. द्रव्यस्य सर्वदा भूतपर्यायैरभाव्यमिति।

पं. का./ता. वृ./३७/७६/११ निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरिणामेन भवनं परिणमनं भव्यत्वं अतीतमिथ्यात्वरागादिभावपरिणामेनाभवनमपरिणमनमभव्यत्वं।—द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायों रूपसे भाव्य (परिणमित होने योग्य) है। द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायों रूपसे अभाव्य (न होने योग्य) है (त. प्र.) निर्विकार चिदानन्द एक स्वभाव रूपसे होना अर्थात् परिणमन करना सो भव्यत्व भाव है। और विनष्ट हुए विभाव रागादि विभाव परिणाम रूपसे नहीं होना अर्थात् परिणमन नहीं करना अभव्यत्व भाव है ।ता. वृ.।

२. भव्याभव्य निर्देश

१. सम्यक्त्वादि गुणोंकी व्यक्तिकी अपेक्षा भव्य अभव्य व्यपदेश है

रा.वा./८/६/८-९/५७१/२५ न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते। कथं तर्हि ।२५। सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ।९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो यः स भव्यस्तद्विपरीतोऽभव्यः इति चोच्यते।—भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा नहीं है। प्रश्न—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा गया है? उत्तर—शक्तिको प्रगट होनेकी योग्यता और अयोग्यताकी अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्ण पर्यायके प्रगट होनेकी योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंकी अभिव्यक्तिकी योग्यता वाला भव्य तथा अन्य अभव्य है। (स. सि./८/६/३८२/९)

२. भव्य मार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

ष. खं.१/१,१/सू. १४२-१४३/३९४ भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ।१४२। अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति ।१४३।—भव्य सिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं ।१४२। अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक होते हैं ।१४३।

प. सं./प्रा./४/६७ खीणंताभव्वम्मि य अभव्वे मिच्छमेयं तु।—भव्य मार्गणाकी अपेक्षा भव्य जीवोंके क्षीण कषायान्त बारह गुणस्थान होते हैं। (क्योंकि सयोगी व अयोगीके भव्य व्यपदेश नहीं होता (प. सं./प्रा.टी./४/६७) अभव्य जीवोंके तो एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है ।६७।

★ भव्य मार्गणामें जीवसमास आदि विषयक २० प्ररूपणाएँ

—दे० सत्।

★ भव्य मार्गणाकी सत् संख्या आदि ८ प्ररूपणाएँ

—दे० वह वह नाम।

★ भव्य मार्गणामें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व

—दे० वह वह नाम।

३. सभी भव्य सिद्ध नहीं होते

पं. स./प्रा./१/१५४ सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते भवंति भवसिद्धा। ण उ मलविगमे णियमा ताणं कणकोपलाणमिव।—जो जीव सिद्धत्व अवस्था पानेके योग्य हैं वे भव्यसिद्ध कहलाते हैं। किन्तु उनके कनकोपल (स्वर्ण पाषाण) के समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है। (विशेषार्थ—जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमें स्वर्ण रहते हुए भी उसको पृथक् किया जाना निश्चित नहीं है। उसी प्रकार सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कितने ही भव्य जीव अनुकूल सामग्री मिलनेपर भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर पाते)। (ध./१/१,१,४/गा.९५/१५०) (गो. जी./मू./५५८) (पं. सं./स./१/२८१)।

रा. वा./१/३/९/२४/२ केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन केचिदनन्तेन अपरे अनन्तानन्तेन सेत्स्यन्ति।—कोई भव्य संख्यात, कोई असंख्यात और कोई अनन्तकालमें सिद्ध होंगे। और कुछ ऐसे हैं जो अनन्त कालमें भी सिद्ध न होंगे।

ध.४/१,५,३१०/४७८/४ ण च सत्तिमंताणं सव्वेसिं पि वत्तीए होदव्वमिदि णियमो अत्थि सव्वस्स वि हेमपासाणस्स हेमपज्जाएण परिणमणप्पसंगा। ण च एवं, अणुवलंभा।—यह कोई नियम नहीं है कि भव्यत्वकी शक्ति रखनेवाले सभी जीवोंके उसकी व्यक्ति होना ही चाहिए, अन्यथा सभी स्वर्ण-पाषाणके स्वर्ण पर्यायसे परिणमनका प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु इस प्रकारसे देखा नहीं जाता।

४. मिथ्यादृष्टिको कथंचित् अभव्य कह सकते हैं

क. पा.४/३,२२/§६१५/३२५/२ अभवसिद्धियपाओग्गे त्ति भणिदे मिच्छाइट्ठिपाओग्गे त्ति घेत्तव्वं।.. उक्कस्सट्ठिदिअणुभागबंधे पडुच्च समाणत्तणेण अभव्ववएसं पडि विरोहाभावादो।—सूत्रमें अभवसिद्धियपाओग्गे' ऐसा कहनेपर उसका अर्थ मिथ्यादृष्टिके योग्य ऐसा लेना चाहिए।...क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागकी अपेक्षा समानता होनेसे मिथ्यादृष्टिको अभव्य कहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

५. शुद्ध नयसे दोनों समान हैं और अशुद्ध नयसे असमान

स. श./मू./४ बहिरन्त : परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।...।४। —बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन प्रकारके आत्मा सर्व प्राणियोंमें हैं...।४।

द्र. सं./टी./१४/४८/१ त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव च भाविनैगमनयेनेति। यद्यभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन, व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति। —तीन प्रकारके आत्माओंमें जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव हैं, उसमें बहिरात्मा तो व्यक्ति रूपसे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं, एवं भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवमें बहिरात्मा व्यक्ति रूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे ही रहते हैं, भावि नैगमनयकी अपेक्षा भी अभव्यमें अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूपसे नहीं रहते। प्रश्न—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिरूपसे रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे। उत्तर—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिकी केवलज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिए उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नयकी अपेक्षा परमात्माकी शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनोंमें समान है। यदि अभव्य जीवमें शक्ति रूपसे भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भव्य व अभव्य ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मामें नय विभागसे तीनों आत्माओंको बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुणस्थानोंमें भी घटित करना चाहिए जैसे कि बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं और भावि नैगमनयसे व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। अन्तरात्माकी अवस्थामें बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी जानना चाहिए। परमात्म अवस्थामें अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नयकी अपेक्षा जानने चाहिए। (स. श./टी./४)।

दे० पारिणामिक/३ शुद्ध नयसे भव्य व अभव्य भेद भी नहीं किये जा सकते। सर्व जीव शुद्ध चैतन्य मात्र हैं।

३. शंका-समाधान

१. मोक्षकी शक्ति है तो इन्हें अभव्य क्यों कहते हैं

स. सि/६/८/३८२/२ अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा। यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः। अथ नास्ति तत्तावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति। उच्यते— आदेशवचनान्न दोषः। द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसंभवः। पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः। यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात्। न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते। —प्रश्न—अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती। यदि होती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता। यदि नहीं होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तर—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नहीं है। अभव्यके द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उसके उसका अभाव है। ...प्रश्न—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है। उत्तर- शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है। (अपितु व्यक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है। (दे० भव्य/२/१), (रा. वा/८/६/८-६/५७१/२५), (गो. क./जी. प्र/३३/२७/८), (और भी.दे./भव्य/२/५)।

२. अभव्य सम भव्यको भी भव्य कैसे कहते हैं

रा. वा./२/७/६/१११/६ योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत; न; भव्यराश्यन्तर्भावात्।६।...यथा योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकी भविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः। —प्रश्न—जो भव्य अनन्त कालमें भी सिद्ध न होगा वह तो अभव्यके तुल्य ही है। उत्तर—नहीं, वह अभव्य नहीं है, क्योंकि उसमें भव्यत्व शक्ति है। जैसे कि कनक पाषाणको जो कभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्त कालमें भी नहीं आयेगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्व शक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते। वह भव्य राशिमें ही शामिल है।

ध. १/१,१,१४१/३९३/७ मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात्। —प्रश्न—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलंक रहित होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेनेपर स्वर्णपाषाणमें व्यभिचार आ जायेगा। (ध. ४/१,५,३१०/४७८/३)।

३. भव्यत्वमें कथंचित् अनादि सान्तपना

ष. खं. ७/२,२/सू. १८३-१८४/१७६ भवियाणुवादेण भवसिद्धिया केवचिर कालादो होंति।१८३। अणादिओ सपज्जवसिदो।१८४।

ध. ७/२,२,१८४/१७६/८ कुदो। अणाइसरूवेणागयस्स भवियभावस्स अजोगिचरिमसमए विणासुवलंभादो। अभवियसमाणो वि भवियजीवो अत्थि त्ति अणादिओ अपज्जवसिदो भवियभावो किण्ण परूविदो। ण, तत्थ अविणाससत्तीए अभावादो। सत्तीए चेव एत्थ अहियारोव, वत्तीए णत्थि त्ति कधं णव्वदे। अणादि-सपज्जवसिदसुत्तण्णहाणुववत्तीदो। —प्रश्न—भव्यमार्गणाके अनुसार जीव भव्यसिद्धिक कितने कालतक रहते हैं।१८३। उत्तर—जीव अनादि सान्त भव्यसिद्धिक होता है।१८४। क्योंकि अनादि स्वरूपसे आये हुए भव्यभावका अयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें विनाश पाया जाता है। प्रश्न—अभव्यके समान भी तो भव्य जीव होता है, तब फिर भव्य भावको अनादि और अनन्त क्यों नहीं प्ररूपण किया। उत्तर—नहीं, क्योंकि

भव्यत्वमें अविनाश शक्तिका अभाव है, अर्थात् यद्यपि अनादिसे अनन्त कालतक रहनेवाले भव्य जीव हैं तो सही, पर उनमें शक्ति रूपसे तो संसार विनाशकी सम्भावना है, अविनाशित्वकी नहीं। प्रश्न—यहाँ, भव्यत्व शक्तिका अधिकार है, उसकी व्यक्तिका नहीं, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—भव्यत्वको अनादि सपर्यवसित कहनेवाले सूत्रकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती, इसीसे जाना जाता है कि यहाँ भव्यत्व शक्तिसे अभिप्राय है।

४. भव्यत्वमें कथंचित् सादि-सान्तपना

ष. खं. ७/२,२/सू. १८५/१७७ (भवियाणुवादेण) सादिओ सपज्जवसिदो ।१८५।

ध. ७/२,२,१८५/१७७/३ अभविओ भवियभावं ण गच्छदि भवियाभवियभावाणमच्चंताभावपडिग्गहियाणमेयाहियरणत्तविरोहादो। ण सिद्धो भविओ होदि, णट्ठासेसासवाणं पुणरुप्पत्तिविरोहादो। तम्हा भवियभावो ण सादि त्ति। ण एस दोसो, पज्जवट्ठियणयावलंबणादो अप्पडिवण्णे सम्मत्ते *अणादि-अणंतो भवियभावो अंतादीदसंसारादो*, पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णो भवियभावो उप्पज्जइ, पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तसंसारावट्ठाणादो। एवं समऊण-दुसमऊणादिउवड्ढपोग्गलपरियट्टसंसाराणं जीवाणं पुध-पुध भवियभावो वत्तव्वो। तदो सिद्धं भवियाणं सादि-सांतत्तमिदि। —(भव्यमार्गणानुसार) जीव सादि सान्त *भव्यसिद्धिक भी होता है।१८५।* प्रश्न—*अभव्य* भव्यत्वको प्राप्त हो नहीं सकता, क्योंकि भव्य और अभव्य भाव एक दूसरेके अत्यन्ताभावको धारण करनेवाले होनेसे एक ही जीवमें क्रमसे भी उनका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। सिद्ध भी भव्य होता नहीं है, क्योंकि जिन जीवोंके समस्त कर्मास्रव नष्ट हो गये हैं उनके पुनः उन कर्मास्रवोंकी उत्पत्ति माननेमें *विरोध आता है। अतः* भव्यत्व सादि नहीं हो सकता? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयके अवलम्बनसे जबतक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तबतक जीवका भव्यत्व अनादि-अनन्त रूप है, क्योंकि, तबतक उसका संसार अन्तरहित है। किन्तु सम्यक्त्वके ग्रहण कर लेनेपर *अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है*, क्योंकि, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेपर फिर केवल अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र कालतक संसारमें स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम उपार्ध पुद्गल परिवर्तन संसारवाले, दो समय कम उपार्धपुद्गलपरिवर्तन संसारवाले आदि जीवोंके पृथक्-पृथक् भव्यभावका कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादि-सान्त होते हैं।

५. भव्याभव्यत्वमें पारिणामिकपना कैसे है

ष. खं. ५/१,७/२६३/२३० अभवसिद्धिय त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ।६३।

ध./प्र. ५/१,७,६३/२३०/१ कुदो। कम्माणमुदएण उवसमेण खएण खओवसमेण वा अभवियत्ताणुप्पत्तीदो। भवियत्तस्स वि पारिणामिओ चेय भावो, कम्माणमुदयउवसम-खय-खओव.।मेहि भवियत्ताणुप्पत्तीदो। प्रश्न—अभव्य सिद्धिक यह कौन-सा भाव है। उत्तर—पारिणामिक भाव है। क्योंकि, कर्मोंके उदयसे, उपशमसे, क्षयसे अथवा क्षयोपशमसे अभव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार भव्यत्व भी पारिणामिक भाव ही है, क्योंकि, कर्मोंके उदय, उपशम क्षय और क्षयोपशमसे भव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता। (रा. वा./२/७/२/११०/२१)।

६. भव्य सम्बन्धित विषय

१. अभव्य भाव जीवकी नित्य व्यंजन पर्याय है—दे० पर्याय/३/७।

२, मोक्षमें भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है पर जीवत्वका नहीं —दे० जीवत्व/५।

३. निर्व्यय अभव्योंमें अनन्तताकी सिद्धि कैसे हो—दे० अनन्त/२।

४. मोक्ष जाते-जाते भव्य राशि समाप्त हो जायेगी—दे० मोक्ष/६।

५. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् औदयिक हैं—दे० असिद्धत्व/२।

६. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् अशुद्धपारिणामिक भाव हैं —दे० पारिणामिक/३

भव्यकुमुद चन्द्रिका—पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) की संस्कृत भाषामद्ध रचना।

भव्यजन कण्ठाभरण—कवि अर्हद्दास (वि. श. १४ प्रारम्भ) कृत २४२ पद्य प्रमाण, पौराणिक समीक्षा तथा जैनाचार विषयक हिन्दी काव्य। (ती./४/५१)।

भव्यसेन—श्रावस्ती नगरी संघनायक एकादशांगधारी तपस्वी थे। मुनिगुप्तने एक विद्याधर द्वारा रानी रेवतीको धर्मवृद्धि भेजी, परन्तु इनके लिए कोई सन्देश न भेजा। तब उस विद्याधरने इनकी परीक्षा ली, जिसमें ये असफल रहे। (बृ. क. को'/कथा नं, ७/पृ. २१-२६)।

भव्यस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

भाग—Division (ध. ५/प्र. २७)। २, अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भंग एकार्थवाची हैं—दे० पर्याय/१/१।

भागचन्द—महावीराष्टक, अमितगति श्रावकाचार वचनिका, प्रमाण परीक्षा वचनिका, उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला वचनिका, पदसंग्रह आदि के कर्ता एक हिन्दी कवि। समय—वि. श. १९-२० (ई. श. १९ उत्तरार्ध)। (ती./४/२९६)।

भागहार—Divisor —दे० गणित/II/१/५।

भागाभाग—कुल द्रव्यमेंसे विभाग करके कितना भाग किसके हिस्सेमें आता है, इसे भागाभाग कहते हैं। जैसे एक समयप्रबद्ध सर्व कर्म प्रदेशोंका कुछ भाग ज्ञानावरणीको मिला, उसमेंसे भी चौथाई-चौथाई भाग मतिज्ञानावरणीको मिला। इसी प्रकार कर्मोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबन्धमें, उनके चारों प्रकारके सत्त्वमें अथवा भुजगार व अल्पतर बन्धक जीवों आदि विषयोंमें यथायोग्य लागू करके विस्तृत प्ररूपणाएँ की गयी हैं। जिनके सन्दर्भोंकी सूची नीचे दी गयी है—

नं०	प्रकृति विषयक		स्थिति विषयक		अनुभाग विषयक		प्रदेश विषयक	
	मूल प्रकृति	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०
१	**अष्ट कर्म बन्ध सम्बन्धी** (म. बं./ पु. नं./§ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्ध—							६/१६५-१६७
२	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामियोंमें							
		१/२०४-२४६	२/१४१-१४७	३/४४६-४५१	४/१४६-१८६	४/३१४		६/५७०-५७१
३	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंमें—							
			२/३०२-३०४	३/७६८-७६६	४/२८६	५/४१८	६/१९७	
४	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंमें—							
			२/३८६-३९६	३/९१६-९१८	४/३४२	५/६१८		
२	**मोहनी कर्म सत्त्व सम्बन्धी** (क. पा./ पु. नं./§ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट सत्त्व स्थानोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
	१/३७८-३७९		३/९८-१०३	३/५९९-६०३	५/८८-९२	५/३४५-३५०		
२	कर्म सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	२/६७-६९	२/१६०-६७						
३	२८,२४,२३ आदि सत्त्व स्थानोंकी अपेक्षा—							
		२/३५०-३५३						
४	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
		२/४५०-४५२	३/१९८-१९९	४/१०४-१०८	५/१५२	५/४६०-४६२		
५	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
		२/५०८-५१	३/८६५-८६८	४/३६५-३६७	५/१७६	५/५४७-५४६		
६	कषायोंके सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	१/३७८-३७९							

५ अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीवोंका संख्या विषयक भागाभाग —दे० संख्या ३/४-६
२. जघन्य उत्कृष्ट योग स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध. १०/५५/१)।
३. प्रथमादि योग वर्गणाओंमें जीव प्रदेशोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध. १०/४४८/११)
४. जघन्य उत्कृष्ट अवगाहना स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध.११/२७/११)
५. जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्रोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध. ३२/१६)।
६. २३ वर्गणाओंमें परमाणुओंका भागाभाग। —दे० (ध. १४/१६०-१६३)
७. पाँच शरीरोंके जघन्य उत्कृष्ट व उभय स्थितिमें स्थित जीवोंके निषेकोंका भागाभाग। —दे० (ष.खं. १४ सू. ३३१-३३१/३७०)।
८. आठों कर्मोंकी मूलोत्तर प्रकृतियोंके प्रकृति रूप भेदोंकी, समय प्रबद्धार्थता व क्षेत्र प्रयासकी अपेक्षा प्रमाणका परस्पर भागाभाग। —दे० (ष. खं. १२/६ सू. १-२१/५०१)।

भागाहार—१. दे० संक्रमण/१/१; २. भागाहार सम्बन्धी प्रक्रिया।—दे० गणित/II/१/६।

भाग्य—नियति/३।

भाग्यपुर—वर्तमान हैदराबाद (दक्कन) (म. पु./प्र. ५०/पं० पन्नालाल)।

भाजक—Divisor (ध. ५/प्र. २८)।—(दे० गणित/II/१/६)।

भाजनांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

भाजित—गणितकी भागाहार विधिमें भाज्य राशिको भागहार द्वारा भाजित किया गया कहते हैं।—(दे० गणित/II/१/६)।

भाज्य—गणितकी भागाहार विधिमें जिस राशिका भाग किया जाय वह भाज्य है।—दे० गणित/II/१/६।

भाटक जीविका—दे० सावद्य/५।

भाद्रवन सिंहनिष्क्रीडित व्रत—निम्न प्रस्तारके अनुसार एक वृद्धि क्रमसे १-१६ तक उपवास करना, फिर एक हानि क्रमसे १३ से १ तक उपवास करना। बीचके सर्व स्थानोंमें एकाशना या पारणा करना। प्रस्तार—१, २, १, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १३, १२, ११, १०, ६, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १=१७५। नमस्कार मन्त्र-का त्रिकाल जाप करे / (व्रतविधान सं. /पृ. ५८)।

भानु—कृष्णका सत्यभामा रानीसे पुत्र था (ह. पु./४४/१) अन्तमें दीक्षा धारणकर मुनि हो गया था (ह. पु./६१/३६)।

भानुकीर्ति—नन्दी संघके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप गण्ड विमुक्तदेव के शिष्य थे। समय—वि. १२१५-१२३१ (ई ११५८-११८२); (ध. २/प्र. ४/ H.L. Jain) दे० इतिहास/७/५।

भानुगुप्त—मगध देशको राज्य वंशावली (दे० इतिहास) के अनुसार यह गुप्तवंशका छठा व अन्तिम राजा था। इसको हूण राजा तोरमाण व मिहिरकुलने ई० ५०० व ५०७ में परास्त करके गुप्तवंशका विनाश कर दिया। समय—ई० ४६०-५०७ ई० (इतिहास/३/४)।

भानुनंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप नेमिचन्द्र नं० १ के शिष्य और सिंहनन्दि नं० २ के गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ४८७-५०८ (ई० ५६५-५८६) —दे० इतिहास/७/२।

भानुमती—दुर्योधनकी पत्नी (पा. पु./१७/१०८)।

भानुमित्र—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें अग्निमित्रके स्थानपर श्वेताम्बर आम्नायमें भानुमित्र नाम लिया जाता है अत: अग्निमित्रका ही अपरनाम भानुमित्र है।—दे० अग्निमित्र।

भामंडल—प. पु./सर्ग/श्लोक सीताका भाई था (२६/१२१) पूर्व वैरसे किसी देवने जन्म लेते ही इसको चुराकर (२६/१२१) आकाश-से नीचे गिरा दिया (२६/१२६)। बीचमें ही किसी विद्याधरने पकड़ लिया और इसका पोषण किया (२६/१३२)। युवा होनेपर बहन सीतापर मुग्ध हो गया (२८/२२२) परन्तु जाति स्मरण होने-पर अत्यन्त पश्चात्ताप किया (३०।३८)। अन्तमें वज्रपातके गिरने-से मर गया (१११/१२)।

भारद्वाज—१. एक ब्राह्मण पुत्र (म. पु./७४/७६) यह वर्धमान भगवान्‌का दूरवर्ती पूर्वभव है—दे० वर्धमान। २. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भारामल्ल—१. नागौरका राजा। कोटघधीशधनकुबेर इसकी उपाधि थी। समय—ई. श. १६ (हि. जै. सा. इ./६६ कामता)। २. परशुरामके पुत्र थे। पहले फरुखाबाद और पीछे भिण्ड रहे थे। ये वास्तवमें एक कवि नहीं अपितु तुकबन्द थे। इन्होंने सोमकीर्तिके संस्कृत चारुदत्त चरित्रके आधारपर हिन्दी चौपाई दोहा छन्दमें चारुदत्त चरित्र रचा, इसके अतिरिक्त शील कथा, दर्शनकथा, निशिभोजन कथा भी रची। समय—वि. १८१३। हि. जै. सा. इ./२१८ कामता), (चारुदत्त चरित्र/प्र./परमेष्ठीदास)।

भार्गव—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भार्गवाचार्यकी वंश परम्परा—भार्गव धनुर्विद्याके प्रसिद्ध आचार्य थे। जिनकी शिष्य परम्परामें कौरवों और पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्य हुए थे। उन भार्गवाचार्यकी शिष्यपरम्परा निम्न प्रकार है।—इनका प्रथम शिष्य आत्रेय था। फिर क्रमसे कौथुमि-अमरा-वर्त-सित-वामदेव-कपिष्ठल-जगत्स्थामा, सरवर-शरासन-रावण-विद्रावण और विद्रावणका पुत्र द्रोणाचार्य था। जो समस्त भार्गव वंशियोंके द्वारा वन्दित था। उसका पुत्र अश्वत्थामा था। (ह पु./४५/४३-४८)।

भाव—चेतन व अचेतन सभी द्रव्यके अनेकों स्वभाव हैं। वे सब उसके भाव कहलाते हैं। जीव द्रव्यको अपेक्षा उनके पाँच भाव हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले रागादि भाव औदयिक। उनके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्व व चारित्र औपशमिक हैं। उनके क्षयसे होनेवाले केवलज्ञानादि क्षायिक हैं। उनके क्षयोपशमसे होनेवाले मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक हैं। और कर्मोंके उदय आदिसे निरपेक्ष चैतन्यत्व आदि भाव पारिणामिक हैं। एक जीवमें एक समयमें भिन्न-भिन्न गुणोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न गुणस्थानोंमें यथायोग्य भाव पाये जाने सम्भव हैं, जिनके संयोगी भंगोंको सन्निपातिक भाव कहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें औदयिक, क्षायिक व पारिणामिक ये तीन भाव तथा शेष चार द्रव्योंमें केवल एक पारिणामिक भाव ही सम्भव है।

१	**भेद व लक्षण**
१	भाव सामान्यका लक्षण— १. निरुक्ति अर्थ २. गुणपर्यायके अर्थमें। * भावका अर्थ वर्तमान पर्यायसे अलक्षित द्रव्य —दे० निक्षेप/७/१। ३. कर्मोदय सापेक्ष जीव परिणामके अर्थमें। ४. चित्तविकारके अर्थमें। ५. शुद्धभावके अर्थमें। ६. नवपदार्थके अर्थमें।
२	भावोंके भेद—१. भाव सामान्यकी अपेक्षा; २. निक्षेपोंकी अपेक्षा; ३. कालकी अपेक्षा; ४. जीवभाव-की अपेक्षा।
*	औपशमिक, क्षायिक व औदयिक भाव निर्देश —दे० उपशम, क्षय, उदय।

१. भेद व लक्षण

१. भाव सामान्यका लक्षण

एक ग्रह है—दे० ग्रह।

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/५/२८/६ भवनं भवतीति वा भावः।—होना मात्र या जो होता है सो भाव है।

ध. ५/१,७,१/१८४/१० भवनं भावः, भूतिर्वा भाव इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति।—'भवनं भावः' अथवा 'भूतिर्वा भावः' इस प्रकार भाव शब्दकी व्युत्पत्ति है।

२. गुणपर्यायके अर्थमें

सि. वि./टी./४/११/२६८/११ सहकारिसंनिधौ च स्वतः कथंचित्प्रवृत्तिरेव भावलक्षणम्।—विसदृश कार्यकी उत्पत्तिमें जो सहकारिकारण होता है, उसकी सन्निधिमें स्वतः ही द्रव्य कथंचित् उत्तराकार रूपसे जो परिणमन करता है, वही भावका लक्षण है।

ध. १/१,१,८/गा. १०३/१५९ भावो खलु परिणामो।—पदार्थोंके परिणामको भाव कहते हैं। (पं. ध./उ.२६)।

ध. १/१,१,७/१५६/६ कम्म-कम्मोदय-परूवणाहि विणा...छ-वड्ढि-हाणि-ट्ठिय-भावसंखमंतरेण भावपरूवणाणुववत्तीदो वा। —कर्म और कर्मोदयके निरूपणके बिना...अथवा षट्गुण हानि व वृद्धिमें स्थित भावकी संख्याके बिना भाव प्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता।

ध. ५/१,७,१/१८७/६ भावो णाम दव्वपरिणामो।—द्रव्यके परिणामको भाव कहते हैं। अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं। दे० निक्षेप/७/१) (ध. ६/४,१,३/४३/५)।

प्र. सा./त. प्र./१२९ परिणाममात्रलक्षणो भावः।—भावका लक्षण परिणाम मात्र है। (स. सा./ता. वृ./१२६/१८७/९)।

त. अनु./१००...भावः स्याद्गुण-पर्ययौ।१००।—गुण तथा पर्याय दोनों भाव रूप हैं।

गो. जी./जी. प्र./१६५/३९१/६ भावः चित्परिणामः।—चेतनके परिणामको भाव कहते हैं।

पं.ध./पू./२७९,४७९ भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः। अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात्।२७९। भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात्। प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च।४७९।—निश्चयसे परिणाम भाव है, और वह तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति हो पड़ता है। अथवा गुणसमुदायका नाम भाव है अथवा सम्पूर्ण द्रव्यके निजसारका नाम भाव है।२७९। भाव परिणाममय होता है अथवा शक्ति विशेष स्वभाव प्रकृति स्वरूपमात्र आत्मभूत लक्षण गुण और धर्म भी भाव कहलाता है।४७९।

३. कर्मोदय सापेक्ष जीव परिणामके अर्थमें

स. सि./१/८/२९/८ भावः औपशमिकादिलक्षणः।—भावसे औपशमिकादि भावोंका ग्रहण किया गया है। (रा. वा./१/८/६/४२/१७)।

पं. का./त. प्र./१५० भावः खल्वत्र विवक्षितः कर्मावृतचैतन्यस्य क्रमप्रवर्तमानज्ञप्तिक्रियारूपः।—यहाँ जो भाव विवक्षित है वह कर्मावृत चैतन्यकी क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रिया रूप है।

४. चित्तविकारके अर्थमें

प. प्र./टी./१/१२१/१११/८ भावश्चित्तोत्थ उच्यते।—भाव अर्थात् चित्तका विकार।

५. शुद्ध भावके अर्थमें

द्र. सं./टी./३६/१५०/१३ निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसंजातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इत्याध्याहारः। –निर्विकार परम चैतन्य चित चमत्कारके अनुभवसे उत्पन्न सहज-आनन्द स्वभाव सुखामृतके आस्वाद रूप, यह भाव शब्दका अध्याहार किया गया है।

प्र. सा./ता. वृ./११५/१६१/१४ शुद्धचैतन्यं भावः। –शुद्ध चैतन्य शुद्ध भाव है।

भा. पा./टी./६६/२१०/१८ भाव आत्मरुचिः जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूतः–आत्माकी रुचिका नाम भाव है, जो कि सम्यक्त्वका कारण है।

६. नव पदार्थके अर्थमें

पं. का./त. प्र./१०७ भावाः खलु कालकलितपञ्चास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः। –काल सहित पंचास्तिकायके भेदरूप नवपदार्थ वे वास्तवमें भाव हैं।

२. भावोंके भेद

१. भाव सामान्यके भेद

रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६ द्रव्यस्य हि भावो द्विविधः परिस्पन्दात्मकः, अपरिस्पन्दात्मकश्च। –द्रव्यका भाव दो प्रकारका है–परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक। (रा. वा./६/६/८/५१५/१५)।

रा. वा. हिं/४ चूलिका/पृ. ३६८ ऐसे भाव छह प्रकारका है। जन्म-अस्तित्व-निर्वृत्ति-वृद्धि-अपक्षय और विनाश।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

नोट–नाम स्थापनादि भेद–दे० निक्षेप/१।

ध. ५/१,७,१/१८४/७ तव्वदिरित्त णोआगमदव्वभावो तिविहो सचित्ता-चित्त-मिस्सभेएण।...णोआगमभावभावो पंचविहं–नो आगमद्रव्य भावनिक्षेप, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है।... नो आगम भावनिक्षेप पाँच प्रकार है। (दे० अगला शीर्षक)

३. कालकी अपेक्षा

ध. ५/१,७,१/१८८/४ अणादिओ अपज्जवसिदो जहा-अभव्वाणमसिद्धदा, धम्मत्थिअस्स गमणहेदुत्तं, अधम्मत्थिअस्सठिदिहेदुत्तं, आगासस्स ओगाहणलक्खणत्तं, कालदव्वस्स परिणामहेदुत्तमिच्चादि। अणादिओ सपज्जवसिदो जहा–भव्वस्स असिद्धदा भव्वत्तं मिच्छत्तमसंजदो इच्चादि। सादिओ अपज्जवसिदो जहा–केवलणाणं केवलदंसणमिच्चादि। सादिओसपज्जवसिदो जहा–सम्मत्तसंजमपच्छायदाण मिच्छत्तासंजमा इच्चादि–१. भाव अनादि निधन है। जैसे–अभव्य जीवोंके असिद्धता, धर्मास्तिकायके गमनहेतुता, अधर्मास्तिकायके स्थितिहेतुता, आकाश द्रव्यके अवगाहना स्वरूपता, और कालके परिणमन हेतुता आदि। २. अनादि सान्तभाव जैसे–भव्य जीवकी असिद्धता, भव्यत्व, मिथ्यात्व, असंयम इत्यादि। ३. सादि अनन्तभाव–जैसे–केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि। ४. सादि सान्त भाव, जैसे सम्यक्त्व और संयम धारण कर पीछे आये हुए जीवोंके मिथ्यात्व असंयम आदि।

४. जीव भावकी अपेक्षा

पं. का./मू. ५६ उदयेण उवसमेण य खयेण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे जुत्तातै जीवगुणा...।५६। –उदयसे, उपशमसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे और परिणामसे युक्त ऐसे (पाँच) जीव गुण (जीवके परिणाम) हैं। (त. सू./२/१) (ध. ५/१,७,१/गा ५) १८७) (ध. ५/१,७,१/१८४/१३: १८८/६) (त. सा./२/३) (गो. क./मू./८१३/९८७) (पं. ध./उ./९६५-९६६)।

रा. वा./२/७/२१/११४/१ आर्षे सांनिपातिकभाव उक्तः। –आर्षमें एक सान्निपातिक भाव भी कहा गया है।

३. स्व पर भावका लक्षण

रा. वा./हिं/९/७/६७२ मिथ्यादर्शनादिक अपने भाव (पर्याय) सो स्वभाव है। ज्ञानावरणादि कर्मका रस सो पर भाव है।

४. निक्षेप रूप भेदोंका लक्षण

ध. ५/१,७,१/१८४/८ तत्थ सचित्तो जीवदव्वं। अचित्तो पोग्गल-धम्मा-धम्म-कालागासदव्वाणि। पोग्गल-जीव दव्वाणं संजोगो कधंचिज्ज-च्चंतरसमावण्णो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम। –जीव द्रव्य सचित्त भाव है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश द्रव्य अचित्तभाव है। कथंचित् जात्यन्तर भावको प्राप्त पुद्गल और जीव द्रव्योंका संयोग नोआगममिश्रद्रव्य भावनिक्षेप है।

२. पंचभाव निर्देश

१. द्रव्यको ही भाव कैसे कह सकते हैं

ध. ५/१,७,१/१८४/८ कधं दव्वस्स भाववव्वएसो। ण, भवनं भावः, भूतिर्वा भाव इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति अवलंबणादो। –प्रश्न–द्रव्यके 'भाव' ऐसा व्यपदेश कैसे हो सकता है। उत्तर–नहीं, क्योंकि, 'भवनं भावः' अथवा 'भूतिर्वा भावः' इस प्रकार भाव शब्दकी व्युत्पत्तिके अवलम्बनसे द्रव्यके भी 'भाव' ऐसा व्यपदेश बन जाता है।

२. भावोंका आधार क्या है

ध. ५/१,७/१/१८८/४ कत्थ भावो, दव्वम्हि चेव, गुणिव्वदिरेगेण गुणाणमसंभवा। –प्रश्न–भाव कहाँपर होता है, अर्थात् भावका अधिकरण क्या है। उत्तर–भाव द्रव्यमें ही होता है, क्योंकि गुणीके बिना गुणोंका रहना असम्भव है।

३. पंचभावका कथंचित् जीवके स्वतत्त्व है

त. सू./२/१ जीवस्य स्वतत्त्वम् ।१। (स्वो भावोऽसाधारणो धर्मः रा. वा.)। –ये पाँचों भाव जीवके स्वतत्त्व है। (स्वभाव) अर्थात् जीवके असाधारण धर्म (गुण) हैं। (त. सा./२/२)।

रा. वा./१/२/१०/२०/२ स्यादेतत्–सम्यक्त्वकर्मपुद्गलाभिधायित्वेऽप्य-दोष इति; तन्न; किं कारणम्। मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात्। औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्ष-कारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्यायः, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात्। –प्रश्न–सम्यक्त्व नामकी कर्मप्रकृतिका निर्देश होनेके कारण सम्यक्त्व नामका गुण भी कर्म पुद्गलरूप हो जावे। इसमें कोई दोष नहीं है। उत्तर–नहीं, क्योंकि, अपने आत्माके परिणाम ही मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये हैं। औपशमिकादि सम्यग्दर्शन भी सीधे आत्मपरिणामस्वरूप होनेसे ही मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये हैं, सम्यक्त्व नामकी कर्म-पर्याय नहीं, क्योंकि वह तो पौद्गलिक है।

पं. का./मू./५६ ...ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।५६। –ऐसे (पाँच) जीवगुण (जीवके भाव) हैं। उनका अनेक प्रकारसे कथन किया गया है। (ध. १/,१,१/८/६०/७)।

४. सभी भाव कथंचित् पारिणामिक है

दे० सासादन/१/६ सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसंग आता है तो आने दो, कोई दोष नहीं है।

ध. ५/१,८,१/२४२/१ केणप्पाबहुअं। पारिणामिएण भावेण। —अल्पबहुत्व पारिणामिक भावसे होता है।

क. पा. १/१,१३-१४/§२८४/३१६/६ ओदइएण भावेण कसाओ। एदं णेगमादिचउण्हं णयाणं। तिण्हं सद्दणयाणं पारिणामिएण भावेण कसाओ; कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। —कषाय औदयिक भावसे होती है। यह नैगमादि चार नयोंकी अपेक्षा समझना चाहिए। शब्दादि तीनों नयोंकी अपेक्षा तो कषाय पारिणामिक भावसे होती है, क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें कारणके बिना कार्योंकी उत्पत्ति होती है।

५. छहों द्रव्योंमें पंचभावोंका यथायोग्य सत्त्व

ध. ५/१,७,१/१८६/७ जीवेसु पंचभावाणमुवलंभा। ण च सेसदव्वेसु पंच भावा अत्थि, पोग्गलदव्वेसु ओदइयपारिणामियाणं दोण्हं चेव भावाणमुवलंभा, धम्माधम्मकालागासदव्वेसु एक्कस्स पारिणामियभावस्सेवुवलंभा। —जीवोंमें पाँचों भाव पाये जाते हैं किन्तु शेष द्रव्योंमें तो पाँच भाव नहीं हैं, क्योंकि, पुद्गल द्रव्योंमें औदयिक और पारिणामिक, इन दोनों ही भावोंकी उपलब्धि होती है, और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्योंमें केवल एक पारिणामिक भाव ही पाया जाता है। (ज्ञा./६/४१)।

६. पाँचों भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्त

ध. ५/१,७,१/१८१/१ केण भावो। कम्माणमुदएण खयणखओवसमेण कम्माणमुवसमेण सभावदो वा। तत्थ जीवदव्वस्स भावा उत्तपंचकारणेहिंतो होंति। पोग्गलदव्वभावा पुण कम्मोदएण विस्ससादो वा उप्पज्जंति। सेसाणं चदुण्हं दव्वाणं भावा सहावदो उप्पज्जंति। —प्रश्न—भाव किससे होता है, अर्थात् भावका साधन क्या है। उत्तर—भाव कर्मके उदयसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे, कर्मोंके उपशमसे, अथवा स्वभावसे होता है। उनमेंसे जीव द्रव्यके भाव उक्त पाँचों ही कारणोंसे होते हैं, किन्तु पुद्गल द्रव्यके भाव कर्मोंके उदयसे अथवा स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। शेष चार द्रव्योंके भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

७. पाँच भावोंका कार्य व फल

स. सा./मू. व टी./१७१ जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि। अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।१७१। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्। —क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुणके कारण फिरसे भी अन्यरूपसे परिणमन करता है, इसलिए वह कर्मोंका बन्धक कहा गया है।१७१। वह (ज्ञान गुणका जघन्य भावसे परिणमन) यथाख्यात चरित्र अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण ही है।

ध. ७/२,१,७/गा.१/९ ओदइया बंधयरा उवसम-खय मिस्सया य मोक्खयरा। भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होंति।३। —औदयिक भाव बन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं, तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनोंके कारणसे रहित हैं।३।

८. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

आ०	आहारक	प०	पर्याप्त
औद०	औदयिक	पारि०	पारिणामिक
औदा०	औदारिक	पु०	पुरुष वेद
औप०	औपशमिक	मनु०	मनुष्य
क्षयो०	क्षयोपशमिक	मि०	मिश्र
क्षा०	क्षायिक	वैक्रि०	वैक्रियक
नपुं०	नपुंसक वेद	सम्य०	सम्यक्
पंचे०	पंचेन्द्रिय	सामा०	सामान्य

९. पंच भावोंके स्वामित्वकी ओघ प्ररूपणा

(ष. ख. ५/१,७/सू. २-९/१९४-२०५); (रा. वा./९/१/१२-२४/५८८-५९०); (गो. जी./मू./११-१४)।

प्रमाण सू./पृ.	मार्गणा	मूल भाव	अपेक्षा
२/१९४	मिथ्यादृष्टि	औद०	मिथ्यात्वकी मुख्यता
३/१९६	सासादन	पारि०	दर्शन मोहकी मुख्यता
४/१९८	मिश्र	क्षयो०	श्रद्धानांशकी प्रगटताकी अपेक्षा
५/१९९	असंयत सम्य०	औप.क्षा. क्षयो०	दर्शनमोहकी मुख्यता
६/२०१		औद०	असंयम (चारित्र मोह) की मुख्यता
७/२०१	संयतासंयत	क्षयो०	चारित्र मोह (संयमासंयम) की मुख्यता
८/२०४	प्रमत्त संयत	,,	,, ,, (संयम) ,, ,,
,,	अप्रमत्त संयत	,,	,, ,, ,, ,, ,,
,,	{ अपूर्वकरण-सूक्ष्म साम्पराय उपशामक	औप०	एक देश उपशम चारित्र व भावि उपचार
९/२०५	८-१० (क्षपक)	क्षा०	एक देश क्षय व भावि उपचार
,,	उपशान्त कषाय	औप०	उपशम चारित्रकी मुख्यता
,,	क्षीण कषाय	क्षा०	क्षायिक चारित्रकी मुख्यता
,,	सयोगी व अयोगी	क्षा०	सर्वघातियोंका क्षय

१०. पंच भावोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा

(ष. खं. ५/१,७/सू. ५-९३/१९४-२३८): (ष. खं. ७/२,१/सू. ५-९१/ ३०-११३); (ध. ६/४,१,६६/३१५-३१७) ।

प्रमाण ष.खं./पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
१. गतिमार्गणा				
७/५	१. नरकगति सा.		औद०	नरकगति उदयकी मुख्यता
५/१०	,,	१	,,	मिथ्यात्वकी मुख्यता
५/११	,,	२	पारि०	ओघवत्
५/१२	,,	३	क्षयो०	,,
५/१३	,,	४	औप० क्षा० क्षयो०	,,
५/१४		,,	औद०	,,
५/१५	प्रथम पृथिवी	१-४	सामान्यवत्	सामान्यवत्
५/१६	२-७ ,,	१-३	,,	,,
५/१७	,,	४	औप. क्षयो.	क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम पृथिवीसे ऊपर नहीं जाता। वहाँ क्षा० सम्यग् नहीं उपजता।
५/१८	,,	असंयत	औद०	
७/७	२. तिर्यंच सा.		औद०	तिर्यंचगतिके उदयकी मुख्यता
५/१६	पंचे. सा. व पचे० प०	१-५	ओघवत्	ओघवत्
५/१६	योनिमति प०	१,२,३,५	,,	,,
५/२०	,,	४	औप. क्षयो.	बद्धायुष्क क्षायिक सम्य० वहाँ उत्पन्न नहीं होता और वहाँ नया क्षा० सम्य० नहीं उपजता।
५/२१		असंयत	औद०	
७/६	३. मनुष्य सा०		औद०	मनुष्यगतिके उदयकी मुख्यता
५/२२	सामा० मनु० प० मनुष्यणी	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
७/११	४. देव सा०		औद०	देवगतिके उदयकी मुख्यता
५/२३	आदेश सामान्य	१-४	ओघवत्	ओघवत्
५/२४	{ भवनत्रिक देवदेवी व सौधर्म ईशानदेवी	१,२,३	,,	,,
५/२५		४	औप, क्षयो.	क्षा० सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका वहाँ अभाव है तथा नये क्षायिक सम्य० की उत्पत्तिका अभाव
५/२६		असंयत	औद०	
५/२७	{ सौधर्म उपरिम ग्रैवेयक अनुदिश सर्वार्थसि०	१-४	ओघवत्	ओघवत्
५/२८		४	औप० क्षा० क्षयो०	द्वितीयोपशम सम्यक्त्वापेक्षया
५/२६		असंयत	औद०	ओघवत्
२. इन्द्रिय मार्गणा				
७/१५	१-५ इन्द्रिय सा.		क्षयो०	स्व स्व इन्द्रिय (मतिज्ञानावरण) की अपेक्षा
५/३०	पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
	शेष सर्व तिर्यंच	१	औद०	मिथ्यात्वापेक्षया
७/१७	अनिन्द्रिय		क्षा०	सर्व ज्ञानावरणका क्षय
३. काय मार्गणा				
७/२८-२६	पृथिवी त्रस पर्यन्त सा०		औद०	उस उस नामकर्मका उदय
	स्थावर	१	औद०	मिथ्यात्व अपेक्षा
५/३१	त्रस व त्रस प०	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
७/३१	अकायिक		क्षा०	नामकर्मका सर्वथा क्षय
४. योग मार्गणा				
७/३३	मन वच० काय सा०		क्षयो०	वीर्यान्तराय इन्द्रिय व नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम मुख्य
७/३५	अयोगी सा०		क्षा०	शरीरादि नामकर्मका निर्मूल क्षय
५/३२	५ मन ५ वचन काय औदा०	१-१४	ओघवत्	ओघवत्
५/३३	औदा० मिश्र	१-२	,,	,,
५/३४	,,	४	क्षा० क्षयो०	प्रथमोपशममें मृत्युका अभाव। द्वितीयो०मुख्य
५/३५	,,	असंयत	औद०	औदा० मिश्रमें नहीं वैक्रि० मिश्रमें जाता है
५/३६	,,	१३	क्षा०	
५/३७	वैक्रियक	१-४	ओघवत्	ओघवत्
५/३८	वैक्रि० मिश्र	१,२,४	ओघवत्	औपशमिक भाव द्वितीयोपशमकी अपेक्षा
५/३६	आ० व आ० मिश्र	६	क्षयो०	प्रमत्तसंयतापेक्षया
५/५०	कार्मण	१,२ ४, १३	ओघवत्	ओघवत्
५/६३	,,	१४	क्षा०	

प्रमाण पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
५. वेद मार्गणा				
७/३६	स्त्री पु. नपुं. सा.		औद०	चारित्रमोह (वेद) उदय मुख्य
७/३६	अवेदी सा०		औप० क्षा०	६ वें से ऊपर वेदका उपशम वा क्षय मुख्य
५/४१	स्त्री, पु. नपुं.	१–६	ओघवत्	ओघवत्
५/४२	अपगतवेद	६–१४	,,	,,
६. कषाय मार्गणा				
७/४१	चारों कषाय सा.	३१	औद०	चारित्र मोहका उदय मुख्य
७/४३	अकषायी सा०		औप० क्षा०	११ वेंमें औप०, १२-१४ में क्षा. (चा. मोहापेक्षा)
५/४३	चारों कषाय	१–१०	ओघवत्	ओघवत्
५/४४	अकषाय	११–१४	,,	,,
७. ज्ञान मार्गणा				
७/४५	ज्ञान व अज्ञान सा०		क्षयो०	स्व स्व ज्ञानावरणका क्षयोपशम
७/४७	केवलज्ञान		क्षा०	केवलज्ञानावरणका क्षय
५/४५	मति श्रुत अज्ञान, विभंग	१–२	ओघवत्	ओघवत्
५/४६	मति, श्रुत, अवधिज्ञान	४–१२	,,	,,
५/४७	मनःपर्यय ज्ञान	६–१२	,,	,,
५/४८	केवलज्ञान	१३–१४	,,	,,
८. संयम मार्गणा				
७/४६	संयम सा०		औप० क्षा० क्षयो०	चारित्रमोहका उपशम क्षय व क्षयोपशम मुख्य
,,	सामायि, छेदो-पस्था०	सामान्य	,,	,,
७/५१	परिहार विशुद्धि	,,	क्षयो०	चारित्रमोहका क्षयोपशम
७/५३	सूक्ष्म साम्पराय	,,	औप० क्षा०	उपशम व क्षायिक दोनों श्रेणी हैं
,,	यथाख्यात	,,	,,	,,
७/५४	संयतासंयत	,,	क्षयो०	अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम
७/५५	असंयत	,,	औद०	चारित्रमोहका उदय
५/४६	संयम सा०	६–१४	ओघवत्	ओघवत्
५/५०	सामायिक, छेदोप०	६–६	,,	,,
५/५१	परिहार विशुद्धि	६–७	,,	,,
५/५२	सूक्ष्म साम्पराय	१०	,,	,,
५/५३	यथाख्यात	११-१४	,,	,,
५/५४	संयतासंयत	५	,,	,,
५/५५	असंयत	१–४	,,	,,

प्रमाण पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
९. दर्शन मार्गणा				
७/५७	चक्षु अचक्षु अवधि सा०		क्षयो०	स्व स्व देशघातीका उदय
७/५६	केवलदर्शन सा०		क्षा०	दर्शनावरणका निर्मूल क्षय
५/५६	चक्षु अचक्षु	१–१२	ओघवत्	ओघवत्
५/५७	अवधिदर्शन	४–१२	,,	,,
५/५८	केवलदर्शन	१३–१४	,,	,,
१०. लेश्या मार्गणा				
७/६१	छहों लेश्या सा.		औद०	कषायोंके तीव्रमन्द अनुभागोंका उदय
७/६३	अलेश्य सा०		क्षा०	कषायोंका क्षय
५/५६	कृष्ण, नील, कापोत	१–४	ओघवत्	ओघवत्
५/६०	पीतपद्म	१–७	,,	,,
५/६१	शुक्ल	१–१३	,,	,,
११. भव्य मार्गणा				
७/६५	भव्य, अभव्य सा०		पारि०	सुगम
७/६६	न भव्य न अभव्य		क्षायि०	,,
५/६२	भव्य	१–१४	ओघवत्	ओघवत्
५/६३	अभव्य		पारि०	उदयादि निर्पेक्ष (मार्गणापेक्षया)
,,	,,		औद०	गुणस्थानापेक्षया
१२. सम्यक्त्व मार्गणा				
७/६६	सम्यक्त्व सा०		औप० क्षा० क्षयो०	दर्शनमोहके उपशम, क्षय, क्षयो० अपेक्षा
७/७१	क्षायिक सामान्य		क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
७/७३	वेदक ,,		क्षयो०	,, ,, क्षयोपशम
७/७५	उपशम ,,		औप०	,, ,, उपशम
७/७७	सासादन ,,		पारि०	उप० क्षय० क्षयो० निर्पेक्ष
७/७६	सम्यग्मिथ्यात्व ,,		क्षयो०	मिश्रित श्रद्धानका सद्भाव
७/८१	मिथ्यात्व		औद०	दर्शनमोहका उदय
५/६४	सम्यक्त्व सा०	४–१४	ओघवत्	ओघवत्
५/६५	क्षायिक	४	क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
५/६७	,,	,,	औद०	असंयतत्वकी अपेक्षा
५/६८	,,	५–७	क्षयो०	चारित्र मोहापेक्षया
५/६६	,,	,,	क्षा०	दर्शन मोहापेक्षया
५/७०	,,	८–११	औप०	चारित्रमोहापेक्षया
५/७१	,,	,,	क्षा०	दर्शनमोहापेक्षया
५/७२	,,	८-१४	,,	दर्शन व चारित्र मोहापेक्षया
५/७४	वेदक	४	क्षयो०	दर्शनमोहापेक्षया
५/७६	,,	,,	औद०	चारित्रमोहापेक्षा

प्रमाण ष./खं. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
५/७७	वेदक	५–७	क्षयो०	दर्शन व चारित्रमोहापेक्षा
५/७६	उपशम	४	औप०	दर्शनमोहापेक्षा
५/८१	,,	,,	औद०	चारित्र मोहापेक्षा
५/८२	,,	५–७	क्षयो०	,,
५/८३	,,	,,	औप०	दर्शन मोहापेक्षा
५/८४	,,	८–११	,,	दर्शन चारित्र मोहापेक्षा
५/८६	सासादन	२	ओघवत्	ओघवत्
५/८७	सम्यग्मिथ्या-दृष्टि	३	,,	,,
५/८८	मिथ्यादृष्टि	१	,,	,,

१३. संज्ञी मार्गणा

प्रमाण ष./खं. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/८३	संज्ञी सामान्य		क्षयो०	नो इन्द्रियावरण देश घातीका उदय
७/८५	असंज्ञी ,,		औद०	,, ,, सर्व ,, ,, ,,
७/८७	न संज्ञी न असंज्ञी		क्षा०	,, ,, का सर्वथा क्षय
५/८६	संज्ञी	१–१२	ओघवत्	ओघवत्
५/९०	असंज्ञी	१	औद०	औदा० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मका उदय

१४. आहारक मार्गणा

प्रमाण ष./खं. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/८६	आहारक सा०		औद०	औदा० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मका उदय। तैजस व कार्मणका नहीं।
७/९१	अनाहारक सा०		औद०	विग्रहगतिमें सर्वकर्मोंका उदय
	,,		क्षा०	अयोग केवली व सिद्धों में सर्व कर्मोंका क्षय
५/९१	आहारक	१–१२	ओघवत्	ओघवत्
५/९२	अनाहारक	१,२,४	—	कार्मण काय योगवत्-
		१३	ओघवत्	ओघवत्
५/९३	,,	१४	क्षा०	कार्मण वर्गणाओंके आगमनका अभाव

११. भावोंके सत्व स्थानोंकी ओघ प्ररूपणा

(ध. ५/१,७२/गा. १३-१४/१९४); (गो. क./मू./८२०/९९२)

नोट—औदयिकादि भावोंके उत्तर भेद—दे० वह वह नाम

गुण स्थान	मूल भाव	कुल मूल भाव	कुल भंग	उत्तर भाव	भाव
१	औद० क्षयो० व पारि०	३	१०	औद० २१ (सर्व)+क्षयो १० (३ अज्ञान, २ दर्शन, ५ लब्धि)+पारि० ३ (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व	३४
२	,,	,,	,,	औद० २० (सर्व-मिथ्यात्व)+क्षयो १० (उपरोक्त)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३२
३	,,	,,	,,	औद २० (सर्व-मिथ्यात्व)+क्षयो० १० (मिश्रित ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३३
४	पाँचों	५	२६	औद० २० (उपरोक्त)+क्षयो० १२ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि १ सम्यक्त्व)+उप० १+क्षा०+१ (सम्य०)+पारि० २ (जीवत्व व भव्यत्व)	३६
५	,,	,,	,,	औद.१४(१मनुष्य,१ तिर्यग्गति, ४ कषाय, ३ लिंग, ३ शुभलेश्या,१ असिद्ध,१ अज्ञान)+क्षयो० १३ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ संयमासंयम १ सम्यक्त्व)+उप० १+क्षा० १ (सम्यक्त्व)+पारि० २	३१
६	,,	,,	,,	औद० १३ (मनुष्यगति, ३ लिंग, ३ शुभ-लेश्या, ४ कषाय, १ असिद्ध, १ अज्ञान)+क्षयो० १४ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ सम्य०, सराग चारित्र)+१ उप०+१ क्षा० (सम्य०)+पारि० (जीवत्व भव्यत्व)	३१
उपशमक व क्षपक—					
८	पाँचों	५	३५	औ० ११ (मनुष्यगति, ४ कषाय, ३ लिंग, शुक्ल लेश्या, असिद्ध, अज्ञान)+क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि) उप० २ (सम्य०, चारित्र)+क्षा० २ (सम्य०, चारित्र)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	२६
९	,,	,,	,,	,,	,,
१०	,,	,,	,,	औद० ५ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्ध, अज्ञान, कषाय)+क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि)+उप० २ (सम्य०, चारित्र)+क्षा० २ (सम्य० चारित्र)+पारि० २ (उपरोक्त)	२३
११	पाँचों	५	३५	उपरोक्त २३ (औद० ४+क्षयो० १२+उप० २+क्षा० १+पारि० २)—लोभ, क्षा० चारित्र	२१
१२	औद० क्षा० क्षयो० पारि०	४	१६	उपरोक्त २१—उप० २ (सम्य० चारित्र)+क्षा० चारित्र	२०
१३	औद० क्षा० पारि०	३	१०	औद० ३ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्धत्व)+क्षा० ९ (सर्व)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	१४
१४	,,	,,	,,	उपरोक्त १४–शुक्ल लेश्या	१३
सि०	क्षा० पारि०	२	५	क्षा० ४ (सम्य०, दर्शन, ज्ञान, चारित्र)+पारि० (जीवत्व)	५

१२. अन्य विषयों सम्बन्धी सूचीपत्र

नं.	प्रकृति		स्थिति		अनुभाग		प्रदेश	
	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०
१	अष्टकर्म बन्धके स्वामियों सम्बन्धी—(म. बं. $\frac{पु. नं.}{§ नं.}$)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामी							
		$\frac{१}{३६१-४२३}$	$\frac{२}{२२१-२२२}$	$\frac{३}{५९५-५९६}$	$\frac{४}{२६१-}$	$\frac{५}{४१५-४१६}$	$\frac{६}{६७-६८}$	
२	भुजगारादि पदोंके स्वामी							
			$\frac{२}{३१७}$	$\frac{३}{८-७}$	$\frac{४}{३०२}$	$\frac{५}{५४७}$	$\frac{६}{१४२}$	
३	वृद्धि हानिरूप पदोंके स्वामी							
			$\frac{२}{४०५}$	ताड़पत्र नष्ट	$\frac{४}{३६७}$	$\frac{५}{६२७}$		
२	मोहनीय कर्मके स्वामियों सम्बन्धी—(क. पा./$\frac{पु. नं.}{§ न.}$)							
१	जघन्य उत्कृष्ट पदोंके स्वामी							
			$\frac{३}{१६३}$	$\frac{३}{७०७-७०८}$	$\frac{५}{१३८}$	$\frac{५}{४२८}$		
२	भुजगारादि पदोंके स्वामी							
		$\frac{२}{४६८}$	$\frac{३}{३२३}$	$\frac{४}{१६२}$	$\frac{५}{१६०}$	$\frac{५}{५०६}$		
३	वृद्धि हानि पदोंके स्वामी							
		$\frac{५}{५३२}$	$\frac{३}{३४२}$	$\frac{४}{४५६}$	$\frac{५}{१८४}$	$\frac{५}{५६६}$		
४	२८, २४ आदि सत्त्व स्थानोंके स्वामी							
		$\frac{२}{३८३}$						
५	सत्त्व असत्त्वका भाव सामान्य							
		$\frac{२}{१८६}$						
३	अन्य विषय—(क. पा./$\frac{पु. नं}{§ न.}$)							
१	कषायोंका ओघ आदेशसे भाव							
	$\frac{१}{३६१}$							
२	नोकर्म बन्धकी संघातन परिशातनमें कृतिकी ज० उ० आदि पदों सम्बन्धी ओघ व आदेश प्ररूपणा							
	$\frac{६}{४८८-४९१}$							
३	अधः कर्मादि षट्कर्मके स्वामी (ध./$\frac{पु. नं.}{पृ. नं.}$)							
	$\frac{१३}{१७२-१७५}$							
४	पाँच शरीरोंके २, ३, ४ आदि भंगोंके स्वामी							
	$\frac{१४}{३०१}$							
५	२३ प्रकार वर्गणाके स्वामी							
	$\frac{१४}{१५२-१५३}$							

३. भाव अभाव शक्तियाँ

१. आत्माकी भावाभाव आदि शक्तियोंके लक्षण

पं. का./मू. व त. प्र./२१ एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च। गुणपज्जयेहिं सहिदो संसारमाणो कुणदि जीवो।२१।…जीवद्रव्यस्य …तस्यैव देवादिपर्यायरूपेण प्रादुर्भवतो भावकर्तृत्वमुक्तं; तस्यैव च मनुष्यादिपर्यायरूपेण व्ययतोऽभावकर्तृत्वमाख्यातं; तस्यैव च सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुदितं; तस्यैव चासतः पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्याभावभावकर्तृत्वमभिहितम्। —गुण पर्यायों सहित जीव भ्रमण करता हुआ भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावको करता है।२१। देवादि पर्याय रूपसे उत्पन्न होता है इसलिए उसीको (जीव द्रव्यको ही) भावका (उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है। मनुष्यादि पर्याय रूपसे नाशको प्राप्त होता है, इसलिए उसीको अभावका (व्ययका) कर्तृत्व कहा गया है। सत् (विद्यमान) देवादि पर्यायका नाश करता है, इसलिए उसीको भावाभावका (सत्के विनाशका) कर्तृत्व कहा गया है, और फिरसे असत् (अविद्यमान) मनुष्यादि पर्यायका उत्पाद करता है इसलिए उसीको अभावभावका (असत्के उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है।

स. सा./आ./परि./शक्ति नं. ३३-४० भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः।३३। शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्तिः।३४। —भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः।३५। अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्तिः।३६। भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्ति.।३७। अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावभावशक्तिः।३८। कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः।३९। —विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उस रूप भावशक्ति)।३३। शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्तता रूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उस रूप अभावशक्ति)।३४। प्रवर्तमान पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्ति।३५। अप्रवर्तमान पर्यायके उदय रूप अभावभावशक्ति।३६। प्रवर्तमान पर्यायके भवन रूप भावभावशक्ति।३७। अप्रवर्तमान पर्यायके अभवनरूप अभावभावशक्ति।३८। (कर्ता कर्म आदि) कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होने मात्रमयी) भावशक्ति।३९।

२. भाववती शक्तिका लक्षण

प्र. सा./त. प्र १२९ तत्र परिणाममात्रलक्षणो भावः। —भावका लक्षण परिणाम मात्र है।

पं. ध./पू./११४ भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः। —शक्तिविशेष अर्थात् प्रदेशत्वसे अतिरिक्त शेष गुणोंको अथवा तरतम अंशरूपसे होनेवाले उन गुणोंके परिणामको भाव कहते हैं। (पं. ध./उ./२६)।

भावकर्म—दे० कर्म/३।

भाव त्रिभंगी—श्रुत मुनि (वि. श. १४ उत्तरार्ध) कृत, जीव के औपशमिकादि भावों का प्रतिपादक, ११६ प्राकृत गाथाओं का संकलन (जै./१/४४२)।

भावनय—दे० नय/I/५/३।

भावना—भावना ही पुण्य-पाप, राग-वैराग्य, संसार व मोक्ष आदिका कारण है, अतः जीवको सदा कुत्सित भावनाओंका त्याग करके उत्तम भावनाएँ भानी चाहिएँ। सम्यक् प्रकारसे भायी सोलह प्रसिद्ध भावनाएँ व्यक्तिको सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पदमें भी स्थापित करनेको समर्थ हैं।

१. भावना सामान्य निर्देश

१. भावना सामान्य व मति, श्रुत ज्ञान सम्बन्धी भावना

रा. वा./७/३/१/५३५/२६ वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावना। —वीर्यान्तराय क्षयोपशम चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मोदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा जो भायी जाती हैं—जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना हैं।

पं. का./ता. वृ./४६/८९/१ ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना। —जाने हुए अर्थको पुनः-पुनः चिन्तन करना भावना है।

★ मति श्रुतज्ञान—दे० वह वह नाम।

२. पाँच उत्तम भावना निर्देश

भ. आ./मू./१८७-२०३ तवभावना य सुदसत्तभावणेगत्त भावणे चेव। धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा।१८७। तवभावणाए पंचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति। इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ।१८८। सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ। तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ।१९४। देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं। तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं।१९६। एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा। सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं।२००। कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि। दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसत्ताणं।२०२। धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्छाई। धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई।२०३। —तपो भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना, और धृतिबल भावना ऐसी पाँच भावनाएँ असंक्लिष्ट हैं।१८७। (अन. ध./७/१००)। तपश्चरणसे इन्द्रियोंका मद नष्ट होता है, इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं, सो तब इन्द्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य साधु-रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती है ऐसी तप भावना करते हैं।१८८। श्रुतकी भावना करना अर्थात् तद्विषयक ज्ञानमें बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत भावना है। इस श्रुतज्ञानकी भावनासे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है।१९४। वह मुनि देवोंसे त्रस्त किया गया, भयंकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीड़ित किया गया तो भी सत्त्व भावनाको हृदयमें रखकर, दुखोंको सहनकर और निर्भय होकर संयमका सम्पूर्ण भार धारण करता है।१९६। एकत्व भावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगमें, चतुर्विध संघमें, और शरीरमें आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्र रूप धारण करता है।२००। चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूख, प्यास, शीत, उष्ण वगैरह बाईस प्रकारके दुखोंको उत्पन्न करनेवाली बावीसपरीषह रूपी सेना, दुर्धर संकटरूपी वेगसे युक्त होकर जब मुनियोंपर आक्रमण करती है तब अल्प शक्तिके धारक मुनियोंको भय होता है।२०२। धैर्यरूपी परिधान जिसने बाँधा है ऐसा पराक्रमी मुनि धृतिभावना हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है।२०३।

पं. का./ता. वृ./१७३/२५४/१३ अनशनादिद्वादशविधनिर्मलतपश्चरणं तपोभावना, तस्याः फलं विषयकषायजयो भवति प्रथमानियोगचरणानियोगकरणानियोगद्रव्यानियोगभेदेन चतुर्विध आगमाभ्यासः; श्रुतभावना।…मूलोत्तरगुणाद्यनुष्ठानविषये निर्गूहनवृत्ति सत्त्वभावना, तस्याः फलं घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि निर्गूहनेन मोक्ष साधयति पाण्डवादिवत्। एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा। (भा. पा./मू./५९),

(मू. आ./४८), (नि. सा./मू./१०२), इत्येकत्वभावनया तस्याः फलं स्वजनपरजनादौ निर्मोहत्वं भवति।...मानापमानसमतावलेनाशनपानादौ यथालाभेन संतोषभावना तस्याः फलं...आत्मोत्थसुखतृप्त्या ''विषयसुखनिवृत्तिरिति। —अनशन आदि बारह प्रकारके निर्मल तपको करना सो तपोभावना है। उसका फल विषयकषायपर जय प्राप्त करना होता है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भेदसे चार प्रकारके आगमका अभ्यास करना श्रुतभावना है।...मूल और उत्तरगुण आदिके अनुष्ठानके विषयमें गाढ वृत्ति होना सो सत्त्वभावना है, घोर उपसर्ग अथवा परीषहके आनेपर भी पाण्डवादिकी भाँति उसको दृढतासे मोक्ष प्राप्त होती है, यही इसका फल है। "ज्ञान दर्शन लक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा मेरा है; शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव मुझसे बाह्य हैं।" (भा. पा./मू./५९), (मू. आ./४८), (नि. सा./१०२) यह एकत्व भावना है। स्वजन व परजनमें निर्मोहत्व होना इस भावनाका फल है।...मान अपमानमें समतासे, अशनपानादिमें यथा लाभमें समता रखना सो सन्तोष भावना है। ...आत्मासे उत्पन्न सुखमें तृप्ति और विषय सुखसे निवृत्ति ही इसका फल है।

३. पाँच कुत्सित भावनाएँ

भ. आ./मू./१७९/३९६ कंदप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा। एदाहु संकिलिट्ठा पंचविहा भावणा भणिदा। —कान्दर्पी (कामचेष्टा) कैल्बिषी (क्लेशकारिणी) आभियोगिकी (युद्धभावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और संमोही (कुटुम्ब मोहनी)। इस प्रकार ये पाँच भावनाएँ संक्लिष्ट कही गयी हैं।१७९। (मू. आ./६३), (ज्ञा./४/४१), (भा. पा./टी./१३/१३७ पर उद्धृत)।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. मैत्री प्रमोद आदि भावनाएँ	—दे० व्रत/२।
२. पाँच कुत्सित भावनाओंके लक्षण	—दे० वह वह नाम।
३. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी भावनाएँ	—दे० वह वह नाम।
४. वैराग्य भावनाएँ	—दे० वैराग्य।
५. महाव्रतकी पाँच भावनाएँ	—दे० वह वह व्रत।
६. व्रतोंकी पाँच-पाँच भावनाएँ मुख्यतः साधुओंके लिए और गौणतः श्रावकोंके लिए कही गयी हैं	—दे० व्रत/२।
७. परमात्म भावनाके अपरनाम	—दे० मोक्षमार्ग/२/५।
८. भावना व ध्यानमें अन्तर	—दे० धर्मध्यान/३।

२. षोडश कारण भावना निर्देश

१. षोडश कारण भावनाओंका नाम निर्देश

ष खं. ८/३/मू. ४१/७९ दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खण-लवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तधातवे, साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।४१। —दर्शन विशुद्धता, विनय सम्पन्नता, शीलव्रतोंमें निरतिचारता, छह आवश्यकोंमें अपरिहीनता, क्षणलवप्रतिबोधनता, लब्धिसंवेगसम्पन्नता, यथाशक्ति तप, साधुओंको प्रासुक परित्यागता, साधुओंकी समाधिसंधारणा, साधुओंकी वैयावृत्ययोगयुक्तता, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, प्रवचनवत्सलता, प्रवचनप्रभावनता और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगयुक्तता, इन सोलह कारणोंसे जीव तीर्थंकर नाम-गोत्रकर्मको बाँधते हैं।४१। (मं. बं. १/§३४/३५/१६)।

त. सू./६/२४ दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य।२४। —दर्शनविशुद्धि, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतोंका अतिचार रहित पालन करना, ज्ञानमें सतत उपयोग, सतत संवेग, शक्तिके अनुसार त्याग, शक्तिके अनुसार तप, साधुसमाधि, वैयावृत्य करना, अरहन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति, आवश्यक क्रियाओंको न छोड़ना, मोक्षमार्गकी प्रभावना और प्रवचनवात्सल्य ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रव हैं।२४। (द्र. सं./टी./३८/१५९/१)।

★ **षोडशकारण भावनाओंके लक्षण**—दे० वह वह नाम।

२. सर्व या किसी एक भावनासे तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है

स. सि./६/२५/३३९/६ तान्येतानि षोडशकारणानि सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि च तीर्थंकरनामकर्मास्रवकारणानि प्रत्येतव्यानि। —ये सोलह कारण हैं। यदि अलग-अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं और समुदाय रूपसे सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नामकर्मके आस्रवके कारण होते हैं। (रा. वा./६/२४/१३/५३०/२२), (ध. ८/३,४१/९१/६); (चा. सा.७/५७/२)।

ध ८/३,४१/पृष्ठ/पंक्ति—तीए दंसणविसुज्झदाए एक्काए वि तित्थयरकम्मं बंधंति। (८०/६)। तदो विणयसंपण्णदा एक्काए वि तित्थयरणामकम्मं मणुआ बंधंति। (८१/४)। तीए आवासयापरिहीणदाए एक्काए वि। (८५/५)। तीए (खणलवपडिबुज्झणदाए) एक्काए वि। (८५/१२)। तीए (लद्धिसंवेगसंपण्णदाए) तित्थयरणामकम्मस्स एक्काए वि बंधो। (८६/४)। ताए एवंविहाए एक्काए (वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए) वि। (८८/१०)। —उस अकेली दर्शनविशुद्धि भावनासे अथवा अकेली विनयसम्पन्नतासे, अथवा अकेली आवश्यक अपरिहीनतासे, अथवा अकेली क्षणलव प्रतिबद्धतासे, अथवा अकेली लब्धिसंवेगसम्पन्नतासे, अथवा अकेली वैयावृत्य योगयुक्ततासे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध होता है।

३. एक-एकमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

चा. सा./५७/२ एकैकस्यां भावनायामविनाभाविन्य इतरपञ्चदश भावना.। —प्रत्येक भावना शेष पन्द्रहों भावनाओंकी अविनाभावी हैं क्योंकि शेष पन्द्रहोंके बिना कोई भी एक नहीं हो सकती।—(विशेष दे० वह वह नाम)।

★ **दर्शन विशुद्धि भावनाकी प्रधानता**—दे० दर्शन विशुद्धि/३।

भावना पचीसीव्रत—प्रथम दश दशमीके १०, पाँच पंचमीके ५, आठ अष्टमीके ८, दो पडिमाके २, इस प्रकार पाँच माह पर्यन्त २५ उपवास करे, तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान सं./पृ. ४९)।

भावना पद्धति— भट्टारक पद्मनन्दि (ई. १३२८-१३९८) कृत ३४ संस्कृत पद्य प्रमाण जिनस्तवन। (ती०/३/३२४)।

भावना विधि व्रत— प्रत्येक व्रतकी ५ भावनाओंके हिसाबसे पाँच व्रतोंकी २५ भावनाओंको भाते हुए एक उपवास एक पारणा क्रमसे २५ उपवास पूरे करे। (ह. पु./३४/११३)।

भाव निक्षेप—दे० निक्षेप।

भाव निर्जरा—दे० निर्जरा/१।

भाव परमाणु—दे० परमाणु/१।

भाव परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भाव पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७६) कृत, जीवके शुभ अशुभ व शुद्ध भाव प्ररूपक, १६५ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ. श्रुतसागर (ई. १४८१-१४९९) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती./२/११४)

भाव बंध—दे० बंध/२।

भाव मल—दे० मल।

भाव मोक्ष—दे० मोक्ष/१।

भाव लिंग—दे० लिंग/१।

भाव लेश्या—दे० लेश्या/१।

भाव शुद्धि—दे० शुद्धि।

भाव श्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/I/१,२।

भाव संग्रह—१. आ. देवसेन द्वारा वि. १००५ में रचित ७०१ प्राकृत गाथा प्रमाण, सिद्धान्त प्ररूपक ग्रन्थ (जै./१/४१७, ४२१); (ती./२/३६१)। २. वामदेव (वि. श. १४ उत्तरार्ध) कृत ७८२ संस्कृत श्लोक प्रमाण, उपर्युक्त नं. १ की छाया मात्र (जै./१/४२१)।

भाव संवर—दे० संवर/१।

भाव सत्य—दे० सत्य/१।

भाव सिंह—जोधराजजी व भावसिंह दोनों सहयोगी थे। पुण्यास्रव कथाकोषकी रचना करते हुए अधूरा छोड़कर ही स्वर्ग सिधार गये। शेष भाग वि. १७९२ में जोधराजजीने पूरा किया था। समय—१७९२ (हिं. जै. सा. इ./१७८ कामता)।

भावसेन त्रैविद्य—मूलसंघ सेनगण के नैयायिक विद्वान् आचार्य। कृतियें—प्रमाप्रमेय, कथाविचार, शाकटायन व्याकरण टीका, कातन्त्र रूपमाला, न्याय सूर्यावली, भुक्ति मुक्ति विचार, न्यायदीपिका, सिद्धान्तसार, सप्तपदार्थी टीका। समय- ई. श. १३ का मध्य। (ती./३/२६६, २६६)।

भावार्थ—आगम का अर्थ करने की विधि। (दे. आगम ज्ञान/३)।

भावार्थ दीपिका—पं. शिवजित (वि०१८१८) कृत भगवती आराधनाकी भाषा टीका—दे० भगवती आराधना।

भावास्रव—दे० आस्रव/१।

भावि नैगम नय—दे० नय/III/२।

भावेंद्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

भाव्य भावक भाव—दे० संबंध।

भाषा—साधारण बोलचालको भाषा कहते हैं। मनुष्योंकी भाषा साक्षरी तथा पशु पक्षियोंकी निरक्षरी होती है। इसी प्रकार आमन्त्रणी आक्षेपिणी आदिके भेदसे भी उसके अनेक भेद हैं।

१. भाषा सामान्यके भेद

स. सि./५/२४/२९४/१२ शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषालक्षणो द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति। —भाषा रूप शब्द और अभाषा शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२१); (ध. १३/५, ५, २६/२२१/६); (पं. का./ता. वृ. ७६/१३५/५); (द्र. सं. टी./१६/५२/२); (गो. जी./जी.प्र./३१५/६७३/१४)।

२. अक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/१ अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः। —जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं, जिसमें आर्य और म्लेच्छोंका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२४) (पं. का./ता. वृ./७६/१३५/६)।

ध. १३/५,५,२६/२२१/११ अक्खरगया अणुवघादिदियसण्णिपंचिंदियपज्जत्तभासा। सा दुविहा—भासा कुभासा चेदि। तत्थ कुभासाओ कीरपारसिय-सिंघल-बब्बरियादीण विणिग्गयाओ सत्तसयभेदभिण्णाओ। भासाओ पुण अट्ठारस हवंति तिकुरुक-तिलाड तिमरहट्ठ-तिमालव-तिगउड-तिमागधभासभेदेण। —उपघातसे रहित इन्द्रियोंवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी भाषा अक्षरात्मक भाषा है। वह दो प्रकारकी है—भाषा और कुभाषा। उनमें कुभाषाएँ काश्मीर देशवासी, पारसीक, सिंहल और बर्बरिक आदि जनोंके (मुखसे) निकली हुई सात सौ भेदोंमें विभक्त हैं। परन्तु भाषाएँ तीन कुरुक (कर्णाट) भाषाओं, तीन लाड भाषाओं, तीन मरहठा (गुर्जर) भाषाओं, तीन मालव भाषाओं, तीन गौड़ भाषाओं, और तीन मागध भाषाओंके भेदसे अठारह होती हैं। (पं. का./ता. वृ./मंगलाचरण/पृ. ४/५)।

द्र. सं./टी./१६/५२/३ तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा। —अक्षरात्मक भाषा संस्कृत प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप पैशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य व म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहारके कारण अनेक प्रकारकी है।

३. अनक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/२ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। —जिससे उनके सातिशयज्ञानका पता चलता है ऐसे द्वि इन्द्रिय आदि जीवोंके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२५)।

ध. १३/५,५,२६/२२१/१० तत्थ अणक्खरगया बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदियाणं मुहसमुब्भुदा बालमूअसण्णिपंचिंदियभासा च। —द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके मुखसे उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है।

पं. का./ता. वृ./७६/१३५/७ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च। —अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्दरूप और दिव्यध्वनि रूप होते हैं।

४. दुर्भाषाके भेद

ज्ञा./१८/६ पर उद्धृत—कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी। छेद्याङ्कुरा मध्यकृशातिमानिनी भयंकरी। भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजेत्। ...।२। —कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी, और जीवोंकी हिंसा करनेवाली ये दश दुर्भाषा हैं, इनको छोड़े। (अन. ध./४/१६५-१६६)।

५. आमंत्रणी आदि भाषा निर्देश

भ. आ./मू. वि./११९४-११९६/११९१ आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी। पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य।११९५। संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा। णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया।११९६। टी०—आमंतणी

यया भाषा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमंत्रणी। हे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसंकेतानभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसंकेतयोः प्रतीतिनिमित्तमनिमित्तं चेति द्व्यात्मकता। स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आनवणी। चोदितायाः क्रियायाः करणमकरणं चापेक्ष्य नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। याचनी ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोधवेदनास्ति भवतां न वेति प्रश्नवाक् संपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा। वेदना भावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। पण्णवणी नाम धर्म्मकथा। सा बहूनुद्दिश्य प्रवृत्ता केचिच्चन्मनसि करणमितरे रकरणं चापेक्ष्य करणत्वाद् द्विरूपा। पच्चक्खवाणी नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इदं क्षीरादिकं इयंतं कालं मया प्रत्याख्यातं इत्युक्तं कार्यान्तरमुद्दिश्य तत्कुर्विद्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो न पूर्णं इति नैकान्ततः सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्तः। इच्छानुलोमा च ज्वरितेन पृष्टं घृतशर्करामिश्रं क्षीरं शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति। माधुर्यादिप्रशस्य गुणसद्भावं ज्वरवृद्धिनिमित्ततां चापेक्ष्य न शोभनमिति वचो न मृषैकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्व्यात्मकता।११६५। संसयवयणी किमयं स्थाणुरुत पुरुषं इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभावं चापेक्ष्य द्विरूपता। अणक्खरगदा अंगुलिस्फोटादिध्वनिः कृताकृतसंकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्ततां च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा। = १. जिस भाषासे दूसरोंको अभिमुख किया जाता है, उसको आमंत्रणी—सम्बोधिनी भाषा कहते हैं। जैसे—'हे देवदत्त यहाँ आओ' देवदत्त शब्दका संकेत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने संकेत ग्रहण नहीं किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है। २. आज्ञापनी भाषा—जैसे स्वाध्याय करो, असंयमसे विरक्त हो जाओ, ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया करनेसे सत्यता और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है, इसलिए इसको एकान्त रीतिसे सत्य भी नहीं कहते और असत्य भी नहीं कह सकते हैं। ३. ज्ञानके उपकरण शास्त्र और संयमके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है। दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है। अतः यह सर्वथा सत्य भी नहीं है और सर्वथा असत्य भी नहीं है। ४. प्रश्न पूछना उसको प्रश्नभाषा कहते हैं। जैसे—तुमको निरोधमें—कारागृहमें वेदना दुख है या नहीं वगैरह। यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना। वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते हैं। ५. धर्मोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है। कोई मनःपूर्वक सुनते हैं और कोई सुनते नहीं, इसकी अपेक्षा इसको असत्यमृषा कहते हैं। ६. किसीने गुरुका अपनी तरफ लक्ष न खींच करके मैंने इतने काल तक क्षीरादि पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा। कार्यान्तरको उद्देश्य करके वह करो ऐसा गुरुने कहा। प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक वह एकान्त सत्य नहीं है। गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है। यह प्रत्याख्यानी भाषा है। ७. इच्छानुलोमा—ज्वरित मनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है। यदि दूसरा कहेगा कि वह अच्छा है, तो मधुरतादिक गुणोंका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है। परन्तु ज्वर वृद्धिको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है, अतः सर्वथा असत्य और सत्य नहीं है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है।११६५। ८. संशय वचन—यह असत्यमृषाका आठवाँ प्रकार है। जैसे—यह ठूंठ है अथवा मनुष्य है इत्यादि। इसमें दोनोंमें से एककी सत्यता है और इतरका अभाव है, इस वास्ते उभयपना इसमें है। ९. अनक्षर वचन—चुटकी बजाना, अंगुलिसे इशारा करना, जिसको चुटकी बजानेका संकेत मालूम है उसकी अपेक्षासे उसको वह प्रतीतिका निमित्त है, और जिसको संकेत मालूम नहीं है उसको अप्रतीतिका निमित्त होती है। इस तरह उभयात्मकता इसमें है।११६६। (मू. आ./३१५-३१६); (गो. जी./मू./२२५-२२६/४८५)।

६. पश्यन्ती आदि भाषा निर्देश

रा. वा. हिं/१/२०/१६६ शब्दाद्वैतवादी वाणी चार प्रकारकी मानते हैं—पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, सूक्ष्मा। १. पश्यन्ती—जामें विभाग नाहीं। सर्व तरफ संकोचा है क्रम जाने ऐसी पश्यन्ती कहिए—लब्धिके अनुसार द्रव्य वचनको कारण जो उपयोग। (जैनके अनुसार इसे ही उपयोगात्मक भाव वचन कहते हैं।) २. मध्यमा—वक्ताकी बुद्धि तो जाको उपादान कारण है, बहुरि सासोच्छ्वासको उलंघि अनुक्रमतै प्रवर्तती ताकू मध्यमा कहिए···शब्द वर्गणा रूप द्रव्य वचन। (जैनके अनुसार इसे शब्द वर्गणा कहते हैं।) ३. वैखरी—कण्ठादिके स्थाननिको भेदकरि पवन निसरा ऐसा जो वक्ताका सासोच्छ्वास है कारण जाकूं ऐसी अक्षर रूप प्रवर्तती ताकू वैखरी कहिए···(अर्थात्) कर्णेन्द्रिय ग्राह्य पर्याय स्वरूप द्रव्य वचन। (जैनके अनुसार इसे इसी नामसे स्वीकारा गया है।) ४. सूक्ष्मा—अन्तर प्रकाश रूप स्वरूप ज्योति रूप नित्य ऐसी सूक्ष्मा कहिए।···क्षयोपशमसे प्रगटी आत्माकी अक्षरको ग्रहण करनेकी तथा कहनेकी शक्ति रूप लब्धि। (जैनके अनुसार इसे लब्धि रूप भाव वचन स्वीकारा गया है।)

अन्य सम्बन्धित विषय

१. अभाषात्मक शब्द —दे० शब्द।
२. अभ्याख्यान व कलह आदि रूप भाषा —दे० वचन।
३. कलह पैशुन्य आदि —दे० वह वह नाम।
४. असम्बद्ध प्रलाप आदि —दे० वचन।
५. गुणवाची, क्रियावाची आदि शब्द —दे० नाम/३।
६. आगम व अध्यात्म भाषामें अन्तर —दे० पद्धति।
७. चारों अनुयोगोंकी भाषामें अन्तर —दे० अनुयोग।
८. ढोलादिके शब्दको भाषात्मक क्यों कहते हैं —दे० शब्द।

भाषा पर्याप्ति—दे० पर्याप्ति/१।

भाषा वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

भाषा समिति—दे० समिति/१।

भासुर—एक ग्रह—दे० ग्रह।

भास्कर—जीवन्धरचरित्र के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई. १४२४। (ती./४/३११)।

भास्करनंदि—तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोधिनी वृत्ति (संस्कृत) तथा ध्यानस्तव के रचयिता। जिनचन्द्र के शिष्य। समय—वि. श. १४ का अन्त (ई. श. १४)। (ती./३/३०९)। (जै./२/२९९)।

भास्कर वेदांत—द्वैताद्वैत—दे० वेदांत/३।

भिक्षा—साम्यरसमें भीगे होनेके कारण साधुजन लाभ-अलाभमें समता रखते हुए दिनमें एक बार तथा दातारपर किसी प्रकारका भी भार न पड़े ऐसे गोचरी आदि वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह भी मौन सहित, रस व स्वादसे निरपेक्ष यथा लब्ध केवल उदर पूर्तिके लिए करते हैं। इतना होनेपर भी उनमें याचना रूप दीन व हीन भाव जागृत नहीं होता। भक्ति पूर्वक किसीके प्रतिग्रह करनेपर अथवा न करनेपर श्रावकके घरमें प्रवेश करते हैं, परन्तु विवाह व

यज्ञशाला आदिमें प्रवेश नहीं करते, नीच कुलीन, अति दरिद्री व अति धनाढ्यका आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

१. भिक्षा निर्देश व विधि

१. साधु भिक्षा वृत्तिसे आहार करते हैं

मू. आ./८११, ९३७ पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति। पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण।८११। जोगेसु मूल जोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते। अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीण एहिं कया।९३७। —आप पकाना दूसरेसे पकवाना न तो करते हैं न कराते हैं वे मुनि पकानेके आरम्भसे निवृत्त हुए एक भिक्षा मात्रसे सन्तोषको प्राप्त होते हैं।८११। आगममें सब मूल उत्तरगुणोंके मध्यमें भिक्षा चर्या ही प्रधान व्रत कहा है, और अन्य जो गुण हैं वे चारित्र हीन साधुओं कर किये जानने।९३७। (प्र. सा./मू./२२६), (प. पु./४/९७)।

२. यथा काल, वृत्ति परिसंख्यान सहित भिक्षार्थ चर्या करते हैं

रा. वा./९/६/१६/५९७/१६ भिक्षाशुद्धिः···आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला...चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टोपस्थाना···। —आचार सूत्रोक्त कालदेश प्रकृतिकी प्रतिपत्तिमें कुशल है। चन्द्रगतिके समान हीन या अधिक घरोंकी जिसमें मर्यादा हो,···विशिष्ट विधानवाली हो ऐसी भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ./वि./१५०/३४५/१० भिक्षाकालं, बुभुक्षाकालं च ज्ञात्वा गृहीतावग्रहः, ग्रामनगरादिकं प्रविशेदीर्यासमितिसंपन्नः। —भिक्षाका समय, और क्षुधाका समय जानकर कुछ वृत्तिपरिसंख्यानादि नियम ग्रहण कर ग्राम या नगरमें ईर्यासमितिसे प्रवेश करे।

३. भिक्षा योग्य काल

भ. आ./वि./१२०६/१२०३/२२ भिक्षाकालः, बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रयं ज्ञातव्यं। ग्रामनगरादिषु इयता कालेन आहारनिष्पत्तिर्भवति, अमीषु मासेषु, अस्य वा कुलस्य वाटस्य वायं भोजनकाल इच्छायाः प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्यः। मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया। अयमवग्रहः पूर्वं गृहीतः। एवंभूत आहारो मया न भोक्तव्यः इति अद्यायमवग्रहो ममेति मीमांसा कार्या। —भिक्षा काल, बुभुक्षा काल और अवग्रह काल ऐसे तीन काल हैं। गाँव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तैयार होता है। अमुक महीनेमें अमुक कुलका, अमुक गलीका अमुक भोजन काल है यह भिक्षा या भोजन कालका वर्णन है।१। आज मेरेको तीव्र भूख लगी है या मन्द लगी है। मेरे शरीरकी तबियत कैसी है, इसका विचार करना यह बुभुक्षा कालका स्वरूप है। अमुक नियम मैंने कल ग्रहण किया था। इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था। आज मेरा उस नियमका दिन है। इस प्रकारका विचार करना अवग्रह काल है।

आचारसार/५/९८ जिस समय बच्चे अपना पेट भरकर खेल रहे हों।९८। जिस समय श्रावक बलि कर्म कर रहे हों अर्थात् देवताको भातादि नैवेद्य चढ़ा रहे हों, वह भिक्षा काल है।

सा. ध./६/२४ में उद्धृत—प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति। तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ, प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः। —मल मूत्रका त्याग हो जानेके पश्चात्, हृदयके प्रसन्न होनेपर, वात पित्त और कफ आदि दोषोंके अपने-अपने मार्गगामी होनेपर मलवाहक द्वारोंके खुलनेपर, भूखके लगनेपर, वात या वायुके ठीक-ठीक अनुसरण होनेपर, जठराग्निके प्रदीप्त होनेपर, इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेपर, देहके हलका होनेपर, विधि पूर्वक तैयार किया हुआ, नियमित आहारका ग्रहण करे। यही भोजनका काल माना गया है।

यहाँ 'काले' इस पदके द्वारा भोजनके कालका उपदेश दिया गया है। चर्चा समाधान/प्रश्न ६३/पृ. ६४ यदि आवश्यकता पड़े तो मध्याह्न कालमें भी चर्या करते हैं।

दे. अनुमति/६—अनुमति त्याग प्रतिमाधारी दोपहर को आहार लेता है। दे. रात्रि भोजन/१—प्रधानतः दिन का प्रथम पहर भोजन के योग्य है। दे. प्रोषधपवास/१/७—दोपहर के समय भोजन करना साधु का एक भक्त नामक मूल गुण है।

४. मौन सहित व याचना रहित चर्या करते हैं

मू. आ./८१७-८१८ णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायंति। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता।८१७। देहीति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वत्तुं। अवि णीदि अलाभेण ण य मोणं भंजदे धीरा।८१८। —मुनिराज भोजनके लिए स्तुति नहीं करते और न कुछ माँगते हैं। वे मौन व्रतकर सहित नहीं कुछ कहते हुए भिक्षाके निमित्त विचरते हैं।८१७। तुम हमको ग्रास दो ऐसा करुणा रूप मलिन वचन कहनेकी इच्छा नहीं करते। और भिक्षा न मिलनेपर लौट आते हैं, परन्तु वे धीर मुनि मौनको नहीं छोड़ते हैं।८१८।

कुरल. का./१०७/१,६ अभिक्षुको वरीवर्ति भिक्षोः कोटिगुणोदयः।—याचनास्तु वदान्ये वा निजादधिगुणे च वै।१। एकोऽपि याचना-शब्दो जिह्वाया निर्वृतिः परा। वरमस्तु स शब्दोऽपि पानीयार्थं हि गोःकृते।६। —भीख न मांगने वाले से करोड़ गुणा वरिष्ट होनेपर भी भिखारी निन्द्य है, भले ही वह किन्हीं उत्साही दाताओं से ही क्यों न मांगे।१। गाय के लिये पानी मांगने के लिये भी अपमान-जनक याचना तो करनी पड़ती ही है।६।

रा. वा./९/६/१६/५९७/१८ भिक्षाशुद्धि…दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारग-वेषणप्रणिधाना। —दीन वृत्तिसे रहित होकर प्रासुक आहार ढूँढना भिक्षा शुद्धि है। (चा. सा./७८/१)।

दे० भिक्षा/२/२ याचना करना, अथवा अस्पष्ट शब्द बोलना आदि निषिद्ध है। केवल बिजलीकी चमक के समान शरीर दिखा देना पर्याप्त है।

आ. अनु/१५१ …प्राज्ञागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्रमप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याच्ञाम्।१५१। —हे प्राज्ञागमार्थ! गुण ही तेरी स्त्रियाँ हैं। ऐसा तथा किसीसे याचना करने रूप वृत्ति भी तुझमें पायी नहीं जाती। अब तू वृथा ही याचनाको प्राप्त हो है, सो तेरे लिए इस प्रकार दीन बनना योग्य नहीं।

५. कदाचित् याचनाकी आज्ञा

भ. आ./मू./१२०६/१२०६ …उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए।१२०६। —आगमसे अविरुद्ध ज्ञान व संयमोपकरणकी याचना करनी तृतीय अर्थात् अचौर्य महाव्रतकी भावना है।

कुरल./१०६/२,८ अपमानं विना भिक्षा प्राप्यते या हुदैवतः। प्राप्ति-काले तु संप्राप्ता सा भिक्षा हर्षदायिनी।२। याचका यदि नैव स्युर्दान-धर्मप्रवर्तकाः। काष्ठपुत्तलनृत्यं स्यात् तदा संसारजालकम्।८। —बिना तिरस्कार के पा सको तो मांगना आनन्ददायी है।२। धर्म प्रवर्तक याचकों के अभाव में संसार कठपुतली के नाच से अधिक न हो सकेगा।८।

दे० अपवाद/३/३ (सल्लेखना गत क्षपककी वैयावृत्यके अर्थ कदाचित् निर्यापक साधु आहार माँगकर लाता है।)

दे० आलोचना/२/आकंपित दोष (आचार्यकी वैयावृत्यके लिए साधु आहार माँगकर लाता है।)

६. अपने स्थानपर भोजन लानेका निषेध

मू. आ./८१२ …अभिहडं च। सुत्तप्पडिकुट्ठाणि य पडिसिद्धं तं विव-ज्जेंति।८१२। —…अन्य स्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि त्याग देते हैं।८१२।

रा. वा./७/१/१६/५३५/७ नेदं संयमसाधनम्—आनीय भोक्तव्यमिति। —ला कर भोजन करना यह संयमका साधन भी नहीं है।

भ. आ./वि./११८५/११७१/१२ कश्चिद्भाजने दिवैव स्थापितं आरभ्यासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्। —पात्र में रखा आहार वसतिका में ले जाकर खाने से अपरिग्रह व्रत की रक्षा कैसे होगी।

७. गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्तियोंका निर्देश

र. सा./मू./११६ उदरग्गिसमणक्खमक्खण गोयारसब्भपूरणभमरं। णाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजए भिक्खु।११६। —मुनियोंकी चर्या पाँच प्रकारकी बतायी गयी है—उदराग्निप्रशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी।११६। (चा. सा./७८/१)।

मू. आ./८१५ अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति…। —गाड़ीके धुरा चुपड़नेके समान आहार लेते हैं।

रा. वा./९/६/१६/५९७/२० सा लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च सम-संतोषाद्भिक्षेति भाष्यते। यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीय-मानघासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति, यथा तृणो-लूपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमीक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणः यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभि-लषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनु-शकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्ष-म्रक्षणमिति च नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्निं प्रशमय-तीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति श्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते। —यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है। १ गोचरी—जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतिके द्वारा लायी गयी घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अंग-सौन्दर्य आदिको नहीं; अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होने-वाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नहीं देखती, उसी तरह भिक्षु भी परोसने वालेके मृदु ललित रूप वेष और उस स्थानकी सजावट आदिको देखनेकी उत्सुकता नहीं रखता और न 'आहार सूखा है या गीला या कैसे चाँदी आदिके बरतनोंमें रखा है या कैसी उसकी योजना की गयी है', आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अतः भिक्षाको गौ की तरह चार—गोचर या गवेषणा कहते हैं। २. अक्षम्रक्षण—जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाड़ीमें किसी भी तेलका लेपन करके—(औंगन देकर) उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुण रत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाड़ीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधि नगरतक पहुँचा देता है, अतः इसे अक्षम्रक्षण कहते हैं। ३. उदराग्निप्रशमन—जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है, उसी तरह यति भी उदराग्निका प्रशमन करता है, अतः इसे उदराग्निप्रशमन कहते हैं। ४. भ्रमराहार—दाताओंको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलतासे भ्रमर की तरह आहार ले लेते हैं। अतः इसे भ्रमराहार या भ्रामरीवृत्ति कहते हैं। ५. गर्तपूरण—जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूप गड्ढेको भर देता है अतः इसे श्वभ्रपूरण भी कहते हैं।

८. बर्तनोंकी शुद्धि आदिका विचार

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ दातुरागमनमार्गं अवस्थानदेशं, कडुच्छुकभाजनादिकं च शोधयेत् :...खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं वा। —दाताका आनेका रास्ता, उसका खड़े रहनेका स्थान, पली और जिसमें अन्न रखा है ऐसे पात्र—इनकी शुद्धताकी तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिए।...टूटो हुई अथवा खण्डयुक्त हुई ऐसे पलीके द्वारा दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए।

२. दातारके घरमें प्रवेश करने सम्बन्धी नियम व विवेक

१. अभिमत प्रदेशमें गमन करे अनभिमतमें नहीं

भ. आ./मू./१२०१/१२०६ वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु।...।१२०६। —गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाही की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिको निषिद्ध है।

भ. आ./वि./१५०/३४४/२१ अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा लभन्ते भिक्षां, यत्र वा स्थितानां गृहिणः प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभागं यतिः प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तरम्।...तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिणः। —इतर भिक्षा माँगने वाले साधु जहाँ खड़े होकर भिक्षा प्राप्त करते हैं, अथवा जिस स्थानमें ठहरे हुए साधुको गृहस्थ दान देते हैं, उतने ही भूप्रदेशतक साधु प्रवेश करें, गृहके अभ्यन्तर भागमें प्रवेश न करें...क्योंकि द्वारादिकोंका उल्लंघन कर जानेसे गृहस्थ कुपित होंगे। (भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२); (भ. आ./पं. सदासुख/२५०/१३१/६)।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/पंक्ति नं. द्वारमर्गलं कवाटं वा नोद्घाटयेत् ।१०। परोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत्। ।१५। —यदि द्वार बन्द होगा, अर्गलासे बन्द होगा तो उसको उघाड़ना नहीं चाहिए।१०। परोपरोध रहित अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबन्ध नहीं है ऐसे घरमें जाने-आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंके प्रार्थना करनेपर खड़े होना चाहिए।१५। (और भी देखो अगला शीर्षक)।

२. वचन व काय चेष्टारहित केवल शरीर मात्र दिखाये

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१३ याच्यामव्यक्तस्वनं वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात्। विद्युदिव स्वां तनुं च दर्शयेत्, कोऽमलभिक्षां दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात्। —याचना करना अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिए अस्पष्ट बोलना या खकारना आदि निषिद्ध है। बिजलीके समान अपना शरीर दिखा देना पर्याप्त है। मेरे को कौन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा संकल्प भी न करे।

आचारसार/५/१०८ क्रमेणायोग्यागारालि पर्यटनां प्राङ्गणाभितं। विशेन्मौनो विकाराङ्गसंज्ञायाश्चोज्झितो यतिः। —क्रम पूर्वक योग्य घरोंके आगेसे घूमते हुए मौन पूर्वक घरके प्रांगण तक प्रवेश करते हैं। तथा शरीरके अंगोपांगसे किसी प्रकारका इशारा आदि नहीं करते हैं।

चर्चा समाधान/प्रश्न ५३/पृ. ५४ —प्रश्न—व्रती तो द्वारापेक्षण करे पर अव्रती तो न करे। उत्तर—गृहस्थके आँगनमें चौथाई तथा तीसरे भाग जाइ चेष्टा विकार रहित देह मात्र दिखावे। फिर गृहस्थ प्रतिग्रह करे।

भ. आ./पं. सदासुखदास/२५०/१३१/८ बहुरि गृहनिमें तहाँ ताईं प्रवेश करे जहाँ ताईं गृहस्थनिका कोऊ भेषी अन्य गृहस्थनिके आनेकी अटक नहीं होय। बहुरि अगणमें जाय खड़े नहीं रहे। आशीर्वादादिक मुखतैं नहीं कहै। हाथकी समस्या नहीं करें। उदरकी कृशता नहीं दिखावै। मुखकी विवर्णता नहीं करै। हुंकारादिक सैन संज्ञा समस्या नहीं करै, पड़िगाहे तो खड़े रहे, नहीं पड़िगाहे तो निकसि अन्य गृहनिमें प्रवेश करै।

३. छिद्रमें-से झाँककर देखनेका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१६ छिद्रद्वारं कवाटं, प्राकारं वा न पश्येत् चौर इव। —चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड़ तट वगैरहका अवलोकन न करे।

४. गृहस्थके द्वार पर खड़े होनेकी विधि

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१५ अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत्। समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चलः कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत्। —घरमें जाने-आनेका मार्ग छोड़कर गृहस्थोंके प्रार्थना करनेपर खड़े होना चाहिए। समान छिद्र रहित ऐसी जमीन पर अपने दोनों पाँवोंमें चार अंगुल अन्तर रहेगा इस तरह निश्चल खड़े रहना चाहिए। भीत, खम्भ वगैरहका आश्रय न लेकर स्थित खड़े रहना चाहिए।

५. चारों ओर देखकर सावधानीसे वहाँ प्रवेश करे

भ. आ. वि./१५०/३४५/३ द्वारमप्यायामविष्कम्भहीनं प्रविशतः गात्रपीडासंकुचिताङ्गस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेशं दृष्ट्वा कुप्यन्ति वा। आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च। द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्द्दने शिक्यावलम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी वा अभिहन्ति। तस्मादूर्ध्वं तिर्यक् चावलोक्य प्रवेष्टव्यं। —दीर्घता व चौड़ाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको व्यथा होगी, अंगोंको संकुचित करके जाना पड़ेगा। नीचेके अवयवोंको पसार कर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथवा हास्य करेंगे। इससे साधुको आत्म विराधना अथवा मिथ्यात्वाराधना होगी। संकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंको पीड़ा होगी, अपने अवयवोंका मर्दन होगा। यदि ऊपर साधु न देखे तो सीकेमें रखे हुए पात्रोंको धक्का लगेगा। अतः साधु ऊपर और चारों तरफ देखकर प्रवेश करें।

६. सचित्त व गन्दे प्रदेशका निषेध

भ. आ./वि./१५०/पृ. नं./पं. नं. गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेत्यभिहितोऽपि नान्धकारं प्रविशेत्त्रसस्थावरपीडापरिहृतये। (३४४/२२) तदानीमेव लिप्तां, जलसेकाद्रां, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपलाशादिभिर्निरन्तरां, सचित्तमृत्तिकावतीं, छिद्रबहुलां, विचरत्त्रसजीवानां (३४५/६) मूत्रासृक्पुरीषादिभिरुपहतां भूमिं न प्रविशेत् (३४५/८) —गृहस्थोंके तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहनेपर भी अन्धकारमें साधुको प्रवेश करना युक्त नहीं। अन्यथा त्रस व स्थावर जीवोंका विनाश होगा। (३४४/२२) तत्काल लेपी गयी, पानीके छिड़कावसे गीली की गयी, हरातृण, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके ऊपर फैले हुए हैं ऐसी, सचित्त मिट्टीसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहाँ त्रस जीव फिर रहे हैं।...जो मूत्र, रक्त, विष्टादिसे अपवित्र बनी है, ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करे। अन्यथा उसके संयमकी विराधना होगी व मिथ्यात्व आराधनाका दोष लगेगा।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/३,७,११ अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना।३।...तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचयं, दलोपलफलादिकं च परिहरेत्।७। पुष्पैः फलैर्बीजैर्वा विकीर्णां भूमिं वर्जयेत्। तदानीमेव लिप्तां। —जिसमें कीचड़ नहीं है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो त्रस व हरितकाय जन्तुओंसे रहित है, ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिए।...धानके छिलके, गोबर, भस्मका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फलकादिकों का परिहार करके गमन करना चाहिए।...जो जमीन पुष्प, फल और बीजोंसे व्याप्त हुई है अथवा हालमें ही लीपी गयी है उस परसे जाना निषिद्ध है।

७. व्यस्त व शोक युक्त गृहका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२ तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत्। –जहाँ मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हों, खिन्न दीख रहे हों उनका मुख दीनता युक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है।

८. पशुओं व अन्य साधु युक्त प्रदेशका निषेध

भ. आ./वि./१५०/३४४/१५ तथा भिक्षानिमित्तं गृहं प्रवेष्टुकामः पूर्वं अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्यः, प्रसूता वा गावः, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचराः श्रमणाः सन्ति न सन्तीति। सन्ति चेन्न प्रविशेत। यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात्। ते हि भीता यतिं बाधन्ते स्वयं वा पलायमानाः त्रसस्थावरपीडां कुर्युः। क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयुः। गृहीतभिक्षाणां वा तेषां निर्गमने गृहस्थैः प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्यं। अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ताः कस्मैचिदपि न दद्युः। तथा च भोगान्तरायः कृतः स्यात्। क्रुद्धाः परे भिक्षाचराः निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्टं गृहं किमर्थं प्रविशतीति ।……(एलकं वत्सं वा नातिक्रम्य प्रविशेत। भीता पलायनं कुर्युरात्मानं मा पातयेयुः)। –भिक्षाके लिए श्रावक घरमें प्रवेश करते समय प्रथमतः इस घरमें बैल, भैंस, प्रसूत गाय, दुष्ट कुत्ता, भिक्षा माँगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे, यदि न होंगे तो प्रवेश करे अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भययुक्त न होवें तो यहाँसे सावधान रहकर प्रवेश करे। यदि वे प्राणी भययुक्त होंगे तो उनसे यतिको बाधा होगी। इधर-उधर वे प्राणी दौड़ेंगे तो त्रसजीवोंका, स्थावर जीवोंका विनाश होगा अथवा साधुके प्रवेशसे उनको क्लेश होगा। किंवा भागते समय गड्ढेमें गिरकर मृत्यु वश होंगे। जिन्होंने भिक्षा ली है ऐसे अन्य साधु घरसे बाहर निकलते हुए देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देखकर वा सुनकर तदनन्तर प्रवेश करना चाहिए। यदि मुनिवर इसका विचार न कर श्रावक गृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये हैं ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसीको भी दान न देंगे। अतः विचार बिना प्रवेश करना लाभांतरायका कारण होता है। दूसरे भिक्षा माँगनेवाले पाखंडी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ मिलनेकी आशासे यहाँ प्रवेश किया है, यह मुनि क्यों यहाँ आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे।……घरमें बछड़ा अथवा गायका बछड़ा हो तो उसको लाँघकर प्रवेश न करे अन्यथा वे डरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१० बालवत्सं, एलकं, शुनो वा नोल्लङ्घयेत्। …भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेहं न प्रविशेत। –छोटा बछड़ा, बकरा और कुत्ता इनको लाँघ कर नहीं जाना चाहिए।… जहाँ अन्य भिक्षु आहार लाभके लिए खड़े हुए हैं, ऐसे घरमें प्रवेश करना निषिद्ध है।

९. बहुजन संसक्त प्रदेशका निषेध

रा. वा./९/६/१६/५९७/१९ भिक्षाशुद्धिः…दीनानाथदानशाला विवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता…। –दीन अनाथ दानशाला विवाह-यज्ञ भोजनादिका जिसमें परिहार होता है, ऐसी भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ./वि./१५०/३४५/७ गृहिणां भोजनार्थं कृतमण्डलपरिहारो, देवताध्युषिता निकटीभूतनानाजनामन्त्रितकस्थासनशयनामासीनशयितपुरुषां…भूमिं न प्रविशेत। –जहाँ गृहस्थोंके भोजनके लिए रंगावली रची गयी है, देवताओंकी स्थापनासे युक्त, अनेक लोग जहाँ बैठे हैं, जहाँ आसन और शय्या रखे हैं, जहाँ लोक बैठे हैं और सोये हैं… ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करें।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/८ न गीतनृत्यवाद्याकुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत्।…यज्ञशालां, दानशालां, विवाहगृहं, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत। –जहाँ पताकाओंकी पंक्ति सजायी जा रही है ऐसे घरमें प्रवेश न करे।…यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोंने छोड़ा है ऐसे गृहोंका त्याग करना चाहिए।

१०. उद्यान गृह आदिका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१४ रहस्यगृहं, वनगृहं कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत। –एकांतगृह, उद्यानगृह, कदलियोंसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे-छोटे वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाट्यशाला, गन्धर्वशाला, इन स्थानोंमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है।

३. योग्यायोग्य कुल व घर

१. विधर्मी आदिके घरपर आहार न करे

दे० आहार/I/२/२ अनभिज्ञ साधर्मी और आचार क्रियाओंको जाननेवाले भी विधर्मी द्वारा शोधा या पकाया गया, भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए।

दे० भिक्षा/३/२ नीच कुल अथवा कुलिंगियोंके गृहमें आहार नहीं लेना चाहिए।

क्रियाकोष/२०८-२०९ जैनधर्म जिनके घर नाहीं। आन-आन देव जिनके घर माँही।२०८। तिनिको छूआ अथवा करको। कबहू न खावे तिनके घरको।२०९।

२. नीच कुलीनके घर आहार करनेका निषेध

मू. आ./४९८, ५०० अभोजगिहपवेसणं।४९८। कारणभूदा अभोयणस्सेह।५००। –अभोज्य घरमें प्रवेश करना भोजन त्यागका कारण है, अर्थात् २१ वाँ अन्तराय है।

लि. पा./मू./२१ पुंच्छलिधरि जो भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं। पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो।२१। –जो लिंगधारी व्यभिचारिणी स्त्रीके घर भोजन करते हैं, और 'यह बड़ी धर्मात्मा है' इस प्रकार उसकी सराहना करते हैं। सो ऐसा लिंगधारी बालस्वभावको प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भाव विनष्ट है, सो श्रमण नहीं है।२१।

रा. वा./९/६/१६/५९७/१७ भिक्षाशुद्धि…लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा…। –भिक्षा शुद्धि लोक गर्हित कुलोंका परिवजन या त्याग करानेवाली है।

भ. आ./वि./४२१/६१३/१४ एतेषां पिण्डो नामाहारः, उपकरणं वा प्रतिलेखनादिकं शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरणं तृतीयः स्थितिकल्पः। सति शय्याधरपिण्डग्रहणे प्रच्छन्नमयं योजयेदाहारादिकं। धर्मफललोभाद्यो वा आहारं दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसतिं प्रयच्छेत। सति वसतौ आहारादाने वा लोको मां निन्दति–स्थिता वसतावस्य यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषां आहारो दत्त इति। यतेः स्नेहश्च स्यादाहारं वसतिं च प्रयच्छति तस्मिन् बहुपकारितया। तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसंस्पर्शः। –इनके (शय्याधरोंके दे० शय्याधर) आहारका और इनकी पिच्छिका आदि उपकरणोंका त्याग करना यह तीसरा स्थितिकल्प है। यदि इन शय्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेंगे तो धर्म फलके लोभसे ये शय्याधर मुनियोंको आहार देते हैं ऐसी निन्दा होगी। जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है, वह मुनियोंको वसतिका दान न देवें। उसने वसतिका दान किया तो भी इस मन्दभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परन्तु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निन्दा करते हैं। जो वसतिका और आहार दोनों देता है

उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना सम्भव है क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है। अतः उनके यहाँ मुनि आहार ग्रहण नहीं करते।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/८ मत्तानां गृहं न प्रविशेद्। सुरापण्याङ्गनालोकगर्हितकुलं वा।········उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। —मत्त पुरुषोंके घरमें प्रवेश न करे। मदिरा अर्थात् मदिरा पीनेवालोंका स्थान, वेश्याका घर, तथा लोक निन्द्य कुलोंका त्याग करना चाहिए।···आचार विरुद्ध चलनेवाले श्रमन्त लोगोंके घरका त्याग करना चाहिए।

आचारसार/८/१०१-१०७ कोतवाल, वेश्या, बन्दीजन, नीच कर्म करनेवालेके घरमें प्रवेशका निषेध है।

ला. ध./३/१०/१८१ पर फुटनोट— मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्। तदामूत्रादिसंपर्कं न कुर्वीत कदाचन। —मद्य पीनेवालोंके घरोंमें अन्न पान नहीं करना चाहिए। तथा मल मूत्रादिका सम्पर्क भी उस समय नहीं करना चाहिए।

बो.पा./टी./४८/११२/१५ किं तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह— गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविनः। मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च।१। अस्यायमर्थः—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते। तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्मजलशकटादिवाहकादेः श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते। मालिकस्य पुष्पोपजीविनः; विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैलिकस्य घाँचिकस्य। दीनस्य सूतिकायाश्च छिंपकस्य विशेषतः। मद्यविक्रयिणो मद्यपायिसंसर्गिणश्च न।२। दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। सूतिकाया या बालकानां जननं कारयति। अन्यत्सुगमं। शालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुद। नापितश्चेति विज्ञेया पञ्चैते पञ्चकारव।३। रजकस्तक्षकश्चैव अयः सुवर्णकारकः। दृषत्कारादयश्चेति कारवो बहवः स्मृता।४। क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना। एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा।५। वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुर्दृशां। मन्दिरे भोजनं यस्मात्सर्वसावद्यसंगमः।६। —वे अयोग्य घर कौनसे हैं जहाँसे साधुको भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। सो बताते हैं—गायक अर्थात् गानेकी आजीविका करनेवाले गन्धर्व लोगोंके घरमें भोजन नहीं करना चाहिए। तलार अर्थात् कोतवालके घर तथा चमड़ेका तथा जल भरनेका तथा रथ आदि हाँकने इत्यादिका नीचकर्म करनेवाले श्रावकोंके घरमें भी भोजन नहीं करना चाहिए। माली अर्थात् फूलोंकी आजीविका करनेवालेके घर, तथा कुलिंगियोंके घर तथा वेश्या अर्थात् गणिकाके घर और तैलीके घर भी भोजन नहीं करना चाहिए।१। इसके अतिरिक्त निम्न अनेक घरोंमें भोजन नहीं करना चाहिए—श्रावक होते हुए भी जो दीन वचन कहे, सूतिका अर्थात् जिसने हाल ही में बच्चा जना हो, छिंपी (कपड़ा रंगनेवाले), मद्य बेचने वाले, मद्य पीनेवाले, या उनके संसर्गमें रहनेवाले।२। जुलाहे, माली, कुम्हार, तिलतुंड अर्थात् तैली, नाई अर्थात् नाई इन पाँचोंको पाँच कारव कहते हैं।३। रजक (धोबी), तक्षक (बढ़ई), लुहार, सुनार, दृषत्कार अर्थात् पत्थर घड़नेवाले इत्यादि अनेकों कारव हैं।४। ये तथा अन्य भी अपनी बुद्धिसे विचारकर, मोक्षमार्गी यतियोंको इनके घर भोजन नहीं करना चाहिए।५। अपने हाथसे पकाकर खा लेना अच्छा है परन्तु ऐसे कुदृष्टि व नीचकर्मोपजीवी लोगोंके घरमें भोजन करना योग्य नहीं है, क्योंकि इससे सर्व सावद्यका प्रसंग आता है।

३. शूद्रसे छूनेपर स्नान करनेका विधान

आचारसार/२/७० स्पृष्टे कपालिचाण्डालपुष्पवत्यादिके सति। जपेदुपोषितो मन्त्रं प्रागुप्लुत्याशु दण्डवत्।७०। —कपाली, चण्डाली और रजस्वला स्त्रीसे छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीकी धार डाले, जो पाँवों तक आ जाये। उपवास करे। महा मन्त्रका जाप करे।

ला. ध./२/३३/१०६ पर फुटनोट—मस्तैऽस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितं। —दुर्जन (अर्थात् अस्पर्श चाण्डाल आदिके साथ स्पर्श होनेपर मुनिको स्नान करना चाहिए।

अन. ध./५/५६ तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः···च।६। —चाण्डालादिका स्पर्श हो जानेपर अन्तराय हो जाता है।

४. अति दरिद्रीके घर आहार करनेका निषेध

रा. वा./९/६/१६/५९७/१८ भिक्षाशुद्धिः ··· दीनानाथ··· गेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता। —दीन अनाथोंके घरका त्याग करना भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/६ दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। —अतिशय दरिद्री लोगोंके घर तथा आचार विरुद्ध श्रमन्तोंके घरमें भी प्रवेश न करे।

बो. पा./टी./४८/११२ पर उद्धृत-दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। —श्रावक होते हुए भी जो दीन वचन कहे, उसके घर भोजन नहीं करना चाहिए।

५. कदाचित् नीच घरमें भी आहार ले लेते हैं

मू. आ./८१३ अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु। घरपंतिहिं हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति।८१३। नीच उच्च तथा मध्यम कुलोंमें गृह-पंक्ति के अनुसार वे मुनि भ्रमण करते हैं और फिर मौन पूर्वक अज्ञात अनुज्ञात भिक्षाको ग्रहण करते हैं।८१३।

६. राजा आदिके घरपर आहारका निषेध

भ. आ./वि./४२१/६१३/१९ राजपिण्डाग्रहणं चतुर्थः स्थितिकल्पः। राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते रञ्जयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। तस्य पिण्डः। स त्रिविधो भवति। आहारः, अनाहारः, उपधिरिति। तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशनादिभेदेन। तृणफलकपीठादिः अनाहारः, उपधिर्नाम प्रतिलेखनं वस्त्रं पात्रं वा। एवंभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोषः इति चेद् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परसमुत्थाः मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति। तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात्। ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति। हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढा, श्वानश्च ग्राम्याः दुष्टाः। दुष्टेभ्य. संयतोपघात.। भद्राः पलायमानाः स्वयं दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावमोल्लंघनादिपरा। प्राणिन आरण्यकास्तु व्याघ्रकव्यादद्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्राश्चेत्पलायने पूर्वदोषः। मानुषास्तु तलवरा म्लेच्छभेदाः, प्रेष्याः, दासाः दास्यः इत्यादिकाः तै राकुलत्वाद दुःप्रवेशनं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादयः उपहसंति, आक्रोशयन्ति वारयन्ति वा। अवरुद्धायाः स्त्रिया मैथुनसंज्ञया बाध्यमाना. पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थं। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता अयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति। राजा विश्वस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टाः खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति वा एते परसमुत्था दोषाः। आत्मसमुद्भवास्तुच्यन्ते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृतं च गृह्णाति। विकृतिसेवनादिगालदोषः, अनर्घ्यमाल्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिकं गृह्णीयाद्यामलोचना वा सुरूपाः समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत। तां विभूतिं, अन्तःपुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात्। इति दोषसंभवो यत्र तद्राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो। —राजाके यहाँ आहार नहीं लेना चाहिए यह चौथा स्थिति कल्प है। १. राजासे तात्पर्य—इक्ष्वाकुवंश हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करता, तथा उनकी दुष्टोंसे रक्षा करता, इत्यादि उपायोंसे अनुरंजन करता है उसको

राजा कहते हैं। राजाके समान जो महर्द्धिके धारक अन्य धनाढ्य व्यक्ति हैं, उसको भी राजा कहते हैं। ऐसोंके यहाँ पिण्ड ग्रहण करना राजपिण्ड है। **राजपिण्डका तात्पर्य**—उपरोक्त लोगोंके हाँ आहार राजपिण्ड है। इसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। अन्न, पान और खाद्य, स्वाद्यके पदार्थोंको आहार कहते हैं। तृण, फलक आसन वगैरहके पदार्थोंको अनाहार कहते हैं। पिच्छी, वस्त्र, पात्र आदिको उपधि कहते हैं। **राजपिण्ड ग्रहणमें परकृतदोषः**—राजपिण्ड ग्रहण करनेमें क्या दोष है? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा है—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ—ऐसे दोषोंके दो भेद हैं। ये दोष मनुष्य और तिर्यंचों-के द्वारा होते हैं। तिर्यंचोंके ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद हैं। ये दोनों प्रकारके तिर्यंच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकारके हैं। घोड़ा, हाथी, भैंसा, मेंढा, कुत्ता इनको ग्राम्य पशु कहते हैं। सिंह आदि पशु अरण्यवासी हैं। ये पशु राजाके घरमें प्रायः होते हैं। **तिर्यंचकृत उपद्रव**—यदि ये उपरोक्त पशु दुष्ट स्वभावके होंगे तो उनसे मुनियोंको बाधा पहुँचती है। यदि वे भद्र हों तो वे स्वयं मुनिको देखकर भयसे भागकर दुखित होते हैं। स्वयं गिर पड़ते हैं अथवा धक्का देकर मुनियोंको मारते हैं। इधर उधर कूदते हैं। बाघ, सिंह आदि मांस भक्षी प्राणी, वानर वगैरह प्राणी राजाके घरमें-बन्धनसे यदि मुक्त हो गये होंगे तो उनसे मुनिका घात होगा और यदि वे भद्र होंगे तो उनके इधर-उधर भागनेपर भी मुनिको बाधा होनेकी सम्भावना है। **मनुष्यकृत उपद्रव**—मनुष्योंसे भी राजाके घरमें मुनियोंको दुख भोगने पड़ते हैं। उनका वर्णन इस प्रकार है—राजाके घरमें तलवर (कोतवाल) म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते हैं। इन लोगोंसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहाँ प्रवेश होनेमें कठिनता पड़ती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहाँ उन्मत्त दास वगैरह उनका उपहास करते हैं, उनको निंद्य शब्द बोलते हैं, कोई उनको अन्दर प्रवेश करनेमें मनाई करते हैं, कोई उनको उल्लंघन करते हैं। वहाँ अन्तःपुरकी स्त्रियाँ यदि काम विकारसे पीड़ित हो गयीं अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिए अपने घरमें प्रवेश करवाती हैं। कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चुराकर 'यहाँ मुनि आया था उसने चोरी की है' ऐसा दोषारोपण करते हैं। यह राजा मुनियोंका भक्त है, ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेष धारणकर राजाके यहाँ प्रवेश करते हैं, और वहाँ अनर्थ करते हैं, जिससे असली मुनियोंको बाधा पहुँचनेकी बहुत सम्भावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविवेकी बनकर मुनियोंको दुख देता है। अथवा अविवेकी दुष्ट लोक मुनियोंको दोष देते हैं, उनको मारते हैं। ऐसे इतर व्यक्तियोंसे उत्पन्न हुए अर्थात् परसमुत्थ दोषोंका वर्णन किया। **आत्म समुत्थ दोष**—अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कौनसे दोष करते हैं, ऐसे आत्म-समुत्थ दोषोंका वर्णन करते हैं—राजगृहमें जाकर आहार शुद्ध है या नहीं इसका शोध नहीं करेगा, देख-भालकर न लाया हुआ आहार ही ग्रहण कर लेता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लम्पट हो जाता है। दुर्दैवसे वहाँके रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा। अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव उसका अन्तःपुर, वेश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका सम्भव होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए।

दे० भिक्षा/२/१ में भ. आ. पहरेदारोंसे युक्त गृहका त्याग करना चाहिए।

७. कदाचित् राजपिंडका भी ग्रहण

भ. आ./वि./४२१/६१४/८ इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रति-षेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थे राजपिण्डोऽपि दुर्लभद्रव्यं। आगाढ-कारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति।—(उपरोक्त शीर्षकमें कथित) राजपिंडके दोषोंका सम्भव जहाँ होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए। परन्तु जहाँ ऐसे दोषोंकी सम्भावना नहीं है वहाँ मुनिको आहार लेनेकी मनाई नहीं है। गत्यन्तर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसंग हो तो उसका रक्षण करनेके लिए राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है। ग्लान मुनि अर्थात् बीमार मुनिके लिए राजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है। बीमारी, श्रुतज्ञान का रक्षण ऐसे प्रसंगमें राजाके यहाँ आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

म. पु./२०/६६-८१ का भावार्थ—श्रेयान्सकुमारने भगवान् ऋषभदेवको आहारदान दिया था।

८. मध्यम दर्जेके लोगोंके घर आहार लेना चाहिए

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१० दरिद्रकुलानि उत्कमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठाल्पमध्यानि सममेवाटेत्।—अतिशय दरिद्री लोगोंके घर तथा आचार विरुद्ध चलनेवाले सम्पन्न लोगोंके गृहका त्याग करके बड़े छोटे व मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए।

दे. भिक्षा/३/१ दरिद्र व धनवान रूप मध्यम दर्जेके घरोंकी पंक्तिमें वे मुनि भ्रमण करते हैं।

भिक्षु—(दे० साधु)।

भित्तिकर्म—दे० निक्षेप/४।

भिन्न—Fraction (ध. ५/प्र. २८)।

भिन्न अंकगणित—दे० गणित/II/१।

भिन्नदश पूर्वी—दे० श्रुतकेवली/१।

भिन्न परिकर्माष्टक—दे० गणित/II/१/१०।

भिन्न मुहूर्त—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

भिल्लक संघ—दे० इतिहास/६/१।

भीम—१. वर्तमान कालीन नारद थे—दे० शलाका पुरुष/६। २. राक्षस जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० राक्षस। ३. राक्षसोंका इन्द्र (दे० व्यन्तर/२/१) जिसने सगर चक्रवर्तीके शत्रु पूर्णघनके पुत्र मेघवाहनको अजितनाथ भगवान्‌की शरणमें आनेपर लंका दी थी जिससे राक्षस-वंशकी उत्पत्ति हुई (प. पु./५/१६०)। ४. पा. पु./सर्ग/श्लोक-पूर्वके दूसरे भवमें सोमिल ब्राह्मणके पुत्र थे (२३/८१) पूर्वभवमें अच्युत स्वर्गमें देव हुए (२३/१०५)। वर्तमान भवमें पाण्डुका कुन्ती रानीसे पुत्र थे (८/१६७-२४/७५) ताऊ भीष्म तथा गुरुद्रोणाचार्य से शिक्षा प्राप्त की। (८/२०४-२१४)। लाक्षा गृह दहनके पश्चात् तुण्डी नामक देवीसे नदीमें युद्ध किया। विजय प्राप्तकर नदीसे बाहर आये (१२/१४३) फिर पिशाच विद्याधरको हराकर उसकी पुत्री हिडम्बासे विवाह किया, जिससे घुटुक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (१४/५१-६५)। फिर असुर राक्षस (१४/७५) मनुष्यभक्षी राजा बकको हराया (१४/१३१-१३४)। कर्णके मदमस्त हाथीको वशमें किया (१४/१६८) यक्ष द्वारा गदा प्राप्त की (१४/१०३) द्रौपदीपर कीचकके मोहित होनेपर द्रौपदीके वेशमें कीचकको मार डाला (१७/२७८) फिर कृष्ण व जरासंघके युद्धमें दुर्योधनके ९९ भाई तथा और भी अनेकोंको मारा (२०/२६६)। अन्तमें नेमिनाथ भगवान्‌के समवशरणमें अपने पूर्वभव सुनकर विरक्त हो दीक्षा धारण की (२५/१२—) घोर तपकर अन्तमें दुर्योधनके भांजेकृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया। (२५/५२-१३३)। और भी—दे० पाण्डव।

भीमरथी—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

भीमसेन—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अभयसेन नं. २ के शिष्य तथा जिनसेनके गुरु थे।—दे० इतिहास/७/८।

२. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार यह लक्ष्मणसेनके शिष्य तथा सोमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १५०९ (ई० १४५२) दे० इतिहास/७/६।

भीमावलि—वर्तमान कालीन प्रथम रुद्र—दे० शलाका-पुरुष/७।

भीष्म—अपरनाम गांगेय—दे० गांगेय।

भुजंग—महोरग नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे० महोरग।

भुजंगदेव—लवण समुद्रके ऊपर आकाशमें स्थित भुजंगनामक देवोंकी २८००० नगरियाँ हैं। —दे० व्यन्तर /४।

भुजंगशाली—दे० भुजंग।

भुजगार बंध—दे० प्रकृतिबंध/१।

भुज्यमान आयु—दे० आयु/१।

भुवनकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कार गणकी ईडर शाखाके अनुसार सकलकीर्तिके शिष्य तथा ज्ञानभूषणके गुरु। समय—वि.१४९९-१५२५ (ई.१४४२-१४६८)। दे० इतिहास/७/४।

भुवनकीर्ति गीत— कवि बूचिराज (वि. १५८९) कृत, ५ पद्य प्रमाण भट्टारक भुवनकीर्तिका गुणानुवाद। (ती./४/२१२)।

भूगोल—दे० लोक।

भूत—१. प्राणी सामान्य

स. सि./६/१२/३३०/११ तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थः।—जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोंमें होते हैं, वे भूत कहलाते हैं। भूत यह प्राणीका पर्यायवाची शब्द है। (रा. वा./६/१२/१/५२२/१२) (गो. क./जी प्र /८०१/९८०/१)।

ध./१३/५.५.५०/२८६/२ अभूत इति भूतम्।—भूत अतीतकालमें था इसलिए इसकी भूत संज्ञा है।

२. व्यन्तर देव विशेष

ति. प./६/४६ भूदा इमे सरूवा पडिरूवा भूदउत्तमा होंति। पडिभूदमहाभूदा पडिछण्णकासभूदत्ति ।४६।—स्वरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिच्छन्न और आकाशभूत, इस प्रकार ये सात भेद भूतोंके हैं। (त्रि. सा./२६१)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. भूतों के वर्ण परिवार आदि —दे० व्यन्तर।
२. भूत देवोंके इन्द्रके वैभव व अवस्थानादि —दे० व्यन्तर।
३. भूत शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं। —दे० व्यन्तर।
४. भूत शरीरका खड़ा होना भागना आदि —दे० सल्लेखना/६/१।

भूत नैगम नय—दे० नय /III/ २।

भूतवर—मध्यलोकके अन्तसे पंचम सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

भूतबली— मूल संघ की पट्टावली के अनुसार (दे० इतिहास/४/४) आपके दीक्षा गुरु अर्हद्बलि और शिक्षा गुरु धरसेन थे।

पुष्पदन्त आचार्यके गुरु भाई थे। उनके साथ ही गुरु अर्हद्बलिने इन्हें महिमा नगरके संघसे गिरनार पर्वतपर धरसेनाचार्यकी सेवामें भेजा था। जहाँ जाकर आपने उनसे षट्खण्डागमका ज्ञान प्राप्त किया और उनके पश्चात उसे लिपि बद्ध करके उनकी भावनाको पूरा किया। आप अल्पवयमें ही दीक्षित हुए थे, इसलिए पुष्पदन्त आचार्यके पीछे तक भी बहुत वर्ष जीवित रहे और इसी कारण षट्खण्डका अधिकांश भाग आपने ही पूरा किया। समय—वी. नि. ५९३-६८३ (ई. ६६-१५६) विशेष दे० कोष१। परिशिष्ट /२/६।

भूतारण्यक वन—अपर विदेहस्थवन—दे० लोक/३/६,१४।

भूतोत्तम—भूत जाति व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

भूधरदास—आगरा निवासी खण्डेलवाल थे। कृति—पार्श्वनाथ पुराण; जैन शतक, पद संग्रह। समय—वि. १७८१ (ई.१७२४)। (ती./४/२७२)।

भूपाल—म. पु./६५/श्लोक नं. भरतक्षेत्रमें भूपाल नामका राजा (५१) युद्धमें मान भंग होनेके कारण चक्रवर्ती पदका निदान कर दीक्षा धारण कर ली (५२-५४)। संन्यास मरणकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ (५५) यह सुभौम चक्रवर्तीका पूर्वका तीसरा भव है। —दे० सुभौम।

भूपाल चतुर्विंशतिका—पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ।

भूमि—अन्त; last term in numerical series—विशेष दे० गणित/II/५/3।

भूमि—लोकमें जीवोंके निवासस्थानको भूमि कहते हैं। नरककी सात भूमियाँ प्रसिद्ध हैं। उनके अतिरिक्त अष्टम भूमि भी मानी गयी है। नरकोंके नीचे निगोदोंकी निवास भूत कलकल नामकी पृथिवी अष्टम पृथिवी है और ऊपर लोकके अन्तमें मुक्त जीवोंकी आवासभूत ईषत्प्राग्भार नामकी अष्टम पृथिवी हैं। मध्यलोकमें मनुष्य व तिर्यंचोंकी निवासभूत दो प्रकारकी रचनाएँ हैं—भोगभूमि व कर्मभूमि। जहाँके निवासी स्वयं खेती आदि षट्कर्म करके अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते है उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि भोग भूमि पुण्यका फल समझी जाती है, परन्तु मोक्षके द्वारा रूप कर्म भूमि ही है भोगभूमि नहीं है।

१. भूमिका लक्षण

ध. ४/१,३,१/८/२ आगासं गगणं देवपथं गोज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमित्ति एयट्ठो।—आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान) अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नो आगमद्रव्यक्षेत्रके एकार्थक नाम हैं।

२. अष्टभूमि निर्देश

ति. प./२/२४ सत्तच्चियभूमीओ णवदिसभाएण घणोवहिविलग्गा। अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं छिवदि।—सातों पृथिवियाँ ऊर्ध्व दिशाको छोड़ शेष नौ दिशाओंमें घनोदधि वातवलयसे लगी हुई हैं। परन्तु आठवीं पृथिवी दशों दिशाओंमें ही घनोदधि वातवलयको छूती है।

ध. १४/५.६.६४/४९५/२ धम्मादिसत्तणिरयपुढवीओ ईसप्पभारपुढवीए सह अट्ठ पुढवीओ महाखंधस्स ट्ठाणाणि होंति।—ईषत्प्राग्भार (दे० मोक्ष) पृथिवीके साथ धर्मा आदि सात नरक पृथिवियाँ मिलकर आठ पृथिवियाँ महास्कन्धके स्थान हैं।

३. कर्मभूमि व भोगभूमिके लक्षण—कर्मभूमि—

स. सि./३/३७/२३२/५ अथ कथं कर्मभूमित्वम्। शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वं लोकत्रितयं कर्मणोऽधिष्ठानमेव। तत एव प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभकर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य च सर्वार्थसिद्ध्यादिस्थानविशेषप्रापणस्य कर्मण उपार्जनं तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य षड्विधस्य कर्मणः पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात्कर्म

भूमिव्यपदेशो वेदितव्यः। –प्रश्न–कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है? उत्तर–जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते हैं। यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय हैं फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय हैं। सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है, इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहींपर होता है। तथा पात्र दान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहींपर होता है इसलिए भरतादिकको कर्मभूमि जानना चाहिए। (रा. वा./३/३७/१-२/२०४-२०५)।

म. आ./वि./७८१/९३६ पर उद्धृत–कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा। अंतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्छिमा इति। असिर्मषि कृषिः शिल्पं वाणिज्यं व्यवहारिता। इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनयः। प्राप्य संयमं यत्र तपःकर्मपरा नराः। सुरसंगतिं वा सिद्धिं प्रयान्ति हतकर्मणः। एताः कर्मभुवो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता दश पञ्च च। यत्र संभूय पर्याप्तिं यान्ति ते कर्मभूमिजाः।–कर्म भूमिज, आदि चार प्रकार मनुष्य हैं (दे० मनुष्य/१)। जहाँ असि–शस्त्र धारण करना, मषि–बही खाता लिखना, कृषि–खेती करना, पशु पालना, शिल्पकर्म करना अर्थात् हस्त कौशल्यके काम करना, वाणिज्य–व्यापार करना और व्यवहारिता–न्याय दानका कार्य करना, ऐसे छह कार्योंसे जहाँ उपजीविका करनी पड़ती है, जहाँ संयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते हैं और जहाँ मनुष्योंको पुण्यसे स्वर्ग प्राप्ति होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते हैं। यह कर्मभूमि अढाई द्वीपमें पन्द्रह हैं अर्थात् पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह।

३. भोगभूमि

स. सि./३/३७/२३२/१० दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषयत्वाद्–भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। –इतर क्षेत्रोंमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए भोगोंके उपभोगकी मुख्यता है इसलिए उनको भोगभूमि जानना चाहिए।

म. आ./वि./७८१/९३६/१६ ज्योतिषाख्यैस्तरुभिस्तत्र जीविकाः। पुरग्रामादयो यत्र न निवेशा न चाधिपः। न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसंस्थितिः। यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुजः। रमन्ते पूर्वपुण्यानां प्राप्नुवन्ति परं फलं। यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिवं यान्ति मृता अपि। ता भोगभूमयस्प्रोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजाः। –ज्योतिरंग आदि दश प्रकारके (दे० वृक्ष) जहाँ कल्पवृक्ष रहते हैं। और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है। ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते हैं। भोग भूमिमें नगर, कुल, असिमष्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नहीं होती हैं। यहाँ मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर रममाण होते हैं। वे सदा नीरोग ही रहते हैं और सुख भोगते हैं। यहाँके लोक स्वभावसे ही मृदुपरिणामी अर्थात् मन्द कषायी होते हैं, इसलिए मरणोत्तर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भोगभूमिमें रहने वाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हैं। (दे० वृक्ष/१/१)।

४. कर्मभूमिकी स्थापनाका इतिहास

म. पु./१६/श्लोक नं. केवल भावार्थ–कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेपर कर्मभूमि प्रगट हुई।१४४। शुभ मुहूर्तादिमें (१४६) इन्द्रने अयोध्यापुरीके बीचमें जिनमन्दिरकी स्थापना की। इसके पश्चात् चारों दिशाओंमें जिनमन्दिरोंकी स्थापना की गयी (१४९-१५०) तदनन्तर देश, महादेश, नगर, वन और सीमा सहित गाँव तथा खेड़ों आदिकी रचना की थी (१५१) भगवान् वृषभदेवने प्रजाको असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्योंका उपदेश दिया (१७९-१७८) तब सब प्रजाने भगवान्को श्रेष्ठ जानकर राजा बनाया (२२४) तब राज्य पाकर भगवान्ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार चतुर्वर्णकी स्थापना की (२४५)। उक्त छह कर्मोंकी व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी (२४९) तदनन्तर भगवान्ने कुरुवंश, हरिवंश आदि राज्यवंशोंकी स्थापना की (२५६–), (विशेष दे० सम्पूर्ण सर्ग), (और भी दे० काल/४/६)।

५. मध्य लोकमें कर्मभूमि व भोगभूमिका विभाजन

मध्य लोकमें मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नागेन्द्र पर्वत तक सर्व द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि रहती है (ति. प./२/१६६,१७३)। नागेन्द्र पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीप व स्वयम्भूरमण समुद्रमें कर्मभूमि अर्थात् दुखमा काल वर्तता है। (ज.प./२/१७४)। मानुषोत्तर पर्वतके इस भागमें अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र है (दे० मनुष्य/४) इन अढाई द्वीपोंमें पाँच सुमेरु पर्वत हैं। एक सुमेरु पर्वतके साथ भरत हैमवत आदि सात-सात क्षेत्र हैं। तिनमेंसे भरत ऐरावत व विदेह ये तीन कर्मभूमियाँ हैं, इस प्रकार पाँच सुमेरु सम्बन्धी १५ कर्मभूमियाँ हैं। यदि पाँचों विदेहोंके ३२-३२ क्षेत्रोंकी गणना भी की जाय तो पाँच भरत, पाँच ऐरावत, और १६० विदेह, इस प्रकार कुल १७० कर्मभूमियाँ होती हैं। इन सभीमें एक-एक विजयार्ध पर्वत होता है, तथा पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड तथा एक-एक आर्य खण्ड स्थित है। भरत व ऐरावत क्षेत्रके आर्य खण्डोंमें षट् काल परिवर्तन होता है। (ज. प./१७६) सभी विदेहोंके आर्य खण्डोंमें सदा दुखमा-सुखमा काल वर्तता है। सभी म्लेच्छ खण्डोंमें सदा जघन्य भोगभूमि (सुखमा-दुखमा काल) होती है। सभी विजयार्धोंपर विद्याधरोंकी नगरियाँ हैं उनमें सदैव दुखमा-सुखमा काल वर्तता है। हैमवत, हैरण्यवत इन दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती है। हरि व रम्यक इन दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि (सुखमा काल) रहती है। विदेहके बहुमध्य भागमें सुमेरु पर्वतके दोनों तरफ स्थित उत्तरकुरु व देवकुरुमें (दे० लोक/७) सदैव उत्तम भोगभूमि (सुखमा-सुखमा काल) रहती है। लवण व कालोद समुद्रमें कुमानुषोंके ९६ अन्तर्द्वीप हैं। इसी प्रकार १६० विदेहोंमेंसे प्रत्येकके ५६-५६ अन्तर्द्वीप हैं। (दे० लोक/७) इन सर्व अन्तर्द्वीपोंमें कुमानुष रहते हैं। (दे० म्लेच्छ) इन सभी अन्तर्द्वीपोंमें सदा जघन्य भोगभूमि वर्तती है (ज. प./११/५४-५५)। इन सभी कर्म व भोग भूमियोंकी रचनाका विशेष परिचय (दे० काल/४/१८)।

६. कर्म व भोगभूमियोंमें सुख-दुःख सम्बन्धी नियम

ति. प./४/२९५४ छण्णउदिसुदेक्कसयप्पमाणभोगखिदीण सुहमेक्कं। कम्मखिदीसु णराणं हवेदि सोक्खं च दुक्खं च।२९५४। –मनुष्योंको एक सौ छ्यानबे भोगभूमियोंमें (३० भोगभूमियों और ९६ कुभोग भूमियोंमें) केवल सुख, और कर्म भूमियोंमें सुख एवं दुःख दोनों ही होते हैं।

ति. प./५/२९१ सव्वे भोगभुवाणं संकप्पवसेण होइ सुहमेक्कं। कम्मावणितिरियाणं सोक्खं दुक्खं च संकप्पो।२९१। –सब भोगभूमिज तिर्यंचोंके संकल्प वशसे केवल एक सुख ही होता है, और कर्मभूमिज तिर्यंचोंके सुख व दुःख दोनोंकी कल्पना होती है।

७. कर्म व भोगभूमियोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थानोंके अस्तित्व सम्बन्धी

ति. प./४/२९३६-२९३७ पंचविदेहे सट्ठिसमण्णिदसद अज्जखंडए अवरे। छग्गुणठाणे तत्तो चोद्दसपेरंत दीसंति।२९३६। सव्वेसुं भोगभुवे दो गुणठाणाणि सव्वकालम्मि। दीसंति चउवियप्पं सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्तं।२९३७। –पाँच विदेहोंके भीतर एक सौ साठ आर्य खण्डों-

में जघन्य रूपसे छह गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे चौदह गुणस्थान तक पाये जाते हैं ।२९३६। सब भोगभूमिजोंमें सदा दो गुणस्थान (मिथ्यात्व व असंयत) और उत्कृष्ट रूपसे चार गुणस्थान तक रहते हैं। सब म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है ।२९३७। (ति. प./५/३०३), (ज. प./२/१६५)।

स. सि./१०/६/४७१/१३ जन्मप्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः। — जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मनुष क्षेत्रमें सिद्धि होती है। (रा. वा./६/१०/२/६४६/१६)।

ध. १/१.१.८५/३२७/१ भोगभूमावुत्पन्नानां तद्द (अणुव्रत) उपादानानुपपत्तेः। —भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण नहीं बन सकता। (ध. १/१.१.१५७/४०२/१)।

भ. आ./वि./७८१/९३७/६ एतेषु कर्मभूमिजमानवानां एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषां इति। — इन (कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तरद्वीपज, और सम्मूर्च्छन चार प्रकारके) मनुष्योंमें कर्मभूमिज है उनको ही रत्नत्रय परिणामकी योग्यता है। इतरोंको नहीं है।

गो. क./जी. प्र./५५०/७४४/११ का भावार्थ —कर्म भूमिका अबद्धायु मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्रस्थापना व निष्ठापना कर सकता है। परन्तु भोगभूमिमें क्षायिक सम्यग्दर्शनकी निष्ठापना हो सकती है, प्रस्थापना नहीं। (ल. सा./जी. प्र./१११)।

गो. जी./जी. प्र./७०३/११३७/८ असंयते···भोगभूमितिर्यग्मनुष्याः कर्मभूमिमनुष्याः उभये। —असंयत गुणस्थानमें भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच, कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्त व अपर्याप्त दोनो होते हैं।

दे. वर्णव्यवस्था/१/७ (भोगभूमिमें वर्णव्यवस्था व वेषधारी नहीं हैं।)

८. कर्म व भोगभूमियोंमें जीवोंका अवस्थान

दे. तिर्यंच/३ भोगभूमियोंमें जलचर व विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते, केवल संज्ञी पंचेन्द्रिय ही होते हैं। विकलेन्द्रिय व जलचर जीव नियमसे कर्मभूमिमें होते हैं। स्वयप्रभ पर्वतके परभागमें सर्व प्रकारके जीव पाये जाते हैं। भोगभूमियोंमें संयत व संयतासंयत मनुष्य या तिर्यंच भी नहीं होते हैं, परन्तु पूर्व वैरीके कारण देवों द्वारा ले जाकर डाले गये जीव वहाँ सम्भव है।

दे. मनुष्य/४ मनुष्य अढाई द्वीपमें ही होते हैं, देवोंके द्वारा भी मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें उनका ले जाना सम्भव नहीं है।

९. भोगभूमिमें चारित्र क्यों नहीं

ति. प./४/३८६ ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुप्पण्णपेमसंमूढा। जम्हा तम्हा तेसुं सावयवदसंजमो णत्थि ।३८६। — क्योंकि वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेममें अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावकके व्रत और संयम नहीं होता ।३८६।

रा. वा./३/३७/२०४/३१ भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानदर्शने स्त. चारित्रं तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात्। —भोगभूमियोंमें यद्यपि ज्ञान, दर्शन तो होता है, परन्तु भोग परिणाम होनेसे चारित्र नहीं होता।

१०. अन्य सम्बन्धित विषय

1. अष्टमभूमि निर्देश —दे० मोक्ष/१/७।
2. कर्मभूमियोंमें वंशोंकी उत्पत्ति —दे० इतिहास/७।
3. कर्मभूमिमें वर्ण व्यवस्थाकी उत्पत्ति —दे० वर्णव्यवस्था/२।
4. कर्मभूमिका प्रारम्भकाल (कुलकर) —दे० शलाका पुरुष/६।
5. कुभोग भूमि —दे० म्लेच्छ/अन्तर्द्वीपज।
6. आर्य व म्लेच्छ खण्ड —दे० वह वह नाम।
7. कर्म व भोग भूमिकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम —दे० आयु/३।
8. इसका नाम कर्मभूमि क्यों पड़ा —दे० भूमि/३।
9. कर्म व भोगभूमिमें षट् काल व्यवस्था —दे० काल/४।
10. भोगभूमिजोंमें क्षायिक सम्यक्त्व क्यों नहीं —दे० तिर्यंच/२/११।
11. भोग व कर्म भूमिज कहाँसे मर कर कहाँ उत्पन्न हो —दे० जन्म/६।
12. कर्मभूमिज तिर्यंच व मनुष्य —दे० वह वह नाम।
13. सर्व द्वीप समुद्रोंमें संयतासंयत तिर्यंचोंकी सम्भावना —दे० तिर्यंच/२/१०।
14. कर्मभूमिज व्यपदेशसे केवल मनुष्योंका ग्रहण —दे० तिर्यंच/२/१२।
15. भोगभूमिमें जीवोंकी संख्या —दे० तिर्यंच/३/४।

भूमिकल्प—आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०) कृत तान्त्रिक ग्रन्थ।

भूमिकुंडल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

भूमितिलक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर —दे० विद्याधर।

भूमिशुद्धि—पूजा विधानादिमें भूमिशुद्धिके मन्त्र—दे० मन्त्र/१/६।

भूषणांग वृक्ष—दे० वृक्ष/१।

भृंगनिभा—सुमेरुके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी। —दे० लोक/७।

भृंगा—सुमेरुके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

भृकुटि—मुनिसुव्रतनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष।

भृत्य वंश—वी नि. ४८५-७२७ (ई. पू. ४२-२००) का एक मगध राजवंश —दे० इतिहास/३/४।

भेंडकर्म—दे० निक्षेप/४।

भेद—१. विदारणके अर्थमें

स. सि./५/२६/२९८/४ संघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः। —अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकारके निमित्तोंसे संघातोंके विदारण करनेको भेद कहते हैं। (रा. वा./५/२६/१/४९३/२३)।

रा. वा./५/२४/१/४८५/१४ भिनत्ति, भिद्यते, भेदमात्रं वा भेदः। —जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्रको भेद कहते हैं।

ध. १४/५.६.९८/१२१/३ खंधाणं विहडणं भेदो णाम। —स्कन्धोंका विभाग होना भेद है।

दे. पर्याय/१/१ 'अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, और भंग ये एकार्थवाची हैं।

२. वस्तुके विशेषके अर्थमें

आ. प./६ गुणगुण्यादिसंज्ञाभेदात् भेदस्वभावः। —गुण और गुणीमें संज्ञा भेद होनेसे भेद स्वभाव है।

न. च. वृ./६२ भिण्णा हु वयणभेदेण हु वे भिण्णा अभेदादो। —द्रव्य-गुण पर्यायमें वचन भेदसे तो भेद है परन्तु द्रव्य रूपसे अभेद रूप है।

स्या. मं./५/२४/२० अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति। —विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न-भिन्न कारणोंका होना यही भेद है और भेदका कारण है।

२. भेदके भेद

प्र. सा./त. प्र./२ को नाम भेदः । प्रादेशिक अताद्भाविको वा । –भेद दो प्रकार है—अताद्भाविक, व प्रादेशिक ।

स. सि./५/२४/२९६/४ भेदाः षोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात् । –भेदके छह भेद हैं—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन ।

प्र. सं./टी./१६/५३/१ गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्यः । –पुद्गल गेहूँ आदिके चून रूपसे तथा घी, खाँड आदि रूपसे अनेक प्रकारका भेद जानना चाहिए ।

३. उत्कर, चूर्ण आदिके लक्षण

स. सि./५/२४/२९६/४ तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । चूर्णो यवगोधूमादीनां सक्तुकणिकादिः । खण्डो घटादीनां कपालशर्करादिः । चूर्णिका माषमुद्गादीनाम् । प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम् । अणुचटनं संतप्तायःपिण्डादिषु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः । –करोंत आदिसे जो लकड़ी आदिको चीरा जाता है वह उत्कर नामका भेद है । जौ और गेहूँ आदिका जो सत्तू और कनक आदि बनती है वह चूर्ण नामका भेद है । घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकड़े होते हैं वह खण्ड नामका भेद है । उड़द और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है । मेघके जो अलग-अलग पटल आदि होते हैं वह प्रतर नामका भेद है । तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन आदिसे पीटनेपर जो फुलंगे निकलते हैं वह अणुचटन नामका भेद है । (रा. वा./५/२४/१४/४८६/५) ।

★ अन्य सम्बन्धी विषय

१. द्रव्यमें कथंचित् भेदाभेद । —दे० द्रव्य/४ ।
२. द्रव्यमें अनेक अपेक्षाओंसे भेदाभेद । —दे० सप्तभंगी/५ ।
३. उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें भेदाभेद । —दे० उत्पाद/२ ।
४. भेद सापेक्ष वा भेद निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय —दे० नय/II/२ ।
५. भिन्न द्रव्यमें परस्पर भिन्नता —दे० कारक/२ ।
६. परके साथ एकत्व कहनेका तात्पर्य । —दे० कारक/२ ।

भेदज्ञान — १. दे० ज्ञान/II; २. इसके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५ ।

भेदग्राही शब्द नय—दे० नय/III/६ ।

भेदवाद—भेद व अभेदवादका विधि निषेध व समन्वय—दे० द्रव्य/४ ।

भेद संघात—दे० संघात ।

भेदाभेदवाद—दे० वेदान्त ।

भेदाभेद विपर्यय—दे० विपर्यय/४ ।

भोक्ता—

पं. का./त. प्र./२७ निश्चयेन शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानां, व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसंपादितेष्टानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वाद्भोक्ता । –निश्चयसे शुभाशुभकर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुखदुखपरिणामोंका भोक्तृत्व होनेसे भोक्ता है । व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहार नयसे) शुभाशुभ कर्मोंसे सम्पादित इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्तृत्व होनेसे भोक्ता है ।

स. सा./आ./३२०/पं. जयचन्द—जो स्वतन्त्रपने करे—भोगे उसको परमार्थमें कर्ता भोक्ता कहते हैं ।

२. भोक्तृत्वका लक्षण

रा. वा./२/७/१३/११२/१३ भोक्तृत्वमपि साधारणम् । कुतः । तल्लक्षणोपपत्तेः । वीर्यप्रकर्षात् परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम् । यथा आत्मा आहारादेः परद्रव्यस्यापि वीर्यारमसात्करणाद्भोक्ता......कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम् । –भोक्तृत्व भी साधारण है क्योंकि उसके लक्षणसे ज्ञात होता है । एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है । जैसे कि आत्मा आहारादि द्रव्यकी शक्तिको खींचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है ।...कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण यह भी पारिणामिक भाव है ।

पं. का./त. प्र./२८ स्वरूपभूतस्वातन्त्र्यलक्षणसुखोपलक्षणसुखोपलम्भरूपं भोक्तृत्वं । –स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य जिसका लक्षण है ऐसे सुखकी उपलब्धि रूप 'भोक्तृत्व' होता है ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यग्दृष्टि भोगोंका भोक्ता नहीं है । —दे० राग/६ ।
२. षट् द्रव्योंमें भोक्ता अभोक्ता विभाग । —दे० द्रव्य/३ ।
३. जीवको भोक्ता कहनेकी विवक्षा । —दे० जीव/१/३ ।
४. भोग सम्बन्धी विषय । —दे० नीचे

भोक्ता भोग्य भाव— दे० भोग ।

भोक्तृत्व नय—दे० नय/I/५/४ ।

भोगंधरी—गन्धमादन पर्वतके स्फटिक कूटकी स्वामिनी देवी । —दे० लोक/७ ।

भोग—

१. सामान्य भोग व उपभोगकी अपेक्षा

र. क. श्रा./८३ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः । उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिः पञ्चेन्द्रियो विषयः । –भोजन-वस्त्रादि पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय जो भोग करके पुनः भोगनेमें न आवें वे तो भोग हैं और भोग करके फिर भोगने योग्य हों तो उपभोग हैं । (ध. १३/५.५,१३७/३८९/१४) ।

स. सि./२/४४/१९५/८ इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः । –इन्द्रिय रूपी नालियोंके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं ।

स. सि./७/२१/३६१/७ उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः । परिभोग आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः । –भोजन, पान, गन्ध, मालादि उपभोग कहलाते हैं । तथा ओढ़ना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं ।

रा. वा./७/२१/९-१०/५४८/११ उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोगः । अशनपानगन्धमाल्यादिः ।९। सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते । आच्छादनप्रावरणालंकार... आदिः ।१०। –उपभोग अर्थात् एक बार भोगे जानेवाले अशन, पान, गन्ध, माला आदि । परिभोग अर्थात् जो एक बार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सकें जैसे-वस्त्र अलंकार आदि । (चा. सा./२३/२) ।

२. क्षायिक भोग व उपभोगकी अपेक्षा

स. सि./२/४/१५४/७ कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोग क्षायिकः । यतः कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषाः प्रादुर्भवन्ति । निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः । यतः सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादयो विभूतयः ।

—समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोगका प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तरायके नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं। (रा. वा./२/४/४-५/१०६/३)।

★ क्षायिक भोग-उपभोग विषयक शंका-समाधान —दे० दान/२/३।

१. भोग व काममें अन्तर

आ./११३८ कामो रसो य फासो सेसा भोगेत्ति आहीया/११३८/—रस और स्पर्श तो काम हैं, और गन्ध, रूप, शब्द भोग हैं ऐसा कहा है। (स. सा./ता. वृ./४/११/१५)।

दे. इन्द्रिय/३/७ दो इन्द्रियोंके विषय काम हैं तीन इन्द्रियोंके विषय भोग हैं।

२. भोग व उपभोगमें अन्तर

रा. वा./८/१३/१/५८१/२ भोगोपभोगयोरविशेषः। कुतः। सुखानुभवननिमित्तत्वाभेदादिति; तन्न; किं कारणम्।...गन्धमाल्यशिरःस्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहारः।१। शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेशः।—प्रश्न—भोग और उपभोग दोनों सुखानुभवमें निमित्त होनेके कारण अभेद हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि एक बार भोगे जानेवाले गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र और पान आदिमें भोग व्यवहार तथा शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, रथ, घोड़ा आदिमें उपभोग व्यवहार होता है।

४. निश्चय व्यवहार भोक्ता-भोग्य भाव निर्देश

द्र. सं./मू./९ ववहारासुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभंजेदि। आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।९।—व्यवहार नयसे आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मोंके फलका भोक्ता है और निश्चयनयसे अपने चेतन भावको भोगता है।९।

दे. भोक्ता/१ निश्चयनयसे कर्मोंसे सम्पादित सुख व दुःख परिणामोंका भोक्ता है, व्यवहारसे शुभाशुभ कर्मोंसे उपार्जित इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्ता है।

५. अभेद भोक्ता भोग्य भावका मतार्थ

पं. का./ता./वृ.२७/६१/११ भोक्तृत्वव्याख्यानं कर्त्ता कर्मफलं न भुङ्क्ते इति बौद्धमतानुसारि शिष्यप्रतिबोधनार्थं।—कर्मके करनेवाला स्वयं उसका फल नहीं भोगता है ऐसा माननेवाले बौद्ध मतानुयायी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ जीवके भोक्तापनेका व्याख्यान किया है।

६. भेदाभेद भोक्ता-भोग्य भावका समन्वय

पं. का./त. प्र./६८ यथात्रोभयनयाभ्यां कर्मकर्तृ, तथैकेनापि नयेन न भोक्तृ। कुतः। चैतन्यपूर्वकानुभूतिसद्भावाभावात्। ततश्चेतनत्वात् केवल एव जीवः कर्मफलभूतानां कथंचिदात्मनः सुखदुःखपरिणामानां कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणां भोक्ता प्रसिद्ध इति।—जिस प्रकार यहाँ दोनों नयोंसे कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नयसे वह भोक्ता नहीं है। किसलिए—क्योंकि उसे चैतन्य पूर्वक अनुभूतिका सद्भाव नहीं है। इसलिए चेतनपनेके कारण मात्र जीव ही कर्मफलका-कथंचित् आत्माके सुख-दुःख परिणामोंका और कथंचित् इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्ता प्रसिद्ध है।

७. लौकिक व अलौकिक दोनों भोग एकान्तमें होते हैं

नि. सा./मू./१५७ लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते। तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्ति।१५७।—जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधिको पाकर अपने वतनमें (गुप्तरूपसे) रहकर उसके फलको भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी परजनोंके समूहको छोड़ कर ज्ञाननिधिको भोगता है।

नि. सा./ता. वृ./१५७/२६८ अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेको लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम्। गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसङ्गो, ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति।२६८।—इस लोकमें कोई एक लौकिक जन पुण्यके कारण धन के समूहको पाकर, संगको छोड़ गुप्त होकर रहता है, उसीकी भाँति ज्ञानी (परके संगको छोड़कर गुप्त रूपसे रहकर) ज्ञानकी रक्षा करता है।२६८।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

* जीव पर पदार्थोंका भोक्ता कब कहलाता है —दे० चेतना/३।
* सम्यग्दृष्टिके भोग सम्बन्धी —दे० राग/६।
* लौकिक भोगोंका तिरस्कार —दे० सुख।
* ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें भोगोंकी हीनता —दे० देव/II/२।
* चक्रवर्तीके दशांग भोग —दे० शलाका पुरुष/२।

भोग पत्नी—दे० स्त्री।

भोगभूमि—दे० भूमि।

भोगमालिनी—माल्यवान् गजदन्तस्थ रजत कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगान्तराय कर्म—दे० अन्तराय/१।

भोगावती—१. गन्धमादन पर्वतके लोहिताक्ष कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७। २. माल्यवान् गजदन्तस्थ सागर कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगोपभोग—

भोगोपभोग परिमाण व्रत

र. क. श्रा./८२, ८४ अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणं। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये।८२।—राग रति आदि भावोंको घटानेके लिए परिग्रह परिमाण व्रतकी की हुई मर्यादामें भी प्रयोजनभूत इन्द्रियके विषयोंका प्रतिदिन परिमाण कर लेना सो भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत कहा जाता है।८२। (सा. ध./५/१३)।

स. सि./७/२१/३६१/६ तथा परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। ... यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति—इनका (भोग व उपभोगका) परिमाण करना उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत है।... यान, वाहन और आभरण आदिमें हमारे लिए इतना ही इष्ट है, शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्त्यनुसार जो अपने लिये अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए। (रा. वा./७/२१/१०/५४८/१४; २७/५५०/६); (चा. सा./२४/१); (पु. सि. उ./१६५); (और भी दे० आगे रा. वा.)।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/७ न हि अत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति। इत्वानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यः यावज्जीवम्। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तु परिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।—जो विचित्र प्रकारके वस्त्र विकृतवेष आभरण आदि शिष्ट जनोंके उपसेव्य—धारण करने लायक नहीं हैं वे अपनेको अच्छे भी लगते हों तब भी उनका यावत् जीवन परित्याग कर देना चाहिए। यदि वैसी शक्ति नहीं है तो अमुक समयकी मर्यादासे अमुक वस्तुओंका परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए। (चा. सा./२४/१)।

का. अ./मू./३५० जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं। जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स ।३५०। –जो अपनी सामर्थ्य जानकर, ताम्बूल, वस्त्र आदिका परिमाण करता है, उसको भोगोपभोग-परिमाण नामका गुणव्रत होता है ।३५०।

२. भोगोपभोग व्रतके भेद

र. क. श्रा./८७ नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारनियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ।८७। –भोगोपभोगके त्यागमें नियम और यम दो प्रकारका त्याग विधान किया गया है। जिसमें कालकी मर्यादा है वह तो नियम कहलाता है, जो जीवन पर्यन्त धारण किया जाता है, वह यम है। (सा. ध./५/१४)।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/१ भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहुविधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् । –त्रसघात, बहुघात, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप विषयोंके भेदसे भोगोपभोग परिमाण व्रत पाँच प्रकारका हो जाता है। (चा. सा./२३/१); (सा. ध./५/१५)।

३. नियम धारण करनेकी विधि

र. क. श्रा./८८-८९ भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु । ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु ।८८। अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथार्तुरयनं वा। इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ।८९। –भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुंकुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत इन विषयोंमें आज एक दिन अथवा एक रात, एक पक्ष, एक मास तथा दो मास अथवा छह मास ऋतु, अयन इस प्रकार कालके विभागसे त्याग करना नियम है।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार

त. सू./७/३५ सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ।३५। –सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार हैं ।३५। (सा. ध./५/२०); (चा. सा./२५/१)

र. क. श्रा./९० विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ । भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ।९०। –विषयरूपी विषकी उपेक्षा नहीं करना, पूर्वकालमें भोगे हुए विषयोंका स्मरण रखना, वर्तमानके विषयोंमें अति लालसा रखना, भविष्यमें विषय प्राप्तिकी तृष्णा रखना, और विषय नहीं भोगते भी विषय भोगता हूँ ऐसा अनुभव करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार हैं।

५. दुःपक्व आहारमें क्या दोष है

रा. वा./७/३५/६/५५८/११ तस्याभ्यवहारे को दोषः। इन्द्रियमदवृद्धिः स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेपः, अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति। –प्रश्न–इस (दुष्पक्व व सचित्त पदार्थका) आहार करनेमें क्या दोष है। उत्तर–इनके भोजनसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं। सचित्त प्रयोगसे वायु आदि दोषोंका प्रकोप हो सकता है, और उसका प्रतिकार करनेमें पाप लगता है। अतिथि उसे छोड़ भी देते हैं। (चा. सा./२५/४)।

६. भोगोपभोग परिमाण व्रतीको सचित्तादि ग्रहण कैसे हो सकता है

रा. वा./७/३५/४/५५८/११ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः। प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः। क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। –प्रश्न–इस भोगोपभोग परिमाण व्रतधारीकी सचित्तादि पदार्थोंमें वृत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर–प्रमाद तथा मोहके कारण क्षुधा, तृषा आदिसे पीड़ित व्यक्तिकी जल्दी-जल्दीमें सचित्त आदि भोजन, पान, अनुलेपन तथा परिधान आदिमें प्रवृत्ति हो जाती है।

७. सचित्त सम्बन्ध व सम्मिश्रमें अन्तर

रा. वा./७/३५/२-४/५५८/४ तेन चित्तवता द्रव्येणोपश्लिष्टः संबन्ध इत्याख्यायते ।२। तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः संमिश्र इति कथ्यते ।३। स्यान्मतम्–संबन्धेनाविशिष्टः संमिश्र इति। तन्न। किं कारणम्। तत्र संसर्गमात्रत्वात्। सचित्तसंबन्धे हि संसर्गमात्रं विवक्षितम्, इह तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीयद्रव्यसमाहारः सूक्ष्मजन्तुप्रायआहारः संमिश्र इष्टः। –सचित्तसे उपश्लिष्ट या संसर्गको प्राप्त सचित्त सम्बन्ध कहलाता है।३। और उससे व्यतिकीर्ण संमिश्र कहलाता है।४। प्रश्न–सम्बन्धसे अविशिष्ट ही संमिश्र है। इन दोनोंमें अन्तर ही क्या है। उत्तर–ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्बन्धमें केवल संसर्ग विवक्षित है तथा संमिश्रमें सूक्ष्म जन्तुओंसे आहार ऐसा मिला हुआ होता है जिसका विभाग न किया जा सके। नाना जातीय द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ आहार सूक्ष्म जन्तुओंका स्थान होता है, उसे सम्मिश्र कहते हैं। (चा. सा./२५/५)।

८. भोगोपभोग परिमाण व्रतका महत्त्व

पु. सि. उ./१५८, १६६ भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् । भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ।१५८। इति यः परिमितिभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्। बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसाविशिष्टा स्यात् ।१६६। –निश्चय करके इन देशव्रती श्रावकोंके भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुषके भोग उपभोगके त्यागसे लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है ।१५८। जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादा रूप भोगोंसे तृप्त होकर अधिकतर भोगोंको छोड़ देता है, उसका बहुत हिंसाके त्यागसे उत्तम अहिंसाव्रत होता है, अर्थात् अहिंसा व्रतका उत्कर्ष होता है ।१६६।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. इस व्रतमें कन्द, मूल, पत्र, पुष्प आदिका त्याग।
—दे० भक्ष्याभक्ष्य।

२. इस व्रतमें मद्य मांस मधुका त्याग। —दे० वह वह नाम।

३. व्रत व भोगोपभोगानर्थक्य नामा अतिचारमें अन्तर।
—दे० अनर्थदण्ड।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रत तथा सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर।
—दे० सचित्त।

भोज—राजा भोजकी वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) राजा मुञ्जके पुत्र व जयसिंहके पिता थे। मालवा देश (मगध) के राजा थे। धारा व उज्जैनी इनकी राजधानी थी। संस्कृत विद्याके आश्रयदाता थे। मुञ्जकी वंशावलीके तथा प्रेमी जीके अनुसार इनका समय—वि. १०७८—१११२ ई. १०२१-१०५५; A. N. Up. के अनुसार वि. १०७५-१११७ ई. १०१८-१०६०; पं. कैलाशचन्द्रके अनुसार वि. १०७५-१११० ई. १०१८-१०५३; इतिहास के अनुसार ई. १००८-१०५५ विशेष (दे० इतिहास/३/१;७/८)। २. योगदर्शन सूत्रोंके भाष्यकार। समय ई. श. १० —दे० योगदर्शन।

भोजकवृष्णि—मथुराके स्वामी सुवीरके पुत्र थे तथा उग्रसेनके पिता थे। (ह. पु./१८/११-१६)।

भोजन—ध.१२/४,२,८,७/२८२/११ भुज्यत इति भोजनमोदनः; भुक्ति-कारणपरिणामो वा भोजनं ।—'भुज्यते इति भोजनम्' अर्थात् जो खाया जाता है वह भोजन है, इस निरुक्तिके अनुसार ओदनको भोजन कहा गया है। अथवा (भुज्यते अनेनेति भोजनम्) इस निरुक्तिके अनुसार आहार ग्रहणके कारणभूत परिणामको भी भोजन कहा जाता है।

भोजन कथा—दे० कथा।

भोजनांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष।

भोजवंश—१. पुराणकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश।—दे० इतिहास/७/८; इतिहासकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश—दे० इतिहास/३/४।

भौमनिमित्तज्ञान—दे० निमित्त/२।

भ्रम—पाँचवें नरकका दूसरा पटल (रा. वा.)—दे० नरक/५।

भ्रमक—पाँचवें नरकका दूसरा पटल (ति. प.)—दे० नरक/५।

भ्रमका—पाँचवें नरकका दूसरा पटल—दे० नरक/५।

भ्रमराहार वृत्ति—दे० भिक्षा/१/७।

भ्रान्त—प्रथम पृथिवीका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५ तथा रत्नप्रभा।

भ्रान्ति—सि. वि./मू./२/६/१३७ अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रान्तिः।—वस्तुका जैसा स्वरूप नहीं है वैसा ग्रहण हो जाना भ्रान्ति है। (न्या. वि./वि/१/३/७०/१७)।

स्या. मं./१६/२१६/३ भ्रान्तिर्हि मुख्येऽर्थे क्वचिद् दृष्टे सति करणापाटवादिनान्यत्र विपर्यस्तग्रहणे प्रसिद्धा। यथा शुक्तौ रजतभ्रान्तिः।—यथार्थ पदार्थको देखनेपर इन्द्रियोंमें रोग आदि हो जानेके कारण ही चाँदीमें सीपके ज्ञानकी तरह, पदार्थोंमें भ्रमरूप ज्ञान होता है।

भ्रामरी वृत्ति—साधुकी भिक्षावृत्तिका एक भेद—दे० भिक्षा/१/७।

[म]

मंखलि गोशाल—(दे० पूरण कश्यप)।

मंगरस—नेमि जिनेश्वर संगति और सम्यक्त्व कौमुदी के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई. १५०८। (ती./४/३१०)।

मंगराज—खगेन्द्रमणिदर्पण (चिकित्सा शास्त्र) के रचयिता एक कन्नड़ कवि। समय—ई. १५५०। (ती./४/३११)।

मंगल—एक ग्रह। दे. ग्रह। लोक में अवस्थान—दे. ज्योतिष लोक/२।

मंगल—पाप विनाशक व पुण्य प्रकाशक भाव तथा द्रव्य नमस्कार आदि मंगल है। निर्विघ्न रूपसे शास्त्रकी या अन्य लौकिक कार्योंकी समाप्ति व उनके फलकी प्राप्तिके लिए सर्व कार्योंके आदिमें तथा शास्त्रके मध्य व अन्त में मंगल करनेका आदेश है।

१	**मंगलके भेद व लक्षण**
१	मंगल सामान्यका लक्षण।
२	मंगलके भेद।
३	नाम स्थापनादि मंगलके लक्षण।
४	निबद्धानिबद्धादि मंगलोंके लक्षण।
*	अष्टमंगल द्रव्य। —दे० चैत्य/१/११।
२	**मंगल निर्देश व तद्गत शंकाएँ**
१	मंगलके छह अधिकार।
२	मंगलका सामान्य फल व महिमा।
३	तीन बार मंगल करनेका निर्देश व उसका प्रयोजन।
४	लौकिक कार्योंमें मंगल करनेका नियम है, पर शास्त्रमें वह भाज्य है।
५	स्वयं मंगलस्वरूप शास्त्रमें भी मंगल करनेकी क्या आवश्यकता।
६	मंगल व निर्विघ्नतामें व्यभिचार सम्बन्धी शंका।
७	मंगल करनेसे निर्विघ्नता कैसे।
८	लौकिक मंगलोंको मंगल कहनेका कारण।
९	मिथ्यादृष्टि आदि सभी जीवोंमें कथंचित् मंगलपना।

१. मंगलके भेद व लक्षण

१. मंगल सामान्यका लक्षण

ति. प./१/८-१७ पुण्णं पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा। सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया।८। गालयदि विणासयदे घादेदि दहेदि हंति सोधयदे। विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं।९। अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा। एदेण कज्जसिद्धिं मंगइ गच्छेदि गंथकत्तारो।१५। पुव्वं आइरिएहिं मंगलपुव्वं च वाचिदं भणिदं। तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलं पवरं।१६। पावं मलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं। तं गालेदि विणासं णेदि त्ति भणंति मंगलं केई।१७। —१. पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब मंगलके ही पर्यायवाची शब्द हैं।८। (ध १/१,१,१/३१/१०)। २. क्योंकि यह [ज्ञानावरणादि, द्रव्य मल और अज्ञान अदर्शन आदि भावमल—(दे० मल)] मलोंको गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, हनता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है, इसलिए इसे 'मंगल' कहा गया है।९। (ध. १/१,१,१/३२/५); (ध. ६/४,१,१/१०)। ३. अथवा चूँकि यह मंगको अर्थात् सुख या पुण्यको लाता है, इसलिए भी इसे मंगल समझना चाहिए।१५। (ध.१/१,१,१/ श्लो. १६/३३); (ध. १/१,१,१/३३/५); (पं. का./ता. वृ./१/५/५)। ४. इसीके द्वारा ग्रन्थकर्ता अपने कार्यकी सिद्धिपर पहुँच जाता है।।१५। पूर्वमें आचार्यों द्वारा मंगलपूर्वक ही शास्त्रका पठन-पाठन हुआ है। उसीको निश्चयसे लाता है अर्थात् ग्रहण कराता है, इसलिए यह मंगल श्रेष्ठ है।१६। (ध. १/१,१,१/३४/३)। ५. जीवोंके पापको उपचारसे मल कहा जाता है। उसे यह मंगल गलाता है, विनाशको प्राप्त कराता है, इस कारण भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं।१७। (ध. १/१,१,१/श्लो. १७/३४); (पं. का./ता. वृ./१/५/५)।

२. मंगलके भेद

ति. प./१/१८ णामणिट्ठावणा दव्वखेत्ताणि कालभावा य। इय छब्भेयं भणियं मंगलमाणंदसंजणणं।१८। —१. आनन्दको उत्पन्न करनेवाला यह मंगल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इस प्रकार छह भेदरूप कहा गया है।१८। (ध. १/१,१,१/१०/४)।

ध० १/१,१,१/३६/३ कतिविधं मङ्गलम्। मङ्गलसामान्यात्तदेकविधम्, मुख्यामुख्यभेदतो द्विविधम्, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदात् त्रिविधं मङ्गलम्, धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम्, ज्ञानदर्शनत्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, 'णमो जिणाणं' इत्यादिनानेकविधं वा। –२. मंगल कितने प्रकारका है। मंगल सामान्यकी अपेक्षा मंगल एक प्रकारका है। ३. मुख्य और गौणके भेदसे दो प्रकारका है। (पं. का./ता. वृ./१/५/६)। ४. सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके भेदसे तीन प्रकारका है। ५. धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हन्तके भेदसे चार प्रकारका है। ६. ज्ञान, दर्शन और तीन गुप्तिके भेदसे पाँच प्रकारका है। ७. अथवा 'जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो' इत्यादि रूपसे अनेक प्रकारका है।

ध. १/१,१,१/४१/५ तच्च मंगलं दुविहं णिबद्धमणिबद्धमिदि। –८. वह मंगल दो प्रकारका है, निबद्धमंगल और अनिबद्ध मंगल। (पं. का./ता. वृ./१/५/२३)।

३. नाम स्थापनादि मंगलके लक्षण

ति. प./१/१६-२७ अरहाणं सिद्धाण आइरियउवज्झियाइसाहूणं। णामाइं णाममंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं ।१९। ठवणमंगलमेदं अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा। सूरिउवज्झयसाहूदेहाणि हु दव्वमंगलयं ।२०। गुणपरिणदासणं परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स। उप्पत्ती इयपहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ।२१। एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी। आउट्ठहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि ।२२। देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्ठद्धगयणदेसो वा। सेढिघणमेत्तअप्पप्पदेसगदलोयपूरणापुण्णा ।२३। विस्साणं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं। जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमति ।२४। परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भवणिव्वुदिप्पवेसादी। पावमलगालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ।२५। एवं अणेयभेयं हवेदि तं कालमंगलं पवरं। जिणमहिमासंबंधं णंदीसुरदीवपहुदीओ ।२६। मंगलपज्जाएहिं उवलक्खियजीवदव्वमेत्तं च। भावं मंगलमेदं ।२७। –वीतराग भगवान्‌के अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन नामोंको नाममंगल कहा है।१९। जिन भगवान्‌के जो अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिबिम्ब हैं, वे सब स्थापना मंगल है। तथा आचार्य उपाध्याय साधुके शरीर द्रव्य मंगल हैं।२०। गुणपरिणत आसन क्षेत्र अर्थात् जहाँपर योगासन, वीरासन आदि विविध आसनोंसे तदनुकूल ध्यानाभ्यास आदि अनेक गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र, दीक्षाका क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिका क्षेत्र इत्यादि रूपसे क्षेत्रमंगल बहुत प्रकारका है ।२१। इस क्षेत्रमंगलके उदाहरण पावानगर ऊर्जयन्त (गिरनार पर्वत) और चम्पापुर आदि है। अथवा साढ़े तीन हाथसे लेकर ५२५ धनुषप्रमाण शरीरमें स्थित और केवलज्ञानसे व्याप्त आकाशप्रदेशोंको क्षेत्रमंगल समझना चाहिए। अथवा जगच्छ्रेणीके घनमात्र अर्थात् लोकप्रमाण आत्माके प्रदेशोंसे लोकपूरणसमुद्घात द्वारा पूरित सभी (ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक्) लोकोंके प्रदेश भी क्षेत्र मंगल हैं ।२२-२४। जिस कालमें जीव केवलज्ञानादि रूप मंगलपर्यायको प्राप्त करता है उसको तथा दीक्षाकाल, केवलज्ञानके उद्भवका काल, और निर्वाणकाल ये सब पापरूपी मलके गलानेका कारण होनेसे कालमंगल कहा गया है ।२४-२५। इस प्रकार जिनमहिमासे सम्बन्ध रखनेवाला कालमंगल अनेक भेदरूप है, जैसे नन्दीश्वर द्वीप सम्बन्धी पर्व आदि ।२५-२६। वर्तमानमें मंगलरूप पर्यायोंसे परिणत जो शुद्ध जीव द्रव्य है (अर्थात् पंचपरमेष्ठीकी आत्माएँ) वह भावमंगल है ।२७। (ध. १/१,१,१/२८-२९); (विशेष दे० निक्षेप)।

दे० निक्षेप/५/७ (सरसों, पूर्णकलश आदि अचित्त पदार्थ, अथवा बालकन्या व उत्तम घोड़ा आदि सचित्त पदार्थ अथवा अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र पदार्थ ये सब लौकिक नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल हैं। पंच परमेष्ठीका अनादिअनन्त जीवद्रव्य, कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालय तथा साधुसंघ सहित चैत्यालयादि ये सब क्रमसे सचित्त अचित्त व मिश्र लोकोत्तर नोकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य मंगल हैं। जीव निबद्ध तीर्थंकर प्रकृति नामकर्म कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यमंगल है)।

४. निबद्धानिबद्धादि मंगलोंके लक्षण

ध. १/१,१,१/४१/५ तत्थ णिबद्धं णाम, जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्धदेवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमंगलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं। –जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा इष्टदेवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है अर्थात् श्लोकादि रूपमें रचकर लिख दिया जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं। और जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकार द्वारा देवताको नमस्कार किया जाता है [अर्थात् लिपिबद्ध नहीं किया जाता (ध. २/प्र.१४) बल्कि शास्त्र लिखना या बाँचना प्रारम्भ करते समय मन, वचन, कायसे जो नमस्कार किया जाता है] उसे अनिबद्ध मंगल कहते है। (पं. का./ता. वृ./१/५/२४)।

पं. का./ता. वृ./१/५/१० तत्र मुख्यमङ्गलं कथ्यते, आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गलं भाषितं बुधैः। तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं तदविघ्नप्रसिद्धये ।१। अमुख्यमङ्गलं कथ्यते–सिद्धत्थ पुण्णकुंभो वंदणमाला य पुंडरं छत्तं। सेदो वण्णो आदस्स णाय कण्णा य जत्तस्सो ।१। –ज्ञानियों द्वारा शास्त्रके आदि मध्य व अन्तमें विघ्न निवारणके लिए जो जिनेन्द्र देवका गुणस्तवन किया जाता है, वह मुख्य मंगल है और पीली सरसों, पूर्ण कलश, वन्दनमाला, छत्र, श्वेत वर्ण, दर्पण, उत्तम जातिका घोड़ा आदि ये अमुख्य मंगल हैं। (इन्हें मंगल क्यों कहा जाता है, इसके लिए देखो मंगल/२/८)।

२. मंगल निर्देश व तद्गत शंकाएँ

१. मंगलके छह अधिकार

ध. १/१,१,१/३६/६ मंगलम्हि छ अहियाराएँ दंडा वत्तव्वा भवंति। तं जहा, मंगलं मंगलकत्ता मंगलकरणीयं मंगलोवायो मंगलविहाणं मंगलफलमिदि। एदेसिं छण्हं पि अत्थो उच्चदे। मंगलत्थो पुव्वुत्तो। मंगलकत्ता चोद्दस्सविज्जाट्ठाणपारओ आइरियो। मंगलकरणीयं भव्वजणा। मंगलोवायो तिरयणसाहणाणि। मंगलविहाणं एयविहादि पुव्वुत्तं। –मंगलके विषयमें छह अधिकारों द्वारा दण्डकोंका कथन करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं–१. मंगल, २. मंगलकर्ता, ३. मंगल करने योग्य, ४. मंगलका उपाय, ५. मंगलके भेद, और ६. मंगलका फल है। अब इन छह अधिकारोंका अर्थ कहते हैं। मंगलका लक्षण तो पहले कहा जा चुका है (दे० मंगल/१/१)। चौदह विद्यास्थानोंके पारगामी आचार्य परमेष्ठी (यहाँ भूतबली आचार्य) मंगलकर्ता हैं। भव्यजन मंगल करने योग्य हैं। रत्नत्रयकी साधक सामग्री (आत्माधीनता व मन वचन कायकी एकाग्रता आदि) मंगलका उपाय है। एक प्रकारका, दो प्रकारका आदि रूपसे मंगलके भेद पहले कह आये हैं। (दे० मंगल/१/२)। मंगलका फल आगे कहेंगे (दे० मंगल/२/२)।

२. मंगलका सामान्य फल व महिमा

ति. प./१/३०-३१ णासदि विग्घं भेददि गहो दुट्ठा सुरा ण लंघंति। इट्ठो अत्थो लब्भइ जिणणामग्गहणमेत्तेण ।३०। सत्थादिमज्झअवसाणएसु जिणतोत्तमंगलुच्चारो। णासइ णिस्सेसाइं विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ।३१। –जिन भगवान्‌के नामके ग्रहण करनेमात्रसे विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप खण्डित होता है, दुष्ट देव लाँघ नहीं सकते अर्थात् किसी प्रकारका उपद्रव नहीं कर सकते और इष्ट अर्थकी

प्राप्ति होती है ।३०। शास्त्रके आदि मध्य और अन्तमें किया गया जिनस्तोत्र रूप मंगलका उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नोंको उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को ।३१। (ध. १/१,१,१/गा. २१-२२/४१); (पं. का./ता. वृ./१/५/१० पर उद्धृत २ गाथाएँ)।

आप्त. प./मू./२ श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः। —अर्हत्परमेष्ठीके प्रसादसे मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है, इसलिए प्रधान मुनियोंने शास्त्रके प्रारम्भमें अर्हत् परमेष्ठीके गुणोंकी स्तुति की है।

ध. १/१,१,१/३६/१० मंगलफलं वेहितो कयअब्भुदयणिस्सेयससुहाइत्तं। —मंगलादिकसे प्राप्त होनेवाले अभ्युदय और मोक्षसुखके आधीन मंगलका फल है।

३. तीन बार मंगल करनेका निर्देश व उसका प्रयोजन

ति. प./१/२८-२९ पुव्विल्लाइरिएहिं उत्तो सत्थाण मंगलं जो सो। आइम्मि मज्झअवसाणे य सणियमेण कायव्वो ।२८। पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति। मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे ।२९। —पूर्वकालीन आचार्योंने जो शास्त्रोंका मंगल कहा है उस मंगलको नियमसे शास्त्रोंके आदि, मध्य और अन्तमें करना ही चाहिए ।२८। शास्त्रके आदिमें मंगलके पढ़नेपर शिष्य लोग शास्त्रके पारगामी होते हैं, मध्यमें मंगलके करनेपर निर्विघ्न विद्याकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगलके करनेपर विद्याका फल प्राप्त होता है ।२९। (ध १/१,१,१/गा. १९-२०/४०); (ध. ९/४,१,१/गा. २/४)।

दे० मंगल/२/२ (शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे समस्त विघ्नोंका नाश तथा मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है)।

द्र.सं./टी./१/६/५ पर उद्धृत—'नास्तिकत्वपरिहारः शिष्टाचारप्रपालनम्। पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नः शास्त्रादौ तेन संस्तुतिः ।२। —नास्तिकताका त्याग, सभ्य पुरुषोंके आचरणका पालन, पुण्यकी प्राप्ति और विघ्न विनाश इन चार लाभोंके लिए शास्त्रके आरम्भमें इष्ट देवताकी स्तुति की जाती है।

ध.१/१,१,१/४०/४ तिसु ट्ठाणेसु मंगलं किमट्ठ वुच्चदे। कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ता विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारा सोदारा वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जाफलं हि पावेंतु त्ति। —प्रश्न—तीन स्थानोंमें मंगल करनेका उपदेश किस लिए दिया गया है? उत्तर—मंगल सम्बन्धी आवश्यक कृतिकर्म करनेवाले तथा मंगल सम्बन्धी प्रायश्चित्त करनेवाले तथा विनयको प्राप्त ऐसे शिष्य, अध्येता (शास्त्र पढ़नेवाला), श्रोता और वक्ता क्रम से आरोग्यको, निर्विघ्न रूपसे विद्याको तथा विद्याके फलको प्राप्त हों, इसलिए तीनों जगह मंगल करनेका उपदेश दिया गया है।

४. लौकिक कार्योंमें मंगल करनेका नियम है, पर शास्त्रमें वह भाज्य है

क. पा. १/१-१/§ २-४/५-९ २. संपहि (पदि) गुणहरभडारएण गाहासुत्ताणमादीए जइवसहत्थेरेण वि चुण्णिसुत्तस्स आदीए मंगलं किण्ण कयं। ण एस दोसो; मंगलं हि कीरदे पारद्धकज्जविग्घयरकम्मविणासणट्ठं। तं च परमागमुवजोगादो चेव णस्सदि। ण चेदमसिद्धं; सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।......ण च कम्मक्खए संते पारद्धकज्जविग्घस्स विज्जाफलाणुव(व)त्तीए वा संभवो; विरोहादो। ण च सद्दाणुसारिसिस्साणं देवदाविसयभत्तिसमुप्पायणट्ठं तं कीरदे; तेण विणा वि गुरुवयणादो चेव तेसिं तदुप्पत्तिदंसणादो।। ३. पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खयकंखुवाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं; पुण्णबंधहेउत्तं पडिविसेसाभावादो...। ४. तेण सोवण-भोयण-पयाण-पच्चावण-सत्थपारंभादिकिरियासु णियमेण अरहंतणमोक्कारो कायव्वो त्ति सिद्धं। ववहारणयमस्सिदूण गुणहरभडारयस्स पुण एसो अहिप्पाओ, जहा—कीरउ अण्णत्थ सव्वत्थ णियमेण अरहंतणमोकारो, मंगलफलस्स पारद्धकिरियाए अणुवलंभादो। एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो। —प्रश्न—गुणधर भट्टारकने गाथासूत्रोंके आदिमें तथा यतिवृषभ आचार्यने भी चूर्णसूत्रोंके आदिमें मंगल क्यों नहीं किया। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि, प्रारम्भ किये हुए कार्यमें विघ्नकारक कर्मोंके विनाशार्थ मंगल किया जाता है और वे परमागमके उपयोगसे ही नष्ट हो जाते हैं। यह बात असिद्ध भी नहीं है; क्योंकि यदि शुभ और शुद्ध परिणामोंसे कर्मोंका क्षय न माना जाये तो फिर कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता। प्रश्न—इस प्रकार यद्यपि कर्मोंका क्षय तो हो जाता है पर फिर भी प्रारम्भ किये हुए कार्यमें विघ्नोंकी और विद्याके फलकी प्राप्ति न होनेकी सम्भावना तो बनी ही रहती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है (कर्मोंका अभाव हो जानेपर विघ्नोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि, कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती)। प्रश्न—शब्दानुसारी शिष्यमें देवताविषयक भक्ति उत्पन्न करानेके लिए शास्त्रके आदिमें मंगल अवश्य करना चाहिए। उत्तर—नहीं; क्योंकि, मंगलके बिना भी केवल गुरुवचनसे ही उनमें वह भक्ति उत्पन्न हो जाती है। —प्रश्न—पुण्यकर्म बाँधनेके इच्छुक देशव्रतियोंको मंगल करना युक्त है, किन्तु कर्मोंके क्षयके इच्छुक मुनियोंको मंगल करना युक्त नहीं, यदि ऐसा कहो तो। उत्तर—नहीं; क्योंकि, पुण्यबन्धके कारणके प्रति उन दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। २. इसलिए सोना, खाना, जाना, आना और शास्त्रका प्रारम्भ करना आदि क्रियाओंमें अरहन्त नमस्कार अवश्य करना चाहिए। किन्तु व्यवहारनयकी दृष्टिसे गुणधर भट्टारकका यह अभिप्राय है, कि परमागमके अतिरिक्त अन्य सब क्रियाओंमें अरहन्त नमस्कार नियमसे करना चाहिए; क्योंकि, अरहन्त नमस्कार किये बिना प्रारम्भ की हुई क्रियामें मंगलका फल नहीं पाया जाता। किन्तु शास्त्रके प्रारंभमें मंगल करनेका नियम नहीं है; क्योंकि, परमागमके उपयोगमें ही मंगलका फल नियमसे प्राप्त हो जाता है।

५. स्वयं मंगल स्वरूप शास्त्रमें भी मंगल करनेकी क्या आवश्यकता

ध. १/१,१,१/४१/१० सुत्तं किं मंगलमुद अमंगलमिदि। जदि ण मंगलं, ण तं सुत्तं पावकारणस्स सुत्तत्तविरोहादो। अह मंगलं, किं तत्थ मंगलेण एगदो चेय कज्जणिप्पत्तीदो इदि। ण ताव सुत्तं ण मंगलमिदि। तारिस्सपइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स। सुत्तस्सादीए मंगलं पढिज्जदि, ण पुणरुत्तदोसो वि दोण्हं पि पुध पुध विणासिज्जमाणपावदंसणादो। पढणविग्घविद्दावणं मंगलं। सुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्जगुणसेढीए पावं गालिय पच्छा सव्वकम्मक्खयकारणमिदि। देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षयकारीति द्वयोरप्येककार्यकर्तृत्वमिति चेन्न, सूत्रविषयपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्याभावात्। शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति। —प्रश्न—सूत्र ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है, या अमंगलरूप? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है तो वह सूत्र भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे उसका सूत्रपनेमें विरोध पड़ जाता है। और यदि सूत्र स्वयं मंगल स्वरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि, मंगल रूप एक सूत्र ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है? और यदि कहा जाय कि यह सूत्र नहीं है, अतएव मंगल भी नहीं है, तो ऐसा तो कहीं कहा नहीं गया कि यह सूत्र नहीं है। अतएव

यह सूत्र है और परिशेष न्यायसे मंगल भी है। तब फिर इसमें अलगसे मंगल क्यों किया गया ? उत्तर—सूत्रके आदिमें मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है; क्योंकि, सूत्र और मंगल इन दोनोंसे पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है। निबद्ध और अनिबद्ध मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करता है, और सूत्र प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे पापोंका नाश करके उसके पश्चात् सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है। प्रश्न—देवता नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिए मंगल और सूत्र दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं, फिर दोनोंका कार्य भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया गया ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता नमस्कारमें कर्मक्षयका सामर्थ्य नहीं है। मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परन्तु देवता नमस्कार तो शुक्लध्यान नहीं है।

ध. ६/४,१,१/३/२ दव्वसुत्तादो तप्पढण-गुणणकिरियावावदाणं सव्व-जीवाणं पडिसमयमसंखेज्जगुणसेडीए पुव्वसंचिदकम्मणिज्जरा होदि त्ति णिप्फलमिदि सुत्तमिदि। अह सफलमिदं, णिप्फलं सुत्तज्झयणं, तत्तो समुवजायमाणकम्मक्खयस्स एत्थेवोवलंभो त्ति। ण एस दोसो, सुत्तयज्झयणेण सामण्णकम्मणिज्जरा करिदे; एदेण पुण सुत्तज्झयण-विग्घफलकम्मविणासो कीरदि त्ति भिण्णविसयत्तादो। सुत्तज्झयण-विग्धफलकम्मविणासो सामण्णकम्मविरोहिसुत्तब्भासादो चेव होदि त्ति मंगलसुत्तारंभो अणत्थओ किण्ण जायदे। ण, सुत्तत्थावगमब्भास-विग्धफलकम्मे अविणट्ठे सते तदवगमब्भासाणमसंभवादो। —प्रश्न—'द्रव्यसूत्रोंसे उनके पढ़ने और मनन करने रूप क्रियामें प्रवृत्त हुए सब जीवोंके प्रति समय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा होती है' इस प्रकार विधान होनेसे यह जिननमस्कारात्मक सूत्र व्यर्थ पड़ता है। अथवा, यदि यह सूत्र सफल है तो सूत्रोंका अर्थात् शास्त्रका अध्ययन व्यर्थ होगा; क्योंकि उससे होनेवाला कर्मक्षय इस जिननमस्कारात्मक सूत्रमें ही पाया जाता है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि सूत्राध्ययनसे तो सामान्य कर्मोंकी निर्जरा की जाती है; और मंगलसे सूत्राध्ययनमें विघ्न करनेवाले कर्मोंका विनाश किया जाता है; इस प्रकार दोनोंका विषय भिन्न है। प्रश्न—चूँकि सूत्राध्ययनमें विघ्न करनेवाले कर्मोंका विनाश सामान्य कर्मोंके विरोधी सूत्राभ्याससे ही हो जाता है, अतएव मंगलसूत्रका आरम्भ करना व्यर्थ क्यों न होगा ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रार्थके ज्ञान और अभ्यासमें विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका जब तक विनाश न होगा तब तक उस (सूत्रार्थ) का ज्ञान और अभ्यास दोनों असम्भव है। और कारणसे पूर्वकालमें कार्य होता नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

पं. का./ता. वृ./१/६/८ शास्त्रं मङ्गलममङ्गलं वा। मङ्गलं चेत्तदा मङ्गलस्य मङ्गलं किं प्रयोजनं, यद्यमङ्गलं तर्हि तेन शास्त्रेण किं प्रयोजनं। आचार्याः परिहारमाहुः—भक्त्यर्थं मङ्गलस्यापि मङ्गलं क्रियते। तथा चोक्तम्—प्रदीपेनार्चयेदर्कमुदकेन महोदधिम्। वागीश्वरीं तथा वाग्भिर्मङ्गलेनैव मङ्गलम्। किंच इष्टदेवतानमस्कारकरणे प्रत्युपकारं कृतं भवति। तथा चोक्तं—श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः। इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुंगवाः। अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्। इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति। —प्रश्न—शास्त्र मंगल है या अमंगल ? यदि मंगल है तो मंगलका भी मंगल करनेसे क्या प्रयोजन ? और यदि वह अमंगल है तो ऐसे शास्त्रसे ही क्या प्रयोजन ? उत्तर—भक्तिके लिए मंगलका भी मंगल किया जाता है। कहा भी है—दीपकसे सूर्यकी, जलसे सागरकी तथा वचनोंसे वागीश्वरीकी पूजा की जाती है, इसी प्रकार मंगलसे मंगलका भी मंगल किया जाता है। इसके अतिरिक्त इष्टदेवताको नमस्कार करनेसे प्रत्युपकार किया जाता है अर्थात् देवताकृत उपकारको स्वीकार किया जाता है। कहा भी है—परमेष्ठीकी कृपासे मोक्षमार्ग-की प्राप्ति होती है। इसीलिए शास्त्रके आदिमें मुनिजन उनके गुणोंका स्तवन करते हैं। इच्छित फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है और वह सच्चे शास्त्रोंसे होता है। शास्त्रोंकी उत्पत्ति आप्तसे होती है। इसलिए उनके प्रसादसे ही ज्ञानकी प्राप्ति हुई होनेसे वे पूज्य हैं, क्योंकि, किये गये उपकारको साधुजन भूलते नहीं हैं।

४. मंगल व निर्विघ्नतामें व्यभिचार सम्बन्धी शंका

ध. ६/४,१,१/५/१ मंगलं काऊण पारद्धकज्जाणं कहिं पि विग्घुवलंभादो तमकाऊण पारद्धकज्जाणं पि कत्थ वि विग्घाभावदंसणादो जिणिद-णमोक्कारो ण विग्घविणासओ त्ति। ण एस दोसो, कयाकयभेसयाणं वाहीणमविणास-विणासदंसणेणावगयवियहिचारस्स वि मारिचादि-गणस्स भेसयत्तुवलंभादो। ओसहाणमोसहत्तं ण विणस्सदि, असज्झवाहिवदिरित्तसज्झवाहिविसरा चेव तेसिं वावारब्भुवगमादो त्ति चे जदि एवं तो जिणिंदणमोक्कारो वि विग्घविणासओ, असज्झविग्घफलकम्ममुज्झिदूण सज्झविग्घफलकम्मविणासे वावार-दंसणादो। ण च ओसहेण समाणो जिणिंदणमोक्कारो, णाणज्झाणसहायस्स संतस्स णिव्विग्घग्गिस्स अदज्झ-धणाण व असज्झविग्घफलकम्माणमभावादो। णाणज्झाणप्पओ णमोक्कारो संपुण्णो, जहण्णो मंदसद्दहणाणुविद्धो बोद्धव्वो; सेस-असंखेज्जलोगभेयभिण्णा मज्झिमा। ण च ते सव्वे समाणफला, अइप्पसंगादो। —प्रश्न—मंगल करके प्रारम्भ किये गये कार्योंके कहीं-पर विघ्न पाये जानेसे और उसे न करके भी प्रारम्भ किये गये कार्योंके कहीं पर विघ्नोंका अभाव देखे जानेसे जिनेन्द्र नमस्कार विघ्न विनाशक नहीं है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिन व्याधियोंकी औषध की गयी है उनका अविनाश, और जिनकी औषध नहीं की गयी है उनका विनाश देखे जानेसे व्यभिचार ज्ञात होनेपर भी काली मिरच आदि औषधि द्रव्योंमें औषधित्व गुण पाया जाता है। प्रश्न—औषधियोंका औषधित्व तो इसलिए नष्ट नहीं होता, कि असाध्य व्याधियोंको छोड़कर केवल साध्य व्याधियोंके विषयमें ही उनका व्यापार माना गया है ! उत्तर—तो जिनेन्द्र नमस्कार भी (उसी प्रकार) विघ्न विनाशक माना जा सकता है; क्योंकि, उसका भी व्यापार असाध्य विघ्नोंके कारणभूत कर्मोंको छोड़कर साध्य विघ्नोंके कारणभूत कर्मोंके विनाशमें देखा जाता है। २. दूसरी बात यह है कि (सर्वथा) औषधके समान जिनेन्द्र नमस्कार नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार निर्विघ्न अग्निके होते हुए न जल सकने योग्य इन्धनोंका अभाव रहता है (अर्थात् सम्पूर्ण प्रकारके इन्धन भस्म हो जाते हैं), उसी प्रकार उक्त नमस्कारके ज्ञान व ध्यानकी सहायता युक्त होनेपर असाध्य विघ्नोत्पादक कर्मोंका भी अभाव होता है (अर्थात् सब प्रकारके कर्म विनष्ट हो जाते हैं) तहाँ ज्ञानध्यानात्मक नमस्कारको उत्कृष्ट, एवं मन्द श्रद्धान युक्त नमस्कार-को जघन्य जानना चाहिए। शेष असंख्यात लोकप्रमाण भेदोंसे भिन्न नमस्कार मध्यम हैं। और वे सब समान फलवाले नहीं होते, क्योंकि, ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आता है।

पं. का./ता. वृ./२/६/४ यदुक्तं त्वया व्यभिचारो दृश्यते तदप्ययुक्तं। कस्मादिति चेत्। यत्र देवतानमस्कारदानपूजादिधर्मे कृतेऽपि विघ्नं भवति तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतपापस्यैव फलं तत् न च धर्मदूषणं, यत्र पुनर्देवतानमस्कारदानपूजादिधर्माभावेऽपि निर्विघ्नं दृश्यते तत्रेदं ज्ञातव्यं पूर्वकृतधर्मस्यैव फलं तत् न च पापस्य। —आपने जो यह कहा है कि (मंगल करने या न करनेपर भी निर्विघ्नताका अभाव या सद्भाव दिखायी देनेसे) तहाँ व्यभिचार दिखायी देता है, सो यह

कहना अयुक्त है, क्योंकि, जहाँ देवतानमस्कार दान पूजादि रूप धर्मके करनेपर भी विघ्न होता है वहाँ वह पूर्वकृत पापका ही फल जानना चाहिए, धर्मका दोष नहीं। और जहाँ देवतानमस्कार दानपूजादिरूप धर्मके अभावमें भी निर्विघ्नता दिखायी देती है, वहाँ पूर्वकृत धर्मका ही फल जानना चाहिए, पापका अर्थात् मंगल न करनेका नहीं।

७. मंगल करनेसे निर्विघ्नता कैसे

पं. का./ता. वृ./१/५/२६ किमर्थं शास्त्रादौ शास्त्रकाराः मङ्गलार्थं परमेष्ठिगुणस्तोत्रं कुर्वन्ति यदेव शास्त्रं प्रारब्धं तदेव कथ्यतां मङ्गलप्रस्तुतं। न च वक्तव्यं मङ्गलनमस्कारेण पुण्यं भवति पुण्येन निर्विघ्नं भवति इति। कस्मान्न वक्तव्यमिति चेत्। व्यभिचारात्।...तदप्ययुक्तं। कस्मात्। देवतानमस्कारकरणे पुण्यं भवति तेन निर्विघ्नं भवतीति तर्कादिशास्त्रे व्यवस्थापितत्वात्। —प्रश्न—शास्त्रके आदिमें शास्त्रकार मंगलार्थ परमेष्ठीके गुणोंका स्तवन क्यों करते हैं, जो शास्त्र प्रारम्भ किया है वही मंगलरूप है। तथा 'मंगल करनेसे पुण्य होता है और पुण्यसे निर्विघ्नताकी प्राप्ति होती है' ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसमें व्यभिचार देखा जाता है। उत्तर—यह कहना अयुक्त है क्योंकि, देवतानमस्कार करनेसे पुण्य और पुण्यसे निर्विघ्नताका होना तर्क आदि विषयक अनेक शास्त्रोंमें व्यवस्थापित किया गया है।

८. लौकिक मंगलोंको मंगल कहनेका कारण

पं. का./ता. वृ./१/५/१५ पर उद्धृत—वयणियमसंजमगुणेहिं साहिदो जिणवरेहिं परमट्ठो। सिद्धा सण्णा जेसिं सिद्धत्था मंगलं तेण ।२। पुण्णा मणोरहेहि य केवलणाणेण चावि संपुण्णा। अरहंता इदि लोए सुमंगलं पुण्णकुंभो दु ।३। णिग्गमणपवेसम्हि य इह चउवीसंपि वंदणीज्जा ते। वंदणमालेत्ति कया भरहेण य मंगलं तेण ।४। सव्वजणणिव्वुदियरा छत्तायारा जगस्स अरहंता। छत्तायारं सिद्धित्ति मंगलं तेण छत्तं तं ।५। सेदो वण्णो झाणं लेस्सा य अघाइसेसकम्मं च। अरुहाणं इदि लोए सुमंगलं सेदवण्णो दु ।६। दीसइ लोयालोओ केवलणाणेण तहा जिणिदस्स। तह दीसइ मुकुरे बिंबुमंगलं तेण तं मुणह ।७। जह वीयरायसव्वण्हु जिणवरो मंगलं हवइ लोए। हयरायबालकण्णा तह मंगलमिह विजाणाहि ।८। कम्मारिजिणेविणु जिणवरेहिं मोक्खु जिणहिमि जेण। जं चउरउअरिबलजिणइ मंगलु वुच्चइ तेण ।९। —व्रत, नियम, संयम आदि गुणोंके द्वारा साधित जिनवरोंको ही समस्त अर्थकी सिद्धि हो जानेके कारण, परमार्थसे सिद्ध संज्ञा प्राप्त है। इसीलिए सिद्धार्थ (पीली सरसों) को मंगल कहते हैं ।२। अरहंत भगवान् सम्पूर्ण मनोरथोंसे तथा केवलज्ञानसे पूर्ण हैं, इसीलिए लोकमें पूर्णकलशको मंगल माना जाता है ।३। क्योंकि द्वारसे बाहर निकलते हुए तथा उसमें प्रवेश करते हुए २४ तीर्थंकर वन्दनीय होते हैं, इसीलिए भरत चक्रवर्तीने २४ कलियोंवाली वन्दनमालाकी रचना की थी। इसीसे वह मंगलरूप समझी जाती है ।४। जगत्के सर्व जीवोंको मुक्ति दिलानेके लिए अरहंत भगवान् छत्राकार हैं अर्थात् एक मात्र आश्रय हैं। अतः सिद्धि छत्राकार है और इसीसे छत्रको मंगल कहा जाता है ।५। अरहंत भगवान्का ध्यान, लेश्या व शेष अघाती कर्म ये सब क्योंकि श्वेतवर्णके अर्थात् शुक्ल होते हैं, इसीलिए लोकमें श्वेतवर्णको मंगल समझा जाता है ।६। जिनेन्द्र भगवान्को केवलज्ञानमें जिस प्रकार समस्त लोकालोक दिखाई देता है, उसी प्रकार दर्पणमें भी उसके समक्ष रहनेवाले दूर व निकटके समस्त छोटे व बड़े पदार्थ दिखाई देते हैं, इसीलिए दर्पणको मंगल जानो ।७। जिस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् लोकमें मंगलरूप हैं, उसी प्रकार 'हय राय' अर्थात् उत्तम जातिका घोड़ा और हय राय बालकन्या अर्थात् रागद्वेषरहित सरल चित्त बालकन्या भी मंगल है। क्योंकि 'हय राय' इस शब्दका अर्थ हतराग भी है और उत्तम घोड़ा भी ।८। क्योंकि कर्मरूपी शत्रुओंको जीतकर ही जिनेन्द्र भगवान् मोक्षको प्राप्त हुए हैं इसीलिए शत्रुसमूह पर जीतको दर्शानेवाला चमर मंगल कहा जाता है।

९. मिथ्यादृष्टि आदि सभी जीवोंमें कथंचित् मंगलपना

ध. १/१,१,१/३९-३८ एकजीवापेक्षया अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादिसपर्यवसितमिति त्रिविधम्। कथमनाद्यपर्यवसितं मङ्गलस्य। द्रव्यार्थिकनयार्पणया। तथा च मिथ्यादृष्ट्यवस्थायामपि मङ्गलत्वं जीवस्य प्राप्नोतीति चेन्नैष दोषः इष्टत्वात्। न मिथ्याविरतिप्रमादानां मङ्गलत्वं तेषां जीवत्वाभावात्। जीवो हि मङ्गलम् स च केवलज्ञानाद्यनन्तधर्मात्मकः।...न छद्मस्थज्ञानदर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विश्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्राप्तेः। —एक जीवकी अपेक्षा मंगलका अवस्थान अनादि अनन्त, सादि अनन्त और सादि सान्त इस प्रकार तीन भेद रूप है। प्रश्न—अनादिसे अनन्तकाल तक मंगल होना कैसे सम्भव है। उत्तर—द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानतासे। प्रश्न—इस तरह तो मिथ्यादृष्टि अवस्थामें भी जीवको मंगलपनेकी प्राप्ति हो जायेगी। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि, यह हमें इष्ट है। परन्तु ऐसा माननेपर भी मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद आदिको मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि, उनमें जीवत्व नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और वह जीव केवलज्ञानादि अनन्त धर्मात्मक है। छद्मस्थके ज्ञान और दर्शन अल्प होने मात्रसे अमंगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान और दर्शनके एकदेश मात्रमें मंगलपनेका अभाव स्वीकार कर लेनेपर ज्ञान और दर्शनके सम्पूर्ण अवयवों अर्थात् केवलज्ञान व केवलदर्शनको भी अमंगल मानना पड़ेगा।

दे० ज्ञान/I/४/२.५ और सामान्य ज्ञान सन्तानकी अपेक्षा छद्मस्थ जीवोंमें भी केवलज्ञानका सद्भाव माननेमें कोई विरोध नहीं आता। उनके मति ज्ञान आदि तथा चक्षुदर्शनादि भी ज्ञान व दर्शन सामान्यकी ही अवस्था विशेष होनेके कारण मंगलीभूत केवलज्ञान व केवलदर्शनसे भिन्न नहीं कहे जा सकते। और इस प्रकार भले ही मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञान व दर्शनको मंगलपना प्राप्त हो जाय, पर उसके मिथ्यात्व अविरति आदिको मंगलपना नहीं हो सकता। मिथ्यादृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें मंगलपना असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, जिस प्रकार सम्यग्दृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें पापक्षयकारीपना पाया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिके ज्ञान व दर्शनमें भी पापक्षयकारीपना पाया जाता है।

मंगला— एक विद्या (दे० विद्या)।

मंगलाचरण— (दे० मंगल)।

मंगलावती— १. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२। २. पूर्व विदेहस्थ आत्मांजन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

मंगलावर्त— १. सौमनस पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक ५/४। २. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२।

मंजूषा— पूर्व विदेहके मंगलावर्त या लांगलावर्त देशकी प्रधान नगरी—दे० लोक/५/२।

मंडन मिश्र— १. एक बौद्ध विद्वान्। समय—ई० ६१५-६९०। (सि. वि./प्र./३५/पं. महेन्द्र कुमार)। २. मीमांसा दर्शन व वेदान्त दर्शनके भाष्यकार—दे० मीमांसा दर्शन व वेदान्त।

मंडप भूमि— समवशरणकी आठवीं भूमि—दे० समवशरण।

मंडल—१. प्राणायाम सम्बन्धी चार मण्डलोंका निर्देश—दे० प्राणायाम। २. प्राणायाम सम्बन्धी अग्निमण्डल, आकाश मण्डल —दे० वह वह नाम।

मंडलीक—राजाकी एक उपाधि—दे० राजा।

मंडलीक वायु—दे० वायु।

मंडित—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

मंत्र—मन्त्रशक्ति सर्वसम्मत है। णमोकार मन्त्र जैनका मूलमन्त्र है।

१. मन्त्र सामान्य निर्देश

१. मन्त्र तन्त्रकी शक्ति पौद्‌गलिक है

ध. १३/५,५,८२/३४९/८ जोणिपाहुडे भणिदमंत-तंतसत्तीयो पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो। —योनिप्राभृतमें कहे गए मन्त्र तन्त्र रूप शक्तियोंका नाम पुद्‌गलानुभाग है।

२. मन्त्र शक्तिका माहात्म्य

गो. जी./जी. प्र./१८४/४१६/१८ अचिन्त्यं हि तपोविद्यामणिमन्त्रौषधिशक्त्यतिशयमाहात्म्यं दृष्टस्वभावत्वात्। स्वभावोऽतर्कगोचर इति समस्तवादिसंमतत्वात्। —विद्या, मणि, मन्त्र, औषध आदिकी अचिन्त्य शक्तिका माहात्म्य प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। स्वभाव तर्कका विषय नहीं, ऐसा समस्त वादियोंको सम्मत है।

३. मन्त्र तन्त्र आदिकी सिद्धिका मोक्षमार्गमें निषेध

र. सा./१०६ जोइसविज्जामंतोपजीणं वा य वस्सववहारं। धणधण्णपडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ।१०६। —जो मुनि ज्योतिष शास्त्रसे या किसी अन्य विद्यासे या मन्त्र तन्त्रोंसे अपनी उपजीविका करता है, जो वैश्योंकेसे व्यवहार करता है और धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला है।

ज्ञा. ४/५२-५५ वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा। जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।५२। पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ। विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।५३। यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धय. कालवञ्चना। पादुकाञ्जननिस्त्रिंशभूतभोगीन्द्रसाधनं।५४। इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः। आत्मानमपि न ज्ञातं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।५५। —वशीकरण, आकर्षण, विद्वेषण, मारण, उच्चाटन, तथा जल अग्नि विष आदिका स्तम्भन, रसकर्म, रसायन।५२। नगरमें क्षोभ उत्पन्न करना, इन्द्रजालसाधन, सेनाका स्तम्भन करना, जीतहारका विधान बताना, विद्याके छेदनेका विधान साधना, वेधना, ज्योतिषका ज्ञान, वैद्यकविद्यासाधन।५३। यक्षिणीमन्त्र, पातालसिद्धिके विधानका अभ्यास करना, कालवंचना (मृत्यु जीतनेका मन्त्र साधना), पादुकासाधन (खड़ाऊँ पहनकर आकाश या जलमें विहार करनेकी विद्याका साधन) करना, अदृश्य होने तथा गड़े हुए धन देखनेके अंजनका साधना, शस्त्रादिका साधना, भूतसाधन, सर्पसाधन।५४। इत्यादि विक्रियारूप कार्योंमें अनुरक्त होकर दुष्ट चेष्टा करनेवाले जो हैं उन्होंने आत्मज्ञानसे भी हाथ धाया और अपने दोनों लोकका कार्य भी नष्ट किया। ऐसे पुरुषोंके ध्यानकी सिद्धि होना कठिन है।५५।

ज्ञा./४०/१० क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिता', मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृता'। कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् संसारसौख्यार्थिनो, दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिता।१०। —जो पुरुष खोटे ध्यानके उत्कृष्ट प्रपंचोंको विस्तार करनेमें चतुर हैं वे इस लोकमें रागरूप अग्निसे प्रज्वलित होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र, मन्त्र, आदि साधनोंके द्वारा कामक्रोधसे वशीभूत कुदेवोंका आदरसे आराधन करते हैं। सो, सांसारिक सुखके चाहनेवाले और दुष्ट आशासे पीड़ित तथा भोगोंकी पीड़ासे वंचित होकर वे नरकमें पड़ते हैं।१०।

और भी दे०—मन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि विद्याओंका प्रयोग करनेवाला साधु संसक्त है (दे० संसक्त), वह लौकिक है (दे० लौकिक)। आहारके दाताको मन्त्र तन्त्रादि बताना साधुके आहारका मन्त्रोपजीवी नामका एक दोष है। (दे० आहार/II/४)। इसी प्रकार वसतिकाके दाताको उपरोक्त प्रयोग बताना वसतिकाका मन्त्रोपजीवी नामक दोष है। (दे० वसतिका)।

४. साधुको आजीविका करनेका निषेध

ज्ञा./४/५६-५७ यतित्वं जीवनोपायं कुर्वन्तः किं न लज्जिताः। मातुः पण्यमिवालम्ब्य यथा केचिद्गतघृणाः।५६। निस्त्रपाः कर्म कुर्वन्ति यतित्वेऽप्यतिनिन्दितम्। ततो विराध्य सन्मार्गं विशन्ति नरकोदरे।५७। —कई निर्दय निर्लज्ज साधुपनमें भी अतिशय निन्द्य योग्य कार्य करते हैं। वे समीचीन मार्गका विरोध करके नरकमें

प्रवेश करते हैं। जैसे कोई अपनी माताको वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करते हैं, तैसे ही जो मुनि होकर उस मुनिदीक्षाको जीवनका उपाय बनाते हैं और उसके द्वारा धनोपार्जन करते हैं वे अतिशय निर्दय तथा निर्लज्ज हैं ।५६-५७।

५. परिस्थिति वश मंत्र प्रयोगकी आज्ञा

भ. आ./वि./३०६/५२०/१७ स्तेनैरुपद्रूयमाणानां तथा श्वापदैः, दुष्टैर्वा भूमिपालैः, नदीरोधकैः मार्या च तदुपद्रवनिरासः विद्यादिभि··· वैयावृत्त्यमुक्तम् ।—जिन मुनियोंको चोरसे उपद्रव हुआ हो, दुष्ट पशुओंसे पीड़ा हुई हो, दुष्ट राजासे कष्ट पहुँचा हो, नदीके द्वारा रुक गये हों, भारी रोगसे पीड़ित हो गये हों, तो उनका उपद्रव विद्यादिकोंसे नष्ट करना उनकी वैयावृत्ति है।

६. पूजाविधानादिके लिए सामान्य मन्त्रोंका निर्देश

म.पु./४०/श्लो.नं. का भावार्थ—निम्नलिखित मन्त्र सामान्य हैं क्योंकि सभी क्रियाओंमें काम आते हैं—।३१। १. भूमिशुद्धिके लिए 'नीरजसे नमः' ।५। विघ्नशान्तिके लिए 'दर्पमथनाय नमः' ।६। और तदनन्तर गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, और नैवेद्य द्वारा भूमिका संस्कार करनेके लिए क्रमसे—शीलगन्धाय नमः, विमलाय नमः, अक्षताय नमः, श्रुतधूपाय नमः, ज्ञानोद्योताय नमः, परमसिद्धाय नमः, ये मन्त्र बोल बोल वह वह पदार्थ चढ़ावे ।७-१०। २. तदनन्तर पीठिकामन्त्र पढ़े—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः ।११। परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः ।१२। स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, ।१३। अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः ।१४-१७। परमकाष्ठयोगाय नमो नमः ।१८। लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः।१९। केवलिसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तःकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह, निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा ।२०-२३। ३. (इसके पश्चात् काम्यमंत्र बोलना चाहिए) सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।२४-२५। ४. तत्पश्चात् क्रमसे जातिमन्त्र, निस्तारकमंत्र, ऋषिमन्त्र, सुरेन्द्रमन्त्र, परमराजादि मन्त्र, परमेष्ठी मन्त्र, इन छः प्रकारके मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिए। ४. जातिमन्त्र—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।२७-३०। ५. निस्तारकमन्त्र—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामपतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु। (३१-३७) ६. ऋषि मन्त्र—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविध-योगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु, ।३८-४६। ७. सुरेन्द्रमन्त्रः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्चिर्जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।४७-५५। ८. परमराजादिमन्त्र—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्च्यजाय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।५६-६२। ९. परमेष्ठी मन्त्र—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकांक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।६३-७६। १०. पीठिका मन्त्रसे परमेष्ठीमन्त्र तकके ये उपरोक्त सात प्रकारके मन्त्र गर्भाधानादि क्रियाएँ करते समय क्रियामन्त्र, गणधर कथित सूत्रमें साधनमन्त्र, और देव पूजनादि नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ।७८-७९।

७. गर्भाधानादि क्रियाओंके लिए विशेष मन्त्रोंका निर्देश

म. पु./४०/ श्लोक नं. का भावार्थ—गर्भाधानादि क्रियायों (दे. संस्कार) में से प्रत्येकमें काम आनेवाले अपने अपने जो विशेष मन्त्र हैं वे निम्न प्रकार हैं ।९१। १. गर्भाधान क्रियाके मन्त्र—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।९२-९५। २. प्रीति क्रियाके मन्त्र—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव।९६। ३. सुप्रीति क्रियाके मन्त्र—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव ।९७-१००। ४. धृति क्रियाके मन्त्र—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव ।१०१। ५. मोदक्रियाके मन्त्र—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव ।१०२-१०७। ६. प्रियोद्भव क्रियाके मन्त्र—दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा ।१०८-१०९। ७. जन्म संस्कार क्रियाके मन्त्र—योग्य आशीर्वाद आदि देनेके पश्चात् निम्न प्रकार मन्त्र प्रयोग करे—नाभिनाल काटते समय—'घातिजयो भव;' उबटन लगाते समय—'हे जात, श्रीदेव्यः ते जातिक्रियां कुर्वन्तु' स्नान कराते समय—'त्वं मन्दराभिषेकार्हो भव'; सिरपर अक्षत क्षेपण करते समय 'चिरं जीव्या';

सिरपर घी क्षेपण करते समय—'नश्यात् कर्ममलं कृत्स्नं'; माताका स्तन मुँहमें देते समय—'विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूयाः:; गर्भमलको भूमिके गर्भमें रखते समय—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्व मातः सर्व मातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा, त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनीभूयासः;' माताको स्नान कराते समय—'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा;' बालकको ताराओंसे व्याप्त आकाशका दर्शन कराते समय—'अनन्तज्ञानदर्शी भव ।११०-१३१। ८. नामकर्म क्रियाके मन्त्र—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव', विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव ।१३२-१३३। ९. बहिर्यान क्रियाके मन्त्र—उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिषेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव ।१३४-१३९। १०. निषद्या क्रियाके मन्त्र—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव ।१४०। ११. अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र—दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव ।१४१-१४२। १२. व्युष्टिक्रियाके मन्त्र—उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, वैवाहनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव ।१४३-१४६। १३. चौल या केशक्रियाके मन्त्र—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव। १४७-१५१। १४. लिपिसंख्यान क्रियाके मन्त्र—शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव ।१५२। १५. उपनीति क्रियाके मन्त्र—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव। १६. व्रत चर्या आदि आगेकी क्रियाओंके मन्त्र—शास्त्र परम्पराके अनुसार समझ लेने चाहिए ।२१७।

२. णमोकार मंत्र

१. णमोकारमंत्र निर्देश

ष. खं. १/१,१/सूत्र १/८ णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।१। इदि —अरिहंतोंको नमस्कार हो, सिद्धोंको नमस्कार हो, आचार्योंको नमस्कार हो, उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकमें सर्व साधुओंको नमस्कार हो।

२. णमोकार मंत्रका इतिहास

ध. १/१,१,१/४१/७ इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्ध-मंगलं। यत्तोमिमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो-अरिहंताणं' इच्चादि देवदाणमोक्कारदंसणादो। —यह जीवस्थान नामका प्रथम खण्डागम 'निबद्ध मंगल' है, क्योंकि, 'इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि रूपसे देवता नमस्कार निबद्धरूपसे देखनेमें आता है। नोट—१. इस प्रकार धवलाकार इस मंत्र या सूत्रको निबद्ध मंगल स्वीकार करते हैं। निबद्ध मंगलका अर्थ है स्वयं ग्रन्थकार द्वारा रचित (दे० मंगल/१/४)। अतः स्पष्ट है कि उनको इस मन्त्रको प्रथम खण्डके कर्ता आचार्य पुष्पदन्तकी रचना मानना इष्ट है। यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि सम्भवतः आचार्य पुष्पदन्तने इस सूत्रको कहीं अन्यत्रसे लेकर यहाँ रख दिया है और यह उनकी अपनी रचना नहीं है; क्योंकि, इसका स्पष्टीकरण ध. ९/४,१,४४/१०३/४ पर की गयी चर्चासे हो जाता है। वहाँ धवलाकारने ही उस ग्रन्थके आदिमें निबद्ध 'णमो जिणाणं' आदि चवालीस मंगलात्मक सूत्रोंको निबद्ध मंगल स्वीकार करनेमें विरोध बताया है, और उसका हेतु दिया है यह कि वे सूत्र महाकर्म प्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतम स्वामीने रचे थे, वहाँसे लेकर भूतबलि भट्टारकने उन्हें यहाँ लिख दिया है। यद्यपि पुनः धवलाकारने उन सूत्रोंको वहाँ निबद्ध मंगल भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है, और उसमें हेतु दिया है यह कि दोनोंका एक ही अभिप्राय होनेके कारण गौतम स्वामी और भूतबलि क्योंकि एक ही हैं, इसलिए वे सूत्र भूतबलि आचार्यके द्वारा रचित ही मान लेने चाहिए। परन्तु उनका यह समाधान कुछ युक्त प्रतीत नहीं होता। अतः निबद्ध मंगल बताकर धवलाकारने इस णमोकार मन्त्रको पुष्पदन्त आचार्यकी मौलिक रचना स्वीकार की है। (ध. २/प्र. ३४-३५/ H. L. Jain. २. श्वेताम्बराम्नायके 'महानिशीथ सूत्र/अध्याय ५' के अनुसार 'पञ्चमंगलसूत्र' सूत्रत्वकी अपेक्षा गणधर द्वारा और अर्थकी अपेक्षा भगवान् वीर द्वारा रचा गया है। पीछेसे श्री वज्रसामी (वैरस्वामी या वज्रस्वामी) ने इसे वहाँ लिख दिया है। महानिशीथ सूत्रसे पहलेकी रची गयी, श्वेताम्बराम्नायके आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और पिण्डनिर्युक्ति नामक चार मूल सूत्रोंकी, भद्रबाहुस्वामी कृत चूर्णिकाओंमें णमोकार मन्त्र पाया जाता है। इससे संभावना है कि यही णमोकार मंत्र महानिशीथ सूत्रमें पंच मंगलसूत्रके नामसे निर्दिष्ट है और वह वज्रसूरिसे बहुत पहलेकी रचना है। (ध. २/प्र. ३६/H. L Jain) ३. श्वेताम्बराम्नायके अत्यन्त प्राचीन भगवतीसूत्र नामक मूल ग्रन्थमें यह पंच णमोकार मन्त्र पाया जाता है, परन्तु वहाँ 'णमो लोए सव्वसाहूणं' के स्थानपर 'णमो बंभीए लिवीए' (ब्राह्मी लिपिको नमस्कार) ऐसा पद पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उड़ीसाकी हाथीगुफामें जो कलिंग नरेश खारवेलका शिलालेख पाया जाता है और जिसका समय ईस्वी पूर्व अनुमान किया जाता है, उसमें आदि मंगल इस प्रकार पाया जाता है— 'णमो अरहंताणं। णमो सवसिधाणं।' यह पाठ भेद प्रासंगिक है या किसी परिपाटीको लिये हुए है, यह विषय विचारणीय है (ध. २/प्र. ४१/१५/H.L. Jain)। ४. श्वेताम्बराम्नायमें किसी किसीके मतसे णमोकार सूत्र अनार्ष है—(अभिधान राजेन्द्र कोश पृ. १८३५) (ध. २/प्र. ४१/२२/H. L. Jain)।

३. णमोकार मंत्रकी उच्चारण व ध्यान विधि

अन. ध /९/२२-२३/८६६ जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे। हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम् ।२२। पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः। नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ।२३। —प्राण वायुको भीतर प्रविष्ट करके आनन्दसे विकसित हृदय कमलमें रोककर जिनेन्द्र मुद्रा द्वारा णमोकार मन्त्रकी गाथाका ध्यान करना चाहिए। तथा गाथाके दो दो और एक अंश का क्रमसे पृथक्-पृथक् चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुका धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए। इस प्रकार नौ बार प्राणायामका प्रयोग करनेवाला संयमी महान् पापकर्मोंको भी क्षय कर देता है। पहले भागमें (श्वासमें) णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं इन दो पदोंका, दूसरे भागमें णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं इन दो पदोंका तथा तीसरे भागमें णमो लोए सव्वसाहूणं इस पदका ध्यान करना चाहिए। (विशेष/दे० पदस्थ/७१)

४. मन्त्रमें प्रयुक्त 'सर्व' शब्दका अर्थ

मू. आ./५१२ णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो । समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो ।५१२। —निर्वाणके साधनीभूत मूलगुण आदिकमें सर्वकाल अपने आत्माको जोड़ते हैं और सब जीवोंमें समभावको प्राप्त होते हैं, इसलिए वे सर्वसाधु कहलाते हैं।

ध. १/१,१,१/५२/१ सर्वनमस्कारेष्वत्रतनसर्वलोकशब्दावन्तदीपकत्वादध्याहर्तव्यौ सकलक्षेत्रगतत्रिकालगोचरार्हदादिदेवताप्रणमनार्थम् । —पाँच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें, इस नमोकार मन्त्रमें जो 'सर्व' और 'लोक' पद हैं वे अन्तदीपक हैं, अतः सम्पूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिए उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिए। (भ. आ./वि./७५४/६१८/२१)।

५. चत्तारि दण्डकमें 'साधु' शब्दसे आचार्य आदि तीनोंका ग्रहण

भा. पा./मू. व टी./१२२/२७३-२७४ झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए ।१२२। -मंगलचउसरणलोयपरियरिए मंगललोकोत्तमशरणभूतानीत्यर्थः।... अर्हन्मंगलं अर्हल्लोकोत्तमाः अर्हच्छरणं। सिद्धमंगलं सिद्धलोकोत्तमाः सिद्धशरणं। साधुमंगलं साधुलोकोत्तमाः साधुशरणं। साधुशब्देनाचार्योपाध्यायसर्वसाधवो लभ्यन्ते। तथा केवलिप्रणीतधर्ममंगलं धर्मलोकोत्तमाः धर्मशरणं चेति द्वादशमन्त्राः सूचिताः चतुःशब्देनेति ज्ञातव्यं। —'मंगलचउसरणलोयपरियरिए' इस पदसे मंगल लोकोत्तम, व शरणभूत अर्थ होता है। अथवा 'चउ' शब्दसे बारह मन्त्र सूचित होते हैं। यथा— अर्हन्तमंगलं, अर्हन्तलोकोत्तमा, अर्हन्तशरणं, सिद्धमंगलं, सिद्धलोकोत्तमा, सिद्धशरणं, साधुमंगलं, साधुलोकोत्तमा, साधुशरणं और केवलिप्रणीतधर्ममंगलं, धर्मलोकोत्तमा, धर्मशरणं। यहाँ साधु शब्दसे आचार्य उपाध्याय व सर्व साधुका ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार पंचगुरुओंको ध्याना चाहिए।

६. अर्हन्तको पहले नमस्कार क्यों

ध. १/१,१,१/५३/७ विगताशेषलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वर्हतां सलेपनामादौ किमिति नमस्कारः क्रियत इति चेन्नैष दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात्। असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारापेक्षया वादावर्हन्नमस्कारः क्रियते। न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षवृत्तेः श्रेयोहेतुत्वात्। अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च। आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वख्यापनार्थं वार्हतमादौ नमस्कारः। —प्रश्न—सर्व प्रकारके कर्मलेपसे रहित सिद्ध परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया कर्मोंके लेपसे युक्त अरिहंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है। उत्तर—१. यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धाकी अधिकताके कारण अरिहंत परमेष्ठी ही हैं। (स्या. मं/३१/३३६/११) २. अथवा, यदि अरिहंत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आप्त, आगम, और पदार्थका परिज्ञान नहीं हो सकता था। किन्तु अरिहन्त परमेष्ठीके प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है। इसलिए उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया जाता है (द्र. सं/टी. १/६/२)। ३. और ऐसा करना पक्षपात दोषोत्पादक भी नहीं है, किन्तु शुभ पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है। ४. तथा द्वैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात बन भी तो नहीं सकता है (अर्थात् यहाँ परमेष्ठियोंके व्यक्तियोंको नमस्कार नहीं किया गया है बल्कि उनके गुणोंको नमस्कार किया गया है। और उन गुणोंकी अपेक्षा पाँचोंमें कोई भेद नहीं है।) ५. आप्तकी श्रद्धासे ही आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिए भी आदिमें अरिहंतोंको नमस्कार किया गया है।

मंत्र न्यास—दे० प्रतिष्ठा विधान।

मंत्री—त्रि. सा./६८३/भाषा टीका—मन्त्री कहिए पंचांग मन्त्र विषै प्रवीण।

मंत्रोपजीवी— १. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

मंद—दे० तीव्र।

मंदप्रबोधिनी—आ० नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्तीकृत गोमट्टसार ग्रन्थ पर आ० अभयचन्द्र (ई० श० १३ अन्त) कृत संस्कृत टीका। (जै./१/४६४)।

मंदर—१. सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु। २. पूर्व पुष्करार्धका मेरु—दे० लोक४/४ ३. पूर्व विदेहका एक वक्षार पर्वत—दे० लोक५/३। ४. नन्दन वनका, कुण्डल पर्वतका तथा रुचक पर्वतका कूट—दे० लोक/५/५,१२,१३ ५. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ६. (म. पु./५६/श्लो. नं.)—पूर्वभवोंमें क्रमसे—वारुणी, पूर्णचन्द्र, वैडूर्यदेव, यशोधरा, कापिष्ठ स्वर्गमें रुचकप्रभदेव, रत्नायुध देव, द्वितीय नरक, श्रीधर्मा, ब्रह्मस्वर्गका देव, जयन्त तथा धरणेन्द्र होते हुए वर्तमानभवमें विमलनाथ भगवान्के गणधर हुए (३१०-३१२)।

मंदराकार क्षेत्र— दे० (ज. प./प्र./३२)।

मंदराभिषेक क्रिया—दे० संस्कार/२।

मंदरार्य—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अर्हद्बलिके शिष्य तथा मित्रवीरके गुरु थे। समय वी. नि. ५८० (ई० ५२)—दे० इतिहास/७/८।

मंदोदरी—(प. पु./सर्ग/श्लो.) दक्षिणश्रेणीके राजा मयकी पुत्री तथा रावणकी पटरानी।(८/८०-८१)। रावणकी मृत्यु तथा पुत्रों आदिके वियोगसे दुःखी होकर दीक्षा ले ली।(७८/६४)।

मख—याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख, ये सब पूजा विधिके पर्यायवाचक शब्द हैं—दे० पूजा/१/१।

मगध—१. भरतक्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. बिहार प्रान्तमें गंगाके दक्षिणका भाग। राजधानी पाटलीपुत्र (पटना)। गया और उरुबिल्व (बुद्ध गया) इसी प्रान्तमें हैं। (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

★ मगधदेशके राज्यवंश—(दे० इतिहास/३/२)।

मगधसारयलक—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मघवी—नरककी छठी पृथिवी अपर नाम तमःप्रभा—दे० नरक/५।

मघवान्—(म. पु./६१/श्लो. नं.) पूर्व भव नं. २ में नरपति नामक राजा।(८६-९०)। पूर्वभवमें मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र।९०। तथा वर्तमान भवमें तृतीय चक्रवर्ती।९१।—विशेष दे० शलाका पुरुष/२।

मघा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

मघा संवत्—दे० इतिहास/२।

मटंब—ति. प./४/१३९९ पणसयपमाणगामप्पहाणभूदं मडंबणामं खु। —जो ५०० ग्रामोंमें प्रधानभूत होता है उसका नाम मटंब है। (ध. १३/५,५,६३/३३५/६); (म. पु./१६/१७२); (त्रि. सा./६७४,६७६)।

मणि—१. चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। २. शिखरी पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक५/४ ३. रुचक पर्वत व कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१२,१३ ४. सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंमें स्थित गुफा—दे० लोक५/६ इसका स्वामी सोमदेव है।

मणिकांचन—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. शिखरी व रुक्मि पर्वतका एक एक कूट व उसके रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

मणिकेतु—(म. पु./४८/श्लो. नं.)—एक देव था। सगर चक्रवर्तीके जीव (देव) का मित्र था।८०-८१। मनुष्य भवमें सगर चक्रवर्तीको सम्बोधकर उसे विरक्त किया और तब उसने दीक्षा ले ली ।८२-१३१। तदनन्तर अपना परिचय देकर देवलोकको चला गया ।१३४-१३६।

मणिचित—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु।

मणिप्रभ—रुचक व कुण्डल पर्वतका एक-एक कूट—दे० लोक/५/१२,१३।

मणिभद्र—१. सुमेरु पर्वतके नन्दनवनमें स्थित एक मुख्य कूट व उसका रक्षक देव। अपर नाम बलभद्र कूट था—दे० लोक/३/६-४। २. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३. यक्ष जातिके व्यन्तरदेवोंका एक भेद—दे० यक्ष। ४. (प. पु./७१/श्लो.)—यक्ष जातिका एक देव।६६। जिसने बहुरूपिणीविद्या सिद्ध करते हुए रावणकी रक्षा की थी।८५। ५. (ह. पु./४३/श्लो.)—अयोध्या नगरीमें समुद्रदत्त सेठका पुत्र था।१४६। अणुव्रत लेकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ।१५८। यह कृष्णके पुत्र शम्बका पूर्वका चौथा भव है—दे० शंब।

मणिभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दन आदि वनोंके पूर्वमें स्थित सोमदेवका वन—दे० लोक/७।

मणिमालिनी—नन्दन वनमें स्थित सागरकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/५।

मणिवज्र — विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मतंग—भगवान् वीरके तीर्थके एक अन्तकृतकेवली—दे० अन्तकृत।

मत—१. मिथ्या मत—दे० एकान्त/५। २. सर्व एकान्त मत मिलकर एक जैनमत बन जाता है—दे० अनेकान्त/२/६। ३. कोई भी मत सर्वथा मिथ्या नहीं—दे० नय/II । ४. सम्यग्दृष्टियोंमें परस्पर मतभेद नहीं होता—दे० सम्यग्दृष्टि/४। ५. आगम गत अनेक विषयोंमें आचार्योंका मतभेद—दे० दृष्टिभेद।

मतानुज्ञा—न्या. सू./मू./५/२/२० स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसंगो मतानुज्ञा।२०। —प्रतिवादी द्वारा उठाये गये दोषको अपने पक्षमें स्वीकार करके उसका उद्धार किये बिना ही 'तुम्हारे पक्षमें भी ऐसा ही दोष है' इस प्रकार कहकर दूसरेके पक्षमें समान दोष उठाना मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है। (श्लो. वा. ४/१/३३/न्या.२५१/४१७/१४ पर इसका निराकरण किया गया है)।

मतार्थ—आगमका अर्थ करनेकी विधिमें 'किस मतका निराकरण करनेके लिए यह बात कही गयी है' ऐसा निर्देश मतार्थ कहलाता है।—दे० आगम/३।

मति—दे० मतिज्ञान/१।

मतिज्ञान—इन्द्रियज्ञानकी ही 'मति या अभिनिबोध' यह संज्ञा है। यह दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणाके क्रमसे उत्पन्न होता है। चारोंके ही उत्पन्न होनेका नियम नहीं। १,२ या ३ भी होकर छूट सकते हैं। धारणाके पश्चात् क्रमसे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क या व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सबोंकी भी मतिज्ञान संज्ञा है। धारणाके पहलेवाले ज्ञान पंचेन्द्रियोंके निमित्तसे और उससे आगेके ज्ञान मनके निमित्तसे होते हैं। तर्कके पश्चात् अनुमानका नम्बर आता है जो श्रुतज्ञानमें गर्भित है। एक, अनेक, ध्रुव, अध्रुव आदि १२ प्रकारके अर्थ इस मतिज्ञानके विषय होनेसे यह अनेक प्रकारका हो जाता है।

१. भेद व लक्षण

१. मतिज्ञान सामान्यका लक्षण

१. मतिका निरुक्त्यर्थ

स. सि./१/९/९३/११ इन्द्रियैर्मनसा च यथासमर्थो मन्यते अनया मनुते मननमात्रं वा मति.। —इन्द्रिय और मनके द्वारा यथायोग्य पदार्थ जिसके द्वारा मनन किये जाते हैं, जो मनन करता है, या मननमात्र मति कहलाता है। (स. सि./१/१३/१०६/४-मननं मतिः); (रा. वा./१/९/१/४४/७); (ध. १३/५,५,४१/२४४/३-मननं मतिः)।

२. अभिनिबोध या मतिका अर्थ इन्द्रियज्ञान

पं. सं./१/२१४ अहिमुहणियमिय बोहणमाभिणिबोहियमणिदि-इंदि-यजं।...२१४। = मन और इन्द्रियकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले, अभिमुख और नियमित पदार्थके बोधको आभिनिबोधिकज्ञान कहते हैं। (ध. १/१,१,११५/गा. १८२/३५९); (ध. १३/५,५,२१/२०९/१०); (गो. जी./मू./३०६/६५८); (ज. प./१३/५६)।

ध. १/१,१,११५/३५४/१ पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मति-ज्ञानम्। —पाँच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

क. पा. १/१०१/§२८/४२/४ इंदियणोइंदिएहि सद्द-रस-परिसरूव-गंधादिविसएसु ओग्गह-ईहावाय-धारणाओ मदिणाणं। — इन्द्रिय और मनके निमित्तसे शब्द रस स्पर्श रूप और गन्धादि विषयोंमें अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप जो ज्ञान होता है, वह मति-ज्ञान है। (द्र. सं./टी./४४/१८८/१)।

पं. का./त. प्र./४१ यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बनाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते, तदाभिनिबोधिकज्ञानम्।

पं. का./ता. वृ./४१/८१/१४ आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं। —मति ज्ञाना-वरणके क्षयोपशमसे और इन्द्रिय मनके अवलम्बनसे मूर्त अमूर्त द्रव्यका विकल अर्थात् एकदेश रूपसे विशेषतः [सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष रूपसे (द्र. सं./टी./५/१५) जो अवबोध करता है, वह आभिनि-बोधिकज्ञान है। आभिनिबोधिकज्ञानको ही मतिज्ञान कहते हैं। (द्र. सं./टी./५/१५/४)।

२. मतिज्ञानके भेद-प्रभेद

१. अवग्रहादिकी अपेक्षा

उपरोक्त भेदोंके भंग—अवग्रहादिकी अपेक्षा—४; पूर्वोक्त ४×६ इन्द्रियाँ—२४; पूर्वोक्त २४+व्यंजनावग्रहके ४—२८; पूर्वोक्त २८+अवग्रहादि ४—३२—में इस प्रकार २४, २८, ३२ ये तीन मूल भंग हैं। इन तीनों-की क्रमसे बहु बहुविध आदि ६ विकल्पोंसे गुणा करनेपर १४४, १६८ व १९२ ये तीन भंग होते हैं। उन तीनोंको ही बहु बहुविध आदि १२ विकल्पोंसे गुणा करनेपर २८८, ३३६ व ३८४ ये तीन भंग होते हैं। इस प्रकार मतिज्ञानके ४, २४, २८, ३२, १४४, १६८, १९२, २८८, ३३६ व ३८४ भेद होते हैं। (ष. खं. १३/५,५/सूत्र २२-३५/२१६-२३४); (त.सू./१/१५-१९); (पं. सं./प्रा./१/१२१); (ध. १/१,१,११५/गा. १८२/३५९); (रा. वा./१/१९/९/७०/७); (ह. पु./१०/१४५-१५०);

(ध. १/१,१,२/९३/३); (ध. ६/१,९-१,१४/१६,१९,२१); (ध. ९/४, १,४५/१४४,१४९,१५५); (ध. १३/५,५,३५/२३९-२४१); (क. पा.१/१, १/३१०/१४/१); (ज. प./१३/५५-५६); (गो. जी./मू./३०६-३१४/ ६५८-६७२); (त. सा./१/२०-२३)।

२. उपलब्धि स्मृति आदिकी अपेक्षा

ष. खं. १३/५,५/ सूत्र ४१/२४४ सण्ण सदी मदी चिंता चेदि ।४१।

त. सू./१/१३ मतिस्मृतिसंज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ।१३। —मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध ये सब पर्यायवाची नाम हैं।

पं. का. ता. वृ./प्रक्षेपक गाथा/४३-१/८५ मदिणाणं पुण तिविहं उवलद्धो भावणं च उवओगो ।—मतिज्ञान तीन प्रकारका है—उपलब्धि, भावना, और उपयोग।

त. सा./१/१९-२० स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा। प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा ।१९। बुद्धिमेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः ।—।२०। —स्वसंवेदनज्ञान, इन्द्रियज्ञान, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, स्वार्थानुमान, बुद्धि, मेधा आदि सब मतिज्ञानके प्रकार हैं।

पं. का./ता. वृ./४३.१/८६/३ तथैवावग्रहेहावायधारणाभेदेन चतुर्विधं वरकोष्ठबीजपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृताबुद्धिभेदेन वा, तच्च मतिज्ञान...। —वह मति ज्ञान अवग्रह आदिके भेदसे अथवा वर कोष्ठ बुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी बुद्धि और सम्भिन्नश्रोतृबुद्धि इन चार ऋद्धियोंके भेदसे चार प्रकारका है।

३. असंख्यात भेद

ध. १२/४,२,१४,५/४८०/५ एवमसंखेज्जलोगमेत्ताणि सुदणाणि। मदिणाणि वि एत्तियाणि चेव, सुदणाणस्स मदिणाणपुरंगमत्तादो कज्जभेदेण कारणभेदुवलंभादो वा।—श्रुतज्ञान असंख्यात लोकप्रमाण है—दे० श्रुतज्ञान II/१। मतिज्ञान भी इतने ही हैं, क्योंकि, श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है, अथवा कारणके भेदसे क्योंकि कार्यका भेद पाया जाता है, अतएव वे भी असंख्यात लोकप्रमाण हैं। (पं. ध./उ./ २९०-२९२)।

४. कुमतिज्ञानका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/११८ *विसजंतकूडपंजरबंधादिसु अणुवदेसकरणेण। जा खलु पवत्तइ मई मइअण्णाणं त्ति णं बिंति ।११८।* —परोपदेशके बिना जो विष, यन्त्र, कूट, पंजर, तथा बन्ध आदिके विषयमें बुद्धि प्रवृत्त होती है, उसे ज्ञानीजन मत्यज्ञान कहते हैं। (उपदेशपूर्वक यही श्रुतज्ञान है)। (ध. १/१,१,११५/ गा. १७९/३५८); (गो. जी./मू./३०३/६५४)।

पं. का./त. प्र./४१ मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमाभिनिबोधिकज्ञानमेव कुमतिज्ञानम्। —मिथ्यादर्शनके उदयके साथ आभिनिबोधिकज्ञान ही कुमतिज्ञान है।—विशेष दे. ज्ञान/III।

२. मतिज्ञान सामान्य निर्देश

१. मतिज्ञान दर्शनपूर्वक इन्द्रियोंके निमित्तसे होता है

पं. का./ता. वृ./ प्रक्षेपक गा./४३-१/८५ तह एव चदुवियप्पं दंसणपुव्वं हवदि णाणं। —वह चारों प्रकारका मतिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है।—विशेष दे० दर्शन/३/१।

त. सू./१/१४ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ।१४। —वह मतिज्ञान इन्द्रिय व मनरूप निमित्तसे होता है।

२. मतिज्ञानका विषय अनन्त पदार्थ व अल्प पर्यायें

त. सू./१/२६ मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।२६। —मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी प्रवृत्ति कुछ पर्यायोंसे युक्त सब द्रव्योंमें होती है।

रा. वा./१/१९/९/७०/२ द्रव्यतो मतिज्ञानी सर्वद्रव्याण्यसर्वपर्यायाण्युपदेशेन जानाति। क्षेत्रत उपदेशेन सर्वक्षेत्राणि जानाति। अथवा क्षेत्रविषयः।...कालत उपदेशेन सर्वकालं जानाति। भावत उपदेशेन जीवादीनामौदयिकादीन् भावान् जानाति। रा. वा./१/२६/३-४/८७/१९ जीवधर्माधर्माकाशकालपुद्गलाभिधानानि षडत्र द्रव्याणि, तेषां सर्वेषां संग्रहार्थः द्रव्येष्विति बहुत्वनिर्देशः क्रियते ।३।...तानि द्रव्याणि मतिश्रुतयोर्विषयभावमापद्यमानानि कतिपयैरेव पर्यायैर्विषयभावमास्कन्दन्ति न सर्वपर्यायैरनन्तैरपीति। तत्कथम्। इह मतिः चक्षुरादिकरणानिमित्ता रूपाद्यालम्बना, सा यस्मिन् द्रव्ये रूपादयो वर्तन्ते न तत्र सर्वान् पर्यायानेव (सर्वानेव पर्यायान्) गृह्णाति, चक्षुरादिविषयानेवालम्बते। —१. द्रव्यकी दृष्टिसे मतिज्ञानी सभी द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको उपदेशसे जानता है। इसी प्रकार उपदेश द्वारा वह सभी क्षेत्रको अथवा प्रत्येक इन्द्रियके प्रतिनियत क्षेत्रको—दे० इन्द्रिय/३/६। सर्व कालको व सर्व औदयिकादि भावोंको जान सकता है। २, सूत्रमें 'द्रव्येषु' यह बहुवचनान्त प्रयोग सर्वद्रव्योंके संग्रहके लिए है। तहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषय भावको प्राप्त होते हुए कुछ पर्यायोंके द्वारा ही विषय भावको प्राप्त होते हैं, सब पर्यायोंके द्वारा नहीं और अनन्त पर्यायोंके द्वारा भी नहीं। क्योंकि मतिज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है और रूपादिको विषय करता है, अतः स्वभावतः वह रूपी आदि द्रव्योंको जानकर भी उनकी सभी पर्यायोंको ग्रहण नहीं करता बल्कि चक्षु आदिकी विषयभूत कुछ स्थूल पर्यायोंको ही जानता है। (स. सि./१/२६/ १३४/१)।

दे० ऋद्धि/२/२/३(क्षायोपशमिक होनेपर भी मतिज्ञान द्वारा अनन्त अर्थोंका जाना जाना सम्भव है)।

३. अतीन्द्रिय द्रव्योंमें मतिज्ञानके व्यापार सम्बन्धी समन्वय

प्र. सा./मू./४० *अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति। तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ।४०।* —जो इन्द्रिय गोचर पदार्थको ईहा आदि द्वारा जानते हैं, उनके लिए परोक्षभूत पदार्थको जानना अशक्य है, ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है।

स. सि./१/२६/१३४/३ धर्मास्तिकायादीन्यतीन्द्रियाणि तेषु मतिज्ञानं न प्रवर्तते। अतः सर्वद्रव्येषु मतिज्ञानं वर्तत इत्ययुक्तम्। नैष दोषः। अनिन्द्रियाख्यं करणमस्ति तदालम्बनो नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमलब्धिपूर्वक उपयोगोऽवग्रहादिरूपः प्रागेवोपजायते। ततस्तत्पूर्वं श्रुतज्ञानं तद्विषयेषु स्वयोग्येषु व्याप्रियते। —प्रश्न—धर्मास्तिकाय आदि अतीन्द्रिय हैं। उनमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'सब द्रव्योंमें मतिज्ञानकी प्रवृत्ति होती है', यह कहना अयुक्त है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, अनिन्द्रिय (मन) नामका एक करण है। उसके आलम्बनसे नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिपूर्वक अवग्रह आदिरूप उपयोग पहले ही उत्पन्न हो जाता है, अतः तत्पूर्वक होनेवाला श्रुतज्ञान अपने योग्य इन विषयोंमें व्यापार करता है। (रा. वा /१/२६/५/८७/२७)।

ध १३/५,५,७१/३४१/१ णोइंदियमदिदियं कधं मदिणाणेण घेप्पदे। ण ईहालिंगावट्ठंभबलेण अदिदिएसु वि अत्थेसु वुत्तिदंसणादो। —प्रश्न—नोइन्द्रिय तो अतीन्द्रिय है, उसका मतिज्ञानके द्वारा कैसे ग्रहण होता है। उत्तर—नहीं, ईहारूप लिंगके अवलम्बनके बलसे अतीन्द्रिय

अर्थोंमें भी मतिज्ञानकी प्रवृत्ति देखी जाती है। (इसलिए मतिज्ञान के द्वारा परकीयमनको जानकर पीछे मनःपर्ययज्ञानके द्वारा तद्गत अर्थको जाननेमें विरोध नहीं है)।

४. मति आदि ज्ञान व अज्ञान क्षायोपशमिक कैसे

ध. १४/५,६,१९/२०/७ मदिअण्णाणिं त्ति एदं पि खओवसमियं, मदिणाणावरणखओवसमेण सुप्पत्तीए। कुदो एदं मदिअण्णाणि त्ति एदं पि तदुभयपच्चयं। मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण णाणावरणीयस्स देसघादिफद्दयाणमुदएण तस्सेव सव्वघादिफद्दयाण-मुदयक्खएण च मदिअण्णाणिसुप्पत्तीदो। सुदअण्णाणि…विहं-गणाणि त्ति तदुभयपच्चइयो…। आभिणिबोहियणाणि त्ति तदु-भयपच्चइयो जीवभावबंधो, मदिणाणावरणीयस्स देसघादिफद्द-याणमुदएण तिविहसम्मत्तसहाएण तदुप्पत्तीदो। आभिणिबोहि-यणाणस्स उदयपच्चइयत्तं घडदे. मदिणाणावरणीयस्स देसघादि-फद्दयाणमुदएण समुप्पत्तीएगणोवसमियपच्चइयत्तं, उवसमाणुवलं-भादो। ण, णाणावरणीयसव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण उवसमसण्णि-देण आभिणिबोहियणाणुप्पत्तिदंसणादो। एवं सुदणाणि-ओहिणा-णिमणपज्जवणाणि-चक्खुदंसणि-अचक्खुदंसणि-ओहिदंसणिआदीणं वत्तव्वं, विसेसाभावादो।—१. मति अज्ञानी भी क्षायोपशमिक है, क्योंकि यह मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। प्रश्न— मत्यज्ञानित्व तदुभयप्रत्ययिक कैसे है। उत्तर—मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदय होनेसे तथा ज्ञानावरणीयके देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेसे, और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे मति-अज्ञानित्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभयप्रत्ययिक है। श्रुताज्ञानी और विभंगज्ञानी भी इसी प्रकारसे तदुभय प्रत्ययिक हैं। २. आभिनिबोधिकज्ञानी तदुभयप्रत्ययिक जीवभाव बन्ध है, क्योंकि तीन प्रकारके सम्यक्त्वसे युक्त मतिज्ञानावरणीय कर्मके देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे इसकी उत्पत्ति होती है। प्रश्न—इसके उदयप्रत्ययिकपना तो बन जाता है, क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मके देशघाति स्पर्धकोंके उदयसे इसकी उत्पत्ति होती है, पर औपशमिक निमित्तकपना नहीं बनता, क्योंकि मतिज्ञानावरण कर्मका उपशम नहीं पाया जाता। उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्मके सर्वघाति स्पर्धकोंके उपशम संज्ञावाले उदयाभावसे आभिनिबोधिक ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिए इसका औपशमिक निमि-त्तकपना भी बन जाता है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानी, मनः-पर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी और अवधिदर्शनी आदिका कथन करना चाहिए, क्योंकि, उपर्युक्त कथनसे इनके कथनमें कोई विशेषता नहीं है।

५. परमार्थसे इन्द्रियज्ञान कोई ज्ञान नहीं

प्र. सा./त. प्र./५५ परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनात्… स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गण-व्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वम्…महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् पर-परिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभाव-नामेव परमार्थतोऽर्हति। अतस्तद्धेयम्।—परोक्षज्ञान, अति दृढ़ अज्ञानरूप तमोग्रन्थि द्वारा आवृत हुआ, आत्म पदार्थको स्वयं जाननेके लिए असमर्थ होनेके कारण, उपात्त और अनुपात्त सामग्री-को ढूँढनेकी व्यग्रतासे अत्यन्त चंचल वर्तता हुआ, महा मोहमल्लके जीवित होनेसे पर परिणतिका अभिप्राय करनेपर भी पद-पदपर ठगाता हुआ, परमार्थतः अज्ञानमें गिना जाने योग्य है। इसलिए वह हेय है।

पं. ध./उ./२८६-२९६,३०५,६५३ दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोप-लम्भकात्। तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ।२८६। सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन। तत्रापि विद्यमानेषु नातीता-नागतेषु च ।२८७। तत्रापि संनिधानत्वे संनिकर्षेषु सत्सु च। तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ।२८८। समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि। कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ।२८९। आस्तामित्यादि दोषाणां संनिपातास्पदं पदम्। ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ।३०५। प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञान-मात्रं तदेव यत्। यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ।६५३। —इन छह द्रव्योंमें मूर्त द्रव्यको ही विषय करता है, उसमें भी स्थूलमें प्रवृत्ति करता है सूक्ष्ममें नहीं। स्थूलोंमें भी किन्हींमें ही प्रवृत्त होता है सबमें नहीं। उनमें भी इन्द्रियग्राह्यमें ही प्रवृत्त होता है इन्द्रिय अग्राह्यमें नहीं। उनमें वर्तमानकाल सम्बन्धीको ही ग्रहण करता है, भूत भविष्यत्को नहीं। उनमें भी इन्द्रिय सन्निकर्षको प्राप्त पदार्थको विषय करता है, अन्यको नहीं। उनमें अवग्रह ईहा आदिके क्रमसे प्रवृत्ति करता है। इतना ही नहीं बल्कि मतिज्ञानावरण व वीर्यान्तरायका क्षयोपशम, इन्द्रियोंकी पूर्णता, प्रकाश व उपयोग आदि समस्त कारणोंके होने-पर ही होता है, हीन कारणोंमें नहीं। इन सर्व कारणोंके होनेपर भी ऊपर-ऊपर अधिक-अधिक शुद्धि होनेसे कदाचित् होता है सर्वदा नहीं। इसलिए वह कहने मात्रको ही ज्ञान है।२८६-२८९। इन्द्रिय ज्ञान व्याकुलता आदि अनेक दोषोंका तो स्थान है ही, परन्तु वह प्रदेशचलनात्मक भी होता है।३०५। यद्यपि प्राकृत या वैकृत सभी प्रकारके ज्ञान 'ज्ञान' कहलाते हैं, परन्तु वास्तवमें जब तक वह ज्ञान इन्द्रियाधीन रहता है, तब तक वह विकृत ही है।६५३।

६. मतिज्ञानके भेदोंको जाननेका प्रयोजन

पं. का./ता. वृ./४३/८६/५ अत्र निर्विकारशुद्धानुभूत्यभिमुखं यन्मति-ज्ञानं तदेवोपादेयभूतानन्तसुखसाधकत्वान्निश्चयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरङ्गं पुनर्व्यवहारेणेति तात्पर्यम्।—निर्विकार शुद्धात्माकी अनु-भूतिके अभिमुख जो मतिज्ञान है, वही उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेके कारण निश्चयसे उपादेय है। और व्यवहारसे उस ज्ञानका साधक जो बहिरंग ज्ञान है वह भी उपादेय है।

३. अवग्रह आदि व स्मृति आदि ज्ञान निर्देश

१. ईहा आदिको मतिज्ञान व्यपदेश कैसे ?

रा. वा./१/१५/१३/६२/१ ईहादीनाममतिज्ञानप्रसङ्गः। कुतः। परस्पर-कार्यत्वात्। अवग्रहकारणम् ईहाकार्यम्, ईहाकारणम् अवायः कार्यम्, अवायः कारणम् धारणा कार्यम्। न चेहादीनाम् इन्द्रिया-निन्द्रियनिमित्तत्वमस्तीति; नैष दोषः; ईहादीनामनिन्द्रियनिमित्त-त्वात् मतिज्ञानव्यपदेशः। यद्येवं श्रुतस्यापि प्राप्नोतीति; इन्द्रिय-गृहीतविषयत्वादीहादीनाम् अनिन्द्रियनिमित्तत्वमप्युपचर्यते, न तु श्रुतस्यायं विधिरस्ति तस्यानिन्द्रियविषयत्वादिति श्रुतस्याप्रसंगः। यद्येवं चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेशाभाव इति चेद्; न; इन्द्रियशक्ति-परिणतस्य जीवस्य भावेन्द्रियत्वतद्व्यापारकार्यत्वात्। इन्द्रियभाव-परिणतो हि जीवो भावेन्द्रियमिष्यते, तस्य विषयाकारपरिणामा ईहादय इति चक्षुरिन्द्रियेहादिव्यपदेश इति। —प्रश्न—ईहा आदि ज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकते, क्योंकि ये एक दूसरेके कारणसे उत्पन्न होते हैं। तहाँ अवग्रहके कारणसे ईहा ईहाके कारणसे अवाय, और अवायके कारणसे धारणा होती है। उनमें इन्द्रिय व अनिन्द्रियका निमित्तपना नहीं है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, ईहा आदिको भी अनिन्द्रियका निमित्त होनेसे मतिज्ञान व्यपदेश बन जाता है। प्रश्न—तब तो श्रुतज्ञानको भी मतिज्ञानपना प्राप्त हो जायेगा।

उत्तर—ऐसा नहीं है; क्योंकि (अवग्रह द्वारा) इन्द्रियोंसे ग्रहण कर लिये गये पदार्थोंको विषय करनेके कारण ईहा आदिको अनिन्द्रियका निमित्तपना उपचारसे कहा जाता है। श्रुतज्ञानकी यह विधि नहीं है, क्योंकि, वह तो अनिन्द्रियके ही निमित्तसे उत्पन्न होता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो चक्षु इन्द्रियके ईहा आदिका व्यपदेश न किया जा सकेगा। उत्तर—नहीं; क्योंकि इन्द्रियशक्तिसे परिणत जीवकी भाव इन्द्रियमें, उसके व्यापारका कार्य होता है। इन्द्रियभावसे परिणत जीवको ही भावेन्द्रिय कहा जाता है। उसके विषयाकार रूप परिणाम ही ईहा आदि हैं। इसलिए चक्षु इन्द्रियके भी ईहा आदिका व्यपदेश बन जाता है। (ध.१/४,१,४५/१४७/२१)

ध. ६/४, १,४५/१४८/२ नावायज्ञानं मतिः, ईहानिर्णीतलिङ्गावष्टम्भबलेनोत्पन्नत्वादनुमानवदिति चेन्न, अवग्रहगृहीतार्थविषयलिङ्गादीहाप्रत्ययविषयीकृतादुत्पन्ननिर्णयात्मकप्रत्ययस्य अवग्रहगृहीतार्थविषयस्य अवायस्य अमतित्वविरोधात्। न चानुमानमवगृहीतार्थविषयमवग्रहनिर्णीतबलेन तस्यान्यवस्तुनि समुत्पत्तेः।...तस्मादवग्रहादयो धारणापर्यन्ता मतिरिति सिद्धम्।—प्रश्न—अवायज्ञान मतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, वह ईहासे निर्णीत लिंगके आलम्बन बलसे उत्पन्न होता है, जैसे अनुमान। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अवग्रहसे गृहीतको विषय करनेवाले तथा ईहा प्रत्ययसे विषयीकृत लिंगसे उत्पन्न हुए निर्णयरूप और अवग्रहसे गृहीत पदार्थको विषय करनेवाले अवाय प्रत्ययके मतिज्ञान न होनेका विरोध है। और अनुमान अवग्रहसे गृहीत पदार्थको विषय करनेवाला नहीं है, क्योंकि वह अवग्रहसे निर्णीत लिंगके बलसे अन्य वस्तुमें उत्पन्न होता है। (तथा अवग्रहादि चारों ज्ञानोंकी सर्वत्र क्रमसे उत्पत्तिका नियम भी नहीं है। (दे० शीर्षक नं. ३)। इसलिए अवग्रहसे धारणापर्यन्त चारों ज्ञान मतिज्ञान हैं। यह सिद्ध होता है। (और भी दे० श्रुतज्ञान/I/१)।

२. अवग्रहादिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम

रा. वा./१/१५/१३/६१/२६ अस्ति प्राग् अवग्रहाद्दर्शनम्। ततः शुक्लकृष्णादिरूपविज्ञानसामर्थ्योपेतस्यात्मनः 'किं शुक्लमुत कृष्णम्' इत्यादि विशेषाप्रतिपत्तेः संशयः। ततः शुक्लविशेषाकाङ्क्षणं प्रतीहनमीहा। ततः 'शुक्लमेवेदं न कृष्णम्' इत्यवायनमवायः। अवेतस्यार्थस्याविस्मरणं धारणा। एवं श्रोत्रादिषु मनस्यपि योज्यम्।—अवग्रहसे पहले [विषय विषयीके सन्निपात होनेपर (दे० अवग्रहका लक्षण)] वस्तुमात्रका सामान्यालोचनरूप दर्शन होता है, (फिर 'रूप है' यह अवग्रह होता है)। तदनन्तर 'यह शुक्ल है या कृष्ण' यह संशय उत्पन्न होता है। फिर 'शुक्ल होना चाहिए' ऐसी जाननेकी आकांक्षारूप ईहा होती है। तदनन्तर 'यह शुक्ल ही है, कृष्ण नहीं' ऐसा निश्चयरूप अवाय हो जाता है। अवायसे निर्णय किये गये पदार्थका आगे जाकर अविस्मरण न हो, ऐसा संस्कार उत्पन्न होना धारणा है। इस प्रकार श्रोत्र आदि इन्द्रियों व मनके सम्बन्धमें लगा लेना चाहिए। (दे० क्रमपूर्वक अवग्रह आदिके लक्षण), (श्लो. वा ३/१/१५/श्लो. २-४/४३७), (गो.जी.जी. प्र./३०८-३०६/६६३,६६५)।

३. अवग्रहादि सभी भेदोंके सर्वत्र होनेका नियम नहीं है

ध. ६/१,६-१,१४/१८/८ ण च ओग्गहादि चउण्हं पि णाणाणं सव्वत्थ कमेण उप्पत्ती, तहाणुवलंभा। तदो कहिं पि ओग्गहो चेय, कहिं पि ओग्गहो ईहा य दो च्चेय, कहिं पि ओग्गहो ईहा अवाओ तिण्णि वि होंति, कहिं पि ओग्गहो ईहा अवाओ धारणा चेदि चत्तारि वि होंति। —अवग्रह आदि चारों ही ज्ञानोंकी सर्वत्र क्रमसे उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि, उस प्रकारकी व्यवस्था पायी नहीं जाती है। इसलिए कहीं तो केवल अवग्रह ज्ञान ही होता है; कहीं अवग्रह और ईहा, ये दो ज्ञान ही होते हैं; कहीं पर अवग्रह ईहा और अवाय, ये तीनों भी ज्ञान होते हैं; और कहीं पर अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों ही ज्ञान होते हैं।

ध. ६/४,१,४५/१४८/५ न चावग्रहादीनां चतुर्णां सर्वत्र क्रमेणोत्पत्तिनियमः, अवग्रहानन्तरं नियमेन संशयोत्पत्त्यदर्शनात्। न च संशयमन्तरेण विशेषाकाङ्क्षास्ति येनावग्रहान्नियमेन ईहोत्पद्यते। न चेहातो नियमेन निर्णय उत्पद्यते, क्वचिन्निर्णयानुत्पादिकाया ईहाया एव दर्शनात्। न चावायाद्धारणा नियमेनोत्पद्यते, तत्रापि व्यभिचारोपलम्भात्। —तथा अवग्रहादिक चारोंकी सर्वत्रसे उत्पत्तिका नियम भी नहीं है, क्योंकि, अवग्रहके पश्चात् नियमसे संशयकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। और संशयके बिना विशेषकी आकांक्षा होती नहीं है, जिससे कि अवग्रहके पश्चात् नियमसे ईहा उत्पन्न हो। न ही ईहासे नियमतः निर्णय उत्पन्न होता है, क्योंकि, कहीं पर निर्णयको उत्पन्न न करनेवाला ईहा प्रत्यय ही देखा जाता है। अवायसे धारणा भी नियमसे नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि, उसमें भी व्यभिचार पाया जाता है।

४. मति स्मृति आदिकी एकार्थता सम्बन्धी शंका समाधान

दे० मतिज्ञा./१/१/२/२ (मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व आभिनिबोध, ये सब पर्यायवाची नाम हैं)।

स. सि./१/१३/१०७/१ सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिबलाभावात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति इन्दनादिक्रियाभेदेऽपि शचीपतेरेकस्यैव संज्ञा। समभिरूढनयापेक्षया तेषामर्थान्तरकल्पनायां मत्यादिष्वपि स क्रमो विद्यत एव। किंतु मतिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तोपयोगं नातिवर्तन्त इति अयमत्रार्थो विवक्षितः। 'इति'-शब्दः प्रकारार्थः। एवंप्रकारा अस्य पर्यायशब्दा इति। अभिधेयार्थो वा। मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ता आभिनिबोध इत्येतैर्योऽर्थोऽभिधीयते स एक एव इति। —१. यद्यपि इन शब्दोंकी प्रकृति या व्युत्पत्ति अलग-अलग है, तो भी रूढिसे ये पर्यायवाची हैं। जैसे—इन्द्र, शक्र और पुरन्दर। इनमें यद्यपि इन्दन आदि क्रियाओंकी अपेक्षा भेद है तो भी ये सब एक शचीपतिकी वाचक संज्ञाएँ हैं। अब यदि समभिरूढ नयकी अपेक्षा इन शब्दोंका अलग-अलग अर्थ लिया जाता है तो वह क्रम मति स्मृति आदि शब्दोंमें भी पाया जाता है। २. किन्तु ये मति आदि मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तसे उत्पन्न हुए उपयोगको उल्लंघन नहीं करते हैं, यह अर्थ यहाँपर विवक्षित है। ३. अथवा प्रकृतमें (सूत्रमें) 'इति' शब्द प्रकारार्थवाची है, जिसका यह अर्थ होता है, कि इस प्रकार ये मति आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची शब्द हैं। अथवा प्रकृतमें 'मति' शब्द अभिधेयवाची है, जिसके अनुसार यह अर्थ होता है कि मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इनके द्वारा जो अर्थ कहा जाता है, वह एक ही है। (रा. वा./१/१३/२-३/५८/१; ६/५६/५ में उपरोक्त तीनों विकल्प हैं)।

रा.वा./१/१३/३-७/५८/१०-३२ यस्य शब्दभेदोऽर्थभेदे हेतुरिति मतम् तस्य वागादि नवार्थेषु गोशब्दाभेददर्शनात् वागाद्यर्थानामेकत्वमस्तु। अथ नैतदिष्टम्; न तर्हि शब्दभेदोऽन्यत्वस्य हेतुः। किंच...मत्यादीनामेकद्रव्यपर्यायावेशात् स्यादेकत्वं प्रतिनियतपर्यायावेशाच्च स्यान्नानात्वम्—मननं मतिः, स्मरणं स्मृतिः...इति। स्यान्मतम्-मत्यादय अभिनिबोधपर्यायशब्दा नाभिनिबोधस्य लक्षणम्। कथम्। मनुष्यादिवत्।...तन्न, किं कारणम्। ततोऽनन्यत्वात्। इह पर्यायिणोऽनन्यः पर्यायशब्दः, स लक्षणम्। कथम्। औष्ण्याग्निवत्। तथा पर्यायशब्दा मत्यादय आभिनिबोधिकज्ञानपर्यायिणोऽनन्यत्वेन अभिनिबोधस्य लक्षणम्।

अथवा ततोऽनन्यत्वात् ।···मतिस्मृत्यादयोऽसाधारणत्वाद् अन्यज्ञाना-संभाविनोऽभिनिबोधादनन्यत्वात्तस्य लक्षणम् । इतश्च पर्यायशब्दो लक्षणम् । कस्मात् ।···का मतिः । या स्मृतिरिति । ततः स्मृतिरिति गत्वा बुद्धिः प्रत्यागच्छति । का स्मृतिः । या मतिरिति । एवमुत्तरेष्वपि । —४. यदि शब्दभेदसे अर्थभेद है तो शब्द –अभेदसे अर्थ-अभेद भी होना चाहिए । और इस प्रकार पृथिवी आदि ग्यारह शब्द एक 'गो' अर्थके वाचक होनेके कारण एक हो जायेंगे । ५. अथवा मतिज्ञानावरणसे उत्पन्न मतिज्ञानसामान्यकी अपेक्षासे अथवा एक आत्मद्रव्यकी दृष्टिसे मत्यादि अभिन्न हैं और प्रतिनियत तत्-तत् पर्यायकी दृष्टिसे भिन्न हैं । जैसे—'मननं मतिः', 'स्मरणं स्मृतिः' इत्यादि । प्रश्न—६. मति आदि आभिनिबोधके पर्यायवाची शब्द हैं । वे उसके लक्षण नहीं हो सकते, जैसे मनुष्य, मानव, मनुज आदि शब्द मनुष्यके लक्षण नहीं हैं । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वे सब अनन्य हैं । पर्याय पर्यायीसे अभिन्न होती है । इसलिए उसका वाचक शब्द उस पर्यायीका लक्षण होता है, जैसे अग्निका लक्षण उष्णता है । उसी प्रकार मति आदि पर्यायवाची शब्द आभिनिबोधिक सामान्य ज्ञानात्मक मतिज्ञानरूप पर्यायीके लक्षण होते हैं; क्योंकि, वे उससे अभिन्न हैं । ७ 'मतिज्ञान कौन' यह प्रश्न होनेपर बुद्धि तुरन्त दौड़ती है कि 'जो स्मृति आदि', और 'स्मृति आदि कौन' ऐसा कहनेपर 'जो मतिज्ञान' इस प्रकार गत्वा प्रत्यागत न्यायसे भी पर्याय शब्द लक्षण बन सकते हैं ।

५. स्मृति और प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर

न्या. दी./३/§१०/५७/३ केचिदाहुः—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्; अनुभवस्य वर्त्तमानकालवर्त्तिविवर्त्तमात्रप्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्त्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः । कथं नाम तयोरतीतवर्त्तमानसंकलितैक्यसादृश्यादिविषयावगाहित्वम् । तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभाविसंकलनज्ञानम् । तदेव प्रत्यभिज्ञानम् । —प्रश्न—अनुभव और स्मरणसे भिन्न प्रत्यभिज्ञान नहीं है । उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव तो वर्तमानकालीन पर्यायको ही विषय करता है और स्मरण भूतकालीन पर्यायका ही द्योतन करता है । इसलिए ये दोनों अतीत और वर्त्तमान पर्यायोंमें रहनेवाली एकता सदृशता आदिको कैसे विषय कर सकते हैं । अतः स्मरण और अनुभवसे भिन्न उनके बादमें होनेवाला तथा उन एकता सदृशता आदिको विषय करनेवाला जो जोड़रूप ज्ञान होता है, वही प्रत्यभिज्ञान है ।

६. स्मृति आदिकी अपेक्षा मतिज्ञानका उत्पत्तिक्रम

न्या. दी./३/§१/५३ तत् पञ्चविधम्—स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम् आगमश्चेति । पञ्चविधस्याप्यस्य परोक्षस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः । तद्यथा—स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभवस्मरणप्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य च लिङ्गदर्शनाद्यपेक्षा ।

न्या. दी./३/§ नं./पृष्ठ न. अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृतिजननायोगात् । ··· तदेतद्धारणाविषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम् ।(§४/५३)। अनुभवस्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।(§८/५६)। अत्र सर्वत्राप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्धेतुकत्वम् ।(§६/५७)। स्मरणम् प्रत्यभिज्ञानम्, भूयोदर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा तादृशमेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति, तर्कश्च स एव ।(§१५/६४)। तद्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतमनुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव ।(§१७/६७)। —परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम । ये पाँचों ही परोक्ष प्रमाण ज्ञानान्तरकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं । स्मरणमें पूर्व अनुभवकी अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञानमें स्मरण और अनुभवकी, तर्कमें अनुभव स्मरण और प्रत्यभिज्ञानकी और अनुमानमें लिंग दर्शन, व्याप्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा होती है । पदार्थमें अवग्रह आदि ज्ञान हो जानेपर भी (दे० मतिज्ञान/३/२) धारणाके अभावमें स्मृति उत्पन्न नहीं होती । इसलिए धारणाके विषयमें उत्पन्न हुआ 'वह' शब्दसे उल्लिखित होनेवाला यह ज्ञान स्मृति है, यह सिद्ध होता है । अनुभव और स्मरणपूर्वक होनेवाले जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । सभी प्रत्यभिज्ञानोंमें अनुभव और स्मरणकी अपेक्षा होनेसे उन्हें अनुभव और स्मरण हेतुक माना जाता है । स्मरण प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बारका हुआ प्रत्यक्ष ये तीनों मिलकर एक वैसे ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, जो व्याप्तिके ग्रहण करनेमें समर्थ है, और वही तर्क है । उसी प्रकार व्याप्तिस्मरण आदिसे सहित होकर लिंगज्ञान अनुमानकी उत्पत्तिमें कारण होता है । भावार्थ—(विषय विषयीके सन्निपातके अनन्तर क्रमसे उस विवक्षित इन्द्रिय सम्बन्धी दर्शन, अवग्रह, ईहा और अवाय पूर्वक उस विषय सम्बन्धी धारणा उत्पन्न हो जाती है, जो कालान्तरमें उस विषयके स्मरणका कारण होता है । किसी समय उसी विषयका या वैसे ही विषयका प्रत्यक्ष होनेपर तत्सम्बन्धी स्मृतिको साथ लेकर 'वह वही है' या 'यह वैसा ही है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है । पुनः पुनः इसी प्रकार अनेकों बार उसी विषयका प्रत्यभिज्ञान हो जानेपर एक प्रकारका व्याप्तिज्ञान उत्पन्न हो जाता है, जिसे तर्क कहते हैं । जैसे 'जहाँ-जहाँ धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य ही होगी', ऐसा ज्ञान । पीछे किसी समय इसी प्रकारका कोई लिंग देखकर उस तर्कके आधारपर लिंगीको जान लेना अनुमान है । जैसे पर्वतमें धूम देखकर 'यहाँ अग्नि अवश्य है' ऐसा निर्णयात्मक ज्ञान हो जाता है । उपरोक्त सर्व विकल्पोंमें अवग्रहसे तर्क पर्यन्तके सर्व विकल्प मतिज्ञानके भेद हैं, जो उपरोक्त क्रमसे ही उत्पन्न होते हैं, अक्रमसे नहीं । तर्क पूर्वक उत्पन्न होनेवाला अन्तिम विकल्प अनुमान श्रुतज्ञानके आधीन है । इसी प्रकार किसी शब्दको सुनकर वाच्यवाचकको पूर्व गृहीत व्याप्तिके आधारपर उस शब्दके वाच्यका ज्ञान हो जाना भी श्रुतज्ञान है ।)

४. एक बहु आदि विषय निर्देश

१. बहु व बहुविध ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११२/५ बहुशब्दस्य संख्यावैपुल्यवाचिनो ग्रहणमविशेषात् । संख्यावाची यथा एको द्वौ बहव इति । वैपुल्यवाची यथा, बहुरोदनो बहुसूप इति । 'विधशब्दः प्रकारवाची' । —'बहु' शब्द संख्यावाची और वैपुल्यवाची दोनों प्रकारका है । इन दोनोंका यहाँ ग्रहण किया है, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है । संख्यावाची 'बहु' शब्द यथा—एक, दो, बहुत । वैपुल्यवाची बहु शब्द यथा—बहुत भात, बहुत दाल । 'विध' शब्द प्रकारवाची है । (जैसे बहुत प्रकारके घोड़े, गाय, हाथी आदि—ध/६, ध/१, ध/१३, गो. जी.) (रा.वा./१/१६/१/६२/१२,१/६३/१४); (ध. ६/१,९-१,१४/१९/३-२०/१); (ध. ९/४,१,४५/१४९/९, १५१/४); (ध. १३/५,५,३५/२३५/१,२३७/१); (गो. जी./जी. प्र./३११/६६७/११) ।

रा.वा./१/१६/१६/६३/२८ प्रकृष्ट···क्षयोपशम···उपष्टम्भात्···युगपत्ततविततघनसुषिरादिशब्दश्रवणाद् बहुशब्दमवगृह्णाति ।···तताद्विशब्दविकल्पस्य प्रत्येकमेकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणस्यावग्राहकत्वात् बहुविधमवगृह्णाति ।... (एवं घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम्/६५/१) । —श्रोत्रेन्द्रियावरणादिका प्रकृष्ट क्षयोपशम होनेपर युगपत् तत, वित, घन, सुषिर आदि बहुत शब्दोंको सुनता है, तथा तत आदि शब्दोंके एक दो तीन चार संख्यात असंख्यात अनन्त प्रकारोंको ग्रहण कर बहुविध शब्दोंको जानता है । इसी प्रकार घ्राणादि अन्य इन्द्रियोंमें भी लागू करना चाहिए । (ध. १३/५,५,३५/२३७/२) ।

१. बहु व बहुविध ज्ञानोंमें अन्तर

स. सि./१/१६/११३/७ बहुबहुविधयोः कः प्रतिविशेषः; यावता बहुष्वपि बहुत्वमस्ति बहुविधेष्वपि बहुत्वमस्ति; एकप्रकारानेकप्रकारकृतो विशेषः।

रा.वा./१/१६/६४/१६ उच्यते—न, विशेषदर्शनात्। यथा कश्चित् बहूनि शास्त्राणि मौलेन सामान्यार्थेनाविशेषितेन व्याचष्टे न तु बहुभिर्विशेषितार्थैः, कश्चित्तु तेषामेव बहूनां शास्त्राणां बहुभिरर्थैः परस्परातिशययुक्तैर्बहुविकल्पैर्व्याख्यानं करोति, तथा ततादिशब्दग्रहणाविशेषेऽपि यत्प्रत्येकं ततादिशब्दानाम् एकद्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तगुणपरिणतानां ग्रहणं तद् बहुविधग्रहणम्, यत्ततादीनां सामान्यग्रहणं तद् बहुग्रहणम्।—प्रश्न—बहु और बहुविधमें क्या अन्तर है, क्योंकि, बहु और बहुविध इन दोनोंमें बहुतपना पाया जाता है। उत्तर—इनमें एक प्रकार और नाना प्रकारकी अपेक्षा अन्तर है। अर्थात् बहुमें प्रकारभेद इष्ट नहीं है और बहुविधमें प्रकारभेद इष्ट है।–जैसे कोई बहुत शास्त्रोंका सामान्यरूपसे व्याख्यान करता है परन्तु उसके बहुत प्रकारके विशेष अर्थोंसे नहीं; और दूसरा उन्हीं शास्त्रोंकी बहुत प्रकारके अर्थों द्वारा परस्परमें अतिशययुक्त अनेक विकल्पोंसे व्याख्याएँ करता है; उसी प्रकार तत आदि शब्दोंके ग्रहणमें विशेषता न होते हुए भी जो उनमेंसे प्रत्येक तत आदि एक, दो, तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त गुणरूपसे परिणत शब्दोंका ग्रहण है सो बहुविध ग्रहण है; और उन्हींका जो सामान्य ग्रहण है, वह बहुग्रहण है।

२. बहु विषयक ज्ञानकी सिद्धि

रा. वा./१/१६/२-७/६२/१५ बह्वग्रहाद्यभावः प्रत्यर्थवशवर्तित्वादिति चेत्; न; सर्वदैकप्रत्ययप्रसङ्गात् ।२।...अतश्चानेकार्थग्राहिविज्ञानस्यात्यन्तासंभवात् नगरवनस्कन्धावारप्रत्ययनिवृत्तिः। नैताः संज्ञा ह्येकार्थनिवेशिन्यः, तस्माल्लोकसंव्यवहारनिवृत्तिः। किंच, नानार्थप्रत्ययाभावात् ।३।···यथैकं मनोऽनेकप्रत्ययारम्भकं तथैकप्रत्ययोऽनेकार्थो भविष्यति, अनेकस्य प्रत्ययस्यैककालसंभवात्।···ननु सर्वथैकार्थमेकमेव ज्ञानमिति, अतः 'इदमस्मादन्यत्' इत्येष व्यवहारो न स्यात्। ···किंच, आपेक्षिकसंव्यवहारविनिवृत्तेः ।४।...मध्यमाप्रदेशिन्योर्युगपदनुपलम्भात् तद्विषयदीर्घह्रस्वव्यवहारो विनिवर्तेत।...किंच, संशयाभावप्रसङ्गात् ।५। एकार्थविषयवर्तिनि विज्ञाने, स्थाणौ पुरुषे वा प्राक्प्रत्ययजन्म स्यात्, नोभयोःप्रतिज्ञातविरोधात्।... किंच, ईप्सितनिष्पत्त्यनियमात् ।६। ···चैत्रस्य पूर्णकलशमालिखतः... अनेकविज्ञानोत्पादनिरोधक्रमे सति अनियमेन निष्पत्तिः स्यात्।··· किंच, द्वित्र्यादिप्रत्ययाभावाच्च ।७।––यतो नैकं विज्ञानं द्वित्र्याद्यर्थानां ग्राहकमिति।—प्रश्न—जब एक ज्ञान एक ही अर्थको ग्रहण करता है, तब बहु आदि विषयक अवग्रह नहीं हो सकता। उत्तर—नहीं, क्योंकि,-इस प्रकार सदा एक ही प्रत्यय होनेका प्रसंग आता है। १. अनेकार्थग्राही ज्ञान का अत्यन्ताभाव होनेपर नगर, वन, सेना आदि बहुविषयक ज्ञान नहीं हो सकेंगे। ये संज्ञाएँ एकार्थविषयक नहीं हैं, अतः समुदायविषयक समस्त लोकव्यवहारोंका लोप ही हो जायेगा। २. जिस प्रकार (आप बौद्धोंके हाँ) एक मन अनेक ज्ञानोंको उत्पन्न कर सकता है, उसी तरह एक ज्ञानको अनेक अर्थोंको विषय करनेवाला माननेमें क्या आपत्ति है। ३. यदि ज्ञान एकार्थग्राही ही माना जायेगा तो 'यह इससे अन्य है' इस प्रकारका व्यवहार न हो सकेगा। ४. एकार्थग्राहिविज्ञानवादमें मध्यमा और प्रदेशिनी अंगुलियोंमें होनेवाले ह्रस्व, दीर्घ आदि समस्त व्यवहारोंका लोप हो जायगा। ५. संशयज्ञानके अभावका प्रसंग आयेगा, क्योंकि या तो स्थाणुका ज्ञान होगा या पुरुषका ही। एक साथ दोनोंका ज्ञान न हो सकेगा। ६. किसी भी इष्ट अर्थकी सम्पूर्ण उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। पूर्णकलशका चित्र बनानेवाला चित्रकार उस चित्रको न बना सकेगा, क्योंकि युगपत् दो तीन ज्ञानोंके बिना वह उत्पन्न नहीं होता। ७. इस पक्षमें दो तीन आदि बहुसंख्या विषयक प्रत्यय न हो सकेंगे, क्योंकि वैसा माननेपर कोई भी ज्ञान दो तीन आदि समूहोंको जान ही न सकेगा। उपरोक्त सर्व विकल्प (ध. ९/४,१,४५/१४६/१): (ध. १३/५,५,३५/२३५/३)।

ध. १३/५,५,३५/२३६/६ यौगपद्येन बह्ववग्रहाभावात् योग्यप्रदेशस्थितमङ्गुलिपञ्चकं न प्रतिभासेत। न परिच्छिद्यमानार्थभेदाद्विज्ञानभेदः, नानास्वभावस्यैकस्यैव त्रिकोटिपरिणतविज्ञानस्योपलम्भात्। न शक्तिभेदो वस्तुभेदस्य कारणम् पृथक् पृथगर्थक्रियाकर्तृत्वाभावात्तेषां वस्तुत्वानुपपत्तेः,—८. एक साथ बहुतका ज्ञान नहीं हो सकनेके कारण योग्य प्रदेशोंमें स्थित अंगुलिपंचकका ज्ञान नहीं हो सकता। (ध. ६/१,९-१,१४/१९/३)। ९. 'जाने गये अर्थमें भेद होनेसे विज्ञानमें भी भेद है', यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि नाना स्वभाववाला एक ही त्रिकोटिपरिणत विज्ञान उपलब्ध होता है। १०. 'शक्ति भेद वस्तुभेदका कारण है', यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, अलग-अलग अर्थक्रिया न होनेसे उन्हें वस्तुभूत नहीं माना जा सकता।—(अतः बहुत पदार्थोंका एक ज्ञानके द्वारा अवग्रह होना सिद्ध है)।

ध. ९/४,१,४५/१५१/१ प्रतिद्रव्यभिन्नानां प्रत्ययानां कथमेकत्वमिति चेन्नाक्रमेणैकजीवद्रव्यवर्तिनां परिच्छेद्यभेदेन बहुत्वमादधानानामेकत्वाविरोधात्।—प्रश्न—११. प्रत्येक द्रव्यमें भेदको प्राप्त हुए प्रत्ययोंके एकता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, युगपत् एक जीव द्रव्यमें रहनेवाले और ज्ञेय पदार्थोंके भेदसे प्रचुरताको प्राप्त हुए प्रत्ययोंकी एकतामें कोई विरोध नहीं है।

३. एक व एकविध ज्ञानोंके लक्षण

रा. वा./१/१६/१६/६३/३० अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा ततशब्दादीनामन्यतममल्पं शब्दमवगृह्णाति।.. ततादि शब्दानामेकविधावग्रहणात् एकविधमवगृह्णाति।...(एवं घ्राणाद्यवग्रहेष्वपि योज्यम्)।—अल्प श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमसे परिणत आत्मा तत आदि शब्दोंमेंसे अन्यतम शब्दको ग्रहण करता है, तथा उनमेंसे एक प्रकारके शब्दको ही सुनता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंमें भी लागू कर लेना।

ध. ६/१,९-१,१४/पृ./पंक्ति एक्कस्सेव वत्थुवलंभो एयावग्गहो। (१९/४)। एयपयारग्गहणमेयविहावग्गहो। (२०/१)।—एक ही वस्तुके उपलम्भको एक अवग्रह कहते हैं और एक प्रकारके पदार्थका ग्रहण करना एकविध अवग्रह है। (ध. ९/४,१,४५/१५१/३,१५२/३): (ध. १३/५,५,३५/२३६/१०, २३७/८); (गो. जी./जी.प्र./३११/६६७/१२)।

५. एक व एकविध ज्ञानोंमें अन्तर

ध. ६/१,९-१,१४/२०/२ एय-एयविहाणं को विसेसो। उच्चदे—एगस्स गहणं एयावग्गहो, एगजाईए ट्ठिदएयस्स बहूणं वा गहणमेयविहावग्गहो।—प्रश्न—एक और एकविधमें क्या भेद है। उत्तर—एक व्यक्तिरूप पदार्थका ग्रहण करना एक अवग्रह है और एक जातिमें स्थित एक पदार्थका अथवा बहुत पदार्थोंका ग्रहण करना एकविध अवग्रह है। (ध. ९/४,१,४५/१५२/३). (ध. १३/५,५,३५/२३७/८)।

६. एक विषयक ज्ञानकी सिद्धि

ध. ६/१,९-१,१४/१९/४ अणेयंतवत्थुवलंभा एयावग्गहो णत्थि। आह अत्थि, एयंतसिद्धिपसज्जदे एयंतग्गाहयपमाणस्सुवलंभा इदि चे, ण एस दोसो, एयवत्थुग्गाहओ अवबोहो एयावग्गहो उच्चदि। ण च विहिपडिसेहधम्माणं वत्थुत्तमत्थि जे तत्थ अणेयावग्गहो होज्ज।

किन्तु विहिपडिसेहारद्धमेयं वत्थू, तस्स उवलंभो एयावग्गहो। अणेयवत्थुविसओ अवबोहो अणेयावग्गहो। पडिहासो पुण सव्वो अणेयंतविसओ चेय, विहिपडिसेहाणमण्णदरस्सेव अणुवलंभा। —प्रश्न—वस्तु अनेक धर्मात्मक है, इस लिए एक अवग्रह नहीं होता। यदि होता है तो एक धर्मात्मक वस्तुकी सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि एक धर्मात्मक वस्तुको ग्रहण करनेवाला प्रमाण पाया जाता है। उत्तर—१. यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, एक वस्तुका ग्रहण करनेवाला ज्ञान एक अवग्रह कहलाता है। तथा विधि और प्रतिषेध धर्मोंके वस्तुपना नहीं है, जिससे उनमें अनेक अवग्रह हो सके। किन्तु विधि और प्रतिषेध धर्मोंके समुदायात्मक एक वस्तु होती है, उस प्रकारकी वस्तुके उपलम्भको एक अवग्रह कहते हैं। २. अनेक वस्तुविषयक ज्ञानको अनेक अवग्रह कहते हैं, किन्तु प्रतिभास तो सर्व ही अनेक धर्मोंका विषय करनेवाला होता है, क्योंकि, विधि और प्रतिषेध, इन दोनोंमेंसे किसी एक ही धर्मका अनुपलम्भ है, अर्थात् इन दोनोंमेंसे एकको छोड़कर दूसरा नहीं पाया जाता, दोनों ही प्रधान अप्रधानरूपसे साथ-साथ पाये जाते हैं।

ध. १३/५,५,३५/२३६/१० ऊर्ध्वाधो-मध्यभागाद्यवयवगतानेकत्वानुगतैकत्वोपलम्भान्नैकः प्रत्ययोऽस्तीति चेत्— न, एवंविधस्यैव जात्यन्तरीभूतस्यात्रैकत्वस्य ग्रहणात्। —प्रश्न—३. चूँकि ऊर्ध्वभाग, अधोभाग और मध्यभाग आदि रूप अवयवोंमें रहनेवाली अनेकतासे अनुगत एकता पायी जाती है, अतएव वह एक प्रत्यय नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ इस प्रकारकी ही जात्यन्तरभूत एकताका ग्रहण किया है।

७. क्षिप्र व अक्षिप्र ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११२/७ क्षिप्रग्रहणमचिरप्रतिपत्त्यर्थं। —क्षिप्र शब्दका ग्रहण जल्दी होनेवाले ज्ञानको जतलानेके लिए है। (रा. वा./१/१६/१०/६३/१६)।

रा.वा/१/१६/१६/६४/२ प्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपारिणामिकत्वात् क्षिप्रं शब्दमवगृह्णाति। अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपारिणामिकत्वात् चिरेण शब्दमवगृह्णाति। —प्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशम आदि परिणामके कारण शीघ्रतासे शब्दोंको सुनता है और क्षयोपशमादिकी न्यूनतामें देरीसे शब्दोंको सुनता है। (इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंपर भी लागू कर लेना)।

ध. ६/१,९-१,१४/२०/३ आसुग्गहणं खिप्पावग्गहो, सणिग्गहणमखिप्पावग्गहो। —शीघ्रतापूर्वक वस्तुको ग्रहण करना क्षिप्र अवग्रह है और शनैः शनैः ग्रहण करना अक्षिप्र अवग्रह है। (ध. ९/४,१,४५/१५२/४); (ध.१३/५,५,३५/२३७/६)।

गो. जी./जी. प्र./३११/६६७/१४ क्षिप्रः शीघ्रपतज्जलधाराप्रवाहादिः। ...अक्षिप्रः मन्दं गच्छदश्वादिः। —शीघ्रतासे पड़ती जलधारा आदिका ग्रहण क्षिप्र है और मन्दगतिसे चलते हुए घोड़े आदिका अक्षिप्र अवग्रह है।

८. निःसृत व अनिःसृत ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११२/७ अनिःसृतग्रहणं असकलपुद्गलोद्गमार्थम्। —(अनिःसृत अर्थात् ईषत् निःसृत) कुछ प्रगट और कुछ अप्रगट, इस प्रकार वस्तुके कुछ भागोंका ग्रहण होना और कुछका न होना, अनिःसृत अवग्रह है। (रा. वा./१/१६/११/६३/१८)।

रा. वा./१/१६/१६/६४/४ सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणात् अनिःसृतमवगृह्णाति। निःसृतं प्रतीतम्। —क्षयोपशमकी विशुद्धिमें पूरे वाक्यका उच्चारण न होनेपर भी उसका ज्ञान कर लेना अनिःसृत अवग्रह है और क्षयोपशमकी न्यूनतामें पूरे रूपसे उच्चारित शब्दका ही ज्ञान करना निःसृत अवग्रह है।

ध. ६/१,९-१,१४/२०/४ अहिमुहअत्थग्गहणं णिसियावग्गहो, अणहिमुहअत्थग्गहणं अणिसियावग्गहो। अहवा उवमाणोवमेयभावेण ग्गहणं णिसियावग्गहो, जहा कमलदलणयणा त्ति। तेण विणा गहणं अणिसियावग्गहो। —अभिमुख अर्थका ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है और अनभिमुख अर्थका ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है। अथवा, उपमान उपमेय भावके द्वारा ग्रहण करना निःसृत अवग्रह है। जैसे—कमलदल-नयना अर्थात् इस स्त्रीके नयन कमल दलके समान हैं। उपमान उपमेय भावके बिना ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है।

ध. ९/४,१,४५/पृष्ठ/पंक्ति—वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं वस्त्वेकदेशं समस्तं वा अवलम्ब्य तत्रासन्निहितवस्त्वन्तरविषयोऽप्यनिःसृतप्रत्ययः। (१५२/५)। ...एतत्प्रतिपक्षो निःसृतप्रत्ययः, तथा क्वचित्कदाचित्दुपलभ्यते च वस्त्वेकदेशे आलम्बनीभूते प्रत्ययस्य वृत्तिः। (१५३/८)। —वस्तुके एकदेशका अवलम्बन करके पूर्ण रूपसे वस्तुको ग्रहण करनेवाला, तथा वस्तुके एकदेश अथवा समस्त वस्तुका अवलम्बन करके वहाँ अविद्यमान अन्य वस्तुको विषय करनेवाला भी अनिःसृत प्रत्यय है। इसका प्रतिपक्षभूत निःसृत प्रत्यय है, क्योंकि, कहींपर किसी कालमें आलम्बनीभूत वस्तुके एकदेशमें उतने ही ज्ञानका अस्तित्व पाया जाता है। (गो. जी./मू./३१२/६६६)।

ध. १३/५,५,३५/पृष्ठ/पंक्ति—वस्त्वेकदेशस्य आलम्बनीभूतस्य ग्रहणकाले एकवस्तुप्रतिपत्तिः वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकाल एव वा दृष्टान्तमुखेन अन्यथा वा अनवलम्बितवस्तुप्रतिपत्तिः अनुसंधानप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययश्च अनिःसृतप्रत्ययः। (२३७/११)। एतत्प्रतिपक्षो निःसृतप्रत्ययः, क्वचित्कदाचिद्वस्त्वेकदेश एव प्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्। (२३८/११)। —आलम्बनीभूत वस्तुके एकदेश ग्रहणके समयमें ही एक (पूरी) वस्तुका ज्ञान होना; या वस्तुके एकदेशके ज्ञानके समयमें ही दृष्टान्तमुखेन या अन्य प्रकारसे अनवलम्बित वस्तुका ज्ञान होना; तथा अनुसंधान प्रत्यय और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यय—ये सब अनिःसृत प्रत्यय हैं। इससे प्रतिपक्षभूत निःसृतप्रत्यय है, क्योंकि, कहीं पर किसी कालमें वस्तुके एकदेशके ज्ञानकी ही उत्पत्ति देखी जाती है।

गो. जी./मू./३१३/६६६ पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगवयगहणे वा। वत्थंतरचंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे ।३१३। —तालाबमें जलमग्न हस्तीकी सूँड देखनेपर पूरे हस्तीका ज्ञान होना; अथवा किसी स्त्रीका मुख देखनेपर चन्द्रमाका या 'इसका मुख चन्द्रमाके समान है' ऐसी उपमाका ज्ञान होना; अथवा गवयको देखकर गायका ज्ञान होना, ये सब अनिःसृत अवग्रह हैं।

९. अनिःसृत ज्ञान और अनुमानमें अन्तर

ध. १३/५,५,३५/२३८/३ अर्वाग्भागावष्टम्भबलेन अनालम्बितपरभागादिषूत्पद्यमानः प्रत्ययः अनुमानं किन्न स्यादिति चेत—न, तस्य लिङ्गादभिन्नार्थविषयत्वात्। न तावदर्वाग्भागप्रत्ययसमकालभावी परभागप्रत्ययोऽनुमानम्, तस्यावग्रहरूपत्वात्। न भिन्नकालभाव्यप्यनुमानम्, तस्य ईहापृष्ठभाविनः अवायप्रत्ययेऽन्तर्भावात्। —प्रश्न—अर्वाग्भागके आलम्बनसे अनालम्बित परभागादिकोंका होनेवाला ज्ञान अनुमानज्ञान क्यों नहीं होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनुमानज्ञान लिंगसे भिन्न अर्थको विषय करता है। अर्वाग्भागके ज्ञानके समान कालमें होनेवाला परभागका ज्ञान तो अनुमान ज्ञान हो नहीं सकता, क्योंकि, वह अवग्रह स्वरूप ज्ञान है। भिन्न कालमें होनेवाला भी उक्त ज्ञान अनुमानज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, ईहाके पश्चात् उत्पन्न होनेसे उसका अवायज्ञानमें अन्तर्भाव होता है।

१०. अनिःसृत विषयक ज्ञानकी सिद्धि

ध. ९/४,१,४५/१५२/७ न चायमसिद्धः, घटार्वाग्भागमवलम्ब्य क्वचिद्घटप्रत्ययस्य उत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिदर्वाग्भागैकदेशमवलम्ब्य तदुत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिद् गौरिव गवय इत्यन्यथा वा एकवस्त्ववलम्ब्य तत्रासंनिहितवस्त्वन्तरविषयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचिदर्वाग्भागग्रहणकाल एव परभागग्रहणोपलम्भात्। न चायमसिद्धः, वस्तुविषयप्रत्ययोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः। न चार्वाग्भागमात्रं वस्तु, तत एव अर्थक्रियाकर्तृत्वानुपलम्भात्। क्वचिदेकवर्णश्रवणकाल एव अभिधास्यमानवर्णविषयप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भात्, क्वचित्स्वाभ्यस्तप्रदेशे एकस्पर्शोपलम्भकाल एव स्पर्शान्तरविशिष्टतद्वस्तुप्रदेशान्तरोपलम्भात् क्वचिदेकरसग्रहणकाल एव तत्प्रदेशासंनिहितरसान्तरविशिष्टवस्तूपलम्भात्। निःसृतमित्यपरे पठन्ति। तैरुपमाप्रत्यय एक एव संगृहीतः स्यात्, ततोऽसौ नेष्यते। —१. यह प्रत्यय असिद्ध नहीं है, क्योंकि, घटके अर्वाग्भागका अवलम्बन करके कहीं घट-प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है। कहींपर अर्वाग्भागके एकदेशका अवलम्बन करके उक्त प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है। कहींपर, 'गायके समान गवय होता है' इस प्रकार अथवा अन्य प्रकारसे एक वस्तुका अवलम्बन करके वहाँ समीपमें न रहनेवाली अन्य वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है। कहींपर अर्वाग्भागके ग्रहणकालमें ही परभागका ग्रहण पाया जाता है; और यह असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि अन्यथा वस्तु विषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति बन नहीं सकती; तथा अर्वाग्भागमात्र वस्तु हो नहीं सकती, क्योंकि, उतने मात्रसे अर्थक्रियाकारित्व नहीं पाया जाता। कहींपर एक वर्णके श्रवणकालमें ही उच्चारण किये जानेवाले वर्णोंको विषय करनेवाले प्रत्ययकी उत्पत्ति पायी जाती है। कहींपर अपने अभ्यस्त प्रदेशमें एक स्पर्शके ग्रहणकालमें ही अन्य स्पर्श विशिष्ट उस वस्तुके प्रदेशान्तरोंका ग्रहण होता है। तथा कहीं पर एक रसके ग्रहणकालमें ही उन प्रदेशोंमें नहीं रहनेवाले रसान्तरसे विशिष्ट वस्तुका ग्रहण होता है। दूसरे आचार्य 'निःसृत' ऐसा पढ़ते हैं। उनके द्वारा उपमा प्रत्यय एक ही संग्रहीत होगा, अतः वह इष्ट नहीं है। (ध. १३/५,५,३५/२३७/१३)।

११. अनिःसृत विषयक व्यंजनावग्रहकी सिद्धि

रा. वा /१/१९/९/७०/१४ अथानिःसृते कथम्। तत्रापि ये च यावन्तश्च पुद्गलाः सूक्ष्माः निःसृताः सन्ति, सूक्ष्मास्तु साधारणैर्न गृह्यन्ते, तेषामिन्द्रियस्थानावगाहनम् अनिःसृतव्यञ्जनावग्रहः। —प्रश्न—अनिःसृत ग्रहणमें व्यंजनावग्रह कैसे सम्भव है? उत्तर—जितने सूक्ष्म पुद्गल प्रगट हैं उनमे अतिरिक्तका ज्ञान भी अव्यक्तरूपसे हो जाता है। उन सूक्ष्म पुद्गलोंका साधारण इन्द्रियों द्वारा तो ग्रहण नहीं होता है, परन्तु उनका इन्द्रियदेशमें आ जाना ही उनका अव्यक्त ग्रहण है।

१२. उक्त अनुक्त ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११३/१ अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम्। — जो कही या बिना कही वस्तु अभिप्रायसे जानी जाती है उसके ग्रहण करनेके लिए 'अनुक्त' पद दिया है। (रा. वा./१/१६/१२/६३/२०)।

रा. वा./१/१६/१६/६४/५ प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारणत्वात्। एकवर्णनिर्गमेऽपि अभिप्रायेणैव अनुच्चारित शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति। अथवा, स्वरसंचारणात् प्राक् तन्त्रीद्रव्यातोद्यामर्शनेनैव अवादितम्। अनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्य आचष्टे 'भवानिमं शब्दं वादयिष्यति' इति। उक्तं प्रतीतम्। —श्रोत्रेन्द्रियके प्रकृष्ट क्षयोपशमके कारण एक भी शब्दका उच्चारण किये बिना अभिप्राय मात्रसे अनुक्त शब्दको जान लेता है, कि आप यह कहनेवाले हैं। अथवा वीणा आदिके तारोंको सम्हालते समय ही यह जान लेना कि 'इसके द्वारा यह राग बजाया जायेगा' अनुक्त ज्ञान है। उक्त अर्थात् कहे गये शब्दको जानना। (इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंमें भी लागू करना)।

ध. ६/१,९-१,१४/२०/६ णियमियगुणविसिट्ठअत्थग्गहणं उत्तावग्गहो। जधा चक्खिंदिएण धवलत्थग्गहणं, घाणिंदिएण सुअंधदव्वग्गहणमिच्चादि। अणियमियगुणविसिट्ठदव्वग्गहणमणुत्तावग्गहो, जहा चक्खिंदिएण गुडादीणं रसस्सग्गहणं, घाणिंदिएण दहियादीणं रसग्गहणमिच्चादि। —नियमित गुण विशिष्ट अर्थका ग्रहण करना उक्त अवग्रह है। जैसे—चक्षुरिन्द्रियके द्वारा धवल अर्थका ग्रहण करना और घ्राण इन्द्रियके द्वारा सुगन्ध द्रव्यका ग्रहण करना इत्यादि। अनियमित गुणविशिष्ट द्रव्यका ग्रहण करना अनुक्त अवग्रह है। जैसे चक्षुरिन्द्रियके द्वारा रूप देखकर गुड़ आदिके रसका ग्रहण करना अथवा घ्राणेन्द्रियके द्वारा दहीके गन्धके ग्रहणकालमें ही उसके रसका ग्रहण करना। (ध. १/१,१,११५/३५७/५); (ध. ९/४,१,४५/१५३/६); (ध. १३/५,५,३५/२३८/१२)।

गो. जी./जी. प्र./३११/६६७/१४ अनुक्तः अकथितः अभिप्रायगतः।... उक्तः अयं घटः इति कथितो दृश्यमानः। —बिना कहे अभिप्राय मात्रसे जानना अनुक्त है। और कहे हुए पदार्थको जानना उक्त अवग्रह है। जैसे—'यह घट है' ऐसा कहनेपर घटको जानना।

१३. उक्त और निःसृत ज्ञानोंमें अन्तर

स. सि./१/१६/११३/८ उक्तनिःसृतयोः कः प्रतिविशेषः; यावता सकलनिःसरणान्निःसृतम्। उक्तमप्येवंविधमेव। अयमस्ति विशेषः, अन्योपदेशपूर्वकं ग्रहणमुक्तम्। स्वतः एव ग्रहणं निःसृतम्। अपरेषां क्षिप्रनिःसृत इति पाठः। त एवं वर्णयन्ति श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दमवगृह्यमाणं मयूरस्य वा कुररस्य वेति कश्चित्प्रतिपद्यते। अपरः स्वरूपमेवाश्रित्य इति। —प्रश्न—उक्त और निःसृतमें क्या अन्तर है—क्योंकि, वस्तुका पूरा प्रगट होना निःसृत है और उक्त भी इसी प्रकार है। उत्तर—इन दोनोंमें यह अन्तर है — अन्यके उपदेश पूर्वक वस्तुका ग्रहण करना उक्त है, और स्वतः ग्रहण करना निःसृत है। कुछ आचार्योंके मतसे सूत्रमें 'क्षिप्रानिःसृत'के स्थानमें 'क्षिप्रनिःसृत' ऐसा पाठ है। वे ऐसा व्याख्यान करते हैं, कि श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा शब्दको ग्रहण करते समय वह मयूरका है अथवा कुररका है ऐसा कोई जानता है। दूसरा स्वरूपके आश्रयसे ही जानता है। (रा.वा./१/१६/१६/६४/२१)।

ध. ९/४,१,४५/१५४/५ निःसृतोक्तयोः को भेदश्चेन्न, उक्तस्य निःसृतानिःसृतोभयरूपस्य तेनैकत्वविरोधात्। —प्रश्न—निःसृत और उक्तमें क्या भेद है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, उक्त प्रत्यय निःसृत और अनिःसृत दोनों रूप है। अतः उसका निःसृतके साथ एकत्व होनेका विरोध है। (ध. १३/५,५,३५/२३९/२)।

१४. अनुक्त और अनिःसृत ज्ञानोंमें अन्तर

ध. ६/१,९-१,१४/२०/९ णायमणिस्सिदस्स अंतो पददि, एयवत्थुग्गहणकाले चेय तदो पुधभूदवत्थुस्स, ओवरिमभागग्गहणकाले चेय परभागस्स य, अंगुलिगहणकाले चेय देवदत्तस्स य गहणस्स अणिस्सिदववदेसादो। —अनुक्त अवग्रह अनिःसृत अवग्रहके अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि, एक वस्तुके ग्रहणकालमें ही, उससे पृथग्भूत वस्तुका, उपरिम भागके ग्रहणकालमें ही परभागका और अंगुलिके ग्रहणकालमें ही देवदत्तका ग्रहण करना अनिःसृत अवग्रह है (और रूपका ग्रहण करके रसका ग्रहण करना अनुक्त है।)

१५. अनुक्त विषयक ज्ञानकी सिद्धि

ध. ९/४,१,४५/१५४/१ न चायमसिद्धः, चक्षुषा लवण-शर्कराखण्डोपलम्भकाल एव कदाचित्तद्रसोपलम्भात्, दध्नो गन्धग्रहणकाल एव तद्रसावगतेः, प्रदीपस्य रूपग्रहणकाल एव कदाचित्तत्स्पर्शोपलम्भादाहितसंस्कारस्य,

कस्यचिच्छब्दग्रहणकाल एव तद्रसादिप्रत्ययोत्पत्त्युपलम्भाच्च । ―यह (अनुक्त अवग्रह) असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, चक्षुसे लवण, शक्कर व खाण्डके ग्रहण कालमें ही कभी उनके रसका ज्ञान हो जाता है; दहीके गन्धके ग्रहणकालमें ही उसके रसका ज्ञान हो जाता है; दीपकके रूपके ग्रहणकालमें ही कभी उसके स्पर्शका ग्रहण हो जाता है, तथा शब्दके ग्रहणकालमें ही संस्कार युक्त किसी पुरुषके उसके रसादिविषयक प्रत्ययकी उत्पत्ति भी पायी जाती है। (ध. १३/५, ५,३५/२३८/१३) ।

१६. मन सम्बन्धी अनुक्त ज्ञानकी सिद्धि

ध. ९/४,१,४५/१५४/६ मनसोऽनुक्तस्य को विषयश्चेददृष्टमश्रुतं च । न च तस्य तत्र वृत्तिरसिद्धा, उपदेशमन्तरेण द्वादशाङ्गश्रुतावगमान्यथानुपपत्तितस्तस्य तत्सिद्धेः । ―प्रश्न- मनसे अनुक्तका क्या विषय है ? उत्तर―अदृष्ट और अश्रुत पदार्थ उसका विषय है। और उसका वहाँ पर रहना असिद्ध नहीं है, क्योंकि, उपदेशके बिना अन्यथा द्वादशांग श्रुतका ज्ञान नहीं बन सकता; अतएव उसका अदृष्ट व अश्रुत पदार्थमें रहना सिद्ध है। (ध. १३/५,५,३५/२३९/६) ।

१७ अप्राप्यकारी इन्द्रियों सम्बन्धी अनिःसृत व अनुक्त ज्ञानोंकी सिद्धि

रा. वा./१/१९/१७-२०/६५/११ कश्चिदाह―श्रोत्रघ्राणस्पर्शनरसनचतुष्टयस्य प्राप्यकारित्वात् अनिःसृतानुक्तशब्दाद्यवग्रहेहावायधारणा न युक्ता इति; उच्यते―अप्राप्तत्वात् ।१७। कथम् । पिपीलिकादिवत् ।१८। यथा पिपीलिकादीनां घ्राणरसनदेशाप्राप्तेऽपि गुडादिद्रव्ये गन्धरसज्ञानम्, तच्च यैश्च यावद्भिश्चास्मादाद्यप्रत्यक्षसूक्ष्मगुडावयवैः पिपीलिकादिघ्राणरसनेन्द्रिययोः परस्परानपेक्षा प्रवृत्तिस्ततो न दोषः । अस्मदादीनां तदभाव इति चेत्; न; श्रुतापेक्षत्वात् ।१९।… परोपदेशापेक्षत्वात्…। किंच, लब्ध्यक्षरत्वात् ।२०।…'चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनमनोलब्ध्यक्षरम्' इत्यार्ष उपदेशः । अतः… लब्ध्यक्षरसान्निध्यात् एतत्सिध्यति अनिःसृतानुक्तानामपि शब्दादीनां अवग्रहादिज्ञानम् । ―प्रश्न―स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं (दे० इन्द्रिय/२), अतः इनसे अनिःसृत और अनुक्त ज्ञान नहीं हो सकते ? उत्तर―इन इन्द्रियोंसे किसी न किसी रूपमें पदार्थका सम्बन्ध अवश्य हो जाता है, जैसे कि चींटी आदिको घ्राण व रसना इन्द्रियके प्रदेशको प्राप्त न होकर भी गुड आदि द्रव्योंके रस व गन्धका जो ज्ञान होता है, वह गुड आदिके अप्रत्यक्ष अवयवभूत सूक्ष्म परमाणुओंके साथ उसकी घ्राण व रसना इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेके कारण ही होता है। प्रश्न―हम लोगोंको तो वैसा ज्ञान नहीं होता है ? उत्तर―नहीं, श्रुतज्ञानकी अपेक्षा हमें भी वैसा ज्ञान पाया जाता है, क्योंकि, उसमें परोपदेशकी अपेक्षा रहती है। दूसरी बात यह भी है, कि आगममें श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदके प्रकरणमें लब्ध्यक्षरके चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन और मनके भेदसे छह भेद किये हैं (दे० श्रुतज्ञान/II/१); इसलिए इन लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञानोंसे उन-उन इन्द्रियों द्वारा अनिःसृत और अनुक्त आदि विशिष्ट अवग्रह आदि ज्ञान होता रहता है।

१८. ध्रुव व अध्रुव ज्ञानोंके लक्षण

स. सि./१/१६/११३/१ ध्रुवं निरन्तरं यथार्थग्रहणम् । ―जो यथार्थ ग्रहण निरन्तर होता है, उसके जतानेके लिए ध्रुव पद दिया है। (और भी दे० अगला शीर्षक नं० १९)। (रा. वा./१/१६/१३/६३/२१) ।

रा. वा./१/१६/१६/६४/८ संक्लेशपरिणामनिरुत्सुकस्य यथानुरूपश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमादिपरिणामकारणावस्थितत्वात् यथा प्राथमिकं शब्दग्रहणं तथावस्थितमेव शब्दमवगृह्णाति नोनं नाभ्यधिकम् । पौनःपुन्येन संक्लेशविशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसांनिध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणामत्वाच्च अध्रुवमवगृह्णाति शब्दम्―क्वचिद् बहु क्वचिदल्पं क्वचिद् बहुविधं क्वचिदेकविधं क्वचित् क्षिप्रं क्वचिच्चिरेण क्वचिदनिःसृतं क्वचिन्निःसृतं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तम् । ―संक्लेश परिणामोंके अभावमें यथानुरूप ही श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमादि परिणामरूप कारणोंके अवस्थित रहनेसे, जैसा प्रथम समयमें शब्दका ज्ञान हुआ था आगे भी वैसा ही ज्ञान होता रहता है। न कम होता है और न अधिक। यह 'ध्रुव' ग्रहण है। परंतु पुनः पुनः संक्लेश और विशुद्धिमें झूलनेवाले आत्माको यथानुरूप श्रोत्रेन्द्रियका सान्निध्य रहनेपर भी उसके आवरणका किंचित् उदय रहनेके कारण, पुनः पुनः प्रकृष्ट व अप्रकृष्ट श्रोत्रेन्द्रियावरणके क्षयोपशमरूप परिणाम होनेसे शब्दको अध्रुव ग्रहण होता है, अर्थात् कभी बहुत शब्दोंको जानता है, और कभी अल्पको, कभी बहुत प्रकारके शब्दोंको जानता है और कभी एक प्रकारके शब्दोंको, कभी शीघ्रतासे शब्दको जान लेता है और कभी देरसे, कभी प्रगट शब्दको ही जानता है और कभी अप्रगटको भी, कभी उक्तको ही जानता है और कभी अनुक्तको भी।

ध. ६/१,९-१,१४/२१/१ णिच्चत्ताए गहणं धुवावग्गहो, तव्विवरीयगहणमद्धुवावग्गहो । ―नित्यतासे अर्थात् निरन्तर रूपसे ग्रहण करना ध्रुव-अवग्रह है और उससे विपरीत ग्रहण करना अध्रुव अवग्रह है।

ध. १/१,१ ११५/३५७/६ सोऽयमित्यादि ध्रुवावग्रहः । न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः । ―'वह यही है' इत्यादि प्रकारसे ग्रहण करनेको ध्रुवावग्रह कहते है और 'वह यह नहीं है' इस प्रकारसे ग्रहण करनेको अध्रुवावग्रह कहते हैं। (ध. ९/४,१,४५/१५४/६) ।

ध. १३/५,५,३५/२३९/३ नित्यत्वविशिष्टस्तम्भादिप्रत्ययः स्थिरः ।… विद्युत्प्रदीपज्वालादौ उत्पादविनाशविशिष्टवस्तुप्रत्ययः अध्रुवः । उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽपि अध्रुवः, ध्रुवात्पृथग्भूतत्वात् । ―नित्यत्वविशिष्ट स्तम्भ आदिका ज्ञान स्थिर अर्थात् ध्रुवप्रत्यय है और बिजली, दीपककी लौ आदिमें उत्पाद विनाश युक्त वस्तुका ज्ञान अध्रुव प्रत्यय है। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त वस्तुका ज्ञान भी अध्रुव प्रत्यय है; क्योंकि, यह ज्ञान ध्रुव ज्ञानसे भिन्न है।

१९. ध्रुवज्ञान व धारणामें अन्तर

स. सि./१/१६/११४/४ ध्रुवावग्रहस्य धारणायाश्च कः प्रतिविशेषः । उच्यते; क्षयोपशमप्राप्तिकाले विशुद्धपरिणामसंतत्या प्राप्तात्क्षयोपशमात्प्रथमसमये यथावग्रहस्तथैव द्वितीयादिष्वपि समयेषु नोनो नाभ्यधिक इति ध्रुवावग्रह इत्युच्यते । यदा पुनर्विशुद्धपरिणामस्य संक्लेशपरिणामस्य च मिश्रणात्क्षयोपशमो भवति तत उत्पद्यमानोऽवग्रहः कदाचिद् बहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् बहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रह इत्युच्यते । धारणा पुनर्गृहीतार्थाविस्मरणकारणमिति महदनयोरन्तरम् ।―प्रश्न―ध्रुवावग्रह और धारणामें क्या अन्तर है। उत्तर―क्षयोपशमकी प्राप्तिके समय विशुद्ध परिणामोंकी परम्पराके कारण प्राप्त हुए क्षयोपशमसे प्रथम समय जैसा अवग्रह होता है, वैसा ही द्वितीय आदि समयोंमें भी होता है, न न्यून होता है और न अधिक, यह ध्रुवावग्रह है। किन्तु जब विशुद्ध परिणाम और संक्लेश परिणामोंके मिश्रणसे क्षयोपशम होकर उससे अवग्रह होता है, तब वह कदाचित् बहुतका होता है, कदाचित् अल्पका होता है, कदाचित् बहुविधका होता है और कदाचित् एकविधका होता है। तात्पर्य यह कि उसमें न्यूनाधिक भाव होता रहता है, इसलिए वह अध्रुवावग्रह कहलाता है। किन्तु धारणा तो गृहीत अर्थके नहीं भूलनेके कारणभूत ज्ञानको कहते हैं, अतः ध्रुवावग्रह और धारणामें बड़ा अन्तर है।

१०. ध्रुवज्ञान एकान्तरूप नहीं है

ध. १३/५.५.३५/२३१/४ न च स्थिरप्रत्ययः एकान्त इति प्रत्यवस्थातुं युक्तम्, विधिनिषेधादिद्वारेण अत्रापि अनेकान्तविषयत्वदर्शनात्। —स्थिर (ध्रुव) ज्ञान एकान्तरूप है, ऐसा निश्चय करना युक्त नहीं है, क्योंकि, विधि-निषेधके द्वारा यहाँपर भी अनेकान्तकी विषयता देखी जाती है।

मतिज्ञानावरण—(दे० ज्ञानावरण)।

मत्तजला—पूर्व विदेहकी एक विभंगा नदी—दे० लोक/५/८।

मत्स—महामत्स सम्बन्धी विषय—दे० संमूर्च्छन।

मत्स्य—भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मत्स्योद्वर्त—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

मत्सर—न्या. द./भाष्यकी टिप्पणी/४/१/३/२३० प्रक्षीयमाणवस्त्वपरित्यागेच्छा मत्सरः। —जिस वस्तुमें अपना कोई प्रयोजन न हो, पर उसमें प्रतिसन्धान करना, पर व्यक्तिके अनुकूल पदार्थके निवारणकी अथवा उसके घातकी अथवा उसके गुणोंके घातकी इच्छा करना मत्सर है।

मथमितिको—Mathematics (ज. प./प्र. १०७)।

मथुरा—१. भरत क्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४। भारतके उत्तरप्रदेशका प्रसिद्ध नगर मथुरा है। और दक्षिण प्रदेशका प्रसिद्ध नगर 'मदुरा' है।

मथुरा संघ—दिगम्बर साधुओंका माथुरसंघ—दे० इतिहास/५/२३।

मद—

नि. सा./ता. वृ./११२ अत्र मदशब्देन मदनः कामपरिणाम इत्यर्थः। —यहाँ मद शब्दका अर्थ मदन या काम परिणाम है।

र. क. श्रा./२५ अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।२५। —ज्ञान आदि आठ प्रकारसे अपना बड़प्पन माननेको गणधरादिने मद कहा है। (अन. ध./२/८७/२१३); (भा. पा./टी./१५७/२१६/२०)।

१. मदके आठ भेद

मू. आ./५३ विज्ञानमैश्वर्यं आज्ञा कुलबलतपोरूपजातिः मदाः। —विज्ञान, ऐश्वर्य, आज्ञा, कुल, बल, तप, रूप और जाति ये आठ मद हैं। (अन. ध./२/८७/२१३); (द्र. सं./टी./४१/१६८/८)।

र. क. श्रा./२५ ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।२५। —ज्ञान, पूजा (प्रतिष्ठा), कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप, शरीरकी सुन्दरता इन आठोंको आश्रय करके गर्व करनेको मद कहते हैं।

२. आठ मदोंके लक्षण

मो. पा./टी./२७/३२२/४ मदा अष्ट—अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते। अहं मान्यो महामण्डलेश्वरा मत्पादसेवकाः। कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वलः कोऽपि ब्रह्महत्या ऋषिहत्यादिभिरदोषम्। जातिः—मम माता संघस्य पत्युर्दुहिता—शीलेन सुलोचना-सीता-अनन्तमती माता—चन्दनादिका वर्तते। बलं—अहं सहस्रभटो लक्षभटः कोटिभटः। ऋद्धिः—ममानेकलक्षकोटिगणनं धनमासीत तदपि मया त्यक्तं अन्ये मुनयोऽधर्मणाः सन्तो दीक्षां जगृहुः। तपः-अहं सिंहनिष्क्रीडितविमानपंक्तिसर्वतोभद्र…आदि महातपोविधिविधाता मम जन्मैवं तपः कुर्वतो गतं, एते तु यतयोः नित्यभोजनरताः। वपुः—मम रूपाग्रे कामदेवोऽपि दासत्वं करोतीत्यष्टमदाः। —मद आठ हैं—मैं ज्ञानवान् हूँ, सकलशास्त्रोंका ज्ञाता हूँ यह ज्ञानमद है। मैं सर्वमान्य हूँ। राजा-महाराजा मेरी सेवा करते हैं यह पूजा आज्ञा या प्रतिष्ठाका मद है। मेरा पितृपक्ष अतीव उज्ज्वल है। उसमें ब्रह्महत्या या ऋषिहत्या आदिका भी दूषण आज तक नहीं लगा है। यह कुलमद है। मेरी माताका पक्ष बहुत ऊँचा है। वह संघपतिकी पुत्री है। शीलमें सुलोचना, सीता, अनन्तमति व चन्दना आदि सरीखी है। यह जातिमद है। मैं सहस्रभट, लक्षभट, कोटिभट हूँ यह बलमद है। मेरे पास अरबों रुपयेकी सम्पत्ति थी। उस सबको छोड़कर मैं मुनि हुआ हूँ। अन्य मुनियोंने अधर्मी होकर दीक्षा ग्रहण की है। यह ऋद्धि या ऐश्वर्य मद है। सिंहनिष्क्रीडित, विमानपंक्ति, सर्वतोभद्र आदि महातपोंकी विधिका विधाता हूँ। मेरा सारा जन्म तप करते-करते गया है। ये सर्व मुनि तो नित्य भोजनमें रत रहते हैं। यह तप मद है। मेरे रूपके सामने कामदेव भी दासता करता है यह रूपमद है।

मदना—भरत क्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मद्य—

★ मद्यकी अभक्ष्यताका निर्देश—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

१. मद्यके निषेधका कारण

दे० मांस/२ (नवनीत, मद्य, मांस व मधु ये चार महाविकृति हैं।)

पु. सि. उ./६२-६४ मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्। विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ।६२। रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्। मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ।६३। अभिमानभयजुगुप्साहास्यरतिशोककामकोपाद्याः। हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि सरकसंनिहिताः ।६४। —मद्य मनको मोहित करता है, मोहितचित्त होकर धर्मको भूल जाता है। और धर्मको भूला हुआ वह जीव निःशंकपने हिंसा रूप आचरण करने लगता है ।६२। रस द्वारा उत्पन्न हुए अनेक एकेन्द्रियादिक जीवोंकी यह मदिरा योनिभूत है। इसलिए मद्य सेवन करनेवालेको हिंसा अवश्य होती है ।६३। अभिमान, भय, जुगुप्सा, रति, शोक, तथा काम-क्रोधादिक जितने हिंसाके भेद हैं वे सब मदिराके निकटवर्ती हैं ।६४।

सा. ध./२/४-५ यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाश्चैतत्त्रिलोकीमपि पूरयन्ति। यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं यास्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत् ।४। पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः, कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च। तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदं, तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति ।५। —जिसकी एक बूँदके जीव यदि फैल जायें तो तीनों लोकोंको भी पूर्ण कर देते हैं, और जिस मद्यके द्वारा मूर्च्छित हुए मनुष्य इस लोक और परलोक दोनोंको नष्ट कर देते हैं। उस मद्यको कल्याणार्थी मनुष्य अवश्य ही छोड़ें ।४। जिसके पीनेसे मद्यमें पैदा होनेवाले उस समस्त जीव समूहकी मृत्यु हो जाती है, और पाप अथवा निन्दाके साथ-साथ काम, क्रोध, भय, तथा भ्रम आदि प्रधान दोष उदयको प्राप्त होते हैं, उस मद्यको छोड़नेवाला पुरुष धूर्तिल नामक चोरकी तरह विपत्तिको प्राप्त नहीं होता है। और उसका पीनेवाला एकपात नामक संन्यासीकी तरह निन्द्य आचरणको करता हुआ दुर्गतिके दुःखोंको प्राप्त होता है।

ला. सं./२/७० दोषत्वं प्राङ्मतिभ्रंशस्ततो मिथ्यावबोधनम्। रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ।७०। —इसके पीनेसे—पहले तो बुद्धि भ्रष्ट होती है, फिर ज्ञान मिथ्या हो जाता है, अर्थात् माता, बहन आदिको भी स्त्री समझने लगता है। उससे रागादिक उत्पन्न होते हैं, उनसे अन्यायरूप क्रियाएँ तथा उनसे अत्यन्त क्लेशरूप जन्म मरण होता है।

३. मद्यत्यागके अतिचार

सा. ध./३/११ सन्धानकं त्यजेत्सर्वं दधितक्रं द्व्यहोषितम्। काञ्जिकं पुष्पितमपि मद्यव्रतमलोऽन्यथा।११। –दार्शनिक श्रावक अचार-मुरब्बा आदि सर्व ही प्रकारके सन्धानको और जिससे दो दिन व दो रात बीत गये हैं ऐसे दही व छाछको, तथा जिसपर फूई आ गयी हो ऐसी कांजीको भी छोड़े, नहीं तो मद्यत्याग व्रतमें अतिचार होता है।

ला. सं/२/६८-६९ भंगाहिफेनधत्तूरखसखसादिफलं च यत्। माद्यताहेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम्।६८। एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम्। तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही।६९। –भाँग, नागफेन, धतूरा, खसखस (चरस, गाँजा) आदि जो-जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले हैं, वे सब मद्यके समान ही कहे जाते हैं।६८। ये सब तथा इनके समान अन्य भी ऐसे ही नशीले पदार्थ, कल्याणार्थी बुद्धिमान् व्यक्तिको छोड़ देने चाहिए।६९।

मद्र—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश। अपर नाम मद्रकार—दे० मनुष्य/४।

मद्रक—उत्तर आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मद्री—पा. पु./सर्ग/श्लोक—राजा अन्धकवृष्णिकी पुत्री तथा वसुदेवकी बहन। (७/१३२-१३८)। 'पाण्डु' से विवाही। (८/३४-८७, १०७)। नकुल व सहदेवको जन्म दिया। (८/१७४-१७५)। पतिके दीक्षित हो जानेपर स्वयं भी घर, आहार व जलका त्याग कर सौधर्म स्वर्गमें चली गयी। (९।१२६-१६१)।

मधु—

★ **मधुकी अभक्ष्यताका निर्देश**—(दे० भक्ष्याभक्ष्य/२)।

१. मधु निषेधका कारण

दे. मांस/२ नवनीत, मद्य, मांस व मधु ये चार महाविकृतियाँ हैं।

पु. सि. उ./६९-७० मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मको भवति लोके। भजति मधुमूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्।६९। स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्। तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्।७०। –मधुकी बूँद भी मधुमक्खीकी हिंसा रूप ही होती है, अतः जो मन्दमति मधुका सेवन करता है, वह अत्यन्त हिंसक है।६९। स्वयमेव चूए हुए अथवा छल द्वारा मधुके छत्तेसे लिये हुए मधुका ग्रहण करनेसे भी हिंसा होती है, क्योंकि इस प्रकार उसके आश्रित रहनेवाले अनेकों क्षुद्रजीवोंका घात होता है।

यो. सा./अ./८/६२ बहुजीवप्रघातोत्थं बहुजीवोद्भवास्पदम्। असंयमविभीतेन त्रेधा मध्वपि वर्ज्यते।६२। –संयमकी रक्षा करनेवालोंको, बहुत जीवोंके घातसे उत्पन्न तथा बहुत जीवोंकी उत्पत्तिके स्थानभूत मधुको मन वचन कायसे छोड़ देना चाहिए।

अ. ग. श्रा./५/३२ योऽत्ति नाम भेषजेच्छया, सोऽपि याति लघु दुःखमुल्बणम्। किं न नाशयति जीवितेच्छया, भक्षितं झटिति जीवितं विषम्।३२। –जो औषधकी इच्छासे भी मधु खाता है, सो भी तीव्र दुःखको शीघ्र प्राप्त होता है, क्योंकि, जीनेकी इच्छासे खाया हुआ विष, क्या शीघ्र ही जीवनका नाश नहीं कर देता है।

सा. ध./२/११ मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः। खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम्।३२। –मधुको उपार्जन करनेवाले प्राणियोंके समूहके नाशसे उत्पन्न होनेवाली तथा अपवित्र, ऐसी मधुकी एक बूँद भी खानेवाला पुरुष सात ग्रामोंको जलानेसे भी अधिक पापको बाँधता है।

ला. सं./२/७२-७४ माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक् पीडनोद्भवम्। प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम्।७२। न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम्। त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम्।७३। किंच तत्र निकोतादि जीवाः संसर्गजा क्षणात्। संमूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सनं जातु कव्यवत्।७४। –मधुकी उत्पत्ति मक्खियोंके मांस रक्त आदिके निचोड़से होती है, यह बात समस्त संसारमें प्रसिद्ध है, तथा शास्त्रोंमें भी यही बात बतलायी है।७२। इस प्रकार न्यायसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि मधुके खानेमें मांस भक्षणका दोष आता है, क्योंकि मक्खियाँ त्रस जीव होनेसे उनका कलेवर मांस कहलाता है।७३। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मांसमें सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है, उसी प्रकार जिस-किसी भी अवस्थामें रहते हुए भी मधुमें सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं। उन जीवोंसे रहित मधु कभी नहीं होता है।७४।

२. मधुत्यागके अतिचार

सा. ध./३/१३ प्रायः पुष्पाणि नाश्नीयान्मधुव्रतविशुद्धये। वस्त्यादिष्वपि मध्वादिप्रयोगं नार्हति व्रती।१३। –मधुत्याग व्रतीके लिए फूलोंका खाना तथा बस्तिकर्म आदि (पिण्डदान या औषधि आदि) के लिए भी मधुको खाना वर्जित है। 'प्रायः' शब्दसे, अच्छी तरह शोधे जाने योग्य महुआ व नागकेसर आदिके फूलोंका अत्यन्त निषेध नहीं किया गया है (यह अर्थ पं. आशाधरजीने स्वयं लिखा है)।

ला. सं./२/७७ प्रागवद्यत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात्। यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा।७७। –मद्य व मांसवत् मधुके अतिचारोंका भी शास्त्रोंमें कथन किया गया है। जैसे—फूलोंका रस या उनसे बना हुआ आसव आदिका पीना। गुलकन्दका खाना भी इसी दोषमें गर्भित है।

३. मधु नामक पौराणिक पुरुष

१. म. पु./६१/८८ पूर्वभवमें वर्तमान नारायणका धन जूएमें जीता था। और वर्तमान भवमें तृतीय प्रतिनारायण हुआ। अपर नाम 'मेरक' था।—विशेष दे. शलाका पुरुष/५। २. प. पु./सर्ग/श्लो.।—"मथुराके राजा हरिवाहनका पुत्र था। (१२/३)। रावणकी पुत्री कृतचित्राका पति था। (१२/१८)। रामचन्द्रजीके छोटे भाई शत्रुघ्नके साथ युद्ध करते समय प्रतिबोधको प्राप्त हुआ। (८९/९६)। हाथीपर बैठे-बैठे दीक्षा धारण कर ली। (८९/१११)। तदनन्तर समाधिमरण पूर्वक सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुआ। (८९/११५)। ३. ह. पु./४३/श्लोक—अयोध्या नगरीमें हेमनाभका पुत्र तथा कैटभका बड़ा भाई था।१५९। राज्य प्राप्त करके। (१६०)। राजा वीरसेनकी स्त्री चन्द्राभापर मोहित हो गया। (१६५)। बहाना कर दोनोंको अपने घर बुलाया तथा चन्द्राभाको रोककर वीरसेनको लौटा दिया। (१७१-१७६)। एक बार एक व्यक्तिको परस्त्रीगमनके अपराधमें राजा मधुने हाथ-पाँव काटनेका दण्ड दिया। इस चन्द्राभाने उसे उसका अपराध याद दिलाया। जिससे उसे वैराग्य आ गया। और विमलवाहन मुनिके संघमें भाई कैटभ आदिके साथ दीक्षित हो गया। चन्द्राभाने भी आर्यिकाकी दीक्षा ली। (१७८-२०२)। शरीर छोड़ आरण अच्युत स्वर्गमें इन्द्र हुआ। (२१६)। यह प्रद्युम्न कुमारका पूर्वका दूसरा भव है।—दे० प्रद्युम्न।

मधुकैटभ—म. पु./६०/श्लोक—अपर नाम मधुसूदन था। दूरवर्ती पूर्वभवमें मलय देशका राजा चण्डशासन था। (५२)। अनेकों योनियोंमें घूमकर वर्तमान भवमें चतुर्थ प्रतिनारायण हुआ। (७०)। —विशेष दे. शलाकापुरुष/५।

मधुक्रीड़—दे० निशुंभ।

मधुपिंगल—म. पु./६७/२१३-२१५, ३६६-४५८—सगर चक्रवर्ती विश्वभूके षड्यन्त्रके कारण स्वयंवरमें 'सुलसा' से वंचित रह जानेके कारण दीक्षा धर, निदानपूर्वक देह त्याग यह महाकाल नामक व्यन्तर

हो गया और सगरसे पूर्व बैरका बदला चुकानेके लिए 'पर्वत' को हिंसात्मक यज्ञोंके प्रचारमें सहयोग देने लगा।

मधुर संभाषण—दे० सत्य/२।

मधुरा—१. म. पु./६१/२०७-२१० कोशल देशके वृद्धग्राममें मृगायण नामक ब्राह्मणकी स्त्री थी। मरकर पोदनपुर नगरके राजाकी पुत्री रामदत्ता हुई। (यह मेरु गणधरका पूर्वका नवाँ भव है—दे० मेरु)। २. दक्षिण द्रविड़ देशमें वर्तमान मडुरा (मदुरा) नगर। (द्र. सं./प्र. १ जवाहरलाल शास्त्री)।

मधुसूदन—दे०, मधुकैटभ।

मधुसूदन सरस्वती—वेदान्त शास्त्रके अद्वैत सिद्धिके रचयिता। समय ई. १३५०।—दे. वेदान्त/१।

मधुस्रावी—दे. ऋद्धि/८।

मध्य—१. दक्षिण व उत्तर वारुणीवर समुद्रका रक्षक देव—दे. व्यंतर/४। २. भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मध्य खंड द्रव्य—दे० कृष्टि।

मध्यधन—दे० गणित/II/५/३।

मध्यम पद—दे० पद।

मध्य प्रदेश—जीवके आठ मध्य प्रदेश—दे० जीव/४।

मध्यम स्वर—दे० स्वर।

मध्यमा वाणी—दे० भाषा।

मध्य मीमांसा—दे० दर्शन/षट्दर्शन।

मध्यलोक—१. मध्यलोक परिचय—दे० लोक/३-६ २. मध्यलोकके नकशे—दे० लोक/७।

मध्यस्थ—दे० माध्यस्थ्य।

मध्याह्न—ठीक दोपहरका संधिकाल।

मनःपर्यय—बिना पूछे किसीके मनकी बातको प्रत्यक्ष जान जाना मनःपर्ययज्ञान है। यद्यपि इसका विषय अवधिज्ञानसे अल्प है, पर सूक्ष्म होनेके कारण उससे अधिक विशुद्ध है। और इसलिए यह संयमी साधुओंको ही उत्पन्न होना सम्भव है। यद्यपि प्रत्यक्ष है परन्तु इसमें मनका निमित्त उपचारसे स्वीकार किया गया है। यह दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति। प्रथम केवल चिन्तित पदार्थको ही जानता है, परन्तु विपुलमति चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित व चिन्तितपूर्व सबको जाननेमें समर्थ है।

३	मन:पर्ययज्ञानमें स्व व पर मनका स्थान
१	मन:पर्ययका उत्पत्तिस्थान मन है, करणचिह्न नहीं।
२	दोनों ही ज्ञानोंमें मनोमति पूर्वक परकीय मनको जानकर पीछे तद्गत अर्थको जाना जाता है।
३	ऋजुमतिमें इन्द्रियों व मनकी अपेक्षा होती है, विपुलमतिमें नहीं।
४	मनकी अपेक्षामात्रसे यह मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता।
५	मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी इसे श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता।
६	मन:पर्ययज्ञान प्रत्यक्ष व इन्द्रियनिरपेक्ष है।
४	**मन:पर्ययका स्वामित्व**
१	ऋद्धिधारी प्रवर्द्धमान संयतको ही सम्भव है।
२	अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें उत्पन्न होता है।
३	ऋजु व विपुलमतिका स्वामित्व।
४	निचले गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होता।
५	सभी संयमियोंको क्यों नहीं होता।
*	अप्रशस्त वेदमें नहीं होता। —दे० वेद/६।
*	उपशम सम्यक्त्व व परिहार विशुद्धि आदि गुण विशेषोंके साथ नहीं होता —दे० परिहार विशुद्धि/७।
६	द्वि. व प्र. उपशमसम्यक्त्वके कालमें मन:पर्ययके सद्भाव व अभाव सम्बन्धी हेतु।
*	पंचम कालमें सम्भव नहीं—दे० अवधिज्ञान/२/७।

१. मन:पर्ययज्ञान सामान्य निर्देश

१. मन:पर्ययज्ञान सामान्यका लक्षण

१. परकीय मनोगत पदार्थको जानना

ति. प./४/९७३ चिंताए अचिंताए अद्धचिंताए विविहभेयगयं। जं जाणइ णरलोए तं चिय मणपज्जवं णाणं।९७३। —चिन्ता, अचिन्ता और अर्धचिन्ताके विषयभूत अनेक भेदरूप पदार्थको जो ज्ञान नरलोकके भीतर जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है। (पं. सं./प्रा./१/१२५); (ध. १/१,१,११५/गा. १८५/३६०); (क. पा. १/१,१/§२८/४३/३); (गो. जी./मू./४३८/८५७)।

स. सि./१,६/९४/३ परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मन:पर्ययः। —दूसरेके मनोगत अर्थको मन कहते हैं, उसके मनके सम्बन्धसे उस पदार्थका पर्ययण अर्थात् परिगमन करनेको या जाननेको मन:पर्ययज्ञान कहते हैं। (रा. वा./१/९/४४/२१); (क. पा.१/१,१/§१४/१६/६); (गो. जी./जी.प्र./४३८/८५८/५)।

रा. वा./१/९/४/४४/१६ तदावरणकर्मक्षयोपशमादि-द्वितीयनिमित्त-वशात् परकीयमनोगतार्थज्ञानं मन:पर्ययः। —मन:पर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमादिरूप सामग्रीके निमित्तसे परकीय मनोगत अर्थको जानना मन:पर्यय ज्ञान है। (पं. का. त. प्र./४१); (द्र. सं./टी./५/१७/२)। (न्या. दी./२/§१३/३४)।

ध.६/१,९-१,१४/२८/६ परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, तस्य पर्यायाः विशेषाः मन:पर्यायाः, तान् जानातीति मन:पर्ययज्ञानम्। —परकीय मनमें स्थित पदार्थ मन कहलाता है। उसकी पर्यायों अर्थात् विशेषोंको मन:पर्यय कहते हैं। उनको जो ज्ञान जानता है वह मन:पर्ययज्ञान है। (ध. १३/५,५,२१/२१२/४)।

दे. मन:पर्यय।३/२ (स्वमनसे परमनका आश्रय लेकर मनोगत अर्थको जाननेवाला मन:पर्यय ज्ञान है।)

२. पदार्थके चिन्तवन युक्त मन या ज्ञानको जानना

ध. १/१,१,२/९४/४ मणपज्जवणाणं णाम परमणोगयाइं मुत्तिदव्वाइं तेण मणेण सह पच्चक्खं जाणदि। —जो दूसरोंके मनोगत मूर्तीक द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है, उसे मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

ध. १३/५,५,२१/२१२/८ अथवा मणपज्जवसण्णा जेण रूढिभवा तेण चिंतिए अचिंतिए वि अत्थे वट्टमाणणाणविसया त्ति घेत्तव्वा। —अथवा 'मन:पर्यय' यह संज्ञा रूढिजन्य है। इसलिए चिन्तित व अचिन्तित दोनों प्रकारके अर्थमें विद्यमान ज्ञानको विषय करनेवाली यह संज्ञा है, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।

३. उपरोक्त दोनों लक्षणोंका समन्वय

ध. १३/५,५,२१/२१२/४ परकीयमनोगतोऽर्थो मनः, मनसः पर्यायाः विशेषाः मन:पर्यायाः, तान् जानातीति मन:पर्ययज्ञानम्। सामान्य-व्यतिरिक्तविशेषग्रहणं न संभवति, निर्विषयत्वात्। तस्मात् सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहि मन:पर्ययज्ञानमिति वक्तव्यं चेत्—नैष दोषः, इष्टत्वात्। तर्हि सामान्यग्रहणमपि कर्तव्यम्। (न), सामर्थ्यलभ्यत्वात्। एदं वयणं देसामासियं। कुदो। अचिंतियाणं अद्धचिंतियाणं च अत्थाणमवगमादो।

—परकीय मनको प्राप्त हुए अर्थका नाम मन है। उस मन (मनोगत पदार्थ) की पर्यायों या विशेषोंका नाम मन:पर्याय है। उन्हें जो जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है। —विशेष दे० लक्षण नं० १। प्रश्न—सामान्यको छोड़कर केवल विशेषका ग्रहण करना सम्भव नहीं है, क्योंकि, ज्ञानका विषय केवल विशेष नहीं होता, इसलिए सामान्य विशेषात्मक वस्तुको ग्रहण करनेवाला मन:पर्यय-ज्ञान है, ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। प्रश्न—तो इसके विषय रूपसे सामान्यका भी ग्रहण करना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि सामर्थ्यसे ही उसका ग्रहण हो जाता है। अथवा यह वचन (उपरोक्त लक्षण नं० १) देशामर्शक है, क्योंकि, इससे अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थोंका भी ज्ञान होता है। अथवा (चिन्तित पदार्थोंके साथ-साथ उस चिन्तवन युक्त ज्ञान या मनको भी जानता है—दे० लक्षण नं० २)।

भावार्थ—'परकीय मनोगत पदार्थ' इतना मात्र कहना सामान्य विषय निर्देश है और 'चिन्तित अचिन्तित आदि पदार्थ' यह कहना विशेषविषय निर्देश है। अथवा 'चिन्तित अचिन्तित पदार्थ' यह कहना विशेष विषय निर्देश है और 'इससे युक्त ज्ञान व मन' यह कहना सामान्य विशेष निर्देश है। पदार्थ सामान्य, पदार्थ विशेष और ज्ञान या मन इन तीनों बातोंको युगपत् ग्रहण करनेसे मन:-पर्यय ज्ञानका विषय सामान्य विशेषात्मक हो जाता है।

२. मन:पर्ययज्ञानका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

दे० मन:पर्यय/२/४,१० (दूसरोंके मनमें स्थित संज्ञा, स्मृति, चिन्ता, मति आदिको तथा जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख तथा नगर आदिका विनाश, अतिवृष्टि, सुवृष्टि, दुर्भिक्ष-सुभिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय-रोग आदि पदार्थोंको जानता है।)

२. द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावकी अपेक्षा

त. सू./१/२८ तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। —(द्रव्यकी अपेक्षा) मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति अवधिज्ञानके विषयके अनन्तवें भागमें होती है। (त. सा./१/३१)।

ध. ९/४,१,२/१४/५ दव्वदो जहण्णेण एगसमयओरालियसरीरणिज्जरं जाणदि। उक्कस्सेण एगसमयपबद्धस्स कम्मइयदव्वस्स अणंतिमभागं जाणदि। खेत्तदो जहण्णेण गाउवपुधत्तं, उक्कस्सेण माणुसखेत्तस्संतो जाणदि, णो बहिद्धा। कालदो जहण्णेण दो तिण्णि भवग्गहणाणि। उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भवग्गहणाणि जाणादि। —मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य रूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिक शरीरके निर्जरारूप द्रव्य तकको जानता है। उत्कृष्ट रूपसे कार्मण द्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बँधे हुए समयप्रबद्ध रूप द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भाग तकको जानता है। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो तीन कोस तक क्षेत्रको जानता है और उत्कृष्ट रूपसे मनुष्य क्षेत्रके भीतर तक जानता है, उसके बाहर नहीं। कालकी अपेक्षा जघन्य रूपसे दो तीन भवोंको और उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात भवोंको जानता है। (भावकी अपेक्षा द्रव्य प्रमाणसे निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है)

३. मनःपर्ययज्ञानकी त्रिकाल ग्राहकता

दे० लक्षण नं० १ (दूसरेके मनको प्राप्त ऐसे चिन्तित अचिन्तित अर्धचिन्तित व चिन्तित पूर्व सब अर्थोंको जानता है—और भी दे० मनःपर्यय/२/१०)।

दे० मनःपर्यय/२/४,१० (अतीतविषयक स्मृति, वर्तमानविषयक चिन्ता और अनागत विषयक मतिको जानता है। इस प्रकार वर्तमान जीवके मनोगत त्रिकाल विषयक अर्थको जानता है।)

४. मूर्त द्रव्यग्राही मनःपर्यय द्वारा जीवके अमूर्त भावोंका ग्रहण कैसे

ध. १३/५,५,६३/३३३/५ अमुत्तो जीवो कधं मणपज्जवणाणेण मुत्तट्ठपरिच्छेदियोहिणाणादो हेट्ठिमेण परिच्छिज्जदे। ण मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबंधणबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो। स्मृतिरमूर्ता चेत-न, जीवादो पुधभूदसदीए अणुवलंभा। —प्रश्न—यतः जीव अमूर्त है अतः वह मूर्त अर्थको जाननेवाले अवधिज्ञानसे नीचेके मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा कैसे जाना जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादि कालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता। प्रश्न—स्मृति तो अमूर्त है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, स्मृति जीवसे पृथक् नहीं उपलब्ध होती है।

५. मूर्तग्राही मनःपर्यय द्वारा अमूर्त कालद्रव्य सापेक्ष भावोंका ग्रहण कैसे

ध.१३/५,५,६३/३३४/२ एत्तिए कालेण सुहं होदि त्ति किं जाणादि आहो ण जाणादि त्ति। बिदिए पक्खेण सुहावगमो, कालपमाणावगमाभावादो। पढमपक्खे कालेण वि पच्चक्खेण होदव्वं, अण्णहा सुहमेत्तिएण कालेण एत्तियं वा कालं होदि त्ति बोत्तुमजोगादो। ण च कालो मणपज्जवणाणेण पच्चक्खमवगम्मदे, अमुत्तम्मि तस्स वुत्तिविरोहादो त्ति। ण एस दोसो, ववहारकालेण एत्थ अहियारादो। ण च मुत्ताणं दव्वाणं परिणामो कालसण्णिदो अमुत्तो चेव होदि त्ति णियमो अत्थि, अव्ववत्थावत्तीदो। —प्रश्न—इतने कालमें सुख होगा, इसे क्या वह जानता है अथवा नहीं जानता। दूसरा पक्ष स्वीकार करनेपर प्रत्यक्षसे सुखका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि, उसके कालका प्रमाण नहीं उपलब्ध होता है। पहिला पक्ष माननेपर कालका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि, अन्यथा 'इतने कालमें सुख होगा या इतने काल तक सुख रहेगा; यह नहीं जाना जा सकता। परन्तु कालका मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता नहीं है क्योंकि, उसकी अमूर्त पदार्थमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहाँपर व्यवहार कालका अधिकार है। दूसरे, काल संज्ञावाले मूर्त द्रव्योंका (सूर्य, नेत्र, घड़ी आदिका) परिणाम अमूर्त ही होता है, ऐसा कोई नियम भी नहीं है, क्योंकि वैसा माननेपर अव्यवस्थाकी आपत्ति आती है।

६. क्षेत्रगत विषय सम्बन्धी स्पष्टीकरण

ध. ९/४,१,११/६७/१० एगागाससेडीए चेव जाणदि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, देव-मणुस्सविज्जाहराइसु णाणस्स अप्पउत्तिप्पसंगादो। 'माणुसुत्तरसेलस्स अब्भंतरदो चेव जाणेदि णो बहिद्धा' त्ति वग्गणसुत्तेण णिद्दिट्ठादो माणुसखेत्तअब्भंतरट्ठिदसव्वमुत्तिदव्वाणि जाणदि णो बाहिराणि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, माणुसुत्तरसेलसमीवे ठइदूण बाहिरदिसाए कओवयोगस्स णाणाणुप्पत्तिप्पसंगादो। होदु च ण, तदणुप्पत्तीए कारणाभावादो। ण ताव खओवसमाभावे··· अणिंदियस्स पच्चक्खस्स···माणुसुत्तरसेलेण पडिघादाणुववत्तीदो। तदो माणुसुत्तरसेलब्भंतरवयणं ण खेत्तणियामयं, किंतु माणुसुत्तरसेलब्भंतरपणदालीसजोयणलक्खणियामयं, विउलमदि मदिमणपज्जवणाणुज्जोयसहिदखेत्ते घणागारेण ठइदे पणदालीसजोयणलक्खमेत्तं चेव होदि त्ति। —आकाशकी एक श्रेणीके क्रमसे ही जानता है ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं, किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा माननेपर देव, मनुष्य एवं विद्याधरादिकोंमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञानकी प्रवृत्ति न हो सकनेका प्रसंग आवेगा। 'मानुषोत्तरशैलके भीतर ही स्थित पदार्थको जानता है, उसके बाहर नहीं' (दे० मनःपर्यय/२/१०/३) ऐसा वर्गणासूत्र द्वारा निर्दिष्ट होनेसे, मनुष्यक्षेत्रके भीतर स्थित सब मूर्त द्रव्योंको जानता है, उससे बाह्यक्षेत्रमें नहीं; ऐसा कोई आचार्य कहते हैं। किन्तु यह घटित नहीं होता, क्योंकि, ऐसा स्वीकार करनेपर मानुषोत्तर पर्वतके समीपमें स्थित होकर बाह्य दिशामें उपयोग करनेवालेके ज्ञानकी उत्पत्ति न हो सकनेका प्रसंग होगा। यह प्रसंग आवे तो आने दो, यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि, उसके उत्पन्न न हो सकनेका कोई कारण नहीं है। क्षयोपशमका तो अभाव है नहीं, और न ही मनःपर्ययके अनिन्द्रिय प्रत्यक्षका मानुषोत्तर पर्वतसे प्रतिघात होना सम्भव है। अतएव 'मानुषोत्तर पर्वतके भीतर' यह वचन क्षेत्र नियामक नहीं है, किन्तु मानुषोत्तर पर्वतके भीतर ४५००,००० योजनोंका नियामक है, क्योंकि, विपुल मतिज्ञानके उद्योत सहित क्षेत्रको घनाकारसे स्थापित करनेपर ४५०००,०० योजन मात्र ही होता है। (इतने क्षेत्रके भीतर स्थित होकर चिन्तवन करनेवाले जीवोंके द्वारा विचार्यमाण द्रव्य मनःपर्ययज्ञानकी प्रभासे अवष्टब्ध क्षेत्रके भीतर होता है, तो जानता है, अन्यथा नहीं जानता है; यह उक्त कथनका तात्पर्य है—(ध. १३); (ध. १३/५,५,७७/३४३/६); (गो. जी./जी. प्र./४५६/८६१/१५)।

७. मनःपर्ययज्ञानके भेद

पं. का./ता. वृ./ प्रक्षेपक गाथा/४१-४ विउलमदि पुण णाणं अज्जवणाणं च दुविह मणणाणं। —मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है—ऋजुमति और विपुलमति। (म. बं. १/§२/१); (दे० ज्ञानावरण/३/५); (त. सू. १/२३); (स. सि. /१/२३/१२९/७); (रा. वा./१/२३/९/८४/२७); (ह. पु./१०/१५३); (क. पा. १/१-१/§१४/२०/१); (ध. ६/१,९-१, १४/२८/७); (ज. प./१३/५९); (गो. जी./मू./४३९/८५८)।

२. ऋजु व विपुलमति ज्ञान निर्देश

१. ऋजुमति सामान्यका लक्षण

स.सि./१/२३/१२६/२ ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च। कस्मान्निर्वर्तिता। वाक्कायमनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात्। ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः। —ऋजुका अर्थ निर्वर्तित (निष्पन्न) और प्रगुण (सीधा) है। अर्थात् दूसरेके मनको प्राप्त वचन काय और मनकृत अर्थके विज्ञानसे निर्वर्तित या ऋजु जिसकी मति है वह ऋजुमति कहलाता है। (रा. वा./१/२३/-/८३/३३); (ध १३/५.५.६२/३३०/५); (गो. जी./जी. प्र./४३६/८५८/१६)।

ध. ६/४,१,१०/६२/६ परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः। ऋज्वी अवक्रा। ऋज्वी मतिर्यस्य स ऋजुमतिः। —दूसरेके मनमें स्थित अर्थ उपचार से मति कहा जाता है। ऋजुका अर्थ वक्रता रहित है (या वर्तमान काल है)—(दे० नय/III/१/२)। ऋजु है मति जिसकी वह ऋजुमति कहा जाता है। (पं. का./ता. वृ./४३-४/८७/३)।

२. ऋजुत्वका अर्थ

ध. ६/४,१,१०/६२/६ कथमृजुत्वम्। यथार्थं मत्यारोहणात् यथार्थमभिधानगतत्वात् यथार्थमभिनयगतत्वाच्च। —प्रश्न—ऋजुता कैसे है। उत्तर—यथार्थ मनका विषय होनेसे, यथार्थ वचनगत होनेसे और यथार्थ अभिनय अर्थात् कायिक चेष्टागत होनेसे उक्त मतिमें ऋजुता है।

ध. १३/५.५.६२/३३०/१ मणस्स कधमुजुगत्तं। जो जधा अत्थो ट्ठिदो तं तधा चितयंतो मणो उज्जुगत्तो णाम। तव्विवरीयो मणो अणुज्जुगो। कधं वयणस्स उज्जुवत्तं। जो जेम अत्थो ट्ठिदो तं तेम जाणावयंतं वयणं उज्जुव णाम। तव्विवरीयमणुज्जुवं। कधं कायस्स उज्जुवत्तं। जो जहा अत्थो ट्ठिदो तं तहा चेव अहिणइदूण दरिसयंतो काओ उजुओ णाम। तव्विवरीयो अणुज्जुओ णाम। —प्रश्न—मन, वचन व कायमें ऋजुपना कैसे आता है। उत्तर—जो अर्थ जिस प्रकारसे स्थित है, उसका उसी प्रकारसे चिन्तवन करनेवाला मन, उसका उसी प्रकारसे ज्ञापन करनेवाला वचन और उसको उसी प्रकारसे अभिनय द्वारा दिखलानेवाला काय तो ऋजु है; और इनसे विपरीत चिन्तवन, ज्ञापन व अभिनय युक्त मन वचन काय अनृजु है।

ध. १३/५.५.६४/३३७/३ व्यक्तं निष्पन्नं संशय-विपर्ययानध्यवसाय-विरहितं मनः येषां ते व्यक्तमनसः तेषां व्यक्तमनसां जीवानां परेषामात्मनश्च संबन्धि वस्त्वन्तरं जानाति, नो अव्यक्तमनसां जीवानां संबन्धि वस्त्वन्तरम्; तत्र तस्य सामर्थ्याभावात्। कधं मणस्स माणववएसो।...वर्तमानानां जीवानां वर्तमानमनोगत-त्रिकालसंबन्धिनमर्थं जानाति, नातीतानागतमनोविषयमिति। सूत्रार्थो व्याख्येयः। —व्यक्त (अर्थात् ऋजु) का अर्थ 'निष्पन्न' होता है। अर्थात् जिनका मन संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित है वे व्यक्त मनवाले जीव हैं, उन व्यक्त मनवाले अन्य जीवोंसे तथा स्वसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थको जानता है। अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य अर्थको नहीं जानता है, चिन्तित अर्थ युक्त, मन व्यक्त है और अचिन्तित व अर्धचिन्तित अर्थ युक्त अव्यक्त है। (दे० मनःपर्यय/२/१०/१ में ध./१३) क्योंकि, इस प्रकारके अर्थको जाननेका इस ज्ञानका सामर्थ्य नहीं है। प्रश्न—(सूत्रमें) मनको 'मान' व्यपदेश कैसे किया है। उत्तर—वर्तमान जीवोंके वर्तमान मनोगत त्रिकाल सम्बन्धी अर्थको जानता है, अतीत और अनागत मनोगत विषयको नहीं जानता है, इस प्रकार सूत्रके अर्थका व्याख्यान करना चाहिए। (चिन्तित अर्थयुक्त मन व्यक्त है और अचिन्तित व अर्धचिन्तित अर्थ युक्त अव्यक्त है।) (और भी० दे० मनःपर्यय/२/४/१)।

३. ऋजुमतिके भेद व उनके लक्षण

म. ब. १/§ २/२४/४ यं तं उजुमदिणाणं तं तिविधं-उज्जुगं मणोगदं जाणदि। उज्जुगं वचिगदं जाणदि। उज्जुगं कायगदं जाणदि। —जो ऋजुमति ज्ञान है, वह तीन प्रकारका है। वह सरल मनोगत पदार्थको जानता है, सरल वचनगत पदार्थको जानता है, सरल कायगत पदार्थको जानता है। (ष. खं. १३/५.५/ सूत्र ६२/३२६); (ध ६/४.१.१०/६३/१); (गो. जी./मू./४३६/८५८)।

रा. वा /१/२३/७/८४/२६ आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा। कुतः। ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति। तद्यथा, मनसाऽर्थं व्यक्तं संचिन्त्य वाचं वा धर्मादियुक्तामसंकीर्णामुच्चार्य कायप्रयोगं चोभयलोकफल-निष्पादनार्थमङ्गोपाङ्गप्रत्यङ्गनिपानाकुञ्चनप्रसारणादिलक्षणं कृत्वा पुनरनन्तरे समये कालान्तरे वा तमेवार्थं चिन्तितमुक्तं कृतं वा विस्मृतत्वान्न शक्नोति चिन्तयितुम्, तमेवंविधमर्थं ऋजुमतिमनः-पर्ययः पृष्टोऽपृष्टो वा जानाति 'अयमसावर्थोऽनेन विधिना त्वया चिन्तित उक्तः कृतो वा' इति। कथमयमर्थो लभ्यते। आगमा-विरोधात्। आगमे ह्युक्तम्...। —ऋजु, मन, वचन व कायके विषय भेदसे ऋजुमति तीन प्रकारका है—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, ऋजुवाक्-कृतार्थज्ञ और ऋजुकायकृतार्थज्ञ। जैसे किसीने किसी समय सरल मनसे (दे० मनःपर्यय/२/२) किसी पदार्थका स्पष्ट विचार किया, स्पष्ट वाणीसे कोई विचार व्यक्त किया और कायसे भी उभयफल निष्पादनार्थ अंगोपांग आदिका सुकोड़ना, फैलाना आदि रूप स्पष्ट क्रिया की। कालान्तरमें उन्हें भूल जानेके कारण पुनः उन्हींका चिन्तवन व उच्चारण आदि करनेको समर्थ न रहा। इस प्रकारके अर्थको पूछनेपर या बिना पूछे भी ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है, कि इसने इस प्रकार सोचा था या बोला था या किया था। और यह अर्थ आगमसे सिद्ध है। यथा—(दे० अगला सन्दर्भ) दे० मनः पर्यय/२/४ (दे० गो. जी./जी. प्र./४४०/८५६/१७)। (अपने मनसे दूसरेके मानसको जानकर ही तद्गत अर्थको जानता है। चिन्तित या उक्त या अभिनयगतको ही जानता है। अचिन्तित, अर्द्धचिन्तित या विपरीत चिन्तितको अनुक्त, अर्द्ध उक्त व विपरीत उक्तको तथा इसी प्रकारके अभिनयगतको नहीं जानता।)

दे० मनःपर्यय/२/२ (जो अर्थ जैसे स्थित है उसका उसी प्रकारसे चिन्तवन करना अथवा प्रज्ञापन करना अथवा अभिनय द्वारा प्रदर्शन करना मन वचन व काय सम्बन्धी ऋजुमति ज्ञान है)।

४. ऋजुमतिका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

ष. ख. १३/५.५/सूत्र ६३-६४/३३२-३३६ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंता जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णयर-विणासं देसविणासं...अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेम भयरोग कालसं (प) जुत्ते अत्थे वि जाणदि ।६३। किंच भूओ—अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि णो अवत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि ।६४। [सूत्र नं. ६३ की टीका पृ० ३३३ सद्दकलाओ सण्णा। दिट्ठसुदाणुभूदट्ठ...सदी। अणागयत्थविसय...मदी। वट्टमाणत्थविसय...चिंता।]—अपने मनके द्वारा दूसरेके मानसको जानकर (यह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान) कालसे विशेषित दूसरोंकी संज्ञा (शब्दकलाप), स्मृति (अतीतकालगत दृष्ट श्रुत व अनुभूत विषय), मति (अनागत कालगत विषय), चिन्ता (वर्तमानकालगत विषय) इन सबको; तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ व सुख-दुःखको; तथा नगर, देश, जनपद, खेट, कर्वट

आदिके विनाशको, तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोग रूपपदार्थोंको भी [प्रत्यक्ष-(टीका)] जानता है।६३। और भी—व्यक्त मनवाले अपने और दूसरे जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको वह जानता है, अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको नहीं जानता (व्यक्त-अव्यक्त मनका अर्थ—दे० पीछे मनःपर्यय/२/२)।६४। (म. ब. १/§ २/२४/१)।

दे० मनःपर्यय/२/२ (यथार्थ अर्थात् यथास्थित त्रिकालगत अर्थको वर्तमानमें संशयादि रहित होकर, मनसे चिन्तवन अथवा वचनसे ज्ञापन अथवा कायसे अभिनय करनेवाले किसी व्यक्तिके या अपने ही व्यक्त मनसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है। अतीत व अनागत कालमें वर्तने वालेके मनकी बात नहीं जानता।)

दे० मनःपर्यय/२/३ (सरल मन वचन काय प्राप्तको ही जानता है वक्रको नहीं, अर्थात् वर्तमान कालमें चिन्तवन ज्ञापन व अभिनय करनेवाले को ही जानता है, अचिन्तित, अज्ञापित व अनभिनीतको नहीं जानता।)

रा. वा./१/२३/७/८५/७ व्यक्तः स्फुटीकृतोऽर्थश्चिन्तया सुनिर्वर्तितो येस्ते जीवा व्यक्तमनसस्तैर्थं चिन्तितं ऋजुमतिर्जानाति नेतरैः। —व्यक्त या स्पष्ट व सरल रूपसे अर्थकी चिन्ता करनेवाले जीवोंके व्यक्त (वर्तमान) मनमें जो अर्थ चिन्तित रूपसे स्थित है उसको ऋजुमति जानता है अव्यक्त व अचिन्तितको नहीं—विशेष दे० मनःपर्यय/२/२।

ध. १३/५,५,६२/३३०/६ उज्जुवं पउणं होदूण मणस्स गदमट्ठं जाणदि तमुजुमदिमणपज्जवणाणं। अचिंतियमद्धचिंतियं विवरीयभावेण [चिंतियं च अट्ठं ण] जाणदि त्ति भणिदं होदि। जमुज्जवं पउणं होदूण चिंतियं पउणं चेव उल्लविदमट्ठं जाणदि तं पि उजुमदिमणपज्जवणाणं णाम। अद्धोल्लिदमल्लोल्लिदं विवरीयभावेण ओल्लिदं च अट्ठं ण जाणदि त्ति भणिदं होदि;...उज्जुभावेण चिंतियं उज्जुवसरूवेण अहिणइदमत्थं जाणदि तं पि उजुमदिमणपज्जवणाणं णाम। उज्जुमदीए विणा कायवावारस्स उज्जुवत्तविरोहादो। —जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर मनोगत अर्थको जानता है वह ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान है। वह अचिन्तित, अर्धचिन्तित या विपरीतरूपसे चिन्तित अर्थको नहीं जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जो ऋजु अर्थात् प्रगुण होकर विचारे गये व सरल रूपसे ही कहे गये अर्थको जानता है, वह भी ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है। यह नहीं बोले गये, आधे बोले गये या विपरीत रूपसे बोले गये अर्थको नहीं जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। जो ऋजुभावसे विचारकर एवं ऋजुरूपसे अभिनय करके दिखाये गये अर्थको जानता है वह भी ऋजुमति, मनःपर्ययज्ञान है, क्योंकि ऋजुमतिके बिना कायकी क्रियाके ऋजु होनेमें विरोध आता है।

गो. जी./मू./४४१/८६० तियकाल विसयरूविं चिंतितं वट्टमाणजीवेण उजुमदि णाणं जाणदि···।४४१। —वर्तमान कालमें त्रिकाल विषयक मूर्तीक द्रव्यको चिन्तवन करनेवाले जीवके मनमें स्थित अर्थको ऋजुमति जानता है (अचिन्तित आदि यह नहीं जानता उसे विपुलमति जानता है।)

२. द्रव्यकी अपेक्षा

ध. ६/४,१,१०/६३/५ तत्थ उज्जुमदी एगसमइयमोरालियसीरीरस्स णिज्जरं जहण्णेण जाणदि। सा तिविहा जहण्णुक्कस्स तव्वदिरित्तओरालियसरीरणिज्जरा त्ति। अत्थ कं जाणदि। तव्वदिरित्तं। कुदो। सामण्णणिद्देसादो। उक्कस्सेण एगसमयणिदियणिज्जरं जाणदि। ...पुणो किमिदियं वेप्पदि। चक्खिंदियं। कुदो। सेसिंदिएहिंतो अप्पपरिमाणत्तादो, सगारंभपोग्गलखंधाणं सण्हत्तादो वा।...चक्खिंदियणिज्जरा वि जहण्णुक्कस्स तव्वदिरित्त भेएण तिविहा, तत्थ काए गहणं। तव्वदिरित्ताए। कुदो। सामण्णणिद्देसादो। जहण्णुक्कस्सदव्वाणं मज्झिम दव्ववियप्पे तव्वदिरित्ता उज्जुमदी जाणदि। —ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान जघन्यसे एक समय सम्बन्धी औदारिक शरीरकी तद्व्यतिरिक्त निर्जराको जानता है, अर्थात् उसकी जघन्य व उत्कृष्ट निर्जराको न जानकर (अजघन्य व अनुत्कृष्टको जानता है), क्योंकि, यहाँ सामान्य निर्देश है। उक्त ज्ञान उत्कर्षसे एक समय सम्बन्धी चक्षुइन्द्रियकी निर्जराको जानता है, क्योंकि, शेष इन्द्रियोंकी अपेक्षा यह इन्द्रिय (इसके मसूरके आकारवाला भीतरी तारा) अल्प परिमाणवाली है और वह अपने आरम्भक पुद्गलोंकी श्लक्ष्णता अर्थात् सूक्ष्मतासे भी युक्त है। इसमें भी उपरोक्त प्रकारसे तद्व्यतिरिक्त निर्जराको जानता है, जघन्य व उत्कृष्टको नहीं, क्योंकि, यहाँ भी सामान्य निर्देश है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यम द्रव्यविकल्पोंको तद्व्यतिरिक्त अर्थात् सामान्य ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी जानता है। (गो. जी./मू./४५१/८६६)।

३. क्षेत्र, कालकी अपेक्षा

ष. ख. १३/५,५/ सूत्र ६५-६८/३३८-३३८ कालदो जहण्णेण दो तिण्णि-भवग्गहणाणि।६५। उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि।६६। गदिमागदिं पदुप्पादेदि।६७। खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्तं उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भंतरदो णो बहिद्धा।६८। —कालकी अपेक्षा वह जघन्यसे दो-तीन भवोंको जानता है।६५। और उत्कर्षसे सात आठ भवोंको जानता है।६६। (अर्थात् वर्तमान भवको छोड़कर दो या सात भवों तथा उस सहित तीन या आठ भवोंको जानता है। भवका काल अनियत जानना चाहिए—टीका); (इस कालके भीतर) जीवोंकी गति और अगति (भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदि अर्थों) को जानता है।६७। क्षेत्रकी अपेक्षा वह जघन्यसे गव्यूतिपृथक्त्व प्रमाण (अर्थात् आठ-नौ घनकोश प्रमाण—टीका) क्षेत्रको और उत्कर्षसे योजन पृथक्त्व (आठ नौ घनयोजन प्रमाण) के भीतरकी बात जानता है, बाहरकी नहीं।६८। (म. ब. १/§२/२५/१); (स. सि./१/२३/१३०/१); (रा. वा./१/२३/७/८५/८); (ध. ६/४,१,१०/८); (गो. जी./मू./४५५, ४५७/८६६,८७०)।

४. भावकी अपेक्षा

ध. ६/४,१,१०/६५/६ भावेण जहण्णुक्कस्सदव्वेसु तप्पाओग्गे असंखेज्जे भावे जहण्णुक्कस्सउजुमदिणो जाणंति। —भावकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्योंमें उसके योग्य असंख्यात पर्यायोंको जघन्य व उत्कृष्ट ऋजुमति जानता है।

गो. जी./मू./४५८/८७१ आवलिअसंखभावं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।...।८७१। —ऋजुमतिका विषयभूत भाव जघन्यपने आवलीके असंख्यातवे भाग प्रमाण है और उत्कृष्टपने उससे असंख्यात गुणा आवलि प्रमाण है। (अर्थात् अपने विषयभूत द्रव्यकी इतनी पर्यायों-को जानता है)।

५. ऋजुमति अचिन्तित व अनुक्त आदिका ग्रहण क्यों नहीं करता

ध. ६/४,१,१०/६३/२ अचिंतिदमणुत्तमणभिणइदमत्थं किमिदि ण जाणदे ण विसिट्ठ खओवसमाभावादो। —प्रश्न—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी मनसे अचिन्तित, वचनसे अनुक्त और शारीरिक चेष्टाके अविषयभूत अर्थको क्या नहीं जानता है। उत्तर—नहीं जानता, क्योंकि, उसके विशिष्ट क्षयोपशमका अभाव है।

६. वचनगत ऋजुमतिकी मनःपर्यय संज्ञा कैसे

ध. १३/५,५,६२/३३०/११ उज्जुववचिगदस्स मणपज्जवणाणस्स उजुमदि-मणपज्जववएसो ण पावदि त्ति। ण एत्थ वि उज्जुमणेण विणा

उज्जुवव्रयणपत्तीए अभावादो। —प्रश्न—ऋजुवचनगत मनःपर्ययज्ञान-की ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान संज्ञा नहीं प्राप्त होती? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर भी ऋजुमनके बिना ऋजु वचनकी प्रवृत्ति नहीं होती।

७. विपुलमति सामान्यका लक्षण

स. सि./१/२३/१२६/४ विपुला मतिर्यस्य सोऽयं विपुलमतिः। —जिसकी मति विपुल है वह विपुलमति कहलाता है। (रा. वा./१/२३/—/८४/१); (ध.६/४,१,११/५)।

ध. ६/४,१,११/६६/२ परकीयमतिगतोऽर्थो मतिः। विपुला विस्तीर्णा। —दूसरेकी मतिमें स्थित पदार्थ मति कहा जाता है। विपुलका अर्थ विस्तीर्ण है।

गो. जी./जी. प्र./४३६/८५८/१७ विपुला कायवाङ्मनःकृतार्थस्य परकीय-मनोगतस्य विज्ञाननिर्वर्तिता अनिर्वर्तिता कुटिला च मतिर्यस्य स विपुलमतिः। स चासौ मनःपर्ययश्च विपुलमतिमनःपर्ययः। —सरल या वक्र मनवचन कायके द्वारा किया गया कोई अर्थ; उसके चिन्तवन युक्त किसी अन्य जीवके मनको जाननेसे निष्पन्न या अनिष्पन्न मतिको विपुल कहते हैं। ऐसी विपुल या कुटिल मति है जिसकी सो विपुल मति है।

८. विपुलत्वका अर्थ

ध. ६/४,१,११/६६/२ कुतो वैपुल्यम्? यथार्थमनोगमनात् अयथार्थ-मनोगमनात् उभयथापि तदवगमनात्, यथार्थवचोगमनात् अयथार्थ-वचोगमनात् उभयथापि तत्र गमनात्, यथार्थकायगमनात् अयथार्थ-कायगमनात् ताभ्यां तत्र गमनाच्च वैपुल्यम्। —प्रश्न—विपुलता किस कारणसे है। उत्तर—यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन, तीनों प्रकारके वचन व तीनों प्रकारके कायको प्राप्त होनेसे विपुलता है। (और भी दे० मनःपर्यय/२/१०/१)।

९. विपुलमतिके भेद व उनके लक्षण

म. ब. १/§३/२६/१ यं तं विउलमदिणाणं तं छव्विहं—उज्जुगं मणोगदं जाणदि, उज्जुगं वचिगदं जाणदि, उज्जुगं कायगदं जाणदि, अणुज्जुगं मणोगदं जाणदि, एवं वचिगदं कायगदं च। एवं याव वत्तमाणाणं पि जीवाणं जाणदि। —जो विपुलमति मनःपर्ययज्ञान है, वह छह प्रकारका है। वह सरल मनोगत पदार्थको जानता है, सरल वचनगत पदार्थको जानता है, सरलकायगत पदार्थको जानता है, कुटिल मनोगत पदार्थको जानता है, कुटिल वचनगत पदार्थको जानता है, कुटिल कायगत पदार्थको जानता है, यह वर्तमान जीव तथा अवर्त-मान जीवोंके अथवा व्यक्त मनवाले तथा अव्यक्त मनवाले जीवोंके सुखादिको जानता है (दे० मनःपर्यय/२/१०/१); (ष. ख. १३/५,५./सूत्र ७०/३४०) (गो. जी./मू./४४०/८५६)।

रा. वा./१/२३/८/८५/११ द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते। कुतः। ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः वक्रविक-ल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः। —द्वितीय विपुलमति ऋजु व वक्र मन वचन व कायके विषय भेदसे छह प्रकारका है। इनमेंसे ऋजुके तीन विकल्प पहले कह दिये गये हैं। (दे० मनःपर्यय/२/३)। उसी प्रकार वक्रके तीनों विकल्पोंमें भी लागू कर लेना चाहिए। (गो. जी./जी. प्र./४४०/८६०/१)।

दे. मनःपर्यय/२/१०/१ (अपने मनके द्वारा दूसरेके द्रव्यमनको जानकर पीछे तद्गत अर्थको जानता है। चिन्तित, अर्धचिन्तित, अचिन्तित व विपरीत चिन्तितको, उक्त, अर्धउक्त, अनुक्त, व विपरीत उक्तको, और इसी प्रकार चारों विकल्परूप अभिनयगत अर्थको जानता है)।

दे. मनःपर्यय/२/८ (यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन वचन कायको प्राप्त अर्थको जानता है)।

१०. विपुलमतिका विषय

१. मनोगत अर्थ व अन्य सामान्य विषयकी अपेक्षा

ष. ख. १३/५,५/सूत्र ७१-७३/३४०-३४२ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता।७१। परेसिं सण्णा सदि मदि चिन्ता जीविदमरणं लाहालाहं सुहदुक्खं णयरविणासं देसविणासं···अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्खं दुब्भिक्खं खेमाखेमं भयरोग कालसंपजुत्ते अत्थे जाणदि।७२। किंच भूओ—अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाणं जीवाणं जाणदि अवत्तमा-णाणं जीवाणं जाणदि।७३। —मनके द्वारा मानसको जानकर (अर्थात् अपने मतिज्ञानके द्वारा दूसरेके द्रव्यमनको जानकर, तत्पश्चात् मनःपर्ययज्ञानके द्वारा—टीका) दूसरे जीवोंके कालसे विशेषित संज्ञा (शब्दकलाप), स्मृति (अतीत कालगत दृष्टश्रुत व अनुभूत विषय, मति (अनागतकालगत विषय), चिन्ता (वर्तमानकालगत विषय) इन सबको; तथा उनके जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, व सुख-दुःखको; तथा नगर, देश, जनपद, खेट कर्वट आदिके विनाशको; तथा अतिवृष्टि-अनावृष्टि, सुवृष्टि-दुर्वृष्टि, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, क्षेम-अक्षेम, भय और रोग रूप पदार्थोंको भी (प्रत्यक्ष) जानता है।७१-७२। और भी-व्यक्त मनवाले अपने और दूसरे जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है, तथा अव्यक्त मनवाले जीवोंसे सम्बन्ध रखनेवाले अर्थको जानता है।७३। (कोष्ठकगत शब्दोंके अर्थोंके लिए दे० मनः-पर्यय/२/४/१)।

दे० मनःपर्यय/२/८ (यथार्थ, अयथार्थ व उभय तीनों प्रकारके मन, वचन व कायको प्राप्त अर्थको जानता है।)

दे० मनःपर्यय/२/६ सरल व कुटिल मन, वचन, काय गत अर्थको तथा वर्तमान व अवर्तमान जीवोंके व्यक्त व अव्यक्त मनोगत अर्थको जानता है।

रा. वा./१/२३/८/८५/१३ तथा आत्मनः परेषां च चिन्ताजीवितमरण-सुखदुःखलाभालाभादीन् अव्यक्तमनोभिर्व्यक्तमनोभिश्च चिन्तितान् अचिन्तितान् जानाति विपुलमतिः। —यह अपने और परके व्यक्त मनसे या अव्यक्त मनसे चिन्तित या अचिन्तित (या अर्धचिन्तित) सभी प्रकारके चिन्ता, जीवित-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ आदिको जानता है।

ध. १३/५,५,७३/३ चिंताए अद्धपरिणयं विस्सरिदचिंतियवत्थु चिंताए अवावदं च मणमव्वत्तं, अवरं वत्तं। वत्तमाणाणमवत्तमाणाण वा जीवाणं चिंताविसयं मणपज्जवणाणी जाणदि। जं उज्जुवाणुज्जुव-भावेण चिंतितमद्धचिंतिदं चिंतिज्जमाणमद्धचिंतिज्जमाणं चिंतिहिदि अद्धं चिंतिहिदि वा तं सव्वं जाणदि त्ति भणिदं होदि। —चिन्ता-में अर्ध परिणत, चिन्तित वस्तुके स्मरणसे रहित और चिन्तामें अव्यापृत मन अव्यक्त कहलाता है, इससे भिन्न मन व्यक्त कहलाता है। व्यक्त मनवाले और अव्यक्त मनवाले जीवोंके चिन्ताके विषय-को मनःपर्ययज्ञानी जानता है। ऋजु और अनृजु रूपसे जो चिन्तित या अर्धचिन्तित है, वर्तमानमें जिसका विचार किया जा रहा है, या अर्ध विचार किया जा रहा है, तथा भविष्यमें जिसका विचार किया जायेगा उस सब अर्थको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। (और भी दे० मनःपर्यय/१/१); (गो. जी./मू./४४६/८६४)।

गो. जी मू./४४१/८६० तियकालविसयरूवि चिंतितं वट्टमाण जीवेण। ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमतिः। —भूत, भवि-ष्यत् व वर्तमान जीवके द्वारा चिन्तवन किये गये त्रिकालगत रूपी पदार्थको विपुलमति जानता है।

२. द्रव्यकी अपेक्षा

ध. ६/४,१,११/६६/७ दव्वदो जहण्णेण एगसमयणिदियणिज्जरं जाणदि। ···उक्कस्सदव्वजाणावणट्ठं लप्पाओग्गासंखेज्जाणं कप्पाणं समए सलागभूदे ठविय मणदव्ववग्गणाए अणंतिमभागं विरलिय अज्ज-

हण्णुक्कस्समेगसमयपबद्धं विस्सासोवचयविरहिदमट्ठकम्मपडिबद्धं समखंडं करिय दिण्णे तत्थ एगखंडं बिदियवियप्पो होदि। सलागरासीदो एगरूवमवणेदव्वं। एदमणेण विहाणेण णेदव्वं जाव सलागरासी समत्तो त्ति। एत्थ अपच्छिमदव्ववियप्पमुक्कस्सविउमदी जाणदि। जहण्णुक्कस्सदव्वाणं मज्झिमवियप्पे तव्वदिरित्तविउलमदि जाणदि। —द्रव्यकी अपेक्षा वह जघन्यसे एक समयरूप इन्द्रिय निर्जराको (अर्थात् चक्षु इन्द्रियकी निर्जराको—दे० मनःपर्यय/२/४/२) जानता है। उत्कृष्ट द्रव्यके ज्ञापनार्थ उसके योग्य असंख्यात कल्पोंके समयोंको शलाकारूपसे स्थापित करके, मनोद्रव्यवर्गणाके अनन्तवें भागका विरलनकर विस्रसोपचय रहित व आठ कर्मोंसे सम्बद्ध अजघन्यानुत्कृष्ट एक समयप्रबद्धको समखण्ड करके देनेपर उनमें एक खण्ड द्रव्यका द्वितीय विकल्प होता है। इस समय शलाका राशिमेंसे एक रूप कम करना चाहिए। इस प्रकार इस विधानसे शलाकाराशि समाप्त होने तक ले जाना चाहिए।(दे० गणित/II/२)। इनमें अन्तिम द्रव्य विकल्पको उत्कृष्ट विपुलमति जानता है। जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यके मध्यम विकल्पोंको तद्व्यतिरिक्त अर्थात् मध्यम विपुलमति जानता है। (गो. जी./मू./४५२-४५४/८६७)।

३. क्षेत्र व कालकी अपेक्षा

ष. ख. १३/५,५/सूत्र ७४-७७/३४२-३४३ कालदो ताव जहण्णेण सत्तअट्ठभवग्गहणाणि, उक्कस्सेण असंखेज्जाणि भवग्गहणाणि।७४। जीवाणं गदिमागदिं पदुप्पादेदि।७५। खेत्तादो ताव जहण्णेण जोयणपुधत्तं।७६। उक्कस्सेण माणुसुत्तरसेलस्स अब्भंतरादो णो बहिद्धा।७७। —कालकी अपेक्षा जघन्यसे सात-आठ भवोंको और उत्कर्षसे असंख्यात भवोंको जानता है।७४। (इस कालके भीतर) जीवोंकी गति अगति (भुक्त, कृत, और प्रतिसेवित अर्थ) को जानता है।७५। क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यसे योजनपृथक्त्वप्रमाण (अर्थात् आठ-नौ घन योजन प्रमाण) क्षेत्रको जानता है।७६। उत्कर्षसे मानुषोत्तर शैलके भीतर जानता है, बाहर नहीं जानता।७७। (अर्थात् ४५०००,०० यो० घन प्रतरको जानता है—ध./६)। (म. ब. १/§ ३/२६/३); (स. सि./१/२३/१३०/४); (रा. वा./१/२३/८/८५/१४); (ध, ६/४,१,११/६७/८; ६८/१२); (गो. जी./मू./४५५-४५७/८६६)।

४, भावकी अपेक्षा

ध. ६/४,१,११/६६/१ भावेण जं जं दिट्ठं दव्वं तस्स-तस्स असंखेज्जपज्जाए जाणदि।—भावकी अपेक्षा, जो-जो द्रव्य इसे ज्ञात है, उस-उसकी असंख्यात पर्यायोंको जानता है।

गो. जी./मू./८५८/८७१ तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी। —विपुलमतिका विषयभूत भाव जघन्य तो ऋजुमतिके उत्कृष्ट भावसे असंख्यात गुणा है और उत्कृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण है।

११. अचिन्तित अर्थगत विपुलमतिको मनःपर्यय संज्ञा कैसे

ध. १३/५,५,६१/३२६/५ परेसिं मणम्मि अट्ठिदत्थविसयस्स विउलमदिणाणस्स कधं मणपज्जवणाणववएसो। ण, अचिंतिदं चेवट्ठं जाणदि त्ति णियमाभावादो। किंतु चिंतियमचिंतियमद्धचिंतियं च जाणदि। तेण तस्स मणपज्जवणाणववएसो ण विरुज्झदे। —प्रश्न—दूसरोंके मनमें नहीं स्थित हुए अर्थको विषय करनेवाले विपुलमतिज्ञानकी मनःपर्यय संज्ञा कैसे है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अचिन्तित अर्थको ही वह जानता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु विपुलमतिज्ञान चिन्तित, अचिन्तित और अर्धचिन्तित अर्थको जानता है, इसलिए उसकी मनःपर्यय संज्ञा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

१२. विशुद्धि व प्रतिपातकी अपेक्षा दोनोंमें अन्तर

त. सू./१/२४ विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः।२४।

स. सि./१/२४/१३१/४ तत्र विशुद्ध्या तावत्—ऋजुमतेर्विपुलमतिर्द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्विशुद्धतरः। कथम्। इह यः कार्मणद्रव्यानन्तभागोऽन्त्यः सर्वावधिना ज्ञातस्तस्य पुनरनन्तभागीकृतस्यान्त्यो भाग ऋजुमतेर्विषयः। तस्य ऋजुमतिविषयस्यानन्तभागीकृतस्यान्त्यो भागो विपुलमतेर्विषयः। अनन्तस्यानन्तभेदत्वात्। द्रव्यक्षेत्रकालतो विशुद्धिरुक्ता। भावतो विशुद्धिः सूक्ष्मतरद्रव्यविषयत्वादेव वेदितव्या प्रकृष्टक्षयोपशमविशुद्धियोगात्। अप्रतिपातेनापि विपुलमतिर्विशिष्टः स्वामिनां प्रवर्द्धमानचारित्रोदयत्वात्। ऋजुमतिः पुनः प्रतिपाती; स्वामिनां कषायोद्रेकाद्धीयमानचारित्रोदयत्वात्। —विशुद्धि और अप्रतिपातकी अपेक्षा इन दोनों (ऋजुमति व विपुलमति) में अन्तर है।२४। तहाँ विशुद्धि की अपेक्षा तो ऐसे हैं कि—ऋजुमतिसे विपुलमति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा विशुद्धतर है। वह ऐसे कि—यहाँ जो कार्मण द्रव्यका अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वावधिका विषय है, उसके भी अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह ऋजुमतिका विषय है। और इस ऋजुमतिके विषयके अनन्त भाग करनेपर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है वह विपुलमतिका विषय है। अनन्तके अनन्त भेद हैं, अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र और कालकी अपेक्षा विशुद्धि कही। भावकी अपेक्षा विशुद्धि उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्यको विषय करनेवाला होनेसे ही जान लेनी चाहिए, क्योंकि, इनका उत्तरोत्तर प्रकृष्ट क्षयोपशम पाया जाता है, इसलिए ऋजुमतिसे विपुलमतिमें विशुद्धि अधिक होती है। अप्रतिपातकी अपेक्षा भी विपुलमति विशिष्ट है; क्योंकि, इसके स्वामियोंके प्रवर्द्धमान चारित्र पाया जाता है। परन्तु ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि, इसके स्वामियोंके कषायके उदयसे घटता हुआ चारित्र पाया जाता है।
(रा. वा./१/२४/२/८६/५); (गो. जी /मू./४४७/८६३)।

३. मनःपर्यय ज्ञानमें स्व व पर मनका स्थान

१. मनःपर्ययका उत्पत्ति स्थान मन है, करणचिह्न नहीं

ध. १३/५,५,६२/३३१/१० जहा ओहिणाणावरणीयक्खओवसमगदजीवपदेससंबंधिसंठाणपरूवणा कदा, मणपज्जवणाणावरणीयक्खओवसमगदजीवपदेसाणं संठाणपरूवणा तहा किण्ण कीरिदे। ण,…वियसियअट्ठदारविंद संठाणे समुप्पज्जमाणस्स तत्तो पुधभूदसंठाणाभावादो। —प्रश्न—जिस प्रकार अवधिज्ञानावरणीयके क्षयोपशमगत जीवप्रदेशोंके संस्थानका कथन किया है (दे. अवधिज्ञान/५), उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानावरणीयके क्षयोपशमगत जीवप्रदेशोंके संस्थानका भी कथन क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि वह विकसित अष्ट पांखुड़ीयुक्त कमलके आकारवाले द्रव्यमनके प्रदेशोंमें उत्पन्न होता है।

गो. जी./मू./४४२/८६१ सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही। मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा।४४२। —भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांगसे और गुणप्रत्यय करणचिह्नोंसे उत्पन्न होता है (दे. अवधिज्ञान/५)। इसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमनसे उत्पन्न होता है। (पं. ध./पू./६९६)।

२. दोनों ही ज्ञानोंमें मनोमतिपूर्वक परकीय मनको जानकर पीछे तद्गत अर्थको जाना जाता है

ष. ख. १३/५,५/सूत्र ६३ व इसकी टीका/३३२ मणेण माणसं पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि…कालसंजुत्ते अत्थे वि जाणदि।६३। मणेण

मदिणाणेण। कधं मदिणाणस्स मणव्ववएसो। कज्जे कारणोवया-रादो। मणम्मि भवं लिंगं माणसं, अधवा मणो चेव माणसो। पडि-विंदइत्ता घेत्तूण पच्छा मणपज्जवणाणेण जाणदि। मदिणाणेण परेसिं मणं घेत्तूण मणपज्जवणाणेण मणम्मि ट्ठिदअत्थे जाणदि त्ति भणिदं होदि। —मनके द्वारा मतिसको जानकर मनःपर्ययज्ञान कालसे विशेषित दूसरोंकी संज्ञा, स्मृति, मति आदि पदार्थोंको भी जानता है (विशेष दे. मनःपर्यय/२/४/१ तथा २/१०/१); (ग. म. १/६२/२४/५); (रा. वा./१/२३/७८६/३); (ज. प./१३/५२) कारणमें कार्यके उपचारसे यहाँ मतिज्ञानकी मन संज्ञा है। अथवा मनमें उत्पन्न हुए चिह्नको ही मानस कहते हैं। 'पडिविंदइत्ता' अर्थात् ग्रहण करके पश्चात् मनःपर्ययके द्वारा जानता है। मतिज्ञानके द्वारा दूसरोंके मानसको या द्रव्यमनको—(सूत्र ७१ की टीका)) ग्रहण करके ही (पीछे) मनःपर्यय ज्ञानके द्वारा मनमें स्थित अर्थोंको जानता है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। (नोट—उक्त सूत्र ऋजुमतिके प्रकरणका है। सूत्र ७१-७२ में शब्दशः यही बात विपुलमतिके लिए भी कही गयी है)।

दर्शन (उपयोग)/६/३-४ (मन.पर्ययज्ञान अवधिज्ञानकी तरह स्वमुखसे विषयोंको नहीं जानता, किन्तु परकीय मनकी प्रणालीसे जानता है। अतः जिस प्रकार मन अतीत व अनागत अर्थोंका विचार तो करता है, पर देखता नहीं उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञानी भी भूत व भविष्यत को जानता तो है, पर देखता नहीं। और इसीलिए इसकी उत्पत्ति दर्शनपूर्वक न मानकर मतिज्ञानपूर्वक मानी गयी है। ईहा मतिज्ञान ही इसका 'दर्शन' है।)

ध. ६/४,१,१०/६३/३ मदिणाणेण वा सुदणाणेण वा मण वचिकायभेदं णादूण पच्छातत्थट्ठिदमत्थं पच्चक्खेण जाणं तस्स मणपज्जवणाणिस्स दव्व-खेत्त-काल-भावभेएण विसओ चउव्विहो। तत्थ उज्जुमदी···। —मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानसे मन वचन व कायके भेदोंको जानकर पीछे वहाँ स्थित अर्थको प्रत्यक्षसे जाननेवाले मन.पर्ययज्ञानीका विषय द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे चार प्रकारका है। इनमें ऋजुमति-का विषय यहाँ कहा जाता है और विपुलमतिका अगले सूत्रमें कहा गया है।

ध. १/१,१,११५/३५८/२ साक्षान्मनः समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम्। —मनका आश्रय लेकर मनोगत पदार्थोंके साक्षा-त्कार करनेवाले ज्ञानको मनःपर्ययज्ञान कहते हैं।

द्र. सं./टी./५/१७/३ स्वकीयमनोऽवलम्बनेन परकीयमनोगतं मूर्त्तमर्थ-मेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदीहा मतिज्ञानपूर्वकं मनःपर्यय-ज्ञानम्। —जो अपने मनके अवलम्बन द्वारा परके मनमें प्राप्त हुए मूर्त्तपदार्थको एकदेश प्रत्यक्षसे सविकल्प जानता है वह ईहामतिज्ञान पूर्वक मनःपर्ययज्ञान है।

२. ऋजुमतिमें इन्द्रियों व मनकी अपेक्षा होती है, विपुलमतिमें नहीं

ध. १३/५,५,६३/३३३/१ एसो णियमो ण विउलमइस्स, अचिंतिदाणं पि अट्ठाणं विसईकरणादो। —यह (मतिज्ञानसे दूसरे जीवके मानसको जानकर पीछे मनःपर्ययज्ञानसे तद्गत अर्थको जाननेका) नियम विपुलमति ज्ञानका नहीं है, क्योंकि, वह अचिन्तित अर्थोंको भी विषय करता है।

ध. १३/५,५,६२/३३१/६ जदि मणपज्जवणाणमिंदिय-णोइंदियजोगादि-णिरवेक्खं संतं उप्पज्जदि तो परेसिं मणवयणकायवावारणिरवेक्खं संतं किण्ण उप्पज्जदि। ण विउलमइमणपज्जवणाणस्स तहा उप्पत्ति दंसणादो। उजुमदिमणपज्जवणाणं तण्णिरवेक्खं किण्ण उप्पज्जदे। ण, मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमस्य वैचित्र्यात्। —प्रश्न—यदि मनःपर्ययज्ञान स्पर्शनादिक इन्द्रियों, नोइन्द्रिय, और मन वचन काय योग आदिकी अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता है, तो वह दूसरोंके मन वचन कायके व्यापारकी अपेक्षा किये बिना ही क्यों नहीं उत्पन्न होता (दे० मनःपर्यय/२/१) उत्तर—नहीं, क्योंकि, विपुलमति मन पर्ययज्ञानकी उस प्रकारसे उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—ऋजुमति उसकी अपेक्षा किये बिना क्यों नहीं उत्पन्न होता। उत्तर—नहीं, क्योंकि मनःपर्ययज्ञानावरणके क्षयो-पशमकी यह विचित्रता है (कि ऋजुमति तो इनकी अपेक्षासे जानता है और विपुलमति अवधिज्ञानवद् प्रत्यक्ष जानता है—गो. सा.); (गो. जी./मू./४४५-४४६/८६३)।

४. मनकी अपेक्षामात्रसे यह मतिज्ञान नहीं कहा जा सकता

स. सि./१/६/६४/४ मतिज्ञानप्रसंग इति चेत; न; अपेक्षामात्रत्वात्। क्षयोपशमशक्तिमात्रविजृम्भितं हि तत्केवलं स्वपरमनोभिर्व्यपदि-श्यते। यथा अभ्रे चन्द्रमसं पश्येति।

स. सि./१/२३/१२६/११ परकीयमनसि व्यवस्थितोऽर्थः अनेन ज्ञायते इत्येतावदत्रापेक्षते। —प्रश्न—इस प्रकार तो मनःपर्ययज्ञानको मति-ज्ञानका प्रसंग प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ मनकी अपेक्षामात्र है। यद्यपि वह केवल क्षयोपशम शक्तिसे अपना काम करता है, तो भी स्व व परके मनकी अपेक्षा केवल उसका व्यवहार किया जाता है। यथा—'आकाशमें चन्द्रमाको देखो' यहाँ आकाश-की अपेक्षामात्र होनेसे ऐसा व्यवहार किया गया है। (परन्तु मतिज्ञानवत् यह मनका कार्य नहीं है—रा. वा.) दूसरेके मनमें अवस्थित अर्थको यह जानता है, इतनी मात्र यहाँ मनकी अपेक्षा है। (रा. वा./१/६/५/४४/२४; १/२३/२/८४/६)।

५. मतिज्ञान पूर्वक होते हुए भी इसे श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता

ध. १३/५.५.६२/३३१/१ चिंतिदं कहिदे संते जदि जाणदि तो मणपज्ज-वणाणस्स सुदणाणत्तं पसज्जदि त्ति वुत्ते—ण एदं रज्जं एसो राया वा केत्तियाणि वस्साणि णंददि त्ति चिंतिय एवं चेव ओझिदे संते पच्चक्खेण रज्जसंताणपरिमाणं रायाउट्ठिदिं च परिच्छंदंतस्स सुदणा-णत्तविरोहादो।

ध. १३/५.५ ७१/३४१/४ जदि मणपज्जवणाणं मदिपुव्वं होदि तो तस्स सुदणाणत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, पच्चक्खस्स अवगहिदाणव-गहिदत्थेसु वट्टमाणस्स मणपज्जवणाणस्स सुदभावविरोहादो। —प्रश्न—चिन्तित अर्थको कहनेपर यदि ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है तो उसके श्रुतज्ञानपना प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह राज्य या यह राजा कितने दिन तक समृद्ध रहेगा; ऐसा चिन्तवन करके ऐसा ही कथन करनेपर यह ज्ञान चूँकि प्रत्यक्षसे राज्यपरम्पराकी मर्यादा-को और राजाकी आयुस्थितिको जानता है, इसलिए इस ज्ञानको श्रुतज्ञान माननेमें विरोध आता है। प्रश्न—यदि मनःपर्ययज्ञान मतिपूर्वक होता है, तो उसे श्रुतज्ञानपना प्राप्त होता है। उत्तर—ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, अवग्रहण किये गये और नहीं अवग्रहण किये गये पदार्थोंमें प्रवृत्त होनेवाले और प्रत्यक्षस्वरूप मन.पर्ययज्ञानको श्रुतज्ञान माननेमें विरोध आता है।

६. मनःपर्ययज्ञान इन्द्रिय निरपेक्ष है

ध. १३/५.५.२१/२१२/६ ओहिणाणं व एदं पि पच्चक्खं अणिंदियजत्तादो। —अवधिज्ञानके समान यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि, यह इन्द्रियोंसे नहीं उत्पन्न होता है।—(विशेष दे. प्रत्यक्ष)।

और भी दे. अवधि ज्ञान/४ (अवधि व मन:पर्ययमें मनका निमित्त नहीं होता)।

और भी दे. अवधिज्ञान/१ (अवधि व मन:पर्यय कथंचित प्रत्यक्ष है और कथंचित् परोक्ष)।

४. मन:पर्यय ज्ञानका स्वामित्व

१. ऋद्धिधारी प्रवर्द्धमान संयतको ही संभव है

ष. ख. १/१,१/सूत्र १२१/३६६ मणपज्जवणाणी पमत्तसंजदप्पहुडि जाव खीणकसायवदिरागछदुमत्था त्ति।१२१। – मन:पर्ययज्ञानी जीव प्रमत्त-संयतसे लेकर क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं।

रा. वा./१/२५/२/८६/२६ में उद्धृत—तथा चोक्तम्—मनुष्येषु मन:पर्यय आविर्भवति, न देवनारकतैर्यग्योनिषु। मनुष्येषु चोत्पद्यमान: गर्भजेषूत्पद्यते न संमूर्च्छनजेषु। गर्भजेषु चोत्पद्यमान: कर्मभूमिजेषूत्पद्यते नाकर्मभूमिजेषु। कर्मभूमिजेषूत्पद्यमान: पर्याप्तकेषूत्पद्यते नापर्याप्तकेषु। पर्याप्तकेषूपजायमान: सम्यग्दृष्टिषूपजायते न मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टिषु। सम्यग्दृष्टिषूपजायमान: संयतेषूपजायते नासंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतेषु। संयतेषूपजायमान: प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषूपजायते नोत्तरेषु। तत्र चोपजायमान: प्रवर्द्धमानचारित्रेषूपजायते न हीयमानचारित्रेषु प्रवर्द्धमानचारित्रेषूपजायमान: सप्तविधान्यतमऋद्धिप्राप्तेषूपजायते नेतरेषु। ऋद्धिप्राप्तेषु च केषुचिन्न सर्वेषु। – आगममें कहा है, कि मन:पर्ययज्ञान मनुष्योंमें ही उत्पन्न होता है, देव नारक व तिर्यंच योनिमें नहीं। मनुष्योंमें भी गर्भजोंमें ही होता है, सम्मूर्च्छितोंमें नहीं। गर्भजोंमें भी कर्मभूमिजोंके ही होता है, अकर्मभूमिजोंके नहीं। कर्मभूमिजोंमें भी पर्याप्तकोंके ही होता है अपर्याप्तकोंके नहीं। उनमें भी सम्यग्दृष्टियोंके ही होता है, मिथ्यादृष्टि सासादन व सम्यग्मिथ्यादृष्टियोंके नहीं। उनमें भी संयतोंके ही होता है, असंयतों या संयतासंयतोंके नहीं। संयतोंमें भी प्रमत्तसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक ही होता है, इससे ऊपर नहीं। उनमें भी प्रवर्द्धमान चारित्रवालोंके ही होता है, हीयमान चारित्रवालोंके नहीं। उनमें भी सात ऋद्धियोंमेंसे अन्यतम ऋद्धिको प्राप्त होनेवालेके ही होता है, अन्यके नहीं। ऋद्धिप्राप्तोंमें भी किन्हींके ही होता है, सबको नहीं। (स. सि./१/२५/१३२/६); (गो. जी./मू./४४५/८६२)।

२. अप्रमत्तादि गुणस्थानोंमें उत्पन्न होता है

पं. का./ता. वृ./ प्रक्षेपक गा. ४३-४ मूल व टीका/८७/५ एदे संजमलद्धी उवओगे अप्पमत्तस्स।४। उपेक्षासंयमे सति लब्धिपर्ययोस्तौ संयमलब्धौ मन:पर्ययौ भवत:। तौ च कस्मिन् काले समुत्पद्येते। उपयोगे विशुद्धपरिणामे। कस्य। वीतरागात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसहितस्य...पंचदशप्रमादरहितस्याप्रमत्तमुनेरिति। अत्रोत्पत्तिकाल एवाप्रमत्तनियम: पश्चात्प्रमत्तस्यापि संभवतीति भावार्थ:। – ऋजु व विपुलमति दोनों मन:पर्ययज्ञान, उपेक्षा संयमरूप संयमलब्धि होनेपर ही होते हैं और वह भी विशुद्ध परिणामोंमें तथा वीतराग आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व चारित्रकी भावना सहित, पन्द्रह प्रकारके प्रमादसे रहित अप्रमत्त मुनिके ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ अप्रमत्तपनेका नियम उत्पत्तिकालमें ही है, पीछे प्रमत्त अवस्थामें भी सम्भव है।

३. ऋजु व विपुलमतिका स्वामित्व

दे. मन:पर्यय/२/१२ (ऋजुमति मन:पर्ययज्ञान कषायके उदय सहित हीनमान चारित्रवालोंके होता है और विपुलमति विशिष्ट प्रकारके प्रवर्द्धमान चारित्रवालोंके। ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् अचरम देहियोंके भी सम्भव है, पर विपुलमति अप्रतिपाती है अर्थात् चरम देहियोंके ही सम्भव है)।

पं. का./ता. वृ./ प्रक्षेपक गा. ४३-४ की टीका/८७/१ निर्विकारात्मोपलब्धिभावनासहितानां चरमदेहमुनीनां विपुलमतिर्भवति। – निर्विकार आत्मोपलब्धिकी भावनासे सहित चरम देहधारी मुनियोंको ही विपुलमतिज्ञान होना सम्भव है।

४. निचले गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होता

ध. १/१,१,१२१/३६६/६ देशविरताद्यधस्तनभूमिस्थितानां किमिति मन:पर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमासंयमासंयमत उत्पत्तिविरोधात्। – प्रश्न – देशविरति आदि नीचेके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मन:पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, संयमासंयम और असंयमके साथ मन:पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

५. सभी संयमियोंके क्यों नहीं होता

ध. १/१,१,१२१/३६६/११ संयममात्रकारणत्वे सर्वसंयतानां किन्न भवेदिति चेदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्ते:कारणतामागमिष्यत्। अप्यन्येऽपि नु तद्धेतव: सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पत्ते:। केऽन्ये तद्धेतव इति चेद्विशिष्टद्रव्यक्षेत्रकालादय:। – प्रश्न—यदि संयममात्र मन:पर्ययकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त संयमियोंके मन:पर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है? उत्तर—यदि केवल संयम ही कारण हुआ होता तो ऐसा भी होता, किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भी कारण हैं, जिनके न रहनेसे समस्त संयतोंके मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता। प्रश्न—वे दूसरे कौनसे कारण हैं? उत्तर—विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि।

६. द्वितीय व प्रथम उपशम सम्यक्त्वके कालमें मन:पर्ययके सद्भाव व अभावमें हेतु

ध. २/१,१/७२७/७ वेदगसम्मत्तपच्छायदउवसमसम्मत्तसम्माइट्ठिस्स पढमसमए वि मणपज्जवणाणुवलंभादो। मिच्छत्तपच्छायदउवसमसम्माइट्ठिम्मि मणपज्जवणाण ण उवलब्भदे, मिच्छत्तपच्छायदुक्कस्सुवसमसम्मत्तकालादो वि गहियसंजमपढमसमयादो सव्वजहण्णमणपज्जवणाणुप्पायणसंजमकालस्स बहुत्तुवलंभादो। – जो वेदक सम्यक्त्वके पीछे द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त होता है उस उपशम सम्यग्दृष्टिके प्रथम समयमें भी मन:पर्ययज्ञान पाया जाता है। किन्तु मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए (प्रथम) उपशमसम्यग्दृष्टि जीवमें मन:पर्ययज्ञान नहीं पाया जाता है, क्योंकि, मिथ्यात्वसे पीछे आये हुए उपशमसम्यग्दृष्टिके उत्कृष्ट उपशमसम्यक्त्वके कालसे भी ग्रहण किये गये संयमके प्रथम समयसे लगा कर सर्व जघन्य मन:पर्ययज्ञानको उत्पन्न करनेवाला संयम काल बहुत बड़ा है।

मन:पर्यय ज्ञानावरण—दे. ज्ञानावरण।

मन:पर्याप्ति—दे. पर्याप्ति।

मन:शिल—मध्यलोकके अन्तसे १६वाँ द्वीप व सागर—दे. लोक/५/१

मन—मन एक अभ्यन्तर इन्द्रिय है। ये दो प्रकारकी है—द्रव्य व भाव। हृदय स्थानमें अष्टपांखुड़ीके कमलके आकाररूप पुद्गलोंकी रचना विशेष द्रव्य मन है। चक्षु आदि इन्द्रियोंवत् अपने विषयमें निमित्त होनेपर भी अप्रत्यक्ष व अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण इसे इन्द्रिय न कहकर अनिन्द्रिय या ईषद् इन्द्रिय कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम तथा विचार चिन्तवन आदिरूप ज्ञानकी अवस्था विशेष भाव मन है।

१. मन सामान्यका लक्षण

स. सि./१/१४/१०९/३ अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्। –अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची नाम हैं। (रा. वा./१/१४/२/५९/११); (न्या. द./भाष्य/१/१/९/१६); (न्या. दी./२/§१२/३३/२)।

द्र. सं./टी./१२/३०/१ नानाविकल्पजालरूपं मनो भण्यते। –नाना-प्रकारके विकल्पजालको मन कहते हैं। (प.प्र./टी./२/१६३/२७५/१०); (तत्त्वबोध/शंकराचार्य)।

दे. संज्ञी–('संज्ञ' अर्थात् ठीक प्रकार जानना मन है।)

दे. मनःपर्यय/३/२ (कारणमें कार्यके उपचारसे मतिज्ञानको मन कहते हैं।)

२. मनके भेद

स. सि./२/११/१७०/३ मनो द्विविधं–द्रव्यमनो भावमनश्चेति। –मन दो प्रकारका है–द्रव्यमन व भावमन। (स. सि./५/३/२६९/२; ५/१९/२८७/१); (रा. वा./२/११/१/१२५/१९; ५/३/३/४४२/९; ५/१९/२० ४७१/१); (ध. १/१, १,३५/२५९/६); (चा. सा./८८/३); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०१/१०६२/६)

३. द्रव्य मनका लक्षण

स. सि./२/११/१७०/३ पुद्गलविपाकिकर्मोदयापेक्षं द्रव्यमनः।

स. सि./५/३/२६९/४ द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः। –द्रव्यमन पुद्गलविपाकी नामकर्मके उदयसे होता है। (रा. वा./२/११/१/१२५/२०); (ध. १/१,१,३५/२५९/६)–रूपादिक युक्त होनेसे द्रव्यमन पुद्गलद्रव्यकी पर्याय है। (रा. वा./५/३/३/४४२/१०)। (विशेष दे. मूर्त/२)।

गो. जी./मू./४४३/८६१ हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा। अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा। –जो हृदयस्थानमें आठ पाँखुड़ीके कमलके आकारवाला है, तथा अंगोपांग नामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धसे उत्पन्न हुआ है। उसे द्रव्यमन कहते हैं। (यह अत्यन्त सूक्ष्म तथा इन्द्रियागोचर है--दे० मन/८); (द्र. सं./टी./१२/३०/६); (पं. ध./पू./७१३)।

४. भावमनका लक्षण

स. सि./२/११/१७०/४ वीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमापेक्षया आत्मनो विशुद्धिर्भावमनः।

स. सि./५/३/२६९/३ तत्र भावमनो ज्ञानम्; तस्य जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भावः।

स. सि./५/१९/२८७/१ भावमनस्तावल्लब्ध्युपयोगलक्षणम्। –१. वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माकी विशुद्धिको भावमन कहते हैं। (रा. वा./२/११/१/१२५/२०); (ध. १/१,१,३५/२५९/६)। २. भावमन ज्ञानस्वरूप है, और ज्ञान जीवका गुण होनेसे उसका आत्मामें अन्तर्भाव होता है। (रा. वा./५/३/३/४४२/९)। ३. लब्धि और उपयोग लक्षणवाला भावमन है। (रा. वा./५/१९/२०/४७१/२); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/६); (पं. ध./पू.७१४)।

★ दोनों मन कथंचित् मूर्त व पुद्गल हैं –दे० मूर्त/७।

५. भावमनका विषय

ध. ६/१,९-१,१४/१५/११ णोइंदिए दिट्ठसुदाणुभूदत्थो णियमिदा। –मनमें दृष्ट, श्रुत व अनुभूत पदार्थ नियमित है। (ध. १३/५,५,२८/२२८/१५)।

दे० मन/१ (संकल्प-विकल्प करना मनका काम है)।

दे० मन/१०,११ (गुण-दोष विचार व स्मरणादि करना)।

पं. ध./पू./७१५ मूर्तामूर्तस्य वेदकं च मनः। –मन मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला है। विशेष दे. श्रुत-ज्ञान/२)।

★ मति आदि ज्ञानोंमें मनका निमित्त –दे० वह-वह नाम।

★ अपर्याप्त अवस्थामें भाव मन नहीं होता। –दे० प्राण/१/७-८।

★ इन्द्रियोंका व्यापार मनके आधीन है –दे० इन्द्रिय।

६. द्रव्यमन भावमनको निमित्त है

दे० मूर्त/२ (भावमनरूपसे परिणत आत्माको गुण दोष विचार व स्मरणादि करनेमें द्रव्यमन अनुग्राहक है।)

दे० प्राण/१/७-८ [अपर्याप्तावस्थामें द्रव्यमनका अभाव होनेके कारण वहाँ मनोबल नामक प्राण (अर्थात् भावमन) भी स्वीकार नहीं किया गया है।]

दे. मन/८/२ (इन्द्रियोंका व्यापार मनके आधीन है)।

७. मनको इन्द्रिय व्यपदेश न होनेमें हेतु

ध. १/१,१,३५/२६०/५ मनस इन्द्रियव्यपदेशः किन्न कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियम्।...शेषेन्द्रियाणामिव बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वानुपपत्तेः। –प्रश्न–मनको इन्द्रिय संज्ञा क्यों नहीं दी गयी? उत्तर–नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता है, उस प्रकार मनका नहीं होता है, इसलिए उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते।

८. मनको अनिन्द्रिय कहनेमें हेतु

स. सि./१/१४/१०९/३ कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रलिङ्गे एव मनसि अनिन्द्रियशब्दस्य वृत्तिः। ईषदर्थस्य 'नञः' प्रयोगात्। ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति। यथा 'अनुदरा कन्या' इति। कथमीषदर्थः? इमानीन्द्रियाणि प्रतिनियतदेशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च। न तथा मनः इन्द्रस्य लिङ्गमपि सत्प्रतिनियतदेशविषयं कालान्तरावस्थायि च। –प्रश्न–अनिन्द्रिय शब्द इन्द्रियका निषेध परक है अतः इन्द्रके लिंग मनमें अनिन्द्रिय शब्दका व्यापार कैसे हो सकता है। उत्तर–यहाँ 'नञ्' का प्रयोग 'ईषद्' अर्थमें किया है, ईषद् इन्द्रिय अनिन्द्रिय। (जैसे अब्राह्मण कहनेसे ब्राह्मणत्व रहित किसी अन्य पुरुषका ज्ञान होता है, वैसे अनिन्द्रिय कहनेसे इन्द्रिय रहित किसी अन्य पदार्थका बोध नहीं करना चाहिए, बल्कि–रा. वा.)। जैसे 'अनुदरा कन्या' यहाँ 'बिना पेट वाली लड़की' अर्थ न होकर 'गर्भधारण आदिके अयोग्य छोटी लड़की' ऐसा अर्थ होता है, इसी प्रकार यहाँ 'नञ्' का अर्थ ईषद् ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न–अनिन्द्रियमें 'नञ्' का ऐसा अर्थ क्यों लिया गया। उत्तर–ये इन्द्रियाँ नियत देशमें स्थित पदार्थोंको विषय करती हैं और कालान्तरमें अवस्थित रहती हैं। किन्तु मन इन्द्रका लिंग होता हुआ भी प्रतिनियत देशमें स्थित पदार्थको विषय नहीं करता और कालान्तरमें अवस्थित नहीं रहता–(विशेष दे० अगला शीर्षक); (रा. वा./१/१४/२/५९/१९; २/१५/३/१२९/१८)।

रा. वा./१/१९/३-४/६९/७ मनसोऽनिन्द्रियव्यपदेशाभावः स्वविषयग्रहणे करणान्तरानपेक्षत्वाच्चक्षुर्वत् ।३। न वा, अप्रत्यक्षत्वात् ।४। ...सूक्ष्मद्रव्यपरिणामात् तस्मादनिन्द्रियमित्युच्यते।

रा. वा./२/१५/४/१२९/२६ चक्षुरादीनां रूपादिविषयोपयोगपरिणामात् प्राक् मनसो व्यापारः। कथम्। शुक्लादिरूपं दिदृक्षु प्रथमं मनसो-

पयोगं करोति 'एवंविधरूपं पश्यामि रसमास्वादयामि' इति, ततस्तद्बलाधानीकृत्य चक्षुरादीनि विषयेषु व्याप्रियन्ते। ततश्चास्यानिन्द्रियत्वम्। —प्रश्न—मन अपने विचारात्मक कार्यमें किसी अन्य इन्द्रियकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता, अतः उसे चक्षु इन्द्रियकी तरह इन्द्रिय ही कहना चाहिए अनिन्द्रिय नहीं। उत्तर—१. सूक्ष्म-द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण वह अन्य इन्द्रियोंकी भाँति प्रत्यक्ष व व्यक्त नहीं है, इसलिए अनिन्द्रिय है। (गो. जी./मू./४४४/८६२)। (दे० मन/७)। २. चक्षु आदि इन्द्रियोंके रूपादि विषयोंमें उपयोग करनेसे पहले मनका व्यापार होता है। वह ऐसे कि—'मैं शुक्लादि रूपको देखूँ' ऐसे पहले मनका उपयोग करता है। पीछे उसको निमित्त बनाकर 'मैं इस प्रकारका रूप देखता हूँ या रसका आस्वादन करता हूँ' इस प्रकारसे चक्षु आदि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें व्यापार करती हैं। इसलिए इसको अनिन्द्रियपना प्राप्त है।

९. द्रव्य व भाव मनका कथंचित् अवस्थायी व अनवस्थायीपना

रा. वा./५/१९/६/४६८/३० स्यान्मतम्—यथा चक्षुरादि व्यपदेशभाज आत्मप्रदेशा अवस्थिता नियतदेशत्वात् न तथा मनोऽवस्थितमस्ति, अतएव तदनिन्द्रियमित्युच्यते, ततोऽस्य न पृथग्ग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम्। अनवस्थानेऽपि तन्निमित्तत्वात्। यत्र यत्र प्रणिधानं तत्र तत्र आत्मप्रदेशा अंगुलासंख्येयभागप्रमिता मनो व्यपदेशभाजः।

रा. वा./५/१९/२२-२३/४७१/११ स्यादेतत्—अवस्थायि मनः, न तस्य निवृत्तिरिति; तन्न; किं कारणम्। अनन्तरसमयप्रच्युतेः। मनस्त्वेन हि परिणताः पुद्गलाः गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते। नायमेकान्तः—अवस्थायैव मनः इति। कुतः।...द्रव्यार्थादेशान्मनः स्यादवस्थायि, पर्यायार्थादेशात् स्यादनवस्थायि। —चक्षु आदि इन्द्रियोंके आत्मप्रदेश नियतदेशमें अवस्थित हैं, उस तरह मनके नहीं हैं, इसलिए उसे अनिन्द्रिय भी कहते हैं और इसीलिए उसका पृथक् ग्रहण ही किया गया है। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनवस्थित होनेपर भी वह क्षयोपशमनिमित्तक तो है ही। जहाँ-जहाँ उपयोग होता है, वहाँ-वहाँके अँगुलके असंख्यात भाग प्रमाण आत्मप्रदेश मनके रूपसे परिणत हो जाते हैं। —प्रश्न—मन अवस्थायी है, इसलिए उसकी (उपरोक्त प्रकार) निवृत्ति नहीं हो सकती। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो पुद्गल मन रूपसे परिणत हुए थे उनकी मनरूपता, गुणदोष विचार और स्मरण आदि कार्य कर लेनेपर, अनन्तर समयमें नष्ट हो जाती है, आगे वे मन नहीं रहते। यहाँ यह एकान्त भी नहीं समझना चाहिए कि मन अवस्थायी ही है। द्रव्यार्थिकनयसे वह कथंचित् अवस्थायी है और पर्यायार्थिक नयसे अनवस्थायी। (जन्मसे मरण पर्यन्त जीवका क्षयोपशमरूप सामान्य भावमन तथा कमलाकार द्रव्यमन वहके वह ही रहते हैं, इसलिए वे अवस्थायी हैं, और प्रत्येक उपयोगके साथ विवक्षित आत्मप्रदेशोंमें ही भावमनकी निर्वृति होती है तथा उस द्रव्य मनको मनपना प्राप्त होता है, जो उपयोग अनन्तर समयमें ही नष्ट हो जाता है, इसलिए वे दोनों अनवस्थायी हैं)

१०. मनको अन्तःकरण कहनेमें हेतु

स. सि./१/१४/१०९/८ तदन्तःकरणमिति चोच्यते। गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्च अन्तर्गतं करणमन्तःकरणमित्युच्यते। —इसे गुण और दोषोंके विचार और स्मरण करने आदि कार्योंमें इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं लेनी पड़ती, तथा, चक्षु आदि इन्द्रियोंके समान इसकी बाहरमें उपलब्धि भी नहीं होती, इसलिए यह अन्तर्गत करण होनेसे अन्तःकरण कहलाता है। (रा. वा./१/१४/३/५९/२६; ५/१९/३१/४७२/११।

११. भावमनके अस्तित्वकी सिद्धि

रा. वा./१/१९/५-७/६९/१२ अत्राह कथमवगम्यते अप्रत्यक्षं तद् 'अस्ति' इति। अनुमानात्तस्याधिगमः ।५।...कोऽसावनुमानः। युगपज्ज्ञानक्रियानुत्पत्तिर्मनसो हेतुः ।६।...अनुस्मरणदर्शनाच्च ।७।

रा. वा./५/१९/३१/४७२/२८ पृथगुपकारानुपलम्भात् तदभाव इति चेत्; न गुणदोषविचारादिदर्शनात् ।३१। —प्रश्न—मन यदि अप्रत्यक्ष है तो उसका ग्रहण कैसे हो सकता है। उत्तर—अनुमानसे उसका अधिगम होता है। प्रश्न—यह अनुमान क्या है। उत्तर—इन्द्रियाँ व उनके विषयभूत पदार्थोंके होनेपर भी जिसके न होनेसे युगपत् ज्ञान और क्रियाएँ नहीं होतीं, वही मन है। मन जिस-जिस इन्द्रिय को सहायता करता है उसी-उसीके द्वारा क्रमशः ज्ञान और क्रिया होती है। (न्या. सू./१/१/१६) तथा जिसके द्वारा देखे या सुने गये पदार्थोंका स्मरण होता है, वह मन है। प्रश्न—मनका कोई पृथक् कार्य नहीं देखा जाता इसलिए उसका अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, गुण दोषोंका विचार व स्मरण आदि देखे जाते हैं। वे मनके ही कार्य हैं।

१२. वैशेषिक मान्य स्वतन्त्र 'मन' का निरास

स. सि./५/११/२८७/४ कश्चिदाह मनो द्रव्यान्तरं रूपादिपरिणामरहितमणुमात्रं तस्य पौद्गलिकत्वमयुक्तमिति। तदयुक्तम्। कथम्। उच्यते—तदिन्द्रियेणात्मना च संबद्धं वा स्यादसंबद्धं वा। यद्यसंबद्धम्, तदात्मन उपकारकं भवितुमर्हति इन्द्रियस्य च साचिव्यं न करोति। अथ संबद्धम्, एकस्मिन्प्रदेशे संबद्धं सत्तदणु इतरेषु प्रदेशेषु उपकारं न कुर्यात्। अदृष्टवशादस्य अलातचक्रवत्परिभ्रमणमिति चेत्। न; तत्सामर्थ्याभावात्। अमूर्तस्यात्मनो निष्क्रियस्यादृष्टो गुणः, स निष्क्रियः सन्नन्यत्र क्रियारम्भे न समर्थः। —प्रश्न—(वैशेषिक मतका कहना है कि) मन एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वह रूपादिरूप परिणमनसे रहित है, और अणुमात्र है, इसलिए उसे पौद्गलिक मानना अयुक्त है। उत्तर—यह कहना अयुक्त है। वह इस प्रकार कि—मन आत्मा और इन्द्रियोंसे सम्बद्ध है या असम्बद्ध। यदि असम्बद्ध है तो वह आत्माका उपकारक नहीं हो सकता और इन्द्रियोंकी सहायता भी नहीं कर सकता। यदि सम्बद्ध है तो जिस प्रदेशमें वह अणु मन सम्बद्ध है, उस प्रदेशको छोड़कर इतर प्रदेशोंका उपकार नहीं कर सकता। प्रश्न—अदृष्ट नामक गुणके वशसे यह मन अलातचक्रवत् सर्व प्रदेशोंमें घूमता रहता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अदृष्ट नामके गुणमें इस प्रकारकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती। यतः अमूर्त और निष्क्रिय आत्माका अदृष्ट गुण है। अतः यह गुण भी निष्क्रिय है, इसलिए अन्यत्र क्रियाका आरम्भ करनेमें असमर्थ है। (रा. वा./५/१९/२४-२६/४७२/१); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/७)।

रा. वा./५/१९/२४/४७२/१६ स्यादेतत्—एकद्रव्यं मनः प्रत्यात्मं वर्तते इति।...तन्न; किं कारणम्।...परमाणुमात्रत्वात्।...तत्रेदं विचार्यते—तत् आत्मेन्द्रियाभ्यां सर्वात्मना वा संबन्ध्येत, तदेकदेशेन वा। यदि सर्वात्मना; तयोरात्मेन्द्रिययोरर्थान्तरभावात् व्यतिरिक्तयोरन्यतरेण सर्वात्मना संबन्धः स्यात् अणोर्मनसः नोभयाभ्यां युगपत् विरोधात्। अथान्येन देशेन आत्मना संबध्यते अन्येन देशेनेन्द्रियेण; एवं सति प्रदेशवत्त्वं मनसः प्रसक्तम्।...किंच यद्यात्मा मनसा सर्वात्मना संबध्यते; मनसोऽणुत्वात् आत्मनोऽप्यणुत्वम्, आत्मनो विभुत्वात् मनसो वा विभुत्वं प्रसज्यते। अथैकदेशेनात्मा मनसा संयुज्यते, ननु प्रदेशवत्त्वमात्मनः प्रसक्तम्।...प्रदेशवृत्तित्वात् आत्मनः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादियुक्तः कश्चित् प्रदेशो ज्ञानादिविरहित इति।...तथेन्द्रियेण मनो यदि सर्वात्मना संयुज्यते; इन्द्रियस्याणुमात्रत्वं मनसो वेन्द्रियमात्रत्वान्नाणुत्वम्। अथैकदेशेन मन इन्द्रियेण संयुज्यते,

न तर्हि अणु तत् । ..अथ संयोगविभागाभ्यां मनः परिणमते; न तर्हि नित्यम् ।...अचेतनत्वाच्च मनसः अनेनैव इन्द्रियेणानेनैव चात्मना संयोक्तव्यं नेन्द्रियान्तरैर्न चात्मान्तरैरिति···। कर्मवदिति चेत्; न;···कर्मणः स्याच्चैतन्यम्...स्यादचेतनत्वमिति विषमो दृष्टान्तः । —प्रश्न—मन अणुरूप एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो प्रत्येक आत्मासे एक-एक सम्बद्ध है । उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, अणुरूप होता हुआ वह सर्वात्मना तो इन्द्रिय व आत्मा दोनोंसे युगपत् जुड़ नहीं सकता । भिन्न-भिन्न देशोंसे उन दोनोंके साथ सम्बन्ध माननेपर मनका प्रदेशवत्त्व प्राप्त होता है ।—२. आत्मा मनके साथ सर्वात्मना सम्बद्ध होनेपर या तो आत्मा अणुरूप हो जायेगा और या मन विभु बन जायेगा । और एक देशेन सम्बद्ध होनेपर आत्माको प्रदेशवत्त्व प्राप्त होता है । और ऐसी अवस्थामें वह किन्हीं प्रदेशोंमें तो ज्ञानसहित रहेगा और किन्हीं प्रदेशोंमें ज्ञानरहित । ३. इसी प्रकार इन्द्रियाँ मनके साथ सर्वात्मना सम्बध होनेपर या तो इन्द्रिय अणुमात्र हो जायेगी और या मन इन्द्रियप्रमाण हो जायेगा । और एकदेशेन सम्बद्ध होनेपर वह मन अणुमात्र न रह सकेगा । ४. संयोग विभागके द्वारा मनका परिणमन होनेसे वह नित्य न हो सकेगा । ५. अचेतन होनेके कारण मनको यह विवेक कैसे हो सकेगा कि अमुक इन्द्रिय या आत्माके साथ ही संयुक्त होता है, अन्यके साथ नहीं । यहाँ जैनियोंके कर्मका दृष्टान्त देना विषमदृष्टान्त है, क्योंकि उनके द्वारा मान्य वह कर्म सर्वथा अचेतन नहीं है, बल्कि कथंचित् चेतन व कथंचित् अचेतन है ।

११. बौद्ध व सांख्यमान्य मनका निरास

रा. वा./५/११/३२-३४/४७२/३३ विज्ञानमिति चेत्; न, तत्सामर्थ्याभावात् ।३२।···वर्तमानं तावद्विज्ञानं क्षणिकं पूर्वोत्तरविज्ञानसंबन्धनिरुत्सुकं कथं गुणदोषविचारस्मरणादिव्यापारे साचिव्यं कुर्यात् ।··· एकसंतानमतित्वात् तदुपपत्तिरिति चेत्, न; तदवस्तुत्वात् ।··· प्रधानविकार इति चेत्; न; अचेतनत्वात् ।३३। तद्व्यतिरेकात्तदभाव ।३४। —प्रश्न—(बौद्ध) विज्ञान ही मन है और इसके अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, वर्तमानमात्र तथा पूर्व व उत्तर विज्ञानके सम्बन्धमें निरुत्सुक उस क्षणिक विज्ञानमें गुणदोष विचार व स्मरणादि व्यापारके साचिव्यकी सामर्थ्य नहीं है । एक सन्तानके द्वारा उसकी उपपत्ति मानना भी नहीं बनता क्योंकि सन्तान अवस्तु है । प्रश्न—(सांख्य) प्रधानका विकार ही मन है, उससे अतिरिक्त कोई पौद्गलिक मन नहीं है । उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक तो प्रधान अचेतन है और दूसरे उससे अभिन्न होनेके कारण उसका अभाव है ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. मनोयोग व उसमें भेद आदि । —(दे० आगे पृथक् शब्द)
२. एकेन्द्रियोंमें मनका अभाव । —दे० संज्ञी
३. मनोबल । — दे० प्राण ।
४. मनोयोग । —दे० मनोयोग ।
५ मन जीतनेका उपाय । —दे० संयम/२ ।
६. केवलीमें मनके सद्भाव व अभाव सम्बन्धी । —दे० केवली/५ ।

मनक—द्वितीय नरकका तृतीय या चतुर्थ पटल—दे० नरक/५/११ ।

मनचिंती अष्टमी व्रत—भादों सुदि आठैं दिन जान । मन चिन्ते भोजन परवान ॥ यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी समाजमें किया जाता है । (व्रतविधान संग्रह/पृ. १२६) ।

मनरंग लाल—कन्नौज निवासी पल्लीवाल दिगम्बर जैन थे । पिताका नाम कन्नौजीलाल था । कृतियाँ—चौबीस तीर्थंकर पूजा पाठ (ई. १८५७), नमिचन्द्रिका, सप्तव्यसनचरित्र, सप्तर्षिपूजा, शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य । (ई. १८८१) । समय—ई. १८५०-१८६० (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/पृ. २११/बा. कामताप्रसाद) ।

मनशुद्धि— दे० शुद्धि ।

मनु—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर; २. कुलकरका अपर नाम—दे० शलाका पुरुष/६/३. ध. १/१,१,२/२०/१ मनुःज्ञानं —मनु ज्ञानको कहते हैं ।

मनुज—

ध. १३/५,५,१४०/३९१/१० मानुषीसु मैथुनसेवकाः मनुजानाम ।—मनुष्यिनियोंके साथ मैथुन कर्म करनेवाले मनुष्य कहलाते हैं ।

मनुष्य—मनुकी सन्तान होनेके कारण अथवा विवेक धारण करनेके कारण यह मनुष्य कहा जाता है । मोक्षका द्वार होनेके कारण यह गति सर्वोत्तम समझी जाती है । मध्य लोकके बीचमें ४५०००,०० योजन प्रमाण ढाईद्वीप ही मनुष्यक्षेत्र है, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके परभागमें जानेको यह समर्थ नहीं है । ऊपरकी ओर सुमेरु पर्वतके शिखर पर्यन्त इसके क्षेत्रकी सीमा है ।

१ भेद व लक्षण

१ मनुष्यका लक्षण ।
२ मनुष्यके भेद ।
* आर्य, म्लेच्छ, विद्याधर व संमूर्च्छन मनुष्य —दे० वह-वह नाम ।
* पर्याप्त व अपर्याप्त मनुष्य—दे० अपर्याप्त ।
* कुमानुष—दे० म्लेच्छ । अन्तर्द्वीपज ।
* कर्मभूमिज व भोगभूमिज मनुष्य—दे० भूमि ।
* कर्मभूमिज शब्दसे केवल मनुष्योंका ग्रहण —दे० तिर्यंच/२/१२ ।
* मनुष्यणी व योनिमति मनुष्यका अर्थ—दे० वेद/३ ।
* नपुंसकवेदी मनुष्यको मनुष्य व्यपदेश—दे० वेद/३/५ ।
* स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी मनुष्य—दे० वेद ।

२ मनुष्यगति निर्देश

१ ऊर्ध्वमुख अधोशाखा रूपसे पुरुषका स्वरूप ।
२ मनुष्यगतिको उत्तम कहनेका कारण प्रयोजन ।
* मनुष्योंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा स्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ—दे० सत् ।
* मनुष्यों सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ । —दे० वह वह नाम ।
* मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा उसमें आयके अनुसार व्यय होनेका नियम —दे० मार्गणा ।
* मनुष्यायुके बन्ध योग्य परिणाम—दे० आयु/३ ।
* मनुष्यगति नामप्रकृतिका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह वह नाम ।

१. भेद व लक्षण

१. मनुष्यका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/६२ मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा जदो दु ये जीवो । मणउक्कडा य जम्हा ते माणुसा भणिया ।६२। —यतः जो मनके द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्मका विचार करते हैं, कार्य करनेमें निपुण हैं, मनसे उत्कृष्ट हैं अर्थात् उत्कृष्ट मनके धारक हैं, अतएव वे मनुष्य कहलाते हैं। (ध. १/१,१,२४/गा. १३०/२०१); (गो. जी./मू./१४६/३७२)।

ध. १३/५.५.१४१/१ मनसा उत्कटाः मानुषाः । —जो मनसे उत्कट होते हैं वे मानुष कहलाते हैं।

नि. सा./ता. वृ./१६ मनोरपत्यानि मनुष्याः । —मनुकी सन्तान मनुष्य हैं। (और भी—दे० जीव/१/३/५) दे० मनुज (मैथुन करनेवाले मनुष्य कहलाते हैं)।

२. मनुष्यके भेद

नि. सा./मू./१६ मानुषा द्विविकल्पाः कर्ममहीभोगभूमिसंजाताः । —मनुष्योंके दो भेद हैं, कर्मभूमिज और भोगभूमिज। (पं. का./ ता. वृ./११८)।

त. सू./३/३६ आर्या म्लेच्छाश्च ।३६। —मनुष्य दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ।

भ. आ./वि./७८१/९३६/६ पर उद्धृत—मनुजा हि चतुःप्रकाराः । —कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा । अन्तरद्वीपजाश्चैव तथा संमूर्छिमता इति । —मनुष्य चार प्रकारके हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज, तथा अन्तर्द्वीपज व सम्मूर्छिम।

गो. जी./मू./१५०/३७३ सामण्णा पंचिंदी पज्जत्ता जोणिणी अपज्जत्ता । तिरिया णरा तहावि य पंचिंदियभंगदो हीणा ।१५०। —तिर्यंच पाँच प्रकारके हैं—सामान्य तिर्यंच, पर्याप्त, योनिमति, और अपर्याप्त। पंचेन्द्रियवाले भंगसे हीन होते हुए मनुष्य भी इसी प्रकार हैं। अर्थात् मनुष्य चार प्रकार हैं—सामान्य, पर्याप्त, मनुष्यणी और अपर्याप्त।

का.अ./मू./१३२-१३३ अज्जव म्लेच्छखंडे भोगमहीसु वि कुभोगभूमीसु । मणुसमा हवंति दुविहा णिव्वित्ता—अपुण्णगा पुण्णा ।१३२। संमुच्छिमा मणुस्सा अज्जवखंडेसु होंति णियमेण । ते पुण लद्धि अपुण्णा—।१३३। —आर्यखण्डमें, म्लेच्छखण्डमें, भोगभूमिमें और कुभोगभूमिमें मनुष्य होते हैं। ये चार ही प्रकारके मनुष्य पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।१३२। सम्मूर्छन मनुष्य नियमसे आर्य-खण्डमें ही होते हैं, और वे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं

२. मनुष्यगति निर्देश

१. ऊर्ध्वमुख अधो शाखा रूपसे पुरुषका स्वरूप

अन. ध./४/१०२/४०४ ऊर्ध्वमूलमधः शाखामृषयः पुरुषं विदुः ।१०२। ऋषियोंने पुरुषका स्वरूप ऊर्ध्वमूल और अधःशाखा माना है। जिसमें कण्ठ व जिह्वामूल है, हस्तादिक अवयव शाखाएँ हैं। जिह्वा आदिसे किया गया आहार उन अवयवोंको पुष्ट करता है।

२. मनुष्य गतिको उत्तम कहनेका कारण व प्रयोजन

आ. अनु./११५ तपोवल्ल्यां देहः समुपचितपुण्योऽर्जितफलः, शलाट्वग्रे यस्य प्रसव इव कालेन गलितः । व्यशुष्यच्चायुष्यं सलिलमिव संरक्षितपयः; स धन्यः संन्यासाहुतभुजि समाधानचरमम् ।११५। —जिसका शरीर तपरूप बेलिके ऊपर पुण्यरूप महान् फलको उत्पन्न करके समयानुसार इस प्रकारसे नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार कि कच्चे फलके अग्रभागसे फूल नष्ट हो जाता है, तथा जिसकी आयु संन्यासरूप अग्निमें दूधकी रक्षा करनेवाले जलके समान धर्म और शुक्लध्यानरूप समाधिकी रक्षा करते हुए सूख जाती है, वह धन्य है।

का. अ./मू./२९९ मणुवगईए वि तओ मणुवगईए महव्वदं सयलं । मणुवगदीए झाणं मणुव गदीए वि णिव्वाणं । —मनुष्यगतिमें ही तप होता है, मनुष्यगतिमें ही समस्त महाव्रत होते हैं, मनुष्य गतिमें ही ध्यान होता है और मनुष्य गतिमें ही मोक्षकी प्राप्ति होती है।

३. मनुष्य गतिमें सम्यक्त्व व गुणस्थानोंका निर्देश

१. सम्यक्त्वका स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू. १६२-१६५/४०३-४०५ मणुस्सा अत्थि मिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठी संजदासंजदा संजदा त्ति ।१६२। एवमड्ढाइज्जदीवसमुद्देसु ।१६३। मणुसा असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदसंजदट्ठाणे अत्थि खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी ।१६४। एवं मणुस-पज्जत्त-मणुसिणीसु ।१६५। — मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत होते हैं। ।१६२। इसी प्रकार अढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिए। ।१६३। मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि होते हैं ।१६४। इसी प्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्यनियोंमें भी जानना चाहिए ।१६५।

२. गुणस्थानका स्वामित्व

ष. खं. १/१, १/सूत्र २७/२१० मणुस्सा चोद्दससु गुणट्ठाणेसु अत्थि मिच्छाइट्ठी···अजोगिकेवलि त्ति ।२७।

ष. खं. १/१,१/सूत्र/८६-६३/३२६-३३२ मणुस्सा मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।८६। सम्मामिच्छाइट्ठि-संजदासंजदसंजद-ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ।६०। एवं मणुस्स-पज्जत्ता ।६१। मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।६२। सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजदसम्माइट्ठि-संजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ।६३। — मिथ्यादृष्टिको आदि लेकर अयोगि केवली पर्यन्त १४ गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ।२७। मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ।८६। मनुष्य सम्यग्मिथ्यादृष्टि, संयतासंयत, और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ।६०। (उपरोक्त कथन मनुष्य सामान्यकी अपेक्षा है) मनुष्य सामान्यके समान पर्याप्त मनुष्य होते हैं ।६१। मनुष्यनियाँ मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती हैं और अपर्याप्त भी होती हैं ।६२। मनुष्यनियाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत गुणस्थानोंमें नियमसे पर्याप्तक होती हैं ।६३। —(विशेष दे० सत)।

दे. भूमि/७ (भोगभूमिज मनुष्य असंयत सम्यग्दृष्टि हो सकने पर भी संयतासंयत व संयत नहीं)।

दे. जन्म/५, ६ (सूक्ष्म निगोदिया जीव मर कर मनुष्य हो सकता है, संयमासंयम उत्पन्न कर सकता है, और संयम, अथवा मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है)।

दे. आर्यखण्ड [आर्यखण्डोंमें जघन्य १ मिथ्यात्व उत्कृष्ट १४, विदेहके आर्यखण्डोंमें जघन्य ६ उत्कृष्ट १४, विद्याधरोंमें जघन्य ३ और उत्कृष्ट ५ तथा विद्याएँ छोड़ देनेपर १४ भी गुणस्थान होते हैं।]।

दे. म्लेक्ष [यहाँ केवल मिथ्यात्व ही होता है, परन्तु कदाचित आर्यखण्डमें आनेपर इनको व इनकी कन्याओंसे उत्पन्न संतानको संयत गुणस्थान भी सम्भव है]।

३. समुद्रोंमें मनुष्योंको दर्शनमोहकी क्षपणा कैसे ?

ध. ६/१,६-८, ११/२४५/६ मणुस्सेसुप्पण्णा कधं समुद्देसु दंसणमोहक्खवणं पट्ठवेंति। ण, विज्जादिवसेण तत्थागदाणं दंसणमोहक्खवणसंभवादो। —प्रश्न—मनुष्योंमें उत्पन्न हुए जीव समुद्रोंमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणाका कैसे प्रस्थापन करते हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि, विद्या आदिके वशसे समुद्रोंमें आये हुए जीवोंके दर्शनमोहका क्षपण होना सम्भव है।

४. मनुष्य लोक

१. मनुष्य लोकका सामान्य स्वरूप व विस्तार

ति. प./४/गा. तसणालीबहुमज्झे चित्ताय खिदीय उवरिमे भागे। अइवट्टो मणुवजगो जोयणपणदाल लक्खविक्खंभो ।६। जगमज्झादो उवरिं तब्बहलं जोयणाणि इगिलक्खं। णवचदुदुगतियदुगचउक्केक्कंकहि तप्परिही ।७। सुण्णभगयणपणदुगएक्कखतियसुण्णणवणहासुण्णं। छक्केक्कजोयणा चिय अंककमे मणुवलोयखेत्तफलं ।८। अट्ठत्थाणं सुण्णं पंचदुरिगिणयणतिणहणवसुण्णा। अंबरछक्केक्केहिं अंककमे तस्स विंदफलं ।१०। माणुसजगबहुमज्झे विक्खादो होदि जंबुदीओ त्ति। एक्कजोयणलक्खविक्खंभजुदो सरिसवट्टो ।११। अत्थि लवणंबुरासी जंबूदीवस्स खाइयायारो। समवट्टो सो जोयणबेलक्खपमाणवित्थारो ।२३६८। धादइसंडो दीओ परिवेढदि लवणजलणिहिं सयलं। चउलक्खजोयणाइं वित्थिण्णो चक्कवालेणं ।२५२७। परिवेढेदि समुद्दो कालोदो णाम धादईसंडं। अडलक्खजोयणाणि वित्थिण्णो चक्कवालेणं ।२७१८। पोक्खरवरोत्ति दीओ परिवेढदि कालजलणिहिं सयलं। जोयणलक्खा सोलस रुंदजुदो चक्कवालेणं ।२७४४। कालोदयजगदीदो समंतदो अट्ठलक्खजोयणया गंतूणं तं परिदो परिवेढदि माणुसुत्तरो सेलो ।२७४८। चेट्ठंति माणुसुत्तरपरियंतं तस्स लंघणविहीणा। मणुआ माणुसखेत्ते वेअड्ढाइज्जउवहिदीवेसुं। ।२६२३। —त्रसनालीके बहुमध्यभागमें चित्रा पृथिवीके उपरिम भागमें ४५००,००० योजन प्रमाण विस्तारवाला अतिगोल मनुष्य लोक है ।६। लोकके मध्यभागसे ऊपर उस मनुष्यलोकका बाहुल्य (ऊँचाई) १००,००० योजन और परिधि १४२३०२४६ योजन प्रमाण है ।७। (ध. ४/१,३,३/४२/३); १६००६०३०१२५००० योजन प्रमाण उसका क्षेत्रफल ।८। और १६००६०३०१२५०००००००० योजन प्रमाण उसका घनफल है ।१०। उस मनुष्यक्षेत्रके बहुमध्यभागमें १००,००० योजन विस्तारसे युक्त सदृश गोल और जम्बूद्वीप इस नामसे प्रसिद्ध पहला द्वीप है ।११। लवणसमुद्र रूप जम्बूद्वीपकी खाईका आकार गोल है। इसका विस्तार २००,००० योजन प्रमाण है ।२३६८। ४००,००० योजन विस्तारयुक्त मण्डलाकारसे स्थित धातकीखण्डद्वीप इस सम्पूर्ण लवणसमुद्रको वेष्टित करता है ।२५२७। इस धातकीखण्डको भी ८००,००० योजनप्रमाण विस्तारवाला कालोद नामक समुद्र मण्डलाकारसे वेष्टित किये हुए है ।२७१८। इस सम्पूर्ण कालसमुद्रको १६००,००० योजनप्रमाण विस्तारसे संयुक्त पुष्करवरद्वीप मण्डलाकारसे वेष्टित किये हुए है ।२७४४। कालोदसमुद्रकी जगतीसे चारों ओर ८००,००० योजन जाकर मानुषोत्तर नामक पर्वत उस द्वीपको सब तरफसे वेष्टित किये हुए है ।२७४८। इस प्रकार दो समुद्र और अढ़ाई द्वीपोंके भीतर मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्य क्षेत्र है। इसमें ही मनुष्य रहते हैं ।२६२३।—(विशेष दे० लोक/७)।

त्रि. सा./५६२ मंदरकुलवक्खारिसुमणुसुत्तररुप्पजंबुसामलिसु। सीदी तीसं तु सयं चउ चउ सत्तरिसयं दुपणं ।५६२। —मेरु ५, कुलाचल ३०, गजदन्तसहित सर्व वक्षार गिरि १००, इष्वाकार ४, मानुषोत्तर १, विजयार्ध पर्वत १७०, जम्बूवृक्ष ५, शाल्मली वृक्ष ५, इन विषै क्रमसे ८०, ३०, १०४, ४, १७०, ५, ५ जिनमन्दिर हैं।— (विशेष दे. लोक/७)।

२. मनुष्य अढ़ाई द्वीपका उल्लंघन नहीं कर सकता

ति. प./४/२६२३ चेट्ठंति माणुसुत्तरपरियंतं तस्स लंघणविहीणा। —मानुषोत्तर पर्यन्त ही मनुष्य रहते हैं, इसका उल्लंघन नहीं कर सकते। (त्रि. सा./३२३)।

त्रि. सा./३/१५/२२६/१ नास्मादुत्तरं कदाचिदपि विद्याधरा ऋद्धिप्राप्ता। अपि मनुष्या गच्छन्ति अन्यत्रोपपादसमुद्घाताभ्याम्। ततोऽस्यान्वर्थसंज्ञा। —समुद्घात और उपपादके सिवाय विद्याधर तथा ऋद्धि प्राप्त मुनि भी इस पर्वतके आगे नहीं जा सकते। अतः इसकी संज्ञा अन्वर्थक है। (रा. वा./३/३५/···/१९८/२); (ह. पु./५/६१२)।

ध. १/१,१,१६३/४०३/११ वैरसंबन्धेन क्षिप्तानां संयतानां संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु संभवो भवत्विति चेन्न, मानुषोत्तरात्परतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात्। —प्रश्न—वैरके सम्बन्धसे डाले गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवोंकी प्रेरणासे भी मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है।

३. अढ़ाई द्वीपका अर्थ अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र

ध. १/१,१,१६३/४०४/१ अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु द्वीपो विशिष्यते उत समुद्र उत द्वावपीति। नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरात्परतोऽपि मनुष्याणामस्तित्वप्रसंगात्। ··· नादिविकल्पोऽपि समुद्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्वप्रसंगादिति। अत्र प्रतिविधीयते। नानन्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाढौकन्ते, तयोरनभ्युपगमात्। न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिवन्मानुषोत्तरात् परतो विशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धेः। ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते। —प्रश्न—'अर्धतृतीय' यह शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका। इनमेंसे अन्तके दो विकल्पोंके मान लेनेपर मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायेगा। और पहला विकल्प मान लेनेसे द्वीपोंकी संख्याका नियम होनेपर भी समुद्रोंकी संख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिए समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है। उत्तर—दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, परमागममें वैसा माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, अढ़ाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके द्वीपोंमें जिस प्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है, उसी प्रकार शेष समुद्रोंमें भी मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि, शेष द्वीपोंकी तरह दो समुद्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं। इसलिए सामर्थ्यसे ही दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है।

४. भरतक्षेत्रके कुछ देशोंका निर्देश

ह. पु./११/६४-७५ का केवल भावानुवाद—कुरुजांगल, पांचाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिंग, काशि, कौशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान् कोशल और मोक ये मध्यदेश थे।६४-६५। बाह्लीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, वाटवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तरकी ओर स्थित थे।६६-६७। खड्ग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, मस्तक, प्राग्ज्योतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव, ये देश पूर्व दिशामें स्थित थे। बाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशाके देश थे। माल्य कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सूर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ, सुराष्ट्र और नरमद ये सब देश पश्चिम दिशामें स्थित थे। दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचलके ऊपर स्थित थे।६८-७४। भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव और वज्रखण्डिक, ये देश मध्यदेशके आश्रित थे।७५।

ह. पु./सर्ग/श्लोक—टंकण द्वीप। (२१/१०२); कुम्भकटक द्वीप। (२१/१२३); शकटद्वीप (२७/११); कौशलदेश (२७/६१); दुर्ग देश (१७/११); कुशाग्रदेश (१८/६)।

म. पु./२९/श्लोक नं. भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने निम्न देशोंको जीता—पूर्वी आर्यखण्डकी विजयमें—कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल, वैदर्भ, मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्म, पुण्ड्र, औण्ड्र, गौड़, दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर, मध्यदेश, कलिंग, अंगार, बंग, अंग, पुंड्र, मगध, मालव, कालकूट, मल्ल, चेदि, कसेरु और वत्स।४०-४८। मध्य आर्यखण्डकी विजयमें त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर, पुन्नाग, कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाण्डय, अन्तरपाण्डय।७९-८०। आन्ध्र, कलिंग, ओण्ड्र, चोल, केरल, पाण्डय।९१-९६।

म. पु./३०/श्लोक नं. पश्चिमी आर्य खण्डकी विजयमें—सोरठ (१०१), काम्बोज, बाह्लीक, तैतिल, आरट्ट, सैन्धव, वानायुज, गान्धार, बाण।१०७-१०८।—उत्तर म्लेच्छखण्डमें चिलात व आवर्त। (३२/४६)।

५. भरतक्षेत्रके कुछ पर्वतोंका निर्देश

ह. पु./सर्ग/श्लोक—गिरिकूट (२१/१०२); कर्कोटक (२१/१२३); राजगृहमें ह्रीमन्त (९६/४५); वरुण (२७/१२) विन्ध्याचल (१७/३६)।

म. पु./२९/श्लोक—ऋष्यमूक, कोलाहल, माल्य, नागप्रिय।५५-५७। तैरश्चिक, वैडूर्य, कूटाचल, पारियात्र, पुष्पगिरि, स्मितगिरि, गदा, ऋक्षवान्, वातपृष्ठ, कम्बल, वासवन्त, असुरधूपन, मदेभ, अंगिरेयक, ।६७-७०। विन्ध्याचलके समीपमें नाग, मलय, गोशीर्ष, दुर्दर, पाण्डय, कवाटक, शीतगृह, श्रीकटन, श्रीपर्वत, किष्किन्ध।८८-९०।

म. पु./३०/ श्लोक—त्रिकूट, मलयगिरि, पाण्डयवाटक।२६। सह्य।३८। तुंगवरक, कृष्णगिरि, सुमन्दर, मुकुन्द, ।४९-५०। विन्ध्याचल।६५। गिरनार।९४।

म. पु./१३/श्लोक कैलाश पर्वत विजयार्धके दक्षिण, लवण समुद्रसे उत्तर व गंगा नदीके पश्चिम भागमें अयोध्याके निकट बताया है।

६. भरतक्षेत्रकी कुछ नदियोंका निर्देश

ह. पु./सर्ग/श्लोक-हरिद्वती, चंडवेगा, गजवती, कुसुमवती, सुवर्णवती—ये पाँच नदियाँ वरुण पर्वतपर हैं। (२७/१३) ऐरावती। (२१/१०२)।

म. पु./सर्ग/श्लोक—सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती, रवैस्या—ये नदियाँ पूर्वी मध्य देशमें हैं; गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा, निधुरा, उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती, यमुना—ये नदियाँ पूर्वमें हैं। शोन पूर्वी उत्तरमें, नीजा दोनोंके बीचमें और नर्मदा पूर्वी दक्षिणमें है। (२९/४९-५४)। क्षत्रवती, चित्रवती, माल्यवती, वेणुमती, दशार्णा, नालिका, सिन्धु, विशाखा, पारा, निकुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, जम्बूमती, वसुमती, शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिंजा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कागन्धुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, कौशिकी। (२९/२८-६६)। तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा, श्वसना, वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका, शुष्क, सप्तगोदावर, गोदावरी, मानससरोवर, सुप्रयोगा, कृष्णवर्णा, सन्नीरा,

प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, अम्बर्णा। (२६/८३-८७)। भीमरथी, दारुवेणी, नीरा, मूला, बाणा, केतबा, करीरी, प्रहरा, मुररा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लांगल खातिका। (३०/५५-६३)। कुसुमवती, हरणवती, गजवती, चण्डवेगा। (५६/११६)।

७. भरतक्षेत्रके कुछ नगरोंका निर्देश

ह. पु./१७/श्लोक दुर्गदेशमें इलावर्धन ।१६। नर्मदा नदीपर माहिष्मती ।२०। वरदा नदीपर कुंडिनपुर ।२३। पौलोमपुर ।२५। रेवा नदीपर इन्द्रपुर ।२७। जयन्ती व वनवास्या ।२७। कल्पपुर ।२८। शुभ्रपुर ।३२। वज्रपुर ।३३। विन्ध्याचलपर चेदि ।३६। शुक्तीमती नदीपर शुक्तिमती ।३६। भद्रपुर, हस्तनापुर, विदेह ।३४। मथुरा, नागपुर ।१६४।
ह. पु./१८/श्लोक—कुशद्यदेशमें शौरपुर ।६। भद्रलपुर ।१११।
ह. पु./२४/श्लोक—कलिंगदेशमें कांचनपुर ।१०। अचलग्राम ।२५। शालगुहा ।२६। जयपुर ।३०। इलावर्धन ।३४। महापुर ।३७।
ह. पु./२५/श्लोक—गजपुर ।६।
ह. पु./२७/श्लोक सिंहपुर ।१६। पोदन ।५५। वर्धकि ।६१। साकेतपुर (अयोध्या) ।६३। धरणीतिलक ।७७। चक्रपुर ।८६। चित्रकारपुर ।६६।

मनुष्य व्यवहार—
प्र. सा./पं. जयचन्द्र/६४ 'मैं मनुष्य हूँ, शरीरादिकी समस्त क्रियाओंको मैं करता हूँ, स्त्री, पुत्र धनादिके ग्रहण त्यागका मैं स्वामी हूँ' इत्यादि मानना सो मनुष्य व्यवहार है।

मनुष्यायु— दे आयु।

मनो गुप्ति—दे० गुप्ति।

मनोज्ञ साधु—स. सि./६/२४/४४२/१० मनोज्ञो लोकसंमतः। —लोकसम्मत साधुको मनोज्ञ कहते हैं।
रा. वा./६/२४/१२-१४/६२३/२५ मनोज्ञोऽभिरूपः ।१२। संमतो वा लोकस्य विद्वत्त्ववक्तृत्वमहाकुलत्वादिभिः ।१३।···गौरवोत्पादनहेतुत्वात्। असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा ।१४। संस्कारोपेतरूपत्वात्। —अभिरूपको, अथवा गौरवकी उत्पत्तिके हेतुभूत विद्वान्, वाग्मी व महाकुलीन आदिरूपसे लोकप्रसिद्धको, अथवा सुसंस्कृत सम्यग्दृष्टिको मनोज्ञ कहते हैं। (चा. सा/१५१/४); (भा. पा./टी./७८/२२५/२)।
ध. १३/५,४,२६/६३/१० आइरियेहि सम्मदाणं गिहत्थाणं दिक्खाभिमुहाणं वा जं करिदे तं मणुण्ण वेज्जावच्चं णाम। —आचार्योंके द्वारा सम्मत और दीक्षाभिमुख गृहस्थकी वैयावृत्य मनोज्ञ कहलाती है। (चा. सा./१५१/४)।

मनोदंड—दे० योग/१।

मनोदुष्ट—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

मनोबल—१. ऋद्धि/६; २. दे० प्राण।

मनोभद्र—यक्षोंका एक भेद—दे० यक्ष।

मनोयोग—स. सि./६/१/३१८/११ अभ्यन्तरवीर्यान्तरायनोइन्द्रियावरणक्षयोपशमात्मकमनोलब्धिसंनिधाने बाह्यनिमित्तमनोवर्गणालम्बने च सति मनःपरिणामाभिमुखस्यात्मप्रदेशपरिस्पन्दो मनोयोगः। —वीर्यान्तराय और नोइन्द्रियावरणके क्षयोपशम रूप आन्तरिक मनोलब्धिके होनेपर तथा बाहरी निमित्तभूत मनोवर्गणाओंका आलम्बन मिलनेपर मनरूप पर्यायके सम्मुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेशपरिस्पन्द मनोयोग कहलाता है। (रा. वा./६/१/-१०/५०५/१५)।
ध. १/१,१,५०/२८२/६ मनसः समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः।
ध. १/१,१,६५/३०८/३ चतुर्णां मनसां सामान्यं मनः, तज्जनितवीर्येण परिस्पन्दलक्षणेन योगो मनोयोगः। —मनकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। (ध. १/१,१,४७/२७६/२)। —सत्य आदि चार प्रकारके मनमें जो अन्वयरूपसे रहता है उसे सामान्य मन कहते हैं। उस मनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे मनोयोग कहते हैं। (विशेष देखो आगे शीर्षक नं. ५)।
ध. ७/२,१,३३/७६/६ मणवग्गणादो णिप्पण्णदव्वमणमवलंबिय जो जीवस्स संकोचविकोचो सो मणजोगो। —मनोवर्गणासे निष्पन्न हुए द्रव्यमनके अवलम्बनसे जो जीवका संकोच-विकोच होता है वह मनोयोग है।
ध. १०/४,२,४,१७५/४३७/१० बज्झत्थचिंतावावदमणादो समुप्पण्ण जीवपदेसपरिप्फंदो मणोजोगो णाम। —बाह्यपदार्थके चिन्तनमें प्रवृत्त हुए मनसे उत्पन्न जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दको मनोयोग कहते हैं।

२. मनोयोगके भेद

ष. खं. १/१,१/सूत्र ४९/२८० मणजोगो चउव्विहो सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ।४९। —मनोयोग चार प्रकारका है—सत्यमनोयोग, मृषामनोयोग, सत्यमृषामनोयोग और असत्यमृषा (अनुभय) मनोयोग ।४९। (रा. वा./-१/७/१४/३९/२१); (ध. ८/३,६/२१/६); (गो. जी./मू./२१७/४७५); (द्र. सं./टी/१३/३७/७)।

३. इन चारके अतिरिक्त सामान्य मनोयोग क्या

ध. १/१,१,५०/२८२/८ मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व लब्धश्चेन्नैष दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चमत्वोपपत्तेः। किं तत्सामान्यमिति चेन्मनसः सादृश्यम्। —प्रश्न—चार मनोयोगोंके अतिरिक्त (मार्गणा प्रकरणमें) 'मनोयोग' इस नामका पाँचवाँ मनोयोग कहाँसे आया। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पाँचवीं संख्या बन जाती है। प्रश्न—वह सामान्य क्या है। उत्तर—यहाँ पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिए।

४. मनोयोगके भेदोंके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/८९-९० सब्भावो सच्चमणो जो जोगो सो दु सच्चमणजोगो। तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति ।८९। ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो। जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ।९०। —सद्भाव अर्थात् समीचीन पदार्थके विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं; और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषा मनोयोग कहते हैं। सत्य और मृषा योगको सत्यमृषा मनोयोग कहते हैं ।८९। जो मन न तो सत्य हो और न मृषा हो उसे असत्यमृषामन कहते हैं और उसके द्वारा जो योग होता है उसे असत्यमृषामनोयोग कहते हैं ।९०। (ध. १/१,१,४९/गा. १५६-१५७/२८१, २८२); (गो. जी./मू./२१८-२१९/४७७)।
ध. १/१,१,४९/२८१/४ समनस्केषु मनःपूर्विका वचसः प्रवृत्तिः अन्यथानुपलम्भात्। तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमनोयोगः। तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः। उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः। त्रिविधवचनव्यतिरिक्तामन्त्रणादि वचननिबन्धनमनसा योगोऽसत्यमोषमनोयोगः। नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात्। कः पुनर्निरवद्योऽर्थश्चेद्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमन.। विपरीतमसत्यमनः। द्व्यात्मकमुभयमनः। संशयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनम-

सत्यमोषमन इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽप्यर्थः समीचीन एव । —१. समनस्क जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचन प्रवृत्ति नहीं पायी जाती । इसलिए उन चारोंमें-से सत्यवचननिमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्य मनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा इन दोनों रूप वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभयमनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभयरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभय मनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, इसकी सम्पूर्ण मनके साथ व्याप्ति नहीं पायी जाती । अर्थात् यह कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी सत्यादिकतासे मनमें सत्य आदिका उपचार किया गया है । प्रश्न—तो फिर यहाँपर निर्दोष अर्थ कौन-सा लेना चाहिए । उत्तर—२. जहाँ जिस प्रकारकी वस्तु विद्यमान हो वहाँ उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं । उससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं । सत्य और असत्य इन दोनों रूप मनको उभयमन कहते हैं । तथा जो संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका कारण है, उसे अनुभयमन कहते हैं । ३. अथवा मनमें सत्य-असत्य आदि वचनोंको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे सत्य-वचनादि निमित्तसे होनेके कारण जिसे पहले उपचार कह आये हैं; वह कथन मुख्य भी है ।

गो. जी./जी. प्र./२१७–२१९/४७५/४ सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु याः प्रवृत्तयः मनोवचनयोः तदा ज्ञानवाक्प्रयोगजनने जीवप्रयत्नरूपप्रवृत्तीनां सत्यादि तन्नाम भवति सत्यमन इत्यादि । ...सम्यग्ज्ञानविषयोऽर्थः सत्यं यथा जलज्ञानविषयो जलं स्नानपानाद्यर्थक्रियासद्भावात् । मिथ्याज्ञानविषयोऽर्थः असत्यः यथा जलज्ञानविषयो मरीचिका जले जलं, स्नानपानाद्यर्थक्रियाविरहात् । सत्यासत्यज्ञानविषयोऽर्थः, उभयः सत्यासत्य इत्यर्थः यथा जलज्ञानविषयः कमण्डलुनि घटः । अत्र जलधारणार्थक्रियायाः सद्भावात् सत्यतायाः घटाकारविकलत्वादसत्यतायाश्च प्रतीतेः । अयं गौणार्थः अग्निर्माणवक इत्यादिवत् । अनुभयज्ञानविषयोऽर्थः अनुभयः सत्यासत्यार्थद्वयेनावक्तव्यः यथा किंचित्प्रतिभासते । सामान्येन प्रतिभासमानोऽर्थः स्वार्थक्रियाकारिविशेषनिर्णयाभावात् सत्य इति वक्तुं न शक्यते । सामान्य इति प्रतिभासाद् असत्य इत्यपि वक्तुं न शक्यते, इति जात्यन्तरम् अनुभयार्थः स्फुटं चतुर्थो भवति । एवं घटे घटविकल्पः सत्यः, घटे पटविकल्पोऽसत्यः, कुण्डिकायां जलधारणे घटविकल्पः उभयः, आमन्त्रणादिषु अहो देवदत्त इति विकल्प. अनुभयः । कालेनैव गृहीता सा कन्या किं मृत्युना अथवा धर्मणा इत्यनुभयः ।२१७। सत्यमनः, सत्यार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमन इत्यर्थः । तेन सत्यमनसा जनितो योगः–प्रयत्नविशेषः स सत्यमनोयोगः, तद्विपरीतः असत्यार्थविषयज्ञानजनितशक्तिरूपभावमनसा जनितप्रयत्नविशेषः मृषा असत्यमनोयोगः । उभय—सत्यमृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेषः उभयमनोयोगः ।२१८। असत्यमृषामनः, अनुभयार्थज्ञानजननशक्तिरूपं भावमन इत्यर्थः । तेन भावमनसा जनितो यो योगः प्रयत्नविशेषः स तु पुनः असत्यमृषामनोयोगो भवेत् अनुभयमनोयोग इत्यर्थः । इति चत्वारो मनोयोगाः कथिताः । —सत्य-असत्य उभय और अनुभय इन चार प्रकारके अर्थोंको जानने या कहनेमें जीवके मन व वचनकी प्रयत्नरूप जो प्रवृत्ति विशेष होती है, उसीको सत्यादि मन व वचन योग कहते हैं । तहाँ—यथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ सत्य है, जैसे जलज्ञानका विषयभूत जल, क्योंकि, उसमें स्नान, पान आदि अर्थ क्रियाका सद्भाव है । अयथार्थ ज्ञानगोचर पदार्थ असत्य है, जैसे जलज्ञानका विषयभूत मरीचिकाका जल, क्योंकि, उसमें स्नान, पान आदि अर्थक्रियाका अभाव है । यथार्थ और अयथार्थ दोनों ज्ञानगोचर अर्थ उभय अर्थात् सत्यासत्य हैं, जैसे जलज्ञानके विषयभूत कमण्डलुमें घटका ग्रहण, क्योंकि, जलधारण आदिरूप क्रियाके सद्भावसे यह घटकी नाईं सत्य है, परन्तु घटाकारके अभावसे असत्य है । प्रतिभाशाली देखकर बालकको अग्नि कहनेकी भाँति यह कथन गौण है । यथार्थ अयथार्थ दोनों ही प्रकारके निर्णयसे रहित ज्ञानगोचर पदार्थ अनुभय है, जैसे 'यह कुछ प्रतिभासित होता है ।' इस प्रकारके सामान्यरूपेण प्रतिभासित पदार्थमें स्वार्थ-क्रियाकारी विशेषके निर्णयका अभाव होनेसे उसे सत्य नहीं कह सकते और न ही उसे असत्य कह सकते हैं, इसलिए वह जात्यन्तरभूत अनुभय अर्थ है ।—इसी प्रकार घटमें घटका विकल्प सत्य है, घटमें पटका विकल्प असत्य है, कुण्डीमें जलधारण देखकर घटका विकल्प उभय है, और 'अहो देवदत्त !' इस प्रकारकी आमन्त्रणी आदिभाषा (दे० भाषा) में उत्पन्न होनेवाला विकल्प अनुभय है । अथवा 'वह कन्या कालके द्वारा ग्रहण की गयी है' ऐसा विकल्प अनुभय है, क्योंकि, कालका अर्थ मृत्यु व मासिकधर्म दोनों हो सकते हैं ।२१७। सत्यमन अर्थात् सत्यार्थज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भाव मन । ऐसे सत्यमनसे जनित योग या प्रयत्न विशेष सत्यमनोयोग है । उससे विपरीत असत्यार्थ-विषयक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भावमनसे जनित प्रयत्नविशेष असत्यमनोयोग है । उभयार्थ विषयक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भावमनसे जनित प्रयत्नविशेष उभयमनोयोग है । और अनुभयार्थ विषयक ज्ञानको उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप भावमनसे जनित प्रयत्नविशेष अनुभयमनोयोग है । इस प्रकार चार मनोयोग कहे गये ।

५. शुभ-अशुभ मनोयोग

बा.अ./गा. आहारादी सण्णा असुहमणं इदि विजाणेहि ।५०। किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो । ईसाविसादभावो असुहमणं त्ति य जिणा बेंति ।५१। रागो दोसो मोहो हस्सादी-णोकसायपरिणामो । थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा बेंति ।५२। मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं । वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ।५४। —आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, कृष्ण-नील व कापोत लेश्याएँ, इन्द्रिय सुखों में लोलुपता, ईर्षा, विषाद, राग, द्वेष, मोह, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, और नपुंसकवेद रूप परिणाम अशुभ मन हैं ।५०-५२। इन अशुभ भावों व सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ कर व्रत, समिति, शील और संयमरूप परिणाम होते हैं, उन्हें शुभ मन जानना चाहिए ।

दे. उपयोग/II/४/१,२ (जीव दया आदि शुभोपयोग हैं और विषय कषाय आदिमें प्रवृत्ति अशुभोपयोग हैं ।)

दे. प्रणिधान—(इन्द्रिय विषयों में परिणाम तथा क्रोधादि कषाय अशुभ प्रणिधान हैं और व्रत समिति गुप्तिरूप परिणाम शुभ प्रणिधान हैं ।)

रा. वा./६/३/१,२/पृष्ठ/पंक्ति वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोगः । (५०६/३३) । अर्हदादिभक्तितपोरुचिश्रुतविनयादिः शुभो मनोयोगः । (५०७/३) । —हिंसक विचार, ईर्षा, असूया आदि अशुभ मनयोग हैं और अर्हन्त भक्ति, तपकी रुचि, श्रुत विनयादि विचार शुभ मनोयोग हैं । (स.सि/६/३/६१९/११) ।

६. मनोज्ञान व मनोयोगमें अन्तर

ध०/१/१,१,५०/२८३/१ पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्दृश्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसंबन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् । —प्रश्न—

पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके बिना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ? उत्तर—यदि ऐसा है तो होने दो, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योग-को मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु मनके निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्न विशेष होता है, वह यहाँ पर योग रूपसे विवक्षित है।

गो.जी./जी प्र./७०३/११३७/२० लब्ध्युपयोगलक्षणं भावमनः तद्व्यापारो मनोयोगः।—लब्धि व उपयोग लक्षणवाला तो भावमन है और उसका व्यापार विशेष मनोयोग है।

७. मरण या व्याघातके साथ ही मन व वचन योग भी समाप्त हो जाते हैं

ध. ४/१,५,१७५/४१६/६ मुदे वाघादिदे वि कायजोगं मोत्तूण अण्णजोगा-भावो।—मरण अथवा व्याघात होनेपर भी काययोगको छोड़कर अन्य योगका अभाव है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. मनोयोग सम्बन्धी विषय। —दे० योग
२. केवलीमें मनोयोग विषयक। —दे० केवली/५
३. मनोयोगमें गुणस्थान जीवसमास मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
४. मनोयोगकी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
५. मनोयोगियोंमें कर्मोंका बन्ध, उदय, सत्त्व।—दे० वह वह नाम।

मनोरम—१. किन्नर नामक व्यन्तर जातिका एक भेद—दे. किन्नर; २. सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे. सुमेरु।

मनोरमा—१. ह.पु./१५/श्लोक नं. विजयार्धपर मेघपुरके राजा पवनवेगकी पुत्री थी।२७। इसका विवाह राजा सुमुखके जीवके साथ हुआ, जिसने पूर्वभवमें इसका हरण कर लिया था।।३३। पूर्व जन्मका असली पति जो उसके वियोगमें दीक्षित होकर देव हो गया था, पूर्व वैरके कारण उन दोनोंको उठा कर चम्पापुर नगरमें छोड़ गया और इनकी सारी विद्याएँ हरकर ले गया। वहाँ उनके हरि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने हरिवंशकी स्थापना की।३८-५८। २. वरांग-चरित्र/सर्ग/श्लोक—राजा देवसेनकी पुत्री थी। वरांगपर मोहित हो गयी। (११/४०)। वरांगके साथ विवाह हुआ। (२०/४२)। अन्तमें दीक्षा धारण की। (२६/१४)। तपके प्रभावसे स्त्रीलिंग छेद देव हुआ। (३१/११४)।

मनो वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

मनो विनय—दे० विनय/१।

मनोवेग—१. वृहत् कथाकोश/कथा नं ७/पृ. मथुरा नगरीमें मुनि-गुप्त द्वारा रेवतीको आशीष और भव्यसेन मुनिको कुछ नहीं कहला भेजा।२०। इस प्रकार इसने उन दोनोंकी परीक्षा ली।२७। २. म. पु./७५/श्लोक—पूर्व भव नं. ४ में शिवभूति ब्राह्मणका पुत्र था।७२। पूर्वभव नं. ३ में महाबल नामका राजपुत्र हुआ।८१। पूर्व भव नं. २ में नागदत्त नामका श्रेष्ठीपुत्र हुआ।६६। पूर्वभव नं. १ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ।१६२। वर्तमान भवमें मनोवेग होकर पूर्व स्नेहवश चन्दनाका हरण किया।१६५-१७३।

मनोवेगा—भगवान् चन्द्रप्रभुकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३।

मनोहर—महोरग जातिका एक व्यन्तर देव—दे० महोरग।

मनोहरण—यक्षोंका एक भेद—दे० यक्ष।

ममकार—त. अनु/१४ शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनि-तेषु। आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः।१४।—सदा अनात्मीय, ऐसे कर्मजनित स्वशरीरादिकमें जो आत्मीय अभिनिवेश है, उसका नाम ममकार है, जैसे मेरा शरीर। (द्र. सं./टी./४१/१६६/२)।

प्र.सा./ता.वृ./१४/१२२/१६ मनुष्यादिशरीरं तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चे-न्द्रियविषयसुखस्वरूपं च ममेति ममकारो भण्यते।—'मनुष्यादि शरीर तथा उस शरीरके आधारसे उत्पन्न पञ्चेन्द्रियोंके विषयभूत सुखका स्वरूप सो मेरा है' इसे ममकार कहते हैं।

ममत्व—स्व. स्तो./टी./१० ममेत्यस्य भावो ममत्वं।—मेरेपनेका भाव ममत्व कहलाता है।

मय—प.पु./८/श्लोक—रावणका श्वसुर व मंदोदरी का पिता था।८२। रावणकी मृत्युके पश्चात् दीक्षित हो गया /६०।

मरण—लोक प्रसिद्ध मरण तद्भव मरण कहलाता है और प्रतिक्षण आयुका क्षीण होना नित्य मरण कहलाता है। यद्यपि संसारमें सभी जीव मरणधर्मा हैं, परन्तु अज्ञानियोंकी मृत्यु बालमरण और ज्ञानियोंकी मृत्यु पण्डित मरण है, क्योंकि, शरीर द्वारा जीवका त्याग किया जानेसे अज्ञानियोंकी मृत्यु होती है और जीव द्वारा शरीरका त्याग किया जानेसे ज्ञानियोंकी मृत्यु होती है, और इसीलिए इसे समाधिमरण कहते हैं। अतिवृद्ध या रोगग्रस्त हो जानेपर जब शरीर उपयोगी नहीं रह जाता तो ज्ञानीजन धीरे-धीरे भोजन-का त्याग करके इसे कृश करते हुए इसका भी त्याग कर देते हैं। अज्ञानीजन इसे अपमृत्यु समझते हैं, पर वास्तवमें कषायोंके क्षीण हो जानेपर सम्यग्दृष्टि जागृत हो जानेके कारण यह अपमृत्यु नहीं बल्कि सल्लेखना मरण है जो उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्यके भेदसे तीन विधियों द्वारा किया जाता है। यद्यपि साधारणतः देखनेपर अप-मृत्यु या यह पण्डितमरण अकालमरण सरीखा प्रतीत होता है, पर ज्ञाता द्रष्टा रहकर देखनेपर वह अकाल हानेपर भी अकाल नहीं है।

१	**भेद व लक्षण**
१	मरण सामान्यका लक्षण।
२	मरणके भेद।
३	नित्य व तद्भव मरणके लक्षण।
४	बाल व पण्डितमरण सामान्य व उनके भेदों के लक्षण।
*	भक्त प्रत्याख्यान इंगनी व प्रायोपगमन मरणके लक्षण। —दे० सल्लेखना/३।
*	च्युत, च्यावित व त्यक्त शरीरके लक्षण। —दे० निक्षेप/५।
५	अन्य भेदोंके लक्षण।
२	**मरण निर्देश**
१	आयुका क्षय ही वास्तव में मरण है।
२	चारों गतियोंमें मरणके लिए विभिन्न शब्द।
३	पण्डित व बाल आदि मरणोंकी इष्टता-अनिष्टता।

१. भेद व लक्षण

१. मरण व सामान्यका लक्षण

स. सि./७/२२/३६२/१२ स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात्संक्षयो मरणम्। —अपने परिणामोंसे प्राप्त हुई आयुका, इन्द्रियोंका और मन, वचन, काय इन तीन बलोंका कारण विशेषके मिलनेपर नाश होना मरण है। (स. सि./५/२०/२८६/२); (रा. वा./५/२०/४/४७४/२६; ७/२२/१/५५०/१७); (चा. सा./४७/३); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/१६)।

ध. १/१,१,३३/२३४/२ आयुषः क्षयस्य मरणहेतुत्वात्। —आयु कर्मके क्षयको मरणका कारण माना है। (ध.-१३/५,५,६३/३३३/११)।

भ. आ./वि./२५/८५,८६/पंक्ति मरणं विगमो विनाशः विपरिणाम इत्येकोऽर्थः।१। अथवा प्राणपरित्यागो मरणम्।१३। अण्णाउगोदये वा मरदि य पुव्वाउणासे वा।(उद्धृत गा० १ पृ० ८६)। अथवा अनुभूयमानायुःसंज्ञकपुद्गलगलनं मरणम्। —मरण, विगम, विनाश, विपरिणाम ये एकार्थवाचक हैं। अथवा प्राणोंके परित्यागका नाम मरण है। अथवा प्रस्तुत आयुसे भिन्न अन्य आयुका उदय आनेपर पूर्व आयुका विनाश होना मरण है। अथवा अनुभूयमान आयु नामक पुद्गलका आत्माके साथसे विनष्ट होना मरण है।

२. मरणके भेद

भ. आ./मू./गा. पंडिदपंडिदमरणं पंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चेव। बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च।२६। पाओपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव। तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।२९। दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं।...।६५। तत्थ पढमं णिरुद्धं णिरुद्धतरयं तहा हवे बिदियं। तदियं परमणिरुद्धं एवं तिविधं अवीचारं।२०१२। दुविधं तं पि अणीहारिमं पगासं च अप्पगासं च।...।२०१८। —मरण पाँच प्रकारका है—पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल, बालबाल।२६। तहाँ पण्डितमरण तीन प्रकारका है—प्रायोपगमन, भक्तप्रत्याख्यान व इंगिनी।२९। इनमेंसे भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकारका है—सविचार और अविचार।६५। उनमेंसे अविचार तीन प्रकारका है— निरुद्ध, निरुद्धतर

व परम निरुद्ध ।२०१२। इनमें भी निरुद्धाविचार दो प्रकार है—प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप ।२०१६। (मू. आ./६१); (दे० निक्षेप/५/२)।

रा. वा./७/२२/२/५५०/११ मरणं द्विविधम्—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। —मरण दो प्रकारका है—नित्यमरण और तद्भवमरण। (चा. सा./४७/३)।

भ. आ./वि./२५/८६/१०,१३ मरणानि सप्तदश कथितानि ।(८६/१०)।—१. अवीचिमरणं, २. तद्भवमरणं, ३. अवधिमरणं, ४. आदिअंतायं, ५. बालमरणं, ६. पंडितमरणं, ७. आसण्णमरणं, ८ बालपंडिदं, ९. सशल्यमरणं, १०. बलायमरणं, ११. वोसट्टमरणं, १२. विप्पाणसमरणं, १३. गिद्धपुट्ठमरणं, १४. भत्तपच्चक्खाणं, १५. पाउवगमणमरणं, १६. इंगिणीमरणं, १७. केवलिमरणं चेदि ।(८६/१३)। —मरण १७ प्रकारके बताये गये हैं—१. अवीचिमरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आदिअन्तिममरण, ५. बालमरण, ६. पण्डितमरण, ७. ओसण्ण मरण, ८. बालपण्डितमरण, ९. सशल्यमरण, १०. बालाकामरण, ११. वोसट्टमरण, १२. विप्पाणसमरण, १३. गिद्धपुट्ठमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. प्रायोपगमनमरण, १६. इंगिनीमरण, १७. केवलिमरण। (तहाँ इनके भी उत्तर भेद निम्न प्रकार हैं)। (भा. पा./टी./३२/१४७-१४९); (विशेष दे० उस-उस मरणके लक्षण)।
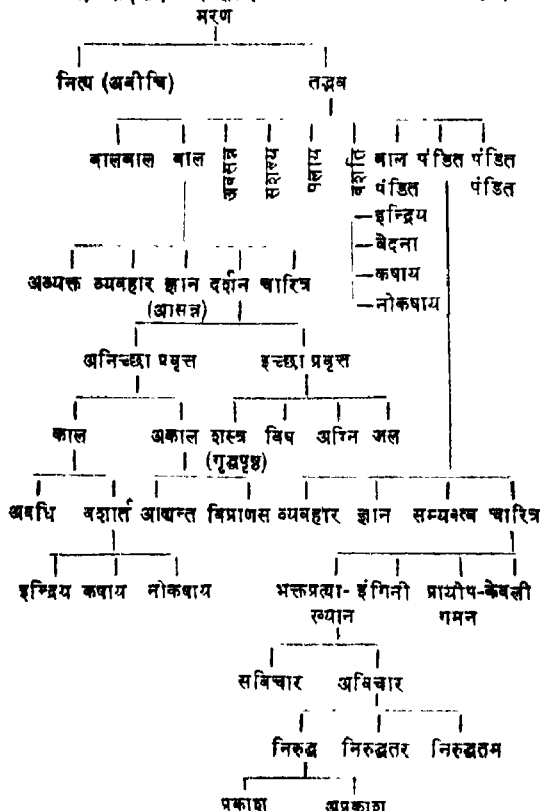
३. नित्य व तद्भव मरणके लक्षण

रा. वा./७/२२/२/५५०/२० तत्र नित्यमरणं समयसमये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्। —प्रतिक्षण आयु आदि प्राणोंका बराबर क्षय होते रहना नित्यमरण है (इसको ही भ. आ. व भा. पा. में 'अवीचिमरण' के नामसे कहा गया है)। और नूतन शरीर पर्यायको धारण करनेके लिए पूर्व पर्यायका नष्ट होना तद्भवमरण है। (भ. आ./वि./२५/८६/१७); (चा. सा./४७/४); (भा. पा./टी./३२/१४७/६)।

४. बाल व पण्डितमरण सामान्य व इनके भेदोंके लक्षण

भ. आ./मू./गा. पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो। विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण ।२७। पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव। तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ।२९। अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि। मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ।३०। इह जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह। तं तेसिं बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं ।१९६२। —क्षीणकषाय केवली भगवान् पण्डितपण्डित मरणसे मरते हैं। (भ. आ./मू./२११६) विरताविरत जीवके मरणको बालपण्डितमरण कहते हैं। (विशेष दे० अगला सन्दर्भ) ।२७। (भ. आ./मू./२०७८); (भ. आ./वि./२५/८८/२१)। चारित्रवान् मुनियोंको पण्डित मरण होता है। वह तीन प्रकारका है—भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन (इन तीनोंके लक्षण दे० सल्लेखना) ।२९। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके मरणको बालमरण कहते हैं। और मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबाल मरण कहते हैं ।३०। अथवा रत्नत्रयका नाश करके समाधिमरणके बिना मरना बालमरण है ।१९६२।

भ. आ./मू./२०८३-२०८४/१८०० आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए। णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी ।२०८३। आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहित्तु संथारं। जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं ।२०८४। —इन १२ व्रतोंको पालनेवाले गृहस्थको सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर अथवा बन्धुओंने जिसको दीक्षा लेनेकी अनुमति नहीं दी है, ऐसे प्रसंगमें शरीर सल्लेखना और कषाय सल्लेखना न करके भी आलोचना कर, निःशल्य होकर घरमें ही संस्तरपर आरोहण करता है। ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपण्डितमरण कहते हैं ।२०८३-२०८४।

मू. आ./गा. जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णाय वक्कभावा य। असमाहिणा मरंते ण हु ते आराहिया भणिया ।६०। सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलणं जलप्पवेसो य। अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणी ।७४। णिमम्मो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो। अणिदाणो दिट्ठिसंपण्णो मरंतो आराहओ होइ ।१०३। —जो नष्टबुद्धिवाले अज्ञानी आहारादिकी वांछारूप संज्ञावाले मन वचन कायकी कुटिलतारूप परिणामवाले जीव आर्त रौद्र ध्यानरूप असमाधिमरण कर परलोकमें जाते हैं, वे आराधक नहीं हैं ।६०। शस्त्रसे, विषभक्षणसे, अग्नि द्वारा जलनेसे, जलमें डूबनेसे, अनाचाररूप वस्तुके सेवनसे अपघात करना जन्ममरणरूप दीर्घ संसारको बढ़ानेवाले हैं अर्थात् बालमरण हैं ।७४। निर्मम, निरहंकार, निष्कषाय, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित, सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव मरते समय आराधक होता है, अर्थात् पण्डित मरणसे मरता है ।१०३।

भ. आ./वि./२५/८७/२१ बालमरणमुच्यते—बालस्य मरणं, स च बालः पञ्चप्रकारः—अव्यक्तबालः, व्यवहारबालः, ज्ञानबालः, दर्शनबालः, चारित्रबालः इति। अव्यक्तः शिशुः, धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽव्यक्तबालः। लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबालः। मिथ्यादृष्टिः सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिताः दर्शनबालाः। वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबालाः। अचारित्राः प्राणभृतश्चारित्रबालाः।...दर्शनबालस्य पुनः संक्षेपतो द्विविधं मरणमिष्यते। इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च। तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन,...विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणः; काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषो तद्द्वितीयम्।...पण्डितमरणमुच्यते—व्यवहारपण्डितः, सम्यक्त्वपण्डितः, ज्ञानपण्डितश्चारित्रपण्डित. इति चत्वारो विकल्पाः। लोकवेदसमय-

व्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डितः, अथवानेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धिगुणसमन्वितः व्यवहारपण्डितः, क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपण्डितः। मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञानेषु परिणतः ज्ञानपण्डितः। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायययाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपण्डितः। —अज्ञानी जीवके मरणको बालमरण कहते हैं। वह पाँच प्रकारका है—अव्यक्त, व्यवहार, ज्ञान, दर्शन व चारित्रबालमरण। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको जानता नहीं तथा उनका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है वह अव्यक्तबाल है। लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहारबाल है। तत्त्वार्थश्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनबाल है। जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञानबाल हैं। चारित्रहीन प्राणीको चारित्रबाल कहते हैं। दर्शनबालमरण दो प्रकारका है—इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि, धूम, विष, पानी, गिरिप्रपात, विरुद्धाहारसेवन इत्यादि द्वारा इच्छापूर्वक जीवनका त्याग इच्छा प्रवृत्त दर्शनबाल मरण है। और योग्य कालमें या अकालमें ही मरनेके अभिप्रायसे रहित या जीनेकी इच्छासहित दर्शनबालोंका जो मरण होता है वह अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है। पण्डितमरण चार प्रकारका है—व्यवहार, सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्रपण्डित मरण। लोक, वेद, समय इनके व्यवहारमें जो निपुण हैं वे व्यवहारपण्डित हैं, अथवा जो अनेक शास्त्रोंके जानकार तथा शुश्रूषा, श्रवण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे युक्त हैं, उनको व्यवहारपण्डित कहते हैं। क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जीव दर्शनपण्डित होता है। मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत हैं उनको ज्ञानपण्डित कहते हैं। सामायिक छेदोपस्थापना आदि पाँच प्रकार चारित्रके धारक चारित्रपण्डित हैं। (भ. आ./टी./३२/१४७/२०)।

५. अन्य भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./२५/८७/१३ यो यादृश मरणं सांप्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तदवधिमरणम्। तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणम् इति।...यदायुर्यथाभूतमुदेति सांप्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैस्तथाभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणम्। यत्सांप्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणम्।...सांप्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणं उच्यते, आदिशब्देन सांप्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते तस्य अन्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणम् अभिधीयते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतं सांप्रतमुपैति मृतिं यथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणम्।

भ. आ./वि./२५/८८/१२ निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणमासण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः, स्वच्छन्दाः, कुशीलाः, संसक्ताश्च गृह्यन्ते।... सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति।...द्रव्यशल्येन सह मरणं पञ्चानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च।...भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्षते।...एतच्च संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति।...विनयवैयावृत्त्यादावकृतादरः...ध्याननमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं पलायमरणं। सम्यक्त्वपण्डिते, ज्ञानपण्डिते, चरणपण्डिते च बलायमरणमपि संभवति। ओसण्णमरणं ससल्लमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम्। तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति।... वसट्टमरणं नाम—आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं। तत्पुनश्चतुर्विधं—इंदियवसट्टमरणं, वेदणावसट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, नोकसायवसट्टमरणम् इति। इंदियवसट्टमरणं पञ्चविधं इन्द्रियविषयापेक्षया... मनोज्ञेषु रक्तोऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतमिति।...इति इन्द्रियानिन्द्रियवशार्तमरणविकल्पाः। वेदणावसट्टमरणं द्विभेदं समासतः। सातवेदनावशार्तमरणं असातवेदनावशार्तमरणं। शारीरे मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं दुःखवशार्तमरणमुच्यते...तथा शारीरे मानसे च सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवशार्तमरणम्। कषायभेदात्कषायवशार्तमरणं चतुर्विधं भवति। अनुबन्धरोषो य आत्मनि परत्र उभयत्र वा मरणवशोऽपि मरणवशः भवति। तस्य क्रोधवशार्तमरणं भवति।... हास्यरत्यरति...मूढमतेर्मरणं नोकषायवशार्तमरणं।.. मिथ्यादृष्टेरेतद्बालमरणं भवति। दर्शनपण्डितोऽपि अविरतसम्यग्दृष्टिः संयतासंयतोऽपि वशार्तमरणमुपैति तस्य तद्बालपण्डितं भवति दर्शनपण्डितं वा। अप्रतिषिद्धे अननुज्ञाते च द्वे मरणे। विप्पाणसं गिद्धपुट्ठमिति संज्ञिते। दुर्भिक्षे, कान्तारे...दुष्टनृपभये...तिर्यगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्रतनाशादिचारित्रदूषणे च जाते संविग्नः पापभीरुः कर्मणामुदयमुपस्थितं ज्ञात्वा तं सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासत्युपाये... न वेदनामसंक्लिष्टः सोढुं उत्सहेत ततो रत्नत्रयाराधनाच्युतिर्ममेति निश्चितमतिर्निर्मायश्चरणदर्शनविशुद्धः...ज्ञानसहायोऽनिदानः अर्हदन्तिके, आलोचनामासाद्य कृतशुद्धिः, सुलेश्यः प्राणापाननिरोधं करोति यत्तद्विप्पाणसं मरणमुच्यते। शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गिद्धपुट्ठमिति।—जो प्राणी जिस तरहका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है, वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त होगा तो ऐसे मरणको अवधिमरण कहते हैं। यह दो प्रकारका है—सर्वावधि व देशावधि। प्रकृति स्थिति अनुभव व प्रदेशोंसहित जो आयु वर्तमान समयमें जैसी उदयमें आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बँधकर उदयमें आवेगी तो उसको सर्वावधिमरण कहते हैं। यदि वही आयु आंशिकरूपसे सदृश होकर बँधे व उदयमें आवेगी तो उसको देशावधि मरण कहते है। यदि वर्तमानकालके मरण या प्रकृत्यादिके सदृश उदय पुनः आगामी कालमें नहीं आवेगा, तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। मोक्षमार्गमें स्थित मुनियोंका संघ जिसने छोड़ दिया है ऐसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील व संसक्त साधु अवसन्न कहलाते हैं। उनका मरण अवसन्नमरण है। सशल्य मरणके दो भेद हैं—द्रव्यशल्य व भावशल्य। तहाँ माया मिथ्या आदि भावोंको भावशल्य और उनके कारणभूत कर्मोंको द्रव्यशल्य कहते हैं। भावशल्यकी जिनमें सम्भावना नहीं है, ऐसे पाँचों स्थावरों व असंज्ञी त्रसोंके मरणको द्रव्यशल्यमरण कहते हैं। भावशल्यमरण संयत, संयतासंयत व अविरत सम्यग्दृष्टिको होता है। विनय वैयावृत्त्य आदि कार्योंमें आदर न रखनेवाले तथा इसी प्रकार सर्व कृतिकर्म, व्रत, समिति आदि, धर्मध्यान व नमस्कारादिसे दूर भागनेवाले मुनिके मरणको पलायमरण या बलाकामरण कहते हैं। सम्यक्त्वपण्डित, ज्ञानपण्डित व चारित्रपण्डित ऐसे लोक इस मरणसे मरते हैं। अन्यके सिवाय अन्य भी इस मरणसे मरते हैं। आर्त रौद्र भावोंयुक्त मरना वशार्तमरण है। यह चार प्रकार है—इन्द्रियवशार्त, वेदनावशार्त, कषायवशार्त और नोकषायवशार्त। पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियवशार्त पाँच प्रकारका है। मनोहर विषयोंमें आसक्त होकर और अमनोहर विषयोंमें द्विष्ट होकर जो मरण होता है वह श्रोत्र आदि इन्द्रियों व मन सम्बन्धी वशार्तमरण है। शारीरिक व मानसिक सुखोंमें अथवा दुःखोंमें अनुरक्त होकर मरनेसे वेदनावशार्त सात व असातके भेदसे दो प्रकारका है। कषायोंके क्रोधादि भेदोंकी अपेक्षा कषायवशार्त चार प्रकारका है। स्वतः में दूसरेमें अथवा दोनोंमें उत्पन्न हुए क्रोधके वश मरना क्रोधकषायवशार्त है। (इसी प्रकार आठ मदोंके वश मरना मानवशार्त है, पाँच प्रकारकी मायासे मरना मायावशार्त और परपदार्थोंमें ममत्वके वश मरना लोभवशार्त है)। हास्य रति अरति आदिसे जिसकी बुद्धि मूढ हो गयी है ऐसे व्यक्तिका मरण नोकषायवशार्त मरण है। इस मरणको बालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और

संयतासंयत जीव भी वशार्तमरणको प्राप्त हो सकते हैं। उनका यह मरण बालपण्डित मरण अथवा दर्शनपण्डितमरण समझना चाहिए। विप्राणस व गृद्धपृष्ठ नामके दोनों मरणोंका न तो आगममें निषेध है और न अनुज्ञा। दुष्कालमें अथवा दुर्लंघ्य जंगलमें, दुष्ट राजाके भयसे, तिर्यंचादिके उपसर्गमें, एकाकी स्वयं सहन करनेको समर्थ न होनेसे, ब्रह्मव्रतके नाशसे चारित्रमें दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारभीरु व्यक्ति कर्मोंका उदय उपस्थित हुआ जानकर जब उसको सहन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं पाता है, और न ही उसको पार करनेका कोई उपाय सोच पाता है, तब 'वेदनाको सहनेसे परिणामोंमें संक्लेश होगा और उसके कारण रत्नत्रयकी आराधनासे निश्चय ही मैं च्युत हो जाऊँगा' ऐसी निश्चल मतिको धारते हुए, निष्कपट होकर चारित्र और दर्शनमें निष्कपटता धारण कर धैर्य युक्त होता हुआ, ज्ञानका सहाय लेकर निदान रहित होता हुआ अर्हन्त भगवान्के समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है। निर्मल लेश्याधारी वह व्यक्ति अपने श्वासोच्छ्वासका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है। ऐसे मरणको विप्राणसमरण कहते हैं। उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राण त्याग किया जाता है वह गृद्धपृष्ठमरण है। (भ. आ./टी./२९/११३/११)।

२. मरण निर्देश

१. आयुका क्षय ही वास्तविक मरण है

ध. १/१,१,५६/२९२/१० न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगमरणम्। —आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं कहा गया है। (अथवा-पूर्णरूपेण वियोग ही मरण है एकदेश वियोग नहीं। और इस प्रकार समुद्घात आदिको मरण नहीं कह सकते। —दे० आहारक।३/५। अथवा नारकियोंके शरीरका भस्मीभूत हो जाना मात्र उनका मरण नहीं है, बल्कि उनके आयु कर्मका क्षय ही वास्तवमें मरण है—दे० मरण/४/३)।

२. चारों गतियोंमें मरणके लिए विभिन्न शब्दोंका प्रयोग

ध. ६/१,९-९,७६-२४३/४७७/२२ विशेषार्थ—सूत्रकार भूतबलि आचार्यने भिन्न-भिन्न गतियोंसे छूटनेके अर्थमें सम्भवतः गतियोंकी हीनता व उत्तमताके अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है (दे० मूल सूत्र—७३-२४३)। नरकगति, व भवनत्रिकदेवगति हीन हैं, अतएव उनसे निकलनेके लिए उद्वर्तन अर्थात् उद्धार होना कहा है। तिर्यंच और मनुष्य गतियाँ सामान्य हैं, अतएव उनसे निकलनेके लिए काल करना शब्दका प्रयोग किया है। और सौधर्मादिक विमानवासियोंकी गति उत्तम है, अतएव वहाँसे निकलनेके लिए च्युत होना शब्दका प्रयोग किया गया है। जहाँ देवगति सामान्यसे निकलनेका उल्लेख किया गया है वहाँ भवनत्रिक व सौधर्मादिक दोनोंकी अपेक्षा करके 'उद्वर्तित और च्युत' इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

३. पण्डित व बाल आदि मरणोंकी इष्टता अनिष्टता

भ. आ./मू./२८/११२ पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव। एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति।२८। —पण्डित-पण्डित, पण्डित व बालपण्डित इन तीन मरणोंकी जिनेन्द्रदेव प्रशंसा करते हैं।

मू. आ./६१ मरणे विराधिदे देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही। संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले।६१। —मरण समय सम्यक्त्व आदि गुणोंकी विराधना करनेवाले दुर्गतियोंको प्राप्त होते हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते हैं, क्योंकि रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

दे० मरण/१/४ (विप्राणस व गृद्धपृष्ठमरणका आगममें न निषेध है और न अनुज्ञा।)

३. गुणस्थानों आदिमें मरण सम्बन्धी नियम

१. आयुबन्ध व मरणमें परस्पर गुण स्थान सम्बन्धी

ध. ८/३,८४/१४५/४ जेण गुणेणाउअं बंधो संभवदि तेणेव गुणेण मरदि, ण अण्णगुणेणेत्ति परमगुरूवदेसादो। ण उवसामगेहिं अणेयंतो, सम्मत्तगुणेण आउअंधाविरोहिणा णिस्सरणे विरोहाभावादो। —१. जिस गुणस्थानके साथ आयुबन्ध संभव है उसी गुणस्थानके साथ जीव मरता है। (ध. ४/१,५,४६/३६३/३)। २. अन्य गुणस्थानके साथ नहीं (अर्थात् जिस गतिमें जिस गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, उस गुणस्थान सहित उस गतिसे निर्गमन भी नहीं होता—(ध. ६/४६३/८) इस नियममें उपशामकोंके साथ अनैकान्तिक दोष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, आयु बन्धके अविरोधी सम्यक्त्व गुणके साथ निकलनेमें कोई विरोध नहीं है। (ध. ६/१,९-९,१३०/४६३/८)।

२. भिन्न स्थानोंमें मरण सम्भव नहीं

गो. क./मू./५६०-५६१/७६२ मिस्साहारस्सयया खवगा चडमाणपढमपुव्वा य। पढमुवसमया तमतमगुणपडिवण्णा य ण मरंति।५६०। अणसंजोजिदमिच्छे मुहुत्तअंतं तु णत्थि मरणं तु। किद करणिज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा।५६१। —आहारकमिश्र काययोगी, चारित्रमोह क्षपक, उपशमश्रेणी आरोहणमें अपूर्वकरणके प्रथम भागवाले प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि, सप्तमपृथिवीका नारकी सम्यग्दृष्टि, अनन्तानुबन्धी विसंयोजनके अन्तर्मुहूर्त कालपर्यन्त तथा कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि इन जीवोंका मरण नहीं होता है।

३. सासादन गुणस्थानमें मरण सम्बन्धी

ध. १/१,१,८३/३२४/१ नापि बद्धनरकायुष्कः सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते तस्य तस्मिन्गुणे मरणाभावात्। —नरक आयुका जिसने पहले बन्ध कर लिया है, ऐसा जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता (विशेष दे० जन्म/४/१) क्योंकि ऐसे जीवका सासादन सहित मरण ही नहीं होता।

ध. ६/१,९-८,१४/३३१/५ आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतुं, णियमा देवगदिं गच्छदि।...हंदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरयतिरिक्ख-मणुसगदीओ ण गच्छदि। —(द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि मरता है तो नरक तिर्यंच व मनुष्य इन तीन गतियोंको प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं होता है। नियमसे देवगतिको ही प्राप्त करता है। क्योंकि इन तीन आयुओंमेंसे एक भी आयुका बन्ध हो जानेके पश्चात् जीव कषायोंको उपशमानेके लिए समर्थ नहीं होता है। इसी कारण वह इन तीनों गतियोंको प्राप्त नहीं करता है। (दूसरी मान्यताके अनुसार ऐसे जीव सासादन गुणस्थानको ही प्राप्त नहीं होते—दे० सासादन)। (ल. सा./मू./३४९-३५०/४३८)।

गो. क./जी. प्र./५४८/७१८/१८ सासादना भूत्वा प्राग्बद्धदेवायुष्का मृत्वा बद्धायुष्काः केचिद्देवायुर्बध्वा च देवनिर्वृत्त्यपर्याप्तसासादनाः स्युः। —(पूर्वोक्त द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे सासादनको प्राप्त होनेवाला जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि पहले ही देवायुका बन्ध कर चुका है तो मरकर अन्यथा कोई-कोई जिन्होंने पहले कोई आयु नहीं बाँधी है, अब देवायुको बाँधकर देवगतिमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार निर्वृत्त्यपर्याप्त देवोंमें सासादन गुणस्थान होता है।

४. मिश्र गुणस्थानमें मरणके अभाव सम्बन्धी

ध. ४/१,५,१७/गा. ३३/३४९ ण य मरइ णेव संजमुवेइ तह देससंजमं चावि। सम्मामिच्छादिट्ठी ण उ मरणंतं समुग्घादो।३३। —सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न तो मरता है और न मारणान्तिक समुद्घात ही करता है। (गो. जी./मू./२४/४९)।

ध. ५/१,६,३४/३१/१ जो जीवो सम्मादिट्ठी होदूण आउअं बंधिय सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो सम्मत्तेणेव णिप्फददि। अह मिच्छादिट्ठी होदूण आउअं बंधिय सम्मामिच्छत्तं पडिवज्जदि, सो मिच्छत्तेणेव णिप्फददि। —जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह सम्यक्त्वके साथ ही उस गतिसे निकलता है। अथवा जो मिथ्यादृष्टि होकर और आयुको बाँधकर सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होता है, वह मिथ्यात्वके साथ ही निकलता है। (गो. जी./मू./२३-२४/४८); (गो. क./जी. प्र./४१६/६०५/३)।

ध. ८/३,८४/१५५/२ सम्मामिच्छत्तगुणेण जीवा किण्ण मरंति। तत्थाउस्स बंधाभावादो। —सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें क्योंकि आयुका बन्ध नहीं होता है, इसलिए वहाँ मरण भी नहीं होता है। (और भी दे० मरण/३/१)।

गो. जी./जी. प्र./२४/४१/१३ अन्येषामाचार्याणामभिप्रायेण नियमो नास्ति। —अन्य किन्हीं आचार्योंके अभिप्रायसे यह नियम नहीं है, कि वह जीव आयुबन्धके समयवाले गुणस्थानमें ही आकर मरे। अर्थात् सम्यक्त्व व मिथ्यात्व किसी भी गुणस्थानको प्राप्त होकर मर सकता है।

५. प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें मरणके अभाव सम्बन्धी

क. पा. सुत्त/१०/गा. ९७/६३१ उवसामगो च सव्वो णिव्वाघादो। —दर्शनमोहके उपशामक सर्व ही जीव निर्व्याघात होते हैं, अर्थात् उपसर्गादिके आनेपर भी विच्छेद या मरणसे रहित होते हैं। (ध. ६/१,९-८,९/गा. ४/२३९); (ल. सा./मू./९९/१३६); (दे. मरण/३/२)

ध. १/१,१,१७१/४०७/८ मिथ्यादृष्टय उपात्तौपशमिकसम्यग्दर्शनाः… सन्तः…तेषां तेन सह मरणाभावात्। —मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शनको ग्रहण करके (वहाँ देवगतिमें उत्पन्न नहीं होते) क्योंकि उनका उस सम्यग्दर्शन सहित मरण नहीं होता। (ध. २/१,१/४३०/७); (गो. जी./जी. प्र./६९५/११३१/१५)।

६. अनन्तानुबन्धी विसंयोजकके मरणाभाव सम्बन्धी

पं. सं./प्रा./४/१०३ आवलियमेत्तकालं अणंतबंधीण होइ णो उदओ। अंतोमुहुत्तमरणं मिच्छत्तं दंसणापत्ते ॥१०३॥ —जो अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होता है, उसको एक आवलीमात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय नहीं होता है। ऐसा मिथ्यादृष्टिका अर्थात् सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले जीवका अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण नहीं होता है।

क. पा. २-२२/§ ११९/१०१/६ अंतोमुहुत्तेण विणा संजुत्त बिदियसमए चेव मरणाभावादो। —अनन्तानुबन्धीका पुनः संयोजन होनेपर अन्तर्मुहूर्त काल हुए बिना दूसरे समयमें ही मरण नहीं होता है। (क. पा. २/२-२२/§१२५/१०८/३); (गो. क./मू./५६१/७६३)।

७. उपशम श्रेणीमें मरण सम्बन्धी

रा. वा./१०/१/३/६४०/७ सर्वमोहप्रकृत्युपशमात् उपशान्तकषायव्यपदेशभाग्भवति। आयुषः क्षयात् म्रियते। —मोहकी सर्व प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर उपशान्तकषाय संज्ञावाला होता है। आयुका क्षय होनेपर वह मरणको भी प्राप्त हो जाता है।

ध. २/१,१/४३०/८ चारित्तमोहउवसामगा मदा देवेसु उववज्जंति। —चारित्रमोहका उपशम करनेवाले जीव मरते हैं तो देवोंमें उत्पन्न होते हैं। (ल. सा./मू./३०८/३९०)।

ध. ४/१,५,२९/३५२/७ अपुव्वकरणपढमसमयादो जाव णिद्दापयलाणं बंधो ण वोच्छिज्जदि ताव अपुव्वकरणाणं मरणाभावा। —अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर जबतक निद्रा और प्रचला, इन दोनों प्रकृतियोंका बन्ध व्युच्छिन्न नहीं हो जाता है (अर्थात् अपूर्वकरणके प्रथम भागमें) तबतक अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती संयतोंका मरण नहीं होता है। (और भी दे०/मरण/३/२); (गो. जी./जी. प्र./५५/१४८/१२)।

ध. १३/५,४,३१/१३०/८ उवसमसेडीदो ओदिण्णस्स उवसमसम्माइट्ठिस्स मरणे संते वि उवसमसमत्तेण अंतोमुहुत्तमच्छिदूण चेव वेदगसम्मत्तस्स गमणुवलंभादो। —उपशम श्रेणीसे उतरे हुए उपशम सम्यग्दृष्टिका यद्यपि मरण होता है, तो भी यह जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहकर ही वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। (दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/४)।

गो. जी./मू. व जी. प्र./७३१/१३२५ बिदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादिसु सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥७३१॥ बद्धदेवायुष्कादन्यस्य उपशमश्रेण्यां मरणाभावात्। —उपशमश्रेणीसे नीचे उतरकर असंयतादिक गुणस्थानोंमें अपनी-अपनी लेश्या सहित मरे तो अपर्याप्त असंयत देव ही होता है, क्योंकि, देवायुके बन्धसे अन्य किसी भी ऐसे जीवका उपशमश्रेणीमें मरण नहीं होता है।

८. कृतकृत्यवेदकमें मरण सम्बन्धी

ध. ६/१,९-८,१२/२६३/१ कदकरणिज्जकालब्भंतरे तस्स मरणं पि होज्ज। —कृतकृत्यवेदककालके भीतर उसका मरण भी होता है।

क. पा. २/२-२२/§ २४२/२१५/६ जइ वसहाइरियस्स वे उवएसा। तत्थ कदकरणिज्जो ण मरदि त्ति उवदेसमस्सिदूण एदं सुत्तं कदं।…'पढमसमयकदकरणिज्जो जदि मरदि णियमा देवेसु उववज्जदि। जदि णेरइएसु तिरिक्खेसु मणुस्सेसु वा उववज्जदि तो णियमा अंतोमुहुत्तकदकरणिज्जो' त्ति जइवसहाइरियपरूविदचुण्णिसुत्तादो। णवरि, उच्चारणाइरियउवएसेण पुण कदकरणिज्जो ण मरइ चेवेत्ति णियमो णत्थि।

क. पा./पु. २/२-२२/§२४४/२१७/८ मिच्छत्तं खविय सम्मामिच्छत्तं खवेंतो ण मरदि त्ति कुदो णव्वदे। एदम्हादो चेव सुत्तादो। —यतिवृषभाचार्यके दो उपदेश हैं। उनमेंसे कृतकृत्य वेदक जीव मरण नहीं करता है इस सूत्रका आश्रय लेकर यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।…'कृतकृत्य वेदक जीव यदि कृतकृत्य होनेके प्रथम समयमें मरण करता है तो नियमसे देवोंमें उत्पन्न होता है। किन्तु जो कृतकृत्यवेदक जीव नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होता है, वह नियमसे अन्तर्मुहूर्त काल तक कृतकृत्यवेदक रहकर ही मरता है।' यतिवृषभके इस सूत्रसे जाना जाता है कि कृतकृत्यवेदक जीव मरता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि उच्चारणाचार्यके उपदेशानुसार कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि जीव नहीं ही मरता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। —प्रश्न—'मिथ्यात्वका क्षय करके सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करनेवाला जीव नहीं मरता यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—इसी सूत्रसे जाना जाता है।

दे० मरण/३/२ (दर्शनमोहका क्षय करनेवाला यावत् कृतकृत्यवेदक रहता है तावत् मरण नहीं करता।)

९. नरकगतिमें मरण समयके लेश्या व गुणस्थान

ति. प./२/२९४ किण्हाय णीलकाऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ। मरिऊण ताहि जुत्तो पावइ णिरयं महाघोरं ॥२९४॥ —कृष्ण नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओंका उदय होनेसे नरकायुको बाँधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओंसे युक्त होकर महा भयानक नरकको प्राप्त करता है।

गो. क./मू./५३९/६९८ तत्थतणविरदसम्मो मिस्सो मणुवदुगमुच्चयं णियमा। बंधदि गुणपडिवण्णा मरंति मिच्छेव तत्थ भवा। —तत्रतन अर्थात् सातवीं नरक पृथिवीमें सासादन, मिश्र व असंयतगुणस्थान-

वर्ती जीव मरणके समय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको प्राप्त होकर ही मरते हैं। (विशेष दे० जन्म/६)।

१०. देव गतिमें मरण समयकी लेश्या

ध. ८/३,२५८/३२३/१ सव्वे देवा मुदसमकाणेण चेव अणियमेण असुह-तिलेस्सासु णिवदंति···अण्णे पुण आइरिया···मुददेवाणं सव्वेसिं वि काउलेस्साए चेव परिणाममब्भुवगमादो। –सब देव मरण क्षणमें ही नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते हैं, और अन्य आचार्यों-के मतसे सब ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार किया गया है।

११. आहारकमिश्र काययोगीके मरण सम्बन्धी

ध. १५/६४/१ आहारसरीरमुट्ठावेंतस्स अपज्जत्तद्धाए मरणाभावादो। –आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवका अपर्याप्तकालमें मरण सम्भव नहीं है। (और भी दे० मरण/३/२)।

गो. जी./मू./२३८/५०१ अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे। पज्जत्तीसंपुण्णो मरणं पि कदाचि संभवई। –आहारक शरीर अव्याघाती है, अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है, और पर्याप्तिपूर्ण हो जाने पर उस आहारक शरीरधारी मुनिका कदाचित् मरण भी सम्भव है।

४. अकाल मृत्यु निर्देश

१. कदलीघातका लक्षण

भा. पा./मू./२५ विसवेयणरत्तक्खय-भयसत्थग्गहणसंकिलिस्साणं। आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ।।२५।। –विष खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय होनेसे, तीव्र भयसे, शस्त्रघातसे, संक्लेशकी अधिकतासे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है। (इस प्रकारसे जो मरण होता है उसे कदलीघात कहते हैं) (ध. १/१,१,१/गा. १२/२३); (गो. क./मू./५७/५५)।

२. बद्धायुष्कको अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

ध. १०/४,२,४,३९/२३७/६ परभवि आउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि जहासरूवेण चेव वेदेदि त्ति जाणावणट्ठं 'कमेण कालगदो' त्ति उत्तं। परभवियाउअं बंधिय भुंजमाणाउए घादिज्जमाणे को दोसो त्ति उत्ते ण, णिज्जिण्णभुंजमाणाउस्स अपत्तपरभवियाउअउदयस्स चउगइबाहिरस्स जीवस्स अभावप्पसंगादो। –परभव सम्बन्धी आयुके बँधनेके पश्चात् भुज्यमान आयुका कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनीका ही वेदन करता है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए 'क्रमसे कालको प्राप्त होकर' यह कहा है। प्रश्न–परभविक आयुको बाँधकर भुज्यमान आयुका घात माननेमें कौन सा दोष है? उत्तर–नहीं, क्योंकि जिसकी भुज्यमान आयुकी निर्जरा हो गयी है, किन्तु अभी तक जिसके परभविक आयुका उदय नहीं प्राप्त हुआ है, उस जीवका चतुर्गतिसे बाह्य हो जानेसे अभाव प्राप्त होता है।

३. देव नारकियोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

स.सि./३/५/२०९/१० छेदनभेदनादिभिः शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले भवति। कुतः अनपवर्त्यायुष्कत्वात्। –छेदन, भेदन आदिके द्वारा उनका (नारकियोंका) शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है, तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता, क्योंकि, उनकी आयु घटती नहीं है। (रा. वा./३/५/८/१६६/११); (ह. पु./४/३६४); (म. पु./१०/८२); (त्रि.सा./१९४) (और भी दे० नरक/३/६/७)।

ध. १४/५,६,१०१/३६०/१ देवणेरइएसु आउअस्स कदलीघादाभावादो। –देव और नारकियोंमें आयुका कदलीघात नहीं होता। (और भी. दे. आयु/५/४)।

ध.१/१,१,८०/३२१/६ तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगत-देहानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्य-निमित्तत्वात्। अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रस-ङ्गात्। –नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है। प्रश्न–यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है, ऐसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे बनेगा? उत्तर–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयु-कर्मके विनाशका निमित्त नहीं है। अन्यथा जिसने बाल अवस्थाके पश्चात् यौवन अवस्था को प्राप्त कर लिया है, ऐसे जीवको भी मरण-का प्रसंग आ जायेगा।

४. भोगभूमिजोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

दे.आयु./५/४/ (असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अर्थात् भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं।)

ज.प./२/१६० पढमे बिदिये तदिये काले जे होंति माणुसा पवरा। ते अवमिच्चुविहूणा एयंतसुहेहिं संजुत्ता ।।१६०।। –प्रथम, द्वितीय व तृतीय कालमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और एकान्त सुखोंसे संयुक्त होते हैं ।।१६०।।

५. चरमशरीरियों व शलाका पुरुषोंमें अकालमृत्युकी संभावना व असम्भावना

दे. प्रोषधोपवास./२/५/ (अघातायुष्क मुनियोंका अकालमें मरण नहीं होता)।

दे. आयु./५/४/ (परमोत्तम देहधारी अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं)।

रा.वा./२/५३/६/१५७/२५ अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्तदर्श-नादव्याप्तिः ।६। न वा; चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ।७। उत्तमग्रहण-मेवेति चेत्; न; तदनिवृत्तेः ।८। चरमग्रहणमेवेति चेत्; न; तस्योत्तमत्व-प्रतिपादनार्थत्वात् ।९।···चरमदेहा इति वा केषांचित् पाठः। एतेषां नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियमः। –प्रश्न–उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगों की अकाल मृत्यु सुनी जाती है, अतः यह लक्षण ही अव्यापी है। उत्तर–चरमशब्द उत्तमका विशेषण है, अर्थात् अन्तिम उत्तम देह-वालोंकी अकाल मृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तम पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेह' पद देनेसे कार्य चल जाता है, फिर भी उस चरम देहकी सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए उत्तम विशेषण दिया है। कहीं 'चरमदेहाः' यह पाठ भी देखा जाता है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियोंके लिए यह नियम नहीं है।

त. वृ./२/५३/११०/७ चरमोऽन्त्य उत्तमदेहः शरीरं येषां ते चरमोत्तम-देहाः तज्जन्मनिर्वाणयोग्यास्तीर्थंकरपरमदेवा ज्ञातव्याः। गुरुदत्त-पाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्नास्त्यनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति। तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमब्रह्मदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनात्, कृष्णस्य च जरत्कुमारबाणेनाप-मृत्युदर्शनात् सकलार्धचक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राजवार्तिकालङ्कारे प्रोक्तमस्ति। –चरमका अर्थ है अन्तिम और उत्तमका अर्थ है उत्कृष्ट। ऐसा है शरीर जिनका वे, उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करने योग्य तीर्थंकर परमदेव जानने चाहिए, अन्य नहीं; क्योंकि, चरम देही होते हुए भी गुरुदत्त, पाण्डव आदिका मोक्ष उपसर्गके समय हुआ है–ऐसा श्री प्रभाचन्द्र आचार्यने न्याय-कुमुद-चन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें कहा है; और उत्तम देही होते हुए भी

सुभौम, ब्रह्मदत्त आदिकी आयुका अपवर्तन हुआ है। और कृष्णकी जरत्कुमारके बाणसे अपमृत्यु हुई है। इसलिए उनकी आयुके अनपवर्त्यपनेका नियम नहीं है, ऐसा राजवार्तिकालंकारमें कहा है।

६. जघन्य आयुमें अकालमृत्युकी सम्भावना व असम्भावना

ध. १४/५,६,२६०/पृष्ठ पंक्ति एत्थ कदलीघादम्मि बे उवदेसा, के वि आइरिया जहण्णाउअम्मि आवलियाए असंखे० भागमेत्ताणि जीवणियट्ठाणाणि लब्भंति त्ति भणंति। तं जहा—पुव्वभणिदसुहुमेइंदियपज्जत्तसव्वजहण्णाउअणिव्वत्तिट्ठाणस्स कदलीघादो णत्थि। एवं समउत्तरदुसमउत्तरादिणिव्वत्तीणं पि घादो णत्थि। पुणो एदम्हादो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणादो संखेज्जगुणमाउअं बंधिदूण सुहुमपज्जत्तेसुववण्णस्स अत्थि कदलीघादो (३५४/७)। के वि आइरिया एवं भणंति-जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणमुवरिमआउअवियप्पेहि वि घादं गच्छदि। केवलं पि घादं गच्छदि। णवरि उवरिमआउवियप्पेहि जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणं घादिज्जमाणं समऊणदुसमऊणादिकमेण हीयमाणं ताव गच्छदि जाव जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणस्स संखेज्जे भागे ओदारिय संखेभागो सेसो त्ति। जदि पुण केवलं जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणं चेव घादेदि तो तत्थ दुविहो कदलीघादो होदि—जहण्णओ उक्कस्सओ चेदि (३५५/१)। सुट्ठु जदि थोवं घादेदि तो जहण्णियणिव्वत्तिट्ठाणस्स संखेज्जे भागे जीविदूण संखसंखे० भागस्स संखेज्जे भागे संखेज्जदिभागं वा घादेदि। जदि पुण बहुअं घादेदि तो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाण संखे० भागं जीविदूण संखेज्जे भागे कदलीघादेण घादेदि (३५६/१)। एत्थ पढमवक्खाणं ण भद्दयं, खुद्दाभवग्गहणादो (३५७/१)। —यहाँ कदली घातके विषयमें दो उपदेश पाये जाते हैं। कितने ही आचार्य जघन्य आयुमें आवलिके असंख्यातवें भाग-प्रमाण जीवनीय स्थान लब्ध होते हैं ऐसा कहते हैं। यथा पहले कहे गये सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकी सबसे जघन्य आयुके निर्वृत्तिस्थानका कदलीघात नहीं होता। इसी प्रकार एक समय अधिक और दो समय अधिक आदि निर्वृत्तियोंका भी घात नहीं होता। पुन: इस जघन्य निर्वृत्तिस्थानसे असंख्यातगुणी आयुका बन्ध करके सूक्ष्म पर्याप्तकोंमें उत्पन्न हुए जीवका कदलीघात होता है। (३५४/७)। कितने ही आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—जघन्य निर्वृत्तिस्थान उपरिम आयुविकल्पोंके साथ भी घातको प्राप्त होता है और केवल भी घातको प्राप्त होता है। इतनी विशेषता है, कि उपरिम आयुविकल्पोंके साथ घातको प्राप्त होता हुआ जघन्य निर्वृत्तिस्थान एक समय और दो समय आदिके क्रमसे कम होता हुआ वह तब तक जाता है जब तक जघन्य निर्वृत्तिस्थानका संख्यात बहुभाग उतरकर संख्यातवें भागप्रमाण शेष रहता है। यदि पुन केवल जघन्य निर्वृत्तिस्थानको घातता है तो वहाँपर दो प्रकारका कदलीघात होता है—जघन्य और उत्कृष्ट यदि अति स्तोकका घात करता है, तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यात बहुभाग तक जीवित रहकर शेष संख्यातवें भागके संख्यात बहुभाग या संख्यातवें भागका घात करता है। यदि पुन: बहुतका घात करता है तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यातवें भागप्रमाण कालतक जीवित रहकर संख्यात बहुभागका कदलीघात द्वारा घात करता है। (३५५/१)। यहाँपर प्रथम व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें क्षुल्लक भवका ग्रहण किया है। (३५७/१)।

७. पर्याप्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

ध.१०/४,२,४,४१/२४०/७ पज्जत्तिसमाणिदसमयप्पहुडि जाव अंतोमुहुत्तं ण गदं ताव कदलीघादं ण करेदि त्ति जाणावणट्ठमंतोमुहुत्तणिद्देसो कदो। —पर्याप्तियोंको पूर्ण कर चुकनेके समयसे लेकर जबतक अन्तर्मुहूर्त नहीं बीतता है, तबतक कदलीघात नहीं करता, इस बातका ज्ञान करानेके लिए (सूत्रमें) 'अन्तर्मुहूर्त' पदका निर्देश किया है।

८. कदलीघात द्वारा आयुका अपवर्तन हो जाता है

ध./१०/४.२.४,४१/२४०/१ कदलीघादेण विणा अंतोमुहुत्तकालेण परभवियमाआउअं किण्ण बज्झदे। ण, जीविदूणागदस्स आउअस्स अद्धादो अहियआबाहाए परभवियआउअस्स बंधाभावादो।

ध. १०/४,२,४,४६/२४४/३/ जीविदूणागदअंतोमुहुत्तद्धपमाणेण उवरिमअंतोमुहुत्तूणपुव्वकोडाउअं सव्वमेगसमएण संखिज्जखंडं कदलीघादेण घादिदूण घादिदसमए चेव पुणो...। —प्रश्न—कदलीघातके बिना अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा परभविक आयु क्यों नहीं बाँधी जाती। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधीसे अधिक आबाधाके रहते हुए परभविक आयुका बन्ध नहीं होता।...जीवित रहते हुए अन्तर्मुहूर्त काल गया है उससे अर्धमात्र आगेका अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि प्रमाण उपरिम सब आयुको एक समयमें सदृश खण्डपूर्वक कदलीघातसे घात करनेके समयमें ही पुन: (परभविक आयुका बन्ध कर लेता है)। (और भी देखो आगे शीर्षक ६)

९. अकाल मृत्युका अस्तित्व अवश्य है

रा. वा /२/५३/१०/१५८/८ अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः। —प्रश्न—अप्राप्तकालमें मरणकी अनुपलब्धि होनेसे आयुके अपवर्तनका अभाव है। उत्तर—जैसे पयाल आदिके द्वारा आम आदिको समयसे पहले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरण कालसे पहले भी उदीरणाके कारणोंसे आयुका अपवर्तन हो जाता है।

श्लो. वा/५/२/५३/२/२६१/१६ न हि अप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिः मरणस्य दर्शनात्। —अप्राप्तकाल मरणका अभाव नहीं है, क्योंकि, खड्ग प्रहारादि द्वारा मरण देखा जाता है।

ध.१३/५,५,६३/३३४/१ कदलीघादेण मरंताणमाउट्ठिदिचरिमसमए मरणाभावेण मरणाउट्ठिदिचरिमसमयाणं समाणाहियरणाभावादो च। —कदलीघातसे मरनेवाले जीवोंका आयुस्थितिके अन्तिम समयमें मरण नहीं हो सकनेसे मरण और आयुके अन्तिम समयका सामानाधिकरण नहीं है।

भ. आ./वि /८२४/९६०/१२ अकालमरणाभावोऽयुक्तः केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्राय:। —अकाल मरणका अभाव कहना युक्त नहीं है, क्योंकि, कितने ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है। उसका अभाव कहना असत्य वचन है; क्योंकि, यहाँ सत्य पदार्थका निषेध किया गया है। (दे० असत्य/३)

१०. अकाल मृत्युकी सिद्धिमें हेतु

रा. वा./२/५३/११/१५८/१२ अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः। दुःखप्रतीकारार्थ इति चेत्; न; उभयथा दर्शनात् ।१२। कृतप्रणाशप्रसंग इति चेत्; न; दत्त्वैव फल निवृत्तेः ।१३।...वितताार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः पाक इत्ययं विशेषः। —१. आयुर्वेदशास्त्रमें अकाल मृत्युके वारणके लिए औषधिप्रयोग बताये गये हैं। क्योंकि, दवाओंके द्वारा श्लेष्मादि दोषोंको बलात् निकाल दिया जाता है। अतः यदि अकाल मृत्यु न मानी जाय तो रसायनादिका उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। उसे

केवल दुःखनिवृत्तिका हेतु कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि, उसके दोनों ही फल देखे जाते हैं। (श्लो. वा ५/२/६३/श्लो. २/२५६ व वृत्ति/२६२/२६)। २. यहाँ कृतप्रणाशकी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि, उदीरणामें भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं। इतना विशेष है, कि जैसे गीला कपड़ा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है, वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमें बहुत समय लगता है, उसी तरह उदीरणाके निमित्तोंके द्वारा समयके पहले ही आयु झड़ जाती है। (श्लो.वा/५/२/६३/२/२६६/१४)।

श्लो. वा./५/२/५३/२/२६१/१६ प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा; द्वितीयपक्षे सिद्ध-साध्यता, प्रथमपक्षे खड्गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंगः। —प्रश्न—प्र० प्राप्तकाल ही खड्ग आदिके द्वारा मरण होता है। उत्तर—यहाँ कालप्राप्तिसे आपका क्या तात्पर्य है—मृत्युके कालकी प्राप्ति या अपमृत्युके कालकी प्राप्ति। यहाँ दूसरा पक्ष तो माना नहीं जा सकता क्योंकि वह तो हमारा साध्य ही है और पहला पक्ष माननेपर खड्ग आदिके प्रहारसे निरपेक्ष मृत्युका प्रसंग आता है।

११. स्वकाल व अकाल मृत्युका समन्वय

श्लो. वा. ५/२/५३/२/२६१/१८ सकलबहिःकारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्यु-कारणस्य मृत्युकालव्यवस्थितेः। शस्त्रसंपातादिबहिरङ्गकारणान्वय-व्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्ते।—असि प्रहार आदि समस्त बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष मृत्यु होनेमें जो कारण है वह मृत्युका स्वकाल व्यवस्थापित किया गया है। और शस्त्र संपात आदि बाह्य कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करनेवाला अपमृत्युकाल माना जाता है।

पं. वि./३/१८ यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति।१८। —इस संसारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहले ही मरता है और न पीछे ही। फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दुःखके भोगनेवाले होते हैं नोट—(बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष और सापेक्ष होनेसे ही काल व अकाल मृत्युमें भेद है, वास्तवमें इनमें कोई जातिभेद नहीं है। कालकी अपेक्षा भी मृत्युके नियत कालसे पहले मरण हो जानेको जो अकाल मृत्यु कहा जाता है वह केवल अल्पज्ञताके कारण ही समझना चाहिए, वास्तवमें कोई भी मृत्यु नियतकालसे पहले नहीं होती; क्योंकि, प्रत्यक्षरूपसे भविष्यको जाननेवाले तो बाह्य निमित्तों तथा आयुकर्मके अपवर्तनको भी नियत रूपमें ही देखते हैं।)

५. मारणान्तिक समुद्घात निर्देश

१. मारणान्तिक समुद्घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१५ औपक्रमिकानुपक्रमायुःक्षयाविर्भूतमरणान्त-प्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्घातः। —औपक्रमिक व अनुपक्रमिक रूपसे आयुका क्षय होनेसे उत्पन्न हुए कालमरण या अकाल मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्घात होता है।

ध.४/१,३,२/२६/१० मारणान्तियसमुग्घादो णाम अप्पणो वट्टमाणसरीरम-छड्डिय रिजुगईए विग्गहगईए वा जावुप्पज्जमाणखेत्तं ताव गंतूण··· अंतोमुहुत्तमच्छणं। —अपने वर्तमान शरीरको नहीं छोड़कर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रह गति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रतक जाकर अन्तर्मुहूर्त तक रहनेका नाम मारणान्तिक समुद्घात है। (द्र.सं./टी./१०/२५/उद्धृत श्लोक नं, ४)।

गो. जी./जी. प्र./६६६/४४४/९ मरणान्ते भवः मारणान्तिकः समुद्घातः उत्तरभवोत्पत्तिस्थानपर्यन्तजीवप्रदेशप्रसर्पणलक्षणः। —मरणके अन्तमें होनेवाला तथा उत्तर भवकी उत्पत्तिके स्थान पर्यन्त जीवके प्रदेशोंका फैलना है लक्षण जिसका, वह मारणान्तिक समुद्घात है। (का.अ./टी./१७६/११६/२)।

२. सभी जीव मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते

गो. जी./जी. प्र./५४४/६५०/१ सौधर्मद्वयजीवराशौ घनाङ्गुलतृतीयमूल-गुणितजगच्छ्रेणिप्रमिते···पल्यासंख्यातेन भक्ते एकभागः प्रतिसमयं म्रियमाणराशिर्भवति।···तस्मिन् पल्यासंख्यातेन भक्ते बहुभागो विग्रहगतौ भवति। तस्मिन् पल्यासंख्यातेन भक्ते बहुभागो मारणान्तिक समुद्घाते भवति।···अस्य पल्यासंख्यातैकभागो दूरमारणान्तिके जीवा भवन्ति। —सौधर्म ईशान स्वर्गवासी देव (घनांगुल १/३ × जगश्रेणी) इतने प्रमाण हैं। इसके पल्य/असं. भाग-प्रमाण प्रति समय मरनेवाले जीवोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं. बहुभाग प्रमाण विग्रह गति करनेवालोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं. बहुभाग प्रमाण मारणान्तिक समुद्घात करनेवालोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं भागप्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्घातवाले जीवोंका प्रमाण है। (और भी दे० ध. ७/२,६,२२७.१४/३०६,३१२)।

३. ऋजु व वक्र दोनों प्रकारकी विग्रहगतिमें होता है

का अ./टी./१७६/११६/३ स च संसारी जीवानां विग्रहगतौ स्यात्। —मारणान्तिक समुद्घात संसारी जीवोंको विग्रहगतिमें होता है।

दे० मारणान्तिक समुद्घातका लक्षण/ध. ४ (ऋजुगति व विग्रह गति दोनों प्रकारसे होता है)। (ध.७/२,६,१/३)।

४. मारणान्तिक समुद्घातका स्वामित्व

दे० समुद्घात—(मिश्र गुणस्थान तथा क्षपकश्रेणीके अतिरिक्त सभी गुणस्थानोंमें सम्भव है। विकलेन्द्रियोंके अतिरिक्त सभी जीवोंमें सम्भव है।)

ध. ४/१.४.२५/२०४/७ जदि सासणसम्मादिट्ठिणो हेट्ठाण मारणंतियं मेल्लंति, तो तेसिं भवणवासियदेवेसु मेरुतलादो हेट्ठा ट्ठिदेसु उप्पत्ती ण पावदि त्ति वुत्ते, ण एस दोसो, मेरुतलादो हेट्ठा सासणसम्मादिट्ठीणं मारणंतियं णत्थि त्ति एदं सामण्णवयणं। विसेसादो पुण भण्णमाणे णेरइएसु हेट्ठिम एइंदिएसु वा ण मारणांतियं मेल्लंति त्ति एस परमत्थो। —प्रश्न—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरुतलसे नीचे मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं तो मेरुतलसे नीचे स्थित भवनवासी देवोंमें उनकी उत्पत्ति भी नहीं प्राप्त होती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'मेरुतलसे नीचे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका मारणान्तिक समुद्घात नहीं होता है' यह सामान्य वचन है। किन्तु विशेष विवक्षासे कथन करनेपर तो वे नारकियोंमें अथवा मेरुतलसे अधोभागवर्ती एकेन्द्रिय जीवोंमें मारणान्तिक समुद्घात नहीं करते हैं यह परमार्थ है। (क्योंकि उन गतियोंमें उनके उपपाद नहीं होता है। —दे० जन्म/४/११)।

दे० सासादन/१/१०—[लोकनालीके बाहर सासादन सम्यग्दृष्टि समुद्घात नहीं करते।]

ध. ४/१,४,१७३/३०५/१० मणुसगदीए चेव मारणंतिय दंसणादो। —मनुष्य गतिमें ही (उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंके) मारणान्तिक समुद्घात देखा जाता है।

दे० क्षेत्र/३—(गुणस्थान व मार्गणास्थानोंमें मारणान्तिक समुद्घातका यथासम्भव अस्तित्व)।

५. प्रदेशोंका पूर्ण संकोच होना आवश्यक नहीं

ध. ४/१,३,२/३०/४ विग्गहगदीए मारणंतियं कादूणुप्पण्णाणं पढमसमए असंखेज्जजोयणमेत्ता ओगाहणा होदि, पुव्वं पसारिदएग-दो-तिदंडाणं पढमसमए उवसंहाराभावादो। —मारणान्तिक समुद्घात करके विग्रहगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंके पहले समयमें असंख्यात योजनप्रमाण अवगाहना होती है, क्योंकि, पहले फैलाये गये एक, दो और तीन दण्डोंका प्रथम समयमें संकोच नहीं होता है।

ध. ४/१,४,४/१६५/४ के वि आइरिया 'देवा णियमेण मूलसरीरं पविसिय मरंति' त्ति भणंति,...विरुद्धं' ति ण घेत्तव्वं। —कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि देव नियमसे मूल शरीरमें प्रवेश करके ही मरते हैं।...परन्तु यह विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसे नहीं ग्रहण करना चाहिए।

ध. ७/२,७,१६४/४२६/११ हेट्ठा दोरज्जुमेत्तद्धाणं गंतूण ट्ठिदावत्थाए छिण्णाउआणं मणुस्सेसुप्पज्जमाणाणं देवाणं उववादखेत्तं किण्ण घेप्पदे। ण, तस्स पढमदंडेणूणस्स छच्चोद्दसभागेसु चेव अंतब्भावादो, तेसिं मूलसरीरपवेसमंतरेण तदवत्थाए मरणाभावादो च। —प्रश्न—नीचे दो राजुमात्र जाकर स्थित अवस्थामें आयुके क्षीण होनेपर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंका उत्पादक्षेत्र क्यों नहीं ग्रहण किया। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रथम दण्डसे कम उसका ६/१४ भागमें ही अन्तर्भाव हो जाता है (दे० क्षेत्र/४) तथा मूल शरीरमें जीव प्रदेशोंके प्रवेश बिना उस अवस्थामें उनके मरणका अभाव भी है।

ध. ११/४,२,५,१२/२२/६ णेरइएसुप्पण्णपढमसमए उवसंहरिदपढमदंडस्स य उक्कस्सखेत्ताणुववत्तीदो। —नारकियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें (महामत्स्यके प्रदेशोंमें) प्रथम दण्डका उपसंहार हो जानेसे उसका उत्कृष्ट क्षेत्र नहीं बन सकता।

६. प्रदेशोंका विस्तार व आकार

ध. ९/२,६,१/२९९/११ अप्पप्पणो अच्छिदपदेसादो जाव उप्पज्जमाणखेत्तं ति आयामेण एगपदेसमादिं कादूण जाउक्कस्सेण सरीरतिगुणबाहल्लेण कंडेक्कखंभट्ठियतोरण हल-गोमुत्तायारेण अंतोमुहुत्तावट्ठाणं मारणंतियसमुग्घादो णाम। —आयामकी अपेक्षा अपने-अपने अधिष्ठित प्रदेशसे लेकर उत्पन्न होनेके क्षेत्रतक (और भी दे० अगला शीर्षक नं. ७), तथा बाहल्यसे एक प्रदेशको आदि करके उत्कर्षतः शरीरसे तिगुने प्रमाण जीव प्रदेशोंके काण्ड, एक खम्भ स्थित तोरण, हल व गोमूत्रके आकारसे अन्तर्मुहूर्त तक रहनेको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

ध. ११/४,२,५,१२/२१/७ सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणस्स महामच्छस्स विक्खंभुस्सेहा तिगुणा ण होंति, दुगुणा विसेसाहिया वा होंति त्ति कधं णव्वदे। अधोसत्तमाए पुढवीए णेरइएसु से काले उप्पज्जिहिदि त्ति सुत्तादो णव्वदे। संतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो, णेरइएसु उप्पज्जमाणमहामच्छो व्व सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छो वि तिगुणशरीरबाहल्लेण मारणंतियसमुग्घाद गच्छदि त्ति। ण च एदं जुज्जदे, सत्तमपुढवीणेरइएसु असादबहुलेसु उप्पज्जमाणमहामच्छवेयणा-कसाएहिंतो सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छवेयण-कसायाणं सरिसत्ताणुववत्तीदो। तदो एसो चेव अत्थो पहाणो त्ति घेत्तव्वो। —प्रश्न—सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यका विष्कम्भ और उत्सेध तिगुना नहीं होता, किन्तु दुगुना अथवा विशेष अधिक होता है; यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—"नीचे सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें वह अनन्तर कालमें उत्पन्न होगा" इस सूत्रसे जाना जाता है।—सत्कर्मप्राभृतमें उसे निगोद जीवोंमें उत्पन्न कराया है, क्योंकि, नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके समान सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा तिगुने बाहल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि, अत्यधिक असाताका अनुभव करनेवाले सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषाय सदृश नहीं हो सकती। इस कारण यही अर्थ प्रधान है, ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए।

गो. जी./जी. प्र./५४३/९४२/१३ अस्मिन् रज्जुसंख्यातैकभागायामसूच्यङ्गुलसंख्यातैकभागविष्कम्भोत्सेधक्षेत्रस्य घनफलेन प्रतराङ्गुलसंख्यातैकभागगुणितजगच्छ्रेणिसंख्यातैकभागेन गुणिते दूरमारणान्तिकसमुद्घातस्य क्षेत्रं भवति। —एक जीवके दूरमारणान्तिक समुद्घात विषै शरीरसे बाहर यदि प्रदेश फैलें तो मुख्यपने राजूके संख्यातभागप्रमाण लम्बे और सूच्यंगुलके संख्यातवें भागप्रमाण चौड़े व ऊँचे क्षेत्रको रोकते हैं। इसका घनफल जगश्रेणी × प्रतरांगुल होता है।

गो. जी./जी. प्र./५८४/१०२५/१० तदुपरि प्रदेशोत्तरेषु स्वयंभूरमणसमुद्रबाह्यस्थण्डिलक्षेत्रस्थितमहामत्स्येन सप्तमपृथिवीमहारौरवनामश्रेणीबद्धं प्रति मुक्तमारणान्तिकसमुद्घातस्य पञ्चशतयोजनतदर्धविष्कम्भोत्सेधैकार्धषड्रज्ज्वायतप्रथमद्वितीयतृतीयवक्रोत्कृष्टपर्यन्तेषु। —वेदना समुद्घातगत जीवके उत्कृष्ट क्षेत्रसे ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ता-बढ़ता मारणान्तिक समुद्घातवाले जीवका उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। वह स्वयंभूरमण समुद्रके बाह्य स्थण्डिल क्षेत्रमें स्थित जो महामत्स्य वह जब सप्तमनरकके महारौरव नामक श्रेणीबद्ध बिलके प्रति मारणान्तिक समुद्घात करता है तब होता है। वह ५०० यो० चौड़ा, २५० यो० ऊँचा और प्रथम मोड़में १ राजू लम्बा, दूसरे मोड़में १/२ राजू और तृतीय मोड़में ६ राजू लम्बा होता है। मारणान्तिक समुद्घातगत जीवका इतना उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।

७. वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर

ध. ४/१,३,२/२९/२ वेदणकसायसमुग्घादा मारणंतियसमुग्घादे किण्ण पदंति त्ति वुत्ते ण पदंति। मारणंतियसमुग्घादो णाम बद्धपरभवियाउआणं चेव होदि। वेदणकसायसमुग्घादा पुण बद्धाउआणमबद्धाउआणं च होंति। मारणंतियसमुग्घादो णिच्छएण उप्पज्जमाण दिसाहिमुहो होदि, ण चे अराणमेगदिसाए गमणणियमो, दससु वि दिसासु गमणे पडिबद्धत्तादो। मारणंतियसमुग्घादस्स आयामो उक्कस्सेण अप्पणो उप्पज्जमाणखेत्तपज्जवसाणो, ण चेअराणमेस णियमो त्ति —प्रश्न—वेदना समुद्घात और कषायसमुद्घात ये दोनों मारणान्तिकसमुद्घातमें अन्तर्भूत क्यों नहीं होते हैं। उत्तर—१. नहीं होते, क्योंकि, जिन्होंने पर भवकी आयु बाँध ली है, ऐसे जीवोंके ही मारणान्तिक समुद्घात होता है (अबद्धायुष्क और वर्तमानमें आयुको बाँधनेवालोंके नहीं होता—(ध. ९/४,२,१३,८६/४१०/७), किन्तु वेदना और कषाय समुद्घात बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क दोनों जीवोंके होते हैं। २. मारणान्तिक समुद्घात निश्चयसे आगे जहाँ उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रकी दिशाके अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातोंके इस प्रकार एक दिशामें गमनका नियम नहीं है, क्योंकि, उनका दशों दिशाओंमें भी गमन पाया जाता है (दे० समुद्घात)। ३. मारणान्तिक समुद्घातकी लम्बाई उत्कृष्टतः अपने उत्पद्यमान क्षेत्रके अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घातोंका यह नियम नहीं है। दे० पिछला शीर्षक नं० ६)।

८. मारणान्तिक समुद्घातमें कौन कर्म निमित्त है

ध. ६/१,९-१, २८/८७/२ अपत्तमर्गदेसस्स विग्गहगईए उजुगईए वा जं गमणं तं कस्स फलं। ण, तस्स पुव्वखेत्तपरिच्चायाभावेण गमणाभावा। जीवपदेसाणं जो पसरो सो ण णिक्कारणो, तस्स आउअसंतफल-

साता। —प्रश्न—पूर्व शरीरको न छोड़ते हुए जीवके विग्रह गतिमें अथवा ऋजुगतिमें जो गमन होता है, वह किस कर्मका फल है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, पूर्व शरीरको नहीं छोड़नेवाले उस जीवके पूर्व क्षेत्रके परित्यागके अभावसे गमनका अभाव है (अतः वहाँ आनुपूर्वी नामकर्म कारण नहीं हो सकता)। पूर्व शरीरको नहीं छोड़नेपर भी जीव प्रदेशोंका जो प्रसार होता है, वह निष्कारण नहीं है, क्योंकि, वह आगामी भवसम्बन्धी आयुकर्मके सत्त्वका फल है।

मरण भय—दे० भय।

मरीचि—१. यह भगवान् महावीर स्वामीका दूरवर्ती पूर्व भव है (दे० वर्धमान) पूर्वभव नं० २ में पुरुरवा नामक भील था। पूर्वभव नं० १ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें भरतकी अनन्तसेना नामक स्त्रीसे मरीचि नामक पुत्र हुआ। इसने परिव्राजक बन ३६३ मिथ्या मतोंकी प्रवृत्ति की। चिरकाल भ्रमण करके त्रिपृष्ठ नामक बलभद्र और फिर अन्तिम तीर्थंकर हुआ। (प. पु./३/२६३); (म. पु./६२/८८-९२ तथा ७४/१४,२०,५१,५६,१६६,२०४)। २. एक क्रियावादी—(दे० क्रियावाद)।

मरु—१. किम्पुरुष जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष।

मरुत—१. सौधर्म स्वर्गका १२ वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३। २ एक लौकान्तिकदेव—दे० लौकान्तिक। ३. वायु—दे० वायु।

मरुत चारण—दे० ऋद्धि/४।

मरुदेवी—भगवान् ऋषभनाथकी माता—दे० तीर्थंकर/५।

मरुद्देव—१२ वें कुलकर—दे० शलाका पुरुष/९।

मरुप्रभ—किंपुरुष जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष।

मरुभूति—म. पु./७३/श्लोक—भरत क्षेत्र पोदनपुर निवासी विश्वभूति ब्राह्मणका पुत्र था। (७-९)। कमठ इसका बड़ा भाई था, जिसने इसकी स्त्रीपर बलात्कार करनेके हेतु इसे मार डाला। यह मरकर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामक हाथी हुआ। (११-१२)। यह पार्श्वनाथ भगवान्‌का पूर्वका ९ वाँ भव है।—दे० पार्श्वनाथ।

मर्मस्थान—औदारिक शरीरमें मर्मस्थानोंका प्रमाण—दे० औदारिक /१/७।

मर्यादा—भोजनमें कालगत मर्यादाएँ—दे० भक्ष्याभक्ष्य/१।

मल—ति.प./१/गाथा—दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहिं। दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमब्भंतरं चेय ।१०। सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलसमुद्दिट्ठं। पुणु दिढजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआई ।११। अणुभागपदेसाई चउहिं पत्तेकभेज्जमाणं तु। णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं ।१२। अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो। भावमलं णादव्वं अणाणदंसणादिपरिणामो ।१३। अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा ।१४। पावमलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं ।१७। —द्रव्य और भावके भेदसे मलके दो भेद हैं। इनमेंसे द्रव्यमल भी दो प्रकारका है—बाह्य व अभ्यन्तर ।१०। स्वेद, मल, रेणु, कर्दम इत्यादिक बाह्य द्रव्यमल कहा गया है, और दृढ़ रूपसे जीवके प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाहरूप बन्धको प्राप्त, तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेश इन चार भेदोंसे प्रत्येक भेदको प्राप्त होनेवाला, ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका सम्पूर्ण कर्मरूपी पापरज, चूँकि जीवके प्रदेशोंमें सम्बद्ध है, इस हेतुसे वह अभ्यन्तर द्रव्यमल है। अज्ञान अदर्शन इत्यादिक जीवके परिणामोंको भावमल समझना चाहिए ।११-१३। अथवा ज्ञानावरणादिक द्रव्यमलके और ज्ञानावरणादिक भावमलके भेदसे मलके अनेक भेद हैं ।१४। अथवा जीवोंके पापको उपचारसे मल कहा जाता है ।१७। (ध. १/१,१,१/३२/६)।

ध.१/१,१,१/३३/२ अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम्। उक्तमर्थमलम्। अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः। तयोरुत्पन्नबुद्धिः प्रत्ययमलम्। अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापनाद्रव्यभावमलभेदात्। अनेकविधं वा। —अथवा अर्थ, अभिधान व प्रत्ययके भेदसे मल तीन प्रकारका होता है। अर्थमल तो द्रव्य व भावमलके रूपमें ऊपर कहा जा चुका है। मलके वाचक शब्दोंको अभिधानमल कहते हैं। तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं। अथवा नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है। अथवा इसी प्रकार विवक्षा भेदसे मल अनेक प्रकारका भी है।

२. सम्यग्दर्शनका मल दोष

अन. ध./२/५९/१८३ तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः। मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ।५९।

अन. ध./२/६१ में उद्धृत—वेदकं मलिनं जातु शङ्काद्यैर्यत्कलंक्यते। —जिस प्रकार शुद्ध भी स्वर्ण चाँदी आदि मलके संसर्गसे मलिन हो जाता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे शुद्ध भी सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है। ५९ (गो.जी./जी.प्र/२५/५१/२२ में उद्धृत) शंका आदि दूषणोंसे कलंकित सम्यग्दर्शनको मलिन कहते हैं।

३. अन्य मलोंका निर्देश

१. शरीरमें मलका प्रमाण —दे० औदारिक/१।

२. मल-मूत्र निक्षेपण सम्बन्धी —दे० समिति/१ में प्रतिष्ठापना समिति।

४. मल परिषह निर्देश

स. सि./९/९/४२६/४ अप्कायजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रतधारिणः पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वेदाक्तपवनानीतपांसुनिचयस्य सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णे कण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयनविमर्दनसंघट्टनविवर्जितमूर्तेः स्वगतमलोपचयपरगतमलोपचययोरसंकल्पितमनसः सज्ज्ञानचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपङ्कनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाख्यायते। —अप्कायिक जीवोंकी पीड़ाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है। तीक्ष्ण किरणोंके तापसे उत्पन्न हुए पसीनेमें जिसके पवनके द्वारा लाया गया धूलि संचय चिपक गया है। सिध्म, दाद और खाजके होनेपर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है। स्वगत मलका उपचय और परगत मलका अपचय होनेपर जिसके मनमें किसी प्रकार विकल्प नहीं होता, तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर उद्यतमति है, उसके मलपीड़ासहन कहा गया है। (रा. वा./९/९/२७/६११/३३), (चा. सा./१२५/६)।

मलद—भरत क्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मलय—१. भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डका एक पर्वत—दे० मनुष्य/४। २. मद्रास प्रेजिडेन्सीका मलाया प्रदेश (कुरलकाव्य/प्र. २१)।

मलयगिरि—प्रसिद्ध श्वेताम्बर टीकाकार। —दे० परिशिष्ट।

मलोषध—दे० ऋद्धि/७।

मल्ल—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश।—दे० मनुष्य/४।

मलधारी देव—१. नन्दि संघके देशीयगणकी नय कीर्तिशाखामें श्रीधरदेव के शिष्य तथा चन्द्रकीर्तिके गुरु थे। समय—वि.१०७५-११०५ (ई० १०१८-१०४८)—दे० इतिहास/७/५। २. मल्लिषेणकी उपाधि थी। (विशेष दे० मल्लिषेण/२)। ३. नियमसारकी टीकाके रचयिता पद्मप्रभकी उपाधि थी।—दे० पद्मप्रभ। ४. आ० बालचन्द्रकी उपाधि थी।—दे० बालचन्द्र।

मल्लवादी—१. द्वादशार नयचक्र (प्रथम) के कर्ता एक आचार्य। समय—वि. सं. ४१४ (ई० ३५७), (जै./२/३३०)। २. एक तार्किक श्वेताम्बराचार्य थे। आ. विद्यानन्दिके समक्ष जो नयचक्र विद्यमान था वह सम्भवतः इन्हींकी रचना थी। इनके नयचक्रपर उपा० यशोभद्रजीने टीका लिखी है। कृतियाँ—नयचक्र, सन्मति टीका। समय—वि. श. ८-९ (ई० श. ८ का अन्त); (न. च./प्र. २/प्रेमीजी)।

मल्लिनाथ—(म. पु./६६/श्लोक) पूर्व भव नं. २ में कच्छकावती देशके वीतशोक नगरके राजा वैश्रवण थे।(२)। पूर्व भव नं. १ में अपराजित विमानमें अहमिन्द्र थे।(१४-१६)। (युगपत सर्वभव—दे० ६६/६६)। वर्तमान भवमें १९ वें तीर्थंकर हुए—दे० तीर्थंकर/५।

मल्लिनाथ चारित्र—आ. सकलकीर्ति (ई०१४०६-१४४२) कृत ८७४ श्लोकप्रमाण संस्कृत रचना। (ती./३/३३१)।

मल्लिभूपाल—विजयकीर्ति (ई. श. १६) को सम्मानित करने वाले कनारा जिले के सालुव नरेश। (जै./१/४७३)।

मल्लिभूषण—नन्दि संघके बलात्कार गणकी सूरत शाखा में विद्यानन्दि नं. २ के शिष्य तथा श्रुतसागरके सहधर्मा और लक्ष्मीचन्द्र व ब्र. नेमिदत्तके गुरु थे। समय—वि. १५३८-१५५६ (ई. १४८१-१४९९)—दे० इतिहास/७/४। (ती./३/३७३)।

मल्लिषेण—१. महापुराण, नागकुमार महाकाव्य तथा सज्जन चित्तवल्लभके कर्ता, उभय भाषा विशारद एक कवि(भट्टारक)। समय—वि. ११०४ (ई. १०४७)। (म. पु./प्र. २०/पं. पन्ना लाल; (स.म./प्र. १५/प्रेमीजी)। २. एक प्रसिद्ध मन्त्र तन्त्रवादी भट्टारक। गुरु परम्परा—अजितसेन, कनकसेन, जिनसेन, मल्लिषेण। नरेन्द्रसेन के लघु गुरु भ्राता। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इन्हें भवनगुरु कहा है। कृतियें—भैरव पद्मावती कल्प, सरस्वती मन्त्र कल्प, ज्वालिनी कल्प, कामचाण्डाली कल्प, वज्र पंजर विधान, प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, ब्रह्म विद्या। समय—डा. नेमिचन्द्र नं. १ व २ को एक व्यक्ति मानते हैं। अतः उनके अनुसार शक ९६९ (ई. १०४७)। (ती./३/१७१)। परन्तु पं. पन्ना लाल तथा प्रेमीजी के अनुसार शक १०५० (ई. ११२८)। (दे. उपर्युक्त सन्दर्भ)। ३. स्याद्वाद मञ्जरी तथा महापुराण के रचयिता एक निष्पक्ष श्वेताम्बर आचार्य जो स्त्री मुक्ति आदि विवादास्पद चर्चाओं में पड़ना पसन्द नहीं करते। समय—शक १२१४ (ई. १२९२)। (स. म./प्र. १६/जगदीश चन्द)।

मल्लिषेण प्रशस्ति—श्रवणबेलगोलाका शिलालेख नं. ५४ मल्लिषेण प्रशस्तिके नामसे प्रसिद्ध है। समय—श. सं. १०५० (ई. ११२८); (यु. अनु./प्र. ४१/पं. जुगल किशोर मुख्तार)।

मशक परिषह—दे० दंश परिषह।

मसिकर्म—दे० सावद्य/३।

मस्करी गोशाल—बौद्धोंके महा परिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग और दिव्यावदान आदि ग्रन्थोंके अनुसार ये महात्मा बुद्धके समकालीन ६ तीर्थंकरोंमेंसे एक थे। (द. सा./प्र. १२/प्रेमीजी)।

भा. सं/१७६-१७९ मसयरि-पूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि। सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण।१७६। बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसांगधारिस्स। णिग्गइ झुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्सासस्सीसस्स।१७७। ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ। विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ।१७८। अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु। देवो अ णत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए।१७९। —पार्श्वनाथके तीर्थमें मस्करि-पूरण ऋषि उत्पन्न हुआ। वीर भगवान्‌के समवशरणमें योग्यपात्रके अभावमें जब दिव्य ध्वनि न खिरी, तब उसने बाहर निकलकर कहा कि मैं ग्यारह अंगका ज्ञाता हूँ, तो भी दिव्यध्वनि नहीं हुई। पर जो जिनकथित श्रुतको ही नहीं मानता है और जिसने अभी हाल ही में दीक्षा ग्रहण की है ऐसा वेदाभ्यासी गोतम (इन्द्रभूति) इसके लिए योग्य समझा गया। अतः जान पड़ता है कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है। वह लोगोंपर यह प्रगट करने लगा कि अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अतः स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिए।

मस्करी पूरन—दे० पूरन कश्यप।

मस्तक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मस्तिष्क—औदारिक शरीरमें मस्तिष्कका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७।

मह—याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये पर्यायवाची नाम हैं।—दे० पूजा/१/१।

महत्तर—त्रि. सा./६८३/टीका—महत्तर कहिए कुल विषै बड़ा।

महत्ता—Magnitude (ज. प./प्र. १०७)।

महाकच्छ—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७।

महाकच्छा—पूर्व विदेहस्थ पद्मकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/२।

महाकक्ष—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महाकल्प—द्वादशांग श्रुतज्ञानका ११वाँ अंगबाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III।

महाकाल—१. पिशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० पिशाच। २. एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. दक्षिण कालोद समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४। ४. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२। ५. षष्ठ नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाकाली—१. भगवान् श्रेयांसकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५। एक विद्या—दे० विद्या।

महाकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महाकोशल—मध्यप्रदेश। अपर नाम सुकोशल (म. पु./प्र./४८। पं. पन्नालाल)।

महाखर—असुरकुमार जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर।

महागंध—उत्तर नन्दीश्वरद्वीपका रक्षक देव—दे० भवन/४।

महागौरी—एक विद्या—दे० विद्या।

महाग्रह—दे० ग्रह।

महाचंद्र—शान्तिनाथचरित्रके रचयिता एक दि. साधु। समय—वि. १५८७।

महाज्वाल—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महातनु—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग।

महातप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

महातमःप्रभा—१. स. सि./३/१/२०३/६ महातमःप्रभासहचरिता भूमिर्महातमःप्रभा इति—जिसकी प्रभा गाढ़ अन्धकारके समान है वह महातमःप्रभाभूमि है। (ति. प./२/२१)। (रा. वा./१/३/३/१५६/१६); (विशेष दे० तमःप्रभा)। २. इसका अपर नाम माधवी है। इसका आकार अवस्थान आदि—दे० नरक/५/११।

महात्मा—प्र. सा./ता. वृ./६२/११६/१५ — मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा।—मोक्ष लक्षणवाले महाप्रयोजनको साधनेके कारण श्रमणको महात्मा कहते हैं।

महादेह—पिशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० व्यन्तर।

महापद्म—१. महाहिमवान पर्वतका एक ह्रद जिसमेंसे रोहित व रोहितास्या ये दो नदियाँ निकलती हैं। ह्री देवी इसकी अधिष्ठात्री है।—दे० लोक/३/६। २. अपर विदेहका एक क्षेत्र।—दे० लोक५/२। ३. विकृतवान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक५/४ ४. कुण्डपर्वतके सुप्रभकूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक५/१२।५. कुरुवंशकी वंशावली-के अनुसार यह एक चक्रवर्ती थे जिनका अपर नाम पद्म था—दे० पद्म। ६. भावी कालके प्रथम तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। ७. म. पु. ।५५। श्लोक—पूर्वी पुष्करार्धके पूर्व विदेहमें पुष्कलावती देशका राजा था (२-३)। धनपद नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण की। (१८-१६)। ग्यारह अंगधारी होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरणकर प्राणतस्वर्गमें देव हुआ। (१६-२२)। यह सुविधिनाथ भगवान्का पूर्वका भव नं २ है।—दे० सुविधिनाथ।

महापुंडरीक—१. द्वादशांग श्रुतका १३वाँ अंग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। २. रुक्मि पर्वतपर स्थित एक ह्रद जिसमेंसे नारी और रूपकूला ये दो नदियाँ निकलती हैं। बुद्धि नामक देवी उसकी अधिष्ठात्री है—दे० लोक/३/६।

महापुर—१. भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४। २. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महापुराण—आ. जिनसेन द्वि. (ई. ८१८-८७८) कृत कलापूर्ण संस्कृत काव्य जिसे इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्य आ. गुण भद्र ने ई. ८९८ में पूरा किया। जिनसेन वाले भाग का नाम आदि पुराण है जिसमें भगवान् ऋषभ तथा भरत बाहुबली का चरित्र चित्रित किया गया है। इसमें ४७ पर्व तथा १५००० श्लोक हैं। गुणभद्र वाले भाग का नाम उत्तर पुराण है जिसमें शेष २३ तीर्थंकरों का उल्लेख है। इसमें २६ पर्व और ८००० श्लोक हैं। दोनों मिलकर महापुराण कहलाता है। दे. आदि पुराण तथा उत्तर पुराण २. कवि पुष्पदन्त (ई. ६६५) कृत उपर्युक्त प्रकार दो खण्डों में विभक्त अपभ्रंश महाकाव्य। अपर नाम 'तीसट्ठि महापुरिगुणालंकार'। दोनों में ८०+४२ सन्धि और २०,००० श्लोक हैं। (ती./४/११०)। ३. मल्लिषेण (ई. १०४७) कृत २००० श्लोक प्रमाण तैरसठ शलाका पुरुष चरित्र। (ती./३/१७४)। रचा था।

महापुरी—अपर विदेहके महापद्म क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/५/१२।

महापुरुष—किंपुरुष जातीय एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष।

महाप्रभ—१. उत्तर घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४। २. घृतवर समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४। ३. कुण्डल पर्वतका

महाबंध—षट्खण्डागम का अन्तिम खण्ड। (दे० परिशिष्ट)।

महाबल — १. असुर जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर। २. (म. पु./सर्ग/श्लोक)—राजा अतिबलका पुत्र था। (४/१३३)। राज्य प्राप्त किया। (४/१५६)। जन्मोत्सवके अवसरपर अपने मन्त्री स्वयंबुद्ध द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि सुनकर आस्तिक हुआ (५/८७)। स्वयं बुद्ध मन्त्रीको आदित्यगति नामक मुनिराजने बताया था कि ये दसवें भवमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर होंगे। (५/२००)। मन्त्रीके मुखसे अपने स्वप्नोंके फलमें अपनी आयुका निकटमें क्षय जानकर समाधि धारण की। (५/२२६,२३०)। २२ दिनकी सल्लेखनापूर्वक शरीर छोड़ (५/२४८-२५०)। ईशान स्वर्गमें ललितांग नामक देव हुए। (५/२५३-२५४)। यह ऋषभदेवका पूर्व भव नं. ६ है—दे. ऋषभदेव। ३. म. पु/५०/श्लोक—मंगलावती देशका राजा था। (२-३)। विमलवाहन मुनिसे दीक्षा ले ११. अंगका पाठी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। (१०-१२)। समाधिमरणपूर्वक विजय नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ। (१३)। यह अभिनन्दननाथ भगवान्का पूर्व भव नं. २ है। ४. (म. पु. /६०/श्लोक) पूर्व विदेहके नन्दन नगरका राजा था। (५८)। दीक्षाधार। (६१)। संन्यास मरण पूर्वक सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। (६२)। यह सुप्रभ नामक बलभद्रका पूर्व भव नं. २ है। ५. नेमिनाथपुराणके रचयिता एक जैन कवि। समय—(ई. १२४२)—(वरांगचरित्र/प्र. २३/ पं. खुशालचन्द)

महाभारत—१. रामाकृष्णा द्वारा संशोधित 'इक्ष्वाकु वंशावली' में महाभारत युद्धका काल ई. पू. १५५० बताया गया है। (भारतीय इतिहास/पु० १/पृ. २९६)। २. महाभारत युद्धका वृत्तान्त—दे. ह. पु./सर्ग ४५-४६; सर्ग ४७/१-११; तथा सर्ग ५४)।

महाभिषेक—पं. आशाधरजी. (ई. ११७३-१२४३) कृत 'नित्य महोद्योत' पर आ. श्रुतसागर (ई. १४८१-१४६६) कृत महाभिषेक नामक एक टीका ग्रन्थ।

महाभीम—१. राक्षस जातीय एक व्यन्तर—दे० राक्षस। २. द्वि. नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाभुज—कुण्डल पर्वतके कनकप्रभ कूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

महाभूत—भूत जातीय एक व्यन्तर—दे० भूत।

महामंडलीक—राजाओंमें एक ऊँची श्रेणी—दे० राजा।

महामति—(म. पु./ सर्ग/श्लोक)—महाबल भगवान् ऋषभ देवका पूर्व भव नं. १। (५/२००)। का मन्त्री था। मिथ्यादृष्टि था। (४/१६१-१६२)। इसने राजाके जन्मोत्सवके अवसरपर उसके मन्त्री स्वयंबुद्धके साथ विवाद करते हुए चार्वाक मतका आलम्बन लेकर जीवतत्त्वकी सिद्धिमें दूषण दिया था। (५/२६-२८)। मरकर निगोदमें गया। (१०/७)।

महामत्स्य—दे० संमूर्च्छन।

महामह—दे० पूजा।

महामात्य—त्रि, सा./टी./६८३ महामात्य कहिए सर्व राज्यकार्यका अधिकारी।

महामानसी—१. भगवान् कुन्थुनाथकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३। २. एक विद्या—दे० विद्या।

महायक्ष—भगवान् अजितनाथका शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर ५/३।

महायान—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

महायोजन—क्षेत्रका एक एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

महाराजा—राजाओंमें एक श्रेणी—दे० राजा।

महाराष्ट्र—कृष्णानदीसे नर्मदा नदी तकका क्षेत्र (म. पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)।

महाशुक्र—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. चतुर्थ नारद दे० शलाका-पुरुष/६।

महालतांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४।

महालता—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४।

महावत्सा—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२। २. वैश्रवण वक्षारका एक कूट व देव—दे० लोक/५/४।

महावप्र—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/५/४।

महावीर—१. प्रथम दृष्टिसे भगवान्‌की आयु आदि

ध. ९/४,१,४४/१२० पण्णारहदिवसेहिं अट्ठहि मासेहि य अहियं पच-हत्तरिवासावसेसे चउत्थकाले ७५-८-१५ पुप्फुत्तरविमाणादो आसाढ-जोण्णपक्खछट्ठीए महावीरो बाहत्तरिवासाउओ तिणाणहरो गब्भ-मोइण्णो। तत्थ तीसवसाणि कुमारकालो, बारसवसाणि तस्स छदुमत्थकालो, केवलिकालो वि तीसं वासाणि; एदेसिं तिण्हं कालाणं समासो बाहत्तरिवासाणि। —१५ दिन और ८ मास अधिक ७५ वर्ष चतुर्थ कालमें शेष रहनेपर पुष्पोत्तर विमानसे आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन ७२ वर्ष प्रमाण आयुसे युक्त और तीन ज्ञानके धारक महावीर भगवान् गर्भमें अवतीर्ण हुए। इसमें ३० वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष उनका छद्मस्थकाल और ३० वर्ष केवलिकाल इस प्रकार इन तीनों कालोंका योग ७२ वर्ष होता है। (क. पा. १/१,१/§५६/-७४/१)।

२. दिव्यध्वनि या शासनदिवसकी तिथि व स्थान

ध. १/१,१,१/गा. ५२-५७/६१-६३ पंचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे। ...।५२। महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स। ...इम्मिस्से वसि-प्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए। चोत्तीसवाससेसे किंचि विसेसूणए संते।५५। वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले। पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।५६। सावण बहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो। अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो।५७। —पंचशैलपुरमें (राजगृहमें) रम-णीक, विपुल व उत्तम, ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य जीवोंको उपदेश दिया।५२। इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम ३४ वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें प्रथम अर्थात् कृष्णपक्ष प्रतिपदाके दिन प्रातः-कालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहनेपर तीर्थ-की उत्पत्ति हुई।५५-५६। श्रावणकृष्ण प्रतिपदाके दिन रुद्रमुहूर्तमें सूर्यका शुभ उदय होनेपर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थकी उत्पत्ति समझना चाहिए। (ध. ९/४,१,४४/गा. २९/१२०), (क. पा./१/१-१/§ ५६/गा. २०/७४)।

ध. ९/४,१,४४/१२०/६ छासट्ठिदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं करिदे। केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। —केवल-ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर भी ६६ दिन तक उनमें तीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिए उनके केवलीकालमें ६६ दिन कम किये जाते हैं। (क. पा. १/१,१/§ ५७/७५/५)।

३. द्वि० दृष्टिसे भगवान्‌की आयु आदि

ध. ९/४,१,४४/टीका व गा. ३०-४१/१२१-१२६ अण्णे के वि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरि वासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिंदाउअं परूवेंति ७१-३-२५। तेसिमहिप्पाएण गब्भत्थ-कुमार-छदुमत्थ-केवल-कालाणं परूवणा करिदे। तं जहा... (पृष्ठ १२१/५)। आसाढजोण्णपक्खे छट्ठीए जोणिमुवयादो। गा. ३१। अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे। तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु। गा. ३३। अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं। गा. ३४। आहिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुले दु। दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमण-पुज्जो। गा. ३५। गमइ छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंच मासे य। पण्णारसाणि दिण्णाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो। गा. ३६। वइ-साहजोण्णपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो। हंतूण घाइकम्मं केवल-णाणं समावण्णो। गा. ३८। वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीस-दिवसे य।...। गा. ३९। पाच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचो-द्दसिए। सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ। गा. ४०। परिणिव्वुदे जिणिंदे चउत्थकालस्स जं भवे सेसं। वासाणि तिण्णि मासा अट्ठ य दिवसा वि पण्णरसा। गा. ४१। ...एदं कालं वड्ढ-माणजिणिंदाउअम्मि पक्खित्ते दसदिवसाहियपंचहत्तरिवासमेत्ताव-सेसे चउत्थकाले सग्गादो वड्ढमाणजिणिंदस्स ओदिण्णकालो होदि। —अन्य कितने ही आचार्य भगवान्‌की आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन बताते हैं। उनके अभिप्रायानुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ और केवलज्ञानके कालोंकी प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार कि—गर्भावतार तिथि—आषाढ शु. ६; गर्भस्थकाल—९ मास-८ दिन; जन्म-तिथि व समय—चैत्र शु. १३ की रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र; कुमारकाल—२८ वर्ष ७ मास १२ दिन; निष्क्रमण तिथि—मगसिर कृ. १०; छद्मस्थकाल—१२ वर्ष ५ मास १५ दिन; केवल-ज्ञान तिथि—वैशाख शु. १०; केवलीकाल—२९ वर्ष ५ मास २० दिन; निर्वाण तिथि—कार्तिक कृ. १४ में स्वाति नक्षत्र। भगवान्‌के निर्वाण होनेके पश्चात् शेष बचा चौथा काल—३ वर्ष ८ मास १५ दिन। इस कालको वर्धमान जिनेन्द्रकी आयुमें मिला देनेपर चतुर्थकालमें ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर भगवान्‌का स्वर्गावतरण होनेका काल प्राप्त होता है। (क. पा. १/१-१/§ ५८-६२/टीका व गा. २१-३१/७६-८१)।

४. भगवान्‌की आयु आदि सम्बन्धी दृष्टिभेदका समन्वय

ध. ९/४,१,४४/१२६/५ दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समंजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ; अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं। तं जाणिय वत्तव्वं। —उक्त दो उपदेशोंमेंसे कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता, क्योंकि, न तो इस विषयका कोई उपदेश प्राप्त है और न दोनोंमेंसे एकमें कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु दोनोंमेंसे एक ही सत्य होना चाहिए। उसे जानकर कहना उचित है। (क. पा./१/-१-१/§ ६३/८१/१२)।

★ **वीर निर्वाण संवत् सम्बन्धी**—दे० इतिहास/२।

५. भगवान्‌के पूर्व भवोंका परिचय

म. पु./७४/श्लोक नं. "दूरवर्ती पूर्वभव नं. १ में पुरुरवा भील थे। १४-१६। नं. २ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुए।२०-२२। नं. ३ में भरत का पुत्र मरीचि कुमार।५१-६६। नं. ४ में ब्रह्म स्वर्गमें देव।६७। नं. ५ में जटिल ब्राह्मणका पुत्र।६८। नं. ६ में सौधर्म स्वर्गमें देव।६९।

नं. ७ में पुष्यमित्र ब्राह्मणका पुत्र ।७१। नं. ८ में सौधर्म स्वर्गमें देव ।७२-७३। नं. ९ में अग्निसह ब्राह्मणका पुत्र ।७४। नं. १० में ७ सागरकी आयुवाला देव ।७५। नं. ११ में अग्निमित्र ब्राह्मणका पुत्र ।७६। नं. १२ में माहेन्द्र स्वर्गमें देव ।७६। नं. १३ में भारद्वाज ब्राह्मणका पुत्र ।७७। न. १४ में माहेन्द्र स्वर्गमें देव ।७८। तत्पश्चात् अनेकों त्रस स्थावर योनियोंमें असंख्यातों वर्ष भ्रमण करके वर्तमानसे पहले पूर्वभव नं. १८ में स्थावर नामक ब्राह्मणका पुत्र हुआ ।७९-८३। पूर्वभव नं. १७ में महेन्द्र स्वर्गमें देव ।८५। पूर्वभव नं. १६ में विश्वनन्दी नामक राजपुत्र हुआ ।८६-११७। पूर्वभव नं. १५ में महाशुक्र स्वर्गमें देव ।११८-१२०। पूर्वभव नं. १४ में त्रिपृष्ठ नारायण ।१२०-१६७। पूर्वभव नं. १३ में सप्तम नरकका नारकी ।१६७। पूर्वभव नं. १२ में सिंह ।१६९। पूर्वभव नं. ११ में प्रथम नरकका नारकी ।१७०। पूर्वभव नं. १० में सिंह ।१७१-२१९। पूर्वभव नं. ९ में सिंहकेतु नामक देव ।२१९। पूर्वभव नं. ८ में कनकोज्ज्वल नामक विद्याधर ।२२०-२२९। पूर्वभव नं. ७ में सप्तम स्वर्गमें देव ।२३०। पूर्वभव नं. ६ में हरिषेण नामक राजपुत्र ।२३२-२३३। पूर्वभव नं. ५ में महाशुक्र स्वर्गमें देव ।२३४। पूर्वभव नं. ४ में प्रियमित्र नामक राजपुत्र ।२३४-२४०। पूर्वभव नं. ३ में सहस्रार स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामक देव ।२४१। पूर्वभव नं. २ में नन्दन नामक सज्जनपुत्र ।२४२-२५१। पूर्वभव नं. १ में अच्युत स्वर्गमें अहमिन्द्र ।२४६। वर्तमान भवमें २४ वें तीर्थंकर महावीर हुए ।२५१। (युगपत् सर्व भव - दे० म. पु./७६/५३४)।

* **भगवान्के कुल, संघ आदिका विशेष परिचय** —दे० तीर्थंकर/५।

महावीर पुराण—१. आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्द-बद्ध एक ग्रन्थ। इसमें २० अध्याय हैं। २. आ. सकलकीर्ति (ई. १४०६-१४४२) की एक रचना।

महावीराचार्य—आप राजा अमोघवर्ष प्रथमके परम मित्र थे। दोनों साथ-साथ रहते थे। पीछेसे आपने दीक्षा ले ली थी। कृति—गणितसार संग्रह। ज्योतिष पटल। समय—अमोघवर्ष के अनुसार शक ७३० (ई. ८००-८३०)। (ती./२/३४)।

महाव्रत—दे० व्रत।

महाशंख—लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत- दे० लोक/५/९।

महाशिरा—कुण्डल पर्वतके कनक कूटका रक्षक देव--दे० लोक५/१२।

महाशुक्र—१. स्वर्गोंमें १०वाँ कल्प—दे० स्वर्ग/३।
२. शुक्र स्वर्गका एक पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/२।

महाश्वेता—एक विद्या—दे० विद्या।

महासंघिक—एक बौद्ध सम्प्रदाय—(दे० बौद्धदर्शन)।

महासत्ता—सर्व पदार्थोंका अस्तित्व सामान्य—दे० अस्तित्व।

महासर्वतोभद्र—एक व्रत—दे० सर्वतोभद्र।

महासेन—१. भोजक वृष्णिका पुत्र उग्रसेनका भाई—(ह.पु./१८/१६)। २. यादववंशी कृष्णका दसवाँ पुत्र—दे. इतिहास/७/१०। ३. सुलोचनाचरित्रके रचयिता एक दिगम्बराचार्य। समय—(ई० श. ८ का अन्त ९ का पूर्व) ; (ह पु./प्र./७/पं. पन्नालाल)।

महास्कन्ध—सर्व व्यापक पुद्गल द्रव्य सामान्य—दे० स्कन्ध/१०।

महास्वर—गन्धर्व जातीय एक व्यन्तर—दे० गन्धर्व।

महाहिमवान—१. हैमवत क्षेत्रके उत्तर दिशामें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत। अपरनाम पंचशिखरी है। इसका नकशा आदि—दे० लोक/३.५/३।

रा. वा./३/११/३/१८२/२९ हिमाभिसंबन्धाद्धिमवदभिधानम्, महांश्चासौ हिमवांश्च महाहिमवानिति, असत्यपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवत्। —हिमके सम्बन्धसे हिमवान् संज्ञा होती है। महान् अर्थात् बड़ा है और हिमवान् है, इसलिए महाहिमवान् कहलाता है। अथवा हिमके अभावमें भी 'इन्द्रगोप' इस नामकी भाँति रूढिसे इसे महाहिमवान् कहते हैं। २. महाहिमवान् पर्वतका एक कूट व उसका स्थायी देव —दे० लोक ५/४; ३. कुण्डलपर्वतके अंकप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/५/१२।

महिमा—१. आन्ध्रदेशके अन्तर्गत वेणा नदीके किनारे पर स्थित एक प्राचीन नगर। आज वेण्या नामकी नदी बम्बई प्रान्तके सितारा जिलेमें है और उसी जिलेमें महिमानगढ़ नामका एक गाँव भी है। सम्भवतः यह महिमानगढ़ ही वह प्राचीन महिमा नगरी है, जहाँ कि अर्हद्बलि आचार्यने यति-सम्मेलन किया था और जहाँसे कि धरसेन आचार्यके पत्रके अनुसार पुष्पदन्त व भूतबली नामके दो साधु उनकी सेवामें गिरनार भेजे गये थे। इसका अपर नाम पुण्ड्रवर्धन भी है। (ध. १/प्र. ३१/H.L. Jain)। २. भरत क्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. एक विक्रिया ऋद्धि —दे० ऋद्धि/३।

महिष—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

महिषग—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर प्रान्त। (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

महिषमति—नर्मदा नदी पर स्थित एक नगर- दे० मनुष्य/४।

महीदेव—मूल संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अकलंक भट्टके शिष्य थे। समय—(ई. ६६५-७०५)। (दे० इतिहास/७/१)। (सि. वि./प्र. ७/पं. महेन्द्र कुमार)।

महीपाल—१. म. पु./७३/श्लोक—महीपाल नगरका राजा तथा भगवान् पार्श्वनाथका नाना था ।९६। महादेवीके वियोगमें पंचाग्नि तप तपता था। कुमार पार्श्वनाथसे योग्य विनय न पानेपर क्रुद्ध हुआ। कुमार द्वारा बताये जाने पर उनकी सत्यताकी परीक्षा करनेके लिए जलती हुई लकड़ीको कुल्हाड़ीसे चीरा तो वास्तवमें ही वहाँ सर्पका जोड़ा देखकर चकित हुआ। यह कमठका जीव था तथा भगवान्के जीवसे वैर रखता था। शल्यसहित मरणकर शम्बर नामक ज्योतिष देव बना, जिसने तप करते हुए भगवान्पर घोर उपसर्ग किया ।९७-११७। यह कमठका आगेका आठवाँ भव है। २. प्रतिहार वंशका राजा था। महयाण प्रान्तमें राज्य करता था। धरणी वराह इसका अपर नाम था। समय—(श. सं. ८३६; वि. सं. ९७१ (ई. ९१४); (ह. पु./प्र. ६/पं. पन्नालाल)।

महीशुर—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर नगर। (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

महेंद्र—प. पु /१५/१३-१६—महेन्द्रगिरिका राजा तथा हनुमान्की माता अंजनाका पिता था।

महेंद्र देव—तत्त्वानुशासनके रचयिता आ.नागसेन(ई.१०४७)के शिक्षागुरु थे। नागसेनके समयके अनुसार इनका समय—(ई० श० १२ का पूर्व)। (त. अनु./प्र. २/ब्र.श्री लाल) — दे० नागसेन।

महेंद्रिका—भरत क्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

महेश्वर—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग।

महोदय—दे० विद्यानन्दि महोदय।

महोरग—ध. १३/५.५.१४०/३९१/११ सर्पाकारेण विकरणप्रिया. महोरगाः नाम।—सर्पाकार रूपसे विक्रिया करना इन्हें प्रिय है, इसलिए महोरग कहलाते हैं।

२. महोरग देवोंके भेद

ति. प./६/३८ भुजगा भुजंगसाली महतणु अतिकायखंधसाली य। महअसणिजमहसर गंभीरं पियदंसणा महोरगया।३८। —भुजग, भुजंगशाली, महातनु, अतिकाय स्कन्धशाली, मनोहर, अशनिजव, महेश्वर, गम्भीर और प्रियदर्शन ये दश महोरग जातिके देवोंके भेद हैं। (त्रि. सा./२६१)।

★ **इसके वर्ण वैभव अवस्थान आदि**—दे० व्यन्तर/४।

मांडलीक—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मांस—★ **मांसकी अभक्ष्यताका निर्देश**—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

१. मांसत्याग व्रतके अतिचार

सा. ध./३/१२ चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिंग्वसंहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यदामिषव्रते।१२। —चमड़ेमें रखे हुए जल, घी तेल आदि चमड़ेसे आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखनेवाली हींग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोजन आदि पदार्थोंका खाना मांस त्याग व्रतमें दोष है।

ला. सं./२/श्लोक—तद्भेदा बहवः सन्ति मादृशां वागगोचराः। तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टाः केचिदन्वयात्।१०। —उन अतिचारोंके बहुतसे भेद हैं जो मेरे समान पुरुषसे कहे जाने सम्भव नहीं हैं, तथापि व्यवहारके लिए आम्नायके अनुसार कुछ भेद यहाँ कहे जाते हैं।१०। चमड़ेके बर्तनमें रखे हुए घी, तैल, पानी आदि।११। अशोधित आहार्य।१८। त्रस जीवोंका जिसमें सन्देह हो, ऐसा भोजन।२०। बिना छाना अथवा विधिपूर्वक दुहरे छन्नेसे न छाना गया, घी, दूध, तेल, जल आदि।२३-२४। शोधन विधिसे अनभिज्ञ साधर्मी या शोधन विधिसे परिचित विधर्मीके हाथसे तैयार किया गया भोजन।२८। शोधित भी भोजन यदि मर्यादासे बाहर हो गया है तो।३२। दूसरे दिनका सर्व प्रकारका बासी भोजन।३३। पत्तेका शाक।३५। पान।३७। रात्रिभोजन।३८। आसव, अरिष्ट, अचार, मुरब्बे आदि।५५। रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे चलित कोई भी पदार्थ।५६। अमर्यादित दूध, दही आदि।५७।

२. मांस निषेधका कारण

मू. आ./३५३ चत्तारि महावियडि य होंति णवणीदमज्जमंसमधू। कंखापसंगदप्पासंजमकारीओ एदाओ।३५३। —नवनीत, मद्य, मांस और मधु ये चार महा विकृतियाँ हैं, क्योंकि ये काम, मद व हिंसाको उत्पन्न करते हैं। (पु. सि. उ./७१)।

पु.सि.उ./६५-६८ न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्। मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।६५। यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः। तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।६६। आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु। सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां।६७। आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीं। स निहन्ति सततं निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।६८।—१. प्राणियोंके घातके बिना मांसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मांसभक्षीको अनिवारित रूपसे हिंसा होती है।६५। २. स्वयं मरे हुए भैंस व बैल आदिके मांस भक्षणमें भी हिंसा होती है, क्योंकि तदाश्रित अनन्तों निगोद जीवोंकी हिंसा वहाँ पायी जाती है।६६। ३. कच्ची हो या अग्नि पर पकी हुई हो अथवा अग्निपर पक रही हो ऐसी सब ही मांसकी पेशियोंमें, उस ही जातिके अनन्त निगोद जीव प्रति समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।६७। इसलिए कच्ची या पकी हुई किसी भी प्रकारकी मांसपेशीको खाने या छूने वाला उन करोड़ों जीवोंका घात करता है।६८। (यो. सा./अ./८/६०-६१)।

३. धान्य व मांसको समान कहना योग्य नहीं

सा. ध./२/१० प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः। भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका।१०। (गद्य उद्धृत)—पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे। यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात्॥ धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते। गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यन्तबाधकः॥ —यद्यपि मांस व अन्न दोनों ही प्राणीके अंग होनेके नाते समान हैं, परन्तु फिर भी धार्मिक जनोंके लिए मांस खाना योग्य नहीं है। जैसे कि स्त्रीपनेकी अपेक्षा समान होते हुए भी पत्नी ही भोग्य है माता नहीं।१०। दूसरी बात यह भी है कि पंचेन्द्रिय प्राणीको मारने या उसका मांस खानेसे जैसी नरक आदि दुर्गति मिलती है वैसी दुर्गति अन्नके भोजन करनेसे नहीं होती। धान्यके पकनेपर केवल एकेन्द्रियका ही घात होता है, इसलिए देशसंयमी गृहस्थोंके लिए वह अत्यन्त बाधक नहीं है।

★ **दूध व मांस समान नहीं है**—दे० भक्ष्याभक्ष्य।

★ **अनेक वनस्पति जीवोंकी अपेक्षा एक त्रस जीवकी हिंसा ठीक है—यह हेतु उचित नहीं**—दे० हिंसा/२/१।

४. चर्म निक्षिप्त वस्तुके त्यागमें हेतु

ला. सं./२/११-१३ चर्मभाण्डे तु निक्षिप्ताः घृततैलजलादयः। त्याज्याः यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिताः।११। न चाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते। संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत्।१२। सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा। तदाज्ञया प्रमाणेन माननीयं मनोषिभिः।१३। —चमड़ेके बर्तनमें रखे हुए घी, तैल, जलादिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी वस्तुओंमें उस-उस जीवके मांसके आश्रित रहनेवाले त्रस जीव अवश्य रहते हैं।११। वहाँ वे जीव हैं या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, व्योमचित्रकी भाँति इन्द्रियोंसे न दिखाई देनेके कारण यद्यपि वे जीव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं हैं।१२। तो भी सर्वज्ञदेवने उनका वहाँ प्रत्यक्ष किया है और उसीके अनुसार आचार्योंने शास्त्रोंमें निर्देश किया है, अतः बुद्धिमानोंको सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर उनका अस्तित्व वहाँ स्वीकार कर लेना चाहिए।१३।

५. सूक्ष्म त्रस जीवोंके भक्षणमें पाप है

ला. सं./२/१४ नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात्। अहो मांसाशिनोऽवश्यं प्रोक्तं जैनागमे यतः। —इन्द्रियोंके अगोचर ऐसे सूक्ष्म जीवोंके भक्षणसे पाप होता है या नहीं, ऐसी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि मांस भक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है, ऐसा जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है।१४।

★ **विधर्मीसे अन्न शोधन न करानेमें हेतु**—दे० आहार/२।

मागध—लवण समुद्रकी ईशान व आग्नेय दिशामें स्थित द्वीप व उसके रक्षक देव।—दे० लोक/७।

माघ—गुजरात नरेश श्रीपालके मन्त्री सुप्रभदेवके दो पुत्र थे—दत्त व शुभंकर। दत्तके पुत्र महाकवि माघ थे। इन्होंने 'शिशुपाल वध' नामक ग्रन्थकी रचना की है। (उपमिति भव प्रपंच कथा/ प्र. २/ प्रेमीजी)।

माघनन्दि—१. मूलसंघ की पट्टावली के अनुसार आप आ. अर्हद्बलि के शिष्य होते हुए भी उनके तथा धरसेनस्वामी के समकालीन थे। पूर्वधर तथा अत्यन्त ज्ञानी होते हुए भी आप बड़े तपस्वी थे। इनकी परीक्षा के लिये प्राप्त गुरु अर्हद्बली के आदेश के अनुसार एक बार आपने नन्दिवृक्ष (जो छायाहीन होता है) के नीचे वर्षायोग धारण किया था। इसीसे इनको तथा इनके संघ को नन्दि की संज्ञा प्राप्त हो गई थी। नन्दिसंघ की पट्टावली में आपका नाम क्योंकि भद्रबाहु तथा गुप्तिगुप्त (अर्हद्बलि) को नमस्कार करने के पश्चात् सबसे पहले आता है और वहाँ क्योंकि आपका पट्टकाल वी. नि. ५७५ से प्रारम्भ किया गया है, इसलिये अनुमान होता है कि उक्त घटना इसी काल में घटी थी और उसी समय आ. अर्हद्बलि के द्वारा स्थापित इस संघ का आद्य पट आपको प्राप्त हुआ था। यद्यपि नन्दिसंघ की पट्टावली में आपकी उत्तरावधि केवल ४ वर्ष पश्चात् वी. नि. ५७९ बताई गई है, तदपि क्योंकि मूलसंघ की पट्टावली के अनुसार वह ६१४ है इसलिये आपका काल वी. नि. ५७५ से ६१४ सिद्ध होता है। (विशेष दे. कोष १/परिशिष्ट २/६)। २. नन्दिसंघ के देशीयगण की गुर्वावली के अनुसार आप कुलचन्द्र के शिष्य तथा माघनन्दि त्रैविद्यदेव तथा देवकीर्ति के गुरु थे। 'कोल्लापुरीय' आपकी उपाधि थी। समय—वि. श. १०१०-१०५८ (ई. ११०८-११३६)—(दे. इतिहास ७/५)। ३. शास्त्रसार समुच्चय के कर्ता। माघनन्दि नं. ४ (वि. १३१७) के दादा गुरु। समय—ई. श. १२ का अन्त। (जै./२/२८५)। ४. माघनन्दि नं ३ के प्रशिष्य और कुमुदचन्द्र के शिष्य। कृति—शास्त्रसार समुच्चय की कन्नड़ टीका। समय—वि. १३१७ (ई. १२६०)। (जै /२/१६६)। ५. माघनन्दि कोल्हापुरीय के शिष्य (ई. ११३३)। (दे. इति./७/५)।

माघवी—महातम:प्रभा (सातवाँ नरक) का अपरनाम—दे० नरक/५।

माठर—एक अक्रियावाद—दे० अक्रियावादी।

माणव—दे० मालव।

माणिकभद्र—विजयार्ध पर्वतका एक कूट और उसका रक्षक देव।—दे० लोक/७।

माणिक्यनन्दि—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप रत्ननन्दिके शिष्य तथा मेघचन्द्रके गुरु थे। समय—विक्रम शक. सं. ५८५-६०१ (ई० ६६३-६७९); —दे० इतिहास/७/२। २. नन्दिसंघ देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप बालनन्दि (रामनन्दि) के शिष्य तथा प्रभाचन्द्रके गुरु थे। कृति—परीक्षामुख। समय—वि० ९४६-९७१ (ई० १००३-१०२८)—दे० इतिहास/७/५। (ती./३/४३)

मातंग—१. पद्मप्रभु व पार्श्वनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर ५/३। २. राजा विनमिका पुत्र जिससे मातंगवंशकी उत्पत्ति हुई—दे० इतिहास १०/६।

मातंगवंश—दे० इतिहास १०/६।

मातृकायंत्र—दे० यंत्र।

मात्सर्य—स. सि./६/१०/३२७/१२ कुतश्चित्कारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। —विज्ञानका अभ्यास किया है, वह देने योग्य भी है तो भी जिस कारणसे वह नहीं दिया जाता वह मात्सर्य है। (रा. वा./६/१०/३/५१७/२५)।

स. सि./७/३६/३७२/१ प्रयच्छतोऽप्यादराभावोऽन्यदातृगुणासहनं वा मात्सर्यम्। —दान करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोंको न सह सकना मात्सर्य है। (रा. वा./७/३६/४/५५८/२६)।

माथुरसंघ—दे० इतिहास/६/५।

माधव—मीमांसा दर्शनका एक टीकाकार—दे० मीमांसा दर्शन।

माधवचन्द्र—१. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य गणितज्ञ। कृति—त्रिलोकसार की संस्कृत टीका, बन्धत्रिभंगी। समय—वि. श. ११ का पूर्वार्ध (लगभग ई. ९८१)। (जै./१/३९३)। २. क्षपणसार के कर्ता। समय—ग्रन्थ रचनाकाल वि. १२६० (ई. १२१३)। (जै /१/४४१) (ती./३/२११)।

माधव सिंह—जयपुरके राजा। समय—वि. १८११-१८२४ (ई० १७५४-१७६७); (मा. मा. प्र./प्र. २१/पं. परमानन्द)।

माधवसेन—माथुर संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नेमिषेणके शिष्य तथा श्रावकाचारके कर्ता अमितगतिके गुरु थे। समय—वि० १०२०-१०६४ (ई० ९६३-१००७)—दे० इतिहास/७/११। (अमितगति श्रावकाचारकी प्रशस्ति); (यो. सा./अमितगति/प्र. २/ पं. गजाधर लाल)।

माधवाचार्य—सायणाचार्यका अपर नाम—दे० सायणाचार्य।

माध्यंदिन—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

माध्यमिक—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

माध्यस्थ्य—

स. सि./७/११/३४९/८ रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्। —रागद्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ्य है। (रा. वा./७/११/४/५३८/२१)।

दे० सामायिक/१ [माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृह, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं।...(क्रोधी, पापी, मांसाहारी) व नास्तिक आदि जनोंमें माध्यस्थभाव होना उपेक्षा कहलाती है।]

माध्व वेदान्त—

ई. श. १२-१३ में पूर्णप्रज्ञ माध्वदेव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्यायसुधा व पदार्थ संग्रह इसके मुख्य ग्रन्थ हैं। अनेक तत्त्व माननेके कारण भेदवादी हैं।—विशेष दे० वेदान्त/६।

मान—

१. अभिमानके अर्थमें

रा. वा./८/९/५/५७४/३० जात्याद्युत्सेकावष्टम्भात् पराप्रणतिर्मानः शैलस्तम्भास्थिदारुलतासमानश्चतुर्विधः। —जाति आदि आठ मदोंसे (दे० मद) दूसरेके प्रति नमनेकी वृत्ति न होना मान है। वह पाषाण, हड्डी, लकड़ी और लताके भेदसे चार प्रकारका है।—दे० कषाय।१।

ध. १/१,१,१/१११/३४९/७ रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः। —रोषसे अथवा विद्या तप और जाति आदिके मदसे (दे० मद) दूसरेके तिरस्काररूप भावको मान कहते हैं।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/४ मानो गर्वः स्तब्धमित्येकोऽर्थः। —मान, गर्व, और स्तब्धत्व ये एकार्थवाची हैं।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/६ विज्ञानैश्वर्यजातिकुलतपोविद्याजनितो जीवपरिणामः औद्धत्यात्मको मानः—विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्तसे उत्पन्न उद्धतता रूप जीवका परिणाम मान कहलाता है।

नि. सा./ता.वृ./११२ कवित्वेन···सकलजनपूज्यतया—कुलजातिविशुद्धया वा···निरुपमबलेन च संपद्वृद्धिविलासेन, अथवा बुद्धिभिः सप्तभिर्वा···वपुर्लावण्यरसविसरेण वा आत्माहंकारो मानः।—कवित्व कौशलके कारण, समस्तजनों द्वारा पूजनीयपनेसे, कुलजातिकी विशुद्धिसे, निरुपम बलसे, सम्पत्तिकी वृद्धिके विलाससे, सात ऋद्धियोंसे, अथवा शरीर लावण्यरसके विस्तारसे होनेवाला जो आत्म-अहंकार वह मान है।

२. प्रमाण या मापके अर्थमें

ध. १२/४,२,८,१०/२८५/१ मानं प्रस्थादिः हीनाधिकभावमापन्नः। —हीनता अधिकताको प्राप्त प्रस्थादि मान कहलाते हैं।

न्या. वि./वृ./१/११६/४२५/१ मानं तोलनम्।—मान अर्थात् तोल या माप।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. मान सम्बन्धी विषय विस्तार	—दे० कषाय।
२. जीवको मानी कहनेकी विवक्षा	—दे० जीव/१/३।
३. आहारका एक दोष	—दे० आहार/II/४/४।
४. वसतिकाका एक दोष	—दे० वसतिका।
५. आठ मद।	—दे० मद।
६. मान प्रमाण व उसके भेदाभेद	—दे० प्रमाण/५।
७. मानकी अनिष्टता	—दे० वर्ण व्यवस्था/१/६।

मानतुंग—काशीवासी धनदेव ब्राह्मण के पुत्र थे। पहले श्वेताम्बर साधु थे, पीछे दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली दोनों ही आम्नायों में सम्मानित हैं। राजा द्वारा ४८ तालों में बन्द किये जाने की कथा इनके विषय में प्रसिद्ध है। कृति—भक्तामर स्तोत्र। समय—राजा हर्ष (ई. ६०८) के समकालीन होने से तथा आ. सिद्धसेन (वि. ६२५) कृत कल्याण मन्दिर स्तोत्र से प्रभावित होने से लगभग वि. ६७५ (ई. ६१८)। (ती./२/२६८, २७३)।

मानव—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। ४. जीवको मानव कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३/५।

मानव योजन—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/३।

मानवर्तिक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मानवी—एक विद्या—दे० विद्या।

मानस—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मानस—ध. १३/५,५,६३/३३२/१० मणम्मि भवं लिंगं माणसं, अथवा मणो चेव माणसो।—मनमें उत्पन्न हुए चिह्नको मानस कहते हैं अथवा मनकी ही संज्ञा मानस है।

मानसरोवर—भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मानसाहार—दे० आहार/I/१।

मानसिक दुःख—दे० दुःख।

मानसी—१. भगवान् शान्तिनाथकी शासिका यक्षिणी—दे० तीर्थकर/५/३। २. एक विद्या—दे० विद्या।

मानस्तंभ—ति. प./४/गा. का भावार्थ—

१. समवशरण की मानस्तम्भ भूमियोंके अभ्यन्तर भागमें कोट होते हैं।७६२। जिनके भीतर अनेकों वनखण्ड, देवोंके क्रीड़ा नगर, वन, वापियाँ आदि शोभित हैं।७६३-७६५। उनके अभ्यन्तर भागमें पुनः कोट होते हैं, जिनके मध्य एकके ऊपर एक तीन पीठ हैं।७६७-७६८। प्रथम पीठकी ऊँचाई भगवान् ऋषभदेवके समवशरणमें $\frac{२४}{३}$ धनुष इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त प्रत्येकमें १/३ धनुषकी हानि होती गयी है। पार्श्वनाथके समवशरणमें इसकी ऊँचाई ५/६ धनुष और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $\frac{२}{३}$ धनुष है। द्वितीय व तृतीय पीठोंकी ऊँचाई समान होती हुई सर्वत्र प्रथम पीठसे आधी है।७६९-७७०। इन तीनों पीठोंकी चारों दिशाओंमें सीढ़ियाँ है। प्रथम पीठपर आठ-आठ और शेष दोनों पर चार-चार हैं।७७१। तृतीय पीठका विस्तार $\frac{३०००}{३}$ धनुषसे प्रारम्भ होकर आगे प्रत्येक तीर्थमें $\frac{१२५}{३}$ कम होता गया, पार्श्वनाथके समवशरणमें $\frac{१२५}{६}$ और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $\frac{५००}{६}$ धनुष था।७७३-७७४। २. तृतीय पीठपर मानस्तम्भ होते हैं। जिनकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकरकी ऊँचाईसे १२ गुणी होती है। भगवान् ऋषभनाथके समवशरणमें मानस्तम्भका बाहल्य २३९५२ धनुष प्रमाण था। पीछे प्रति तीर्थंकर ९९८ धनुष कम होते-होते भगवान् पार्श्वनाथके मानस्तम्भका बाहल्य $\frac{२४९५}{२४}$ धनुष प्रमाण था और भगवान् वर्द्धमानके मानस्तम्भका ४९९ धनुष प्रमाण था।।७७५-७७७। सभी मानस्तम्भ मूल भागमें वज्रद्वारोंसे युक्त होते हैं और मध्यभागमें वृत्ताकार होते हैं।।७७८-७७९। ऊपरसे ये चारों ओर चमर, घण्टा आदिसे विभूषित तथा प्रत्येक दिशामें एक-एक जिन प्रतिमासे युक्त होते हैं।७८०-७८१। इनके तीन-तीन कोट होते हैं। कोटोंके बाहर चारों दिशाओंमें वीथियाँ व द्रह होते हैं जो कमलों व कुण्डोंसे शोभित होते हैं।७८२-७९१। (इसका नकशा—दे० समवशरण)। नोट—३. [मानस्तम्भके अतिरिक्त सर्व ही प्रकारके देवोंके भवनोंमें तथा अकृत्रिम चैत्यालयोंमें भी उपरोक्त प्रकार ही मानस्तम्भ होते हैं—तहाँ भवनवासियोंके भवनोंके लिए—(दे० त्रि. सा./२१६); व्यन्तर देवोंके भवनोंके लिए—दे० त्रि. सा./२५५; अकृत्रिम चैत्यालयोंके लिए—दे० त्रि. सा./१००३-१०१२]।

१. मानस्तम्भ नामकी सार्थकता

ति. प./४/७८२ माणुल्लासयमिच्छा वि दूरदो दंसणेण थंभाणं। जं होंति गलिदमाणा माणत्थंभं ति तं भणिदं।७८२। —चूँकि दूरसे ही मानस्तम्भोंके देखनेसे मानसे युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमानसे रहित हो जाते हैं, इस लिए इनको मानस्तम्भ कहा गया है।

मानुष—१. मानुषोत्तर पर्वतके रजतकूटका रक्षक एक भवनवासी देव—लोक ५/१०। २. एक यक्ष—दे० यक्ष।

मानुषोत्तर—मध्यलोक पुष्कर द्वीपके मध्य स्थित एक कुण्डलाकार पर्वत—दे० लोक/४/४।

स. सि./३/३५/२२८/१० पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैलः। तस्मात्प्रागेव मनुष्या न बहिरिति। ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति।···ततोऽस्यान्वर्थ संज्ञा।—पुष्कर द्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है। उसके पहले-पहले ही मनुष्य हैं, उसके बाहर नहीं (क्योंकि उसको उल्लंघन करनेकी शक्ति मनुष्योंमें नहीं है—(दे० मनुष्य/४/२) इसलिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है। (रा. वा/३/३५/···/१९७/३०)।

मान्यखेट—निजाम हैदराबाद राज्यके अन्तर्गत शोलापुरसे ६० मील दक्षिण पूर्वमें स्थित वर्तमानका मलखेडा ग्राम (क. पा. १/प्र. ७३/–पं. महेन्द्र)।

मापिकी—Mensuration (ज. प./प्र. १०८)।

माय—स्व. स्तोत्र/टी./१४१/२६७ मायः प्रमाणं केवलज्ञानलक्षणं आगमस्वरूपं वा। —माय अर्थात् प्रमाण जिसका लक्षण केवलज्ञान या आगमस्वरूप है।

माया—

स. सि./६/१६/३३४/२ आत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः। —आत्माका कुटिल भाव माया है। इसका दूसरा नाम निकृति (या वंचना) है। (म. सि./७/१८/३५६/८); (रा. वा./६/१६/१/५२६/६;७/१८/२/५४५/१४); (ध. १/१,१,१११/३४६/७); (ध. ६,६–१,२३/४१/४)।

रा. वा./८/६/५/५७४/३१ परातिसंधानतयोपहितकौटिल्यप्रायः प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूलमेषशृंग-गोमूत्रिकाऽवलेखनीसदृशी चतुर्विधा। —दूसरेको ठगनेके लिए जो कुटिलता या छल आदि किये जाते हैं वह माया है। यह बाँसकी गँठीली जड़, मेढेका सींग, गायके मूत्रकी वक्र रेखा और लेखनीके समान चार प्रकारकी है। (और भी दे० कषाय/३)।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/७ स्वहृदयप्रच्छादार्थमनुष्ठानं माया। —अपने हृदयके विचारको छुपानेकी जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते हैं।

नि. सा./ता. वृ./११२ गुप्तपापतो माया। —गुप्त पापसे माया होती है।

द्र. सं./टी./४२/१८३/६ रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यानं कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाणः सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेषेण यल्लोकरञ्जनां करोति तन्मायाशल्यं भण्यते। —रागके उदयसे परस्त्री आदिमें वाञ्छारूप और द्वेषसे अन्य जीवोंके मारने, बाँधने अथवा छेदनेरूप जो मेरा दुर्ध्यान बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्म भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षणका धारक जो सुख-अमृतरसरूपी निर्मल जलसे अपने चित्तकी शुद्धिको न करता हुआ, यह जीव बाहरमें बगुले जैसे वेषको धारण कर जो लोकोंको प्रसन्न करता है वह मायाशल्य कहलाती है।

२. मायाके भेद व उनके लक्षण

भ. आ./वि./२५/६०/३ माया पञ्चविकल्पा—निकृतिः, उपाधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधिः, प्रतिकुञ्चनमिति। अतिसंधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वञ्चना निकृतिः उच्यते। सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया। अर्थेषु विसंवादः स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणं, दूषणं, प्रशंसा, वा सातिप्रयोगः। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं प्रतिकुञ्चनमाया। —मायाके पाँच प्रकार हैं—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन। धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलाषा उत्पन्न हुई है, ऐसे मनुष्यका जो फँसानेका चातुर्य उसको, निकृति कहते हैं। अच्छे परिणामको ढँककर धर्मके निमित्तसे चोरी आदि दोषोंमें प्रवृत्ति करना उपधि संज्ञक माया है। धनके विषयमें असत्य बोलना, किसीकी धरोहरका कुछ भाग हरण कर लेना, दूषण लगाना अथवा प्रशंसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक कीमतकी सदृश वस्तुएँ आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर, पसेरी वगैरह साधन पदार्थ कम-ज्यादा रखकर लेन-देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपसमें मिलाना, यह सब प्रणिधि माया है। आलोचना करते समय अपने दोष छिपाना यह प्रतिकुंचन माया है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. माया कषाय सम्बन्धित विषय।	—दे० कषाय।
२. आहारका एक दोष।	—दे० आहार/II/४/४।
३. वसतिकाका एक दोष।	—दे० वसतिका।
४. जीवको मायी कहनेकी विवक्षा।	दे० जीव/१/३।
५. मायाकी अनिष्टता।	—दे० आयु/३/५।

माया क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

मायागता चूलिका—दे० श्रुतज्ञान/III।

मायावाद—दे० वेदान्त/२।

मायूरी—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

मार—चौथे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५/११।

मारणान्तिक समुद्घात—दे० मरण/५।

मारसिंह—आप गंगवंशीय राजा राजमल्लके पूर्वाधिकारी थे और आचार्य अजितसेनके शिष्य थे। राजा राजमल्लके अनुसार आपका समय—वि. सं. १०२०-१०४० (ई. ९६३-९८३) आता है।

मारीच—प. पु./७८/८१/८२—रावणका मन्त्री था। रावणको युद्धसे रोकनेके लिए इसने बहुत प्रयत्न किया और रावणकी मृत्युके पश्चात् दीक्षा धारण कर ली।

मारुती धारणा—दे० वायु।

मार्ग—ध. १३/५,५,५०/२८७/१ मृग्यतेऽनेनेति मार्गः पन्थाः। स पञ्चविधः—नरगतिमार्गः, तिर्यग्गतिमार्गः मनुष्यगतिमार्गः, देवगतिमार्गः, मोक्षगतिमार्गश्चेति। तत्र एकैको मार्गोऽनेकविधः कृमिकीटादिभेदभिन्नत्वात्। —जिसके द्वारा मार्गण किया जाता है वह मार्ग अर्थात् पथ कहलाता है। वह पाँच प्रकारका है—नरकगतिमार्ग, तिर्यंचगतिमार्ग, मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग और मोक्षगतिमार्ग। उनमेंसे एक एक मार्ग कृमि व कीट आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।

★ **उत्सर्ग व अपवाद मार्ग**—दे० अपवाद।

★ **मोक्षमार्ग**—दे० मोक्षमार्ग।

मार्गणा—

दे. ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये एकार्थवाचक नाम हैं।

पं. सं/प्रा./१/५६ जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणेण मग्गणाओ त्ति। —जिन-प्रवचनदृष्ट जीव जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें अनुमार्गण किये जाते हैं अर्थात् खोजे जाते हैं, उन्हें मार्गणा कहते हैं। जीवोंका अन्वेषण करनेवाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञानमें १४ कही गयी हैं। (ध. १/१,१,४/गा. ८३/१३२); (गो. जी./मू./१४१/३५४)।

ध. १/१,१,२/१३१/३ चतुर्दशानां जीवस्थानानां चतुर्दशगुणस्थानामित्यर्थः। तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः।...चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणा। —चौदह जीवसमासोंसे यहाँ पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं। मार्गणा गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं। सत् संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, उसे मार्गणा कहते हैं। (ध. ७/२,१,३/७/८)।

ध. १३/५.५.५०/२८२/८ गतिषु मार्गणास्थानेषु चतुर्दशगुणस्थानोपलक्षिता जीवा: मृग्यन्ते अन्विष्यन्ते अनया इति गतिषु मार्गणता श्रुतिः ।—गतियोंमें अर्थात् मार्गणास्थानोंमें (दे० आगे मार्गणाके भेद) चौदह गुणस्थानोंसे उपलक्षित जीव जिसके द्वारा खोजे जाते हैं, वह गतियोंमें मार्गणता नामक श्रुति है ।

दे. आदेश/१ (आदेश या विस्तारसे प्ररूपणा करना मार्गणा है) ।

२. चौदह मार्गणास्थानोंके नाम

ष. खं./१/१.१/सू. ४/१३२ गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णाणे संजमे दंसणे लेस्साए भविय सम्मत्त सण्णि आहारए चेदि ।२।—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक, ये चौदह मार्गणास्थान हैं । (ष. खं. ७/२.१/सू. ३/६); (बो. पा./मू./३३); (मू. आ./११६७); (पं. सं./प्रा./१/५७); (रा. वा./९/७/११/६०३/२६); (गो. जी./मू./१४२/३५५); (स. सा./आ./५३); (नि. सा./ता. वृ./४२); (द्र. सं./टी./१३/३७/१ पर उद्धृत गाथा) ।

३. सान्तर मार्गणा निर्देश

एक मार्गणाको छोड़नेके पश्चात् पुनः उसीमें लौटनेके लिए कुछ कालका अन्तर पड़ता हो तब वह मार्गणा सान्तर कहलाती है । वे आठ हैं ।

पं. सं./प्रा./१/५८ मणुया य अपज्जत्ता वेउव्वियमिस्सऽहारया दोण्णि । सुहमो सासाणमिस्सो उवसमसम्मो य संतराअट्ठ—अपर्याप्त मनुष्य, वैक्रियकमिश्र योग, दोनों आहारक योग, सूक्ष्मसाम्परायसंयम, सासादन सम्यग्मिथ्यात्व, और उपशमसम्यक्त्व ये आठ सान्तर मार्गणा होती हैं ।

४. मार्गणा प्रकरणके चार अधिकार

ध. १/१.१.४/१३३/४ अथ स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पाद्यमानोपलभ्यते । तद्यथा मृगयिता मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति । नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैष दोषः, तेषामत्रोपलम्भात् ; तद्यथा, मृगयिता भव्यपुण्डरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीवः, चतुर्दशगुणस्थानविशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यस्याधारतामास्कन्दन्ति मृगयितुः करणतामादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति ।—प्रश्न—लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्वेषण देखा जाता है—मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परन्तु यहाँ लोकोत्तर पदार्थके विचारमें वे चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिए मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी चारों प्रकार पाये जाते हैं । वे इस प्रकार हैं, जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भव्य-पुण्डरीक मृगयिता है, चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य हैं, जो इस मृग्यके आधारभूत हैं अर्थात् मृगयिताको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक हैं ऐसी गति आदि मार्गणा हैं तथा शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं । (गो. जी./जी. प्र./२/२१/१०) ।

५. मार्गणा प्रकरणमें सर्वत्र भाव मार्गणा इष्ट हैं

ध. १/१.१.२/१३१/६ 'इमानि' इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षीभूतानि निर्दिश्यन्ते । नार्थमार्गणास्थानानि । तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । —'इमानि' सूत्रमें आये हुए इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणा स्थानोंका ग्रहण करना चाहिए । द्रव्यमार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणाएँ देश काल और स्वभावकी अपेक्षा दूरवर्ती हैं, अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । और भी दे० गतिमार्गणामें भावगति इष्ट है—दे० गति/२/५; इन्द्रियमार्गणामें भावइन्द्रिय इष्ट है—दे० इन्द्रिय/३/१; वेद मार्गणामें भाव वेद इष्ट है—दे० वेद/२; संयम मार्गणामें भाव संयम इष्ट है—दे० चारित्र/३/८ । संयतासंयत/२; लेश्यामार्गणामें भावलेश्या इष्ट है—दे० लेश्या/४ ।

६. सब मार्गणा व गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होता है

ध. ४/१.३.७८/१३६/४ सव्वगुणमग्गणट्ठाणेसु आयाणुसारि वओवलंभादो । जेण एइंदिएसु आओ संखेज्जो तेण तेसिं वएण वि तत्तिएण चेव होदव्वं । तदो सिद्धं सादियबंधगा पलिदोवमस्स असंखेज्जदि भागमेत्ता त्ति । —क्योंकि सभी गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय पाया जाता है, और एकेन्द्रियोंमें आयका प्रमाण संख्यात ही है, इसलिए उनका व्यय भी संख्यात ही होना चाहिए । इसलिए सिद्ध हुआ कि त्रसराशिमें सादिबन्धक जीव पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र ही होते हैं ।

ध. १५/२६२/४ केण कारणेण भुजगार-अप्पदरउदीरयाणं तुल्लत्तं उच्चदे । जत्तिया मिच्छत्तादो सम्मामिच्छत्तं गच्छंति तत्तिया चेव सम्मामिच्छत्तादो मिच्छत्तं गच्छंति । जत्तिया सम्मत्तादो सम्मामिच्छत्तं गच्छंति तत्तिया चेव सम्मामिच्छत्तादो सम्मत्तं गच्छंति । —प्रश्न—भुजगार व अल्पतर उदीरकोंकी समानता किस कारणसे कही जाती है ? उत्तर—जितने जीव मिथ्यात्वसे सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं, उतने ही जीव सम्यग्मिथ्यात्वसे मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं । जितने जीव सम्यक्त्वसे सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होते हैं उतने ही सम्यग्मिथ्यात्वसे सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं (इस कारण उनकी समानता है) ।

दे. मोक्ष/२ जितने जीव मोक्ष जाते हैं, उतने ही निगोदसे निकलते हैं) ।

७. मार्गणा प्रकरणमें प्रतिपक्षी स्थानोंका भी ग्रहण क्यों

ध. १/१.१.११५/३५३/७ ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य संभव इति चेन्न, मिथ्यात्वसमवेतज्ञानस्यैव ज्ञानकार्यकारणादज्ञानव्यपदेशात् पुत्रस्यैव पुत्रकार्याकरणादपुत्रव्यपदेशवत् ।

ध. १/१.१.१४४/३९५/५ आम्रवनान्तस्थनिम्बानामाम्रवनव्यपदेशवन्मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वव्यपदेशो न्याय्यः ।—प्रश्न—ज्ञान मार्गणाके अनुवादसे ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणामें अन्तर्भाव कैसे संभव है ? उत्तर— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करनेसे अज्ञान कहा है । जैसे— पुत्रोचित कार्यको नहीं करनेवाले पुत्रको ही अपुत्र कहा जाता है । अथवा जिस प्रकार आम्रवनके भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षोंको आम्रवन यह संज्ञाप्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है ।

ध. ४/१.४.११८/२८७/१० जदि एवं तो एदिस्से मग्गणाए संजमाणुवादववदेसो ण जुज्जदे ; ण, अंब णिबवणं व पाधण्णपदमासेज्ज संजमाणुवादववदेसजुत्तीए ।—प्रश्न—यदि ऐसा है अर्थात् संयम मार्गणामें संयम संयमासंयम और असंयम इन तीनोंका ग्रहण होता है तो इस मार्गणाको संयमानुवादका नाम देना युक्त नहीं है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'आम्रवन' वा 'निम्बवन' इन नामोंके समान प्राधान्यपदका आश्रय लेकर 'संयमानुवादसे' यह व्यपदेश करना युक्तियुक्त हो जाता है ।

८. २० प्ररूपणाओंका १४ मार्गणाओंमें अन्तर्भाव

(ध. २/१,१/४१४/२)।

सं०	अन्तर्भाव्य प्ररूपणा	मार्गणा	हेतु
१	पर्याप्ति	काय व	एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म बादर
२	जीवसमास	इन्द्रिय	तथा उनके पर्याप्त अपर्याप्त भेदोंका कथन दोनोंमें समान है।
३	प्राण—		
	उच्छ्वास	काय व	तीनों प्राण पर्याप्तियोंके
	वचनबल	इन्द्रिय	कार्य हैं।
	मनोबल		
	कायबल	योग	'योग' मन वचन कायके बलरूप है।
	आयु	गति	दोनों अविनाभावी हैं
४	इन्द्रिय	ज्ञान	इन्द्रिय ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप हैं।
	संज्ञा—	कषायमें	संज्ञामें राग या द्वेष रूप हैं।
	आहार	माया व लोभ	आहार संज्ञा रागरूप है।
	भय	क्रोध व मान	भय संज्ञा द्वेषरूप हैं।
	मैथुन	वेद मार्गणा	संज्ञा स्त्री आदि वेदके तीव्रोदय रूप हैं।
५			
	परिग्रह	लोभ	परिग्रह लोभका कार्य है।
	उपयोग—		
	साकार	ज्ञान	साकारोपयोग ज्ञानरूप है।
	अनाकार	दर्शन	अनाकारोपयोग दर्शनरूप है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. मार्गणाएँ विशेष। —दे० वह वह नाम।
२. २० प्ररूपणा निर्देश। —दे० प्ररूपणा।
३. १४ मार्गणाओंमें २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
४. १४ मार्गणाओंमें सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्पबहुत्व ये ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
५. मार्गणाओंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।

मार्गप्रभावना—दे० प्रभावना।

मार्गवाद—ध. १३/५.५.५०/२८७/११ एते मार्गाः एतेषामाभासाश्च अनेन कथ्यन्त इति मार्गवाद. सिद्धान्तः। —ये पाँच प्रकारके मार्ग (दे० मार्ग) और मार्गाभास जिसके द्वारा कहे जाते हैं वह सिद्धान्त मार्गवाद कहलाता है।

मार्ग सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१।

मार्गोपसंयत—दे० समाचार।

मार्दव—

बा. अ. ७२ कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि। जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।७२। —जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शीलादिके विषयमें थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता है, उसके मार्दव धर्म होता है। (स. सि. ९/६/४१२/५); (रा. वा./९/६/३/५९५/२४); (भ. आ./वि./४६/१५४/१३); (त. सा./६/१५); (चा. सा./६१/४)।

स. सि./६/१८/३३४/१२ मृदोर्भावो मार्दवम्। —मृदुका भाव मार्दव है। (रा. वा. ६/१८/१/५२६/२३)।

का. अ./मू./३९५ उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि। अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयणं भवे तस्स।३९५। —उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता वह मार्दव रूपी रत्नका धारी है।

२. मार्दव धर्म लोक लाज आदिसे निरपेक्ष है

भ. आ./वि./४६/१५४/१३ जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानपाश्रयो मार्दवम्। —जाति आदिके अभिमानका अभाव मार्दव है। लोकभयसे अथवा अपने ऐहिक कार्योंमें बाधा होनेके भयसे मान न करना सच्चा मार्दव नहीं है।

३. मार्दवधर्म पालनार्थ कुछ भावनाएँ

भ. आ./मू./१४२७-१४३० को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तणं पि पत्तस्स। उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते। १४२७। अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थको मह माणो। को विम्भओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते।१४२८। जो अवमाणणकारणं दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो। सो णाम होदि माणी ण गुणचत्तेण माणेण।१४२९। इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो। इदि अप्पणो गणित्ता माणस्य विणिग्गहं कुज्जा।१४३०। —मैं इस संसारमें अनन्तबार नीच अवस्थामें उत्पन्न हुआ हूँ। उच्चत्व व नीचत्व दोनों अनित्य हैं, अतः उच्चता प्राप्त होकर पुनः नष्ट हो जाती है और नीचता प्राप्त हो जाती है।१४२७। मुझसे अधिक कुल आदि विशिष्ट लोग जगत्में भरे पड़े हैं। अतः मेरा अभिमान करना व्यर्थ है। दूसरे ये कुल आदि तो पूर्व कालमें अनेक बार प्राप्त हो चुके है, फिर इनमें आश्चर्य युक्त होना क्या योग्य है?।१४२८। जो पुरुष अपमानके कारणभूत दोषोंका त्याग करके निर्दोष प्रवृत्ति करता है वही सच्चा मानी है, परन्तु गुण रहित होकर भी मान करनेसे कोई मानी नहीं कहा जा सकता।१४२९। इस जन्ममें और पर जन्ममें यह मानकषाय बहुत दोषोंको उत्पन्न करता है, ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते हैं।१४३०।

पं. वि./१/८७-८८ तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तम्। स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः।८७। कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दन्दह्यमानाग्निभिः, कायादौ तु जरादिभिः प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्। इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिनः शश्वद्विवेकोज्ज्वले, गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि। —ज्ञानमय चक्षुसे समस्त जगत्को स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान देखनेवाले साधुजन क्या उस मार्दव धर्मको नहीं धारण करते हैं।८७। सब ओरसे अतिशय जलनेवाली अग्नियोंसे खण्डहररूप अवस्थाको प्राप्त होनेवाले सुन्दर गृहके समान प्रतिदिन वृद्धत्व आदिके द्वारा दूसरी अवस्थाको प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें नित्यताका विश्वास कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार सदा विचार करनेवाले साधुके निर्मल विवेकयुक्त हृदयमें जाति, कुल एवं ज्ञान आदि सभी पदार्थोंके विषयमें अभिमान करनेका अवसर कहाँसे हो सकता है?।८८।

अन. ध./६/९-१६/५७२ दृष्टिसन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः, किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृती म्लानिस्तु पुंमानिनाम्। मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं, तद्द्वयेऽपि निषेध्यमिति चिन्मात्रं प्रमुल्लाविनम्।९। गर्वप्रत्यग्रगलकवलितै विश्वदीपे विवेकत्वाष्ट्र्युर्वीः, स्फुरितदुरितं दोषमन्देहवृन्दैः। सद्योवृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुरान्ध्येषु भूयो, भूयोऽभ्याजस्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव।१०। अर्थे विप्येऽस्मिन्धिलसति विधौ काममनिशं, स्वतन्त्रो न क्वात्मीयाभिनिविशतेऽङ्कृतिशमः। कुधीर्येनादत्ते किमपि तदर्थं

यवक्षवशाच्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिष्वमानज्वरभरम् ।११। भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः । पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम् ।१२। क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयते नृपोऽपि चेत् । दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भूत्यो नेक्ष्येत वा भवन् ।१३। प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्ध्यभिद्धा– नद्धाध्यायन्निरुन्ध्यन्निरुन्ध्यान्श्रदिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम् । छेत्तुं दीर्घस्यदुःखं प्रवरगुरुगिरा संगरे मद्वतास्तैः, क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितं दीपयेद्वाभिमानम् ।१४। मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षिति गतः । योगाम्बुनेव भेद्योऽन्तर्वहता गर्वपर्वतः ।१५। मनोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा, मायाभूतिमचाकरत्सगरजान् षष्टिं सहस्राणि तान् । तत्सौनन्दमिवादिराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेद्, सम्यन्मार्दवमाप्नुयात स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्विच्छिदम् ।१६। –कर्मोदय जनित कुल आदिके अतिरेककी चित्रविचित्रताके निमित्तसे व्यक्ति अपनेको उत्कृष्ट समझता है, सो व्यर्थ है, क्योंकि, कभी-कभी अपने पुत्रोंके द्वारा भी उसका मान मर्दन कर दिया जाता है ।६। कर्तव्य अकर्तव्य आदिका विवेक नष्ट करके अहंकाररूप अन्धकारको प्राप्त व्यक्ति अभीष्ट मार्गको छोड़कर कुमार्गका आश्रय लेता है ।१०। पुण्य कर्मका उदय होनेपर व्यक्ति अत्यन्त अहंकार करने लगता है और यह भूल जाता है, कि नीच गतियों आदिमें अपमान पाना इस अहंकारका ही फल है ।११। मानको समूल नष्ट करनेवाला यह मार्दव धर्म जयवन्त हो ।१२। अरे ! साधारण जनकी बात तो दूर रहो, राजा भी मरकर पापकर्मके उदयसे विष्टामें कीड़ा हो जाता है ।१३। आत्माका अत्यन्त अपाय करनेवाला यह मान प्रबल शत्रु है, मार्दव धर्मके द्वारा साधुजनोंको सदा इसे नाश करना चाहिए । अथवा यदि मान ही करना है तो अपनी व्रतादिरूप प्रतिज्ञाओंपर करे जिससे कि धर्मके शत्रुओंका संहार हो ।१४। मार्दवसे गर्व रूप पर्वतका चूर-चूर हो जाता है ।१५। अहंकारके कारण भरत चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिको कितना अपमान सहना पड़ा, तथा सगर चक्रवर्तीके ६०,००० पुत्रोंकी माया मणिकेतु देवने क्षणभरमें भस्म कर दी । अतः जिस प्रकार भरतराजने बाहुबलिकुमारका मान दूर करनेके लिए प्रयत्न किया उसी प्रकार साधुजन भी सदा भव्यजनोंका अहंकार रूप भूत दूर करनेका प्रयत्न करते रहें ।१६।

४. मार्दव धर्मकी महिमा

रा. वा./९/६/२७/५९९/१२ मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति, साधवोऽपि साधुमामन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्रीभवति । ततः स्वर्गापवर्गफलावाप्तिः । मलिने मनसि व्रतशीलानि नावतिष्ठन्ते । साधवश्चैनं परित्यजन्ति । तन्मूला सर्वा विपदः । –मार्दव गुणयुक्त व्यक्तिपर गुरुओंका अनुग्रह होता है । साधुजन भी उसे साधु मानते हैं । गुरुके अनुग्रहसे सम्यग्ज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है और उससे स्वर्गादि सुख मिलते हैं । मलिन मनमें व्रत शीलादि नहीं ठहरते, साधुजन उसे छोड़ देते हैं । तात्पर्य यह कि अहंकार समस्त विपदाओंका जड़ है । (चा. सा./६१/५) ।

* **वृक्ष धर्म**—दे० धर्म/८ ।

मालव—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

मालवा—१. भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ । २. वर्तमान मालवा प्रान्त सौराष्ट्रके पूर्वमें स्थित है । अवन्ती, उज्जैन, दशपुर (मन्दसौर), धारानगरी (धार), इन्द्रपुर (इन्दौर) आदि इसके प्रसिद्ध नगर हैं । (म.पु./प्र. ४९ पं. पन्नालाल) १. मालवा देशके राज्यवंश—दे० इतिहास/३/३ ।

मालांग—एक प्रकारके कल्पवृक्ष है—दे० वृक्ष/१ ।

मालारोहण—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४ । २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका ।

मालिकोद्वहन—कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

माल्य—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर । २. भरतक्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

माल्यवती—भरतक्षेत्र पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४

माल्यवान्—१. एक गजदन्त पर्वत—दे० लोक/५/३ । २. माल्यवान् गजदन्तका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक५/४ ३. उत्तरकुरुके १० द्रहोंमेंसे दो—दे० लोक५/६ । ४. यदुवंशी अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवान्का पुत्र तथा नेमिनाथ भगवान्का चचेरा भाई—दे० इतिहास/१० ।

माषफल—तोलका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१ ।

माषवती— भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डकी एक नदी ।—दे० मनुष्य/४ ।

मास—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४ ।

मासैकवासता—भ. आ./वि./४२१/६१६/७ ऋतुषु षट्सु एकैकमेव मासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः । एकत्र चिरकालावस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुरुता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः । –वसन्तादिक छहों ऋतुओंमेंसे एकैक ऋतुमें एक मास पर्यन्त एक स्थानमें मुनि निवास करते हैं और एक मास विहार करते हैं, यह ९वाँ स्थिति कल्प है । एक ही स्थानमें चिरकाल रहनेसे उद्गमादि दोषोंका परिहार नहीं हो सकता । वसतिकापर प्रेम, सुखमें लम्पटता, आलस्य, सुकुमारताकी भावना आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं । जिनके हाँ पूर्वमें आहार लिया था उनके हाँ ही पुनरपि आहार लेना पड़ता है । इसलिए मुनि एक स्थानमें चिरकाल तक नहीं ठहरते ।

माहिषक— भरतक्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४ ।

माहेंद्र— १. स्वर्गोंमें चौथा कल्प—दे० स्वर्ग/३,५ । २. कुण्डल पर्वतका एक कूट ।—दे० लोक/५/१२.

मितसंभाषण—रा. वा./९/५/५९४/१८ मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितम् । –अनर्थक बहुप्रलाप रहित वचन मित है । (चा. सा./६७/१) ।

मित्र—१. दे० संगति । २ सौधर्म स्वर्गका १० वाँ पटल । —दे० स्वर्ग/५ ।

मित्रक—पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप बलदेवके शिष्य तथा सिंहबलके गुरु थे—दे० इतिहास ७/८ ।

मित्रनंदि—१. भगवती आराधनाके कर्ता शिवकोटि आचार्यके गुरु थे । समय—ई. श. १ का पूर्व चतुर्थांश । (भ. आ./प्र. २-३/प्रेमी जी) । २. म. पु./५९/श्लोक नं.—भरतक्षेत्रके पश्चिम विदेह क्षेत्रमें यह एक राजा था ।६३। दीक्षा धारण कर अनुत्तर विमानमें देव हुआ ।७०।

मित्रवीर—पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप मन्दरार्यके शिष्य तथा बलदेवके गुरु थे । समय—वी नि. ५९० (ई. ६३) —दे० इतिहास/७/८ ।

मिथिला—विदेह देशमें स्थित दरभंगा जिला (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल) ।

मिथ्या अनेकांत—दे० अनेकान्त/१ ।

मिथ्या एकांत—दे० एकान्त/१ ।

मिथ्याकार—दे० समाचार ।

मिथ्या ज्ञान—दे० ज्ञान/III।

मिथ्यात्व – दे० मिथ्यादर्शन।

मिथ्यात्व कर्म—दे० मोहनीय।

मिथ्यात्वक्रिया—दे० क्रिया/३/२।

मिथ्यादर्शन—स्वात्म तत्त्वसे अपरिचित लौकिक जन शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदिमें ही स्व व मेरापना तथा इष्टानिष्टपना मानता है, और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है। इसीलिए उसके अभिप्राय या रुचिको मिथ्यादर्शन कहते हैं। गृहीत, अगृहीत, एकान्त, संशय, अज्ञान आदिके भेदसे वह अनेक प्रकारका है। इनमें साम्प्रदायिकता गृहीत मिथ्यात्व है और पक्षपात एकान्त मिथ्यात्व। सब भेदोंमें ये दोनों ही अत्यन्त घातक व प्रबल हैं।

१. मिथ्या दर्शन सामान्यका लक्षण

१. तत्त्व विषयक विपरीत अभिनिवेश

भ. आ./मू./५६/१८० तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। —जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। (पं. सं./प्रा./१/७); (ध. १/१,१,१०/गा. १०७/१६३)।

स. सि./२/६/१५६/७ मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। —मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान रूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है। (रा. वा/२/६/४/१०६/५); (गो. जी./मू./१५/३६); (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/१)।

स. सि./मूलवृत्ति/४/११/२७०/११ जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्। जीवे तावन्नास्तिक्यम् अन्यत्र जीवाभिमानश्च, मिथ्यादृष्टेः द्वैविध्यानतिक्रमात् विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वेति। —जीवादि तत्त्वोंमें अश्रद्धान होना मिथ्यादर्शन है। वह दो प्रकारका है—जीवके नास्तिक्य भावरूप और अन्य पदार्थमें जीवके अभिमान रूप। क्योंकि, मिथ्यादृष्टि दो प्रकारकी ही हो सकती है। या तो विपरीत ज्ञानरूप होगी और या अज्ञान रूप होगी।

न. च. वृ./३०३-३०५ मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं। तस्सोदयेण जीवो विवरीदं गेहूणए तच्चं।३०३। अत्थित्तं णो मण्णदि णत्थिसहावस्स जो हु सावेक्खं। णत्थी विय तह दव्वे मूढो मूढो दु सव्वत्थ।३०४। मूढो विय सुदहेदुं सहावणिरवेक्खरूवदा होदि। अलहंतो खवणादो मिच्छापयडी खलु उदये।३०५। —मिथ्यात्व दो प्रकारका है—मूढत्व और स्वभाव निरपेक्ष। उसके उदयसे जीव तत्त्वोंको विपरीत रूपसे ग्रहण करता है।३०३। जो नास्तित्वसे सापेक्ष अस्तित्वको अथवा अस्तित्वसे सापेक्ष नास्तित्वको नहीं मानता है वह द्रव्य मूढ होनेके कारण सर्वत्र मूढ है।३०४। तथा श्रुतके हेतुसे होनेवाला मिथ्यात्व स्वभाव निरपेक्ष होता है। मिथ्या प्रकृतियोंके उदयके कारण वह क्षपण आदि भावोंको प्राप्त नहीं होता है।३०५।

नि. सा./ता. वृ./९१ भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं। —भगवान् अर्हन्त परमेश्वरके मार्गसे प्रतिकूल मार्गाभासमें मार्गका श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।

स्या. मं./३२/३४१/२३ पर उद्धृत हेमचन्द्रकृत योगशास्त्रका श्लोक नं. २—"अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्। —अदेवको देव, अगुरुको गुरु और अधर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि वह विपरीत रूप है। (पं. ध./उ./१०५१)।

स. सा./ता. वृ./८८/१४४/१० विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति। —विपरीत अभिनिवेशके उपयोग विकाररूप जो शुद्ध जीवादि पदार्थोंके विषयमें विपरीत श्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (द्र. सं./टी./४८/२०५/६)।

२. शुद्धात्म विमुखता

नि. सा./ता. वृ./९१ स्वात्मश्रद्धान· विमुखत्वमेव मिथ्यादर्शन···। —निज आत्माके श्रद्धानरूपसे विमुखता मिथ्यादर्शन है।

द्र. सं./टी./२०/८८/१ अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। —अन्तरंगमें वीतराग निजात्मतत्त्वके अनुभवरूप रुचिमें विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करानेवाला तथा बाहरी विषयमें अन्यके शुद्ध आत्म तत्त्व आदि समस्त द्रव्योंमें जो विपरीत अभिप्रायका उत्पन्न करानेवाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

द्र. सं./टी./४२/१८३/१० निरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते। —अपना निरंजन व निर्दोष परमात्मतत्त्व ही उपादेय है, इस प्रकारकी रुचिरूप सम्यक्त्वसे विपरीतको मिथ्या शल्य कहते हैं।

२. मिथ्यादर्शनके भेद

भ. आ./मू./५६/१८० संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं। —वह मिथ्यात्व संशय, अभिगृहीत और अनभिगृहीतके भेदसे तीन प्रकारका है। (ध. १/१,१,१/गा. १०७/१६३)।

बा. अ./४८ एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच। —मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान। (स. सि./८/१/३७५/३); (रा. वा./८/१/२८/५६४/१७); (ध. ८/३,६/२); (गो. जी./मू./१५/३६); (त. सा./५/३), (द सा./५), (द्र. सं./टी./३०/८९/१ पर उद्धृत गा.)।

स. सि./८/१/३७५/१ मिथ्यादर्शनं द्विविधम्; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च।··· परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्। —मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। परोपदेश-निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी व वैनयिक। (रा. वा./८/१/६, ८/५६१/२७)।

रा. वा./८/१/१२/५६२/१२ त एते मिथ्योपदेशभेदाः त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि।

रा. वा/८/१/२७/५६४/१४ एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्याः ऊह्याः, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्म्लेच्छशबरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम्। —इस तरह कुल ३६३ मिथ्यामतवाद हैं। (दे० एकान्त/५)। इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामोंकी दृष्टिसे असंख्यात और अनुभागकी दृष्टिसे अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि स्वामियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है।

ध. १/१,१,९/गा. १०५ व टीका/१६२/५ जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव परसमया।१०५। इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति। —'जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय होते हैं। (और भी दे० नय/I/५/५)', इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पाँच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए,

किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है यह कहना उपलक्षण मात्र समझना चाहिए।

म. च. वृ./३०३ मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं। मिथ्यात्व दो प्रकारका है।—मूढ व स्वभाव निरपेक्ष।

३. गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्वके लक्षण

स. सि./८/१/३७५/१ तत्रोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्।—जो परोपदेशके बिना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोंका अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है। (रा.वा/८/१/७-८/५६१/२१)।

भ. आ./वि./५६/१८०/२२ यदुपदेशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतम् अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते···यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्त्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातम् अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वम्।—(जीवादितत्त्व नित्य ही हैं अथवा अनित्य ही हैं, इत्यादि रूप) दूसरोंका उपदेश सुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें अथवा उनके धर्मोंमें अश्रद्धा होती है, यह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और दूसरेके उपदेशके बिना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है। (पं. ध./उ./१०४९-१०५०)।

४. मिथ्यात्वकी सिद्धिमें हेतु

पं. ध./उ./१०३३-१०३४ ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः। दृङ्मोहस्योदयादेव वर्तते वा प्रवाहवत् ।१०३३। कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्। स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ।१०३४।—इसलिए न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि जीवोंके मिथ्यात्व स्वभावसे ही दर्शनमोहके उदयसे प्रवाहके समान सदा पाया जाता है।१०३३। और मिथ्यात्वके उदयका कार्य भी भली भाँति स्वसंवेदन द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि अन्यथा आत्मस्वरूपकी उपलब्धि जीवोंको क्यों न होती।१०३४।

५. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है

र. क. श्रा./३४ अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।—शरीरधारी जीवोंको मिथ्यात्वके समान अन्य कुछ अकल्याणकारी नहीं है।

गो. जी./मू./६२३ मिच्छाइट्ठी पावा णंताणंता य सासणगुणा वि।—मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि ये दोनों पाप अर्थात पाप जीव हैं।

स. सा./२००/क. १३७ आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा। आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।—भले ही महाव्रतादिका आलम्बन करें या समितियोंकी उत्कृष्टताका आश्रय करें तथापि वे पापी ही हैं, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्वसे रहित हैं।

स. सा./आ./२००/क. १३७। पं. जयचन्द—प्रश्न—व्रत समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया? उत्तर—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा गया है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है, और व्यवहारनयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है ऐसा कहनेसे स्याद्वादमतमें कोई विरोध नहीं है।

मो. पा./पं. जयचन्द/६०/१५२/७ गृहस्थके महापाप मिथ्यात्वका सेवना अन्याय···आदि ये महापाप हैं।

मो. मा. प्र./८/३६३/३ मिथ्यात्व समान अन्य पाप नाहीं है।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. मिथ्यादर्शनमें 'दर्शन' शब्दका महत्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१/५।
२. एकान्तादि पाँचों मिथ्यात्व —दे० वह वह नाम।
३. मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान —दे० उदय/६।
४. पुरुषार्थसे मिथ्यात्वका भी क्षणभरमें नाश सम्भव है। —दे० पुरुषार्थ/२।

मिथ्यादर्शन क्रिया—दे० क्रिया/३/२।

मिथ्यादर्शन वचन—दे० वचन।

मिथ्यादर्शन शल्य—दे० शल्य।

मिथ्यादृष्टि—आत्म भानसे शून्य बाह्य जगत्में ही अपना समस्त पुरुषार्थ उँडेलकर जीवन विनष्ट करनेवाले सर्व लौकिक जन मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मदृष्टि या पर समय कहलाते हैं। अभिप्रायकी विपरीतताके कारण उनका समस्त धर्म कर्म व वैराग्यादि अकिंचित्कर व संसारवर्धक है। सम्यग्दृष्टिकी क्रियाएँ बाहरमें उनके समान होते हुए भी अन्तरंगकी विचित्रताके कारण कुछ अन्य ही रूप होती है।

१	**भेद व लक्षण**
१	मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण १. विपरीत श्रद्धान। २. पर द्रव्य रत।
*	परद्रव्यको अपना कहनेसे अज्ञानी कैसे हो जाता है? —दे० नय/V/८/३।
*	कुदेव कुगुरु कुधर्मकी विनयादि सम्बन्धी —दे० विनय/४।
२	मिथ्यादृष्टिके भेद।
३	सातिशय व घातायुष्क मिथ्यादृष्टि।
*	मिथ्यादृष्टि साधु। —दे० साधु/४,५।
*	अधिककाल मिथ्यात्वयुक्त रहनेपर सादि भी मिथ्यादृष्टि अनादिवत् हो जाता है —दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/६
२	**मिथ्यादृष्टि निर्देश**
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीवसमास, मार्गणा स्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
*	मिथ्यादृष्टियोंकी सत संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ—दे० वह वह नाम।
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें कर्मोंकी बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी प्ररूपणाएँ —दे० वह-वह नाम।

१. भेद व लक्षण

१. मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण

१. विपरीत श्रद्धालु

पं. सं. प्रा./१/८ मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि । सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं च ।८। –(मोहके उदयसे-भ.आ.) मिथ्यादृष्टि जीव जिनउपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता । प्रत्युत अन्यसे उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है । (भ. आ./मू./४०/१३८); (पं. सं. प्रा./१/१७०); (ध. ६/१,९-८/९/गा. १५/२४२); (ल. सा./मू./१०९/१४७); (गो. जी./मू./१८/४२;६५६/११०३) ।

रा. वा./९/१/१२/५८८/१५ मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते । यत्कृतं तत्त्वार्थानामश्रद्धानं ।–मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है । इसके कारण उसे तत्त्वार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है । (और भी दे० मिथ्यादर्शन/१) ।

ध. १/१,१,९/१६२/२ मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्यादृष्टयः । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः ।–मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं । दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हे मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं ।

द्र. सं./टी./१३/३२/१० निजपरमात्मप्रभृति षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादि पञ्चविंशतिमलरहितं वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति ।–निजात्मा आदि षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, और नवपदार्थोंमें तीन मूढता आदि पच्चीस दोषरहित, वीतराग सर्वज्ञद्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके श्रद्धान नहीं है, वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है ।

२. परद्रव्य रत

मो.पा./मू./१५ जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठि हवेइ सो साहू । मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं ।१५। –परद्रव्यरत साधु मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट अष्टकर्मोंका बन्ध करता है । (और भी दे० 'समय' में परसमयका लक्षण ।)

प.प्र./मू./१/७७ पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ । बंधइ बहुविधकम्माणि जेण संसारि भमति ।७७। –शरीर आदि पर्यायोंमें रत जीव मिथ्यादृष्टि होता है । वह अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधता हुआ संसारमें भ्रमण करता रहता है ।

ध. १/१,१,१/८२/७ परसमयो मिच्छत्तं । –परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं ।

प्र. सा./ता. वृ./९४/१२२/१६ कर्मोदयजनितपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते । –कर्मोदयजनित मनुष्यादिरूप पर्यायोंमें निरत रहनेके कारण परसमय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं ।

दे० समय/पर समय—(पर द्रव्योंमें रत रहनेवाला पर समय कहलाता है) । (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/२/५) ।

पं. ध./उ./९९० तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह । अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक् ।९९०। –तथा इस जगत्में उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि सम्पूर्ण परपदार्थोंको भी निज मानता है ।

२. मिथ्यादृष्टिके भेद

रा. वा./६/१/१२/५८८/१८ ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते—हिताहितपरीक्षाविरहिताः परीक्षकाश्चेति । तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिताः हिताहितपरीक्षाविरहिताः । —सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहितकी परीक्षासे रहित और परीक्षक इन दो श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। तहाँ संज्ञिपर्याप्तकको छोड़कर सभी एकेन्द्रिय आदि हिताहित परीक्षासे रहित हैं। संज्ञी पर्याप्तक हिताहित परीक्षासे रहित और परीक्षक दोनों प्रकारके होते हैं।

३. सातिशय व घातायुष्क मिथ्यादृष्टि

ल. सा./जी.प्र./२२०/२७३/६ प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखसातिशयमिथ्यादृष्टेर्भणितानि ।—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं।

ध. ४/१,५,६६/३८५ विशेषार्थ—किसी मनुष्यने अपनी संयम अवस्थामें देवायुका बन्ध किया। पीछे उसने संक्लेश परिणामोंके निमित्तसे संयमकी विराधना कर दी और इसीलिए अपवर्तनाघातके द्वारा आयुका घात भी कर दिया।…यदि वही पुरुष संयमकी विराधनाके साथ ही सम्यक्त्वकी भी विराधना कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है—ऐसे जीवको घातायुष्क मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

२. मिथ्यादृष्टि निर्देश

१. मिथ्यादृष्टिमें कदाचित् अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव भी सम्भव है

पं. सं./प्रा./१/१०३ आवलियमेत्तकालं अणं बधीण होइ णो उदओ ।

गो. क./मू./४७८/६३२ अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं। —अनन्तानुबन्धीका विसंयोजक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त होता है, उसको एक आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय नहीं होता है।

२. मिथ्यादृष्टिको सर्व व्यवहार धर्म व वैराग्य आदि होने सम्भव हैं

प्र. सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु। विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ।८५। —पदार्थका अयथाग्रहण और तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव तथा विषयोंकी संगति, ये सब मोहके चिह्न हैं।

दे० सम्यग्दर्शन/III/…(नवग्रैवेयकवासी देवोंको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जिनमहिमा दर्शन निमित्त नहीं होता, क्योंकि, वीतरागी होनेके कारण उनको उसके देखनेसे आश्चर्य नहीं होता।)

पं. का./त. प्र./१७२ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेनानवरतं नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतसः प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकल्माषितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोड्डमराचलिताः, कदाचित्किंचिद्रोचमानाः, कदाचित् किंचिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किंचिदाचरन्तः, दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्तः, कदाचित्संविजमानाः, कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः, शंकाकाङ्क्षाविचिकित्सामूढदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकराः, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनां भावयमाना वारम्वारमभिवर्धितोत्साहा, ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तो, बहुधा विनयं प्रपञ्चयन्तः, प्रविहितदुर्धरोपधानाः, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तो निह्नवापत्तिं नितरां निवारयन्तोऽर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धौ नितान्तसावधानाः, चारित्राचरणाय हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहसमस्तविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु तन्निष्ठवृत्तयः, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणासु गुप्तिषु नितान्तं गृहीतोद्योगा, ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समितिष्वत्यन्तनिवेशितप्रयत्नाः, तपआचरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशेष्वभीक्ष्णमुत्सहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गस्वाध्यायध्यानपरिकराङ्कुशितस्वान्ता, वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणाः, कर्मचेतनाप्रधानत्वाद्दूरनिवारिताशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः, सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागप्यसंभावयन्तः, प्रभूतपुण्यभारमन्थरितचित्तवृत्तयः, सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्तीति। —जो केवल व्यवहारावलम्बी हैं वे वास्तवमें भिन्न साध्यसाधन भावके अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए, पुनः पुनः धर्मादिके श्रद्धानमें चित्त लगाते हैं, श्रुतके संस्कारोंके कारण विचित्र विकल्प जालोंमें फँसे रहते हैं और यत्याचार व तपमें सदा प्रवृत्ति करते रहते हैं। कभी किसी विषयकी रुचि व विकल्प करते हैं और कभी कुछ आचरण करते हैं।—(१) दर्शनाचरणके लिए प्रशम संवेग अनुकम्पा व आस्तिक्यको धारण करते हैं, शंका कांक्षा आदि आठों अंगोंका पालन करनेमें उत्साहचित्त रहते हैं। (२) ज्ञानाचरणके लिए काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन व तदुभय इन आठों अंगोंकी शुद्धिमें सदा सावधान रहते हैं। (३) चारित्राचरणके लिए पंचमहाव्रतोंमें, तीनों गुप्तियोंमें तथा पाँचों समितियोंमें अत्यन्त प्रयत्नयुक्त रहते हैं। (४) तपाचरणके लिए १२ तपोंके द्वारा निज अन्तःकरणको सदा अंकुशित रखते हैं। (५) वीर्याचरणके लिए कर्मकाण्डमें सर्व शक्ति द्वारा व्यापृत रहते हैं। इस प्रकार सांगोपांग पंचाचारका पालन करते हुए भी कर्मचेतनाप्रधानपनेके कारण यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्तिका उन्होंने अत्यन्त निवारण किया है तथापि शुभकर्मप्रवृत्तिको जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है ऐसे, वे सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको किंचित् भी न उत्पन्न करते हुए, बहुत पुण्यके भारसे मन्थर हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिकी परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसारसागरमें भ्रमण करते हैं।

३. इतना होनेपर भी वह मिथ्यादृष्टि व असंयत है

स. सा./मू./३१४ जा एस पयडीअट्ठं चेया णेव विमुंचए। अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ।३१४। —जबतक यह आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोड़ता है, तब तक वह अज्ञायक है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

दे० चारित्र/३ (सम्यक्त्व शून्य होनेके कारण व्रत समिति आदि पालता हुआ भी वह संयत नहीं मिथ्यादृष्टि ही है।)

४. उन्हें परसमय व मिथ्यादृष्टि कहनेका कारण

दे० मिथ्यादृष्टि/१/१(परद्रव्यरत रहनेके कारण जीव परसमय व मिथ्यादृष्टि होता है।)

प्र. सा./त. प्र./९४ ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहंकारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च

परद्रव्येण कर्मणा सङ्गतत्वात्परसमया जायन्ते। —जो व्यक्ति जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायका, जो कि सकल अविद्याओंकी एक जड़ है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावना करनेमें नपुंसक होनेसे उसीमें बल धारण करते हैं, वे जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है, ऐसे 'यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार ममकारसे ठगाये जाते हुए अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके, रागी द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण वास्तवमें परसमय होते हैं अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं।

५. मिथ्यादृष्टिकी बाह्य पहचान

र.सा./१०९ देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता। अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।१०९। —जो मुनि देहादिमें अनुरक्त हैं, विषय कषायसे संयुक्त हैं, आत्म स्वभावमें सुप्त हैं, वह सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि हैं।

दे.राग.६/१ (जिसको परमाणुमात्र भी राग है वह मिथ्यादृष्टि है) (विशेष दे. मिथ्यादृष्टि/४)।

दे.श्रद्धान/३ (अपने पक्षकी हठ पकड़कर सच्ची बातको स्वीकार न करने वाला मिथ्यादृष्टि है)।

पं.सं./प्रा./१/६ मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ। ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो।६। —मिथ्यात्वकर्मको अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे धर्म नहीं रुचता है, जैसे कि ज्वरयुक्त मनुष्यको मधुर रस भी नहीं रुचता है। (ध.१/१,१,९/१०६/१६२); (ल.सा./मू./१०९/१४३); (गो.जी./मू./१७/४१)।

का.अ./मू./३१८ दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइ संजुदं धम्मं। गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी। —जो दोषसहित देवको, जीवहिंसा आदिसे युक्त धर्मको और परिग्रहमें फँसे हुए गुरुको मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

दे. नियति/१/२ ('जो जिस समय जैसे होना होता है वह उसी समय वैसे ही होता है, ऐसा जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है)।

६. मिथ्यादृष्टिमें औदयिकभावकी सिद्धि

ध.५/१,७,२/१९४/७ णणु मिच्छादिट्ठिस्स अण्णे वि भावा अत्थि, णाण-दंसण-गदि-लिंग-कसाय-भव्वाभव्वादि-भावाभावे जीवस्स संसारिणो अभावप्पसंगा।... तदो मिच्छा-दिट्ठिस्स ओदइओ चेव भावो अत्थि, अण्णे भावा णत्थि त्ति णेदं घडदे। ण एस दोसो, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णे भावा णत्थि त्ति सुत्ते पडिसेहाभावा। किंतु मिच्छत्तं मोत्तूण जे अण्णे गदि लिंगादओ साधारणभावा ते मिच्छादिट्ठित्तस्स कारणं ण होंति। मिच्छत्तोदओ एक्को चेव मिच्छत्तस्स कारणं, तेण मिच्छादिट्ठि त्ति भावो ओदइओ त्ति परूविदो। —प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके अन्य भी भाव होते हैं। ज्ञान, दर्शन, (दो क्षायोपशमिक भाव), गति, लिंग, कषाय (तीन औदयिक भाव), भव्यत्व, अभव्यत्व (दो पारिणामिक भाव) आदि भावोंके अभाव माननेपर संसारी जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। (विशेष दे.भाव/२)। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीवके केवल एक औदयिक भाव ही होता है, और अन्य भाव नहीं होते हैं, यह कथन घटित नहीं होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं; क्योंकि, 'मिथ्यादृष्टिके औदयिक भावके अतिरिक्त अन्य भाव नहीं होते हैं,' इस प्रकारका सूत्रमें प्रतिषेध नहीं किया गया है। किन्तु मिथ्यात्वको छोड़कर जो अन्य गति लिंग आदिक साधारण (सभी गुणस्थानोंके लिए सामान्य) भाव हैं, वे मिथ्यादृष्टिके कारण नहीं होते हैं। एक मिथ्यात्वका उदय ही मिथ्यादृष्टित्वका कारण है। इसलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह भाव औदयिक कहा गया है।

ध.५/१,७,१०/२०६/८ सम्मामिच्छत्तसव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तसव्वघादिफद्दयाणमुदएण मिच्छाइट्ठी उप्पज्जदि त्ति खओवसमिओ सो किण्ण होदि। उच्चदे- ण ताव सम्मत्तसम्मामिच्छत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खओ संतोवसमो अणुदओवसमो वा मिच्छादिट्ठीए कारणं, सव्वहिचारित्तादो। जं जदो णियमेण उप्पज्जदि तं तस्स कारणं, अण्णहा अणवत्थापसंगादो। जदि मिच्छत्तुप्पज्जणकाले विज्जमाणा तक्कारणत्तं पडिवज्जंति तो णाण-दंसण-असंजमादओ वि तक्कारणं होंति। ण चेवं, तहाविहववहाराभावा। मिच्छादिट्ठीए पुण मिच्छत्तुदओ कारणं, तेण विणा तदणुप्पत्तीए। —प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और मिथ्यात्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे मिथ्यादृष्टिभाव उत्पन्न होता है, इसलिए उसे क्षयोपशम क्यों न माना जाये। उत्तर—न तो सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन दोनों प्रकृतियोंके देशघाती स्पर्धकोंका उदय, क्षय, अथवा सदवस्थारूप उपशम, अथवा अनुदयरूप उपशम मिथ्यादृष्टि भावका कारण है, क्योंकि, उस में व्यभिचार दोष आता है। जो जिससे नियमतः उत्पन्न होता है, वह उसका कारण होता है। यदि ऐसा न माना जावे, तो अनवस्था दोषका प्रसंग आता है। यदि यह कहा जाये कि मिथ्यात्वकी उत्पत्तिके कालमें जो भाव विद्यमान हैं, वे उसके कारणपनेको प्राप्त होते हैं। तो फिर ज्ञान, दर्शन, असंयम आदि भी मिथ्यात्वके कारण हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, इस प्रकारका व्यवहार नहीं पाया जाता है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिका कारण मिथ्यात्वका उदय ही है, क्योंकि, उसके बिना मिथ्यात्वकी उत्पत्ति नहीं होती है।

३. मिथ्यादृष्टिके भावोंकी विशेषता

१. मिथ्यादृष्टिके सर्वभाव अज्ञानमय हैं

स.सा./मू./१२९ अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो। जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स। —अज्ञानमय भावमेंसे अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानियोंके भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

स.सा./आ./१२९/क ६७ ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि। सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते। —ज्ञानीके सर्वभाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते हैं।

दे.मिथ्यादर्शन/४ (व्रतादि पालता हुआ भी वह पापी है)।

दे.मिथ्यादृष्टि/२/३ (व्रतादि पालता हुआ भी वह अज्ञानी है)।

२. अज्ञानीके सर्वभाव बन्धके कारण हैं

स.सा./मू./२१९ अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो। लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।२१९। —अज्ञानी जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति रागी है, वह कर्मोंके मध्य रहा हुआ कर्म रजसे लिप्त होता है, जैसे लोहा कीचड़के बीच रहा हुआ जंगसे लिप्त हो जाता है।

दे.मिथ्यादृष्टि/१/१/२ (मिथ्यादृष्टि जीव सदा परद्रव्योंमें रत रहनेके कारण कर्मोंको बाँधता हुआ संसारमें भटकता रहता है)।

दे.मिथ्यादृष्टि/२/१(सांगोपांग धर्म व चारित्रका पालन करता हुआ भी वह संसारमें भटकता है)।

स.सा./आ./१९४ स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टेः रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यजीर्णः सन् बन्ध एव स्यात्। –जब उस सुख या दुःखरूप भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको रागादिभावोंके सद्भावसे बन्धका निमित्त होकर वह भाव निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होकर बन्ध ही होता है।

दे. सम्यग्दृष्टि/२ (ज्ञानीके जो भाव मोक्षके कारण हैं वही भाव अज्ञानीको बन्धके कारण हैं)।

३. मिथ्यादृष्टिका तत्त्वविचार नय प्रमाण आदि सब मिथ्या हैं

न.च.वृ./४१५ लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयलसत्थसुद्धियरं। सम्माविय सुय मिच्छा जीवाणं सुणयमग्गरहियाणं। –सकल शास्त्रोंकी शुद्धिको करनेवाला यह नयचक्र अति संक्षेपमें कहा गया है। क्योंकि सम्यक् भी श्रुत या शास्त्र, सुनयरहित जीवोंके लिए मिथ्या होता है।

पं.का./ता.वृ./ प्रक्षेपक ४३-६/८७/२८ मिथ्यात्वात् यथैवाज्ञानमविरतिभावश्च भवति तथा सुनयो दुर्नयो भवति प्रमाणं दुःप्रमाणं च भवति। कदा भवति। तत्त्वविचारकाले। किं कृत्वा। प्रतीत्याश्रित्य। किमाश्रित्य। ज्ञेयभूतं जीवादिवस्त्विति। –मिथ्यात्वसे जिस प्रकार अज्ञान और अविरति भाव होते हैं, उसी प्रकार ज्ञेयभूत वस्तुकी प्रतीतिका आश्रय करके जिस समय तत्त्वविचार करता है, तब उस समय उसके लिए सुनय भी दुर्नय हो जाते हैं और प्रमाण भी दुःप्रमाण हो जाता है। (विशेष दे. ज्ञान/III/२/८,९; चारित्र/३/१०; धर्म/२; नय/II/६; प्रमाण/२/२; ४/२; भक्ति/१।

४. मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिमें अन्तर

१. दोनोंके श्रद्धान व अनुभव आदिमें अन्तर

स.सा./मू./२७५ सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं। –वह (अभव्य जीव) भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही श्रद्धा करता है, उसीकी प्रतीति करता है, उसीकी रुचि करता है और उसीका स्पर्श करता है, किन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी श्रद्धा आदि नहीं करता।

र.सा./५७ सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण। मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं।५७। –सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव, आलस्य और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं।

प्र.सा./ता.वृ./प्रक्षेपक ६८-१/३६०/१७ इमां चानुकम्पां ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् संक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः संक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः। –इस अनुकम्पाको ज्ञानी तो स्वस्थ भावका नाश न करते हुए संक्लेशके परिहार द्वारा करता है, परन्तु अज्ञानी उसे संक्लेशसे भी करता है।

स.श./मू./५४ शरीरे वाचि चात्मानं संधत्ते वाक्शरीरयोः। भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेव निबुध्यते।५४। –वचन और शरीरमें ही जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा वचन और शरीरमें ही आत्माका आरोपण करता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष इन शरीर और वचनके स्वरूपको आत्मासे भिन्न जानता है। (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/१/१/२)।

स.श./मू. व टी./४७ त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्। नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः।४७। मूढात्मा बहिरात्मा त्यागोपादाने करोति क। बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति। रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति। आत्मवित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागोपादाने करोति। तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा। स्वीकारश्चिदानन्दादेः। यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादानं तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा। –बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि द्वेषके उदयवश अभिलाषाका अभाव हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका त्याग करता है और रागके उदयवश अभिलाषा उत्पन्न हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका ही ग्रहण करता है। परन्तु आत्मवित् अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें ही त्याग या ग्रहण करता है। वह त्याग तो रागद्वेषादिका अथवा अन्तर्जल्परूप वचन विलास व विकल्पादिका करता है और ग्रहण चिदानन्द आदिका करता है। और जो आत्मनिष्ठ व कृतकृत्य हैं ऐसे महायोगीको तो अन्तरंग व बाह्य दोनों ही का न कुछ त्याग है और न कुछ ग्रहण। (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/१/२)।

दे. मिथ्यादृष्टि/२/५ (मिथ्यादृष्टिको यथार्थ धर्म नहीं रुचता)।

दे. श्रद्धान/३ (मिथ्यादृष्टि एकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ करता है, पर सम्यग्दृष्टि अनेकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ नहीं करता)।

स.सा./ता.वृ./१९४/२६१/९ सुखं दुःखं वा समुदीर्ण सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति।… मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन। –कर्मके उदयवश प्राप्त सुखदुःखको सम्यग्दृष्टि जीव तो राग-द्वेष नहीं करते हुए हेयबुद्धिसे भोगता है। 'मैं सुखी-मैं दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर नहीं भोगता। परन्तु मिथ्यादृष्टि उसी सुख-दुःखको उपादेय बुद्धिसे 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर भोगता है। (और इसीलिए सम्यग्दृष्टि तो विषयोंका सेवन करते हुए भी उनका असेवक है और मिथ्यादृष्टि उनका सेवन न करते हुए भी सेवक है) दे० राग/६।

पं.का./ता.वृ./१२५/२८८/२० अज्ञानिनां हितं स्रग्वनिताचन्दनादि तत्कारणं दानपूजादि, अहितमहिविषकण्टकादि। संज्ञानिनां पुनरक्षयानन्तसुखं तत्कारणभूतं निश्चयरत्नत्रयपरिणतं परमात्मद्रव्यं च हितमहितं पुनराकुलत्वोत्पादकं दुःखं तत्कारणभूतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतमात्मद्रव्यं च। –अज्ञानियोंको हित तो माला, स्त्री, चन्दन आदि पदार्थ तथा इनके कारणभूत दान, पूजादि व्यवहारधर्म हैं और अहित–विष कण्टक आदि बाह्य पदार्थ हैं। परन्तु ज्ञानीको हित तो अक्षयानन्त सुख व उसका कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मद्रव्य है और अहित आकुलताको उत्पन्न करनेवाला दुःख तथा उनका कारणभूत मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत आत्मद्रव्य है। (विशेष दे० पुण्य/३/४-८)।

मो.मा.प्र./८/३६७/२० (सम्यग्दृष्टि) अपने योग्य धर्म कौं साधै है। तहाँ जेता अंश वीतरागता हो है ताकौं कार्यकारी जानै है, जेता अंश राग रहै है, ताकौं हेय जानै है। सम्पूर्ण वीतराग ताकौं परमधर्म मानै है। (और भी दे० उपयोग/II/३)।

२. दोनोंके तत्त्व कर्तृत्वमें अन्तर

न.च.वृ./१६३-१६४ अज्जीवपुण्णपावे असुद्धजीवे तहासवे बंधे सामी मिच्छाइट्ठी समाइट्ठी हवदि सेसे।१६३। सामी सम्माविट्ठी जिय संवरणिज्जरा मोक्खो। सुद्धो चेयणरूवो तह जाण सुणाणपच्चक्खं।१६४। –अजीव, पुण्य, पाप, अशुद्ध जीव, आस्रव और बन्ध इन छह पदार्थोंके स्वामी मिथ्यादृष्टि हैं, और शुद्ध चेतनारूप जीव तत्त्व, संवर, निर्जरा व मोक्ष इन शेष चार पदार्थोंका स्वामी सम्यग्दृष्टि है।

द्र.सं.टी./ अधिकार २/चूलिक/८३/२ इदानीं कस्य पदार्थस्य कः कर्तेति कथ्यते–बहिरात्मा भण्यते। स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति। क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकांक्षादिनिदानबन्धेन भाविकाले पापानुबन्धिपुण्यपदार्थस्यापि

कर्त्ता भवति। यस्तु…सम्यग्दृष्टि. स संवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबन्धितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्य कर्त्ता भवति। —अब किस पदार्थका कर्ता कौन है, इस बातका कथन करते हैं। वह बहिरात्मा (प्रधानत:) आस्रव, बन्ध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्ता है। किसी समय जब मिथ्यात्व व कषायका मन्द उदय होता है तब आगामी भोगोंकी इच्छा आदि रूप निदान बन्धसे पापानुबन्धी पुण्य पदार्थका भी कर्त्ता होता है। (परन्तु इसको संवर नहीं होता—दे० अगला सन्दर्भ)। जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह (प्रधानत:) संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्त्ता होता है। और किसी समय जब रागादि विभावोंसे रहित परम सामायिकमें स्थित रहनेको समर्थ नहीं होता उस समय विषयकषायोंसे उत्पन्न दुर्ध्यानको रोकनेके लिए, संसारकी स्थितिका नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थका कर्त्ता होता है। (पं. का/ता. वृ./१२८-१३०/१९३/१४); (स. सा./ता. वृ /१२५/१८०/२१)।

द्र. सं./टी./३४/९६/१० मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरो नास्ति सासादनगुणस्थानेषु…क्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति। —मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि गुणस्थानोंमें (प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्तिक्रमकेअनुसार—दे० प्रकृतिबन्ध/७) ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें अधिकतासे संवर जानना चाहिए।

दे० उपयोग II/४/५ (१-३ गुणस्थान तक अशुभोपयोग प्रधान है और ४-७ गुणस्थान तक शुद्धोपयोग साधक शुभोपयोग प्रधान है। इससे भी ऊपर शुद्धोपयोग प्रधान है।)

३. दोनोंके पुण्यमें अन्तर

स. सा./ता. वृ./२२४-२२७/३०५/१७ कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाकाङ्क्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति पापानुबन्धि पुण्यराजा कालान्तरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरम्परां प्रापयन्तीति भावार्थः।… कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते। तदपि पुण्यानुबन्धिकर्म भावान्तरे…अभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन…भोगाकाङ्क्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति भरतेश्वरादीनामिव। —कोई एक (मिथ्यादृष्टि) जीव नवीन पुण्य कर्मके निमित्तभूत शुभकर्मानुष्ठानको भोगाकांक्षाके निदान रूपसे करता है। तब वह पापानुबन्धी पुण्यरूप राजा कालान्तरमें उसको विषय भोगप्रदान करता है। वे निदानबन्धपूर्वक प्राप्त भोग भी रावण आदि की भाँति उसको अगले भवमें नरक आदि दुःखोंकी परम्परा प्राप्त कराते हैं (अर्थात् निदानबन्धपूर्वक किये गये पुण्यरूप शुभानुष्ठान तीसरे भव नरकादि गतियोंके कारण होनेसे पापानुबन्धीपुण्य कहलाते हैं)। कोई एक सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधिका अभाव होनेके कारण अशक्यानुष्ठान रूप विषयकषाय वञ्चनार्थ यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभ कर्मानुष्ठान करता है परन्तु (मिथ्यादृष्टिकी भाँति) भोगाकांक्षारूप निदानबन्धसे उसका सेवन नहीं करता है। उसका वह कर्म पुण्यानुबन्धी है, भवान्तरमें जिसके अभ्युदयरूपसे उदयमें आनेपर भी वह सम्यग्दृष्टि पूर्वभवमें भावित भेदविज्ञानकी वासनाके बलसे भोगोंकी आकांक्षारूप निदान या रागादि परिणाम नहीं करता है, जैसे कि भरतेश्वर आदि। अर्थात् निदान बन्धरहित बाँधा गया पुण्य सदा पुण्यरूपसे ही फलता है। पापका कारण कदाचित् भी नहीं होता। इसलिए पुण्यानुबन्धी कहलाता है। और भी दे० मिथ्यादृष्टि/४/२)।

स. सा./ता. वृ./३२४-३२७/४१४/१६ कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकाङ्क्षानिदानबन्धेन पापानुबन्धि पुण्यं कृत्वा… अर्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः। —कोई जीव पहले मनुष्य भवमें जिनरूपको ग्रहण करके भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्ध से पापानुबन्धी पुण्य को करके स्वर्ग प्राप्त कर अगले मनुष्य भवमें अर्धचक्रवर्ती हुआ, उसीकी विष्णु संज्ञा है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई विष्णु नहीं है। (इसी प्रकार महेश्वरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी कहा है।)

दे० पुण्य/५/१,२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य निदान रहित होनेसे निर्जरा व मोक्षका कारण है और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित होनेसे साक्षात् रूपसे स्वर्गका और परम्परा रूपसे कुगतिका कारण है।)

दे० पूजा/२/४ सम्यग्दृष्टिकी पूजा भक्ति आदि निर्जराके कारण हैं।

४. दोनोंके धर्मसेवनके अभिप्रायमें अन्तर

पं.का./त. प्र./१३६ अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्याव स्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति। —यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें जो स्थूल लक्षवाला होनेसे मात्र भक्तिप्रधान है ऐसे अज्ञानीको होता है। उच्च भूमिकामें स्थिति प्राप्त न की हो तब आस्थान अर्थात् विषयोंकी ओरका राग रोकनके हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटानेके हेतु, कदाचित् ज्ञानीको भी होता है।

द्र. सं./टी./५५/२२३/१२ प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादि परद्रव्यमपि ध्येयं भवति। —ध्यान आरम्भ करनेकी अपेक्षासे जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायोंको दूर करनेके लिए तथा चित्तको स्थिर करनेके लिए पंच परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। (पं. का./ता. वृ./१५२/२२०/६), (स. सा./ता. वृ./९६/-१५४/१०), (प. प्र./टी./२/३१/१५१/३)।

दे० धर्म/६/८ (मिथ्यादृष्टि व्यवहार धर्मको ही मोक्षका कारण जानकर करता है, पर सम्यग्दृष्टि निश्चय मार्गमें स्थित होनेमें समर्थ न होनेके कारण करता है।)

दे० मिथ्यादृष्टि/४/२ व ३ (मिथ्यादृष्टि तो आगामी भोगोंकी इच्छासे शुभानुष्ठान करता है और सम्यग्दृष्टि शुद्ध भावमें स्थित होनेमें समर्थ न होनेके कारण तथा कषायोत्पन्न दुर्ध्यानके वंचनार्थ करता है।)

दे० पुण्य/३/४-८ (मिथ्यादृष्टि पुण्यको उपादेय समझकर करता है और सम्यग्दृष्टि उसे हेय जानता हुआ करता है।)

द्र. सं./टी./३८/१५६/७ सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति। तत्र युक्तिमाह। यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थे दानसम्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति। —प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवके तो पुण्य और पाप दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है? उत्तर—जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान किसी मनोहर स्त्रीके पाससे आये हुए मनुष्योंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान-सम्मान आदि करता है; ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी वास्तवमें तो निज शुद्धात्माको ही भाता है। परन्तु जब चारित्रमोहके उदयसे उस निजशुद्धात्म भावनामें असमर्थ होता

है, उन दोष रहित ऐसे परमात्मस्वरूप अर्हन्त सिद्धोंकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुकी, परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए, (मुक्तिश्रीको वश करनेके लिए—पं. का), और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए, पूजा, दान आदिसे अथवा गुणोंको स्तुति आदिसे परमभक्ति करता है। (पं.का./ता.वृ./१७०/२४३/११), (प.प्र./टी./२/६१/१८३/२)।

५. दोनोंकी कर्मक्षपणामें अन्तर

भ.आ./मू./१०८/२५५ जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहिं। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण।१०८। —जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवोंमें खपाता है, वह ज्ञानी त्रिगुप्तिके द्वारा अन्तर्मुहूर्तमात्रमें खपा देता है। (भ.आ./मू./२३४/४५४); (प्र.सा./मू./२३८); (मो.प्रा./मू./५३); (ध. १३/५,५,५०/गा.२३/२८१); (द.वि./१/३०)।

भ.आ./मू./७१७/८६१ जं बद्धमसंखेज्जाहि रयं भवसदसहस्सकोडीहिं। सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ तं एयसमएण।७१७। —करोड़ों भवोंके संचित कर्मोंको, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर, साधुजन एक समयमें निर्जीर्ण कर देते हैं।

६. मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टिके आशयको नहीं समझ सकता

स.सा./आ./२२७/क. १५३ ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः।१५३। —ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कौन जानता है। (ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीमें नहीं है—पं. जयचन्द)।

मिथ्या नय—दे० नय/II।

मिथ्या शल्य—दे० मिथ्यादर्शन।

मिनट—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/४।

मिश्र—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४ २. वसतिका-का एक दोष—दे० वसतिका। ३ एक ही उपयोगमें शुद्ध व अशुद्ध दो अंश—दे० उपयोग/II/३। ४. मिश्र चारित्र अर्थात् एक ही चारित्रमें दो अंश—दे० चारित्र/७/७। ५. व्रत, समिति, गुप्ति आदिमें युगपत् दो अंश—प्रवृत्ति व निवृत्ति —दे० संवर/२। ६. संयम व असंयमकका मिश्रपना —दे० संयतासंयत/२। ७. एक ही संयममें दो अंश—प्रमत्तता व संयम —दे० संयत/२। ८. एक ही श्रद्धान व ज्ञानमें दो अंश—सम्यक् व मिथ्या —दे० आगे 'मिश्र' गुणस्थान। ९. मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्रकेशा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी —दे० लोक/५/१३।

मिश्र गुणस्थान—दही व गुड़के मिश्रित स्वादवत् सम्यक् व मिथ्यारूप मिश्रित श्रद्धान व ज्ञानको धारण करनेकी अवस्था विशेष सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्रगुणस्थान कहलाता है। सम्यक्त्वसे गिरते समय अथवा मिथ्यात्वसे चढ़ते समय क्षणभरके लिए इस अवस्थाका वेदन होना सम्भव है।

१. मिश्रगुणस्थान निर्देश

१. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका लक्षण

पं.सं./१/१०,१६९ दहिगुडमिव वामिस्सं पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवंमिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो।१०। सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवेसु होइ तच्चेसु। विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो।१६९। —१. जिस प्रकार अच्छी तरह मिला हुआ दही और गुड़ पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता इसी प्रकार सम्यक्त्व व मिथ्यात्वसे मिश्रित भावको सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए।१०। (ध. १/१,१२/गा.१०६/१७०); (गो. जी./मू./२२/४७)। २. जिसके उदयसे जीवोंके तत्त्वोंमें श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत् प्रगट हो है, उसे विरताविरतके समान सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए।१६९। (गो. जी./मू./६५५/११०२)।

रा.वा./९/१/१४/५८९/२३ सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते—क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके उपभोगसे जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है, उसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थका श्रद्धान व अश्रद्धानरूप मिला हुआ परिणाम होता है। यही तीसरा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

ध. १/१,१,११/१६६/७ दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। —दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

गो.जी./मू./२१/४६ सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण। ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो।२१। —जात्यन्तर-रूप सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

ल.सा./मू./१०७/१४५ मिस्सुदये सम्मिस्सं दहिगुडमिस्सं व तच्चमियरेण सद्दहदि एक्कसमये...।१०७। —सम्यग्मिथ्यात्व नामा मिश्र प्रकृतिके उदयसे यह जीव मिश्र गुणस्थानवर्ती होता है। दही और गुड़के मिले हुए स्वादकी तरह वह जीव एक ही समयमें तत्त्व व अतत्त्व दोनोंकी मिश्ररूप श्रद्धा करता है। (द्र.सं./टी./१३/३२/२)।

२. प्रथम या चतुर्थ दो ही गुणस्थानोंमें आ सकता है

ध. ४/१,५,९/३४३/८ तस्स मिच्छत्तसम्मत्तसहिदासंजदगुणे मोत्तूण गुणंतरगमणाभावा। —सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवका मिथ्यात्वसहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको अथवा सम्यक्त्वसहित असंयत गुणस्थानको छोड़कर अन्य गुणस्थानोंमें गमनका अभाव है।

३. संयम धारनेकी योग्यता नहीं है

ध. ४/१,५,१७/गा. ३३/३४६ ण य मरइ णेव संजममुवेइ तह देससंजमं वावि। सम्मामिच्छादिट्ठी...।३३। —सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न संयमको प्राप्त होता है और न देश संयमको। (गो. जी./मू./२३/४८)।

★ मिश्र गुणस्थानमें मृत्यु सम्भव नहीं—दे० मरण/३।

४. मिश्र गुणस्थानका स्वामित्व

ध. ५/१,८,१२/२५०/७ सम्मामिच्छत्तगुणं पुण वेदगुवसमसम्मादिट्ठिणो अट्ठावीससंतकम्मियमिच्छादिट्ठिणो य पडिवज्जंति। —सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि और मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले मिथ्यादृष्टि जीव भी प्राप्त होते हैं। (अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि या जिन्होंने सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंकी उद्वेलना कर दी है ऐसे मिथ्यादृष्टि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' गुणस्थानको प्राप्त नहीं होते)।

ध. १५/११८/८ एइंदिएसु उव्वेल्लिदसम्मामिच्छत्तट्ठिदिसंतकम्मस्सेव पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणसागरोवममेत्तट्ठिदिसंतकम्मे सेसे सम्मामिच्छत्तग्गहणपाओग्गत्तुवलंभादो। जो पुण तसेसु एइंदियट्ठिदिसंतसमं सम्मामिच्छत्तं कुणइ सो पुव्वमेव सागरोवम-

पुधत्ते सेसे चेव तदपाओग्गा होदि ।—जिसने एकेन्द्रियोंमें सम्यग्मिथ्यात्वके स्थितिसत्त्वकी उद्वेलना की है उसके हो पल्योपमके असंख्यातवें भागसे हीन एक सागरोपम मात्र स्थिति सत्त्वके रहनेपर सम्यग्मिथ्यात्वके ग्रहणकी योग्यता पायी जाती है। परन्तु जो त्रस जीवोंमें एकेन्द्रियके स्थितिसत्त्वके बराबर सम्यग्मिथ्यात्वके स्थितिसत्त्वको करता है, वह पहले ही सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण स्थितिके शेष रहनेपर ही उसके ग्रहणके अयोग्य हो जाता है।

दे. सत् - (इस गुणस्थानमें एक संज्ञी पर्याप्तक ही जीव समास सम्भव है, एकेन्द्रियादि असंज्ञी पर्यंतके जीव तथा सर्व ही प्रकारके अपर्याप्तक जीव इसको प्राप्त नहीं कर सकते)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीव समास, मार्गणास्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ —दे० सत।
२. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणायें —दे० वह-वह नाम।
३. इस गुणस्थानमें आय व व्ययका सन्तुलन —दे० मार्गणा
४. इसमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह-वह नाम
५ राग व विरागताका मिश्रित भाव —दे० उपयोग/II/३।
६. इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव होता है —दे० भाव/२।

५. ज्ञान भी सम्यक् व मिथ्या उभयरूप होता है।

रा. वा./९/१/१४/५८९/२५ अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते।—इसके तीनों ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं (गो.जी./मू./३०२/६५३) (दे० सत)।

२. मिश्र गुणस्थान सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञान व अज्ञानका मिश्रण कैसे सम्भव है

ध. १/१,१,११६/३६३/१० यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत्सत्यमेतदिष्टत्वात्। किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेवं मा ग्रहीः यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न तन्मिथ्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात्। नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात्। ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम्। ततस्तदुदयजनितपरिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयाननुविद्धत्वात्। नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयासंगतत्वात्। ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते।—प्रश्न—यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं। ऐसी हालतमें भिन्न-भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है। उत्तर—यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है। किन्तु यहाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीताभिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती है। और न वह सम्यक्प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वका यथार्थ श्रद्धानके साथ साहचर्य सम्बन्धका विरोध है। इसलिए जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व (कर्म) जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है। अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस संज्ञाको प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है। और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ सम्पर्क नहीं रखता है। इसलिए वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तर रूप अवस्थाको प्राप्त है। अतः एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।

२. जात्यन्तर ज्ञानका तात्पर्य

ध. १/१,१,११६/३६४/५ यथायथं प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम्। यथायथमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते।—यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं। न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं। और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी ज्ञानको जात्यन्तर ज्ञान कहते हैं। इसीका नाम मिश्रगुणस्थान है, ऐसा सिद्धान्तके जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं।

३. मिश्रगुणस्थानमें अज्ञान क्यों नहीं कहते

ध. ५/१,७,४५/२२४/७ तिसु अण्णाणेसु णिरुद्धेसु सम्मामिच्छादिट्ठिभावो किण्ण परूविदो। ण, तस्स सद्दहणासद्दहणेहि दोहिं मि अक्कमेण अणुविद्धस्स संजदासंजदो व्व पत्तजच्चंतरस्स णाणेसु अण्णाणेसु वा अत्थित्तविरोहा।—प्रश्न—तीनों अज्ञानोंको निरुद्ध अर्थात् आश्रय करके उनकी भाव प्ररूपणा करते हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका भाव क्यों नहीं बतलाया। उत्तर—नहीं, क्योंकि, श्रद्धान और अश्रद्धान, इन दोनोंसे एक साथ अनुविद्ध होनेके कारण संयतासंयतके समान भिन्न जातीयताको प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्वका पाँचों ज्ञानोंमें अथवा तीनों अज्ञानोंमें अस्तित्व होनेका विरोध है।

★ युगपत् दो रुचि कैसे सम्भव है—दे० अनेकान्त/५/१.२

४. संशय व विनय मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वमें क्या अन्तर है

द्र.सं./टी./१३/३३/४ अथ मतं—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादि वैनयिकमिथ्यादृष्टिः संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते, तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टेः को विशेष इति, अत्र परिहारः—स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं कुरुते निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयनिश्चयोऽस्तीति विशेषः।—प्रश्न—चाहे जिससे हो, मुझे तो एक देवसे मतलब है, अथवा सभी देव वन्दनीय हैं, निन्दा किसी भी देवकी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है। तब उसमें तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें क्या अन्तर है? उत्तर—वैनयिक तथा संशय मिथ्यादृष्टि सभी देवोंमें तथा सब शास्त्रोंमें से किसी एककी भी भक्तिके परिणामसे मुझे पुण्य होगा, ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है। उसको किसी एक देवमें निश्चय नहीं है। और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीवके दोनोंमें निश्चय है। बस यही अन्तर है।

५. पर्याप्तक ही होनेका नियम क्यों

ध. १/१,१,९५/३३५/३ कथं। तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्योत्पत्तेरभावाच्च। नियमेऽभ्

पगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्तगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात्। -प्रश्न—यह कैसे (अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें वे पर्याप्त ही होते हैं, सो कैसे)? उत्तर—क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नहीं होता है (दे. मरण/३), तथा अपर्याप्तकालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रश्न—'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अनेकान्त गर्भित एकान्तवादके माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

६. इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिकपना कैसे है

ध. १/१,१,११/१६८/१ कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते। तद्यथा, मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्सतामुदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः।

ध. १/१,१,११/१६९/२ अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः। सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम्। वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहननं प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः सम्यग्मिथ्यात्वगुणः। अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात्। —प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है? उत्तर—१. वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावीक्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक है। २. अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक है। ३. यहाँ इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिए ही कहा गया है। (परन्तु ऐसा कहना घटित नहीं होता, दे. आगे/शीर्षक नं.७) वास्तवमें तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे समीचीन और असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। अन्यथा उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर उसमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि उस जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका ही उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता।

ध. १४/५,६,१९/२१/८ सम्मामिच्छत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएण तस्सेव सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण उवसमसण्णिदेण सम्मामिच्छत्तमुप्पज्जदि त्ति तदुभयपच्चइयत्तं। —४. [सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती नहीं है अन्यथा उसके उदय होनेपर सम्यक्त्वके अंशकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकती—दे. अनुभाग/४/६/४] इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंके उपशम संज्ञावाले उदयाभावसे सम्यग्मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभयप्रत्ययिक अर्थात् उदयोपशमिक कहा जा सकता है, पर क्षायोपशमिक नहीं।

७. मिश्रगुणस्थानकी क्षायोपशमिकतामें उपरोक्त लक्षण घटित नहीं होते

ध. ५/१,७,४/१९९/४ मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण…त्ति सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमियत्तं केई परूवयंति, तण्ण घडदे, मिच्छत्तभावस्स वि खओवसमियत्तप्पसंगा। कुदो। सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण मिच्छत्तभावुप्पत्तीए उवलंभा। —कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व या सम्यक्प्रकृतिके उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है—(दे. मिश्र/२/६/१,२), किन्तु उनका यह कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर तो मिथ्यात्व भावके भी क्षायोपशमिकताका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयरूप उपशमसे तथा मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे मिथ्यात्वभावकी उत्पत्ति पायी जाती है। [अतः पूर्वोक्त शीर्षक नं. ६ से कहा गया लक्षण नं. ३ ही युक्त है] (ध. १/१,१,११/१७०/१); (और भी दे. शीर्षक नं. ११)

८. सर्वघाती प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे क्षायोपशमिक कैसे कह सकते हो

ध. ७/२,१,७९/११०/७ सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण सम्मामिच्छादिट्ठी जदो होदि तेण तस्स खओवसमिओ त्ति ण जुज्जदे।…ण सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं सव्वघादित्तमत्थि,…ण च एत्थ सम्मत्तस्स णिम्मूलविणासं पेच्छामो सब्भूदासब्भूदत्थेसु तुल्लसद्दहणदंसणादो। तदो जुज्जदे सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमिओ भावो। —प्रश्न—चूँकि सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है (दे. मिश्र २/६/१), इसलिए उसके क्षायोपशमिकभाव उपयुक्त नहीं है? उत्तर—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें सर्वघातीपना नहीं होता, क्योंकि इस गुणस्थानकी उत्पत्तिमें हम सम्यक्त्वका निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योंकि, यहाँ सद्भूत और असद्भूत पदार्थोंमें समान श्रद्धान होता देखा जाता है (और भी दे० अनुभाग४/६)। इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वको क्षायोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है।

ध. ५/१,७,४/१९८/२ पडिबंधिकम्मोदए संते वि जो उवलब्भइ जीवगुणावयवो सो खओवसमिओ उच्चइ। कुदो। सव्वघादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि। खओ चेव उवसमो खओवसमो, तम्हि जादो भावो खओवसमिओ। ण च सम्मामिच्छत्तुदए संते सम्मत्तस्स कणिया वि उव्वरदि, सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादित्तण्णहाणुववत्तीदो। तदो सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि ण घडदे। एत्थ परिहारो उच्चदे—सम्मामिच्छत्तुदए संते सद्दहणासद्दहणप्पओ करंचिओ जीवपरिणामो उप्पज्जइ। तत्थ जो सद्दहणंसो सो सम्मत्तावयवो। तं सम्मामिच्छत्तुदओ ण विणासेदि त्ति सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं। असद्दहणभागेण विणा सद्दहणभागस्सेव सम्मामिच्छत्तववएसो ण त्थि त्ति ण सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि चे एवंविहविवक्खाए सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं मा होदु, किंतु अवयव्यव-

यवनिराकरणानिराकरणं पडुच्च खओवसमियं सम्मामिच्छत्तदव्व-कम्मं पि सव्वघादी चेव होदु, जच्चंतरस्स सम्मामिच्छत्तस्स सम्मत्ताभावादो। किंतु सद्दहणभागो असद्दहणभागो ण होदि, सद्दहणासद्दहणाणमेयत्तविरोहादो। ण च सद्दहणभागो कम्मोदयजणिओ, तत्थ विवरीयत्ताभावा। ण य तत्थ सम्मामिच्छत्तववदेसाभावो, समुदाएसु पयट्टाणं तदेगदेसे वि पउत्तिदंसणादो। तदो सिद्धं सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि। —प्रश्न— प्रतिबन्धी कर्मका उदय होनेपर जो जीवके गुणका अवयव पाया जाता है, वह गुणांश क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि, गुणोंके सम्पूर्णरूपसे घातनेकी शक्तिका अभाव क्षय कहलाता है। क्षयरूप ही जो उपशम होता है, वह क्षयोपशम कहलाता है (दे० क्षयोपशम/१)। उस क्षयोपशममें उत्पन्न होनेवाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय रहते हुए सम्यक्त्वकी कणिका भी अवशिष्ट नहीं रहती है, अन्यथा, सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघातीपना बन नहीं सकता है। इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है, यह कहना घटित नहीं होता। उत्तर—सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेपर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक कथंचित् अर्थात् शबलित या मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानांश है, वह सम्यक्त्वका अवयव है। उसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं नष्ट कर सकता है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है। प्रश्न—अश्रद्धान भागके बिना केवल श्रद्धान भागके ही 'सम्यग्मिथ्यात्व' यह संज्ञा नहीं है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक नहीं है। उत्तर—उक्त प्रकारकी विवक्षा होनेपर सम्यग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक भले ही न होवे, किन्तु अवयवीके निराकरण और अवयवके निराकरणकी अपेक्षा वह क्षायोपशमिक है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वके उदय रहते हुए अवयवीरूप सम्यक्त्व गुणका तो निराकरण रहता है और सम्यक्त्वका अवयवरूप अंश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाती ही होवे (और भी दे० अनुभाग४/६), क्योंकि, जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्वका अभाव है। किन्तु श्रद्धानभाग अश्रद्धानभाग नहीं हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धानके एकताका विरोध है। और श्रद्धान भाग कर्मोदय-जनित भी नहीं है, क्योंकि, इसमें विपरीतताका अभाव है। और न उनमें सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञाका ही अभाव है, क्योंकि, समुदायोंमें प्रवृत्त हुए शब्दोंकी उनके एकदेशमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक भाव है।

९. सम्यग्मिथ्यात्वमें सम्यक्त्वका अंश कैसे सम्भव है

ध. ५/१,७,१२/२०८/२ सम्मामिच्छत्तभावे पत्तजच्चंतरे अंसांसीभावो णत्थि त्ति ण तत्थ सम्मद्दंसणस्स एगदेस इदि चे, होदु णाम अभेद-विवक्खाए जच्चंतरत्तं। भेदे पुण विवक्खिदे सम्मद्दंसणभागो अत्थि चेव, अण्णहा जच्चंतरत्तविरोहा। ण च सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघाइत्तमेवं संते विरुज्झइ, पत्तजच्चंतरे सम्मद्दंसणंसाभावादो तस्स सव्वघाइत्ताविरोहा। —प्रश्न—जात्यन्तर भावको प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्व भावमें अंशांशी भाव नहीं है, इसलिए उसमें सम्यग्दर्शनका एकदेश नहीं है? उत्तर—अभेदकी विवक्षामें सम्यग्मिथ्यात्वके भिन्नजातीयता भले ही रही आवे, किन्तु भेदकी विवक्षा करनेपर उसमें सम्यग्दर्शनका अंश है ही। यदि ऐसा न माना जाये तो, उसके जात्यन्तरत्वके माननेमें विरोध आता है। और ऐसा माननेपर सम्यग्मिथ्यात्वके सर्वघातीपना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसके भिन्नजातीयता प्राप्त होनेपर सम्यग्दर्शनके एकदेशका अभाव है, इसलिए उसके सर्वघातीपना माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

१०. मिश्रप्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे औदयिक क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,११/१६८/३ सतामपि सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिवातः सम्यक्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात्। —प्रश्न—तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहाँ औदयिक भाव क्यों नहीं कहा है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिए तीसरे गुणस्थानमें औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

११. मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके क्षय व उपशमसे इसकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं

ध. १/१,१,११/१६८/७ मिथ्यात्वक्षयोपशमाविवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धकत्वात्। ये त्वनन्तानुबन्धिक्षयोपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात्। —प्रश्न—जिस तरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलायी है, उसी प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशमसे होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रका प्रतिबन्ध करती है (और इस गुणस्थानमें श्रद्धानकी प्रधानता है) जो आचार्य अनन्तानुबन्धीकर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है।

दे० क्षयोपशम/२/४ [मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम होते हुए भी मिश्रगुणस्थानको औपशमिक नहीं कह सकते।]

★ १४ मार्गणाओंमें सम्भव मिश्र गुणस्थान विषयक शंका समाधान—दे० वह वह नाम।

मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्रमत—दे० मीमांसा दर्शन।

मिश्रानुकंपा—दे० अनुकंपा।

मिश्रोपयोग—दे० उपयोग/II/३।

मिष्ट संभाषण—दे० सत्य।

मिहिरकुल—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह हूणवंशका अन्तिम राजा था। तोरमाणका पुत्र था। इसने ई० ५०७ में राजा भानुगुप्तको परास्त करके गुप्तवंशको नष्टप्राय कर दिया था। यह बहुत अत्याचारी था, जिसके कारण 'कल्की' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अत्याचारोंसे तंग आकर गुप्त वंशकी बिखरी हुई शक्ति एक बार पुनः संगठित हो गयी और राजा विष्णु यशोधर्मकी अध्यक्षतामें ई. ५३३ में (किन्हीं के मतानुसार ई० ५२८ में) उसने मिहिरकुलको परास्त करके भगा दिया। उसने भागकर कश्मीरमें शरण ली और ई० ५४० में वहाँ ही उसकी मृत्यु हो गयी। समय—वी. नि. १०३३–१०८४ (ई० ५०६-५२८)—(विशेष दे० इतिहास/३/४)।

मीमांसा—दे० ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहाके पर्यायनाम हैं। (और भी—दे० विचय)

ध. १३/५,५,३८/११ मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा। —अवग्रहके द्वारा ग्रहण किया अर्थ विशेषरूपसे जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है वह मीमांसा है।

मीमांसा दर्शन—* वैदिक दर्शनोंका विकास क्रम व समन्वय—दे० दर्शन।

१. मीमांसा दर्शनका सामान्य परिचय

(षड्दर्शन समुच्चय/६८/६६); (स्या. मं./परि० च/४३८) मीमांसा-दर्शनके दो भेद हैं—१. पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा। यद्यपि दोनों मौलिक रूपसे भिन्न हैं, परन्तु 'बौधायन' ने इन दोनों दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है तथा 'उपवर्ष' ने दोनों दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं, इसीसे विद्वानोंका मत है कि किसी समय ये दोनों एक ही समझे जाते थे। २. इनमेंसे उत्तरमीमांसाको ब्रह्ममीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं, इसके लिए—दे० वेदान्त)। ३. पूर्वमीमांसाके तीन सम्प्रदाय हैं—कुमारिलभट्टका 'भाट्टमत', प्रभाकर मिश्रका 'प्राभाकरमत' या 'गुरुमत'; तथा मंडन या मुरारीमिश्रका 'मिश्रमत'। इनका विशेष परिचय निम्न प्रकार है।

२. प्रवर्तक, साहित्य व समय

—(स. म./परि० क/४३६) पूर्वमीमांसा दर्शनके मूल प्रवर्तक वेदव्यासके शिष्य जैमिनिऋषि थे, जिन्होंने ई. पू. २०० में 'जैमिनीसूत्र' की रचना की। ई. श. ४ में शबरस्वामी ने इसपर 'शाबरभाष्य' लिखा, जो पीछे आनेवाले विचारकों व लेखकोंका मूल आधार बना। इसपर प्रभाकर मिश्रने ई० ६५० में और कुमारिलभट्ट ने ई० ७०० में स्वतन्त्र टीकाएँ लिखीं। प्रभाकरकी टीकाका नाम 'बृहती' है। कुमारिलकी टीका तीन भागोंमें विभक्त है—'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' और 'टुपटीका'। तत्पश्चात् मंडन या मुरारीमिश्र हुए, जिन्होंने 'विधि-विवेक', 'मीमांसानुक्रमणी' और कुमारिलके तन्त्रवार्तिकपर टीका लिखी। पार्थसारथिमिश्र ने कुमारिलके श्लोकवार्तिकपर 'न्याय रत्नाकर,' 'शास्त्रदीपिका', 'तन्त्ररत्न' और 'न्यायरत्नमाला' लिखी। सुचारित मिश्र ने 'श्लोकवार्तिक'की टीका और काशिका व सोमेश्वर भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक टीका' और 'न्यायसुधा' नामक ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त भी माधवका 'न्यायमालाविस्तर,' 'मीमांसा न्यायप्रकाश', लौगाक्षि भास्करका 'अर्थ संग्रह' और खण्डदेवकी 'भाट्टदीपिका' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

३. तत्त्व विचार

१. प्रभाकरमिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा—१. पदार्थ आठ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति व सादृश्य। लक्षणोंके लिए—दे० वैशेषिक दर्शन। २. द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन व दिक्। आत्मा ज्ञानमय है। मन प्रत्यक्षका विषय नहीं। तम नामका कोई पृथक् द्रव्य नहीं। ३. गुण २१ हैं—वैशेषिकमान्य २४ गुणोंमें-से संख्या, विभाग, पृथक्त्व व द्वेष ये चार कम करके एक 'वेग' मिलानेसे २१ होते हैं। उनके लक्षण वैशेषिक दर्शनके समान हैं। ४. कर्म प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। संयोग व वियोग प्रत्यक्ष हैं, उनपरसे इसका अनुमान होता है। ५. सामान्यका लक्षण वैशेषिक दर्शनवत् है। ६. दो अयुतसिद्धोंमें समवाय सम्बन्ध है जो नित्य पदार्थोंमें नित्य और अनित्य पदार्थोंमें अनित्य होता है। ७. संख्याका लक्षण वैशेषिकदर्शनवत् है। ८. सभी द्रव्योंमें अपनी-अपनी शक्ति है, जो द्रव्यसे भिन्न है। ९. जातिका नाम सादृश्य है जो द्रव्यसे भिन्न है। (भारतीय दर्शन।)

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत'की अपेक्षा—

१. पदार्थ दो हैं—भाव व अभाव। २. भाव चार हैं—द्रव्य, गुण, कर्म व सामान्य। ३. अभाव चार हैं—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व अत्यन्त। ४. द्रव्य ११ हैं—प्रभाकर मान्य ६ में तम व शब्द और मिलानेसे ११ होते हैं। 'शब्द' नित्य व सर्वगत है। 'तम' व 'आकाश' चक्षु इन्द्रियके विषय हैं। 'आत्मा' व 'मन' विभु हैं। ५. 'गुण' द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न हैं। वे १३ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, तथा स्नेह। ६. कर्म प्रत्यक्षका विषय है। यह भी द्रव्यसे भिन्न तथा अभिन्न है। ७. सामान्य नामा जाति भी द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न है। (भारतीय दर्शन)।

३. मुरारि मिश्र या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

१. परमार्थतः ब्रह्म ही एक पदार्थ है। व्यवहारसे पदार्थ चार हैं—धर्मी, धर्म, आधार व प्रदेश विशेष। २. आत्मा धर्मी है। ३. सुख उसका धर्म विशेष है। उसकी पराकाष्ठा स्वर्गका प्रदेश है। (भारतीय दर्शन)।

४. शरीर व इन्द्रिय विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१. इन्द्रियोंका अधिकर शरीर है, जो केवल पार्थिव है, पंच-भौतिक नहीं। यह तीन प्रकारका है- जरायुज, अण्डज व स्वेदज। वनस्पतिका पृथक्से कोई उद्भिज्ज शरीर नहीं है। २. प्रत्येक शरीर-में मन व त्वक् ये दो इन्द्रियाँ अवश्य रहती हैं। मन अणुरूप है, तथा ज्ञानका कारण है।

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

मन, इन्द्रियाँ व शरीर तीनों पाँचभौतिक हैं। इनमेंसे मन व इन्द्रियाँ ज्ञानके करण हैं। बाह्य वस्तुओंका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा मन व आत्मा-के संयोगसे होता है।

५. ईश्वर व जीवात्मा विचार

१. 'गुरु' व 'भट्ट' दोनों मतोंकी अपेक्षा

(स. म./परि० ङ./४३०-४३२,४३३); (भारतीय दर्शन)

१. प्रत्यक्ष गोचर न होनेसे सर्वज्ञका अस्तित्व किसी प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं है। आगम प्रमाण विवादका विषय होनेसे स्वीकारणीय नहीं है। (षड् दर्शन समुच्चय/६८/६७-६९)। २. न तो सृष्टि और प्रलय ही होती है और न उनके कर्तारूप किसी ईश्वरको मानना आवश्यक है। फिर भी व्यवहार चलानेके लिए परमात्माको स्वीकार किया जा सकता है। ३. आत्मा अनेक हैं। अहं प्रत्यय द्वारा प्रत्येक व्यक्तिमें पृथक्-पृथक् जाना जाता है व शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, विभु व भोक्ता है। शरीर इसका भोगायतन है। यही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें तथा मोक्षमें जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि प्रभाकर आत्माको स्वसंवेदनगम्य मानता है, परन्तु कुमारिल ज्ञाता व ज्ञेयको सर्वथा भिन्न माननेके कारण उसे स्वसंवेदनगम्य नहीं मानता। (विशेष—दे० आगे प्रामाण्य विचार) (भारतीय दर्शन)।

६. मुक्ति विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१. वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण हैं (षड् दर्शनसमुच्चय/६९-

७०/६१-७०)। २. धर्म व अधर्मका विशेष प्रकारसे नाश हो जानेपर देहकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाना मोक्ष है। सांसारिक दुःखोंसे उद्विग्नता, लौकिक सुखोंसे पराङ्मुखता, सांसारिक कर्मोंका त्याग, वेद विहित शम, दम आदिका पालन मोक्षका उपाय है। सब अदृष्टके सर्व फलका भोग हो जानेपर समस्त संस्कारोंका नाश स्वतः हो जाता है। (स्या. मं./परि० ङ./४३३), (भारतीय दर्शन)।

७. कुमारिल भट्ट या 'भट्टमत' की अपेक्षा

१. वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण हैं—षड् दर्शन समुच्चय/६१-७०/६१-७०) २. सुख दु.खके कारण भूत शरीर, इन्द्रिय व विषय इन तीन प्रपचों की आत्यन्तिक निवृत्ति; तथा ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व संस्कार इन सबसे शून्य; स्वरूपमें स्थित आत्मा मुक्त है यहाँ शक्तिमात्रसे ज्ञान रहता है। आत्मज्ञान भी नहीं होता। ३. लौकिक कर्मोंका त्याग और वेद विहित कर्मोंका ग्रहण ही मोक्षमार्ग है ज्ञान नहीं। वह तो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें कारणमात्र है।

(स्या. मं./परि० ङ./४३३); (भारतीय दर्शन)

७. प्रमाण विचार

१. वेदप्रमाण सामान्य

दोनों मत वेदको प्रमाण मानते हैं। वह नित्य व अपौरुषेय होनेके कारण तर्कका विषय नहीं है। अनुमान आदि अन्य प्रमाण उसकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। (षड्दर्शन समुच्चय/६१-७०/६१-७०); (स्या. मं./परि-ङ./४२८-४२६)। (२) वह पाँच प्रकारका है—मन्त्र वेदविधि, ब्राह्मण वेदविधि, मन्त्र नामधेय, निषेध और अर्थवाद। 'विधि' धर्म सम्बन्धी नियमोंको बताती है। मन्त्र' से याज्ञिक देवी, देवताओंका ज्ञान होता है। निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्पके भेदसे 'अर्थवाद' चार प्रकारका है। (स्या. म./परि. ङ./४२८-४३०)।

२. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७५/७१-७२); (स्या. मं./परि-ङ./४३२); (भारतीय दर्शन)। (१) स्वप्न व संशयसे भिन्न अनुभूति प्रमाण है। वह पाँच प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द व अर्थापत्ति। (२) प्रत्यक्षमें चार प्रकारका सन्निकर्ष होता है—आत्मासे मनका, मनसे इन्द्रियका, इन्द्रियसे द्रव्यका, तथा इन्द्रियसे उस द्रव्यके गुणका। ये द्रव्य व गुणका प्रत्यक्ष पृथक्-पृथक् मानते हैं। वह प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निर्विकल्प पूर्वक होता है। योगज व प्रातिभ प्रत्यक्ष इन्हीं दोनोंमें गर्भित होजाते हैं। (३) अनुमान व उपमान नैयायिक दर्शनवत् हैं। (४) केवल विध्यर्थक वेदवाक्य शब्द-प्रमाण है, जिनके सन्निकर्षसे परोक्षभूत विषयोंका ज्ञान होता है। (५) 'दिनमें नहीं खाकर भी देवदत्त मोटा है तो पता चलता है कि यह अवश्य रातको खाता होगा' यह अर्थापत्तिका उदाहरण है।

३. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७४/७१-७३); (स्या. मं./परि-ङ./४३२); (भारतीय दर्शन)। (१) प्रमाके करणको प्रमाण कहते हैं. वह छह प्रकार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति व अनुपलब्धि। (२) प्रत्यक्ष ज्ञानमें केवल दो प्रकारका सन्निकर्ष होता है—संयोग व संयुक्ततादात्म्य। समवाय नामका कोई तीसरा सम्बन्ध नहीं है। अन्य सब कथन गुरुमतवत् है। (३) अनुमानमें तीन अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण, अथवा उदाहरण, उपनय व निगमन। (४) ज्ञात शब्दमें पदार्थका स्मरणात्मक ज्ञान होनेपर जो वाक्यार्थका ज्ञान होता है, वह शब्द प्रमाण है। वह दो प्रकारका है—पौरुषेय व अपौरुषेय। प्रत्यक्ष-द्रष्टा ऋषियोंके वाक्य पौरुषेय तथा वेदवाक्य अपौरुषेय है। वेदवाक्य दो प्रकारके है—सिद्धार्थक व विधायक। स्वरूपप्रतिपादक वाक्य सिद्धार्थक है। आदेशात्मक व प्रेरणात्मक वाक्य विधायक हैं। विधायक भी दो प्रकार है—उपदेश व आदेश या अतिदेश। (५) अर्थापत्तिका लक्षण प्रभाकर भट्टमत् है, पर यहाँ उसके दो भेद हैं—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्तिका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। श्रुतार्थापत्तिका उदाहरण ऐसा है कि 'देवदत्त घर पर नहीं है' ऐसा उत्तर पानेपर स्वत. यह ज्ञान हो जाता है कि 'वह बाहर अवश्य है'। (६) 'प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो सिद्ध न हो वह पदार्थ है ही नहीं' ऐसा निश्चय होना अनुपलब्धि है।

८. प्रामाण्य विचार

(स्या. मं./परि-ङ./४३२); (भारतीय दर्शन)।

१. प्रभाकर मिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा

ज्ञान कभी मिथ्या व भ्रान्ति रूप नहीं होता। यदि उसमें संशय न हो तो अन्तरंग ज्ञेयकी अपेक्षा वह सम्यक् ही है। सीपीमें रजतका ज्ञान भी ज्ञानाकारकी अपेक्षा सम्यक् ही है। इसे अख्याति कहते है। स्वप्रकाशक होनेके कारण वह ज्ञान स्वयं प्रमाण है। इस प्रकार यह स्वत प्रामाण्यवादी है।

२. कुमारिलभट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

मिथ्याज्ञान अन्यथाख्याति है। रज्जूमें सर्पका ज्ञान भी सम्यक् है, क्योंकि, भय आदिकी अन्यथा उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पीछे दूसरेके बतलानेसे उसका मिथ्यापना जाना जाये यह दूसरी बात है। इतना मानते हुए भी यह ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानता। पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, पीछे 'मैंने घट जाना है' ऐसा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञाततासे ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए यह परतः प्रामाण्यवादी है।

३. मण्डन—मुरारी या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, फिर 'मैं घटको जाननेवाला हूँ' ऐसा ग्रहण होता है। अतः यह भी ज्ञानको स्वप्रकाशक न माननेके कारण परतः प्रामाण्यवादी है।

९. जैन व मीमांसा दर्शनकी तुलना

(स्या. मं /परि-ङ./पृ. ४३४)। (१) मीमांसक लोग वेदको अपौरुषेय व स्वतः प्रमाण वेदविहित हिंसा यज्ञादिकको धर्म, जन्मसे ही वर्णव्यवस्था तथा ब्राह्मणको सर्वपूज्य मानते हैं। जैन लोग उपरोक्त सर्व बातोंका कड़ा विरोध करते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग ही चार वेद हैं, अहिंसात्मक हवन व अग्निहोत्रादिरूप पूजा विधान ही सच्चे यज्ञ हैं, वर्ण व्यवस्था जन्मसे नहीं गुण व कर्मसे होती है, उत्तम श्रावक ही यथार्थ ब्राह्मण है। इस प्रकार दोनोंमें भेद है। (२) कुमारिलभट्ट पदार्थोंको उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, अवयव अवयवीमें भेदाभेद, वस्तुको स्वकी अपेक्षा सत् और परकी अपेक्षा असत् तथा सामान्य विशेषको सापेक्ष मानता है। अतः किसी अंशमें वह अनेकान्तवादी है। इसकी अपेक्षा जैन व मीमांसक तुल्य हैं। (३) [तत्त्वोंकी अपेक्षा जैन व मीमांसकोंकी तुलना वैशेषिकदर्शनवत् ही है।] (दे० वैशेषिक दर्शन)। अन्य विषयोंमें भी दोनोंमें भेद व तुल्यता है। जैसे—दोनों ही जरायुज, अण्डज व स्वेदज (संमूर्च्छन) शरीरोंको पाँच-

भौतिक स्वीकार करते हैं। दोनों ही इन्द्रिय विषयोंके त्याग आदि-को मोक्षका साधन मानते हैं। दोनों ही शरीरादिकी आत्यन्तिक निवृत्तिको मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार दोनोंमें तुल्यता है। परन्तु जैनोंकी भाँति मीमांसक सर्वज्ञत्वका अस्तित्व नहीं मानते, आत्मा-को स्वसंवेदनगम्य नहीं मानते। इस प्रकार दोनोंमें भेद है।

मीमांसा परीक्षा—(दे० अतिचार/१)।

मुंज—मालवा (मगध) देशकी उज्जयिनी नगरीके राजा 'सिंहल' को कोई सन्तान न थी। वनविहार करते समय उनको मुञ्जकी झाड़ीके नीचे पड़ा हुआ एक बालक मिला। इसको ही उन्होंने अपनी सन्तान रूपसे ग्रहण कर लिया और मुंजकी झाड़ीके नीचे-से मिलनेके कारण इसका नाम 'मुंज' रख दिया। पीछे राजा सिंहल-को अपने भी दो पुत्र उत्पन्न हो गये—शुभचन्द्र व भर्तृहरि। परन्तु तब मुंजको राज्य दिया जा चुका था। शुभचन्द्र व भर्तृहरिको अत्यन्त पराक्रमी जान मुञ्जने षड्यन्त्र द्वारा उन्हें घरसे भाग जानेको बाध्य कर दिया और वे दोनों वनमें जाकर संन्यासी हो गये। राजा मुञ्जका राज्य मालवा देशमें था। उज्जैनी इनकी राजधानी थी। इनकी मृत्यु ई. १०२१ में तैलिपदेवके हाथसे हुई थी। भोजवंशके अनुसार इनका समय वि. १०३६–१०७८ (ई.९७९–१०२१) आता है। (दे० इतिहास/३/१); (सि. वि./प्र. ८३/पं. महेन्द्र); (यो. सा./अ./प्र./पं. गजाधरलाल)।

मुंड = १. मू. आ./१२१ पंचवि इंदियमुंडा वचमुंडा हत्थपायमण-मुंडा। तणुमुंडेण य सहिया दस मुंडा वण्णिदा समए ।१२१। —पाँचों इन्द्रियोंका मुंडन अर्थात् उनके विषयोंका त्याग, वचन मुंडन अर्थात् बिना प्रयोजनके कुछ न बोलना, हस्त मुंडन अर्थात् हाथसे कुचेष्टा न करना, पादमुंडन अर्थात् अविवेक पूर्वक सुकोड़ने व फैलाने आदि व्यापारका त्याग, मन मुंडन अर्थात् कुचिन्तवनका त्याग और शरीरमुंडन अर्थात् शरीरकी कुचेष्टाका त्याग इस प्रकार दस मुंड जिनागममें कहे गये हैं। २. एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मुकुट सप्तमी व्रत—सात वर्ष तक प्रति वर्ष श्रावण शु. ७ को उप-वास करे। 'ओं ह्रीं तीर्थंकरेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ६१)।

मुक्त—दे० मोक्ष।

मुक्तावली व्रत—यह तीन प्रकारका है—बृहद्, मध्यम व लघु। १. मध्यम विधि—१,२,३,४,५,४,३,२,१ इस क्रमसे २५ उपवास करे। बीचके ८ स्थानोंमें व अन्तमें पारण करे। नमस्कार-मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/६९-७०); (व्रत विधान संग्रह/पृ.७५)। २. बृहद् विधि—उपरोक्त प्रकार ही १,२,३,४,५,६,७,६,५,४,३,२,१ इस क्रमसे ४९ उपवास व १३ पारणा करे। नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह। पृ. ७५)। ३. लघु विधि—९ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७; आश्विन कृ. ६, १३ तथा शु. ११; कार्तिक कृ. १२ तथा शु. ३, ११; मगशिर कृ. ११ तथा शु. ३—इस प्रकार ९ उपवास करे, अर्थात् कुल ८१ उपवास करे। 'ओं ह्रीं वृषभजिनाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ. ७५)।

o
o o
o o o
o o o o
o o o o o
o o o o
o o o
o o
o

मुक्ताशुक्ति—दे० मुद्रा।

मुक्ताहार—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मुक्ति—दे० मोक्ष।

मुख—१. ध. १३/५.५.१२२/गा. ३५/३८३—मुखमर्द्धं शरीरस्य सर्वं वा मुखमुच्यते।—शरीरके आधे भागको मुख कहते हैं अथवा पूरा शरीर ही मुख कहलाता है।

ध. १३/५.५.११६/३७१/११ किं मुहं णाम। जीवपदेसाणं विसिट्ठ-संठाणं।—जीव प्रदेशोंके विशिष्ट संस्थानको मुख कहते हैं।

ध. १३/५.५.१२२/३८३/८ मुहं सरीरं, तस्स आगारो संठाणं त्ति घेत्तव्वं।—मुखका अर्थ शरीर है। उसका आकार अर्थात् संस्थान ऐसा ग्रहण करना चाहिए। २. आदि अर्थात् First Term या Head of a quadrant or first digit in numerical Series (ज. प./प्र.१०८); (विशेष दे. गणित/II/५/३)।

मुखपट विधान—दे० प्रतिष्ठा विधान।

मुख्य—मुख्यका लक्षण व मुख्य गौण व्यवस्था—दे० स्याद्वाद/३।

मुख्य मंगल—दे० मंगल।

मुग्धबोध व्याकरण—दे० व्याकरण।

मुद्रा—

अन. ध./मू. व उद्धृत श्लोक/८/८५-८६/८१३ मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्ग-स्थितिर्जैनीह यौगिकी। न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्वयम् ।८५। जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्। ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ।१। जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम्। उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ।२। स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ। करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ।८६। मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्। स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेशिता ।३। मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्। ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्वं संलग्नाङ्गुलि सूरिभिः ।४। —१. (देव वन्दना या ध्यान सामायिक आदि करते समय मुख व शरीरकी जो निश्चल आकृति की जाती है, उसे मुद्रा कहते हैं। वह चार प्रकारकी है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा, और मुक्ताशुक्ति मुद्रा)। २. दोनों भुजाओंको लटकाकर और दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर कायोत्सर्गके द्वारा शरीरको छोड़कर खड़े रहनेका नाम जिनमुद्रा है। (और भी दे. व्युत्सर्ग / १ में कायोत्सर्गका लक्षण)। ३. पर्यंकासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनोंमेंसे कोईसे भी आसनको माँडकर, नाभिके नीचे, ऊपरकी तरफ हथेली करके, दोनों हाथोंको ऊपर नीचे रखनेसे योगमुद्रा होती है। ४. खड़े होकर दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखने और दोनों हाथोंको मुकुलित कमलके आकारमें बनानेपर वन्दनामुद्रा होती है। ५. वन्दनामुद्रावत् ही खड़े होकर, दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखकर, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको आकार विशेषके द्वारा आपसमें संलग्न करके मुकुलित बनानेसे मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

★ **मुद्राओंकी प्रयोगविधि**—दे० कृतिकर्म

मुनि—

दे. साधु/१—(श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये एकार्थवाची हैं)।

स. सा./आ./१५१ मननमात्रभावतया मुनिः।—मननमात्र भावस्वरूप होनेसे मुनि है।

चा. सा./४६/५ मुनयोऽवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते।—अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं।

★ **मुनिके भेद व विषय**—दे० साधु।

मुनिप्रायश्चित्त—आचार्य इन्द्रनन्दि (ई. श. १०-११) की एक रचना, जिसमें साधुओंके दोषों व शक्तिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेकी विधिका कथन है।

मुनिभद्र—इनका उल्लेख ई. १३८८ के एक शिलालेखमें आता है। इनके एक शिष्यने जिनका कि नाम ज्ञात नहीं है 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थपर एक कन्नड़ टीका लिखी है। समय (ई. १३५०-१३६०); (प. प्र./प्र.१२४/ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

मुनिसुव्रत नाथ—१. म. पु./६७/श्लोक नं. पूर्वभव नं. २ में चम्पापुर नगरके राजा हरिवर्मा थे।२। पूर्वभवमें प्राणतेन्द्र थे।१५। (युगपत् सर्वभवके लिए दे. श्लोक ६०)—वर्तमान भवमें २०वें तीर्थंकर हुए (विशेष दे. तीर्थंकर/५)। २. भविष्यत कालीन ११वें तीर्थंकर। अपर नाम सुव्रत या जयकीर्ति—दे. तीर्थंकर/५)।

मुनिसुव्रत पुराण—ब्र. कृष्णदास (ई. १६२४) कृत २३ सन्धि तथा ३०२५ श्लोकप्रमाण संस्कृत काव्य। (ती. /४/८५)।

मुन्नालाल—आप जयपुर निवासी थे। पं. जयचन्द्र छाबड़ाके शिष्य तथा पं. सदासुखदासजीके गुरु थे। तीनों पण्डित समकालीन हैं। समय—वि. १८३०-१८९० (ई०१७७३-१८३३)।

मुमुक्षु—स्व. स्तो./टी./३/७ मोक्तुमिच्छुर्मुमुक्षुः।—मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुमुक्षु है।

अन. ध./१/११/३४ स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत्। परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्दिवम्।११।—मुमुक्षु तीन प्रकारके होते हैं—एक तो परोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले, दूसरे स्वोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले और तीसरे केवल स्वोपकार करनेवाले—विशेष दे० उपकार।

मुरजमध्यव्रत—इस व्रतकी दो प्रकार विधि है—बृहद् व लघु। १. बृहद विधि—यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमशः ५,४,३,२,२,३,४,५ इस प्रकार २८ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ८ पारणाएँ करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/६६)। २. लघुविधि यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमशः २,३,४,५,५,४,३ इस प्रकार २६ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ७ पारणा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/ पृ० ८०)।

मुररा—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मरुड वंश—मरुदय वंशका ही प्रसिद्ध नाम मौर्यवंश है, क्योंकि मालवा देशके राजवंशके अनुसार दिगम्बर आम्नायने जहाँ मरुड वंशका नाम दिया है वहाँ श्वेताम्बर आम्नायने मौर्यवंशका नाम दिया। इसी वंशका दूसरा नाम पल्लवंश भी है।—दे० इतिहास/३/४।

मुष्टि विधान व्रत—प्रतिवर्ष भादों, माघ व चैत्र मासमें अर्थात तीनों दशलक्षण पर्वोंमें कृ. १ से शु. १५ तक पूरे-पूरे महीने प्रतिदिन १ मुष्टि प्रमाण शुभ द्रव्य भगवान्‌के चरणोंमें चढ़ाकर अभिषेक व चतुर्विंशति जिन पूजन करें। 'ओं ह्रीं वृषभादिवीरान्तेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करें।

मुहांबापुर—वर्तमान बम्बई (म. पु./प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

मुहूर्त—

ध. ४/१.५.१/गा. १०-११/३१८ उच्छ्वासानां सहस्राणि त्रीणि सप्तशतानि च। त्रिसप्ततिः पुनस्तेषां मुहूर्तो ह्येक इष्यते।१०। निमेषाणां सहस्राणि पञ्चभूयः शतं तथा। दश चैव निमेषाः स्युर्मुहूर्ते गणिताः बुधैः।११। —१. ३७७३ उच्छ्वासोंका एक मुहूर्त कहा जाता है।११। (ध. ३/१.२,६/गा. ३६/६६)। २. अथवा ५११० निमेषका एक मुहूर्त कहा जाता है।—दे० गणित/I/१/४।

२. मुहूर्तके प्रमाण सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध.३/१.२.६/७ का भावार्थ—कितने ही आचार्य ७२० प्राणोंका मुहूर्त होता है, ऐसा कहते हैं; परन्तु स्वस्थ मनुष्यके उच्छ्वासोंको देखते हुए उनका इस प्रकार कथन घटित नहीं होता है…क्योंकि ७२० प्राणोंको ४ से गुणा करके जो गुणनफल आवे उसमें ८९३ और मिलाने [अर्थात् (७२०×४)+८९३=२८८०+८९३=३७७३ उच्छ्वास] सूत्रमें कहे गये मुहूर्तके उच्छ्वासोंका प्रमाण होता है।…यदि ७२० प्राणोंका एक मुहूर्त होता है, इस कथनको मान लिया जाये तो केवल २१६०० प्राणोंके द्वारा ही ज्योतिषियोंके द्वारा माने गये अहोरात्रका प्रमाण होता है। किन्तु यहाँ आगमानुकूल कथनके अनुसार तो ११३१९० उच्छ्वासोंके द्वारा एक अहोरात्र होता है।

३. **अन्तर्मुहूर्त**—एक मुहूर्तसे कम और एक आवलीसे अधिक काल प्रमाण—(दे.अन्तर्मुहूर्त)।

४. **भिन्नमुहूर्त**—मुहूर्तसे एक समय कम काल प्रमाण—दे. भिन्नमुहूर्त।

मूक—कायोत्सर्गका एक अतिचार—(दे. व्युत्सर्ग/१)।

मूकसंज्ञा—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

मूड़बिद्री—दक्षिणके कर्नाटक देशमें स्थित एक नगर है। होयसल नरेश बल्लाल देवके समय (ई. ११००) में यहाँ जैनधर्मका प्रभाव खूब बढ़ा चढ़ा था। ई.श. १३ में यहाँ तुलुवके आलुप नरेशोंका तथा ई. श. १५ में विजयनगरके हिन्दू नरेशोंका राज्य रहा। यहाँ १८ मन्दिर प्रसिद्ध हैं। जिनमें 'गुरु बसदि' नामका मन्दिर सिद्धान्त अर्थात् शास्त्रों की रक्षाके कारण सिद्धान्त मन्दिर भी कहलाता है। 'बिदिर' का अर्थ कनाड़ी भाषामें बाँस है। बाँसोंके समूहको छेदकर यहाँके सिद्धान्तमन्दिरका पता लगाया गया था, जिससे इस ग्रामका नाम 'बिदुरे' प्रसिद्ध हुआ। कनाड़ीमें 'मूड़का' अर्थ पूर्व दिशा है और पश्चिम दिशाका वाचक शब्द 'पुडु' है। यहाँ मूल्की नामक प्राचीन ग्राम 'पुडुबिदुरे' कहलाता है। इसके पूर्वमें होनेके कारण यह ग्राम 'मूड बिदुरे' या 'मूड़बिदिरे' कहलाया। 'वंश' और 'वेणु' शब्द बाँसके पर्यायवाची हैं। इसीसे इसका अपर नाम 'वेणुपुर' या 'वंशपुर' भी है। और अनेक साधुओंका निवास होनेके कारण 'व्रतपुर' भी कहलाता है। (ध./१/प्र.४/H. L. Jain)।

मूढ—

प.प्र./मू./१/१३. देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ।—जो देहको ही आत्मा मानता है वह प्राणी मूढ अर्थात् बहिरात्मा है (और भी दे. बहिरात्मा)।

दे.'मोह' का लक्षण—(द्रव्य गुण पर्यायोंमें तत्त्वकी अप्रतिपत्ति होना मूढ भावका लक्षण है। उसीके कारण ही जीव परद्रव्यों व पर्यायोंमें आत्मबुद्धि करता है।)

मूढ़ता—

मू.आ./२५६ णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए। —देवमूढ़ता आदिको दर्शनघाती जानकर अपनी शक्तिके अनुसार नहीं करना चाहिए।

दे. मिथ्यादर्शन/१/१ में न.च.वृ./३०४ (नास्तित्व सापेक्ष अस्तित्वको और अस्तित्व सापेक्ष नास्तित्वको नहीं माननेवाला द्रव्यस्वभावमें मूढ़ होता है। यही उसका मूढ़ता नामका मिथ्यात्व है)।

२. मूढ़ताके भेद

मू.आ./२५६ लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं। —मूढ़ता चार प्रकारकी है—लौकिक मूढ़ता, वैदिक मूढ़ता, सामायिक मूढ़ता, और अन्यदेवमूढ़ता।

द्र.सं/टी./४१/१६६/१० देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति। —देवतामूढ़ता, लोकमूढ़ता, और समयमूढ़ताके भेदसे मूढ़ता तीन प्रकारकी है।

३. लोकमूढ़ताका स्वरूप

मू. आ./२५७ कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा। होज्जु व तेसु विसोत्ती लोइयमूढो हवदि एसो।२५७। —कुटिलता प्रयोजनवाले चार्वाक व चाणक्यनीति आदिके उपदेश, हिंसक यज्ञादिके प्ररूपक वैदिक धर्मके शास्त्र, और महान् पुरुषोंको दोष लगानेवाले महाभारत रामायण आदि शास्त्र, इनमें धर्म समझना लौकिक मूढ़ता है।

र.क.श्रा./२२ आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्। गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।२२। —धर्म समझकर गंगा जमुना आदि नदियोंमें अथवा सागरमें स्नान करना, बालू और पत्थरों आदिका ढेर करना, पर्वतसे गिरकर मर जाना, और अग्निमें जल जाना लोकमूढ़ता कही जाती है।

द्र. सं./टी/४१/१६७/८ गंगादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम्। —गंगादि जो नदीरूप तीर्थ हैं, इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, प्रातःकालमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, अग्निमें जल मरना, गायकी पूंछ आदिको ग्रहण करके मरना, पृथिवी, अग्नि और वटवृक्ष आदिकी पूजा करना, ये सब पुण्यके कारण हैं, इस प्रकार जो कहते हैं, उसको लोकमूढ़ता जानना चाहिए।

पं.ध/उ./५९६-५९७ कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः। मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता।५९६। अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह। धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका।५९७। —इस लोक सम्बन्धी कल्याणके लिए जो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादेवोंकी आराधनाको करता है वह केवल मिथ्यालोकोपचारवश की जानेके कारण अकल्याणकारी लोकमूढ़ता है।५९६। इस लोकमें उक्त लोकमूढ़ताके कारण किन्हींका ऐसा श्रद्धान है, कि अच्छी तरहसे आराधित की गयी अम्बिका देवी निश्चयसे धनधान्य आदिको देनेवाली है। (इसको नीचे देवमूढ़ता कहा है)।

४. देवमूढ़ताका स्वरूप

मू. आ./२६० ईसरबंभाविण्हुअज्जाखंदादिया य जे देवा। ते देवभावहीणा देवत्तणभावेण मूढो।२६०। —ईश्वर (महादेव), ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, स्कन्द (कार्तिकेय) इत्यादिक देव देवपनेसे रहित हैं। इनमें देवपनेकी भावना करना देवमूढ़ता है।

र.क.श्रा./२३ वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः। देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।२३। —आशावान् होता हुआ वरकी इच्छा करके राग-द्वेषरूपी मैलसे मलिन देवताओंकी जो उपासना की जाती है, सो देवमूढ़ता कही जाती है।

द्र. सं/टी./४१/१६७/१ वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवमूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। किमिति चेत्।...बहुयोऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः। कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति। —वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपको न जानता हुआ, जो व्यक्ति ख्याति, सन्मान, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पदा प्राप्त होनेके लिए राग-द्वेष युक्त, आर्त-रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल, चण्डिका [पद्मावती देवी—(पं. सदासुखदास)] आदि मिथ्यादृष्टि देवोंका आराधन करता है, उसको देवमूढ़ता कहते हैं। ये देव कुछ भी फल नहीं देते हैं। (र.क. श्रा./पं.सदासुखदास/२३)। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते। उत्तर—(रावण, कौरवों तथा कंसने रामचन्द्र, लक्ष्मण, पाण्डव व कृष्णको मारनेके लिए) बहुत-सी विद्याओंकी आराधना की थी, परन्तु उन विद्याओंने रामचन्द्र आदिका कुछ भी अनिष्ट न किया। और रामचन्द्र आदिने मिथ्यादृष्टि देवोंको प्रसन्न नहीं किया तो भी सम्यग्दर्शनसे उपार्जित पूर्वभवके पुण्यके द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये।

पं.ध./उ./५९५ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह। अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता।५९५। —इस लोकमें जो कुदेवमें देवबुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और कुगुरुमें गुरुबुद्धि होती है, वह देवमूढ़ता, धर्ममूढ़ता व गुरुमूढ़ता कही जाती है।

५. समय या गुरुमूढ़ताका स्वरूप

मू.आ./२५९ रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णपासंडा। संसारतारगत्ति य जदि गेण्हदि समयमूढो सो।२५९। —बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, जटाधारी, सांख्य, आदिशब्दसे शैव, पाशुपत, कापालिक आदि अन्यलिंगी हैं वे संसारसे तारनेवाले हैं—इनका आचरण अच्छा है, ऐसा ग्रहण करना सामयिक मूढ़ता है।

र.क.श्रा./२४ सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्। पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।२४। —परिग्रह, आरम्भ और हिंसासहित, संसार चक्रमें भ्रमण करनेवाले पाखण्डी साधु तपस्वियोंका आदर, सत्कार, भक्ति-पूजादि करना सब पाखंडी या गुरुमूढ़ता है।

द्र. सं./टी./४१/१६७/१० अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति। —अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदिको देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो धर्म है उसको छोड़कर मिथ्यादृष्टिदेव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिंगीका भयसे, वांछासे, स्नेहसे और लोभसे जो धर्मके लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना सो समयमूढ़ता है।

दे० मूढ़ता/४। पं. ध. (अगुरुमें गुरुबुद्धि गुरुमूढ़ता है)।

६. वैदिकमूढ़ताका स्वरूप

मू. आ./२५८ ऋग्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइं। तुच्छाणि त्ति ण गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो।२५८। —ऋग्वेद सामवेद, प्रायश्चित्तादि वाक्, मनुस्मृति आदि अनुवाक्, आदि शब्दसे यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये

सब हिंसाके उपदेशक हैं। इसलिए धर्म रहित निरर्थक हैं। ऐसा न समझकर जो ग्रहण करता है सो वैदिकमूढ़ है।

मूत्र—१. औदारिक शरीरमें मूत्रका प्रमाण—दे० औदयिक/१। २. मूत्र क्षेपण विधि—दे० समिति।१। प्रतिष्ठापन समिति।

मूर्च्छा—

स. सि./७/१७/१० मूर्च्छेत्युच्यते। का मूर्च्छा। बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा। ननु च लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति। सत्यमेवमेतत्। मूर्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते। 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते, परिग्रहप्रकरणात्। —**प्रश्न**—मूर्च्छाका स्वरूप क्या है। उत्तर—गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन, बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधिका संरक्षण अर्जन और संस्कार आदि रूप ही व्यापार मूर्च्छा है। प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है, ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता। उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि 'मूर्च्छ' धातुका सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा. वा./७/१७/१-२/५४४/३४); (चा.सा./९९/५)। (विशेष दे. अभिलाषा तथा राग।

मूर्त—केवल आकारवान्‌को नहीं बल्कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थको मूर्त या रूपी कहते हैं। सो यहाँ द्रव्योंमें पुद्गल ही मूर्त है। यद्यपि सूक्ष्म होनेके कारण परमाणु व सूक्ष्म स्कन्धरूप वर्गणाएँ इन्द्रिय ग्राह्य नहीं हैं, परन्तु उनका कार्य जो स्थूल स्कन्ध, वह इन्द्रिय ग्राह्य है। इस कारण उनका भी मूर्तीकपना सिद्ध होता है। और इसी प्रकार उनका कार्य होनेसे संसारी जीवोंके रागादि भाव व प्रदेश भी कथंचित् मूर्तीक हैं।

१. मूर्त व अमूर्तका लक्षण

पं. का./मू./९९ जे खलु इंदिय गेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता। सेसं हवदि अमुत्तं···।९९। —जो पदार्थ जीवोंके इन्द्रियग्राह्य विषय हैं वे मूर्त हैं और शेष पदार्थसमूह अमूर्त हैं। (प्र. सा /त. प्र./१३१); (पं. ध./उ./७); (और भी दे० नीचे रूपीकालक्षण नं० १,३)।

न. च. वृ./६४ रूवाइपिंडो मुत्तं विवरीये ताण विवरीयं।६२। —रूप आदि गुणोंका पिण्ड मूर्त है और उससे विपरीत अमूर्त। (द्र. सं./मू./१५), (नि. सा./ता. वृ./९)।

आ. प./६ मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्। अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् इति गुणानां व्युत्पत्तिः। —मूर्त द्रव्यका भाव मूर्तत्व है अर्थात् रूपादिमान् होना ही मूर्तत्व है। इसी प्रकार अमूर्त द्रव्योंका भाव अमूर्तत्व है अर्थात् रूपादि रहित होना ही अमूर्तत्व है।

दे० नीचे रूपीका लक्षण नं० २ (गोल आदि आकारवान् मूर्त है)।

पं.का./ता. वृ./२७/५६/१८ स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तत्सद्भावात्, मूर्त· पुद्गलः। —स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित मूर्ति होती है, उसके सद्भावके कारण पुद्गल द्रव्य मूर्त है। (पं. ध /उ./६)।

२. रूपी व अरूपीके लक्षण

स. सि./५/४/२७१/२ न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः। तेन अरूपाण्यमूर्तानीत्यर्थः।

स. सि./५/५/२७१/७ रूपं मूर्तिरित्यर्थः। का मूर्तिः। रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः। रूपमेषामस्तीति रूपिणः। मूर्तिमन्त इत्यर्थः। अथवा रूपमिति गुणविशेषवचनशब्दः। तदेषामस्तीति रूपिणः। रसाद्यग्रहणमिति चेन्न; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः। —१. इन धर्मादि द्रव्योंमें रूप नहीं पाया जाता, इसलिए अरूपी हैं। यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं अतः उनका भी निषेध हो जाता है। इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त है। (रा. वा./५/४/८/४४४/१)। २. मूर्ति किसे कहते हैं। रूपादिकके आकारसे परिणमन होनेको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप अर्थात् आकार पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमान् है। (रूप, रस, गन्ध व स्पर्शके द्वारा तथा गोल, तिकोन, चौकोर आदि संस्थानोंके द्वारा होनेवाला परिणाम मूर्ति कहलाता है— रा. वा.); (रा. वा./५/५/२/४४४/२१)। ३. अथवा रूप यह गुण विशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया जाता है वे रूपी हैं। रूपके साथ अविनाभावी होनेके कारण यहाँ रसादिका भी उसीमें अन्तर्भाव हो जाता है। (रा. वा /५/५/३-४/४४४/२४); (रा. वा./१/२७/१,३/८८/४,१३)।

गो. जी./मू./६१३-६१४/१०६६ णिद्धिदरोलीमज्झे विसरिसजादिस्स समगुणं एक्कं। रूवित्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवित्ति।६१३। दोगुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी। इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे।६१४। —४. स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणीमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है, उसकी रूपी संज्ञा है और समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है।६१३। ५. स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दो गुणयुक्त परमाणु रूपी हैं। शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं।६१४।

३. आत्माकी अमूर्तत्व शक्तिका लक्षण

स. सा./आ./परि./शक्ति नं० २० कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः। —कर्मबन्धके अभावसे व्यक्त किये गये, सहज स्पर्शादिशून्य ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्व शक्ति है।

४. सूक्ष्म व स्थूल सभी पुद्गलोंमें मूर्तत्व

पं. का./मू./७८ आदेसमेत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जो दु। सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो।७८। —जो नय विशेषकी अपेक्षा कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त है, चार धातुरूप स्कन्धका कारण है, और परिणमनस्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए। वह स्वयं अशब्द होता है।७८। (ति. प./१/१०१); (दे० परमाणु/२/१में न. च. वृ./१०१)।

स. सि./१/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्येन पुद्गलाः परिगृह्यन्ते। —'रूपिषु' इस पदके द्वारा पुद्गलोंका ग्रहण होता है। (रा वा./१/२७/४/८८/१८); (गो.जी./जी.प्र./५६४/१०३३/८ पर उद्धृत श्लोक)।

पं. का./त. प्र./९९ ते कदाचित्स्थूलस्कन्धत्वमापन्नाः कदाचित्सूक्ष्मत्वमापन्नाः कदाचित्परमाणुत्वमापन्नाः इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्ता इत्युच्यन्ते। —वे पदार्थ कदाचित् स्थूलस्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्म स्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, और कदाचित् परमाणुपनेको प्राप्त होते हुए, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, परन्तु मूर्त हैं; क्योंकि, उन सभीमें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताका सद्भाव है। (विशेष दे० वर्गणा)।

पं. ध./उ./१० नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा। संनिकर्षोऽस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः।१०। —साक्षात् अनुभव होनेके कारण स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णको मूर्तीक कहना असम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे इन्द्रियोंका उनके साथ सन्निकर्ष होता है वैसे उनका किन्हीं अन्य गुणोंके साथ नहीं होता।

५. कर्ममें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

पं. का./मू./१३३ जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं। जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि। —क्योंकि कर्मका फल जो (मूर्त) विषय वे नियमसे (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा जीवसे सुख-दुःख रूपमें भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म मूर्त है।

स. सा./मू./४५ अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा बिंति। —आठों प्रकारका कर्म पुद्गलमय है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। (आप्त./प./११५/२४६/८)।

स. सि./५/१९/२८५/११ एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते। एतानि पौद्गलिकानि···। स्यान्मतं कार्मणमपौद्गलिकम्; अनाकारत्वाद्। आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति। तन्न; तदपि पौद्गलिकमेव; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्संबन्धनिमित्तत्वात्। दृश्यते हि व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम्। तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्गलिकमित्यवसेयम्। —इन औदारिकादि पाँचों शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है, अर्थात् वे भी कार्मण नामका शरीर कहे जाते हैं (दे० कार्मण/१/२)। ये सब शरीर पौद्गलिक हैं। प्रश्न—आकारवान् होनेके कारण औदारिकादि शरीरोंको तो पौद्गलिक मानना युक्त है, परन्तु कार्मण शरीरको पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है, क्योंकि वह आकाशवत् निराकार है। उत्तर—नहीं, कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि, उसका फल मूर्तिमान् पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है। यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके सम्बन्धसे पकनेवाले धान आदि पौद्गलिक हैं। उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड़ और काँटे आदि इष्टानिष्ट मूर्तिमान् पदार्थोंके मिलनेपर फल देते हैं, इससे ज्ञात होता है, कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है। (रा. वा./५/१९/१९/१४७/१०)।

क. पा./१/१,१/§३९/५७/४ तं पि मुत्तं चेव। तं कथं णव्वदे? मुत्तोसहसंबंधेण परिणामंतरगमणण्णहाणुववत्तीदो। ण च परिणामंतरगमणमसिद्धं; तस्स तेण जर-कुट्ठ-क्खयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो। —कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्त ही है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि कर्म मूर्त है। उत्तर—क्योंकि, मूर्त औषधिके सम्बन्धसे, अन्यथा परिणामान्तरकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, अर्थात् रुग्णावस्थाकी उपशान्ति हो नहीं सकती। और यह परिणामान्तरकी प्राप्ति असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, उसके बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगोंका विनाश बन नहीं सकता है।

दे० ईर्यापथ/३ (द्रव्यकर्मोंमें, स्निग्धता, रूक्षता व खट्टा-मीठा रस आदि भी पाये जाते हैं।) (और भी दे० वर्गणा/२/१/ व वर्ण/४)।

६. द्रव्य व भाव वचनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/१९/२८६/७ वाग् द्विविधा द्रव्यवाग् भाववागिति। तत्र भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी। तदभावे तद्वृत्त्यभावात्। तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात्।···अमूर्ता वागिति चेन्न, मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनान्मूर्तिमत्त्वसिद्धेः। —वचन दो प्रकारका है—द्रव्यवचन और भाववचन। इनमेंसे भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है; क्योंकि, पुद्गलोंके अभावमें भाववचनका सद्भाव नहीं पाया जाता। चूँकि इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्यवचन भी पौद्गलिक हैं। दूसरे द्रव्यवचन श्रोत्रेन्द्रियके विषय हैं, इससे भी पता चलता है कि वे पौद्गलिक हैं। प्रश्न—वचन अमूर्त है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वचनोंका मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदिके द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है, तथा अन्य कारणोंसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है। (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/२), (रा. वा./५/१९/१५/४६९/३१;१८/४७०/६); (चा. सा./८८/१)।

रा. वा./५/१९/१८/४७०/१४ नैते हेतवः। यस्तावदुच्यते—इन्द्रियग्राह्यत्वादिति; श्रोत्रमाकाशमयममूर्तममूर्तस्य ग्राहकमिति को विरोधः। यश्चोच्यते—प्रेरणादिति; नासौ प्रेर्यते गुणस्य गमनाभावात्। देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत्। ···वेगवद्द्रव्याभिघातात् तदनारम्भेऽग्रहणं न प्रेरणमिति। योऽप्युच्यते—अवरोधादिति; स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, एकदिगारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति। अत्रोच्यते—नैते दोषाः। श्रोत्रं 'तावदाकाशमयम्' इति नोपपद्यते; आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात्। अदृष्टवशादिति चेत्; चिन्त्यमेतत्—किमसावदृष्ट आकाशं संस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति। न तावदाकाशे संस्कारो युज्यते; अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धाच्च। आत्मन्यपि शरीरादन्यत्वमभ्युपगत्वेन कल्पिते नित्ये निरवयवे संस्काराधानं न युज्यते, तदुपार्जनफलादानासंभवात्। नापि शरीरैकदेशो युज्यते; अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च। किंच, मूर्तिमत्संबन्धजनितविपरीतोपलब्धिदर्शनात् श्रोत्रं मूर्तमेवेत्यवसेयम्। यदप्युच्यते—स्पर्शवद् द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति; स्वात्पतिता नो रत्नवृष्टिः, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव मूर्तत्वमस्य सिद्धम्। न हि अमूर्तः कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते। तत एव च मुख्यावरोधसिद्धिः स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात्। —प्रश्न—उपरोक्त सर्व ही हेतु ठीक नहीं हैं, क्योंकि, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमय होनेके कारण स्वयं अमूर्त है, और इसलिए अमूर्त शब्दको भी ग्रहण कर सकता है। वायुके द्वारा प्रेरित होना भी नहीं बनता, क्योंकि, शब्द गुण है और गुणमें क्रिया नहीं होती। संयोग, विभाग व शब्द इन तीनोंसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जानेसे नये शब्द सुनाई देते हैं। वास्तवमें प्रेरित शब्द सुनाई नहीं देता। जहाँ वेगवान् द्रव्यका अभिघात होता है वहाँ नये शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती। जो शब्दका अवरोध जैसा मालूम देता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है किन्तु, अन्य स्पर्शवान् द्रव्यका अभिघात होनेसे एक ही दिशामें शब्द उत्पन्न हो जाता है। वह अवरोध जैसा लगता है। अतः शब्द अमूर्त है? उत्तर—ये कोई दोष नहीं हैं; क्योंकि—श्रोत्रको आकाशमय कहना उचित नहीं है, क्योंकि, अमूर्त आकाश कार्यान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित है। अदृष्टकी सहायतासे भी आकाशमें या आत्मामें या शरीरके एकदेशमें संस्कार उत्पन्न करनेकी बात ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यका गुण होनेके कारण आकाश व शरीरसे उस अदृष्टका कोई सम्बन्ध नहीं है। और आत्मा आपके ही स्वयं निरंश व नित्य होनेके कारण उसके फलसे रहित है। दूसरे यह बात भी है कि मूर्तिमान् तेल आदि द्रव्योंसे श्रोत्रमें अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमान् कील आदिसे उसका विनाश देखा जाता है, अतः श्रोत्रको मूर्त मानना ही समुचित है। आपका यह कहना कि स्पर्शवान् द्रव्यके अभिघातसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जाता है, स्वयं इस बातकी सिद्धि करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तके द्वारा अभिघातको प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए मुख्यरूपसे शब्दके अभिघात वाला हेतु भी खण्डित नहीं होता।

रा. वा./५/१९/२१/४७०/२८ यथा तारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्तः, तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृहद्भिः शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते। तथा कंसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति। गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहताः प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति। अत्राह—अमूर्तेरप्यभिभवा दृश्यन्ते—यथा विज्ञानस्य सुरादिभिः मूर्तिमद्भिस्ततो नायं निश्चयहेतुरिति उच्यते—नायं व्यभिचारः, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात्। —जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे अभिभूत होनेवाले तारा आदि मूर्तिक हैं, उसी तरह सिंहकी दहाड़, हाथीकी चिंघाड़ और भेरी आदिके घोषसे पक्षी आदिके मन्द शब्दोंका भी अभिभव होनेसे वे मूर्त हैं। कांसेके बर्तन आदिमें पड़े हुए शब्द शब्दान्तरको उत्पन्न करते हैं। पर्वतोंकी गुफाओं आदिसे टकराकर प्रतिध्वनि होती है। प्रश्न—मूर्तिमान्‌से अभिभव होनेका हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि, मूर्तिमान् सुरा आदिसे अमूर्त विज्ञानका अभिभव देखा जाता है। उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, संसारी जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञानको कथंचित् मूर्तिक स्वीकार किया गया है। (दे० आगे शीर्षक नं. ८), (स. सि./५/१९/२८८/५)।

७. द्रव्य व भावमनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/३/२६९/२ मनोऽपि द्विविधं द्रव्यमनो भावमनश्चेति। …द्रव्यमनश्च रूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकारः। रूपादिवन्मनः। ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत्। ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनाद् व्यभिचारी हेतुरिति चेत्। न; तस्य पौद्गलिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। ननु यथा परमाणूनां रूपादिमत्कार्यदर्शनाद्रूपादिमत्त्वं न तथा वायुमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते इति तेषामपि तदुपपत्तेः। सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्याभ्युपगमात्। —मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन। उनमेंसे द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते है अतः वह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। दूसरे मन रूपादिवाला है, ज्ञानोपयोगका करण होनेसे, चक्षुरिन्द्रियवत्। —प्रश्न—यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि, अमूर्त होते हुए भी शब्दमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, शब्दको पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। (दे० पिछला शीर्षक) अतः वह मूर्त हैं। प्रश्न—जिस प्रकार परमाणुओंके रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते हैं, अतः वे रूपादिवाले सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं देखे जाते? उत्तर—नहीं क्योंकि, वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी गयी है। [परमाणुओंमें जाति भेद न होनेसे वायु व मनके कोई स्वतन्त्र परमाणु नहीं है, जिनका कि पृथक्‌से कोई स्वतन्त्र कार्य देखा जा सके—दे० परमाणु/२/२] (रा. वा./५/३/३/४४२/६)।

स. सि./५/१९/२८७/१ भावमनस्तावत्…पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम्। द्रव्यमनश्च . गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्। —भावमन पुद्गलोंके अवलम्बनसे होता है, इसलिए पौद्गलिक है। —तथा जो पुद्गल गुण दोष विचार और स्मरणादि उपयोगके सन्मुख हुए आत्माके उपकारक हैं वे ही मनरूपसे परिणत होते हैं, अतः द्रव्यमन पौद्गलिक है। [अणु प्रमाण कोई पृथक् मन नामक पदार्थ नहीं है—दे० मन/१२] (रा. वा./५/१९/२०/४७१/२); (चा. सा./८८/३); (गो. जी./जी. प्र./६०६/१०६२/६)।

दे. मनःपर्यय/१/४ (संसारी जीव और उसका क्षायोपशमिक ज्ञान क्योंकि कथंचित् मूर्त है (दे० अगला शीर्षक), अतः उससे अपृथक् भूत मति, स्मृति, चिन्ता आदिरूप भावमन भी मूर्त है]।

८. जीवके क्षायोपशमिकादि भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

रा. वा./१/२०/७/८०/२४ भावतः स्वविषयपुद्गलस्कन्धानां रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते। कुतः। पौद्गलिकत्वादेषाम्।

रा. वा./१/२७/४/८८/११ जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषूत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात्, न क्षायिकपारिणामिकेषु …तत्संबन्धाभावात्। —रूपी पदार्थ विषयक अवधिज्ञान भावकी अपेक्षा स्वविषयभूत पुद्गलस्कन्धोंके रूपादि विकल्पोंमें तथा जीवके औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक भावोंमें वर्तता है, क्योंकि, रूपीद्रव्यका (कर्मोंका) सम्बन्ध होनेके कारण ये भाव पौद्गलिक हैं। परन्तु क्षायिक व पारिणामिक भावोंमें नहीं वर्तता है, क्योंकि, उन दोनोंमें उस रूपीद्रव्यके सम्बन्धका अभाव है।

९. जीवके रागादिक भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सा./मू./४६,५१,५५ ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं। जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावाः।४६। जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो। ।५१। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा।५५। —'ये सब अध्यवसानादि भाव जीव हैं' इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने जो उपदेश दिया है सो व्यवहारनय दर्शाया है।४६। निश्चयसे तो जीवके न राग है, न द्वेष और न मोह।५१। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं।५५। (स. सा./मू./४४,५६,६८)।

स. सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति नात्मस्वभावत्वाद्धेयाः। —रागादिक कर्मोंके उदयसे होते है, अतः वे आत्माके स्वभाव न होनेसे हेय हैं। (रा. वा./७/१७/५/५४५/१८)।

स.सा./आ./गा. नं. अनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं; तदन्तःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः।४५। यः प्रीतिरूपो रागः…अप्रीतिरूपो द्वेषः…अप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।५१। —अनाकुलता लक्षण सुख नामक आत्म स्वभाव है। उससे विलक्षण दुःख है। उस दुःखमें ही आकुलता लक्षणवाले अध्यवसान आदि भाव समाविष्ट हो जाते हैं; इसलिए, यद्यपि वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं हैं, किन्तु पुद्गल स्वभाव हैं।४५। जो यह प्रीतिरूप राग है, या अप्रीतिरूप द्वेष है या यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि, वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे अपनी अनुभूतिसे भिन्न हैं।५१। (स. सा./आ./७४,७५,१०२, ११५,१३८)।

द्र. सं./टी./१६/५३/३ अशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्धः कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव। —अशुद्ध निश्चयनयसे जो वह रागादिरूप भाव बन्ध (जीवका) कहा जाता है, यह भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही है।

पं. का/ता. वृ./१३४/१९७/१८ एवं नैयायिकमताश्रितशिष्यसंबोधनार्थं नयविभागेन पुण्यपापद्वयस्य मूर्तत्वसमर्थनरूपेण कसूत्रेण तृतीयस्थलं गतं। —इस प्रकार नैयायिक मताश्रित शिष्यके सम्बोधनार्थ नयविभागसे पुण्य व पाप इन दोनोंके मूर्तपनेका समर्थन करने रूप सूत्र कहा गया।

१०. संसारी जीव में मूर्तत्व

स. सि /२/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गलाः पुद्गलद्रव्यसंबन्धाश्च जीवाः परिगृह्यन्ते। —सूत्र में कहे गये 'रूपिषु' इस पदसे पुद्गलोंका और पुद्गलोंसे बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है।

गो. जी/जी.प्र/५६४/१०११/८ पर उद्धृत—संसारिण्यपि पुद्गलः। —संसारी जीवमें 'पुद्गल' शब्द प्रवर्तता है।

दे. बंध/२/३/१ (संसारी जीव कथंचित् मूर्त है इसी कारण मूर्त कर्मोंसे बँधता है)।

११. अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्रव्योंमें मूर्त अमूर्तका विभाग। —दे० द्रव्य/३।
२. मूर्त द्रव्यके गुण मूर्त और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं। —दे० गुण/३/१२।
३. मूर्त द्रव्योंके साथ अमूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे। —दे० स्पर्श/२।
४. परमाणुओंमें रूपी व अरूपी विभाग। —दे० मूर्त/२,४,५।
५. अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्म कैसे बँधे। —दे० बन्ध/२।
६. भाव कर्मोंके पौद्गलिकत्वका समन्वय। —दे० विभाव/५।
७. जीवका अमूर्तत्व। —दे० द्रव्य/३।

मूर्ति—१. भगवान्की मूर्ति—दे० प्रतिमा। २. मूर्तिपूजा—दे० पूजा/३। ३. रूपीके अर्थमें मूर्ति—दे० मूर्त/१।

मूर्तिक—दे० मूर्त।

मूल—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २. Root (ज. प./प्र. १०८)। ३. वर्गमूल व घनमूल—दे० गणित/II/१/७,८। ४. कन्दमूल—दे० वनस्पति/१।

मूलक—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मूलकर्म—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४.२. वसतिका-का एक दोष—दे० वसतिका।

मूलक्रिया—Fundamental Operation, (ध. ५/प्र. २८).

मूलगुण—१. ध. आ./वि./११६-२७७/३—उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते। —अनशनादि तप उत्तर गुण हैं (दे० उत्तर गुण)। उनके कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुणका व्यपदेश होता है। २. श्रावकके अष्ट मूलगुण—दे० श्रावक ४)। ३. साधुके २८ मूल गुण—दे० साधु/२।

मूलप्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त/१।

मूलराज—अणहिलपुरके राजा। समय -वि. ६६८-१०४३ (ई० ६४१-९८६)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/२८। कामता प्रसाद)

मूलराशि—गणितकी संकलन व व्यकलन व प्रक्रियामें जिस राशिमें अन्यराशिको जोड़ा जाय या जिस राशिमेंसे अन्य राशिको घटाया जाय उसे मूलराशि कहते हैं। दे० गणित/II/१/३,४।

मूलसंघ—दिगम्बर साधुओंका एक संघ।—दे० इतिहास/५/२,३।

मूलस्थान—१. भ. आ./मू./२८८/५०१ पिंडं उवहिं सेज्जं अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु। मूलट्ठाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो।२८८। —आहार, पिछी, कमंडलु और वसतिका आदिको शोधन किये बिना ही जो साधु उनका प्रयोग करता है, वह मूलस्थान नामक दोषको प्राप्त होता है। २. पंजाबका प्रसिद्ध वर्तमानका मुलतान नगर (म. पु./प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

मूला—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मूलाचार—यत्याचार विषयक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। डा.ए.एन. उपाध्याय के अनुसार यह एक संग्रह ग्रन्थ है और डा. नेमिचन्द्र के अनुसार स्वतन्त्र ग्रन्थ। इसमें कुल १२ अधिकार और १२५२ गाथायें हैं। रचयिता—आ. वट्टकेर। समय—कुन्दकुन्द के समकालीन वी. नि. ६५४-७०६ (ई. १२७-१७९)। (ती./२/११७-१२०)। इस पर दो वृत्तियें उपलब्ध हैं—१. आ. वसुनन्दि (ई. १०६८-१११८) कृत (ती./३/२२१)। २. आ. सकलकीर्ति (ई.१४२४) कृत मूलाचार प्रदीप। (ती./३/३३३)।

मूलाराधना—भगवती आराधना ग्रन्थका ही अपरनाम मूलाराधना है। (ती०/२/१२७)।

मूलाराधना दर्पण—भगवती आराधनाकी पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत संस्कृत टीका।

मूसल—क्षेत्रका एक प्रमाण। अपरनाम युग, धनुष, नाली, दंड। —दे० गणित/I/१/३।

मृग—ध. १३/५,५,१४०/३९१/११ रोमन्थवर्जितास्तिर्यञ्चो मृगा नाम। —जो तिर्यंच रोंथते नहीं हैं वे मृग कहलाते हैं।

मृगचारित—स्वच्छन्दाचारी साधु—दे० स्वच्छंद।

मृगशीर्षा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

मृगांक—रावणका मन्त्री—(प. पु./–६६/१–२)।

मृतसंजीवनी—एक मन्त्रविद्या—दे० विद्या।

मृत्तिकानयन यंत्र—दे० यंत्र।

मृत्यु—दे० मरण।

मृत्युंजय यंत्र—दे० यंत्र।

मृदंगमध्य व्रत—

इस व्रतकी विधि दो प्रकार है—बृहत व लघु। १. बृहत् विधि—यंत्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रम से १ से ९ पर्यंत और तत्पश्चात एक हानि क्रमसे ९ से १ पर्यंत, इस प्रकार कुल ८१ उपवास करे। मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। नमस्कार मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ० ८०)।

२. लघु विधि—यन्त्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रमसे २ से ५ पर्यंत और तत्पश्चात् एक हानि क्रमसे ५ से २ पर्यंत, इस प्रकार कुल २३ उपवास करे। मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। (ह. पु/३४/६४–६५)।

मृदंगाकार—Conical (ज. प./प्र. १०८)।—दे० गणित/II/७/७

मृषानंदी रौद्रध्यान—(दे० रौद्र ध्यान)।

मृषामन—दे० मन।

मृषावचन—दे० वचन।
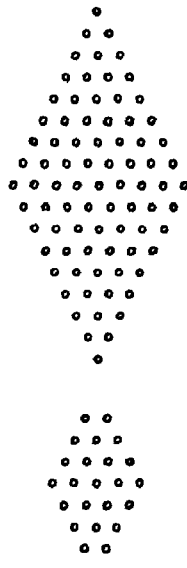
मेखलापुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मेघंकरा—नन्दनवनके नन्दनकूटकी स्वामिनी एक दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/७।

मेघ—सौधर्म स्वर्गका २०वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

मेघकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मेघचंद्र—१. नन्दि संघ बलात्कार गण में माणिक्य नन्दि के शिष्य तथा शान्ति कीर्ति के गुरु। समय—शक. ६०१-६२७। दे. इतिहास/७/२। २. नन्दिसंघ देशीयगण त्रैकाल्ययोगी के शिष्य, अभयनन्दि तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सहधर्मा और वीरनन्दि तथा इन्द्रनन्दि के शिक्षा गुरु। इन्द्रनन्दि भी पहले आपके शिष्यत्व में थे, परन्तु पीछे विशेष अध्ययन के लिए अभयनन्दि की शरण में चले गये थे। कृति-ज्वालामालिनी कल्प ई. ९३९ में पूरा किया। समय ई. ९५०-९९९। दे. इतिहास/७/५। ३. नन्दिसंघ देशीयगण में सकलचन्द्र के शिष्य और वीरनन्दि तथा शुभचन्द्र के गुरु। शक १०३७ में समाधि हुई। समय—ई. १०९०-१११०। दे. इतिहास/७/५।

मेघचारण—दे० ऋद्धि/४।

मेघनाद—म.पु./६३/श्लोक नं०—भरतक्षेत्र विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके राजा मेघवाहनका पुत्र था। दोनों श्रेणियोंका राजा था। (२८-३०)। किसी समय प्रज्ञप्ति विद्या सिद्ध करता था। तब पूर्व जन्मके भाई अपराजित बलभद्रके जीवके समझाने पर दीक्षा ले ली। (३१-३२)। असुरकृत उपसर्गमें निश्चल रहे। (३३-३५)। संन्यासमरणकर अच्युतेन्द्र हुए। (३६)। यह शान्तिनाथ भगवान्के प्रथम गणधर चक्रायुधके पूर्वका छठाँ भव है।—दे० चक्रायुध।

मेघमाल—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २. अपरविदेहस्थ एक वक्षार। अपरनाम 'देवमाल'।—दे० लोक/५/३।

मेघमाला व्रत—५ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद कृ. १,८,१४; शु. १, ८,१४ तथा आसौज कृ. १ इन सात तिथियोंमें सात-सात करके कुल ३५ उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८४)।

मेघमालिनी—नन्दनवनके हिमकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/५/५।

मेघरथ—म. पु./६३/श्लोक नं.—पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी नगरीके राजा घनरथका पुत्र था। (१४२-१४३)। इनके पुण्यके प्रतापसे एक विद्याधरका विमान इनके ऊपर आकर अटक गया। क्रुद्ध होकर विद्याधरने शिला सहित इन दोनों पिता-पुत्रको उठाना चाहा तो उन्होंने पाँवके अँगूठेसे शिलाको दबा दिया। विद्याधरने क्षमा माँगी और चला गया। (२३६-२३९,२४८)। इन्द्र सभामें इनके सम्यक्त्वकी प्रशंसा सुनकर दो देवियाँ परीक्षाके लिए आयीं, परन्तु ये विचलित न हुए। (२८४-२८७)। पिताने घनरथ तीर्थंकरका उपदेश सुन दीक्षा ले ली। और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। (३०५-३११,३३२)। अन्तमें संन्यासमरण कर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। (३३६-३३७)। यह शान्तिनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है।—दे० शान्तिनाथ।

मेघवती—नन्दनवनके मन्दिर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/५/५।

मेघवाहन—१. प. पु./५/श्लोक नं.—"सगर चक्रवर्तीके ससुर सुलोचनके प्रतिद्वन्द्वी पूर्णघनका पुत्र था। (८७)। सुलोचनके पुत्र द्वारा परास्त होकर भगवान् अजितनाथके समवशरणमें गया। (८७-८८)। वहाँ राक्षसोंके इन्द्र भीम व सुभीमने प्रसन्न होकर उसको लंका व पाताललंकाका राज्य तथा राक्षसी विद्या प्रदान की। (१६१-१६७)। अन्तमें अजितनाथ भगवान्से दीक्षा ले ली। (२३९-२४०)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक—"रावणका पुत्र था (८/१५८)। लक्ष्मण द्वारा रावणके मारे जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली।(७८/८१-८२)।"

मेघा—नरक की तृतीय पृथिवी—दे० नरक/५ तथा लोक/२/८।

मेचक—[आत्मा कथंचित् मेचक है अर्थात् अनेक अवस्था रूप है। (दे० स. सा./आ./१६/क १६)]।

मेद—औदारिक शरीरकी एक धातु विशेष।—दे० औदारिक १/७।

मेधा—ध. १३/५,५,३७/२४२/५ मेध्यति परिच्छिनत्ति अर्थमनया इति मेधा। —जिसके द्वारा पदार्थ 'मेध्यति' अर्थात् जाना जाता है उस अवग्रहका नाम मेधा है।

मेय—ध. १२/४,२,८,१०/२८५/१० मेयो यव-गो-धूमादिः। —मापनेके योग्य जौ गेहूँ आदि मेय कहे जाते हैं।

मेरक—अपर नाम मधु—दे० मधु।

मेरु—१. सुमेरु पर्वत—दे० सुमेरु। २. वर्तमान भूगोलकी अपेक्षा मेरु—दे० सुमेरु। ३. म. पु./५९/श्लोक नं.—"पूर्व भव नं. ९ में कोशल देशमें वृद्धग्राम निवासी मृगायण ब्राह्मणकी स्त्री मथुरा थी।२०७। पूर्व भव नं. ८ में पोदन नगरके राजा पूर्णचन्द्रकी पुत्री रामदत्ता हुई।।(२१०)। पूर्व भव नं. ७ में महाशुक्र स्वर्गमें भास्कर देव हुआ। (२२६)। पूर्व भव नं. ६ में धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री श्रीधरा हुई। (२२८)। पूर्व भव नं. ५ में कापिष्ठ-स्वर्गके रुचक विमानमें देव हुआ। (२३८)। पूर्व भव न. ४ में धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री रत्नमाला हुई। (२४१-२४२)। पूर्व भव नं. ३ में स्वर्गमें देव हुआ और पूर्व भव नं. २ में पूर्व धातकीखण्डके गन्धिल देशके अयोध्या नगरके राजा अर्हद्दासका पुत्र 'वीतभय' नामक बलभद्र हुआ। (२७६-२७९)। पूर्वभवमें लान्तव स्वर्गमें आदित्यप्रभ नामक देव हुआ। (२८०)। वर्तमान भवमें उत्तर मथुरा नगरीके राजा अनन्तवीर्यका पुत्र हुआ। (३०२)। पूर्व भवके सम्बन्ध सुनकर भगवान् विमलवाहन (विमलनाथ) के गणधर हो गये। (३०४)। सप्त ऋद्धि युक्त हो उसी भवसे मोक्ष गये। (३०९)।" —[युगपत सर्व भवके लिए।—दे० म. पु/५९/३०८-३०९]।

मेरुकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कार गणके अनुसार आप शान्तिकीर्तिके शिष्य थे। समय—विक्रम शक सं ६४२-६८० (ई. ७२०-७५८)।—दे० इतिहास/७/२।

मेरुपंक्ति व्रत—अढ़ाई द्वीपमें सुदर्शन आदि पाँच मेरु हैं (दे० सुमेरु)। प्रत्येक मेरुके चार-चार वन हैं। प्रत्येक वनमें चार-चार चैत्यालय हैं। प्रत्येक वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास व चार पारणा, तत्पश्चात् एक बेला एक पारणा करे। इस प्रकार कुल ८० उपवास, २० बेले और १०० पारणा करे। "ओं ह्रीं पञ्चमेरु-सम्बन्धी अस्सीजिनालयेभ्यो नमः" अथवा "ओं ह्रीं (उस-उस मेरुका नाम) सम्बन्धी षोडशजिनालयेभ्यो नमः" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह)।

मैगस्थनीज—यूनानी राजदूत था। सैल्युकसने चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजसभामें भेजा था। भारतमें आकर पाटलिपुत्रमें रहा था। समय ई. पू. ३०२-२९८। (वर्तमान भारत इतिहास)।

मैत्री—भ. आ./मू. व वि./१६९६/१५१६/१२ जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती'—जीवेषु मित्तचिंता अनंतकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमता घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुशः कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रता-चिंता मैत्री। —अनन्तकालसे मेरा आत्मा घटीयंत्रके समान इस चतुर्गतिमय संसारमें भ्रमण कर रहा है। इस संसारमें सम्पूर्ण प्राणियोंने मेरे ऊपर अनेकबार महान् उपकार किये हैं' ऐसा मनमें जो विचार करना, वह मैत्री भावना है।

स. सि./७/११/३४९/७ परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री। —दूसरोंको दुःख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। (रा. वा./७/११/१/५३८/१४)।

ज्ञा./२७/५-७ क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु। सुखदुःखाद्यवस्थासु संसृतेषु यथायथम्।५। नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका। साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते।६। जीवन्तु जन्तवः सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिताः। प्राप्नुवन्ति सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्।७। —सूक्ष्म और बादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुख-दुःखादि अवस्थाओंमें जैसे-तैसे तिष्ठे हों—तथा नाना भेदरूप योनियोंमें प्राप्त होनेवाले जीवोंमें समानतासे विराधनेवाली न हो ऐसी महत्ता-को प्राप्त हुई समीचीन बुद्धि मैत्री भावना कही जाती है।५-६। इसमें ऐसी भावना रहती है कि—ये सब जीव कष्ट व आपदाओंसे वर्जित हो जाओ, तथा वैर, पाप, अपमानको छोड़कर सुखको प्राप्त होओ।७।

मैथुन—१. स. सि./७/१६/३५३/१० स्त्रीपुंसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य भावं मैथुनमित्युच्यते। —चारित्रमोहका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक दूसरेको स्पर्श करनेकी इच्छा होती है वह मैथुन कहलाता है। (रा. वा./७/१६/५४३/२९) (विशेष दे० ब्रह्मचर्य/४/१)।

ध. १२/४,२,८,५/२८२/६ त्थी-पुरिसविसयवावारो मणवयण-कायसरूवो मेहुणं।...एत्थवि अंतरंगमेहुणस्सेव बहिरंगमेहुणस्स आसवभावो वत्तव्वो। —स्त्री और पुरुषके मन, वचन व कायस्वरूप विषय-व्यापारको मैथुन कहा जाता है। यहाँपर अन्तरंग मैथुनके समान बहिरंग मैथुनको भी (कर्मबन्धका) कारण बतलाना चाहिए।

★ मैथुन व अब्रह्म सम्बन्धी शंकाएँ —दे० ब्रह्मचर्य/४।

★ वेद व मैथुनमें अन्तर— —दे० संज्ञा।

मैथुन संज्ञा—दे० संज्ञा।

मैनासुन्दरी—मालवदेशमें उज्जैनी नगरीके राजा पहुपालकी पुत्री थी। पिताके सम्मुख कर्मकी बलवत्ताका बखान करनेके कारण क्रोध-वश पिताने कुष्टीके साथ विवाह दी। पतिकी खूब सेवा की, तथा मुनियोंके कहनेपर सिद्धचक्र विधान करके उसके गन्धोदक द्वारा उसका कुष्ट दूर किया। अन्तमें दीक्षा धारण करके स्त्रीलिंगका छेद-कर सोलहवें स्वर्गमें देव हुआ। (श्रीपालचरित्र)।

मोक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश।—मनुष्य/४।

मोक्ष—शुद्ध रत्नत्रयकी साधनासे अष्ट कर्मोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति द्रव्यमोक्ष है और रागादि भावोंकी निवृत्ति भावमोक्ष है। मनुष्य-गतिसे ही जीवको मोक्ष होना सम्भव है। आयुके अन्तमें उसका शरीर काफूरवत उड़ जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिके कारण लोकशिखरपर जा विराजते हैं, जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुखका उपभोग करते हुए अपने चरम शरीरके आकार रूपसे स्थित रहते हैं और पुनः शरीर धारण करके जन्म-मरणके चक्करमें कभी नहीं पड़ते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। जैन दर्शनकार उसके प्रदेशोंकी सर्व व्यापकता स्वीकार नहीं करते हैं, न ही उसे निर्गुण व शून्य मानते हैं। उसके स्वभावभूत अनन्त ज्ञान आदि आठ प्रसिद्ध गुण हैं। जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ही निगोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं, इससे लोक जीवोंसे रिक्त नहीं होता।

१. भेद व लक्षण

१. मोक्ष सामान्यका लक्षण

त. सू./१०/२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः ।२। —बन्ध हेतुओं (मिथ्यात्व व कषाय आदि) के अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। (स. सि./१/१/७/५; १/४/१४/५), (रा. वा./१/४/२०/२७/११), (स म./२७/३०२/२८)।

स. सि./१/१ की उत्थानिका/१/८ निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। —जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म), कलंक (राग, द्वेष, मोह) और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं। (प. प्र./मू./२/१०); (ज्ञा./३/६-१०); (नि. सा./ता. वृ./४); (द्र. सं./टी./३७/१५४/५); (स्या. मं./८/८६/३ पर उद्धृत श्लोक)।

रा वा/१/१/३७/१०/१५ 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ्भावसाधनो मोक्षणं मोक्षः असनं क्षेपणमित्यर्थः, स आत्यन्तिक सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।

रा. वा/१/४/१३/२६/६ मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्षः।

रा. वा./१/४/२७/१२ मोक्ष इव मोक्षः। क उपमार्थः। यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादेः पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुख आत्मा भवति। —समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' इस प्रकार क्रियाप्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष असने' धातुसे बना है। अथवा जिनसे कर्मोंका समूल उच्छेद हो वह और कर्मोंका पूर्ण रूपसे छूटना मोक्ष है। अथवा मोक्षकी भाँति है। अर्थात् जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी बेड़ी आदिके छूट जानेपर स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म बन्धनका वियोग हो जानेपर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान दर्शनरूप अनुपम सुखका अनुभव करता है। (भ आ./वि./वि./३८/१३४/१८), (ध.१३/५,५,८२/३४८/६)।

न. च. वृ./१५६ जं अप्पसहावादो मूलोत्तरपयडिसंचियं मुचइ। तं मुक्खं अविरुद्धं···।१५६। —आत्म स्वभावसे मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियोंके संचयका छूट जाना मोक्ष है। और यह अविरुद्ध है।

स. सा /आ./२८८ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। —आत्मा और बन्धको अलग-अलग कर देना मोक्ष है।

२. मोक्षके भेद

रा. वा./१/७/१४/४०/२४ सामान्यादेको मोक्षः, द्रव्यभावभोक्तव्यभेदादनेकोऽपि। —सामान्यकी अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है।

ध.१३/५,५,८२/३४८/१ सो मोक्खो तिविहो—जीवमोक्खो पोग्गलमोक्खो जीवपोग्गलमोक्खो चेदि। —वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष और जीव पुद्गल मोक्ष।

न. च. वृ./१५६ तं मुक्खं अविरुद्धं दुविहं खलु दव्वभावगदं। —द्रव्य व भावके भेदसे वह मोक्ष दो प्रकारका है। (द्र. सं./टी./३७/१५४/७)।

३. द्रव्य व भाव मोक्षके लक्षण

भ. आ./३८/१३४/१८ निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्षः। विश्लेषो वा

समस्तानां कर्मणां। —क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नामवाले (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामोंसे निरवशेष कर्म आत्मासे दूर किये जाते हैं उन परिणामोंको मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं और सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मासे अलग हो जाना मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है। (और भी दे० पीछे मोक्ष सामान्यका लक्षण नं. ३). (द्र. सं./मू./३७/१५४)।

पं. का./ता. वृ./१०८/१७३/१० कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूप-जीवपरिणामो भावमोक्षः, भावमोक्षनिमित्तेन जीवकर्मप्रदेशानां निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति। —कर्मोंके निर्मूल करनेमें समर्थ ऐसा शुद्धात्माकी उपलब्धि रूप (निश्चयरत्नत्रयात्मक) जीव परिणाम भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके निमित्तसे जीव व कर्मोंके प्रदेशोंका निरवशेषरूपसे पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। (प्र. सा./ता. वृ./८४/१०६/१५) (द्र. सं./टी./२८/८५/१४)।

दे० आगे शीर्षक नं. ५ (भावमोक्ष व जीवन्मुक्ति एकार्थवाचक है।

स्या. मं./८/८६/१ स्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। —स्वरूपमें अवस्थान करना ही मोक्ष है।

४. मुक्त जीवका लक्षण

पं. का./मू./२८ कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता। सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।२८। —कर्ममलसे मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोकके अन्तको प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त अनिन्द्रिय सुखका अनुभव करता है।

स. सि./२/१०/१६१/७ उक्तात्पञ्चविधात्संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः। —जो उक्त पाँच प्रकारके संसारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं।

रा. वा./२/१०/२/१२४/२३ निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः। —जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं।

न. च. वृ./१०७ णट्ठट्ठकम्मसुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा। परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का।१०७। —जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर रहित हैं, अनन्तसुख व अनन्तज्ञानमें आसीन हैं, और परम प्रभुत्वको प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त हैं। (विशेष देखो आगे सिद्धका लक्षण)।

पं. का./ता. वृ./१०९/१७४/१३ शुद्धचेतनात्मका मुक्ताः···केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणा मुक्ताः। —शुद्धचेतनात्म या केवलज्ञान व केवलदर्शनोपयोग लक्षणवाला जीव मुक्त है।

५. जीवन्मुक्तका लक्षण

पं.का./ता. वृ./१५०/२१६/१८ भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्तिः जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थः। —भावमोक्ष, केवलज्ञानकी उत्पत्ति, जीवन्मुक्त, अर्हन्तपद ये सब एकार्थवाचक हैं।

६. सिद्ध जीव व सिद्धगतिका लक्षण

नि.सा/मू/७२ णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा। लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।७२। —आठ कर्मोंके बन्धनको जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्रमें स्थित और नित्य; ऐसे वे सिद्ध होते हैं। (और भी दे० पीछे मुक्तका लक्षण) (क्रि.क/३/१/२/१४२)।

पं. सं./प्रा./१/गाथा नं.—अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा। अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।३१। जाइ-जरामरणभया संजोयविओयदुक्खसण्णाओ। रोगाविया य जिस्से ण होंति सा होइ सिद्धिगई।६४। ण य इंदियकरणजुआ अवग्गहाईहिं गाहया अत्थे। णेव य इंदियसुक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा।७४। —१. जो अष्टविध कर्मोंसे रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य हैं, लोकके अग्रभाग-पर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। (ध. १/१,१,२३/गा.१२७/२००); (गो. जी./मू./६८/१७७)। २. जहाँपर जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादि नहीं होते हैं वह सिद्धगति कहलाती है।६४। (ध. १/१,१,२४/गा. १३२/२०४), (गो. जी./मू./१५२/३७५)। ३. जो इंद्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, अवग्रह आदिके द्वारा भी पदार्थके ग्राहक नहीं हैं, और जिनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, ऐसे अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और सुखवाले जीवोंको इन्द्रियातीत सिद्ध जानना चाहिए।७४। —[उपरोक्त तीनों गाथाओंका भाव—(प. प्र./मू./१/१६-२५); (चा. सा./३३-३४)]

ध. १/१,१,१/गा. २६-२८/४८ णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा। सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा। ।२६। अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। वज्ज-सिलत्थब्भग्गय पडिमं वाभेज्ज संठाणा।२७। माणुससंठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा। सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति।२८। —जिन्होंने नानाभेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं।२६। अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे अथवा समस्तपर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं।२७। जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होनेपर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको भिन्न देशमें जानता है, परन्तु जो प्रति प्रदेशमें सब विषयोंको जानते हैं, वे सिद्ध हैं।२८।

और भी दे० लगभग उपरोक्त भावोंको लेकर ही निम्नस्थलोंपर भी सिद्धोंका स्वरूप बताया गया है। (म. पु./२१/११४-११८); (द्र. सं./मू./१४/४१); (त. अनु./१२०-१२२)।

प्र. सा./ता. वृ./१०/१२/६ शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायः —शुद्धात्मोपलब्धि ही सिद्ध पर्यायका (निश्चय) लक्षण है।

७. सिद्धलोकका स्वरूप

भ. आ. मू./२१३३ ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मिसदिए। धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो। —सिद्धभूमि 'ईषत्प्राग्भार' पृथिवीके ऊपर स्थित है। एक योजनमें कुछ कम है। ऐसे निष्कम्प व स्थिर स्थानमें सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं।

ति. प./८/६५२-६५८ सव्वट्ठसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतूणं। बारसजोयणमेत्तं अट्ठमिया चेट्ठदे पुढवी।६५२। पुव्वावरेण तीए उवरिम-हेट्ठिमतलेसु पत्तेक्कं। वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा। ।६५३। उत्तरदक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ। वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणबहला।६५४। जुत्ता घणोवहिघणाणि-लतणुवादेहि तिहि समीरेहि। जोयण वीससहस्सं पमाण बहलेहिं पत्तेक्कं।६५५। एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं। अज्जुण-सुवण्णसरिसं णाणारयणेहिं परिपुण्णं।६५६। उत्ताणधवलछत्तोवमाण-संठाणसुंदरं एदं। पंचत्तालं जोयणयाअंगुलं पि यंतम्मि। अट्ठम-भूमज्झगदो तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमो।६५८। —सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे १२ योजनमात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है।६५२। उसके उपरिम और अधस्तन तलमेंसे प्रत्येक तलका विस्तार पूर्वपश्चिममें रूपसे रहित (अर्थात् वातवलयोंकी मोटाईसे रहित) एक राजू प्रमाण है।६५३। वेत्रासनके सदृश वह पृथिवी उत्तरदक्षिण भागमें कुछ कम (वातवलयोंकी मोटाईसे रहित) सात राजू लम्बी है। इसकी मोटाई आठ योजन है।६५४। यह पृथिवी घनोदधिवात, घनवात, और तनुवात इन तीन वायुओंसे युक्त है। इनमेंसे प्रत्येक वायुका बाहल्य २०,००० योजन प्रमाण है।६५५। उसके बहुमध्य भागमें चाँदी एवं सुवर्णके सदृश और नाना रत्नोंसे परिपूर्ण

ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है ।६५६। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्रके सदृश (या ऊँधे कटोरेके सदृश—त्रि. सा./५५८) आकारसे सुन्दर और ४५००,००० योजन (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण विस्तारसे संयुक्त है ।६५७। उसका मध्य बाहल्य (मोटाई) आठ योजन है और उसके आगे घटते-घटते अन्तमें एक अंगुलमात्र । अष्टम भूमिमें स्थित सिद्धक्षेत्रकी परिधि मनुष्य क्षेत्रकी परिधिके समान है ।६५८। (ह. पु./६/१२६-१३२); (ज. प./११/३५६-३६१) (त्रि. सा./५५६-५५८); (म. सा./मू./६४१/७६६) ।

ति.प./६/३-४ अट्ठमखिदीए उवरिं पण्णसम्भहियसत्तयसहस्सा । दंडाणि गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो ।३। पणदोछप्पणइगिअडणहचउसग-चउखचदुरअडकमसो । अट्ठहिदा जोयणया सिद्धाण णिवास खिदि-याणं ।४। —उस (उपरोक्त) आठवीं पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धोंका आवास है ।३। उस सिद्धोंके आवास क्षेत्रका प्रमाण (क्षेत्रफल) $\frac{८४०४७४०८१५६२५}{८}$ योजन है ।

२. मोक्ष व मुक्तजीव निर्देश

१. अर्हन्त व सिद्धमें कथंचित् भेदाभेद

ध. १/१,१,१/४६/२ सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माणः सिद्धाः नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेदः । नष्टेषु घातिकर्म-स्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघाति-कर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्य-पि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धेः । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयो-न्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषामात्म-गुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयो. सत्त्वात् । नोर्ध्व-गमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसंगात् । सुखमपि न गुण-स्तत एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलिनि केवलित्वान्यथा-नुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्यां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् । —प्रश्न—सिद्ध और अर्हन्तोंमें क्या भेद है ? उत्तर—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहन्त होते हैं । यही दोनोंमें भेद है । प्रश्न—चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेपर अरिहन्तोंकी आत्माके समस्त गुण प्रगट हो जाते हैं, इसलिए सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठीमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अरिहन्तोंके अघातिया कर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों पाये जाते हैं, अतएव इन दोनों परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद भी है । प्रश्न—वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं हैं ? उत्तर—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता है, इसलिए अरिहन्तोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी (अर्थात् उनके कार्यकी) सिद्धि हो जाती है । प्रश्न—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनि-रूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त संसार है । वह, अघातिया कर्मोंके रहनेपर अरिहन्त परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है । तथा अघातिया कर्म, आत्माके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें समर्थ भी नहीं हैं । इसलिए अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुकर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय-कर्मका उदय अरिहन्तोंके पाया जाता है, इसलिए अरिहन्त और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिए । प्रश्न—ऊर्ध्वगमन आत्मा-का गुण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा । इसी कारणसे सुख भी आत्माका गुण नहीं है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय दुःखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा केवली भगवान्‌के केवलीपना बन नहीं सकता ? उत्तर—यदि ऐसा है तो रहो, अर्थात् यदि उन दोनोंमें गुणकृत भेद सिद्ध नहीं होता है तो मत होओ, क्योंकि वह न्यायसंगत है । फिर भी सले-पत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देश भेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

२. वास्तवमें भावमोक्ष ही मोक्ष है

प. प्र./टी./२/४/११७/१३ जिना. कर्तारः व्रजन्ति गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्ति । परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । —जिनेन्द्र भगवान् परलोकमें जाते हैं अर्थात 'परलोक' इस शब्दके वाच्यभूत परमात्मध्यानमें जाते हैं, कायके मोक्षरूप परलोकमें नहीं ।

३. मुक्त जीव निश्चयसे स्वमें ही रहते हैं; सिद्धालयमें रहना व्यवहारसे है

नि. सा./ता. वृ./१७६/क २६४ लोकस्याग्रे व्यवहरणत: संस्थितो देव-देव', स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमास्ते ।२६४। —देवाधि-देव व्यवहारसे लोकके अग्रमें सुस्थित हैं, और निश्चयसे निज आत्मामें ज्योंके त्यों अत्यन्त अविचल रूपसे रहते हैं ।

४. अपुनरागमन सम्बन्धी शंका-समाधान

प्र. सा./मू./१७ भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि । ·· ।१७। —उस सिद्ध भगवान्‌के विनाश रहित तो उत्पाद है और उत्पाद रहित विनाश है । (विशेष दे./उत्पाद/३) ।

रा. वा./१०/४/४-८/६४२-२७ बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत्; न; मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्तेः ।४। पुनर्बन्धप्रसंगो जानतः पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्; न; सर्वास्रवपरिक्षयात् ।५। ···भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीनां रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति । अकस्मादिति चेत्; अनिर्मोक्षप्रसंगः ।६। · मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्तेः । स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्; न; अनास्रवत्वात् ।७। ·· आस्रवतो हि पानपात्रस्याधःपतनं दृश्यते, न चास्रवो मुक्त-स्यास्ति । गौरवाभावाच्च ।८। ·· यस्य हि स्थानवत्त्वं पातकारणं तस्य सर्वेषां पदार्थानां पातः स्यात् स्थानवत्त्वाविशेषात् ।

रा. वा/१०/२/३/६४१/६ पर उद्धृत—'दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः । —प्रश्न—१. जैसे घोड़ा एक बन्धनसे छूटकर भी फिर दूसरे बन्धनसे बँध जाता है, उस तरह जीव भी एक बार मुक्त होनेके पश्चात् पुनः बँध जायेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसके मिथ्यादर्शनादि कारणोंका उच्छेद होनेसे बन्धनरूप कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है ।४। प्रश्न—समस्त जगत्‌को जानते व देखते रहनेसे उनको करुणा भक्ति आदि उत्पन्न हो जायेंगे, जिसके कारण उनको बन्धका प्रसंग प्राप्त होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, समस्त आस्रवोंका परिक्षय हो जानेसे उनको भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि जागृत नहीं होते हैं । वे वीतराग हैं, इसलिए जगत्‌के सम्पूर्ण प्राणियोंको देखते हुए भी उनको करुणा आदि नहीं होती है ।५। प्रश्न—अकस्मात् ही यदि बन्ध हो जाये तो ? उत्तर—तब तो किसी जीवको कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती, क्योंकि, तब तो मुक्ति हो जानेके पश्चात् भी उसे निष्कारण ही बन्ध हो जायेगा ।६। प्रश्न—स्थानवाले होनेसे उनका पतन हो जायेगा ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उनके आस्रवोंका अभाव है । आस्रववाले ही पानपात्रका अथवा गुरुत्व (भार) युक्त ही ताड़

फल आदिका पतन देखा जाता है। परन्तु मुक्त जीवके न तो आस्रव है और न ही गुरुत्व है।८। यदि मात्र स्थानवाले होनेसे पतन होवे तो आकाश आदि सभी पदार्थोंका पतन हो जाना चाहिए, क्योंकि, स्थानवत्त्वकी अपेक्षा सब समान हैं। २. दूसरी बात यह भी है, कि जैसे बीजके पूर्णतया जल जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबीजके दग्ध हो जानेपर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। (त. सा./८/७); (स्या. मं./२१/३२८/१८ पर उद्धृत)।

ध. ४/१,५,३१०/४७७/५ ण च ते संसारे णिवदं ति णट्ठासवत्तादो। —३. कर्मास्रवोंके नष्ट हो जानेसे वे संसारमें पुनः लौटकर नहीं आते।

मो. सा./अधिकार/श्लोक—न निवृ तः सुखीभूतः पुनरायाति संसृतिं। सुखदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते। (७/१८)। युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृतः। पृथक्कृतं कुत. स्वर्णं पुनः कीटेन युज्यते। (६-५३)। —४. जो आत्मा मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होकर निराकुलतामय सुखका अनुभव कर चुका वह पुनः संसारमें लौटकर नहीं आता, क्योंकि, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो सुखदायी स्थानको छोड़कर दुःखदायी स्थानमें आकर रहेगा। (१८) ५. जिस प्रकार एक बार कीटसे नियुक्त किया गया स्वर्ण पुनः कीट युक्त नहीं होता है उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मोंसे रहित हो चुका है, वह पुनः कर्मोंसे संयुक्त नहीं होता।५३।

दे० मोक्ष/६/५,६ ६. पुनरागमनका अभाव माननेसे मोक्षस्थानमें जीवोंकी भीड़ हो जावेगी अथवा यह संसार जीवोंसे रिक्त हो जायेगा ऐसी आशंकाओंको भी यहाँ स्थान नहीं है।

५. जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोदसे निकलते हैं

गो. जी./जी. प्र./१९७/४४१/१५ कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेषु अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिगतेषु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभवं त्यक्त्वा चतुर्गतिभवं प्राप्नुवन्तीत्यमर्थः। —कदाचित आठ समय अधिक छह मासमें चतुर्गति जीवराशिमें-से निकलकर १०८ जीव मोक्ष जाते हैं; और उतने ही जीव (उतने ही समयमें) नित्य निगोद भवको छोड़कर चतुर्गतिरूप भवको प्राप्त होते हैं। (और भी दे० मोक्ष/४/११)।

दे० मार्गणा—(सब मार्गणा व गुणस्थानोंमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम है)।

स्या. मं./२६/३११/१३ पर उद्धृत—सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह संववहारजीवरासीओ। एंति अणाइवणस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि।२। इति वचनात्। यावन्तश्च यतो मुक्तिं गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादि निगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। —जितने जीव व्यवहार राशिसे निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतने ही अनादि वनस्पतिराशिसे निकलकर व्यवहार राशिमें आ जाते हैं।

६. जीव मुक्त हो गया है इसके चिह्न

दे० सल्लेखना/६/३/४ (क्षपकके मृत शरीरका मस्तक व दन्तपंक्ति यदि पक्षिगण ले जाकर पर्वतके शिखरपर डाल दें तो इस परसे यह बात जानी जाती है कि वह जीव मुक्त हो गया है।)

७. सिद्धोंको जाननेका प्रयोजन

प. प्र./मू./१/२६ जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ। तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं मं करि भेउ।२६। —जैसा कार्यसमयसार स्वरूप निर्मल ज्ञानमयी देव सिद्धलोकमें रहते हैं, वैसा ही कारणसमयसार स्वरूप परब्रह्म शरीरमें निवास करता है। अतः हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान् और अपनेमें भेद मत कर।

प. प्र./टी./१/२६/३०/१ तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थः। —वह मुक्त जीव सदृश स्वशुद्धात्मस्वरूप कारणसमयसार ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है।

३. सिद्धोंके गुण व भाव आदि

१. सिद्धोंके आठ प्रसिद्ध गुणोंका नाम निर्देश

लघु सिद्धभक्ति/८ सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहणं। अगुरुलघुमव्वाबाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं। —क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोंके आठ गुण वर्णन किये गये हैं। (वसु. श्रा./५३७); (द्र. सं./टी./१४/४२/२ पर उद्धृत); (प. प्र./टी./१/६१/६१/८ पर उद्धृत); (पं. ध./उ./६१७-६१८); (विशेष देखो आगे शीर्षक नं. ३-५)।

२. सिद्धोंमें अन्य गुणोंका निर्देश

भ. आ./मू./२१५७/१८४७ अकसायमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चेव। अचलत्तमलेपत्तं च हुंति अच्चंतियाई से।२१५७। —अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व, ये सिद्धोंके आत्यंतिक गुण होते हैं। (ध. १३/५,४,२६/गा. ३१/७०)।

ध. ७/२,१,७/गा. ४-११/१४-१५ का भावार्थ—(अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अकषायत्व रूप चारित्र, जन्म-मरण रहितता (अवगाहनत्व), अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), नीच-ऊँच रहितता (अगुरुलघुत्व), पंचक्षायिक लब्धि (अर्थात्—क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिकउपभोग और क्षायिकवीर्य) ये गुण सिद्धोंमें आठ कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हो जाते हैं।४-११। (विशेष दे० आगे शीर्षक नं. ३)।

ध. १३/५,४,२६/श्लो. ३०/६९ द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा। सिद्धाप्तगुणसंयुक्ता गुणाः द्वादशधा स्मृताः।३०। —सिद्धोंके उपरोक्त गुणोंमें (दे० शीर्षक नं. १)। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षा चार गुण मिलानेपर बारह गुण माने गये हैं।

द्र. सं./टी./१४/४३/६ इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्यं प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्वं, निर्योगत्वं, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्वं, निर्नामत्वं निर्गोत्रत्वं, निरायुषत्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणाः स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्याः। —इस प्रकार सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचिवाले शिष्योंके लिए हैं। मध्यम रुचिवाले शिष्यके प्रति विशेष भेदनयके अवलम्बनसे गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहिता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता, आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्यगुण, इस तरह जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिए।

३. उपरोक्त गुणोंके अवरोधक कर्मोंका निर्देश

प्रमाण—१. (प्र. सा./मू./६०*)। २. (ध. ७/२,१,७/गा. ४-११/१४)। ३. (गो. जी./जी. प्र./६८/१७८ पर उद्धृत दो गाथाएँ)। ४. (त. सा./८/३७-४०); (क्ष. सा./मू./६१२-६१३) (प. प्र./टी./१/६१/६१/१६)। ५. (प्र. सा./त. प्र./६१*)। ६. (पं. वि./८/६); ७. (पं. ध./उ./१११४*)। संकेत—*—विशेष देखो नीचे इन संदर्भोंकी व्याख्या।

नं०	कर्मका नाम	सन्दर्भ नं०	गुणका नाम
१	दर्शनावरणीय	२,३,४,६	केवलदर्शन
२	ज्ञानावरणीय	२,३,४,६	केवलज्ञान
३	वेदनीय	२,३,४	अनन्तसुख या अव्याबाधत्व
४	स्वभावघाती चारों घातियाकर्म	५* १*	,,
५	समुदितरूपसे आठों कर्म	७*	,,
६	मोहनीय	६.	,,
७	आयु	५.	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
		२,३,६	अवगाहनत्व या जन्म-मरणरहितता
८	नाम	४	,,
	,,	२,३,६	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
९	,,	शीर्षक नं.४	अगुरुलघुत्व या ऊँच-नीचरहितता
१०	गोत्रकर्म	२,३,४,६	
११	अन्तराय	२ ३,४,६	अनन्तवीर्य
	,,	२	५ क्षायिकलब्धि

प्र. सा./मू./६० जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणामं च सो चेव। खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा। —जो केवलज्ञान है, वह ही सुख है और परिणाम भी वही है। उसे खेद नहीं है, क्योंकि घातीकर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं।

प्र. सा./त. प्र./६१ स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं ही सौख्यं। —सुखका हेतु स्वभाव-प्रतिघातका अभाव है।

पं. ध./उ./१११४ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च। अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ।१११४। —आठों ही कर्म समुदायरूपसे एक सुख गुणके विपक्षी हैं। कोई एक पृथक् कर्म उसका विपक्षी नहीं है।

७. सूक्ष्मत्व व अगुरुलघुत्व गुणोंके अवरोधक कर्मोंकी स्वीकृतिमें हेतु

प. प्र./टी./१/६१/६२/१ सूक्ष्मत्वायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम्। कस्मादिति चेद्। विवक्षितायुः कर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यतीन्द्रियज्ञानविषयं सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः।··· सिद्धावस्थायोग्यं विशिष्टागुरुलघुत्वं नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम्। गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्वं भण्यते, लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्वं प्रच्छाद्यत इति। —आयुकर्मके द्वारा सूक्ष्मत्वगुण ढका गया क्योंकि विवक्षित आयुकर्मके उदयसे भवान्तरको प्राप्त होनेपर अतीन्द्रिय ज्ञानके विषयरूप सूक्ष्मत्वको छोड़कर इन्द्रियज्ञानका विषय हो जाता है। सिद्ध अवस्थाके योग्य विशिष्ट अगुरुलघुत्व गुण (अगुरुलघु संज्ञक) नामकर्मके उदयसे ढका गया। अथवा गुरुत्व शब्दसे उच्चगोत्रजनित बड़प्पन और लघुत्व शब्दसे नीचगोत्रजनित छोटापन कहा जाता है। इसलिए उन दोनोंके कारणभूत गोत्रकर्मके उदयसे विशिष्ट अगुरुलघुत्वका प्रच्छादन होता है।

५. सिद्धोंमें कुछ गुणों व भावोंका अभाव

त. सू./१०/३-४ औपशमिकादिभव्यत्वानां च ।३। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ।४। —औपशमिक, क्षायोपशमिक व औदयिक ये तीन भाव तथा पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है।३। क्षायिक भावोंमें केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, और सिद्धत्वभावका अभाव नहीं होता है। (त. सा./८/५)।

दे. 'सत्' की ओघप्ररूपणा—(न वे संयत हैं, न असंयत और न संयतासंयत। न वे भव्य हैं और न अभव्य। न वे संज्ञी हैं और न असंज्ञी।)

दे. जीव/२/२/ (दश प्राणोंका अभाव होनेके कारण वे जीव ही नहीं हैं। अधिकसे अधिक उनको जीवितपूर्व कह सकते हैं।)

स. सि./१०/४/४६८/११ यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीनां निवृत्तिः प्राप्नोति। नैष दोषः, ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वादनन्तवीर्यादीनामविशेषः; अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावाज्ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति। —प्रश्न—सिद्धोंके यदि चार ही भाव शेष रहते हैं, तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, ज्ञानदर्शनके अविनाभावी अनन्तवीर्य आदिक भी सिद्धोंमें अवशिष्ट रहते हैं। क्योंकि, अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति नहीं हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है। रा. वा./१०/४/१/६४२/२१।

ध. १/१,१,३३/गा. १४०/२४८ ण वि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहि गाहिया अत्थे। णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा ।१४०। —वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं हैं; क्योंकि, उनका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अतीन्द्रिय है। (गो. जी./मू./१७४/४०४)।

६. इन्द्रिय व संयमके अभाव सम्बन्धी शंका

ध. १/१,१,३३/२४८/११ तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियोपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात्।

ध./१/१,१,१३०/३७८/८ सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि। यथाबुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात्। —प्रश्न—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिए वे इन्द्रिय सहित हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं। परन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे सिद्धोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि, वे क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है। (और भी दे० केवली/५)। प्रश्न—सिद्ध जीवोंके कौन-सा संयम होता है? उत्तर—एक भी संयम नहीं होता है; क्योंकि, उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव है। इसी प्रकार वे संयतासंयत भी नहीं हैं और असंयत भी नहीं हैं, क्योंकि, उनके सम्पूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

४. मोक्षप्राप्ति योग्य द्रव्य क्षेत्र काल आदि

१. सिद्धोंमें अपेक्षाकृत कथंचित् भेद

त. सू./१०/९ क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः ।९। —क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य हैं।

२. मुक्तियोग्य क्षेत्र निर्देश

स. सि./१०/९/४७१/११ क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति।

भूतग्राहिनयापेक्षया जन्म प्रतिपञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धिः। – क्षेत्रकी अपेक्षा–वर्तमानग्राही नयसे, सिद्धि-क्षेत्रमें, अपने प्रदेशमें या आकाश प्रदेशमें सिद्धि होती है। अतीत-ग्राही नयसे जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोंमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुषक्षेत्रमें सिद्धि होती है। (रा. वा./१०/९/२/६४६/१८)।

३. मुक्तियोग्य काल निर्देश

स. सि./१०/९/४७१/१३ कालेन कस्मिन्काले सिद्धिः। प्रत्युत्पन्ननयापेक्षया एकसमये सिद्ध्यन् सिद्धो भवति। भूतप्रज्ञापननयापेक्षया जन्मतोऽविशेषेणोत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्जातः सिध्यति। विशेषणावसर्पिण्यां सुषमदुःषमाया अन्त्ये भागे दुःषमसुषमायां च जातः सिध्यति। न तु दुःषमायां जातो दुःषमायां सिध्यति। अन्यदा नैव सिध्यति। संहरणतः सर्वस्मिन्काले उत्सर्पिण्यामवसर्पिण्यां च सिध्यति।– कालकी अपेक्षा—वर्तमानग्राही नयसे, एक समयमें सिद्ध होता हुआ सिद्ध होता है। अतीतग्राही नयसे, जन्मकी अपेक्षा सामान्यरूपमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। विशेष रूपसे अवसर्पिणी कालमें सुषमा दुःषमाके अन्त भागमें और दुःषमा-सुषमामें उत्पन्न हुआ सिद्ध होता है। दुःषमामें उत्पन्न हुआ दुःषमा में सिद्ध नहीं होता। इस कालको छोड़कर अन्य कालमें सिद्ध नहीं होता है। संहरणकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके सब समयों में सिद्ध होता है। (रा. वा./१०/९/३/६४६/२२)।

ति. प./४/५५३,१२३९ सुसमदुस्समम्मि णामे सेसे चउसीदिलक्खपुव्वाणि। वासतए अडमासे इगिपक्खे उसहउप्पत्ती।५५३। तियवासा अडमासं पक्खं तह तदियकालअवसेसे। सिद्धो रिसहजिणिंदो वीरो तुरिमस्स तेत्तिए सेसे।१२३९। – सुषमादुषमा नामक तीसरे कालके ८४००,००० पूर्व, ३ वर्ष और $8\frac{1}{2}$ मास शेष रहनेपर भगवान् ऋषभदेवका अवतार हुआ।५५३। तृतीयकालमें ३ वर्ष और $8\frac{1}{2}$ मास शेष रहनेपर ऋषभ जिनेन्द्र तथा इतना ही चतुर्थकालमें अवशेष रहनेपर वीरप्रभु सिद्धि-को प्राप्त हुए।१२३९। (और भी दे० महावीर/१,३)।

म. पु./४१/७८ केवलार्कोदयः प्रायो न भवेत् पञ्चमे युगे। – पंचमकालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा।

ध. ६/१,९-८,११/पृ./पंक्ति दुस्सम, (दुस्समदुस्सम), सुस्समासुस्समा-सुसमदुस्समाकालुप्पण्णमणुसाणं खवणणिवारणट्ठं 'जम्हि जिणा' त्ति वयणं। जम्हि काले जिणा संभवंति तम्हि चेव खवणाए पट्ठ-वाओ होदि, ण अण्णकालेसु। (२४६/१) ···एदेण वक्खाणभि-प्पाएण दुस्सम-अइदुस्सम-सुसमसुसम-सुसमकाले-सुप्पणाणं चेव दंसणमोहणीयक्खवणा णत्थि, अवसेसदोसु वि कालेसुप्पणाणमत्थि। कुदो। एइंदियादो आगंतूणतदियकालुप्पण्णवद्धणकुमारादीणं दंसण-मोहक्खवणदंसणादो। एदं चेवेत्थ वक्खाणं पधाणं कादव्वं।–दुःषमा, (दुःषमादुःषमा), सुषमासुषमा, सुषमा, और सुषमादुषमा कालमें उत्पन्न हुए मनुष्योंके दर्शनमोहका क्षपण निषेध करनेके लिए 'जहाँ जिन होते हैं' यह वचन कहा है। जिस कालमें जिन सम्भव हैं उस ही कालमें दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक कहलाता है, (किन्हीं अन्य आचार्योंके) व्याख्यानके अभिप्रायसे दुःषमा, अति-दुःषमा, सुषमासुषमा और सुषमा इन चार कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके ही दर्शनमोहकी क्षपणा नहीं होती है। अवशिष्ट दोनों कालोंमें अर्थात् सुषमादुःषमा और दुःषमासुषमा कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोंके दर्शनमोहनीयकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर (इस अवसर्पिणीके) तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिकोंके दर्शनमोहकी क्षपणा देखी जाती है। यहाँपर यह व्याख्यान ही प्रधानतया ग्रहण करना चाहिए।

दे० विदेह—(उपरोक्त तीसरे व चौथे काल सम्बन्धी नियम भरत व ऐरावत क्षेत्रके लिए ही है, विदेह क्षेत्रके लिए नहीं)।

दे० जंबूस्वामी—(जम्बूस्वामी चौथेकालमें उत्पन्न होकर पंचमकाल-में मुक्त हुए। यह अपवाद हुंडावसर्पिणीके कारणसे है।)

दे० जन्म/५/१ (चरमशरीरियोंकी उत्पत्ति चौथे कालमें ही होती है)।

४. मुक्तियोग्य गति निर्देश

शी. पा./मू./२९ सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो। जो सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं। –श्वान, गधे, गौ, पशु व महिला आदि किसीको मोक्ष होता दिखाई नहीं देता, क्योंकि, मोक्ष तो चौथे अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थसे होता है जो केवल मनुष्यगति व पुरुषलिंगमें ही संभव है। (दे० मनुष्य/२/२)।

स. सि./१०/९/४७२/५ गत्या कस्यां गतौ सिद्धिः। सिद्धिगतौ मनुष्य-गतौ वा। –गतिकी अपेक्षा—सिद्धगतिमें या मनुष्यगतिमें सिद्धि होती है। (और भी दे० मनुष्य/२/२)।

रा. वा./१०/९/४/६४६/२८ प्रत्युत्पन्ननयाश्रयेण सिद्धिगतौ सिद्ध्यति। भूतविषयनयापेक्षया ··अनन्तरगतौ मनुष्यगतौ सिद्ध्यति। एका-न्तरगतौ चतसृषु गतिषु जातः सिद्ध्यति। –वर्तमानग्राही नयके आश्रयसे सिद्धिगतिमें सिद्धि होती है। भूतग्राही नयसे, अनन्तर गतिकी अपेक्षा मनुष्यगतिसे और एकान्तरगतिकी अपेक्षा चारों ही गतियोंमें उत्पन्न हुओंको सिद्धि होती है।

५. मुक्तियोग्य लिंग निर्देश

सू. पा./मू./२३ णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासण जइ वि होइ तित्थ-यरो। णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।२३। –जिन-शासनमें—तीर्थंकर भी जब तक वस्त्र धारण करते हैं तब तक मोक्ष नहीं पाते। इसलिए एक निर्ग्रन्थ ही मोक्षमार्ग है, शेष सर्व मार्ग उन्मार्ग है।

स. सि./१०/९/४७२/५ लिङ्गेन केन सिद्धिः अवेदत्वेन त्रिभ्यो वा वेदेभ्यः सिद्धिर्भवतो न द्रव्यत.। द्रव्यतः पुंलिङ्गेनैव। अथवा निर्ग्रन्थ-लिङ्गेन। सग्रन्थलिङ्गेन वा सिद्धिर्भूतपूर्वनयापेक्षया। –लिंगकी अपेक्षा–वर्तमानग्राही नयसे अवेदभावसे तथा भूतगोचर नयसे तीनों वेदोंसे सिद्धि होती है। यह कथन भाववेदकी अपेक्षा है द्रव्यवेदकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि, द्रव्यकी अपेक्षा तो पुंलिंगसे ही सिद्धि होती है। (विशेष दे० वेद/६/७)। अथवा वर्तमानग्राही नयसे निर्ग्रन्थलिंगसे सिद्धि होती है और भूतग्राही नयसे सग्रन्थ-लिंगसे भी सिद्धि होती है। (विशेष दे० लिंग)। (रा. वा./१०/९/-५/६४६/३२)।

६. मुक्तियोग्य तीर्थ निर्देश

स. सि./१०/९/४७२/७ तीर्थेन तीर्थसिद्धिर्द्वेधा, तीर्थकरेतरविकल्पात्। इतरे द्विविधाः सति तीर्थकरे सिद्धा असति चेति। –तीर्थसिद्धि दो प्रकारकी होती है- तीर्थंकरसिद्ध और इतरसिद्ध। इतर दो प्रकारके होते हैं। कितने ही जीव तीर्थंकरके रहते हुए सिद्ध होते हैं और कितने ही जीव तीर्थंकरके अभावमें सिद्ध होते हैं। (रा. वा/ १०/९/६/६४७/३)।

७. मुक्तियोग्य चारित्र निर्देश

स. सि./१०/९/४७२/८ चारित्रेण केन सिद्ध्यति। अव्यपदेशेनैकचतुः-पञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धिः।–चारित्रकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न-नयसे व्यपदेशरहित सिद्धि होती है अर्थात् न चारित्रसे होती है और न अचारित्रसे (दे० मोक्ष/३/६)। भूतपूर्वनयसे अनन्तरकी अपेक्षा एक यथाख्यात चारित्रसे सिद्धि होती है और व्यवधान-की अपेक्षा सामायिक छेदोपस्थापना व सूक्ष्मसाम्पराय इन तीन सहित चारसे अथवा परिहारविशुद्धि सहित पाँच चारित्रोंसे सिद्धि होती है। (रा. वा./१०/९/७/६४७/६)।

८. मुक्तियोग्य प्रत्येक व बोधित बुद्ध निर्देश

रा. वा./१०/६/८/६४७/१० केचित्प्रत्येकबुद्धसिद्धाः, परोपदेशमनपेक्ष्य स्वशक्त्यैवाविर्भूतज्ञानातिशयाः। अपरे बोधितबुद्धसिद्धाः, परोपदेशपूर्वकज्ञानप्रकर्षास्कन्दिनः। – कुछ प्रत्येक बुद्ध सिद्ध होते हैं, जो परोपदेशके बिना स्वशक्तिसे ही ज्ञानातिशय प्राप्त करते हैं। कुछ बोधित बुद्ध होते हैं जो परोपदेशपूर्वक ज्ञान प्राप्त करते हैं। (स. सि./१०/६/४७२/६)।

९. मुक्तियोग्य ज्ञान निर्देश

स सि./१०/६/४७२/१० ज्ञानेन केन। एकेन द्वित्रिचतुर्भिश्च ज्ञानविशेषैः सिद्धिः। – ज्ञानकी अपेक्षा—प्रत्युत्पन्न नयसे एक ज्ञानसे सिद्धि होती है; और भूतपूर्वगतिसे मति व श्रुत दोसे अथवा मति, श्रुत व अवधि इन तीनसे अथवा मनःपर्ययसहित चार ज्ञानोंसे सिद्धि होती है। (विशेष दे० ज्ञान/I/४/११), (रा. वा./१०/६/६/६४७/१४)।

१०. मुक्तियोग्य अवगाहना निर्देश

स. सि./१०/६/४७३/११ आत्मप्रदेशव्यापित्वमवगाहनम्। तद् द्विविधम्, उत्कृष्टजघन्यभेदात्। तत्रोत्कृष्टं पञ्चधनुःशतानि पञ्चविंशत्युत्तराणि। जघन्यमर्धचतुर्थारत्नयो देशानाः। मध्ये विकल्पाः। एकस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यति। – आत्मप्रदेशमें व्याप्त करके रहना इसका नाम अवगाहना है। वह दो प्रकारकी है—जघन्य व उत्कृष्ट। उत्कृष्ट अवगाहना ५२५ धनुष है और जघन्य अवगाहना कुछ कम ३½ अरत्नि है। बीचके भेद अनेक हैं। किसी एक अवगाहनामें सिद्धि होती है। (रा वा./१०/६/१०/६४७/१५)।

रा. वा./१०/६/१०/६४७/१६ एकस्मिन्नवगाहे सिद्ध्यन्ति पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापने तु एतस्मिन्नेव देशोने। – भूतपूर्व नयसे इन (उपरोक्त) अवगाहनाओंमें से किसी भी एकमें सिद्धि होती है और प्रत्युत्पन्न नयकी अपेक्षा कुछ कम इन्हीं अवगाहनाओंमें सिद्धि होती है [क्योंकि मुक्तात्माओंका आकार चरम शरीरसे किंचिदून रहता है। (दे० मोक्ष/५)]।

११. मुक्तियोग्य अन्तर निर्देश

स. सि./१०/६/४७२/२ किमन्तरम्। सिद्ध्यतां सिद्धानामनन्तरं जघन्येन द्वौ समयौ उत्कर्षेणाष्टौ। अन्तरं जघन्येनैकः समयः उत्कर्षेण षण्मासाः। – अन्तरकी अपेक्षा—सिद्धिको प्राप्त होनेवाले सिद्धोंका जघन्य अनन्तर दो समय है और उत्कृष्ट अनन्तर आठ समय है। जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट अन्तर छह महीना है। (रा. वा./१०/६/११-१२/६४७/२१)।

दे० नीचे शीर्षक नं. १२ (छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है)।

१२. मुक्त जीवोंकी संख्या

स. सि./१०/६/४७३/३ संख्या जघन्येन एकसमये एकः सिध्यति। उत्कर्षेणाष्टोत्तरशतसंख्याः। – संख्याकी अपेक्षा—जघन्य रूपसे एक समयमें एक जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्ट रूपसे एक समयमें १०८ जीव सिद्ध होते हैं। (रा. वा./१०/६/१३/६४७/२५)।

ध. १४/५,६,११६/१४३/१० सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदिभागे चेव, छम्मासमंतरिय णिव्वुइगमणणियमादो। – सिद्ध जीव सदा अतीत कालके असंख्यातवें भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि, छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

५. मुक्त जीवोंका मृतशरीर आकार ऊर्ध्व गमन व अवस्थान

१. उनके मृत शरीर सम्बन्धी दो धारणाएँ

ह. पु./६५/१२-१३ गन्धपुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तमवः क्षणात्। जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा।१२। स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः। मुञ्चन्ति स्कन्धतामन्ते क्षणात्क्षणरुचामिव।१३। – दिव्य गन्ध तथा पुष्प आदिसे पूजित, तीर्थंकर आदि मोक्षगामी जीवोंके शरीर, क्षण-भरमें बिजलीकी भाँति आकाशको देदीप्यमान करते हुए विलीन हो गये।१२। क्योंकि, यह स्वभाव है कि तीर्थंकर आदिके शरीरके परमाणु अन्तिम समय बिजलीके समान क्षणभरमें स्कन्धपर्यायको छोड़ देते हैं।१३।

म. पु./४७/३४२-३५० तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाचिकीर्षया।··· शुचिनिर्मलम्।३४३। शरीरं···शिबिकार्पितम्। अग्नीन्द्ररत्नभाभासिप्रोत्तुङ्गमुकुटोद्भुवा।३४४। चन्दनागुरुकर्पूर···आदिभिः। ···अग्निवृद्धिना हुतभोजिना।३४५। ···तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयत्।३४६। तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानलः।३४७। तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः।···।३४८। ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिनः।···स्वललाटे भुजद्वये।३४९। कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः।३५०। – भगवान् ऋषभदेवके मोक्ष कल्याणकके अवसरपर अग्निकुमार देवोंने भगवान्‌के पवित्र शरीरको पालकीमें विराजमान किया। तदनन्तर अपने मुकुटोंसे उत्पन्न की हुई अग्निको अगुरु, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्योंसे बढ़ाकर उसमें उस शरीरका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी।३४३-३४६। उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोंके शरीरका संस्कार करनेवाली तथा उसके बायीं ओर सामान्य केवलियोंके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की। तदनन्तर इन्द्रने भगवान् ऋषभदेवके शरीरकी भस्म उठाकर अपने मस्तकपर चढ़ायी।३४७-३५०। (म. पु./६७/२०४)।

२. संसारके चरमसमयमें मुक्त होकर ऊपरको जाता है

त. सू./१०/५ तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।५। – तदनन्तर मुक्त जीव लोकके अन्त तक ऊपर जाता है।

त. सा./८/३५ द्रव्यस्य कर्मणो यद्वदुत्पत्त्यारम्भवीचयः। समं तथैव सिद्धस्य गतिर्मोक्षे भवक्षयात्।३५। – जिस प्रकार द्रव्य कर्मोंकी उत्पत्ति होनेसे जीवमें अशुद्धता आती है, उसी प्रकार कर्मबन्धन नष्ट हो जानेपर जीवका संसारवास नष्ट हो जाता है और मोक्षस्थानकी तरफ गमन शुरू हो जाता है।

ज्ञा./४२/५६ लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम्। स स्वभावाद्व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः।५६। – लघु पाँच अक्षरोंका उच्चारण जितनी देरमें होता है उतने कालतक चौदहवें गुणस्थानमें ठहरकर, फिर कर्मबन्धनसे रहित होनेपर वे शुद्धात्मा स्वभाव हीसे ऊर्ध्वगमन करते हैं।

पं. का./ता. वृ./७३/१२५/१७ सर्वतो मुक्तोऽपि। स्वाभाविकानन्तज्ञानादिगुणयुक्तः सन्नेकसमयलक्षणाविग्रहगत्योर्ध्वं गच्छति। – द्रव्य व भाव दोनों प्रकारके कर्मोंसे सर्वप्रकार मुक्त होकर स्वाभाविक ज्ञानादि गुणोंसे युक्त होकर एक सामयिक विग्रहगतिके द्वारा ऊपरको चले जाते हैं।

द्र. सं./टी./३७/१५४/११ अयोगिचरमसमये द्रव्यमोक्षो भवति। – अयोगी गुणस्थानवर्ती जीवके चरम समयमें द्रव्य मोक्ष होता है।

३. ऊर्ध्व ही गमन क्यों इधर-उधर क्यों नहीं

दे० गति/१/३-६ (ऊर्ध्व गति जीवका स्वभाव है, इसलिए कर्म सम्पर्कके छूट जानेपर वह ऊपरकी ओर ही जाता है, अन्य दिशाओंमें

नहीं; क्योंकि, संसारावस्थामें जो उसकी षटोपक्रम गति देखी जाती है, वह कर्म निमित्तक होनेसे विभाव है स्वभाव नहीं। परन्तु यह स्वभाव ज्ञानस्वभावकी भाँति कोई त्रिकाली स्वभाव नहीं है, जो कि सिद्धशिलासे आगे उसका गमन रुक जानेपर जीवके अभाव की आशंका की जाये।

त.सू./१०/६-७ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च ।७। —पूर्वप्रयोगसे, संगका अभाव होनेसे बन्धनके टूटनेसे और वैसा गमन करना स्वभाव होनेसे मुक्तजीव ऊर्ध्व गमन करता है ।६। जैसे कि घुमाया हुआ कुम्हारका चक्र, लेपसे मुक्त हुई तूमड़ी, एरण्डका बीज और अग्निकी शिखा ।७।

ध. १/१,१,१/४७/२ आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात्। —ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुकर्मका उदय अरिहन्तोंके पाया जाता है।

४. मुक्तजीव सर्वलोकमें नहीं व्याप जाता

स. सि./१०/४/४६६/२ स्यान्मतं, यदि शरीरानुविधायी जीवः तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति। नैष दोषः। कुतः। कारणाभावात्। नामकर्मसंबन्धो हि संहरणविसर्पणकारणम्। तदभावात्पुनः संहरणविसर्पणाभावः। —प्रश्न—यह जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है (दे० जीव/३/६) तो शरीरका अभाव होनेसे उसके स्वाभाविक लोकाकाशक प्रदेशोंके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। नामकर्मका सम्बन्ध जीवके संकोच और विस्तारका कारण है, किन्तु उसका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोंका संकोच और विस्तार नहीं होता। (रा. वा./१०/४/१२-१३/६४३/२७)।

द्र. सं./टी./१४/१४४/४ कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति। तत्र परिहारमाह—प्रदीपसंबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तारः पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरणं जातं। जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्वं स्वभावो भवति, यस्तु प्रदेशानां संबन्धी विस्तारः स स्वभावो न भवति। कस्मादिति चेत्, पूर्वंलोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरणं जातमेव। तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसंतानरूपेण शरीरेणावृतास्तिष्ठन्ति ततः कारणात्प्रदेशानां संहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। अपरमप्युदाहरणं दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्रं पुरुषेण मुष्टौ बद्धं तिष्ठति, पुरुषाभावे संकोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजनं वा शुष्कं सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसंकोचौ न करोति। —प्रश्न—जैसे दीपकको ढँकनेवाले पात्र आदिके हटा लेनेपर उस दीपकके प्रकाशका विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देहका अभाव हो जानेपर सिद्धोंका आत्मा भी फैलकर लोक प्रमाण होना चाहिए? उत्तर—दीपकके प्रकाशका विस्तार तो पहले ही स्वभावसे दीपकमें रहता है, पीछे उस दीपकके आवरणसे संकुचित होता है। किन्तु जीवका लोकप्रमाण असंख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशोंका लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नहीं है। प्रश्न—जीवके प्रदेश पहले लोकके बराबर फैले हुए, आवरण रहित रहते हैं, फिर जैसे प्रदीपके आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशोंके भी आवरण हुआ है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवके प्रदेश तो पहले अनादिकालसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरके आवरणसहित ही रहते हैं। इस कारण जीवके प्रदेशोंका संहार तथा विस्तार शरीर नामकर्मके अधीन है, जीवका स्वभाव नहीं है। इस कारण जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोंका विस्तार नहीं होता।—इस विषयमें और भी उदाहरण देते हैं कि, जैसे कि मनुष्यकी मुट्ठीके भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र भिंचा हुआ है। अब वह वस्त्र मुट्ठी खोल देनेपर पुरुषके अभावमें संकोच तथा विस्तार नहीं करता। जैसा उस पुरुषने छोड़ा वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टीका बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तारको प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है, तब जलका अभाव होनेसे संकोच व विस्तारको प्राप्त नहीं होता। इसी तरह मुक्त जीव भी पुरुषके स्थानभूत अथवा जलके स्थानभूत शरीरके अभावमें संकोच विस्तार नहीं करता। (प. प्र./टी./५४/१२/६)।

५. मुक्तजीव पुरुषाकार छायावत् होते हैं

ति. प./६/१६ जावद्धम्मं दव्वं तावं गंतूण लोयसिहरम्मि। चेट्ठंति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा। —जहाँतक धर्मद्रव्य है वहाँतक जाकर लोकशिखरपर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोमसे रहित मूषकके अभ्यन्तर आकाशके सदृश स्थित हो जाते हैं ।१६। (ज्ञा./४०/२५)।

द्र. सं./मू./टी./५१/२१७/२ पुरिसायारो अप्पा सिद्धो झाएह लोयसिहरत्थो ।५१।...गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकारः —पुरुषके आकारवाले और लोक शिखरपर स्थित, ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। अर्थात् मोम रहित मूसके आकारकी तरह अथवा छायाके प्रतिबिम्बके समान पुरुषके आकारको धारण करनेवाला है।

६. मुक्तजीवोंका आकार चरमदेहसे किंचिदून है

स. सि./१०/४/४६८/१३ अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न, अतीतानन्तरशरीराकारत्वात्। —प्रश्न—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोंका अभाव प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं। क्योंकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है। (रा.वा./१०/४/१९/६४३/२४); (प.प्र./मू./१/५४)

ति. प./६/१० दीहत्तं बाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाणं। तत्तो तिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाणं। —अन्तिम भवमें जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहल्य हो उससे तृतीय भागसे कम सब सिद्धोंकी अवगाहना होती है।

द्र. सं. मू व. टी./१४/४४/२ किंचूणा चरम देहदो सिद्धा।...।१४। तत् किञ्चिदूनत्वं शरीराङ्गोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति ..।—वे सिद्ध चरम शरीरसे किंचिदून होते हैं, और वह किंचित् ऊनता शरीर व अंगोपांग नामकर्मसे उत्पन्न नासिका आदि छिद्रोंकी पोलाहटके कारणसे है।

७. सिद्धलोकमें मुक्तात्माओंका अवस्थान

ति. प./६/१५ माणुसलोयपमाणे संठिय तणुवादउवरिमे भागे। सरिसा सिरा सव्वाणं हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई—मनुष्यलोक प्रमाण स्थित तनुवातके उपरिम भागमें सब सिद्धोंके सिर सदृश होते हैं। अधस्तन भागमें कोई विसदृश होते हैं।

६. मोक्षके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाएँ

१. मोक्षाभावके निराकरणमें हेतु

सिद्धि भक्ति/२ नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेरस्त्यात्मानादिबन्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी। ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा, ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ।२। —प्रश्न—१. मोक्षका अभाव है, क्योंकि कर्मोंके क्षयसे आत्माका दीपकवद् नाश हो जाता

है (बौद्ध) अथवा सुख दुःख इच्छा प्रयत्न आदि आत्माके गुणोंका अभाव ही मोक्ष है (वैशेषिक) ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा जो कि स्वयं अपने नाशके लिए तप आदि कठिन अनुष्ठान करेगा। प्रश्न—२. आत्मा नामकी कोई वस्तु ही नहीं है (चार्वाक) ? उत्तर—नहीं; आत्माका अस्तित्व अवश्य है। (विशेष दे० जीव/२/४)। प्रश्न—३. आत्मा या पुरुष सदा शुद्ध है। वह न कुछ करता है न भोगता है। (सांख्य) ? उत्तर- नहीं, वह स्वयं कर्म करता है और उसके फलोंको भी भोगता है। उन कर्मोंके क्षयसे ही वह मोक्षका भागी होता है। वह स्वयं ज्ञाता द्रष्टा है, संकोच विस्तार शक्तिके कारण संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण रहता है (दे०-जीव/३/७) वह कूटस्थ नहीं है, बल्कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है (दे० उत्पाद/३)। वह निर्गुण नहीं है बल्कि अपने गुणोंसे युक्त है। क्योंकि, अन्यथा साध्यकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। (स.सि./१/-१ की उत्थानिका प/२/२/; (रा वा/१/१ की उत्थानिका/८/२/३ स्व. स्तो./टी./५/१३)

रा. वा./१०/४/१७/६४४/१३ सर्वथाभावोमोक्षः प्रदीपवदिति चेत; न; साध्यत्वात् ।१७।···साध्यमेतत-प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति। प्रदीपा एव हि पुद्गला', पुद्गलजातिमजहतः परिणामवशान्मषी-भावमापन्ना इति नात्यन्तविनाशः ।—दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्तावस्थानवत ।१८। यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत; न; साध्यत्वात ।१९।···साध्यमेतत्तत्रैवावस्थातव्यमिति, बन्ध-नाभावादनाश्रितत्वाच्च स्यादूगमनमिति—प्रश्न—जिस प्रकार बुझ जानेपर दीपक अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है, उसीप्रकार कर्मोंके क्षय हो जानेपर जीवका भी नाश हो जाता है, अतः मोक्षका अभाव है ? उत्तर—४. नहीं, क्योंकि, 'प्रदीपका नाश हो जाता है' यह बात ही असिद्ध है। दीपकरूपसे परिणत पुद्गलद्रव्यका विनाश नहीं होता है। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। इसी प्रकार कर्मोंके विनाशसे जीवका नाश नहीं होता। उसकी जाति अर्थात चैतन्य स्वभाव बना रहता है। (ध.६/१,९-१/२३१/गा.२-३/४६७); ५. दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार बेड़ियोंसे मुक्त होनेपर भी देवदत्तका अवस्थान देखा जाता है, उसी प्रकार कर्मोंसे मुक्त होनेपर भी आत्माका स्वरूपावस्थान होता है। प्रश्न—६. जहाँ कर्म बन्धनका अभाव हुआ है वहाँ ही मुक्त जीवको ठहर जाना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह बात भी अभी विचारणीय है कि उसे वहीं ठहर जाना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होनेसे उसे गमन करना चाहिए।

दे. गति/१/४ प्रश्न—७. उष्णताके अभावसे अग्निके अभावकी भाँति, सिद्धलोकमें जानेसे मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनका अभाव हो जानेसे वहाँ उस जीवका भी अभाव हो जाना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऊर्ध्व ही गमन करना उसका स्वभाव माना गया है, न कि ऊर्ध्व गमन करते ही रहना।)

दे. मोक्ष/५/६ ८. मोक्षके अभावमें अनाकारताका हेतु भी युक्त नहीं है, क्योंकि, हम उसको पुरुषाकार रूप मानते हैं।)

२. मोक्ष अभावात्मक नहीं है बल्कि आत्मलाभरूप है

पं. का./मू./३५ जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स। ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ।३५। —जिनके जीव स्वभाव नहीं है (दे० मोक्ष/३/५) और सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है। वे देहरहित व वचनगोचरातीत सिद्ध हैं।

सि. वि./मू./७/१९/४८५ आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ।१९। —आत्मस्वरूपके लाभका नाम मोक्ष है जो कि जीवको अन्तर्मलका क्षय हो जानेपर प्राप्त होता है। मोक्षमें न तो बौद्धोंकी भाँति आत्माका अभाव होता है और न ही वह ज्ञानशून्य अचेतन हो जाता है। मोक्षमें भी उसका चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन निरर्थक नहीं होता है, क्योंकि वहाँ भी वह त्रिजगत्को साक्षीभावसे जानता तथा देखता रहता है। [जैसे बादलोंके हट जानेपर सूर्य अपने स्वपरप्रकाशकपनेको नहीं छोड़ देता, उसी प्रकार कर्ममलका क्षय हो जानेपर आत्मा अपने स्वपर प्रकाशकपनेको नहीं छोड़ देता—दे० (इस श्लोककी वृत्ति)।

ध. ६/१,९-९,२१६/४९०/४ केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि सर्वं न जानातीति कपिलो ब्रूते। तन्न, तन्निराकरणार्थं बुद्धयन्त इत्युच्यते। मोक्षो हि नाम बन्धपूर्वकः, बन्धश्च न जीवस्यास्ति, अमूर्तत्वान्नित्यत्वाच्चेति। तस्माज्जीवस्य न मोक्ष इति नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसक-मतम्। एतन्निराकरणार्थमुच्चन्तीति प्रतिपादितम्। परिनिर्वाण-यन्ति —अशेषबन्धमोक्षे सत्यपि न परिनिर्वान्ति, सुखदुःखहेतुशुभा-शुभकर्मणां तत्रासत्त्वादिति तार्किकयोर्मतं। तन्निराकरणार्थं परिनि-र्वान्ति अनन्तसुखा भवन्तीत्युच्यते। यत्र सुखं तत्र निश्चयेन दुःख-मप्यस्ति दुःखाविनाभावित्वात्सुखस्येति तार्किकयोरेवं मतं, तन्नि-राकरणार्थं सर्वदुःखानमन्तं परिविजाणन्तीति उच्यते। सर्वदुःखान-मन्तं पर्यवसानं परिविजानन्ति गच्छन्तीत्यर्थः। कुतः। दुःखहेतु-कर्मणां विनष्टत्वात् स्वास्थ्यलक्षणस्य सुखस्य जीवस्य स्वाभावि-कत्वादिति। —प्रश्न—केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सबको नहीं जानते हैं (कपिल या सांख्य) ? उत्तर—नहीं, वे सबको जानते हैं। प्रश्न—अमूर्त व नित्य होनेसे जीवको न बन्ध सम्भव है, और न बन्धपूर्वक मोक्ष (नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य व मीमांसक) ? उत्तर—नहीं, वे मुक्त होते हैं। प्रश्न—अशेष बन्धका मोक्ष हो जाने-पर भी जीव परिनिर्वाण अर्थात अनन्त सुख नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि, वहाँ सुख-दुःखके हेतुभूत शुभाशुभ कर्मोंका अस्तित्व नहीं है। (तार्किक मत) ? उत्तर—नहीं, वे अनन्तसुख भोगी होते हैं। प्रश्न—जहाँ सुख है वहाँ निश्चयसे दुःख भी है, क्योंकि सुख दुःख-का अविनाभावी है (तार्किक) ? उत्तर—नहीं, वे सर्व दुःखोंके अन्तका अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे जीव समस्त दुःखोंके अन्त अर्थात् अवसानको पहुँच जाते हैं, क्योंकि, उनके दुःखके हेतुभूत कर्मोंका विनाश हो जाता है और स्वास्थ्य लक्षण सुख जो कि जीवका स्वाभाविक गुण है, वह प्रगट हो जाता है।

३. बन्ध व उदयकी अटूट शृंखलाका भंग कैसे सम्भव है

द्र. सं./टी ३७/१५५/१० अत्राह शिष्यः—संसारिणां निरन्तरं कर्म-बन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथं मोक्षो भवतीति। तत्र प्रत्युत्तरं। यथा शत्रोः क्षीणावस्था दृष्ट्वा काऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्ततः पौरुषं कृत्वा शत्रुं हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति हीयमानस्थित्यनु-भागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया···लब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मा-भिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति। यत्पुनरन्तःकोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव···कर्महननबुद्धिं क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति। —प्रश्न—संसारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बन्ध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है, इस कारण उनके शुद्धात्माके ध्यानका प्रसंग ही नहीं है, तब मोक्ष कैसे होती है ? उत्तर—जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी निर्बल अवस्था देखकर, अपने मनमें विचार करता है, 'कि यह मेरे मारने-का अवसर है' ऐसा विचारकर उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है। इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, इस कारण स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धकी न्यूनता होनेपर जब कर्म हलके होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव आगमभाषा-में पाँच लब्धियोंसे और अध्यात्मभाषामें निज शुद्ध आत्माके सम्मुख

परिणाम नामक निर्मलभावना-विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके कर्म शत्रुको नष्ट करता है। और जो अन्तःकोटाकोटिप्रमाण कर्मस्थिति-रूप तथा लता काष्ठके स्थानापन्न अनुभागरूपसे कर्मभार हलका हो जानेपर भी कर्मोंको नष्ट करनेकी बुद्धि किसी भी समयमें नहीं करेगा तो यह अभव्यत्व गुणका लक्षण समझना चाहिए। (मो. मा. प्र./-१.३५६/२)।

३. अनादि कर्मोंका नाश कैसे सम्भव है

रा. वा./१०/२/३/६४१/१ स्यान्मतम्—कर्मबन्धसंतानस्यायभावादन्ते-नाप्यस्य न भवितव्यम्, दृष्टिविपरीतकल्पनायां प्रमाणाभावादिति; तन्न; किं कारणम्। दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्। यथा बीजाङ्कुरसंता-नेऽनादौ प्रवर्तमाने अन्त्यबीजमग्निनोपहताङ्कुरशक्तिकमित्यन्तो-ऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनाविप्रत्ययसांपरायिकसंसतावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धकर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टमि-दमपह्नोतुमशक्यम्। —प्रश्न—कर्म बन्धकी सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए? उत्तर—जैसे बीज और अंकुर-की सन्तान अनादि होनेपर भी अग्निसे अन्तिम बीजको जला देने-पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबन्ध सन्ततिके अनादि होनेपर भी ध्यानाग्निसे कर्म-बीजोंको जला देनेपर भवांकुरका उत्पाद नहीं होता, यही मोक्ष है।

क. पा. १/१-१/§३८/५६/६ कम्मं पि सहेउअं तव्विणासण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो; बाल-जोव्वण-रायादिपज्जा-याणं विणासण्णहाणुववत्तीए तव्विणाससिद्धीदो। कम्ममकट्टिमं किण्ण जायदे। ण; अकट्टिमस्स विणासाणुववत्तीदो। तम्हा कम्मेण कट्टिमेण चेव होदव्वं। —कर्म भी सहेतुक हैं, अन्यथा उनका विनाश बन नहीं सकता। और कर्मोंका विनाश असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, कर्मोंके कार्यभूत बाल, यौवन, और राजा आदि पर्यायोंका विनाश कर्मोंका विनाश हुए बिना नहीं हो सकता है। प्रश्न—कर्म अकृत्रिम क्यों नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अकृत्रिम पदार्थका विनाश नहीं बन सकता है, इसलिए कर्मको कृत्रिम ही होना चाहिए।

क. पा. १/१-१/§४२/६०/१ तं च कम्मं सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराणं पि बंधप्पसंगादो। —कर्मोंको सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा अयोगियोंमें कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त होता है। (आप्त. प./टी./१११/§२९१/२४१/१०)।

क. पा. १/१-१/§४४/६१/६ अकट्टिमत्तादो कम्मसंताणे ण वोच्छिज्जदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं; अकट्टिमस्स वि बीजंकुरसंताणस्स वोच्छेदुवलं-भादो। ण च कट्टिमसंताणवदिरित्तो संताणो णाम अत्थि जस्स अकट्टिमत्तं वुच्चेज्ज। ण चासेसासवपडिवक्खे सयलसंवरे समुप्पण्णे वि कम्मागमसंताणो ण तुट्टदि त्ति वोत्तुं जुत्तं; जुत्तिबाहियत्तादो। सम्मत्तसंजमविरायजोगणिरोहाणमक्कमेण पउत्तिदंसणादो च। ण च विरुद्धो अणुववण्णदा णाम। असंपुण्णाणमक्कमवुत्ती दीसइ ण संपुण्णाणं चे; ण; अक्कमेण वड्ढमाणाणं सयलसकारणसाणिज्झे संते तदविरो-हादो। संवरो सव्वकालं संपुण्णो ण होदि चेवेत्ति ण वोत्तुं जुत्तं; वड्ढमाणेसु कस्स वि कत्थ वि णियमेण सगसगुक्कस्सावत्थावत्ति-दंसणादो। संवरो वि, वड्ढमाणो उवलब्भए तदो कत्थ वि संपुण्णेण होदव्वं वाहुणियतालरुक्खेणेव। आसवो वि कहिं पि णिम्मूलदो विणस्सेज्ज, हाणि-तरतमभावण्णहाणुववत्तीदो आयरकण-ओवलावलीणमलकलंको व्व। —प्रश्न—अकृत्रिम होनेसे कर्मकी सन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती है? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज व अंकुरकी सन्तानका विनाश पाया जाता है। २. कृत्रिम संतानोंसे भिन्न, अकृत्रिम सन्तान नामकी कोई चीज नहीं है। प्रश्न—३. आस्रवविरोधी सकल संवरके उत्पन्न हो जानेपर भी कर्मोंकी आगमपरम्परा विच्छिन्न नहीं होती? उत्तर—ऐसा कहना युक्ति बाधित है, अर्थात् सकल प्रतिपक्षी कारणके होनेपर कर्मका विनाश अवश्य होता है। (ध. ६/४.१/४४/११७/६)। प्रश्न—४. सकल संवररूप सम्यक्त्व, संयम, वैराग्य और योगनिरोध इनका एक साथ स्वरूपलाभ नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन सबकी एक साथ अविरुद्धवृत्ति देखी जाती है। प्रश्न—५. असम्पूर्ण कारणोंकी वृत्ति भले एक साथ देखी जाये, पर सम्पूर्णकी सम्यक्त्वादिकी नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो वर्द्धमान हैं ऐसे उन सम्यक्त्वादिमेंसे कोई भी कहीं भी नियमसे अपनी-अपनी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ देखा जाता है। यतः संवर भी एक हाथ प्रमाण तालवृक्षके समान वृद्धिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है, इसलिए किसी भी आत्मामें उसे परिपूर्ण होना ही चाहिए। (ध. ६/४,१,४४/११८/१) और भी दे. अगला सन्दर्भ)। ६. तथा जिस प्रकार खानसे निकले हुए स्वर्णपाषाणका अन्तरंग और बहिरंग मल निर्मूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आस्रव भी कहींपर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है, अन्यथा आस्रवकी हानिमें तर-तम-भाव नहीं बन सकता है। (ध. ६/४.१,४४/११८/२); (स्या. मं./१७/२३६/२६)। ७. [दूसरी बात यह भी है कि कर्म अकृत्रिम है ही नहीं (दे० विभाव/३)]।

स्या. मं./१७/२३६/६ पर उद्धृत—देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिल-नश्वराः। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एवं रागादयो मताः। —जो पदार्थ एक देशसे नाश होते हैं, उनका सर्वथा नाश भी होता है। जिस प्रकार मेघोंके पटलोंका आंशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है।

५. मुक्त जीवोंका परस्परमें उपरोध नहीं

रा. वा./१०/४/६/६४३/१३ स्यान्मतम्—अल्पः सिद्धावगाह्य आकाश-प्रदेश आधारः, आधेयाः सिद्धा अनन्ताः, ततः परस्परोपरोध इति; तन्न; किं कारणम्। अवगाहनशक्तियोगात्। मूर्तिमत्स्वपि नाना-नेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अल्पेऽप्यवकाशे न विरोधः किमङ्ग पुनरमूर्तिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु। —प्रश्न—सिद्धोंका अवगाह्य आकाश-प्रदेश रूप आधार तो अल्प है और आधेयभूत सिद्ध अनन्त हैं, अतः उनका परस्परमें उपरोध होता होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आकाशमें अवगाहन शक्ति है। मूर्तिमान् भी अनेक प्रदीप प्रकाशोंका अल्प आकाशमें अविरोधी अवगाह देखा गया है, तब अमूर्त सिद्धों-की तो बात ही क्या है?

६. मोक्ष जाते-जाते जीवराशिका अन्त हो जायेगा?

ध. १४/५,६,१२६/२३३/७ जीवरासी आयवज्जिदो सव्वओ, तत्तो णिव्वुइमुवगच्छंतजीवाणमुवलंभादो। तदो संसारिजीवाणमभावो होदि त्ति भणिदे ण होदि। असदसभावाणिगोदजीवाणमणंताण संभवा होदि त्ति।

ध. १४/५,६,१२८/२३५/५ जासि संखाणं आयविरहियाणं वये संते वोच्छेदो होदि ताओ संखाओ संखेज्जासंखेज्जसण्णिदाओ। जासि संखाणं आयविरहियाणं संखेज्जासंखेज्जेहि वड्ढिज्जमाणाणं पि वोच्छेदो ण होदि तासिमणंतमिदि सण्णा। सव्व जीवरासी वि अणंतो तेण सो ण वोच्छिज्जदि, अण्णहा आणंतियविरोहादो।...सव्वे अदीदकालेण जे सिद्धा तेहिंतो एगणिगोदसरीरजीवाणमणंत-गुणत्तं...। सिद्धा पुण अदीदकाले समयं पडि जदि वि असंखेज्ज-लोगमेत्ता सिज्झंति तो वि अदीदकालादो असंखेज्जगुणा चेव। ण च एवं, अदीदकालादो सिद्धाणमसंखेज्जगुणत्तुवलंभादो।... अदीदकाले छस्सदपज्जीवा सुट्ठु जदि बहुआ होंति तो अदीद-कालादो असंखेज्जगुणं चेव। —प्रश्न—जीव राशि आयसे रहित और व्यय सहित है, क्योंकि उसमेंसे मोक्षको जानेवाले जीव उप-लब्ध होते हैं। इसलिए संसारी जीवोंका अभाव प्राप्त होता है?

उत्तर—नहीं होता है; क्योंकि, १. त्रस भावको नहीं प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव सम्भव है। (और भी दे० वनस्पति/२/३)। २. आय-रहित जिन संख्याओंका व्यय होनेपर सत्त्वका विच्छेद होता है वे संख्याएँ संख्यात और असंख्यात संज्ञावाली होती हैं। आयसे रहित जिन संख्याओंका संख्यात और असंख्यात रूपसे व्यय होनेपर भी विच्छेद नहीं होता है, उनकी अनन्त संज्ञा है (और भी दे० अनन्त/१/१)। और सब जीव राशि अनन्त हैं, इसलिए वह विच्छेदको प्राप्त नहीं होती। अन्यथा उसके अनन्त होनेमें विरोध आता है। (दे० अनन्त/२/१-३)। ३. सब अतीतकालके द्वारा जो सिद्ध हुए हैं उनसे एक निगोदशरीरके जीव अनन्तगुणे हैं। (दे० वनस्पति/३/७)। ४. सिद्ध जीव अतीतकालके प्रत्येक समयमें यदि असंख्यात लोक प्रमाण सिद्ध होवें तो भी अतीत कालसे असंख्यातगुणे ही होंगे। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, सिद्ध जीव अतीतकालके असंख्यातवें भाग प्रमाण ही उपलब्ध होते हैं। ५. अतीत कालमें त्रसपनेको प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते हैं तो अतीतकालसे असंख्यात गुणे ही होते हैं।

स्या. मं/२९/३३१/१६ न च तावता तस्य काचित् परिहाणिर्निगोद-जीवानन्त्यस्याक्षयत्वात्।" अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृता निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्त्तन्ते नावर्तिषत न वर्त्स्यन्ति। ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः, कथं च संसारस्य रिक्ततापसक्तिरिति। अभिप्रेतं चैतद् अन्ययूथ्याना-मपि। यथा चोक्तं वार्तिककारेण—अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु संततम्। ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वादशून्यता।१। अत्यन्यूनाति-रिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः।।२। —६. [जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते हैं (दे० मोक्ष/२/५)] अतएव निगोदराशिमें-से जीवोंके निकलते रहनेके कारण संसारी जीवोंका कभी क्षय नहीं हो सकता। जितने जीव अबतक मोक्ष गये हैं और आगे जानेवाले हैं वे निगोद जीवोंके अनन्तवें भाग भी नहीं हैं, न हुए हैं और न होंगे। अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव संसारमें लौटकर आते हैं और न यह संसार जीवोंसे शून्य होता है। इसको दूसरे वादियोंने भी माना है। वार्तिककारने भी कहा है, 'इस ब्रह्माण्डमें अनन्त संसारी जीव हैं, इस संसारसे ज्ञानी जीवोंकी मुक्ति होते हुए यह संसार जीवोंसे खाली नहीं होता। जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अन्त होता है, वही घटती और समाप्त होती है। अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न वह घटती है, और न समाप्त होती है।

गो. जी./जी. प्र./१९६/४३७/१९ सर्वो भव्यसंसारिराशिरनन्तेनापि कालेन न क्षीयते अक्षयानन्तत्वात्। यो योऽक्षयानन्तः सो सोऽनन्ते-नापि कालेन न क्षीयते यथा इयत्तया परिच्छिन्नः कालसमयौघः, सर्व-द्रव्याणां पर्यायोऽविभागप्रतिच्छेदसमूहो वा इत्यनुमानाङ्गस्य तर्कस्य प्रामाण्यसुनिश्चयात्। —६. सर्व भव्य संसारी राशि अनन्त कालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि यह राशि अक्षयानन्त है। जो जो अक्षयानन्त होता है, वह-वह अनन्तकालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नहीं होता है, जैसे कि तीनों कालोंके समयोंका परि-माण या अविभाग प्रतिच्छेदोंका समूह। इस प्रकारके अनुमानसे प्राप्त तर्क प्रमाण है।

मोक्ष पाहुड—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत मोक्ष प्राप्तिके क्रमका प्ररूपक, १०६ गाथा बद्ध एक ग्रन्थ। इसपर आ० श्रुतसागर (ई० १४८१-१४९९) कृत संस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबड़ा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती०/२/११४)।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, इन तीनों-को रत्नत्रय कहते हैं। यह ही मोक्षमार्ग है। परन्तु इन तीनोंमें-से कोई एक या दो आदि पृथक्-पृथक् रहकर मोक्षके कारण नहीं हैं, बल्कि समुदित रूपसे एकरस होकर ही ये तीनों युगपत् मोक्ष-मार्ग हैं। क्योंकि, किसी वस्तुको जानकर उसकी श्रद्धा या रुचि हो जानेपर उसे प्राप्त करनेके प्रति आचरण होना भी स्वाभाविक है। आचरणके बिना व ज्ञान, रुचि व श्रद्धा यथार्थ नहीं कहे जा सकते। भले ही व्यवहारसे इन्हें तीन कह लो पर वास्तवमें यह एक अखण्ड चेतनके ही सामान्य व विशेष अंश हैं। यहाँ भेद रत्नत्रयरूप व्यवहार मार्गको अभेद रत्नत्रयरूप निश्चयमार्गका साधन कहना भी ठीक ही है, क्योंकि, कोई भी साधक अभ्यास दशामें पहले सविकल्प रहकर ही आगे जाकर निर्विकल्पताको प्राप्त करता है।

१. मोक्षमार्ग सामान्य निर्देश

१. मोक्षमार्गका लक्षण

त. सू./१/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१। —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है।

२. तीनोंकी युगपतता ही मोक्षमार्ग है

प्र. सा./मू./२३७ ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु। सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ।२३७। —आगमसे यदि पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती। पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाणको प्राप्त नहीं होता।

मो. पा./मू./५९ तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो। तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं। —जो ज्ञान तप रहित है और जो तप ज्ञान रहित है, वे दोनों ही अकार्यकारी हैं। अतः ज्ञान व तप दोनों संयुक्त होनेसे ही निर्वाण प्राप्त होता है।

द. पा./मू./३० णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण। चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ।३०। —सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप इन चारोंके मेलसे ही संयम होता है। उससे जीव मोक्ष प्राप्त करता है। (द. पा./मू./३२)

मू. आ./८९८-८९९ णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि। भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ।८९८। णाणं पयासओ तवो सोधओ संजमो य गुत्तियरो। तिण्हंपि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ।८९९। —जहाज चलानेवाला निर्यापक तो ज्ञान है, पवनकी जगह ध्यान है और चारित्र जहाज है। इन ज्ञान ध्यान चारित्र तीनोंके मेलसे भव्य जीव संसारसमुद्रसे पार हो जाते हैं।८९८। ज्ञान तो प्रकाशक है तपकर्म विनाशक है और चारित्र रक्षक। इन तीनोंके संयोगसे मोक्ष होता है।८९९।

स. सि./१/१/७/५ मार्गः इति च एकवचन-निर्देशः समस्तस्य मार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः। —सूत्रमें 'मार्गः' ऐसा जो एकवचन निर्देश किया है, वह तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है', यह बतानेके लिए किया है। इससे सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्रमें पृथक्-पृथक् रहते हुए मार्गपनेका निषेध हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षका साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए। (म. पु./२४/१२०-१२२), (प्र. सा./त. प्र./२३६-२३७); (न्या. दी./३/§७३/११३)।

रा. वा./१/१/४९/१४/१ अतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य तत्फलेनाभिसंबन्ध इति निःप्रतिद्वन्द्वमेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धो; दर्शनचारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेव; मोक्षमार्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव; ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यतः क्रियाज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति। ...यतो मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसीति। ... उक्तञ्च—हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ।१। संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति। अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ।२। —औषधिके पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए जैसे उसका श्रद्धान ज्ञान व सेवनरूप क्रिया आवश्यक है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि तीनोंके मेलसे उनके फलकी प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्रका अभाव होनेके कारण ज्ञानमात्रसे, ज्ञानपूर्वकक्रिया रूप अनुष्ठानके अभावके कारण श्रद्धानमात्रसे और ज्ञान तथा श्रद्धानके अभावके कारण क्रियामात्रसे मोक्ष नहीं होती, क्योंकि ज्ञान व श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल है। इसलिए मोक्षमार्गके तीनपनेकी कल्पना जागृत होती है। कहा भी है—'क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियोंके क्रिया निष्फल हैं। एक चक्रसे रथ नहीं चलता, अतः ज्ञानक्रियाका संयोग ही कार्यकारी है। जैसे कि दावानलसे व्याप्त वनमें अन्धा व्यक्ति तो भागता-भागता जल जाता है और लंगड़ा देखता-देखता जल जाता है। यदि अन्धा और लंगड़ा दोनों मिल जायें और अन्धेके कन्धोंपर लँगड़ा बैठ जाये तो दोनोंका उद्धार हो जायेगा तब लंगड़ा तो रास्ता बताता हुआ ज्ञानका कार्य करेगा तथा अन्धा चलता हुआ चारित्रका कार्य करेगा। इस प्रकार दोनों ही वनसे बचकर नगरमें आ सकते हैं। (पं. वि./१/७५), (विज्ञानवाद/२)।

३. सामायिक संयम या ज्ञानमात्र कहनेसे भी तीनोंका ग्रहण हो जाता है

रा. वा./१/१/४९/१४/१४ 'अनन्ताः सामायिकसिद्धाः' इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्। ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्धानस्य

सामायिकचारित्रोपपत्तेः। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति। —'अनन्त जीव सामायिक चारित्रसे सिद्ध हो गये' यह वचन भी तीनोंके मोक्षमार्गका समर्थन करता है। ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही समताभावरूप चारित्र हो सकता है। समय, एकत्व और अभेद ये एकार्थवाची शब्द हैं। समय ही सामायिक चारित्र है। अर्थात् समस्त पापयोगोंसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागमें प्रतिष्ठित होना सामायिक चारित्र है।

प.प्र./टी.२/७२/१९४/१० अत्राह प्रभाकरभट्टः। हे भगवन्, यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्षः तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह। अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते, पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति। तेषां मते तु वीतरागविशेषणं नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव। तेन दूषणं भवतीति भावार्थः।—प्रश्न—हे भगवन्! यदि विज्ञानमात्रसे ही मोक्ष होता है (दे० आगे मोक्षमार्ग/३) तो सांख्य, बौद्ध आदि लोग ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष कहते हैं; उन्हें दूषण क्यों देते हो। उत्तर—हमारे हाँ 'वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान' ऐसा कहा गया है। तहाँ 'वीतराग' विशेषणसे तो चारित्रका ग्रहण हो जाता है और 'सम्यक्' विशेषणसे सम्यग्दर्शनका ग्रहण हो जाता है। पानकवत् एकको ही यहाँ तीनपना प्राप्त है। परन्तु उनके मतमें न वीतराग विशेषण है और न सम्यक् विशेषण। ज्ञानमात्र कहते हैं। इसलिए उनको दूषण दिया जाता है, ऐसा भावार्थ है।

द्र. सं./टी/३६/१५२/८ (क्रमशः) कश्चिदाह-सद्दृष्टीनां वीतरागविशेषणं किमर्थं। रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति। तत्र परिहारः। अन्धकारे पुरुषद्वयम् एकः प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेकः प्रदीपरहितस्तिष्ठति। स च कूपे पतनं सर्पादिकं वा न जानाति तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफलं नास्ति। यस्तु कूपपतनादिकं त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञानं न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्। अन्यः कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावदंशेन रागादिकमनुभवति तावदंशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफलं नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिकं त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्।—प्रश्न—सम्यग्दृष्टियोंको वीतराग विशेषण किस लिए दिया जाता है। 'रागादिक हेय हैं, ये मेरे नहीं हैं' इतना मात्र भेद विज्ञान हो जानेपर रागका अनुभव होते हुए भी ज्ञान मात्रसे ही मोक्ष हो जाता है। उत्तर—अन्धकारमें दीपक रहित कोई पुरुष कुएँमें गिरता है तो कोई दोष नहीं, परन्तु दीपक हाथमें लेकर भी यदि कोई कुएँमें गिरे तो उसे दीपकका कोई फल नहीं है, कुएँमें गिरने आदिका त्याग करना ही दीपकका फल है। इसी प्रकार भेदविज्ञान रहित व्यक्तिको तो कर्म बंधते ही हैं, परन्तु भेदविज्ञान हो जानेपर भी जितने अंशमें रागादिका अनुभव होता है, उतने अंशमें बंधता ही है और उसको भी उतने अंशमें भेदविज्ञानका फल नहीं है। जो भेदविज्ञान हो जानेपर रागादिकका त्याग करता है उसको ही भेद विज्ञानका फल हुआ जानना चाहिए।

४. वास्तवमें मार्ग तीन नहीं एक है

न्या. दी./३/§७३/११३ सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्गः उपायः न तु मार्गाः। ...इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्यसिद्धः। —सम्यग्दर्शनादि मोक्षका अर्थात् सकलकर्मके क्षयका एक मार्ग है, अनेक मार्ग नहीं हैं। सूत्रमें एकवचनके प्रयोगसे यह बात सिद्ध होती है।

५. युगपत् होते हुए भी तीनोंका स्वरूप भिन्न है

रा. वा./१/१/ वार्तिक/पृष्ठ/ पंक्ति ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न; तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत्। (६०/१६/३)। ज्ञानचारित्रयोरेकभेदादेकत्वम् अगम्यावबोधवदिति चेत्; न; आश्वुत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्तेः उत्पलपत्रशतव्यधनवत्।(६२/१६/२१)। अर्थभेदाच्च। (६४/१७/१)। कालभेदाभावो नार्थभेदहेतुः गतिजात्यादिवत्। (६५/१७/३)।—यद्यपि अग्निके ताप व प्रकाशवत् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान युगपत् उत्पन्न होते हैं परन्तु तत्त्वोंका ज्ञान व उनका श्रद्धान रूपसे इनके स्वरूपमें भेद है। जैसे अन्धकारमें ग्रहण की गयी माताको बिजलीकी चमकका प्रकाश होनेपर अगम्य जानकर छोड़ देता है, उसी प्रकार ज्ञान व चारित्र यद्यपि युगपत् होते प्रतीत होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें कालभेद है, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण जाननेमें नहीं आता जैसे कि सौ कमलपत्रोंको एक सुई से बीन्धने पर प्रत्येक पत्रके बिन्धनेका काल पृथक्-पृथक् प्रतीतिमें नहीं आता है। अतः काल की एकताका हेतु देकर ज्ञान व चारित्रमें एकता नहीं की जा सकती। दूसरे कालका अभेद हो जानेसे अर्थका भी अभेद हो जाता हो ऐसा कोई नियम नहीं है, जैसे कि मनुष्य गति और उसकी पंचेन्द्रिय जातिका काल अभिन्न होने पर भी वे दोनों भिन्न हैं।

६. तीनों की पूर्णता युगपत् नहीं होती

रा.वा./१/१ वार्तिक/पृष्ठ/ पंक्ति-एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। (६९/१७/२४)। उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभ (७०/१७/२६)। तदनुपपत्तिः, अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसंगात्। (७१/१७/३०)। न वा; यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसंभवात्तस्यापेक्षं वचनम्। .. तदपेक्ष्य संपूर्णद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षणं श्रुतं केवलं च भजनीयमुक्तम्। तथा पूर्वं सम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्रं संयतासंयतस्य सर्वचारित्रं च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्तानां यच्च यावच्च नियमादस्ति, संपूर्णं यथाख्यातचारित्रं तु भजनीयम्। (७४/१८/७)। अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य लाभे क्षायिकं सम्यग्ज्ञानं भजनीयम्। .. सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तरं भजनीयम्। (७५/१८/२०)—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें पूर्व पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है, अर्थात् हो भी और न भी हो। परन्तु उत्तरकी प्राप्तिमें पूर्वका लाभ निश्चित है। जैसे जिसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो। प्रश्न—ऐसा माननेसे अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसंग आता है। उत्तर—पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शनके होनेपर पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दशपूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान हो ही जायेगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी समझ लेना चाहिए। सम्यग्दर्शनके होनेपर देश सकल या यथाख्यात चारित्र, संयतासंयतको सकल व यथाख्यात चारित्र, ६-१० गुणस्थानवर्ती साधुको यथाख्यात चारित्र भजनीय हैं। अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जानेपर क्षायिक सम्यग्ज्ञान भजनीय है। अथवा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें से किसी एक या दोनोंके प्राप्त हो जानेपर पूर्ण चारित्र (अयोगी गुणस्थानका यथाख्यात चारित्र) भजनीय है।

७. मोक्षके अन्य कारणोंका निर्देश

स. सि/१/४/१५/४ मोक्षस्य प्रधानहेतुः संवरो निर्जरा च।—मोक्षके प्रधान हेतु संवर निर्जरा हैं। (रा. वा./१/४/३/२५/६)।

ध.७/२,१,७/गा. १/६ ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा। भावो दु पारिणामिओ...।१। —औदयिक भाव बन्ध करनेवाले हैं तथा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं।

ध. ७/२,१,७/पृष्ठ/पंक्ति सम्मद्दंसण-संजमाकसायाजोगा मोक्खकरणाणि (१/६)। एदेसिं पडिवक्खा सम्मत्तुप्पत्ती देससंजम-संजम-अणंताणुबंधिविसंयोजण-दंसणमोहक्खवणचरित्तमोहुवसामणुवसंत-कसाय-चरित्तमोहक्खवण-खीणकसाय-सजोगिकेवलीपरिणामा मोक्खपच्चया, एदेहिंतो समयं पडि असंखेज्जगुणसेडीए कम्मणिज्जरुवलंभादो। (१३/१०)।—बन्धके मिथ्यात्वादि प्रत्ययोंसे विपरीत सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय, अयोग—अथवा (गुणस्थानक्रमसे) सम्यक्त्वोत्पत्ति, देशसंयम, संयम, अनन्तानुबन्धीविसंयोजन, दर्शनमोहक्षपण, चारित्रमोहोपशमन, उपशान्तकषाय, चारित्रमोह क्षपण, क्षीणकषाय व सयोगकेवलीके परिणाम भी मोक्षके प्रत्यय हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रति समय असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा पायी जाती है।

२. निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग निर्देश

१. मोक्षमार्गके दो भेद—निश्चय व व्यवहार

त. सा./९/२ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। —निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। (न. च. वृ./२८४); (त. अनु./२८)।

२. व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण भेदरत्नत्रय

प. का./मू./१६० धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं। चेट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति।१६०। —धर्मास्तिकाय आदिका अर्थात् षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व व नव पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व सम्बन्धी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तपमें चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है। (स. सा./मू./२७६); (त. अनु./३०)।

स. सा./मू./१५५ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं। रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।१५५। जीवादि—(नव पदार्थोंका) श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन ही पदार्थोंका अधिगम सम्यग्ज्ञान है और रागादिका परिहार सम्यक्चारित्र है। यही मोक्षका मार्ग है। (न. च. वृ./३२१), (द्र. सं./टी./३९/१६२/८); (प. प्र./टी./२/१४/१२८/१२)।

त. सा./९/४ श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुनः स्युः परात्मना। सम्यक्त्वज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः। —(निश्चयमोक्षमार्ग रूपसे कथित अभेद) आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र यदि भेद अर्थात् विकल्पकी मुख्यतासे प्रगट हो रहा हो तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रयको व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिए।

प. प्र./टी./२/३१/१५०/१४ व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिषद्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धानज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य। —व्यवहारसे सर्वज्ञप्रणीत शुद्धात्मतत्त्वको आदि देकर जो षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ इनके विषयमें सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान करना तथा अहिंसादि व्रत शील आदिका पालन करना (चारित्र) ऐसा भेदरत्नत्रयका स्वरूप है।

३. निश्चयमोक्षमार्गका लक्षण अभेद रत्नत्रय

पं. का./मू./१६१ णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा। ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।१६१। —जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) द्वारा समाहित होता हुआ (अर्थात् निजात्मामें एकाग्र होता हुआ) अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (अर्थात् करने व छोड़नेके विकल्पोंसे अतीत हो जाता है), वह आत्मा ही निश्चय नयसे मोक्षमार्ग कहा गया है। (त. सा./९/३); (त. अनु./३१)।

प. प्र./मू./२/१३ पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि। दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि। —जो आत्मा अपनेसे आपको देखता है, जानता है, व आचरण करता है वही विवेकी दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप परिणत जीव मोक्षका कारण है। (न. च. वृ./३२३); (नि. सा./ता. वृ./२); (प. प्र./टी./२/१४/१२८/१३); (पं. का./ता. वृ./१६१/२३३/८); (द्र. सं./टी./३९/१६२/१०)।

प. प्र./टी./२/३१/१५१/१ निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेदरत्नत्रयस्य···। —निश्चयसे वीतराग सुखरूप परिणत जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसीके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुचरण रूप अभेदरत्नत्रयका स्वरूप है। (नि. सा./ता. वृ./२); (स. सा./ता. वृ./२/८/१०); (प. प्र./टी./८७/२०६/१५); (द्र. सं./टी./अधि २ की चूलिका/८२/७)।

४. निश्चय मोक्षमार्गका लक्षण शुद्धात्मानुभूति

यो. सा./यो./१६ अप्पादंसणु एक्कु पर अण्णु ण किं पि वियाणि। मोक्खहँ कारण जोइया णिच्छइँ एहउ जाणि।१६। —हे योगिन्! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं। यह तू निश्चय समझ।

न. च. वृ./३४२ की उत्थानिकामें उद्धृत—णिच्छयदो खलु मोक्खो तस्स य हेऊ हवेइ सब्भावो।" (सब्भावणयचक्क/३७१)। निश्चयसे मोक्षका हेतु स्वभाव है।

प्र. सा./त. प्र./२४२ एकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। —एकाग्रता लक्षण श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है, ऐसा मोक्षमार्ग ही है, ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञा./१८/३२ अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम्। यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्पदम्।३२। —जो मुनि कल्पनाके जालको दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त होता है, वही निश्चयरत्नत्रयका स्थान होता है।

पं. का./ता. वृ./१५८/२२६/१२ ततः स्थितं विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे जीवस्वभावे निश्चलावस्थानं मोक्षमार्ग इति। —अतः यह बात सिद्ध होती है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणवाले जीवस्वभावमें निश्चल अवस्थान करना ही मोक्षमार्ग है।

५. निश्चयमोक्षमार्गके अपरनाम

द्र. सं./टी./५६/२२५/१३ तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। तच्च पर्यायनामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते। (इन नामोंका केवल भाषानुवाद ही लिख दिया है संस्कृत नहीं)···इत्यादि समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्षमार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्वविद्भिरिति। —वह (वीतराग परमानन्द सुखका प्रतिभास) ही निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है। उसको पर्यायान्तर शब्दों द्वारा क्या-क्या कहते हैं, सो बताते हैं।—१. शुद्धात्मस्वरूप, २. परमात्मस्वरूप, ३. परमहंसस्वरूप, ४. परमब्रह्मस्वरूप, ५. परमविष्णुस्वरूप, ६. परमनिजस्वरूप; ७. सिद्ध, ८. निरंजनरूप, ९. निर्मलस्वरूप, १०. स्वसंवेदनज्ञान; ११. परमतत्त्वज्ञान, १२. शुद्धात्मदर्शन, १३. परमावस्थास्वरूप, १४. परमात्मदर्शन, १५. परम तत्त्वज्ञान, १६. शुद्धात्मज्ञान, १७. ध्येय स्वरूप शुद्धपारिणामिक भाव; १८. ध्यानभावनारूप, १९. शुद्धचारित्र, २०.

अंतरंग तत्त्व, २१. परमतत्त्व, २२. शुद्धात्मद्रव्य, २३. परमज्योति, २४. शुद्धात्मानुभूति, २५. आत्मद्रव्य, २६. आत्मप्रतीति, २७. आत्मसंवित्ति, २८. आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, २९. नित्यपदार्थकी प्राप्ति, ३०. परमसमाधि, ३१. परमानन्द, ३२. नित्यानन्द, ३३. स्वाभाविक आनन्द, ३४. सदानन्द, ३५. शुद्धात्मपठन, ३६. परमस्वाध्याय, ३७. निश्चय मोक्षका उपाय, ३८. एकाग्रचिन्ता निरोध, ३९. परमज्ञान, ४०. शुद्धोपयोग, ४१. भूतार्थ, ४२. परमार्थ, ४३. पंचाचारस्वरूप, ४४. समयसार, ४५. निश्चय षडावश्यक स्वरूप, ४६. केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण, ४७. समस्त कर्मोंके क्षयका कारण, ४८. निश्चय चार आराधना स्वरूप, ४९. परमात्मभावना रूप, ५०. सुखानुभूतिरूप परमकला, ५१. दिव्यकला, ५२. परम अद्वैत, ५३. परमधर्मध्यान, ५४. शुक्लध्यान, ५५. निर्विकल्पध्यान, ५६. निष्कलध्यान, ५७ परमस्वास्थ्य, ५८. परमवीतरागता, ५९. परम समता, ६०. परम एकत्व, ६१. परम भेदज्ञान, ६२. परम समरसी भाव—इत्यादि समस्त रागादि विकल्पोपाधि रहित परमाह्लादक सुखलक्षणवाले ध्यानस्वरूप ऐसे निश्चय मोक्षमार्गको कहनेवाले अन्य भी बहुतसे पर्यायनाम जान लेने चाहिए।

६. निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गके लक्षणोंका समन्वय

प. प्र./मू./२/४० दंसणु णाणु चरित्तु तसु जो समभाउ करेइ। इयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ।४०। —दर्शन ज्ञान चारित्र वास्तवमें उसीके होते हैं, जो समभाव करता है। अन्य किसीके इन तीनोंमें-से एक भी नहीं होता, इस प्रकार जिनेन्द्र देव कहते हैं।

प्र. सा./त. प्र./२४० यः खलु ··सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् ··· यमसाधनीकृतशरीरपात्रः ··· समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चित्तवृत्तेः···निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात् संयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति। —जो पुरुष सकल ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित विशद एक ज्ञानाकार रूप आत्माका श्रद्धान और अनुभव (ज्ञान) करता हुआ, आत्मामें ही नित्य निश्चल वृत्तिको (निश्चय चारित्रको) इच्छता हुआ, संयमके साधनीभूत शरीरमात्रको पंच समिति आदि (व्यवहार चारित्र) के द्वारा तथा पंचेन्द्रियोंके निरोध द्वारा मनवचनकायके व्यापारको रोकता है। तथा ऐसा होकर चित्तवृत्तिमें-से कषायसमूहको अत्यन्त मर्दन कर-करके अक्रमसे मार डालता है, वह व्यक्ति वास्तवमें सकल परद्रव्यसे शून्य होनेपर भी विशुद्ध दर्शनज्ञानमात्र स्वभावरूपसे रहनेवाले आत्म तत्त्वमें नित्य निश्चय परिणति (अभेद रत्नत्रय) उत्पन्न होनेसे साक्षात् संयत ही है। और उसे ही आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्व (भेदरत्नत्रय) की युगपतताके साथ आत्मज्ञान (निश्चय मोक्षमार्ग) की युगपतता सिद्ध होती है।

प्र. सा./त. प्र./२४२ ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन···परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावृत्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः। —ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी (अर्थात् स्व व परकी) यथावस्थित प्रतीतिरूप तो सम्यग्दर्शन पर्याय, तथा उसी स्वपर तत्त्वकी यथावस्थित अनुभूति रूप ज्ञानपर्याय, तथा उसीकी क्रियान्तरसे निवृत्तिके द्वारा (अर्थात् ज्ञेयोंका आश्रय लेकर क्रमपूर्वक जाननेकी निवृत्ति करके) एक दृष्टिज्ञातृतत्त्व (निजात्मा) में परिणति रूप चारित्र पर्याय है। इन तीनों पर्यायोंरूप युगपत परिणत आत्माके आत्मनिष्ठता होनेपर संयतत्व होता है। वह संयतत्व ही एकाग्र्यलक्षणवाला श्रामण्य या मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहाँ पानकवत् अनेकात्मक एक (विशद ज्ञानाकार) का अनुभव होनेपर भी समस्त परद्रव्योंसे निवृत्ति होनेके कारण एकाग्र्यता अभिव्यक्त है। वह संयतत्व भेदात्मक है, इसलिए उसे ही पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' ऐसा कहते हैं। वह अभेदात्मक भी है, इसलिए द्रव्यप्रधान निश्चयनयसे 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहते हैं। समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं, इसलिए उभयग्राही प्रमाणसे 'वे दोनों अर्थात् रत्नत्रय व एकाग्रता) मोक्षमार्ग हैं, ऐसा कहते हैं। (त. सा./९/२१)

प. प्र./टी./१६/१३/४ यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैकनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मा स्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थः। —जिस प्रकार द्राक्षा कपूर व खाण्ड आदि बहुतसे द्रव्योंसे बना हुआ भी पानक अभेद विवक्षासे एक कहा जाता है, उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाले निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र इन तीनोंके द्वारा परिणत अनेकरूप वाला भी आत्मा अभेद विवक्षासे एक भी कहा जाता है, ऐसा भावार्थ है।

प. ध./उ./७६६ सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः। त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितं।७६६। —सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि तीनों अविनाभावी हैं। इसलिए ये तीनों अखण्डित रूपसे एक ही हैं।

७. अभेद मार्गमें भेद करनेका कारण

स. सा./मू./१७-१८ जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि। तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।१७। एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो। अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।१८। —जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर श्रद्धा करता है, और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, इसी प्रकार मोक्षके इच्छुक पुरुषको जीवरूपी राजाको जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात उसीका अनुचरण करना चाहिए और अनुभव द्वारा उसमें लय हो जाना चाहिए।

३. दर्शन ज्ञान चारित्रमें कथंचित् एकत्व

१. तीनों वास्तवमें एक आत्मा ही है

स. सा./मू./७,१६,२७७ ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं। ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।७। दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं। ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।१६। आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च। आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।२७७। —ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, व ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते हैं, निश्चयसे ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं

है, अर्थात् ये कोई तीन पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।७। (न. च. वृ./२६३)। साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करने योग्य है और उन तीनोंको निश्चय नयसे एक आत्मा ही जानो।१६। (मो. पा./१०५); (ति. प./६/२३); (द्र. सं./मू./३६)। निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही संवर और योग है।२७७।

पं. का./मू./१६२ जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं। सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि। — जो आत्मा अनन्यमय आत्माको आत्मासे आचरता है, जानता है, देखता है, वह (आत्मा ही) चारित्र है, ज्ञान है, और दर्शन है, ऐसा निश्चित है। (त. अनु./३१)।

द. पा./मू./२० जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं। पण्णत्तं ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं।२०। — जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान्‌ने व्यवहारसे सम्यक्त्व कहा है, निश्चयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। (प. प्र./मू./२/१६)।

यो. सा./अ./१/४१-४२ आचारवेदनं ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्वरोचनं। चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते।४१। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रस्वभावः परमार्थतः। आत्मा रागविनिर्मुक्तो मुक्तिमार्गो विनिर्मलः।४२। — व्यवहारनयसे आचारोंका जानना ज्ञान, तत्त्वोंमें रुचि रखना सम्यक्त्व और तपोंका आचरण करना सम्यक्चारित्र है।४१। परन्तु निश्चयसे तो, जो आत्मा रागद्वेष रहित होनेके कारण स्वयं सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र स्वभावस्वरूप है वही निर्दोष मोक्षमार्ग है।४२।

२. तीनोंको एक आत्मा कहनेका कारण

स. सा./आ./१२/क ६ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः, पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्। सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।६। — इस आत्माको अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है और शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है। एवं जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं, कि इस नव तत्त्वकी परिपाटीको छोड़कर, यह आत्मा ही हमें प्राप्त हो।

द्र./सं./मू./४० रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि। तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा। — आत्माको छोड़कर अन्य द्रव्योंमें रत्नत्रय नहीं रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमय आत्मा ही निश्चयसे मोक्षका कारण है।

पं. वि./४/१४,१५ दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते। स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः।१४। एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा। कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि।१५। — आत्मस्वरूपके निश्चयको सम्यग्दर्शन, उसके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान, तथा उसी आत्मामें स्थिर होनेको सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इन तीनोंका संयोग मोक्षका कारण होता है।१४। परन्तु शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे ये तीनों एक चैतन्य स्वरूप ही हैं, कारण उस एक अखण्ड वस्तुमें भेदोंके लिए स्थान ही कहाँ है।१५।

३. ज्ञानमात्र ही मोक्षमार्ग है

मो. पा./मू./२० संजम संजुत्तस्स य सुज्झाण जोयस्स मोक्खमग्गस्स। णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं। — संयमसे संयुक्त तथा ध्यानके योग्य मोक्षमार्गका लक्ष्य क्योंकि ज्ञानसे प्राप्त होता है, इसलिए इसको जानना चाहिए है।

स. सा./आ./१५५ मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः। — मोक्षका कारण वास्तवमें सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र है, उसमें जीवादि-पदार्थोंके श्रद्धान स्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्दर्शन है, उन पदार्थोंके ज्ञानस्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्ज्ञान है, और उस ज्ञानका ही रागादिके परिहारस्वभावस्वरूप परिणमन करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये तीनों एक ज्ञानका ही परिणमन है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ मोक्षका कारण कारण है।

स. सा./आ./परि/क २६५ के पश्चात्—आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यते एव; तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः.. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा...रत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। — आत्मवस्तुको ज्ञानमात्र होनेपर भी उसे उपाय-उपेयभाव है ही। क्योंकि वह एक होनेपर भी स्वयं साधक रूपसे और सिद्धरूपसे दोनों प्रकारसे परिणमित होता है। (आत्मा परिणामी है और साधकत्व व सिद्धत्व उसके परिणाम हैं। तहाँ भी पूर्व पर्याययुक्त आत्मा साधक और उत्तरपर्याययुक्त आत्मा साध्य है।) उसमें जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय है। इसलिए अनादिकालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र द्वारा स्वरूपसे च्युत होनेके कारण संसारमें भ्रमण करते हुए, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके पाकके प्रकर्षकी परम्परासे क्रमशः स्वरूपमें आरोहण करता है। तदनन्तर अन्तर्मग्न जो निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उनकी तद्रूपताके द्वारा स्वयं साधक रूपसे परिणमित होता है। और अन्तमें रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवर्तित जो सकल कर्मके क्षयसे प्रज्वलित अस्खलित विमल स्वभाव, उस भावके द्वारा स्वयं सिद्ध रूपसे परिणमित होता है। ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभावको सिद्ध करता है।

४. तीनोंके भेद व अभेदका समन्वय

त. सा./९/२१ स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः, पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्गः। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः।२१। — सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीनोंमें भेद करना सो पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है। इन सर्व पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही रहता है। पर्याय तथा जीवमें कोई भेद न देखते हुए रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न देखना, सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

५. ज्ञान कहनेसे यहाँ पारिणामिक भाव इष्ट है

न. च. वृ./३७१ सद्दाणणाणचरणं जाव ण जीवस्स परमसब्भावो। ता अण्णाणी मूढो संसारमहोवहिं भमइ। — जबतक जीवको निज परम स्वभाव (पारिणामिकभाव) में श्रद्धान ज्ञान व आचरण नहीं होता तबतक वह अज्ञानी व मूढ रहता हुआ संसार महासागरमें भ्रमण करता है।

स. सा./आ.२०४ यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकं पदमिह भिन्दन्ति,

किंतु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति।—यह ज्ञान नामका एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते, किन्तु वे भी इस एक पदका अभिनन्दन करते हैं।

नि. सा./ता.वृ./४१ पञ्चानां भावानां मध्ये क्षायिकभावः···सिद्धस्य भवति। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकभावाः संसारिणामेव भवन्ति न मुक्तानाम्। पूर्वोक्तभावचतुष्टयं सावरणसंयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूप...पञ्चमभावभावनया पञ्चमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति।—पाँच भावोंमेंसे क्षायिक भाव सिद्धोंको होता है और औदयिक औपशमिक व क्षायोपशमिक भाव संसारियोंको होते हैं, मुक्तोंको नहीं। ये पूर्वोक्त चार भाव आवरण सहित होनेसे मुक्तिके कारण नहीं हैं। त्रिकाल-निरुपाधि-स्वरूप पंचमभाव (पारिणामिकभाव) की भावनासे ही मुमुक्षु जन पंचम गतिको प्राप्त करते हैं, करेंगे, और किया है।

६. दर्शनादि तीनों-चैतन्यकी ही दर्शन ज्ञानरूप सामान्य विशेष परिणति हैं

पं. का./मू./१५४,१५९ जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अण्णाणमयं। चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।१५४। चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा। दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो।१५९।—जीवका स्वभाव ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन है, जो कि अनन्यमय है। उन ज्ञान व दर्शनमें नियत अस्तित्व जो कि अनिन्दित है, उसे चारित्र कहा है।१५४। जो परद्रव्यात्मक भावोंसे रहित स्वरूपवाला वर्तता हुआ दर्शन ज्ञानरूप भेदको आत्मासे अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्रको आचरता है।१५९।

रा. वा./१/१/४२/१६/११ ज्ञानदर्शनयोरनेन विधिना अनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्यार्थादेशाद् यथा ज्ञानपर्यायि आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि। तयोरेव प्रतिनियतज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्यश्च दर्शनपर्यायः।—(ज्ञान, दर्शन चारित्रके प्रकरणमें) ज्ञान और दर्शनमें, अनादि पारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा होनेपर अभेद है, क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है और वही दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोंकी विवक्षा करते हैं तब ज्ञानपर्याय भिन्न है और दर्शन पर्याय भिन्न है।

पं. का./त.प्र./१५४ जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्गः। जीवस्वभावो हि ज्ञानदर्शने अनन्यमयत्वात्। अनन्यमयत्वं च तयोर्विशेषसामान्यचैतन्यस्वभावजीवनिर्वृत्तत्वात्। अथ तज्जीवस्वरूपभूतयोर्ज्ञानदर्शनयोर्यन्नियतमवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपवृत्तिमयमस्तित्वं रागादिपरिणत्यभावादनिन्दितं तच्चरितं। तदेव मोक्षमार्ग इति।—जीवस्वभाव नियत चारित्र मोक्षमार्ग है, जीवस्वभाव वास्तवमें ज्ञान दर्शन है, क्योंकि वे अनन्यमय हैं। और उसका भी कारण यह है कि विशेष चैतन्य (ज्ञान) और सामान्य चैतन्य (दर्शन) जिसका स्वभाव है ऐसे जीवसे वे निष्पन्न हैं। अब जीवके स्वरूपभूत ऐसे उन ज्ञान दर्शनमें नियत अर्थात् अवस्थित ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप वृत्तिमय अस्तित्व, जो कि रागादि परिणामके अभावके कारण अनिन्दित है, वह चारित्र है। वही मोक्षमार्ग है।

(दे. सम्यग्दर्शन/I/१); (सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्दका अर्थ कथंचित् सत्तावलोकन रूप दर्शन भी ग्रहण किया गया है, जो कि चैतन्यकी सामान्य शक्ति है)।

४. निश्चय व व्यवहारका कथंचित् मुख्यता गौणता तथा समन्वय

१. निश्चयमार्गकी कथंचित् प्रधानता

स. सा./आ./१५३ ज्ञानमेव मोक्षहेतुः, तदभावः स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनां···शुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां···शुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।—ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि, ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियोंके अन्तरंगमें व्रत नियम आदि शुभ कर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव है। अज्ञान ही बन्धका कारण है, क्योंकि, उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रतादि शुभकर्मोंका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है। (स. सा./आ./१५१,१५२)।

प्र.सा./त.प्र/२३८ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्।—आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपतता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम सम्मत करना।

नि. सा./ता. वृ./२ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रयं···।—'सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है' ऐसा वचन होनेसे मार्ग तो शुद्ध रत्नत्रय है।

२. निश्चय ही एक मार्ग है अन्य नहीं

प्र. सा/मू व.त.प्र/१९९ एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं स मुट्ठि समणा। जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।१९९। यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकरा अचरमशरीरमुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः न पुनरन्यथा। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति।—जिनेन्द्र और श्रमण अर्थात् तीर्थंकर और अन्य सामान्य मुनि इस पूर्वोक्त प्रकारसे मार्गमें आरूढ़ होते हुए सिद्ध हुए हैं। नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाण मार्गको। सभी सामान्य चरमशरीर, तीर्थंकर, और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्त्ववृत्तिलक्षण विधिसे प्रवर्तमान मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधिसे भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं। (प्र. सा./मू. व त. प्र./८२)।

स. सा./आ./४१२/क. २४० एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकस्तत्रैव स्थितिमेति अस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति। तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्, सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति।२४०।—दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसीका अनुभव करता है, और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष नित्य-उदित-समयसारको अल्पकालमें ही अवश्य प्राप्त करता है, अर्थात् उसका अनुभव करता है।

यो. सा./अ./८/८८ एक एव सदा तेषां पन्थाः सम्यक्त्वचारिणाम्। व्यक्तीनामिव सामान्यं दशाभेदोऽपि जायते।८८।—जिस प्रकार व्यक्ति सामान्य रूपसे एक होता हुआ भी अवस्था भेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कहलाता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग एक होते हुए भी अवस्थाभेदसे औपशमिक क्षायिक आदि कहलाता है।

नि. सा./ता. वृ./१८/क ३४ असति सति विभावे तस्य चिन्तास्ति नो नः, सततमनुभवामः शुद्धमात्मानमेकम्। हृदयकमलसंस्थं सर्वकर्मप्रमुक्तं, न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात्।३४। —विभाव

हो अथवा न हो उसकी हमें चिन्ता नहीं है। हम तो हृदयकमलमें स्थित सर्व कर्मोंसे विमुक्त, एक शुद्धात्माका ही अनुभवन करते हैं। क्योंकि अन्य किसी प्रकारसे मुक्ति नहीं है, नहीं है।

२. केवल उसका प्ररूपण ही अनेक प्रकारसे किया जाता है

प्र. सा./त. प्र./२४२/क १६ इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवंस्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य यः। द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दत्स्वचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः।१६। —इस प्रकार प्रतिपादकके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ, एकलक्षणताको तथा त्रिलक्षणताको प्राप्त जो मोक्षका मार्ग है, उसे लोक द्रष्टा ज्ञातामें परिणति बाँधकर, अचलरूपसे अवलम्बन करे, जिससे कि वह उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें प्राप्त हो।

मो. मा. प्र./१७/३६५/२० सो मोक्षमार्ग दोय नाहीं। मोक्षमार्गका निरूपण दोय प्रकारका है। ...एक निश्चय मोक्षमार्ग और एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। (द. पा./पं. जयचन्द/२)।

३. व्यवहारमार्गकी कथंचित् गौणता

न. च. वृ./३७६ भेदुवयारे जइया वट्टदि सो वि य सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा।३७६। —अभेद रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके भेद व उपचारमें जीव जब तक वर्तता है तब तक वह शुभ व अशुभके आधीन रहता हुआ 'कर्ता' कहलाता है। इसलिए वह आत्मा संसारी है।

स. सा./आ./२७६-२७७ आचारादि शब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चारित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः। शुद्धात्मा ज्ञानाश्रयत्वाज्ज्ञानं, शुद्धात्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्धात्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः। तथा हि नाचारादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः...शुद्धात्मैव ज्ञानस्याश्रयः...। —आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञानका आश्रय होनेसे ज्ञान है, जीवादि नवपदार्थ दर्शनका आश्रय होनेसे दर्शन हैं, और छह जीवनिकाय चारित्रका आश्रय होनेसे चारित्र हैं, इस प्रकार तो व्यवहार मार्ग है। शुद्धात्मा ही ज्ञानका, दर्शनका व चारित्रका आश्रय होनेसे ज्ञान दर्शन व चारित्र है, इस प्रकार निश्चयमार्ग है। तहाँ आचारांगादिको ज्ञानादिका आश्रयपना व्यभिचारी होनेसे व्यवहारमार्ग निषेध्य है, और शुद्धात्माको ज्ञानादिका आश्रयपना निश्चित होनेसे निश्चयमार्ग उसका निषेधक है। वह इस प्रकार कि आचारांगादि एकान्तसे ज्ञानादिके आश्रय नहीं हैं और शुद्धात्मा एकांतसे ज्ञानका आश्रय है। (क्योंकि आचारांगादिके सद्भावमें भी अभव्यको ज्ञानादिका अभाव है और उनके सद्भाव अथवा असद्भावमें भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानादिका सद्भाव है)।

नि. सा./ता. वृ./६१/क १२२ त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्गरत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी। शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोधमेकं, श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे।१२२। —समस्त विभावको तथा व्यवहारमार्गके रत्नत्रयको छोड़कर निजतत्त्ववेदी मतिमान पुरुष शुद्धात्मतत्त्वमें नियत, ऐसा जो एक निजज्ञान श्रद्धान व चारित्र, उसका आश्रय करता है।

५. व्यवहारमार्ग निश्चयका साधन है

प. प्र./मू./२/१४ जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु। तं परियाणहि जीव तुहुँ जें परु होइ पवित्तु।१४। —हे जीव! व्यवहारनय जो दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रूप रत्नत्रयको कहता है, उसको तू जान। जिससे कि तू पवित्र हो जावे।

अराधना सार/७/३० जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमपैति शक्तिम्। प्रभाविकाशो क्षणमन्तरेण भानूदयं को वदते विवेकी। —व्यवहारमार्गमें प्रवेश किये बिना जीव निश्चयमार्गको जाननेमें समर्थ नहीं हो सकता। जैसे कि प्रभात हुए बिना सूर्यका उदय नहीं हो सकता।

त. सा./६/२ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्। —निश्चय व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकार है। तहाँ निश्चयमार्ग तो साध्यरूप है और व्यवहारमार्ग उसका साधन है। (न. च. वृ./३४१ में उद्धृत गाथा नं. २); (त. अनु./२८); (प. प्र./टी./२/१२/१२६/५;२/१४/१२६/१)।

पं. का./त. प्र./१५६ न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्। —(निश्चय द्वारा अभिन्न साध्यसाधनभावसे तथा व्यवहार द्वारा भिन्न साध्यसाधन भावसे जो मोक्षमार्गका दो प्रकार प्ररूपण किया गया है) इनमें परस्पर विरोध आता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाणवत् निश्चय व व्यवहारको साध्यसाधनपना है (अर्थात् जैसे सुवर्णपाषाण अग्निके संयोगसे शुद्ध सुवर्ण बन जाता है, वैसे ही जीव व्यवहारमार्गके संयोगसे निश्चयमार्गको प्राप्त हो जाता है। (दे० पं. का./ता. वृ./१६०/२३२/१४); (द्र. सं./टी./३६/१६२/११))।

अन. ध./१/६२/१०१ उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन्। भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम्।६२। उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरण इन उपायोंके द्वारा भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधक भव्य पुरुष वास्तविक मोक्षमार्गको नियमसे प्राप्त करता है।

पं. का./ता. वृ./१०५/१६७ निश्चयमोक्षमार्गस्य परंपरया कारणभूतव्यवहारमोक्षमार्गम्। —व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका परम्परा कारण है।

प. प्र./टी./२/१४/१२८/१० हे जीव! ...निश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि। त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि। परम्परया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि। —हे जीव! तू निश्चय मोक्षमार्गके साधक व्यवहार मोक्षमार्गको जान। उसको जाननेसे तू परम्परामें जाकर परमात्मा हो जावेगा।

६. दोनोंके साध्य-साधन भावकी सिद्धि

न. च./श्रुत/पृ. ५५ व्यवहारप्रसिद्ध्यैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति। सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्। —व्यवहारकी प्रसिद्धिके साथ निश्चयकी सिद्धि बतलायी गयी है, अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि समीचीन द्रव्यागमके द्वारा समीचीन प्रकारसे सिद्ध कर लिये गये तत्त्वके सेवनसे व्यवहाररत्नत्रयकी समीचीन सिद्धि होती है।

प. प्र./टी./२/१४/१२६/१ अत्राह शिष्यः। निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भविष्यतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः। सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्ग-

विषये संवादगाथामाह—जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं। सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं। —प्रश्न—निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उसके होते हुए सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता। तब वह निश्चयका साधक कैसे हो सकता है। उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षा परम्परासे वह साधक हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकारसे यों समझ लीजिए कि सविकल्प व निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका मोक्षमार्ग है। तहाँ 'मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ' इत्यादि रूप सविकल्प मार्ग तो साधक होता है और निर्विकल्प समाधिरूप साध्य होता है, ऐसा भावार्थ है। (पं. का./ता. वृ./१५६/२३०/१०)।

पं.का./पं. हेमराज/१६१/२३३/१७—प्रश्न—जो आप हीसे निश्चय मोक्षमार्ग होय तो व्यवहार साधन किस लिये कहाँ? उत्तर—यह आत्मा अनादि अविद्यासे युक्त है, जब काललब्धि पानेसे उसका नाश होय, उस समय व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है।…(तब) अज्ञान रत्नत्रय (मिथ्यादर्शनादि) के नाशका उपाय…सम्यक् रत्नत्रयके ग्रहण करनेका विचार होता है। इस विचारके होनेपर जो (अविद्या) अनादिका ग्रहण था, उसका तो त्याग होता है और जिस (सम्यग्दर्शन) का त्याग था, उसका ग्रहण होता है। तत्पश्चात् कभी आचरणमें दोष होय तो दंडशोधनादिक करि उसे दूर करते हैं, और जिस कालमें शुद्धात्म-तत्त्वका उदय होता है, तब ··ग्रहण त्यजनकी बुद्धि मिट जाती है···स्वरूप गुप्त होता है। ···तब यह जीव निश्चय मोक्षमार्गी कहाता है। इस कारण ही निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गको साध्य-साधन भावकी सिद्धि होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक—पं० टोडरमल (ई० १७६६) द्वारा रचित हिन्दी भाषाका अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, क्योंकि, विद्वेषियोंकी चुगलीके कारण पंडितजीको असमयमें ही अपना शरीर छोड़ना पड़ा। (ती./४/२८६)।

मोक्षशास्त्र—दे० तत्त्वार्थसूत्र।

मोक्ष सप्तमीव्रत—७ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शु. ७ को उपवास करे। 'ओं ह्रीं श्रीपार्श्वनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह)।

मोघ क्रिया – दे० संस्कार/२।

मोघ मन—दे० मनोयोग।

मोघ वचन—दे० वचन/१,२। (असत्य)।

मोह—

प्र. सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु। विसएसु च पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि। —पदार्थका अयथा ग्रहण (दर्शनमोह); और तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव तथा विषयोंकी संगति (शुभ व अशुभ प्रवृत्तिरूप चारित्र मोह) ये सब मोहके चिह्न हैं।

प्र. सा./मू. व. त. प्र./८३ दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।—द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढोभावः स खलु मोहः। —जीवके द्रव्यादि सम्बन्धी मूढभाव मोह है, अर्थात् धतूरा खाये हुए मनुष्यकी भाँति जीवके जो पूर्व वर्णित द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, उनमें होनेवाला तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण वाला मूढभाव वास्तवमें मोह है। (स. सा./आ./५१); (द्र. सं./टी./४८/२०५/६)।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/६ क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीपुंनपुंसकवेद-मिथ्यात्वानां समूहो मोहः —क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक-वेद और मिथ्यात्व इनके समूहका नाम मोह है।

ध. १४/५,६,१५/११/१० पंचविहमिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं सासणसम्मत्तं च मोहो। —पंच प्रकारका मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सासादनसम्यक्त्व मोह कहलाता है।

पं. का./त. प्र./१३१ दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः। —दर्शनमोहनीयके विपाकसे जो कलुषित परिणाम होता है, वह मोह है।

चा. सा./६६/७ मोहो मिथ्यात्वत्रिवेदसहिताः प्रेमहास्यादयः। —मिथ्यात्व, त्रिवेद, प्रेम, हास्य आदि मोह है।

प्र. सा./ता. वृ./७/६/१२ शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। —शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वके विनाशक दर्शनमोहको मोह कहते हैं।

दे. व्यामोह—(पुत्र कलत्रादिके स्नेहको व्यामोह कहते हैं)।

१. मोहके भेद

न. च. वृ./२९९,३१० असुह सुह चिय कम्मं दुविहं तं दव्वभावभेयगयं। तं पिय पडुच्च मोहं संसारो तेण जीवस्स।२९९। कज्ज पडि जह पुरिसो इक्को वि अणेक्करूवमापण्णो। तह मोहो बहुभेओ णिद्दिट्ठो पच्चयादीहिं।३१०। —शुभ व अशुभके भेदसे अथवा द्रव्य व भावके भेदसे कर्म दो प्रकारका है। उसकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे संसार होता है।२९९। जिस प्रकार एक ही पुरुष कार्यके प्रति अनेक रूपको धारण कर लेता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरति कषाय आदिरूप प्रत्ययोंके भेदसे मोह भी अनेक भेदरूप है।३१०।

प्र. सा./त. प्र./८३ मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः।—मोह, राग व द्वेष, इन भेदोंके कारण मोह तीन प्रकारका है।

२. प्रशस्त व अप्रशस्त मोह निर्देश

नि. सा./ता. वृ./६ चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त इति। —चार प्रकारके श्रमण संघके प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त है। (विशेष दे० उपयोग/II/४; योग/१)।

दे. राग/२ (मोह भाव (दर्शनमोह) अशुभ ही होता है।)

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. मोह व विषय कषायादिमें अन्तर।	—दे० प्रत्यय/१।
२. कषायों आदिका राग व द्वेषमें अन्तर्भाव।	—दे० कषाय/४।
३. मोह व रागादि टालनेका उपाय।	—दे० राग/५।

मोहनीय—आठों कर्मोंमें मोहनीय ही सर्व प्रधान है, क्योंकि, जीवके संसारका यही मूलकारण है। वह दो प्रकारका है—दर्शन मोह व चारित्र मोह। दर्शनमोह सम्यक्त्वको और चारित्रमोह साम्यता रूप स्वाभाविक चारित्रको घातता है। इन दोनोंके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि व रागी द्वेषी हो जाता है। दर्शनमोहके ३ भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। चारित्रमोहके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय। क्रोधादि चार कषाय हैं और हास्यादि ९ अकषाय हैं।

१. मोहनीय सामान्य निर्देश

१. मोहनीय कर्म सामान्यका लक्षण

स. सि./८/४/३८०/५ मोहयति मोह्यतेऽनेनेति वा मोहनीयम्। —जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। (रा. वा/८/४/२/५६८/१), (ध. ६/१,९-१,८/११/५,७), (ध. १३/५,५,१९/२०८/१०), (गो. क./जी. प्र./२०/१३/१५)।

द्र. सं./टी./३३/९२/११ मोहनीयस्य का प्रकृतिः। मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। —मद्यपानके समान हेय-उपादेय ज्ञानकी रहितता, यह मोहनीयकर्मकी प्रकृति है। (और भी—दे० प्रकृतिबन्ध/३/१)।

२. मोहनीयकर्मके भेद—१. दो या २८ भेद :

ष. खं. ६/१,९-१/सू. १९-२०/३७ मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ ।१९। जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं, दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेव ।२०। —१. मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ हैं ।१९। (ष. खं. १२/४,२,१४/सूत्र १०/४८२); (ष. खं. १३/५,५/सूत्र ९०/३५७); (म. ब १/§ ५/२८/२); (विशेष दे० आगे दर्शन व चारित्रमोहकी उत्तर प्रकृतियाँ)। २. मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। (ष. खं. १३/५.५/सूत्र ९१/३५७); (मू. आ/१२२६); (त. सू/८/९); (पं. सं/प्रा/२/४ व उसकी मूल व्याख्या); (गो. क/जी./प्र/२५/१७/९); (पं. ध./उ./ ९८५)।

गो. क./जी. प्र /३३/२७/१८ दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयं इति मोहनीयं चतुर्विधम्। —दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय, इस प्रकार मोहनीय कर्म चार प्रकारका है।

२. असंख्यात भेद

ध. १२/४,२,१४,१०/४८२/६ पज्जवट्ठियणए पुण अवलंबिज्जमाणे मोहणीयस्स असंखेज्जलोगमेत्तीयो होंति, असंखेज्जलोगमेत्तउदयट्ठाणण्णहाणुववत्तीदो। —पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर तो मोहनीय कर्मकी असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं, क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते।

३. मोहनीयके लक्षण सम्बन्धी शंका

ध. ६/१,९-१,८/११/५ मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा-उत्तीदो। अथवा मोहयतीति मोहनीयम्। एवं संते धत्तूर-सुरा-कलत्तादीणं पि मोहणीयत्तं पसज्जदीदि चे ण, कम्मदव्वमोहणीये एत्थ अहियारादो। ण कम्माहियारे धत्तूर-सुरा-कलत्तादीणं संभवो अत्थि। —प्रश्न—'जिसके द्वारा मोहित होता है, वह मोहनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर जीवके मोहनीयत्व प्राप्त होता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, जीवसे अभिन्न और 'कर्म' ऐसी संज्ञावाले पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तृत्वका आरोपण करके उस प्रकारकी व्युत्पत्ति की गयी है। प्रश्न—अथवा 'जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है', ऐसी व्युत्पत्ति करने पर धतूरा, मदिरा और भार्या आदिके भी मोहनीयता प्रसक्त होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर मोहनीय नामक द्रव्यकर्मका अधिकार है। अतएव कर्मके अधिकारमें धतूरा, मदिरा और स्त्री आदिकी सम्भावना नहीं है।

४. मोहनीय व ज्ञानावरणी कर्मोंमें अन्तर

रा. वा./८/४-५/५६८/१३ स्यादेतत्—सति मोहे हिताहितपरीक्षणाभावात् ज्ञानावरणादविशेषो मोहस्येति; तन्न; किं कारणम्। अर्थान्तरभावात्। याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्थाश्रद्धानं यतः स मोहः। ज्ञानावरणेन ज्ञानं तथान्यथा वा न गृह्णाति ।४। यथा भिन्नलक्षणाङ्कुरदर्शनात् बीजकारणान्यत्वं तथैवाज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽवसीयते। —प्रश्न—मोहके होनेपर भी हिताहितका विवेक नहीं होता, अतः मोहको ज्ञानावरणसे भिन्न नहीं कहना चाहिए? उत्तर—पदार्थका यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थका अश्रद्धान (दर्शन) मोह है, पर ज्ञानावरणसे ज्ञान तथा या अन्यथा ग्रहण ही नहीं करता, अतः दोनोंमें अन्तर है ।४। (पं. ध./उ./९८९-९९०) जैसे अंकुररूप कार्यके भेदसे कारणभूत बीजोंमें भिन्नता है उसी तरह अज्ञान और चारित्रमूढ़ इन दोनोंमें भिन्नता होनी ही चाहिए ।५।

५. सर्व कर्मोंमें मोहनीयकी प्रधानता

ध. १/१,१,१/४३/१ अशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोहः। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपादेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां सत्त्वोपलम्भान्न तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययासमर्थत्वाच्च। —समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है। प्रश्न—केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकीके समस्त कर्म मोहके ही अधीन हैं। मोह-बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं, जिससे कि वे स्वतन्त्र समझे जायें। इसलिए सच्चा अरि मोह ही है और शेष कर्म उसके अधीन हैं। प्रश्न—मोहके नष्ट हो जानेपर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिए उनको मोहके अधीन मानना उचित नहीं है। उत्तर—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जानेपर, जन्म मरणकी परम्परा रूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व-असत्त्वके समान हो जाता है। (पं. ध./उ./१०६४-१०७०)।

२. दर्शनमोहनीय निर्देश

१. दर्शनमोह सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३/३७६/१ दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्।......तदेवं लक्षणं कार्यं—'प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृतिः'। —तत्त्वार्थ श्रद्धान न होने देना दर्शनमोहकी प्रकृति है। इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है। (रा. वा./८/३/४/५६७/४); (और भी दे० मोह/१)।

ध. ६/१,९-१,२१/३८/३ दंसणं अत्तागम-पत्थेसु रुई पच्चओ सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो तं मोहेदि विवरीयं कुणदि त्ति दंसण-मोहणीयं। जस्स कम्मस्स उदएण अणत्ते अत्तबुद्धी, अणागमे आगमबुद्धी, अपयत्थे पयत्थबुद्धी, अत्तागमपयत्थेसु सद्धाए अत्थिरत्तं, दोसु वि सद्धा वा होदि तं दंसणमोहणीयमिदि उत्तं होदि। —१. दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन, ये सब एकार्थ-वाचक नाम हैं। आप्त या आत्मामें, आगम और पदार्थोंमें रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते हैं। उस दर्शनको जो मोहित करता है, अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं। (ध. १३/५, ५,९१/३५७/११)। २. जिस कर्मके उदयसे अनाप्तमें आप्तबुद्धि, और अपदार्थमें पदार्थ बुद्धि होती है; अथवा आप्त आगम और पदार्थोंमें श्रद्धानकी अस्थिरता होती है; अथवा दोनोंमें भी अर्थात् आप्त-अनाप्तमें, आगम-अनागममें और पदार्थ-अपदार्थमें श्रद्धा होती है, वह दर्शनमोहनीयकर्म है, यह अर्थ कहा गया है।

पं. ध./उ./१००५ एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः। तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ।१००५। —इसी तरह जीवके सम्यक्त्वनामक गुणके होते हुए जो कर्म उस सम्यक्त्व गुणको सर्वतः मूर्च्छित कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते हैं।

२. दर्शन मोहनीयके भेद

ष. ख. ६/१,९-१/सूत्र २१/३८ जं तं दंसणमोहणीयं कम्मं तं बंधादो एयविहं, तस्स संतकम्मं पुण तिविहं सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तं चेदि ।२१। —जो दर्शनमोहनीय कर्म है, वह बन्धकी अपेक्षा एक प्रकारका है, किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकारका है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ।२१। (ष. ख. १३/५,५/सूत्र ९२-९३/३५८); (मू. आ./१२२७); (त. सू./८/९); (पं. सं./प्रा./२/४ गाथा व उसकी मूल व्याख्या); (स. सि./२/३/१५२/८); (रा. वा./२/३/१/१०४/१६); (गो. क./जी. प्र./२५/१७/१; ३३/२७/१८); (पं. ध./उ./९८६)।

३. दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंके लक्षण

स. सि./८/९/३८५/५ यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्वं शुभपरिणामनिरुद्धस्वरसं यदौदासीन्येनावस्थितमात्मनः श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेदयमानः पुरुषः सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्सामिशुद्धस्वरसं तदुभयमित्याख्यायते सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणामः। —१. जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करनेमें निरुत्सुक, हिताहितका विचार करनेमें असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। २. वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामोंके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता

है, और उदासीन रूपसे अवस्थित रहकर आत्माके श्रद्धानको नहीं रोकता है वह सम्यक्त्व (सम्यक्प्रकृति) है। इसका वेदन करनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। ३. वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय या सम्यग्मिथ्यात्व कहा जाता है। इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदों और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए मिश्रपरिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है। (रा. वा./८/६/२/५७४/३); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/१६); (और भी दे० आगे शीर्षक नं. ४)।

४. तीनों प्रकृतियोंमें अन्तर

ध. ६/१,९-१,२१/३९/१ अत्तागम-पदत्थसद्दहणाए जस्सोदएण सिथिलत्तं होदि, तं सम्मत्तं।...जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्दहा होदि, तं मिच्छत्तं। जस्सोदएण अत्तागमपयत्थेसु तप्पडिवक्खेसु य अक्कमेण सद्दहा उप्पज्जदि तं सम्मामिच्छत्तं।

ध. ६/१,९-८,७/२३५/१ मिच्छत्ताणुभागादो सम्मामिच्छत्ताणुभागो अणंतगुणहीणो, तत्तो सम्मत्ताणुभागो अणंतगुणहीणो त्ति पाहुडसुत्ते णिद्दिट्ठादो। –१. जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम व पदार्थोंकी श्रद्धामें शिथिलता (व अस्थिरता) होती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंमें अश्रद्धा होती है, वह मिथ्यात्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंमें, तथा उनके प्रतिपक्षियोंमें अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्त्वोंमें, युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। (ध. १३/५,५,९३/३५८/१०;३५९/३)। २. 'मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, और *सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभाग* अनन्तगुणा हीन होता है', ऐसा प्राभृतसूत्र अर्थात् कषायप्राभृतके चूर्णिसूत्रोंमें निर्देश किया गया है (दे० अनुभाग/४/५)। (और भी दे० अल्पबहुत्व/३/६)।

५. एक दर्शनमोहका तीन प्रकार निर्देश क्यों

ध. १३/५,५,९३/३५८/७ कधं बंधकाले एगविहं मोहणीयं संतावत्थाए तिविहं पडिवज्जदे। ण एस दोसो, एक्कस्सेव कोद्दवस्स दलिज्जमाणस्स एगकाले एगकिरियाविसेसेण तंदुलद्धतंदुल-कोद्दवभावुवलंभादो। होदु तत्थ तधाभावो सकिरियजंतसंबंधेण। ण एत्थ वि अणियट्टिकरणसहिदजीवसंबंधेण एगविहस्स मोहणीयस्स तथाविहभावविरोधादो। –प्रश्न–१. जो मोहनीयकर्म बन्धकालमें एक प्रकारका है, वह सत्त्वावस्थामें तीन प्रकारका कैसे हो जाता है। उत्तर–यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दला जानेवाला एक ही प्रकारका कोदों द्रव्य एक कालमें एक क्रियाविशेषके द्वारा चावल, आधे चावल और कोदों, इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिए। (ध. ६/१,९-१,२१/३८/७)। प्रश्न–वहाँ तो क्रिया युक्त जाँते (चक्की) के सम्बन्धसे उस प्रकारका परिणमन भले ही हो जाओ, किन्तु यहाँ वैसा नहीं हो सकता। उत्तर–नहीं, क्योंकि यहाँपर भी अनिवृत्तिकरण सहित जीवके सम्बन्धसे एक प्रकारके मोहनीयका तीन प्रकार परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

६. मिथ्यात्व प्रकृतिमेंसे भी मिथ्यात्वकरण कैसा ?

गो. क./जी. प्र./२६/१६/१ मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वकरणं तु अतिस्थापनावलिमात्रं पूर्वस्थित्यनुमितमित्यर्थः। –प्रश्न–मिथ्यात्व तो था ही, उसको मिथ्यात्वरूप क्या किया ? उत्तर–पहले जो स्थिति थी उसमेंसे अतिस्थापनावली प्रमाण घटा दिया। अर्थात् असंख्यातगुणा हीन अनुक्रमसे सर्व द्रव्यके तीन खण्ड कर दिये। उनमेंसे जो पहले सबसे अधिक द्रव्यखण्ड है वह 'मिथ्यात्व' है ऐसा अभिप्राय है। (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१३)।

७. सम्यक्प्रकृति को 'सम्यक्' व्यपदेश क्यों

ध. ६/१, ९-१,२१/३९/२ कधं तस्स सम्मत्तववएसो। सम्मत्तसहचरिदोदयत्तादो उवयारेण सम्मत्तमिदि उच्चदे। –प्रश्न–इस प्रकृतिका 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कैसे हुआ। उत्तर–सम्यग्दर्शनके सहचरित उदय होनेके कारण उपचारसे 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कहा जाता है। (ध. १/१,१,१४६/३९८/२); (ध. १३/५,५,९३/३५८/११)।

८. सम्यक्त्व व मिथ्यात्व दोनोंकी युगपत् वृत्ति कैसे ?

ध. १३/५,५,९३/३५९/२ कधं दोण्णं विरुद्धाणं भावाणमक्कमेण एयजीवदव्वम्हि वुत्ती। ण, दोण्णं संजोगस्स कथंचि जच्चंतरस्स कम्मट्ठवणस्सेव (१) वुत्तिविरोहाभावादो। –प्रश्न–सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावोंकी एक जीव द्रव्यमें एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर–नहीं, क्योंकि, ...(१) क्षीणाक्षीण मदशक्ति युक्त कोदों, के समान उक्त दोनों भावोंके कथंचित् जात्यन्तरभूत संयोगके होनेमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० मिश्र/२/६)।

९. दर्शनमोहनीयके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/१३ केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। –केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव है। (त. सा./४/२७)।

त. सा./४/२८ मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्। –उपरोक्तके अतिरिक्त सत्य मोक्षमार्गको दूषित ठहराना और असत्य मोक्षमार्गको सच्चा बताना ये भी दर्शनमोहके कारण हैं।

३. चारित्रमोहनीय निर्देश

१. चारित्र मोहनीय सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३/३७९/२ चारित्रमोहस्यासंयमः। –असंयमभाव चारित्रमोहकी प्रकृति है। (रा. वा./८/३/४/५६७/४)।

ध. ६/१,९-१,२२/२२/४०/५ पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। घादिकम्माणि पावं। तेसिं किरिया मिच्छत्तासंजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं। तं मोहेइ आवारेदि त्ति चारित्तमोहणीयं। –पापरूप क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। घातिया कर्मोंको पाप कहते हैं। मिथ्यात्व असंयम और कषाय, ये पापकी क्रियाएँ हैं। इन पापक्रियाओंके अभावको चारित्र कहते हैं। उस चारित्रको जो मोहित करता है, अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। (पं. ध./उ./१००९)।

ध. १३/५,५,९४/३५९/१ रागभावो चारित्तं, तस्स मोहयं तप्पडिवक्खभावुप्पाययं चारित्तमोहणीयं। –रागका न होना चारित्र है। उसे मोहित करनेवाला अर्थात् उससे विपरीत भावको उत्पन्न करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है।

गो. क./जी. प्र./३३/२७/२३ चरति चर्यतेऽनेनेति चरणमात्रं वा चारित्रं, तन्मोहयति मुह्यतेऽनेनेति चारित्रमोहनीयं। –जो आचरण करता अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरणमात्र चारित्र है। उसको जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है सो चारित्रमोहनीय है।

२. चारित्रमोहनीयके भेद-प्रभेद

ष. खं. ६/१,९-१/सूत्र २२-२४/४०-४५ जं तं चारित्तमोहणीयं कम्मं तं दुविहं, कसायवेदणीयं चेव णोकसायवेदणीयं चेव ।२२। जं तं

कसायवेदणीयं कम्मं तं सोलसविहं, अणंताणुबंधिकोहमाणमाया-लोहं, अपच्चक्खाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, पच्चक्खाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, कोहसंजलणं, माणसंजलणं, मायासंजलणं, लोहसंजलणं चेदि।२३। जं तं णोकसायवेदणीयं कम्मं तं णवविहं, इत्थिवेदं, पुरिसवेदं, णवुंसयवेदं, हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा चेदि।२४। —जो चारित्रमोहनीय कर्म है वह दो प्रकारका है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय।२२। —जो कषायवेदनीय कर्म है वह १६ प्रकारका है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ; क्रोधसंज्वलन, मानसंज्वलन, मायासंज्वलन, और लोभसंज्वलन।२३। —जो नोकषायवेदनीय कर्म है वह नौ प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा।२४। (ष. खं. १३/५,५/सूत्र ६४-६६/३५६-३६१); (मू. आ./१२२६-१२२६); (त. सू./८/६); (पं. सं./प्रा./२/४ व उसकी व्याख्या); (गो. क./जी. प्र./२६/११/३; ३३/२७/२१); (पं. ध./उ./१०७६-१०७७)।

३. कषाय व अकषायवेदनीयके लक्षण

ध. १३/५,५,६४/३५६/७ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम। जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णोकसायं वेदयदि तं णोकसायवेदणीयं णाम। —जिस कर्मके उदयसे जीव कषायका वेदन करता है वह कषायवेदनीय कर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव नोकषायका वेदन करता है, वह नोकषाय-वेदनीय कर्म है।

४. चारित्रमोहकी सामर्थ्य कषायोत्पादनमें है स्वरूपाचरणके विच्छेदमें नहीं

पं. ध./उ./श्लोक नं. कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः। नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत्।६६०। कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि। नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः।।६६२। अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः। एकं चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम्।११३१। यौगपद्य द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः। समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात्।११३७। —न्यायानुसार आत्माको चारित्रसे च्युत करना ही चारित्रमोहका कार्य है, किन्तु इतरकी दृष्टिके समान दृष्टि होनेसे शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्रमोहका कार्य नहीं है।६६०। निश्चयसे जितना कषायोंका अभाव है, उतना ही चारित्र है और जो कषायोंका उदय है वही आत्माका चारित्रसे च्युत होना है।६६२। चारित्र मोहमें स्वभावसे दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—एक असंयतत्वरूप और दूसरी कषायत्वरूप।११३१। इन दोनों कषाय व असंयतपनेमें युगपतता है, क्योंकि, वास्तवमें युगपत् उक्त दोनों ही शक्तिवाले इस कर्मका ही उस रूपसे उदय होता है।११३७।

५. कषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

स. सि./६/१४/३३२/८ स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणादिः कषायवेदनीयस्यास्रवः। —स्वयं कषाय करना, दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोंके चारित्रमें दूषण लगाना, संक्लेशको पैदा करनेवाले लिंग (वेष) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्रव हैं।

रा. वा./६/१४/३/५२५/५ जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजनगर्हण-धर्मविध्वंसन-तदन्तरायकरणशीलगुणदेशसंयतविरतिप्रच्यावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादन — वृत्तसंदूषण-संक्लिष्टलिङ्गव्रतधारणस्वपरकषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः। —जगदुपकारी शीलव्रती तपस्वियोंकी निन्दा, धर्मध्वंस, धर्ममें अन्तराय करना, किसीको शीलगुण देशसंयम और सकलसंयमसे च्युत करना, मद्य मांस आदिसे विरक्त जीवोंको उससे बिचकाना, चरित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषोंका धारण, स्व और परमें कषायोंका उत्पादन आदि कषायवेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

६. अकषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

रा. वा./६/१४/३/५२५/८ उत्प्रहासादीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य। विचित्रपरक्रीडन-परसौचित्यावर्जन-बहुविधपीडाभाव-देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिसंजननादिः रतिवेदनीयस्य। परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशन-पापशीलसंसर्गताकुशलक्रियाप्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य। स्वशोकामोदशोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य। स्वयं भयपरिणामपरभयोत्पादन - निर्दयत्व - त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य। सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्णकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा - परिवादशीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य। प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्याव्यापारालीकाभिधायिता-तिसन्धानपरत्व - प्रवृद्धराग - पराङ्गनागमनादर-वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य। स्तोकक्रोध-जैह्म्यनिवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा - लोभभावा - ङ्गनासमवायाल्परागत्व - स्वदारसंतोषेर्ष्याविशेषोपरमस्नानगन्धमाल्याभरणानादरादिः पुंवेदनीयस्य। प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-गुह्येन्द्रियव्यपरोपणस्त्रीपुंसानङ्गव्यसनित्व - शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याश्रितप्रम(मै)थुन - पराङ्गनावस्कन्दनरागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य। —उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकार पूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएककी हँसी मजाक करना हास्यवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। विचित्र क्रीड़ा, दूसरेके चित्तको आकर्षण करना, बहुपीड़ा, देशादिके प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना रतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। रतिविनाश, पापशील व्यक्तियोंकी संगति, अकुशल क्रियाका प्रोत्साहन देना आदि अरतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्व-शोक, प्रीतिके लिए परका शोक करना, दूसरोंको दुःख उत्पन्न करना, शोकसे व्याप्तका अभिनन्दन आदि शोकवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्वयं भयभीत रहना, दूसरोंको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। धर्मात्मा चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदिकी क्रिया और आचारमें तत्पर पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरेकी बदनामी करनेका स्वभाव आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्रवके कारण हैं। अत्यन्त क्रोधके परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छल कपट, तीव्रराग, परांगनागमन, स्त्रीभावोंमें रुचि आदि स्त्रीवेदके आस्रवके कारण हैं। मन्दक्रोध, कुटिलता न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्या-रहित भाव, स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिके प्रति आदर न होना आदि पुंवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर क्रोध मान माया लोभ, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश, स्त्री पुरुषोंमें अनंगक्रीड़ाका व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, परस्त्रीपर आक्रमण, तीव्र राग, अनाचार आदि नपुंसकवेदके आस्रवके कारण हैं। (स. सि./६/१४/३३२/६)।

मौखर्य—स. सि./७/३२/३७०/१ धार्ष्ट्यप्रायं यत्किंचनानर्थकं बहुप्रलापित्वं मौखर्यम्। —धीठताको लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। (रा. वा./७/३२/३/५५६/२०)।

मौद्गलायन—१. भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें एक बड़े जैन आचार्य थे। पीछे महात्मा बुद्धके शिष्य हो गये और बौद्धमतका प्रवर्तन किया। 'महावग्ग' नामक बौद्ध ग्रन्थके अनुसार आप बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे। इन्हें संजय नामके परिव्राजकने महात्मा-

बुद्धका शिष्य होनेसे रोका था। (द. सा./पृ. २६/प्रेमी जी); (धर्म परीक्षा/६)। २. एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मौन—

स. श./१७ एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः। एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।१७। —इस प्रकार (दे० अगला शीर्षक) बाह्यकी वचन प्रवृत्तिको छोड़कर, अन्तरंग वचन प्रवृत्तिको भी पूर्णतया छोड़ देना चाहिए। इस प्रकारका योग ही संक्षेपसे परमात्माका प्रकाशक है।

नि. सा./ता. वृ./१५५ प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचनां परित्यज्य··· मौनव्रतेन सार्धं···। —प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त वचन रचनाको छोड़कर मौनव्रत सहित (निजकार्यको साधना चाहिए।)

२. मौन व्रतका कारण व प्रयोजन

मो. पा./मू./२९ जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा। जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं।२९। —जो कुछ मेरे द्वारा यह बाह्य जगतमें देखा जा रहा है, वह तो जड़ है, कुछ जानता नहीं। और मैं यह ज्ञायक हूँ वह किसीके भी द्वारा देखा नहीं जाता। तब मैं किसके साथ बोलूँ। (स. श./१८)।

सा.ध./४/३४-३६ गृद्ध्यै हुंकारादिसंज्ञां संक्लेशं च पुरोऽनु गं। मुञ्चन्मौनमदन् कुर्यात्तपःसंयमबृंहणम्।३४। अभिमानावनगृद्धिरोधाद्वर्धयते तपः। मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात्।३५। शुद्धमौनान्मनःसिद्ध्या शुक्लध्यानाय कल्पते। वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च।३६। —श्रावकको भोजनमें गृद्धिके कारण हुंकार करना, खकारना, इशारे करना, तथा भोजनके पहले व पीछे क्रोध आदि संक्लेशरूप परिणाम करना, इन सब बातोंको छोड़कर तप व संयमको बढ़ानेवाला मौनव्रत धारण करना चाहिए।३४। मौन धारण करना भोजनकी गृद्धि तथा याचनावृत्तिको रोकनेवाला है तथा तप व पुण्यको बढ़ानेवाला है।३५। इससे मन वश होता है, शुक्ल-ध्यान व वचनकी सिद्धि होती है, और वह श्रावक या साधु त्रिलोकका अनुग्रह करने योग्य हो जाता है।३६।

३. मौनव्रतके उद्यापनका निर्देश

सा. ध./४/३७ उद्योतनमहेनैकघण्टादानं जिनालये। असार्वकालिके मौने निर्वाहः सार्वकालिके।३७। —सीमित समयके लिए धारण किये गये मौनव्रतका उद्यापन करनेके लिए उसका माहात्म्य प्रगट करना व जिन मन्दिरमें एक घंटा समर्पण करना चाहिए। जन्मपर्यन्त धारण किये गये मौनव्रतका उद्यापना उसका निराकुल रीतिसे निर्वाह करना ही है।३७। (टीकामें उद्धृत २ श्लोक)।

४. मौन धारणे योग्य अवसर

भ. आ./वि./११/६२/६ भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौनं गृह्णीयात् इत्यर्थः। —भाषा समितिका क्रम जो नहीं जानता वह मौन धारण करे, ऐसा अभिप्राय है।

सा. ध./४/३८ आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्। मौनं कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे।३८। —वांतिमें कुरला करनेवत्, सामायिक आदि छह कर्मोंमें, मल-मूत्र निक्षेपण करनेमें, दूसरेके द्वारा पापकार्यकी संभावना होनेमें, स्नान, मैथुन, आचमन आदि करनेमें श्रावकको मौन धारण करना चाहिए और साधुको कृतिकर्म करते अथवा भोजनचर्या करते समय मौन धारण करना चाहिए। अथवा भाषाके दोषोंका विच्छेद करनेके लिए सदा मौनसे रहना चाहिए।३८।

सा. ध./टीका/४/३५ में उद्धृत—सर्वदा शस्तं जोषं भोजने तु विशेषतः। रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगत्वे पुनर्न किं। —मौन व्रत सदा प्रशंसा करने योग्य है और फिर भोजन करनेके समय तो और भी अधिक प्रशंसनीय है। रसायन (औषध) सदा हित करनेवाला होता है और फिर रोग होनेपर तो पूछना ही क्या है।

व्रतविधान संग्रह/पृ. ११२। मौनव्रतकथासे उद्धृत—यहाँ मौनव्रतका कथन है। भोजन, वमन, स्नान, मैथुन, मलक्षेपण और जिन पूजन इन सात कर्मोंमें जीवन पर्यन्त मौन रखना नित्य मौनव्रत कहलाता है।

५. मौनावलम्बी साधुके बोलने योग्य विशेष अवसर

दे. अपवाद/३ (दूसरेके हितार्थ साधुजन कदाचित् रात्रिको भी बोल लेते हैं।)

दे. वाद—(धर्मकी क्षति होती देखे तो बिना बुलाये भी बोले।)

दे. यथालंद—(मौनका नियम होते हुए भी यथालंद चारित्रधारी साधु रास्ता पूछना, शंकाके निराकरणार्थ प्रश्न करना तथा वसतिकाके स्वामीसे घरका पता पूछना—इन तीन विषयोंमें बोलते हैं।)

दे. परिहार विशुद्धि—(धर्मकार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, योग्य व अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर करनेके लिए उत्तर देना इन तीन कार्योंके अतिरिक्त वे मौनसे रहते हैं।)

* **मौनव्रतके अतिचार**—दे० गुप्ति/२/१।

मौनव्रत—एक वर्ष तक पौष शु. ११ से प्रारम्भ करके प्रत्येक मासके प्रत्येक ११ वें दिन १६ पहरका उपवास करे। इस प्रकार कुल २४ उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. ११२)।

मौनाध्ययनवृत्ति क्रिया—दे० संस्कार/२।

मौर्य वंश—दे० इतिहास/३/३।

मौलिक प्रक्रिया—Fundamental Operation (ध. ५/प्र. २८)

म्रक्षित—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका

म्लेच्छ— १. म्लेच्छखण्ड निर्देश

ति. प./४/गाथा नं. सेसा वि पंचखंडा णामेणं होंति मेच्छखंड त्ति। उत्तरतियखंडेसुं मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे।२६८। गंगामहाणदीए अड्ढाइज्जेसु। कुंडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु अज्जखंडम्मि।२४५। —[विजयार्ध पर्वत व गंगा सिन्धु, नदियोंके कारण भरतक्षेत्रके छह खण्ड हो गये हैं। इनमेंसे दक्षिणवाला मध्यखण्ड आर्यखण्ड है (दे० आर्यखण्ड)] शेष पाँचों ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नामसे प्रसिद्ध हैं।२६८। गंगा महानदीकी ये कुण्डोंसे उत्पन्न हुई (१४०००) परिवार नदियाँ म्लेच्छखण्डोंमें ही हैं, आर्यखण्डमें नहीं है।२४५। (विशेष दे० लोक/७)।

२. म्लेच्छमनुष्योंके भेद व स्वरूप

स. सि./३/३६/पृ./पंक्ति म्लेच्छा द्विविधाः—अन्तर्द्वीपजा कर्मभूमिजाश्चेति। (२३०/३)···ते एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः। कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादयः। —(२३१/६)। —म्लेच्छ दो प्रकारके हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुए अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। और शक, यवन, शबर व पुलिन्दादिक कर्मभूमिजम्लेच्छ हैं। (रा. वा./३/३६/४/२०४/१४,२६)।

भ. आ./वि./७८१/९३६/२६ इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तर्द्वीपजा नराः। समुद्रद्वीपमध्यस्थाः कन्दमूलफलाशिनः। वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिताः॥ —समुद्रोंमें (लवणोद व कालोदमें) स्थित अन्तर्द्वीपोंमें रहनेवाले तथा कन्द-मूल फल खानेवाले ये लम्बकर्ण आदि (दे० आगे शीर्षक नं. ३) अन्तर्द्वीपज मनुष्य हैं। जो मनुष्यायुका अनुभव करते हुए भी पशुओंकी भाँति आचरण करते हैं।

म. पु./३१/१४१-१४२ इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः। तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ।१४१। धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः। अन्यथाऽन्यैः समाचारैः आर्यावर्तेन ते समाः ।१४२। —इस प्रकार अनेक उपायोंको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोंके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको वश किया, और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये। ।१४१। ये लोग धर्म क्रियाओंसे रहित हैं, इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं। धर्म क्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके समान हैं ।१४२। [यद्यपि ये सभी लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं परन्तु किसी भी कारणसे आर्यखण्डमें आ जानेपर दीक्षा आदिको प्राप्त हो सकते हैं। —दे० प्रव्रज्या ।१/३]

त्रि. सा./९२१ दीवा तावदियंतरवासा कुणरा वि सण्णामा। —तीन अन्तर्द्वीपोंमें बसनेवाले कुमानुष तिस तिस द्वीपके नामके समान होते हैं।

५. अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंका आकार

१ लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० १)

ति. प./४/२४८४-२४८८ एकोरुकलंगुलिका वेसणकाभासका य णामेहिं। पुव्वादिसु दिसासु चउदीवाणं कुमाणुसा होंति ।२४८४। सुक्कलिकण्णा कण्णप्पावरणा लंबकण्णससकण्णा। अग्गिदिसादिसु कमसो चउद्दीव-कुमाणुसा एदे ।२४८५। सिंहस्ससाणमहिसवराहसद्दूलघूककपिवदणा। सक्कुलिकण्णे कोरुगपहुदीणं अंतरेसु ते कमसो ।२४८६। मच्छमुहा कालमुहा हिमगिरिपणिधीए पुव्वपच्छिमदो। मेसमुहगोमुहक्खा दक्खिणवेयड्ढपणिधीए ।२४८७। पुव्वावरेण सिहरिप्पणिधीए मेघ-विज्जुमुहणामा। आदंसणहत्थिमुहा उत्तरवेयड्ढपणिधीए ।२४८८। —पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे एक जाँघवाले, पूँछवाले, सींगवाले और गूँगे होते हुए इन्हीं नामोंसे युक्त हैं ।२४८४। अग्नि आदिक विदिशाओंमें स्थित ये चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे शष्कुलीकर्ण, कर्ण प्रावरण, लंबकर्ण और शशकर्ण होते हैं ।२४८५। शष्कुलीकर्ण और एकोरुक आदिकोंके बीचमें अर्थात् अन्तरदिशाओंमें स्थित आठ द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे सिंह, अश्व, श्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दरके समान मुखवाले होते हैं ।२४८६। हिमवान् पर्वतके प्रणिधि भागमें पूर्वपश्चिम-दिशाओंमें क्रमसे मत्स्यमुख व कालमुख तथा दक्षिणविजयार्धके प्रणिधि भागमें मेषमुख व गोमुख कुमानुष होते हैं ।२४८७। शिखरी पर्वतके पूर्व पश्चिम प्रणिधि भागमें क्रमसे मेघमुख व विद्युन्मुख तथा उत्तर विजयार्धके प्रणिधि भागमें आदर्शमुख व हस्तिमुख कुमानुष होते हैं ।२४८८। (भ. आ./वि./७८१/९३६/२३ पर उद्धृत श्लो. नं. ९-१०); (त्रि. सा./९१६-९११); (ज. प./५३-५७)।

२. लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० २)

ति. प./४/२४१४-२४९९ एकोरुकवेसणिका लंगुलिका तह य भासगा तुरिमा। पुव्वादिसु वि दिसासुं चउदीवाणं कुमाणुसा कमसो ।२४९४। अणलादिसु विदिसासुं ससकण्णा ताण उभयपासेसुं। अट्ठंतरा य दीवा पुव्वग्गिदिसादिगणणिज्जा ।२४९५। पुव्वदिसट्ठिएकोरुकाण अग्गिदिसट्ठियससकण्णाणं विच्चालादिसु कमेण अट्ठंतरदीवट्ठिय-कुमाणुसणामाणि गणिदव्वा केसरिमुहा मणुस्सा चक्कुलिकण्णा अ-चक्कुलिकण्णा। साणमुहा कपिवदणा चक्कुलिकण्णा अ चक्कुलीकण्णा ।२४९६। हयकण्णाइं कमसो कुमाणुसा तेसु होंति दीवेसुं। घूकमुहा कालमुहा हिमवंतगिरिस्स पुव्वपच्छिमदो ।२४९७। गोमुहमेसमुहक्खा दक्खिणवेयड्ढपणिधिदीवेसुं। मेघमुहा विज्जुमुहा सिहरिगिरिवस्स पुच्छिमदो ।२४९८। दप्पणगयसरिसमुहा उत्तरवेयड्ढपणिधि भाग-गदा। अब्भंतरम्मि भागे बाहिरए होंति तम्मेत्ता ।२४९९। —पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे एक जाँघवाले, सींगवाले, पूँछवाले और गूँगे होते हैं ।२४९४। आग्नेय आदिक दिशाओंके चार द्वीपोंमें शशकर्ण कुमानुष होते हैं। उनके दोनों पार्श्वभागोंमें आठ अन्तरद्वीप हैं जो पूर्व आग्नेय दिशादि क्रमसे जानना चाहिए। ।२४९५। पूर्वदिशामें स्थित एकोरुक और अग्निदिशामें स्थित शशकर्ण कुमानुषोंके अन्तराल आदिक अन्तरालोंमें क्रमसे आठ अन्तरद्वीपोंमें स्थित कुमानुषोंके नामोंको गिनना चाहिए। इन अन्तरद्वीपोंमें क्रमसे केशरीमुख, शष्कुलिकर्ण, अशष्कुलिकर्ण, श्वानमुख, वानरमुख, शष्कुलिकर्ण, शष्कुलिकर्ण, और हयकर्ण, कुमानुष होते हैं। हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिमभागोंमें क्रमसे वे कुमानुष घूकमुख और कालमुख होते हैं ।२४९६-२४९७। दक्षिण विजयार्धके प्रणिधि-भागस्थ द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष गोमुख और मेषमुख, तथा शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम द्वीपोंमें रहनेवाले वे कुमानुष मेघमुख और विद्युन्मुख होते हैं ।२४९८। उत्तरविजयार्धके प्रणिधिभागोंमें स्थित वे कुमानुष क्रमसे दर्पण और हाथीके सदृश मुखवाले होते हैं। जितने द्वीप व उनमें रहनेवाले कुमानुष अभ्यन्तर भागमें हैं, उतने ही वे बाह्य भागमें भी विद्यमान हैं ।२४९९। (स. सि./३/३६/२३०/९); (रा. वा./३/३६/४/२०४/२०); (ह. पु./५/४७१-४७६)।

३. कालोदस्थित अन्तरद्वीपोंमें

ति. प./४/२७२७-२७३४ मच्छमुहा अभिकण्णा पक्खिमुहा तेसु हत्थि-कण्णा य। पुव्वादिसु दीवेसु चिट्ठंति कुमाणुसा कमसो ।२७२७। अणिलादियासु सूवरकण्णा दीवेसु ताण विदिसासं। अट्ठंतरदीवेसुं पुव्वग्गिदिसादि गणणिज्जा ।२७२८। चेट्ठंति अट्टकण्णा मज्जार-मुहा पुणो वि तच्चेय। कण्णप्पावरणा गजवण्णा य मज्जारवयणा य। ।२७२९। मज्जारमुहा य तहा गोकण्णा एवमट्ठ पत्तेक्कं। पुव्वपवण्णिदबहुविहपावफलेहिं कुमणुसाणि जायंति ।२७३०। पुव्वावरपणिधीए सिसुमारमुहा तह य मयरमुहा। चेट्ठंति रुप्पगिरिणो कुमाणुसा कालजलहिम्मि ।२७३१। वयमुहवग्घमुहक्खा हिमवंतणगस्स पुव्व-पच्छिमदो। पणिधीए चेट्ठंते कुमाणुसा पावपाकेहिं ।२७३२। सिहरिस्स तरच्छमुहा सिगालवयणा कुमाणुसा होंति। पुव्वावरपणिधीए अब्भंतरवरियकम्मेहिं ।२७३३। दीपिकमिजारमुहा कुमाणुसा होंति रुप्पसेलस्स। पुव्वावरपणिधीए कालोदयजलहिदीवम्मि ।२७३४। —उनमेंसे पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित द्वीपोंमें क्रमसे मत्स्यमुख, अभिकर्ण (अश्वकर्ण), पक्षिमुख और हस्तिकर्ण कुमानुष होते हैं। ।२७२७। उनकी वायव्यप्रभृति विदिशाओंमें स्थित द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष शूकरकर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वाग्निदिशादिक क्रमसे गणनीय आठ अन्तरद्वीपोंमें कुमानुष निम्न प्रकार स्थित हैं। ।२७२८। उष्ट्रकर्ण, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, कर्णप्रावरण, गजमुख, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, और गोकर्ण, इन आठमेंसे प्रत्येक पूर्वमें बतलाये हुए बहुत प्रकारके पापोंके फलसे कुमानुष जीव उत्पन्न होते हैं ।२७२९-२७३०। कालसमुद्रके भीतर विजयार्धके पूर्वापर पार्श्वभागोंमें जो कुमानुष रहते हैं, वे क्रमसे शिशुमारमुख और मकरमुख होते हैं ।२७३१। हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें रहनेवाले कुमानुष क्रमसे पापकर्मोंके उदयसे वृकमुख और व्याघ्रमुख होते हैं ।२७३२। शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें रहनेवाले कुमानुष पूर्व जन्ममें किये हुए पापकर्मोंसे तरक्षमुख (अक्षमुख) और शृगालमुख होते हैं ।२७३३। विजयार्धपर्वतके पूर्वापर प्रणिधिभागमें कालोदक-समुद्रस्थ द्वीपोंमें क्रमसे द्वीपिकमुख और भृंगारमुख कुमानुष होते हैं ।२७३४। (ह. पु./५/५६७-५७२)।

७. म्लेच्छ मनुष्योंका जन्म, आहार गुणस्थान आदि

ति. प./४/गाथा नं. एकोरुगा गुहासुं वसंति भुंजंति मट्टियं मिट्ठं। सेसा तरुतलवासा पुप्फेहिं फलेहिं जीवंति ।२४८९। गब्भादो ते मणुवा जुगलंजुगला सुहेण णिस्सरिया। तिरिया समुच्चिदेहिं दिणेहिं

चार्दंति ताण्णं ।२५१२। वेधणुसहस्सतुंगा मंदकसाया पियंगुसाम-लया। सब्बे ते पल्लाऊ कुभोगभूमीए चेट्ठंति ।२५१३। तब्भूमिजो-ग्गभोगं भोत्तूणं आउसस्स अवसाणे। कालवसं संपत्ता जायंते भवण-तियम्मि ।२५१४। सम्मद्दंसणरयणं गहियं जेहिं णरेहिं तिरिएहिं। दीवेसु चउविहेसुं सोहम्मदुगम्मि जायंते ।२५१५। सव्वेसिं भोगभुवे दो गुणठाणाणि सव्वकालम्मि। दीसंति चउवियप्पं सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्तं ।२६३७। –१. इन उपरोक्त सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंमेंसे, एकोरुक (एक टाँगवाले) कुमानुष गुफाओंमें रहते हैं और मीठी मिट्टीको खाते हैं। शेष सब वृक्षोंके नीचे रहते हैं और (कल्पवृक्षोंके) फलफूलोंसे जीवन व्यतीत करते हैं ।२४८६। (स. सि./३/३६/२३१/३); (रा. वा./३/३६/४/२०४/२४); (ज. प./१०/५८,८२); (त्रि. सा./-९२०)। २. वे मनुष्य व तिर्यंच युगल-युगलरूपमें गर्भसे सुखपूर्वक जन्म लेकर समुचित (उनचास) दिनोंमें यौवन अवस्थाको धारण करते हैं ।२५११। (ज. प./१०/८०)। ३. वे सब कुमानुष २००० धनुष ऊँचे, मन्दकषायी, प्रियंगुके समान श्यामल और एक पल्य-प्रमाण आयुसे युक्त होकर कुभोगभूमिमें स्थित रहते हैं ।२५१३। (ज. प./१०/१०/८१-८२)। ४. पश्चात् वे उस भूमिके योग्य भोगोंको भोगकर आयुके अन्तमें मरणको प्राप्त हो भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं ।२५१४। जिन मनुष्यों व तिर्यंचोंने इन चार प्रकारके द्वीपोंमें (दिशा, विदिशा, अन्तर्दिशा तथा पर्वतोंके पार्श्व भागोंमें स्थित, इन चार प्रकारके अन्तर्द्वीपोंमें) सम्यग्दर्शनरूप रत्नको ग्रहण कर लिया है, वे सौधर्मयुगलमें उत्पन्न होते हैं ।२५१५। (ज. प./१०/८३-८६)। ५. सब भोगभूमिजोंमें (भोग व कुभोगभूमिजोंमें) दो गुण-स्थान (प्र. व चतु.) और उत्कृष्टरूपसे चार (१-४) गुणस्थान रहते हैं। सब म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है। ।२६३७। ६. म्लेच्छ खण्डसे आर्यखण्डमें आये हुए कर्मभूमिज म्लेच्छ तथा उनकी कन्याओंसे उत्पन्न हुई चक्रवर्तीकी सन्तान कदाचित् प्रव्रज्याके योग्य भी होते हैं। (दे. प्रव्रज्या/१/३)।

दे. काल/४–(कुमानुषों या अन्तर्द्वीपोंमें सर्वदा जघन्य भोगभूमिकी व्यवस्था रहती है। (त्रि. सा./भाषा/९२०)।

५. कुमानुष म्लेच्छोंमें उत्पन्न होने योग्य परिणाम

दे. आयु/३/१० (मिथ्यात्वरत, व्रतियोंकी निन्दा करनेवाले तथा ब्रह्मचारी आदि मरकर कुमानुष होते हैं)।

दे. पाप/४ (पापके फलसे कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं।)।

[य]

यंत्र—ध. १३/५,३,२६/३४/४ सीहवग्घधरणट्ठमोड्डिदमब्भंतरकयच्छा-लियं जंतं णाम।—जो सिंह और व्याघ्र आदिके धरनेके लिए बनाया जाता है और जिसके भीतर बकरा रखा जाता है, उसे यंत्र कहते हैं।

यंत्र—कुछ विशिष्ट प्रकारके अक्षर, शब्द व मन्त्र रचना जो कोष्ठक आदि बनाकर उनमें चित्रित किये जाते हैं, यन्त्र कहलाते हैं। मन्त्र शास्त्रके अनुसार इसमें कुछ अलौकिक शक्ति मानी गयी है, और इसीलिए जैन सम्प्रदायमें इसे पूजा व विनयका विशेष स्थान प्राप्त है। मन्त्र सिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा व यज्ञ विधान आदिकोंमें इनका बहुलतासे प्रयोग किया जाता है। प्रयोजनके अनुसार अनेक यन्त्र सब हैं और बनाये जा सकते हैं, जिनमेंसे प्रायः प्रयोगमें आनेवाले कुछ प्रसिद्ध यन्त्र यहाँ दिये जाते हैं।

१. अंकुरार्पण यन्त्र
२. अग्नि मण्डल यन्त्र
३. अर्हन् मण्डल यन्त्र
४. ऋषि मण्डल यन्त्र
५. कर्म दहन यन्त्र
६. कलिकुण्ड दण्ड यन्त्र
७. कल्याण त्रैलोक्यसार यन्त्र
८. कुम्भ यन्त्र
९. कूर्म चक्र यन्त्र
१०. गन्ध यन्त्र
११. गणधरवलय यन्त्र
१२. घटस्थानोपयोगी यन्त्र
१३. चिन्तामणि यन्त्र
१४. चौबीसी मण्डल यन्त्र
१५. जल मण्डल यन्त्र
१६. जलाधिवासन यन्त्र
१७. णमोकार यन्त्र
१८. दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
१९. नयनोन्मीलन यन्त्र
२०. निर्वाण सम्पत्ति यन्त्र
२१. पीठ यन्त्र
२२. पूजा यन्त्र
२३. बोधिसमाधि यन्त्र
२४. मातृका यन्त्र (क) व (ख)
२५. मृत्तिकानयन यन्त्र
२६. मृत्युंजय मन्त्र
२७. मोक्षमार्ग यन्त्र
२८. यन्त्रेश यन्त्र
२९. रत्नत्रय चक्र यन्त्र
३०. रत्नत्रय विधान यन्त्र
३१. रुक्मपात्राङ्कित तीर्थमण्डल यन्त्र
३२. रुक्मपात्राङ्कित वरुणमण्डल यन्त्र
३३. रुक्मपात्राङ्कित व्रजमण्डल यन्त्र
३४. वर्द्धमान यन्त्र
३५ वश्य यन्त्र
३६. विनायक यन्त्र
३७. शान्ति यन्त्र
३८. शान्ति चक्र यन्त्रोद्धार
३९. शान्ति विधान यन्त्र
४०. षोडशकारण धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
४१. सरस्वती यन्त्र
४२. सर्वतोभद्र यन्त्र (लघु)
४३. सर्वतोभद्र यन्त्र (बृहत्)
४४. सारस्वत यन्त्र
४५. सिद्धचक्र यन्त्र (लघु)
४६. सिद्धचक्र यन्त्र (बृहत्)
४७. सुरेन्द्रचक्र यन्त्र
४८. स्तम्भन यन्त्र

१- अंकुरार्पण यंत्र
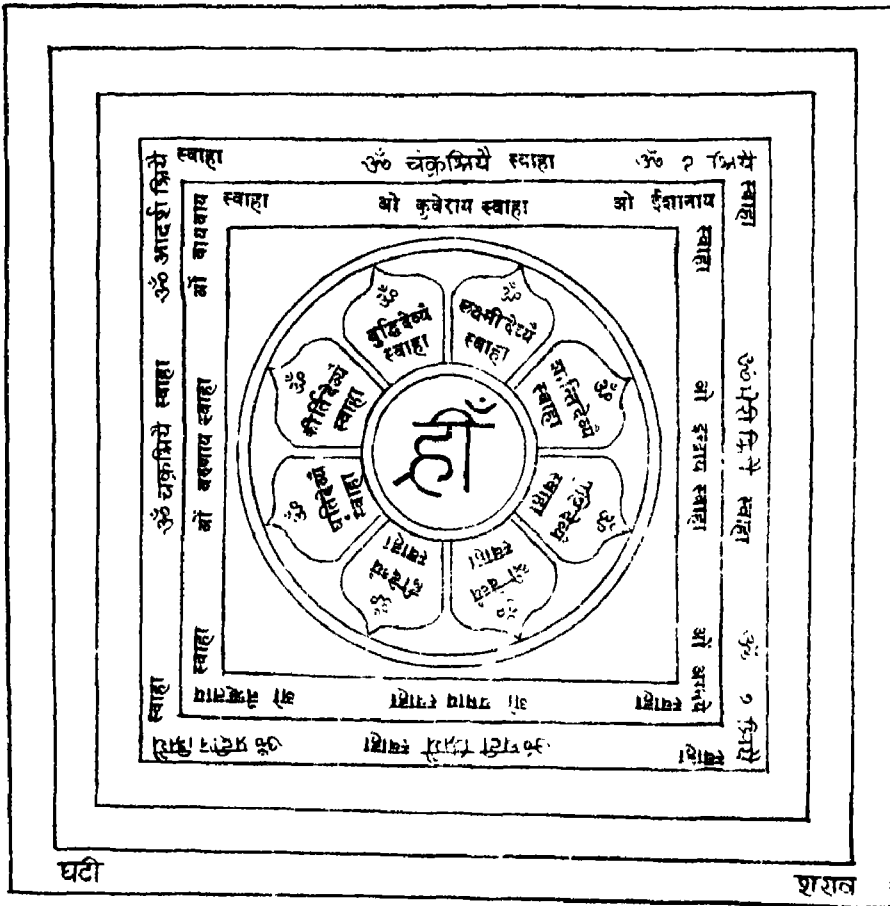
नोट- ऊपरसे चतुर्थ कोष्ठकमें दिये गए चक्रेश्वरी आदि नाम संशोत हैं।

२-अग्नि मण्डल यंत्र

३- अर्हन्-मण्डल यंत्र

४-ऋषि मंडल यंत्र

५· कर्म दहन यंत्र

६- कलिकुण्डदण्ड यंत्र

७-कल्याण त्रैलोक्यसार यंत्र

९-कूर्म चक्र यंत्र

लक्ष	क ख ग घ ङ			च छ ज झ ञ
	अ अः	अ आ	इ ई	
श ष स ह	ओ औ	जप स्थानं	उ ऊ	ट ठ ड ढ ण
	ए ऐ	लृ लॄ	ऋ ॠ	
य र ल व	प फ ब भ म			त थ द ध न

८-कुल यंत्र

१०-गंध यंत्र

१२-घट स्थापनोपयोगी यंत्र

११-गणधर वलय यंत्र

उत्तर

पश्चिम

दक्षिण

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो मणोबलीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो वचोबलीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो कायबलीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो विप्पोसहिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो जल्लोसहिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो खेल्लोसहिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो आमोसहिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो अट्ठंगमहानिमित्त-कुसलाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउव्वण इड्ढिपत्ताणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो चउदसपुव्वीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो दसपुव्वीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो विउलमदीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो उज्जुमदीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोहिजिणाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो अणंतोहिजिणाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो परमोहिजिणाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो ओहिजिणाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुण-बंभयारीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरपरक्कमाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो घोरगुणाणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो बीजबुद्धीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो कोट्ठबुद्धीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो पादाणुसारीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो खीरसवीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सप्पिसवीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो महुरसवीणं

ॐ ह्रीं अर्हं णमो अमियसवीणं

ॐ अर्हं क्ष्वीं क्ष्वीं ह्रीं श्रीं श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा स्वाहा

१३-चिन्तामणि यंत्र

(मूल मंत्र- ॐ नमोऽर्हं ए श्रीं ह्रीं क्लीं स्वाहा॥)

१४-चौबीसी मण्डल यंत्र

१६-जलादिवासन यंत्र

१५-जल मण्डल यंत्र

१७-णमोकार यंत्र

१	२	३	४	५
२	३	४	५	१
३	४	५	१	२
४	५	१	२	३
५	१	२	३	४

१८-दशलाक्षणिक धर्म चक्रोद्धार यंत्र

१९-नयनोन्मीलन यंत्र

२०-निर्वाण सम्पत्ति यंत्र

२१- पीठ यंत्र

२२- पूजा यंत्र
२३- बोधि समाधि यंत्र
२४- मातृका यंत्र
(क)
२४ (ख)
ॐ अर्हद्‌भ्यो नमः
ॐ उपाध्याय नमः
ॐ सर्वसाधवे नमः
ॐ आचार्याय नमः
ॐ अर्हते नमः
ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः
अ सि आ उ सा
श्रीं ह्रीं मम इष्ट शुभ
कुरु कुरु स्वाहा
ॐ नमो
क ख ग घ ङ
प फ ब भ म
क्ष्मीं ह्रीं क्रौं स्वाहा

२५-मृत्तिकानयन यंत्र
२७-मोक्षमार्ग यंत्र
ॐ ह्रीं
णमो अरहंताणं
ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं
ॐ ह्रीं णमो आइरियाणं
ॐ ह्रीं णमो उवज्झायाणं
ॐ ह्रीं णमो लोए सव्व-
साहूणं स्वाहा
ॐ ह्रीं सम्यक् चारित्राय नमः
ॐ असि आ उ सा नमः
२६-मृत्युञ्जय यंत्र
ॐ
स्वाहा
२८ यंत्रेश यंत्र
ॐ ह्रीं क्रौं श्रीं
ह्रीं क्लीं मम
शान्तिं पुष्टिं
कुरु कुरु
स्वाहा

२९-रत्नत्रय चक्र यंत्र

३०-रत्नत्रय-विधान यंत्र

३५-वश्य यंत्र

३६-विनायक यंत्र

३७-शान्ति यंत्र

३८-शान्ति चक्र यंत्रोद्धार
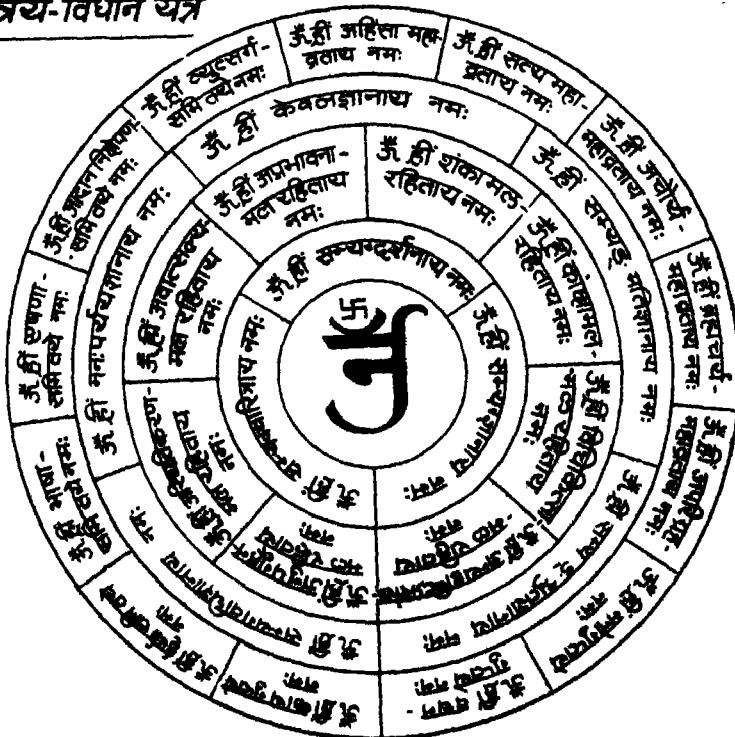
३९- शान्ति विधान यंत्र

४०-षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यंत्र

४१-सरस्वती यंत्र

४२-सर्वतोभद्र यंत्र (लघु)

४३-सर्वतोभद्र यंत्र (वृहत्)

४४-सारस्वत यंत्र

श्रीं
ह्रीं
ॐ कुबेराय स्वाहा
ॐ ऊर्ध्व ब्रह्मणे स्वाहा
ॐ ईशानाय स्वाहा
ॐ वायवाय स्वाहा
ॐ महाकाल्यै नमः
ॐ गौर्यै नमः
ॐ गान्धार्यै नमः
ॐ काल्यै नमः
ॐ विजयायै नमः
ॐ अपराजितायै नमः
ॐ ज्वालामालिन्यै नमः
ॐ पुरुषदत्तायै नमः
ॐ वरुणाय स्वाहा
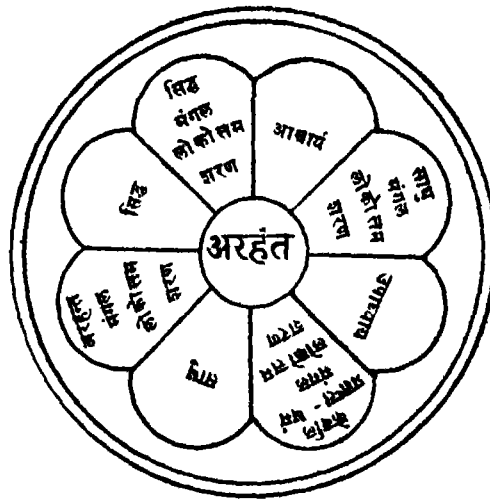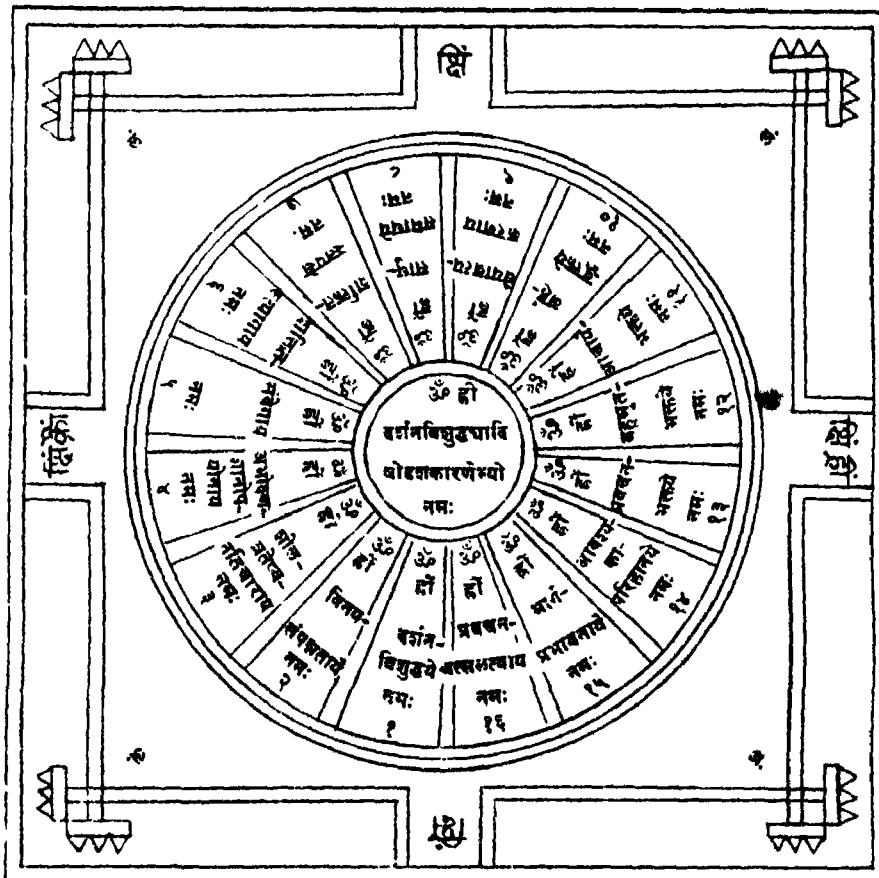
४५-सिध्द चक्र यंत्र (लघु)

४६-सिद्ध चक्र यंत्र (वृहत्)
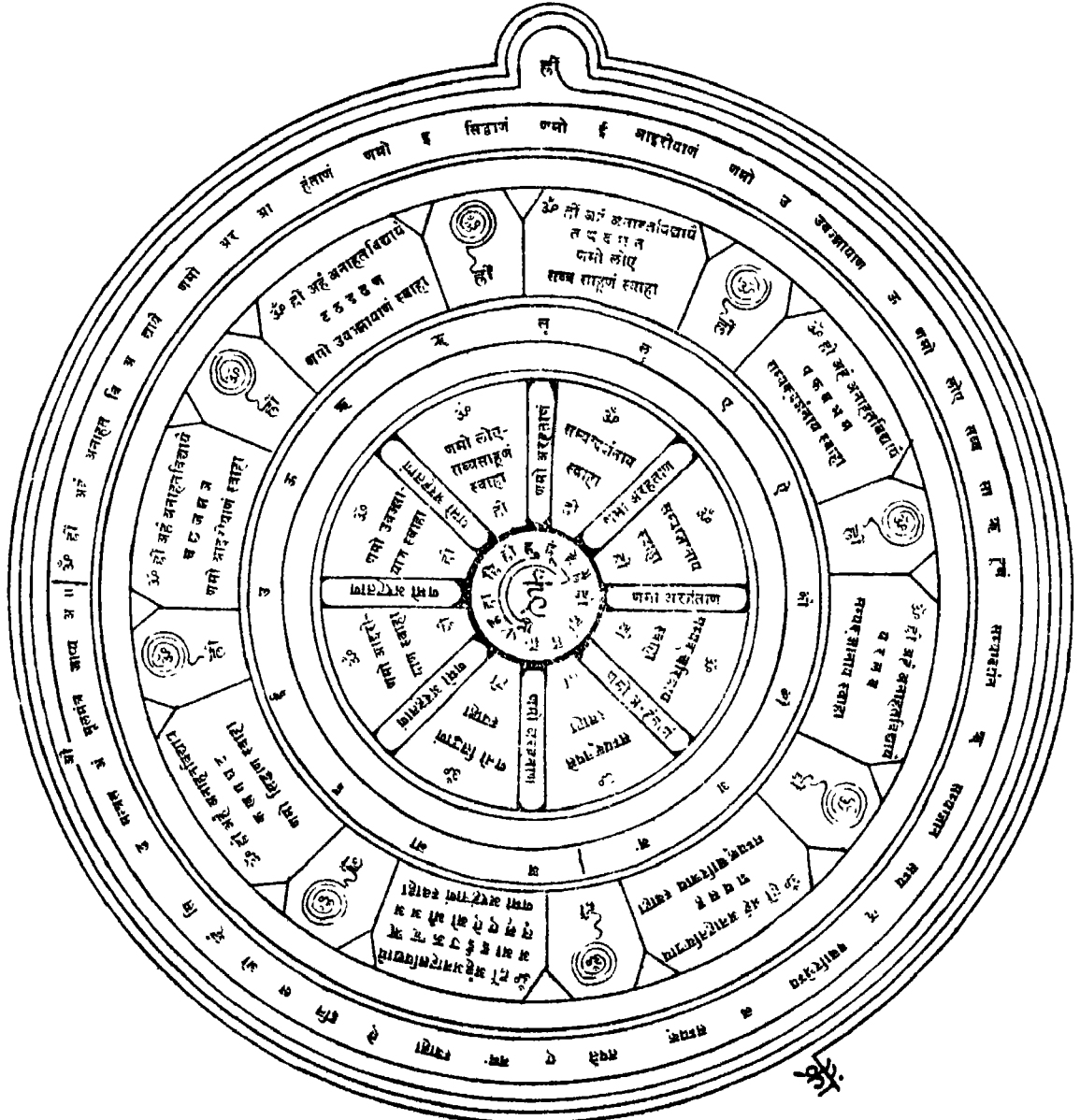
४७-सुरेन्द्र चक्र यंत्र

४८-स्तम्भन यंत्र

यंत्रपीड़न कर्म—दे० सावद्य/५।

यंत्रेशयंत्र—दे० मंत्र।

यक्ष—

ध. १३/५,५,१४०/३९१/६ लोभभूयिष्ठाः भाण्डागारे नियुक्ताः यक्षाः नाम। —जिनके लोभकी मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार-में नियुक्त किये जाते हैं, वे यक्ष कहलाते हैं।

१. यक्षनामा व्यन्तर देवके भेद

ति. प./६/४२ अहमणिपुण्ण सेलमणो भद्दा भद्दका सुभद्दा य। तह सव्व-भद्दमाणुसधणपालसरूवजक्खक्खा।४२। जक्खुत्तममणहरणा ताणं वे माणिपुण्णभद्दिदा···।४३। —माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण ये बारह यक्षोंके भेद हैं।४२। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र ये दो इन्द्र हैं (त्रि. सा./२६५-२६६)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. व्यन्तर देवोंका एक भेद है। —दे० व्यन्तर/१।
२. पिशाच जातिके देवोंका एक भेद है। —दे० पिशाच।
३. छह दिशाओंके ६ रक्षक देव—विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित, अनावर्त, आवर्त। (प्रतिष्ठा सारोद्धार/३/१९९-२०१)।
४. यक्षोंका वर्ण, परिवार व अवस्थान आदि। —दे० व्यन्तर।
५. तीर्थंकरोंके २४ यक्षोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
६. तीर्थंकरोंकी २४ यक्षिणियोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
७. तीर्थंकरोंके २४ शासक देवता। —दे० तीर्थंकर/५।

यक्षलिक—ह. पु./३३/श्लोक मलयदेशमें यक्षदत्तका पुत्र था। एक बार एक सर्पिणीको गाड़ीके पहियेके नीचे दबाकर मार दिया।(१५९-१६०) यह श्रीकृष्णका पूर्वका तीसरा भव है—दे० कृष्ण।

यक्षवर—चतुर्थ सागर व द्वीप—दे० लोक/५/१।

यक्षेश्वर—अभिनन्दन भगवान्‌का शासक देवता।—दे०तीर्थंकर५/३।

यक्षोत्तम—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

यज्ञ—

दे० पूजा/१/१ (याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द हैं।)

म. पु./६७/१९४ यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात्। धर्मात्पुण्यं समावर्ज्यं तत्पाकाद्दिविजेश्वराः।१९४। —यज्ञ शब्दका वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है, तत्स्वरूप धर्मसे ही लोग पुण्य संचयके फलसे देवेन्द्रादि होते हैं।१९४।

२. यज्ञके भेद व भेदोंके लक्षण

म. पु./६७/२००-२१२/२५८ आर्षानार्षविकल्पेन यागो द्विविध इष्यते।२००। त्रयोऽग्नयः समुद्दिष्टाः···। तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने।२०२। स्थित्वर्षियतिमुन्यस्तशरणाः परमद्विजाः। इत्यात्मयज्ञमिष्टार्थमष्टमीमवनीं ययुः।२०३। तथा तीर्थगणाधीशशेषकेवलिसद्वपुः। संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु।२०४। परमात्मपदं प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान्। उद्दिश्य भाक्तिकाः पुष्पगन्धाक्षतफलादिभिः।२०५। आर्षोपासकवेदोक्तमन्त्रोच्चारणपूर्वकम्। दानादिसत्क्रियोपेता गेहाश्रमतपस्विनः।२०६। यागोऽयमृषिभिः प्रोक्तो यत्यगारिद्वयाश्रयः। आद्यो मोक्षाय साक्षात्स्यात्परम्परया परः।२१०। एवं परम्परायातैव यज्ञविधिस्त्विह।···।२११। मुनिसुव्रततीर्थेशसंताने सगरद्विषः। महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशाद्वधम्।२१२। —आर्ष और अनार्षके भेदसे यज्ञ दो प्रकारका माना जाता है।२००। क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि, (दे० अग्नि/१) इन तीन अग्नियोंमें क्षमा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि, यति, मुनि, और अनगार रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं, वे आत्म-यज्ञ-कर इष्ट अर्थको देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्षस्थानको प्राप्त होते हैं। (२०२+२०३)। इसके सिवाय तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य केवलियों-के उत्तम शरीरके संस्कारसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियोंमें (दे० मोक्ष/५/१) अत्यन्त भक्त उत्तम क्रियाओंके करनेवाले तपस्वी गृहस्थ परमात्मपदको प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामहको उद्देशकर वेदमन्त्रके उच्चारण पूर्वक अष्ट द्रव्यकी आहुति देना आर्ष यज्ञ है।२०४-२०७। यह यज्ञ मुनि और गृहस्थके आश्रयके भेदसे दो प्रकारका निरूपण किया गया, इनमेंसे पहला मोक्षका कारण और दूसरा परम्परा मोक्षका कारण है।२१०। इस प्रकार यह देवयज्ञकी विधि परम्परासे चली आयी है।२११। किन्तु श्री मुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सगर राजासे द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नामका असुर हुआ था उसी अज्ञानीने इस हिंसायज्ञका उपदेश दिया है।२१२।

यज्ञोपवीत—**१. यज्ञोपवीतका स्वरूप व महत्त्व**

म. पु./३८/११२ उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः। यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकम्।११२। —उस (आठवें वर्ष ब्रह्मचर्याश्रममें अध्ययनार्थ प्रवेश करनेवाले उस बालक) के वक्षस्थलका चिह्न सात तारका गूँथा हुआ यज्ञोपवीत है। यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों-का सूचक है।

म. पु./३९/९५ यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यस्त्रिगुणात्मकम्। सूत्रमौपासिकं तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः।९५।

म. पु./४१/३१ एकाद्येकादशान्तानि दत्तान्येभ्यो मया विभो। व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः।३१। —तीन तारका जो यज्ञोपवीत है वह उसका (जैन श्रावकका) द्रव्य सूत्र है, और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र रूपी गुणोंसे बना हुआ श्रावकका सूत्र उसका भाव सूत्र है।९५। (भरत महाराज ऋषभदेवसे कह रहे हैं कि) हे विभो! मैंने (श्रावकोंको) ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक सूत्र (ग्यारह लड़ा यज्ञोपवीत तक) दिये हैं। ३१) (म. पु./३८/२१-२२)।

२. यज्ञोपवीत कौन धारण कर सकता है

म. पु./४०/१६७-१७२ तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया। यथास्वं वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम्।१६७। कुतश्चित् कारणाद् यस्य कुलं संप्राप्तदूषणम्। सोऽपि राजादिसंमत्या शोधयेत् स्वं सदा कुलम्।१६८। तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ। न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः।१६९। अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः। एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसंमतः।१७०। तेषां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम्। एकशाटकधारित्वं संन्यासमरणावधि।१७१। स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम्। अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम्।१७२। —१. जो अपनी योग्यतानुसार असि, मषि, कृषि व वाणिज्यके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं, ऐसे सदृष्टि द्विजोंको वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए। २. जिस कुलमें दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदि (समाज) की सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है, तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र-पौत्रादि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है।१६८-१६९। ३. जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं, तथा नाचना, गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका पालते हैं ऐसे पुरुषको यज्ञोपवीतादि संस्कारकी आज्ञा नहीं है।१७०। किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो

सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहनें।१७१। ४. यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोंको मांस रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुल-स्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और *अभक्ष्य तथा अपेय* पदार्थका परित्याग करना चाहिए।

म. पु./३८/२२ गुणभूमिकृताद् भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम्। सत्कारः क्रियते स्मैषां अव्रताश्च बहिःकृताः।२२। —प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं, ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया। शेष अव्रतियोंको वैसे ही जाने दिया।२२। (म. पु./४१/३४)।

दे० संस्कार/२/२ में उपनीति क्रिया (गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है।)

३. चारित्र भ्रष्ट ब्राह्मणोंका यज्ञोपवीत पाप सूत्र कहा है

म.पु./३९/११८ पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः। सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः।११८। —आप लोग तो गलेमें सूत्र धारणकर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्टक बनते हुए, पाप रूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं।११८।

म. पु./४१/५३ पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः। वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः।५३। —(भरत महाराजके स्वप्नका फल बताते हुए भगवान्‌की भविष्य वाणी) पापका समर्थन करनेवाले अथवा पापके चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले, प्राणियोंको मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्त ब्राह्मण आगामी युगमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जायेंगे।५३।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. उत्तम कुलीन गृहस्थोंको यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए। —दे० संस्कार/२।

२. द्विजों या सद्ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका इतिहास —दे० वर्णव्यवस्था।

यति—चा. सा./४६/४ यतयः उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते। —जो उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीमें विराजमान हैं उन्हें यति कहते हैं। (प्र. सा./ता. वृ./२४९/३४३/१६); (का. अ./पं. जयचन्द/४८६)।

प्र. सा./ता. वृ./६६/६०/१४ इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यतिः। —जो इन्द्रिय जयके द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूपमें प्रयत्नशील होता है उसको यति कहते हैं।

दे० साधु/१ (श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदंत, दान्त, यति ये एकार्थवाची हैं।)

मू. आ./भाषा/८८६ चारित्रमें जो यत्न करे वह यति कहा जाता है।

यतिवरवृषभ—प्र. सा./ता. वृ./७९/१००/१५ निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषां वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभः प्रधानो यतिवरवृषभस्तं यतिवरवृषभं। —निज शुद्धात्ममें जो यत्नशील हैं वे यति हैं। उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे गणधर देव आदि हैं, उनमें भी जो प्रधान हैं यतिवरवृषभ कहलाते हैं।

यतिवृषभ—दिगम्बर आचार्योंमें इनका स्थान ऊँचा है क्योंकि इनके ज्ञान व रचनाओंका सम्बन्ध भगवान् वीरकी मूल परम्परासे आगत सूत्रोंके साथ माना जाता है। आर्य मंक्षु व नागहस्तिके शिष्य थे। कृति—कषाय प्राभृतके चूर्णसूत्र, तिलोय पण्णत्ति। समय—वी. नि. ६७०-७००, वि. २००-२३०, ई० १४३-१७३ (विशेष दे. कोश भाग १/परिशिष्ट/३/५)।

यत्याचार—१. आ. वसुनन्दि ७ (ई० ११०५) की एक रचना। २. यतियों अर्थात् साधुओंके आचार-विचारको यत्याचार कहा जाता है, या जिसमें यतियोंके आचारादिका वर्णन किया गया है, ऐसे मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थोंको भी यत्याचार कहा जाता है।

यथाख्यात चारित्र—

स. सि./९/१८/४३६/६ मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं यथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते।... यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात्। —समस्त मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र कहा जाता है।...जिस प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात कहते हैं। (रा. वा./९/१८/११/६१७/२६); (त. सा./६/४६); (चा. सा./८४/४); (गो. क./जी. प्र./५४७/७१४/८)।

पं. सं./प्रा./१/१३३ उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि। छदुमत्थो व जिणो वा जहखाओ संजओ साहू।१३३। —अशुभ रूप मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो वीतराग संयम होता है, उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं।...।१३३। (ध. १/१,१, १२३/गा. १९१/१२३); (गो.जी./मू./४७५/८८३); (पं.सं./प्रा./१/२४३)।

ध. १/१,१,१२३/३७१/७ यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम्। यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः। यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयताः। —परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभाव रूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है, उन्हें यथाख्यात विहार कहते हैं। जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धि प्राप्त संयत हैं, वे यथाख्यातविहार शुद्धि-संयत कहलाते हैं।

द्र. सं./टी./३५/१४८/७ यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति। —जैसा निष्कम्प सहज शुद्ध स्वभावसे कषाय रहित आत्माका स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया है, सो यथाख्यातचारित्र है।

जैन सिद्धान्त प्र./२२६ कषायोंके सर्वथा अभावसे प्रादुर्भूत आत्माकी शुद्धि विशेषको यथाख्यात चारित्र कहते हैं।

२. यथाख्यात चारित्रका गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. खं. १/१, १/सू. १२८/३७७ जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु-ट्ठाणेसु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति।१२८। —यथा-ख्यात-विहार-शुद्धि-संयत जीव उपशान्त कषाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकषाय-वीतरागछद्मस्थ; सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं।१२८। (पं. सं./प्रा./१/१३३); (ध. १/१,१,१२३/गा. १९१/१२३) (गो. जी./मू./४७५/८८३); (पं. सं./सं./१/२४३); (द्र. सं./टी./३५/[illegible]/१)।

३. उसमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं होता

ष. खं. ७/२,११/सू. १७४/५६७ जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदस्स अजहण्ण-अणुक्कस्सिया चरित्त लद्धी अणंतगुणा।१७४। कसायाभावेण वड्ढि-हाणिकारणभावादो। तेणेव कारणेण अजहण्णा अणुक्कस्सा च। —यथाख्यात विहार शुद्धि संयतकी अजघन्यानुत्कृष्ट चारित्र लब्धि अनन्तगुणी है।१७४।...कषायका अभाव हो जानेसे उसकी वृद्धि हानिके कारणका अभाव हो गया है इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट भी है।

यथाजात—प्र. सा./ता. वृ./२०४/२७८/१५ व्यवहारेण नग्नत्वं यथाजातरूपं निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थंभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधरः निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थः। —व्यवहारसे नग्नपनेको यथाजातरूपधर कहते हैं, निश्चयसे तो जो आत्माका स्वरूप है

उसी प्रकारके यथाख्यात रूपको जो धरता है, वही यथाख्यातरूपधर अर्थात् समस्त परिग्रहोंसे रहित हुआ कहा जाता है।

यथातथानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

यथार्थ—न्या. वि./वृ./२/१८/२४४/११ यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थस्तमिति। —जो पदार्थ जिस स्वभावसे स्थित है, उसको यथार्थ कहते हैं।

यदु—हरिवंशका एक राजा था, जिस. यादव वंशकी उत्पत्ति हुई थी। (ह. पु./१८/५-६)। (दे० इतिहास/१०/१०)।

यद्दृष्ट—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

यम—१. दे० लोकपाल/१। २. भोग व उपभोग्य वस्तुओंका जो जीवन पर्यन्तके लिए त्याग किया जाता है उसको यम कहते हैं। (दे० भोगोपभोग परिमाणव्रत; ३. कालाग्नि विद्याधरका पुत्र था। (प. पु./८/११४) इन्द्र द्वारा इसको किष्कुपुरका लोकपाल बनाया है। ((प. पु./८/११५) फिर अन्तमें रावण द्वारा हराया गया था। (प. पु./८/४८१-४८२)। ४. दे० वैवस्वत यम।

यमक—विदेह क्षेत्रके उत्तरकुरु व देवकुरुमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर स्थित चित्रकूट, विचित्रकूट, यमकूट व मेघकूट नामवाले चार कूटाकार पर्वत।—दे० लोक/३/८।

यमदंड—रावणका मन्त्री था (प. पु./६६/११)।

यमदग्नि—एक बाल ब्रह्मचारी तापसी था। पक्षी वेशधारी दो देवोंके कहनेसे एक छोटीसी लड़कीको पालकर पीछे उससे विवाह किया, जिससे परशुरामकी उत्पत्ति हुई। (बृ. क. को./कथा/५६/पृ. ६६-१०३)।

यमदेव—भद्रशाल वनस्थ नील दिग्गजेन्द्र, स्वस्तिक व अंजन शैलोंका रक्षक देव—दे० लोक/७।

यमलीक—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए हैं—दे० अन्तकृत्।

यव—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/३।

यवमध्य—दे० योग/५/६।

यवमध्य क्षेत्र—(ज. प./प्र. ११-१२) यह आकृति, क्षेत्रके उदग्र समतल द्वारा प्राप्तच्छेद (Vertical-section) है। इसका आगे पीछे (उत्तर-दक्षिण) विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है। यहाँ यवमध्यका क्षेत्रफल = $(१+२)\times\frac{१४}{८}=\frac{७}{८}$ वर्ग राजु, इसलिए ३५ यवमध्यका क्षेत्रफल = $\frac{७}{८}\times\frac{३५}{१}$ = ४९ वर्ग राजु; इस प्रकार ३५ यवमध्यका घनफल = ४९×७ घनराजु = ३४३ घनराजु और एक यवमध्यका घनफल = $\frac{३४३}{३५}=९\frac{४}{५}$ घनराजु।

यवन—१. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४; २. यूनानका पुराना नाम है। (म. पु./प्र. ५०/पन्नालाल)।
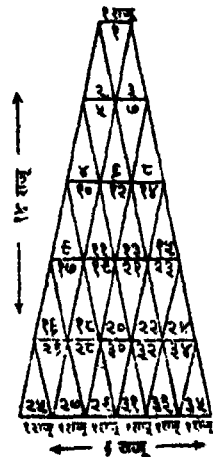
यवमुरजक्षेत्र—(ज. प./प्र. ३१) यह आकृति क्षेत्रके उदग्र समतल द्वारा प्राप्त छेद (Verticalsection) है। इसका विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नहीं है। यहाँ मुरजका क्षेत्रफल $\{(\frac{७}{२}\text{ रा.}+१\text{रा.})\div२\}\times१४\text{ रा.}=\{\frac{९}{२}\times\frac{१}{२}\}\times१४=\frac{९}{४}\times\frac{७}{१}=\frac{६३}{२}$ वर्गराजु इसलिए, मुरजका घनफल $=\frac{६३}{२}\times७=\frac{४४१}{२}$ घनराजु = २२०½ घनराजु। एक यवका क्षेत्रफल = $(\frac{१}{२}\text{रा.}\div२)\times\frac{१४}{५}$ राजु = $\frac{१}{४}\times\frac{१४}{५}=\frac{७}{१०}$ वर्गराजु, इसलिए, २५ यवका क्षेत्रफल = $\frac{७}{२}\times\frac{३५}{१}=\frac{२४५}{२}$ घनराजु = १२२½ घनराजु।
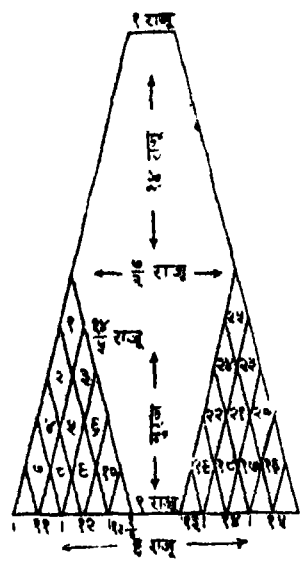
यशःकीर्ति—१. नन्दीसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप लोहाचार्य तृतीयके शिष्य तथा यशोनन्दिके गुरु थे। समय—श.सं. १५३-२११ (ई. २३१-२८९)।—दे० इतिहास/५/१३। २. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप क्षेमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १०३० ई० ९७३ (प्रद्युम्नचरित्र/प्र. प्रेमी); (ला. सं./१/६४-७०)—दे० इतिहास/५/६। ३. ई. श. ११ में जगत्सुन्दरी प्रयोगमालाके कर्ता हुए थे। (हिं जै. सा. इ./२०/कामताप्रसाद)। ४. आप ललितकीर्तिके शिष्य तथा भद्रबाहुचरितके कर्ता रत्ननन्दि नं० २ के सहचर थे। आपने धर्मशर्माभ्युदयकी रचना की थी। समय—वि० १२९६ ई० १२३९। (भद्रबाहु चरित/प्र/७/कामता) धर्मशर्माभ्युदय/प्र.। पं. पन्नालाल। ५ चन्द्रप्रभ चरित्रके कर्ता अपभ्रंश कवि। समय—वि. श. ११ का अन्त १२ का प्रारम्भ। (ती./४/१७८)। ६. काष्ठासंघ माथुर गच्छ के यशस्वी अपभ्रंश कवि। पहले गुणकीर्ति भट्टारक (वि. १४६८-१४८६) के सहधर्मा थे, पीछे इनके शिष्य हो गये। कृतियें—पाण्डव पुराण, हरिवंश पुराण, जिनरात्रि कथा। समय—वि. १४८६-१४९७) (ई. १४२९-१४४०)। (ती./३/३०८)। ७. पद्मनन्दि के शिष्य हेमकीर्ति के गुरु। लाटीसंहिता की रचना के लिए पं. राजमल्ल जी के प्रेरक। समय—वि. १६१८ (ई. १५६१)।

यशःकीर्ति—

स. सि./८/११/३९२/६ पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकफलमयशःकीर्तिनाम। —पुण्य गुणोंकी प्रसिद्धिका कारण यशःकीर्ति नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला अयशःकीर्ति नामकर्म है (रा. वा./८/११-१२/५७९/३२); (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१६)।

ध. ६/१,९-१,२८/६६/१ जस्स कम्मस्स उदएण संताणमसंताणं वा गुणाणमुब्भावणं लोगेहि कीरदि, तस्स कम्मस्स जसकित्तिसण्णा। जस्स कम्मस्सोदएण संताणमसंताणं वा अवगुणाणं उब्भावणं जणेण कीरदे, तस्स कम्मस्स अजसकित्तिसण्णा। —जिस कर्मके उदयसे विद्यमान या अविद्यमान गुणोंका उद्भावन लोगोंके द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'यशःकीर्ति' यह संज्ञा है। जिस कर्मके उदयसे विद्यमान अवगुणोंका उद्भावन लोक द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'अयशःकीर्ति' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०१/३६३/५)।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. यश:कीर्तिकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी शंका-समाधानादि। —दे० वह वह नाम।

२. अयश:कीर्तिका तीर्थंकर प्रकृतिके साथ बन्ध व तत्सम्बन्धी शंका। —दे० प्रकृतिबन्ध/६।

यश—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

यशपाल—अपरनाम जयपाल था। अतः—दे० जयपाल।

यशस्तिलकचंद्रिका— सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू की श्रुतसागर (ई. १४८०-१४९९) कृत संस्कृत टीका। (ती./३/३९४)।

यशस्तिलकचम्पू — आ. सोमदेव द्वारा ई. ९५९ में रचित संस्कृत भाषाबद्ध चम्पू काव्य जिसमें यशोधर महाराज का जीवन चित्रित किया गया है। (ती./२/८१) १. (जै./४९७)।

यशस्वान्—१. वर्तमान कालीन नवमें कुलकर हुए हैं। (विशेष दे० शलाका पुरुष/९); २. किंपुरुष नामा जाति व्यन्तर देवका एक भेद—दे० किंपुरुष।

यशस्वान् देव—मानुषोतर पर्वतस्थ वैडूर्यकूटका भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/५/१०।

यशस्विनी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे०लोक५/१३

यशस्वी—वर्तमानकालीन ९वें कुलकरका अपरनाम है—दे० यशस्वान्।

यशोदेव—यशस्तिलकचम्पूके कर्ता सोमदेवके दादा गुरु और नेमिदेवके गुरु थे। सोमदेवके अनुसार इनका समय—ई. श. १० (ई० ९१८-९४३) (यो. सा./प्र./श्रीलाल)।

यशोधर—१. भूतकालीन उन्नीसवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। २. नव ग्रैवेयकका चतुर्थ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग५/३। ३. मानुषोत्तर पर्वतस्थ सौगन्धिक कूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव। —दे० लोक/५/१०।

यशोधरचरित्र—इस विषयके कई संस्कृत भाषा में रचित ग्रन्थ हैं। १. वादिराज द्वि. (ई. १०१०-१०६५) कृत (ती./२/१००)। २. कवि पद्मनाभ (ई.१४०५-१४२५) कृत (ती./४/५६)। ३. सकल कीर्ति (ई. १४०६-१४४२) कृत (ती./३/३३१)। ४. सोमकीर्ति (ई. १४६१) कृत (ती./३/३४७)। ५. श्रुतसागर (ई. १४८७-१४९९) कृत (ती./३/४००)। ६. ज्ञानकीर्ति (ई. १६०२) कृत (ती./४/२६)।

यशोधरचरित्र। ६. आ० श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) कृत यशोधरचरित्र।

यशोधरा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक५/१३

यशोधर्म—दे० विष्णु यशोधर्म।

यशोनंदि—नन्दिसंघबलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप यश.कीर्तिके शिष्य तथा देवनन्दिके गुरु थे। समय—श. सं. २११-२५८ (ई० २८९-३३६)—दे० इतिहास/७/२।

यशोबाहु—दे० भद्रबाहु।

यशोभद्र— १. श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वि. गुरु १ अंगधारी अथवा आचारांगधारी। समय—वि. नि. ४७४-४९२ (ई पू. ५३-३५)। (दे. इतिहास/४/४)। २. जिनसेन (ई. ८१८-८७८) के आदि पुराण में प्रवर तार्किक के रूप में स्मृत और आ. पूज्यपाद (वि. श. ५-६) के जैनेन्द्र व्याकरण में नामोल्लेख। अतः समय—वि. श. ५ (ई. श. ५ उत्तरार्ध)। (ती./२/४५१)।

यशोभद्रा—नन्दीश्वरद्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/११।

यशोरथ—उज्जयिनी नगरीका राजा था। पुत्रकी मृत्युपर विरक्त हो दीक्षा धारण की। (बृ. क. को./कथा. ५/पृ. १५-१६)।

यशोवर्मा—भोजवंश में यह नरवर्माके पुत्र औरअजयवर्माके पिता थे। मालवा (मगध) देशके राजा थे। समय—ई० ११४३-११५३ —दे० इतिहास/३/४।

यशोविजय—श्वेताम्बर तथा गच्छ के प्रसिद्ध उपाध्याय हुए हैं। गुरु परम्परा—बादशाह अकबर के प्रतिबोधक हरिविजय, कल्याणविजय, लाभविजय, यशोविजय। आपने दिगम्बर मान्य निश्चय नय की घोर भर्त्सना की है, परन्तु अपनी रचनाओं में समयसार का खूब अनुसरण किया है। कृतियें—अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद, आध्यात्मिक मत खण्डन, नय रहस्य, नय प्रदीप, नयोपदेश, जैन तर्क परिभाषा, ज्ञान बिन्दु, शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका, देवधर्म परीक्षा, यतिलक्षण समुच्चय, गुरुतत्त्व विनिश्चय, अष्टसहस्री विवरण, स्याद्वाद मञ्जरी की वृत्ति स्याद्वाद मञ्जूषा, नय विलास (भाषापद संग्रह), दिग्पट चौरासी (दिगम्बराम्नायकी मान्यताओं पर आक्षेप) इत्यादि अनेकों ग्रन्थ आपने रचे हैं। समय—ई.१६३८-१६८८। (जै./२/२०४-२०५)।

याग—दे० यज्ञ।

याज्ञिकमत—गो. जी./जी. प्र./६८/१७८/१ संसारिजीवस्य मुक्तिर्नास्ति। —संसारी जीवकी कभी मुक्ति नहीं होती है, ऐसा याज्ञिकमतवाले मानते हैं।

याचना—याचनाका कथंचित् विधिनिषेध—दे० भिक्षा/१।

याचना परिषह—स. सि./९/९/४२५/१ बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्तारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवत् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते। —जो बाह्य और आभ्यन्तर तपके अनुष्ठान करनेमें तत्पर हैं, जिसने तपकी भावनाके कारण अपने शरीरको सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित वृक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजाल मात्रसे युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणों का वियोग होनेपर भी आहार, वसति और दवाई आदिको दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखाकर व संज्ञा आदिके द्वारा याचना नहीं करता, तथा भिक्षाके समय भी जिसकी मूर्ति बिजलीकी चमकके समान दुरुपलक्ष्य रहती है, ऐसे साधुके याचना परिषहजय जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/१९/६११/१०); (चा. सा./१२२/२)।

याचनीभाषा—दे० भाषा।

यादव वंश—दे० इतिहास/१०/१०।

यान—ध. १४/५,६,४१/३८/८ समुद्दमज्के विविहभंडेहि आवूरिदा संता जे गमणक्खमा बोहित्था ते जाणा णाम। —नाना प्रकारके भाण्डोंसे आपूरित होकर भी समुद्रमें गमन करनेमें समर्थ जो जहाज होते हैं वे यान कहलाते हैं।

यापनीय संघ—दे० इतिहास/६/२।

याम—Cooidinates (ज. प./प्र./१०८)।

याचानुद्देश—उद्दिष्ट आहारका एक दोष। —दे० उद्दिष्ट।

युक्त—स. सि./५/३०/३०१/१ समाधिवचनो वा युक्तशब्दः। युक्तः समाहितस्तदात्मक इत्यर्थः। –यह युक्त शब्द समाधिवाची है। भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं।

युक्तानन्त—दे० अनन्त।

युक्तासंख्यात—दे० असंख्यात।

युक्ति—दे० तर्क।

युक्ति चिंतामणि सत्व—आ. सोमदेव (ई. ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक ग्रन्थ।

युक्त्यनुशासन— आ. समन्तभद्र (ई. श. २) कृत संस्कृत छन्दोंमें रचा गया ग्रन्थ है। इसमें न्याय व युक्तिपूर्वक जिनशासनकी स्थापना की है। इसमें ६४ श्लोक हैं। (ती. /२/१९०) । इसपर पीछे आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) द्वारा युक्त्यनुशासनालंकार नामकी वृत्ति लिखी गयी है। (ती० २/३६५)।

युग—१. दो कल्पोंका एक युग होता है। २. युगका प्रारम्भ–दे० काल/४। ३. कृतयुग या कर्मभूमिका प्रारम्भ—दे० काल/४। ४. क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम दण्ड, मुसल, नाली–दे० गणित/I/१/३ ५. कालका प्रमाण विशेष। ६. दे० गणित/I/१/४।

युग—ध. १४/५.६.४१/३८/१ गरुवत्तणेण महल्लत्तणेण य जं तुरय-वेसरादीहि वुब्भदि तं जुगं णाम। –जो बहुत भारी होनेसे और बहुत बड़े होनेसे घोड़ा और खच्चर आदिके द्वारा ढोया जाता है, वह युग कहलाता है।

युगकंधर—कायोत्सर्गका एक अतिचार–दे० व्युत्सर्ग/१।

युगपत्—स्या. मं./२३/२८४/८ यदा तु तेषामेव धर्माणां कालादिभिर-भेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुनः प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम्। –जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोंका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मोंका ज्ञान होता है। इसे वस्तुओंका एक साथ (युगपत) ज्ञान होना कहते हैं। (स. भं. त./३३/३)।

युगादिपुरुष— युगके आदिमें होनेसे कुलकरोंको ही युगादिपुरुष कहते हैं। ये मुख्यतः १४ होते हैं। इन १४ कुलकरोंका परिचय –दे० शलाकापुरुष/६।

युग्म—ध. १०/४,२,४,३/२२/१ जुम्मं समिदि एयट्ठो। तं दुविहं कद-बादरजुम्मभेएण। तत्थ जो रासी चदुहि अवहिरिज्जदि सो कद-जुम्मो। जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो दोरूवग्गो होदि सो बादरजुम्मं। –युग्म और सम ये एकार्थवाचक शब्द हैं। वह कृत-युग्म और बादरयुग्मके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो राशि चारसे अवहृत होती है वह कृतयुग्म कहलाती है। जिस राशिको चारसे अवहृत करने पर दो रूप (२) शेष रहते हैं वह बादरयुग्म कहलाती है।

युग्मचतुष्टय—दे० अनेकान्त/४।

युत सिद्ध—

'.का./ता. वृ./५०/९९/८ दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशलक्षणयुतसिद्धत्व। –दण्ड और दण्डीकी भाँति प्रदेश भिन्न है लक्षण जिसका वह युतसिद्ध कहलाता है।

★ द्रव्य गुण व पर्याय अयुत सिद्ध है—दे० द्रव्य/४।

युति—

ध. १३/५.५.८२/३४८/६ सामीप्यं संयोगो वा युतिः। –समीपता या संयोगका नाम युति है।

२. युतिके भेद

ध. १३/५.५.८२/३४८/६ तत्थ दव्वजुडी तिविहा-जीवजुडी पोग्गलजुडी जीव-पोग्गलजुडी चेदि। तत्थ एक्कम्हि कुले गामणयरे बिले गुहाए अडईए जीवाणं मेलणं जीवजुडी णाम। वाएण हिंडिज्जमाणपण्णाणं व एक्कम्हि देसे पोग्गलाणं मेलणं पोग्गलजुडी णाम। जीवाणं पोग्ग-लाणं च मेलणं जीवपोग्गलजुडी णाम। अथवा दव्वजुडी जीव-पोग्गल-धम्माधम्मकाल-आगासाणमेगादिसंजोगेण उप्पादेदव्वा। जीवादि दव्वाणं णिरयादिखेत्तेहि सह मेलणं खेत्तजुडी णाम। तेसिं चेव दव्वाणं दिवस-माससंवच्छरादिकालेहि सह मेलणं कालजुडी णाम। कोह-माण-माया-लोहादीहि सह मेलणं भाव-जुडी णाम। –१. यहाँ द्रव्य युति तीन प्रकार की है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति। इनमेंसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमें जीवोंका मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोंके समान एक स्थानपर पुद्गलोंका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलोंका मिलना जीव-पुद्गल युति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि संयोगके द्वारा द्रव्य-युति उत्पन्न करानी चाहिए। २. जीवादि द्रव्योंका नारकादि क्षेत्रोंके साथ मिलना क्षेत्र-युति है। ३. उन्हीं द्रव्योंका दिन, महीना और वर्ष आदि कालोंके साथ मिलाप होना कालयुति है। ४. क्रोध, मान, माया और लोभादिकके साथ उनका मिलाप होना भावयुति है।

३. युति व बन्धमें अन्तर

ध. १३/५.५.८२/३४८/६ युति-बन्धयोः को विशेषः। एकीभावो बन्धः, सामीप्यं संयोगो वा युतिः। –प्रश्न–युति और बन्धमें क्या भेद है? उत्तर–एकीभावका नाम बन्ध है और समीपता या संयोगका नाम युति है।

युधिष्ठिर—पा. पु./सर्ग नं./श्लोक नं. पूर्वके दूसरे भवमें सोमदत्त नामका ब्राह्मण पुत्र था (२१/८१) पूर्व भवमें आरण स्वर्गमें देव था (२३/११२)। वर्तमान भवमें पाण्डु राजाका कुन्ती रानीसे पुत्र था (८/१४३;२४/७४) अपने ताऊ भीष्म व गुरु द्रोणाचार्यसे क्रमसे शिक्षा व धनुर्विद्या प्राप्त की (८/२०८–२१४)। प्रवास कालमें अनेकों कन्याओंसे विवाह किया (१३/११;१३/१६०)। दुर्योधनके साथ जुएमें हारने पर १२ वर्षका बनवास मिला (१६/१०४-१२५)। बनमें मुनियोंके दर्शन होने पर स्व निन्दा की (१७/४)। अन्तमें अपने पूर्व भव सुनकर दीक्षा ग्रहण की (२५/१२)। तथा घोर तप किया (२५/१७-५१)। दुर्योधनके भानजे कुर्यधर कृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया (२५/५२-१३३) (विशेष दे० पाण्डव)।

युवती—चक्रवर्तीके १४ रत्नोंमेंसे एक–दे० शलाका पुरुष/२।

युवेनच्वांग—एक चीनी यात्री था। ई. ६२९-६४५ में भारतकी यात्रा की। (सि. वि./२५/पं. महेन्द्र)।

यूक—अपरनाम जूँ। क्षेत्रका प्रमाण–दे० गणित/I/१।

यूनान—वर्तमान ग्रीक (ग्रीस), (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

योग—कर्मोंके संयोगके कारण भूत जीवके प्रदेशोंका परिस्पन्दन योग कहलाता है अथवा मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके प्रति जीवका उपयोग या प्रयत्न विशेष योग कहलाता है, जो एक होता हुआ भी मन, वचन आदिके निमित्तकी अपेक्षा तीन या पन्द्रह प्रकार का है।

ये सभी योग नियमसे क्रम-पूर्वक ही प्रवृत्त हो सकते हैं, युगपत् नहीं। जीव भावकी अपेक्षा पारिणामिक है और शरीरकी अपेक्षा क्षायोपशमिक या औदयिक है।

१. योगके भेद व लक्ष

१. योग सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./७/१३/४/५४०/३ योजनं योगः संबन्ध इति यावत ।—सम्बन्ध करनेका नाम योग है।

ध. १/१,१,४/१३६/६ युज्यत इति योगः ।—जो सम्बन्ध अर्थात् संयोगको प्राप्त हो उसको योग कहते हैं।

२. जीवका वीर्य या शक्ति विशेष

पं.स./प्रा./१/८८ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो। जीवस्य (जिह) प्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहि णिदिट्ठो। —मन, वचन और कायसे युक्त जीवका जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश परिस्पन्द रूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते हैं।८८। (ध. १/१,१,४/गा. ८८/१४०); गो. जी./मू./२१६/४७२)।

रा. वा./६/७/११/६०३/३३ वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धियोंगः तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन. प्रदेशपरिस्पन्द. उपयोगो योग ।—वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त वीर्यलब्धि योगका प्रयोजक होती है। उस सामर्थ्यवाले आत्माका मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तिक आत्म प्रदेशका परिस्पन्द योग है।

दे० योग/२/५ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है वह योग है।)

३. आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द या संकोच विस्तार

स. सि./२/२६/१८३/१ योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः। —वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्म प्रदेशोंके हलन-चलनको योग कहते हैं। (स. सि./६/१/३१८/५); (रा. वा./२/२६/४/१३७/८); (रा. वा./६/१/१०/५०५/१५); (ध./१/१,१,६०/२६६/७); (ध ७/२,१,२/६/६); (ध. ७/२,१,१५/१७/१०); (प. का./त. प्र./१४८); (द्र. सं. टी./३०/८८/६); (गो. जी./जी.प्र./२१६/४७३/१८)।

रा. वा./६/७/११/६०३/३४ आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बनः प्रदेशपरिस्पन्दः उपयोगो योगः। —मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तक आत्मप्रदेशका परिस्पन्द योग है। (गो. जी./मं. प्र./२१६/४७४/१)।

ध. १/१,१,४/१४०/२ आत्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योगः।—आत्मप्रदेशोंके संकोच और विस्तार रूप होनेको योग कहते हैं। (ध. ७/२,१,२/६/१०)।

ध. १०/४,२,४,१७५/४३७/७ जीव पदेसाणं परिप्फंदो संकोचविकोचब्भमणसरूवओ। —जीव प्रदेशोंका जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग कहलाता है।

४. समाधिके अर्थमें

नि. सा./मू. १३६ विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु। जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सोहवे जोगो।१३६। —विपरीत अभिनिवेशका परित्याग करके जो जैन कथित तत्त्वोंमें आत्माको लगाता है, उसका *निजभाव वह योग है।*

स. सि./६/१२/३३१/३ योगः समाधिः सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थः।—योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं। (गो. क./जी. प्र./८०१/६८०/११); (वै. वो. दै./५/२/१६/१७२)।

रा. वा./६/१/१२/५०५/२७ युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्।—योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है।

रा. वा./६/१२/८/५२२/११ निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः।—निरवद्य क्रियाके अनुष्ठानको योग कहते हैं। योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची हैं। (द. पा./टी./६/८/१४)।

दे० सामायिक/१ साम्यका लक्षण (साम्य, समाधि, चित्तनिरोध व योग एकार्थवाची हैं।)

दे० मौन/१ (बहिरन्तर जल्पको रोककर चित्त निरोध करना योग है।)

५. वर्षादि काल स्थिति

द. पा./टी./६/८/१४ योगश्च वर्षादिकालस्थितिः। —वर्षादि ऋतुओंकी काल स्थितिको योग कहते हैं।

२. योगके भेद

१. मन वचन कायकी अपेक्षा

ष. खं. १/१,१/सू. ४७,४८/२७८,२८० जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचिजोगी कायजोगी चेदि।४७। अजोगि चेदि।४८।—योग मार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी वचन योगी और काययोगी जीव होते हैं।४८। (बा. अ./४६); (त. सू./६/१) (ध. ८/३,६/२१५); (ध. १०/४,२,४,१७५/४३७/६); (द्र. सं./टी./१३/३७/७); (द्र. सं./टी./३०/८६/६)।

स. सि./८/१/३७६/१ चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगा पञ्च काययोगा इति त्रयोदशविकल्पो योगः। —चार मन योग, चार वचन योग और पाँच काय योग ये योगके तेरह भेद हैं। (रा. वा./८/१/२६/५६४/२६); (रा. वा./६/७/११/६०३/३४); (द्र. सं./टी./३०/८६/७-१३/३७/७); (गो. जी./मू./२१७/४७५); (विशेष दे. मन. वचन. काय)।

२. शुभ व अशुभ योगकी अपेक्षा

न. आ./४६-५०···मणवचिकायेण पुणो जोगो···।४६। असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविहं /···।५०। —मन, वचन, और काय ये तीनों योग शुभ और अशुभ के भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। (न. च. वृ./३०८)।

रा. वा./६/३/२/५०७/१ तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्यः शुभयोग इत्युच्यते। —अशुभ योगके अनन्त विकल्प हैं, उससे विपरीत शुभ योग होता है।

३. त्रिदण्डके भेद-प्रभेद

चा. सा./६६/६ दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पात्मा मानसो दण्डस्त्रिविधः। —मन, वचन, कायके भेदसे दण्ड तीन प्रकार का है, और उसमें भी राग द्वेष, मोहके भेदसे मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार हैं।

४. द्रव्य भाव आदि योगोंके लक्षण

गो. जी./जी. प्र./२१६/४७३/१५ कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बिन. संसारिजीवस्य लोकमात्रप्रदेशगता कर्मादानकारणं या शक्तिः सा भावयोगः। तद्विशिष्टात्मप्रदेशेषु यः किंचिच्चलनरूपपरिस्पन्दः स द्रव्ययोग। —जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं। और इसी प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते हैं।

५. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम, स्थापनादि योगोंके लक्षण – दे० निक्षेप।

ध. १०/४,२,४,१७५/४३३-४३४/४ तव्वदिरित्तदव्वजोगो अणेयविहो। तं जहा-सूर-णक्खत्तजोगो चंद-णक्खत्तजोगोगह-णक्खत्तजोगो कोण-

गारजोगो चुण्णजोगो मंतजोगो इच्चेवमादओ।···णोआगमभावजोगो तिविहो गुणजोगो संभवजोगो जुंजणजोगो चेदि। तत्थ गुणजोगो दुविहो सच्चित्तगुणजोगो अच्चित्तगुणजोगो चेदि। तत्थ अच्चित्त-गुणजोगो जहा रूव-रस-गंध-फासादीहि पोग्गलदव्वजोगो, आगा-सादीणमप्पप्पणो गुणेहि सह जोगो वा। तत्थ सच्चित्तगुणजोगो पंच-विहो—ओदइओ ओवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ चेदि।···इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो संभवजोगो णाम। जोसो जुंजणजोगो सो तिविहो उववादजोगो एगंताणुवड्ढिजोगो परिणामजोगो चेदि। —तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य योग अनेक प्रकारका है यथा—सूर्य-नक्षत्रयोग, चन्द्र-नक्षत्रयोग, कोण अंगारयोग, चूर्णयोग व मन्त्रयोग इत्यादि।··· नोआगम भावयोग तीन प्रकारका है। गुणयोग, सम्भवयोग, और योजनायोग। उनमेंसे गुणयोग दो प्रकारका है—सचित्तगुणयोग और अचित्तगुणयोग। उनमेंसे अचित्तगुणयोग—जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंसे पुद्गल द्रव्यका योग, अथवा आकाशादि द्रव्योंका अपने-अपने गुणोंके साथ योग। उनमेंसे सचित्तगुण योग पाँच प्रकारका है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक (इनके लक्षण दे० वह वह नाम) इन्द्र मेरु पर्वतको चलानेके लिए समर्थ है, इस प्रकारका जो शक्तिका योग है वह सम्भवयोग कहा जाता है। जो योजना—(मन, वचन-कायका व्यापार) योग है वह तीन प्रकारका है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग, और परिणामयोग—दे० योग/५।

२. योगके भेद व लक्षण सम्बन्धी तर्क-वितर्क

१. वस्त्रादिके संयोगसे व्यभिचार निवृत्ति

ध. १/१,१,४/१३९/८ युज्यत इति योगः। न युज्यमानपटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात्। न कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात्। —प्रश्न—यहाँपर जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं, ऐसी व्याप्ति करनेपर संयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि संयोगको प्राप्त होने वाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं हैं। प्रश्न—कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। (क्योंकि कषाय तो आत्माका धर्म है, और संयोगको भी प्राप्त होता है।) उत्तर—इस तरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नहीं आता, क्योंकि कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पड़ती हैं।

२. मेघादिके परिस्पन्दमें व्यभिचार निवृत्ति

ध. १/१,१,७६/३१६/७ अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदभ्राणामपि कर्मबन्धः प्रसजतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। न चाभ्रपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन तद्वेतुतामास्कन्देत्। —प्रश्न—परिस्पन्दको बन्धका कारण माननेपर संचार करते हुए मेघोंके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि, उनमें भी परिस्पन्द पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि कर्मजनित चैतन्य परिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्म बन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नहीं हो सकता।

३. परिस्पन्द व गतिमें अन्तर

ध. ७/२,१,३३/७७/२ इंदियविसयमइक्कंतजीवपदेसपरिप्फंदस्स इंदिएहि उवलंभविरोहादो। ण जीवे चलंते जीवपदेसाणं संकोच-विकोचणियमो, सिज्झंतपढमसमए एत्तो लोअग्गं गच्छंतम्मि जीवपदेसाणं संकोचविकोचाणुवलंभा। —इन्द्रियोंके विषयसे परे जो जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द होता है, उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान मान लेनेमें विरोध आता है। जीवोंके चलते समय जीवप्रदेशोंके संकोच-विकोचका नियम नहीं है, क्योंकि, सिद्ध होनेके प्रथम समयमें जब यह जीव यहाँसे अर्थात् मध्यलोकसे, लोकके अग्रभागको जाता है तब इसके जीव प्रदेशोंमें संकोच-विकोच नहीं पाया जाता। (और भी दे० जीव/४/६)।

दे० योग/२/५ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वही वास्तवमें योग है।)

ध. ७/२,१,१५/१७/१० मण-वयण-कायपोग्गलालंबणेण जीवपदेसाणं परिप्फंदो। जदि एवं तो णत्थि अजोगिणो सरीरियस्स जीवदव्वस्स अकिरियत्तविरोहादो। ण एस दोसो, अट्ठकम्मेसु खीणेसु जा उड्ढगमणुवलंभिया किरिया सा जीवस्स साहाविया, कम्मोदएण विणा पउत्तत्तादो। सट्ठिददेसमछंडिय छड्डित्ता वा जीवदव्वस्स सावयवेहि परिप्फंदो अजोगो णाम, तस्स कम्मक्खयत्तादो। तेण सकिरिया वि सिद्धा अजोगिणो, जीवपदेसाणमद्दहिदजलपदेसाणं व उव्वत्तण-परियत्तणकिरियाभावादो। तदो ते अबंधा त्ति भणिदा। —मन, वचन और काय सम्बन्धी पुद्गलोंके आलम्बनसे जो जीवप्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है वही योग है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो शरीरी जीव अयोगी हो ही नहीं सकते, क्योंकि शरीरगत जीवद्रव्यको अक्रिय माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि आठों कर्मोंके क्षीण हो जानेपर जो ऊर्ध्वगमनोपलम्भी क्रिया होती है वह जीवका स्वाभाविक गुण है, क्योंकि वह कर्मोदयके बिना प्रवृत्त होती है। स्वस्थित प्रदेशको न छोड़ते हुए अथवा छोड़कर जो जीवद्रव्यका अपने अवयवों द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योंकि वह कर्मक्षयसे उत्पन्न होता है। अतः सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते हैं। क्योंकि उनके जीवप्रदेशोंके तप्तायमान जल प्रदेशोंके सदृश उद्वर्तन और परिवर्तन रूप क्रियाका अभाव है।

४. परिस्पन्द लक्षण करनेसे योगोंके तीन भेद नहीं हो सकेंगे

ध. १०/४,२,४,१७५/४३८/१ जदि एवं तो तिण्णं पि जोगाण-मक्कमेण वुत्ती पावदि त्ति भणिदे—ण एस दोसो, जदट्ठं जीवपदेसाणं पढमं परिप्फंदो जादो अण्णम्मि जीवपदेसपरिप्फंदसहकारिकारणे जादे वि तस्सेव पहाणत्तदंसणेण तस्स तव्ववएसविरोहाभावादो। —प्रश्न—यदि ऐसा है (तीनों योगोंका ही लक्षण आत्म-प्रदेश परिस्पन्द है) तो तीनों ही योगोंका एक साथ अस्तित्व प्राप्त होता है। उत्तर—नहीं, यह कोई दोष नहीं है। (सामान्यतः तो योग एक ही प्रकारका है) परन्तु जीव-प्रदेश परिस्पन्दके अन्य सहकारी कारणके होते हुए भी जिस (मन, वचन व काय) के लिए जीव-प्रदेशोंका प्रथम परिस्पन्द हुआ है उसकी ही प्रधानता देखी जानेसे उसकी उक्त (मन, वचन वा काययोग) संज्ञा होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. परिस्पन्द रहित होनेसे आठ मध्यप्रदेशोंमें बन्ध न हो सकेगा

ध. १२/४,२,११,३/३६६/१० जीवपदेसाणं परिप्फंदाभावादो। ण च परिप्फंदविरहियजीवपदेसेसु जोगो अत्थि, सिद्धाणं पि सजोगत्तावत्तीदो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—मण-वयण-कायकिरियासमुप्पत्तीए जीवस्स उवजोगो जोगो णाम। सो च कम्मबंधस्स कारणं। ण च सो थोवेसु जीवपदेसेसु होदि, एगजीवपयत्तस्स थोवावयवेसु चेव वुत्तिविरोहादो एक्कम्हि जीवे खंडखंडेणपयत्तविरोहादो वा। तम्हा ट्ठिदेसु जीवपदेसेसु कम्मबंधो अत्थि त्ति णव्वदे। ण जोगादो णियमेण जीवपदेसपरिप्फंदो होदि, तस्स तत्तो अणियमेण समुप्पत्तीदो। ण च एकांतेण णियमो अत्थि चेव, जदि उप्पज्जदि तो तत्तो चेव उप्पज्जदि त्ति णियमुवलंभादो। तदो ट्ठिदाणं पि जोगो

अत्थि त्ति कम्मबंधब्भुवगमिच्छियव्वं । —प्रश्न—जीव-प्रदेशोंका परिस्पन्द न होनेसे ही जाना जाता है कि वे योगसे रहित हैं। और परिस्पन्दसे रहित जीवप्रदेशोंमें योगकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि वैसा होनेपर सिद्ध जीवोंके भी सयोग होनेकी आपत्ति आती है ? उत्तर—उपर्युक्त शंकाका परिहार करते हैं—१. मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वह योग है, और वह कर्मबन्धका कारण है। परन्तु वह थोड़ेसे जीवप्रदेशोंमें नहीं हो सकता, क्योंकि एक जीवमें प्रवृत्त हुए उक्त योगकी थोड़ेसे ही अवयवोंमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। अथवा एक जीवमें उसके खण्ड-खण्ड रूपसे प्रवृत्त होनेमें विरोध आता है। इसलिए स्थित जीवप्रदेशोंमें कर्मबन्ध होता है, यह जाना जाता है। २. दूसरे योगसे जीवप्रदेशोंमें नियमसे परिस्पन्द होता है, ऐसा नहीं है; क्योंकि योगसे अनियमसे उसकी उत्पत्ति होती है। तथा एकान्ततः नियम नहीं है, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि यदि जीवप्रदेशोंमें परिस्पन्द उत्पन्न होता है, तो योगसे ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित जीवप्रदेशोंमें भी योगके होनेसे कर्मबन्धको स्वीकार करना चाहिए।

६. योगमें शुभ-अशुभपना क्या

रा. वा./६/३/२-३/५०७/६ कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् । ...शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्येत; शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । —प्रश्न—योगमें शुभ व अशुभपना क्या ? उत्तर—शुभ परिणामपूर्वक होनेवाला योग शुभयोग है, तथा अशुभ परिणामसे होनेवाला अशुभयोग है। शुभ-अशुभ कर्मका कारण होनेसे योगमें शुभत्व या अशुभत्व नहीं है क्योंकि शुभयोग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मोंके बन्धमें भी कारण होता है।

७. शुभ-अशुभ योगको अनन्तपना कैसे है

रा. वा./६/३/२/५०७/४ असंख्येयलोकत्वादध्यवसायावस्थानानां कथमनन्तविकल्पत्वमिति । उच्यते—अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम् । अनन्तानन्तप्रदेशकर्मादानकारणत्वाद्वा अनन्तः, अनन्तानन्तनानाजीवविषयभेदाद्वानन्तः । —प्रश्न—अध्यवसाय स्थान असंख्यात-लोक-प्रमाण हैं फिर योग अनन्त प्रकारके कैसे हो सकते हैं ? उत्तर—अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश रूपसे बँधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशम भेदसे, अनन्तानन्त प्रदेशवाले कर्मोंके ग्रहणका कारण होनेसे तथा अनन्तानन्त नाना जीवोंकी दृष्टिसे तीनों योग अनन्त प्रकारके हो जाते हैं।

३. योग सामान्य निर्देश

१. योगमार्गणामें भावयोग इष्ट है

दे० योग/२/५ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवको उपयोग होता है वास्तवमें वही योग है।)

दे. योग/२/१ आत्माके धर्म न होनेसे अन्य पदार्थोंका संयोग योग नहीं कहला सकता।)

दे. मार्गणा (सभी मार्गणास्थानोंमें भावमार्गणा इष्ट है।)

२. योग वीर्य गुणकी पर्याय है

भ. आ./वि./११८७/११७८/४ योगस्य वीर्यपरिणामस्य...—वीर्यपरिणामरूप जो योग...(और भी दे० अगला शीर्षक)।

३. योग कथंचित् पारिणामिक भाव है

ध. ५/१,७,४८/२२५/१० सजोगो त्ति को भावो । अणादिपारिणामिओ भावो । णोवसमिओ, मोहणीए अणुवसंते वि जोगुवलंभा । ण खइओ, अणप्पसरूवस्स कम्माणं खएणुप्पत्तिविरोहा । ण घादिकम्मोदयजणिओ, णट्ठे वि घादिकम्मोदए केवलिम्हि जोगुवलंभा । णो अघादिकम्मोदयजणिदो वि संते वि अघादिकम्मोदए अजोगिम्हि जोगाणुवलंभा । ण सरीरणामकम्मोदयजणिदो वि, पोग्गलविवाइयाणं जीवपरिफद्दणहेउत्तविरोहा । कम्मइयशरीरं ण पोग्गलविवाई, तदो पोग्गलाणं वण्ण-रस-गंध-फास-संठाणागमणादीणमणुवलंभा । तदुप्पाइदो जोगो होदु चे ण, कम्मइयसरीरं पि पोग्गलविवाई चेव, सव्वकम्माणमासयत्तादो । कम्मइओदयविणट्ठसमए चेव जोगविणासदंसणादो कम्मइयसरीरजणिदो जोगो चे ण, अघाइकम्मोदयविणासाणंतरं विणस्संत भवियत्तस्स पारिणामियस्स ओदइयत्तप्पसंगा । तदो सिद्धं जोगस्स पारिणामियत्तं । —प्रश्न—'सयोग' यह कौन-सा भाव है ? उत्तर—'सयोग' यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है, कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि मोहनीयकर्मके उपशम नहीं होनेपर भी योग पाया जाता है। न वह क्षायिक भाव है, क्योंकि, आत्मस्वरूपसे रहित योगकी कर्मोंके क्षयसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। योग घातिकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि, घातिकर्मोदयके नष्ट होनेपर भी सयोगिकेवलीमें योगका सद्भाव पाया जाता है। न योग अघातिकर्मोदय जनित भी है, क्योंकि, अघातिकर्मोदयके रहनेपर भी अयोगकेवलीमें योग नहीं पाया जाता। योग शरीरनामकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके जीव-परिस्पन्दनका कारण होनेमें विरोध है। प्रश्न—कार्मण शरीर पुद्गल विपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलोंके वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान आदिका आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिए योगको कार्मण शरीरसे (औदयिक) उत्पन्न होनेवाला मान लेना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सर्व कर्मोंका आश्रय होनेसे कार्मण शरीर भी पुद्गल विपाकी ही है। इसका कारण यह है कि वह सर्व कर्मोंका आश्रय या आधार है। प्रश्न—कार्मण शरीरके उदय विनष्ट होनेके समयमें ही योगका विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मण शरीर जनित है, ऐसा मानना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यदि ऐसा माना जाय तो अघातिकर्मोदयके विनाश होनेके अनन्तर ही विनष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्व भावके भी औदयिकपनेका प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे योगके पारिणामिकपना सिद्ध हुआ।

४. योग कथंचित् क्षायोपशमिक भाव है

ध. ७/२,१,३३/७५/३ जोगो णाम जीवपदेसाणं परिप्फंदो संकोचविकोचलक्खणो । सो च कम्माणं उदयजणिदो, कम्मोदयविरहिदसिद्धेसु तदणुवलंभा । अजोगिकेवलिम्हि जोगाभावाजोगो ओदइयो ण होदि त्ति वोत्तुं ण जुत्तुं, तत्थ सरीरणामकम्मोदया भावा । ण च सरीरणामकम्मोदएण जायमाणो जोगो तेण विणा होदि, अइप्पसंगादो । एवमोदइयस्स जोगस्स कधं खओवसमियत्तं उच्चते । ण सरीरणामकम्मोदएण सरीरपाओग्गपोग्गलेसु बहुसु संचयं गच्छमाणेसु विरियंतराइयस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण तेसिं संतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण समुब्भवादो लद्धखओवसमववएसं विरियं वड्ढदि, तं विरियं पप्प जेण जीवपदेसाणं संकोच विकोच वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो । विरियंतराइयखओवसमजणिदबलवड्ढि-हाणीहितो जदि-जीवपदेसपरिप्फंदस्स वड्ढि-हाणीओ होंति तो खीणंतराइयम्मि सिद्धे. जोगबहुत्तं पसज्जदे । ण, खओवसमियबलादो खइयस्स बलस्स पुधत्तदंसणादो । ण च खओवसमियबलवड्ढि-हाणीहितो वड्ढि-हाणीणं गच्छमाणो जीव-

पदेसपरिप्फंदो खइयबलादो वड्ढिहाणीणं गच्छदि, अइप्पसंगादो। —प्रश्न—जीव प्रदेशोंके संकोच और विकोच रूप परिस्पंदको योग कहते हैं। यह परिस्पन्द कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्मोदयसे रहित सिद्धोंके वह नहीं पाया जाता। अयोगिकेवलीमें योगके अभावसे यह कहना उचित नहीं है कि योग औदयिक नहीं होता है, क्योंकि, अयोगि केवलीके यदि योग नहीं होता तो शरीर-नामकर्मका उदय भी तो नहीं होता। शरीरनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाला योग उस कर्मोदयके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा माननेसे अतिप्रसग दोष उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है, तो उसे क्षायोपशमिक क्यों कहते हैं। उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि जब शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर बननेके योग्य बहुतसे पुद्गलोंका संचय होता है और वीर्यान्तरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावसे व उन्हीं स्पर्धकोंके सत्त्वोपशमसे तथा देश-घाती स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढ़ता है, तब उस वीर्यको पाकर चूँकि जीव-प्रदेशोंका संकोच-विकोच बढ़ता है, इसलिए योग क्षायोपशमिक कहा गया है। प्रश्न—यदि वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए बलकी वृद्धि और हानिसे जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दकी वृद्धि और हानि होती है, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवोंमें योगकी बहुलताका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, क्योंकि क्षायोपशमिक बलसे क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायो-पशमिक बलकी वृद्धि-हानिसे वृद्धि-हानिको प्राप्त होनेवाला जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द क्षायिक बलसे वृद्धिहानिको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे तो अतिप्रसंग दोष आता है।

५. योग कथंचित् औदयिक भाव है

ध.५/१,७,४८/२२६/७ ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणंतरं जोगविणासुवलंभा। ण च भवियत्तेण विउवचारो, कम्मसंबंधविरो-हिणो तस्स कम्मजणिदत्तविरोहा। —'योग' यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्मके उदयका विनाश होनेके पश्चात् ही योग-का विनाश पाया जाता है। और ऐसा मानकर भव्यत्व भावके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्धके विरोधी भव्यत्व भावकी कर्मसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

ध. ७/२,१,१३/७६/३ जदि जोगो वीरियंतराइयखओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे। ण उवयारेण खओवसमियं भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्था भावविरोहादो। —प्रश्न—यदि योग वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, तो सयोगि केवलिमें योगके अभावका प्रसंग आता है। उत्तर—नहीं आता, योग-में क्षायोपशमिक भाव तो उपचारसे है। असलमें तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योगका सयोगि केवलिमें अभाव माननेमें विरोध आता है।

ध. ७/२,१,६१/१०५/२ किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबंधणिमित्तत्तादो। तेण कसाए फिट्टे वि जोगो अत्थि···। —शरीर नामकर्मोदयके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मबन्धमें निमित्त होता है। इस कारण कषायके नष्ट हो जानेपर भी योग रहता है।

ध, ९/४,१,६६/३१६/२ जोगमग्गणा वि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणो-दयजणिदत्तादो। —योग मार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्मकी उदीरणा व उदयसे उत्पन्न होती है।

६. उत्कृष्ट योग दो समयसे अधिक नहीं रहता

ध. १०/४,२,४,३१/१०८/४ जदि एवं तो दोहि समएहि विणा उक्कस्स-जोगेण णिरंतरं बहुकालं किण्ण परिणमाविदो। ण एस दोसो, णिरं-तरं तत्थ तियादिसमयपरिणामाभावादो। —प्रश्न—दो समयोंके सिवा निरन्तर बहुतकाल तक उत्कृष्ट योगसे क्यों नहीं परिणमाया। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि निरन्तर उत्कृष्ट योगमें तीन आदि समय तक परिणमन करते रहना सम्भव नहीं है।

७. तीनों योगोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं

ध. १/१,१,४७/२७९/३ त्रयाणां योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति। नाक्र-मेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगनिरोधात्। मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽ-क्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दर्शनात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति। अथ स्यात् प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका तथा च सिद्धो मनोयोगः शेषयोगाविनाभावीति न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्ति-विरोधात्। —प्रश्न—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं। उत्तर—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् माननेपर योग निरोधका प्रसंग आ जायेगा। अर्थात् किसी भी आत्मामें योग नहीं बन सकेगा। प्रश्न—कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं। उत्तर—यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ। परन्तु इससे, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिए जो प्रयत्न होते हैं, उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि, आगममें इस प्रकार उपदेश नहीं मिलता है। (तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एक साथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं।) प्रश्न—प्रयत्न बुद्धि पूर्वक होता है, और बुद्धि मनो-योग पूर्वक होती है। ऐसी परिस्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ध. ७/२,१,३३/७७/१ दो वा तिण्णि वा जोगा जुगवं किण्ण होंति। ण, तेसिं णिसिद्धाकमवुत्तीदो। तेसिमक्कमेण वुत्ती वुवलंभदे चे। ण,···। —प्रश्न—दो या तीन योग एक साथ क्यों नहीं होते। उत्तर—नहीं होते, क्योंकि, उनकी एक साथ वृत्तिका निषेध किया गया है। प्रश्न—अनेक योगोंकी एक साथ वृत्ति पायी तो जाती है। उत्तर—नहीं पायी जाती, (क्योंकि इन्द्रियातीत जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द प्रत्यक्ष नहीं है। —दे० योग/२/३)।

गो. जी./मू./२४२/५०५ जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण। —एक कालमें एक जीवके युगपत् एक ही योग होता है, दो वा तीन नहीं हो सकते, ऐसा नियम है।

८. तीनों योगोंके निरोधका क्रम

भ. आ./मू./२११७-२१२०/१८२४ बादरवचिजोगं बादरेण कायेण बादर-मणं च। बादरकायंपि तधा रुंभदि सुहुमेण काएण।२११७। तध चेव सुहुममणवचिजोगं सुहमेण कायजोगेण। रुंभित्तु जिणो चिट्ठदि सो सुहुमे काइए जोगे।२११८। सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबंधगो तगो ताधे। काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरियं जिणो झादि।२११९। सुहु-मकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकाययोगे वि। सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो।२१२०। —बादर वचनयोग और बादर मनो-योगको बादर काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं, तथा बादर काययोगको रोकते हैं।२११७। उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसी काययोगसे वे जिन भगवान् स्थिर रहते हैं।२११८। उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके द्वारा सूक्ष्म काययोगसे साता वेदनीय कर्मका बंध करने-वाले वे भगवान् सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते हैं। सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है।२११९। सूक्ष्मक्रिय ध्यानसे सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते हैं। तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते हैं, और तब उनको कर्मका बन्ध नहीं होता। (ज्ञा./४२/४८-५१); (वसु. श्रा./५३३-५३६)।

ध. ६/१,६-८,१६ एत्तो अंतोमुहुत्तं गंतूण बादरकायजोगेण बादरमणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरवचिजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरउस्सासणिस्सासं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण तमेव बादरकायजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुममणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमवचिजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमउस्सासं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमकायजोगं णिरुंभमाणो (४१४/५)। इमाणि करणाणि करेदि पढमसमए अपुव्वफद्दयाणि करेदि पुव्वफद्दयाणहेट्ठादो (४१५/२)। एत्तो अंतोमुहुत्तं किट्टीओ करेदि।···किट्टीकरणे णिट्ठिदे तदो से काले पुव्वफद्दयाणि अपुव्वफद्दयाणि च णासेदि। अंतोमुहुत्तं किट्टीगदजोगो होदि (४१६/१)। तदो अंतोमुहुत्तं जोगाभावेण णिरुद्धासवत्तो··· सव्वकम्मविप्पमुक्को एगसमएण सिद्धिं गच्छदि (४१७/१)। — १. यहाँसे अन्तर्मुहूर्त जाकर बादरकाय योगसे बादरमनोयोगका निरोध करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर बादरकाय योगसे बादर वचन योगका निरोध करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्तसे बादर काययोगसे बादर उच्छ्वास-निश्वासका निरोध करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्तसे बादर काय योगसे उसी बादर काययोगका निरोध करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाययोगसे सूक्ष्म मनोयोगका निरोध करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाय योगसे उच्छ्वास-निश्वासका निरोध करता है। पुनः अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्म काययोगका निरोध करता हुआ। २. इन करणोंको करता है—प्रथम समयमें पूर्वस्पर्धकोंके नीचे अपूर्व स्पर्धकोंको करता है।···फिर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त कृष्टियोंको करता है...उसके अनन्तर समयमें पूर्व स्पर्धकोंको और अपूर्वस्पर्धकोंको नष्ट करता है। अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योग वाला होता है।···तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अयोगि केवलीके योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है।··· तब सर्व कर्मोंसे वियुक्त होकर आत्मा एक समयमें सिद्धिको प्राप्त करता है (ध. १३/५,४,२६/८४/१२); (ध. १०/४,२,४.१०७/३२१/८); (क्ष. सा./मू./६२७-६५५/७३६-७५८)।

४. योगका स्वामित्व व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. योगोंमें सम्भव गुणस्थान निर्देश

ष. खं. १/१,१/सू. ५०-६५/२८२-३०८ मणजोगी सच्चमणजोगी असच्चमोसमणजोगी सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५०। मोसमणजोगी सच्चमोसमणजोगी सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसायवीयराय-छदुमत्था त्ति।५१। वचिजोगी असच्चमोसवचिजोगी बीइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५३। सच्चवचिजोगी सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५४। मोसवचिजोगी सच्चमोसवचिजोगी सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति।५५। कायजोगी ओरालियकायजोगी ओरालियमिस्सकायजोगी एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६१। वेउव्वियकायजोगी वेउव्वियमिस्सकायजोगी सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति।६२। आहारकायजोगी आहारमिस्सकायजोगी एक्कम्हि चेव पमत्त-संजदट्ठाणे।६३। कम्मइयकायजोगी एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६४। मणजोगी वचिजोगी कायजोगी सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६५। — १. सामान्यसे मनोयोग और विशेष रूपसे सत्य मनोयोग तथा असत्यमृषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं।५०। असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं।५१। २. सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभय वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है।५३। सत्य वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है।५४। मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान तक पाये जाते हैं।५५। ३. सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।६१। वैक्रियक काययोग और वैक्रियक मिश्र काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं।६२। आहारककाययोग और आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं।६३। कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है।६४। ४. तीनों योग—मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं।६५। क्षीणकषाय गुणस्थान में भी निष्काम क्रिया सम्भव है।

— दे. अभिलाषा।

२. गुणस्थानोंमें सम्भव योग

(पं. सं./प्रा./५/३२८), (गो. जी./मू./७०४/११४०), (पं. सं./सं./५/३५८)।

गुणस्थान	सम्भव योग	असम्भव योगके नाम
मिथ्यादृष्टि	१३	आहारक, आहारक मिश्र = २
सासादन	,,	,,
मिश्र	१०	आहारक, आहारक मिश्र, औदारिक, वैक्रियक मिश्र कार्मण = ५
असंयत	१३	आहारक व आहारक मिश्र = २
देशविरत	६	औदारिक मिश्र, वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र, आहारक व आहारक मिश्र, कार्मण = ६
प्रमत्त	११	औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, कार्मण = ४
अप्रमत्त	६	देशविरतवत्
अपूर्वकरण	,,	,,
अनिवृत्ति	,,	,,
सूक्ष्म सा.	,,	,,
उपशान्त	,,	,,
क्षीणकषाय	,,	,,
सयोगि	७	वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, असत्य व उभय मनो-वचनयोग = ८

३. योगोंमें सम्भव जीवसमास

ष. खं. १/१,१/सू. ६६-७८/३०६-३१७ वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति।६६। कायजोगो एइंदियाणं।६७। मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि।६८। कायजोगो पज्जत्ताणं वि अत्थि, अपज्जत्ताणं वि अत्थि।६९। ओरालियकायजोगो पज्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।७६। वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।७७। आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।७८। — वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं।६६। काययोग

एकेन्द्रिय जीवोंके होता है।६७। मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते।६८। काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है।६९। अपर्याप्तकोंके भी होता है, औदारिक काययोग पर्याप्तकोंके और औदारिक मिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है।७६। वैक्रियक काययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियकमिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है।७७।आहारक काययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है।७८। (मू.आ./११२७); (पं.सं./प्रा./४/११-१५); (गो.जी./मू./६७६-६८४/११२२-११२५)।

४. पर्याप्त व अपर्याप्तमें मन, वचनयोग सम्बन्धी शंका

ध. १/१.१.६८/३१०/४ क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न, वाङ्मनसाभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्तेः। पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा। —प्रश्न—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोग रूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रश्न—पर्याप्तक जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होने रूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहनेपर शेष योग सम्भव है, इसलिए इस अपेक्षासे वहाँ पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है। अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिए इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है।

५. मनोयोगीमें भाषा व शरीर पर्याप्तिकी सिद्धि

ध. २/१.१/६२८/६ केई वचिकायपाणे अवणेंति, तण्ण घडदे; तेसि सत्ति-संभवादो। वचि-कायबलणिमित्त-पुग्गल-खंधस्स अत्थित्तं पेक्खिदूण पज्जत्तीओ होंति त्ति सरीर-वचि पज्जत्तीओ अत्थि। —कितने ही आचार्य मनोयोगियोंके दश प्राणोंमेंसे वचन और काय प्राण कम करते हैं, किन्तु उनका वैसा करना घटित नहीं होता है, क्योंकि, मनोयोगी जीवोंके वचनबल और कायबल इन दो प्राणोंकी शक्ति पायी जाती है, इसलिए ये दो प्राण उनके बन जाते हैं। उसी प्रकार वचनबल और कायबल प्राणके निमित्तभूत पुद्गल-स्कन्धका अस्तित्व देखा जानेसे उनके उक्त दोनों पर्याप्तियाँ भी पायी जाती हैं इसलिए उक्त दोनों पर्याप्तियाँ भी उनके बन जाती हैं।

६. अप्रमत्त व ध्यानस्थ जीवोंमें असत्य मनोयोग कैसे

ध. १/१.१.५१/२८५/७ भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्वं नेतरयोरप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति न, रजोजुषां विपर्ययानध्यवसायाज्ञानकारणमनसः सत्त्वाविरोधात्। न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात्। —प्रश्न—क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका सद्भाव रहा आवे, परन्तु बाकीके दो अर्थात् असत्य मनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहने वाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है? उत्तर—नहीं, क्योंकि आवरण कर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्धसे क्षपक या उपशम जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है।

ध. १/१.१.५५/२८६/५ क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्। तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति। वाचंयमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य सत्त्वाविरोधात्। —प्रश्न—जिसकी कषाय क्षीण हो गयी है उसके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं? उत्तर—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि असत्य वचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्य वचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है। और इसीलिए उभय संयोगज सत्यमृषा वचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—वचन गुप्तिका पूरी तरहसे पालन करने वाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है।

ध. २/१.१/४३४/६ *ज्झाणीणमपुव्वकरणाणं भवदु णाम वचिबलस्स* अत्थित्तं भासापज्जत्ति-सण्णिद-पोग्गल-खंज-जणिद-सत्ति-सब्भावादो। ण पुण वचिजोगो कायजोगो वा इदि। न, अन्तर्जल्पप्रयत्नस्य कायगतसूक्ष्मप्रयत्नस्य च तत्र सत्त्वात्। —प्रश्न—ध्यानमें लीन अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके वचनबलका सद्भाव भले हो रहा आवे, क्योंकि भाषा पर्याप्ति नामक पौद्गलिक स्कन्धोंसे उत्पन्न हुई शक्तिका उनके सद्भाव पाया जाता है किन्तु उनके वचनयोग या काययोगका सद्भाव नहीं मानना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ध्यान अवस्थामें भी अन्तर्जल्पके लिए प्रयत्न रूप वचनयोग और कायगत-सूक्ष्म प्रयत्नरूप काययोगका सत्त्व अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके पाया ही जाता है इसलिए वहाँ वचन योग और काययोग भी सम्भव है।

७. समुद्घातगत जीवोंमें वचनयोग कैसे

ध. ४/१,३,२१/१०२/७,१० वेउव्वियसमुग्घादगदाणं कधं मणजोग-वचिजोगाणं संभवो। ण, तेसि पि णिप्पण्णुत्तरसरीराणं मणजोगवचिजोगाणं परावत्तिसंभवादो।७। मारणंतियसमुग्घादगदाणं असंखेज्जजोयणायामेण ठिदाणं मुच्छिदाणं कधं मण-वचिजोगसंभवो। ण, कारणाभावादो अवत्ताणं णिब्भरसुत्तजीवाणं व तेसिं तत्थ संभवं पडिविरोहाभावादो।१०। —प्रश्न—वैक्रियिक समुद्घातको प्राप्त जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे संभव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, निष्पन्न हुआ है विक्रियात्मक उत्तर शरीर जिनके ऐसे जीवोंके मनोयोग और वचनयोगोंका परिवर्तन सम्भव है। प्रश्न—मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त, असंख्यात योजन आयामसे स्थित और मूर्च्छित हुए संज्ञी जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे सम्भव हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाधक कारणके अभाव होनेसे निर्भर (भरपूर) सोते हुए जीवोंके समान अव्यक्त मनोयोग और वचनयोग मारणान्तिक समुद्घातगत मूर्च्छित अवस्थामें भी सम्भव हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

८. असंज्ञी जीवोंमें असत्य व अनुभय वचनयोग कैसे

ध.१/१.१.५३/२८७/४ असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलिनां वचनाभावसंजननात्। विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात्। भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात्। नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात्। न चक्षुरादीनां सहकार्यपि

प्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात्। समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न केवलज्ञानेन व्यभिचारात्। समनस्कानां यत्क्षायोपशमिकं ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्। मनोयोगाद्वचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात्। कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्यमोषत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात्। ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभिप्रायविषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात्। =प्रश्न—अनुभय रूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभय वचन कहते हैं। यह बात पहले कही जा चुकी है। ऐसी हालतमें मन रहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभय वचन कैसे हो सकते हैं? उत्तर—यह कोई एकान्त नहीं है कि सम्पूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं, यदि सम्पूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मन रहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायेगा। प्रश्न—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके बिना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है। यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो। अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानस ज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है। यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि प्रयत्न और आत्माके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पायी जाती है। प्रश्न—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है। प्रश्न—जो फिर ऐसा माना जाये कि समनस्क जीवोंके जो क्षायोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है? उत्तर—यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है। प्रश्न—मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे घटित होता है? उत्तर—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहाँपर मानस ज्ञानकी 'मन' यह संज्ञा उपचारसे रखकर कथन किया है। प्रश्न—विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभयपना कैसे आ सकता है? उत्तर—विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिए उन्हे अनुभय रूप कहा गया है। प्रश्न—उनके वचनोंमें ध्वनि विषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय, तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्राय विषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है।

५. योगस्थान निर्देश

१. योगस्थान सामान्यका लक्षण

ष. खं./१०/४,२,४/सू. १८६/४६१ ठाणपरूवणदाए असंखेज्जाणि फद्दयाणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्ताणि, तमेगं जहण्णयं जोगट्ठाणं भवदि ।१८६। —स्थान प्ररूपणाके अनुसार श्रेणिके असंख्यातवें भाग मात्र जो असंख्यात स्पर्धक हैं उनका एक जघन्य योग स्थान होता है ।१८६।

स. सा./आ./५३ यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि···। —काय, वचन और मनोवर्गणाका कम्पन जिनका लक्षण है ऐसे जो योगस्थान ।

२. योगस्थानोंके भेद

ष. खं./१०/४,२,४/१७५–१७६/४३२,४३८ जोगट्ठाणपरूवणदाए तत्थ इमाणि दस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति (१७५/४३२) अविभागपडिच्छेदपरूवणा वग्गणपरूवणा फद्दयपरूवणा अंतरपरूवणा ठाणपरूवणा अणंतरोवणिधा परंपरोवणिधा समयपरूवणा वड्ढिपरूवणा अप्पाबहुए त्ति ।१७६। —योगस्थानोंकी प्ररूपणामें दस अनुयोगद्वार जानने योग्य हैं ।१७५। अविभागप्रतिच्छेद प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्द्धक प्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व, ये उक्त दस अनुयोगद्वार हैं ।१७६।

दे० योग/१/५ (योजनायोग तीन प्रकारका है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग, और परिणामयोग।)

गो. क./मू./२१८ जोगट्ठाणा तिविहा उववादेयंतवड्ढिपरिणामा। भेदा एक्केक्कं पि चोद्दसभेदा पुणो तिविहा ।२१८। —उपपाद, एकान्तानुवृद्धि और परिणाम इस प्रकार योग-स्थान तीन प्रकारका है। और एक-एक भेदके १४ जीवसमासकी अपेक्षा चौदह-चौदह भेद हैं। तथा ये १४ भी सामान्य, जघन्य और उत्कृष्टकी अपेक्षा तीन-तीन प्रकारके हैं।

३. उपपाद योगका लक्षण

ध.१०/४,२,४,१७३/४२०/६ उववादजोगो णाम · उप्पण्णपढमसमए चेव। · जहण्णुक्कस्सेण एगसमओ। —उपपाद योग उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही होता है।···उसका जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय मात्र है।

गो. क./मू./२१९ उववादजोगठाणा भवादिसमयट्ठियस्स अवरवरा। विग्गहइजुगइगमणे जीवसमासे मुणेयव्वा ।२१९। —पर्याय धारण करनेके पहले समयमें तिष्ठते हुए जीवके उपपाद योगस्थान होते हैं। जो वक्रगतिसे नवीन पर्यायको प्राप्त हो उसके जघन्य, जो ऋजुगतिसे नवीन पर्यायको धारण करे उसके उत्कृष्ट योगस्थान होते हैं ।२१९।

४. एकान्तानुवृद्धि योगस्थानका लक्षण

ध. १०/४,२,४,१७३/४२०/७ उप्पण्णविदियसमयप्पहुडि जाव सरीरपज्जत्तीए अपज्जत्तयदचरिमसमओ ताव एगंताणुवड्ढिजोगो होदि। णवरि लद्धिअपज्जत्ताणमाउबंधपाओग्गकाले सगजीविदतिभागे परिणामजोगो होदि। हेट्ठा एगंताणुवड्ढिजोगो चेव। —उत्पन्न होनेके द्वितीय समयसे लेकर शरीरपर्याप्तिसे अपर्याप्त रहनेके अन्तिम समय तक एकान्तानुवृद्धियोग होता है। विशेष इतना कि लब्ध्यपर्याप्तकोंके आयुबन्धके योग्य कालमें अपने जीवितके त्रिभागमें परिणाम योग होता है। उससे नीचे एकान्तानुवृद्धियोग ही होता है।

गो. क./मू. व टी./२२२/२७० एयंतवड्ढिठाणा उभयट्ठाणाणमंतरे होंति। अवरवरट्ठाणाओ सगकालादिम्हि अंतम्हि ।२२२। तदेवैकान्तेन नियमेन स्वकाल-स्वकाल-प्रथमसमयात् चरमसमयपर्यन्तं प्रतिसमयमसंख्यातगुणितक्रमेण तद्योग्याविभागप्रतिच्छेदवृद्धिर्यस्मिन् स एकान्तानुवृद्धिरित्युच्यते। —एकान्तानुवृद्धि योगस्थान उपपाद आदि दोनों स्थानोंके बीचमें, (अर्थात् पर्याय धारण करनेके दूसरे समयसे लेकर एक समय कम शरीर पर्याप्तिके अन्तर्मुहूर्तके अन्त समय तक) होते हैं। उसमें जघन्यस्थान तो अपने कालके पहले समयमें और उत्कृष्टस्थान अन्तके समयमें होता है। इसीलिए एकान्त (नियम कर) अपने समयोंमें समय समय प्रति असंख्यातगुणी अविभागप्रतिच्छेदोंकी वृद्धि जिसमें हो वह एकान्तानुवृद्धि स्थान, ऐसा नाम कहा गया है।

५. परिणाम या घोटमान योगस्थानका लक्षण

ध. १०/४,२,४,१७३/४२१/१ पज्जत्तपढमसमयप्पहुडि उवरि सव्वत्थ परिणामजोगो चेव। णिव्वत्ति अपज्जत्ताणं णत्थि परिणामजोगो। —पर्याप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर आगे सब जगह परिणाम योग ही होता है निर्वृत्यपर्याप्तकोंके परिणाम योग नहीं होता। (लब्ध्य-पर्याप्तकोंके पूर्वावस्थामें होता है- दे० ऊपरवाला शीर्षक)।

गो. क./मू./२२०-२२१/२६८ परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगादु चरि-मोत्ति। लद्धि अपज्जत्ताणं चरिमतिभागम्हि बोधव्वा।२२०। सग-पज्जत्तीपुण्णे उवरिं सव्वत्थं जोगमुक्कस्सं। सव्वत्थ होदि अवरं लद्धि अपुण्णस्स जेट्ठंपि।२२१। —शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेके प्रथम समयसे लेकर आयुके अन्ततक परिणाम योगस्थान कहे जाते हैं। लब्ध्यपर्याप्त जीवके अपनी आयुके अन्तके त्रिभागके प्रथम समयसे लेकर अन्त समय तक स्थितिके सब भेदोंमें उत्कृष्ट व जघन्य दोनों प्रकारके योग-स्थान जानना।२२०। शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेके समयसे लेकर अपनी-अपनी आयुके अन्त समय तक सम्पूर्ण समयोंमें परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते हैं, जघन्य भी संभवते हैं।२२१।

गो. क./जी. प्र./२१६/२६०/१ येषां योगस्थानानां वृद्धिः हानिः अव-स्थानं च संभवति तानि घोटमानयोगस्थानानि परिणामयोगस्थाना-नीति भणितं भवति। —जिन योगस्थानोंमें वृद्धि, हानि, तथा अवस्थान (जैसेके तैसे बने रहना) होता है, उनको घोटमान योग-स्थान-परिणाम योगस्थान कहा गया है।

६. परिणाम योगस्थानोंकी यवमध्य रचना

ध. १०/४,२,४,२८/६०/६ का विशेषार्थ—ये परिणामयोगस्थानद्वीन्द्रिय पर्याप्तके जघन्य योगस्थानोंसे लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके उत्कृष्ट योगस्थानों तक क्रमसे वृद्धिको लिये हुए हैं। इनमें आठ समय वाले योगस्थान सबसे थोड़े होते हैं। इनसे दोनों पार्श्व भागों-में स्थित सात समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं। इनसे दोनों पार्श्व भागोंमें स्थित छह समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं। इनसे दोनों पार्श्व भागोंमें स्थित पाँच समयवाले योग-स्थान असंख्यातगुणे होते हैं। इनसे दोनों पार्श्व भागोंमें स्थित चार समयवाले योगस्थान असंख्यात गुणे होते हैं। इनसे तीन समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं और इनसे दो समय-वाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं। ये सब योगस्थान—
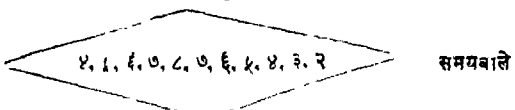
होनेसे ग्यारह भागोंमें विभक्त हैं, अतः समयकी दृष्टिसे इनकी यवाकार रचना हो जाती है। आठ समयवाले योगस्थान मध्यमें रहते हैं। फिर दोनों पार्श्व भागोंमें सात (आदि) योगस्थान प्राप्त होते हैं। ...इनमेंसे आठ समयवाले योगस्थानोंकी यवमध्य संज्ञा है। यवमध्यसे पहलेके योगस्थान थोड़े होते हैं और आगेके योगस्थान अ-संख्यातगुणे होते हैं। इन आगेके योगस्थानोंमें संख्यातभाग आदि चार हानियाँ व वृद्धियाँ सम्भव हैं इसीसे योगस्थानोंमें उक्त जीव-को अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित कराया है, क्योंकि योगस्थानोंका अन्तर्मुहूर्त काल यहीं सम्भव है।

७. योगस्थानोंका स्वामित्व सभी जीव समासोंमें सम्भव है

गो. क./जी. प्र./२२२/२७०/१० एवमुक्तयोगविशेषा. सर्वेऽपि पूर्वस्था-पितचतुर्दशजीवसमासरचनाविशेषेऽस्मिन्नुक्तं संभवतीति संभाव-यितव्या.। —ऐसे कहे गये जो ये योगविशेष ये सर्व चौदह जीव-समासोंमें जानने चाहिए।

८. योगस्थानोंके स्वामित्वकी सारणी

संकेत—उ०=उत्कृष्ट; एक=एकेन्द्रिय; चतु०=चतुरिन्द्रिय; ज०= जघन्य; त्रि०=त्रिइन्द्रिय; द्वि०=द्वीन्द्रिय; नि० अप०=निर्वृत्य-पर्याप्त; पंचे.=पंचेन्द्रिय, बा०=बादर; ल०अप०=लब्ध्यपर्याप्त; स०= समय; सू०=सूक्ष्म ध. १०/४,२,४,१७३/४२१-४३० (गो. क./मू./२३३-२५६)।

प्रमाण पृ. नं.	योग स्थान	[illegible]	काल ज.	काल उ.	सम्भव जीव समास	उस पर्यायका विशेष समय
४२१ ४२४	उपपाद	ज.	१स.	१स.	सू. बा. एक द्वि. त्रि. चतु.	विग्रहगतिमें वर्तमान व तद्भवस्थ होनेके प्रथम समय
४२८	"	उ.	"	"	पंचे. असंज्ञी, संज्ञी. ल. अप. व नि. अप.	तद्भवस्थ होनेके प्रथम समयमें
४२१ ४२५	एकान्ता-नुवृद्धि	ज.	"	"	उपरोक्त सर्व जीव ल. अप. व नि. अप.	तद्भवस्थका द्वितीय समय
४२८		उ.	"	"	"	एकान्ता० योगकालका अन्तिम समय
४२६		"	"	"		उत्पन्न होनेके अन्त-र्मुहूर्त पश्चात् अनन्तर-समय।
४२३		ज. उ.	" "	४स. "	द्वि-संज्ञी नि. अप.	पर्याप्तिका प्रथम समय पर्याप्तिके निकट
४२१ ४२२ ४२७	परिणाम	ज.	"	"	सू. बा. एक-संज्ञी नि. पर्याप्त	छठी पर्याप्तिके प्रथम-समयसे आगे
४२६		"	"	"	सू. बा एक ल. अप.	परभविक आयु बन्ध योग्य कालसे उपरिम भवस्थिति
४२७ ४३०		"	"	"	"	आयु बन्धयोग्य काल-के प्रथम समयसे तृतीय भाग तकमें वर्तमान जीव
४२२ ४२३		"	"	२स.	सू. बा. एक-नि. अप.	परम्परा शेष पाँच पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हो चुकनेपर
४२६ ४३०		"	"	"	द्वि. संज्ञी ल. अप.	स्व स्व भवस्थितिके तृतीय भागमें वर्तमान
४२२		"	"	"	सू. बा. एक-संज्ञी ल. अप.	आयुबन्ध योग्य प्रथम समयसे भवके अन्त तक अर्थात् जीवनके
४३०		"	"	"	द्वी.-संज्ञी ल. अप.	अन्तिम तृतीय भागके प्रथम समयसे विश्रमण कालके अनन्तर अध-स्तन समयतक
४३१		उ.	"	"	द्वी.-संज्ञी नि. अप.	परम्परा पाँचों पर्या-प्तियोंसे पर्याप्त
५५					पर्याप्तक	छह में से एक भी पर्याप्तिके अपूर्ण रहने तक भी नहीं होता।

९. लब्ध्यपर्याप्तकके परिणामयोग होने सम्बन्धी दो मत

ध. १०/४,२,४, १७१/४२०/६ लद्धि-अपज्जत्ताणमाउअबंधकाले चेव परिणामजोगो होदि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, परिणामजोगे ट्ठिदस्स अपत्तुववादजोगस्स एयंताणुवड्ढिजोगेण परिणामविरोहादो। —लब्ध्यपर्याप्तकोंके आयुबन्ध कालमें ही परिणाम योग होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। (दे० योग/५/५) किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि इस प्रकारसे जो जीव परिणाम योगमें स्थित है वह उपपाद योगको नहीं प्राप्त हुआ है, उसके एकान्तानुवृद्धियोगके साथ परिणामके होनेमें विरोध आता है।

१०. योग स्थानोंकी क्रमिक वृद्धिका प्रदेशबन्धके साथ सम्बन्ध

ध. ६/१,६-७,४३/२०१/२ पदेसबंधादो जोगट्ठाणाणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्ताणि जहण्णट्ठाणादो अवट्ठिदपक्खेवेण सेडीए असंखेज्जदिभागपडिभागिएण विसेसाहियाणि जाउक्कस्सजोगट्ठाणेत्ति दुगुण-दुगुणगुणहाणिअद्धाणेहि सहियाणि सिद्धाणि हवंति। कुदो जोगेण विणा पदेसबंधाणुववत्तीदो। अथवा अणुभागबंधादो पदेसबंधो तक्कारणजोगट्ठाणाणि च सिद्धाणि हवंति। कुदो। पदेसेहि विणा अणुभागाणुववत्तीदो। —प्रदेशबन्धसे योगस्थान सिद्ध होते हैं। वे योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र हैं, और जघन्य योगस्थानसे लेकर जगश्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रतिभागरूप अवस्थित प्रक्षेपके द्वारा विशेष अधिक होते हुए उत्कृष्ट योगस्थान तक दुगुने-दुगुने गुणहानि आयामसे सहित सिद्ध होते हैं, क्योंकि योगके बिना प्रदेशबन्ध नहीं हो सकता है। अथवा, अनुभागबन्धसे प्रदेशबन्ध और उसके कारणभूत योगस्थान सिद्ध होते हैं, क्योंकि, प्रदेशोंके बिना अनुभागबन्ध नहीं हो सकता।

६. योगवर्गणानिर्देश

१. योगवर्गणाका लक्षण

ध. १०/४,२,४,१८१/४४२-४४३/८ असंखेज्जलोगमेत्तजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वग्गणा होदि त्ति भणिदे जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिसधणियसव्वजीवपदेसाणं जोगाविभागपडिच्छेदासंभवादो असंखेज्जलोगमेत्ताविभागपडिच्छेदपमाणा एया वग्गणा होदि त्ति घेत्तव्वं।......जोगाविभागपडिच्छेदेहिं सरिससव्वजीवपदेसे सव्वे घेत्तूण एगा वग्गणा होदि। —असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है, ऐसा कहने पर योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान धनवाले सब जीव प्रदेशोंके योगाविभाग प्रतिच्छेद असंभव होनेसे असंख्यात लोकमात्र अविभाग प्रतिच्छेदोंके बराबर एक वर्गणा होती है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।...योगाविभाग-प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहणकर एक वर्गणा होती है।

२. योगवर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी रचना

ष. खं. १०/४,२,४/सू. १७८-१८१,४४० असंखेज्जा लोगा जोगाविभागपडिच्छेदा।१७८। एवदिया जोगाविभागपडिच्छेदा।१७९। वग्गणपरूवणदाए असंखेज्जलोगजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वग्गणा होदि। एवमसंखेज्जाओ वग्गणाओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्ताओ।१८१।

ध.१०/४,२,४,१८१/४४३-४४४/३ जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिससव्वजीवपदेसे सव्वे घेत्तूण एगा वग्गणा होदि। पुणो अण्णे वि जीवपदेसे जोगाविभागपडिच्छेदेहि अण्णोण्णं समाणे पुव्विल्लवग्गणाजीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहिंतो अहिए उवरि वुच्चमाणाणमेगजीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहिंतो ऊणे घेत्तूण विदिया वग्गणा होदि।...असंखेज्जपदरमेत्ता जीवपदेसा एक्केक्किस्से वग्गणाए होंति। ण च सव्ववग्गणाणं दीहत्तं समाणं, आदिवग्गणप्पहुडि विसेसहीणसरूवेण अवट्ठाणादो।

ध./१०/४,२,४,१८१/४४६/६ पढमवग्गणाए अविभागपडिच्छेदेहिंतो विदियवग्गग अविभागपडिच्छेदा विसेसहीणा।...पढमवग्गणाएगजीवपदेसाविभागपडिच्छेदे णिसेगविसेसेण गुणिय पुणो तत्थ विदियगोवुच्छाए अवणिदाए जं सेस तेत्तियमेत्तेण।...एवं जाणिदूण णेदव्वं जाव पढमफद्दयचरिमवग्गणेत्ति। पुणो पढमफद्दयचरिमवग्गणविभागपडिच्छेदेहिंतो विदियफद्दयआदिवग्गणाए जोगाविभागपडिच्छेदा किंचूणदुगुणमेत्ता। —एक एक जीव प्रदेशमें असंख्यात लोकप्रमाण योगाविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।१७८। एक योगस्थानमें इतने मात्र योगाविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।१७९। वर्गणा प्ररूपणाके अनुसार असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है।१८०। इस प्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात वर्गणाएँ होती हैं।१८१। योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहण कर एक वर्गणा होती है। पुनः योगाविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा परस्पर समान पूर्व वर्गणासम्बन्धी जीवप्रदेशोंके योगाविभाग प्रतिच्छेदोंसे अधिक, परन्तु आगे कही जानेवाली वर्गणाओंके एक जीवप्रदेश सम्बन्धी योगाविभागप्रतिच्छेदोंसे हीन, ऐसे दूसरे भी जीव प्रदेशोंको ग्रहण करके दूसरी वर्गणा होती है (इसी प्रकार सब वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं)...असंख्यात प्रतर प्रमाण जीव प्रदेश एक वर्गणामें होते हैं। सब वर्गणाओंकी दीर्घता समान नहीं है, क्योंकि, प्रथम वर्गणाको आदि लेकर आगेकी वर्गणाएँ विशेष हीन रूपसे अवस्थित हैं।४४३-४४४। प्रथम वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे द्वितीय वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेद विशेष हीन हैं।...प्रथम वर्गणा सम्बन्धी एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंको निषेकविशेषसे गुणितकर फिर उसमेंसे द्वितीय गोपुच्छको कम करनेपर जो शेष रहे उतने मात्रसे वे विशेष अधिक हैं।...इस प्रकार जानकर प्रथम स्पर्धककी चरम वर्गणा सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंसे द्वितीय स्पर्धकको प्रथम वर्गणाके योगाविभागप्रतिच्छेद कुछ कम दुगुने मात्र हैं। (इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक स्पर्धकमें वर्गणाओंके अविभाग प्रतिच्छेद क्रमशः हीन-हीन और उत्तरोत्तर स्पर्धकोंसे अधिक अधिक हैं)।

३. योग स्पर्धकका लक्षण

ष. खं. १० / ४,२,४ / सूत्र १८२/४५२ फद्दयपरूवणाए असंखेज्जाओ वग्गणाओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तीयो तमेगं फद्दयं होदि।१८२।

ध. १०/४,४,२,१८२/४५२/५ फद्दयमिदि किं वुत्तं होदि। क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च यत्र विद्यते तत्स्पर्धकम्। को एत्थ कमो णाम। सगसगजहण्णवग्गाविभागपडिच्छेदेहिंतो एगेगाविभागपडिच्छेदवुड्ढी, उक्कस्सवग्गाविभागपडिच्छेदेहिंतो एगेगाविभागपडिच्छेदहाणी च कमो णाम। दुप्पहुडीणं वड्ढी हाणी च अक्कमो। —(योगस्थानके प्रकरणमें) स्पर्धकप्ररूपणाके अनुसार श्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र जो असंख्यात वर्गणाएँ हैं, उनका एक स्पर्धक होता है।।१८२। प्रश्न—स्पर्धकसे क्या अभिप्राय है? उत्तर—जिसमें क्रमवृद्धि और क्रमहानि होती है वह स्पर्धक कहलाता है। प्रश्न—यहाँ 'क्रम' का अर्थ क्या है? उत्तर—अपने-अपने जघन्य वर्गके अविभागप्रतिच्छेदकी वृद्धि और उत्कृष्ट वर्गके अविभागप्रतिच्छेदोंसे एक एक अविभाग प्रतिच्छेदकी जो हानि होती है उसे क्रम कहते हैं। दो व तीन आदि अविभागप्रतिच्छेदोंकी हानि व वृद्धिका नाम अक्रम है। (विशेष दे० स्पर्धक)।

योगचंद्र— ई. श. १२ में योगसार (दोहासार) के कर्ता दिगम्बर आचार्य हुए हैं। (हि. जै. सा. इ./२६ कामता)।

योग त्याग क्रिया—दे० संस्कार/२।

योग दर्शन—

१. सामान्य परिचय

मन व इन्द्रिय निग्रह ही इसका मुख्य प्रयोजन है। योगका अर्थ समाधि है। योगके अनेकों भेद हैं। राजयोग व हठयोगके भेदसे यह दो प्रकारका है। पातंजलियोग राजयोग है और प्राणायाम आदिसे परमात्माका साक्षात्कार करना हठयोग है। ज्ञानयोग कर्मयोग व भक्तियोगके भेदसे तीन प्रकार तथा मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोगके भेदसे चार प्रकार है। (स्या. मं./परि-ख/पृ.४२६)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

१. श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थ में पाया जाता है और शाण्डिल्य आदि उपनिषदोंमें उसकी प्रक्रियाओं-का सांगोपांग वर्णन है। २. योगदर्शनके आद्यप्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं, इनका अपरनाम स्वयंभू है। इनका कथन महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। प्रसिद्ध व्याकरणकार पतंजलि आधुनिक योग-सूत्रोंके व्यवस्थापक हैं। इनका समय ई. पू. शताब्दी २ है। पतं-जलिके योगसूत्रोंपर व्यासने भाष्य लिखा है। यह महाभारतके रचयिता व्याससे भिन्न हैं। इनका समय ई. श. ४ है। व्यास भाष्य-पर वाचस्पति-मिश्र (ई. ८४०) व तत्त्ववैशारदी भोज (ई.श. १०) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक, और नागोजी भट्ट (ई. श. १७) ने छाया व्याख्या नामक टीकाएँ लिखी। (स्या. म./परि० ख/पृ. ४२६)।

३. तत्त्व विचार

१. चित्त ही एक तत्त्व है। इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। २ चित्तका संसारी विषयोंमें भटकना क्षिप्त है, निद्रा आदिमें रत रहना मूढ है, सफलता असफलताके झूलेमें झूलते रहना विक्षिप्त है, एक ही विषयमें लगना एकाग्र है, तथा सभी वृत्तियों के रुक जानेपर वह निरुद्ध है। अन्तिम दो अवस्थाएँ योगके लिए उपयोगी हैं। ३. सत्त्वादि तीन गुणोंके उद्रेकसे उस चित्तके तीन रूप हो जाते हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति व स्थिति। अणिमा आदि ऋद्धियोंका प्रेमी प्रख्या है। 'अन्यथाख्याति' या विवेक बुद्धि जागृत होनेपर चित्त 'धर्म मेघ समाधि' में स्थित हो जाता है। तब पुरुषका प्रतिबिम्ब चित्तपर पड़ता है, और वह चेतनवत् कार्य करने लगता है। यही चित्तकी वृत्ति है। वृत्ति व संस्कारके झूलेमें झूलते-झूलते अन्तमें कैवल्यदशाकी प्राप्ति होना स्थिति है। (योगदर्शनसूत्र)।

४. ज्ञान व प्रमाण विचार

१. चित्तकी उपरोक्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। २. प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण हैं। ३. संशय व विपरीत ज्ञान विपर्यय है। ४. असत् वस्तुका संकल्प विकल्प है। ५. 'आज मैं खूब सोया' ऐसा निद्रा आदि तमस् प्रधान वृत्तिका ज्ञान निद्रा है। ६. अनुभूत विषयका स्मरण स्मृति है (योगदर्शनसूत्र)।

५. योगके आठ अंगोंका विचार

१. योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। २. अहिंसादि, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप मन वचन कायका संयम यम है। ३. शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय, व ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। ४. पद्मासन, वीरासन आदि आसन हैं। ५. श्वासोच्छ्वासका गति निरोध प्राणा-याम है। ६. इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। ७. विकल्प पूर्वक किसी एक काल्पनिक ध्येयमें चित्तको निष्ठ करना धारणा है। ८. ध्यान, ध्याता व ध्येय सहित चित्तका एकाग्र प्रवाह ध्यान है। ९. ध्यान, ध्याता व ध्येय रहित निष्ठ चित्तसमाधि है। (योग दर्शनसूत्र)।

६. समाधि विचार

१. समाधि दो प्रकारकी है—संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात। २. संप्रज्ञातको बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि यह किसी ध्येयको आश्रय बनाकर की जाती है। उत्तरोत्तर सब सूक्ष्म रूपसे यह चार प्रकारकी है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ३. स्थूल विषयसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति वितर्क है। वितर्कानुगत दो प्रकारकी है—सवितर्क और निर्वितर्क। शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनोंकी एकतारूप भावना सवितर्क है, और केवल अर्थकी भावना निर्वितर्क है। ४. बाह्य सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध सूक्ष्माकार चित्त वृत्ति विचारानुगत है। ५. इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति आनन्दानुगत है। ६. चित्त प्रतिबिम्बित बुद्धि ही अस्मिता है, यह अत्यन्त सूक्ष्म है। इससे सम्बद्ध चित्तवृत्ति अस्मितानुगत है। (योगदर्शन सूत्र)। ७. ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के विकल्पसे शून्य, निरालम्ब, संस्कार मात्र रूप, वैराग्य निबद्ध चित्तवृत्ति असंप्रज्ञात है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यह दो प्रकार है--भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय। तहाँ अविद्या युक्त भव प्रत्यय है जो दो प्रकार है—विदेह और प्रकृति लय। इन्द्रियों व भूतोंकी वासनाके संस्कारसे युक्त, विवेक ख्याति शून्य अवस्था विदेह है। 'हमें कैवल्य प्राप्त हो गया है', ऐसी भावना वाला व्यक्ति पुनः संसारमें आता है, अतः भवप्रत्यय कहलाता है। अव्यक्त महत् आदिकी वासनाके संस्कारसे युक्त प्रकृतिलय है। यह भी संसारमें लौट आता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, संप्रज्ञात, प्रज्ञा व असप्रज्ञातके क्रमसे योगियोंको अविक्षिप्त शान्तचित्तता प्रगट हो जाती है। यही उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात है। इससे अविद्याका नाश हो जाता है। और वह पुनः संसारमें नहीं आता है। (योग-दर्शन सूत्र)।

७. विघ्न व क्लेश विचार

१. चित्त विक्षेपका नाम विघ्न है। वह नौ प्रकार है—रोग, अकर्म-ण्यता, संशय, प्रमाद (समाधिके प्रति निरुत्साह), आलस्य (शरीर व मनका भारीपना), विषयासक्ति, भ्रान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधिभूमिका अपाय, भूमिको पाकर भी चित्तका स्थिर न होना। ऐसे विक्षिप्त चित्त वालेको दुःख दौर्मनस्य (इच्छाकी अपूर्ति) होनेसे चित्तमें क्षोभ, शरीरमें कम्पन तथा श्वास-प्रश्वास होने लगता है। २. इन विघ्नोंको रोकनेके लिए—तत्त्वावलम्बनका अभ्यास, सर्व सत्त्व मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थता करनी योग्य है। असमाहित चित्त व्यक्ति निष्काम कर्म व फल समर्पण बुद्धि द्वारा विघ्नोंका नाश कर सकता है। पीछे प्रज्ञाका उदय होने पर समाधि धारण करता है। ३. क्लेश पाँच प्रकारका है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश। ४. अनित्य, अशुचि व अनात्मभूत पदार्थोंमें नित्य, शुचि व आत्मभूतपनेकी प्रतीति अविद्या है। ५. पुरुष और बुद्धिको एक मानना अस्मिता है। ६. सुखके प्रति रति राग है। ७. दुःखके प्रति अरति द्वेष है। ८. मृत्युका भय अभिनिवेश है। (योगदर्शन सूत्र)।

८. भूमि व प्रज्ञा विचार

१. योगीकी साधनाके मार्गमें क्रमशः चार भूमियाँ प्रगट होती हैं— प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त भावनीय। २. समाधिके प्रति प्रवृत्तिमात्र चित्त प्रथमकल्पिक है। ३. इन्द्रियों व भूतोंको अपने वशमें करनेकी इच्छा वाली ऐसी ऋतम्भरा प्रज्ञा मधुभूमि है। यह देवगतिके सुखोंका कारण होनेसे अनिष्ट है। ४. इन्द्रियवशी तथा असम्प्रज्ञात समाधिके प्रति उद्यमशील प्रज्ञा-ज्योति है। ५. असम्प्रज्ञात समाधिमें पहुँचकर केवल एकमात्र चित्तको लय करना शेष रह जाता है। तब अतिक्रान्तभावनीय भूमि होती है। ६. अनात्मा व आत्माके विवेकको विवेकख्याति कहते हैं। वह जागृत होनेपर योगीको प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है। वह छह प्रकारकी है—हेम, क्षेतव्य, हान, अन्य कुछ नहीं चाहिए, भोग सम्पादन रूप मुक्ति, लय और जीवनमुक्ति। ७. हेम तत्त्वोंका ज्ञान हेम है। ८. इस ज्ञानके हो जानेपर अन्य कुछ क्षीण करने योग्य नहीं यह क्षेतव्य है। ९. अन्य कुछ निश्चय करना शेष नहीं यह हान है। १०. हानके उपायोंकी प्राप्ति हो जाने पर अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं। ११. मुक्ति तीन प्रकार है—बुद्धि भोगका सम्पादन कर चुकी और विवेक ज्योति प्रगट हो गयी, सत्त्व आदि त्रिगुण अपने-अपने कारणोंमें लय होनेके अभिमुख हुए अब इनकी कभी अभिव्यक्ति न होगी, तथा ज्योति स्वरूप केवली पुरुष जीवित भी मुक्त है। १२. इन सात भूमियोंका अनुभव करनेवाला पुरुष कुशल कहलाता है। (योगदर्शन सूत्र)।

९. परिणाम विचार

१. सांख्यवत यह भी परिणामवादी है। भूतोंमें सांख्यों वत धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम होते हैं और चित्तमें निरोध, समाधि व एकाग्रता। चित्तकी संसारावस्था व्युत्थान और समाधिस्थ अवस्था निरोध है। दो अवस्थाओंमें परिणाम अवश्य होता है। धर्म आदि तीनों परिणाम चित्तमें भी लागू होते हैं। व्युत्थान धर्मका तिरोभाव होकर निरोधका प्रादुर्भाव होना धर्म परिणाम है। दोनों धर्मोंकी अतीत, वर्तमान व अनागत कालमें अवस्थान लक्षण परिणाम है। और दोनों परिणामोंका दुर्बल या बलवान् होना अवस्थापरिणाम है। (योग दर्शन सूत्र)

१०. कर्म विचार

१. रजोगुणके कारण क्रियाशील चित्तमें कर्म होता है, उससे संस्कार या कर्माशय, उससे वासना और वासनासे पुनः कर्म, यह चक्र बराबर चलता रहता है। कर्म चार प्रकारके होते हैं—कृष्ण, शुक्ल कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल अकृष्ण। पापकर्म कृष्ण, पुण्यकर्म शुक्ल, दोनोंसे मिश्रित कृष्ण-शुक्ल, और निष्काम कर्म अशुक्ल-अकृष्ण है। प्रथम तीन बन्धके कारण हैं। और चौथा न बन्धका कारण है और न मुक्ति का। २. कर्म वासनाके आधीन है। अनेक जन्म पहलेकी वासनाएँ अनेक जन्म पश्चात् उद्बुद्ध होती हैं। अविद्या ही वासना का मूल हेतु है। धर्म, अधर्म आदि कार्य हैं और वासना उनका कारण। मन वासनाका आश्रय है, निमित्तभूत वस्तु आलम्बन है, पुण्य-पाप उसके फल हैं। (योगदर्शन सूत्र)

११. मुक्तात्मा व ईश्वर विचार

१. यम नियमके द्वारा पाँच प्रकार क्लेशोंका नाश होकर वैराग्य प्रगट होता है, और उससे आठ अंगोंके क्रम पूर्वक असंप्रज्ञात समाधि हो जाती है। मार्गमें आने वाली अनेक ऋद्धियों व सिद्धियों रूप विघ्नोंका दूरसे ही त्याग करता हुआ चित्त स्थिर होता है, जिससे समस्त कर्म निर्दग्ध बीजवत नष्ट हो जाते हैं। त्रिगुण साम्या-वस्थाको प्राप्त होते हैं। चैतन्य मात्र ज्योतिर्मय रह जाता है। यही कैवल्य या मुक्ति है। २. चित्तको आत्मा समझने वाला योगी शरीर छूटने पर प्रकृतिमें लीन हो जाता है। वह पुनः संसारमें आ सकता है। अतः मुक्त पुरुषसे वह भिन्न है। ३. त्रिकाल शुद्ध चैतन्यपुरुष है। सादि-शुद्ध व अनादि शुद्धकी अपेक्षा मुक्तात्मा पुरुषमें भेद है। ४. उपरोक्त तीनोंसे भिन्न ही ईश्वर है। वह ज्ञान इच्छा, व क्रिया-शक्तिसे युक्त होता हुआ सदा जगतके जीवों पर उपदेशादि द्वारा तथा सृष्टि, प्रलय व महाप्रलय आदि द्वारा अनुग्रह करता है। ५. प्रणव ईश्वरका वाचक नाम है। इसके ध्यानसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अतः मोक्षमार्गमें ईश्वरकी स्वीकृति परमावश्यक है। (योगदर्शन सूत्र)

१२. योग व सांख्य दर्शनकी तुलना

क्योंकि पतंजलिने सांख्यतत्त्वके ऊपर ही योगके सिद्धान्तोंका निर्माण किया है, इसलिए दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं है। फिर मोक्ष-प्राप्तिके लिए सांख्यदर्शन केवल तत्त्वज्ञान पर जोर देता है जब कि योगदर्शन यम, नियम, ध्यान, समाधि आदि सक्रियात्मक प्रक्रियाओं पर जोर देता है। इसलिए दोनोंमें भेद है। (स्या. मं./परि०-ख/पृ. ४२१)।

१३. जैन दर्शनमें योगका स्थान

जैन आम्नायमें भी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही आचार्योंने विभिन्न शब्दों द्वारा ध्यान, समाधि आदिका विशद वर्णन किया है, और इसे मोक्षमार्गका सर्वप्रधान अंग माना है। जैसे—दिगम्बर आम्नायमें—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ व इसकी टीकाएँ सर्वार्थ-सिद्धि व राजवार्तिक आदि। ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, नामक ग्रन्थ। और श्वेताम्बर आम्नायमें—हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि तथा यशोविजय कृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगलक्षण, पातंजलियोग-लक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, योग माहात्म्य, आदि अनेक ग्रन्थ। (योगदर्शन सूत्र)

योग निरोध—ध. १३/५,४,२६/८४/१२ को जोगणिरोहो। जोग-विणासो। —योगोंके विनाशकी योगनिरोध संज्ञा है।

योग निर्वाण क्रिया—दे० क्रिया/३।

योगमार्ग—आचार्य सोमदेव (ई. ९४३-९६८) द्वारा विरचित ध्यान विषयक संस्कृत छन्द-बद्ध ग्रन्थ है। इसमें ४० श्लोक हैं।

योगमुद्रा—दे० मुद्रा।

योगवक्रता—

स. सि./६/२२/३३७/१ योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः। तस्य वक्रता कौटिल्यम्। —तीनों योगोंका व्याख्यान कर आये हैं। इसकी कुटिलता योगवक्रता है। (रा. वा./६/२२/१/५२८/६)।

२. योगवक्रता व विसंवादमें अन्तर

स. सि./६/२२/३३७/२ ननु च नार्थभेदः। योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम्। सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते। परगतं विसंवादनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकाय-वाङ्मनोभिर्विसंवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति। —प्रश्न—इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता, क्योंकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है? उत्तर—यह कहना सही है तब भी योग वक्रता स्वगत है और विसंवादन परगत है। जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत

मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो विसंवादन है। इस प्रकार ये दोनों एक नहीं हैं किन्तु अलग-अलग है।

योगवर्गणा—दे० योग/६।

योगशास्त्र—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत आध्यात्मिक ग्रन्थ।

योगसंक्रांति—दे० शुक्लध्यान/४।

योग संग्रह क्रिया—दे० संस्कार/२।

योगसार—१. आ. योगेन्दुदेव (ई. श ६) द्वारा रचित १०८ दोहा प्रमाण अपभ्रंश आध्यात्मिक ग्रन्थ। (ती./२/२५१)। २. अमितगति (ई.६२३-६६३) कृत संस्कृत छन्दबद्ध तत्त्वप्ररूपक ग्रन्थ। ६ अधिकार ५४० श्लोक प्रमाण। ३. योग चन्द्र (ई. श. १२) कृत दोहासार। (दे. योग चन्द्र)। ४. श्रुतकीर्ति (वि. श. १६ मध्य) कृत अपभ्रंश रचना। (ती./३/४१२)।

योगस्पर्धक—दे० स्पर्धक।

योगाचार मत—दे० बौद्धदर्शन।

योगी—

न. च. वृ./३८८ णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो। जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि संदेहो।३८८। =जिसने श्वासको जीत लिया है, जिसके नेत्र टिमकार रहित हैं, जो कायके समस्त व्यापारसे रहित है, ऐसी अवस्थाको जो प्राप्त हो गया है, वह निस्सन्देह योगी है।

ज्ञा. सा./४ कंदर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापारः। उग्रतपो दीप्तगात्रः योगी विज्ञेयः परमार्थः।४। =कन्दर्प और दर्पका जिसने दलन किया है, दम्भसे जो रहित है, जो कायके व्यापारसे रहित है, जिसका शरीर उग्रतपसे दीप्त हो रहा है, उसीको परमार्थसे योगी जानना चाहिए/४।

२. योगीके भेद व उनके लक्षण

र्स. का./ता.वृ/१७३/२५४/३ द्विधा ध्यातारो भवन्ति शुद्धात्मभावना-प्रारम्भकाः पुरुषाः सूक्ष्मसविकल्पावस्थायां प्रारब्धयोगिनो भण्यन्ते निर्विकल्पशुद्धात्मावस्थायां पुनर्निष्पन्नयोगिन इति। =दो प्रकारके ध्याता होते हैं। शुद्धात्म भावनाके प्रारम्भक और सूक्ष्म सविकल्प अवस्थामें जो स्थित हैं, ऐसे पुरुषोंको प्रारब्धयोगी कहते हैं। और निर्विकल्प अवस्थामें स्थित पुरुषको निष्पन्नयोगी कहते हैं।

★ **जीवको योगी कहने की विवक्षा**—दे० जीव/१/३।

योगेंदुदेव—आप अत्यन्त विरक्त चित्त दिगम्बराचार्य थे। आप अवश्य ही पहले वैदिक मतानुसारी रहे होंगे क्योंकि आपकी कथनशैलीमें वैदिक मान्यताके शब्द बहुलतासे पाये जाते हैं। आपका शिष्य प्रभाकर भट्ट था। इनके सम्बोधनार्थ ही आपने परमात्मप्रकाश नामका ग्रन्थ रचा था। आपको जोइन्दु, योगीन्दु, योगेन्दु, जोगिचन्द इन नामोंसे भी पुकारा जाता था। आपने अपभ्रंश व संस्कृतमें अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। कृति—१. स्वानुभवदर्पण; २. परमात्मप्रकाश (अप.); ३. योगसार (अप०); ४. दोहा पाहुड; ५. सुभाषित तन्त्र; ६. अध्यात्म रत्नसंदोह; ७. तत्त्वार्थ टीका (अप०); ८. अमृताशीति (अप०); ९. निजात्माष्टक (प्रा०); १०. नौकार श्रावकाचार (अप०)। नोट—(प्रथम दोके अतिरिक्त अन्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि इन्हीं योगेन्दुदेवकी थी या अन्य किन्हीं योगेन्द्र की। समय—ई. श. ६. (ती./२/२४५, २४८)।

योग्यता

१. पर्यायोंको प्राप्त करनेकी शक्ति—दे० निक्षेप/५/१।

२. क्षयोपशमसे प्रगटी शक्ति

प्रमाण परीक्षा/पृ. ६७ योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव। =योग्यतारूप जो विशेष वह प्रत्यक्षको भाँति अपने अपने विषयभूत ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तरायका क्षयोपशम विशेष ही है।

श्लो. वा. ३/१/१३/१०१/२६३ क्षयोपशमसंज्ञेयं योग्यतात्र समागता। =क्षयोपशम नाम यह योग्यता यहाँ...।

प. मु. /२/१० स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। =जानने रूप अपनी शक्तिको ढँकनेवाले कर्मकी क्षयोपशमरूप अपनी योग्यतासे ही ज्ञान-घट-पटादि पदार्थोंकी जुदी-जुदी रीतिसे व्यवस्था कर देता है। (स्या. मं./१६/२०१/१०)।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/२-१०प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः। तदुक्तम्-तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गं नार्थोत्पत्त्यादि। =प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेवाली उस-उस आवरणकर्मके क्षयोपशम रूप अर्थ ग्रहणकी शक्ति योग्यता कहलाती है। कहा भी है कि—क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता ही वह शक्ति है जो कि ज्ञानके प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेमें प्रधान कारण है।

न्या. दी./२/५/२७/६ का नाम योग्यता। उच्यते; स्वावरणक्षयोपशमः। प्रश्न—योग्यता किसे कहते हैं। उत्तर—अपने आवरण (ज्ञानको ढँकनेवाले कर्म) के क्षयोपशमको योग्यता कहते हैं।

३. स्वाभाविक शक्ति

श्लो. वा./१/१/१/१२६/५९०-५९१/२३ योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः, शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते। तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृशः प्रतिनियमः। स्वभावत इति चेत्, अप्रत्यक्षत्वात्। =कार्यकारण भावके प्रकरणमें योग्यताका अर्थ कारणकी कार्यको पैदा करनेकी शक्ति और कार्यकी कारणसे जन्यपनेकी शक्ति ही है। उस योग्यताका प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणोंमें नियम करना यही कहा जाता है कि धानके बीज और धानके अंकुरोंमें भिन्न-भिन्न समय वृत्तिपनेकी समानताके होनेपर भी साठी चावलके बीजको ही धानके अंकुरोंको पैदा करनेमें शक्ति है। किन्तु जौके बीजकी धानके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति नहीं है। तथा उस जौके बीजकी जौके अंकुर पैदा करनेमें शक्ति है। हाँ, धानका बीज जौका अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है। प्रश्न—ऊपरके प्रकरणमें कही गयी उस योग्यता रूप शक्तिका वैसा प्रत्येकमें नियम आप कैसे कर सकेंगे? उत्तर—यह शक्तियोंका प्रतिनियम उन-उन पदार्थोंके स्वभावसे हो जाता है। क्योंकि असर्वज्ञोंको शक्तियोंका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

★ **द्रव्यके परिणमनमें उसकी योग्यता ही कारण है** —दे० कारण/II/१/८।

योजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/३।

योजना योग—दे० योग।

योनि—जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थानको योनि कहते हैं। उसको दो प्रकारसे विचार किया जाता है—शीत, उष्ण, संवृत, विवृत आदिकी अपेक्षा और माताकी योनिके आकारकी अपेक्षा।

१. योनि सामान्यका लक्षण

स. सि./२/३२/१८८/१० योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचय'। —उपपाद देशके पुद्गल प्रचय रूप योनि है।

रा. वा./२/३२/१०/१४२/११ यूयत इति योनिः। —जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है।

गो. जी./जी. प्र./८१/२०३/६ यौति मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्मवर्गणापुद्गलैः सह संबध्यते जीवो यस्यां सा योनिः—जीवोत्पत्तिस्थानम्। —योनि अर्थात् मिश्ररूप होता है। जिसमें जीव औदारिकादि नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है, ऐसे जीवके उपजनेके स्थानका नाम योनि है।

२. योनिके भेद

१. आकारोंकी अपेक्षा

मू. आ./११०२ संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वंसपत्तजोणी य। —शंखावर्त योनि, कूर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि—इस तरह तीन प्रकारकी आकार योनि होती है। (गो. जी./मू./८१/२०३)।

२. शीतोष्णादिकी अपेक्षा

त. सू./२/३२ सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। —सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित्त, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ हैं।३२।

३. चौरासी लाख योनियोंकी अपेक्षा

मू. आ./२२६ णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव। सुरणरयतिरिय चउरो चउदस मणुए सदसहस्सा।२२६। —नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायसे लेकर वायुकाय तक—इनके सात सात लाख योनि हैं। प्रत्येक वनस्पतिके दशलाखयोनि हैं, दो इन्द्रियसे चौइन्द्री तक सब छह लाख ही हैं, देव व नारकी और पंचेन्द्री तिर्यंचोंके चार-चार लाख योनि हैं, तथा मनुष्योंके चौदह लाख योनि हैं। सब मिलकर चौरासीलाख योनि हैं।२२६। (मू. आ./११०४); (बा. अ./३५); (ति. प./५/२९७); (ति. प./८/७०१); (त. सा/२/११०-१११); (गो. जी./मू./८६/२११); (नि. सा./ता. वृ./४२)।

३. सचित्ताचित्त योनिके लक्षण

स. सि./२/३२/१८७-१८८/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। शीत इति स्पर्शविशेषः,…सम्यग्वृतः संवृतः। संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते।…योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः।…मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनिः। —आत्माके चैतन्य विशेष रूप परिणामको चित्त कहते हैं। जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। शीत यह स्पर्शका एक भेद है। जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है, यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते हैं जो देखनेमें न आवे।…उपपाद देशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है।…माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते हैं जिनका सचित्त माताकी आत्माके साथ मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है। (रा. वा./२/३२/१-५/१४१/२२)।

४. सचित्त-अचित्तादि योनियोंका स्वामित्व

मू. आ./१०९९-११०१ एइंदिय णेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य। वियलिंदिया य वियडा संवुडवियडा य गब्भेसु।१०९९। अचित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं। मिस्सा य गब्भजम्मा तिविही जोणी दु सेसाणं।११००। सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं। तेऊण उसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं।११०१। —एकेन्द्रिय, नारकी, देव इनके संवृत (दुरुपलक्ष) योनि है, दोइन्द्रियसे चौइन्द्रीतक विवृत योनि है। और गर्भजोंके संवृतविवृत योनि है।१०९९। अचित्त योनि देव और नारकियोंके होती है, गर्भजोंके मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है। और शेष संमूर्छनोंके तीनों ही योनि होती हैं।११००। (दे० आगे स. सि.)। नारकी और देवोंके शीत, उष्ण योनि है, तेजस्कायिक जीवोंके उष्ण योनि है। और शेष एकेन्द्रियादिके तीनों प्रकारकी योनि हैं।११०१। (स. सि/२/३२/१८८/१०); (रा. वा/२/३२/१९-२६/१४३/१) (गो. जी./मू./८५-८७/२०८)।

ति. प./४/२९४८-२९५०…गब्भुब्भवजीवाणं मिस्सं सचित्तजोणीए।२९४८। सीदं उण्हं मिस्सं जीवेसं होंति गब्भपभवेसुं। ताणं भवंति संवदजोणीए मिस्सजोणी य।२९४९। सीदुण्हमिस्सजोणी सचित्ताचित्तमिस्सविउडा य। सम्मुच्छिममणुवाणं सचित्तए होंति जोणीओ।२९५०। —१. मनुष्य गर्भज—गर्भ जन्मसे उत्पन्न जीवोंके सचित्तादि तीन योनियोंमेंसे मिश्र (सचित्तासचित्त) योनि होती है।२९४८। गर्भसे उत्पन्न जीवोंके शीत, उष्ण और मिश्र योनि होती है। तथा इन्हीं गर्भज जीवोंके संवृतादिक तीन योनियोंमेसे मिश्र योनि होती हैं।२९४९। २. सम्मूर्च्छन मनुष्य—सम्मूर्छन मनुष्योंके उपर्युक्त सचित्तादिक नौ गुणयोनियोंमेंसे शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण), सचित्त, अचित्त, मिश्र (सचित्ताचित्त) और विवृत ये योनियाँ होती हैं।२९५०।

ति. प./५/२९३-२९५ उप्पत्ती तिरियाणं गब्भजसमुच्छिमो त्ति पत्तेक्कं। सचित्तसीदसंवदसेदरमिस्सा य जहजोग्गं।२९३। गब्भुब्भवजीवाणं मिस्सं सचित्तणामधेयस्स। सीदं उण्हं मिस्सं संवदजोणिम्मि मिस्सा य।२९४। संमुच्छिमजीवाणं सचित्ताचित्तमिस्ससीदुसिणा। मिस्सं संवदविवुदं णवजोणीओ हु सामण्णा।२९५।

ति. प./८/७००-७०१ भावणवेंतरजोइसियकप्पवासीणमु वादे। सीदुण्हं अचित्तं संउदया होंति सामण्णे।७००। एदाण चउविहाणं सुराण सव्वाण होंति जोणीओ। चउलक्खा हु विसेसे इंदियकप्लादरूवाओ।७०१। —३. गर्भज तिर्यंच—तिर्यंचोंकी उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्छन जन्मसे होती है। इनमेंसे प्रत्येक जन्मकी सचित्त, शीत, संवृत तथा इनसे विपरीत अचित्त, उष्ण, विवृत और मिश्र (सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत), ये यथायोग्य योनियाँ होती हैं।२९३। —गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें सचित्त नामक योनिमेंसे मिश्र (सचित्ताचित्त), शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण) और संवृत योनिमें मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है।२९४। ४. सम्मूर्च्छन तिर्यंच—सम्मूर्च्छन जीवोंके सचित्त, अचित्त, मिश्र (सचित्ताचित्त) शीत, उष्ण, मिश्र, (शीतोष्ण) और संवृत योनिमेंसे मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है।२९५। ५ उपपादजदेव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासियोंके उपपाद जन्ममें शीतोष्ण, अचित्त और संवृत योनि होती है। इन चारों प्रकारके सब देवोंके सामान्य रूपसे सब योनियाँ होती हैं। विशेषरूपसे चार लाख योनियाँ होती है।७००-७०१।

स. सि./२/३२/१८६/१ सचित्तयोनयः साधारणशरीराः। कुतः। परस्पराश्रयत्वात्। इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च। —साधारण शरीरवालोंकी सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक दूसरेके आश्रयसे रहते हैं। इनसे अतिरिक्त शेष सम्मूर्च्छन जीवोंके अचित्त और मिश्र दोनों प्रकारकी योनियाँ होती हैं। (रा. वा/२/३२/२०/१४२/६)।

५. शंखावर्त आदि योनियोंका स्वामित्व

मू. आ./११०२-११०३ तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो। ।११०२। कुम्मुण्णद जोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टीय। रामावि य

जायते सेसा सेसेसु जोणीसु।११०३। —शंखावर्त योनिमें नियमसे गर्भ नष्ट हो जाता है।११०२। कूर्मोन्नत योनिमें तीर्थंकर, चक्री, अर्धचक्री, दोनों बलदेव ये उत्पन्न होते हैं और बाकी की योनियोंमें शेष मनुष्यादि पैदा होते हैं।११०३। (ति. प./४/२९५२); (गो. जी./मू./८१-८२/२०३-२०४)।

४. जन्म व योनिमें अन्तर

स. सि./२/३२/१८८/७ योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्। न; आधाराधेयभेदात्तद्भेदः। त एते सचित्तादयो योनय आधाराः। आधेया जन्मप्रकाराः। यतः सचित्तादियोन्यधिष्ठाने आत्मा संमूर्च्छनादिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान्पुद्गलानुपादत्ते। —प्रश्न—योनि और जन्ममें कोई भेद नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद है। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं, और जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सचित्त आदि योनि रूप आधारमें सम्मूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। (रा. वा./२/३२/१३/१४२/१६)।

योनिमति—योनिमति मनुष्य व तिर्यंच निर्देश—दे० वेद/३।

योग—नैयायिक दर्शनका अपर नाम—दे० न्याय/१/७।

[र]

रइधू—अपभ्रंश जैन कवि थे। कृतियें—मेहेसर चरिउ, सिरिवाल चरिउ, बलहद्द चरिउ, सुक्कोसल चरिउ, धण्णकुमार चरिउ, जसहर चरिउ, सम्मइजिण चरिउ, पउम चरिउ, सम्मत्त गुण णिहाण कव्व, वित्तसार, सिद्धंतत्थसारो इत्यादि। समय—वि. १४५७-१५३६। (ती./४/१९८)।

रक्कस—बेहोरेगरेके राजा थे। समय-ई० ६७७ (सि. वि./म./७५/पं. महेन्द्र)।

रक्तकंबला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है। इस पर ऐरावत क्षेत्रके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणकके सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है। —दे० लोक/३/६।

रक्तशिला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है। जिस पर पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है। —दे० लोक/६।

रक्ताकुंड— ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड, जिसमेंसे रक्ता नदी निकलती है। —दे० लोक/३/१०।

रक्ताकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४।

रक्तादेवी—रक्ताकुण्ड व रक्ताकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४।

रक्तानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११,५/४।

रक्तोदाकुण्ड—ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड—दे० लोक/३/१०।

रक्तोदादेवी—रक्तोदाकुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४।

रक्तोदानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११, ५/४।

रक्षा बन्धन व्रत— श्रावण शु. १५ के दिन विष्णुकुमार मुनिने अकम्पनादि ७०० मुनियों पर राजा बलि द्वारा किया गया उपसर्ग दूर किया था। इस दिनको रक्षाबन्धन कहते हैं। इस दिन उपवास करे और पीला सूत हाथमें बाँधे। और 'ॐ ह्रीं विष्णुकुमारमुनये नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान सं./पृ.१०८)।

रघु—इक्ष्वाकु वंशमें अयोध्या नगरीका राजा था। (प. पु./२२/१६०)। अनुमानतः इसीसे रघुवंशकी उत्पत्ति हुई हो।

रघुनाथ—नव्यन्यायका प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० १५२०। —दे० न्याय/१/७।

रघुवंश—दे० इतिहास१०/११।

रज—ध. १/१,१,१/४३/७ ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि। मोहोऽपि रजः भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मनां जिह्मभावोपलम्भात्। —ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय स्वरूप वस्तुओंको विषय करने वाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिस प्रकार जिनका मुख भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्म भाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है।

रजत—१. माल्यवान पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक५/४; २. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक५/१०; ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक५/१३।

रजस्वला—दे० सूतक।

रज्जू—१. औदारिक शरीरमें मांस रज्जुओंका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७; २. क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० राजू।

रति—

स. सि./८/९/३८५/१३ यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्तद्विपरीता। —जिसके उदयसे देशादिमें उत्सुकता होती है वह रति है। अरति इससे विपरीत है। (रा. वा./८/९/४/५७४/१७); (गो. क./जी. प्र./३३/२८/७)।

ध. ६/१,९-१,२४/४७/५ रमणं रतिः, रम्यते अनया इति वा रतिः। जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु रदी समुप्पज्जइ, तेसि रदि त्ति सण्णा। दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जेसिमुदएण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि त्ति सण्णा। —रमनेको रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयोंमें आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं। जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें राग उत्पन्न होता है, उनकी 'रति' यह संज्ञा है। जिन कर्म स्कन्धोके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें जीवके अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी अरति संज्ञा है। (ध. १३/५,५,९६/३६१/६)।

ध. १२/४,२,८,१०/२८५/६ नप्तृ-पुत्र-कलत्रादिषु रमणं रतिः। तत्प्रतिपक्षा अरतिः। —नाती, पुत्र एवं स्त्री आदिकोंमें रमण करनेका नाम रति है। इसकी प्रतिपक्षभूत अरति कही जाती है।

नि. सा./ता. वृ./६ मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। —मनोहर वस्तुओंमें परम प्रीति सो रति है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. रति राग है। —दे० कषाय/४।
२. रति प्रकृतिका बन्ध उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
३. रति प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।

रति उत्पादक वचन—दे० वचन।

रतिकर—नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें चार-चार बावड़ियाँ हैं। प्रत्येक बावड़ीके दोनों बाहर वाले कोनों पर एक-एक ढोलाकार (Cylindrical) पर्वत है। लाल वर्णका होनेके कारण इनका नाम रतिकर है। इस प्रकार कुल ३२ रतिकर हैं। प्रत्येकके शीशपर एक एक जिनमन्दिर है—विशेष दे० लोक/४/५।

रतिकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

रतिप्रिय—किंनरनामा व्यन्तर जातिका एक भेद। —दे० किंनर।

रतिषेण—म. पु./५१/श्लोक नं. "पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीका राजा था (२-३)। पुत्रको राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण की (१२-१३)। सोलहकारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें संन्यास मरण कर वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१३-१५)।

रत्न—१. चक्रवर्ती, बलदेव व नारायणके वैभव--दे० शलाकापुरुष/२,३,४; २. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक निधि—दे० शलाकापुरुष/२,३,४. ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

रत्नकीर्ति— १. क्षेमकीर्ति (ई. ६६८) के शिष्य। कृति—आराधनासार की संस्कृत टीका। समय—क्षेमकीर्ति जी के अनुसार ई. १०००-१०१५। (आ सा./प्र. २/पं.गजाधर लाल)। २. मेघचन्द्र के शिष्य, ललितकीर्ति के विद्या शिष्य। कृति—भद्रबाहु चारित्र। समय—वि. १२६६, ई. १२१६। (भद्रबाहु चारित्र। प्र. ७। कामता प्रसाद)। ३. काष्ठा संघी रामसेन के शिष्य, लक्ष्मणसेन के गुरु। समय—वि. १४५६, ई. १३६६। (दे. इतिहास/७/६), (प्रद्युम्न-चारित्र की अन्तिम प्रशस्ति); (प्रद्युम्न चारित्र। प्र/प्रेमी जी)। ४. भट्टारक अनन्तकीर्ति के शिष्य, ललितकीर्ति के गुरु। कृति—भद्रबाहु चारित्र जिसमें ढूंढिया मत की उत्पत्ति का काल वि. १५२७ (ई. १४७०) बताया गया है। श्लोक १५७-१५६। अतः इनका समय—लगभग वि. १५७२ (ई. १५१५) (ती./३/४३५)। ५. उपदेश सिद्धांत रत्नमाला के रचयिता एक मराठी कवि। समय—ग्रन्थ का रचना काल शक १७३४, ई. १८१२। (ती./४/१२२)।

रत्नकरंड श्रावकाचार—आ. समन्तभद्र (ई.श. २) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद तथा १५० श्लोक हैं। श्रावकाचार विषयक यह प्रथम ग्रन्थ है। (ती०/२/१६१)। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं—१. आ. प्रभाचन्द्र ७. (ई.११८५-१२४३) कृत संस्कृतटीका; २. पं. सदासुख (ई. १७६५-१८६६) कृत भाषा टीका, जो अत्यन्त विस्तृत व प्रामाणिक है।

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीन गुणों-को रत्नत्रय कहते हैं। इनके विकल्परूपसे धारण करना भेद रत्नत्रय है, और निर्विकल्प रूपसे धारण करना अभेद रत्नत्रय है। अर्थात् सात तत्त्वों व देव, शास्त्र व गुरु आदिकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान, व व्रतादि चारित्र तो भेद रत्नत्रय हैं, और आत्म-स्वरूपकी श्रद्धा, इसीका स्वसंवेदन ज्ञान और इसीमें निश्चल स्थिति या निर्विकल्प समाधि अभेद रत्नत्रय हैं। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। भेद रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग और अभेद रत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है। —दे० मोक्षमार्ग।

रत्नत्रय कथा—आ. पद्मनन्दि (ई. १२८०-१३३०) कृत संस्कृत ग्रन्थ।

रत्नत्रयचक्र यंत्र—दे० यंत्र।

रत्नत्रय यंत्र—दे० यंत्र।

रत्नत्रय विधान—इस ग्रन्थ पर पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) ने संस्कृत भाषामें टीका लिखी है।

रत्नत्रय विधान यंत्र—दे० यंत्र।

रत्नत्रय व्रत—प्रत्येक वर्ष तीन बार—भादों, माघ व चैत मासमें आता है। शुक्ला द्वादशीको दोपहरके भोजनके पश्चात् धारणा। १३, १४ व १५ को उपवास करे। कृष्ण १ को दोपहरको पारणा करे। इन दिनोंमें पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहे। 'ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान सं./पृ. ४०)।

रत्ननंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावली के अनुसार आप वीरनन्दि नं. १ के शिष्य तथा माणिक्य नं. १ के गुरु थे। समय—शक सं०५६१-५८५ (ई. ६३६-६६३) —दे० इतिहास/७/२।

रत्नपुरी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

रत्नप्रभ—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रत्नप्रभा—

१. रत्नप्रभा नामकी सार्थकता

स. सि./३/१/२०३/७ चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमिः रत्नप्रभा। —जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। (रा. वा./३/१/३/१५६/१७); (ति. प./२/२०); (ज. प./११/१२०)।

२. रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग तथा उनका स्वरूप विस्तार आदि

ति. प./२/६-१८ खरपंकप्पब्बहुला भागा रयणप्पहाए पुढवीए। बहलत्तणं सहस्सा सोलस चउसीदि सीदिय।६। खरभागो णादव्वो सोलस भेदेहिं संजुदो णियमा। चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा।१०। णाणाविहवण्णाओ महिओ तह सिलातला उववादा। वालुवसक्करसीसयरुप्पसुवण्णाण वइरं च।११। अयतंबतउयसस्सयमिलाहिंगुलाणि हरिदालं। अंजणपवालगोमज्जगाणि रुजगंकअब्भपडलाणि।१२। तह अब्भबालुकाओ फलिहं जलकंतसूरकंताणि। चंदप्पहवेरुलियं गेरुवचंदण लोहिदंकाणि।१३। वव्वयवगमोअमसारगल्लपहुदीणि विविहवण्णाणि। जा होंति त्ति एदेण चित्तेत्ति य वण्णिदा एसा।१४। एदाए बहलत्तं एकसहस्सं हवंति जोयणया। तीए हेट्ठा कमसो चोद्दस अण्णा य ट्ठिदमही।१५। तण्णामा वेरुलियं लोहिययंकं मसारगल्लं च। गोमज्जयं पवालं जोदिरसं अंजणं णाम।१६। अंजणमूलं अंकं फलिहचंदणं च वच्चगयं। बहुला सेला एदा पत्तेक्कं इगिसहस्स-बहलाइं।१७। ताण खिदीणं हेट्ठापासाणं णाम रयणसेलसमा। जोयण सहस्सबहलं वेत्तासणसण्णिहाउ संठाओ।१८। —१. अधोलोकमें सबसे पहली रत्नप्रभा पृथिवी है उसके तीन भाग हैं—खर भाग, पंक भाग और अब्बहुल भाग। इन तीनों भागोंका बाहल्य क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन प्रमाण है।६। २. इनमेंसे खर भाग नियमसे सोलह भेदोंसे सहित है। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथिवी रूप हैं। इनमेंसे चित्रा पृथिवी अनेक प्रकारकी है।१०। यहाँ पर अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त महीतल, शिलातल, उपपाद, बालु, शक्कर, शीशा, चाँदी, सुवर्ण इनके उत्पत्तिस्थान, वज्र तथा अयस् (लोहा) ताँबा, त्रपु (राँगा), सस्यक (मणि विशेष), मनःशिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा) गोमध्यक (मणिविशेष) रुचक अंक (धातु विशेष), अभ्रपटल (धातुविशेष), अभ्रबालुका (लालरेत), स्फटिक मणि, जलकान्त-मणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभमणि (चन्द्रकान्तमणि), वैडूर्यमणि, गेरु, चन्दन, लोहिताक (लोहिताक्ष), वप्रक (मरकत) बकमणि (पुष्परोक्षा), मोचमणि (कदली वर्णाकार नीलमणि) और मसार-गल्ल (मसृणपाषाणमणि विद्रुमवर्ण) इत्यादिक विविध वर्णवाली धातुएँ हैं। इसलिए इस पृथिवीका चित्रा इस नामसे वर्णन किया गया है।११-१४। इस चित्रा पृथिवीकी मोटाई १ हजार योजन है। ३. इसके नीचे क्रमसे चौदह अन्य पृथिवियाँ स्थित हैं।१५। वैडूर्य, लोहितांक

अब्बहुल भाग में नरकों के पटल
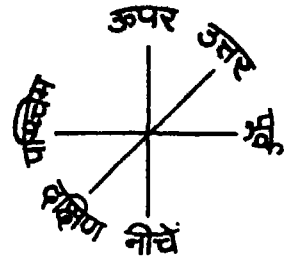
नोट:- इन्द्रक व श्रेणीबद्ध - दे० लोक/२ में चित्र सं० ११
२ - प्रत्येक पटल के मध्य में इन्द्रक बिल हैं। उनकी चारों दिशाओं व चारों विदिशाओं में श्रेणीबद्ध बिल हैं। आठों अन्तर दिशाओं में प्रकीर्णक बिल हैं। सीमान्तक नामक प्रथम पटल के प्रत्येक पटल की प्रत्येक दिशा में ४९ और प्रत्येक विदिशा में ४८ हैं। आगे के पटलों में उत्तरोत्तर एक एक हीन हैं

खर पंक भाग

खर भाग — चित्रा पृ० नामक प्रथम पटल — १००० यो०

शेष १५ पटल — १५००० यो० — १६००० यो०

पंक भाग → विशेष दे० भवन/४ — ८४००० यो०

अब्बहुल भाग — ८०००० यो०

१. सीमान्तक
श्रेणी बद्ध -(४×४९)+(४×४८)=३८८

१००० यो० अन्तराल

२. निरय
श्रेणी बद्ध (४×४८)+(४×४७)=३८०

१००० यो० अन्तराल

३. रौरुक :-
श्रेणी बद्ध (४×४७)+(४×४६)=३७२

१००० यो० अन्तराल

४. भ्रान्त :-
श्रेणी बद्ध =(४×४६)+(४×४५)=३६४

१००० यो० अन्तराल

५. उद्भ्रान्त :-
श्रेणी बद्ध =(४×४५)+(४×४४)=३५६

१००० यो० अन्तराल

६. सम्भ्रान्त :-
श्रेणी बद्ध =(४×४४)+(४×४३)=३४८

१००० यो० अन्तराल

७. असंभ्रान्त :-
श्रेणी बद्ध =(४×४३)+(४×४२)=३४०

१००० यो० अन्तराल

८. विभ्रान्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४२)+(४×४१)=३३२

१००० यो० अन्तराल

९. तप्त :-
श्रेणी बद्ध =(४×४१)+(४×४०)=३२४

१००० अन्तराल

१० त्रसित -
श्रेणी बद्ध =(४×४०)+(४×३९)=३१६

१००० यो० अन्तराल

११. वक्रान्त
श्रेणी बद्ध =(४×३९)+(४×३८)=३०८

१००० यो० अन्तराल

१२. अवक्रान्त
श्रेणी बद्ध =(४×३८)+(४×३७)=३००

१००० यो० अन्तराल

१३. विक्रान्त
श्रेणी बद्ध = २९२.

कुछ कम १ राजू का अन्तराल

(लोहिताक्ष), असारगल्ल (मसारकल्प), गोमेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अंजन, अंजनमूल, अंक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), बहुल (बकुल) और शैल, ये उन उपर्युक्त चौदह पृथिवियोंके नाम हैं। इनमेंसे प्रत्येककी मोटाई एक हजार योजन है।१६-१७। इन पृथिवियोंके नीचे एक पाषाण नामकी (सोलहवीं) पृथिवी है। जो रत्नशैलके समान है। इसकी मुटाई भी एक हजार-योजन प्रमाण है। ये सब पृथिवियाँ वेत्रासनके सदृश स्थित हैं।१८। (रा. वा./३/१/८/१६०/११); (त्रि. सा./१४६-१४८); (ज. पं./११/११४-१२०)।

★ खर पंक भागमें भवनवासियोंके निवास—दे० भवन/४।

रत्नमाला—१. धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री थी। वज्रायुधसे विवाही गयी। (म. पु./५९/२४१-२४२) यह मेरु गणधर-का पूर्वका चौथा भव है—दे० मेरु। २. आ. शिवकोटि (ई. श. ११) द्वारा तत्त्वार्थसूत्रपर रची गयी टीका।

रत्नमुक्तावली व्रत—ह. पु./३४/७२-७३ एक उपवास, एक पारणा, दो उपवास, एक पारणा, एक उपवास, एक पारणा इत्यादि नीचे लिखी संख्याके अनुसार २८४ उपवास करें, और बीचके (,) वाले स्थानोंमें एक एक पारणा करे। यंत्र—१,२,१,३,१,४,१,५,१,६,१,७,१, ८,१,९,१,१०,१,११,१,१२,१,१३,१,१४,१,१५,१,१६,१,१५,१,१४,१,१३,१, १२,१,११,१,१०,१,९,१,८,१,७,१,६,१,५,१,४,१,३,१,२,१,।

रत्नश्रवा—सुमालीका पुत्र तथा रावणका पिता था। (प. पु./७/ १३३, २०१)।

रत्नसंचय—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रत्नाकर—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर। २. काश्मीर नरेश अवन्तिवर्माके कालमें एक कवि थे। समय—ई. ८८४ (ज्ञा./प्र./९/पं. पन्नालाल)।

रत्नावली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम, व जघन्य।

१. बृहद् विधि—(ह. पु./३४/७६)। प्रथम १० बेला, १,२,३,४,५,६, ७,८,९,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, इस प्रकार एक एक वृद्धि क्रमसे १३६ उपवास करे। फिर ३४ बेला, १६,१५,१४,१३,१२,११,१०,९,८,७, ६,५,४,३,२,१, इस प्रकार एक एक हानि क्रमसे १३६ उपवास करे, १२ बेला। विधि—उपरोक्त रचनावत् पहले एक बेला व १ पारणा क्रमसे १२ बेला करे, फिर एक उपवास १ पारणा, २ उपवास १ पारणा क्रमसे १ वृद्धि क्रमसे १६ उपवास तक करे, पीछे ३४ बेला, फिर १६ से लेकर एक हानि क्रमसे १ उपवास तक करे, पीछे १२ बेला करे। बीचमें सर्वत्र एक एक पारणा करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

२. मध्यम विधि—एक वर्ष पर्यन्त प्रतिमासकी शु. ३,५,८ तथा कृ. २, ५,८, इन छह तिथियोंमें उपवास करे, तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. ७३)।

जघन्य विधि—यन्त्र १,२,३,४,५,५,४,३,२, १ विधि—वृद्धि-हानि क्रमसे उपरोक्त प्रकार ३० उपवास करे, बीचके ९ स्थान तथा अन्तमें १ इस प्रकार १० पारणा करे। (ह. पु./३४/७२-७३)।

रत्नि—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

रत्नोच्चय—१. सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु। २. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रथ—ध. १४/५,६,४१/३८/१२ जुद्धमे अहिरह—महारहाणं चडण-जोग्गा रहा णाम।—जो युद्धमें अधिरथी और महारथियोंके चढ़ने योग्य होते हैं, वे रथ कहलाते हैं।

रथनूपुर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथपुर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथरेणु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/३।

रमणीया—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२; २. पूर्व विदेहस्थ आत्मांजन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक५/४; ३. नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/५/११।

रम्यककूट—नील व रुक्मि पर्वतस्थ एक-एक कूट।—दे० लोक५/४।

रम्यकक्षेत्र—

रा. वा./३/१०/१४/१८१/११ यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरित्पर्वतकाननादि-भिर्युक्तः, तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते। अन्यत्रापि रम्यकदेश-योगः समान इति चेत्; न; रूढिविशेषबललाभात्।—रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्य कहते हैं। यद्यपि अन्यत्र भी रमणीक क्षेत्र आदि हैं, परन्तु 'रम्यक' नाम इसमें रूढ ही है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. रम्यक क्षेत्रका अवस्थान व विस्तार आदि—दे० लोक/३/३।
२. इस क्षेत्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषता—दे० काल/४।

रम्यकदेव—नील व रुक्मि पर्वतस्थ रम्यक कूटके स्वामी—दे० लोक/५/४।

रम्यका—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२; २. पूर्व विदेहस्थ अंजन वक्षारका एक कूट तथा उसका स्वामी रक्षक देव—दे० लोक५/४।

रम्यपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रम्या—१. भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४। २. पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२; ३. पूर्व विदेहस्थ अंजन वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४; ४. पूर्व विदेहमें अंजन वक्षारपर स्थित रम्या-कूटका रक्षक देव—दे० लोक/५/४; ५. नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित वापी —दे० लोक/५/११।

रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत आचरण-विषयक १६७ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर कोई टीका उपलब्ध नहीं है। (ती०/२/११५)।

रयसकांत देव—मानुषोत्तर पर्वतस्थ ऊष्मगर्भकूटका भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७।

रविनंदि—आप षट्खण्डके ज्ञाता, शुभनन्दिके सहचर, तथा बप्प-देव (ई. श. १) के शिक्षा गुरु थे। बप्पदेवके अनुसार आपका समय ई. श. एक आता है। (ष. खं. १/प्र. ५१/H L Jain)।

रविभद्र—आप सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवीर्यके शिक्षा-गुरु थे। कृति-आराधनासार। समय—ई. ९५०–९९० (का. अ /प्र. ८२/ A N. Up.); (सि. वि./प्र. ७८/पं. महेन्द्र)।

रविवार व्रत—आषाढ़ शुक्लपक्षके अन्तिम रविवारसे प्रारम्भ होता है। आगे श्रावण व भाद्रपदके आठ रविवार। इस प्रकार ९ वर्ष तक प्रतिवर्ष इन ९ रविवारोंका उपवास करे। यदि थोड़े समयमें करना है तो आषाढ़के अन्तिम रविवारसे लेकर अगले आषाढ़के अन्तिम रविवार तक एक वर्ष के ४८ रविवारोंके उपवास करे। नम-स्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत-विधान सं./४४)।

रविषेण—सेन संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप लक्ष्मणसेनके शिष्य थे। वि. ७३४ में आपने पद्मपुराणकी रचना की थी। तदनुसार आपका समय—वि. ७००-७५० ई. ६४३-६८३ (प. पु./१२३/१८२); (दे० इतिहास/७/६)। (ती./२/२७६)।

रश्मिवेग—म. पु /५९/श्लोक "पुष्करपुर नगरका राजा सूर्यावर्तका पुत्र था (२३०–२३१) किसी समय सिद्धकूटपर दीक्षा ग्रहण कर आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त की। (२३३–२३४)। एक समय पूर्व बैरी अजगरके खानेसे शरीर त्यागकर स्वर्गमें देव हुआ (२३७-२३८) यह संजयन्त मुनिका पूर्वका चौथा भव है। —दे० संजयन्त।

रश्मिवेग—म. पु./७३/श्लोक पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर त्रिलोकोत्तम नगरके राजा विद्युद्गतिका पुत्र था। दीक्षा ग्रहण कर सर्वतोभद्रके उपवास ग्रहण किये। एक समय समाधियोगमें बैठे हुए इनको पूर्व भवके भाई कमठके जीवने अजगर बनकर निगल लिया। (३१-२५)। यह पार्श्वनाथ भगवान्‌का पूर्वका छठा भव है। दे०—पार्श्वनाथ।

रस—१. रस सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२०/१७८–१७९/९ रस्यत इति रसः। …रसनं रसः। —जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है। …अथवा रसन अर्थात् स्वादमात्र रस है। (स. सि./५/२३/२९३/१२), (रा. वा./२/२०/-१३१/११)।

ध. १/१,१,३३/२४२/२ यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तु व्यति-रिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वेव रसः। एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विव-क्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति। —जिस समय प्रधान रूपसे वस्तु विव-क्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पायी जाती है, इसलिए वस्तु ही रस है। इस विवक्षामें रसके कर्म साधनपना है। जैसे जो चखा जाये वह रस है। तथा जिस समय प्रधान-रूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए जो उदासीन रूपसे भाव अवस्थित है उसका कथन किया जाता है। इस प्रकार रसके भाव-साधन भी बन जाता है जैसे—आस्वादन रूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं।

२. रस नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/९ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रस नाम। —जिसके उदयसे रसमें भेद होता है वह रस नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१८/ ५७७/१५), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१४)।

ध. ६/१,९–१,२८/५५/७ जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जादि पडिणियदो तित्तादिरसो होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स रससण्णा। एदस्स कम्मस्साभावे जीवसरीरे जाइपडिणियदरसो ण होज्ज। ण च एवं णिंबंबजंबीरादिसु णियदरसस्सुवलंभादो। —जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत तिक्त आदि रस उत्पन्न हो, उस कर्म स्कन्धकी 'रस' यह संज्ञा है। (ध. १३/५,५,१०१/३६४/८) इस कर्मके अभावमें जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत रस नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि नीम, आम और नींबू आदिमें प्रति-नियत रस पाया जाता है।

३. रसके भेद

ष. खं./६/१,९–१/सू. ३९/७५ जं तं रसणामकम्मं तं पंचविहं, तित्तणामं कडुवणामं कसायणामं अंबणामं महुणामं चेदि।७५। —जो रस नाम-कर्म है वह पाँच प्रकारका है—तिक्त नामकर्म, कटुकनामकर्म, कषाय-नामकर्म, आम्लनामकर्म और मधुर नामकर्म। (ष. खं./१३/५,५/ सू. ११२/३७०); (स. सि./८/११/३९०/१०); (स. सि./५/२३/-२९३/१२); (प. स./प्रा./२/४/४८/१); (रा. वा./८/११/१०/५७७/-१५); (प. प्र./टी./१/११/२६/२); (द्र. सं./टी./७/१९/१२); (गो. जी./जी. प्र./४७९/८८५/१)।

स. सि./५/२३/२९४/२ त एते मूलभेदाः प्रत्येकं संख्येयासंख्येयानन्त-भेदाश्च भवन्ति। —ये रसके मूल भेद हैं, वैसे प्रत्येक (रसादिके) के संख्यात असंख्यात और अनन्त भेद होते हैं।

३. गोरस आदिके लक्षण

सा. ध./५/३५ पर उद्धृत—गोरसः क्षीरघृतादि, इक्षुरसः खण्डगुड आदि, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्दः, धान्यरसस्तैलमण्डादि। —घी, दूध आदि गोरस है। शक्कर, गुड आदि इक्षुरस है। द्राक्षा आम आदिके रसको फलरस कहते हैं और तेल, माँड़ आदिको धान्यरस कहते हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. रस परित्यागकी अपेक्षा रसके भेद। —दे० रस परित्याग।
२. रस नामकर्ममें रस सकारण है या निष्कारण। —दे० वर्ण/४।
३. गोरस शुद्धि। —दे० भक्ष्याभक्ष्य/३।
४. रस नाम प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा। —दे० वह वह नाम।
५. अग्नि आदिमें भी रसकी सिद्धि। —दे० पुद्गल/१०।

रस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/८।

रसकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट। —दे० लोक/७।

रस देवी—शिखरी पर्वतस्थ रसकूटकी स्वामिनी देवी। —दे० लोक/५/४।

रसना—१. रसना इन्द्रियका लक्षण। —दे० इन्द्रिय/१। २. रसना इन्द्रियकी प्रधानता। —दे० संयम/२।

रसपरित्याग—

भ. आ./मू./२१५/४३१ खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं। णिज्जूहणमोगाहिमपणकुसणलोणमादीणं।२१५। =दूध, दही, घी, तेल, गुड़ इन सब रसोंका त्याग करना अथवा एक-एक रसका त्याग करना यह रस-परित्याग नामका तप है। अथवा पूप, पत्रशाक, दाल, नमक, वगैरह पदार्थोंका त्याग करना यह भी रस परित्याग नामका तप है।२१५।

मू. आ./३५२ खीरदहिसप्पितेलगुडलवणाणं च जं परिच्चयणं। तित्तकडुकसायंबिलमधुररसाणं च जं चयणं।३५२। =दूध, दही, घी, तेल, गुड़, लवण इन छह रसोंका त्याग रसपरित्याग तप है। (अन. ध./७/२७) अथवा कडुआ, कसैला, खट्टा, मीठा इनमेंसे किसीका त्याग वह रसपरित्याग तप है।३५२। (का.अ./टी./४४६)।

स. सि./९/१९/४३८/६ घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तपः। =घृतादि गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है। (रा.वा/९/१९/५/६१८/२६); (चा. सा./१३५/३)।

भ. आ./वि./६/३२/१८ रसगोचरगार्द्ध्यत्यजनं त्रिधा रसपरित्यागः। =रस विषयकी लम्पटताको मन, वचन, शरीरके संकल्पसे त्यागना रसपरित्याग नामका तप है।

त. सा./६/११ रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिषाम्। एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा।११। =तेल, दूध, खाँड, दही, घी—इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों रसोंका त्याग करनेसे यह व्रत पाँच प्रकारका हो जाता है।

का. अ./मू./४४६ संसार-दुक्ख-तट्ठो विस-सम-विसयं विचिंतमाणो जो। णीरस-भोज्जं भुंजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो। =संसारके दु:खोंसे संतप्त जो मुनि इन्द्रियोंके विषयोंको विषके समान मानकर नीरस भोजन करता है उसके निर्मल रस परित्याग तप होता है।

२. रस परित्याग तपका प्रयोजन

स. सि./९/१९/४३८/६ इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुखसिद्ध्याद्यर्थो...रसपरित्यागश्चतुर्थं तपः। =इन्द्रियोंके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए रसपरित्याग नामका चौथा तप है।

रा. वा/९/१९/५/६१८/२६ दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्यावृत्त्याद्यर्थं...रसपरित्यागः।५। =जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि और संयमबाधानिवृत्ति आदिके लिए रसपरित्याग है। (चा. सा./१३५/३)।

ध. १३/५,४,२६/५७/१० किमट्ठमेसो करिदे। पाणिंदिय संजमट्ठं। कुदो। जिब्भिंदिए णिरुद्धे सयलिंदियाणं णिरोहुवलंभादो। सयलिंदिएसु णिरुद्धेसु चत्तपरिग्गहस्स णिरुद्धराग-दोसस्स...पाणासंजमणिरोहुवलंभादो। =प्रश्न—यह किस लिए किया जाता है। उत्तर—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमकी प्राप्तिके लिए किया जाता है, क्योंकि, जिह्वा इन्द्रियका निरोध हो जानेपर सब इन्द्रियोंका निरोध देखा जाता है, और सब इन्द्रियोंका निरोध हो जानेपर जो परिग्रहका त्याग कर रागद्वेषका निरोध कर चुके हैं, उनको प्राणोंके असंयमका निरोध देखा जाता है।

३. रस परित्याग तपके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/१० कृतरसपरित्यागस्य रसासक्तिः, परस्य वा रसवदाहारभोजनं, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचारः। =रसका त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना, ये सब रसपरित्याग तपके अतिचार हैं।

रसमान प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

रहस्य—ध. १/१,१,१/४४/४ रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषघातित्रितयविनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्निःशक्तीकृताघातिकर्मणो..। =रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तरायकर्मका शेष नाश तीन घातियाकर्मोंके नाशका अविनाभावी है। और अन्तरायकर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान निःशक्त हो जाते हैं।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी—पं. टोडर मल्ल (ई. १०५३) द्वारा अपने किन्हीं मित्रोंको लिखी हुई आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण चिट्ठी है। (ती/४/२८७)।

रहोभ्याख्यान—स. सि./७/२६/३६६/८ यत्स्त्रीपुंसाभ्यामेकान्तेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं तद्रहोभ्याख्यानं वेदितव्यम्। =स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमें किये गये आचरण विशेषका प्रगट कर देना रहोभ्ययाख्यान है। (रा. वा./७/२६/२/५५३/२१)।

राक्षस—१. व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यन्तर। २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच। ३. मनोवेग विद्याधरका पुत्र था (प. पु./५/३७८) इसीके नामपर राक्षस द्वीपमें रहनेवाले विद्याधरोंका वंश राक्षस वंश कहलाने लगा। दे०—इतिहास१०/१२।

१. राक्षसका लक्षण

ध. १३/५,५,१४०/३९१/१० भीषणरूपविकरणप्रियाः राक्षसा नाम। =जिन्हें भीषण रूपकी विक्रिया करना प्रिय है, वे राक्षस कहलाते हैं।

२. राक्षस देवके भेद

ति. प./६/४४ भीममहभीमविग्घविणायका उदकरक्खसा तह य। रक्खसरक्खसणामा सत्तमया बम्हरक्खसया।४४। =भीम, महाभीम, विनायक, उदक, राक्षस, राक्षसराक्षस और सातवाँ ब्रह्मराक्षस इस प्रकार ये सात भेद राक्षस देवोंके हैं।४४। (त्रि. सा./२६७)।

★ **राक्षस देवोंके वर्ण वैभव अवस्थान आदि**—दे० व्यंतर।

राक्षसराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० राक्षस।

राक्षस वंश—दे० इतिहास१०/१२।

राग—इष्ट पदार्थोंके प्रति रति भावको राग कहते हैं, अतः यह द्वेषका अविनाभावी है। शुभ व अशुभके भेदसे राग दो प्रकारका है, परद्वेष अशुभ ही होता है। यह राग ही पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धिका कारण होनेसे अत्यन्त हेय है। सम्यग्दृष्टिकी निचली भूमिकाओंमें यह व्यक्त होता है और ऊपरकी भूमिकाओंमें अव्यक्त। इतनी विशेषता है कि व्यक्त रागमें भी रागके रागका अभाव होनेके कारण सम्यग्दृष्टि वास्तवमें वैरागी रहता है।

१. भेद व लक्षण

१. राग सामान्यका लक्षण

ध. १२/४,२,८,८/२८३/८ माया-लोभ-वेदत्रय-हास्यरतयो रागः। —माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है।

स. सा./आ. ५१ यः प्रतिरूपो राग स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य...। —यह प्रीति रूप राग भी जीवका नहीं है।

प्र. सा./त. प्र./८५ अभीष्टविषयप्रसङ्गेन रागम्। —इष्ट विषयोंकी आसक्तिसे रागको...।

पं.का./त. प्र./१३१ विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ। —चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो इसके रस विपाकका कारण पाय इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें जो प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होय उसका नाम राग द्वेष है।

स. सा./ता. वृ./२८१/३६१/१६ रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः। —राग द्वेष शब्दसे क्रोधादि कषायके उत्पादक चारित्र मोहको जानना चाहिए। (पं. का./ता. वृ./१३/-७२/८)।

प्र. सा./ता. वृ./८३/१०६/१० निर्विकार शुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूपं चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं। – निर्विकार शुद्धात्मासे विपरीत इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह नामका रागद्वेष...।

२. रागके भेद

पं. का./ता. वृ./६६ रागः प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविधः। – प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग ऐसे दो भेदोंके कारण राग दो प्रकारका है।

३. अनुरागका लक्षण

रा. वा./७/४३५ अथानुरागशब्दस्य विधिवाच्यो यदार्थतः। प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दास्त्वेकार्थवाचकाः।४३५। – जिस समय अनुराग शब्दका अर्थकी अपेक्षासे विधि रूप अर्थ वक्तव्य होता है उस समय अनुराग शब्दका अर्थ प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योंकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनों शब्द एकार्थवाचक हैं।४३५।

४. अनुरागके भेद व उनके लक्षण

भ. आ./मू./७३७/९०८ भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा। धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं। – भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग, वा धर्मानुराग, इस प्रकार चार प्रकारसे जिनशासनमें जो अनुरक्त है।

भ. आ./भाषा/७३७/९०८ तत्त्वका स्वरूप मालूम नहीं भी हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्त्व स्वरूप कभी झूठा होता ही नहीं ऐसी श्रद्धा करना है उसको भावानुराग कहते हैं। जिसके ऊपर प्रेम है उसको बारम्बार समझाकर सन्मार्गपर लगाना यह प्रेमानुराग कहलाता है। मज्जानुराग पाण्डवोंमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें अतिशय स्नेहयुक्त थे। वैसे धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड़।

५. तृष्णाका लक्षण

न्या. द./टी./४/१/३/२३०/१३ पुनर्भवप्रतिसंधानहेतुभूता तृष्णा। – 'यह पदार्थ मुझको पुनः प्राप्त हो' ऐसी भावनासे किया गया जो प्रतिसन्धान या इलाज अथवा प्रयत्न विशेष, उसकी हेतुभूत तृष्णा होती है।

२. राग-द्वेष सामान्य निर्देश

१. अर्थ प्रति परिणमन ज्ञानका नहीं रागका कार्य है

पं. ध./पू./६०६ क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्। तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै।६०६। – जो क्षायोपशमिक ज्ञान प्रति समय अर्थसे अर्थान्तरको विषय करनेके कारण सविकल्प माना जाता है, वह वास्तवमें ज्ञानका स्वरूप नहीं है किन्तु निश्चय करके उस ज्ञानके साथमें रहनेवाली रागकी क्रिया है। (और भी दे० विकल्प/१)।

२. राग द्वेष दोनों परस्पर सापेक्ष हैं

ज्ञा./२३/२५ यत्र रागः पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चयः। उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिकं मनः।२५। – जहाँपर राग पद धारै तहाँ द्वेष भी प्रवर्तता है, यह निश्चय है। और इन दोनोंको अवलम्बन करके मन भी अधिकतर विकार रूप होता है।२५।

प. ध./उ./५४६ तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं विना। नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना।५४६। – स्व पक्षमें अनुराग भी विपक्षमें अरतिके बिना नहीं होता है वैसे ही स्वपक्षमें अरति भी उसके विपक्षमें रतिके बिना नहीं होती है।५४६।

३. मोह, राग व द्वेषमें शुभाशुभ विभाग

प्र. सा./मू./१८० परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो। असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो।१८०। – परिणामसे बंध है, परिणाम राग, द्वेष, मोह युक्त है। उनमेंसे मोह और द्वेष अशुभ है, राग शुभ अथवा अशुभ होता है।१८०।

४. पदार्थमें अच्छा बुरापना व्यक्तिके रागके कारण होता है

ध. ६/१,९-२,६८/१०१/४ भिण्णरुचीदो केसिं पि जीवाणममहुरो वि सरो महुरोव्वरुच्चइ त्ति तस्स सरस्स महुरत्तं किण्ण इच्छिज्जदि। ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थुपरिणामाणुवलंभा। ण च णिंबो केसिं पि रुच्चदि त्ति महुरत्तं पडिवज्जदे, अव्ववत्थावत्तीदो। – प्रश्न – भिन्न रुचि होनेसे कितने ही जीवोंके अमधुर स्वर भी मधुरके समान रुचता है। इसलिए उसके अर्थात् भ्रमरके स्वरके मधुरता क्यों नहीं मान ली जाती है? उत्तर – यह कोई दोष नहीं, क्योंकि पुरुषोंकी इच्छासे वस्तुका परिणमन नहीं पाया जाता है। नीम कितने ही जीवोंको रुचता है, इसलिए वह मधुरताको नहीं प्राप्त हो जाता है, क्योंकि, वैसा माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती है।

५. वास्तवमें पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं

यो. सा. अ./५/३६ इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा परः। न द्रव्यं तत्त्वतः किंचिदिष्टानिष्टं हि विद्यते।३६। – मोहसे जिसे इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वही इष्ट हो जाता है, क्योंकि निश्चय नयसे संसारमें न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है।३६। (विशेष दे० सुख/१)।

६. आशा व तृष्णामें अन्तर

भ.आ./मू. आ./११८१/११६७/१६ चिरमेते ईदृशा विषया ममोदितोदिता भूयासुरित्याशंसा। तृष्णां इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यान्तां इति तीव्रं प्रबंधप्रवृत्त्यभिलाषम्। – चिरकाल तक मेरेको सुख देने वाले विषय उत्तरोत्तर अधिक प्रमाणसे मिलें ऐसी इच्छा करना उसको आशा कहते हैं। ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होवें ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं।

७. तृष्णाकी अनन्तता

आ. अनु./३६ आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्। कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।३६। – आशा रूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है, जिसमें कि विश्व परमाणुके बराबर प्रतीत होता है। फिर उसमें किसके लिए क्या और कितना आ सकता है। अर्थात् नहींके समान ही कुछ नहीं आ सकता। अतः हे भव्यो, तुम्हारी उन विषयोंकी अभिलाषा व्यर्थ है।३६।

ज्ञा./२०/२८ उदधिरुदकपूरैरिन्धनैश्चित्रभानुर्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्। न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्यैश्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित्।२८। – इस जगत्में समुद्र तो जलके प्रवाहोंसे तृप्त नहीं होता और अग्नि ईंधनोंसे तृप्त नहीं होती, सो कदाचित् दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जायें परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम-भोगादिके भोगनेपर भी कभी तृप्त नहीं होता।

३. व्यक्ताव्यक्त राग निर्देश

१. व्यक्ताव्यक्त रागका स्वरूप

रा. वा./हिं/६/४४/७४७-७४८ जहाँ ताई अनुभवमें मोहका उदय रहै तहाँ ताईं तो व्यक्त रूप इच्छा है और जब मोहका उदय अति मन्द हो जाय है, तब तहाँ इच्छा नाहीं दीखै है। और मोहका जहाँ उपशम तथा क्षय होय जाय तहाँ इच्छाका अभाव है।

२. अप्रमत्त गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है

पं. ध./उ./६१० अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात्। अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ।६१०। =रागभाव चारित्रावरण कर्मके उदयसे होता है तथा यह राग अप्रमत्त गुणस्थानके पहले पाया जाता है, अप्रमत्त गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है।६१०।

रा. वा. हिं./६/४४/७५८ सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान विषै ध्यान होय है। ताकूँ धर्मध्यान कहा है। तामें इच्छा अनुभव रूप है। अपने स्वरूपमें अनुभव होनेकी इच्छा है। तहाँ ताईं सराग चारित्र व्यक्त रूप कहिये।

३. ऊपरके गुणस्थानोंमें राग अव्यक्त है

ध. १/१,१,११२/३५१/७ यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात्। =प्रश्न—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहाँपर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है।

पं. ध./उ./६११ अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः। अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा। =ऊपरके गुणस्थानोंमें जो अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग होता है, यह अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग भी क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानसे पहले होता है। अथवा ७ वें से १० वें गुणस्थान तक होनेवाला यह राग भाव सूक्ष्म होनेसे बुद्धिगम्य नहीं है।६११।

रा. वा. हिं/६/४४/७५८ अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान हो है तहाँ मोहके अतिमन्द होनेतैं इच्छा भी अव्यक्त होय जाय है। तहाँ शुक्लध्यानका पहला भेद प्रवर्तै है। इच्छाके अव्यक्त होनेतै कषायका मल अनुभवमें रहै नाहीं, उज्ज्वल होय।

४. रागमें इष्टानिष्टता

१. राग हेय है

स. सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः। =रागादि तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय हैं।

स. सा./आ./१४७ कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्। =जैसे—कुशील-मनोरम और अमनोरम हथिनी रूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है।

आ. अनु./१८२ मोहबीजादतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव। तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।१८२। =जिस प्रकार बीजसे जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मोह रूपी बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है, उसे ज्ञानरूप अग्निके द्वारा उस मोहरूपी बीजको जला देना चाहिए।१८२।

२. मोक्षके प्रतिका राग भी कथंचित् हेय है

मो. पा./मू./५५ आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि। सो तेण दु अण्णाणी आदसहावादु विवरीओ।५५। =रागभाव जो मोक्षका निमित्त भी हो तो आस्रवका ही कारण है। जो मोक्षको पर द्रव्यकी भाँति इष्ट मानकर राग करता है सो जीव मुनि भी अज्ञानी है, आत्म स्वभावसे विपरीत है।५५।

प. प्र./मू./२/१८८ मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ। जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ।१८८। =हे योगी! अन्य चिन्ताकी तो बात क्या मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, क्योंकि मोक्ष चिन्ता करनेसे नहीं होता। जिन कर्मोंसे यह जीव बँधा हुआ है वे कर्म ही मोक्ष करेंगे।१८८।

पं. का./त.प्र./१६७ तत् स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं अर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति=जीवको स्वसमयकी प्रसिद्धिके हेतु अर्हतादि विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है।

पं. वि./१/५५ मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी। =अज्ञानतासे मोक्षके विषयमें भी की जानेवाली अभिलाषा दोष रूप होकर विशेष रूपसे मोक्षकी निषेधक होती है। (पं. वि./२३/१८)।

३. मोक्षके प्रतिका राग कथंचित् इष्ट है

प. प्र./मू/२/१२८...सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि।१२८। =तू परम पवित्र मोक्षमार्गमें प्रीतिकर, और घर आदिका शीघ्र ही छोड़।१२८।

क. पा. १/१,२१/§३४२/३६६/११ तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो। =रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है।

प्र. सा./त. प्र./२५४ रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। =गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और इसलिए क्रमशः परम निर्वाण सौख्यका कारण होता है।

आ. अनु./१२३ विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः। सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः।१२३। =अज्ञानरूप अन्धकारको नष्टकर देनेवाले प्राणीके जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्यकी प्रभात कालीन लालिमाके समान उसके अभ्युदयके लिए होता है।

४. तृष्णाके निषेधका कारण

ज्ञा./१७/२,३,१२ यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति। तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।२। अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति। ततो निबद्धमूलासौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते।३। यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः। तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी।१२। =१. मनुष्योंके जैसे-जैसे शरीर और धनमें आशा फैलती है, तैसे-तैसे मोहकर्मकी गाँठ दृढ़ होती है।२। २. इस आशाको रोका नहीं जाये तो यह निरन्तर समस्त लोक पर्यन्त विस्तरती रहती है, और उससे इसका मूल दृढ़ होता है, फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है।३। (ज्ञा./२०/३०) ३. हे आत्मन्! जब तक तेरे चित्तमें आशारूपी अग्नि स्वतन्त्रतासे नितान्त प्रज्वलित हो रही है तब तक तेरे महादुःखरूपी दाहकी शान्ति कहाँसे हो।१२।

५. ख्याति कामादिकी भावनासे सुकृत नष्ट हो जाते हैं

आ. अनु./१८९ अधीत्यसकलं श्रुतं चिरमुपास्यघोरं तपो यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्। छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव

शुन्याशयः—कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ।१८६। —समस्त आगमका अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनोंका फल तू यहाँ सम्पत्ति आदिका लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्षके फूलको ही नष्ट करता है। फिर ऐसी अवस्थामें तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फलको कैसे प्राप्त कर सकेगा। नहीं कर सकेगा।

और भी दे० ज्योतिष मन्त्र-तन्त्र आदि कार्य लौकिक है (दे० लौकिक) मोक्षमार्गमें इनका अत्यन्त निषेध दे० मन्त्र/१/३-४।

४. लोकेषणा रहित ही तप आदिक सार्थक हैं

चा. सा./१३४/१ यत्किंचिद्दृष्टफलं मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। —किसी प्रत्यक्ष फलकी अपेक्षा न रखकर और मन्त्र साधनादि उपदेशोंके बिना जो उपवास किया जाता है, उसे अनशन कहते हैं।

चा. सा./१५०/१ मन्त्रौषधोपकरणयशः सत्कारलाभाद्यनपेक्षितचित्तेन परमार्थनिस्पृहमतिनैहलौकिकफलनिरुत्सुकेन कर्मक्षयकाङ्क्षिणा ज्ञानलाभाचार … सिद्ध्यर्थं विनयभावनं कर्तव्यम्। —जिनके हृदयमें मन्त्र, औषधि, उपकरण, यश, सत्कार और लाभादिकी अपेक्षा नहीं है, जिनकी बुद्धि वास्तवमें निस्पृह है, जो केवल कर्मोंका नाश करनेको इच्छा करते हैं, जिनके इस लोकके फलकी इच्छा बिलकुल नहीं है उन्हें ज्ञानका लाभ होनेके लिए…विनय करनेकी भावना करनी चाहिए।

स. सा./ता. वृ./२७४/३५३/१२ अभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशाङ्गश्रुताध्ययनं कुर्यात् तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति। —अभव्य जीव यद्यपि ख्याति लाभ व पूजाके अर्थ ग्यारह अंग श्रुतका अध्ययन करे, तथापि उसका ज्ञान शुद्धात्म परिज्ञान रूप गुणको नहीं करता है।

दे. तप/२/६ (तप इष्टफलसे निरपेक्ष होता है)।

५. राग टालने का उपाय व महत्ता

१. रागका अभाव सम्भव है

ध./६/४,१,४४/११७-११८/१ ण कसाया जीवगुणा,……पमादासंजमा वि ण जीवगुणा,…ण अण्णाणं पि, ण मिच्छत्तं पि,……तदो णाण-दंसण-संजम-सम्मत्त-खंति-मद्दवज्जव-संतोस-विरागादिसहावो जीवो त्ति सिद्धं। —कषाय जीवके गुण नहीं हैं (विशेष दे० कषाय २/३) प्रमाद व असंयम भी जीवके गुण नहीं हैं,…अज्ञान भी जीवके गुण नहीं हैं,…मिथ्यात्व भी जीवके गुण नहीं हैं,…इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता आर्जव, सन्तोष और विरागादि स्वभाव जीव है, यह सिद्ध हुआ। (और इसीलिए इनका अभाव भी किया जा सकता है। और भी दे० मोक्ष/६/४)

२. राग टालने का निश्चय उपाय

प्र. सा./मू./८० जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।८०। (उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्) —जो अरहंतको द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह (अपने) आत्माको जानता है, और उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है ।८०। क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे अन्तर नहीं है ।८०।

पं. का, मू./१०४ मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो। पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरापरो जीवो ।१०४। —जीव इस अर्थको (इस शास्त्रके अर्थभूत शुद्ध आत्माको) जानकर, उसके अनुसरणका उद्यम करता हुआ हत मोह होकर (जिसे दर्शनमोहका क्षय हुआ हो ऐसा होकर) राग-द्वेषको प्रशमित-निवृत्त करके, उत्तर और पूर्व बन्धका जिसे नाश हुआ है ऐसा होता है।

इ. उ./मू./३७ यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्। तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।३७। —स्वपर पदार्थोंके भेद ज्ञानसे जैसा-जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे-वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पंचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं ।३७।

स. श./मू./४० यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्। बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ।४०। —जिस शरीरमें मुनिको अन्तरात्माका प्रेम है, उससे भेद विज्ञानके आधारपर आत्माको पृथक् करके उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें लगावे। ऐसा करनेसे प्रेम नष्ट हो जाता है ।४०।

प्र. सा./त. प्र./८६,९० तत खलूपायान्तरमिदमपेक्षते।… अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्द ब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ।८६। निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ।९०। —१. उपरोक्त उपाय (दे० ऊपर प्र. सा./मू) वास्तवमें इस उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है।…मोहका क्षय करनेमें, परम शब्दब्रह्मकी उपासनाका भाव ज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है ।८६। २. जिसने स्वपरका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नहीं होता।

ज्ञा./२३/१२ महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः। योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ।१२।

ज्ञा./३२/५२ मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते। तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ।५२। —मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगकी वांछा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लको निपातन किया। क्योंकि इसके हते बिना मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं है ।१२। मुनिका मन यदि मोहके उदय रागादिकसे पीड़ित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है ।५२।

प्र. सा./ता. वृ./६२/२१५/१३ की उत्थानिका परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोति। —जो उस परमात्म द्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोह नहीं करता है।

प्र. सा./ता. वृ./२४४/३३८/१२ योऽसौ निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्तं बहिः पदार्थेषु न गच्छति ततश्च…चिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति। तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति। —जो निजस्वरूपको भाता है, उसका चित्त बाह्य पदार्थोंमें नहीं जाता है, फिर वह चित् चमत्कार मात्र आत्मासे च्युत नहीं होता। अपने स्वरूपमें अच्युत रहनेसे रागादिके अभावके कारण विविध प्रकारके कर्मोंका विनाश करता है।

पं. ध./उ./३७१ इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्। वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ।३७१। —इस प्रकार तत्त्वोंको जाननेवाला स्वात्मदर्शी यह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग तथा द्वेषका परित्याग करे।

३. राग टालनेका व्यवहार उपाय

भ. आ./मू./२६४ जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं। ते वज्जंतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ।२६४। —राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाला जो कोई परिग्रह है, उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर राग द्वेषोंको जीतता ही है ।२६४।

आ. अनु./२३७ रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्। तौ च बाह्यार्थसंबद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्। —राग और द्वेषका नाम

प्रवृत्ति तथा दोनोंके अभावका नाम ही निवृत्ति है। चूँकि वे दोनों बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उन बाह्य वस्तुओंका ही परित्याग करना चाहिए।

४. तृष्णा तोड़नेका उपाय

आ. अनु./२५२ अपि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते, भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता। इति कृतधियः कृच्छारम्भैश्चरन्ति निरन्तरं-चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहा ।२५२। —जब तक मनरूपी जड़के भीतर ममत्वरूपी जलसे निर्मित गीलापन रहता है, तब तक महातपस्वियोंकी भी आशारूप बेलकी शिखा जवान सी रहती है। इसलिए विवेकी जीव चिरकालसे परिचित इस शरीरमें भी अत्यन्त निःस्पृह होकर सुख-दु.ख एवं जीवन-मरण आदिमें समान होकर निरन्तर कष्टकारक आरम्भोंमें—ग्रीष्मादि ऋतुओंके अनुसार पर्वतकी शिला आदिपर स्थित होकर ध्यानादि कार्योंमें प्रवृत्त रहते हैं।२५२।

५. तृष्णाको वश करनेकी महत्ता

ज्ञा./१७/१०,११,१९ सर्वाशां यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते। तस्य क्वचिदपि स्वान्तं संगपङ्कैर्न लिप्यते।१०। तस्य सत्यं श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः। निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता ।११। चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता। किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितम् ।१९। —जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशा अवलम्बन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहीं लिपता। ।१०। जिस पुरुषके आशा रूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ हैं।११। जिसपुरुषकी चराचर पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गयी है, उसके इस लोकमें क्या-क्या मनोवांछित सिद्ध नहीं हुए, अर्थात् सर्व मनोवांछित सिद्ध हुए ।१९।

मो. पा./टी./४६/११४ पर उद्धृत आशादासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्। आशाया यो भवेद्दासः स दासः सर्वदेहिनाम्। —जिसने आशाको दासी बना लिया है उसने सम्पूर्ण जगत्‌को दास बना लिया है। परन्तु जो स्वयं आशाका दास है, वह सर्व जीवोंका दास है।

६. सम्यग्दृष्टिकी विरागता तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. सम्यग्दृष्टिको रागका अभाव तथा उसका कारण

स. सा./मू./२०१-२०२ परमाणुमित्तयं पि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स। ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।२०१। अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो। कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।२०२। —वास्तवमें जिस जीवके परमाणुमात्र लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्व आगमका धारी हो तथापि आत्माको नहीं जानता ।२०१। (प्र. सा./मू./२३९); (पं. का./मू./१६७); (ति. प./९/३७) और आत्माको न जानता हुआ, वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

मो. पा./मू./६९ परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो। सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ।६९। —जो पुरुष पर द्रव्यमें लेशमात्र भी मोहसे राग करता है, वह मूढ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभावसे विपरीत है।६९।

प. प्र./मू./२/८१ जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जामण मिल्लइ एत्थु। सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु।८१। —जो जीव थोड़ा भी राग मनमेंसे जब तक इस संसारमें नहीं छोड़ देता है, तब तक हे जीव ! निज शुद्धात्म तत्त्वको शब्दसे केवल जानता हुआ भी नहीं मुक्त होता।८१। (यो. सा./अ./९/४७)।

पं. ध./उ./२५९ वैषयिकसुखेन स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्। रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।२५९। —सम्यग्दृष्टियोंके वैषयिक सुखमें ममता नहीं होती है क्योंकि वास्तवमें वह आसक्तिरूप राग भाव अज्ञानरूप है, इसलिए विषयोंकी अभिलाषा मिथ्यादृष्टिको होती है।२५९।

२. निचली भूमिकाओंमें रागका अभाव कैसे सम्भव है

स. सा./ता. वृ./२०१,२०२/२७६/५ रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिनः···सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति। इति तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां अनन्तानुबन्धिक्रोध···पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्।··· पञ्चमगुणस्थानर्तिनां अप्रत्याख्यानक्रोध···भूमिरेखादि समानानां रागादीनामभावात्। अत्र तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्याग्रहणं, सराग सम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्। —प्रश्न—रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता, ऐसा आपने कहा है, तो चौथे व पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकेंगे। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा ४३ प्रकृतियोंके बन्धका अभाव होनेसे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। वह ऐसे कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के तो पाषाण रेखा सदृश अनन्तानुबन्धी चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके भूमिरेखा सदृश अप्रत्याख्यान चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है। यहाँ इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका मुख्य रूपसे ग्रहण किया गया है और सरागसम्यग्दृष्टियोंका गौण रूपसे। सम्यग्दृष्टिके व्याख्यानकालमें सर्वत्र यही जानना चाहिए।

दे. सम्यग्दृष्टि/३/३/ (ता.वृ/१६३) [सम्यग्दृष्टिका अर्थ वीतराग सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए]

स.सा./पं. जयचन्द/२०० जब अपनेको तो ज्ञायक भावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावोंको आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरागता यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

स.सा /पं जयचन्द/२००/१३७/१०७—प्रश्न—परद्रव्यमें जब तक राग रहे तब तक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्रमोहके उदयसे रागादि भाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे। उत्तर—यहाँ मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-परका ज्ञान श्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। (विशेष दे. सम्यग्दृष्टि/३/३ में ता.वृ.)।

३. सम्यग्दृष्टिको ही यथार्थ वैराग्य सम्भव है

स. श. मू./६७ यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्। अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः।६७। —जिसको चलता-फिरता भी यह जगत् स्थिरके समान दीखता है। प्रज्ञारहित तथा परिस्पन्दरूप क्रिया तथा सुखादिके अनुभवसे रहित दीखता है उसे वैराग्य आ जाता है अन्यको नहीं।६७।

स.सा./आ./२०० तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति–तत्त्वको जानता हुआ, स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोड़ता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियमसे ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है।

मू.आ./टी./१०६ यद्यपि कदाचिद्रागः स्यात्तथापि पुनरनुबन्ध न कुर्वन्ति, पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभा-रविकिरणस्पृष्टेवेति।–सम्यग्दृष्टि जीवके प्राथमिक अवस्थामें यद्यपि कदाचित् राग होता है तथापि उसमें उसका अनुबन्ध न होनेसे वह उसका कर्ता नहीं है। इसलिए वह पश्चात्तापवश ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर हरिद्राका रंग नष्ट हो जाता है।

४. सरागी भी सम्यग्दृष्टि विरागी है

र.सा./मू./५७ सम्माइट्ठीकालं बोलइ वेरग्गणाण भावेण। मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं।५७।–सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते हैं। परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव आलस और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं।

स.सा./आ./१९७/क. १३६ सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः। स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या। यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च-स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।१३६।–सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है, क्योंकि वह स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा अपने वस्तुत्वका अभ्यास करनेके लिए, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेदको परमार्थसे जानकर स्वमें स्थिर होता है और परसे—रागके योगसे—सर्वतः विरमता है।

स. सा./आ./१९६/क.१३५ नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषय-सेवनस्य ना। ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः।१३५।–यह (ज्ञानी) पुरुष विषयसेवन करता हुआ भी ज्ञान वैभव और विरागताके बलसे विषयसेवनके निजफलको नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह (पुरुष) सेवक होने पर भी असेवक है।१३५।

द्र.सं./टी./१/५/११ जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिना. असंयत-सम्यग्दृष्टयः।–मिथ्यात्व तथा राग आदिको जीतनेके कारण असंयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन हैं।

मो.मा.प्र./१/४६७/१७ क्षायिकसम्यग्दृष्टि···मिथ्यात्व रूप रंजनाके अभावतैं वीतराग है।

५. घरमें वैराग्य व वनमें राग सम्भव है

भा.पा./टी./६१/२११ पर उद्धृत वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः। अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते, विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं।–रागी जीवोंको वनमें रहते हुए भी दोष विद्यमान रहते हैं, परन्तु जो रागसे विमुक्त हैं उनके लिए घर भी तपोवन है, क्योंकि वे घरमें भी पाँचों इन्द्रियोंके निग्रहरूप तप करते हैं और अकुत्सित भावनाओंमें वर्तते हैं।

६. सम्यग्दृष्टि को राग नहीं तो भोग क्यों भोगता है

स.सा./ता.वृ./१९४/२६८/१४ उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात्···सुखं दुःखं··जायते तावत्।···सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेन नानुभवति।···मिथ्यादृष्टेः पुनरुपादेय बुद्ध्या, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारणं भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति। तथापि चारित्रमोहोदयतल-वरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्।–द्रव्यकर्मोंके उदयमें वे जीवके द्वारा उपभुक्त होते हैं, और तब नियमसे उसे उदयकालपर्यन्त सुख-दुःख होते हैं।··· तहाँ सम्यग्दृष्टि जीव उनमें राग-द्वेष न करता हुआ उन्हें हेय बुद्धिसे अनु-भव करता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारके प्रत्यय सहित तन्मय होकर अनुभव नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि तो उन्हें उपादेय बुद्धिसे 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकारके प्रत्ययसहित अनुभव करता है, इसलिए उसे वे बन्धके कारण होते हैं। और भी—जिस प्रकार कोई चोर यदि मरना नहीं चाहता तो भी कोतवालके द्वारा पकड़ा जानेपर मरणका अनुभव करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मासे उत्पन्न सुखको ही उपादेय जानता है, और विषय-सुखको हेय जानता है, तथा चारित्रमोहके उदयरूप कोतवालके द्वारा पकड़ा हुआ उन वैषयिक सुख-दुःखको भोगता है। इस कारण उसके लिए वे निर्जराके निमित्त ही हैं।

पं.ध./उ./२६१ उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्। अवश्यं तदव-स्थायास्तथाभावो निसर्गजः।२६१।–सम्यग्दृष्टिको सर्वप्रकारके भोगमें रोगकी तरह अरुचि होती है क्योंकि उस सम्यक्त्वरूप अवस्थाका प्रत्यक्ष विषयोंमें अवश्य अरुचिका होना स्वतः सिद्ध स्वभाव है।२६१।

७. विषय सेवता भी असेवक है

स.सा./मू./१९७ सेवंतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई। पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई।–कोई तो विषयको सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है—जैसे किसी पुरुषके प्रकरणकी चेष्टा पायी जाती है तथापि वह प्राकरणिक नहीं होता।

स. सा./आ./२१४/१४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्।१४६।–पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोग (अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।१४६।

अन.ध./८/२-३ मन्त्रेणेव विषं मृत्यवे मध्वरत्या मदायवा। न बंधाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम्।२। ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात्। यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति।३।–मन्त्र द्वारा जिसकी सामर्थ्य नष्ट कर दी गयी ऐसे विषका भक्षण करनेपर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता, तथा जिस प्रकार बिना प्रीतिके पिया हुआ भी मद्य नशा करनेवाला नहीं होता, उसी प्रकार भेदज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्यके अन्तरंगमें रहनेपर विषयोपभोग कर्मबन्ध नहीं करता।२। जिस प्रकार नृत्यकार अन्यपुरुषके विवाहा-दिमें नृत्य करते हुए भी उपयोगकी अपेक्षा नृत्य नहीं करता है, इसी प्रकार ज्ञानी आत्मस्वरूपमें उपयुक्त है वह चेष्टामात्रसे यद्यपि विषयोंको भोगता है, फिर भी उसे अभोक्ता समझना चाहिए।३। (पं. ध./उ./२७०-२७४)।

पं.ध./उ./२७४ सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवकः। नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यतः।२७४।–यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन करता हुआ भी वास्तवमें भोगोंका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है, क्योंकि रागरहित जीवके बिना इच्छाके किये गये कर्म रागको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं।२७४।

८. भोगोंकी आकांक्षाके अभावमें भी वह व्रतादि क्यों करता है

पं. ध./उ./५५४,-५७१ ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। भोगाकाङ्क्षा विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ।५५४। नैवं यत: सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छत: क्रिया। शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ।५६१। पौरुषो न यथाकामं पुंस: कर्मोदितं प्रति। न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुष: ।५७१।=प्रश्न—जब अज्ञानी पुरुष भी किसी कार्यके उद्देश्यके बिना प्रवृत्ति नहीं करता है, तो फिर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भोगोंकी आकांक्षाके बिना व्रतोंका आचरण क्यों करेगा। उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि बिना इच्छाके ही सम्यग्दृष्टिके सब क्रियाएँ होती हैं। इसलिए उसके शुभ और अशुभ क्रियामें विशेषताको बतानेवाला क्या शेष रहा जाता है ।५६१। उदयमें आनेवाले कर्मके प्रति जीवका इच्छानुकूल पुरुषार्थ कारण नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ केवल पौरुषकी अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु दैवकी अपेक्षा रखता है ।५७१।

पं.ध./उ./७०६-७०७ ननु नेहा बिना कर्म कर्म नेहां बिना क्वचित्। तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ।७०६। नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु। बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभव: ।७०७। प्रश्न—कहीं भी क्रियाके बिना इच्छा और इच्छाके बिना क्रिया नहीं होती। इसलिए इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहो या न रहो किन्तु कोई भी क्रिया इच्छाके बिना नहीं हो सकती है! उत्तर—यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपरोक्त हेतुसे क्षीणकषाय और उसके समीपके गुणस्थानोंमें उक्त लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है। यदि उक्त गुणस्थानोंमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायेगा तो बन्धके नित्यत्वका प्रसंग आनेसे मुक्ति होना भी असम्भव हो जायेगा। (और भी दे. संवर/२/६)।

राजऋषि—दे० ऋषि।

राजकथा—दे० कथा।

राजधानी—१. एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं। (म. पु./१६/१७५), २. चक्रवर्तीकी राजधानीका स्वरूप—दे० शलाका पुरुष/२।

राजपिंड—दे० भिक्षा/३।

राजमति विप्रलंभ—पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित ग्रन्थ।

राजमल्ल—१. मगध देशके विराट् नगरमें बादशाह अकबरके समयमें कविवर राजमल्लका निवास था। काष्ठासंघी भट्टारक आम्नायके पण्डित थे। इसीसे इन्हें 'पं. बनारसीदास जी ने पाण्डे' कहा है। क्षेमकीर्तिके आम्नायमें भारु नामका वैश्य था। उसके चार पुत्र थे यथा—दूदा, ठाकुर, जागसी, तिलोक। दूदाके तीन पुत्र थे—न्योता, भोल्हा, और फामन। फामन एक समय विराट् नगरमें आया वहाँ एक ताल्हू नाम जैन विद्वान्से जो हेमचन्द्राचार्यकी आम्नायका था, कुछ धर्मकी शिक्षा प्राप्त की। फिर वह कविराजके पास आया और इन्होंने उसकी प्रेरणासे लाटी संहिता लिखी। इसके अतिरिक्त समयसारकी अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकाके ऊपर सुगम हिन्दी वचनिका, पंचास्तिकाय टीका, पंचाध्यायी, जम्बूस्वामी चरित्र, पिंगल, अध्यात्म कमलमार्तण्डकी रचना की। समय—वि. १६३२-१६५०. (ई. १५७५-१५९३); (ती./४/७७)।

२. आप गंगवंशीय राजा थे। राजा मारसिंह के उत्तराधिकारी थे। चामुण्डराय जी आप ही के मन्त्री थे। आप आचार्य सिंहनन्दि व आचार्य अजितसेन दोनोंके शिष्य रहे हैं। आपका समय प्रेमी जीके अनुसार वि. सं. १०३१-१०४० अर्थात् ई. ९७४-९८३ निश्चित है। (बाहुबलि चरित्र / श्लोक. ६, ११); (जै०/१/३१५)।

राजमल्ल सत्यवाक्य— इसके राज्य कालमें ही आ० विद्यानन्दि नं. १ के द्वारा आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, युक्त्यनुशासन ये तीन ग्रन्थ लिखे गये थे। समय—ई. ८१६-८३० (सि. वि./३ पं. महेन्द्र)।

राजवंश—दे० इतिहास/३।

राजबलि कथे—ई. १८३६ द्वारा रचित कथानुयोग विषयक कन्नड़ कृति।

राजवार्तिक—आ० अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०) द्वारा सर्वार्थसिद्धिपर की गयी विस्तृत संस्कृत वृत्ति है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके वाक्योंको वार्तिक रूपसे ग्रहण करके उनकी टीका की गयी है। यह ग्रन्थ न्यायार्थसे भरपूर्ण है। यदि इसे दिगम्बर जैन आम्नायका कोष कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। इसपर पं. पन्नालाल (ई. १७९३-१८६३) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

राजशेखर—आप एक कवि थे। आपने वि. ९६० कर्पूर मंजरीकी रचना की थी। (धर्म शर्माभ्युदय/प्र.१९/पं. पन्नालाल)।

राजसदान—दे० दान।

राजसिंह—एक बहुत बड़ा मल्ल था। इसने मल्लयुद्धमें सुमित्र नामक मल्लको जीत लिया। (म. पु./६१/५९-६०) यह मधुक्रीड़ प्रतिनारायणका दूरवर्ती पूर्व भव है।—दे० मधुक्रीड़।

राजा—

ध.१/१,१,१/गा. ३६/५७ अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम्। राजा स्यान्मुकुटधर: कल्पतरु: सेवमानानाम् ।३६।—जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिए कल्पवृक्षके समान हो उसको राजा कहते हैं। (त्रि. सा./६८४)।

भ. आ./वि./४२१/६१२/१६ राज शब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता:। राजते प्रकृतिं रंजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। —इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपायोंसे अनुरंजन करता है उसको राजा कहते हैं। राजाके समान जो महर्द्धिका धारक है उसको भी राजा कहते हैं।

२. राजाके भेद

(अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज तथा परमेश्वरादि); (ध. १/१,१,१/५६/७ का भावार्थ); (राजा, अधीश्वर, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, त्रिखण्डाधिपति तथा चक्री आदि); (ध. १/१ १२/गा. ३७-४३/ ५७-५८)।

३. अधिराज व महाराजका लक्षण

ति. प./१/४५ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो। रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महाराजो ।४५।—जो पाँच सौ राजाओंका स्वामी हो वह अधिराज है। उसकी कीर्ति सारी दिशाओंमें फैली रहती है। जो एक हजार राजाओंका पालन करता है वह महाराज है ।४५। (ध. १/१,१/गा. ४०/५७); (त्रि. सा./६८४)।

४. अर्धमण्डलीक व मण्डलीकका लक्षण

ति. प./१/४६ दुसहस्समउडबद्ध भुववसहो तत्थ अद्धमंडलिओ। चउराजसहस्साणं अहिणाओ होइ मंडलिओ।४६। –जो दो हजार मुकुटबद्ध भूपोंमें प्रधान हो वह अर्धमण्डलीक है। और जो चार हजार राजाओंका अधिनाथ हो वह मण्डलीक कहलाता है।४६। (ध. १/१,१,१/गा. ४१/५७); (त्रि. सा./६८५)।

५. महामण्डलीकका लक्षण

ति. प./१/४२ अट्ठसहस्समहीपतिनायकमाहुर्बुधाः महामण्डलिकम्...। –बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं। (ध. १/१,१,१/गा. ४०/५७); (त्रि. सा./६८५)।

★ **अर्धचक्री व चक्रवर्तीका लक्षण**—दे० शलाकापुरुष/४,२।

★ **कल्कि राजा**—दे० कल्कि।

राजीमति—भोजवंशियोंकी राजपुत्री थी। नेमिनाथ भगवान्के लिए निश्चित की गयी थी (ह. पु./५५/७२) विवाहके दिवस ही नेमिनाथ भगवान्को दीक्षापर अत्यन्त दुःखी हुई तथा स्वयं भी दीक्षा ग्रहण कर ली। (ह. पु./५/१३०-१३४) अन्तमें सोलहवें स्वर्गमें देव हुई।

राजू—(ज. प./प्र./२३) Raju is according to Colebrook the distance which a Deva flies in six months at the rate of 2 057,152 Yojans in one क्षण i.e. instant of time./—Quoted by Von Glassnappin 'Der Jainismus'—Foot Note (Cosmology Old & New P. 105/. इस परिभाषाके अनुसार राजुका प्रमाण इस तरह निकाला जा सकता है—६ माह = (५४००००)×६×३०×२४×६०. (दे० गणित/I/१/३)-प्रतिविपलांश या क्षण। और—१ योजन = ४५४५.४५ मील (या कोशक) लेनेपर, ६. मासमें तय की हुई दूरी = ४५४५.४५×२०५७१५२×६×३०×२४×६०×५४०००० मील ∴ एक राजू = (१.१०८६६६६२...)×(१०)२१ मील According G. R. Jain, १ राजू = १.४५×(१०)२१ मील (डॉ० आइंस्टीनके संख्यात लोक त्रिज्या लेकर उसके अनुसार लोकके घनफलके आधारपर) According to पं. माधवाचार्य = १००० भारका गोला, इंद्रलोकसे नीचे गिरकर ६ मासमें जितनी दूर पहुँचे उस सम्पूर्ण लम्बाईको एक राजू कहते हैं।

राजेन्द्र—चोल वंशी राजा था। समय—ई. १०६२–१०६३ (जीवन्धर चम्पू./प्र./१३/A. N. Up.)।

राज्य—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

राज्यवंश—१. ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३। २. पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/७।

राज्योत्तम—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३।

रात्रि—१. दिन व रात्रि प्रगट होनेका क्रम—दे० ज्योतिष/२/८। २. साधु रात्रिको अत्यन्त अल्प निद्रा लेते हैं—दे० निद्रा/२। ३. साधुके लिए रात्रिको कथंचित् बोलनेकी आज्ञा।—दे० अपवाद/३।

रात्रिपूजा निषेध—दे० पूजा/५।

रात्रि भोजन—जैन आम्नायमें रात्रि भोजनमें त्रस हिंसाका भारी दोष माना गया है। भले ही दीपक व चन्द्रमा आदिके प्रकाशमें आप भोजनको देख सकें पर उसमें पड़ने वाले जीवोंको नहीं बचा सकते। पाक्षिक श्रावक रात्रि भोजन त्याग व्रतको सापवाद पालते हैं, और छठी प्रतिमाधारी निरपवाद पालता है।

१. रात्रिभोजन त्याग व्रत निर्देश

१. रात्रि भोजनका लक्षण

ध. १२/४,२,८,७/२८२/१३ रत्तीए भोयणं रादि भोयणं। –रात्रिमें भोजन सो रात्रि भोजन।

२. साधुके योग्य आहार काल

मू. आ./३५ उदयत्थमणे कालेणालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि...।३५। –सूर्यके उदय व अस्त कालकी तीन घड़ी छोड़कर इसके मध्य कालमें कोई भी समय आहार ग्रहण करनेका काल है। (अन. ध./ ६/९२); (आचारसार/१/४१)।

रा. वा./७/१/१८/५३५/२ ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपाददीत इत्याचारोपदेशः। न चायं विधि रात्रौ भवतीति षष्ठ्क्रमणाद्यसंभवः। –ज्ञानसूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देश कालमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती, क्योंकि रात्रिको गमन आदि नहीं हो सकता। अतः रात्रि भोजनका निषेध किया जाता है।

३. श्रावकके योग्य आहार काल

ला. सं./२/२३४-२३५ काले पूर्वाह्णिके यावत्परतोऽपराह्णेऽपि च। यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने।२३४। याम मध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्। आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा।२३५। –भोजनका समय दोपहरसे पहले-पहल है अथवा दोपहरके पश्चात् दिन ढलेका समय भी भोजनका है। अणुव्रती श्रावकोंको सूर्य निकलनेके पश्चात् आधे पहर तक तथा सूर्य अस्तसे आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार उन्हें रात्रिको, या जिस समय पानी बरस रहा हो अथवा काली घटा छानेसे अँधेरा हो गया हो उस समय भोजन नहीं करना चाहिए।२३४। अणुव्रती श्रावकोंको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह मुनियोंकी भिक्षाचर्याका समय नहीं है। तथा उन्हें दोपहरका समय भी नहीं टालना चाहिए उनके लिए सूर्योदयके पश्चात् छह घण्टे बीत जानेपर भोजन करनेका निषेध है, परन्तु औषध व जलके ग्रहणका नहीं।२३५।

४. रात्रि भोजन त्यागके अतिचार

सा. ध./३/१५ मुहूर्तेऽन्त्ये तथाद्येऽह्नो, वल्भानस्तमिताशिनः। गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति।१५। –रात्रि भोजन त्यागव्रतका पालन करने वाले श्रावकके दिनके अन्तिम और प्रथम मुहूर्तमें भोजन करना तथा रोगको दूर करनेके लिए भी आम और घी वगैरहका सेवन करना अतिचारजनक होता है।१५।

५. रात्रि भोजन त्यागमें अन्य भी व्रतोंका अन्तर्भाव

ध. १२/४,२,८८/२८३/१ जेणेदं सुत्तं देसामासियं तेणेत्थ महु मांस पंचुबरं णिव्वसण फुल्लभक्खण सुरापान अवेलासणादीणं पि णाणावरण पच्चयत्तं परूवेदव्वं। –क्योंकि यह सूत्र (रात्रि भोजन प्रत्ययसे ज्ञानावरणीय वेदना या बन्ध होता है) देशामर्षक है अत उससे यहाँ मधु, मांस, पंचुदम्बर फल, निन्द्य भोजन और फूलोंके भक्षण, मद्यपान तथा असमयिक भोजन आदिको ज्ञानावरणीयका प्रत्यय बतलाना चाहिए।

★ **रात्रि भोजनका हिंसामें अन्तर्भाव**—दे० हिंसा।

★ **रात्रि भोजन त्याग छठा अणुव्रत है**—दे० व्रत/३/४।

६. रात्रि भोजन त्यागका महत्त्व

पु. सि. उ./१३४ किं वा बहु प्रलपितैरिति सिद्धं यो मनो वचन कायैः । परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ।१३४। —बहुत कहनेसे क्या। जो पुरुष मन, वचन, और कायसे रात्रि भोजनको त्याग देता है वह निरन्तर अहिंसाको पालन करता है ऐसा सार सिद्धान्त हुआ।१३४।

का. अ./मू./३८३ जो णिसि भुत्तिं वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं। संवच्छरस्स मज्झे आरंभं मुयदि रयणीए।३८३। —जो पुरुष रात्रि भोजनको छोड़ता है वह एक वर्षमें छह महीनेका उपवास करता है। रात्रि भोजनका त्याग करनेके कारण वह भोजन व व्यापार आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण आरम्भ भी रात्रिको नहीं करता।

७. रात्रि भोजनका निषेध क्यों

पु. सि. उ./१२९-१३३ रात्रौ भुञ्जानानां यस्माद् निवारिता भवति हिंसा। हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।१२९। रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा। रात्रिं दिवामाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति।१३०। यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः। भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा।१३१। नैवं वासरभुक्तः भवति हि रागाधिको रजनि भुक्तौ। अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य।१३२। अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसा। अपि बोधितः प्रदीपो भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।१३३। —रात्रिमें भोजन करने वालोंके हिंसा अनिवारित होती है, अतएव हिंसाके त्यागीको रात्रि भोजनका त्याग करना चाहिए।१२९। अत्यागभाव रागादिभावोंके उदयकी उत्कृष्टतासे हिंसाको उल्लंघन करके नहीं वर्तते है तो रात-दिन आहार करने वालोंके निश्चय कर हिंसा कैसे सम्भव नहीं होती अर्थात् तीव्र रागी ही रात्रि-दिन खायेगा और जहाँ राग है वहाँ हिंसा है।१३०। प्रश्न—यदि ऐसा है तो दिनके भोजनका त्याग करना चाहिए, और रात्रिको भोजन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करनेसे हिंसा सदा काल न होगी।१३१। उत्तर—अन्नके ग्रासके भोजनकी अपेक्षा मांसके ग्रासके भोजनमें जैसे राग अधिक होता है वैसे ही दिनके भोजनकी अपेक्षा रात्रि भोजनमें निश्चय कर अधिक राग होता है अतएव रात्रि भोजन ही त्याज्य है।१३२। दूसरे सूर्यके प्रकाशके बिना रात्रिमें भोजन करने वाले पुरुषोंके जलाये हुए दीपकमें भी भोजनमें मिले हुए सूक्ष्म जीवोंको कैसे दूर किया जा सकेगा। अतएव रात्रि भोजन प्रत्यक्ष हिंसा है।

सा. ध./४/२४ अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये। नक्तं भुक्तिं चतुर्धापि, सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्।२४। —व्रतोंका पालक श्रावक अहिंसाणुव्रतकी रक्षाके लिए धैर्यसे युक्त होता हुआ रात्रिमें मन, वचन व कायसे चारों ही प्रकारके आहारको भी जीवन पर्यन्तके लिए छोड़े।२४।

ला. सं./२/४५ अस्ति तत्र कुलाचारः सैष नाम्ना कुलक्रिया। तां विना दार्शनिको न स्यान्नास्यान्नमतस्तथा।४५। —रात्रि भोजनका त्याग करना पाक्षिक श्रावकका कुलाचार वा कुलक्रिया है। इस कुलक्रियाके बिना वह मनुष्य दर्शन प्रतिमाधारी अर्थात् पाक्षिक श्रावक भी नहीं हो सकता और की तो बात ही क्या।

८. दीप व चन्द्रादिके प्रकाशमें भोजन करनेमें दोष सम्बन्धी

रा. वा./७/१/१७-२०/५३४ स्यान्मतम्—यथालोकनार्थं दिवाभोजनम्, प्रदीपचन्द्रादिप्रकाशाभिव्यक्त रात्रौ भोजनं कार्यमिति; तन्न; किं कारणम् अनेकारम्भदोषात्। अग्न्यादिसमारम्भकरणकारणलक्षणो हि दोषः स्यात्। स्यादेतत्-परकृत-प्रदीपादिसंभवे नारम्भदोषः इति; तन्न; किं कारणम्। चङ्क्रमणाद्यसंभवात्। 'ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यतिः भिक्षां शुद्धामुपाददीत' इत्याचारोपदेशः, न चायं विधिः रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसंभवः।१८। स्यान्मतम्—दिवा ग्रामं पर्यट्य कस्मिंश्चिद्भाजने भोजनाद्यानीय रात्रावुपयोगः प्रसक्त इति; तन्न; किं कारणम्। उक्तोत्तरत्वात्। उक्तोत्तरमेतत्-प्रदीपादिसमारम्भप्रसङ्ग इति। नेदं संयमसाधनम्—आनीय भोक्तव्यमिति। नापि निस्सङ्गस्य पाणिपात्रपुटाहारिणः आनयनं संभवति। भोजनान्तरसंग्रहे अनेकापायदर्शनात् अतिदीनचरितप्रसङ्गादचिरादेव निवृत्तिपरिणामासंभवाच्च। भाजनेनानीतस्य परीक्ष्य भोजनं संभवतीति चेत्; न; योनिप्राभृतज्ञस्य संयोगविभागगुणदोषविचारस्य तदानीमेवोपपत्तेः; आनीतस्य पुनर्दोषदर्शनाद् विसर्जनेऽनेकदोषोपपत्तेश्च।१९। यथा रविप्रकाशस्य स्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् भूमिदेशदातृजनचङ्क्रमणान्नपानादिपतितमितरच्च स्पष्टमुपलभ्यते न तथा चन्द्रादिप्रकाशानाम् अस्फुटार्थाभिव्यञ्जकत्वात् स्फुटा भूम्याद्युपलब्धिरस्तीति दिवाभोजनमेव युक्तम्।२०। —प्रश्न—यदि आलोकित पान भोजन (देखकर ही भोजन आदि करनेकी) विवक्षा है तो यह प्रदीप और चन्द्रादिके प्रकाशमें रात्रि भोजन करने पर भी सिद्ध हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि इसमें अनेक आरम्भ दोष हैं। दीपके जलानेमें और अग्नि आदिके करने करानेमें अनेक दोष होते हैं। प्रश्न—दूसरेके द्वारा जलाये हुए प्रदीपके प्रकाशमें तो कोई आरम्भ दोष भी सम्भव नहीं है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि भले वहाँ स्वयंका आरम्भ दोष न हो तो भी गमन आदि नहीं हो सकते। 'ज्ञान सूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देश-कालमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती। प्रश्न—दिनके समय ग्राममें घूमकर किसी भाजनमें भोजनादि लाकर रात्रिमें उसे ग्रहण करनेसे उपरोक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि इसमें अन्य अनेकों दोष लगते हैं—१. दीपक आदिका आरम्भ करना पड़ेगा, २. लाकर भोजन करना' यह संयमका साधन भी नहीं है; ३. निष्परिग्रही पाणिपुट भोजी साधुको भिक्षा माँगकर लाना भी सम्भव नहीं है; ४. पात्र रखनेपर अनेकों दोष देखे जाते हैं—अतिदीन वृत्ति आ जाती है, और शीघ्र पूर्ण निवृत्तिके परिणाम नहीं हो सकते क्योंकि सर्व-सावद्य निवृत्ति कालमें ही पात्र ग्रहण करनेसे पात्र निवृत्तिके परिणाम हो सकेंगे; ५. पात्रसे लाकर परीक्षा करके भोजन करनेमें भी योनि प्राभृतज्ञ साधुको संयोग विभाग आदिसे होने वाले गुण-दोषोंका विचार करना पड़ता है, लानेमें दोष है, छोड़नेमें भी अनेक दोष होते हैं; ६. जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशमें स्फुटरूपसे पदार्थ दिख जाते हैं, तथा भूमि, दाता, अन्न, पान आदि गिरे या रखे हुए सब साफ दिखाई देते हैं, उस प्रकार चन्द्रमा आदिके प्रकाशमें नहीं दिखते। अतः दिनमें भोजन करना ही निर्दोष है।

दे० रात्रि भोजन/२/१ (रात्रिमें जलाये गये दीपकमें भी भोजनमें मिले हुए सूक्ष्म जन्तुओंको हिंसाको किस प्रकार दूर किया जा सकेगा)।

३. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा निर्देश

१. रात्रि भोजन त्याग प्रतिमा व अणुव्रतका लक्षण

र. क. श्रा./१४२ अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्। स च रात्रिभुक्तिविरतः सत्त्वेष्वनुकम्पमानमनाः।१४२। —जो जीवों

पर दयायुक्त चित्त वाला होता हुआ रात्रिमें, अन्न, जल, लाडू आदि खाद्य, और रबड़ी आदि लेह्य पदार्थोंको नहीं खाता वह रात्रि भुक्तित्याग नामक प्रतिमाका धारी है।१४२। (का. अनु./३८२): (सा. ध./७/१५)।

आचारसार/५/७०७१ व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्। सर्वथान्नान्निवृत्तिः तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम् ।७०७१। —अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिको भोजनका त्याग अथवा उस समय अन्न खानेका त्याग करना छठी रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा या छठा अणुव्रत है।

वसु. श्रा./२९६ मण-वयण-काय-कय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा। दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सोसावओ छट्ठो। —जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारोंसे दिनमें मैथुनका त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुणस्थानमें छठा श्रावक अर्थात् छठा प्रतिमाधारी है।२९६। (गुण. श्रा./१७६), (सा. ध./७/१२), (द्र. सं./टी./४५/१९५/८)।

चा. सा./१३/२ रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

चा. सा./३८/३ रात्रिभुक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभुक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः। —जीवों पर दयाकर रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना रात्रिभोजन विरमण नामका छठा अणुव्रत है। छठी प्रतिमाका रात्रिभक्त व्रत नाम है। रात्रिमें ही स्त्रियोंके सेवन करनेका व्रत लेना अर्थात् दिनमें ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा लेना रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग करना ही रात्रि भक्त व्रत है।

२. पाक्षिक श्रावकके रात्रि भोजन त्यागमें कुछ अपवाद

सा. ध./२/७६ भृत्वाश्रितानवृत्त्यार्तान् कृपयानाश्रितानपि। भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्य-ताम्बूलैलादि निश्यपि। —गृहस्थ अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यंचोंको और आजीविकाके न होनेसे दुःखी अनाश्रित मनुष्य वा तिर्यंचोंको भी दिनमें भोजन करावे। जल, दवा, पान और इलायची आदिक रात्रिमें भी खा और खिला सकता है।७६।

सा. ध./२/७६ में उद्धृत ताम्बूलमौषधं तोयं, मुक्त्वाहारादिकां क्रियाम्। प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत् प्रातर्दिनं भवेत्। —दिन उगे तक ताम्बूल, औषध और पानीको छोड़कर सब प्रकारके आहारादिके त्यागका व्रत देना चाहिए।

ला. सं./२/४२ निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः। न निषिद्धं जलाद्यन्न ताम्बूलाद्यपि वा निशि ।४२। —इस व्रतमें (रात्रिभोजनत्याग व्रतमें) रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोंका त्याग है, इसमें जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नहीं है।४२।

३. छठी प्रतिमाका रात्रि भोजन त्याग निरपवाद है

ला. सं./२/४३ तत्र ताम्बूलतोयादि निषिद्धं यावदञ्जसा। प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा।४३। —उस छठी प्रतिमामें पानी, पान, सुपारी, इलायची, औषध आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है, इसलिए छठी प्रतिमाधारी बुद्धिमान् मनुष्यको औषधि व जल आदि पदार्थ प्राणान्तके समय भी रात्रिमें नहीं खाने चाहिए।४३। (सा. ध./२/७६)।

दे० रात्रिभोजन/३/१ (छठी प्रतिमाधारी रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है।)

४. छठी प्रतिमासे पूर्व रात्रि भोजनका निषेध क्यों

ला. सं./२/३९-४१ ननु रात्रि भुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित्। षष्ठसंख्यक-विख्यातप्रतिमायामास्ते यतः।३९। सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम्। हेतोः किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ।४०। अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान्। सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातिचारवर्जिताः।४१। —प्रश्न—आपको यहाँ पर श्रावकोंके मूलगुणोंके वर्णनमें रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा पृथक् रूपसे स्वीकार की गयी है।३९। उत्तर—यह बात ठीक है किन्तु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिए कि छठी प्रतिमामें तो रात्रि भोजनका त्याग पूर्णरूपसे है और यहाँ पर मूल गुणोंके वर्णनमें अपूर्ण रूपसे है। मूल गुणोंमें रात्रि भोजनका त्याग करना अनुभव तथा आगम दोनोंसे सिद्ध है।४०। यहाँ पर इस रात्रिभोजन त्यागमें कुछ विशेषता है, यद्यपि वह थोड़ी प्रतीत होती है, परन्तु वह है महान्। वह यह है कि यहाँ तो वह व्रत अतिचार सहित है, और छठी प्रतिमामें अतिचार रहित है।४१।

रात्रियोग विधि—दे० कृतिकर्म/४।

राध—स. सा./मू. व आ./३०४ संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं। ...।३०४। परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः। संसिद्धि, राध (आराधना, प्रसन्नता, पूर्णता), सिद्ध, साधित और आराधित ये एकार्थवाची शब्द हैं।३०४। पर द्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है।

राम—प. पु./सर्ग/श्लोक नं. राजा दशरथके पुत्र थे (२५/२२) स्वयंवरमें सीतासे विवाह किया (२८/२४५) माता केकयी द्वारा वनवास दिया गया (३१/१९१) वनवास कालमें सीताहरण होनेपर रावणसे युद्ध कर रावणको मारकर सीताको प्राप्त किया (७६/३३) परन्तु लौटनेपर लोकापवादसे सीताका परित्याग किया (९७/१०८) अन्तमें भाई लक्ष्मणकी मृत्युसे पीड़ित हो दीक्षा ग्रहण कर (११९/२४-२७) मोक्ष प्राप्त की (१२२/६७) इनका अपरनाम 'पद्म' था। ये ८वें बलदेव थे। (विशेष दे० शलाका पुरुष/३)।

रामकथा—आचार्य कीर्तिधर (ई० ६००) द्वारा विरचित जैन रामायण है। इसके आधारपर रविषेणाचार्यने प्रसिद्ध पद्मपुराण तथा स्वयंभू कविने पउमचरिउ लिखे हैं।

रामगिरि—मेघदूतकी अपेक्षा अमरकंटक पर्वत और नेमिचरितकी अपेक्षा गिरिनार पर्वत (नेमिचरित/प्र.)।

रामचंद्र—१. नन्दिसंघके देशीयगण में गण्ड विमुक्त देवाम्नाय के देवकीर्ति के शिष्य रामचन्द्र 'त्रैविद्य' समय-ई ११५८-११८२। (दे. इतिहास/७/५)। २. नन्दि संघ देशीय गण में केशवनन्दि के दीक्षा शिष्य और पद्मनन्दि के शिक्षा शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षु। कृतियें—पुण्यास्रव कथाकोष, शान्तिनाथ चरित्र। समय—ई. श. ११ का मध्य। (ती./४/६१)।

रामदत्ता—म. पु./५९ श्लोक पोदनपुरके राजा पूर्णचन्द्रकी पुत्री थी (२१०) पति सिंहसेनकी मृत्युसे व्याकुलित हो दीक्षा ग्रहण कर ली (२०२) अन्तसे मरकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुई (२२५-२२६) यह मेरुगणधरका पूर्वका नवाँ भव है—दे० मेरु।

रामनंदि—माघनन्दिसंघकी गुर्वावलिके अनुसार श्री नन्दिसंघका अपरनाम था—दे० श्रीनन्दि।

रामपुत्र—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए हैं—दे० अन्तकृत।

रामल्य—दे० स्थूलभद्र।

रामानुज वेदांत—अपरनाम विशिष्टाद्वैत—दे० वेदांत/४।

रामसेन—१. इन्होंने मथुरा नगरमें माथुरसंघ चलाया। वीरसेन के शिष्य। समय—वि. ८८०-९२० (ई. ८२३-८६३)। (दे. इतिहास/७/११)। २. सेन संघी आचार्य। गुरु—नागसेन (ई. १०४७)। शिक्षा गुरु—वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव, विजयदेव, रामसेन। कृति—तत्त्वानुशासन। समय—ई. श. ११ का उत्तरार्ध। (ती./३/२२९-२२८) ३. काष्ठासंघ के अनुसार क्षेमकीर्ति के शिष्य, रत्नकीर्ति के गुरु। समय—वि. १४३१ (ई. १३७४)। (दे. इतिहास/७/६)।

रायचंद—गुजरात देशमें राज्यान्तरगत ववणिया गाँवमें रवजी भाई पंचाणभाई मेहताके पुत्र थे। माताका नाम देवाबाई था। कार्तिक शु. ११ वि. सं. १९२४ (ई० १८६७) में आपका जन्म हुआ। आपको जाति स्मरण था, तथा आप शतावधानी थे। केवल ३४ वर्षकी आयु में चैत्र कृ. ५ वि. सं. १९५७ को आपका स्वर्गवास हो गया। समय—१९०० (का. अ./प्र. १/गुणभद्र जैन)।

रायधू—दे० रइधू।

रायमल—१. मुनि अनन्तकीर्तिके शिष्य थे। हनुमन्तचरित व भविष्यदत्तचरित्रकी रचना की थी। समय—वि. १६१६-१६६३ (हिं. जैं. सा. इ./८६ कामता)। २. सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। हूमड़ जातिके थे। वि. १६६७ में भक्तामर कथा लिखी। (हिं. जै. सा. इ./६० कामता)। ३. एक अत्यन्त विरक्त श्रावक थे। २२ वर्षकी अवस्थामें अनेक उत्कट त्याग कर दिये थे। आप पं. टोडरमलजीके अन्तेवासी थे। आपकी प्रेरणासे ही पं. टोडरमलजीने गोम्मट्टसारकी टीका लिखी थी। फिर आपने पं. टोडरमलजीका जीवनचरित लिखा। समय—वि. १८११-१८३८ (मो. मा. प्र./प्र./१२/परमानन्दशा)

रावण—प. प्र./सर्ग/श्लोक नं. रत्नश्रवाका पुत्र था (७/२०१) अपर-नाम दशानन था। लंकाका राजा था (६/४६) सीताका हरण करने-पर रामसे युद्ध किया। लक्ष्मण द्वारा मारा गया (७६/३४) यह ८वाँ प्रतिनारायण था—(विशेष दे० शलाका पुरुष/५)।

राशि—Aggregate (ध. ५/प्र. २८) any number or numbers arranged in a difinite order as ११,१५,१६,५६,६६,७०.

राष्ट्रकूट वंश—दे० इतिहास/३/४।

रासभ—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें (ह. पु./६०/४६०) में गन्धर्व या गर्दभिल्लके स्थानपर रासभ नाम दिया गया है। अतः गर्दभिल्लका ही दूसरा नाम रासभ था—दे० गर्दभिल्ल; इतिहास/३/३।

रिक्कु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपर नाम किष्कु या गज —दे० गणित/I/१।

रिट्ठनेमिचरिउ—कवि स्वयंभू (ई०७३४-८४०) कृत, नेमिनाथ का जीवन वृत्त। ११२ सन्धियों में विभक्त १८००० श्लोक प्रमाण अपभ्रंश काव्य। (ती./४/१०१)।

रिण—Minus (ज. प./प्र./१०८)।—दे० गणित/II/१/४।

रिणराशि—मूल राशिमेंसे जिस राशिको घटाया जाता है। —दे० गणित/II/१/४।

रिष्टक संभवा—आकाशोपपन्नदेव—दे० देव/II/३।

रुक्मणिव्रत—प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७ को एकाशन ८ को उपवास, ९ को पारणा, १० को उपवास, ११ को पारणा, १२ को उपवास, १३ को पारणा, १४ को उपवास, १५ को पारणा करे। इसे ८ वर्ष पर्यन्त करे तथा नमस्कार मन्त्रकी त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान सं./पृ. ६४)।

रुक्मपात्रांकित तीर्थमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मपात्रांकित वज्रमंडल यंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मपात्रांकित वज्रमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मि—१. रा. वा./३/११/६/१८३/२८ रुक्मसद्भावाद्गुरुमीत्यभिधा-नम्।—(रम्यक क्षेत्रके उत्तरमें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत है) क्योंकि इसमें चाँदी पायी जाती है इसलिए इसका रुक्मि नाम रूढ़ है। २. रुक्मिपर्वतके विस्तारादिके लिए—दे० लोक/६/४। ३. रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक५/४,४. रुक्मि पर्वतस्थ रुक्मि कूटका स्वामी—दे० लोक/५/४। ५. कुण्डिनपुरके राजा भीष्मका पुत्र था। बहन रुक्मिणीके कृष्ण द्वारा हर लिये जानेपर कृष्णसे युद्ध किया, जिसमें बन्दी बना लिया गया (ह. पु./४२/६५)।

रुक्मिणी—(ह. पु./सर्ग/श्लोक नं. भीष्म राजाकी पुत्री थी। (४२/३५) कृष्ण द्वारा हरकर विवाह ली गयी (४२/३४) जन्मते ही इसका प्रद्युम्न नामका पुत्र हर लिया गया था (४३/४२)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (६१/४०)।

रुचक—सौधर्म स्वर्गका १५ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

रुचक कांता—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचककीर्ति—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचक गिरि—पुष्कर द्वीपवत् इसके मध्य भागमें भी एक कुण्डला-कार पर्वत है। इस पर्वतपर चार या आठ चैत्यालय है। १३ द्वीप चैत्यालयोंमें इनकी गणना है। इसपर अनेकों कूट हैं, जिनपर कुमारी देवियाँ निवास करती हैं जो कि भगवान्‌के गर्भावतरणके लिए उनकी माताकी सेवा करती हैं—दे० लोक/४/७।

रुचक प्रभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/ १३।

रुचक वर—मध्य लोकका तेरहवाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/१।

रुचका—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक ५/१३।

रुचकाभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरि का—दे० लोक/५/१३।

रुचको—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/५/१३।

रुचि—दे० निशंकित/१ (वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है इस प्रकार अकंप रुचि होना निशंकित अंग है।)

ध. १/१,१,११/१६६/७ दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत्। —दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची हैं।

प्र. सं./टी./४१/१६५/१ श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति। —श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा जो जिनेन्द्रने कहा वही है…।

पं. ध./उ./४१२ सात्म्यं रुचिः। —तत्त्वार्थोंके विषयमें तन्मयपना रुचि कहलाती है।

रुचिर—१. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३;२. सौधर्म स्वर्गका १६ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/ ३।

रुजा—नि. सा./ता. वृ./६ वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यसंजातकलेवर-विपीडैव रुजा। =वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली कलेवर (शरीर) सम्बन्धी पीड़ा वही रोग (रुजा) है।

रुद्र—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. असुरकुमार (भवनवासी देव)—दे० असुर। ३. ग्यारह रुद्र परिचय—दे० शलाका पुरुष/७।

ति. प./४/५२१ रुद्दा रउद्दकम्मा अहम्मवावारसंलग्गा। =(जो) अधर्मपूर्ण व्यापारमें संलग्न होकर रौद्रकर्म किया करते हैं (वे रुद्र कहलाते हैं)।

रा. वा./३/३८/२/२०७/२८ रोदयतीति रुद्रः क्रूर इत्यर्थः। =रुलाने वालेको रुद्र-क्रूर कहते हैं।

प. प्र./टी./१/४२ पश्चात् पूर्वकृत चारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति। =उसके बाद (जिनदीक्षा लेकर पुण्यबंध करनेके बाद) पूर्वकृत चारित्र मोहके उदयसे विषयोंमें लीन हुआ रुद्र कहलाता है।

त्रि. सा./८४१ विज्जाणुवादपढणे दिट्ठफला णट्ठसंजमा भव्वा। कदिचि भवे सिज्झंति हु गहियुज्झियसम्ममहिमादो।८४१। =ये रुद्र विद्यानुवाद पूर्वके पढ़नेसे इस लोक सम्बन्धी फलके भोक्ता हुए। तथा जिनका संयम नष्ट हो गया है, जो भव्य हैं, और जो ग्रहण कर छोड़े हुए सम्यक्त्वके माहात्म्यसे कुछ ही भवोंमें मुक्ति पायेंगे ऐसे वे रुद्र होते हैं।

रुद्रदत्त—भगवान् ऋषभदेवके तीर्थमें एक ब्राह्मण था। पूजाके लिए प्राप्त किये द्रव्यसे जुआ खेलनेके फलस्वरूप सातवें नरकमें गया (ह. पु./१८/९७-१०१)।

रुद्रवसंत व्रत—क्रमशः २,३,४,५,६,६,४,३,२ इस प्रकार ३५ उपवास करे। बीचके (,) वाले स्थानोंमें सर्वत्र एक पारणा। नमस्कार मन्त्रकी त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सं./पृ. ६७)।

```
    o o
   o o o
  o o o o
 o o o o o
o o o o o o
o o o o o o
  o o o o
   o o o
    o o
```
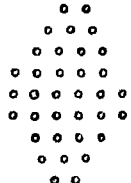
रुद्राश्व—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रुधिर—१. औदारिक शरीरमें रुधिरका प्रमाण—दे० औदारिक/१/७। २. सौधर्म स्वर्गका दसवाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

रूढसंख्या—Prime. (ध. ५/प्र./१८)।

रूप—

रा. वा./१/२७/१/८८/४ अयं रूपशब्दोऽनेकार्थः क्वचिच्चक्षुर्ग्राह्ये वर्तते यथा—रूपरसगन्धस्पर्शाः इति। क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा अनन्त-रूपमनन्तस्वभावम् इति। =रूप शब्दके अनेक अर्थ हैं कहींपर चक्षुके द्वारा ग्राह्य शुक्लादि गुण भी हैं, जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। कहीं-पर रूपका अर्थ स्वभाव भी है जैसे-अनन्तरूप अर्थात् अनन्त स्वभाव। (और भी—दे० मूर्त/१) [एककी संख्याको रूप कहते हैं।]

प्र. सा./ता. वृ./२०३/२७६/८ अभ्यन्तरशुद्धात्मानुभूतिरूपकं निर्ग्रन्थ-निर्विकारं रूपमुच्यते। =अन्तरंग शुद्धात्मानुभूतिकी द्योतक निर्ग्रन्थ एवं निर्विकार साधुओंकी वीतराग मुद्राको रूप कहते हैं।

रूपगता चूलिका—द्वादशांग श्रुतज्ञानमें बारहवें अंगके उत्तर भेदोंमेंसे एक।—दे० श्रुतज्ञान/III।

रूपचंद पांडेय—१. कवि बनारसी दासके गुरु थे। अध्ययन के लिए सलेमपुर से बनारस आये थे। कृति—परमार्थ दोहा शतक; गीत-परमार्थी, मंगलगीत प्रबन्ध। समय—वि. १६९३ में आगरा आये। (ती./४/२५५)। २. पं. बनारसी दासजी कृत समयसार नाटकके विशद टीकाकार थे। समय—वि. १७१८। (हिं. जै. सा. इ./१८० कामता)।

रूपनिभ—एक ग्रह—दे० ग्रह।

रूपपाली—किन्नर नामा व्यन्तर देवका एक भेद—दे० किन्नर।

रूपयमाष फल—तोलका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

रूपरेखा—General outline. (ध./५/प्र./२८)।

रूपसत्य—दे० सत्य/१।

रूपस्थ—

१. रूपस्थ ध्यानका लक्षण व विधि

वसु. श्रा./४७२-४७५ आयास-फलिहसंणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणि-व्वुड्डंतं। णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो।४७२। वर अट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ। परमप्पणंतचउट्ठ-यण्णिओ पवणमग्गट्ठो।४७३। एरिसओच्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा। वरखीरवण्णकंदुत्थकण्णियामज्झदेसट्ठो।४७४। खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलोकयंग सव्वंगो। जं झाइज्जइ एवं रूवत्थं जाण तं झाणं।४७५। =१. आकाश और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीर की प्रभारूपी सलिल-निधिमें निमग्न, मनुष्यों और देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणोंके समूहसे अनुरंजित हैं, चरणकमल जिनके, ऐसे तथा श्रेष्ठ आठ महा प्रातिहार्योंसे परिवृत्त, समवशरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त चतुष्टयसे समन्वित, पवन मार्गस्थ अर्थात् आकाशमें स्थित अरहन्त भगवान्‌का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है।४७१-४७२। (ज्ञा./३९/१-८); (गुण. श्रा./२४०-२४१)। २. अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवशरण आदि परिवारसे रहित, और क्षीर सागरके मध्यमें स्थित, अथवा उत्तम क्षीरसागरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्य देशमें स्थित, क्षीर सागरके जलकी धाराओंके अभिषेकसे धवल हो रहा है सर्वांग जिनका, ऐसे अरहन्त परमेष्ठीका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए।४७२-४७४। (गुण. श्रा./२४२)।

ज्ञा./३९/१४-३६ अनेकवस्तुसम्पूर्णं जगद्यस्य चराचरम्। स्फुरत्यविकलं बोधविशुद्धादर्शमण्डले।१४। दिव्यपुष्पानकाशोकराजितं रागवर्जितम्। प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षितं परमेश्वरम्।२३। नवकेवललब्धिश्रीसंभवं स्वात्मसंभवम्। शुक्लध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम्।२४। सर्वज्ञं सर्वदं सार्वं वर्धमानं निरामयम्। नित्यमव्ययमव्यक्तं परिपूर्णं पुरातनम्।३०। इत्यादि सान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम्। स्मर सर्वगतं देवं वीरममरनायकम्।३१। अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः। तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः।३२। तस्मिन्निरन्तराभ्यासः वशात्संजातनिश्चलाः। सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम्।३६। =१. हे मुने! तू आगे लिखे हुए प्रकारसे सर्वज्ञ देवका स्मरण कर—कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञान रूप निर्मल दर्पणके मण्डलमें अनेक वस्तुओंसे भरा हुआ चराचर यह जगत् प्रकाशमान है।१४। दिव्य पुष्पवृष्टि दुन्दुभि बाजों तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, राग रहित है, प्रातिहार्य महालक्ष्मीसे चिह्नित है, परम ऐश्वर्य करके सहित है।२३। अनन्तज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नवलब्धिरूपी लक्ष्मीकी जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मासे ही उत्पन्न है, और शुक्लध्यानरूपी महान् अग्निमें होम दिया है कर्मरूप इन्धनका समूह जैसा है।२४। सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय है,

नित्य है, अव्यय है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है।३०। इत्यादिक अनेक सार्थक नामसहित, सर्वगत, देवोंका नायक, सर्वज्ञ जो श्री वीर तीर्थंकर हैं उसको हे मुने! तू स्मरण कर।३१। २. उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अनन्य शरण हो, साक्षात् उसमें ही संल्लीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको पाकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है।३२। उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अभ्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओंमें उस परमेष्ठीको देखते हैं।३६।

द्र. सं./टी./४८/२०५ पर 'उद्धृत रूपस्थं चिद्रूपं'–सर्व चिद्रूपका चिन्तवन रूपस्थध्यान है। (प. प्र./टी/१/६/६ पर उद्धृत); (भा. पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

★ अर्हंत चितवन पदस्थादि तीनों ध्यानोंमें समान है

—दे० ध्येय।

२. रूपस्थध्यानका फल

ज्ञा./३६/३३-३८ यमाराध्यशिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहाः। यं स्मरन्त्यनिशं भव्याः शिवश्रीसंगमोत्सुकाः।३३। तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जितः। अविक्षिप्तमनायोगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते।३७।–जिस सर्वज्ञ देवको आराधन करके संसारसे निस्पृह मुनिगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्ष लक्ष्मीके संगममें उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं।३३। योगी उस सर्वज्ञदेव परमज्योतिको आलम्बन करके गुण ग्रामोंमें रंजायमान होता, हुआ मनमें विक्षेप रहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है।३७।

रूपातीत—

१. रूपातीत ध्यानका लक्षण व विधि

वसु. श्रा./४७६ वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो। जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं त्ति।४७६।–वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित, केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठीका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है।४७६। (गुण. श्रा./२४१); (द्र. सं./टी./५१ की पातनिका/२१६/१)।

ज्ञा./४०/१५-२६ अथरूपे स्थिरीभूतचित्तः प्रक्षीणविभ्रमः। अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते ततः।१५। चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम्। स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते।१६। सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम्। विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम्।२६। –रूपस्थध्यानमें स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त, अजन्मा, इन्द्रियोंसे अगोचर, ऐसे परमात्मके ध्यानका प्रारम्भ करता है।१५। जिस ध्यानमें ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप, आत्माको आत्मा करि ही स्मरण करै सो रूपातीत ध्यान माना गया है।१६। समस्त अवयवोंसे परिपूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तवन करै।२६।

द्र. सं./टी./४८/२०५ पर उद्धृत 'रूपातीतं निरञ्जनम्'। –निरंजनका ध्यान रूपातीत ध्यान है। (प. प्र./१/६/६ पर उद्धृत), (भा. पा./टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

२. ध्येयके साथ तन्मयता

ज्ञा./४०/२८-३० सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः। परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः।२८। तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः। चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः।२९। पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि। प्राप्नोति स मुनिः साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते।३०। –जब परमात्माका प्रत्यक्ष होने लगता है तब ऐसा ध्यान करै कि ऐसा परमात्मा मैं हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, तथा मैं ही साध्य था। संसारसे रहित, परमात्मा, परमज्योति स्वरूप, समस्त विश्वको देखनेवाला मैं ही हूँ। मैं ही निरंजन हूँ, ऐसा परमात्माका ध्यान करै। उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त, निष्कलंक, जगत्का गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेद रहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है।२८-२९। उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अलगपनेका उल्लंघन करके साक्षात् एकताको इस तरह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथकपनेका बिलकुल भान नहीं होता।३०।

★ शुक्लध्यान व रूपातीतध्यानमें एकता

—दे० पद्धति।

★ शून्यध्यानका स्वरूप—दे० शुक्लध्यान/१।

रूपानुपात—स. सि./७/३१/३६१/११ स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः। –(देशव्रतके अतिचारोंके अन्तर्गत) उन्हीं पुरुषोंको (जो उद्योगमें जुटे हैं) अपने शरीरको दिखलाना रूपानुपात है।

रा. वा./७/३१/४/५५६/८ मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति इति स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपात इति निर्णीयते।–'मुझे देखकर काम जल्दी होगा' इस अभिप्रायसे अपने शरीरको दिखाना रूपानुपात है। (चा. सा./१६/२)।

रूपी—दे० मूर्त।

रूप्य कूला—१. हैरण्यवत क्षेत्रकी नदी व कुण्ड—दे लोक/३/१,१०। २. रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामीदेव—दे० लोक/५/४।

रूप्यवर—मध्यलोकके अन्तका दशम सागर व द्वीप—दे० लोक/५/१।

रेखा—सरल रेखा Straight line (ज. प./प्र. १०८)।

रेचक प्राणायाम—दे० प्राणायाम/२।

रेवती—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २. श्रावस्ती नगरीकी सम्यक्त्वसे विभूषित एक श्राविका थी। मथुरास्थ मुनिगुप्तने एक विद्याधरके द्वारा इसके लिए आशीष भेजी। तब उस विद्याधरने ब्रह्मा व तीर्थंकर आदिका ढोंग रचकर इसकी परीक्षा ली। जिसमें यह अडिग रही थी। (बृ. क. को./कथा ७)।

रेवस्या—पूर्वी मध्य आर्यखण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेवा—भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेशम—दे० वस्त्र।

रैनमंजूसा—हंसद्वीपके राजा कनककेतुकी पुत्री थी। सहस्रकूट चैत्यालयके कपाट उघाड़नेसे श्रीपालसे बिवाही गयी थी। फिर धवलसेठके इसपर मोहित होनेपर धर्ममें स्थित रही। अन्तमें दीक्षा ले, तपकर स्वर्ग सिधारी। (श्रीपालचरित्र)।

रैवतक—सौराष्ट्र देशमें जूनागढ़ राज्यका गिरनार पर्वत। (म. पु./प्र. ४१/पं. पन्नालाल)।

रोग—कुष्ठादि विशेष प्रकारके रोग हो जानेपर जिन दीक्षाकी योग्यता नहीं रहती है।—दे० प्रव्रज्या/१।

रोग परीषह—स. सि./९/९/४२५/१ सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसंकल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्डसंचयप्रवर्धनसंरक्षणसंधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थिति-विधानस्याक्षम्रक्षणवद् व्रणानुलेपनवद्वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्य-

व्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तित्वं विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षिणो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम्। –यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोंका आश्रय है, यह अनित्य है, और परित्राणसे रहित है, इस प्रकार इस शरीरमें संकल्प रहित होनेसे जो विगत संस्कार है, गुणरूपी रत्नोंके संचय, वर्धन, संरक्षण और संधारणका कारण होनेसे जिसने शरीरकी स्थिति विधानको भले प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओंगन लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत उपकारवाले आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप विषमतासे जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियोंका प्रकोप होनेपर भी जो उनके आधीन नहीं हुआ है, तथा तपोविशेषसे जल्लौषधि और प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोंका सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके प्रतिकारकी अपेक्षा नहीं करता उसके रोगपरीषह सहन जानना चाहिए। (रा. वा./९/९/२१/६११/२४); (चा. सा./१२४/३)।

रोचक शैल—भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत। —दे० लोक/५/३४।

रोट तीज व्रत—त्रिलोक तीजव्रत।

रोम—औदारिक शरीरमें रोमोंका प्रमाण—दे० औदारिक/१।

रोमश—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

रोमहर्षिणी—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

रोष—नि. सा./ता. वृ./६ क्रोधिनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोषः। –क्रोधी पुरुषका तीव्र परिणाम वह रोष है।

रोहिणी—१. भगवान् अजितनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। २. एक विद्या—दे० विद्या। ३. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

रोहिणीव्रत— प्रतिवर्ष रोहिणी नक्षत्रके दिन उपवास करे। तथा उस दिन वासुपूज्य भगवान्‌की पूजन तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। इसका अपरनाम अशोक रोहिणी है। (वसु. श्रा./३६३-३६५); (धर्मपरीक्षा/२०/११-२०); (व्रत विधान सं./९२)।

रोहित—१. हैमवत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/११। २. हैमवत क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे कि रोहित नदी निकलती है—दे० लोक/३/१०; ३. महाहिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। ४. रोहित कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक५/४। ५. रोहित कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४।

रोहितास्या—१. हैमवत क्षेत्रकीप्रधाननदी—दे०लोक/३/११।हैमवत क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे रोहितास्या नदी निकलती है—दे० लोक/३/१०। २. हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४। ३. रोहितास्या कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/५/४।

रौद्रध्यान—हिंसा आदि पाप कार्य करके गर्वपूर्वक डींगे मारते रहनेका भाव रौद्रध्यान कहलाता है। यह अत्यन्त अनिष्टकारी है। हीनाधिक रूपसे पंचम गुणस्थान तक ही होना सम्भव है, आगे नहीं।

१. रौद्र सामान्य का लक्षण

भ. आ./मू./१७०३/१५२८ तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे। रुद्दं कसायसहिदं झाणं भणियं समासेण।१७०३। –दूसरेके द्रव्य लेनेका अभिप्राय, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, दूसरेके मारनेका अभिप्राय, छहकायके जीवोंकी विराधना अथवा असिमसि आदि परिग्रहके आरम्भ व संग्रह करनेमें आनन्द मानना इनमें जो कषाय सहित मनको करना वह संक्षेपसे रौद्रध्यान कहा गया है।१७०३। (मू. आ./३९६)।

स. सि./९/२८/४४५/१० रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। –रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होनेवाला (भाव) रौद्र है। (रा. वा./९/२८/२/६२७/२८); (ज्ञा./२६/२); (भा. पा./टी/७८/२२६/१७)।

म. पु./२१/४२ प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः। पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।४२। –जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवोंमें निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुषमें जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।४२। (भ. आ./वि./१७०२/१५१० पर उद्धृत)।

चा. सा./१७०/२ स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं (रौद्रध्यानम्)। –जिसे अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्रध्यान कहते हैं।

नि. सा./ता. वृ./८९ चौरजारशात्रवजनवधबन्धनसन्निबद्धमहद्द्वेषजनित रौद्रध्यानम्। –चोर-जार-शत्रुजनोंके वध-बन्धन सम्बन्धी महाद्वेषसे उत्पन्न होनेवाला जो रौद्रध्यान...।

२. रौद्रध्यानके भेद

त. सू./९/३५ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्...।३५। –हिंसा-असत्य, चोरी और विषय संरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्रध्यान है।३५।

म. पु./२१/४३ हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम्।४३। –हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद हैं।३५। (चा. सा./१७०/२); (ज्ञा./२६/३); (का. अ./४७३-४७४)।

चा. सा./१७०/१ रौद्रं च बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विविधम्। –रौद्रध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है।

३. रौद्रध्यानके भेदोंके लक्षण

चा. सा./१७०/२ तीव्रकषायानुरंजनं हिंसानन्दं प्रथमरौद्रम्। स्वबुद्धिविकल्पितयुक्तिभिः परेषां श्रद्धेयरूपाभिः परवञ्चनं प्रति मृषाकथने संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं द्वितीयरौद्रम्। हठात्कारेण प्रमादप्रतीक्षया वा परस्वापहरणं प्रति संकल्पाध्यवसानं तृतीयरौद्रम्। चेतनाचेतन लक्षणे स्वपरिग्रह ममेदं स्वमहमेवास्य स्वामीत्यभिनिवेशात्तदपहारकव्यापादनेन संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दं चतुर्थं रौद्रम्। –तीव्रकषायके उदयसे हिंसामें आनन्द मानना पहला रौद्रध्यान है। जिन पर दूसरोंको श्रद्धा न हो सके ऐसी अपनी बुद्धिके द्वारा कल्पना की हुई युक्तियोंके द्वारा दूसरोंको ठगनेके लिए झूठ बोलनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है। जबरदस्ती अथवा प्रमादकी प्रतीक्षापूर्वक दूसरेके धनको हरण करनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना तीसरा रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतनरूप अपने परिग्रहमें 'यह मेरा परिग्रह है, मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करने वालेका नाश कर उसकी रक्षा करनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान है।

का. अ./४७५-४७६ हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु। तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स।४७५। पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो। तग्गय-चिंताविट्ठो णिरंतरं तं पि रुद्दं पि।४७६। –जो हिंसामें आनन्द मानता है, और असत्य बोलनेमें आनन्द मानता है तथा उसीमें जिसका चित्त विक्षिप्त रहता है, उसके रौद्रध्यान होता है।४७५। जो पुरुष दूसरोंकी विषयसामग्रीको हरनेका स्वभाव वाला है, और अपनी विषय-

सामग्रीकी रक्षा करनेमें चतुर है, तथा निरन्तर जिसका चित्त इन कामोंमें लगा रहता है वह भी रौद्रध्यानी है।

ज्ञा./२६/४-३४ का भावार्थ—हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते। स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते।४। असत्यकल्पनाजाल-कश्मलीकृतमानसः। चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्।१६। यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते—कृत्वा चौर्यमपि प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्। चौर्येणापि हृते परैः परधने यज्जायते संभ्रम—स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम्।२५। बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते—यत्संकल्प-परम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः। यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते—तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्।२६।—१. जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जाने पर तथा पीड़ित किये जाने पर तथा ध्वंस करने पर और घात करनेके सम्बन्ध मिलाये जाने पर जो हर्ष माना जाये उसे हिंसानन्दनामा रौद्रध्यान कहते हैं।४। बलि आदि देकर मन्त्रलाभका चिन्तवन करना।७। जीवोंको खण्ड करने व दग्ध करने आदिको देखकर खुश होना।८। युद्धमें हार-जीत सम्बन्धी भावना करना।१०। वैरीसे बदला लेनेकी भावना।११। परलोकमें बदला लेनेकी भावना करना।१२। हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। (म. पु./२१/४५)। २. जो मनुष्य असत्य झूठी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिन-चित्त होकर जो कुछ चेष्टा करै उसे निश्चय करके मृषानन्द नामा रौद्रध्यान कहा है।१६। जो ठगाईके शास्त्र रचने आदिके द्वारा दूसरोंको आपदामें डालकर धन आदि संचय करे।१७-१६। असत्य बोलकर अपने शत्रुको दण्ड दिलाये।२०। वचन चातुर्यसे मन-वांछित प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा अन्य व्यक्तियोंको ठगनेकी।२१-२२। भावनाएँ बनाये रखना मृषानन्दी रौद्रध्यान है। ३. जीवोंके चौर्यकर्मके लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी कर्म करके भी निरन्तर अतुल हर्ष मानें आनन्दित हो अन्य कोई चोरीके द्वारा परधनको हरै उसमें हर्ष मानै उसे निपुण पुरुष चौर्यकर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं, यह ध्यान अतिशय निन्दाका कारण है।२५। अमुक स्थानमें बहुत धन है जिसे मैं तुरत हरण करके लानेमें समर्थ हूँ।२६। दूसरोंके द्वीपादि सबको मेरे ही आधीन समझो, क्योंकि मैं जब चाहूँ उनको शरण करके जा सकता हूँ।२७-२८। इत्यादि रूपचिन्तन चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। ४. यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरम्भ परिग्रहोंमें रक्षार्थ नियमसे उद्यम करै और उसमें ही संकल्पकी परम्पराको बिस्तारे तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्ताका अवलम्बन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा मानै कि मै राजा हूँ, ऐसे परिणामको निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष संसारकी वांछा करने वाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान है।२६। मैं बाहुबलसे सैन्यबलसे सम्पूर्ण पुर ग्रामोंको दग्ध करके असाध्य ऐश्वर्यको प्राप्त कर सकता हूँ।३०। मेरे धन पर दृष्टि रखने वालोंको मैं क्षण भरमें दग्ध कर दूँगा।३१। मैंने यह राज्य शत्रुके मस्तक पर पाँव रखकर उसके दुर्गमें प्रवेश करके पाया है।३३। इसके अतिरिक्त जल, अग्नि, सर्प, विषादिके प्रयोगों द्वारा भी मैं समस्त शत्रु-समूहको नाश करके अपना प्रताप स्फुरायमान कर सकता हूँ।३४। इस प्रकार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्द है।

४. रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न

म. पु./२१/४६-५३ अनानृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथाः। निसर्ग-हिंस्रता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै।४६। …वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते।५०। …प्रतीतलिङ्गमेवैतद् रौद्रध्यानद्वयं भुवि…।५२। बाह्यन्तु लिङ्गमस्याहुः भ्रूभङ्गं मुखविक्रियाम्। प्रस्वेदमङ्गकम्पं च नेत्रयोश्चातिताम्रताम्।५३। —क्रूर होना, हिंसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिंसाकी ही कथा करना, और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये हैं।४६। कठोर वचन आदि बोलना द्वितीय रौद्रध्यानके चिह्न हैं।५०। स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न संसारमें प्रसिद्ध हैं।५२। भौंह टेढ़ी हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर कँपने लगना और नेत्रोंका अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न हैं।५३। (ज्ञा./२६/३७-३८)।

चा. सा./१७०/१ परानुमेयं परुषनिष्ठुराक्रोशननिर्भर्त्सनबन्धनतर्जन-ताडनपीडनपरदारातिक्रमणादिलक्षणम्। —कठोर वचन, मर्मभेदी वचन, आक्रोश वचन, तिरस्कार करना, बाँधना, तर्जन करना, ताडन करना तथा परस्त्रीपर अतिक्रमण करना आदि बाह्य रौद्र-ध्यान कहलाता है।

ज्ञा./२६/५-१५ अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः। मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा।५। अभिलषति नितान्तं यत्परस्यापकारं, व्यसनविशिखभिन्नं वीक्ष्य यत्तोषमेति। यदिह गुणगरिष्ठं द्वेष्टि दृष्ट्वान्यभूतिं, भवति हृदि सशल्यस्तद्धि रौद्रस्य लिङ्गम्।१३। हिंसोपकरणादानं क्रूरसत्त्वेष्वनुग्रहम्। निस्त्रिंशतादिलिङ्गानि रौद्रे बाह्यानि देहिनः।१५। —जो पुरुष निरन्तर निर्दय स्वभाववाला हो, तथा स्वभावसे ही क्रोध कषायसे प्रज्वलित हो तथा मदसे उद्धत हो, जिसकी बुद्धि पाप रूप हो, तथा कुशीला हो, व्यभिचारी हो, नास्तिक हो वह रौद्र-ध्यानका घर है।५। (ज्ञा./२६/६)। जो अन्यका बुरा चाहे तथा परको कष्ट आपदारूप बाणोंसे भेदा हुआ दुःखी देखकर सन्तुष्ट हो तथा गुणोंसे गरुवा देखकर अथवा अन्यके सम्पदा देखकर द्वेष रूप हो, अपने हृदयमें शल्य सहित हो सो निश्चय करके रौद्रध्यानका चिह्न है।१३। हिंसाके उपकरण शस्त्रादिकका संग्रह करना, क्रूर जीवोंका अनुग्रह करना और निर्दयतादिकभाव रौद्रध्यानके देहधारियोंके बाह्यचिह्न हैं।१५।

५. रौद्रध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या

म.पु./२१/४४ प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम्। अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते।४४। (परोक्षज्ञानत्वादौदयिकभावं वा भावलेश्या-कषायप्राधान्यात्। चा. सा.)। —यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है। अन्त-र्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है।४४। (ज्ञा./२६/३६,३६)। अथवा भावलेश्या और कषायोंकी प्रधानता होनेसे औदयिक भाव है। (चा. सा./१७०/५)।

★ रौद्रध्यानका फल—दे० आर्त/२।

६. रौद्रध्यानमें सम्भव गुणस्थान

त. सू./६/३५ …रौद्रमविरतदेशविरतयोः।३५। वह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

म. पु./२१/४३ षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुण भूमिकम्। —यह ध्यान छठवें गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है। (चा. सा./१७१/१); (ज्ञा./२६/१६)।

द्र. सं./टी./४८/२०१/६ रौद्रध्यानं…तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चम-गुणस्थानवर्तिजीवसंभवम्। —यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टिसे पंचम गुणस्थान तकके जीवोंके तारतम्यतासे होता है।

७. देशव्रतीको कैसे सम्भव है

स. सि./९/३५/४४८/८ अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य कथम्। तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद् भवितुमर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारणं; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात्। –प्रश्न–रौद्रध्यान अविरतके होओ, देशविरतके कैसे हो सकता है? उत्तर–हिंसादिके आवेशसे या वित्तादिके संरक्षणके परतन्त्र होनेसे कदाचित् उसके भी हो सकता है। किन्तु देशविरतके होनेवाला रौद्रध्यान नरकादि दुर्गतियोंका कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही सामर्थ्य है। (रा. वा./९/३५/३/६२६/१६); (ज्ञा./२६/३६ भाषा)।

८. साधुको कदापि सम्भव नहीं

स सि./९/३५/४४८/१० संयतस्य तु न भवत्येव; तदारम्भे संयमप्रच्युते। –परन्तु यह संयतके तो होता ही नहीं है; क्योंकि उसका आरम्भ होनेपर संयमसे पतन हो जाता है। (रा. वा./९/३५/४/६२९/२२)।

रौरव—पहले नरकका तीसरा पटल—दे० नरक/५/११।

रौरुक—प्रथम पृथिवीका तीसरा पटल—दे० नरक/५/११।

[ल]

लंका—रावणके पूर्वज मेघवाहनको राक्षसोंके इन्द्र ने उसकी रक्षार्थ यह लंका नामका द्वीप प्रदान किया था। यह त्रिकूटाचल पर्वतकी तलहटीमें है। (प. पु./५/१५७)।

लंब संक्षेत्र—Right Prism. (ज. प./प्र.१०८)।

लंबित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

लक्खण—वि. श. १३ में अणुवय रयण पईवके रचयिता एक अपभ्रंश कवि थे। (हिं. जै. सा. इ./३० कामता)।

लक्षण—

रा. वा./२/८/२/११९/६ परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्।२। –परस्पर सम्मिलित वस्तुओंसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है।

न्या. वि./टी./१/३/८५/५ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्। –जिसके द्वारा पदार्थ लक्ष्य किया जाये उसको लक्षण कहते हैं।

ध./७/२,१,५५/९६/३ किं लक्खणं। जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्खणं, जहा पोग्गलदव्वस्स रूव-रस-गंध-फासा, जीवस्स उवजोगो। –जिसके अभावमें द्रव्यका भी अभाव हो जाता है, वही उस द्रव्यका लक्षण है। जैसे-पुद्गल द्रव्यका लक्षण रूप, रस, गन्ध और; जीवका उपयोग।

न्या. दी./१/§३/५/१ व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्। –मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको अलग करनेवाले हेतुको (चिह्नको) लक्षण कहते हैं।

दे. गुण/१/१ (शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति और अंग एकार्थवाची हैं।)।

न्या. सू./टी./१/१/२/८/७ उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। –उद्दिष्ट (नाम मात्रसे कहे हुए) पदार्थके अयथार्थ (विपरीत या असत्य) बोधके निवारण करनेवाले धर्मको लक्षण कहते हैं।

२. लक्षणके भेद व उनके लक्षण

रा. वा./२/८/३/११९/११ तल्लक्षणं द्विविधम्-आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः। –लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार होता है। अग्निकी उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका भेदक दण्ड अनात्मभूत है।

न्या. दी./१/§४/६/४ द्विविधं लक्षणम्, आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्, यथाग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं सदग्निमबादिभ्यो व्यावर्तयति। तद्विपरीतमनात्मभूतम्, यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्टः एव पुरुषं व्यावर्तयति। –लक्षणके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे अग्निकी उष्णता। यह उष्णता अग्निका स्वरूप होती हुई अग्निको जलादि पदार्थोंसे जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्निका आत्मभूत लक्षण है। जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ न हो उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे—दण्डीपुरुषका दण्ड। दण्डीको लाओ ऐसा कहनेपर दण्ड पुरुषमें न मिलता हुआ ही पुरुषको पुरुषभिन्न पदार्थोंसे पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुषका अनात्मभूत लक्षण है।

३. लक्षणाभास सामान्यका लक्षण

न्या. दी./१/§५/७/२२ की टिप्पणी सदोषलक्षणं लक्षणाभासम्। –मिथ्या–अर्थात् सदोष लक्षणको लक्षणाभास कहते हैं।

४. लक्षणाभासके भेद व उनके लक्षण

न्या./दी./१/§५/७/६ त्रयो लक्षणाभासभेदाः—अव्याप्तमतिव्याप्तमसंभवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शाबलेयत्वम्। लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्। बाधितलक्ष्यवृत्त्यसंभवति, यथा नरस्य विषाणित्वम्। –लक्षणाभासके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त, और असम्भवि। (मोक्ष पंचाशत। १४) लक्ष्यके एक देशमें लक्षणके रहनेको अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे—गायका शाबलेयत्व। शाबलेयत्व सब गायोंमें नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायोंका धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्यमें लक्षणके रहनेको अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गायका ही पशुत्व लक्षण करना। यह पशुत्व गायके सिवाय अश्वादि पशुओंमें भी पाया जाता है इसलिए पशुत्व अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्यमें वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्यमें बिलकुल ही न रहे वह असम्भवि लक्षणाभास है। जैसे—मनुष्यका लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्यमें नहीं पाया जाता। अतः वह असम्भवि लक्षणाभास है। (मोक्षपंचाशत/१५-१७)।

मोक्षपंचाशत/१७ लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरितः। यथा वर्णादियुक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि। –लक्ष्यमें उत्पन्न न होना सो असम्भव दोषका लक्षण है, जैसे आत्मामें वर्णादिकी युक्ति असिद्ध है।

५. आत्मभूत लक्षणकी सिद्धि

रा. वा./२/८/८-९/११९/२४ इह लोके यदात्मकं न तत्तेनोपयुज्यते यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनात्मनोपयुज्यते।...जीव एव ज्ञानादनन्यत्वे सति ज्ञानात्मनोपयुज्यते।...आकाशस्य रूपाद्युपयोगाभाववत्।...आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तित्रयवशात् घटपटाद्याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोग सिद्धः। –प्रश्न—जैसे दूधका दूध रूपसे परिणमन नहीं होता किन्तु दही रूपसे होता है। उसीतरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा। अतः जीवके ज्ञानादि उपयोग नहीं होना चाहिए? उत्तर—चूँकि आत्मा और ज्ञानमें अभेद है इसलिए उसका ज्ञान रूपसे उपयोग होता है। आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नहीं देखा जाता।...ज्ञान पर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञान व्यपदेशको प्राप्त करके स्वयं

घट-पटादि विषयक अवग्रहादि ज्ञान पर्यायको धारण करता है अतः द्रव्य दृष्टिसे उसका ही उसी रूपसे परिणमन सिद्ध होता है।

६. लक्ष्य-लक्षणमें समानाधिकरण्य अवश्य है

न्या. दी./१/§५/७/२ असाधारणधर्मवचनं लक्षणम् इति केचित्; तदनुपपन्नम्: लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन समानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्। —असाधारणधर्मके कथनको लक्षण कहते हैं ऐसी किन्हींका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मिवचनका लक्षणरूप धर्म वचनके साथ सामानाधिकरण्यके अभावका प्रसंग आता है।

न्या. दी./भाषा/१/§५/१४१/२० यह नियम है कि लक्ष्य-लक्षण भावस्थलमें लक्ष्य वचन और लक्षण वचनमें एकार्थप्रतिपादकत्व रूप सामानाधिकरण्य अवश्य होता है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध—दे० संबंध।

२. लक्षण निमित्त ज्ञान—दे० निमित्त/२।

३. भगवान्के १००८ लक्षण—दे० अर्हंत/१।

लक्षण पंक्ति व्रत—किसी भी दिनसे प्रारम्भ करके एक उपवास एक पारणा क्रमसे २०४ उपवास पूरे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। अपरनाम दिव्य लक्षणपंक्ति व्रत है। (ह. पु./३४/११३); (व्रतविधान सं./१०२)।

लक्षपर्वा—एक औषध विद्या—दे० विद्या।

लक्ष्मण—प. पु./सर्ग/श्लोक राजा दशरथके पुत्र तथा रामके भाई थे (२५/१२६) भ्रातृ प्रेमसे भाईके साथ वनमें गये (३१/१९१)। सीताहरण पर रावणके साथ युद्ध कर उसको मारा (७६/३३)। अन्तमें देव कथित रामकी मृत्युके झूठे समाचार सुनकर नरकको प्राप्त हुए (११५/८-१२), यह आठवाँ नारायण था—(विशेष दे० शलाका पुरुष/४)।

लक्ष्मण पुरी—वर्तमान लखनऊ (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

लक्ष्मण देव—णेमिणाहचरिउ के रचयिता मालवा देशवासी एक अपभ्रंश कवि। समय—वि. श. १४। (ती./४/२०७)।

लक्ष्मण सेन—१. सेनसंघी अर्हत्सेनके शिष्य रविषेण (पद्म पुराण के कर्ता) के गुरु थे। समय—वि. ६८०-७२०(ई. ६२३-६६३)—दे० इतिहास/७/६। २. काष्ठासंघी रत्नकीर्तिके शिष्य तथा भीमसेनके गुरु थे। समय—वि. १४८१ (ई. १४१४) —दे० इतिहास/७/९।

लक्ष्मी—१. शिखरी पर्वतस्थ पुण्डरीक ह्रदकी स्वामिनी देवी।—दे० लोक/३/९। २. शिखरी पर्वतस्थ कूट और निवासिनी देवी—दे० लोक/५/४। ३. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

लक्ष्मीचंद—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी सूरत शाखा में मल्लिभूषणके शिष्य तथा ब्र० नेमिदत्त के गुरु थे। समय—वि. १५७५ (ई. १५१८) —दे० इतिहास/७/४। २. मेघमाला के रचयिता एक मराठी कवि। समय—ग्रन्थ का रचनाकाल शक १६५० (ई. १७२८)। (ती./४/३२१)। ३. अनुवेक्खा दोहा के रचयिता एक अपभ्रंश कवि। समय—(ती./४/२४१)।

लक्ष्मीमती—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी —दे० लोक/५/१३।

लक्ष्य—प. प्र./टी./१/१६ लक्ष्यं संकल्परूपं चित्तम्। —संकल्परूप मनको लक्ष्य कहते हैं।

लक्ष्य लक्षण सम्बन्ध—दे० सम्बन्ध।

लघिमा विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

लघीयस्त्रय—आ. अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०)। कृत न्यायविषयक ७८ कारिका प्रमाण संस्कृत ग्रन्थ। इसमें छोटे-छोटे तीन प्रकरणोंका संग्रह है—प्रमाण प्रवेश, नय प्रवेश व प्रवचन प्रवेश। वास्तवमें ये तीनों प्रकरण ग्रन्थ थे, पीछे आचार्य अनन्तवीर्यने (ई. ९७५-१०२५) ने इन तीनोंका संग्रह करके उसका नाम लघीयस्त्रय रख दिया होगा ऐसा अनुमान है। इन तीनों प्रकरणोंपर स्वयं आ. अकलंक भट्ट कृत एक विवृत्ति भी है। यह विवृत्ति भी श्लोक निबद्ध है। इसपर निम्न टीकाएँ लिखी गयी हैं—१. आ. प्रभाचन्द्र (ई. ९५०-१०२०) कृत न्यायकुमुदचन्द्र; २. आ. अभयचन्द्र (ई. श. १३) कृत स्याद्वादभूषण। (ती०/२/३०६)।

लघु—प. प्र./टी./१/२८ लघु शीघ्रमन्तर्मुहूर्तेन। —लघु अर्थात् शीघ्र अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में।

लघु चूर्णि—दे० कोश २।परिशिष्ट १।

लघु तत्त्वस्फोट—आचार्य अमृतचन्द्र (ई. ९०५-९५५) कृत अध्यात्म विषयक संस्कृत पद्यबद्ध ग्रन्थ।

लघुरिक्थ—*Logarithum* (ध. ५/प्र. २८)। —दे० गणित/II/२।

लघु सर्वज्ञ सिद्धि—आ. अनन्तकीर्ति (ई. श. ९ उत्तरार्ध) कृत संस्कृत भाषाका एक न्याय विषयक ग्रन्थ है। (ती./३/१९७)।

लता लतांग—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४।

लता वक्र—*कायोत्सर्गका अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।*

लब्ध—*Quotient*. (ध. ५/प्र. २८)।

लब्ध राशि—$\frac{\text{त्रैराशिक गणितमें फल} \times \text{इच्छा}}{\text{प्रमाण}}$ —दे० गणित/II/४।

लब्धि—ज्ञान आदि शक्ति विशेषको लब्धि कहते हैं। सम्यक्त्व प्राप्तिमें पाँच लब्धियोंका होना आवश्यक बताया गया है, जिनमें करण लब्धि उपयोगात्मक होनेके कारण प्रधान है। इनके अतिरिक्त जीवमें संयम या संयमासंयम आदिको धारण करनेकी योग्यताएँ भी उस-उस नामकी लब्धि कही जाती है।

१	**लब्धि सामान्य निर्देश**
१	लब्धि सामान्यका लक्षण
	१. क्षयोपशम ज्ञानके अर्थमें; २. गुण प्राप्तिके अर्थमें; ३. आगमके अर्थमें।
*	ज्ञान व सम्यक्त्वकी अपेक्षा लब्धिके लक्षण —दे० उपलब्धि।
*	लब्धिरूप मति श्रुतज्ञान —दे० वह वह नाम।
*	लब्धि व उपयोगमें सम्बन्ध —दे० उपयोग/I।
२	क्षायिक व क्षयोपशमकी दानादि लब्धियाँ।
*	क्षायिक दानादि लब्धियाँ तथा तत्सम्बन्धी शंकाएँ —दे० वह वह नाम।
३	नव केवललब्धि नाम निर्देश।

१. लब्धि सामान्य निर्देश

१. लब्धि सामान्यका लक्षण

१. क्षयोपशम शक्तिके अर्थमें

स. सि./२/१८/१७६/३ लम्भनं लब्धिः। का पुनरसौ। ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रतिव्याप्रियते। —लब्धि शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—लम्भनं लब्धिः—प्राप्त होना। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं। जिसके संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है। (रा. वा./२/१८/१-२/१३०/२०)।

ध. १/१,१,३३/२३६/५ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। —इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है, उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१६५/३९१/४ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमोत्था विशुद्धिर्जीवस्यार्थग्रहणशक्तिलक्षणलब्धिः। —जीवके जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई विशुद्धि और उससे उत्पन्न पदार्थोंका ग्रहण करनेकी जो शक्ति उसको लब्धि कहते हैं।

२. गुणप्राप्तिके अर्थमें

स. सि./२/४७/१६७/८ तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धिः। —तप विशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते हैं। (रा. वा./२/४७/२/१५१/३१)।

ध. ८/३,४१/८६/३ सम्मद्दंसण-णाण-चरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम। —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमें जो जीवका समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं।

ध. १३/५,५,५०/२८३/१ विकरणा अणिमादयो मुक्तिपर्यन्ता इष्टवस्तूपलम्भा लब्धयः। —मुक्ति पर्यंत इष्ट वस्तुको प्राप्त करानेवाली अणिमा आदि विक्रियाएँ लब्धि कही जाती हैं।

नि. सा./ता.वृ./१५६ जीवानां सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः। —जीवोंको सुखादिकी प्राप्तिरूप लब्धि…।

३. आगमके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८३/२ लब्धीनां परम्परा यस्मादागमात् प्राप्यते यस्मिन् तत्प्राप्त्युपायो निरूप्यते वा स परम्परालब्धिरागमः। —लब्धियोंकी परम्परा जिस आगमसे प्राप्त होती है या जिसमें उनकी प्राप्तिका उपाय कहा जाता है वह परम्परा लब्धि अर्थात् आगम है।

२. क्षायिक व क्षयोपशमकी दानादि लब्धि

त. सू./२/५ लब्धयः…पञ्च (क्षायोपशमिक्यः दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति। रा. वा.)। —पाँच लब्धि होती हैं—(दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, और वीर्यलब्धि। ये पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती हैं। (रा. वा./२/५/८/१०७/२८)।

ध. ५/१,७,१/१९१/३ लद्धी पंच वियप्पा दाण-लाह-भोगुपभोग-वीरियमिदि। —(क्षायिक) लब्धि पाँच प्रकारकी है—क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य।

ल. सा./मू./१६६/२१८ सत्तण्हं पयडीणं खयादु अवरं तु खइयलद्धी दु। उक्कस्सखइयलद्धी घाइचउक्कखएण हवे ॥१६६॥ —सात प्रकृतियोंके क्षयसे असंयत सम्यग्दृष्टिके क्षायिक सम्यक्त्व रूप जघन्य क्षायिक

लब्धि होती है। और घातिया कर्मके क्षयसे परमात्माके केवलज्ञानादिरूप उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि होती है ।१६६। (क्षयोपशम लब्धिका लक्षण—दे० लब्धि/२)।

३. नव केवललब्धिका नाम निर्देश

ध. १/१,१,१/गा. ५८/६४ दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते। णव केवल-लद्धीओ दंसण-णाणं चरित्ते य ।५८। —दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवललब्धियाँ समझना चाहिए ।५८। (श्रु. भा./५२७); (ज. प./१३/१३१-१३५); (गो. जी./जी. प्र./६३/१६४/६)।

२. उपशम सम्यक्त्व सम्बन्धी पंचलब्धि निर्देश

१. पंचलब्धि निर्देश

नि. सा./ता. वृ./१५६ लब्धिः कालकरणोपदेशोपशमप्रायोग्यताभेदात् पञ्चधा। —लब्धि काल, करण, उपदेश, उपशम और प्रायोग्यतारूप भेदोंके कारण पाँच प्रकारकी है।

ध. ६/१,९-८,३/गा. १/२०४ खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलद्धी य। चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते ।१। —क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्यता और करण ये पाँच लब्धि हैं। (ल. सा./मू./३/४४), (गो. जी./मू./६५१/११००)।

२. क्षयोपशमलब्धिका लक्षण

ध. ७/२,१,४५/८७/३ णाणस्स विणासो खओ णाम, तस्स उवसमो एगदेसक्खओ, तस्स खओवसमसण्णा। तत्थ णाणमण्णाणं वा उप्पज्जदि त्ति खओवसमिया लद्धी वुच्चदे।

ध. ७/२,१,७१/१०८/७ उदयमागदाणमइदहरदेसघादिफद्दयाणं उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि तेण तत्थुप्पण्णजीवपरिणामो खओवसमलद्धीसण्णिदो। —१. ज्ञानके विनाशका नाम क्षय है। उस क्षयका उपशम हुआ एकदेश क्षय। इस प्रकार ज्ञानके एकदेशीय क्षयकी क्षयोपशम संज्ञा मानी जा सकती है। ऐसा क्षयोपशम होने पर जो ज्ञान या अज्ञान उत्पन्न होता है उसीको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं। २ उदयमें आये हुए तथा अत्यन्त अल्प देशघातित्वके रूपसे उपशान्त हुए सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंका चूँकि क्षयोपशम नाम दिया गया है, इसलिए उस क्षयोपशमसे उत्पन्न जीव परिणामको क्षयोपशमलब्धि कहते हैं।

ध. ६/१,९-८,३/२०४/३ पुव्वसंचिदकम्ममलपडलस्स अणुभागफद्दयाणि जदा विसोहीए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होदूणुदीरिज्जंति तदा खओवसमलद्धी होदि। —पूर्वसंचित कर्मोंके मलरूप पटलके अनुभाग स्पर्धक जिस समय विशुद्धिके द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुण हीन होते हुए उदीरणाको प्राप्त किये जाते हैं उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है। (ल. सा./मू./४/४२)।

३. विशुद्धिलब्धिका लक्षण

ध. ६/१,९-८,३/२०४/५ पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिद-अणुभागफद्दयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुहकम्मबंधणिमित्तो असादादि असुहकम्मबंधविरुद्धो विसोही णाम। तिस्से उवलंभो विसोहि लद्धी णाम। —प्रतिसमय अनन्तगुणितहीन क्रमसे उदीरित अनुभाग स्पर्धकोंसे उत्पन्न हुआ, साता आदि शुभ कर्मोंके बन्धका निमित्त भूत और असाता आदि अशुभ कर्मोंके बन्धका विरोधी जो जीव परिणाम है, उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्तिका नाम विशुद्धिलब्धि है। (ल. सा./मू./५/४४)।

४. प्रायोग्यलब्धिका स्वरूप

ध. ६/१,९-८,३/२०४/९ सव्वकम्माणमुक्कस्सट्ठिदिमुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडीट्ठिदिम्हि बेट्ठाणाणुभागे च अवट्ठाणं पाओग्गलद्धी णाम। —सर्व कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागको घात करके अन्तःकोड़ाकोड़ी स्थितिमें, और द्विस्थानीय अनुभागमें अवस्थान करनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। (ल. सा./मू./७/४५)।

ल. सा./मू./९-३२/४७-६८ सम्मत्तहिमुहमिच्छो विसोहिवड्ढीहि वड्ढमाणो हु। अंतोकोडाकोडिं सत्तण्हं बंधणं कुणई ।९। अंतोकोडाकोडीठिदं असत्थाण सत्थगाणं च। बिचउट्ठाणरसं च य बंधाणं बंधणं कुणइ ।२४। मिच्छणथीणति सुरचउ समवज्जपसत्थगमणसुभगतियं। णीचुक्कस्सपदेसमणुक्कस्सं वा पबंधदि हु ।२५। ...एकट्ठि पमाणाणमणुक्कस्सपदेसं बंधणं कुणई ।२६। उदइल्लाणं उदये पत्तेक्कठिदिस्सवेदगो होदि। बिचउट्ठाणमसत्थे सत्थे उदयल्लरस भुत्ती ।२९। अजहण्णमणुक्कस्सप्पदेसमणुभवदि सोदयाणं तु। उदयिल्लाणं पयडिचउक्कणमुदीरगो होदि ।३०। अजहण्णमणुक्कस्सं ठिदीतियं होदि सत्तपयडीणं। एवं पयडिचउक्कं बंधादिसु होदि पत्तेयं ।३२। —१. स्थितिबन्ध—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके सम्मुख जीव विशुद्धताकी वृद्धि करता हुआ प्रायोग्य लब्धिका प्रथमसे लगाकर पूर्व स्थिति बन्धके संख्यातवें भागमात्र अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण आयु बिना सात कर्मोंका स्थितिबन्ध करता है ।९। २. अनुभागबन्ध—अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्विस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय-समय अनन्तगुणा घटता बाँधता है और प्रशस्त प्रकृतियोंका चतुःस्थानीय अनुभाग प्रतिसमय-समय अनन्तगुणा बढ़ता बाँधता है ।२४। ३. प्रदेशबन्ध—मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी चतुष्क, स्त्यानगृद्धि त्रिक, देवचतुष्क, वज्रऋषभ नाराच, प्रशस्तविहायोगति, सुभगादि तीन, व नीचगोत्र। इन २१ प्रकृतियोंका उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है। महादण्डकमें कहीं ६१ प्रकृतियोंका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करता है ।२५-२६। ४. उदय उदीरणा—उदयवान् प्रकृतियोंका उदयकी अपेक्षा एक स्थिति जो उदयको प्राप्त हुआ एक निषेध, उसहीका भोक्ता होता है। अप्रशस्त प्रकृतियोंका द्विस्थानरूप और प्रशस्त प्रकृतियोंके चतुस्थानरूप अनुभागका भोक्ता होता है ।२९। उदय प्रकृतियोंका अजघन्य वा अनुत्कृष्ट प्रदेशको भोगता है। जो प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग उदयरूप हों उन्हींकी उदीरणा करने वाला होता है ।३०। ५. सत्त्व—सत्तारूप प्रकृतियोंका स्थिति, अनुभाग, प्रदेश अजघन्य अनुत्कृष्ट है। ६. ऐसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशरूप चतुष्क हैं सो बन्ध, उदय उदीरणा सत्त्व इन सबमें कहा। यह क्रम प्रायोग्यलब्धिके अन्त पर्यन्त जानना ।३२।

५. सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें पंच लब्धिका स्थान

पं. वि./४/१२ लब्धिपञ्चकसामग्रीविशेषात्पात्रतां गतः। भव्यः सम्यग्दृगादीनां यः स मुक्तिपथे स्थितः ।१२। —जो भव्यजीव पाँच लब्धिरूप विशेष सामग्रीसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रयको धारण करनेके योग्य बन चुका है वह मोक्षमार्गमें स्थित हो गया है ।१२।

गो. जी./जी. प्र./६५१/११००/८ पञ्चलब्धयः उपशमसम्यक्त्वे भवन्ति। —पाँचों लब्धि उपशम सम्यक्त्वके ग्रहणमें होती है। (और भी दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/१)।

६. पाँचोंमें करणलब्धिकी प्रधानता

ध. ६/१,९-८,३/गा. १/२०५ चत्तारि वि (लद्धि) सामण्णं करणं पुण होइ सम्मत्ते ।१। —इन (पाँचों) में से पहली चार तो सामान्य

हैं अर्थात् भव्य-अभव्य दोनोंके होती हैं। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होनेके समय होती है। (ध. ६/१,९-८,३/२०५/३); (गो. जी./मू./६५१/११००); (ल. सा./मू./३/४२), (द्र. सं./टी./३६/१५६/१)।

३. देशनालब्धि निर्देश

१. देशनालब्धिका लक्षण

ध. ६/१,९-८,३/२०४/७ छद्दव्व-णवपयत्थोवदेशो देसणा णाम। तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहण-धारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलद्धी णाम। —छह द्रव्यों और नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है। उस देशनासे परिणत आचार्य आदिकी उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशनालब्धि कहते हैं। (ल. सा./मू./६/४४)।

२. सम्यग्दृष्टिके उपदेशसे ही देशना सम्भव है

नि. सा./मू./५३ सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ।५३। —सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है; जिनसूत्रको जानने वाले पुरुषोंको अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक हैं।५३। (विशेष दे० इसकी टीका)।

इ. उ./मू./२३ अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।…।२३। —अज्ञानीकी उपासनासे अज्ञानकी और ज्ञानीकी उपासनासे ज्ञान-की प्राप्ति होती है।२३।

दे० आगम/५ (दोष रहित व सत्य स्वभाव वाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे आगम प्रमाण है।)

ध. १/१,१,२२/१९६/२ व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य (वेदस्य) तस्य व्याख्यात्रधीनवाच्यवाचकभावः। …प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोध-स्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्। —व्याख्याताके बिना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्य-वाचक भाव व्याख्याताके आधीन है। …जिसने सम्पूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञान-को जान लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है।

सत्तास्वरूप/३/१५ राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान व वीतराग दशा रूप निरोगता, उसका आदिसे अन्त तक सच्चा स्वरूप स्वाश्रितपने उस (सम्यग्दृष्टि) को ही भासे है और वह ही अन्यको दर्शाने वाला है।

३. मिथ्यादृष्टिके उपदेशसे देशना संभव नहीं

प्र. सा./मू./२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ।२५६। —जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओंमें (अज्ञानीके द्वारा कथित देव, गुरु-धर्मादिमें) व्रत-नियम अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता, किन्तु सातात्मक भावको प्राप्त होता है।

ध. १/१,१,२२/१९५/८ ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातु-र्वचनस्य प्रामाण्याभावात्। —ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं प्रमाणता प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते।

ज्ञा./२/१०/३ न सम्यग्गदितुं शक्यं यत्स्वरूपं कुदृष्टिभिः।…।३। —धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा नहीं कहा जा सकता है।

मो. मा. प्र./१/२२/४ वक्ता कैसा चाहिए जो जैन श्रद्धान विषै दृढ होय जातैं जो आप अश्रद्धानी होय तौ और को श्रद्धानी कैसे करै?

द. पा./पं. जयचन्द/२/४/११ जाकै धर्म नाहीं तिसतैं धर्मकी प्राप्ति नाहीं ताकूं धर्मनिमित्त काहेकूं वन्दिए…।

४. कदाचित् मिथ्यादृष्टिसे भी देशनाकी सम्भावना

ला. सं./५/११ न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थतः। यतस्तस्योप-देशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ।११। —मिथ्यादृष्टिके जो ग्यारह अंगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र है, उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि मुनियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है।११।

५. निश्चय तत्त्वोंका मनन करनेपर देशनालब्धि सम्भव है

प्र. सा./मू./८६ जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा। खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ।८६। —जिन-शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पदार्थोंको जानने वालेके नियमसे मोह-समूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्रका सम्यक् प्रकारसे मनन करना चाहिए।८६।

भ. आ./वि./१०५/२५०/१२ अयमभिप्रायः-श्रद्धानसहचारिबोधाभावा-च्छ्रुतमप्यश्रुतमिति। —शब्दात्म श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी समझ लिया परन्तु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुन और जान लेनेपर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिए। इस शब्दके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है।

पु. सि. उ./६ व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति। —जो जीव केवल व्यवहार नयको ही साध्य जानता है, उस मिथ्यादृष्टिके लिए उपदेश नहीं है।६।

४. करणलब्धि निर्देश

१. करणलब्धि व अन्तरंग पुरुषार्थमें केवल भाषा भेद है

द्र. सं./टी./३७/१५६/५ इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वाकर्मशत्रुं हन्तीति।

द्र. सं./टी./४१/१६५/११ आगमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशम-क्षयसंज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतम्। —१. पाँच लब्धियों-से और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके संमुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके, कर्मशत्रुको नष्ट करता है। (पं. का./ता. वृ./१५०/२१७/१४)। २. आगम भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके संमुख परिणाम तथा काल आदि लब्धिके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो जायेगा।

२. करणलब्धि भव्यको ही होती है

ल. सा./मू./३३/६१ तत्तो अभव्वजोग्गं परिणामं बोलिऊण। भव्वो हु। करणं करेदि कमसो अधापवत्तं अपुव्वमणियट्टिं ।३३। —अभव्यके भी योग्य ऐसी चार लब्धियोंरूप परिणामको समाप्त करके जो भव्य है, वह जीव अधःप्रवृत्त, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण-को करता है।३३।

गो. जी./जी. प्र./६५१/११००/१ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात्। —करण लब्धि तो भव्य ही के होती है।

३. करणलब्धि सम्यक्त्वादिका साक्षात् कारण है

गो. जी./जी. प्र./६५१/११००/१ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात् तथापि सम्यक्त्वग्रहणे चारित्रग्रहणे च। –करणलब्धि भव्य जीवके ही सम्यक्त्व ग्रहण वा चारित्र ग्रहणके कालमें ही होती है। अर्थात् करण-लब्धिकी प्राप्तिके पीछे सम्यक्त्व चारित्र अवश्य हो है। (ल. सा./-जी. प्र./३/४२/१५)।

५. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थान

१. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानका लक्षण

रा. वा./६/१/१६-१७/५८६-५९०/११ तत्रानन्तानुबन्धिकषायाः क्षीणाः स्युरक्षीणा वा, ते च अप्रत्याख्यानावरणकषायाश्च सर्वघातिन एव, तेषामुदयक्षयात् सदुपशमाच्च. प्रत्याख्यानावरणकषायाः सर्वघातिन एव तेषामुदये सति संयमलब्ध्यावसरयाम्, संज्वलनकषायाः नव नोकषायाश्च देशघातिन एव तेषामुदये सति संयमासंयमलब्धि-र्भवति। तद्योग्या प्राणीन्द्रियविषया विरताविरतवृत्त्या परिणतः संयतासंयत इत्याख्यायते ।१६। अनन्तानुबन्धिकषायेषु क्षीणेष्व-क्षीणेषु वा प्राप्तोदयक्षयेषु अष्टानां च कषायाणां उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाद् संज्वलननोकषायाणाम् उदये संयमलब्धिर्भवति।… –१. अनन्तानुबन्धिकषाय क्षीण हो या अक्षीण हो तथा अप्रत्या-ख्यान कषाय सर्वघाती है इनका उदयक्षय या सदवस्थारूप उप-शम होनेपर, तथा सर्वघाती प्रत्याख्यानावरणके उदयसे संयम-लब्धिका अभाव होनेपर एवं देशघाती संज्वलन और नोकषायोंके उदयमें संयमासंयम लब्धि होती है। इसके होनेपर प्राणी और इन्द्रियविषयक विरताविरत परिणामवाला संयतासंयत कहलाता है।१६। २ क्षीण या अक्षीण अनन्तानुबन्धि कषायोंका उदय क्षय होनेपर तथा प्रत्याख्यानावरण कषायोंका उदयक्षय या सदवस्था उपशम होनेपर और संज्वलन तथा नोकषायोंका उदय होनेपर संयम लब्धि होती है।

दे० संयत/१/२.१ [इस संयमलब्धिको प्राप्त संयत कदाचित प्रमाद-वश चारित्रसे स्खलित होनेके कारण प्रमत्त कहलाता है, और प्रमादरहित अविचल संयम वृत्ति होनेपर अप्रमत्त कहलाता है।]

२. संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानोंके भेद

ध.६/१.६-८,१४/२७६ संजमासंजमलद्धीए ट्ठाणाणि…पडिवादट्ठाण…पडिवज्जट्ठाण…अपडिवाद-पडिवज्जमाणट्ठाण।

ध. ६/१.६-८,१४/२८३/४ एत्थ जाणि संजमलद्धिट्ठाणाणि ताणि तिवि-हाणि होंति। तं जहा-पडिवादट्ठाणाणि उप्पादट्ठाणाणि तव्वदिरि-त्तट्ठाणाणि त्ति। –१. संयमासंयम लब्धिस्थान–प्रतिपातस्थान, …प्रतिपद्यमान स्थान… और अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान स्थान के भेदसे तीन प्रकार है। (ल. सा./मू./१८६/२१७)। २. संयम लब्धिस्थान तीन प्रकारके होते हैं। वे इस प्रकार हैं–प्रतिपातस्थान, उत्पादस्थान और तद्व्यतिरिक्तस्थान। (ल. सा./मू./११३)।

ल. सा./मू./१६८,१८४ दुविहा चरित्तलद्धी देसे सयले य…।१६८। अवरव-रदेशलद्धी…।१८४। –चारित्र लब्धि दो प्रकार है–देश व सकल ।१६८। देशलब्धि जघन्य उत्कृष्टके भेदसे दो प्रकार है।१८४।

३. प्रतिपद्यमान व उपपाद संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानके लक्षण

ध. ६/१.६-८,१४/२८३/६ उप्पादट्ठाणं णाम जम्हि ट्ठाणे संजमं पडि-वज्जदि तं उप्पादट्ठाणं णाम। –जिस स्थान पर जीव संयमको प्राप्त होता है वह उत्पाद (प्रतिपद्यमान) स्थान है।

ल. सा./जी. प्र./१८८/२४१/७ मिथ्यादृष्टिचरमस्य सम्यक्त्वदेशसंयमौ युगपत्प्रतिपद्यमानस्य तत्प्रथमसमये वर्तमानं जघन्यप्रतिपद्यमान-स्थानम्। …प्रागसंयतसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पश्चाद्देशसंयमं प्रतिपद्य-मानस्य तत्प्रथमसमये संभवदुत्कृष्टप्रतिपद्यमानस्थानम्। –मिथ्यात्व-के चरम समयमें देशसंयतके प्रथम समयमें प्रतिपद्यमान स्थान होता है। …असंयतके पश्चात् देशसंयतके प्रथम समयमें उत्कृष्ट प्रतिपद्यमान स्थान है।

ल. सा./भाषा/१८६/२१७/१३ देशसंयतके प्राप्त होतें प्रथम समयविषै संभवते जे स्थान ते प्रतिपद्यमानगत हैं।

ध. ६/१.६-८,१४/२७७/विशेषार्थ–संयमासंयमको धारण करनेके प्रथम समयमें होनेवाले स्थानोंको प्रतिपद्यमान स्थान कहते हैं।

४. प्रतिपातगत संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानके लक्षण

ध. ६/१.६-८,१४/२८१/१ तत्थ पडिवादट्ठाणं णाम जम्हि ट्ठाणे मिच्छत्तं वा असंजमसम्मत्तं वा संजमासंजमं वा गच्छदि तं पडिवादट्ठाणं। –जिस स्थानपर जीव मिथ्यात्वको अथवा असंयम सम्यक्त्वको अथवा संयमासंयमको प्राप्त होता है वह प्रतिपातस्थान है।

ल. सा./जी. प्र./१८८/२४०/१२ प्रतिपातो बहिरन्तरङ्गकारणवशेन संयमात्प्रच्यवः। स च संक्लिष्टस्य तत्कालचरमसमये विशुद्धिहान्या सर्वजघन्यदेशसंयमशक्तिकस्य मनुष्यस्य तदनन्तरसमये मिथ्यात्वं प्रतिपत्स्यमानस्य भवति। –प्रतिपात नाम संयमसे भ्रष्ट होनेका है सो संक्लेश परिणामसे संयमसे भ्रष्ट होते देशसंयमके अन्त समयमें प्रतिपातस्थान होता है।

ल. सा./भाषा/१८६/२३७/११ देशसंयम तै (वा संयम ते) भ्रष्ट होतैं अन्त समयमें संभवते जे स्थान ते प्रतिपातगत हैं। (ध. ६/१.६-८, १४/२७७ पर विशेषार्थ)।

ल. सा./भाषा/१८८/२४२/८ मिथ्यात्वको सन्मुख मनुष्य वा तिर्यंचके जघन्य और असंयतको संमुख मनुष्य वा तिर्यंचके उत्कृष्ट प्रति-पात स्थान हो है।

५. अनुभयगत व तद्व्यतिरिक्त संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानोंके लक्षण

ध. ६/१.६-८,१४/२८३/७ सेससव्वाणि चेव चरित्तट्ठाणाणि तव्वदिरित्त-ट्ठाणाणि णाम। –इन (प्रतिपात व उत्पाद या प्रतिपद्यमान स्थानोंके) अतिरिक्त सर्व ही चारित्र (के मध्यवर्ती) स्थानोंको तद्व्यतिरिक्त संयमलब्धि स्थान कहते हैं। (ल.सा./भाषा/१८६)।

ल. सा./मू./१९८,२०१ अणुभयगं तु। तम्मज्झे उवरिमगुणगहणाहिमुहे य देसं वा।१९८।…उवरिं सामाइयदुगं तम्मज्झे होंति परिहारा।२०१। –(प्रतिपात व प्रतिपद्यमान स्थानोंके) बीचमें वा ऊपरके गुण-स्थानोंके संमुख होते अनुभय स्थान होता है। सो देशसंयमकी भाँति जानना।१९८। तिनके ऊपर (संयतके ऊपर) अनुभय स्थान हैं वे सामायिक छेदोपस्थापना सम्बन्धी हैं। तिनिका जघन्य उत्कृष्टके बीच परिहार-विशुद्धिके स्थान हैं।

ल. सा./जी. प्र./१८८/२४१/१४ का भावार्थ–मिथ्यादृष्टिसे देशसंयत होनेके दूसरे समयमें मनुष्य व तिर्यंचके जघन्य अनुभय स्थान है। और असंयतसे देशसंयत होनेपर एकान्तवृद्धि स्थानके अन्त समयमें तिर्यंचके उत्कृष्ट अनुभय स्थान होता है। तथा असंयतसे देशसंयत होने पर एकान्तवृद्धि स्थानके अन्त समयमें सकल संयमको संमुख मनुष्यके उत्कृष्ट अनुभय स्थान होता है।

ध. ६/१.६-८,१४/२७७/विशेषार्थ–इन दोनों (प्रतिपात व उत्पाद या प्रतिपद्यमान) स्थानोंको छोड़कर मध्यवर्ती समयमें सम्भव समस्त स्थानोंको अप्रतिपात-अप्रतिपद्यमान या अनुभयस्थान कहते हैं।

६. एकान्तानुवृद्धि संयम व संयमासंयम लब्धिस्थानोंके लक्षण

ध. ६/१,९-८,१४/२७३/१८/विशेषार्थ—संयतासंयत होनेके प्रथम समयसे लेकर जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, उसे एकान्तानुवृद्धि कहते हैं। (अन्यत्र भी यथायोग्य जानना)।

७. जघन्य व उत्कृष्ट संयम व संयमासंयम लब्धिका स्वामित्व

ध. ६/१,९-८,१४/२७६/१ उक्कस्सिया लद्धी कस्स। संजदासंजदस्स सव्वविसुद्धस्स से काले संजमगाहयस्स। जहण्णया लद्धी कस्स। तप्पाओग्गसंकिलिट्ठस्स से काले मिच्छत्तं गाहयस्स। —सर्व-विशुद्ध और अनन्तर समयमें संयमको ग्रहण करनेवाले संयता-संयतके उत्कृष्ट संयमासंयम लब्धि होती है। जघन्य लब्धिके योग्य संक्लेशको प्राप्त और अनन्तर समयमें मिथ्यात्वको प्राप्त होनेवाले संयतासंयतके जघन्य संयमासंयम लब्धि होती है (ल. सा./मू./१८४/२३५)।

ध. ६/१,९-८,१४/२८५-२८६/६ एत्थ जहण्णं तप्पाओग्गसंकिलेसेण सामाइय-च्छेदोवट्ठावणाभिमुहचरिमसमए होदि। उक्कस्सं सव्व-विसुद्धपरिहारसुद्धिसंजदस्स। ......सामाइयच्छेदोवट्ठावणियाणं उक्कस्सयं संजमट्ठाणं...सव्वविसुद्धस्स से काले सुहुमसांपराइयसंजमं पडिवज्जमाणस्स। एदेसि जहण्णं मिच्छत्तं गच्छंतचरिमसमए होदि।...सुहुमसांपराइयस्स एदाणि संजमट्ठाणाणि। तत्थ जहण्णं अणियट्ठीगुणट्ठाणं से काले पडिवज्जंतस्स सुहुमस्स होदि। उक्कस्सं खीणकसायगुणं पडिवज्जमाणस्स चरिमसमए भवदि। —जघन्य संयमलब्धि स्थान तत्प्रायोग्य संक्लेशसे सामायिक-छेदोपस्थापना संयमोंके अभिमुख होनेवालेके अन्तिम समयमें होता है। और उत्कृष्ट सर्व विशुद्ध परिहार विशुद्ध संयतके होता है। सामायिक-छेदोपस्थापना संयमियोंका उत्कृष्ट संयम स्थान अनन्तर कालमें सर्व विशुद्ध सूक्ष्म-साम्परायिक संयमको ग्रहण करने वालेके होता है। इनका जघन्य मिथ्यात्वको प्राप्त होने वालेके अन्तिम समयमें होता है। इसी कारण उसे यहाँ नहीं कहा है। सूक्ष्म-साम्परायिक संयमीके ये संयम स्थान हैं उनमें जघन्य संयम स्थान अनन्तर कालमें अनिवृत्तिकरण गुणस्थानको प्राप्त करनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक संयमीके होता है, और उत्कृष्ट स्थान क्षीणकषाय गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक संयमीके अन्तिम समयमें होता है। (ल. सा./मू./२०२-२०४)।

दे० लब्धि/२/२ (सात प्रकृतियोंके क्षयसे अविरतके जघन्य तथा घाति कर्मके क्षयसे परमात्माके उत्कृष्ट क्षायिक लब्धि होती है।

८. भेदातीत लब्धि स्थानोंका स्वामित्व

ध. ६/१,९-८,१४/२८६/६ एदं जहाक्खादसंजमट्ठाणं उवसंतखीण-सजोगि-अजोगीणमेक्कं चेव जहण्णुक्कस्सवदिरित्तं होदि, कसाया-भावादो। —यह यथाख्यात संयम स्थान उपशान्तमोह क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली, इनके एक ही जघन्य व उत्कृष्टके भेदोंसे रहित होता है, क्योंकि इन सबको कषायोंका अभाव है।

लब्धि अक्षर—दे० अक्षर।

लब्धि अपर्याप्त—दे० पर्याप्ति।

लब्धि विधान व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—प्रथम विधि—भादो, माघ व चैत्रकी शु. १, ३ को उपवास तथा २, ४ को पारणा करे। इस प्रकार छह वर्ष पर्यन्त करे। तथा 'ओं ह्रीं महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत-विधान सं./पृ. ५४)। द्वितीय विधि—तीन वर्ष पर्यन्त भादो, माघ व चैत्र मासमें कृ. १५ को एकाशन, १-३ को तेला तथा ४ को एकाशन करे। तथा उपरोक्त मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत-विधान सं./पृ. ५४)। तृतीय विधि—प्रतिवर्ष भादो, माघ व चैत्रमें शु० १, ३ को एकाशन और २ को उपवास। तथा उपरोक्त मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान सं. पृ. ५४)।

लब्धि संवेग—दे० संवेग।

लब्धिसार—आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (ई. श. ११ का पूर्वार्ध) द्वारा रचित मोहनीय कर्मके उपशम विषयक, ३९१ गाथा प्रमाण प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी नेमिचन्द्र कृत संस्कृत संजीवनी टीका तथा पं. टोडरमल (ई. १७३६) कृत भाषा टीका प्राप्त है। (जै./१/३८९, ४१२); (ती./२/४२३,४३२)।

लघनकर्म—दे० निक्षेप/४।

ललितकीर्ति—१. यशःकीर्ति नं. ३ के गुरु और रत्ननन्दि द्वि. के शिक्षा गुरु। समय—तदनुसार वि. १२७१ (ई. १२१४)। २. काष्ठा संघी जगत्कीर्ति के शिष्य एक मन्त्रवादी। कृति—महापुराण टीका, नन्दीश्वर व्रत आदि २३ कथायें। टीका का रचनाकाल वि. १२८५। (ती./३/४५२)।

ललितांगदेव—म. पु./सर्ग/श्लोक "सल्लेखनाके प्रभावसे उत्पन्न ऐशान स्वर्गका देव (५/२५३-२५४) नमस्कार मन्त्रके उच्चारण पूर्वक इसने शरीर छोड़ा (६/२४-२५) यह ऋषभनाथ भगवान्का पूर्वका आठवाँ भव है—दे० ऋषभदेव।

लल्लक—षष्ठ नरकका तृतीयपटल—दे० नरक/५/११।

लव—१. कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/४। २. प. पु./सर्ग/श्लोक "परित्यक्त सीताके गर्भसे पुण्डरीकके राजा वज्रजंघके घर उत्पन्न रामचन्द्रके पुत्र थे (१००/१७-१८)। सिद्धार्थ नामक क्षुल्लक-से विद्या प्राप्त की (१००/४७)। नारदके द्वारा रामकी प्रशंसा तथा किसी सीता नामक स्त्रीके साथ उनका अन्याय सुनकर रामसे युद्ध किया (१०२/४५)। राम-लक्ष्मणको युद्धमें हार जाना। अन्तमें पिता पुत्रका मिलाप हो गया। (१०३/४१,४७)। अन्तमें मोक्ष प्राप्त किया (१२३/८२)।

लवणतापि—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/३।

लवणसागर—१. मध्य लोकका प्रथम सागर दे० लोक/४/१। २. रा. वा./३/७/२/१६९/२५ लवणरसेनाम्बुना योगात् समुद्रो लवणोद इति संज्ञायते। —खारे जलवाला होनेसे इस समुद्रका नाम लवणोद पड़ा है। (रा. वा./३/३३/८/१९४/१७)।

लवपुर—वर्तमान लाहौर (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

लांगल—सनत्कुमार स्वर्गका पाँचवाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

लांगलस्वस्तिका—भरतक्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

लांगलावर्त—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. पूर्व विदेहस्थ नलिन वक्षारका एक कूट—दे० लोक/५/४। ३. पूर्व विदेहके नलिन वक्षारपर स्थित लांगलावर्त कूटका रक्षकदेव—दे० लोक/५/४

लांगलिकागति—दे० विग्रहगति/२।

लांतव—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/३। २. लांतव देवोंका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५/३। ३. कल्प स्वर्गोंका सातवाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५/२। ४. लांतव स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

लाक्षा वाणिज्यकर्म—दे० सावद्य/६।

लाघव—भ. आ./वि./२४४/४६१/५ शरीरस्य लाघवगुणो बाह्येन तपसा भवति। लघुशरीरस्य आवश्यकक्रियाः सुकरा भवन्ति। स्वाध्यायध्याने चाक्लेशसंपाद्ये भवतः।—तपश्चरणसे देहमें लाघव गुण प्राप्त होता है अर्थात् शरीरका भारीपन नष्ट होता है जिससे आवश्यकादि क्रिया सुकर होती है, स्वाध्याय और ध्यान क्लेशके बिना किये जाते हैं।

लाट—गुजरातके प्राचीन कालमें तीन भाग थे। उनमेंसे गुजरातका मध्य व दक्षिण भाग लाट कहलाता था। (म. पु./प्र./४९ । पन्नालाल) (क. पा. १/प्र. ७३)।

लाटी संहिता—पं. राजमल्लजीने ई. १५८४ में रचा था। यह श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ है। इसमें ७ सर्ग और कुल १४०० श्लोक हैं। (ती./४/८०)।

लाड़बागड़ संघ—दे० इतिहास/६/७।

लाभ—

१. लाभ सामान्यका लक्षण

ध. १३/५,५,६३/३३४/३ इच्छियट्ठोवलद्धी लाहो णाम। तव्विवरीयो अलाहो।—इच्छित अर्थकी प्राप्तिका नाम लाभ है (ध. १३/५,५, १३७/३८९/१२) और इससे विपरीत अर्थात् इच्छित अर्थकी प्राप्तिका न होना अलाभ है।

२. क्षायिक लाभका लक्षण

स. सि./२/४/१५४/५ लाभान्तरायस्याशेषस्य निरासात् परित्यक्तकवलाहारक्रियाणां केवलिनां यतः शरीरबलाधानहेतवोऽन्यमनुजासाधारणाः परमशुभाः सूक्ष्माः अनन्ताः प्रतिसमयं पुद्गलाः संबन्धमुपयान्ति स क्षायिको लाभः।—समस्त लाभान्तराय कर्मके क्षयसे कवलाहार क्रियासे रहित केवलियोंके क्षायिक लाभ होता है जिससे उनके शरीरको बल प्रदान करनेमें कारणभूत दूसरे मनुष्योंको असाधारण अर्थात् कभी प्राप्त न होनेवाले परम शुभ और सूक्ष्म ऐसे अनन्त परमाणु प्रति समय संबन्धको प्राप्त होते हैं। (रा. वा./२/४/२/१०४/१०)

३. क्षायिक लाभ सम्बन्धी शंका समाधान

ध. १४/५,६, १८/१७/३ अरहंता खवि खीणलाहंतराइया तो तेसिं सव्वत्थोवलंभो किण्ण जायदे। सच्चं, अत्थि तेसिं सव्वत्थोवलंभो, सगायत्तासेसभुवणत्तादो।—प्रश्न—अरहन्तोंके यदि लाभान्तराय कर्मका क्षय हो गया है तो उनको सब पदार्थोंकी प्राप्ति क्यों नहीं होती? उत्तर—सत्य है, उन्हें सब पदार्थोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि उन्होंने अशेष भुवनको अपने आधीन कर लिया है।

लाभांतराय कर्म—दे० अन्तराय।

लिंग—साधु आदिके बाह्य वेषको लिंग कहते हैं। जैनाम्नायमें वह तीन प्रकारका माना गया है—साधु, आर्यिका व उत्कृष्ट श्रावक। ये तीनों ही द्रव्य व भावके भेदसे दो-दो प्रकारके हो जाते हैं। शरीरका वेष द्रव्यलिंग है और अन्तरंगकी वीतरागता भावलिंग है। भावलिंग सापेक्ष ही द्रव्यलिंग सार्थक है अन्यथा तो स्वांग मात्र है।

१. लिंग सामान्य निर्देश

१. लिंग शब्दके अनेकों अर्थ

न्या. वि./टी./२/१/१/८ साध्याविनाभावनियमनिर्णयैकलक्षणं वक्ष्यमाणं लिङ्गम्।—साध्यके अविनाभावीपनेरूप नियमका निर्णय करना ही जिसका लक्षण है वह लिंग है।

ध. १/१,१,३५/२६०/६ उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसंबन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते।—जिसके कर्मोंका सम्बन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेश्वररूप शक्तिके सम्बन्धसे इन्द्र संज्ञाको धारण करता है, परन्तु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है, ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते हैं। (दे० इंद्रिय/१/१)।

ध. १३/५,५,४३/२४५/६ किमलक्खणं लिंगं। अण्णहाणुववत्तिलक्खणं।—लिंगका लक्षण अन्यथानुपपत्ति है।

भ. आ./वि./६७/१९४/२ शिक्षादिक्रियाया भक्तप्रत्याख्यानक्रियाङ्गभूताया योग्यपरिकरमादर्शयितुं लिङ्गोपादानं कृतम्। कृतपरिकरो हि कर्ता क्रियासाधनायोद्योगं करोति लोके। तथा हि घटादिप्रकरणे प्रवर्तमाना दृढबद्धकक्षाः कुलाला दृश्यन्ते।—शिक्षा, विनय समाधि वगैरह क्रिया भक्त प्रत्याख्यानकी साधन सामग्री है। उस सामग्रीका यह लिंग योग्य परिकर है यह सूचित करनेके लिए अर्हके अनन्तर लिंगका विवेचन किया है। सर्व परिकर सामग्री जुटनेपर जैसे कुंभकार घट निर्माण करता है वैसे अर्ह—योग्य व्यक्ति भी साधन सामग्रीसे युक्त होकर सल्लेखनादि कार्य करनेके लिए सन्नद्ध होता है। लिंग शब्द चिह्नका वाचक है।

प्र. सा./त. प्र./१७२ लिङ्गैरिन्द्रियै...लिङ्गादिन्द्रियगम्याद् धूमादग्नेरिव...लिङ्गेनोपयोगाख्यलक्षणेन...लिङ्गस्य मेहनाकारस्य...लिङ्गानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां...लिङ्गानां धर्मध्वजानां...लिङ्गं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो...लिङ्गं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधो...लिङ्गं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणम्...।—१. लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा, २. जैसे धूएँसे अग्निका ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियोंके जानने योग्यचिह्न) द्वारा; ३. लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा; ४. लिंगका अर्थात् (पुरुषादिकी इन्द्रियका आकार) का ग्रहण; ५. लिंगोंका अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेदोंका ग्रहण; ६. लिंग अर्थात् गुणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध; ७. लिंग अर्थात् पर्यायरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष; ८. लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञानका कारण रूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य...।

स्त्री पुरुष व नपुंसक लिंग—दे० वेद।

२. द्रव्य भाव लिंग निर्देश

मू. आ./९०८ अच्चेलक्कं लोचो वोसट्ठसरीरदा य पडिलिहणं। एसो हु लिंगकप्पो चदुविधो होदि णादव्वो।९०८।—अचेलकत्व, केशलोंच, शरीरसंस्कारका त्याग और पीछी ये चार लिंगके भेद जानने चाहिए।

प्र. सा./मू./२०५-२०६ जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं।२०५। मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं।२०६।—जन्म समयके रूप जैसा रूपवाला, सिर और दाढ़ी-मूँछके बालोंका लोंच किया हुआ, शुद्ध (अकिंचन) हिंसादिसे रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक शृंगार) से रहित लिंग (श्रामण्यका बहिरंग चिह्न) है।२०५। मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्त तथा परकी अपेक्षासे रहित ऐसा

जिनेन्द्रदेव कथित (श्रामण्यका अन्तरंग) लिंग है जो कि मोक्षका कारण है।२०६।

भा. पा./मू./५६ देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो। अप्पा अप्पम्मिरओ स भावलिंगी हवे साहू। –जो देहादि के परिग्रहसे रहित, मान कषायसे रहित है, अपनी आत्मामें लीन है, वह साधु भावलिंगी है।५६।

३. मुनि आर्यिका आदि लिंग निर्देश

द. पा./मू./१८ एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु। अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।१८। –दर्शन अर्थात् शास्त्रमें एक जिन भगवान्‌का जैसा रूप है वह लिंग है। दूसरा उत्कृष्ट श्रावकका लिंग है और तीसरा जघन्य पदमें स्थित आर्यिकाका लिंग है। चौथा लिंग दर्शनमें नहीं है।

दे. वेद/७ (आर्यिका का लिंग सावरण ही होता है)।

४. उत्सर्ग व अपवाद लिंग निर्देश

भ. आ./मू./७७-८१/२०७-२१० उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव। अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं।७७। जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि। सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सग्गियं लिंगं।७८। आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिमं। मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं।७९। अच्चेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं। ऐसो हु लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे।८०। इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा। तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए।८१।

भ. आ./वि./८०/२१०/१३ लिङ्गं तपस्विनीनां प्राक्तनम्। इतरासां पुंसामिव योज्यम्। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिङ्गं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिङ्गं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम्। उत्सर्गलिङ्गं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह–तत् उत्सर्गलिङ्गं तस्य स्त्रीणां होदि भवति। परित्तं अल्पम्। उवधिं परिग्रहम्। करेंतीए कुर्वत्याः। –१. संपूर्ण परिग्रहोंका त्याग करना उत्सर्ग है। सम्पूर्ण परिग्रहोंका त्याग जब होता है उस समय जो चिह्न मुनि धारण करते हैं उसको औत्सर्गिक कहते हैं अर्थात् नग्नताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। यतीको परिग्रह अपवादका कारण है अतः परिग्रह सहित लिंगको अपवादलिंग कहते हैं। अर्थात् अपवाद लिंग धारक गृहस्थ जब भक्त प्रत्याख्यानके लिए उद्यत होता है तब उसके पुरुष लिंगमें कोई दोष न हो तो वह नग्नता धारण कर सकता है।७७। २. जिसके लिंगमें तीन दोष (दे० प्रव्रज्या/१/४) औषधादिकोंसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामें जब संस्तरारूढ़ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता है। संस्तरारोहणके समयमें ही वह नग्न रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है।७८। ३. जो श्रीमान्, लज्जावान् हैं तथा जिसके बन्धुगण मिथ्यात्व युक्त हैं ऐसे व्यक्तिको एकान्त रहित वसतिकामें सवस्त्र ही रहना चाहिए।७९। ४. वस्त्रोंका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच–हाथसे केश उखाड़ना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना, प्रतिलेखन प्राणि दयाका चिह्न–मयूरपिच्छका हाथमें ग्रहण; इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है।८०। ५. परमागममें स्त्रियों अर्थात् आर्यिकाओंका और श्राविकाओंका जो उत्सर्गलिंग अपवाद लिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यानके समय समझना चाहिए। अर्थात् आर्यिकाओंका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्ग लिंग विविक्त स्थानमें होना चाहिए अर्थात् वह भी मुनिवत् नग्न लिंग धारण कर सकती है ऐसी आगमाज्ञा है। ६. परन्तु श्राविकाका उत्सर्ग लिंग भी है और अपवाद लिंग भी है। यदि वह श्राविका संपत्ति वाली, लज्जावती होगी, उसके बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवाद लिंग धारण करे अर्थात् पूर्ववेषमें ही मरण करे। तथा जिस श्राविकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिकामें उत्सर्ग लिंग-नग्नता धारण कर सकती है।

★ उत्सर्ग व अपवाद लिंगका समन्वय – दे० अपवाद/४।

२. भावलिंगकी प्रधानता

१. साधु लिंगमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ./मू./७७०/९२१ ...लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं...जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि।७७०। –सम्यग्दर्शन रहित लिंग अर्थात् मुनि दीक्षा धारण करना व्यर्थ है। इससे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (शी. पा./मू./५)।

र. सा./मू./८७ कम्मु ण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणेइ सम्मउमुक्को। अत्थु ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई।८७। –जो जीव परब्रह्मको नहीं जानता है, और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है। वह न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है। केवल लिंगको धारणकर क्या कर सकते हैं। कर्मोंका नाश तो सम्यक्त्वपूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे होता है।

दे० विनय/४/४ (द्रव्य लिंगी मुनि असंयत तुल्य है।)

रा. वा./६/४६/११/६३७/१५ दृष्ट्या सह यत्र रूपं तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेशः न रूपमात्र इति। –जहाँ सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थरूप है वही निर्ग्रन्थ है।

ध. १/१,१,१४/१७७/५ आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य त्रिमूढालीढचेतसः संयमानुपपत्तेः।...सम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तितस्तदवगतेः। –आप्त, आगम, पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, तथा जिसका चित्त मूढताओंसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।...भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यम सहित है उसे संयत कहते हैं। संयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहाँपर द्रव्य संयमका प्रकरण नहीं है (और भी दे० चारित्र/३/८)।

प्र. सा./त.प्र./२०७ कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं...आलम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति। –कायका उत्सर्ग करके यथाजात रूपवाले स्वरूपको...अवलम्बित करके उपस्थित होता है। और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टिके कारण साक्षात् श्रमण होता है।

२. भाव लिंग ही यथार्थ लिंग है

स. सा./मू./४१० ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि। दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति।४१०। (न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्गः)। –मुनियों और गृहस्थोंके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान दर्शन चारित्रको जिनदेव मोक्षमार्ग कहते हैं।४१०। (द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है)।

मू. आ./१००२ भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा।...१००२। –भाव श्रमण हैं वे ही श्रमण हैं क्योंकि शेष नामादि श्रमणोंको सुगति नहीं होती।

लिं. पा. मू./२ धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।२। –धर्म सहित लिंग होता है, लिंग मात्रसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हे भव्य! तू भावरूप धर्मको जान, केवल लिंगसे क्या होगा तेरे कुछ नहीं।

भा. पा./मू./२,७४,१०० भावो हि पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाणपरमत्थं। भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति।२। भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणे भाववज्जिओ सवणो। कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो।७४। पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं। दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजो-

णीए ।१००। —१. भाव ही प्रथम लिंग है इसलिए हे भव्य जीव ! तू द्रव्यलिंगको परमार्थरूप मत जान। और गुण दोषका कारणभूत भाव ही है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं ।२। (भा. पा./मू./६,७,४८, ५४,५५); (यो. सा. अ./५/५७) । २. भाव ही स्वर्ग मोक्षका कारण है। भावसे रहित श्रमण पाप स्वरूप है, तिर्यंच गतिका स्थानक है और कर्ममलसे मलिन है चित्त जिसका ऐसा है ।७४। जो भाव श्रमण हैं वे परम्परा कल्याण है जिसमें ऐसे सुखोंको पाते हैं। जो द्रव्य श्रमण हैं वे मनुष्य कुदेव आदि योनियोंमें दुःख पाते हैं ।१००।

३. भावके साथ द्रव्य लिंगकी व्याप्ति है द्रव्यके साथ भावकी नहीं

स. सा./ता.वृ./४१४/५०८/१६ बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति। —बहिरंग द्रव्यलिंगके होनेपर भावलिंग होता भी है, नहीं भी होता, कोई नियम नहीं है। परन्तु अभ्यन्तर भावलिंगके होनेपर सर्व संग (परिग्रह) के त्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है।

मो. मा. प्र./६/४६२/१२ मुनि लिंग धारै बिना तो मोक्ष न होय; परन्तु मुनि लिंग धारै मोक्ष होय भी अर नाहीं भी होय।

★ पंचमकाल भरतक्षेत्रमें भी भाव लिंगकी सम्भावना —दे० संयम/२।

३. द्रव्यलिंग को कथंचित् गौणता व प्रधानता

१. केवल बाह्य लिंग मोक्षका कारण नहीं

दे. वर्ण व्यवस्था/२/३ (लिंग व जाति आदिसे ही मुक्ति भावना मानना मिथ्या है।)

स. सा./मू./४०८-४१० पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि। घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ।४०८। ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा। लिंगं मुंचित्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ।४०९। णवि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहमयाणि लिंगाणि ।४१०। —बहुत प्रकारके मुनिलिंगोंको अथवा गृहीलिंगोंको ग्रहण करके मूढ (अज्ञानी) जन यह कहते हैं कि 'यह लिंग मोक्षमार्ग है' ।४०८। परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्तदेव देहके प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए लिंगको छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन करते हैं ।४०९। मुनियों और गृहस्थोंके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है ।४१०।

मू. आ./९०० लिंगग्गहणं च संजमविहूणं। ···जो कुणइ णिरत्थयं कुणदि। —जो पुरुष संयम रहित जिन लिंग धारण करता है, वह सब निष्फल है।

भा. पा./मू./७२ जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा। न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।७२। —जो मुनि राग अर्थात् अन्तरंग परिग्रहसे युक्त हैं, जिन स्वरूपकी भावनासे रहित हैं वे द्रव्य-निर्ग्रन्थ हैं। उसे जिनशासनमें कहीं समाधि और बोधिकी प्राप्ति नहीं होती ।७२।

स. श./मू./८७ लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः। न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ।८७। —लिंग (वेष) शरीरके आश्रित है, शरीर ही आत्माका संसार है, इसलिए जिनको लिंगका ही आग्रह है वे पुरुष संसारसे नहीं छूटते ।८७।

यो.सा. अ./५/५९ शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम्। न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वतः ।५९। —शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीर स्वरूप है इसलिए आत्मासे भिन्न होनेके कारण निश्चय नयसे लिंग मोक्षका कारण नहीं ।५९।

२. केवल द्रव्यलिंग अकिंचित्कर व व्यर्थ है

मो. पा./मू./५७ णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं। अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ।५७। —जहाँ ज्ञान चारित्रहीन है, जहाँ तपसे तो संयुक्त है पर सम्यक्त्वसे रहित है और अन्य भी आवश्यकादि क्रियाओंमें शुद्ध भाव नहीं है ऐसे लिंगके ग्रहणमें कहाँ सुख है ।५७।।

भा. पा./मू./६,६८,१११ जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण। पंथिय ! सिव पुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ।६। णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसागरे भमति। णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।६८। सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो। बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ।१११। —हे मुने ! मोक्षका मार्ग भाव ही मे है इसलिए तू भाव ही को परमार्थभूत जान अंगीकार करना, केवल द्रव्यमात्रसे क्या साध्य है। कुछ भी नहीं ।६। जो नग्न है सदा दुःख पावे है, संसारमें भ्रमता है। तथा जो नग्न है वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रको नहीं पाता है सो कैसा है वह नग्न, जो कि जिन भावनासे रहित है ।६८। हे मुनिवर ! तू अभ्यन्तरकी शुद्धि पूर्वक चार प्रकारके लिंगको धारण कर। क्योंकि भाव रहित केवल बाह्यलिंग अकार्यकारी है ।१११। (और भी भा. पा /मू /४८,५४,८९,९६)।

३. भाव रहित द्रव्य लिंगका अत्यन्त तिरस्कार

मो. पा./मू /६१ बाहिरलिंगेन जुदो अब्भतरलिंगरहियपरियम्मो। सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।६१। —जो जीव बाह्य लिंगसे युक्त है और अभ्यन्तर लिंगसे रहित है और जिसमें परिवर्तन है। वह मुनि स्वरूपाचरण चारित्रसे भ्रष्ट है, इसलिए मोक्षमार्ग का विनाशक है ।६१।

दे० लिंग/२/२ (द्रव्यलिंगी साधु पापमोहित यति व पाप जीव है। नरक व तिर्यंच गतिका भाजन है।)

भा. पा./४९,६९,७१,९० दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण। जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरये ।४९। अयसाण भायणेण य किं ते णग्गेण पावमलिणेण। पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ।६९। धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो। णिप्फलणिग्गुणयारो णउसवणो णग्गरूवेण ।७१। ···मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ।९०। —बाहू नामक मुनि बाह्य जिन लिंग युक्त था। तो भी अभ्यन्तर दोषसे दण्डक नामक नगरको भस्म करके सप्तम पृथिवीके रौरव नामक बिलमें उत्पन्न हुआ ।४९। हे मुनि ! तेरे नग्नपनेसे क्या साध्य है जिसमें पैशुन्य, हास्य, मत्सर, माया आदि परिणाम पाये जाते हैं। इसलिए ऐसा ये नग्नपना पापसे मलिन और अपकीर्तिका स्थान है ।६९। जो धर्मसे रहित है, दोषोंका निवास स्थान है। और इक्षु पुष्पके सदृश जिसमें कुछ भी गुण नहीं है, ऐसा मुनिपना तो नग्नरूपसे नटश्रमण अर्थात् नाचने वाला भाँड सरीखा स्वांग है ।७१। ·· हे मुने ! तू बाह्यव्रतका वेष लोकका रंजन करने वाला मत धारण कर ।९०।

स. सा./आ./४११ यतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्गः। —द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है।

★ द्रव्यलिंगीकी सूक्ष्म पहचान—दे० साधु/४।

★ द्रव्य लिंगीको दिये गये घृणास्पद नाम—दे० निन्दा।

★ पुलाक आदि साधु द्रव्यलिंगी नहीं—दे० साधु/५।

४. द्रव्य लिंगकी कथंचित् प्रधानता

भा. पा./टी./२/१२६ पर उद्धृत-उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने-द्रव्यलिङ्गं समास्थाय भावलिङ्गी भवेद्यतिः। विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ।१। द्रव्यलिङ्गमिदं ज्ञेयं भावलिङ्गस्य कारणम्। तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यतः ।२। —इन्द्रनन्दि भट्टारकने समय भूषण प्रवचनमें कहा है—कि द्रव्यलिंगको भले प्रकार प्राप्त करके यति भावलिंगी होता है। उस द्रव्यलिंगके बिना वह वन्द्य नहीं है, भले ही नाना व्रतोंको धारण क्यों न करता हो। द्रव्यको भावलिंगका कारण जानो। भावलिंग तो केवल अध्यात्म द्वारा ही देखा जा सकता है, क्योंकि वह नेत्रका विषय नहीं है।

दे० मोक्ष/४/५ (निर्ग्रन्थ लिंगसे ही मुक्ति होती है।)

दे० वेद/७ (सवस्त्र होनेके कारण स्त्रीको संयतत्व व मोक्ष नहीं होता।)

५. भरत चक्रीने भी द्रव्यलिंग धारण किया

स. सा./ता. वृ./४१४/५०८/२० येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रंथरूपेणैव। परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थः। —जो ये दीक्षाके बाद घड़ीकालमें ही भरत-चक्रवर्ती आदिने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होंने भी निर्ग्रन्थ रूपसे ही (मोक्ष प्राप्त किया है)। परन्तु समय स्तोक होनेके कारण उनका परिग्रह त्याग लोग जानते नहीं हैं।

प. प्र./टी./२/५२ भरतेश्वरोऽपि पूर्वं जिनदीक्षां प्रस्तावे लोचानन्तरं हिंसादिनिवृत्तिरूपं महाव्रतरूपं कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते …निजशुद्धात्मध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जातः। परं किन्तु तस्य स्तोककालत्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति। —भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, सिरके केश लुंचन किये, हिंसादि पापोंकी निवृत्ति रूप पंच महाव्रत आदरे। फिर अन्तर्मुहूर्तमें …निज शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर निर्विकल्प हुए। तब भरतेश्वरने अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया परन्तु उसका समय स्तोक है, इसलिए महाव्रतकी प्रसिद्धि नहीं हुई। (द्र. सं./टी./५७/२३१/२)।

४. द्रव्य व भाव लिंगका समन्वय

१. रत्नत्रयसे प्रयोजन है नग्नताकी क्या आवश्यकता

भ. आ./मू./८२-८७/२११-२२२ ननु वर्द्धस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृतिरुपयुज्यते किममुना लिङ्गविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—जत्तासाधणचिण्हकरणं खु जगपच्चयादठिदिकरणं। गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होंति ।८२। गंथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहणं च गदभयत्तं च। संसज्जणपरिहारो परिकम्म विवज्जणा चेव ।८३। विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु। सव्वत्थ अप्पवसदा परिसहअधिवासणा चेव ।८४। जिणपडिरूवं विरियायारो रागादिदोसपरिहरणं। इच्चेवमादिबहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ।८५। इय सव्वसमिदिकरणो ठाणासणसयणगमणकिरियासु। णिगिणं गुत्तिमुवगदो पग्गहिददरं परक्कमदि ।८६। अववादिय लिंगकदो विसयासत्तिं अगूहमाणो य। णिंदणगरहणजुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरंतो ।८७। —प्रश्न—जो भक्त प्रतिज्ञा योग्य है उसको रत्नत्रयका प्रकर्ष करके मरना योग्य है। उत्सर्ग लिंग अथवा अपवाद लिंग धारण करके मरना चाहिए ऐसा हठ क्यों। उत्तर—नग्नता यात्राका साधन है। गृहस्थ वेषसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान न देंगे, तब क्रमसे शरीरस्थिति तथा रत्नत्रय व मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी। अतः नग्नता गुणीपनेका सूचक है इससे दानादिकी प्रवृत्ति होती है। मोक्षके साधन रत्नत्रय उसका नग्नता चिह्न है। इसमें जगत प्रत्ययता—सर्व जगतकी इसके ऊपर श्रद्धा होना, आत्मस्थितिकरण गुण है ।८२। ग्रंथ त्याग-परिग्रह त्याग, लाघव-हल्कापन, अप्रतिलेखन, परिकर्मवर्जना अर्थात् वस्त्र विषय धोनादि क्रियासे रहितपन, गतभयत्व, परिषहाधिवासना आदि गुण मुनिलिंगमें समाविष्ट हुए हैं ।८३। निर्वस्त्रता विश्वास उत्पन्न करानेवाली है, अनादर, विषयजनित सुखोंमें अनादर, सर्वत्र आत्मवशता तथा शीतादि परीषहोंको सहन करना चाहिए ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है ।८४। जिनरूप-तीर्थंकरोंने जो लिंग धारण किया वही मुमुक्षुको धारण करना चाहिए, वीर्याचार, रागादि दोष परिहरण-वस्त्रका त्याग करनेसे सर्व रागादि दोष नहीं रहते सब महागुण मुनिराजको मिलते हैं ।८५। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें समिति युक्त प्रवृत्ति करती है। स्थान क्रिया, आसन क्रिया, शयनक्रिया, गमनक्रिया, इत्यादि कार्योंमें समिति युक्त वर्तते हैं। गुप्तिको पालनेवाले मुनि शरीरसे प्रेम दूर करते हैं। इस प्रकार अनेकों गुण नग्नतामें हैं ।८६। अपवादलिंगधारी ऐलक आदि भी अपनी चारित्र धारणकी शक्तिको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है क्योंकि वह अपनी निन्दा गर्हा करता है 'सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है परन्तु मेरे परिषहोंके डरके कारण परिग्रह है' ऐसा मनमें पश्चात्ताप पूर्वक परिग्रह स्वल्प करता है अतः उसके कर्म निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है ।८७। (और भी दे० अचेलकत्व)।

२. द्रव्य लिंगके निषेधका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ./४१०-४११ न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्गः; शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ।४१०। ततः समस्तमपि द्रव्यलिङ्गं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति। —द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि वह शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य है। इसलिए समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शन-ज्ञान चारित्रमें ही वह मोक्षमार्ग होनेसे आत्माको लगाना योग्य है।

स. सा./ता. वृ./४१४/५०८/५ अहो शिष्य। द्रव्यलिङ्गं निषिद्धमेवेति त्वं मा जानीहि किंतु · भावलिङ्गरहितानां यतीनां संबोधनं कृतं। कथं। इति चेत्, अहो तपोधना.! द्रव्यलिङ्गमात्रेण संतोषं मा कुरुत किन्तु-द्रव्यलिङ्गाधारेण निर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत।·· भावलिङ्गरहितं द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं न च भावलिङ्गसहितं। कथं। इति चेत् द्रव्यलिङ्गाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं। —हे शिष्य! द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है ऐसा तू मत जान। किंतु…भावलिंगसे रहित यतियोंको यहाँ संबोधन किया गया है। वह ऐसे कि—हे तपोधन! द्रव्यलिंग मात्रसे सन्तोष मत करो किन्तु द्रव्यलिंगके आधारसे… निर्विकल्प समाधि रूप भावना करो।· भावलिंग रहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है न कि भावलिंग सहित। क्योंकि द्रव्यलिंगका आधारभूत जो यह देह है, उसका ममत्व निषिद्ध है।

स. सा./पं. जयचन्द/४११ यहाँ मुनि श्रावकके व्रत छुड़ानेका उपदेश नहीं है जो केवल द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर भेष धारण करते हैं उनको द्रव्यलिंगका पक्ष छुड़ाया है कि वेष मात्रसे मोक्ष नहीं है। (भा. पा./पं. जयचन्द ।११३।)

३. द्रव्यलिंग धारनेका कारण

पं. वि./१/४१ म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो नष्टे व्याकुलचित्ततात्र महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्। कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते तन्नित्यं शुचिरागहृत् शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ।४१। —वस्त्रके मलिन हो जानेपर उसके धोनेके लिए

जल एवं साबुन आदिका आरम्भ करना पड़ता है, और इस अवस्था-में संयमका घात होना अवश्यम्भावी है। वस्त्रके नष्ट होनेपर महान् पुरुषोंका भी मन व्याकुल हो जाता है, दूसरोंसे उसको प्राप्त करनेके लिए प्रार्थना करनी पड़ती है। केवल लंगोटीका ही अपहरण हो जावे तो झटसे क्रोध होने लगता है इसलिए मुनिजन सदा पवित्र एवं रागभावको दूर करनेके लिए दिग्मण्डल रूप अविनश्वर वस्त्रका आश्रय लेते हैं।४१।

रा. वा. हि./६/४६/७६६ जो वस्त्रादि ग्रन्थ करि संयुक्त हैं ते निर्ग्रन्थ नाहीं। जातै बाह्य परिग्रहका सद्भाव होय तो अभ्यन्तरके ग्रन्थ-का अभाव होय नाहीं।

* द्रव्यलिंगी साधु के ज्ञानकी कथंचित् यथार्थता —दे० ज्ञान/१।

४. जबरदस्ती वस्त्र उढ़ानेसे साधुका लिंग भंग नहीं होता

स. सा./ता.वृ./४१४/५०८/१८ हे भगवन् ! भावलिङ्गे सति बहिरङ्गं द्रव्यलिङ्गं भवतीति नियमो नास्ति ! परिहारमाह—कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणा-दिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात्। इति चेत्, बुद्धि-पूर्वकममत्वाभावात्। —प्रश्न—हे भगवान् ! भावलिंगके होनेपर बहि-रंग द्रव्यलिंग होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। उत्तर—इसका उत्तर देते है—जैसे कोई तपोधन ध्यानारूढ बैठा है। उसको किसीने दुष्ट भावसे (अथवा करुणा भावसे) वस्त्र लपेट दिया अथवा आभू-षण आदि पहना दिये, तब भी वह निर्ग्रन्थ है, क्योंकि, बुद्धि-पूर्वक ममत्वका उनके अभाव है।

* कदाचित् परिस्थितिवश वस्त्र ग्रहणकी आज्ञा —दे० अचेलकत्व।

५. दोनों लिंग परस्पर सापेक्ष हैं

प्र. सा./मू./२०७ आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता। सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदिसो समणो।२०७। —परम गुरुके द्वारा प्रदत्त उन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रियाको सुनकर उपस्थित (आत्माके समीप-स्थित) होता हुआ वह श्रमण होता है।२०७।

भा.पा./टी./७३/२१६/२२ भावलिङ्गेन द्रव्यलिङ्गं द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तव्यं। एकान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भव-तीति वेदितव्यम्। —भावलिंगसे द्रव्यलिंग और द्रव्यलिंगसे भावलिंग होता है इसलिए दोनोंको ही प्रमाण करना चाहिए। एकान्त मतसे तो सर्व नष्ट हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।

६. भाव सहित ही द्रव्यलिंग सार्थक है

भा. पा./मू./७३ भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं। पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए।७३। —पहले मिथ्यात्वादि दोषोंको छोड़कर भावसे अन्तरंग नग्न होकर एक शुद्धात्माका श्रद्धान-ज्ञान व आचरण करे पीछे द्रव्यसे बाह्य लिंग जिन आज्ञासे प्रकट करे यह मार्ग है।७३।

दे. लिंग/३/२ (अन्तर शुद्धिको प्राप्त होकर चार प्रकार बाह्यलिंगका सेवन कर, क्योंकि भावरहित द्रव्यलिंग अकार्यकारी है।)

यो. सा. अ./५/५७-५८ द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृत्तिरेनसां। भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृतिः पुनः।५७। विज्ञायेति निराकृत्य निवृत्तिं द्रव्यतस्त्रिधा। भाव्यं भावनिवृत्तेन समस्तैनोनिषिद्धये।५८। —जो केवल द्रव्यरूपसे विषयोंसे निवृत्त है उनके पापोंकी निवृत्ति नहीं, किन्तु भाव रूपसे निवृत्त हैं उन्हींके कर्मोंका संवर है।५७। द्रव्य और भावरूप निवृत्तिका भले प्रकार स्वरूप जानकर मन, वच, कायसे विषयोंसे निवृत्त होकर समस्त पापोंके नाशार्थ भाव रूपसे विषयोंसे निवृत्त होना चाहिए।५८।

स. सा./ता. वृ./४१४/५०७/१० भावलिङ्गसहितं निर्ग्रन्थयति लिङ्ग... गृहिलिङ्गं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते। —भावलिंग सहित निर्ग्रन्थ यतिका लिंग...तथा गृहस्थका लिंग है। इसलिए दोनोंको (द्रव्य-भाव) ही मोक्षमार्गमें व्यवहार नयसे माना गया है।

भा. पा./पं. जयचन्द/२ मुनि श्रावकके द्रव्य तैं पहले भावलिंग होय तो सच्चा मुनि श्रावक होय।

लिंगजश्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/I/१।

लिंगपाहुड़—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत साधुके द्रव्य व भाव लिंगका प्ररूपक २२ (प्रा०) गाथा निबद्ध ग्रन्थ है। इसमें केवल पं. जयचन्द छाबड़ा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है। (ती० २/११४)।

लिंग व्यभिचार—दे० नय/III/६/८

लिंग शुद्धि—दे० शुद्धि।

लिपि संख्यान क्रिया—दे० संस्कार/२।

लिप्त—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

लीख—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१/३।

लीला विस्तार टीका—श्वेताम्बराचार्य श्री हरिभद्र सूरि (ई० ४८०-५२८) द्वारा रचित एक ग्रन्थ है।

लुंका—गुजरात देशमें 'अणहिल' नगरमें कुलुम्बी वंशीय एक महा-मानी हुआ जिसने लंकामत (ढूंढिया मत) चलाया। समय—वि० १५२७ (भद्रबाहु चरित/१५७-१५८)।

लुंकामत—ढूंढिया या स्थानकवासी मतका अपर नाम—दे० श्वेताम्बर।

लेप—१. आहारका एक भेद—दे० आहार/I/१। २. ला. सं./२/१७ लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादिकर्म यत्। —तेल मर्दन करना, उबटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं।

लेपकर्म—दे० निक्षेप/४।

लेवड़—१. आहारका एक भेद—दे० आहार/I/१। २ भ. आ./वि. ७००/८८२/७ दध्यादिकं लेवडलेपसहितं। अलेवडं अलेपसहितं यत्र हस्ततलं विलिम्पति। —लेवड़ जो हाथमें चिपकता है ऐसा पतला पदार्थ दही वगैरह। अलेवड़—हाथमें न चिपकने वाला माँड़ ताक वगैरह।

लेश्या—कषायसे अनुरंजित जीवकी मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति भाव लेश्या कहलाती है। आगममें इनका कृष्णादि छह रंगों द्वारा निर्देश किया गया है। इनमेंसे तीन शुभ व तीन अशुभ होती हैं। राग व कषायका अभाव हो जानेसे मुक्त जीवोंको लेश्या नहीं होती। शरीरके रंगको द्रव्यलेश्या कहते हैं। देव व नारकियोंमें द्रव्य व भाव लेश्या समान होती है, पर अन्य जीवोंमें इनकी समानताका नियम नहीं है। द्रव्यलेश्या आयु पर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवोंके परिणामोंके अनुसार बराबर बदलती रहती हैं।

१. भेद लक्षण व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. लेश्या सामान्यके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१४२-१४३ लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च। जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया।१४२। जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण। तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह य त्ति लेवेण।१४३।–जिसके द्वारा जीव पुण्य-पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं।१४२। (ध. १/१,१,४/गा. ९४/१५०); (गो. जी./मू./४८९) जिस प्रकार आमपिष्टसे मिश्रित गेरु मिट्टीके लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेपके द्वारा जो आत्माका परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते हैं।१४३।

ध. १/१,१,४/१४९/६ लिम्पतीति लेश्या।...कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकारी लेश्या। प्रवृत्ति–शब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्।–जो लिम्पन करती है उसको लेश्या कहते हैं अर्थात् जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। (ध. १/१,१,१३६/२८३/६) अथवा जो आत्मा और कर्मका संबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं। यहाँपर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची है। (ध. ७/२,१,३/७/७)।

ध. ८/३,२७३/३५६/४ का लेस्सा णाम। जीव-कम्माणं संसिलेसयणयरी, मिच्छत्तासंजम-कसायजोगा त्ति भणिदं होदि।–जीव व कर्मका सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती है। अभिप्राय यह है कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या हैं।

२. लेश्याके भेद-प्रभेद

१. द्रव्य व भाव दो भेद—

स. सि./२/६/१५९/१० लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति।–लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या (रा. वा./२/६/८/१०९/२२); (ध. २/१,१/४१९/८); (गो. जी./जी. प्र./४८९/८९४/१२)।

२. द्रव्य भाव लेश्याके उत्तर भेद—

ष. खं./१/१,१/सू. १३६/३८६ लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि।१३६।–लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और अलेश्यावाले जीव होते हैं।१३६। ध./१६/४८५/७।

स. सि./२/६/१५९/१२ सा षड्विधा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या चेति।–लेश्या छह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। (रा. वा./२/६/८/१०९/२७), (रा. वा./९/७/११/६०४/१३); (ध. १/१,१,१३६/३८८/५), (गो. जी./मू./४९३/८९६); (द्र. सं./टी./१३/३८)।

गो. जी./मू./४९४-४९५/८९७ दव्वलेस्सा। सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण।४९४। छप्पय णीलकवोदसुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे। संखेज्जासंखेज्जाणंतवियप्पा य पत्तेयं।४९५।–द्रव्यलेश्या कृष्णादिक छह प्रकारकी है उनमें एक-एकके भेद अपने-अपने उत्तर भेदोंके द्वारा अनेक रूप हैं।४९४। कृष्ण-भ्रमरके सदृश काला वर्ण, नील-नील मणिके सदृश, कापोत-कापोतके सदृश वर्ण, तेजो-सुवर्ण सदृश वर्ण, पद्म-कमल समान वर्ण, शुक्ल-शंखके समानवर्ण वाली है। जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन-उत्कृष्ट-पर्यन्त अनन्त भेदोंको लिये है उसी प्रकार छहों द्रव्य-लेश्याके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त शरीरके वर्णकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात व अनन्त तक भेद हो जाते हैं।४९५।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/५ लेश्या सा च शुभाशुभभेदाद् द्वेधा। तत्र अशुभा कृष्णनीलकपोतभेदात् त्रेधा, शुभापि तेजःपद्मशुक्लभेदात्त्रेधा। –वह लेश्या शुभ व अशुभके भेदसे दो प्रकारकी है। अशुभ लेश्या कृष्ण, नील व कपोतके भेदसे तीन प्रकारकी है। और शुभ लेश्या भी पीत, पद्म व शुक्लके भेदसे तीन प्रकारकी है।

३. द्रव्य-भाव लेश्याओंके लक्षण

१. द्रव्य लेश्या

पं. सं./प्रा./१/१८३-१८४ किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलिय-संकासा। काऊ कओदवण्णा तेऊ तवणिज्जवण्णा दु।१८३। पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणु कासकुसुमसंकासा। वण्णंतरं च एदे हवंति परिमिता अणंता वा।१८४। –कृष्ण लेश्या, भौंरेके समान वर्णवाली, नील लेश्या-नीलकी गोली, नीलमणि या मयूरकण्ठके समान वर्णवाली। कापोत—कबूतरके समान वर्णवाली, तेजो-तप्त सुवर्णके समान वर्णवाली पद्म लेश्या पद्मके सदृश वर्णवाली। और शुक्ललेश्या कासके फूलके समान श्वेत वर्णवाली है। (ध. १६/गा. १-२/४८५)।

रा. वा./९/७/११/६०४/१३ शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या।–शरीरनाम कर्मोदयसे उत्पन्न द्रव्यलेश्या होती है।

गो. जी./मू./४९४ वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा। –वर्ण नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो शरीरका वर्ण उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं।४९४। (गो. जी./मू./५३६)।

२. भावलेश्या

स. सि./२/६/१५९/११ भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते। –भावलेश्या कषायके उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति रूप है, इसलिए वह औदयिकी कही जाती है। (रा. वा./२/६/८/१०९/१४); (द्र. सं./टी./१३/३८/५)।

ध. १/१,१,४/१४९/८ कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या –कषायसे अनुरंजित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं। (गो.जी./मू./४९०/८९५); (पं.का./त.प्र./११९)।

गो. जी./मू./५३६/९३१ लेस्सा। मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो। –मोहनीय कर्मके उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न हुआ जो जीवका स्पन्द सो भावलेश्या है।

४. कृष्णादि भावलेश्याओंके लक्षण

१. कृष्णलेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४४-१४५ चंडो ण मुयदि वेरं भंडण-सीलो य धम्म दय-रहिओ। दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेदं तु किण्हस्स।२००। मंदो बुद्धि-विहीणो णिव्विणाणी य विसय-लोलो य। माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य।२०१। –तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्ण-लेश्यावालोंके लक्षण हैं।२००। मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कलाचातुर्यसे रहित हो, पंचेन्द्रियके विषयोंमें लम्पट हो, मानी, मायावी, आलसी और भीरु हो, ये सब कृष्णलेश्यावालोंके लक्षण हैं।२०१। (ध.१/१,१,१३६/गा.२००-२०१/३८८), (गो.जी./मू./५०९-५१०)।

ति. प./२/२९५-२९६ किण्हादितिलेस्सजुदा जे पुरिसा ताण लक्खणं एदं। गोत्तं सकलत्तं एक्कं बंछेदि मारिदुं दुट्ठो।२९५। धम्म दया परिचत्तो अमुक्कवेरो पयंडकलहयरो। बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादि चरिमंते।२९६। –कृष्णलेश्यासे युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्वकलत्रको भी मारनेकी इच्छा करता है।२९५। दया-धर्मसे रहित, वैरको न छोड़ने वाला, प्रचण्ड कलह करनेवाला

और क्रोधी जीव कृष्णलेश्याके साथ धूमप्रभा पृथिवीसे अन्तिम पृथिवी तक जन्म लेता है।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२५ अनुनयानभ्युपगमोपदेशाग्रहणवैरामोचनातिचण्डत्व - दुर्मुखत्व - निरनुकम्पता-क्लेशन - मारण - परितोषणादि कृष्णलेश्या लक्षणम्। = दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अतिक्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामसभाव कृष्णलेश्याके लक्षण हैं।

२. नीललेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४६ णिद्दावंचण-बहुलो धण-धण्णे होइ तिव्व-सण्णो य। लक्खणमेदं भणियं समासदो णील-लेस्सस्स।२०२। = बहुत निद्रालु हो, पर वंचनमें अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके संग्रहादिमें तीव्र लालसावाला हो, ये सब संक्षेपसे नीललेश्यावालेके लक्षण कहे गये हैं।१४६। (ध. १/१,१,१३६/गा. २०२/३८९); (गो. जी./मू./५११/९१०); (पं. सं./सं./१/२७४)।

ति. प./२/२९७-२९८ विसयासत्तो विमदी माणी विण्णाणवज्जिदो मंदो। अलसो भीरू मायापवंचबहुलो य णिद्दालू।२९७। परवंचणप्पसत्तो लोहंधो धणसुहाकंखी। बहुसण्णा णीलाए जम्मदि तं चेव धूमंतं।२९८। = विषयोंमें आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक बुद्धिसे रहित, मन्द, आलसी, कायर, प्रचुर माया प्रपंचमें संलग्न, निद्राशील, दूसरोंके ठगनेमें तत्पर, लोभसे अन्ध, धन-धान्यजनित सुखका इच्छुक और बहुसंज्ञायुक्त अर्थात् आहारादि संज्ञाओंमें आसक्त ऐसा जीव नीललेश्याके साथ धूमप्रभा तक जाता है।२९७-२९८।

रा. वा./४/२२/११/२३६/२६ आलस्य - विज्ञानहानि - कार्यानिष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया - तृष्णातिमानवञ्चनानृतभाषणचापला-तिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम्। = आलस्य, मूर्खता, कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्याके लक्षण है।

३. कापोतलेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४७-१४९ रूसइ णिंदइ अण्णे दूसणबहुलो य सोय-भय-बहुलो। असुवइ परिभवइ परं पसंसइ य अप्पयं बहुसो।१४७। ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परं पि मण्णंतो। तूसइ अइथुव्वंतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ।१४८। मरणं पत्थेइ रणे देइ सु बहुयं पि थुव्वमाणो हु। ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स।१४९। = जो दूसरोंके ऊपर रोष करता हो, दूसरोंकी निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक बहुल हो, भय बहुल हो, दूसरोंसे ईर्ष्या करता हो, परका पराभव करता हो, नाना प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता हो, परका विश्वास न करता हो, अपने समान दूसरेको भी न मानता हो, स्तुति किये जानेपर अति सन्तुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धिको न जानता हो, रणमें मरणका इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किये जानेपर बहुत धनादिक देवे और कर्तव्य-अकर्तव्यको कुछ भी न गिनता हो, ये सब कापोत लेश्यावालेके चिह्न हैं। (ति. प./२/२९९-३०१); (ध. १/१,१,१३६/गा. २०३-२०५/३८९), (गो. जी./मू./५१२-५१४/९१०-९११); (पं. सं./सं./१/२७५-२७७)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२८ मात्सर्य - पैशुन्य - परपरिभवात्मप्रशंसा - परपरिवादवृद्धिहान्यगणनात्मीयजीवितनिराशता प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कापोतलेश्यालक्षणम्। = मात्सर्य, पैशुन्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसकको धन देना, युद्ध मरणोद्यम आदि कापोत लेश्याके लक्षण हैं।

४. पीत लेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५० जाणइ कज्जाकज्जं सेयासेयं च सव्वसमपासी। दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेयं तु तेउस्स।१५०। = जो अपने कर्तव्य और अकर्तव्य, और सेव्य-असेव्यको जानता हो, सबमें समदर्शी हो, दया और दानमें रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजोलेश्यावालेके लक्षण हैं।१५०। (ध. १/१,१,१३६/गा. २०४/३८९); (गो. जी./मू./५१५/९११); (पं. सं./सं./१/२७९); (दे. आयु/३)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२९ दृढमित्रता सानुक्रोशत्व-सत्यवाद दानशीलात्मीयकार्यसंपादनपटुविज्ञानयोग - सर्वधर्मसमदर्शनादि तेजोलेश्यालक्षणम्। = दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्य-पटुता, सर्वधर्म समदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण हैं।

५. पद्मलेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५१ चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि। साहुगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स।१५१। = जो त्यागी हो, भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत भी अपराध या हानि होनेपर क्षमा कर दे, साधुजनोंके गुणोंके पूजनमें निरत हो, ये सब पद्मलेश्याके लक्षण हैं।१५१। (ध. १/१,१,१३६/२०६/३९०); (गो. जी./मू./५१६/९१२); (पं. सं./सं./१/२८१)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/३१ सत्यवाक्यक्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विकदान-विशारद-चतुरर्जुगुरुदेवतापूजाकरणनिरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम्। = सत्यवाक्, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देवता पूजनमें रुचि आदि पद्मलेश्याके लक्षण हैं।

६. शुक्ललेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५२ ण कुणेइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु। णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेसस्स।१५२। = जो पक्षपात न करता हो, और न निदान करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे परमें राग-द्वेष वा स्नेह न हो, ये सब शुक्ललेश्याके लक्षण हैं।१५२। (ध. १/१,१,१३६/२०८/३९०); (गो. जी./मू./५१७/९१२); (पं. सं./सं./१/२८१)।

रा. वा. ४/२२/१०/२३६/३३ वैररागमोहविरह-रिपुदोषाग्रहणनिदानवर्जन-सार्व-सावद्यकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्ललेश्यालक्षणम्। = निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषोंपर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्योंसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ल लेश्याके लक्षण है।

५. अलेश्याका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१५३ किण्हाइलेसरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा। सिद्धिपुरीसंपत्ता अलेसिया ते मुणेयव्वा।१५३। = जो कृष्णादि छहों लेश्यासे रहित है, पंच परिवर्तन रूप संसारसे विनिर्गत है, अनन्त सुखी है, और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिपुरीको सम्प्राप्त हैं, ऐसे अयोगिकेवली और सिद्ध जीवोंको अलेश्य जानना चाहिए।१५३। (ध. १/१,१,१३६/२०९/३९०); (गो. जी./मू./५५६); (पं. सं./सं./१/२८३)।

६. लेश्याके लक्षण सम्बन्धी शंका

१. 'लिम्पतीति लेश्या' लक्षण सम्बन्धी

ध. १/१,१,४/१४९/६ न भूमिलेपिकयातिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। नात्रातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। = प्रश्न—(लिम्पन करती है वह लेश्या है यह लक्षण भूमिलेपिका आदिमें

चला जाता है।) उत्तर—इस प्रकार लक्षण करनेपर भी भूमि लेपिका आदिमें अतिव्याप्ति दोष नहीं होता, क्योंकि इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको इस अध्याहारकी अपेक्षा है' इसका तात्पर्य है जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है वह लेश्या है अथवा जो प्रवृत्ति कर्मका सम्बन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हैं ऐसा लक्षण करनेपर अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता क्योंकि यहाँ प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है।

ध. १/१,१,१३६/३८६/१० कषायानुरञ्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्तेः अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्यः सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात्। —'कषायसे अनुरञ्जितयोग प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं, 'यह अर्थ यहाँ नहीं ग्रहण करना चाहिए', क्योंकि इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्या रहितपनेकी आपत्ति होती है। प्रश्न—ऐसा ही मान लें तो। उत्तर—नहीं, क्योंकि 'केवलीको शुक्ल लेश्या होती है' इस वचनका व्याघात होता है।

२. 'कर्म बन्ध संश्लेषकारी'के अर्थमें

ध. ७/२,१,६१/१०५/४ जदि बंधकारणाणं लेस्सत्तं उच्चदि तो पमादस्स वि लेस्सत्तं किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स कसाएसु अंतब्भावादो। असंजमस्स किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स वि लेस्सायम्मे अंतब्भावादो। मिच्छत्तस्स किण्ण इच्छिज्जदि। होदु तस्स लेस्साववएसो, विरं हाभावादो। किंतु कसायाणं चेव एत्थ पहाणत्तं हिंसादिलेस्सायम्मकरणादो, सेसेसु तदभावादो। —प्रश्न—बन्धके कारणोंको ही लेश्याभाव कहा जाता है तो प्रमादको भी लेश्याभाव क्यों न मान लिया जाये। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रमादका तो कषायोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। (और भी दे० प्रत्यय/१/३)। प्रश्न—असंयमको भी लेश्या क्यों नहीं मानते? उत्तर—नहीं, क्योंकि असंयमका भी तो लेश्या कर्ममें अन्तर्भाव हो जाता है। प्रश्न—मिथ्यात्वको लेश्या भाव क्यों नहीं मानते। उत्तर—मिथ्यात्वको लेश्याभाव कह सकते हैं, क्योंकि उसमें कोई विरोध नहीं आता। किन्तु यहाँ कषायोंका ही प्राधान्य है, क्योंकि कषाय ही लेश्या कर्मके कारण हैं और अन्य बन्ध कारणोंमें उसका अभाव है।

७. लेश्याके दोनों लक्षणोंका समन्वय

ध. १/१,१,१३६/३८८/१ संसारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्वेन तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधात्। —प्रश्न—संसारकी वृद्धिका हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं'; इस वचनके साथ विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कर्म लेपकी अविनाभावी होने रूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेश्या ऐसी संज्ञा देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। अतः उन दोनोंसे पृथग्भूत लेश्या है यह बात निश्चित हो जाती है।

२. कषायानुरंजित योग प्रवृत्ति सम्बन्धी

१. तरतमताकी अपेक्षा लेश्याओंमें छह विभाग

ध. १/१,१,१३६/३८८/३ षड्विधः कषायोदयः। तद्यथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतमः इति। एतेभ्यः षड्भ्यः कषायोदयेभ्यः परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति। —कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटी क्रमसे लेश्या भी छह हो जाती है।—(और भी दे० आयु/३/१६)।

२. लेश्या नाम कषायका है, योगका है या दोनोंका :

ध. १/१,१,१३६/३८६/११ लेश्या नाम योगः कषायस्ताबुभौ वा। किं चातो नाद्यौ विकल्पौ योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात्। न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात्।...कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात्। नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्वयात्मकैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्वसमानत्वयोर्विरोधात्।

ध. १/१,१,४/१४६/८ ततो न केवलः कषायो लेश्या, नापि योगः, अपि तु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततो न वीतरागाणां योगो लेश्येति न प्रत्यवस्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्रं विशेषणत्वतस्तस्य प्राधान्याभावात्। —प्रश्न—लेश्या योगको कहते हैं, अथवा, कषायको कहते हैं, या योग और कषाय दोनोंको कहते हैं। इनमेंसे आदिके दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नहीं सकते, क्योंकि वैसा माननेपर योग और कषाय मार्गणामें ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि वह भी आदिके दो विकल्पोंके समान है। उत्तर—१. कर्म लेप रूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेश्या माना है। यदि कहा जाये कि एकताको प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होनेसे उन दोनोंमें लेश्याका अन्तर्भाव हो जायेगा, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्वयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ एकत्व अथवा समानता माननेमें विरोध आता है। २. केवल कषाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि लेश्यामें योगकी प्रधानता है, कषाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योग प्रवृत्तिका विशेषण है, अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है।

ध. ७/२,१,६३/१०४/१२ जदि कसाओदए लेस्साओ उच्चंति तो खीणकसायाणं लेस्साभावो पसज्जदे। सच्चमेदं जदि कसाओदयादो चेव लेस्सुप्पत्ती इच्छिज्जदि। किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबंधणिमित्तत्तादो। —३. क्षीण-कषाय जीवोंमें लेश्याके अभावका प्रसंग आता यदि केवल कषायोदयसे ही लेश्याकी उत्पत्ति मानी जाती। किन्तु शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मके बन्धमें निमित्त होता है।

३. योग व कषायसे पृथक् लेश्या माननेकी क्या आवश्यकता

ध. १/१,१,१३६/३८७/५ योगकषायकार्याद्व्यतिरिक्तलेश्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्यां पृथग्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसंनिधानेनापन्नलेश्याभावाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्व्यतिरिक्तस्योपलम्भात्। —प्रश्न—योग और कषायोंसे भिन्न लेश्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिए उन दोनोंसे भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती। उत्तर नहीं, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदिके आलम्बन रूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके सम्पर्कसे लेश्या भावको प्राप्त हुए योग और कषायोंसे केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धि रूप कार्यकी उपलब्धि है जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिए लेश्या उन दोनोंसे भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

७. लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव क्यों नहीं कर देते

रा. वा./२/६/८/१०१/२६ कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्या-नर्थान्तरभूतेति; नैष दोषः; कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षा भेदादर्थान्तरत्वम् ।—प्रश्न—कषाय औदयिक होती हैं, इसलिए लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि, कषायोदयके तीव्र-मन्द आदि तारतम्यसे अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है।

दे० लेश्या/२/२ (केवल कषायको लेश्या नहीं कहते अपितु कषायानुविद्ध योग प्रवृत्तिकी लेश्या कहते हैं)।

३. द्रव्य लेश्या निर्देश

१. अपर्याप्त कालमें शुक्ल व कापोत लेश्या ही होती है

ध. २/१.१/४२२/६ जम्हा सव्व-कम्मस्स विस्सोवचओ सुक्किलो भवदि तम्हा विग्गहगदीए वट्टमाण-सव्वजीवाणं सरीरस्स सुक्कलेस्सा भवदि। पुणो सरीरं घेत्तूण जाव पज्जत्तीओ समाणेदि ताव छव्वण्ण-परमाणु पुंज-णिप्पज्जमाण-सरीरत्तादो तस्स सरीरस्स लेस्सा काउलेस्सेत्ति भण्णदे, एवं दो सरीरलेस्साओ भवंति। —जिस कारणसे सम्पूर्ण कर्मोंका विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिए विग्रहगतिमें विद्यमान सम्पूर्ण जीवोंके शरीरकी शुक्ललेश्या होती है। तदनन्तर शरीरको ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियोंको पूर्ण करता है तब तक छह वर्णवाले परमाणुओंके पुंजसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उस शरीरकी कापोत लेश्या कही जाती है। इस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें शरीर सम्बन्धी दो ही लेश्याएँ होती हैं। (ध. २/१.१/६५४/१: ६०१/६ ।

२. नरक गतिमें द्रव्यसे कृष्ण लेश्या ही होती है

गो. जी./मू. व. जी. प्र./४९६/८९८ णिरया किण्हा ।४९६। नारका सर्वे कृष्णा एव ।—नारकी सर्व कृष्ण वर्णवाले ही हैं।

३. जलकी द्रव्यलेश्या शुक्ल ही है

ध. २/१.१/६०१/६ सुहुम आऊणं काउलेस्सा वा बादरआऊणं फलिह-वण्णलेस्सा । कुदो । घणोदधि-घणवलयागासपदिद-पाणीयाणं धवलवण्ण-दंसणादो । धवल-किसण-णील-पीयल-रत्ताअंब-पाणीय दंसणादो ण धवलवण्णमेव पाणीयमिदि वि पि भणंति, तण्ण घडदे। कुदो। आधारभावे भट्टियाए संजोगेण जलस्स बहुवण्ण-ववहार-दंसणादो। आऊणं सहावण्णो पुण धवलो चेव।—सूक्ष्म अपकायिक जीवोंके अपर्याप्त कालमें द्रव्यसे कापोतलेश्या और बादरकायिक जीवोंके स्फटिकवर्णवाली शुक्ल कहना चाहिए, क्योंकि, घनोद-धिवात और घनवलयवात द्वारा आकाशसे गिरे हुए पानीका धवल वर्ण देखा जाता है। प्रश्न—कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि धवल, कृष्ण, नील, पीत, रक्त और आताम्र वर्णका पानी देखा जानेसे धवल वर्ण ही होता है। ऐसा कहना नहीं बनता ? उत्तर—उनका कहना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि, आधारके होनेपर मिट्टीके संयोगसे जल अनेक वर्णवाला हो जाता है ऐसा व्यवहार देखा जाता है। किन्तु जलका स्वाभाविक वर्ण धवल ही होता है।

४. भवन त्रिकमें छहों द्रव्यलेश्या सम्भव है

ध. २/१.१/५३२-५३५/६ देवाणं पज्जत्तकाले दव्वदो छ लेस्साओ हवंति त्ति एदं ण घडदे, तेसिं पज्जत्तकाले भावदो छ-लेस्साभावादो।... जा भावलेस्सा तल्लेस्सा चेव...णोकम्मपरमाणवो आगच्छंति ।५३३। ण ताव अपज्जत्तकालभावलेस्सा...पज्जत्तकाले भावलेस्सं पि णियमेण अणुहरइ पज्जत्त-दव्वलेस्सा...। धवलवण्णबलायाए भावदो सुक्कलेस्स-प्पसंगादो।...दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि, ण भावलेस्सादो। ...वण्णणामकम्मोदयादो भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसियाणं दव्वदो छ लेस्साओ भवंति, उवरिमदेवाणं तेउ-पम्म-सुक्क लेस्साओ भवंति।—प्रश्न—देवोंके पर्याप्तकालमें द्रव्यसे छहों लेश्याएँ होती हैं यह वचन घटित नहीं होता है, क्योंकि उनके पर्याप्त कालमें भावसे छहों लेश्याओंका अभाव है।...क्योंकि जो भावलेश्या होती है उसी लेश्यावाले ही...नोकर्म परमाणु आते हैं। उत्तर—द्रव्यलेश्या अपर्याप्तकालमें ..इसी प्रकार पर्याप्त कालमें भी पर्याप्त जीव सम्बन्धी द्रव्यलेश्या भावलेश्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा माननेपर...तो धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेश्याका प्रसंग प्राप्त होगा।...दूसरी बात यह भी है कि द्रव्यलेश्या वर्ण नामा नामकर्मके उदयसे होती है भावलेश्यासे नहीं।...वर्ण नामा नाम-कर्मके उदयसे भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके द्रव्यकी अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती हैं तथा भवनत्रिकसे ऊपर देवोंके तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं। (गो. जी./मू./४९६/८९८)।

५. आहारक शरीरकी शुक्ललेश्या होती है

ध. १४/५,४.२३९/३२७/६ पंचवण्णाणमाहारसरीरपरमाणूणं कथं सुक्किलत्त जुज्जदे। ण, विस्सासुवचयवण्णं पडुच्च धवलत्तुवलंभादो। —प्रश्न—आहारक शरीरके परमाणु पाँच वर्णवाले हैं। उनमें केवल शुक्लपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि विस्रसोपचयके वर्णकी अपेक्षा धवलपना उपलब्ध होता है।

६. कपाट समुद्घातमें कापोतलेश्या होती है

ध. २/१.१/६५४/३ कवाडगद-सजोगिकेवलिस्स वि सरीरस्स काउलेस्सा। चेव हवदि। एत्थ वि कारणं पुव्वं व वत्तव्वं। सजोगिकेवलिस्स पुव्विल्ल-सरीरं छव्वण्णं जदि वि हवदि तो वि तण्ण घेप्पदि; कवाड-गद-केवलिस्स अपज्जत्तजोगे वट्टमाणस्स पुव्विल्लसरीरेण सह संबंधा-भावादो। अहवा पुव्विल्लछव्वण्ण-सरीरमस्सिऊण उवयारेण दव्वदो सजोगिकेवलिस्स छ लेस्साओ हवंति।—कपाट समुद्घातगत सयोगि-केवलीके शरीरकी भी कापोतलेश्या ही होती है। यहाँपर भी पूर्व (अपर्याप्तवत् दे० लेश्या/३/१) के समान ही कारण कहना चाहिए। यद्यपि सयोगिकेवलीके पहलेका शरीर छहों वर्ण वाला होता है; क्योंकि अपर्याप्त योगमें वर्तमान कपाट-समुद्घातगतसयोगि केवलीका पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। अथवा पहलेके छह वर्ण-वाले शरीरका आश्रय लेकर उपचार द्रव्यकी अपेक्षा सयोगिकेवलीके छहों लेश्याएँ होती हैं। (ध. २/१.१/६६०/२)।

४. भाव लेश्या निर्देश

१. लेश्यामार्गणामें भाव लेश्या अभिप्रेत है

स. सि./२/६/१६१/१० जीवभावाधिकाराद्द्रव्यलेश्यानाधिकृता। —यहाँ जीवके भावोंका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नहीं ली गयी है। (रा. वा./२/६/८/१०९/२३)।

ध. २/१.१/४३१/१ केई सरीर-णिव्वत्तणट्ठमागद-परमाणुवण्णं घेत्तूण संजदासंजदादीण भावलेस्सं परूवयंति। तण्ण घडदे,...वयण-वाघादादो। कम्म-लेवहेदूदो जोग-कसाया चेव भाव-लेस्सा त्ति गेण्हिदव्वं।—कितने ही आचार्य, शरीर-रचनाके लिए आये हुए परमाणुओंके वर्णको लेकर संयतासंयतादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके भावलेश्याका वर्णन करते हैं किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है।...आगमका वचन भी व्याघात होता है। इसलिए कर्म लेपका कारण होनेसे कषायसे अनुरंजित (जीव) प्रकृति ही भाव-लेश्या है। ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. छहों भाव लेश्याओंके दृष्टान्त

पं. सं./प्रा./१/१९२ णिम्मूल खंध साहा गुंछा चुणिऊण कोइ पडिदाइं। जह एदेसिं भावा तह विय लेसा मुणेयव्वा। – कोई पुरुष वृक्षको जड़-मूलसे उखाड़कर, कोई स्कन्धसे काटकर, कोई गुच्छोंको तोड़कर, कोई शाखाको काटकर, कोई फलोंको चुनकर, कोई गिरे हुए फलोंको बीनकर खाना चाहें तो उनके भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं, उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओंके भाव भी परस्पर विशुद्ध हैं।१९२।

ध. २/१,१/गा. २२५/५३३ णिम्मूलखंधसाहुवसाहं बुच्चित्तु वाउ-पडिदाइं। अब्भंतरलेस्साणंभिंदइ एदाइं वयणाइं।२२५।

गो. जी./मू./५०६ पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि। फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विचिंतंति।५०६। – १. छह लेश्यावाले छह पथिक वनमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने मनमें विचार करते हैं, और उसके अनुसार वचन कहते हैं – (गो. सा.) २. जड़-मूलसे वृक्षको काटो, स्कन्धको काटो, शाखाओंसे काटो, उपशाखाओंसे काटो, फलोंको तोड़कर खाओ और वायुसे पतित फलोंको खाओ, इस प्रकार ये अभ्यन्तर अर्थात् भावलेश्याओंके भेदको प्रकट करते हैं।२२५। (ध. गो. सा./मू./५०७)।

३. लेश्या अधिकारमें १६ प्ररूपणाएँ

गो. जी./मू./४९१-४९२/८९६ णिद्देसवण्णपरिणामसंकमो कम्मलक्खणगदी य। सामी साहणसंखा खेत्तं फासं तदो कालो।४९१। अंतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति। लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि।४९२। – निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व ये लेश्याओंकी सिद्धिके लिए सोलह अधिकार परमागममें कहे हैं।४९१-४९२।

४. वैमानिक देवोंमें द्रव्य व भावलेश्या समान होती है परन्तु अन्य जीवोंमें नियम नहीं

ति. प./८/६७२ सोहम्मप्पहुदीणं एदाओ दव्वभावलेस्साओ। – सौधर्मादिक देवोंके ये द्रव्य व भाव लेश्याएँ समान होती हैं। (गो. जी./मू./४९६)।

ध. २/१,१/५३४/६ ण ताव अपज्जत्तकाल भावलेस्समणुहरइ दव्वलेस्सा, उत्तम-भोगभूमि-मणुस्साणमपज्जत्तकाले असुह-त्ति-लेस्साणं गउरवण्णा भावापत्तीदो। ण पज्जत्तकाले भावलेस्सं पि णियमेण अणुहरइ पज्जत्तदव्वलेस्सा, छव्विह-भाव-लेस्सासु परियट्टंत-तिरिक्ख मणुसपज्जत्ताणं दव्वलेस्साए अणियमप्पसंगादो। धवलवण्णबलायाए-भावदो सुक्कलेस्सप्पसंगादो। आहारसरीराणं धवलवण्णाणं विग्गह-गदि-ट्ठिय-सव्व जीवाणं धवलवण्णाणं भावदो सुक्कलेस्सावत्तीदो चेव। किं च, दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि ण भावलेस्सादो। – द्रव्यलेश्या अपर्याप्त कालमें होनेवाली भावलेश्याका तो अनुकरण करती नहीं है, अन्यथा अपर्याप्त कालमें अशुभ तीनों लेश्यावाले उत्तम भोगभूमियाँ मनुष्योंके गौर वर्णका अभाव प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार पर्याप्तकालमें भी पर्याप्त जीवसम्बन्धी द्रव्य-लेश्या भावलेश्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा माननेपर छह प्रकारकी भाव लेश्याओंमें निरन्तर परिवर्तन करनेवाले पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्योंके द्रव्य लेश्याके अनियमपनेका प्रसंग प्राप्त हो जायेगा। और यदि द्रव्यलेश्याके अनुरूप ही भावलेश्या मानी जाये, तो धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेश्याका प्रसंग प्राप्त होगा। तथा धवल वर्णवाले आहारक शरीरोंके और धवल वर्णवाले विग्रहगतिमें विद्यमान सभी जीवोंके भावकी अपेक्षासे शुक्ललेश्याकी आपत्ति प्राप्त होगी। दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य लेश्या वर्णनामा नाम कर्मके उदयसे होती है, भाव लेश्यासे नहीं।

५. शुभ लेश्याके अभावमें भी नारकियोंके सम्यक्त्वादि कैसे

रा. वा./३/३/४/१६३/३० नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेद्; न; आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसितवत्।४। ...लेश्यादीनामपि व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रच्यवः स्यादिति। तन्न; किं कारणम्। आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्यप्रहसितवत्। ...अशुभकर्मोदय-निमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः। ...एतेषां नारकाणां स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ता, भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्यः। – प्रश्न – लेश्या आदिको उदयका अभाव न होनेसे, अर्थात् नित्य होनेसे नरकसे अच्युतिका तथा लेश्याकी अनिवृत्ति-का प्रसंग आ जावेगा। उत्तर – ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ नित्य शब्द बहुधाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। जैसे – देवदत्त नित्य हँसता है, अर्थात् निमित्त मिलने पर देवदत्त जरूर हँसता है, उसी तरह नारकी भी कर्मोदयसे निमित्त मिलने पर अवश्य ही अशुभतर लेश्या वाले होते हैं, यहाँ नित्य शब्दका अर्थ शाश्वत व कूटस्थ नहीं है। ...नारकियोंमें अपनी आयुके प्रमाण काल पर्यन्त (कृष्णादि तीन) द्रव्यलेश्या कही गयी हैं। भाव लेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं।

ल. सा./जी. प्र./१०१/१३८/८ नरकगतौ नियताशुभलेश्यात्वेऽपि कषायाणां मन्दानुभागोदयवशेन तत्त्वार्थश्रद्धानानुगुणकारणपरिणामरूप-विशुद्धिविशेषसंभवस्याविरोधात्। – यद्यपि नारकियोंमें नियमसे अशुभलेश्या है तथापि वहाँ जो लेश्या पायी जाती है उस लेश्यामें कषायोंके मन्द अनुभाग उदयके वशसे तत्त्वार्थ श्रद्धानुरूप गुणके कारण परिणाम रूप विशुद्धि विशेषकी असम्भावना नहीं है।

६. भाव लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल अधिक है

ध. ५/१,६,३०८/१४६/१ लेस्साद्धादो गुणद्धाए बहुत्तुवदेसा। – लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल बहुत होता है, ऐसा उपदेश पाया जाता है।

७. लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम

गो. क./मू./४९९-५०३ लोगाणमसंखेज्जा उदयट्ठाणा कसायग्ग होंति। तत्थ किलिट्ठा असुहा सुहाविसुद्धा तदालावा।४९९। तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वसुहा सुहा तहा मंदा। मंदतरा मंदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं।५००। असुहाणं वरमज्झिम अवरंसे किण्हणीलकाउ-तिए। परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स।५०१। काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा। एवं किलेसहाणी-वड्ढीदो होदि असुहतियं।५०२। तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादि असंगे अप्पा। सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा होदि।५०३। संकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि किण्हसुक्काणं। वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभये वि।५०४। लेस्साणुक्कस्सादो वरहाणी अवरगादवरवड्ढी। सट्ठाणे अवरादो हाणी णियमापरट्ठाणे।५०५। – कषायोंके उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। इसमेंसे अशुभ लेश्याओंके संक्लेश रूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण है तथापि विशेषताकी अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाणमें असंख्यात लोक प्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहु भाग संक्लेश रूप स्थान हैं और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके स्थान हैं।४९९। अशुभ लेश्या सम्बन्धी तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन स्थान, और शुभ लेश्या सम्बन्धी मन्द

मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं ।५००। कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओंके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अंश रूपमें यह आत्मक्रमसे संक्लेशकी हानि होनेसे परिणमन करता है ।५०१। उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेशकी हानि और वृद्धिको अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्या रूप परिणमन करता है ।५०२। उत्तरोत्तर विशुद्धि होनेसे यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंश रूप परिणमन करता है। विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्या रूप परिणमन करता है ।५०३। परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं उसके दो भेद हैं—स्वस्थान, परस्थान संक्रमण। कृष्ण और शुक्लमें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान संक्रमण ही होता है। और हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण होते हैं। तथा शेष चार लेश्याओंमें स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमण सम्भव हैं ।५०४। स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओंके उत्कृष्ट स्थानके समीपवर्ती परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्त भाग हानिरूप हैं। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्य स्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्त भाग वृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्त गुण हानिरूप परस्थान संक्रमण होता है ।५०५। (गो. क./जी. प्र./५४६/७२६/१६)।

दे. काल/५/१८ (शुक्ल लेश्यासे क्रमशः कापोत नील लेश्याओंमें परिणमन करके पीछे कृष्ण लेश्या रूप परिणमन स्वीकार किया गया है (पद्म, पीतमें आनेका नियम नहीं) कृष्ण लेश्यासे परिणतिके अनन्तर ही कापोत रूप परिणमन शक्ति का अभाव है)।

दे. काल/५/१६-१७ (विवक्षित लेश्याको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तसे पहले गुणस्थान या लेश्या परिवर्तन नहीं होता)।

५. भाव लेश्याओंका स्वामित्व व शंका समाधान

१. सम्यक्त्व व गुणस्थानोंमें लेश्या

पं. सं. १/,१/सू. १३७-१४० किण्हलेस्सिया पीललेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्ठि त्ति ।१३७। तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति ।१३८। सुक्कलेस्सिया सण्णि मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।१३९। तेण परमलेस्सिया ।१४०। —कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होते हैं ।१३७। पीत लेश्या और पद्म लेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त संयत गुणस्थान तक होते हैं ।१३८। शुक्ल लेश्यावाले जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं ।१३९। तेरहवें गुणस्थानके आगेके सभी जीव लेश्या रहित हैं ।१४०।

ध. ६/१,९-८,१२/२६३/१ कदकरणिज्जकालब्भंतरे तस्स मरणं पि होज्ज, काउ-तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणमण्णदराए लेस्सा वि परिणामेज्ज...। —कृतकृत्य वेदक कालके भीतर उसका मरण भी हो, कापोत, तेज पद्म और शुक्ल: इन लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्याके द्वारा परिणमित भी हो...।

गो. क./जी. प्र./३५४/५०९/१५ शुभलेश्यात्रये तद्विराधनासंभवात्। —तीनों शुभ लेश्याओंमें सम्यक्त्वकी विराधना नहीं होती।

२. उपरके गुणस्थानोंमें लेश्या कैसे सम्भव है

स. सि./२/६/१६०/१ ननु च उपशान्तकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्यास्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जना भावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैव दोषः; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते। —प्रश्न—उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरंजित है वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याको औदयिक कहा गया है। किन्तु अयोगकेवलीके योग प्रवृत्ति नहीं है इसलिए वे लेश्या रहित हैं, ऐसा निश्चय है। (रा. वा./२/६/८/१०९/२९); (गो. जी. मू./५३३/९२९)।

दे० लेश्या/२/२ (बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कहते, ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए।)

ध. १/१,१,१३६/३९१/८ कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात्। —प्रश्न—जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनके शुक्ललेश्याका होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षासे उनके शुक्ल लेश्याके सद्भाव माननेमें विरोध नहीं आता। (ध. २/१,१/४३६/२), (ध. ७/२,१,६१/१०५/१)।

३. नरकके एक ही पटलमें भिन्न-भिन्न लेश्याएँ कैसे सम्भव हैं

ध. ४/१,५,२९०/४६१/२ सव्वेसिं णेरइयाणं तत्थ (पंचम पुढवीए) तणाणं तीए (कीण्ह) चेव लेस्साए अभावा। एक्कम्हि पत्थडे भिण्णलेस्साणं कधं संभवो। विरोहाभावा। एसो अत्थो सव्वत्थ जाणिदव्वो। —पाँचवीं पृथ्वीके अधस्तन प्रस्तारके समस्त नारकियोंके उसी ही (कृष्ण) लेश्याका अभाव है। (इसी प्रकार अन्य पृथिवियोंमें भी)। प्रश्न—एक ही प्रस्तारमें दो भिन्न-भिन्न लेश्याओंका होना कैसे सम्भव है। उत्तर—एक ही प्रस्तारमें भिन्न-भिन्न जीवोंके भिन्न-भिन्न लेश्याके होनेमें कोई विरोध नहीं है। यही अर्थ सर्वत्र जानना चाहिए।

४. मरण समयमें सम्भव लेश्याएँ

ध. ८/३,२५८/३२३/१ सव्वे देवा मुदक्खणेण चेव अणियमेण असुहतिलेस्सासु णिवदंति त्ति गहिदे जुज्जदे।...मुददेवाणं सव्वेसिं पि काउ लेस्साए चेव परिणामब्भुवगमादो। —१. सब देव मरण क्षणमें ही नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते हैं। २. सब ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार किया गया है।

ध. २/१,१/५११/३ णेरइया असंजदसम्माइट्ठिणो पढमपुढवि आदि जाव छट्ठी पुढविपज्जवसाणासु पुढवीसु ट्ठिदा कालं काऊण मणुस्सेसु चेव अप्पप्पणो पुढविपाओग्गलेस्साहि सह उप्पज्जंति त्ति किण्ह-णील-काउलेस्सा लब्भंति। देवा वि असंजदसम्माइट्ठिणो कालं काऊण मणुस्सेसु उप्पज्जमाणा तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साहि सह मणुस्सेसु उववज्जंति।

ध. २/१,१/६५६/१२ देव-मिच्छाइट्ठि-सासणसम्मादिट्ठिणो तेउ-पम्म-सुक्कलेस्सासु वट्टमाणा णट्ठलेस्सा होऊण तिरिक्खमणुस्सेसुप्पज्जमाणा उप्पण्ण-पढमसमए चेव किण्हणील-काउलेस्साहि सह परिणमंति। —१. प्रथम पृथिवीसे लेकर छठी पृथिवी पर्यंत पृथिवियोंमें रहनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्योंमें अपनी-अपनी पृथिवीके योग्य लेश्याओंके साथ ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएँ पायी जाती हैं। २. उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्योंमें उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंके साथ ही मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। ३. तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओंमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होते समय नष्टलेश्या होकर अर्थात् अपनी-अपनी पूर्वकी लेश्याको छोड़कर मनुष्यों और तिर्यंचोंमें

उत्पन्न होनेके प्रथम समय कृष्ण, नील और कापोत लेश्यासे परिणत हो जाते हैं। (ध. २/१,१/३६४/५)।

५. अपर्याप्त कालमें सम्भव लेश्याएँ

ध. २/१,१/पृ./पंक्ति नं. णेरइय-तिरिक्ख-भवणवासिय-वाणविंतर-जोइसियदेवाणमपज्जत्तकाले किण्ह-णीलकाउलेस्साओ भवंति। सोधम्मादि उवरिमदेवाणमपज्जत्तकाले तेउ-पम्मसुक्कलेस्साओ भवंति (४३२/१०) असंजदसम्माइट्ठीणमपज्जत्तकाले छ लेस्साओ हवंति (४११/७)। ओरालियमिस्सकायजोगे···भावेण छ लेस्साओ। ···मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठीणं ओरालियमिस्सकायजोगे वट्टमाणाणं किण्ह-णीलकाउलेस्सा चेव हवंति (६५४/१,७)। देव-मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठीणं तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जमाणाणं संकिलेसेण तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साओ फिट्टिऊण किण्ह-णील-काउलेस्साणं एगदमा भवदि। सम्माइट्ठीणं पुण···तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साओ चिरंतणाओ जाव अंतोमुहुत्तं ताव ण णस्संति। (७६४/५)। = १. नारकी, तिर्यंच, भवनवासी, वान व्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके अपर्याप्त कालमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ होती हैं। तथा सौधर्मादि ऊपरके देवोंके अपर्याप्त कालमें पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती हैं। ऐसा जानना चाहिए। २. असंयत सम्यग्दृष्टियोंके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्याएँ होती हैं। ३. औदारिक मिश्रकाययोगीके भावसे छहों लेश्याएँ होती हैं।··· औदारिक-मिश्रकाययोगमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भावसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ ही होती हैं। ४. मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संक्लेश उत्पन्न हो जानेसे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्यामेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि देवोंके चिरंतन (पुरानी तेज, पद्म और शुक्ललेश्याएँ मरण करनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नहीं होती है, इसलिए शुक्ल लेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंके औदारिककाय नहीं होता)(ध. २/१,१/६५६/१२)।

गो. क./जी प्र./६२५/८६८/१२ तद्भवप्रथमकालान्तर्मुहूर्तं पूर्वभव-लेश्यासद्भावात्। = वर्तमान भवके प्रथम अन्तर्मुहूर्तकालमें पूर्व-भवकी लेश्याका सद्भाव होनेसे···।

६. अपर्याप्त या मिश्र योगमें लेश्या सम्बन्धी शंका समाधान

१. मिश्रयोग सामान्यमें छहों लेश्या सम्बन्धी

ध. २/१,१/६५५/६ देवणेरइयसम्माइट्ठिणं मणुसगदीए उप्पण्णाणं ओरालियमिस्सकायजोगे वट्टमाणाणं अविणट्ठ-पुव्विल्ल-भाव-लेस्साणं भावेण छ लेस्साओ लब्भंति त्ति। = देव और नारकी मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए हैं, औदारिक मिश्रकाय योगमें वर्तमान हैं, और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भाव लेश्याएँ अभीतक नष्ट नहीं हुई हैं, ऐसे जीवोंके भावसे छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं; इसलिए औदारिकमिश्र काययोगी जीवोंके छहों लेश्याएँ कही गयी हैं।

२. मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टिके शुभ लेश्या सम्बन्धी

दे० लेश्या/५/४ में ध. २/१,१/७६४/५ (मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संक्लेश हो जानेसे पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील व कापोतमेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है।)

३. अविरत सम्यग्दृष्टिमें छहों लेश्या सम्बन्धी

ध./२/१,१/७५२/७ छट्ठीदो पुढवीदो किण्हलेस्सासम्माइट्ठिणो मणुसेसु जे आगच्छंति तेसिं वेदगसम्मत्तेण सह किण्हलेस्सा लब्भदि त्ति। = छठी पृथिवीसे जो कृष्ण लेश्यावाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्योंमें आते हैं, उनके अपर्याप्त कालमें वेदक सम्यक्त्वके साथ कृष्ण लेश्या पायी जाती है।

दे० लेश्या/५/४ में ध. २/१,१/५११/१ (१-६ पृथिवी तकके असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी जीव अपने-अपने योग्य कृष्ण, नील व कापोत लेश्याके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी अपने-अपने योग्य पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याओंके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्योंके अपर्याप्त कालमें छहों लेश्याएँ बन जाती हैं।

ध. २/१,१/६५७/३ सम्माइट्ठिणो तहा ण परिणमंति, अंतोमुहुत्तं पुव्विल्ललेस्साहि सह अच्छिय अण्णलेस्सं गच्छंति। किं कारणं। सम्माइट्ठीणं बुद्धिट्ठिय परमेट्ठीणं मिच्छाइट्ठीणं मरणकाले संकिलासाभावादो। णेरइय-सम्माइट्ठिणो पुण चिराण-लेस्साहि सह मणुस्सेसुप्पज्जंति। = सम्यग्दृष्टि देव अशुभ लेश्याओं रूपसे परिणत नहीं होते हैं, किन्तु तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक पूर्व रहकर पीछे अन्य लेश्याओंको प्राप्त होते हैं। किन्तु नारकी सम्यग्दृष्टि तो पुरानी चिरंतन लेश्याओंके साथ ही मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त अवस्थामें छहों लेश्याएँ बन जाती हैं।

७. कपाट समुद्घातमें लेश्या

ध. २/१,१/६५४/१ कवाडगद-सजोगिकेवलिस्स सुक्कलेस्सा चेव भवदि। = कपाट समुद्घातगत औदारिक मिश्र काययोगी सयोगिकेवलीके एक शुक्ललेश्या होती है।

८. चारों गतियोंमें लेश्या की तरतमता

मू. आ./११३४-११३७ काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हाय। किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रदणादिपुढवीसु।११३४। तेऊ तेऊ तह तेउ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य। सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणेयव्वो।११३५। तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च। एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं।११३६। एइंदियवियलिंदिय असण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ। संकादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाणं।११३७। = नरकगति–रत्नप्रभा आदि नरककी पृथिवियों में जघन्य कापोती, मध्यम कापोती, उत्कृष्ट कापोती, तथा जघन्य नील, मध्यम नील, उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या और उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है।११३४। देवगति – भवनवासी आदि देवोंके क्रमसे जघन्य तेजोलेश्या भवनत्रिकमें है, दो स्वर्गोंमें मध्यम तेजोलेश्या है, दोमें उत्कृष्ट तेजोलेश्यी है जघन्य पद्मलेश्या है, छहमें मध्यम पद्मलेश्या है, दोमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या है और जघन्य शुक्ल लेश्या है, तेरहमें मध्यम शुक्ललेश्या है और चौदह विमानोंमें परम शुक्ललेश्या है।११३५-११३६। तिर्यंच व मनुष्य–एकेंद्री, विकलेंद्री असंज्ञीपंचेंद्रीके तीन अशुभ लेश्या होती है, असंख्यात वर्षकी आयु वाले भोगभूमिया कुभोगभूमिया जीवोंके तीन शुभलेश्या हैं और बाकीके कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यंचोंके छहों लेश्या होती हैं।११३७। (स.सि./३/३/२०७/१;४/२२/२५३/४) (पं. सं./प्रा./१/१८५-१८६); (रा. वा./३/३/४/१६४/६;४/२२/२४०/२४); (गो. जी./मू./५२६-५३४)।

लोंच—दे० केश लोंच।

लोक—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

लोक—

१. लोक स्वरूपका तुलनात्मक अध्ययन

१. लोकनिर्देशका सामान्य परिचय

पृथिवी, इसके चारों ओरका वायुमण्डल, इसके नीचेकी रचना तथा इसके ऊपर आकाशमें स्थित सौरमण्डलका स्वरूप आदि, इनके ऊपर रहनेवाली जीव राशि, इनमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ, एक दूसरेके साथ इनका सम्बन्ध ये सब कुछ वर्णन भूगोलका विषय है। प्रत्यक्ष होनेसे केवल इस पृथिवी मण्डलकी रचना तो सर्व सम्मत है, परन्तु अन्य बातोंका विस्तार जाननेके लिए अनुमान ही एकमात्र आधार है। यद्यपि आधुनिक यन्त्रोंसे इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भूखण्डोंका भी प्रत्यक्ष करना सम्भव है पर असीम लोककी अपेक्षा वह किसी गणनामें नहीं है। यन्त्रोंसे भी अधिक विश्वस्त योगियोंकी सूक्ष्म दृष्टि है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखनेपर लोकोंकी रचनाके रूपमें यह सब कथन व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नति व अवनतिका प्रदर्शन मात्र है। एक स्वतन्त्र विषय होनेके कारण उसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाना सम्भव नहीं है। आज तक भारतमें भूगोलका आधार वह दृष्टि ही रही है। जैन, वैदिक व बौद्ध आदि सभी दर्शनकारोंने अपने-अपने ढंगसे इस विषयका स्पर्श किया है और आजके आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी। सभीकी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती हुई भी कुछ अंशोंमें मिलती हैं। जैन व वैदिक भूगोल काफी अंशोंमें मिलता है। वर्तमान भूगोलके साथ किसी प्रकार भी मेल बैठता दिखाई नहीं देता, परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहें तो इस विषयकी गहराइयोंमें प्रवेश करके आचार्योंके प्रतिपादनकी सत्यता सिद्ध कर सकते हैं। इसी सब दृष्टियोंकी संक्षिप्त तुलना इस अधिकारमें की गयी है।

२. जैनाभिमत भूगोल परिचय

जैसा कि अगले अधिकारोंपरसे जाना जाता है, इस अनन्त आकाशके मध्यका वह अनादि व अकृत्रिम भाग जिसमें कि जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य समुदाय दिखाई देता है, वह लोक कहलाता है, जो इस समस्त आकाशकी तुलनामें नाके बराबर है।—लोक नामसे प्रसिद्ध आकाशका यह खण्ड मनुष्याकार है तथा चारों ओर तीन प्रकारकी वायुओंसे वेष्टित है। लोकके ऊपरसे लेकर नीचे तक बीचोंबीच एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त त्रसनाली है। त्रस जीव इससे बाहर नहीं रहते पर स्थावर जीव सर्वत्र रहते हैं। यह तीन भागोंमें विभक्त है—अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक। अधोलोकमें नारकी जीवोंके रहनेके अति दुखमय रौरव आदि सात नरक हैं, जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं, और ऊर्ध्वलोकमें करोड़ों योजनोंके अन्तरालसे एकके ऊपर एक करके १६ स्वर्गोंमें कल्पवासी विमान हैं। जहाँ पुण्यात्मा जीव मरकर जन्मते हैं। उनसे भी ऊपर एक भवावतारी लौकान्तिकोंके रहनेका स्थान है, तथा लोकके शीर्षपर सिद्धलोक है जहाँ कि मुक्त जीव ज्ञानमात्र शरीरके साथ अवस्थित है। मध्यलोकमें वलयाकार रूपसे अवस्थित असंख्यातों द्वीप व समुद्र एकके पीछे एकको वेष्टित करते हैं। जम्बू, धातकी, पुष्कर आदि तो द्वीप हैं और लवणोद, कालोद, वारुणीवर, क्षीरवर, इक्षुवर, आदि समुद्र हैं। प्रत्येक द्वीप व समुद्र पूर्व पूर्वकी अपेक्षा दूने विस्तार युक्त हैं। सबके बीचमें जम्बू द्वीप है, जिसके बीचोंबीच सुमेरु पर्वत है। पुष्कर द्वीपके बीचोंबीच वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं।

जम्बूद्वीप, धातकी व पुष्करका अभ्यन्तर अर्धभाग, ये अढाई द्वीप हैं इनसे आगे मनुष्योंका निवास नहीं है। शेष द्वीपोंमें तिर्यंच व भूतप्रेत आदि व्यन्तर देव निवास करते हैं।—जम्बूद्वीपमें सुमेरुके दक्षिणमें हिमवान, महाहिमवान व निषध, तथा उत्तरमें नील, रुक्मि व शिखरी ये छः कुलपर्वत हैं जो इस द्वीपको भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत व ऐरावत नामवाले सात क्षेत्रोंमें विभक्त करते हैं। प्रत्येक पर्वतपर एक एक महाह्रद है जिनमेंसे दो-दो नदियाँ निकलकर प्रत्येक क्षेत्रमें पूर्व व पश्चिम दिशा मुखसे बहती हुई लवण सागरमें मिल जाती हैं। उस उस क्षेत्रमें वे नदियाँ अन्य सहस्रों परिवार नदियोंको अपनेमें समा लेती हैं। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें बीचोंबीच एक-एक विजयार्धपर्वत है। इन क्षेत्रोंकी दो-दो नदियों व इस पर्वतके कारण ये क्षेत्र छः छः खण्डोंमें विभाजित हो जाते हैं, जिनमें मध्यवर्ती एक खण्डमें आर्य जन रहते हैं और शेष पाँचमें म्लेच्छ। इन दोनों क्षेत्रोंमें ही धर्म-कर्म व सुख-दुख आदिकी हानि वृद्धि होती है, शेष क्षेत्र सदा अवस्थित हैं।—विदेह क्षेत्रमें सुमेरुके दक्षिण व उत्तरमें निषध व नील पर्वतस्पर्शी सौमनस, विद्युत्प्रभ तथा गन्धमादन व माल्यवान नामके दो दो गजदन्ताकार पर्वत हैं, जिनके मध्य देवकुरु व उत्तरकुरु नामकी दो उत्कृष्ट भोगभूमियाँ हैं, जहाँकि मनुष्य व तिर्यंच बिना कुछ कार्य करे अति सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। उनकी आयु भी असंख्यातों वर्षकी होती है। इन दोनों क्षेत्रोंमें जम्बू व शाल्मली नामके दो वृक्ष हैं। जम्बू वृक्षके कारण ही इसका नाम जम्बूद्वीप है। इसके पूर्व व पश्चिम भागमेंसे प्रत्येकमें १६,१६ क्षेत्र हैं। जो ३२ विदेह कहलाते हैं। इनका विभाग वहाँ स्थित पर्वत व नदियोंके कारणसे हुआ है। प्रत्येक क्षेत्रमें भरतक्षेत्रवत् छह खण्डोंकी रचना है। इन क्षेत्रोंमें कभी धर्म विच्छेद नहीं होता।—दूसरे व तीसरे आधे द्वीपमें पूर्व व पश्चिम विस्तारके मध्य एक एक सुमेरु है। प्रत्येक सुमेरु सम्बन्धी छः पर्वत व सात क्षेत्र हैं जिनकी रचना उपरोक्तवत् है।—लवणोदके तलभाग में अनेकों पाताल हैं, जिनमें वायुकी हानि-वृद्धिके कारण सागरके जलमें भी हानि-वृद्धि होती रहती है। पृथिवीतलसे ७९० योजन ऊपर आकाशमें क्रमसे सितारे, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल व शनीचर इन ज्योतिष ग्रहोंके संचार क्षेत्र अवस्थित हैं, जिनका उल्लंघन न करते हुए वे सदा सुमेरुकी प्रदक्षिणा देते हुए घूमा करते हैं। इसीके कारण दिन, रात, वर्षा ऋतु आदिकी उत्पत्ति होती है। जैनाम्नायमें चन्द्रमाकी अपेक्षा सूर्य छोटा माना जाता है।

३. वैदिक धर्माभिमत भूगोल परिचय

—दे० आगे चित्र सं० १ से ४।

(विष्णु पुराण/२/२-७ के आधारपर कथित भावार्थ) इस पृथिवीपर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप, तथा लवणोद, इक्षुरस, सुरोद, सर्पिस्सलिल, दधितोय, क्षीरोद और स्वादुसलिल ये सात समुद्र हैं (२/२-४) जो चूड़ीके आकार रूपसे एक दूसरेको वेष्टित करके स्थित है। ये द्वीप पूर्व पूर्व द्वीपकी अपेक्षा दूने विस्तारवाले हैं। (२/४,८८)।

इन सबके बीचमें जम्बूद्वीप और उसके बीचमें ८४००० योजन ऊँचा सुमेरु पर्वत है। जो १६००० योजन पृथिवीमें घुसा हुआ है। सुमेरुसे दक्षिणमें हिमवान, हेमकूट और निषध तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी ये छः वर्ष पर्वत है। जो इसको भारतवर्ष, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्यमय और उत्तर कुरु, इन सात क्षेत्रोंमें विभक्त कर देते हैं।—नोट:—जम्बूद्वीपकी चातुर्द्वीपिक भूगोलके साथ तुलना (-दे० आगे शीर्षक नं० ७)। मेरु पर्वतकी पूर्व व पश्चिममें इलावृतकी मर्यादाभूत माल्यवान व गन्धमादन नामके दो पर्वत हैं जो निषध व नील तक फैले हुए हैं। मेरुके चारों ओर पूर्वादि दिशाओंमें मन्दर, गन्धमादन, विपुल, और सुपार्श्व ये चार पर्वत हैं। इनके ऊपर क्रमशः कदम्ब, जम्बू, पीपल व वट ये चार वृक्ष हैं। जम्बूवृक्षके नामसे ही यह द्वीप जम्बूद्वीप नामसे प्रसिद्ध है। वर्षोंमें भारतवर्ष कर्मभूमि है। और शेष वर्ष भोगभूमियाँ हैं। क्योंकि भारतमें ही कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग, ये चार काल

वर्तते हैं और स्वर्ग मोक्षके पुरुषार्थ की सिद्धि है। अन्य क्षेत्रोंमें सदा त्रेता युग रहता है और वहाँके निवासी पुण्यवान व आधि व्याधिसे रहित होते हैं। (अध्याय २)।

भरतक्षेत्रमें महेन्द्र आदि छः कुलपर्वत हैं, जिनसे चन्द्रमा आदि अनेक नदियाँ निकलती हैं। नदियोंके किनारोंपर कुरु पांचाल आदि (आर्य) और पौण्ड्र कलिंग आदि (म्लेच्छ) लोग रहते हैं। (अध्याय ३) इसी प्रकार प्लक्षद्वीपमें भी पर्वत व उनसे विभाजित क्षेत्र हैं। वहाँ प्लक्ष नामका वृक्ष है और सदा त्रेता काल रहता है। शाल्मल आदि शेष सर्व द्वीपोंकी रचना प्लक्ष द्वीपवत् है। पुष्कर-द्वीपके बीचोबीच वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। जिससे उसके दो खण्ड हो गये हैं। अभ्यन्तर खण्डका नाम धातकी है। यहाँ भोग-भूमि है इस द्वीपमें पर्वत व नदियाँ नहीं हैं। इस द्वीपको स्वादूदक समुद्र वेष्टित करता है। इससे आगे प्राणियोंका निवास नहीं है। (अध्याय ४)।

इस भूखण्डके नीचे दस दस हजार योजनके सात पाताल हैं—अतल, वितल, नितल, गभस्तिमत्, महातल, सुतल और पाताल। पातालोंके नीचे विष्णु भगवान् हजारों फनोंसे युक्त शेषनागके रूपमें स्थित होते हुए इस भूखण्डको अपने सिरपर धारण करते हैं। (अध्याय ५) पृथिवीतल और जलके नीचे रौरव, सूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणी, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्र वन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सन्दंश, कालसूत्र, तमस्, अवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, और अरुचि आदि महाभयंकर नरक हैं, जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं। (अध्याय ६) भूमि से एक लाख योजन ऊपर जाकर, एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सूर्य, चन्द्र व नक्षत्र मण्डल स्थित हैं, तथा उनके ऊपर दो-दो लाख योजनके अन्तरालसे बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, तथा इसके ऊपर एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सप्तऋषि व ध्रुव तारे स्थित हैं। इससे १ करोड़ योजन ऊपर महर्लोक है जहाँ कल्पों तक जीवित रहनेवाले कल्पवासी भृगु आदि सिद्धगण रहते हैं। इससे २ करोड़ योजन ऊपर जनलोक है जहाँ ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि रहते हैं। आठ करोड़ योजन ऊपर तप लोक है जहाँ वैराज देव निवास करते हैं।

चित्र १

१२ करोड़ योजन ऊपर सत्यलोक है, जहाँ फिरसे न मरनेवाले जीव रहते हैं, इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। भूलोक व सूर्यलोकके मध्यमें मुनिजनोंसे सेवित भुवर्लोक है और सूर्य तथा ध्रुवके बीचमें १४ लाख योजन स्वर्लोक कहलाता है। ये तीनों लोक कृतक हैं। जनलोक, तपलोक व सत्यलोक ये तीन अकृतक हैं। इन दोनों कृतक व अकृतकके मध्यमें महर्लोक है। इसलिए यह कृताकृतक है। (अध्याय ७)।

चित्र-२ जम्बू द्वीप

भूलोक के नीचे पाताल लोक

भूलोक के नीचे सप्त पाताल है। तथा उनके नीचे शेष शायी भगवान विष्णु विश्राम करते हैं

चित्र ३

चित्र-४ सामान्य लोक

सत्यलोक (लोकान्तिक देव अमर गण)
१२००,००,००० यो.
तपलोक (वैराज देव) (सनक आदि)
८००,००,००० यो.
जनलोक (ब्रह्मा पुत्र)
२००,००,००० यो.
महर्लोक (भृगु आदि सिद्ध गण)
१००,००,००० यो.
ध्रुव
१००,००० यो.
सप्तऋषि
२००,००० यो.
शनि
२००,००० यो.
बृहस्पति
२००,००० यो.
मंगल
२००,००० यो.
शुक्र
२००,००० यो.
बुध
२००,००० यो.
नक्षत्र
१००,००० यो.
चन्द्र
१००,००० यो.
सूर्य
१००,००० यो.
भुवःलोक
भूलोक दे. पीछे चित्र - १ व २
भू लोक
पाताल दे. पीछे चित्र-३
१ रौरव
२ महारौरव
३ लवण
४ वैतरणी
५ असिपत्रवन
६ तमस
७ अप्रतिष्ठ
नरक लोक

४. बौद्धाभिमत भूगोल परिचय

(५वीं शताब्दीके वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोशके आधारपर ति. प./ प्र ८७/ H. L. Jain द्वारा कथितका भावार्थ)। लोकके अधोभाग-में १६००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायुमण्डल है। इसके ऊपर ११२०,००० योजन ऊँचा जलमण्डल है। इस जलमण्डलमें ३२०,००० यो० भूमण्डल है। इस भूमण्डलके बीचमें मेरु पर्वत है। आगे ८०,००० योजन विस्तृत सीता (समुद्र) है जो मेरुको चारों ओरसे वेष्टित करके स्थित है। इसके आगे ४०,००० योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत वलयाकारसे स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार एक एक सीता (समुद्र) के अन्तरालसे उत्तरोत्तर आधे आधे विस्तारसे युक्त क्रमशः ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक, और निमिंधर पर्वत हैं। अन्तमें लोहमय चक्रवाल पर्वत है। निमिन्धर और चक्रवाल पर्वतोंके मध्यमें जो समुद्र स्थित है उसमें मेरुकी पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे अर्धचन्द्राकार पूर्वविदेह, शकटाकार जम्बूद्वीप, मण्डलाकार अवरगोदानीय और समचतुष्कोण उत्तरकुरु ये चार द्वीप स्थित हैं। इन चारोंके पार्श्व भागोंमें दो-दो अन्तर्द्वीप हैं। उनमेंसे जम्बूद्वीपके पासवाले चमरद्वीपमें राक्षसोंका और शेष द्वीपोंमें मनुष्योंका निवास है। जम्बूद्वीपमें उत्तरकी ओर ९ कीटाद्रि (छोटे पर्वत) तथा उनके आगे हिमवान पर्वत अवस्थित है। उसके आगे अनवतप्त नामक अगाध सरोवर है, जिसमेंसे गंगा सिन्धु वक्षु और सीता ये नदियाँ निकलती हैं। उक्त सरोवरके समीप-में जम्बू वृक्ष है। जिसके कारण इस द्वीपका 'जम्बू' ऐसा नाम पड़ा है। जम्बूद्वीपके नीचे २०,००० योजन प्रमाण अवीचि नामक नरक है। उसके ऊपर क्रमशः प्रतापन आदि सात नरक और हैं। इन नरकोंके चारों पार्श्व भागोंमें कुकूल, कुणप, क्षुरमार्गादिक और खारोदक (असिपत्रवन, श्यामशबल-श्व-स्थान, अयःशाल्मली वन और वैतरणीनदी) ये चार उत्सद हैं। इन नरकोंके धरातलमें आठ शीत नरक और हैं। भूमिसे ४०,००० योजन ऊपर जाकर चन्द्र सूर्य

चित्र-५

भूमण्डल

← ३२०,००० योजन →
प्रमाण भूमण्डल

परिभ्रमण करते हैं। जिस समय जम्बूद्वीपमें मध्याह्न होता है उस समय उत्तरकुरुमें अर्धरात्रि, पूर्वविदेहमें अस्तगमन और अवरगोदानीयमें सूर्योदय होता है। मेरु पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें उसके चार परिखण्ड (विभाग) हैं, जिनपर क्रमसे यक्ष, मालाधार, सदामद और चातुर्महाराजिक देव रहते हैं। इसी प्रकार शेष सात पर्वतोंपर भी देवोंके निवास हैं। मेरुशिखरपर त्रयस्त्रिंश (स्वर्ग) है। इससे ऊपर विमानोंमें याम, तुषित आदि देव रहते हैं। उपरोक्त देवोंमें चातुर्महाराजिक, और त्रयस्त्रिंश देव मनुष्यवत् कामभोग भोगते हैं। याम तुषित आदि क्रमशः आलिंगन, पाणिसंयोग, हसित और अवलोकनसे तृप्तिको प्राप्त होते हैं। उपरोक्त कामधातु देवोंके ऊपर रूपधातु देवोंके ब्रह्मकायिक आदि १७ स्थान हैं। ये सब क्रमशः ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। जम्बूद्वीप वासी मनुष्योंकी ऊँचाई केवल ३½ हाथ है। आगे क्रमसे बढ़ती हुई अनभ्र देवोंके शरीरकी ऊँचाई १२५ योजन प्रमाण है।

भूगोल सामान्य चित्र-७(क)

नोट - भूमण्डलसे नीचेकी रचना - दे० चित्र ७(ख)

५. आधुनिक विश्व परिचय

लोक के स्वरूप का निर्देश करने के अन्तर्गत दो बातें जाननीय हैं—खगोल तथा भूगोल। खगोल की दृष्टि से देखने पर इस असीम आकाश में असंख्यातों गोलाकार भूखण्ड हैं। सभी भ्रमणशील हैं। भौतिक पदार्थों के आण्विक विधान की भाँति इनके भ्रमण में अनेक प्रकार की गतियें देखी जा सकती हैं। पहली

चित्र-७(ख)

गति है प्रत्येक भूखण्ड का अपने स्थान पर अवस्थित रहते हुए अपनी ही धुरी पर लट्टू की भाँति घूमते रहना। दूसरी गति है सूर्य जैसे किसी बड़े भूखण्ड को मध्यम में स्थापित करके गाड़ी के चक्के में लगे अरों की भाँति अनेकों अन्य भूखण्डों का उसकी परिक्रमा करते रहना, परन्तु परिक्रमा करते हुए भी अपनी परिधि का उल्लंघन न करना। परिक्रमाशील इन भूखण्डों के समुदाय को एक सौर मण्डल या एक ज्योतिष मण्डल कहा जाता है। प्रत्येक सौर मण्डल में केन्द्रवर्ती एक सूर्य होता है और अरों के स्थानवर्ती अनेकों अन्य भूखंड होते हैं, जिनमें एक चन्द्रमा, अनेकों ग्रह, अनेकों उपग्रह तथा अनेकों पृथ्वियें सम्मिलित हैं। ऐसे-ऐसे सौर मण्डल इस आकाश में न जाने कितने हैं। प्रत्येक भूखण्ड गोले की भाँति गोल है परन्तु प्रत्येक सौर मण्डल गाड़ी के पहिये की भाँति चक्राकार है। तीसरी गति है किसी सौर मंडल को मध्य में स्थापित करके अन्य अनेकों सौर मण्डलों द्वारा उसकी परिक्रमा करते रहना, और परिक्रमा करते हुए भी अपनी परिधि का उल्लंघन न करना।

इन भूखंडों में से अनेकों पर अनेक आकार प्रकार वाली जीव राशि का वास है, और अनेकों पर प्रलय जैसी स्थिति है। जल तथा वायु का अभाव हो जाने के कारण उन पर आज बसती होना सम्भव नहीं है। जिन पर आज बसती बनी है उन पर पहले कभी प्रलय थी और जिन पर आज प्रलय है उन पर आगे कभी बसती हो जाने वाली है। कुछ भूखंडों पर बसने वाले अत्यन्त सुखी हैं और कुछ पर रहने वाले अत्यन्त दुःखी, जैसे कि अन्तरिक्ष की आधुनिक खोज के अनुसार मंगल पर जो बसती पाई गई है वह नारकीय यातनायें भोग रही है।

जिस भूखण्ड पर हम रहते हैं यह भी पहले कभी अग्नि का गोला था जो सूर्य में से छिटक कर बाहर निकल गया था। पीछे इसका ऊपरी तल ठण्डा हो गया। इसके भीतर अब भी ज्वाला धधक रही है। वायुमंडल धरातल से लेकर इसके ऊपर उत्तरोत्तर विरल होते हुए ५०० मील तक फैला हुआ है। पहले इस पर जीवों का निवास नहीं था, पीछे क्रम से सजीव पाषाण आदि, वनस्पति, नमी में रहने वाले छोटे-छोटे कोकले, जल में रहने वाले मत्स्यादि, पृथिवी तथा जल दोनों में रहने वाले मेंढक, कछुआ आदि बिलों में रहने वाले सरीसृप आदि, आकाश में उड़ने वाले भ्रमर, कीट, पतंग व पक्षी, पृथिवी पर रहने वाले स्तनधारी पशु बन्दर आदि और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार और भी असंख्य जीव जातियें उत्पन्न हो गयीं।

इस भूखण्ड के चारों ओर अनन्त आकाश है, जिसमें सूर्य चन्द्र तारे आदि दिखाई देते हैं। चन्द्रमा सबसे अधिक समीप में है। तत्पश्चात् क्रमशः शुक्र, बुद्ध, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह, इनसे साढ़े नौ मील दूर सूर्य, तथा उससे भी आगे असंख्यातों मील दूर असंख्य तारागण हैं। चन्द्रमा तथा ग्रह स्वयं प्रकाश न होकर सूर्य के प्रकाश से प्रकाशवत् दीखते हैं। तारे यद्यपि दूर होने के कारण बहुत छोटे दीखते हैं परन्तु इनमें से अधिकर सूर्य की अपेक्षा लाखों गुणा बड़े हैं तथा अनेकों सूर्य की भाँति स्वयं जाज्वल्यमान हैं।

भूगोल की दृष्टि से देखने पर इस पृथिवी पर ऐशिया, योरुप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि अनेकों उपद्वीप हैं। सुदूर पूर्व में ये सब सम्भवतः परस्पर में मिले हुए थे। भारतवर्ष ऐशिया का दक्षिणी पूर्वी भाग है। इसके उत्तर में हिमालय और मध्य में विन्ध्यागिरि, सतपुड़ा आदि पहाड़ियों की अटूट मेखला है। पूर्व तथा पश्चिम के सागर में गिरने वाली गंगा तथा सिन्धु नामक दो प्रधान नदियाँ हैं जो हिमालय से निकलकर सागर की ओर जाती हैं। इसके उत्तर में आर्य जाति और पश्चिम दक्षिण आदि दिशाओं में द्राविड़, भील, कौल, नाग आदि अन्यान्य प्राचीन अथवा म्लेच्छ जातियाँ निवास करती हैं।

६. उपरोक्त मान्यताओंकी तुलना

१. **जैन व वैदिक मान्यता बहुत अंशोंमें मिलती है।** जैसे—१. चूड़ीके आकाररूपसे अनेकों द्वीपों व समुद्रोंका एक दूसरेको वेष्टित किये हुए अवस्थान। २. जम्बूद्वीप, सुमेरु, हिमवान, निषध, नील, श्वेत (रुक्मि), शृंगी (शिखरी) ये पर्वत, भारतवर्ष (भरत क्षेत्र) हरिवर्ष, रम्यक, हिरण्मय (हैरण्यवत) उत्तरकुरु ये क्षेत्र, माल्यवान व गन्धमादन पर्वत, जम्बूवृक्ष इन नामोंका दोनों मान्यताओंमें समान होना। ३. भारतवर्षमें कर्मभूमि तथा अन्य क्षेत्रोंमें त्रेतायुग (भोगभूमि) का अवस्थान। मेरुकी चारों दिशाओंमें मन्दर आदि चार पर्वत जैनमान्य चार गजदन्त हैं। ४. कुल पर्वतोंसे नदियोंका निकलना तथा आर्य व म्लेच्छ जातियोंका अवस्थान। ५ प्लक्ष द्वीपमें प्लक्षवृक्ष जम्बूद्वीपवत् उसमें पर्वतों व नदियों आदिका अवस्थान वैसा ही है जैसा कि धातकी खण्डमें धातकी वृक्ष व जम्बूद्वीपके समान दूगनी रचना। ६ पुष्करद्वीपके मध्य वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत तथा उसके अभ्यन्तर भागमें धातकी नामक खण्ड। ७. पुष्कर द्वीपमें परे प्राणियोंका अभाव लगभग वैसा ही है, जैसा कि पुष्करार्धसे आगे मनुष्योंका अभाव। ८. भूखण्डके नीचे पातालोंका निर्देश लवण सागरके पातालोंसे मिलता है। ९. पृथिवीके नीचे नरकोंका अवस्थान। १० आकाशमें सूर्य, चन्द्र आदिका अवस्थान क्रम। १० कल्पवासी तथा फिरसे न मरनेवाले (लौकान्तिक) देवोंके लोक। २. **इसी प्रकार जैन व बौद्ध मान्यताएँ भी बहुत अंशोंमें मिलती हैं।** जैसे—१. पृथिवीके चारों तरफ वायु व जलमण्डलका अवस्थान जैन मान्य वातवलयोंके समान है। २. मेरु आदि पर्वतोंका एक-एक समुद्रके अन्तरालसे उत्तरोत्तर वेष्टित वलयाकाररूपेण अवस्थान। ३. जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, उत्तरकुरु, जम्बूवृक्ष, हिमवान, गंगा, सिन्धु आदि नामोंकी समानता। ४. जम्बूद्वीपके उत्तरमें नौ क्षुद्रपर्वत, हिमवान, महासरोवर व उनमें गंगा, सिन्धु आदि नदियोंका निकास ऐसा ही है जैसा कि भरतक्षेत्रके उत्तरमें ११ कूटों युक्त हिमवान पर्वतपर स्थित पद्म द्रहसे गंगा सिन्धु व रोहितास्या नदियोंका निकास। ५. जम्बूद्वीपके नीचे एकके पश्चात् एक करके अनेकों नरकोंका अवस्थान। ६. पृथिवीसे ऊपर चन्द्र सूर्यका परिभ्रमण। ७. मेरु शिखरपर स्वर्गोंका अवस्थान लगभग ऐसा ही है जैसा कि मेरु शिखरसे ऊपर केवल एक बाल प्रमाण अन्तरसे जैन मान्य स्वर्गके प्रथम 'ऋतु' नामक पटलका अवस्थान। ८. देवोंमें कुछका मैथुनसे और कुछका स्पर्श या अवलोकन आदिसे काम भोगका सेवन तथा ऊपरके स्वर्गोंमें कामभोगका अभाव जैनमान्यतावत् ही है (दे० देव/II/२/१०)। ९. देवोंका ऊपर ऊपर अवस्थान। १०. मनुष्योंकी ऊँचाईसे लेकर देवोंके शरीरोंकी ऊँचाई तक क्रमिक वृद्धि लगभग जैन मान्यताके अनुसार है (दे० अवगाहना/३,४)। ३-आधुनिक भूगोलके साथ यद्यपि जैन भूगोल स्थूल दृष्टिसे देखनेपर मेल नहीं खाता पर आचार्योंकी सुदूरवर्ती सूक्ष्मदृष्टि व उनकी सूत्रात्मक कथन पद्धतिको ध्यानमें रखकर विचारा जाये तो वह भी बहुत अंशोंमें मिलता प्रतीत होता है। यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है कि वैज्ञानिक जनोंके अनुमानका आधार पृथिवीका कुछ करोड़वर्ष मात्र पूर्वका इतिहास है, जब कि आचार्योंकी दृष्टि कल्पों पूर्वके इतिहासको स्पर्श करती है। जैसे कि—१. पृथिवीके लिए पहले अग्निका गोला होनेकी कल्पना, उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और नये सिरेसे उसपर जीवों व मनुष्योंकी उत्पत्तिका विकास लगभग जैनमान्य प्रलयके स्वरूपसे मेल खाता है (दे० प्रलय)। २. पृथिवीके चारों ओरके वायु-

मण्डलमें ५०० मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन मान्य तीन वात-बलयोंवत् ही है। ३. एशिया आदि महाद्वीप जैनमान्य भरतादि क्षेत्रोंके साथ काफ़ी अंशमें मिलते हैं (दे० अगला शीर्षक)। ४. आर्य व म्लेच्छ जातियोंका यथायोग्य अवस्थान भी जैनमान्यताको सर्वथा उल्लंघन करनेको समर्थ नहीं। ५. सूर्य-चन्द्र आदिके अवस्थानमें तथा उनपर जीव राशि सम्बन्धी विचारमें अवश्य दोनों मान्यताओंमें भेद है। अनुसंधान किया जाय तो इसमें भी कुछ न कुछ समन्वय प्राप्त किया जा सकता है।

सातवीं आठवीं शताब्दी के वैदिक विचारकों ने लोक के इस चित्रण को वासना के विश्लेषण के रूप में उपस्थित किया है (जै./२/१)। यथा—अधोलोक वासना ग्रस्त व्यक्ति की वह पूर्ण मूढ स्थिति जिसमें कि उसे हिताहित का कुछ भी विवेक नहीं होता और स्वार्थ सिद्धि के क्षेत्र में बड़े से बड़े अन्याय तथा अत्याचार करते हुए भी जहां उसे यह प्रतीति नहीं होती कि उसने कुछ बुरा किया है। मध्य लोक उसकी वह स्थिति है जिसमें कि उसे हिताहित का विवेक जागृत हो जाता है परन्तु वासना की प्रबलता के कारण अहित से हटकर हित की ओर झुकने का सत्य पुरुषार्थ जागृत करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती है। इसके ऊपर ज्योतिष लोक या अन्तरिक्ष लोक उसकी साधना वाली वह स्थिति है जिसमें उसके भीतर उत्तरोत्तर उन्नत पारमार्थिक अनुभूतियें झलक दिखाने लगती हैं। इसके अन्तर्गत पहले विद्युल्लोक आता है जिसमें क्षण भर को तत्त्व दर्शन होकर लुप्त हो जाता है। तदनन्तर तारा लोक आता है जिसमें तात्त्विक अनुभूतियों की झलक टिमटिमाती या आंख मिचौनी खेलती प्रतीत होती है। अर्थात् कभी स्वरूप में प्रवेश होता है और कभी पुनः विषयासक्ति जागृत हो जाती है। इसके पश्चात् सूर्य लोक आता है जिसमें ज्ञान सूर्य का उदय होता है, और इसके पश्चात् अन्त में चन्द्र लोक आता है जहां पहुँचने पर साधक समता भूमि में प्रवेश पाकर अत्यन्त शान्त हो जाता है। उर्ध्व लोक के अन्तर्गत तीन भूमियें हैं—महर्लोक, जनलोक और तप लोक। पहली भूमि में वह अर्थात् उसकी ज्ञान चेतना लोकालोक में व्याप्त होकर महान हो जाती है, दूसरी भूमियें कृतकृत्यता को और तीसरी भूमियें अनन्त आनन्द की अनुभूति में वह सदा के लिए लय हो जाती हैं। यह मान्यता जैन के अध्यात्म के साथ शत प्रतिशत नहीं तो ८० प्रतिशत मेल अवश्य खाती है।

७. चातुर्द्वीपिक भूगोल परिचय

(ज. प./प्र. १३८/H. L. Jain का भावार्थ) १. काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थमें दिये गये, श्री रायकृष्णदासजीके एक लेखके अनुसार, वैदिक धर्म मान्य सप्तद्वीपिक भूगोल (दे० शीर्षक नं० ३) की अपेक्षा चातुर्द्वीपिक भूगोल अधिक प्राचीन है। इसका अस्तित्व अब भी वायुपुराणमें कुछ-कुछ मिलता है। चीनी यात्री मेगस्थनीजके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था: क्योंकि वह लिखता है—भारतके सीमान्तपर तीन और देश माने जाते हैं—सीदिया, बैक्ट्रिया तथा एरियाना। सीदियासे उसके भद्राश्व व उत्तरकुरु तथा बैक्ट्रिया व एरियानासे केतुमाल द्वीप अभिप्रेत है। अशोकके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि उसके शिलालेखोंमें जम्बूद्वीप भारतवर्षकी संज्ञा है। महाभाष्यमें आकर सर्वप्रथम सप्तद्वीपिक भूगोलकी चर्चा है। अतएव वह अशोक तथा महाभाष्यकालके बीचकी कल्पना जान पड़ती है। २. सप्तद्वीपिक भूगोलकी भाँति यह चातुर्द्वीपिक भूगोल कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि इसका आधार वास्तविक है। उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोलसे हो जाता है। ३. चातुर्द्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीप पृथिवीके चार महाद्वीपोंमें से एक है और भारतवर्ष जम्बूद्वीपका ही दूसरा नाम है। वही सप्तद्वीपिक भूगोलमें आकर इतना बड़ा हो जाता है कि उसकी बराबरीवाले अन्य तीन द्वीप (भद्राश्व, केतुमाल व उत्तरकुरु) उसके वर्ष बनकर रह जाते हैं। और भारतवर्ष नामवाला एक अन्य वर्ष (क्षेत्र) भी उसीके भीतर कल्पित कर लिया जाता है। ४. चातुर्द्वीपी भूगोलका भारत (जम्बूद्वीप) जो मेरु तक पहुँचता है, सप्तद्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीपके तीन वर्षों या क्षेत्रोंमें विभक्त हो गया है—भारतवर्ष, किंपुरुष व हरिवर्ष। भारतका वर्ष पर्वत हिमालय है। किंपुरुष हिमालयके परभागमें मंगोलोंकी बस्ती है, जहाँसे सरस्वती नदीका उद्गम होता है, तथा जिसका नाम आज भी कन्नौरमें अवशिष्ट है। यह वर्ष पहले तिब्बत तक पहुँचता था, क्योंकि वहाँ तक मंगोलोंकी बस्ती पायी जाती है। तथा इसका वर्ष पर्वत हेमकूट है, जो कतिपय स्थानोंमें हिमालयान्तर्गत ही वर्णित हुआ है। (जैन मान्यतामें किंपुरुषके स्थानपर हैमवत और हिमकूटके स्थानपर महाहिमवानका उल्लेख है)। हरिवर्षसे हिरातका तात्पर्य है जिसका पर्वत निषध है, जो मेरु तक पहुँचता है। इसी हरिवर्षका नाम अवेस्तामें हरिवर्जी मिलता है। ५. इस प्रकार रम्यक, हिरण्यमय और उत्तरकुरु नामक वर्षोंमें विभक्त होकर चातुर्द्वीपिक भूगोलवाले उत्तरकुरु महाद्वीपके तीन वर्ष बन गये हैं। ६. किन्तु पूर्व और पश्चिमके भद्राश्व व केतुमाल द्वीप यथापूर्व दोके दो ही
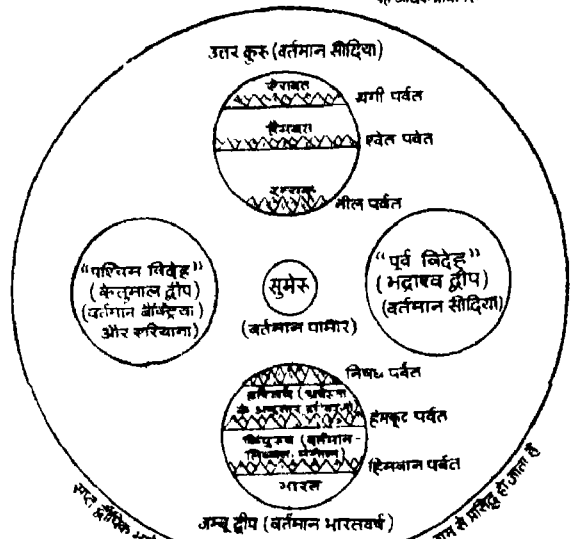
नोट—१ अशोकके अनुसार 'जम्बूद्वीप' भारतवर्षका ही नाम है
२-मेगस्थनीजके अनुसार भारतवर्षकी सीमापर सीदिया बैक्ट्रिया और एरियाना द्वीप अवस्थित हैं

रह गये। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ वे दो महाद्वीप न होकर एक द्वीपके अन्तर्गत दो वर्ष या क्षेत्र हैं। साथ ही मेरुको मेखलित करनेवाला, सप्तद्वीपिक भूगोलका, इलावृत भी एक स्वतन्त्र वर्ष बन गया है। ७. यों उक्त चार द्वीपोंसे पल्लवित भारतवर्ष आदि तीन दक्षिणी, हरिवर्ष आदि तीन उत्तरी, भद्राश्व व केतुमाल ये दो पूर्व व पश्चिमी तथा इलावृत नामका केन्द्रीय वर्ष, जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंकी रचना कर रहा है। ८. [जैनाभिमत भूगोलमें ६ की बजाय १० वर्षोंका उल्लेख है। भारतवर्ष, किंपुरुष व हरिवर्षके स्थानपर भरत, हैमवत व हरि ये तीन मेरुके दक्षिणमें हैं। रम्यक, हिरण्यमय तथा उत्तरकुरुके स्थानपर रम्यक हैरण्यवत व ऐरावत ये तीन मेरुके उत्तरमें हैं। भद्राश्व व केतुमालके स्थानपर पूर्वविदेह व पश्चिमविदेह ये दो मेरुके पूर्व व पश्चिममें हैं। तथा इलावृतके स्थानपर देवकुरु व

उत्तरकुरु ये दो मेरुके निकटवर्ती हैं। यहाँ वैदिक मान्यतामें तो मेरुके चौगिर्द एक ही वर्ष मान लिया गया और जैन मान्यतामें उसे दक्षिण व उत्तर दिशावाले दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। पूर्व व पश्चिमी भद्राश्व व केतुमाल द्वीपोंमें वैदिकजनोंने क्षेत्रोंका विभाग न दर्शाकर अखण्ड रखा पर जैन मान्यतामें उनके स्थानीय पूर्व व पश्चिम विदेहोंको भी १६,१६ क्षेत्रोंमें विभक्त कर दिया गया]। ९. मेरु पर्वत वर्तमान भूगोलका पामीर प्रदेश है। उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान है। सीता नदी यारकन्द नदी है। निषध पर्वत हिन्दुकुश पर्वतोंकी शृंखला है। हैमवत भारतवर्षका ही दूसरा नाम रहा है। (दे० वह-वह नाम)।

२. लोकसामान्य निर्देश

१. लोकका लक्षण

दे. आकाश/१/३ [१. आकाशके जितने भागमें जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य देखे जायें सो लोक है और उसके चारों तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है, ऐसा लोकका निरुक्ति अर्थ है। २. अथवा षट् द्रव्योंका समवाय लोक है]।

दे. लौकान्तिक/१। [३. जन्म-जरामरणरूप यह संसार भी लोक कहलाता है।]

रा. वा./५/१२/१०-१३/४५५/२० यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः।१०।... कः पुनरसौ। आत्मा। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः।११। ...सर्वज्ञेनानन्ताप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः। तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम् ।१३। —जहाँ पुण्य व पापका फल जो सुख-दुःख वह देखा जाता है सो लोक है इस व्युत्पत्तिके अनुसार लोकका अर्थ आत्मा होता है। जो पदार्थोंको देखे व जाने सो लोक इस व्युत्पत्तिसे भी लोकका अर्थ आत्मा है। आत्मा स्वयं अपने स्वरूपका लोकन करता है अतः लोक है। सर्वज्ञके द्वारा अनन्त व अप्रतिहत केवलदर्शनसे जो देखा जाये सो लोक है, इसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंका भी लोकपना सिद्ध है।

२. लोकका आकार

ति. प./१/१३७-१३८ हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण। मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो। १३७। उवरिमलोयाआरो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो। संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हि साहेमि ।१३८। —इन (उपरोक्त) तीनोंमेंसे अधोलोकका आकार स्वभावसे वेत्रासनके सदृश है, और मध्यलोकका आकार खड़े किये हुए आधे मृदंगके ऊर्ध्वभागके समान है ।१३७। ऊर्ध्वलोकका आकार खड़े किये हुए मृदंगके सदृश है ।१३८। (ध. ४/१,३,२/गा० ६/११) (त्रि. सा./६); (ज. प /४/४-६); (द्र. सं./टी./३५/११२/११)।

ध. ४/१,३,२/गा. ७/११ तलरुक्खसंठाणो ।७। —यह लोक तालवृक्षके आकारवाला है।

ज. प./प्र./२४ प्रो. लक्ष्मीचन्द—मिस्रदेशके गिरजेमें बने हुए महास्तूपसे यह लोकाकाशका आकार किंचित समानता रखता प्रतीत होता है।

३. लोकका विस्तार

ति. प./१/१४६-१६३ सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढ। पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त येक्कपंचेक्का ।१४९। चोद्दसरज्जुपमाणो उच्छेहो होदि सयललोगस्स। अद्धमुरज्जस्सुदओ समग्गमुरवोदयसरिच्छो ।१५०। य हेट्ठिममज्झिमउवरिमलोउच्छेहो कमेण रज्जूवो। सत्त य जोयणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू ।१५१। इह रयणसक्करावालुपंकधूमतममहातमादिपहा। सुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जुअन्तरिआ ।१५२। घम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ। माघविया इय ताणं पुढवीणं बोत्तणामाणि ।१५३। मज्झिमजगस्स हेट्ठिमभागादो णिग्गदा पढमरज्जू। सक्करपहपुढवीए हेट्ठिमभागम्मि णिट्ठादि ।१५४। तत्तो दोइरज्जू वालुवपहहेट्ठि समप्पेदि। तह य तइज्जारज्जू पंकपहहेट्ठास्स भागम्मि ।१५५। धूमपहाए हेट्ठिमभागम्मि समप्पदे तुरियरज्जू। तह पंचमिया रज्जू तमप्पहाहेट्ठिमपएसे ।१५६। महतमहेट्ठिमयंते छट्ठो हि समप्पदे रज्जू। तत्तो सत्तमरज्जू लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि ।१५७। मज्झिमजगस्स उवरिमभागादु दिवड्ढरज्जुपरिमाणं। इगिजोयणलक्खूणं सोहम्मविमाणधयदंडे ।१५८। वच्चदि दिवड्ढरज्जू माहिंदसणक्कुमारउवरिम्मि। णिट्ठादि अद्धरज्जू बंभुत्तर उड्ढभागम्मि ।१५९। अवसादि अद्धरज्जू काविट्ठस्सोवरिट्ठभागम्मि। स च्चियमहसुक्कोवरि सहसारोवरि अ स च्चेय ।१६०। तत्तो य अद्धरज्जू आणदकप्पस्स उवरिमपएसे। स य आरणस्स कप्पस्स उवरिमभागम्मि गेविज्जं ।१६१। तत्तो उवरिमभागे णवाणुत्तरओ होंति एक्करज्जूवो। एवं उवरिमलोए रज्जुविभागो समुद्दिट्ठं ।१६२। णियणिय चरिमिंदयधयदंडग्गं कप्पभूमिअवसाणं कप्पादीदमहीए विच्छेदो लोयविच्छेदो ।१६३। —१. दक्षिण और उत्तर भागमें लोकका आयाम जगश्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है। पूर्व और पश्चिम भागमें भूमि और मुखका व्यास क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजू है। तात्पर्य यह है कि लोककी मोटाई सर्वत्र सात राजू है, और विस्तार क्रमसे लोकके नीचे सात राजू, मध्यलोकमें एक राजू, ब्रह्म स्वर्गपर पाँच राजू और लोकके अन्तमें एक राजू है ।१४९। २. सम्पूर्ण लोककी ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। अर्धमृदंगकी ऊँचाई सम्पूर्ण मृदंगकी ऊँचाईके सदृश है। अर्थात् अर्धमृदंग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है उसी प्रकार ही पूर्ण मृदंगके सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात ही राजू ऊँचा है ।१५०। क्रमसे अधोलोककी ऊँचाई सात राजू, मध्यलोककी ऊँचाई १००,००० योजन, और ऊर्ध्वलोककी ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है ।१५१। (ध. ४/१, ३, २/गा. ८/११); (त्रि. सा./११३); (ज. प/४/११,१६-१७)। ३. तहाँ भी —तीनों लोकोंमेंसे अर्धमृदंगाकार अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा और महातमप्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक राजूके अन्तरालसे हैं ।१५२। घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये इन उपर्युक्त पृथिवियोंके अपरनाम हैं ।१५३। मध्यलोकके अधोभागसे प्रारम्भ होकर पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवीके अधोभागमें समाप्त होता है ।१५४। इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभाके अधोभागमें समाप्त होता है। तथा तीसरा राजू पंकप्रभाके अधोभागमें ।१५५। चौथा धूमप्रभाके अधोभागमें, पाँचवाँ तमःप्रभाके अधोभागमें ।१५६। और छठा राजू महातमःप्रभाके अन्तमें समाप्त होता है। इससे आगे सातवाँ राजू लोकके तलभागमें समाप्त होता है ।१५७। [इस प्रकार अधोलोककी ७ राजू ऊँचाईका विभाग है।] ४. रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भागोंमें से खरभाग १६००० यो० पंक भाग ८४००० यो० और अब्बहुल भाग ८०,००० योजन मोटे हैं। दे० रत्नप्रभा/२। ५. लोकमें मेरुके तलभागसे उसकी चोटी पर्यन्त १००,००० योजन ऊँचा व १ राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। इतना ही तिर्यक्लोक है।—दे० तिर्यंच/३/१)। मनुष्यलोक चित्रा पृथिवीके ऊपरसे मेरुकी चोटी तक ९९००० योजन विस्तार तथा अढाई द्वीप प्रमाण ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है।—दे० मनुष्य/४/१। ६. चित्रा पृथिवीके नीचे खर व पंक भागमें १००,००० यो० तथा चित्रा पृथिवीके ऊपर मेरुकी चोटी तक ९९००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त भावनलोक है।—दे० व्यन्तर/४/१-५। इसी प्रकार व्यन्तरलोक भी जानना।—दे० व्यंतर/४/१-५। चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन बाहल्य व १ राजू विस्तार युक्त ज्योतिष लोक है।—दे० ज्योतिषलोक/१। ७. मध्यलोकके ऊपरी भागसे सौधर्म विमानका ध्वजदण्ड १००,००० योजन कम $1\frac{1}{2}$ राजू प्रमाण ऊँचा है ।१५८। इसके आगे $1\frac{1}{2}$ राजू माहेन्द्र व सनत्कुमार स्वर्गके ऊपरी भागमें, १/२ राजू ब्रह्मोत्तरके ऊपरी भागमें ।१५९। १/२ राजू कापिष्ठके ऊपरी भागमें, १/२ राजू महाशुक्रके ऊपरी भागमें, १/२ राजु सहस्रारके ऊपरी भागमें ।१६०। १/२ राजू आनतके ऊपरी भागमें और १/२ राजू आरण-अच्युतके
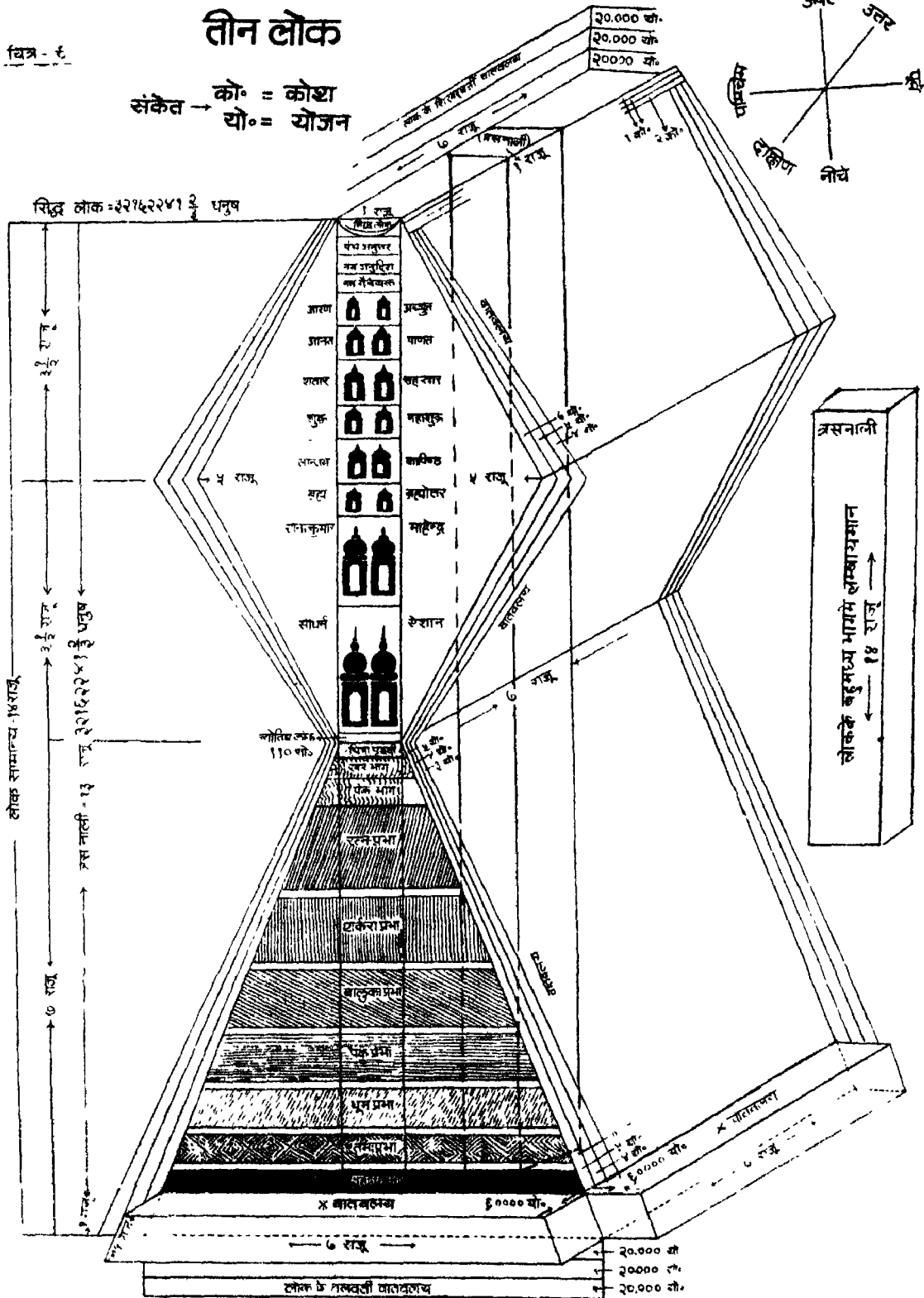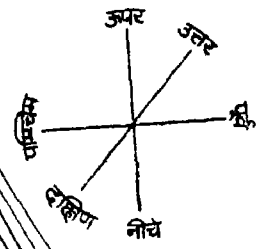
× लोक के नीचे वाले एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक को चारों ओर से घेर कर अवस्थित ६०,००० यो॰ मोटा वातवलय।

ऊपरी भागमें समाप्त हो जाता है ।१६१। उसके ऊपर एक राजूकी ऊँचाईमें नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और ५ अनुत्तर विमान है। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें ७ राजूका विभाग कहा गया ।१६२। अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक-विमान सम्बन्धी ध्वजदण्डके अग्रभाग तक उन-उन स्वर्गोंका अन्त समझना चाहिए। और कल्पातीत भूमिका जो अन्त है वही लोकका भी अन्त है ।१६३। ८. [लोक शिखरके नीचे ४२५ धनुष और २१ योजन मात्र जाकर अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक स्थित है (दे० स्वर्ग/५/१) सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे १२ योजन मात्र ऊपर जाकर अष्टम पृथिवी है। वह ८ योजन मोटी व एक राजू प्रमाण विस्तृत है। उसके मध्य ईषत् प्राग्भार क्षेत्र है। वह ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है। मध्यमें ८ योजन और सिरोंपर केवल अंगुल प्रमाण मोटा है। इस अष्टम पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धलोक है (दे० मोक्ष/१/७)]

४. वातवलयोंका परिचय

१. वातवलय सामान्य परिचय

ति.प./१/२६८ गोमुत्तमुग्गवण्णा वणोदधी तह घणाणिलओ वाऊ। तणुवादो बहुवण्णो रुक्खस्स तयं व वलयातियं ।२६८। —गोमूत्रके समान वर्णवाला घनोदधि, मूंगके समान वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात। इस प्रकार ये तीनों वातवलय वृक्षकी त्वचाके समान (लोकको घेरे हुए) हैं ।२६८। (रा. वा./३/१/८/१६०/१६); (त्रि. सा./१२३); (दे० चित्र सं० ६ पृ ४३६)।

२. तीन वातवलयोंका अवस्थान क्रम

ति. प./१/२६६ पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो ततो। तप्परदो तणुवादो अंतम्मि णहं णिआधारं ।२६६। —इनमेंसे प्रथम घनोदधि वातवलय लोकका आधारभूत है, इसके पश्चात् घनवातवलय, उसके पश्चात् तनुवातवलय और फिर अंतमें निजाधार आकाश है। ।२६६। (स. सि./३/१/२०४/३); (रा. वा./३/१/८/१६०/१४); (तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/श्लो. १-२/११२)।

तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/१११/१६ सर्वाः सप्तापि भूमयो घनवातप्रतिष्ठा वर्तन्ते। स च घनवात' अम्बुवातप्रतिष्ठोऽस्ति। स चाम्बुवातस्तनुवातस्तनुप्रतिष्ठो वर्तते। स च तनुवात आकाशप्रतिष्ठो भवति। आकाशस्यालम्बनं किमपि नास्ति।—दृष्टि नं. २.—ये सभी सातों भूमियाँ घनवातके आश्रय स्थित हैं। वह घनवात भी अम्बु (घनोदधि) वातके आश्रय स्थित है और वह अम्बुवात तनुवातके आश्रय स्थित है। वह तनुवात आकाशके आश्रय स्थित है, तथा आकाशका कोई भी आलम्बन नहीं है।

३. पृथिवियोंके साथ वातवलयोंका स्पर्श

ति. प./२/२४ सत्तच्चिय भूमीओ णवदिसभाएण घणोवहिविलग्गा। अट्ठमभूमीदसदिस भागेसु घणोवहिं छिवदि ।२४।

ति.प.८/२०६-२०७ सोहम्मदुगविमाणा घणस्सरूवस्स उवरि सलिलस्स। चेट्ठंते पवणोवरि माहिंदसणक्कुमाराणि ।२०६। बम्हाई चत्तारो कप्पा चेट्ठंति सलिलवादूढं। आणदपाणदपहुदी सेसा सुद्धम्मि गयणयले ।२०७। —सातों (नरक) पृथिवियाँ ऊर्ध्व दिशाको छोड़कर शेष नौ दिशाओंमें घनोदधि वातवलयसे लगी हुई हैं, परन्तु आठवीं पृथिवी दशों दिशाओंमें ही वातवलयको छूती है ।२४। सौधर्म युगलके विमान घनस्वरूप जलके ऊपर तथा माहेन्द्र व सनत्कुमार कल्पके विमान पवनके ऊपर स्थित हैं ।२०६। ब्रह्मादि चार कल्प जल व वायु दोनोंके ऊपर, तथा आनत प्राणत आदि शेष विमान शुद्ध आकाशतलमें स्थित हैं ।२०७।

४. वातवलयोंका विस्तार

ति० प./१/२७०-२८१ जोयणवीससहस्सा बहलं तम्मारुदाण पत्तेक्कं। अट्ठाखिदीणं हेट्ठेलोअतले उवरि जाव इगिरज्जू ।२७०। सगपण चउजोयणयं सत्तमणारयम्मि पुहविपणधीए। पंचचउतियपमाणं तिरीयखेत्तस्स पणिधीए ।२७१। सगपंचचउसमाणा पणिधीए होंति बम्हकप्पस्स। पणचउतिय जोयणया उवरिमलोयस्स यंतम्मि ।२७२। कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि। ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवीस जुदा ।२७३। तीसं इगिदालदलं कोसा तियभाजिदा य उणवणया। सत्तमखिदिपणिधीए बम्हजुदे वाउबहलत्तं। ।२८०। दो छब्बारस भागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं। लोयउवरिम्मि एवं लोय विभायम्मि पण्णत्तं ।२८१। —दृष्टि नं० १—आठ पृथिवियोंके नीचे लोकके तलभागसे एक राजूकी ऊँचाई तक इन वायुमण्डलोंमेंसे प्रत्येककी मोटाई २० ००० योजन प्रमाण है ।२७०। सातवें नरकमें पृथिवियोंके पार्श्व भागमें क्रमसे इन तीनों वातवलयोंकी मोटाई ७,५ और ४ तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मर्त्यलोक) के पार्श्वभागमें ५,४ और ३ योजन प्रमाण है ।२७१। इसके आगे तीनों वायुओंकी मोटाई ब्रह्म स्वर्गके पार्श्व भागमें क्रमसे ७,५ और ४ योजन प्रमाण, तथा ऊर्ध्वलोकके अन्तमें (पार्श्व भागमें) ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है ।२७२। लोकके शिखरपर (पार्श्व भागमें) उक्त तीनों वातवलयोंका बाहल्य क्रमशः २ कोस, १ कोस और कुछ कम १ कोस है। यहाँ कुछ कमका प्रमाण ४२५ धनुष समझना चाहिए ।२७३। [शिखर पर प्रत्येककी मोटाई २०,००० योजन है —दे० मोक्ष/१/७] (त्रि. सा./१२४-१२६)। दृष्टि नं० २—सातवीं पृथिवी और ब्रह्म युगलके पार्श्वभागमें तीनों वायुओंकी मोटाई क्रमसे ३०, ४१/२ और ४६/३ कोस हैं ।२८०। लोक शिखरपर तीनों वातवलयोंकी मोटाई क्रमसे $१\frac{१}{३}$, $१\frac{१}{२}$ और $१\frac{१}{१२}$ कोस प्रमाण है। ऐसा लोक विभागमें कहा गया है ।२८१।—विशेष दे. चित्र सं. ६ पृ. ४३६.

५. लोकके आठ रुचक प्रदेश

रा. वा./१/२०/१२/७६/१३ मेरुप्रतिष्ठावज्रवैडूर्यपटलान्तररुचकसंस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशलोकमध्यम्। —मेरु पर्वतके नीचे वज्र व वैडूर्य पटलोंके बीचमें चौकोर संस्थान रूपसे अवस्थित आकाशके आठ प्रदेश लोकका मध्य है।

६. लोक विभाग निर्देश

ति. प./१/१३६ सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण। तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिमउड्ढ भेएण ।१३६। —श्रेणी वृन्दके मानसे अर्थात् जगश्रेणीके घन प्रमाणसे निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है ।१३६। (बा. अ./३६); (ध. १३/५,५,५०/२८८/४)।

७ त्रस व स्थावर लोक निर्देश

[पूर्वोक्त वेत्रासन व मृदंगाकार लोकके बहु मध्य भागमें, लोक शिखरसे लेकर उसके अन्त पर्यन्त १३ राजू लम्बी व मध्यलोक समान एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त नाड़ी है। त्रस जीव इस नाड़ीसे बाहर नहीं रहते इसलिए यह त्रसनाली नामसे प्रसिद्ध है। (दे० त्रस/२/३,४)। परन्तु स्थावर जीव इस लोकमें सर्वत्र पाये जाते हैं। (दे० स्थावर/६) तहाँ भी सूक्ष्म जीव तो लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे हैं, पर बादर जीव केवल त्रसनालीमें होते हैं (दे० सूक्ष्म/३/७) उनमें भी तेजस्कायिक जीव केवल कर्मभूमियोंमें ही पाये जाते हैं अथवा अधोलोक व भवनवासियोंके विमानोंमें पाँचों कायोंके जीव पाये जाते हैं, पर स्वर्ग लोकमें नहीं — दे० काय/२/५। विशेष दे. चित्र सं. ६ पृ. ४३६।

८. अधोलोक सामान्य परिचय

[सर्वलोक तीन भागोंमें विभक्त है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व—दे० लोक/२/२. मेरु तलके नीचेका क्षेत्र अधोलोक है, जो वेत्रासनके आकार वाला है। ७ राजू ऊँचा व ७ राजू मोटा है। नीचे ७ राजू व ऊपर १ राजू प्रमाण चौड़ा है। इसमें ऊपरसे लेकर नीचे तक क्रम-

चित्र सं०-१०
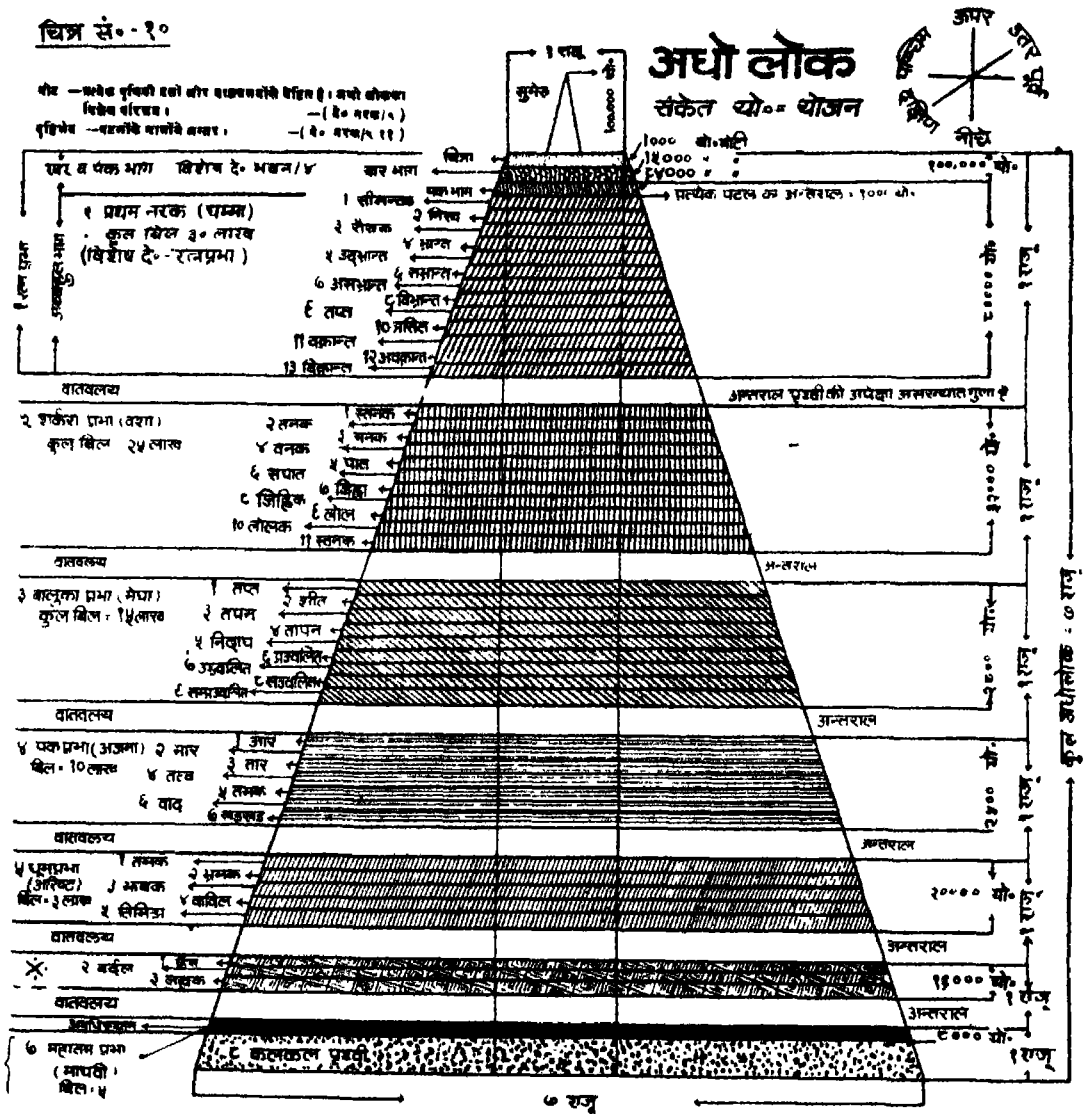
चित्र सं० ११
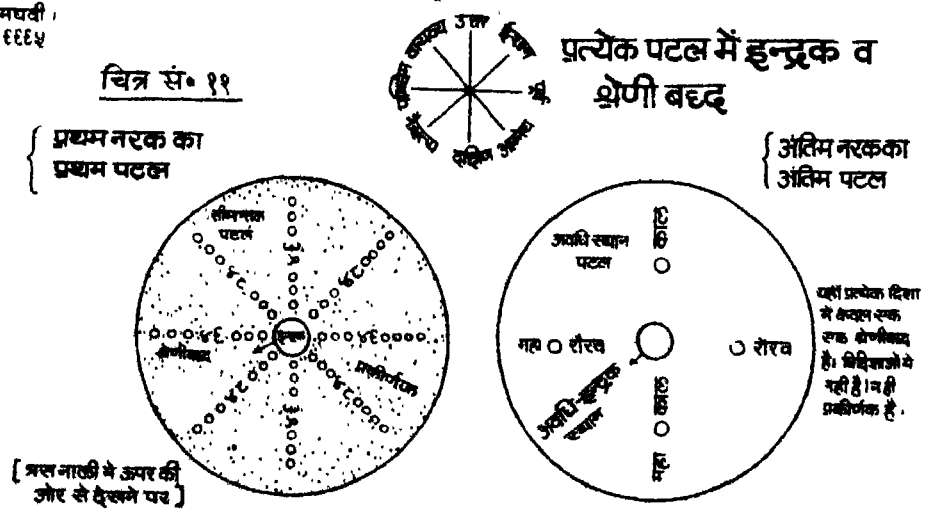
से रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नामकी ७ पृथिवियाँ लगभग एक राजू अन्तरालसे स्थित हैं। प्रत्येक पृथिवीमें यथायोग्य १३,११ आदि पटल १००० योजन अन्तरालसे अवस्थित हैं। कुल पटल ४९ हैं। प्रत्येक पटलमें अनेकों बिल या गुफाएँ हैं। पटलका मध्यवर्ती बिल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारों दिशाओं व विदिशाओंमें एक श्रेणीमें अवस्थित बिल श्रेणीबद्ध कहलाते हैं और इनके बीचमें रत्नराशिवत् बिखरे हुए बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं। इन बिलोंमें नारकी जीव रहते हैं। (दे० नरक/५/१-३)। सातों पृथिवियों के नीचे अन्तमें एक राजू प्रमाण क्षेत्र खाली है। (उसमें केवल निगोद जीव रहते हैं) —दे० चित्र सं. १८ पृ. ४४१।

★ रत्नप्रभा पृथिवीके खर व पंक भागका चित्र —दे० भवन/४।

★ रत्नप्रभा पृथिवीके अब्बहुल भाग का चित्र — दे० रत्नप्रभा।

९. भावनलोक निर्देश

[उपरोक्त सात पृथिवियोंमें जो रत्नप्रभा नामकी प्रथम पृथिवी है, वह तीन भागोंमें विभक्त है—खरभाग, पंकभाग व अब्बहुल भाग। खरभाग भी चित्रा, वैडूर्य, लोहितांक आदि १६ प्रस्तरोंमें विभक्त है। प्रत्यक प्रस्तर १००० योजन मोटा है। उनमें चित्रा नामका प्रथम प्रस्तर अनेकों रत्नों व धातुओंकी खान है। (दे० रत्नप्रभा)। तहाँ खर व पंकभागमें भावनवासी देवोंके भवन हैं और अब्बहुल भागमें नरक पटल है (दे० भवन/४/१)। इसके अतिरिक्त तिर्यक् लोकमें भी यत्र-तत्र-सर्वत्र उनके पुर, भवन व आवास हैं। (दे० व्यतर/४/१-५)। (विशेष दे० भवन/४)]

१०. व्यन्तर लोक निर्देश

[चित्रा पृथिवीके तल भागसे लेकर सुमेरुकी चोटी तक तिर्यग्-लोक प्रमाण विस्तृत सर्वक्षेत्र व्यन्तरोंके रहनेका स्थान है। इसके अतिरिक्त खर व पंकभागमें भी उनके भवन हैं। मध्यलोकके सर्व-द्वीप समुद्रोंकी वेदिकाओंपर, पर्वतोंके कूटोंपर, नदियोंके तटोंपर इत्यादि अनेक स्थलोंपर यथायोग्य रूपमें उनके पुर, भवन व आवास हैं। (विशेष दे० व्यन्तर/४/१-५)।

११. मध्यलोक निर्देश

१. द्वीप-सागर आदि निर्देश

ति. प./५/८-१०,२७ सव्वे दीवसमुद्दा संखादीदा भवंति समवट्टा। पढमो दीओ उवही चरिमो मज्झम्मि दीउवही।८। चित्तोवरि बहुमज्झे रज्जुपरिमाणदीहविक्खंभे। चेट्ठंति दीवउवही एक्केक्कं वेढिऊणं हु प्परिदो।६। सव्वे वि वाहिणीसा चित्तखिदि खंडिदूण चेट्ठंति। वज्जखिदीए उवरिं दीवा वि हु उवरि चित्ताए।१०। जम्बूदीवे लवणो उवही कालो त्ति धादईसंडे। अवसेसा वारिणिही वत्तव्वा दीव-समणामा।२८। —१ सब द्वीप-समुद्र असंख्यात एवं समवृत्त हैं। इनमेंसे पहला द्वीप, अन्तिम समुद्र और मध्यमें द्वीप समुद्र हैं।८। चित्रा पृथिवीके ऊपर बहुमध्य भागमें एकराजू लम्बे-चौड़े क्षेत्रके भीतर एक-एकको चारों ओरसे घेरे हुए द्वीप व समुद्र स्थित हैं।६। सभी समुद्र चित्रा पृथिवीको खण्डित कर वज्रा पृथिवीके ऊपर, और सब द्वीप चित्रा पृथिवीके ऊपर स्थित हैं।१०। (मू. आ./१०७६); (त. सू./३/७-८); (ह. पु./५/२,६२६-६२७); (ज. प./१/१६)। २. जम्बूद्वीपमें लवणोदधि और धातकीखण्डमें कालोद नामक समुद्र है। शेष समुद्रोंके नाम द्वीपोंके नामके समान ही कहना चाहिए। ।२८। (मू. आ./१०७७); (रा. वा./३/३८/७/२०८/१७); (ज. प./११/८३)।

त्रि. सा./८८६ वज्जमयमूलभागा वेलुरियकयाइरम्मा सिहरजुदा। दीवो वहीणमंते पायारा होंति सव्वत्थ।८८६। —सभी द्वीप व समुद्रों-के अन्तमें परिधि रूपसे वैडूर्यमयी जगती होती है, जिनका मूल वज्रमयी होता है तथा जो रमणीक शिखरोंसे संयुक्त हैं। (—विशेष दे० लोक/३/१ तथा ४/१।

नोट—[द्वीप-समुद्रोंके नाम व समुद्रोंके जलका स्वाद—दे० लोक/५/१]।

२. तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक आदि विभाग

ध. ४/१,३,१/६/३ देसभेएण तिविहो, मंदरचूलियादो, उवरिमुड्ढ-लोगो, मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगो त्ति। —देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकारका है। मन्दराचल (सुमेरु-पर्वत) की चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मन्दराचलके मूल-से नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। मन्दराचलसे परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्र-माण मध्यलोक है।

ह. पु./५/१ तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थितः। लक्षितावधि-रूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया।१। —१. तनुवातवलयके अन्तभाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्य-ग्लोककी अवधि निश्चित है।१। [इसमें असंख्यात द्वीप, समुद्र एक दूसरेको वेष्टित करके स्थित हैं दे० लोक/२/११] यह सारा का सारा तिर्यक्लोक कहलाता है, क्योंकि तिर्यंच जीव इस क्षेत्रमें सर्वत्र पाये जाते हैं। २. उपरोक्त तिर्यग्लोकके मध्यवर्ती, जम्बूद्वीपसे लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक अढाई द्वीप व दो सागरसे रुद्ध ४५००,००० योजन प्रमाण क्षेत्र मनुष्यलोक है। देवों आदिके द्वारा भी उनका मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें जाना सम्भव नहीं है। (—दे० मनुष्य/४/१)।३. मनुष्य लोकके इन अढाई द्वीपोंमेंसे जम्बूद्वीपमें १ और धातकी व पुष्करार्धमें दो-दो मेरु हैं। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ६ कुलधर पर्वत होते हैं, जिनसे वह द्वीप ७ क्षेत्रोंमें विभक्त हो जाता है। मेरुके प्रणिधि भागमें दो कुरु तथा मध्यवर्ती विदेह क्षेत्रके पूर्व व पश्चिमवर्ती दो विभाग होते हैं। प्रत्येकमें ८ वक्षार पर्वत, ६ विभंगा नदियाँ तथा १६ क्षेत्र हैं। उपरोक्त ७ व इन ३२ क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो प्रधान नदियाँ हैं। ७ क्षेत्रोंमेंसे दक्षिणी व उत्तरीय दो क्षेत्र तथा ३२ विदेह इन सबके मध्यमें एक-एक विजयार्ध पर्वत है, जिनपर विद्याधरोंकी बस्तियाँ हैं। (दे० लोक३/५)। ४. इस अढाई द्वीप तथा अन्तिम द्वीप सागरमें ही कर्म-भूमि है, अन्य सर्व द्वीप व सागरमें सर्वदा भोगभूमिकी व्यवस्था रहती है। कृष्यादि षट्कर्म तथा धर्म-कर्म सम्बन्धी अनुष्ठान जहाँ पाये जायें वह कर्मभूमि है, और जहाँ जीव बिना कुछ किये प्राकृतिक पदार्थोंके आश्रयपर उत्तम भोग भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करें वह भोगभूमि है। अढाई द्वीपके सर्व क्षेत्रोंमें भी सर्व विदेह क्षेत्रोंमें त्रिकाल उत्तम प्रकारकी कर्मभूमि रहती है। दक्षिणी व उत्तरी दो-दो क्षेत्रोंमें षट्काल परिवर्तन होता है। तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य भोगभूमि और तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य कर्मभूमि रहती है। दोनों कुरुओंमें सदा उत्तम भोगभूमि रहती है, इनके आगे दक्षिण व उत्तर-वर्ती दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि और उनसे भी आगेके शेष दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती है (दे० भूमि) भोगभूमिमें जीवकी आयु शरीरोत्सेध बल व सुख क्रमसे वृद्धिगत होता है और कर्मभूमिमें क्रमशः हानिगत होता है। —दे० काल/४। ५. मनुष्य लोक व अन्तिम स्वयंप्रभ द्वीप व सागरको छोड़कर शेष सभी द्वीप सागरोंमें विकलेन्द्रिय व जलचर नहीं होते हैं। इसी प्रकार सर्व ही भोगभूमियोंमें भी वे नहीं होते हैं। वैर वश देवोंके द्वारा ले जाये गये वे सर्वत्र सम्भव हैं।—दे० तिर्यंच/३।

१२. ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश

[पूर्वोक्त चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन पर्यन्त आकाशमें एक राजू प्रमाण विस्तृत ज्योतिष लोक है। नीचेसे

नोट.— त्रस नाली में ऊपर की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है।

ऊपरकी ओर क्रमसे तारागण, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि व शेष अनेक ग्रह अवस्थित रहते हुए अपने-अपने योग्य संचार क्षेत्रमें मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इनमेंसे चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र। १ सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र व ६६९७५ तारे, ये एक चन्द्रमाका परिवार है। जम्बूद्वीपमें दो, लवणसागरमें ४, धातकी खण्डमें १२, कालोदमें ४२ और पुष्करार्धमें ७२ चन्द्र है। ये सब तो चर अर्थात् चलनेवाले ज्योतिष विमान हैं। इससे आगे पुष्करके परार्धमें ८, पुष्करोदमें ३२, वारुणीवर द्वीपमें ६४ और इससे आगे सर्व द्वीप समुद्रोंमें उत्तरोत्तर दुगुने चन्द्र अपने परिवार सहित स्थित हैं। ये अचर ज्योतिष विमान हैं—दे० ज्योतिष लोक।

१३. ऊर्ध्वलोक सामान्य परिचय

[सुमेरु पर्वतकी चोटीसे एक बाल मात्र अन्तरसे ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ होकर लोक-शिखर पर्यन्त १००४०० योजनकम ७ राजू प्रमाण-ऊर्ध्वलोक है। उसमें भी लोक शिखरसे २१ योजन ४२५ धनुष नीचे तक तो स्वर्ग है और उससे ऊपर लोक शिखर पर सिद्ध लोक है। स्वर्गलोकमें ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित हैं। इन पटलोंमें दो विभाग है—कल्प व कल्पातीत। इन्द्र सामानिक आदि १० कल्पनाओं युक्त देव कल्पवासी हैं और इन कल्पनाओंसे रहित अहमिन्द्र कल्पातीत विमानवासी हैं। आठ युगलों रूपसे अवस्थित कल्प पटल १६ हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत। इनसे ऊपर ग्रैवेयेक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन पटल कल्पातीत हैं। प्रत्येक पटल लाखों योजनोंके अन्तरालसे ऊपर-ऊपर अवस्थित है। प्रत्येक पटलमें असंख्यात योजनोंके अन्तरालसे अन्य क्षुद्र पटल हैं। सर्वपटल मिलकर ६३ हैं। प्रत्येक पटलमें विमान हैं। नरकके बिलोंवत् ये विमान भी इन्द्रक श्रेणिबद्ध व प्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारोंमें विभक्त हैं। प्रत्येक क्षुद्र पटलमें एक-एक इन्द्रक है और अनेकों श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक। प्रथम महापटलमें ३३ और अन्तिममें केवल एक सर्वार्थसिद्धि नामका इन्द्रक है, इसकी चारों दिशाओंमें केवल एक-एक श्रेणीबद्ध है। इतना यह सब स्वर्गलोक कहलाता है (नोट:—चित्र सहित विस्तारके लिए दे० स्वर्ग/५) सर्वार्थसिद्धि विमानके ध्वजदण्डसे २९ योजन ४२५ धनुष ऊपर जाकर सिद्धलोक है। यहाँ मुक्तजीव अवस्थित हैं। तथा इसके आगे लोकका अन्त हो जाता है (दे० मोक्ष/१/७)।]

३. जम्बूद्वीप निर्देश

१. जम्बूद्वीप सामान्य निर्देश

त. सू./३/९-२३ तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।९। भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।१०। तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।११। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजत-हेममयाः ।१२। मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः ।१३। पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।१४। तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ।१७। तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च ।१८। तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपम-स्थितयः ससामानिकपरिषत्काः ।१९। गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।२०। द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ।२१। शेषास्त्वपरगाः ।२२। चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्यः ।२३। —१. उन सब (पूर्वोक्त असंख्यात द्वीप समुद्रों—दे० लोक/२/११) के बीचमें गोल और १००,००० योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है ।९। (ति. प./४/११ व ५/८); (ह पु./५/३); (ज. प./१/२०)। २. उसमें भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात वर्ष अर्थात् क्षेत्र हैं।१०। उन क्षेत्रोंको विभाजित करने-वाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी ये छह वर्षधर या कुलाचल पर्वत हैं।११। (ति. प./४/९०-९४); (ह. पु./५/१३-१५); (ज. प./२/२ व ३/२); (त्रि. सा./५६४)। ३. ये छहों पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी, और सोना इनके समान रंगवाले हैं।१२। इनके पार्श्वभाग मणियोंसे चित्र विचित्र हैं। तथा ये ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तारवाले हैं।१३। (ति. प./४/९४-९५); (त्रि. सा./५६६)। ४. इन कुलाचल पर्वतोंके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक, ये तालाब हैं।१४। (ह. पु./५/१२०-१२१); (ज. प./३/६९)। ५. पहिला जो पद्म नामका तालाब है उसके मध्य एक योजनका कमल है [इसके चारों तरफ अन्य भी अनेकों कमल हैं—दे० आगे लोक/३/९।] इससे आगेके ह्रदोंमें भी कमल हैं। वे तालाब व कमल उत्तरोत्तर दूने विस्तार वाले हैं।१७-१८। (ह. पु./५/१२९); (ज. प./३/६९)। ६. पद्म ह्रदको आदि लेकर इन कमलोंपर क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ, अपने-अपने सामा-निक, परिषद् आदि परिवार देवोंके साथ रहती हैं—(दे० व्यंतर/-३/२) ।१९।(ह. पु./५/१३०)। ७. [उपरोक्त पद्म आदि द्रहोंमेंसे निकल कर भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो करके क्रमसे] गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती हैं ।२०। (ह. पु./५/१२२-१२५)। [जिनमें भी गंगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन पद्म द्रहसे, रोहित व हरिकान्ता महापद्म द्रहसे, हरित व सीतोदा तिगिंछ द्रहसे, सीता व नरकान्ता केशरी द्रहसे, नारी व रूप्यकूला महापुण्डरीकसे तथा सुवर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा पुण्डरीक सरोवरसे निकली हैं—(ह. पु./५/१३२-१३५)]। ८. उप-रोक्त युगलरूप दो-दो नदियोंमेंसे पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रमें गिरती है और पिछली-पिछली नदी पश्चिम समुद्रमें गिरती है ।२१-२२। (ह. पु./५/१६०); (ज. प./३/१९२-१९३)। ९. गंगा सिन्धु आदि नदियोंको चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ हैं। [यहाँ यह विशेषता है कि प्रथम गंगा सिन्धु युगलमेंसे प्रत्येकको १४०००, द्वि. युगलमें प्रत्येकको २८००० इस प्रकार सीतोदा नदी तक उत्तरोत्तर दूनी नदियाँ हैं। तदनन्तर शेष तीन युगलोंमें पुनः उत्तरोत्तर आधी-आधी हैं। (स. सि./३/२३/२२०/१०), (रा. वा./३/२३/३/१९०/१३), (ह. पु./५/२७५-२७६)]।

ति. प./४/गा. का भावार्थ—१०. यह द्वीप एक जगती करके वेष्टित है ।१५। (ह. पु./५/३), (ज. प./१/२६)। ११. इस जगतीको पूर्वादि चारों दिशाओंमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं ।४१-४२। (रा. वा./३/९/१/१७०/२९); (ह. पु./५/३९०); (त्रि. सा./८९२); (ज. प./१/३८,४२)। १२. इनके अति-रिक्त यह द्वीप अनेकों वन उपवनों, कुण्डों, गोपुर द्वारों, देव नगरियों व पर्वत, नदी, सरोवर, कुण्ड आदि सबकी वेदियों करके शोभित है ।९२-९९। १४. [प्रत्येक पर्वतपर अनेकों कूट होते हैं (दे० आगे उन उन पर्वतोंका निर्देश) प्रत्येक पर्वत व कूट, नदी, कुण्ड, द्रह, आदि वेदियों करके संयुक्त होते हैं—(दे० अगला शीर्षक)। प्रत्येक पर्वत, कुण्ड, द्रह, कूटोंपर भवनवासी व व्यन्तर देवोंके पुर, भवन व आवास हैं—(दे० व्यन्तर/४/१-५)। प्रत्येक पर्वत आदिके ऊपर तथा उन देवोंके भवनोंमें जिन चैत्यालय होते हैं। (दे० चैत्यालय/३/२)।]

२. जम्बूद्वीपमें क्षेत्र पर्वत नदी आदिका प्रमाण

१. क्षेत्र, नगर आदिका प्रमाण

(ति. प./४/२३९६–२३९७); (ह. पु./५/८–११); (ज. प./१/५५)।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	महाक्षेत्र	७	भरत हैमवत आदि (दे० लोक/३/३)
२	कुरुक्षेत्र	२	देवकुरु व उत्तर कुरु।
३	कर्मभूमि	३४	भरत, ऐरावत व ३२ विदेह।
४	भोगभूमि	६	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत तथा दोनों कुरुक्षेत्र।
५	आर्यखण्ड	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
६	म्लेच्छ खण्ड	१७०	प्रति कर्मभूमि पाँच।
७	राजधानी	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
८	विद्याधरोंके नगर।	३७५०	भरत व ऐरावतके विजयार्धोंमेंसे प्रत्येकपर ११५ तथा ३२ विदेहोंके विजयार्धोंमें से प्रत्येक पर ११० (दे० विद्याधर)।

२. पर्वतोंका प्रमाण

(ति. प.४/२३९४–२३९७); (ह. पु./५/८–१०); (त्रि. सा./७३१); (ज. प./१/५५–५८,६६)।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	मेरु	१	जम्बूद्वीपके बीचोबीच।
२	कुलाचल	६	हिमवान् आदि (दे० लोक/३/३)।
३	विजयार्ध	३४	प्रत्येक कर्मभूमिमें एक।
४	वृषभगिरि	३४	प्रत्येक कर्मभूमिके उत्तर-मध्य म्लेच्छ खण्डमें एक।
५	नाभिगिरि	४	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रोंके बीचोबीच।
६	वक्षार	१६	पूर्व व अपर विदेहके उत्तर व दक्षिण-में चार-चार।
७	गजदन्त	४	मेरुकी चारों विदिशाओंमें।
८	दिग्गजेन्द्र	८	विदेह क्षेत्रके भद्रशालवनमें व दोनों कुरुओंमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर।
९	यमक	४	दो कुरुओंमें सीता व सीतोदाके दोनों तटोंपर।
१०	कांचनगिरि	२००	दोनों कुरुओंमें पाँच-पाँच द्रहोंके दोनों पार्श्वभागोंमें दस-दस।
		३११	

३. नदियोंका प्रमाण

(ति. प./४/२३८०–२३८५); (ह. पु./५/२७२–२७७); (त्रि. सा./७४७–७५०); (ज. प./३/१९७–१९८)।

नाम	गणना	प्रत्येक का परिवार	कुल प्रमाण	विवरण
गंगा-सिन्धु	२	१४०००	२८००२	भरतक्षेत्रमें
रोहित-रोहितास्या	२	२८०००	५६००२	हैमवत क्षेत्रमें
हरित-हरिकान्ता	२	५६०००	११२००२	हरि क्षेत्रमें
नारी नरकान्ता	२	५६०००	११२००२	रम्यक क्षेत्रमें
{ सुवर्णकूला व रूप्यकूला	२	२८०००	५६००२	हैरण्यवत क्षेत्रमें
रक्ता-रक्तोदा	२	१४०००	२८००२	ऐरावतक्षेत्रमें
{ छह क्षेत्रोंकी कुल नदियाँ			३९२०१२	
सीता-सीतोदा	२	८४०००	१६८००२	दोनों कुरुओंमें
क्षेत्र नदियाँ	६४	१४०००	८९६०६४	३२ विदेहोंमें
विभंगा	१२	×	१२	
विदेहकी कुल नदियाँ			१०६४०७८	ह. पु. व ज. प की अपेक्षा
जम्बू द्वीपकी कुल नदी			१४५६०९०	
विभंगा	१२	२८०००	३३६०००	
{ जम्बूद्वीपकी कुल नदी			१७९२०९०	ति. प. की अपेक्षा

४. द्रह-कुण्ड आदि

नं.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण
१	द्रह	१६	कुलाचलोंपर ६ तथा दोनों कुरुमें १०– (ज. प./१/६७)।
२	कुण्ड	१७९२०९०	नदियोंके बराबर (ति. प./४/२३८६)।
३	वृक्ष	२	जम्बू व शाल्मली (ह. पु /५/८)
४	गुफाएँ	६८	३४ विजयार्धोंकी (ह. पु./५/१०)
५	वन	अनेक	मेरुके ४ वन भद्रशाल, नन्दन, सौमनस व पाण्डुक। पूर्वापर विदेहके छोरोंपर देवारण्यक व भूतारण्यक। सर्व पर्वतों-के शिखरोंपर, उनके मूलमें, नदियों-के दोनों पार्श्वभागोंमें इत्यादि।
६	कूट	५६८	(ति. प./४/२३९६)
७	चैत्यालय	अनेक	कुण्ड, वनसमूह, नदियाँ, देव नगरियाँ, पर्वत, तोरण द्वार, द्रह, दोनों वृक्ष, आर्य खण्डके तथा विद्याधरोंके नगर आदि सबपर चैत्यालय हैं —(दे० चैत्यालय)।

नं.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण	
८	वेदियाँ	अनेक	उपरोक्त प्रकार जितने भी कुण्ड आदि तथा चैत्यालय आदि हैं उतनी ही उनकी वेदियाँ है। (ति. प./४/२३-८८-२३६०)।	
		१८	जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी	(ज. प./१/६०-६७)
		३११	सर्व पर्वतोंकी	
		१६	द्रहोंको	
		२४	पद्मादि द्रहोंकी	
		६०	कुण्डोंकी	
		१४	गंगादि महानदियोंकी	
		५२००	कुण्डज महानदियोंकी	
९	कमल	२२४१८५६	कुल द्रह = १६ और प्रत्येक द्रहमें कमल = १४०११६-(दे० आगे द्रहनिर्देश)	

३. क्षेत्र निर्देश

१—जम्बूद्वीपके दक्षिणमें प्रथम **भरतक्षेत्र** जिसके उत्तरमें हिमवान् पर्वत और तीन दिशाओंमें लवणसागर है। (रा. वा./३/१०/३/१७१/-१२)। इसके बीचोंबीच पूर्वापर लम्बायमान एक **विजयार्ध पर्वत** है। (ति. प./४/१०७); (रा. वा /३/१०/४/१७१/१७); (ह. पु./५/२०); (ज. प./२/३२)। इसके पूर्वमें गंगा और पश्चिममें सिन्धु नदी बहती है। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों नदियाँ हिमवान्‌के मूल भागमें स्थित गंगा व सिन्धु नामके दो कुण्डोंसे निकलकर पृथक्-पृथक् पूर्व व पश्चिम दिशामें, उत्तरसे दक्षिणकी ओर बहती हुई विजयार्ध दो गुफामेंसे निकलकर दक्षिण क्षेत्रके अर्धभाग तक पहुँचकर और पश्चिमकी ओर मुड़ जाती हैं, और अपने-अपने समुद्रमें गिर जाती हैं—(दे० लोक/३/११)। इस प्रकार इन दो नदियों व विजयार्धसे विभक्त इस क्षेत्रके छह खण्ड हो जाते हैं। (ति. प./४/२६६); (स. सि./३/१०/२१२/६); (रा. वा./३/१०/३/१७१/१३)। विजयार्धकी दक्षिणके तीन खण्डोंमेंसे मध्यका खण्ड आर्य-खण्ड है और शेष पाँच खण्ड म्लेच्छ खण्ड हैं—(दे० आर्यखण्ड)। आर्य खण्डके मध्य १२×९ यो० विस्तृत विनीता या अयोध्या नामकी प्रधान नगरी है जो चक्रवर्तीकी राजधानी होती है। (रा. वा./३/१०/१/१७१/६)। विजयार्धके उत्तरवाले तीन खण्डोंमें मध्यवाले म्लेच्छ खण्डके बीचोबीच वृषभगिरि नामका एक गोल पर्वत है जिसपर दिग्विजय कर चुकनेपर चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प./४/२६८-२६९); (त्रि. सा./७१०); (ज. प./२/१०७)। २. इसके पश्चात् हिमवान् पर्वतके उत्तरमें तथा महाहिमवान्‌के दक्षिणमें दूसरा **हैमवत क्षेत्र है** (रा. वा./३/१०/५/१७२/१७); (ह. पु./५/५७)। इसके बहुमध्य भागमें एक गोल शब्दवान् नामका **नाभिगिरि** पर्वत है (ति.प./१७०४); (रा.वा./३/१०/७/१७२/२१)। इस क्षेत्रके पूर्वमें रोहित और पश्चिममें रोहितास्या नदियाँ बहती हैं। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों ही नदियाँ नाभिगिरिके उत्तर व दक्षिणमें उससे २ कोस परे रहकर ही उसकी प्रदक्षिणा देती हुई अपनी-अपनी दिशाओंमें मुड़ जाती हैं, और बहती हुई अन्तमें अपनी-अपनी दिशावाले सागरमें गिर जाती हैं। —(दे० आगे लोक/३/११)। ३. इसके पश्चात् महाहिमवान्‌के उत्तर तथा निषध पर्वतके दक्षिणमें तीसरा **हरिक्षेत्र** है (रा. वा./३/१०/६/१७२/१९)। नीलके उत्तरमें और रुक्मि पर्वतके दक्षिणमें पाँचवाँ **रम्यकक्षेत्र** है। (रा. वा./३/१०/१५/१८१/१५) पुनः रुक्मिके उत्तर व शिखरी पर्वतके दक्षिणमें छठा **हैरण्यवत क्षेत्र** है। (रा. वा./३/१०/१८/१८१/२१) तहाँ विदेह क्षेत्रको छोड़कर इन चारोंका कथन हैमवतके समान है। केवल नदियों व नाभिगिरि पर्वतके नाम भिन्न हैं—दे० लोक/३/१/७ व लोक/५/८। ४. निषध पर्वतके उत्तर तथा नीलपर्वतके दक्षिणमें **विदेह क्षेत्र** स्थित है। (ति. प./४/२४७४); (रा. वा./३/१०/१२/१७३/४)। इस क्षेत्रकी दिशाओंका यह विभाग भरत क्षेत्रकी अपेक्षा है सूर्योदयकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि वहाँ इन दोनों दिशाओंमें भी सूर्यका उदय व अस्त दिखाई देता है। (रा. वा /३/१०/१३/१७३/१०)। इसके बहुमध्यभागमें सुमेरु पर्वत है (दे० लोक/३/६)। [ये क्षेत्र दो भागोंमें विभक्त हैं—कुरुक्षेत्र व विदेह] मेरु पर्वतकी दक्षिण व निषधके उत्तरमें देवकुरु है (ति. प./४/२१३८-२१३९)। मेरुके उत्तर व नीलके दक्षिणमें उत्तरकुरु है (ति. प./४/२१९१-२१-९२)। मेरुके पूर्व व पश्चिम भागमें पूर्व व अपर विदेह हैं, जिनमें पृथक्-पृथक् १६,१६ क्षेत्र हैं, जिन्हें ३२ विदेह कहते हैं। (ति. प./४/२१९९)। (दोनों भागोंका इकट्ठा निर्देश—रा. वा./३/१०/१३/१७३/६)। [नोट—इन दोनों भागोंके विशेष कथनके लिए दे० आगे पृथक् शीर्षक (दे० लोक/३/१२-१४)]। ५. सबसे अन्तमें शिखरी पर्वतके उत्तरमें तीन तरफसे लवणसागरके साथ स्पर्शित सातवाँ **ऐरावतक्षेत्र** है। (रा. वा./३/१०/२१/१८१/२८)। इसका सम्पूर्ण कथन भरतक्षेत्रवत् है (ति. प./४/२३६५); (रा. वा./३/१०/२२/१८१/३०) केवल इसकी दोनों नदियोंके नाम भिन्न हैं (दे० लोक/३/१/७) तथा ५/८)।

४. कुलाचल पर्वत निर्देश

१. भरत व हैमवत इन दोनों क्षेत्रोंकी सीमापर पूर्व-पश्चिम लम्बायमान (दे० लोक/३/१/२) प्रथम **हिमवान् पर्वत** है—(रा. वा./३/११/२/१८२/६)। इसपर ११ कूट हैं—(ति. प./४/१६३२); (रा.वा./३/११/२/१८२/१६); (ह. पु./५/५२); (त्रि. सा./७२१); (ज. प./३/३९)। पूर्व दिशाके कूटपर जिनायतन और शेष कूटोंपर यथा योग्य नामधारी व्यन्तर देव व देवियोंके भवन हैं (दे० लोक/५/४)। इस पर्वतके शीर्षपर बीचोंबीच पद्म नामका ह्रद है (ति. प./४/१६-५८); (दे० लोक/३/१/४)। २. तदनन्तर हैमवत् क्षेत्रके उत्तर व हरिक्षेत्रके दक्षिणमें दूसरा **महाहिमवान् पर्वत** है। (रा. वा./३/११/४/१८२/३१)। इसपर पूर्ववत् आठ कूट हैं (ति. प./४/१७२४); (रा. वा./३/११/४/१८३/४), (ह. पु./५/७०); (त्रि. सा./७२४); (ज. प./३/३९)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् महापद्म नामका द्रह है। (ति.प./४/१७२७); (दे० लोक/३/१/४)। ३. तदनन्तर हरिवर्षके उत्तर व विदेहके दक्षिणमें तीसरा **निषधपर्वत** है। (रा. वा./३/११/६/१८३/११)। इस पर्वतपर पूर्ववत् ९ कूट हैं (ति प./४/१७५८); (रा. वा./३/११/६/१८३/१७); (ह. पु./५/८७); (त्रि. सा./७२५); (ज. प./३/३९)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् तिगिंछ नामका द्रह है (ति. प./४/१७६१); (दे० लोक/३/१/४)। ४. तदनन्तर विदेहके उत्तर तथा रम्यकक्षेत्रके दक्षिण दिशामें दोनों क्षेत्रोंको विभक्त करनेवाला निषध-पर्वतके सदृश चौथा **नीलपर्वत** है। (ति. प./४/२३२७); (रा. वा./३/११/८/२३)। इसपर पूर्ववत् ९ कूट हैं। (ति. प./४/२३२८); (रा. वा./३/११/८/१८३/२४); (ह. पु /५/९९); (त्रि सा /७२६); (ज. प./३/३९)। इसकी विशेषता है कि इसपरस्थित द्रह का नाम केसरी है। (ति.प/४/२३३२), (दे लोक/३/१/४)। ५. तदनन्तर रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रों का विभाग करने वाला तथा महा हिमवान पर्वत के सदृश: ५वाँ रुक्मि पर्वत है, जिस पर पूर्ववत आठ कूट हैं। (ति प./४/२३४०); (रा. वा./३/११/१०/१८३/३०); (ह. पु./५/१०२); (त्रि. सा./७२७)। इस पर्वत पर महापुण्डरीक द्रह है। (दे. लोक/३/१/४)। ति. प. की अपेक्षा इसके द्रह का नाम पुण्डरीक है। (ति. प./४/२३४४)। ६. अन्त में जाकर हैरण्यवत व ऐरावत क्षेत्रों की सन्धि पर हिमवान पर्वत के सदृश छठा शिखरी पर्वत है, जिस पर ११ कूट हैं। (ति.प/४/२३५६); (रा. वा./३/११/१२/१८४/३); (ह. पु./५/१०५); (त्रि. सा/७२८);

चित्र सं० १४

भरत क्षेत्र

(ज.प./३/३६)इस पर स्थित द्रह का नाम पुण्डरीक है (दे.लोक/३/१/४)। ति.प. की अपेक्षा इसके द्रह का नाम महापुण्डरीक है। (ति. प./-४/२३६०)।

५. विजयार्ध पर्वत निर्देश

१. भरतक्षेत्रके मध्यमें पूर्व-पश्चिम लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है (दे० लोक/३/३/१)। भूमितलसे १० योजन ऊपर जाकर इसकी उत्तर व दक्षिण दिशामें विद्याधर नगरोंकी दो श्रेणियाँ हैं। तहाँ दक्षिण श्रेणीमें ५५ और उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं। इन श्रेणियोंसे भी १० योजन ऊपर जाकर उसी प्रकार दक्षिण व उत्तर दिशामें अभियोग देवोंकी श्रेणियाँ हैं। (दे० विद्याधर/४)। इसके ऊपर ६ कूट हैं। (ति. प./४/१४६); (रा. वा/३/१०/४/१७२/१०); (ह. पु./५/२६); (ज. प./२/४८)। पूर्व दिशाके कूटपर सिद्धायतन है और शेषपर यथायोग्य नामधारी व्यन्तर व भवनवासी देव रहते हैं।(दे० लोक/५/४)। इसके मूलभागमें पूर्व व पश्चिम दिशाओंमें तमिस्र व खण्डप्रपात नामकी दो गुफाएँ हैं, जिनमें क्रमसे गंगा व सिन्धु नदी प्रवेश करती हैं। (ति. प./४/१७५); (रा. वा/३/१०/४/१७/१७१/२७); (ज. प./२/८९)। रा. वा व. त्रि. सा. के मतसे पूर्व दिशामें गंगाप्रवेशके लिए खण्डप्रपात और पश्चिम दिशामें सिन्धु नदीके प्रवेशके लिए तमिस्र गुफा है (दे० लोक/३/१०)। इन गुफाओंके भीतर बहु मध्यभागमें दोनों तटोंसे उन्मग्ना व निमग्ना नामकी दो नदियाँ निकलती हैं जो गंगा और सिन्धुमें मिल जाती हैं। (ति. प./४/२३७), (रा. वा/३/१०/४/-१७१/११); (त्रि. सा./५९१); (ज. प./२/६५-६८); २. इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें भी एक विजयार्ध है, जिसका सम्पूर्ण कथन भरत विजयार्धवत् है (दे० लोक/३/३)। कूटों व तन्निवासी देवोंके नाम भिन्न हैं। (दे० लोक/५)। ३. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकके मध्य पूर्वापर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन भरत विजयार्धवत है। विशेषता यह कि यहाँ उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियोंमें ५५, ५५ नगर हैं। (ति. प./४/२२५७, २२६०); (रा. वा/३/१०/१३/१७६/२०); (ह. पु./५/२५५-२५६); (त्रि. सा./६९१-६९५)। इनके ऊपर भी ९, ९ कूट हैं (त्रि. सा./६९२)। परन्तु इनके व उन पर रहने वाले देवोंके नाम भिन्न हैं। (दे० लोक/५)।
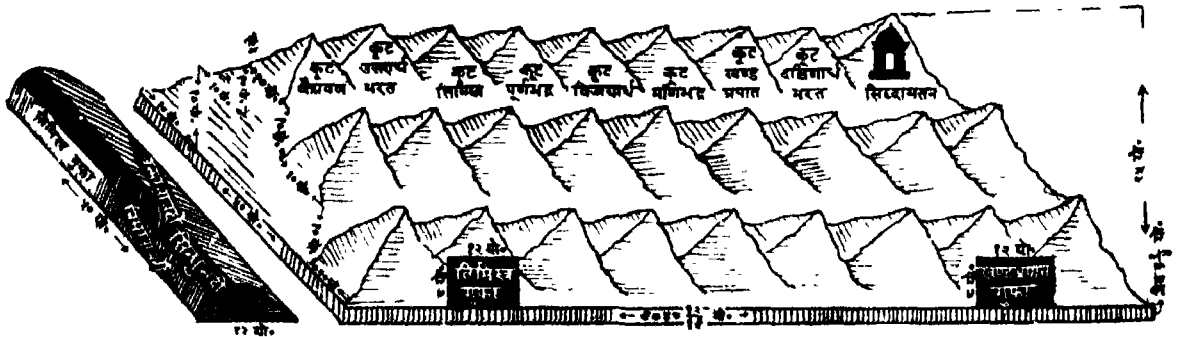
६. सुमेरु पर्वत निर्देश

१. सामान्य निर्देश

विदेहक्षेत्रके बहु मध्यभागमें सुमेरु पर्वत है। (ति. प./४/१७८०); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/१६); (ज. प./४/२१)। यह पर्वत तीर्थंकरोंके जन्माभिषेकका आसनरूप माना जाता है (ति. प./४/१७८०); (ज. प./४/२१), क्योंकि इसके शिखरपर पाण्डुकवनमें स्थित पाण्डुक आदि चार शिलाओंपर भरत, ऐरावत तथा पूर्व व पश्चिम विदेहोंके सर्व तीर्थंकरोंका देव लोग जन्माभिषेक करते हैं (दे० लोक/३/३)। यह तीनों लोकोंका मानदण्ड है, तथा इसके मेरु, सुदर्शन, मन्दर आदि अनेकों नाम हैं (दे० सुमेरु/२)।

२. मेरुका आकार

यह पर्वत गोल आकार वाला है। (ति. प./४/१७८२)। पृथिवीतलपर १००,०० योजन विस्तार तथा ९९००० योजन उत्सेध वाला है। क्रमसे हानि रूप होता हुआ इसका विस्तार शिखरपर जाकर १००० योजन रह जाता है। (दे० लोक/६/४)। इसकी हानिका क्रम इस प्रकार है—क्रमसे हानि रूप होता हुआ पृथिवीतलसे ५०० योजन ऊपर जानेपर नन्दनवनके स्थानपर यह चारों ओरसे युगपत् ५०० योजन संकुचित होता है। तत्पश्चात् ११००० योजन समान विस्तारसे जाता है। पुनः ५१५०० योजन क्रमिक हानिरूपसे जानेपर, सौमनस वनके स्थानपर चारों ओरसे ५०० यो. संकुचित होता है। यहाँसे ११००० योजन तक पुनः समान विस्तारसे जाता है और उसके ऊपर २५००० योजन क्रमिक हानिरूपसे जानेपर पाण्डुकवनके स्थानपर चारों ओरसे युगपत् ४९४ योजन संकुचित होता है। (ति./४/१७८८-१७९१); (ह. पु./५/२८७-३०१)। इसका बाह्य विस्तार भद्रशाल आदि वनोंके स्थानपर क्रमसे १००,००, ९९५४ $\frac{6}{11}$, ४२७२ $\frac{8}{11}$ तथा १००० योजन प्रमाण है (ति. प./४/१७८३ + १९९० + १९३६ + १८१०); (ह. पु./५/२८७-३०१) (और भी दे० लोक/६/६ में इन वनोंका विस्तार)। इस पर्वतके शीर्ष पर पाण्डुक वनके बीचोंबीच ४० यो. ऊँची तथा १२ यो. मूल विस्तार युक्त चूलिका है। (ति. प./४/१८१४); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/१४); (ह. पु./५/३०२); (त्रि.सा./६३७); (ज.प./४/१३२); (विशेष दे० लोक/६/४.२ में चूलिका विस्तार)।

२. मेरुकी परिधियाँ

नीचेसे ऊपरकी ओर इस पर्वतकी परिधि सात मुख्य भागोंमें विभाजित है—हरितालमयी, वैडूर्यमयी, सर्वरत्नमयी, वज्रमयी, मद्यमयी और पद्मरागमयी अर्थात् लोहिताक्षमयी। इन छहोंमें से प्रत्येक १६५०० यो० ऊँची है। भूमितल अवगाही सप्त परिधि (पृथिवी उपल बालुका आदि रूप होनेके कारण) नाना प्रकार है। (ति. प./४/१८०२-१८०४), (ह. पु./५/३०४)। दूसरी मान्यताके अनुसार ये सातों परिधियाँ क्रमसे लोहिताक्ष, पद्म, तपनीय, वैडूर्य, वज्र, हरिताल और जाम्बूनद—सुवर्णमयी हैं। प्रत्येक परिधिकी ऊँचाई १६५०० योजन है। पृथिवीतलके नीचे १००० यो. पृथिवी, उपल, बालुका और शर्करा ऐसे चार भाग रूप हैं। तथा ऊपर चूलिकाके पास जाकर तीन काण्डकों रूप है। प्रथम काण्डक सर्वरत्नमयी, द्वितीय जाम्बूनदमयी और तीसरा काण्डक चूलिकाका है जो वैडूर्यमयी है।
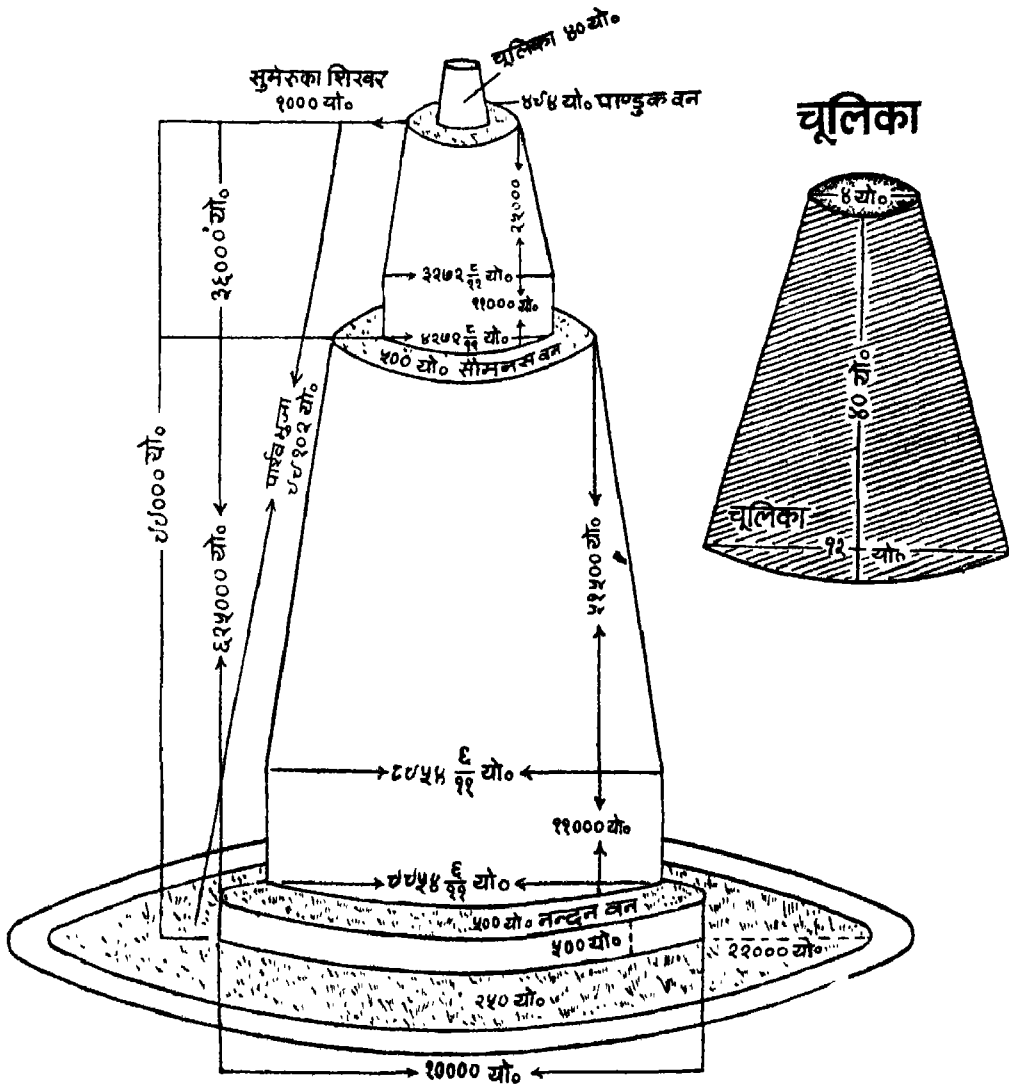
४. वनखण्ड निर्देश

१. सुमेरु पर्वतके तलभागमें भद्रशाल नामका प्रथम वन है जो पाँच भागोंमें विभक्त है—भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। (ति. प./४/१८०५); (ह. पु./५/३०७) इस वनकी चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प./४/२००३); (त्रि. सा./६११); (ज. प./४/४६) इनमेंसे एक मेरुसे पूर्व तथा सीता नदीके दक्षिणमें है। दूसरा मेरुकी दक्षिण व सीतोदाके पूर्वमें है। तीसरा मेरुसे पश्चिम तथा सीतोदाके उत्तरमें है और चौथा मेरुके उत्तर व सीताके पश्चिममें है। (रा. वा./३/१०/१७८/१८) इन चैत्यालयोंका विस्तार पाण्डुक वनके चैत्यालयोंसे चौगुना है (ति. प./४/२००४)। इस वनमें मेरुकी चारों तरफ सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर एक-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। (दे० लोक/३/१२) २. भद्रशाल वनसे ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वतकी कटनीपर द्वितीय वन स्थित है। (दे० पिछला उपशीर्षक १)। इसके दो विभाग हैं नन्दन व उपनन्दन। (ति. प./४/-१८०६); (ह. पु./५/३०८) इसको पूर्वादि चारों दिशाओंमें पर्वतके पास क्रमसे मान, धारणा, गन्धर्व व चित्र नामके चार भवन हैं जिनमें क्रमसे सौधर्म इन्द्रके चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीड़ा करते हैं।) (ति. प./४/१९९४–१९९६); (ह पु./३१५-३१७); (त्रि. सा./६१९, ६२१); (ज. प./४/८३-८४)। कहीं-कहीं इन भवनोंको गुफाओंके रूपमें बताया जाता है। (रा. वा./३/१०/-१३/१७९/१४)। यहाँ भी मेरुके पास चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प./४/१९९८); (रा. वा./३/१०/१३/१७९/३२); (ह. पु./५/३५८); (त्रि. सा./६११)। प्रत्येक जिनभवनके आगे दो-दो कूट हैं—जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। ति. प. की अपेक्षा ये आठ कूट इस वनमें न होकर सौमनस वनमें ही हैं। (दे० लोक/५/५)। चारों विदिशाओंमें सौमनस वनकी भाँति चार-चार करके कुल १६ पुष्करिणियाँ हैं। (ति. प./४/१९९८); (रा. वा./-३/१०/१३/१७९/२५); (ह. पु./५/३३४–३३५ + ३४३–३४६); (त्रि. सा./६२८); (ज. प./४/११०–११३)। इस वनकी ईशान दिशामें एक बलभद्र नामका कूट है जिसका कथन सौमनस वनके बलभद्र कूटके समान है। इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति. प./४/१९९७); (रा. वा./३/१०/१३/१७९/१९); (ह. पु./५/३२८); (त्रि. सा./-६२४); (ज. प./४/९९)। ३. नन्दन वनसे ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वतपर तीसरा सौमनस वन स्थित है। (दे० लोक/-३/६.२)। इसके दो विभाग हैं—सौमनस व उपसौमनस (ति. प./-४/१८०६); (ह पु./५/३०८)। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें मेरुके निकट वज्र, वज्रमय, सुवर्ण व सुवर्णप्रभ नामके चार पुर हैं, (ति. प./४/१९४३); (ह. पु./५/३१९); (त्रि. सा./६२०); (ज. प./४/९१) इनमें भी नन्दन वनके भवनोंवत सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। (त्रि. सा./६२१)। चारों विदिशाओंमें चार-चार पुष्करिणी हैं। (ति. प./४/१९४६, १९६२–१९६६); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/७)। पूर्वादि चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं (ति. प./४/१९६८); (ह. पु./५/३५७); (त्रि. सा./-६११); (ज. प./४/६४)। प्रत्येक जिन मन्दिर सम्बन्धी बाह्य कोटोंके बाहर उसके दोनों कोनोंपर एक-एक करके कुल आठ कूट हैं। जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। (दे० लोक/५/५)। इसकी ईशान दिशामें बलभद्र नामका कूट है जो ५०० योजन तो वनके भीतर है और ५०० योजन उसके बाहर आकाशमें निकला हुआ है। ति. प./४/१९८१); (ज. प./४/१०१); इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति. प./४/१९८४) मतान्तरकी अपेक्षा इस वनमें आठ कूट व बलभद्र कूट नहीं है। (रा. वा./३/१०/१३/१८०/६)। (दे. सामनेवाला चित्र)। ४. सौमनस वनसे ३६००० योजन ऊपर जाकर मेरुके शीर्षपर चौथा पाण्डुक वन है। (दे० लोक/३/६.२) जो चूलिकाको वेष्टित करके शीर्षपर स्थित है (ति. प./४/१८१४)। इसके दो विभाग हैं—पाण्डुक व उपपाण्डुक। (ति. प./४/१८०६); (ह. पु./५/३०९)। इसके चारों दिशाओंमें लोहित अंजन हरिद्र और पाण्डुक नामके चार भवन हैं जिनमें सोम आदि लोकपाल क्रीड़ा करते हैं। (ति. प./४/१८३६, १८५२); (ह. पु./५/३२२), (त्रि. सा./६२०); (ज. प./४/९३); चारों विदिशाओंमें चार-चार करके १६ पुष्करिणियाँ हैं। (रा. वा./३/१०/१६/१८०/२६)। वनके मध्य चूलिकाकी चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प./४/१८५५, १९३५); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/२८); (ह. पु./५/३५४); (त्रि. सा./६११); (ज. प./४/६४)। वनकी ईशान आदि दिशाओंमें अर्ध चन्द्राकार चार शिलाएँ हैं—पाण्डुक शिला, पाण्डुकंबला शिला, रक्तकंबला शिला, और रक्तशिला। रा. वा. के अनुसार ये चारों पूर्वादि दिशाओंमें स्थित हैं। (ति. प./४/१८१८, १८३०–१८३४); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/१५); (ह. पु./५/३४७); (त्रि. सा./६३३); (ज. प./४/१३८–१४१)। इन शिलाओंपर क्रमसे भरत, अपरविदेह, ऐरावत और विदेहके तीर्थंकरोंका जन्माभिषेक होता है। (ति. प./४/१८२७, १८३१–१८३५); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/२२); (ह. पु./५/३५३); (त्रि. सा./६३४); (ज. प./४/१४८–१५०)।

चित्र सं०-१६

नन्दन व सौमनस वन - (दृष्टि सं० १)

चित्र सं० - १७

दिक्कुमारी देवियाँ
सागर चित्र
वज्र
नलिन
नलिन गुल्मा
श्री निलया
श्री महिता
श्री कान्ता
श्री भद्रा
पुष्करिणियें
रुचक
कुबेर
कुमुदा
कुमुद प्रभा
वरुण
सोम
सुमेरु पर्वत
नन्दन वन के बीच ३२७२ ८/११ यो.
सौमनस वन के बीच ८३५४ ६/११ यो.
प्रत्येक पुष्करिणी में इन्द्र के क्रीडा भवन हैं
कज्जल प्रभा
कज्जला
रजत
यम
हिमवान्
निषध
मणिभद्र या बलभद्रदेव बलभद्रकूट
१००० यो.
५०० यो.

१- द्वि० दृष्टिसे बलभद्र कूट नन्दन वनमें ही है, तथा उसका विस्तार व ऊंचाई १००, १०० योजन है।
२- द्वि० दृष्टिसे कुबेर आदि लोकपालोंके ४ भवनोंको ४ गुफाएं कहा गया है।
३- प्रथम दृष्टिसे चैत्यालयोंके कोनोंवाले ८ कूट सौमस वनमें हैं और द्वि० दृष्टिसे नन्दन वनमें।
४- पूर्व दिशाको आदि लेकर सोम आदि लोकपालोंके ४ कूटोंके नाम प्रथम दृष्टिसे क्रमशः मान, धारण, गन्धर्व व चित्र हैं, तथा द्वि० दृष्टिसे वज्र, वज्रमय, स्वर्ण व स्वर्णप्रभ हैं।

चित्र सं० - १८ इस वन की पुष्करिणी में इन्द्र सभा की रचना

(ह. पु. | ५|३३८ - ३४०)

७. पाण्डुकशिला निर्देश

पाण्डुक शिला १०० योजन लम्बी ५० योजन चौड़ी है, मध्यमें ८ योजन ऊँची है और दोनों ओर क्रमशः हीन होती गयी है। इस प्रकार यह अर्धचन्द्राकार है। इसके बहुमध्य देशमें तीन पीठ युक्त एक सिंहासन है और सिंहासनके दोनों पार्श्व भागोंमें तीन पीठ युक्त ही एक भद्रासन है। भगवान्‌के जन्माभिषेकके अवसरपर सौधर्म व ऐशानेन्द्र दोनों इन्द्र भद्रासनोंपर स्थित होते हैं और भगवान्‌को मध्य सिंहासनपर विराजमान करते हैं। (ति. प०/४/१८१६–१८२६); (रा. वा./३/१०/१३/१८०/२०); (ह. पु./५/३४६-३५२); (त्रि. सा./६३५–६३६); (ज. प./४/१४२–१४७)।

चित्र-२०

पाण्डुक शिला
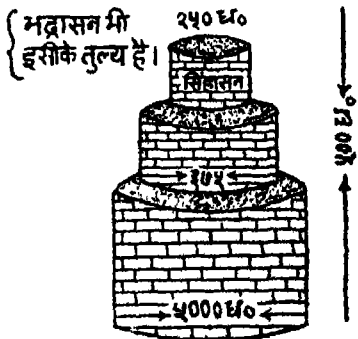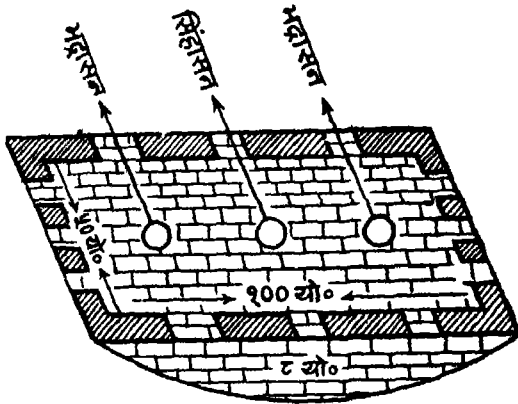
८. अन्य पर्वतोंका निर्देश

१. भरत, ऐरावत व विदेह इन तीनको छोड़कर शेष हैमवत आदि चार क्षेत्रोंके बहुमध्य भागमें एक-एक नाभिगिरि है। (ह. पु./५/१६१); (त्रि. सा./७१८–७१९); (ज. प./३/२०६); (वि. दे० लोक/१)। ये चारों पर्वत ऊपर-नीचे समान गोल आकार वाले हैं। (ति प./४/१७०४); (त्रि. सा./७१८); (ज. प./३/२१०)।

चित्र सं० - २१

नाभिगिरि
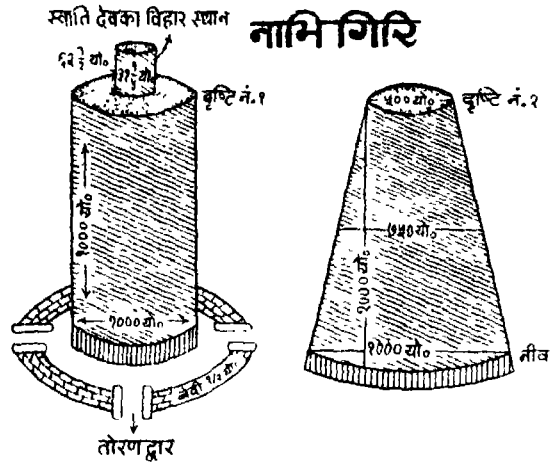
२. मेरु पर्वतकी विदिशाओंमें हाथीके दाँतके आकारवाले चार गजदन्त पर्वत हैं। जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलोंको और दूसरी तरफ़ मेरुको स्पर्श करते हैं। तहाँ भी मेरु पर्वतके मध्यप्रदेशमें केवल एक-एक प्रदेश उससे संलग्न हैं। (ति. प./-४/२०१२–२०१४)। ति. प. के अनुसार इन पर्वतोंके परभाग भद्रशाल वनकी वेदीको स्पर्श करते हैं, क्योंकि वहाँ उनके मध्यका अन्तराल ५३००० यो० बताया गया है। तथा संग्रायणीके अनुसार उन वेदियोंसे ५०० यो० हटकर स्थित है, क्योंकि वहाँ उनके मध्यका अन्तराल ५२००० यो० बताया है। (दे० लोक/६/३ में देवकुरु व उत्तरकुरुका विस्तार)। अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार उन वायव्य आदि दिशाओंमें जो-जो भी नामवाले पर्वत हैं, उनपर क्रमसे ७, ९, ७, ९ कूट हैं (ति. प./४/२०३१, २०४६, २०५८, २०६०); (ह. पु./५/२१६), (विशेष दे० लोक/५/४)। मतान्तरसे इन पर क्रमसे ७, १०, ७, ९ कूट हैं। (रा. वा./३/१०/१३/१७३/२३,३०,१४,१८)।

चित्र सं०-२२ गजदन्त
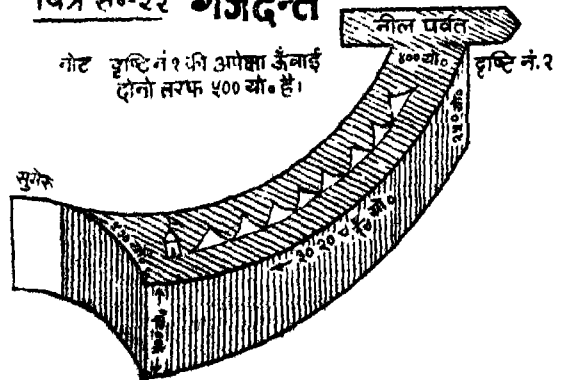
ईशान व नैऋत्य दिशावाले विद्युत्प्रभ व माल्यवान गजदन्तोंके मूलमें सीता व सीतोदा नदियोंके निकलनेके लिए एक-एक गुफा होती है। (ति. प./४/२०५५,२०६१)।

३. देवकुरु व उत्तरकुरुमें सीतोदा व सीता नदीके दोनों तटोंपर एक यमक पर्वत हैं (दे० आगे लोक/३/१२)। ये गोल आकार वाले हैं। (दे० लोक/६/४में इनका विस्तार)। इनपर इन-इनके नामवाले व्यन्तरदेव सपरिवार रहते हैं। (ति. प./४/२०८४); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/२८)। उनके प्रासादों का सर्वकथन पद्मद्रहके कमलोंवत है। (ज. प./६/६२-१०२)। ४. उन्हीं देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित द्रहोंके दोनों पार्श्व-भागोंमें कांचन शैल स्थित हैं। (दे० आगे लोक/३/१२)। ये पर्वत गोल आकार वाले हैं। (दे० लोक/६/४ में इनका विस्तार)। इनके ऊपर कांचन नामक व्यन्तरदेव रहते हैं। (ति. प./४/-

चित्र सं०-२३

यमक व कांचन गिरि
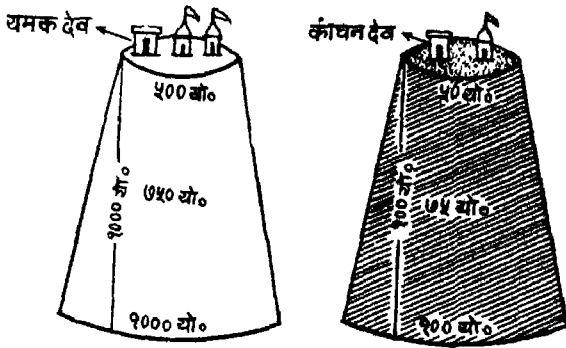
२०९९); (ह. पु./५/२०४); (त्रि. सा./६५६)। ५. देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर व बाहर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके दोनों तटोंपर आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं (दे० लोक/३/१२)। ये गोल आकार वाले हैं (दे० लोक/६/४ में इनका विस्तार)। इन-पर यम व वैश्रवण नामक वाहन देवोंके भवन हैं। (ति. प./४/२१०६, २१०८, २०३१)। उनके नाम पर्वतोंवाले ही हैं (ह. पु./५/२०९); (ज. प./२/८१)। ६. पूर्व व पश्चिम विदेहमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ़ उत्तर-दक्षिण लम्बायमान, ४, ४ करके कुल १६ वक्षार पर्वत हैं। एक ओर ये निषध व नील पर्वतोंको स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सीता व सीतोदा नदियोंको। (ति. प./४/२२००, २२२४, २२३०); (ह. पु./५/२२८-२३२) (और भी दे० आगे लोक/३/१४)। प्रत्येक वक्षार पर चार चार कूट हैं; नदीकी तरफ सिद्धायतन है और शेष कूटोंपर व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प./४/२३०९-२३११); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/४); (ह. पु./५/२३४-२३५)। इन कूटोंका सर्व कथन हिमवान पर्वतके कूटोंवत् है। (रा. वा./३/१०/१३/१७६/७)। ७. भरत क्षेत्रके पाँच म्लेच्छ खण्डोंमें से उत्तर वाले तीनके मध्यवर्ती खण्डमें बीचों-बीच एक वृषभ गिरि है, जिसपर दिग्विजयके पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है (दे० लोक/३/३)। यह गोल आकार वाला है। (दे० लोक/६/४ में इसका विस्तार) इसी प्रकार विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें-से प्रत्येक क्षेत्रमें भी जानना (दे० लोक/३/१४)।

९. द्रह निर्देश

१. हिमवान पर्वतके शीषपर बीचोंबीच पद्म नामका द्रह है। (दे० लोक/३/४)। इसके तटपर चारों कोनोंपर तथा उत्तर दिशा में ५ कूट हैं और जलमें आठों दिशाओंमें आठ कूट हैं। (दे० लोक/५/३)। ह्रदके मध्यमें एक बड़ा कमल है, जिसके ११००० पत्ते हैं। (ति. प./१६६७, १६७०); (त्रि. सा./५६९); (ज. प./३/७५); इस कमलपर 'श्री' देवी रहती है (ति. प./४/१६७२); (दे० लोक/३/१-६)। इस प्रधान कमलकी दिशा-विदिशाओंमें उसके परि-वारके अन्य भी अनेकों कमल हैं। कुल कमल १४०११६ हैं। तहाँ वायव्य, उत्तर व ईशान दिशाओंमें कुल ४००० कमल उसके सामा-निक देवोंके हैं। पूर्वादि चार दिशाओंमें से प्रत्येकमें ४००० (कुल १६०००) कमल आत्मरक्षकोंके हैं। आग्नेय दिशामें ३२००० कमल आभ्यन्तर पारिषदोंके, दक्षिण दिशामें ४०,००० कमल मध्यम पारि-षदोंके, नैऋत्य दिशामें ४८००० कमल बाह्य पारिषदोंके हैं। पश्चिम-में ७ कमल सप्त अनीक महत्तरोंके हैं। तथा दिशा व विदिशाके मध्य आठ अन्तर दिशाओंमें १०८ कमल त्रायस्त्रिंशोंके हैं। (ति. प./४/१६७५-१६८९); (रा. वा./३/१७/-/१८५/११); (त्रि. सा./-५७२-५७६); (ज. प./३/६१-१२३)। इसके पूर्व पश्चिम व उत्तर द्वारोंसे क्रमसे गंगा, सिन्धु व रोहितास्या नदी निकलती हैं। (दे० आगे शीर्षक ११)। (दे० चित्र सं. २४, पृ. ४७०)। २. महाहिमवान् आदि शेष पाँच कुलाचलों पर स्थित महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके ये पाँच द्रह हैं। (दे० लोक/३/४), इन ह्रदोंका सर्व कथन कूट कमल आदिका उपरोक्त पद्मह्रदवत ही जानना। विशेषता यह कि तन्नि-वासिनी देवियोंके नाम क्रमसे ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी है। (दे० लोक/३/१६)। व कमलोंकी संख्या तिगिंछ तक उत्तरोत्तर दूनी है। केसरीकी तिगिंछवत्, महापुण्डरीककी महापद्मवत और पुण्डरीक-की पद्मवत् है।(ति. प./४/१७२८-१७२९;१७६१- १७६२;२३३२-२३३३; २३४५-२३६१)। अन्तिम पुण्डरीक द्रहसे पद्मद्रहवत् रक्ता, रक्तोदा व सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकलती हैं और शेष द्रहोंसे दो-दो नदियाँ केवल उत्तर व दक्षिण द्वारोंसे निकलती हैं। (दे० लोक/-३/१ ७ व ११)। [ति. प. में महापुण्डरीकके स्थानपर रुक्मि पर्वतपर पुण्डरीक और पुण्डरीकके स्थानपर शिखरी पर्वतपर महापुण्डरीक द्रह कहा है—(दे० लोक/३/४)। ३. देवकुरु व उत्तरकुरुमें दस द्रह हैं। अथवा दूसरी मान्यतासे २० द्रह हैं। (दे० आगे लोक/३/१२) इनमें देवियोंके निवासभूत कमलों आदिका सम्पूर्ण कथन पद्मद्रह-वत जानना (ति. प./४/२०९३, २१२६); (ह. पु./५/१९८-१९९); (त्रि. सा./६५८); (ज. प./६/१२४-१२९)। ये द्रह नदीके प्रवेश व निकासके द्वारोंसे संयुक्त हैं। (त्रि. सा./६५८)। ४. सुमेरु पर्वतके नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वनमें १६, १६ पुष्करिणी हैं, जिनमें सपरिवार सौधर्म व ऐशानेन्द्र क्रीड़ा करते हैं। तहाँ मध्यमें इन्द्रका आसन है। उसकी चारों दिशाओंमें चार आसन लोकपालोंके हैं, दक्षिणमें एक आसन प्रतीन्द्रका, अग्रभागमें आठ आसन अग्रमहि-षियोंके, वायव्य और ईशान दिशामें ८४००,००० आसन सामानिक देवोंके, आग्नेय दिशामें १२००,००० आसन अभ्यन्तर पारिषदोंसे, दक्षिणमें १४००,००० आसन मध्यम पारिषदोंके, नैऋत्य दिशामें १६००,००० आसन बाह्य पारिषदोंके, तथा उसी दिशामें ३३ आसन त्रायस्त्रिंशोंके, पश्चिममें छह आसन महत्तरोंके और एक आसन महत्तरिकाका है। मूल मध्य सिंहासनके चारों दिशाओंमें ८४००० आसन अंगरक्षकोंके हैं। (इस प्रकार कुल आसन १२६८४०५४ होते हैं)। (ति. प./४/१९४९-१९६०), (ह. पु./५/३३६-३४२)।

चित्र सं॰ - २४

पद्म द्रह
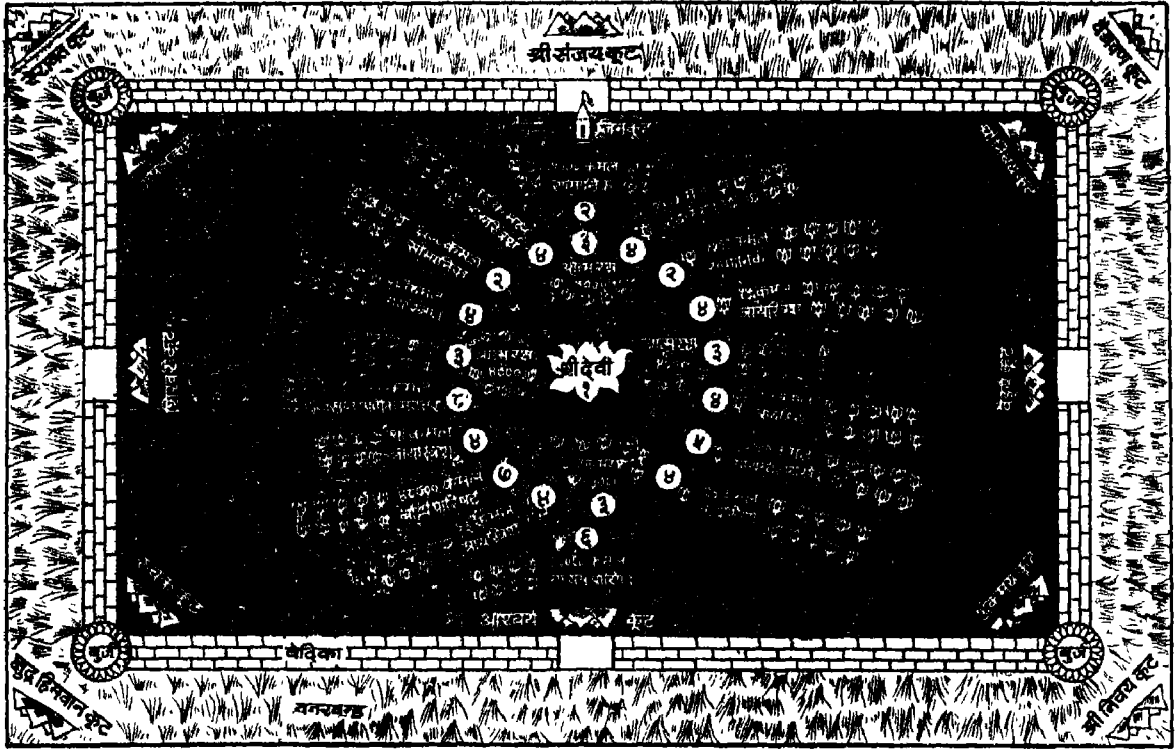
चित्र सं॰ - २५

पद्म द्रहका मध्यवर्ती कमल
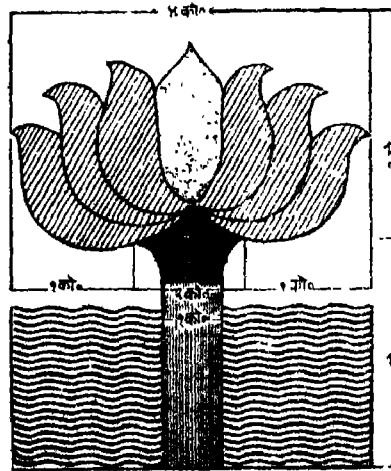
१०. कुण्ड निर्देश

१. हिमवान् पर्वतके मूलभागसे २५ योजन हटकर गंगा कुंड स्थित है। उसके बहुमध्य भागमें एक द्वीप है, जिसके मध्यमें एक शैल है। शैलपर गंगा देवीका प्रासाद है। इसीका नाम गंगाकूट है। उस कूटके ऊपर एक जिनप्रतिमा है, जिसके शीशपर गंगाकी धारा गिरती है। (ति. प./४/२१६–२३०); (रा. वा./३/२२/१/१८७/२६ व १८८/१); (ह. पु./५/१४२); (त्रि. सा./५८६–५८७); (ज. प./-३/१४–३७ व १५४–१६२)। २. उसी प्रकार सिन्धु आदि शेष नदियों के पतन स्थानोंपर भी अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतोंके नीचे सिन्धु आदि कुण्ड जानने। इनका सम्पूर्ण कथन उपरोक्त गंगा कुण्डवत् है विशेषता यह कि उन कुण्डोंके तथा तन्निवासिनी देवियोंके नाम अपनी-अपनी नदियोंके समान हैं। (ति. प./४/-२६१–२६२; १६१६); (रा. वा./३/२२/१/१८८/१,१८,२६,२९+१८८/-६,६,१२,१६,२०,२३,२६,२९)। भरत आदि क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतोंसे उन कुण्डोंका अन्तराल भी क्रमसे २५,५०,१००,२००,१००,५० २५ योजन है। (ह. पु./५/१५१–१५७)। ३. ३२ विदेहोंमें गंगा, सिन्धु व रक्ता रक्तोदा नामवाली ६४ नदियोंके भी अपने-अपने नाम वाले कुण्ड नील व निषध पर्वतके मूलभागमें स्थित हैं। जिनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्त गंगा कुण्डवत् ही है। (रा. वा./३/१०/१३/-१७६/२४,२९ + १७७/११)।

११. नदी निर्देश

१. हिमवान् पर्वतपर पद्मद्रहके पूर्वद्वारसे गंगानदी निकलती है (ति. प./४/१९६); (रा. वा./३/२२/१/१८७/२२); (ह. पु./५/१३२); (त्रि. सा./५८२); (ज. प./३/१४७)। द्रहकी पूर्व दिशामें इस नदीके मध्य एक कमलाकार कूट है, जिसमें बला नामकी देवी रहती है। (ति. प./४/२०५–२०९); (रा. वा/३/२२/२/१८८/३)। द्रहसे ५०० योजन आगे पूर्व दिशामें जाकर पर्वतपर स्थित गंगा-कूटसे १/२ योजन इधर ही इधर रहकर दक्षिणकी ओर मुड़ जाती है, और पर्वतके ऊपर ही उसके अर्ध विस्तार प्रमाण अर्थात् ५२३$\frac{२६}{१९}$ योजन आगे जाकर वृषभाकार प्रणालीको प्राप्त होती है। फिर उसके मुखमें-से निकलती हुई पर्वतके ऊपरसे अधोमुखी होकर उसकी धारा नीचे गिरती है। (ति. प./४/२१०–२१४), (रा. वा/३/२२/१/१८७/२२); (ह. पु./५/१३८–१४०); (त्रि. सा./५८२–५८४); (ज. प./३/१४७–१४९)। वहाँ पर्वतके मूलसे २५ योजन हटकर वह धार गंगाकुण्डमें स्थित गंगाकूटके ऊपर गिरती है (दे० लोक/३/९)। इस गंगाकुण्डके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह उत्तर भारतमें दक्षिणमुखी बहती हुई विजयार्धकी तमिस्र गुफामें प्रवेश करती है (ति. प./४/२३२–२३३); (रा. वा/३/२२/१/१८७/२७); (ह. पु./५/१४८); (त्रि. सा./५९१); (ज. प./३/१७४)। ['रा. वा' व 'त्रि. सा'में तमिस्र गुफाकी बजाय खण्डप्रपात नामकी गुफामें प्रवेश कराया है] उस गुफाके भीतर वह उन्मग्ना व निमग्ना नदीको अपनेमें समाती हुई (ति. प./४/२४१); (दे० लोक/३/५) गुफाके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह दक्षिण भारतमें उसके आधे विस्तार तक अर्थात् ११९$\frac{३}{१९}$ योजन तक दक्षिणकी ओर जाती है। तत्पश्चात् पूर्वकी ओर मुड़ जाती है और मागध तीर्थके स्थानपर लवण सागरमें मिल जाती है। (ति. प./४/२४३–२४४); (रा. वा/३/२२/१/१८७/२८); (ह. पु./५/-१४८–१४९), (त्रि. सा./५९६)। इसकी परिवार नदियाँ कुल १४००० हैं। (ति. प./१/२४४); (ह. पु./५/१४९); (दे० लोक/३/१९) ये सब परिवार नदियाँ म्लेच्छ खण्डमें ही होती हैं आर्यखण्डमें नहीं (दे० म्लेच्छ/१)। २. सिन्धुनदीका सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवत् है। विशेष यह कि पद्मद्रहके पश्चिम द्वारसे निकलती है। इसके भीतरी कमलाकारकूटमें लवणा देवी रहती है। सिन्धुकुण्डमें स्थित सिन्धुकूटपर गिरती है। विजयार्धकी खण्डप्रपात गुफाको प्राप्त होती है अथवा 'रा-वा' व 'त्रि. सा' की अपेक्षा तमिस्र गुफाको प्राप्त होती है। पश्चिमकी ओर मुड़कर प्रभास तीर्थके स्थानपर पश्चिम लवण-सागरमें मिलती है। (ति. प./४/२५२-२६४); (रा. वा./३/२२/२/१८७/३१); (ह. पु./५/१५१); (त्रि. सा./५९७)–(दे० लोक/३/१८) इसकी परिवार नदियाँ १४००० हैं (ति. प./४/२६४); (दे० लोक/३/१.९) । ३. हिमवान् पर्वतके ऊपर पद्मद्रहके उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तरमुखी ही रहती हुई पर्वतके ऊपर २७६$\frac{६}{१९}$ योजन चलकर पर्वतके उत्तरी किनारेको प्राप्त होती है, फिर गंगा नदीवत् ही धार बनकर नीचे रोहितास्या कुण्डमें स्थित रोहितास्याकूटपर गिरती है। (ति. प./४/१६६५); (रा. वा. ३/२२/३/१८८/७); (ह. पु./५/१५३ + १६३); (त्रि. सा./५९८) कुण्डके उत्तरी द्वारसे निकलकर उत्तरमुखी बहती हुई वह हैमवत क्षेत्रके मध्यस्थित नाभिगिरि तक जाती है। परन्तु उससे दो कोस इधर ही रहकर पश्चिमकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम दिशामें उसके अर्धभागके सम्मुख होती है। वहाँ पश्चिम दिशाकी ओर मुड़ जाती है और क्षेत्रके अर्ध आयाम प्रमाण क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प./४/१७१३-१७१६); (रा. वा./३/२२/३/१८८/११); (ह. पु./५/१६३); (त्रि. सा./५९८); (दे० लोक/३/१.८) इसकी परिवार नदियोंका प्रमाण २८००० है। (ति. प./४/१७१६); (दे० लोक/३/१.९) । ४. महाहिमवान् पर्वतके ऊपर महापद्म ह्रदके दक्षिण द्वारसे रोहित नदी निकलती है। दक्षिणमुखी होकर १६०५$\frac{५}{१९}$ यो० पर्वतके ऊपर जाती है। वहाँसे पर्वतके नीचे रोहितकुण्डमें गिरती है और दक्षिणमुखी बहती हुई रोहितास्यावत् ही हैमवतक्षेत्रमें, नाभिगिरिसे २ कोस इधर रहकर पूर्व दिशाकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती है। फिर वह पूर्वकी ओर मुड़कर क्षेत्रके बीचमें बहती हुई अन्तमें पूर्व लवणसागरमें गिर जाती है। (ति. प./४/१७३५-१७३७); (रा. वा./३/२२/४/१८८/१५); (ह. पु./५/१५४ + १६३); (ज. प./३/२१२); (दे० लोक/३/१.८)। इसकी परिवार नदियाँ २८००० हैं। (ति. प./४/१७३७); (दे० लोक/३/१.९) । ५. महाहिमवान् पर्वतके ऊपर महापद्म ह्रदके उत्तर द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। वह उत्तरमुखी होकर पर्वतपर १६०५$\frac{५}{१९}$ यो० चलकर नीचे हरिकान्ता कुण्डमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिको प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिमकी ओर मुड़ जाती है और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प./४/१७४७-१७४९); (रा. वा /३/२२/५/१८८/१९); (ह. पु./५/१५५ + १६३)। (दे० लोक/३/१.८) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० हैं (ति. प./४/१७४९); (दे० लोक/३/१.९) । ६. निषध पर्वतके तिगिंछद्रहके दक्षिण द्वारसे निकलकर हरित नदी दक्षिणमुखी हो ७४२१$\frac{१}{१९}$ यो० पर्वतके ऊपर जा, नीचे हरित कुण्डमें गिरती है। वहाँसे दक्षिणमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिको प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्वकी ओर मुड़ जाती है। और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पूर्व लवणसागरमें गिरती है। (ति. प./४/१७७०-१७७२); (रा. वा./३/२२/६/१८८/२७); (ह. पु /५/१५६ + १६३); (दे० लोक/३/१.८) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० हैं। (ति. प./४/१७७२); (दे० लोक/३/१.९)

७. निषध पर्वतके तिगिंछह्रदके उत्तर द्वारसे सीतोदा नदी निकलती है, जो उत्तरमुखी हो पर्वतके ऊपर ७४२१$\frac{१}{१९}$ यो० जाकर नीचे विदेह-क्षेत्रमें स्थित सीतोदा कुण्डमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती

हुई वह सुमेरु पर्वत तक पहुँचकर उससे दो कोस इधर ही पश्चिमकी ओर उसको प्रदक्षिणा देती हुई, विद्युत्प्रभ गजदन्तकी गुफामें से निकलती है। सुमेरुके अर्धभागके सम्मुख हो वह पश्चिमकी ओर मुड़ जाती है। और पश्चिम विदेहके बीचोबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प.४//२०६५-२०७३); (रा. वा./३/२२/७/१८८/३२);(ह. पु./५/१५७+१६३); (दे० लोक/३/१८)। इसकी सर्व परिवार नदियाँ देवकुरुमें ८४००० और पश्चिम विदेहमें ४४८०३८ (कुल ५३२०३८) हैं (विभंगाकी परिवार नदियाँ न गिनकर लोक/३/२/३ वत); (ति. प./४/२०७१-२०७२)। लोक/३/१.६की अपेक्षा ११२००० हैं। ८. सीता नदीका सर्व कथन सीतोदावत् जानना। विशेषता यह कि नील पर्वतके केसरी द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माल्यवान् गजदन्तकी गुफासे निकलती है। पूर्वविदेहमेंसे बहती हुई पूर्व सागरमें मिलती है। (ति. प.//४/२११६-२१२१); (रा. वा./३/२२/८/१८६ /८); (ह. पु./५/१५६); (ज. प./६/५५-५६); (दे० लोक/३/१.८) इसकीपरिवार नदियाँ भी सीतोदावत् जानना। (ति. प./४/२१२१-२१२२)। ९. नरकान्ता नदीका सम्पूर्ण कथन हरितवत् है। विशेषता यह कि नीलपर्वतके केसरी द्रहके उत्तर द्वारसे निकलती है, पश्चिमी रम्यकक्षेत्रके बीचमेंसे बहती है और पश्चिम सागरमें मिलती है। (ति. प./४/२३३७-२३३९); (रा. वा./३/२२/९/१८६/११); (ह. पु./५/१५९);(दे० लोक/३/१.८)। १०. नारी नदी का सम्पूर्ण कथन हरिकान्तावत् है। विशेषता यह कि रुक्मिपर्वतके महापुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीक) द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है और पूर्व रम्यकक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसागरमें मिलती है। (ति. प /४/२३४७-२३४९); (रा. वा./३/२२/१०/१८९/१४); (ह. पु./५/१५९); (दे० लोक/३/१८) ११. रूप्यकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितनदीवत् है। विशेषता यह कि यह रुक्मि पर्वतके महापुण्डरीक ह्रदके (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीकके) उत्तर द्वारसे निकलती है और पश्चिम हैरण्यवत क्षेत्रमें बहती हुई पश्चिमसागरमें मिलती है। (ति. प./४/२३५२); (रा. वा./३/२२/११/१८६/१८); (ह. पु / ५/१५९);(दे० लोक/३/१.८)। १२. सुवर्णकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितास्या नदीवत् है। विशेषता यह कि यह शिखरीके पुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा महापुण्डरीक) ह्रदके दक्षिणद्वारसे निकलती है और पूर्वी हैरण्यवत् क्षेत्रमे बहती हुई पूर्वसागरमें मिल-जाती है। (ति. प./४/२३६२); (रा. वा./३/२२/१२/१८६/२१); (ह. पु./५/१५९);(दे० लोक/३/१.८)। १३-१४. रक्ता व रक्तोदाका सम्पूर्ण कथन गंगा व सिन्धुवत है। विशेषता यह कि ये शिखरी पर्वतके महापुण्डरीक (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीक) ह्रदके पूर्व और पश्चिम द्वारसे निकलती है। इनके भीतरी कमलाकार कूटोंके पर्वतके नीचेवाले कुण्डों व कूटोंके नाम रक्ता व रक्तोदा है। ऐरावत क्षेत्रके पूर्व व पश्चिममें बहती है। (ति. प./४/२३६७); (रा. वा./३/ २२/१३-१४/१८६/२५,२८); (ह. पु./५/१५९); (त्रि. सा./५९९); (दे० लोक/३/१.८)। १५. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें भी गंगा नदीकी भाँति गंगा, सिन्धु व रक्ता-रक्तोदा नामकी क्षेत्र नदियाँ (दे० लोक/३/-१४)। इनका सम्पूर्ण कथन गंगानदीवत जानना। (ति. प./४/२२-४३); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२७); (ह. पु./५/२६८); (त्रि. सा./ ६११); (ज. प./७/२२)। इन नदियोंकी भी परिवार नदियाँ १४०००,१४००० हैं। (ति. प./४/२२६५); (रा. वा./३/१०/११/१७६/ ७८)। १६. पूर्व व पश्चिम विदेहमें-से प्रत्येकमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ तीन तीन करके कुल १२ विभंगा नदियाँ हैं। (दे०लोक/३/१४)ये सब नदियाँ निषध या नील पर्वतोंसे निकलकर सीतोदा या सीता नदियोंमें प्रवेश करती हैं (ह. पु./५/२३९-२४३) ये नदियाँ जिन कुण्डोंसे निकलती हैं वे नील व निषध पर्वतके ऊपर स्थित हैं। (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१२)। प्रत्येक नदीका परिवार २८००० नदी प्रमाण है। (ति. प./४/२२३२); (रा. वा./३/१०/१३२/ १७६/१४)।

१२. देवकुरु व उत्तरकुरु निर्देश

१. जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती चौथे नम्बरवाले विदेहक्षेत्रके बहुमध्य प्रदेशमें सुमेरु पर्वत स्थित है। उसके दक्षिण व निषध पर्वतकी उत्तर दिशामें देवकुरु तथा उसकी उत्तर व नीलपर्वतकी दक्षिण दिशामें उत्तरकुरु स्थित हैं (दे० लोक/३/३)। सुमेरु पर्वतकी चारों दिशाओंमें चार गजदन्त पर्वत हैं जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलोंको स्पर्श करते हैं और दूसरी ओर सुमेरुको—दे० लोक./३/८। अपनी पूर्व व पश्चिम दिशामें ये दो कुरु इनमेंसे ही दो-दो गजदन्त पर्वतोंसे घिरे हुए हैं। (ति. प./४/२१३१,२१९१); (ह. पु./५/१६७); (ज. प./६/२,८१)। २. तहाँ देवकुरुमें निषधपर्वतसे १००० योजन उत्तरमें जाकर सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर यमक नामके दो शैल हैं, जिनका मध्य अन्तराल ५०० योजन है; अर्थात् नदीके तटोंसे नदीके अर्ध विस्तारसे हीन २२५ यो० हटकर स्थित हैं। (ति. प./४/२०७५-२०७७); (रा. वा./३/१०/१३/ १७५/२६); (ह. पु./५/१९२); (त्रि. सा. ६५४-६५५); (ज. प /६/८७)। इसी प्रकार उत्तर कुरुमें नील पर्वतके दक्षिणमें १००० योजन जाकर सीतानदीके दोनों तटोंपर दो यमक हैं। (ति.प./ ४/२१२३-२१२४); (रा. वा/३/१०/१३/१७४/२५); (ह. पु./५/१९१); (त्रि. सा./६५४); (ज. प./६/१५-१८)। ३. इन यमकोंसे ५०० योजन उत्तरमें जाकर देवकुरुकी सीतोदा नदीके मध्य उत्तर दक्षिण लम्बायमान ५ द्रह हैं। (ति. प./४/२०८९); (रा. वा./३/-१०।१३/१७५/२८); (ह. पु./५/१९६); (ज. प./६/८३)। मतान्तरसे कुलाचलसे ५५० योजन दूरीपर पहला द्रह है। (ह. पु./५/१९४)। ये द्रह नदियोंके प्रवेश व निकास द्वारों से संयुक्त हैं। (त्रि. सा./-६५८)। [तात्पर्य यह है कि यहाँ नदीकी चौड़ाई तो कम है और ह्रदोंकी चौड़ाई अधिक। सीतोदा नदी ह्रदोंके दक्षिण द्वारोंसे प्रवेश करके उनके उत्तरी द्वारोंसे बाहर निकल जाती है। ह्रद नदी के दोनों पार्श्व भागोंमें निकले रहते हैं।] अन्तिम द्रहसे २०९२$\frac{2}{19}$ योजन उत्तरमें जाकर पूर्व व पश्चिम गजदन्तोंकी वनकी वेदी आ जाती है। (ति. प./४/२१००-२१०१); (त्रि. सा./६६०)। इसी प्रकार उत्तरकुरुमें भी सीता नदीके मध्य ५ द्रह जानना। उनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्तवत् है। (ति. प./४/२१२५); (रा. वा./३/-१०/१३/१४/२९); (ह. पु./५/१९४); (ज. प./६/२६)। [इस प्रकार दोनों कुरुओंमें कुल १० द्रह हैं। परन्तु मतान्तरसे द्रह २० हैं]—मेरु पर्वतकी चारों दिशाओंमें से प्रत्येक दिशामें पाँच हैं। उपरोक्तवत ५०० योजन अन्तरालसे सीता व सीतोदा नदीमें ही स्थित हैं। (ति. प./४/२१३१); (त्रि. सा./६५६)। इनके नाम ऊपर वालोंके समान हैं। —(दे०/लोक/५)। ४. दस द्रह वाली प्रथम मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके पूर्व व पश्चिम तटोंपर दस-दस करके कुल २०० कांचन शैल हैं। (ति. प./४/२०९४-२१२६); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/२+७१५/१); (ह. पु./५/२००); (ज. प. /६/४४,१४४)। पर २० द्रहों वाली दूसरी मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों पार्श्व भागोंमें पाँच-पाँच करके कुल २०० कांचन शैल हैं। (ति. प./४/२१३७); (त्रि. सा./६५९)। ५. देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके पूर्व व पश्चिम तटोंपर, तथा इन कुरुक्षेत्रोंसे बाहर भद्रशाल वनमें उक्त दोनों नदियोंके उत्तर व दक्षिण तटोंपर एक-एक करके कुल ८ दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। (ति. प./४/२१०३, २११२, २१३०, २१३४), (रा. वा./३/१०/१३/१७८/५); (ह. पु./५/२०५-२०९); (त्रि. सा./६६१); (ज. प./४/७४)। ६. देवकुरुमें सुमेरुके दक्षिण भागमें

चित्र सं० - २६

देवकुरु व उत्तर कुरु

नोट :— १ पर्वतों आदिके वर्ण — माल्यवान = वैडूर्यवत् नील, सौमनस = रजतवत् श्वेत, विद्युत्प्रभ = तपनीयवत् रक्त, गन्धमादन व जम्बूवेदी = हेमवत् पीत।

दृष्टिभेद :— १. गजदन्तोंके अवस्थान सम्बन्धमें अन्तर—(दे० लोक/५.३)।
२. द्रहपर स्थित कूटोंके प्रमाण व नामोंमें अन्तर—(दे० लोक/५.४)।
३. मेरुकी चारों दिशाओंमें नदियोंके बीच ५-५ करके कुल २० द्रह हैं —(दे० लोक/३.८)
४ इस मतके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों पार्श्व भागों में ५-५ काञ्चन गिरि हैं —(दे० लोक/३.७)

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर तथा उत्तरकुरुमें सुमेरुके उत्तर भागमें सीता नदीके पूर्व तटपर, तथा इसी प्रकार दोनों कुरुओंसे बाहर मेरुके पश्चिममें सीतोदाके उत्तर तटपर और मेरुकी पूर्व-दिशामें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक-एक करके चार त्रिभुवन चूडामणि नाम वाले जिन भवन हैं। (ति. प./४/२१०६-२१११+२१३२-२१३३)। ७. निषध व नील पर्वतोंसे संलग्न सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रके विस्तार समान लम्बी, दक्षिण उत्तर लम्बायमान भद्रशाल वनकी वेदी है। (ति. प./४/२११४)। ८. देवकुरुमें निषध पर्वतके उत्तरमें, विद्युत्प्रभ गजदन्तके पूर्वमें, सीतोदाके पश्चिममें और सुमेरुके नैऋत्य दिशामें शाल्मली वृक्षस्थल है। (ति. प./४/२१४६-२१४७); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/२३); (ह. पु./५/१८७); (विशेष दे० आगे/लोक/३/१) सुमेरुकी ईशान दिशामें, नील पर्वतके दक्षिणमें, माल्यवंत गजदन्तके पश्चिममें, सीता नदीके पूर्वमें जम्बू वृक्षस्थल है। (ति. प./४/२१६४-२१६५); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/७); (ह. पु./५/१७२); (त्रि. सा./६३९); (ज. प./-६।५७)।

१३. जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल

१. देवकुरु व उत्तरकुरुमें प्रसिद्ध शाल्मली व जम्बूवृक्ष है। (दे० लोक/३/१२)। ये वृक्ष पृथिवीमयी हैं (दे० वृक्ष) तहाँ शाल्मली या जम्बू वृक्षका सामान्यस्थल ५०० योजन विस्तार युक्त होता है! तथा मध्यमें ८ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा है। (ति. प./४/२१४८-२१४९); (ह. पु./५/१७४); (त्रि. सा./६४०)। मतान्तर-की अपेक्षा वह मध्यमें १२ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा
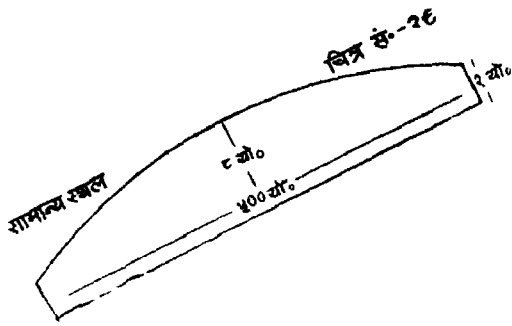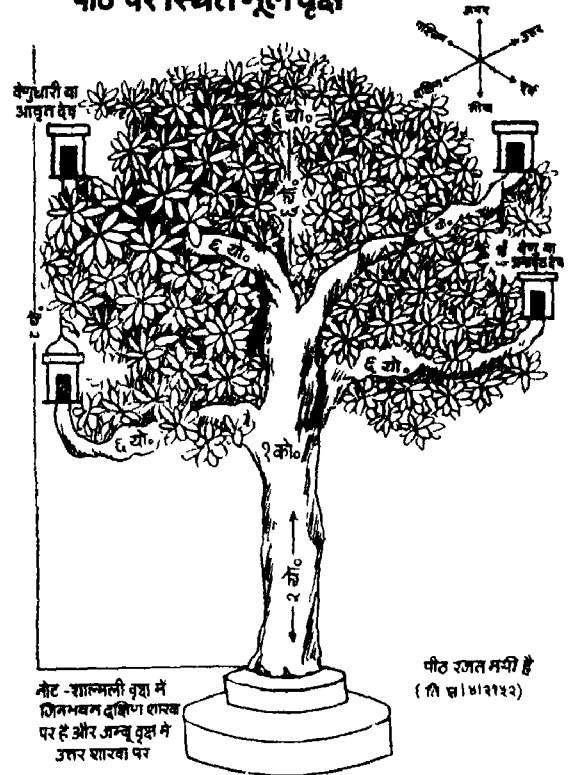
है। (रा. वा./३/७/१/१६९/१८); (ज. प./६/५८; १४९)। २. यह स्थल चारों ओरसे स्वर्णमयी वेदिकासे वेष्टित है। इसके बहुमध्य भागमें एक पीठ है, जो आठ योजन ऊँचा है तथा मूलमें १२ और ऊपर ४ योजन विस्तृत है। पीठके मध्यमें मूलवृक्ष है, जो कुल आठ योजन ऊँचा है। उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा तथा एक कोस मोटा है। (ति. प./४/२१५१-२१५५); (रा. वा./३/७/१/१६९/१९); (ह. पु./५/१७३-१७७); (त्रि. सा./६३९-६४१/६४८); (ज. प./६/६०-६४, १५४-१५५)। ३. इस वृक्षकी चारों दिशाओंमें छह-छह योजन लम्बी तथा इतने ही अन्तरालसे स्थित चार महाशाखाएँ हैं। शाल्मली वृक्षकी दक्षिण शाखापर और जम्बूवृक्षकी उत्तर शाखापर जिनभवन हैं। शेष तीन शाखाओं-पर व्यन्तर देवोंके भवन हैं। तहाँ शाल्मली वृक्षपर वेणु व वेणुधारी तथा जम्बू वृक्षपर इस द्वीपके रक्षक आदृत व अनादृत नामके देव रहते हैं। (ति. प./४/२१५६-२१६५-२१६६); (रा. वा./-३/१०/१३/१७४/७+१७५/२५); (ह. पु./५/१७७-१८२+१८९); (त्रि. सा./६४७-६४९+६५२); (ज. प./६/६५-६७-८६; १५९-१६०)।

चित्र सं०-३०

४. इस स्थलपर एकके पीछे एक करके १२ वेदियाँ हैं, जिनके बीच १२ भूमियाँ हैं। यहाँ पर ह. पु. में वापियों आदि वाली ५ भूमियोंको छोड़कर केवल परिवार वृक्षों वाली ७ भूमियाँ बतायी हैं। (ति. प./४/१२६७); (ह. पु./५/१८३); (त्रि. सा./६४१); (ज. प./६/१५१-१५२)। इन सात भूमियोंमें आदृत युगल या वेणु-युगलके परिवार देवोंके वृक्ष हैं। ५. तहाँ प्रथम भूमिके मध्यमें उपरोक्त मूल वृक्ष स्थित हैं। द्वितीयमें वन-वापिकाएँ हैं। तृतीयकी प्रत्येक दिशामें २७ करके कुल १०८ वृक्ष महामान्यों अर्थात् त्राय-स्त्रिंशोंके हैं। चतुर्थकी चारों दिशाओंमें चार द्वार हैं, जिनपर स्थित वृक्षोंपर उसकी देवियाँ रहती हैं। पाँचवींमें केवल वापियाँ हैं। छठीमें वनखण्ड हैं। सातवींकी चारों दिशाओंमें कुल १६००० वृक्ष अंगरक्षकोंके हैं। अष्टमकी वायव्य, ईशान व उत्तर दिशामें कुल ४००० वृक्ष सामानिकोंके हैं। नवमकी आग्नेय दिशामें कुल ३२००० वृक्ष आभ्यन्तर पारिषदोंके हैं। दसवींकी दक्षिण दिशामें ४०,००० वृक्ष मध्यम पारिषदोंके हैं। ग्यारहवींकी नैऋत्य दिशामें ४८००० वृक्ष बाह्य पारिषदोंके हैं। बारहवींकी पश्चिम दिशामें सात वृक्ष अनीक महत्तरोंके हैं। सब वृक्ष मिलकर १४०१२० होते हैं। (ति. प./४/२१६६-२१८१); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/१०); (ह. पु./५/-१८३-१८६); (त्रि. सा./६४२-६४६); (ज. प./६/६८-७४;१६२-१६७)। ६. स्थलके चारों ओर तीन वन खण्ड हैं। प्रथमकी चारों दिशाओंमें देवोंके निवासभूत चार प्रासाद हैं। विदिशाओंमें से प्रत्येकमें चार-चार पुष्करिणी हैं प्रत्येक पुष्करिणीकी चारों दिशाओंमें आठ-आठ कूट हैं। प्रत्येक कूटपर चार-चार प्रासाद हैं। जिनपर उन आदृत आदि देवोंके परिवार देव रहते हैं। [रा. वा./ में इसी प्रकार प्रासादोंके चारों तरफ भी आठ कूट बताये हैं] इन
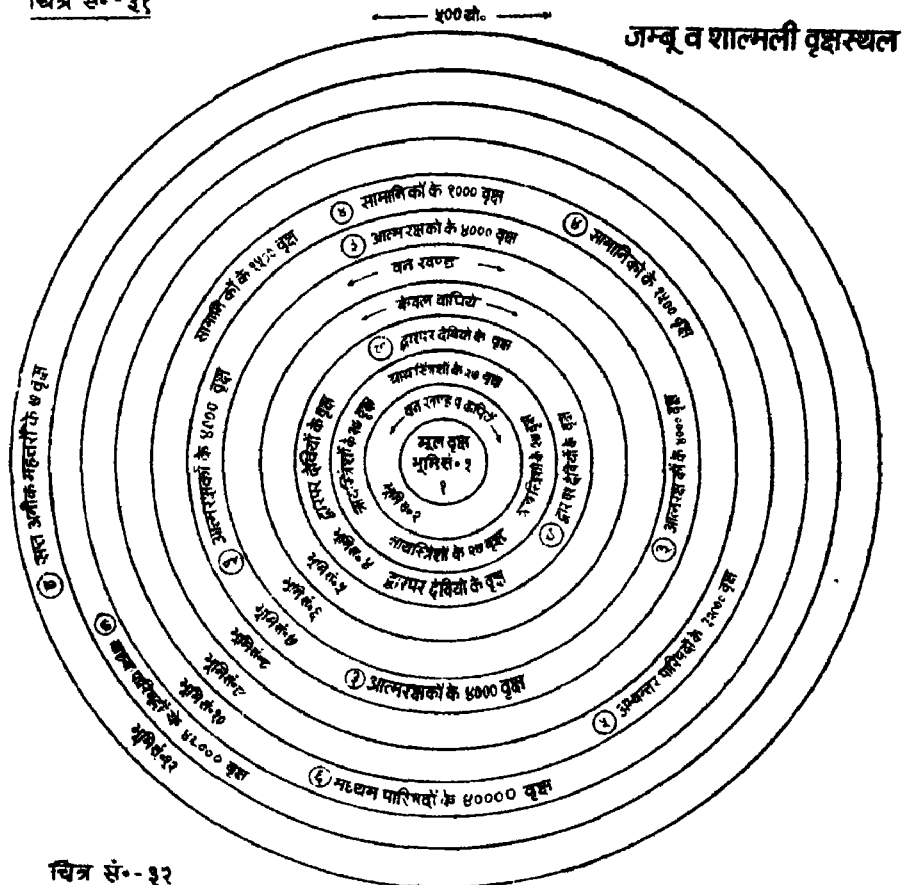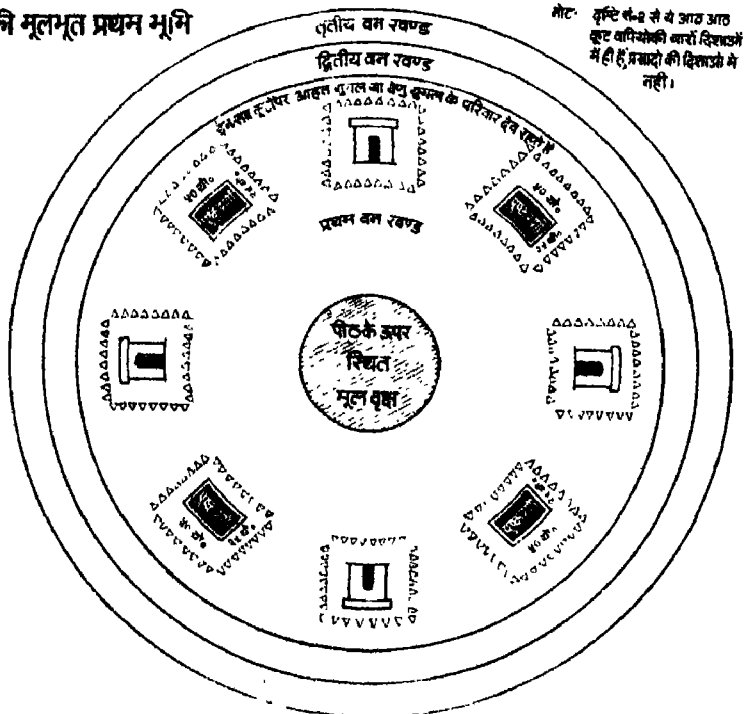
कूटोंपर उन आदृत युगल या वेणु युगलका परिवार रहता है। (ति. प /४/२१८४–२१६०); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/१८)।

१७. विदेहके ३२ क्षेत्र

१. पूर्व व पश्चिमकी भद्रशाल बनकी वेदियों (दे० लोक/३/–१२•७) से आगे जाकर सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ चार-चार वक्षारगिरि और तीन-तीन विभंगा नदियाँ एक वक्षार व एक विभंगाके क्रमसे स्थित हैं। इन वक्षार व विभंगाके कारण उन नदियोंके पूर्व व पश्चिम भाग आठ-आठ भागोंमें विभक्त हो जाते हैं। विदेहके ये ३२ खण्ड उसके ३२ क्षेत्र कहलाते हैं। (ति. प./४/२२००–२२०६); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/३० + १७७/५, १५, २४); (ह. पु./५/२२८, २४३, २४४); (त्रि. सा./६६५); (ज. प./का पूरा ८ वाँ अधिकार)। २. उत्तरीय पूर्व विदेहका सर्वप्रथम क्षेत्र कच्छा नामका है। (ति. प./४/२२३३); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१४); (ज. प./७/३३)। इनके मध्यमें पूर्वापर लम्बायमान भरत क्षेत्रके विजयार्धवत् एक विजयार्ध पर्वत है। (ति. प./४/२२५७); (रा. वा./१०/१३/१७६/१६)। उसके उत्तरमें स्थित नील पर्वतकी बनवेदीके दक्षिण पार्श्वभागमें पूर्व व पश्चिम दिशाओंमें दो कुण्ड हैं, जिनसे रक्ता व रक्तोदा नामकी दो नदियाँ निकलती हैं। दक्षिणमुखी होकर बहती हुई वे विजयार्धकी दोनों गुफाओंमें-से निकलकर नीचे सीता नदीमें जा मिलती हैं। जिसके कारण भरत क्षेत्रकी भाँति यह देश भी छह खण्डोंमें विभक्त हो गया है। (ति. प./४/–२२६२–२२६४); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/२३); (ज. प./७/७२) यहाँ भी उत्तर म्लेच्छ खण्डके मध्य एक वृषभगिरि है, जिसपर दिग्विजयके पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प./४/२२६०–२२६१); (त्रि. सा./७१०) इस क्षेत्रके आर्य-खण्डकी प्रधान नगरीका नाम क्षेमा है। (ति. प./४/२२६८); (रा. वा /३/१०/१३/१७६/३२)। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें दो नदियाँ व एक विजयार्धके कारण छह-छह खण्ड उत्पन्न हो गये हैं। (ति. प./४/२२६२); (ह. पु./५/२६७); (ति. सा./६११)। विशेष यह है कि दक्षिणवाले क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु नदियाँ बहती हैं (ति. प./४/-२२६५–२२६६) मतान्तरसे उत्तरीय क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु व दक्षिणी क्षेत्रोंमें रक्ता-रक्तोदा नदियाँ हैं। (ति. प./४/२३०४); (रा. वा./-३/१०/१३/१७६/२८, ३१ + १७७/१०); (ह. पु./५/२६७–२६६); (त्रि. सा./६६२)। ३. पूर्व व अपर दोनों विदेहोंमें प्रत्येक क्षेत्रके सीता सीतोदा नदीके दोनों किनारोंपर आर्यखण्डोंमें मागध, वरतनु और प्रभास नामवाले तीन-तीन तीर्थस्थान हैं। (ति. प./-४/२३०५–२३०६); (रा. वा./३/१०/१३/१७७/१२); (त्रि. सा./६७८) (ज. प./७/१०४)। ४. पश्चिम विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीतोदा नदीके दोनों ओर भूतारण्यक वन है। (ति. प./४/२२०३,२३२५); (रा. वा./३/१०/१३/१७७/१); (ह. पु./५/२८१); (त्रि. सा./६७२)। इसी प्रकार पूर्व विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीता नदीके दोनों ओर देवारण्यक वन है। (ति. प./४/२३१५-२३१६)। (दे. चित्र नं. १३)
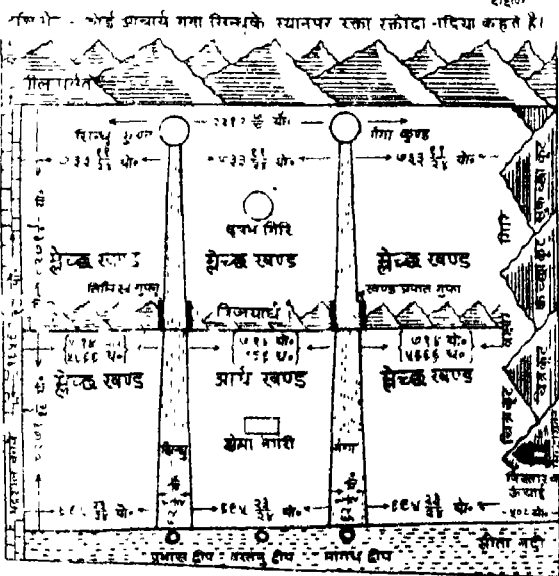
चित्र सं० - २७

विदेहका कच्छा क्षेत्र

४. अन्य द्वीप सागर निर्देश

१. लवण सागर निर्देश

१. जम्बूद्वीपको घेरकर २००,००० योजन विस्तृत वलयाकार यह प्रथम सागर स्थित है, जो एक नावपर दूसरी नाव मुंधी रखनेसे उत्पन्न हुए आकारवाला है। (ति. प./४/२३६८–२३६६); (रा. वा./३/३२/३/१६३/८); (ह. पु./५/४३०-४४१); (त्रि. सा./६०१); (ज. प./१०/२-४) तथा गोल है। (त्रि. सा./८६७)। २. इसके मध्यतलभागमें चारों ओर १००८ पाताल या विवर हैं। इनमें ४ उत्कृष्ट, ४ मध्यम और १००० जघन्य विस्तारवाले हैं। (ति. प /४/२४०८,२४०६); (त्रि. सा./८६६); (ज. प./१०/१२)। तटोंसे ६५००० योजन भीतर प्रवेश करनेपर चारों दिशाओंमें चार ज्येष्ठ पाताल हैं। ६६५०० योजन प्रवेश करनेपर उनके मध्य विदिशामें चार मध्यम पाताल और उनके मध्य प्रत्येक अन्तर दिशामें १२५,१२५ करके १००० जघन्य पाताल मुक्तावली रूपसे स्थित हैं। (ति. प./४/२४११ + २४१४ + २४२८); (रा. वा./३/३२/४-६/१६६/१३,२५,३२); (ह. पु /५/४४२,४५१,४५५) १००,००० योजन गहरे महापाताल नरक सीमन्तक बिलके ऊपर संलग्न हैं। (ति. प./४/२४१३)। ३. तीनों प्रकारके पातालोंकी ऊँचाई तीन बराबर भागोंमें विभक्त है। तहाँ निचले भागमें वायु, उपरले भागमें जल और मध्यके भागमें यथायोग रूपसे जल व वायु दोनों रहते हैं। (ति. प./४/२४३०); (रा. वा./३/३२/४-६/१६६/१७, २८,३२); (ह. पु./५/४४६-४४७); (त्रि. सा./८६८); (ज. प./१०/६-८) ४. मध्य भागमें जल व वायुकी हानि वृद्धि होती रहती है। शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन २२२२$\frac{2}{9}$ योजन वायु बढ़ती है और कृष्ण पक्षमें इतनी ही घटती है। यहाँ तक कि इस पूरे भागमें पूर्णिमाके दिन केवल वायु ही तथा अमावस्याको केवल जल ही रहता है। (ति. प./
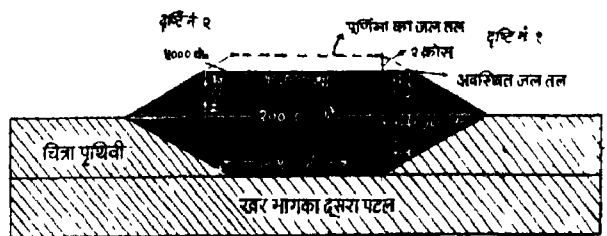
चित्र सं० - ३३ सागर तल व पाताल
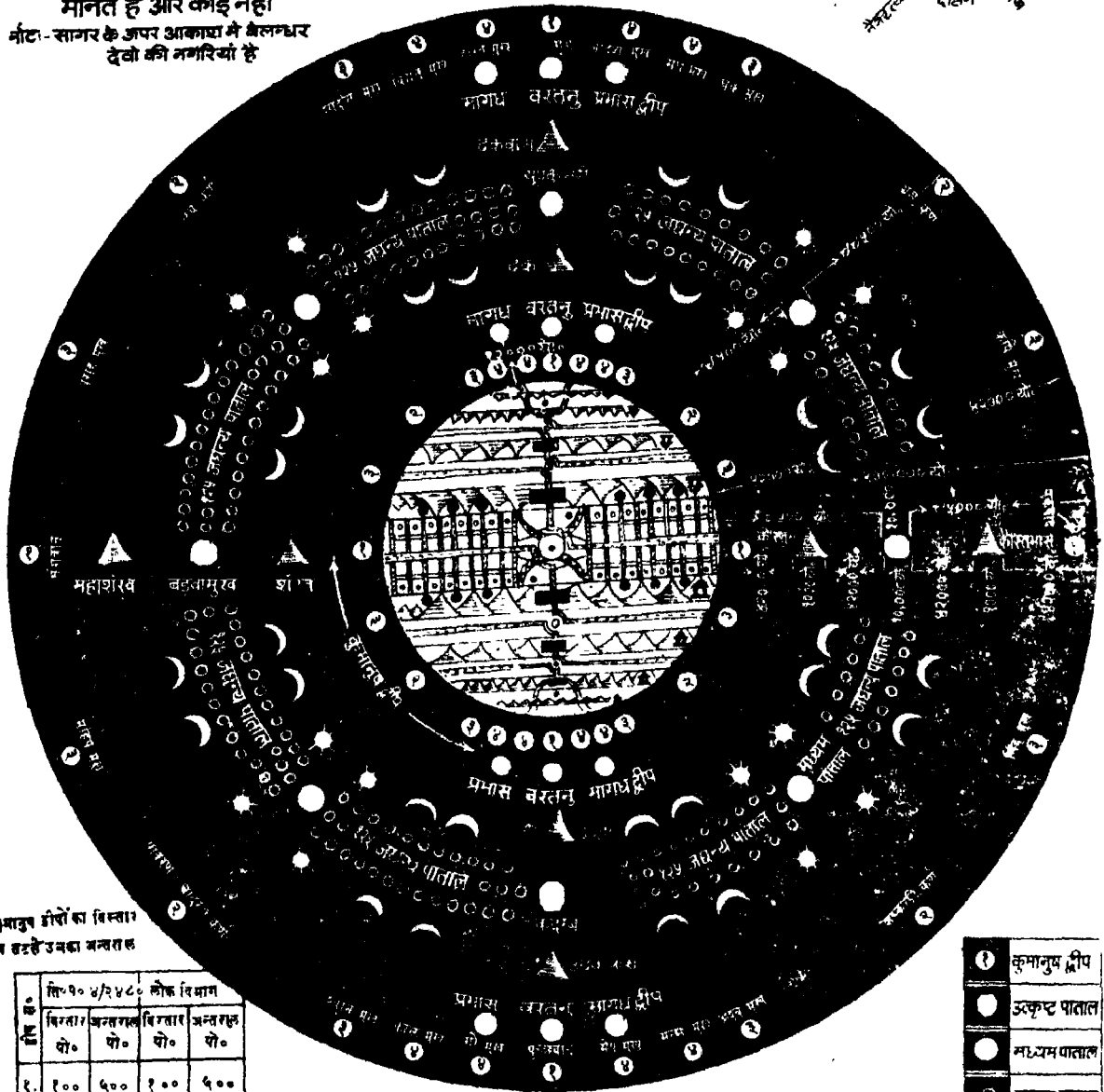
मानुष द्वीपोंका विस्तार
व तटसे उनका अन्तराल

द्वीप सं०	ति०प० ४/२४८०		लोक विभाग	
	विस्तार यो०	अन्तराल यो०	विस्तार यो०	अन्तराल यो०
१.	१००	५००	१००	५००
२	५५	५००	५०	५५०
३	५०	५५०	१००	५००
४	२५	६००	२५	६००

कुमानुष द्वीपोंका अवस्थान क्रम .—
दोनों तटोंपर तटसे उक्त अन्तराल छोड़कर चार चार द्वीप चारों दिशाओंमे, चार चार विदिशाओंमें, आठ आठ अन्तर-दिशाओंमें, और आठ आठ विजयार्धों तथा हिमवान व शिखरी पर्वतोंके प्रणिधि भागोंमें स्थित हैं।

विशेष दे० चित्र सं० १३ तथा लोक/४.१

४/२४३१-२४३६): (ह. पु./५/४४) पातालोंमें जल व वायुकी इस वृद्धिका कारण नीचे रहनेवाले भवनवासी देवोंका उच्छ्वास निःश्वास है। (रा. वा./३/३२/४/१९३/२०)। ५. पातालोंमें होनेवाली उपरोक्त वृद्धि हानिसे प्रेरित होकर सागरका जल शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन ८००/३ धनुष ऊपर उठता है, और कृष्ण पक्षमें इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमा को ४००० धनुष आकाशमें ऊपर उठ जाता है और अमावस्याको पृथिवी तलके समान हो जाता है। (अर्थात् ७०० योजन ऊँचा अवस्थित रहता है !) ति. प./४/२४४०, २४४१) लोगायणीके अनुसार सागर ११००० योजन तो सदा ही पृथिवी तलसे ऊपर अवस्थित रहता है। शुक्ल पक्षमें इसके ऊपर प्रतिदिन ७०० योजन बढ़ता है और कृष्णपक्षमें इतना ही घटता है। यहाँ तक कि पूर्णिमाके दिन ५००० योजन बढ़कर १६००० योजन हो जाता है और अमावस्याको इतना ही घटकर वह पुनः ११००० योजन रह जाता है। (ति. प./४/२४४६): (रा. वा./३/३२/३/१९३/१०): (ह. पु./५/४३७); (त्रि. सा./९००); (ज.प. १०/१८)। ६. समुद्रके दोनों किनारोंपर

चित्र - ३४

उत्कृष्ट पाताल
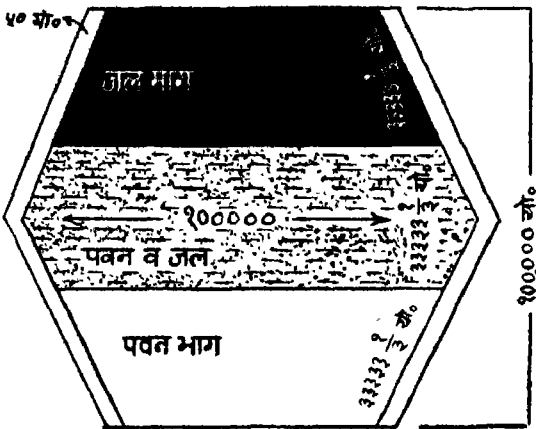
व शिखरपर आकाशमें ७०० योजन जाकर सागरके चारों तरफ कुल १४२००० वेलन्धर देवोंकी नगरियाँ है। तहाँ बाह्य व आभ्यन्तर वेदीके ऊपर क्रमसे ७२००० और ४२००० और मध्यमें शिखरपर २८००० है। (ति. प./४/२४४६-२४५४); (त्रि. सा./९०४); (ज. प./१०/३६-३७) मतान्तरसे इतनी ही नगरियाँ सागरके दोनों किनारोंपर पृथिवी तल पर भी स्थित हैं। (ति. प./४/२४५६) सग्गायणीके अनुसार सागरकी बाह्य व आभ्यन्तर वेदीवाले उपरोक्त नगर दोनों वेदियोंसे ४२००० योजन भीतर प्रवेश करके आकाशमें अवस्थित हैं और मध्यवाले जलके शिखरपर भी। (रा. वा./३/३२/७/१९४/१); (ह. पु./५/४६६-४६८)। ७. दोनों किनारोंसे ४२००० योजन भीतर जानेपर चारों दिशाओंमें प्रत्येक ज्येष्ठ पातालके बाह्य व भीतरी पार्श्व भागोंमें एक-एक करके कुल आठ पर्वत हैं। जिनपर वेलन्धर देव रहते हैं। (ति. प./४/२४५७); (ह. पु./५/४५९); (त्रि. सा /९०५); (ज. प./१०/२७); (विशेष दे० लोक/५/६ में इनके व देवोंके नाम)। ८. इस प्रकार अभ्यन्तर वेदीसे ४२००० भीतर जानेपर उपरोक्त भीतरी ४ पर्वतोंके दोनों पार्श्व भागोंमें (विदिशाओंमें) प्रत्येकमें दो-दो करके कुल आठ <u>सूर्य द्वीप</u> हैं। (ति. प./४/२४७१-२४७२); (त्रि. सा./९०९); (ज. प./१०/३८) सागरके भीतर, रक्तोदा नदीके सम्मुख मागध द्वीप, जगतीके अपराजित नामक उत्तर द्वारके सम्मुख वरतनु और रक्ता नदीके सम्मुख प्रभास द्वीप है। (ति. प./४/२४७३-२४७५); (त्रि. सा./९११-९१२); (ज. प./१०/४०)। इसी प्रकार ये तीनों द्वीप जम्बूद्वीपके दक्षिण भागमें भी गंगा सिन्धु नदी व वैजयन्त नामक दक्षिण द्वारके प्रणिधि भागमें स्थित हैं। (ति. प./४/१३११, १३१६+१३१८) आभ्यन्तर वेदीसे १२००० योजन सागरके भीतर जानेपर सागरकी वायव्य दिशामें <u>मागध</u> नामका <u>द्वीप</u> है। (रा. वा. ३/३३/८/१९४/८); (ह. पु./५/४६९) इसी प्रकार लवण समुद्रके बाह्य भागमें भी ये द्वीप जानना। (ति. प./४/२४७७) मतान्तरकी अपेक्षा दोनों तटोंसे ४२००० योजन भीतर जानेपर ४२००० योजन विस्तार वाले २४,२४ द्वीप हैं। जिनमें ८ तो चारों दिशाओं व विदिशाओंके दोनों पार्श्वभागोंमें हैं और १६ आठों अन्तर दिशाओंके दोनों पार्श्व भागोंमें। विदिशावालोंका नाम सूर्यद्वीप और अन्तर दिशावालोंका नाम <u>चन्द्रद्वीप</u> है (त्रि. सा./९०९)। ९. इनके अतिरिक्त ४८ कुमानुष द्वीप हैं। २४ अभ्यन्तर भागमें और २४ बाह्य भागमें। तहाँ चारों दिशाओंमें चार, चारों विदिशाओंमें ४, अन्तर दिशाओंमें ८ तथा हिमवान्, शिखरी व दोनों विजयार्ध पर्वतोंके प्रणिधि भागमें ८ हैं। (ति. प./४/२४७८-२४७९+२४८७-२४८८); (ह. पु./५/४७१-४७६+७८१); (त्रि. सा./९१३) दिशा, विदिशा व अन्तर दिशा तथा पर्वतके पासवाले, ये चारों प्रकारके द्वीप क्रमसे जगतीसे ५००, ५००, ५५० व ६०० योजन अन्तरालपर अवस्थित हैं और १००, ५५,५० व २५ योजन विस्तार युक्त हैं। (ति. प./४/२४८०-२४८२); (ह. पु./५/४७७-४७८); (त्रि. सा./९१४); (ह. पु. की अपेक्षा इनका विस्तार क्रमसे १००, ५०, ५० व २५ योजन है) लोक विभागके अनुसार वे जगतीसे ५००, ५५०, ५००, ६०० योजन अन्तराल पर स्थित हैं तथा १००, ५०, १००,२५ योजन विस्तार युक्त हैं। (ति. प./४/२४९१-२४९४); (ज. प./१०/४९-५१) इन कुमानुष द्वीपोंमें एक जाँघवाला, शशकर्ण, बन्दरमुख आदि रूप आकृतियोंके धारक मनुष्य बसते हैं। (दे० म्लेच्छ/३)। धातकीखण्ड द्वीपकी दिशाओंमें भी इस सागरमें इतने ही अर्थात् २४ अन्तर्द्वीप हैं। जिनमें रहनेवाले कुमानुष भी वैसे ही हैं। (ति. प./४/२४९०)।

२. धातकीखण्ड निर्देश

१. लवणोदको वेष्टित करके ४००,००० योजन विस्तृत ये द्वितीय द्वीप हैं। इसके चारों तरफ भी एक जगती है। (ति. प./४/२५२७-२५३१); (रा. वा./३/३३/५/१९५/१४); (ह. पु./४८९); (ज. प./११-२)। २. इसकी उत्तर व दक्षिण दिशामें उत्तर-दक्षिण लम्बायमान दो इष्वाकार पर्वत हैं, जिनसे यह द्वीप पूर्व व पश्चिम रूप दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। (ति. प./४/२५३२); (स. सि./३/३३/२२७/१); (रा. वा./३/३३/६/१९५/२१); (ह. पु./५/४९४); (त्रि. सा./९२५); (ज. प./११/३) प्रत्येक पर्वतपर ४ कूट हैं। प्रथम कूटपर जिनमन्दिर है और शेषपर व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प./४/२५३६)। ३. इस द्वीपमें दो रचनाएँ हैं—पूर्व धातकी और पश्चिम धातकी। दोनोंमें पर्वत, क्षेत्र, नदी, कूट आदि सब जम्बूद्वीपके समान हैं। (ति. प./४/२५४१-२५४५); (स. सि./३/३३/२२७/१); (रा. वा./३/३३/१/१९४/३१); (ह. पु./५/४९५,४९६-४९७); (ज. प./११/३८) जम्बू व शाल्मली वृक्षको छोड़कर शेष सबके नाम भी वही हैं। (ति. प./४/२५५०); (रा. वा /३/३३/५/१९५/१६); सभीका कथन जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प./४/२७१५)। ४. दक्षिण इष्वाकारके दोनों तरफ दो भरत हैं तथा उत्तर इष्वाकारके दोनों तरफ दो ऐरावत हैं। (ति. प./४/२५५२); (स. सि./३/३३/२२७/४)। ५. तहाँ सर्व कुल पर्वत तो दोनों सिरोंपर समान विस्तारको धरे पहियेके अरोंवत् स्थित हैं और क्षेत्र उनके मध्यवर्ती छिद्रोंवत् है। जिनके अभ्यन्तर

भागका विस्तार कम व बाह्य भागका विस्तार अधिक है। (ति. प./४/२५५३); (स. सि./३/३३/२२७/६); (रा. वा./३/३३/६/१९६/४); (ह. पु./५/४९८); (त्रि. सा./९२७)। ६. यहाँ भी सर्व कथन पूर्व व पश्चिम दोनों धातकी खण्डोंमें जम्बूद्वीपवत है। विदेह क्षेत्रके बहु मध्य भागमें पृथक्-पृथक् सुमेरु पर्वत हैं। उनका स्वरूप तथा उनपर स्थित जिन भवन आदिका सर्व कथन जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प./४/२५७५-२५७६); (रा. वा./३/३३/६/१९५/२८); (ह. पु./५/४९४ (ज. प./४/६५)। इन दोनोंपर भी जम्बूद्वीपके सुमेरुवत पाण्डुक आदि चार वन हैं। विशेषता यह है कि यहाँ भद्रशालसे ५०० योजन ऊपर नन्दन, उससे ५५५०० योजन सौमनस वन और उससे २८००० योजन ऊपर पाण्डुक वन है। (ति. प./४/२५८४-२५८८); (रा. वा./३/३३/६/१९५/३०); (ह. पु./५/५१८-५१९);(ज. प.११/२२-२८)पृथिवी तलपर विस्तार ९४०० योजन है, ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दन वनपर ९३५० योजन रहता है। तहाँ चारों तरफसे युगपत ५०० योजन सुकड़कर ८३५० योजन ऊपर तक समान विस्तारसे जाता है। तदनन्तर ४५५०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ सौगनस वनपर ३८०० योजन रहता है तहाँ चारों तरफसे युगपत् ५०० योजन सुकड़कर २८०० योजन रहता है, ऊपर फिर १०,००० योजन समान विस्तारसे जाता है तदनन्तर १८००० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ शीषपर १००० योजन विस्तृत रहता है। (ह. पु./५/५२०-५३०)। ७. जम्बूद्वीपके शाल्मली वृक्षवत यहाँ दोनों कुरुओंमें दो-दो करके कुल चार धातकी (आँवलेके) वृक्ष स्थित हैं। प्रत्येक वृक्षका परिवार जम्बूद्वीपवत् १४०१२० है। चारों वृक्षोंका कुल परिवार ५६०४८० है। (विशेष दे० लोक/३/१३) इन वृक्षोंपर इस द्वीपके रक्षक प्रभास व प्रियदर्शन नामक देव रहते हैं। (ति. प./४/२६०१-२६०३); (स. सि./३/३३/२२७/७); (रा. वा./३/३३/१९६/३); (त्रि. सा./९३४)। ८. इस द्वीपमें पर्वतों आदिका प्रमाण निम्न प्रकार है।—मेरु २, इष्वाकार २, कुल गिरि १२; विजयार्ध ६८, नाभिगिरि ८; गजदन्त ८; यमक ८; काँचन शैल ४००; दिग्गजेन्द्र पर्वत १६; वक्षार पर्वत ३२; वृषभगिरि ६८; क्षेत्र या विजय ६८ (ज. प्र./११/८१) कर्मभूमि ६; भोगभूमि १२; (ज. प./११/७६) महानदियाँ २८; विदेह क्षेत्रकी नदियाँ १२८; विभंगा नदियाँ २४। द्रह ३२; महानदियों व क्षेत्र नदियोंके कुण्ड १५६; विभंगाके कुण्ड २४; धातकी वृक्ष २; शाल्मली वृक्ष २ हैं। (ज. प./११/२९-३८)। (ज. प./११/७५-८१) में पुष्करार्धकी अपेक्षा इसी प्रकार कथन किया है।)

३. कालोद समुद्र निर्देश

१. धातकी खण्डको घेरकर ८००,००० योजन विस्तृत वलयाकार कालोद समुद्र स्थित है। जो सर्वत्र १००० योजन गहरा है। (ति. प./४/२७१८-२७१९); (रा. वा./३/३३/६/१९६/५); (ह. पु./५/५६२); (ज. प./११/४३)। २. इस समुद्रमें पाताल नहीं है। (ति. प./४/१७१९); (रा. वा./३/३२/८/१९४/१३); (ज. प./११/४४)। ३. इसके अभ्यन्तर व बाह्य भागमें लवणोदवत दिशा, विदिशा, अन्तरदिशा व पर्वतोंके प्रणिधि भागमें २४,२४ अन्तर्द्वीप स्थित हैं। (ति. प./४/१७२०); (ह. पु./५/५६७-५७२ + ५७४); (त्रि. सा./९१३); (ज. प. ११/४९) वे दिशा विदिशा आदि वाले द्वीप क्रमसे तटसे ५००, ६५०, ५५० व ६५० योजनके अन्तरसे स्थित हैं तथा २००, १००, ५०, ५० योजन है। (ति. प./४/२७२२-२७२५) मतान्तरसे इनका अन्तराल क्रमसे ५००, ५५०, ६०० व ६५० है तथा विस्तार लवणोद वालोंकी अपेक्षा दूना अर्थात २००, १००० व ५० योजन है। (ह. पु./५/५७४)।

४. पुष्कर द्वीप

१. कालोद समुद्रको घेरकर १६००,००० के विस्तार युक्त पुष्कर द्वीप स्थित है। (ति. प./४/२७४४); (रा. वा./३/३४/६/१९६/८); (ह.पु./५७६); (ज. प./११/५७)। २. इसके बीचो-बीच स्थित कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वतके कारण इस द्वीपके दो अर्ध भाग हो गये हैं, एक अभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। (ति. प./४/२७४८); (रा. वा./३/३४/६/१९७/७); (ह. पु./५/५७७); (त्रि. सा./९३७); (ज. प./११/५८)। अभ्यन्तर भागमें मनुष्यों-की स्थिति है पर मानुषोत्तर पर्वतको उल्लंघकर बाह्य भागमें जानेकी उनकी सामर्थ्य नहीं है,(दे० मनुष्य/४/१)।(दे० चित्र सं. ३६, पृ. ४६४)। ३. अभ्यन्तर पुष्करार्ध में धातकी खण्डवत ही दो इष्वाकार पर्वत हैं जिनके कारण यह पूर्व व पश्चिमके दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। दोनों भागोंमें धातकी खण्डवत् रचना है। (त. सू./३/३४); (ति. प./४/२७८४-२७८५); (ह. पु./५/५७८)। धातकी खण्डके समान यहाँ ये सब कुलगिरि तो पहियेके अरोंवत समान विस्तारवाले और क्षेत्र उनके मध्य छिद्रोंमें हीनाधिक विस्तारवाले हैं। दक्षिण इष्वाकारके दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र और इष्वाकारके दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। क्षेत्रों, पर्वतों आदिके नाम जम्बूद्वीपवत हैं। (ति. प /४/२७९४-२७९६); (ह. पु./५/५७९)। ४. दोनों मेरुओंका वर्णन धातकी मेरुओंवत हैं। (ति. प./४/२८१२); (त्रि. सा./६०९); (ज. प./४/६४)। ५. मानुषोत्तर पर्वतका अभ्यन्तर भाग दीवारकी भाँति सीधा है, और बाह्य भागमें नीचे-से ऊपर तक क्रमसे घटता गया है। भरतादि क्षेत्रोंकी १४ नदियों-के गुजरनेके लिए इसके मूलमें १४ गुफाएँ हैं। (ति. प./४/२७५१-२७५२); (ह. पु./५/५९५-५९६); (त्रि. सा./९३७)। ६. इस पर्वतके ऊपर २२ कूट हैं।—तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामें तीन-तीन कूट हैं। पूर्वी विदिशाओंमें दो-दो और पश्चिमी विदिशाओंमें एक-एक कूट हैं। इन कूटोंकी अग्रभूमिमें अर्थात् मनुष्य-लोककी तरफ चारों दिशाओंमें ४ सिद्धायतन कूट हैं। (ति. प./४/-२७६५-२७७०); (रा. वा./३/३४/६/१९७/१२); (ह. पु./५/५९८-६०१)। सिद्धायतन कूटपर जिनभवन है और शेषपर सपरिवार व्यन्तर देव रहते हैं। (ति. प./४/२७७५) मतान्तरकी अपेक्षा नैरृत्य व वायव्य दिशावाले एक-एक कूट नहीं हैं। इस प्रकार कुल २० कूट हैं। (ति. प./४/२७८३);(त्रि. सा./९४०)(दे० चित्र १६ पृष्ठ सं. ४६४)। ७. इसके ४ कुरुओंके मध्य जम्बू वृक्षवत् सपरिवार ४ पुष्कर वृक्ष हैं। जिनपर सम्पूर्ण कथन जम्बूद्वीपके जम्बू व शाल्मली वृक्षवत हैं। (स. सि./३/३४/२२८/४); (रा. वा./३/३४/५/१९७/४); (त्रि. सा./९३४)। ८. पुष्करार्ध द्वीपमें पर्वत क्षेत्रादिका प्रमाण बिलकुल धातकी खण्डवत् जानना (दे० लोक/४/२)।

५. नन्दीश्वर द्वीप

१. अष्टम द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। (दे० चित्र सं. ३८, पृ. ४६५)। उसका कुल विस्तार १६३८४००,००० योजन प्रमाण है। (ति. प./५/५२-५३); (रा. वा./३/ ३५/१९८/४); (ह. पु./५/६४७); (त्रि. सा./९६६)। २. इसके बहुमध्य भागमें पूर्व दिशाकी ओर काले रंगका एक-एक अंजनगिरि पर्वत है। (ति. प./५/५७); (रा. वा./३/–/१९८/७), (ह. पु./–५/६५२); (त्रि. सा./९६७)। ३. उस अंजनगिरिके चारों तरफ १००,००० योजन छोड़कर ४ वापियाँ हैं। (ति. प./५/६०), (रा. वा./३/३५/–/१९८/९), (ह. पु./५/६५५), (त्रि. सा./९७०)। चारों वापियोंका भीतरी अन्तराल ६५०४५ योजन है और बाह्य अन्तर २२३६६१ योजन है (ह. पु./५/६६६-६६८)। ४. प्रत्येक
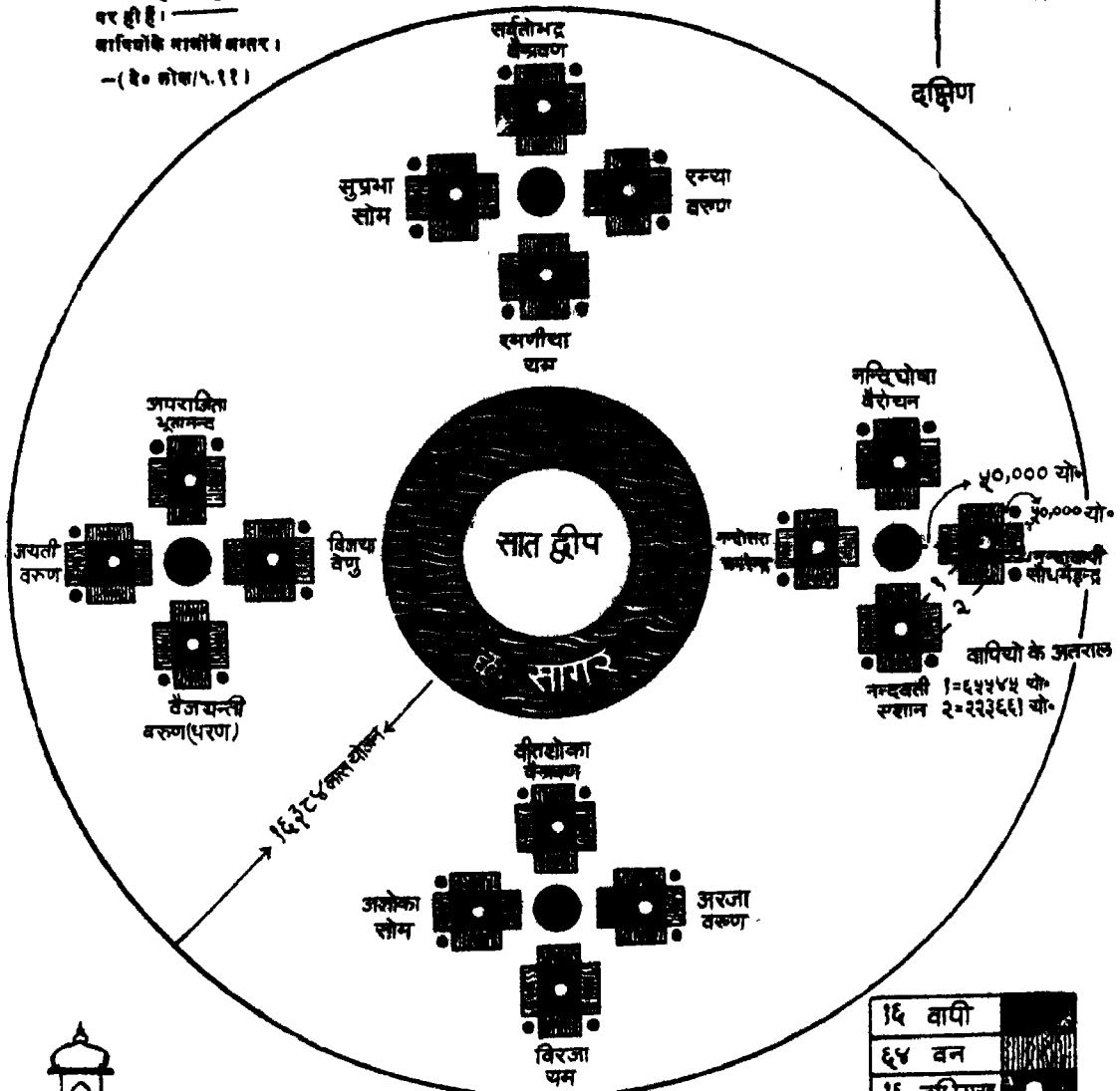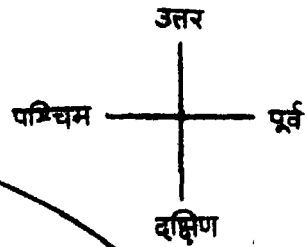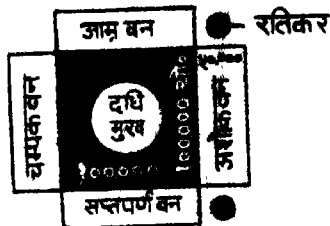
चित्र सं०-३८
नन्दीश्वर द्वीप
—(ति० लोक/५.११)
उत्तर
पश्चिम
पूर्व
दक्षिण
सर्वतोभद्र
सुप्रभा
सोम
रम्या
वरुण
रमणीया
यम
अपराजिता
जयती
वरुण
विजया
वेणु
वैजयन्ती
वरुण(धरण)
नन्दिघोषा
वैरोचन
५०,००० यो०
वापियो के अन्तराल
सात द्वीप
सागर
वीतशोका
अशोका
सोम
अरजा
वरुण
विरजा
यम
अंजन गिरि
१००० यो०
आम्र वन
रतिकर
चम्पक वन
दधि मुख
अशोक वन
सप्तपर्ण वन
१६ वापी
६४ वन
१६ दधिमुख
३२ रतिकर
४ अंजन गिरि
६ समुद्र
७ द्वीप
वन में देवों के आवास

वापीकी चारों दिशाओंमें अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नामके चार वन हैं। (ति. प./५/६३०), (रा. वा./३/३५/-/१९८/२७), (ह. पु./५/६७१,६७२), (त्रि. सा./९७१)। इस प्रकार द्वीपकी एक दिशामें १६ और चारों दिशाओंमें ६४ वन हैं। इन सब पर अवतंस आदि ६४ देव रहते हैं। (रा. वा./३/३५/-/१९९/३), (ह. पु./५/६८१)। ५. प्रत्येक वापीमें सफेद रंगका एक-एक दधिमुख पर्वत है। (ति. प./५/६५); (रा. वा./३/३५/-/१९८/२१); (ह. पु./५/६६९), (त्रि. सा./९६७)। ६. प्रत्येक वापीके बाह्य दोनों कोनोंपर लालरंगके दो रतिकर पर्वत हैं। (ति. प./५/६७); (त्रि. सा./९६७)। लोक विनिश्चयकी अपेक्षा प्रत्येक द्रहके चारों कोनोंपर चार रतिकर हैं। (ति. प./५/६९), (रा. वा/३/३५/-/१९८/३१), (ह. पु./५/६७३)। जिनमन्दिर केवल बाहरवाले दो रतिकरोंपर ही होते हैं, अभ्यन्तर रतिकरोंपर देव क्रीड़ा करते हैं। (रा. वा./३/३५/-/१९८/३३)। ७. इस प्रकार एक दिशामें एक अंजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर ये सब मिलकर १३ पर्वत हैं। इनके ऊपर १३ जिनमन्दिर स्थित हैं। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओंमें भी पर्वत द्रह, वन व जिन मन्दिर जानना। [कुल मिलकर ५२ पर्वत, ५२ मन्दिर, १६ वापियाँ और ६४ वन हैं। (ति.प./५/७० ७५); (रा.वा./३/३५/-(१९९/१); (ह.पु./५/६७६ (त्रि.सा./९७३)। ८. अष्टाह्निक पर्वमें सौधर्म आदि इन्द्र व देवगण बड़ी भक्तिसे इन मन्दिरोंकी पूजा करते हैं। (ति. प./५/८३, १०२); (ह. पु./५/६८०); (त्रि. सा./९७५-९७६)। तहाँ पूर्व दिशामें कल्पवासी, दक्षिणमें भवनवासी, पश्चिममें व्यन्तर और उत्तरमें देव पूजा करते हैं। (ति. प./५/१००-१०१)।

६. कुण्डलवर द्वीप

१. ग्यारहवाँ द्वीप कुण्डलवर नामका है, जिसके बहुमध्य भागमें मानुषोत्तरवत् एक कुण्डलाकार पर्वत है। (ति. प./५/११७); (ह. पु./६८६)। २. तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामें चार-चार कूट हैं। उनके अभ्यन्तर भागमें अर्थात् मनुष्यलोककी तरफ एक-एक सिद्धवर कूट हैं। इस प्रकार इस पर्वतपर कुल २० कूट हैं। (ति. प./-५/१२०-१२१); (रा. वा./३/३५/-/१९९/१२+१६); (त्रि. सा./-९४४)। जिनकूटोंके अतिरिक्त प्रत्येकपर अपने-अपने कूटोंके नामवाले देव रहते हैं। (ति. प./५/१२५)। मतान्तरकी अपेक्षा आठों दिशाओंमें एक-एक जिनकूट हैं। (ति. प./५/१२८)। ३. लोक विनिश्चयकी अपेक्षा इस पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें-से प्रत्येकमें चार-चार कूट हैं। पूर्व व पश्चिम दिशावाले कूटोंकी अग्रभूमिमें द्वीपके अधिपति देवोंके दो कूट हैं। इन दोनों कूटोंके अभ्यन्तर भागोंमें चारों दिशाओंमें एक-एक जिनकूट हैं। (ति. प./५/१३०-१३९); (रा. वा./३/३५/-/१९९/७); (ह. पु./५/६८९-६९८)। मतान्तरकी अपेक्षा उनके उत्तर व दक्षिण भागोंमें एक-एक जिनकूट हैं। (ति. प./५/१४०)। (दे० सामनेवाला चित्र)।

७. रुचकवर द्वीप

१. तेरहवाँ द्वीप रुचकवर नामका है। उसमें बीचोबीच रुचकवर नामका कुण्डलाकार पर्वत है। (ति. प./५/१४१); (रा. वा./३/-३५/-/१९९/२२); (ह. पु./५/६९९)। २. इस पर्वतपर कुल ४४ कूट हैं। (ति. प./५/१४४)। पूर्वादि प्रत्येक दिशामें आठ-आठ कूट हैं जिनपर दिक्कुमारियाँ देवियाँ रहती हैं, जो भगवान्‌के जन्म कल्याणकके अवसर पर माताकी सेवामें उपस्थित रहती हैं। पूर्वादि दिशाओंवाली आठ-आठ देवियाँ क्रमसे झारी, दर्पण, छत्र व चँवर धारण करती हैं। (ति. प./५/१४५, १४८-१५६), (त्रि. सा./९४७+९५५-९५६) इन कूटोंके अभ्यन्तर भागमें चारों दिशाओंमें चार महाकूट हैं तथा इनकी भी अभ्यन्तर दिशाओंमें चार अन्य कूट हैं। जिनपर दिशाएँ स्वच्छ करने वाली तथा भगवान्‌का जातकर्म करनेवाली देवियाँ रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भागमें चार सिद्धकूट हैं। (दे० चित्र सं. ४०, पृ. ४६८)। किन्हीं आचार्योंके अनुसार विदिशाओंमें भी चार सिद्धकूट हैं। (ति. प./५/१६२-१६६); (त्रि. सा./९४७,९५८-९५९)। ३. लोक विनिश्चयके अनुसार पूर्वादि चार दिशाओंमें एक-एक करके चार कूट हैं जिनपर दिग्गजेन्द्र रहते है। इन चारोंके अभ्यन्तर भागमें चार दिशाओंमें आठ-आठ कूट हैं जिनपर उपरोक्त माताकी सेवा करनेवाली ३२ दिक्कुमारियाँ रहती हैं। उनके बीचकी विदिशाओंमें दो-दो करके आठ कूट हैं, जिनपर भगवान्‌का जातकर्म करनेवाली आठ महत्तरियाँ रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भागमें पुनः पूर्वादि दिशाओंमें चार कूट हैं जिनपर दिशाएँ निर्मल करनेवाली देवियाँ रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भागमें चार सिद्धकूट हैं। (ति. प./५/१६७-१७८); (रा. वा./३/३५/-१९९/२४); (ह. पु./५/७०४-७२१)। (दे० चित्र सं. ४१, पृ. ४६९)।

८. स्वयम्भूरमण समुद्र

अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है। इसके मध्यमें कुण्डलाकार स्वयंप्रभ पर्वत है। (ति. प./५/२३८); (ह. पु./५/७३०)। इस पर्वतके अभ्यन्तर भाग तक तिर्यंच नहीं होते, पर उसके परभागसे लेकर अन्तिम स्वयम्भूरमण सागरके अन्तिम किनारे तक सब प्रकारके तिर्यंच पाये जाते हैं। (दे० तिर्यंच/३/४-६)। (दे० चित्र सं. १२, पृ. ४४३)।

चित्र सं०-३८
कुण्डलवर पर्वत व द्वीप
दृष्टिभेद :—विदिशाओं वाले सिद्धायतन कूटोंको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं। दे० लोक५/१२
उत्तर
ईशान
पश्चिम
पूर्व
नैऋत्य
दक्षिण
आग्नेय
वज्रप्रभ कूट
पंचशिर देव
कनक कूट
महाशिर देव
कनकप्रभ कूट
महाबाहु देव
१० द्वीप
१० सागर
अभ्यन्तर कुण्डलवर द्वीप
कुण्डलवर पर्वत
बाह्यार्ध कुण्डलवर द्वीप
४२४०
७२३० यो०
१०२२० यो०
१००० यो०
विस्तार विषयक दृष्टिभेद
(दे०लोक/६.५.४)
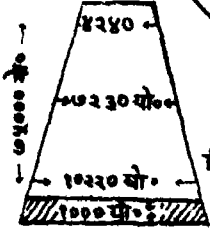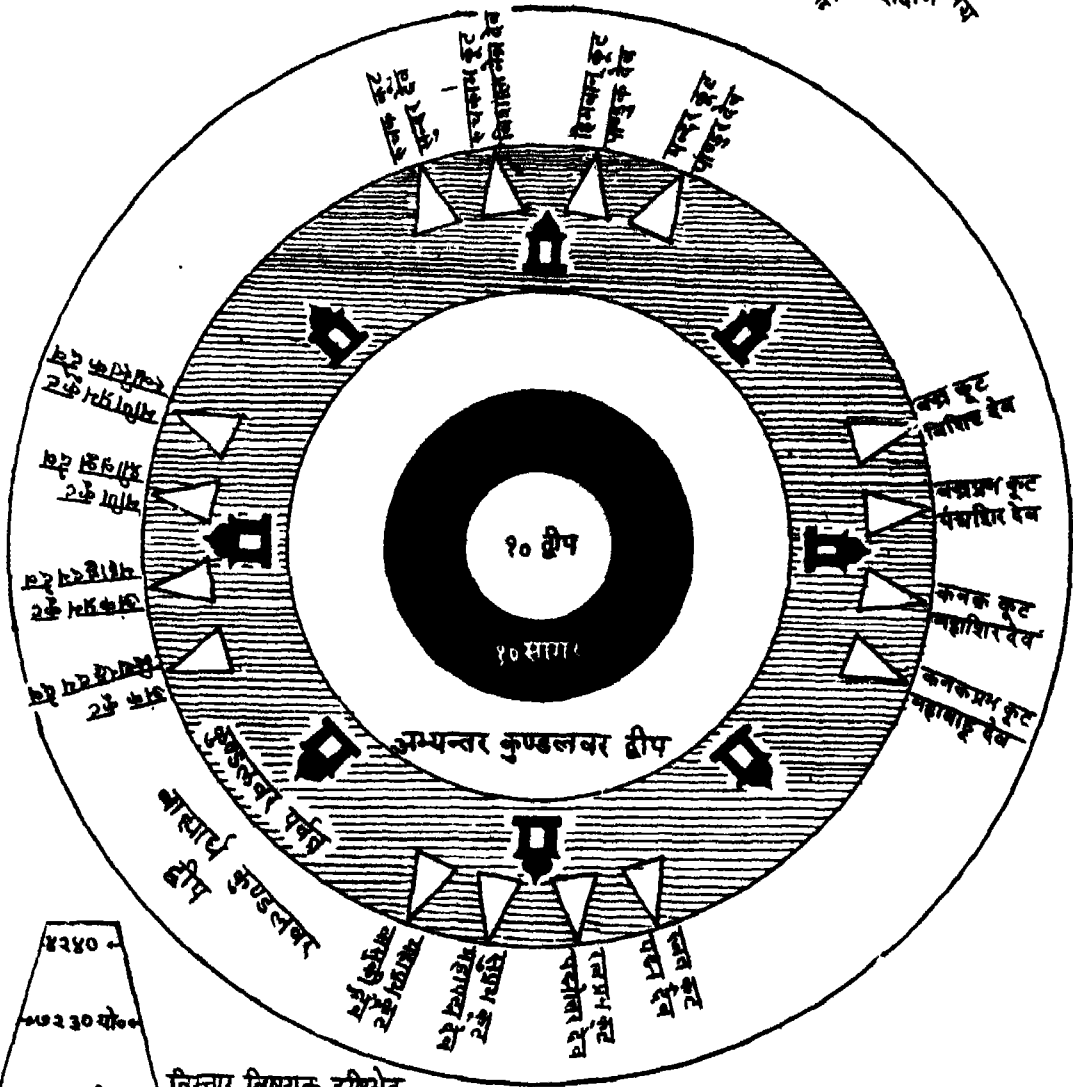
चित्र सं०-४०
रुचकवर पर्वत व द्वीप
दृष्टि सं०१
दृष्टिभेद :—विदिशाओं वाले सिद्धायतन कूटोंको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं।
कूटों व देवियोंके नामोंमें अन्तर। —(दे० लोक/५.१३)
उत्तर
ईशान
पश्चिम
पूर्व
दक्षिण
आग्नेय
नैऋत्य
वायव्य
तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणकमें माताकी सेवा करनेवाली देवियाँ
कनक कूट विजया देवी
काञ्चन कूट वैजयन्ती देवी
तपन कूट जयन्ती देवी
स्वस्तिक कूट अपराजिता देवी
सुभद्र कूट नन्दा देवी
अंजनमूल कूट नन्दवती देवी
अंजन कूट नन्दोत्तरा देवी
वज्र कूट नन्दिषेणा देवी
चंवर धारण करती हैं
नित्योद्योत कूट सौदामिनी देवी
वैडूर्य कूट रुचका देवी
तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणकमें दिशाएँ निर्मल करनेवाली देवियाँ
तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणकमें जातकर्म करनेवाली देवियाँ
१२ द्वीप
१२ सागर
अभ्यन्तरार्ध रुचकवर द्वीप
रुचकवर पर्वत
बाह्यार्ध रुचकवर द्वीप
रुचकवर पर्वत
विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद (दे० लोक/६.५.२)

चित्र सं०-४१
रुचकवर पर्वत व द्वीप
दृष्टि नं०२
दृष्टिभेद :— कूटों व देवियोंके नामोंमें अन्तर। —(दे० लोक/५.१३)
उत्तर
ईशान
पूर्व
आग्नेय
दक्षिण
नैऋत्य
पश्चिम
वायव्य
चंवर धारण करती हैं
तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणक पर माता की सेवा करने आती हैं।
नित्योद्योत कूट सौदामिनी देवी
वैडूर्य कूट विजया देवी
कांचन कूट वैजयन्ती देवी
कनक कूट जयन्ती देवी
अरिष्ट कूट अपराजिता देवी
दिक्स्वस्तिक कूट नन्दा देवी
नन्दन कूट नन्दोत्तरा देवी
अंजन कूट आनन्दा देवी
अंजनमूल कूट नन्दिवर्धना देवी
१२ द्वीप
१२ सागर
अभ्यन्तरार्ध रुचकवर द्वीप
रुचकवर पर्वत
बाह्यार्ध रुचकवर द्वीप
४२००० यो०
रुचकवर पर्वत
विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद -(दे० लोक/६.५५)
नन्द्यावर्त कूट पद्मोत्तर दिग्गजेन्द्र
स्वस्तिक कूट सुभद्र दिग्गजेन्द्र
श्रीवृक्ष कूट नील दिग्गजेन्द्र
वर्धमान कूट अंजनगिरि दिग्गजेन्द्र
दिशा उद्योतकारी देवियोंके ४ कूट
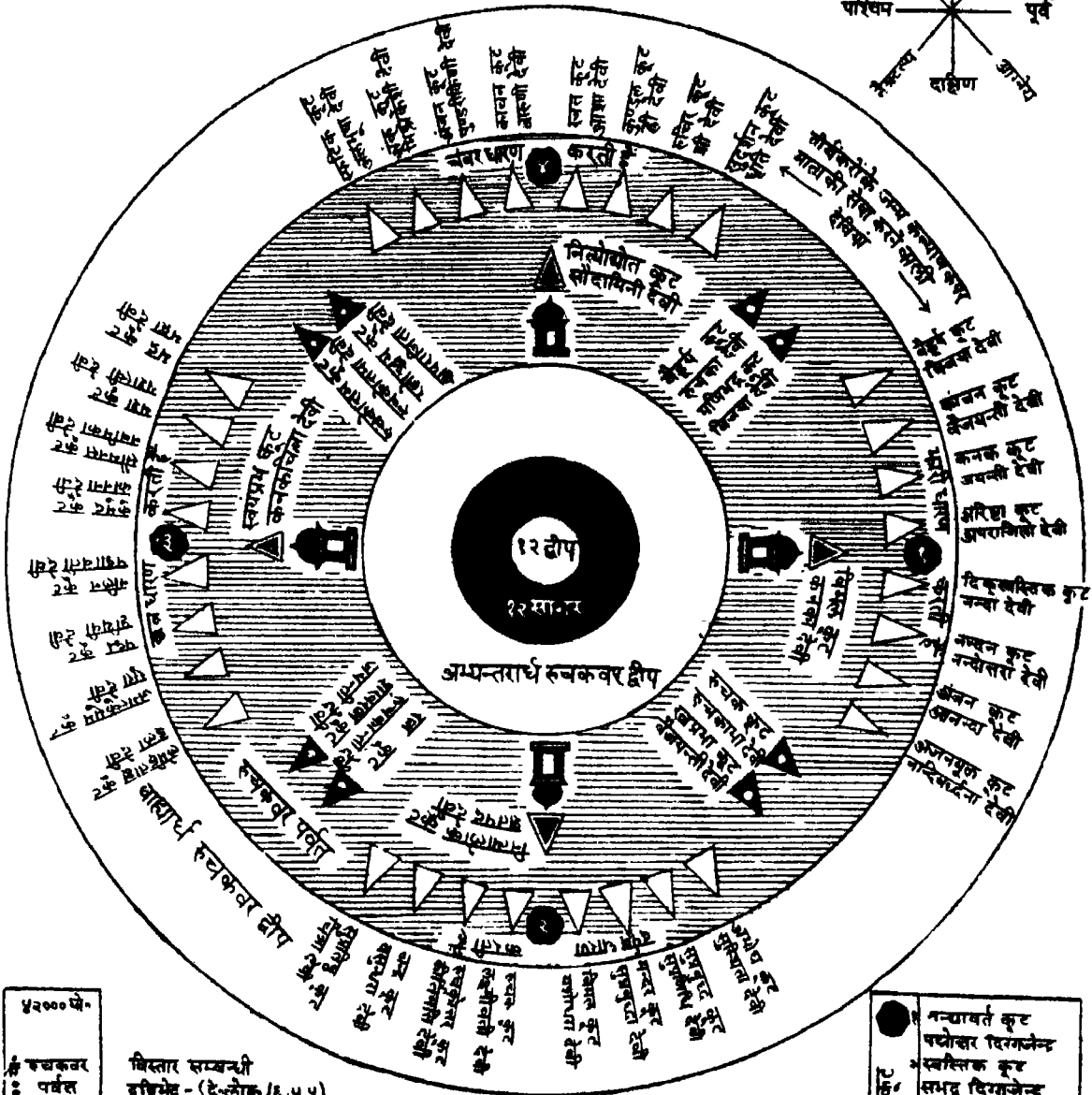
५. द्वीप पर्वतों आदिके नाम रस आदि

१. द्वीप समुद्रोंके नाम

१. मध्य भागसे प्रारम्भ करनेपर मध्यलोकमें क्रमसे १. जम्बू द्वीप; २. लवण सागर; धातकी खण्ड-कालोद सागर; ३. पुष्करवर द्वीप-पुष्करवर समुद्र; ४. वारुणीवर द्वीप-वारुणीवर समुद्र; ५. क्षीरवर द्वीप—क्षीरवर समुद्र; ६. घृतवर द्वीप—घृतवर समुद्र; ७. क्षौद्रवर (इक्षुवर) द्वीप—क्षौद्रवर (इक्षुवर) समुद्र; ८. नन्दीश्वर द्वीप—नन्दीश्वर समुद्र; ९. अरुणीवर द्वीप—अरुणीवर समुद्र; १०. अरुणाभास द्वीप—अरुणाभास समुद्र; ११. कुण्डलवर द्वीप—कुण्डलवर समुद्र; १२. शंखवर द्वीप—शंखवर समुद्र; १३. रुचकवर द्वीप—रुचकवर समुद्र; १४. भुजगवर द्वीप—भुजगवर समुद्र; १५. कुशवर द्वीप—कुशवर समुद्र; १६. क्रौंचवर द्वीप—क्रौंचवर समुद्र ये १६ नाम मिलते हैं। (मू. आ./१०७४-१०७८); (स. सि./३/७/२११/१ में केवल नं. ९ तक दिये हैं); (रा. वा./३/७/२/१६१/३० में नं. ८ तक दिये हैं); (ह. पु./५/६१३-६२०); (त्रि. सा./३०४-३०७); (ज. प./११/८४-८९); २. संख्यात द्वीप समुद्र आगे जाकर पुनः एक जम्बूद्वीप है। (इसके आगे पुनः उपरोक्त नामोंका क्रम चल जाता है।) ति. प./५/१७९); (ह पु./५/१६६, ३९७); ३. मध्य लोकके अन्तसे प्रारम्भ करनेपर - १. स्वयंभूरमण समुद्र—स्वयंभूरमण द्वीप; २. अहीन्द्रवर सागर—अहीन्द्रवर द्वीप; ३. देववर समुद्र—देववर द्वीप; ४. यक्षवर समुद्र—यक्षवर द्वीप; ५. भूतवर समुद्र—भूतवर द्वीप; ६. नागवर समुद्र—नागवर द्वीप; ७. वैडूर्य समुद्र—वैडूर्य द्वीप; ८. वज्रवर समुद्र—वज्रवर द्वीप; ९. कांचन समुद्र—कांचन द्वीप; १०. रुप्यवर समुद्र—रुप्यवर द्वीप; ११. हिंगुल समुद्र—हिंगुल द्वीप; १२. अंजनवर समुद्र—अंजनवर द्वीप; १३. श्याम-समुद्रश्याम द्वीप; १४ सिन्दूर समुद्र— सिन्दूर द्वीप; १५ हरितास समुद्र—हरितास द्वीप; १६ मनःशिलसमुद्र—मनःशिलद्वीप। (ह. पु./५/६२२-६२५); (त्रि. सा./३०५-३०७)।

२. सागरोंके जलका स्वाद—चार समुद्र अपने नामोंके अनुसार रसवाले, तीन उदक रस अर्थात् स्वाभाविक जलके स्वादसे संयुक्त, शेष समुद्र ईख समान रससे सहित हैं। तीसरे समुद्रमें मधुरूप जल है। वारुणीवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर, ये चार समुद्र प्रत्येक रस; तथा कालोद, पुष्करवर और स्वयम्भूरमण, ये तीन समुद्र उदकरस हैं। (ति. प./५/२९-३०); (मू. आ./१०७९-१०८०); (रा. वा./३/३२/८/१९४/१७); (ह. पु./५/६२८-६२९); (त्रि. सा./३१९); (ज.प./११/९४-९५)।

२. जम्बू द्वीपके क्षेत्रोंके नाम

१. जम्बूद्वीप के महाक्षेत्रोंके नाम

जम्बूद्वीपमें ७ क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत्, व ऐरावत। (दे० लोक/३/१/२)।

२. विदेह क्षेत्रके ३२ क्षेत्र व उनके प्रधान नगर

१. क्षेत्रों सम्बन्धी प्रमाण—(ति. प./४/२२०९); (रा. वा./३/१०/१३/१७८/१७६/१५+१७७/८,१९,२७); (ह. पु./५/२४४-२५२) (त्रि. सा./६८७-६९०); (ज. प./का पूरा ८ वाँ व ९ वाँ अधिकार)। २. नगरी सम्बन्धी प्रमाण—(ति. प./४/२२९३-२३०१); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१६+१७७/९,२०,२८); (ह. पु./५/२५७-२६४); (त्रि. सा./७१२-७१५); (ज. प./का पूरा ८-९ वाँ अधिकार)।

अव-स्थान	क्रम	क्षेत्र	नगरी
उत्तरी पूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	कच्छा	क्षेमा ति. प./४/२२६८
	२	सुकच्छा	क्षेमपुरी
	३	महाकच्छा	रिष्टा (अरिष्टा)
	४	कच्छकावती	अरिष्टपुरी
	५	आवर्ता	खड्गा
	६	लांगलावर्ता	मंजूषा
	७	पुष्कला	औषध नगरी
	८	पुष्कलावती (पुण्डरीकनी)	पुण्डरीकिणी
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	वत्सा	सुसीमा
	२	सुवत्सा	कुण्डला
	३	महावत्सा	अपराजिता
	४	वत्सकावती (वत्सवत्)	प्रभंकरा (प्रभाकरी)
	५	रम्या	अंका (अंकावती)
	६	सुरम्या (रम्यक)	पद्मावती
	७	रमणीया	शुभा
	८	मंगलावती	रत्नसंचया
दक्षिण पश्चिम विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	पद्मा	अश्वपुरी
	२	सुपद्मा	सिंहपुरी
	३	महापद्मा	महापुरी
	४	पद्मकावती (पद्मवत्)	विजयपुरी
	५	शंखा	अरजा
	६	नलिनी	विरजा
	७	कुमुदा	शोका
	८	सरित	वीतशोका
उत्तरी पश्चिम विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	वप्रा	विजया
	२	सुवप्रा	वैजयन्ता
	३	महावप्रा	जयन्ता
	४	वप्रकावती (वप्रावत)	अपराजित
	५	गंधा (वल्गु)	चक्रपुरी
	६	सुगन्धा-सुवल्गु	खड्गपुरी
	७	गन्धिला	अयोध्या
	८	गन्धमालिनी	अवध्या

३. जम्बू द्वीपके पर्वतोंके नाम

१. कुलाचल आदिके नाम

१. जम्बूद्वीपमें छह कुलाचल हैं—हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी (दे० लोक/३/१·२)। २. सुमेरु पर्वतके अनेकों नाम हैं। (दे० सुमेरु) ३. कांचन पर्वतोंका नाम कांचन पर्वत ही है। विजयार्ध पर्वतोंके नाम प्राप्त नहीं है। शेषके नाम निम्न प्रकार हैं—

२. नाभिगिरि तथा उनके रक्षक देव

नं०	क्षेत्रका नाम	पर्वतोंके नाम: ति. प./४/१७०४, १७४५ २३३५,।२३५०	रा.वा./३/१०/७/१७२/२१ + १०/१७२/३१ + १६/१८१/२७ + १६/१८१/२१	ह.पु./५/१६१; त्रि. सा./७१६	ज. प./३/२०६	देवोंके नाम: ति.प./पूर्वोक्त रा. वा./ " ह. पु./५/१६४ त्रि.सा./७१६
१	हैमवत	शब्दवान्	श्रद्धावान्	श्रद्धावान्	श्रद्धावती	शाती (स्वाति)
२	हरि	विजयवान्	विकृतवान्	विजयवान्	निकटावती	चारण (अरुण)
३	रम्यक	पद्म	गन्धवान्	पद्मवान्	गन्धवती	पद्म
४	हैरण्यवत	गन्धमादन	माल्यवान्	गंधवान्	माल्यवान्	प्रभास

३. विदेह वक्षारोंके नाम

(ति प./४/२२१०-२२१४); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/३२ + १७७/६, १७,२५); (ह. पु./५/२२८-२३२); (त्रि. सा./६६६-६६६); (ज. प./ ८वाँ ९वाँ अधिकार)।

अवस्थान	क्रम	ति. प.	शेष प्रमाण
उत्तरीय पूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्व की ओर	१	चित्रकूट	चित्रकूट
	२	नलिनकूट	पद्मकूट
	३	पद्मकूट	नलिनकूट
	४	एक शैल	एक शैल
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	५	त्रिकूट	त्रिकूट
	६	वैश्रवणकूट	वैश्रवणकूट
	७	अंजन शैल	अंजन शैल
	८	आत्मांजन	आत्मांजन
दक्षिण अपर विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	९	श्रद्धावान्	
	१०	विजयवान्	
	११	आशीविष	आशीविष
	१२	सुखावह	सुखावह
उत्तर अपर विदेहमें पश्चिमसे पूर्व-की ओर	१३	चन्द्रगिरि (चन्द्र माल)	चन्द्रगिरि
	१४	सूर्यगिरि (सूर्य माल)	सूर्यगिरि
	१५	नागगिरि (नाग माल)	नागगिरि
	१६	देवमाल	

नोट—नं. ९ पर ज. प. में श्रद्धावती। नं. १० पर रा. वा. में विकृतवान् त्रि. सा. में विजयवान् और ज. प. में विजटावती है। नं. १६ पर ह. पु. में मेघमाल है।

४. गजदन्तोंके नाम

वायव्य आदि दिशाओंमें क्रमसे सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, व माल्यवान् ये चार हैं। (ति. प./४/२०१५) मतान्तरसे गन्धमादन, माल्यवान्, सौमनस व विद्युत्प्रभ ये चार हैं। (रा. वा./३/१०/१३/१७३/२७,२८ + १७५/११,१७); (ह. पु./५/२१०-२१२); (त्रि. सा./६६३)।

५. यमक पर्वतोंके नाम

अवस्थान	क्रम	दिशा	ति.प./४/२०७७-२१२४ ह.पु./५/१९१-१९२ त्रि.सा./६५४-६५५	रा.वा./३/१०/१३/१७४/२५; १७५/२६ ज.प./६/१५,१८,८७
देवकुरु	१	पूर्व	यमकूट	चित्रकूट
	२	पश्चिम	मेघकूट	विचित्र कूट
उत्तरकुरु	३	पूर्व	चित्रकूट	यमकूट
	४	पश्चिम	विचित्र कूट	मेघकूट

६. दिग्गजेन्द्रोंके नाम

देवकुरुमें सीतोदा नदीके पूर्व व पश्चिममें क्रमसे स्वस्तिक, अंजन, भद्रशाल वनमें सीतोदाके दक्षिण व उत्तर तटपर अंजन व कुमुद; उत्तरकुरुमें सीता नदीके पश्चिम व पूर्वमें अवतंस व रोचन, तथा पूर्वी भद्रशाल वनमें सीता नदीके उत्तर व दक्षिण तटपर पद्मोत्तर व नील नामक दिग्गजेन्द्र पर्वत हैं। (ति. प./४/२१०३ + २१२२ + २१३० + २१३४); (रा. वा./३/१०/१३/१७८/६); (ह. पु./५/२०५-२०६); (त्रि. सा./६६१-६६२); (ज. प./४/७४-७५)।

४. जम्बूद्वीपके पर्वतीय कूट व तन्निवासी देव

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१. भरत विजयार्ध—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर) (ति. प./४/१४८ + १६७); (रा. वा./३/१०/४/१७२/१०); (ह. पु./५/२६); (त्रि. सा./७३२-७३३); (ज. प./२/४९)।					
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र*	पूर्णभद्र*
२	(दक्षिणार्ध) भरत	(दक्षिणार्ध) भरत	७	तिमिस्र गुहा	कृतमाल
३	खण्ड प्रपात	नृत्यमाल	८	(उत्तरार्ध)भरत	(उत्तरार्ध)भरत
४	मणिभद्र*	मणिभद्र*	९	वैश्रवण	वैश्रवण
५	विजयार्ध कुमार	विजयार्ध कुमार			
* नोट—त्रि. सा. में मणिभद्रके स्थानपर पूर्णभद्र और पूर्णभद्रके स्थान पर मणिभद्र है।					
२. ऐरावत विजयार्ध—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर) (ति. प./४/२३६७); (ह. पु./५/११०-११२); (त्रि. सा./७३३-७३५)					
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र
२	(उत्तरार्ध) ऐरावत	(उत्तरार्ध) ऐरावत	७	तिमिस्र गुहा*	नृत्यमाल*
३	खण्ड प्रपात*	कृतमाल*	८	(दक्षिणार्ध)ऐरावत	(दक्षिणार्ध) ऐरावत
४	मणिभद्र	मणिभद्र			
५	विजयार्ध कुमार	विजयार्ध कुमार	९	वैश्रवण	वैश्रवण

* नोट—त्रि. सा. में नं. ३ व ७ पर क्रमसे खण्डप्रपात व तिमिस्र गुहा नाम कूट और कृतमाल व नृत्यमाल देव बताये हैं।

३. विदेहके ३२ विजयार्ध—(ति. प./४/२२६०, २३०२-२३०३)

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	देवोंके नाम	६	मणिभद्र	देवोंके नाम
२	(दक्षिणार्ध)स्वदेश	भरत विजयार्ध	७	तिमिस्रगुह्य	भरत विजयार्ध
३	खण्ड प्रपात	वत् जानने	८	(उत्तरार्ध) स्वदेश	वत् जानने
४	पूर्णभद्र		९	वैश्रवण	
५	विजयार्धकुमार				

४. हिमवान्—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)—

(ति. प./४/१६३२+१६५१); (रा. वा./३/११/२/१८२/२४); (ह. पु./५/५३-५५); (त्रि. सा./७२१); (ज. प./३/४०]

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	रोहितास्या	रोहितास्या देवी
२	हिमवान्	हिमवान्			
३	भरत	भरत	८	सिन्धु	सिन्धु देवी
४	इला	इलादेवी	९	सुरा	सुरा देवी
५	गंगा	गंगादेवी	१०	हैमवत	हैमवत
६	श्री	श्रीदेवी	११	वैश्रवण	वैश्रवण

५ महाहिमवान् (पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/१७२४–१७२६); (रा. वा./३/११/४/१८३/४); (ह. पु./५/७१–७२); (त्रि. सा./७२४); (ज. प./३/४१)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिन मन्दिर	५	ह्रि (ह्री)	ह्रि (ह्री)
२	महाहिमवान्	महाहिमवान्	६	हरिकान्त	हरिकान्त
३	हैमवत	हैमवत	७	हरिवर्ष	हरिवर्ष
४	रोहित	रोहित	८	वैडूर्य	वैडूर्य

६ निषध पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/१७५८–१७६०); (रा. वा./३/११/६/१८३/१७); (ह. पु./५/८८–८९); (त्रि. सा./७२५); (ज. प./३/४२)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	विजय*	विजय*
२	निषध	निषध	७	सीतोदा	सीतोदा
३	हरिवर्ष	हरिवर्ष	८	अपर विदेह	अपर विदेह
४	पूर्व विदेह*	पूर्व विदेह*	९	रुचक	रुचक
५	हरि (ह्री)*	हरि (ह्री)*			

*नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ६ पर धृत या धृति नामक कूट व देव क[illegible] तथा ज. प. में नं. ४, ५, ६ पर क्रमसे धृति, पूर्वविदेह और हरिविजय नामक कूटदेव कहे हैं।

७. नील पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/२३२८+२३३१); (रा.वा./३/११/८/१८३/२४); (ह. पु./५/९९–१०१); (त्रि. सा./७२६); (ज. प./३/४३)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	नारी	नारी
२	नील	नील	७	अपर विदेह	अपर विदेह
३	पूर्व विदेह	पूर्व विदेह	८	रम्यक	रम्यक
४	सीता	सीता	९	अपदर्शन	अपदर्शन
५	कीर्ति	कीर्ति			

नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ६ पर नरकान्ता नामक कूट व देवी कहा है।

८. रुक्मि पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/२३४१+१२४३); (रा. वा./३/११/१०/१८३/३१); (ह.पु./५/१०२–१०४); (त्रि. सा./७२७); (ज. प./३/४४)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	५	बुद्धि	बुद्धि
२	रुक्मि (रूप्य)	रुक्मि (रूप्य)	६	रूप्यकूला	रूप्यकूला
३	रम्यक	रम्यक	७	हैरण्यवत	हैरण्यवत
४	नरकान्ता *	नरकान्ता *	८	मणिकांचन (कांचन)	मणिकांचन (कांचन)

नोट—रा. वा. व त्रि. सा. में नं. ४ पर नारी नामक कूट व देव रहता है।

९ शिखरी पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/२३५३–२३५६+१२४३); (रा. वा./३/११/१२/१८४/४); (ह. पु./५/१०५–१०८); (त्रि. सा./७२८); (ज. प./३/४५)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	कांचन (सुवर्ण)*	कांचन*
२	शिखरी	शिखरी	८	रक्तवती*	रक्तवती देवी
३	हैरण्यवत	हैरण्यवत	९	गन्धवती* (गान्धार)	गन्धवती देवी*
४	रस देवी		१०	रैवत (ऐरावत)*	रैवत *
५	रक्ता	रक्तादेवी	११	मणिकांचन*	मणिकांचन*
६	लक्ष्मी*	लक्ष्मी देवी*			

* नोट—रा. वा. में नं. ६, ७, ८, ९, १०, ११ पर क्रमसे प्लक्षणकूला, लक्ष्मी, गन्धदेवी, ऐरावत, मणि व कांचन नामक कूट व देव देवी कहे हैं।

१०. विदेहके १६ वक्षार—

(ति. प./४/२३१०); (रा. वा./३/१०/१३/१७७/११); (ह. पु./-५/२३४–२३५); (त्रि. सा./७४३)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	३	पहले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम
२	स्व वक्षारका नाम	कूट सदृश नाम	४	पिछले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम*

* नोट—ह. पु. में नं. ४ कूटपर दिक्कुमारी देवीका निवास बताया है।

११. सौमनस गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति. प./४/२०३१+२०४३–२०४४); (रा.वा./३/१०/१३/१७५/१३); (ह. पु./५/२२१,२२७); (त्रि. सा./७३६)।

क्रम	कूट (ति. प.; ह. पु.; त्रि. सा.)	देव	क्रम	कूट (रा. वा.)	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	सौमनस	सौमनस	२	सौमनस	सौमनस
३	देवकुरु	देवकुरु	३	देवकुरु	देवकुरु
४	मंगल	मंगल	४	मंगलावत	मंगल
५	विमल	वत्समित्रा देवी	५	पूर्वविदेह	पूर्वविदेह
६	कांचन	सुवत्सा (सुमित्रा देवी)	६	कनक	सुवत्सा
			७	कांचन	वत्समित्रा
७	विशिष्ट	विशिष्ट	८	विशिष्ट	विशिष्ट

सं.	कूट	देव	सं.	कूट	देव

१२. विद्युत्प्रभ गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति. प./४/२०४५–२०४६ + २०५३ + २०५४); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/१८); (ह. पु./५/२२२, २२७); (त्रि. सा./७३६–७४०) ।

(ति. प.; ह. पु.; व त्रि. सा.)			(रा. वा.)		
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	विद्युत्प्रभ	विद्युत्प्रभ	२	विद्युत्प्रभ	विद्युत्प्रभ
३	देवकुरु	देवकुरु	३	देवकुरु	देवकुरु
४	पद्म	पद्म	४	पद्म	पद्म
५	तपन	वारिषेणादेवी	५	विजय	वारिषेणादेवी
६	स्वस्तिक	बला देवी *	६	अपर विदेह	बलादेवी
७	शतउज्ज्वल (शतज्वाल)	शतउज्ज्वल (शतज्वाल)	७	स्वस्तिक	स्वस्तिक
			८	शतज्वाल	शतज्वाल
८	सीतोदा	सीतोदा	९	सीतोदा	सीतोदा
९	हरि	हरि	१०	हरि	हरि

*नोट—ह. पु. में बलादेवीके स्थानपर अचलादेवी कहा है ।

१३. गन्धमादन गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति. प./४/२०५७–२०५९); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/२४); (ह. पु./५/२१७–२१८ + २२७); (त्रि. सा./७४०–७४१) ।

सं.	कूट	देव	सं.	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	५	लोहित*	भोगवती
२	गन्धमादन	गन्धमादन	६	स्फटिक*	भोगंकृति (भोगंकरा)
३	देवकुरु*	देवकुरु*			
४	गन्धव्यास (गन्धमालिनी)	गन्धव्यास	७	आनन्द	आनन्द

*नोट—त्रि. सा. में सं. ३ पर उत्तरकुरु कहा है । और रा. वा. में लोहितके स्थान पर स्फटिक व स्फटिकके स्थानपर लोहित कहा है ।

१४. माल्यवान् गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति. प./४/२०६०–२०६२); (रा. वा./३/१०/१३/१७३/३०); (ह. पु./५/२१९–२२० + २२४); (त्रि. सा./७३८) ।

(ति. प.; ह. पु.; त्रि. सा.)			(रा. वा.)		
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	माल्यवान्	माल्यवान्	२	माल्यवान्	माल्यवान्
३	उत्तरकुरु	उत्तरकुरु	३	उत्तरकुरु	उत्तरकुरु
४	कच्छ	कच्छ	४	कच्छ	कच्छ
५	सागर	भोगवतीदेवी (सुभोगा)	५	विजय	विजय
६	रजत	भोगमालिनी देवी	६	सागर	भोगवती
७	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र	७	रजत	भोगमालिनी
८	सीता	सीतादेवी	८	पूर्णभद्र	पूर्णभद्र
९	हरिसह	हरिसह	९	सीता	सीता
			१०	हरि	हरि

५. सुमेरु पर्वतके वनोंमें कूटोंके नाम व देव

(ति. प./४/१९६९–१९७७); (रा. वा./३/१०/१३/१७९/१९); (ह. पु./५/३२९); (त्रि. सा./६२७); (ज. प./४/१०५) ।

(ति. प.) सोमनस वनमें			(शेष ग्रन्थ) नन्दन वनमें		
१	नन्दन	मेघंकरा	१	नन्दन	मेघंकरी
२	मन्दर	मेघवती	२	मन्दर	मेघवती
३	निषध	सुमेघा	३	निषध	सुमेघा
४	हिमवान्	मेघमालिनी	४	हिमवत*	मेघमालिनी
५	रजत	तोयंधरा	५	रजत*	तोयन्धरा
६	रुचक	विचित्रा	६	रुचक*	विचित्रा
७	सागरचित्र	पुष्पमाला	७	सागरचित्र	पुष्पमाला *
८	वज्र	अनिन्दिता	८	वज्र	आनन्दिता

*नोट—ह. पु. में सं. ४ पर हिमवत; सं. ६ पर रजत; सं. ८ पर चित्रक नाम दिये हैं । ज. प. में सं. ४ पर हिमवान्, सं. ५ पर विजय नामक कूट कहे हैं । तथा सं. ७ पर देवीका नाम मणिमालिनी कहा है ।

६. जम्बूद्वीपके द्रहों व वापियोंके नाम

१. हिमवान् आदि कुलाचलोंपर—

[क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक व पुण्डरीक द्रह हैं । ति. प. में रुक्मि पर्वतपर महापुण्डरीकके स्थानपर पुण्डरीक तथा शिखरी पर्वतपर पुण्डरीकके स्थानपर महापुण्डरीक कहा है । (दे० लोक/३/१.४ व लोक/३/९) ।

२. सुमेरु पर्वतके वनोंमें—आग्नेय दिशाको आदि करके (ति. प./४/१९४६, १९६२–१९६३); (रा. वा./३/१०/१३/१७९/२६); (ह. पु./५/३३४–३४६); (त्रि. सा./६२८–६२९); (ज. प./४/११०–११३) ।

	सौमनसवन (ति. प.)	नन्दन वन (रा. वा.)		सौमनसवन (ति. प.)	नन्दनवन (रा. वा.)
१	उत्पलगुल्मा	उत्पलगुल्मा	७	कज्जला	कज्जला
२	नलिना	नलिना	८	कज्जलप्रभा	कज्जलप्रभा
३	उत्पला	उत्पला	९	श्रीभद्रा	श्रीकान्ता
४	उत्पलोज्ज्वला	उत्पलोज्ज्वला	१०	श्रीकान्ता	श्रीचन्द्रा
५	भृंगा	भृंगा	११	श्रीमहिता	श्रीनिलया
६	भृंगनिभा	भृंगनिभा	१२	श्रीनिलया	श्रीमहिता

सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.	सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.
१३ १४	नलिना (पद्मा) नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	नलिना (पद्मा) नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	१५ १६	कुमुदा कुमुदप्रभा	कुमुदा कुमुदप्रभा

नोट—ह. पु., त्रि. सा. व ज. प. में नन्दनवनकी अपेक्षा ति. प. वाले ही नाम दिये हैं।

३. देव व उत्तरकुरुमें

(ति. प./४/२०९१.२१२६); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/२६ + १७५/५.६, ९, २८); (ह. पु./५/१९४-१९६); (त्रि. सा./६५७); (ज. प./६/ २८, ८३)।

सं.	देवकुरुमें दक्षिणसे उत्तर-की ओर	उत्तरकुरुमें उत्तरसे दक्षिण-की ओर	सं.	देवकुरुमें दक्षिणसे उत्तर-की ओर	उत्तरकुरुमें उत्तरसे दक्षिणकी ओर
१ २ ३	निषध देवकुरु सूर	नील उत्तरकुरु चन्द्र	४ ५	सुलस विद्युत (तड़ित्प्रभ)	ऐरावत माल्यवान्

७. महाह्रदोंके कूटोंके नाम

१. पद्मद्रहके तटपर ईशान आदि चार विदिशाओंमें वैश्रवण, श्रीनिचय, क्षुद्रहिमवान् व ऐरावत ये तथा उत्तर दिशामें श्रीसंचय ये पाँच कूट हैं। उसके जलमें उत्तर आदि आठ दिशाओंमें जिनकूट, श्रीनिचय, वैडूर्य, अंकमय, आश्चर्य, रुचक, शिखरी व उत्पल ये आठ कूट हैं। (ति. प./४/१६६०-१६६५) । २. महापद्म आदि ह्रहोंके कूटोंके नाम भी इसी प्रकार हैं। विशेषता यह है कि हिमवान्‌के स्थानपर अपने-अपने पर्वतोंके नामवाले कूट हैं। (ति. प./४/१७३०-१७३४,१७६५-१७६६)।

८. जम्बूद्वीपकी नदियोंके नाम

१. भरतादि महाक्षेत्रोंमें

क्रमसे गंगा-सिन्धु; रोहित-रोहितास्या; हरित्-हरिकान्ता; सीता-सीतोदा; नारी-नरकान्ता; सुवर्णकूला-रूप्यकूला; रक्ता-रक्तोदा ये १४ नदियाँ हैं। (दे० लोक/३/१.७ व लोक/३/११)।

२. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें

गंगा-सिन्धु नामकी १६ और रक्ता-रक्तोदा नामकी १६ नदियाँ हैं। (दे० लोक/३/११)।

३. विदेह क्षेत्रकी १२ विभंगा नदियोंके नाम

(ति. प./४/२२१५-२२१६); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/३३ + १७७/७, १७,२५): (ह. पु./५/२३९-२४३); (त्रि सा./६६४-६६६); (ज. प./ ८-९वाँ अधिकार)।

अवस्थान	सं.	नदियोंके नाम ति. प.	रा. वा.	त्रि सा.	ज. प.
उत्तरीपूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	ग्रहवती	ग्राहवती	गाधवती	ग्रहवती
	२	ग्राहवती	ह्रदयावती	द्रहवती	द्रहवती
	३	पंकवती	पंकावती	पंकवती	पंकवती
दक्षिणी पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	तप्तजला	तप्तजला	तप्तजला	तप्तजला
	२	मत्तजला	मत्तजला	मत्तजला	मत्तजला
	३	उन्मत्तजला	उन्मत्तज.	उन्मत्तज.	उन्मत्तज.
दक्षिणी अपर विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	क्षीरोदा	क्षीरोदा	क्षीरोदा	क्षीरोदा
	२	सीतोदा	सीतोदा	सीतोदा	सीतोदा
	३	औषध वाहिनी	स्रोतान्तर वाहिनी	स्रोतोवाहिनी	स्रोतोवाहिनी
उत्तरी अपर विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	गंभीरमालिनी	गंभीरमा.	गंभीरमा.	गंभीरमा.
	२	फेनमालिनी	फेनमा.	फेनमा.	फेनमा.
	३	ऊर्मिमालिनी	ऊर्मिमा.	ऊर्मिमा.	ऊर्मिमा

९. लवणसागरके पर्वत पाताल व तन्निवासी देवोंके नाम

(ति. प./४/२४१० + २४६०-२४६६); (ह. पु./५/४४३,४६०); (त्रि. सा./८९७ + ९०५-९०७); (ज. प./१०/६ + ३०-३३)।

दिशा	सागरके अभ्यन्तर भागकी ओर		मध्यवर्ती पातालका नाम	सागरके बाह्यभागकी ओर	
	पर्वत	देव		पर्वत	देव
पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर	कौस्तुभ उदक शंख दक	कौस्तुभ शिव उदकावास लोहित (रोहित)	पाताल कदम्ब बड़वामुख यूपकेशरी	कौस्तुभावास उदकावास महाशंख दकवास	कौस्तुभावास शिवदेव उदक लोहिताक

नोट—त्रि. सा. में पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे बड़वामुख, कदंबक, पाताल व यूपकेशरी नामक पाताल बताये हैं।

१०. मानुषोत्तर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

(ति. प./४/२७६६+२७७६-२७८२); (रा. वा./३/३४/६/१९७/१४); (ह. पु./५/६०२-६१०); (त्रि. सा./९४२)।

दिशा	सं०	कूट	देव
पूर्व	१	वैडूर्य	यशस्वान्
	२	अश्मगर्भ	यशस्कान्त
	३	सौगन्धी	यशोधर
दक्षिण	४	रुचक	नन्द (नन्दन)
	५	लोहित	नन्दोत्तर
	६	अंजन	अशनिघोष
पश्चिम	७	अंजनमूल	सिद्धार्थ
	८	कनक	वैश्रवण (क्रमण)
	९	रजत	मानस (मानुष्य)
उत्तर	१०	स्फटिक	सुदर्शन
	११	अंक	मेघ (अमोघ)
	१२	प्रवाल	सुप्रबुद्ध
आग्नेय	१३	तपनीय	स्वाति
	१४	रत्न	वेणु
ईशान	१५	प्रभंजन*	वेणुधारी
	१६	वज्र	हनुमान
वायव्य	१७	वेलम्ब*	वेलम्ब
नैऋत्य	१८	सर्वरत्न*	वेणुधारी (वेणुनीत)

नोट—रा. वा. व ह. पु. में सं. १५, १७ व १८ के स्थानपर क्रमसे सर्वरत्न, प्रभंजन व वेलम्ब नामक कूट हैं। तथा वेणुतालि, प्रभंजन व वेलम्ब ये क्रमसे उनके देव हैं।

११. नन्दीश्वर द्वीपकी वापियाँ व उनके देव

पूर्वादि क्रमसे

(ति. प./५/६३-७८); (रा. वा./३/३५/-/१९८/१); (ह. पु./५/६५९-६६५); (त्रि. सा./९६९-९७०)।

दिशा	सं.	ति. प. व त्रि. सा.	रा. वा.	ह. पु.
पूर्व	१	नन्दा	नन्दा	सौधर्म
	२	नन्दवती	नन्दवती	ऐशान
	३	नन्दोत्तरा	नन्दोत्तरा	चमरेन्द्र
	४	नन्दिघोष	नन्दिघोष	वैरोचन
दक्षिण	१	अरजा	विजया	वरुण
	२	विरजा	वैजयन्ती	यम
	३	अशोका	जयन्ती	सोम
	४	वीतशोका	अपराजिता	वैश्रवण
पश्चिम	१	विजया	अशोका	वेणु
	२	वैजयन्ती	सुप्रबुद्धा	वेणुताल
	३	जयन्ती	कुमुदा	वरुण (धरण)
	४	अपराजिता	पुण्डरीकिणी	भूतानन्द
उत्तर	१	रम्या	प्रभंकरा	वरुण
	२	रमणीय	सुमना	यम
	३	सुप्रभा	आनन्दा	सोम
	४	सर्वतोभद्रा	सुदर्शना	वैश्रवण

नोट – दक्षिणके कूटोंपर सौधर्म इन्द्रके लोकपाल, तथा उत्तरके कूटोंपर ऐशान इन्द्रके लोकपाल रहते हैं।

१२. कुण्डलवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

दृष्टि सं० १—(ति. प /५/१२२-१२५); (त्रि. सा./९४४-९४५);
दृष्टि सं० २—(ति. प./५/१३३); (रा. वा./३/३५/-/१९९/१०) (ह. पु./५/६९०-६९४)।

दिशा	कूट	देव — दृष्टि सं. १	देव — दृष्टि सं. २
पूर्व	वज्र		त्रिशिर (त्रिशिरा)
	वज्रप्रभ		पंचशिर
	कनक		महाशिर
	कनकप्रभ		महाबाहु
दक्षिण	रजत	ऊपरवाले ही नाम	पद्म
	रजतप्रभ (रजताभ)		पद्मोत्तर
	सुप्रभ		महापद्म
	महाप्रभ		वासुकी
पश्चिम	अंक		स्थिरहृदय
	अंकप्रभ		महाहृदय
	मणि		श्री वृक्ष
	मणिप्रभ		स्वस्तिक
उत्तर	रुचक*		सुन्दर
	रुचकाभ*		विशालनेत्र
	हिमवान्*		पाण्डुक*
	मन्दर*		पाण्डुर*

नोट—रा. वा. व. ह. पु. में उत्तर दिशाके कूटोंका नाम क्रमसे स्फटिक, स्फटिकप्रभ, हिमवान् व महेन्द्र बताया है। अन्तिम दो देवोंके नामोंमें पाण्डुकके स्थानपर पाण्डुर और पाण्डुरके स्थानपर पाण्डुक बताया है।

१३. रुचकवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

१. दृष्टि सं० १ की अपेक्षा

(ति. प./५/१४५-१६३); (रा. वा./३/३५/-/१९९/२८); (ह. पु./५/-७०५-७१७); (त्रि. सा./६४८-६५८)।

दिशा	सं.	ति. प. ; त्रि. सा. कूट	ति. प. ; त्रि. सा. देवी	देवियोंका काम	रा. वा. ; ह. पु. कूट	रा. वा. ; ह. पु. देवी	देवियोंका काम
पूर्व	१	कनक	विजया	जन्म कल्याणकपर झारी धारण करना	वैडूर्य	विजया	जन्म कल्याणकपर झारी धारण करना
	२	कांचन	वैजयन्ती		कांचन	वैजयन्ती	
	३	तपन	जयन्ती		कनक	वैजयन्ती	
	४	स्वतिक-दिशा	अपराजिता		अरिष्टा	अपराजिता	
	५	सुभद्र	नन्दा		दिक्स्वतिक	नन्दा	
	६	अंजनमूल	नन्दवती		नन्दन	नन्दोत्तरा	
	७	अंजन	नन्दोत्तर		अंजन	आनन्दा	
	८	वज्र	नन्दिषेणा		अजनमूल	नन्दिवर्धना	
दक्षिण	१	स्फटिक	इच्छा	जन्म कल्याणकपर दर्पण धारण करना	अमोघ	सुस्थिता	जन्म कल्याणकपर दर्पण धारण करना
	२	रजत	समाहार		सुप्रबुद्ध	सुप्रणिधि	
	३	कुमुद	सुप्रकीर्णा		मन्दिर	सुप्रबुद्धा	
	४	नलिन	यशोधरा		विमल	यशोधरा	
	५	पद्म	लक्ष्मी		रुचक	लक्ष्मीवती	
	६	चन्द्र	शेषवती		रुचकोत्तर	कीर्तिमती	
	७	वैश्रवण	चित्रगुप्ता		चन्द्र	वसुन्धरा	
	८	वैडूर्य	वसुन्धरा		सुप्रतिष्ठ	चित्रा	
पश्चिम	१	अमोघ	इला	जन्म कल्याणकपर छत्र धारण करना	लोहिताक्ष	इला	जन्म कल्याणकपर छत्र धारण करना
	२	स्वस्तिक	सुरादेवी		जगत्कुसुम	सुरा	
	३	मन्दर	पृथिवी		पद्म	पृथिवी	
	४	हैमवत्	पद्मा		नलिन (पद्म)	पद्मावती	
	५	राज्य	एकनासा		कुमुद	कानना (कांचना)	
	६	राज्योत्तम	नवमी		सौमनस	नवमिका	
	७	चन्द्र	सीता		यश	यशस्वी (सीता)	
	८	सुदर्शन	भद्रा		भद्र	भद्रा	
उत्तर	१	विजय	अलंभूषा	जन्म कल्याणकपर चँवर धारण करना	स्फटिक	अलभूषा	जन्म कल्याणकपर चँवर धारण करना
	२	वैजयन्त	मिश्रकेशी		अंक	मिश्रकेशी	
	३	जयन्त	पुण्डरीकिणी		अंजन	पुण्डरीकिणी	
	४	अपराजित	वारुणी		कांचन	वारुणी	
	५	कुण्डलक	आशा		रजत	आशा	
	६	रुचक	सत्या		कुण्डल	ह्री	
	७	रत्नकूट	ह्री		रुचिर (रुचक)	श्री	
	८	सर्वरत्न	श्री		सुदर्शन	धृति	
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	विमल	कनका	दिशाएँ निर्मल करना	×	×	
	२	नित्यालोक	शतपदा (शतह्रदा)				
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा				
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी				
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	रुचक	रुचककीर्ति	जातकर्म करना			
	२	मणि	रुचककान्ता				
	३	राज्योत्तम	रुचकप्रभा				
	४	वैडूर्य	रुचका				

२. दृष्टि सं. २ की अपेक्षा—

(ति. प./५/१६९-१७७); (रा. वा./३/३५/-/१९९/२४); (ह. पु./-५/७०२-७२७)।

दिशा	नं.	(ति. प.) कूट	(ति. प.) देवी	देवीका काम	रा. वा.; ह. पु. कूट	रा. वा.; ह. पु. देवी	देवीका काम
चारों दिशाओंमें	१	नन्द्यावर्त	पद्मोतर	दिग्गजेन्द्र	←	←	
	२	स्वस्तिक	सुभद्र		←	सहस्ती	
	३	श्रीवृक्ष	नील		←	←	
	४	वर्धमान	अंजनगिरि		←	←	
अभ्यंतर दिशामें ३२ दे० पूर्वोक्त दृष्टि सं. १ में प्रत्येक दिशाके आठ कूट							
विदिशामें प्रदक्षिणा रूपसे	१	वैडूर्य	रुचका	जातकर्म करनेवाली महत्त.	←	←	जातकर्म करनेवाली महत्तरिका
	२	मणिभद्र	विजया		रत्न	विजया	
	३	रुचक	रुचकाभा		←	←	
	४	रत्नप्रभ	वैजयन्ती		←	←	
	५	रत्न	रुचककान्ता		मणिप्रभ	रुचककान्ता	
	६	शंखरत्न	जयन्ती		सर्वरत्न	जयन्ती	
	७	रुचकोत्तम	रुचकोत्तमा		←	रुचकप्रभा	
	८	रत्नोच्चय	अपराजिता		←	←	
उपरोक्तके अभ्यन्तर भागमें चारों दिशाओंमें	१	विमल	कनका	दिशाओंमें उद्योत करना	←	चित्रा	दिशाओंमें उद्योत करना
	२	नित्यालोक	शतपदा (शतह्रदा)		←	कनकचित्रा	
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा		←	त्रिशिरा	
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी		←	सूत्रमणि	

१७. पर्वतों आदिके वर्ण—

सं.	नाम	प्रमाण					वर्ण	
		ति.प./४/ गा. सं.	रा.वा/३/सू./ वा./पृ./पंक्ति	ह.पु./५/ श्लो. सं.	त्रि. सा./ गा. सं.	ज. प./ अधि./गा.	उपमा	वर्ण
१	हिमवान्	९५	१२/-/१८४/११		५६६	३/३	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
२	महाहिमवान्	"	त. सू./३/१२			"	चाँदी	शुक्ल (रा. वा.)
३	निषध	"	"		"	"	तपनीय	तरुणादित्य (रक्त)
४	नील	"	"		"	"	वैडूर्य	मयूरग्रीव (रा. वा.)
५	रुक्मि	"	"		"	"	रजत	शुक्ल
६	शिखरी	"	"		"	"	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
७	विजयार्ध	१०७	१०/४/१७१/१५	२१		२/३२	रजत	शुक्ल
८	विजयार्धके कूट				६७०		सुवर्ण	पीत
९	सुमेरु :—	← दे० लोक/३/६.४ तथा ३/७ →						
	पाण्डुकशिला	१८२०	१०/१३/१८०/१८	३४७	६३३	४/१३	अर्जुन सुवर्ण	श्वेत
	पाण्डुकम्बला	१८३०	"	"	"	"	रजत	विद्रुम (श्वेत)
	रक्तकम्बला	१८३४	"	"	"	"	रुधिर	लाल
	अतिरक्त	१८३२	"	"	"	"	सुवर्ण तपनीय	रक्त
१०	नाभिगिरि				७१६		दधि	श्वेत
	मतान्तर					३/२१०	सुवर्ण	पीत
११	वृषभगिरि	२२९०			७१०		"	"
१२	गजदन्त :—							
	सौमनस	२०१६	१०/१३/१७५/११	२१२	६६३		चाँदी	स्फटिक रा. वा.
	विद्युत्प्रभ	"	१०/१३/१७५/१७	"	"		तपनीय	रक्त
	गन्धमादन	"	१०/१३/१७३/१६	२१०	"		कनक	पीत
	माल्यवान्	"		२११	"		वैडूर्य	(नीला)
१३	कांचन		१०/१३/१७५/१	२०२			कांचन	पीत
	मतान्तर				६५६		तोता	हरा
१४	वक्षार				६७०		सुवर्ण	पीत
१५	वृषभगिरि	२२९०			७१०		"	पीत
१६	गंगाकुंडमें—							
	शैल	२२१					वज्र	श्वेत
	गंगाकूट	२२३					सुवर्ण	पीत
१७	पद्मद्रहका कमल:—							
	मृणाल	१६६७	१७/-/१८५/६				रजत	श्वेत
	कन्द	"	"				अरिष्टमणि	ब्राउन
	नाल	"	"		५७०	३/७५	वैडूर्य	नील
	पत्ते		२२/२/१८८/३				लोहिताक्ष	रक्त
	कर्णिका		"				अर्कमणि	केशर
	केसर		"				तपनीय	रक्त
१८	जम्बूवृक्षस्थल:—							
	सामान्य स्थल	२१५२		१७५			सुवर्ण	पीत
	इसकी वापियोंके कूट		१०/१३/१७४/२२ "				अर्जुन	श्वेत
	स्कन्ध	२१५५					पुखराज	पीत
	पीठ	२१५२					रजत	श्वेत
१९	वेदियाँ:—							
	जम्बूद्वीपकी जगती	१६					सुवर्ण	पीत
	भद्रशालवन (वेदी)	२११४	१०/१३/१७८/५				"	पद्मवर (रा. वा.)
	नन्दनवन वेदी	१९८६	१०/१३/१७९/६				"	"

सं.	नाम	प्रमाण					वर्ण	
		ति. प./४/-गा. सं.	रा.वा./३/सूत्र/-वा./पृ./पंक्ति	ह.पु./५/-श्लो. सं.	त्रि. सा./-गा. सं.	ज. प./-अधि./गा.	उपमा	वर्ण
	सौमनसवन (वेदी)	१९१८	१०/१३/१८०/२				सुवर्ण	पद्मवर (रा. वा.)
	पाण्डुकवन वेदी		१०/१३/१८०/१२					„
	जम्बूवृक्ष वेदी		७/१/१६६/१८				(जाम्बूनद सुवर्ण)	रक्ततायुक्त पीत
	जम्बूवृक्षकी १२ वेदियाँ	२१५१	७/१/१६६/२० तथा १०/१३/१७४/१७		६४१		सुवर्ण	पद्मवर
	सर्व वेदियाँ				६७१	१/५२,६४	सुवर्ण	पीत
२०	नदियोंका जल—							
	गंगा-सिन्धु					३/१९६	हिम	श्वेत
	रोहित-रोहितास्या					„	कुंदपुष्प	„
	हरित-हरिकान्ता					„	मृणाल	हरित
	सीता-सीतोदा					„	शंख	श्वेत
२१	लवणसागरके पर्वत—	२४६१		४६०	९०८		रजत	धवल
	पूर्व दिशा वाले					१०/३०	सुवर्ण	पीत
	दक्षिण दिशा वाले					१०/३१	अंकरत्न	
	पश्चिम दिशा वाले					१०/३२	रजत	श्वेत
	उत्तर दिशा वाले					१०/३३	वैडूर्य	नील
२२	इष्वाकार				९२५		सुवर्ण	पीत
२३	मानुषोत्तर	२७५१		५९५	९२७		„	„
२४	अंजनगिरि	५७		६५४	९६८		इन्द्रनीलमणि	काला
२५	दधिमुख	६५		६६९	„		दही	सफेद
२६	रतिकर	६७		६७३	„		सुवर्ण	रक्ततायुक्त पीत
२७	कुण्डलगिरि				९४३		„	„
२८	रुचकवर पर्वत	१४१	३/३५/-/१९९/२२		९४३		„	„

६. द्वीप क्षेत्र पर्वत आदिका विस्तार

१. द्वीप सागरोंका सामान्य विस्तार

१. जम्बूद्वीपका विस्तार १००,००० योजन है। तत्पश्चात सभी समुद्र व द्वीप उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तारयुक्त हैं। (त.सू./३/८); (ति.प./५/३२)

२. लवणसागर व इसके पातालादि

१. सागर

सं.	स्थल विशेष	विस्तारादिमें क्या	प्रमाण यो.
	दृष्टि सं. १—(ति. प./४/२४००-२४०७); (रा. वा./३/३२/३/१९३/८); (ह. पु./५/४३४); (त्रि. सा./९१५); (ज. प./१०/२२)।		
१	पृथिवीतल पर	विस्तार	२००,०००
२	किनारोंसे ९५००० योजन भीतर जानेपर तलमें	„	१०,०००
३	„ „ „ „ „ आकाशमें	„	१०,०००
४	„ „ „ „ „	गहराई	१०००
५	„ „ „ „ „ आकाशमें	ऊँचाई	७००
	दृष्टि सं. २—		
६	लोगायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४५); (ह. पु./५/४३४)।	„	११०००
	दृष्टि सं. ३—		
७	संगायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४८)।	„	१०,०००
८	तीनों दृष्टियोंसे उपरोक्त प्रकार आकाशमें पूर्णिमाके दिन	ऊँचाई	दे० लोक/४/१

२. पाताल

पाताल विशेष	विस्तार यो.			गहराई	दीवारोंकी मोटाई	ति. प./४ गा.	रा. वा./३/ ३२/४/१९३/ पृ.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./ गा.	ज. प./१०/ गा.
	मूलमें	मध्यमें	ऊपर							
ज्येष्ठ	१०,०००	१००,०००	१०,०००	१००,०००	५००	२४१२	१४	४४४	८९६	५
मध्यम	१०००	१०,०००	१०००	१०,०००	५०	२४१४	२६	४५१	„	१३
जघन्य	१००	१०००	१००	१०००	५	२४१३	११	४५६	„	१२

३. पर्वत व द्वीप

नाम	विशेष	विस्तार	ऊँचाई	ति. प./४/ गा. नं.	त्रि. सा./ गा. नं.	ज. प./१० गा. नं.
पर्वत	सागरके विस्तारकी दिशामें	११६०००	१०००	२४५८	९०८	२८
गौतम द्वीप	गोलाईका व्यास	१२०००	१२०००	×	९१०	४०
		विस्तार				
		दृष्टि सं. १	दृष्टि सं. २			
कुमानुष द्वीप	दिशाओं वाले	१००	१००	(दे० लोक/४/१)		
	विदिशा वाले	५५	५०			
	अन्तरदिशा वाले	५०	१००			
	पर्वतके पास वाले	२५	२५			

३. अढाई द्वीपके क्षेत्रोंका विस्तार—१. जम्बू द्वीपके क्षेत्र

नाम	विस्तार (योजन)	जीवा दक्षिण	जीवा उत्तर (योजन)	पार्श्व भुजा (योजन)	प्रमाण ति. प./४/ गा. नं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./ अ./गा.
भरत सामान्य	५२६ ६/१९	अपने अपने पर्वतोंकी उत्तर जीवा	१४४७१ ५/१९	धनुषपृष्ठ १४५२८ ११/१९	१०५ + १९२	१८ + ४०	६०४ + ७७१	२/१०
दक्षिण भरत	२३८ ३/१९		९७४८ १२/१९	धनुषपृष्ठ ९७६६ १/१९	१८४			
उत्तर भरत	”		१४४७१ ५/१९	१८१२ १५/१९	१९१			
हैमवत	२१०५ ५/१९		३७६७४ १६/१९	६७५५ ३/१९	१६९८	५७	७७३	
हरिवर्ष	८४२१ १/१९		७३९०१ १७/१९	१३३६१ ६/१९	१७३९	७४	७७५	३/२२८
विदेह	३३६८४ ४/१९		मध्यमें १००,००० उत्तर व दक्षिणमें पर्वतोंकी जीवा	३३७६७ ७/१९	१७७५	९१	६०५ + ७७७	७/३
रम्यक	→		हरिवर्षवत्	←	२३३५	९७	७७८	२/२०८
हैरण्यवत	→		हैमवतवत्	←	२३५०	„	„	„
ऐरावत	→		भरतवत्	←	२३६५	„	„	„
देवकुरु व उत्तर कुरु— दृष्टि सं. १	११५९२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९ (धनुष पृष्ठ)	२१४०			
दृष्टि सं. २	”		५२०००	”	२१२६			
दृष्टि सं. ३	११८४२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९ (धनुष पृष्ठ)	×	१६८	×	६/२
			← (रा. वा./३/१०/१३/१७४/३) →					
३२ विदेह	पूर्वापर २२१२ ७/८		दक्षिण-उत्तर १६५९२ २/१९		२२१७ + २२३१	२५३	६०५	७/११ + २०
			(← (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१८) →)					

२. धातकीखण्डके क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (योजन)	मध्यम (योजन)	बाह्य (योजन)	
भरत	द्वीपके विस्तार वत्	६६१४ १२९/२१२	१२५८१ ३६/२१२	१८५४७ १५५/२१२	(ति. प./४/२५६४-२५७२); (रा. वा./३/३३/२-७/१९३/१७); (ह. पु./५/५०२-५०४); (त्रि. सा./९२९); (ज. प./११/६-१०)
हैमवत		२६४५८ १२/२१२	५०३२४ १४४/२१२	७४१९० १११/२१२	
हरिवर्ष		१०५८३३ १४१/२१२	२०१२९८ १५२/२१२	२९६७६३ १४८/२१२	
विदेह		४२३३३४ २००/२१२	८०५१९४ १८४/२१२	११८७०५४ ११५/२१२	
रम्यक		→	हरिवर्षवत्	←	
हैरण्यवत्		→	हैमवतवत्	←	
ऐरावत		→	भरतवत्	←	

नाम		बाण	जीवा	धनुषपृष्ठ	ति.प./४ गा.	ह.पु./५/श्लो.
दोनों कुरु		३६६६८०	२२३१५८	६२५४८६	२५६३	५३५

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण-उत्तर लम्बाई (योजन)			ति. प./४/ गा.
		आदि	मध्यम	अन्तिम	
दोनों बाह्य विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प./४/गा. सं.); (ह पु./५/५४८-५४९); (त्रि. सा./६३१-६३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी	प्रत्येक क्षेत्र = ९७०३ ३/८ यो० = (ति. प./४/२६०७)	५०९५७० २००/२१२	५१४१५४ २००/२१२	५१८७३८ २००/२१२	२६२२
सुकच्छा-गन्धिला		५१९६९३ १०८/२१२	५२४२७७ १०८/२१२	५२८८६१ १०८/२१२	२६३१
महाकच्छा-सुगन्धा		५२९१००	५३३६८४	५३८२६८	२६३८
कच्छकावती-गन्धा		५३९२२२ १२०/२१२	५४३८०६ १२०/२१२	५४८३९० १२०/२१२	२६४२
आवर्ता-वप्रकावती		५४८६२९ १२/२१२	५५३२१३ १२/२१२	५५७७९७ १२/२१२	२६४९
लांगलावती-महावप्रा		५५८७५१ १३२/२१२	५६३३३५ १३२/२१२	५६७९१९ १३२/२१२	२६५०
पुष्कला-सुवप्रा		५६८१५८ २४/२१२	५७२७४२ २४/२१२	५७७३२६ २४/२१२	२६५६
वप्रा-पुष्कलावती		५७८२८० १४४/२१२	५८२८६४ १४४/२१२	५८७४४८ १४४/२१२	२६५८
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प./४/गा. सं.); (ह. पु./५/५५५); (त्रि. सा./६३१-६३३)					
पद्मा-मंगलावती	प्रत्येक क्षेत्र = ६६७३ ३/८ (ति. प./४/२६०७)	२९४६२३ १६६/२१२	२९००३९ १६६/२१२	२८५४५५ १६६/२१२	२६७०
सुपद्मा-रमणीया		२८४५०१ ६६/२१२	२७९९१७ ७६/२१२	२७५३३३ ७६/२१२	२६७४
महापद्मा-सुरम्या		२७५०९४ १८४/२१२	२७०५१० १८४/२१२	२६५९२६ १८४/२१२	२६७८
पद्मकावती-रम्या		२६४९७२ ६४/२१२	२६०३८८ ६४/२१२	२५५८०४ ६४/२१२	२६८२
शंखा-वत्सकावती		२५५५६५ १७२/२१२	२५०९८१ १७२/२१२	२४६३९७ १७२/२१२	२६८६
नलिना-महावत्सा		२४५४४३ ५२/२१२	२४०८५९ ५२/२१२	२३६२७५ ५२/२१२	२६९०
कुमुदा-सुवत्सा		२३६०३६ १६०/२१२	२३१४५२ १६०/२१२	२२६८६८ १६०/२१२	२६९४
सरिता-वत्सा		२२५९१४ ४०/२१२	२२१३३० ४०/२१२	२१६७४६ ४०/२१२	२६९८

३. पुष्करार्धके क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार अभ्यन्तर (यो०)	विस्तार मध्यम (यो०)	विस्तार बाह्य (यो०)	प्रमाण
भरत	द्वीपके विस्तार वत्	४१५७९ $\frac{१७३}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१९९}{२१२}$	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	(ति. प./४/२८०५-२८१०); (रा. वा./३/३४/२-५/१९६/११); (ह. पु./५/५८०-५८४); (त्रि. सा./९२९); (ज. प./११/६७-७२)
हैमवत		१६६३१९ $\frac{४१}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$	
हरि		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{२०८}{२१२}$	
विदेह		२६६११०८ $\frac{४८}{२१२}$	३४२४८२८ $\frac{१}{२१२}$	४१८८५४७ $\frac{१६१}{२१२}$	
रम्यक		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१९९}{२१२}$	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	
हैरण्यवत		१६६३१९ $\frac{४१}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५८}{२१२}$	
ऐरावत		४१५७९ $\frac{१७३}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{२०८}{२१२}$	
नाम		बाण	जीवा	धनुषपृष्ठ	प्रमाण
दोनों कुल		१४८६१३१	४३६११६	३६६८३१५	उपरोक्त

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण उत्तर लम्बाई आदिम	मध्यम	अन्तिम	ति.प./४/गा.
दोनों बाह्य विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प./४/गा. नं.); (त्रि. सा./९३१-९३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी		१९२१८७४ $\frac{५६}{२१२}$	१९३११२२ $\frac{११२}{२१२}$	१९४०७७० $\frac{१६८}{२१२}$	२८३७
सुकच्छा-गन्धिला		१९४२६७९ $\frac{१११}{२१२}$	१९५२१२८ $\frac{४०}{२१२}$	१९६१५७६ $\frac{११}{२१२}$	२८४८
महाकच्छा-सुवल्गु		१९६२०५३ $\frac{१५१}{२१२}$	१९७१५०२	१९८०९५० $\frac{५१}{२१२}$	२८५२
कच्छकावती-गन्धा		१९८२८५९ $\frac{८४}{२१२}$	१९९२३०७ $\frac{१४०}{२१२}$	२००१७५५ $\frac{१३१}{२१२}$	२८५६
आवर्ता-वप्रकावती		२००२२३३ $\frac{४४}{२१२}$	२०११६८१ $\frac{१००}{२१२}$	२०२११२९ $\frac{१५१}{२१२}$	२८६०
लांगलावर्ता-महावप्रा		२०२३०३८ $\frac{१८४}{२१२}$	२०३२४८७ $\frac{२८}{२१२}$	२०४१९३५ $\frac{८४}{२१२}$	२८६४
पुष्कला व सुवप्रा		२०४२४१२ $\frac{१४४}{२१२}$	२०५१८६० $\frac{२००}{२१२}$	२०६१३०९ $\frac{४४}{२१२}$	२८६८
वप्रा व पुष्कलावती		२०६३२१८ $\frac{७२}{२१२}$	२०७२६६६ $\frac{१२८}{२१२}$	२०८२११४ $\frac{१८४}{२१२}$	२८७२
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके क्षेत्र-	(ति.प./४/गा.); (त्रि.सा./९३१-९३३)				
पद्मा व मंगलावती		१५००९५३ $\frac{२०४}{२१२}$	१४९१५०५ $\frac{१४८}{२१२}$	१८४२०५७ $\frac{१२}{२१२}$	२८८०
सुपद्मा व रमणीया		१४८०१४८ $\frac{१}{२१२}$	१४७०७०० $\frac{८}{२१२}$	१४६१२५१ $\frac{१६४}{२१२}$	२८८४
महापद्मा-सुरम्या		१४६०७७४ $\frac{२०४}{२१२}$	१४५१३२६ $\frac{४८}{२१२}$	१४४१८७७ $\frac{२०४}{२१२}$	२८८८
रम्या-पद्मकावती		१४३९९६८ $\frac{१७१}{२१२}$	१४३०५२० $\frac{१२०}{२१२}$	१४२१०७२ $\frac{१४}{२१२}$	२८९२
शंखा-वप्रकावती		१४२०५९५ $\frac{४}{२१२}$	१४१११४६ $\frac{१६०}{२१२}$	१४०१६९८ $\frac{१०४}{२१२}$	२८९६
महावप्रा-नलिन		१३९९७८९ $\frac{७१}{२१२}$	१३९०३४१ $\frac{२०}{२१२}$	१३८०८९२ $\frac{१७१}{२१२}$	२९००
कुमुदा-सुवप्रा		१३८०४१५ $\frac{११६}{२१२}$	१३७०९६७ $\frac{१०}{२१२}$	१३६१५१९ $\frac{४}{२१२}$	२९०४
सरिता-वप्रा		१३५९६०९ $\frac{१८८}{२१२}$	१३५०१६१ $\frac{१३२}{२१२}$	१३४०७१३ $\frac{७१}{२१२}$	२९०८

४. जम्बू द्वीपके पर्वतों व कूटोंका विस्तार

१. लम्बे पर्वत

नोट—पर्वतोंकी नींव सर्वत्र ऊँचाईसे चौथाई होती है।

(ह. पु./५/५०६); (त्रि. सा./६३६); (ज. प./३/३७)।

नाम	ऊँचाई यो०	नींव यो०	विस्तार यो०	दक्षिण जीवा यो०	उत्तर जीवा यो०	पार्श्व भुजा यो०	प्रमाण ति. प./४/गा.	रा. वा./३/-/-/-	ह. पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज. प./अ./गा.
कुलाचल—											
हिमवान्	१००	↓ ऊँचाईसे चौथाई ↑	१०५२ $\frac{१२}{१९}$	↓ अपने अपने क्षेत्रकी उत्तर जीवा ↑	२४९३२ $\frac{१}{१९}$	५३५० $\frac{१५\frac{१}{२}}{१९}$	१६२४	११/२/१८२/११	४५	७७२	३/४
महाहिमवान्	२००		४२१० $\frac{१०}{१९}$		५३९३१ $\frac{६}{१९}$	९२७६ $\frac{९\frac{१}{२}}{१९}$	१७१७	११/४/१८२/१२	६३	७७४	३/१७
निषध	४००		१६८४२ $\frac{२}{१९}$		९४१५६ $\frac{२}{१९}$	२०१६५ $\frac{२\frac{१}{२}}{१९}$	१७५०	११/६/१४३/१२	८०	७७६	३/२४
नील	→		→		निषधवत्	←	२३२७	११/८/१८३/२४	९७	"	"
रुक्मि	→		→		महाहिमवानवत्	←	२३४०	११/१०/१८३/२१	"	"	३/१७
शिखरी	→		→		हिमवानवत्		२३५५		"		३/४
भरत क्षेत्र—											
विजयार्ध	२५		५०		१०७२० $\frac{११}{१९}$	४८८ $\frac{१६\frac{१}{२}}{१९}$	१०८ + १८३	१०/४/१७१/१६	२१ + ३२	७७०	२/३३
गुफा	८ यो०		१२ यो०				१७५	१०/४/१७१/२८		५९२	२/८८
विदेह विजयार्ध	२५		५०		२२१२ $\frac{७}{८}$	५०	२२५७	१०/१३/२७६/२०	२२५		९/७७

नाम	स्थल विशेष	ऊँचाई यो०	गहराई यो०	चौड़ाई यो०	लम्बाई यो०	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/१०/१३/…/…	ह. पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज. प./अ./गा.
वक्षार	सामान्य	—	↓ ऊँचाईसे चौथाई ↑		१६५९२ $\frac{२}{१९}$	२२३१	१७६/३		६०५, ७४३	७/८
	नदीके पास	५००		५००		२३०७	१७६/१	२३३	७४५	७/१८
	पर्वतके पास	४००		५००		"	"	"	"	"
गजदन्त	सामान्य				३०२०९ $\frac{६}{१९}$	२०२४		२१५	७५६	६/७
दृष्टि सं. १	कुलाचलोंके पास	४००		५००		२०१७		२१३	७४५	६/३
	मेरुके पास	५००		५००				"	७५६	६/६
दृष्टि सं. २	कुलाचलोंके पास	४००		२५०		२०२७	१७३/११			
	मेरुके पास	५००		५००		"	"			

२. गोल पर्वत—

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार मूलमें	विस्तार मध्यमें	विस्तार ऊपर	ति.प./४/गा.	रा. वा./३/१० वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
	यो.		यो.	यो.	यो.					
वृषभगिरि	१००		१००	७५	५०	२७०			७१०	
नाभिगिरि—										
दृष्टि सं. १	१०००		१०००	१०००	१०००	१७०४	७/१८२/१२		७१८	३/२१०
दृष्टि सं. २	१०००		१०००	७५०	५००	१७०६				
सुमेरु:—										
पर्वत	६६०००	१०००	१०,०००	दे. लोक/३/६/१	१०००	१७८१	७/१७७/१२	२८३	६०६	४/२२
चूलिका	४०	×	१२	८	४	१७९५	७/१८०/१४	३०२	६२१	४/१३२
यमक:—										
दृष्टि सं. १	२०००	ऊँचाईसे चौथाई	१०००	७५०	५००	२०७७				
दृष्टि सं. २	१०००		,,	,,	,,		७/१७४/२६	१९३	६५५	६/१६
कांचनगिरि	१००		१००	७५	५०	२०९४	७/१७५/१		६५९	६/४५
दिग्गजेन्द्र	१००		१००	७५	५०	२१०४, २११३			६६१	४/७६

३. पर्वतीय व अन्य कूट—

कूटोंके विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम—सभी कूटोंका मूल विस्तार अपनी ऊँचाईका अर्धप्रमाण है। ऊपरी विस्तार उससे आधा है। उनकी ऊँचाई अपने-अपने पर्वतोंकी गहराईके समान है।

अवस्थान	ऊँचाई	विस्तार मूलमें	विस्तार मध्यमें	विस्तार ऊपर	त्रि. प. ४/गा.	रा. वा./३/सू. वा./पृ./प.	ह. पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज. प./अ./गा.
	यो.	यो.	यो.	यो.					
भरत विजयार्ध	६ १/४	६ १/४	४ ११/१६	३ १/८	१४९		२८	७२३	३/४६
ऐरावत विजयार्ध	→	भरत विजयार्धवत्		←			११२	,,	,,
हिमवान्	२५	२५	१८ ३/४	१२ १/२	१६३२		५५	,,	,,
महाहिमवान्	→	हिमवान्‌से दुगुना		←	१७२५		७२	,,	,,
निषध	→	हिमवान्‌से चौगुना		←	१७५६		९०	,,	,,
नील	→	निषधवत्		←	२३२७		१०१	,,	,,
रुक्मि	→	महाहिमवान्‌वत्		←	२३४०		१०४	,,	,,
शिखरी	→	हिमवान्‌वत्		←	२३५५		१०५	,,	,,
हिमवान्‌का सिद्धायतन	५००	५००	३७५	२५०		११/२/१८२/१६		×	×
शेष पर्वत	→	हिमवान्‌के समान		←					
	(रा. वा./३/११/४/१८३/५; ६/१८३/१८; ८/१८३/२५; १०/१८३/३२; १२/१८४/५)								
चारों गजदन्त	पर्वतसे चौथाई	उपरोक्त नियमानुसार जानना।			२०३२, २०४८, २०५८, २०६०	१०/१३/१७३/-२३	२२४	२७६	
पद्मद्रह	→	हिमवान् पर्वतवत्		←	१६६६				
अन्यद्रह	→	अपने अपने पर्वतोंवत्		←					
भद्रशालवन	→	(दे. लोक/३/१२.५)		←					
नन्दनवन	५००	५००	३७५	२५०	१९९७		३२१	६२६	
सौमनसवन	२५०	२५०	१८७ १/२	१२५	१९७१				
नन्दनवनका बलभद्रकूट	→	(दे० लोक/३/६.२)		←	१९९७				
सौमनस वनका बलभद्र कूट—	→	(दे० लोक/३/६.३)		←					
दृष्टि सं. १	१००	१००	७५	५०	१९७८				
दृष्टि सं. २	१०००	१०००	७५०	५००	१९८०	(१०/१३/१७६/१६)			

४. नदी कुण्ड द्वीप व पाण्डुक शिला आदि—

अवस्थान	ऊँचाई	गहराई	विस्तार	त्रि. प./४/गा.	रा. वा./३/२२/बा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
नदी कुण्डोंके द्वीप—								
गंगाकुण्ड	२ कोस	१० यो.	८ यो.	२२१	१/१८७/२६	१४३	५८७	३/१६५
सिन्धुकुण्ड	→	गंगावत्	←		२/१८७/३२			
शेष कुण्डयुगल	२ कोस	१० यो.	उत्तरोत्तर दूना		३-१४/१८८-१८१			
उपरोक्त द्वीपोंके शैल—								
		विस्तार: मूल / मध्य / ऊपर						
गंगा कुण्ड	१० यो.	मूल ४ यो. / मध्य २ यो.	ऊपर १ यो.	२२२		१४४		३/१६५
		लम्बाई	चौड़ाई					
पाण्डुकशिला—								
दृष्टि सं. १	८ यो.	१०० यो.	५० यो.	१८१६		३४६	६३५	
दृष्टि सं. २	४ यो.	५०० यो.	२५० यो.	१८२१	१८०/२०			४/१४२
		विस्तार: मूल / मध्य / ऊपर						
पाण्डुक शिलाके सिंहासन व आसन	५०० ध.	मूल ५०० ध. / मध्य २७५ ध.	ऊपर २५० ध.					

५. अढाई द्वीपोंकी सर्व वेदियाँ—

वेदियोंके विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम—देवारण्यक व भूतारण्यक वनोंके अतिरिक्त सभी कुण्डों, नदियों, वनों, नगरों, चैत्यालयों आदिकी वेदियाँ समान होती हुई निम्न विस्तार-सामान्यवाली हैं। (ति. प./४/२३८८-२३९१); (ज. प./१/६०-६६)

अवस्थान	ऊँचाई	गहराई	विस्तार	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/सू./वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
सामान्य	१/२ यो.	ऊँचाईसे चौथाई	५०० धनुष	२३९०		११६		१/६६
भूतारण्यक	१ यो.	"	१००० "	२३९१				
देवारण्यक	"	"	"					
हिमवान्	→	सामान्य वेदीवत्	←	१६२६				
पद्मद्रह	→	"	←		१५/-/१८५/१			
शाल्मली वृक्षस्थल	→	"	←	२१६८				
गजदन्त	→	भूतारण्यक वत्	←	२१००,२१२८				
भद्रशालवन	→	"	←	२००६				
धातकीखण्डकी सर्व	→	उपरोक्त वत्	←			५११		
पुष्करार्धकी सर्व	→	"	←					
इष्वाकार	→	सामान्य वत्	←	२५३५				
मानुषोत्तर की—								
तटवेदी	→	सामान्य वत् १¼ को.	←	२७५४				
शिखरवेदी	४०००							
जम्बूद्वीपकी जगती		गहराई	विस्तार: मूल / मध्य / ऊपर					
	८ यो.	१/२ यो.	१२ यो. / ८ यो. / ४ यो.	१५-२७	६/१/१७०/२६	३७८	८८५	१/२६
		प्रवेश	आयाम					
जगतीके द्वार—								
दृष्टि सं. १	८ यो.	४ यो.	४ यो.	४१				
दृष्टि सं. २	७५० यो.	×	५०० यो.	७१				
लवणसागर	→	जम्बूद्वीपकी जगती वत्	←	२५१६				

५. शेष द्वीपोंके पर्वतों व कूटोंका विस्तार—

१. धातकीखण्डके पर्वत—

नाम	ऊँचाई	लम्बाई	विस्तार	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/३३/वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
पर्वतोंके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम—								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वद्वीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	२५४४-२५४६	५/१९५/२०	४९७,५०६		
विजयार्ध	,,	निम्नोक्त	,,	,,		,,		
वक्षार	,,	,,	,,	,,		,,		
गजदन्त दृष्टि सं० १	,,	,,	,,	,,		,,		
दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२५४७				
उपरोक्त सर्व पर्वत-	→	जम्बूद्वीपसे दूना	←					
वृषभगिरि	→	जम्बूद्वीपवत्	←			५११		
यमक	→	,,	←			,,		
कांचन	→	,,	←			,,		
दिग्गजेन्द्र	→	,,	←			,,		
		विस्तार						
		दक्षिण उत्तर	पूर्व पश्चिम					
इष्वाकार	४०० यो.	स्वद्वीपवत्	१००० यो.	२५३३	६/१९५/२६	४९५	९२५	११/४
विजयार्ध	जम्बूद्वीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	स्वक्षेत्रवत्	२५०७+ उपरोक्त सामान्य नियमवत्				
वक्षार	जम्बूद्वीपवत्	निम्नोक्त	जम्बूद्वीपसे दूना	४०८+	उपरोक्त सामान्य	नियमवत्		
गजदन्त—								
अभ्यन्तर	,,	२५६२२७	,,	२५६१		५३३	७५६	
बाह्य	,,	५६६२५७	,,	२५६२		५३४	,,	

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार मूल	विस्तार मध्य	विस्तार ऊपर	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/३३/वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
सुमेरु पर्वत—										
पृथिवीपर	८४०००	१०००	९४०००	दे.लोक ३/६/३	१०००	२५७७	६/१९५/२८	५१३		११/१८
पातालमें	दृष्टि सं १ की अपेक्षा विस्तार=१०,००० ,, ,, २ ,, ,, ,, =९५००					,,		,,		
चूलिका	→ जम्बूद्वीपके मेरुवत् ←					२५८३				

नाम	ऊँचाई व चौड़ाई	दक्षिण उत्तर विस्तार आदिम	दक्षिण उत्तर विस्तार मध्यम	दक्षिण उत्तर विस्तार अन्तिम	ति. पा. ४/गा.	
दोनों बाह्य विदेहोंके वक्षार —	दे० पूर्वोक्त सामान्य नियम					त्रि. सा./६३२-६३३
चित्र व देवमाल कूट		५१८७३८ २००/२१२	५१९२१६ ४८/२१२	५१९६९३ १०८/२१२	२६३२	
नलिन व नागकूट		५३८२६८	५३८७४५ ६०/२१२	५३९२२२ १२०/२१२	२६४०	
पद्म व सूर्यकूट		५५७७९७ १२/२१२	५५८२७४ ७२/२१२	५५८७५१ १३२/२१२	२६४८	
एकशैल व चन्द्रनाग		५७७३२६ २४/२१२	५७७८०३ ८४/२१२	५७८२८० १४४/२१२	२६५६	
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके वक्षार						
श्रद्धावान् व आत्मांजन		२८५४५५ १९१/२१२	२८४९७८ १३१/२१२	२८४५०१ ७१/२१२	२६७२	
अंजन व विजयवान्		२६५९२६ १९४/२१२	२६५४४९ १३४/२१२	२६४९७२ ७४/२१२	२६८०	
आशीविष व वैश्रवण		२४६३९७ १७२/२१२	२४५९२० ११२/२१२	२४५४४३ ५२/२१२	२६८८	
सुखावह व त्रिकूट		२२६८६८ १५०/२१२	२२६३९१ ९०/२१२	२२५९१४ ३०/२१२	२६९६	

२. पुष्कर द्वीपके पर्वत व कूट

नाम	ऊँचाई यो.	लम्बाई यो.	विस्तार यो.	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३४/वा./पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि सा./गा.	ज.प./अ./गा.
पर्वतोंके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वद्वीप प्रमाण	जम्बूद्वीपसे चौगुना	२७८६-२७९०	५/१९७/२	५८८-५८६		
विजयार्ध	,,	निम्नोक्त	,,	,,		,,		
वक्षार	,,	,,	,,	,,		,,		
गजदन्त	,,	,,	,,	,,		,,		
नाभिगिरि	,,	,,	,,	,,		,,		
उपरोक्त सर्वपर्वत								
दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२७९१				
वृषभगिरि	→	,,	←					
यमक	→	,,	←					
कांचन	→	,,	←					

नाम	ऊँचाई यो.	लम्बाई यो.		विस्तार यो.		ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३४/वा./पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज.प./अ./गा.
दिग्गजेन्द्र	→	जम्बूद्वीपवत्		←						
मेरु व इष्वाकार	→	धातकीवत्		←		२८१२	५/१९७/४	५८६		
		विस्तार								
		दक्षिण उत्तर यो.		पूर्व पश्चिम यो.						
विजयार्ध	उपरोक्त	उपरोक्त नियम		स्व क्षेत्रवत्		२८२६	+ उपरोक्त सामान्य नियम			
वक्षार	जम्बूद्वीपवत्	निम्नोक्त		जंबूद्वीपसे चौगुना		२८२७	+ उपरोक्त सामान्य नियम			
गजदन्त—										
अभ्यन्तर	,,	१६२६११६		,,		२८१३			२५७	
बाह्य	,,	२०४२२१६		,,		२८१४			,,	
		विस्तार								
		गहराई	मूल	मध्य	ऊपर					
मानुषोत्तरपर्वत	१७२१	चौथाई	१०२२	७२३	४२४	२७४६	६/१९७/८	५९१	९३४०+९४२	११/५६
मानुषोत्तरके कूट—										
लोक/६/४/३ में कथित नियमानुसार										
दृष्टि सं. १	४३० १/४		४३० १/४		२१५ १/८					
दृष्टि सं. २	५००		५००	३७५	२५०		६/१९७/१६	६००		

नाम	ऊँचाई व चौड़ाई	विस्तार आदिम	विस्तार मध्यम	विस्तार अन्तिम	ति.प./४/गा.	
दोनों बाह्य विदेहोंके वक्षार—						त्रि. सा./६६२-६६३
चित्रकूट व देवमाल	ऊ० पूर्वोक्त सामान्य नियम	१९४०७७० १६८/२१२	१९४१७२५ ७१/२१२	१९४२६७९ १११/२१२	२८४६	
पद्म व वैडूर्य कूट	,,	१९८०९५० ५१/२१२	१९८१९०४ १७१/२१२	१९८२८५९ ८४/२१२	२८५४	
नलिन व नागकूट	,,	२०२११२९ १५६/२१२	२०२२०८४ १४/२१२	२०२३०३८ १८४/२१२	२८६२	
एक शैल व चन्द्रनाग	,,	२०६१३०९ ४४/२१२	२०६२२६३ ११४/२१२	२०६३२१८ ७२/२१२	२८७०	
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके वक्षार—						
श्रद्धावान व आत्मांजन	ऊ० पूर्वोक्त सामान्य नियम	१४८२०५७ १२/२१२	१४८११०२ १६४/२१२	१४८०१४८ १/२१२	२८८२	
विजटावान व विजयवान	,,	१४४१८७७ २०४/२१२	१४४०९२३ ८४/२१२	१४३९९६८ १७१/२१२	२८९०	
आशीविष व वैश्रवण	,,	१४०१९९८ १०४/२१२	१४००७४३ १११/२१२	१३९९७८९ ७१/२१२	२८९८	
सुखावह व त्रिकूट	,,	१३६१५१९ ४/२१२	१३६०५६४ ११/२१२	१३५९६०९ १८८/२१२	२९०६	

३. नन्दीश्वर द्वीपके पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
	यो.	यो	यो.	यो.	यो.				
अंजनगिरि	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	५८	१९८/८	६१२	९६८
दधिमुख	१०,०००	१०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००	६५	१९८/२५	६७०	〃
रतिकर	१०००	२५०	१०००	१०००	१०००	६८	१९८/३१	६७४	〃

४. कुण्डलवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
	यो.	यो.	यो.	यो.	यो.				
पर्वत—									
दृष्टि सं. १	७५०००	१०००	१०२२०	७२३०	४२४०	११८	१९९/८	६८७	९४३
दृष्टि सं. २	४२०००	१०००	→ मानुषोत्तरवत् ←			१३०			
इसके कूट	→ मानुषोत्तरके दृष्टि सं. २ वत् ←					१२४,१३१	१९९/१२		९६०
द्वीपके स्वामी देवोंके कूट	→ सर्वत्र उपरोक्तसे दूने ←					१३७		६९७	

५. रुचकवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत—									
दृष्टि सं. १	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	१४२			९४३
दृष्टि सं. २	८४०००	१०००	४२०००	४२०००	४२०००		१९९/२३	७००	
इनके कूट—									
दृष्टि सं. १	→ मानुषोत्तरकी दृष्टि सं. २ वत् ←					१४६			९६०
दृष्टि सं. २	५००		१०००	७५०	५००	१६१.१७१	२००/२०	७०१	
३२ कूट	५००		१०००	१०००	१०००		१९९/२५		

६. स्वयंभूरमण पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत		१०००				२३९			

६. अढाई द्वीपके वनखण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीपके वनखण्ड

नाम	विस्तार		ति.प./४/गा.	रा.वा./३/१८/१३/पृ.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ./गा.
जम्बूद्वीप जगतीके अभ्यन्तर भागमें	२ को.		८७				
विजयार्धके दोनों पार्श्वोंमें	२ को.		१७१				
हिमवान्‌के दोनों पार्श्वोंमें	२ को.		१६३०		११५	७३०	
नाम	विस्तार						
	पूर्वापर	उत्तर दक्षिण					
देवारण्यक	२९२२ यो.	१६५९२ २/१९ यो.	२२२०	१७७/२	२८२		७/१५
भूतारण्यक	→ देवारण्यकवत् ←						

नाम	विस्तार			ति. प./४/गा.	रा.वा./३/१०/१३/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ./गा.
	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार					
भद्रशाल	यो. २२०००	यो. २५०	यो. विदेहक्षेत्रवत्	२००२	१७८/३	२१७	६१०+६१२	४/४३
	वलय व्यास	बाह्य व्यास	अभ्यन्तर व्यास					
	यो.	यो.	यो.					
नन्दनवन	५००	९९५४ $\frac{६}{११}$	८९५४ $\frac{६}{११}$	११८६	१७६/७	२९०	६१०	४/८२
सौमनसवन	५००	४२७२ $\frac{८}{११}$	३२७२ $\frac{८}{११}$	१९३८+१९८९	१८०/१	२९६	"	४/११७
पाण्डुकवन	४९४	१०००		१८१०+१८१४	१८०/१२	३००	"	४/१३१

२. धातकीखण्डके वनखण्ड

सामान्य नियम—सर्व वन जम्बूद्वीप वालोंसे दूने विस्तार वाले हैं। (ह. पु./५/५०६)

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३३/६/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम			
	यो.	यो.	यो.	यो.			
बाह्य	५८४४	५८७४४८ $\frac{१४४}{२१२}$	५९०२३८ $\frac{२४}{२१२}$	५९३०२७ $\frac{१११}{२१२}$	२५०६+२५५०		
अभ्यन्तर	"	२१६७४६ $\frac{४०}{२१२}$	२१३९५६ $\frac{११०}{२१२}$	२१११६७ $\frac{१८}{२१२}$	२५०६+२७००		
	मेरुसे पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार				
भद्रशाल	यो. १०७८७९	यो. नष्ट	यो. १२२५ $\frac{७६}{८८}$		२५१८		५११
	वलयव्यास	बाह्यव्यास	अभ्यन्तरव्यास				
	यो.	यो.	यो.				
नन्दन	५००	९३५०	८३५०			१९५/३१	५२०
सौमनस	५००	३८००	२८००			१९६/१	५२४
पाण्डुक	४९४	१०००	१२ चूलिका				५२७

३. पुष्करार्ध द्वीपके वनखण्ड

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
देवारण्यक—					
बाह्य	११६८८	२०८२११४ $\frac{१८४}{२१२}$	२०८७६९३ $\frac{१७१}{२१२}$	२०९३२७२ $\frac{१५८}{२१२}$	२८२८+२८७४
अभ्यन्तर	"	१३४०७१३ $\frac{७१}{२१२}$	१३३५१३४ $\frac{१०४}{२१२}$	१३२९५५५ $\frac{१३२}{२१२}$	२८२८+२९१०
	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार		ति.प./४/गा.
भद्रशाल	२१५७५८	नष्ट	२४५१ $\frac{७०}{८८}$		२८२१
नन्दन आदि वन	→	धातकीखण्डवत्	←	(दे० लोक/४/४.४)	

४. नन्दीश्वरद्वीपके वन

वापियोंके चारों ओर वनखण्ड हैं, जिनका विस्तार (१००,०००×५०,०००) योजन है।

७. अढाई द्वीपकी नदियोंका विस्तार

(ति. प./५/६४); (रा. वा./३/३५/-/१९८/१८); (त्रि. सा./१७१)

१. जम्बूद्वीपकी नदियाँ

नाम	स्थल विशेष	चौड़ाई	गहराई	ऊँचाई	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/२२/-वा./पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./-अ./गा.
नदियोंके विस्तार व गहराई आदि सम्बन्धी सामान्य नियम—भरत व ऐरावतक्षेत्रकी नदियोंका विस्तार प्रारम्भमें $6\frac{1}{4}$ यो. और अन्तमें उससे दशगुणा होता है। आगे-आगेके क्षेत्रोंमें विदेह पर्यन्त वह प्रमाण दुगुना-दुगुना होता गया है। (त्रि. सा./६००); (ज. प./३/१६४)। नदियोंका विस्तार उनकी गहराईसे ५० गुणा होता है। (ह. पु./५/५०७)।									
वृषभाकार प्रणाली—									
गंगा-सिन्धु	हिमवान्	$6\frac{1}{4}$ यो.	२ को. प्रवेश	२ को. प्रवेश	२१४		१४०	५८४	३/१५०
आगेके नदी युगल	विदेह तक उत्तरोत्तर दुगुने						१५१	५६६	३/१५२
	ऐरावत तक उत्तरोत्तर आधे						१५६	"	३/१५३
गंगा—	उद्गम	$6\frac{1}{4}$ यो.	१/२ को.		२१७		१३६	६००	३/१६४
	पर्वतसे गिरनेवाली धार			पर्वतकी ऊँचाई	२१३			५८६	
	दृष्टि सं. १	१०		"					
	दृष्टि सं. २	२५		"	२१७				३/१६८
	गुफा द्वार पर	८ यो.			२३६		१४८		७/६३
	समुद्र प्रवेश पर	$62\frac{1}{2}$ यो.		५ को.	२४६	१/१८७/२६	१४६	६००	३/१७७
सिन्धु	→	गंगानदीवत्		←	२५२	२/१८७/३२	१५१	"	३/१६४
रोहितास्या	→	गंगासे दूना		←	१६६६	३/१८८/६	१५१	५६६	३/१८०
रोहित	→	रोहितास्यावत्		←	१७३७	४/१८८/१७	"	"	"
हरिकान्ता	→	रोहितसे दुगुना (गंगासे चौगुना)		←	१७४८	५/१८८/२१	"	"	३/१८१
हरित	→	हरिकान्तावत्		←	१७७३	६/१८८/२६	"	"	"
सीतोदा	→	हरिकान्तासे दूना (गंगासे आठ गुना)		←	२०७४	७/१८८/३३	"	"	३/१८२
सीता	→	सीतोदावत्		←	२१२२	८/१८६/६	"	"	"
उत्तरकी छः नदियाँ	→	क्रमसे हरितादिवत्		←		६–२४/१८६	१५६		
विदेहका ६४ नदियाँ	→	गंगानदीवत्		←	→	(दे. लोक/३/१०)			←
विभंगा	कुण्डके पास	५० को.	$16592\frac{2}{19}$ (उत्तर दक्षिण)		२२१८			६०५	
	महानदीके पास	५०० को.			२२१६				
	दृष्टि सं. २	→ सर्वत्र गंगासे दूना ←				३/१०/१३/-१७६/१३			७/२७

२. धातकीखण्डकी नदियाँ

नाम	पूर्व पश्चिम	उत्तर दक्षिण लम्बाई आदिम	उत्तर दक्षिण लम्बाई मध्यम	उत्तर दक्षिण लम्बाई अन्तिम	ति. प./४/गा.
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपसे दुगुने विस्तार वाली हैं। (ति. प./४/२५४६)					
दोनों बाह्य विदेहोंकी विभंगा—	सर्वत्र २५० यो० (ति. प./४/२६०८)				
ग्रहवती व ऊर्मिमालिनी		५२८८६१ $\frac{१०८}{२१२}$	५२८९८० $\frac{१६०}{२१२}$	५२९१००	२६३६
ग्रहवती व फेनमालिनी		५४८३९० $\frac{१३०}{२१२}$	५४८५०९ $\frac{१७२}{२१२}$	५४८६२९ $\frac{१२}{२१२}$	२६४४
गम्भीरमालिनी व पंकावती		५६७९११ $\frac{१३२}{२१२}$	५६८०३८ $\frac{१६४}{२१२}$	५६८१५८ $\frac{१४}{२१२}$	२६५२
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंकी विभंगा					
क्षीरोदा व उन्मत्तजला		२७५१३१ $\frac{७८}{२१२}$	[illegible]	२७५०९४ $\frac{१८४}{२१२}$	२६७६
मत्तजला व सीतोदा		२५५८०४ $\frac{१४}{२१२}$	[illegible]	२५५५६५ $\frac{१७३}{२१२}$	२६८४
तप्तजला व औषधवाहिनी		२३६२७५ $\frac{४२}{२१२}$	२३६१५६	२३६०३६ $\frac{११०}{२१२}$	२६९२

३. पुष्करद्वीपकी नदियाँ

नाम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प./४/गा.
	आदिम	मध्यम	अन्तिम	
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपवालोसे चौगुनी विस्तार युक्त हैं। (ति. प./४/२७८८)				
दोनों बाह्य विदेहोंकी विभंगा—				
ग्रहवती व ऊर्मिमालिनी	१९६१५७६ ९१/२१२	१९६१८१५ २०/२१२	१९६२०५३ १५६/२१२	२८५०
ग्रहवती व फेनमालिनी	२००१७५५ १६१/२१२	२००१९९४ १३०/२१२	२००२२३३ ४४/२१२	२८५८
गम्भीरमालिनी व पंकावती	२०४१९३५ ८४/२१२	२०४२१७४ ३/२१२	२०४२४१२ १४४/२१२	२८६६
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंकी विभंगा—				
क्षीरोदा व उन्मत्तजला	१४६१२५१ १६४/२१२	१४६१०१३ २८/२१२	१४६०७७४ १०४/२१२	२८८६
मत्तजला व सीतोदा	१४२१०७२ १४/२१२	१४२०८३३ १४०/२१२	१४२०५९५ ४/२१२	२८९४
तप्तजला व अन्तर्वाहिनी	१३८०८९२ १७१/२१२	१३८०६५४ ४०/२१२	१३८०४१५ ११६/२१२	२९०२

८. मध्यलोककी वापियों व कुण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी—

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/सू./वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
सामान्य नियम—सरोवरोंका विस्तार अपनी गहराईसे ५० गुना है (ह. पु./५/५०७) द्रहोंकी लम्बाई अपने-अपने पर्वतोंकी ऊँचाईसे १० गुनी है, चौड़ाई ५ गुनी और गहराई दसवें भाग है। (त्रि. सा./५६८); (ज. प./३/७१)								
जम्बूद्वीप जगतीके मूलवाली:—								
उत्कृष्ट	२०० ध.	१०० ध.	२० ध.	२३				
मध्यम	१५० ,,	७५ ,,	१५ ,,	,,				
जघन्य	१०० ,,	५० ,,	१० ,,	,,				
पद्मद्रह	१००० ,,	५००	१०	१६५८	(त. सू./३/१५-१६)	१२६		
महापद्म	→ पद्मसे दुगुना ←			१७२७		१२६		
तिगिंछ	→ पद्मसे चौगुना ←			१७६१			दे० उपरोक्त सामान्य नियम	दे० उपरोक्त सामान्य नियम
केसरी	→ तिगिंछवत् ←			२३२३		,,		
पुण्डरीक	→ महापद्मवत् ←			२३४४		,,		
महापुण्डरीक	→ पद्मवत् ←			२३६५		,,		
देवकुरुके द्रह	→ पद्मद्रहवत् ←			२०९०		,,		
उत्तरकुरुके द्रह	→ देवकुरुवत् ←			२१२६	१०/१३/१७४/३०	१९५	६५६	६/५७
नन्दनवनकी वापियाँ	५० यो.	२५ यो.	१० यो.					
सौमनसवनकी वापियाँ								
दृष्टि सं. १	२५ ,,	२५ ,,	५ यो.	१९४७				
दृष्टि सं. २	→ नन्दनवनवत् ←				१०/१३/१८०/७			
गंगा कुण्ड —	गोलाईका व्यास		गहराई					
दृष्टि सं. १	१० यो.		१० यो.	२१६+२२१				
दृष्टि सं. २	६० ,,		१० ,,	२१८	२२/१/१८७/२५	१४२	५८७	
दृष्टि सं. ३	६२ १/२ ,,		१० ,,	२१९				
सिन्धुकुण्ड	→ गंगाकुण्डवत् ←				२२/५/१८७/३२			
आगे सीतासीतोदा तक	→ उत्तरोत्तर दुगुना ←				२२/३-८/१८९			
आगे रक्तारक्तोदा तक	→ उत्तरोत्तर आधा ←				२२/९-१४/१८९			
१२ विदेहोंकी नदियोंके कुण्ड	६३ यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/२४			
विभंगाके कुण्ड	१२० यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/१०			

२. अन्य द्वीप सम्बन्धी

नाम	लम्बाई	चौड़ाई	गहराई	ति. प. ५/गा.	रा. वा/३/सू./ ब./पृ./प.	ह. पु./ ५/गा.	त्रि. सा./ गा.	ज. प./ अ./ गा.
धातकीखण्डके पद्म आदि द्रह	यो० →	यो० जम्बूद्वीपसे दूने	यो० ←		३३/५/१९५/२३			
नन्दीश्वरद्वीपकी वापियाँ	१००,०००	१००,०००	१०००	६०	१५/-/१९८/११	६५७	९७१	

९. अढाई द्वीपके कमलोंका विस्तार

नाम	ऊँचाई या विस्तार	कमल सामान्य को०	नाल को०	मृणाल को०	पत्ता को०	कर्णिका को०	ति. प./ ४/गा.	रा. वा./३/ १७/-/१८५/ पंक्ति	ह. पु./ ५/गा.	त्रि. सा./ गा.	ज. प./ अ./ गा.
पद्म द्रहका मूल कमल	ऊँचाई—										
	दृष्टि सं. १	४	* ४२			१	१६६७		१२८	५७०-५७१	६/७४
	दृष्टि सं. २				२	२	१६७०	८,९			
	विस्तार—										
	दृष्टि सं. १	४ या, २	१	३	×	१	१६६७ १६६६			५७०-५७१	
	दृष्टि सं. २	४	१	३	१	२	१६६७+ १६७०	८	१२८		३/७४
नोट—* जलके भीतर १० योजन या ४० कोस तथा ऊपर दो कोस (रा. वा./-/१८५/१); (ह. पु.५/१२८); (त्रि. सा./५७१); (ज. प./३/७४)											
परिवार कमल	→ सर्वत्र उपरोक्तसे आधा ←							१६			
आगे तिगिंछ द्रह तक	→ उत्तरोत्तर दूना ←							त. सू./३/१८			३/१२७
केसरी आदि द्रहके	→ तिगिंछ आदि वत् ←							त. सू./३/२६			
{ हिमवान् पर	ऊँचाई	१ जलके ऊपर				१	२०६	२२/२/१८८/३			३/७४
{ कमलाकार कूट	विस्तार	२			१/२	१	२५४				
धातकीखंडके		→ जम्बूद्वीपवालोंसे दूने ← (रा. वा./३/३३/५/१९५/२३)									

लोकचंद्र—नन्दीसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप कुमारनन्दीके शिष्य तथा प्रभाचन्द्र नं. १ के गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ४२७-४५३ (ई. ५०५-५३१) दे० इतिहास/७/ २।

लोकपंक्ति— यो. सा./अ./८/२० आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता।२०।—अन्तरात्माके मलिन होनेसे मूर्ख लोग जो लोकको रंजायमान करनेके लिए क्रिया करते हैं उसे लोकपंक्ति कहते हैं।

लोकपाल—

स. सि./४/४/२३९/५ अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपालाः। लोकं पालयन्तीति लोकपालाः।—जो रक्षकके समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं (रा. वा./४/४/६/२१३/४); (म. पु./२२/२८)।

ति. प./३/६६ चत्तारि लोयपाला सावण्णा होंति तंतवालाणं। तणुरक्खाण समाणा सरीररक्खा सुरा सव्वे।६६।—(इन्द्रोंके परिवारमेंसे) चारों लोकपाल तन्त्रपालोंके सदृश...होते हैं।

त्रि. सा./भाषा/२२४ जैसे राजाका सेनापति तैसे इन्द्रके लोकपाल दिगीन्द्र हैं।

२. चारों दिशाओंके रक्षक चार लोकपाल

१. इन्द्रकी अपेक्षा—

ति. प./३/७१ पत्तेक्कइंदयाणं सोमो यमवरुणधणदणामा य। पुव्वादि लोयपाला हवंति चत्तारि चत्तारि।७१।—प्रत्येक इन्द्रके पूर्वादि दिशाओंके रक्षक क्रमसे सोम, यम, वरुण और धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं।७१।

२. पूजा मण्डपकी अपेक्षा

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/१८७-१८८ पूर्वदिशाका इन्द्र; आग्नेयका अग्नि, दक्षिणका यम; नैर्ऋत्यका नैर्ऋत्य, पश्चिमका वरुण, वायव्यका वायु, उत्तरका कुबेर, ईशानका सोम व धरणेन्द्र।

३. प्रतिष्ठा मण्डपके द्वारपालोंका नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/२/१३१ कुमुद, अञ्जन, वामन, पुष्पदन्त, नाग, कुबेर हरितप्रभ, रत्नप्रभ, कृष्णप्रभ, व देव।

४. वैमानिक इन्द्रोंके लोकपालोंका परिवार

ति. प./८/२८७-२९९ सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार और आनतादि चार इन सब इन्द्रोंके चार चार लोकपाल हैं—सोम, यम, वरुण व कुबेर। इन चारों का परिवार क्रमसे निम्न प्रकार है—१. देवियाँ—प्रत्येककी ३½ करोड़। २. आभ्यन्तर परिषद्-५०,५०,६०,७०। ३. मध्यम परिषद्-४००,४००,५००,६००; ४. बाह्य परिषद्-५००,५००,६००,७००। ५. चारोंके ही अनीकोंमें सामन्त अपने-अपने इन्द्रोंकी अपेक्षा क्रमसे ४०००,४०००,१०००,१००० ५००,४००,३००,२००, १०० है। ६. सभी इन्द्रोंके चारों ही लोकपालोंकी प्रथम कक्षामें सामान्य=२८०१०, और शेष कक्षाओंमें उत्तरोत्तर दूने दूने हैं। ७. वृषभादि-३५५६००० । ८. कुल अनीक-२४८९२००० । ९. विमान-६६६६६६६ ।

५. सौधर्म इन्द्रके लोकपाल द्विचरम शरीरी हैं

ति. प./८/३७५-३७६ सक्को सहग्गमहिसी सलोयवालो...णियमा दुचरिमदेहा…।=अग्रमहिषी और लोकपालोंसहित सौधर्म इन्द्र… नियमसे द्विचरम शरीर है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. लोकपाल देव सामान्यके १० विकल्पोंमें से एक है—दे० देव/१।
२. भवनवासी व वैमानिक इन्द्रोंके परिवारोंमें लोकपालोंका निर्देशादि —दे० भवनवासी आदि भेद।
३. जन्म, शरीर, आहार, सुख, दुःख, सम्यक्त्व, आदि विषयक —दे० देव/II/२।

लोक प्रतर—(७)²=४९।—दे. गणित I/२/७।

लोक विभाग—यह ग्रन्थ लोकके स्वरूपका वर्णन करता है। मूल ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध आ० सर्वनन्दि द्वारा ई० ४५८ में रचा गया था। पीछे आ० सिंहसूरि (ई. श. ११ के पश्चात्) द्वारा इसका संस्कृत रूपान्तर कर दिया गया। रूपान्तर ग्रन्थ ही उपलब्ध है मूल नहीं। इसमें ११ प्रकरण हैं और २००० श्लोक प्रमाण है।

लोक श्रेणी—७ राजू।

लोकसेन—पंचस्तूपसंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप आचार्य गुणभद्रके प्रमुख शिष्य थे। राजा अकालवर्षके समकालीन राजा लोकादित्यकी राजधानी बङ्कापुरमें रहकर, आचार्य गुणभद्र रचित अधूरे उत्तर पुराणको श्रावण कृ. ५ श. ८२० में पूरा किया था। तदनुसार इनका समय—ई. ८९७-९३० (जीवन्धरचम्पू प्र./ ८/A. N. Up.); (म. पु./प्र.३१/पं. पन्नालाल)—दे० इतिहास/७/ ७।

लोकादित्य—उत्तर पुराणकी अन्तिम प्रशस्तिके अनुसार राजा अकालवर्षके समकालीन थे। इनकी राजधानी बंकापुर थी तथा राजा बंकेयके पुत्र थे। आचार्य लोकसेनने इनके समयमें ही उत्तरपुराणको पूर्ण किया था। तदनुसार इनका समय—श. ८२० (ई. ८९८) आता है। (म. पु./प्र.४२/ पन्नालाल)।

लोकायत—दे० चार्वाक।

लोकैषणा—दे० राग/४।

लोकोत्तर प्रमाण—(वर्ण श्रेणी आदि)—दे० प्रमाण/५।

लोकोत्तरवाद—

ध. १३/५,५,५०/२८८/१ लोक एव लौकिकः।…लोक्यन्त उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः। स त्रिविध ऊर्ध्वाधोमध्यलोकभेदेन। स लोकः कथ्यते अनेनेति लौकिकवादः सिद्धान्तः। लोकोत्तरवादो त्ति गदं लोकोत्तरः अलोकः स उच्यते अनेनेति लोकोत्तरवादः। लोकोत्तरीयवादो त्ति गदं।=लौकिक शब्दका अर्थ लोक ही है।—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं। वह तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। जिसके द्वारा इस लोकका कथन किया जाता है वह सिद्धान्त लौकिकवाद कहलाता है। इस प्रकार लौकिकवादका कथन किया। लोकोत्तर पदका अर्थ अलोक है, जिसके द्वारा उसका कथन किया जाता है वह श्रुत लोकोत्तरवाद कहा जाता है, इस प्रकार लोकोत्तरका कथन किया।

गो. क./मू./८९३ सइउट्ठिया पसिद्धी दुव्वारा मेलिदेहिंपि सुरेहिं। मज्झिमपंडवखित्ता माला पंचसु वि खित्तेव।=एक ही बार उठी हुई लोक प्रसिद्धि देवोंसे भी मिलकर दूर नहीं हो सकती और की तो बात क्या? जैसे कि द्रौपदीकर केवल अर्जुन-पाण्डवके गलेमें डाली हुई मालाकी 'पाँचों पांडवोंको पहनायी है' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। इस प्रकार लोकवादी लोक प्रवृत्तिको सर्वस्व मानते हैं।—और भी दे० सत्य/संवृति व व्यवहार सत्य)।

लोभ—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

रा. वा./९/६/५/५७४/३२ अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभः कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशश्चतुर्विधः।=धन आदिकी तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है। यह किरमिची रंग, काजल, कीचड़ और हलदीके रंगके समान चार प्रकारका है।

ध. १/१,१,१११/३४२/८ गर्हा काङ्क्षा लोभः। =गर्हा या कांक्षाको लोभ कहते हैं।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/५ लोभो गृद्धिरित्येकोऽर्थः।=लोभ और गृद्धि एकार्थक हैं।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/५ बाह्यार्थेषु ममेदं बुद्धिर्लोभः।=बाह्य पदार्थोंमें जो 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुरागरूप बुद्धि होती है वह लोभ है।

नि. सा./ता. वृ./११२ युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभः, निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात् अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभः।=योग्यस्थान पर धन व्ययका अभाव वह लोभ है; निश्चयसे समस्त परिग्रहका परित्याग जिसका लक्षण है, ऐसे निरंजन निज परमात्म तत्त्वके परिग्रहसे अन्य परमाणुमात्र द्रव्यका स्वीकार वह लोभ है।

२. लोभके भेद

रा. वा./६/६/८/५६६/४ लोभश्चतुःप्रकारः—जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येकं द्विधा भिद्यते स्वपरविषयत्वात्।=लोभ चार प्रकारका है—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रिय लोभ, उपभोगलोभ। ये चारों भी प्रत्येक स्व पर विषयके भेदसे दो-दो प्रकार हैं। (चा. सा./६२/५) (इनके लक्षण दे० शौच)।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. लोभ कषायके अन्य भेद —दे० मोहनीय/३।
२. लोभ कषाय सम्बन्धी विषय —दे० कषाय।
३. लोभ व परिग्रह संज्ञामें अन्तर —दे० संज्ञा।
४. लोभ कषाय राग है —दे० कषाय/४।
५. लोभकी इष्टता-अनिष्टता —दे० राग/४।

लोल—दूसरे नरकका नवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

लोलक—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

लोलवत्स—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

लोहागल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

लोहाचार्य—१. सुधर्माचार्यका अपरनाम था—दे० सुधर्माचार्य। २. मूलसंघ की पट्टावली में इनकी गणना अष्टांगधारियों अथवा आचारांगधारियों में की गई है। इसके अनुसार इनका समय वी. नि. ५१५-५६५ (ई. पू. १२-३८) प्राप्त होता है। (दे. इतिहास/४/४); (ह. पु./प्र. १/पं. पन्नालाल); (स. सि./प्र.७८/पं. फूलचन्द); (कोश १/परिशिष्ट २/५)। ३. नन्दिसंघ बलात्कारगण की पट्टावली के अनुसार ये उमास्वामी के शिष्य तथा यशः कीर्ति के गुरु थे। समय—शक सं. १४२-१५३ (ई. २२०-२३१)। (दे. इतिहास/७/१.२)।

लोहित—१. लवण समुद्रस्थ दिक् पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/५/९; २. सौधर्मस्वर्गका २४ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५/३।

लोहिताक्ष—१. गन्धमादन विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/४; २. लवण समुद्रस्थ दिक्वास पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/५/६; ३. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१०; ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/५/१३; ५. स्वर्ग पटल—(दे० स्वर्ग/५/३)।

लोंच—दे० केश लोंच।

लौकांतिक देव—

स. सि./४/२४/२५५/१ एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः। ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्याः। ...ब्रह्मलोको लोकः तस्यान्तो लोकान्तः तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम्। ...अथवा जन्मजरामरणाकीर्णो लोकः संसारः, तस्यान्तो लोकान्तः। लोकान्ते भवा लौकान्तिकाः।"

स. सि./४/२५/२५६/७ एते सर्वे स्वतन्त्राः हीनाधिकत्वाभावात्। विषयरतिविरहाद्देवर्षयः इतरेषां देवानामर्चनीयाः, चतुर्दशपूर्वधराः। [सततं ज्ञानभावनावहितमनसः, संसारान्नित्यमुद्विग्नाः, अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसाः, अतिविशुद्धसम्यग्दर्शनाः, रा. वा.] तीर्थंकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्याः। =१. आकर जिसमें लयको प्राप्त होते हैं, वह आलय या आवास कहलाता है। ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमें रहने वाले लौकान्तिक देव जानने चाहिए। ...लौकान्तिक शब्दमें जो लोक शब्द है उससे ब्रह्म लोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्त भाग लोकान्त कहलाता है। वहाँ जो होते हैं वे लौकान्तिक कहलाते हैं। (रा.वा./४/२४/१/२४२/२५)। ... २. अथवा जन्म जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार संसारके अन्तमें जो हैं वे लौकान्तिक हैं। (ति. प./८/६१५); (रा. वा./४/२४/१-२/२४२/२५); ३. ये सर्व देव स्वतन्त्र हैं, क्योंकि हीनाधिकताका अभाव है। विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देव ऋषि हैं। दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं। चौदह पूर्वोंके ज्ञाता हैं। [सतत ज्ञान भावनामें निरत मन, संसारसे उद्विग्न, अनित्यादि भावनाओंके भाने वाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते हैं। रा. वा.] वैराग्य कल्याणकके समय तीर्थंकरोंको सम्बोधन करनेमें तत्पर हैं। (ति. प./८/६४१-६४६), (रा.वा./४/२५/३/२४४/४), (त्रि. सा./५३९-५४०)।

२. लौकान्तिक देवके भेद

त. सू./४/२५ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।२५।

स.सि./४/२५/२५६/३ सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभाः। आदित्यस्य च वह्नेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभाः। वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमंकराः। अरुणगर्दतोयान्तराले वृषभेष्ट-कामचाराः। गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिताः। तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः। अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुद्वसवः। अरिष्टसारस्वतान्तराले अश्वविश्वाः। =सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव हैं।२५। च शब्दसे इनके मध्यमें दो-दो देवगण और हैं इनका संग्रह होता है यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमें अग्न्याभ और सूर्याभ हैं। आदित्य और वह्निके मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ हैं। वह्नि और अरुणके मध्यमें श्रेयस्कर और क्षेमंकर, अरुण और गर्दतोयके मध्यमें वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित हैं। और तुषित अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत और वसु हैं। तथा अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अश्व और विश्व हैं। (रा.वा./४/२५/३/२४३/१५); (ति.प./८/६१९-६२४)।

३. लौकान्तिक देवोंकी संख्या

ति. प./८/६२४-६३४ सारस्वत ७००, आदित्य ७००, वह्नि ७००७, अरुण ७००७, गर्दतोय ९००९, तुषित ९००९, अव्याबाध ११०११, अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ १३०१३, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमंकर १७०१७, वृषभेष्ट १९०१९, कामचर २१०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, मरुत ३१०३१, वसु ३३०३३ अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७ हैं। इस प्रकार इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र संख्या ४०७८६ है। (रा.वा./४/२५/३/२४३/२०)।

ति. प./८/६३६ लोक विभागके अनुसार सारस्वतदेव ७०७ हैं।
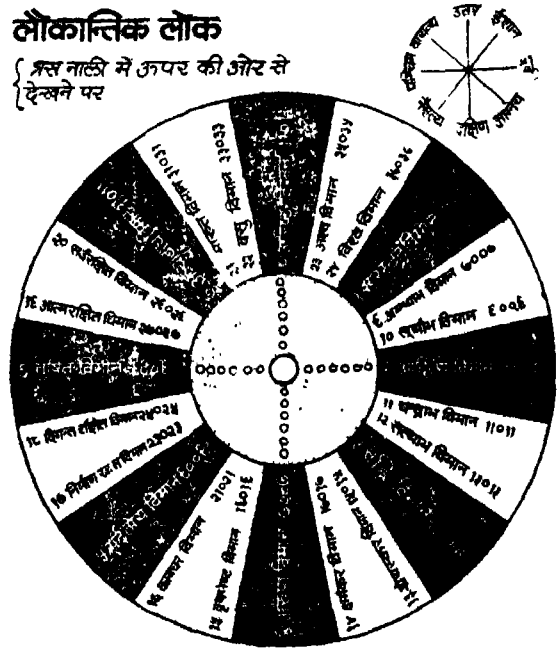
४. लौकान्तिक देवोंका अवस्थान

स. सि./४/२४,२५/२५५/८ तेषां हि (लौकान्तिकानां) विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि ।२४। अष्टास्वपि पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्याः। तद्यथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्यां दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्यां दिशि अरुणविमानम्

दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्यां दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यां दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्यां दिशि अरिष्टविमानम्। ...तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ। —इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्त भागमें (किनारे पर) स्थित आठ राजियों (Sectors) के अन्तरालमें (ति. प.) हैं। पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओंमें क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं ऐसा जानना चाहिए। यथा—पूर्वोत्तर कोणमें सारस्वतोंके विमान, पूर्व दिशामें आदित्योंके विमान, पूर्वदक्षिणमें वह्निदेवोंके विमान, दक्षिण दिशामें अरुणके विमान, दक्षिण-पश्चिम कोनेमें गर्दतोयके विमान, पश्चिम दिशा में तुषितके विमान, उत्तर-पश्चिम दिशामें अव्याबाधके विमान, और उत्तर दिशामें अरिष्ट विमान हैं। इनके मध्यमें दो दो देवगण हैं। (उनकी स्थिति व नाम दे० लौकान्तिक/२), (ति. प./८/६१६-६११), (रा. वा./४/२५/३/२४३/११), (त्रि. सा./५३४-५३८)।

५. लौकान्तिक देव एक भवावतारी हैं

स. सि./४/२४/२५५/७ लौकान्तिकाः...सर्वे परीतसंसाराः ततश्च्युता एकं गर्भवासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति। —लौकान्तिक देव क्योंकि संसारके पारको प्राप्त हो गये हैं इसलिए वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमें रहकर निर्वाणको प्राप्त होंगे। (ति. प./८/६७६), (रा. वा./४/२४/२४२/३०)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्विचरम शरीरका स्पष्टीकरण। —दे० चरम।
२. कैसी योग्यता वाला जीव लौकान्तिक देवोंमें जाता है। —दे० जन्म/५।
३. ब्रह्म लोक। —दे० स्वर्ग/५।

लौकिक—१. लौकिक जन संगतिका विधि निषेध—दे० 'संगति'। २. प्र. सा./मू./२५३, २६९ लोगिगजणसंभासा [शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषण (त. प्र.)] ।२५३। णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं। सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ।२६९। —लौकिक जन संभाषण अर्थात् शुद्धात्म परिणति शून्य लोकोंके साथ बातचीत...।२५३। जो (जीव) निर्ग्रन्थ रूपसे दीक्षित होनेके कारण संयम तप संयुक्त हो उसे भी यदि वह ऐहिक कार्यों (ख्याति लाभ पूजाके निमित्त ज्योतिष, मन्त्र, वादित्व आदि 'ता.वृ.') सहित वर्तता हो तो लौकिक कहा गया है।२६९।

लौकिक—दूसरे नरकका नवमा पटल—दे० नरक/५/११

लौकिक प्रमाण—दे० प्रमाण/६।

लौकिक वाद—दे० लोकोत्तर।

लौकिक शुचि—दे० शुचि।

लौगाक्षि भास्कर—मीमांसा दर्शनका टीकाकार। —दे० मीमांसा दर्शन।

[व]

वंग—दे० मंग।

वंगा—मध्य आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

वंचना—दे० माया।

वंदना—द्वादशांगके १४ पूर्वोमें से तीसरा पूर्व। —दे० श्रुतज्ञान/III/१

वंदना १. कृतिकर्मके अर्थमें

रा. वा./६/२४/११/५३०/१३ वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। —मन, वचन, कायकी शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे चार बार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है।—(विशेष दे० कृतिकर्म)।

भ. आ./वि./५०९/७२८/११ वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना। वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणम्। कायेन वन्दना प्रदक्षिणीकरणं कृतानतिश्च। —वन्दना करने योग्य गुरुओं आदिके गुणोंका स्मरण करना मनोवन्दना है, वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका महत्त्व प्रगट करना यह वचन वन्दना है और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवन्दना है।—(और भी दे० नमस्कार/१)।

क.पा. १/१-१/§ ८६/१११/५ एयस्स तित्थयरस्स णमंसणं वंदणा णाम। —एक तीर्थंकरको नमस्कार करना वन्दना है। (भा. पा./टी./७७/२२१/१४)।

ध. ८/३.४१/८४/३ उसहाजिय...वड्ढमाणादितित्थयराणं भरहादिकेवलीणं आइरिय-चइत्तालयादीणं भेयं काऊण णमोक्कारो गुणगणमल्लीणो सयकलावाउलो गुणाणुसरणसरूवो वा वंदणा णाम।

ध. ८/३.४२/९२/५ तुहं णिट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठो धम्मुम्मुहसिट्ठगोट्ठीए पुट्ठाभयदाणो सिट्ठपरिवालओ दुट्ठणिग्गहकरो देव त्ति पसंसा वंदणा णाम। —ऋषभ, अजित...वर्धमानादि तीर्थंकर, भरतादि केवली, आचार्य एवं चैत्यालयादिकोंके भेदको करके अथवा गुणगण भेदके आश्रित, शब्द कलापसे व्याप्त गुणानुस्मरण रूप नमस्कार करनेको वन्दना कहते हैं।८८। 'आप अष्ट कर्मोंको नष्ट करनेवाले, केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोंको देखनेवाले, धर्मोन्मुख शिष्टोंकी गोष्ठीमें अभयदान देनेवाले, शिष्ट परिपालक और दुष्ट निग्रहकारी देव हैं' ऐसी प्रशंसा करनेका नाम वन्दना है।

भ. आ./वि./११६/२७५/१ वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीनां आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशयं विज्ञाय श्रद्धापुरःसरेण...विनये प्रवृत्तिः। —रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु इनके उत्कृष्ट गुणोंको जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ विनयोंमें प्रवृत्ति करना, यह वन्दना है।—(दे० नमस्कार/१)।

२. निश्चय वन्दनाका लक्षण

यो. सा./अ./५/४६ पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमं। आत्मानं वन्द्यमानस्य वन्दनाकथि कोविदैः।४६। —जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्माकी वन्दना करता है, विद्वानोंने उसी वन्दनाको उत्तम वन्दना कहा है।

३. वन्दनाके भेद व स्वरूप निर्देश

भ. आ./वि./११६/२७५/२ वंदना...अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्तिः प्रत्येकं तयोरनेकभेदता। —अभ्युत्थान और प्रयोगके भेदसे दो प्रकार विनयमें प्रवृत्ति करना वन्दना है। इन दोनोंमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं। (तिनमें अभ्युत्थान विनय तो आचार्य साधु आदिके समक्ष खड़े होना, हाथ जोड़ना, पीछे-पीछे चलना आदि रूप है। इसका विशेष कथन 'विनय' प्रकरणमें दिया गया है और प्रयोग विनय कृतिकर्म रूप है। इसका विशेष कथन निम्न प्रकार है।)

★ मन वचन काय वन्दना—दे० नमस्कार।

४. वन्दनामें आवश्यक अधिकार

भ. आ./वि./११६/२७५/२ कर्तव्यं केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कति वारानिति। अभ्युत्थानं केनोपविष्टं किवा फलमुद्दिश्य

कर्तव्यं।...उपदिष्टः सर्वैर्जिनैः कर्मभूमिषु। —यह वन्दना कार्य किसको करना चाहिए, किसके द्वारा करना चाहिए, कब करना चाहिए, किसके प्रति कितने बार करना चाहिए। अभ्युत्थान कर्तव्य है, यह किसने बताया है, तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिए। सो इस कर्तव्यका कर्मभूमि वालोंके लिए सर्व जिनेश्वरोंने उपदेश दिया है। (इसका क्या फल व महत्त्व है यह बात 'विनय' प्रकरणमें बतायी गयी है। शेष बातें आगे क्रम पूर्वक निर्दिष्ट हैं।)

४. वन्दना किसकी करनी चाहिए

चा. सा./१५६/२ अतश्चैत्यस्य तदाश्रयचैत्यालयस्यापि वन्दना कार्या। ...गुरूणां पुण्यपुरुषोचितनिरवद्यनिषद्यास्थानादीनामुच्यते क्रियाविधानम्। —जिन बिम्बकी तथा उसके आश्रयभूत चैत्यालय-की वन्दना करनी चाहिए। आचार्य आदि गुरुओंकी तथा पुण्य पुरुषोंके द्वारा सेवनीय उनके निषद्या स्थानोंकी वन्दना विधि कहते हैं।

दे. वंदना/१ (चौबीस तीर्थंकरोंकी, भरत आदि केवलियोंकी, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्ध साधु, तथा चैत्य चैत्यालयकी वन्दना करनी चाहिए।)—(और भी दे०/कृतिकर्म/२/४)।

५. वन्दनाकी तीन वेलाएँ व काल परिमाण

ध. १३/५,४,२८/८६/१ पदाहिणणमंसणादिकिरियाणं तिण्णिवार-करणं तिक्खुत्तं णाम। अथवा एक्कम्हि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंद-णाओ तिण्णिवारं किज्जंति त्ति तिक्खुत्तं णाम। तिसंज्झासु चेव वंदणा कीरदे अण्णत्थ किण्ण करिदे। ण अण्णत्थ वि तप्पडिसेह-णियमाभावादो। तिसञ्झासु वंदणणियमपरूवणट्ठं तिक्खुत्तमिदि भणिदं। —प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रियाओंका तीन बार करना त्रिःकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु, ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिए इसका नाम त्रिःकृत्वा है। प्रश्न—तीनों ही सन्ध्याकालोंमें वन्दना की जाती है, अन्य समयमें क्यों नहीं की जाती। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अन्य समयमें भी वन्दनाके प्रतिषेधका कोई नियम नहीं है। तीनों सन्ध्याकालोंमें वन्दनाके नियमका कथन करनेके लिए 'त्रिःकृत्वा' ऐसा कहा है।

अन.ध./८/७६/८०७ तिस्रोऽह्नोन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः। मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने।७६। —उक्तं च— मुहूर्तत्रितयं कालः संध्यानां त्रितये बुधैः। कृतिकर्मविधेर्नित्यः परो नैमित्तिको मतः। —तीन सन्ध्याकालोंमें अर्थात् पूर्वाह्ण, अपराह्ण, व मध्याह्नमें वन्दनाका काल छह-छह घड़ी होता है। वह इस प्रकार है कि, सूर्योदयसे तीन घड़ी पूर्वसे लेकर सूर्योदयके तीन घड़ी पश्चात् तक पूर्वाह्ण वन्दना, मध्याह्नमें तीन घड़ी पूर्वसे लेकर मध्याह्नके तीन घड़ी पश्चात् तक मध्याह्न वन्दना, और इसी प्रकार सूर्यास्तमें तीन घड़ी पूर्वसे सूर्यास्तके तीन घड़ी पश्चात् तक अपराह्णिक वन्दना। यह तीनों सन्ध्याओंका उत्कृष्ट काल है जैसे कि कहा भी है —कृति-कर्मकी नित्यकी विधिके कालका परिमाण तीनों सन्ध्याओंमें तीन-तीन मुहूर्त है। (अन. ध./६/११)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. वन्दनाका फल गुणश्रेणी निर्जरा। —दे० पूजा/२।
२. वन्दनाके अतिचार। —दे० व्युत्सर्ग/१।
३. वन्दनाके योग्य आसन मुद्रा आदि। —दे० कृतिकर्म/३।
४. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है। —दे० पूजा/३।
५. साधुसंघमें परस्पर वन्दना व्यवहार। —दे० विनय/३, ४।
६. चैत्यवन्दना या देववन्दना विधि।

चा. सा./१५६/५ आत्माधीनः सच्चैत्यादीन् प्रतिवन्दनार्थं गत्वा धौत-पादस्त्रिप्रदक्षिणीकृत्यैर्यापथकायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्यालोच्य चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शन-मात्रत्रिजगनयनचन्द्रकान्तोपलविगलदानन्दाश्रुजलधारापूरपरिप्लावि-तपक्ष्मपुटोऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारकप्रतिबिम्बद-र्शनजनितहर्षोत्कर्षपुलकिततनुरतिभक्तिभरावनतमस्तकन्यस्तहस्तकु-शेशयकुड्मलो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्य चैत्य-स्तवेन त्रिःपरीत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्यालोच्य पञ्चगुरुभक्ति-कायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पञ्चपरमेष्ठिनः स्तुत्वा तृतीयवारेऽप्युपविश्यालोचनीयः। ......प्रदक्षिणीकरणे च दिक्चतु-ष्टयावनतौ चतुःशिरो भवति।...एवं देवतास्तवनक्रियायां चैत्य-भक्तिं पञ्चगुरुभक्तिं च कुर्यात्। —आत्माधीन होकर जिनबिम्ब आदिकोंकी वन्दनाके लिए जाना चाहिए। सर्व प्रथम पैर धोकर तीन प्रदक्षिणा दे ईर्यापथ कायोत्सर्ग करे। फिर बैठकर आलोचना करे। तदनन्तर मैं 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर तथा खड़े होकर श्री जिनेन्द्रके दर्शन करे। जिससे कि आँखोंमें हर्षाश्रु भर जायें, शरीर हर्षसे पुलकित हो उठे और भक्तिसे नम्रीभूत मस्तकपर दोनों हाथोंको जोड़कर रख ले। अब सामायिक दण्डक व थोस्सामिदण्डक इन दोनों पाठोंको आदि व अन्तमें तीन-तीन आवर्त व एक-एक शिरोनति सहित पढ़े। दोनोंके मध्यमें एक नमस्कार करे (दे० कृतिकर्म/४) तदनन्तर चैत्यभक्तिका पाठ पढ़े तथा बैठकर तत्सम्बन्धी आलोचना करे। इसी प्रकार पुनः दोनों दण्डकों व कृतिकर्म सहित पंचगुरुभक्ति व तत्सम्बन्धी आलोचना करे। प्रद-क्षिणा करते समय भी प्रत्येक दिशामें तीन-तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार चैत्य वन्दना या देव वन्दनामें चैत्यभक्ति व पंचगुरु भक्ति की जाती है। (भ. आ./वि./११६/२७५/११ पर उद्धृत); (अन. ध./६/१३-२१)।

७. गुरु वन्दना विधि

अन. ध./६/३१ लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात्। सैद्धान्तोऽन्त श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना।३१। —उक्तं च— सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना। लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रणम्यते। सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी। सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी। —साधुओंको आचार्य-की वन्दना गवासनसे बैठकर लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हैं, तो लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति व लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। जैसा कि कहा भी है—छोटे साधुओंको बड़े साधुओंकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति पूर्वक तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओंकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघुश्रुतभक्तिके द्वारा करनी चाहिए। आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा, तथा सिद्धान्तवेत्ता आचार्यकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुत-भक्ति और लघु आचार्यभक्ति द्वारा करनी चाहिए।

८. वन्दना प्रकरणमें कायोत्सर्गका काल

दे० कायोत्सर्ग/१ (वन्दना क्रियामें सर्वत्र २७ उच्छ्वासप्रमाण कायो-त्सर्गका काल होता है।)

वंदनामुद्रा—दे० मुद्रा।

वंश—१. ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३ । २. पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/७ । ३. जैन साधुओंके वंश या संघ —दे० इतिहास/४.५ ।

वंशपत्र — दे० योनि ।

वंशा—नरककी दूसरी पृथिवी । अपर नाम शर्कराप्रभा । —दे० शर्कराप्रभा तथा नरक/५/१ ।

वंशाल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर । —दे० विद्याधर ।

वक्तव्य—१. वस्तु कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य —दे० सप्तभंगी/६ । २. शब्द अल्प है और अर्थ अनन्त —दे० आगम/४ ।

वक्तव्यता—

ध. १/१,१,१/८२/५ वत्तव्वदा तिविहा, ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि । जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वणिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा । पर समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वणिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्तव्वं, तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम । जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि तत्थ सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि ।—वक्तव्यताके तीन प्रकार—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और तदुभय वक्तव्यता । जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है, अथवा विशेष रूपसे ज्ञान कराया जाता है, उसे स्वसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहने वाली विशेषताको स्वसमय वक्तव्यता कहते हैं। पर समय मिथ्यात्वको कहते हैं, उसका जिस प्राभृत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगको परसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें होने वाली विशेषताको परसमय वक्तव्यता कहते हैं। जहाँपर स्वसमय और परसमय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है, उसे तदुभय वक्तव्य कहते हैं, और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं । (ध. ९/४,१,४५/१४०/३) ।

२. जैनागममें कथंचित् स्वसमय व तदुभय वक्तव्यता

ध. १/१,१,१/८२/१० एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा ससमयस्सेव परूवणादो । —इस जीवस्थान नामक (धवला) शास्त्रमें स्वसमय वक्तव्यता ही समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

क. पा./१/१,१/§८१/९७/२ तत्थ सुदणाणे तदुभयवत्तव्वदा; सुणयदुण्णयाण दोण्हं पि परूवणाए तत्थ संभवादो । —श्रुतज्ञानमें तदुभय वक्तव्यता समझना चाहिए, क्योंकि, श्रुतज्ञानमें सुनय और दुर्नय इन दोनोंकी ही प्ररूपणा संभव है ।

वक्ता—

रा. वा./१/२०/१२/७५/१८ वक्तारस्त्वाविष्कृतवक्तृपर्याया द्वीन्द्रियादयः । —जिनमें वक्तृत्व पर्याय प्रगट हो गयी है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं । (ध. १/१,१,२/११७/६) ; (गो. जी./जी.प्र./३६५/७७८/२४) ।

२. वक्ताके भेद

स. सि./१/२०/१२३/१० त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति । —वक्ता तीन प्रकारके हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली, श्रुतकेवली और आरातीय ।

३. जिनागमके वास्तविक उपदेष्टा सर्वज्ञ देव ही हैं

दे० आगम/५/१ (समस्त वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त सर्वज्ञ देवके निरूपित होनेसे ही आगमकी प्रमाणता है ।)

दे० दिव्यध्वनि/२/१५ (आगमके अर्थकर्ता तो जिनेन्द्रदेव हैं और ग्रन्थकर्ता गणधर देव हैं ।)

द. पा./टी./२२/२०/८ केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितम् । केवलज्ञानं विना तीर्थकरपरमदेवा धर्मोपदेशनं न कुर्वन्ति । अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः । —केवलज्ञानियोंके द्वारा कहा गया है । केवलज्ञानके बिना तीर्थंकर परमदेव उपदेश नहीं करते । अन्य मुनियोंका उपदेश उसका अनुवादरूप जानना चाहिए ।

४. धर्मोपदेष्टाकी विशेषताएँ

कुरल/अधि./श्लो. भो भोः शब्दार्थवेत्तारः शास्तारः पुण्यमानसाः । श्रोतॄणां हृदयं वीक्ष्य तदर्हां ब्रूत भारतीम् ॥ (७२/२) । विद्वद्गोष्ठ्यां निजज्ञानं यो हि व्याख्यातुमक्षमः ॥ तस्य निस्सारतां याति पाण्डित्यं सर्वतोमुखम् । (७३/८) । —ऐ शब्दोंका मूल जानने वाले पवित्र पुरुषो ! पहले अपने श्रोताओंकी मानसिक स्थितिको समझ लो और फिर उपस्थित जनसमूहकी अवस्थाके अनुसार अपनी वक्तृता देना आरम्भ करो । (७२/२) । जो लोग विद्वानोंकी सभामें अपने सिद्धान्त श्रोताओंके हृदयमें नहीं बिठा सकते उनका अध्ययन चाहे कितना भी विस्तृत हो, फिर भी वह निरुपयोगी ही है । (७३/८) ।

आ. अनु./५-६ प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः, प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः । प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया, ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः ।५। श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने, परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ । बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा, यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ।६। —जो प्राज्ञ है, समस्त शास्त्रोंके रहस्यको प्राप्त है, लोकव्यवहारसे परिचित है, समस्त आशाओंसे रहित है, प्रतिभाशाली है, शान्त है, प्रश्न होनेसे पूर्व ही उसका उत्तर दे चुका है, श्रोताके प्रश्नोंको सहन करनेमें समर्थ है, (अर्थात उन्हें सुनकर न तो घबराता है और न उत्तेजित होता है), दूसरोंके मनोगत भावोंको ताड़ने वाला है, अनेक गुणोंका स्थान है, ऐसा आचार्य दूसरोंकी निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दोंमें धर्मोपदेश देनेका अधिकारी होता है ।५। जो समस्त श्रुतको जानता है, जिसके मन वचन कायकी प्रवृत्ति शुद्ध है, जो दूसरोंको प्रतिबोधित करनेमें प्रवीण है, मोक्षमार्गके प्रचाररूप समीचीन कार्यमें प्रयत्नशील है, दूसरोंके द्वारा प्रशंसनीय है तथा स्वयं भी दूसरोंकी यथायोग्य प्रशंसा व विनय आदि करता है, लोकज्ञ है, मृदु व सरल परिणामी है, इच्छाओंसे रहित है, तथा जिसमें अन्य भी आचार्य पदके योग्य गुण विद्यमान हैं; वही सज्जन शिष्योंका गुरु हो सकता है ।६।

दे० आगम/५/९ (वक्ताको आगमार्थके विषयमें अपनी ओरसे कुछ नहीं कहना चाहिए) ।

दे० अनुभव/३/१ (आत्म-स्वभाव विषयक उपदेश देनेमें स्वानुभवका आधार प्रधान है ।)

दे० आगम/६/१ (वक्ता ज्ञान व विज्ञानसे युक्त होता हुआ ही प्रमाणताको प्राप्त होता है ।)

दे० लब्धि/३ (मोक्षमार्गके उपदेष्टा वास्तवमें सम्यग्दृष्टि होना चाहिए मिथ्यादृष्टि नहीं ।)

★ अन्य सम्बन्धित विषय

वक्रग्रीव— १. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) का अपर नाम (दे. कुन्द कुन्द)। २. मूलसंघ विभाजन के अन्तर्गत पात्रकेसरी (ई. श. ६-७) के शिष्य और वज्रनन्दि नं. २ (वि. श. ६) के शिष्य। समय—लगभग ई. श. ६-७/ई. ११२५ के एक शिलालेख में अकलंक देव के पश्चात् सिंहनन्दि का और उनके पश्चात् वक्रग्रीव का नाम आता है। (दे. इतिहास/७/१); (जै २/१०१)।

वक्रांत—पहले नरकका ११ वाँ पटल—दे० नरक/११ तथा रत्नप्रभा।

वक्षार— पूर्व और विदेहके कक्षा आदि ३२ क्षेत्रोंमें विभाजित करनेवाले १६ पर्वत हैं।—दे० लोक/३/१४।

वचन—

१. वचन सामान्य निर्देश

१. वचनके अभ्याख्यान आदि १२ भेद

ष. ख. १२/४,२,८/सूत्र १०/२८५ अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छादंसण-पओअ-पच्चए। —अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे ज्ञानावरणीय वेदना होती है।

रा. वा./१/२०/१२/७५/१० वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते। अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यक्-मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा। —शुभ और अशुभके भेदसे वाक्प्रयोग दो प्रकारका है। अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, असंबद्ध-प्रलाप, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे भाषा १२ प्रकारकी है। (ध. १,१,२/-११६/१०); (ध./ ६/४,१,४५/२१७/१); (गो. जी./जी.प्र./३६५/-७७८/२०)।

२. अभ्याख्यान आदि भेदोंके लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७५/१२ हिंसादेः कर्मणः कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वायमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। कलहः प्रतीतः। पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षासंबद्धा वाग् असंबद्धप्रलापः। शब्दादिविषयदेशादिषु रत्युत्पादिका, रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा निकृतिवाक्। यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। यां श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्। —हिंसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिंसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है (विशेष दे० अभ्याख्यान)। कलहका अर्थ स्पष्ट ही है (विशेष दे० कलह)। पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है (विशेष दे० पैशुन्य) धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके सम्बन्धसे रहित वचन असम्बद्ध प्रलाप है। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें या देश नगर आदिमें रति उत्पन्न करनेवाला रतिवाक् है। इन्हींमें अरति उत्पन्न करनेवाला अरतिवाक् है। जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन, रक्षण आदिमें आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है। जिससे व्यापारमें ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है। जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमें प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्यक् मार्गप्रवर्तक उपदेश सम्यग्दर्शनवाक् है और मिथ्यामार्ग प्रवर्तक उपदेश मिथ्यादर्शनवाक् है। (ध. १/१,१,२/११६/१२); (ध. ६/४,१,४५/२१७/३); (गो. जी./जी. प्र./३६५/७७८/११) (विशेष दे० वह-वह नाम)।

३. गर्हित सावद्य व अप्रिय वचन

भ. आ./मू./८३०-८३२ कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च। जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण।८३०। जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च। अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं।८३१। परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ। उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण।८३२। —कर्कश-वचन, निष्ठुर भाषण, पैशुन्यके वचन, उपहासका वचन, जो कुछ भी बड़-बड़ करना, ये सब संक्षेपसे गर्हित वचन हैं।८३०। [छेदन-भेदन आदिके (पु. सि. उ.)] जिन वचनोंसे प्राणिवध आदि दोष उत्पन्न हों अथवा बिना विचारे बोले गये, प्राणियोंकी हिंसाके कारणभूत

वचन सावद्य वचन हैं। जैसे-(इस रुके सरोवर में) इस भैंसको पानी पिलाओ।८३१। परुष वचन जैसे—तू दुष्ट है, कटु वचन, बैर उत्पन्न करनेवाले वचन, कलहकारी वचन, भयकारी या त्रासकारी वचन, दूसरोंको अवज्ञा- कारो होलन वचन, तथा अप्रिय वचन संक्षेपसे असत्य वचन हैं। (पु. सि. उ./९६-९८)।

४. मोषवचन चोरीमें अन्तर्भूत नहीं है

ध. १२/४,२,८,१०।२८६/३ मोषः स्तेयः। ण मोसो अदत्तादाणे पविस्सदि, हदपदिदपमुक्कणिहिदादाणविसयम्मि अदत्तादाणम्मि एदस्स पवेस-विरोहादो। —मोषका अर्थ चोरी है। यह मोष अदत्तादानमें प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि हृत, पतित, प्रमुक्त और निहित पदार्थके ग्रहण विषयक अदत्तादानमें इसके प्रवेशका विरोध है।

२. वचनयोग निर्देश

१. वचनयोग सामान्यका लक्षण

स. सि./६/१/३१८/१ शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसांनिध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मनः प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योगः। —शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचनवर्गणाओंका आलम्बन होनेपर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचन लब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके अभिमुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। (रा. वा./६/१/१०/५०५/१३)।

ध. १/१,१,४७/२७९/२ वचसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः।

ध. १/१,१,६५/३०८/५ चतुर्णां वचसां सामान्यं वचः। तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। —वचनकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे वचनयोग कहते हैं। अथवा सत्यादि चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है, उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

ध. ७/२,१,३३/७६/७ भासावग्गणापोग्गलखंधे अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोचविकोचो सो वचिजोगो णाम। —भाषावर्गणासम्बन्धी पुद्गलस्कन्धोंके अवलम्बनसे जो जीव प्रदेशोंका संकोच विकोच होता है वह वचनयोग है। (ध. १०/४,२,४, १७५/४३७/१०)।

२. वचनयोगके भेद

ष. खं. १/१,१/सूत्र ५२/२८९ वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि।५२। —वचनयोग चार प्रकारका है—सत्य वचन योग, असत्य वचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन योग।५२। (भ. आ. मू./११९२/११८८); (मू. आ./३१४); (रा. वा./१/७/११/६०४/२); (गो. जी. मू./२१७/४७४); (द्र. सं./टी./१३/३७/७)।

३. वचनयोगके भेदोंके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/९१-९२ दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो। तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति।९१। जो णेव सच्चमोसा तं जाण असच्चमोसवचिजोगो। अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी।९२। —दस प्रकारके सत्य वचनमें (दे० सत्य) वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषा वचनयोग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योगको उभयवचनयोग कहते हैं। जो वचनयोग न तो सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो, उसे असत्यमृषावचनयोग कहते हैं। असंज्ञी जीवोंकी जो अनक्षररूप भाषा है और संज्ञी जीवोंकी जो आमन्त्रणी आदि भाषाएँ हैं (दे. भाषा) उन्हें अनुभय भाषा जानना चाहिए। (मू. आ./३१४); (ध. १/१,१,५२/गा. १५८-१५९/२८६); (गो. जी./मू./२२०-२२१/४७८)।

ध. १/१,१,५२/२८६ चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेशं प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयते च। —चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं, और ऐसी प्रतीति भी होती है।

गो. जी./जी. प्र./२१७/४७५/१ सत्याद्यर्थैः सह योगात्—संबन्धात्, खलु स्फुटं, ताः मनोवचनप्रवृत्तयः, तद्योगाः—सत्यादिविशेषणविशिष्टाः, चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाश्च भवन्ति। —सत्यादि पदार्थके सम्बन्धसे जो मन व वचनकी प्रवृत्ति होती है, वह सत्यादि विशेषणसे विशिष्ट चार प्रकारके मनोयोग व वचनयोग हैं। —विशेष दे० मनोयोग/४।

४. शुभ-अशुभ वचनयोग

भा. पा./५३,५५ भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।५३। संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं।५५। —भोजनकथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा करनेको अशुभवचनयोग और संसारका नाश करनेवाले वचनोंको शुभ वचनयोग जानना चाहिए।

दे० प्रणिधान—(निरर्थक अशुद्ध वचनका प्रयोग दुष्ट प्रणिधान है।)

रा. वा./६/३/१,२/पृष्ठ/पंक्ति अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। (५०६/३३)। सत्यहितमितभाषणादिः शुभो वाग्योगः। (५०७/२)। —असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचनयोग हैं और सत्य हित मित बोलना शुभ वचनयोग है। (स. सि./६/३/६११/११)।

वचनगुप्ति—दे० गुप्ति।

वचनबल—१. १० प्राणोंमेंसे एक—दे० प्राण। २. एक ऋद्धि। —दे० ऋद्धि।

वचनबाधित—दे० बाधित।

वचनयोग—दे० वचन/२।

वचन विनय—दे० विनय/१।

वचन शुद्धि—दे० समिति।

वचनातिचार—दे० अतिचार।

वचनोपगत—दे० निक्षेप/५।

वज्र—१. नन्दनवन, मानुषोत्तर पर्वत व रुचक पर्वतपर स्थित कूटोंका नाम। —दे० लोक/५। २. सौधर्म स्वर्गका २५वाँ पटल —दे० स्वर्ग/५/३। ३. बौद्ध मतानुयायी एक राजा जिसने नालन्दा मठका निर्माण कराया। समय—ई. श. ५।

वज्र ऋषभ नाराच—दे० संहनन।

वज्र खंडिक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

वज्रघोष—म. पु./७३/श्लोक नं.—पार्श्वनाथ भगवान्‌का जीव बड़े भाई कमठ द्वारा मारा जानेपर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामका हाथी हुआ।११-१२। पूर्वजन्मका स्वामी राजा संयम लेकर ध्यान करता था। उसपर उपसर्ग करनेको उद्यत हुआ, पर पूर्वभवका सम्बन्ध

जाने शान्त हो गया। मुनिराजके उपदेशसे श्रावकव्रत अंगीकार किये। पानी पीनेके लिए एक तालाबमें घुसा तो कीचड़में फँस गया। वहाँ पुनः कमठके जीवने सर्प बनकर डँस लिया। तब वह मरकर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ।१६-२४। यह पार्श्वनाथ भगवान्‌का पूर्वका आठवाँ भव है।—विशेष दे० पार्श्वनाथ।

वज्रजंघ—१. म. पु./सर्ग/श्लो.—"पुष्कलावती देशके उत्पलखेट नगरके राजा वज्रबाहुका पुत्र था। (६/२६)। पूर्वके देव भवकी देवी स्वयंप्रभामें अत्यन्त अनुरक्त था। (६/४८)। श्रीमतीका चित्र देखकर पूर्व भव स्मरण हो आया। (७/१३७-१४०)। और उसका पाणिग्रहण किया। (७/२४६)। ससुरके दीक्षा लेनेपर ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोंको आहार दान दिया। (८/१७३)। एक दिन शयनागारमें धूपघटोंके सुगन्धित धुएँसे दम घुट जानेके कारण अकस्मात् मृत्यु आ गयी। (६/२७)। पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। (८/३३)। यह भगवान् ऋषभदेवका पूर्वका सातवाँ भव है। (दे० ऋषभदेव)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकपुरका राजा था। (९७/१८३)। राम द्वारा परित्यक्त सीताको वनमें देख उसे अपने घर ले गया। (९९/१-४)। उसीके घर पर लव और कुश उत्पन्न हुए। (१००/१७-१८)।

वज्रदंत—म. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकिणी नगरका राजा था। (६/५८)। पिता यशोधर केवलज्ञानी हुए। (६/१०८)। वहाँ ही इन्हें भी अवधिज्ञानकी उत्पत्ति हुई। (६/११०)। दिग्विजय करके लौटा। (६/१९२-१९४)। तो अपनी पुत्री श्रीमतीको बताया कि तीसरे दिन उसका भानजा वज्रजंघ आयेगा और वह ही उसका पति होगा। (७/१०५)। अन्तमें अनेकों रानियों व राजाओंके साथ दीक्षा धारण की। (८/६४-८५)। यह वज्रजंघका ससुर था। —दे० वज्रजंघ।

वज्रनंदि—१. नन्दिसंघके बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुणनन्दिके शिष्य तथा कुमारनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ३६४-३८६ (ई. ४४२-४६४)। —(दे० इतिहास/७/२)। २. आ. पूज्यपादके शिष्य थे। गुरुसे बिगड़कर द्रविड़संघकी स्थापना की। हरिवंशपुराण (ई. ७८३) में आपके वचन गणधर-तुल्य कहे गए हैं। कृतियें—नवस्तोत्र, प्रमाण ग्रन्थ। समय—वि. श. ६। (दे. इतिहास/७/१); (ती./२/४५०; ३/२८६)।

वज्रनाभि—१. म. पु./सर्ग/श्लो. नं.—पुण्डरीकिणीके राजा वज्र-सेनका पुत्र था। (११/८६)। चक्ररत्न प्राप्त किया। (११/३८-५५)। अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरके समीप दीक्षा धारण कर (११/६१-६२)। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (११/७६-८०)। प्रायोप-गमन संन्यासपूर्वक। (११/९४)। श्रीप्रभ नामक पर्वतपर उप-शान्तमोह गुणस्थानमें शरीरको त्याग सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए। (११/११०-१११)। यह भगवान् ऋषभदेवका पूर्वका तीसरा भव है। —दे० ऋषभदेव। २. म. पु./७३/श्लो. नं.—पद्म नामक देशके अश्वपुर नगरके राजा वज्रवीर्यका पुत्र था। २६-३२। संयम धारण किया।३४-३५। पूर्व भवके वैरी कमठके जीव कुरंग भीलके उपसर्ग।३८-३६। को जीतकर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए।४०। यह भगवान् पार्श्वनाथका पूर्वका चौथा भव है।—दे० पार्श्वनाथ।

वज्र नाराच—दे० संहनन।

वज्र पंजर विधान—दे० पूजापाठ।

वज्रपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर।—दे० मनुष्य/४।

वज्रप्रभ—कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक/५/१२।

वज्रबाहु—१. प. पु./२१/श्लो.—सुरेन्द्रमन्युका पुत्र।७७। ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोंके दर्शनकर विरक्त हो गये।१२१-१२३। यह सुकौशल मुनिका पूर्वज था। २. म.पु./सर्ग/श्लो.—वज्रजंघ (भगवान् ऋषभदेवका पूर्वका सातवाँ भव) का पिता था। (६/२६)। पुष्कला-वती देशके उत्पलखेट नगरका राजा था। (६/२८) अन्तमें दीक्षित हो गये थे। (८/५१-५७)।

वज्रमध्य व्रत—

ह. पु./३४/६२-६३—रचनाके अनुसार ५,४,३,२,१,२,३,४,५ के क्रमसे २६ उपवास करे। बीचके ६ स्थानोंमें पारणा करे।

```
o o o o o
 o o o o
  o o o
   o o
    o
   o o
  o o o
 o o o o
o o o o o
```

व्रत विधान संग्रह/पृ. ८१—रचनाके अनुसार १,२,३,४,५,५,४,३,२ के क्रमसे २६ उपवास करे। बीचके ६ स्थानोंमें पारणा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

```
    o
   o o
  o o o
 o o o o
o o o o o
o o o o o
 o o o o
  o o o
   o o
```
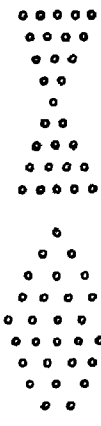
वज्रमूक—सुमेरु पर्वतका अपर नाम—दे० सुमेरु।

वज्रवर—मध्यलोकमें अन्तका अष्टम सागर व द्वीप।-दे० लोक/५/१।

वज्रवान—गन्धर्व जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० गन्धर्व।

वज्रशृंखला—एक विद्या—दे० विद्या। २. भगवान् अभिनन्दन नाथकी शासक यक्षिणी।—दे० तीर्थंकर/५/३।

वज्रांकुशा—१. एक विद्या—दे० विद्या। २. भगवान् सुमतिनाथकी शासक यक्षिणी—दे० तीर्थंकर/५/३।

वज्राढ्य—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वज्रायुध—१. म. पु./६३/श्लो—पूर्व विदेहके रत्नसंचय नामक नगर-के राजा क्षेमंकरका पुत्र था।३७-३६। इन्द्रकी सभामें इनके सम्य-ग्दर्शनकी प्रशंसा हुई। एक देव बौद्धका रूप धर परीक्षाके लिए आया।४८,५०। जिसको इन्होंने वादमें परास्त कर दिया।६९-७०। एक समय विद्याधरने नागपाशमें बाँधकर इन्हें सरोवरमें रोक दिया और ऊपरसे पत्थर ढक दिया। तब इन्होंने मुष्टिप्रहारसे उसके टुकड़े कर दिये।८२-८५। दीक्षा ले एक वर्षका प्रतिमायोग धारण किया।१३१-१३२। अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए।१४०-१४१। यह शान्ति-नाथ भगवान्‌के पूर्वका चौथा भव है। दे० शान्तिनाथ। २. म. पु./५६/श्लो—जम्बूद्वीपके चक्रपुर नगरके स्वामी राजा अपराजितका पुत्र था।२३६। राज्य प्राप्ति।२४५। दीक्षा धारण।२४६। त्रिभुवनमें एक भील कृत उपसर्गको सहनकर सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए।२७४। भील सातवें नरकमें गया।२७६। संजयन्त मुनिके पूर्वका दूसरा भव है —दे० संजयन्त।

वज्रार्गल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वज्रार्धतर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वट्टकेर—'मूलाचार' के कर्ता जिन्हें कुछ विद्वान् कुन्दकुन्द का अपर नाम समझते हैं। आप दक्षिण देशस्थ 'वेट्टगिरि' ग्राम के निवासी थे। समय—कुन्दकुन्द के समकालीन होने से वी. नि. ६५४-७०६ (ई. १२७-१७९)। (ती./२/११७-१२०)।

वड्ढमाणचरिउ—कवि श्रीधर (वि. श. १२ का उत्तरार्ध) कृत १० सन्धियों वाला अपभ्रंश काव्य। (ती./४/१४२)।

वणथली—वामनस्थलीका अपभ्रंश है। सौराष्ट्रकी जूनागढ़ स्टेटका एक कस्बा है। जूनागढ़से लगभग ५ कोस दूर है। यहाँ वह स्थान अब भी पाया जाता है, जहाँ कि विष्णुने तीन पैरसे समस्त पृथिवी मापी थी। वही वामन राजाकी नगरी कही जाती है। (नेमि-चरित/प्र./प्रेमी जी)।

वणिक्कर्म—दे० सावद्य/३।

वणिवग—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

वत्स—१. भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४/। २. प्रयागके उत्तर भागका मैदान। राजधानी कौशाम्बी/ (म. पु./प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

वत्समित्रा—सौमनस गजदन्तके कांचनकूटकी स्वामिनी देवी।

वत्सराज—परिहारवंशी वत्सराज अवन्तीका राजा था। इसीका एक पुत्र नागभट्ट नामका हुआ है। इसे कृष्णराज प्रथमके पुत्र ध्रुव-राजने शक सं. ७०५ में परास्त करके इसका देश छीन लिया था। इसका शासन अवन्ती व मालवा प्रान्तोंमें था। समय—शक सं. ७००-७०५ (ई० ७७८-७८३)। (ह. पु./६६/५२-५३); (ह. पु./प्र. ५/ पं० पन्नालाल); (दे० इतिहास/३/४) राष्ट्रकूट वंश)।

वत्सा—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२।

वत्सावती—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक५/२। २. पूर्व विदेहके वैश्रवण वक्षारका एक कूट व उसकी स्वामिनी देवी—दे० लोक५/४।

वदताव्याघात—स्ववचनबाधित हेत्वाभास।—दे० बाधित।

वदन—मुख—first term in Arithematical series (ज. प./ प्र. १०८).

वद्दिग—दक्षिणके गंगाधर नामक देशका राजा था। पिताका नाम (चालुक्यवंशी) अरिकेसरी था जो कृष्णराज तृ० के अधीन था। 'यशस्तिलकचम्पू' नाम ग्रन्थ इसीकी राजधानीमें पूर्ण हुआ था। समय—ई० ६७२ के लगभग। (यशस्तिलकचम्पू/प्र. २०/पं. सुन्दर-लाल)।

वध—स. सि./६/११/३२६/२—आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकारणं वधः।

स. सि./७/२५/३६६/२ दण्डकशावेत्रादिभिरभिघातः प्राणिनां वधः, न प्राणव्यपरोपणम्; ततः प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। —१. आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना वध है। (रा. वा./६/-११/५/५१६/२८); (प. प्र./टी./२/१२७)। २. डंडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना वध है। यह वधका अर्थ प्राणोंका वियोग करना नहीं लिया गया है, क्योंकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। (रा. वा./७/२५/२५५३/१८)।

प. प्र./टी./२/१२७/२४३/६ निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणाम रूपवधं स्वकीय···। —निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणाम-रूप निजघात···।

वध परिषह—स. सि./९/९/४२४/६ निशितविशसनमुशलमुद्गरा-द्यिप्रहरणताडनपीडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराकाः किं कुर्वन्ति, शरीरमिदं जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभावं व्यसनकारणमेतै-र्बाध्यते, संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यते इति चिन्त-यतो वासिलक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो वधपरिषहक्षमा मन्यते।

—तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताड़न और पीड़न आदिसे जिसका शरीर तोड़ा मरोड़ा जा रहा है तथापि मारने वालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नहीं लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण स्वभाव है, दुखके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते हैं, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नहीं कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह वसूलीसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके वध परीषह जय माना जाता है। (रा. वा./ ९/९/१८/६११/४); (चा. सा./१२६/३)।

वध्यघातक विरोध—दे० विरोध।

वनक—दूसरे नरकका चौथा अथवा तीसरा पटल—दे० नरक/५।

वनमाल—सनत्कुमार स्वर्गका द्वि. पटल—दे० स्वर्ग/५।

वनमाला—१. प. पु./३६/श्लोक—वैजयन्तपुरके राजा पृथिवीधरकी पुत्री थी। बाल्यावस्थासे ही लक्ष्मणके गुणोंमें अनुरक्त थी।१५। राम-लक्ष्मणके वनवासका समाचार सुन आत्महत्या करने वनमें गयी।१८,१९। अकस्मात् लक्ष्मणसे भेंट हुई।४१,४४। २. ह. पु./१४/ श्लो.—वीरक सेठकी स्त्री थी कामासक्तवश। (१७/८४) अपने पतिको छोड़ राजा सुमुखके पास रहने लगी। (१४/६४)। वज्रके गिरनेसे मरी। आहारदानके प्रभावसे विद्याधरी हुई। (१५/१२-१८)। इसीके पुत्र हरिसे हरिवंशकी उत्पत्ति हुई। (१५/५८)।—दे० मनोरमा।

वनवास—कर्नाटक प्रान्तका एक भाग जो आजकल बनौसी कहलाता है। गुणभद्राचार्यके अनुसार इसकी राजधानी बंकापुर थी जो धार-वाड़ जिलेमें है। (म.पु./प्र.४६/पं. पन्नालाल)। यह उत्तर कर्नाटकका प्राचीन नाम है जो तुंगभद्रा और वरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है। प्राचीन कालमें यहाँ कदंब वंशका राज्य था। जहाँ उसकी राज-धानी बनवासी स्थित थी, वहाँ आज भी इस नामका एक ग्राम विद्यमान है। (ध./पु. १/प्र. ३२/H.L. Jain)।

वनवास्या—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

वनस्पति—१. जैन दर्शनमें वनस्पतिको भी एकेन्द्रिय जीवका शरीर माना गया है। वह दो प्रकारका है—प्रत्येक व साधारण। एक जीवके शरीरको प्रत्येक और अनन्तों जीवोंके साझले शरीरको साधारण कहते हैं, क्योंकि उस शरीरमें उन अनन्तों जीवोंका जन्म, मरण-श्वासोच्छ्वास आदि साधारणरूपसे अर्थात् एक साथ समानरूपसे होता है। एक ही शरीरमें अनन्तों बसते हैं, इसलिए इस शरीरको निगोद कहते हैं, उपचारसे उसमें बसनेवाले जीवोंको भी निगोद कहते हैं। वह निगोद भी दो प्रकारका है नित्य व इतरनिगोद। जो अनादि कालसे आजतक निगोद पर्यायसे निकला ही नहीं, वह नित्य निगोद है। और त्रसस्थावर आदि अन्य पर्यायोंमें घूमकर पापोदय-वश पुनः-पुनः निगोदको प्राप्त होनेवाले इतरनिगोद हैं। प्रत्येक शरीर बादर या स्थूल ही होता है पर साधारण बादर व सूक्ष्म दोनों प्रकार-का। २. नित्य खाने-पीनेके काममें आनेवाली वनस्पति प्रत्येक शरीर है। वह दो प्रकार है—अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित। एक ही जीवके शरीरवाली वनस्पति अप्रतिष्ठित है, और असंख्यात साधारण शरीरोंके समवायसे निष्पन्न वनस्पति सप्रतिष्ठित है। तहाँ एक-एक वनस्पतिके स्कन्धमें एक रस होकर असंख्यात साधारण शरीर होते हैं, और एक-एक उस साधारण शरीरमें अनन्तानन्त निगोद जीव वास करते हैं। सूक्ष्म साधारण शरीर या निगोद जीव लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं, पर सूक्ष्म होनेसे हमारे ज्ञानके विषय नहीं हैं। सन्तरा, आम, आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं और आलू, गाजर, मूली आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पत्ते, फल, फूल आदि भी अत्यन्त कच्चिया अवस्थामें सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं—जैसे कोंपल। पीछे पक जानेपर अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। अनन्त जीवोंकी साझली काय होनेसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनन्तकायिक भी कहते हैं। इस जातिकी सर्व वनस्पतिको यहाँ अभक्ष्य स्वीकार किया गया है।

५	साधारण शरीरमें जीवोंका उत्पत्ति क्रम
१	निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रमसे होती है।
२	निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रम व अक्रम दोनों प्रकारसे होती है।
*	जन्म मरणके क्रम व अक्रम सम्बन्धी समन्वय —दे० वनस्पति/५/२।
३	आगे पीछे उत्पन्न होकर भी उनकी पर्याप्ति युगपत् होती है।
४	एक ही निगोद शरीरमें जीवोंके आवागमनका प्रवाह चलता रहता है।
*	बीजवाला ही जीव या अन्य कोई भी जीव उस योनि स्थानमें जन्म धारण कर सकता है —दे० जन्म/२।
५	बादर व सूक्ष्म निगोद शरीरोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी नियम।
६	अनेक जीवोंका एक शरीर होनेमें हेतु।
७	अनेक जीवोंका एक आहार होनेमें हेतु।

१. वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति सामान्य निर्देश

१. वनस्पति सामान्यके भेद

ष. खं. १/१,१/सू. ४१/२६८ वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।४।—वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त।

ष. खं १४/५,६/सू. ११६/२२५ सरीरिसरीरपरूवणाए अत्थि जीवा पत्तेय-साधारण-सरीरा।११६।—शरीरिशरीर प्ररूपणाकी अपेक्षा जीव प्रत्येक शरीरवाले और साधारण शरीरवाले हैं। (गो. जी./जी.प्र./१८५/४२२/१)।

२. प्रत्येक वनस्पति सामान्यका लक्षण

ध. १/१,१,४१/२६८/६ प्रत्येकंपृथक्शरीरं येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतयः।—जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येक शरीर जीव कहते हैं जैसे—खैर आदि वनस्पति। (गो. जी./जी. प्र./८५/४२२/४)।

ध. ३/१,२,८७/३३३/१ जेण जीवेण एक्केण चेव एक्कसरीरट्ठिएण सुहदुक्खमणुभवेदव्वमिदि कम्ममुवज्जिदं सो जीवो पत्तेयसरीरो।—जिस जीवने एक शरीरमें स्थित होकर अकेले ही सुख दुःखके अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है, वह जीव प्रत्येकशरीर है।

ध. १४/५,६,११६/२२५/४ एक्कस्सेव जीवस्स जं सरीरं तं पत्तेयसरीरं। तं सरीरं जं जीवाणं अत्थि ते पत्तेयसरीरा णाम।...अथवा पत्तेयं पुधभूदं सरीरं जेसिं ते पत्तेयसरीरा।—एक ही जीवका जो शरीर है उसकी प्रत्येक शरीर संज्ञा है। वह शरीर जिन जीवोंके हैं वे प्रत्येक शरीर-जीव कहलाते हैं।...अथवा प्रत्येक अर्थात् पृथक् भूत शरीर जिन जीवोंका है वे प्रत्येकशरीर जीव हैं।

गो. जी./जी. प्र./१८६/४२३/१४ यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येकवनस्पतिजीवाः तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्।—जितने प्रत्येक शरीर हैं, उतने वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए, क्योंकि एक-एक शरीरके प्रति एक-एक जीवके होनेका नियम है।

३. प्रत्येक वनस्पतिके भेद

का. अ./मू./१२८ पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य। दुविहा होंति तसा वि य बि-ति चउरक्खा तहेव पंचक्खा।१२८। —प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं—एक निगोद सहित, दूसरे निगोद रहित।...।१२८। (गो.जी./जी.प्र./१८५/४२२/५)।

गो. जी./जी.प्र./८१-८३/२०१/१३ तृणं वल्ली गुल्मः वृक्षः मूलं चेति पञ्चापि प्रत्येकवनस्पतयो निगोदशरीरैः प्रतिष्ठिता-प्रतिष्ठितभेदाद्‌द्वेधा।—तृण, बेलि, छोटे वृक्ष, बड़े वृक्ष, कन्दमूल ऐसे पाँच भेद प्रत्येक वनस्पतिके हैं। ये पाँचों वनस्पतियाँ जब निगोद शरीरके आश्रित हों तो प्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं, तथा निगोदसे रहित हों तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती हैं। (और भी दे० वनस्पति /३/५)।

४. वनस्पतिके लिए ही प्रत्येक शब्दका प्रयोग है

ध. १/१,१,४१/२६८/६ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न इष्टत्वात्। तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात्। —(जिनका पृथक् पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येक शरीर जीव कहते हैं—दे० वनस्पति।१।३)—प्रश्न—प्रत्येक शरीरका इस प्रकार लक्षण करनेपर पृथ्वीकाय आदि पाँचों शरीरोंको भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह आशंका कोई आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि पृथ्वीकाय आदिके प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है। प्रश्न—तो फिर पृथ्वीकाय आदिके साथ भी प्रत्येक शरीर विशेषण लगा देना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पायी जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने योग्य कोई भेद नहीं पाया जाता है, इसलिए पृथिवी आदिमें अलग विशेषण देनेकी आवश्यकता नहीं है। (ध. ३/१-२,८,७/३३१/४)।

५. मूल बीज अग्रबीज आदिके उदाहरण

गो. जी./जी. प्र./१८६/४२३/४ मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः। (येषां मूलं प्रादुर्भवति ते) आर्द्रकहरिद्रादयः। अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः (येषां अग्रं प्ररोहयति ते) आर्यकोदीच्यादयः। पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्षुवेत्रादयः। कन्दो बीजं येषां ते कन्दबीजाः पिण्डालसूरणादयः। स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः सल्लकीकण्टकीपलाशादयः। बीजात् रोहन्तीति बीजरुहाः शालिगोधूमादयः। संमूर्छे समन्तात् प्रसृतपुद्गलस्कन्धे भवाः सम्मूर्छिमाः मूलादिनियतबीजनिरपेक्षाः।...एते मूलबीजादिसंमूर्छिमपर्यन्ताः सप्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरजीवास्तेऽपि संमूर्छिमा एव भवन्ति।—१. जिनका मूल अर्थात् जड़ ही बीज हो (जो जड़के बोनेसे उत्पन्न होती है), वे मूलबीज कही जाती हैं जैसे—अदरख, हल्दी आदि। २. अग्रभाग ही जिनका बीज हो (अर्थात् टहनी की कलम लगानेसे वे उत्पन्न हों) वे अग्रबीज हैं जैसे—आर्यक व उदीची आदि। ३. पर्व ही है बीज जिनका वे पर्वबीज जानने। जैसे—ईख, बेंत आदि। ४. जो कन्दसे उत्पन्न होती हैं, वे कन्दबीजी कही जाती हैं जैसे—आलू सूरणादि। ५. जो स्कन्धसे उत्पन्न होती हैं वे स्कन्धबीज हैं जैसे सलरि, पलाश

आदि। ६. जो बीजसे ही उत्पन्न होती हैं, वे बीजरुह कहलाती हैं। जैसे—चावल, गेहूँ आदि। ७. और जो नियत बीज आदिकी अपेक्षासे रहित, केवल मट्टी और जलके सम्बन्धसे उत्पन्न होती हैं, उनको सम्मूर्छिम कहते हैं। जैसे—फूई, काई आदि।...ये मूलादि सम्मूर्छिम वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकारकी होती हैं। और सबकी सब सम्मूर्छिम ही होती हैं, गर्भज नहीं।

६. प्रत्येक शरीर नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९१/८ शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमानं शरीरमेकात्मोपभोगकारणं यतो भवति तत्प्रत्येक शरीर नाम। (एकमेकमात्मानं प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येकं शरीरं प्रत्येकशरीरम् (रा. वा.)।—शरीर नामकर्मके उदयसे रचा गया जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। (प्रत्येक शरीरके प्रति अर्थात् एक एक शरीरके प्रति एक एक आत्मा हो, उसको प्रत्येकशरीर कहते हैं। रा. वा.) (रा. वा./८/११/१९/५७८/१८) (गो. क./जी.प्र./३३/३०/२)।

ध. ६/१,९-१,२८/६२/८ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पत्तेयसरीरो होदि, तस्स कम्मस्स पत्तेयसरीरमिदि सण्णा। जदि पत्तेयसरीरणामकम्मं ण होज्ज, तो एक्कम्हि सरीरे एगजीवस्सेव उवलंभो ण होज्ज। ण च एवं, णिव्वाहमुवलंभा।—जिस कर्मके उदयसे जीव प्रत्येक शरीरी होता है, उस कर्मकी 'प्रत्येकशरीर' यह संज्ञा है। यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो, तो एक शरीरमें एक जीवका ही उपलम्भ न होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक शरीर जीवोंका सद्भाव बाधारहित पाया जाता है।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/८ जस्स कम्मस्सुदएण एक्कसरीरे एक्को चेव जीवो जीवदि तं कम्मं पत्तेयसरीरणामं।—जिस कर्मके उदयसे एक शरीरमें एक ही जीव जीवित रहता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

७. प्रत्येक शरीर वर्गणाका प्रमाण

ध. १४/५,६,११६/१४४/२ वट्टमाणकाले पत्तेयसरीरवग्गणाओ उक्कस्सेण असंखेज्जलोगमेत्ताओ चेव होंति त्ति णियमादो।—वर्तमानकालमें प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ उत्कृष्ट रूपसे असंख्यात लोक प्रमाण ही होती हैं, यह नियम है।

२. निगोद निर्देश

१. निगोद सामान्यका लक्षण

ध. १४/५,६,९३/८५/१३ के णिगोदा णाम। पुलवियाओ णिगोदा त्ति भणंति।—प्रश्न—निगोद किन्हें कहते हैं। उत्तर—पुलवियोंको निगोद कहते हैं। विशेष दे० वनस्पति/३/७। (ध. १४/५,६,५८२/४७०/१)।

गो. जी./जी. प्र./१९१/४२९/१५ साधारणनामकर्मोदयेन जीवा निगोदशरीरा भवन्ति। नि—नियतां गां—भूमिं क्षेत्रं निवासं, अनन्तानन्तजीवानां ददाति इति निगोदम्। निगोदशरीरं येषां ते निगोदशरीरा इति लक्षणसिद्धत्वात्।—साधारण नामक नामकर्मके उदयसे जीव निगोद शरीरी होता है। 'नि' अर्थात् अनन्तपना है निश्चित जिनका ऐसे जीवोंको, 'गो' अर्थात् एक ही क्षेत्र, 'द' अर्थात् देता है, उसको निगोद कहते हैं। अर्थात् जो अनन्तों जीवोंको एक निवास दे उसको निगोद कहते हैं। निगोद ही शरीर है जिनका उनको निगोद शरीरी कहते हैं।

२. निगोद जीवोंके भेद

ध. १४/५,६,१२८/२३६/५ तत्थ णिगोदेसु जे ट्ठिदा जीवा ते दुविहा—चउग्गइणिगोदा णिच्चणिगोदा चेदि।—निगोदोंमें स्थित जीव दो प्रकारके हैं—चतुर्गतिनिगोद और नित्यनिगोद (ये दोनों बादर भी होते हैं सूक्ष्म भी का. अ.) (का. अ./मू./१२५)।

३. नित्य व अनित्य निगोदके लक्षण

१. नित्यनिगोद

ष. खं. १४/५,६/सू. १२७/२३३ अत्थि अणंता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो भावकलंकअपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति।१२७।—जिन्होंने अतीत कालमें त्रसभावको नहीं पाया है ऐसे अनन्त जीव हैं, क्योंकि वे भाव कलंक प्रचुर होते हैं, इसलिए निगोदवासको नहीं त्यागते।१२७। (मू. आ./१२०३), (पं. सं./प्रा./१/८५), (ध. १/१,१,४१/गा. १४८/२७१), (ध. ४/१,५,३१०/गा. ४२/४७७), (गो. जी./मू./१९४/४४१) (पं. सं./सं./१/११०), (का. अ./टी./१२५)।

रा. वा./२/३२/२७/१४३/२० त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः।—जो कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करनेके योग्य नहीं होते, वे नित्य निगोद हैं।

ध. १४/५,६,१२८/२३६/८ तत्थ णिच्चणिगोदा णाम जे सव्वकालं णिगोदेसु चेव अच्छंति ते णिच्चणिगोदा णाम।—जो सदा निगोदोंमें ही रहते हैं वे नित्य निगोद हैं।

२. अनित्य निगोद

रा. वा./२/३२/२७/१४३/२१ त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोताः।—जिन्होंने त्रस पर्याय पहले पायी थी अथवा पायेंगे वे अनित्य निगोद हैं।

ध. १४/५,६,१२८/२३६/६ जे देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जियूण पुणो णिगोदेसु पविसिय अच्छंति ते चदुगइणिच्चणिगोदा णाम।—जो देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योंमें उत्पन्न होकर पुनः निगोदोंमें प्रवेश करके रहते हैं वे चतुर्गतिनिगोद जीव कहे जाते हैं। (गो. जी./जी. प्र./१९७/४४१/१४)।

४. सूक्ष्म वनस्पति तो निगोद ही है, पर सूक्ष्म निगोद वनस्पतिकायिक ही नहीं है

ष. खं. ७/२,१०/सू. ३१-३२/५०४ सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोदजीवपज्जत्ता सव्वजीवाणं केवडिओ भागो।३१। संखेज्जा भागा।३२।

ध. ७/२,१,३२/५०४/१२ सुहुमवणप्फदिकाइए भणिदूण पुणो सुहुमणिगोदजीवे वि पुध भणदि, एदेण णव्वदि जधा सव्वे सुहुमवणप्फदिकाइया चेव सुहुमणिगोदजीवा ण होंति त्ति। जदि एवं तो सव्वे सुहुमवणप्फदिकाइया णिगोदा चेवेत्ति एदेण वयणेण विरुज्झदि त्ति भणिदे ण विरुज्झदे, सुहुमणिगोदा सुहुमवणप्फदिकाइया चेवेत्ति अवहारणाभावादो।...कधमेदं णव्वदे। बादरणिगोदजीवा णिगोदपदिट्ठिदा अप्पज्जत्ता असंखेज्जगुणा (ष. खं. ७/२,११/सू. ८६/५४५) णिगोदपदिट्ठदाणं बादरणिगोदजीवा त्ति णिद्देसादो, बादरवणप्फदिकाइयाणमुवरि 'णिगोदजीवा विसेसाहिया' (ष. खं. ७/२,११/सू.७५/५३६) त्ति भणिदवयणादो च णव्वदे।

ध. ७/२,११,७५/५३६/११ एत्थ चोदगो भणदि—णिप्फलमेदं सुत्तं, वणप्फदिकाइएहिंतो पुधभूदणिगोदाणमणुवलंभादो। ण च वणप्फदिकाइएहिंतो पुधभूदा पुढविकाइयादिसु णिगोदा अत्थि त्ति आइरियाणामुवदेसो जेणेदस्स वयणस्स सुत्तत्तं पसज्जदे इदि। एत्थ परिहारो वुच्चदे—होदु णाम तुम्मेहिं वुत्तस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीणं उवरि णिगोदपदस्स अणुवलंभादो णिगोदाणामुवरि वणप्फदिकाइयाणं पढणस्सुवलंभादो बहुएहि आइरिएहि संमदत्तादो च। किं तु एदं सुत्तमेव ण होदि त्ति णावहारणं काउं जुत्तं। सो एवं भणदि जो चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा।...तदो वट्टं काऊण वे

वि सुत्ताणि सुत्तासायणभोरुहि आइरिएहि वक्खाणेयव्वाणि त्ति। —सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त सर्व जीवोंके कितनेवें भाग प्रमाण हैं ? ।३१। उपर्युक्त जीव सर्व जीवोंके संख्यात बहुभाग-प्रमाण हैं।३२.…सूक्ष्म वनस्पतिकायिकको कहकर पुनः सूक्ष्म निगोद जीवोंको भी पृथक् कहते हैं, इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'सर्व सूक्ष्म वनस्पतिकायिक निगोद ही हैं' इस वचनके साथ विरोध होगा ? उत्तर—उक्त वचनके साथ विरोध नहीं होगा, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीव सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही हैं, ऐसा यहाँ अवधारण नहीं है।…प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—(बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर अपर्याप्तोंसे निगोद प्रतिष्ठित बादर निगोदजीव अपर्याप्त असंख्यातगुणे हैं। यहाँपर) निगोद प्रतिष्ठित जीवोंके बाद 'निगोद जीव' इस प्रकारके निर्देशसे, तथा ('वनस्पतिकायिकोंसे निगोद जीव विशेष अधिक हैं' इस सूत्रमें) बादर वनस्पतिकायिकोंके आगे 'निगोद जीव विशेष अधिक है' इस प्रकार कहे गये सूत्रवचनसे भी जाना जाता है। प्रश्न—यहाँ शंकाकार कहता है कि यह सूत्र निष्फल है क्योंकि, वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा 'वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिवीकायिकादिकोंमें निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिव कायिकादिकोंमें निगोद जीव हैं' ऐसा आचार्योंका उपदेश भी नहीं है, जिससे इस वचनको सूत्रत्वका प्रसंग हो सके ? उत्तर—यहाँ उपर्युक्त शंकाका परिहार कहते हैं—तुम्हारे द्वारा कहे हुए वचनमें भले हो सत्यता हो, क्योंकि बहुतसे सूत्रोंमें वनस्पतिकायिक जीवोंके आगे 'निगोद' पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवोंके आगे वनस्पतिकायिकोंका पाठ पाया जाता है, ऐसा बहुतसे आचार्योंसे सम्मत भी है। किन्तु 'यह सूत्र ही नहीं है' ऐसा निश्चय करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो वह कह सकता है जो कि चौदह पूर्वोका धारक हो अथवा केवलज्ञानी हो।…अतएव सूत्रकी आशातना (छेद या तिरस्कार) से भयभीत रहनेवाले आचार्योंको स्थाप्य समझकर दोनों ही सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिए।

५. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे सूक्ष्म निगोद भी कह देते हैं

ध. ७/२.१०,३२/५०५/३ के पुण ते अण्णे सुहुमणिगोदा सुहुमवणप्फदिकाइये मोत्तूण। ण, सुहुमणिगोदेसु व तदाधारेसु वणप्फदिकाइएसु वि सुहुमणिगोदजीवत्तसंभवादो। तदो सुहुमवणप्फदिकाइया चेव सुहुमणिगोदजीवा ण होंति त्ति सिद्धं। सुहुमकम्मोदएण जहा जीवाणं वणप्फदिकाइयादीणं सुहुमत्तं होदि तहा णिगोदणामकम्मोदएण णिगोदत्तं होदि। ण च णिगोदणामकम्मोदओ बादरवणप्फदिपत्तेयसरीराणमत्थि जेण तेसिं णिगोदसण्णा होदि त्ति भणिदे—ण, तेसिं पि आहारे आहेओवयारेण णिगोदत्ताविरोहादो। —प्रश्न—तो फिर सूक्ष्म वनस्पतिकायिकोंको छोड़कर अन्य सूक्ष्म निगोद जीव कौनसे हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद जीवोंके समान उनके आधारभूत (बादर) वनस्पतिकायिकोंमें भी सूक्ष्म निगोद जीवत्वकी सम्भावना है। इस कारण 'सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते, यह बात सिद्ध होती है। प्रश्न—सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादिक जीवोंके सूक्ष्मपना होता है, उसी प्रकार निगोद नामकर्मके उदयसे निगोदत्व होता है। किन्तु बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके निगोद नामकर्मका उदय नहीं है जिससे कि उनकी 'निगोद' संज्ञा हो सके ? उत्तर—नहीं, क्योंकि बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके भी आधारमें आधेयका उपचार करनेसे निगोदपनेका कोई विरोध नहीं है।

६. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे बादर निगोद भी कहते हैं

ध. १/१,१,४१/२७१/५ बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क्व तेषामन्तर्भावश्चेत् प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते। स्नुगार्द्रकमूलकादयः। —प्रश्न—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ? उत्तर—प्रत्येक शरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं। प्रश्न—जो बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं, वे कौन हैं ? उत्तर—थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं।

ध. २/१,२,८७/३४७/७ पत्तेगसाधारणसरीरवदिरित्तो बादरणिगोदपदिट्ठिदरासी ण जाणिज्जदि त्ति वुत्ते सच्चं, तेहि वदिरित्तो वणप्फइकाइएसु जीवरासी णत्थि चेव, किं तु पत्तेयसरीरा दुविहा भवंति बादरणिगोदजीवाणं जोणीभूदसरीरा तव्विवरीदसरीरा चेदि। तत्थ जे बादरणिगोदाणं जोणीभूदसरीरपत्तेगसरीरजीवा ते बादरणिगोदपदिट्ठिदा भण्णंति। के ते। मूलयद्द-भल्लय सूरण-गलोइ-लोगेसरपभादओ। —प्रश्न—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर, इन दोनों जीव राशियोंको छोड़कर बादरनिगोद प्रतिष्ठित जीवराशि क्या है, यह नहीं मालूम पड़ता है ? उत्तर—यह सत्य है कि उक्त दोनों राशियोंके अतिरिक्त वनस्पतिकायिकोंमें और कोई जीव राशि नहीं है, किन्तु प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, एक तो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर और दूसरे उनसे विपरीत शरीरवाले अर्थात् बादरनिगोद जीवोंके अयोनिभूत प्रत्येकशरीर जीव। उनमेंसे जो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत शरीर प्रत्येकशरीर जीव हैं उन्हें बादरनिगोद प्रतिष्ठित कहते हैं। प्रश्न—वे बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर जीव कौन हैं ? उत्तर—मूली, अदरक (?), भल्लक (भद्रक), सूरण, गलोइ (गुडूची या गुरबेल), लोकेश्वरप्रभा ? आदि बादरनिगोद प्रतिष्ठित हैं।

ध. ७/२,११,७५/५४०/८ णिगोदाणामुवरि वणप्फदिकाइया विसेसाहिया होंति बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरमेत्तेण, वणप्फदिकाइयाणं उवरि णिगोदा पुण केण विसेसाहिया होंति त्ति भणिदे वुच्चदे। तं जहा—वणप्फदिकाइया त्ति वुत्ते बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदजीवा ण घेत्तव्वा। कुदो। आधेयादो आधारस्स भेददंसणादो। वणप्फदिणामकम्मोदइल्लत्तणेण सव्वेसिमेगत्तमत्थि त्ति भणिदे होदु तेण एगत्तं, किंतु तमेत्थ अविवक्खियं आहारअणाहारत्तं चेव विवक्खियं। तेण वणप्फदिकाइएसु बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदा ण गहिदा। वणप्फदिकाइयाणामुवरि 'णिगोदा विसेसाहिया' त्ति भणिदे बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरे हि बादरणिगोदपदिट्ठिदेहि य विसेसाहिया। बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदाणं कधं णिगोदववएसो। ण, आहारे आहेओवयारादो तेसिं णिगोदत्तसिद्धीदो। वणप्फदिणामकम्मोदइल्लाणं सव्वेसिं वणप्फदिसण्णा सुत्ते दिस्सदि। बादरणिगोदपदिट्ठिदअपदिट्ठिदाणमेत्थ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा। गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अहिप्पओ कहिओ। —प्रश्न—निगोद जीवोंके ऊपर वनस्पतिकायिक जीव बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर मात्रसे विशेषाधिक होते हैं, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवोंके आगे निगोदजीव किससे विशेष अधिक होते हैं। उत्तर—उपर्युक्त शंकाका उत्तर इस प्रकार देते हैं—'वनस्पतिकायिकजीव' ऐसा कहनेपर बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, आधेयसे आधारका भेद देखा जाता है। प्रश्न—वनस्पति नामकर्मके उदयसे संयुक्त होनेकी अपेक्षा सभोंके एकता है। उत्तर—वनस्पति नामकर्मोदयकी अपेक्षा एकता रहे, किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ आधारत्व और अना-

बादरत्वकी ही विवक्षा है। इस कारण वनस्पतिकायिक जीवोंमें बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंका ग्रहण नहीं किया गया। वनस्पतिकायिक जीवोंके ऊपर 'निगोदजीव विशेष अधिक हैं' ऐसा कहनेपर बादरनिगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंसे विशेष अधिक हैं। प्रश्न—बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंके 'निगोद' संज्ञा कैसे घटित होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि आधारमें आधेयका उपचार करनेसे उनके निगोदत्व सिद्ध होता है। प्रश्न- वनस्पति नामकर्मके उदयसे संयुक्त सब जीवोंके 'वनस्पति' संज्ञासूत्रमें देखी जाती है। बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंके यहाँ सूत्रमें वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं निर्दिष्ट की। उत्तर—इस शंकाका उत्तर गौतमसे पूछना चाहिए। हमने तो 'गौतम बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित जीवोंके वनस्पति संज्ञा नहीं स्वीकार करते' इस प्रकार उनका अभिप्राय कहा है।

७. साधारण जीवको ही निगोद जीव कहते हैं

मो. जी./मू. व जी. प्र./१९१/४२९ साहारणोदयेण णिगोदसरीरा हवंति सामण्णा।...।१९१।—निगोदशरीरं येषां ते निगोदशरीराः इति लक्षणसिद्धत्वात्। —साधारण नामकर्मके उदयसे निगोद शरीरको धारण करनेवाला साधारण जीव होता है।...निगोद (दे० वनस्पति/२/१) ही है शरीर जिनका उनको निगोदशरीरा कहते हैं।

का. अ./टी./१२५/६१ साधारणनामकर्मोदयात् साधारणा. साधारण-निगोदाः। —साधारण नामकर्मके उदयसे साधारण वनस्पतिकायिक जीव होते हैं, जिन्हें निगोदिया जीव भी कहते हैं।

८. विग्रहगतिमें निगोदिया जीव साधारण ही होते हैं प्रत्येक नहीं

ध. १४/५,६,९१/८१/१० विग्गहगदीए वट्टमाणा बादर-सुहुम-णिगोद जीवा पत्तेयसरीरा ण होंति; णिगोदणाम कम्मोदयसहगदत्तेण विग्गहगदीए वि एगबंधणबद्धाणंतजीवसमूहत्तादो।...विग्गहगदीए सरीरणाम कम्मोदयाभावादो ण पत्तेयसरीरत्तं ण साहारणसरीरत्तं। तदो ते पत्तेयसरीर-बादर-सुहुमणिगोदवग्गणासु ण कत्थ वि वुत्ते वुच्चदे ण एस दोसो, विग्गहगदीए बादर-सुहुमणिगोदणामकम्माणमुदयदंसणेण तत्थ वि बादर-सुहुमणिगोददव्ववग्गणाणमुवलंभादो। एदेहितो वदि-रित्ता जीवा गहिदसरीरा अगहिदसरीरा वा पत्तेयसरीरवग्गणा होंति। —विग्रहगतिमें विद्यमान बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव प्रत्येक-शरीरवाले नहीं होते हैं, क्योंकि निगोद नाम-कर्मके उदयके साथ गमन होनेके कारण विग्रहगतिमें भी एक बन्धन-बद्ध अनन्त जीवोंका समूह पाया जाता है।...प्रश्न—विग्रहगतिमें शरीर नामकर्मका उदय नहीं होता, इसलिए वहाँ न तो प्रत्येकशरीर-पना प्राप्त होता है और न साधारण शरीरपना ही प्राप्त होता है। इसलिए वे प्रत्येक शरीर, बादर और सूक्ष्म निगोद वर्गणाओंमेंसे किन्हींमें भी अन्तर्भूत नहीं होती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि विग्रहगतिमें बादर और सूक्ष्म निगोद नामकर्मोंका उदय दिखाई देता है, इसलिए वहाँपर भी बादर और सूक्ष्म निगोद वर्ग-णाएँ उपलब्ध होती हैं। और इनसे अतिरिक्त जिन्होंने शरीरोंको ग्रहण कर लिया है या नहीं ग्रहण किया है वे सब जीव प्रत्येकशरीर वर्गणावाले होते हैं।

९. निगोदिया जीवका आकार

दे० अवगाहना/१/४ (प्रथम व द्वितीय समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्म निगो-दियाका आकार आयत चतुरस्र होता है, और तृतीय समयवर्ती तद्भवस्थ सूक्ष्मनिगोदका आकार गोल होता है।)

१०. सूक्ष्म व बादर निगोद वर्गणाएँ व उनका लोकमें अवस्थान

ष. खं. १४/५,६/सू. नं. व टीका/४९२-४९४ बादरणिगोदवग्गणाए जह-ण्णियाए आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं।६३६।—'सुहु-मणिगोदवग्गणाए जहण्णियाए आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं।६३७।'—एसा जहण्णिया सुहुमणिगोदवग्गणा जले थले आगासे वा होदि, दव्व-खेत्त-कालभावणियमाभावादो। 'सुहुमणि-गोदवग्गणाए उक्कस्सियाए आवलियाए असंखेज्जदिभागमेत्तो णिगोदाणं।६३८।'—एसा पुण सुहुमणिगोदुक्कस्सवग्गणा महामच्छसरीरे चेव होंति ण अण्णत्थ उवदेसाभावादो। 'बादरणिगोदवग्गणाए उक्कस्सि-याए सेडीए असंखेज्जदि भागमेत्तो णिगोदाणं।६३९।'—मूलयथूहल्ला-यादिसु सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तपुलवीओ अणंतजीवावूरिद असंखेज्जलोगसरीराओ घेत्तूण बादरणिगोदुक्कस्सवग्गणा होदि। 'एदेसिं चेव सव्वणिगोदाणं मूलमहाखंधट्ठाणाणि।६४०।'—सव्वणि-गोदाणमिदि वुत्ते सव्वबादरणिगोदाणमिदि घेत्तव्वं। सुहुमणिगोदा किण्ण गहिदा। ण, एत्थेव ते उप्पज्जंति अण्णत्थ ण उप्पज्जंति त्ति णियमाभावादो। —'जघन्य बादर निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भागमात्र होता है।६३६।' 'जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भागमात्र है।६३७।'—यह जघन्य सूक्ष्म निगोद वर्गणा जलमें, स्थलमें और आकाशमें होती है, इसके लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कोई नियम नहीं है। 'उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण आवलिके असंख्यातवें भागमात्र है।६३८।'—यह उत्कृष्ट सूक्ष्म निगोद वर्गणा महामत्स्यके शरीरमें ही होती है, अन्यत्र नहीं होती, क्योंकि, अन्यत्र होती है ऐसा उपदेश नहीं पाया जाता। 'उत्कृष्ट बादरनिगोद वर्गणामें निगोदोंका प्रमाण जगश्रेणिके असंख्यातवें भागमात्र है।६३९।' मूली, थूवर और आर्द्रक आदिमें अनन्त जीवोंसे व्याप्त असंख्यात लोकप्रमाण शरीरवाली जगश्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण पुलवियाँ (पुलवियोंको लेकर उत्कृष्ट बादर निगोद वर्गणा) होती है। 'इन्हीं सब निगोदोंका मूल महास्कन्धस्थान है।६४०।' सब निगोदोंका ऐसा कहनेपर सब बादर निगोदोंका ऐसा ग्रहण करना चाहिए। प्रश्न—सूक्ष्म निगोदोंका ग्रहण क्यों नहीं किया है। उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँ ही वे उत्पन्न होते हैं, अन्यत्र उत्पन्न नहीं होते ऐसा कोई नियम नहीं है।

३. प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर परिचय

१. प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित प्रत्येकके लक्षण

गो. जी./जी. प्र./१८६/४२३/१ प्रतिष्ठितं साधारणशरीरमाश्रितं प्रत्येक-शरीरं येषां ते प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीराः तैरनाश्रितशरीरा अप्रतिष्ठित-प्रत्येकशरीराः स्युः। एवं प्रत्येकजीवानां निगोदशरीरैः प्रतिष्ठिताप्रति-ष्ठितभेदेन द्विविधत्वं उदाहरणदर्शनपूर्वकं व्याख्यातं। —प्रतिष्ठित अर्थात् साधारण शरीरके द्वारा आश्रित किया गया है प्रत्येक शरीर जिनका, उनकी प्रतिष्ठित प्रत्येक संज्ञा होती है। और साधारण शरीरोंके द्वारा आश्रित नहीं किया गया है शरीर जिनका उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक संज्ञा होती है। इस प्रकार सर्व प्रत्येक वनस्पति-कायिक जीव निगोद शरीरोंके द्वारा प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठितके भेदसे दो-दो प्रकारके उदाहरण पूर्वक बता दिये गये।

२. प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है

ध. १/१,१,४१/२६९/३ प्रत्येकशरीरवनस्पतयो बादरा एव न सूक्ष्माः साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिबाधकापवादविधेरभावात्। —प्रत्येक

शरीर वनस्पति जीव बादर ही होते हैं सूक्ष्म नहीं, क्योंकि जिस प्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्ग विधिकी बाधक अपवाद विधि पायी जाती है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवाद विधि नहीं पायी जाती है अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है।

३. वनस्पतिमें ही साधारण जीव होते हैं पृथिवी आदिमें नहीं

ष. खं. १४/५,६/सू. १२०/२२५ तत्थ जे ते साहारणसरीरा ते णियमा वणप्फदिकाइया। अवसेसा पत्तेयसरीरा।१२०। —उनमें (प्रत्येक व साधारण शरीर वालोंमें) जो साधारण शरीर जीव हैं वे नियमसे वनस्पतिकायिक होते हैं। अवशेष (पृथ्वीकायादि) जीव प्रत्येक शरीर हैं।

४. पृथिवी आदि व देव नारकी, तीर्थंकर आदि प्रत्येक शरीरी ही होते हैं

ध. १/१,१,४१/२६८/७ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्। —प्रश्न—(जिनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं) प्रत्येक-शरीरका इस प्रकार लक्षण करनेपर पृथिवीकायादि पाँचों शरीरोंको भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह आशंका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि पृथिवीकाय आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है।

ध. १४/५,६,९१/८१/८ पुढवि-आउ-तेउ-वाउकाइया देव णेरइया आहारसरीरा पमत्तसंजदा सजोगि-अजोगिकेवलिणो च पत्तेयसरीरा-वुच्चंति; एदेसि णिगोदजीवेहिं सह संबंधाभावादो। —पृथिवि-कायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारक शरीरी प्रमत्तसंयत, सयोगि केवली और अयोगि ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोंसे सम्बन्ध नहीं होता। (गो. जी./मू./२००/४४६)।

५. कन्द मूल आदि सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित होती हैं

मू. आ./२१३-२१५ मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा। समुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य।२१३। कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवालपुप्फफलं। गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्वकाया य।२१४। सेवाल पणय केणग कवगो कुहणो य बादरा काया। सव्वेवि सुहमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे।२१५। —१. मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्ध बीज, बीजरुह, और सम्मूर्छिम; ये सब वनस्पतियाँ प्रत्येक (अप्रतिष्ठित प्रत्येक) और अनन्तकाय (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) के भेदसे दोनों प्रकारकी होती हैं।२१३। (प. सं./प्रा./१/८१) (ध. १/१,१,४३/गा. १५३/२७३) (त. सा./२/६६); (गो. जी./मू./१८६/४२३); (पं.सं./सं./१/१५६)। २. सूरण आदि कंद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कन्ध, पत्ता, कौंपल, पुष्प, फल, गुच्छा, करंजा आदि गुल्म, बेल तिनका और बेंत आदि ये सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनंतकायिक हैं।२१४। ३. जलकी काई, ईंट आदिकी काई, कूड़ेसे उत्पन्न हरा नीला रूप, जटाकार, आहार कांजी आदिसे उत्पन्न काई ये सब बादरकाय जानने। जल, स्थल, आकाश सब जगह सूक्ष्मकाय भरे हुए जानना।२१५।

६. अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें भी संख्यात वा असंख्यात जीव होते हैं

गो. जी./जी. प्र./१८६/४२१/१३ अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीराणि यथासंभवं असंख्यातानि संख्यातानि वा भवन्ति। यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येक वनस्पतिजीवा' तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्। —एक स्कन्धमें अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति जीवोंके शरीर यथासंभव असंख्यात वा संख्यात भी होते हैं। जितने वहाँ प्रत्येक शरीर हैं, उतने ही वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए। क्योंकि एक एक शरीरके प्रति एक-एक ही जीव होनेका नियम है।

७. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें अनन्त जीवोंके शरीरकी रचना विशेष

ध. १४/५,६,९३/८६/१ संपहि पुलवियाणं एत्थ सरूवपरूवणं कस्सामो। तं जहा-खंधो अंडरं आवासो पुलविया णिगोदशरीरमिदि पंच होंति। तत्थ बादरणिगोदाणमासयभूदो बहुएहि ववखारएहि सहियो वलंजंतवाणियकच्छउडसमाणो मूलय-थूहल्लयादिववएसहरो खंधो णाम। ते च खंधा असंखेज्जलोगमेत्ता, बादरणिगोदपदिट्ठिदाणमसंखेज्जलोगमेत्तसंखुवलंभादो। तेसिं खंधाणं ववएसहरो तेसिं भवाणमवयवा वलंजुअकच्छउडपुव्वावरभागसमाणा अंडरं णाम। अंडरस्स अंतोट्ठियो कच्छउडंडरंतोट्ठियववखारसमाणो आवासो णाम। अंडराणि असंखेज्जलोगमेत्ताणि। एक्केक्कम्हि अंडरे असंखेज्जलोगमेत्ता आवासा होंति। आवासब्भंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडरववखारंतोट्ठियपिसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम। एक्केक्कम्हि आवासे ताओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ होंति। एक्केक्कम्हि एक्केक्किस्से पुलवियाए-असंखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालिय-तेजाकम्मइयपोग्गलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरववखारपुलवियाए अंतोट्ठिददव्वसमाणाणि पुध पुध अणंताणंतेहि णिगोदजीवेहिं आउण्णाणि होंति। तिलोग-भरह जणवय-गामपुरसमाणाणि खंधंडरावास पुलविसरीराणि त्ति वा घेत्तव्वं। —अब यहाँ पर पुलवियों-के स्वरूपका कथन करते हैं—यथा-स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच होते हैं—१. उनमेंसे जो बादर निगोदों-का आश्रय भूत है, बहुत वक्खारोंसे युक्त है तथा वलंजंतवाणिय कच्छउड समान है ऐसे मूली, थूअर और आर्द्रक आदि संज्ञाको धारण करनेवाला स्कन्ध कहलाता है, वे स्कन्ध असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, क्योंकि बादर प्रतिष्ठित जीव असंख्यात लोक प्रमाण पाये जाते हैं। २. जो उन स्कन्धोंके अवयव हैं और जो वलंजुअ-कच्छउडके पूर्वापर भागके समान हैं उन्हें अण्डर कहते हैं। ३. जो अण्डरके भीतर स्थित हैं तथा कच्छउडअण्डरके भीतर स्थित वक्खारके समान हैं उन्हें आवास कहते हैं। अण्डर असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं। तथा एक अण्डरमें असंख्यात लोक प्रमाण आवास होते हैं। ४. जो आवासके भीतर स्थित हैं और जो कच्छउड-अण्डरवक्खारके भीतर स्थित पिशवियोंके समान हैं उन्हें पुलवि कहते हैं। एक एक आवासमें वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक एक आवासकी अलग अलग एक एक पुलविमें असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते हैं जो कि औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलोंके उपादान कारण होते हैं, और जो कच्छउडअण्डर-वक्खारपुलविके भीतर स्थित द्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवोंसे आपूर्ण होते हैं। ५. अथवा तीन लोक, भरत, जनपद, ग्राम और पुरके समान स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि, और शरीर होते हैं ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। (गो. जी./-मू./१९४-१९५/४३४,४३६)।

४. साधारण वनस्पति परिचय

१. साधारण शरीर नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९१/६ बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीरं यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। —बहुत आत्माओंके उपभोग-

का हेतु रूपसे साधारण शरीर जिसके निमित्तसे होता है, वह साधारण शरीर नामकर्म है (रा. वा./८/११/२०/५७८/२०); (गो. जी./जी. प्र./३३/३०/१३)।

ध. ६/१,९-१,२८/६३/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो साधारणसरीरो होज्ज, तस्स कम्मस्स साधारणसरीरमिदि सण्णा। —जिस कर्मके उदयसे जीव साधारण शरीरी होता है उस कर्मकी 'साधारण शरीर' यह संज्ञा है।

ध. १३/५, ५,१०१/३६५/६ जस्स कम्मस्सुदएण एगसरीरा होदूण अणंता जीवा अच्छंति तं कम्मं साहारणसरीरं। —जिस कर्मके उदयसे एक ही शरीरवाले होकर अनन्त जीव रहते हैं वह साधारण शरीर नामकर्म है।

२. साधारण जीवोंका लक्षण

१. साधारण जन्म मरणादिकी अपेक्षा

ष. खं. १४/५,६/सू. १२२-१२५/२२६-२३० साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं।१२२। एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स। एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स।१२३। समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती। समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो।१२४। जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं। वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं।१२५। —साधारण आहार और साधारण उच्छ्वास निःश्वासका ग्रहण यह साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा गया है।१२२। (पं. सं./प्रा./१/८२) (ध. १/१,१,४१/गा. १४५/२७०); (गो. जी./मू./१९२)—एक जीवका जो अनुग्रहण अर्थात् उपकार है वह बहुत साधारण जीवोंका है और इसका भी है। तथा बहुत जीवोंका जो अनुग्रहण है वह मिलकर इस विवक्षित जीवका भी है।।१२३। एक साथ उत्पन्न होने वालोंके उनके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है। और एक साथ उच्छ्वास-निःश्वास होता है।१२४।—जिस शरीरमें एक जीव मरता है वहाँ अनन्त जीवोंका मरण होता है। और जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है। वहाँ अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है।१२५। (पं. सं./प्रा./१/८३); (ध. १/१,१,४१/गा. १४६/२७०); (गो. जी./मू./१९३)।

रा. वा./८/११/२०/५७८/२२ साधारणाहारादिपर्याप्तिचतुष्टयजन्ममरणप्राणापानानुग्रहोपघाताः साधारणजीवाः। यदैकस्याहारशरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिनिर्वृत्तिः तदैवानन्तानाम् शरीरेन्द्रियप्राणापानपर्याप्तिनिर्वृत्तिः। यदैको जायते तदैवानन्ताः प्राणापानग्रहणविसर्गौ कुर्वन्ति। यदैक आहारादिनानुगृह्यते तदैवानन्तास्तेनाहारेणानुगृह्यन्ते। यदैकोऽग्निविषादिनोपहन्यते तदैवानन्तानामुपघातः। —साधारण जीवोंके साधारण आहारादि चार पर्याप्तियाँ और साधारण ही जन्म मरण श्वासोच्छ्वास अनुग्रह और उपघात आदि होते हैं। जब एकके आहार, शरीर, इन्द्रिय और आनपानपर्याप्ति होती है, उसी समय अनन्त जीवोंके जन्म-मरण हो जाते हैं। जिस समय एक श्वासोच्छ्वास लेता, या आहार करता, या अग्नि विष आदिसे उपहत होता है उसी समय शेष अनन्त जीवोंके भी श्वासोच्छ्वास आहार और उपघात आदि होते हैं।

२. साधारण निवासकी अपेक्षा

ध. ३/१,२,८७/३३३/२ जेण जीवेण एगसरीरट्ठिय बहूहि जीवेहि सह कम्मफलमणुभवेयव्वमिदि कम्ममुवज्जिदं सो साहारणसरीरो। —जिस जीवने एक शरीरमें स्थित बहुत जीवोंके साथ सुख-दुख रूप कर्म फल के अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है, वह जीव साधारण शरीर है।

ध. १४/५,६,११९/२२५/५ बहूणं जीवाणं जमेगं सरीरं तं साहारणसरीरं णाम। तत्थ जे वसंति जीवा ते साहारणसरीरा। अथवा...साहारणं सामण्णं सरीरं जेसिं जीवाणं ते साहारणसरीरा।—बहुत जीवोंका जो एक सरीर है वह साधारण शरीर कहलाता है। उनमें जो जीव निवास करते हैं वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं। अथवा... साधारण अर्थात् सामान्य शरीर जिन जीवोंका है वे साधारण शरीर जीव कहलाते हैं।

३. बीजेके अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त सभी वनस्पति अप्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं

ध. १४/५,६,१२६/गा. १७/२३२ बीजे जोणीभूदे जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा। जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए।१७। —योनिभूत बीजमें वही जीव उत्पन्न होता है या अन्य जीव उत्पन्न होता है। और जो मूली आदि हैं वे प्रथम अवस्थामें प्रत्येक हैं। (ध. ३/१,२,८३/गा.७६/३४८) (गो. जी./मू. १८७)।

गो. जी./जी. प्र./१८७/४२५/१४ येऽपि च मूलकादयः प्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरत्वेन प्रतिबद्धाः तेऽपि खलु प्रथमतायां स्वोत्पन्नप्रथमसमये अन्तर्मुहूर्तकालं साधारणजीवैरप्रतिष्ठितप्रत्येका एव भवन्ति।—जो ये मूलक आदि प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति प्रसिद्ध हैं, वे भी प्रथम अवस्थामें जन्मके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त नियमसे अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही होती हैं। पीछे निगोद जीवोंके द्वारा आश्रित किये जानेपर प्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं।

४. कच्ची अवस्थामें सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित प्रत्येक होती हैं

मू. आ./२१६-२१७ गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं। साहारणसरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं।२१६। होदि वणप्फदि वल्ली रुक्खतणादि तहेव एइंदी। ते जाण हरितजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।२१७।—जिनकी नसें नहीं दीखतीं, बन्धन व गाँठि नहीं दीखती, जिनके टुकड़े समान हो जाते हैं, और दोनों भङ्गोंमें परस्पर तन्तु न लगा रहे, तथा छेदन करनेपर भी जिनकी पुनः वृद्धि हो जाय उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और इससे विपरीतको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।२१६। (गो. जी./मू./१८८/४२१) वनस्पति बेल वृक्ष तृण इत्यादि स्वरूप हैं। एकेन्द्रिय हैं। ये सब प्रत्येक साधारण हरितकाय हैं ऐसा जानना और जानकर इनकी हिंसाका त्याग करना चाहिए।२१७।

गो. जी./मू./१८९-१९० मूले कंदे छल्लीपवालसालदलकुसुमफलबीजे। समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया।१८९। कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वावि बहुलतरी। छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी।१९०।—जिन वनस्पतियोंके मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल, क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र फूल फल तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भंग हो उसको सप्रतिष्ठित वनस्पति कहते हैं, और जिनका भंग समान न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।१८९। जिस वनस्पतिके कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं। और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।१९०।

५. प्रत्येक व साधारण वनस्पतियोंका सामान्य परिचय

ला. सं./२/९१-९८, १०६ साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात्। शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च।९१। तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यथ देहिनाम्। पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत्।९२। मूलसाधारणास्तत्र मूलकाह्वार्द्रकादयः। महापापप्रदाः

सर्वे मूलोन्मूल्वा गृहिमते ।६३। स्कन्धपत्रपय: पर्व तुर्यसाधारणा यथा। गंडीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ।६४। पुष्पसाधारणा: केचित्करीरसर्षपादय:। पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डा: साधारणाग्रका: ।६५। फलसाधारणं स्यात्तं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम्। शाखा साधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादय: ।६६। कुम्पलानि स सर्वेषां मृदूनि च यथागमम्। सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरध: ।६७। शाका: साधारणा: केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तय:। वल्य: साधारणा: काश्चित्काश्चित्प्रत्येकका: स्फुटम् ।६८। तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभाग: प्रजायते। तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ।१०६। —१. किसी वृक्षकी जड़ साधारण होती है, किसी का स्कन्ध साधारण होता है, किसीकी शाखाएँ साधारण होती हैं, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गाँठ) का दूध, अथवा किसीके फल साधारण होते हैं ।६१। इनमेंसे किसी किसीके तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण होते हैं ।६२। २. मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द, आदि सब मूल (जड़ें) साधारण हैं ।६३। गण्डीरक (एक कड़ुआ जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व ये चारों ही अवयव साधारण होते हैं। दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है ।६४। फूलोंमें करीरके व सरसोंके फूल और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं। तथा पर्वोंमें ईखकी गाँठ और उसका आगेका भाग साधारण होता है ।६५। पाँचों उदम्बर फल तथा शाखाओंमें कुमारीपिण्ड (गँवारपाठा जो कि शाखा रूप ही होता है) की सब शाखाएँ साधारण होती हैं ।६६। वृक्षोंपर लगी कोंपलें सब साधारण हैं पीछे पकनेपर प्रत्येक हो जाती हैं ।६७। शाकोंमें 'चना, मैथी, बथुआ, पालक, कुलफी आदि) कोई साधारण तथा कोई प्रत्येक, इसी प्रकार बेलोंमें कोई लताएँ साधारण तथा कोई प्रत्येक होती हैं ।६८। ३. साधारण व प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोड़नेमें दोनों भाग एकसे हो जायें जिस प्रकार चाकूसे दो टुकड़े करनेपर दोनों भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथसे तोड़नेपर भी जिसके दोनों भाग चिकने एकसे हो जायें वह साधारण वनस्पति है। जब तक उसके टुकड़े इसी प्रकार होते रहते हैं तब तक साधारण समझना चाहिए। जिसके टुकड़े चिकने और एकसे न हों ऐसी बाकीको समस्त वनस्पतियोंको प्रत्येक समझना चाहिए ।१०६।

गो. जी./जी. प्र./१८८/४२७/५ तच्छरीरं साधारणं-साधारणजीवाश्रितत्वेन साधारणमित्युपचर्यते। प्रतिष्ठितशरीरमित्यर्थ:। —(प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिमें पाये जानेवाले असंख्यात शरीर ही साधारण हैं।) यहाँ प्रतिष्ठित प्रत्येक साधारण जीवोंके द्वारा आश्रितकी अपेक्षा उपचार करके साधारण कहा है। (का. अ./टी./१२८)

६. एक साधारण शरीरमें अनन्त जीवोंका अवस्थान

ष.खं. १४/५,६/सू. १२६,१२८/२३१-२३४ बादरसुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण। ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादोहि ।१२६। एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ।१२८। —१. बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव ये परस्परमें (सब अवयवोंसे) बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते हैं। तथा ये अनन्त जीव हैं जो मूली, थूवर, और आर्द्रक आदिके निमित्तसे होते हैं ।१२६। २. एक निगोद शरीरमें द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत कालके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्तगुणे हैं ।१२८। (पं. सं./प्रा./१/८४) (ध.१/१,१,४१/गा. १४७/२७०) (ध.४/१,५,३१/गा. ४३/४७८) (ध. १४/५,६,९३/८६/१२) (ध. १४/५,६,६३/६८/६) (गो. जी./मू./१९६/४३७)।

७. साधारण शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना

गो. जी./जी. प्र./१८६/४२४/११ प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टमवगाहनमपि घनाङ्गुलासंख्येयभागमात्रमेवेति पूर्वोक्तार्द्रकादिस्कन्धेषु एकैकस्मिंस्तानि असंख्यातानि असंख्यातानि सन्ति। —प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरकी सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनांगुलके असंख्यात भाग मात्र ही है। क्योंकि पूर्वोक्त आद्रकको आदि लेकर एक-एक स्कन्धमें असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर (त्रैराशिक गणित विधानके द्वारा) पाये जाते हैं।

५. साधारण शरीरमें जीवोंका उत्पत्ति क्रम

१. निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रमसे होती है

ष. खं. १४/५,६/५८२-५८६/४६६ जो णिगोदो पढमदाए वक्कममाणो अणंता वक्कमंति जीवा। एयसमएण अणंताणंतसाहारणजीवेण घेत्तूण एगसरीरं भवदि असंखेज्जलोगमेत्तसरीराणि घेत्तूण एगो णिगोदो होदि ।५८२। विदियसमए असंखेज्जगुणहीणा वक्कमंति ।५८३। तदियसमए असंखेज्जगुणहीणा वक्कमंति ।५८४। एवं जाव असंखेज्जगुणहीणाए सेढीए णिरंतरं वक्कमंति जाव उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदि भागो ।५८५। तदो एक्को वा दो वा तिण्णि वा समए अंतरं काऊण णिरंतरं वक्कमंति जाव उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदि भागो ।५८६।

ध. १४/५ ६,१२७/२३३/५ एवं सांतरणिरंतरकमेण ताव उप्पज्जंति जाव उप्पत्तीए संभवो अत्थि। —प्रथम समयमें जो निगोद उत्पन्न होता है उसके साथ अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं। यहाँ एक समयमें अनन्तानन्त जीवोंको ग्रहण कर एक शरीर होता है, तथा असंख्यात लोकप्रमाण शरीरोंको ग्रहण कर एक निगोद होता है ।५८२। दूसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ।५८३। तीसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ।५८४। इस प्रकार आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालतक निरन्तर असंख्यातगुणे हीन श्रेणी रूपसे निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ।५८५। उसके बाद एक, दो और तीन समयसे लेकर आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालका अन्तर करके आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाणकालतक निरन्तर निगोद जीव उत्पन्न होते हैं ।५८६। इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे तबतक जीव उत्पन्न होते हैं जबतक उत्पत्ति सम्भव है। (गो. जी./जी. प्र./१९३/४३२/५)।

गो. जी./जी. प्र./१९३/४३२/६ एवं सान्तरनिरन्तरक्रमेण तावदुत्पद्यन्ते यावत्प्रथमसमयोत्पन्नसाधारणजीवस्य सर्वजघन्यो निर्वृत्त्यपर्याप्तकालोऽवशिष्यते। २० पुनरपि तत्प्रथमादिसमयोत्पन्नसर्वसाधारणजीवानां आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनि:श्वासपर्याप्तीनां स्वस्वयोग्यकाले निष्पत्तिर्भवति। —इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे तबतक जीव उत्पन्न होते हैं जबतक प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ साधारण जीवका जघन्य निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्थाका काल अवशेष रहे। फिर पीछे उन प्रथमादि समयमें उपजे सर्वसाधारण जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासकी सम्पूर्णता अपने-अपने योग्य कालमें होती है।

२. निगोद शरीरमें जीवोंकी मृत्यु क्रम व अक्रम दोनों प्रकारसे होती है

ष. खं. १४/५,६/सू. ६३१/४८५ जो णिगोदो जहण्णएण वक्कमणकालेण वक्कमंतो जहण्णएण पबंधणकालेण पबद्धो तेसिं बादरणिगोदाणं तथा पबद्धाणं मरणक्कमेण णिग्गमो होदि ।६३१।

ध. १४/५.६.६३१/४८६/१ एक्कम्हि सरीरे उप्पज्जमाणबादरणिगोदा किमक्कमेण उप्पज्जंति आहो कमेण। जदि अक्कमेण उप्पज्जंति तो अक्कमेणेव मरणेण वि होदव्वं, एक्कम्हि मरंते संते अण्णेसिं मरणाभावे साहारणत्तविरोहादो। अह जइ कमेण असंखेज्जगुणहीणाए सेढीए उप्पज्जंति तो मरणं पि जवमज्झागारेण ण होदि, साहारणत्तस्स विणासप्पसंगादो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—असंखेज्जगुणहीणाए कमेण वि उप्पज्जंति अक्कमेन वि अणंता जीवा एगसमए उप्पज्जंति। ण च फिट्टदि।...एदीय गाहाए भणिदलक्खणाणमभावे साहारणत्तविणासदो। तदो एगसरीरुप्पण्णाणं मरणक्कमेण णिग्गमो होदि त्ति एदं पि ण विरुज्झदे। ण च एगसरीरुप्पण्णा सव्वे समाणाउवा चेव होंति त्ति णियमो णत्थि जेण अक्कमे तेसिं मरणं होज्ज। तम्हा एगसरीरट्ठिदाणं पि मरणजवमज्झं समिलाजवमज्झं च होदि त्ति घेत्तव्वं। —जो निगोद जघन्य उत्पत्ति कालके द्वारा बन्धको प्राप्त हुआ है उन बादर निगोदोंका उस प्रकारसे बन्ध होनेपर मरणके क्रमानुसार निर्गम होता है।६३१। प्रश्न—एक शरीरमें उत्पन्न होनेवाले बादर निगोद जीव क्या अक्रमसे उत्पन्न होते हैं या क्रमसे ? यदि अक्रमसे उत्पन्न होते हैं तो अक्रमसे ही मरण होना चाहिए, क्योंकि एकके मरनेपर दूसरोंका मरण न होनेपर उनके साधारण होनेमें विरोध आता है। यदि क्रमसे असंख्यातगुणी हीन श्रेणी रूपसे उत्पन्न होते हैं, तो मरण भी यवमध्यके आकार रूपसे नहीं हो सकता है, क्योंकि साधारणपनेके विनाशका प्रसंग आता है। उत्तर—असंख्यातगुणी हीन श्रेणिके क्रमसे भी उत्पन्न होते हैं, और अक्रमसे भी अनन्त जीव एक समयमें उत्पन्न होते हैं। और साधारणपना भी नष्ट नहीं है। (साधारण आहार व उच्छ्वासका ग्रहण साधारण जीवोंका लक्षण है—दे० वनस्पति/४/२)। इस प्रकार गाथा द्वारा कहे गये लक्षणोंके अभावमें ही साधारणपनेका विनाश होता है। इसलिए एक शरीरमें उत्पन्न हुए निगोदोंका मरणके क्रमसे निर्गम होता है इस प्रकार यह कथन भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है। और एक शरीरमें उत्पन्न हुए सब समान आयुवाले ही होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे अक्रमसे उनका मरण होवे, इसलिए एक शरीरमें स्थित हुए निगोदोंका मरण यवमध्य और शामिला यवमध्य है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

३. आगे-पीछे उत्पन्न होकर भी उनकी पर्याप्ति युगपत् होती है

ध. १४/५.६.१२२/२२८/२ एक्कम्हि सरीरे जे पढमं चेव उप्पण्णा अणंता जीवा जे च पच्छा उप्पण्णा ते सव्वे समगं वक्कंता णाम। कथं भिण्णकालमुप्पण्णाणं जीवाणं समगत्तं जुज्जदे। ण, एगसरीरसंबंधेण तेसिं सव्वेसिं पि समगत्तं पडिविरोहाभावादो।...एक्कम्हि सरीरे पच्छा उप्पज्जमाणा जीवा अत्थि, कथं तेसिं पढमं चेव उप्पत्ती होदि। ण, पढमसमए उप्पण्णाणं जीवाणमणुग्गहणफलस्स पच्छा उप्पण्णजीवेसु वि उवलंभादो। तम्हा एगणिगोदसरीरे उप्पज्जमाणसव्वजीवाणं पढमसमए चेव उप्पत्ती एदेण णाएण जुज्जदे।

ध. १४/५.६.१२२/२२९/२ एदस्स भावत्थो—सव्वजहण्णेण पज्जत्तिकालेण जदि पुव्वुप्पण्णणिगोदजीवा सरीरपज्जत्ति-इंदियपज्जत्ति-आहार-आणपाणपज्जत्तीहि पज्जत्तयदा होंति तम्हि सरीरे तेहि समुप्पण्णमंदजोगिणिगोदजीवा वि तेणेव कालेण एदाओ पज्जत्तीओ समाणेंति, अण्णहा आहारगहणादीणं साहारणत्ताणुववत्तीदो। जदि दीहकालेन पढमसमुप्पण्णजीवा चत्तारि पज्जत्तीओ समाणेंति तो तम्हि सरीरे पच्छा उप्पण्णजीवा तेणेव कालेण ताओ पज्जत्तीओ समाणेंति त्ति भणिदं होदि।...सरीरिंदियपज्जत्तीणं साहारणत्तं किण्ण परूविदं। ण, आहाराणावाणणिद्देसो देसामासिओ त्ति तेसिं पि एत्थेव अंतब्भावादो। —१. एक शरीरमें जो पहले उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं, और जो बादमें उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं वे सब एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। प्रश्न—भिन्न कालमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक साथपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक शरीरके सम्बन्धसे उन जीवोंके भी एक साथपना होनेमें कोई विरोध नहीं आता है।...प्रश्न—एक शरीरमें बादमें उत्पन्न हुए जीव हैं, ऐसी अवस्थामें उनकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रथम समयमें उत्पन्न हुए जीवोंके अनुग्रहणका फल बादमें उत्पन्न हुए जीवोंमें भी उपलब्ध होता है, इसलिए एक निगोद शरीरमें उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति इस न्यायके अनुसार बन जाती है। २. इसका तात्पर्य यह है कि—सबसे जघन्य पर्याप्ति कालके द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति और उच्छ्वासनिःश्वास पर्याप्तिसे पर्याप्त होते हैं, तो उसी शरीरमें उनके साथ उत्पन्न हुए मन्दयोगवाले जीव भी उसी कालके द्वारा इन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, अन्यथा आहार ग्रहण आदिका साधारणपना नहीं बन सकता है। यदि दीर्घ कालके द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारों पर्याप्तियोंको प्राप्त करते हैं तो उसी शरीरमें पीछेसे उत्पन्न हुए जीव उसी कालके द्वारा उन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।...प्रश्न—शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति ये सबके साधारण हैं ऐसा (सूत्रमें) क्यों नहीं कहा। उत्तर—नहीं, क्योंकि गाथा सूत्रमें 'आहार' और आनपानका ग्रहण देशामर्शक है, इसलिए उनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

४. एक ही निगोद शरीरमें जीवोंके आवागमनका प्रवाह चलता रहता है

ध. १४/५.६.५८३/४७०/५ एगसमएण जम्हि समए अणंतजीवा उप्पज्जंति तम्हि चेव समए सरीरस्स पुलवियाए च उप्पत्ती होदि, तेहि विणा तेसिमुप्पत्तिविरोहादो। कत्थ वि पुलवियाए पुव्वं पि उप्पत्ती होदि, अणेगसरीराधारत्तादो। —जिस समयमें अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं उसी समयमें शरीरकी और पुलविकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि इनके बिना अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है। कहींपर पुलविकी पहले भी उत्पत्ति होती है क्योंकि वह अनेक शरीरोंका आधार है।

गो. जी./जी. प्र./१९३/४३१/१६ यन्निगोदशरीरे यदा एको जीवः स्वस्थितिक्षयवशेन म्रियते तदा तन्निगोदशरीरे समस्थितिका अनन्तानन्ता जीवाः सहैव म्रियन्ते। यन्निगोदशरीरे यदा एको जीवः प्रक्रमति उत्पद्यते तथा तन्निगोदशरीरे समस्थितिकाः अनन्तानन्ता जीवाः सहैव प्रक्रामन्ति। एवमुत्पत्तिमरणयोः समकालत्वमपि साधारणलक्षणं प्रदर्शितं। द्वितीयादिसमयोत्पन्नानामनन्तानन्तजीवानामपि स्वस्थितिक्षये सहैव मरणं ज्ञातव्यं एवमेकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत्सहैव म्रियन्ते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसंख्यातसागरोपमकोटिमात्री असंख्यातलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थितिः परिसमाप्यते। —एक निगोद शरीरमें जब एक-एक जीव अपनी आयुकी स्थितिके पूर्ण होनेपर मरता है तब जिनकी आयु उस निगोद शरीरमें समान हो वे सब युगपत् मरते हैं। और जिस कालमें एक जीव उस निगोद शरीरमें जन्म लेता है, तब उस हीके साथ समान स्थितिके धारक अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं। ऐसे उपजने मरनेके समकालपनेको भी साधारण जीवका लक्षण कहा है (दे० वनस्पति/४/२) और द्वितीयादि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंका भी अपनी आयुका नाश होनेपर साथ ही मरण होता है। ऐसे एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ मरते हैं, और निगोद शरीर ज्योंका त्यों बना रहता है। इस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोड़ाकोड़ी सागर

प्रमाण है। सो असंख्यात लोकमात्र समय प्रमाण जानना। जब तक वह स्थिति भावत. पूर्ण नहीं होती, तबतक जीवोंका मरना उत्पन्न होना रहा करता है।

५. बादर व सूक्ष्म निगोद शरीरोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी नियम

ष. खं. १४/५.६/सू. ६२९-६३०/४८३ सव्वो बादरणिगोदो पज्जत्तो वा वामिस्सो वा।६२९। सु मणिगोदवग्गणाए पुण णियमा वा मिस्सो।६३०।

ध. १४/५.६.६२९/४८३-४८४/१० खंधंडरावासपुलवियाओ अस्सिदूण एदं सुत्तं परूविदं ण सरीरे, एगम्मि सरीरे पज्जत्तापज्जत्ताजीवाणमवट्ठाणविरोहादो।...सव्वो बादरणिगोदो पज्जत्तो वा होदि। कुदो। बादरणिगोदपज्जत्तेहि सह खंधंडरावासपुलवियासु उप्पण्णबादरणिगोदअपज्जत्तएसु अंतोमुहुत्तेण कालेण णिस्सेसं मुवेसु सुद्धाणं बादरणिगोदपज्जत्ताणं चेव तत्थावट्ठाणदंसणादो।...एत्तो हेट्ठा पुण बादरणिगोदो वामिस्सो होदि, खंधंडरावासपुलवियासु बादरणिगोदपज्जत्तापज्जत्ताणं अणंताणं सहावट्ठाणदंसणादो।

ध. १४/५.६.६३०/४८४/६ सहुमणिगोदवग्गणाए पज्जत्तापज्जत्ता च जेण सव्वकालं संभवंति तेण सा णियमा पज्जत्तापज्जत्तजीवेहि वामिस्सा होदि। किमट्ठं सव्वकालं सभवदि। सुहुमणिगोदपज्जत्तापज्जत्ताण वक्कमणपदेसकालणियमाभावादो। एत्थ पदेसे एत्तियं चेव कालमुप्पत्ती परदो ण उप्पज्जंति त्ति जेण णियमो णत्थि तेण सा सव्वकाले वामिस्सा त्ति भणिदं होदि। —सब बादर निगोद पर्याप्त है या मिश्र रूप है।६२९। परन्तु सूक्ष्म निगोद वर्गणामें नियमसे मिश्र रूप है।६३०। स्कन्ध अण्डर आवास और पुलवियोंका आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है, शरीरोंका आश्रय लेकर नहीं कहा गया है, क्योंकि एक शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका अवस्थान होनेमें विरोध है।... सब बादर निगोद जीव पर्याप्त होते हैं, क्योंकि बादर निगोद पर्याप्तकोंके साथ स्कन्ध, अण्डर, आवास, और पुलवियोंमें उत्पन्न हुए अनन्त बादर निगोद अपर्याप्त जीवोंके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर सबके मर जानेपर वहाँ केवल बादर निगोद पर्याप्तकोंका ही अवस्थान देखा जाता है।...परन्तु इससे पूर्व बादर निगोद व्यामिश्र होता है, क्योंकि स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलवियोंमें अनन्त बादर निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका एक साथ अवस्थान देखा जाता है। यतः सूक्ष्म निगोद वर्गणामें पर्याप्त और अपर्याप्त जीव सर्वदा सम्भव हैं, इसलिए वह नियमसे पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंसे मिश्र रूप होती है। प्रश्न—उसमें सर्वकाल किसलिए सम्भव है। उत्तर—क्योंकि सूक्ष्म निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंकी उत्पत्तिके प्रदेश और कालका कोई नियम नहीं है। इस प्रदेशमें इतने ही काल तक उत्पत्ति होती है, आगे उत्पत्ति नहीं होती इस प्रकारका चूँकि नियम नहीं है, इसलिए वह सूक्ष्म निगोद वर्गणा मिश्ररूप होती है।

गो. जी./जी. प्र./१९३/४३२/३ अत्र विशेषोऽस्ति स चकः। एकबादरनिगोदशरीरे सूक्ष्मनिगोदशरीरे वा अनन्तानन्ताः साधारणजीवाः केवलपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते पुनरपि एकशरीरे केवलमपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते न च मिश्रा उत्पद्यन्ते तेषां समानकर्मोदयनियमात्। —इतना विशेष है कि एक बादर निगोद शरीरमें अथवा सूक्ष्म निगोद शरीरमें अनन्तानन्त साधारण जीव केवल पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं, वहाँ अपर्याप्त नहीं उपजते। और कोई शरीरमें अपर्याप्त ही उपजते हैं वहाँ पर्याप्त नहीं उपजते। एक ही शरीरमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों युगपत् नहीं उत्पन्न होते। क्योंकि उन जीवोंके समान कर्मके उदयका नियम है।

६. अनेक जीवोंका एक शरीर होनेमें हेतु

ध. १/१.१.४१/२६९/८ प्रतिनियतजीवप्रतिबद्धैः पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिककर्मस्कन्धैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमिथःसमवेतजीवसमवेतानां तत्रस्थाशेषप्राणिसंबन्ध्येकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धं साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्। कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेद्धुं पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। —प्रश्न—जीवोंसे अलग-अलग बँधे हुए, पुद्गल विपाकी होनेसे आहार-वर्गणाके स्कन्धोंको शरीरके आकार रूपसे परिणमन करानेमें कारण रूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्म स्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक-एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो एक देशमें अवस्थित हैं और जो एक देशमें अवस्थित तथा परस्पर सम्बद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहाँपर स्थित सम्पूर्ण जीव सम्बन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगोंमें प्रसिद्ध है।

७. अनेक जीवोंका एक आहार होनेमें हेतु

ध. १४/५.६.१२२/२२७/१ कधमेगेण जीवेण गहिदो आहारो तक्काले तत्थ अणंताणं जीवाणं जायदे। ण, तेणाहारेण जणिदसत्तीए पच्छा उप्पण्णजीवाणं उप्पण्णपढमसमए चेव उवलंभादो। जदि एवं तो आहारो साहारणो होदि आहारजणिदसत्ती साहारणे त्ति वत्तव्वं। ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारेण आहारजणिदसत्तीए वि आहारववएससिद्धीओ। —प्रश्न—एक जीवके द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस कालमें वहाँ अनन्त जीवोंका कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि उस आहारसे उत्पन्न हुई शक्तिका बादमें उत्पन्न हुए जीवोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही ग्रहण हो जाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है' इसके स्थानमें 'आहार जनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्यमें कारणका उपचार कर लेनेसे आहार जनित शक्तिके भी आहार संज्ञा सिद्ध होती है।

वनीपक—आहार सम्बन्धी एक दोष—दे० आहार/II/४/४।

वह्नि—१. अग्नि सम्बन्धी विषय—दे० अग्नि। लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक।

वपु—दे० शरीर।

वप्र—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/५/२। २. चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/५/४।

वप्रवान—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी—दे० लोक/७।

वय—प्र. सा./ता. वृ./२०३/२७६/१ शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्परहितं वयश्चेति—शुद्ध आत्माके संवेदनकी विनाश करनेवाली, वृद्ध, बालक व यौवन अवस्थाके उद्रेकसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिकी विकलतासे रहित वय होती है।

वरतनु—लवण समुद्रकी दक्षिण व उत्तर दिशामें स्थित द्वीप व उनके स्वामी देव—दे० लोक/४/१।

वरवीर—म. पु./सर्ग/श्लोक—'पूर्व भव सं. ७ में लोलुप नामक हलवाई था। (८/२२४)। पूर्व भव सं. ६ में नकुल हुआ। (८/२४१)। पूर्वभव सं. ५ में उत्तरकुरुमें मनुष्य हुआ। (६/६०)। पूर्व भव सं. ४ में ऐशानस्वर्गमें मनोरथ नामक देव हुआ। (६/१८७)। पूर्व भव सं. ३ में प्रभंजन राजाका पुत्र प्रशान्त मदन हुआ। (१०/१६२)। पूर्व भव सं. २ में अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। (१०/१७२)। पूर्ववाले भवमें अपराजित स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ। (११/१०)। अथवा सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ। (११/१६०) और वर्तमान भवमें वरवीर हुआ। (१६/३)। जिसका अपरनाम जयसेन भी था। (४७/३७६)।—[युगपत समस्त भवोंके लिए दे० (४७/३७६-३७७)]। यह ऋषभदेवके पुत्र भरतका छोटा भाई था। (१६/३)। भरत द्वारा राज्य माँगनेपर दीक्षा ले ली। (३४/१२६)। भरतके मुक्ति जानेके पश्चात् मोक्ष सिधारे। (४७/३६६)।

वररुचि—१. शुभचन्द्राचार्य व कवि कालिदासके समकालीन एक विद्वान्। समय—ई० १०२१-१०५५। (ज्ञा. प्र. ।१। पं. पन्नालाल बाकलीवाल)। २. एक प्रसिद्ध व्याकरणकार। समय ई. ५०० (प.प्र/प्र ११६/A.N. Up.)

वरांगकुमार—वरांग चरित्र/सर्ग/श्लोक—उत्तमपुरके भोजवंशीय राजा धर्मसेनका पुत्र था। (२/१)। अनुपमा आदि १० कन्याओंका पाणिग्रहण किया। (२/८७)। मुनिदर्शन। (३/३५; ११/३७)। अणुव्रत धारण। (११/३३)। राज्यप्राप्ति (११/६५)। सौतेले भाइयोंका द्वेष (११/८५)। मन्त्रियोंने षड्यन्त्र करके कुशिक्षित घोड़ेपर सवार कराया। (१२/३७)। घोड़ेने अन्ध कूपमें गिरा दिया। वहाँसे लता पकड़कर बाहर निकला। (१२/४६)। सिंहके भयसे सारी रात वृक्षपर बसेरा (१२/४६)। हाथी द्वारा सिंहका हनन। (१२/६६) सरोवरमें स्नान करते हुए नक्रने पाँव पकड़ लिया (१३/३)। देवने रक्षा की। देवीके द्वारा विवाहकी प्रार्थना की जानेपर अपने व्रतपर दृढ़ रहा। (१३/३८)। भीलों द्वारा बाँधा गया। (१३/४६)। देवीपर बलि चढ़ानेको ले गये। भीलराजके पुत्रके सर्प काटेका विष दूर करनेसे वहाँसे छुटकारा मिला। (१३/६५)। पुनः एक साँपने पकड़ लिया। (१३/७८)। दोनोंमें परस्पर प्रेम हो गया। भीलोंके साथ युद्धमें कौशल दिखाया। पूज्यता प्राप्त हुई। (१४/७१)। श्रेष्ठी पद प्राप्ति (१४/८६)। राजा देवसेनके साथ युद्ध तथा विजय प्राप्ति (१८/१०३)। राजकन्या सुनन्दासे विवाह। (१६/२०)। मनोरमा कन्याके मोहित होनेपर दूत भेजना पर शीलपर दृढ़ रहना। (१६/६१)। मनोरमाके साथ विवाह। (२०/४२)। पिता धर्मपर शत्रुकी चढ़ाई सुनकर अपने देशमें गये। उनके जाते ही शत्रु भाग गया। (२०/८०)। राज्य प्राप्ति। (२०/८५) धर्म व न्यायपूर्वक राज्यकार्यकी सुव्यवस्था। (सर्ग २१-२७)। पुत्रोत्पत्ति। (२८/५)। दीक्षा धारण। (२६/८७)। सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए। (३१/१०६)।

वराटक—कौड़ी—दे० निक्षेप

वराह—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वराहमिहिर—राजा विक्रमादित्यके नव रत्नोंमें-से एक प्रसिद्ध कवि थे। समय—ई. ५०५-५८७। (न्यायावतार ।प्र.२। सतीशचन्द्र विद्याभूषण); (भद्रबाहुचरित ।प्र १४। पं. उदयलाल)।

वरुण—१. लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल। २. मल्लिनाथ का शासक यक्ष—दे० तीर्थंकर ५/३। ३. दक्षिण वारुणीवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर/४। ४. विजयार्धके दक्षिणमें स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य ।४। ५. प. पु./१६/४६-६१ रसातलका राजा था। रावणके साथ युद्ध होनेपर हनुमान्‌ने इसके सौ पुत्रोंको बाँध लिया और अन्तमें इसको भी पकड़ लिया। ६. भद्रशाल वनमें कुमुद व पलाशगिरि नामक दिग्गजेन्द्र पर्वतोंके स्वामी देव—दे० लोक/३/१२।

वरुण कायिक—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/3।

वरुणप्रभ—उत्तर वारुणीवरद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

वर्ग—रा. वा./२/५/८/१०७/६ उदयप्राप्तस्य कर्मणः प्रदेशा अभव्यानामनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तभागप्रमाणाः। तत्र सर्वजघन्यगुणः प्रदेशः परिगृहीतः, तस्यानुभागः प्रज्ञाछेदेन तावद्धा परिच्छिन्नः यावत्पुनर्विभागो न भवति। ते अविभागपरिच्छेदाः सर्वजीवानामनन्तगुणाः, एको राशिः कृतः। अपर एकाविभागपरिच्छेदाधिकः प्रदेशः परिगृहीतः, तथैव तस्याविभाग-परिच्छेदाः कृताः। स एको राशिर्वर्गः।=उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योंके अनन्त गुणे तथा सिद्धोंके अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं। उनमें-से सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाये जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो। ये अविभाग प्रतिच्छेद सर्व जीवराशिके अनन्त गुण प्रमाण होते हैं। एकके पीछे एक स्थापित करके इनकी एक राशि बनानी चाहिए। सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी इस राशिका वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे आदि सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशोंके पृथक्-पृथक् वर्ग बनाने चाहिए। पुनः एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीवराशिके अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। (समान गुणवाले सर्व प्रदेशोंकी वर्गराशिको वर्गणा कहते हैं (दे० वर्गणा)] (क. पा. ५/४ २२/§५७२/३४४/१), (ध. १२/४,२,७,१६६/६२/८)।

ध. १०/४,२,४, १७८/४४१/६ एगजीवपदेसाविभागपरिच्छेदाणं वग्गववएसादो।=एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदकी वर्ग यह संज्ञा है।

स. सा./आ. ५२ शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः।=शक्तियोंका अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग है। (गो. जी./मं प्र./५६/१५३/१४)।

२. जघन्य वर्गका लक्षण

ल. सा./भाषा/२२३/२७७/२ सबतैं थोरे जिस परमाणु विषै अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेद पाइए ताका नाम जघन्य वर्ग है।

३. गणित प्रकरणमें वर्गका लक्षण

किसी राशिको दो बार माँडकर परस्पर गुणा करनेसे ताका वर्ग होता है। अर्थात् Square।—(विशेष दे० गणित ।II/१/७)।

★ **द्विरूप वर्गधारा**—दे० गणित/II/५/२।

वर्गण संवर्गण—दे० गणित/II/१/६।

वर्गणा—समान गुणवाले परमाणुपिण्डको वर्गणा कहते हैं, जो ५ प्रधान जातिवाले सूक्ष्म स्कन्धोंके रूपमें लोकके सर्व प्रदेशोंपर अवस्थित रहते हुए, जीवके सर्व प्रकारके शरीरों व लोकके सर्व स्थूल भौतिक पदार्थोंके उपादान कारण होती है। यद्यपि वर्गणाकी

व्यवहार्य जाति ५ ही हैं परन्तु सर्व मूर्तीक व अमूर्तीक भौतिक पदार्थोंमें प्रदेशोंकी क्रमिक वृद्धि दर्शानेके लिए उसके २३ भेद करके बताये गये हैं। उस-उस जातिकी वर्गणासे उस-उस जातिके ही पदार्थका निर्माण होता है, अन्य जातिका नहीं। परन्तु परमाणुओंकी हानि या वृद्धि हो जानेसे वह वर्गणा स्वयं अपनी जाति बदल दूसरी जातिकी वर्गणामें परिणत हो सकती है।

१. भेद व लक्षण

१. वर्गणा सामान्यका लक्षण

रा. वा./२/५/४/१०७/८ तथैव समगुणा पंक्तीकृताः वर्गा वर्गणा। — इन समगुणवाले समसंख्या तक वर्गोंके समूहका (दे० वर्ग) वर्गणा कहते हैं।

क. पा.५/४-२२/§५७३/३४४/८ एवमेगेगसरिसधणियपरमाणू घेत्तूण वण्णच्छेदणए करिय दाहिणपासे कंडुज्जुवपंतिरचणा कायव्वा जाव अभवसिद्धिएहि अणंतगुणं सिद्धाणमणंतभागमेत्तसरिसधणियपरमाणू समत्ता त्ति। एदेसिं सव्वेसिं पि वग्गणा त्ति सण्णा। — इस प्रकार (दे० वर्ग) समान धनवाले एक-एक परमाणुको लेकर बुद्धिके द्वारा छेद करके (छेद करनेपर जो उतने-उतने ही अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं, उन सबको) दक्षिण पार्श्वमें बाणके समान ऋजु पंक्तिमें रचना करते जाओ और ऐसा तब तक करो जब तक अभव्य राशिसे अनन्त गुणे सिद्धराशिके अनन्तवें भागप्रमाण (वे सबके सब) समान धनवाले परमाणु समाप्त हों। उन सब वर्गोंकी वर्गणा संज्ञा है। (ध. १२/४,२,७,१९९/९३/८)।

स. सा./आ./५२ वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा। — वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं (गो. जी./मं. प्र./५९/१५३/१४)।

२. प्रथम द्वि. आदि वर्गणाके लक्षण

ध. १२/४,२,७,२०४/१४५/६ वग्गणंतरादो अविभागपडिच्छेदुत्तरभावो पढमफद्दयआदिवग्गणा होदि। तत्तो पहुडि णिरंतरं अविभागपडिच्छेदुत्तरकमेण वग्गणाओ गंतूण पढमफद्दयस्स चरिमवग्गणा होदि। — वर्गणान्तरसे एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदसे अधिक अनुभागका नाम प्रथम स्पर्धककी आदि वर्गणा है। उससे लेकर निरन्तर एक-एक अविभाग प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे वर्गणाएँ जाकर प्रथम स्पर्धककी अन्तिम वर्गणा होती है—(विशेष दे० स्पर्धक)।

ल. सा./भाषा/२२३/२७७/६ ऐसी (जघन्य वर्गरूप) जेती परमाणू होंइ तिनिके समूहका नाम प्रथम वर्गणा है। बहुरि यातैं द्वितीयादि वर्गणानिविषै एक-एक चय घटता क्रमकरि परमाणूनिका प्रमाण है —(विशेष दे० स्पर्धक)।

३. द्रव्य क्षेत्र काल वर्गणा निर्देश व लक्षण

ष. खं./१४/५,६/सूत्र ७१/५१ वग्गणणिक्खेवे त्ति छव्विहे वग्गणणिक्खेवे—णामवग्गणा ट्ठवणवग्गणा दव्ववग्गणा खेत्तवग्गणा कालवग्गणा भाववग्गणा चेदि।७१।

ध. १४/५,६,७१/५२/४ तव्वदिरित्त दव्ववग्गणा दुविहा—कम्मवग्गणा णोकम्मवग्गणा चेदि। तत्थ कम्मवग्गणा णाम अट्ठकम्मक्खंधवियप्पा। सेसएक्कोणवीसवग्गणाओ णोकम्मवग्गणाओ। एगागासोगाहणप्पहुडि-पदेसुत्तरादिकमेण जाव देसूणघणलोगे त्ति ताव एदाओ खेत्तवग्गणाओ। कम्मदव्वं पडुच्च समयाहियावलियप्पहुडि जाव कम्मट्ठिदि त्ति णोकम्मदव्वं पडुच्च एगसमयादि जाव असंखेज्जा लोगा त्ति ताव एदाओ कालवग्गणाओ। ...ओदइयादि पंचण्णं भावाणं जे भेदा ते णोआगम भाववग्गणा। — वर्गणा निक्षेपका प्रकरण है। वर्गणानिक्षेप चार प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्रवर्गणा, कालवर्गणा और भाववर्गणा [इनमेंसे अन्य सब वर्गणाओंके लक्षण निक्षेपोंवत् जानने—(दे० निक्षेप)] तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यवर्गणा दो प्रकारकी है—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणा। उनमेंसे आठ प्रकारके कर्म स्कन्धोंके भेद कर्मवर्गणा हैं, तथा शेष उन्नीस प्रकारकी वर्गणाएँ (दे० अगला शीर्षक) नोकर्मवर्गणाएँ हैं। एक आकाश प्रदेशप्रमाण अवगाहनासे लेकर प्रदेशोत्तर आदिके क्रमसे कुछ कम घनलोक तक ये सब क्षेत्र वर्गणाएँ हैं। कर्म द्रव्यकी अपेक्षा एक समय अधिक एक आवलीसे लेकर उत्कृष्ट कर्मस्थिति तक और नोकर्म द्रव्यकी अपेक्षा एक समयसे लेकर असंख्यात लोकप्रमाण काल तक ये सब काल वर्गणाएँ हैं। ...औदयिकादि पाँच भावोंके जो भेद हैं वे सब नोआगम-भाव वर्गणा हैं।

४. वर्गणाके २३ भेद

ष. १४/५,६,९७/गा. ७-८/११७ अणुसंखासंखेज्जा तधणंता वग्गणा अगेज्झाओ। आहार-तेज-भासा-मण-कम्मइयधुवक्खंधा।७। सांतर-णिरंतरेदरसुण्णा पत्तेयदेह धुवसुण्णा। बादरणिगोदसुण्णा सुहुमा सुण्णा महाखंधा।८।—अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणु-वर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहण-वर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोद-वर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। ये तेईस वर्गणाएँ हैं।—(ष. ख./१४/५,६। सूत्र ७६-९७/५४/११७ तथा सूत्र ७०८-७१८/५४२-५४३)। (ध. १३/५,५, ८२/३५१/११); (गो. जी./मू./५९४-५९५/१०३२)।

५. आहारक आदि पाँच वर्गणाओंके लक्षण

ष. ख. १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीराणं जाणि दव्वाणि घेत्तूण ओरालियवेउव्विय-आहारसरीरत्ताए परिणामेदूणं परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि आहारदव्ववग्गणा णाम (७३०/ ५४६) जाणि दव्वाणि घेत्तूण तेयासरीरत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि तेजादव्ववग्गणा णाम। (७३७/५४६)। सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चभासत्ताए मोसभासत्ताए सच्चमोसभासत्ताए असच्चमोसभासत्ताए परिणामेदूण णिस्सारंति जीवा ताणि भासादव्ववग्गणा णाम। (७४४/५५०)। सच्चमणस्स मोसमणस्स सच्चमोस-मणस्स असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चमणत्ताए मोसमणत्ताए सच्चमोसमणत्ताए असच्चमोसमणत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि मणदव्ववग्गणा णाम। (७५१/५५२)। णाणावरणीयस्स दंसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउअस्स णामस्स गोदस्स अन्तराइयस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण णाणावरणीयत्ताए दंसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोदत्ताए अंतराइयत्ताए परिणामेदूण परिण-मंति जीवा ताणि दव्वाणि कम्मइयदव्ववग्गणा णाम। (७५८/५५३)। —औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरोंके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीररूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्योंकी आहारद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७३०/५४६)। जिन द्रव्योंको ग्रहणकर तैजस् शरीररूपसे परि-णमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्योंकी तैजसद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७३७/५४६)। सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा, और असत्यमोषभाषाके जिन द्रव्योंको ग्रहणकर सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूपसे परिणमाकर जीव उन्हें निकालते हैं उन द्रव्योंकी भाषाद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (७४४/५५०)। सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमनके जिन द्रव्यों-को ग्रहणकर सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमन रूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं उन द्रव्योंकी मनोद्रव्य-वर्गणा संज्ञा है। (७५१/५५२)। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर ज्ञानावरणरूपसे, दर्शनावरणरूपसे, वेदनीयरूपसे, मोहनीयरूपसे, आयुरूपसे, नामरूपसे, गोत्ररूपसे और अन्तरायरूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते हैं, अतः उन द्रव्योंकी कार्मण-द्रव्यवर्गणा संज्ञा है (७५८/५५३)।

ध. १४/५,६,७९-८७/पृष्ठ/पंक्ति ओरालियवेउव्वियआहारसरीर-पाओग्ग-पोग्गलक्खंधाणं आहारदव्ववग्गणा त्ति सण्णा। (५९/१०)। एसा सत्तमी वग्गणा। एदिस्से पोग्गलक्खंधा तेजइयसरीरपाओग्गा। (६०/१०)। भासादव्ववग्गणाए परमाणुपोग्गलक्खंधा चदुण्णं भासाणं पाओग्गा। पटह-भेरी-काहलत्थणगज्जणादिसद्दाणं पि एसा चेव वग्गणा पाओग्गा। (६१/१०) एसा एक्कारसमी वग्गणा। एदीए वग्गणाए दव्वमणणिव्वत्तणं करिदे। (६२/१४)। एसा तेरसमी वग्गणा। एदिस्से वग्गणाए पोग्गलक्खंधा अट्ठकम्मपाओग्गा। (६३/१४)।—औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्कन्धोंकी आहारद्रव्यवर्गणा संज्ञा है। (५९/१०)। यह सातवीं वर्गणा है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते हैं। (६०/१०)। भाषावर्गणाके परमाणुपुद्गलस्कन्ध चार भाषाओंके योग्य होते हैं। तथा ढोल, भेरी, नगारा और मेघका गर्जन आदि शब्दोंके भी योग्य ये ही वर्गणाएँ होती हैं। (६१/१०)। यह ग्यारहवीं वर्गणा है, इस वर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती है। (६२/१४)। यह तेरहवीं वर्गणा है, इस वर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोंके योग्य होते हैं। (६३/१४)।

६. ग्राह्य अग्राह्य वर्गणाओंके लक्षण

ष. ख. १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ अग्गहणदव्ववग्गणा आहारदव्वमधिच्छिदा तेया दव्ववग्गणं ण पावदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहण दव्ववग्गणा णाम। (७३३/५४८)। अगहणदव्ववग्गणा तेजादव्वमधिच्छिदा भासादव्वं ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७४०/५४९)। अग्गहणदव्ववग्गणा भासा दव्वमधिच्छिदा मणदव्वं ण पावेदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७४७/५५१)। अगहण दव्ववग्गणा [मण] दव्वमधिच्छिदा कम्मइयदव्वं ण पावदि ताणं दव्वाणमंतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७५४/५५२)। —अग्रहणवर्गणा आहार द्रव्यसे प्रारम्भ होकर तैजसद्रव्यवर्गणाको नहीं प्राप्त होती है, अथवा तैजसद्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर भाषा द्रव्यको नहीं प्राप्त होती है, अथवा भाषा द्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर मनोद्रव्यको नहीं प्राप्त होती है, अथवा मनोद्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर कार्मण द्रव्यको नहीं प्राप्त होती है। अतः उन दोनों द्रव्योंके मध्यमें जो होती है उसकी अग्रहण द्रव्यवर्गणा संज्ञा है।

७. ध्रुव, ध्रुवशून्य व सान्तर निरन्तर वर्गणाओंके लक्षण

ध. १४/५,६,७१६/५४३/१० पंचण्णं सरीराणं जा गेज्झा सा गहणपा-ओग्गा णाम। जा पुण तासिमगेज्झा [सा] अगहण पाओग्गा णाम। —पाँच शरीरोंके जो ग्रहणयोग्य है वह ग्रहणप्रायोग्य कहलाती है। परन्तु जो उनके ग्रहण योग्य नहीं है वह अग्रहणप्रायोग्य कहलाती है। (ध. १४/५,६,८२/६१/३)।

ष. ख. १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ कम्मइयदव्ववग्गणाणमुवरि धुवक्खंधदव्ववग्गणा णाम। (८८/६३)। धुवक्खंधदव्ववग्गणाणमुवरि सांतरणिरंतरदव्व-वग्गणा णाम। (८९/६४) सांतरणिरंतरदव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्ण-वग्गणा णाम। (९०/६५)।—कार्मण द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुव-स्कन्ध द्रव्यवर्गणा है। (८८/६३)। ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा है। (८९/६४)। सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुवशून्यवर्गणा है। (९०/६५)।

ध. १४/५,६,८९-९०/पृष्ठ/पंक्ति धुवक्खंधणिद्देसो अंतदीवओ। तेण हेट्ठिम सव्ववग्गणाओ धुवाओ चेव अंतरविरहिदाओ त्ति घेत्तव्वं। एत्तोप्पहुडि उवरि भण्णमाणसव्ववग्गणासु अगहणभावो णिरंतर मणुवट्टावेदव्वो। (६४/१)। अंतरेण सह णिरंतरं गच्छदि त्ति सांतरणिरंतरदव्ववग्गणासण्णा एदिस्से अत्थाणुगया। (६४/१२)।

एसा वि अगहणवग्गणा चेव, आहारतेजा-भासा-मण-कम्माणजोगत्तादो। (६५/२)। अदीदाणागद वट्टमाणकालेसु एदेण सरूवेण परमाणु-पोग्गलसंचयाभावादो धुवसुण्णदव्ववग्गणा त्ति अत्थाणुगया सण्णा। संपहि उक्कस्ससांतरणिरंतरदव्ववग्गणाए उवरि परमाणुत्तरो परमाणु-पोग्गलक्खंधो तिसु वि कालेसु णत्थि। दुपदेसुत्तरो वि णत्थि। एवं तिपदेसुत्तरादिकमेण सव्वजीवेहि अणंतगुणमेत्तमद्धाणं गंतूण पढम-धुवसुण्णवग्गणाए उक्कस्सवग्गणा होदि।...एसा सोलसमी वग्गणा। सव्वकालं सुण्णभावेण अवट्ठिदा। —यह ध्रुवस्कन्ध पदका निर्देश अन्तर्दीपक है। इससे पिछली सब वर्गणाएँ ध्रुव ही हैं अर्थात् अन्तरसे रहित हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यहाँसे लेकर आगे कही जानेवाली सब वर्गणाओंमें अग्रहणपनेकी निरन्तर अनुवृत्ति करनी चाहिए। (६४/१)। जो वर्गणा अन्तरके साथ निरन्तर जाती है, उसकी सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह सार्थक संज्ञा है। (६४/१२)। यह भी अग्रहण वर्गणा ही है; क्योंकि यह आहार, तैजस्, भाषा, मन और कर्मके अयोग्य है। (६५/२)। अतीत अनागत और वर्तमान कालमें इस रूपसे परमाणु पुद्गलोंका संचय नहीं होता, इसलिए इसको ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा यह सार्थक संज्ञा है। उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणु अधिक परमाणुपुद्गलस्कन्ध तीनों ही कालोंमें नहीं होता, दो प्रदेश अधिक भी नहीं होता, इस प्रकार तीन प्रदेश आदिके क्रमसे सब जीवोंसे अनन्तगुणे स्थान जाकर प्रथम ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। यह सोलहवीं वर्गणा है जो सर्वदा शून्यरूपसे अवस्थित है।

ध. १३/५.५.८२/२५१/१६ एत्थ तेवीस वग्गणासु चदुसु धुवसुण्णवग्गणासु अवणिदासु एगूणवीसदिविधा पोग्गला होंति। पादेक्कमणंतभेदा। —तेईस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं। और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं। विशेषार्थ—(शीर्षक सं. १ के अनुसार जबतक *वर्गणाओंमें एक प्रदेश या परमाणुकी वृद्धिका अटूट क्रम पाया जाता* है, तबतक उनकी एक प्रदेशी व आहारक वर्गणा आदि विशेष संज्ञाएँ कही जाती हैं। ध्रुवस्कन्धवर्गणा तक यह अटूट क्रम चलता रहता है। तत्पश्चात् एक वृद्धिक्रम भंग हो जाता है। एक प्रदेश वृद्धिके कुछ स्थान जानेके पश्चात् एकदम संख्यात या असंख्यात प्रदेश अधिकवाली ही वर्गणा प्राप्त होती है, उससे कमकी नहीं। पुनः एक प्रदेश अधिकवाली और पुनः संख्यात आदि प्रदेश अधिकवाली वर्गणाएँ जबतक प्राप्त होती रहती है, तबतक उनकी सान्तरनिरन्तर वर्गणा संज्ञा है, क्योंकि वे कुछ-कुछ अन्तराल छोड़कर प्राप्त होती हैं। तत्पश्चात् एकसाथ अनन्त प्रदेश अधिक वाली वर्गणा ही उपलब्ध होती है। उससे कम प्रदेशोंवाली वर्गणा तीन कालमें भी उपलब्ध नहीं होता। इसलिए यह स्थान वर्गणाओंसे सर्वथा शून्य रहता है। जहाँ-जहाँ भी प्रदेश वृद्धिक्रममें ऐसा शून्य स्थान प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ ही ध्रुव शून्य वर्गणाका निर्देश किया गया है। यही कारण है कि इन ४ ध्रुवशून्य वर्गणाओंको पुद्गलरूप नहीं गिना है। ये सत् रूप नहीं हैं। शेष १६ वर्गणाएँ सत् रूप होनेसे पुद्गल संज्ञाको प्राप्त है)।

८. प्रत्येक शरीर व अन्य वर्गणाओंके लक्षण

ध. १४/५.६/सूत्र/पृष्ठ/पंक्ति एक्कस्स जीवस्स एक्कम्हि देहे उवचिदकम्म-णोकम्मक्खंधा पत्तेगसरीरदव्ववग्गणा णाम। (९१/६५/१२)। बादर-सुहुमणिगोदेहि असंबद्धजीवा पत्तेयसरीरवग्गणा त्ति घेत्तव्वा। (११६/१८२/१)। पंचण्हं सरीराणं बाहिरवग्गणा त्ति सिद्धा सण्णा। (११७/२२४/४) —एक-एक जीवके एक-एक शरीरमें उपचित हुए कर्म और नोकर्मस्कन्धोंकी **प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा** संज्ञा है। बादरनिगोद और सूक्ष्मनिगोदसे असम्बद्ध जीव प्रत्येकशरीर वर्गणा होते हैं। पाँच शरीरोंकी बाह्यवर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है (वे० वर्गणा/२/६)।

दे. वनस्पति/१/७ (प्रत्येकशरीरवर्गणा असंख्यात लोक प्रमाण है)।

दे. वनस्पति/२/१० (बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणा आवलिके असंख्यात भागप्रमाण है)।

ध. १४/५.६.७८/५८/६ परित्त-अपरित्तवग्गणाओ सुत्तुद्दिट्ठाओ अणंत-पदेसियवग्गणासु चेव णिवदंति। अणंत अणंताणंतेहिंतो वदिरित्त-परित्तअपरित्ताणमभावादो। —परीत और अपरीत वर्गणाएँ अनन्त-प्रदेशी वर्गणाओंमें ही सम्मिलित हैं, क्योंकि, अनन्त व अनन्ता-नन्तसे अतिरिक्त वे उपलब्ध नहीं होती।

२. वर्गणा निर्देश

१. वर्गणाओंमें प्रदेश व रसादिका निर्देश

ष. ख. १४/५.६/सूत्र ७५६-७८३/५५४-५५६ पदेसट्ठाओरालियसरीर-दव्ववग्गणाओ पदेसट्ठा अणंताणंत पदेसियाओ।७५६। पंचवण्णाओ।७६०। पंचरसाओ।७६१। दुगंधाओ।७६२। अट्ठफासाओ।७६३। वेउव्वियसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ।७६४। पंचवण्णाओ।७६५। पंचरसाओ।७६६। दुगंधाओ।७६७। अट्ठफासाओ।७६८। आहारसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ।७६९। पंचवण्णाओ।७७०। पंचरसाओ।७७१। दुगंधाओ।७७२। अट्ठफासाओ।७७३। तेजासरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ।७७४। पंचवण्णाओ।७७५। पंचरसाओ।७७६। दोगंधाओ।७७७। चदुपासाओ।७७८। भासा-मण-कम्मइयसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंत पदेसियाओ।७७९। पंचवण्णाओ।७८०। पंचरसाओ।७८१। दुगंधाओ।७८२। चदुपासाओ।७८३। —(आहारकवर्गणाके अन्तर्गत) औदारिक, वैक्रियक व आहारक शरीरोंकी वर्गणा अनन्तानन्त प्रदेशवाली हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध व आठ स्पर्शवाली हैं।७५६-७७३। तैजस्, भाषा, मनो व कार्मण ये चारों वर्गणाएँ अनन्तानन्त प्रदेशवाली हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाली हैं।७७४-७८३।

ध./पु. १४/५.६.७२६/५४५/१० आहारवग्गणाए जहण्णवग्गणप्पहुडि जाव महाक्खंधदव्ववग्गणे त्ति ताव एदाओ अणंताणंतपदेसियवग्गणाओ त्ति एत्थ सुत्ते घेत्तव्वाओ। —आहार वर्गणाकी जघन्य वर्गणासे लेकर महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा तक ये सब अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाएँ हैं, इस प्रकार यहाँ सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए।

दे. अल्पबहुत्व/३/४ —(औदारिक आदि तीन शरीरोंकी वर्गणाएँ प्रदेशार्थताकी अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं। तथा इससे आगे तैजस्, भाषा, मन व कार्मण शरीर वर्गणाएँ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हैं। अवगाहनाकी अपेक्षा कार्मण, मनो, भाषा, तैजस्, आहारक, वैक्रियक व औदारिककी वर्गणाएँ क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं। औदारिक आदि शरीरोंमें विस्रसोपचयोंका प्रमाण क्रमसे उनके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त उत्तरोत्तर अनन्तगुणा है।

२. प्रदेशोंकी क्रमिक वृद्धि द्वारा वर्गणाओंकी उत्पत्ति

ष. ख. १४/५.६/सूत्र/पृष्ठ—वग्गणपरूवणदाए इमा एयपदेसियपरमाणु-पोग्गलदव्ववग्गणा णाम। (७६/५४)। इमा दुपदेसियपरमाणुपोग्गल-दव्ववग्गणा णाम। (७७/५५)। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पंचप-देसिय छप्पदेसिय सत्तपदेसिय-अट्ठपदेसिय, णवपदेसिय-दसपदे-सिय-संखेज्जपदेसिय-असंखेज्जपदेसिय-परित्तपदेसिय-अपरित्तपदे-सिय-अणंतपदेसिय-अणंताणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम (७८/५७)। अणंताणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणाणमुवरि आहारदव्ववग्गणा णाम। (७९/५९)। आहारदव्ववग्गणाणमुवरि अगहणदव्ववग्गणा णाम। (८०/५९)। अगहण दव्ववग्गणाण-

मुवरि तेयादव्ववग्गणा णाम। (८१/९०)। तेयादव्ववग्गणाणमुवरि अगहणदव्ववग्गणा णाम। (८२/९०)। अगहणदव्ववग्गणाणमुवरि भासादव्ववग्गणा णाम। (८३/९१)। भासादव्ववग्गणाणमुवरि अगहण दव्ववग्गणा णाम। (८४/९२)। अगहणदव्ववग्गणाणमुवरि मणदव्ववग्गणा णाम। (८५/९२)। मणदव्ववग्गणाणमुवरि अगहण-दव्ववग्गणा णाम। (८६/९३)। अगहण दव्ववग्गणाणमुवरि कम्मइय-दव्ववग्गणा णाम। (८७/९३)। कम्मइयदव्ववग्गणाणमुवरि धुवक्खंधदव्ववग्गणा णाम। (८८/९३)। धुवक्खंधदव्ववग्गणाणमुवरि सांतरणिरंतरदव्ववग्गणा णाम। (८९/९४)। सांतरणिरंतरदव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम। (९०/९५)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि पत्तेयसरीरदव्ववग्गणा णाम। (९१/९५)। पत्तेयसरीर-दव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम। (९२/८३)। धुवसुण्ण-वग्गणाणमुवरि बादरणिगोददव्ववग्गणा णाम। (९३/८४)। बादर-णिगोददव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम। (९४/११२)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि सुहुमणिगोददव्ववग्गणा णाम। (९५/११३)। सुहुमणिगोददव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम। (९६/११६)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि महाखंध दव्ववग्गणा णाम। (९६/११७)।

ध. १४/५,६,९९/४९/४ तत्थ वग्गणपरूवणा किमट्ठं कीरदे। एगपरमाणुवग्गणप्पहुडि एगपरमाणुत्तरकमेण जाव महाक्खंधो त्ति ताव सव्व वग्गणाणमेगसेडिपरूवणट्ठं कीरदे। —प्रश्न—यहाँ वर्गणा अनुयोग द्वारकी प्ररूपणा किस लिए की गयी है। (ध.) उत्तर—एक परमाणुरूप वर्गणासे लेकर एक-एक परमाणुकी वृद्धि क्रमसे महास्कन्ध तक सब वर्गणाओंकी एक श्रेणी है, इस बातका कथन करनेके लिए की है। (ध.)। अर्थात (ष. ख.)—वर्गणाकी प्ररूपणा करनेपर सर्वप्रथम यह एकप्रदेशी परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा है।७६। उसके ऊपर क्रमसे एक-एक प्रदेशकी वृद्धि करते हुए द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी, परीत व अपरीतप्रदेशी तथा अनन्त व अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणा होती हैं।७७-७८। इस अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाके ऊपर [उसी एक प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अपने-अपने जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त और पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणासे उत्तरवर्ती जघन्यवर्गणा पर्यन्त क्रमसे] आहार, अग्रहण, तैजस्, अग्रहण, भाषा, अग्रहण, मनो, अग्रहण, कार्मण, ध्रुवस्कन्ध, सान्तरनिरन्तर, ध्रुवशून्य, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, ध्रुवशून्य, सूक्ष्मनिगोद, ध्रुवशून्य और महास्कन्ध नामवाली वर्गणाएँ होती हैं। (७९-९७)। (इन वर्गणाओंका स्वस्थान व परस्थान प्रदेश वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार जानना—]

ध. १४/५,६,७९-८०/५९/६—उक्कस्स अणंतपदेसियदव्ववग्गणाए उवरि एगरूवे पक्खित्ते जहण्णिया आहारदव्ववग्गणा होदि। तदो रूवुत्तरकमेण अभवसिद्धिएहि अणंतगुण सिद्धाणमणंतभागमेत्तवियप्पे गंतूण समप्पदि। जहण्णादो उक्कस्सिया विसेसाहिया। विसेसो पुण अभवसिद्धिएहि अणंतगुणो सिद्धाणमणंतभागमेत्तो होंतो वि आहार-उक्कस्सदव्ववग्गणाए अणंतिमभागो। उक्कस्स आहारदव्ववग्गणाए उवरि एगरूवे पक्खित्ते पढमअगहण दव्ववग्गणाएसव्वजहण्णवग्गणा होदि। तदो रूवुत्तरकमेण अभवसिद्धिएहि अणंतगुण-सिद्धाणमणंतभागमेत्तद्धाणं गंतूण उक्कस्सिया अगहणदव्ववग्गणा होदि। जहण्णादो उक्कस्सिया अणंतगुणा। को गुणगारो। अभवसिद्धिएहि अणंतगुणो सिद्धाणमणंतभागो।

ध. १४/५,६,९७/गा. ९-१४/११७ अणु संखा संखगुणा परित्तवग्गणम-(?)गलोगगुणं। गुणगारो पंचण्णं अग्गहणाणं अभव्वणंतगुणो।९। आहारतेजभासा मणेण कम्मेण वग्गणाण भवे। उक्कस्स विसेसो अभव्वजीवेहि अधियो दु।१०। धुवखंधसांतराणं धुवसुण्णस्स य हवेज्ज गुणगारो। जीवेहि अणंतगुणो जहण्णियादो दु उक्कस्से।११। पल्लासंखेज्जदिभागो पत्तेयदेहगुणगारो। सुण्णे अणंतलोगा थूलणिगोदपुणो बोद्धव्व।१२। सेडिअसंखेज्जदिमो भागो सुण्णस्स अंगुलस्सेव। पलिदोवमस्स सुहुमे पदरस्स गुणो दु सुण्णस्स।१३। एदेसिं गुणगारो जहण्णियादो दु जाण उक्कस्से। सांहिअम्हि महखंधे-असंखेज्जदियो दु पल्लस्स।१४। —उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अंकके मिलानेपर जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा होती है। फिर एक अधिकके क्रमसे अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण भेदोंके जानेपर अन्तिम (उत्कृष्ट) आहार द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्यसे उत्कृष्ट विशेष अधिक है विशेषका प्रमाण अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण होता हुआ भी उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणाके अनन्तवें भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलानेपर प्रथम अग्रहण द्रव्यवर्गणा-सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है। फिर एक-एक बढ़ाते हुए अभव्योंसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्यसे उत्कृष्ट अनन्त-गुणी होती है। गुणकार अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंके अनन्तवें भाग प्रमाण है। [इसी प्रकार पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक प्रदेश अधिक करनेपर उत्तरवर्ती जघन्य वर्गणा, तथा अपनी ही जघन्यमें क्रमसे एक-एक प्रदेश अधिक करते जानेपर, अनन्तस्थान आगे जाकर उसहीकी उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। यहाँ अनन्तका प्रमाण सर्वत्र अभव्योंका अनन्तगुणा तथा सिद्धोंका अनन्तवाँ भाग जानना। प्रत्येक वर्गणाके उत्कृष्ट प्रदेश अपने ही जघन्य प्रदेशोंसे कितने अधिक होते हैं, इसका संकेत निम्न प्रकार है]—

सं.	वर्गणाका नाम	जघन्य व उत्कृष्ट वर्गणाओंका अल्प बहुत्व	
		कितना अधिक	गुणकार व विशेषका प्रमाण
१	अणुवर्गणा	एक	×
२	संख्याताणुवर्गणा	संख्यातगुणा	संख्यात
३	असंख्याताणुवर्गणा	असंख्यगुणा	असंख्यात
४	अनन्ताणुवर्गणा	अनन्तगुणा	(अभव्य×अनन्त) तथा (सिद्ध/अनन्त)
५	आहारवर्गणा	विशेषाधिक	,,
६	प्र० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
७	तैजस् वर्गणा	विशेषाधिक	,,
८	द्वि० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
९	भाषा वर्गणा	विशेषाधिक	,,
१०	तृ० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
११	मनो व०	विशेषाधिक	,,
१२	चतु० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
१३	कार्मण वर्गणा	विशेषाधिक	अभव्य×अनन्त ; सिद्ध/अनन्त
१४	ध्रुवस्कन्ध व०	अनन्तगुणा	सर्व जी० अनन्त
१५	सान्तरनिरन्तर०	,,	,,
१६	प्र० ध्रुवशून्य	,,	,,
१७	प्रत्येक शरीर०	असंख्य गुणा	पल्य ÷ असंख्यात
१८	द्वि० ध्रुवशून्य०	अनन्तगुणा	अनन्तलोकप्रदेश
१९	बा० निगोद०	असंख्य गुणा	जगश्रेणी ÷ असंख्यात
२०	तृ० ध्रुवशून्य०	,,	अंगुल ÷ असंख्यात
२१	सूक्ष्म निगोद०	,,	पल्य ÷ असंख्यात
२२	चतु० ध्रुवशून्य	,,	जगत्प्रतर ÷ संख्यात
२३	महा स्कन्ध	विशेषाधिक	पल्य ÷ असंख्यात

३. ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंके भेद व संघातसे वर्गणाओंकी उत्पत्ति

प्रमाण—ष. ख. १४/५,६/सू. ९८–११६/१२०–१२३।

संकेत– भेद—ऊपरके द्रव्यके भेद द्वारा उत्पत्ति।
संघात—नीचेके द्रव्यके संघात द्वारा उत्पत्ति।
भेदसंघात—स्वस्थानमें भेद व संघात द्वारा।

सं०	सूत्र सं०	वर्गणाका नाम	उत्पत्ति विधि		
			भेद	संघात	भेदसंघात
१	९८–९९	एक प्रदेशी	हाँ	×	×
२	१००–१०३	संख्यात प्रदे०	,,	हाँ	हाँ
३	,,	असंख्यात प्रदे०	,,	,,	,,
४	,,	अनन्त प्रदेशी	,,	,,	,,
५	१०४–१०५	आहार वर्गणा	,,	,,	,,
६	,,	प्रथम अग्राह्य	,,	,,	,,
७	,,	तैजस् वर्गणा	,,	,,	,,
८	,,	द्वि० अग्राह्य व०	,,	,,	,,
९	,,	भाषा वर्गणा	,,	,,	,,
१०	,,	तृ० अग्राह्य वर्ग०	,,	,,	,,
११	,,	मनो वर्गणा	,,	,,	,,
१२	,,	चतु अग्राह्य वर्गणा	,,	,,	,,
१३	,,	कार्मण वर्गणा	,,	,,	,,
१४	१०६–१०८	ध्रुवस्कन्ध वर्गणा	,,	,,	,,
१५	,,	सान्तरनिरन्तर व०	,,	,,	,,
१६	×	प्र० ध्रुवशून्य वर्ग०	×	×	×
१७	१०९–११०	प्रत्येक शरीर वर्गणा	×	×	हाँ
१८	×	द्वि० ध्रुवशून्य व०	×	×	×
१९	१११–११२	बादरनिगोद वर्गणा	×	×	हाँ
२०	×	तृ० ध्रुवशून्य वर्ग०	×	×	×
२१	११३–११४	सूक्ष्मनिगोद वर्गणा	×	×	हाँ
२२	×	चतुर्थ ध्रुवशून्य व०	×	×	×
२३	११५–११६	महास्कन्ध व०	×	×	हाँ

दे० स्कन्ध—(सूक्ष्मस्कन्ध तो भेद, संघात व भेदसंघात तीनों प्रकारसे होते हैं, पर स्थूलस्कन्ध भेदसंघातसे होते हैं)

दे० वर्गणा/२/८ (ध्रुवशून्य तथा बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणाएँ भी ऊपरी द्रव्यके भेद व नीचेके द्रव्यके संघात द्वारा उत्पन्न होने सम्भव हैं।)

४. पाँच वर्गणाएँ ही व्यवहार योग्य हैं अन्य नहीं

ष.ख.१४/५,६/सू.७२०–७२६/५४४ अग्गहणपाओग्गाओ इमाओ एयपदेसियसव्वपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणाओ।७२०। इमा दुपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं गहणपाओग्गाओ किमगहणपाओग्गाओ।७२१। अग्गहणपाओग्गाओ।७२२। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पंचपदेसिय-छप्पदेसिय-सत्तपदेसिय-अट्ठपदेसिय-णवपदेसिय-दसपदेसिय-संखेज्जपदेसिय-असंखेज्जपदेसिय-अणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं गहणपाओग्गाओ किमगहणपाओग्गाओ।७२३। अग्गहणपाओग्गाओ।७२४। अणंताणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं गहणपाओग्गाओ किमगहणपाओग्गाओ।७२५। काओ चि गहणपाओग्गाओ काओ चि अग्गहणपाओग्गाओ।७२६।

ध. १४/५,६,७२६/५४५/११ तत्थ आहार-तेज-भासा-मणकम्मइयवग्गणाओ गहणपाओग्गाओ अवसेसाओ अग्गहणपाओग्गाओ त्ति घेत्तव्वं।—एक प्रदेशी, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, संख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी वर्गणाएँ तो नियमसे ग्रहणके अयोग्य हैं। परन्तु अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाओंमें कुछ ग्रहणयोग्य हैं और कुछ ग्रहणके अयोग्य। सूत्र ७२०–७२६। उनमेंसे आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा ये (तो) ग्रहणप्रायोग्य हैं, अवशेष (सर्व) अग्रहणप्रायोग्य हैं ऐसा ग्रहण करना चाहिए। (और भी दे० अगला शीर्षक)।

५. अव्यवहार्य भी अन्य वर्गणाओंका कथन क्यों किया

ध. १४/५,६,८८/६४/७ 'आहार-तेजा-भासा-मणकम्मइयवग्गणाओ चेव एत्थ परूवेदव्वाओ, बंधणिज्जत्तादो, ण सेसाओ, तासिं बंधणिज्जत्ताभावादो। ण, सेसवग्गणपरूवणाए विणा बंधणिज्जवग्गणाणं परूवणोवायाभावादो वदिरेगावगमणेण विणा णिच्छिदण्णयपच्चयउत्तीए अभावादो वा।—प्रश्न—यहाँपर आहार, तैजस्, भाषा, मनो, और कार्मण ये पाँच वर्गणा ही कहनी चाहिए, क्योंकि वे बन्धनीय हैं। शेष वर्गणाएँ नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि, वे बन्धनीय नहीं हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, शेष वर्गणाओंका कथन किये बिना बन्धनीय वर्गणाओंके कथन करनेका कोई मार्ग नहीं है। अथवा व्यतिरेकका ज्ञान हुए बिना निश्चित अन्वयके ज्ञानमें वृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए यहाँ बन्धनीय व अबन्धनीय सब वर्गणाओंका निर्देश किया है।

६. शरीरों व उनकी वर्गणाओंमें अन्तर

ध. १४/५,६,११७/२२४/१ पुव्वुत्ततेवीसवग्गणाहिंतो पंचसरीराणि पुधभूदाणि त्ति तेसिं बाहिरववएसो। तं जहा—ण ताव पंचसरीराणि अचित्तवग्गणासु णिवदंति, सचित्ताणमचित्तभावविरोहादो। ण च सचित्तवग्गणासु णिवदंति, विस्सासुवचएहि विणा पंचण्हं सरीराणं परमाणूणं चेव गहणादो। तम्हा पंचण्हं सरीराणं बाहिरवग्गणा त्ति सिद्धा सण्णा।—तेईस वर्गणाओंमेंसे पाँच शरीर पृथग्भूत हैं, इसलिए इनकी बाह्य संज्ञा है। यथा—पाँच शरीर अचित्त वर्गणाओंमें तो सम्मिलित किये नहीं जा सकते, क्योंकि, सचित्तोंको अचित्त माननेमें विरोध आता है। उनका सचित्त वर्गणाओंमें भी अन्तर्भाव नहीं होता, क्योंकि, विस्रसोपचयोंके बिना पाँच शरीरोंके परमाणुओंका ही सचित्त वर्गणाओंमें ग्रहण किया है। इसलिए पाँच शरीरोंकी बाह्य वर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है।

७. वर्गणाओंमें जाति भेद सम्बन्धी विचार

१. वर्गणाओंमें जाति भेदका निर्देश

गो. जी./जी.प्र./५९४ ५९५/१०३३। पर उद्धृत श्लोक—मूर्तिमत्सु पदार्थेषु संसारिण्यपि पुद्गलः। अकर्मकर्मनोकर्मजातिभेदेषु वर्गणा।१।—मूर्तिमान् पदार्थों व संसारी जीवोंमें पुद्गल शब्द वर्तता है और कर्म, अकर्म व नोकर्मकी जाति भेदवाले पुद्गलोंमें वर्गणा शब्दकी प्रवृत्ति होती है।

२. तीनों शरीरोंकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद

ध. १४/५,६,७३१/५४७/८ जदि एदेसिं तिण्णं सरीराणं वग्गणाओ ओग्गाहणभेदेण सखाभेदेण च भिण्णाओ तो आहारदव्ववग्गणा एक्को चेवे त्ति किमट्ठं उच्चदे। ण, अग्गहणवग्गणाहि अंतराभावं पडुच्च तासिमेगत्तुवएसादो। ण च संखाभेदो असिद्धो, अवरिभण्णमाणअप्पाबहुएणेव तस्स सिद्धीदो।—प्रश्न—यदि (औदारिक, वैक्रियक व आहारक) इन तीन शरीरोंकी वर्गणाएँ अवगाहनाके भेदसे और

संख्याके भेदसे अलग-अलग हैं, तो आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है, ऐसा किस लिए कहते हैं ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अग्रहण वर्गणाओंके द्वारा अन्तरके अभावकी अपेक्षा इन वर्गणाओंके एकत्वका उपदेश दिया गया है। संख्याभेद असिद्ध नहीं है, क्योंकि, आगे कहे जानेवाले अल्पबहुत्वसे ही उसकी सिद्धि होती है। भावार्थ—[वास्तवमें जातिकी अपेक्षा यद्यपि तीनों शरीरोंकी वर्गणाएँ भिन्न हैं, परन्तु एक प्रदेश वृद्धिक्रममें अन्तर पड़े बिना इनकी उपलब्धि होनेके कारण इन तीनोंको एक आहार वर्गणामें गर्भित कर दिया गया। अथवा यों कहिए कि जिस प्रकार अन्य सर्व वर्गणाओंके बीचमें अग्रहण वर्गणा या ध्रुवशून्य वर्गणाका अन्तराल पड़ता है उस प्रकार इन तीनोंमें नहीं पड़ता, इस कारण इनमें एकत्व है।]

३. आठों कर्मोंकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद।

ध. १४/५,६,७१८/५५३/६ णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादिपच्चएहि पंचणाणावरणीयसरूवेण परिणमंति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो। अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं।...जदि एवं तो कम्मइयवग्गणाओ अट्ठेत्ति किण्ण परूविदाओ। ण अंतराभावेण तधोवदेसाभावादो। एदाओ अट्ठ वि वग्गणाओ किं पुध-पुध अच्छंति आहो कदंबियाओ त्ति। पुध-पुध ण अच्छंति किंतु कदंबियाओ। कुदो एद णव्वदे। 'आउभागो थोवो णाम-गोदे समो तदो अहिओ' एदीए गाहाए णव्वदे। सेसं जाणिदूण वत्तव्वं।—ज्ञानावरणीयके योग्य जो द्रव्य हैं वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूपसे परिणमन करते हैं, अन्य रूपसे वे परिणमन नहीं करते, क्योंकि, वे अन्यके अयोग्य होते हैं। इसी प्रकार सब कर्मोंके विषयमें कहना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो कार्मणवर्गणाएँ आठ हैं, ऐसा कथन क्यों नहीं किया [उसे एक कार्मण वर्गणाके नामसे क्यों कहा गया]। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अन्तरका अभाव होनेसे उस प्रकारका उपदेश नहीं पाया जाता (विशेष देखो ऊपरवाला उपशीर्षक)। प्रश्न—ये आठ ही वर्गणाएँ क्या पृथक्-पृथक् रहती है या मिश्रित होकर रहती हैं ? उत्तर—पृथक्-पृथक् नहीं रहती हैं; किन्तु मिश्रित होकर ही रहती हैं। प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाना है ? उत्तर—(एक समय प्रबद्ध कार्मण द्रव्यमें) आयु कर्मका भाग स्तोक है। नामकर्म और गोत्रकर्मका भाग उससे अधिक है। इस गाथासे जाना जाता है। शेषका कथन जानकर करना चाहिए।

ध. १४/८/३१/१ ण च एयादो अणेयाणं कम्माणं उप्पत्ती विरुद्धा कम्मइयवग्गणाए अणंताणंतसंखाए अट्ठकम्मपाओग्गभावेण अट्ठविहत्तमावण्णाए एयत्तविरोहादो। ण च एयादो घडादो अणेयाणं खप्पराणमुप्पत्तिं दंसणादो। वुत्तं च—'कम्मं ण होदि एयं अणेयविहमेय बंधसमकाले। मूलुत्तरपयडीणं परिणामवसेण जीवाणं।।१७। जीवपरिणामाणं भेदेण परिणामिज्जमाणकम्मइयवग्गणाणं भेदेण च कम्माणं बंधसमकाले चेव अणेयविहत्तं होदि त्ति घेत्तव्वं।—एकसे अनेक कर्मोंकी उत्पत्ति विरुद्ध है, ऐसा कहना भी अयुक्त है; क्योंकि, आठ कर्मोंकी योग्यतानुसार आठ भेदको प्राप्त हुई अनन्तानन्त संख्यारूप कार्मण वर्गणाको एक माननेका विरोध है। दूसरे, एकसे अनेक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती; ऐसा एकान्त भी नहीं है, क्योंकि, एक घटसे अनेक खप्परोंकी उत्पत्ति देखी जाती है। कहा भी है—'कर्म एक नहीं है, वह जीवोंके परिणामानुसार मूल व उत्तर प्रकृतियोंके बन्धके समान कालमें ही अनेक प्रकारका है।१७।' जीवपरिणामोंके भेदसे और परिणामी जानेवाली कार्मण वर्गणाओंके भेदसे बन्धके समकालमें ही कर्म अनेक प्रकारका होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

४. प्रत्येक शरीर वर्गणा अपनेसे पहले या पीछेवाली वर्गणाओंसे उत्पन्न नहीं होती

ध. १४/५,६,११०/१२८/३ परमाणुवग्गणमादिं काढूण जाव सांतरणिरंतरउक्कस्सवग्गणे त्ति ताव एदासिं वग्गणाणं समुदयसमागमेण पत्तेयसरीरवग्गणा ण समुप्पज्जदि। कुदो। उक्कस्ससांतरणिरंतरवग्गणाणसरूवं मोत्तूण रूवाहियादिउवरिमवग्गणसरूवेण परिणमणसत्तीए अभावादो। ... पत्तेयसरीर समागमेण विणा हेट्ठिमवग्गणाणं चेव समुदयसमागमेण समुप्पज्जमाणपत्तेयसरीरवग्गणाणुवलंभादो। किंच जोगवसेण एगबंधणबद्धओरालिय-तेजाकम्मइयपरमाणुपोग्गलक्खंधा अणंताणंतविस्सासुवचएहि उवचिदा। ण ते सव्वे सांतरणिरंतरादिहेट्ठिमवग्गणासु कत्थ वि सरिसधणिया होंति; पत्तेयवग्गणाए असंखेज्जदिभागत्तादो।...उवरिल्लीणं दव्वाणं भेदेण विणा पत्तेयसरीरवग्गणा उप्पज्जदि, बादरसुहुमणिगोदवग्गणाणमोरालिय-तेजा-कम्मइयवग्गणक्खंधेसु अधट्ठिदिगलणाए गलिदेसु पत्तेयसरीरवग्गणं बोलेदूण हेट्ठा सांतरणिरंतरादिवग्गणसरूवेण सरिसधणियभावेण अवट्ठाणुवलंभादो।...उवरिमवग्गणादो आगदपरमाणु-पोग्गलेहि चेव पत्तेयसरीरवग्गणाणिप्पत्तीए अभावादो।...उवरिल्लीणं वग्गणाणं भेदो णाम विणासो। ण च बादरसुहुमणिगोदवग्गणाणं मज्झे एया वग्गणा णट्ठा संती पत्तेयसरीरवग्गणासरूवेण परिणमदि; पत्तेयवग्गणाए आणंतियप्पसंगादो।—१. परमाणु वर्गणासे लेकर सान्तरनिरन्तर उत्कृष्ट वर्गणा तक इन (१५) वर्गणाओंके समुदय समागमसे प्रत्येक शरीर वर्गणा (१७वीं वर्गणा) नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर वर्गणाओंका अपने स्वरूपको छोड़कर एक अधिक आदि उपरिम वर्गणारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिका अभाव है। ...प्रत्येकशरीर वर्गणाके समागमके बिना केवल नीचेकी (१ से १५ तककी) वर्गणाओंके समुदय समागमसे उत्पन्न होनेवाली प्रत्येकशरीरवर्गणाएँ नहीं उपलब्ध होतीं। दूसरे योगके वशसे एक बन्धनबद्ध औदारिक तैजस और कार्मण परमाणुपुद्गलस्कन्ध अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे उपचित होते हैं। परन्तु वे सब सान्तरनिरन्तर आदि नीचेकी वर्गणाओंमें कहीं भी सदृशधनवाले नहीं होते, क्योंकि वे प्रत्येक वर्गणाके असंख्यातवें भागप्रमाण होते हैं। २. ऊपरके द्रव्योंके भेदके बिना प्रत्येक शरीरवर्गणा उत्पन्न होती है, क्योंकि बादरनिगोदवर्गणा और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा (१९वीं व २१वीं वर्गणाएँ) के औदारिक, तैजस और कार्मणवर्गणास्कन्धोंके अधःस्थिति गलनाके द्वारा गलित होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाको उल्लंघन कर उनका नीचे सदृशधनरूप सान्तरनिरन्तर आदि वर्गणारूपसे अवस्थान उपलब्ध होता है।...उपरिम वर्गणासे आये हुए परमाणुपुद्गलोंसे ही प्रत्येक शरीर वर्गणाकी निष्पत्तिका अभाव है। ...प्रश्न—ऊपरके द्रव्योंके भेदसे प्रत्येक शरीरद्रव्य वर्गणाकी उत्पत्ति क्यों नहीं कहते ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऊपरकी वर्गणाओंके भेदका नाम ही विनाश है, और बादरनिगोदवर्गणा तथा सूक्ष्मनिगोदवर्गणामेंसे एक वर्गणा नष्ट होती हुई प्रत्येक शरीर वर्गणारूपसे नहीं परिणमती, क्योंकि, ऐसा होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ अनन्त हो जायेंगी।

५. ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंमें परस्पर संक्रमणकी सम्भावना व समन्वय

दे वर्गणा/२/३ [एक प्रदेशी वर्गणा अपनेसे ऊपरवाली वर्गणाओंके भेद द्वारा उत्पन्न होती है और संख्यातप्रदेशीको आदि लेकर सान्तरनिरन्तर पर्यन्त सर्व वर्गणाएँ ऊपरवालीके भेदसे नीचेवालीके संघातसे तथा स्वस्थानमें भेद व संघात दोनोंसे उत्पन्न होती हैं। इससे ऊपर ध्रुवशून्यसे महास्कन्ध पर्यन्त केवल स्वस्थानमें भेदसंघात द्वारा ही उत्पन्न होती हैं।]

ध. १४/५.६.११६/१३१/४ सुण्णाओ सुण्णत्तेण अद्धुवाओ वि, उवरिम-हेट्ठिमवग्गणाणं भेदसंघादेण सुण्णाणं पि कालंतरे असुण्णत्तुवलंभादो। असुण्णाओ असुण्णत्तणेण अद्धुवाओ। कुदो। वग्गणाणमेगसरूवेण सव्वद्धमवट्ठाणाभावादो। वग्गणादेसेण पुण सव्वाओ धुवाओ; अणंताणंतवग्गणाणं सव्वद्धमुवलंभादो। सुहुमणिगोदवग्गणाओ सुण्णत्तेण अद्धुवाओ; सुण्णवग्गाहि सव्वकालं सुण्णत्तणेणेव अच्छिदव्वमिदि णियमाभावादो। एदं सभवं पडुच्च परूविदं। वत्ति पडुच्च पुण भण्णमाणे सुण्णाओ सुण्णत्तेण धुवाओ वि अत्थि; वट्टमाणकाले असंखेज्जलोगमेत्तसुहुमणिगोदवग्गणाहि अदीदकालेण वि सव्वजीवेहि अणंतगुणमेत्तट्ठाणावूरणं पडिसमवाभावादो। कारणं बादरणिगोदाणं व वत्तव्वं। अद्धुवाओ वि; उवरिम-हेट्ठिमवग्गणाणं भेदसंघादेण सुण्णाणं पि कालंतरे असुण्णत्तुवलंभादो।...—शून्य वर्गणाएँ शून्यरूपसे अध्रुव भी हैं, क्योंकि उपरिम और अधस्तन वर्गणाओंके भेदसंघातसे शून्य वर्गणाएँ भी कालान्तरमें अशून्यरूप होकर उपलब्ध होती हैं। अशून्य वर्गणाएँ अशून्यरूपसे अध्रुव हैं, क्योंकि वर्गणाओंका एक रूपसे सदा अवस्थान नहीं पाया जाता। वर्गणादेशकी अपेक्षा तो सब वर्गणाएँ ध्रुव हैं, क्योंकि, अनन्तानन्त वर्गणाएँ सर्वदा उपलब्ध होती हैं। सूक्ष्मनिगोदवर्गणाएँ शून्यरूपसे अध्रुव हैं; क्योंकि, शून्यवर्गणाओंको सर्वदा शून्यरूपसे ही रहना चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सम्भवकी अपेक्षा कहा है परन्तु व्यक्तिकी अपेक्षा कथन करनेपर शून्य वर्गणाएँ शून्यरूपसे ध्रुव भी हैं, क्योंकि, वर्तमान कालमें असंख्यात लोकप्रमाण सूक्ष्मनिगोद वर्गणाओंके द्वारा पूरे अतीतकालमें भी सब जीवोंसे अनन्तगुणे स्थानोंका पूरा करना सम्भव नहीं है। कारण बादरनिगोद जीवोंके समान कहना चाहिए। वे अध्रुव भी हैं, क्योंकि उपरिम और अधस्तन वर्गणाओंके भेद संघातसे शून्यवर्गणाएँ भी कालान्तरमें अशून्यरूप होकर उपलब्ध होती हैं। अशून्य सूक्ष्मनिगोद वर्गणाएँ अशून्यरूपसे अध्रुव हैं, क्योंकि, सूक्ष्मनिगोदवर्गणाओंका अवस्थितरूपसे अवस्थान नहीं पाया जाता।

ध. १४/५.६.१०७/१२५/१३ ण पत्तेयबादरसुहुमणिगोदवग्गणाभेदेण होदि; सचित्तवग्गणाणमचित्तवग्गणसरूवेण परिणामाभावादो। ण च सचित्तवग्गणाए कम्मणोकम्मक्खंधेसु तत्तो विप्फट्टिय सांतरणिरंतरवग्गणाणमायारेण परिणदेसु तब्भेदेणेदिस्से समुप्पत्ती; तत्तो विप्फट्टसमए चेव ताहिंतो पुधभूदखंधाणं सचित्तवग्गणभावविरोहादो। ण महाखंधभेदेणेदिस्से समुप्पत्ती; महाखंधादो विप्फट्टखंधाणं महाखंधभेदेहिंतो पुधभूदाणं महाखंधववएसाभावेण तेसि तब्भेदत्ताणुववत्तीदो। एदम्मि णए अवलंबिज्जमाणे उवरिल्लीणं वग्गणाणं भेदेण ण होदि त्ति परूविदं। दव्वट्ठियणए पुण अवलंबिज्जमाणे उपरिल्लीणं भेदेण वि होदि। पज्जवट्ठियणए पुण अवलंबिज्जमाणे हेट्ठिल्लीणं संघादेण वि होदि; उक्कस्स धुवक्खंधवग्गणाए एगादिपरमाणुसमागमे सांतरणिरंतरवग्गणाए समुप्पत्तिं पडि विरोहाभावादो।...ण सत्थाणं चेव परिणामो वि; जहण्णवग्गणादो परमाणुत्तरवग्गणाए उप्पत्तिविरोहादो सांतरणिरंतरवग्गणाए अभावप्पसंगादो च।...धुवखंधादिहेट्ठिमवग्गणाओ सत्थाणे चेव समागमंति उवरिमवग्गणाहि वा; साहावियादो। सांतरणिरंतरवग्गणा पुण सत्थाणे चेव भेदेण संघादेण तदुभयेण वा परिणमदि त्ति जाणावणट्ठं भेदसंघादेणे त्ति परूविदं।—प्रत्येकशरीर, बादरनिगोद, और सूक्ष्म निगोदवर्गणाओंके भेदसे यह (ध्रुवस्कन्ध व सान्तरनिरन्तर) वर्गणा नहीं होती क्योंकि सचित्त वर्गणाओं का अचित्त वर्गणा रूप से परिणमन होने में विरोध है। यदि कहा जाये कि सचित्तवर्गणाके कर्म और नोकर्मस्कन्धों में उससे अलग होकर सान्तरनिरन्तर वर्गणारूपसे परिणत होनेपर उनके भेदसे इस वर्गणाकी उत्पत्ति होती है, सो कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उनसे अलग होनेके समय ही उनसे अलग हुए स्कन्धोंको सचित वर्गणा होनेमें विरोध आता है। महास्कन्धके भेदसे इस वर्गणाकी उत्पत्ति होती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, महास्कन्धसे अलग हुए स्कन्ध यतः महास्कन्धके भेदसे अलग हुए हैं, अतः उनकी महास्कन्ध संज्ञा नहीं हो सकती और इसलिए उनका उससे भेद नहीं बन सकता। इस (पर्यायार्थिक) नयका अवलम्बन करनेपर ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसे यह वर्गणा नहीं होती है, यह कहा गया है। परन्तु द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसे भी यह वर्गणा होती है। पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन कर लेनेपर नीचेकी वर्गणाओंके संघातसे भी यह वर्गणा होती है, क्योंकि उत्कृष्ट ध्रुवस्कन्धवर्गणामें एक आदि परमाणुका समागम होनेपर सान्तरनिरन्तर वर्गणाकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं है। केवल स्वस्थानमें ही परिणमन होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जघन्य वर्गणासे एक परमाणु अधिक वर्गणाकी उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है, दूसरे सान्तरनिरन्तर वर्गणाका अभाव भी प्राप्त होता है। ध्रुवस्कन्धादि नीचेकी वर्गणाएँ स्वस्थानमें ही समागमको प्राप्त होती हैं अथवा ऊपरकी वर्गणाओंके साथ समागमको प्राप्त होती हैं, क्योंकि ऐसा स्वभाव है। परन्तु सान्तरनिरन्तरवर्गणा स्वस्थानमें ही भेदसे, संघातसे या तदुभयसे परिणमन करती है, इस बातका ज्ञान करानेके लिए (सूत्रमें) 'भेदसंघातसे होना' कहा है।

९. भेदसंघात व्यपदेशका स्पष्टीकरण

ध. १४/५.६.१०१/१२४/६ हेट्ठिल्लुवरिल्लवग्गणाणं भेदसघादेण अप्पिदवग्गणाणमुप्पत्ती किण्ण वुच्चदे; भेदकाले विणासं मोत्तूण उप्पत्तीए अभावं पडिविसेसाभावादो। ण; तत्थ एवंविधणयाभावादो। अथवा भेदसंघादस्स एवमत्थो वत्तव्वो। तं जहा‌—भेदसंघादाणं दोण्णं संजोगो सत्थाणं णाम; तम्हि णिरुद्धे उवरिल्लीणं हेट्ठिल्लीणं अप्पिदाणं च दव्वाणं भेदपुरंगमसंघादेण अप्पिदवग्गणुप्पत्तिदंसणादो। सत्थाणेण भेदसंघादेण उप्पत्ती वुच्चदे। सव्वो वि परमाणुसंघादो भेदपुरंगमो चेवे त्ति सव्वासिं वग्गणाणं भेदसंघादेणेव उप्पत्ती किण्ण वुच्चदे। ण एस दोसो; भेदाणंतरं जो संघादो सो भेदसघादो णाम ण अंतरिदो, अणवत्थाप्पसंगादो। तम्हा ण सव्ववग्गणाणं भेदसंघादेणुप्पत्ती।—प्रश्न—नीचेकी और ऊपरकी वर्गणाओंके भेदसंघातसे विवक्षित वर्गणाओंकी उत्पत्ति क्यों नहीं कहते, क्योंकि भेदके समय विनाशको छोड़कर उत्पत्तिके अभावके प्रति कोई विशेषता नहीं। उत्तर—नहीं; क्योंकि, वहाँ पर इस प्रकारके नयका अभाव है। अथवा भेदसंघातका इस प्रकारका अर्थ करना चाहिए। यथा—भेद और संघात दोनोंका संयोग स्वस्थान कहलाता है। उसके विवक्षित होनेपर ऊपरके, नीचेके और विवक्षित द्रव्योंके भेदपूर्वक संघातसे विवक्षित वर्गणाकी उत्पत्ति देखी जाती है। इसे स्वस्थानकी अपेक्षा भेद संघातसे उत्पत्ति कहते हैं। प्रश्न—सभी परमाणुसंघात भेदपूर्वक ही होता है, इसलिए सभी वर्गणाओंकी उत्पत्ति भेदसंघातसे ही क्यों नहीं कहते हो? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदके अनन्तर जो संघात होता है, उसे भेदसंघात कहते हैं। जो अन्तरसे होता है उसको यह संज्ञा नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर अनवस्थाका प्रसंग आता है। इसलिए सब वर्गणाओंकी उत्पत्ति भेदसंघातसे नहीं होती।

वर्गणा शलाका—ल. सा./भाषा/४१४/५७८/१२—एक स्पर्धकविषै जो वर्गणानिका प्रमाण ताकौ वर्गशलाका कहिये।—(विशेष दे. स्पर्धक)।

वर्गमूल—Square root—(ज. प./प्र. १०८); (ध. ५/प्र. २८); (विशेष दे. गणित/II/१/७)।

वर्गशलाका—Logarithum of logarithum (ध. ५/प्र. २८); (ज. प./प्र.१०८)। (विशेष दे० गणित/II/२/१)।

वर्गसमीकरण—quadratic equation—(ध. ५/प्र. २८)

वर्गित संवर्गित—Raising a number to its own power (संख्यात तुल्य घात); (ध. ५/प्र./२८); (विशेष दे० गणित/II/१/६)।

वर्चस्क—चतुर्थ नरकका चतुर्थ पटल- दे० नरक/५/११ ।

वर्ण—

१. वर्णका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग

स. सि./२/२०/१७८/१ वर्ण्यत इति वर्णः।...वर्णनं वर्णः।—जो देखा जाता है वह वर्ण है, अथवा वर्णन वर्ण है। (रा. वा./२/२०/१/१३२/३२)।

स. सि./५/२३/२९४/१ वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः।—जिसका कोई वर्ण है या वर्णन मात्रको वर्ण कहते हैं।

ध. १/१,१,३३/२४६/१ अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः। यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव संनिकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः सन्तीत्येतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः। यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः।—यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है। जैसे जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्श (वर्णादि) पर्यायें नहीं पायी जाती हैं। इसलिए इस विवक्षामें स्पर्शादिके कर्म साधन जाना जाता है। उस समय जो देखा जाये उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिए। तथा जिस समय पर्याय प्रधान रूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए उदासीन रूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादिके भाव साधन भी बन जाता है। उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति होती है।

भ. आ./वि./४७/१६०/१ वर्णशब्दः क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति। अक्षरवाची क्वचिद्यथा सिद्धो वर्णसमाम्नायः इति। क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति। क्वचिद्यशसि—वर्णार्थी ददाति।—वर्ण शब्दके अनेक अर्थ हैं। वर्ण—शुक्लादिक वर्ण, जैसे सफेद रंगको लाओ। वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है, जैसे वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है। *वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मण* आदिक ऐसा भी है। यथा—इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है। यहाँपर वर्ण शब्दका अर्थ यश ऐसा माना जाता है। जैसे—यशकी कामनासे देता है।

दे. निक्षेप/५/६ (चित्रित मनुष्य तुरग आदि आकार वर्ण कहे जाते हैं।)

२. वर्ण नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/११ यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम।—जिसके निमित्तसे वर्णमें विभाग होता है, वह वर्ण नामकर्म है। (रा.वा./८/११/१०/५७७/१७); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१३)।

ध. ६/१,९-१,२८/५५/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवसरीरे वण्णणिप्फत्ती होदि, तस्स कम्मक्खंधस्स वण्णसण्णा। एदस्स कम्मस्साभावे अणियदवण्णं सरीरं होज्ज। ण च एवं, भमर-कलयंठी-हंस-बलायादिसु सुणियदवण्णुवलंभा।—जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें वर्णकी उत्पत्ति होती है, उस कर्मस्कन्धकी 'वर्ण' यह संज्ञा है। इस कर्मके अभावमें अनियत वर्णवाला शरीर हो जायगा। किन्तु, ऐसा देखा नहीं जाता। क्योंकि, भौंरा, कोयल, हंस और बगुला आदिमें सुनिश्चित वर्ण पाये जाते हैं। (ध. १३/५,५,१०१/३६४/६)।

३. वर्ण व वर्ण नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सूत्र ३७/७४ जं तं वण्णणामकम्मं तं पंचविहं, किण्णवण्णणामं णीलवण्णणामं रुहिरवण्णणामं हालिद्दवण्णणामं सुक्किलवण्णणामं चेदि।३७।—जो वर्ण नामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रुधिरवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म। (ष.खं./१३/५/सूत्र ११०/३७०); (पं. सं./प्रा./४/४७/३०); (स. सि./८/११/३९०/१२); (रा. वा./८/११/१०/५७७/१८); (गो. क./जी. प्र./३२/२६/१;३३/२९/१३)।

स. सि./५/२३/२९४/२ स पञ्चविधः; कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्।—काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वर्ण पाँच प्रकारका है। (रा. वा./५/२३/१०/४८५/३); (प. प्रा. टी./१/२१/२६/१); (द्र. सं./टी./७/१९/६); (गो. जी./जी. प्र./४७९/८८५/१५)।

४. नामकर्मोंके वर्णादि सकारण हैं या निष्कारण

ध. ६/१,९-१,२८/५७/४ वण्ण-गंध-रस-फासकम्माणं वण्ण गंध-रस-पासा सकारणा णिक्कारणा वा। पढमपक्खे अणवत्था। बिदियपक्खे सेसणोकम्म-गंध-रस-फासा वि णिक्कारणा होंतु, विसेसाभावा। एत्थ परिहारो उच्चदे—ण पढमे पक्खे उत्तदोसो, अणब्भुवगमादो। ण बिदियपक्खदोसो वि, कालदव्वं व दुस्सहावत्तादो एदेसिमुभयत्थ वावारविरोहाभावा।—**प्रश्न**—वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श नामकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सकारण होते हैं, या निष्कारण। प्रथम पक्षमें अनवस्था दोष आता है। (क्योंकि जिस अन्य कर्मके कारण ये कर्म वर्णादिमान होंगे, वह स्वयं किसी अन्य ही कर्मके निमित्तसे वर्णादिमान होगा)। द्वितीय पक्षके माननेपर शेष नोकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी निष्कारण होने चाहिए (अर्थात् उन्हें वर्णादिमान करनेके लिए वर्णादि नामकर्मोंका निमित्त मानना व्यर्थ है), क्योंकि, दोनोंमें कोई भेद नहीं है। **उत्तर**—यहाँपर उक्त शंकाका परिहार कहते हैं—प्रथम पक्षमें कहा गया अनवस्थादोष तो प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, वैसा माना नहीं गया है। (अर्थात् वर्णादि नाम कर्मोंको वर्णादिमान करनेके लिए *अन्य वर्णादि कर्म* माने नहीं गये हैं।) न द्वितीय पक्षमें दिया गया दोष भी प्राप्त होता है, क्योंकि, कालद्रव्यके समान द्विस्वभावी होनेसे इन वर्णादिकके उभयत्र व्यापार करनेमें कोई विरोध नहीं है। (अर्थात् जिस *प्रकार काल द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभावी होता हुआ अन्य द्रव्योंके* भी परिणमनमें कारण होता है उसी प्रकार वर्णादि नाम कर्म स्वयं वर्णादिमान होते हुए ही नोकर्मभूत शरीरोंके वर्णादिमें कारण होते हैं।)।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. शरीरोंके वर्ण	—दे० लेश्या।
२. वायु आदिकमें वर्ण गुणकी सिद्धि	—दे० पुद्गल/१०।
३. वर्णनामकर्मके बन्ध उदय सत्त्व	—दे० वह वह नाम।

वर्णलाभ क्रिया—दे० संस्कार/२।

वर्ण व्यवस्था—गोत्रकर्मके उदयसे जीवोंका ऊँच तथा नीच कुलोंमें जन्म होता है, अथवा उनमें ऊँच व नीच संस्कारोंकी प्रतीति होती है। उस ही के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चार प्रकार वर्णोंकी व्यवस्था होती है। इस वर्णव्यवस्थामें जन्मकी अपेक्षा गुणकर्म अधिक प्रधान माने गये हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही वर्ण उच्च होने कारण जिन दीक्षाके योग्य हैं। शूद्रवर्ण नीच

होनेके कारण प्रव्रज्याके योग्य नहीं है। वह केवल उत्कृष्ट श्रावक तक हो सकता है।

१. गोत्रकर्म निर्देश

१. गोत्रकर्म सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३.४ पृष्ठ/पंक्ति गोत्रस्योच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम्। (३७६/२)। उच्चैर्नीचैश्च गूयते शब्द्यत इति वा गोत्रम्। (३८१/१)। —१. उच्च और नीच स्थानका संशब्दन गोत्रकर्मकी प्रकृति है। (रा. वा./८/३/४/५६७/५)। २. जिसके द्वारा जीव उच्च नीच गूयते अर्थात् कहा जाता है वह गोत्रकर्म है।

रा. वा./६/२५/५/५३१/६ गूयते शब्द्यते तदिति गोत्रम्, औणादिकेन त्रटा निष्पत्तिः। —जो गूयते अर्थात् शब्द व्यवहारमें आवे वह गोत्र है।

ध. ६/१,९-१,११/१३/७ गमयत्युच्चनीचकुलमिति गोत्रम्। उच्चनीचकुलेसु उप्पादओ पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवसंबद्धो गोदमिदि उच्चदे। —जो उच्च और नीच कुलको ले जाता है, वह गोत्रकर्म है। मिथ्यात्व आदि बन्धकारणोंके द्वारा जीवके साथ सम्बन्धको प्राप्त, एवं उच्च और नीच कुलोंमें उत्पन्न करानेवाला पुद्गलस्कन्ध 'गोत्र' इस नामसे कहा जाता है।

ध. ६/१,९-१,४५/७७/१० गोत्रं कुलं वंशः संतानमित्येकोऽर्थः। —गोत्र कुल, वंश, और सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं।

ध. १३/५,५,२०/२०६/१ गमयत्युच्चनीचमिति गोत्रम्। —जो उच्च नीचका ज्ञान कराता है वह गोत्र कर्म है।

गो. क./मू./१३/९ संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा। ...।१३। —सन्तानक्रमसे चला आया जो आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है।

द्र. सं./टी./३३/९३/१ गोत्रकर्मणः का प्रकृतिः। गुरु-लघुभाजनकारक-कुम्भकारवदुच्चनीचगोत्रकरणता। —छोटे बड़े घट आदिको बनानेवाले कुम्भकारकी भाँति उच्च तथा नीच कुलका करना गोत्रकर्मकी प्रकृति है।

२. गोत्रकर्मके दो अथवा अनेक भेद

ष. ख./६/१,९-१/सू. ४५/७७ गोदस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ, उच्चागोदं चेव णिच्चागोदं चेव।४५। —गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। (ष. ख./१३/५,५/सू. १३५/३८८); (मू. आ./-१२३४), (त. सू./८/१२); (पं. सं./प्रा./२/४/४८/१६); (ध. १२/-४,२,१४,१६/४८४/१३); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/२)।

ध. १२/४,२,१४,१६/४८४/१४ अवांतरभेदेण जदि वि बहुआवो अत्थि तो वि ताओ ण उत्ताओ गंथबहुत्तभएण अत्थावत्तीए तदवगमादो। —अवान्तर भेदसे यद्यपि वे (गोत्रकर्मकी प्रकृतियाँ) बहुत हैं, तो भी ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे अथवा अर्थापत्तिसे उनका ज्ञान हो जानेके कारण उनको यहाँ नहीं कहा है।

३. उच्च व नीचगोत्रके लक्षण

स. सि./८/१२/३९४/१ यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्। —जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म होता है वह उच्चगोत्र है और जिसके उदयसे गर्हित कुलोंमें जन्म होता है वह नीचगोत्र है। (गो. क./जी. प्र./३३/३०/१७)।

रा. वा./८/१२/२,३/५८०/२३ लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथितमाहात्म्येषु इक्ष्वाकूग्रकुरुहरिज्ञातिप्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद्भवति तदुच्चैर्गोत्रमवसेयम्।२। गर्हितेषु दरिद्राप्रतिज्ञातदुःखाकुलेषु यत्कृतं प्राणिनां जन्म तन्नीचैर्गोत्रं प्रत्येतव्यम्।

रा. वा./६/२५/६/५३१/७ नीचैः स्थाने येनात्मा क्रियते तन्नीचैर्गोत्रम्। —जिसके उदयसे महत्त्वशाली अर्थात् इक्ष्वाकु, उग्र, कुरु, हरि और ज्ञाति आदि वंशोंमें जन्म हो वह उच्चगोत्र है। जिसके उदय-

से निन्द्य अर्थात् दरिद्र अप्रसिद्ध और दु:खाकुल कुलोंमें जन्म हो वह नीचगोत्र है। जिससे आत्मा नीच व्यवहारमें आवे वह नीचगोत्र है।

ध. ६/१,९-१,४५/७७/१० जस्स कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तमुच्चागोदं। गोत्रं कुलं वंशः संतानमित्येकोऽर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं णीचगोदं होदि तं णीचगोदं णाम। =गोत्र, कुल, वंश, सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके उच्चगोत्र कुल या वंश होता है वह उच्चगोत्र कर्म है और जिस कर्मके उदयसे जीवोंके नीचगोत्र, कुल या वंश होता है वह नीचगोत्रकर्म है।

दे० अगला शीर्षक—(साधु आचारकी योग्यता उच्चगोत्रका चिह्न है तथा उसकी अयोग्यता नीचगोत्रका चिह्न है।)

४. गोत्रकर्मके अस्तित्व सम्बन्धी शंका

ध. १३/५,५,१३५/३८८/३ उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापारः। न तावद् राज्यादिलक्षणायां संपदि, तस्याः सद्वेद्यतः समुत्पत्तेः। नापि पञ्चमहाव्रतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहणं प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदयाभावप्रसंगात्। न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापारः, ज्ञानावरणक्षयोपशमसहायसम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्तेः। तिर्यग्-नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयः स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्। नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापारः, तेषां नामतः समुत्पत्तेः। नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्। न संपन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापारः म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसंगात्। नाणुव्रतिभ्यः समुत्पत्तौ तद्व्यापारः, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसंगात् नाभेयस्य नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च। ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्। तत एव न तस्य कर्मत्वमपि। तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात्। ततो गोत्रकर्माभाव इति। न जिनवचनस्यासत्त्वविरोधात्। तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते। न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्यते। न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसंबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहार-निबन्धनानां पुरुषाणां संतानः उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषाः संभवन्ति, विरोधात्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः। =प्रश्न—उच्चगोत्रका व्यापार कहाँ होता है। राज्यादि रूप सम्पदाकी प्राप्तिमें तो उसका व्यापार होता नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सातावेदनीयकर्मके निमित्तसे होती है। पाँच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यता भी उच्चगोत्रके द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि, ऐसा माननेपर जो सब देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतोंको धारण नहीं कर सकते हैं, उनमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिमें उसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे सहकृत सम्यग्दर्शनसे होती है। तथा ऐसा माननेपर तिर्यंचों और नारकियोंके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा, क्योंकि, उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्यकी प्राप्तिमें इसका व्यापार होता है; यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इनकी उत्पत्ति नामकर्मके निमित्तसे होती है। इक्ष्वाकु कुल आदिकी उत्पत्तिमें भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, अतः परमार्थसे उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैश्य और ब्राह्मण साधुओंमें उच्चगोत्रका उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, इस तरह तो म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकके भी उच्चगोत्रका उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर औपपादिक देवोंमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है, तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है, और इसलिए उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होनेपर नीचगोत्र भी नहीं रहता, क्योंकि, वे दोनों एक-दूसरेके अविनाभावी हैं। इसलिए गोत्रकर्म है ही नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनवचनके असत्य होनेमें विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणोंके नहीं होनेसे जाना जाता है। दूसरे केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसीलिए छद्मस्थोंको कोई अर्थ यदि नहीं उपलब्ध होते हैं, तो इससे जिनवचनको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। तथा गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है, साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है (ऐसे म्लेच्छ), तथा जो 'आर्य' (भोगभूमिज) इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त हैं, उन पुरुषोंकी परम्पराको उच्चगोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, उनके होनेमें विरोध है। उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ होती हैं।

दे० वर्ण व्यवस्था/३/१/म. पु./७४/४९१-४९५—(ब्राह्मणादि उच्चकुल व शूद्रोंमें शरीरके वर्ण व आकृतिका कोई भेद नहीं है, न ही कोई जातिभेद है। जो शुक्लध्यानके कारण हैं वे त्रिवर्ण कहलाते हैं और शेष शूद्र कहे जाते हैं।)

ध. १५/१५२/७ उच्चागोदे देस-सयलसंजमणिबंधणे संते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासंकणिज्जं, तत्थ, वि उच्चागोदजणिदसंजमजोगत्तावेक्खाए उच्चागोदत्त पडि विरोहाभावादो। =प्रश्न—यदि उच्चगोत्रके कारण देशसंयम और सकलसंयम हैं तो फिर मिथ्यादृष्टियोंमें उसका अभाव होना चाहिए? उत्तर—ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है, क्योंकि, उनमें भी उच्चगोत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुई संयम ग्रहणकी योग्यताकी अपेक्षा उच्चगोत्रके होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. उच्चगोत्र व तीर्थंकर प्रकृतिमें अन्तर

रा. वा./८/११/४२/५८०/७ स्यान्मतं—तदेव उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरत्वस्यापि निमित्तं भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति। तन्न; किं कारणम्। तीर्थप्रवर्तनफलत्वात्। तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते नोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीनां तदभावात्। =प्रश्न—उच्चगोत्र ही तीर्थकरत्वका भी निमित्त हो जाओ। पृथक्से तीर्थकरत्व नामकर्म माननेकी क्या आवश्यकता। उत्तर—तीर्थकी प्रवृत्ति करना तीर्थंकर प्रकृतिका फल है। यह उच्चगोत्रसे नहीं हो सकता; क्योंकि उच्चगोत्री चक्रवर्ती आदिके वह नहीं पाया जाता। अतः इसका पृथक् निर्देश किया है। (और भी दे० नामकर्म/४)।

६. उच्च नीच गोत्रके बन्धयोग्य परिणाम

भ. आ./मू./१३७५/१३२२ तथा ११८९ कुलरूवाणाबलसुदलाभिस्सरयत्थमदितवादीहिं। अप्पाणमुण्णमेंतो नीचागोदं कुणदि कम्मं।१३७५। माया करेदि णीचगोदं...।१३८९। =कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊँचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका बन्ध कर लेता है।१३७५। मायासे नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है।१३८९।

त. सू./६/२५-२६ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।२५। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।२६।

स. सि./६/२६/३४०/७ कः पुनरसौ विपर्ययः। आत्मनिन्दा, परप्रशंसा, सद्गुणोद्भावनमसद्गुणोच्छादनं च। गुणोत्कृष्टेषु विनयेनावनतिर्नीचैर्वृत्तिः। विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदविरहोऽनहंकारतानुत्सेकः। तान्येतान्युत्तरस्योच्चैर्गोत्रस्यास्रवकारणानि भवन्ति। —परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, दूसरोंके होते हुए गुणोंको भी ढक देना और अपने अनहोत गुणोंको भी प्रगट करना ये नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं।२५। उनका विपर्यय अर्थात् आत्मनिन्दा परप्रशंसा, अपने होते हुए भी गुणोंको ढकना और दूसरेके अनहोत भी गुणोंको प्रगट करना, उत्कृष्ट गुणवालोंके प्रति नम्रवृत्ति, और ज्ञानादिमें श्रेष्ठ होते हुए भी उसका अभिमान न करना, ये उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं। (त. सा./४/५३-५४)।

रा. वा./६/२५/६/५३१/६ जातिकुलबलरूपश्रुताज्ञैश्वर्यतपोमदपरावज्ञानोत्प्रहसन-परपरिवादशीलता - धार्मिकजननिन्दात्मोत्कर्षान्ययशोविलोपासत्कीर्त्युत्पादन-गुरुपरिभव - तदुद्घट्टन-दोषख्यापन - विहेडन - स्थानावमान-भर्त्सन-गुणावसादन-अञ्जलिस्तुत्यभिवादनाकरण-तीर्थकराधिक्षेपादि।

रा. वा./६/२६/४/५३१/२० जातिकुलबलरूपवीर्यपरिज्ञानैश्वर्यतपोविशेषवत आत्मोत्कर्षाप्रणिधानं परावरज्ञानौद्धत्यनिन्दासूयोपहासपरपरिवादननिवृत्तिः विनिहतमानता धर्म्यजनपूजाभ्युत्थानाञ्जलिप्रणतिवन्दना ऐदंयुगीनान्यपुरुषदुर्लभगुणस्याप्यनुत्सिक्तता, अहंकारात्यय नीचैर्वृत्तिता भस्मावृतस्येव हुतभुजः स्वमाहात्म्याप्रकाशनं धर्मसाधनेषु परमसंभ्रम इत्यादि। —जाति, बल, कुल, रूप, श्रुत, आज्ञा, ऐश्वर्य और तपका मद करना, परकी अवज्ञा, दूसरेकी हँसी करना, परनिन्दाका स्वभाव, धार्मिकजन परिहास, आत्मोत्कर्ष, परयशका विलोप, मिथ्याकीर्ति अर्जन करना, गुरुजनोंका परिभव, तिरस्कार, दोषख्यापन, विहेडन, स्थानावमान भर्त्सन, और गुणावसादन करना, तथा अञ्जलिस्तुति-अभिवादन-अभ्युत्थान आदि न करना, तीर्थंकरोंपर आक्षेप करना आदि नीचगोत्रके आस्रवके कारण हैं। जाति, कुल, बल, रूप, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और तप आदिकी विशेषता होनेपर भी अपनेमें बड़प्पनका भाव नहीं आने देना, परका तिरस्कार न करना, अनौद्धत्य, असूया, उपहास, बदनामी आदि न करना, मान नहीं करना, साधर्मी व्यक्तियोंका सम्मान, इन्हें अभ्युत्थान अंजलि, नमस्कार आदि करना, इस युगमें अन्य जनोंमें न पाये जानेवाले ज्ञान आदि गुणोंके होनेपर भी, उनका रंचमात्र अहंकार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्मसे ढँकी हुई अग्निकी तरह अपने माहात्म्यका ढिंढोरा नहीं पीटना, और धर्मसाधनोंमें अत्यन्त आदरबुद्धि आदि भी उच्चगोत्रके आस्रवके कारण हैं। (भ. आ./वि./४४६/६५३/३ तथा वहाँ उद्धृत ४ श्लोक)

गो क./मू./८०६/९८४ अरहंतादिसु भत्तो सुत्तरुची पढणुमाणगुणपेही। बंधदि उच्चागोदं विवरीओ बंधदे इदरं।८०९। —अर्हन्तादिमें भक्ति, सूत्ररुचि, अध्ययन, अर्थविचार तथा विनय आदि, इन गुणोंको धारण करनेवाला उच्चगोत्र कर्मको बाँधता है और इससे विपरीत नीचगोत्रको बाँधता है।

७. उच्च-नीच गोत्र या वर्णभेदका स्वामित्व क्षेत्र आदि

ह. पु./७/१०२-१०३ आर्यामाह नरो नारीमार्य नारी नरं निजम्। भोगभूमिनरस्त्रीणां नाम साधारणं हि तत्।१०२। उत्तमा जातिरेकव चातुर्वर्ण्यं न षट्क्रियाः। न स्वस्वामिकृतः पुंसां संबन्धो न च लिङ्गिनः।१०३। —वह पुरुष स्त्रीको आर्या और स्त्री पुरुषको आर्य कहती है। यथार्थमें भोगभूमिज स्त्री-पुरुषोंका यह साधारण नाम है।१०२। उस समय सबकी एक ही उत्तम जाति होती है। वहाँ न ब्राह्मणादि चार वर्ण होते हैं और न ही असि, मसि आदि छह कर्म होते हैं, न सेवक और स्वामीका सम्बन्ध होता है और न वेषधारी ही होते हैं।१०३।

दे. वर्णव्यवस्था/१/४ (सभी देव व भोगभूमिज उच्चगोत्री तथा सभी नारकी, तिर्यंच व म्लेच्छ नीचगोत्री होते हैं।)

ध. १५/६१/६ उच्चागोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलिचरिमसमओ त्ति उदीरणा। णवरि मणुस्सो वा मणुस्सिणी वा सिया उदीरेदि, देवो देवी वा संजदो वा णियमा उदीरेंति, संजदासंजदो सिया उदीरेदि। णीचागोदस्स मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदस्स उदीरणा। णवरि देवेसु णत्थि उदीरणा, तिरिक्खणेरइएसु णियमा उदीरणा, मणुसेसु सिया उदीरणा। एवं सामित्तं समत्तं। —उच्चगोत्रकी उदीरणा मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीके अन्तिम समयतक होती है। विशेष इतना है, कि मनुष्य और मनुष्यणी तथा संयतासंयत जीव कदाचित् उदीरणा करते हैं। देव, देवी तथा संयत जीव उसकी उदीरणा नियमसे करते हैं। नीचगोत्रकी उदीरणा मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक होती है, विशेष इतना है कि देवोंमें उसकी उदीरणा सम्भव नहीं है, तिर्यंचों व नारकियोंमें उसकी उदीरणा नियमसे तथा मनुष्योंमें कदाचित् होती है।

म. पु./७४/४९४-४९५ उच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः। तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात्।४९४। शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः। एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।४९५। —विदेहक्षेत्रमें मोक्ष जानेके योग्य जातिका कभी विच्छेद नहीं होता, क्योंकि, वहाँ उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे सहित जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।४९४। किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थ कालमें ही जातिकी परम्परा चलती है, अन्य कालोंमें नहीं। जिनागममें मनुष्योंका वर्ण विभाग इस प्रकार बताया गया है।४९५।

त्रि. सा./७९० तद्दंपदोणमादिसंहदिसंठाणमज्जणामजुदा। —वे भोगभूमिज दंपति आर्य नामसे युक्त होते हैं। (म. पु./३/७५)

८. तिर्यंचों व क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतोंमें गोत्र सम्बन्धी विशेषता

ध. ८/३,२७८/३६३/१० खइयसम्माइट्ठिसंजदासंजदेसु उच्चागोदस्स सोदओ णिरंतरो बंधो, तिरिक्खेसु खइयसम्माइट्ठीसु संजदासजदाणमणुवलंभादो। —क्षायिक सम्यग्दृष्टि संयतासंयतोंमें उच्चगोत्रका स्वोदय एवं निरन्तर बन्ध होता है, क्योंकि, तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंमें संयतासंयत जीव पाये नहीं जाते।

ध. १५/१५२/४ तिरिक्खेसु णीचागोदस्स चेव उदीरणा होदि त्ति भणिदे-ण, तिरिक्खेसु संजमासंजमं परिवालयंतेसु उच्चागोदत्तुवलंभादो। —प्रश्न—तिर्यंचोंमें नीचगोत्रकी ही उदीरणा होती है, ऐसी प्ररूपणा सर्वत्र की गयी है। परन्तु यहाँ उच्चगोत्रकी भी उनमें प्ररूपणा की गयी है, अतएव इससे पूर्वापर कथनमें विरोध आता है? उत्तर—ऐसा कहनेपर उत्तर देते हैं कि इसमें पूर्वापर विरोध नहीं है, क्योंकि, संयमासंयमको पालनेवाले तिर्यंचोंमें उच्चगोत्र पाया जाता है।

९. गोत्रकर्मके अनुभाग सम्बन्धी नियम

ध. १२/४,२,१३,१९८/४४०/२ सव्वुक्कस्सविसोहीए हदसमुप्पत्तियं कादूण उप्पाइदजहण्णाणुभागं पेक्खिदूण सुहुमसांपराइएण सव्वविसुद्धेण बद्धुच्चागोदुक्कस्साणुभागस्स अणंतगुणत्तुवलंभादो। गोदजहणाणुभागे वि उच्चागोदाणुभागो अत्थि त्ति णासंकणिज्जं, बादरतेउक्काइएसु पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागमेत्तकालेण उव्वेलिद उच्चागोदेसु अइविसोहीए घादिदणीचागोदेसु गोदस्स जहण्णाणुभागब्भुवगमादो।

ध. १२/४,२,१३,२०४/४४१/६ बादरतेउवाउक्काइएसु उक्कस्सविसोहीए घादिदणीचागोदाणुभागेसु गोदाणुभागं जहण्णं करिय तेण जहण्णाणुभागेण सह उजुगदीए सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जिय तिसमयाहार-तिसमय तब्भवत्थस्स खेत्तेण सह भावो जहण्णओ किण्ण जायदे। ण,

बादरतेउवाउक्काइयपज्जत्तएसु जादजहण्णाणुभागेण सह अण्णत्थ उप्पत्तीए अभावादो। जदि अण्णत्थ उप्पज्जदि तो णियमा अणंतगुणवड्ढीए वड्ढिदो चेव उप्पज्जदि ण अण्णहा। —सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा हतसमुत्पत्ति को करके उत्पन्न कराये गये जघन्य अनुभागकी अपेक्षा सर्वविशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायिक संयतके द्वारा बाँधा गया उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा पाया जाता है। प्रश्न—गोत्रके जघन्य अनुभागमें भी उच्चगोत्रका जघन्य अनुभाग होता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिन्होंने पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र कालके द्वारा उच्चगोत्रका उद्वेलन किया है व जिन्होंने अतिशय विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रका घात कर लिया है उन बादर तैजस्कायिक जीवोंमें गोत्रका जघन्य अनुभाग स्वीकार किया गया है। अतएव गोत्रके जघन्य अनुभागमें उच्चगोत्रका अनुभाग सम्भव नहीं है। प्रश्न—जिन्होंने उत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रके अनुभागका घात कर लिया है, उन बादर तेजस्कायिक व वायुकायिक जीवोंमें गोत्रके अनुभागको जघन्य करके उस जघन्य अनुभागके साथ ऋजुगतिके द्वारा सूक्ष्म निगोद् जीवोंमें उत्पन्न होकर त्रिसमयवर्ती आहारक और तद्भवस्थ होनेके तृतीय समयमें वर्तमान उसके क्षेत्रके साथ भाव जघन्य क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बादर तेजकायिक व वायुकायिक पर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न जघन्य अनुभागके साथ अन्य जीवोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि वह अन्य जीवोंमें उत्पन्न होता है तो नियमसे वह अनन्तगुणवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकारसे नहीं।

१०. दोनों गोत्रोंका जघन्य व उत्कृष्ट काल

ध. १५/६७/८ णीचागोदस्स जहण्णेण एगसमओ, उच्चागोदादो णीचागोदं गंतूण तत्थ एगसमयमच्छिय बिदियसमए उच्चागोदे उदयमागदे एगसमओ लब्भदे। उक्कस्सेण असंखेज्जापरियट्टा। उच्चागोदस्स जहण्णेण एयसमओ, उत्तरसरीरं विउव्विय एगसमएण मुदस्स तदुवलंभादो। एवं णीचागोदस्स वि। उक्कस्सेण सागरोवमसदपुधत्तं। —नीचगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उच्चगोत्रसे नीच गोत्रको प्राप्त होकर और वहाँ एक समय रहकर द्वितीय समयमें उच्चगोत्रका उदय होनेपर एक समय उदीरणाकाल पाया जाता है। उत्कर्षसे वह असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है। (तिर्यंच गतिमें उत्कृष्टरूप इतने काल तक रह सकता है)। उच्चगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उत्तर शरीरकी विक्रिया करके एक समयमें मृत्युको प्राप्त हुए जीवके उक्त काल पाया जाता है। (उच्चगोत्री शरीरवाला तो नीचगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके तथा नीचगोत्री उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके एक समय पश्चात् मृत्युको प्राप्त होवे) नीचगोत्रका भी जघन्यकाल इसी प्रकारसे घटित किया जा सकता है। उच्चगोत्रका उत्कृष्टकाल सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण है। (देवों व मनुष्योंमें भ्रमण करता रहे तो) — (और भी दे० वर्णव्यवस्था/१/३)।

२. वर्णव्यवस्था निर्देश

१. वर्णव्यवस्थाकी स्थापनाका इतिहास

ति. प./४/१६१८ चक्कधराउ दिजाणं हवेदि वंसस्स उप्पत्ती।१६१८। —हुंडावसर्पिणीकालमें चक्रवर्तीसे की गयी द्विजोंके वर्णकी उत्पत्ति भी होती है।

प. पु./४/६१-१२२ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवका समवशरण आया जान भरत चक्रवर्तीने संघके मुनियोंके उद्देश्यसे उत्तम उत्तम भोजन बनवाये और नौकरोंके सिरपर रखवाकर भगवान्के पास पहुँचा। परन्तु भगवान्ने उद्दिष्ट होनेके कारण उस भोजनको स्वीकार न किया।६१-६७। तब भरतने अन्य भी आवश्यक सामग्रीके साथ उस भोजनको दान देनेके द्वारा व्रती श्रावकोंका सम्मान करनेके अर्थ उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया।६८-१०३। क्योंकि आनेवालोंमें सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी थे इसलिए भरत चक्रवर्तीने अपने भवनके आँगनमें जौ, धान, मूँग, उड़द आदिके अंकुर बोकर उन सबकी परीक्षा की और सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको छाँट कर ली।१०४-११०। भरतका सन्मान पाकर उन्हें अभिमान जागृत हो गया और अपनेको महान् समझकर समस्त पृथिवी तलपर याचना करते हुए विचरण करने लगे।१११-११४। अपने मन्त्रीके मुखसे उनके आगामी भ्रष्टाचारकी सम्भावना सुन चक्रवर्ती उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ, परन्तु वे सब भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे। और भगवान्ने भरतको उनका वध करनेसे रोक दिया।११५-१२२।

ह. पु./६/३३-३६ का भावार्थ—कल्पवृक्षोंके लोपके कारण भगवान् ऋषभदेवने प्रजाको असि मसि आदि षट्कर्मोंका उपदेश दिया।३३-३६। उसे सीखकर शिल्पीजनोंने नगर ग्राम आदिकी रचना की।३७-३८। उसी समय क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये तीन वर्ण भी उत्पन्न हुए। विनाशसे जीवोंकी रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय, वाणिज्य व्यापारके योगसे वैश्य और शिल्प आदिके सम्बन्धसे शूद्र कहलाये।३६। (म. पु./१६/१७६-१८३)।

म. पु./१६/१८४-१८७ का भावार्थ—उनमें भी शूद्र दो प्रकारके हो गये—कारू और अकारू (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४)। ये सभी वर्णोंके लोग अपनी-अपनी निश्चित आजीविकाको छोड़कर अन्य वर्णकी आजीविका नहीं करते थे।१८४-१८७।

म. पु./३८/५-५० का भावार्थ—दिग्विजय करनेके पश्चात् भरत चक्रवर्तीको परोपकारमें अपना धन लगानेकी बुद्धि उपजी।५। तब महामह यज्ञका अनुष्ठान किया।६। सद्व्रती गृहस्थोंकी परीक्षा करनेके लिए समस्त राजाओंको अपने-अपने परिवार व परिकर सहित उस उत्सवमें निमन्त्रित किया।७-१०। उनके विवेककी परीक्षाके अर्थ अपने घरके आँगनमें अंकुर फल व पुष्प भरवा दिये।११। जो लोग बिना सोचे समझे उन अंकुरोंको कुचलते हुए राजमन्दिरमें घुस आये उनको पृथक् कर दिया गया।१२। परन्तु जो लोग अंकुरों आदिपर पाँव रखनेके भयसे अपने घरोंको वापस लौटने लगे, उनको दूसरे मार्गसे आँगनमें प्रवेश कराके चक्रवर्तीने बहुत सम्मानित किया।१३-२०। उनको उन-उनके व्रतों व प्रतिमाओंके अनुसार यज्ञोपवीतसे चिह्नित किया।२१-२२। (विशेष दे० यज्ञोपवीत)। भरतने उन्हें उपासकाध्ययन आदिका उपदेश देकर अर्हत् पूजा आदि उनके नित्य कर्म व कर्तव्य बताये।२४-२५। पूजा, वार्ता, दत्ति (दान), स्वाध्याय, संयम और तप इन छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्तिके कारण ही उनको द्विज संज्ञा दी। और उन्हें उत्तम समझा गया।४२-४४। (विशेष दे० ब्राह्मण)। उनको गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका भी उपदेश दिया।—(विशेष दे० संस्कार)।५०।

म. पु./४०/२२१ इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो, धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि। तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक् धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम्।२२१। = इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओंमें निपुण है, और जिसे धर्म प्रिय है, ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि व स्थापना की/२२१।

२. जैनाम्नायमें चारों वर्णोंका स्वीकार

ति. प./४/२२५० बहुविहवियप्पजुत्ता खत्तियवइसाण तह य सुद्दाणं। वंसा हवंति कच्छे तिण्णि च्चिय तत्थ ण हु अण्णे।२२५०। —विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें बहुत प्रकारके भेदोंसे युक्त क्षत्रिय, वैश्य तथा

शूद्रके तीन ही वंश हैं. अन्य (ब्राह्मण) वंश नहीं है।२२५०। (ज. प./७/५६); (दे० वर्णव्यवस्था/२/१)।

दे० वर्णव्यवस्था/२/१। (भरत क्षेत्रमें इस हुंडावसर्पिणी कालमें भगवान् ऋषभदेवने क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन तीन वर्णोंकी स्थापना की थी। पीछे भरत चक्रवर्तीने एक ब्राह्मण वर्णकी स्थापना और कर दी।)

दे० श्रेणी/१। (चक्रवर्तीकी सेनामें १८ श्रेणियाँ होती हैं, जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र इन चार श्रेणियोंका भी निर्देश किया गया है)।

ध. १/१,१,१/गा. ६१/६५ गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेदसडंगवि। णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं बम्हणुत्तमो।६१।"—गौतम गोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और षडंगविद्याका पारगामी, शीलवान् और ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्द्धमानस्वामीका प्रथम गणधर 'इन्द्रभूति' इस नामसे प्रसिद्ध हुआ।६१।

म. पु./३८/४५-४६ मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा। वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते।४५। ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्, क्षत्रियाः शस्त्रधारणात्। वणिजोऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ।४६।—यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है, तथापि आजीविकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गयी है।४५। व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं।४६। (ह. पु./९/३९); (म. पु./१६/१८४)।

३. केवल उच्च जाति मुक्तिका कारण नहीं है

स. श./मू. व. टी./८९ जातिलिङ्गविकल्पेन येषां च समयाग्रहः। तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः।८९। जातिलिङ्गरूपविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबन्धः उत्तमजाति-विशिष्टं हि लिङ्गं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवं-रूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः। —जिन शैवादिकोंका ऐसा आग्रह है कि 'अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है' ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते, क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है, तब संसारका आग्रह रखनेवाले उससे कैसे छूट सकते हैं।

४. वर्णसांकर्यके प्रति रोकथाम

म. पु./१६/२४७-२४८ शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या तां स्वां च नैगमः। वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः।२४७। स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्यां वृत्तिमाचरेत्। स पार्थिवैर्नियन्तव्यो वर्ण-संकीर्णिरन्यथा।२४८।—१. वर्णोंकी व्यवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिए भगवान् ऋषभदेवने ये नियम बनाये कि शूद्र केवल शूद्र कन्याके साथ विवाह करे, वैश्य वैश्य व शूद्र कन्याओंके साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कन्याओंके साथ तथा ब्राह्मण चारों वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह करे (अर्थात् स्ववर्ण अथवा अपने नीचेवाले वर्णोंकी कन्याको ही ग्रहण करे, ऊपरवाले वर्णोंकी नहीं।२४७। २. चारों ही वर्ण अपनी-अपनी निश्चित आजीविका करें। अपनी आजीविका छोड़कर अन्य वर्णकी आजीविका करने-वाला राजाके द्वारा दण्डित किया जायेगा।२४८। (म. पु./१६/१८७)।

३. उच्चता व नीचतामें गुणकर्म व जन्मकी कथंचित् प्रधानता व गौणता

१. कथंचित् गुणकर्मकी प्रधानता

कुरल/१८/३ कुलीनोऽपि कदाचारात् कुलीनो नैव जायते। निम्नजोऽपि सदाचारात् न निम्नः प्रतिभासते।३। —उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी यदि कोई सच्चरित्र नहीं है तो वह उच्च नहीं हो सकता और हीन वंशमें जन्म लेने मात्रसे कोई पवित्र आचारवाला नीच नहीं हो सकता।३।

म. पु./७४/४९१-४९५ वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्नप्यदर्शनात्। ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्।४९१। नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्। आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्प्यते। ।४९२। जातिगोत्रादिकर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतवः। येषु ते स्युस्त्रयो वर्णाः शेषाः शूद्राः प्रकीर्तिताः।४९३। अच्छेदो मुक्तियोग्याया विदेहे जातिसंततेः। तद्धेतुनामगोत्राढ्यजीवाविच्छिन्नसंभवात्।४९४। शेषयोस्तु चतुर्थे स्यात्काले तज्जातिसंततिः। एवं वर्णविभागः स्यान्मनुष्येषु जिनागमे।४९५। —१. मनुष्योंके शरीरोंमें न तो कोई आकृतिका भेद है और न ही गाय और घोड़ेके समान उनमें कोई जाति भेद है, क्योंकि, ब्राह्मणी आदिमें शूद्र आदिके द्वारा गर्भ-धारण किया जाना देखा जाता है। आकृतिका भेद न होनेसे भी उनमें जातिभेदकी कल्पना करना अन्यथा है। ४९१-४९२। जिनकी जाति तथा कर्म शुक्लध्यानके कारण हैं वे त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) कहलाते हैं और बाकी शूद्र कहे जाते हैं। (परन्तु यहाँ केवल जातिको ही शुक्लध्यानको कारण मानना योग्य नहीं है—दे० वर्णव्यवस्था/२/३)।४९३। (और भी दे० वर्णव्यवस्था/१/४)। २—विदेहक्षेत्रमें मोक्ष जानेके योग्य जातिका कभी विच्छेद नहीं होता, क्योंकि वहाँ उस जातिमें कारणभूत नाम और गोत्रसे सहित जीवोंकी निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।४९४। किन्तु भरत और ऐरावत क्षेत्रमें चतुर्थकालमें ही जातिकी परम्परा चलती है, अन्य कालोंमें नहीं। जिनागममें मनुष्योंका वर्णविभाग इस प्रकार बत-लाया गया है।४९५। —दे० वर्णव्यवस्था/२।२।

गो. क./मू./१३/९ उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।१३।—जहाँ ऊँचा आचरण होता है वहाँ उच्चगोत्र और जहाँ नीचा आचरण होता है वहाँ नीचगोत्र होता है।

दे० ब्राह्मण/३-(ज्ञान, संयम, तप आदि गुणोंको धारण करनेसे ही ब्राह्मण है, केवल जन्मसे नहीं।)

दे० वर्णव्यवस्था/२/२ (ज्ञान, रक्षा, व्यवसाय व सेवा इन चार कर्मोंके कारण ही इन चार वर्णोंका विभाग किया गया है)।

सा. ध./७/२० ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे। चत्वारोऽङ्गे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः।२०। —जिस प्रकार स्वाध्याय व रक्षा आदिके भेदसे ब्राह्मण आदि चार वर्ण होते हैं, उसी प्रकार धर्म क्रियाओंके भेदसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास ये चार आश्रम होते हैं। ऐसा सातवें अंगमें कहा गया है। (और भी —दे० आश्रम)।

मो. मा. प्र./३/८९/९ कुलकी अपेक्षा आपकौं ऊँचा नीचा मानना भ्रम है। ऊँचा कुलका कोई निन्द्य कार्य करै तो वह नीचा होइ जाय। अर नीच कुलविषै कोई श्लाघ्य कार्य करै तो वह ऊँचा होइ जाय।

मो. मा. प्र./६/२५८/२ कुलकी उच्चता तो धर्मसाधनतैं है। जो उच्च-कुलविषै उपजि हीन आचरन करै, तौ वाकौं उच्च कैसे मानिये। ...धर्मपद्धतिविषै कुल अपेक्षा महंतपना नाहीं संभवै है।

२. गुणवान् नीच भी ऊँच है

दे० सम्यग्दर्शन/I/५ (सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न मातंग देहज भी देव तुल्य है। मिथ्यात्व युक्त मनुष्य भी पशुके तुल्य है, और सम्यक्त्व सहित पशु भी मनुष्यके तुल्य है।)

नीतिवाक्यामृत/१२ आचारमनवद्यत्वं शुचिरुपकरः शारीरी च विशुद्धिः। करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मयोग्यम्। –अनवद्य चारित्र तथा शरीर व वस्त्रादि उपकरणोंकी शुद्धिसे शूद्र भी देवों द्विजों व तपस्वियोंकी सेवाका (तथा धर्मश्रवणका) पात्र बन जाता है। (सा. ध./२/२२)।

दे० प्रव्रज्या/१/२—(म्लेच्छ व सत शूद्र भी कदाचित मुनि व क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं।) (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४/२)।

दे० वर्णव्यवस्था/१/८ (संयमासंयमका धारक तिर्यंच भी उच्चगोत्री समझा जाता है)

३. उच्च व नीच जातिमें परिवर्तन

ध. १५/२८८/२ अजसकित्ति-दुभग-अणादेज्जं को वेदओ। अगुणपडिवण्णो अण्णदरो तप्पाओगो। तित्थयरणामाए को वेदओ। सजोगो अजोगो वा। उच्चागोदस्स तित्थयरभंगो। णीचागोदस्स अणादेज्जभंगो। –अयशःकीर्ति, दुर्भग और अनादेयका वेदक कौन होता है? उनका वेदक गुणप्रतिपन्नसे भिन्न तत्प्रायोग्य अन्यतर जीव होता है। तीर्थंकर नामकर्मका वेदक कौन होता है? उसका वेदक सयोग (केवली) और अयोग (केवली) जीव भी होता है। उच्चगोत्रके उदयका कथन तीर्थंकर प्रकृतिके समान है और नीचगोत्रके उदयका कथन अनादेयके समान है। (अर्थात गुणप्रतिपन्नसे भिन्न जीव नीचगोत्रका वेदक होता है गुणप्रतिपन्न नहीं। जैसे कि तिर्यंच—दे० वर्णव्यवस्था/३/२।

दे० वर्णव्यवस्था/१/१० (उच्चगोत्री जीव नीचगोत्रीके शरीरकी और नीचगोत्री जीव उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करे तो उनके गोत्र भी उतने समयके लिए बदल जाते हैं। अथवा उच्चगोत्र उसी भवमें बदलकर नीचगोत्र हो जाये और पुनः बदलकर उच्चगोत्र हो जाये, यह भी सम्भव है।)

दे० यज्ञोपवीत/२ (किसीके कुलमें किसी कारणवश दोष लग जानेपर वह राजाज्ञासे शुद्ध हो सकता है। किन्तु दीक्षाके अयोग्य अर्थात नाचना-गाना आदि कार्य करनेवालोंको यज्ञोपवीत नहीं दिया जा सकता। यदि वे अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण कर लें तो यज्ञोपवीत धारणके योग्य हो जाते हैं।)

धर्म परीक्षा/१७/२८-३१ (बहुत काल बीत जानेपर शुद्ध शीलादि सदाचार छूट जाते हैं और जातिच्युत होते देखिये है।२८। जिन्होंने शील संयमादि छोड़ दिये ऐसे कुलीन भी नरकमें गये हैं।३१।)

४. कथंचित् जन्मकी प्रधानता

दे० वर्णव्यवस्था/१/३—(उच्चगोत्रके उदयसे उच्च व पूज्य कुलोंमें जन्म होता है और नीच गोत्रके उदयसे गर्हित कुलोंमें।)

दे० प्रव्रज्या/१/२ (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन कुलोंमें उत्पन्न हुए व्यक्ति ही प्रायः प्रव्रज्याके योग्य समझे जाते हैं।)

दे० वर्णव्यवस्था/२/४ (वर्णसांकर्यकी रक्षाके लिए प्रत्येक वर्णका व्यक्ति अपने वर्णकी अथवा अपने नीचेके वर्णकी ही कन्याके साथ विवाह करे, ऊपरके वर्णकी कन्याके साथ नहीं और न ही अपने वर्णकी आजीविकाको छोड़कर अन्यके वर्णकी आजीविका करे।)

दे० वर्णव्यवस्था/४/१ (शूद्र भी दो प्रकारके हैं सत शूद्र और असत शूद्र। तिनमें सत शूद्र स्पृश्य है और असत शूद्र अस्पृश्य है। सत शूद्र कदाचित् प्रव्रज्याके योग्य होते हैं, पर असत शूद्र कभी भी प्रव्रज्याके योग्य नहीं होते।)

मो. मा. प्र./३/१७/१५ क्षत्रियादिकनिकै (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन वर्ण वालोंके) उच्चगोत्रका भी उदय होता है।

दे० यज्ञोपवीत/२ (नाना बाचना आदि नीच कार्य करनेवाले सत शूद्र भी यज्ञोपवीत धारण करने योग्य नहीं हैं)।

५. गुण व जन्मकी अपेक्षाओंका समन्वय

दे० वर्णव्यवस्था/१/३ (यथा योग्य ऊँच व नीच कुलोंमें उत्पन्न करना भी गोत्रकर्मका कार्य है और आचार ध्यान आदिकी योग्यता प्रदान करना भी।)

६. निश्चयसे ऊँच नीच भेदको स्थान नहीं

प. प्र./मू./२/१०७ एक्कु करे मण बिण्णि करि मं करि वण्ण-विसेसु। इक्कइँ देवइँ जें वसइ तिहुयणु एहु असेसु।१०७। –हे आत्मन्! तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, इसलिए राग और द्वेष मत कर। मनुष्य जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्णभेदको भी मत कर, क्योंकि, अभेद नयसे शुद्धात्माके समान ये सब तीन लोकमें रहने-वाली जीव राशि ठहरायी हुई है। अर्थात जीवपनेसे सब एक हैं।

४. शूद्र निर्देश

१. शूद्रके भेद व लक्षण

म. पु./३८/४६ शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात।४६।

म. पु./१६/१८५-१८६ तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः। कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः।१८५। कारवोऽपि मता द्वेधास्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः।१८६। –नीच वृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र होता है।४६। जो उनकी (ब्राह्मणादि तीन वर्णोंकी) सेवा शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकारके थे—कारु और अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे। कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं। उनमें जो प्रजासे बाहर रहते हैं उन्हें अस्पृश्य और नाई वगैरहको स्पृश्य कहते हैं।१८६। (मो. मा. प्र./८/४१८/२१)।

प्रायश्चित्त चूलिका/गा. १५४ व उसकी टीका—"कारिणो द्विविधाः सिद्धाः भोज्याभोज्यप्रभेदतः। यदन्नपानं ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते भोज्याः। अभोज्या तद्विपरीतलक्षणाः।" –कारु शूद्र दो प्रकारके होते हैं—भोज्य व अभोज्य। जिनके हाथका अन्नपान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते हैं, उन्हें भोज्य कारु कहते हैं और इनसे विपरीत अभोज्य कारु जानने चाहिए।

२. स्पृश्य शूद्र ही क्षुल्लक दीक्षाके योग्य हैं

प्र. सा./ता. वृ./२२५/प्रक्षेपक १० की टीका/३०५/२ यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि। –सत शूद्र भी यथायोग्य दीक्षाके योग्य होते हैं (अर्थात क्षुल्लक दीक्षाके योग्य होते हैं)।

प्रायश्चित्त चूलिका/मूल व टीका/१५४ भोज्येष्वेव प्रदातव्यं सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्।१५४। भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा नापरेषु।टीका। कारु शूद्रोंमें भी केवल भोज्य या स्पृश्य शूद्रोंको ही क्षुल्लक दीक्षा दी जाने योग्य है, अन्यको नहीं।

वर्ण्यसमा—

न्या. सू./मू. व भाष्य/५/१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमः।४। ......लोष्टः खलु क्रियावान् विभुर्दृष्टः काममात्मापि क्रियावान् विभुरस्तु विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। ख्यापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यः तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः।

श्लो. वा/४/१/३३/न्या./श्लो. ३४२/४७६ ख्यापनीयो मतो वर्ण्यः स्यादवर्ण्यो विपर्ययात्। तत्समा साध्यदृष्टान्तधर्मयोरत्र साधने।३४२। —प्रसिद्ध कथनके योग्य वर्ण्य है और उससे विपरीत अवर्ण्य है। ये दोनों साध्यदृष्टान्तके धर्म हैं। इसके विपर्यय वर्ण्यावर्ण्यसम कहाते हैं। जैसे लोष्ट क्रियावान् व विभु देखा जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी क्रियावान् व विभु हो जाओ। अथवा यों कहिए कि वर्ण्य तो साधनेयोग्य होता है और अवर्ण्य असाध्य है। अर्थात्—दृष्टान्तमें सन्दिग्धसाध्यसहितपनेका आपादन करना वर्ण्यसमा है और पक्षमें असन्दिग्धसाध्यसहितपनेका प्रसंग देना वर्ण्यसमा है।

वर्तना—स. सि./५/२२/२९१/४ वृत्तेर्णिजन्तात्कर्मणि भावे वा युटि स्त्रीलिङ्गे वर्तनेति भवति। वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना इति। —णिजन्तमें 'वृत्ति' धातुसे कर्म या भावमें 'युट्' प्रत्ययके करनेपर स्त्रीलिंगमें वर्तना शब्द बनता है। जिसकी व्युत्पत्ति 'वर्त्यते' या 'वर्तनमात्रम्' होती है। (रा. वा./५/२२/२/४७६/२८)।

रा. वा/५/२२/४/४७७/३ प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना।४। —प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक पर्यायमें प्रतिसमय जो स्वसत्ताकी अनुभूति करता है उसे वर्तना कहते हैं। (त. सा./३/४१)।

द्र. सं./टी./२१/६१/४ पदार्थपरिणतेर्यत्सहकारित्वं सा वर्तना भण्यते। —पदार्थकी परिणतिमें जो सहकारीपना या सहायता है, उसको 'वर्तना' कहते हैं।

वर्तमान काल—

दे० काल/३/७ (वर्तमान कालका प्रमाण एक समय मात्र है।)

दे० नय/III/५/७ (विवक्षित पर्यायके प्रारम्भ होनेसे लेकर उसका अन्त होने तकका काल वर्तमान काल है। सूक्ष्म व स्थूलकी अपेक्षा वह दो प्रकार है। सूक्ष्म एक समयमात्र है और स्थूल अन्तर्मुहूर्तसे लेकर संख्यात वर्ष तक है।)

वर्तमान नैगमनय—दे० नय/III/२।

वर्दल—षष्ठ नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५।

वर्द्धमान—१. प्र. सा./ता. वृ./१/३/१६ अव समन्तादृद्धं वृद्धं मानं प्रमाणं ज्ञानं यस्य स भवति वर्द्धमानः। —'अव' अर्थात् समन्तात्, ऋद्धम् अर्थात् वृद्ध, मान अर्थात् प्रमाण या ज्ञान। अर्थात् हर प्रकारसे वृद्ध ज्ञान जिसके होता है ऐसे भगवान् वर्द्धमान हैं। २. भगवान् महावीरका अपरनाम भी वर्द्धमान है—दे० महावीर। ३. रुचक पर्वतका एक कूट है—दे० लोक५/१३,४. अवधिज्ञानका एक भेद। —दे० अवधिज्ञान/१।

वर्द्धमानचरित्र—कवि असग (ई. ९८८) द्वारा रचित १८ सर्ग प्रमाण हिन्दी महाकाव्य। (ती./४/१२)।

वर्द्धमानयंत्र—दे० यंत्र।

वर्धकि—कौशल देशका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

वर्ष—१. कालका एक प्रमाण। अपरनाम संवत्सर—दे० गणित/I/१/४।

२. आज भी कन्नौजमें 'वर्ष' नाम बसतीका है—(ज. प./प्र. १३६/ A. N. Up. व H. L. Jain)।

वर्षधर—स. सि./३/११/२१४/११ वर्षविभागहेतुत्वाद्वर्षधरपर्वता इत्युच्यन्ते। —हिमवान् आदि पर्वतोंके कारण क्षेत्रोंका विभाग होता है, इसलिए इन्हें वर्षधर पर्वत कहते हैं। —(विशेष दे० लोक/३/४)।

द्र. सं./टी./३५/१२१/१ वर्षधरपर्वता सीमापर्वता इत्यर्थः। —पर्वतका अर्थ यहाँ वर्षधरपर्वत अथवा सीमापर्वत है।

वर्षायोग—१. वर्षायोगका लक्षण—दे० काय-क्लेश/योग। २. वर्षायोग सम्बन्धी नियम—दे० पाद्यस्थिति कल्प। ३. वर्षायोग प्रतिष्ठापन व निष्ठापन विधि—दे० कृतिकर्म/४।

वलय—Ring (ज. प./प्र. १०८); (ध. ५/प्र. २८)।

वलाहक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वलीक—भगवान् वीरके तीर्थके एक अन्तकृत् केवली। —दे० अन्तकृत्।

वल्कल—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

वल्गु—१. सौधर्म स्वर्गका चतुर्थ पटल। —दे० स्वर्ग/५/३।२. अपर विदेहका एक क्षेत्र। अपर नाम गन्धा। —दे० लोक५/२।३. नागगिरि वक्षारका एक कूट।—दे० लोक/५/४।

वल्लभ—वेदान्तकी एक शाखाके प्रवर्तक। समय—ई. श. १५। —दे० वेदान्त।

वल्लभिका—१. इन्द्रोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाली तथा उन्हें अपनी विक्रिया, प्रभाव, रूप, स्पर्श तथा गन्धसे रमानेवाली, उनके अभिप्रायके अनुसार १६००० विक्रियाएँ उत्पन्न करनेवाली वल्लभिका देवियाँ होती हैं। (ज. प./११/२६२-२६७)। २. प्रत्येक इन्द्रकी वल्लभिका देवियाँ। —दे० देवगतिका वह-वह नाम।

वल्लि भूमि—समवशरणकी तीसरी भूमि। —दे० समवशरण।

वशार्त मरण—दे० मरण/१।

वशित्व विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

वशिष्ठ—ह. पु./३३/श्लोक—एक तापस था।४६। राज्य दरबारमें सरमेंसे मछलियाँ निकलनेके कारण लज्जित हुआ।४९-५७। वीरक मुनिसे दीक्षा ले एकलविहारी हो गया।५८-७४। एक महीनेका उपवास धारा। पीछे पारणावश नगरमें गया तो आहार लाभ न हुआ, क्योंकि राजा उग्रसेनने स्वयं आहार देनेके लिए प्रजाको आहार दान करनेको मना कर दिया था और काममें व्यस्त होनेके कारण स्वयं भी आहार न दे सका था। तब वह साधु निदानपूर्वक मरकर उसी राजाके घर कंस नामका पुत्र हुआ, जिसने उसको बन्दी बनाकर बहुत दुःख दिया।७५-८४। यह कंसका पूर्वका भव है। —दे० कंस।

वश्यकर्म—वसतिकाका एक दोष। —दे० वसतिका।

वश्ययंत्र—दे० यंत्र।

वसंत—सुमेरुपर्वतका अपर नाम। —दे० सुमेरु।

वसंतभद्रव्रत—क्रमश ५, ६, ७, ८, ६ इस प्रकार ३५ उपवास करे। बीचके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। (ह. पु./३४/५६)।

वसतिका—साधुके ठहरनेका स्थान वसतिका कहलाता है। वह मनुष्यों, तिर्यचों व शीत-उष्णादिकी बाधाओंसे रहित होना चाहिए। ध्यानाध्ययनकी सिद्धिके अर्थ एकान्त गुफा व शून्य स्थान ही उसके लिए अधिक उपयुक्त हैं।

१. वसतिकाका सामान्य स्वरूप

भ. आ./मू./६३५-६३८/८३६ उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए हु। वसइ असंसत्ताए णिप्पाहुडियाएसेज्जाए।६३६। सुहणिक्खवणपवेसणघणाओ अवियडअणंधयाराओ।६३७। घणकुड्ड सकवाडे गामबहिं बालवुड्ढगणजोग्गे।६३८।

भ. आ./मू./२२६/४४२ वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा।···।२२६।—१. जो उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है, जिसमें जन्तुओंका वास न हो, अथवा बाहरसे आकर जहाँ प्राणी वास न करते हों, संस्काररहित हो, ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं। (भ. आ./मू./२३०/४४३)—(विशेष दे. वसतिका/७) २. जिसमें प्रवेश करना या जिसमेंसे निकलना सुखपूर्वक हो सके, जिसका द्वार ढका हो, जहाँ विपुल प्रकाश हो।६३७। जिसके किवाड़ व दीवारें मजबूत हों, जो ग्रामके बाहर हो, जहाँ बाल, वृद्ध और चार प्रकारके गण (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) आ जा सकते हों।६३८। जिसके द्वार खुले हों या भिड़े हों, जो समभूमि युक्त हो या विषम भूमि युक्त हो, जो ग्रामके बाह्यभागमें हो अथवा अन्तमें हो ऐसी वसतिकामें मुनि रहते हैं।२२६।

२. ध्यानाध्ययनमें बाधा कारक व मोहोत्पादक न हो

भ. आ./मू./२२८, ६३५ जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु सद्दरसरूवगंधफासेहिं। सज्झायज्झाणबाघादो वा वसधी विवित्ता सा।२२८। पंचिंदियप्पयारो मणसंखोभकरणो जहिं णत्थि। चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सहप्पवत्तेण।६३५।—जहाँ अमनोहर या मनोहर स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्दों द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते, जहाँ स्वाध्याय व ध्यानमें विघ्न नहीं होता।२२८। जहाँ रहनेसे मुनियोंकी इन्द्रियाँ विषयोंकी तरफ नहीं दौड़तीं, मनकी एकाग्रता नष्ट नहीं होती और ध्यान निर्विघ्न होवे, ऐसी वसतिकामें मुनि निवास करते हैं।६३५।

मू. आ./६४६ जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुलं। दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ।६४६।—जिस क्षेत्रमें कषायकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो, मूर्खता हो, इन्द्रियविषयोंकी अधिकता हो, स्त्री आदि बहुत जनोंका संसर्ग हो, तथा क्लेश व उपसर्ग हों, ऐसे क्षेत्रको मुनि अवश्य छोड़ दें।

ज्ञा./२७/३१ किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते। स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वंसशङ्कितैः।३१। —ध्यानविध्वंसके भयसे क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड़ देना चाहिए।३१। (अन. ध./७/३०/६८१)

३. कुशीलसंसक्त स्थानोंसे दूर होनी चाहिए

भ. आ./मू./६३३-६३४/८३४ गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजंतग्गिकम्मफरुसे य। णत्तिजया पाडहि पाडहिडोंबणडरायमग्गे।६३३। चारण कोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे च। एवंविध वसधीए होज्ज समाधीए बाधादो।६३४।—गन्धर्व, गायन, नृत्य, गज, अश्व आदि शालाओंके; तेली, कुम्हार, धोबी, नट, भांड, शिल्पी, कुलाल आदिके घरोंके तथा राजमार्गके तथा बगीचे व जलाशयके समीपमें वसतिका होनेसे ध्यानमें विघ्न पड़ता है।६३३-६३४।

मू. आ./३५७ तेरिक्खी माणुस्सिय सविकारिणि-देविगेहिसंसत्ते। वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे।३५७।—गाय आदि तिर्यंचिनी, कुशील स्त्री, भवनवासी व्यन्तरी देवी, असंयमी गृहस्थ, इनके रहनेके निवासोंको यत्नचारी मुनि शयन करने, बैठने व खड़े होनेके लिए छोड़े।

रा. वा./९/६/१६/५९७/३४ संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परिहर्तव्याः।—शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको स्त्री, क्षुद्रजन्तु, चोर, मद्यपान, जूआ, शराबी, और चिड़ीमार आदिके स्थानोंमें नहीं बसना चाहिये। और शृंगार, विकार, आभूषण, उज्ज्वलवेष, वेश्याक्रीड़ा, मनोहर गीत, नृत्य, वादित्र आदिसे परिपूर्ण शालाओं आदिमें रहने आदिका त्याग करना चाहिए। (बो. पा./टी./५७/१२०/२०)

दे. कृतिकर्म/३/४/३ (रुद्र आदिके मन्दिर तथा दुष्ट स्त्री पुरुषोंसे संसक्त स्थान ध्यानके लिए अत्यन्त निषिद्ध हैं)

४. स्त्रियों व अन्य जन्तुओं आदिकी बाधासे रहित व अनुकूल होनी चाहिए

भ. आ./मू./२२६/४४२ इत्थिणउंसयपसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए।२२६। —जो स्त्री पुरुष व नपुंसक जनोंसे वर्जित हो, तथा जो शीत व उष्ण हो अर्थात् गर्मियोंमें शीत और सर्दियोंमें उष्ण हो, ऐसी वसतिका योग्य है।

स. सि./९/१९/४३८/१० विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनम्···कर्तव्यमिति। —एकान्त व जन्तुओंकी पीड़ासे रहित स्थानोंमें मुनिको शय्या व आसन लगाना चाहिए। (रा. वा./९/१९/१२/६१९/१३)

ध. १३/५,४,२६/५८/८ त्थी-पसु-संढयादीहि ज्झाणज्झेयविग्घकारणेहि वज्जिय···पदेसा विवित्तं णाम।—ध्यान और ध्येयमें विघ्नके कारणभूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदिसे रहित प्रदेश विविक्त कहलाते हैं। (बो. पा./टी./५७/१२०/१६ तथा ७८/२२२/५)

दे. वसतिका/नं···[जिसमें जन्तुओंका वास न हो और जहाँ प्राणी बाहरसे आकर न ठहरते हों, ऐसा स्थान योग्य है। (वसतिका/१ में भ. आ./मू./६३६)। स्त्रियों व बहुजन संसर्ग तथा क्लेश व उपसर्गसे रहित स्थान मुनियोंके रहने योग्य है। (वसितका/२/में मू. आ./६४६)। कुशीलो स्त्रियों, तिर्यंचिनियों, देवियों, दुष्ट पुरुषोंसे संसक्त स्थान तथा देवी-देवताओंके मन्दिर वर्जनीय हैं (वसतिका/३)।]

दे कृतिकर्म/३/४/२ [पवित्र, सम, निर्जन्तुक, स्त्रियों, नपुंसकों व प... पक्षियोंकी कंटक आदिकी बाधाओंसे रहित स्थान ही ध्यान... योग्य है।]

५. नगर व ग्राममें बसनेका निषेध

दे. वसतिका/१ में भ. आ./मू./२२६, ६३८ (मुनिकी या क्षपककी वसतिका ग्रामसे बाहर या ग्रामके अन्तमें होनी चाहिए।)

आ. अनु./१९७-१९८ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः। वनाद्विशंत्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः।१९७। वरं गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः। श्व स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसंपदः।१९८। —जिस प्रकार सिंहादिके भयसे मृगादि रात्रिके समय गाँवके निकट आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकालमें मुनिजन भी वनको छोड़ गाँवके समीप रहने लगे हैं, यह खेदकी बात है।१९७। यदि आजका ग्रहण किया तप कल स्त्रियोंके कटाक्षरूप लुटेरोंके द्वारा वैराग्य सम्पत्तिसे रहित कर दिया जाय तो इस तपकी अपेक्षा तो गृहस्थ जीवन ही कहीं श्रेष्ठ था।१९८।

६. शून्य गृह, गिरिगुहा, वृक्षकी कोटर, श्मशान आदि स्थान साधुके योग्य हैं

भ. आ.मू./गा. सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल···विवित्ताइं।२३१। उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे।६३८। —शून्यघर, पर्वतकी गुफा, वृक्षका मूल, अकृत्रिम गृह ये सब विविक्त वसतिकाएँ हैं।२३१। उद्यानगृह, गुफा और शून्यघर ये भी वसतिका व क्षपकका संस्तर करनेके योग्य माने गये हैं।६३८।

मू. आ./९५० गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा। ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ।९५०।—पर्वतकी गुफा (व कन्दरा) श्मशानभूमि, शून्यघर, और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्यके कारण-स्थानोंमें धीर मुनि रहें।९५०। (मू. आ./७८७-७९६); (अन. ध./७/३०/६८१)।

मो. पा./मू./४२ सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा। गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा।४२। —सूना घर, वृक्षका मूल अर्थात् कोटर, उद्यानवन, श्मशानभूमि, गिरिगुफा, गिरिशिखर, भयानकवन, अथवा वसतिका इनविषै दीक्षासहित मुनि तिष्ठै।४२।

त. सू./७/६ शून्यागारविमोचितावास...।६। —शून्यागार विमोचितावास ये अचौर्यमहाव्रतकी भावनाएँ हैं।

स. सि./६/१६/४३८/१० शून्यागारादिषु विविक्तेषु...संयतस्य शय्यासनम्...कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः। —शून्यघर आदि विविक्त स्थानोंमें संयतको शय्यासन लगाना चाहिए। ये पाँचवाँ (विविक्त शय्यासन नामका) तप है। (रा वा./६/१६/१२/६१६/१२); (मो. पा./टी./७८/२२२/६)।

रा. वा /६/६/१६/५९७/३६ अकृत्रिमगिरिगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा...। —(शयनासनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको) प्राकृतिक गिरिगुफा, वृक्षकी खोह, तथा शून्य या छोड़े हुए मकानोंमें बसना चाहिए।

ध. १३/५.४.२६/५८/८ गिरिगुहा-कंदर-पब्भार-सुसाण-सुण्णहरारामुज्जाणाओ पदेसा विवित्तं णाम। —गिरिकी गुफा, कन्दरा, पब्भार (शिक्षागृह—दे० अगला शीर्षक), श्मशान, शून्यघर, आराम और उद्यान आदि प्रदेश विविक्त कहलाते हैं।

दे. कृतिकर्म/३/४/१ (पर्वतकी गुफा, वृक्षकी कोटर, नदीका किनारा या पुल, शून्य घर आदि ध्यानके लिए उपयुक्त स्थान हैं।)

७. अनुद्दिष्ट धर्मशाला आदि भी युक्त है

भ. आ /मू /२३१,६३६...आगंतुगारदेवकुले। अकदप्पब्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं।२३१। आगंतुघरादिसु वि कडएहिं य चिलिमिलीहिं कायव्वो। खवयस्सोगारो धम्मसवणमंडवादी य।६३६। —देवमन्दिर, व्यापारार्थ भ्रमण करनेवाले व्यक्तियोंके निवासार्थ बनाये गये घर, पब्भार (शिक्षागृह), अकृत्रिम गृह, क्रीडार्थ आने-जानेवालोंके लिए बनाये गये घर ये सब विविक्त वसतिकाएँ हैं।२३१। व्यापारियोंके ठहरनेके लिए निर्माण किये गये घर या ऐसी वसतिकाएँ उपलब्ध न हों तो क्षपकके लिए बाँस व पत्तों आदिका आच्छादन या सभामंडप आदि भी काममें लाये जा सकते हैं।६३६।

रा. वा /६/६/१६/५९७/३६ कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारम्भाः सेव्याः। —(शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर संयतको) शून्य मकान या छोड़े हुए ऐसे मकानोंमें बसना चाहिए जो उनके उद्देशसे नहीं बनाये गये हों और न जिनमें उनके लिए कोई आरम्भ ही किया गया हो। —(और भी दे. वसतिका/१,६)।

८. वसतिकाके ४६ दोषोंका निर्देश

१. उद्गम दोष निरूपण

भ. आ./वि./२३०/४४३/१० तत्रोद्गमा दोषो निरूप्यते वृक्षच्छेदस्तदानयनं, इष्टकापाकः भूमिखननं...इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्मशब्देनोच्यते। यावन्तो दीनानाथकृपणा आगच्छन्ति लिङ्गिनो वा तेषामियमित्युद्दिश्य कृता, पाषंडिनामेवेति वा श्रमणानामेवेति, निर्ग्रन्थानामेवेति सा उद्देसिगा वसदिति भण्यते। आत्मार्थं गृहं कुर्वता अपवरकं संयतानां भवत्विति कृतं अब्भोवब्भमित्युच्यते। आत्मनो गृहार्थमानीतैः काष्ठादिभिः सह बहुभिः श्रमणार्थमानीयाल्पेन मिश्रिता यत्र गृहे तत्पूतिकमित्युच्यते। पाषंडिनां गृहस्थानां वा क्रियमाणे गृहे पश्चात्संयतानुद्दिश्य काष्ठादिमिश्रेण निष्पादितं वेश्ममिश्रम्। स्वार्थमेव कृतं संयतार्थमिति स्थापितं ठविदं इत्युच्यते। संयतः स च यावद्भिर्दिनैरागमिष्यति तत्प्रवेशदिने गृहसंस्कारं सकलं करिष्यामः इति चेतसि कृत्वा यत्संस्कारितं वेश्म तत्पाहुडिगमित्युच्यते। (यक्षनागमातृकाकुलदेवतार्थं कृतं गृहं तेभ्यश्च यथास्वं दत्तं तद्दत्तावशिष्टं यतिभ्यो दीयमानं बलिरित्युच्यते)। तदागमानुरोधेन गृहसंस्कारकालापहासं कृत्वा वा संस्कारिता वसतिः प्रदीपकं वा तत्पादुष्कृतमित्युच्यते। यद्गृहं अन्धकारबहुलं तत्र बहुप्रकाशसंपादनाय यतीनां छिद्रीकृतकुड्यं, अपाकृतफलकं, सुविन्यस्तप्रदीपकं वा तत्पादुकारशब्देन भण्यते। द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं इति द्विविधं क्रीतं वेश्म, सचित्तं गोबलीवर्दादिकं दत्त्वा संयतार्थं क्रीतं, अचित्तं वा घृतगुडखण्डादिकं दत्त्वा क्रीतं द्रव्यक्रीतम्। विद्यामन्त्रादिदानेन वा क्रीतं भावक्रीतम्। अल्पमृणं कृत्वा वृद्धिसहितं अवृद्धिकं वा गृहीतं संयतेभ्यः पामिच्छं उच्यते। मदीये वेश्मनि तिष्ठतु भवान् युष्मदीयं तावद्गृहं यतिभ्यः प्रयच्छेति गृहीतं परियट्टमित्युच्यते। कुड्याद्यर्थं कुटीरककटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदब्भाहिडमुच्यते। तद्द्विविधमाचरितमनाचरितमिति। दूरदेशाद्ग्रामान्तराद्वानीतमनाचरितं। इष्टकादिभिः, मृत्पिण्डेन, वृत्या, कबाटेनोपलेन वा स्थगितं अपनीय दीयते यत्तदुब्भिन्नं। निश्रेण्यादिभिरारुह्य इत आगच्छत युष्माकमियं वसतिरिति या दीयते द्वितीया तृतीया वा भूमिः सा मालारोहमित्युच्यते। राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीयं यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्जं इति। अनिसृष्टं पुनर्द्विविधं। गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते वसतिः यत्स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभयाप्यनिसृष्टेति उच्यते। उद्गमदोषा निरूपिता। —१. झाड़ तोड़कर लाना, ईंटें पकवाना, जमीन खोदना,...इत्यादि क्रियाओंसे षट्काय जीवोंको बाधा देकर स्वयं वसतिका बनायी हो या दूसरोंसे बनवायी हो वह वसतिका अधःकर्मके दोषसे दूषित है। २. "दीन, अनाथ अथवा कृपण आवेंगे अथवा सर्वधर्मके साधु आवेंगे, किंवा जैनधर्मसे भिन्न ऐसे साधु अथवा निर्ग्रन्थमुनि आवेंगे, उन सब जनोंको यह वसतिका होगी", इस उद्देश्यसे जो वसतिका बाँधी जाती है वह उद्देशिक दोषसे दुष्ट है। ३. जब गृहस्थ अपने लिए घर बँधवाता है, तब 'यह कोठरी संयतोंके लिए होगी' ऐसा मनमें विचारकर बँधवायी गयी वह वसतिका अब्भोब्भव दोषसे दुष्ट है। ४. अपने घरके लिए लाये गये बहुत काष्ठादिकोंसे श्रमणोंके लिए लाये हुए काष्ठादिक मिश्रण कर बनायी गयी जो वसतिका वह पूतिकदोषसे दुष्ट है। ५. पाखंडी साधु अथवा गृहस्थोंके लिए घर बाँधनेका कार्य शुरू हुआ था, तदनन्तर संयतोंके उद्देश्यसे काष्ठादिकोंका मिश्रण कर बनवायी जो वसतिका वह मिश्रदोषसे दूषित समझना चाहिए। ६. गृहस्थने अपने लिए ही प्रथम बनवाया था परन्तु अनन्तर 'यह गृह संयतोंके लिए हो' ऐसा संकल्प जिसमें हुआ है वह गृह स्थापितदोषसे दुष्ट है। ७. "संयत अर्थात् मुनि इतने दिनोंके अनन्तर आवेंगे अतः जिस दिनमें उनका आगमन होगा उस दिनमें सब घर झाड़कर, लीपकर स्वच्छ करेंगे," ऐसा मनमें संकल्पकर प्रवेश दिनमें वसतिकाका संस्कृत करना पाहुडिग नामका दोष है। ८. (मूलाराधना दर्पणके अनुसार पाहुडिगसे पहिले बलि नामक दोष है। उसका लक्षण वहाँ इस प्रकार किया है)—यक्ष, नाग, माता, कुलदेवता, इनके लिए घर निर्माण करके उनको देकर अवशिष्ट रहा हुआ स्थान मुनिको देना यह बलि नामक दोष है। ९. मुनिप्रवेशके अनुसार संस्कारके कालमें ह्रासकर अर्थात् उनके पूर्व ही संस्कारित जो वसतिका वह प्रादुष्कृत दोषसे दूषित समझनी चाहिए। १०. जिस घरमें विपुल अन्धकार हो तो वहाँ प्रकाशके लिए भित्तिमें छेद करना, वहाँ काष्ठका फलक है तो उसे निकालना, उसमें दीपककी योजना करना यह प्रादुकारदोष है। ११. द्रव्यक्रीत और भावक्रीत ऐसे खरीदे हुए घरके दो भेद हैं। गाय, बैल, वगैरह सचित्त पदार्थ देकर संयतोंके लिए खरीदा हुआ जो घर उसको सचित्त द्रव्यक्रीत कहते हैं। घृत, गुड़, खाँड़ ऐसे

अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तद्रव्यक्रीत कहते हैं। विद्या मन्त्रादि देकर खरीदे हुए घरको भावक्रीत कहते हैं। १२. अल्प ऋण करके और उसका सूद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिए जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छदोषसे दूषित है। १३. "मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनियोंको रहनेके लिए दो—" ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परिवर्तदोषसे दूषित समझना चाहिए। १४. अपने घरकी भीतके लिए जो स्तम्भादिक सामग्री तैयार की थी वह संयतोंके लिए लाना, सो अभिघट नामका दोष है। इसके आचरित व अनाचरित ऐसे दो भेद हैं। जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्य ग्राममे लायी गयी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझनी चाहिए। १५. ईंट, मिट्टीके पिण्ड, काँटोंकी बाड़ी अथवा किवाड़, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर खुला करके मुनियोंको रहनेके लिए देना वह उद्भिन्न दोष है। १६. "नसैनी (सीढ़ी) वगैरहसे चढ़कर आप यहाँ आइए, आपके लिए यह वसतिका दी जाती है," ऐसा कहकर संयतोंको दूसरा अथवा तीसरा मंजिला रहनेके लिए देना, यह मालारोह नामका दोष है। १७. राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे भय दिखाकर दूसरोंका गृहादिक यतियोंको रहनेके लिए देना वह अच्छेद्य नामका दोष है। १८. अनिसृष्ट दोषके दो भेद हैं—जो दानकार्यमें नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित है। और जो वसतिका बालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित समझनी चाहिए।—इस तरह उद्गम दोष निरूपण किये।

२. उत्पादनदोष निरूपण

भ. आ./वि. २३०/४४४/६ उत्पादनदोषा निरूप्यन्ते—पञ्चविधानां धात्रीकर्मणां अन्यतमेनोत्पादिता वसतिः। कश्चिद्दारकं स्नपयति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति, स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्तराच्च देशादन्य देशतो वा सम्बन्धिनां वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अङ्गं, स्वरो, व्यञ्जनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जातिं, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वनिपका शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता (क्रोधं, मानं, मायां, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा)। गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रयः इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा। वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति। एवं उत्पादितासंस्तवदोषदुष्टाः। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा। मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म। विरक्तानां अनुरागजननं वा। उत्पादनाख्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः।—१. धात्री पाँच प्रकारकी है—बालकको स्नान करानेवाली, उसे वस्त्राभूषण पहनानेवाली, उसका मन प्रसन्न करनेवाली, उसे अन्नपान करानेवाली, और उसे सुलानेवाली। इन पाँच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर, उससे यति अपने रहनेके लिए वसतिका प्राप्त करते हैं। अतः वह वसतिका धात्रीदोषसे दुष्ट है। २. अन्यग्राम, अन्य नगर और अन्यदेशके सम्बन्धीजनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदित कर वसतिका प्राप्त करना दूतकर्म नामका दोष है। ३. अंग, स्वर आदि आठ प्रकारके निमित्तशास्त्रका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना निमित्त नामका दोष है। ४. अपनी जाति, कुल, ऐश्वर्य वगैरहका वर्णनकर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदनकर वसतिकाकी प्राप्ति करना आजीव नामक दोष है। ५. हे भगवन्! सर्व लोगोंको आहार व वसतिकाका दान देनेसे क्या महान् पुण्यकी प्राप्ति न होगी? ऐसा श्रावकका प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्य प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहूँ तो श्रावक वसतिका न देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना वनिपक दोष है। ६. आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करना चिकित्सा नामक दोष है। ७-१०. क्रोध, मान, माया व लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोधादि चतुष्टय दोष है। ११. जानेवाले और आनेवाले मुनियोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है। यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूर्वस्तुति नामका दोष है। १२. निवासकर जानेके समय पुनः भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे (उपरोक्त प्रकार ही) स्तुति करना पश्चात्स्तुति नामका दोष है। १३-१५. विद्या, मन्त्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वशकर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना विद्यादि दोष हैं। १६. भिन्न जातिकी कन्याके साथ सम्बन्ध मिलाकर वसतिका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना मूलकर्म नामका दोष है। इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके १६ भेद हैं।

३. एषणादोष निरूपण

भ. आ./वि./२३०/४४४/१६ अथ एषणादोषाञ्चष्ट आह—किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सम्मार्जिता छटी वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोठनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या, अपां, हरितानां, बीजानां त्रसानां उपरि स्थापितं पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिहिता। काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहारणशब्देनोच्यते। मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसैः पिपीलिकमत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा। अधिकवितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः। शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः। निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इंगाल इत्युच्यते।—१. 'यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं है,' ऐसी जिस वसतिकाके विषयमें शंका उत्पन्न होगी वह शंकितदोषसे दूषित समझनी चाहिए। २. वसतिका तत्काल ही लीपी गयी है, अथवा छिद्रसे निकलनेवाले जलप्रवाहसे किंवा पानीका पात्र लुढ़काकर जिसकी लीपापोती की गयी है वह म्रक्षित वसतिका समझनी चाहिए। ३. सचित्त जमीनके ऊपर अथवा पानी, हरित वनस्पति, बीज वा त्रसजीव इनके ऊपर पीठ फलक वगैरह रखकर 'यहाँ आप शय्या करें' ऐसा कहकर जो वसतिका दी जाती है वह निक्षिप्तदोषसे युक्त है। ४. हरितकाय वनस्पति, काँटे, सचित्त मृत्तिका, वगैरहका आच्छादन हटाकर जो वसतिका दी जाती है वह पिहितदोषसे युक्त है। ५. लकड़ी, वस्त्र, काँटे इनका आकर्षण करता हुआ अर्थात् इनको घसीटता हुआ आगे जानेवाला जो पुरुष उससे दिखायी गयी जो वसतिका वह साधारणदोषसे युक्त होता है। ६. जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मत्त, रोगी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त और नग्न है ऐसे दोषसे युक्त गृहस्थके द्वारा यदि वसतिका दी गयी हो तो वह दायकदोषसे दूषित है। ७. पृथिवी जल स्थावर जीवोंसे और चींटी खटमल वगैरह वगैरह त्रस जीवोंसे जो युक्त है, वह वसतिका उन्मिश्रदोष सहित समझना चाहिए। ८. मुनियोंको जितने वालिश्त प्रमाण भूमि ग्रहण करनी चाहिए, उससे अधिक प्रमाण भी भूमिका ग्रहण करना यह प्रमाणातिरेक दोष है। ९. "ठण्ड,

हवा और कड़ी धूप वगैरह उपद्रव इस वसतिकामें हैं" ऐसी निन्दा करते हुए वसतिकामें रहना धूमदोष है। १०. "यह वसतिका वात रहित है", विशाल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है, ऐसा समझकर उसके ऊपर राग भाव करना यह इंगाल नामका दोष है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. वीतरागियोंके लिए स्थानका कोई नियम नहीं। —दे. कृतिकर्म/३/४/४।

२. विविक्त वसतिकाका महत्त्व। —दे. विविक्त शय्यासन।

३. वसतिकामें प्रवेश आदिके समय निःसही और असही शब्दका प्रयोग। —दे. असही।

४. अनियत स्थानोंमें निवास तथा इसका कारण प्रयोजन। —दे. विहार।

५. एक स्थानपर टिकनेकी सीमा। —दे. विहार।

६. पंचमकालमें संघसे बाहर रहनेका निषेध। —दे. विहार।

७. वसतिकाके अतिचार। —दे. अतिचार/३।

वसतिकातिचार—दे० अतिचार/३।

वसा—औदारिक शरीरमें वसा धातुका प्रमाण—दे० औदारिक/१।

वसुंधर—म. पु./६६/श्लोक सं.—ऐरावतक्षेत्रके श्रीपुर नगरका राजा था।७४। स्त्रीकी मृत्युसे विरक्त हो दीक्षा धार महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ।७५-७७। यह जयसेन चक्रवर्तीके पूर्वका तीसरा भव है।—दे० जयसेन।

वसुंधरा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/५/१३।

वसु—१. लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक। २. एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद। ३. प. पु./११/ श्लोक सं.—इक्ष्वाकु कुलके राजा ययातिका पुत्र।१३। क्षीरकदम्ब गुरुका शिष्य था।१४। सत्यवादी होते हुए भी गुरुमाताके कहनेसे उसके पुत्र पर्वतके पक्षको पुष्ट करनेके लिए, 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्दका अर्थ तिसाला जौ न करके 'बकरेसे यज्ञ करना चाहिए' ऐसा कर दिया।६२। फल-स्वरूप सातवें नरकमें गया।७३। (म. पु./६७/२५६-२८१, ४१३-४३६)। ४. चन्देरीका राजा था। महाभारतसे पूर्ववर्ती है। "इन्होंने इन्द्र व पर्वत दोनोंका इकट्ठे ही हव्य ग्रहण किया था" ऐसा कथन आता है। समय—ई० पू० २००० (ऋग्वेद मण्डल सूक्त ६३)।

वसुदेव—ह. पु./सर्ग/श्लोक—अन्धकवृष्णिका पुत्र समुद्रविजयका भाई। (१८/१२)। बहुत अधिक सुन्दर था। स्त्रियाँ सहसा ही उस-पर मोहित हो जाती थीं। इसलिए देशसे बाहर भेज दिये गये जहाँ अनेक कन्याओंसे विवाह हुआ। (सर्ग १६-३१) अनेक वर्षों पश्चात् भाईसे मिलन हुआ। (सर्ग ३२) कृष्णकी उत्पत्ति हुई। (३५।१६) तथा अन्य भी अनेक पुत्र हुए। (४८/५४-६५)। द्वारका जलनेपर संन्यासधारण कर स्वर्ग सिधारे। (६१/८७-६१)।

वसुधा—वृ. स. स्तो/टी./३/७ वसु द्रव्यं दधातीति वसुधा पृथिवी। —वसु अर्थात् द्रव्योंको धारण करती है। इसलिए पृथिवी वसुधा कहलाती है।

वसुनंदि—१. नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहनन्दिके के शिष्य तथा वीरनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ५२५-५३१ (ई० ६०३-६०६) (दे० इतिहास/७/२)। २. नन्दि-संघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार देवेन्द्राचार्यके शिष्य और सर्वचन्द्रके गुरु थे। समय—वि० ६५०-६८० (ई० ८६३-६२३)। —दे० इतिहास/७/५ ३. नन्दिसंघ देशीयगण के आचार्य। अपर नाम जयसेन। गुरु परम्परा—श्रीनन्दि, नयनन्दि (वि. ११००) नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक, वसुनन्दि। कृतियें—श्रावकाचार, प्रतिष्ठासार संग्रह, मूलाचार वृत्ति, वस्तु विद्या, जिनशतक, आप्त मीमांसा वृत्ति। समय—लगभग वि. ११५० (ई. १०६८-१११८)। (ती./३/२२३,२२६), (दे. इतिहास/७/५)।

वसुनंदि श्रावकाचार—आ. वसुनन्दि सं. ३ (ई. श. ११-१२) रचित प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ५४६ गाथाएँ हैं। (ती./३/२२७)।

वसुपाल—मगधका एक प्रसिद्ध जैन राजा जिसने आबू पर्वतपर ऐतिहासिक व आश्चर्यकारी जिनमन्दिरोंका निर्माण कराया। समय ई० ११६७।

वसुबंधु—ई० २८०-३६० के 'अभिधर्मकोश' के रचयिता एक बौद्ध विद्वान्। (सि. वि./प्र. २१/पं. महेन्द्र)।

वसुमति—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

२. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वसुमत्का—विजयार्धकी उत्तरश्रेणी का एक नगर—दे० विद्याधर।

वसुमित्र—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जाति-का एक सरदार था, जिसने मौर्यकालमें ही मगधदेशके किसी एक भागपर अपना अधिकार जमा रखा था। अपरनाम बलमित्र था और अग्निमित्रका समकालीन था। समय—वी. नि. २८५-३४५ (ई. पू. २४६-१८१)—दे० इतिहास/३/४।

वसुषेण—म. पु./६०/श्लोक सं.—"पोदनपुर नगरका राजा था।५०। मलयदेशके राजा चण्डशासन द्वारा स्त्रीका अपहरण होनेपर।५१-५२। दीक्षा धार ली और निदान बन्धसहित संन्यासमरण कर सहस्रार-स्वर्गमें देव हुआ।६४-६७।

वस्तु—

लि. वि./मूलवृत्ति/४/१५/२६३/११ परिणामो वस्तुलक्षणम्। —परि-णमन करते रहना यही वस्तुका लक्षण है।

का. अ./मू./२२५ जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण। बहु धम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए। —जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, वही नियमसे कार्यकारी है। क्योंकि लोकमें बहुत धर्म युक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।—(विशेष दे० द्रव्य)

स्या. मं./५/३०/६ वस्तुनस्तावदर्थ क्रियाकारित्वं लक्षणम्।

स्या. मं./२३/२७२/६ वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु।—अर्थ-क्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। अथवा जिसमें गुणपर्यायें वास करें वस्तु है।

दे. द्रव्य/१/७—(सत्ता, सत्त्व, सत, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि ये सब एकार्थवाची शब्द हैं)।

दे. द्रव्य/१/४ (वस्तु गुणपर्यायात्मक है)।

दे. सामान्य (वस्तु सामान्य विशेषात्मक है)।

दे. श्रुतज्ञान/II. (वस्तु श्रुतज्ञानके एक भेदका नाम है)।

वस्तुत्व—आ. प./६ वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु।—वस्तुके भावको वस्तुत्व कहते हैं। वह वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। [अथवा अर्थक्रियाकारी है अथवा गुण पर्यायोंको वास देनेवाली है (दे. वस्तु)]।

स. भ. त./१८/५ स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्।—अपने स्वरूपके ग्रहण और अन्यके स्वरूपके त्यागसे ही वस्तुके वस्तुत्वका व्यवस्थापन किया जाता है।

वस्तु विद्या—आ. वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) रचित एक ग्रन्थ।

वस्तुसमास—श्रुतज्ञानका एक भेद—दे. श्रुतज्ञान/II।

वस्त्र—भा. पा./टी./७६/२३०/६ पञ्चविधानि पञ्चप्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि...अंडजं वा-कोशजं तसरिचीरम् (१) बोंडजं वा कर्पासवस्त्रं (२) रोमजं वा ऊर्णामयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (वल्कजं वा वल्कं वृक्षादित्वग्भङ्गादिछल्लिवस्त्रं तट्टादिकं चापि (४) चर्मजं वा मृगचर्मव्याघ्रचर्मचित्रकचर्मगजचर्मादिकम्...।—वस्त्र पाँच प्रकारके होते हैं—अंडज, बोंडज, रोमज, वल्कज और चर्मज। रेशमसे उत्पन्न वस्त्र अंडज है। कपाससे उपजा बोंडज है। बकरे, ऊँट आदिकी ऊनसे उपजा रोमज है। वृक्ष या बेल आदि छालसे उपजा वल्कज या वल्कलज है: मृग, व्याघ्र, चीता, गज आदिके चर्मसे उपजा चर्मज है।

२. रेशमी वस्त्रकी उत्पत्तिका ज्ञान आचार्योंको अवश्य था

भ. आ./मू./९११ वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं। कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं।९११।—विषयी जीव स्त्रीके स्नेहपाशमें अपनेको इस तरह वेष्टित करता है। जैसे रेशमको उत्पन्न करनेवाला कीड़ा अपने मुखमेंसे निकले हुए तन्तुओंसे अपनेको वेष्टित करता है।

★ **साधुको वस्त्रका निषेध**—दे० अचेलकत्व।

★ **सवस्त्र मुक्तिका निषेध**—दे० वेद/७।

वस्त्रांग—वस्त्र प्रदान करनेवाला कल्पवृक्ष।—वृक्ष/१।

वस्वोक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वाइम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५।

वाक्—दे० वचन।

वाक्छल—दे० छल।

वाकुस—भ. आ./वि./६०६/८०७/६ गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगो। गृहस्थानां भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपणं, तैर्वा कस्यचिदादानं चारित्राचारः।—गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे अर्थात् गृहस्थोंके भाजन अर्थात् कुम्भ, घड़ा, करक-कमण्डलु, शराव वगैरह पात्रोंमेंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ रखे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्राचार है।

वाक्य—न्या. वि./वृ./१/६/१३७/१४ वाक्यं नाम पदसंदोहकल्पितं नाखण्डैकरूपम्।—वाक्य नाम पदोंके समूहका है, अखण्ड एक रूपका नहीं।

न्या० सू./मू./२/१/६२-६५ विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्।६२। विधिर्विधायकः।६३। स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः।६४। विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः।६५।—ब्राह्मण ग्रन्थोंका तीन प्रकारसे विनियोग होता है—विधिवाक्य, अर्थवाक्य, अनुवादवाक्य।६२। आज्ञा या आदेश करनेवाले वाक्य विधिवाक्य है। अर्थवाद चार प्रकारका है—स्तुति, निन्दा, परकृति, और पुराकल्प (इनके लक्षणोंके लिए दे० वह वह नाम)। विधिका अनुवचन और विधिसे जो विधान किया गया उसके अनुवचनको अनुवाद कहते हैं।

★ **वचनके अनेकों भेद व लक्षण**—दे० वचन।

वाक्यशुद्धि—दे० समिति/१।

वाग्भट्ट—१. नेमि निर्वाण काव्य के रचयिता। समय—१०७५ ११२५ (ती./४/२३)। २ छन्दोनुशासन तथा काव्यानुशासन के रचयिता कवि। समय—वि. श. १४ मध्य। (ती./४/२७)।

वाचक—ध. १४/५.६,२०/२२/८। द्वादशाङ्गविद्वाचकः—बारह अंगका ज्ञाता वाचक कहलाता है।

वाचना—

स. सि./९/२५/४४३/४ निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना।—निर्दोष ग्रन्थ, उसके अर्थका उपदेश अथवा दोनों ही उसके पात्रको प्रदान करना वाचना है। (रा. वा./९/२५/१/६२४/६); (त. सा./७/१७); (चा. सा./१५३/१); (अन. ध./७/८३/७१४)।

ध. ९/४,१,५५/२६२/७ जा तत्थ णवसु आगमेसु वायणा अण्णेसिं भवियाणं जहासत्तीए गंथत्थपरूवणा।

ध. ९/४,१,५४/२५९/६ शिष्याध्यापनं वाचना।—१. वाचना आदि नौ आगमोंमें वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवोंके लिए शक्त्यनुसार ग्रन्थके अर्थकी प्ररूपणा। (ध. १४/५.६,१२/९/३)। २. शिष्योंको पढ़ानेका नाम वाचना है। (ध. १४/५ ६,१२/८/६)।

२. वाचनाके भेद व लक्षण

ध. ९/४ १,५४/२५२/५ सा चतुर्विधा नन्दा भद्रा जया सौम्या चेति। पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा। तत्र युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण बिना तन्त्रार्थकथनं जया। क्वचित् क्वचित् स्खलितवृत्तेर्व्याख्या सौम्या।—वह (वाचना) चार प्रकार है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। अन्य दर्शनोंको पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्षको स्थापित करनेवाली व्याख्या नन्दा कहलाती है। युक्तियों द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोधका परिहार करते हुए सिद्धान्तमें स्थित समस्त पदार्थोंकी व्याख्याका नाम भद्रा है। पूर्वापर विरोधके परिहारके बिना सिद्धान्तके अर्थोंका कथन करना जया वाचना कहलाती है। कहीं-कहीं स्खलनपूर्ण वृत्तिसे जो व्याख्या की जाती है, वह सौम्या वाचना है।

वाचनोपगत—दे० निक्षेप/५/८।

वाचस्पति मिश्र—वैदिक दर्शनके एक प्रसिद्ध भाष्यकार जिन्होंने न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन व वेदान्तदर्शनके ग्रन्थोंपर अनेकों टीकाओंके अतिरिक्त योगदर्शनके व्यासभाष्यपर भी तत्त्वकौमुदी नामकी एक टीका लिखी है। (दे० वह वह दर्शन)। समय—ई० ८४०—दे० न्याय/१/७।

वाटग्राम—डॉ० आल्टेके अनुसार वर्तमान बड़ौदा नगर ही वाटग्राम है, क्योंकि, बड़ौदाका प्राचीन नाम वटपद है और वह गुजरात प्रान्तमें है। (क. पा./पु. १/प्र. ७४/पं. महेन्द्र)।

वाटधान—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश।—दे० मनुष्य/४।

वाण—भरतक्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वाणिज्य—वाणिज्यकर्म, विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दन्तवाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य—दे० सावद्य/३।

वाणी—१. पश्यन्ती आदि वाणी—दे० भाषा। २. असम्बद्धप्रलाप, कलह आदि वचन—दे० वचन/१।

वातकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे० भवन/४। उनका लोकमें अवस्थान—दे० भवन/४।

वातवलय—स. सि./३/१/२०४/३। टिप्पणीमें अन्य प्रतिमें गृहीत पाठ—'घनं च घनो मन्दो महान् आयत' इत्यर्थः। अम्बु च जलं उदकमित्यर्थः। वातशब्दोऽन्त्यदीपकः तत एवं संबन्धनीयः। घनो घनवातः। अम्बु अम्बुवातः। वातस्तनुवात। इति महदापेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्यः। अन्यः पाठः। सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वातं चेति वातशब्दः सोपक्रियते। वातस्तनुवात इति वा। —(मूल सूत्रमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा.' ऐसा पाठ है। उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं)—घन, मन्द, महान्, आयत ये एकार्थवाची नाम हैं और अम्बु, जल व उदक ये एकार्थवाची हैं। वात शब्द अन्त्य दीपक होनेके कारण घन व अम्बु दोनोंके साथ जोड़ना चाहिए। यथा—घनो अर्थात् घनवात, अम्बु अर्थात् अम्बुवात और वात अर्थात् तनुवात। महत् या घनकी अपेक्षा हलकी है, यह बात अर्थापत्तिसे हो जान ली जाती है। यह अन्य पाठकी अपेक्षा कथन है। सिद्धान्त-पाठके अनुसार तो घन व अम्बुरूप भी है और वातरूप भी है ऐसा वात शब्दका अभिप्राय है। वातका अर्थ तनुवात अर्थात् हलकी वायु है।

दे. लोक/२/४ [घनोदधि वातका वर्ण गोमूत्रके समान है, घनवातका मूंगके समान, और तनुवातका वर्ण अव्यक्त है अर्थात् अनेक वर्ण-वाला है।]

★ **वातवलयोंका लोकमें अवस्थान**—दे. लोक/२।

वात्सल्य—

पं. ध./उ./४७० तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात्। वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः।४७०। —दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे मन वचन कायके उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते हैं, तथा उनके गुणोंके उत्कर्षके लिए तत्पर मनको वात्सल्य कहते हैं।

२. वात्सल्य अंगका व्यवहार लक्षण

मू. आ./२६१ चादुवण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे। वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी। —चतुर्गतिरूप संसारसे तिरनेके कारणभूत मुनि आर्यिका आदि चार प्रकार संघमें, बछड़ेमें गायकी प्रीतिकी तरह प्रीति करना चाहिए। यही वात्सल्य गुण है।—(विशेष दे. आगे प्रवचन वात्सल्यका लक्षण) (पु. सि. उ./२९)

भ. आ./वि./४५/१५०/५ धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यम्। —धार्मिक लोगोंपर, और माता-पिता भ्राताके ऊपर प्रेम रखना वात्सल्य गुण है।

चा. सा./५/३ सद्यः प्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति। तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम्। —जिस प्रकार तुरतकी प्रसूता गाय अपने बच्चेपर प्रेम करती है, उसी प्रकार चार प्रकारके संघपर अकृत्रिम या स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अंग कहा जाता है।—(दे. आगे शीर्षक सं. ४)

का. आ./मू./४२१ जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए। पिय वयणं जपंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स।४२१। —जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धासे धार्मिक जनोंमें भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है, उस भव्य जीवके वात्सल्य गुण कहा है।

द्र. स./टी./४१/१७५/११ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसंघे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिम-स्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते। —बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रयको धारण करनेवाले मुनि आर्यिका श्रावक तथा श्राविकारूप चारों प्रकारके संघमें; जैसे गायकी बछड़ेमें प्रीति रहती है उसके समान, अथवा पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्त पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदिमें जो स्नेह रहता है, उसके समान स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे वात्सल्य कहा जाता है।

पं. ध./उ./८०६ वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु। संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्। —स्वामीके कार्यमें उत्तम सेवककी तरह सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारके संघमें और शास्त्रमें जो दासत्व भाव रखना है, वही सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य नामक अंग या गुण है।

दे. अगले शीर्षकमें स. सा. की व्याख्या—('त्रयाणां साधूनां' इस पदके दो अर्थ होते हैं। व्यवहारकी अपेक्षा अर्थ करनेपर आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीन साधुओंसे वात्सल्य करना सम्यग्दृष्टिका गुण है)

३. वात्सल्यका निश्चय लक्षण

स. सा./मू./२३५ जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि। सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। —जो (चेतयिता) मोक्षमार्गमें स्थित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन साधकों या साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओंके प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रा. वा./६/२४/१/५२९/१५ जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। —जिन प्रणीत (रत्नत्रय) धर्मरूप अमृतके प्रति नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। (म. पु./६३/३२०); (चा. सा./५/३)

भ. आ./वि./४५/१५०/५ वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वा आत्मनः। —अथवा अपने रत्नत्रय धर्ममें आदर करना वात्सल्य है।

पु. सि. उ./२९ अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे। सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्। —मोक्षसुखकी सम्पदाके कारणभूत जैनधर्ममें, अहिंसामें और समस्त ही उक्त धर्मयुक्त साधर्मी जनोंमें निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीतिका अवलम्बन करना चाहिए।

द्र. सं./टी./४१/१७६/१० निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्य-गुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्त-शुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरम-स्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम्। —पूर्वोक्त व्यवहार वात्सल्य-गुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढता हो जाती है, तब मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ अशुभ बाह्य पदार्थोंमें प्रीति छोड़कर रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परमस्वास्थ्यके अनुभवसे उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय अमृतके आस्वादके प्रति प्रीतिका करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार सप्तम वात्सल्य अंगका व्याख्यान हुआ।

४. प्रवचन वात्सल्यका लक्षण

स. सि./६/२४/३३६/६ वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचनवत्सलत्वम्। —जैसे गाय बछड़ेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोंपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। (भा. पा./टी./७७/२२१/१७)

रा. वा./६/२४/१३/५३०/२० यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। यः सधर्मणि स्नेहः स एव प्रवचनस्नेहः इति। —जैसे गाय अपने बछड़ेसे अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जनको देखकर स्नेहसे ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकोंमें स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है।

ध. ८/३,४१/९०/७ तेसु अणुरागो आकंखा ममेदंभावो पवयणवच्छलदा णाम। —[उक्त प्रवचनों अर्थात् सिद्धान्त या बारह अंगोंमें अथवा उनमें होनेवाले देशव्रती महाव्रती व असंयतसम्यग्दृष्टियोंमें—(दे. प्रवचन)] जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ममेदं बुद्धि होती है, उसका नाम प्रवचनवत्सलता है। (चा. सा./५६/५)

५. एक प्रवचनवात्सल्यसे ही तीर्थंकर प्रकृति बन्ध सम्भावनामें हेतु

ध. ८/३,४१/९० ८ तीए तित्थयरकम्मं बज्झइ। कुदो। पंचमहव्वदादि-आगमत्थविसयसुक्कट्ठाणुरागस्स दंसणविसुज्झदादीहि अविणाभावादो।

चा. सा./५७/१ तेनैकेनापि तीर्थकरनामकर्मबन्धो भवति। =उस एक प्रवचन वात्सल्यसे ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध हो जाता है, क्योंकि, पाँच महाव्रतादिरूप आगमार्थ विषयक उत्कृष्ट अनुरागका दर्शन-विशुद्धतादिकोंके साथ अविनाभाव है। (चा. सा./५७/१); (और भी दे. भावना/२)

६. वात्सल्य रहित धर्म निरर्थक है

कुरल काव्य/८/७ अस्थिहीनं यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसा। तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्यं नृकीटकम् ।७। =देखो, अस्थिहीन कीड़ेको सूर्य किस तरह जला देता है। ठीक उसी तरह धर्मशीलता उस मनुष्यको जला डालती है जो प्रेम नहीं करता।

वात्स्यायन—अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रके सर्वप्रधान भाष्यकार। समय—ई. श./४/—दे. न्याय/१/७।

वाद—चौथे नरकका छठा पटल।—दे. नरक/५/११।

वाद—हार-जीतके अभिप्रायसे की गयी किसी विषय सम्बन्धी चर्चा वाद कहलाता है। वीतरागीजनोंके लिए यह अत्यन्त अनिष्ट है। फिर भी व्यवहारमें धर्म प्रभावना आदिके अर्थ कदाचित इसका प्रयोग विद्वानोंको सम्मत है।

१. वाद व विवादका लक्षण

दे० कथा (न्याय/३) (प्रतिवादीके पक्षका निराकरण करनेके लिए अथवा हार-जीतके अभिप्रायसे हेतु या दूषण देते हुए जो चर्चा की जाती है वह विजिगीषु कथा या वाद है।)

न्या. सू./मू./१/२/१/४१ प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।१। =पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहको वाद कहते हैं। उसके प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ; सिद्धान्तसे अविरुद्ध और पंच अवयवसे सिद्ध ये तीन विशेषण हैं। अर्थात् जिसमें अपने पक्षका स्थापन प्रमाणसे, प्रतिपक्षका निराकरण तर्कसे परन्तु सिद्धान्तसे अविरुद्ध हो; और जो अनुमानके पाँच अवयवोंसे युक्त हो, वह वाद कहलाता है।

स्या. मं./१०/१०७/८ परस्पर लक्ष्मीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः वादो—वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरिः—'लब्धख्यात्यर्थिना तु स्याद् दु:स्थितेनामहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृत.। =दूसरेके मतका खण्डन करनेवाले वचनका कहना विवाद है। हरिभद्रसूरिने भी कहा है, "लाभ और ख्यातिके चाहनेवाले कलुषित और नीच लोग छल और जातिसे युक्त जो कुछ कथन करते हैं, वह विवाद है।"

२. संवाद व विसंवादका लक्षण

स. सि./६/२२/३३७/१ विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्।

स. सि./७/६/३४५/९ ममेदं तवेदमिति सधर्मिभिरसंवादः। =१. अन्यथा प्रवृत्ति (या प्रतिपादन—रा. वा.) करना विसंवाद है। (रा. वा./६/२२/२/५२८/११)। २. 'यह मेरा है, यह तेरा है' इस प्रकार साधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना चाहिए। (रा. वा./-७/६/-/५३६/११); (चा. सा./६४/५))

न्या. वि./वृ./१/४/११८/१३ संवादो निर्णय एव, 'नातः परो विसंवादः' इति वचनात्। तदभावो विसंवादः। =संवाद निर्णय रूप होता है, क्योंकि, 'इससे दूसरा विसंवाद है' ऐसा वचन पाया जाता है। उसका अभाव अर्थात् निर्णय रूप न होना और वैसे ही व्यर्थमें चर्चा करते रहना, सो विसंवाद है।

३. वीतराग कथा वाद रूप नहीं होती

न्या. दी./३/§३४/८०/२ केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति तत्पारिभाषिकमेव। न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारे। विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः। =कोई (नैयायिक लोग) वीतराग कथाको भी वाद कहते हैं। (दे० आगे शीर्षक नं. ५) पर वह स्वग्रहमान्य अर्थात् अपने घरकी मान्यता ही है, क्योंकि लोकमें गुरु-शिष्य आदिकी सौम्य चर्चाको वाद या शास्त्रार्थ नहीं कहा जाता। हाँ, हार-जीतकी चर्चाको अवश्य वाद कहा जाता है।

४. वितण्डा आदि करना भी वाद नहीं है वादाभास है

न्या. वि./मू./२/२१५/२४४ तदाभासो वितण्डादिः अभ्युपेताव्यवस्थितेः। =वितण्डा आदि करना वादाभास है, क्योंकि, उससे अभ्युपेत (अंगीकृत) पक्षकी व्यवस्था नहीं होती है।

५. नैयायिकोंके अनुसार वाद व वितण्डा आदिमें अन्तर

न्या. सू./टिप्पणी/१/२/१/४१/२६ तत्र गुर्वादिभिः सह वादः विजिगीषुणा सह जल्पवितण्डे। =गुरु, शिष्य आदिकोंमें वाद होता है और जीतनेकी इच्छा करनेवाले वादी व प्रतिवादीमें जल्प व वितण्डा होता है।

६. वादीका कर्तव्य

सि. वि./मू./५/१०/३३५/२१ वादिना उभयं कर्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्।

सि. वि./वृ./५/११/३३७/१६ विजिगीषुणोभयं कर्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्। =वादी या जीतकी इच्छा करनेवाले विजिगीषुके दो कर्तव्य हैं—स्वपक्षमें हेतु देना और परपक्षमें दूषण देना।

७. मोक्षमार्गमें वाद-विवादका निषेध

त. सू./७/६ सधर्माविसंवादा। =सधर्मियोंके साथ विसंवाद अर्थात् मेरा तेरा न करना यह अचौर्य महाव्रतकी भावना है।

यो. सा./अ./७/३३ वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितं। नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बितः।३३। =जो मनुष्य वाद-प्रतिवादमें उलझे रहते हैं, वे नियमसे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त नहीं हो सकते।

नि. सा./मू./१५६ तम्हा सगपरसमए वयणविवादं ण कादव्वा। इति। =इसलिए परमार्थके जाननेवालोंको स्वसमयों तथा परसमयोंके साथ वाद करने योग्य नहीं है।

प्र. सा./ता. वृ./२२५/प्रक्षेपक गा. ८ की टीका/३०५/१० इदमत्र तात्पर्यम्—स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परं प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्। विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति। =यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि स्वयं वस्तु-स्वरूपको जानना ही योग्य है। परके प्रति विवाद करना योग्य नहीं, क्योंकि, विवादमें रागद्वेषकी उत्पत्ति होती है, जिससे शुद्धात्म भावना नष्ट हो जाती है। (और उससे संसारकी वृद्धि होती है—द्र. सं.)। —(द्र. सं./टी./२२/६७/६)।

८. परधर्म हानिके अवसरपर बिना बुलाये बोले अन्यथा चुप रहे

भ. आ./मू./८३६/९७१ अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विद्धंसए कज्जे। जं अ पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप।८३६। —दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे ही बोलना चाहिए। यदि कार्य बिनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो। नहीं पूछेगा तो न बोलो।

ज्ञा./९/१५ धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे। अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने।१५। —जहाँ धर्मका नाश हो क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो उस समय धर्म-क्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिए।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. योगवक्रता व विसंवादमें अन्तर। —दे० योगवक्रता।
२. वस्तु विवेचनका उपाय। —दे० न्याय/१।
३. वाद व जय पराजय सम्बन्धी। —दे० न्याय/२।
४. अनेकों एकान्तवादों व मतोंके लक्षण निर्देश आदि। —दे० वह-वह नाम।
५. वादमें पक्ष व हेतु दो ही अवयव होते हैं। —दे० अनुमान/३।
६. नैयायिक लोग वादमें पाँच अवयव मानते हैं—दे० वाद/१

वादन्याय—आ. कुमारनन्दि (ई. ७७६) कृत संस्कृत भाषा में न्याय विषयक ग्रन्थ। (ती./२/३५०, ४४८)।

वादमहार्णव—श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव (ई. श. १०) कृत संस्कृत का न्याय विषयक ग्रन्थ।

वादिचंद्र— नन्दिसंघ बलात्कारगण की सूरत शाखा में प्रभा चन्द्र के शिष्य और महीचन्द्र के गुरु। कृतियें—पार्श्वपुराण, श्रीपाल आख्यान, ज्ञान सूर्योदय नाटक, सुभगसुलोचना चरित्र, पवनदूत। समय—वि. १६३७–१६६४ (ई. १५८०-१६०७)। (दे. इतिहास/७/४), (ती./४/७१), (जै./१/४७६)।

वादित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

वादिदेव सूरि—बड़े तार्किक व नैयायिक एक श्वेताम्बराचार्य जिन्होंने 'परीक्षामुख' ग्रन्थपर 'प्रमाण नय तत्त्वालंकार स्याद्वाद रत्नाकर' नामकी टीका लिखी है। आपके शिष्यका नाम रत्नप्रभ समय—ई. १११७-११६९। (सि. वि./प्र. ३०,४१/पं. महेन्द्र कुमार)।

वादिराज— १. आ. समन्त भद्र (ई. १२०-१८५) का अपर नाम (दे. इतिहास/७/१)। २. दक्षिण देशवासी श्री विजय (ई. ९५०) के गुरु। समय—ई. श. १० का पूर्वार्ध। (ती./३/९२)। ३. द्रविड़संघ नन्दिगच्छ उरुंगल शाखा मति सागर के शिष्य, श्रीपाल के प्रशिष्य, अनन्तवीर्य तथा दयापाल के सहधर्मा। एकीभाव स्तोत्र की रचना द्वारा अपने कुष्ट रोग का शमन किया। कृति—पार्श्वनाथ चरित्र, यशोधर चरित्र, एकीभाव स्तोत्र, न्याय विनिश्चय विवरण, प्रमाण निर्णय। समय—चालुक्य नरेश जयसिंह (ई. १०१६-१०४२) द्वारा सम्मानित। पार्श्वनाथ चरित्र का रचना काल शक ९४७ (ई. १०२५) अतः ई. १०१०-१०६५। (दे. इतिहास/६/३)। (ती./३/८८-९२)।

वादीभसिंह—अकलंक देव के गुरु भाई पुष्पसेन (ई. ६२०-६८०) के शिष्य। असली नाम ओडयदेव, तमिलनाडु के वासी। कृतियें—क्षत्र चूड़ामणि, गद्य चिन्तामणि। समय—ई. ७७०-८६०। (दे. इतिहास/७/१), (ती./३/२५-२७)। २. वादिराज द्वि. के शिष्य, यादवराज ऐरेयंग शान्तराज तैलगु (ई. ११०३) के गुरु। असली नाम अजित सेन। कृति स्याद्वाद् सिद्धि। समय—ई. ११०३ (ई. श. १२ पूर्व)। (ती./३/९२)।

वानप्रस्थ—चा. सा./४६/३ वानप्रस्थ अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्र-खण्डधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति। —जिन्होंने भगवान् अर्हंतदेवका दिगम्बर रूप धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्रोंको धारणकर निरतिशय तपश्चरण करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं।

वानर वंश—दे० इतिहास१०/१३।

वानायुज—भरत क्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वामदेव— १. मूलसंघी भट्टारक। गुरु परम्परा—विनयचन्द्र, त्रैलोक्यकीर्ति, लक्ष्मीचन्द्र, वामदेव। प्रतिष्ठा आदि विधानों के ज्ञाता एक जिनभक्त कायस्थ। कृतियें—भावसंग्रह, त्रैलोक्यप्रदीप, प्रतिष्ठा सूक्तिसंग्रह, त्रिलोकसार पूजा, तत्त्वार्थसार, श्रुतज्ञानोद्यापन, मन्दिर संस्कार पूजा। समय—वि. श. १४–१५ के लगभग (जै./१/४८४, ४२१), (ती./४/६५)।

वामन राजाकी नगरी—दे० वनस्थली।

वामनसंस्थान—दे० संस्थान।

वामा—भगवान् पार्श्वकी माता। अपर नाम ब्राह्मी, वर्मिला, वर्मा। —दे० तीर्थंकर/५।

वायव्य—पश्चिमोत्तर कोणवाली विदिशा।

वायु—वायु भी अनेक प्रकारकी है। उनमेंसे कुछ अचित्त होती है, और कुछ सचित्त। प्राणायाम ध्यान आदिमें भी वायुमण्डल व वायवी धारणाओंका प्रयोग किया जाता है।

१. वायुके अनेकों भेद व लक्षण

दे. पृथिवी—(वायु, वायुकायिक, वायुकाय और वायु इस प्रकार वायु के चार भेद हैं। तहाँ वायुकायिक निम्नरूपसे अनेक प्रकार है)।

मू. आ./२१२ वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घणु तणू य। ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।२१२। —सामान्य पवन, भ्रमता हुआ ऊँचा जानेवाला पवन, बहुत रज सहित गुंजनेवाला पवन, पृथिवीमें लगता हुआ चक्करवाला पवन, गूँजता हुआ चलनेवाला पवन, महापवन, घनोदधि वात, घनवात, तनुवात (विशेष दे० वातवलय)—ये वायुकायिक जीव हैं। (पं. सं./प्रा./१/८०); (ध. १/१,१,४२/गा. १५२/२७२); (त. सा./२/६५)।

भ. आ./वि./६०८/८०५/२० झंझामंडलिकादी वायौ। —वायुके झंझावात और माण्डलिक ऐसे दो भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है उसको झंझावात कहते हैं और जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको माण्डलिक वायु कहते हैं।

२. प्राणायाम सम्बन्धी वायु मण्डल

ज्ञा./२९/२१,२६ सुवृत्त बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम्। चञ्चलं पव-नोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम्।२१। तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः

पङ्कलः। पवन कृष्णवर्णोऽसौ उष्णः शीतश्च लक्ष्यते।२८। – सुवृत्त कहिए गोलाकार तथा बिन्दुओं सहित नीलांजन घनके समान है वर्ण जिसका, तथा चंचला (बहता हुआ) पवन बीजाक्षर सहित, दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमण्डल है। यह पवनमण्डलका स्वरूप कहा।२१। जो पवन सब तरफ तिर्यक् बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता हो रहै तथा ६ अंगुल बाहर आवै, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमण्डल सम्बन्धी पवन पहचाना जाता है।

३. मारुती धारणाका स्वरूप

ज्ञा./३७/२०-२३ विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्। स्मरत्यविरत योगी महावेगं महाबलम्।२०। चालयन्तं सुरानीकं ध्वनन्तं त्रिदशालयम्। दारयन्तं घनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम्।२१। व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे। विसर्पन्तं जगन्नीडे निविशन्तं धरातले।२२। उद्धूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रबलवायुना। ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शान्तिमानयेत्।२३। – योगी आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमण्डलका चिन्तवन करे।२०। तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तवन करे कि—देवोंकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोंके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता है।२१। तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ दशों दिशाओंमें संचरता हुआ जगत्रूप घरमें फैला हुआ, पृथिवीतलमें प्रवेश करता हुआ चिन्तवन करे।२२। तत्पश्चात ध्यानी (मुनि) ऐसा चिन्तवन करे कि वह जो शरीरादिक का भस्म है (दे० आग्नेयी धारणा) उसको इस प्रबल वायुमण्डलने तत्काल उड़ा दिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तवन करके स्थिर करे।२३।

त. अनु./१८४ अकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना। दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च।१८४। – अर्हं मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और कुम्भित करके रेफको अग्निसे कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके फिर भस्मको स्वयं विरेचित करे।१८४।

४. बादर वायुकायिकोंका लोकमें अवस्थान

ष. ख./४/१,३/सूत्र २४/६६ बादरवाउकाइयपज्जत्ता केवडि खेत्ते, लोगस्स संखेज्जदिभागे।२४।

ध. ४/१,३,१७/८३/६ मंदरमूलादो उवरि जाव सदरसहस्सारकप्पो त्ति पंचरज्जु उस्सेहेण लोगणाली समचउरंसा वादेण आउण्णा।

ध. ४/१,३,२४/६६/८ बादरवाउपज्जत्तरासी लोगस्स संखेज्जदिभागमेत्तो मारणंतिय उववादगदा रासीलोगे किण्ण होदि त्ति वुत्ते ण होदि, रज्जुपदरमुहेण पंचरज्जुआयामेण ट्ठिदखेत्ते चेव पाएण तेसिमुप्पत्तीदो। – बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव कितने क्षेत्रमें रहते हैं? लोकके संख्यातवें भागमें रहते हैं।२४। (वह इस प्रकार कि)— मन्दराचलके मूलभागसे लेकर ऊपर शतार और सहस्रार कल्प तक पाँच राजू उत्सेधरूपसे समचतुरस्र लोकनाली वायुसे परिपूर्ण है।— प्रश्न – बादर वायुकायिक पर्याप्त राशि लोकके संख्यातवें भागप्रमाण है, जब वह मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदोंको प्राप्त हो तब वह सर्व लोकमें क्यों नहीं रहती है? उत्तर—नहीं रहती है, क्योंकि, राजुप्रतरप्रमाण मुखसे और पाँच राजु आयामसे स्थित क्षेत्रमें ही प्रायः करके उन बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. बादर तैजसकायिक आदिकोंका भवनवासियोंके विमानों व आठों पृथिवियोंमें अवस्थान (दे० काय२/५)।
२ सूक्ष्म तैजसकायिक आदिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान (दे० क्षेत्र/४)।
३. वायुमें पुद्गलके सर्व गुणोंका अस्तित्व (दे० पुद्गल/२)।
४. वायु कायिकोंमें कथंचित् त्रसपना (दे० स्थावर)।
५. वायुकायिकोंमें वैक्रियिक योगकी सम्भावना (दे० वैक्रियिक)।
६. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा तहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम (दे० मार्गणा)।
७. वायुकायिकोंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ (दे० सत)।
८. वायुकायिकों सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ (दे० वह वह नाम)।
९. वायुकायिकोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व (दे० वह वह नाम)।

वायुभूति— ह. पु./४३/श्लोक– मगधदेश शालिग्राम सोमदेव ब्राह्मणका पुत्र था।१००। मुनियों द्वारा अपने पूर्व भवका वृत्तान्त सुन रुष्ट हुआ। रात्रिको मुनिहत्याको निकला पर यक्ष द्वारा कील दिया गया। मुनिराजने दयापूर्वक छुड़वा दिया, तब अणुव्रत धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्गमें उपजा। (१३६-१४६)। यह कृष्णके पुत्र शम्बके पूर्वका छठा भव है—दे० शंब।

वायुरथ— म. पु./५८/८०-८२ भरतक्षेत्रके महापुर नगरका राजा था। धनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ले ली। प्राणत स्वर्गके अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुआ। यह 'अचलस्तोक' बलभद्रका पूर्वभव नं. २ है।—दे० अचलस्तोक।

वारिणी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वारिषेण— १. बृहत्कथा कोश/कथा नं १०/पृ०—राजा श्रेणिकका पुत्र था।३५। विद्युच्चर चोरने रानी चेलनाका मृक्दस नामक हार चुराकर।३६। कोतवालके भयसे श्मशान भूमिमें ध्यानस्थ इनके आगे डाल दिया, जिसके कारण यह पकड़े गये। राजाने प्राणदण्डकी आज्ञा की पर शस्त्र फूलोंके हार बन गये। तब विरक्त हो दीक्षा ले ली।३८। सोमशर्मा मित्रको जबरदस्ती दीक्षा दिलायी।३६। परन्तु उसकी स्त्री सम्बन्धी शल्यको न मिटा सका। तब उसके स्थितिकरणार्थ उसे अपने महलमें ले जाकर समस्त रानियोंको शृंगारित होनेकी आज्ञा दी। उनका सुन्दर रूप देखकर उसके मनकी शल्य धुल गयी और पुनः दीक्षित हो धर्ममें स्थित हुआ।४२। २. भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक– दे० अनुत्तरोपपादक।

वारुणी—ज्ञा./३७/२४-२७ वारुण्यां स हि पुण्यात्मा घनजालचितं नभः। इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुलं स्मरेत्।२४। सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः। वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम्।२५। ततोऽर्द्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरुणलाञ्छितम्। ध्यायेत्सुधापयःपूरैः प्लावयन्तं नभस्तलम्।२६। तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना। प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजःकायसंभवम्।—वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान करे।२४। तथा उन मेघोंको अमृतसे उत्पन्न हुए मोतियोंके समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओंसे निरन्तर धाररूप बरसते हुए आकाशको धीर, वीर मुनि

स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे।२५। तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय, जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणपुर (वरुण मण्डलका) चिन्तवन करे।२६। अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे, शरीरके जलनेसे (दे० आग्नेयी धारणा) उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है, अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करे।२७।

त. अनु./१८५ ह-मन्त्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि। तेनान्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम्।१८५। ='ह' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उससे आत्मामें अमृत झर रहा है, और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है।

वारुणी—१. रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी—दे० लोक/५/१३। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर।—दे० विद्याधर।

वारुणीवर—मध्यलोकका चतुर्थ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/१।

वार्ता—म.पु./३८/३५ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितम्। =विशुद्ध आचरण पूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है। (चा. सा./४३/५)।

वार्तिक—श्लो. वा./१/प. ६ पं. २/२०/१० वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्।=सूत्रके नहीं अवतार होने देनेकी तथा सूत्रोंके अर्थको न सिद्ध होने देनेकी ऊहापोह या तर्कणा करना और उसका परिहार करना, तथा ग्रन्थके विशेष अर्थको प्रतिपादित करना, ऐसे वाक्यको वार्तिक कहते हैं।

वार्षगण्य—सांख्यमतके प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० २३०-३००। —दे० सांख्य।

वाल्मीकि—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

वाल्हीक—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश।—दे० मनुष्य/४

वाविल—पाँचवे नरकका चौथा पटल।—दे० नरक/५/११।

वासना—१. म.श./टी/३७ शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासना। = शरीरादिको शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न संस्कार वासना कहलाते हैं।

*** अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका वासनाकाल**

—दे० वह वह नाम।

वासव—गन्धर्व नामक व्यन्तर देवोंका एक भेद।—दे० गन्धर्व।

वासुकि—कुण्डल पर्वतके महाप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव —दे० लो./५/१२।

वासुदेव—१. कृष्णका अपरनाम है।—दे० कृष्ण। २. नव वासुदेव परिचय व वासुदेवका लक्षण।—दे० शलाका पुरुष/४।

वासुदेव सार्वभौम—नव्य न्यायके प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० १५००।—दे० न्याय/१/७।

वासुपूज्य—म. पु/५८/श्लोक—पूर्वभव नं० २ में पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व मेरु सम्बन्धी वत्सकावती देशमें रत्नपुर नगरके राजा 'पद्मोत्तर' थे।२। पूर्व भवमें महाशुक्र स्वर्गमें देव हुए।१३। वर्तमानभवमें १२ वें तीर्थंकर हुए।—दे० तीर्थंकर/५।

वास्तु—म. पि./७/२१ 'वास्तु अगार'—वास्तु का अर्थ घर होता है।

वाहिनी—सेनाका एक अंग।—दे० सेना।

विंदफल—Volume (ज. प./प्र. १०८)।

विंध्य पर्वत—श्रवणबेलगोलमें दो पर्वत प्रसिद्ध है - एक चन्द्रगिरि और दूसरा विन्ध्यगिरि। (द. सा./पृ. ११ की टिप्पणी। प्रेमी जी)।

विंध्य वर्मा—भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह अजयवर्माका पुत्र और सुभटवर्माका पिता था। मालवादेश (मगध) का राजा था। धारा नगरी व उज्जैनी इसकी राजधानी थी। अपरनाम विजयवर्मा था। समय—वि० सं० १२४६-१२५७ (ई० ११६२-१२००)। —दे० इतिहास/३/१।

विंध्यवासी—वार्षगण्यका शिष्य तथा सांख्य दर्शनका प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० २५०-३२०।—दे० सांख्य।

विंध्यशक्ति—म. पु./५८/श्लोक —भरतक्षेत्रके मलयदेशका राजा था।६२। भाई सुषेणकी नर्तिकीको युद्ध करके छीन लिया।७६। चिरकाल तक अनेकों योनियोंमें भ्रमण करनेके पश्चात्।९०। भरतक्षेत्रके भोगवर्द्धन नामक नगरके राजा श्रीधरका 'तारक' नामका पुत्र हुआ। यह तारक प्रतिनारायणका दूरवर्ती पूर्वभव है।—दे० तारक।

विंध्याचल—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक पर्वत या देश जिसमें निम्न प्रान्त सम्मिलित हैं।—दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, विनिहात्र। —दे० मनुष्य/४।

विकट—दे० ग्रह।

विकथा—दे० कथा।

विकल—१. विकल दोष। —दे० शून्य। २. साध्य साधन विकल दृष्टान्त—दे० दृष्टान्त।

विकलन—Distribution (ध. ५/प्र. २८)।

विकलादेश—

रा. वा./४/४२/१३/२५२/२२ धर्मिणां भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रमः।...यदा तु क्रमः तदा विकलादेशः, स एव नय इति व्यपदिश्यते। =जब वस्तुके अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। और यह नयके आधीन है। —विशेष—दे० नय/I/२। (श्लो. वा./२/१/६/४५१/१६)। (स. म./२३/२८३/१६)।

रा. वा./४/४२/१६/२६०/१२ निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः।१६। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्तं गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्व व्यवस्थायां नरसिंहसिंहत्ववत् समुदायात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पनं विकलादेशः, न तु केवलं सिंहे सिंहत्ववत् एकात्मकैकत्वपरिग्रहात्। यथा वा पानकमनेकखण्डदाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मकत्वमस्यावसाय पुनः स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीति विशेषनिरूपणं क्रियते, तथा अनेकात्मकैकवस्त्वभ्युपगमपूर्वकं हेतुविशेषसामर्थ्यात् अर्पितसाध्यविशेषावधारणं विकलादेशः। कथं पुनरर्थस्याभिन्नस्य गुणो भेदकः? दृष्टो हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्तत्त्वभेदं कल्पयन् यथा पटुत्व भवात् पटुरासीत् पटुतर एवम् इति गुणविविक्तरूपस्य द्रव्यासम्भवात् गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेदः। =निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अंशकल्पना करना विकलादेश है। स्वरूपसे अविभागी अखंड सत्ताक वस्तुएँ विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेक और एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलतः नरसिंहमें सिंहत्वकी तरह समुदा-

यात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अंशोंकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिंहमें सिंहत्वकी तरह एकमें एकांशकी कल्पना करना विकलादेश नहीं है। जैसे दाडिम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमें विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहिचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमें इलाइची भी है कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है, उसी अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अंशका निश्चय करना विकलादेश है। प्रश्न—गुण अभिन्न अर्थका भेदक कैसे हो सकता है? उत्तर—अखण्ड भी वस्तुमें गुणोंसे भेद देखा जा सकता है, जैसे—'गतवर्ष आप पटु थे, इस वर्ष पटुतर हैं' इस प्रयोगमें अवस्था भेदसे तदभिन्न द्रव्यमें भेद व्यवहार होता है। गुण भेदसे गुणिभेदका होना स्वाभाविक ही है। —(विशेष दे० द्रव्य/४/४); (और भी दे० सकलादेश)।

श्लो. वा. २/१/६/५६/४६०/२३ सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येकं सदादिवाक्यं विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसङ्गात्। —सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक न होनेके कारण प्रत्येक बोला गया सत् असत् आदि वाक्य विकलादेश है, यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि यों तो उन सातों वाक्योंके समुदायको भी विकलादेशपनेका प्रसंग होगा। सातों वाक्य समुदित होकर भी वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक न हो सकेंगे। (स. भ. त./११/२)।

क. पा. १/§१७१/२०३/६ को विकलादेशः। अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव…घट इति विकलादेशः। कथमेतेषां सप्तानां दुर्नयानां विकलादेशत्वम्। न; एकधर्मविशिष्टस्यैव वस्तुनः प्रतिपादनात्।—प्रश्न—विकलादेश क्या है? उत्तर—घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्यरूप ही है… इस प्रकार यह (सप्तभंगी) विकलादेश है। प्रश्न—इन सातों दुर्नयरूप अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वाक्योंको विकलादेशपना कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि, ये सातों वाक्य एकधर्मविशिष्ट वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं, इसलिए ये विकलादेश रूप हैं।

स. भ. त./१६/३ अत्र केचित्…एक धर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्वं विकलादेशत्वम् इत्याहुः। तेषां…नयवाक्यानां च सप्तविधत्वव्याघातः।

स. भ. त./१७/१ यत्तु…धर्म्यविषयकधर्मविषयकबोधजनकवाक्यत्वं विकलादेशत्वमिति—तन्न। …धर्मिवृत्तित्वाविशेषितस्य धर्मस्यापि तथात्वादुक्तलक्षणस्यासंभवात्।—यहाँपर कोई ऐसा कहते हैं कि वस्तुके सत्त्व असत्त्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका ज्ञान उत्पन्न करानेवाला वाक्य विकलादेश है। उनके मतमें नयवाक्योंके सप्तभेदका व्याघात होगा (दे० सप्तभंगी)। और जो कोई ऐसा कहते हैं कि धर्मीको छोड़कर केवल विशेषणीभूत धर्ममात्राविषयक बोधजनक वाक्य विकलादेश है, सो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि धर्मीमें वृत्तितारूपसे अविशेषित धर्मका भी शाब्दबोधमें भान नहीं होता है।

विकलेन्द्रिय—विकलेन्द्रिय जीवका लक्षण —दे० त्रस/१। २ विकलेन्द्रियोंके संस्थान व दुःस्वरपने सम्बन्धी शंका समाधान—दे० उदय/५। ३. विकलेन्द्रियों सम्बन्धी प्ररूपणाएँ—दे० इन्द्रिय।

विकल्प—विकल्प दो प्रकारका होता है—रागात्मक व ज्ञानात्मक। रागके सद्भावमें ही ज्ञानमें ज्ञप्तिपरिवर्तन होता है। और उसके अभावके कारण ही केवलज्ञान, स्वसंवेदन ज्ञान व शुक्लध्यान निर्विकल्प होते हैं।

१. विकल्प सामान्यका लक्षण

१. रागकी अपेक्षा

द्र. सं./टी./४१/१७४/१ अभ्यन्तरे सुख्यहं दुःख्यहमिति हर्षविषादकारणं विकल्प इति। अथवा वस्तुवृत्त्या संकल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्यायः। —अन्तरंगमें मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ इस प्रकार जो हर्ष तथा खेदका करना है, वह विकल्प है। अथवा वास्तवमें जो संकल्प (पुत्र आदि मेरे हैं, ऐसा भाव) है, वही विकल्प है, अर्थात् विकल्प संकल्पकी पर्याय है। (पं. का./ता. वृ./७/११/८); (प. प्र./टी./१/१६/२४/१)

२. ज्ञानमें आकारावभासनकी अपेक्षा

प्र. सा./त. प्र./१२४ विकल्पस्तदाकारावभासनम्। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तज्ज्ञानम्। —(स्वपरके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है)। उसके आकारोंका अवभासन विकल्प है। दर्पणके निजविस्तारकी भाँति जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प ज्ञान है। (अर्थात् ज्ञानभूमिमें प्रतिभासित बाह्य पदार्थोंके आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञानके विकल्प कहे जाते हैं।)

द्र. सं./टी./४२/१८१/३ घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकारं सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः। —'यह घट है, यह पट है' इत्यादि ग्रहण व्यापाररूपसे ज्ञान साकार, सविकल्प, व्यवसायात्मक व निश्चयात्मक होता है।—(और भी दे. आकार/१)

पं. ध./५/६०८ अर्थालोकविकल्पः।

पं. ध./उ./३९१ आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ।३९१। —अर्थका प्रतिभास विकल्प कहलाता है।६०८। साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ, अर्थविकल्प होता है और वह अर्थ स्व तथा पर विषयरूप है। विकल्प शब्दका अर्थ उपयोगसहित अवस्था होता है, क्योंकि, ज्ञानका यह आकार लक्षण है।३९१। (पं. ध./उ./८३७)

३. ज्ञप्तिपरिवर्तनकी अपेक्षा

पं. ध./उ./८३४ विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्ययः। ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसंगतः।८३४। —योगोंकी प्रवृत्तिके परिवर्तनको विकल्प कहते हैं, अर्थात् एक ज्ञानके विषयभूत अर्थसे दूसरे विषयान्तरत्वको प्राप्त होनेवाली जो ज्ञेयाकाररूप ज्ञानकी पर्याय है, वह विकल्प कहलाता है।

मो. मा. प्र./७/३१०/१ रागद्वेषके वशतैं किसी ज्ञेयके जाननेविषै उपयोग लगावना। किसी ज्ञेयके जाननेतैं छुड़ावना, ऐसे बराबर उपयोगका भ्रमावना, ताका नाम विकल्प है। बहुरि जहाँ वीतरागरूप होय जाकों जानैं हैं, ताकौ यथार्थ जानै है। अन्य अन्य ज्ञेयके जाननेके अर्थि उपयोगकौं नाहीं भ्रमावै है। तहाँ निर्विकल्प दशा जाननी।

२. ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प

द्र. सं./टी./४/१३/१ निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पकं ज्ञानं। —दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। (पं. का./ता. वृ./४०/८०/१५)

★ ज्ञानके अतिरिक्त सर्व गुण निर्विकल्प हैं—दे. गुण/२।

३. सम्यग्दर्शनमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

पं. ध./उ./८३८ विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारो मनागपि। योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना।८३८। —ज्ञानका स्वलक्षणभूत व विकल्प सम्यग्दर्शनके निर्विकल्प व सविकल्पके कथनमें कुछ भी अधिकार नहीं है, किन्तु योग-संक्रान्तिरूप जो विकल्प, वही इस समय सम्यक्त्वके सविकल्प और निर्विकल्पके विचार करते समय अधिकार रखता है।

४. लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्प होता है

पं. ध./उ./८५८ सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा। निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा।८५८। —इतना कहनेसे यह सिद्ध होता है, कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है, वह स्वतः उपयोगरूप न होनेसे निर्विकल्प है।

★ मति श्रुत ज्ञानकी कथंचित् निर्विकल्पता

—दे. ऊपर।

५. स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकल्प होता है

द्र. सं./टी./५/१६/३ यत्र निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्। —जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है, वह शुद्ध आत्माके अभिमुख होनेसे सुखसंवित्ति या सुखानुभव स्वरूप है। वह यद्यपि निज आत्माके आकारसे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पसमूह हैं उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है। (द्र. सं./टी./४२/१८४/२)

दे. जीव/१/३/३ [समाधिकालमें स्वसंवेदनकी निर्विकल्पताके कारण ही जीवको कथंचित् जड़ कहा जाता है।]

पं. ध./पू./७१६ तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः। किंतु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम्।७१६। पं. ध./उ./८५६ शुद्धः स्वात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना। निर्विकल्पः स एवार्थात्संक्रान्त्यात्मसंगतेः।८५६। —यहाँपर यह कथन निर्दोष है कि स्वात्माके ग्रहणमें निश्चयसे मन ही उपयोगी है, किन्तु इतना विशेष है कि विशिष्ट दशामें मन स्वतः ज्ञानरूप हो जाता है।७१६। वास्तवमें स्वयं ज्ञानचेतनारूप जो शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग होता है वह संक्रान्त्यात्मक न होनेसे निर्विकल्परूप ही है।८५६।

६. स्वसंवेदनमें ज्ञानका सविकल्प लक्षण कैसे घटित होगा

द्र. सं./टी./४२/१८४/६ अत्राह शिष्यः इत्युक्तप्रकारेण यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते। कस्मादिति चेत् उच्यते। सत्तावलोकरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते। परं किंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येव न, किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति। तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति। तत्र परिहारः कथंचित् सविकल्पकं निर्विकल्पकं च। तथाहि—यथा विषयानन्दरूपं स्वसंवेदनं रागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथा स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धम्। —प्रश्न—यहाँ शिष्य कहता है कि इस कहे हुए प्रकारसे प्राभृत शास्त्रमें जो विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा है, वह घटित नहीं होता, क्योंकि, जैनमतमें जैसे सत्तावलोकनरूप चक्षुदर्शन आदि हैं, उसको निर्विकल्प कहते हैं, उसी प्रकार बौद्धमतमें ज्ञान निर्विकल्प है, तथापि विकल्पको उत्पन्न करनेवाला होता है। और जैनमतमें तो ज्ञान विकल्पको उत्पन्न करनेवाला है ही नहीं, किन्तु स्वरूपसे ही विकल्प सहित है। और इसी प्रकार स्वपरप्रकाशक भी है। उत्तर—परिहार करते हैं।—जैनसिद्धान्तमें ज्ञानको कथंचित् सविकल्प और कथंचित् निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते हैं।—जैसे विषयोंमें आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है वह रागके जाननेरूप विकल्पस्वरूप होनेसे सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित जो सूक्ष्म विकल्प हैं उनका सद्भाव होनेपर भी उन विकल्पोंकी मुख्यता नहीं; इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं। इसी प्रकार निज शुद्धात्माके अनुभवरूप जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह आत्मसंवेदनके आकाररूप एक विकल्पके होनेसे यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयोंके अनिच्छित विकल्पोंका उस ज्ञानमें सद्भाव होनेपर भी उनकी उस ज्ञानमें मुख्यता नहीं है, इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं। तथा—क्योंकि यहाँ अपूर्व संवित्तिके आकाररूप अन्तरंगमें मुख्य प्रतिभासके होनेपर भी बाह्य विषय वाले अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी हैं। इस कारण ज्ञान निज तथा परको प्रकाश करनेवाला भी सिद्ध हुआ।

७. शुक्लध्यानमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

ज्ञा./४१/८ न पश्यति तदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति। स्पृष्टं किंचिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तलेपवत्। —उस (शुक्ल) ध्यानके समय चित्रामकी मूर्तिकी तरह हो जाता है। इस कारण यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुएको जानता है।८।

पं. ध./उ./८४२-८४३ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्। अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः।८४२। एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः। तत् स्यात् पुनःपुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च।८४३। —किन्तु जो किसी विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञान रहता है, उसे ध्यान कहते हैं, और इस ध्यानमें भी वास्तवमें क्रम ही है, किन्तु अक्रम नहीं है।८४२। ध्यानकी एकाग्रताके कारण ध्यानरूप ज्ञान अक्रमवर्ति की तरह प्रतीत होता है, परन्तु वह ध्यानरूप ज्ञान पुनः-पुनः उसी-उसी विषयमें होता रहता है, इसलिए क्रमवर्ती ही है।८४३।

८. केवलज्ञानमें कथंचित् निर्विकल्प व सविकल्पपना

प्र. सा./मू./४२ परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स। णाणं त्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता।४२। —ज्ञाता यदि ज्ञेयपदार्थ रूप परिणमित होता है (अर्थात 'यह काला है, यह पीला है' ऐसा विकल्प करता है) तो उसके क्षायिकज्ञान होता ही नहीं। जिनेन्द्रदेवोंने ऐसे ज्ञानको कर्मको ही अनुभव करनेवाला कहा है।४२।

पं. ध./उ./८३६, ८४५ अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्। नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात्।८३६। नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि। स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसंभवात्।८४५। —स्वलक्षणकी अपेक्षासे क्षायिकज्ञानमें जो विकल्पपना है वह अर्थसे अर्थान्तराकाररूप योग संक्रान्तिके विकल्पकी अपेक्षा नहीं है।८३६। क्षायिक अतीन्द्रिय केवलज्ञानमें अतिव्याप्तिका प्रसंग भी नहीं आता, क्योंकि, उसमें स्वाभाविक रूपसे परिणमन होते हुए भी पुनर्वृत्ति सम्भव नहीं है।८४५।

९. निर्विकल्प केवलज्ञान ज्ञेयको कैसे जाने

नि. सा./ता. वृ./१६० कथमिति चेत्, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा स्वरूपावस्थितः संतिष्ठति। यथोष्णात्मकस्याग्नेः स्वरूपमग्निः किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात् सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति। हंहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतनः। किं बहुना। तमात्मानं ज्ञानं न जानाति चेद् देवदत्तरहितपरशुवत् इदं हि नार्थक्रियाकारि, अतएव आत्मनः सकाशाद्

व्यतिरिक्तं भवति । तत्र खलु संयतं स्वभाववादिनामिति । =प्रश्न—वह (विपरीत वितर्क) किस प्रकार है? पूर्वोक्तस्वरूप आत्माको आत्मा वास्तवमें जानता नहीं है, स्वरूपमें अवस्थित रहता है। जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्निके स्वरूपको क्या अग्नि जानती है? उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्पके अभावसे यह आत्मा आत्मामें स्थित रहता है। उत्तर—हे प्राथमिक शिष्य, अग्निकी भाँति क्या आत्मा अचेतन है? अधिक क्या कहा जाय, यदि उस आत्माको ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाड़ीकी भाँति अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा, और इस लिए वह आत्मासे भिन्न सिद्ध होगा। और यह वास्तवमें स्वभाववादियोंको सम्मत नहीं है। —(विशेष दे० केवलज्ञान/६)।

विकल्पसमा—न्या. सू./मू. व वृ./५/१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ।४। साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्पं प्रसञ्जतो विकल्पसमः । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किंचिद् गुरु यथा लोष्टः किंचिल्लघु यथा वायुरेवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किंचित्क्रियावत्स्यात् यथा लोष्टः किंचिदक्रियं यथात्मा विशेषो वा वाच्य इति । =साधनधर्मसे युक्त दृष्टान्तमें अन्य धर्मके विकल्पसे साध्यधर्मके विकल्पका प्रसंग करानेवालेका नाम 'विकल्पसम' है। 'आत्मा क्रियावान् है, क्रियाहेतु गुणसे युक्त होनेके कारण, जैसे कि लोष्ट,' वादीके ऐसा कहे जानेपर प्रतिवादी कहता है—क्रिया हेतुगुणसे युक्त है तो आत्माको कुछ भारी होना चाहिए जैसे लोष्ट या कुछ हलका होना चाहिए जैसे वायु। अथवा लोष्टको भी कुछ क्रियारहित होना चाहिए जैसे आत्मा। या विशेष कहना चाहिए।

श्लो. वा./४/भाषाकार/१/३३/न्या. ३३७/४७१/१६ पक्ष और दृष्टान्तमें जो धर्म उसका विकल्प यानी विरुद्ध कल्प व्यभिचारीपन आदिसे प्रसंग देना है, वह विकल्पसमाके उत्थानका बीज है। चाहे जिस किसी भी धर्मका कहीं भी व्यभिचार दिखला करके धर्मपनकी अविशेषतासे प्रकरण प्राप्त हेतुका भी प्रकरणप्राप्त साध्यके साथ व्यभिचार दिखला देना विकल्पसमा है। जैसे कि 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे' इस प्रकार वादीके कह चुकनेपर यहाँ प्रतिवादी कहता है कि कृतकत्वका गुरुत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है। घट, पट, पुस्तक आदिमें कृतकत्व है, साथमें भारीपना भी है। किन्तु बुद्धि, दुःख, द्वित्व, भ्रमण, मोक्ष आदिमें कृतकपना होते हुए भी भारीपना नहीं है। (और इसी प्रकार भारीपनका भी कृतकत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है। जल और पृथिवीमें गुरुत्व है और वह अनित्य भी है। परन्तु उनके परमाणु नित्य हैं। अनित्यत्व व कृतकत्व तथा नित्यत्व व अकृतकत्व एकार्थवाची हैं।)

विकस—दे० ग्रह।

विकार—

स. सि./५/२४/२९६/११ त एते शब्दादयः पुद्गलद्रव्यविकाराः। =ये सब शब्द आदि (शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया आदि) पुद्गलद्रव्यके विकार हैं।

रा. वा./५/२०/१३/४७५/२८ परिणामान्तरसंक्रान्तिलक्षणस्य विकारस्य...। =परिणामान्तर रूपसे संक्रान्ति करना विकारका लक्षण है।

★ **विकार सम्बन्धी विषय**—दे० विभाव।

विकार्य—दे० कर्ता/१।

विकाल—दे० ग्रह।

विकृतवान—जम्बूद्वीपके हरि क्षेत्रका नाभिगिरि। —दे० लोक ५/३।

विकृति—दे० निर्विकृति—(जिस भोजनसे जिह्वा व मनमें विकार उत्पन्न हो वह विकृति कहलाता है। जैसे—घी, दूध, चटनी आदि)।

विक्रम—सांगणका एक जैन कवि था जिसने नेमिदूत (नेमि चरित) नामका ग्रन्थ लिखा है। (नेमि चरित/प्र. ३/प्रेमीजी)।

विक्रम प्रबन्ध टीका—आ. श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) द्वारा रचित ग्रन्थ।

विक्रम संवत्—दे० इतिहास/२।

विक्रमादित्य—१. मालवा (मगध) के राजा थे। इनके नामपर ही इनकी मृत्युके पश्चात् प्रसिद्ध विक्रमादित्य संवत् प्रचलित हुआ था। इनकी आयु ८० वर्षकी थी। १८ वर्षकी आयुमें राज्याभिषेक हुआ और ६० वर्ष पर्यन्त इनका राज्य रहा। (विशेष दे० इतिहास/२/विक्रम संवत्) तथा (इतिहास/३/मगध देशके राज्यवंश)। २. मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार गुप्तवंशके तीसरे राजा चन्द्रगुप्तका अपर नाम था। यह विद्वानोंका बड़ा सत्कार करता था। भारतका प्रसिद्ध कवि शकुन्तला नाटककार कालिदास इसीके दरबारका रत्न था। —दे० इतिहास/३/३। ३. चीनी यात्री ह्यूनत्सांग (ई० ६२६) कहता है कि उसके भारत आनेसे ६० वर्ष पूर्व यहाँ इस नामका कोई राजा राज्य करता था। तदनुसार उसका समय ई. ५०५-५८७ आता है।

विक्रांत—प्रथम नरकका १३ वाँ पटल—दे० नरक/५/११।

विक्रिया—१. विक्रिया ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३। २. वैक्रियक शरीर व योग—दे० वैक्रियक।

विक्षेप—

न्या. सू./मू./५/२/१९ कार्यव्यासंगात्कथाविच्छेदो विक्षेपः। =जहाँ प्रतिवादी यों कहकर समाधानके समयको टाल देवे कि 'मुझे इस समय कुछ आवश्यक काम है, उसे करके पीछे शास्त्रार्थ करूँगा' तो इस प्रकारके कथाविक्षेप रूप निग्रहस्थानका नाम विक्षेप है। (श्लो. वा./४/१/३३/न्या/३६२/४२१/७) (नोटः—श्लो. वा. में इसका निषेध किया गया है)

विक्षेपिणी कथा—दे० कथा।

विज्ञप्ति—अवायज्ञानका पर्यायवाची—दे० अवाय।

विज्ञान—

न्या. वि./वृ. में उद्धृत/१/११५/२० विज्ञानं मेयबोधनम्। =जानने योग्य पदार्थका ज्ञान विज्ञान है। —(विशेष दे० ज्ञान)। (ध. ५/प्र. २८)—*Science*.

विज्ञानभिक्षु—सांख्यदर्शनके प्रसिद्ध प्रणेता। इन्होंने ही सांख्यमतमें ईश्वरवादका समावेश किया था। (दे० सांख्य)। इन्होंने ही योगदर्शनके व्यासभाष्यपर योगवार्तिक लिखा है (दे० योग दर्शन)। तथा अविभागाद्वैतवादरूप वेदान्तके संस्थापक भी यही थे।

विज्ञानवाद—१. मिथ्या विज्ञानवाद

ज्ञा./४/२३ ज्ञानादेवेष्टसिद्धिः स्यात्ततोऽन्यः शास्त्रविस्तरः। मुक्तेरुक्तमतो बीजं विज्ञानं ज्ञानवादिभिः।२३। =ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है, कि एकमात्र ज्ञानसे ही इष्ट सिद्धि होती है, इससे अन्य जो

कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तारमात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है।—(विशेष दे० सांख्य व वेदान्त)।

* विज्ञानवादी बौद्ध—दे० बौद्ध दर्शन।

२ सम्यक् विज्ञानवाद

ज्ञा./४/२७ में उद्धृत—ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्। तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः।१। ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्। ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ।२। हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया। धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः।३।—ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायक नहीं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी है, वह अन्धा पुरुष चलते-चलते जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलको भी पा सकता है।१। (विशेष दे० चेतना/३/८; धर्म/२)। पंगुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनको नहीं साधता और अन्धेमें फल जानकर तोड़नेरूप क्रिया प्रयोजनको नहीं साधती। श्रद्धान रहितके ज्ञान और क्रिया दोनों ही, प्रयोजनसाधक नहीं हैं। इस कारण ज्ञान क्रिया, श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वाञ्छित अर्थकी साधक होती है।२। क्रिया रहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट होती है। दौड़ते-दौड़ते अन्धा नष्ट हो गया और देखता-देखता पंगु नष्ट हो गया।३। (विशेष दे० मोक्षमार्ग/१/२)।

दे. नय./उ./१/४ नय नं ४३—(आत्मा द्रव्य ज्ञाननयकी अपेक्षा विवेककी प्रधानतासे सिद्ध होता है)।

दे. ज्ञान/IV/१/१ (ज्ञान ही सर्व प्रधान है। वह अनुष्ठान या क्रियाका स्थान है)।

विज्ञानाद्वैत—दे. अद्वैत।

विग्रह—विग्रहो देहः।...अथवा।

स. सि./२/२५/१८२/७ विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः। कर्मादानेऽपि नोकर्म पुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः।

स. सि./२/२७/१८४/७ विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः।—१. विग्रहका अर्थ देह है। (रा. वा./२/२५/१/ (त. सा./२/९६), १३६/२९); (ध. १/१,१,६०/२९९/१)। २. अथवा विरुद्ध ग्रहका विग्रह कहते हैं, जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है। (रा. वा./२/२५/२/१३७/४); (ध. १/१,१,६०/२९९/३)। ३. अथवा विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है। (रा. वा./२/२७/.../१३८/८); (ध. १/१,१,६०/२९९/४)।

रा. वा./२/२५/१/१३६/२९ औदारिकादिशरीरनामोदयात् तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति, विगृह्यते वासौ संसारिणेति विग्रहो देहः।—औदारिकादि नामकर्मके उदयसे उन शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण विग्रह कहलाता है। अतएव संसारी जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है। इसलिए देहको विग्रह कहते हैं। (ध. १/१,१,६०/२९९/३)।

ध. ४/१,३,२/२९/८ विग्गहो वक्को कुटिलो त्ति एगट्ठो।—विग्रह, वक्र और कुटिल ये सब एकार्थवाची नाम हैं।

विग्रहगति—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको प्राप्त करनेके लिए जो जीवका गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। वह दो प्रकारकी है मोड़ेवाली और बिना मोड़ेवाली, क्योंकि गतिके अनुश्रेणी ही होनेका नियम है।

१. विग्रहगति सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२५/१८२/७ विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः।...विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः।—विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है, वह विग्रहगति है। अथवा विग्रह अर्थात् नोकर्म पुद्गलोंके ग्रहणके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते हैं। (रा. वा./२/२५/१/१३६/३०; २/१३७/५); (ध. १/१,१,६०/२,४); (त. सा./२/९६)।

गो. क./जी. प्र./११८/१४ विग्रहगतौ...तेन पूर्वभवशरीरं त्यक्त्वोत्तरभवग्रहणार्थं गच्छतां।—विग्रहगतिका अर्थ है पूर्वभवके शरीरको छोड़कर उत्तरभव ग्रहण करनेके अर्थ गमन करना।

२. विग्रहगतिके भेद, लक्षण व काल

रा. वा./२/२८/४/१३९/५ आसां चतसृणां गतीनामार्षोक्ताः संज्ञाः—इषुगतिः, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति। तत्राविग्रहा प्राथमिकी, शेषा विग्रहवत्यः। इषुगतिरिवेषुगतिः। क उपमार्थः। यथेषोर्गतिरालक्ष्य देशादृज्वी तथा संसारिणां सिद्ध्यतां च जीवानां ऋज्वी गतिरैकसमयिकी। पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता। क उपमार्थः। यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी। लाङ्गलमिव लाङ्गलिका। क उपमार्थः। यथा लाङ्गलं द्विवक्रितं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी। गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका। क उपमार्थः। यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी।—ये (विग्रह) गतियाँ चार हैं—इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, और गोमूत्रिका। इषुगति विग्रहरहित है और शेष विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुषसे छूटे हुए बाणके समान मोड़ारहित गतिको इषुगति कहते हैं। इस गतिमें एक समय लगता है। जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समयवाली होती है। जैसे गायका चलते समय मूत्रका करना अनेक मोड़ोंवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते हैं। यह गति चार समयवाली होती है। (ध. १/१,१,६०/२९९/६); (ध. ४/१,३,२/२९/७); (त. सा./२/१००–१०१), (चा. सा./१७६/२)।

त. सा./२/९९ सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा।—विग्रह या मोड़ेसहित और विग्रहरहितके भेदसे वह विग्रहगति दो प्रकारकी है।

३. विग्रहगति सम्बन्धी कुछ नियम

त. सू./२/२५–२९ विग्रहगतौ कर्मयोगः।२५। अनुश्रेणि गतिः।२६। विग्रहवती...प्राक् चतुर्भ्यः।२८। एक समयाविग्रहा।२९। एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः।३०। —विग्रहगतिमें कर्म (कार्मण) योग होता है (विशेष दे० कार्मण/२)।२५। गति श्रेणीके अनुसार होती है (विशेष दे० शीर्षक नं. ५)।२६। विग्रह या मोड़ेवाली गति चार समयोंसे पहले होती है; अर्थात् अधिकसे अधिक तीन समय तक होती है (विशेष दे० शीर्षक नं. ५)।२८। एक समयवाली गति विग्रह या मोड़ेरहित होती है। (विशेष दे० शीर्षक नं. २ में इषुगतिका लक्षण)।२९। एक, दो या तीन समय तक (विग्रह गतिमें) जीव अनाहारक रहता है (विशेष दे० आहारक)।

ध. १३/५,५ १२०/३७८/४ आणुपुव्विउदयाभावेण उजुगदीए गमणाभावप्पसंगादो।—ऋजुगतिमें आनुपूर्वीका उदय नहीं होता।

दे० कार्मण/२ (विग्रहगतिमें नियमसे कार्मणयोग होता है, पर ऋजुगतिमें कार्मणयोग न होकर औदारिकमिश्र और वैक्रियकमिश्र काय योग होता है।)

दे० अवगाहना/१/३ (मारणान्तिक समुद्घातके बिना विग्रह व अविग्रह गतिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके प्रथम समयमें होनेवाली अवगाहनाके

समान ही अवगाहना होती है। परन्तु दोनों अवगाहनाके आकारोंमें समानताका नियम नहीं है।)

दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतिमें जीवोंका आकार व संस्थान आनुपूर्वी नामकर्मके उदयसे होता है, परन्तु ऋजुगतिमें उसके आकारका कारण उत्तरभवकी आयुका सत्त्व माना जाता है।)

दे० जन्म/१/२ (विग्रहगतिमें जीवोंके प्रदेशोंका संकोच हो जाता है।)

ध. ६/१,६-१,२८/६४/७ सजोगिकेवलिपरघादस्सेव तत्थ अव्वत्तोदएण अवट्ठाणादो। —सयोगिकेवलीको परघात प्रकृतिके समान विग्रहगतिमें उन (अन्य) प्रकृतियोंका अव्यक्तउदयरूपसे अवस्थान देखा जाता है।

★ विग्रहगतिमें जीवका जन्म मान लें तो—दे० जन्म/१।

★ विग्रहगतिमें सज्ञीको भुजगार स्थिति कैसे सम्भव है—दे० स्थिति/५।

४. विग्रह-अविग्रहगतिका स्वामित्व

त. सू./२/२७-२८ अविग्रहा जीवस्य ।२७। विग्रहवती च संसारिणः ।२८। —मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है। और संसारी जीवोंकी गति विग्रहरहित व विग्रहसहित दोनों प्रकारकी होती है। (त. सा./२/९८)।

ध. १२/४,२,५,११/२०/१० तसेसु दो विग्गहे मोत्तूण तिण्णि विग्गहाणमभावादो। —त्रसोंमें दो विग्रहोंको छोड़कर तीन विग्रह नहीं होते।

५. जीव व पुद्गलोंकी गति अनुश्रेणी ही होती है

त. सू./२/२६ अनुश्रेणि गतिः ।२६। —गति श्रेणीके अनुसार होती है। (त. सा./२/९८)।

दे० गति/१/७ (गति ऊपर-नीचे व तिरछे अर्थात् सीधी दिशाओंको छोड़कर विदिशाओंमें गमन नहीं करती)।

स. सि./२/२६/१८३/७ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिः इत्युच्यते। 'अनु' शब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्तिः। श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणीति जीवानां पुद्गलानां च गतिर्भवतीत्यर्थः।...ननु चन्द्रादीनां ज्योतिष्काणां मेरुप्रदक्षिणाकाले विद्याधरादीनां च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते अनुश्रेणि गतिः इति। कालदेशनियमोऽत्र वेदितव्यः। तत्र कालनियमस्तावज्जीवानां मरणकाले भवान्तरसंक्रममुक्तानां चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गतिः। देशनियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगतिः, अधोलोकादूर्ध्वगतिः, तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव। पुद्गलानां च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेण्येव। इतरा गतिर्भजनीया। —लोकके मध्यसे लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। 'अनु' शब्द आनुपूर्वी अर्थमें समसित है। इसलिए अनुश्रेणीका अर्थ श्रेणीकी आनुपूर्वीसे होता है। इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती है, यह इसका भाव है। प्रश्न—चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनुश्रेणी गति होती है, यह किस लिए कहा? उत्तर—यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोड़कर दूसरे भवके लिए गमन करते हैं और मुक्तजीव जब ऊर्ध्वगमन करते हैं, तब उनकी गति अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम यथा—जब कोई जीव ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति आता-जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या ऊर्ध्वलोकके प्रति जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणी ही होती है। इस प्रकार पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकारकी होनेका नियम नहीं है।

६. तीन मोड़ों तकके नियममें हेतु

स. सि./२/२८/१८१/५ चतुर्थात्समयात्प्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति। कुत इति चेत्। सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्सुः प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्तां त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वाम्; तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्। —प्रश्न—मोड़ेवाली गति चार समयसे पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समयमें क्यों नहीं होती? उत्तर—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले जीवको सबसे अधिक मोड़े लेने पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणीका अभाव होनेसे इषुगति नहीं हो पाती। अतः यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोड़ेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोड़ोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि, इस प्रकारका कोई उपपाद क्षेत्र नहीं पाया जाता है, अतः मोड़ेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती। (रा. वा./२/२८/४/१३९/५)।

ध. १/१,१,६०/३००/४ स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसंनिविष्टानां पङ्क्तिः श्रेणिरित्युच्यते। तयैव जीवानां गमनं नोच्छ्रेणिरूपेण। ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति। —जो प्रदेश जहाँ स्थित हैं वहाँसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते हैं। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है। इसलिए विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोड़ेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँपर पहुँचनेके लिए चार मोड़े लग सकें।

★ उपपाद स्थानको अतिक्रमण करके गमन होने व न होने सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० क्षेत्र/३/४।

विघ्न—स. सि./६/२७/३४१/१ तेषां विहननं विघ्नः। —इनका अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्यका नाश करना विघ्न है। (रा. वा./६/२७/१/५३१/२१)।

विचय—

स. सि./९/३६/४४९/४ विचयनं विचयो विवेको विचारणेत्यर्थः। —विचयन करना विचय है। विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम हैं। (रा. वा./९/३६/१/६३०/२)।

ध. ८/३,४१/२/३ विचओ विचारणा मीमांसा परिक्खा इदि एयट्ठो। —विचय, विचारणा, मीमांसा और परीक्षा ये समानार्थक शब्द हैं। —(और भी दे० परीक्षा)।

विचार या वीचार—

त. सू./९/४४ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः ।४४। —अर्थ, व्यंजन और योगकी संक्रान्ति वीचार है।

स. सि./६/४४/४५५/१३ एवं परिवर्तनं बीचार इत्युच्यते। –इस प्रकार-के (अर्थ व्यञ्जन व योगके) परिवर्तनको बीचार कहते हैं। (रा. वा./९/४४/-/६३४/१३)।

रा. वा./१/१२/११/६६/१८ आलम्बने अर्पणा वितर्कः, तत्रैवानुमर्शनं विचारः। –विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं। उसीका बार-बार चिन्तवन विचार कहलाता है।

दे० विचय–(विचय, विचारणा, परीक्षा और मीमांसा ये समानार्थक शब्द हैं।)

★ **सविचार अविचार भक्त प्रत्याख्यान** –दे० सल्लेखना/३।

★ **सविचार व अविचार शुक्लध्यान** –दे० शुक्लध्यान।

विचार स्थान— दे. स्थिति/१।

विचिकित्सा—दे० निर्विचिकित्सा।

विचित्र—

न्या. वि./वृ./१/८/१४८/४७ तद्विपरीतं विचित्रं — क्षणक्षयविषयत्वं प्रत्यक्षस्य।

न्या. वि./वृ./१/८/१६७/१६ तद्विशिनष्टि विचित्र शबलं सामान्यस्य विशेषात्मकं विशेषस्य सामान्यात्मकमिति। = उस (चित्र) से विपरीत विचित्र है। प्रत्यक्षज्ञान क्षणक्षयी विषय इसका अर्थ है। विचित्र शबल अर्थात् सामान्यका विशेषात्मक रूप और विशेषका सामान्यात्मक रूप।

विचित्रकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

विचित्रा—नन्दनवनमें स्थित रुचककूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी। —दे० लोक/५/५।

विचित्राश्रयाकीर्ण—सुमेरुपर्वतका अपर नाम। – दे० सुमेरु।

विजय—१. भगवान सुपार्श्व नाथ का शासक यक्ष—दे. तीर्थंकर/५/३। २. कल्पातीत देवों का एक भेद – दे. स्वर्ग/३। ३. इनका लोक में अवस्थान – दे. स्वर्ग/५/४। ४ विद्युत्प्रभ तथा माल्यवान गजदन्त का कूट – दे. लोक/५/४। ५. निषध पर्वत का कूट तथा उसका रक्षक देव – दे. लोक/५/४। ६. जम्बू द्वीप की जगती का पूर्व द्वार दे. लोक/३/१। ७ पूर्व विदेह के मन्दर वक्षार के कच्छ-वद्कूट का रक्षक देव—दे. लोक/५/४। ८. हरिक्षेत्र का नाभिगिरि—दे. लोक/५/३। ९. नन्दनवन का एक कूट—दे. लोक/५/५। १०. म. पु./५७/श्लो० पूर्वभव नं० २ में राजगृह नगर के राजा विश्वभूतिका छोटा भाई 'विशाखभूति' था।७३। पूर्वभव नं. १ में महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ।८२। वर्तमान भवमें प्रथम बलदेव हुए – दे० शलाकापुरुष/२। ११. बृ. कथाकोश/कथा नं० ६/पृ.—सिंहलद्वीप के शासक गगनादित्यका पुत्र था।१७। पिताकी मृत्युके पश्चात् अपने पिताके मित्रके घर 'विषान्न' शब्दका अर्थ 'पौष्टिक अन्न' समझकर उसे खा गया, पर मरा नहीं।१८। फिर दीक्षा ले मोक्ष सिधारे।१९।

विजयकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी की ईडर गद्दी में ज्ञान भूषण के शिष्य तथा शुभचन्द्र के गुरु। आपने अनेकों मूर्तियें प्रतिष्ठित कराईं। महाराज मल्लिभूपाल द्वारा सम्मानित हुए। समय- वि. १५५२-१५७० (ई १४९५-१५१३)। (दे. इतिहास/७/४)। (जै./१/४७२), (ती./३/३६२)।

विजयचरी—विजयार्ध की दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

विजयनगर—विजयार्धकी उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियोंके नगर। – दे० विद्याधर।

विजयपुरी—अपरविदेह पद्मवान् क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक५/२

विजयवंश—नन्दवंशका अपर नाम है। मगध देशकी राज्य वंशा-वलीके अनुसार दिगम्बर आम्नायमें जहाँ विजयवंशका नाम दिया है, वहाँ ही श्वेताम्बर आम्नायमें नन्दवंशका नाम दिया है। —दे० नन्दवंश।

विजय वर्मा—विन्ध्यवर्माका अपर नाम। – दे० विन्ध्य वर्मा।

विजयसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् आठवें ११ अंग व १० पूर्वधारी हुए। समय- वी० नि० २८२-२९५ (ई० पू० २४५-२३२)। – दे० इतिहास/४/४। २ तत्त्वा-नुशासनके रचयिता श्री नागसेन (ई० १०४७) के दादागुरु। समय— नागसेन के अनुसार ई० श० १०।

विजया—१. अपर विदेहस्थ वप्रक्षेत्रकी प्रधान नगरी।—दे० लोक५/२ २ रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी—दे० लोक५/१३ ३. भगवान् मल्लिनाथकी शासक यक्षिणी।—दे० तीर्थंकर/५/३ ४. नन्दीश्वरद्वीप की वापी – दे० लोक/५/११।

विजयाचार्य—अपर नाम अपराजित था।—दे० अपराजित।

विजयार्ध—१. रा. वा./३/१०/४/१७१/१६ चक्रभृद्विजयार्धकरत्वाद्वि-जयार्ध इति गुणतः कृताभिधानो। –चक्रवर्तीके विजयक्षेत्रकी आधी सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है, अतः इसे विजयार्ध कहते हैं। (विशेष दे० लोक/३-७)। २. विजयार्ध पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी देव।– दे० लोक/५/४।

विजयोदया—आ० अपराजित (ई० श० ७) द्वारा विरचित भगवती आराधना ग्रन्थकी विस्तृत संस्कृत टीका। (ती./२/१२७)।

विजस्का—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

विजाति—१. विजाति उपचार। —दे० उपचार/१। २. विजाति द्रव्य पर्याय = दे० पर्याय।

विजिगीषुकथा—शास्त्रार्थ या वाद। – दे० कथा।

विजिष्णु—एक ग्रह– दे० ग्रह।

विडौषध ऋद्धि— दे० ऋद्धि/७।

वितंडा—

न्या. सू./मू./१/२/3 प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। –प्रतिपक्षके साधन-से रहित जल्पका नाम वितंडा है। अर्थात् अपने किसी भी पक्षको स्थापना किये बिना केवल परपक्षका खण्डन करना वितंडा है। (स्या. मं/१०/१०७/१३)।

स्या. मं/१०/१०७/१५ वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितंडा। –वास्तवमें तत्त्व अतत्त्वका विचार न करके खाली बकवास करनेको वितंडा कहते हैं।

★ **वाद जल्प व वितंडामें अन्तर**—दे० वाद/५।

२. नैयायिकों द्वारा जल्प वितंडा आदिके प्रयोगका समर्थन व प्रयोजन

न्या. सू./मू./४/२/५०-५१/२८४ तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहणसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।५०। ताभ्यां विगृह्य कथनम्।५१।

न्या. सू./भा./१/२/२/४१/१० प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजाति-निग्रहस्थानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्ष-विघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। —जैसे बीजकी रक्षाके लिए सब ओरसे काँटेदार शाखा लगा देते हैं, उसी प्रकार तत्त्वनिर्णयकी इच्छारहित केवल जीतनेके अभिप्रायसे जो पक्ष लेकर आक्षेप करते हैं, उनके दूषणके समाधानके लिए जल्प वितंडाका उपदेश किया गया है।५०। जीतनेकी इच्छासे न कि तत्त्वज्ञानकी इच्छासे जल्प और वितंडाके द्वारा वाद करे।५१। यद्यपि छल जाति और निग्रहस्थान साक्षात् अपने पक्षके साधक नहीं होते हैं, तथा दूसरेके पक्षका खण्डन तथा अपने पक्षकी रक्षा करते हैं।

* जय पराजय व्यवस्था—दे० न्याय/२।

वितत — एक प्रकारका प्रायोगिक शब्द। —दे० शब्द।

वितथ — ध. १३/५.५.५०/२८६/६ वितथमसत्यम्, न विद्यते वितथं यस्मिन् श्रुतज्ञाने तदवितथम्, तथ्यमित्यर्थः। —वितथ अर्थात् असत्य ये समानार्थक शब्द हैं। (विशेष दे० असत्य) जिस श्रुतज्ञानमें वितथपना नहीं पाया जाता वह अवितथ अर्थात् तथ्य है।

वितर्क—

स. सि./१/४३ वितर्कः श्रुतम्।४३। —वितर्कका अर्थ श्रुत है।

दे० ऊहा—(विशेष रूपसे ऊहा या तर्कणा करना वितर्क अर्थात् श्रुत-ज्ञान कहलाता है।

दे० विचार—(विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं।)

द्र. स./टी./४८/२०३/६ स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्त-र्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते। —निज शुद्ध आत्माका अनुभवरूप भावश्रुत अथवा निज शुद्धात्माको कहनेवाला जो अन्तरंग जल्प (सूक्ष्म शब्द) है वह वितर्क है।

वितस्ता—पंजाबकी वर्तमान झेलम नदी। (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

वितस्ति—एक बालिश्त—दे० गणित/I/३।

विदर्भ—वर्तमानका बरार प्रान्त। इसकी प्राचीन राजधानी विदर्भ-पुर (बीदर) अथवा कुण्डिनपुर थी। (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

विदर्भपुर—वर्तमानका बीदर—(म. पु. प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

विदल — दे. भक्ष्याभक्ष्य/३/२।

विदारणक्रिया—दे. क्रिया/३।

विदिशा—१. दे. दिशा। २. मालवा प्रान्तमें वर्तमान भेलसा नगर। (म. पु.प्र./४९/पं. पन्नालाल)।

विदुर—पा. पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र। (७/११७)। कौरव पाण्डवोंके युद्धमें इन्होंने काफी भाग लिया। कौरवोंको बहुत समझाया पर वे न माने। (१९/१८७)। अन्तमें दीक्षित हो गये। (१९/८-७)।

विदेह—१. रा. वा./३/१०/११/१७२/३१ विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते। येषां देहो नास्ति, कर्मबन्धसंतानोच्छेदात्। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहाः। तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेशः। तत्र हि मनुष्या देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति। ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहाः सन्ति। सत्यं, सन्ति कदाचिन्न तु सर्वकालम्, तत्र तु सततं धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहाः सन्तीति प्रकर्षा-पेक्षो विदेहव्यपदेशः। क्व पुनरसौ। निषधनीलवतोरन्तराले तत्संनिवेशः। —विगतदेह अर्थात् देहरहित सिद्धभगवान् विदेह कहलाते हैं, क्योंकि, उनके कर्मबन्धनका उच्छेद हो गया है। अथवा देहके होते हुए भी जो शरीरके संस्कारोंसे रहित हैं ऐसे अर्हंत भगवान् विदेह हैं। उनके योगसे उस देशको भी विदेह कहते हैं। वहाँ रहनेवाले मनुष्य देहका उच्छेद करनेके लिए यत्न करते हुए विदेहत्वको प्राप्त किया करते हैं। प्रश्न—इस प्रकार तो भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भी विदेह होते हैं? उत्तर—होते अवश्य हैं, परन्तु सदा नहीं, कभी-कभी होते हैं और विदेहक्षेत्रमें तो सतत धर्मोच्छेदका अभाव ही रहता है, अर्थात् वहाँ धर्मकी धारा अविच्छिन्न रूपसे बहती है, इसलिए वहाँ सदा विदेही जन (अर्हंत भगवान्) रहते हैं। अतः प्रकर्षकी अपेक्षा उसको विदेह कहा जाता है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वतोंके अन्तरालमें है। [इसके बहु मध्य भागमें एक सुमेरु व चार गजदन्त पर्वत हैं, जिनसे रोका गया भू-खण्ड उत्तरकुरु व देवकुरु कहलाते हैं। इसके पूर्व व पश्चिम में स्थित क्षेत्रोंको पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह कहते हैं। यह दोनों ही विदेह चार-चार वक्षार गिरियों, तीन-तीन विभंगा नदियों और सीता व सीतोदा नामकी महानदियों द्वारा १६-१६ देशोंमें विभाजित कर दिये गये है। इन्हें ही ३२ विदेह कहते हैं। इस एक-एक सुमेरु सम्बन्धी ३२-३२ विदेह है। पाँच सुमेरुओंके मिलकर कुल १६० विदेह होते हैं।]—(विशेष दे० लोक/३/३,१२,१४)।

त्रि. सा./मू./६८०-६८१ देसा दुब्भिक्खीदीमारिकुदेवण्णलिंगमद-हीणा। भरिदा सदावि केवलिसलागपुरिसिड्ढिसाहूहिं।६८०। तित्थद्धसयलचक्की सट्ठिसयं पुह वरेण अवरेण। वीसं वीसं सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो।६८१। —विदेहक्षेत्रके उपरोक्त सर्व देश अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसा, टीडी, सूवा, अपनी सेना और परकी सेना इन सात प्रकारकी ईतियोंसे रहित हैं। रोग मरी आदिसे रहित हैं। कुदेव, कुलिंगी और कुमतसे रहित हैं। केवलज्ञानी, तीर्थंकरादि शलाकापुरुष और ऋद्धिधारी साधुओंसे सदा पूर्ण रहते हैं।६८०। तीर्थंकर, चक्रवर्ती व अर्धचक्री नारायण व प्रति नारायण, ये यदि अधिकसे अधिक होवे तो प्रत्येक देशमें एक-एक होते हैं और इस प्रकार कुल १६० होते हैं। यदि कमसे कम होवें तो सीता और सीतोदाके दक्षिण और उत्तर तटोंपर एक-एक होते हैं, इस प्रकार एक विदेहमें चार और पाँचों विदेहोंमें २० होते हैं। पाँचों भरत व पाँचों ऐरावतके मिलाने पर उत्कृष्ट रूपसे १७० होते हैं। (म. पु./७६/४९६-४९७)। २. द्वारबंग (दरभंगा) के समीपका प्रदेश है। मिथिला या जनकपुरी इसी देशमें है। (म. पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

विद्रावण—ध. १३/५.४.२२/४६/११ अंगच्छेदनादिव्यापारः विद्रावणं णाम। —प्राणियोंके अंगच्छेदन आदिका व्यापार विद्रावण कहलाता है।

विद्धणू—ज्ञानपंचमी अर्थात् श्रुत पंचमीव्रत माहात्म्य नामक भाषा छन्दरचनाके कर्ता एक कवि। समय—वि. सं. १४२३ (ई. १३७६)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/पृ. ६६/ का. कामता प्रसाद)।

विद्या—

न्या. वि./वृ./१/३८/२८२/६ विद्यया यथावस्थितवस्तुरूपावलोकन-शक्त्या। —विद्याका अर्थ है यथावस्थित वस्तुके स्वरूपका अव-लोकन करनेकी शक्ति।

नोट—(इसके अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्रों आदिके अनुष्ठान विशेषसे सिद्ध की गयी भी कुछ विद्याएँ होती हैं, जिनका निर्देश निम्न प्रकार है।)

२. विद्याके सामान्य भेदोंका निर्देश

रा. वा./१/२०/१२/७६/७ कथ्यते विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादी-नामल्पविद्यानां सप्तशतानि महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्च-

शतानि । अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनच्छिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि । —विद्यानुवादपूर्वमें अंगुष्ठ, प्रसेन आदि ७०० अल्प विद्याएँ और महारोहिणी आदि ५०० महाविद्याएँ सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन व छिन्न (चिह्न) ये आठ महानिमित्तज्ञान रूप विद्याएँ भी हैं। [अष्टांगनिमित्तज्ञानके लिए दे० निमित्त/२]। ।

ध. ९/४,१,१६/७७/१ तिविहाओ विज्जाओ जातिकुलतवविज्जाभेएण उत्तं च—जादीसु होइ विज्जा कुलविज्जा तह य होइ तवविज्जा। विज्जाहरेसु एदा तवविज्जा होइ साहूणं ।२०। तत्थ सगमादुपक्खादो लद्धविज्जाओ जादिविज्जाओ णाम । पिदुपक्खुवलद्धादो कुलविज्जाओ । छट्ठट्ठमादिउववासविहाणेहि साहिदाओ तवविज्जाओ । —जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्याके भेदसे विद्याएँ तीन प्रकारकी हैं। कहा भी है—"जातियोंमें विद्या अर्थात् जातिविद्या है, कुलविद्या तथा तपविद्या भी विद्या हैं। ये विद्याएँ विद्याधरोंमें होती हैं और तपविद्या साधुओंके होती है ।२०।" इन विद्याओंमें स्वकीय मातृपक्षसे प्राप्त हुई विद्याएँ जातिविद्याएँ और पितृपक्षसे प्राप्त हुई कुलविद्याएँ कहलाती हैं। षष्ठ और अष्टम आदि उपवासों (बेला तेला आदि) के करनेसे सिद्ध की गयीं विद्याएँ तपविद्याएँ हैं।

३. कुछ विद्यादेवियोंके नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/३४-३५ भगवति रोहिणि महति प्रज्ञप्ते वज्रशृङ्खले स्वलिते। वज्राङ्कुशे कुशलिके जाम्बूनदिकेस्तदुर्मदिके ।३४। पुरुषाग्नि पुरुषदत्ते कालिकलादये कले महाकालि । गौरि वरदे गुणर्द्धे गान्धारि ज्वालिनि ज्वलज्ज्वाले ।३५। —भगवती, रोहिणी, महती प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, कुशलिका, जाम्बूनदा, दुर्मदिका, पुरुषाग्नि, काली, कला महाकाली, गौरी, गुणर्द्धे, गान्धारी, ज्वालामालिनी, (मानसी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी)।

४. कुछ विशेष विद्याओंके नामनिर्देश

ह. पु./२२/५१-७३ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवसे नमि और विनमि द्वारा राज्यकी याचना करने पर धरणेन्द्रने अनेक देवोंके संग आकर उन दोनोंको अपनी देवियोंसे कुछ विद्याएँ दिलाकर सन्तुष्ट किया। तहाँ अदिति देवीने विद्याओंके आठ निकाय तथा गन्धर्वसेनक नामक विद्याकोष दिया। आठ विद्या निकायोंके नाम—मनु, मानव, कौशिक, गौरिक, गान्धार, भूमितुण्ड, मूलवीर्यक, शंकुक। ये निकाय आर्य, आदित्य, गन्धर्व तथा व्योमचर भी कहलाते हैं। दिति देवी ने—मातंग, पाण्डु, काल, स्वपाक, पर्वत, वंशालय, पांशुमूल, वृक्षमूल ये आठ विद्यानिकाय दिये। दैत्य, पन्नग, मातंग इनके अपर नाम हैं। इन सोलह निकायोंमें निम्न विद्याएँ हैं—प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अंगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्या, प्रकर्षिणी, महाश्वेता, मायूरी, हारी, निर्वज्ञशाड्वला, तिरस्कारिणी, छायासंक्रामिणी, कुष्माण्ड-गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्यकूष्माण्ड देवी, अच्युता, आर्यवती, गान्धारी, निर्वृत्ति, दण्डाध्यक्षगण, दण्डभूतसहस्रक, भद्रकाली, महाकाली, काली, कालमुखी, इनके अतिरिक्त—एकपर्वा, द्विपर्वा, त्रिपर्वा, दशपर्वा, शतपर्वा, सहस्रपर्वा, लक्षपर्वा, उत्पातिनी, त्रिपातिनी, धारिणी, अन्तर्विचारिणी, जलगति और अग्निगति समस्त निकायोंमें नानाप्रकारकी शक्तियोंसे सहित नाना पर्वतोंपर निवास करनेवाली एवं नाना औषधियोंकी जानकार हैं। सर्वार्थसिद्धा, सिद्धार्था, जयन्ती, मंगला, जया, प्रहारसंक्रामिणी, अशय्याराधिनी, विशल्याकारिणी, व्रणसंरोहिणी, सवर्णकारिणी, मृतसंजीवनी, ये सब विद्याएँ कल्याणरूप तथा मंत्रोंसे परिष्कृत, विद्याबलसे युक्त तथा लोगोंका हित करनेवाली हैं। (म. पु./७/३४-२३४)।

★ अन्य सम्बन्धी विषय

१. मन्त्र तन्त्र विद्या। —दे० मन्त्र।

२. साधुओंको कथंचित् विद्याओंके प्रयोगका निषेध। —दे० मन्त्र।

विद्याकर्म—दे० सावद्य/३।

विद्याधर—

ध. ९/४,१,१६/७७/१० एवमेदाओ तिविहाओ विज्जाओ होंति विज्जाहराणं। तेण वेड्ढड्ढणिवासिमणुआ वि विज्जाहरा, सयलविज्जाओ छंडिऊण गहिदसंजमविज्जाहरा वि होंति विज्जाहरा, विज्जाविसयविण्णाणस्स तत्थुवलंभादो। पढिदविज्जाणुपवादा विज्जाहरा, तेसिं पि विज्जाविसयविण्णाणुवलंभादो। — इस प्रकारसे तीन प्रकारकी विद्याएँ (जाति कुल व तप विद्या) विद्याधरोंके होती हैं। इससे वैताढ्य पर्वतपर निवास करनेवाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं। सब विद्याओंको छोड़कर संयमको ग्रहण करनेवाले भी विद्याधर होते हैं, क्योंकि, विद्याविषयक विज्ञान वहाँ पाया जाता है जिन्होंने विद्यानुप्रवादको पढ़ लिया है वे भी विद्याधर हैं, क्योंकि उनके भी विद्याविषयक विज्ञान पाया जाता है।

त्रि. सा./७०६ विज्जाहरा तिविज्जा वसंति छक्कम्मसंजुत्ता। —विद्याधर लोग तीन विद्याओंसे तथा पूजा उपासना आदि षट्कर्मोंसे संयुक्त होते हैं।

१. विद्याधर खचर नहीं हैं

ध. ११/४,२,६,१२/११५/६ ण विज्जाहराणं खगचरत्तमत्थि विज्जाए विणा सहावदो चेव गगणगमणसमत्थेसु खगयत्तप्पसिद्धीदो। — विद्याधर आकाशचारी नहीं हो सकते, क्योंकि, विद्याकी सहायताके बिना जो स्वभावसे ही आकाश गमनमें समर्थ हैं उनमें ही खचरत्वकी प्रसिद्धि है।

२. विद्याधर सुमेरु पर्वतपर जा सकते हैं

म. पु./१३/२१६ साशङ्कं गगनेचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्मेरोर्मूर्ध्नि स लोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भःप्लवः ।२१६। —मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान्‌के जन्माभिषेकको उस जलप्रवाहको, विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुए देखा था ।२१६।

३. विद्याधर लोक निर्देश

ति. प./४/गा. का भावार्थ—जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित विजयार्ध पर्वतके ऊपर दश योजन जाकर उस पर्वतके दोनों पार्श्व भागोंमें विद्याधरोंकी एक-एक श्रेणी है।१०६। दक्षिण श्रेणीमें ५० और उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं।१११। इससे भी १० यो० ऊपर जाकर आभियोग्य देवोंकी दो श्रेणियाँ हैं ।१४०। विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें स्थित विजयार्धके ऊपर भी उसी प्रकार दो श्रेणियाँ हैं।२२५८। दोनों ही श्रेणियोंमें ५५-५५ नगर हैं।२२५९। शेष ३१ विदेहोंके विजयार्धोंपर भी इसी प्रकार ५५-५५ नगरवाली दो दो श्रेणियाँ हैं।२२६२। ऐरावत क्षेत्रके विजयार्धका कथन भी भरतक्षेत्र वत् जानना।२३६५। जम्बूद्वीपके तीनों क्षेत्रोंके विजयार्धोंके सदृश ही धातकी खण्ड व पुष्करार्ध द्वीपमें जानना चाहिए।२७१६,२९२। (रा. वा./३/१०/४/१७२/१); (ह. पु./२२/८४); (म. पु./१९/२७-३०); (ज.प./२/३८-३९); (त्रि. सा./६९५-६९६)।

दे० काल/४/१४-[इसमें सदा चौथा काल वर्तता है]।

५. विद्याधरोंकी नगरियोंके नाम

(ति. प./४/११२-१२५); (ह. पु./२२/८५-१०१); (म. पु./१९/३१-८७); (त्रि. सा./६९६-७०८) संकेत ← = जो नाम इस ओर लिखा है।

नं.	ति. प.	म. पु.	त्रि. सा.	ह. पु.
	दक्षिण श्रेणी:—			
१	किंनामित	←	←	रथनूपुर
२	किन्नरगीत	←	←	आनन्द
३	नरगीत	←	←	चक्रवाल
४	बहुकेतु	←	←	अरिंजय
५	पुण्डरीक	←	←	मण्डित
६	सिंहध्वज	←	←	बहुकेतु
७	श्वेतकेतु	←	श्वेतध्वज	शकटामुख
८	गरुडध्वज	←	←	गन्धसमृद्ध
९	श्रीप्रभ	←	←	शिवमन्दिर
१०	श्रीधर	←	←	वैजयन्त
११	लोहार्गल	←	←	रथपुर
१२	अरिंजय	←	←	श्रीपुर
१३	वज्रार्गल	←	←	रत्नसंचय
१४	वज्राढ्य	←	वज्राढ्यपुर	आषाढ
१५	विमोचिता	विमोच	विमोचिपुर	मानस
१६	जयपुरी	पुरंजय	जय	सूर्यपुर
१७	शकटमुखी	←	←	स्वर्णनाभ
१८	चतुर्मुख	←	←	शतह्रद
१९	बहुमुख	←	←	अङ्कावर्त
२०	अरजस्का	←	←	जलावर्त
२१	विरजस्का	←	←	आवर्तपुर
२२	रथनूपुर	←	←	बृहद्गृह
२३	मेखलापुर	←	←	शंखवज्र
२४	क्षेमपुर	←	क्षेमचरी	नाभान्त
२५	अपराजित	←	←	मेघकूट
२६	कामपुष्प	←	←	मणिप्रभ
२७	गगनचरी	←	←	कुञ्जरावर्त
२८	विजयचरी (विनयपुरी)	विनयचरी	विनयचरी	असितपर्वत
२९	शक्रपुरी	चक्रपुर	शुक्र	सिन्धुकक्ष
३०	संजयन्त	संजयन्ती	संजयन्ती	महाकक्ष
३१	जयन्त	जयन्ती	जयन्ती	सकक्ष
३२	विजय	विजया	विजया	चन्द्रपर्वत
३३	वैजयन्त	वैजयन्ती	वैजयन्ती	श्रीकूट
३४	क्षेमंकर	←	←	गौरीकूट
३५	चन्द्राभ	←	←	लक्ष्मीकूट
३६	सूर्याभ	←	←	धराधर
३७	पुरोत्तम	रतिकूट	रतिकूट	कालकेशपुर
३८	चित्रकूट	←	←	रम्यपुर
३९	महाकूट	←	←	हिमपुर
४०	सुवर्णकूट	हेमकूट	हेमकूट	किन्नरोद्गीत नगर
४१	त्रिकूट	मेघकूट	त्रिकूट	नभस्तिलक
४२	विचित्रकूट	←	←	मगधसारनलक
४३	मेघकूट	वैश्रवणकूट	वैश्रवणकूट	पांशुमूल
४४	वैश्रवणकूट	सूर्यपुर	सूर्यपुर	दिव्यौषध
४५	सूर्यपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	अर्कमूल
४६	चन्द्र	नित्योद्योतिनी	नित्योद्योतिनी	उदयपर्वत
४७	नित्योद्योत	विमुखी	विमुखी	अमृतधारा
४८	विमुखी	नित्यवाहिनी	नित्यवाहिनी	कूटमातंगपुर
४९	नित्यवाहिनी	सुमुखी	सुमुखी	भूमिमंडल
५०	सुमुखी	पश्चिमा	पश्चिमा	जम्बूशंकुपुर
२	उत्तर श्रेणी:—			
१	अर्जुनी	←	←	आदित्यनगर
२	अरुणी	वारुणी	अरुणी	गगनवल्लभ
३	कैलास	←	←	चमरचम्पा
४	वारुणी	←	←	गगनमंडल
५	विद्युत्प्रभ	←	←	विजय
६	किलकिल	←	←	वैजयन्त
७	चूडामणि	←	←	शत्रुंजय
८	शशिप्रभ	शशिप्रभा	शशिप्रभ	अरिंजय
९	वंशाल	←	←	पद्माल
१०	पुष्पचूल	पुष्पचूड	पुष्पचूल	केतुमाल
११	हंसगर्भ	←	←	रुद्राश्व
१२	बलाहक	←	←	धनञ्जय
१३	शिवंकर	←	←	वस्वौक
१४	श्रीसौध	श्रीहर्म्य	श्रीसौध	सारनिवह
१५	चमर	←	←	जयन्त
१६	शिवमन्दर	शिवमन्दिर	शिवमन्दिर	अपराजित
१७	वसुमत्का	वसुमत्क	वसुमत्का	वराह
१८	वसुमती			हास्तिन
१९	सर्वार्थपुर (सिद्धार्थपुर)	सिद्धार्थक	सिद्धार्थ	सिंह
२०	शत्रुंजय			सौकर
२१	केतुमाल	केतुमाला	ध्वजमाल	हस्तिनायक
२२	सुरपतिकांत	सुरेन्द्रकान्त	सुरेन्द्रकान्त	पाण्डुक
२३	गगननन्दन			कौशिक
२४	अशोक	अशोका	अशोका	वीर
२५	विशोक	विशोका	विशोका	गौरिक
२६	वीतशोक	वीतशोका	वीतशोका	मानव
२७	अलका			मनु
२८	तिलक	तिलका	तिलका	चम्पा
२९	अम्बरतिलक			काञ्चन
३०	मन्दर	मन्दिर	मन्दर	ऐशान
३१	कुमुद			मणिवज्र
३२	कुन्द			जयावह
३३	गगनवल्लभ			नैमिष
३४	दिव्यतिलक	द्युतिलक	दिव्यतिलक	हास्तिविजय
३५	भूमितिलक			खण्डिका
३६	गन्धर्वपुर	गन्धर्वपुर	गन्धर्व नगर	मणिकांचन
३७	मुक्ताहर	मुक्ताहार	मुक्ताहार	अशोक
३८	नैमिष	निमिष	नैमिष	वेणु
३९	अग्निज्वाल			आनन्द
४०	महाज्वाल			नन्दन
४१	श्रीनिकेत			श्री निकेतन

नं.	ति. प.	म. पु.	त्रि. सा.	ह. पु.
४२	जयावह	जय	जयावह	अग्निज्वाल
४३	श्रीनिवास			महाज्वाल
४४	मणिवज्र			माल्य
४५	भद्राश्व			पुरु
४६	धनंजय	भवनंजय	धनंजय	नन्दिनी
४७	माहेन्द्र	गोक्षीरफेन	गोक्षीरफेन	विद्युत्प्रभ
४८	विजयनगर	अक्षोभ्य	अक्षोभ	महेन्द्र
४९	सुगन्धिनी	गिरिशिखर	गिरिशिखर	विमल
५०	वज्रार्द्धतर	धरणी		गन्धमादन
५१	गोक्षीरफेन	धारण		महापुर
५२	अक्षोभ	दुर्ग		पुष्पमाल
५३	गिरिशिखर	दुर्धर		मेघमाल
५४	धरणी	सुदर्शन	सुदर्शन	शशिप्रभ
५५	वारिणी	महेन्द्रपुर	महेन्द्र	चूड़ामणि
	(धारिणी)	×	×	×
५६	दुर्ग	विजयपुर	विजयपुर	पुष्पचूड़
५७	दुर्द्धर	सुगन्धिनी	सुगन्धिनी	हंसगर्भ
५८	सुदर्शन	वज्रपुर	वज्रार्द्धतर	बलाहक
५९	रत्नाकर			वंशालय
६०	रत्नपुर	चन्द्रपुर	रत्नपुर	सौमनस

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. विद्याधरोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान। —दे. आर्यखण्ड।

२. विद्याधर नगरोंमें सर्वदा चौथा काल वर्तता है। —दे. काल/४/१४।

विद्याधर जिन—दे. जिन।

विद्याधर वंश—दे. इतिहास१०/१४।

विद्यानन्द महोदय—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) की सर्व प्रथम न्यायविषयक रचना है। अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्लोक वार्तिकसे भी महान् होगा। परन्तु आज यह उपलब्ध नहीं है। इसे केवल 'महोदय' नामसे भी कहते हैं। (ती./२/३५९)।

विद्यानन्दि—१. आप मगधराज अवनिपालकी सभाके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। पूर्व नाम पात्रकेसरी था। वैदिक धर्मानुयायी थे, परन्तु पार्श्वनाथ भगवान्‌के मन्दिरमें चारित्रभूषण नामक मुनिके मुखसे समन्तभद्र रचित देवागम स्तोत्रका पाठ सुनकर जैन धर्मानुयायी हो गये थे। आप अकलंकभट्टकी ही आम्नायमें उनके कुछ ही काल पश्चात् हुए थे। आपकी अनेकों रचनाएँ उपलब्ध हैं जो सभी न्याय व तर्कसे पूर्ण हैं। कृतियाँ—१. प्रमाण परीक्षा, २. प्रमाणमीमांसा, ३. प्रमाणनिर्णय, ४. पत्रपरीक्षा, ५. आप्तपरीक्षा, ६. सत्यशासन परीक्षा, ७. जल्पनिर्णय, ८. नयविवरण ९. युक्त्यनुशासन, १०. अष्टसहस्री, ११. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, १२. विद्यानन्द महोदय, १३. बुद्धेशभवन व्याख्यान। समय—वि. सं. ८३२-८९७ (ई. ७७५-८४०)। (जै./२/३३९)। (ती./२/३५२-३५३)।

२. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी सूरत शाखा में) आप देवेन्द्र-कीर्तिके शिष्य और तत्त्वार्थ वृत्तिकार श्रुतसागर व मल्लिभूषणके गुरु थे। कृति-सुदर्शन चरित्र। समय— (वि. १४९९-१५३८) (ई. १४४२-१४८१)। (ती./३/३६९, ३७२)।

३. भट्टारक विशालकीर्ति के शिष्य। ई. १५४१में इनका स्वर्गवास हुआ था। (जै./१/४७४)।

४. आपका उल्लेख हुमुचके शिलालेख व वर्द्धमान मनीन्द्रके दश-भक्त्यादि महाशास्त्रमें आता है। आप सांगानेरवाले देवकीर्ति भट्टारक-के शिष्य थे। समय—वि. १६४७-१६९७ (ई. १५९०-१६४०)। (स्याद्वाद सिद्धि/प्र. १८/पं. दरबारी लाल); (भद्रबाहु चरित्र/प्र. १४/पं. उदयलाल)

विद्यानुवाद—अंग श्रुतज्ञानका नवमाँ पूर्व—दे. श्रुतज्ञान/III।

विद्युच्चर—बृ. कथाकोष/कथा नं. ४/पृ. अस्थिरचित्त सोमदत्तसे आकाशगामी विद्याका साधन पूछकर स्वयं विद्या सिद्ध कर ली। फिर चैत्यालयोंकी वन्दना की।१३। दीक्षा ले।१४। स्वर्गमें ऋद्धि-धारी देव हुआ।१५।

विद्युच्चोर—दे. विद्युत्प्रभ/६।

विद्युज्जिह्व—एक ग्रह—दे. ग्रह।

विद्युत्करण—Protons and Electrons. (ध. ५/प्र. २८)।

विद्युत्कुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे. भवन/१/४।

विद्युत्केश—प. पु./६/श्लोक—भगवान् मुनिसुव्रतके समय लंकाका राक्षस वंशीय राजा था। वानर वंशीय महोदधि राजाके साथ परम स्नेह था। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (२२२-२२५)।

विद्युत्प्रभ—१. एक गजदन्त पर्वत—दे. लोक५/३। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर। ३. विद्युत्प्रभ गजदन्तका एक कूट—दे. लोक५/४। ४. देवकुरुके १० द्रहोंमें-से एक—दे. लोक५/६। ५. यदुवंशी अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवान्‌का पुत्र तथा नेमिनाथ भगवान्‌का चचेरा भाई—दे. इतिहास१०/१०। ६. म. पु./७६/श्लोक—पोदनपुरके राजा विद्युद्राजका पुत्र था। विद्युच्चर नामका कुशल चोर बना। जम्बूकुमारके घर चोरी करने गया।४९-५७। वहाँ दीक्षा-को कटिबद्ध जम्बूकुमारको अनेकों कथाएँ बताकर रोकनेका प्रयत्न किया।५८-१०७। पर स्वयं उनके उपदेशोंसे प्रभावित होकर उनके साथ ही दीक्षा धारण कर ली।१०८-११०।

विद्युद्दंष्ट्र—म पु./५९/श्लोक—पूर्व भव श्रीभूति, सर्प, चमर, कुर्कुट, सर्प, तृतीय नरक, सर्प, नरक, अनेक योनियोंमें भ्रमण, मृगशृंग। (११३-११५)। वर्तमान भवमें विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर हुआ, ध्यानस्थ मुनि संजयंतपर घोर उपसर्ग किया। मुनिको केवलज्ञान हो गया। धरणेन्द्रने क्रुद्ध होकर उसे सपरिवार समुद्रमें डुबोना चाहा पर आदित्यप्रभ देव द्वारा बचा लिया गया। (११६-१३२)।

विद्युन्माला—पश्चिमी पुष्करार्धका मेरु—दे. लोक/७।

विद्योपजीवन—१. आहारका एक दोष—दे. आहार/II/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे. वसतिका।

विद्रावण—दे. विद्रावण।

विद्वज्जनबोधक—पं. पन्नालाल (ई. १७९३-१८६३) द्वारा रचित भाषा छन्दबद्ध एक आध्यात्मिक कृति।

विध—दे. पर्याय/१/१—(अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग ये सब शब्द एकार्थवाची हैं।)

विधाता—कर्मका पर्यायवाची नाम—दे. कर्म/२।

विधान—स. सि./१/७/२२/४ विधानं प्रकारः। =विधानका अर्थ प्रकार या भेद है। (रा. वा./१/७/-/३८/३)।

* विधान व संख्यामें अन्तर—दे. संख्या।

* पूजा सम्बन्धी विधान—दे. पूजा।

विधि—

ध. १३/५,५,५०/२८५/१२ कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेशः। सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात्। —चूँकि वह सब नयोंके विषयके अस्तित्वका विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि संज्ञा उचित ही है।

दे० द्रव्य/१/७ (सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु विधि, अविशेष ये एकार्थवाची शब्द हैं)।

दे० सामान्य [सामान्य विधि रूप होता है और विशेष उसके निषेध रूप]।

दे० कर्म/३/१ (विधि कर्मका पर्यायवाची नाम है)।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. दानकी विधि। —दे० दान/५।

३. विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षता। —दे० सप्तभंगी/३।

विधि चंद—दे० बुधजन।

विधि दान क्रिया—दे० संस्कार/२।

विधि विधायक वाक्य—दे० वाक्य।

विधि साधक हेतु—दे० हेतु।

विध्यात संक्रमण—दे० संक्रमण/४।

विनमि—दे० नमि/१।

विनयंधर—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार लोहाचार्य नं. २ के शिष्य तथा गुप्ति श्रुतिके गुरु थे। समय—वी. नि. ६३० (ई. सं. ३), (दे० इतिहास/७/८)। २. वृ. कथा कोष/कथा नं. १३/पृ.—कुम्भिपुरका राजा था।७१। सिद्धार्थ नामक श्रेष्ठि पुत्र द्वारा दिये गये भगवान्‌के गन्धोधक जलसे उसकी शारीरिक व्याधियाँ शान्त हो गयीं। तब उसने श्रावकव्रत धारण कर लिये। (७२–७३)।

विनय—मोक्षमार्गमें विनयका प्रधान स्थान है। वह दो प्रकारका है—निश्चय व व्यवहार। अपने रत्नत्रयरूप गुणकी विनय निश्चय है और रत्नत्रयधारी साधुओं आदिकी विनय व्यवहार या उपचार विनय है। यह दोनों ही अत्यन्त प्रयोजनीय है। ज्ञान प्राप्तिमें गुरु विनय अत्यन्त प्रधान है। साधु आर्यिका आदि चतुर्विध संघमें परस्परमें विनय करने सम्बन्धी जो नियम है उन्हें पालन करना एक तप है। मिथ्यादृष्टियों व कुलिंगियोंकी विनय योग्य नहीं।

१	**भेद व लक्षण**
१	विनय सामान्यका लक्षण।
२	विनयके सामान्य भेद। (लोकानुवृत्त्यादि)
३	मोक्षविनयके सामान्य भेद। (ज्ञानदर्शनादि)
४	उपचारविनयके भेद। (कायिक वाचिकादि)
५	लोकानुवृत्त्यादि सामान्य विनयोंके लक्षण।
६	ज्ञान दर्शन आदि विनयोंके लक्षण।
७	उपचार विनय सामान्यका लक्षण।
८	कायिकादि उपचार विनयोंके लक्षण।
*	विनय सम्पन्नताका लक्षण। —दे० विनय/१/१।

२	**सामान्य विनय निर्देश**
१	आचार व विनयमें अन्तर।
२	ज्ञानके आठ अंगोंको ज्ञान विनय कहनेका कारण।
३	एक विनयसम्पन्नतामें शेष १५ भावनाओंका समावेश।
४	विनय तपका माहात्म्य।
*	देव-शास्त्र गुरुकी विनय निर्जराका कारण है। —दे० पूजा/२।
५	मोक्षमार्गमें विनयका स्थान व प्रयोजन।
३	**उपचार विनय विधि**
१	विनय व्यवहारमें शब्द प्रयोग आदि सम्बन्धी कुछ नियम।
*	साधु व आर्यिकाकी संगति व वचनालाप सम्बन्धी कुछ नियम। —दे० संगति।
२	विनय व्यवहारके योग्य व अयोग्य अवस्थाएँ।
३	उपचार विनयकी आवश्यकता ही क्या?
४	**उपचार विनयके योग्यायोग्य पात्र**
१	यथार्थ साधु आर्यिका आदि वन्दनाके पात्र हैं।
*	सत् साधु प्रतिमावत् पूज्य हैं। —दे० पूजा/३।
२	जो इन्हें वन्दना नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है।
३	चारित्रवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध अधिक पूज्य है।
४	मिथ्यादृष्टि जन व पार्श्वस्थादि साधु वन्द्य नहीं है।
*	मिथ्यादृष्टि साधु श्रावक तुल्य भी नहीं है। —दे० साधु/४।
५	अधिक गुणी द्वारा हीन गुणी वन्द्य नहीं है।
६	कुगुरु कुदेवादिकी वन्दना आदिका कड़ा निषेध व उसका कारण।
७	द्रव्यलिंगी भी कथंचित् वन्द्य है।
८	साधुको नमस्कार क्यों?
९	असंयत सम्यग्दृष्टि वन्द्य क्यों नहीं?
*	सिद्धसे पहले अर्हन्तको नमस्कार क्यों? —दे० मन्त्र।
*	१४ पूर्वीसे पहले १० पूर्वीको नमस्कार क्यों? —दे० श्रुतकेवली/१।
५	**साधु परीक्षाका विधि निषेध**
१	आगन्तुक साधुकी विनयपूर्वक परीक्षा विधि :
*	सहवाससे व्यक्तिके गुप्त परिणाम भी जाने जा सकते हैं। —दे० प्रायश्चित्त/३/१।
२	साधुकी परीक्षा करनेका निषेध।
३	साधु परीक्षा सम्बन्धी शंका-समाधान—
	१. शील संयमादि तो पालते ही हैं?
	२. पंचम कालमें ऐसे ही साधु सम्भव है?
	३. जैसे श्रावक वैसे साधु?
	४. इनमें ही सच्चे साधुकी स्थापना कर लें।
	* सत् साधु ही प्रतिमावत् पूज्य है। —दे० पूजा/३।

१. भेद व लक्षण

१. विनय सामान्यका लक्षण

स. सि./९/२०/४३९/७ पूज्येष्वादरो विनयः। —पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है।

रा. वा./६/२४/२/५२९/१७ सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसंपन्नता। —मोक्षके साधनभूत सम्यग्ज्ञानादिकमें तथा उनके साधक गुरु आदिकोंमें अपनी योग्य रीतिसे सत्कार आदर आदि करना तथा कषायकी निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है। (स. सि./६/२४/३३८/७); (चा. सा./५३/१); (भा. पा./टी./७७/-२२१/५)।

ध. १३/५,४,२६/६३/४ रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —रत्नत्रयको धारण करनेवाले पुरुषोंके प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है। (चा. सा./१४७/५); (अन. ध./७/६०/७०२)।

क. पा./१/१-१/§६०/११७/२ गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। —गुण-वृद्ध पुरुषोंके प्रति नम्र वृत्तिका रखना विनय है।

भ. आ./वि./३००/५११/२१ विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः। —कर्म मलको नाश करता है, इसलिए विनय है। (अन. ध./७/६१/७०२); (दे० विनय/२/२)।

भ. आ./वि./६/३२/२३ ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः। तासामपोहनं विनयः। —अशुभ क्रियाएँ ज्ञानदर्शन चारित्र व तपके अतिचार है। इनका हटाना विनय तप है।

का अ./मू./४५७ दंसणणाणचरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो। बारस-भेदे वि तवे सो च्चिय विणओ हवे तेसिं। —दर्शन, ज्ञान और चारित्रके विषयमें तथा बारह प्रकारके तपके विषयमें जो विशुद्ध परिणाम होता है वही उनकी विनय है।

चा. सा./१४७/५ कषायेन्द्रियविनयनं विनयः। —कषायों और इन्द्रियों-को नम्र करना विनय है। (अन. ध./७/६०/७०२)।

प्र. सा/ता. वृ/२२५/३०६/२३ स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनयः तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः। —स्वकीय निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि निश्चयविनय है और उसके आधारभूत पुरुषों (आचार्य आदिकों) को भक्तिके परिणाम व्यवहारविनय है।

सा. ध./७/३५ सुदृग्धीवृत्ततपसा मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ। यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु।३५। —मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तपके दोष दूर करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न करते हैं, उसको विनय कहते हैं और इस प्रयत्न में शक्तिको न छिपा कर शक्ति अनुसार उन्हें करते रहना विनयाचार है।

२. विनयके सामान्य भेद

मू. आ/५८० लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य। भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य।५८०। —लोकानुवृत्ति विनय, अर्थ निमित्तक विनय, कामतन्त्र विनय, भयविनय, और मोक्षविनय इस प्रकार विनय पाँच प्रकार की है।

३. मोक्षविनयके सामान्य भेद

भ. आ /मू /११२ विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते। तवविणओ य चउत्थो चरियो उवयारिओ विणओ।११२। —विनय आचार पाँच प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय। (मू. आ./ ३६४, ५८४); (ध./ पु. १३/५.४,२६/६३/४); (क. पा. १/१-१/§६०/११७/१); (वसु. श्रा/ ३२०; (अन. ध./७/६४/७०३)।

त. सू /९/२३ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। —विनय तप चार प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय। (चा. सा./१४७/५) (त. सा./७/३०)।

ध. ८/३,४१/८०८ विणओ तिविहो णाण-दंसण-चरित्तविणओ त्ति। —विनय सम्पन्नता तीन प्रकार की है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय और चारित्रविनय।

४. उपचार विनयके प्रभेद

भ. आ./मू./११८/२६५ काइयवाइयमाणसिओ त्ति तिविहो दु पंचमो विणओ। सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव परोक्खो।११८। —उपचार विनय तीन प्रकारकी है—कायिक, वाचिक और मानसिक। उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं—प्रत्यक्ष व परोक्ष। (मू. आ./३७२); (चा. सा./१४८/३); वसु. श्रा/३२५);

५. लोकानुवृत्त्यादि सामान्य विनयोंके लक्षण

मू. आ./५८१-५८३ अब्भुट्ठाणं अंजलियासणदाणं च अतिहिपूजा य। लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविभवेण।५८१। भासाणुवत्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च। लोकाणुवित्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे।५८२। एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए। पंचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिया होदि।५८३। —आसनसे उठना, हाथ जोड़ना, आसन देना, पाहुणगति करना, देवताकी पूजा अपनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है।५८१। किसी पुरुषके अनुकूल बोलना तथा देश व कालयोग्य अपना द्रव्य देना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है। अपने प्रयोजन या स्वार्थ वश हाथ जोड़ना आदि अर्थनिमित्त विनय है।५८२। इसी तरह काम-पुरुषार्थके निमित्त विनय करना कामतन्त्र विनय है। भयके कारण विनय करना भय विनय है। पाँचवीं मोक्ष विनयका कथन आगे करते हैं।५८३।

६. ज्ञान दर्शन आदि विनयोंके लक्षण

भ. आ./मू./११३-११७/२६०-२६४ काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहेव णिण्हवणे। वंजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो।११३। उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा। संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो।११४। इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ। एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।११५। उत्तरगुणउज्जमणं सम्मं अधिआसणं च सद्धाए। आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ।११६। भत्ती तवोधिगंमि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं। एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारिस्स साधुस्स।११७। —काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यंजन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञान विनयके आठ भेद हैं। (और भी दे. ज्ञान/III/२।१)।११३। पहिले कहे गये (दे. सम्यग्दर्शन/I/२) उपगूहन आदि सम्यग्दर्शनके अंगोंका पालन, भक्ति पूजा आदि गुणोंका धारण, तथा शंकादि दोषोंके त्यागको सम्यक्त्व विनय या दर्शन विनय कहते है।११४। इन्द्रिय और कषायोंके प्रणिधान या परिणामका त्याग करना तथा गुप्ति समिति आदि चारित्रके अंगोंका पालन करना संक्षेप में चारित्र विनय जाननी चाहिए।११५। संयम रूप उत्तरगुणोंमें उद्यम करना, सम्यक् प्रकार श्रम व परीषहोंको सहन करना, यथा योग्य आवश्यक क्रियाओंमें हानि वृद्धि न होने देना—यह सब तप विनय है।११६। तपमें तथा तप करनेमें अपनेसे जो ऊँचा है उसमें, भक्ति करना तप विनय है। उसके अतिरिक्त जो छोटे तपस्वी हैं उनकी तथा चारित्रधारी मुनियोंकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यह तप विनय है।११७। मू. आ./३६५, ३६७, ३६९, ३७०, ३७१); (अन. ध./७/६५-६६/७०४-७०६ तथा ७५/७१०)।

भ. आ./मू./४६-४७/१५३ अरहंतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य। आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि।४६। भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स। आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण।४७। —अरहंत, सिद्ध, इनकी प्रतिमाएँ, श्रुतज्ञान, जिन धर्म आचार्य उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शनमें भक्ति व पूजा आदि करना, इनका महत्त्व बताना, अन्य मतियों द्वारा आरोपित किये गये अवर्णवादको हटाना, इनके आसादनका परिहार करना यह सब **दर्शन विनय है**।४६-४७।

मू. आ./गा. अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे। तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो।३६६। णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि। णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो।३६८। —श्रुत ज्ञानमें जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट द्रव्य व उनकी स्थूल सूक्ष्म पर्याय उनकी प्रतीति करना **दर्शन विनय है**।३६६ ज्ञानको सीखना, उसीका चिन्तवन करना दूसरेको भी उसीका उपदेश देना तथा उसीके अनुसार न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना—यह सब **ज्ञानविनय है**।३६८। (मू. आ./५८५-५८६)।

स. सि./९/२३/४४१/४ सबहुमानं मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयः। शंकादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। —बहुत आदरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि **ज्ञानविनय है**। शंकादि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना **दर्शनविनय है**। सम्यग्दृष्टिका चारित्रमें चित्तका लगना **चारित्रविनय है**। (त. सा./७/३१-३३)।

रा. वा./९/२३/२-४/६२२/१६ अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयो वेदितव्यः।.. यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थाः तेषां तथाश्रद्धाने निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः।...ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणानन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलिकरणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः। —आलस्यरहित हो देशकालादिकी विशुद्धिके अनुसार शुद्धचित्तसे बहुमान पूर्वक यथाशक्ति मोक्षके लिए ज्ञानग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना **ज्ञानविनय है**। जिनेन्द्र भगवान्ने श्रुत समुद्रमें पदार्थोंका जैसा उपदेश दिया है, उसका उसी रूपसे श्रद्धान करने आदिमें निःशक आदि होना **दर्शनविनय है**। ज्ञान और दर्शनशाली पुरुषके पाँच प्रकारके दुश्चर चारित्रका वर्णन सुनकर रोमांच आदिके द्वारा अन्तर्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तकपर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान करना **चारित्रविनय है**। (चा. सा./१४७/६); (भा. पा/टी/७८/२२४/११)।

वसु. श्रा/३२१-३२४ णिस्संकिय संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए पुव्वं। तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ।३२१। णाणे णाणुवयरणे य णाणवंतम्मि तह य भत्तीए। जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाण विणओ हु।३२२। पंचविहं चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स। जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो।३२३। बालो यं बुड्ढो यं संकप्पं वज्जिऊण तवसीणं। जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि।३२४। —निःशंकित, संवेग आदि जो गुण मैंने पहिले वर्णन किये हैं उनके परिपालनको **दर्शनविनय** जानना चाहिए।३२१। ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें तथा ज्ञानवंत पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह **ज्ञान विनय है**।३२२। परमागममें पाँच प्रकारका चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारक वर्णन किये गये हैं, उनके आदर सत्कारको **चारित्र विनय** जानना चाहिए।३२३। यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका संकल्प छोड़कर तपस्वी जनोंका जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वन्दन आदि किया जाता है, उसे **तप विनय** जानना।३२४।

दे० विनय/२/१–(सोलह कारण भावनाओंकी अपेक्षा लक्षण)।

७. उपचार विनय सामान्यका लक्षण

स. सि./९/२३/४४२/२ प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः। —आचार्य आदिके समक्ष आनेपर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है, तथा उनके परोक्षमें भी काय वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोंका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचार विनय है। (रा. वा./९/२३/५-६/६२२/२५); (त. सा./७/३४); (भा. पा./टी./७८/२२४/१४)।

का. अ./मू./४५८ रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए। भिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ।४५८। —जैसे सेवक राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करता है वैसे ही रत्नत्रयके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना उपचार विनय है।

८. कायिकादि उपचार विनयोंके लक्षण

भ. आ./मू./११९-१२६/२९६-३०३ अब्भुट्ठाणं किदियम्म णवंसण अंजली य मुंडाणं। पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिदं अणुसाधणं चेव।११९। णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं। आसणदाणं उवगरणदाणमोगासदाणं च।१२०। पडिरूवकायसंफासणदा पडिरूवकालकिरिया य। पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं।१२१। इच्चेवमादिविणओ उवयारो कीरदे सरीरेण। एसो काइयविणओ जहारिहो साहुवग्गम्मि।१२२। पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च। सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं।१२३। उवसंतवयणमगिहत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं। एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो।१२४। पापविसोत्तिय परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो। णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ।१२५। इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो। विरहम्मि वि वट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए।१२६। —साधुको आते देख आसनसे उठ खड़े होना, कायोत्सर्गादि कृतिकर्म करना, अंजुली मस्तकपर चढ़ाकर नमस्कार करना, उनके सामने जाना, अथवा जानेवालेको विदा करनेके लिए साथ जाना।११९। उनके पीछे खड़े रहना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना, नीचे सोना, उन्हें आसन देना, पुस्तकादि उपकरण देना, ठहरनेको वसतिका देना।१२०। उनके बलके अनुसार उनके शरीरका स्पर्शन मर्दन करना, कालके अनुसार क्रिया करना अर्थात् शीतकालमें उष्णक्रिया और उष्णकालमें शीतक्रिया करना, आज्ञाका अनुकरण करना, संथारा करना, पुस्तक आदिका शोधन करना।१२१। इत्यादि प्रकारसे जो गुरुओंका तथा अन्य साधुओंका शरीरसे यथायोग्य उपकार करना सो सब **कायिक विनय** जानना।१२२। पूज्य वचनोंसे बोलना, हितरूप बोलना, थोड़ा बोलना, मिष्ट बोलना, आगमके अनुसार बोलना, कठोरता रहित बोलना।१२३। उपशान्त वचन, निर्बन्ध वचन, सावद्य क्रियारहित वचन, तथा अभिमान रहित वचन बोलना **वाचिक विनय** है।१२४। पापकार्योंमें दुःश्रुति (विकथा सुनना आदि) में अथवा सम्यक्त्वकी विराधनामें जो परिणाम, उनका त्याग करना; और धर्मोपकारमें व सम्यक्त्व ज्ञानादिमें परिणाम होना वह **मानसिक विनय** है।१२५। इस प्रकार ऊपर यह तीन प्रकारका **प्रत्यक्ष विनय** कहा। गुरुओंके परोक्ष होनेपर अर्थात् उनकी अनुपस्थितिमें उनको हाथ जोड़ना, जिनाज्ञानुसार श्रद्धा व प्रवृत्ति करना **परोक्ष विनय** है।१२६। (मू. आ./३७३-३८०); (वसु. श्रा./३२६-३३१)।

मू. आ./३८१-३८३ अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ। सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ।३८१। अब्भुट्ठाणं सण्णादि आसणदाणं अणुप्पदाणं च। किदियम्मं पडिरूवं आसणचाओ य अणुव्वजणं ।३८२। हिदमिदपरिमिदभासा अणुवीचीभासणं च बोधव्वं। अकुसलमणस्स रोधो कुसलमणपवत्तओ चेव। ।३८३। –संक्षेपसे कहें तो तीनों प्रकारकी उपचार विनय क्रमसे ७, ४ व २ प्रकारकी हैं। अर्थात् कायविनय ७ प्रकारकी, वचन विनय ४ प्रकारकी और मानसिक विनय दो प्रकारकी है।५८१। आदरसे उठना, मस्तक नमाकर नमस्कार करना, आसन देना, पुस्तकादि देना, यथा योग्य कृति कर्म करना अथवा शीत आदि बाधाका मेटना, गुरुओंके आगे ऊँचा आसन छोड़के बैठना, जाते हुएके कुछ दूर तक साथ जाना, ये सात कायिक विनयके भेद है।३८२। हित, मित व परिमित बोलना तथा शास्त्रके अनुसार बोलना ये चार भेद वचन विनयके हैं। पाप ग्राहक चित्तको रोकना और धर्ममें उद्यमी मनको प्रवर्ताना ये दो भेद मानसिक विनयके हैं। (अन. ध./७/७१-७१/ ७०७-७०६)।

चा. सा./१४८/४ तत्राचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानमभिगमनमञ्जलिकरणं बन्दनानुगमनं रत्नत्रयबहुमानः सर्वकालयोग्यानुरूपक्रिययानुलोमता मुनिगृहीतत्रिदण्डता सुशीलयोगताधर्मानुरूपकथा कथनश्रवणभक्तिताऽर्हदायतनगुरुभक्तिता दोषवर्जनं गुणवृद्धसेवाभिलाषानुवर्तनपूजनम्। यदुक्तं –गुरुस्थविरादिभिर्नित्यथा तद्विरयनिशं भावनं समेष्वनुत्सेको हीनेष्वपरिभवः जातिकुलधनैश्वर्यरूपविज्ञानबललाभर्द्धिषु निरभिमानता सर्वत्र क्षमापरता मितहितदेशकालानुगतवचनता कार्याकार्यसेव्यासेव्यवाच्यावाच्यज्ञातृता इत्येवमादिभिरात्मानुरूपः प्रत्यक्षोपचारविनयः। परोक्षोपचारविनय उच्यते, परोक्षेष्वप्याचार्यादिष्वञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणाज्ञानुष्ठायित्वादि. कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्यः रागप्रहसनविस्मरणैरपि न कस्यापि पृष्ठमांसभक्षणकरणीयमेवमादिः परोक्षोपचारविनयः प्रत्येतव्यः। –आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध साधु, उपदेशादि देकर जिनमतकी प्रवृत्ति करनेवाले गणधरादिक तथा और भी पूज्य पुरुषोंके आनेपर खड़े होना, उनके सामने जाना, हाथ जोड़ना, वन्दन करना, चलते समय उनके पीछे-पीछे चलना, रत्नत्रयका सबसे अधिक आदर सत्कार करना, समस्त कालके योग्य अनुरूप क्रियाके अनुकूल चलना, मन वचन काय तीनों योगोंका निग्रह करना, सुशीलता धारना, धर्मानुकूल कहना सुनना तथा भक्ति रखना, अरहन्त जिनमन्दिर और गुरुमें भक्ति रखना, दोषोंका वा दाषियोंका त्याग करना, गुणवृद्ध मुनियोंकी सेवा करनेकी अभिलाषा रखना, उनके अनुकूल चलना और उनकी पूजा करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है। कहा भी है–"वृद्ध मुनियोंके साथ अथवा गुरुके साथ, कभी भी प्रतिकूल न होनेकी सदा भावना रखना, बराबरवालोंके साथ कभी अभिमान न करना, हीन लोगोंका कभी तिरस्कार न करना, जाति कुल धन ऐश्वर्य रूप विज्ञान बल लाभ और ऋद्धियोंमें कभी अभिमान न करना, सब जगह क्षमा धारण करनेमें तत्पर रहना, हित परिमित व देश कालानुसार वचन कहना, कार्य-अकार्य सेव्य-असेव्य कहनेयोग्य-न कहने योग्यका ज्ञान होना, इत्यादि क्रियाओंके द्वारा अपने आत्माकी प्रवृत्ति करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है। अब आगे परोक्ष उपचार विनयको कहते हैं। आचार्य आदिके परोक्ष रहते हुए भी मन, वचन, कायसे उनके लिए हाथ जोड़ना, उनके गुणोंका वर्णन करना, स्मरण करना और उनकी आज्ञा पालन करना आदि परोक्षोपचार विनय है (राग पूर्वक व मैत्री पूर्वक अथवा भूलकर भी कभी किसीके पीठ पीछे बुराई व निन्दा न करना, ये सब परोक्षोपचार विनय कहलाता है।

२. सामान्य विनय निर्देश

१. आचार व विनयमें अन्तर

अन. ध./७/श्लो./पृ. दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि। दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये ।६६। यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु। सति यत्नस्तदाचारः पाठे तत्साधनेषु च ।६८। समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः। तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ।७०। –सम्यग्दर्शनमेंसे दोषोंको दूर करने तथा उसमें गुणोंको उत्पन्न करनेके लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसको दर्शन विनय; तथा शंकादि मलोंके दूर हो जानेपर तत्त्वार्थ श्रद्धानमें प्रयत्न करनेको दर्शनाचार कहते हैं। कालशुद्धि आदि ज्ञानके आठ अंगोंके विषयमें प्रयत्न करनेको ज्ञानविनय और उन शुद्धि आदिकोंके हो जानेपर श्रुतका अध्ययन करनेके लिए प्रयत्न करनेको अथवा अध्ययनकी साधनभूत पुस्तकादि सामग्रीके लिए प्रयत्न करनेको ज्ञानाचार कहते हैं।६८। व्रतोंको निर्मल बनानेके लिए समिति आदिमें प्रयत्न करनेको चारित्र विनय और समिति आदिकोंके सिद्ध हो जानेपर व्रतोंकी वृद्धि आदिके लिए प्रयत्न करनेको चारित्राचार कहते हैं।७०।

२. ज्ञानके आठ अंगोंको ज्ञानविनय कहनेका कारण

भ. आ./वि./११३/२६१/२२ अयमष्टप्रकारो ज्ञानाभ्यासपरिकरोऽष्टविधं कर्म विनयति व्यपनयति विनयशब्द वाच्यो भवतीति सूरेरभिप्रायः। –ज्ञानाभ्यासके आठ प्रकार कर्मोंको आत्मासे दूर करते हैं, इसलिए विनय शब्दसे सम्बोधन करना सार्थक है, ऐसा आचार्योंका अभिप्राय है।

३. एक विनयसम्पन्नतामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८०/८ विणयसंपण्णदाए चेव तित्थयरणामकम्मं बंधंति। तं जहा—विणओ तिविहो णाणदंसणचरित्तविणओ त्ति। तत्थ णाणविणओ णाम अभिक्खणभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदा बहुसुदभत्ती पवयणभत्ती च। दंसणविणओ णाम पवयणेसुवइट्ठसव्वभावसद्दहणं तिमूढादो ओसरणमट्ठमलच्छद्दणमरहंत-सिद्धभत्ती खणलवपडिबुज्झणदा लद्धिसंवेगसंपण्णदा च। चरित्तविणओ णाम सीलव्वदेसु णिरदिचारदा आवासएसु अपरिहीणदा जहाथामे तहा तवो च। साहूणं पासुगपरिच्चाओ तेसिं समाहिसंधारणं तेसिं वेज्जावच्चजोगजुत्तदा पवयणवच्छलदा च णाणदंसणचरित्ताणं पि विणओ, तिरयणसमूहस्स साहू पवयण त्ति ववएसादो। तदो विणयसंपण्णदा एक्का वि होदूण सोलसावयवा। तेणेदीए विणयसंपण्णदाए एक्काए वि तित्थयरणामकम्मं मणुआ बंधंति। देव णेरइयाण कधमेसा संभवदि। ण, तत्थ वि णाणदंसणविणयाणं संभवदंसणादो।...जदि दोहि चेव तित्थयरणामकम्मं बज्झदि तो चारित्तविणओ किमिदि तक्कारणमिदि वुच्चदे। ण एस दोसो, णाणदंसणविणयकज्जविरोहिचरणविणओ ण होदि त्ति पदुप्पायणफलत्तादो। –विनय सम्पन्नतासे ही तीर्थंकर नामकर्मको बाँधता है। वह इस प्रकारसे कि—ज्ञानविनय, दर्शनविनय और चारित्र विनयके भेदसे विनय तीन प्रकार है। उसमें बारम्बार ज्ञानोपयोगसे युक्त रहनेके साथ बहुश्रुतभक्ति और प्रवचनभक्तिका नाम ज्ञानविनय है। आगमोपदिष्ट सर्वपदार्थोंके श्रद्धानके साथ तीन मूढ़ताओंसे रहित होना, आठ मलोंको छोड़ना, अरहंतभक्ति, सिद्धभक्ति, क्षणलवप्रतिबुद्धता और लब्धिसंवेगसम्पन्नताको दर्शनविनय कहते हैं। शीलव्रतोंमें निरतिचारता, आवश्यकोंमें अपरिहीनता अर्थात परिपूर्णता और शक्त्यनुसार तपका नाम चारित्र विनय है। साधुओंके लिए प्रासुक आहारादिकका दान, उनकी समाधिका धारण करना, उनकी वैयावृत्तिमें उपयोग लगाना और प्रवचनवत्सलता,

ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनोंकी ही विनय है; क्योंकि, रत्नत्रय समूहको साधु व प्रवचन संज्ञा प्राप्त है। इसी कारण क्योंकि विनय-सम्पन्नता एक भी होकर सोलह अवयवोंसे सहित है, अतः उस एक ही विनयसम्पन्नतासे मनुष्य तीर्थंकर नामकर्मको बाँधते हैं। प्रश्न—यह, विनय सम्पन्नता देव नारकियोंके कैसे सम्भव है। उत्तर—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें ज्ञान व दर्शन-विनयकी संभावना देखी जाती है। प्रश्न—यदि (देव और नारकियोंको) दो ही विनयोंसे तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जा सकता है तो फिर चारित्र-विनयको उसका कारण क्यों कहा जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, विरोधी चारित्रविनय नहीं होता, इस बातको सूचित करनेके लिए चारित्रविनयको भी कारण मान लिया गया है।

४. विनय तपका माहात्म्य

भा. पा./मू./१०२ विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं ण पावंति ।१०२। —हे मुने! पाँच प्रकारकी विनयको मन वचन काय तीनों योगोंसे पाल, क्योंकि, विनय रहित मनुष्य सुविहित मुक्तिको प्राप्त नहीं करते हैं। (वसु. श्रा./३३५)।

भ. आ./मू./१२६-१३१ विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं। विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य ।१२६। आयारजीदकप्प-गुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झंझा। अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हाद-करणं च ।१३०। कित्ती मेत्ती माणस्स भंजणं गुरुजणे य बहुमाणो। तित्थयराणं आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा ।१३१। —विनय मोक्षका द्वार है, विनयसे संयम तप और ज्ञान होता है और विनयसे आचार्य व सर्वसंघकी सेवा हो सकती है ।१२६। आचारके, जीदप्रायश्चित्तके और कल्पप्रायश्चित्तके गुणोंका प्रगट होना, आत्मशुद्धि, कलह रहितता, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा, सबको सुखी करना—ये सब विनयके गुण हैं ।१३०। सर्वत्र प्रसिद्धि, सर्व मैत्री गर्वका त्याग, आचार्यादिकोसे बहुमानका पाना, तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन, गुणोंसे प्रेम—इतने गुण विनय करने वालेके प्रगट होते हैं ।१३१। (मू. आ./३८६-३८८) (भ. आ./वि./११६/२७५/३)।

मू. आ./३६४ दंसणणाणे विणओ चरित्ततव ओवचारिओ विणओ। पंचविहो खलु विणओ पंचमगइणायगो भणिओ ।३६४। —दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप व उपचार ये पाँच प्रकारके विनय मोक्ष गतिके नायक कहे गये हैं ।३६४।

वसु. श्रा./३३२-३३६ विणएण ससंकुज्जलजसोहधवलियदियंतओ पुरिसो। सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य ।३३२। जे केइ वि उवएसा इह परलोए सुहावहा संति। विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा ।३३३। देविंद चक्कहरमंडलीयरायाइजं सुहं लोए। तं सव्वं विणयफलं णिव्वाणसुहं तहा चेव ।३३४। सत्तू वि मित्तभावं जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स। विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण ।३३६। —विनयसे पुरुष चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यशसमूहसे दिगन्तको धवलित करता है, सर्वत्र सबका प्रिय हो जाता है, तथा उसके वचन सर्वत्र आदर योग्य होते हैं ।३३२। जो कोई भी उपदेश इस लोक और पर लोकमें जीवोंको सुखके देनेवाले होते हैं, उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते हैं ।३३३। संसारमें देवेन्द्र, चक्रवर्ती, और मण्डलीक राजा आदिके जो सुख प्राप्त होते हैं वह सब विनयका ही फल है और इसी प्रकार मोक्ष सुख भी विनयका ही फल है ।३३४। चूँकि विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है इसलिए श्रावकको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए ।३३६।

अन. ध./७/६२/७०२ सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हति। शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ।६२। —मनुष्य भवका सार आर्यता कुलीनता आदि है। उनका भी सार जिनलिंग धारण है। उसका भी सार जिनागमकी शिक्षा है और शिक्षाका भी सार यह विनय है, क्योंकि, इसके होनेपर ही सज्जन पुरुषोंके गुण सम्यक् प्रकार स्फुरायमान होते हैं।

५. मोक्षमार्गमें विनयका स्थान व प्रयोजन

भ. आ./मू./१२८/३०५ विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा। विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं ।१२८। —विनयहीन पुरुषका शास्त्र पढना निष्फल है, क्योंकि विद्या पढनेका फल विनय है और उसका फल स्वर्ग मोक्षका मिलना है। (मू.आ./३८५) (अन. ध./७/६३/७०३)।

र. सा./८२ गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं। ऊसरछेत्ते वविय सुबीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं ।८२। —सर्वसंग रहित गुरुओंकी भक्तिसे विहीन शिष्योंकी सर्व क्रियाएँ, ऊषर भूमिमें पड़े बीजके समान व्यर्थ हैं।

रा. वा./९/२३/७/६२२/३१ ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम् ।७।...ततश्च निर्वृत्तिसुखमिति विनयभावनं क्रियते। —ज्ञानलाभ, आचारविशुद्धि और सम्यग् आराधना आदिकी सिद्धि विनयसे होती है, और अन्तमें मोक्षसुख भी इसीसे मिलता है, अतः विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिए। (चा. सा./१५०/२)।

भ. आ./वि./३००/५११ शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुतं प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्वं कृत्वा, अवग्रहं परिगृह्य, बहुमानं कृत्वा, निह्नवं निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धिं संपाद्य एवं भाव्यमानं श्रुतज्ञानं संवरं निर्जरां च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारणं भवेत्। —शास्त्रमें वाचना और स्वाध्यायका जो काल कहा हुआ है उसी कालमें श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको बतानेवाले गुरुकी भक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण करके आदरसे पढो, गुरु व शास्त्रका नाम न छिपाओ, अर्थ-व्यंजन व तदुभयशुद्धि पूर्वक पढ़ो, इस प्रकार विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंकी संवर निर्जरा करता है, अन्यथा वही ज्ञानावरण कर्मके बन्धका कारण है। (और भी दे. विनय/१/६ में ज्ञानविनयका लक्षण; ज्ञान/III/२/१ में सम्यग्ज्ञानके आठ अंग)

प. वि./६/१६ ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते। अन्धकारो भवत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ।१६। —जो न गुरुको मानते हैं, न उनकी उपासना ही करते हैं, उनके लिए सूर्यका उदय होनेपर भी अन्धकार जैसा ही है।

दे. विनय/४/३ (चारित्रवृद्धके द्वारा भी ज्ञानवृद्ध वन्दनीय है।)

दे. सल्लेखना/१० (क्षपकको निर्यापकका अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

३. उपचार विनय विधि

१. विनय व्यवहारमें शब्दप्रयोग आदि सम्बन्धी कुछ नियम

सू. पा./मू./१२-१३ जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता। ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ।१२। अवरेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता। चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ।१३। —सैकड़ों शक्तियोंसे संयुक्त जो २२ परीषहोंको सहन करते हुए नित्य कर्मोंकी निर्जरा करते हैं, ऐसे दिगम्बर साधु वन्दना करने योग्य हैं ।१२। और शेष लिंगधारी, वस्त्र धारण करनेवाले परन्तु जो ज्ञान दर्शनसे संयुक्त हैं वे इच्छाकार करने योग्य हैं ।१३।

मू. आ./१३१, १३८ संजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे। जोग्गग्गहणादीसु अ इच्छाकारो दु कादव्वो ।१३१। पंच छ सत्त हत्थे

सूरी अज्झावगो य साधु य। परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति ।१९५। —संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण तथा अन्य भी जो उपकरण उनमें, औषधादिमें, आतापन आदि योगोंमें इच्छाकार करना चाहिए ।१३१। आर्यिकाएँ आचार्योंको पाँच हाथ दूरसे, उपाध्यायको छह हाथ दूरसे और साधुओंको सात हाथ दूरसे गवासनसे बैठकर वन्दना करती हैं ।१९५।

मो. पा./टी /१२/३१४ पर उद्धृत गा.—"वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू। अभिगमण-वंदण-णमंसणेण विणएण सो पुज्जो ।१। —सौ वर्षकी दीक्षित आर्यिकाके द्वारा भी आजका नव-दीक्षित साधु अभिगमन, वन्दन, नमस्कार व विनयसे पूज्य है। (प्र. सा./ता. वृ /२२५ प्रक्षेपक ८/३०४/२७)।

मो. पा./टी./१२/३१३/१९ मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता। यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, किं तर्हि वक्तव्यं। समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति। —मुनिजन व आर्यिकाओं-के बीच परस्पर वन्दना भी युक्त नहीं है। यदि वे वन्दन करें तो मुनिको उनके लिए 'नमोऽस्तु' शब्द नहीं कहना चाहिए, किन्तु 'समाधिरस्तु' या 'कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए।

२. विनय व्यवहारके योग्य व अयोग्य अवस्थाएँ

मू. आ./५९७-५९९ वक्खित्तपराहुत्तं तु पमत्तं मा कदाइ वंदिज्जो। आहारं च करंतो णीहारं वा जदि करेदि ।५९७। आसणे आसणत्थं च उवसंतं च उवट्ठिदं। अणुविण्णय मेधावी किदियम्मं पउंजदे ।५९८। आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए। अवराधे य गुरूणं वंदणमेदेसु ठाणेसु ।५९९। —व्याकुल चित्तवालेको, निद्रा-विकथा आदिसे प्रमत्त दशाको प्राप्तको तथा आहार व णीहार करतेको वन्दना नहीं करनी चाहिए ।५९७। एकान्त भूमिमें पद्मासनादिसे स्वस्थ चित्तरूपसे बैठे हुए मुनिको वन्दना करनी चाहिए और वह भी उनकी विज्ञप्ति लेकर ।५९८। आलोचनाके समय, प्रश्नके समय, पूजा व स्वाध्यायके समय तथा क्रोधादि अपराधके समय आचार्य उपाध्याय आदिकी वन्दना करनी चाहिए ।५९९। (अन. ध./८/५२-५४/७७२)

भ. आ./वि./११९/२७५/९ वसतेः, कायभूमितः, भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामान्तराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यम्। गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यम्। अन्यथा दिशा यथागममितरदप्यनुगन्तव्यम्। —वसतिका स्थानसे, कायभूमिसे (?), भिक्षा लेकर लौटते समय, चैत्यालयसे आते समय, गुरुके पाससे आते समय अथवा ग्रामान्तरसे आते समय अथवा गुरु-जन जब बाहर जाते हैं या बाहरसे आते हैं, तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिए।

३. उपचार विनयकी आवश्यकता ही क्या

भ. आ./मू. व वि./७५६-७५७/९२० ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि संसारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्यशङ्कायामाह—"जो भावणमोक्कारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा। ण हु ते होंति समत्था संसारुच्छेदणं कादुं ।७५६। यद्येवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग इति सूत्रेण विरुध्यते। नमस्कारमात्रमेव कर्मणां विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्कायामाह—चदुरंगाए सेणाए णायगो जह पवत्तवा होदि। तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ।७५७। —प्रश्न—सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप संसारका नाश करते हैं, इसलिए नमस्कारकी क्यों आवश्यकता है? उत्तर—भाव नमस्कारके बिना सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र और तप संसारका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते हैं। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्र के साथ विरोध उत्पन्न होगा, क्योंकि, आपके मतके अनुसार नमस्कार अकेला ही कर्मविनाशका उपाय है? उत्तर—चतुरंग सेनाका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है वैसे यह भाव नमस्कार भी मरण समयमें तप, ज्ञान, चारित्रका प्रवर्तक है।

४. उपचार विनयके योग्यायोग्य पात्र

१. यथार्थ साधु आर्यिका आदि वन्दनाके पात्र हैं

भ. आ./मू./१२७/३०४ राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे। विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ।१२७। —'राइणिय' उत्कृष्ट परिणामवाले मुनि, 'अराइणीय' न्यून भूमिकाके माने अर्थात् आर्यिका व श्रावक तथा गृहस्थ आदि इन सबका उन उनकी योग्यतानुसार आदर व विनय करना चाहिए। (मू. आ./३८४)

द. पा./मू. २३ दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था। एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं। —दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तपविनय इनमें जो स्थित हैं वे सराहनीय व स्वस्थ हैं, और गणधर आदि भी जिनका गुणानुवाद करते हैं, ऐसे साधु वन्दने योग्य हैं ।२३। (मू. आ./५९६), (सू. पा./मू./१२); (बो. पा./मू./११)

पं. ध./उ./६७४. ७३५ इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः। नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं...।६७४। नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे। देयं संमानदानादि लोकानामविरुद्धतः ।७३५। —अनेक प्रकारके साधु सम्बन्धी गुणोंसे युक्त पूज्य साधु ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दने योग्य हैं ।६७४। जिनागममें व्रतोंसे परिपूर्ण स्त्रियोंका भी सम्मान आदि करना निषिद्ध नहीं है, इसलिए उनका भी लोक व्यवहारके अनुसार सम्मान आदि करना चाहिए ।७३५।

दे. विनय/३/१—(सौ वर्षकी दीक्षित आर्यिकासे भी आजका नव-दीक्षित साधु वन्द्य है।)

२. जो इन्हें वन्दन नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है

द. पा./मू./२४ सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ। सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ।२४। —जो सहजोत्पन्न यथाजात रूपको देखकर मान्य नहीं करता तथा उसका विनय सत्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है, वे यदि संयमप्रतिपन्न भी हैं, तो भी मिथ्यादृष्टि है।

३. चारित्रवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध अधिक पूज्य है

भ. आ/वि./११६/२७४/८ वाचनामनुयोगं वा शिक्षयतः अवमरत्नत्रय-स्याभ्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव। —जो ग्रन्थ और अर्थको पढ़ाता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है वह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नत्रयमें हीन भी है, तो भी उसके आनेपर जो-जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन खड़े हो जावें।

प्र. सा./ता. वृ./२६३/३५४/१५ यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्यु-त्थेयाः।

प्र. सा./ता. वृ./२६७/३५८/१७ यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति। यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसंगा-द्दोषो भवति। —चारित्र व तपमें अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान गुणसे ज्येष्ठ होनेके कारण श्रुतकी विनयके अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनयके योग्य है। यदि कोई चारित्र गुणमें अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुणकी वृद्धिके अर्थ बहुश्रुत जनोंके पास वन्दनादि क्रियामें वर्तता है तो कोई दोष नहीं है। परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभके अर्थ ऐसा करता है तब अतिदोषका प्रसंग प्राप्त होता है।

४. मिथ्यादृष्टि जन व पार्श्वस्थादि साधु वन्द्य नहीं हैं

द. पा./मू./२,२६ दंसणहीणो ण वंदिव्वो ।२। असंजदं ण वंदे वच्छविहीणो वि तो ण वंदिज्ज। दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।२६। —दर्शनहीन वन्द्य नहीं है ।२। असंयमी तथा वस्त्रविहीन द्रव्यलिंगी साधु भी वन्द्य नहीं हैं क्योंकि दोनों ही संयम रहित समान हैं ।२६।

मू. आ./५९४ दंसणणाणचरित्ते तवविणए णिच्चकाल पासत्था। एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणं ।५९४। —दर्शन ज्ञान चारित्र और तपविनयोंसे सदाकाल दूर रहनेवाले गुणी संयमियोंके सदा दोषोंको देखने वाले पार्श्वस्थ आदि हैं, इसलिए वे वन्द्य नहीं हैं ।५९४।

भ. आ./वि./११६/२७५/६ नाभ्युत्थानं कुर्यात्, पार्श्वस्थपञ्चकस्य वा। रत्नत्रये तपसि च नित्यमभ्युद्यतानां अभ्युत्थानं कर्तव्यं कुर्यात्। सुखशीलजनेऽभ्युत्थानं कर्मबन्धनिमित्तं प्रमादस्थापनोपबृंहणकारणात्। —मुनियोंको पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियोंका आगमन होनेपर उठकर खड़े होना योग्य नहीं है। जो मुनि रत्नत्रय व तपश्चरणमें तत्पर हैं उनके आनेपर अभ्युत्थान करना योग्य है। जो सुखके वश होकर अपने आचारमें शिथिल हो गये हैं उनके आनेपर अभ्युत्थान करनेसे कर्मबन्ध होता है, क्योंकि, वह प्रमादकी स्थापनाका व उसकी वृद्धिका कारण है।

भा. पा./टी./२/१२९/६ पर उद्धृत—उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने—'द्रव्यलिङ्गं समास्थाय भावलिङ्गी भवेद्यतिः। विना तेन न वन्द्यः स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन्। —समयभूषण प्रवचनमें इन्द्रनन्दि भट्टारकने कहा है—द्रव्यलिंगमें सम्यक् प्रकार स्थिति पाकर ही यति भाव-लिंगी होता है। उस द्रव्य-लिंगके बिना वह वन्द्य नहीं है, भले ही नाना व्रतोंको धारण क्यों न किया हो।

प्र. सा./त. प्र./२६३ इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव। —उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासोंके प्रति वे (अभ्युत्थानादिक) प्रवृत्तियाँ निषिद्ध ही हैं।

अन. ध./७/५२/७७१ कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतैः ।५२। —पार्श्वस्थादि कुलिंगियों तथा शासनदेव आदि कुदेवोंकी वन्दना संयमियोंको (या असंयमियोंको भी) नहीं करनी चाहिए।

भा. पा./टी./१४/१३७/२३ एते पञ्च श्रमणा जिनधर्मबाह्या न वन्दनीयाः। —ये पार्श्वस्थ आदि पाँच प्रकारके श्रमण जिनधर्म बाह्य हैं, इसलिए वन्दनीय नहीं हैं।

पं. ध./उ./६७४ नेतरो विदुषां महान् ।७३४। —इन गुणोंसे रहित जो इतर साधु हैं तत्त्वज्ञानियों द्वारा वन्दनीय नहीं हैं।

५. अधिकगुणी द्वारा हीनगुणी वन्द्य नहीं है

प्र. सा./मू./२६६ गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति। होज्जं गुणधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी। —जो श्रमण्यमें अधिक गुणवाले हैं तथापि हीन गुणवालोंके प्रति (वन्दनादि) क्रियाओंमें वर्तते हैं वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं।

द. पा./मू./१२ जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं। ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ।१२। —जो पुरुष दर्शनभ्रष्ट होकर भी दर्शनके धारकोंको अपने पाँवमें पड़ाते हैं, वे गूँगे-लूले होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय निगोद योनिमें जन्म पाते हैं। उनको बोधिकी प्राप्ति दुर्लभ होती है।

भ. आ./वि./११६/२७५/५ असंयतस्य संयतासंयतस्य वा नाभ्युत्थानं कुर्यात्। —मनुष्योंको असंयत व संयतासंयत जनोंके आनेपर खड़ा होना योग्य नहीं है।

अन. ध./७/५२/७७१ श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः। कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्यास्तेऽपि संयतैः ।५२। —माता, पिता, दीक्षागुरु व शिक्षागुरु, एवं राजा और मन्त्री आदि असंयत जनोंकी तथा श्रावककी भी संयमियोंको वन्दना नहीं करनी चाहिए, और व्रती श्रावकोंको भी उपरोक्त असंयमियोंकी वन्दना नहीं करनी चाहिए।

द. पा./मू./२६ असंजदं ण वंदे ।२६। —असंयत जन वंद्य नहीं हैं। —(विशेष दे० आगे शीर्षक नं. ८)।

६. कुगुरु कुदेवादिकी वन्दना आदिका कड़ा निषेध व उसका कारण

द. पा./मू./१३ जे वि पडंति च तेसिं जाणंता लज्जागारवभएण। तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ।१३। —जो दर्शनयुक्त पुरुष दर्शनभ्रष्टको मिथ्यादृष्टि जानते हुए भी लज्जा गारव या भयके कारण उनके पाँवमें पड़ते हैं अर्थात् उनकी विनय आदि करते हैं, तिनको भी बोधिकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि, वे पापके अनुमोदक हैं ।१३।

मो. पा./मू./९२ कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु। लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु। —कुत्सित देवको, कुत्सित धर्मको और कुत्सित लिंगधारी गुरुको जो लज्जा भय या गारवके वश वन्दना आदि करता है, वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है ।९२।

शी. पा./मू./१४ कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं। सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ।१४। —बहु प्रकारसे शास्त्रको जाननेवाला होकर भी यदि कुमत व कुशास्त्रकी प्रशंसा करता है, तो वह शील, व्रत व ज्ञान इन तीनोंसे रहित है, इनका आराधक नहीं है।

र. क. श्रा./३० भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ।३०। —शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय आशा प्रीति और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगियोंको प्रणाम और विनय भी न करे।

पं. वि./१/१६७ न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य संसारिणां, प्राप्तं वा बहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रान्नरत्वं यदि। मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहनीचान्वय-प्रायैः प्राणभृतां तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ।१६७। —संसारी प्राणियोंको यह मनुष्यपर्याय इतनी ही कष्ट प्राप्य है जितनी कि अन्धेको बटेरकी प्राप्ति। फिर यदि करोड़ों कल्पकालोंमें किसी प्रकार प्राप्त भी हो गयी, तो वह मिथ्या देव एवं मिथ्यागुरुके उपदेश, विषयानुराग और नीच कुलमें उत्पत्ति आदिके द्वारा सहसा विफलताको प्राप्त हो जाती है ।१६७।

और भी दे० मूढ़ता—(कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व कुधर्मको देवगुरु शास्त्र व धर्म मानना मूढ़ता है।)

दे० अमूढ़ दृष्टि/३ (प्राथमिक दशामें अपने श्रद्धानकी रक्षा करनेके लिए इनसे बचकर ही रहना योग्य है।)

७. द्रव्य लिंगी भी कथंचित् वन्द्य है

यो. सा./अ./५/५६ द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभिः। भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्षं यियासुभिः ।५६। —व्यवहारी जनोंके लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य है, परन्तु जो मोक्षके इच्छुक हैं उन्हें तो भाव-लिंगी ही पूज्य है।

सा. ध./२/६४ विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव। भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ।६४।

उपरोक्त श्लोककी टीकामें उद्धृत—"यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम्। तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूज्याः संप्रति संयताः।

—जिस प्रकार प्रतिमाओंमें जिनेन्द्र देवकी स्थापना कर उनकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार सद्गृहस्थको इस पंचमकालमें होनेवाले मुनियोंमें पूर्वकालके मुनियोंकी स्थापना कर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। कहा भी है "जिस प्रकार लेपादिसे निर्मित जिनेन्द्र देवका रूप पूज्य है, उसी प्रकार वर्तमान कालके मुनि पूर्वकालके मुनियोंके प्रतिरूप होनेसे पूज्य हैं। [परन्तु अन्य विद्वानों का इस प्रकार स्थापना द्वारा इन मुनियोंको पूज्य मानना स्वीकार नहीं है—(दे० विनय/५/३)]।

८. साधुओंको नमस्कार क्यों

ध. ६/४,१,१/११/१ होदु णाम सयलजिणणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलंभादो। ण देसजिणाणमेदेसु तदणुवलंभादो त्ति। ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु तिण्हं रयणाणमुवलंभादो। —प्रश्न—सकल जिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हो, क्योंकि, उनमें सब गुण पाये जाते हैं। किन्तु देशजिनोंको किया गया नमस्कार पाप प्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि इनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सकल जिनोंके समान देश जिनोंमें (आचार्य उपाध्याय साधुमें) भी तीन रत्न पाये जाते हैं। [जो यद्यपि अपम्पूर्ण हैं, परन्तु सकल जिनोंके सम्पूर्ण रत्नोंसे भिन्न नहीं हैं।]—(विशेष दे० देव/I/१/५)।

९. असंयत सम्यग्दृष्टि वन्द्य क्यों नहीं

ध. ६/४,१,२/४१/१ महव्वयविरहिददोरयणहराणं। ओहिणाणीणमणोहिणाणीणं च किमट्ठ णमोक्कारो ण कोरदे। गारवगुरुवेसु जीवेसु चरणाचारपयट्टावणट्ठं उत्तिमग्गविसयभत्तिपयासणट्ठं च ण कोरदे। —प्रश्न—महाव्रतोंसे रहित दो रत्नों अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानके धारक अवधिज्ञानी तथा अवधिज्ञानसे रहित जीवोंको भी क्यों नहीं नमस्कार किया जाता? उत्तर—अहंकारसे महान् जीवोंमें चरणाचार अर्थात् सम्यग्चारित्र रूप प्रवृत्ति करानेके लिए तथा प्रवृत्तिमार्ग विषयक भक्तिके प्रकाशनार्थ उन्हें नमस्कार नहीं किया जाता है।

५. साधुको परीक्षाका विधि-निषेध

१. आगन्तुक साधुकी विनय पूर्वक परीक्षा विधि

भ.आ./मू /४१०-४१४ आएसं एज्जंतं अब्भुट्ठिति सहसा हु दठ्ठूणं। आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुंजे।४१०। आगंतुगवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहिं। अण्णोण्णचरणकरण जाणणहेदुं परिक्खंति।४११। आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे। सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति।४१२। आएसस्स तिरत्तं णियमा संघाडओ दु दादव्वो। सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ।४१३। तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो। सेज्जा संथारो वि य गणिणा अविजुत्त जोगिस्स।४१४। —१. अन्य गणसे आये हुए साधुको देखकर परगणके सब साधु, वात्सल्य, सर्वज्ञ आज्ञा, आगन्तुकको अपना बनाना, और नमस्कार करना इन प्रयोजनोंके निमित्त उठकर खड़े हो जाते हैं।४१०। वह नवागन्तुक मुनि और इस संघके मुनि परस्परमें एक दूसरेकी प्रतिलेखन क्रिया व तेरह प्रकार चारित्रकी परीक्षाके लिए एक दूसरेको गौरसे देखते हैं।४११। षट् आवश्यक व कायोत्सर्ग क्रियाओंमें, पीछी आदिसे शोधन क्रिया, भाषा बोलनेकी क्रिया, पुस्तक आदिके उठाने रखनेकी क्रिया, स्वाध्याय, एकाकी जाने आनेकी क्रिया, भिक्षा ग्रहणार्थ चर्या, इन सब क्रिया स्थानोंमें परस्पर परीक्षा करें।४१२। आये हुए अन्य संघके मुनिको स्वाध्याय संस्तर भिक्षा आदिका स्थान बतलानेके लिए तथा उनकी शुद्धताकी परीक्षा करनेके लिए, तीन दिन रात तक सहायक मुनि साथ रहें।४१३। (मू. आ./१६०, १६३, १६४, १६२)। २. तीन दिनके पश्चात् यदि वह मुनि परीक्षामें ठीक नहीं उतरता तो उसे सहाय प्रदान नहीं करते, तथा वसतिका व संस्तर भी उसे नहीं देते और यदि उसका आचरण योग्य है परन्तु परीक्षा पूरी नहीं हुई है, तो भी आचार्य उसको सहाय वसतिका व संस्तर नहीं देते हैं।४१४।

२. साधुकी परीक्षा करनेका निषेध

सा. ध./२/६४ में उद्धृत—भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्। ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्यति।···काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकोटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः।—केवल आहारदान देनेके लिए मुनियोंकी क्या परीक्षा करनी चाहिए? वे मुनि चाहे अच्छे हों या बुरे, गृहस्थ तो उन्हें दान देनेसे शुद्ध ही हो जाता है अर्थात् उसे तो पुण्य हो ही जाता है। इस कलिकालमें चित्त सदा चलायमान रहता है, शरीर एक तरहसे केवल अन्नका कीड़ा बना हुआ है, ऐसी अवस्थामें भी वर्तमानमें जिन रूप धारण करनेवाले मुनि विद्यमान हैं, यही आश्चर्य है।

३. साधु परीक्षा सम्बन्धी शंका समाधान

मो. मा. प्र./ अधिकार/पृष्ठ/पंक्ति—

प्रश्न—१. शील संयमादि पालै हैं, तपश्चरणादि करै हैं, सो जेता करै तितना ही भला है? **उत्तर**—यहु सत्य है, धर्म थोरा भी पाल्या हुआ भला है। परन्तु प्रतिज्ञा तौ बड़े धर्मकी करिए अर पालिए थोरा तौ वहाँ प्रतिज्ञा भंगतैं महापाप हो है।···शील संयमादि होतैं भी पापी ही कहिए।···यथायोग्य नाम धराय धर्मक्रिया करतै तौ पापीपना होता नाहीं। जेता धर्म्म साधै तितना ही भला है। (५/२३४/६)। **प्रश्न—२. पंचम कालके अन्ततक चतुर्विध संघका सद्भाव कह्या है।** इनको साधु न मानिय तौ किसकौ मानिए? **उत्तर**—जैसे इस कालविषै हंसका सद्भाव कह्या है अर गम्यक्षेत्र विषै हंस नाहीं दीसै है, तौ औरनिकौं तौ हंस माने जाते नाहीं, हंसकासा लक्षण मिले ही हंस मानें जायँ। तैसें इस कालविषै साधुका सद्भाव है, अर गम्य क्षेत्र विषै साधु न दीसै हैं, तौ औरनिकौं तौ साधु माने जाते नाहीं। साधु लक्षण मिलैं ही साधु माने जायँ। (५/२३४/२२) **प्रश्न—३. अब श्रावक भी तौ जैसे सम्भवैं तैसे नाहीं। तातैं जैसे श्रावक तैसे मुनि?** **उत्तर**—श्रावक संज्ञा तौ शास्त्रविषै सर्व गृहस्थ जैनी-की है। श्रेणिक भी असंयमी था, ताकौ उत्तर पुराण विषै श्रावकोत्तम कह्या। बारह सभाविषै श्रावक कहे, तहाँ सर्व व्रतधारी न थे।···तातैं गृहस्थ जैनी श्रावक नाम पावै है। अर 'मुनि' संज्ञा तौ निर्ग्रन्थ बिना कहीं कही नाहीं। बहुरि श्रावककै तौ आठ मूलगुण कहे हैं। सो मद्यमांस मधु पंचउदम्बरादि फलनिका भक्षण श्रावकनिकै है नाहीं, तातैं काहू प्रकार श्रावकपना तौ सम्भवै भी है। अर मुनिकै २८ मूलगुण हैं, सो भेषीनिकै दीसतै ही नाहीं। तातैं मुनिपनौं काहू प्रकारकरि सम्भवै नाहीं। (६/२७४/१) **प्रश्न—४. ऐसे गुरु तौ अबार यहाँ नाहीं, तातैं जैसे अर्हन्तकी स्थापना प्रतिमा हैं, तैसें गुरुनिकी स्थापना ये भेषधारी हैं?** **उत्तर**—अर्हन्तादिकी पाषाणादिमें स्थापना बनावै, तौ तिनिका प्रतिपक्षी नाहीं, अर कोई सामान्य मनुष्य आपकौ मुनि मनावै, तौ वह मुनिनिका प्रतिपक्षी भया। ऐसै भी स्थापना होती होय, तौ अरहन्त भी आपकौं मनावो। (६/२७२/१५) [पंचपरमेष्ठी भगवान्के असाधारण गुणोंकी गृहस्थ या सामान्य मनुष्यमें स्थापना करना निषिद्ध है। (श्लो. वा. २/भाषाकार /१/५/५४/२६४/६)।

विनयचन्द्र—'उवएसमाला' तथा 'कहाणय छप्पय' नामक दो अपभ्रंश ग्रन्थोंके रचयिता। समय ई. श. १३ (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास।५१। बा० कामता प्रसाद)।

विनयचारी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

विनयदत्त—मूलसंघ की पट्टावली के अनुसार आप लोहाचार्य के पश्चात् एक पूर्वधारी थे। समय—वी० नि० ५६५-५८५ (ई० ३८-५८)। —विशेष दे० इतिहास/४/४।

विनयपुरी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

विनय लालसा—सप्त ऋषियोंमेंसे एक।—दे० सप्तऋषि।

विनयविजय—न्यायकर्णिकाके कर्ता एक श्वेताम्बर उपाध्याय। समय—श. सं. १७ (ई० १६७०)। (न्याय कर्णिका/प्र. १। पं० मोहनलाल डिसाई।

विनय शुद्धि—दे० शुद्धि।

विनयसेन—पंचस्तूप संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य तथा काष्ठासंघ संस्थापक कुमारसेनके गुरु थे। समय—ई० ८२०-८७० । (सि. वि./प्र. ३८/पं० महेन्द्र); —दे० इतिहास/७/७ ।

विनायक—राक्षस जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद।—दे० राक्षस विनायक यन्त्र। —दे० यन्त्र।

विनाश—रा. वा./४/४२/४/२५०/१६ तत्पर्यायसामान्यविनिवृत्ति-र्विनाश। =पर्यायकी सामान्य निवृत्तिका नाम विनाश है।

विनिमय—Barter and Purchase (ध. ५/प्र. २८)।

विनोदीलाल—सहजादिपुर निवासी एक जैन कवि थे (जिन्होंने वि० १७३७ में भक्तामर कथा और वि० १७४६ में सम्यक्त्व कौमुदी नामक ग्रन्थ लिखे।

विपतत्त्व—दे० गरुड़ तत्त्व।

विपक्ष—१. पक्ष व विपक्षोंके नाम निर्देश। —दे० अनेकान्त, ४। २. निश्चित व शंकित विपक्ष वृत्ति। —दे० व्यभिचार।

विपरिणाम—

रा. वा./४/४२/४/२५०/१८ सत एवावस्थान्तरावाप्तिर्विपरिणामः। =सत्का अवस्थान्तरको प्राप्ति करना विपरिणाम है।

२. विपरिणामनाके भेद व उनके लक्षण

ध. १५/२८२/१४ विपरिणामउवक्कमो चउव्विहो पयडिविपरिणामणा ट्ठिदिविपरिणामणा अणुभागविपरिणामणा पदेसविपरिणामणा चेदि। पयडिविपरिणामणा दुविहा—मूलपयडिविपरिणामणा उत्तर-पयडिविपरिणामणा त्ति। तत्थ मूलपयडिविपरिणामणा दुविहा—देसविपरिणामणा सव्वविपरिणामणा चेदि। एत्थ अट्ठपदं—जासि पयडीणं देसो णिज्जरिज्जदि अधट्ठिदिगलणाए सा देसपयडिविप-रिणामणा णाम। जा पयडी सव्वणिज्जराए णिज्जरिज्जदि सा सव्वविपरिणामणा णाम।...उत्तरपयडिविपरिणामणाए अट्ठपदं। तं जहा—णिज्जिण्णा पयडी देसेण सव्वणिज्जराए वा, अण्णपयडीए देस-संकमेण वा सव्वसंकमेण वा जा संकामिज्जदि एसा उत्तरपयडिविप-रिणामणा णाम।...ट्ठिदी ओकड्डिज्जमाणा वा उक्कड्डिज्जमाणा वा अण्णं पयडिं संकामिज्जमाणा वा विपरिणामिदा होदि।...ओकड्डिदो वि उक्कड्डिदो वि अण्णपयडिं णीदो वि अणुभागो विपरिणामिदो होदि।...जं पदेसग्गं णिज्जिण्णं अण्णपयडिं वा संकामिदं सा पदेस-विपरिणामणा णाम। =१. विपरिणाम उपक्रम चार प्रकारका है—प्रकृतिविपरिणामना, स्थितिविपरिणामना, अनुभागविपरिणामना और प्रदेश विपरिणामना। इनमें प्रकृति विपरिणामना दो प्रकारकी है—मूलप्रकृतिविपरिणामना और उत्तरप्रकृतिविपरिणामना। २. उन-मेंसे मूलप्रकृतिविपरिणामना दो प्रकार है—देशविपरिणामना और सर्वविपरिणामना। जिन प्रकृतियोंका अधःस्थिति गलनके द्वारा एक देश निर्जराको प्राप्त होता है वह देशप्रकृति विपरिणामना कही जाती है। जो प्रकृति सर्व निर्जराके द्वारा निर्जराको प्राप्त होती है वह सर्व विपरिणामना कही जाती है। देश निर्जरा अथवा सर्वनिर्जराके द्वारा निर्जीर्ण प्रकृति अथवा जो प्रकृति देशसंक्रमण या सर्वसंक्रमणके द्वारा अन्य प्रकृतिमें संक्रमणको प्राप्त करायी जाती है यह उत्तरप्रकृति विपरिणामना कहलाती है। ३. अपवर्तमान, उद्वर्तमान अथवा अन्य प्रकृतियोंमें संक्रमण करायी जानेवाली स्थिति विपरिणामना कहलाती है। ४. अपकर्षणप्राप्त, उत्कर्षणप्राप्त अथवा अन्य प्रकृतिको प्राप्त कराया गया भी अनुभाग विपरिणामित होता है। ५. जो प्रदेशाग्र निर्जराको प्राप्त हुआ है अथवा अन्य प्रकृतिमें संक्रमणको प्राप्त हुआ है वह प्रदेश विपरिणामना कही जाती है।

विपरीत दृष्टांत—(दे. दृष्टांत)।

विपरीत मिथ्यात्व—(दे. विपर्यय)।

विपर्यय—१. विपर्ययज्ञान का लक्षण

स. सि./१/३१/१३७/३ विपर्ययो मिथ्येत्यर्थः। =विपर्ययका अर्थ मिथ्या है। (रा. वा./१/३१/-९१/२८)।

न्या. दी./१/§६/९/६ विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः यथा शुक्तिका-यामिदं रजतमिति ज्ञानम्। =विपरीत एक पक्षका निश्चय करनेवाले ज्ञानको विपर्यय कहते हैं। जैसे—सीपमें 'यह चाँदी है' इस प्रकारका ज्ञान होना।

न्या. वि./वृ./१/५/१३०/२५ विपश्चिते विषये विविधं परि समन्तादयनं गमनं विपर्ययः सर्वः संसारव्यवहार इत्यर्थः। =विवक्षित विषयमें विविध रूपसे सब ओरसे गमन करनेको विपर्यय कहते हैं। अर्थात् विपर्ययका अर्थ सर्व लोक व्यवहार है।

२. विपर्यय मिथ्यात्व सामान्यका लक्षण

स. सि./८/१/३७५/६ सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्य-तीत्येवमादि विपर्ययः। =सग्रन्थको निर्ग्रन्थ मानना, केवलीको कवलाहारी मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना विपर्यय मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२०); (त. सा./५/६)।

ध. ८/३,६/२०/६ हिंसालियवयण-चोज्जमेहुणपरिग्गहरागदोसमोहण्णा-णेहि चेव णिव्वुई होइ त्ति अहिणिवेसो विवरीयमिच्छत्तं। =हिंसा, अलीक वचन, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग, द्वेष, मोह और अज्ञान, इनसे ही मुक्ति होती है, ऐसा अभिनिवेश विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है।

अन. ध./२/७/१२४ येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्दधानाः श्रुतिं रसात्। चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्यो मोहराक्षसः। =मोहरूपी राक्षसका ही वध करना उचित है कि जिसके वशमें पड़कर प्राणी, प्रमाणसे खण्डित किया जानेपर भी उस श्रुति (वेदों) का ही श्रद्धान करते हैं और पुण्यार्थ हिंसा (यज्ञादि) का आचरण करते हैं।

गो. जी./जी. प्र./१६/४१/३ याज्ञिकब्राह्मणादयः विपरीतमिथ्यादृष्टयः। =यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण आदि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं।

३. विपरीत मतकी उत्पत्तिका इतिहास

द. सा./१६-१७ सुव्वतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो। सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को ।१६। विवरीयमयं किच्चा विणासियं सच्चसंजमं लोए। तत्तो पत्ता सव्वे सत्तमणरयं महाघोरं ।१७। =मुनिसुव्रत नाथके समयमें एक क्षीरकदम्ब नामका उपाध्याय

था। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि था। उसका (राजा बसु नामका एक) दुष्ट शिष्य था और पर्वत नामका वक्र पुत्र था।१६। उन्होंने विपरीत मत बनाकर संसारसे सच्चे संयमको नष्ट कर दिया और इसके फलसे वे घोर सप्तम नरकमें जा पड़े।

४. विपर्यय मिथ्यात्वके भेद व उनके लक्षण

स. सि./१/३२/१३६/२ कश्चिन्मिथ्यादर्शनपरिणाम आत्मन्यवस्थितो रूपाद्युपलब्धौ सत्यामपि कारणविपर्यासं भेदाभेदविपर्यासं स्वरूपविपर्यासं च जनयति। कारणविपर्यासस्तावत्—रूपादीनामेकं कारणममूर्त्तं नित्यमिति केचित्कल्पयन्ति। अपरे पृथिव्यादिजातिभिन्नाः परमाणवश्चतुस्त्रिद्व्येकगुणास्तुल्यजातीयानां कार्याणामारम्भका इति। अन्ये वर्णयन्ति—पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि, भौतिकधर्मा वर्णगन्धरसस्पर्शाः, एतेषां समुदायो रूपपरमाणुरष्टक इत्यादि। इतरे वर्णयन्ति—पृथिव्यप्तेजोवायवः काठिन्यादिद्रवत्वाद्युष्णत्वादीरणत्वादिगुणा जातिभिन्नाः परमाणवः कार्यस्यारम्भकाः। भेदाभेदविपर्यासः कारणात्कार्यमर्थान्तरभूतमेवेति अनर्थान्तरभूतमेवेति च परिकल्पना। स्वरूपविपर्यासो रूपादयो निर्विकल्पाः सन्ति न सन्त्येव वा। तदाकारपरिणतं विज्ञानमेव। न च तदालम्बनं वस्तु बाह्यमिति।—आत्मामें स्थित कोई मिथ्यादर्शनरूप परिणाम रूपादिककी उपलब्धि होनेपर भी कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यासको उत्पन्न करता रहता है। कारण विपर्यास यथा—कोई (सांख्य) मानते हैं कि रूपादिका एक कारण (प्रकृति) है, जो अमूर्त और नित्य है। कोई (वैशेषिक) मानते हैं कि पृथिवी आदिके परमाणु भिन्न-भिन्न जातिके हैं। तिनमें पृथिवीपरमाणु चार गुणवाले, जलपरमाणु तीन गुणवाले, अग्निपरमाणु दो गुणवाला, और वायुपरमाणु केवल एक स्पर्श गुणवाला होता है। ये परमाणु अपने-अपने समान जातीय कार्यको ही उत्पन्न करते हैं। कोई (बौद्ध) कहते हैं कि पृथिवी आदि चार भूत हैं और इन भूतोंके वर्ण गन्ध रस और स्पर्श ये भौतिक धर्म हैं। इन सबके समुदायको एक रूप परमाणु या अष्टक कहते हैं। कोई कहते हैं कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये क्रमसे काठिन्यादि, द्रवत्वादि, उष्णत्वादि और ईरणत्वादि गुणवाले अलग-अलग जातिके परमाणु होकर कार्यको उत्पन्न करते हैं। भेदाभेद विपर्यास यथा—कारणके कार्यको सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानना। स्वरूपविपर्यास यथा—रूपादिक निर्विकल्प हैं, या रूपादिक हैं ही नहीं, या रूपादिकके आकाररूपसे परिणत हुआ विज्ञान ही है; उसका आलम्बनभूत और कोई बाह्य पदार्थ नहीं है (बौद्ध)। (गो. जी./जी. प्र./१८/४३/२)।

विपर्यास—दे. विपर्यय।

विपल—कालका एक प्रमाण—दे. गणित/I/१/४।

विपाक—

स. सि./८/२१/३६८/३ विशिष्टो नानाविधो वा पाको विपाकः। पूर्वोक्तकषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषाद्विशिष्टः पाको विपाकः। अथवा द्रव्यक्षेत्रकालभवभावलक्षणनिमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधः पाको विपाकः। असावनुभव इत्याख्यायते।—विशिष्ट या नाना प्रकारके पाकका नाम विपाक है। पूर्वोक्त कषायोंके तीव्र मन्द आदि रूप भावास्रवके भेदसे विशिष्ट पाकका होना विपाक है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावलक्षण निमित्त-भेदसे उत्पन्न हुआ वैश्वरूप नाना प्रकारका पाक विपाक है। इसीको अनुभव कहते हैं। (रा. वा./८/२१/१/५८३/२३)।

ध. १४/५,६,१४/१०/२ कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम; .. कम्माणमुदय-उदीरणाणमभावो अविवागो णाम। कम्माणमुवसमो खओ वा अविवागो त्ति भणिदं होदि।—कर्मोंके उदय व उदीरणाको विपाक कहते हैं। कर्मोंके उदय और उदीरणाके अभावको अविपाक कहते हैं। कर्मोंके उपशम और क्षयको अविपाक कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

विपाक अविपाक निर्जरा—दे० निर्जरा।

विपाक प्रत्ययिक बंध—दे. बन्ध/१।

विपाक विचय—दे. धर्मध्यान/१।

विपाकसूत्र—द्वादशांग श्रुतका ११ वाँ अंग—दे० श्रुतज्ञान/III।

विपुल—१. भाविकालीन १५वें तीर्थंकर। अपर नाम बहुलप्रभ। —दे. तीर्थंकर/५। २. एक ग्रह—दे. ग्रह।

विपुलमति—दे. मनःपर्यय।

विप्रतिपत्ति—न्या. सू./भा./२/१/७/५८/२० न वृत्तिः समानेऽधिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः।—एक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो वादोंका नाम 'विप्रतिपत्ति' है। [अथवा विपरीत निश्चयका नाम विप्रतिपत्ति है]।

विप्रानस मरण—दे. मरण/१।

विप्लुत—न्या. वि./वृ./१/४६/३११/२१ विविधं प्लुतं प्लवनं तरङ्गादिषु यस्य स विप्लुतो जलचन्द्रादि।—विविध प्रकारसे प्लुत सो विप्लुत अर्थात् जिसका तरंगादिमें अनेक प्रकारसे डूबना या तैरना हो रहा है, ऐसे जलमें पड़े हुए चन्द्र प्रतिबिम्ब आदि विप्लुत हैं।

विभंगज्ञान—१. मिथ्या अवधिज्ञान। दे. अवधिज्ञान/१। २. विभंगज्ञानमें दर्शनका कथंचित् सद्भाव व अभाव—दे. दर्शन/६।

विभंगा—पूर्व व अपर विदेहोंमें स्थित १२ नदियाँ। पूर्वमें ग्राहवती, द्रहवती, पंकावती, तप्तजला, मत्तजला और उन्मत्तजला ये ६ हैं और पश्चिममें—क्षीरोदा, सीतोदा, औषधवाहिनी, गम्भीरमालिनी, फेनमालिनी और ऊर्मिमालिनी ये छः हैं। दे. लोक/३/१४।

विभक्ति—

क. पा. २/२-२२/§८/६/८ विभजनं विभक्तिः न विभक्तिरविभक्तिः।—विभाग करनेको विभक्ति कहते हैं और विभक्तिके अभावको अविभक्ति कहते हैं।

क. पा. ३/३-२२/§४/ पृष्ठ। पंक्ति—विहत्ती भेदो पुधभावो त्ति एयट्ठो (२/४)।...एक्किस्से वि ट्ठिदीए पदेसभेदेण पयडिभेदेण च णाणत्तुवलंभादो। (५/८)।...मूलपयडिट्ठिदीए सेसणाणावरणादिमूलपयडिट्ठिदीहिंतो भेदोववत्तीदो। (६/२)।

क. पा./३/३-२२/§५/ पृष्ठ/पंक्ति—अथवा ण एत्थ मूलपयडिट्ठिदीए एयत्तमत्थि, जहण्णट्ठिदिप्पहुडिजाव उक्कस्सट्ठिदि त्ति सव्वासिं ट्ठिदीणं मूलपयडिट्ठिदि त्ति गहणादो। (६/५)। तेण पयडिसरूवेण एगा ट्ठिदी एगट्ठिदीभेदं पडुच्च ट्ठिदिविहत्ती होदि त्ति सिद्धं।—विभक्ति, भेद, और पृथग्भाव ये तीनों एकार्थवाची शब्द हैं। एक स्थितिमें भी प्रदेशभेदकी अपेक्षा नानात्व पाया जाता है। अथवा विवक्षित मोहनीयकी मूलप्रकृति स्थितिका शेष ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतिस्थितियोंसे भेद पाया जाता है। अथवा प्रकृतमें मूलप्रकृतिस्थितिका एकत्व नहीं लिया है, क्योंकि जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक सभी स्थितियोंका 'मूल प्रकृतिस्थिति' पदके द्वारा ग्रहण किया है। इसलिए प्रकृतिरूपसे एक स्थिति अपने स्थितिभेदोंकी अपेक्षा स्थितिविभक्ति होती है, यह सिद्ध होता है।

क. पा ३/३-२२/१५/३ उक्कस्सविहत्तीए उक्कस्स अद्धाछेदस्स च को भेदो। वुच्चदे—चरिमणिसेयस्स कालो उक्कस्स अद्धाछेदो णाम। उक्कस्सट्ठिदिविहत्ती पुण सव्वणिसेयाणं सव्वणिसेयपदेसाणं वा कालो।...एवं

संते सव्वुक्कस्सविहत्तीणं णत्थि भेदो त्ति णासंकणिज्जं। ताणं पि णयविसेसवसाणं कथंचि भेदुवलंभादो। तं जहा—समुदायपहाणा उक्कस्स विहत्ती। अवयवपहाणा सव्वविहत्ति। —प्रश्न—उत्कृष्ट विभक्ति और उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें क्या भेद है? उत्तर— अन्तिम निषेक के कालको उत्कृष्ट अद्धाच्छेद कहते हैं और समस्त निषेकोंके या समस्त निषेकोंके प्रदेशोंके कालको उत्कृष्ट स्थिति विभक्ति कहते हैं। इसलिए इन दोनोंमें भेद है। ऐसी होते हुए सर्व विभक्ति [सम्पूर्ण निषेकोंका समूह (दे. स्थिति/२)] और उत्कृष्ट विभक्ति इन दोनोंमें भेद नहीं है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि नय विशेषकी अपेक्षा उन दोनोंमें भी कथंचित् भेद पाया जाता है। वह इस प्रकार है— उत्कृष्ट विभक्ति समुदाय प्रधान होती है और सर्व विभक्ति अवयव प्रधान होती है।

विभाव—कर्मोंके उदयसे होने वाले जीवके रागादि विकारी भावोंको विभाव कहते हैं। निमित्तकी अपेक्षा कथन करनेपर ये कर्मोंके हैं और जीवकी अपेक्षा कथन करनेपर ये जीवके हैं। संयोगी होनेके कारण वास्तवमें ये किसी एकके नहीं कहे जा सकते। शुद्धनयसे देखनेपर इनकी सत्ता ही नहीं है।

१. विभाव व वैभाविकी शक्ति निर्देश

१. विभावका लक्षण

न. च. वृ./६५ सहजादो रूवंतरगहणं जो सो हु विब्भावो।६५। =सहज अर्थात् स्वभावसे रूपान्तरका ग्रहण करना विभाव है।

आ. प./६ स्वभावादन्यथाभवनं विभावः। =स्वभावसे अन्यथा परिणमन करना विभाव है।

पं. ध./उ./१०५ तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्भावो वैभाविकश्चितः। =आत्माके गुणोंका कर्मरूप पुद्गलोंके गुणोंके आकाररूप कथंचित् संक्रमण होना वैभाविक भाव कहलाता है।

२. स्वभाव व विभाव क्रिया तथा उनकी हेतुभूता वैभाविकी शक्ति

पं. ध./उ./श्लो. अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः।६१। न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया। यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते।६२। ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी। स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक्।६३। नैवं यतो विशेषोऽस्ति बद्धाबद्धावबोधयोः। मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात्।६६। ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः। वावदूकोऽथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात्।७१। अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी। तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः।७२। तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिर्वैभाविकी परम्। नोपयोगापि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम्।७३। अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी। सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः।७४। उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी। सैव बन्धस्य हेतुश्चेत्सर्वो बन्धः समस्यताम्।७५। तस्माद्धेतुसामग्रीसांनिध्ये तद्गुणाकृतिः। स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोपराधवान्।७६। —स्वतः अनादिसिद्ध भी सतमें परिणमनशीलताके कारण स्वाभाविक व वैभाविक दो प्रकारकी क्रिया होती है।६१। वैभाविकी क्रिया केवल पराधीन नहीं होती, क्योंकि, द्रव्यकी अविद्यमान शक्ति दूसरोंके द्वारा उत्पन्न नहीं करायी जा सकती।६२। प्रश्न—यदि वैभाविकी क्रिया भी सतकी

परिणमनशीलतासे ही होती है तो उसमें फिर स्वाभाविकी क्रियासे क्या भेद है। उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें भेद (स्पष्ट) है। मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञान बद्ध है और उससे रहित अबद्ध।६६। प्रश्न—वस्तुतः बद्धत्व व अशुद्धत्व क्या हैं।७१। उत्तर—वैभाविकी शक्तिके उपयोगरूप हो जानेपर जो पर-द्रव्यके निमित्तसे जीव व पुद्गलके गुणोंका संक्रमण हो जाता है वह बन्ध कहलाता है।७२। [परगुणाकाररूप पारिणामिकी क्रियाबन्ध है और उस क्रियाके होनेपर जीव व पुद्गल दोनोंको अपने गुणोंसे च्युत हो जाना अशुद्धता है—दे. अशुद्धता] उस बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति कारण नहीं है और न केवल उसका उपयोग कारण है, किन्तु उन दोनोंका परस्परमें एक दूसरेके आधीन होकर रहना ही प्रयोजक है।७३। यदि वैभाविकी शक्ति ही बन्धका कारण माना जायेगा, तो जीवकी मुक्ति ही असम्भव हो जायेगी, क्योंकि, वह शक्ति द्रव्योपजीवी है।७४। शक्तिकी अपने विषयमें अधिकार रखने-वाली व्यक्तता उपयोग कहलाता है। वह भी अकेला बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर भी सभी प्रकारका बन्ध उसीमें समा जायेगा।७५। अतः उसकी हेतुभूत समस्त सामग्रीके मिलनेपर अपने-अपने आकारका परद्रव्यके निमित्तसे, जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणाकाररूपसे संक्रमण हो जाता है। इसीसे यह अपराधी जीव बँधा हुआ है।७६।

३. वह शक्ति नित्य है पर स्वयं स्वभाव या विभाव रूप परिणत हो जाती है

पं. ध./उ./श्लोक—ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः। परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा।७९। सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत्। अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात्।८०। किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः। तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः।८१। अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च। जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः।८४६। —प्रश्न—यदि वैभाविकी शक्ति जीव पुद्गलके परस्पर योगसे बन्ध करानेमें समर्थ होती है तो क्या पर योगके बिना वह बन्ध करानेमें समर्थ नहीं है। अर्थात् कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेपर उसमें बन्ध करानेकी सामर्थ्य रहती है या नहीं। उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु शक्ति होनेके कारण अन्य स्वाभाविकी शक्तियोंकी भाँति वह भी नित्य रहती है, अन्यथा तो क्रमसे एक-एक शक्तिका नाश होते-होते द्रव्यका ही नाश हो जायेगा।७९-८०। किन्तु उस शक्तिका अशुद्ध परिणमन अवश्य पर निमित्तसे होता है। निमित्तके हट जानेपर स्वयं उसका केवल शुद्ध ही परिणमन होता है।८१। सिद्ध जीवोंके गुणोंमें भी स्वतः सिद्ध वैभाविकी शक्ति होती है जो जीवकी संसार अवस्थामें स्वयं अनादि-कालसे विकृत हो रही है।८४६।

४. स्वाभाविक व वैभाविक दो शक्तियाँ मानना योग्य नहीं

पं. ध./उ./श्लो. ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्। एकः स्वाभाविको भावो भावो वैभाविकः परः।८३। चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम्। स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावै-र्विभावजा।८४। नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्। कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी।८८। पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चापारिणामिकी। तद्ग्राहकप्रमाणस्याभावात्संदृष्ट्य-भावतः।८६। तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत्। परि-णामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम्।९०। —प्रश्न—इससे तो ऐसा सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक है, पर उसका ही परिणमन दो प्रकारका होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक।८३। तो फिर द्रव्योंमें स्वाभाविकी और वैभाविकी ऐसी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ मान लेनेमें क्या क्षति है, क्योंकि, द्रव्यके स्वभावोंमें स्वाभाविकी शक्ति और उसके विभावोंमें वैभाविकी शक्ति यथा अवसर काम करती रहेंगी।८४। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सत्की सब शक्तियाँ जब परिणमन स्वभावी हैं, तो फिर यह वैभाविकी शक्ति भी नित्य पारिणामिकी क्यों न होगी।८८। कोई शक्ति तो परिणामी हो और कोई अपरिणामी, इस प्रकारके उदाहरणका तथा उसके ग्राहक प्रमाण-का अभाव है।८६। इसलिए ऐसा ही मानना योग्य है कि वैभाविकी शक्ति सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेपर अपने भावोंसे ही स्वयं स्वाभा-विक परिणमनशील हो जाती है।९०।

५. स्वभाव व विभाव शक्तियोंका समन्वय

पं. ध./उ./९१-९३ ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः। सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः।९१। यौगपद्ये महान् दोषस्तद्-द्वयस्य नयादपि। कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः।९२। नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषंगतः। सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्।९३। —इसलिए यह सिद्ध होता है कि न्यायानुसार पदार्थमें दो शक्तियाँ तो अवश्य हैं, परन्तु उन दोनों शक्तियोंमें सतकी अवस्था भेदसे ही भेद है। द्रव्यमें युगपत् दोनों शक्तियोंका द्वैत नहीं है।९१। क्योंकि दोनोंका युगपत् सद्भाव माननेसे महान् दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि, इस प्रकार कार्यकारण भावके नाशका तथा बन्ध व मोक्षके नाशका प्रसंग प्राप्त होता है।९२। न ही एक शक्तिके युगपत् दो परिणाम माने जा सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार माननेसे स्वभाव व विभाव की युगपतता तथा विभाव परिणामकी नित्यता प्राप्त होती है।९३।

२. रागादिकमें कथंचित् स्वभाव-विभावपना

१. कषाय चारित्रगुणकी विभाव पर्याय हैं

पं. ध./उ./१०७४, १०७८ इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः। चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः।१०७४। तत-श्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम्। चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी।१०७८। —ये चारों ही कषायें औदयिक भावमें आती हैं, क्योंकि ये आत्माके चारित्र गुणकी विकृत पर्याय हैं।१०७४। सामान्यरूपसे उक्त तीनों वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक वेद) चारित्र मोहके उदयसे होते हैं, इसलिए ये तीनों ही भावलिंग निश्चयसे चारित्र-गुणके ही वैभाविक भाव हैं।

२. रागादि जीवके अपने अपराध हैं

स. सा./मू./१०२, ३७१ जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता। तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।१०२। रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा। एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि।३७१। —आत्मा जिस शुभ या अशुभ भावको करता है, उस भावका वह वास्तवमें कर्ता होता है, वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा उसका भोक्ता होता है।१०२। (स. सा./मू./९०)। राग द्वेष और मोह जीवके ही अनन्य परिणाम हैं, इस कारण रागादिक (इन्द्रियोंके) शब्दादिक विषयोंमें नहीं है।३७१।

स. सा./आ./१६० अनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वात्। —अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त होनेसे...(स. सा./आ./४१२)।

स.सा./आ./क.नं. भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः। बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते।१५१।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो, भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ।१८७। यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः, कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र । स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो, भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ।२२०। —हे ज्ञानी ! जो तू कहता है कि "सिद्धान्तमें कहा है कि पर-द्रव्यके उपभोगसे बन्ध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ," तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? ।१५१। जो सापराध आत्मा है वह तो नियमसे अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है। निरपराध आत्मा तो भली-भाँति शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला होता है ।१८७। इस आत्मामें जो राग-द्वेष रूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है, उसमें परद्रव्यका कोई भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है,—इस प्रकार विदित हो, और अज्ञान अस्त हो जाय ।२२०।

दे० अपराध—(राध अर्थात् आराधनासे हीन व्यक्ति सापराध है।)

३. विभाव भी कथंचित् स्वभाव है

प्र. सा./त. प्र./११६ इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसंनिधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । —यहाँ (इस जगत्में) अनादि कर्मपुद्गलकी उपाधिके सद्भावके आश्रयसे जिसके प्रतिक्षण विपरिणमन होता रहता है ऐसे संसारी जीवको क्रिया वास्तवमें स्वभाव निष्पन्न ही है।

प्र. सा./ता. वृ./१८१/२४०/१६ कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । —कर्मबन्धके प्रकरणमें रागादि परिणाम भी अशुद्ध निश्चयनयसे जीवके स्वभाव कहे जाते हैं। (पं. का./ता. वृ./६१/११३/१३; ६५/११७/१०)।

दे० भाव/२ (औदयिकादि सर्व भाव निश्चयसे जीवके स्वतत्त्व तथा पारिणामिक भाव है।)

४. शुद्ध जीवमें विभाव कैसे हो जाता है ?

स. सा./मू. व आ./८६ मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स । मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।८६। —प्रश्न—जीव-मिथ्यात्वादि चैतन्य परिणामका विकार कैसे है ? उत्तर—अनादिसे मोहयुक्त होनेसे उपयोगके अनादिसे तीन परिणाम हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान व अविरतिभाव।

२. विभावका कथंचित् सहेतुकपना

१. जीवके कषाय आदि विभाव सहेतुक हैं

स. सा./मू./गा. "सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं । तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ।१६१। जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमेइ रागमादीहिं । रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहि ।२७८। एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहि । राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहि ।२७९। —१. सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्व (कर्म) है, ऐसा जिनवरोंने कहा है, उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है ।१६१। [इसी प्रकार ज्ञान व चारित्रके प्रतिबन्धक अज्ञान व कषाय नामक कर्म हैं ।१६२-१६३। (स. सा./मू./१५७-१५६)। २. जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होनेसे ललाई आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता, परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्योंसे रक्त आदि किया जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होनेसे रागादि रूप स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषोंसे (रागादिके निमित्तभूत परद्रव्योंसे—टीका) रागी आदि किया जाता है ।२७८-२७९। (स. सा./आ./८९), (स. सा./ता. वृ./१२५/१७६/११); (दे० परिग्रह/४/३)।

पं. का./मू./५८ कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा । खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ।५८। —कर्म बिना जीवको उदय, उपशम, क्षायिक, अथवा क्षायोपशमिक (भाव) नहीं होते हैं, इसलिए (ये चारों) भाव कर्मकृत हैं।

त. सू./१०/२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । —बन्ध हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

क. पा./१/१ १३,१४/§२८५/३२०/२ वत्थालंकारादिसु बज्झावलंबणेण विणा तदणुप्पत्तीदो । —वस्त्र और अलंकार आदि बाह्य आलम्बनके बिना कषायकी उत्पत्ति नहीं होती है।

दे० कषाय/२/३ (कर्मके बिना कषायकी उत्पत्ति नहीं होती है।)

दे० कारण/III/५/६ (कर्मके उदयसे ही जीव उपशान्त-कषाय गुणस्थानसे नीचे गिरता है।)

ध. १२/४,२,८,१/२७५/४ सव्वं कम्मं कज्जं चेव, अकज्जस्स कम्मस्स ससविसाणस्सेव अभावावत्तीदो । ण च एवं, कोहादिकज्जाणमत्थित्तण्णहाणुववत्तीदो कम्माणमत्थित्तसिद्धीए । कज्जं पि सव्वं सहेउअं चेव, णिक्कारणस्स कज्जस्स अणुवलंभादो । —सब कर्म कार्य स्वरूप ही हैं, क्योंकि, जो कर्म अकार्यस्वरूप होते हैं, उनका खरगोशके सींगके समान अभावका प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, क्रोधादि रूप कार्योंका अस्तित्व बिना कर्मके बन नहीं सकता, अतएव कर्मका अस्तित्व सिद्ध ही है। कार्य भी जितना है वह सब सकारण ही होता है, क्योंकि, कारण रहित कार्य पाया नहीं जाता। (आप्त. प./टी./११५/§२६६/२४८/७)।

न. च. वृ./१६ जीवे जीवसहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ।१। —जीवमें जीवस्वभाव होते हैं। तथा कर्मकृत उसके स्वभाव विभाव कहलाते हैं।

पं. ध./उ./१०५४ यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः । स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ।१०५४। —जहाँ कहीं अन्यत्र भी अर्थात् किसी भी दशामें बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है वह केवल दर्शन व चारित्रमोहनीयके उदयसे अथवा उनमेंसे किसी एकके उदयसे ही होता है ।१०५४।

दे० विभाव/१/२,३ (जीवका विभाव वैभाविकी शक्तिके कारणसे होता है और यह वैभाविकी शक्ति भी अन्य सम्पूर्ण सामग्रीके सद्भावमें ही विभाव रूप परिणमन करती है।)

२ जीवकी अन्य पर्यायें भी कर्मकृत हैं

स. सा./मू./२५७-२५८ जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो । तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।२५७। जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु । तम्हा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।२५८। —जो मरता है और जो दुःखी होता है वह सब कर्मोदयसे होता है, इसलिए 'मैंने मारा, मैंने दुःखी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ।२५७। और जो न मरता है और न दुःखी होता है वह भी वास्तवमें कर्मोदयसे ही होता है, इसलिए 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुःखी नहीं किया,' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ।२५८।

प्र. सा./त. प्र./११७ यथा खलु ज्योतिः स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन स्वस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् । —जिस प्रकार ज्योतिके स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावका पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसी प्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके

स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं।

दे० कर्म/३/२ (जीवोंके ज्ञानमें वृद्धि हानि कर्मके बिना नहीं हो सकती।)

दे० मोक्ष/४/४ (जीव प्रदेशोंका संकोच विस्तार भी कर्म सम्बन्धसे ही होता है।)

दे० कारण/III/५/३—(शेर, भेड़िया आदिमें शूरता-क्रूरता आदि कर्मकृत है।)

दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतिमें जीवका आकार आनुपूर्वी कर्मके उदयसे होता है।)

दे० मरण/५/८—(मारणान्तिक समुद्घातमें जीवके प्रदेशोंका विस्तार आयु कर्मका कार्य है।)

दे० सुख (अलौकिक)—(सुख तो जीवका स्वभाव है पर दुःख जीवका स्वभाव नहीं है, क्योंकि, वह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है।)

३. पौद्गलिक विभाव सहेतुक है

न. च. वृ./२० पुग्गलदव्वे जो पुण विब्भाओ कालपेरिओ होदि। सो णिद्धरुक्खसहिदो बंधो खलु होई तस्सेव।२०। =कालसे प्रेरित होकर पुद्गलका जो विभाव होता है उसका हो स्निग्ध व रूक्ष सहित बन्ध होता है।

पं. वि./२३/७ यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्। =लोकमें जो भी विकार होता है वह दो पदार्थोंके निमित्तसे होता है।

दे. मोक्ष/६/४ (द्रव्यकर्म भी सहेतुक हैं, क्योंकि, अन्यथा उनका विनाश बन नहीं सकता)।

४. विभावका कथंचित् अहेतुकपना

१. जीव रागादिरूपसे स्वयं परिणमता है

स. सा./मू./१२१-१२५, १३६ ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं। जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी।१२१। अपरिणमतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं। संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।१२२। पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं। तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।१२३। अह सयमप्पा परिणदि कोहभावेण एस दे बुद्धी। कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।१२४। कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा। माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।१२५। तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया। तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं।१३६। =सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं कि हे भाई! यदि यह जीव कर्ममें स्वयं नहीं बँधा है और क्रोधादि भावसे स्वयं नहीं परिणमता है, ऐसा तेरा मत है तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है।१२१। और इस प्रकार संसारके अभावका तथा सांख्यमतका प्रसंग प्राप्त होता है।१२२। यदि क्रोध नामका पुद्गल कर्म जीवको क्रोधरूप परिणमाता है, ऐसा तू माने तो हम पूछते हैं, कि स्वयं न परिणमते हुएको वह क्रोधकर्म कैसे परिणमन करा सकता है?।१२३। अथवा यदि आत्मा स्वयं क्रोधभावरूपसे परिणमता है, ऐसा मानें तो 'क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है' यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।१२४। इसलिए यह सिद्धान्त है कि, क्रोध, मान, माया व लोभसे उपयुक्त आत्मा स्वयं क्रोध, मान, माया व लोभ है।१२५। कार्माण वर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब वास्तवमें जीवमें बँधता है तब जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका हेतु होता है।१३६।

स. सा./आ./कलश नं. कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्, कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।... १५२। रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या, नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि। सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति, व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्।२१९। रागजन्मनि निमित्ततां पर-द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते। उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः।२२१। =कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता। फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके फलको पाता है।१५२। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि, सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्तरंगमें अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है।२१९। जो रागकी उत्पत्तिमें पर द्रव्यका ही निमित्तत्व मानते हैं, वे जिनकी बुद्धि शुद्ध ज्ञानसे रहित अन्ध है, ऐसे मोहनदीको पार नहीं कर सकते।२२१।

स. सा./आ./३७२ न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शङ्क्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकस्यायोगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्।३७२। =ऐसी आशंका करने योग्य नहीं, कि परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि, अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्योंका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। (दे. कर्ता/३/६,७)।

पु. सि. उ./१३ परिणाममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः। भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।१३। =निश्चय करके अपने चेतना स्वरूप रागादि परिणामोंसे आप ही परिणमते हुए पूर्वोक्त आत्माके भी पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म कारणमात्र होते हैं।

दे. विभाव/५/४ (ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिक नयोंसे अपेक्षा कषाय आदि अहेतुक हैं, क्योंकि, इन नयोंकी अपेक्षा कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है)।

दे. विभाव/२/२/३ (रागादि जीवके अपने अपराध है, तथा कथंचित जीवके स्वभाव हैं)।

दे. नियति/२/२ (कालादि लब्धिके मिलनेपर स्वयं सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है)।

२. ज्ञानियोंको कर्मोंका उदय भी अकिंचित्कर है

स. सा./आ./३२ यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्य... आत्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन।... =मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है, तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना आत्मा-भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे, इस प्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, अपने आत्माको जो अनुभव करते हैं; वे निश्चयसे जितमोह जिन है।

प्र. सा./ता. वृ./४५/५८/१६ अत्राह शिष्यः- 'औदयिका भावा बन्धकारणं' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु मोहोदय सहिताः। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः।—(पुण्यके फलरूप अर्हन्तका विहार आदि क्रियाएँ यद्यपि औदयिकी हैं, परन्तु फिर भी मोहादि भावोंसे रहित होनेके कारण उन्हें क्षायिक माना गया है—प्र. सा./मू. ४५) प्रश्न—इस प्रकार माननेसे 'औदयिक भाव बन्धके कारण है' यह आगमवचन मिथ्या हो जाता है? उत्तर—इसका परिहार करते हैं। औदयिक भाव बन्धके कारण होते हैं किन्तु यदि मोहके उदयसे सहित हो तो। द्रव्यमोहके उदय होनेपर भी यदि शुद्धात्म भावनाके बलसे भावमोहरूपसे नहीं परिणमता है, तब बन्ध नहीं होता है। यदि

कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो संसारियोंको सदैव बन्ध ही हुआ होता मोक्ष नहीं, क्योंकि, उनके कर्मका उदय सदैव विद्यमान रहता है। [यहाँ द्रव्य मोहसे तात्पर्य दर्शनमोहमें सम्यक्त्व प्रकृति तथा चारित्रमोहमें क्रोधादिका अन्तिम जघन्य अंश है, ऐसा प्रतीत होता है]

स. सा./ता. वृ./१३६/१९१/११ उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बन्धो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत्। यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसार एव। कस्मादिति चेत संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्।—उदयागत द्रव्य प्रत्ययोंमें (द्रव्य कर्मोंमें) यदि जीव स्व स्वभावको छोड़कर रागादि रूप भावप्रत्यय (भावकर्म) रूपसे परिणमता है तो उसे बन्ध होता है, केवल उदयमात्रसे नहीं। जैसे कि घोर उपसर्ग आनेपर भी पाण्डव आदि। (शेष अर्थ ऊपरके समान); (स. सा./ता. वृ./१६४-१६५/२३०/१८)।

दे. कारण/III/३/५—ज्ञानियोंके लिए कर्म मिट्टीके ढेलेके समान हैं)।

दे. बंध/३/५,६। (मोहनीयके जघन्य अनुभागका उदय उपशम श्रेणीमें यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके बन्धका तो कारण है, परन्तु स्वप्रकृति बन्धका कारण नहीं)।

५. विभावके सहेतुक-अहेतुकपनेका समन्वय

१. कर्म जीवका पराभव कैसे कर सकता है

रा. वा/८/४/१४/५६१/७ यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रहः, तथैवात्मकर्मणोश्चेतनाचेतनत्वात् अतुल्यजातीयं कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम्।—जैसे पृथिवीजातीय दूधसे तेजोजातीय चक्षुका उपकार होता है, उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्न जातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

ध. ६/१,९-१,५/८/८ कधं पोग्गलेण जीवादो पुधभूदेण जीवलक्खणं णाणं विणासिज्जदि। ण एस दोसो, जीवादो पुधभूदाणं घड-पड-त्थंभंधयारादीणं जीवलक्खणणाणविणासयाणमुवलंभा।—प्रश्न—जीव द्रव्यसे पृथग्भूत पुद्गलद्रव्यके द्वारा जीवका लक्षणभूत ज्ञान कैसे विनष्ट किया जाता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जीवद्रव्यसे पृथग्भूत घट, पट, स्तम्भ, और अन्धकार आदिक पदार्थ जीवके लक्षण स्वरूप ज्ञानके विनाशक पाये जाते हैं।

२. रागादि भाव संयोगी होनेके कारण किसी एकके नहीं कहे जा सकते

स. सा./ता. वृ./११५/१७१/१८ यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः *मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना* जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। …ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीव संबन्धिनः पुद्गलसंबन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। …सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति। —जिस प्रकार स्त्री व पुरुष दोनोंसे उत्पन्न हुआ पुत्र विवक्षा वश देवदत्ता (माता) का भी कहा जाता है और देवदत्त (पिता) का भी कहा जाता है। दोनों ही प्रकारसे कहनेमें कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव पुद्गलके संयोगसे उत्पन्न मिथ्यात्व रागादि प्रत्यय अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्ध उपादानरूपसे चेतना हैं, जीवसे सम्बद्ध हैं, और शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध उपादानरूपसे अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं। परमार्थसे तो न वे एकान्तसे जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप, जैसे कि चूने व हल्दीके संयोगके परिणामस्वरूप लाल रंग। जो कोई एकान्तसे रागादिकोंको जीवसम्बन्धी या पुद्गल सम्बन्धी कहते हैं उन दोनोंके ही वचन मिथ्या हैं। सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे पूछो तो उनका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा पहले कहा जा चुका है, तब हमसे उत्तर कैसे पूछते हो। (द्र. सं./टी./४८/२०६/१)।

३. ज्ञानी व अज्ञानीकी अपेक्षासे दोनों बातें ठीक हैं

स. सा./ता. वृ./३८२/४६२/२१ हे भगवन् पूर्वं बन्धाधिकारे भणितं… रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परजनितरागादयः इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः। अत्रोत्तरमाह—तत्र बन्धाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता। ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिताः। अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं। —प्रश्न—हे भगवन्! पहले बन्धाधिकारमें तो कहा था कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है वे परजनित हैं। परन्तु यहाँ कह रहे हैं कि रागादि अपनी बुद्धिके दोषसे उत्पन्न होते हैं, इसमें शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयोंका दोष नहीं है। इन दोनों बातोंमें पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है? उत्तर—वहाँ बन्धाधिकारके व्याख्यानमें तो ज्ञानी जीवकी मुख्यता है। ज्ञानी जीव रागादिरूप परिणमित नहीं होता है इसलिए उन्हें परद्रव्यजनित कहा गया है। यहाँ अज्ञानी जीवकी मुख्यता है। अज्ञानी जीव अपनी बुद्धिके दोषसे परद्रव्यरूप निमित्तमात्रको आश्रय करके रागादिरूपसे परिणमित होता है, इसलिए पर जो शब्दादि पंचेन्द्रियोंके विषय उनका कोई दोष नहीं है, ऐसा कहा गया है।

४. दोनोंका यथार्थ व अयथार्थ

दे. नय/IV/३/६/१ (नैगमादि नयोंकी अपेक्षा कषायें कर्तृ साधन हैं, क्योंकि, इन नयोंमें कारणकार्यभाव सम्भव है, परन्तु शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नहीं होती क्योंकि, इन दृष्टियोंमें कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। और यहाँ पर्यायोंसे भिन्न द्रव्यका अभाव है। (और भी दे० नय IV/३/३/१)।

दे० विभाव/५/२ (अशुद्ध निश्चयनयसे ये जीवके हैं, शुद्धनिश्चय नयसे पुद्गलके हैं और सूक्ष्म शुद्ध निश्चय नयसे इनका अस्तित्व ही नहीं है।)

पं. का./ता. वृ./५६/१११/६ पूर्वोक्तप्रकारेणात्मा कर्मणां कर्ता न भवतीति दूषणे दत्ते सति सांख्यमतानुसारिशिष्यो वदति…अस्माकं मते आत्मनः कर्माकर्तृत्वं भूषणमेव न दूषणं। अत्र परिहारः। यथा शुद्धनिश्चयेन रागाद्यकर्तृत्वमात्मनः तथा यद्यशुद्धनिश्चयेनाप्यकर्तृत्वं भवति तदा द्रव्यकर्मबन्धाभावस्तदभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदैव मुक्तप्रसङ्गः स च प्रत्यक्षविरोध इत्यभिप्रायः। —पूर्वोक्त प्रकारसे 'कर्मोंका कर्ता आत्मा नहीं है' इस प्रकार दूषण देनेपर सांख्यमतानुसारी शिष्य कहता है कि हमारे मतमें आत्माको जो कर्मोंका अकर्तृत्व बताया गया है, वह भूषण ही है, दूषण नहीं। इसका परिहार करते हैं—जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे आत्माको रागादिका अकर्तापना है, यदि उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे भी अकर्तापना होवे तो द्रव्यकर्मबन्धका अभाव हो जायेगा। उसका

अभाव होनेपर संसारका अभाव और संसारके अभावमें सर्वदा मुक्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, ऐसा अभिप्राय है।

५. दोनों बातोंका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ./गा. सर्वे तेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद-परमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा… मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः।४६। कारणानु-विधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चै-तन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमा-नत्वाच्च प्रसाध्यम् ।६८। स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्ये-भ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षण-संबन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति ।५७। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो…मोक्षा-वस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभावतश्च जीवस्य वर्णादिभि-सह तादात्म्यलक्षणः संबन्धो न कथंचनापि स्यात्।६१। —१. ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव हैं, ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि व्यवहारनयको भी बताया है, क्योंकि, जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है, उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वह बतलाना न्यायः संगत ही है। परन्तु यदि व्यवहार नय न बताया जाय तो परमार्थसे जीवको शरीरसे भिन्न बताया जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसी प्रकार, त्रस स्थावर जीवोंको निःशंकतया मसल देनेसे भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा। इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा, और इससे मोक्षका ही अभाव होगा।४६। (दे० नय/V/८/४)। २. कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्यायसे, वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। और गुणस्थानोंका अचेतनत्व तो आगमसे सिद्ध होता है तथा चैतन्य स्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिए उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।६८। ३. स्वलक्षणभूत उपयोग गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योंसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है, इसलिए, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा वर्णादि (गुणस्थान मार्गणास्थान आदि) के साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चयसे वर्णादिक (या गुणस्थानादिक) पुद्गलपरिणाम आत्माके नहीं हैं।५७। क्योंकि, संसार अवस्थामें कथंचित् वर्णादि रूपतासे व्याप्त होता है (फिर भी) मोक्ष अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है। इस प्रकार जीवका इनके साथ किसी भी तरह तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

६. वस्तुतः रागादि भावकी सत्ता नहीं है

स. सा. आ./३७१/क २१८ रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्, तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्। सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ।२१८। —इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है, वस्तुत्वस्थापित दृष्टिसे देखनेपर वे रागद्वेष कुछ भी नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे प्रगटतया उनका क्षय करो कि जिससे पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो। (दे. नय/V/१/५); (दे. विभाव/५/२)।

विभावानित्य पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/४।

विभाषा—ध. ६/१,९-१,२/५/३ विविहा भासा विहासा, परूवणा, णिरूवणा वक्खाणमिदि एयट्ठो। —विविध प्रकारके भाषण अर्थात् कथन करनेको विभाषा कहते हैं। विभाषा, प्ररूपणा, निरूपण और व्याख्यान ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं।

विभीषण—प.पु./सर्ग/श्लोक—"रावणका छोटा भाई, व रत्नश्रवाका पुत्र था। ७/२२५। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (११९/३९)।

विभुत्व शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति नं. ८ सर्वभावव्यापकै-कभावरूपा विभुत्वशक्तिः।८। —सर्व भावोंमें व्यापक ऐसी एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है)।

विभ्य—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

विभ्रम—१. मिथ्याज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./वृ./१/३६/२८२/२१ विभ्रमैश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च। —विभ्रम अर्थात् मिथ्याकाररूपसे ग्रहण करनेकी शक्तिविशेष।

नि. सा./ता./वृ./५१ विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव। —(वस्तुस्वरूपका) अज्ञान-पना या अजानपना ही विभ्रम है।

द्र. सं/टी./४२/१८०/६ अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहणं विभ्रमः। तत्र दृष्टान्तः शुक्तिकायां रजतविज्ञानम्। —अनेका-न्तात्मक वस्तुको 'यह नित्य ही है, या अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना सो विभ्रम है। जैसे कि सीपमें चाँदीका और चाँदीमें सीपका ज्ञान हो जाना।

२. स्त्रीके हाव-भावके अर्थमें

प. प्र./टी./१/१२१/१११/८ पर उद्धृत—हावो मुखविकारः स्याद्भावश्चि-त्तोत्थ उच्यते। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयोः। —स्त्री-रूपके अवलोकनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुआ मुखविकार 'हाव' कहलाता है, चित्तका विकार 'भाव' कहलाता है, मुँहका अथवा दोनों भवोंका टेढा करना 'विभ्रम' है, और नेत्रोंके कटाक्षको 'विलास' कहते हैं।

विभ्रांत—प्रथम नरकका अष्टम पटल—दे. नरक/५/११।

विमर्श—न्यायदर्शन/भा./१/१/४०/३६/१२ किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्ति-धर्मक इति विमर्शः। —'वह उत्पत्ति धर्मवाला है या अनुत्पत्ति धर्मवाला है' ऐसा विचार करना विमर्श है।

विमल—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर। २. एक ग्रह—दे. ग्रह। ३. उत्तर क्षीरवर समुद्रका रक्षक देव—दे. व्यंतर ४। ४. सौमनस नामक गजदन्त पर्वतका एक कूट—दे. लोक५/४। ५. रुचक पर्वतका एक कूट—दे. लोक५/१३। ६. सौधर्म स्वर्गका द्वि. पटल—दे. स्वर्ग/५/३। ७. भावी कालीन २२वें तीर्थंकर—दे. तीर्थंकर/५। ८. वर्तमान १३वें तीर्थंकर—दे. विमलनाथ।

विमलदास—'सप्तभंगी तरंगिनी' के रचयिता एक दिगम्बर जैन गृहस्थ। निवास स्थान-तंजानगर। गुरुनाम अनन्तदेव स्वामी। समय—प्लवंग संवत्सर। अनुमानतः ई. श. १५ (स. भं. त./प्र/१)।

विमलदेव—नय चक्रके रचयिता श्रीदेवसेन (वि. ९९०) के गुरु थे। समय—तदनुसार वि. ९६५ (ई. ९०६)।

विमलनाथ—म. पु./५९/श्लोक नं.—पूर्वभव नं २ में पश्चिम धातकी खण्डके पश्चिम मेरुके वत्सकावती देशके रम्यकावती नगरीके

राजा पद्मसेन थे।२-३। पूर्वभव नं. १ में सहस्रार स्वर्गमें इन्द्र हुए।१०। वर्तमान भवमें १३वें तीर्थंकर हुए। —दे. तीर्थंकर/५।

विमलपुराण—ब्र. कृष्णदास (ई० १६१७) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध एक ग्रन्थ है। इस में १० सर्ग हैं।

विमलप्रभ—१. भूतकालीन चौथे तीर्थंकर। —दे. तीर्थंकर/५। २. दक्षिण क्षीरवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर। —दे. व्यन्तर/४।

विमलवाहन—१. म. पु./११७-११६ सप्तम कुलकर थे, जिन्होंने तबकी जनताको हाथी घोड़े आदिकी सवारीका उपदेश दिया। —दे. शलाका पुरुष।६। २. म. पु./४८/श्लोक—पूर्व विदेहकी सुसीमा नगरीके राजा थे।२-४। दीक्षा धारण कर।११। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।१२। समाधिमरणपूर्वक देह त्याग.अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुए।१३। यह अजितनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है। —दे. अजितनाथ। ३. म. पु./४६/श्लोक—पूर्व विदेहमें क्षेमपुरी नगरके राजा थे।२। दीक्षा धारणकर।७। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। संन्यास विधिसे शरीर छोड़ सुदर्शन नामक नवम ग्रैवेयकमें उत्पन्न हुए।६-६। यह सम्भवनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है। —दे. सम्भवनाथ।

विमल सूरि— विजय सूरि के शिष्य और आ. राहु के प्रशिष्य यापनीय संघी। प्राकृत काव्य रचना में अग्रगण्य। कृतियें पउमचरियं, हरिवंश चरियं। समय-पउमचरियं का रचनाकाल ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार ई श. १ (ई. ३४), परन्तु जैकोबी के अनुसार ई. श. ४। (ती./२/२५७)।

विमलेश्वर—भूतकालीन १८वें तीर्थंकर —दे. तीर्थंकर/५।

विमा—Dimension (ज. प./प्र. १०८)

विमान—

स. सि./४/१६/२४८/३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। —जो विशेषतः अपनेमें रहनेवाले जीवोंको पुण्यात्मा मानते हैं वे विमान हैं। (रा. वा./४/१६/१/२२२/२६)।

ध. १४/५.६.६४१/४६५/६ वलहि-कूडसमण्णिदा पासादा विमाणाणि णाम। —बलभि और कूटसे युक्त प्रासाद विमान कहलाते हैं।

२. विमानके भेद

स. सि./४/१६/२४८/४ तानि विमानानि त्रिविधानि—इन्द्रकश्रेणीपुष्पप्रकीर्णभेदेन। —इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके हैं। (रा. वा./४/१६/१/२२२/३०)।

२. स्वाभाविक व वैक्रियिक दोनों प्रकारके होते हैं

ति. प./८/४४२-४४३ याणविमाणा दुविहा विक्किरियाए सहावेण।४४२। ते विक्किरियाजादा याणविमाणा विणासिणो होंति। अविणासिणो य णिच्चं सहावजादा परमरम्मा।४४३। —ये विमान दो प्रकार हैं—एक विक्रियासे उत्पन्न हुए और दूसरे स्वभावसे।४४२। विक्रियासे उत्पन्न हुए वे यान विमान विनश्वर और स्वभावसे उत्पन्न हुए वे परम रम्य यान विमान नित्य व अविनश्वर होते हैं।४४३।

★ इन्द्रक आदि विमान—दे. वह वह नाम।

★ देव वाहनों की बनावट—दे. स्वर्ग/३/४।

विमान पंक्तिव्रत—

स्वर्गोंमें कुल ६३ पटल हैं। प्रत्येक पटलमें एक-एक इन्द्रक और उसके चारों दिशाओंमें अनेक श्रेणीबद्ध विमान हैं। प्रत्येक विमानमें जिन चैत्यालय हैं। उनके दर्शनकी भावनाके लिए यह व्रत किया जाता है। प्रारम्भमें एक तेला करे। फिर पारणा करके ६३ पटलोंमेंसे प्रत्येकके लिए निम्न प्रकार उपवास करे।

श्रेणीबद्धका १ उपवास
श्रेणीबद्धका १ उपवास | इन्द्रकका १ बेला | श्रेणीबद्धका १ उपवास
श्रेणीबद्धका १ उपवास

प्रत्येक इन्द्रकका एक बेला, चारों दिशाओंके श्रेणीबद्धोंके लिए पृथक् पृथक् एक-एक करके चार उपवास करे। बीचमें एक-एक पारणा करे। इस प्रकार प्रत्येक पटलके १ बेला, चार उपवास और ५ पारणा होते हैं। ६३ पटलोंके ६३ बेले, २५२ उपवास और ३१५ पारणा होते हैं। अन्तमें पुनः एक तेला करे। "ॐ ह्रीं ऊर्ध्वलोकसंबन्धि-असंख्यात-जिनचैत्यालयेभ्यो नमः' इस मंत्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./ ३४/८६–८७); (वसु. श्रा./३७६–३८१); (व्रत विधान संग्रह/ पृ. ११५)

विमानवासी देव—दे. स्वर्ग/५।

विमिचिता—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

विमुख—न्या. वि./वृ./१/२०/२१७/२४ विषयात् विभिन्नं मुखं रूपं यस्य तत् ज्ञानं विमुखज्ञानम्। —ज्ञेय विषयोंसे विभिन्न रूपवाले ज्ञानको विमुखज्ञान कहते हैं।

विमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

विमोह—

नि. सा./ता. वृ./५१ विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः। —शाक्य आदि (बुद्ध आदि) कथित वस्तुमें निश्चय करना विमोह है।

द्र. सं./टी./४२/१८०/८ परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरिज्ञानाभावो विमोहः तत्र दृष्टान्तः—गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा। —गमन करते हुए मनुष्यको जैसे पैरोंमें तृण (घास) आदिका स्पर्श होता है और उसको स्पष्ट मालूम नहीं होता कि क्या लगा अथवा जैसे जंगलमें दिशाका भूल जाना होता है, उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंके अनुसार जो द्रव्य, गुण और पर्यायों आदिका नहीं जानना है, उसको विमोह कहते हैं।

विरजा — १. अपर विदेहके नलिन क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे. लोक/५/२। २. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित वापी।—दे. लोक/५/११।

विरत—स. सि./६/४५/४५८/१० स एव पुनः प्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमकारणपरिणामविशुद्धियोगाद् विरतव्यपदेशभाक् सन्...। —वह (सम्यग्दृष्टि श्रावक) ही प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोंकी विशुद्धिवश विरत (संयत) संज्ञाको प्राप्त होता है।

रा. वा./६/४५/—/६३६/८ पुनर्निर्दिष्टः ततो विशुद्धिप्रकर्षात् पुनरपि सर्वगृहस्थसंगविप्रमुक्तो निर्ग्रन्थतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते। —फिर (वह श्रावक) विशुद्धि प्रकर्षसे समस्त गृहस्थ सम्बन्धी परिग्रहोंसे मुक्त हो निर्ग्रन्थताका अनुभव कर महाव्रती बन जाता है। उसीको 'विरत' ऐसा कहा जाता है।—विशेष दे. संयत।

विरत—एक ग्रह—दे. ग्रह।

विरताविरत—स. सि./७/२१/३६६/६ एतैर्व्रतैः संपन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते। =इन व्रतों (१२) व्रतोंसे जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है।—(विशेष दे. संयतासंयत)—

विरति—स. सि./७/१/३४२/५ तेभ्यो विरमणं विरतिः। =उनसे (हिंसादिकसे) विरक्ति होना विरति है। (रा. वा./७/१/२/५३३/१३)

विरलन—Distribution-, Spreading (ध. ५/प्र. २८)—(विशेष दे. गणित/II/१/६)

विरलन देय—Spread and give. (ध. ५/प्र. २८)—(विशेष दे. गणित/II/१/६)

विराग—

रा. वा./७/१२/४/५३९/१२ रागकारणाभावाद् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः। =रागके कारणोंका अर्थात् चारित्रमोहके उदयका अभाव हो जानेसे पंचेन्द्रियके विषयोंसे विरक्त होनेका नाम विराग है।

प्र. सा./ता. वृ./२३६/प्रक्षेपक गा. १ की टीका/३३२/१२ पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविरागः। =पाँचों इन्द्रियोंके सुखकी अभिलाषाका त्याग विषयविराग है।

विराग विचय—दे. धर्मध्यान/१।

विराट—पा. पु./सर्ग/श्लो—विराट नगरका राजा था। (१७/४१)। वनवासी पाँचों पाण्डवोंने छद्मवेशमें इसीका आश्रय लिया था। (१७/४२)। गोकुल हरण करनेको उद्यत कौरवोंके साथ युद्ध करता हुआ उनके बन्धनमें पड़ गया। (१८/२३)। तब गुप्तवेशमें अर्जुनने इसे मुक्त कराया। (१९/४०)। प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा अर्जुनके पुत्र अभिमन्युसे परणा दी। (१९/१६३)।

विराधन—

नि. सा./ता. वृ./८४ विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः। =जो परिणाम राध (आराधना) रहित है, वह विराधन है।

विराधित—प. पु./सर्ग/श्लो.—चन्द्रोदरका पुत्र था। युद्धमें रामका सर्वप्रथम सहायक था। (६)। अन्तमें दीक्षित हो गया। (११९/३९)।

विरुद्ध धर्मत्वशक्ति—

स. सा./आ./परि./शक्ति नं. २८ तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः। =तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति है।

विरुद्धराज्यातिक्रम—

स. सि./७/२७/३६७/४ उचितन्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं, विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः। "तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः। =विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है। राज्यमें किसी प्रकारका विरोध होनेपर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। यदि वहाँ अल्पमूल्यमें वस्तुएँ मिल गयीं तो उन्हें महँगा बेचनेका प्रयत्न करना (अर्थात् ब्लेकमार्केट करना) विरुद्धराज्यातिक्रम है। न्याय मार्गको छोड़कर अन्य प्रकारसे वस्तु ली गयी है, इसलिए यह अतिक्रम या अतिचार है। (रा. वा./७/२७/३/५५४/११)

विरुद्ध हेत्वाभास—

प. मु./६/२९ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। =जिस हेतुकी व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्धहेत्वाभास कहते हैं। जैसे—शब्द परिणामी नहीं है, क्योंकि, कृतक है। यहाँपर कृतकत्व हेतुकी व्याप्ति अपरिणामित्वमें विपरीत परिणामित्वके साथ है, इसलिए कृतकत्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। (न्या. दी./३/§४०/८६; §६१/१०१)

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२८/१ विरुद्धो नाम साध्यासंभव एव भावी। =जो हेतु अपने साध्यके प्रति असम्भव भावी है वह विरुद्ध कहलाता है।

न्या. दी./३/§२१/८० विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम्। =प्रत्यक्षादिसे बाधितको विरुद्ध कहते हैं।

न्या. सू./मू./१/२/६ "सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। =जिस सिद्धान्तको स्वीकार करके प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्तका जो विरोधी (दूषक) हो वह, विरुद्ध हेत्वाभास है। (श्लो. वा. ४/भाषा/१/३३/न्या./२७३/४२६/१६)।

२. भेद व उनके लक्षण

न्या. वि./वृ./२/१९७/२२६/१ स च द्वेधा विपक्षव्यापी तदेकदेशवृत्तिश्चेति। तत्र तद्व्यापि निरन्वयविनाशसाधन., सत्त्वकृतकत्वादि तेन परिणामस्यैव तद्विपक्षस्यैव साधनात्, सर्वत्र च परिणामिनि भावात्। तदेकदेशवृत्तिः प्रयत्नानन्तरीयकत्वश्रावणत्वादिः तस्य तत्साधनस्यापि विद्युदादौ परिणामिन्यप्यभावात्। =विरुद्ध हेत्वाभास दो प्रकारका है—विपक्ष व्यापी और तदेकदेशवृत्ति। निरन्वय विनाशके साधन सत्त्व, कृतकत्व आदि विपक्षव्यापी है। क्योंकि उनसे निरन्वय विनाशके विपक्षी परिणामकी ही सिद्धि होती है, सभी परिणामी वस्तुओंमें सत्त्व पाया जाता है। तदेक—देशवृत्ति इस प्रकार है जैसे कि उसी शब्दको नित्य सिद्ध करनेके लिए दिया गया प्रयत्नानन्तरीयकत्व व श्रावणत्व हेतु, क्योंकि, विद्युत आदि अनित्य पदार्थोंमें भी उसका अभाव है।

विरुद्धोपलब्धि हेतु—दे० हेतु।

विरोध—

रा. वा./५/४२/१८/२६१/२० [अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः—(स. भ. त./८३/२]—इह विरोधः कल्प्यमानः त्रिधा व्यवतिष्ठते—बध्यघातकभावेन वा सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकरूपेण वा। तत्र बध्यघातकभावः अहिनकुलाग्न्युदकादिविषयः। स स्वेकस्मिन् काले विद्यमानयोः सति संयोगे भवति, संयोगस्यानेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत्। नासंयुक्तमुदकमग्निं विध्यापयति सर्वत्राग्न्यभावप्रसङ्गात्। ततः सति संयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद् बाध्यते। ...सहानवस्थानलक्षणो विरोधः...। स ह्ययुगपत्कालयोर्भवति यथा आम्रफले श्यामतापीततयोः पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनीं श्यामतां निरुणद्धि। ...प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धक...विरोधः...। यथा सति फलवृन्तसंयोगे प्रतिबन्धके गौरवं पतनकर्म नारभते प्रतिबन्धात्, तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते "संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् [वैशे. सू./५/१/७] इति वचनात्। [सति मणिरूपप्रतिबन्धके वह्निना दाहो न जायते इति मणिदाहयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो युक्तः (स. भ. त./८८/६)]। =अनुपलम्भ अर्थात् अभावके साध्यको विरोध कहते हैं। विरोध तीन प्रकारका है—बध्यघातक भाव, सहानवस्थान, प्रतिबन्धक भाव। बध्यघातक भाव विरोध सर्प और नेवले या अग्नि और जलमें होता है। यह दो विद्यमान पदार्थोंमें संयोग होनेपर होता है। संयोगके बाद जो बलवान् होता है वह निर्बलको बाधित करता है। अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नहीं बुझा सकता है। दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुकी क्रमसे होने वाली दो पर्यायोंमें होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है, जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीत रूप उत्पन्न होता है। प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव विरोध ऐसे है जैसे आमका फल जबतक डालमें लगा हुआ है तबतक

फल और डंठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहनेपर भी आमको नीचे नहीं गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फलको नीचे गिरा देता है। संयोगके अभावमें गुरुत्व पतनका कारण है, यह सिद्धान्त है। अथवा जैसे दाहके प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणिके विद्यमान रहते अग्निसे दाह क्रिया नहीं उत्पन्न होती इसलिए मणि तथा दाहके प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव युक्त है। (स. भ. त./८७/४)।

ध. १/१,१,११/१७४/१ अस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोधः इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। —गुणोंमें परस्पर परिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है।

श्लो. वा./२/भाषाकार/१/८/३/५११/१७ ज्ञानको मान लेनेपर सब पदार्थोंका शून्यपना नहीं बन पाता है और सबका शून्यपना मान लेनेपर स्वसंवेदनकी सत्ता नहीं ठहरती है। यह तुल्यबल वाला विरोध है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. स्व वचन बाधित विरोध। —दे० बाधित।
२. वस्तुके विरोधी धर्मोंमें अविरोध। —दे० अनेकान्त/५।
३. आगममें पूर्वापर विरोधमें अविरोध। —दे० आगम/५/६।

बिलसित—असुरकुमार जातिका एक भवनवासी देव। —दे० असुर।

विलास—नेत्र कटाक्ष।—दे० विभ्रम/२।

विलेपन—चन्दन व कुंकुम आदि द्रव्य। —दे० निक्षेप/५/६।

बिल्लाल—मलबार कार्टर्ली रिव्युमें सर थामस सी राइसके अनुसार मैसूरके जैन राजाओंमें एक बिल्लाल वंशके राजा भी थे, जो पहले द्वारसमुद्रतक राज्य करते थे, और पीछे श्रंगापटामके १२ मील उत्तर तोनूरके शासक हुए। इनका आधिपत्य पूर्ण कर्णाटकमें था। इस वंशके संस्थापक चामुण्डराय (ई. ६६३-७१३) थे।

विवक्षा—

स. भ. त./३/३ प्राश्निकप्रश्नज्ञानेन प्रतिपादकस्य विवक्षा जायते, विवक्षया च वाक्यप्रयोगः। —प्रश्नकर्ताके प्रश्नज्ञानसे ही प्रतिपादन करनेवालेकी विवक्षा होती है, और विवक्षासे वाक्य प्रयोग होता है।

स्व. स्तो./२५/६१ वक्तुरिच्छा विवक्षा। —वक्ताकी इच्छाको विवक्षा कहते हैं। [अर्थात् नयको विवक्षा कहते हैं। —दे० नय/I/१/१/२]।

★ **विवक्षाका विषय**—दे० स्याद्वाद/२,३।

विवर—लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड्ड, जिन्हें पाताल भी कहते हैं। उत्तम, मध्य व जघन्यके भेदसे ये तीन प्रकारके होते हैं—(विशेष दे० लोक/४/१)।

विवर्त—स्या. वि./वृ./१/१०/१७८/११ परिणामो विवर्तः। —परिणाम या परिणमनको विवर्त कहते हैं। —(विशेष दे० परिणाम)।

विवाद—दे० वाद।

विवाह—

रा. वा./७/२८/१/५५४/२२ सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहन कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। —साता वेदनीय और चारित्रमोहके उदयसे कन्याके वरण करनेको विवाह कहते हैं।

★ **विवाह सम्बन्धी विधि विधान**—दे० संस्कार/२।

२. विवाह सन्तानोत्पत्तिके लिए किया जाता है, विलासके लिए नहीं

म. पु./३८/१३४ संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्। —केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर कामसेवन करें।

३. मामा फूफी आदिकी सन्तानमें परस्पर विवाहकी प्रसिद्धि

ह. पु./३३/२१ स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम्। —कंसने गुरुदक्षिणास्वरूप वसुदेवको अपनी 'देवकी' नामकी बहन प्रदान कर दी। [यह देवकी वसुदेवके चचा देवसेनकी पुत्री थी—]।

म. पु./७/१०६ पितृष्वस्रीय एवायं तव भर्ता भविष्यति। —हे पुत्री! वह ललितांग तेरी बुआके ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा।

म. पु./१०/१४३ चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्रीयोऽयं यतो युवा। ततश्चक्रिसुतानेन परिणिन्ये मनोरमा ।१४३। —तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था, इसलिए उसने उन्हें चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था।१४३।

म. पु./७२/२२७-२३० का भावार्थ—(सोमदेवके—सोमदत्त सोमिल और सोमभूति ये तीन पुत्र थे। उन तीनोंके मामा अग्निभूतिके धनश्री, मित्रश्री, और नागश्री नामकी तीन कन्याएँ थीं, जो उसने उपरोक्त तीनों पुत्रोंके साथ-साथ परणा दीं।)

★ **चक्रवर्ती द्वारा म्लेच्छ कन्याओंका ग्रहण** —दे० प्रव्रज्या/१/३।

४. गन्धर्व आदि विवाहोंका निषेध

दे. ब्रह्मचर्य/२/३/२ परस्त्री त्याग व्रतकी शुद्धिकी इच्छासे गन्धर्व विवाह आदि नहीं करने चाहिए और न ही किन्हीं कन्याओंकी निन्दा करनी चाहिए।

★ **धर्मपत्नीके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंका निषेध** —दे. स्त्री/१२।

विवाह क्रिया—दे. संस्कार/२।

विवाह पटल—आ. ब्रह्मदेव (ई. १२९२-१३२३) द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

विविक्त शय्यासन—

स. सि./९/१९/४३८/१० शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः। —एकान्त जन्तुओंकी पीडासे रहित शून्य घर आदिमें निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए संयतको शय्यासन लगाना चाहिए।—(विशेष दे. वसतिका/६) (रा. वा./९/१९/१२/६१९/१२)।

का. अ./मू./४४७-४४६ जो रायदोसहेदू आसण सिज्जादियं परिच्चयइ। अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो।४४७। पूजादिसु

णिरवेक्खो संसारशरीर-भोग-णिव्विण्णो। अब्भंतरतवकुसलो उवसम-सीलो महासंतो ।४४८। जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे। अण्णत्थ वि एयंते तस्स वि एदं तवं होदि ।४४९। —जो मुनि राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाले आसन शय्या वगैरहका परित्याग करता है, अपने आत्मस्वरूपमें रमता है, और इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहता है, उसके विविक्त शय्यासन नामका पाँचवाँ उत्कृष्ट तप होता है ।४४७। अपनी पूजा महिमाको नहीं चाहनेवाला, संसार शरीर और भोगोंसे उदासीन, प्रायश्चित आदि अभ्यन्तर तपमें कुशल, शान्त परिणामी, क्षमाशील, महापराक्रमी, जो मुनि श्मशानभूमिमें, गहन वनमें, निर्जन महाभयानक स्थानमें, अथवा किसी अन्य एकान्त स्थानमें निवास करता है, उसके विविक्त शय्यासन तप होता है। —दे. वसतिका /६।

२. विविक्त शय्यासनका प्रयोजन

भ. आ./मू./२३२-२३३ कलहो बोलो झंझा वामोहोममत्ति च। ज्झाण-ज्झयणविधादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ।२३२। इय सल्लीणमुवगदो सुहप्पवत्तेहिं तिरथजोएहिं। पंचसमिदो तिगुत्तो आदट्ठपरायणो होदि ।२३३। —कलह, व्यग्र करनेवाले शब्द, संक्लेश, मनकी व्यग्रता असंयत जनोंकी संगति, मेरे तेरेका भाव, ध्यान अध्ययनका विघात ये सब बातें विविक्त वसतिकामें नहीं होतीं ।२३२। सुख पूर्वक आत्म-स्वरूपमें लीन होना, मन वचन कायकी अशुभ प्रवृत्तियोंको रोकना, पाँच समिति, तीन गुप्ति, इन सब बातोंको प्राप्त करता हुआ एकान्त-वासी साधु आत्म प्रयोजनमें तत्पर रहता है ।२३३।

ध. १३/५.४.२६/५८/१० किमट्ठमेसो कीरदे? असब्भजणदंसणेण तस्स-हवासेण जणिद-तिकालविसयरागदोसपरिहरणट्ठं। —प्रश्न—यह विविक्त शय्यासन तप किस लिए किया जाता है? उत्तर—असभ्य जनोंके देखनेसे, और उनके सहवाससे उत्पन्न हुए त्रिकाल विषयक दोषोंको दूर करनेके लिए किया जाता है।

भ. आ./वि./६/३२/१६ चित्तव्याकुलतापराजयो विविक्तशयनासनं। —चित्तकी व्यग्रताको दूर करना विविक्त शयनासन है।

दे. विविक्त शय्यासन/१—निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि-की प्रसिद्धिके लिए किया जाता है।

★ साधु योग्य विविक्त वसतिका का स्वरूप—दे. वसतिका।

★ विविक्त शब्द का लक्षण—दे० वसतिका।

विविर—दे. विवर।

विवृत योनि—दे. योनि।

विवेक—

स. सि./९/२२/४४०/७ संसक्तान्नपानोपकरणादिविभजनं विवेकः। संसक्त हुए अर्थात् परस्परमें मिले-जुले अन्न पान आदिका अथवा उपकरणादिका विभाग करना विवेक प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/५/६२१/२६) (त. सा./७/२५) (अन. ध./७/४९)।

ध. १३/५,४,२६/६०/११ गण-गच्छ-दव्व-खेत्तादोहिंतो ओसारणं विवेगो णाम पायच्छित्तं। —गण, गच्छ, द्रव्य और क्षेत्र आदिसे अलग करना विवेक नामका प्रायश्चित्त है।

भ. आ./वि./६/३२/२१ येन यत्र वा अशुभोपयोगोऽभूत्तन्निराक्रिया, ततो परासनं विवेकः।

भ. आ./वि./१०/४६/११ एवमतिचारनिमित्तद्रव्यक्षेत्रादिकान्मनसा अपगतिस्तत्र अनाहृतिर्विवेकः। —जिस जिस पदार्थके अवलम्बनसे अशुभ परिणाम होते हैं, उनको त्यागना अथवा उनसे स्वयं दूर होना यह विवेक तप है। अतिचारको कारणीभूत ऐसे द्रव्य क्षेत्र और कालादिकसे मनसे पृथक् रहना अर्थात् दोषोत्पादक द्रव्यादिकोंका मनसे अनादर करना, यह विवेक है।

चा. सा./१४२/१ संसक्तेषु द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषान्निवर्तयितु-मलभमानस्य तद्द्रव्यादि विभजनं विवेकः। अथवा शक्त्यनगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणात् प्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात्प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः। —किसी मुनिका हृदय किसी द्रव्य, क्षेत्र, अन्न, पान अथवा उपकरण-में आसक्त हो और किसी दोषको दूर करनेके लिए गुरु उन मुनिको वह पदार्थ प्राप्त न होने दे, उस पदार्थको उन मुनिसे अलग कर ले तो, वह विवेक नामका प्रायश्चित्त कहलाता है। २. अथवा अपनी शक्ति-को न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवोंकी बाधा दूर करते हुए भी किसी कारणसे अप्रासुक पदार्थको ग्रहण करले अथवा जिसका त्याग कर चुके हैं, ऐसे प्रासुक पदार्थोंको भी भूलकर ग्रहण कर ले और फिर स्मरण हो आनेपर उन सबका त्याग कर दे तो वह भी विवेक प्रायश्चित्त कहलाता है। (अन. ध./७/५०)

२. विवेकके भेद व लक्षण

भ. आ./मू./१६८-१६९/३८१ इंदियकसायउवधीण भत्तपाणस्स चावि देहस्स। एस विवेगो भणिदो पंचविधो दव्वभावगदो ।१६८। अहवा सरीरसेज्जा संथारुवहीण भत्तपाणस्स। वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव ।१६९। —इन्द्रियविवेक, कषायविवेक भक्तपान विवेक, उपधिविवेक, देहविवेक ऐसे विवेकके पाँच प्रकार पूर्वागममें कहे गये हैं ।१६८। अथवा शरीरविवेक, वसतिसंस्तरविवेक, उपकरण विवेक, भक्तपान विवेक और वैयावृत्यकरणविवेक ऐसे पाँच भेद कहे गये हैं। इन पाँच भेदोंमें प्रत्येकके द्रव्य और भाव ऐसे दो दो भेद हैं ।१६९। (सा. ध./८/४४)

भ. आ./वि. १६८-१६९/३८२/२ रूपादिविषये चक्षुरादीनामादरेण कोपेन वा अप्रवर्तनम्। इदं पश्यामि शृणोमीति वा।…इति वचनानुच्चारणं द्रव्यत इन्द्रियविवेकः। भावत इन्द्रियविवेको नाम ज्ञातेऽपि… विज्ञानस्य…रागकोपाभ्यां विवेचनं, रागकोपसहचारिरूपादिविषय-मानसज्ञानापरिणतिर्वा। द्रव्यतः कषायविवेको नाम कायेन वाचा चेति द्विविधः। भ्रूलतासंकोचनं…इत्यादि कायव्यापाराकरणं। हन्मि…इत्यादि वचनाप्रयोगश्च। परपरिभवादिनिमित्तचित्तकलङ्-काभावो भावतः क्रोधविवेकः। तथा…गात्राणां स्तब्धाकरणं…मत्तः कोवा श्रुतपारगः—इति वचनाप्रयोगश्च…मनसाहंकारवर्जनं भावतो मानकषायविवेकः। अन्यं मनसि कृत्वा अन्यस्य यद्वचनं तस्य त्यागो मायोपदेशस्य वा…वाचा मायाविवेकः। अन्यत्कुर्वत इवान्यस्य कायेनाकरणं कायतो मायाविवेकः।…यत्रास्य लोभस्तदुद्दिश्य करप्रसारणं…एतस्य कायव्यापारस्याकरणं कायेन लोभविवेकः। …एतन्मदीयं वस्तुग्रामादिकं वा वचनानुच्चारणं वाचा लोभविवेकः। …ममेदंभावरूपमोहजपरिणामापरिणतिर्भावतो लोभविवेकः ।१६८। …स्वशरीरेण स्वशरीरोपद्रवापरिहरणं कायविवेकः…शरीरपीडां मा कृथा इत्याद्यवचनं। मां पालयेति वा…इति वचनं वाचाविवेकः। वसतिसंस्तरयोर्विवेको नाम कायेन वसतावनासनं प्रागध्युषितायां। संस्तरे वा प्राक्तने अशयनं अनासनं। वाचा त्यजामि वसतिसंस्तर-मिति वचनं। कायेनोपकरणानामनादानं…। परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनि इति वचनं वाचा उपधिविवेकः। भक्तपानाशनं वा कायेन भक्तपानविवेकः। एवंभूतं भक्तंपानं वा न गृह्णामि इति वचनं वाचा भक्तपानविवेकः। वैयावृत्यकराः स्वशिष्यादयो ये तेषां कायेन विवेकः तैः सहासंवासः। मा कृथा वैयावृत्त्यं इति वचनं।… सर्वत्र शरीरादौ अनुरागस्य ममेदंभावस्य वा मनसा अकरणं भाव-विवेकः ।१६९। —रूपादि विषयोंमें नेत्रादिक इन्द्रियोंकी आदरसे अथवा कोपसे प्रवृत्ति न होना। अर्थात् यह रूप मैं देखता हूँ, शब्द मैं सुन रहा हूँ ऐसे वचनोंका उच्चारण न करना द्रव्यतः इन्द्रिय विवेक है। रूपादिक विषयोंका ज्ञान होकर भी रागद्वेषसे भिन्न रहना अर्थात् रागद्वेषयुक्त ऐसी रूपादिक विषयोंमें मानसिक ज्ञानकी परिणति न

होना भावतः इन्द्रियविवेक है। द्रव्यतः कषाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद हैं। भौंहें संकुचित करना इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायक्रोध विवेक है। मैं मारूँगा इत्यादि वचनका प्रयोग न करना वचन क्रोध विवेक है। दूसरोंका पराभव करना, वगैरहके द्वेषपूर्वक विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय विवेक भी शरीर और वचनके व भावके भेदसे तीन तीन प्रकारके हैं। तहाँ शरीरके अवयवोंको न अकड़ाना, मेरेसे अधिक शास्त्र प्रवीण कौन है ऐसे वचनोंका प्रयोग न करना ये काय व वचनगत मानविवेक हैं। मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना भाव मानकषाय विवेक है। मानो अन्यके विषयमें बोल रहा है ऐसा दिखाना, ऐसे वचनका त्याग करना अथवा कपटका उपदेश न करना वाचा मायाविवेक है। शरीरसे एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्य ही कर रहा हूँ ऐसा दिखानेका त्याग करना काय मायाविवेक है। जिस पदार्थमें लोभ है उसकी तरफ अपना हाथ पसारना इत्यादिक शरीर क्रिया न करना काय लोभ विवेक है। इस वस्तु ग्राम आदिका मैं स्वामी हूँ ऐसे वचन उच्चारण न करना वाचा लोभ विवेक है। ममेदं भावरूप मोहज परिणतिको न होने देना भाव लोभ विवेक है।१६८। अपने शरीरसे अपने शरीरके उपद्रवको दूर न करना काय शरीर विवेक है। शरीरको तुम पीड़ा मत करो अथवा मेरा रक्षण करो इस प्रकारके वचनोंका न कहना वाचा शरीर विवेक है। जिस वसतिकामें पूर्वकालमें निवास किया था उसमें निवास न करना और इसी प्रकार पहिले वाले संस्तरमें न सोना बैठना काय वसति-संस्तर विवेक है। मैं इस वसति व संस्तरका त्याग करता हूँ। ऐसे वचनका बोलना वाचा वसतिसंस्तर विवेक है। शरीरके द्वारा उपकरणोंको ग्रहण न करना काय उपकरण विवेक है। मैंने इन ज्ञानोपकरणादिका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना वाचा उपकरण विवेक है। आहार पानके पदार्थ भक्षण न करना काय भक्तपान विवेक है। इस तरहका भोजन पान मैं ग्रहण नहीं करूँगा ऐसा वचन बोलना वचाभक्तपान विवेक है। वैयावृत्य करनेवाले अपने शिष्यादिकोंका सहवास न करना काय वैयावृत्य विवेक है। तुम मेरी वैयावृत्य मत करो ऐसे वचन बोलना वाचा वैयावृत्य विवेक है। सर्वत्र शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे हैं ऐसा भाव छोड़ देना भावविवेक है।

३. विवेक तपके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/२२ भावतोऽविवेको विवेकातिचारः।—परिणामोंके द्वारा विवेकका न होना विवेकका अतिचार है।

★ विवेक प्रायश्चित्त किस अपराधमें दिया जाता है

—दे. प्रायश्चित्त/४।

विवेचन—१. वस्तु विवेचन विधि—दे. न्याय। २. आगम व अध्यात्म पद्धति—दे. पद्धति।

विशद—

सि. वि./मू./१/३/१८ परयन् स्वलक्षणान्येकं स्थूलमक्षणिकं स्फुटम् यद्व्यवस्यति वैशद्यं तद्विद्धि सदृशस्मृतेः।३।—परस्परमें विलक्षण निरंश क्षणरूप स्वलक्षणोंको देखनेवाला स्थूल और अक्षणिक एक वस्तुको स्पष्ट रूपसे निश्चित करता है। अतः वैशद्य व्यवसायात्मक सविकल्पकप्रत्यक्षसे सम्बद्ध है।

प. मु./२/४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यं।—जो प्रतिभास बिना किसी दूसरे ज्ञानकी सहायताके स्वतन्त्र हो, तथा हरा पीला आदि विशेष वर्ण और सीधा टेढ़ा आदि विशेष आकार लिये हो, उसे वैशद्य कहते हैं।

न्या. दी./२/§२/२४ किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम। उच्यते; ज्ञानावरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसंभवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम् दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्तवचनाद्धूमादि लिङ्गाच्चोत्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य ज्ञानस्य विशेषः। स एव नैर्मल्य, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते।—प्रश्न—विशद प्रतिभास किसको कहते हैं? उत्तर—ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे अथवा विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शब्द तथा अनुमानादि (परोक्ष) प्रमाणोंसे नहीं हो सकनेवाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही विशद-प्रतिभास है। किसी प्रामाणिक पुरुषके 'अग्नि है' इस प्रकारके वचनसे और 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि, धुआँ है' इस प्रकारके धूमादि लिंगसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकारके इन्द्रियज्ञानमें विशेषता देखी जाती है। वही विशेषता निर्मलता, विशदता, और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है।

विशल्या—प. पु./६४/श्लो. नं. राजा द्रोणमेघकी पुत्री थी।६४। पूर्वभवके कठिन तपके प्रभावसे उसके स्नान जलमें सर्वरोग शान्त करनेकी शक्ति थी।६८। रावणकी शक्तिके प्रहारसे मूर्च्छित लक्ष्मणको इसीने जीवन दिया था।३७-३८। इसका विवाह भी लक्ष्मणसे हुआ था।८०।

विशल्याकारिणी—एक विद्या—दे. विद्या।

विशाखनंदि—म. पु./५७/श्लो. नं.—राजगृहीके राजा विश्वभूतिके छोटे भाई विशाखभूतिका पुत्र था।७३। विश्वभूतिके पुत्र विश्वनन्दिका वन छीन लेनेपर युद्ध हुआ, जिसमें यह भाग गया।७५-७७। देशाटन करता हुआ मथुरामें रहने लगा। वेश्याके घर बैठे विश्वनन्दीकी गाय द्वारा गिरा दिया जानेपर हँसी उड़ायी।८०-८१। चिरकाल पर्यंत अनेक योनियोंमें भ्रमण किया।८७।

विशाखभूति—म. पु./५७/श्लो.—राजगृह नगरके राजा विश्वभूतिका छोटा भाई था।७३। पिताके दीक्षा लेनेके अनन्तर इसने भी अपने ताऊके पुत्र विश्वनन्दीके साथ दीक्षा ले ली।७८। महा शुक्र स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ।८२।

विशाखा—एक नक्षत्र—दे. नक्षत्र।

विशाखाचार्य—श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् प्रथम ११ अंग व १० पूर्वधारी थे। [द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके अवसरपर आप भद्रबाहु स्वामीके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। भद्रबाहु स्वामीकी तो वहीं ही समाधि हो गयी पर आप दुर्भिक्ष समाप्त होनेपर पुनः उज्जैन लौट आये (भद्रबाहु चरित/३)] समय—वी. नि. १६२-१७२ (ई. पू. ३६५-३५५)।—दे० इतिहास/४/४।

विशाला—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

विशालाक्ष—कुण्डल पर्वतके स्फटिकप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे० लोक/७।

विशिष्ट—१. ध. १०/४,२,४,३/२३/६ सिया विसिट्ठा, कयाइं वयादो अहियाय दंसणादो।—(ज्ञानावरणीय द्रव्य) स्यात् विशिष्ट है, क्योंकि कदाचित व्ययकी अपेक्षा अधिक आय देखी जाती है।

★ **ओभांम औविशिष्ट**—दे. ओम। २. सौमनस पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/५/४।

विशिष्टाद्वैत—दे. वेदान्त/४

विशुद्ध—

सं. सि./२/४९/१९८/४ विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेशः। विशुद्धस्य पुण्यकर्मणः अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते तन्तूनां कार्पासव्यपदेशवत्।—विशुद्धकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको

विशुद्ध कहा है। तात्पर्य यह है कि चित्र विचित्र न होकर निर्दोष हो, ऐसे विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको भी विशुद्ध कहते हैं। यहाँ कार्यमें कारणका उपचार है। जैसे तन्तुओंमें कपासका उपचार करके तन्तुओंको भी कपास कहते हैं। (रा. वा./२/४९/२/१५२/२६।

विशुद्धि—साता वेदनीयके बन्धमें कारणभूत परिणाम विशुद्धि तथा असाता वेदनीयके बन्धमें कारणभूत संक्लेश कहे जाते हैं। जीवको प्रायः मरते समय उत्कृष्ट संक्लेश होता है। जागृत तथा साकारोपयोगकी दशामें ही उत्कृष्ट संक्लेश या विशुद्धि सम्भव है।

१. विशुद्धि व संक्लेशके लक्षण

स. सि./२/२४/१३०/८ तदावरणक्षयोपशमे सति आत्मनः प्रसादो विशुद्धिः। —मनःपर्यय ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेपर जो आत्मामें निर्मलता आती है उसे विशुद्धि कहते हैं। (रा. वा./१/२४/-/८५/१६)।

ध. ६/१,९-७,२/१८०/६ असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम। का विसोही। सादबंधजोग्गपरिणामो। उक्कस्सट्ठिदीदो उवरिम-बिदियादिट्ठिदीओ बंधमाणस्स परिणामो विसोहि त्ति उच्चदि, जहण्णट्ठिदी उवरिम-बिदियादिट्ठिदीओ बंधमाणस्स परिणामो संकिलेसो त्ति के वि आइरिया भणंति, तण्ण घडदे। कुदो। जहण्णुक्कस्सट्ठिदिपरिणामे मोत्तूण सेसमज्झिमट्ठिदीणं सव्वपरिणामाणं पि संकिलेसविसोहित्तप्पसंगादो। ण च एवं, एक्कस्स परिणामस्स लक्खणभेदेण विणा दुभावविरोहादो। —असाताके बन्धयोग्य परिणामको संक्लेश कहते हैं और साताके बन्ध योग्य परिणामको विशुद्धि कहते हैं। कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि उत्कृष्ट स्थितिसे अधस्तन स्थितियोंको बाँधनेवाले जीवका परिणाम 'विशुद्धि' इस नामसे कहा जाता है, और जघन्य स्थितिसे उपरिम-द्वितीय तृतीय आदि स्थितियोंको बाँधनेवाले जीवका परिणाम संक्लेश कहलाता है। किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है; क्योंकि, जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिके बँधनेके योग्य परिणामोंको छोड़कर शेष मध्यम स्थितियोंके बाँधने योग्य सर्व परिणामोंके भी संक्लेश और विशुद्धताका प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, एक परिणामके लक्षण भेदके बिना द्विभाव अर्थात् दो प्रकारके होनेका विरोध है।

ध. ११/४, २,६,१६९-१७०/३१४/६ अइतिव्वकसायाभावो मंदकसाओ विसुद्धदा त्ति घेत्तव्वा। तत्थ सादस्स चउट्ठाणबंधा जीवा सव्वविसुद्ध त्ति भणिदे सुट्ठुमंदसंकिलेसा त्ति घेत्तव्वं। जहण्णट्ठिदिबंधकारण-जीवपरिणामो वा विसुद्धा णाम। ...साद चउट्ठाणबंधएहिंतो सादस्सेव तिट्ठाणाणुभागबंधया जीवा संकिलिसट्ठदरा, कसाउक्कडा त्ति भणिदं होदि। —अत्यन्त तीव्र कषायके अभावमें जो मन्द कषाय होती है, उसे विशुद्धता पदसे ग्रहण करना चाहिए। (सूत्रमें) साता वेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध हैं, ऐसा कहनेपर 'वे अतिशय मन्द संक्लेशसे सहित हैं' ऐसा ग्रहण करना चाहिए। अथवा जघन्य स्थितिबन्धका कारणस्वरूप जो जीवका परिणाम है उसे विशुद्धता समझना चाहिए।... साताके चतुःस्थान बन्धकी अपेक्षा साताके ही त्रिस्थानानुभागबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं, अर्थात् वे उनकी अपेक्षा उत्कट कषायवाले हैं, यह अभिप्राय है।

क. पा. ४/३-२२/§ ३०/१५/१३ को संकिलेसो णाम। कोह-माण-माया-लोहपरिणामविसेसो। —क्रोध, मान, माया लोभरूप परिणामविशेषको संक्लेश कहते हैं।

२. संक्लेश व विशुद्धि स्थानके लक्षण

क. पा./५/४-२२/§ ६११/१८०/७ काणि विसोहिट्ठाणाणि। बद्धाणुभागसंतस्स घादहेदुजीवपरिणामो। —जीवके जो परिणाम बाँधे गये अनुभाग सत्कर्मके घातके कारण हैं, उन्हें विशुद्धिस्थान कहते हैं।

ध. ११/४,२,६,५१/२०८/२ संपहि संकिलेसट्ठाणाणं विसोहिट्ठाणाणं च च को भेदो। परियत्तमाणियाणं साद-थिर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्जादीणं सुभपयडीणं बंधकारणभूदकसायट्ठाणाणि विसोहिट्ठाणाणि, असाद-अथिर-असुह दुभग-[दुस्सर] अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीणं बंधकारणकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसट्ठाणाणि त्ति एसो तेसिं भेदो। —प्रश्न—यहाँ संक्लेशस्थानों और विशुद्धिस्थानोंमें क्या भेद है? उत्तर—साता, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय आदिक परिवर्तमान शुभ प्रकृतियोंके बन्धके कारणभूत कषायस्थानोंको विशुद्धिस्थान कहते हैं; और असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, [दुस्वर] और अनादेय आदिक परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियोंके बन्धके कारणभूत कषायोंके उदयस्थानोंको संक्लेशस्थान कहते हैं, यह उन दोनोंमें भेद है।

स. सा./आ./५३-५४ कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि।... कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि। —कषायोंके विपाककी अतिशयता जिनका लक्षण है ऐसे जो संक्लेशस्थान तथा कषायोंके विपाककी मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे जो विशुद्धि स्थान...।

३. वर्द्धमान व हीयमान स्थितिको संक्लेश व विशुद्धि कहना ठीक नहीं है

ध. ६/१,९-७,२/१८१/१ संकिलेसविसोहीणं वड्ढमाण-हीयमाणलक्खणेण भेदो ण विरुज्झदि त्ति चे ण, वड्ढि-हाणि-धम्माणं परिणामत्तादो जीवदव्वावट्ठाणाणं परिणामंतरेसु असंभवाणं परिणामलक्खणत्तविरोहादो। —प्रश्न—वर्द्धमान स्थितिको संक्लेशका और हीयमान स्थितिको विशुद्धिका लक्षण मान लेनेसे भेद विरोधको नहीं प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, परिणामस्वरूप होनेसे जीव द्रव्यमें अवस्थानको प्राप्त और परिणामान्तरोंमें असम्भव ऐसे वृद्धि और हानि इन दोनों धर्मोंके परिणामलक्षणत्वका विरोध है। विशेषार्थ—[स्थितियोंकी वृद्धि और हानि स्वयं जीवके परिणाम हैं। जो क्रमशः संक्लेश और वृद्धिरूप परिणामकी वृद्धि और हानिसे उत्पन्न होते हैं।...स्थितियोंकी और संक्लेश विशुद्धिकी वृद्धि और हानिमें कार्य कारण सम्बन्ध अवश्य है, पर उनमें लक्षण लक्ष्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।]

४. वर्द्धमान व हीयमान कषायको भी संक्लेश विशुद्धि कहना ठीक नहीं।

ध. ६/१,९-७,२/१८१/३ ण च कसायवड्ढी संकिलेसलक्खणं ट्ठिदिबंधउड्ढीए अण्णहाणुववत्तीदो, विसोहिअद्धाए वड्ढमाणकसायस्स संकिलेसत्तप्पसंगादो ण च विसोहिअद्धाए कसायउड्ढी णत्थि त्ति वोत्तुं जुत्तं, सादादीणं भुजगारबंधाभावप्पसंगा। ण च असादसादबंधाणं संकिलेसविसोहीओ मोत्तूण अण्णकारणमत्थि अणुवलंभा। ण कसायवड्ढी असादबंधकारणं, तक्काले सादस्स बंधुवलंभा। ण हाणि, तिस्से वि साहारणत्तादो। —कषायकी वृद्धि भी संक्लेश नहीं है, क्योंकि १. अन्यथा स्थितिबन्धकी वृद्धि बन नहीं सकती है और, २. विशुद्धिके कालमें वर्द्धमान कषायवाले जीवके भी संक्लेशत्वका प्रसंग आता है। और विशुद्धिके कालमें कषायोंकी वृद्धि नहीं होती है, ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि, वैसा माननेपर साता आदिके भुजगारबन्धके अभावका प्रसंग प्राप्त होगा। तथा असाता और

साता इन दोनोंके बन्धका संक्लेश और विशुद्धि, इन दोनोंको छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है, क्योंकि, वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। ३. कषायोंकी वृद्धि केवल असाताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, उसके अर्थात् कषायोंकी वृद्धिके कालमें साताका बन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार कषायोंकी हानि केवल साताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, वह भी साधारण है, अर्थात् कषायोंकी हानिके कालमें भी असाताका बन्ध पाया जाता है।

ध. ११/४,२,६,५१/२०८/६ वड्ढमाणकसाओ संकिलेसो, हायमाणो विसोहि त्ति किण्ण घेप्पदे। ण, संकिलेस-विसोहिट्ठाणाणं संखाए सामणत्तप्पसंगादो। कुदो। जहण्णुक्कस्सपरिणामाणं जहाकमेण विसोहिसंकिलेसणियमदंसणादो। मज्झिमपरिणामाणं च संकिलेस-विसोहिपक्खवुत्तिदंसणादो ण च संकिलेस-विसोहिट्ठाणाणं संखाए समाणमत्थि—। सम्मत्तुप्पत्तीए सादद्धाणपरूवणं काऊण पुणो संकिलेसविसोहीणं परूवणं कुणमाणा वक्खाणाइरिया जाणावेंति जहा हायमाणकसाउदयट्ठाणाणि चेव विसोहिसण्णिदाणि त्ति भणिदे होदु णाम तत्थ तधाभावो, दसण-चरित्तमोहक्खवणोवसामणासु पुव्विल्लसमए उदयमागदो अणुभागफद्दएहिंतो अणंतगुणहीणफद्दयाणमुदएण जादकसायउदयट्ठाणस्स विसोहित्तमुवगमादो। ण च एस णियमो संसारावत्थाए अत्थि, तत्थ छव्विहवड्ढिहाणीहि कसाउदयट्ठाणाणं उप्पत्तिदंसणादो। संसारावत्थाए वि अंतोमुहुत्तमणंतगुणहीणकमेण अणुभागफद्दयाणं उदओ अत्थि त्ति वुत्ते होदु, तत्थ वि तधाभावं पडुच्च विसोहित्तब्भुवगमादो। ण च एत्थ अणंतगुणहीणफद्दयाणमुदएण उप्पण्णकसाउदयट्ठाणं विसोहि त्ति घेप्पदे, एत्थ एवंविहविवक्खाभावादो। किंतु सादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि विसोही, असादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसो त्ति घेत्तव्वमण्णहा विसोहिट्ठाणाणमुक्कस्सट्ठिदीए थोवत्तविरोहादो त्ति।—प्रश्न—बढ़ती हुई कषायको संक्लेश और हीन होती हुई कषायको विशुद्धि क्यों नहीं स्वीकार करते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ४. वैसा स्वीकार करनेपर संक्लेश स्थानों और विशुद्धिस्थानोंकी संख्याके समान होनेका प्रसंग आता है। कारण यह है कि जघन्य और उत्कृष्ट परिणामोंके क्रमशः विशुद्धि और संक्लेशका नियम देखा जाता है, तथा मध्यम परिणामोंका संक्लेश अथवा विशुद्धिके पक्षमें अस्तित्व देखा जाता है। परन्तु संक्लेश और विशुद्धिस्थानोंमें संख्याकी अपेक्षा समानता है नहीं। प्रश्न—सम्यक्त्वोत्पत्तिमें सातावेदनीयके अध्वानकी प्ररूपणा करके पश्चात् संक्लेश व विशुद्धिकी प्ररूपणा करते हुए व्याख्यानाचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि हानिको प्राप्त होनेवाले कषायके उदयस्थानोंकी ही विशुद्धि संज्ञा है? उत्तर—वहाँपर वैसा कथन ठीक है, क्योंकि, ५. दर्शन और चारित्र मोहकी क्षपणा व उपशामनामें पूर्व समयमें उदयको प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धकोंकी अपेक्षा अनन्तगुणे हीन अनुभागस्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न हुए कषायोदयस्थानके विशुद्धपना स्वीकार किया गया है। परन्तु यह नियम संसारावस्थामें सम्भव नहीं है, क्योंकि, वहाँ छह प्रकारकी वृद्धि व हानियोंसे कषायोदयस्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—संसारावस्थामें भी अन्तर्मुहूर्त कालतक अनन्तगुणे हीन क्रमसे अनुभाग स्पर्धकोंका उदय है ही? उत्तर—६. संसारावस्थामें भी उनका उदय बना रहे, वहाँ भी उक्त स्वरूपका आश्रय करके विशुद्धता स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ अनन्तगुणे हीन स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न कषायोदयस्थानको विशुद्धि नहीं ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि, यहाँ इस प्रकारकी विवक्षा नहीं है। किन्तु सातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदय स्थानोंको विशुद्धि और असातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोंको संक्लेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, इसके बिना उत्कृष्ट स्थितिमें विशुद्धिस्थानोंकी स्तोकताका विरोध है।

★ दर्शन विशुद्धि—दे. दर्शन विशुद्धि।

५. जीवोंमें विशुद्धि व संक्लेशकी तरतमताका निर्देश

ष. खं. ११/४,२,६/सूत्र १६७-१७४/३१२ तत्थ जे ते सादबंधा जीवा ते तिविहा—चउट्ठाणबंधा तिट्ठाणबंधा बिट्ठाणबंधा।१६७। असादबंधा जीवा तिविहा बिट्ठाणबंधा तिट्ठाणबंधा चउट्ठाणबंधा त्ति।१६८। सव्वविसुद्धा सादस्स चउट्ठाणबंधा जीवा।१६९। तिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७०। बिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७१। सव्वविसुद्धा असादस्स बिट्ठाणबंधा जीवा।१७२। तिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७३। चउट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७४।—सातबन्धक जीव तीन प्रकार हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक।१६७। असातबन्धक जीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक।१६८। सातावेदनीय चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध हैं।१६९। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं।१७०। द्विस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं।१७१। असातावेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध हैं।१७२। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं।१७३। चतुःस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं।१७४।

६. विशुद्धि व संक्लेशमें हानिवृद्धिका क्रम

ध. ६/१,९-७-२/१८२/२ विसोहीओ उक्कस्सट्ठिदिम्हि थोवा होदूण गणणाए वड्ढमाणाओ आगच्छंति जाव जहण्णट्ठिदि त्ति। संकिलेसा पुण जहण्णट्ठिदिम्हि थोवा होदूण उवरि पक्खेउत्तरकमेण वड्ढमाणा गच्छंति जा उक्कस्सट्ठिदि त्ति। तदो संकिलेसेहिंतो विसोहीओ पुधभूदाओ त्ति दट्ठव्वाओ। तदो ट्ठिदमेदं सादबंधजोग्गपरिणामो विसोहि त्ति।—विशुद्धियाँ उत्कृष्ट स्थितिमें अल्प होकर गणनाकी अपेक्षा बढ़ती हुई जघन्य स्थितितक चली आती हैं। किन्तु संक्लेश जघन्य स्थितिमें अल्प होकर ऊपर प्रक्षेप उत्तर क्रमसे, अर्थात् सदृश प्रचयरूपसे बढ़ते हुए उत्कृष्ट स्थितितक चले जाते हैं। इसलिए संक्लेशोंसे विशुद्धियाँ पृथग्भूत होती हैं; ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए। अतएव यह स्थित हुआ कि साताके बन्ध योग्य परिणामका नाम विशुद्धि है।

ध. ११/४,२,६,५१/२१०/१ तदो संकिलेसट्ठाणाणि जहण्णट्ठिदिप्पहुडि विसेसाहियवड्ढीए, उक्कस्सट्ठिदिप्पहुडि विसोहिट्ठाणाणि विसेसाहियवड्ढीए गच्छंति [त्ति] विसोहिट्ठाणेहिंतो संकिलेसट्ठाणाणि विसेसाहियाणि त्ति सिद्धं।—अतएव संक्लेशस्थान जघन्य स्थितिसे लेकर उत्तरोत्तर विशेष अधिकके क्रमसे तथा विशुद्धिस्थान उत्कृष्टस्थितिसे लेकर विशेष अधिक क्रमसे जाते हैं। इसलिए विशुद्धिस्थानोंकी अपेक्षा संक्लेशस्थान विशेष अधिक है।

७. द्विचरम समयमें ही उत्कृष्ट संक्लेश सम्भव है

ष. खं. १०/४,२,४/सूत्र ३०/१०७ दुचरिमतिचरिमसमए उक्कस्ससंकिलेसं गदो।३०।

ध. १०/४,२,४,३०/पृष्ठ/पंक्ति दो समए मोत्तूण बहुसु समएसु णिरंतरमुक्कस्ससंकिलेसं किण्ण णीदो। ण, एदे समए मोत्तूण णिरंतरमुक्कस्ससंकिलेसेण बहुकालमवट्ठाणाभावादो। (१०७/६)। हेट्ठा पुण सव्वत्थ समयाविरोहेण उक्कस्ससंकिलेसो चेव। (१०८/२)।—द्विचरम व त्रिचरम समयमें उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त हुआ। प्रश्न—उक्त दो समयोंको छोड़कर बहुत समयतक निरन्तर उत्कृष्ट संक्लेशको क्यों नहीं प्राप्त कराया गया? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन दो समयोंको छोड़कर निरन्तर उत्कृष्ट संक्लेशके साथ बहुत कालतक रहना सम्भव नहीं है।...चरम समयके पहिले तो सर्वत्र यथा समय उत्कृष्ट संक्लेश ही होता है।

८. मारणान्तिक समुद्घातमें उत्कृष्ट संक्लेश सम्भव नहीं

ध. १२/४,२,१३,७/३७८/३ मारणंतियस्स उक्कस्ससंकिलेसाभावेण उक्कस्स-जोगाभावेण य उक्कस्सदव्वसामित्तविरोहादो। =मारणान्तिक समुद्घातमें जीवके न तो उत्कृष्ट संक्लेश होता है और न उत्कृष्ट योग ही होता है, अतएव वह उत्कृष्ट द्रव्यका स्वामी नहीं हो सकता।

९. अपर्याप्त कालमें उत्कृष्ट विशुद्धि सम्भव नहीं

ध. १२/४,२,७,३८/३०/७ अपज्जत्तकाले सव्वुक्कस्सविसोही णत्थि। अपर्याप्तकालमें सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि नहीं होती है।

१०. जागृत साकारोपयोगीको ही उत्कृष्ट संक्लेश विशुद्धि सम्भव है

ध. ११/४,२,६,२०४/३३३/१ दंसणोवजोगकाले अइसंकिलेसविसोहीणमभावादो।

ध. १२/४,२,७,३८/३०/८ सागार जागारद्धासु चेव सव्वुक्कस्सविसोहीयो सव्वुक्कस्ससंकिलेसा च होंति त्ति। =दर्शनोपयोगके समयमें अतिशय (सर्वोत्कृष्ट) संक्लेश और विशुद्धिका अभाव होता है। साकार उपयोग व जागृत समयमें ही सर्वोत्कृष्ट विशुद्धियाँ व सर्वोत्कृष्ट संक्लेश होते हैं।

विशुद्धि लब्धि—दे. लब्धि/२।

विशेष—

स. सि./६/८/३२५/६ विशिष्यतेऽर्थोऽर्थान्तरादिति विशेषः। =जिससे एक अर्थ दूसरे अर्थसे विशेषताको प्राप्त हो वह विशेष है। (रा. वा. ६/८/११/५१४/१६, (रा. वा /१/१/१/३/२३)

न्या. वि./मू./१/१२१/४५० समानभावः सामान्यं विशेषो अन्यो व्यपेक्षया।१२१। =समान भावको सामान्य कहते हैं और उससे अन्य अर्थात् विसमान भावको विशेष कहते हैं।

न्या. वि./वृ./१/४/१२१/११ व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वाद्विशेष। =व्यावृत्ति अर्थात भेदकी बुद्धि उत्पन्न करनेवाला विशेष है। (स्या. म./८/६८/२६)

द्र. सं./टी./२८/८६/३ विशेषा इत्यस्य कोऽर्थः। पर्यायः। =विशेषका अर्थ पर्याय है।—दे. अपवाद/१/१।

स्या. मं./४/१७/१५ स एव च इतरेभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यो द्रव्यक्षेत्रकालभावैरात्मानं व्यावर्तयन् विशेषव्यपदेशमश्नुते। =यही (घट पदार्थ) दूसरे सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे द्रव्य क्षेत्र काल और भावसे अपनी व्यावृत्ति करता हुआ विशेष कहा जाता है।

·. ध./उ./२ अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः।२। =जो विसदृशताका द्योतक तथा अल्प देश व्यापी विशेष होता है।

२. विशेषके भेद

प. मु./४/६-७ विशेषश्च/६/ पर्यायव्यतिरेकभेदात्।७। =पर्याय और व्यतिरेकके भेदसे विशेष भी दो प्रकारका है।—(इन दोनोंके लक्षण दे. वह वह नाम)

३. ज्ञान विशेषोपयोगी है

प. का./त. प्र./४० विशेषग्राहिज्ञानम्। =विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।

स्या.मं./१/१०/२३ प्रधानविशेषमुपसर्जनीकृतसामान्यं च ज्ञानमिति। =सामान्यको गौण करके विशेषको मुख्यतापूर्वक किसी वस्तुके ग्रहणको ज्ञान कहते हैं।

★ **वस्तु सामान्य विशेषात्मक है**—दे. सामान्य।

★ **गणित विषयमें विशेषका लक्षण**—Common difference; चय—दे. गणित/II/५/३।

विशेष गुण—दे. गुण/१।

विशेष नय—दे. नय/I/५।

विशेषावश्यक भाष्य—श्वेताम्बर आम्नाय का प्राकृत गाथा बद्ध यह विशालकाय ग्रन्थ क्षमाश्रमण जिनभद्र गणी ने वि. स. ६५० (ई. ५९३) में पूरा किया था। (दे. परिशिष्ट)।

विशोक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

विश्लेषण — Analysis (ध. ५/प्र. २८)

विश्व—एक लौकान्तिक देव – दे. लौकांतिक।

विश्वनन्दि—म. पु./५७/श्लो.—राजगृहके राजा विश्वभूतिका पुत्र था।७२। चचा विशाखभूतिके पुत्र विशाखनन्दि द्वारा इसका धन छिन जानेपर उसके साथ युद्ध करके उसे परास्त किया। पीछे दीक्षा धारण कर ली। (७५-७८)। मथुरा नगरीमें एक बछड़ेने धक्का देकर गिरा दिया, तब वेश्याके यहाँ बैठे हुए विशाखनन्दिने इसकी हँसी उड़ायी। निदानपूर्वक मरकर चचाके यहाँ उत्पन्न हुआ। (७९-८२) (म. पु./७४/८६-११८) यह वर्द्धमान भगवान्‌का पूर्वका १५वाँ भव है।—दे. वर्द्धमान।

विश्वभू—म. पु./६७/२१४-४५५ सगर चक्रवर्तीका मन्त्री था। इसने षड्यन्त्र रचकर अपने स्वामीका विवाह सुलसासे करा दिया। मधुपिंगलसे नहीं होने दिया।

विश्वभूषण—भक्तामर चरितके रचयिता एक दिगम्बर साधु। (ज्ञा /प्र.१/पं. पन्नालाल बाकलीवाल)

विश्वसेन—भगवान् पार्श्वनाथके पिता—तीर्थंकर/५।

विश्वास—दे. श्रद्धान।

विषंग—स्व. स्तो./टी./९९/१७२ ममेदं सर्वं स्त्र्यादिक इति संबन्धो विषङ्गः। =स्त्री आदि सब मेरे हैं, इस प्रकारका सम्बन्ध विषंग कहलाता है।

विष—१. विष वाणिज्य कर्म—दे. सावद्य/५। २. निर्विष ऋद्धि—दे. ऋद्धि/१।

विषम दृष्टान्त—न्या. वि./वृ./२/४२/२६२/२४ दृष्टान्तो विषमो दार्ष्टान्तिकसदृशो न भवति। =जो दार्ष्टान्तिकके सदृश न हो उसे विषम दृष्टान्त कहते हैं।

विषमधारा—दे. गणित/II/५/२।

विषय—

स. सि./१/२५/१३२/[illegible] विषयो ज्ञेय.। =विषय ज्ञेयको कहते हैं। (रा. वा./१/२५/-/[illegible])

गो. जी./मू./४७६/८८५ पंचरसपंचवण्णा दो गंधा अट्ठफाससत्तसरा। मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा।४७६। =पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श और सात स्वर ऐसे यह २७ भेद तो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके हैं और एक भेद मनका अनेक विकल्परूप विषय है। ऐसे कुल विषय २८ हैं।

विषय व्यवस्था हानि—दे. हानि।

विषय संरक्षण ध्यान—दे. रौद्रध्यान।

विषरथ—वृ. कथा कोष/कथा नं. ५/पृ.—उज्जैनीके राजाका पुत्र था।१५। अति भोजन करनेसे विसूचिका रोग हो गया और अन्तमें मर गया।१६।

विष्कंभ—Width—(ज. प./प्र. १०८)। दे. गणित/II/७/२।

विष्कंभ क्रम—दे. क्रम/१।

विष्कंभ सूची—दे. सूची।

विष्ठा—१. औदारिक शरीरमें विष्ठाका प्रमाण—दे. औदारिक १/७। २. मल मूत्र क्षेपण विधि।—दे. समिति/१/प्रतिष्ठापना।

विष्णु—ति. प./४/५१८ तह य तिविट्ठदुविट्ठा सयंभु पुरिसुत्तमो पुरिससीहो। पुंडरीयदत्तणारायणा य किण्हा हुवंति णव विण्हू।५१८। —त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण और कृष्ण ये नौ विष्णु (नारायण) हैं।५१८।—(विशेष दे. शलाका पुरुष/४)।

दे० जीव/१/२/५—(प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करनेके कारण जीवको विष्णु कहते हैं।)

प्र. स./टी./१४/४७/१ सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। —क्योंकि पूर्ण निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक-अलोकमें व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा विष्णु कहा जाता है।]

★ परम विष्णुके अपर नाम —दे० मोक्षमार्ग/२/५।

विष्णुकुमार—ह. पु./२०/श्लो. "महापद्म चक्रवर्तीके पुत्र थे। पिता-के साथ दीक्षा ले घोर तप किया।१४। अकम्पनाचार्यके ७०० मुनियोंके संघपर बलि कृत उपसर्गको अपनी विक्रिया द्वारा दूर किया।२९-६२। अन्तमें तप कर मोक्ष गये।६३।"

विष्णुदत्त—वृ. कथा कोष/कथा १/पृ. एक दरिद्र अन्धा था।५। वृक्षसे सर टकरानेके कारण आँखें खुल गयीं।५। दूसरे अन्धोंने भी उसकी नकल की पर सब मर गये।६।

विष्णुनंदि—श्रुतावतारके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् पंचम श्रुतकेवली हुए। समय—वी.नि. ६२-७६ (ई० पू० ४६५-४५१)। अपर नाम नन्दि था—दे० इतिहास/४/४।

विष्णु यशोधर्म—चतुर्मुख नामक हूनवंशी कल्की राजा। समय-वी. नि. १०५५-१०७१ (ई. ५२८-५४४)। (दे. इति./३/३)।

विष्णुवर्धन—कर्नाटक देशके पोय्सल नरेश थे। गंगराज इनके मन्त्री थे, जिसने अपने गुरु शुभचन्द्रकी निषद्यका श. सं. १०४५ में बनवायी थी। यह पहले जैन थे जिन्होंने श. सं. १०३९ (ई. १११७) में वैष्णव धर्म स्वीकार करके हलेबेड़ अर्थात् दोरसमुद्रमें अनेक जिनमन्दिर का ध्वंस किया था। उसके उत्तराधिकारी नारसिंह और तत्पश्चात वीर बल्लालदेव हुए जिन्होंने जैनियोंके क्षोभको नीति पूर्वक शान्त किया। समय—अनुमानतः श. सं. १०२५-१०५० (ई. ११०३-११२८); (ध. प्र. ११/H. L. Jain)।

विसंयोजना—उपशम व क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति विधिमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया, लोभ रूपसे परिणमित हो जाना विसंयोजना कहलाता है।

१. विसंयोजनाका लक्षण

क. पा./२/२-२२/§२४६/२११/६ का विसंयोजना। अणंताणुबंधिचउक्क-क्खंधाणं परसरूवेण परिणमनं विसंयोजना। —अनन्तानुबन्धी चतुष्कके स्कन्धोंके परप्रकृति रूपसे परिणमा देनेको विसंयोजना कहते हैं।

गो. क./जी. प्र./३३६/४८७/१ युगपदेव विसंयोज्य द्वादशकषायनोकषाय-रूपेण परिणम्य···। —अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी युगपत् विसंयोजना करके अर्थात् बारह कषायों व नव नोकषायों रूपसे परिणमा कर।

२. विसंयोजना, क्षय व उपशममें अन्तर

क. पा./२/२-२२/§२४६/२११/७ ण परोदयकम्मक्खवणाए वियहिचारो, तेसिं परसरूवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो। —विसंयोजनाका इस प्रकार लक्षण करनेपर, जिन कर्मोंकी पर-प्रकृतिरूपसे क्षपणा होती है, उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आ जायेगी सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीको छोड़कर पररूपसे परिणत हुए अन्य कर्मोंकी पुनः उत्पत्ति नहीं पायी जाती है। अतः विसंयोजनाका लक्षण अन्य कर्मोंकी क्षपणामें घटित न होनेसे अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

दे० उपशम/१/६ (अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृति रूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है और उदयमें नहीं आना दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंका उपशम है।)

३. विसंयोजनाका स्वामित्व

क. पा./२/२-२२/§ २४५/२१८/५ अट्ठावीससंतकम्मिएण अणंताणुबंधी विसंजोइदे चउवीस विहत्तीओ होदि। को विसंजोअओ। सम्मादिट्ठी। मिच्छाइट्ठी ण विसंजोएदि त्ति कुदो णव्वदे। सम्मादिट्ठी वा सम्मामिच्छादिट्ठी वा चउवीस विहत्तिओ होदि त्ति एदम्हादो सुत्तादो णव्वदे। अणंताणुबंधिविसंजोइदसम्मादिट्ठिम्हि मिच्छत्तं पडिवण्णे चउवीस विहत्ती किण्ण होदि। ण, मिच्छत्तं पडिवण्णपढमसमए चेव चरित्तमोहकम्मक्खंधेसु अणंताणुबंधि-सरूवेण परिणदेसु अट्ठावीसपयडिसंतुप्पत्तीदो। ···अविसंजोएंतो सम्मामिच्छाइट्ठी कध चउवीसविहत्तीओ। ण, चउवीस संत-कम्मियसम्मादिट्ठीसु सम्मामिच्छत्तं पडिवण्णेसु तत्थ चउवीस-पयडिसंतुवलंभादो। चारित्तमोहणीयं तत्थ अणंताणुबंधिसरूवेण किण्ण परिणमइ। ण, तत्थ तप्परिणमनहेदुमिच्छत्तुदयाभावादो, सासणे इव तिव्वसंकिलेसाभावादो वा। —अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर देनेपर चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता है। प्रश्न—विसंयोजना कौन करता है? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव विसंयोजना करता है। प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव विसंयोजना नहीं करता है, यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—'सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी है' इस सूत्रसे जाना जाता है। प्रश्न—अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्वको प्राप्त हो जानेपर मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसे जीवके मिथ्यात्व-को प्राप्त होनेके प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्मस्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं। अतः उसके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता न रहकर अट्ठाईस प्रकृतियोंकी ही सत्ता पायी जाती है। प्रश्न—जब कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं करता है तो वह चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, चौबीस कर्मोंकी सत्ता वाले सम्यग्दृष्टि जीवोंके सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होनेपर उनके भी चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता बन जाती है। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीव चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धी रूपसे क्यों नहीं परिणमा लेता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ पर चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धीरूपसे परिणमानेका कारण-

भूत मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है। अथवा सासादन गुणस्थानमें जिस प्रकारके तीव्र संक्लेशरूप परिणाम पाये जाते हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें उस प्रकारके तीव्र संक्लेशरूप परिणाम नहीं पाये जाते हैं।

ध. १२/४,२,७,१७८/८२/६ जदि सम्मत्तपरिणामेहि अणंताणुबंधीणं विसंजोअणा कीरदे तो सव्वसम्माइट्ठीसु तब्भावो पसज्जदि त्ति वुत्ते ण, विसिट्ठेहि चेव सम्मत्तपरिणामेहि तव्विसंजोयणब्भुवगमादो त्ति। —प्रश्न—यदि सम्यक्त्वरूप परिणामोंकी अपेक्षा अनन्तानुबन्धी कषायोंकी विसंयोजना की जाती है, तो सभी सम्यग्दृष्टि जीवोंमें उसकी विसंयोजनाका प्रसंग आता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विशिष्ट सम्यक्त्व रूप परिणामोंके द्वारा ही अनन्तानुबन्धी कषायोंकी विसंयोजना स्वीकार की गयी है।

४. विसंयोजनाका जघन्य उत्कृष्ट काल

क. पा. २/२-२२/§ २८३-२८४/२४६/२ चउवीसविहत्ती केवचिरं कालादो। जहण्णेण अंतोमुहुत्तं (चूर्ण सूत्र) कुदो। अट्ठावीससंतकम्मियस्स सम्माइट्ठिस्स अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोइय चउवीस विहत्तीए आदि कादूण सव्वजहण्णंतोमुहुत्तमच्छिय खविदमिच्छत्तस्स चउवीस विहत्तीए जहण्णकालुवलंभादो। उक्कस्सेण बेछावट्ठि-सागरोवमाणि सादिरेयाणि। (चूर्ण सूत्र)। कुदो। छव्वीससंतकम्मियस्स लांतवकाविट्ठमिच्छाइट्ठिदेवस्स चोद्दससागरोवमाउट्ठिदियस्स तत्थ पढमे सागरे अंतोमुहुत्तावसेसे उवसमसम्मत्तं पडिवज्जिय सव्वलहुएण कालेण अणंताणुबंधिचउक्कं विसंजोइय चउवीसविहत्तीए आदि कादूण बिदियसागरोवमपढमसमए वेदगसम्मत्तं पडिवज्जिय तेरससागरोवमाणि सादिरेयाणि सम्मत्तमणुपालेदूण कालं कादूण पुव्वकोडिआउमणुस्सेसुववज्जिय पुणो एदेण"…(आगे केवल भावार्थ दिया है) —१. (चौबीस प्रकृति स्थानका कितना काल है? जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। (चूर्ण सूत्र)। वह ऐसे कि २८ प्रकृतिक स्थानवाले किसी जीवने अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक स्थानका प्रारम्भ किया। और अन्तर्मुहूर्त कालतक वहाँ रहकर मिथ्यात्वका क्षय किया। २. चौबीस प्रकृतिक स्थानका उत्कृष्ट काल साधिक १३२ सागर है। (चूर्ण सूत्र) वह ऐसे कि—२६ प्रकृतिक स्थानवाले किसी लांतव कापिष्ठ स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देवने अपनी आयुके प्रथम सागरमें अन्तर्मुहूर्त शेष रहनेपर उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त किया। तहाँ सर्व लघुकाल द्वारा अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करके २४ प्रकृतिक स्थानका प्रारम्भ कर लेता है। फिर दूसरे सागरके पहले समयमें वेदक सम्यक्त्वको प्राप्त करके साधिक १३ सागर काल तक वहाँ सम्यक्त्वका पालन करके और मरकर पूर्वकोटि प्रमाण आयुवाले मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् २२ सागर आयुवाले देव, मनुष्य तथा ३१ सागर आयुवाले देवोंमें उत्पन्न होता है। वहाँ सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्तकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त होता है। वहाँसे मरकर क्रमसे मनुष्य, २० सागर आयुवाले देव, मनुष्य, २२ सागर आयुवाले देव, मनुष्य, २४ सागर आयुवाले देव तथा मनुष्योंमें उत्पन्न होकर अन्तमें मिथ्यात्वका क्षय करता है। [नोट—मनुष्योंकी आयु सर्व कोटि पूर्व तथा देवोंकी आयु सर्वत्र कोटि पूर्व कम वह-वह आयु जाननी चाहिए। इस प्रकार १३+२२+३१+२०+२२+२४=१३२ सागर प्राप्त होता है। इस कालमें अन्तर्मुहूर्त पहिला तथा अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष अन्तिम भवके जोड़नेपर साधिकका प्रमाण आता है, क्योंकि अन्तिम मनुष्य भवमें इतना काल बीतनेपर मिथ्यात्वका क्षय करता है।]

★ पुनः संयोजना हो जानेपर अन्तर्मुहूर्त कालके बिना मरण नहीं होता—दे० मरण/३/६।

★ पुनः पुनः विसंयोजना करनेकी सीमा वश्य। असं० बार—दे० संयम/२।

५. अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना विधिमें त्रिकरण

ध. ६/१,६-८,१४/२८८/६ जो वेदगसम्माइट्ठी जीवो सो ताव पुव्वमेव अणंताणुबंधी विसंजोएदि। तस्स आणि करणाणि ताणि परूवेदव्वाणि। तं जधाअधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टीकरणं च। — (उपशम चारित्रकी प्राप्ति विधिमें) जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव है वह पूर्वमें ही अनन्तानुबन्धी चतुष्टयका विसंयोजन करता है। उसके जो कारण होते हैं उनका प्ररूपण करते हैं। वह इस प्रकार है—अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। — (विशेष दे० उपशम/२/१)। (ल. सा./मू./११२/१५०); (गो. क./जी. प्र./५५०/७४३/१६)।

६. अनन्तानुबन्धी विसंयोजन विधि

गो. क./जी. प्र./५५०/७४३/१६ अधःप्रवृत्तकरणप्रथमसमयात्प्रागुक्तचतुरावश्यकानि कुर्वन्…तच्चरमसमये सर्वं विसंयोजितं द्वादशकषायनवनोकषायरूपं नीतं। —[कोई एक वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अधःप्रवृत्त करणके योग्य चार आवश्यकोंको करके तदनन्तर अपूर्वकरणको प्राप्त होता है। वहाँ भी उसके योग्य चार आवश्यकोंको करते हुए प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें अथवा संयम या संयमासंयमकी उत्पत्तिमें गुणश्रेणी द्वारा प्रति समय असंख्यात गुणे अनन्तानुबन्धीके द्रव्यका अपकर्षण करता है। इससे भी असंख्यात गुणे द्रव्य अन्य कषायों रूपसे परिणमाता है। अनन्तर समयमें अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश पाकर स्थिति सत्त्वापसरण द्वारा (दे० अपकर्षण/३) अनन्तानुबन्धीकी स्थितिको घटाता हुआ अन्तमें उच्छिष्टावली मात्र स्थिति शेष रखता है। अनिवृत्तिकरणकालका अन्तिम अवलीमें उस आवली प्रमाण द्रव्यके निषेकोंको एक-एक करके प्रति समय अन्य प्रकृति रूप परिणमा कर गलाता है और इस प्रकार उस उच्छिष्टावलीके अन्तिम समय अनन्तानुबन्धी चतुष्कका पूरा द्रव्य बारह कषाय और नव नोकषाय रूप हो जाता है।]

[नोट—त्रिकरणोंका स्वरूप दे० 'करण']

★ सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी उद्वेलना —दे० संक्रमण/४।

विसंवाद—दे० वाद।

विसदृश—पं. ध./पू./३२८ यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति यतः। स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ।३२८। —ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ 'यह पूर्व ज्ञानरूप नहीं है' यह विसदृशका उदाहरण है। क्योंकि विवक्षित परिणामका अपने समयमें जो सत्त्व है दूसरे समयमें पर्यायार्थिक नयसे उसका वह सत्त्व नहीं है।

विसदृश प्रत्यभिज्ञान—दे० प्रत्यभिज्ञान।

विस्तार—१. जीवकी संकोच विस्तार शक्ति। —दे० जीव/३। Width or diameter. (जं. प./प्र. १०८)। ३. Details (ध. ५/प्र. २८)।

विस्तार सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१।

विस्तार सामान्य—दे० क्रम/६/तिर्यक प्रचय।

विस्तारासंख्यात—दे० असंख्यात।

विस्रसोपचय—

ध. १४/५. ६. ५०२/४३०/११ को विस्सासुवचओ णाम। पंचण्णं सरीराणं परमाणुपोग्गलाणं जे णिद्धादिगुणेहि तेसु पंचसरीरपोग्गलेसु लग्गा पोग्गला तेसिं विस्सासुवचओ त्ति सण्णा। तेसिं विस्सासुवचयाणं संबंधस्स जो कारणं पंचसरीरपरमाणुपोग्गलगओ णिद्धादिगुणो तस्स वि विस्सासुवचओ त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। —प्रश्न—विस्रसोपचय किसकी संज्ञा है? उत्तर—पाँच शरीरोंके परमाणुपुद्गलोंके मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणोंके कारण उन पाँच शरीरोंके पुद्गलोंमें लगे हुए हैं, उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है। उन विस्रसोपचयोंके सम्बन्धका पाँच शरीरोंके परमाणु पुद्गलगत स्निग्ध आदि गुणरूप जो कारण है उसकी भी विस्रसोपचय संज्ञा है, क्योंकि, यहाँ कार्यमें कारणका उपचार किया है।

गो. जी./मू. व जी. प्र./२४६/५१५/१५ जीवादोणंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया। जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडिसमाणा हु ।२४६। विस्रसा स्वभावेनैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते—तत्तत्कर्म-नोकर्म परमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धतां प्रतिपद्यन्ते इति विस्रसोपचयाः कर्मनोकर्मपरिणतिरहितपरमाणव इति भावः। —कर्म या नोकर्मके जितने परमाणु जीवके प्रदेशोंके साथ बद्ध हैं, उनमेंसे एक-एक परमाणुके प्रति जीवराशिसे अनन्तानन्त गुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही रूपसे स्थित है ।२४६। विस्रसा अर्थात् आत्मपरिणामसे निरपेक्ष अपने स्वभावसे ही उपचीयन्ते अर्थात् मिलते हैं वे परमाणु विस्रसोपचय हैं। कर्म व नोकर्म रूपसे परिणमे बिना जो उनके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणके द्वारा एक स्कन्धरूप होकर रहते है वे विस्रसोपचय हैं ऐसा भाव है।

* **विस्रसोपचय बन्ध**—दे० प्रदेशबन्ध।
* **विस्रसोपचयोंमें अल्पबहुत्व**—दे० अल्पबहुत्व/३।

विहायोगति—

स. सि./८/११/३९१/७ विहाय आकाशम्। तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम। —विहायस्का अर्थ आकाश है। उसमें गतिका निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१८/५७८/११); (ध. ६/१,९-१,२८/६१/१); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२२)।

ध. १३/५.५.१०१/३६५/२ जस्स कम्मस्सुदएण भूमिमोट्ठहिय अणोट्ठहिय वा जीवाणमागासे गमणं होदि तं विहायगदिणामं। —जिस कर्मके उदयसे भूमिका आश्रय लेकर या बिना उसका आश्रय लिये भी जीवोंका आकाशमें गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है।

ध. ६/१,९-१,२८/६१/२ तिरिक्ख-मणुसाणं भूमीए गमणं कस्स कम्मस्स उदएण। विहायगदिणामस्स। कुदो। विहत्थिमेत्तप्पायजीवपदेसेहि भूमिमोट्ठहिय सयलजीवपएसाणमायासे गमणुवलंभा। —प्रश्न—तिर्यंच और मनुष्योंका भूमिपर गमन किस कर्मके उदयसे होता है? उत्तर—विहायोगति नामकर्मके उदयसे, क्योंकि, विहस्तिमात्र (बारह अंगुल प्रमाण) पाँववाले जीवप्रदेशोंके द्वारा भूमिको व्याप्त करके जीवके समस्त प्रदेशोंका आकाशमें गमन पाया जाता है।

२. विहायोगति नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सूत्र ४३/७६ जं तं विहायगइणामकम्मं तं दुविहं, पसत्थविहायोगदी अप्पसत्थविहायोगदी चेदि ।४३। —जो विहायोगति नामकर्म है वह दो प्रकारका है—प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। (पं. सं./प्रा./२/४/व्याख्या/४८/११); (स. सि./८/११/३९१/७); (रा. वा./८/११/१८/५७८/१२); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२२)।

३. प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति नामकर्म

रा. वा./८/११/१८/५७८/१२ वरवृषभद्विरदादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम। उष्ट्रखराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम चेति। —हाथी बैल आदिकी प्रशस्त गतिमें कारण प्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है और ऊँट, गधा आदिकी अप्रशस्त गतिमें कारण अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है।

४. मनुष्यों आदिमें विहायोगतिका लक्षण कैसे घटित हो

रा. वा./८/११/१८/५७८/१४ सिद्धयमानजीवपुद्गलानां विहायोगतिः कुत इति चेत्। सा स्वाभाविकी। ननु च विहायोगतिनामकर्मोदयः पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु। कुतः। विहायसि गत्यभावात्; नैष दोषः सर्वेषां विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात्। —प्रश्न—नाम कर्मके अभावमें मुक्तजीवों और पुद्गलोंमें गति कैसे होती है? उत्तर—उनकी गति स्वाभाविक है (दे. गति/१)। प्रश्न—विहायोगति नामकर्मका ऐसा लक्षण करनेसे वह पक्षियोंमें ही घटित होगा, मनुष्यादिकोंमें नहीं, क्योंकि, उनके आकाशमें गमनका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अवगाहना शक्तिके योगसे सभी प्राणियोंके आकाशमें ही गति होती है।—(और भी. दे. विहायोगति/१ में ध./६)।

* **विहायोगति नाम कर्मके बंध उदय सत्त्व सम्बन्धी विषय**—दे. वह वह नाम।

विहार—

एक स्थानपर रहनेसे राग बढ़ता है इसलिए साधु जन नित्य विहार करते हैं। वर्षायोगके अतिरिक्त अधिक काल एक स्थानपर नहीं ठहरते। संघमें ही विहार करते हैं, क्योंकि, इस कालमें अकेले विहार करनेका निषेध है। भगवान्‌का विहार इच्छा रहित होता है।

१ साधुकी विहार चर्या

* **एकल विहारी साधुका स्वरूप**—दे० एकल विहारी।

१. एकाकी विहार व स्थानका निषेध

मू. आ./गा. सच्छंदगदागदसयणणिसियणादाणभिक्खवोसरणे। सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तुरिव एगागी ।१५०। गुरुपरिवादो सुदवोच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा। भेंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि ।१५१। कंटयखण्णुयपडिणियसाणागोणादिसप्पमेच्छेहिं। पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव ।१५२। गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो। गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो ।१५३। आणा अणवत्था विय मिच्छत्ताराहणादणासो य। संजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा ।१५४। तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा। आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य ।१५५। आइरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी। ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु ।१५६। आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊण। हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व ।१६०। —सोना, बैठना, ग्रहण करना, भिक्षा, मल त्याग करना, इत्यादि कार्योंके समय जिसका स्वच्छन्द गमनागमन है, स्वेच्छासे ही बिना अवसर बोलनेमें अनुरक्त है, ऐसा एकाकी मेरा बैरी भी न हो ।१५०। गणको छोड़ अकेले विहार करनेमें इतने दोष होते हैं—दीक्षागुरुकी निन्दा, श्रुतका विनाश, जिनशासनमें कलंक (जैसे—सब साधु ही ऐसे होंगे), मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता ।१५१। जो स्वच्छन्द विहार करता

है वह काँटे, स्थाणु, क्रोधसे आये हुए कुत्ते बैल आदि, सर्प, म्लेच्छ, विष, अजीर्ण, इनके द्वारा मरण व दुःख पाता है।१५२। शिथिलाचारी मुनि ऋद्धि आदि गौरववाला, भोगोंकी इच्छावाला, कुटिल स्वभावी, उद्यम रहित, लोभी, पापबुद्धि, होता हुआ मुनिसमूहमें रहते हुए भी दूसरेको नहीं चाहता।१५३। एकाकी स्वच्छन्द बिहारी साधुको आज्ञाकोप, अतिप्रसंग, मिथ्यात्वकी आराधना, अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंका घात, संयमका घात, ये पापस्थान अवश्य होते हैं।१५४। ऐसे गुरुकुलमें रहना ठीक नहीं, जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच मुनिराज संघके आधारभूत न हों।१५५। जो श्रमण संघको छोड़कर संघ रहित अकेला बिहार करता है और दिये उपदेशको ग्रहण नहीं करता है वह पापश्रमण कहा जाता है।१५६। जो पहिले शिष्यपना न करके आचार्यपना करनेको वेगवान है वह पूर्वापर विवेकरहित ढोढाचार्य है, जैसे अंकुशरहित मतवाला हाथी।१६०।

सू. पा./मू./६ उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्भो य गरुय भारो य। जो बिरहि सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छत्तं।६।—जो मुनि होकर उत्कृष्ट सिंहवृत्ति रूप प्रवर्तता है, बहुत तपश्चरण आदिसे संयुक्त है, बड़ा पदधारी है, परन्तु स्वच्छन्द प्रवर्तता है, वह पाप व मिथ्यात्वको ही प्राप्त होता है।१।

★ **एकाकी स्थानमें रहनेकी विधि**—दे० विविक्त शय्यासन।

२. एक स्थानमें ठहरनेकी अवधि

मू. आ./७८५ गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा। सवणा फासुबिहारी विवित्तएगंतवासी य।७८५।—जो ग्राममें एक रात और नगरमें पाँच दिनतक रहते हैं वे साधु धैर्यवान् प्रासुक बिहारी हैं, स्त्री आदि रहित एकान्त जगहमें रहते हैं—दे. वसतिका।

बो. पा./टी./४२/१०७/१ वसितै वा ग्रामनगरादौ वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यं।—अथवा, वसतिका या ग्राम नगर आदिमें ठहरना चाहिए। नगरमें पाँच रात ठहरना चाहिए और ग्राममें विशेष नहीं ठहरना चाहिए।

दे. मासैकवासता—(वसंतादि छहों ऋतुओंमेंसे एक एक ऋतुमें एक मास पर्यंत ही एक स्थानमें मुनि निवास करें, अधिक नहीं)।

दे. पाद्य स्थिति कल्प—[वर्षाकालमें आषाढ़ शु. १० से कार्तिक शु. पूर्णिमातक एक स्थानमें रहते हैं। प्रयोजनवश अधिक भी रहते हैं। परिस्थितिवश इस कालमें हानि वृद्धि भी होती है]।

३. साधुको अनियत बिहारी होना चाहिए

भ. आ./वि./उत्थानिका/१४२/३२४/८ योग्यस्य गृहीतमुक्त्युपायलिङ्गस्य श्रुतशिक्षापारस्य पञ्चविधविनयवृत्तेः स्ववशीकृतमनस अनियतवासो युक्तः।—जो समाधिमरणके लिए योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत लिंगको धारण किया है, जो शास्त्राध्ययन करनेमें तत्पर है; पाँच प्रकारका विनय करनेवाले, अपने मनको वश करनेवाले, ऐसे मुनियोंके लिए ग्राम नगर आदिक अनियत क्षेत्रमें निवास करना है।

४. अनियत बिहारका महत्त्व

भ. आ./मू./१४२-१५०/३२४-३४४ दंसणसोधी ठिदिकरणभावणा, अदिसयत्तकुसलत्तं। खेत्तपरिमग्गणावि य अणियदवासे गुणा होंति।१४२। जम्मण अभिणिक्खवणं णाणुप्पत्ती य तित्थणिसहीओ। पासंतस्स जिणाणं सुविसुद्धं दंसणं होदि।१४३। संविग्गं संविग्गाणं जणयदि सुविहिदो। सुविहिदाणं जुत्तो आउत्ताणं विसुद्धलेस्सो सुलेस्साणं।१४४। —अनियत बिहारी साधुको सम्यग्दर्शनकी शुद्धि, स्थितिकरण, रत्नत्रयकी भावना व अभ्यास, शास्त्र-कौशल, तथा समाधिमरणके योग्य क्षेत्रकी मार्गणा, इतनी बातें प्राप्त होती हैं।१४२। अनियत बिहारीको तीर्थंकरोंके जन्म, निष्क्रमण, ज्ञान आदिके स्थानोंका दर्शन होनेसे उसके सम्यग्दर्शनमें निर्मलता होती है।१४३। अन्य मुनि भी उसके संवेग वैराग्य, शुद्ध लेश्या, तप आदिको देखकर वैसे ही बन जाते हैं, इसलिए उसे स्थितिकरण होता है।१४४। [तथा अन्य साधुओंके गुणोंको देखकर वह स्वयं भी अपना स्थितिकरण करता है।१४६। परीषह सहन करनेकी शक्ति प्राप्त करता है।१४७। देश-देशान्तरोंकी भाषाओं आदिका ज्ञान प्राप्त होता है।१४८। अनेक आचार्योंके उपदेश सुननेके कारण सूत्रका विशेष अर्थ व अर्थ करनेकी अनेक पद्धतियोंका परिज्ञान होता है।१४६। अनेक मुनियोंका संयोग प्राप्त होनेसे साधुके आचार-बिहार आदिकी विशेष जानकारी हो जाती है।१५०।]

५. वीतराग सर्वदा अनियत बिहारी है

भ. आ./मू./१५३/३५० वसधीसु य उवधीसु य गामे णयरे गणे य सण्णिजणे। सव्वत्थ अपडिबद्धो समासदो अणियदबिहारो।१५३। —वसतिका, उपकरण, गाँव, नगर, स्वसंघ, श्रावकलोक, इन सबोंमें जो ममत्व रहित है, वह साधु भी अनियत बिहारी है; ऐसा संक्षेपमें जानना चाहिए।१५३।

★ **चातुर्मासमें व अन्य कालोंमें बिहार करने सम्बन्धी कुछ नियम**—दे० बिहार/१/२।

६. बिहार विधि योग्य कृतिकर्म

भ. आ./वि./१५०/३४४/६ स्वावासदेशाद्देशान्तरं गन्तुमिच्छता शीतलादुष्णाद्वा देशाच्छरीरप्रमार्जनं कार्यं, तथा विशतापि। किमर्थं। शीतोष्णजन्तूनामाबाधापरिहारार्थं अथवा श्वेतरक्तगुणासु भूमिषु अन्यस्या निष्क्रमेण अन्यस्याश्च प्रवेशने प्रमार्जनं कटिप्रदेशादधः कार्यं। अन्यथा विरुद्धयोनिसंक्रमेण पृथिवीकायिकानां तद्भूमिभागोत्पन्नानां त्रसानां चाबाधा स्यात्। तथा जलं प्रविशता सचित्ताचित्तरजसो. पदादिषु लग्नयोर्निरास.। यावच्च पादौ शुष्यतस्तावन्न गच्छेज्जलान्तिक एव तिष्ठेत्। महतीनां नदीनां उत्तरणे आराद्भागे कृतसिद्धवन्दन यावत्परकूलप्राप्तिस्तावन्मया सर्वं शरीरभोजनमुपकरणं च परित्यक्तमिति गृहीतप्रत्याख्यानः समाहितचित्तो द्रोण्यादिकमारोहेत। परकूले च कायोत्सर्गेण तिष्ठेत्। तदतिचारव्यपोहार्थं। —स्व आवासदेशसे देशान्तरको जानेका इच्छुक साधु जब शीतल स्थानसे उष्ण स्थानमें अथवा उष्ण स्थानसे शीतल स्थानमें, श्वेत भूमिसे रक्त भूमिमें अथवा रक्त-भूमिसे श्वेत भूमिमें प्रवेश करता है तब उसे कोमल पीछीसे अपने शरीरका प्रमार्जन करना चाहिए अन्यथा विरुद्ध योनि संक्रम द्वारा क्षुद्र पृथिवीकायिक व त्रस जीवोंको बाधा होगी। जलमें प्रवेश करनेके पूर्व साधुको पाँव आदि अवयवोंसे सचित्त व अचित्त धूलिको दूर करना चाहिए और जलसे बाहर आनेपर जबतक पाँव न सूख जाय तबतक जलके समीप ही खड़ा रहे। बड़ी नदियोंको उल्लंघन करते समय प्रथम तटपर सिद्ध वन्दना कर दूसरे तटकी प्राप्ति होनेतकके लिए शरीर आहार आदिका प्रत्याख्यान करना चाहिए। प्रत्याख्यान करके नौका वगैरहपर आरूढ़ होवे। और दूसरे तटपर पहुँचकर अतिचार दूर करनेके लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। (भ.आ./वि./६६/२३४/८; १२०६/१२०४/६)।

★ **अवसर पड़नेपर नौकाका ग्रहण**—दे० ऊपर वाला शीर्षक।

७. साधुके विहार योग्य क्षेत्र व मार्ग

भ. आ./मू. व वि./१५२/३४६ संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य। तं खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं।१५२। फासुविहारो य प्रासुकं विहरणं जीवबाधारहितं गमनं अत्रसहरित-बहुलत्वावप्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य। सुलभवुत्ती य सुखेना-क्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे। तं खेत्तं तं क्षेत्रं। –संयमी मुनिको प्रासुक और सुलभ वृत्ति योग्य क्षेत्रोंका अवलोकन करना योग्य है। जहाँ गमन करनेसे जीवोंको बाधा न हो, जो त्रस जीवों व वनस्पतियोंसे रहित हो, जहाँ बहुत पानी व कीचड़ न हो वह क्षेत्र प्रासुक है। मुनियोंके विहारके योग्य है। जिस क्षेत्रमें मुनियोंको सुलभतासे आहार मिलेगा वह क्षेत्र अपनेको व अन्य मुनियोंको सल्लेखनाके योग्य है।

मू. आ./३०४-३०६ सयडं जाणं जुग्गं वा रहो वा एवमादिया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे।३०४। हत्थी अस्सा खरोट्ठो वा गोमहिसगवेलया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे।३०५। इत्थी पुंसादि गच्छंति आदावेण य जं हदं। सत्थपरि-णदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे।३०६। –बैलगाड़ी, हाथीकी अंबारी, डोली आदि, रथ इत्यादिक बहुत बार जिस मार्गसे चलते हों वह मार्ग प्रासुक है।३०४। हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी आदि जीव बहुत बार जिस मार्गसे गये हों, वह मार्ग प्रासुक है।३०५। स्त्री, पुरुष, जिस मार्गमें तेजीसे गमन करें और जो सूर्य आदिके आतापसे व्याप्त हो, तथा हलादिसे जोता गया हो, वह मार्ग प्रासुक है। ऐसे मार्गसे चलना योग्य है।३०६।

२. अर्हंत भगवान्‌की विहार चर्या

★ भगवान्‌का विहार इच्छा रहित है—दे० दिव्य-ध्वनि/२/२

१. आकाशमें पदविक्षेप द्वारा गमन होता है

स्व. स्तो/१०८ ... भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुज-मृदुहासा।१०८। –हे मल्लिनाथ जिन! आपके विहारके समय पृथिवी भी पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी।

ह. पु./३/२४ पादपद्मं जिनेन्द्रस्य सप्तपद्मैः पदे पदे। भुवेव नभसा-गच्छदुद्गच्छद्भिः प्रपूजितम्।२४। –भगवान् पृथिवीके समान आकाश मार्गसे चल रहे थे, तथा उनके चरण कमल पद-पदपर खिले हुए सात-सात कमलोंसे पूजित हो रहे थे।२४। (चैत्यभक्ति/१ की टीका)।

एकीभावस्तोत्र/७ पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं, हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः।...। –हे भगवन्! आपके पादन्याससे यह त्रिलोककी पृथिवी स्वर्ण सरीखी हो गयी।

भक्तामर स्तोत्र/३६ पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।३६। –हे जिनेन्द्र! आप जहाँ अपने दोनों चरण रखते हैं वहाँ ही देव जन कमलोंकी रचना कर देते हैं।

दे० अर्हंत/६, –('आकाश गमन' यह भगवान्‌के केवलज्ञानके अति-शयोंमें-से एक है)।

चैत्य भक्ति/टीका/१ सेवां वा प्रचारो रचना 'पादन्यासे पद्म' सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त' इत्येवंरूपः तत्र विजृम्भितौ प्रवृत्तौ विलसितौ वा। –[मूलमें 'हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ' ऐसा पद है। उसका अर्थ करते हैं।] भगवान्‌के दोनों चरणोंका प्रचार अर्थात् रचना। भगवान्‌के पादन्यासके समय उनके चरणोंके नीचे सात-सात कमलोंकी रचना होती है। उससे उनके चरण शोभित होते हैं।

२. आकाशमें चरणक्रम रहित गमन होता है

चैत्य भक्ति/टीका/१ प्रचारः प्र... ऽन्यजनासंभवी चरणक्रमसंचार-रहितप्रचारो गमनं तेन विजृम्भितौ विलसितौ शोभितौ। –[मूल श्लोकमें 'हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ' यह पद दिया है। इसका अर्थ करते हैं] प्रचार अर्थात् प्रकृष्ट चार या गमन। अन्य जनोंको जो सम्भव नहीं ऐसा चरणक्रम संचारसे रहित गमनके द्वारा भगवान्‌के दोनों चरण शोभित होते हैं।

३. कमलासनपर बैठे-बैठे ही विहार होता है

जिन सहस्रनाम (ज्ञानपीठ प्रकाशन)। पृ. २०७, १०८, १०, १६७, १८३ का भावार्थ–[भगवान् ऋषभदेवका केवलज्ञान काल कुछ कम पूर्वकोटि और भगवान् महावीरका ३० वर्ष प्रमाण था–(दे० तीर्थंकर/५)।]–उपरोक्त प्रमाणोंमें भगवान्‌को उत्कृष्टतः कुछ कम पूर्वकोटि और जघन्यतः ३० वर्षप्रमाण कालतक पद्मासनसे स्थित रहना बताया है। इस प्रकार अपने सम्पूर्ण केवलज्ञान कालमें एक आसनपर स्थित रहते हुए ही विहार व उपदेश आदि देते हैं। अथवा जिस १००० पाँखुडी वाले स्वर्ण कमलपर ४ अंगुल ऊँचे स्थित हैं वही कमलासन या पद्मासन है। ऐसे पद्मासनसे ही वे उपदेश व विहार आदि करते हैं।

विहारवत् स्वस्थान—दे. क्षेत्र/१।

वीचार—दे. विचार।

वीचारस्थान—दे. स्थिति/१।

वीतभय—म. पु./५९/श्लोक–पूर्व धातकी खण्डमें राजा अर्हद्दासकी पुत्रीसे उत्पन्न एक बलभद्र था। दीर्घकाल राज्य किया।२७६-२७९। अन्तमें दीक्षा ले लान्तव स्वर्गमें उत्पन्न हुआ।२८०। यह 'मेरु' नामक गणधरका पूर्वका दूसरा भव है–दे. मेरु।

वीतराग—१. लक्षण

ध. १/१,१,१९/१८८/६ वीतो नष्टो रागो येषां ते वीतरागाः। –जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं।

प्र. सा./ता. प्र./१४ सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृत-निर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। –सकल मोहनीयके विपाकसे भेदकी भावनाकी उत्कृष्टतासे (समस्त मोहनीय कर्मके उदयसे भिन्न-त्वकी उत्कृष्ट भावनासे निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग है, (वह श्रमण शुद्धोपयोगी है)।

ल. सा./जी. प्र./३०४/३८५/१७ वीतोऽपगतो रागः संक्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतरागः। –राग अर्थात् संक्लेश परिणाम नष्ट हो जानेसे वीतराग है।

दे. सामायिक/१/समता (समता, माध्यस्थ्य, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची हैं।)– (और भी दे. मोक्षमार्ग/२/५)

★ **वैराग्य व वैरागी**—दे. वैराग्य।

वीतराग कथा—दे. कथा।

वीतराग चारित्र—दे. चारित्र/१।

वीतराग छद्मस्थ—दे. छद्मस्थ/२।

वीतराग सम्यग्दर्शन—दे. सम्यग्दर्शन/II/४।

वीतराग स्तोत्र—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत एक संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र।

वीतशोक—१. एक ग्रह—दे. ग्रह। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर।

वीतशोका—१. अपर विदेहके सरित क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे. लोक५/२;२. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित एक वापी—दे. लोक/४/५ व ५/११।

वीर—१. नि./सा./ता. वृ./१ वीरो विक्रान्तः वीरयते शूरयते विक्रामति कर्मारातीन् विजयत इति वीरः—श्री वर्द्धमान-सन्मतिनाथ-महतिमहावीराभिधानैः सनाथः परमेश्वरो महादेवाधिदेवः पश्चिम-तीर्थनाथ.। —'वीर' अर्थात् विक्रान्त (पराक्रमी); वीरता प्रगट करे, शौर्य प्रगट करे, विक्रम (पराक्रम) दर्शाये, कर्म शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे, वह 'वीर' है। ऐसे वीरको जो कि श्री वर्द्धमान, श्री सन्मतिनाथ, श्री अतिवीर तथा श्री महावीर इन नामोंसे युक्त हैं, जो परमेश्वर हैं, महादेवाधिदेव हैं तथा अन्तिम तीर्थनाथ हैं।—(विशेष.दे. महावीर)। २. म. पु./सर्ग/श्लो.—अपर नाम गुणसेन था। (४९/३७५)। पूर्व भव नं. ६ में नागदत्त नामका एक वणिक्-पुत्र था। (८/२३१)। पूर्व भव नं. ५ में वानर (८/२३३)। पूर्व भव नं. ४ में उत्तरकुरुमें मनुष्य। (९/९०)। पूर्वभव नं. ३ में ऐशान स्वर्गमें देव। (९/१८७)। पूर्वभव नं. २ में रतिषेण राजाका पुत्र चित्रांग (१०/१५१)। पूर्वभव नं. १ में अच्युत स्वर्गका इन्द्र (१०/१७२) अथवा जयन्त स्वर्गमें अहमिन्द्र (११/१०, १६०)। वर्तमान भवमें वीर हुआ (१६/३)। [युगपत् सर्वभव दे. म. पु./४७/३७४-३७५] भरत चक्रवर्तीका छोटा भाई था (१६/३)। भरत द्वारा राज्य माँगनेपर दीक्षा धारण कर ली (३४/१२६)। भरतकी मुक्तिके पश्चात भगवान् ऋषभदेवके गुणसेन नामक गणधर हुए (४७/३७५)। अन्तमें मोक्ष सिधारे (४७/३९९)। ३. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे. विद्याधर। ४. सौधर्म स्वर्गका ५वाँ पटल—दे. स्वर्ग/५/३।

वीरचंद्र—१. नागसेन (ई. १०४७) के शिक्षा गुरु। समय तदनुसार ई. श. ११ पूर्व। (दे. नागसेन। २ नन्दिसंघ बलात्कार गण की सूरत शाखा में लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य। कृतियें—वीर विलास फाग, जम्बू स्वामी वेलि, जिनान्तर, सीमन्धर स्वामी गीत इत्यादि ८ काव्य। समय—वि. १५५६-१५८५। (दे. इतिहास/७/४), (ती./३/३७४)।

वीरजयंतीव्रत—भगवान् वीरकी जन्म तिथिको अर्थात् चैत्र शु. १३ को उपवास करे। 'ओं ह्रीं श्री महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

वीरनंदि—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप वसुनन्दिके शिष्य तथा रत्ननन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ५३१-५६१ (ई. ६०९-६३९)—(दे. इतिहास/७/ २)। २. नन्दि संघ देशीयगण के अनुसार आप पहले मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य थे और पीछे विशेष अध्ययन के लिए अभयनन्दि की शाखा में आ गए थे। इन्द्रनन्दि तथा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के सहधर्मा थे, परन्तु ज्येष्ठ होने के कारण आपको नेमिचन्द्र गुरु तुल्य मानते हैं। कृतियें—चन्द्रप्रभ चरित्र (महाकाव्य), शिल्पसंहिता, आचारसार। समय—नेमिचन्द्र के अनुसार ई. ९५०-९९९। (दे. इतिहास/७/५); (ती./३/५३-५२)। ३. नन्दिसंघ देशीयगण की गुणनन्दि शाखा के अनुसार आप दाम नन्दि के शिष्य तथा श्रीधर के गुरु थे। समय—वि. १०२५-१०५५ (ई. ९६८-९९८)। (दे. इतिहास/७/५)। ४. नन्दि-संघ देशीयगण के अनुसार आप मेघचन्द्र त्रैविद्य देव के शिष्य हैं। कृति—आचारसार तथा उसकी कन्नड़ टीका। समय—मेघचन्द्र के समाधिकाल (शक १०३७) के अनुसार ई. श. १२ का मध्य। (ती./३/१७१)।

वीरनिर्वाण संवत्—दे. इतिहास/२/२,१०
(विशेष दे. कोश १/ परिशिष्ट/१,१)।

वीर मार्तंडी—चामुण्डराय (ई. श. १०-११) द्वारा रचित गोमट्टसारकी कन्नड़ वृत्ति।

वीरवित—पुन्नाटसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहबलके शिष्य तथा पद्मसेनके गुरु थे—दे इतिहास/७/८।

वीर शासन दिवस—दे. महावीर।

वीर शासन जयंतीव्रत—भगवान् वीरकी दिव्यध्वनिकी प्रथम तिथि श्रावण कृ. १ को उपवास करे। 'ओं ह्रीं श्री महावीराय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ. १०४)

वीरसागर—बम्बई प्रान्तके वीर ग्राम निवासी एक खण्डेलवाल जैन थे। पिताका नाम रामदास था। श्री शान्तिसागरके शिष्य तथा आ. शिवसागरके गुरु थे। आश्विन शु. ११ वि. १९८१ को दीक्षित हुए। अपने अन्तिम दो वर्षोंमें आचार्य पदपर आसीन रहे। समय—वि. १९८१-२०१४ (ई. १९२४-१९५७)

वीरसेन—१. पंचस्तूप संघ के अन्वय में आप आर्यनन्दि के शिष्य और जिनसेन के गुरु थे। चित्रकूट निवासी ऐलाचार्य के निकट सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन करके आप वाटग्राम (बड़ौदा) आ गए। वहाँ के जिनालय में षट्खण्डागम तथा कषायपाहुड की आ. बप्पदेव कृत व्याख्या देखी जिससे प्रेरित होकर आपने इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थों पर धवला तथा जयधवला नाम की विस्तृत टीकायें लिखीं। इनमें से जयधवला की टीका इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने ई. ८३७ में पूरी की थी। धवला की पूर्ति के विषय में मतभेद है। कोई ई. ८१६ में और कोई ई. ७८१ में मानते हैं। हरिवंश पुराण में पुन्नाटसंघीय जिनसेन द्वारा जयधवलाकार जिनसेन का नामोल्लेख प्राप्त होने से यह बात निश्चित है कि शक ७०३ (ई. ७८१) में उनकी विद्यमानता अवश्य थी। (दे. कोष २ में परिशिष्ट १)। पुन्नाट संघ की गुर्वावली के साथ इसकी तुलना करने पर हम वीरसेन स्वामी को शक ६९०-७४१ (ई. ७७०-८२७) में स्थापित कर सकते हैं। (जै./१/२५५), (ती./२/३२४)। २. माथुरसंघ की गुर्वावली के अनुसार आप रामसेन के शिष्य और देवसेन के गुरु थे। समय—वि. ९५०-९८० (ई. ८९३-९२३)। (दे. इतिहास/७/११)। ३. लाड़बागड़ गच्छ की गुर्वावली के अनुसार आप ब्रह्मसेन के शिष्य और गुणसेन के गुरु थे। समय—वि. ११०५ (ई. १०४८)। (दे. इतिहास/७/१०)।

वीरसेन—ह. पु./४३/श्लो. नं.—वटपुर नगर का राजा था।१६३। राजा मधु द्वारा स्त्रीका अपहरण हो जाने-पर पागल हो गया।१८७। तापस होकर तप किया, जिसके प्रभावसे धूमकेतु नामका विद्याधर हुआ।२२१। यह प्रद्युम्न कुमारको हरण करनेवाले धूमकेतुका पूर्व भव है।—दे० धूमकेतु।

वीरासन—दे आसन।

वीर्य—

स. सि. /६/६/३२३/१२ द्रव्यस्य स्वशक्तिविशेषो वीर्यम्। —द्रव्यकी अपनी शक्ति विशेष वीर्य है। (रा. वा./६/६/६/५१२/७)।

ध. १३/५,५,१३८/३९०/१ वीर्यं शक्तिरित्यर्थः। —वीर्यका अर्थ शक्ति है।

मोक्ष पंचाशत/४७ आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीरच या। उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुंगवैः।४७। —निर्विकार आत्मा-का जो उत्साह या कृतकृत्यत्वरूप बुद्धि, उसे ही मुनिजन वीर्य कहते हैं।

स. सा./आ./परि/शक्ति नं. ६ स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। —स्वरूप (आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति है।

२. वीर्यके भेद

न. च. वृ./१५ की टिप्पणी—क्षायोपशमिकी शक्तिः क्षायिकी चेति शक्तेर्द्वौ भेदौ। —क्षायोपशमिकी व क्षायिकीके भेदसे शक्ति दो प्रकार है।

३. क्षायिक वीर्यका लक्षण

स. सि./२/४/१५४/१० वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम्। —वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक अनन्त वीर्य प्रगट होता है। (रा. वा./२/४/६/१०६/६)।

रा. वा./२/४/७/१०५/१५ केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्तिः। —सिद्ध-भगवान्‌में केवलज्ञानरूपसे अनन्त वीर्यकी वृत्ति है।

प. प्र./टी./१/६१/६१/१२ केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते। —केवलज्ञानके विषयमें अनन्त पदार्थोंको जाननेकी जो शक्ति है वही अनन्तवीर्य है (द्र. सं./टी./१४/४२/११)।

४. वीर्यगुण जीव व अजीव दोनोंमें होता है

गो. क./जी. प्र./१६/११/१० वीर्यं तु जीवाजीवगतमिति। —वीर्य जीव तथा अजीव दोनोंमें पाया जाता है।

५. वीर्य सर्व गुणोंका सहकारी है

द्र. सं./टी./६/१६/७ छद्मस्थानां वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षयो ज्ञानचारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः। —छद्मस्थोंके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और केवलियोंके उसका सर्वथा क्षय ज्ञान चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी कारण है।

★ सिद्धोंमें अनन्त वीर्य क्या—दे. दान/२।

वीर्य प्रवाद—श्रुतज्ञानका तीसरा पूर्व—दे. श्रुतज्ञान/III।

वीर्य लब्धि—दे. लब्धि/१।

वीर्यान्तराय—दे. अन्तराय।

वीर्याचार—दे. आचार।

वृंदावन—शाहाबाद जिलेके बनारस व आराके मध्य बारा नामके ग्राममें वि. १८४२ में जन्म हुआ। अग्रवालवंशके गोयल गोत्री थे। पीछे वि. सं. १८६० में बारा छोड़कर काशी रहने लगे। भाषाके प्रसिद्ध कवि थे। प्रवचनसारकी प्रशस्तिके अनुसार आपकी वंशावली निम्न प्रकार है—
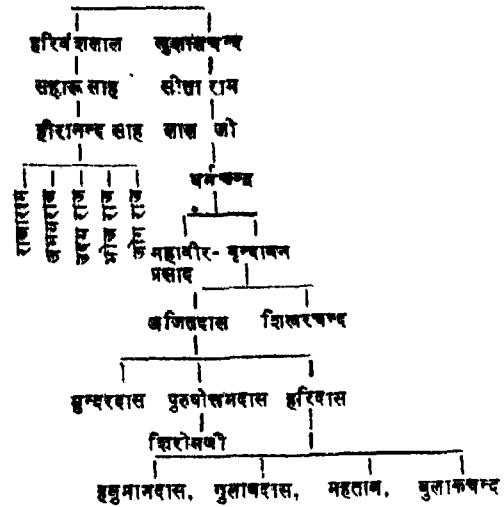
कृतियाँ—१. तीस चौबीसी पाठ, २. चौबीसी पाठ, ३. समवशरण पूजा पाठ, ४. अर्हत्पासाकेवली, ५. छन्दशतक, ६. वृन्दावन विलास, (पिंगल ग्रन्थ), ७. प्रवचनसार टीका। समय, ई. १८०३ १८४८। वि. १८६०-१९०५। वि. १९०५ में अन्तिम कृति प्रवचनसार टीका पूरी की। (वृन्दावन विलास/प्र. ५/प्रेमी जी)। (ती०/४/२६६)

वृंदावन विलास—कवि वृन्दावन (ई. १८०३-१८४८) रचित एक भाषा पदसंग्रह।

वृंदावली—आवलीके समय/३।

वृकार्थक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

वृक्ष—जैनाम्नायमें कल्पवृक्ष व चैत्य वृक्षोंका प्रायः कथन आता है। भोगभूमिमें मनुष्योंकी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको चिन्ता मात्रसे पूरी करने वाले कल्पवृक्ष हैं और प्रतिमाओंके आश्रयभूत चैत्यवृक्ष हैं। यद्यपि वृक्ष कहलाते हैं, परन्तु ये सभी पृथिवीकायिक होते हैं, वनस्पति कायिक नहीं।

१. कल्पवृक्ष निर्देश

१. कल्पवृक्षका सामान्य लक्षण

ति. प./४/३४१ गामणयरादि सव्वं ण होदि ते होंति सव्वकप्पतरू। णियणियमणसंकप्पियवत्थूणि देंति जुगलाणं।३४१। —इस (भोग-भूमिके) समय वहाँपर गाँव व नगरादिक सब नहीं होते, केवल वे सब कल्पवृक्ष होते हैं, जो जुगलोंको अपने-अपने मनकी कल्पित वस्तुओंको दिया करते हैं।

२. १० कल्पवृक्षोंके नाम निर्देश

ति. प./४/३४२ पाणंगतूरियंगा भूसणवत्थंगभोयणंगा य। आलय-दीवियभायणमालातेजंग आदि कप्पतरू।३४२। —भोगभूमिमें पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग आदि कल्पवृक्ष होते हैं।३४२। (म. पु./९/३५); (त्रि. सा./७८७)।

३. १० कल्पवृक्षोंके लक्षण

ति. प./४/३४३-३५३ पाणं मधुरसुसादं छरसेहिं जुदं पसत्थमइसीदं। बत्तीसभेदजुत्तं पाणंगा देंति तुट्ठिपुट्ठियरं।३४३। तूरंग

वरवीणापटुपटहमुइंगझल्लरीसंखा । दुंदुभिभंभाभेरीकाहलपहुदाइ देंति तुरगा ।३४४। तरओ वि भूसणंगा कंकणकडिसुत्तहारकेयूरा। मंजीरकडयकुंडलतिरीडमउडादियं देंति ।३४५। वत्थंगा णित्त पड-चीणसुवरखउमपहुदिवत्थाणि । मणणयणाणंदकरं णाणावत्थादि ते देंति ।३४६। सोलसविहमाहार सोलसभेयाणि वेंजणाणि पि। चोद्दसविहसोवाइं खज्जाणि विगुणचउवण्णं ।३४७। सायाणं च पयारे तेसट्ठीसंजुदाणि तिसयाणि रसभेदा । तेसट्ठी देंति फुडं भोयणंगदुमा ।३४८। सत्थिअणंदावत्तप्पमुहा जे के वि दिव्वपासादा। सोलसभेदा रम्मा देंति हु ते आलयंगदुमा ।३४९। दीवंदुमा साहापवालफलकुसुममंकुरादीहिं । दीवा इव पज्जलिदा पासादे देंति उज्जोवं ।३५०। भायणअंगा कंचणबहुरयणविणिम्मियाइ धवलाइं। भिंगारकलसगग्गरिचामरपीढादियं देंति ।३५१। वल्लीतरुगुच्छलदुब्भवाण सोलससहस्सभेदाणं । मालंगदुमा देंति हु कुसुमाणं विविहमालाओ ।३५२। तेजंगा मज्झदिणदिणयरकोडीणकिरण-संकासा । णक्खत्तचंदसूरप्पहुदीणं कंतिसहरणा ।३५३।

म. पु./९/३७-३९ मद्याङ्गा मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिकान् । रसभेदांस्ततामोदान् वितरन्त्यमृतोपमान् ।३७। कामोद्दीपनसाधर्म्यात् मद्यमित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं य. सेव्यो भोगभूमिजैः ।३८। मदस्य करणं मद्यं पानशौण्डैर्यदादृतम् । तद्वर्जनीयमार्याणाम् अन्तःकरणमोहदम् ।३९। – इनमें से पानांग जातिके कल्पवृक्ष भोगभूमिजोंको मधुर, सुस्वादु, छह रसोंसे युक्त, प्रशस्त, अतिशीत और तुष्टि एवं पुष्टिको करनेवाले, ऐसे बत्तीस प्रकारके पेय द्रव्यको दिया करते हैं। (इसीका अपर नाम मद्यांग भी है, जिसका लक्षण अन्तमें किया है) ।३४३। तूर्यांग जातिके कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु, पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुंदुभि, भंभा, भेरी और काहल इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकारके वादित्रोंको देते हैं ।३४४। भूषणांग जातिके कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि आभूषणोंको प्रदान करते हैं ।३४५। वे वस्त्रांग जातिके कल्पवृक्ष नित्य चीनपट एवं उत्तम क्षौमादि वस्त्र तथा अन्य मन और नयनोंको आनन्दित करनेवाले नाना प्रकारके वस्त्रादि देते हैं ।३४६। भोजनांग जातिके कल्पवृक्ष सोलह प्रकारका आहार व सोलह प्रकारके व्यंजन, चौदह प्रकारके सूप (दाल आदि), एक सौ आठ प्रकारके खाद्य पदार्थ, स्वाद्य पदार्थोंके तीन सौ तिरेसठ प्रकार, और तिरेसठ प्रकारके रसभेदोंको पृथक्-पृथक् दिया करते हैं। ३४७-३४८। आलयांग जातिके कल्पवृक्ष, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त इत्यादिक जो सोलह प्रकारके रमणीय दिव्य भवन होते हैं, उनको दिया करते हैं। ।३४९। दीपांग जातिके कल्पवृक्ष प्रासादोंमें शाखा, प्रवाल (नवजात पत्र), फल फूल और अंकुरादिके द्वारा जलते हुए दीपकोंके समान प्रकाश देते हैं ।३५०। भाजनांग जातिके कल्पवृक्ष सुवर्ण एवं बहुतसे रत्नोंसे निर्मित धवल झारी, कलश, गागर, चामर, और आसनादिक प्रदान करते हैं ।३५१। मालांग जातिके कल्पवृक्ष वल्ली, तरु, गुच्छ, और लताओंसे उत्पन्न हुए सोलह हजार भेदरूप पुष्पोंकी विविध मालाओंको देते हैं ।३५२। तेजांग जातिके कल्पवृक्ष मध्यंदिनके करोड़ों सूर्योंकी किरणोंके समान होते हुए नक्षत्र, चन्द्र, और सूर्यादिककी कान्तिका संहरण करते हैं। ३५३। (म. पु./९/३९-४८) (पानांग जातिके कल्पवृक्षका मद्यांग भी कहते हैं) इनमें मद्यांग जातिके वृक्ष फैलती हुई सुगन्धीसे युक्त तथा अमृतके समान मीठे मधु-मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि अनेक प्रकारके रस देते हैं ।३७। कामोद्दीपनकी समानता होनेसे शीघ्र ही इन मधु आदिको उपचारसे मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एक प्रकारके रस हैं जिन्हें भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष सेवन करते हैं ।३८। मद्यपायी लोग जिस मद्यका पान करते हैं, वह नशा करने वाला है और अन्तःकरणको मोहित करने वाला है, इसलिए आर्य पुरुषोंके लिए सर्वथा त्याज्य है ।३९।

*** वृक्षों व कमलों आदिका अवस्थान, विस्तार व चित्र**
—दे० लोक।

७. लोकमें वर्णित सब वृक्ष व कमल आदि पृथिवी-कायिक होते हैं

ति. प./४/ गाथा नं. गंगाणईण मज्झे उब्भासदि एउ मणिमओ कूडो। ।२०५। वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालसंजुत्तो।...।२०६। चामीयरकेसरेहिं संजुत्तो ।२०७। ते सव्वे कप्पदुमा ण वणप्फदी णो वेंतरा सव्वे। णवरि पुढविसरूवा पुण्णफलं देंति जीवाणं ।३५४। सहिदो वियसिअकुसुमेहिं सुहसंचयरयणरचिदेहिं ।१६५६। दहमज्झे अरविंदयणालं बादालकोससमुव्विद्धं । इगिकोस बाहल्लं तस्स मुणालं ति रजदमयं ।१६६७। कंदो यरिट्ठरयणं णालो वेरुलियरयणणिम्मविदो। तस्सुवरि दरवियसियपउम चउकोससमुव्विद्धं ।१६६८। सोहेदि तस्स खंधो फुरंतवरकिरणपुस्सरागमओ ।२१५५। साहासुं पत्ताणि मरगयवेरुलियणीलइंदाणि । विविहाइं कक्केयणचामीयरविद्दुममयाणि ।२१५७। सम्मलितरुणो अंकुर कुसुमफलाणि विचित्तरयणाणि। पणपवण्णसोहिदाणि णिरुवमरूवाणि रेहंति ।२१५८। सामलिरुक्खसरिच्छं जंबूरुक्खाण वण्णणं सयलं ।२१६६।

ति. प./८/४०५ सयलिंदमंदिराणं पुरदो णग्गोहपायवा होंति । एक्केक्कं पुढमिमया पुव्वोदिद जंबुदुमसरिसा ।४०५। – १. गंगा नदीके बीचमें एक मणिमय कूट प्रकाशमान है ।२०५। यह मणिमय कूट विकसित कमलके आकार, रमणीय और वैडूर्यमणि नालसे संयुक्त है ।२०६। यह सुवर्णमय परागसे संयुक्त है ।२०७। (तिं. प./४/२५३-२५५)। २. ये सब कल्पवृक्ष न तो वनस्पति ही है और न कोई व्यन्तर देव है, किन्तु विशेषता यह है कि ये सब पृथिवीरूप होते हुए जीवोंको उनके पुण्य कर्मका फल देते हैं ।३५४। (म पु./९/४९), (अन. ध./१/३८/५८ पर उद्धृत। ३. पद्म द्रह शुभ संचय युक्त रत्नोंसे रचे गये विकसित फूलोंसे सहित है ।१६५६। तालाबके मध्यमें ब्यालीस कोस ऊँचा और एक कोस मोटा कमलका नाल है। इसका मृणाल रजतमय और तीन कोस बाहल्यसे युक्त है। १६६७। उस कमलका कन्द अरिष्ट रत्नमय और नाल वैडूर्य मणिसे निर्मित है। इसके ऊपर चार कोस ऊँचा विकसित पद्म है ।१६६८। (सो कमल पृथिवी साररूप है वनस्पति रूप नाहीं है – (त्रि. सा./भाषाकार) (त्रि. सा./५६९)। ४. उस शाल्मली वृक्षका प्रकाशमान और उत्तम किरणोंसे संयुक्त पुखराजमय स्कन्ध शोभायमान है। २१५५। उसकी शाखाओंमें मरकत, वैडूर्य, इन्द्रनील, कर्केतन, सुवर्ण और मूँगेसे निर्मित विविध प्रकारके पत्ते हैं ।२१५७। शाल्मली वृक्षके विचित्र रत्नस्वरूप और पाँच वर्णोंसे शोभित अनुपम रूपवाले अंकुर, फूल एवं फल शोभायमान हैं ।२१५८। जम्बूवृक्षोंका सम्पूर्ण वर्णन शाल्मली वृक्षोंके ही समान है ।२१६६।। ५ समस्त इन्द्र मन्दिरोंके आगे न्यग्रोध वृक्ष होते हैं। इनमें एक एक वृक्ष पृथिवीस्वरूप और पूर्वोक्त जम्बूवृक्षके सदृश है। (८/४०४)।

स. सि./३/सूत्र/पृष्ठ/पंक्ति उत्तरकुरूणां मध्ये जम्बूवृक्षोऽनादिनिधनः पृथिवीपरिणामोऽकृत्रिमः सपरिवारः। (९/२१२/९) जम्बूद्वीपे यत्र जम्बूवृक्षः स्थितः, तत्र धातकीखण्डे धातकीवृक्षः सपरिवारः। (३३/२२७/६)। यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम्। (३४/२२८/४)। – उत्तरकुरुमें अनादि निधन, पृथिवीसे बना हुआ, अकृत्रिम और परिवार वृक्षोंसे युक्त जम्बूवृक्ष है। जम्बूद्वीपमें जहाँ जम्बूवृक्ष स्थित है, धातकी खण्ड द्वीपमें परिवार वृक्षोंके साथ वहाँ धातकी वृक्ष स्थित है। और पुष्कर द्वीपमें वहाँ अपने परिवार वृक्षोंके साथ पुष्कर वृक्ष है।

त्रि. सा./६४८ णाणारयणुवसाहा पवालसुमणा मिदिंगसरिसफला। पुढविमया दसतुंगा मज्झग्गे झस्सदुव्वासा। – वह जम्बूवृक्ष नाना

प्रकार रत्नमयी उपशाखाओंसे मूँगा समान फूलोंसे तथा मृदंग समान फलोंसे युक्त है। पृथिवीकायमयी है, वनस्पतिरूप नहीं है।

२. चैत्य वृक्ष निर्देश

१. जिन प्रतिमाओंके आश्रय स्थान होते हैं

ति. प./३/३८ चेत्ततरूणं मूलं पत्तेक्कं चउदिसासु पंचेव। चेट्ठंति जिणपडिमा पलियंकठिया सुरेहिं महणिज्जा ।३८। —चैत्यवृक्षोंके मूलमें चारों दिशाओंमेंसे प्रत्येक दिशामें पद्मासनसे स्थित और देवोंसे पूजनीय पाँच-पाँच जिन प्रतिमाएँ विराजमान होती हैं ।३८। (ति. प /३/१३७), (त्रि. सा /२१४)।

ति. प./४/८० मणिमयजिणपडिमाओ अट्ठमहापाडिहेर संजुत्ता। एक्केक्कस्सि चेत्तद्दुमम्मि चत्तारि चत्तारि ।८०७। —एक-एक चैत्य वृक्षके आश्रित आठ महाप्रातिहार्योंसे संयुक्त चार चार मणिमय जिन प्रतिमाएँ होती हैं ।८०७। (त्रि. सा./२५४, १००२)।

२. चैत्य वृक्षका स्वरूप व विस्तार

ति. प /३/३१-३६ तव्वाहिरे असोय सत्तच्छदचंपचूदवणपुण्णा। णियणाणातरुजुत्ता चेट्ठंति चेत्ततरुसहिदा ।३१। चेत्तदुमत्थलरुंदं दोण्णि सया जोयणाणि पण्णासा। चत्तारो मज्झम्मि य अंते कोसद्धमुच्छेहो ।३२। छद्दुमुहरुंदा चउजोयण उच्छिदाणि पीढाणि। पीढोवरि बहुमज्झे रम्मा चेट्ठंति चेत्तदुमा ।३३। पत्तेकं रुक्खाणं अवगाढं कोसमेक्कमुद्दिट्ठं। जोयणखंदुच्छेहो साहादीहत्तणं च चत्तारि ।३४। विविहवररयणसाहा विचित्तकुसुमोवसोभिदा सव्वे। वरमरगयवरपत्ता दिव्वतरू ते विरायंति ।३५। विविहकुरुचेवइया विविहफला विविहरयणपरिणामा। छत्तादिछत्तजुत्ता घंटाजालादि-रमणिज्जा ।३६। —भवनवासी देवोंके भवनोंके बाहर वेदियाँ हैं। इनके बाह्य भागमें चैत्यवृक्षोंसे सहित और अपने नाना वृक्षोंसे युक्त पवित्र अशोक वन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन स्थित हैं ।३१। चैत्यवृक्षोंके स्थलका विस्तार २५० योजन तथा ऊँचाई मध्यमें चार योजन और अन्तमें अर्द्ध कोसप्रमाण होती है ।३२। पीठोंकी भूमिका विस्तार छह योजन और ऊँचाई चार योजन होती है। इन पीठोंके ऊपर बहुमध्य भागमें रमणीय चैत्य वृक्ष स्थित होते हैं ।३३। प्रत्येक वृक्षका अवगाढ़ एक कोस, स्कन्ध, उत्सेध एक योजन और शाखाओंकी लम्बाई योजनप्रमाण कही गयी है ।३४। वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकारके उत्तम रत्नोंकी शाखाओंसे युक्त, विचित्र पुष्पोंसे अलंकृत और उत्कृष्ट मरकत मणिमय उत्तम पत्रोंसे व्याप्त होते हुए अतिशय शोभाको प्राप्त होते हैं ।३५। विविध प्रकारके अंकुरोंसे मण्डित, अनेक प्रकारके फलोंसे युक्त, नानाप्रकारके रत्नोंसे निर्मित छत्रके ऊपर छत्रसे संयुक्त घण्टाजाल आदिसे रमणीय हैं ।३६।
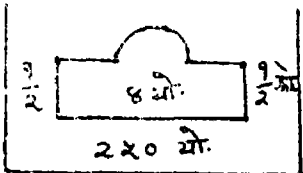
ति. प./४/८०६-८१२ का भावार्थ २. समवशरणोंमें स्थित चैत्यवृक्षोंके आश्रित तीन-तीन कोटोंसे वेष्टित तीन पीठोंके ऊपर चार-चार मानस्तम्भ होते हैं ।८०८। जो वापियों, क्रीडनशालाओं व नृत्यशालाओं व उपवनभूमियोंसे शोभित हैं ।८१०-८१२। (इसका चित्र दे. 'समवशरण') चैत्य वृक्षोंकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकरोंकी ऊँचाईसे १२ गुणी है ।८०६।
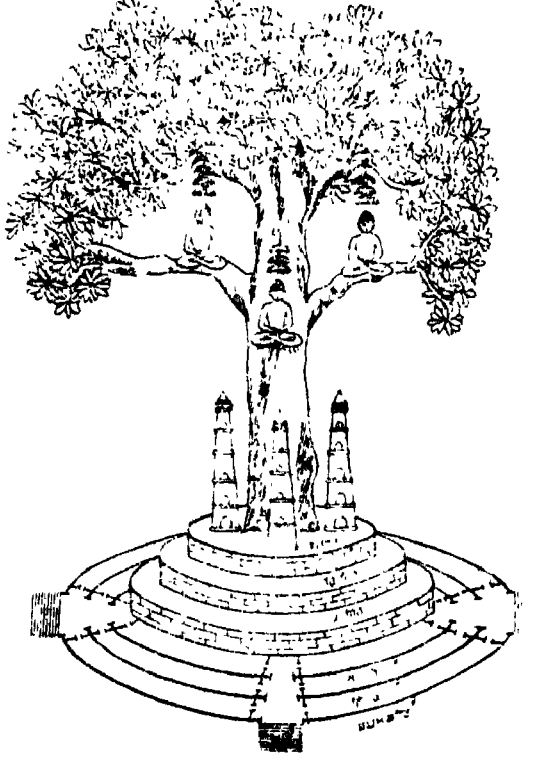
चैत्यवृक्ष भूमि :- ति प /४/८०५-८१०

३. चैत्यवृक्ष पृथिवीकायिक होते हैं

ति. प./४/३७ आदिणिहणेण हीणा पुढविमया ... भवणचेत्तदुमा। जीवुप्पत्तिलयाणं होंति णिमित्ताणि ते णियमा ... —(भवनवासी देवोंके भवनोंमें स्थित) ये सब चैत्यवृक्ष आदि-अन्तसे रहित तथा पृथिवीकायके परिणामरूप होते हुए नियमसे जीवोंकी उत्पत्ति और विनाशके निमित्त होते हैं ।३७। [इसी प्रकार पाण्डुकवनके चैत्यालयमें तथा व्यन्तरदेवोंके भवनोंमें स्थित जो चैत्यवृक्ष हैं उनके सम्बन्धमें भी जानना] (ति. प./४/१८०८); (ति. प./६/२६) (और भी दे. ऊपरका शीर्षक)

४. चैत्यवृक्षोंके भेद निर्देश

ति. प./३/१३६ अस्सत्थसत्तवण्णा संमलजंबू य वेतसकदंबा। तह पीयंगुसरिसा पलासरायद्दुमा कमसो ।१३६।

ति. प /६/२८ कमसो असोयचंपयणागद्दुमतुंबुरू य णग्गोहे। कंटयरुक्खो तुलसी कदंब विदओ त्ति ते अट्ठ ।२८। —असुरकुमारादि दस प्रकारके भवनवासी देवोंके भवनोंमें क्रमसे—अश्वत्थ (पीपल), सप्तपर्ण, शाल्मली, जामुन, वेतस, कदम्ब तथा प्रियंगु, शिरीष, पलाश और राजद्रुम ये दश प्रकारके चैत्यवृक्ष होते हैं ।१३६। किन्नर आदि आठ प्रकारके व्यन्तर देवोंके भवनोंमें क्रमसे—अशोक, चम्पक, नागद्रुम, तम्बूरु, न्यग्रोध (वट), कण्टकवृक्ष, तुलसी और कदम्ब वृक्ष ये आठ प्रकारके होते हैं ।२८।

ति. प /४/८०५ एक्केक्काए उववणखिदिए तरवो असोयसत्तदला। चंपयचूदा सुंदरभूदा चत्तारि चत्तारि ।८०५। —समवशरणोंमें ये अशोक, सप्तच्छद, चम्पक व आम्र ऐसे चार प्रकारके होते हैं ।८०५।

५. चैत्यवृक्ष देवोंके चिह्न स्वरूप हैं

ति. प./३/१३५ ओलगसालापुरदो चेत्तदुमा होंति विविहरयणमया। असुरप्पहुदि कुलाणं ते चिण्हाइं इमा होंति।१३५। – (भवनवासी देवोंके भवनोंमें) ओलगशालाओंके आगे विविध प्रकारके रत्नोंसे निर्मित चैत्यवृक्ष होते हैं। वे ये चैत्यवृक्ष असुरादि देवोंके कुलोंसे चिह्नरूप होते हैं।

६. अशोकवृक्ष निर्देश

ति. प./४/९१५-९१९ जेसिं तरूणमूले उप्पण्णं जाण केवलं णाणं। उसहप्पहुदिजिणाणं ते चिय असोयरुक्ख त्ति।९१५। णग्गोहसत्तपण्णं सालं सरलं पियंगु तं चेव। सिरिसं णागतरू वि य अक्खा धूली पलास तेंदूवं।९१६। पाडलजंबूपिप्पलदहिवण्णो णंदितिलयचूदा य। कंकेलि चंपबउलं मेसयसिंगं धवं सालं।९१७। सोहंति असोयतरू पल्लवकुसुमाणदाहि साहाहिं। लंबंतमालदामा घंटाजालादिरमणिज्जा।९१८। णियणियजिणउदएणं बारसगुणिदेहिं सरिसउच्छेहा। उसहजिणप्पहुदीणं असोयरुक्खा वियरंति।९१९। – ऋषभ आदि तीर्थंकरोंको जिनवृक्षोंके नीचे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है (दे. तीर्थंकर/५) वे ही अशोकवृक्ष हैं।९१५। न्यग्रोध, सप्तपर्ण, साल, सरल, प्रियंगु, शिरीष, नागवृक्ष, अक्ष (बहेड़ा), धूलिपलाश, तेंदू, पाटल, जम्बू, पीपल, दधिपर्ण, नन्दी, तिलक, आम्र, कंकेलि (अशोक), चम्पक, बकुल, मेषशृंग, धव और शाल ये २४ तीर्थंकरोंके २४ अशोकवृक्ष हैं, जो लटकती हुई मालाओंसे युक्त और घण्टासमूहादिकसे रमणीक होते हुए पल्लव एवं पुष्पोंसे झुकी हुई शाखाओंसे शोभायमान होते हैं।९१६-९१८। ऋषभादि तीर्थंकरोंके उपर्युक्त चौबीस अशोकवृक्ष बारहसे गुणित अपने-अपने जिनकी (तीर्थंकरकी) ऊँचाईसे युक्त होते हुए शोभायमान हैं।९१९। [प्रत्येक तीर्थंकरकी ऊँचाई–दे. तीर्थंकर/५]

वृक्षमूल—१. वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ध्यान लगाना वृक्षमूल योग कहलाता है—दे. कायक्लेश। २. वृक्षमूल आदि वनस्पति—दे. वनस्पति।

वृत्त—Circle—(ज. प./प्र. १०८); (ध. ५./प्र. २८)

—दे. गणित/II/७।

वृत्तविष्कंभ—Diameter, width of a ring. वृत्तविष्कंभ निकालनेकी प्रकृति—दे. गणित/II/७।

वृत्ति—१. न्या. वि./वृ./२/३०/६२/१४ वृत्तिः वर्तनं समवायो। –वृत्ति अर्थात् वर्तन या समवाय। गुण गुणीकी अभिन्नता। २. गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्ति—दे. भिक्षा/१।

वृत्ति परिसंख्यान—

भ. आ./मू./२१८–२२१/४३३ गत्तापच्चागदं उज्जु वीहि गोमुत्तियं च पेलवियं। संबूकावट्टं पि य पदंगवीधी य गोयरिया।२१८। पडियणियंसणभिक्खा परिमाणं दत्तिघासपरिमाणं। पिंडेसणा य पाणेसणा य जागूय पुग्गलया।२१९। संसिट्ठ फलिह परिक्खा पुप्फोवहिदं व सुद्धगोवहिदं।२२०। पत्तस्स दायगस्स य अवग्गहो बहुविहो ससत्तीए। इच्चेवमादिविधिणा णादव्वा वुत्तिपरिसंखा।२२१। –जिस मार्गसे आहारार्थ गमन किया है, उसी मार्गसे लौटते समय, अथवा सरल रास्तेसे जाते समय, अथवा गोमूत्रवत् मोड़ोंसहित भ्रमण करते हुए; अथवा सन्दूक या पेटीके समान चतुष्कोण रूपसे भ्रमण करते हुए, अथवा शंखके समान आवर्तोंसहित भ्रमण करते हुए, अथवा पक्षियोंकी पंक्तिकी भाँति भ्रमण करते हुए, अथवा जिस श्रावकके घरमें आहार ग्रहण करनेका संकल्प किया है उसीमें, इत्यादि प्रकारसे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।२१८। एक-दो आदि फाटकों तक प्राप्त हो अथवा विवक्षित फाटकमें प्राप्त हो, अथवा विवक्षित घरके आँगनमें प्राप्त हो, अथवा विवक्षित फाटककी भूमिमें प्राप्त हो, (घरमें प्रवेश न करके फाटककी भूमिमें ही यदि प्राप्त होगा तो), अथवा एक या दो बार परोसा हो, अथवा एक या दो आदि दाताओं द्वारा दिया गया हो, अथवा एक या दो आदि ग्रास हो, अथवा पिण्डरूप ही द्रवरूप नहीं, अथवा द्रवरूप ही पिण्डरूप नहीं, अथवा विवक्षित धान्यादिरूप आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।२१९। कुलत्थादि धान्योंसे मिश्रित हो, अथवा थालीके मध्य भात रखकर उसके चारों ओर शाक पुरसा होगा तो, अथवा मध्यमें अन्न रखकर चारों तरफ व्यंजन रखे होंगे तो, अथवा व्यंजनोंके बीचमें पुष्पोंके समान अन्न रखा होगा तो, अथवा मोठ आदि धान्यसे अमिश्रित तथा चटनी वगैरह व्यंजनोंसे मिश्रित हो, अथवा लेवड (हाथको चिकना करनेवाला आहार) हो, अथवा अलेवड हो, अथवा भातके सिक्थों सहित या रहित हो भोजन मिलेगा तो लूँगा अन्यथा नहीं।२२०। सुवर्ण या मिट्टी आदिके पात्रमें पुरसा हो, अथवा बालिका या तरुणी आदि विवक्षित दातारके हाथसे हो, अथवा भूषण-रहित या ब्राह्मणी आदि विवक्षित स्त्रीके हाथसे ही आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं। इत्यादि नानाप्रकारके नियम करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है।२२१।

मू. आ./३५५ गोयरपमाणदायगभायणणाणविधाण जं गहणं। तह एसणस्स गहणं विविधस्स वुत्तिपरिसंखा।३५५। –गृहोंका प्रमाण, भोजनदाताका विशेष, काँसे आदि पात्रका विशेष, मोठ, सत्तू आदि भोजनका विशेष, इनमें अनेक तरहके विकल्पकर भोजन ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है।३५५। (अन. ध./७/२६/६७५)

स. सि./९/१९/४३८/७ भिक्षार्थिनो मुनेरेकागारादिविषयः संकल्पः चिन्तावरोधो वृत्तिपरिसंख्यानम्। –भिक्षाके इच्छुक मुनिका एक घर आदि विषयक संकल्प अर्थात् चिन्ताका अवरोध करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

रा. वा./९/१९/४/६१८/२४ एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामादिविषयः संकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानम्। –एक अथवा सात घर, एक-दो आदि गली, आधे ग्राम आदिके विषयमें संकल्प करना कि एक या दो घरसे ही भोजन लूँगा अधिकसे नहीं, सो वृत्तिपरिसंख्यान तप है। (चा. सा./१३५/१)

ध. १३/५,४,२६/५७/४ भोयण-भायण-घर-वाड-दादारा वुत्ती णाम। तिस्से वुत्तीए परिसंखाणं गहणं वुत्तिपरिसंखाणं णाम। एदम्मि वुत्तिपरिसंखाणे पडिबद्धो जो अवग्गहो सो वुत्तिपरिसंखाणं णाम तवो त्ति भणिदं होदि। –भोजन, भाजन, घर, बार (मुहल्ला) और दाता, इनकी वृत्ति संज्ञा है। उस वृत्तिका परिसंख्यान अर्थात् ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है। इस वृत्तिपरिसंख्यानमें प्रतिबद्ध जो अवग्रह अर्थात् परिमाण नियन्त्रण होता है वह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

त. सा./७/१२ एकवस्तुदशागारपानमुद्गादिगोचरः। संकल्पः क्रियते यत्र वृत्तिसंख्या हि तत्तपः।१२। –मैं आज एक वस्तुका ही भोजन करूँगा, अथवा दश घरसे अधिक न फिरूँगा, अथवा अमुक पानमात्र ही करूँगा या मूँग ही खाऊँगा इत्यादि अनेक प्रकारके संकल्प को वृत्तिपरिसंख्या तप कहते हैं।

का. अ./मू./४४५ एगादि-गिहपमाणं किच्चा संकप्प-कप्पियं विरसं। भोज्जं पसुव्व भुंजदि वित्तिपमाणं तवो तस्स। –जो मुनि आहारके लिए जानेसे पहिले अपने मनमें ऐसा संकल्प कर लेता है कि आज एक घर या दो घर तक जाऊँगा अथवा नीरस आहार मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, और वैसा आहार मिलनेपर पशुकी तरह उसे चर लेता है, उस मुनिके वृत्तिपरिसंख्यान तप होता है।

२. वृत्ति परिसंख्यान तपका प्रयोजन

स. सि./९/१९/४३८/८ वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। —वृत्तिपरिसंख्यान तप आशाकी निवृत्तिके अर्थ किया जाता है। (रा. वा./९/१९/४/६१८/२५); (चा. सा./१३५/२)

भ. आ./वि./६/३२/१८ ... एसा केसिं कायव्वा। समत्तवोसिसेसेण भव्वजण-मुहसमेदूण सगरस-रुहिर-मांससोसणदुवारेण इंदियसंजममिच्छं तेहि साहूहि कायव्वा भायण-भोयणादिविसयरागादिपरिहरणमिच्छंतेहि वा। —प्रश्न—यह किसको करना चाहिए? उत्तर—जो अपने तप विशेषके द्वारा भव्यजनोंको शान्त करके अपने रस, रुधिर और मांस-के शोषण द्वारा इन्द्रिय संयमकी इच्छा करते हैं, उन साधुओंको करना चाहिए, अथवा जो भाजन और भोजनादि विषय रागादिको दूर करना चाहते हैं, उन्हें करना चाहिए। (चा. सा./१३५/१)

भ. आ./वि./६/३२/१८ आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यानं। —आहार संज्ञाका जय करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है।

३. वृत्तिपरिसंख्यान नित्य करनेका नियम नहीं

भ. आ. मू./वि./२४७/४६६ अणुपुव्वेणाहारं संवट्टंतो य सल्लिहइ देहं। दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ।२४७। दिवसुग्गहिगेण तवेण चावि एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च. एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यानं इति। —क्रमसे आहार कमी करते-करते क्षपक अपना देह कृश करता है। प्रतिदिन जिसका नियम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दूसरे दिन वृत्ति-परिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सल्लेखना करता है, अपना देह कृश करता है।

४. वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/८ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः। गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटकं दरिद्रगृहमेकं। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं गृहीष्यामीति वा कृतसंकल्पः। गृहसप्तकादिकादधिक-प्रवेशः, पाटान्तरप्रवेशश्च। परं भोजयामीत्यादिकः। —"मैं सात घरोंमें ही प्रवेश करूँगा, अथवा एक दरवाजेमें प्रवेश करूँगा, किंवा दरिद्रीके घरमें ही आज प्रवेश करूँगा, इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकारकी स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लूँगे"—ऐसा संकल्प कर सात घरोंसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना, दूसरोंको मैं भोजन कराऊँगा इस हेतुसे भिन्न फाटकमें प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्यानके अति-चार हैं।

वृत्तिमत्त्व—वृत्तिता सम्बन्धसे पदार्थमें अन्वयवाला। जैसे—'भूतले घटोऽस्ति' यहाँ विवक्षित भूमिपर घटका वृत्तिमत्त्व है।

वृत्तिमान—वृत्तिवाला या वृत्तिसहित। जैसे द्रव्य अपने गुणोंकी वृत्तिसहित होनेके कारण वृत्तिमान है।

वृत्तिविलास—कन्नड़ भाषाके 'धर्म परीक्षा' ग्रन्थके कर्ता एक जैन कवि। समय—वि. श. १२। (समाधितंत्र/प्र. ६/पं. जुगल किशोर)

वृद्ध—

भ. आ./मू./१०७०/१०९६ थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहिं होंति वुड्ढीहिं। थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहिं तरुणेहिं।१०७०। —मनुष्य वृद्ध हो अथवा तरुण यदि उसके क्षमा आदि शील गुण वृद्धिगत हैं तो वह वृद्ध है और यदि ये गुण वृद्धिगत नहीं हैं तो वह तरुण है। (केवल वय अधिक होनेसे वृद्ध नहीं होता।)

ज्ञा./१५/४,५,१० स्वतत्त्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्द्धितम्। येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मताः।४। तपःश्रुतधृतिध्यानविवेक-यमसंयमैः। ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः।५। हीना-चरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते। तरुणोऽपि सतां धत्ते श्रियं सत्संगवासितः।१०। —जिनके आत्मतत्त्वरूप कसौटीसे उत्पन्न भेद-ज्ञानरूप आलोकसे बढ़ाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनको विद्वानोंने वृद्ध कहा है।४। जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, विवेक (भेद-ज्ञान), यम तथा संयमादिकसे वृद्ध अर्थात् बढ़े हुए हैं वे ही वृद्ध होते हैं। केवल अवस्था मात्र अधिक होनेसे या केश सफेद होनेसे ही कोई वृद्ध नहीं होता।५। जो वृद्ध होकर भी हीनाचरणोंसे व्याकुल हो भ्रमता फिरे वह तरुण है और सत्संगतिसे रहता है वह तरुण होनेपर भी सत्पुरुषोंको-सी प्रतिष्ठा पाता है।१०।

भ. आ./वि./११६/२७५/८ वाचनामनुयोगं वा शिक्षयतः अवमरत्न-त्रयस्याभ्युत्थातव्यं तस्मूलेऽध्ययनं कुर्वद्भिः सर्वैरेव। —जो ग्रन्थ और अर्थ को पढ़ाता है अथवा सदादि अनुयोगों का शिक्षण देता है, वह व्यक्ति यदि अपने से रत्नत्रय में हीन भी हो तो भी उसके आने पर जो जो उसके पास अध्ययन करते हैं वे सर्वजन खड़े हो जावें।

प्र. सा./ता. वृ./२६३/३५४/१५ यद्यपि चारित्र गुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थ-मभ्युत्थेयाः।

प्र. सा./ता. वृ./२६७/३५८/१७ यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुण-वृद्ध्यर्थं स्वयं चारित्रगुणाधिकाऽपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति। यदि पुनः केवलं ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदाति-प्रसङ्गाद्दोषो भवति। —चारित्र व तप में अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान गुण से ज्येष्ठ होने के कारण श्रुतकी विनय के अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनय के योग्य है। यदि कोई चारित्र गुण में अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुण की वृद्धि के अर्थ बहुश्रुत जनों के पास वन्दनादि क्रिया में वर्तता है तो कोई दोष नहीं है। परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभ के अर्थ ऐसा करता है तब अति दोष का प्रसंग प्राप्त होता है।

प्र. सा. मू./२६६ गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि होमि समणो त्ति। होज्जं गुणधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी। —जो श्रमण्य में अधिक गुण वाले हैं तथापि हीन गुणवालों के प्रति (वन्दनादि) क्रियाओं में वर्तते हैं वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

वृद्धि—

रा. वा./४/४२/४/२५०/१८ अनुवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धिः। —पूर्व स्वभावको कायम रखते हुए भावान्तररूपसे अधि-कता हो जाना वृद्धि है। २. चय अर्थात् Common difference,

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. षट् वृद्धियोंके लिए नियत सहनानियाँ। —दे० गणित/I/३/४।

२. गुणहानि-वृद्धि। —दे० गणित/II/६/३।

वृष—स्व. स्तो./५/१३ वृषो धर्मः। —वृष अर्थात् धर्म।

वृषभ—द्र. सं./टी./१/६/१ वृषभो प्रधानः। —१. वृषभ अर्थात् प्रधान।

स्व. स्तो./टी./१/३ वृषो धर्मस्तेन भाति शोभते स वा भाति प्रगटी-भवति यस्मात्सो वृषभः। —वृष नाम धर्मका है। उसके द्वारा शोभाको प्राप्त होता है या प्रगट होता है इसलिए वह वृषभ कह-लाता है—अर्थात् आदिनाथ भगवान्।

ति. प./४/२११ सिंगमुहकण्णजिहालोयणभूआदिएहि गोसरिसो। वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिया तत्थ।२११। —(गंगा नदीका) मुख कूटमुख सींग, मुख, कान, जिह्वा, लोचन और भ्रकुटी आदिक-से गौके सदृश है, इसलिए उस रत्नमयी जिह्विका (जिह्मिका) को वृषभ कहते हैं। (ह. पु./५/१४०-१४१); (त्रि. सा./५८५); (ज. प./३/१४१)।

वृषभ गिरि—ति. प./४/२६८–२६६ सेसा वि पंच खंडा णामेणं होंति म्लेच्छखंड त्ति । उत्तरतियखंडेसुं मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे ।२६८। चक्कीण माणमलणो णाणाचक्कहरणामसंछण्णो । मूलोवरिममज्झेसुं रयणमओ होदि वसहगिरि ।२६९। —(भरत क्षेत्रके आर्यखण्डको छोड़कर) शेष पाँचों ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नामसे प्रसिद्ध हैं। उत्तर भारतके तीन खण्डोंमें-से मध्यखण्डके बहुमध्य भागमें चक्रवर्तियोंके मानका मर्दन करनेवाला, नाना चक्रवर्तियोंके नामोंसे व्याप्त और मूलमें ऊपर एवं मध्यमें रत्नोंसे निर्मित ऐसा वृषभ गिरि है ।२६८–२६९। (त्रि. सा./७१०) । इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें जानना । —दे० लोक/३/३ ।

वृषभसेन—म. पु./सर्ग/श्लो. पूर्वभव नं. ७ में पूर्वविदेहमें प्रीतिवर्धन राजाका सेनापति । (८/२११); पूर्वभव नं. ६ में उत्तरकुरुमें मनुष्य । (८/२१२) । पूर्वभव नं. ५ में ऐशान स्वर्गमें प्रभाकर नामका देव । (८/२१४); पूर्वभव नं. ४ में अकम्पनसैनिक । (८/२१६) । पूर्वभव नं. ३ में अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र । (९/९०,९२), पूर्वभव नं. २ में राजा वज्रसेनका पुत्र 'पीठ' । (११/१३) । पूर्वभव नं. १ में सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र । (११/१६०) । वर्तमान भवमें ऋषभदेवका पुत्र भरतका छोटा भाई । (१६/२) । [युगपत् सर्व भव—४७/३६७–३६९] । पुरिमताल नगरका राजा था । भगवान् ऋषभदेवके प्रथम गणधर हुए । (२४/१७१) । अन्तमें मोक्ष सिधारे । (४७/३९९) ।

वेणा—१. भरतक्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी (दे० मनुष्य/४) । २. बम्बई प्रान्तमें सितारा जिलाकी एक नदी । वर्तमान नाम 'वेण्या' । (ध. १/प्र. ३१/H. L. Jain)

वेणु—१. विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका नगर (दे० विद्याधर) । २. मानुषोत्तर पर्वतके रत्नकूटका स्वामी गरुडकुमारदेव-दे०लोक५/१०। ३. शाल्मली वृक्ष का रक्षक देव ।—दे. लोक/३/१३ ।

वेणुधारी—मानुषोत्तर पर्वतके सर्वरत्न कूटका स्वामी सुपर्णकुमार देव —दे०लोक/५/१० । २. शाल्मली वृक्षका रक्षक देव —(दे० लोक३/ १३) ।

वेणुन—हालार और बरडो प्रान्तके बीचकी पर्वत श्रेणीको 'बरडो' कहते हैं। इसी श्रेणीके किसी पर्वतका नाम वेणुन है । (नेमि चरित/प्र./प्रेमी जी) ।

वेणुपुर—दक्षिणके कर्नाटक देशका मूड़बिद्री नामक ग्राम । (विशेष दे० मूड़बिद्री) ।

वेणुमति—मानुषोत्तर पर्वतके सर्वरत्नकूटका स्वामी एक भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७ ।

वेणुवती—पूर्वी आर्यखण्डकी एक नदी । —दे० मनुष्य/४ ।

वेत्ता—जीवको वेत्ता कहनेकी विवक्षा – दे० जीव/१/३ ।

वेत्रवती—१. 'मेघदूत'की अपेक्षा यह मालवादेशकी नदी है । और 'नेमिचरित' की अपेक्षा द्वारिकाके प्राकारके पास है । गोमती नदीका ही दूसरा नाम 'वेत्रवती' प्रतीत होता है । (नेमिचरित/ प्र./प्रेमी जी) । २. वर्तमानकी मालवा देशकी बेतवा नदी (म. पु./ प्र. ४९/पं. पन्नालाल) ।

वेत्रासन—मूढ़ेके समान अधोलोकका आकार ⁄‾‾\ (ज.प./प्र.२६) ।

वेद—व्यक्तिमें पाये जानेवाले स्त्रीत्व, पुरुषत्व व नपुंसकत्वके भाव वेद कहलाते हैं। यह दो प्रकारका है—भाव व द्रव्यवेद । जीवके उपरोक्त भाव तो भाववेद हैं और शरीरमें स्त्री, पुरुष व नपुंसकके अंगोपांग विशेष द्रव्यवेद हैं। द्रव्यवेद जन्म पर्यन्त नहीं बदलता पर भाववेद कषाय विशेष होनेके कारण क्षणमात्रमें बदल सकता है। द्रव्य वेदसे पुरुषको ही मुक्ति सम्भव है पर भाववेदसे तीनोंको मोक्ष हो सकती है ।

५ गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व

- * वेद मार्गणा में गुणस्थान मार्गणास्थान आदि रूप २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
- * वेद मार्गणाके स्वामी सम्बन्धी सत् संख्या क्षेत्र-काल भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह-वह नाम।
- १ नरकमें केवल नपुंसकवेद होता है।
- २ भोगभूमिज तिर्यंच मनुष्योंमें तथा सभी देवोंमें दो ही वेद होते हैं।
- ३ कर्मभूमिज विकलेंद्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यंचोंमें केवल नपुंसकवेद होता है।
- ४ कर्मभूमिज संज्ञी असंज्ञी तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं।
- ५ एकेन्द्रियोंमें वेदभावकी सिद्धि।
- ६ चींटी आदि नपुंसकवेदी ही कैसे।
- ७ विग्रहगतिमें अव्यक्त वेद होता है।

६ वेदमार्गणामें सम्यक्त्व व गुणस्थान

- १ सम्यक्त्व व गुणस्थान स्वामित्व निर्देश।
- २ अप्रशस्त वेदोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प होते हैं।
- * सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्रियोंमें भी उत्पन्न नहीं होते हैं। —दे० जन्म/३।
- * मनुष्यणीमें १४ गुणस्थान कैसे। —दे० वेद/७/६।
- * ऊपरके गुणस्थानोंमें वेदका उदय कैसे। —दे० संज्ञा।
- ३ अप्रशस्त वेदके साथ आहारक आदि ऋद्धियोंका निषेध।

७ स्त्री प्रव्रज्या व मुक्ति निषेध

- १ स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं।
- २ फिर भी भवान्तरमें मुक्तिकी अभिलाषासे जिन-दीक्षा लेती है।
- ३ तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु उसका चंचल व प्रमाद-बहुल स्वभाव।
- ४ तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु सचेलता।
- * स्त्रीको भी कदाचित् नग्न रहनेकी आज्ञा। —दे० लिंग/१/४।
- ५ आर्यिकाको महाव्रती कैसे कहते हो।
- ६ फिर मनुष्यणीको १४ गुणस्थान कैसे कहे गये।
- ७ स्त्रीके सवस्त्रलिंगमें हेतु।
- ८ मुक्तिनिषेधमें हेतु उत्तम संहननादिका अभाव।
- * मुक्ति निषेधमें हेतु शुक्लध्यानका अभाव। —दे० शुक्लध्यान/३।
- ९ स्त्रीको तीर्थंकर कहना युक्त नहीं।

१. भेद, लक्षण व तद्गत शंका-समाधान

१. वेद सामान्यका लक्षण—लिंगके अर्थमें।

स. सि./२/५२/२००/४ वेद्यत इति वेदः लिङ्गमित्यर्थः। —जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। उसका दूसरा नाम लिंग है। (रा. वा./२/५२/१/१५७/२); (ध. १/१,१,४/१४०/५)।

पं. सं./प्रा./१/१०१ वेदस्सुदरिणाए बालत्तं पुण णियच्छए बहुसो। इत्थी पुरिस णउंसय वेयंति तदो हवदि वेदो।१०१। —वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है; और स्त्रीभाव, पुरुषभाव एवं नपुंसकभावका वेदन करता है। अतएव वेद कर्मके उदयसे होनेवाले भावको वेद कहते हैं। (ध. १/१,१,४/गा. ८६/१४१); (गो. जी./मू./२७२/५९३)।

ध. १/१,१,४/पृष्ठ/पंक्ति—वेद्यत इति वेदः। (१४०/६)। अथवात्मप्रवृत्तेः संमोहोत्पादो वेदः। (१४०/७)। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः। (१४१/१)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/१ वेदनं वेदः। —१. जो वेदा जाय अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं। २. अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें सम्मोह अर्थात् रागद्वेष रूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं। यहाँपर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है। (ध ७/२,१,३/७); (गो. जी./जी. प्र./२७२/५९४/३)। ३. अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। ४. अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं।

ध. ५/१,७,४२/२२२/८ मोहणीयदव्वकम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। —मोहनीयके द्रव्यकर्म स्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते हैं।

२. शास्त्रके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८६/८ अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्यति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः। एतेन सूत्रकण्ठग्रन्थकथाया वितथरूपायाः वेदत्वमपास्तम्। —अशेष पदार्थोंको जो वेदता है, वेदेगा और वेद चुका है, वह वेद अर्थात् सिद्धान्त है। इससे सूत्रकण्ठों अर्थात् ब्राह्मणोंकी ग्रन्थकथा वेद है, इसका निराकरण किया गया है। (श्रुतज्ञान ही वास्तवमें वेद है।)

२. वेदके भेद

ष. खं./१/१,१/सूत्र १०१/३४० वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि।१०१। —वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्री-वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं।१०१।

पं. सं./प्रा./१/१०४ इत्थि पुरिस णउंसय वेया खलु दव्वभावदो होंति। —स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक ये तीनों ही वेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं।

स. सि./२/६/१५९/५ लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति। —लिंग तीन प्रकारका है—स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। (रा. वा./६/७/११/६०४/५); (द्र. सं./टी./१३/३७/१०)।

स. सि./२/५२/२००/४ तद् द्विविधं-द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेदि। —इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। (स. सि./९/४७/४६२/३); (रा. वा./२/६/३/१०९/२); (रा. वा./९/४७/४/६३८/१०); (पं. ध./उ./१०७९)।

३. द्रव्य व भाव वेदके लक्षण

स. सि./२/५२/२००/५ द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादिनामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्। —जो योनि मेहन आदि नाम कर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी

स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भावलिंग है। (गो. जी./मू./२७१/५९१); (पं. ध./उ./१०८०-१०८२)।

रा. वा./२/६/३/१०६/२ द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं···भावलिङ्ग-मात्मपरिणामः स्त्रीपुंनपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः। स पुनश्चारित्र-मोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवति। —नामकर्मके उदयसे होनेवाला द्रव्यलिंग है और भावलिंग आत्मपरिणामरूप है। वह स्त्री पुरुष व नपुंसक इन तीनोंमें परस्पर एक दूसरेकी अभिलाषा लक्षण वाला होता है और वह चारित्रमोहके विकल्परूप स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषायके उदयसे होता है।

४. अपगतवेदका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१०८ करिसतणेट्टावग्गीसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का। अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा ।१०८। —जो कारीष अर्थात् कण्डेकी अग्नि तृणकी अग्नि और इष्टपाककी अग्निके समान क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप परिणामोंके वेदनसे उन्मुक्त हैं और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अनन्त सुखके धारक या भोक्ता हैं, वे जीव अपगत वेदी कहलाते हैं। (ध. १/१,१, १०१/गा. १७३/३४३); (गो. जी./मू./२७६/५९७)।

ध. १/१,१,१०१/३४२/३ अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगत-वेदाः। प्रक्षीणान्तर्दाह इति यावत्। —जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला सन्ताप या अन्तर्दाह दूर हो गया है वे वेदरहित जीव हैं।

५. वेदके लक्षणों सम्बन्धी शंकाएँ

ध. १/१,१,४/१४०/५ वेद्यत इति वेदः। अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति वेद्यत्वं प्रत्यविशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषे-ष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगतेः 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा। अथवात्मप्रवृत्तेः संमोहोत्पादो वेदः। अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रूढिवशाद्वेदनाम्नः कर्मणाः उदयस्यैव वेदव्यपदेशात्। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः। —जो वेदा जाय उसे वेद कहते हैं। प्रश्न—वेदका इस प्रकारका लक्षण करनेपर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद संज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि, वेदनकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं। उत्तर—ऐसा नहीं है, १. क्योंकि, सामान्यरूपसे की गयी कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पायी जाती है, इसलिए विशेषका ज्ञान हो जाता है। (ध. ७/२,१,३७/७९/३) अथवा २. रौढिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके अधीन होती है, इसलिए वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नहीं। अथवा आत्मप्रवृत्ति-में सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। प्रश्न—इस प्रकारके लक्षण-के करनेपर भी सम्पूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है? उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, रूढिके बलसे वेद नामके कर्मके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है। अथवा आत्मप्रवृत्ति में मैथुन की उत्पत्ति वेद है।

दे० वेद/२/१ (यद्यपि लोकमें मेहनादि लिंगोंको स्त्री पुरुष आदि कहा प्रसिद्ध है, पर यहाँ भाव वेद इष्ट है द्रव्य वेद नहीं)।

२. वेद निर्देश

१. वेदमार्गणामें भाववेद इष्ट है

रा. वा./८/९/४/५७४/२१ ननु लोके प्रतीतं योनिमृदुस्तनादिस्त्रीवेद-लिङ्गम्, न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, अतः पुंसोऽपि स्त्री-वेदोदयः। कदाचित्योषितोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्। शारीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः। एतेनेतरौ व्याख्यातौ।

रा. वा./२/४/३/१०६/२ द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधि-कृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणामः। —प्रश्न—लोकमें योनि व मृदुस्तन आदिको स्त्री वेद या लिंग कहते हैं, आप दूसरी प्रकार लक्षण कैसे करते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, १. वह नामकर्मोदयसे उत्पन्न होता है, अतः कदाचित् अन्तरंग परिणामों-की विशेषतासे द्रव्य पुरुषको स्त्रीवेदका और द्रव्य स्त्रीको पुरुषवेदका उदय देखा जाता है (दे० वेद/४) शरीरोंके आकार नामकर्मसे निर्मित हैं, इसलिए अन्य प्रकारसे व्याख्या की गयी है। २. यहाँ जीवके औदयिकादि भावोंका प्रकरण है, इसलिए नामकर्मोदयापादित द्रव्य लिंगका यहाँ अधिकार नहीं है। भावलिंग आत्म परिणाम है, इसलिए उसका ही यहाँ अधिकार है।

ध. १/१,१,१०४/३४५/१ न द्रव्यवेदस्याभावस्तेन विकाराभावात्। अधिकृतोऽत्र भाववेदस्ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति। —यद्यपि ९वें गुणस्थानसे आगे द्रव्यवेदका सद्भाव पाया जाता है; परन्तु केवल द्रव्यवेदसे ही विकार उत्पन्न नहीं होता है। यहाँपर तो भाववेदका अधिकार है। इसलिए भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिए, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं। —(विशेष दे. शीर्षक नं. ३)।

ध. २/१,१/५१३/८ इत्थिवेदो अवगदवेदो वि अत्थि, एत्थ भाववेदेण पयदं ण दव्ववेदेण। किं कारणं। भावगदवेदो वि अत्थि त्ति वयणादो। —मनुष्य स्त्रियोंके (मनुषणियोंके) स्त्रीवेद और अपगत वेद स्थान भी होता है। यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है, द्रव्य वेदसे नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहाँ द्रव्यवेदसे प्रयोजन होता तो अपगत वेदरूप स्थान नहीं बन सकता था, क्योंकि, द्रव्यवेद चौदहवें गुणस्थानके अन्ततक होता है। परन्तु 'अपगत वेद भी होता है' इस प्रकार वचन निर्देश नौवें गुणस्थानके अवेद भागसे किया गया है (दे. ष. खं. १/१,१/सूत्र १०४/३४४)। जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है द्रव्यसे नहीं।

ध. ११/४,२,६,१२/११४/६ देवणेरइयाणं उक्कस्साउअबंधस्स तीहि वेदेहि विरोहो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा त्ति भणिदं। एत्थ भाववेदस्स गहणमण्णहा दव्वित्थिवेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बंधप्पसंगादो। ण च तेण स तस्स बंधो, आ पंचमीत्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठियपुढवि त्ति एदेण सुत्तेण सह विरोहादो। ण च देवाणं उक्कस्साउअं दव्वित्थि-वेदेण सह बज्झइ, णियमा णिग्गंथलिंगेणे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्वित्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि। —देवों और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका तीनों वेदोंके साथ विरोध नहीं है, यह जत-लानेके लिए 'इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा' ऐसा उपरोक्त सूत्र नं. १२ में कहा है। यहाँ भाववेदका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि १. द्रव्यवेदका ग्रहण करनेपर द्रव्य स्त्रीवेदके साथ भी नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका प्रसंग आता है। परन्तु उसके साथ नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका बन्ध होता नहीं है, क्योंकि, पाँचवीं पृथिवी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियाँ जाती हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे. जन्म/६/४)। देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु द्रव्य स्त्रीवेदके साथ नहीं बँधती, क्योंकि, अन्यथा 'अच्युत कल्पसे ऊपर नियमतः निर्ग्रन्थ लिंगसे ही उत्पन्न होते हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे० जन्म/६/३,६) और द्रव्य स्त्रियाँ (व द्रव्य नपुंसकों) के निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है (दे. वेद/७/४)।

दे. मार्गणा—(सभी मार्गणाओंकी प्ररूपणाओंमें भाव मार्गणाएँ इष्ट हैं द्रव्य मार्गणाएँ नहीं)।

२. वेद जीवका औदयिक भाव है

रा. वा./२/६/३/१०६/२ भावलिङ्गमात्मपरिणामः।...स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिकः। –भावलिंग आत्मपरिणाम रूप है। वह चारित्रमोहके विकल्प रूप जो स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषाय उनके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक है (पं. ध./उ./१०७५); (और भी. दे. उदय/६/२)।

३. अपगत वेद कैसे सम्भव है

ध. ५/१,७,४२/२२२/३ एत्थ चोदगो भणदि—जोणिमेहणादीहि समण्णिदं सरीरं वेदो, ण तस्स विणासो अत्थि, संजदाणं मरणप्पसंगा। ण भाववेदविणासो वि अत्थि, सरीरे अविणट्ठे तब्भावस्स विणासविरोहा। तदो अवगदवेदत्तं जुज्जदे इदि। एत्थ परिहारो उच्चदे—ण सरीरमित्थिपुरिसवेदो, णामकम्मजणिदस्स सरीरस्स मोहणीयत्तविरोहा। ण मोहणीयजणिदमवि सरीरं, जीवविवाइणो मोहणीयस्स पोग्गलविवाइत्तविरोहा। ण सरीरभावो वि वेदो, तस्स तदो पुधभूदस्स अणुवलंभा। परिसेसादो मोहणीयदव्वकम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। तत्थ तज्जणिदजीवपरिणामस्स वा परिणामेण सह कम्मक्खंधस्स वा अभावेण अवगदवेदो होदि त्ति तेण णेस दोसो त्ति सिद्धं। –प्रश्न—योनि और लिंग आदिसे संयुक्त शरीर वेद कहलाता है। सो अपगतवेदियोंके इस प्रकारके वेदका विनाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे अपगतवेदी संयतोंके मरणका प्रसंग प्राप्त होता है। इसी प्रकार उनके भाववेदका विनाश भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके विनाशके बिना उसके धर्मका विनाश माननेमें विरोध आता है। इसलिए अपगतवेदता युक्ति संगत नहीं है? उत्तर—न तो शरीर स्त्री या पुरुषवेद है, क्योंकि नामकर्मजनित शरीरके मोहनीयपनेका विरोध है। न शरीर मोहनीयकर्मसे ही उत्पन्न होता है, क्योंकि, जीवविपाकी मोहनीय कर्मके पुद्गलविपाकी होनेका विरोध है। न शरीरका धर्म ही वेद है, क्योंकि शरीरसे पृथग्भूत वेद पाया नहीं जाता। पारिशेष न्यायसे मोहनीयके द्रव्य कर्मस्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते हैं। उनमें वेद जनित जीवके परिणामका अथवा परिणामके सहित मोहकर्म स्कन्धका अभाव होनेसे जीव अपगत वेदी होता है। इसलिए अपगतवेदता माननेमें उपर्युक्त कोई दोष नहीं आता, यह सिद्ध हुआ।

४. तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है

ध. १/१,१,१०२/३४२/१० उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्वं प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणैकस्मिन् सत्त्वविरोधात्। –प्रश्न—इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एक साथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है।–(विशेष दे० वेद/४/३)।

ध. १/१,१,१०७/३४६/७ त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात्। –तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है, युगपत् नहीं, क्योंकि वेद पर्याय है।

३. तीनों वेदोंके अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंका परिचय

१. स्त्री पुरुष व नपुंसकका प्रयोग

दे० वेद/५ (नरक गतिमें, सर्व प्रकारके एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य व पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें एक नपुंसक वेद ही होता है। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचोंमें तथा सर्व प्रकारके देवोंमें स्त्री व पुरुष ये दो वेद होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य व पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें स्त्री पुरुष व नपुंसक तीनों वेद होते हैं।)

दे० जन्म/३/१ (सम्यग्दृष्टि जीव सब प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते।)

२. तिर्यंच व तिर्यंचनीका प्रयोग

ध. १/१,१,२६/२०६/४ तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धायां मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्।...तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्। –तिर्यंचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि तिर्यंचनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती।

दे० वेद/६ (तिर्यंचिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।)

दे० वेद/५ (कर्मभूमिज व तिर्यंचनियोंमें तीनों वेद सम्भव हैं। पर भोगभूमिज तिर्यंचोंमें स्त्री व पुरुष दो ही वेद सम्भव हैं।)

३. तिर्यंच व योनिमति तिर्यंचका प्रयोग

दे० तिर्यंच/२/१,२ (तिर्यंच चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं, परन्तु पाँचवें गुणस्थानमें नहीं होते। योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यंच चौथे व पाँचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते।)

दे० वेद/६ (क्योंकि, योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न नहीं होते।)

ध. ८/३, ६४/११४/३ जोणिणीसु पुरिसवेदबंधो परोदओ। –योनिमती तिर्यंचोंमें पुरुष वेदका बन्ध परोदयसे होता है।

४. मनुष्य व मनुष्यणीका प्रयोग

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/२२ क्षायिकसम्यक्त्वं तु असंयतादिचतुर्गुणस्थानमनुष्याणां असंयतदेशसंयतोपचारमहाव्रतमानुषीणां च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टीनामेव। –क्षायिक सम्यग्दर्शन, कर्मभूमिज वेदक सम्यग्दृष्टि असंयतादि चार गुणस्थानवर्ती मनुष्योंको तथा असंयत और देशसंयत और उपचारसे महाव्रतधारी मनुष्यणीको ही होता है।

दे० वेद/५—(कर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यनीमें तीनों वेद सम्भव हैं। पर भोगभूमिज मनुष्योंमें केवल स्त्री व पुरुष ये दो ही वेद सम्भव हैं।)

दे० मनुष्य/३/१, २ (पहले व दूसरे गुणस्थानमें मनुष्य व मनुष्यणी दोनों ही पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं, पर चौथे गुणस्थानमें मनुष्य तो पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते हैं और मनुष्यणी केवल पर्याप्त ही होती है।५-६। गुणस्थान तक दोनों पर्याप्त ही होते हैं।

दे० वेद/६/१/गो. जी. (योनिमति मनुष्य पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जाता।)

दे० आहारक/४/३ (मनुष्यणी अर्थात् द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके आहारक व आहारक मिश्र काय योग नहीं होते हैं, क्योंकि अप्रशस्त वेदोंमें उनकी उत्पत्ति नहीं होती।)

५. उपरोक्त शब्दोंके सैद्धान्तिक अर्थ

[वेद मार्गणामें सर्वत्र स्त्री आदि वेदी कहकर निरूपण किया गया है (शीर्षक नं. १)। वहाँ सर्वत्र भाव वेद ग्रहण करना चाहिए (दे० वेद/२/१)। गति मार्गणामें तिर्यंच, तिर्यंचनी और योनिमती तिर्यंच इन शब्दोंका तथा मनुष्य व मनुष्यणी व योनिमती मनुष्य इन शब्दोंका प्रयोग उपलब्ध होता है। तहाँ 'तिर्यंच' व 'मनुष्य' तो जैसा कि उनके सन्दर्भमें स्पष्ट बताया गया है भाव पुरुष व नपुंसक दोनोंके लिए प्रयुक्त होते हैं। तिर्यंचिनी व मनुष्यणी शब्द जैसा कि प्रयोगोंपरसे स्पष्ट है द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके

लिए प्रयुक्त है। यद्यपि मनुष्यणी शब्दका प्रयोग द्रव्य स्त्री अर्थमें भी किया गया है, पर वह अत्यन्त गौण है, क्योंकि, ऐसे प्रयोग अत्यन्त अल्प हैं योनिमती तिर्यंच व योनिमती मनुष्य ये शब्द विशेष विचारणीय हैं। तहाँ मनुष्यणीके लिए प्रयुक्त किया गया तो स्पष्ट ही द्रव्यस्त्रीको सूचित करता है, परन्तु तिर्यंचोंमें प्रयुक्त यह शब्द द्रव्य व भाव दोनों प्रकारकी स्त्रियोंके लिए समझा जा सकता, क्योंकि, तहाँ इन दोनोंके ही आलापोंमें कोई भेद सम्भव नहीं है। कारण कि तिर्यंच पुरुषोंकी भाँति तिर्यंच स्त्रियाँ भी पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जातीं। इसी प्रकार द्रव्य स्त्रीके लिए भी पाँचवें गुणस्थान तक जानेका विधान है।]

क. पा. ३/३–२२/§ ४२६/२४१/१२ मणुस्सो त्ति वुत्ते पुरिसणवुंसयवेदोद-इल्लाणं गहणं। मणुस्सिणी त्ति वुत्ते इत्थिवेदोदयजीवाणं गहणं। –सूत्रमें मनुष्य ऐसा कहनेपर उससे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयवाले मनुष्योंका ग्रहण होता है। 'मनुष्यिनी' ऐसा कहनेपर उससे स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य जीवोंका ग्रहण होता है। (क. पा. २/२–२२/§३३८/२१२/१)।

४. द्रव्य व भाव वेदोंमें परस्पर सम्बन्ध

१. दोनोंके कारणभूत कर्म भिन्न हैं

पं. सं./प्रा./१/१०३ उदयादु णोकसायाण भाववेदो य होइ जंतूणं। जोणी य लिंगमाई णामोदय दव्ववेदो दु ।१०३। –नोकषायोंके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है। तथा योनि और लिंग आदि द्रव्यवेद नामकर्मके उदयसे होता है।१०३। (त. सा./२/७६), (गो. जी/मू./२७१/५९१), (और भी दे० वेद/१/3 तथा वेद/२)।

२. दोनों कहीं समान होते हैं और कहीं असमान

पं. सं./प्रा./१/१०२, १०४ तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्व-भावादो। ते चेव हु विवरीया संभवंति जहाकम सव्वे।१०२। इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु द्रव्वभावदो होंति। ते चेव य विवरीया हवंति सव्वे जहाकमसो।१०४। –द्रव्य और भावकी अपेक्षा सर्व ही जीव तीनों वेदवाले दिखाई देते हैं और इसी कारण वे सर्व ही यथाक्रमसे विपरीत वेदवाले भी सम्भव हैं।१०२। स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं और वे सर्व ही विभिन्न नोकषायोंके उदय होनेपर यथा-क्रमसे विपरीत वेदवाले भी परिणत होते हैं।१०४। [अर्थात् कभी द्रव्यसे पुरुष होता हुआ भावसे स्त्री और कभी द्रव्यसे स्त्री होता हुआ भावसे पुरुष भी होता है–दे० वेद/२/१]

गो.जी/ मू/२७१/५९१ पुरिसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंढओ भावे। णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा।२७१। –पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे जीव पुरुष स्त्री और नपुंसक रूप भाव-वेदोंको प्राप्त होता है और निर्माण नामक नामकर्मके उदयसे द्रव्य वेदोंको प्राप्त करता है। तहाँ प्रायः करके तो द्रव्य और भाव दोनों वेद समान होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं परिणामोंकी विचित्रताके कारण ये असमान भी हो जाते हैं।२७१। –(विशेष दे० वेद/२/१)।

३. चारों गतियोंकी अपेक्षा दोनोंमें समानता व असमानता

गो. जी./जी. प्र./२७१/५९२/२ एते द्रव्यभाववेदाः प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेषु भोगभूमिसर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समाः द्रव्यभावाभ्यां समवेदोदयाङ्किता भवन्ति। क्वचित्कर्मभूमि-मनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमाः—विसदृशा अपि भवन्ति। तद्यथा—द्रव्यतः पुरुषे भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं। द्रव्यस्त्रियां भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं। द्रव्यनपुंसके भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं इति विषमत्वं द्रव्यभावयोरनियमः कथितः। कुतः द्रव्यपुरुषस्य क्षपकश्रेण्यारूढानिवृत्तिकरणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे "सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति।" इति प्रतिपादकत्वेन संभवात्। –ये द्रव्य और भाववेद दोनों प्रायः अर्थात् प्रचुररूपसे देव नारकियोंमें तथा सर्व ही भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचोंमें समान ही होते हैं, अर्थात् उनके द्रव्य व भाव दोनों ही वेदोंका समान उदय पाया जाता है। परन्तु क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंच इन दोनों गतियोंमें विषम या विसदृश भी होते हैं। वह ऐसे कि द्रव्यवेदसे पुरुष होकर भाववेदसे पुरुष, स्त्री व नपुंसक तीनों प्रकारका हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्यसे स्त्री और भावसे स्त्री, पुरुष व नपुंसक तथा द्रव्यसे नपुंसक और भावसे पुरुष स्त्री व नपुंसक। इस प्रकार की विषमता होनेसे तहाँ द्रव्य और भाववेदका कोई नियम नहीं है। *क्योंकि, आगममें नवें गुणस्थानके सवेदभाग पर्यन्त* द्रव्यसे एक पुरुषवेद और भावसे तीनों वेद है ऐसा कथन किया है।–दे० वेद/७। (पं. ध./उ./१०९२–१०९५)।

४. भाववेदमें परिवर्तन सम्भव है

ध. १/१,१,१०७/३४६/७ कषायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदो आजन्मः आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। –[पर्यायरूप होनेके कारण तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है–(दे० वेद/२/४); परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि] जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक-एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है।

ज. ४/१,५,६१/३६६/४ वेदंतरसंकंतीए अभावादो। –भोगभूमिमें वेद परिवर्तनका अभाव है।

५. द्रव्य वेदमें परिवर्तन सम्भव नहीं

गो. जी./जी. प्र./२७१/५९१/१८ पुंवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनोकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिङ्गाङ्कितशरीर-विशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंतं द्रव्यपुरुषो भवति। ...भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमय-पर्यन्तं द्रव्यस्त्री भवति। ...भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरम-समयपर्यन्तं द्रव्यनपुंसकं जीवो भवति। –पुरुषवेदके उदयसे तथा निर्माण नामकर्मके उदयसे युक्त अंगोपांग नामकर्मके उदयके वशसे मूंछ दाढ़ी व लिंग आदि चिह्नोंसे अंकित शरीर विशिष्ट जीव, भवके प्रथम समयको आदि करके उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य पुरुष होता है। इसी प्रकार भवके प्रथम समयसे लेकर उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य-स्त्री व द्रव्य नपुंसक होता है।

५. गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व

१. नरकमें केवल नपुंसक वेद होता है

ष. खं./१/१,१/ सू. १०५/३४५ णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा।१०५। –नारकी जीव चारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध (केवल) नपुंसक-वेदी होते हैं–(और भी दे० वेद/५/३)।

पं. ध./उ./१०८९ नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः। द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ।१०८९। –सम्पूर्ण नारकियोंके द्रव्य व भाव दोनों प्रकारसे एक नपुंसक ही वेद होता है उनके न स्त्री वेद होता है और न पुरुष वेद ।१०८९।

२. भोगभूमिज तिर्यंच मनुष्योंमें तथा सभी देवोंमें दो ही वेद होते हैं

ष. खं. १/१,१/सूत्र ११०/३४७ देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।११०। --देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते है।

मू आ./११२६ देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुयतिरिया। ते होंति दोसु वेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो ।११२६। --चारों प्रकारके देव तथा असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच, इनके दो (स्त्री व पुरुष) ही वेद होते हैं, तीसरा (नपुंसकवेद) नहीं। (ध. १/१,१,११०/३४७/१२)।

त सू./व.स.सि./२/५१/१९९ न देवाः ।५१। .. न तेषु नपुंसकानि सन्ति।--देवोंमें नपुंसकवेदी नहीं होते। (रा. वा./२/५१/१५६/२७) (त. सा./२/८०)।

गो. जी./मू./९३/२१४... सुरभोगभूमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ।९३। --देव तथा भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच केवल पुरुष व स्त्री वेदी ही होते हैं।

पं. ध./उ./१०८७-१०८८ यथा दिविजनारीणां नारीवेदोऽस्ति नेतर। देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ।१०८७। भोगभूमौ च नारीणां नारीवेदो न चेतरः। पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वान्योन्यसंभव। ।१०८८। --जैसे सम्पूर्ण देवांगनाओंके केवलस्त्री वेदका उदय रहता है अन्य वेदका नहीं, वैसे ही सभी देवोंके एक पुरुषवेदका ही उदय है अन्यका नहीं ।१०८७। भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्री वेद तथा पुरुषवेद ही होता है, अन्य नहीं। स्त्रीवेदीके पुरुषवेद और पुरुषवेदीके स्त्रीवेद नहीं होता है ।१०८८।--और भी दे०/वेद/४/३)।

३. कर्मभूमिज विकलेन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यंच व मनुष्य केवल नपुंसक वेदी होते हैं

ष. खं. १/१,१/सूत्र १०६/३४५ तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ।१०६। --तिर्यंच एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध (केवल) नपुंसकवेदी होते हैं ।१०६।

मू. आ./११२८ एइंदिय विगलिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे। वेदो णवुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ।११२८। --एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी, सम्मूर्च्छिम असंज्ञी व संज्ञी तिर्यंच तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमसे नपुंसक लिंगी होते हैं। (त्रि.सा./३३१)।

त. सू./२/५० नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ।५०। --नारक और सम्मूर्च्छिम नपुंसक होते हैं। (त. सा./२/८०); (गो.जी./मू./९३/२१४)

ध. १/१,१,११०/३४७/११ तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ताः संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाश्च नपुंसका एव। --लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य तथा सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते है।

पं. ध./उ./१०९०-१०९१ तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसक-वेदो विकलत्रयाणां क्लीबः स्यात् केवलः किल ।१०९०। पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः। द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ।१०९१। --तिर्यंचजातियोंमें भी निश्चय करके द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण एकेन्द्रियोंके, विकलेन्द्रियोंके और (सम्मूर्च्छिम) असंज्ञी पंचेन्द्रियोंके केवल एक नपुंसक वेद होता है, अन्य वेद कभी नहीं होता ।१०९०-१०९१।

४. कर्मभूमिज संज्ञी असंज्ञी तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं

ष. खं. १/१,१/सूत्र १०७-१०९/३४६ तिरक्खा तिवेदा असण्णिपंचिंदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ।१०७। मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइ-ट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।१०८। तेण परमवगदवेदा चेदि ।१०९। --तिर्यंच असंज्ञी पंचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं ।१०७। मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनों वेदवाले होते हैं ।१०८। नवमें गुणस्थानके सवेदभागके आगे सभी गुणस्थानवाले जीव वेद रहित होते हैं ।१०९।

मू. आ./११३० पंचिंदिया दु सेसा सण्णि असण्णि य तिरिय मणुसा य। ते होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ।११३०। --उपरोक्त सर्व विकल्पोंसे शेष जो संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य स्त्री पुरुष व नपुंसक तीनों वेदोंवाले होते हैं ।११३०।

त. सू./२/५२ शेषास्त्रिवेदाः ।५२। --शेषके सब जीव तीन वेद वाले होते है। (त. सा./२/८०)।

गो. जी./मू./९३/२१४ णर तिरिये तिण्णि होंति। --नर और तिर्यंचोंमें तीनों वेद होते हैं।

त्रि. सा./३३१ तिवेदा गब्भणरतिरिया।--गर्भज मनुष्य व तिर्यंच तीनों वेदवाले होते हैं।

पं. ध./उ./१०९२ कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च। तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ।१०९२। --कर्मभूमिमें मनुष्योंके और मनुष्यनियोंके तथा तिर्यंचोंके और तिर्यंचनियोंके अपने-अपने उदयके अनुसार तीनों वेद होते हैं ।१०९२। [अर्थात् द्रव्य वेदकी अपेक्षा पुरुष व स्त्री वेदी होते हुए भी उनके भाववेदकी अपेक्षा तीनोंमेंसे अन्यतम वेद पाया जाता है ।१०९३-१०९४।]

५. एकेन्द्रियोंमें वेदभावकी सिद्धि

ध. १/१,१,१०३/३४३/८ एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सत्त्वमिति चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः, तस्यात्र प्राधान्याभावात्। अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्ध्येत्, सकलप्रमेयव्याप्यु-पलम्भबलेन तत्सिद्धिः। न स छद्मस्थेष्वस्ति। एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषो घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात्। --प्रश्न--एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिए द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होनेपर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया? उत्तर--एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहाँपर प्रधानता नहीं है। अथवा द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु सम्पूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाण (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है। प्रश्न--जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ है ऐसे एकेन्द्रियोंको स्त्री और पुरुष विषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है? उत्तर--नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है।

६. चींटी आदि नपुंसक वेदी ही कैसे

ध. १/१,१,१०६/३४६/२ पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुंसक इति चेन्न, अण्डानां गर्भ एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। --प्रश्न--चींटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिए वे नपुंसकवेदी नहीं हो सकते हैं? उत्तर--अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है। ऐसा कोई नियम नहीं।

७. विग्रह गतिमें भी अव्यक्तवेद होता है

ध. १/१,१,१०६/३४६/३ विग्रहगतौ न वेदाभावस्तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्। --विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहाँ भी अव्यक्त वेद पाया जाता है।

६. वेदमार्गणामें सम्यक्त्व व गुणस्थान

१. सम्यक्त्व व गुणस्थान स्वामित्व निर्देश

दे० वेद/५/नं. [नरक गतिमें नपुंसक वेदी १-४ गुणस्थान वाले होते हैं ।१। तिर्यंच तीनों वेदोंवाले १-५ गुणस्थान वाले होते हैं ।४। मनुष्य तीनों वेदोंमें १-९ गुणस्थानवाले होते हैं। और इससे आगे वेद रहित होते हैं ।५। देव स्त्री व पुरुष वेदमें १-४ गुणस्थान वाले होते हैं ।२।]

दे० नरक/४/ नं. [नरककी प्रथम पृथिवीमें क्षायिक औपशमिक व क्षायोपशमिक तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं, परन्तु शेष छः पृथिवियोंमें क्षायिक रहित दो ही सम्भव हैं ।२। प्रथम पृथिवी सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक व अपर्याप्तक दोनों अवस्थाओंमें होते हैं पर शेष छः पृथिवियोंमें पर्याप्तक ही होते हैं ।३।]

दे. तिर्यंच/२/नं. [तिर्यंच व योनिमति तिर्यंच १-५ गुण स्थानवाले होते हैं। तिर्यंचको चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यक्त्व सम्भव है, परन्तु पाँचवें गुणस्थानमें नहीं। योनिमती तिर्यंचको चौथे व पाँचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिकसम्यग्दर्शन सम्भव नहीं ।१। तिर्यंच तो चौथे गुणस्थानमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों सम्भव हैं, परन्तु योनिमति तिर्यंच केवल पर्याप्त ही सम्भव है। पाँचवें गुणस्थानमें दोनों ही पर्याप्त होते हैं अपर्याप्त नहीं /२।]

दे. मनुष्य/३/नं. [मनुष्य व मनुष्यणी दोनों ही संयत व क्षायिक सम्यग्दृष्टि होने सम्भव हैं ।१। मनुष्य तो सम्यग्दृष्टि पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं, परन्तु मनुष्यणी सम्यग्दृष्टि केवल पर्याप्त ही होते हैं। शेष ५-१४ गुणस्थानोंमें दोनों पर्याप्त ही होते हैं ।२।]

दे. देव./३/नं. [कल्पवासी देवोंमें क्षायिक औपशमिक व क्षायोपशमिक तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं, परन्तु भवनत्रिक देवों व सर्व देवियोंमें क्षायिक रहित दो ही सम्यक्त्व सम्भव हैं ।१। कल्पवासी देव तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते हैं, पर भवनत्रिकदेव व सर्व देवियाँ नियमसे पर्याप्त ही होते हैं ।२।]

क. पा. ३/३-२२/§४२६/२४१/१३ जहा अप्पसत्थ वेदोदएण मणपज्जवणाणादीणं ण संभवो तहा दंसणमोहणीयक्खवणाए तत्थ किं संभवो अत्थि णत्थि त्ति संदेहेण घुलंतहियस्स सिस्ससंदेहविणासणट्ठं मणुसस्स मणुसिणीए वा त्ति भणिदं। —जिस प्रकार अप्रशस्त वेदके उदयके साथ मन:पर्यय ज्ञानादिकका होना सम्भव नहीं है—(दे. शीर्षक नं. ६) इसी प्रकार अप्रशस्त वेदके उदयमें दर्शनमोहनीयकी क्षपणा क्या सम्भव है या नहीं है, इस प्रकार सन्देहसे जिसका हृदय घुल रहा है उस शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिए सूत्रमें 'मणुसस्स मणुस्सणीए वा' यह पद कहा है। [मनुष्यका अर्थ पुरुष व नपुंसक वेदी मनुष्य है और मनुष्यणीका अर्थ स्त्रीवेदी मनुष्य है।—दे. वेद/३/५। अतः तीनों वेदोंमें दर्शनमोहकी क्षपणा सम्भव है।]

गो. जी./जी./प्र./७१४/११५३/११ असंयततैरश्च्यां प्रथमोपशमकवेदकसम्यक्त्वद्वयं, असंयतमानुष्यां प्रथमोपशमवेदकक्षायिकसम्यक्त्वत्रयं च संभवति तथापि एको भुज्यमानपर्याप्तालाप एव। योनिमतीनां पञ्चमगुणस्थानादुपरि गमनासंभवात् द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं नास्ति। —असंयत तिर्यंचोंमें प्रथमोपशम व वेदक ये दो ही सम्यक्त्व होते हैं और मनुष्यणीके प्रथमोपशम, वेदक व क्षायिक ये तीनों सम्यक्त्व सम्भव हैं। तथापि तहाँ एक भुज्यमान पर्याप्त आलाप ही होता है। योनिमती मनुष्य या तिर्यंचका तो पंचमगुणस्थानसे ऊपर जाना असम्भव होनेसे यहाँ द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता।

२. अप्रशस्त वेदोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प होते हैं

ष. खं. ५/१.८/सू. ७५/२७८ णवरि विसेसो, मणुसिणीसु असंजद-संजदासंजद-पमत्तापमत्तसंजदट्ठाणे सम्मत्तप्पाबहुअं णत्थि... खइयसम्माइट्ठी ।७५।

ध. ५/१.८.७५/२७८/१० कुदो। अप्पसत्थवेदोदएण दंसणमोहणीयं खवेंतजीवाणं बहूणमणुवलंभा। —केवल विशेषता यह है कि मनुष्यणियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सबसे कम हैं ।७५। क्योंकि, अप्रशस्त वेदके उदयके साथ दर्शनमोहनीयको क्षपण करनेवाले जीव बहुत नहीं पाये जाते हैं।

३. अप्रशस्तवेदके साथ आहारक आदि ऋद्धियोंका निषेध

दे /वेद/६/१—में. क. पा.—(अप्रशस्तवेदके उदयके साथ मनःपर्यय ज्ञान आदिका होना सम्भव नहीं।)

दे. आहार /४/३—(भाव पुरुष द्रव्य स्त्रीको यद्यपि संयम होता है, परन्तु उनको आहारक ऋद्धि नहीं होती। द्रव्य स्त्रीको तो संयम ही नहीं होता, तहाँ आहार ऋद्धिका प्रश्न ही क्या।)

गो. जी./मू. व जी. प्र./७१५/११५४/५.६ मणुसिणि पमत्तविरदे आहारदुगं तु णत्थि णियमेण।...।७१५। तुशब्दात् अशुभवेदोदये मनःपर्ययपरिहारविशुद्धी अपि न। —मनुष्यणीको प्रमत्तविरत गुणस्थानमें नियमसे आहार व आहारक मिश्र योग नहीं होते। 'तु' शब्दसे अशुभ वेदके उदयमें मनःपर्ययज्ञान व परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता, ऐसा समझना चाहिए।

गो. जी./मू. व जी. प्र./७२४/११६०/२. ५ णवरि य संढिच्छीणं णत्थि हु आहारगाण दुगं ।७२४। —भावषण्ढद्रव्यपुरुषे भावस्त्रीद्रव्यपुरुषे च प्रमत्तसंयते आहारकतन्मिश्रालापौ न। —इतनी विशेषता है कि नपुंसक व स्त्री वेदीको आहारकद्विक नहीं होते हैं। तात्पर्य यह कि भावनपुंसक द्रव्यपुरुषमें अथवा भावस्त्री द्रव्यपुरुषमें प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें आहार व आहारकमिश्र ये आलाप नहीं होते हैं।

७. स्त्रीप्रव्रज्या व मुक्तिनिषेध

१. स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं होता

शी. पा./मू./२९ सुणहाण य गोपसुमहिलाण दीसदे मोक्खो। जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहिं सव्वेहिं ।२९। —श्वान, गर्दभ, गौ आदि पशु और स्त्री इनको मोक्ष होते हुए किसने देखा है। जो चौथे मोक्ष पुरुषार्थका शोधन करता है उसको ही मुक्ति होती है ।२९।

प्र. सा./प्रक्षेपक/२२५-८/३०४ जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता। घोरं चरदि य चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ।८। —सम्यग्दर्शनसे शुद्धि, सूत्रका अध्ययन तथा तपश्चरणरूप चारित्र इन कर संयुक्त भी स्त्रीको कर्मोंकी सम्पूर्ण निर्जरा नहीं कही गयी है।

मो. पा./टी./१२/३१३/११ स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात्। —महाव्रतोंका अभाव होनेसे स्त्रियोंको मुक्ति नहीं होती।—(और भी दे. शीर्षक नं. ४)

दे. शीर्षक नं. ४—(सावरण होनेके कारण उन्हें मुक्ति नहीं है।)

दे. मोक्ष/४/५—(तीनों ही भाव लिंगोंसे मोक्ष सम्भव है, पर द्रव्यसे केवल पुरुषवेदसे ही होता है)।

२. फिर भी भवान्तरमें मुक्तिकी अभिलाषासे जिन दीक्षा लेती हैं

प्र. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक २२५-८/३०५/७ यदि पूर्वोक्तदोषाः सन्ति स्त्रीणां तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथं षोडशस्वर्गे गता इति चेत्। परिहारमाह-तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्षं यास्यन्त्यग्रे।

तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति। —प्रश्न—यदि स्त्रियोंके पूर्वोक्त सब दोष होते हैं (दे. आगेके शीर्षक) तो सीता, रुक्मिणी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि सतियाँ जिनदीक्षा ग्रहण करके विशिष्ट तपश्चरणके द्वारा १६वें स्वर्गमें कैसे चली गयीं? उत्तर—इसमें कोई दोष नहीं है, इसलिए कि स्वर्गसे आकर, आगे पुरुषवेदसे मोक्षको प्राप्त करेंगी। स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं है, परन्तु भवान्तरसे मोक्ष हो जानेमें क्या दोष है।

३. तद्भव मुक्ति निषेधमें हेतु चंचलस्वभाव

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक गाथा/२२५–३ से ६/३०१ पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासया पमदा। तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा ।३। संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य। चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं ।४। ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि। ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ।५। चित्तस्सावो तासिं सिथिल्लं अत्तवं च पक्खलणं। विज्जदि सहसा तासु…।६। —स्त्रियाँ प्रमादकी मूर्ति हैं। प्रमादकी बहुलतासे ही उन्हें प्रमदा कहा जाता है ।३। उन प्रमदाओंको नित्य मोह, प्रद्वेष, भय, दुगुंछा आदिरूप परिणाम तथा चित्तमें चित्र-विचित्र माया बनी रहती हैं, इसलिए उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ।४। स्त्रियाँ कभी भी दोष रहित नहीं होतीं इसलिए उनका शरीर सदा वस्त्रसे ढका रहता है ।५। स्त्रियोंको चित्तकी चंचलता व शिथिलता सदा बनी रहती है ।६। (मो. सा./अ./८/४५–४८)

४. तद्भव मुक्ति निषेधमें हेतु सचेलता

सू. पा./मू./२२ लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि। अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ।२२। —स्त्रीका लिंग ऐसा है—एक काल भोजन करे, एक वस्त्र धरे और भोजन करते समय भी वस्त्रको न उतारे।

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक/२२५–२/३०२ णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि जम्हा दिट्ठा। तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ।२। —क्योंकि, स्त्रियोंको निश्चयसे उसी जन्मसे सिद्धि नहीं कही गयी है, इसलिए स्त्रियोंका लिंग सावरण कहा गया है ।२। (मो. सा./अ./८/४४)

दे. मो./४/५—(सग्रन्थ लिंगसे मुक्ति सम्भव नहीं)

ध. १/१,१ ९३/३३३/१ अस्मादेवार्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निवृत्तिः सिद्ध्येदिति चेन्न, सवासस्त्वादप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति भावासंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः। —प्रश्न—इसी आगमसे (मनुष्यणियोंमें संयत गुणस्थानके प्रतिपादक सूत्र नं. ९३ से) द्रव्य स्त्रियोंका मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जायेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वस्त्रसहित होनेसे उनके संयतासंयत गुणस्थान होता है अतएव उनके संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रश्न—वस्त्र सहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोंके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नहीं आना चाहिए? उत्तर—उनके भावसंयम नहीं है, क्योंकि, अन्यथा अर्थात् भावसंयमके माननेपर, उनके भाव असंयमका अविनाभावी वस्त्र आदिका ग्रहण करना नहीं बन सकता है।

ध. ११/४,२,६,१२/११४/११ ण च दव्वत्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वत्थिणवंसयवेदाणं चेलादिचाओ अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो। —द्रव्य स्त्रियोंके निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है, क्योंकि, वस्त्रादि परित्यागके बिना उनके भावनिर्ग्रन्थताका अभाव है। द्रव्य स्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी वस्त्रादिका त्याग करके निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर सकते हैं, ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, वैसा स्वीकार करनेपर छेदसूत्रके साथ विरोध होता है।

५. आर्यिकाको महाव्रती कैसे कहते हो

प्र. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक गाथा/२२५–८/३०४/२४ अथ मतं—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्। परिहारमाह—तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम्। न चोपचारः साक्षाद्भवितुमर्हति…। किंतु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणां तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षितः साधुः कथं वन्द्यो भवति। सैव प्रथमतः किं न वन्द्या भवति साधोः। —प्रश्न—यदि स्त्रीको मोक्ष नहीं होता तो आर्यिकाओंको महाव्रतोंका आरोप किस लिए किया जाता है। उत्तर—साधुसंघकी व्यवस्थामात्रके लिए उपचारसे वे महाव्रत कहे जाते हैं और उपचारमें साक्षात होनेकी सामर्थ्य नहीं है। किन्तु यदि तद्भवसे स्त्री मोक्ष गयी होती तो १०० वर्षकी दीक्षिता आर्यिकाके द्वारा आजका नवदीक्षित साधु वन्द्य कैसे होता। वह आर्यिका ही पहिले उस साधुकी वन्द्या क्यों न होती। (मो. पा./टी./१२/३१३/१८); (और भी दे. आहारक/४/१; वेद/३/४ गो. जी.)

६. फिर मनुष्यणीको १४ गुणस्थान कैसे कहे गये

ध.१/१,१,९३/३३३/४ कथं पुनस्तासु चतुर्दश गुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो बादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानां संभव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद्विनश्यति। वेदविशेषणायां गतौ न तानि संभवन्तीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। —प्रश्न—तो फिर 'स्त्रियोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं' यह कथन कैसे बन सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, भावस्त्रीमें अर्थात् स्त्री वेदयुक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोंके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—बादर कषाय गुणस्थानके ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है, इसलिए भाववेदमें १४ गुणस्थानोंका सद्भाव नहीं हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँपर वेदकी प्रधानता नहीं है, किन्तु गति प्रधान है, और वह पहिले नष्ट नहीं होती है। प्रश्न—यद्यपि मनुष्यगतिमें १४ गुणस्थान सम्भव हैं, फिर भी उसे वेद विशेषणसे युक्त कर देनेपर उसमें चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हो सकते? उत्तर—नहीं, क्योंकि, विशेषणके नष्ट हो जानेपर भी उपचारसे उस विशेषण युक्त संज्ञाको धारण करनेवाली मनुष्य गतिमें चौदह गुणस्थानोंका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

७. स्त्रीके सवस्त्र लिंगमें हेतु

प्र. सा./मू./प्रक्षेपक गाथा/२२५/५–९ ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि। ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ।५। …अत्तवं च पक्खलणं। विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ।६। लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु। भणिदो सुहुमुप्पदो तासिं कह संजमो होदि ।७। तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं ।९। —१. स्त्रियाँ कभी दोषके बिना नहीं रहतीं इसीलिए उनका शरीर वस्त्रसे ढका रहता है और विरक्त अवस्थामें वस्त्रसहित लिंग धारण करनेका ही उपदेश है ।५। (मो. सा./अ./८/४७)। २. प्रतिमास चित्तशुद्धि विनाशक रक्त स्रवण होता है ।६। (मो. सा./अ./८/४८); (दे. शुक्लध्यान/३/५)। ३. शरीरमें बहुत-से सूक्ष्म जीवोंकी उत्पत्ति होती है ।६। उनके काँख, योनि और स्तन आदि अवयवोंमें बहुत-से सूक्ष्म जीव उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए उनके पूर्ण संयम नहीं पल सकता ।७। (सू. पा./मू./२४); (मो. सा./अ./८/४८–४९); (मो. पा./टी./१२/३१३/१२)। ४. इसीलिए जिनेन्द्र भगवान्ने स्त्रियोंके लिए सावरण लिंगका निर्देश किया है।

८. मुक्ति निषेधमें हेतु उत्तम संहननादिका अभाव

प्र. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक २२५-८/३०४/१८ किंच यथा प्रथमसंहननाभावात्स्त्री सप्तमनरकं न गच्छति तथा निर्वाणमपि। पुंवेदं वेदंता पुरिसा जे खवगसेढिमारूढा। सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति। इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणां कथं निर्वाणमिति चेत। तासां भावस्त्रीणां प्रथमसंहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति। द्रव्यस्त्रीणां प्रथमसंहननं नास्तीति, कस्मादागमे कथितमास्ते इति चेत्। —प्रश्न—जिस प्रकार प्रथम संहननके अभावसे स्त्री सप्तम नरक नहीं जाती है, उसी प्रकार निर्वाणको भी प्राप्त नहीं करती है। सिद्धभक्तिमें कहा है कि द्रव्यसे पुरुषवेदको अथवा भावसे तीनों वेदोंको अनुभव करता हुआ जीव क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ ध्यानसे संयुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करता है। इस गाथामें कहे गये अभिप्रायसे भावस्त्रियोंको निर्वाण कैसे हो सकता है? उत्तर—भावस्त्रीको प्रथमसंहनन भी होता है और द्रव्य स्त्रीवेदके अभावसे उसको मोक्षपरिणामका प्रतिबन्धक तीव्र कामोद्रेक भी नहीं होता है। परन्तु द्रव्य स्त्रीको प्रथम संहनन नहीं होता, क्योंकि, आगममें उसका निषेध किया है। —दे. संहनन।

९. स्त्रीको तीर्थंकर कहना युक्त नहीं

प्र. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक २२५-८/३०५/३ किंतु भवन्मते मल्लितीर्थकरः स्त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम्। तीर्थकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनाः पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति। सम्यग्दृष्टेः स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथं स्त्री भविष्यतीति। किं च यदि मल्लितीर्थकरो वान्यः कोऽपि वा स्त्रीभूत्वा निर्वाणं गतः तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भिः। —किन्तु आपके मतमें मल्लितीर्थंकरको स्त्री कहा है, सो भी अयुक्त है, क्योंकि, तीर्थंकर पूर्वभवमें षोडशकारण भावनाओंको भाकर होते हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेद कर्मका बन्ध ही नहीं करते, तब वे स्त्री कैसे बन सकते हैं। [सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते — दे० जन्म/३]। और भी यदि मल्लितीर्थंकर या कोई अन्य स्त्री होकर निर्वाणको प्राप्त हुआ है तो आप लोग स्त्रीरूप प्रतिमाकी भी आराधना क्यों नहीं करते।

दे० तीर्थंकर/२/२ (तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध यद्यपि तीनों वेदोंमें होता है पर उसका उदय एक पुरुषवेदमें ही सम्भव है।)

वेदक—ल. सा./भाषा/२७२/३२६/७ वेदक कहिए उदयका भोक्ता। २. वेदकका सत्त्वकाल—दे० काल/६।

वेदक सम्यग्दर्शन—१. वेदक व कृतकृत्य वेदक सम्यग्दर्शन निर्देश। —दे० सम्यग्दर्शन। IV/४। २—वेदक व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें अन्तर।—दे० क्षायोपशम/२।

वेदन—न्या. वि./वृ /१/३/५७/२१ वेदनम् ज्ञानम्। —वेदन अर्थात् ज्ञान।

वेदना—

१. सुख दुःख अर्थमें

स. सि./९/३२/४४७/५ वेदनाशब्दः सुखे दुःखे च वर्तमानोऽपि आर्तस्य प्रकृतत्वाद् दुःखवेदनायां प्रवर्तते। —'वेदना' शब्द यद्यपि सुख और दुःख दोनों अर्थोंमें विद्यमान है पर यहाँ आर्तध्यानका प्रकरण होनेसे उससे दुःखवेदना ली गयी है। (रा. वा./९/३२/१/६२८/२०)।

रा. वा./६/११/१२/५२१/६ विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात्। विदेः चुरादिण्यन्तस्य चेतनार्थस्येदं वेद्यमिति। —विद्, विद्लृ, विन्ति और विचारि ये चार विद् धातुएँ क्रमशः ज्ञान, लाभ, विचार और सद्भाव अर्थको कहती हैं। यहाँ चेतनार्थक विद् धातुसे चुरादिण्यन्त प्रत्यय करके वेद्य शब्द बना है।

ध. १२/४,२,१०,१/३०२/७ अनुभवनं वेदना। —अनुभव करनेका नाम वेदना है।

दे. उपलब्धि—(चेतना, अनुभूति, उपलब्धि व वेदना ये शब्द एकार्थवाची हैं।)

२. कर्म व नोकर्मके अर्थमें

ध. ११/४,२,१०,१/३०२/४ वेद्यते वेदिष्यत इति वेदनाशब्दसिद्धः। अट्ठविहकम्मपोग्गलक्खंधो वेयणा। णोकम्मपोग्गला वि वेदिज्जंति त्ति तेसिं वेयणासण्णा किण्ण इच्छिज्जदे। ण, अट्ठविहकम्मपरूवणाए परूविज्जमाणाए णोकम्मपरूवणाए संभवाभावादो। —जिसका वर्तमानमें अनुभव किया जाता है, या भविष्यमें किया जायेगा वह वेदना है, इस निरुक्तिके अनुसार आठ प्रकारके कर्म पुद्गलस्कन्धको वेदना कहा गया है। —प्रश्न—नोकर्म भी तो अनुभवके विषय होते हैं, फिर उनकी वेदना संज्ञा क्यों अभीष्ट नहीं है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आठ प्रकारके कर्मकी प्ररूपणाका निरूपण करते समय नोकर्म प्ररूपणाकी सम्भावना ही नहीं है।

ध. १४/५,६,६८/४८/३ वेद्यन्त इति वेदना.। जीवादो पुधभूदा कम्मणोकम्मबंधपाओग्गक्खंधा अबंधणिज्जा णाम। तेसिं कधं वेदणाभावो जुज्जदे। ण, दव्वखेत्तकालभावेहि वेदणापाओग्गेसु दव्वट्ठियणयमस्सिदूण वेदणासद्दपवुत्तीए अब्भुवगमादो। वेदनात्मात्मा स्वरूपं येषां ते वेदनात्मान. पुद्गला. इह गृहीतव्याः। कुदो। अण्णेसिं बंधणिज्जत्ताभावादो। ते च बंधणिज्जा पोग्गला खंधसमुद्दिट्ठा, खंधसरूवाणंताणंतपरमाणुपोग्गलसमुदयसमागमेण बंधपाओग्गपोग्गलसमुप्पत्तीदो। —जो वेदे जाते हैं उन्हें वेदन कहते हैं, जीवसे पृथग्भूत बन्धयोग्य कर्म और नोकर्म स्कन्ध बन्धनीय कहलाते हैं। प्रश्न—वे वेदनरूप कैसे हो सकते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो द्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा वेदनायोग्य हैं, उनमें द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा वेदना शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार की गयी है। वेदनपना जिनका आत्मा अर्थात् स्वरूप है वे वेदनात्मा कहलाते हैं। यहाँ इस पदसे पुद्गलोंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नहीं हो सकते। वे बन्धनीय पुद्गल स्कन्धसमुद्दिष्ट अर्थात् स्कन्ध स्वरूप कहे गये हैं, क्योंकि स्कन्धरूप अनन्तानन्त परमाणुपुद्गलोंके समुदायरूप समागमसे बन्धयोग्य पुद्गल होते हैं।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा वेदनाके भेद व लक्षण

ध. १०/४,२,१,३./७/८ तव्वदिरित्तणोआगमदव्ववेयणा कम्मणोकम्मभेएण दुविहा। तत्थ कम्मवेयणा णाणावरणादिभेएण अट्ठविहा। णोकम्मणोआगमदव्ववेयणा सचित्त-अचित्त-मिस्सभेएण तिविहा। तत्थ सचित्तदव्ववेयणा कम्मणोकम्मभेएण दुविहा। तत्थ सचित्तदव्ववेयणा सिद्धजीवदव्वं। अचित्तदव्ववेयणा पोग्गलकालागास-धम्माधम्मदव्वाणि। मिस्सदव्ववेयणासंसारिजीवदव्वं, कम्मणोकम्मजीवसमवायस्स जीवजीवेहिंतो पुधभावदंसणादो। —[नाम, स्थापना, आदि निक्षेपों रूप भेद तो यथायोग्य निक्षेपोंवत् जानने] तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्यवेदना कर्म और नोकर्मके भेदसे दो प्रकारकी है। उनमेंसे कर्मवेदना ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारकी है' तथा नोकर्म नोआगम द्रव्यवेदना सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। उनमेंसे सचित्त द्रव्यवेदना सिद्धजीव द्रव्य है। अचित्त द्रव्यवेदना पुद्गल, काल, आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। मिश्र द्रव्यवेदना संसारी जीवद्रव्य है, क्योंकि, कर्म और नोकर्मका जीवके साथ हुआ सम्बन्ध जीव और अजीवसे भिन्न रूपसे देखा जाता है।

३. बध्यमान द्रव्यको वेदना संज्ञा कैसे

ध. १२/४,२,१०,३/३०४/१ सिया बज्झमाणिया वेयणा होदि, तत्तो अण्णाणादि फलुप्पत्तिदंसणादो। बज्झमाणस्स कम्मस्स फलम-

कुणंतस्स कधं वेयणाववएसो। ण, उत्तरकाले फलदाइत्तण्णहाणुववत्तीदो बंधसमए वि वेदणभावसिद्धीए। – कथंचित् बध्यमान वेदना होती है, क्योंकि, उससे अज्ञानादिरूप फलकी उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न – चूँकि बाँधा जानेवाला कर्म उस समय फलको करता नहीं है, अतः उसकी वेदना संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर – नहीं, क्योंकि, इसके बिना वह उत्तरकालमें फलदाता बन नहीं सकता, अतएव बन्धसमयमें भी उसे वेदना सिद्ध है।

* **वेदना नामका आर्तध्यान**—दे० आर्तध्यान।

वेदनाभय—दे० भय।

वेदनासन्निकर्ष— —दे. सन्निकर्ष।

वेदना समुद्घात—

रा. वा./१/२०/१२/७७/१३ वातिकादिरोगविषादिद्रव्यसंबन्धसंतापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घातः। – वात पित्तादि विकार जनित रोग या विषपान आदिकी तीव्रवेदनासे आत्म प्रदेशोंका बाहर निकलना वेदना समुद्घात है।

ध. ४/१,३,२/२६/७ तत्थ वेदणसमुग्घादो णाम अक्खि-सिरोवेदणादीहि जीवाणमुक्कस्सेण सरीरतिगुणविप्फुज्जणं। – नेत्र वेदना, शिरोवेदना, आदिके द्वारा जीवोंके प्रदेशोंका उत्कृष्टतः शरीरसे तिगुणे प्रमाण विसर्पणका नाम वेदनासमुद्घात है। (ध. ७/२,६,१/२९९/८); (ध. ११/४,२,५,६/१८/७)।

द्र.सं./टी./१०/२५/३ तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशानां बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घातः। – तीव्र पीड़ाके अनुभवसे मूल शरीर न छोड़ते हुए जो आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलना सो वेदना समुद्घात है।

२. वेदना समुद्घातमें प्रदेशोंका विस्तार

ध. ११/४,२,५,६/१८/७ वेयणावसेण जीवपदेसाणं विक्खंभुस्सेहेहि तिगुणविपुंजणं वेयणासमुग्घादो णाम। ण च एस णियमो सव्वेसिं जीवपदेसा वेयणाए तिगुणं चेव विपुंजंति त्ति, किंतु सगविक्खंभादो तरतमसरूवेण ट्ठिदवेयणावसेण एगदोपदेसादीहि वि वड्ढी होदि। – १—वेदनाके वशसे जीव प्रदेशोंके विष्कम्भ और उत्सेधकी अपेक्षा तिगुने प्रमाणमें फैलनेका नाम वेदना समुद्घात है। (ध. ७/२,६,१,२९९/८); (ऊपरवाला लक्षण); (गो. जी./जी. प्र./५८४/१०२५/८)। २. परन्तु सबके जीवप्रदेश वेदनाके वशसे तिगुणे ही फैलते हों, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु तरतम रूपसे स्थित वेदनाके वशसे अपने विष्कम्भकी अपेक्षा एक दो प्रदेशादिकोंसे भी वृद्धि होती है।

३. निगोद जीवको यह सम्भव नहीं

ध. ११/४,२,५,१२/२१/२ णिगोदेसुप्पज्जमाणस्स अइतिव्ववेयणाभावेण सरीरतिगुणवेयणसमुग्घादस्स अभावादो। – निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवके अतिशय तीव्र वेदनाका अभाव होनेसे विक्षिप्त शरीरसे तिगुणा वेदना समुद्घात सम्भव नहीं है।

४. जीव प्रदेशोंके खण्डित होनेकी संभावना

स्या. मं./९/१०२/१६ शरीरसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशानां खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मनः खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्गः, तत्रैवानुप्रवेशात्। ...कथं खण्डितावयवयोः संघट्टनं पश्चाद् इति चेत्, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवद् छेदस्यापि स्वीकारात्। – शरीरसे सम्बद्ध आत्म-प्रदेशोंमें कुछ आत्मप्रदेशोंके खण्डित शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका खण्डन होता है, अन्यथा तलवार आदिसे कटे हुए शरीरके पृथग्भूत अवयवोंमें कम्पन न देखा जाता। खण्डित अवयवोंमें प्रविष्ट आत्मप्रदेशोंमें पृथक् आत्माका प्रसंग भी नहीं आता है, क्योंकि, वे फिरसे पहले ही शरीरमें लौट आते हैं। प्रश्न—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर पीछे फिर एक कैसे हो जाते हैं? उत्तर—हम उनका सर्वथा विभाग नहीं मानते। कमलनालके तन्तुओंकी तरह आत्माके प्रदेशोंका छेद स्वीकार करते हैं।

* **अन्य सम्बन्धित विषय**

* बद्धायुष्क व अबद्धायुष्क सबको होता है। —दे० मरण/५/७।
* वेदना व मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर। —दे० मरण/५/७।
* वेदना समुद्घातका स्वामित्व। —दे० क्षेत्र/३।
* वेदना समुद्घातकी दिशाएँ व काल स्थिति। —दे० समुद्घात।

वेदनीय—

बाह्य सामग्रीके संयोग व वियोग द्वारा जीवके बाह्य सुख-दुःखको कारण वेदनीयकर्म दो प्रकारका होता है—सुखको कारणभूत सातावेदनीय और दुःखको कारणभूत असाता वेदनीय। क्योंकि बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्टकी कल्पना मोहके आधीन है, इसलिए इस कर्मका व्यापार भी मोहनीयके सहवर्ती है।

१. वेदनीय कर्मका सामान्य लक्षण

स. सि./८/४/३८०/४ वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम्।

स. सि./८/३/३७९/१ वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदुःखसंवेदनम्। – जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। सत्-असत लक्षणवाले वेदनीयकर्मकी प्रकृति सुख व दुःखका संवेदन कराना है। (रा. वा./८/३/२/५६६/१+४/५६७/३); (ध. ६/१,९-१,७/१०/७,६); (गो. क./मू./१४/१०); (गो. क./जी. प्र./२०/१३/१४)।

ध. ६/१,९-१,७/१०/६ जीवस्स सुह-दुक्खाणुहवणणिबंधणो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चयवसेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे। – जीवके सुख और दुःखके अनुभवनका कारण, मिथ्यात्व आदिके प्रत्ययोंके वशसे कर्मरूप पर्यायसे परिणत और जीवके साथ समवाय सम्बन्धको प्राप्त पुद्गलस्कन्ध 'वेदनीय' इस नामसे कहा जाता है।

ध. १३/५,५,१९/२०८/७ जीवस्स सुह-दुक्खुप्पाययं कम्मं वेयणीयं णाम। – जीवके सुख और दुःखका उत्पादक कर्म वेदनीय है। (ध. १५/३/६/६), (द्र. सं./टी./३३/९२/१०)।

२. वेदनीय कर्मके भेद-प्रभेद

ष. खं./६/१,९-१/सूत्र १७-१८/३४ वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ ।१७। सादावेदणीयं चेव असादावेदणीयं चेव ।१८। – वेदनीय कर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ।१७। सातावेदनीय और असातावेदनीय, ये दो ही वेदनीय कर्मकी प्रकृतियाँ हैं।१८। (ष खं./१३/५,५,१४/-सूत्र ६-७/४८१); (ष. खं./१३/५०१/सूत्र ८७-८८/३५६); (म. बं./१/§५/२८); (मू. आ./१२२६); (त. सू./८/८); (पं. सं./प्रा./२/-४); (त. सा./५/२७); (गो. क./जी. प्र./२५/१७/७)।

ध. १२/४,२,१४,७/४८१/४ सादावेदणीयमसादावेदणीयमिदि दो चेव सहावा, सुहदुक्खवेयणाहितो पुधभूदाए अण्णिस्से वेयणाए अणुवलंभादो। सुहभेदेण दुहभेदेण च अणंतवियप्पेण वेयणीयकम्मस्स अणंताओ सत्तीओ किण्ण पडिदाओ। सच्चमेदं जदि पज्जवट्ठियणओ अवलंबिदो किंतु एत्थ दव्वट्ठियणओ अवलंबिदो त्ति वेयणीयस्स ण सत्तिअणेत्तसत्तीओ, दुवे चेव। – सातावेदनीय और असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीयके दो ही स्वभाव हैं, क्योंकि, सुख व दुःखरूप वेदनाओंसे भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नहीं जाती। प्रश्न—अनन्त विकल्प रूप सुखके भेदसे और दुःखके

भेदसे वेदनीय कर्मकी अनन्त शक्तियाँ क्यों नहीं कही गयी हैं? उत्तर—यदि पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन किया गया होता तो यह कहना सत्य था, परन्तु चूँकि यहाँ द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन किया गया है, अतएव वेदनीयकी उतनी मात्र शक्तियाँ सम्भव नहीं हैं, किन्तु दो ही शक्तियाँ सम्भव है।

२. साता-असाता वेदनीयके लक्षण

स. सि./८/८/३८४/४ यदुदयाद्देवादिगतिषु शरीरमानससुखप्राप्तिस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यमिति। यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यमिति। —जिसके उदयसे देवादि गतियोंमें शरीर और मन सम्बन्धी सुखकी प्राप्ति होती है वह सद्वेद्य है। प्रशस्त वेद्यका नाम सद्वेद्य है। जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके दुःख मिलते हैं वह असद्वेद्य है। अप्रशस्त वेद्यका नाम असद्वेद्य है। (गो. क./मू./१४/१०); (गो. क./जी. प्र./३३/२७/१६)।

रा. वा./८/८/१-२/५७३/२० देवादिषु गतिषु बहुप्रकारजातिविशिष्टासु यस्योदयात् अनुगृहीत(तु)द्रव्यसंबन्धापेक्षात् प्राणिनां शरीरमानसानेकविधसुखपरिणामस्तत्सद्वेद्यम्। प्रशस्तं वेद्यं सद्वेद्यं।१। नारकादिषु गतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णासु कायिकं बहुविधं मानसं वातिदुःसहं जन्मजरामरणप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगव्याधिवधबन्धादिजनितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम्। अप्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यम्। —बहुत प्रकारकी जाति-विशिष्ट देव आदि गतियोंमें इष्ट सामग्रीके सन्निधानकी अपेक्षा प्राणियोंके अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक सुखोंका, जिसके उदयसे अनुभव होता है वह सातावेदनीय है और जिसके उदयसे नाना प्रकार जातिरूप विशेषोंसे अवकीर्ण नरक आदि गतियोंमें बहुत प्रकारके कायिक मानस अतिदुःसह जन्म जरा-मरण प्रियवियोग अप्रियसंयोग व्याधि वध और बन्ध आदिसे जन्य दुःखका अनुभव होता है वह असातावेदनीय है।

ध. ६/१,९-१,१८/३५/३ सादं सुहं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति सादावेदणीयं। असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादावेदणीयं। —साता यह नाम सुखका है, उस सुखको जो वेदन कराता है अर्थात् भोग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है। असाता नाम दुखका है, उसे जो वेदन या अनुभवन कराता है उसे असाता वेदनीय कर्म कहते है। (ध. १३/५,५,८८/३५७/२)।

गो. क./जी. प्र./२५/१७/८ रतिमोहनीयोदयबलेन जीवस्य सुखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति तत्सातवेदनीयं। दुःखकारणेन्द्रियविषयानुभवनं कारयति अरतिमोहनीयोदयबलेन तदसातवेदनीयं। —रतिमोहनीय कर्मके उदयसे सुखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषयोंका जो अनुभव कराता है वह सातवेदनीय कर्म है। दुःखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव, अरति मोहनीयकर्मके उदयसे जो कराता है वह असातवेदनीय कर्म है।

४. सातावेदनीयके बन्ध योग्य परिणाम

त. सू./६/१२ भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिः शौचमिति सद्वेद्यस्य।१२।

स. सि./६/१२/३३१/पंक्ति 'आदि' शब्देन संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपोऽनुरोधः।२। …इति शब्दः प्रकारार्थः। के पुनस्ते प्रकाराः। अर्हत्पूजाकरणतत्परताबालवृद्धतपस्विवैयावृत्त्यादयः। —भूत-अनुकम्पा, व्रती अनुकम्पा, दान और सराग संयम आदिका योग तथा क्षान्ति और शौच ये साता वेदनीयकर्मके आस्रव हैं। सूत्रमें सरागसंयमके आगे दिये गये आदि पदसे संयमासंयम अकामनिर्जरा और बालतपका ग्रहण होता है। सूत्रमें आया हुआ 'इति' शब्द प्रकारवाची है। वे प्रकार ये हैं,—अर्हन्तकी पूजा करनेमें तत्परता तथा बाल और वृद्ध तपस्वियोंकी वैयावृत्त्य आदिका करना। (रा. वा./६/१२/७/५२२/२६;१३/५२३/१३); (त. सा./४/२५-२६); (गो. क./मू./८०१/९८०)।

५. असातावेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

त. सू./६/११ दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य।११। —अपनेमें अथवा परमें अथवा दोनोंमें विद्यमान दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, बध और परिदेवन ये असातावेदनीय कर्मके आस्रव हैं। (त. सा./४/२०)।

रा. वा./६/११/१५/५२१/१२ इमे शोकादयः दुःखविकल्पा दुःखविकल्पानामुपलक्षणार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्येषामपि संग्रहो भवति। के पुनस्ते। अशुभप्रयोगपरपरिवाद - पैशुन्य - अनुकम्पाभाव - परपरितापनाङ्गोपाङ्गच्छेदन-भेदन-ताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-वाहन-विहेडन-ह्रेपण-कायरौक्ष्य-परनिन्दात्मप्रशंसासंक्लेशप्रादुर्भावनायुर्बहुमानता-निर्दयत्व-सत्त्वव्यपरोपण-महारम्भपरिग्रह - विश्रम्भोपघात- वक्रशीलतापापकर्मजीवित्वानर्थदण्ड-विषमिश्रण - शरजालपाशवागुरापञ्जरयन्त्रोपायसर्जन-बलाभियोग - शस्त्रप्रदान-पापमिश्रभावाः। एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरोभयस्था असद्वेद्यस्यास्रवा वेदितव्याः। —उपरोक्त सूत्रमें शोकादिका ग्रहण दुःखके विकल्पोंके उपलक्षण रूप है। अतः अन्य विकल्पोंका भी संग्रह हो जाता है। वे विकल्प निम्न प्रकार है—अशुभप्रयोग, परपरिवाद, पैशुन्य पूर्वक अनुकम्पाभाव, परपरिताप, अंगोपांगच्छेदन, भेदन, ताडन, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन, विहेडन, ह्रेपन, शरीरको रूखा कर देना, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, संक्लेशप्रादुर्भाव, जीवनको यों ही बरबाद करना, निर्दयता, हिंसा, महाआरम्भ, महापरिग्रह, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्मजीवित्व, अनर्थदण्ड, विषमिश्रण बाण-जल पाश रस्सी पिंजरा, यन्त्र, आदि हिंसाके साधनोंका उत्पादन, जबरदस्ती शस्त्र देना, और दुःखादि पापमिश्रित भाव। ये सब दुःख आदिक परिणाम अपनेमें, परमें और दोनोंमें रहने वाले होकर असातावेदनीयके आस्रवके कारण होते हैं। (त. सा./४/२१-२४)।

भ. आ./वि./४४६/६५३/१८ पर उद्धृत—अन्येषां यो दुःखमज्ञोऽनुकम्पां त्यक्त्वा तीव्रं तापसंक्लेशयुक्तः। बन्धच्छेदैस्ताडनैर्मारणैश्च दाहै रोधैश्चापि नित्यं करोति। सौख्यं कांक्षन्नात्मनो दुष्टचित्तो नीचो नार्च कर्म कुर्वन्सदैव। पश्चात्तापं तापिना यः प्रयाति बध्नात्येवोऽसातवेद्यं सदैवम्। —रागाभिभवान्नष्टबुद्धिचेष्टः कथमेव हितोद्योगं कुर्यात्। —जो मूर्ख मनुष्य दयाका त्याग कर तीव्र संक्लेश परिणामी होकर अन्य प्राणीको बाँधना, तोड़ना, पीटना, प्राण लेना, खानेके और पानेके पदार्थोंसे वंचित रखना ऐसे ही कार्य हमेशा करता है। ऐसे कार्यमें ही अपनेको सुखी मानकर जो नीच पुरुष ऐसे ही कार्य हमेशा करता है, ऐसे कार्य करते समय जिनके मनमें पश्चात्ताप होता नहीं, उसीको निरन्तर असातावेदनीय कर्मका बन्ध होता है, जिससे उसका देह हमेशा रोग पीड़ित रहता है, तब उसकी बुद्धि व क्रियाएँ नष्ट होती हैं। वह पुरुष अपने हितका उद्योग कुछ भी नहीं कर सकता।

६. साता-असाताके उदयका ज. उ. काल व अन्तर

ध. १३/५,५,२४/५३/११ सादावेदणीयस्स उदयकालो अंतोमुहुत्तमेत्तो फिट्टिदूण देसूणपुव्वकोडिमेत्तो होदि त्ति—ण, सजोगिकेवलि मोत्तूण अण्णत्थ उदयकालस्स अंतोमुहुत्तणियमब्भुवगमादो। —प्रश्न—इस तरह तो सातावेदनीयका उदयकाल अन्तर्मुहूर्त विनष्ट होकर कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण प्राप्त होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, सयोगिकेवली गुणस्थानको छोड़कर अन्यत्र उदयकालका अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नियम ही स्वीकार किया गया है।

ध. १५/पृष्ठ/पंक्ति — सादस्स जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण छम्मासा। असादस्स जहण्णएण एगसमओ, उक्कस्सेण तेत्तीससागरोवमाणि अंतोमुहुत्तब्भहियाणि। कुदो। सत्तमपुढविपवेसादो पुव्वं पच्छा च असादस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालमुदीरणुवलंभादो। (६२/२)। सादस्स जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि। सादस्स गदियाणुवादेण जहण्णमंतरमंतोमुहुत्तं, उक्कस्सं पि अंतोमुहुत्तं चेव। असादस्स जहण्णमंतरमेगसमओ उक्कस्सं छम्मासा। मणुसगदीए असादस्स उदीरणंतरं जहण्णेण एयसमओ, उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। (६८/६)। — सातावेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे छह मास है। असातावेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेंतीस सागरोपम प्रमाण है, क्योंकि, सातवीं पृथिवीमें प्रवेश करनेसे पूर्व और पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक असातावेदनीयकी उदीरणा पायी जाती है। सातावेदनीयकी उदीरणामें अन्तरकाल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे साधिक तेंतीस सागरोपम प्रमाण है। गतिके अनुवादसे सातावेदनीयकी उदीरणाका अन्तरकाल जघन्य व उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही है। असातावेदनीयका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट छह मास प्रमाण है। मनुष्य गतिमें असाताकी उदीरणाका अन्तर जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

ध. १२/४,२,१३,५५/४००/२ वेयणीयउक्कस्साणुभागबंधस्स ट्ठिदी बारसमुहुत्तमेत्ता। — वेदनीयके उत्कृष्ट अनुभागकी स्थिति बारह मुहूर्त मात्र है।

७. अन्य कर्मोंको वेदनीय नहीं कहा जा सकता

ध. ६/१,९-१,७/१०/७ वेद्यत इति वेदनीयम्। एदीए उप्पत्तीए सव्वकम्माणं वेदणीयत्तं पसज्जदे। ण एस दोसो, रूढिवसेण कुसलसद्दो व्व अप्पिदपोग्गलपुंजे चेव वेदणीयसद्दुप्पत्तीदो। — प्रश्न — 'जो वेदन किया जाय वह वेदनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिके द्वारा तो सभी कर्मोंके वेदनीयपनेका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर — यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, रूढिके वशसे कुशल शब्दके समान विवक्षित पुद्गल पुंजमें ही वेदनीय, इस शब्दकी प्रवृत्ति पायी जाती है। जैसे 'कुशल' शब्दका अर्थ 'कुशको लानेवाला' ऐसा होनेपर भी वह 'चतुर' अर्थमें प्रयोग होता है, इसी प्रकार सभी कर्मोंमें वेदनीयता होते हुए भी वेदनीय संज्ञा एक कर्म विशेषके लिए ही रूढ है।)

ध. १०/४,२,३,३/१६/६ वेदणा णाम सुह-दुक्खाणि, लोगे तहा संववहारदंसणादो। ण च ताणि सुहदुक्खाणि वेयणीयपोग्गलक्खंधं मोत्तूण अण्णकम्मदव्वे हिंतो उप्पज्जंति, फलाभावेण वेयणीयकम्माभावप्पसंगादो। तम्हा सव्वकम्माणं पडिसेहं काऊण पत्तोदयवेयणीयदव्वं चेव वेयणा त्ति उत्तं। अट्ठण्णं कम्माणमुदयगदपोग्गलक्खंधो वेदणा त्ति किमट्ठं एत्थ ण घेप्पदे। ण, एदम्हि अहिप्पाए तदसंभवादो। ण च अण्णम्हि उजुसुदे अण्णस्स उजुसुदस्स संभवो, भिण्णविसयाणं णयाणमेयविसयत्तविरोहादो। — वेदनाका अर्थ सुख दुख है, क्योंकि, लोकमें वैसा व्यवहार देखा जाता है। और वे सुख-दुख वेदनीय रूप पुद्गलस्कन्धके सिवा अन्य कर्म द्रव्योंसे नहीं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि, इस प्रकार फलका अभाव होनेसे वेदनीय कर्मके अभावका प्रसंग आता है। इसलिए प्रकृतमें सब कर्मोंका प्रतिषेध करके उदयगत वेदनीय द्रव्यको ही वेदना ऐसा कहा है। प्रश्न — आठ कर्मोंका उदयगत पुद्गलस्कन्ध वेदना है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण करते — दे. वेदना। उत्तर — नहीं, क्योंकि, वेदनाको स्वीकार करनेवाले ऋजुसूत्र नयके अभिप्रायमें वैसा मानना सम्भव नहीं है। और अन्य ऋजुसूत्रमें अन्य ऋजुसूत्र सम्भव नहीं है, क्योंकि, भिन्न-भिन्न विषयोंवाले, नयोंका एक विषय माननेमें विरोध आता है। — दे. नय/IV/३/३।

ध. १३/५,५,८८/३५७/४ अण्णाणं पि दुक्खुप्पाययं दिस्सदि त्ति तस्स वि असादावेदणीयत्तं किण्ण पसज्जदे। ण, अणियमेण दुक्खुप्पायस्स असादत्ते संते खग्गमोग्गरादीणं पि असादावेदणीयत्तप्पसंगादो। — प्रश्न — अज्ञान भी तो दुःखका उत्पादक देखा जाता है, इसलिए, उसे भी असाता वेदनीय क्यों न माना जाये? उत्तर — नहीं, क्योंकि, अनियमसे दुःखके उत्पादकको असाता वेदनीय मान लेनेपर तलवार और मुद्गर आदिको भी असाता वेदनीय मानना पड़ेगा।

८. वेदनीयका कार्य बाह्य सामग्री सम्पादन है

ध. ६/१,९-१,१८/३६/पंक्ति — दुक्खुवसमहेउसुदव्वसंपादणे तस्स वावारादो।१।···ण च सुहदुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो।७। — दुःख उपशमनेके कारणभूत सुद्रव्योंके सम्पादनमें सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

ध. १३/५,५,८८/३५७/२ दुक्खपडिकारहेदुदव्वसंपादयं···कम्मं सादावेदणीयं णाम।···दुक्खसमणहेदुदव्वाणमवसारयं च कम्ममसादावेदणीयं णाम। — दुःखके प्रतीकार करनेमें कारणभूत सामग्रीका मिलनेवाला कर्म सातावेदनीय है और दुःख प्रशमन करनेमें कारणभूत द्रव्योंका अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है।

ध. १५/३/६/६ दुक्खुवसमहेउदव्वादिसंपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिबद्धं, तदुप्पत्तिकारणत्तादो। — दुःखोपशान्तिके कारणभूत द्रव्यादिकी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उनमें वेदनीय कर्म निबद्ध है, क्योंकि वह उनकी उत्पत्तिका कारण है।

पं. ध./पू./५८१ सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च। स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च।५८१। — सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर धनधान्य और स्त्री पुत्र वगैरहको जीव स्वयं ही करता है तथा स्वयं ही भोगता है।

दे. प्रकृतिबंध/३/३ (अघाती कर्मोंका कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीका प्रस्तुत करना है।)

वर्णव्यवस्था/१/४ (राज्यादि सम्पदाकी प्राप्तिमें साता वेदनीयका व्यापार है)।

९. उपघात नाम कर्म उपरोक्त कार्यमें सहायक है

ध. ६/१,९-१,२८/५९/५ जीवस्स दुक्खुप्पायणे असादावेदणीयस्स वावारो चे, होदु तत्थ तस्स वावारो, किंतु उवघादकम्मं पि तस्स सहकारिकारणं होदि, तदुदयणिमित्तपोग्गलदव्वसंपादणादो। — जीवके दुःख उत्पन्न करनेमें तो असातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। [फिर यहाँ उपघात कर्मको जीव पीड़ाका कारण कैसे बताया जा रहा है]? उत्तर — वहाँ असाता वेदनीयका व्यापार रहा आवे, किन्तु उपघातकर्म भी उस असातावेदनीयका सहकारी कारण होता है, क्योंकि, उसके उदयके निमित्तसे दुःखकर पुद्गल द्रव्यका सम्पादन होता है।

१०. सातावेदनीय कथंचित् जीवपुद्गल विपाकी है

ध. ६/१,९-१,१८/३६/२ एवं संते सादावेयणीयस्स पोग्गलविवाइत्तं होइ त्ति णासंकणिज्जं, दुक्खुवसमेणुप्पण्णसुवत्थियकणस्स दुक्खाविणाभाविस्स उवयारेणेव लद्धसुहसण्णस्स जीवादो पुधभूदस्स हेदुत्तणेण सुत्ते तस्स जीवविवाइत्तसुहहेदुत्ताणमुवदेसादो। तो वि जीवपोग्गलविवाइत्तं सादावेदणीयस्स पावेदि त्ति चे ण, इट्ठत्तादो। तहोवएसो णत्थि त्ति चेण, जीवस्स अत्थित्तण्णहाणुववत्तीदो तहोवदेसत्थित्तसिद्धीए। ण च सुह-दुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो। — [सुखके हेतुभूत बाह्य सामग्री सम्पादनमें

सातावेदनीयका व्यापार होता है। इस व्यवस्थाके माननेपर साता-वेदनीय प्रकृतिके पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होगा, ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दु:खके उपशमसे उत्पन्न हुए दु:खके अविनाभावी उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अपृथग्भूत ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकित्वका और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि कहा जाय कि उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। यदि कहा जाये कि उक्त प्रकारका उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि, जीवका अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए उस प्रकारके उपदेशकी सिद्धि हो जाती है। सुख और दु:खके कारणभूत द्रव्योंका सम्पादन करने-वाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

★ **वेदनीय कर्म जीव विपाकी है**—दे. प्रकृति बन्ध/२।

११. अघाती होनेसे केवल वेदनीय वास्तवमें सुखका विपक्षी नहीं है

पं. ध./उ/१११४-१११५ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च। अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ।१११४। वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च। न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ।१११५। =आत्माके सुख नामक गुणके विपक्षी वास्तवमें आठों ही कर्म हैं, पृथक्से कोई एक कर्म नहीं।१११४। यदि ऐसा कहो कि उसका विपक्षी एक वेदनीय कर्म ही है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, परमागममें इस वेदनीय कर्मको अघातियापना प्रसिद्ध है।१११५।—(और भी दे. मोक्ष/३/३)

१२. वेदनीयका व्यापार कथंचित् सुख-दु:खमें होता है

ष. खं. १५/सू ३. १५/पृष्ठ ६, ११ वेयणीयं सुहदुक्खम्हि णिबद्धं ।३। सादासादाणमप्पाणम्हि णिबंधो ।१५। =वेदनीय सुख व दु:खमें निबद्ध है।३। सातावेदनीय और असाता वेदनीय आत्मामें निबद्ध हैं।१५।

प्र. सा./त. प्र./७६ विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदय-प्रवृत्ततयानुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया। =विच्छिन्न होता हुआ असाता वेदनीयका उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीयके उदयसे प्रवर्तमान होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिए इन्द्रिय सुख विपक्षकी उत्पत्तिवाला है।

दे. अनुभाग/३/४ (वेदनीय कर्म कथंचित् घातिया प्रकृति है।)

दे. वेदनीय/१/३ (साता सुखका अनुभव कराता है और असातावेदनीय दु:खका।)

१३. मोहनीयके सहवर्ती ही वेदनीय कार्यकारी है अन्यथा नहीं

ध. १३/५,४,२४/५३/२ वेदिदं पि असादवेदणीयं ण वेदिदं; सगसहकारि-कारणघादिकम्माभावेण दुक्खजणणसत्तिरोहादो। =असाता वेदनीयसे वेदित होकर भी (केवली भगवान्) वेदित नहीं हैं, क्योंकि अपने सहकारिकारणभूत घाति कर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दुःखको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध है। —और भी दे० केवली/४/११/१।

दे० अनुभाग/३/३ (घातिया कर्मोंके बिना वेदनीय अपना कार्य करने-को समर्थ नहीं है, इसलिए उसे घातिया नहीं कहा गया है।)

१४. वेदनीयके बाह्य व अन्तरंग व्यापारका समन्वय

ध. १३/५,५,६३/३३४/४ इट्ठत्थसमागमो अणिट्ठत्थविओगो च सुहं णाम। अणिट्ठत्थ समागमो इट्ठत्थ वियोगो च दुक्खं णाम। =इष्ट अर्थके समागम और अनिष्ट अर्थके वियोगका नाम सुख है। तथा अनिष्ट अर्थके समागम और इष्ट अर्थके वियोगका नाम दु:ख है। [और मोहके कारण बिना पदार्थ इष्टानिष्ट होता नहीं है।—दे० राग/२/५।

ध. १५/३/६/६ सिरोवेयणादी दुक्खं णाम। तस्स उवसमो तदणुप्पत्ती वा दुक्खुवसमहेउदव्वादि संपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिबद्धं, तदुप्पत्तिकारणत्तादो। =सिरकी वेदना आदिका नाम दु:ख है। उक्त वेदनाका उपशान्त हो जाना अथवा उसका उत्पन्न ही न होना, अथवा दुखोपशान्तिके कारण भूत द्रव्यादिककी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उसमें वेदनीय कर्म निबद्ध है।

दे० वेदनीय/१० (दु:खके उपशमसे प्राप्त और उपचारसे सुख संज्ञाको प्राप्त जीवके स्वास्थ्यका कारण होनेसे ही साता वेदनीयको जीव विपाकी कहा है अन्यथा वह पुद्गल विपाकी है।)

दे० अनुभाग/३/३,४ (मोहनीय कर्मके साथ रहते हुए वेदनीय घातिया वत् है, अन्यथा वह अघातिया है)।

दे० सुख/२/१० (दु:ख अवश्य असाताके उदयसे होता है, पर स्वाभाविक सुख असाताके उदयसे नहीं होता। साता जनित सुख भी वास्तवमें दु:ख ही है।)

दे० वेदनीय/३ (बाह्य सामग्री के सन्निधानमें ही सुख-दुख उत्पन्न होता है।)

★ **अन्य सम्बन्धित विषय—**

१. वेदनीय कर्मके उदाहरण। —दे० प्रकृतिबन्ध/३।
२. साता असाताका उदय युगपत् भी सम्भव है। —दे० केवली/४,११,१२,।
३. वेदनीय प्रकृतिमें दसों करण सम्भव हैं। —दे० करण/२।
४. वेदनीयके बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
५ वेदनीयका कथंचित् घाती-अघातीपना। —दे० अनुभाग/३।
६. तीर्थंकर व केवलीमें साता असाताके उदय आदि सम्बन्धी। —दे० केवली/४।
७ वेदनीयके अभावसे सांसारिक सुख नष्ट होता है। स्वाभाविक सुख नहीं। —दे० सुख/२/११।
८. असाताके उदयमें औषधियाँ आदि भी सामर्थ्यहीन हो जाती हैं। —दे० कारण/III/५/४।

वेदान्त—

१. वेदान्त सामान्य

१. सामान्य परिचय

स्या. मं./परि. च./४३८ १. उत्तर मीमांसा या ब्रह्ममीमांसा ही वेदान्त है। वेदोंके अन्तिम भागमें उपदिष्ट होनेके कारण ही इसका नाम वेदान्त है। यह अद्वैतवादी है। २. इनके साधु ब्राह्मण ही होते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस। ३. इनमेंसे कुटीचर मठमें रहते हैं, त्रिदण्डी होते हैं; शिखा व ब्रह्मसूत्र रखते हैं। गृहत्यागी होते हैं। यजमानोंके अथवा कदाचित् अपने पुत्रके यहाँ भोजन करते हैं। ४. बहूदक भी कुटीचरके समान हैं, परन्तु ब्राह्मणोंके घर नीरस भोजन लेते हैं। विष्णुका जाप करते हैं, तथा नदीमें स्नान करते हैं। ५. हंस साधु ब्रह्म सूत्र व शिखा नहीं रखते। कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते हैं, गाँवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं। धुँआ निकलना बन्द हो जाय तब ब्राह्मणोंके घर भोजन करते हैं। तप करते हैं और देश विदेशमें भ्रमण करते हैं। ६. आत्मज्ञानी हो जानेपर वही हंस परमहंस कहलाते हैं। ये चारों वर्णोंके घर भोजन करते हैं। शंकरके वेदान्तकी तुलना Bradley के सिद्धान्तोंसे की जा सकती है। इसके अन्तर्गत समय-समयपर अनेक दार्शनिक धाराएँ उत्पन्न होती रहीं जो अद्वैतका प्रतिकार करती हुई भी किन्हीं-किन्हीं बातोंमें दृष्टिभेदको प्राप्त रहीं। उनमें-से कुछके नाम ये हैं—भर्तृ प्रपंच वेदान्त (ई. श. ७); शंकर वेदान्त या ब्रह्माद्वैत (ई. श. ८); भास्कर वेदान्त; रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत (ई. श. ११); माध्ववेदान्त या द्वैतवाद (ई. श. १२-१३); वल्लभ वेदान्त या शुद्धाद्वैत (ई. श. १५); श्रीकण्ठ वेदान्त या अविभागद्वैत (ई. श. १७)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

स्या. मं./परि. च./४३८ १. वेदान्तका कथन महाभारत व गीतादि प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्मरथ्य, कासकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्त दर्शनके प्रतिपालक हुए। २. वेदान्त साहित्यमें बादरायणका ब्रह्मसूत्र सर्व प्रधान है। जिसका समय ई० ४०० है। ३. तत्पश्चात् बोधायन व उपवर्षने उनपर वृत्ति लिखी है। ४. द्रविडाचार्य टंक व भर्तृ प्रपंच (ई. श. ७) भी टीकाकारोंमें प्रसिद्ध हैं। ५. गौड़पाद (ई० ७८०) उनके शिष्य गोविन्द और उनके शिष्य शंकराचार्य हुए। इनका समय ई० ८०० है। शंकराचार्यने ईशा, केन, कठ आदि १० उपनिषदोंपर तथा भगवद्गीता व वेदान्त सूत्रोंपर टीकाएँ लिखी हैं। ६. मण्डन और मण्डन मिश्र भी शंकरके समकालीन थे। मण्डनने ब्रह्म सिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ रचे। ७. शंकरके शिष्य सुरेश्वर (ई० ८२०) थे। इन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य आदि ग्रन्थ लिखे। नैष्कर्म्य आदिके चित्सुख आदिने टीकाएँ लिखीं। ८. पद्मपाद (ई० ८२०) शंकराचार्यके दूसरे शिष्य थे। इन्होंने पंचपद आदि ग्रन्थोंकी रचना की। ९. वाचस्पति मिश्र (ई० ८४०) ने शंकर भाष्यपर भामती और ब्रह्मसिद्धिपर तत्त्व समीक्षा लिखी। १०. सुरेश्वरके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि (ई० ९००) थे, जिन्होंने संक्षेप शारीरिक नामक ग्रन्थ लिखा। ११. इनके अतिरिक्त आनन्दबोध (ई० श० ११-१२) का न्याय मकरन्द और न्याय दीपावली, श्री हर्ष (ई० ११५०) का खण्डन खण्ड खाद्य, चित्सुखाचार्य (ई० १२५०) की चित्सुखी, विद्यारण्य (ई० १३५०) की पंचदशी और जीवन्मुक्ति-विवेक, मधुसूदन सरस्वती (ई० श० १६ की) अद्वैत सिद्धि, अप्पय दीक्षित (ई० श० १७) का सिद्धान्त लेश और सदानन्दका वेदान्त सार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

३. जैन व वेदान्तकी तुलना

(जैनमत भी किसी न किसी अपेक्षा वेदान्तके सिद्धान्तोंको स्वीकार करता है, संग्रह व व्यवहारनयके आश्रयपर विचार करनेसे यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे—पर संग्रह नयकी अपेक्षा एक सत् मात्र ही है इसके अतिरिक्त अन्य किसी चीजकी सत्ता नहीं। इसीका व्यवहार करनेपर वह सत्-उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन शक्तियोंसे युक्त है, अथवा जीव व अजीव दो भेद रूप है। सत् ही वह एक है, वह सर्व व्यापक, ब्रह्म है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप शक्ति उसकी माया है। जीव व अजीव पुरुष व प्रकृति है। उत्पादादि त्रयसे ही उसमें परिणमन या चंचलता होती है। उसीसे सृष्टिकी रचना होती है। इत्यादि (दे० सांख्य) इस प्रकार दोनोंमें समानता है। परन्तु अनेकान्तवादी होनेके कारण जैन तो इनके विपक्षी नयोंका भी स्वीकार करके अद्वैतके साथ द्वैत पक्षका भी ग्रहण कर लेते हैं। परन्तु वेदान्ती एकान्तवादी होनेके कारण द्वैतका सर्वथा निरास करते हैं। इस प्रकार दोनोंमें भेद है। वेदान्तवादी संग्रहनयाभासी हैं। (दे० अनेकान्त/२/६)।

४. द्वैत व अद्वैत दर्शनका समन्वय

पं. वि./६/२६ द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं, संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यन्तकाष्ठागतम्। निर्गत्यादिपदाच्छनै: शबलितादन्यत्समालम्बते, य: सोऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृते ब्रह्मादिनामेति च।२६। —निश्चयसे द्वैत ही संसार तथा अद्वैत ही मोक्ष है, यह दोनोंके विषयमें संक्षेपसे कथन है, जो चरम सीमाको प्राप्त है। जो भव्य जीव धीरे-धीरे इस प्रथम (द्वैत) पदसे निकलकर दूसरे अद्वैत पदका आश्रय करता है वह यद्यपि निश्चयतः वाच्य वाचक भावका अभाव हो जानेके कारण संज्ञा (नाम) से रहित हो जाता है, फिर भी व्यवहारसे वह ब्रह्मादि (पर ब्रह्म परमात्मा आदि) नामको प्राप्त करता है।

दे. द्रव्य/४ वस्तु स्वरूपमें द्वैत व अद्वैतका विधि निषेध व उसका समन्वय।

दे. उत्पाद/२ (नित्य पक्षका विधि निषेध व उसका समन्वय)।

५. भर्तृप्रपंच वेदांत

स्या. मं./परि-ख/पृ. ४४० भर्तृ प्रपंच नामक आचार्य द्वारा चलाया गया। इसका अपना कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भर्तृ-प्रपंच वैश्वानरके उपासक थे। शंकरकी भाँति ब्रह्मके पर अपर दो भेद मानते थे।

२. शंकर वेदांत या ब्रह्माद्वैत

१. शंकर वेदांतका तत्त्व विचार

षड्दर्शन समुच्चय/६८/६७); (भारतीय दर्शन) १. सत्ता तीन प्रकार है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक व व्यावहारिक। इनमें-से ब्रह्म ही एक पारमार्थिक सत् है। इसके अतिरिक्त घट, पट आदि व्यावहारिक सत् है। वास्तवमें ये सब रस्सीमें सर्पकी भाँति प्रातिभासिक हैं। २. ब्रह्म, एक निर्विशेष, सर्वव्यापी, स्वप्रकाश, नित्य, स्वयं सिद्ध चेतन तत्त्व है। ३. मायासे अवच्छिन्न होनेके कारण इसके दो रूप हो जाते हैं—ईश्वर व प्राज्ञ। दोनोंमें समष्टि व व्यष्टि, एक व अनेक, विशुद्ध सत्त्व व मलिन सत्त्व, सर्वज्ञ व अल्पज्ञ, सर्वेश्वर व अनीश्वर, समष्टिका कारण शरीर और व्यष्टिका कारण शरीर आदि रूपसे दो भेद हैं। ईश्वर, नियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी, सृष्टिका रचयिता व जीवोंको उनके कर्मानुसार फलदाता है। ४. सांख्य प्ररूपित बुद्धि व पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलकर एक विज्ञानमय कोश बनता है। इसीमें घिरा हुआ चैतन्य उपचारसे जीव कहलाता है, जो कर्ता, भोक्ता, सुख, दुख, जन्म मरण आदि सहित है। ५. इस शरीर युक्त चैतन्य (जीव) में ही ज्ञान, इच्छा व क्रिया रूप शक्तियाँ रहती हैं। वास्तवमें (चैतन्य) ब्रह्म इन सबसे अतीत है। ६. जगत् इस ब्रह्मका विवर्तमात्र है। जो जल-बुद्बुदवत् उसमें-से अभिव्यक्त होता है और उसीमें लय हो जाता है।

२. माया व सृष्टि

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) १. सत्त्वादि तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम अव्यक्त प्रकृति है। व्यक्त प्रकृतिमें सत्त्व गुण ही प्रधान होनेपर उसके दो रूप हो जाते हैं—माया व अविद्या। विशुद्धि सत्त्व प्रधान माया और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या है। २. मायासे अवच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्यासे अवच्छिन्न जीव कहाता है। ३. माया न सत् है न असत्, बल्कि अनिर्वचनीय है। समष्टि रूपसे एक होती हुई भी व्यष्टि रूपसे अनेक है। मायावच्छिन्न ईश्वर संकल्प मात्रसे सृष्टिकी रचना करता है। चैतन्य तो नित्य, सूक्ष्म व अपरिणामी है। जितने भी सूक्ष्म व स्थूल पदार्थ हैं वे मायाके विकास हैं। त्रिगुणोंकी साम्यावस्थामें माया कारण शक्तिरूपसे विद्यमान रहती है। पर तमोगुणका प्राधान्य होनेपर उसकी विक्षेप शक्तिके सम्पन्न चैतन्यसे आकाशकी, आकाशसे वायुकी, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी, और जलसे पृथिवीकी क्रमश: उत्पत्ति होती है। इन्हे अपंचीकृत भूत कहते हैं। इन्हींसे आगे जाकर सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। ४. अविद्याकी दो शक्तियाँ हैं—आवरण व विक्षेप। आवरण द्वारा ज्ञानकी हीनता और विक्षेप द्वारा राग द्वेष होता है।

३. इन्द्रिय व शरीर

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) १. आकाशादि अपंचीकृत भूतोंके पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंशोंसे क्रमश: श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, और घ्राण इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। २. इन्हीं पाँचके मिलित सात्त्विक अंशोंसे बुद्धि, मन, चित्त व अहंकारकी उत्पत्ति होती है। ये चारों मिलकर अंतःकरण कहलाते हैं। ३. बुद्धि व पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको ज्ञानमय कोष कहते हैं। इसमें घिरा हुआ चेतन्य ही जीव कहलाता है। जो जन्म मरणादि करता है। ४. मन व ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको मनोमय कोष कहते हैं। ज्ञानमय कोषकी अपेक्षा यह कुछ स्थूल है। ५. आकाशादिके व्यष्टिगत राजसिक अंशोंसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ६. और इन्हीं पाँचोंके मिलित अंशसे प्राणकी उत्पत्ति होती है। वह पाँच प्रकारका होता है—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। नासिकामें स्थित वायु प्राण है, गुदाकी ओर जानेवाला अपान है, समस्त शरीरमें व्याप्त व्यान है, कण्ठमें स्थित उदान और भोजनका पाक करके बाहर निकलनेवाला समान है। ७. पाँच कर्मेन्द्रियाँ व प्राणके सम्मेलसे प्राणमय कोष बनता है। ८. शरीरमें यही तीन कोष काम आते हैं। ज्ञानमय कोषसे ज्ञान, मनोमय कोषसे इच्छा तथा प्राणमय कोषसे क्रिया होती है। ९. इन तीनों कोषोंके सम्मेलसे सूक्ष्म शरीर बनता है। इसीमें वासनाएँ रहती हैं। यह स्वप्नावस्था रूप तथा अनुपभोग्य है। १०. समष्टि रूप सूक्ष्म शरीरसे आच्छादित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ या प्राण कहा जाता है तथा उसीके व्यष्टि रूपसे आच्छादित चैतन्य तैजस कहा जाता है। ११. पंचीकृत उपरोक्त पंच भूतोंसे स्थूलशरीर बनता है। इसे ही अन्नमय कोष कहते हैं। यह जागृत स्वरूप तथा उपभोग्य है। वह चार प्रकारका है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, व उद्भिज (वनस्पति)। १२. समष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य वैश्वानर या विराट कहा जाता है। तथा व्यष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य विश्व कहा जाता है।

४. पंचीकृत विचार

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) प्रत्येक भूतका आधा भाग ग्रहण करके उसमें शेष चार भूतोंके १/८-१/८ भाग मिला देनेसे वह पंचीकृत भूत कहलाता है। जैसे—१/२ आकाश+१/८ वायु+१/८ तैजस +१/८ जल+१/८ पृथिवी, इन्हीं पंचीकृत भूतोंसे समष्टि व व्यष्टि रूप स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

५. मोक्ष विचार

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) अविद्या वश ईश्वर व प्राज्ञ, सूत्रात्मा व तैजस, वैश्वानर व विश्व आदिमें भेदकी प्रतीति होती है। तत्त्वमसि ऐसा गुरुका उपदेश पाकर उन सर्व भेदोंसे परे उस अद्वैत ब्रह्मकी ओर लक्ष्य जाता है। तब पहले 'सोऽहं' और पीछे 'अहं ब्रह्म'की प्रतीति होनेसे अज्ञानका नाश होता है। चित्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। चित्प्रतिबिम्ब ब्रह्मसे एकाकार हो जाता है। यही जीव व ब्रह्मका ऐक्य है। यही ब्रह्म साक्षात्कार है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन, व अष्टांग योग साधनकी आवश्यकता पड़ती है। यह अवस्था आनन्दमय तथा अवाङ्मनसगोचर है। तत्पश्चात् प्रारब्ध कर्म शेष रहने तक शरीरमें रहना पड़ता है। उस समय तक वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अन्तमें शरीर छूट जानेपर पूर्ण मुक्ति हो जाती है।

६. प्रमाण विचार

(भारतीय दर्शन) १. प्रमाण छह हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति व अनुपलब्धि। पिछले चारके लक्षण मीमांसकों वत् हैं। चित्त वृत्तिका इन्द्रिय द्वारसे बाहर निकलकर विषयाकार हो जाना प्रत्यक्ष है। पर ब्रह्मका प्रत्यक्ष चित्त वृत्तिसे निरपेक्ष है। २. इस प्रत्यक्षके दो भेद हैं—सविकल्प व निर्विकल्प अथवा जीव-साक्षी व ईश्वर साक्षी अथवा ज्ञप्तिगत व ज्ञेयगत अथवा इन्द्रियज व अतीन्द्रियज। सविकल्प व निर्विकल्प तो नैयायिकों वत् है। अन्तःकरणकी उपाधि सहित चैतन्यका प्रत्यक्ष जीव साक्षी है जो नाना रूप है। इसी प्रकार मायोपहित चैतन्यका प्रत्यक्ष ईश्वर साक्षी है जो एक रूप है। ज्ञप्तिगत स्वप्रकाशक है और ज्ञेयगत ऊपर कहा गया है। पाँचों इन्द्रियोंका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष और सुख-दुःखका वेदन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ३. व्याप्ति ज्ञानसे उत्पन्न अनुमितिके कारणको अनुमान कहते हैं। वह केवल अन्वय रूप ही होता है व्यतिरेक रूप नहीं। नैयायिकोंकी भाँति तृतीय लिंग परामर्शका स्वीकार नहीं करते।

३. भास्कर वेदान्त या द्वैताद्वैत

१. सामान्य परिचय

स्या./सं. मं./परि- च./४४१ ई. श. १० में भट्ट भास्करने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य रचा। इनके यहाँ ज्ञान व क्रिया दोनों मोक्षके कारण हैं। संसारमें जीव अनेक रहते हैं। परन्तु मुक्त होनेपर सब ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। ब्रह्म व जगत्‌में कारण कार्य सम्बन्ध है, अतः दोनों ही सत्य हैं।

२. तत्त्व विचार

(भारतीय दर्शन) १. मूल तत्त्व एक है। उसके दो रूप हैं—कारण ब्रह्म व कार्य ब्रह्म। २. कारण ब्रह्म एक, अखण्ड, व्यापक, नित्य, चैतन्य है और कार्य ब्रह्म जगत् स्वरूप व अनित्य है। ३. स्वतः परिणामी होनेके कारण वह कारण ब्रह्म ही कार्य ब्रह्ममें परिणमित हो जाता है। ४. जीव व जगत्‌का प्रपंच ये दोनों उसी ब्रह्मकी शक्तियाँ हैं। प्रलयावस्थामें जगत्‌का सर्व प्रपंच और मुक्तावस्थामें जीव स्वयं ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। जीव उस ब्रह्मकी भोक्तृशक्ति है और आकाशादि उसके भोग्य। ५. जीव अणु रूप व नित्य है। कर्तृत्व उसका स्वभाव नहीं है। ६. जड़ जगत् भी ब्रह्मका ही परिणाम है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है और उसमें अप्रत्यक्ष।

३. मुक्ति विचार

(भारतीय दर्शन) १. विद्याके निरन्तर अभ्याससे ज्ञान प्रगट होता है और आजीवन शम, दम आदि योगानुष्ठानोंके करनेसे शरीरका पतन, भेदका नाश, सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति और कर्तृत्वका नाश हो जाता है। २. निवृत्ति मार्गके क्रममें इन्द्रियाँ मनमें, बुद्धि आत्मामें और अन्तमें वह आत्मा भी परमात्मामें लय हो जाता है। ३. मुक्ति दो प्रकार की है—सद्योमुक्ति व क्रममुक्ति। सद्योमुक्ति साक्षात् ब्रह्मकी उपासनासे तत्क्षण प्राप्त होती है। और क्रममुक्ति, कार्य ब्रह्म द्वारा सत्कृत्योंके कारण देवयान मार्गसे अनेकों लोकोंमें घूमते हुए हिरण्यगर्भके साथ-साथ होती है। ४. जीवन्मुक्ति कोई चीज नहीं। बिना शरीर छूटे मुक्ति असम्भव है।

४. रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत

१. सामान्य परिचय

(भारतीय दर्शन) यामुन मुनिके शिष्य रामानुजने ई. १०५०में श्री भाष्य व वेदान्तसारकी रचना द्वारा विशिष्टाद्वैतका प्रचार किया है। क्योंकि यहाँ चित् व अचित्‌को ईश्वरके विशेष रूपसे स्वीकार किया गया है। इसलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इसके विचार बहुत प्रकारसे निम्बार्क वेदान्तसे मिलते हैं। (दे. वेदान्त/५)

२. तत्त्व विचार

भारतीय दर्शन
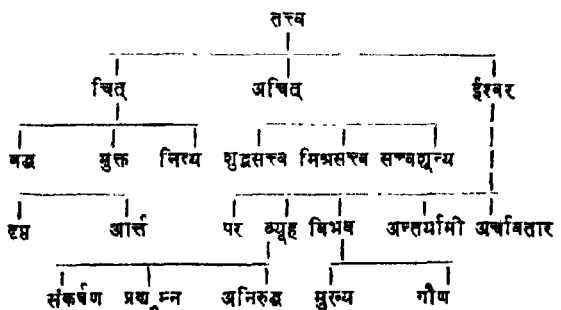
१. मन बुद्धिसे भिन्न ज्ञानका आश्रयभूत, अणु प्रमाण, निरवयव, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार, आनन्दरूप जीवात्मा चित् है। यह ईश्वरकी बुद्धिके अनुसार काम करता है। २. संसारी जीव बद्ध हैं इनमें भी प्रारब्ध कर्मका आश्रय लेकर मोक्षकी प्रतीक्षा करनेवाले दृप्त और शीघ्र मोक्षकी इच्छा करनेवाले आर्त हैं। अनुष्ठान विशेष द्वारा वैकुण्ठको प्राप्त होकर वहाँ भगवान्‌की सेवा करते हुए रहनेवाला जीव मुक्त है। यह सर्व लोकोंमें अपनी इच्छासे विचरण करता है। कभी भी संसारमें न आनेवाला तथा सदा ईश्वरेच्छाके आधीन रहनेवाला नित्य जीव है। भगवान्‌के अवतारके समान इसके भी अवतार स्वेच्छासे होते हैं। ३. अचित् जड़ तत्त्व व विकारवत् होता है। रजतम गुणसे रहित तथा आनन्दजनक शुद्धसत्त्व है। वैकुण्ठ धाम तथा भगवान्‌के शरीरोंके निर्माणका कारण है। जड़ है या अजड़ यह नहीं कहा जा सकता। त्रिगुण मिश्रित तथा बद्ध पुरुषोंके ज्ञान व आनन्दका आवरक मिश्रसत्त्व है। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन,

इन्द्रिय, विषय, व भूत इस होके परिणाम हैं। यही अविद्या या माया है। त्रिगुण शून्य तथा सृष्टि प्रलयका कारण काल सत्त्वशून्य है। ४. चित् अचित् तत्त्वोंका आधार, ज्ञानानन्द स्वरूप, सृष्टि व प्रलय कर्ता, भक्त प्रतिपालक व दुष्टोंका निग्रह करनेवाला ईश्वर है। नित्य आनन्द स्वरूप व अपरिणामी 'पर' है। भक्तोंकी रक्षा व दुष्टोंका निग्रह करनेवाला व्यूह है। संकर्षणसे संहार, प्रद्युम्नसे धर्मोपदेश व वर्गोंकी सृष्टि तथा अनिरुद्धसे रक्षा, तत्त्वज्ञान व सृष्टि होती है। भगवान्का साक्षात् अवतार मुख्य है और शक्त्यावेश अवतार गौण। जीवोंके अन्तःकरणकी वृत्तियोंका नियामक अन्तर्यामी है और भगवान्की उपास्य मूर्ति अर्चावतार है।

३. ज्ञान व इन्द्रिय विचार

(भारतीय दर्शन) १. ज्ञान स्वयं गुण नहीं द्रव्य है। सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न ये ज्ञानके ही स्वरूप हैं। यह नित्य आनन्द स्वरूप व अजड़ है। आत्मा संकोच विस्तार रूप नहीं है पर ज्ञान है। आत्मा स्व प्रकाशक और ज्ञान पर प्रकाशक है। अचित्के संसर्गसे अविद्या, कर्म, व वासना व रुचिसे वेष्टित रहता है। बद्ध जीवोंका ज्ञान अव्यापक, नित्य जीवोंका सदा व्यापक और मुक्त जीवोंका सादि अनन्त व्यापक होता है। २. इन्द्रिय अणुप्रमाण है। अन्य लोकोंमें भ्रमण करते समय इन्द्रिय जीवके साथ रहती है। मोक्ष होनेपर छूट जाती है।

४. सृष्टि व मोक्ष विचार

(भारतीय दर्शन) १. भगवान्के संकल्प विकल्पसे मिश्रसत्त्वकी साम्यावस्थामें वैषम्य आनेपर जब वह कर्मोन्मुख होती है तो उससे महत्, अहंकार, मन ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय उत्पन्न होती है। मुक्त जीवोंकी छोड़ी हुई इन्द्रियाँ जो प्रलय पर्यन्त संसारमें पड़ी रहती हैं, उन जीवोंके द्वारा ग्रहण कर ली जाती हैं जिन्हें इन्द्रियाँ नहीं होती। २. भगवान्के नाभि कमलसे ब्रह्मा, उनसे क्रमशः देवर्षि, ब्रह्मर्षि, ६ प्रजापति, १० दिक्पाल, १४ इन्द्र, १४ मनु, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, देवयोनि, मनुष्यगण, तिर्यग्गण, और स्थावर उत्पन्न हुए (विशेष दे. वेदान्त/ ६)। ३. लक्ष्मीनारायणकी उपासनाके प्रभावसे स्थूल शरीरके साथ-साथ सुकृत दुष्कृतके भोगका भी नाश होता है। तब यह जीव सुषुम्ना नाड़ीमें प्रवेश कर ब्रह्म-रन्ध्रसे निकलता है। सूर्यकी किरणोंके सहारे अग्नि लोकमें जाता है। मार्गमें—दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण व संवत्सरके अभिमानी देवता इसका सत्कार करते हैं। फिर ये सूर्यमण्डलको भेदकर पहले सूर्यलोकमें पहुँचते हैं। वहाँसे आगे क्रम पूर्वक चन्द्रविद्युद् वरुण, इन्द्र व प्रजापतियों द्वारा मार्ग दिखाया जानेपर अतिवाहक गणोंके साथ चन्द्रादि लोकोंसे होता हुआ वैकुण्ठकी सीमामें 'विरजा' नामके तीर्थमें प्रवेश करता है। यहाँ सूक्ष्म शरीरको छोड़कर दिव्य शरीर धारण करता है, जिसका स्वरूप चतुर्भुज है। तब इन्द्र आदिकी आज्ञासे वैकुण्ठमें प्रवेश करता है। तहाँ 'एरमद' नामक अमृत सरोवर व 'सोमसवन' नामक अश्वत्थको देखकर ५०० दिव्य अप्सराओंसे सत्कारित होता हुआ महामण्डपके निकट अपने आचार्यके पर्यंकके पास आता है। वहाँ साक्षात् भगवान्को प्रणाम करता है। तथा उसकी सेवामें जुट जाता है। यही उसकी मुक्ति है।

५. प्रमाण विचार

भारतीय दर्शन
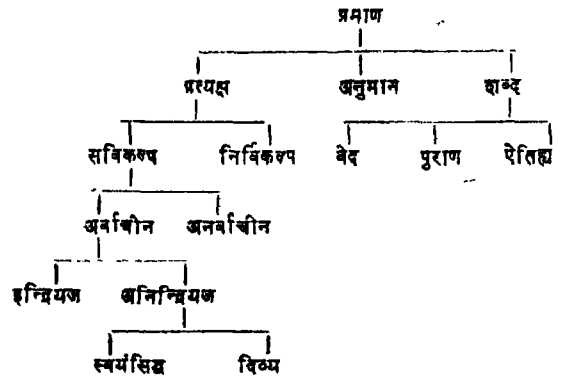
१. यथार्थ ज्ञान स्वतः प्रमाण है। इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष है। योगज प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध और भगवत्प्रसादसे प्राप्त दिव्य है। २. व्याप्तिज्ञान अनुमान है। पाँच अवयवोंका पक्ष नहीं। ५, ३, वा २ जितने भी अवयवोंसे काम चले प्रयोग किये जा सकते हैं। उपमान अर्थापत्ति आदि सब अनुमानमें गर्भित हैं।

५. निम्बार्क वेदान्त या द्वैताद्वैत वाद

१. सामान्य परिचय

ई. श. १२ में निम्बार्काचार्यने स्थापना की। वेदान्त पारिजात, सौरभ व सिद्धान्त रत्न इसके प्रमुख ग्रन्थ हैं। भेदाभेद या द्वैताद्वैत वादी हैं। इनके यहाँ शूद्रोंको ब्रह्म-विद्याका अधिकार नहीं। पापियोंको चन्द्रगति नहीं मिलती। दक्षिणायणमें मरनेपर विद्वानोंको ब्रह्म प्राप्ति होती है। यमालयमें जानेवालोंको दुखका अनुभव नहीं होता। विष्णुके भक्त हैं। राधा-कृष्णको प्रधान मानते हैं। रामानुज वेदान्तसे कुछ मिलता-जुलता है।--वे० वेदान्त/ ४ ।

२. तत्त्व विचार

१. तत्त्व तीन हैं—जीवात्मा, परमात्मा व प्रकृति। तीनोंको पृथक्-पृथक् माननेसे भेदवादी हैं और परमात्माका जीवात्मा व प्रकृतिके साथ सागर तरंग वत् सम्बन्ध माननेसे अभेदवादी हैं। २. जीवात्मा तीन प्रकारका है सामान्य, बद्ध व मुक्त। सामान्य जीव सर्व प्राणियोंमें पृथक्-पृथक् है। बन्ध व मोक्षकी अपेक्षा परमात्मा पर निर्भर है। अणुरूप होते हुए भी इसका अनुभवात्मक प्रकाश सारे शरीरमें व्याप्त है, आनन्दमय नहीं है पर नित्य है। शरीरसे शरीरान्तरमें जाने वाला तथा चतुर्गतिमें आत्मबुद्धि करने वाला बद्ध-जीव है। मुक्त जीव दो प्रकारका है—नित्य व सादि। गरुड आदि भगवान् नित्य मुक्त है। सत्कर्मों द्वारा पूर्व जन्मके कर्मोंको भोगकर ज्योतिको प्राप्त जीव सादि मुक्त है। ईश्वरकी लीलासे भी कदाचित् संकल्प मात्रसे शरीर उत्पन्न करके भोग प्राप्त करते हैं। पर संसारमें नहीं रहते। ३. परमात्मा स्वभावसे ही अविद्या अस्मिता, राग-द्वेष, तथा अभिनिवेश इन पाँच दोषोंसे रहित है। आनन्द स्वरूप, अमृत, अभय, ज्ञाता, द्रष्टा, स्वतन्त्र, नियंता विश्वका व जीवोंको जन्म, मरण, दुख, सुखका कारण, जीवोंको कर्मानुसार फलदायक, पर स्वयं पुण्य पाप रूप कर्मोंसे अतीत, सर्वशक्तिमान् है। जगत्के आकार रूपसे परिणत होता है। वैकुण्ठमें भी जीव इसीका ध्यान करते हैं। प्रलयावस्थामें यह जीव

इसीमें लीन हो जाता है। ४. प्रकृति तीन प्रकार है—अप्राकृत, प्राकृत और काल। तीनों ही नित्य व विभु हैं। त्रिगुणोंसे अतीत अप्राकृत है। भगवान्‌का शरीर इसीसे बना है। त्रिगुणरूप प्राकृत है। संसारके सभी पदार्थ इसीसे बने हैं। इन दोनोंसे भिन्न काल है।

३. शरीर व इन्द्रिय

पृथिवीसे मांस व मन, जलसे मूत्र, शोणित व प्राण; तेजसे हड्डी, मज्जा व वाक् उत्पन्न होते हैं। मन पार्थिव है। प्राण अणु प्राण है तथा अवस्थान्तरको प्राप्त वायु रूप है। यह जीवका उपकरण है। इन्द्रिय ग्यारह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, और मन। स्थूल शरीरका गरमीका कारण इसके भीतर स्थित सूक्ष्म शरीर है। (विशेष दे० वेदान्त/२)।

६. माध्व वेदान्त या द्वैतवाद

१. सामान्य परिचय

ई. श. १२-१३ में पूर्ण प्रज्ञा माध्व देव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्याय सुधा व पदार्थ संग्रह इसके मुख्य ग्रन्थ हैं। अनेक तत्त्व माननेसे भेदवादी है।

२. तत्त्व विचार

पदार्थ १० हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य व अभाव।

३. द्रव्य विचार

१. द्रव्य दो-दो भागोंमें विभाजित है—गमन प्राप्य, उपादान कारण, परिणाम व परिणामी दोनों स्वरूप, परिणाम व अभिव्यक्ति। उसके २० भेद हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत-आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब। २. परमात्मा—यह शुद्ध, चित्स्वरूप, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, नित्य, एक, दोष व विकार रहित, सृष्टि, संहार, स्थिति, बन्ध, मोक्ष आदिका कर्ता, ज्ञान शरीरी तथा मुक्त पुरुषसे भी परे है। जीवों व भगवान्‌के अवतारोंमें यह ओत-प्रोत है। मुक्त जीव तो स्वेच्छासे शरीर धारण करके छोड़ देता है। पर यह ऐसा नहीं करता। इसका शरीर अप्राकृत है। ३. लक्ष्मी—परमात्माकी कृपासे लक्ष्मी, उत्पत्ति, स्थिति व लय आदि सम्पादन करती है। ब्रह्मा आदि लक्ष्मीके पुत्र हैं। नित्य मुक्त व आप्त काम हैं। लक्ष्मी परमात्माकी पत्नी समझी जाती है। श्री, भू, दुर्गा, भृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयंती, सत्या, रुक्मिणी, आदि सब लक्ष्मीकी मूर्तियाँ हैं। अप्राकृत शरीर धारिणी है। ४. जीव—ब्रह्मा आदि भी संसारी जीव हैं। यह असंख्य है। अज्ञान, दुख, भय आदिसे आवृत है। एक परमाणु प्रदेशमें अनन्त जीव रह सकते हैं। इसके तीन भेद हैं—मुक्ति योग्य, तमो योग्य व नित्य संसारी। ब्रह्मा आदि देव, नारदादि ऋषि, विश्वामित्रादि पितृ, चक्रवर्ती व मनुष्योत्तम मुक्ति योग्य संसारी है। तमो योग्य संसारी दो प्रकार है—चतुर्गुणोपासक, एकगुणोपासक है। उपासना द्वारा कोई इस शरीरमें रहते हुए भी मुक्ति पाता है। तमोयोग्य जीव पुनः अपि चार प्रकार है—दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य। नित्य संसारी जीव सदैव सुख भोगते हुए नरकादिमें घूमते रहते हैं। ये अनन्त हैं। ५. अव्याकृत आकाश—यह नित्य व विभु है, परन्तु भूताकाशसे भिन्न है। वैशेषिकके दिक् पदार्थ वत है। ६. प्रकृति—जड़, परिणामी, सत्त्वादि गुणत्रयसे अतिरिक्त, अव्यक्त व नाना रूपा है। नवीन सृष्टिका कारण तथा नित्य है। लिंग शरीरकी समष्टि रूप है। ७. गुणत्रय—सत्त्व, रजस् व तमस् ये तीन गुण हैं। इनकी साम्यावस्थाको प्रलय कहते हैं। रजो गुणसे सृष्टि, सत्त्व गुणसे स्थिति, तथा तमोगुणसे संहार होता है। ८. महत्—त्रिगुणोंके अंशोंके मिश्रणसे उत्पन्न होता है। बुद्धि तत्त्वका कारण है। ९. अहंकार—इसका लक्षण सांख्य वत है। यह तीन प्रकारका है—वैकारिक, तैजस व तामस। १०. बुद्धि—महत्‌से बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार है—तत्त्व रूप व ज्ञान रूप। ११. मनस्—यह दो प्रकार है—तत्त्वरूप व तत्त्वभिन्न। प्रथमकी उत्पत्ति वैकारिक अहंकारसे होती है। तत्त्व-भिन्न मन इन्द्रिय है। यह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। परमात्मा आदि सब जीवोंके पास रहनेवाला नित्य है। बद्ध जीवोंका मन अचेतन व मुक्त जीवोंका चेतन है। अनित्य मन बाह्य पदार्थ है। तथा सर्व जीवोंके पास है। यह पाँच प्रकार है—मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त व चेतना। मन संकल्प विकल्पात्मक है। निश्चयात्मिका बुद्धि है। परमें स्वको मति अहंकार है। स्मरणका हेतु चित्त है। कार्य करनेकी शक्ति स्वरूप चेतना है। १२. इन्द्रिय—तत्त्वभूत व तत्त्वभिन्न दोनों प्रकारकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ, नित्य व अनित्य दो-दो प्रकारकी हैं। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अहंकारकी उपज हैं। और नित्य इन्द्रियां परमात्मा व लक्ष्मी आदि सब जीवोंके स्वरूप भूत हैं। ये साक्षी कहलाती हैं। १३. तन्मात्रा—शब्द स्पर्शादि रूप पाँच हैं। ये दो प्रकार हैं। तत्त्व रूप व तत्त्वभिन्न। तत्त्व रूपकी उपज तामस अहंकारसे है। (सांख्य वत)। १४. भूत—पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होने वाले आकाश पृथिवी आदि पाँच भूत है। (सांख्य वत)। १५. ब्रह्माण्ड—पचास कोटि योजन विस्तीर्ण ब्रह्माण्ड २४ उपादानोंसे उत्पन्न होता है। विष्णुका बीज है। घड़ेके दो कपालों वत् इसके दो भाग हैं। ऊपरला भाग 'द्यौ' और निचला भाग 'पृथिवी' कहलाता है। इसीमें चौदह भुवनोंका अवस्थान है। भगवान्‌ने महत् आदि तत्त्वोंके अंशको उदरमें रखकर ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया है। तब उसकी नाभिमें कमल उत्पन्न हुआ, जिसमें चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् देवता, मन, आकाश आदि पाँच भूतोंकी क्रमशः उत्पत्ति हुई। १६. अविद्या—पाँच भूतोंके पश्चात सूक्ष्म मायासे भगवान्‌ने स्थूल अविद्या उत्पन्न की, जिसको उसने चतुर्मुखमें धारण किया। इसकी पाँच श्रेणियाँ हैं—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध तामिस्र, तथा तम, विपर्यय, आग्रह, क्रोध, मरण, तथा शार्वर क्रमशः इनके नामान्तर हैं। १७. वर्णतत्त्व—सर्व शब्दोंके मूल भूत वर्ण ५१ हैं। यह नित्य है तथा समवाय सम्बन्धसे रहित है। १८. अन्धकार—यह भाव रूप द्रव्य है। जड़ प्रकृतिसे उत्पन्न होता है। इतना घनीभूत हो सकता है कि हथियारोंसे काटा जा सके। १९. वासना—स्वप्नज्ञानके उपादान कारणको वासना कहते हैं। स्वप्न ज्ञान सत्य है। जाग्रतावस्थाके अनुभवोंसे वासना उत्पन्न होती है, और अन्तःकरणमें टिक जाती है। इस प्रकार अनादिकी वासनाएँ संस्कार रूपसे वर्तमान हैं, जो स्वप्नके विषय बनते हैं। 'मनोरथ' प्रयत्न सापेक्ष है और 'स्वप्न' अदृष्ट सापेक्ष। यही दोनोंमें अन्तर है। २०. काल—प्रकृतिसे उत्पन्न, क्षण लव आदि रूप काल अनित्य है, परन्तु इसका प्रवाह नित्य है। २१. प्रतिबिम्ब—बिम्बसे पृथक्, क्रियावान्, तथा बिम्बके सदृश प्रतिबिम्ब है। परमात्माका प्रतिबिम्ब दैत्योंमें है। यह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। सर्व जीवोंमें परमात्माका प्रतिबिम्ब नित्य है तथा दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब अनित्य है। छाया, परिवेष, चन्द्रचाप, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिकका लौहित्य इत्यादि भी प्रतिबिम्ब कहलाते हैं।

४. गुण कर्मादि शेष पदार्थ विचार

१. द्रव्यके लिए दे० उपरोक्त शीर्षक। २. दोषसे भिन्न गुण हैं। यह अनेक हैं—जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरुत्व, लघुत्व, मृदुत्व, काठिन्य, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, आलोक, शम, दम, कृपा, तितिक्षा, बल, भय, लज्जा, गांभीर्य, सौन्दर्य, धैर्य, स्थैर्य, शौर्य, औदार्य, सौभाग्य आदि। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श व शब्द ये पाँच गुण पृथिवीमें पाकज हैं और अन्य द्रव्योंमें अपाकज। ये लोग पीलुपाक वाद (दे० वैशेषिक) नहीं मानते। ३. पुण्य पापका असाधारण व साक्षात् कारण कर्म है, जो तीन प्रकार है··· विहित, निषिद्ध और उदासीन। वेद विहित क्रियाएँ विहित कर्म हैं। यह दो प्रकार है—फलेच्छा सापेक्ष 'काम्य' कर्म तथा ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए 'अकाम्य' कर्म। काम्य कर्म दो प्रकार है—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। अप्रारब्ध भी दो प्रकार है—इष्ट व अनिष्ट। वेद निषिद्ध कार्य निषिद्ध कर्म है। उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन, भ्रमण, वमन, भोजन, विदारण इत्यादि साधारण कर्म उदासीन कर्म है। कर्मकेअन्य प्रकार भी दो भेद हैं—नित्य और अनित्य। ईश्वरके सृष्टि संहार आदि नित्य कर्म हैं। अनित्य वस्तु भूत शरीरादिके कार्य अनित्य कर्म है। ४. सामान्य—दो प्रकारका है—नित्य और अनित्य। अन्य प्रकारसे जाति व उपाधि इन दो भेदों रूप है। ब्राह्मणत्व आदि जाति सामान्य है। और प्रमेयत्व जीवत्व आदि उपाधि सामान्य है। यावद्वस्तु भावि जाति नित्य सामान्य है और ब्राह्मणत्वादि यावद्वस्तु भावि जाति अनित्य सामान्य है। सर्वज्ञत्व रूप उपाधि नित्य सामान्य है और प्रमेयत्वादि अनित्य सामान्य है। ५. देखनेमें भेद न होनेपर भी भेदके व्यवहारका कारण गुण गुणीका भेद विशेष है। नित्य व अनित्य दो प्रकारका है। ईश्वरादि नित्य द्रव्योंमें नित्य और घटादि अनित्य द्रव्योंमें अनित्य है। ६. विशेषणके सम्बन्धसे विशेष्यका जो आकार वही विशिष्ट है। यह भी नित्य व अनित्य है। सर्वज्ञत्वादि विशेषणोंसे विशिष्ट परब्रह्म नित्य है और दण्डसे विशिष्ट दण्डी अनित्य। ७. हाथ, वितस्ति आदिसे अतिरिक्त पट, गगन आदि, प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ अंशी हैं। यह भी नित्य व अनित्य दो प्रकार हैं। आकाशादि नित्य अंशी हैं और पट आदि अनित्य। ८. शक्ति चार प्रकार हैं।—अचिन्त्य शक्ति, सहज शक्ति, आधेय और पद शक्ति। परमात्मा व लक्ष्मी आदि की अणिमा महिमा आदि शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। कार्यमात्रके अनुकूल स्वभाव रूप शक्ति ही सहज शक्ति है जैसे—दण्ड आदिमें घट बनानेकी शक्ति। यह नित्य द्रव्योंमें नित्य और अनित्य द्रव्योंमें अनित्य होती है। आहित या स्थापित आधेय शक्ति कहलाती है जैसे प्रतिमामें भगवान्। पद व उसके अर्थमें वाच्य वाचकपनेकी शक्ति पदशक्ति है। वह दो प्रकार है—मुख्या व परमुख्या। परमात्मामें सब शब्दोंकी शक्ति परमुख्या है, और शब्द में केवल मुख्या। ९. 'यह उसके सदृश है' ऐसे व्यवहारका कारण पदार्थ 'सादृश' कहलाता है। यह नाना है। नित्य द्रव्यमें नित्य और अनित्य द्रव्यमें अनित्य है। १०. ज्ञानमें निषेधात्मक भाव 'अभाव' है। वह चार प्रकार है—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व अत्यन्त। कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व अभावको प्रागभाव, उसके नाश हो जानेपर प्रध्वंसाभाव है। सार्वकालिक परस्परमें अभाव अन्योन्याभाव है। वह नित्य व अनित्य दो प्रकार है। अनित्य पदार्थोंमें परस्पर अभाव अनित्य है और नित्य पदार्थोंमें नित्य। अप्रामाणिक वस्तुमें अत्यन्ताभाव—जैसे शशशृंग।

५. सृष्टि व प्रलय विचार

१. सृष्टिका क्रम निम्न प्रकार है—इच्छा युक्त परमात्मा 'प्रकृति'के गर्भमें प्रवेश करके उसके त्रिगुणोंमें विषमता उत्पन्न करनेके द्वारा उसे कार्योन्मुख करता है। फल स्वरूप महत्से ब्रह्माण्ड पर्यन्त तत्त्व तथा देवताओंकी सृष्टि होती है। फिर चेतन अचेतन अंशोंको उदरमें निक्षेपकर हजार वर्ष पश्चात् नाभिमें एक कमल उत्पन्न होता है, जिससे चतुर्मुख ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं। ब्रह्माके सहस्र वर्ष पर्यन्त तपश्चरणसे प्रसन्न परमात्मा पंचभूत उत्पन्न करता है, फिर सूक्ष्म रूपेण चौदह लोकोंका चतुर्मुखमें प्रवेशकर स्थूल रूपेण चौदह लोकोंको उत्पन्न करते हैं। बादमें सब देवता अण्डके भीतरसे उत्पन्न होते हैं। (और भी दे० वेदान्त ४)। २. धर्म संकटमें पड़ जानेपर दश अवतार होते हैं—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, राम, परशुराम, श्री कृष्ण, बुद्ध, कल्की। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं और शेष अवतार परमात्माके अंश। ३. प्रलय दो प्रकार है—महाप्रलय व अवान्तर प्रलय। महाप्रलयमें प्रकृतिके तीन गुणोंका व महत् आदि तत्त्वोंका तथा समस्त देवताओंका विध्वंस, भगवान्‌के मुखसे प्रगटी ज्वालामें हो जाता है। एक वटके पत्रपर शून्य नामके नारायण शयन करते हैं, जिनके उदरमें सब जीव प्रवेश करके रहते हैं। अवान्तर प्रलय दो प्रकार है—दैनंदिक तथा मनुप्रलय। दैनन्दिकमें तीनों लोकोंका नाश होता है। पर इन्द्रादिक महर्लोकको चले जाते हैं। मनुप्रलयमें भू लोकमें मनुष्यादि मात्रका नाश होता है, अन्य दोनों लोकोंके वासी महर्लोकको चले जाते हैं।

६. मोक्ष विचार

१. भक्ति, कीर्तन, जप व्रतादिसे मोक्ष होता है। वह चार प्रकार है—कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादि मार्ग और भोग। इनमेंसे नं. २ व ३ वाला मोक्ष मनुष्योंको ही होता है, देवताओं आदिको नहीं। २. अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होनेपर समस्त नवीन पुण्य व पाप कर्मोंका नाश हो जाता है। कल्पों पर्यन्त भोग करके प्रारब्ध कर्मका नाश होता है। प्रारब्ध कर्मके नाशके पश्चात् सुषुम्नानाड़ी या ब्रह्मनाड़ी द्वारा देहसे निकल कर आत्मा ऊपर उठता है। तब या तो चतुर्मुख (ब्रह्मा) तक और या परमात्मा तक पहुँच जाता है। यही कर्मक्षय मोक्ष है। अत्यन्त दीर्घ कालके लिए देव योनिमें चले जाना अतिक्रान्ति मुक्ति है, यह वास्तविक मुक्ति नहीं। क्रम मुक्ति—उत्तरोत्तर देहोंमें क्रमशः लय होते-होते, चतुर्मुखके मुखमें जब जीव प्रविष्ट होता है तब ब्रह्माके साथ-साथ विरजा नदीमें स्नान करनेसे उसके लिंग शरीरका नाश हो जाता है। इसके नाश होनेपर जीवत्वका भी नाश समझा जाता है।—(विशेष दे० वेदान्त/ ६)। ४. भोगमोक्ष—अपनी-अपनी उपासनाकी तारतम्यताके अनुसार सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य, और सायुज्य, इन चार प्रकारके मोक्षोंमें ब्रह्मादिकोंके भोगोंमें भी तारतम्यता रहती है, पर वे संसारमें नहीं आते।

७. कारण कार्य विचार

कारण दो प्रकार है—उपादान व अपादान या निमित्त। परिणामी कारणको उपादान कहते हैं। कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व वह सत् है और उत्पत्तिके पश्चात् असत्। उपादान व उपादेयमें भेद व अभेद दोनों हैं। गुण क्रिया आदिमें अभेद है और द्रव्यके साथ न रहनेवालोंमें भेद व अभेद दोनों।

८. ज्ञान व प्रमाण विचार

१. आत्मा, मन, इन्द्रिय व विषयोंके सन्निकर्षसे होनेवाला आत्माका परिणाम ज्ञान है। वह सविकल्प ही होता है। ममता रूप, व अपरोक्ष रूप। ममता रूप संसारका और अपरोक्ष रूप मोक्षका कारण है। तथा वैराग्य आदिसे उत्पन्न होता है। ऋषिलोग अन्तर्दृष्टि, मनुष्य बाह्य दृष्टि और देवता लोग सर्वदृष्टि हैं। २. स्व प्रकाशक होनेके कारण ज्ञान स्वतः प्रमाण है। वह तीन प्रकार है—प्रत्यक्ष अनुमान व शब्द। ३. प्रत्यक्ष आठ प्रकार है—साक्षी, यथार्थ

ज्ञान, तथा ३: इन्द्रियोंसे साक्षात् उत्पन्न ज्ञान। ४. अनुमान तीन प्रकार है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। पाँच अवयवोंका नियम नहीं। यथावसर हीनाधिक भी हो सकते हैं। ५. शब्द—दो प्रकार है—पौरुषेय व अपौरुषेय। आप्तोक्त पौरुषेय है और वेद वाक्य अपौरुषेय है।

७. शुद्धाद्वैत (शैव दर्शन)

१. सामान्य परिचय

ई. श. १५ में इसकी स्थापना हुई। वल्लभ, श्रीकण्ठ व भास्कर इसके प्रधान संस्थापक थे। श्रीकण्ठकृत शिवसूत्र व भास्कर कृत वार्तिक प्रधान ग्रन्थ हैं। इनके मतमें ब्रह्मके पर अपर दो रूप नहीं माने जाते। पर ब्रह्म ही एक तत्त्व है। ब्रह्म अंशी और जड़ व अजड़ जगत् इसके दो अंश हैं।

२. तत्त्व विचार

१. शिव ही केवल एक सत् है। शंकर वेदान्त मान्य माया व प्रकृति सर्वथा कुछ नहीं है। उस शिवकी अभिव्यक्ति ३६ प्रकारसे होती है—परम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, मायाके पाँच कुंचक या कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, महान् या बुद्धि, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, और पाँच भूत। उनमेंसे पुरुष आदि तत्त्व तो सांख्यवत् है। शेष निम्न प्रकार हैं।—२. एक व्यापक, नित्य, चैतन्य, स्वरूप शिव है। जड़ व चेतन सबमें यही ओतप्रोत है। आत्मा, परमेश्वर व परासंवित इसके अपरनाम हैं। ३ सृष्टि, स्थिति व संहार (उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय) यह तीन उस शिवकी शक्तियाँ हैं। सृष्टि शक्ति द्वारा वह स्वयं विश्वाकार होता है। स्थिति शक्तिसे विश्वका प्रकाशक, संहार शक्तिसे सबको अपनेमें लय कर लेता है। इसके पाँच भेद हैं—चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा व क्रिया। ४. 'अहं' प्रत्यय द्वारा सदा अभिव्यक्त रहनेवाला सदाशिव है। यहाँ इच्छा शक्तिका प्राधान्य है। ५. जगत्की क्रमिक अभिव्यक्ति करता हुआ वही सदाशिव ईश्वर है। यहाँ 'इदं अहं' की भावना होनेके कारण ज्ञान शक्तिका प्राधान्य है। ६. 'अहं इदं' यह भावना शुद्धविद्या है। ७. 'अहं' पुरुष रूपमें और 'इदं' प्रकृति रूपमें अभिव्यक्त होकर द्वैत को स्पष्ट करते हैं यही शिवकी माया है। ८. इस मायाके कारण वह शिव पाँच कंचुकोंमें अभिव्यक्त होता है। सर्व कर्तासे असर्व कर्ता होनेके कारण कलावान् है, सर्वज्ञसे असर्वज्ञ होनेके कारण विद्यावान्, अपूर्णताके बोधके कारण रागी, अनित्यत्वके बोधके कारण काल सापेक्ष तथा संकुचित ज्ञान शक्तिके कारण नियतिवान् हो जाता है। ९. इन पाँच कंचुकोंसे आवेष्टित पुरुष संसारी हो जाता है।

३. सृष्टि व मुक्ति विचार

१. जैसे वट बीजमें वट वृक्षकी शक्ति रहती है वैसे ही शिवमें ३५ तत्त्व सदा शक्तिरूपसे विद्यमान हैं। उपरोक्त क्रमसे वह शिव ही संसारी होता हुआ सृष्टिकी रचना करता है। २. पाँच कंचुकोंसे आवृत पुरुषकी शक्ति संकुचित रहती है। सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेश करनेपर वह अपनेको प्रकृतिके सूक्ष्म रूपके बराबर समझता हुआ 'यह मैं हूँ' ऐसे द्वैतकी प्रतीति करता है। इस प्रतीतिमें 'यह' और 'मैं' समान महत्त्ववाले होते हैं। तत्पश्चात् 'यह मैं हूँ' की प्रतीति होती है। यहाँ 'यह' प्रधान है और 'मैं' गौण। आगे चलकर 'यह' 'मैं' में अन्तर्लीन हो जाता है। तब 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। यहाँ भी 'मैं' और 'हूँ' का द्वैत है। यही सदाशिव तत्त्व है। पश्चात् इससे भी सूक्ष्म भूमिमें प्रवेश करनेपर केवल 'अहं' की प्रतीति होती है यही शक्ति तत्त्व है। यह परम शिवकी उन्मीलनावस्था है। यहाँ आनन्दका प्रथम अनुभव होता है। यह प्रतीति भी पीछे परम शिवमें लीन होनेपर शून्य प्रतीति रह जाती है। यहाँ वास्तवमें सर्व चिन्मय दीखने लगता है। यही वास्तविक अद्वैत है। ३. जबतक शरीरमें रहता है तबतक जीवन्मुक्त कहाता है। शरीर पतन होनेपर शिवमें प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ आकर 'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किंचन' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वास्तविक अनुभव होता है।

वेदिका—पर्वत नदी द्वीप आदिको घेरे रहनेवाली दीवारको वेदिका कहते हैं। लोकमें इनका अवस्थान व विस्तार—दे० लोक/७।

वेदिका बद्ध—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

वेदिम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६।

वेदी—Boundary wall —दे० लोक ३/११;६/४।

वेद्य—दे० वेदना/१।

वेलंब—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक एक भवनवासी देव—दे० लोक/५/१०।

वेश्या—वेश्या गमन निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३।

वैकालिक—गो. जी./जी. प्र./३६७/७९०/६ विशिष्टाः काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि। दश वैकालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिकं तच्च मुनिजनानां आचरणगोचरविधिं पिण्डशुद्धिलक्षणं च वर्णयति। —विशेषरूप कालको विकाल कहते हैं। उस कालके होनेपर जो होते हैं वे वैकालिक कहलाते हैं। इसमें दश वैकालिकका प्ररूपण है, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक प्रकीर्णक है। इसमें मुनियोंके आचार व आहारकी शुद्धता और लक्षणका प्ररूपण है।

वैक्रियिक—देवों और नारकियोंके चक्षु अगोचर शरीर विशेषको वैक्रियिक शरीर कहते हैं। यह छोटे बड़े हलके भारी अनेक प्रकारके रूपोंमें परिवर्तित किया जा सकता है। किन्हीं योगियोंको ऋद्धिके बलसे प्रगटा वैक्रियिक शरीर वास्तवमें औदारिक ही है। इस शरीरके साथ होनेवाला आत्म प्रदेशोंका कम्पन वैक्रियिक काययोग है और कुछ आत्मप्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकल कर फैलना वैक्रियिक समुद्घात है।

१	**वैक्रियिक शरीर निर्देश**
१	वैक्रियिक शरीरका लक्षण।
२	वैक्रियिक शरीरके भेद व उनके लक्षण।
३	वैक्रियिक शरीरका स्वामित्व।
४	कौन कैसी विक्रिया करे।
५	वैक्रियिक शरीरके उ. ज. प्रदेशोंका स्वामित्व।
६	मनुष्य तिर्यंचोंका वैक्रियिक शरीर वास्तवमें अप्रधान है।
७	तिर्यंच मनुष्योंमें वैक्रियिक शरीरके विधि निषेधका समन्वय।
८	उपपाद व लब्धि प्राप्त वैक्रियिक शरीरोंमें अन्तर।
९	वैक्रियिक व आहारकमें कथंचित् प्रतिघातीपना।
*	इस शरीरकी अवगाहना व स्थिति।—दे. वह वह नाम
*	पाँचों शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता। —दे. शरीर/१।

१. वैक्रियिक शरीर निर्देश

१. वैक्रियिक शरीरका लक्षण

स. सि./२/३६/१९१/६ अष्टगुणैश्वर्ययोगादेकानेकाणुमहच्छरीरविविधकरणं विक्रिया, सा प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। —अणिमा महिमा आदि आठ गुणोंके (दे. ऋद्धि/३) ऐश्वर्यके सम्बन्धसे एक, अनेक, छोटा, बड़ा आदि नाना प्रकारका शरीर करना विक्रिया है। वह विक्रिया जिस शरीरका प्रयोजन है वह वैक्रियिक शरीर है। (रा. वा./२/३६/६/ १४६/७); (ध. १/१,१,५६/२९१/६)

ष. खं. १४/५,६/सू. २३८/३२५ 'विविहइड्ढिगुणजुत्तमिदि बेउव्वियं। ५३८।—विविधगुण ऋद्धियोंसे युक्त है (दे० ऋद्धि/३), इसलिए वैक्रियिक है।२३८। (रा. वा./२/४९/८/१५३/१३); (दे० वैक्रियिक/२/१)।

२. विक्रियाके भेद व उनके लक्षण

रा. वा./२/४७/४/१५२/७ सा द्वेधा—एकत्वविक्रिया पृथक्त्वविक्रिया चेति। तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिंहव्याघ्रहंसकुररादिभावेन विक्रिया। पृथक्त्वविक्रिया स्वशरीरादन्यत्वेन प्रासादमण्डपादिविक्रिया।—वह विक्रिया दो प्रकारकी है—एकत्व व पृथक्त्व। तहाँ अपने शरीरको ही सिंह व्याघ्र हिरण हंस आदि रूपसे बना लेना एकत्व विक्रिया है और शरीरसे भिन्न मकान मण्डप आदि बना देना पृथक्त्व विक्रिया है।

३. वैक्रियिक शरीरका स्वामित्व

त. सू./२/४६,४७ औपपादिकं वैक्रियिकम् ।४६। लब्धिप्रत्ययं च ।४७। —वैक्रियिक शरीर उपपाद जन्मसे पैदा होता है। तथा लब्धि (ऋद्धि) से भी पैदा होता है।

रा. वा./२/४९/८/१५३/२३ वैक्रियिकं देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च केषांचित्।—देव नारकियोंको, (पर्याप्त) तेज व वायु कायिकोंको तथा किन्हीं किन्हीं (पर्याप्त) पंचेन्द्रिय तिर्यंचों व मनुष्योंको वैक्रियिक शरीर होता है। (गो. जी./मू./२३३/४९६)।

ध. ४/१,४,६६/२४९/३ तेउक्काइयपज्जत्ता चेव वेउव्वियसरीरं उट्ठावेंति, अपज्जत्तेसु तदभावा। ते च पज्जत्ता कम्मभूमीसु चेव होंति त्ति। —तेजस्कायिक पर्याप्तक जीव ही वैक्रियिक शरीरको उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अपर्याप्तक जीवोंमें वैक्रियिक शरीरके उत्पन्न करनेकी शक्तिका अभाव है। और वे पर्याप्त जीव कर्मभूमिमें ही होते हैं।

दे. शरीर/२ (पाँचों शरीरोंके स्वामित्वकी ओघ आदेश प्ररूपणा/.)।

४. कौन कैसी विक्रिया करे

रा. वा./२/४७/४/१५२/१ सा उभयी च विद्यते भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनाम्। वैमानिकानां आसर्वार्थसिद्धेः प्रशस्तरूपैकत्वविक्रियैव। नारकाणां त्रिशूलचक्रासिमुद्गरपरशुभिण्डिवालाद्यनेकायुधैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया आ षष्ठ्याः। सप्तम्यां महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपैकत्वविक्रिया; नानेकप्रहरणविक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रिया। तिरश्चां मयूरादीनां कुमारादिभावं प्रतिविशिष्टैकत्वविक्रिया न पृथक्त्वविक्रिया। मनुष्याणां तपोविद्यादिप्राधान्यात् प्रतिविशिष्टैकत्वपृथक्त्वविक्रिया।—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और सोलह स्वर्गोंके देवोंके एकत्व व पृथक्त्व दोनों प्रकारकी विक्रिया होती है। ऊपर ग्रैवेयक आदि सर्वार्थसिद्धि पर्यन्तके देवोंके प्रशस्त एकत्व विक्रिया ही होती है। छठवें नरक तकके नारकियोंके त्रिशूल चक्र तलवार मुद्गर आदि रूपसे जो विक्रिया होती है वह एकत्व विक्रिया ही है न कि पृथक्त्व विक्रिया। सातवें नरकमें गाय बराबर कीड़े लोहू आदि रूपसे एकत्वविक्रिया ही होती है, आयुधरूपसे पृथक् विक्रिया नहीं होती। तिर्यंचोंमें मयूर आदिके कुमार आदि भावरूप एकत्व विक्रिया ही होती है पृथक्त्व विक्रिया नहीं होती। मनुष्योंके तप और विद्याकी प्रधानतासे एकत्व व पृथक्त्व दोनों विक्रिया होती हैं।

ध. ९/४,१,७१/३५५/१ णेरइएसु वेउव्वियपरिसादणकदी णत्थि पुधविउव्वणाभावादो।—नारकियोंमें वैक्रियिक शरीरकी परिशातन कृति नहीं होती, क्योंकि उनके पृथक् विक्रियाका अभाव है।

गो. जी./जी. प्र./२३३/४९७/३ येषां जीवानां औदारिकशरीरमेव विगूर्वणात्मकं विक्रियात्मकं भवेत् ते जीवाः अपृथग्विक्रियया परिणमन्तीत्यर्थः। भोगभूमिजाः चक्रवर्तिनश्च पृथग् विगूर्वन्ति।—जिन जीवोंके औदारिक शरीर ही विक्रियात्मक होते हैं अर्थात् तिर्यंच और मनुष्य अपृथक् विक्रियाके द्वारा ही परिणमन करते हैं। परन्तु भोगभूमिज और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया भी करते हैं।

५. वैक्रियिक शरीरके उ. अ. प्रदेशोंका स्वामित्व

ष. खं. १४/५,६/सूत्र ४३१-४४४/४११-४१३ उक्कस्सपदेण वेउव्वियसरीरस्स उक्कस्सयं पदेसग्गं कस्स ।४३१। अण्णदरस्स आरणअच्चुदकप्पवासियदेवस्स बावीससागरोवमट्ठिदियस्स ।४३२। तेणे पढमसमयआहारएण पढमसमयतब्भवत्थेण उक्कस्सजोगेण आहारिदो ।४३३। उक्कस्सियाए वड्ढीए वड्ढिदो ।४३४। अंतोमुहुत्तेण सव्वलहुं सव्वाहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो ।४३५। तस्स अप्पाओ भासद्धाओ ।४३६। अप्पाओ मणजोगद्धाओ ।४३७। णत्थि छविच्छेदा ।४३८। अप्पदरं

विउव्विददो ।४३९। थोवावसेसे जीविदव्वए त्ति जोगजवमज्झस्सुवरि-मंतोमुहुत्तद्धमच्छिददो ।४४०। चरिमे जीवगुणहाणिट्ठाणंतरे आवलियाए असंखेज्जदिभागमच्छिददो ।४४१। चरिमदुचरिमसमए उक्कस्सजोगं गदो ।४४२। तस्स चरिमसमयतब्भवत्थस्स तस्स वेउव्वियसरीरस्स उक्कस्सपदेसग्गं ।४४३। तव्वदिरित्तमणुक्कस्सं ।४४४।

ष. खं. १४/५,६/सूत्र ४८३-४८६/४२४-४२५ जहण्णवेउव्वियसरीरस्स जहण्णयं पदेसग्गं कस्स ।४८३। अण्णदरस्स देवणेरइयस्स असण्णिपच्छायदस्स ।४८४। पढमसमयआहारयस्स पढमसमयतब्भवत्थस्स जहण्णजोगिस्स तस्स वेउव्वियसरीरस्स जहण्णयं पदेसग्गं ।४८५। तव्वदिरित्तमजहण्णं ।४८६। —उत्कृष्ट पदकी अपेक्षा वैक्रियिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी कौन है ।४३१। जो बाईस सागरकी स्थितिवाला आरण, अच्युत, कल्पवासी अन्यतरदेव है ।४३२। उसी देवने प्रथमसमयमें आहारक और तद्भवस्थ होकर उत्कृष्ट योगसे आहारको ग्रहण किया है ।४३३। उत्कृष्ट वृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त हुआ है ।४३४। सर्वलघु अन्तर्मुहूर्तकाल द्वारा सब पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हुआ है ।४३५। उसके बोलनेके काल अल्प है ।४३६। मनोयोगके काल अल्प हैं ।४३७। उसके अविच्छेद नहीं हैं ।४३८। उसने अन्यतर विक्रिया की है ।४३९। जीवितव्यके स्तोक शेष रहनेपर वह योगयवमध्यके ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल तक रहा ।४४०। अन्तिम जीवगुणहानिस्थानान्तरमें आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाण कालतक रहा ।४४१। चरम और द्विचरम समयमें उत्कृष्ट योगको प्राप्त हुआ ।४४२। अन्तिम समयमें तद्भवस्थ हुआ, वह जीव वैक्रियिक शरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी है ।४४३। उससे व्यतिरिक्त अनुत्कृष्ट है ।४४४। जघन्य पदकी वैक्रियिक शरीरके जघन्य प्रदेशाग्रका स्वामी कौन है ।४८३। असंज्ञियोंमें आकर उत्पन्न हुआ जो अन्यतरदेव और नारकी जीव है ।४८४। प्रथम समयमें आहारक और तद्भवस्थ हुआ जघन्य योगवाला वह जीव वैक्रियिक शरीरके प्रदेशाग्रका स्वामी है ।४८५। उससे अन्यतर अजघन्य प्रदेशाग्र है ।४८६।

६. मनुष्य तिर्यंचोंके वैक्रियिकशरीर अप्रधान हैं

ध. १/१.१.५८/२९६/१ तिर्यञ्चो मनुष्याश्च वैक्रियिकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न, औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वैक्रियिकमिति तत्रोक्तं न तदत्र परिगृह्यते विविधगुणर्द्ध्यभावात् । अत्र विविधगुणर्द्ध्यात्मकं परिगृह्यते, तच्च देवनारकाणामेव । —प्रश्न— तिर्यंच और मनुष्य भी वैक्रियिक शरीरवाले सुने जाते है, (इसलिए उनके भी वैक्रियिक काययोग होना चाहिए)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, औदारिक शरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक। उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है वह मनुष्य और तिर्यंचोंके वैक्रियिक रूपमें कहा गया है। उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि उसमें नाना गुण और ऋद्धियोंका अभाव है। यहाँपर नाना गुण और ऋद्धियुक्त वैक्रियिक शरीरका ही ग्रहण किया है और वह देव और नारकियोंके ही होता है। (ध. ९/४.१.६१/३२७/१२)

ध. ९/४.१.६१/३२७/१२ णत्थि तिरिक्खमणुस्सेसु वेउव्वियसरीरं, एदेसु वेउव्वियसरीरणामकम्मोदयाभावादो। —तिर्यंच व मनुष्योंके वैक्रियिकशरीर सम्भव नहीं है, क्योंकि, इनके वैक्रियिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं पाया जाता।

७. तिर्यंच व मनुष्योंमें वैक्रियिक शरीरके विधिनिषेधका समन्वय

रा. वा./२/४९/८/१५३/२५ आह चोदकः—जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणायाम्—"औदारिककाययोगः औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणाम्, वैक्रियिककाययोगो वैक्रियिकमिश्रकाययोगश्च देवनारकाणाम्" उक्तः, इह तिर्यङ्मनुष्याणामपीत्युच्यते; तदिदमार्षविरुद्धमिति; अत्रोच्यते—न, अन्यत्रोपदेशात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभङ्गे वायोरौदारिकवैक्रियिकतैजसकार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि मनुष्याणां पञ्च। एवमप्यार्षयोस्तयोर्विरोधः, न विरोधः, अभिप्रायकत्वात्। जीवस्थाने सर्वदेवनारकाणां सर्वकालं वैक्रियिकदर्शनात् तद्योगविधिरित्यभिप्रायः, नैवं तिर्यग्मनुष्याणां लब्धिप्रत्ययं वैक्रियिकं सर्वेषां सर्वकालमस्ति कादाचित्कत्वात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु त्वस्तित्वमात्रमभिप्रेत्योक्तम्। —प्रश्न— जीव स्थानके योगभंग प्रकरणमें तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक और औदारिकमिश्र तथा देव और नारकियोंके वैक्रियिक और वैक्रियिकमिश्र काय योग बताया है (दे. वैक्रियिक/२); पर यहाँ तो तिर्यंच और मनुष्योंके भी वैक्रियिकका विधान किया है। इस तरह परस्पर विरोध आता है? उत्तर—व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डकके शरीर भंगमें वायुकायिकके औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण ये चार शरीर तथा मनुष्योंके आहारक सहित पाँच शरीर बताये हैं (दे. शरीर/२/२)। भिन्न-भिन्न अभिप्रायोंसे लिखे गये उक्त सन्दर्भोंमें परस्पर विरोध भी नहीं है। जीवस्थानमें जिस प्रकार देव और नारकियोके सर्वदा वैक्रियिक शरीर रहता है, उस तरह तिर्यंच और मनुष्योंके नहीं होता, इसलिए तिर्यंच और मनुष्योंके वैक्रियिक शरीरका विधान नहीं किया है। जब कि व्याख्या प्रज्ञप्तिमें उसके सद्भावमात्रसे ही उसका विधान कर दिया है।

८. उपपाद व लब्धिप्राप्त वैक्रियिक शरीरोंमें अन्तर

रा. वा./२/४७/३/१५२/१ उपपादो हि निश्चयेन भवति जन्मनिमित्तत्वात्, लब्धिस्तु कादाचित्को जातस्य सत उत्तरकालं तपोविशेषाद्यपेक्षत्वादिति, अयमनयोर्विशेषः। —उपपाद तो जन्मके निमित्तवश निश्चित रूपमें होता है और लब्धि किसीके ही विशेष तप आदि करनेपर कभी होती है। यही इन दोनोंमें विशेष है।

गो. जी./भाषा/५४३/९४८/३ इहाँ ऐसा अर्थ जानना— जो देवनिके मूल शरीर तौ अन्यक्षेत्रविषै तिष्ठै है अर विहारकर क्रियारूप शरीर अन्य क्षेत्र विषै तिष्ठै है। तहाँ दोऊनिके बीचि आत्माके प्रदेश सूच्यंगुलका असंख्यातवाँ भागमात्र प्रदेश ऊँचे चौड़े फैले है अर यह मुख्यताकी अपेक्षा संख्यात योजन लंबे कहे हैं (दे. वैक्रियिक/३)। बहुरि देव अपनी-अपनी इच्छातैं हस्ती घोटक इत्यादिक रूप विक्रिया करैं ताकी अवगाहना एक जीवकी अपेक्षा संख्यात घनांगुल प्रमाण है। (गो. जी./भाषा५४४/९५७/१८)

९. वैक्रियिक व आहारक शरीरमें कथंचित् प्रतिघातीपना

स. सि./२/४०/१९३/११ ननु च वैक्रियिकाहारकयोरपि नास्ति प्रतिघातः। सर्वत्राप्रतिघातोऽत्र विवक्षितः। यथा तैजसकार्मणयोरा लोकान्तात् सर्वत्र नास्ति प्रतिघातः न तथा वैक्रियिकाहारकयोः। —वैक्रियिक और आहारकका भी प्रतिघात नहीं होता, फिर यहाँ तैजस और कार्मण शरीरको ही अप्रतिघात क्यों कहा (दे. शरीर, १/५)? उत्तर—इस सूत्रमें सर्वत्र प्रतिघातका अभाव विवक्षित है जिस प्रकार तैजस और कार्मण शरीरका लोकपर्यन्त सर्वत्र प्रतिघात नहीं होता, वह बात वैक्रियिक और आहारक शरीरको नहीं है।

२. वैक्रियिक व मिश्रकाययोग निर्देश

१. वैक्रियिक व मिश्रकाययोगके लक्षण

पं. सं./प्रा./१/९५-९६ विविहगुणइड्ढिजुत्तं वेउव्वियमहव विकिरियं चेव। तिस्से भवं च णेयं वेउव्वियकायजोगो सो ।९५। अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं च अपरिपुण्णो त्ति। जो तेण संपओगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सो ।९६। —विविध गुण और ऋद्धियोंसे युक्त, अथवा विशिष्ट क्रियावाले शरीरको वैक्रियिक कहते हैं। उसमें

उत्पन्न होनेवाला जो योग है, उसे वैक्रियिककाययोग जानना चाहिए ।६६। वैक्रियिक शरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ होनेके प्रथम समयसे लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेतक अन्तर्मुहूर्तके मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीरको वैक्रियिकमिश्र काय कहते हैं। उसके द्वारा होनेवाला जो सयोग है (दे. योग/१). वह वैक्रियिकमिश्र काययोग कहलाता है। अर्थात् देव नारकियोंके उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर शरीर-पर्याप्ति पूर्ण होनेतक कार्मणशरीरकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले वैक्रियिक काययोग,को वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं। (ध. १/१,१,५६/गा. १६२-१६३/२११), (गो. जी./मू./२३२-२३४/४६५,४६७)

ध. १/१,१,५६/२६१/६ तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योग: वैक्रियिककाययोगः। कार्मणवैक्रियकस्कन्धत: समुत्पन्नवीर्येण योग, वैक्रियिकमिश्रकाययोग.। =उस (वैक्रियिक) शरीरके अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियिक काययोग कहते है। कार्मण और वैक्रियिक वर्गणाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिए प्रयत्न होता है, उसे वैक्रियिकमिश्र काययोग कहते हैं।

गो. जी./जी. प्र /२२३/४८५/१५ वैगूर्विककायार्थं तद्रूपपरिणमनयोग्यशरीरवर्गणास्कन्धाकर्षणशक्तिविशिष्टात्मप्रदेशपरिस्पन्दः स वैगूर्विककाययोग इति ज्ञेय. ज्ञातव्य.। अथवा वैक्रियिककाय एव वैक्रियिककाययोग: कारणे कार्योपचारात्।

गो. जी./जी. प्र./२३४/४८८/१ वैक्रियिककायमिश्रेण सह यः संप्रयोगः कर्मनोकर्माकर्षणशक्तिसंगतापर्याप्तिकालमात्रात्मप्रदेश - परिस्पन्दरूपो योगः स वैक्रियिककायमिश्रयोगः। अपर्याप्तयोगे मिश्रकाययोग इत्यर्थः। =वैक्रियिक शरीरके अर्थ तिस शरीररूप परिणमने योग्य जो आहारक वर्गणारूप स्कन्धोंके ग्रहण करनेकी शक्ति, उस सहित आत्मप्रदेशोंके चंचलपनेको वैक्रियिक काययोग कहते हैं। अथवा कारणमें कार्यके उपचारसे वैक्रियिक काय ही वैक्रियिक काय योग है। वैक्रियिक कायक मिश्रण सहित जो संप्रयोग अर्थात् कर्म व नोकर्मको ग्रहण करनेकी शक्ति, उसको प्राप्त अपर्याप्त कालमात्र आत्म-प्रदेशोंके परिस्पन्दनरूप योग, वह वैक्रियिक मिश्र काययोग है। अपर्याप्त योगका नाम मिश्रयोग है, ऐसा तात्पर्य है।

२. वैक्रियिक व मिश्रयोगका स्वामित्व

ष. खं./१/१,१/सूत्र/पृष्ठ वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो-देवणेरइयाणं। (५८/२९६)। वेउव्वियकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव असंजदसम्माइट्ठि त्ति। (६२/३०५)। वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं। (७७/३१७)। =देव और नारकियोंके वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिक मिश्रकाययोग होता है ।५८। वैक्रियिककाययोग और वैक्रियिकमिश्रकाययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं।६२। वैक्रियिककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियिकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ।७७। —(और भी दे० वैक्रियिक/१/३)।

३. वैक्रियिक समुद्घात निर्देश

१. वैक्रियिक समुद्घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१६ एकत्वपृथक्त्वनानाविधविक्रियशरीरवाक्-प्रचारप्रहरणादिविक्रियाप्रयोजनो वैक्रियिकसमुद्घातः। =एकत्व पृथक् आदि नाना प्रकारकी विक्रियाके निमित्तसे शरीर और वचनके प्रचार, प्रहरण आदिकी विक्रियाके अर्थ वैक्रियिक समुद्घात होता है।

ध. ४/१,३,२/२६/८ वेउव्वियसमुग्घादो णाम देवणेरइयाण वेउव्वियसरीरोदइल्लाण साभावियमागारं छड्डिय अण्णागारेणच्छणं। =वैक्रियिक शरीरके उदयवाले देव और नारकी जीवोंका अपने स्वाभाविक आकारको छोड़कर अन्य आकारसे रहने तकका नाम वैक्रियिक समुद्घात है।

ध. ७/२,६,१/२९९/१० विविहिद्धिस्स माहप्पेण संखेज्जासंखेज्जजोयणाणि सरीरेण ओट्ठहिय अवट्ठाणं वेउव्वियसमुग्घादो णाम। =विविध ऋद्धियोंके माहात्म्यसे संख्यात व असंख्यात योजनोंको शरीरसे व्याप्त कर के जीवप्रदेशोंके अवस्थानको वैक्रियिक समुद्घात कहते हैं।

द्र. सं./टी./१०/२५/५ मूलशरीरमपरित्यज्य किमपि विकर्तुमात्मप्रदेशानां बहिर्गमनमिति विक्रियासमुद्घात:। =किसी प्रकारकी विक्रिया उत्पन्न करनेके लिए अर्थात् शरीरको छोटा-बड़ा या अन्य शरीर रूप करनेके लिए मूल शरीरका न त्याग कर जो आत्माका प्रदेशोंका बाहर जाना है उसको 'विक्रिया' समुद्घात कहते हैं।

वैखरी वाणी—दे० भाषा।

वैजयंत—१. विजयार्धकी दक्षिण व उत्तर श्रेणीके दो नगर। —दे० विद्याधर। २. एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. एक यक्ष—दे० यक्ष। ४. स्वर्गके पंच अनुत्तर विमानोंमें-से एक। —दे० स्वर्ग/३.५। ५. जम्बूद्वीपकी वेदिकाका दक्षिण द्वार—दे० लोक/३/१।

वैजयंती—१. अपर विदेहके सुप्रभ क्षेत्रकी प्रधान नगरी। —दे० लोक५/२। २. नन्दीश्वर द्वीपकी पश्चिम दिशामें स्थित एक वापी —दे० लोक५/११। ३. रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी व महत्तरिका —दे० लोक/५/१३।

वैडूर्य—१.मध्यलोकके अन्तमें सप्तम सागर व द्वीप।—दे० लोक/५/१। २. सुमेरु पर्वतका अपर नाम सुवैडूर्य चूलिका है—दे० सुमेरु। ३. महा हिमवान् पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव।—दे० लोक/५/४। ४. पद्महृदमें स्थित एक कूट—दे०लोक/५/७। ५. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट—दे०लोक/५/१०। ६. रुचक पर्वतका एक कूट —दे० लोक/५/१३। ७. सौधर्म स्वर्गका १४ वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५/३।

वैतरणी—१. नरककी एक नदी। २. भरतक्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

वैतराणी—असुरकुमार जातिका एक भवनवासी देव—दे० असुर।

वैताढ्य—भरत और ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें पूर्वापर लम्बायमान विजयार्ध पर्वतको, तथा ३२ विदेहोंके ३२ विजयार्धोंको वैताढ्य कहते हैं। हैमवत आदि अन्य क्षेत्रके मध्य शब्दवान् आदि कूटाकार पर्वत वैताढ्य कहलाते हैं। —दे० लोक/६,७।

वैतृष्ण्य—दे० उपेक्षा।

वैतृष्ण्य—समताका पर्यायवाची—दे० सामायिक/१।

वैदर्भ—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वैदिक दर्शन—वैदिक दर्शन व उनका विकास-क्रम —दे० दर्शन।

वैदिश—वर्तमान भेलसा नामक ग्राम। (मु. आ./प्र. २६/पं. जुगल किशोर)।

वैद्यसार—आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) कृत आयुर्वेद विषयक संस्कृत ग्रन्थ। —दे० पूज्यपाद।

वैधर्म्य—१. स. भं. त./५३/१—वैधर्म्यं च साध्याभावाधिकरणावृत्तित्वेन निश्चितत्वम्। =साध्यके अभावके अधिकरणमें जिसका

अवृत्तित्व अर्थात न रहना निश्चित हो उसको वैधर्म्य कहते हैं।
२. उदाहरणका एक भेद – दे० उदाहरण।

वैधर्म्यसमा—दे० साधर्म्यसमा।

वैनयिक—१. वैनयिक मिथ्यात्वका स्वरूप

स. सि./८/१/३७५/८ सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च सम्यग्दर्शनं वैनयिकम्। –सब देवता और सब मतोंको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२१), (त. सा./५/८)।

ध. ८/३.६/२०/७ अइहिय-पारत्तियसुहाइं सव्वाइं पि विणयादो चेव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहिंतो त्ति अहिणिवेसो वेणइय-मिच्छत्तं। –ऐहिक एवं पारलौकिक सुख सभी विनयसे ही प्राप्त होते हैं, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास जनित क्लेशोंसे, ऐसे अभिनिवेशका नाम वैनयिक मिथ्यात्व है।

द. सा./मू./१८-१९ सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि। सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णंगा य केइ य।१८। दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्ती य सव्वदेवाणं। णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहि मूढेहि।१९। –सभी तीर्थंकरोंके तीर्थोंमें वैनयिकोंका उद्भव होता रहा है। उनमें कोई जटाधारी, कोई मुण्डे, कोई शिखाधारी और कोई नग्न रहे हैं।१८। चाहे दुष्ट हो चाहे गुणवान् दोनोंमें समानतासे भक्ति करना और सारे ही देवोंको दण्डवत् नमस्कार करना, इस प्रकारके सिद्धान्तोंको उन मूर्खोंने लोगोंमें चलाया।१९।

भावसंग्रह/८८, ८९ वेणइयमिच्छादिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी। णिग्गुणजणं पि विणओ पउज्जमाणो हु गयविवेओ।८८। विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं। अमुणिय गुणागुणेण य विणयं मिच्छत्तनडिएण।८९। –वैनयिक मिथ्यादृष्टि अविवेकी तापस होते हैं। निर्गुण जनोंकी यहाँ तक कि गधेकी भी विनय करने अथवा उन्हे नमस्कार आदि करनेमे मोक्ष होता है, ऐसा मानते हैं। गुण और अवगुणसे उन्हे कोई मतलब नहीं।

गो. क./मू./८८८/१०७० मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणि जदिवुड्ढे। बाले पिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ।८८८। –देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता, पिता इन आठोंकी, मन-वचन, काय व दान, इन चारों प्रकारोंसे विनय करनी चाहिए।८८। (ह. पु./१०/५६)।

अन. ध./२/६/१२३ शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम्। निःशङ्कं भूतघातोऽयं नियोगः कोऽपि दुर्विधे।६। –शिव या गुरुकी पूजादि मात्रसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, जो ऐसा मानने वाले हैं, उनका दुर्देव निःशंक होकर प्राणिवधमें प्रवृत्त हो सकता है। अथवा उनका सिद्धान्त जीवोंको प्राणिवधकी प्रेरणा करता है।

भा. पा./टी./१३५/२८३/२१ मातृपितृनृपलोकादिविनयेन मोक्षक्षेपिणां तापसानुसारिणां द्वात्रिंशन्मतानि भवन्ति। –माता, पिता, राजा व लोक आदिके विनयसे मोक्ष माननेवाले तापसानुसारी मत ३२ होते हैं।

२. विनयवादियोंके ३२ भेद

रा. वा./८/१/१२/५६२/१० वशिष्ठपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिणिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिकाः द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति। –वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अयस्थूल आदिकोंके मार्गभेदसे वैनयिक ३२ होते हैं। (रा. वा./१/२०/१२/७४/७), (ध. १/१,१,२/१०८/३), (भ./६/४,१,४५/२०३/७)।

ह. पु./१०/६० मनोवाक्कायदानानां मात्राद्यष्टकयोगत। द्वात्रिंशत्परिसंख्याता वैनयिक्यो हि दृष्टयः।६०। –[देव, राजा आदि आठकी मन, वचन, काय व दान इन चार प्रकारोंसे विनय करनी चाहिए – –दे० पहले शीर्षकमें गो. क./मू./८८८]। इसलिए मन, वचन, काय और दान इन चारका देव आदि आठके साथ संयोग करनेपर वैनयिक मिथ्यादृष्टियोंके ३२ भेद हो जाते हैं।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यक् विनयवाद। —दे० विनय/१/५।
२. द्वादशांग श्रुतज्ञानका पाँचवाँ अंग। —दे० श्रुतज्ञान/III।
३. वैनयिक मिथ्यात्व व मिश्रगुणस्थानमें अन्तर। —दे० मिश्र/२।

वैभाविक शक्ति—दे० विभाव/१।

वैभाषिक—दे० बौद्ध दर्शन।

वैमनस्क—चतुर्थ नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५/११।

वैमानिक देव—दे० स्वर्ग/१।

वैयधिकरण्य—

श्लो. वा./४/१/३३/न्या./४५६/५५१/१६ पर भाषाकार द्वारा उद्धृत—युगपदनेकत्रावस्थितिर्वैयधिकरण्यम्। –एक वस्तुमें एक साथ दो विरोधी धर्मोंके स्वीकार करनेसे, नैयायिक लोग अनेकान्तवादियों पर वैयधिकरण्य दोष उठाते हैं।

स. भं. त./८६/१ अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्यदित्यस्तित्वनास्तित्वयोर्वैयधिकरण्यम्। तच्च भिभिन्नकरणवृत्तित्वम्। –अस्तित्वका अधिकरण अन्य होता है और नास्तित्वका अन्य होता है, इस रीतिसे अस्तित्व और नास्तित्वका वैयधिकरण्य है। वैयधिकरण्य भिन्न-भिन्न अधिकरणमें वृत्तित्वरूप है। [अर्थात् इस अनेकान्त वादमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक ही अधिकरणमें हैं। इसलिए नैयायिक लोग इसपर वैयधिकरण्य नामका दोष लगाते हैं।]

वैयाकरणी—१. वैशेषिक दर्शन शब्दार्थ परसे सिद्धान्तका निर्धारण करनेके कारण वैयाकरणी है—दे० वैशेषिक दर्शन। २. वैयाकरणी मत शब्द समभिरूढ व एवंभूत नयाभासी है—दे० अनेकान्त/२/६।

वैयावृत्य—

१. व्यवहार लक्षण

र. क. श्रा./११२ व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्। वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनां।११२। –गुणोंमें अनुरागपूर्वक संयमी पुरुषोंके खेदका दूर करना, पाँव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है, सो वैयावृत्य कहा जाता है।

म. सि./६/२४/३३६/३ गुणवद्दुःखोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरणं वैयावृत्यम्।

स. सि./६/२०/४३६/७ कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्यम्। –१. गुणी पुरुषोंके दुःखमें आ पड़नेपर निर्दोष विधिसे उसका दुःख दूर करना वैयावृत्य भावना है। (रा. वा./६/२४/६/५३०/४); (चा. सा./५५/१); (त. सा./७/२८); (भा.पा./टी./७७/२२१/६)। २. शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य तप है। (रा. वा./६/२४/२/६२३/६)।

रा. वा./६/२४/१५-१६/६२३/३१ तेषामाचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तरणादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्यम्।१५। बाह्यस्यौषधभक्तपानादेरसंभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिंघाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैया-

वृत्यमिति कथ्यते ।१६। — उन आचार्य आदिपर व्याधि परीषह मिथ्यात्व आदिका उपद्रव होनेपर उसका प्रासुक औषधि आहार-पान आ[illegible] चौकी सन्ता और साथरा आदि धर्मोपकरणोंसे प्रती-कार [illegible] तथा सम्यक्त्व मार्गमें दृढ करना वैयावृत्य है ।१५। औषधि [illegible]के अभावमें अपने हाथसे खकार नाक आदि भीतरी मलको साफ करना और उनके अनुकूल वातावरणका बना देना आदि भी वैयावृत्य है ।१६। (चा. सा./१५२/१)।

ध. ८/३,४१/८८/= व्यापृते यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् । = व्यापृत अर्थात् रोगादिसे व्याकुल साधुके विषयमें जो कुछ किया जाता है उसका नाम वैयावृत्य है।

ध. १३/५,४,२६/६३/६ व्यापदि यत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् । —आपत्तिके समय उसके निवारणार्थ जो किया जाता है वह वैयावृत्य नामका तप है।

चा. सा./१५०/3 कायपीडादुष्परिणामव्युदासार्थं कायचेष्टया द्रव्या-न्तरेणोपदेशेन च व्याकुलस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यं ।— शरीरकी पीडा अथवा दुष्परिणाम को दूर करनेके लिए शरीरकी चेष्टासे, किसी औषध आदि [illegible] द्रव्यसे, अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा [illegible] भी क्रिया करना वैयावृत्य है। (अन. ध./७/२९/७११)।

का. अ./मू./४५६ [illegible] उवसग्ग जरोणं उवसग्ग जराइ खीणकायाणं । पूयादिसु णिरवेक्खं वेज्जावच्चं तवो तस्स ।४५६। - जो मुनि उपसर्ग-से पीडित [illegible] और बुढापे आदिके कारण जिनकी काय क्षीण हो गयी [illegible] । जो [illegible] पूजा प्रतिष्ठाकी अपेक्षा न करके उन मुनियोंका उप-कार [illegible] वैयावृत्य तप होता है।

[illegible]

[illegible] सुद्धुवजुत्तो । [illegible] विशुद्ध उपयोगसे युक्त [illegible] मुनि शमदम भावरूप अपने आत्मस्वरूपमें प्रवृत्ति करता [illegible] निरत रहता है, उसके उत्कृष्ट वैयावृत्य तप [illegible] है।

२. वैयावृत्यके पात्रोंकी अपेक्षा १० भेद

म [illegible]आ./३९० गुणधीए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुब्बले । साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि ।३९०। — गुणाधिकमें, उपाध्यायोंमें, तपस्वियोंमें, शिष्योंमें, दुर्बलोंमें, साधुओंमें, गणमें, साधुओंके कुल-में, चतुर्विध संघमें, मनोज्ञमें, इन दसमें उपद्रव आनेपर वैयावृत्य [illegible] है।

त. सू./९/२४ आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनो-ज्ञानां ।२४। — आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (शिष्य), ग्लान (रोगी), गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इनकी वैयावृत्य-[illegible]से वैयावृत्य दस प्रकारका है ।२४। (ध. १३/५,४,२६/६३/६); (चा. सा./१५०/३), (भा. पा./टी./७८/२२४/१६)।

३. वैयावृत्य योग्य कुछ कार्य

[illegible]. आ./मू./३०५-३०६/५१६ सेज्जागासणिसेज्जा उवधीपडिलेहणा-उवग्गहिदे । आहारो सहभायणविकिचणुव्वत्तणादीसु ।३०५। अद्धाण तेण सावयरायणदीरोधेगासिवे ऊमे । वेज्जावच्चं उत्तं संगहणार-क्खणोवेदं ।३०६। — शयनस्थान— बैठनेका स्थान, उपकरण इनका शोधन करना, निर्दोष आहार-औषध देकर उपकार करना, स्वा-ध्याय अर्थात् व्याख्यान करना, अशक्त मुनिका मैला उठाना, उसे करवट दिलाना बैठाना वगैरह कार्य करना ।३०५। थके हुए साधुके पाव हाथ व अंग दबाना, नदीसे रुके हुए अथवा रोग पीडितका उपद्रव विद्या आदिसे दूर करना, दुर्भिक्ष पीडितको सुभिक्ष देशमें लाना ये सब कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं। (मू. आ./३९१-३९२); (वसु. श्रा./३३७-३४०); (और भी दे० वैयावृत्य/१); (और भी दे० संलेखना/५)।

४. वैयावृत्यका प्रयोजन व फल

भ. आ./मू./३०९-३१०/५२३ गुणपरिणामो सड्ढा वच्छल्लं भत्तिपत्त-लंभो य । संधाणं तवपूया अव्वोच्छित्ती समाधी य ।३०९। आणा संजमसाखिल्लदा य दाणं च अविदिगिंछा य । वेज्जावच्चस्स गुणा पभावणा कज्जपुण्णाणि ।३१०। — गुणग्रहणके परिणाम श्रद्धा, भक्ति, वात्सल्य, पात्रकी प्राप्ति, विच्छिन्न सम्यक्त्व आदिका पुनः संधान, तप, पूजा, तीर्थ, अव्युच्छित्ति, समाधि ।३०९। जिनाज्ञा, संयम, सहाय, दान, निर्विचिकित्सा, प्रभावना, कार्य निर्वाहण ये वैयावृत्य-के १८ गुण हैं। (भ. आ./मू./३२४-३२८)।

स. सि./९/२४/४४२/११ समाध्याधानविचिकित्साभावप्रवचनवात्स-ल्याद्यभिव्यक्त्यर्थम् । — यह समाधिकी प्राप्ति, विचिकित्साका अभाव और प्रवचन वात्सल्यकी अभिव्यक्तिके लिए किया जाता है। (रा. वा./९/२४/१७/६२४/१); (चा. सा./१५२/४)।

दे. धर्म/७/९ (सम्यग्दृष्टिको वैयावृत्य निर्जराकी निमित्त है)।

५. वैयावृत्य न करनेमें दोष

भ. आ./मू./३०७-३०८/५२१ अणिगूहिदबलविरिओ वेज्जावच्चं जिणोव-देसेण । जदि ण करेदि समत्थो संतो सो होदि णिद्धम्मो ।३०७। तित्थयराणाकोधो सुदधम्मविराधणा अणायारो । अप्पापरोपवयणं च तेण णिज्जूहिदं होदि ।३०८। — समर्थ होते हुए तथा अपने बलको न छिपाते हुए भी जिनोपदिष्ट वैयावृत्य जो नहीं करता है वह धर्म-भ्रष्ट है ।३०७। जिनाज्ञाका भंग, शास्त्र कथित धर्मका नाश, अपना साधुवर्गका व आगमका त्याग, ऐसे महादोष वैयावृत्य न करनेसे उत्पन्न होते हैं ।३०८। —(और भी दे. सावद्य/८)।

भ. आ./मू./१४९६/१३९३ वेज्ज वच्चस्स गुणा जे पुव्वं वित्थरेण अक्खादा । तेसिं फडिओ सो होइ जो उवेक्खेज्ज तं खवयं ।१४९६। — वैयावृत्यके गुणोंका पहले (शीर्षक नं. ४ में) विस्तारसे वर्णन किया है। जो क्षपककी उपेक्षा करता है वह उन गुणोंसे भ्रष्ट होता है ।१४९६।

६. वैयावृत्यकी अत्यन्त प्रधानता

भ. आ./मू. व वि./३२९/५४१ एदे गुणा महल्ला वेज्जावच्चुज्जदस्स बहुया य । अप्पट्ठिदो हु जायदि सज्झायं चेव कुव्वंतो ।३२९। आत्मप्रयोजनपर एव जायते स्वाध्यायमेव कुर्वन् । वैयावृत्त्यकरस्तु स्वं परं चोद्धरतीति मन्यते । — वैयावृत्य करनेवालेको उपरोक्त (दे. शीर्षक/४) बहुतसे गुणोंकी प्राप्ति होती है। केवल स्वाध्याय करनेवाला स्वतः की ही आत्मोन्नति कर सकता है, जब कि वैयावृत्य करनेवाला स्वयको व अन्यको दोनोंको उन्नत बनाता है — (और भी दे. सल्लेखना/१)।

भ. आ./मूलारा. टीका/३२९/५४२/७ स्वाध्यायकारिणोऽपि विपदुपनि-पाते तन्मुखप्रेक्षित्वात् । — स्वाध्याय करनेवालेपर यदि विपत्ति आयेगी तो उसको वैयावृत्य वालेके मुखकी तरफ ही देखना पड़ेगा।

दे. संयत/३/२— [वैयावृत्त करनेकी प्ररणा दी गयी है]।

७. वैयावृत्यमें शेष १५ भावनाओंका अन्तर्भाव

ध. ८/३,४१/८८/८ जेण सम्मत्त-णाण-अरहंत-बहुसुदभत्ति-पवयणवच्छ-ल्लादिणा जीवो जुज्जइ वेज्जावच्चे सो वेज्जावच्चजोगो दंसणविसु-ज्झदादि, तेण जुत्तदा वेज्जावच्चजोगजुत्तदा । ताए एवंविहाए एक्काए वि तित्थयरणामकम्मं बधइ । एत्थ सेसकारणाणं जहासंभवेण अंत-ब्भावो वत्तव्वो । — जिस सम्यक्त्व, ज्ञान, अरहन्तभक्ति, बहुश्रुतभक्ति एवं प्रवचनवत्सलत्वादिसे जीव वैयावृत्यमें लगता है वह वैयावृत्य-

योग अर्थात् दर्शन विशुद्धतादि गुण हैं, उनसे संयुक्त होनेका नाम वैयावृत्त्ययोगयुक्तता है। इस प्रकारकी उस एक ही वैयावृत्त्ययोग-युक्ततासे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। यहाँ शेष कारणोंका यथा-सम्भव अन्तर्भाव कहना चाहिए।

८. वैयावृत्त्य गृहस्थोंको मुख्य और साधुको गौण है

प्र. सा./मू./२५३-२५४ वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं। लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।२५३। एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं। चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं।२५४।

प्र. सा./त. प्र./२५४ एवमेष प्रशस्तचर्या...रागसंगत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः।—रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्त्यके निमित्त शुभोपयोगयुक्त लौकिकजनोंके साथकी बातचीत निन्दित नहीं है।२५३। यह प्रशस्तभूत चर्या रागसहित होनेके कारण श्रमणोंको गौण होती है और गृहस्थोंको क्रमशः परमनिर्वाण सौख्यका कारण होनेसे मुख्य है। ऐसा शास्त्रोंमें कहा है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

* एक वैयावृत्त्यसे ही तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है —दे० भावना/२।

* सल्लेखनागत क्षपकके योग्य वैयावृत्त्यकी विशेषताएँ —दे० सल्लेखना/५।

* वैयावृत्त्यका अर्थ सावद्य कर्मयोग्य नहीं —दे० सावद्य/८।

वैर—साम्यभावके प्रभावसे जाति विरोधी भी जीव अपना वैर छोड़ देते हैं।—दे० सामायिक/३/७।

वैरकुमार—बृ. कथा कोष/कथा नं. १२/पृष्ठ—इसके पिता सोमदत्त-ने इसके गर्भमें रहनेपर ही दीक्षा ले ली थी। इसकी माता इसको ध्यानस्थ अपने पतिके चरणोंमें छोड़ गयी। तब दिवाकर नामके विद्याधरने इसे उठा लिया।६१। अपने मामासे विद्या प्राप्त की। एक विद्याधर कन्यासे विवाह किया और अपने छोटे भाईको युद्धमें हराया।६२-६३। जिसके कारण माता रुष्ट हो गयी, तभी अपने विद्याधर पितासे अपनी कथा सुनकर पिता सोमदत्तके पासमें दीक्षा ले ली।६४-६५। बौद्धोंके रथसे पहले जैनोंका रथ चलवाकर प्रभावना की।६६-७१।

वैराग्य—

रा. वा./७/१२/५/५३९/११ विरागस्य भावः कर्म वा वैराग्यम्—(विषयों-से विरक्त होना विराग है। दे० विराग) विरागका भाव या कर्म वैराग्य है।

द्र. स./टी./३५/११२/८ पर उद्धृत—संसारदेहभोगेसु विरत्तभावो य वेरग्गं।—संसार देह तथा भोगोंमें जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है।

दे. सामायिक/१। (माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परमशान्ति, ये सब एकार्थवाची हैं।)

१. वैराग्य की कारणभूत भावनाएँ

त. सू./७/१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।१२।

स. सि./७/१२/३५०/१ जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिधनो वेत्रासनझल्लरी-मृदङ्गनिभः। अत्र जीवा अनादिसंसारेऽनन्तकालं नानायोनिषु दुःखं भोजं भोजं पर्यटन्ति। न चात्र किंचिन्नियतमस्ति जलबुद्बुदोपमं जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसंपद इति। एवमादिजग-त्स्वभावचिन्तनात्संसारात्संवेगो भवति। कायस्वभावश्च अनित्यता दुःखहेतुत्वं निःसारता अशुचित्वमिति। एवमादिकायस्वभावचिन्त-नाद्विषयरागनिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते। इति जगत्कायस्वभावौ भाव-यितव्यौ।—संवेग और वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए।१२। जगत्का स्वभाव यथा—यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदंगके समान है (दे. लोक/२)। इस अनादि संसारमें जीव अनन्त कालतक नाना योनियोंमें दुःखको पुनः पुनः भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीव जलके बुलबुलेके समान है, और भोग सम्पदाएँ बिजली और इन्द्रधनुषके समान चंचल हैं। इत्यादिरूपसे जगत्के स्वभावका चिन्तन करनेसे संसारमें संवेग या भय उत्पन्न होता है। कायका स्वभाव यथा—यह शरीर अनित्य है, दुःखका कारण है, निःसार है और अशुचि है इत्यादि। इस प्रकार कायके स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोंसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अतः जगत और कायके स्वभावको भावना करनी चाहिए। (रा. वा./७/१२/४/५३९/११)।

वै. अनुप्रेक्षा—(अनित्य अशरण आदि १२ भावनाओंका पुनः पुनः चिन्त-वन करना वैराग्यके अर्थ होता है इसीलिए वे १२ वैराग्य भावना कहलाती हैं)।

★ सम्यग्दृष्टि विरागी है—दे. राग/६।

वैराग्यमाला—आ. श्रीचन्द्र (ई. १४६८-१५१८) द्वारा रचित एक उपदेशात्मक संस्कृत ग्रन्थ।

वैरात्रिक—मू. आ./भाषा/२७० आधी रातके बाद दो घड़ी बीत जानेपर वहाँसे लेकर दो घड़ी रात रहे तबतक कालको वैरात्रिक काल कहते हैं।

वैरिसिंह—एक राजा। समय—वि. ९०० (ई. ८४३) (सा. ध./पं. आशाधरका परिचय/१)।

वैरोटी—१. भगवान् अनन्तनाथकी शासक यक्षिणी—दे. तीर्थंकर/ ५/३। २. एक विद्या (—दे. विद्या)।

वैवस्वत यम—इक्ष्वाकु वंशके एक राजा थे (रामाकृष्णा द्वारा संशोधित इक्ष्वाकु वंशावली)।

वैशाख—बृ. कथाकोष/कथा नं. ८/पृष्ठ—पाटलीपुत्र नगरके राजा विशाखका पुत्र था। सात दिनकी नव विवाहिता पत्नीको छोड़ मित्र मुनिदत्त मुनिको आहार दानकर दीक्षा ले ली। २८। स्त्री मरकर-व्यंतरी हुई, जिसके उपसर्गके कारण एक महीना तक उपवास करना पड़ा। चेलनाने परदा डालकर आहार दिया। अन्तमें मोक्ष पधारे।२९।

वैशेषिक—१. सामान्य परिचय

(वैशेषिक लोग भेदवादी हैं, वे द्रव्य, गुण, पर्याय तथा वस्तुके सामान्य व विशेष अंशोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करके सम-वाय सम्बन्धसे उनकी एकता स्थापित करते हैं। ईश्वरको सृष्टि व प्रलयका कर्ता मानते हैं। शिवके उपासक हैं, प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। इनके साधु वैरागी होते हैं।)

२. प्रवर्तक, साहित्य व समय

इस मतके आद्य प्रवर्तक कणाद ऋषि थे, जिन्हें उनकी कापोती वृत्ति-के कारण कण भक्ष तथा उलूक ऋषिका पुत्र होनेके कारण औलूक्य कहते थे। इन्होंने ही वैशेषिक सूत्रकी रचना की थी। जिसपर अनेकों भाष्य व टीकाएँ प्राप्त हैं, जैसे—प्रशस्तपाद भाष्य, रावण भाष्य, भारद्वाज वृत्ति। इनमें-से प्रशस्तपाद भाष्य प्रधान है जिसपर अनेकों वृत्तियाँ लिखी गयी हैं, जैसे—व्योमशेखरकृत व्योमवती, श्रीधरकृत न्यायकन्दली, उदयनकृत किरणावली, श्री वत्सकृत लीलावती, जगदीश भट्टाचार्यकृत भाष्य सूक्ति तथा शंकर मिश्रकृत

कणाद रहस्य। इसके अतिरिक्त भी शिवादित्यकृत सप्त पदार्थी, लोगाक्षिभास्करकृत तर्ककौमुदी, विश्वनाथकृत भाषा परिच्छेद, तर्क-संग्रह, तर्कामृत आदि वैशेषिक दर्शनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें-से वैशेषिक सूत्रकी रचना ई. श. १ का अन्त तथा प्रशस्तपाद भाष्य-की रचना ई. श. ५-६ अनुमान की जाती है। (स. म./परि-ग./पृ. ४१८)

३. तत्त्व विचार

(वैशे. सू./अधिकार १-५) (षट् दर्शन समुच्चय/६०-६६/६३-६६) (भारतीय दर्शन) १. पदार्थ ७ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय व अभाव। २. द्रव्य ६ हैं—पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस्। प्रथम ४ नित्य व अनित्यके भेदसे दो-दो प्रकार हैं और शेष पाँच अनित्य हैं। नित्यरूप पृथिवी आदि तो कारण रूप तथा परमाणु हैं और अनित्य पृथिवी आदि उस परमाणुके कार्य हैं। इनमें क्रमसे एक, दो, तीन व चार गुण पाये जाते हैं। नित्य द्रव्योंमें आत्मा, काल, दिक व आत्माकाश तो विभु है और मनस् अभौतिकपरमाणु है। आकाश शब्दका समवायि कारण है। समय व्यवहारका कारण काल, और दिशा-विदिशाका कारण दिक् है। आत्मा व मनस् नैयायिकोंकी भाँति हैं। (दे. न्याय/१/५)। ३. कार्यका असमवायि कारण गुण है। वे २४ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। प्रथम ४ भौतिक गुण हैं, शब्द आकाशका गुण है, ज्ञानसे संस्कार पर्यन्त आत्माके गुण हैं और शेष आपेक्षिक धर्म हैं। धर्म व अधर्म दोनों गुण जीवोंके पुण्य पापा-त्मक भाग्यके वाचक है। इन दोनोंको अदृष्ट भी कहते हैं। ४. कर्म—क्रियाको कर्म कहते हैं। वह पाँच प्रकारको है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, व गमनागमन। वह कर्म तीन प्रकारका है—सत्प्रत्यय, असत्प्रत्यय और अप्रत्यय। जीवके प्रयत्नसे उत्पन्न कायिक चेष्टा सत्प्रत्यय है, बिना प्रयत्नकी चेष्टा असत्प्रत्यय है और पृथिवी आदि जड़पदार्थोंमें होनेवाली क्रिया अप्रत्यय है। ५. अनेक वस्तुओंमे एकत्वकी बुद्धिका कारण सामान्य है। यह नित्य है तथा दो प्रकार है—पर सामान्य या सत्ता सामान्य, अपर सामान्य या सत्ता विशेष। सर्व व्यापक महा सत्ता पर सामान्य है तथा प्रत्येक वस्तु व्यापक द्रव्यत्व गुणत्व आदि अपर सामान्य है, क्योंकि अपनेसे ऊपर-ऊपरकी अपेक्षा इनमें विशेषता है। ६. द्रव्य, गुण, कर्म आदिमें परस्पर विभाग करनेवाला विशेष है। ७. अयुत सिद्ध पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्धको समवाय कहते हैं जैसे—द्रव्य व गुणमें सम्बन्ध, यह एक व नित्य है। ८. अभाव चार प्रकारका है प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव (दे. वह-वह नाम)। ६. ये लोक नैगम नयाभासी हैं।—(दे. अनेकांत/२/६)

४. ईश्वर, सृष्टि व प्रलय

१ यह लोग सृष्टि कर्ता वादी हैं। शिवके उपासक हैं (दे. परमात्मा/३/५)। २. आहारके कारण घट आदि कार्य द्रव्योंके अवयवोंमें क्रिया विशेष उत्पन्न होनेसे उनका विभाग हो जाता है तथा उनमेंसे संयोग गुण निकल जाता है। इस प्रकार वे द्रव्य नष्ट होकर अपने-अपने कारण द्रव्य परमाणुओंमें लय हो जाते हैं। इसे ही प्रलय कहते हैं। इस अवस्थामें सृष्टि निष्क्रिय होती है। समस्त आत्माएँ अपने अदृष्ट, मनस् और संस्कारोंके साथ विद्यमान रहती हैं। ३. ईश्वरकी इच्छा होनेपर जीवके अदृष्ट तथा परमाणु कार्योन्मुख होते हैं, जिसके कारण परस्परके संयोगसे द्विअणुक आदि स्थूल पदार्थोंकी रचना हो जाती है। परमाणु या द्विअणुकोंके मिलनेसे स्थूल द्रव्य नहीं होते त्रिअणुकोंके मिलनेसे ही होते हैं। यही सृष्टिकी रचना है। सृष्टिकी प्रक्रियामें ये लोग पीलुपाक सिद्धान्त मानते हैं—(दे. आगे नं. ५)। ४. पूर्वोपार्जित कर्मोंके अभावसे जीवके शरीर, योनि, कुल आदि होते हैं। यही संसार है। उस अदृष्टके विषय समाप्त हो जानेपर मृत्यु और अदृष्ट समाप्त हो जानेपर मुक्ति हो जाती है।

५. पीलुपाक व पिठरपाक सिद्धान्त

(भारतीय दर्शन) १. कार्य वस्तुएँ सभी छिद्रवाली (Porous) होती हैं। उनके छिद्रोंमें तैजस द्रव्य प्रवेश करके उन्हें पका देता है। वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह पिठरपाक है। २. कार्य व गुण पहले समवायि कारणमें उत्पन्न होते हैं। पीछे उन समवायि कारणोंके संयोगसे कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है, जैसे—घटको आगमें रखनेसे उस घटका नाश हो जाता है फिर, उसके परमाणु पककर लाल रंगसे युक्त होते हैं, पीछे इन परमाणुओंके योगसे घड़ा बनता है और उसमें लाल रंग आता है। यह पीलुपाक है।

६. ज्ञान प्रमाण विचार

(वैशे. द./अधिकार ८-६), (षट्दर्शन समुच्चय/६७/६६), (भार-तीय दर्शन) १. नैयायिकोंवत् बुद्धि व उपलब्धिका नाम ही ज्ञान है, ज्ञान दो प्रकार है—विद्या व अविद्या। प्रमाण ज्ञान विद्या है और संशय आदिको अविद्या कहते हैं। २. प्रमाण २ हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान। नैयायिकों वत् इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष है, अनुमानका स्वरूप नैयायिकोंवत् है। योगियोंको भूत, भविष्यग्राही प्रातिभ ज्ञान आर्ष है। ३. अविद्या—चार प्रकारकी है—संशय, विपर्यय अनध्य-वसाय, तथा स्वप्न। संशय, विपर्यय व अनध्यवसायके लिए दे. वह वह नाम। निद्राके कारण इन्द्रियाँ मनमें विलीन हो जाती हैं और मन मनोवह नाड़ीके द्वारा पुरीतत नाड़ीमें चला जाता है। तहाँ अदृष्टके सहारे, संस्कारों व वात पित्त आदिके कारण उसे अनेक विषयोंका प्रत्यक्ष होता है। उसे स्वप्न कहते हैं।

७. साधु चर्या

(स. म./परि-ग./पृ. ४१०) इनके साधु, दण्ड, कमण्डलु, या तुम्बी, कमण्डल, लँगोटी व यज्ञोपवीत रखते हैं, जटाएँ बढ़ाते हैं तथा शरीरपर भस्म लगाते हैं। नीरस भोजन या कन्दमूल खाते हैं। शिवका ध्यान करते हैं। कोई-कोई स्त्रीके साथ भी रहते हैं। परन्तु उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न व रहित ही रहते हैं। प्रातःकाल दाँत, पैर आदिको साफ़ करते हैं। नमस्कार करनेवालोंको 'ॐ नमः शिवाय' तथा संन्यासियोंको 'नमः शिवाय' कहते हैं।

८. वैशेषिकों व नैयायिकोंमें समानता व असमानता

स्या. मं./परि-ग./पृ. ४१०-४११/—१ नैयायिक व वैशेषिक बहुतसी मान्यताओंमें एक मत हैं। उद्योतकर आदिके लगभग सभी प्राचीन न्यायशास्त्रोंमें वैशेषिक सिद्धान्तोंका उपयोग किया गया है। २. पीछे वैशेषिक लोग आत्मा अनात्मा व परमाणुका विशेष अध्ययन करने लगे और नैयायिक तर्क आदिका। तब इनमें भेद पड़ गया है। ३. दोनों ही वेदको प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक लोक प्रत्यक्ष व अनुमान दो ही प्रमाण मानते हैं, पर नैयायिक उपमान व शब्दको भिन्न प्रमाण मानते हैं। ४. वैशेषिक सूत्रोंमें द्रव्य गुण कर्म आदि प्रमेयकी और न्याय सूत्रोंमें तर्क, अनुमान आदि प्रमाणोंकी चर्चा प्रधान है। ५. न्याय सूत्रमें ईश्वर की चर्चा है पर वैशेषिक सूत्रोंमें नहीं। ६. वैशेषिक लोग मोक्ष को निःश्रेयस या मोक्ष कहते हैं। और नैयायिक लोग—अपवर्ग। ७. वैशेषिक लोग पीलुपाक वादी हैं और नैयायिक लोग पीठरपाक वादी।

★ वैदिक दर्शनोंका स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकासक्रम —दे. दर्शन।

१. जैन व वैशेषिक मतकी तुलना

वैशेषिकोंकी भाँति जैन भी पर्यायार्थिक व सद्भूत व्यवहार नयकी दृष्टिसे द्रव्यके गुण व पर्यायोंको, उसके प्रदेशोंको तथा उसके सामान्य व विशेष सर्व भावोंको पृथक्-पृथक् मानते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टयसे वस्तुमें भेद करते है (दे. नय/IV/३ व V/४, ५) परन्तु उसके साथ-साथ द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे उसका विरोधी अभेद पक्ष भी स्वीकार करनेके कारण जैन तो अनेकान्तवादी हैं (दे. नय/V/१,२), परन्तु वैशेषिक लोग अभेद पक्षको सर्वथा स्वीकार न करनेके कारण एकान्तवादी हैं। यही दोनोंमें अन्तर है।)

वैश्य—म. पु./सर्ग/श्लोक—"वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविता। (१६/१०४)। ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्राम् अस्राक्षीद् वणिजः प्रभुः। जलस्थलादियात्राभिः तद्वृत्तिर्वार्तया यतः। (१६/२४४)। वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात्। (३८/४६)। =जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे। (१६/१८४)। भगवान्‌ने अपने ऊरुओंसे यात्रा सिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्योंकी रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि, जल, स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है। (१६/२४४)। न्याय पूर्वक धन कमानेसे वैश्य होता है। (३८/४६)।

वैश्रवण—१. लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल। २. आकाशोपपन्न देवोंमें-से एक—दे० देव/II/३। ३. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ४. हिमवान् पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक५/४। ५. विजयार्ध पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक५/४। ६. पद्म द्रहके वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक५/८। ७. रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक५/१३। ८. पूर्व विदेहका एक वक्षार व उसका कूट तथा रक्षक देव—दे० लोक५/३। ९. मानुषोत्तर पर्वतके कनककूटका रक्षक सुवर्ण-कुमार देव—दे० लोक/५/१०।

वैश्रवण—१. प. पु./७/श्लोक—यक्षपुरके धनिक विश्रवसका पुत्र था।१२९। विद्याधरोंके राजा इन्द्र द्वारा प्रदत्त लंकाका राज्य किया, फिर रावण द्वारा परास्त किया गया।२४६। अन्तमें दीक्षित हो गया।२५१। २. म. पु./६६/श्लोक—कच्छकावती देशके वीतशोक नगरका राजा था।२। तप कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया और मरकर अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुआ।१४-१६। यह मल्लिनाथ भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है।—दे० मल्लिनाथ।

वैश्वानर—अपर नाम विशालनयन था। यह चतुर्थ रुद्र हुए हैं—दे० शलाका पुरुष/७।

वैष्णव दर्शन—१. दर्शनकी अपेक्षा भेद परिचय—इस दर्शनमें भक्तिको बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसके चार प्रधान विभाग हैं—श्री सम्प्रदाय, हंस सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय। श्री सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी हैं जो रामानन्दी भी कहलाते हैं। (दे० वेदान्त/४)। हंस सम्प्रदाय द्वैताद्वैत या भेदाभेदवादी हैं। इन्हें हरिव्यासी भी कहते हैं (दे० वेदान्त/III, V)। ब्रह्म सम्प्रदाय द्वैतवादी हैं इन्हें मध्य या गौड़िया भी कहते हैं (दे० वेदान्त/४)। रुद्र सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत वादी है। इसे विष्णु स्वामी या वल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं। —दे० वेदान्त/७।

२. शक्ति व भक्ति आदिकी अपेक्षा भेद व परिचय

शक्तिसंगं तन्त्रके अनुसार इसके १० भेद हैं—वैखानस, श्री राधा-वल्लभी, गोकुलेश, वृन्दावनी, रामानन्दी, हरिव्यासी, निम्बार्क, भागवत, पांचरात्र और वीर वैष्णव। १. वैखानस मुनिके उपदेशानुसार दीक्षित होनेवाले ये स्मार्त वैष्णव कहे जाते हैं। २. श्री राधावल्लभीके आदिप्रवर्तक १५०२ ई. में हरिवंश गोस्वामी हुए। ये लोग जप, ध्यान आदि व्यवहारमें संलग्न रहते हैं। ३. गोकुलेश कृष्णकी केलि या रासलीलाके उपासक हैं। गौओंसे प्रेम करते हैं। अपने शरीरको लताओं, आभूषणों व सुगन्धित द्रव्योंसे सजाते हैं। शक्तिके उपासक हैं। ४. वृन्दावनी विष्णुके भक्त हैं। अपनेको पूर्णकाम मानते हैं। स्त्रियोंके ध्यानमें रत रहते हैं। शरीरपर सुगन्धित द्रव्योंका प्रयोग करते हैं। सारूप्य मुक्तिको स्वीकार करते है। ५. रामानन्दी शक्ति व शिवके सामरस्य प्रयुक्त आनन्दमें मग्न रहते हैं। रामानन्द स्वामी द्वारा ई. १३०० में इसका जन्म हुआ था। ६. हरिव्यासी विष्णु भक्त व जितेन्द्रिय है। यम नियम आदि अष्टांग योगका अभ्यास करते हैं। ई. १५१० में हरिराम शुक्लने इसकी स्थापना की थी। ७. निम्बार्क विष्णुके भक्त हैं। पूजाके बाह्य स्वरूपमें नियम पूर्वक लगे रहते हैं। शरीर एवं वस्त्रोंको स्वच्छ रखते हैं। ८. भागवत विष्णुके भक्त और शिवके कट्टर द्वेषी हैं। इन्द्रिय वशी है। ९. पांचरात्र शिवके द्वेषी व 'राधा' को श्रीकृष्णके नामसे पूजने वाले हैं। पंचरात्रि व्रत करते हैं। १०. वीर विष्णु केवल विष्णुके भक्त तथा अन्य सर्व देवताओंके द्वेषी है।

वैसादृश्य—दे० विसदृश।

वैस्रसिक क्रिया—दे० क्रिया/२/८।

वैस्रसिक बंध—दे० बन्ध/१।

वैस्रसिक शब्द—दे० शब्द।

व्यंजन—

स. सि./१/१८/११६/७ व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं।

स. सि./९/४४/४५५/९ व्यञ्जनं वचनम्।=१. अव्यक्त शब्दादिके समूहको व्यंजन कहते है। (रा. वा./१/१८/–/६६/२७)। २. व्यंजनका अर्थ वचन है। (रा. वा./९/४४/–/६३४/१०)।

ध १३/५,५,४५/आ./१/२/२४८ व्यञ्जनं स्वर्द्धमात्रकम्।=व्यंजन अर्ध मात्रा वाला होता है।

★ **व्यंजनकी अपेक्षा अक्षरोंके भेद-प्रभेद**—दे. अक्षर।

★ **निमित्तज्ञान विशेष**—दे० निमित्त/२।

व्यंजन नैगम नय—दे० नय/III/२।

व्यंजन पर्याय—दे० पर्याय/३।

व्यंजन शुद्धि—भ. आ./वि./११३/२६१/१० तत्र व्यञ्जनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठ। शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति ग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं ही श्रुतज्ञानं।—गणधरादि आचार्योंने बत्तीस दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है, उनको दोष रहित पढ़ना व्यंजन शुद्धि है। शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं। ज्ञानोत्पत्तिके लिए शब्द कारण है। समस्त श्रुतज्ञान शब्दकी भित्ति-पर खड़ा हुआ है। अतः शब्दोंको 'ज्ञायतेऽनेन' इस विग्रहसे ज्ञान कह सकते हैं।—(विशेष दे० उभय शुद्धि)।

व्यंजनावग्रह—दे० अवग्रह।

व्यंतर—भूत, पिशाच जातिके देवोंको जैनागममें व्यंतर देव कहा गया है। ये लोग वैक्रियिक शरीरके धारी होते हैं। अधिकतर मध्य-लोकके सूने स्थानोंमें रहते हैं। मनुष्य व तिर्यंचोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें लाभ हानि पहुँचा सकते हैं। इनका काफी कुछ वैभव व परिवार होता है।

१. व्यंतरदेव निर्देश

१. व्यंतरदेवका लक्षण

स. सि./४/११/२४३/१० विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते 'व्यन्तराः' इत्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम्। —जिनका नाना प्रकारके देशोंमें निवास है, वे व्यन्तरदेव कहलाते हैं। यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदोंमें लागू है। (रा. वा./४/११/१/२१७/१५)।

२. व्यंतरदेवोंके भेद—

त. सू./४/११ व्यन्तराः किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।११। —व्यन्तरदेव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच (ति. प./६/२५); (त्रि. सा./२५१)।

३. व्यंतरोंके आहार व श्वासका अन्तराल

ति. प./६/८८-८९ पल्लाउजुदे देवे कालो असणस्स पंच दिवसाणि। दोण्णि च्चिय णादव्वो दसवाससहस्सआउम्मि ।८८। पलिदोवमाउजुत्तो पचमुहुत्तेहिं एदि उस्सासो। सो अजुदाउजुदे वेंतरदवम्मि अ सत्त पाणेहिं ।८९। —पल्यप्रमाण आयुसे युक्त देवोंके आहारका काल ५ दिन, और १०,००० वर्षप्रमाण आयुवाले देवोंके आहारका काल दो दिन मात्र जानना चाहिए ।८८। व्यन्तर देवोंमें जो पल्यप्रमाण आयुसे युक्त है वे पाँच मुहूर्तोंमें और जो दश हजार प्रमाण आयुसे संयुक्त है वे सात प्राणों (उच्छ्वास निश्वासपरिमित काल विशेष दे० गणित/I/१/४) में उच्छ्वासको प्राप्त करते हैं ।८९। (त्रि. सा./३०१)।

४. व्यंतरोंके ज्ञान व शरीरकी शक्ति विक्रिया आदि

ति प./६/गा. अवरा ओहिधरित्ती अजुदाउजुदस्स पंचकोसाणि। उक्किट्ठा पण्णासा हेट्ठोवरि पस्समाणस्स ।९०। पलिदोवमाउजुत्तो वेंतरदेवो तलम्मि उवरिम्मि। अवधीए जोयणाणं एक्कं लक्खं पलोएदि ।९१। दसवास सहस्साऊ एक्कसयं माणुसाण मारेदुं। पोसेदुं पि समत्थो एक्केक्को वेंतरो देवो ।९२। पण्णाधियसयदंडप्पमाणविक्खंभबहुलजुत्तं सो। खेत्तं णिय सत्तीए उक्खणिदूणं खवेदि अण्णत्थ ।९३। पल्लट्ठदि भाजेहिं छक्खंडाणि पि एक्कपल्लाऊ। मारेदुं पोसेदुं तेसु समत्थो ठिदं लोयं ।९४। उक्कस्से रूवसदं देवो विकरेदि अजुदमेत्ताऊ। अवरे सगरूवाणि मज्झिमयं विविहरूवाणि ।९५। ऐसा वेंतरदेवा णियणिय ओहीण जेत्तियं खेत्तं। पूरंति तेत्तियं पि हु पत्तेक्कं विकरणबलेण ।९६। संखेज्जजोयणाणि संखेज्जाऊ य एक्कसमयेण। जादि असंखेज्जाणि ताणि असंखेज्जाऊ य ।९७। —नीचे व ऊपर देखनेवाले दश हजार वर्षप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देवोंके जघन्य अवधिका विषय पाँच कोश और उत्कृष्ट ५० कोश मात्र है ।९०। पल्योपमप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तरदेव अवधिज्ञानसे नीचे व ऊपर एक लाख योजन प्रमाण देखते हैं ।९१। दश हजार प्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव एक सौ मनुष्योंको मारने व पालनेके लिए समर्थ है ।९२। वह देव एक सौ पचास धनुषप्रमाण विस्तार व बाहल्यसे युक्त क्षेत्रको अपनी शक्तिसे उखाड़कर अन्यत्र फेंक सकता है ।९३। एक पल्यप्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव अपनी भुजाओंसे छह खण्डोंको उलट सकता है और उनमें स्थित लोगोंको मारने व पालनेके लिए भी समर्थ है ।९४। दश हजार वर्ष मात्र आयुका धारक व्यंतर देव उत्कृष्टरूपसे सौ रूपोंकी और जघन्य रूपसे सात रूपोंकी विक्रिया करता है। मध्यमरूपसे वह देव सातसे ऊपर और सौ से नीचे विविध रूपोंकी विक्रिया करता है ।९५। बाकीके व्यन्तर देवोंमेंसे प्रत्येक देव अपने-अपने अवधिज्ञानोंका जितना क्षेत्र है

उतने मात्र क्षेत्रको विक्रिया बलसे पूर्ण करते हैं ।६६। संख्यात वर्ष-प्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देव एक समयमें संख्यात योजन और असंख्यात वर्षप्रमाण आयुसे युक्त असंख्यात योजन जाता है ।६७।

५. व्यन्तरदेव मनुष्योंके शरीरोंमें प्रवेश करके उन्हें विकृत कर सकते हैं

भ. आ./मू./१९७५/१७४१ जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई । आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ।१९७७। —यदि यह विधि न की जावेगी अर्थात् क्षपकके मृत शरीरके अंग बाँधे या छेदे नहीं जायेंगे तो मृत शरीरमें क्रीडा करनेका स्वभाव-वाला कोई देवता (भूत अथवा पिशाच) उसमें प्रवेश करेगा । उस प्रेतको लेकर वह उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा ।१९७७।

स्या. मं/११/१३५/१० यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभंगज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम् ।—बहुत-से पितर पुत्रोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर जो गया आदि तीर्थस्थानोंमें श्राद्ध करनेके लिए कहते हैं, वे भी कोई ठगनेवाले विभंगज्ञानके धारक व्यन्तर आदि नीच जातिके देव ही हुआ करते हैं।

६. व्यंतरोंके शरीरोंके वर्ण व चैत्य वृक्ष

ति. प./६/गा. नं. (त्रि. सा./२५२-२५३)

नाम गा. २५	वर्ण गा. ५५-५६	वृक्ष गा. २८	नाम गा. २५	वर्ण गा. ५७-५८	वृक्ष गा. २८
किन्नर	प्रियंगु	अशोक	यक्ष	श्याम	न्यग्रोध
किम्पुरुष	सुवर्ण	चम्पक	राक्षस	श्याम	कण्टक वृक्ष
महोरग	श्याम	नागद्रुम	भूत	श्याम	तुलसी
गन्धर्व	सुवर्ण	तुम्बुर	पिशाच	कज्जल	कदंब

२. व्यंतर इन्द्र निर्देश

१. व्यन्तरोंके इन्द्रोंके नाम व संख्या

ति. प./६/गा. ताणं किंपुरुसा किंणरा दुवे इंदा ।३५। इय किंपुरिसा-णिंदा सप्पुरुसो ताण सह महापुरिसो ।३७। महोरगया । महाकाओ अतिकाओ इंदा ।३९। गंधव्वा । गीदरदी गीदरसा इंदा ।४१। ताणं वे माणिपुण्णभद्दिंदा ।४३। रक्खसइंदा भीमो महाभीमो ।४५। भूदिंदा सरूवो पडिरूवो ।४७। पिसाचइंदा य कालमहाकाला ।४९। सोलस-मोम्हिंदाणं किणरपहुदि ज होंति ।५०। पढमुच्चारिदणामा दक्खिणइंदा हवंति एदेसुं । चरिद उच्चारिदणामा उत्तरइंदा पभावजुदा ।५१। (त्रि. सा./२७३-२७४) ।

देवका नाम	दक्षिणेंद्र	उत्तरेंद्र	देवका नाम	दक्षिणेंद्र	उत्तरेंद्र
किन्नर	किंपुरुष	किम्नर	यक्ष	मणिभद्र	पूर्णभद्र
किंपुरुष	सत्पुरुष	महापुरुष	राक्षस	भीम	महाभीम
महोरग	महाकाय	अतिकाय	भूत	स्वरूप	प्रतिरूप
गंधर्व	गीतरति	गीतरस	पिशाच	काल	महाकाल

इस प्रकार किन्नर आदि सोलह व्यन्तर इन्द्र हैं ।५०।

२. व्यंतरेन्द्रोंका परिवार

ति. प./६/६८ पडिइंदा सामणिय तणुरक्खा होंति तिण्णि परिसाओ । सत्ताणीय-पइण्णा अभियोगं ताण पत्तेयं ।६८। —उन उपरोक्त इन्द्रोंमें-से प्रत्येकके प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्ष, तीनों पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक और आभियोग्य इस प्रकार ये ८ परिवार देव होते हैं (और भी दे० ज्योतिष/१/५) ।

दे० व्यंतर/३/१ (प्रत्येक इन्द्रके चार-चार देवियाँ और दो-दो महत्त-रिकाएँ होती हैं।)

प्रत्येक इन्द्रके अन्य परिवार देवोंका प्रमाण —
(ति. प./६/६९-७६); (त्रि. सा./२७९-२८२) ।

नं०	परिवार देवका नाम	गणना	नं०	परिवार देवका नाम	गणना
१	प्रतीन्द्र	१	८	प्रत्येक अनीककी प्रथम कक्षा	२८०००
२	सामानिक	४०००	९	द्वि० आदि कक्षा	दूनी दूनी
३	आत्मरक्ष	१६०००	१०	हाथी (कुल)	३५५६०००
४	अभ्यंतर पारि०	८०००	११	सातों अनीक	२४८९२०००
५	मध्य पारि०	१०,०००	१२	प्रकीर्णक	असंख्य
६	बाह्य पारि०	१२,०००		आभियोग्य व किल्बिष	,, (त्रि.सा. ,,
७	अनीक	७			

३. व्यंतरोंकी देवियोंका निर्देश

२. १६ इन्द्रोंकी देवियोंके नाम व संख्या

(ति. प./६/३५-५४); (त्रि. सा./२५८-२७८) ।

नं०	इन्द्रका नाम	गणिका नं० १	गणिका नं० २	वल्लभिका नं० १	वल्लभिका नं० २
१	किंपुरुष	मधुरा	मधुरालापा	अवतंसा	केतुमती
२	किन्नर	सुस्वरा	मृदुभाषिणी	रतिसेना	रतिप्रिया
३	सत्पुरुष	पुरुषाकांता	सौम्या	रोहिणी	नवमी
४	महापुरुष	पुरुषदर्शिनी	भोगा	ह्री	पुष्पवती
५	महाकाय	भोगवती	भुजगा	भोगा	भोगवती
६	अतिकाय	भुजगप्रिया	विमला	आनन्दिता	पुष्पगंधी
७	गीतरति	सुघोषा	अनिन्दिता	सरस्वती	स्वरसेना
८	गीतरस	सुस्वरा	सुभद्रा	नन्दिनी	प्रियदर्शना
९	मणिभद्र	भद्रा	मालिनी	कुन्दा	बहुपुत्रा
१०	पूर्णभद्र	पद्ममालिनी	सर्वश्री	तारा	उत्तमा
११	भीम	सर्वसेना	रुद्रा	पद्मा	वसुमित्रा
१२	महाभीम	रुद्रवती	भूता	रत्नाढ्या	कंचनप्रभा
१३	स्वरूप	भूतकान्ता	महाबाहु	रूपवती	बहुरूपा
१४	प्रतिरूप	भूतरक्ता	अम्बा	सुमुखी	सुसीमा
१५	काल	कला	रसा	कमला	कमलप्रभा
१६	महाकाल	सुरसा	सदर्शनिका	उत्पला	सुदर्शना

३ श्री ह्री आदि देवियोंका परिवार

ति. प./४/गा. का भावार्थ—हिमवान आदि ६ कुलधर पर्वतोंके पद्म आदि ६ ह्रदोंमें श्री आदि ६ व्यंतर देवियाँ सपरिवार रहती है। तहाँ श्री देवीके सामानिक देव ४००० (गा. १६७४); त्रायस्त्रिंश १०८ (गा. १६८६); अभ्यंतर पारिषद ३२००० (गा. १६७८); मध्यम पारिषद ४०,००० (गा. १६७६) बाह्य पारिषद ४८००० (गा. १६८०), आत्मरक्ष १६००० (गा. १६७६); सप्त अनीकमें प्रत्येक की सात-सात कक्षा हैं। प्रथम कक्षामें ४००० तथा द्वितीय आदि उत्तरोत्तर दूने-दूने हैं। (गा. १६८३)। ह्री देवीका परिवार श्रीके परिवारसे दूना है (गा. १७२६)। [धृतिका ह्रीसे भी दुना है।] कीर्तिका धृतिके समान है। (गा. २३३३) बुद्धिका कीर्तिसे आधा अर्थात् ह्रीके समान। (गा. २३४५) और लक्ष्मीका श्रीके समान है (गा. २३६१)।—(विशेष दे० लोक/३/६)।

४. व्यंतर लोक निर्देश

१. व्यंतर लोक सामान्य परिचय

ति. प./६/५ रज्जुकदी गुणिदव्वा णवणउदिसहस्स अधियलक्खेण। तम्मज्झे तिवियप्पा वेंतरदेवाण होंति पुरा।५। =राजुके वर्गको १९९००० से गुणा करनेपर जो प्राप्त हो उसके मध्यमें तीन प्रकारके पुर होते हैं।५।

त्रि. सा./२९५ चित्तवइरादु जावय मेरुदयं तिरिय लोयविरथारं। भोम्मा हवंति भवणे भवणपुरावासगे जोग्गे।२९६। = चित्रा और वज्रा पृथिवीकी मध्यसंधिसे लगाकर मेरु पर्वतकी ऊँचाई तक, तथा तिर्यक् लोकके बिस्तार प्रमाण लम्बे चौडे क्षेत्रमें व्यंतर देव भवन भवनपुर और आवासोंमें वास करते है।२९६।

का. अ./मू./१४५ खरभाय पंकभाए भावणदेवाण होंति भवणाणि। वितरदेवाण तहा दुण्हं पि य तिरियलोयम्मि।१४५। =खरभाग और पंकभागमें भवनवासी देवोंके भवन है और व्यंतरोके भी निवास हैं। तथा इन दोनोंके तिर्यंकलोकमें भी निवास स्थान हैं।।१४५। [पंकभाग—८४००० यो.; खरभाग—१६००० यो.; मेरुकी पृथिवीपर ऊँचाई—९९००० यो.। तीनोंका योग—१९९००० यो.। तिर्यक् लोकका बिस्तार १ राजु²। कुल घनक्षेत्र—१ राजु²×१९९००० यो.]।

२. निवासस्थानोंके भेद व लक्षण

ति. प./६/६-७ भवणं भवणपुराणि आवासा इय भवंति तिवियप्पा।… ।६। रयणप्पहपुढवीए भवणाणि दीउवहिउवरिम्मि। भवणपुराणि वहगिरि पहुदीणं उवरि आवासा।७। =(व्यंतरोंके) भवन, भवनपुर व आवास तीन प्रकारके निवास कहे गये हैं।६। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीमें अर्थात खर व पंक भागमें भवन, द्वीप व समुद्रोंके ऊपर भवनपुर तथा ह्रह एवं पर्वतादिके ऊपर आवास होते हैं। (त्रि. सा./२९४-२९५)।

म. पु./३१/११३ वटस्थानवटस्थांश्च कूटस्थान् कोटरोटजान्। अक्षपाटान् क्षपाटांश्च विद्धि न. सार्व सर्वगान् ।११३।—हे सार्व (भरतेश)! बटके वृक्षोंपर, छोटे-छोटे गड्ढोंमें, पहाड़ोंके शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलों और पत्तोंकी झोंपड़ियोंमें रहनेवाले तथा दिन रात भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जानेवाले समझिए।

३. व्यंतरोंके भवनों व नगरों आदिकी संख्या

ति. प./६/गा. एवंविहरूवाणि तीस सहस्साणि भवणाणि।२०। चोद्दस-सहस्समेत्ता भवणा भूदाण रक्खसाणं पि। सोलससहस्ससंखा सेसाणं णत्थि भवणाणि।२६। जोयणसदत्तियकदीभजिदे पदरस्स संखभागम्मि। जं लद्ध तं माण वेंतरलोए जिणपुराणं। =१. इस प्रकारके रूपवाले ये प्रासाद तीस हजार प्रमाण हैं।२०। तहाँ (खरभागमें) भूतोंके १४००० प्रमाण और (पंकभागमें) राक्षसोंके १६००० प्रमाण भवन हैं।२६। (ह. पु./४/६२); (त्रि. सा./२९०); (जं. प./११/१३६)। २. जगत्प्रतरके संख्यातभागमें ३०० योजनके वर्गका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उतना व्यन्तरलोकमें जिनपुरोंका प्रमाण है।१०२।

४. भवनों व नगरों आदिका स्वरूप

ति. प./६/गा. का भावार्थ। १. भवनोंके बहुमध्य भागमें चार वन और तोरण द्वारों सहित कूट होते है।११। जिनके ऊपर जिनमन्दिर स्थित हैं।१२। इन कूटोंके चारों ओर सात आठ मंजिले प्रासाद होते है। ।१८। इन प्रासादोंका सम्पूर्ण वर्णन भवनवासी देवोंके भवनोंके समान है।२०। (विशेष दे० भवन/४/५); त्रि. सा./२९९)। २. आठों व्यंतरदेवोंके **नगर** क्रमसे अंजनक वज्रधातुक, सुवर्ण, मन:शिलक, वज्र, रजत, हिंगुलक और हरिताल इन आठ द्वीपोंमें स्थित हैं।६०। द्वीपकी पूर्वादि दिशाओंमें पाँचपाँच नगर होते हैं, जो उन देवोंके नामोंसे अंकित है। जैसे किन्नरप्रभ, किन्नरकान्त, किन्नरावर्त, किन्नरमध्य।६१। जम्बूद्वीपके समान इन द्वीपोंमें दक्षिण इन्द्र दक्षिण भागमें और उत्तर इन्द्र उत्तर भागमें निवास करते हैं।६२। सम चौकोण रूपसे स्थित उन पुरोंके सुवर्णमय कोट विजय देवके नगरके कोटके (दे० अगला सन्दर्भ) चतुर्थ भागप्रमाण है।६३। उन नगरोंके बाहर पूर्वादि चारों दिशाओंमें अशोक, सप्तच्छद, चम्पक तथा आम्रवृक्षोंके बन हैं।६४। वे बन १०००,०० योजन लम्बे और ५०,००० योजन चौड़े हैं।६५। उन नगरोंमें दिव्य प्रासाद हैं।६६। [प्रासादोंका वर्णन ऊपर भवन व भवनपुरके वर्णनमें किया है।] (त्रि. सा./२८३-२८९)।

ह. पु./५/ श्लोकका भावार्थ—विजयदेवका उपरोक्त नगर १२ योजन चौडा है। चारों ओर चार तोरण द्वार हैं। एक कोटसे वेष्टित है। ।३९७-३९९। इस कोटकी प्रत्येक दिशामें २५-२५ गोपुर हैं।४००। जिनकी १७-१७ मंजिल हैं।४०२। उनके मध्य देवोंकी उत्पत्तिका स्थान है जिसके चारों ओर एक वेदिका है।४०३-४०४। नगरके मध्य गोपुरके समान एक विशाल भवन है।४०५। उसकी चारों दिशाओंमें अन्य भी अनेक भवन हैं।४०६। (इस पहले मण्डलकी भाँति इसके चारों तरफ एकके पश्चात् एक अन्य भी पाँच मण्डल हैं)। सभीमें प्रथम मंडलकी भाँति ही भवनोंकी रचना है। पहले, तीसरे व पाँचवें मण्डलोंके भवनोंका बिस्तार उत्तरोत्तर आधा-आधा है। दूसरे, चौथे व छठे मण्डलोंके भवनोंका विस्तार क्रमश: पहले, तीसरे व पाँचवेंके समान है।४०७-४०९। बीचके भवनमें विजयदेवका सिंहासन है।४११। जिसकी दिशाओं और विदिशाओंमें उसके सामानिक आदि देवोंके सिंहासन हैं।४१२-४१५। भवनके उत्तरमें सुधर्मा सभा है।४१७। उस सभाके उत्तरमें एक जिनालय है, पश्चिमोत्तरमें उपपार्श्व सभा है। इन दोनोंका बिस्तार सुधर्मा सभाके समान है। ।४१८-४१९। विजयदेवके नगरमें सब मिलकर ५४६७ भवन हैं।४२०।

ति. प./४/२४५०-२४५२ का भावार्थ—लवण समुद्रकी अभ्यंतर वेदीके ऊपर तथा उसके बहुमध्य भागमें ७०० योजन ऊपर जाकर आकाशमें क्रमसे ४२००० व २८००० नगरियाँ हैं।

५. मध्यलोकमें व्यन्तरों व भवनवासियोंके निवास

ति॰ प॰/४/गा. नं०

ति. प./ ४/गा.	स्थान	देव	भवनादि
२५	जम्बूद्वीपकी जगतीका अभ्यन्तर भाग	महोरग	भवन
७७	उपरोक्त जगतीका बिजय द्वारके ऊपर आकाशमें	विजय	नगर
८६	उपरोक्त ही अन्य द्वारोंपर	अन्य देव	नगर
१४०	बिजायार्धके दोनों पार्श्व	आभियोग्य	श्रेणी
१४३	उपरोक्त श्रेणीका दक्षिणोत्तर भाग	सौधर्मेंद्रके वाहन	,,
१६४	विजयार्धके ८ कूट	व्यंतर	भवन
२७५	वृषभगिरिके ऊपर	वृषभ	भवन
१६५४	हिमवान् पर्वतके १० कूट	सौधर्मेन्द्रके परिवार	नगर
१६६३	पद्म ह्रदके कूट	व्यंतर	नगर
१३६५	पद्म ह्रदके जलमें स्थित कूट	व्यंतर	नगर
१६७२–१६८८	पद्म ह्रदके कमल	सपरिवार श्री देवी	भवन
१७१२	हैमवत क्षेत्रका शब्दवान् पर्वत	शाली	,,
१७२६	महाहिमवान् पर्वतके ७ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर
१७३३	महा पद्म ह्रदके बाह्य ५ कूट	व्यंतर	नगर
१७४५	हरि क्षेत्रमें विजयवान् नाभिगिरि	चारण	भवन
१७६०	निषध पर्वतके आठ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर
१७६८	निषध पर्वतके तिगिंछ ह्रदके बाह्य ५ कूट	व्यंतर	नगर
१८३६–१८३९	सुमेरु पर्वतका पाण्डुक बनकी पूर्व दिशामें	लोकपाल सोम	भवन
१८४३	उपरोक्त बनकी दक्षिण दिशा	यम	,,
१८४७	,, ,, ,, पश्चिम ,,	वरुण	,,
१८५१	,, ,, ,, उत्तर ,,	कुबेर	,,
१९१७	,, ,, ,, की बापियोंके चहुँ ओर	देव	भवन
१९४३–१९४५	सुमेरु पर्वतके सौमनस बनकी चारों दिशाओंमें	उपरोक्त ४ लोकपाल	पुर
१९८४	उपरोक्त बनका बलभद्र कूट	बलभद्र	पुर
१९९४	सुमेरु पर्वतके नन्दन बनकी चारों दिशाओंमें	उपरोक्त ४ लोकपाल	भवन
१९९८	उपरोक्त बनका बलभद्र कूट	बलभद्र	,,
२०४२–२०४४	सौमनस गजदन्तके ६ कूट	कूटोंके नाम-वाले देव	,,
२०५३	विद्युत्प्रभ गजदन्तके ६ कूट	,,	,,
२०५८	गन्धमादन गजदन्तके ६ कूट	,,	,,
२०६१	माल्यवान ,, ,, ८ कूट	,,	,,
२०८४	देवकुरुके २ यमक पर्वत	पर्वतके नाम	,,
२०९२	देवकुरुके १० द्रहोंके कमल	द्रहोंके नामवाले	,,
२०९९	देवकुरुके कांचन पर्वत	कांचन	,,
२१०५–२१०८	,, ,, दिग्गज पर्वत	यम (वाहनदेव)	,,
२११३	देवकुरुके दिग्गज पर्वत	वरुण(वाहनदेव)	भवन
२१२४	उत्तर कुरुके २ यमक ,,	पर्वतके नाम वाले देव	,,
२१३१–२१३५	उत्तरकुरुके दिग्गजेन्द्र पर्वत	वाहनदेव	,,
२१५८–२१९०	देवकुरुमें शाल्मली वृक्ष व उसका परिवार	सपरिवार वेणु युगल	,,
२१९७	उत्तरकुरुमें सपरिवार जंबू वृक्ष	सपरिवार आदर-अनादर	,,
२२६१	विदेहके कच्छा देशके विजयार्ध के आठ कूट	वाहनदेव	,,
२२९५–२३०३	[इसी प्रकार शेष ३१ विजयार्ध]	,,	,,
२३०६–२३११	विदेहके आठ वक्षारोंके तीन-तीन कूट	व्यंतर	नगर
२३१५–२३२४	पूर्व व अपर विदेहके मध्य व पूर्व पश्चिममें स्थित देवारण्यक	सौधर्मेन्द्रका परिवार	भवन
२३२६	व भूतारण्यक वन	,,	,,
२३३०	नील पर्वतके आठ कूट	कूटोंके नामवाले	,,
२३३६	रम्यक क्षेत्रका नाभिगिरि	,,	,,
२३४३	रुक्मि पर्वतके ७ कूट	,,	,,
२३५१	हैरण्यवत क्षेत्रका नाभिगिरि	प्रभास	,,
२३५६	शिखरी पर्वतके १० कूट	कूटोंके नामवाले	,,
२३६५	ऐरावत क्षेत्रके विजयार्ध, वृषभ-गिरि आदि पर	(भरत क्षेत्रवत)	,,
२४४६–२४५४	लवण समुद्रके ऊपर आकाशमें स्थित ४२००० व २८००० नगर	वेलंधर व भुजग	नगर
२४५६	उपरोक्त ही अन्य नगर	देव	,,
२४६३	लवणसमुद्रमें स्थित आठ पर्वत	वेलंधर	,,
२४७३–२४७६	लवणसमुद्रमें स्थित मागध व प्रभास द्वीप	मागध प्रभास	भवन ,,
२५३९	धातकी खण्डके २ इष्वाकार पर्वतोंके तीन-तीन कूट	व्यंतर	,,
२७१६	जम्बूद्वीपवत् सर्व पर्वत आदि	,,	,,
२७७५	मानुषोत्तर पर्वतके १८ कूट	,,	,,
ति. प./५/ गा.			
७६–८१	नन्दीश्वर द्वीपके ६४ वनोंमेंसे प्रत्येकमें एक-एक भवन	व्यंतर	भवन
१२५	कुण्डलगिरिके १६ कूट	कूटोंके नामवाले	नगर
१३८	कुण्डल गिरिकी चारों दिशाओं-में ४ कूट	कुण्डलद्वीपके अधिपति	,,
१७०	रुचकवर पर्वतकी चारों दिशाओंमें चार कूट	चार दिग्गजेन्द्र	आवास
१८०	असंख्यात द्वीप समुद्र जाकर द्वितीय जम्बूद्वीप	विजय आदि देव	नगर
२०१	पूर्व दिशाके नगरके प्रासाद	विजय	भवन
२३६	,,	अशोक	,,
२३७	दक्षिणादि दिशाओंमें	वैजयंतादि	नगर
ति. प./५/ ५०	सब द्वीप समुद्रोंके उपरिम भाग	उन उनके स्वामी	नगर

६. मध्यलोकमें व्यंतर देवियोंका निवास

ति. प./४/ गा.	स्थान	देवी	भवनादि
२०४	गंगा नदीके निर्गमन स्थानकी समभूमि	दिक्कुमारियाँ	भवन
२०६	गंगा नदीमें स्थित कमलाकार कूट	बला	,,
२५१	जम्बूद्वीपकी जगतीमें गंगा नदी के बिलद्वारपर	दिक्कुमारी	,,
२५८	सिन्धु नदीके मध्य कमलाकार कूट	अबना या लबणा	,,
२६२	हिमवान्‌के मूलमें सिन्धुकूट	सिन्धु	,,
१६५१	हिमवान् पर्वतके ११ में से ६ कूट	कूटके नामवाली	,,
१६७२	पद्म ह्रदके मध्य कमलपर	श्री	,,
१७२८	महा पद्म ह्रदके ,, ,, ,,	ह्री	,,
१७६२	तिगिंछ ,, ,, ,, ,, ,,	धृति	,,
१६७६	सुमेरु पर्वतके सौमनस बनकी चारों दिशाओंमें ८ कूट	मेघंकरा आदि ८	निवास
२०४१	सौमनस गजदन्तका कांचन कूट	सुवत्सा	,,
२०४३	सौमनस गजदन्त विमलकूट	श्रीवत्समित्रा	निवास
२०५४	विद्युत्प्रभ गजदन्तका स्वस्तिक कूट	बला	,,
,,	,, ,, का कनककूट	वारिषेणा	,,
२०५६	गन्धमादन गजदन्तपर लोहितकूट	भोगवती	,,
,,	,, ,, स्फटिक कूट	भोगंकृति	,,
२०६२	माल्यवान् गजदन्तपर सागरकूट	भोगवती	,,
,,	,, ,, रजतकूट	भोगमालिनी	,,
२१७३	शाल्मलीवृक्ष स्थलकी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	वेणु युगलकी देवियाँ	,,
२१६६	जम्बूवृक्ष स्थलकी भी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	आदर युगलकी देवियाँ	,,
जं. प./६/ ३१-४३	देवकुरु व उत्तरकुरुके १० द्रहोंके कमलोंपर	सपरिवार नील-कुमारी आदि	भवन
ति. प./५/ १४४-१७२	रुचकवर पर्वतके ४४ कूट	दिक्कन्याएँ	,,

७. द्वीप समुद्रोंके अधिपति देव

(ति. प./५/३८-४६); (ह. पु./५/६३७-६४६); (त्रि. सा./६६१-६६५)

संकेत—द्वी—द्वीप; सा—सागर; ← =जो नाम इस ओर लिखा है वही यहाँ भी है।

द्वीप या समुद्र	ति. प./४/३८-४६		ह. पु./५/६३७-६४६		त्रि. सा./६६१-६६५	
	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर
जंबू द्वी०	आदर	अनादर	अनावृत		←	—
लवण सा.	प्रभास	प्रियदर्शन	सुस्थित		←	—
धातकी	प्रिय	दर्शन	प्रभास	प्रियदर्शन	←	←
कालोद	काल	महाकाल	←	←	←	←
पुष्करार्ध	पद्म	पुण्डरीक	←	←	पद्म	पुण्डरीक
मानुषोत्तर	चक्षु	सुचक्षु	←	←	←	←
पुष्करार्ध	×	×	×	×	चक्षुष्मान्	सुचक्षु
पुष्कर सा०	श्रीप्रभु	श्रीधर	←	←	←	←
वारुणीवर द्वी०	वरुण	वरुणप्रभ	←	←	←	←
,, सा०	मध्य	मध्यम	←	←	←	←
क्षीरवर द्वी०	पाण्डुर	पुष्पदन्त	←	←	←	←
,, सा०	विमल प्रभ	विमल	विमल	विमलप्रभ	←	←
घृतवर द्वी०	सुप्रभ	घृतवर	सुप्रभ	महाप्रभ	←	←
,, सा०	उत्तर	महाप्रभ	कनक	कनकाभ	कनक	कनकप्रभ
क्षौद्रवर द्वी०	कनक	कनकाभ	पूर्ण	पूर्णप्रभ	पुण्य	पुण्यप्रभ
,, सा०	पूर्ण	पूर्णभद्र	गन्ध	महागन्ध	←	←
नंदीश्वर द्वी०	गन्ध	महागन्ध	नन्दी	नन्दीप्रभ	←	←
,, सा०	नन्दि	नन्दिप्रभु	भद्र	सुभद्र	←	←
अरुणवर द्वी०	चन्द्र	सुभद्र	अरुण	अरुणप्रभ	←	←
,, सा०	अरुण	अरुणप्रभ	सुगन्ध	सर्वगन्ध	←	←
अरुणाभास द्वी०	सुगन्ध	सर्वगन्ध	×	×	×	×
अन्य—	→ कथन नहीं है ←					

८. भवनों आदिका विस्तार

१. सामान्य प्ररूपणा

ति. प./६/गा. का भावार्थ—१. उत्कृष्ट भवनोंका विस्तार और बाहल्य क्रमसे १२००० व ३०० योजन है। जघन्य भवनोंका २५ व १ योजन अथवा १ कोश है।८-१०। उत्कृष्ट भवनपुरोंका ५१०००,०० योजन और जघन्यका १ योजन है।११। [त्रि. सा./३०० में उत्कृष्ट भवनपुरका विस्तार १०००,०० योजन बताया है।] उत्कृष्ट आवास १२२०० योजन और जघन्य ३ कोश प्रमाण विस्तारवाले हैं। (त्रि. सा./२९८-३००) । [नोट—ऊँचाई सर्वत्र लम्बाई व चौड़ाईके मध्यवर्ती जानना, जैसे १०० यो. लम्बा और ५० यो. चौड़ा हो तो ऊँचा ७५ यो. होगा। कूटाकार प्रासादोंका विस्तार मूलमें ३, मध्यमें २ और ऊपर १ होता है। ऊँचाई मध्य विस्तारके समान होती है।

२. विशेष प्ररूपणा

ति. प./४/गा.	स्थान	भवनादि	ज. उ.म.	आकार	लम्बाई	चौड़ाई	ऊँचाई
२५–२८	जंबूद्वीपकी जगतीपर	भवन	ज.	चौकोर	१०० ध.	५० ध.	७५ ध.
३०	जगतीपर	,,	उ.	,,	३०० ध.	१५० ध.	२२५ ध.
३२		,,	म.	,,	२०० ध.	१०० ध.	१५० ध.
७४	विजय द्वार	पुर		,,	×	२ यो.	४ यो.
७७		नगर		,,	१२००० यो०	६००० यो.	
१६६	विजयार्ध	प्रासाद		,,	१ को.	१/२ को.	३/४ को.
२२५	गंगाकुण्ड	,,		कूटाकार	×	३००० ध.	२००० ध.
१६५३	हिमवान्	भवन		चौकोर	×	३१$\frac{1}{4}$ यो.	६२$\frac{1}{2}$ यो.
१६७१	पद्म ह्रद	,,		,,	१ को.	१/२ को.	३/४ को.
१७२६	अन्य ह्रद	भवन		,,	→ पद्म ह्रदसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१७५६	महाहिमवान आदि	भवन		,,	→ हिमवानसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१८३६–३७	पांडुकवन	प्रासाद		,,	३० को.	१५ को	१ को.
१९४४	सौमनस	पुर		,,	→ पांडुकवनवालेसे दुगुने ←		
१९९५	नन्दन	भवन		,,	→सौमनस वालेसे दुगुने←		
२०८०	यमकगिरि	प्रासाद		,,	×	१२५ को.	२५० को.
२१०७	दिग्गजेंद्र	,,		,,	१२५ को.	६२$\frac{1}{2}$ को.	९३$\frac{3}{4}$ को.
२१६२	शाल्मली वृक्ष	,,		,,	१ को.	१/२ को.	३/४ को.
२१८५	,, स्थल	,,		,,	,,	,,	,,
२५४०	इष्वाकार	भवन		,,	→ निषध पर्वतवत् ←		
८०	नंदीश्वरके वनोंमें	प्रासाद		,,	३१ यो.	३१ यो.	६२ यो.
१४७	रुचकवर द्वी.	भवन			→ गौतमदेवके भवनके समान ←		
१८१	त्रि. जम्बूद्वीप विजयार्धके	नगर		,,	१२००० यो.	(६००० यो.)	×
१८५	उपरोक्त नगरके	भवन		,,	६२ यो.	३१ यो.	
१८६	उपरोक्त नगरके मध्यमें	प्रासाद		,,	×	१२५ यो.	२५० यो.
१९५	उपरोक्त नगरके प्रथम दो मंडल	,,		,,	→ मध्य प्रासादवत् ←		
१९५	तृ० चतु० मंडल	,,		,,	→ मध्य प्रासादसे आधा ←		
२३२–२३३	चैत्य वृक्षके बाहर	,,		,,	×	३१$\frac{1}{4}$ यो.	६२$\frac{1}{2}$ यो.
ति. प./६/गा. ७६	व्यंतरोंकी गणिकाओंके	नगर		,,	८४००० यो.	८४००० यो.	×

व्यकलन—घटाना या Substraction.—(दे० गणित/II/१/१०)।

व्यक्त राग—दे० राग/२।

व्यक्ति—

न्या० सू./२/२/६४ व्यक्तिगुणविशेषाश्रयो मूर्तिः।६४। न्या. सू./भा./१/२/६/५४५/११ व्यक्तिरात्मलाभः।—१. इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य विशेषगुणोंकी आश्रयरूप मूर्त्ति व्यक्ति है। २. अथवा स्वरूपके लाभको व्यक्ति कहते हैं।

न्या. वि./वृ./१/११५/४२६/१६ व्यक्तिश्च दृश्यमानं रूपं 'व्यज्यत इति व्यक्तिः' इति व्युत्पत्तेः। —जो व्यक्त होता है उसे व्यक्ति कहते हैं ऐसी व्युत्पत्ति होनेके कारण दृश्यमान रूप व्यक्ति है।

न्या. वि./वृ./१/३४/२५७/१४ अनभिव्यक्तिः अप्रतिपत्तिः । —अप्रतिपत्ति अर्थात् वस्तुके स्वरूपका ज्ञान न होना अनभिव्यक्ति है।

व्यतिकर—

स्या. मं/२४/२९२/११ येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः । —पदार्थ, जिस स्वभावसे सामान्य है उसी स्वभावसे विशेष है और जिस स्वभावसे विशेष है उसीसे सामान्य है अनेकान्तवादमें यह बात दर्शाकर नैयायिक लोग इस सिद्धान्तमें व्यतिकर दोष उठाते हैं।

स. भ. त./८२/८ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः । —जिस अवच्छेदक स्वभावसे अस्तित्व है उससे नास्तित्व क्यों न बन बैठे और जिस स्वभावसे नास्तित्व नियत किया है उससे अस्तित्व व्यवस्थित हो जाय। इस प्रकार परस्परमें व्यवस्थापक धर्मोंका विषयगमन करनेमें अनेकान्त पक्षमें व्यतिकर दोष आता है; ऐसा नैयायिक कहते हैं।

व्यतिक्रम—सामायिक पाठ। अमितगति/९ व्यतिक्रमं शीलव्रतैर्विलङ्घनम्। —शील व्रतोंका उल्लंघन करना व्यतिक्रम है।

व्यतिरेक—

रा. वा./४/४२/११/२५२/१६ अथ के व्यतिरेकाः। वाग्विज्ञानव्यावृत्तिलिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षणा उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धिक्षयविनाशधर्मिणः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्यासम्यक्त्वादयः। —व्यावृत्ताकार अर्थात् भेद द्योतक बुद्धि और शब्दप्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, ह्रास, क्षय, विनाश, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।

प. मु./४/९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्। —भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले विलक्षण परिणामको व्यतिरेक विशेष कहते हैं, जैसे गौ और भैंस।

दे० अन्वय—(अन्वय व व्यतिरेक शब्दसे सर्वत्र विधि निषेध जाना जाता है।)

२. व्यतिरेकके भेद

पं. ध./पू./भाषाकार/१४६ द्रव्यक्षेत्र काल व भावसे व्यतिरेक चार प्रकारका होता है।—विशेष दे० सप्तभंगी।

३. द्रव्यके धर्मों या गुणोंमें परस्पर व्यतिरेक नहीं है

पं. ध./पू./श्लो. ननु च व्यतिरेकत्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि। तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ।१४५। तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा। व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ।१४६। भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः। सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः ।१५०। तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च। जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् एव तावांश्च ।१५५। —प्रश्न—स्वतः सत् रूप गुणोंमें सत् सत् यह अन्वय बराबर रहते हुए भी, उनमें परस्पर अनेकताकी प्रसिद्धि होनेपर उनमें भावव्यतिरेक हेतुक व्यतिरेकत्व होना चाहिए। ।१४५। उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वयका और व्यतिरेकका परस्परमें भेद है। जैसे—नियमसे व्यतिरेकी अनेक होते हैं और अन्वयी गुण एक होता है ।१४६। [भाव व्यतिरेक भी गुणोंमें परस्पर नहीं होता है, बल्कि] जो कोई एक गुणका अविभागी प्रतिच्छेद है, वह वह ही होता है, अन्य नहीं हो सकता, और वह दूसरा भी वह पहिला नहीं हो सकता, किन्तु जो उससे भिन्न है वह उससे भिन्न ही रहता है ।१५०। उसका लक्षण और गुणोंमें भावव्यतिरेकका अभाव इस प्रकार है, जैसे कि जो ही और जितना ही जीव ज्ञान है वही तथा उतना ही जीव एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे दर्शन भी है ।१५५।

* **पर्याय व्यतिरेकी होती है**—दे. पर्याय/२।

* **अन्वय व्यतिरेकमें साध्यसाधक भाव**—दे. सप्तभंगी/५/५।

व्यतिरेक व्याप्त अनुमान—दे. अनुमान।

व्यतिरेकी दृष्टांत—दे. दृष्टांत।

व्यतिरेकी हेतु—दे. हेतु।

व्यधिकरण—किसी एक धर्मीमें एक धर्म रहता है और अन्य कोई धर्म नहीं रहता। तब वह अभावभूत धर्म उस पहले धर्मका व्यधिकरण कहलाता है। जैसे पटत्व धर्म घटत्वका व्यधिकरण है।

व्यभिचार—

रा. वा./१/१२/१/५३/५ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं व्यभिचारः। —अतत्को तत् रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है।

१. व्यभिचारी हेत्वाभास सामान्यका लक्षण

पं. मु./६/३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।३०। —जो हेतु पक्ष, विपक्ष व सपक्ष तीनोंमें रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं।

न्या. दी./३/§४०/८६/११ सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः (न्या. सू./मू./१/२/५) यथा—'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इति। प्रमेयत्वं हि हेतुः साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे नित्यत्वेनापि सह वृत्तेः। ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिकः। पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः। —जो हेतु व्यभिचारी हो सो अनैकान्तिक है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है', यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु अपने साध्य अनित्यत्वका व्यभिचारी है। कारण, आकाशादि विपक्षमें नित्यत्वके साथ भी वह रहता है। अतः विपक्षसे व्यावृत्ति न होनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।४०। जो पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ।६२।

२. व्यभिचारी हेत्वाभासके भेद

न्या. दी./३/§६२/१०१ स द्विविधः—निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च। —वह दो प्रकारका है—निश्चित विपक्षवृत्ति और शंकित विपक्षवृत्ति।

३. निश्चित व शंकित विपक्ष वृत्तिके लक्षण

प. मु./६/३१-३४ निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।३१। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।३२। शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।३३। सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।३४। —जो हेतु विपक्षमें निश्चित रूपसे रहे उसे निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है जैसे घड़ा ।३१-३२। जो हेतु विपक्षमें संशयरूपसे रहे उसे शंकितवृत्ति अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि, वक्ता है।

न्या. दी./३/§६२/१०१ तत्राद्यो यथा धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्र अग्निमत्त्वं पक्षीकृते संदिह्यमानधूमे पुरोवर्तिनि प्रदेशे वर्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च वर्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमतिप्रदेशे वर्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिकः। द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति। अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्तेतापीति शङ्काया अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः। अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहरणम्, अर्हन्सर्वज्ञो न भवितुमर्हति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा-वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः संभाव्येत, वक्तृत्वज्ञातृत्वयोरविरोधात्। यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्तते। न च

वचनज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्टं दृष्टम्। ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे कानुपपत्तिरिति। —१. उनमें पहलेका (निश्चितविपक्षवृत्तिका) उदाहरण यह है—'यह प्रदेश धूमवाला है, क्योंकि वह अग्निवाला है।' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्षभूत संदिग्ध धूमवाले सामनेके प्रदेशमें रहता है, और सपक्ष रसोईघरमें रहता है तथा विपक्ष धूमरहित रूपसे निश्चित रूपसे निश्चित अंगारस्वरूप अग्निवाले प्रदेशमें भी रहता है, ऐसा निश्चय है, अतः वह निश्चित विपक्ष वृत्ति अनैकान्तिक है। २. दूसरेका (शंकित विपक्ष वृत्तिका) उदाहरण यह है—'गर्भस्थ मैत्रीका पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मैत्रीका पुत्र है, दूसरे मैत्रीके पुत्रोंकी तरह' यहाँ 'मैत्रीका पुत्रपना' हेतु गर्भस्थ मैत्रीके पुत्रमें रहता है, सपक्ष दूसरे मैत्रीपुत्रोंमें रहता है, और विपक्ष अश्याम—गोरे पुत्रमें भी रहे इस शंकाकी निवृत्ति न होनेसे अर्थात विपक्षमें भी उसके रहनेकी शंका बनी रहनेसे वह शंकित विपक्षवृत्ति है। ३. शंकित विपक्षवृत्तिका दूसरा भी उदाहरण है—'अर्हंत सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता हैं, जैसे राह चलता पुरुष'। यहाँ 'वक्तापन' हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अर्हंतमें और सपक्षभूत रथ्यापुरुषमें रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञमें भी उसके रहनेकी सम्भावना की जाय, क्योंकि वक्तापन और ज्ञातापनका कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है, वह उसवालेमें नहीं रहता है, और वचन तथा ज्ञानका लोकमें विरोध नहीं है, बल्कि ज्ञानीके ही वचनोंमें चतुराई अथवा सुन्दरता स्पष्ट देखनेमें आती है। अतः विशिष्ट ज्ञानवान सर्वज्ञमें विशिष्ट वक्तापनके होनेमें क्या आपत्ति है? इस तरह वक्तापनकी विपक्षभूत सर्वज्ञमें भी सम्भावना होनेसे वह **शंकित विपक्षवृत्ति** नामका हेत्वाभास है।

★ उपग्रह आदि व्यभिचार—दे. नय/III/६/८।

व्यय—दे. उत्पाद व्यय ध्रौव्य।

व्यवच्छेद—न्या. वि./वृ./१/४६/६ व्यवच्छेदो निरासः। —निराकरण या निवृत्ति करना व्यवच्छेद है।

★ अन्ययोग आदि व्यवच्छेद—दे. एव।

व्यवसाय—

न्या. वि./वृ./१/७/१४०/१७ अवसायोऽधिगमस्तदभावो व्यवसायो विशब्दस्याभावार्थत्वात् विमलादिवत्। —अधिगम अर्थात् ज्ञानको अवसाय कहते हैं। उसका अभाव व्यवसाय है, क्योंकि, 'वि' उपसर्ग अभावार्थक है, जैसे 'विमल' का अर्थ मल रहित है।

प्र. सं./४२/१८१/४ व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः। —व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक।

दे. अवाय—(अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा, और प्रत्यामुंडा ये पर्यायवाची नाम हैं।)

★ कृषि व्यवसायकी उत्तमता—दे. सावद्य/६।

व्यवस्था—रा. वा./५/१/२१/४३५/२ अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसंनिवेशो वेत्रासनाकार इत्यर्थः। —जिस आकृतिके द्वारा पदार्थ ठहराये जाते हैं वह अवस्था कहलाती है। विविध अवस्था व्यवस्था है। वेत्रासनादि आकाररूप विविध सन्निवेश, यह इसका अर्थ है।

नोट—(किसी विषयमें स्थितिको व्यवस्था कहते हैं और उससे विपरीतको अव्यवस्था कहते हैं।)

व्यवस्था पद—दे. पद।

व्यवस्था हानि—दे. हानि।

व्यवहार—★ मनुष्य व्यवहार—दे. मनुष्य व्यवहार।

व्यवहारत्व गुण—भ. आ./मू./४४८/६७३ पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं। बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ।४४८। —पाँच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तार जानते हैं। जिन्होंने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, और स्वयं भी जिन्होंने दिया है, ऐसे आचार्यको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं।

व्यवहारद्रव्य—दे. नय/V/४/२/४।

व्यवहार नय—दे. नय/V/४-६।

व्यवहार पल्य—दे. गणित/I/१/५,६।

व्यवहार सत्य—दे. सत्य/१।

व्यवहारावलंबी—दे. साधु/२।

व्यसन—

पं. वि./१/१६, ३२ द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः। महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ।१६। न परमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि। त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम् ।३२। —१ जूआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री, इस प्रकार ये सात महापापरूप व्यसन हैं। बुद्धिमान् पुरुषको इन सबका त्याग करना चाहिए। (पं. वि./६/१०); (वसु. श्रा./५९); (चा. पा./टी./२१/४३/५२ उद्धृत); (ला. सं./२/११३)। २. केवल इतने ही व्यसन नहीं है, किन्तु दूसरे भी बहुतसे हैं। कारण कि अल्पमति पुरुष समीचीन मार्गको छोडकर कुत्सित मार्गमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।३२।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. वेश्या व्यसनका निषेध	—दे. ब्रह्मचर्य/३।
२. परस्त्री गमन निषेध	—दे. ब्रह्मचर्य/३।
३. चोरी व्यसन	—दे. अस्तेय।
४. द्यूत आदि अन्य व्यसन	—दे. वह वह नाम।

व्याकरण—१. आगम ज्ञानमें व्याकरणका स्थान—दे. आगम/३। २. वैयाकरणी लोग शब्द, समभिरूढ व एवंभूत नयाभासी हैं।—दे. अनेकांत/२/९।

व्याकरण—१. आ. पूज्यपाद देवनन्दि (ई. श. ५) द्वारा रचित ३००० सूत्र प्रमाण संस्कृत की जैनेन्द्र व्याकरण। टीकायें—पूज्यपाद कृत जैनेन्द्र न्यास, प्रभाचन्द्र नं. ४ कृत शब्दाम्भोज भास्कर, अभयनन्दि कृत महावृत्ति, श्रुतकीर्ति कृत पंचवस्तु। (जै./१/३०७) (ती./२/२२०)। २. पूज्यपाद (ई. श ५) कृत मुग्धबोध व्याकरण। ३. हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत प्राकृत तथा गुजराती व्याकरण। ४. नयसेन (ई. ११२५) कृत कन्नड़ व्याकरण। (ती./३/-२६५)। ५. श्रुतसागर (ई. १४८१-१४९९) कृत प्राकृत व्याकरण। ६. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) कृत प्राकृत व्याकरण।

व्याख्या—नन्दा भद्रा आदि व्याख्याएँ—दे. वाँचना।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—१. द्वादशांगका एक भेद—दे. श्रुतज्ञान/III। २. आ. अमितगति (ई. ९८३-१०२३) द्वारा रचित एक संस्कृत ग्रन्थ। (दे. अमित गति)। ३. आ. बप्पदेव (वि. श. ७) कृत ६०,००० श्लोक प्रमाण कर्म विषयक प्राकृत ग्रन्थ। (दे. परिशिष्ट)।

व्याघात—

ध. ७/२.२.६९/१५१/८ अथवा कायजोगद्धाखएण मणजोगेआगदे बिदियसमए वाघादिदस्स पुणरवि कायजोगो चेव आगदो।

ध. ७/२.२.१२६/१६०/१० कोधस्स वाघावेण एगसमओ णत्थि, वाघादिदे वि कोधस्सेव समुप्पत्तीदो। —अथवा काययोगके कालके क्षयसे मनोयोगको प्राप्त होकर द्वितीय समयमें व्याघात (मरण) को प्राप्त हुए उसको फिर भी काययोग ही प्राप्त हुआ। क्रोधके व्याघातसे एक समय नहीं पाया जाता, क्योंकि, व्याघात (मरण) को प्राप्त होनेपर भी पुनः क्रोधकी ही उत्पत्ति होती है।

ल. सा./भाषा/६०/९२/१ जहाँ स्थिति काण्डकघात होइ सो व्याघात कहिए।—(विशेष दे. अपकर्षण/४)

व्याघ्रभूति—एक अक्रियावादी—दे. अक्रियावाद।

व्याघ्रहस्ती—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप पद्मसेनके शिष्य और नागहस्तिके गुरु थे।—दे. इतिहास/७/८।

व्याघ्री—भरत क्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

व्याज—Interest (ध. ५/प्र. २८)

व्यापक—ध. ४/१.३.१/८/२ आगासं गगणं देवपथं गोज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमि त्ति एयट्ठो। —१. आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान), अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नोआगम द्रव्य क्षेत्रके एकार्थवाचक नाम हैं—दे. क्षेत्र/१/१३। २ जीव शरीरमें व्यापक है पर सर्व व्यापक नहीं है—दे. जीव/३।

व्यापकानुपलब्धि—अनुमानका एक भेद—दे. अनुमान/१।

व्यापार—

रा. वा./१/१/१/३/२८ व्यापृतिर्व्यापारः अर्थप्रापणसमर्थः क्रियाप्रयोगः। —'व्यापृतिर्व्यापारः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ प्राप्त करनेकी समर्थ क्रिया प्रयोगको व्यापार कहते हैं।

प्र. सा./ता. वृ./२०५/२७६/८ चिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारः। —चिच्चमत्कार मात्र जो ज्ञाता द्रष्टाभाव उससे प्रतिपक्षभूत आरम्भका नाम व्यापार है।

व्याप्ति—न्या. दी./३/§६४/१०४/२ व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतसाहचर्यलक्षणा। एतामेव साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति। —साध्य अग्नि आदिके होनेपर ही साधन धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होनेपर नहीं होते, इस प्रकारके साहचर्यरूप साध्य साधनके नियमको व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्तिको ही साध्यके बिना साधनके न होनेसे अविनाभाव कहते हैं।—(विशेष दे. तर्क व दृष्टान्त/१/१)

पं. ध./उ./८६४ व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः। सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः।८६४। —परस्परमें सहचर नियमको व्याप्ति कहते हैं, वह इस प्रकार है, कि यहाँपर जिसके होनेपर जो होवे और जिसके न होनेपर जो नहीं ही होवे।—(विशेष दे. तर्क)

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. व्यतिरेक व्याप्त अनुमान। —दे. अनुमान।

२. अव्याप्त, अतिव्याप्त लक्षण। —दे. लक्षण।

३. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त दृष्टान्त। —दे. दृष्टान्त।

४. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त हेतु। —दे. हेतु।

५ व्याप्त व्यापक सम्बन्ध। —दे. सम्बन्ध।

६. कारण कार्यमें परस्पर व्याप्ति। —दे. कारण/I/१।

व्याप्य—१. व्याप्य व्यापक सम्बन्ध—दे. सम्बन्ध। २. व्याप्य हेतु—दे. हेतु। ३. व्याप्यासिद्ध हेत्वाभास—दे. असिद्ध।

व्यामोह—मो. पा./टी./२७/३२२/१५ व्यामोहं पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहः। वामानां स्त्रीणां मा ओहो वामोहः तत्सथोक्तं समाहारो द्वन्द्वः। —पुत्र कलत्र मित्रादिका स्नेह व्यामोह है। अथवा वाम अर्थात् स्त्रियोंका ओह वाम ओह है। वाम+ओह ऐसा यहाँपर द्वन्द्व समास है।

व्यावृत्ति—

न्या. वि./वृ./२/३१/६१/७ व्यावृत्तिं स्वलक्षणानां विच्छेदः। —अपने लक्षणोंका विच्छेद व्यावृत्ति है।

स्या./मं./४/१७/१ व्यतिवृत्तिः व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः।

स्या./मं./१४/१६६/७ व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। —सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। अथवा विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेधको व्यावृत्ति कहते हैं।

दे. पर्याय/१/१/२ (पर्याय, व्यावृत्ति, विशेष व अपवाद ये एकार्थवाची हैं।)

व्यास—Diameter. (ध. ५/प्र. २८)।—दे. गणित/II/७/४।

व्यास—१. पां. पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मका सौतेला भाई था। धीवरकी कन्यासे उत्पन्न पाराशरका पुत्र था। (७/११४-११७)। इसके तीन पुत्र थे—धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर। (७/११७)। अपर नाम धृतमर्य था (८/१७)। २. महाभारत आदि पुराणोंके रचयिता। समय—अत्यन्त प्राचीन। ३. योगदर्शनके भाष्यकार। समय—ई. श./४ (दे० योगदर्शन)। ४. व्यास एलापुत्र एक विनयवादी था। —दे० वैनयिक।

व्युच्छित्ति—ध./८/३.४/पृष्ठ/पंक्ति एदम्मि गुणट्ठाणे एदासिं पयडीणं बंध वोच्छेदो होदि त्ति कहिदे हेट्ठिल्ल गुणट्ठाणाणि तासिं पयडीणं बंधसामियाणि त्ति सिद्धीदो। किंच वोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो। उत्पादः सत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः अभावः नीरूपिता इति यावत्। उत्पाद एव अनुच्छेदः उत्पादानुच्छेदः, भाव एव अभाव इति यावत्। एसो दव्वट्ठियणयव्ववहारो। ण च एसो एयंतेण चप्पलओ, उत्तरकाले अप्पिदपज्जायस्स विणासेण विसिट्ठदव्वस्स पुव्विल्लकाले वि उवलंभादो। (५/७)। अनुत्पादः असत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः, अनुत्पाद एव अनुच्छेदः (अनुत्पादानुच्छेदः) असतः अभाव इति यावत्, सतः असत्त्वविरोधात्। एसो पज्जवट्ठियणयववहारो। एत्थं पुण उप्पादाणुच्छेदमस्सिदूण जेण सुत्तकारेण अभावव्ववहारो कदो तेण भावो चेव पयडिबंधस्स परूविदो। तेणेदस्स गंथस्स बंधसामित्तविचयसण्णा घडदि त्ति। (६/८)। —१. इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंका बन्धव्युच्छेद होता है, ऐसा कहनेपर उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं, यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। २. दूसरी बात यह है कि अनुच्छेद दो प्रकारका है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादका अर्थ सत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश, अभाव अथवा नीरूपीपना है। उत्पाद ही अनुच्छेद सो उत्पादानुच्छेद (इस प्रकार यहाँ कर्मधारय समास है)। उक्त कथनका अभिप्राय भाव या सत्त्वको ही अभाव बतलाना है। यह द्रव्यार्थिक नयके आश्रित व्यवहार है, और यह सर्वथा मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि, उत्तरकालमें विवक्षित पर्यायके विनाशसे विशिष्ट द्रव्य पूर्वकालमें भी पाया जाता है। अनुत्पादका अर्थ असत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश है। अनुत्पाद ही अनु-

च्छेद अर्थात् असत्का अभाव होना अनुत्पादानुच्छेद है; क्योंकि सत्के असत्त्वका विरोध है। यह पर्यायार्थिक नयके आश्रित व्यवहार है। ३. यहाँपर चूँकि सूत्रकारने उत्पादानुच्छेदका (अर्थात् पहले भेदका) आश्रय करके ही अभावका व्यवहार किया है, इसलिए प्रकृतिबन्धका सद्भाव ही निरूपित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम संगत है।

गो. क./जी. प्र./९४/८०/४ बन्धव्युच्छित्तौ द्वौ नयौ इच्छन्ति—उत्पादानुच्छेदोऽनुत्पादानुच्छेदश्चेति। तत्र उत्पादानुच्छेदो नाम द्रव्यार्थिकः तेन सत्त्वावस्थायामेव विनाशमिच्छति। असत्त्वे बुद्धिविषयातिक्रान्तभावेन वचनगोचरातिक्रान्ते सति अभावव्यवहारानुपपत्तेः। ··· तस्मात् भाव एव अभाव इति सिद्धं। अनुत्पादानुच्छेदो नाम पर्यायार्थिकः तेन असत्त्वावस्थायामभावव्यपदेशमिच्छति। भावे उपलभ्यमाने अभावत्वविरोधात्। ···अत्र पुनः सूत्रे द्रव्यार्थिकनयः उत्पादानुच्छेदोऽवलम्बितः उत्पादस्य विद्यमानस्य अनुच्छेद, अविनाशः यस्मिन् असौ उत्पादानुच्छेदो नयः। इति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्वस्वगुणस्थानचरमसमये बन्धव्युच्छित्तिः बन्धविनाशः। पर्यायार्थिकनयेन तु अनन्तरसमये बन्धनाशः। —व्युच्छित्तिका कथन दो नयसे किया जाता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। तहाँ उत्पादानुच्छेद नाम द्रव्यार्थिकनयका है। इस नयसे सत्त्वकी अवस्थामें ही विनाश माना जाता है, क्योंकि बुद्धिका विषय न बननेपर तब वह अभाव वचनके अगोचर हो जाता है, और इस प्रकार उस अभावका व्यवहार हो नहीं हो सकता। इसलिए सद्भावमें ही असद्भाव कहना योग्य है, यह सिद्ध हो जाता है। अनुत्पादानुच्छेद नाम पर्यायार्थिक नयका है। इस नयसे असत्त्वकी अवस्थामें अभावका व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि, सद्भावके उपलब्ध होनेपर अभावपनेके होनेका विरोध है। यहाँ सूत्रमें द्रव्यार्थिक नय अर्थात् उत्पादानुच्छेदका अवलम्बन लेकर वर्णन किया गया है। उत्पादका अर्थात् विद्यमानका अनुच्छेद या विनाश जिसमें होता है अर्थात् सद्भावका विनाश जहाँ होता है, वह उत्पादानुच्छेद नय है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपने-अपने गुणस्थानके चरम समयमें बन्धव्युच्छित्ति अर्थात् बन्धका विनाश होता है। पर्यायार्थिक नयसे उस चरम समयके अनन्तर वाले अगले समयमें बन्धका नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

व्युच्छेद—दे० व्युच्छित्ति।

व्युत्सर्ग—बाहरमें क्षेत्र वास्तु आदिका और अभ्यन्तरमें कषाय आदिका अथवा नियत व अनियत कालके लिए शरीरका त्याग करना व्युत्सर्ग तप या व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका अपर नाम कायोत्सर्ग है जो दैवसिक, रात्रिक, चातुर्मासिक आदि दोषोंके साधनार्थ विधि पूर्वक किया जाता है। शरीरपरसे ममत्व बुद्धि छोड़कर, उपसर्ग आदिको जीतता हुआ, अन्तर्मुहूर्त या एक दिन मास व वर्ष पर्यंत निश्चल खड़े रहना कायोत्सर्ग है।

१. कायोत्सर्ग निर्देश

१. कायोत्सर्गका लक्षण

नि. सा./मू./१२१ कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं। तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण।१२१। —काय आदि परद्रव्योंमें स्थिर भाव छोड़कर, जो आत्माको निर्विकल्परूपसे ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं।१२१।

मू. आ./२८ देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि। जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो।२८। —दैवसिक निश्चित क्रियाओंमें यथोक्त कालप्रमाण पर्यंत उत्तम क्षमा आदि जिनगुणोंकी भावना सहित देहमें ममत्वको छोड़ना कायोत्सर्ग है।

रा. वा./९/२४/११/६२३/१४ परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः। —परिमित कालके लिए शरीरसे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग है। (चा. सा./५६/३)।

भ. आ./वि./६/३२/२१ देहे ममत्वनिरासः कायोत्सर्गः। —देहमें ममत्वका निरास करना कायोत्सर्ग है।

यो. सा./अ./५/५२ ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितं। न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः।५२। —देहको अचेतन, नश्वर व कर्मनिर्मित समझकर जो उसके पोषण आदिके अर्थ कोई कार्य नहीं करता, वह कायोत्सर्गका धारक है।

का. अ./मू./४६७-४६८ जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो। मुहधोवणादि-विरओ भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो।४६७। ससरूवचिंतणरओ दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो। देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स।४६८। —जिस मुनिका शरीर जल्ल और मलसे लिप्त हो, जो दुस्सह रोगके हो जानेपर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीरके संस्कारसे उदासीन हो, और भोजन शय्या आदिकी अपेक्षा नहीं करता हो, तथा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जनमें मध्यस्थ हो, और शरीरसे भी ममत्व न करता हो उस मुनिके कायोत्सर्ग नामका तप होता है।

नि. सा./ता. वृ./७० सर्वेषां जनानां कायेषु बह्व्यः क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवति। —सब जनोंको कायसम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही गुप्ति है।

दे० कृतिकर्म/३/२ (खड़े-खड़े या बैठे बैठे शरीरका तथा कषायोंका त्याग करना कायोत्सर्ग है।)

२. कायोत्सर्गके भेद व उनके लक्षण

मू. आ./६७३-६७७ उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठ-उट्ठिदो चेव। उवविट्ठणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो।६७३। धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो। एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम।६७४। अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो संतो। एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठदो णाम।६७५। धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु। एसो काउसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम।६७६। अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु। एसो काउसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम।६७७। —उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट निविष्ट, इस प्रकार कायोत्सर्गके चार भेद हैं।६७३। जो कायोत्सर्गसे खड़ा हुआ धर्म शुक्ल ध्यानोंको चिन्तवन करता है वह उत्थितोत्थित है।६७४। जो कायोत्सर्गसे खड़ा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोंको चिन्तवन करता है वह उत्थितनिविष्ट है।६७५। जो बैठे हुए धर्म व शुक्लध्यानोंका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोत्थित है।६७६। और जो बैठा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोंका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोपविष्ट है।६७७। (अन. ध. ८/१२१/८३३)।

भ. आ./वि./११६/२७८/२७ उत्थितोत्थितं, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थितं, उपविष्टोपविष्टं इति चत्वारो विकल्पाः। धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्गः उत्थितोत्थितो नाम। द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्षः उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते। तत्र द्रव्योत्थानं शरीरं स्थाणुवदूर्ध्वं अविचलमवस्थानं। ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानं। आर्तरौद्रयोः परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्गः। शरीरोत्थाना-

दुत्थितत्वं शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते। अतएव विरोधाभावो भिन्ननिमित्तत्वादुत्थानासनयोः एकत्र एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च। यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णकः। कायाशुभपरिणामयोरनुत्थानात्। —कायोत्सर्गके उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित, और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद कहे हैं। धर्म व शुक्लध्यानमें परिणत होकर जो खड़े होते हैं उनका कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित नामवाला है। क्योंकि द्रव्य व भाव दोनोंका उत्थान होनेके कारण यहाँ उत्थानका प्रकर्ष है जो उत्थितोत्थित शब्दके द्वारा कहा गया है। तहाँ शरीरका खम्बेके समान खड़ा रहना द्रव्योत्थान है तथा ज्ञानका एक ध्येय वस्तुमें एकाग्र होकर ठहरना भावोत्थान है। आर्त और रौद्रध्यानसे परिणत होकर जो खड़े होते हैं उनका कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट है। शरीरके उत्थानसे उत्थित और शुभपरिणामोंकी उद्गतिरूप उत्थानके अभावसे निविष्ट है। शरीर व भावरूप भिन्न-भिन्न कारण होनेसे उत्थितावस्था और आसनावस्थामें यहाँ विरोध नहीं है। जो मुनि बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है, क्योंकि उसके परिणाम तो खड़े हैं, पर शरीर नहीं खड़ा है। जो मुनि बैठकर अशुभध्यान कर रहा है वह निषण्णनिषण्ण कायोत्सर्ग युक्त समझना चाहिए। क्योंकि, वह शरीरसे बैठा हुआ है और परिणामोंसे भी उत्थानशील नहीं है।

★ कायोत्सर्ग बैठे व खड़े दोनों प्रकारसे होता है

—दे० व्युत्सर्ग/१/२।

३. मानसिक व कायिक कायोत्सर्ग विधि

मू. आ./गा. वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो। सव्वगचलणरहिओ काउसग्गो विसुद्धो दु।६५०। जे केई उवसग्गा देव माणुसतिरिक्खचेदणिया। ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संते।६५५। काओसग्गम्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचारं। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो।६६४। —जिसने दोनों बाहु लम्बी की हैं, चार अंगुलके अन्तर सहित समपाद हैं तथा हाथ आदि अंगोंका चालन नहीं है वह शुद्ध कायोत्सर्ग है।६५०। देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतनकृत जितने भी उपसर्ग हैं सबको कायोत्सर्गमें स्थित हुआ मैं अच्छी तरह सहन करता हूँ।६५५। कायोत्सर्गमें तिष्ठा ईर्यापथके अतिचारके नाशको चिन्तवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्त कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तवन करो।।६६४। (भ. आ./वि./११६/२७८/२०); (अन. ध./८/७६/८०४)।

भ. आ./वि./५०६/७२६/१६ मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः। प्रलम्बभुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः। —मनसे शरीरमें ममेद बुद्धिकी निवृत्ति मानस कायोत्सर्ग है और ('मैं शरीरका त्याग करता हूँ ऐसा वचनोच्चार करना वचनकृत कायोत्सर्ग है')। बाहु नीचे छोड़कर चार अंगुलमात्र अन्तर दोनों पाँवोंमें रखकर निश्चल खड़े होना वह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है।

अन. ध./६/२२-२४/८६६ जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे। हृत्पंकजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम्।२२। पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः। नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत्।२३। वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः। पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत्।२४। —व्युत्सर्गके समय अपनी प्राणवायुको भीतर प्रविष्ट करके, उसे आनन्दसे विकसित हृदयकमलमें रोककर, जिनेन्द्र मुद्राके द्वारा णमोकार मन्त्रकी गाथाका ध्यान करना चाहिए।२२। गाथाके दो-दो और एक अंशका पृथक्-पृथक् चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुको धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार नौ बार प्रयोग करनेवालेके चिरसंचित महान् कर्मराशि भस्म हो जाती है।२३। प्राणायाममें असमर्थ साधु वचनके द्वारा भी उस मन्त्रका जाप कर सकता है, परन्तु उसे अन्य कोई न सुने इस प्रकार करना चाहिए। परन्तु वाचनिक और मानसिक जपोंके फलमें महान् अन्तर है। दण्डकोंके उच्चारणकी अपेक्षा सौगुना पुण्य संचय वाचनिक जापमें होता है और हजारगुणा मानसिक जापमें।२४।

४. कायोत्सर्गके योग्य दिशा व क्षेत्र

भ. आ./मू./५५०/७६३ पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते। आलोयणपत्तीयं काउसग्गं अणाबाधे।५५०। —पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी तरफ मुँह करके किंवा जिनप्रतिमाकी तरफ मुँह करके आलोचनाके लिए क्षपक कायोत्सर्ग करता है। यह कायोत्सर्ग वह एकान्त स्थानमें, अबाधित स्थानमें अर्थात् जहाँ दूसरोंका आना-जाना न हो ऐसे अमार्गमें करता है।

५. कायोत्सर्गके योग्य अवसर

मू. आ./६६३,६६५ भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासिवरिसचरिमेसु। णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए।६६३। तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासिवरिसचरिमेसु। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो।६६५। —भक्त, पान, ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ, इनको जानकर धीरपुरुष अतिशयकर दुःखके क्षयके अर्थ कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं।६६३। इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व उत्तमार्थ इन सब नियमोंको पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावे।६६५।

दे० अगला शीर्षक—(हिंसा आदि पापोंके अतिचारोंमें, भक्त पान व गोचरीके पश्चात्, तीर्थ व निषद्यका आदिकी वन्दनार्थ जानेपर, लघु व दीर्घ शंका करनेपर, ग्रन्थको आरम्भ करते समय व पूर्ण हो जानेपर, ईर्यापथके दोषोंकी निवृत्तिके अर्थ कायोत्सर्ग किया जाता है।)

६. यथा अवसर कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ./६५६-६६१ संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि। सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु।६५६। अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया। उस्सासा कायव्वा णियमंता अप्पमत्तेण।६५७। चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे य पंचसदा। काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा।६५८। पाणिवहमुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव। अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा।६५९। भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंत समणसेज्जासु। उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा।६६०। उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणेय पणिधाणे। सत्तावीसुस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा।६६१। —कायोत्सर्ग एक वर्षका उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग दिन-रात्रि आदिके भेदसे बहुत हैं।६५६।

०	अवसर	उच्छ्-वास
१	दैवसिक प्रतिक.	१०८
२	रात्रिक ,,	५४
३	पाक्षिक ,,	३००
४	चातुर्मासिक ,,	४००
५	वार्षिक ,,	५००
६	हिंसादिरूप अतिचारोंमें	१०८
७	गोचरीसे आनेपर	२५
८	निर्वाण भूमि	२५
९	अर्हंत शय्या	२५
१०	,, निषद्यका	२५
११	श्रमण शय्या	२५
१२	लघु व दीर्घ शंका	२५
१३	ग्रन्थके आरम्भमें	२७
१४	ग्रन्थकी समाप्ति	२७
१५	वन्दना	२७
१६	अशुभ परिणाम	२७
१७	कायोत्सर्गके श्वास भूल जानेपर	८-अधिक

नोट—सर्व प्रतिक्रमणोंमें यह कायोत्सर्ग वीर भक्तिके पश्चात् किया जाता है।

(भ. आ./वि./११६/२७८/२२); (चा. सा./१५८/१); (अन. ध./८/७२-७३/८०१)।

७. कायोत्सर्गका प्रयोजन व फल

मू. आ./६६२,६६६ काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि। वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए।६६२। काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ। तह भिज्जदि कम्मरयं काउसग्गस्स करणेण।६६६। —ईर्यापथके अतिचारको सोधनेके लिए (तथा उपरोक्त सर्व अवसरोंपर यथायोग्य दोषोंको शोधनेके लिए) मोक्षमार्गमें स्थित शरीरमें ममत्वको छोड़नेवाले मुनि दुःखके नाश करनेके लिए कायोत्सर्ग करते हैं।६६२। कायोत्सर्ग करनेपर जैसे अंगोपांगोकी संधियाँ भिद जाती हैं उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूलि भी अलग हो जाती है।६६६। (अन. ध./८/७६/८०४)।

★ **कायोत्सर्ग व धर्मध्यानमें अन्तर**—दे० धर्मध्यान/३।

★ **कायोत्सर्ग व कायगुप्तिमें अन्तर**—दे० गुप्ति/१/७।

८. कायोत्सर्ग शक्ति अनुसार करना चाहिए

मू. आ./६६७,६७१-६७२ बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं। काओसग्गं कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो।६६७। णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च। काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए।६७१। जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणायसमो। विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सो य जड्डो।६७२। —बल और आत्म शक्तिका आश्रयकर क्षेत्र काल और संहनन इनके बलकी अपेक्षा कर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोंका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे।६६७। मायाचारीसे रहित (दे. आगे इसके अतिचार) विशेषकर सहित, अपनी शक्तिके अनुसार, बाल आदि अवस्थाके अनुकूल धीर पुरुष दुःखके क्षयके लिए कायोत्सर्ग करते हैं।६७१। जो तीस वर्ष प्रमाण यौवन अवस्थावाला समर्थ साधु ७० वर्षवाले असक्त वृद्धके साथ कायोत्सर्गकी पूर्णता करके समान रहता है वृद्धकी बराबरी करता है, वह साधु शान्त रूप नहीं है, मायाचारी है, विज्ञानरहित है, चारित्ररहित है और मूर्ख है।६७२।

९. मरणके बिना कायका त्याग कैसे ?

भ. आ./वि./११६/२७८/१३ ननु. च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्कथमुच्यते कायोत्सर्ग इति।… अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्वं…तथानित्यत्वं, अपायित्वं, दुर्वहत्वं, असारत्वं, दुःखहेतुत्वं, शरीरगतममताहेतुकमनन्तसंसारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्संप्रधार्य दोषान्नेदं मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदादराभावात्कायस्य त्यागो घटत एव। यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मन्दिरे त्यक्तेत्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेदं भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि। किंच…शरीरापायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्माद्युज्यते कायत्यागः। —प्रश्न—१. आयुके निरवशेष समाप्त हो जानेपर आत्मा शरीरको छोड़ती है, अन्य समयमें नहीं, तब अन्य समयमें कायोत्सर्गका कथन कैसा ? उत्तर—शरीरका विछोह न होते हुए भी, इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, विनाशशील, असारत्व, दुःखहेतुत्व, अनन्तसंसार परिभ्रमणहेतुत्व इत्यादि दोषोंका विचारकर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा संकल्प मनमें उत्पन्न हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है, उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है। जैसे प्रियतमा पत्नीसे कुछ अपराध हो जानेपर, पतिके साथ एक ही घरमें रहते हुए भी, पतिका प्रेमका हट जानेके कारण वह त्यागी हुई कही जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। २. और भी दूसरी बात यह है कि शरीरके अपायके कारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं, इसलिए उनका कायत्याग योग्य ही है।

१०. कायोत्सर्गके अतिचार व उनके लक्षण

भ. आ./वि./११६/२७९/८ कायोत्सर्गं प्रपन्नः स्थानदोषान् परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते। १. तुरग इव कुण्टीकृतपादेन अवस्थानम्, २. लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थानं, ३. स्तम्भवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थानं, ४. स्तम्भोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम्, ५. लम्बिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वावस्थानम्, ६. खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालनं संपादयतोऽवस्थानं, ७. युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽध: पातयता, ८. कपित्थफलग्राहीव विकाशिकरतलं, संकुचिताङ्गुलिपञ्चकं वा कृत्वा, ९. शिरश्चालनं कुर्वन्, १०. मूक इव हुंकारं संपाद्यावस्थानं, ११. मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा, १२. अङ्गुलिस्फोटनं, १३. भ्रूनर्तनं वा कृत्वा, १४. शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोगं, १५. शृङ्खलाबद्धपाद इवावस्थानं, १६. पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थानं इत्यमी दोषाः। —१. मुनियोंको उत्थित कायोत्सर्गके दोषोंका त्याग करना चाहिए। उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—१. जैसे घोड़ा अपना एक पाँव अकड लँगड़ा करके खड़ा हो जाता है वैसे खड़ा होना घोटकपाद दोष है। २. बेलकी भाँति इधर-उधर हिलना लतावक्र दोष है। ३. स्तम्भवत् शरीर अकड़ाकर खड़े होना स्तंभस्थिति दोष है। ४. खम्बेके आश्रय स्तंभावष्टंभ। ५. भित्तिके आधारसे कुड्याश्रित। ६. अथवा मस्तक ऊपर करके किसी पदार्थका आश्रय देकर खड़ा होना मालिकोद्वहन दोष है। ७. अधरोष्ठ लम्बा करके खड़े होना या, ८. स्तनकी ओर दृष्टि देकर खड़े होना स्तन दृष्टि। ९. कौवेकी भाँति दृष्टिको इतस्ततः फेंकते हुए खड़े होना काकावलोकन दोष है। १०. लगामसे पीड़ित घोड़ेवत् मुखको हिलाते हुए खड़े होना खलीनित दोष है। ११. जैसे बैल अपने कन्धसे जूयेकी मान नीचे करता है उसपर कन्धे झुकाते हुए खड़ा होना युगकन्धर

दोष है। १२. कैथका फल पकड़नेवाले मनुष्यकी भाँति हाथका तलभाग पसारकर या पाँचों अंगुली सिकोड़कर अर्थात् मुट्ठी बाँधकर खड़े होना कपित्थमुष्टि है। सिरको हिलाते हुए खड़े होना सिरचालन दोष है। १३. गंगेकी भाँति हुंकार करते हुए खड़े होना अंगुलीसे नाक या किसी वस्तुकी ओर संकेत करते हुए खड़े होना मूकसंज्ञा दोष है। १४. अँगुली चलाना या चुटकी बजाना अंगुलिचालन है। १५. भौंह टेढ़ी करना या नचाना भ्रूक्षेप दोष है। १६. भीलकी स्त्रीकी भाँति अपने गुह्य प्रदेशको हाथसे ढकते हुए खड़े होना शबरीगुह्यगूहन दोष है। १७. बेड़ीसे जकड़े मनुष्यकी भाँति खड़े होना शृंखलित दोष है। १८. मद्यपायीवत् शरीरको इधर-उधर झुकाते हुए खड़े होना उन्मत्त दोष है। ऐसे ये कायोत्सर्गके दोष हैं (अन. ध./८/११२-११६, शेष दे० आगे)।

चा. सा./१५६/२ व्युत्सृष्टबाहुयुगले सर्वाङ्गचलनरहिते कायोत्सर्गेऽपि दोषाः स्युः। घोटकपादं, लतावक्रं, स्तम्भावष्टम्भं, कुड्याश्रितं, मालिकोद्वहनं, शबरीगुह्यगूहनं, शृङ्खलितं, लम्बितं उत्तरितं, स्तनदृष्टि., काकालोकनं, खलीनितं, युगकन्धरं, कपित्थमुष्टिः, शीर्षप्रकम्पितं, मूकसंज्ञा, अङ्गुलिचालनं, भ्रूक्षेपं, उन्मत्तं, पिशाचं, अष्टदिगवलोकनं, ग्रीवोन्नमनं, ग्रीवावनमनं, निष्ठीवनं, अङ्गस्पर्शनमिति द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति। = जिसमें दोनों भुजाएँ लम्बी छोड़ दी गयी हैं, चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैर एकसे रखे हुए हैं और शरीरके अंगोपांग सब स्थिर हैं ऐसे कायोत्सर्गके भी ३२ दोष होते हैं—घोटकपाद, लतावक्र, स्तंभावष्टंभ, कुड्याश्रित, मालिकोद्वहन, शबरीगुह्यगूहन, शृंखलित, लंबित, उत्तरित, स्तनदृष्टि, काकालोकन, खलीनित, युगकन्धर, कपित्थमुष्टि, शीर्षप्रकंपित, मूकसंज्ञा, अंगुलिचालन, भ्रूक्षेप, उन्मत्त, पिशाच, पूर्वदिशावलोकन, आग्नेयदिशावलोकन, दक्षिण दिशावलोकन, नैऋत्य दिशावलोकन, पश्चिमदिशावलोकन, वायव्य दिशावलोकन, उत्तर दिशावलोकन, ईशान दिशावलोकन, ग्रीवोन्नमन, ग्रीवावनमन, निष्ठीवन, और अंगस्पर्श। [इनमेंसे कुछके लक्षण ऊपर भ-आ/वि में दे दिये गये हैं, शेषके लक्षण स्पष्ट हैं। अथवा निम्न प्रकार हैं।]

अन. ध./८/११५-१२१ लम्बितं नमनं मूर्ध्न स्तस्योत्तरितमुन्नम। उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत्स्तनोन्नतिः ।११५। ...शीर्षकम्पनम् ।११७। शिरः प्रकम्पितं संज्ञा... ।११८। ...ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः ।११९। निष्ठीवनं वपुःस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम्। मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षा विवर्जनम् ।१२०। व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः। लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता ।१२१। —१. शिरको नीचा करके खड़े होना लम्बित दोष है। २. शिरको ऊपरको उठाकर खड़े होना उत्तरित दोष है। ३. बालकको दूध पिलानेको उद्यत स्त्रीवत् वक्षःस्थलके स्तनभागको ऊपर उठा कर खड़े होना स्तनोन्नति दोष है। ४. कायोत्सर्गके समय शिर हिलाना शीर्षप्रकम्पित, ५. ग्रीवाको ऊपर उठाना ग्रीवोर्ध्वनयन। ६. ग्रीवाको नीचेकी तरफ झुकाना ग्रीवाधोनयन या ग्रीवावनमन दोष है ।११५-११९। ७. थूकना आदि निष्ठीवन। ८. शरीरको इधर-उधर स्पर्श करना वपुःस्पर्श। ९. कायोत्सर्गके योग्य प्रमाणसे कम काल तक करना हीन या न्यून। १०. आठों दिशाओंकी तरफ देखना दिगवलोकन। ११. लोगोंको आश्चर्योत्पादक ढंगसे खड़े होना मायाप्रायास्थिति। १२. और वृद्धावस्थाके कारण कायोत्सर्गको छोड़ देना वयोपेक्षाविवर्जन नामक दोष है ।१२०। १३. मनमें विक्षेप होना या चलायमान होना व्याक्षेपासक्तचित्तता। १४. समयकी कमीके कारण कायोत्सर्गके अंशोंको छोड़ देना कालापेक्षा व्यतिक्रम। १५. लोभ वश चित्तमें विक्षेप होना लोभाकुलता। १६. कर्तव्य अकर्तव्यके विवेकसे शून्य होना मूढता और कायोत्सर्गके समय हिंसादिके परिणामोंका उत्कर्ष होना पापकर्मैकसर्गता नामक दोष है ।१२१।

११. वन्दनाके अतिचार व उनके लक्षण

मू. आ./६०३-६०७ अणादिट्ठं च थद्धं च पविट्ठं परिपीडिदं। दोलाइयमंकुसियं तहा कच्छभरिंगियं ।६०३। मच्छुव्वत्तं मणोदुट्ठं वेदिआबद्धमेव य। भयदोसो विभयत्तं इड्ढिगारव गारवं ।६०४। तेणिदं पडिणिदं चावि पदुट्ठं तज्जिदं तधा। सद्दं च हीलिदं चावि तह तिवलिदकुंचिदं ।६०५। दिट्ठमदिट्ठं चावि य संगस्स करमोयणं। आलद्धमणालद्धं च हीणमुत्तरचूलियं ।६०६। मूगं च दद्दुरं चावि चुलुलिदमपच्छिमं। बत्तीसदोसविसुद्धं किदियम्मं पउंजदे ।६०७। —अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परिपीडित, दोलायित, अंकुशित, कच्छपरिंगित, मत्स्योद्वर्त, मनोदुष्ट, वेदिकाबद्ध, भय, विभ्य, ऋद्धिगौरव, अन्य गौरव, स्तेनित, प्रतिनीत, प्रदुष्ट, तर्जित, शब्द, हीलित, त्रिवलित, कुंचित, दृष्ट, अदृष्ट, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, उत्तरचूलिका, मूक, दर्दुर, चलुलित, इन बत्तीस दोषोंसे रहित विशुद्ध कृतिकर्म जो साधु करता है, उसके बहुत निर्जरा होती है ।६०३-६०७। (चा. सा./१५५/१)।

अन. ध./८/९८-१११/८२२ अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धृतिः। स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ।९८। हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम्। दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा ।९९। भालेऽङ्कुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्। निषेदुषः कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम् ।१००। मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः। मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि ।१०१। वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोर्भ्यां वा जानुबन्धनम्। भयं क्रिया सप्तभयाद्विभ्यत्ता बिभ्यतो गुरोः ।१०२। भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम्। गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ।१०३। स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मतः। प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रातिकूल्यतः ।१०४। प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा। तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ।१०५। शब्दो जल्पक्रियान्येषामुपहासादि हेलितम्। त्रिवलितं कटिग्रीवाहृद्भङ्गो भृकुटिर्न वा ।१०६। करामर्शोऽथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम्। दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यत्स्वान्येषु सुष्ठु वा ।१०७। अदृष्टं गुरुदृङ्मार्गत्यागो वाप्रतिलेखनम्। विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम् ।१०८। उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया। हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका ।१०९। मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुङ्काराद्यथ कुर्वतः। दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीन् ।११०। द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः। इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ।१११। —१. वन्दनामें तत्परता या आदरका अभाव अनादृत दोष है, २. आठ मदोंके वश होकर अहंकार सहित वन्दना करना स्तब्ध दोष है, ३. अर्हतादि परमेष्ठियोंके अत्यन्त निकट होकर वन्दना करना प्रविष्ट दोष है, ४. वन्दनाके समय जंघाओंका स्पर्श करना परिपीडित दोष है, ५. हिंडोलेकी भाँति शरीरका अथवा मनका डोलना दोलायित दोष है ।९८-९९। ६. अंकुशकी भाँति हाथको मस्तकपर रखना अंकुशित दोष है, ७. बैठे-बैठे इधर उधर रेंगना कच्छपरिंगित दोष है ।१००। ८. मछलीकी भाँति कटिभागको ऊपरको निकालना मत्स्योद्वर्त दोष है, ९. आचार्य आदिके प्रति आक्षेप या खिन्नता होना मनोदुष्ट दोष है ।१०१। १०. अपनी छातीके स्तनभाग मर्दन करना अथवा दोनों भुजाओंसे दोनों घुटने बाँधकर बैठना वेदिकाबद्ध दोष है, ११. सप्तभय युक्त होकर वन्दनादि करना भयदोष, १२. आचार्य आदिके भयसे करना बिभ्य दोष है ।१०२। १३. चतुः प्रकार संघको अपना भक्त बनानेके अभिप्रायसे वन्दनादि करना ऋद्धि गौरव, १४. भोजन, उपकरण आदिकी चाहसे करना गौरव दोष है ।१०३। १५. गुरुजनोंसे छिपाकर करना स्तेनित, १६. और गुरुकी आज्ञाके प्रतिकूल करना प्रतिनीत दोष है ।१०४। १७. तीनों योगोंसे [illegible] क्षमा धारण कराये बिना या

उसी क्षमा किये बिना करना प्रदुष्ट, और १८. तर्जनी अंगुलीके द्वारा अन्य साधुओंको भय दिखाते हुए अथवा आचार्य आदिसे स्वयं तर्जित होकर वन्दनादि करना तर्जित दोष है।१०५। १९. वन्दनाके बीचमें बातचीत करना शब्द, २०. वन्दनाके समय दूसरोंको धक्का आदि देना या उनकी हँसी आदि करना हेलित, २१. कटि ग्रीवा मस्तक आदिपर तीन बल पड़ जाना त्रिवलित दोष है।१०६। २२. दोनों घुटनोंके बीचमें सिर रखना कुंचित, २३. दिशाओंकी तरफ देखना अथवा दूसरे उसकी ओर देखें तब अधिक उत्साहसे स्तुति आदि करना दृष्ट दोष है।१०७। २४. गुरुकी दृष्टिसे ओझल होकर अथवा पीछेसे प्रतिलेखना न करके वन्दनादि करना अदृष्ट, २५. 'संघ जबरदस्ती मुझसे वन्दनादि कराता है' ऐसा विचार आना 'संघकर मोचन दोष है।१०८। २६. उपकरणादिका लोभ हो जानेपर क्रिया करना आलब्ध, २७. उपकरणादिकी आशासे करना अनालब्ध, २८. मात्राप्रमाणकी अपेक्षा हीन अधिक करना हीन, २९. वन्दनाको थोड़ी ही देरमें ही समाप्त करके उसकी चूलिका रूप आलोचनादिको अधिक समय तक करना उत्तर चूलिका दोष है।१०९। ३०. मन मनमें पढ़ना ताकि दूसरा न सुने अथवा वन्दना करते करते बीच-बीचमें इशारे आदि करना मूक दोष है, ३१. इतनी जोर जोरसे पाठका उच्चारण करना जिससे दूसरोंको बाधा हो सो दुर्दर दोष है।११०। ३२. पाठको पंचम स्वरमें गा गाकर बोलना सुललित या चलुलित दोष है। इस प्रकार ये वन्दनाके ३२ दोष कहे।१११।

२. व्युत्सर्ग तप या प्रायश्चित्त निर्देश

१. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तका लक्षण

स. सि./९/२०/४३९/८ आत्माऽऽत्मीयसंकल्पत्यागो व्युत्सर्गः।

स. सि./९/२२/४४०/८ कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्गः।

स. सि./९/२६/४४३/१० व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः।—१. अहंकार और ममकाररूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। २. कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। (रा. वा./९/२२/६/६२१/२८); (त. सा./७/२४)। ३. व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका नाम त्याग है। (रा. वा./९/२६/१/६२४/२६)।

ध. ८/३,४१/८५/२ सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम।—शरीर व आहारमें मन एवं वचनकी प्रवृत्तियोंको हटाकर ध्येय वस्तुकी ओर एकाग्रतासे चित्तका निरोध करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

ध. १३/५,४,२६/६१/२ झाणेण सह कायमुज्झिऊण मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छणं उवसग्गो णाम पायच्छित्तं।—कायका उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। (चा. सा./१४२/३); (अन. ध./७/५१/६६५)।

अन. ध./७/९४/७२१ बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः। यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते।९४।—बन्धके हेतुभूत विविध प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर दोषोंका उत्तम प्रकारसे त्याग करना, यह 'व्युत्सर्ग' की निरुक्ति है।

२. व्युत्सर्ग तपके भेद-प्रभेद

मू. आ./४०६ दुविहो य विउसग्गो अब्भंतर बाहिरो मुणेयव्वो।४०६। व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—अभ्यन्तर व बाह्य। (त. सू. ९/२६); (त. सा./७/२९)।

चा. सा./पृष्ठ/पंक्ति अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः स द्विविधः-यावज्जीवं, नियतकालश्चेति। (१५४/२)। तत्र यावज्जीवं त्रिविधः—भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीमरणप्रायोपगमनभेदात्। (१५४/३)। नियतकालो द्विविधः—नित्यनैमित्तिकभेदेन। (१५५/१)।—अभ्यन्तर उपधिका व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—यावज्जीव व नियतकाल। तहाँ यावज्जीव व्युत्सर्ग तीन प्रकार है—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी, और प्रायोपगमन। नियतकाल दो प्रकारका है—नित्य व नैमित्तिक। (अन ध./७/९६-९८/७२१); (भा. पा./टी./७८/२२५/१६)।

३. बाह्य व अभ्यंतर व्युत्सर्गके लक्षण

मू. आ./४०६ अब्भंतरः क्रोधादिः बाह्यः क्षेत्रादिक द्रव्यं।४०६। —अभ्यन्तर उपधिरूप क्रोधादिका त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और बाह्य उपधि रूप क्षेत्र वास्तु आदिका त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।४०६। विशेष (दे० ग्रन्थ/२)।

स. सि./९/२६/४४३/११ अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते।—आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि हैं और क्रोधादि आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि हैं। (इनका त्याग बाह्य व अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग है)। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है। (रा. वा./९/२६/३-४/६२४/३०); (त सा./७/२९); (चा. सा./१५४/१); (अन ध./७/९३,९६/७२०)।

चा. सा./१५५/२ नित्य आवश्यकादयः। नैमित्तिकः पार्वणी क्रिया निषद्याक्रियाद्यश्च।—[काय सम्बन्धी अभ्यन्तर व्युत्सर्ग नियत व अनियतकालकी अपेक्षा दो प्रकारका है। तहाँ अनियतकाल व्युत्सर्ग भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी व प्रायोपगमन विधिसे शरीरको त्यागनेकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। (इन तीनोंके लक्षण दे. सल्लेखना/२)। नियतकाल व्युत्सर्ग नित्य व नैमित्तिकके भेदसे दो प्रकारका है—(दे. व्युत्सर्ग/२/२)] इन दोनोंमेंसे आवश्यक आदि क्रियाओंका करना नित्य है तथा पर्वके दिनोंमें होनेवाली क्रियाएँ करना व निषद्या आदि क्रिया करना नैमित्तिक है। (अन. ध./७/९७-९८/७२२)।

भा. पा./टी./२२५/१६ नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः। बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्गः।—कायका नियतकालके लिए अथवा यावज्जीवन त्याग करना अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। बाह्योपधि व्युत्सर्ग अनेक प्रकारका है।

★ **बाह्य व अभ्यन्तर उपधि**—दे. ग्रन्थ/२।

४. व्युत्सर्गतपका प्रयोजन

स. सि./९/२६/४४३/१२ निस्संगत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थः।

रा. वा./९/२६/१०/६२५/१४ निसङ्गत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासः, दोषोच्छेदो, मोक्षमार्गप्रभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविधः।—निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीविताशाका त्याग, दोषोच्छेद और मोक्षमार्गप्रभावना, तत्परत्व आदिके लिए दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना आवश्यक है। (चा. सा./१५६/५), (भा. पा./टी./७/२२५/१७)

५. व्युत्सर्गतपके अतिचार

भ. आ./वि./४८७/७०७/२३ व्युत्सर्गातिचारः। कुतो भवति शरीरममतायामनिवृत्तिः।—शरीरपरसे ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है। परन्तु ममत्व दूर नहीं करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है।

६. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तमें अन्तर

रा. वा./९/२६/८/६२८/७ अथ मतमेतत्—प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्गस्ततः पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचारः प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अयं

पुनरनपेक्ष. क्रियते इत्यस्ति विशेषः । —प्रश्न—प्रायश्चित्तके भेदोंमें व्युत्सर्ग कह दिया गया। पुनः तपके भेदोंमें उसे गिनाना निरर्थक है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि इनमें भेद है। प्रायश्चित्तमें गिनाया गया व्युत्सर्ग, अतिचार होनेपर उसकी शुद्धिके लिए किया जाता है, पर व्युत्सर्ग तप स्वयं निरपेक्षभावसे किया जाता है ।

७. व्युत्सर्गतप व परिग्रहत्याग व्रतमें अन्तर

रा. वा /६/६/६/६२५/१ स्यादेतत—महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, तत पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात् ।—प्रश्न—महाव्रतोंका उपदेश देते समय परिग्रहत्याग कह दिया गया। अब तप प्रकरणमें पुन व्युत्सर्ग कहना अनर्थक है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, परिग्रहत्याग व्रतमें सोना-चाँदी आदिके त्यागका उपदेश है, अतः यह उससे पृथक् है ।

८. व्युत्सर्गतप व त्याग धर्ममें अन्तर

रा. वा./६/६/१६/५६८/६ स्यान्मतम्–वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तरं षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसाग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति; तन्न; किं कारणम् । तस्यान्यार्थत्वात् । तद्धि नियतकालं सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अयं पुनस्त्याग यथाशक्ति अनियतकालः क्रियते इत्यस्ति भेद' । —प्रश्न—छह प्रकारके अभ्यन्तर तपमें उत्सर्ग लक्षणवाले तपका ग्रहण किया गया है, अतः यहाँ दस धर्मोंके प्रकरणमें त्यागधर्मका ग्रहण निरर्थक है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ तपके प्रकरणमें तो नियतकालके लिए सर्वत्याग किया जाता है और त्याग धर्ममें अनियतकालके लिए यथाशक्ति त्याग किया जाता है ।

रा. वा./६/२६/७/६२५/४ स्यादेतत—दशविधधर्मेऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम् । प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य ।—प्रश्न—दश धर्मोंमें त्याग नामका धर्म अन्तर्भूत है अत यहाँ व्युत्सर्गका व्याख्यान करना निरर्थक है ? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, त्याग धर्म प्रासुक औषधि व निरवद्य आहारादिका अमुक समय तक त्यागके लिए त्याग धर्म है । अतः यह उससे पृथक् है ।

★ व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है —दे. प्रायश्चित्त/४ ।

व्युदास—दे. अभाव ।

व्युत्क्रांत—प्रथम नरकका ११ वाँ पटल । दे. नरक/५ ।

व्युपरत क्रिया निवृत्ति—दे. शुक्लध्यान ।

व्युष्टि-क्रिया—दे. संस्कार/२ ।

व्रणमुख—औदारिक शरीर में इनका प्रमाण ।—दे. औदारिक/१/७।

व्रत—यावज्जीवन हिंसादि पापोंकी एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिको व्रत कहते हैं। वह दो प्रकारका है—श्रावकोंके अणुव्रत या एकदेशव्रत तथा साधुओंके महाव्रत या सर्वदेशव्रत होते हैं। इन्हें भावनासहित निरतिचार पालनेसे साधकको साक्षात या परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमार्गमें इनका बहुत महत्त्व है ।

१. व्रत सामान्य निर्देश

१. व्रत सामान्यका लक्षण

त. सू./७/१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।१। –हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे (यावज्जीवन दे. भ. आ/वि तथा द्र. सं./टी) निवृत्त होना व्रत है ।१। (ध. ८/३,४१/८२/५); (भ. आ./वि./११८५/११७१/१६); (भ. आ./वि./४२१/६१४/१९,२०) (द्र. सं./टी/३५/१०१/१)।

स. सि./७/१/३४२/६ व्रतमभिसंधिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा। –प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। यथा 'यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। (रा. वा./७/१/३/५३१/१५); (चा. सा./८/३)।

प. प्र./टी./२/५२/१७३/५ व्रतं कोऽर्थः। सर्वनिवृत्तिपरिणामः। –सर्व निवृत्तिके परिणामको व्रत कहते हैं।

सा. ध./२/८० संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ।८०। –किन्हीं पदार्थोंके सेवनका अथवा हिंसादि अशुभकर्मोंका नियत या अनियत कालके लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मोंमें उसी प्रकार सकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।

२. निश्चयसे व्रतका लक्षण

द्र. सं/टी./३५/१००/१३ निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादि-विकल्पनिवृत्तिर्व्रतम्। –निश्चयनयकी अपेक्षा विशुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभाव धारक निज आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके आस्वादके बलसे सब शुभ व अशुभ राग आदि विकल्पोंसे रहित होना व्रत है।

प. प्र./२/६७/१८९/२ स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनिर्वर्तनं इति निश्चयव्रतं। –शील अर्थात् अपने आत्मासे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना, ऐसा निश्चय व्रत।

पं. ध./उ./श्लो. सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु। व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ।७५३। अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः। अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ।७५५। ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते। चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ।७५८। –१. प्राणियोंपर दया करना बहिरंग व्रत है, यह बात सब प्रकार सिद्ध है। कषायोंका त्याग करना रूप स्वदया अन्तरंग व्रत है ।७५३। २. राग आदिका नाम ही हिंसा अधर्म और अव्रत है, तथा निश्चयसे उसके त्यागका ही नाम अहिंसा व्रत और धर्म है ।७५५। (और भी दे. अहिंसा/२/१)। ३. इसलिए जो मोहनीय कर्मके उदयके अभावमें शुद्धोपयोग होता है, वही निश्चयनयसे, चारित्र है दूसरा नाम जिसका ऐसा उत्कृष्ट व्रत है ।७५८।

३. व्रत सामान्यके भेद

त. सू./७/२ देशसर्वतोऽणुमहती ।२। –देशत्यागरूप अणुव्रत और सर्वत्यागरूप महाव्रत, ऐसे दो प्रकार व्रत हैं। (र. क. श्रा./५०)।

र. क. श्रा./५१ गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणं। पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातं ।५१। –गृहस्थोंका चारित्र पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ भेदरूप कहा गया है। (चा. सा./१३/७); (पं. वि/६/२४;७/५); (वसु. श्रा./२०७); (सा. ध./२/१६)।

४. व्रतोंमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ./वि./११६/२७७/१६ पर उद्धृत –पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाणं। ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए। –मुनियोंके अहिंसादि पंच महाव्रत और श्रावकोंके पाँच अणुव्रत, ये सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते हैं, इसलिए प्रथमतः आचार्योंने सम्यक्त्वका वर्णन किया है।

चा. सा./५/६ एवं विधाष्टाङ्गविशिष्टं सम्यक्त्वं तद्विकलयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात्। –इस प्रकार आठ अंगोंसे पूर्ण सम्यग्दर्शन होता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतोंका नाम तक नहीं होता है।

अ. ग. श्रा./२/२७ दवीयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम्। अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि ।२७। –घोर व्रतोंसे सहित भी मिथ्यादृष्टि वांछित स्थानको, मार्गसे उलटा चलनेवालेकी भाँति, अति दूर करता है।

दे. धर्म/२/६ (सम्यक्त्व रहित व्रतादि अकिंचित्कर हैं, बाल व्रत हैं)।

दे. चारित्र/६/८/ (मिथ्यादृष्टिके व्रतोंको महाव्रत कहना उपचार है)।

दे. अगला शीर्षक (पहिले तत्त्वज्ञानी होता है पीछे व्रत ग्रहण करता है)।

५. व्रतदान व ग्रहण विधि

भ. आ./वि./४२१/६१४/११ ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठः स्थितिकल्पः। अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृतविनीतो व्रतारोपणार्हो भवति।… इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुखं स्थिताभ्यो विरतिभ्यः श्रावकश्राविकावर्गाय व्रतं प्रयच्छेत् स्वयं स्थितः सूरिः स्ववामदेशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात्।· ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतं—। –जिसको जीवोंका स्वरूप मालूम हुआ है ऐसे मुनिको नियमसे व्रत देना यह व्रतारोपण नामका छठा स्थिति कल्प है। जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है, उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरु भक्त और विनयी है, वह व्रतारोपणके लिए योग्य है। (यहाँ इसी अर्थकी द्योतक एक गाथा उद्धृत की है) व्रत देनेका क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकाएँ सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं। व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायीं तरफ बैठता है। तब गुरु उसको व्रत देते हैं। व्रतोंका स्वरूप जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरक्त होना व्रत है। (इसलिए गुरु उसे पहले व्रतोंका उपदेश देते हैं—(दे० इसी मूल टीकाका अगला भाग)। व्रत दान सम्बन्धी कृतिकर्मके लिए—दे० कृतिकर्म)।

मो. मा. प्र./७/३५१/१७ व ३५२/७ जैन धर्मविषैं तो यहु उपदेश है, पहलैं तौ तत्त्वज्ञानी होय, पीछे जाका त्याग करै, ताका दोष पहिचानै। त्याग किएं गुण होय, ताकौं जानैं। बहुरि अपने परिणामनिको ठीक करै। वर्तमान परिणामनि हीकै भरोसै प्रतिज्ञा न करि बैठैं। आगामी निर्वाह होता जानैं तौ प्रतिज्ञा करै। बहुरि शरीरकी शक्ति वा द्रव्य क्षेत्र काल भावादिकका विचार करै। ऐसे विचारि पीछैं प्रतिज्ञा करनी, सो भी ऐसी करनी जिस प्रतिज्ञातैं निरादरपना न होय, परिणाम चढ़ते रहैं। ऐसो जैनधर्मकी आम्नाय है।…सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करै हैं, सो तत्त्वज्ञानादि पूर्वक ही करै है।

६. व्रत गुरु साक्षीमें लिया जाता है

दे. व्रत/१/५ (गुरु और आर्यिकाओं आदिके सम्मुख, गुरुकी बायीं ओर बैठकर श्रावक व श्राविकाएँ व्रत लेते हैं)।

दे. व्रत/१/७ (गुरु साक्षीमें लिया गया व्रत भंग करना योग्य नहीं)।
दे. संस्कार/२ (व्रतारोपण क्रिया गुरुकी साक्षीमें होती है)।

७. व्रत भंगका निषेध

भ. आ./मू./१६३३/१४८० अरहंतसिद्धकेवलि अविउत्ता सव्वसंघस-क्खिस्स। पच्चक्खाणस्स कदस्स भंजणादो वरं मरणं ।१६३३। –पंच-परमेष्ठी, देवता और सर्व संघकी साक्षीमें कृत आहारके प्रत्याख्यान-का त्याग करनेसे अच्छा तो मर जाना है ।१६३३। (अ. ग. श्रा./१२/४४)।

सा. ध./७/५२ प्राणान्तेऽपि न भङ्क्तव्यं गुरुसाक्षिश्रितं व्रतं। प्राणान्त-स्तत्क्षणे दुःखं व्रतभङ्गो भवे भवे ।५२। –प्राणान्त होनेकी सम्भावना होनेपर भी गुरु साक्षीमें लिये गये व्रतको भंग नहीं करना चाहिए। क्योंकि, प्राणोंके नाशसे तो तत्क्षण ही दुःख होता है, पर व्रत भंगसे भव-भवमें दुःख होता है।

दे. दिग्व्रत/३ (मरण हो तो हो पर व्रत भंग नहीं किया जाता)।

मो. मा. प्र./७/पृष्ठ/पंक्ति–प्रतिज्ञा भंग करनेका महा पाप है। इसतैं तौ प्रतिज्ञा न लेंनी ही भली है। (३५१/१४)।···मरण पर्यन्त कष्ट होय तौ होहु, परन्तु प्रतिज्ञा न छोड़नी। (३५२/५)।

८. व्रत भंग शोधनार्थं प्रायश्चित्त ग्रहण

सा. ध./२/७६ समीक्ष्य व्रतमादेयमात्तं पाल्यं प्रयत्नतः। छिन्नं दर्पात्प्र-मादाद्वा प्रत्यवस्थाप्यमञ्जसा ।७६। –द्रव्य क्षेत्रादिको देखकर व्रत लेना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक उसे पालना चाहिए। फिर भी किसी मदके आवेशसे या प्रमादसे व्रत छिन्न हो जाये तो उसी समय प्रायश्चित्त लेकर उसे पुनः धारण करना चाहिए।

९. अक्षयव्रत आदि कुछ व्रतोंके नाम निर्देश

ह. पु./३४/श्लो. नं.–सर्वतोभद्र (५२), वसन्तभद्र (५६), महासर्वतो-भद्र (५७), त्रिलोकसार (५९), वज्रमध्य (६२), मृदङ्गमध्य (६४), मुरजमध्य (६६), एकावली (६७), द्विकावली (६८), मुक्तावली (६९), रत्नावली (७१), रत्नमुक्तावली (७२), कनकावली (७४); द्वितीय रत्नावली (७६), सिंहनिष्क्रीडित (७८-८०), नन्दीश्वरव्रत (८४), मेरुपंक्तिव्रत (८६), शातकुम्भव्रत (८७), चान्द्रायण व्रत (९०), सप्तसप्तमतपोव्रत (९१), अष्ट अष्टम वा नवनवम आदि व्रत (९२), आचाम्ल वर्द्धमान व्रत (९५), श्रुतव्रत (९७), दर्शनशुद्धि व्रत (९८), तपः शुद्धि व्रत (९९), चारित्रशुद्धि व्रत (१००), एक कल्याणव्रत (११०), पंच कल्याण व्रत (१११), शील कल्याणकव्रत (११२), भावना विधि व्रत (११२), पंचविंशति कल्याण भावना-विधि व्रत (११४), दुःखहरण विधि व्रत (११८), कर्मक्षय विधि व्रत (१२१), जिनेन्द्रगुण संपत्ति विधि व्रत (१२२), दिव्य लक्षण पंक्ति विधि व्रत (१२३), धर्मचक्र विधि व्रत, परस्पर कल्याणविधि व्रत (१२४)। (चा. सा./१५१/१ पर उपरोक्तमेंसे केवल १० व्रतोंका निर्देश है)।

वसु. श्रा./श्लोक नं.–पंचमी व्रत (३५५), रोहिणीव्रत (३६३), अश्विनी व्रत (३६६), सौख्य सम्पत्ति व्रत (३६८), नन्दीश्वर पंक्ति व्रत (३७३), विमान पंक्ति व्रत (३७६)।

व्रत विधान संग्रह–[उपरोक्त सबके अतिरिक्त निम्न व्रतोंका अधिक उल्लेख मिलता है।]–अक्षयनिधि, अनस्तमी, अष्टमी, गन्ध-अष्टमी, निःशल्य अष्टमी, मनचिन्ती अष्टमी, अष्टाह्निका, आचार-वर्धन, एसोनव, एसोदश, कंजिक, कर्मचूर, कर्मनिर्जरा, श्रुत-कल्याणक, क्षमावणी, ज्ञानपच्चीसी, चतुर्दशी, अनन्त चतुर्दशी, कलो चतुर्दशी, चौंतीस अतिशय, तीन चौबीसी, आदिनाथ जयन्ती, आदिनाथ निर्वाण जयन्ती, आदिनाथ शासन जयन्ती, वीर जयन्ती, वीर शासन जयन्ती, जिन पूजा पुरन्धर, जिन मुखावलोकन, जिनरात्रि, ज्येष्ठ, णमोकार पैंतीसी, तपो विधि, तपो शुद्धि, त्रिलोक तीज, रोट तीज, तीर्थंकर व्रत, तेला व्रत त्रिगुणसार, त्रेपन क्रिया, दश मिनियामी, दशलक्षण, अक्षयफल-दशमी, उठंड दशमी, चमक दशमी, छहार दशमी, कांचदशमी, तमोर दशमी, पान दशमी, फल दशमी, फूलदशमी, बारा दशमी, भण्डार दशमी, सुगन्ध दशमी, सौभाग्य दशमी, दीपमालिका, द्वादशीव्रत, कांजी बारस, श्रावण दशमी, धनकलश, नवविधि, नक्षत्रमाला, नवकार व्रत, पंचपोरिया, आकाश पंचमी, ऋषि पंचमी, कृष्ण पंचमी, कोकिल पंचमी, गारुड पंचमी, निर्जर पंचमी, श्रुतपंचमी, श्वेत पंचमी, लक्षण पंक्ति, परमेष्ठीगुण व्रत, पल्लव विधान, पुष्पांजली, बारह तप, बारह बिजोरा, बेला, तीर्थंकर बेला, शिवकुमार बेला, षष्ठम बेला, भावना व्रत, पंच-विंशति-भावना, भावना पच्चीसी, मुरजमध्य, मुष्टि-विधान, मेघ-माला, मौन व्रत, रक्षा बन्धन, रत्नत्रय, रविवार, दुग्धरसी, निरयरसी, षट्रसी, रुकमणी, रूपवसंत, लब्धिविधान, वसन्त-भद्र, शीलव्रत, श्रुतज्ञानव्रत, पंच-श्रुतज्ञान, श्रुतस्कन्ध, षष्ठीव्रत, चन्दन षष्ठी, षोडशकारण, संकट हरण, कौमार सप्तमी, नन्द-सप्तमी, निर्दोष सप्तमी, मुकुट सप्तमी, मोक्षसप्तमी, शीलसप्तमी, समकित चौबीसी, समवशरण, सर्वार्थसिद्धि, भाद्रवन-सिंह-निष्क्री-डित, सुखकारण, सुदर्शन, सौवीर भुक्ति।

नोट–[इनके अतिरिक्त और भी अनेकों व्रत-विधान प्रसिद्ध हैं, तथा इनके भी अनेकों उत्तम-मध्यम आदि भेद हैं। उनका निर्देश–दे० वह-वह नाम।]

२. व्रतकी भावनाएँ व अतिचार

१. प्रत्येक व्रतमें पाँच-पाँच भावनाएँ व अतिचार

त. सू./७/३,२४ तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च-पञ्च ।३। व्रतशीलेषु पञ्च-पञ्च यथाक्रमम् ।२४। –उन व्रतोंको स्थिर करनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ होती हैं ।३। व्रतों और शीलोंमें पाँच-पाँच अतिचार हैं जो क्रमसे इस प्रकार है ।२४। (विशेष देखो उस-उस व्रतका नाम)। (त. सा./४/६२)।

त. सा./४/८३ सम्यक्त्वव्रतशीलेषु तथा सल्लेखनाविधौ। अतीचाराः प्रवक्ष्यन्ते पञ्च-पञ्च यथाक्रमम् ।८३। –सम्यक्त्व व्रत शील तथा सल्लेखनाकी विधिमें यथाक्रम पाँच-पाँच अतिचार कहते हैं।

२. व्रत रक्षणार्थं कुछ भावनाएँ

त. सू./७/९-१२ हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।९। दुःखमेव वा ।१०। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्य-मानाविनेयेषु ।११। जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं ।१२। –१. हिंसादि पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है ।९। अथवा हिंसादि दुःख ही हैं ऐसी भावना करनी चाहिए ।१०। २. प्राणीमात्रमें मैत्री, गुणा-धिकोंमें प्रमोद, क्लिश्यमानोंमें करुणा वृत्ति, और अविनेयोंमें माध्यस्थ भावकी भावना करनी चाहिए ।११। (ज्ञा./२७/४); (सामायिक पाठ/अमितगति/१)। ३. संवेग और वैराग्यके लिए जगत्के स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए ।१२।–(विशेष दे० वैराग्य)।

३. ये भावनाएँ मुख्यतः मुनियोंके लिए हैं

त. सा./४/६१ भावनाः संप्रतीयन्ते मुनीनां भावितात्मनाम् ।६२। –ये पाँच-पाँच भावनाएँ मुनिजनोंको होती हैं।

४. कथंचित् श्रावकोंके लिए भी मानेका निर्देश

ला. सं./५/१८४-१८९ सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनान-गारयोग्यायाः कर्तव्यास्ता अपि क्रियाः ।१८४। यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।१८५। ...न चाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचराः । न पुनर्भावनीयास्ता देशतोव्रतधारिभिः ।१८७। यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ।१८८। अलं विकल्पसंकल्पैः कर्तव्या भावना इमाः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ।१८९। —गृहस्थोंके धर्मके साथ देश शब्द लगा हुआ है, इसलिए मुनियोंके योग्य कर्तव्य भी एक देशरूपसे उसे करने चाहिए ।१८४। जैसे कि अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए श्रावकको भी साधुकी भाँति समिति और गुप्तिका पालन करना चाहिए ।१८५। यहाँपर यह शंका करनी योग्य नहीं कि अहिंसाव्रतकी 'समिति, गुप्ति आदि रूप' ये पाँच भावनाएँ तो मुनियोंका कर्तव्य है, इसलिए देशव्रतियोंको नहीं करनी चाहिए ।१८७। क्योंकि यहाँ देश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है जिससे कि यह व्रतोंकी भाँति समिति गुप्ति आदिमें भी एक देश रूपसे व्यापकर रहता है ।१८८। अधिक कहनेसे क्या, श्रावकको भी अहिंसा-व्रतकी रक्षाके लिए ये भावनाएँ अणुव्रतकी तरह ही अवश्य करनी योग्य हैं ।१८९। —(और भी दे० अगला शीर्षक)।

५. व्रतोंके अतिचार छोड़ने योग्य हैं

सा. ध./४/१५ मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदमतिभाराधिरोपणं । भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ।१५। —दुर्भावसे किये गये वध बन्धन आदि अहिंसा व्रतके पाँच अतिचारोंको छोड़कर श्रावकोंको उसकी पाँच भावनाओंरूप समिति गुप्ति आदिका भी पालन करना चाहिए ।

व्रत-विधान संग्रह पृ. २१ पर उद्धृत—"व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तो-र्न सातिचाराणि निषेवितानि । शस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि : —जीवको व्रत पुण्यके कारणसे होते हैं, इसलिए उन्हें अतिचार सहित नहीं पालना चाहिए, क्या लोकमें कहीं मल लिप्त धान्य भी फल देते हैं ।

दे० व्रत/१/७,८ (किसी प्रकार भी व्रत भंग करना योग्य नहीं । परि-स्थिति वश भंग हो जाने अथवा दोष लग जानेपर तुरत प्रायश्चित्त लेकर उसकी स्थापना करनी चाहिए ।)

३. महाव्रत व अणुव्रत निर्देश

१. महाव्रत व अणुव्रतके लक्षण

चा. पा./मू./२४ थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्त थूले य । परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ।२४। —स्थूल हिंसा मृषा व अदत्त-ग्रहणका त्याग, पर-स्त्री तथा बहुत आरम्भ परिग्रहका परि-माण ये पाँच अणुव्रत हैं ।२४। (वसु. श्रा./२०८) ।

त. सू./७/२ देशसर्वतोऽणुमहती ।२। —हिंसादिकसे एक देश निवृत्त होना अणु-व्रत और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है ।

र. क. श्रा./५२, ७२ प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्छेभ्यः । स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ।५२। पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचःकायैः । कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महतां ।७२। —हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन पाँच स्थूल पापोंसे विरक्त होना अणु-व्रत है ।५२। हिंसादिक पाँचों पापोंका मन, वचन काय व कृत-कारित अनुमोदनासे त्याग करना महापुरुषोंका महाव्रत है ।५३।

सा. ध./४/५ विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः । क्वचिद-परेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ।५। —स्थूल वध आदि पाँचों स्थूल पापोंका मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदना-से त्याग करना अणुव्रत है ।

पं. ध./उ./७२०-७२१ तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ।७२०। सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसा-दीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ।७२१। —सागार व अनागार दोनों प्रकारके धर्मोंमें हिंसा झूठ चोरी कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहसे एक देश विरक्त होना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है ।७२०। उन्हीं हिंसादिक पाँच पापोंका सर्वदेशसे त्याग करना महाव्रत कहलाता है । यह जिनरूप मुनिलिंग गृहस्थोंके द्वारा नहीं पाला जा सकता ।७२१।

२. स्थूल व सूक्ष्म व्रतका तात्पर्य

सा. ध./४/६ स्थूलहिंसाद्याश्रयत्वात्स्थूलानामपि दुर्दृशां । तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते ।६। —हिंसा आदिके स्थूल आश्रयोंके आधारपर होनेवाले, अथवा साधारण मिथ्यादृष्टि लोगोंमें प्रसिद्ध, अथवा स्थूलरूपसे किये जानेवाले हिंसादि स्थूल कहलाते हैं । अर्थात् लोक प्रसिद्ध हिंसादिको स्थूल कहते हैं, उनका त्याग ही स्थूल व्रत है ।—विशेष दे० शीर्षक नं. ६ ।

दे. श्रावक/४/२ [मद्य मांस आदि त्याग रूप अष्ट मूल गुणोंमें व सप्त व्यसनोंमें ही पाक्षिक श्रावकके स्थूल अणुव्रत गर्भित हैं ।]

३. महाव्रत व अणुव्रतोंके पाँच भेद

भ. आ./मू./२०८०/१७९६ पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं । अपरिमिदिच्छादो वि य अणुव्वयाइं विरमणाइं । —प्राण वध, असत्य, चोरी, परस्त्री सेवन, परिग्रहमें अमर्यादित इच्छा, इन पापों-से विरक्त होना अणुव्रत है ।२०८०।

चा. पा./मू./३० हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य । तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य । —हिंसासे विरति सो अहिंसा और इसी प्रकार असत्य विरति, अदत्तविरति, अब्रह्मविरति और पाँचवीं परिग्रह विरति है ।३०।

मू. आ./४ हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च । संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ।४। —हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, और परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं ।४।

दे. शीर्षक नं. १—[अणुव्रत व महाव्रत दोनों ही हिंसादि पाँचों पापों-के त्यागरूपसे लक्षित हैं ।]

४. रात्रिभुक्ति त्याग छठा अणुव्रत है

स. सि./७/१/३४३/११ ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् । न; भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते । तत्रालोकितपानभोजनभावना: कार्यति । —प्रश्न—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है, उसकी यहाँ परिगणना करनी थी ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है । आगे अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कहेंगे । उनमें एक आलोकित पान-भोजन नामकी भावना है, उसमें उसका अन्तर्भाव होता है । (रा. वा./७/१/१४/५३४/२८) ।

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण पाठमें प्रतिक्रमणभक्ति—'आधावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि । — छठे अणुव्रत-रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ ।

चा. सा./१३/३ पंचधाणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं । —पाँच प्रकार-का अणुव्रत है और 'रात्रिभोजन त्याग' यह छठा अणुव्रत है ।

५. अणुव्रतोंको स्थावर घात आदिकी भी अनुमति नहीं है

क. पा. १/१-१/गा. ५५/१०१ संजदधम्मकहा वि य उवासयाणं सदारसंतोसो। तसवहविरईसिक्खा थावरघादो त्ति णाणुमदो।५५। —संयतधर्मकी जो कथा है उसमें श्रावकोंको (केवल) स्वदारसंतोष और त्रसवध विरतिकी शिक्षा दी गयी है। पर इससे उन्हें स्थावर घातकी अनुमति नहीं दी गयी है।

सा. ध./४/११ यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासकः। एकाक्षवधमप्युज्झेद्यः स्यान्नावर्ज्यभोगकृत्।११। —जो अहिंसा ही मोक्षका साधन है उसका मुमुक्षु जनोंको अवश्य सेवन करना चाहिए। भोगोपभोगमें होनेवाली एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको छोड़कर अर्थात् उससे बचे शेष एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए।

६. महाव्रतको महाव्रत व्यपदेशका कारण

भ.आ./मू./११८४/११७० साधेंति जं महत्थं आयरिइदा च जं महल्लेहिं। जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं।११८४। —महान् मोक्षरूप अर्थकी सिद्धि करते हैं। महान् तीर्थंकरादि पुरुषोंने इनका पालन किया है, सब पापयोगोंका त्याग होनेसे स्वतः महान् हैं, पूज्य हैं, इसलिए इनका नाम महाव्रत है।११८४। (मू. आ./२९४); (चा.पा./मू./३१)।

७. अणुव्रतको अणुव्रत व्यपदेशका कारण

स. सि./७/२०/३५८/६ अणुशब्दोऽल्पवचनः। अणूनि व्रतान्यस्य अणुव्रतोऽगारीत्युच्यते। कथमस्य व्रतानामणुत्वम्। सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्तः। त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्त अगारीत्याद्यमणुव्रतम्। स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। अन्यपीडाकरं पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्। —अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प हैं, वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है। प्रश्न—अगारीके व्रत अल्प कैसे हैं? उत्तर—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोंका त्याग सम्भव नहीं है, इसलिए उसके व्रत अल्प हैं। प्रश्न—तो यह किसका त्यागी है? उत्तर—यह त्रसजीवोंकी हिंसाका त्यागी है, इसलिए इसके पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीड़ाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है, इसीलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है। (रा. वा./७/२०/-/५४७/४)।

८. अणुव्रतमें कथंचित् महाव्रतपना

दे. दिग्व्रत, देशव्रत—[की हुई मर्यादासे बाहर पूर्ण त्याग होनेसे श्रावकके अणुव्रत भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते हैं।]

दे. सामायिक/३ [सामायिक कालमें श्रावक साधु तुल्य है।]

९. महाव्रतमें कथंचित् देशव्रतपना

द्र. सं./टी./५७/२२०/४ प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि जातानि। इति चेदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्यागः। —प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेशरूप कैसे हो गये? उत्तर—अहिंसा, सत्य और अचौर्य महाव्रतोंमें यद्यपि जीव घातकी, असत्य बोलनेकी तथा अदत्त ग्रहणकी निवृत्ति है, परन्तु जीवरक्षाकी, सत्य बोलने और दत्तग्रहणकी प्रवृत्ति है। इस एकदेश प्रवृत्तिकी अपेक्षा ये एक देशव्रत हैं। त्रिगुप्तिलक्षण निर्विकल्प समाधि कालमें इन एक देशव्रतोंका भी त्याग हो जाता है [अर्थात् उनका विकल्प नहीं रहता। —दे० चारित्र/७/१०]। [प. प्र./टी./२/५२/१७३/७); (दे० संवर/२/५)।

दे० धर्म/३/२ [व्रत व अव्रतसे अतीत तीसरी भूमिका ही यथार्थ व्रत है।]

१०. अणु व महाव्रतोंके फलोंमें अन्तर

चा. सा./५/६ सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च। —अणुव्रत युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्गका और महाव्रत युक्त मोक्षका कारण है।

व्रतचर्या क्रिया—दे. संस्कार/२।

व्रत प्रतिमा—

र.क. श्रा/१३८ निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिकः।१३८। —जो शल्य रहित होता हुआ अतिचार रहित पाँचों अणुव्रतोंका तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंको भी धारण करता है, ऐसा पुरुष व्रतप्रतिमाका धारी माना गया है। (व. श्रा./२०७), (का. आ./मू./३३०); (द्र. स./टी./४५/१९५/४)।

सा. ध./४/१-६४ का भावार्थ—पूर्ण सम्यग्दर्शन व मूल गुणों सहित निरतिचार उत्तर गुणोंको धारण करनेवाला व्रतिक श्रावक है।१। तहाँ अहिंसाणुव्रत गौ आदिका वाणिज्य छोड़े। यह न हो सके तो उनका बन्धनादि न करे। यह भी सम्भव न हो तो निर्दयतासे बन्धन आदि न करे।१६। कषायवश कदाचित् अतिचार लगते हैं।१७। रात्रि भोजनका पूर्ण त्याग करता है।२७। अन्तराय टालकर भोजन करता है।३०। भोजनके समय।३४। व अन्य आवश्यक क्रियाओंके समय मौन रखता है।३८। सत्याणुव्रत—झूठ नहीं बोलता, झूठी गवाही नहीं देता, धरोहर सम्बन्धी झूठ नहीं बोलता परन्तु स्वपर आपदाके समय झूठ बोलता है।३९। सत्यसत्य, असत्यसत्य, सत्यासत्य तो बोलता है पर असत्यासत्य नहीं बोलता।४०। सावद्य वचन व पाँचों अतिचारोंका त्याग करता है।४५। अचौर्याणुव्रत कहींपर भी गड़ा हुआ या पड़ा हुआ धन आदि अदत्त ग्रहण नहीं करता।४८। अपने धनमें भी संशय हो जानेपर उसे ग्रहण नहीं करता।४९। अतिचारोंका त्याग करता है।५०। ब्रह्मचर्याणुव्रत—स्वदारके अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियोंका त्याग करता है।५१-५२। इस व्रतके पाँचों अतिचारोंका त्याग करता है।५८। परिग्रहपरिमाणव्रत—एक घर या खेतके साथ अन्य घर या खेत जोड़कर उन्हें एक गिनना, एक गाय रखनेके लिए गर्भवती रखना, अपना अधिक धन सम्बन्धियोंको दे देना इत्यादि क्रियाओंका त्याग करता है।६४।

सा. ध./५/१५-२३ भोगोपभोग परिमाण व्रतके अन्तर्गत सर्व अभक्ष्यका त्याग करता है।१५-१९। १५ प्रकारके खर कर्मोंका त्याग करता है।२१-२३।

सा. ध./६/१८-२६ अनवद्य व्यापार करे।१८। व्यायाममें भोजन करना, पुष्प तोड़ना आदिका त्याग करे।२०। अनेक प्रकारके पूजन विधान आदि करे।२३। दान देनेके पश्चात् स्वयं भोजन करे।२४। आगम चर्चा करें।२६।

★ **व्रत व अन्य प्रतिमाओंमें अन्तर**

—दे. वह वह नाम।

व्रत शुद्धि—दे. शुद्धि।

व्रतारोपण योग्यता—दे. व्रत/१/५।

व्रतावरण क्रिया—दे. संस्कार/२।

व्रती—

स. सि./६/१२/३३०/११ व्रतान्यहिंसादीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिनः। —अहिंसादिक व्रतोंका वर्णन आगे करेंगे। (कोशमें उनका वर्णन व्रतके विषयमें किया जा चुका है)। जो उन व्रतोंसे युक्त हैं वे व्रती कहलाते हैं। (रा. वा./६/१२/२/५२२/१४)।

२. व्रतीके भेद व उनके लक्षण

त. सू./७/१६ अगार्यनगारश्च।१९।—उस व्रतीके अगारी और अनगारी ये दो भेद हैं।

स. सि./६/१२/३३०/१२ ते द्विविधाः। अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्याः संयताः गृहिणश्च संयतासंयताः। —वे व्रती दो प्रकारके हैं—पहले वे जो घरसे निवृत्त होकर संयत हो गये हैं। और दूसरे गृहस्थ संयतासंयत। (रा. वा./६/१२/२/५२२/११)।

त. सा./४/७६ अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते। महाव्रतानगारः स्यादगारी स्यादणुव्रतः।७६। —वे व्रती अनगार और अगारीके भेदसे दो प्रकारके हैं। महाव्रतधारियोंको अनगार और अणुव्रतियोंको अगारी कहते हैं। (विशेष दे. वह वह नाम अथवा साधु व श्रावक)

३. व्रती निःशल्य ही होता है

भ. आ./मू./१२१४/१२१३ णिस्सल्लसेव पुणो महव्वदाइं सव्वाइं। वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।१२१४। —शल्य रहित यतिके सम्पूर्ण महाव्रतोंका संरक्षण होता है। परन्तु जिन्होंने शल्योंका आश्रय लिया है, उनके व्रत माया मिथ्या व निदान इन तीनसे नष्ट हो जाते हैं।

त. सू./७/१८ निःशल्यो व्रती।१८। —जो शल्य रहित है वह व्रती है। (चा. सा./७/१)।

स. सि./७/१८/३५६/६ अत्र चोद्यते—शल्याभावान्निःशल्यो व्रताभिसंबन्धाद् व्रती, न निःशल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति। न हि देवदत्तो दण्डसम्बन्धाच्छत्री भवतीति। अत्रोच्यते—उभयविशेषणविशिष्टस्येष्टत्वात्। न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रताभिसंबन्धाद् व्रती भवत्यन्तरेण शल्याभावम्। सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धाद् व्रती विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते। बहुक्षीरघृताभावात्सतोऽपि गोषु न गोमांस्तथा सशल्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती। यस्तु निःशल्यः स व्रती। —प्रश्न—शल्य न होनेसे निःशल्य होता है और व्रतोंके धारण करनेसे व्रती होता है। शल्यरहित होनेसे व्रती नहीं हो सकता। जैसे—देवदत्तके हाथमें लाठी होनेसे वह छत्री नहीं हो सकता? उत्तर—व्रती होनेके लिए दोनों विशेषणोंसे युक्त होना आवश्यक है। यदि किसीने शल्योंका त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषोंको छोड़ दिया है तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्योंका त्याग करके व्रतोंको स्वीकार किया है। जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है, वह गाय वाला कहा जाता है। यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता। उसी प्रकार जो सशल्य है, व्रतोंके होनेपर भी वह व्रती नहीं हो सकता। किन्तु जो निःशल्य है वह व्रती है। (रा. वा./७/१८/५-७/५४६/४)।

ज्ञा./१९/६३ व्रती निःशल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातकः…।६३। —व्रती तो निःशल्य ही होता है। सशल्य व्रतका घातक होता है। (भ. आ./वि./११६/२७७/१३)।

अ. ग. श्रा./७/१९ यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिधेयं, व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य। स्थिते शरीरं ह्यवगाह्य काण्डे, जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि।१९। —जिसके हृदयमें तीन प्रकारकी यह शल्य है उसके समस्त व्रत नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे—मनुष्यके शरीरमें बाण घुसा हो तो उसे सुख कैसे हो सकता है।१९।

★ **सब व्रतोंको एक देश धारनेसे व्रती होता है मात्र एक या दोसे नहीं**—दे. श्रावक/३/६।

इति तृतीयः खण्डः

[परिशिष्ट]

पंचसंग्रह—इस नाम के चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं,-दो प्राकृत गाथाबद्ध हैं और दो संस्कृत श्लोकबद्ध। प्राकृत वालों में एक दिगम्बरीय है और एक श्वेताम्बरीय। ३२५। इन दोनों पर ही अनेकों टीकायें हैं। संस्कृत वाले दोनों दिगम्बरीय प्राकृत के रूपान्तर मात्र होने से। ।३२६। दिगम्बरीय हैं। पाँच पाँच अधिकारों में विभक्त होने से तथा कर्मस्तव आदि आगम प्राभृतों का संग्रह होने से इनका 'पंचसंग्रह' नाम सार्थक है। ३४३। गोमट्टसार आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस नाम से अपना उल्लेख करने में गौरव का अनुभव करते हैं। इन सबका क्रम से परिचय दिया जाता है।

१. दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह—सबसे अधिक प्राचीन है। इसके पाँच अधिकारों के नाम हैं-जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तना, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका। षट्खण्डागमका और कषायपाहुडका अनुसरण करने वाले प्रथम दो अधिकारों में जीवसमास, गुणस्थान मार्गणा स्थान आदि का तथा मूलोत्तर कर्म प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। कर्मस्तव आदि अपर तीन अधिकार उस उस नाम वाले आगम प्राभृतों को आत्मसात करते हुए कर्मों के बन्ध उदय सत्त्व का विवेचन करते हैं। ३४३। इसमें कुल १३२४ गाथायें तथा ५०० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। समय—इसके रचयिताका नाम तथा समय ज्ञात नहीं है। तथापि अकलंक भट्ट (ई. ६२०-६८०) कृत राजवार्तिक में इसका उल्लेख प्राप्त होने से इसका समय वि. श. ८ से पूर्व ही अनुमान किया जाता है/३५१। (जै./१/पृष्ठ)। डा. A. N. Up. ने इसे वि श ५-८ में स्थापित किया है। (पं. सं./प्र. ३१)।

२. श्वेताम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह—श्वेताम्बर आम्नाय का प्राकृत गाथाबद्ध यह ग्रन्थ भी दिगम्बरीय की भाँति ५ अधिकारों में विभक्त है। उनके नाम तथा विषय भी लगभग वही हैं। गाथा संख्या १००५ है। इसके रचयिता चन्द्रर्षि महत्तर माने गए हैं, जिन्होंने इस पर स्वयं ८००० श्लोक प्रमाण 'स्वोपज्ञ' टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त आ. मलयगिरि (वि.श.१२)कृत एक संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। मूल ग्रन्थ को आचार्य ने महान या यथार्थ कहा है। ३५१। समय-चन्द्रर्षि महत्तर का काल वि. श. १० का अन्तिमचरण निर्धारित किया गया है। ३६६। (दे. चन्द्रर्षि), (जै./१/३५१. ३६६)।

३-४. संस्कृत पंचसंग्रह—दो उपलब्ध हैं। दोनों ही दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रह के संस्कृत रूपान्तर मात्र हैं। इनमें से एक चित्रकूट (चित्तौड़) निवासी श्रीपाल सुत डड्ढा की रचना है और दूसरा आ. अमित गति की। पहले में १२४३ और दूसरे में ७०० अनुष्टुप पद्य हैं, और साथ साथ क्रमशः १४५६ और १००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। समय—आ. अमितगति वाले की रचना वि. सं. १०७३ में होनी निश्चित है। डड्ढा वाले का रचनाकाल निम्न तथ्यों पर से वि. १०१२ और १०४७ के मध्य कभी होना निर्धारित किया गया है। क्योंकि एक ओर तो इसमें अमृतचन्द्राचार्य (वि. ९६२-१०१२) कृत तत्त्वार्थसार का एक श्लोक इसमें उद्धृत पाया जाता है और दूसरी ओर इसका एक श्लोक आ. जयसेन नं. ४ (वि. १०५०) में उद्धृत है। तीसरी ओर गोमट्टसार (वि. १०४०) का प्रभाव जिस प्रकार अमितगति कृत पंचसंग्रह पर दिखाई देता है उस प्रकार इस पर दिखाई नहीं देता है। इस पर से यह अनुमान होता है कि गोमट्टसार की रचना डड्ढा कृत पंचसंग्रह के पश्चात् हुई है। (जै /१/३७२-३७५)।

५-६. पंचसंग्रह की टीकायें—१. दिगम्बरीय पंचसंग्रह पर दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक वि. १५२६ की है जिसका रचयिता अज्ञात है। दूसरी वि. १६२० की है। इसके रचयिता भट्टारक सुमतिकीर्ति हैं। ४४८। परन्तु भ्रान्तिवश इसे मुनि पद्मनन्दि की मान लिया गया है। वास्तव में ग्रन्थ में इस नाम का उल्लेख ग्रन्थकार के प्रति नहीं, प्रत्युत उस प्रकरण के रचयिता की ओर संकेत करता है जिसे ग्रन्थकर्ता भट्टारक सुमतिकीर्ति ने पद्मनन्दि कृत 'जंबूदीव पण्णत्ति' से लेकर ग्रन्थ के 'शतक' नामक अन्तिम अधिकार में ज्यों का त्यों आत्मसात कर लिया है। ४४६। पंचसंग्रह के आधार पर लिखी गयी होने से भले इसे टीका कहो, परन्तु विविध ग्रन्थों से उद्धृत गाथाओं तथा प्रकरणों की बहुलता होने से यह टीका तो नाममात्र ही है। ४४८। लेखक ने स्वयं टीका न कहकर 'आराधना' नाम दिया है। ४४५। चूर्णियों की शैली में लिखित इसमें ५४६ गाथा प्रमाण तो पद्यभाग है और ४००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। (जै./१/पृष्ठ संख्या), (ती./३/३७१)। ६. इन्हीं भट्टारक सुमतिकीर्ति द्वारा रचित एक अन्य भी पंचसंग्रह वृत्ति प्राप्त है। यह वास्तव में अकेले सुमतिकीर्ति की न होकर इनकी तथा ज्ञानभूषण की साझली है। वास्तव में पंचसंग्रह की न होकर गोमट्टसार की टीका है, क्योंकि इसका मूल आधार 'पंचसंग्रह' नहीं है, बल्कि गोमट्टसार की 'जीवप्रबोधिनी' टीका के आधार पर लिखित 'कर्म प्रकृति' नामक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इसे 'लघुगोमट्टसार अपर नाम "पंचसंग्रह' कहा है। समय—वि. १६२०। (जै /१/४७१-४८०)।

७. अन्यान्य पंचसंग्रह—इनके अतिरिक्त भी पंचसग्रह नामक कई ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे 'गोमट्टसार' के रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने उसे 'पंचसंग्रह' कहा है। श्रीहरि दामोदर वेलंकर ने अपने जिनरत्न कोश में 'पंचसग्रह दीपक' नाम के किसी ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जो कि इनके अनुसार गोमट्टसार का इन्द्र वामदेव द्वारा रचित संस्कृत पद्यानुवाद है। पाँच अधिकारों में विभक्त इसमें १४६८ पद्य हैं। (पं. सं./प्र. १४/ A. N. Up.)।

पद्धति टीका—इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार के कथनानुसार आ. शामकुण्ड ने 'कषायपाहुड' तथा 'षट्खण्डागम' के आद्य पाँच खण्डों पर 'पद्धति' नामक एक टीका लिखी थी, जिसकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत का मिश्रण थी, परन्तु शामकुण्ड क्योंकि कुन्द कुन्द का ही कोई बिगड़ा हुआ नाम प्रतीत होता है इसलिए कुछ विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि आ. कुन्द कुन्द कृत 'परिकर्म टीका' का ही यह कोई अपर नाम है। (जै./१/२७४)।

परिकर्म टीका—इन्द्रनन्दी कृत श्रुतावतार के कथनानुसार आ. कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम के आद्य ३ खंडों पर १२००० श्लोक प्रमाण इस नाम की एक टीका रची थी। २६४। धवला टीका में इसके उद्धरण प्रायः 'जीवस्थान' नामक प्रथम खंड के द्वितीय अधिकार 'द्रव्य प्रमाणानुगम' में आते हैं, जिस पर से यह अनुमान होता है कि इस टीका में जीवों की संख्या का प्रतिपादन बहुलता के साथ किया गया है। धवलाकार ने कई स्थानों पर 'परिकर्म सूत्र' कहकर इस टीका का ही उल्लेख किया है, ऐसा प्रतीत होता है। २६८। कुन्द कुन्द की समयसार आदि अन्य रचनाओं की भांति यह ग्रन्थ गाथाबद्ध नहीं है, तदपि प्राकृत भाषाबद्ध अवश्य है। पं. कैलाशचन्द इसे कुन्दकुन्द कृत मानते हैं। (जै./१/पृष्ठ संख्या)।

बप्पदेव—इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार श्लोक नं. १७१-१७६ के अनुसार भागीरथी और कृष्णा नदी के मध्य अर्थात् धारवाड़ या बेलगाँव जिले के अन्तर्गत उत्कलिका नगरी के समीप 'मगणवल्ली' ग्राम में आ. शुभनन्दि तथा शिवनन्दि (ई. श. २-३) से सिद्धान्त का श्रवण करके आपने कषायपाहुड़ सहित, षट्खंडागम के आद्य पाँच खंडों पर ६०,००० श्लोक प्रमाण और उसके महाबन्ध नामक षष्ठम खंड पर ८००० श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखी थी। (जै./१/२७१), (ती./२/६५)। इन्होंने षट्खंडागम से 'महाबन्ध' नामक षष्ठम खंड को पृथक करके उसके स्थान पर उपर्युक्त 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' का संक्षिप्त रूप उसमें मिला दिया था। समय—इनके गुरु शुभनन्दि को वी. नि. श. ५ का विद्वान कल्पित करके डा. नेमिचन्द्र ने यद्यपि वी. नि. श. ५-६ (ई. श. १) में प्रतिष्ठित किया है, परन्तु इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार के अनुसार ये वि. श. ७ (ई. श. ६-७) के विद्वान हैं। (जै./१/३८६)।

मलयगिरि—'कर्म प्रकृति/२६३', सित्तरि या सप्ततिका। ३१८। पंचसंग्रह। ३६०। आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के टीकाकार एक प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य। समय—'कर्मप्रकृति' की टीकायें गर्गर्षि (वि.श.१०) और पंचसंग्रह की रचना गुजरात के चालुक्यवंशी नरेश के शासन-काल में होने की सूचना उपलब्ध होने से इनको हम वि. श. १२ के पूर्वार्ध में स्थापित कर सकते हैं। ३६०। (जै./१/पृष्ठ संख्या)।

महाबन्ध—३०,००० श्लोक प्रमाण यह सिद्धान्त ग्रन्थ आ. भूतबली (ई. ६६-१५६) द्वारा रचित षट्खंडागम का अन्तिम खंड है, जो अत्यन्त विशाल तथा गम्भीर होने के कारण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। विवरणात्मक शैली में अति विस्तार युक्त तथा सुबोध होने के कारण किसी भी आचार्य ने इस पर कोई टीका नहीं लिखी। आ. वीरसेन स्वामी ने भी ५ खंडों पर तो विस्तृत टीका लिखी, परन्तु इस षष्ठम खंड पर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी। (जै./१/१५२)। इस ग्रन्थ में स्वामित्व भागाभाग आदि अनुयोग द्वारों के द्वारा विस्तार को प्राप्त प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश बन्ध का और उनके बन्धकों तथा अबन्धकों का विवेचन निबद्ध है। (जै./१/१५३)। इस ग्रन्थ की प्रारम्भिक भूमिका 'सत्कर्म' नाम से प्रसिद्ध है, जिस पर 'सत्कर्म पत्रिका' नामक व्याख्या उपलब्ध है। (दे. सत्कर्म पञ्जिका)।

विशेषावश्यक भाष्य—आ. जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण द्वारा रचित यह एक विशालकाय सिद्धान्त विषयक श्वेताम्बर ग्रन्थ है। ग्रन्थ समाप्ति में इसका समाप्ति काल वि. ६६६ बताया गया है। परन्तु पं. सुखलाल जी के अनुसार यह इसका लेखन काल है। ग्रन्थ का रचना काल उससे पूर्व लगभग वि. ६५० में स्थापित किया जा सकता है। (जै./२/३३१)।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—षट्खण्डागम के छः खंडों से अधिक वह अतिरिक्त खंड जिसे आ. भूतबली ने छोड़ दिया था, और जिसे आ. बप्पदेव (वि. श. ७) ने ६०,००० श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखकर पूरा किया था। वाटग्राम (बड़ौदा) के जिनमन्दिर में इसे प्राप्त करके ही श्री 'वीरसेन स्वामी' ने 'सत्कर्म' नाम से धवला के परिशिष्ट रूप एक अतिरिक्त खंड की रचना की थी। (दे. सत्कर्म) (इन्द्रनन्दि श्रुतावतार श्ल. १७३-१८१); (जै./१/२७१); (ती./२/६६)।

समाप्त